ॐ श्रीपरमात्मने नमः

नारायणं नमस्कृत्य नरं चैव नरोत्तमम् । देवीं सरस्वतीं व्यासं ततो जयमुदीरयेत् ॥

व्यासाय विष्णुरूपाय व्यासरूपाय विष्णवे । नमो वै ब्रह्महृदये वासिष्ठाय नमो नमः ॥

२ } गोरखपुर, आषाढ़ २०१४, जुलाई १९५७ { संख्या
पूर्ण संख्या

भक्तजनरक्षक श्रीकृष्ण

कौन्तेयस्य सहायतां करुणया गत्वा विनीतात्मनो
येनोल्लङ्घितसत्पथः कुरुपतिश्चक्रे कृतान्तातिथिः ।
त्रैलोक्यस्थितिसूत्रधारतिलको देवः सदा सम्पदे
साधूनामसुराधिनाथमथनः स्ताद्देवकीनन्दनः ॥

जिन्होंने करुणासे अभिभूत होकर विनीतहृदय कुन्तीनन्दन राजा युधिष्ठिर-के सहायतार्थ युद्धभूमिमें अवतीर्ण होकर कुमार्गगामी कुरुराज दुर्योधनको यमराजका अतिथि बनाया, त्रैलोक्य-नाटकके प्रधान सूत्रधार असुरविनाशन वे भगवान् देवकीनन्दन सज्जनोंके सौभाग्यको सदा समृद्ध करें ।

* श्रीहरिः *

विषय-सूची (कर्णपर्व)

चित्र-सूची

* श्रीहरिः *

विषय-सूची (शल्यपर्व)

(ह्रदप्रवेशपर्व)

चित्र-सूची

भगवान्‌के द्वारा अर्जुनकी सर्पमुख बाणसे रक्षा

पञ्चसप्ततितमोऽध्यायः

दोनों पक्षोंकी सेनाओंमें द्वन्द्वयुद्ध तथा सुषेणका वध

धृतराष्ट्र उवाच

समागमे पाण्डवसृंजयानां
महाभये मामकानामगाधे ।
धनंजये तात रणाय याते
कर्णेन तद् युद्धमथोऽत्र कीदृक् ॥ १ ॥

धृतराष्ट्रने पूछा—तात संजय ! मेरे पुत्रों तथा पाण्डवों और सृञ्जयोंमें पहलेसे ही अगाध एवं महाभयंकर संग्राम छिड़ा हुआ था। फिर जब धनंजय भी वहाँ कर्णके साथ युद्धके लिये जा पहुँचे, तब उस युद्धका स्वरूप कैसा हो गया ? ॥ १ ॥

संजय उवाच

तेषामनीकानि बृहद्ध्वजानि
रणे समृद्धानि समागतानि ।
गर्जन्ति भेरीनिनदोन्मुखानि
नादैर्यथा मेघगणास्तपान्ते ॥ २ ॥

संजय कहते हैं—महाराज ! ग्रीष्म ऋतु बीत जानेपर जैसे मेघसमूह गर्जना करने लगते हैं, उसी प्रकार दोनों पक्षोंकी सेनाएँ एकत्र हो रणभूमिमें गर्जना करने लगीं। उनके भीतर बड़े-बड़े ध्वज फहरा रहे थे और सभी सैनिक अस्त्र-शस्त्रोंसे सम्पन्न थे। रणभेरियोंकी ध्वनि उन्हें युद्धके लिये उत्सुक किये हुए थी ॥ २ ॥

महागजाभ्राकुलमस्त्रतोयं
वादित्रनेमीतलशब्दवच्च ।
हिरण्यचित्रायुधविद्युतं च
शरासिनाराचमहास्त्रधारम् ॥ ३ ॥

तद् भीमवेगं रुधिरौघवाहि
खड्गाकुलं क्षत्रियजीवघाति ।
अनार्तवं क्रूरमनिष्टवर्षं
बभूव तत् संहरणं प्रजानाम् ॥ ४ ॥

क्रमशः वह क्रूरतापूर्ण युद्ध बिना ऋतुकी अनिष्टकारी वर्षाके समान प्रजाजनोंका संहार करने लगा। बड़े-बड़े हाथियोंका समूह मेघोंकी घटा बनकर वहाँ छाया हुआ था। अस्त्र ही जल थे, वाद्यों और पहियोंकी घर्घराहटका शब्द ही मेघ-गर्जनके समान प्रतीत होता था। सुवर्णजटित विचित्र आयुध विद्युत्‌के समान प्रकाशित होते थे। बाण, खड्ग और नाराच आदि बड़े-बड़े अस्त्रोंकी धारावाहिक वृष्टि हो रही थी। धीरे-धीरे उस युद्धका वेग बड़ा भयंकर हो उठा, रक्तका स्रोत बह चला। तलवारोंकी खचाखच मार होने लगी, जिससे क्षत्रियोंके प्राणोंका संहार होने लगा ॥ ३-४ ॥

एकं रथं सम्परिवार्य मृत्युं
नयन्त्यनेके च रथाः समेताः ।
एकस्तथैकं रथिनं रथाग्र्यां-
स्तथा रथश्चापि रथाननेकान् ॥ ५ ॥

बहुत-से रथी एक साथ मिलकर किसी एक रथीको घेर लेते और उसे यमलोक पहुँचा देते थे। इसी प्रकार एक रथी एक रथीको और अनेक श्रेष्ठ रथियोंको भी यमलोकका पथिक बना देता था ॥ ५ ॥

रथं ससूतं सहयं च कश्चित्
कश्चिद्रथी मृत्युवशं निनाय ।
निनाय चाप्येकगजेन कश्चिद्
रथान् बहून् मृत्युवशे तथाश्वान् ॥ ६ ॥

किसी रथीने किसी एक रथीको घोड़ों और सारथिसहित मौतके हवाले कर दिया तथा किसी दूसरे वीरने एकमात्र हाथीके द्वारा बहुत-से रथियों और घोड़ोंको मौतका ग्रास बना दिया ॥ ६ ॥

रथान् ससूतान् सहयान् गजांश्च
सर्वानरीन् मृत्युवशं शरौघैः ।
निन्ये हयांश्चैव तथा ससादीन्
पदातिसङ्घांश्च तथैव पार्थः ॥ ७ ॥

उस समय अर्जुनने सारथिसहित रथों, घोड़ोंसहित हाथियों, समस्त शत्रुओं, सवारोंसहित घोड़ों तथा पैदलसमूहोंको भी अपने बाणसमूहोंद्वारा मृत्युके अधीन कर दिया ॥

कृपः शिखण्डी च रणे समेतौ
दुर्योधनं सात्यकिरभ्यगच्छत् ।
श्रुतश्रवा द्रोणपुत्रेण सार्धं
युधामन्युश्चित्रसेनेन सार्धम् ॥ ८ ॥

उस रणभूमिमें कृपाचार्य और शिखण्डी एक दूसरेसे भिड़े थे, सात्यकिने दुर्योधनपर धावा किया था, श्रुतश्रवा द्रोणपुत्र अश्वत्थामाके साथ जूझ रहा था और युधामन्यु चित्रसेनके साथ युद्ध कर रहे थे ॥ ८ ॥

कर्णस्य पुत्रं तु रथी सुषेणं
समागतं सृंजयश्चोत्तमौजाः ।
गान्धारराजं सहदेवः क्षुधार्तो
महर्षभं सिंह इवाभ्यधावत् ॥ ९ ॥

सृंजयवंशी रथी उत्तमौजाने अपने सामने आये हुए कर्णपुत्र सुषेणपर आक्रमण किया था। जैसे भूखसे पीड़ित हुआ सिंह किसी साँड़पर धावा करता है, उसी प्रकार सहदेव गान्धारराज शकुनिपर टूट पड़े थे ॥ ९ ॥

शतानीको नाकुलिः कर्णपुत्रं
युवा युवानं वृषसेनं शरौघैः ।
समार्पयत् कर्णपुत्रश्च शूरः
पाञ्चालेयं शरवर्षैरनेकैः ॥ १० ॥

नकुलपुत्र नवयुवक शतानीकने कर्णके नौजवान बेटे वृषसेनको अपने बाणसमूहोंसे घायल कर दिया तथा शूरवीर कर्णपुत्र वृषसेनने भी अनेक बाणोंकी वर्षा करके पाञ्चाली-कुमार शतानीकको गहरी चोट पहुँचायी ॥ १० ॥

रथर्षभः कृतवर्माणमार्छ-
न्माद्रीपुत्रो नकुलश्चित्रयोधी।
पञ्चालानामधिपो याज्ञसेनिः
सेनापतिः कर्णमार्छत् ससैन्यम् ॥ ११ ॥

विचित्र युद्ध करनेवाले, रथियोंमें श्रेष्ठ माद्रीकुमार नकुलने कृतवर्मापर चढ़ाई की। द्रुपदकुमार पाञ्चालराज सेनापति धृष्टद्युम्नने सेनासहित कर्णपर आक्रमण किया ॥११॥

दुःशासनो भारत भारती च
संशप्तकानां पृतना समृद्धा।
भीमं रणे शस्त्रभृतां वरिष्ठं
भीमं समार्छत्तमसह्यवेगम् ॥ १२ ॥

भारत! दुःशासन, कौरवसेना और संशप्तकोंकी समृद्धि-शालिनी वाहिनीने असह्य वेगशाली, शस्त्रधारियोंमें श्रेष्ठ तथा युद्धमें भयंकर प्रतीत होनेवाले भीमसेनपर चढ़ाई की ॥१२॥

कर्णात्मजं तत्र जघान वीर-
स्तथाच्छिनच्चोत्तमौजाः प्रसह्य।
तस्योत्तमाङ्गं निपपात भूमौ
निनादयद् गां निनदेन खं च ॥ १३ ॥

वीर उत्तमौजाने हठपूर्वक वहाँ कर्णपुत्र सुषेणपर घातक प्रहार किया और उसका मस्तक काट डाला। सुषेणका वह मस्तक अपने आर्तनादसे आकाश और पृथ्वीको प्रतिध्वनित करता हुआ भूमिपर गिर पड़ा ॥ १३ ॥

सुषेणशीर्षं पतितं पृथिव्यां
विलोक्य कर्णोऽथ तदार्तरूपः।
क्रोधाद्धयांस्तस्य रथं ध्वजं च
बाणैः सुधारैर्निशितैरकृन्तत् ॥ १४ ॥

सुषेणके मस्तकको पृथ्वीपर पड़ा देख कर्ण शोकसे आतुर हो उठा। उसने कुपित हो उत्तम धारवाले पैने बाणोंसे उत्तमौजाके रथ, ध्वज और घोड़ोंको काट डाला ॥ १४ ॥

स तूत्तमौजा निशितैः पृषत्कै-
र्विव्याध खड्गेन च भास्वरेण।
पार्ष्णिं हयांश्चैव कृपस्य हत्वा
शिखण्डिवाहं स ततोऽध्यरोहत् ॥ १५ ॥

तब उत्तमौजाने तीखे बाणोंसे कर्णको बींध डाला और (जब कृपाचार्यने बाधा दी तब) चमचमाती हुई तलवारसे कृपाचार्यके पृष्ठरक्षकों और घोड़ोंको मारकर वह शिखण्डीके रथपर आरूढ़ हो गया ॥ १५ ॥

कृपं तु दृष्ट्वा विरथं रथस्थो
नैच्छच्छरैस्ताडयितुं शिखण्डी।
तं द्रौणिरावार्य रथं कृपस्य
समुज्जह्रे पङ्कगतां यथा गाम् ॥ १६ ॥

कृपाचार्यको रथहीन देख रथपर बैठे हुए शिखण्डीने उनपर बाणोंसे आघात करनेकी इच्छा नहीं की। तब अश्वत्थामाने शिखण्डीको रोककर कीचड़में फँसी हुई गायके समान कृपाचार्यके रथका उद्धार किया ॥ १६ ॥

हिरण्यवर्मा निशितैः पृषत्कै-
स्तवात्मजानामनिलात्मजो वै।
अतापयत् सैन्यमतीव भीमः
काले शुचौ मध्यगतो यथार्कः ॥ १७ ॥

जैसे आषाढ़मासमें दोपहरका सूर्य अत्यन्त ताप प्रदान करता है, उसी प्रकार सुवर्णकवचधारी वायुपुत्र भीमसेन आपके पुत्रोंकी सेनाको तीखे बाणोंद्वारा अधिक संताप देने लगे ॥ १७ ॥

इति श्रीमहाभारते कर्णपर्वणि संकुलद्वन्द्वयुद्धे पञ्चसप्ततितमोऽध्यायः ॥ ७५ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत कर्णपर्वमें संकुलद्वन्द्वयुद्धविषयक पचहत्तरवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ७५ ॥

षट्सप्ततितमोऽध्यायः

भीमसेनका अपने सारथि विशोकसे संवाद

संजय उवाच

अथ त्विदानीं तुमुले विमर्दे
द्विषद्भिरेको बहुभिः समावृतः।
महारणे सारथिमित्युवाच
भीमश्चमूं वाहय धार्तराष्ट्रीम् ॥ १ ॥

संजय कहते हैं—राजन्! उस समय उस घमासान युद्धमें बहुत-से शत्रुओंद्वारा अकेले घिरे हुए भीमसेन महासमरमें अपने सारथिसे बोले—'सारथे! अब तुम रथको धृतराष्ट्र-पुत्रोंकी सेनाकी ओर ले चलो ॥ १ ॥

त्वं सारथे याहि जवेन वाहै-
र्नयाम्येतान् धार्तराष्ट्रान् यमाय।
संचोदितो भीमसेनेन चैवं
स सारथिः पुत्रबलं त्वदीयम् ॥ २ ॥
प्रायात् ततः सत्वरमुग्रवेगो
यतो भीमस्तद् बलं गन्तुमैच्छत्।
ततोऽपरे नागरथाश्वपत्तिभिः
प्रत्युद्ययुस्तं कुरवः समन्तात् ॥ ३ ॥

'सूत! तुम अपने वाहनोंद्वारा वेगपूर्वक आगे बढ़ो। जिससे इन धृतराष्ट्रपुत्रोंको मैं यमलोक भेज सकूँ।' भीमसेनके इस प्रकार आदेश देनेपर सारथि तुरंत ही भयंकर वेगसे युक्त हो आपके पुत्रोंकी सेनाकी ओर, जिधर भीमसेन जाना चाहते थे, चल दिया। तब अन्यान्य कौरवोंने हाथी, घोड़े,

रथ और पैदलोंकी विशाल सेना साथ ले सब ओरसे उनपर आक्रमण किया ॥ २-३ ॥

भीमस्य वाहाग्र्यमुदारवेगं
समन्ततो बाणगणैर्निजघ्नुः ।
ततः शरानापततो महात्मा
चिच्छेद बाणैस्तपनीयपुङ्खैः ॥ ४ ॥

वे भीमसेनके अत्यन्त वेगशाली श्रेष्ठ रथपर चारों ओरसे बाणसमूहोंद्वारा प्रहार करने लगे; परंतु महामनस्वी भीमसेनने अपने ऊपर आते हुए उन बाणोंको सुवर्णमय पंखवाले बाणोंद्वारा काट डाला ॥ ४ ॥

ते वै निपेतुस्तपनीयपुङ्खा
द्विधा त्रिधा भीमशरैर्निकृत्ताः ।
ततो राजन् नागरथाश्वयूनां
भीमाहतानां वरराजमध्ये ॥ ५ ॥
घोरो निनादः प्रबभौ नरेन्द्र
वज्राहतानामिव पर्वतानाम् ।

वे सोनेकी पाँखवाले बाण भीमसेनके बाणोंसे दो-दो तीन-तीन टुकड़ोंमें कटकर गिर गये । राजन् ! नरेन्द्र ! तत्पश्चात् श्रेष्ठ राजाओंकी मण्डलीमें भीमसेनके द्वारा मारे गये हाथियों, रथों, घोड़ों और पैदल युवकोंका भयंकर आर्तनाद प्रकट होने लगा, मानो वज्रके मारे हुए पहाड़ फट पड़े हों ॥५½॥

ते वध्यमानाश्च नरेन्द्रमुख्या
निर्भिद्यन्तो भीमशरप्रवेकैः ॥ ६ ॥
भीमं समन्तात् समरेऽभ्यरोहन्
वृक्षं शकुन्ता इव जातपक्षाः ।

जैसे जिनके पंख निकल आये हैं, वे पक्षी सब ओरसे उड़कर किसी वृक्षपर चढ़ बैठते हैं, उसी प्रकार भीमसेनके उत्तम बाणोंसे आहत और विदीर्ण होनेवाले प्रधान-प्रधान नरेश समराङ्गणमें सब ओरसे भीमसेनपर ही चढ़ आये॥६½॥

ततोऽभियाते तव सैन्ये स भीमः
प्रादुश्चक्रे वेगमनन्तवेगः ॥ ७ ॥
यथान्तकाले क्षपयन् दिधक्षु-
र्भूतान्तकृत् काल इवात्तदण्डः।

आपकी सेनाके आक्रमण करनेपर अनन्त वेगशाली भीमसेनने अपना महान् वेग प्रकट किया । ठीक उसी तरह, जैसे प्रलयकालमें समस्त प्राणियोंका संहार करनेवाला काल हाथमें दण्ड लिये सबको नष्ट और दग्ध करनेकी इच्छासे असीम वेग प्रकट करता है ॥ ७½ ॥

तस्यातिवेगस्य रणेऽतिवेगं
नाशक्नुवन् वारयितुं त्वदीयाः॥ ८ ॥
व्यात्ताननस्यापततो यथैव
कालस्य काले हरतः प्रजा वै ।

अत्यन्त वेगशाली भीमसेनके महान् वेगको आपके सैनिक रणभूमिमें रोक न सके । जैसे प्रलयकालमें मुँह बाकर आक्रमण करनेवाले प्रजासंहारकारी कालके वेगको कोई नहीं रोक सकता ॥ ८½ ॥

ततो बलं भारत भारतानां
प्रदह्यमानं समरे महात्मना ॥ ९ ॥
भीतं दिशोऽकीर्यत भीमनुन्नं
महानिलेनाभ्रगणा यथैव ।

भारत ! तदनन्तर समराङ्गणमें महामना भीमसेनके द्वारा दग्ध होती हुई कौरवसेना भयभीत हो सम्पूर्ण दिशाओंमें बिखर गयी । जैसे आँधी बादलोंको छिन्न-भिन्न कर देती है, उसी प्रकार भीमसेनने आपके सैनिकोंको मार भगाया था ॥ ९½ ॥

ततो धीमान् सारथिमब्रवीद् बली
स भीमसेनः पुनरेव हृष्टः ॥ १० ॥
सूताभिजानीहि स्वकान् परान् वा
रथान् ध्वजांश्चापततः समेतान् ।
युद्धयन् ह्यहं नाभिजानामि किंचि-
न्मा सैन्यं स्वं छादयिष्ये पृषत्कैः ॥ ११ ॥

तत्पश्चात् बलवान् और बुद्धिमान् भीमसेन हर्षसे उल्लसित हो अपने सारथिसे पुनः इस प्रकार बोले—'सूत ! ये जो बहुत-से रथ और ध्वज एक साथ इधर बढ़े आ रहे हैं, उन्हें पहचानो तो सही ! ये अपने पक्षके हैं या शत्रुपक्षके ? क्योंकि युद्ध करते समय मुझे अपने-परायेका ज्ञान नहीं रहता, कहीं ऐसा न हो कि अपनी ही सेनाको बाणोंसे आच्छादित कर डालूँ ॥ १०-११ ॥

अरीन् विशोकाभिनिरीक्ष्य सर्वतो
मनस्तु चिन्ता प्रदुनोति मे भृशम्।
राजाऽऽतुरो नागमद् यत् किरीटी
बहूनि दुःखान्यभियातोऽस्मि सूत॥ १२ ॥

'विशोक ! सम्पूर्ण दिशाओंमें शत्रुओंको देखकर उठी हुई चिन्ता मेरे हृदयको अत्यन्त संतप्त कर रही है; क्योंकि राजा युधिष्ठिर बाणोंके आघातसे पीड़ित हैं और किरीटधारी अर्जुन अभीतक उनका समाचार लेकर लौटे नहीं । सूत ! इन सब कारणोंसे मुझे बहुत दुःख हो रहा है ॥ १२ ॥

एतद् दुःखं सारथे धर्मराजो
यन्मां हित्वा यातवाञ्शत्रुमध्ये ।
नैनं जीवं नाद्य जानाम्यजीवं
बीभत्सुं वा तन्ममाद्यातिदुःखम् ॥ १३ ॥

'सारथे ! पहले तो इस बातका दुःख हो रहा है कि धर्मराज मुझे छोड़कर स्वयं ही शत्रुओंके बीचमें चले गये । पता नहीं, वे अबतक जीवित हैं या नहीं ? अर्जुनका भी कोई समाचार नहीं मिला; इससे आज मुझे अधिक दुःख है ।

सोऽहं द्विषत्सैन्यमुदग्रकल्पं
विनाशयिष्ये परमप्रतीतः ।

एतद्विदित्वाजिमध्ये समेतं
प्रीतो भविष्यामि सह त्वयाद्य ॥ १४ ॥

'अच्छा, अब मैं अत्यन्त विश्वस्त होकर शत्रुओंकी प्रचण्ड सेनाका विनाश करूँगा। यहाँ एकत्र हुई इस सेनाको युद्धस्थलमें नष्ट करके मैं तुम्हारे साथ ही आज प्रसन्नताका अनुभव करूँगा ॥ १४ ॥

सर्वास्तूणान् सायकानामवेक्ष्य
किं शिष्टं स्यात् सायकानां रथे मे।
का वा जातिः किं प्रमाणं च तेषां
ज्ञात्वा व्यक्तं तत् समाचक्ष्व सूत॥ १५ ॥
(कति वा सहस्राणि कति वा शतानि
ह्याचक्ष्व मे सारथे क्षिप्रमेव ॥

'सूत ! तुम मेरे रथपर रक्खे हुए बाणोंके सारे तरकसोंकी देख-भाल करके ठीक-ठीक समझकर मुझे स्पष्टरूपसे बताओ कि अब उनमें कितने बाण अवशिष्ट रह गये हैं ? किस-किस जातिके बाण बचे हैं और उनकी संख्या कितनी है ? सारथे ! शीघ्र बताओ, कौन बाण कितने हजार और कितने सौ शेष हैं ?' ॥ १५ ॥

विशोक उवाच

सर्वं विदित्वैवमहं वदामि
तवार्थसिद्धिप्रदमद्य वीर ॥
कैकेयकाम्बोजसुराष्ट्रबाह्लिका
म्लेच्छाश्च सुह्माः परतङ्गणाश्च।
मद्राश्च वङ्गा मगधाः कुलिन्दा
ह्यानर्तकावर्तकाः पर्वतीयाः ॥
सर्वे गृहीतप्रवरायुधास्त्वां
संख्ये समावेष्ट्य ततो विनेदुः ॥)

विशोकने कहा—वीर ! मैं आज सब कुछ पता लगाकर आपके मनोरथकी सिद्धि करनेवाली बात बता रहा हूँ, कैकेय, काम्बोज, सौराष्ट्र, बाह्लिक, म्लेच्छ, सुह्म, परतङ्गण, मद्र, वङ्ग, मगध, कुलिन्द, आनर्त, आवर्त और पर्वतीय, सभी योद्धा हाथोंमें श्रेष्ठ आयुध लिये आपको चारों ओरसे घेरकर युद्धस्थलमें शत्रुओंका सामना करनेके लिये गरज रहे हैं ॥

षण्मार्गणानामयुतानि वीर
क्षुराश्च भल्लाश्च तथायुताख्याः।
नाराचानां द्वे सहस्रे च वीर
त्रीण्येव च प्रदराणां स्म पार्थ ॥ १६ ॥

वीरवर ! अभी अपने पास साठ हजार मार्गण हैं, दस-दस हजार क्षुर और भल्ल हैं, दो हजार नाराच शेष हैं तथा पार्थ ! तीन हजार प्रदर बाकी रह गये हैं ॥ १६ ॥

अस्त्यायुधं पाण्डवेयावशिष्टं
न यद् वहेच्छकटं षड्गवीयम्।
एतद् विद्वन् मुञ्च सहस्रशोऽपि
गदासिबाहुद्रविणं च तेऽस्ति ॥ १७ ॥
प्रासाश्च मुद्गराः शक्तयस्तोमराश्च
मा भैषीस्त्वं सङ्क्षयादायुधानाम् ॥ १८ ॥

पाण्डुनन्दन ! अभी इतने आयुध शेष हैं कि छः बैलोंसे जुता हुआ छकड़ा भी उन्हें नहीं खींच सकता। विद्वन् ! इन सहस्रों अस्त्रोंका आप प्रयोग कीजिये। अभी तो आपके पास बहुत-सी गदाएँ, तलवारें और बाहुबलकी सम्पत्ति है। इसी प्रकार बहुतेरे प्रास, मुद्गर, शक्ति और तोमर बाकी बचे हैं। आप इन आयुधोंके समाप्त हो जानेके डरमें न रहिये १७-१८

भीमसेन उवाच

सूताद्यैनं पश्य भीमप्रयुक्तैः
संछिन्दद्भिः पार्थिवानां सुवेगैः।
छन्नं बाणैराहवं घोररूपं
नष्टादित्यं मृत्युलोकेन तुल्यम् ॥ १९ ॥

भीमसेन बोले—सूत ! आज इस युद्धस्थलकी ओर दृष्टिपात करो। भीमसेनके छोड़े हुए अत्यन्त वेगशाली बाणोंने राजाओंका विनाश करते हुए सारे रणक्षेत्रको आच्छादित कर दिया है, जिससे सूर्य भी अदृश्य हो गये हैं और यह भूमि यमलोकके समान भयंकर प्रतीत होती है ॥१९॥

अद्यैतद् वै विदितं पार्थिवानां
भविष्यति ह्याकुमारं च सूत।
निमग्नो वा समरे भीमसेन
एकः कुरून् वा समरे व्यजैषीत्॥ २० ॥

सूत ! आज बच्चोंसे लेकर बूढ़ोंतक समस्त भूपालोंको यह विदित हो जायगा कि भीमसेन समरसागरमें डूब गये अथवा उन्होंने अकेले ही समस्त कौरवोंको युद्धमें जीत लिया ॥२०॥

सर्वे संख्ये कुरवो निष्पतन्तु
मां वा लोकाः कीर्तयन्त्वाकुमारम्।
सर्वानेकस्तानहं पातयिष्ये
ते वा सर्वे भीमसेनं तुदन्तु ॥ २१ ॥

आज युद्धस्थलमें समस्त कौरव धराशायी हो जायँ अथवा बालकोंसे लेकर वृद्धोंतक सब लोग मुझ भीमसेनको ही रणभूमिमें गिरा हुआ बतावें ! मैं अकेला ही उन समस्त कौरवोंको मार गिराऊँगा अथवा वे ही सब लोग मुझ भीमसेनको पीड़ित करें ॥ २१ ॥

आशास्तारः कर्म चाप्युत्तमं ये
तन्मे देवाः केवलं साधयन्तु।
आयात्विहाद्यार्जुनः शत्रुघाती
शक्रस्तूर्णं यज्ञ इवोपहूतः ॥ २२ ॥

जो उत्तम कर्मोंका उपदेश देनेवाले हैं, वे देवता लोग मेरा केवल एक कार्य सिद्ध कर दें। जैसे यज्ञमें आवाहन करनेपर इन्द्रदेव तुरंत पदार्पण करते हैं, उसी प्रकार शत्रुघाती अर्जुन यहाँ शीघ्र ही आ पहुँचे ॥ २२ ॥

(पश्यस्व पश्यस्व विशोक मे त्वं
बलं परेषामभिघातभिन्नम्।

नानास्वरान् पश्य विमुच्य सर्वे
तथा द्रवन्ते बलिनो धार्तराष्ट्राः॥)

विशोक ! देखो, देखो, मेरा बल। मेरे आघातोंसे शत्रुओंकी सेना विदीर्ण हो उठी है। देखो, धृतराष्ट्रके सभी बलवान् पुत्र नाना प्रकारके आर्तनाद करते हुए भागने लगे हैं ॥

ईक्षस्वैतां भारतीं दीर्यमाणा-
मेते कस्माद् विद्रवन्ते नरेन्द्राः।
व्यक्तं धीमान् सव्यसाची नराग्र्यः
सैन्यं ह्येतच्छादयत्याशु बाणैः॥ २३॥

सारथे ! इस कौरवसेनापर तो दृष्टिपात करो। इसमें भी दरार पड़ती जा रही है। ये राजालोग क्यों भाग रहे हैं ? इससे तो स्पष्ट जान पड़ता है कि बुद्धिमान् नरश्रेष्ठ अर्जुन आ गये। वे ही अपने बाणोंद्वारा शीघ्रतापूर्वक इस सेनाको आच्छादित कर रहे हैं॥ २३॥

पश्य ध्वजांश्च द्रवतो विशोक
नागान् हयान् पत्तिसंघांश्च संख्ये।
रथान् विकीर्णाञ्शरशक्तिताडितान्
पश्यस्वैतान् रथिनश्चैव सूत॥ २४॥

विशोक ! युद्धस्थलमें भागते हुए रथोंकी ध्वजाओं, हाथियों, घोड़ों और पैदलसमूहोंको देखो। सूत ! बाणों और शक्तियोंसे प्रताड़ित होकर बिखरे पड़े हुए इन रथों और रथियोंपर भी दृष्टिपात करो॥ २४॥

आपूर्यते कौरवी चाप्यभीक्ष्णं
सेना ह्यसौ सुभृशं हन्यमाना।
धनंजयस्याशनितुल्यवेगै-
र्ग्रस्ता शरैः काञ्चनबर्हिवाजैः॥ २५॥

अर्जुनके बाण वज्रके समान वेगशाली हैं। उनमें सोने और मयूरपिच्छके पंख लगे हैं। उन बाणोंद्वारा आक्रान्त हुई यह कौरवसेना अत्यन्त मार पड़नेके कारण बारंबार आर्तनाद कर रही है॥ २५॥

एते द्रवन्ति स्म रथाश्वनागाः
पदातिसङ्घानतिमर्दयन्तः।
सम्मुह्यमानाः कौरवाः सर्व एव
द्रवन्ति नागा इव दावभीताः॥ २६॥

ये रथ, घोड़े और हाथी पैदलसमूहोंको कुचलते हुए भागे जा रहे हैं। प्रायः सभी कौरव अचेत-से होकर दावानलके दाहसे डरे हुए हाथियोंके समान पलायन कर रहे हैं २६

हाहाकृताश्चैव रणे विशोक
मुञ्चन्ति नादान् विपुलान् गजेन्द्राः॥ २७॥

विशोक ! रणभूमिमें सब ओर हाहाकार मचा हुआ है। बहुसंख्यक गजराज बड़े जोर-जोरसे चीत्कार कर रहे हैं॥२७॥

विशोक उवाच

किं भीम नैनं त्वमिहाश्रृणोषि
विस्फारितं गाण्डिवस्यातिघोरम्।
क्रुद्धेन पार्थेन विकृष्यतोऽद्य
कच्चिन्नेमौ तव कर्णौ विनष्टौ॥ २८॥

विशोकने कहा—भीमसेन ! क्रोधमें भरे हुए अर्जुनके द्वारा खींचे जाते हुए गाण्डीव धनुषकी यह अत्यन्त भयंकर टंकार क्या आज आपको सुनायी नहीं दे रही है ? आपके ये दोनों कान बहरे तो नहीं हो गये हैं ?॥ २८॥

सर्वे कामाः पाण्डव ते समृद्धाः
कपिर्ह्यसौ दृश्यते हस्तिसैन्ये।
नीलाद् घनाद् विद्युतमुच्चरन्तीं
तथा पश्य विस्फुरन्तीं धनुर्ज्याम्॥ २९॥

पाण्डुनन्दन ! आपकी सारी कामनाएँ सफल हुईं। हाथियोंकी सेनामें अर्जुनके रथकी ध्वजाका वह वानर दिखायी दे रहा है। काले मेघसे प्रकट होनेवाली बिजलीके समान चमकती हुई गाण्डीव धनुषकी प्रत्यञ्चाको देखिये॥ २९॥

कपिर्ह्यसौ वीक्षते सर्वतो वै
ध्वजाग्रमारुह्य धनंजयस्य।
वित्रासयन् रिपुसंघान् विमर्दे
बिभेम्यस्मादात्मनैवाभिवीक्ष्य॥ ३०॥

अर्जुनकी ध्वजाके अग्रभागपर आरूढ़ हो वह वानर सब ओर देखता और युद्धस्थलमें शत्रुसमूहोंको भयभीत करता है। मैं स्वयं भी देखकर उससे डर रहा हूँ॥ ३०॥

विभ्राजते चातिमात्रं किरीटं
विचित्रमेतच्च धनंजयस्य।
दिवाकराभो मणिरेष दिव्यो
विभ्राजते चैव किरीटसंस्थः॥ ३१॥

धनंजयका यह विचित्र मुकुट अत्यन्त प्रकाशित हो रहा है। इस मुकुटमें लगी हुई यह दिव्य मणि दिवाकरके समान देदीप्यमान होती है॥ ३१॥

पार्श्वे भीमं पाण्डुराभ्रप्रकाशं
पश्यस्व शङ्खं देवदत्तं सुघोषम्।
अभीषुहस्तस्य जनार्दनस्य
विगाहमानस्य चमूं परेषाम्॥ ३२॥
रविप्रभं वज्रनाभं क्षुरान्तं
पार्श्वे स्थितं पश्य जनार्दनस्य।
चक्रं यशोवर्धनं केशवस्य
सदार्चितं यदुभिः पश्य वीर॥ ३३॥

वीर ! अर्जुनके पार्श्वभागमें श्वेत बादलके समान प्रकाशित होनेवाला और गम्भीर घोष करनेवाला देवदत्त नामक भयानक शङ्ख रक्खा हुआ है, उसपर दृष्टिपात कीजिये। साथ ही हाथोंमें घोड़ोंकी बागडोर लिये शत्रुओंकी सेनामें घुसे जाते हुए भगवान् श्रीकृष्णकी बगलमें सूर्यके समान प्रकाशमान चक्र विद्यमान है, जिसकी नाभिमें वज्र और किनारेके भागोंमें छुरे लगे हुए हैं। भगवान् केशवका वह

चक्र उनका यश बढ़ानेवाला है। सम्पूर्ण यदुवंशी सदा उसकी पूजा करते हैं। आप उस चक्रको भी देखिये ॥ ३२-३३ ॥

महाद्विपानां सरलद्रुमोपमाः
करा निकृत्ताः प्रपतन्त्यमी क्षुरैः।
किरीटिना तेन पुनः ससादिनः
शरैर्निकृत्ताः कुलिशैरिवाद्रयः॥ ३४ ॥

अर्जुनके छुरनामक बाणोंसे कटे हुए ये बड़े-बड़े हाथियोंके शुण्डदण्ड देवदारुके समान गिर रहे हैं। फिर उन्हीं किरीटीके बाणोंसे छिन्न-भिन्न हो वज्रके मारे हुए पर्वतोंके समान वे हाथी सवारोंसहित धराशायी हो रहे हैं ॥ ३४ ॥

तथैव कृष्णस्य च पाञ्चजन्यं
महार्हमेतं द्विजराजवर्णम्।
कौन्तेय पश्योरसि कौस्तुभं च
जाज्वल्यमानं विजयां स्रजं च ॥ ३५ ॥

कुन्तीनन्दन! भगवान् श्रीकृष्णके इस बहुमूल्य पाञ्चजन्य शङ्खको, जो चन्द्रमाके समान श्वेतवर्ण है, देखिये। साथ ही उनके वक्षःस्थलपर अपनी प्रभासे प्रज्वलित होनेवाली कौस्तुभमणि तथा वैजयन्ती मालापर भी दृष्टिपात कीजिये ॥ ३५ ॥

ध्रुवं रथाग्र्यः समुपैति पार्थो
विद्रावयन् सैन्यमिदं परेषाम्।
सिताभ्रवर्णैरसितप्रयुक्तै-
र्हयैर्महार्है रथिनां वरिष्ठः ॥ ३६ ॥

निश्चय ही रथियोंमें श्रेष्ठ कुन्तीनन्दन अर्जुन शत्रुओंकी सेनाको खदेड़ते हुए इधर ही आ रहे हैं। सफेद बादलोंके समान श्वेत कान्तिवाले उनके महामूल्यवान् अश्व श्यामसुन्दर श्रीकृष्णद्वारा संचालित हो रहे हैं ॥ ३६ ॥

रथान् हयान् पत्तिगणांश्च सायकै-
र्विदारितान् पश्य पतन्त्यमी यथा।
तवानुजेनामरराजतेजसा
महावनानीव सुपर्णवायुना ॥ ३७ ॥

देखिये, जैसे गरुड़के पंखसे उठी हुई वायुके द्वारा बड़े-बड़े जंगल धराशायी हो जाते हैं, उसी प्रकार देवराज इन्द्रके तुल्य तेजस्वी आपके छोटे भाई अर्जुन बाणोंद्वारा शत्रुओंके रथों, घोड़ों और पैदलसमूहोंको विदीर्ण कर रहे हैं और वे सब-के-सब पृथ्वीपर गिरते जा रहे हैं ॥ ३७ ॥

चतुःशतान् पश्य रथानिमान् हतान्
सवाजिसूतान् समरे किरीटिना।
महेषुभिः सप्तशतानि दन्तिनां
पदातिसादींश्च रथाननेकशः ॥ ३८ ॥

वह देखिये, किरीटधारी अर्जुनने समराङ्गणमें सारथि और घोड़ोंसहित इन चार सौ रथियोंको मार डाला तथा अपने विशाल बाणोंद्वारा सात सौ हाथियों, बहुत-से पैदलों, घुड़सवारों और अनेकानेक रथोंका संहार कर डाला ॥ ३८ ॥

अयं समभ्येति तवान्तिकं बली
निघ्नन् कुरूंश्चित्र इव ग्रहोऽर्जुनः।
समृद्धकामोऽसि हतास्तवाहिता
बलं तवायुश्च चिराय वर्धताम् ॥ ३९ ॥

विचित्र ग्रहके समान ये बलवान् अर्जुन कौरवोंका संहार करते हुए आपके निकट आ रहे हैं। अब आपकी कामना सफल हुई। आपके शत्रु मारे गये। इस समय चिरकालके लिये आपका बल और आयु बढ़े ॥ ३९ ॥

भीमसेन उवाच

ददानि ते ग्रामवरांश्चतुर्दश
प्रियाख्याने सारथे सुप्रसन्नः।
दासीशतं चापि रथांश्च विंशतिं
यदर्जुनं वेदयसे विशोक ॥ ४० ॥

भीमसेनने कहा—विशोक! तुम अर्जुनके आनेका समाचार सुना रहे हो। सारथे! इस प्रिय संवादसे मुझे बड़ी प्रसन्नता हुई है; अतः मैं तुम्हें चौदह बड़े-बड़े गाँवकी जागीर देता हूँ। साथ ही सौ दासियाँ तथा बीस रथ तुम्हें पारितोषिकके रूपमें प्राप्त होंगे ॥ ४० ॥

इति श्रीमहाभारते कर्णपर्वणि भीमसेनविशोकसंवादे षट्सप्ततितमोऽध्यायः ॥ ७६ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत कर्णपर्वमें भीमसेन और विशोकका संवादविषयक छिहत्तरवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ७६ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठके ३½ श्लोक मिलाकर कुल ४३½ श्लोक हैं)

सप्तसप्ततितमोऽध्यायः

अर्जुन और भीमसेनके द्वारा कौरवसेनाका संहार तथा भीमसेनसे शकुनिकी पराजय एवं दुर्योधनादि धृतराष्ट्रपुत्रोंका सेनासहित भागकर कर्णका आश्रय लेना

संजय उवाच

श्रुत्वा तु रथनिर्घोषं सिंहनादं च संयुगे।
अर्जुनः प्राह गोविन्दं शीघ्रं नोदय वाजिनः ॥ १ ॥

संजय कहते हैं—राजन्! उधर युद्धस्थलमें शत्रुओंके रथोंकी घर्घराहट और सिंहनाद सुनकर अर्जुनने श्रीकृष्णसे कहा—'प्रभो! घोड़ोंको जल्दी-जल्दी हाँकिये' ॥ १ ॥

अर्जुनस्य वचः श्रुत्वा गोविन्दोऽर्जुनमब्रवीत्।
एष गच्छामि सुक्षिप्रं यत्र भीमो व्यवस्थितः ॥ २ ॥

अर्जुनकी बात सुनकर श्रीकृष्णने उनसे कहा—'यह लो, मैं बहुत जल्दी उस स्थानपर जा पहुँचता हूँ, जहाँ भीमसेन खड़े हैं' ॥ २ ॥

तं यान्तमश्वैर्हिमशङ्खवर्णैः
सुवर्णमुक्तामणिजालनद्धैः ।
जम्भं जिघांसुं प्रगृहीतवज्रं
जयाय देवेन्द्रमिवोग्रमन्युम् ॥ ३ ॥
रथाश्वमातङ्गपदातिसंघा
बाणस्वनैर्नेमिखुरस्वनैश्च ।
संनादयन्तो वसुधां दिशश्च
क्रुद्धा नृसिंहा जयमभ्युदीयुः ॥ ४ ॥

जैसे देवराज इन्द्र हाथमें वज्र लेकर जम्भासुरको मार डालनेकी इच्छासे मनमें भयानक क्रोध भरकर चले थे, उसी प्रकार अर्जुन भी शत्रुओंको जीतनेके लिये भयंकर क्रोधसे युक्त हो सुवर्ण, मुक्ता और मणियोंके जालसे आबद्ध हुए हिम और शङ्खके समान श्वेत कान्तिवाले अश्वोंद्वारा यात्रा कर रहे थे। उस समय क्रोधमें भरे हुए शत्रुपक्षके पुरुषसिंह वीर, रथी, घुड़सवार, हाथीसवार और पैदलों-के समूह अपने बाणोंकी सनसनाहट, पहियोंकी घर्घराहट तथा टापोंके टप-टपकी आवाजसे सम्पूर्ण दिशाओं और पृथ्वीको प्रतिध्वनित करते हुए अर्जुनका सामना करने-के लिये आगे बढ़े ॥ ३–४ ॥

तेषां च पार्थस्य च मारिषासीद्
देहासुपापक्षपणं सुयुद्धम् ।
त्रैलोक्यहेतोरसुरैर्यथाऽऽसीद्
देवस्य विष्णोर्जयतां वरस्य ॥ ५ ॥

मान्यवर! फिर तो त्रिलोकीके राज्यके लिये जैसे असुरोंके साथ भगवान् विष्णुका युद्ध हुआ था, उसी प्रकार विजयी वीरोंमें श्रेष्ठ कुन्तीकुमार अर्जुनका उन योद्धाओं-के साथ घोर संग्राम होने लगा, जो उनके शरीर, प्राण और पापोंका विनाश करनेवाला था ॥ ५ ॥

तैरस्तमुच्चावचमायुधं त-
देकः प्रचिच्छेद किरीटमाली ।
क्षुरार्धचन्द्रैर्निशितैश्च भल्लैः
शिरांसि तेषां बहुधा च बाहून् ॥ ६ ॥
छत्राणि वालव्यजनानि केतू-
नश्वान् रथान् पत्तिगणान् द्विपांश्च ।
ते पेतुरुर्व्यां बहुधा विरूपा
वातप्रणुन्नानि यथा वनानि ॥ ७ ॥

उनके चलाये हुए छोटे-बड़े सभी अस्त्र-शस्त्रोंको अकेले किरीटमाली अर्जुनने छुर, अर्धचन्द्र तथा तीखे भल्लोंसे काट डाला। साथ ही उनके मस्तकों, भुजाओं, छत्रों, चवरों, ध्वजाओं, अश्वों, रथों, पैदलसमूहों तथा हाथियोंके भी टुकड़े-टुकड़े कर डाले। वे सब अनेक टुकड़ोंमें बँटकर विरूप हो आँधीके उखाड़े हुए वनोंके समान पृथ्वीपर गिर पड़े ॥

सुवर्णजालावतता महागजाः
सवैजयन्तीध्वजयोधकल्पिताः ।
सुवर्णपुङ्खैरिषुभिः समाचिता-
श्चकाशिरे प्रज्वलिता यथाचलाः ॥ ८ ॥

सोनेकी जालियोंसे आच्छादित, वैजयन्ती ध्वजासे सुशो-भित तथा योद्धाओंद्वारा सुसज्जित किये हुए बड़े-बड़े हाथी सुवर्णमय पंखवाले बाणोंसे व्याप्त हो प्रज्वलित पर्वतोंके समान प्रकाशित हो रहे थे ॥ ८ ॥

विदार्य नागाश्वरथान् धनंजयः
शरोत्तमैर्वासववज्रसंनिभैः ।
द्रुतं ययौ कर्णजिघांसया तथा
यथा मरुत्वान् बलभेदने पुरा ॥ ९ ॥

जैसे पूर्वकालमें इन्द्रने बलासुरका विनाश करनेके लिये बड़े वेगसे यात्रा की थी, उसी प्रकार अर्जुन कर्णको मार डालनेकी इच्छासे इन्द्रके वज्रसदृश उत्तम बाणोंद्वारा शत्रुओं-के हाथी, घोड़ों और रथोंको विदीर्ण करते हुए शीघ्रतापूर्वक आगे बढ़े ॥ ९ ॥

ततः स पुरुषव्याघ्रस्तव सैन्यमरिंदमः ।
प्रविवेश महाबाहुर्मकरः सागरं यथा ॥ १० ॥

तदनन्तर जैसे मगर समुद्रमें घुस जाता है, उसी प्रकार शत्रुओंका दमन करनेवाले पुरुषसिंह महाबाहु अर्जुनने आप-की सेनाके भीतर प्रवेश किया ॥ १० ॥

तं दृष्ट्वास्तावका राजन् रथपत्तिसमन्विताः ।
गजाश्वसादिबहुलाः पाण्डवं समुपाद्रवन् ॥ ११ ॥

राजन्! उस समय हर्षमें भरे हुए आपके रथियों और पैदलोंसहित हाथीसवार तथा घुड़सवार सैनिक जिनकी संख्या बहुत अधिक थी, पाण्डुपुत्र अर्जुनपर टूट पड़े ॥ ११ ॥

तेषामापततां पार्थमारावः सुमहानभूत् ।
सागरस्येव क्षुब्धस्य यथा स्यात् सलिलस्वनः ॥ १२ ॥

पार्थपर आक्रमण करते हुए उन सैनिकोंका महान् कोलाहल विक्षुब्ध समुद्रके जलकी गम्भीर ध्वनिके समान सब ओर गूँज उठा ॥ १२ ॥

ते तु तं पुरुषव्याघ्रं व्याघ्रा इव महारथाः ।
अभ्यद्रवन्त संग्रामे त्यक्त्वा प्राणकृतं भयम् ॥ १३ ॥

वे महारथी संग्राममें प्राणोंका भय छोड़कर बाघके समान पुरुषसिंह अर्जुनकी ओर दौड़े ॥ १३ ॥

तेषामापततां तत्र शरवर्षाणि मुञ्चताम् ।
अर्जुनो व्यधमत् सैन्यं महावातो घनानिव ॥ १४ ॥

परंतु जैसे आँधी बादलोंको छिन्न-भिन्न कर देती है, उसी प्रकार अर्जुनने बाणोंकी वर्षापूर्वक आक्रमण करनेवाले उन समस्त योद्धाओंका संहार कर डाला ॥ १४ ॥

तेऽर्जुनं सहिता भूत्वा रथवंशैः प्रहारिणः ।
अभियाय महेष्वासा विव्यधुर्निशितैः शरैः ॥ १५ ॥

तब वे महाधनुर्धर योद्धा संगठित हो रथसमूहोंके साथ चढ़ाई करके अर्जुनको तीखे बाणोंसे घायल करने लगे ॥ १५ ॥

(शक्तिभिस्तोमरैः प्रासैः कुणपैः कूटमुद्गरैः ।
शूलैस्त्रिशूलैः परिघैः भिन्दिपालैः परश्वधैः ॥
करवालैर्हेमदण्डैर्यष्टिभिर्मुसलैर्हलैः ।
प्रहृष्टाश्चक्रिरे पार्थं समन्ताद् गूढमायुधैः ॥)

उन हर्षभरे योद्धाओंने शक्ति, तोमर, प्रास, कुणप, कूट, मुद्गर, शूल, त्रिशूल, परिघ, भिन्दिपाल, परशु, खड्ग, हेमदण्ड, डंडे, मुसल और हल आदि आयुधोंद्वारा अर्जुनको सब ओरसे ढक दिया ॥

ततोऽर्जुनः सहस्राणि रथवारणवाजिनाम् ।
प्रेषयामास विशिखैर्यमस्य सदनं प्रति ॥ १६ ॥

तब अर्जुनने अपने बाणोंद्वारा शत्रुपक्षके सहस्रों रथों, हाथियों और घोड़ोंको यमलोक भेजना आरम्भ किया ॥१६॥

ते वध्यमानाः समरे पार्थचापच्युतैः शरैः ।
तत्र तत्र स्म लीयन्ते भये जाते महारथाः ॥ १७ ॥

अर्जुनके धनुषसे छूटे हुए बाणोंद्वारा समराङ्गणमें मारे जाते हुए कौरव महारथी भयके मारे इधर-उधर छिपने लगे ॥

तेषां चतुःशतान् वीरान् यतमानान् महारथान् ।
अर्जुनो निशितैर्बाणैरनयद् यमसादनम् ॥ १८ ॥

उनमेंसे चार सौ वीर महारथी यत्नपूर्वक लड़ते रहे, जिन्हें अर्जुनने अपने पैने बाणोंसे यमलोक पहुँचा दिया॥१८॥

ते वध्यमानाः समरे नानालिङ्गैः शितैः शरैः ।
अर्जुनं समभित्यज्य दुद्रुवुर्वै दिशो दश ॥ १९ ॥

संग्राममें नाना प्रकारके चिह्नोंसे युक्त तीखे बाणोंकी मार खाकर वे सैनिक अर्जुनको छोड़कर दसों दिशाओंमें भाग गये ॥ १९ ॥

तेषां शब्दो महानासीद् द्रवतां वाहिनीमुखे ।
महौघस्येव जलधेर्गिरिमासाद्य दीर्यतः ॥ २० ॥

युद्धके मुहानेपर भागते हुए उन योद्धाओंका महान् कोलाहल वैसा ही जान पड़ता था, जैसा कि समुद्रके महान् जलप्रवाहके पर्वतसे टकरानेपर होता है ॥ २० ॥

तां तु सेनां भृशं विद्ध्वा द्रावयित्वार्जुनः शरैः ।
प्रायादभिमुखः पार्थः सूतानीकं हि मारिष ॥ २१ ॥

मान्यवर नरेश ! उस सेनाको अपने बाणोंसे अत्यन्त घायल करके भगा देनेके पश्चात् कुन्तीकुमार अर्जुन कर्णकी सेनाके सामने चले ॥ २१ ॥

तस्य शब्दो महानासीत् परानभिमुखस्य वै ।
गरुडस्येव पततः पन्नगार्थे यथा पुरा ॥ २२ ॥

शत्रुओंकी ओर उन्मुख हुए उनके रथका महान् शब्द वैसा ही प्रतीत होता था, जैसा कि पहले किसी सर्पको पकड़नेके लिये झपटते हुए गरुड़के पंखसे प्रकट हुआ था ॥२२॥

तं तु शब्दमभिश्रुत्य भीमसेनो महाबलः ।
बभूव परमप्रीतः पार्थदर्शनलालसः ॥ २३ ॥

उस शब्दको सुनकर महाबली भीमसेन अर्जुनके दर्शनकी लालसासे बड़े प्रसन्न हुए ॥ २३ ॥

श्रुत्वैव पार्थमायान्तं भीमसेनः प्रतापवान् ।
त्यक्त्वा प्राणान् महाराज सेनां तव ममर्द ह ॥ २४ ॥

महाराज ! पार्थका आना सुनते ही प्रतापी भीमसेन प्राणोंका मोह छोड़कर आपकी सेनाका मर्दन करने लगे ॥

स वायुवीर्यप्रतिमो वायुवेगसमो जवे ।
वायुवद् व्यचरद् भीमो वायुपुत्रः प्रतापवान् ॥ २५ ॥

प्रतापी वायुपुत्र भीमसेन वायुके समान वेगशाली थे । बल और पराक्रममें भी वायुकी ही समानता रखते थे । वे उस रणभूमिमें वायुके समान विचरण करने लगे ॥ २५ ॥

तेनार्द्यमाना राजेन्द्र सेना तव विशाम्पते ।
व्यभ्रश्यत महाराज भिन्ना नौरिव सागरे ॥ २६ ॥

महाराज ! प्रजानाथ ! राजेन्द्र ! उनसे पीड़ित हुई आपकी सेना समुद्रमें टूटी हुई नावके समान पथभ्रष्ट होने लगी ॥ २६ ॥

तां तु सेनां तदा भीमो दर्शयन् पाणिलाघवम् ।
शरैरवचकर्तोग्रैः प्रेषयिष्यन् यमक्षयम् ॥ २७ ॥

उस समय भीमसेन अपने हाथोंकी फुर्ती दिखाते हुए आपकी उस सेनाको यमलोक भेजनेके लिये भयंकर बाणोंद्वारा छिन्न-भिन्न करने लगे ॥ २७ ॥

तत्र भारत भीमस्य बलं दृष्ट्वातिमानुषम् ।
व्यभ्रमन्त रणे योधाः कालस्येव युगक्षये ॥ २८ ॥

भारत ! उस समय प्रलयकालीन कालके समान भीमसेनके अलौकिक बलको देखकर रणभूमिमें सारे योद्धा इधर-उधर भटकने लगे ॥ २८ ॥

तथार्दितान् भीमबलान् भीमसेनेन भारत ।
दृष्ट्वा दुर्योधनो राजा इदं वचनमब्रवीत् ॥ २९ ॥

भरतनन्दन ! भयंकर बलशाली अपने सैनिकोंको भीमसेनके द्वारा इस प्रकार पीड़ित देखकर राजा दुर्योधनने उनसे निम्नाङ्कित वचन कहा ॥ २९ ॥

सैनिकांश्च महेष्वासान् योधांश्च भरतर्षभ ।
समादिशन् रणे सर्वान् हत भीममिति स्म ह ॥ ३० ॥

भरतश्रेष्ठ ! उसने अपने महाधनुर्धर समस्त सैनिकों और योद्धाओंको रणभूमिमें इस प्रकार आदेश देते हुए कहा— 'तुम सब लोग मिलकर भीमसेनको मार डालो ॥ ३० ॥

तस्मिन् हते हतं मन्ये पाण्डुसैन्यमशेषतः ।
प्रतिगृह्य च तामाज्ञां तव पुत्रस्य पार्थिवाः ॥ ३१ ॥
भीमं प्रच्छादयामासुः शरवर्षैः समन्ततः ।

'उनके मारे जानेपर मैं सारी पाण्डवसेनाको मरी हुई ही मानता हूँ ।' आपके पुत्रकी इस आज्ञाको शिरोधार्य करके समस्त राजाओंने चारों ओरसे बाणवर्षा करके भीमसेनको ढक दिया ॥ ३१½ ॥

गजाश्च बहुला राजन् नराश्च जयगृद्धिनः ॥ ३२ ॥
रथे स्थिताश्च राजेन्द्र परिवव्रुर्वृकोदरम् ।

राजन्! राजेन्द्र! बहुतमे हाथियों, विजयाभिलाषी पैदल मनुष्यों तथा रथियोंने भी भीमसेनको घेर लिया था॥

स तैः परिवृतः शूरैः शूरो राजन् समन्ततः॥ ३३॥
शुशुभे भरतश्रेष्ठो नक्षत्रैरिव चन्द्रमाः।

नरेश्वर! उन शूरवीरोंद्वारा सब ओरसे घिरे हुए शौर्य-सम्पन्न भरतश्रेष्ठ भीम नक्षत्रोंसे घिरे हुए चन्द्रमाके समान सुशोभित होने लगे॥ ३३½॥

परिवेषी यथा सोमः परिपूर्णो विराजते॥ ३४॥
स रराज तथा संख्ये दर्शनीयो नरोत्तमः।
निर्विशेषो महाराज यथा हि विजयस्तथा॥ ३५॥

जैसे घेरेसे घिरे हुए पूर्णिमाके चन्द्रमा प्रकाशित होते हों, उसी प्रकार युद्धस्थलमें दर्शनीय नरश्रेष्ठ भीमसेन शोभा पा रहे थे। महाराज! वे अर्जुनके समान ही प्रतीत होते थे। उनमें और अर्जुनमें कोई अन्तर नहीं रह गया था॥

तस्य ते पार्थिवाः सर्वे शरवृष्टिं समासृजन्।
क्रोधरक्तेक्षणाः शूरा हन्तुकामा वृकोदरम्॥ ३६॥

तदनन्तर क्रोधसे लाल आँखें किये वे समस्त शूरवीर भूपाल भीमसेनको मार डालनेकी इच्छासे उनके ऊपर बाणोंकी वर्षा करने लगे॥ ३६॥

तां विदार्य महासेनां शरैः संनतपर्वभिः।
निश्चक्राम रणाद् भीमो मत्स्यो जालादिवाम्भसि॥ ३७॥

यह देख भीमसेनने झुकी हुई गाँठवाले बाणोंसे उस विशाल सेनाको विदीर्ण करके उसी प्रकार उसके घेरेसे बाहर निकल आये, जैसे कोई-कोई मत्स्य पानीमें डाले हुए जालको छेदकर बाहर निकल जाता है॥ ३७॥

हत्वा दशसहस्राणि गजानामनिवर्तिनाम्।
नृणां शतसहस्रे द्वे द्वे शते चैव भारत॥ ३८॥
पञ्च चाश्वसहस्राणि रथानां शतमेव च।
हत्वा प्रास्यन्दयद् भीमो नदीं शोणितवाहिनीम्॥ ३९॥

भारत! युद्धसे पीछे न हटनेवाले दस हजार गजराजों, दो लाख और दो सौ पैदल मनुष्यों, पाँच हजार घोड़ों और सौ रथोंको नष्ट करके भीमसेनने वहाँ रक्तकी नदी बहा दी॥ ३८-३९॥

शोणितोदां रथावर्तां हस्तिग्राहसमाकुलाम्।
नरमीनाश्वनक्रान्तां केशशैवलशाद्वलाम्॥ ४०॥
संछिन्नभुजनागेन्द्रां बहुरत्नापहारिणीम्।
ऊरुग्राहां मज्जपङ्कां शीर्षोपलसमावृताम्॥ ४१॥
धनुष्काशां शरावापां गदापरिघपन्नगाम्।
हंसच्छत्रध्वजोपेतामुष्णीषवरफेनिलाम्॥ ४२॥
हारपद्माकरां चैव भूमिरेणूर्मिमालिनीम्।
आर्यवृत्तवतां संख्ये सुतरां भीरुदुस्तराम्॥ ४३॥
योधग्राहवतीं संख्ये वहन्तीं यमसादनम्।
क्षणेन पुरुषव्याघ्रः प्रावर्तयत निम्नगाम्॥ ४४॥
यथा वैतरणीमुग्रां दुस्तरामकृतात्मभिः।
तथा दुस्तरणीं घोरां भीरूणां भयवर्धिनीम्॥ ४५॥

रक्त ही उस नदीका जल था, रथ भँवरके समान जान पड़ते थे, हाथीरूपी ग्राहोंसे वह नदी भरी हुई थी, मनुष्य, मत्स्य और घोड़े नाकोंके समान जान पड़ते थे, सिरके बाल उसमें सेवार और घासके समान थे। कटी हुई भुजाएँ बड़े-बड़े सर्पोंका भ्रम उत्पन्न करती थीं। वह बहुतसे रत्नोंको बहाये लिये जाती थी। उसके भीतर पड़ी हुई जाँघें ग्राहोंके समान जान पड़ती थीं। मज्जा पङ्कका काम देती थी, मस्तक पत्थरके टुकड़ोंके समान वहाँ छा रहे थे, धनुष किनारे उगे हुए कासके समान जान पड़ते थे। बाण ही वहाँके अङ्कुर थे, गदा और परिघ सर्पोंके समान प्रतीत होते थे। छत्र और ध्वज उसमें हंसके सदृश दिखायी पड़ते थे। पगड़ी फेनका भ्रम उत्पन्न करती थी। हार कमलवनके समान प्रतीत होते थे। धरतीकी धूल तरङ्गमाला बनकर शोभा दे रही थी। योद्धा ग्राह आदि जलजन्तुओं-से प्रतीत होते थे। युद्धस्थलमें बहनेवाली वह रक्तनदी यमलोककी ओर जा रही थी, वैतरणीके समान वह सदाचारी पुरुषोंके लिये सुगमतासे पार होने योग्य और कायरोंके लिये दुस्तर थी। पुरुषसिंह भीमसेनने क्षणभरमें वैतरणीके समान भयंकर रक्तकी नदी बहा दी थी। वह अकृतात्मा पुरुषोंके लिये दुस्तर, घोर एवं भीरु पुरुषोंका भय बढ़ानेवाली थी॥ ४०—४५॥

यतो यतः पाण्डवेयः प्रविष्टो रथसत्तमः।
ततस्ततोऽघातयत योधाञ्शतसहस्रशः॥ ४६॥

रथियोंमें श्रेष्ठ पाण्डुनन्दन भीमसेन जिस-जिस ओर घुसते, उसी ओर लाखों योद्धाओंका संहार कर डालते थे॥ ४६॥

एवं दृष्ट्वा कृतं कर्म भीमसेनेन संयुगे।
दुर्योधनो महाराज शकुनिं वाक्यमब्रवीत्॥ ४७॥

महाराज! युद्धस्थलमें भीमसेनके द्वारा किये गये ऐसे कर्मको देखकर दुर्योधनने शकुनिसे कहा—॥ ४७॥

जहि मातुल संग्रामे भीमसेनं महाबलम्।
अस्मिञ्जिते जितं मन्ये पाण्डवेयं महाबलम्॥ ४८॥

'मामाजी! आप संग्राममें महाबली भीमसेनको मार डालिये। यदि इनको जीत लिया गया तो मैं समझूँगा कि पाण्डवोंकी विशाल सेना ही जीत ली गयी'॥ ४८॥

ततः प्रायान्महाराज सौबलेयः प्रतापवान्।
रणाय महते युक्तो भ्रातृभिः परिवारितः॥ ४९॥
स समासाद्य संग्रामे भीमं भीमपराक्रमम्।
वारयामास तं वीरो वेलेव मकरालयम्॥ ५०॥

महाराज! तब भाइयोंसे घिरा हुआ प्रतापी सुबलपुत्र शकुनि महान् युद्धके लिये उद्यत हो आगे बढ़ा। संग्राममें भयानक पराक्रमी भीमसेनके पास पहुँचकर उस वीरने उन्हें उसी तरह रोक दिया, जैसे तटकी भूमि समुद्रको रोक देती है॥ ४९-५०॥

संन्यवर्तत तं भीमो वार्यमाणः शितैः शरैः ।
शकुनिस्तस्य राजेन्द्र वामपार्श्वे स्तनान्तरे ॥ ५१ ॥
प्रेषयामास नाराचान् रुक्मपुङ्खाञ्छिलाशितान्।

राजेन्द्र ! उसके तीखे बाणोंसे रोके जाते हुए भीमसेन उसीकी ओर लौट पड़े ! उस समय शकुनिने उनकी बायीं पसली और छातीमें सोनेके पंखवाले और शिलापर तेज किये हुए कई नाराच मारे ॥ ५१½ ॥

वर्म भित्त्वा तु ते घोराः पाण्डवस्य महात्मनः ॥ ५२॥
न्यमज्जन्त महाराज कङ्कबर्हिणवाससः ।

महाराज ! कङ्क और मयूरके पंखवाले वे भयंकर नाराच महामनस्वी पाण्डुपुत्र भीमसेनका कवच छेदकर उनके शरीरमें डूब गये ॥ ५२½ ॥

सोऽतिविद्धो रणे भीमः शरं रुक्मविभूषितम् ॥ ५३ ॥
प्रेषयामास स रुषा सौबलं प्रति भारत ।

भारत ! तब रणभूमिमें अत्यन्त घायल हुए भीमसेनने कुपित हो शकुनिकी ओर एक सुवर्णभूषित बाण चलाया ॥

तमायान्तं शरं घोरं शकुनिः शत्रुतापनः ॥ ५४ ॥
चिच्छेद सप्तधा राजन् कृतहस्तो महाबलः ।

राजन् ! शत्रुओंको संताप देनेवाला महाबली शकुनि सिद्धहस्त था । उसने अपनी ओर आते हुए उस भयंकर बाणके सात टुकड़े कर डाले ॥ ५४½ ॥

तस्मिन् निपतिते भूमौ भीमः क्रुद्धो विशाम्पते ॥ ५५ ॥
धनुश्चिच्छेद भल्लेन सौबलस्य हसन्निव ।

राजन् ! उस बाणके धराशायी हो जानेपर भीमसेनने क्रोधपूर्वक हँसते हुए-से एक भल्ल मारकर शकुनिके धनुषको काट दिया ॥ ५५½ ॥

तदपास्य धनुश्छिन्नं सौबलेयः प्रतापवान् ॥ ५६ ॥
अन्यदादाय वेगेन धनुर्भल्लांश्च षोडश ।

प्रतापी सुबलपुत्र शकुनिने उस कटे हुए धनुषको फेंककर बड़े वेगसे दूसरा धनुष हाथमें ले लिया और उसके द्वारा सोलह भल्ल चलाये ॥ ५६½ ॥

तैस्तस्य तु महाराज भल्लैः संनतपर्वभिः ॥ ५७ ॥
द्वाभ्यां स सारथिं ह्यार्च्छद् भीमं सप्तभिरेव च।

महाराज ! झुकी हुई गाँठवाले उन भल्लोंमेंसे दोके द्वारा शकुनिने भीमसेनके सारथिको और सातसे स्वयं भीमसेनको भी घायल कर दिया ॥ ५७½ ॥

ध्वजमेकेन चिच्छेद द्वाभ्यां छत्रं विशाम्पते ॥ ५८ ॥
चतुर्भिश्चतुरो वाहान् विव्याध सुबलात्मजः ।

प्रजानाथ ! फिर सुबलपुत्रने एक बाणसे ध्वजको, दो बाणोंसे छत्रको और चार बाणोंसे उनके चारों घोड़ोंको भी घायल कर दिया ॥ ५८½ ॥

ततः क्रुद्धो महाराज भीमसेनः प्रतापवान् ॥ ५९ ॥
शक्तिं चिक्षेप समरे रुक्मदण्डामयस्मयीम् ।

महाराज ! तब क्रोधमें भरे हुए प्रतापी भीमसेनने समराङ्गणमें शकुनिपर सुवर्णमय दण्डवाली एक लोहेकी शक्ति चलायी ॥ ५९½ ॥

सा भीमभुजनिर्मुक्ता नागजिह्वेव चञ्चला ॥ ६० ॥
निपपात रणे तूर्णं सौबलस्य महात्मनः ।

भीमसेनके हाथोंसे छूटी हुई सर्पकी जिह्वाके समान वह चञ्चल शक्ति रणभूमिमें तुरंत ही महामना शकुनिपर जा पड़ी ॥ ६०½ ॥

ततस्तामेव संगृह्य शक्तिं कनकभूषणाम् ॥ ६१ ॥
भीमसेनाय चिक्षेप क्रुद्धरूपो विशाम्पते ।

राजन् ! क्रोधमें भरे हुए शकुनिने उस सुवर्णभूषित शक्तिको हाथसे पकड़ लिया और उसीको भीमसेनपर दे मारा ॥

सा निर्भिद्य भुजं सव्यं पाण्डवस्य महात्मनः ॥ ६२ ॥
निपपात तदा भूमौ यथा विद्युन्नभश्च्युता ।

आकाशसे गिरी हुई बिजलीके समान वह शक्ति महामनस्वी पाण्डुपुत्र भीमसेनकी बायीं भुजाको विदीर्ण करके तत्काल भूमिपर गिर पड़ी ॥ ६२½ ॥

अथोत्क्रुष्टं महाराज धार्तराष्ट्रैः समन्ततः ॥ ६३ ॥
न तु तं ममृषे भीमः सिंहनादं तरस्विनाम् ।

महाराज ! यह देखकर धृतराष्ट्रके पुत्रोंने चारों ओरसे गर्जना की; परंतु भीमसेन उन वेगशाली वीरोंका वह सिंहनाद नहीं सह सके ॥ ६३½ ॥

अन्यद् गृह्य धनुः सज्यं त्वरमाणो महाबलः ॥ ६४ ॥
मुहूर्तादिव राजेन्द्र च्छादयामास सायकैः ।
सौबलस्य बलं संख्ये त्यक्त्वाऽऽत्मानं महाबलः॥६५॥

राजेन्द्र ! महाबली भीमने बड़ी उतावलीके साथ दूसरा धनुष लेकर उसपर प्रत्यञ्चा चढ़ायी और युद्धमें अपने जीवनका मोह छोड़कर सुबलपुत्रकी सेनाको उसी समय बाणोंद्वारा ढक दिया ॥ ६४-६५ ॥

तस्याश्वांश्चतुरो हत्वा सूतं चैव विशाम्पते ।
ध्वजं चिच्छेद भल्लेन त्वरमाणः पराक्रमी ॥ ६६ ॥

प्रजानाथ ! पराक्रमी भीमसेनने फुर्ती दिखाते हुए शकुनिके चारों घोड़ों और सारथिको मारकर एक भल्लके द्वारा उसके ध्वजको भी काट दिया ॥ ६६ ॥

हताश्वं रथमुत्सृज्य त्वरमाणो नरोत्तमः ।
तस्थौ विस्फारयंश्चापं क्रोधरक्तेक्षणः श्वसन् ॥ ६७ ॥

उस समय नरश्रेष्ठ शकुनि उस अश्वहीन रथको छोड़कर क्रोधसे लाल आँखें किये लंबी साँस खींचता और धनुषकी टङ्कार करता हुआ तुरंत भूमिपर खड़ा हो गया ॥ ६७ ॥

शरैश्च बहुधा राजन् भीममार्च्छत् समन्ततः ।
प्रतिहत्य तु वेगेन भीमसेनः प्रतापवान् ॥ ६८ ॥
धनुश्चिच्छेद संक्रुद्धो विव्याध च शितैः शरैः।

राजन् ! उसने अपने बाणोंद्वारा भीमसेनपर सब ओरसे

बारंबार प्रहार किया, किंतु प्रतापी भीमसेनने बड़े वेगसे उसके बाणोंको नष्ट करके अत्यन्त कुपित हो उसका धनुष काट डाला और पैने बाणोंसे उसे घायल कर दिया ॥ ६८½ ॥

सोऽतिविद्धो बलवता शत्रुणा शत्रुकर्शनः ॥ ६९ ॥
निपपात तदा भूमौ किंचित्प्राणो नराधिपः ।

बलवान् शत्रुके द्वारा अत्यन्त घायल किया हुआ शत्रुसूदन राजा शकुनि तत्काल पृथ्वीपर गिर पड़ा । उस समय उसमें जीवनका कुछ-कुछ लक्षण शेष था ॥ ६९½ ॥

ततस्तं विह्वलं ज्ञात्वा पुत्रस्तव विशाम्पते ॥ ७० ॥
अपोवाह रथेनाजौ भीमसेनस्य पश्यतः ।

प्रजानाथ ! उसे विह्वल जानकर आपका पुत्र दुर्योधन रणभूमिमें रथके द्वारा भीमसेनके देखते-देखते अन्यत्र हटा ले गया ॥ ७०½ ॥

रथस्थे तु नरव्याघ्रे धार्तराष्ट्राः पराङ्मुखाः ॥ ७१ ॥
प्रदुद्रुवुर्दिशो भीता भीमाज्जाते महाभये ।

पुरुषसिंह भीमसेन रथपर ही बैठे रहे । उनसे महान् भय प्राप्त होनेके कारण धृतराष्ट्रके सभी पुत्र युद्धसे मुँह मोड़, डरकर सम्पूर्ण दिशाओंमें भाग गये ॥ ७१½ ॥

सौबले निर्जिते राजन् भीमसेनेन धन्विना ॥ ७२ ॥
भयेन महताऽऽविष्टः पुत्रो दुर्योधनस्तव ।
अपायाज्जवनैरश्वैः सापेक्षो मातुलं प्रति ॥ ७३ ॥

राजन् ! धनुर्धर भीमसेनके द्वारा शकुनिके परास्त हो जानेपर आपके पुत्र दुर्योधनको बड़ा भय हुआ । वह मामाके जीवनकी रक्षा चाहता हुआ वेगशाली घोड़ोंद्वारा वहाँसे भाग निकला ॥ ७२-७३ ॥

पराङ्मुखं तु राजानं दृष्ट्वा सैन्यानि भारत ।
विप्रजग्मुः समुत्सृज्य द्वैरथानि समन्ततः ॥ ७४ ॥

भारत ! राजा दुर्योधनको युद्धसे विमुख हुआ देख सारी सेनाएँ सब ओरसे द्वैरथ युद्ध छोड़कर भाग चलीं ॥ ७४ ॥

तान् दृष्ट्वा विद्रुतान् सर्वान् धार्तराष्ट्रान् पराङ्मुखान् ।
जवेनाभ्यापतद् भीमः किरञ्शरशतान् बहून् ॥ ७५ ॥

धृतराष्ट्रके सभी पुत्रोंको युद्धसे विमुख होकर भागते देख भीमसेन कई सौ बाणोंकी वर्षा करते हुए बड़े वेगसे उनपर टूट पड़े ॥ ७५ ॥

ते वध्यमाना भीमेन धार्तराष्ट्राः पराङ्मुखाः ।
कर्णमासाद्य समरे स्थिता राजन् समन्ततः ॥ ७६ ॥

राजन् ! समराङ्गणमें भीमसेनकी मार खाकर युद्धसे विमुख हुए धृतराष्ट्रके पुत्र सब ओरसे कर्णके पास जाकर खड़े हुए ॥ ७६ ॥

स हि तेषां महावीर्यो द्वीपोऽभूत् सुमहाबलः ।
भिन्ननौका यथा राजन् द्वीपमासाद्य निर्वृताः ॥ ७७ ॥
भवन्ति पुरुषव्याघ्र नाविकाः कालपर्यये ।
तथा कर्णं समासाद्य तावकाः पुरुषर्षभ ॥ ७८ ॥
समाश्वस्ताः स्थिता राजन् सम्प्रहृष्टाः परस्परम् ।
समाजग्मुश्च युद्धाय मृत्युं कृत्वा निवर्तनम् ॥ ७९ ॥

उस समय महापराक्रमी महाबली कर्ण ही उन भागते हुए कौरवोंके लिये द्वीपके समान आश्रयदाता हुआ । पुरुषसिंह ! नरेश्वर ! जैसे टूटी हुई नौकावाले नाविक कुछ कालके पश्चात् किसी द्वीपकी शरण लेकर संतुष्ट होते हैं, उसी प्रकार आपके सैनिक कर्णके पास पहुँचकर परस्पर आश्वासन पाकर निर्भय खड़े हुए । फिर मृत्युको ही युद्धसे निवृत्त होनेकी सीमा निश्चित करके वे युद्धके लिये आगे बढ़े ॥

इति श्रीमहाभारते कर्णपर्वणि शकुनिपराजये सप्तसप्ततितमोऽध्यायः ॥ ७७ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत कर्णपर्वमें शकुनिकी पराजयविषयक सतहत्तरवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ७७ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठके २ श्लोक मिलाकर कुल ८१ श्लोक हैं)

अष्टसप्ततितमोऽध्यायः

कर्णके द्वारा पाण्डवसेनाका संहार और पलायन

धृतराष्ट्र उवाच

ततो भग्नेषु सैन्येषु भीमसेनेन संयुगे ।
दुर्योधनोऽब्रवीत् किं नु सौबलो वापि संजय ॥ १ ॥
कर्णो वा जयतां श्रेष्ठो योधा वा मामका युधि ।
कृपो वा कृतवर्मा वा द्रौणिर्दुःशासनोऽपि वा ॥ २ ॥

धृतराष्ट्रने पूछा—संजय ! युद्धस्थलमें भीमसेनके द्वारा जब कौरवसेनाएँ भगा दी गयीं, तब दुर्योधन, शकुनि, विजयी वीरोंमें श्रेष्ठ कर्ण, मेरे अन्य योद्धा कृपाचार्य, कृतवर्मा, अश्वत्थामा अथवा दुःशासनने क्या कहा ? ॥ १-२ ॥

अत्यद्भुतमहं मन्ये पाण्डवेयस्य विक्रमम् ।
यदेकः समरे सर्वान् योधयामास मामकान् ॥ ३ ॥

मैं पाण्डुनन्दन भीमसेनका पराक्रम बड़ा अद्भुत मानता हूँ कि उन्होंने अकेले ही समराङ्गणमें मेरे समस्त योद्धाओंके साथ युद्ध किया ॥ ३ ॥

यथाप्रतिज्ञं योधानां राधेयः कृतवानपि ।
कुरूणामथ सर्वेषां कर्णः शत्रुनिषूदनः ॥ ४ ॥
शर्म वर्म प्रतिष्ठा च जीविताशा च संजय ।

शत्रुसूदन राधापुत्र कर्णने भी अपनी प्रतिज्ञाके अनुसार सारा कार्य किया । संजय ! वही समस्त कौरव योद्धाओंका कल्याणकारी आश्रय, कवचके समान संरक्षक, प्रतिष्ठा और जीवनकी आशा था ॥ ४½ ॥

तत् प्रभग्नं बलं दृष्ट्वा कौन्तेयेनामितौजसा ॥ ५ ॥
राधेयो वाप्याधिरथिः कर्णः किमकरोद् युधि ।
पुत्रा वा मम दुर्धर्षा राजानो वा महारथाः ।

एतन्मे सर्वमाचक्ष्व कुशलो ह्यसि संजय ॥ ६ ॥

अमिततेजस्वी कुन्तीपुत्र भीमसेनके द्वारा अपनी सेनाको भगायी गयी देख अधिरथ और राधाके पुत्र कर्णने युद्धमें कौन-सा पराक्रम किया ? मेरे पुत्रों अथवा महारथी दुर्धर्ष नरेशोंने क्या किया ? संजय ! यह सब वृत्तान्त मुझे बताओ; क्योंकि तुम कथा कहनेमें कुशल हो ॥ ५-६ ॥

संजय उवाच

अपराह्णे महाराज सूतपुत्रः प्रतापवान् ।
जघान सोमकान् सर्वान् भीमसेनस्य पश्यतः ॥ ७ ॥

संजय बोला—महाराज ! प्रतापी सूतपुत्रने अपराह्न कालमें भीमसेनके देखते-देखते समस्त सोमकोंका संहार कर डाला ॥ ७ ॥

भीमोऽप्यतिबलं सैन्यं धार्तराष्ट्रं व्यपोथयत् ।
अथ कर्णोऽब्रवीच्छल्यं पञ्चालान् प्रापयस्व माम् ॥ ८ ॥

इसी प्रकार भीमसेनने भी कौरवोंकी अत्यन्त बलवती सेनाको मार गिराया । तत्पश्चात् कर्णने शल्यसे कहा—'मुझे पाञ्चालोंके पास ले चलो' ॥ ८ ॥

द्राव्यमाणं बलं दृष्ट्वा भीमसेनेन धीमता ।
यन्तारमब्रवीत् कर्णः पञ्चालानेव मां वह ॥ ९ ॥

बुद्धिमान् भीमसेनके द्वारा कौरवसेनाको भगायी जाती देख रथी कर्णने सारथि शल्यसे कहा—'मुझे पाञ्चालोंकी ओर ही ले चलो' ॥ ९ ॥

मद्रराजस्ततः शल्यः श्वेतानश्वान् महाजवान् ।
प्राहिणोच्चेदिपञ्चालान् करूषांश्च महाबलः ॥ १० ॥

तब महाबली मद्रराज शल्यने महान् वेगशाली श्वेत अश्वोंको चेदि, पाञ्चाल और करूषोंकी ओर हाँक दिया ॥ १० ॥

प्रविश्य च महत् सैन्यं शल्यः परबलार्दनः ।
न्ययच्छत् तुरगान् हृष्टो यत्र यत्रैच्छदग्रणीः ॥ ११ ॥

शत्रुसेनाको पीड़ित करनेवाले शल्यने उस विशाल सेनामें प्रवेश करके जहाँ सेनापतिकी इच्छा हुई, वहीं बड़े हर्षके साथ घोड़ोंको रोक दिया ॥ ११ ॥

तं रथं मेघसंकाशं वैयाघ्रपरिवारणम् ।
संदृश्य पाण्डुपञ्चालास्त्रस्ता ह्यासन् विशाम्पते ॥ १२ ॥

प्रजानाथ ! व्याघ्रचर्मसे आच्छादित और मेघगर्जनके समान गम्भीर घोष करनेवाले उस रथको देखकर पाण्डव तथा पाञ्चाल सैनिक त्रस्त हो उठे ॥ १२ ॥

ततो रथस्य निनदः प्रादुरासीन्महारणे ।
पर्जन्यसमनिर्घोषः पर्वतस्येव दीर्यतः ॥ १३ ॥

तदनन्तर उस महायुद्धमें फटते हुए पर्वत और गर्जते हुए मेघके समान उसके रथका गम्भीर घोष प्रकट हुआ ॥

ततः शरशतैस्तीक्ष्णैः कर्ण आकर्णनिःसृतैः ।
जघान पाण्डवबलं शतशोऽथ सहस्रशः ॥ १४ ॥

तत्पश्चात् कर्णने कानतक खींचकर छोड़े गये सैकड़ों तीखे बाणोंद्वारा पाण्डवसेनाके सैकड़ों और हजारों वीरोंका संहार कर डाला ॥ १४ ॥

तं तथा समरे कर्म कुर्वाणमपराजितम् ।
परिवव्रुर्महेष्वासाः पाण्डवानां महारथाः ॥ १५ ॥

संग्राममें ऐसा पराक्रम प्रकट करनेवाले उस अपराजित वीरको महाधनुर्धर पाण्डव महारथियोंने चारों ओरसे घेर लिया ॥ १५ ॥

तं शिखण्डी च भीमश्च धृष्टद्युम्नश्च पार्षतः ।
नकुलः सहदेवश्च द्रौपदेयाश्च सात्यकिः ॥ १६ ॥
परिवव्रुर्जिघांसन्तो राधेयं शरवृष्टिभिः ।

शिखण्डी, भीमसेन, द्रुपदकुमार धृष्टद्युम्न, नकुल-सहदेव, द्रौपदीके पाँचों पुत्र और सात्यकिने अपने बाणोंकी वर्षाद्वारा राधापुत्र कर्णको मार डालनेकी इच्छासे उसे सब ओरसे घेर लिया ॥ १६½ ॥

सात्यकिस्तु तदा कर्णं विंशत्या निशितैः शरैः ॥ १७ ॥
अताडयद् रणे शूरो जत्रुदेशे नरोत्तमः ।

उस समय शूरवीर नरश्रेष्ठ सात्यकिने रणभूमिमें बीस पैने बाणोंद्वारा कर्णके गलेकी हँसलीपर प्रहार किया ॥ १७½ ॥

शिखण्डी पञ्चविंशत्या धृष्टद्युम्नश्च सप्तभिः ॥ १८ ॥
द्रौपदेयाश्चतुःषष्ट्या सहदेवश्च सप्तभिः ।
नकुलश्च शतेनाजौ कर्णं विव्याध सायकैः ॥ १९ ॥

शिखण्डीने पचीस, धृष्टद्युम्नने सात, द्रौपदीके पुत्रोंने चौसठ, सहदेवने सात और नकुलने सौ बाणोंद्वारा कर्णको युद्धमें घायल कर दिया ॥ १८-१९ ॥

भीमसेनस्तु राधेयं नवत्या नतपर्वणाम् ।
विव्याध समरे क्रुद्धो जत्रुदेशे महाबलः ॥ २० ॥

तदनन्तर महाबली भीमसेनने समरभूमिमें कुपित हो राधापुत्र कर्णके गलेकी हँसलीपर झुकी हुई गाँठवाले नब्बे बाणोंका प्रहार किया ॥ २० ॥

अथ प्रहस्याधिरथिर्व्याक्षिपद् धनुरुत्तमम् ।
मुमोच निशितान् बाणान् पीडयन् सुमहाबलः ॥ २१ ॥

तब अधिरथपुत्र महाबली कर्णने हँसकर अपने उत्तम धनुषकी टंकार की और उन सबको पीड़ा देते हुए उनपर पैने बाणोंका प्रहार आरम्भ किया ॥ २१ ॥

तान् प्रत्यविध्यद् राधेयः पञ्चभिः पञ्चभिः शरैः ।
सात्यकेस्तु धनुश्छित्त्वा ध्वजं च भरतर्षभ ॥ २२ ॥
तं तथा नवभिर्बाणैराजघान स्तनान्तरे ।

भरतश्रेष्ठ ! राधापुत्र कर्णने पाँच-पाँच बाणोंसे उन सबको घायल कर दिया । फिर सात्यकिका ध्वज और धनुष काटकर उनकी छातीमें नौ बाणोंका प्रहार किया ॥ २२½ ॥

भीमसेनं ततः क्रुद्धो विव्याध त्रिंशता शरैः ॥ २३ ॥
सहदेवस्य भल्लेन ध्वजं चिच्छेद मारिष ।

आर्य ! तदनन्तर क्रोधमें भरे हुए कर्णने भीमसेनको

तीस बाणोंसे घायल किया और एक भल्लसे सहदेवकी ध्वजा काट डाली ॥ २३½ ॥

सारथिं च त्रिभिर्बाणैराजघान परंतपः ॥ २४ ॥
विरथान् द्रौपदेयांश्च चकार भरतर्षभ ।
अक्ष्णोर्निमेषमात्रेण तदद्भुतमिवाभवत् ॥ २५ ॥

इतना ही नहीं, शत्रुओंको संताप देनेवाले कर्णने तीन बाणोंसे सहदेवके सारथिको भी मार डाला और पलक मारते-मारते द्रौपदीके पुत्रोंको रथहीन कर दिया । भरतश्रेष्ठ ! वह अद्भुत-सा कार्य हुआ ॥ २४-२५ ॥

विमुखीकृत्य तान् सर्वाञ्शरैः संनतपर्वभिः ।
पञ्चालानहनच्छूरांश्चेदीनां च महारथान् ॥ २६ ॥

उसने झुकी हुई गाँठवाले बाणोंसे उन समस्त वीरोंको युद्धसे विमुख करके पाञ्चालवीरों और चेदि-देशीय महारथियोंको मारना आरम्भ किया ॥ २६ ॥

ते वध्यमानाः समरे चेदिमत्स्या विशाम्पते ।
कर्णमेकमभिद्रुत्य शरसङ्घैः समार्पयन् ॥ २७ ॥

प्रजानाथ ! समरमें घायल होते हुए भी चेदि और मत्स्य देशके वीरोंने एकमात्र कर्णपर धावा करके उसे बाण-समूहोंसे ढक दिया ॥ २७ ॥

ताञ्जघान शितैर्बाणैः सूतपुत्रो महारथः ।
ते वध्यमानाः समरे चेदिमत्स्या विशाम्पते ॥ २८ ॥
प्राद्रवन्त रणे भीताः सिंहत्रस्ता मृगा इव ।

महारथी सूतपुत्रने पैने बाणोंसे उन सबको घायल कर दिया । प्रजानाथ ! समरमें मारे जाते हुए चेदि और मत्स्य देशके वीर सिंहसे डरे हुए मृगोंके समान रणभूमिमें कर्णसे भयभीत हो भागने लगे ॥ २८½ ॥

एतदत्यद्भुतं कर्म दृष्टवानस्मि भारत ॥ २९ ॥
यदेकः समरे शूरान् सूतपुत्रः प्रतापवान् ।
यतमानान् परं शक्त्या योधयानांश्च धन्विनः॥ ३० ॥
पाण्डवेयान् महाराज शरैर्वारितवान् रणे ।

भारत ! महाराज ! यह अद्भुत पराक्रम मैंने अपनी आँखों देखा था कि अकेले प्रतापी सूतपुत्रने समराङ्गणमें पूरी शक्ति लगाकर प्रयत्नपूर्वक युद्ध करनेवाले पाण्डवपक्षीय-धनुर्धर वीरोंको अपने बाणोंद्वारा रणभूमिमें आगे बढ़नेसे रोक दिया ॥ २९-३०½ ॥

तत्र भारत कर्णस्य लाघवेन महात्मनः ॥ ३१ ॥
तुतुषुर्देवताः सर्वाः सिद्धाश्च सह चारणैः ।

भरतनन्दन ! वहाँ महामनस्वी कर्णकी फुर्ती देखकर चारणोंसहित सिद्धगण और सम्पूर्ण देवता बहुत संतुष्ट हुए ॥

अपूजयन् महेष्वासा धार्तराष्ट्रा नरोत्तमम् ॥ ३२ ॥
कर्णं रथवरश्रेष्ठं श्रेष्ठं सर्वधनुष्मताम् ।

धृतराष्ट्रके महाधनुर्धर पुत्र सम्पूर्ण धनुर्धरों तथा रथियोंमें श्रेष्ठ नरोत्तम कर्णकी भूरि-भूरि प्रशंसा करने लगे ॥ ३२½ ॥

ततः कर्णो महाराज ददाह रिपुवाहिनीम् ॥ ३३ ॥
कक्षमिद्धो यथा वह्निर्निदाघे ज्वलितो महान् ।

महाराज ! जैसे ग्रीष्मऋतुमें अत्यन्त प्रज्वलित हुई आग सूखे काठ एवं घास-फूसको जला देती है, उसी प्रकार कर्ण शत्रुसेनाको दग्ध करने लगा ॥ ३३½ ॥

ते वध्यमानाः कर्णेन पाण्डवेयास्ततस्ततः ॥ ३४ ॥
प्राद्रवन्त रणे भीताः कर्णं दृष्ट्वा महारथम् ।

कर्णके द्वारा मारे जाते हुए पाण्डवसैनिक रणभूमिमें उस महारथी वीरको देखते ही भयभीत हो जहाँ-तहाँसे भागने लगे ॥ ३४½ ॥

तत्राक्रन्दो महानासीत् पञ्चालानां महारणे ॥ ३५ ॥
वध्यतां सायकैस्तीक्ष्णैः कर्णचापवरच्युतैः ।

कर्णके धनुषसे छूटे हुए तीखे बाणोंद्वारा मारे जानेवाले पाञ्चालोंका महान् आर्तनाद उस महासमरमें गूँजने लगा ॥

तेन शब्देन वित्रस्ता पाण्डवानां महाचमूः ॥ ३६ ॥
कर्णमेकं रणे योधं मेनिरे तत्र शात्रवाः ।

उस घोर शब्दसे पाण्डवोंकी विशाल सेना भयभीत हो उठी । शत्रुओंके सभी सैनिक रणभूमिमें एकमात्र कर्णको ही सर्वश्रेष्ठ योद्धा मानने लगे ॥ ३६½ ॥

तत्राद्भुतं पुनश्चक्रे राधेयः शत्रुकर्शनः ॥ ३७ ॥
यदेनं पाण्डवाः सर्वे न शेकुरभिवीक्षितुम् ।

शत्रुसूदन राधापुत्रने पुनः वहाँ अद्भुत पराक्रम प्रकट किया, जिससे समस्त पाण्डव-योद्धा उसकी ओर आँख उठाकर देख भी नहीं सके ॥ ३७½ ॥

यथौघः पर्वतश्रेष्ठमासाद्याभिप्रदीर्यते ॥ ३८ ॥
तथा तत् पाण्डवं सैन्यं कर्णमासाद्य दीर्यते ।

जैसे जलका महान् प्रवाह किसी ऊँचे पर्वतसे टकराकर कई धाराओंमें बँट जाता है, उसी प्रकार पाण्डवसेना कर्णके पास पहुँचकर तितर-बितर हो जाती थी ॥ ३८½ ॥

कर्णोऽपि समरे राजन् विधूमोऽग्निरिव ज्वलन्॥ ३९ ॥
दहंस्तस्थौ महाबाहुः पाण्डवानां महाचमूम् ।

राजन् ! समराङ्गणमें धूमरहित अग्निके समान प्रज्वलित होनेवाला महाबाहु कर्ण भी पाण्डवोंकी विशाल सेनाको दग्ध करता हुआ स्थिरभावसे खड़ा रहा ॥ ३९½ ॥

शिरांसि च महाराज कर्णांश्चैव सकुण्डलान् ॥ ४० ॥
बाहूंश्च वीरो वीराणां चिच्छेद लघु चेषुभिः ।

महाराज ! वीर कर्णने बाणोंद्वारा पाण्डव-पक्षके वीरोंके मस्तक, कुण्डलसहित कान तथा भुजाएँ शीघ्रतापूर्वक काट डालीं ॥ ४०½ ॥

हस्तिदन्तत्सरून् खड्गान् ध्वजाञ्शक्तीर्हयान् गजान्॥
रथांश्च विविधान् राजन् पताका व्यजनानि च ।
अक्षं च युगयोक्त्राणि चक्राणि विविधानि च॥ ४२ ॥
चिच्छेद बहुधा कर्णो योधव्रतमनुष्ठितः ।

राजन् ! योद्धाओंके व्रतका पालन करनेवाले कर्णने हाथी-दाँतकी बनी हुई मूँठवाले खड्गों, ध्वजों, शक्तियों, घोड़ों, हाथियों, नाना प्रकारके रथों, पताकाओं, व्यजनों, धुरों, जूओं, जोतों और भाँति-भाँतिके पहियोंके टुकड़े-टुकड़े कर डाले ॥ ४१-४२½ ॥

तत्र भारत कर्णेन निहतैर्गजवाजिभिः ॥ ४३ ॥
अगम्यरूपा पृथिवी मांसशोणितकर्दमा ।

भारत ! वहाँ कर्णद्वारा मारे गये हाथियों और घोड़ोंकी लाशोंसे पृथ्वीपर चलना असम्भव हो गया । रक्त और मांसकी कीच जम गयी ॥ ४३½ ॥

विषमं च समं चैव हतैरश्वपदातिभिः ॥ ४४ ॥
रथैश्च कुञ्जरैश्चैव न प्राज्ञायत किञ्चन ।

मरे हुए घोड़ों, पैदलों, रथों और हाथियोंसे पट जानेके कारण वहाँकी ऊँची-नीची भूमिका कुछ पता नहीं लगता था ॥

नापि स्वे न परे योधाः प्राज्ञायन्त परस्परम् ॥ ४५ ॥
घोरे शरान्धकारे तु कर्णास्त्रे च विजृम्भिते ।

कर्णका अस्त्र जब वेगपूर्वक बढ़ने लगा तो वहाँ बाणोंसे घोर अन्धकार छा गया । उसमें अपने और शत्रुपक्षके योद्धा परस्पर पहचाने नहीं जाते थे ॥ ४५½ ॥

राधेयचापनिर्मुक्तैः शरैः काञ्चनभूषणैः ॥ ४६ ॥
संछादिता महाराज पाण्डवानां महारथाः ।

महाराज ! राधापुत्रके धनुषसे छूटे हुए सुवर्णभूषित बाणोंद्वारा समस्त पाण्डव महारथी आच्छादित हो गये ॥

ते पाण्डवेयाः समरे राधेयेन पुनः पुनः ॥ ४७ ॥
अभज्यन्त महाराज यतमाना महारथाः ।

महाराज ! समरभूमिमें प्रयत्नपूर्वक युद्ध करनेवाले पाण्डवपक्षके महारथी राधापुत्र कर्णके द्वारा बारंबार भागनेको विवश कर दिये जाते थे ॥ ४७½ ॥

मृगसङ्घान् यथा क्रुद्धः सिंहो द्रावयते वने ॥ ४८ ॥
पञ्चालानां रथश्रेष्ठान् द्रावयञ्शात्रवांस्तथा ।
कर्णस्तु समरे योधांस्त्रासयन् सुमहायशाः ॥ ४९ ॥
कालयामास तत् सैन्यं यथा पशुगणान् वृकः ।

जैसे वनमें कुपित हुआ सिंह मृगसमूहोंको खदेड़ता रहता है, उसी प्रकार शत्रुपक्षके पाञ्चाल महारथियोंको भगाता हुआ महायशस्वी कर्ण समराङ्गणमें समस्त योद्धाओंको त्रास देने लगा । जैसे भेड़िया पशुसमूहोंको भयभीत करके भगा देता है, उसी प्रकार कर्णने पाण्डवसेनाको खदेड़ दिया ॥

दृष्ट्वा तु पाण्डवीं सेनां धार्तराष्ट्राः पराङ्मुखीम् ॥ ५० ॥
तत्राजग्मुर्महेष्वासा रुवन्तो भैरवान् रवान् ।

पाण्डवसेनाको युद्धसे विमुख हुई देख आपके महाधनुर्धर पुत्र भीषण गर्जना करते हुए वहाँ आ पहुँचे ॥

दुर्योधनो हि राजेन्द्र मुदा परमया युतः ॥ ५१ ॥
वादयामास संहृष्टो नानावाद्यानि सर्वशः ।

राजेन्द्र ! उस समय दुर्योधनको बड़ी प्रसन्नता हुई । वह हर्षमें भरकर सब ओर नाना प्रकारके बाजे बजवाने लगा ॥

पञ्चालापि महेष्वासा भग्नास्तत्र नरोत्तमाः ॥ ५२ ॥
न्यवर्तन्त यथा शूरं मृत्युं कृत्वा निवर्तनम् ।

उस समय वहाँ भगे हुए महाधनुर्धर नरश्रेष्ठ पाञ्चाल मृत्युको ही युद्धसे लौटनेकी अवधि निश्चित करके पुनः सूतपुत्र कर्णसे जूझनेके लिये लौट आये ॥ ५२½ ॥

तान् निवृत्तान् रणे शूरान् राधेयः शत्रुतापनः ॥ ५३ ॥
अनेकशो महाराज बभञ्ज पुरुषर्षभः ।

महाराज ! शत्रुओंको संताप देनेवाला पुरुषश्रेष्ठ राधापुत्र कर्ण उन लौटे हुए शूरवीरोंको रणभूमिमें बारंबार भगा देता था ॥

तत्र भारत कर्णेन पञ्चाला विंशती रथाः ॥ ५४ ॥
निहताः सायकैः क्रोधाच्चेदयश्च परः शताः ।

भरतनन्दन ! कर्णने वहाँ बाणोंद्वारा बीस पाञ्चाल रथियों और सौसे भी अधिक चेदिदेशीय योद्धाओंको क्रोधपूर्वक मार डाला ॥ ५४½ ॥

कृत्वा शून्यान् रथोपस्थान् वाजिपृष्ठांश्च भारत ॥ ५५ ॥
निर्मनुष्यान् गजस्कन्धान् पादातांश्चैव विद्रुतान् ।

भारत ! उसने रथकी बैठकें सूनी कर दीं, घोड़ोंकी पीठें खाली कर दीं, हाथियोंके पीठों और कंधोंपर कोई मनुष्य नहीं रहने दिये और पैदलोंको भी मार भगाया ॥ ५५½ ॥

आदित्य इव मध्याह्ने दुर्निरीक्ष्यः परंतपः ॥ ५६ ॥
कालान्तकवपुः शूरः सूतपुत्रोऽभ्यराजत ।

इस प्रकार शत्रुओंको तपानेवाला कर्ण मध्याह्नकालके सूर्यकी भाँति तप रहा था । उस समय उसकी ओर देखना कठिन हो गया था । शूरवीर सूतपुत्रका शरीर काल और अन्तकके समान सुशोभित हो रहा था ॥ ५६½ ॥

एवमेतन्महाराज नरवाजिरथद्विपान् ॥ ५७ ॥
हत्वा तस्थौ महेष्वासः कर्णोऽरिगणसूदनः ।
यथा भूतगणान् हत्वा कालस्तिष्ठेन्महाबलः ॥ ५८ ॥
तथा स सोमकान् हत्वा तस्थावेको महारथः ।

महाराज ! इस प्रकार शत्रुसूदन महाधनुर्धर कर्ण शत्रुपक्षके पैदल, घोड़े, रथ और हाथियोंका संहार करके अविचल भावसे खड़ा रहा । जैसे समस्त प्राणियोंका संहार करके काल खड़ा हो, उसी प्रकार महाबली महारथी कर्ण सोमकोंका विनाश करके युद्धभूमिमें अकेला ही डटा रहा ॥ ५७-५८½ ॥

तत्राद्भुतमपश्याम पञ्चालानां पराक्रमम् ॥ ५९ ॥
वध्यमानापि यत् कर्णं नाजहू रणमूर्धनि ।

वहाँ हमलोगोंने पाञ्चाल वीरोंका यह अद्भुत पराक्रम देखा कि वे मारे जानेपर भी युद्धके मुहानेपर कर्णको छोड़कर पीछे न हटे ॥ ५९½ ॥

राजा दुःशासनश्चैव कृपः शारद्वतस्तथा ॥ ६० ॥
अश्वत्थामा कृतवर्मा शकुनिश्च महाबलः ।
न्यहनन् पाण्डवीं सेनां शतशोऽथ सहस्रशः ॥ ६१ ॥

राजा दुर्योधन, दुःशासन, शरद्वान्‌के पुत्र कृपाचार्य, अश्वत्थामा, कृतवर्मा और महाबली शकुनिने भी पाण्डव-सेनाके सैकड़ों-हजारों वीरोंका संहार कर डाला ॥ ६०-६१ ॥

कर्णपुत्रौ तु राजेन्द्र भ्रातरौ सत्यविक्रमौ।
निजघ्नाते बलं क्रुद्धौ पाण्डवानामितस्ततः ॥ ६२ ॥

राजेन्द्र ! कर्णके दो सत्यपराक्रमी पुत्र शेष रह गये थे। वे दोनों भाई क्रोधपूर्वक इधर-उधरसे पाण्डव-सेनाका विनाश करते थे ॥ ६२ ॥

तत्र युद्धं महच्चासीत् क्रूरं विशसनं महत्।
तथैव पाण्डवाः शूरा धृष्टद्युम्नशिखण्डिनौ ॥ ६३ ॥
द्रौपदेयाश्च संक्रुद्धा अभ्यघ्नंस्तावकं बलम्।

इस प्रकार वहाँ महान् संहारकारी एवं क्रूरतापूर्ण भारी युद्ध हुआ। इसी तरह पाण्डववीर धृष्टद्युम्न, शिखण्डी और द्रौपदीके पाँचों पुत्र आदिने भी कुपित होकर आपकी सेनाका संहार किया ॥ ६३½ ॥

एवमेष क्षयो वृत्तः पाण्डवानां ततस्ततः।
तावकानामपि रणे भीमं प्राप्य महाबलम् ॥ ६४ ॥

इस प्रकार कर्णको पाकर जहाँ-तहाँ पाण्डव योद्धाओंका संहार हुआ और महाबली भीमसेनको पाकर रणभूमिमें आपके योद्धाओंका भी महान् विनाश हुआ ॥ ६४ ॥

इति श्रीमहाभारते कर्णपर्वणि संकुलयुद्धेऽष्टसप्ततितमोऽध्यायः ॥ ७८ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत कर्णपर्वमें संकुलयुद्धविषयक अठहत्तरवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ७८ ॥

एकोनाशीतितमोऽध्यायः

अर्जुनका कौरवसेनाको विनाश करके खूनकी नदी बहा देना और अपना रथ कर्णके पास ले चलनेके लिये भगवान् श्रीकृष्णसे कहना तथा श्रीकृष्ण और अर्जुनको आते देख शल्य और कर्णकी बातचीत तथा अर्जुनद्वारा कौरवसेनाका विध्वंस

संजय उवाच

अर्जुनस्तु महाराज हत्वा सैन्यं चतुर्विधम्।
सूतपुत्रं च संक्रुद्धं दृष्ट्वा चैव महारणे ॥ १ ॥
शोणितोदां महीं कृत्वा मांसमज्जास्थिपङ्किलाम्।
मनुष्यशीर्षपाषाणां हस्त्यश्वकृतरोधसम् ॥ २ ॥
शूरास्थिचयसंकीर्णां काकगृध्रानुनादिताम्।
छत्रहंसप्लवोपेतां वीरवृक्षापहारिणीम् ॥ ३ ॥
हारपद्माकरवतीमुष्णीषवरफेनिलाम्।
धनुःशरध्वजोपेतां नरक्षुद्रकपालिनीम् ॥ ४ ॥
चर्मवर्मभ्रमोपेतां रथोडुपसमाकुलाम्।
जयैषिणां च सुतरां भीरूणां च सुदुस्तराम् ॥ ५ ॥
नदीं प्रवर्तयित्वा च बीभत्सुः परवीरहा।
वासुदेवमिदं वाक्यमब्रवीत् पुरुषर्षभः ॥ ६ ॥

संजय कहते हैं—महाराज ! उस महासमरमें शत्रुवीरोंका संहार करनेवाले अर्जुनने क्रोधमें भरे हुए सूतपुत्रको देखकर कौरवोंकी चतुरङ्गिणी सेनाका विनाश करके वहाँ रक्तकी नदी बहा दी। जिसमें जलके स्थानमें इस पृथ्वीपर रक्त ही बह रहा था; मांस-मज्जा और हड्डियाँ कीचड़का काम दे रही थीं। मनुष्योंके कटे हुए मस्तक पत्थरोंके टुकड़ोंके समान जान पड़ते थे, हाथी और घोड़ोंकी लाशें कगार बनी हुई थीं, शूरवीरोंकी हड्डियोंके ढेर वहाँ सब ओर बिखरे हुए थे, कौए और गीध वहाँ अपनी बोली बोल रहे थे, छत्र ही हंस और छोटी नौकाका काम देते थे, वीरोंके शरीररूपी वृक्षको वह नदी बहाये लिये जाती थी, उसमें हार ही कमलवन और सफेद पगड़ी ही फेन थी, धनुष और बाण वहाँ मछलीके समान जान पड़ते थे, मनुष्योंकी छोटी-छोटी खोपड़ियाँ वहाँ बिखरी पड़ी थीं, ढाल और कवच ही उसमें भँवरके समान प्रतीत होते थे, रथरूपी छोटी नौकासे व्याप्त वह नदी विजयाभिलाषी वीरोंके लिये सुगमतापूर्वक पार होने योग्य और कायरोंके लिये अत्यन्त दुस्तर थी। उस नदीको बहाकर पुरुषप्रवर अर्जुनने वसुदेवनन्दन भगवान् श्रीकृष्णसे इस प्रकार कहा ॥ १—६ ॥

अर्जुन उवाच

एष केतू रणे कृष्ण सूतपुत्रस्य दृश्यते।
भीमसेनादयश्चैते योधयन्ति महारथम् ॥ ७ ॥

अर्जुन बोले—श्रीकृष्ण ! रणभूमिमें यह सूतपुत्र कर्णकी ध्वजा दिखायी देती है। ये भीमसेन आदि वीर महारथी कर्णसे युद्ध करते हैं ॥ ७ ॥

एते द्रवन्ति पञ्चालाः कर्णत्रस्ता जनार्दन।
एष दुर्योधनो राजा श्वेतच्छत्रेण धार्यता ॥ ८ ॥
कर्णेन भग्नान् पञ्चालान् द्रावयन् बहु शोभते।

जनार्दन ! ये पाञ्चालयोद्धा कर्णसे डरकर भाग रहे हैं, यह राजा दुर्योधन है, जिसके ऊपर श्वेत छत्र तना हुआ है और कर्णने जिनके पाँव उखाड़ दिये हैं उन पाञ्चालोंको खदेड़ता हुआ यह बड़ी शोभा पा रहा है ॥ ८½ ॥

कृपश्च कृतवर्मा च द्रौणिश्चैव महारथः ॥ ९ ॥
एते रक्षन्ति राजानं सूतपुत्रेण रक्षिताः।
अवध्यमानास्तेऽस्माभिर्घातयिष्यन्ति सोमकान् ॥ १० ॥

कृपाचार्य, कृतवर्मा और महारथी अश्वत्थामा—ये सूतपुत्रसे सुरक्षित हो राजा दुर्योधनकी रक्षा करते हैं। यदि हम इन तीनोंको नहीं मारते हैं तो ये सोमकोंका संहार कर डालेंगे ॥ ९-१० ॥

एष शल्यो रथोपस्थे रश्मिसंचारकोविदः।
सूतपुत्ररथं कृष्ण वाहयन् बहु शोभते ॥ ११ ॥

श्रीकृष्ण ! घोड़ोंकी बागडोरका संचालन करनेकी कलामें कुशल ये राजा शल्य रथके निचले भागमें बैठकर सूतपुत्रका रथ हाँकते हुए बड़ी शोभा पाते हैं ॥ ११ ॥

तत्र मे बुद्धिरुत्पन्ना वाहयात्र महारथम्।
नाहत्वा समरे कर्णं निवर्तिष्ये कथञ्चन ॥ १२ ॥
राधेयो ह्यन्यथा पार्थान् सृञ्जयांश्च महारथान्।
निःशेषान् समरे कुर्यात् पश्यतां नो जनार्दन ॥ १३ ॥

जनार्दन ! यहाँ मेरा ऐसा विचार हो रहा है कि आप मेरे इस विशाल रथको वहीं हाँक ले चलें (जहाँ कर्ण खड़ा है)। मैं समराङ्गणमें कर्णका वध किये बिना किसी प्रकार पीछे नहीं लौटूँगा। अन्यथा राधापुत्र हमारे देखते-देखते पाण्डव तथा सृंजय महारथियोंको समरभूमिमें निःशेष कर देगा— किसीको जीवित नहीं छोड़ेगा ॥ १२-१३ ॥

ततः प्रायाद् रथेनाशु केशवस्तव वाहिनीम्।
कर्णं प्रति महेष्वासं द्वैरथे सव्यसाचिना ॥ १४ ॥

तदनन्तर भगवान् श्रीकृष्ण रथके द्वारा शीघ्र ही सव्यसाची अर्जुनके साथ कर्णका द्वैरथ युद्ध करानेके लिये आपकी सेनामें महाधनुर्धर कर्णकी ओर चले ॥ १४ ॥

प्रयातश्च महाबाहुः पाण्डवानुज्ञया हरिः।
आश्वासयन् रथेनैव पाण्डुसैन्यानि सर्वशः ॥ १५ ॥

अर्जुनकी अनुमतिसे महाबाहु श्रीकृष्ण रथके द्वारा ही पाण्डव-सेनाओंको सब ओरसे आश्वासन देते हुए आगे बढ़े ॥

रथघोषः स संग्रामे पाण्डवेयस्य सम्बभौ।
वासवाशनितुल्यस्य मेघौघस्येव मारिष ॥ १६ ॥

मान्यवर नरेश ! संग्राममें पाण्डुपुत्र अर्जुनके रथका वह घर्घरघोष इन्द्रके वज्रकी गड़गड़ाहट तथा मेघसमूहोंकी गर्जनाके समान प्रतीत होता था ॥ १६ ॥

महता रथघोषेण पाण्डवः सत्यविक्रमः।
अभ्ययादप्रमेयात्मा निर्जयंस्तव वाहिनीम् ॥ १७ ॥

सत्यपराक्रमी पाण्डव अर्जुन अप्रमेय आत्मबलसे सम्पन्न थे। वे महान् रथघोषके द्वारा आपकी सेनाको परास्त करते हुए आगे बढ़े ॥ १७ ॥

तमायान्तं समीक्ष्यैव श्वेताश्वं कृष्णसारथिम्।
मद्रराजोऽब्रवीत् कर्णं केतुं दृष्ट्वा महात्मनः ॥ १८ ॥

श्रीकृष्ण जिनके सारथि हैं, उन श्वेतवाहन अर्जुनको आते देख और उन महात्माकी ध्वजापर दृष्टिपात करके मद्रराज शल्यने कर्णसे कहा—॥ १८ ॥

अयं स रथ आयाति श्वेताश्वः कृष्णसारथिः।
निघ्नन्नमित्रान् समरे यं कर्ण परिपृच्छसि ॥ १९ ॥

'कर्ण ! तुम जिसके विषयमें पूछ रहे थे, वही यह श्वेत घोड़ोंवाला रथ, जिसके सारथि श्रीकृष्ण हैं, समराङ्गणमें शत्रुओंका संहार करता हुआ इधर ही आ रहा है ॥ १९ ॥

एष तिष्ठति कौन्तेयः संस्पृशन् गाण्डिवं धनुः।
तं हनिष्यसि चेदद्य तन्नः श्रेयो भविष्यति ॥ २० ॥

'ये कुन्तीकुमार अर्जुन हाथमें गाण्डीव धनुष लिये हुए खड़े हैं। यदि तुम आज उनको मार डालोगे तो वह हमलोगोंके लिये श्रेयस्कर होगा ॥ २० ॥

धनुर्ज्या चन्द्रताराङ्का पताकाकिङ्किणीयुता।
पश्य कर्णार्जुनस्यैषा सौदामन्यम्बरे यथा ॥ २१ ॥

'कर्ण ! देखो, अर्जुनके धनुषकी यह प्रत्यञ्चा तथा चन्द्रमा और तारोंसे चिह्नित यह रथकी पताका है, जिसमें छोटी-छोटी घंटियाँ लगी हैं, वह आकाशमें बिजलीके समान चमक रही है ॥ २१ ॥

एष ध्वजाग्रे पार्थस्य प्रेक्षमाणः समन्ततः।
दृश्यते वानरो भीमो वीराणां भयवर्धनः ॥ २२ ॥

'कुन्तीकुमार अर्जुनकी ध्वजाके अग्रभागमें एक भयङ्कर वानर दिखायी देता है, जो सब ओर देखता हुआ कौरव-वीरोंका भय बढ़ा रहा है ॥ २२ ॥

एतच्चक्रं गदा शङ्खः शार्ङ्गं कृष्णस्य च प्रभो।
दृश्यते पाण्डवरथे वाहयानस्य वाजिनः ॥ २३ ॥

'पाण्डुपुत्रके रथपर बैठकर घोड़े हाँकते हुए भगवान् श्रीकृष्णके ये चक्र, गदा, शङ्ख तथा शार्ङ्ग धनुष दृष्टिगोचर हो रहे हैं ॥ २३ ॥

एतत् कूजति गाण्डीवं विसृष्टं सव्यसाचिना।
एते हस्तवता मुक्ता घ्नन्त्यमित्राञ्शिताः शराः ॥ २४ ॥

'यह सव्यसाचीके द्वारा खींचा गया गाण्डीव धनुष टङ्कार रहा है, सिद्धहस्त अर्जुनके छोड़े हुए ये पैने बाण शत्रुओंका विनाश कर रहे हैं ॥ २४ ॥

विशालायतताम्राक्षैः पूर्णचन्द्रनिभाननैः।
एषा भूः कीर्यते राज्ञां शिरोभिरपलायिनाम् ॥ २५ ॥

'जो युद्धसे कभी पीछे नहीं हटते, उन राजाओंके कटे हुए मस्तकोंसे यह रणभूमि पटी जा रही है। उन मस्तकोंके नेत्र बड़े-बड़े और लाल हैं तथा मुख पूर्ण चन्द्रमाके समान मनोहर है ॥ २५ ॥

एते परिघसंकाशाः पुण्यगन्धानुलेपनाः।
उद्यता रणशूराणां पात्यन्ते सायुधा भुजाः ॥ २६ ॥

'रणवीरोंकी ये अस्त्र-शस्त्रोंसहित उठी हुई भुजाएँ, जो परिघोंके समान मोटी तथा पवित्र सुगन्धयुक्त चन्दनसे चर्चित हैं, काटकर गिरायी जा रही हैं ॥ २६ ॥

निरस्तजिह्वानेत्रान्ता वाजिनः सह सादिभिः।
पतिताः पात्यमानाश्च क्षितौ क्षीणा विशेरते ॥ २७ ॥

'ये कौरवपक्षके सवारोंसहित घोड़े क्षत-विक्षत हो, अर्जुनके द्वारा गिराये जा रहे हैं। इनकी जीभें और आँखें बाहर निकल आयी हैं। ये गिरकर पृथ्वीपर सो रहे हैं ॥

एते पर्वतशृङ्गाणां तुल्या हैमवता गजाः।
संछिन्नकुम्भाः पार्थेन प्रपतन्त्यद्रयो यथा ॥ २८ ॥

'ये हिमाचलप्रदेशके हाथी, जो पर्वत-शिखरोंके समान जान पड़ते हैं, पर्वतोंके समान धराशायी हो रहे हैं। अर्जुनने इनके कुम्भस्थल काट डाले हैं ॥ २८ ॥

गन्धर्वनगराकारा रथा वा ते नरेश्वराः।
विमानादिव पुण्यान्ते स्वर्गिणो निपतन्त्यमी ॥ २९ ॥

'ये गन्धर्व-नगरके समान विशाल रथ हैं, जिनसे ये मारे गये राजालोग उसी प्रकार नीचे गिर रहे हैं, जैसे पुण्य समाप्त होनेपर स्वर्गवासी प्राणी विमानसे नीचे गिर जाते हैं ॥

व्याकुलीकृतमत्यर्थं परसैन्यं किरीटिना।
नानामृगसहस्राणां यूथं केसरिणा यथा ॥ ३० ॥

'किरीटधारी अर्जुनने शत्रुसेनाको उसी प्रकार अत्यन्त व्याकुल कर दिया है, जैसे सिंह नाना जातिके सहस्रों मृगोंके झुंडको व्याकुल कर देता है ॥ ३० ॥

त्वामभिप्रेप्सुरायाति कर्ण निघ्नन् वरान् रथान्।
असह्यमानो राधेय तं याहि प्रति भारत ॥ ३१ ॥

'राधापुत्र कर्ण ! अर्जुन बड़े-बड़े रथियोंका संहार करते हुए तुम्हें ही प्राप्त करनेके लिये इधर आ रहे हैं। ये शत्रुओंके लिये असह्य हैं। तुम इन भरतवंशी वीरका सामना करनेके लिये आगे बढ़ो ॥ ३१ ॥

(घृणां त्यक्त्वा प्रमादं च भृगोरस्त्रं च संस्मर।
दृष्टिं मुष्टिं च संधानं स्मृत्वा रामोपदेशजम्।
धनंजयं जयप्रेप्सुः प्रत्युद्गच्छ महारथम् ॥)

'कर्ण ! तुम दया और प्रमाद छोड़कर भृगुवंशी परशुरामजीके दिये हुए अस्त्रका स्मरण करो, उनके उपदेशके अनुसार लक्ष्यकी ओर दृष्टि रखना, धनुषको अपनी मुट्ठीसे दृढ़तापूर्वक पकड़े रहना और बाणोंका संधान करना आदि बातें याद करके मनमें विजय पानेकी इच्छा लिये महारथी अर्जुनका सामना करनेके लिये आगे बढ़ो ॥

एषा विदीर्यते सेना धार्तराष्ट्री समन्ततः।
अर्जुनस्य भयात् तूर्णं निघ्नतः शात्रवान् बहून् ॥ ३२ ॥

'अर्जुन थोड़ी ही देरमें बहुत-से शत्रुओंका संहार कर डालते हैं, इसलिये उनके भयसे दुर्योधनकी यह सेना चारों ओरसे छिन्न-भिन्न होकर भागी जा रही है ॥ ३२ ॥

वर्जयन् सर्वसैन्यानि त्वरते हि धनंजयः।
त्वदर्थमिति मन्येऽहं यथास्योदीर्यते वपुः ॥ ३३ ॥

'इस समय अर्जुनका शरीर जैसा उत्तेजित हो रहा है उससे मैं समझता हूँ कि वे सारी सेनाओंको छोड़कर तुम्हारे पास पहुँचनेके लिये जल्दी कर रहे हैं ॥ ३३ ॥

न ह्यवस्थास्यते पार्थो युयुत्सुः केनचित् सह।
त्वामृते क्रोधदीप्तो हि पीड्यमाने वृकोदरे ॥ ३४ ॥

'भीमसेनके पीड़ित होनेसे अर्जुन क्रोधसे तमतमा उठे हैं, इसलिये आज तुम्हारे सिवा और किसीसे युद्ध करनेके लिये वे नहीं रुक सकेंगे ॥ ३४ ॥

विरथं धर्मराजं तु दृष्ट्वा सुदृढविक्षतम्।
शिखण्डिनं सात्यकिं च धृष्टद्युम्नं च पार्षतम् ॥ ३५ ॥
द्रौपदेयान् युधामन्युमुत्तमौजसमेव च।
नकुलं सहदेवं च भ्रातरौ द्वौ समीक्ष्य च ॥ ३६ ॥
सहसैकरथः पार्थस्त्वामभ्येति परंतपः।
क्रोधरक्तेक्षणः क्रुद्धो जिघांसुः सर्वपार्थिवान् ॥ ३७ ॥

'तुमने धर्मराज युधिष्ठिरको अत्यन्त घायल करके रथहीन कर दिया है। शिखण्डी, द्रुपदकुमार धृष्टद्युम्न, सात्यकि, द्रौपदीके पुत्रों, उत्तमौजा, युधामन्यु तथा दोनों भाई नकुल-सहदेवको भी तुम्हारे हाथों बहुत चोट पहुँची है। यह सब देखकर शत्रुओंको संताप देनेवाले कुन्तीकुमार अर्जुन अत्यन्त कुपित हो उठे हैं। उनके नेत्र रोषसे रक्तवर्ण हो गये हैं, अतः वे समस्त राजाओंका संहार करनेकी इच्छासे एकमात्र रथके साथ सहसा तुम्हारे ऊपर चढ़े आ रहे हैं ॥ ३५–३७ ॥

त्वरितोऽभिपतत्यस्मांस्त्यक्त्वा सैन्यान्यसंशयम्।
त्वं कर्ण प्रतियाह्येनं नास्त्यन्यो हि धनुर्धरः ॥ ३८ ॥

'इसमें संदेह नहीं कि वे सारी सेनाओंको छोड़कर बड़ी उतावलीके साथ हमलोगोंपर टूट पड़े हैं; अतः कर्ण ! अब तुम भी इनका सामना करनेके लिये आगे बढ़ो, क्योंकि तुम्हारे सिवा दूसरा कोई धनुर्धर ऐसा करनेमें समर्थ नहीं है ॥

न तं पश्यामि लोकेऽस्मिंस्त्वत्तो ह्यन्यं धनुर्धरम्।
अर्जुनं समरे क्रुद्धं यो वेलामिव धारयेत् ॥ ३९ ॥

'इस संसारमें मैं तुम्हारे सिवा दूसरे किसी धनुर्धरको ऐसा नहीं देखता, जो समुद्रमें उठे हुए ज्वारके समान समराङ्गणमें कुपित हुए अर्जुनको रोक सके ॥ ३९ ॥

न चास्य रक्षां पश्यामि पार्श्वतो न च पृष्ठतः।
एक एवाभियाति त्वां पश्य साफल्यमात्मनः ॥ ४० ॥

'मैं देखता हूँ कि अगल-बगलसे या पीछेकी ओरसे उनकी रक्षाका कोई प्रबन्ध नहीं किया गया है। वे अकेले ही तुमपर चढ़ाई कर रहे हैं; अतः देखो, तुम्हें अपनी सफलताके लिये कैसा सुन्दर अवसर हाथ लगा है ॥ ४० ॥

त्वं हि कृष्णौ रणे शक्तः संसाधयितुमाहवे।
तवैव भारो राधेय प्रत्युद्याहि धनंजयम् ॥ ४१ ॥

'राधापुत्र ! रणभूमिमें तुम्हीं श्रीकृष्ण और अर्जुनको परास्त करनेकी शक्ति रखते हो, तुम्हारे ऊपर ही यह भार रक्खा गया है; इसलिये तुम अर्जुनको रोकनेके लिये आगे बढ़ो ॥ ४१ ॥

समानो ह्यसि भीष्मेण द्रोणद्रौणिकृपेण च।
सव्यसाचिनमायान्तं निवारय महारणे ॥ ४२ ॥

'तुम भीष्म, द्रोण, अश्वत्थामा तथा कृपाचार्यके समान पराक्रमी हो, अतः इस महासमरमें आक्रमण करते हुए सव्यसाची अर्जुनको रोको ॥ ४२ ॥

लेलिहानं यथा सर्पं गर्जन्तमृषभं यथा।

वनस्थितं यथा व्याघ्रं जहि कर्ण धनंजयम् ॥ ४३ ॥

'कर्ण ! जीभ लपलपाते हुए सर्प, गर्जते हुए साँड़ और वनवासी व्याघ्रके समान भयङ्कर अर्जुनका तुम वध करो ॥४३॥

एते द्रवन्ति समरे धार्तराष्ट्रा महारथाः ।
अर्जुनस्य भयात् तूर्णं निरपेक्षा जनाधिपाः ॥ ४४ ॥

'देखो ! समरभूमिमें दुर्योधनकी सेनाके ये महारथी नरेश अर्जुनके भयसे आत्मीयजनोंकी भी अपेक्षा न रखकर बड़ी उतावलीके साथ भागे जा रहे हैं ॥ ४४ ॥

द्रवतामथ तेषां तु नान्योऽस्ति युधि मानवः ।
भयहा यो भवेद् वीरस्त्वामृते सूतनन्दन ॥ ४५ ॥

'सूतनन्दन ! इस युद्धस्थलमें तुम्हारे सिवा ऐसा कोई भी वीर पुरुष नहीं है, जो उन भागते हुए नरेशोंका भय दूर कर सके ॥ ४५ ॥

एते त्वां कुरवः सर्वे द्वीपमासाद्य संयुगे ।
धिष्ठिताः पुरुषव्याघ्र त्वत्तः शरणकाङ्क्षिणः ॥ ४६ ॥

'पुरुषसिंह ! इस समुद्र-जैसे युद्धस्थलमें तुम द्वीपके समान हो । ये समस्त कौरव तुमसे शरण पानेकी आशा रखकर, तुम्हारे ही आश्रयमें आकर खड़े हुए हैं ॥ ४६ ॥

वैदेहाम्बष्ठकाम्बोजास्तथा नग्नजितस्त्वया ।
गान्धाराश्च यया धृत्या जिताः संख्ये सुदुर्जयाः ।
तां धृतिं कुरु राधेय ततः प्रत्येहि पाण्डवम् ॥ ४७ ॥

'राधानन्दन ! तुमने जिस धैर्यसे पहले अत्यन्त दुर्जय विदेह, अम्बष्ठ, काम्बोज, नग्नजित् तथा गान्धारगणोंको युद्धमें पराजित किया था, उसीको पुनः अपनाओ और पाण्डुपुत्र अर्जुनका सामना करनेके लिये आगे बढ़ो ॥ ४७ ॥

वासुदेवं च वार्ष्णेयं प्रीयमाणं किरीटिना ।
प्रत्युद्याहि महाबाहो पौरुषे महति स्थितः ॥ ४८ ॥

'महाबाहो ! तुम महान् पुरुषार्थमें स्थित होकर अर्जुनसे सतत प्रसन्न रहनेवाले वृष्णिवंशी, वसुदेवनन्दन श्रीकृष्णका भी सामना करो ॥ ४८ ॥

(यथैकेन त्वया पूर्वं कृतो दिग्विजयः पुरा ।
मरुत्सूनोर्यथा सूनुर्घातितः शक्रदत्तया ॥
तदेतत् सर्वमालम्ब्य जहि पार्थं धनंजयम् ।)

'जैसे पूर्वकालमें तुमने अकेले ही सम्पूर्ण दिशाओंपर विजय पायी थी, इन्द्रकी दी हुई शक्तिसे भीमपुत्र घटोत्कच-का वध किया था, उसी तरह इस सारे बल-पराक्रमका आश्रय ले कुन्तीपुत्र अर्जुनको मार डालो' ॥

कर्ण उवाच

प्रकृतिस्थोऽसि मे शल्य इदानीं सम्मतस्तथा ।
प्रतिभासि महाबाहो मा भैषीस्त्वं धनंजयात् ॥ ४९ ॥

कर्णने कहा—शल्य ! इस समय तुम अपने स्वरूपमें प्रतिष्ठित हो और मुझसे सहमत जान पड़ते हो । महाबाहो ! तुम अर्जुनसे डरो मत ॥ ४९ ॥

पश्य बाह्वोर्बलं मेऽद्य शिक्षितस्य च पश्य मे ।
एकोऽद्य निहनिष्यामि पाण्डवानां महाचमूम् ॥ ५० ॥

आज मेरी इन दोनों भुजाओंका बल देखो और मेरी शिक्षाकी शक्तिपर भी दृष्टिपात करो । आज मैं अकेला ही पाण्डवोंकी विशाल सेनाका संहार कर डालूँगा ॥ ५० ॥

कृष्णौ च पुरुषव्याघ्र ततः सत्यं ब्रवीमि ते ।
नाहत्वा युधि तौ वीरौ व्यपयास्ये कथंचन ॥ ५१ ॥

पुरुषसिंह ! मैं तुमसे सच्ची बात कहता हूँ कि युद्धस्थलमें उन दोनों वीर श्रीकृष्ण और अर्जुनका वध किये बिना मैं किसी तरह पीछे नहीं हटूँगा ॥ ५१ ॥

स्वप्स्ये वा निहतस्ताभ्यामनित्यो हि रणे जयः ।
कृतार्थोऽद्य भविष्यामि हत्वा वाप्यथवा हतः ॥ ५२ ॥

अथवा उन्हीं दोनोंके हाथों मारा जाकर सदाके लिये सो जाऊँगा; क्योंकि रणमें विजय अनिश्चित होती है । आज मैं उन दोनोंको मारकर अथवा मारा जाकर सर्वथा कृतार्थ हो जाऊँगा ॥ ५२ ॥

शल्य उवाच

अजय्यमेनं प्रवदन्ति युद्धे
महारथाः कर्ण रथप्रवीरम् ।
एकाकिनं किमु कृष्णाभिगुप्तं
विजेतुमेनं क इहोत्सहेत ॥ ५३ ॥

शल्यने कहा—कर्ण ! रथियोंमें प्रमुख वीर अर्जुन अकेले भी हों तो महारथी योद्धा उन्हें युद्धमें अजेय बताते हैं, फिर इस समय तो वे श्रीकृष्णसे सुरक्षित हैं; ऐसी दशामें कौन इन्हें जीतनेका साहस कर सकता है ? ॥ ५३ ॥

कर्ण उवाच

नैतादृशो जातु बभूव लोके
रथोत्तमो यावदुपश्रुतं नः ।
तमीदृशं प्रतियोत्स्यामि पार्थं
महाहवे पश्य च पौरुषं मे ॥ ५४ ॥

कर्ण बोला—शल्य ! मैंने जहाँतक सुना है, वहाँतक संसारमें ऐसा श्रेष्ठ महारथी वीर कभी नहीं उत्पन्न हुआ, ऐसे कुन्तीकुमार अर्जुनके साथ मैं महासमरमें युद्ध करूँगा, मेरा पुरुषार्थ देखो ॥ ५४ ॥

रणे चरत्येष रथप्रवीरः
सितैर्हयैः कौरवराजपुत्रः ।
स वाद्य मां नेष्यति कृच्छ्रमेतत्
कर्णस्यान्तादेतदन्तास्तु सर्वे ॥ ५५ ॥

ये रथियोंमें प्रधान वीर कौरवराजकुमार अर्जुन अपने श्वेत अश्वोंद्वारा रणभूमिमें विचर रहे हैं । ये आज मुझे मृत्युके संकटमें डाल देंगे और मुझ कर्णका अन्त होनेपर कौरवदलके अन्य समस्त योद्धाओंका विनाश भी निश्चित ही है ॥ ५५ ॥

अस्वेदिनौ राजपुत्रस्य हस्ता-
ववेपमानौ जातकिणौ बृहन्तौ ।
दृढायुधः कृतिमान् क्षिप्रहस्तो
न पाण्डवेयेन समोऽस्ति योधः॥ ५६ ॥

राजकुमार अर्जुनके दोनों विशाल हाथोंमें कभी पसीना नहीं होता, उनमें धनुषकी प्रत्यञ्चाके चिह्न बन गये हैं और वे दोनों हाथ कभी काँपते नहीं हैं। उनके अस्त्र-शस्त्र भी सुदृढ़ हैं। वे विद्वान् एवं शीघ्रतापूर्वक हाथ चलानेवाले हैं। पाण्डुपुत्र अर्जुनके समान दूसरा कोई योद्धा नहीं है ॥ ५६ ॥

गृह्णात्यनेकानपि कङ्कपत्रा-
नेकं यथा तान् प्रतियोज्य चाशु ।
ते क्रोशमात्रे निपतन्त्यमोघाः
कस्तेन योधोऽस्ति समः पृथिव्याम् ॥ ५७ ॥

वे कङ्कपत्रयुक्त अनेक बाणोंको इस प्रकार हाथमें लेते हैं, मानो एक ही बाण हो और उन सबको शीघ्रतापूर्वक धनुषपर रखकर चला देते हैं। वे अमोघ बाण एक कोस दूर जाकर गिरते हैं; अतः इस पृथ्वीपर उनके समान दूसरा योद्धा कौन है ? ॥ ५७ ॥

अतोषयत् खाण्डवे यो हुताशं
कृष्णद्वितीयोऽतिरथस्तरस्वी ।
लेभे चक्रं यत्र कृष्णो महात्मा
धनुर्गाण्डीवं पाण्डवः सव्यसाची ॥ ५८ ॥

उन वेगशाली और अतिरथी वीर अर्जुनने 'अपने दूसरे साथी श्रीकृष्णके साथ जाकर खाण्डववनमें अग्निदेवको तृप्त किया था, जहाँ महात्मा श्रीकृष्णको तो चक्र मिला और पाण्डुपुत्र सव्यसाची अर्जुनने गाण्डीव धनुष प्राप्त किया ॥ ५८ ॥

श्वेताश्वयुक्तं च सुघोषमुग्रं
रथं महाबाहुरदीनसत्त्वः ।
महेषुधी चाक्षये दिव्यरूपे
शस्त्राणि दिव्यानि च हव्यवाहात्॥ ५९ ॥

उदार अन्तःकरणवाले महाबाहु अर्जुनने अग्निदेवसे श्वेत घोड़ोंसे जुता हुआ गम्भीर घोष करनेवाला एक भयंकर रथ, दो दिव्य विशाल और अक्षय तरकस तथा अलौकिक अस्त्र-शस्त्र प्राप्त किये ॥ ५९ ॥

तथेन्द्रलोके निजघान दैत्या-
नसंख्येयान् कालकेयांश्च सर्वान्।
लेभे शङ्खं देवदत्तं स तत्र
को नाम तेनाभ्यधिकः पृथिव्याम्॥ ६० ॥

उन्होंने इन्द्रलोकमें जाकर असंख्य कालकेयनामक सम्पूर्ण दैत्योंका संहार किया और वहाँ देवदत्त नामक शङ्ख प्राप्त किया; अतः इस पृथ्वीपर उनसे अधिक कौन है ? ॥ ६० ॥

महादेवं तोषयामास योऽस्त्रैः
साक्षात् सुयुद्धेन महानुभावः ।
लेभे ततः पाशुपतं सुघोरं
त्रैलोक्यसंहारकरं महास्त्रम् ॥ ६१ ॥

जिन महानुभावने अस्त्रोंद्वारा उत्तम युद्ध करके साक्षात् महादेवजीको संतुष्ट किया और उनसे त्रिलोकीका संहार करनेमें समर्थ अत्यन्त भयंकर पाशुपतनामक महान् अस्त्र प्राप्त कर लिया ॥ ६१ ॥

पृथक् पृथग्लोकपालाः समेता
ददुर्महास्त्राण्यप्रमेयाणि संख्ये ।
यैस्तान्जघानाशु रणे नृसिंहः
सकालकेयानसुरान् समेतान् ॥ ६२ ॥

भिन्न-भिन्न लोकपालोंने आकर उन्हें ऐसे महान् अस्त्र प्रदान किये, जो युद्धस्थलमें अपना सानी नहीं रखते। उन पुरुषसिंहने रणभूमिमें उन्हीं अस्त्रोंद्वारा संगठित होकर आये हुए कालकेय नामक असुरोंका शीघ्र ही संहार कर डाला ॥

तथा विराटस्य पुरे समेतान्
सर्वानस्मानेकरथेन जित्वा ।
जहार तद् गोधनमाजिमध्ये
वस्त्राणि चादत्त महारथेभ्यः ॥ ६३ ॥

इसी प्रकार विराटनगरमें एकत्र हुए हम सब लोगोंको एकमात्र रथके द्वारा युद्धमें जीतकर अर्जुनने उस विराटका गोधन लौटा लिया और महारथियोंके शरीरोंसे वस्त्र भी उतार लिये॥

तमीदृशं वीर्यगुणोपपन्नं
कृष्णद्वितीयं परमं नृपाणाम् ।
तमाह्वयन् साहसमुत्तमं वै
जाने स्वयं सर्वलोकस्य शल्य ॥ ६४ ॥

शल्य ! इस प्रकार जो पराक्रमसम्बन्धी गुणोंसे सम्पन्न, श्रीकृष्णकी सहायतासे युक्त और क्षत्रियोंमें सर्वश्रेष्ठ हैं, उन्हें युद्धके लिये ललकारना सम्पूर्ण जगत्के लिये बहुत बड़े साहसका काम है; इस बातको मैं स्वयं भी जानता हूँ ॥६४॥

अनन्तवीर्येण च केशवेन
नारायणेनाप्रतिमेन गुप्तः ।
वर्षायुतैर्यस्य गुणा न शक्या
वक्तुं समेतैरपि सर्वलोकैः ॥ ६५ ॥
महात्मनः शङ्खचक्रासिपाणे-
र्विष्णोर्जिष्णोर्वसुदेवात्मजस्य ।

अर्जुन उन अनन्त पराक्रमी, उपमारहित, नारायणावतार, हाथोंमें शङ्ख, चक्र और खड्ग धारण करनेवाले, विष्णुस्वरूप, विजयशील, वसुदेवपुत्र महात्मा भगवान् श्रीकृष्णसे सुरक्षित हैं; जिनके गुणोंका वर्णन सम्पूर्ण जगत्के लोग मिलकर दस हजार वर्षोंमें भी नहीं कर सकते ॥६५½॥

भयं मे वै जायते साध्वसं च
दृष्ट्वा कृष्णावेकरथे समेतौ ॥ ६६ ॥
अतीव पार्थो युधि कार्मुकिभ्यो
नारायणश्चाप्रति चक्रयुद्धे ।

एवंविधौ पाण्डववासुदेवौ
चलेत् स्वदेशाद्धिमवान् न कृष्णौ ॥ ६७ ॥

श्रीकृष्ण और अर्जुनको एक रथपर मिले हुए देखकर मुझे बड़ा भय लगता है, मेरा हृदय घबरा उठता है। अर्जुन युद्धमें समस्त धनुर्धरोंसे बढ़कर हैं और नारायणस्वरूप भगवान् श्रीकृष्ण भी चक्र-युद्धमें अपना सानी नहीं रखते। पाण्डुपुत्र अर्जुन और वसुदेवनन्दन श्रीकृष्ण दोनों ऐसे ही पराक्रमी हैं। हिमालय भले ही अपने स्थानसे हट जाय; किंतु दोनों कृष्ण अपनी मर्यादासे विचलित नहीं हो सकते॥

उभौ हि शूरौ बलिनौ दृढायुधौ
महारथौ संहननोपपन्नौ।
एतादृशौ फाल्गुनवासुदेवौ
कोऽन्यः प्रतीयान्मदृते तौ तु शल्य ॥ ६८ ॥

वे दोनों ही शौर्यसम्पन्न, बलवान्, सुदृढ़ आयुधोंवाले और महारथी हैं, उनके शरीर सुगठित एवं शक्तिशाली हैं। शल्य! ऐसे अर्जुन और श्रीकृष्णका सामना करनेके लिये मेरे सिवा दूसरा कौन जा सकता है? ॥ ६८ ॥

मनोरथो यस्तु ममाद्य तस्य
मद्रेश युद्धं प्रति पाण्डवस्य।
नैतच्चिरादाशु भविष्यतीद-
मत्यद्भुतं चित्रमतुल्यरूपम्॥ ६९ ॥
एतौ च हत्वा युधि पातयिष्ये
मां वापि कृष्णौ निहनिष्यतोऽद्य।

मद्रराज! अर्जुनके साथ युद्धके विषयमें जो आज मेरा मनोरथ है, वह अविलम्ब और शीघ्र सफल होगा। यह युद्ध अत्यन्त अद्भुत, विचित्र और अनुपम होगा। मैं युद्धस्थलमें इन दोनोंको मार गिराऊँगा अथवा वे दोनों ही कृष्ण मुझे मार डालेंगे ॥ ६९½ ॥

इति ब्रुवञ्शल्यममित्रहन्ता
कर्णो रणे मेघ इवोन्ननाद ॥ ७० ॥
अभ्येत्य पुत्रेण तवाभिनन्दितः
समेत्य चोवाच कुरुप्रवीरम्।
कृपं च भोजं च महाभुजावुभौ
तथैव गान्धारपतिं सहानुजम् ॥ ७१ ॥
गुरोः सुतं चावरजं तथाऽऽत्मनः
पदातिनोऽथ द्विपसादिनश्च तान्।
निरुध्यताभिद्रवताच्युतार्जुनौ
श्रमेण संयोजयताशु सर्वशः ॥ ७२ ॥
यथा भवद्भिर्भृशविक्षितावुभौ
सुखेन हन्यामहमद्य भूमिपाः।

राजन्! शत्रुहन्ता कर्ण शल्यसे ऐसा कहकर रणभूमिमें मेघके समान उच्चस्वरसे गर्जना करने लगा। उस समय आपके पुत्र दुर्योधनने निकट आकर उसका अभिनन्दन किया। उससे मिलकर कर्णने कुरुकुलके उस प्रमुख वीरसे, महाबाहु कृपाचार्य और कृतवर्मासे, भाइयोंसहित गान्धारराज शकुनिसे, गुरुपुत्र अश्वत्थामासे, अपने छोटे भाईसे तथा पैदल और गजारोही सैनिकोंसे इस प्रकार कहा—'वीरो! श्रीकृष्ण और अर्जुनपर धावा करो, उन्हें आगे बढ़नेसे रोको तथा शीघ्र ही सब प्रकारसे प्रयत्न करके उन्हें परिश्रमसे थका दो। भूमिपालो! ऐसा करो, जिससे तुम्हारेद्वारा अत्यन्त क्षत-विक्षत हुए उन दोनों कृष्णोंको आज मैं सुखपूर्वक मार सकूँ' ॥ ७०–७२½ ॥

तथेति चोक्त्वा त्वरिताः स्म तेऽर्जुनं
जिघांसवो वीरतराः समभ्ययुः॥ ७३ ॥
शरैश्च जघ्नुर्युधि तं महारथा
धनंजयं कर्णनिदेशकारिणः।

तब 'बहुत अच्छा' कहकर वे अत्यन्त वीर सैनिक बड़ी उतावलीके साथ अर्जुनको मार डालनेके लिये एक साथ आगे बढ़े। कर्णकी आज्ञाका पालन करनेवाले वे महारथी योद्धा युद्धस्थलमें बाणोंद्वारा अर्जुनको चोट पहुँचाने लगे॥

नदीनदं भूरिजलो महार्णवो
यथा तथा तान् समरेऽर्जुनोऽग्रसत्॥ ७४ ॥
न संदधानो न तथा शरोत्तमान्
प्रमुञ्चमानो रिपुभिः प्रदृश्यते।
धनंजयास्तैस्तु शरैर्विदारिता
हता निपेतुर्नरवाजिकुञ्जराः॥ ७५ ॥

परंतु जैसे प्रचुर जलसे भरा हुआ महासागर नदियों और नदोंके जलको आत्मसात् कर लेता है, उसी प्रकार अर्जुनने समराङ्गणमें उन सब वीरोंको ग्रस लिया। वे कब धनुषपर उत्तम बाणोंका संधान करते और कब उन्हें छोड़ते हैं, यह शत्रुओंको नहीं दिखायी देता था; किंतु अर्जुनके बाणोंसे विदीर्ण हुए हाथी, घोड़े और मनुष्य प्राणशून्य हो धड़ाधड़ गिरते जा रहे थे ॥ ७४-७५ ॥

शरार्चिषं गाण्डिवचारुमण्डलं
युगान्तसूर्यप्रतिमानतेजसम्।
न कौरवाः शेकुरुदीक्षितुं जयं
यथा रविं व्याधितचक्षुषो जनाः॥ ७६॥

उस समय अर्जुन प्रलयकालके सूर्यकी भाँति तेजस्वी जान पड़ते थे। उनके बाण किरण-समूहोंके समान सब ओर छिटक रहे थे। खींचा हुआ गाण्डीव धनुष सूर्यके मनोहर मण्डल-सा प्रतीत होता था। जैसे रोगी नेत्रोंवाले मनुष्य सूर्यकी ओर नहीं देख सकते, उसी प्रकार कौरव अर्जुनकी ओर देखनेमें असमर्थ हो गये थे ॥ ७६ ॥

शरोत्तमान् सम्प्रहितान् महारथै-
श्चिच्छेद पार्थः प्रहसञ्छरौघैः।
भूयश्च तानहनद् बाणसङ्घान्
गाण्डीवधन्वायतपूर्णमण्डलः ॥ ७७ ॥

कौरवमहारथियोंके चलाये हुए उत्तम बाणोंको कुन्तीकुमारने अपने शरसमूहोंद्वारा हँसते-हँसते काट दिया। उनका गाण्डीव धनुष खींचा जाकर पूरा मण्डलाकार बन गया था और उसके द्वारा वे उन शत्रु-सैनिकोंपर बारंबार बाण-समूहोंका प्रहार करते थे ॥ ७७ ॥

यथोग्ररश्मिः शुचिशुक्रमध्यगः
सुखं विवस्वान् हरते जलौघान्।
तथार्जुनो बाणगणान् निरस्य
ददाह सेनां तव पार्थिवेन्द्र ॥ ७८ ॥

राजेन्द्र! जैसे ज्येष्ठ और आषाढ़के मध्यवर्ती प्रचण्ड किरणोंवाले सूर्यदेव धरतीके जलसमूहोंको अनायास ही सोख लेते हैं, उसी प्रकार अर्जुन अपने बाणसमूहोंका प्रहार करके आपकी सेनाको भस्म करने लगे ॥ ७८ ॥

तमभ्यधावद् विसृजन् कृपः शरां-
स्तथैव भोजस्तव चात्मजः स्वयम्।
महारथो द्रोणसुतश्च सायकै-
रवाकिरंस्तोयधरा यथाचलम् ॥ ७९ ॥

उस समय कृपाचार्य उनपर बाण-समूहोंकी वर्षा करते हुए उनकी ओर दौड़े। इसी प्रकार कृतवर्मा, आपके पुत्र स्वयं राजा दुर्योधन और महारथी अश्वत्थामा भी पर्वतपर वर्षा करनेवाले बादलोंके समान अर्जुनपर बाणोंकी वृष्टि करने लगे ॥ ७९ ॥

जिघांसुभिस्तान् कुशलः शरोत्तमान्
महाहवे सम्प्रहितान् प्रयत्नतः।
शरैः प्रचिच्छेद स पाण्डवस्त्वरन्
पराभिनद् वक्षसि चेषुभिस्त्रिभिः ॥ ८० ॥

वधकी इच्छासे आक्रमण करनेवाले उन सब योद्धाओंद्वारा प्रयत्नपूर्वक चलाये गये उन उत्तम बाणोंको महासमरमें युद्धकुशल पाण्डुपुत्र अर्जुनने तुरंत ही अपने बाणोंद्वारा काट डाला और उन सबकी छातीमें तीन-तीन बाण मारे ॥

स गाण्डिवव्यायतपूर्णमण्डल-
स्तपन् रिपूनर्जुनभास्करो बभौ।
शरोग्ररश्मिः शुचिशुक्रमध्यगो
यथैव सूर्यः परिवेषवांस्तथा ॥ ८१ ॥

खींचे हुए गाण्डीव धनुषरूपी पूर्ण मण्डलसे युक्त अर्जुनरूपी सूर्य अपनी बाणरूपी प्रचण्ड किरणोंसे प्रकाशित हो शत्रुओंको संताप देते हुए ज्येष्ठ और आषाढ़के मध्यवर्ती उस सूर्यके समान सुशोभित हो रहे थे, जिसपर घेरा पड़ा हुआ हो ॥ ८१ ॥

अथाग्र्यबाणैर्दशभिर्धनंजयं
पराभिनद् द्रोणसुतोऽच्युतं त्रिभिः।
चतुर्भिरश्वांश्चतुरः कपिं ततः
शरैश्च नाराचवरैरवाकिरत् ॥ ८२ ॥

तदनन्तर द्रोणपुत्र अश्वत्थामाने दस बाणोंसे अर्जुनको, तीनसे भगवान् श्रीकृष्णको और चारसे उनके चारों घोड़ोंको घायल कर दिया। तत्पश्चात् वह ध्वजापर बैठे हुए वानरके ऊपर बाणों तथा उत्तम नाराचोंकी वर्षा करने लगा ॥ ८२ ॥

तथापि तं प्रस्फुरदात्तकार्मुकं
त्रिभिः शरैर्यन्तृशिरः क्षुरेण।
हयांश्चतुर्भिश्च पुनस्त्रिभिर्ध्वजं
धनंजयो द्रौणिरथादपातयत् ॥ ८३ ॥

तब अर्जुनने तीन बाणोंसे चमकते हुए उसके धनुषको, एक छुरेके द्वारा सारथिके मस्तकको, चार बाणोंसे उसके चारों घोड़ोंको तथा तीनसे उसके ध्वजको भी अश्वत्थामाके रथसे नीचे गिरा दिया ॥ ८३ ॥

स रोषपूर्णो मणिवज्रहाटकै-
रलङ्कृतं तक्षकभोगवर्चसम्।
महाधनं कार्मुकमन्यदाददे
यथा महाहिप्रवरं गिरेस्तटात् ॥ ८४ ॥

फिर अश्वत्थामाने रोषमें भरकर मणि, हीरा और सुवर्णसे अलंकृत तथा तक्षकके शरीरकी भाँति अरुण कान्तिवाले दूसरे बहुमूल्य धनुषको हाथमें लिया, मानो पर्वतके किनारेसे विशाल अजगरको उठा लिया हो ॥ ८४ ॥

स्वमायुधं चोपनिकीर्य भूतले
धनुश्च कृत्वा सगुणं गुणाधिकः।
समार्दयत्तावजितौ नरोत्तमौ
शरोत्तमैर्द्रौणिरविध्यदन्तिकात् ॥ ८५ ॥

अपने टूटे हुए धनुषको पृथ्वीपर फेंककर अधिक गुणशाली अश्वत्थामाने उस धनुषपर प्रत्यञ्चा चढ़ायी और किसीसे पराजित न होनेवाले उन दोनों नरश्रेष्ठ श्रीकृष्ण और अर्जुनको उत्तम बाणोंद्वारा निकटसे पीड़ित एवं घायल करना आरम्भ किया ॥ ८५ ॥

कृपश्च भोजश्च तवात्मजश्च ते
शरैरनेकैर्युधि पाण्डवर्षभम्।
महारथाः संयुगमूर्धनि स्थिता-
स्तमोनुदं वारिधरा इवापतन् ॥ ८६ ॥

युद्धके मुहानेपर खड़े हुए कृपाचार्य, कृतवर्मा और आपके पुत्र दुर्योधन—ये तीन महारथी युद्धस्थलमें अनेक बाणोंद्वारा पाण्डवप्रवर अर्जुनको चोट पहुँचाने लगे, मानो बहुत-से मेघ सूर्यदेवपर टूट पड़े हों ॥ ८६ ॥

कृपस्य पार्थः सशरं शरासनं
हयान् ध्वजान् सारथिमेव पत्रिभिः।
समार्पयद् बाहुसहस्रविक्रम-
स्तथा यथा वज्रधरः पुरा बलेः ॥ ८७ ॥

सहस्र भुजाओंवाले कार्तवीर्य अर्जुनके समान पराक्रमी कुन्तीकुमार अर्जुनने अपने बाणोंद्वारा कृपाचार्यके बाण-

सहित धनुष, घोड़े, ध्वज और सारथिको भी उसी प्रकार नष्ट कर डाला, जैसे पूर्वकालमें वज्रधारी इन्द्रने राजा बलिके धनुष आदिको क्षतिग्रस्त कर दिया था ॥ ८७ ॥

स पार्थबाणैर्विनिपातितायुधो
ध्वजावमर्दे च कृते महाहवे ।
कृतः कृपो बाणसहस्रयन्त्रितो
यथाऽऽपगेयः प्रथमं किरीटिना ॥८८॥

उस महासमरमें अर्जुनके बाणोंद्वारा जब कृपाचार्यके आयुध नीचे गिरा दिये गये और ध्वज खण्डित कर दिया गया, उस समय किरीटधारी अर्जुनने जैसे पहले भीष्मजीको सहस्रों बाणोंसे आवेष्टित कर दिया था, उसी प्रकार कृपाचार्यको हजारों बाणोंसे बाँध-सा लिया ॥ ८८ ॥

शरैः प्रचिच्छेद तवात्मजस्य
ध्वजं धनुश्च प्रचकर्त नर्दतः ।
जघान चाश्वान् कृतवर्मणः शुभान्
ध्वजं च चिच्छेद ततः प्रतापवान् ॥८९॥

तत्पश्चात् प्रतापी अर्जुनने गर्जना करनेवाले आपके पुत्र दुर्योधनके ध्वज और धनुषको अपने बाणोंद्वारा काट दिया। फिर कृतवर्माके सुन्दर घोड़ोंको मार डाला और उसकी ध्वजाके भी टुकड़े-टुकड़े कर डाले ॥ ८९ ॥

सवाजिसूतेष्वसनान् सकेतनान्
जघान नागाश्वरथांस्त्वरंश्च सः ।
ततः प्रकीर्णं सुमहद् बलं तव
प्रदारितः सेतुरिवाम्भसा यथा॥ ९० ॥

इसके बाद अर्जुनने बड़ी उतावलीके साथ घोड़े, सारथि, धनुष और ध्वजाओंसहित रथों, हाथियों और अश्वोंको भी मारना आरम्भ किया। फिर तो पानीसे टूटे हुए पुलके समान आपकी वह विशाल सेना सब ओर बिखर गयी॥

ततोऽर्जुनस्याशु रथेन केशव-
श्चकार शत्रूनपसव्यमातुरान् ।
ततः प्रयातं त्वरितं धनंजयं
शतक्रतुं वृत्रनिजघ्नुषं यथा ॥ ९१ ॥
समन्वधावन् पुनरुत्थितैर्ध्वजै
रथैः सुयुक्तैरपरे युयुत्सवः ।

तदनन्तर श्रीकृष्णने व्याकुल हुए समस्त शत्रुओंको अपने रथके द्वारा शीघ्र ही दाहिने कर दिया। फिर वृत्रासुरको मारनेकी इच्छासे आगे बढ़नेवाले इन्द्रके समान वेगपूर्वक आगे जाते हुए धनंजयपर दूसरे योद्धाओंने ऊँचे किये ध्वजवाले सुसज्जित रथोंद्वारा पुनः धावा किया ॥ ९१½ ॥

अथाभिसृत्य प्रतिवार्य तानरीन्
धनंजयस्याभिमुखं महारथाः ॥ ९२ ॥
शिखण्डिशैनेययमाः शितैः शरै-
र्विदारयन्तो व्यनदन् सुभैरवम् ।

अर्जुनके सम्मुख जाते हुए उन शत्रुओंके सामने पहुँचकर महारथी शिखण्डी, सात्यकि, नकुल और सहदेवने उन्हें रोका और पैने बाणोंद्वारा उन सबको विदीर्ण करते हुए भयंकर गर्जना की ॥ ९२½ ॥

ततोऽभिजघ्नुः कुपिताः परस्परं
शरैस्तदाशुगतिभिः सुतेजनैः ॥ ९३ ॥
कुरुप्रवीराः सह सृंजयैर्यथा-
सुराः पुरा देवगणैस्तथाऽऽहवे ।

तत्पश्चात् सृञ्जयोंके साथ भिड़े हुए कौरव वीर कुपित हो शीघ्रगामी और तेज बाणोंद्वारा एक दूसरेपर उसी प्रकार चोट करने लगे, जैसे पूर्वकालमें देवताओंके साथ युद्ध करनेवाले असुरोंने संग्राममें परस्पर प्रहार किया था ॥ ९३½ ॥

जयेप्सवः स्वर्गमनाय चोत्सुकाः
पतन्ति नागाश्वरथाः परंतप ॥ ९४ ॥
जगर्जुरुच्चैर्बलवच्च विव्यधुः
शरैः सुमुक्तैरितरेतरं पृथक् ।

शत्रुओंको तपानेवाले नरेश ! हाथीसवार, घुड़सवार तथा रथी योद्धा विजय चाहते हुए स्वर्गलोकमें जानेके लिये उत्सुक हो शत्रुओंपर टूट पड़ते, उच्च स्वरसे गर्जते और अच्छी तरह छोड़े हुए बाणोंद्वारा एक दूसरेको पृथक्-पृथक् गहरी चोट पहुँचाते थे ॥ ९४½ ॥

शरान्धकारे तु महात्मभिः कृते
महामृधे योधवरैः परस्परम् ।
चतुर्दिशो वै विदिशश्च पार्थिव
प्रभा च सूर्यस्य तमोवृताभवत् ॥९५॥

महाराज ! उस महासमरमें महामनस्वी श्रेष्ठ योद्धाओंने परस्पर छोड़े हुए बाणोंद्वारा घोर अन्धकार फैला दिया। चारों दिशाएँ, विदिशाएँ तथा सूर्यकी प्रभा भी उस अन्धकारसे आच्छादित हो गयीं ॥ ९५ ॥

इति श्रीमहाभारते कर्णपर्वणि संकुलयुद्धे एकोनाशीतितमोऽध्यायः ॥ ७९ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत कर्णपर्वमें संकुलयुद्धविषयक उन्यासीवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ७९ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठके ३ श्लोक मिलाकर कुल ९८ श्लोक हैं)

अशीतितमोऽध्यायः

अर्जुनका कौरवसेनाको नष्ट करके आगे बढ़ना

संजय उवाच

राजन् कुरूणां प्रवरैर्बलैर्भीममभिद्रुतम् ।
मज्जन्तमिव कौन्तेयमुज्जिहीर्षुर्धनंजयः ॥ १ ॥
विसृज्य सूतपुत्रस्य सेनां भारत सायकैः ।

प्राहिणोन्मृत्युलोकाय परवीरान् धनंजयः ॥ २ ॥

संजय कहते हैं—राजन्! कौरवसेनाके प्रमुख वीरोंने कुन्तीपुत्र भीमसेनपर धावा किया था और वे उस सैन्य-सागरमें डूबते-से जान पड़ते थे। भारत! उस समय उनका उद्धार करनेके लिये अर्जुनने सूतपुत्रकी सेनाको छोड़कर उधर ही आक्रमण किया और बाणोंद्वारा शत्रुपक्षके बहुत-से वीरोंको यमलोक भेज दिया ॥ १—२ ॥

ततोऽस्याम्बरमाश्रित्य शरजालानि भागशः।
अदृश्यन्त तथान्ये च निघ्नन्तस्तव वाहिनीम् ॥ ३ ॥

तदनन्तर अर्जुनके बाणजाल आकाशके विभिन्न भागोंमें छा गये, वे तथा और भी बहुत-से बाण आपकी सेनाका संहार करते दिखायी दिये ॥ ३ ॥

स पक्षिसंघाचरितमाकाशं पूरयञ्शरैः।
धनंजयो महाबाहुः कुरूणामन्तकोऽभवत् ॥ ४ ॥

जहाँ पक्षियोंके झुंड उड़ा करते थे, उस आकाशको बाणोंसे भरते हुए महाबाहु धनंजय वहाँ कौरव-सैनिकोंके काल बन गये ॥ ४ ॥

ततो भल्लैः क्षुरप्रैश्च नाराचैर्विमलैरपि।
गात्राणि प्राच्छिनत् पार्थः शिरांसि च चकर्त ह ॥ ५ ॥

पार्थने भल्लों, क्षुरप्रों तथा निर्मल नाराचोंद्वारा शत्रुओं-का अङ्ग-अङ्ग काट डाला और उनके मस्तक भी धड़से अलग कर दिये ॥ ५ ॥

छिन्नगात्रैर्विकवचैर्विशिरस्कैः समन्ततः।
पातितैश्च पतद्भिश्च योधैरासीत् समावृता ॥ ६ ॥

जिनके शरीरोंके टुकड़े-टुकड़े हो गये थे, कवच कटकर गिर गये थे और मस्तक भी काट डाले गये थे, ऐसे बहुत-से योद्धा वहाँ पृथ्वीपर गिरे थे और गिरते जा रहे थे, उन सबकी लाशोंसे वहाँकी भूमि सब ओरसे पट गयी थी ॥ ६ ॥

धनंजयशराभ्यस्तैः स्यन्दनाश्वरथद्विपैः।
संछिन्नभिन्नविध्वस्तैर्व्यङ्गाङ्गावयवैः स्तृता ॥ ७ ॥

जिनपर अर्जुनके बाणोंकी बारंबार मार पड़ी थी, वे रथके घोड़े, रथ और हाथी छिन्न-भिन्न और विध्वस्त हो गये थे; उनका एक-एक अङ्ग अथवा अवयव कटकर अलग हो गया था। इन सबके द्वारा वहाँकी भूमि आच्छादित हो गयी थी ॥ ७ ॥

सुदुर्गमा सुविषमा घोरात्यर्थं सुदुर्दृशा।
रणभूमिरभूद् राजन् महावैतरणी यथा ॥ ८ ॥

राजन्! उस समय रणभूमि महावैतरणी नदीके समान अत्यन्त दुर्गम, बहुत ऊँची-नीची और भयंकर हो गयी थी, उसकी ओर देखना भी अत्यन्त कठिन जान पड़ता था ॥

ईषाचक्राक्षभग्नैश्च व्यश्वैः साश्वैश्च युध्यताम्।
ससूतैर्हतसूतैश्च रथैस्तीर्णाभवन्मही ॥ ९ ॥

योद्धाओंके टूटे-फूटे रथोंसे रणभूमि ढक गयी थी। उन रथोंके ईषादण्ड, पहिये और धुरे खण्डित हो गये थे। कुछ रथोंके घोड़े और सारथि जीवित थे और कुछके अश्व एवं सारथि मार डाले गये थे ॥ ९ ॥

सुवर्णवर्णसंनाहैर्योधैः कनकभूषणैः।
आस्थिताः क्लृप्तवर्माणो भद्रा नित्यमदा द्विपाः ॥ १० ॥
क्रुद्धाः क्रूरैर्महामात्रैः पार्ष्ण्यङ्गुष्ठप्रचोदिताः।
चतुःशताः शरवरैर्हताः पेतुः किरीटिना ॥ ११ ॥
पर्यस्तानीव शृङ्गाणि ससत्त्वानि महागिरेः।
धनंजयशराभ्यस्तैः स्तीर्णा भूर्वरवारणैः ॥ १२ ॥

किरीटधारी अर्जुनके उत्तम बाणोंसे आहत होकर नित्य मद बहानेवाले, कवचधारी एवं मङ्गलमय लक्षणोंसे युक्त चार सौ रोषभरे हाथी धराशायी हो गये। उन हाथियोंपर सुवर्णमय कवच और सोनेके आभूषण धारण करनेवाले योद्धा बैठे थे और क्रूर स्वभाववाले महावत उन्हें अपने पैरोंकी एड़ियों तथा अँगूठोंसे आगे बढ़नेकी प्रेरणा दे रहे थे। उन सबके साथ गिरे हुए वे हाथी जीव-जन्तुओंसहित धराशायी हुए महान् पर्वतके शिखरोंके समान सब ओर पड़े थे। अर्जुनके बाणोंसे विशेष घायल होकर गिरे हुए उन गजराजों-के शरीरोंसे रणभूमि ढक गयी थी ॥ १०—१२ ॥

समन्ताज्जलदप्रख्यान् वारणान् मदवर्षिणः।
अभिपेदेऽर्जुनरथो घनान् भिन्दन्निवांशुमान् ॥ १३ ॥

जैसे अंशुमाली सूर्य बादलोंको छिन्न-भिन्न करते हुए प्रकाशित हो उठते हैं, उसी प्रकार अर्जुनका रथ सब ओरसे मेघोंकी घटाके समान काले मदस्रावी गजराजोंको विदीर्ण करता हुआ वहाँ आ पहुँचा था ॥ १३ ॥

हतैर्गजमनुष्याश्वैर्भिन्नैश्च बहुधा रथैः।
विशस्त्रयन्त्रकवचैर्युद्धशौण्डैर्गतासुभिः ॥ १४ ॥
अपविद्धायुधैर्मार्गः स्तीर्णोऽभूत् फाल्गुनेन वै।

मारे गये हाथियों, मनुष्यों और घोड़ोंसे; टूट-फूटकर बिखरे हुए अनेकानेक रथोंसे; शस्त्र, यन्त्र तथा कवचोंसे रहित हुए युद्धकुशल प्राणशून्य योद्धाओंसे और इधर-उधर फेंके हुए आयुधोंसे अर्जुनने वहाँके मार्गको आच्छादित कर दिया था ॥ १४½ ॥

व्यस्फारयद् वै गाण्डीवं सुमहद् भैरवारवम् ॥ १५ ॥
घोरवज्रविनिष्पेषं स्तनयित्नुरिवाम्बरे।

उन्होंने आकाशमें मेघके समान भयानक वज्रपातके शब्दको तिरस्कृत करनेवाले भयंकर स्वरमें अपने विशाल गाण्डीव धनुषकी टंकार की ॥ १५½ ॥

ततः प्रादीर्यत चमूर्धनंजयशराहता ॥ १६ ॥
महावातसमाविद्धा महानौरिव सागरे।

तदनन्तर अर्जुनके बाणोंसे आहत हुई कौरवसेना समुद्र-में उठे तूफानसे टकराये हुए जहाजके समान विदीर्ण हो उठी ॥

नानारूपाः प्राणहराः शरा गाण्डीवचोदिताः ॥ १७ ॥

अलातोल्काशनिप्रख्यास्तव सैन्यं विनिर्दहन्।

गाण्डीव धनुषसे छूटे हुए प्राण लेनेवाले नाना प्रकारके बाण जो अलात, उल्का और बिजलीके समान प्रकाशित हो रहे थे, आपकी सेनाको दग्ध करने लगे ॥ १७½ ॥

महागिरौ वेणुवनं निशि प्रज्वलितं यथा ॥ १८ ॥
तथा तव महासैन्यं प्रास्फुरच्छरपीडितम्।

जैसे रात्रिकालमें किसी महान् पर्वतपर बाँसोंका वन जल रहा हो, उसी प्रकार अर्जुनके बाणोंसे पीड़ित हुई आपकी विशाल सेना आगकी लपटोंसे घिरी हुई-सी प्रतीत हो रही थी ॥ १८½ ॥

संपिष्टदग्धविध्वस्तं तव सैन्यं किरीटिना ॥ १९ ॥
कृतं प्रविहतं बाणैः सर्वतः प्रद्रुतं दिशः।

किरीटधारी अर्जुनने आपकी सेनाको पीस डाला, जला दिया, विध्वस्त कर दिया, बाणोंसे बींध डाला और सम्पूर्ण दिशाओंमें भगा दिया ॥ १९½ ॥

महावने मृगगणा दावाग्निग्रासिता यथा ॥ २० ॥
कुरवः पर्यवर्तन्त निर्दग्धाः सव्यसाचिना।

जैसे विशाल वनमें दावानलसे डरे हुए मृगोंके समूह इधर-उधर भागते हैं, उसी प्रकार सव्यसाची अर्जुनके बाण-रूपी अग्निसे जलते हुए कौरवसैनिक चारों ओर चक्कर काट रहे थे ॥ २०½ ॥

उत्सृज्य च महाबाहुं भीमसेनं तथा रणे ॥ २१ ॥
बलं कुरूणामुद्विग्नं सर्वमासीत् पराङ्मुखम्।

रणभूमिमें उद्विग्न हुई सारी कौरवसेनाने महाबाहु भीमसेनको छोड़कर युद्धसे मुँह मोड़ लिया ॥ २१½ ॥

ततः कुरुषु भग्नेषु बीभत्सुरपराजितः ॥ २२ ॥
भीमसेनं समासाद्य मुहूर्तं सोऽभ्यवर्तत।

इस प्रकार कौरवसैनिकोंके भाग जानेपर कभी पराजित न होनेवाले अर्जुन भीमसेनके पास पहुँचकर दो घड़ीतक रुके रहे ॥ २२½ ॥

समागम्य च भीमेन मन्त्रयित्वा च फाल्गुनः ॥ २३ ॥
विशल्यमरुजं चास्मै कथयित्वा युधिष्ठिरम्।

फिर भीमसे मिलकर उन्होंने कुछ सलाह की और यह बताया कि राजा युधिष्ठिरके शरीरसे बाण निकाल दिये गये हैं, अतः वे इस समय स्वस्थ हैं ॥ २३½ ॥

भीमसेनाभ्यनुज्ञातस्ततः प्रायाद् धनंजयः ॥ २४ ॥
नादयन् रथघोषेण पृथिवीं द्यां च भारत।

भारत ! तत्पश्चात् भीमसेनकी आज्ञा ले अर्जुन अपने रथकी घर्घराहटसे पृथ्वी और आकाशको गुँजाते हुए वहाँसे चल दिये ॥ २४½ ॥

ततः परिवृतो वीरैर्दशभिर्योधपुङ्गवैः ॥ २५ ॥
दुःशासनादवरजैस्तव पुत्रैर्धनंजयः।

इसी समय आपके दस वीर पुत्रोंने, जो योद्धाओंमें श्रेष्ठ और दुःशासनसे छोटे थे, अर्जुनको चारों ओरसे घेर लिया ॥ २५½ ॥

ते तमभ्यर्दयन् बाणैरुल्काभिरिव कुञ्जरम् ॥ २६ ॥
आततेष्वसनाः शूरा नृत्यन्त इव भारत।

भरतनन्दन ! जैसे शिकारी लुआठोंसे हाथीको मारते हैं, उसी प्रकार अपने धनुषको ताने हुए उन शूर-वीरोंने नाचते हुए-से वहाँ अर्जुनको बाणोंद्वारा व्यथित कर डाला ॥२६½॥

अपसव्यांस्तु तांश्चक्रे रथेन मधुसूदनः ॥ २७ ॥
न युक्तान् हि स तान् मेने यमायाशु किरीटिना।

उस समय भगवान् श्रीकृष्णने यह सोचकर कि अर्जुन-द्वारा इन सबको यमलोकमें भेज देना उचित नहीं है, रथके द्वारा उन्हें शीघ्र ही अपने दाहिने भागमें कर दिया ॥२७½॥

तथान्ये प्राद्रवन् मूढाः पराङ्मुखरथेऽर्जुने ॥ २८ ॥
तेषामापततां केतूनश्वांश्चापानि सायकान्।
नाराचैरर्धचन्द्रैश्च क्षिप्रं पार्थो न्यपातयत् ॥ २९ ॥

जब अर्जुनका रथ दूसरी ओर जाने लगा, तब दूसरे मूढ़ कौरव योद्धा लोग उनपर टूट पड़े। उस समय कुन्तीकुमार अर्जुनने उन आक्रमणकारियोंके ध्वज, अश्व, धनुष और बाणोंको नाराचों और अर्धचन्द्रोंद्वारा शीघ्र ही काट गिराया ॥ २८-२९ ॥

अथान्यैर्बहुभिर्भल्लैः शिरांस्येषामपातयत्।
रोषसंरक्तनेत्राणि संदष्टौष्ठानि भूतले ॥ ३० ॥
तानि वक्त्राणि विबभुः कमलानीव भूरिशः।

तदनन्तर अन्य बहुत-से भल्लोंद्वारा उन सबके मस्तक काट डाले। वे मस्तक रोषसे लाल हुए नेत्रोंसे युक्त थे और उनके ओठ दाँतोंतले दबे हुए थे। पृथ्वीपर गिरे हुए उनके वे मुख बहुसंख्यक कमलपुष्पोंके समान सुशोभित हो रहे थे ॥ ३०½ ॥

तांस्तु भल्लैर्महावेगैर्दशभिर्दश भारत ॥ ३१ ॥
रुक्माङ्गदान् रुक्मपुङ्खैर्हत्वा प्रायादमित्रहा ॥ ३२ ॥

भारत ! शत्रुओंका संहार करनेवाले अर्जुन सुवर्णमय पंखवाले महान् वेगशाली दस भल्लोंद्वारा सोनेके अंगदोंसे विभूषित उन दसो वीरोंको बींधकर आगे बढ़ गये ।३१-३२।

इति श्रीमहाभारते कर्णपर्वणि संकुलयुद्धेऽशीतितमोऽध्यायः ॥ ८० ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत कर्णपर्वमें संकुलयुद्धविषयक अस्सीवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ८० ॥

एकाशीतितमोऽध्यायः

अर्जुन और भीमसेनके द्वारा कौरव वीरोंका संहार तथा कर्णका पराक्रम

संजय उवाच

तं प्रयान्तं महावेगैरश्वैः कपिवरध्वजम्।
युद्धायाभ्यद्रवन् वीराः कुरूणां नवती रथाः ॥ १ ॥

संजय कहते हैं—राजन् ! जिनकी ध्वजामें श्रेष्ठ कपि-

का चिह्न है, उन वीर अर्जुनको महावेगशाली अश्वोंद्वारा आगे बढ़ते देख कौरव-दलके नब्बे वीर रथियोंने युद्धके लिये धावा किया ॥ १ ॥

कृत्वा संशप्तका घोरं शपथं पारलौकिकम्।
परिवव्रुर्नरव्याघ्रा नरव्याघ्रं रणेऽर्जुनम् ॥ २ ॥

उन नरव्याघ्र संशप्तक वीरोंने परलोकसम्बन्धी घोर शपथ खाकर पुरुषसिंह अर्जुनको रणभूमिमें चारों ओरसे घेर लिया ॥ २ ॥

कृष्णः श्वेतान् महावेगानश्वान् काञ्चनभूषणान्।
मुक्ताजालप्रतिच्छन्नान् प्रैषीत् कर्णरथं प्रति ॥ ३ ॥

श्रीकृष्णने सोनेके आभूषणोंसे विभूषित तथा मोतीकी जालियोंसे आच्छादित श्वेत रंगके महान् वेगशाली अश्वोंको कर्णके रथकी ओर बढ़ाया ॥ ३ ॥

ततः कर्णरथं यान्तमरिघ्नं तं धनंजयम्।
बाणवर्षैरभिघ्नन्तः संशप्तकरथा ययुः ॥ ४ ॥

तत्पश्चात् कर्णके रथकी ओर जाते हुए शत्रुसूदन धनंजयको बाणोंकी वर्षासे घायल करते हुए संशप्तक रथियोंने उनपर आक्रमण कर दिया ॥ ४ ॥

त्वरमाणांस्तु तान् सर्वान् ससूतेष्वसनध्वजान्।
जघान नवतिं वीरानर्जुनो निशितैः शरैः ॥ ५ ॥

सारथि, धनुष और ध्वजसहित उतावलीके साथ आक्रमण करनेवाले उन सभी नब्बे वीरोंको अर्जुनने अपने पैने बाणोंद्वारा मार गिराया ॥ ५ ॥

तेऽपतन्त हता बाणैर्नानारूपैः किरीटिना।
सविमाना यथा सिद्धाः स्वर्गात् पुण्यक्षये तथा॥ ६ ॥

किरीटधारी अर्जुनके चलाये हुए नाना प्रकारके बाणोंसे मारे जाकर वे संशप्तक रथी पुण्यक्षय होनेपर विमानसहित स्वर्गसे गिरनेवाले सिद्धोंके समान रथसे नीचे गिर पड़े ॥६॥

ततः सरथनागाश्वाः कुरवः कुरुसत्तमम्।
निर्भया भरतश्रेष्ठमभ्यवर्तन्त फाल्गुनम् ॥ ७ ॥

तदनन्तर रथ, हाथी और घोड़ोंसहित बहुत-से कौरव वीर निर्भय हो भरतभूषण कुरुश्रेष्ठ अर्जुनका सामना करनेके लिये चढ़ आये ॥ ७ ॥

तदायस्तमनुष्याश्वमुदीर्णवरवारणम् ।
पुत्राणां ते महासैन्यं समरौत्सीद् धनंजयम् ॥ ८ ॥

आपके पुत्रोंकी उस विशाल सेनामें मनुष्य और अश्व तो थक गये थे, परंतु बड़े-बड़े हाथी उद्धत होकर आगे बढ़ रहे थे। उस सेनाने अर्जुनकी गति रोक दी ॥ ८ ॥

शक्त्यृष्टितोमरप्रासैर्गदानिस्त्रिंशसायकैः ।
प्राच्छादयन् महेष्वासाः कुरवः कुरुनन्दनम् ॥ ९ ॥

उन महाधनुर्धर कौरवोंने कुरुकुलनन्दन अर्जुनको शक्ति, ऋष्टि, तोमर, प्रास, गदा, खड्ग और बाणोंके द्वारा ढक दिया ॥ ९ ॥

तामन्तरिक्षे विततां शस्त्रवृष्टिं समन्ततः।
व्यधमत् पाण्डवो बाणैस्तमः सूर्य इवांशुभिः ॥ १० ॥

परंतु जैसे सूर्य अपनी किरणोंद्वारा अन्धकारको नष्ट कर देता है, उसी प्रकार पाण्डुपुत्र अर्जुनने आकाशमें सब ओर फैली हुई उस बाणवर्षाको छिन्न-भिन्न कर डाला ॥ १० ॥

ततो म्लेच्छाः स्थिता मत्तैस्त्रयोदशशतैर्गजैः।
पार्श्वतो व्यहनन् पार्थं तव पुत्रस्य शासनात् ॥ ११ ॥

तब आपके पुत्र दुर्योधनकी आज्ञासे म्लेच्छसैनिक तेरह सौ मतवाले हाथियोंके साथ आ पहुँचे और पार्श्वभागमें खड़े हो अर्जुनको घायल करने लगे ॥ ११ ॥

कर्णिनालीकनाराचैस्तोमरप्रासशक्तिभिः ।
मुसलैर्भिन्दिपालैश्च रथस्थं पार्थमार्दयन् ॥ १२ ॥

उन्होंने रथपर बैठे हुए अर्जुनको कर्णी, नालीक, नाराच, तोमर, मुसल, प्रास, भिंदिपाल और शक्तियोंद्वारा गहरी चोट पहुँचायी ॥ १२ ॥

तां शस्त्रवृष्टिमतुलां द्विपहस्तैः प्रवेरिताम्।
चिच्छेद निशितैर्भल्लैरर्धचन्द्रैश्च फाल्गुनः ॥ १३ ॥

हाथियोंकी सूँड़ोंद्वारा की हुई उस अनुपम शस्त्रवर्षाको अर्जुनने तीखे भल्लों तथा अर्धचन्द्रोंसे नष्ट कर दिया ॥१३॥

अथ तान् द्विरदान् सर्वान् नानालिङ्गैः शरोत्तमैः।
सपताकध्वजारोहान् गिरीन् वज्रैरिवाहनत् ॥ १४ ॥

फिर नाना प्रकारके चिह्नवाले उत्तम बाणोंद्वारा पताका, ध्वज और सवारोंसहित उन सभी हाथियोंको उसी तरह मार गिराया, जैसे इन्द्रने वज्रके आघातोंसे पर्वतोंको धराशायी कर दिया था ॥ १४ ॥

ते हेमपुङ्खैरिषुभिरर्दिता हेममालिनः।
हताः पेतुर्महानागाः साग्निज्वाला इवाद्रयः ॥ १५ ॥

सोनेके पंखवाले बाणोंसे पीड़ित हुए वे सुवर्णमालाधारी बड़े-बड़े गजराज मारे जाकर आगकी ज्वालाओंसे युक्त पर्वतों-के समान धरतीपर गिर पड़े ॥ १५ ॥

ततो गाण्डीवनिर्घोषो महानासीद् विशाम्पते।
स्तनतां कूजतां चैव मनुष्यगजवाजिनाम् ॥ १६ ॥

प्रजानाथ ! तदनन्तर गाण्डीव धनुषकी टंकारध्वनि बड़े जोर-जोरसे सुनायी देने लगी। साथ ही चिग्घाड़ते और आर्तनाद करते हुए मनुष्यों, हाथियों तथा घोड़ोंकी आवाज भी वहाँ गूँज उठी ॥ १६ ॥

कुञ्जराश्च हता राजन् दुद्रुवुस्ते समन्ततः।
अश्वाश्च पर्यधावन्त हतारोहा दिशो दश ॥ १७ ॥

राजन् ! घायल हाथी सब ओर भागने लगे। जिनके सवार मार दिये गये थे, वे घोड़े भी दसों दिशाओंमें दौड़ लगाने लगे ॥ १७ ॥

रथा हीना महाराज रथिभिर्वाजिभिस्तथा।
गन्धर्वनगराकारा दृश्यन्ते स्म सहस्रशः ॥ १८ ॥

महाराज ! गन्धर्वनगरोंके समान सहस्रों विशाल रथ रथियों और घोड़ोंसे हीन दिखायी देने लगे ॥ १८ ॥

अश्वारोहा महाराज धावमाना इतस्ततः ।
तत्र तत्रैव दृश्यन्ते निहताः पार्थसायकैः ॥ १९ ॥

राजेन्द्र ! अर्जुनके बाणोंसे घायल हुए अश्वारोही भी जहाँ-तहाँ इधर-उधर भागते दिखायी दे रहे थे ॥ १९ ॥

तस्मिन् क्षणे पाण्डवस्य बाह्वोर्बलमदृश्यत ।
यत् सादिनो वारणांश्च रथांश्चैकोऽजयद् युधि॥२०॥

उस समय पाण्डुपुत्र अर्जुनकी भुजाओंका बल देखा गया, उन्होंने अकेले ही युद्धमें रथों, सवारों और हाथियोंको भी परास्त कर दिया ॥ २० ॥

(असंयुक्ताश्च ते राजन् परिवृत्ता रणं प्रति ।
हया नागा रथाश्चैव नदन्तोऽर्जुनमभ्ययुः ॥)

राजन् ! तदनन्तर पृथक्-पृथक् वे हाथी, घोड़े और रथ पुनः युद्धस्थलमें लौट आये और अर्जुनके सामने गर्जना करते हुए डट गये ॥

ततस्त्र्यङ्गेण महता बलेन भरतर्षभ ।
दृष्ट्वा परिवृतं राजन् भीमसेनः किरीटिनम् ॥ २१ ॥
हतावशेषानुत्सृज्य त्वदीयान् कतिचिद् रथान् ।
जवेनाभ्यद्रवद् राजन् धनंजयरथं प्रति ॥ २२ ॥

नरेश्वर ! भरतश्रेष्ठ ! तदनन्तर अर्जुनको तीन अङ्गोंवाली विशाल सेनासे घिरा देख भीमसेन मरनेसे बचे हुए आपके कतिपय रथियोंको छोड़कर बड़े वेगसे धनंजयके रथकी ओर दौड़े ॥ २१-२२ ॥

ततस्तत् प्राद्रवत् सैन्यं हतभूयिष्ठमातुरम् ।
दृष्ट्वार्जुनं तदा भीमो जगाम भ्रातरं प्रति ॥ २३ ॥

उस समय आपके अधिकांश सैनिक मारे जा चुके थे, बहुत-से घायल होकर आतुर हो गये थे । फिर तो कौरव-सेनामें भगदड़ मच गयी । यह सब देखते हुए भीमसेन अपने भाई अर्जुनके पास आ पहुँचे ॥ २३ ॥

हतावशिष्टांस्तुरगानर्जुनेन महाबलान् ।
भीमो व्यधमदश्रान्तो गदापाणिर्महाहवे ॥ २४ ॥

भीमसेन अभी थके नहीं थे, उन्होंने हाथमें गदा ले उस महासमरमें अर्जुनद्वारा मारे जानेसे बचे हुए महाबली घोड़ों और सवारोंका संहार कर डाला ॥ २४ ॥

कालरात्रिमिवात्युग्रां नरनागाश्वभोजनाम् ।
प्राकाराट्टपुरद्वारदारणीमतिदारुणाम् ॥ २५ ॥
ततो गदां नृनागाश्वेष्वाशु भीमो व्यवासृजत् ।
सा जघान बहूनश्वानश्वारोहांश्च मारिष ॥ २६ ॥

मान्यवर नरेश ! तदनन्तर भीमसेनने कालरात्रिके समान अत्यन्त भयंकर, मनुष्यों, हाथियों और घोड़ोंको कालका ग्रास बनानेवाली, परकोटों, अट्टालिकाओं और नगरद्वारोंको भी विदीर्ण कर देनेवाली अपनी अति दारुण गदाका वहाँ मनुष्यों, गजराजों तथा अश्वोंपर तीव्रवेगसे प्रहार किया । उस गदाने बहुत-से घोड़ों और घुड़सवारोंका संहार कर डाला ॥ २५-२६ ॥

कार्ष्णायसतनुत्राणान् नरानश्वांश्च पाण्डवः ।
पोथयामास गदया सशब्दं तेऽपतन् हताः ॥ २७ ॥

पाण्डुपुत्र भीमने काले लोहेका कवच पहने हुए बहुत-से मनुष्यों और अश्वोंको भी गदासे मार गिराया । वे सब-के-सब आर्तनाद करते हुए प्राणशून्य होकर गिर पड़े ॥ २७ ॥

दन्तैर्दशन्तो वसुधां शेरते क्षतजोक्षिताः ।
भग्नमूर्धास्थिचरणाः क्रव्यादगणभोजनाः ॥ २८ ॥

घायल हुए कौरवसैनिक खूनसे नहाकर दाँतोंसे ओठ चबाते हुए धरतीपर सो गये थे, किन्हींका माथा फट गया था, किन्हींकी हड्डियाँ चूर-चूर हो गयी थीं और किन्हींके पाँव उखड़ गये थे । वे सब-के-सब मांसभक्षी पशुओंके भोजन बन गये थे ॥ २८ ॥

असृङ्मांसवसाभिश्च तृप्तिमभ्यागता गदा ।
अस्थीन्यप्यश्नती तस्थौ कालरात्रीव दुर्दृशा ॥ २९ ॥

वह गदा दुर्लक्ष्य कालरात्रिके समान शत्रुओंके रक्त, मांस और चर्बीसे तृप्त होकर उनकी हड्डियोंको भी चबाये जा रही थी ॥ २९ ॥

सहस्राणि दशाश्वानां हत्वा पत्तींश्च भूयसा ।
भीमोऽभ्यधावत् संक्रुद्धो गदापाणिरितस्ततः ॥ ३० ॥

दस हजार घोड़ों और बहुसंख्यक पैदलोंका संहार करके क्रोधमें भरे हुए भीमसेन हाथमें गदा लेकर इधर-उधर दौड़ने लगे ॥ ३० ॥

गदापाणिं ततो भीमं दृष्ट्वा भारत तावकाः ।
मेनिरे समनुप्राप्तं कालदण्डोद्यतं यमम् ॥ ३१ ॥

भरतनन्दन ! भीमसेनको गदा हाथमें लिये देख आपके सैनिक कालदण्ड लेकर आया हुआ यमराज मानने लगे ३१

स मत्त इव मातङ्गः संक्रुद्धः पाण्डुनन्दनः ।
प्रविवेश गजानीकं मकरः सागरं यथा ॥ ३२ ॥

मतवाले हाथीके समान अत्यन्त क्रोधमें भरे हुए पाण्डु-नन्दन भीमसेनने शत्रुओंकी गजसेनामें प्रवेश किया, मानो मगर समुद्रमें जा घुसा हो ॥ ३२ ॥

विगाह्य च गजानीकं प्रगृह्य महतीं गदाम् ।
क्षणेन भीमः संक्रुद्धस्तन्निन्ये यमसादनम् ॥ ३३ ॥

विशाल गदा हाथमें ले अत्यन्त कुपित हो भीमसेनने हाथियोंकी सेनामें घुसकर उसे क्षणभरमें यमलोक पहुँचा दिया ॥

गजान् सकङ्कटान् मत्तान् सारोहान् सपताकिनः ।
पततः समपश्याम सपक्षान् पर्वतानिव ॥ ३४ ॥

कवचों, सवारों और पताकाओंसहित मतवाले हाथियों-को हमने पंखधारी पर्वतोंके समान धराशायी होते देखा था ॥

हत्वा तु तद् गजानीकं भीमसेनो महाबलः ।
पुनः स्वरथमास्थाय पृष्ठतोऽर्जुनमभ्ययात् ॥ ३५ ॥

महाबली भीमसेन उस गजसेनाका संहार करके पुनः अपने रथपर आ बैठे और अर्जुनके पीछे-पीछे चलने लगे ॥ ३५ ॥

ततः पराङ्मुखप्रायं निरुत्साहं बलं तव।
व्यालम्बत महाराज प्रायशः शस्त्रवेष्टितम् ॥ ३६ ॥

महाराज! उस समय भीमसेन और अर्जुनके अस्त्र-शस्त्रोंसे घिरी हुई आपकी अधिकांश सेना उत्साहशून्य, विमुख और जडवत् हो गयी ॥ ३६ ॥

विलम्बमानं तत् सैन्यमप्रगल्भमवस्थितम्।
दृष्ट्वा प्राच्छादयद् बाणैरर्जुनः प्राणतापनैः ॥ ३७ ॥

उस सेनाको जडवत्, उद्योगशून्य हुई देख अर्जुनने प्राणोंको संतप्त कर देनेवाले बाणोंद्वारा उसे आच्छादित कर दिया ॥ ३७ ॥

नराश्वरथमातङ्गा युधि गाण्डीवधन्वना।
शरव्रातैश्चिता रेजुः कदम्बा इव केसरैः ॥ ३८ ॥

युद्धस्थलमें गाण्डीवधारी अर्जुनके बाणोंसे छिदे हुए मनुष्य, घोड़े, रथ और हाथी केसरयुक्त कदम्बपुष्पोंके समान सुशोभित हो रहे थे ॥ ३८ ॥

ततः कुरूणामभवदार्तनादो महान् नृप।
नराश्वनागासुहरैर्वध्यतामर्जुनेषुभिः ॥ ३९ ॥

नरेश्वर! तदनन्तर मनुष्यों, घोड़ों और हाथियोंके प्राण लेनेवाले अर्जुनके बाणोंद्वारा हताहत होते हुए कौरवोंका महान् आर्तनाद प्रकट होने लगा ॥ ३९ ॥

हाहाकृतं भृशं त्रस्तं लीयमानं परस्परम्।
अलातचक्रवत् सैन्यं तदाभ्रमत तावकम् ॥ ४० ॥

महाराज! उस समय अत्यन्त भयभीत हो हाहाकार मचाती और एक दूसरेकी आड़में छिपती हुई आपकी सेना अलातचक्रके समान वहाँ चक्कर काटने लगी ॥ ४० ॥

ततस्तद् युद्धमभवत् कुरूणां सुमहद् बलैः।
न ह्यत्रासीदनिर्भिन्नो रथः सादी हयो गजः ॥ ४१ ॥

तत्पश्चात् कौरवोंकी सेनाके साथ महान् युद्ध होने लगा। उसमें कोई भी ऐसा रथ, सवार, घोड़ा अथवा हाथी नहीं था, जो अर्जुनके बाणोंसे विदीर्ण न हो गया हो ॥ ४१ ॥

आदीप्तमिव तत् सैन्यं शरैश्छिन्नतनुच्छदम्।
आसीत् सुशोणितक्लिन्नं फुल्लाशोकवनं यथा ॥ ४२ ॥

उस समय सारी सेना जलती हुई-सी दिखायी देती थी। बाणोंसे उसके कवच छिन्न-भिन्न हो गये थे तथा वह खूनसे लथपथ हो खिले हुए अशोकवनके समान प्रतीत होती थी ॥ ४२ ॥

(तत् सैन्यं भरतश्रेष्ठ वध्यमानं शितैः शरैः।
न जहौ समरं प्राप्य फाल्गुनं शत्रुतापनम् ॥
तत्राद्भुतमपश्याम कौरवाणां पराक्रमम्।
वध्यमानापि यत् पार्थं न जहुर्भरतर्षभ ॥)

भरतश्रेष्ठ! शत्रुओंको तपनेवाले अर्जुनको सामने पाकर तीखे बाणोंसे मारी जाती हुई आपकी उस सेनाने युद्ध नहीं छोड़ा। भरतभूषण! वहाँ हमलोगोंने कौरवयोद्धाओंका यह अद्भुत पराक्रम देखा कि वे मारे जानेपर भी अर्जुनको छोड़ नहीं रहे थे ॥

तं दृष्ट्वा कुरवस्तत्र विक्रान्तं सव्यसाचिनम्।
निराशाः समपद्यन्त सर्वे कर्णस्य जीविते ॥ ४३ ॥

सव्यसाची अर्जुनको इस प्रकार पराक्रम प्रकट करते देख समस्त कौरवसैनिक कर्णके जीवनसे निराश हो गये ॥ ४३ ॥

अविषह्यं तु पार्थस्य शरसम्पातमाहवे।
मत्वा न्यवर्तन् कुरवो जिता गाण्डीवधन्वना ॥ ४४ ॥

गाण्डीवधारी अर्जुनके द्वारा परास्त हुए कौरव योद्धा समराङ्गणमें उनकी बाणवर्षाको अपने लिये असह्य मानकर युद्धसे पीछे हटने लगे ॥ ४४ ॥

ते हित्वा समरे कर्णं वध्यमानाश्च सायकैः।
प्रदुद्रुवुर्दिशो भीतास्चुक्रुशुश्चापि सूतजम् ॥ ४५ ॥

बाणोंसे विंध जानेके कारण वे भयभीत हो रणभूमिमें कर्णको अकेला ही छोड़कर सम्पूर्ण दिशाओंमें भाग चले; किंतु अपनी रक्षाके लिये सूतपुत्र कर्णको ही पुकारते रहे॥ ४५॥

अभ्यद्रवत तान् पार्थः किरञ्शरशतान् बहून्।
हर्षयन् पाण्डवान् योधान् भीमसेनपुरोगमान्॥ ४६ ॥

कुन्तीकुमार अर्जुन सैकड़ों बाणोंकी वर्षा करते और भीमसेन आदि पाण्डव-योद्धाओंका हर्ष बढ़ाते हुए आपके उन सैनिकोंको खदेड़ने लगे ॥ ४६ ॥

पुत्रास्तु ते महाराज जग्मुः कर्णरथं प्रति।
अगाधे मज्जतां तेषां द्वीपः कर्णोऽभवत्तदा ॥ ४७ ॥

महाराज! इसके बाद आपके पुत्र भागकर कर्णके रथके पास गये। वे संकटके अगाध समुद्रमें डूब रहे थे। उस समय कर्ण ही द्वीपके समान उनका रक्षक हुआ ॥ ४७ ॥

कुरवो हि महाराज निर्विषाः पन्नगा इव।
कर्णमेवोपलीयन्त भयाद् गाण्डीवधन्वनः ॥ ४८ ॥

महाराज! कौरव विषरहित सर्पोंके समान गाण्डीवधारी अर्जुनके भयसे कर्णके ही पास छिपने लगे ॥ ४८ ॥

यथा सर्वाणि भूतानि मृत्योर्भीतानि मारिष।
धर्ममेवोपलीयन्ते कर्मवन्ति हि यानि च ॥ ४९ ॥
तथा कर्णं महेष्वासं पुत्रास्तव नराधिप।
उपालीयन्त संत्रासात् पाण्डवस्य महात्मनः ॥ ५० ॥

माननीय नरेश! जैसे कर्म करनेवाले सब जीव मृत्युसे डरकर धर्मकी ही शरण लेते हैं, उसी प्रकार आपके पुत्र महामना पाण्डुपुत्र अर्जुनके भयसे महाधनुर्धर कर्णकी ही ओटमें छिपने लगे थे ॥ ४९-५० ॥

ताञ्शोणितपरिक्लिन्नान् विषमस्थाञ्शरातुरान्।
मा भैष्टेत्यब्रवीत् कर्णो ह्यभीतो मामितेति च ॥ ५१ ॥

कर्णने उन्हें खूनसे लथपथ, संकटमें मग्न और बाणोंकी चोटसे व्याकुल देखकर कहा—'वीरो! डरो मत। तुम सब लोग निर्भय होकर मेरे पास आ जाओ' ॥ ५१ ॥

सम्भग्नं हि बलं दृष्ट्वा बलात् पार्थेन तावकम्।
धनुर्विस्फारयन् कर्णस्तस्थौ शत्रुजिघांसया ॥ ५२ ॥

अर्जुनने बलपूर्वक आपकी सेनाको भगा दिया है—यह देखकर कर्ण शत्रुओंका वध करनेकी इच्छासे धनुष तानकर खड़ा हो गया ॥ ५२ ॥

तान् प्रद्रुतान् कुरून् दृष्ट्वा कर्णः शस्त्रभृतां वरः।
संचिन्तयित्वा पार्थस्य वधे दध्रे मनः श्वसन् ॥ ५३ ॥

शस्त्रधारियोंमें श्रेष्ठ कर्णने कौरवसैनिकोंको भागते देख खूब सोच-विचारकर लंबी साँस लेते हुए मन-ही-मन अर्जुनके वधका निश्चय किया ॥ ५३ ॥

विस्फार्य सुमहच्चापं ततश्चाधिरथिर्वृषः।
पञ्चालान् पुनराधावत् पश्यतः सव्यसाचिनः ॥ ५४ ॥

तत्पश्चात् धर्मात्मा अधिरथपुत्र कर्णने अपने विशाल धनुषको फैलाकर अर्जुनके देखते-देखते पुनः पाञ्चाल-योद्धाओंपर धावा किया ॥ ५४ ॥

ततः क्षणेन क्षितिपाः क्षतजप्रतिमेक्षणाः।
कर्णं ववर्षुर्बाणौघैर्यथा मेघा महीधरम् ॥ ५५ ॥

यह देख पाञ्चालनरेशोंके नेत्र रोषसे लाल हो गये। जैसे बादल पर्वतपर पानी बरसाते हैं, उसी प्रकार वे क्षणभरमें कर्णपर बाणसमूहोंकी वर्षा करने लगे ॥ ५५ ॥

ततः शरसहस्राणि कर्णमुक्तानि मारिष।
व्ययोजयन्त पञ्चालान् प्राणैः प्राणभृतां वर ॥ ५६ ॥

प्राणधारियोंमें श्रेष्ठ मान्यवर नरेश! तदनन्तर कर्णके छोड़े हुए सहस्रों बाण पाञ्चालोंको प्राणहीन करने लगे ॥

तत्र शब्दो महानासीत् पञ्चालानां महामते।
वध्यतां सूतपुत्रेण मित्रार्थे मित्रगृद्धिना ॥ ५७ ॥

महामते! वहाँ मित्रका हित चाहनेवाले सूतपुत्र कर्णके द्वारा मित्रकी ही भलाईके लिये मारे जानेवाले पाञ्चालोंका महान् आर्तनाद होने लगा ॥ ५७ ॥

इति श्रीमहाभारते कर्णपर्वणि संकुलयुद्धे एकाशीतितमोऽध्यायः ॥ ८१ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत कर्णपर्वमें संकुलयुद्धविषयक इक्यासीवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ८१ ॥
(दाक्षिणात्य अधिक पाठके ३२ श्लोक मिलाकर कुल ६० श्लोक हैं)

द्व्यशीतितमोऽध्यायः

सात्यकिके द्वारा कर्णपुत्र प्रसेनका वध, कर्णका पराक्रम और दुःशासन एवं भीमसेनका युद्ध

संजय उवाच

ततः कर्णः कुरुषु प्रद्रुतेषु
वरूथिना श्वेतहयेन राजन्।
पाञ्चालपुत्रान् व्यधमत् सूतपुत्रो
महेषुभिर्वात इवाभ्रसंघान् ॥ १ ॥

संजय कहते हैं—राजन्! जब कौरवसैनिक बड़े वेगसे भागने लगे, उस समय जैसे वायु मेघोंके समूहको छिन्न-भिन्न कर देती है, उसी प्रकार सूतपुत्र कर्णने श्वेत घोड़ोंवाले रथके द्वारा आक्रमण करके अपने विशाल बाणोंसे पाञ्चालराजकुमारोंका संहार आरम्भ किया ॥ १ ॥

सूतं रथादञ्जलिकैर्निपात्य
जघान चाश्वाञ्जनमेजयस्य।
शतानीकं सुतसोमं च भल्लै-
रवाकिरद् धनुषी चाप्यकृन्तत् ॥ २ ॥

उसने अञ्जलिक नामवाले बाणोंसे जनमेजयके सारथिको रथसे नीचे गिराकर उसके घोड़ोंको भी मार डाला। फिर शतानीक तथा सुतसोमको भल्लोंसे ढक दिया और उन दोनोंके धनुष भी काट डाले ॥ २ ॥

धृष्टद्युम्नं निर्बिभेदाथ षड्भि-
र्जघानाश्वांस्तरसा तस्य संख्ये।
हत्वा चाश्वान् सात्यकेः सूतपुत्रः
कैकेयपुत्रं न्यवधीद् विशोकम् ॥ ३ ॥

तत्पश्चात् छः बाणोंसे युद्धस्थलमें धृष्टद्युम्नको घायल कर दिया और उनके घोड़ोंको भी वेगपूर्वक मार डाला। इसके बाद सूतपुत्रने सात्यकिके घोड़ोंको नष्ट करके केकयराजकुमार विशोकका भी वध कर डाला ॥ ३ ॥

तमभ्यधावन्निहते कुमारे
कैकेयसेनापतिरुग्रकर्मा।
शरैर्विधुन्वन् भृशमुग्रवेगैः
कर्णात्मजं चाप्यहनत् प्रसेनम् ॥ ४ ॥

केकयराजकुमारके मारे जानेपर वहाँके सेनापति उग्रकर्माने कर्णपर धावा किया। उसने धनुषको तीव्रवेगसे संचालित करते हुए भयंकर वेगवाले बाणोंद्वारा कर्णके पुत्र प्रसेनको भी घायल कर दिया ॥ ४ ॥

तस्यार्धचन्द्रैस्त्रिभिरुच्चकर्त
प्रहस्य बाहू च शिरश्च कर्णः।
स स्यन्दनाद् गामगमद् गतासुः
परश्वधैः शाल इवावरुग्णः ॥ ५ ॥

तब कर्णने हँसकर तीन अर्धचन्द्राकार बाणोंसे उग्रकर्माकी दोनों भुजाएँ और मस्तक काट डाले। वह प्राणशून्य होकर कुल्हाड़ीके काटे हुए शाखूके पेड़के समान रथसे पृथ्वीपर गिर पड़ा ॥ ५ ॥

हताश्वमञ्जोगतिभिः प्रसेनः
शिनिप्रवीरं निशितैः पृषत्कैः।

प्रच्छाद्य नृत्यन्निव कर्णपुत्रः
शैनेयबाणाभिहतः पपात ॥ ६ ॥

उधर कर्णने जब सात्यकिके घोड़े मार डाले, तब कर्ण-पुत्र प्रसेनने तीव्रगामी पैने बाणोंद्वारा शिनिप्रवर सात्यकिको ढक दिया। इसके बाद सात्यकिके बाणोंकी चोट खाकर वह नाचता हुआ-सा पृथ्वीपर गिर पड़ा ॥ ६ ॥

पुत्रे हते क्रोधपरीतचेताः
कर्णः शिनीनामृषभं जिघांसुः।
हतोऽसि शैनेय इति ब्रुवन् स
व्यवासृजद् बाणममित्रसाहम् ॥ ७ ॥

पुत्रके मारे जानेपर क्रोधसे व्याकुलचित्त हुए कर्णने शिनिप्रवर सात्यकिका वध करनेके लिये उनपर एक शत्रु-नाशक बाण छोड़ा और कहा—'सात्यके! अब तू मारा गया' ॥ ७ ॥

तमस्य चिच्छेद शरं शिखण्डी
त्रिभिस्त्रिभिश्च प्रतुतोद कर्णम्।
शिखण्डिनः कार्मुकं च ध्वजं च
छित्त्वा क्षुराभ्यां न्यपतत् सुजातः॥ ८ ॥

परंतु उसके उस बाणको शिखण्डीने तीन बाणोंद्वारा काट दिया और उसे भी तीन बाणोंसे पीड़ित कर दिया। तब कर्णने दो छुरोंसे शिखण्डीकी ध्वजा और धनुष काटकर नीचे गिरा दिये ॥ ८ ॥

शिखण्डिनं षड्भिरविध्यदुग्रो
धार्ष्टद्युम्नेः स शिरश्चोच्चकर्त।
तथाभिनत् सुतसोमं शरेण
सुसंशितेनाधिरथिर्महात्मा ॥ ९ ॥

फिर भयंकर वीर कर्णने छः बाणोंसे शिखण्डीको घायल कर दिया और धृष्टद्युम्नके पुत्रका मस्तक काट डाला। साथ ही महामनस्वी अधिरथपुत्रने अत्यन्त तीखे बाणसे सुतसोम-को भी क्षत-विक्षत कर दिया ॥ ९ ॥

अथाक्रन्दे तुमुले वर्तमाने
धार्ष्टद्युम्ने निहते तत्र कृष्णः।
अपाञ्चाल्यं क्रियते याहि पार्थ
कर्णं जहीत्यब्रवीद् राजसिंह ॥ १० ॥

राजसिंह! इस प्रकार जब वह भयंकर घमासान युद्ध चलने लगा और धृष्टद्युम्नका पुत्र मारा गया, तब भगवान् श्रीकृष्णने वहाँ अर्जुनसे कहा—'पार्थ! कर्ण पाञ्चालोंका संहार कर रहा है, अतः आगे बढ़ो और उसे मार डालो' ॥ १० ॥

ततः प्रहस्याशु नरप्रवीरो
रथं रथेनाधिरथेर्जगाम।
भये तेषां त्राणमिच्छन् सुबाहु-
रभ्याहतानां रथयूथपेन ॥ ११ ॥

तदनन्तर सुन्दर भुजाओंवाले नरवीर अर्जुन हँसकर भयके अवसरपर उन घायल सैनिकोंकी रक्षाके लिये रथ-समूहोंके अधिपति विशाल रथके द्वारा सूतपुत्रके रथकी ओर शीघ्रतापूर्वक आगे बढ़े ॥ ११ ॥

विस्फार्य गाण्डीवमथोग्रघोषं
ज्यया समाहत्य तले भृशं च।
बाणान्धकारं सहसैव कृत्वा
जघान नागाश्वरथध्वजांश्च ॥ १२ ॥

उन्होंने भयानक टंकार करनेवाले गाण्डीव धनुषको फैलाकर उसकी प्रत्यञ्चाद्वारा अपनी हथेलीमें आघात करते हुए सहसा बाणोंद्वारा अन्धकार फैला दिया और शत्रुपक्षके हाथी, घोड़े, रथ एवं ध्वज नष्ट कर दिये ॥ १२ ॥

प्रतिश्रुतिः प्राचरदन्तरिक्षे
गुहा गिरीणामपतन् वयांसि।
यन्मण्डलज्येन विजृम्भमाणो
रौद्रे मुहूर्तेऽभ्यपतत् किरीटी ॥ १३ ॥

उस भयंकर मुहूर्तमें गाण्डीव धनुषकी प्रत्यञ्चाको मण्डलाकार करके जब किरीटधारी अर्जुन शत्रुसेनापर टूट पड़े तथा बल और प्रतापमें बढ़ने लगे, उस समय धनुषकी टंकारकी प्रतिध्वनि आकाशमें गूँज उठी, जिससे डरे हुए पक्षी पर्वतोंकी कन्दराओंमें छिप गये ॥ १३ ॥

तं भीमसेनोऽनुययौ रथेन
पृष्ठे रक्षन् पाण्डवमेकवीरः।
तौ राजपुत्रौ त्वरितौ रथाभ्यां
कर्णाय यातावरिभिर्विषक्तौ ॥ १४ ॥

प्रमुख वीर भीमसेन पीछेसे पाण्डुनन्दन अर्जुनकी रक्षा करते हुए रथके द्वारा उनका अनुसरण करने लगे। वे दोनों पाण्डवराजकुमार बड़ी उतावलीके साथ शत्रुओंसे जूझते हुए कर्णकी ओर बढ़ने लगे ॥ १४ ॥

तत्रान्तरे सुमहत् सूतपुत्र-
श्चक्रे युद्धं सोमकान् सम्प्रमृद्नन्।
रथाश्वमातङ्गगणाञ्जघान
प्रच्छादयामास शरैर्दिशश्च ॥ १५ ॥

इसी बीचमें सूतपुत्र कर्णने सोमकोंका संहार करते हुए उनके साथ महान् युद्ध किया। उनके बहुत-से घोड़े, रथ और हाथियोंका वध कर डाला और बाणोंद्वारा सम्पूर्ण दिशाओंको आच्छादित कर दिया ॥ १५ ॥

तमुत्तमौजा जनमेजयश्च
क्रुद्धौ युधामन्युशिखण्डिनौ च।
कर्णं बिभिदुः सहिताः पृषत्कैः
संनर्दमानाः सह पार्षतेन ॥ १६ ॥

उस समय धृष्टद्युम्नके साथ गर्जते हुए उत्तमौजा, जन-मेजय, कुपित युधामन्यु और शिखण्डी—ये सब संगठित होकर अपने बाणोंद्वारा कर्णको घायल करने लगे ॥ १६ ॥

ते पञ्च पाञ्चालरथप्रवीरा
वैकर्तनं कर्णमभिद्रवन्तः ।
तस्माद् रथाच्च्यावयितुं न शेकु-
र्धैर्यात् कृतात्मानमिवेन्द्रियार्थाः॥ १७ ॥

पाञ्चाल रथियोंमें प्रमुख ये पाँचों वीर वैकर्तन कर्णपर आक्रमण करके भी उसे उस रथसे नीचे न गिरा सके। ठीक उसी तरह, जैसे जिसने अपने मनको वशमें कर रक्खा है उस योगीको शब्द, स्पर्श आदि विषय धैर्यसे विचलित नहीं कर पाते हैं ॥ १७ ॥

तेषां धनूंषि ध्वजवाजिसूतां-
स्तूर्णं पताकाश्च निकृत्य बाणैः ।
तान् पञ्चभिस्त्वभ्यहनत् पृषत्कैः
कर्णस्ततः सिंह इवोन्ननाद ॥ १८ ॥

कर्णने अपने बाणोंद्वारा तुरंत ही उनके धनुष, ध्वज, घोड़े, सारथि और पताकाएँ काट डालीं और पाँच बाणोंसे उन पाँचों वीरोंको भी घायल कर दिया। तत्पश्चात् वह सिंहके समान दहाड़ने लगा ॥ १८ ॥

तस्यास्यतस्तानभिनिघ्नतश्च
ज्याबाणहस्तस्य धनुःस्वनेन ।
साद्रिद्रुमा स्यात् पृथिवी विशीर्णे-
त्यनीव मत्वा जनता व्यषीदत् ॥ १९ ॥

कर्ण बाण छोड़ता और शत्रुओंका संहार करता जा रहा था। उसके हाथमें धनुषकी प्रत्यञ्चा और बाण सदा मौजूद रहते थे। उसके धनुषकी टंकारसे पर्वतों और वृक्षोंसहित यह सारी पृथ्वी विदीर्ण हो जायगी, ऐसा समझकर सब लोग अत्यन्त खिन्न हो उठे थे ॥ १९ ॥

स शक्रचापप्रतिमेन धन्वना
भृशायतेनाधिरथिः शरान् सृजन् ।
बभौ रणे दीप्तमरीचिमण्डलो
यथांशुमाली परिवेषवांस्तथा॥ २० ॥

इन्द्रधनुषके समान खींचे हुए मण्डलाकार विशाल धनुषके द्वारा बाणोंकी वर्षा करता हुआ अधिरथपुत्र कर्ण रणभूमिमें प्रकाशमान किरणोंवाले परिधियुक्त अंशुमाली सूर्यके समान शोभा पा रहा था ॥ २० ॥

शिखण्डिनं द्वादशभिः पराभिन-
च्छितैः शरैः षड्भिरथोत्तमौजसम्।
त्रिभिर्युधामन्युमविध्यदाशुगै-
स्त्रिभिस्त्रिभिः सोमकपार्षतात्मजौ॥२१॥

उसने शिखण्डीको बारह, उत्तमौजाको छः, युधामन्युको तीन तथा जनमेजय और धृष्टद्युम्नको भी तीन-तीन पैने बाणोंसे अत्यन्त घायल कर दिया ॥ २१ ॥

पराजिताः पञ्च महारथास्तु ते
महाहवे सूतसुतेन मारिष ।
निरुद्यमास्तस्थुरमित्रनन्दना
यथेन्द्रियार्थात्मवता पराजिताः ॥ २२ ॥

आर्य ! जैसे मनको वशमें रखनेवाले जितेन्द्रिय पुरुषके द्वारा पराजित हुए विषय उसे आकृष्ट नहीं कर पाते, उसी प्रकार महासमरमें सूतपुत्र कर्णके द्वारा परास्त हुए वे पाँचों पाञ्चाल वीर निश्चेष्टभावसे खड़े हो गये और शत्रुओंका आनन्द बढ़ाने लगे ॥ २२ ॥

निमज्जतस्तानथ कर्णसागरे
विपन्ननावो वणिजो यथार्णवे ।
उद्दध्रिरे नौभिरिवार्णवाद् रथैः
सुकल्पितैर्द्रौपदिजाः स्वमातुलान् ॥ २३ ॥

जैसे समुद्रमें जिनकी नाव डूब गयी हो, उन डूबते हुए व्यापारियोंको दूसरी नौकाओंद्वारा लोग बचा लेते हैं, उसी प्रकार द्रौपदीके पुत्रोंने कर्णरूपी सागरमें डूबनेवाले अपने उन मामाओंको रण-सामग्रीसे सजे-सजाये रथोंद्वारा बचाया ॥

ततः शिनीनामृषभः शितैः शरै-
र्निकृत्य कर्णप्रहितानिषून् बहून् ।
विदार्य कर्णं निशितैरयस्मयै-
स्तवात्मजं ज्येष्ठमविध्यदष्टभिः॥ २४ ॥

तत्पश्चात् शिनिप्रवर सात्यकिने कर्णके छोड़े हुए बहुत-से बाणोंको अपने तीखे बाणोंसे काटकर लोहेके पैने बाणोंसे कर्णको घायल करनेके पश्चात् आपके ज्येष्ठ पुत्र दुर्योधनको आठ बाण मारकर बींध डाला ॥ २४ ॥

कृपोऽथ भोजश्च तवात्मजस्तथा
स्वयं च कर्णो निशितैरताडयत् ।
स तैश्चतुर्भिर्युयुधे यदूत्तमो
दिगीश्वरैर्दैत्यपतिर्यथा तथा ॥ २५ ॥

तब कृपाचार्य, कृतवर्मा, आपका पुत्र दुर्योधन तथा स्वयं कर्ण भी सात्यकिको तीखे बाणोंसे घायल करने लगे। यदुकुलतिलक सात्यकिने अकेले ही उन चारों वीरोंके साथ उसी प्रकार युद्ध किया, जैसे दैत्यराज हिरण्यकशिपुने चारों दिक्पालोंके साथ किया था ॥ २५ ॥

समाततेनेष्वसनेन कूजता
भृशायतेनामितबाणवर्षिणा ।
बभूव दुर्धर्षतरः स सात्यकिः
शरन्नभोमध्यगतो यथा रविः ॥ २६ ॥

जैसे शरद्-ऋतुके आकाशमण्डलके बीचमें आये हुए मध्याह्नकालिक सूर्य प्रचण्ड हो उठते हैं, उसी प्रकार असंख्य बाणोंकी वर्षा करनेवाले तथा कानतक खींचे जानेके कारण गम्भीर टंकार करनेवाले अपने विशाल धनुषके द्वारा सात्यकि उस समय शत्रुओंके लिये अत्यन्त दुर्जय हो उठे ॥ २६ ॥

पुनः समास्थाय रथान् सुदंशिताः
शिनिप्रवीरं जुगुपुः परंतपाः ।

समेत्य पाञ्चालमहारथा रणे
मरुद्गणाः शक्रमिवारिनिग्रहे ॥ २७ ॥

तदनन्तर शत्रुओंको तपानेवाले पूर्वोक्त पाञ्चाल महारथी कवच पहन रथोंपर आरूढ़ हो पुनः आकर शिनिप्रवर सात्यकिकी रणभूमिमें उसी तरह रक्षा करने लगे, जैसे मरुद्गण शत्रुओंके दमनकालमें देवराज इन्द्रकी रक्षा करते हैं ॥

ततोऽभवद् युद्धमतीव दारुणं
तवाहितानां तव सैनिकैः सह ।
रथाश्वमातङ्गविनाशनं तथा
यथा सुराणामसुरैः पुराभवत् ॥ २८ ॥

इसके बाद आपके शत्रुओंका आपके सैनिकोंके साथ अत्यन्त दारुण युद्ध होने लगा, जो रथों, घोड़ों और हाथियोंका विनाश करनेवाला था। वह युद्ध प्राचीन कालके देवासुर-संग्रामके समान जान पड़ता था ॥ २८ ॥

रथा द्विपा वाजिपदातयस्तथा
भवन्ति नानाविधशस्त्रवेष्टिताः ।
परस्परेणाभिहताश्च चस्खलु-
र्विनेदुरार्ता व्यसवोऽपतंस्तथा ॥ २९ ॥

बहुत-से रथी, सवारोंसहित हाथी, घोड़े तथा पैदल सैनिक नाना प्रकारके अस्त्र-शस्त्रोंसे आच्छादित हो एक दूसरेसे टकराकर लड़खड़ाने लगते, आर्तनाद करते और प्राणशून्य होकर गिर पड़ते थे ॥ २९ ॥

तथागते भीममभीस्तवात्मजः
ससार राजावरजः किरञ्शरैः ।
तमभ्यधावत् त्वरितो वृकोदरो
महारुरुं सिंह इवाभिपेदिवान् ॥ ३० ॥

राजन्! इस प्रकार जब वह भयंकर संग्राम चल रहा था, उसी समय राजा दुर्योधनका छोटा भाई आपका पुत्र दुःशासन निर्भय हो बाणोंकी वर्षा करता हुआ भीमसेनपर चढ़ आया। उसे देखते ही भीमसेन भी बड़े उतावले होकर उसकी ओर दौड़े और जिस प्रकार सिंह महारुरु नामक मृगपर आक्रमण करता है, उसी प्रकार उसके पास जा पहुँचे ॥

ततस्तयोर्युद्धमतीव दारुणं
प्रदीव्यतोः प्राणदुरोदरं द्वयोः ।
परस्परेणाभिनिविष्टरोषयो-
रुदग्रयोः शम्बरशक्रयोर्यथा ॥ ३१ ॥

उन दोनोंके मनमें एक दूसरेके प्रति महान् रोष भरा हुआ था। दोनों ही प्राणोंकी बाजी लगाकर अत्यन्त भयंकर युद्धका जूआ खेल रहे थे। उन प्रचण्ड वीरोंका वह संग्राम शम्बरासुर और इन्द्रके समान हो रहा था ॥ ३१ ॥

शरैः शरीरार्तिकरैः सुतेजनै-
र्निजघ्नतुस्तावितरेतरं भृशम् ।
सकृत्प्रभिन्नाविव वाशितान्तरे
महागजौ मन्मथसक्तचेतसौ ॥ ३२ ॥

शरीरको पीड़ा देनेवाले अत्यन्त पैने बाणोंद्वारा वे दोनों वीर एक दूसरेको गहरी चोट पहुँचाने लगे; मानो मैथुनकी इच्छावाली हथिनीके लिये कामासक्त चित्त होकर दो मदस्रावी गजराज परस्पर आघात करते हों ॥ ३२ ॥

(आलोक्य तौ तत्र परस्परं ततः
समं च शूरौ च ससारथी तदा ।
भीमोऽब्रवीद् याहि दुःशासनाय
दुःशासनो याहि वृकोदराय ॥

सारथिसहित उन दोनों शूरवीरोंने जब वहाँ एक दूसरेको एक साथ देखा, तब भीमने अपने सारथिसे कहा— 'दुःशासनकी ओर चलो' और दुःशासनने अपने सारथिसे कहा—'भीमसेनकी ओर चलो' ॥

तयो रथौ सारथिभ्यां प्रचोदितौ
समं रणे तौ सहसा समीयतुः ।
नानायुधौ चित्रपताकिनौ ध्वजौ
दिवीव पूर्वं बलशक्रयो रणे ॥

सारथियोंद्वारा एक साथ हाँके गये उन दोनोंके रथ रणभूमिमें दोनोंके पास सहसा जा पहुँचे। वे दोनों ही रथ नाना प्रकारके आयुधोंसे सम्पन्न तथा विचित्र पताकाओं और ध्वजाओंसे सुशोभित थे। जैसे पूर्वकालमें स्वर्गके निमित्त होनेवाले युद्धमें बलासुर और इन्द्रके रथ थे, उसी प्रकार दुःशासन और भीमसेनके भी थे ॥

भीम उवाच

दिष्ट्यासि दुःशासन मेऽद्य दृष्टः
ऋणं प्रतीच्छे सहवृद्धिमूलम् ।
चिरोद्यतं यन्मया ते सभायां
कृष्णाभिमर्शेन गृहाण मत्तः ॥

भीमसेन बोले—दुःशासन! बड़े सौभाग्यकी बात है कि तू आज मुझे दिखायी दिया है। कौरव-सभामें द्रौपदीका स्पर्श करनेके कारण दीर्घकालसे जो तेरा ऋण मेरे ऊपर चढ़ गया है, उसे मैं आज व्याज और मूलसहित चुकाना चाहता हूँ। तू मुझसे वह सब ग्रहण कर ॥

संजय उवाच

स एवमुक्तस्तु ततो महात्मा
दुःशासनो वाक्यमुवाच वीरः ।

संजय कहते हैं—राजन्! भीमसेनके ऐसा कहनेपर महामनस्वी वीर दुःशासनने इस प्रकार कहा ॥

दुःशासन उवाच

सर्वं स्मरे नैव च विस्मरामि
उदीर्यमाणं शृणु भीमसेन ॥
स्मरामि चात्मप्रभवं चिराय
यज्जातुषे वेश्मनि राज्यहानि ।
विश्वासहीना मृगयां चरन्तो
वसन्ति सर्वत्र निराकृतास्तु ॥

दुःशासन बोला—भीमसेन ! मुझे सब कुछ याद है। मैं भूलता नहीं हूँ। तुम मेरी कही हुई बात सुनो। मैं अपनी की हुई सारी बातोंको चिरकालसे याद रखता हूँ। पहले तुमलोग लाक्षागृहमें रात-दिन सशङ्क होकर निवास करते थे। फिर वहाँसे निकाले जाकर वनमें सर्वत्र शिकार खेलते हुए रहने लगे ॥

महाभये राज्यहनी स्मरन्त-
स्तथोपभोगाच्च सुखाच्च हीनाः ।
वनेष्वटन्तो गिरिगह्वराणि
पाञ्चालराजस्य पुरं प्रविष्टाः ॥
मायां यूयं कामपि सम्प्रविष्टा
यतो वृतः कृष्णया फाल्गुनो वः ।

रात-दिन महान् भयमें डूबे रहकर तुम चिन्तामें पड़े रहते और सुख एवं उपभोगसे वञ्चित हो जंगलों तथा पर्वतकी कन्दराओंमें घूमते थे। इसी अवस्थामें तुम सब लोग एक दिन पाञ्चालराजके नगरमें जा घुसे। वहाँ तुम लोगोंने किसी मायामें प्रविष्ट होकर अपने स्वरूपको छिपा लिया था; इसलिये द्रौपदीने तुमलोगोंमेंसे अर्जुनका वरण कर लिया ॥

सम्भूय पापैस्तदनार्यवृत्तं
कृतं तदा मातृकृतानुरूपम् ॥
एको वृतः पञ्चभिः साभिपन्ना
ह्यलज्जमानैश्च परस्परस्य ।
स्मरे सभायां सुबलात्मजेन
दासीकृताः स्थ सह कृष्णया च ॥)

परंतु तुम सब पापियोंने मिलकर उसके साथ वह नीचोंका-सा बर्ताव किया, जो तुम्हारी माताकी करनीके अनुरूप था। द्रौपदीने तो एकहीका वरण किया, परंतु तुम पाँचोंने उसे अपनी पत्नी बनाया और इस कार्यमें तुम्हें एक दूसरेसे तनिक भी लज्जा नहीं हुई। मुझे यह भी याद है कि कौरवसभामें शकुनिने द्रौपदीसहित तुम सब लोगोंको दास बना लिया था ॥

संजय उवाच

(इत्येवमुक्तस्तु तवात्मजेन
पाण्डोः सुतः कोपवशं जगाम ।)

तवात्मजस्याथ वृकोदरस्त्वरन्
धनुः क्षुराभ्यां ध्वजमेव चाच्छिनत् ।
ललाटमप्यस्य बिभेद पत्रिणा
शिरश्च कायात् प्रजहार सारथेः ॥ ३३ ॥

संजय कहते हैं—राजन् ! आपके पुत्रके ऐसा कहनेपर पाण्डुकुमार भीमसेन क्रोधके वशीभूत हो गये। वृकोदरने बड़ी उतावलीके साथ दो क्षुरोंके द्वारा आपके पुत्र दुःशासनके धनुष और ध्वजको काट दिया, एक बाणसे उसके ललाटमें घाव कर दिया और दूसरेसे उसके सारथिका मस्तक भी धड़से अलग कर दिया ॥ ३३ ॥

स राजपुत्रोऽन्यदवाप्य कार्मुकं
वृकोदरं द्वादशभिः पराभिनत् ।
स्वयं नियच्छंस्तुरगानजिह्मगैः
शरैश्च भीमं पुनरप्यवीवृषत् ॥ ३४ ॥

तब राजकुमार दुःशासनने भी दूसरा धनुष लेकर भीमसेनको बारह बाणोंसे बींध डाला और स्वयं ही घोड़ोंको काबूमें रखते हुए उसने पुनः उनके ऊपर सीधे जानेवाले बाणोंकी झड़ी लगा दी ॥ ३४ ॥

ततः शरं सूर्यमरीचिसप्रभं
सुवर्णवज्रोत्तमरत्नभूषितम् ।
महेन्द्रवज्राशनिपातदुःसहं
मुमोच भीमाङ्गविदारणक्षमम् ॥ ३५ ॥

इसके बाद दुःशासनने सूर्यकी किरणोंके समान कान्तिमान्, सुवर्ण और हीरे आदि उत्तम रत्नोंसे विभूषित तथा देवराज इन्द्रके वज्र एवं विद्युत्-पातके समान दुःसह एक ऐसा भयंकर बाण छोड़ा, जो भीमसेनके अङ्गोंको विदीर्ण कर देनेमें समर्थ था ॥ ३५ ॥

स तेन निर्विद्धतनुर्वृकोदरो
निपातितः स्रस्ततनुर्गतासुवत् ।
प्रसार्य बाहू रथवर्यमाश्रितः
पुनः स संज्ञामुपलभ्य चानदत् ॥ ३६ ॥

उससे भीमसेनका शरीर छिद गया। वे बहुत शिथिल हो गये और प्राणहीनके समान दोनों बाँहें फैलाकर अपने श्रेष्ठ रथपर लुढ़क गये। फिर थोड़ी ही देरमें होशमें आकर भीमसेन सिंहके समान दहाड़ने लगे ॥ ३६ ॥

इति श्रीमहाभारते कर्णपर्वणि दुःशासनभीमसेनयुद्धे द्व्यशीतितमोऽध्यायः ॥ ८२ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत कर्णपर्वमें दुःशासन और भीमसेनका युद्धविषयक बयासीवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ८२ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठके ८½ श्लोक मिलाकर कुल ४४½ श्लोक हैं)

त्र्यशीतितमोऽध्यायः

भीमद्वारा दुःशासनका रक्तपान और उसका वध, युधामन्युद्वारा चित्रसेनका वध तथा भीमका हर्षोद्गार

संजय उवाच

तत्राकरोद् दुष्करं राजपुत्रो
दुःशासनस्तुमुलं युद्ध्यमानः ।
चिच्छेद भीमस्य धनुः शरेण
षड्भिः शरैः सारथिमप्यविध्यत् ॥ १ ॥

संजय कहते हैं—राजन् ! वहाँ तुमुल युद्ध करते हुए

राजकुमार दुःशासनने दुष्कर पराक्रम प्रकट किया। उसने एक बाणसे भीमसेनका धनुष काट डाला और साठ बाणोंसे उनके सारथिको भी घायल कर दिया॥ १॥

स तत् कृत्वा राजपुत्रस्तरस्वी
विव्याध भीमं नवभिः पृषत्कैः।
ततोऽभिनद् बहुभिः क्षिप्रमेव
वरेषुभिर्भीमसेनं महात्मा॥ २॥

ऐसा करके उस वेगशाली राजपुत्रने भीमसेनपर नौ बाणोंका प्रहार किया। इसके बाद महामना दुःशासनने बड़ी फुर्तीके साथ बहुत-से उत्तम बाणोंद्वारा भीमसेनको अच्छी तरह बींध डाला॥ २॥

ततः क्रुद्धो भीमसेनस्तरस्वी
शक्तिं चोग्रां प्राहिणोत् ते सुताय।
तामापतन्तीं सहसातिघोरां
दृष्ट्वा सुतस्ते ज्वलितामिवोल्काम्॥ ३॥
आकर्णपूर्णैरिषुभिर्महात्मा
चिच्छेद पुत्रो दशभिः पृषत्कैः।

तब क्रोधमें भरे हुए वेगशाली भीमसेनने आपके पुत्रपर एक भयंकर शक्ति छोड़ी। प्रज्वलित उल्काके समान उस अत्यन्त भयानक शक्तिको सहसा अपने ऊपर आती देख आपके महामनस्वी पुत्रने कानतक खींचकर छोड़े हुए दस बाणोंके द्वारा उसे काट डाला॥ ३½॥

दृष्ट्वा तु तत् कर्म कृतं सुदुष्करं
प्रापूजयन् सर्वयोधाः प्रहृष्टाः॥ ४॥
अथाशु भीमं च शरेण भूयो
गाढं स विव्याध सुतस्त्वदीयः।
चुक्रोध भीमः पुनराशु तस्मै
भृशं प्रजज्वाल रुषाभिवीक्ष्य॥ ५॥

उसके इस अत्यन्त दुष्कर कर्मको देखकर सभी योद्धा बड़े प्रसन्न हुए और उसकी भूरि-भूरि प्रशंसा करने लगे। फिर आपके पुत्रने तुरंत ही एक बाण मारकर भीमसेनको गहरी चोट पहुँचायी। इससे फिर उन्हें बड़ा क्रोध हुआ। वे उसकी ओर देखकर शीघ्र ही रोषसे प्रज्वलित हो उठे॥

विद्धोऽस्मि वीराशु भृशं त्वयाद्य
सहस्व भूयोऽपि गदाप्रहारम्।
उक्त्वैवमुच्चैः कुपितोऽथ भीमो
जग्राह तां भीमगदां वधाय॥ ६॥

और बोले—'वीर! तूने तो आज मुझे शीघ्रतापूर्वक बाण मारकर बहुत घायल कर दिया; किंतु अब स्वयं भी मेरी गदाका प्रहार सहन कर' उच्चस्वरसे ऐसा कहकर कुपित हुए भीमसेनने दुःशासनके वधके लिये एक भयंकर गदा हाथमें ले ली॥ ६॥

उवाच चाद्याहमहं दुरात्मन्
पास्यामि ते शोणितमाजिमध्ये।
अथैवमुक्तस्तनयस्तवोग्रां
शक्तिं वेगात् प्राहिणोन्मृत्युरूपाम्॥ ७॥

फिर वे इस प्रकार बोले—'दुरात्मन्! आज इस संग्राममें मैं तेरा रक्त पान करूँगा।' भीमके ऐसा कहते ही आपके पुत्रने उनके ऊपर बड़े वेगसे एक भयंकर शक्ति चलायी, जो मृत्युरूप जान पड़ती थी॥ ७॥

आविध्य भीमोऽपि गदां सुघोरां
विचिक्षिपे रोषपरीतमूर्तिः।
सा तस्य शक्तिं सहसा विरुज्य
पुत्रं तवाजौ ताडयामास मूर्ध्नि॥ ८॥

इधरसे रोषमें भरे हुए भीमसेनने भी अपनी अत्यन्त घोर गदा घुमाकर फेंकी। वह गदा रणभूमिमें दुःशासनकी उस शक्तिको टूक-टूक करती हुई सहसा उसके मस्तकमें जा लगी॥

स विक्षरन् नाग इव प्रभिन्नो
गदामस्मै तुमुले प्राहिणोद् वै।
तयाहरद् दश धन्वन्तराणि
दुःशासनं भीमसेनः प्रसह्य॥ ९॥

मदस्रावी गजराजके समान अपने घावोंसे रक्त बहाते हुए भीमसेनने उस तुमुल युद्धमें दुःशासनपर जो गदा चलायी थी, उसके द्वारा उन्होंने उसे बलपूर्वक दस धनुष (चालीस हाथ) पीछे हटा दिया॥ ९॥

तया हतः पतितो वेपमानो
दुःशासनो गदया वेगवत्या।
विध्वस्तवर्माभरणाम्बरस्रग्
विचेष्टमानो भृशवेदनातुरः॥ १०॥

दुःशासन उस वेगवती गदाके आघातसे धरतीपर गिरकर काँपने और अत्यन्त वेदनासे व्याकुल हो छटपटाने लगा। उसका कवच टूट गया, आभूषण और हार बिखर गये तथा कपड़े फट गये थे॥ १०॥

हयाः ससूता निहता नरेन्द्र
चूर्णीकृतश्चास्य रथः पतन्त्या।
दुःशासनं पाण्डवाः प्रेक्ष्य सर्वे
हृष्टाः पञ्चालाः सिंहनादानमुञ्चन्॥ ११॥

नरेन्द्र! उस गदाने गिरते ही दुःशासनके रथको चूर-चूर कर डाला और सारथिसहित उसके घोड़ोंको भी मार डाला। दुःशासनको उस अवस्थामें देखकर समस्त पाण्डव और पाञ्चाल योधा हर्षमें भरकर सिंहनाद करने लगे॥ ११॥

तं पातयित्वाथ वृकोदरोऽथ
जगर्ज हर्षेण विनादयन् दिशः।
नादेन तेनाखिलपार्श्ववर्तिनो
मूर्च्छाकुलाः पतितास्त्वाजमीढ॥ १२॥

इस प्रकार वृकोदर भीम दुःशासनको धराशायी करके हर्षसे उल्लसित हो सम्पूर्ण दिशाओंको प्रतिध्वनित करते हुए

जोर-जोरसे गर्जना करने लगे। अजमीढ़वंशी नरेश ! उस सिंहनादसे भयभीत हो आसपास खड़े हुए समस्त योद्धा मूर्च्छित होकर गिर पड़े ॥ १२ ॥

भीमोऽपि वेगादवतीर्य यानाद्
दुःशासनं वेगवानभ्यधावत्।
ततः स्मृत्वा भीमसेनस्तरस्वी
सापत्नकं यत् प्रयुक्तं सुतैस्ते ॥ १३ ॥

फिर भीमसेन भी शीघ्रतापूर्वक रथसे उतरकर बड़े वेगसे दुःशासनकी ओर दौड़े। उस समय वेगशाली भीमसेनको आपके पुत्रोंद्वारा किये गये शत्रुतापूर्ण बर्ताव याद आने लगे थे ॥

तस्मिन् सुघोरे तुमुले वर्तमाने
प्रधानभूयिष्ठतरैः समन्तात्।
दुःशासनं तत्र समीक्ष्य राजन्
भीमो महाबाहुरचिन्त्यकर्मा ॥ १४ ॥
स्मृत्वाथ केशग्रहणं च देव्या
वस्त्रापहारं च रजस्वलायाः।
अनागसो भर्तृपराङ्मुखाया
दुःखानि दत्तान्यपि विप्रचिन्त्य ॥ १५ ॥
जज्वाल क्रोधादथ भीमसेन
आज्यप्रसिक्तो हि यथा हुताशः।

राजन् ! वहाँ चारों ओर जब प्रधान-प्रधान वीरोंका वह अत्यन्त घोर तुमुल युद्ध चल रहा था, उस समय अचिन्त्यपराक्रमी महाबाहु भीमसेन दुःशासनको देखकर पिछली बातें याद करने लगे—'देवी द्रौपदी रजस्वला थी। उसने कोई अपराध नहीं किया था। उसके पति भी उसकी सहायतासे मुँह मोड़ चुके थे तो भी इस दुःशासनने द्रौपदीके केश पकड़े और भरी सभामें उसके वस्त्रोंका अपहरण किया।' उसने और भी जो-जो दुःख दिये थे, उन सबको याद करके भीमसेन घीकी आहुतिसे प्रज्वलित हुई अग्निके समान क्रोधसे जल उठे ॥ १४–१५½ ॥

तत्राह कर्णं च सुयोधनं च
कृपं द्रौणिं कृतवर्माणमेव ॥ १६ ॥
निहन्मि दुःशासनमद्य पापं
संरक्ष्यतामद्य समस्तयोधाः।

उन्होंने वहाँ कर्ण, दुर्योधन, कृपाचार्य, अश्वत्थामा और कृतवर्माको सम्बोधित करके कहा—'आज मैं पापी दुःशासनको मारे डालता हूँ। तुम समस्त योद्धा मिलकर उसकी रक्षा कर सको तो करो' ॥ १६½ ॥

इत्येवमुक्त्वा सहसाभ्यधाव-
न्निहन्तुकामोऽतिबलस्तरस्वी ॥ १७ ॥
तथा तु विक्रम्य रणे वृकोदरो
महागजं केसरिको यथैव।
निगृह्य दुःशासनमेकवीरः
सुयोधनस्याधिरथेः समक्षम् ॥ १८ ॥
रथादवप्लुत्य गतः स भूमौ
यत्नेन तस्मिन् प्रणिधाय चक्षुः।
असिं समुद्यम्य सितं सुधारं
कण्ठे पदाऽऽक्रम्य च वेपमानम् ॥ १९ ॥

ऐसा कहकर अत्यन्त बलवान् वेगशाली एवं अद्वितीय वीर भीमसेन अपने रथसे कूदकर पृथ्वीपर आ गये और दुःशासनको मार डालनेकी इच्छासे सहसा उसकी ओर दौड़े। उन्होंने युद्धमें पराक्रम करके दुर्योधन और कर्णके सामने ही दुःशासनको उसी प्रकार धर दबाया, जैसे सिंह किसी विशाल हाथीपर आक्रमण कर रहा हो। वे यत्नपूर्वक उसीकी ओर दृष्टि जमाये हुए थे। उन्होंने उत्तम धारवाली सफेद तलवार उठा ली और उसके गलेपर लात मारी। उस समय दुःशासन थरथर काँप रहा था ॥ १७—१९ ॥

उवाच तद्गौरिति यद् ब्रुवाणो
हृष्टो वदेः कर्णसुयोधनाभ्याम्।
ये राजसूयावभृथे पवित्रा
जाताः कचा याज्ञसेन्या दुरात्मन् ॥ २० ॥
ते पाणिना कतरेणावकृष्टा-
स्तद् ब्रूहि त्वां पृच्छति भीमसेनः।

वे उससे इस प्रकार बोले—'दुरात्मन् ! याद है न वह दिन, जब तुमने कर्ण और दुर्योधनके साथ बड़े हर्षमें भर-कर मुझे 'बैल' कहा था। राजसूययज्ञमें अवभृथस्नानसे पवित्र हुए महारानी द्रौपदीके केश तूने किस हाथसे खींचे थे ? बता, आज भीमसेन तुझसे यह पूछता और इसका उत्तर चाहता है' ॥ २०½ ॥

श्रुत्वा तु तद् भीमवचः सुघोरं
दुःशासनो भीमसेनं निरीक्ष्य ॥ २१ ॥
जज्वाल भीमं स तदा स्मयेन
संशृण्वतां कौरवसोमकानाम्।
उक्तस्तदाऽऽजौ स तथा सरोषं
जगाद भीमं परिवर्तनेत्रः ॥ २२ ॥

भीमसेनका यह अत्यन्त भयंकर वचन सुनकर दुःशासनने उनकी ओर देखा। देखते ही वह क्रोधसे जल उठा। युद्धस्थलमें उनके वैसा कहनेपर उसकी त्यौरी बदल गयी थी; अतः वह समस्त कौरवों तथा सोमकोंके सुनते-सुनते मुस्कराकर रोषपूर्वक बोला—॥ २१-२२ ॥

अयं करिकराकारः पीनस्तनविमर्दनः।
गोसहस्रप्रदाता च क्षत्रियान्तकरः करः ॥ २३ ॥
अनेन याज्ञसेन्या मे भीम केशा विकर्षिताः।
पश्यतां कुरुमुख्यानां युष्माकं च सभासदाम् ॥ २४ ॥

'यह है हाथीकी सूँड़के समान मोटा मेरा हाथ, जो रमणीके ऊँचे उरोजोंका मर्दन, सहस्रों गोदान तथा क्षत्रियों-का विनाश करनेवाला है। भीमसेन ! इसी हाथसे मैंने सभामें

बैठे हुए कुरुकुलके श्रेष्ठ पुरुषों और तुमलोगोंके देखते-देखते द्रौपदीके केश खींचे थे' ॥ २३-२४ ॥

एवं त्वसौ राजसुतं निशम्य
ब्रुवन्तमाजौ विनिपीड्य वक्षः ।
भीमो बलात्तं प्रतिगृह्य दोर्भ्या-
मुच्चैर्ननादाथ समस्तयोधान् ॥ २५ ॥
उवाच यस्यास्ति बलं स रक्ष-
त्वसौ भवेदद्य निरस्तबाहुः ।
दुःशासनं जीवितं प्रोत्सृजन्त-
माक्षिप्य योधांस्तरसा महाबलः॥ २६ ॥
एवं क्रुद्धो भीमसेनः करेण
उत्पाटयामास भुजं महात्मा ।
दुःशासनं तेन स वीरमध्ये
जघान वज्राशनिसंनिभेन ॥ २७ ॥

युद्धस्थलमें ऐसी बात कहते हुए राजकुमार दुःशासनकी छातीपर चढ़कर भीमसेनने उसे दोनों हाथोंसे बलपूर्वक पकड़ लिया और उच्चस्वरसे सिंहनाद करते हुए समस्त योद्धाओंसे कहा—'आज दुःशासनकी बाँह उखाड़ी जा रही है । यह अब अपने प्राणोंको त्यागना ही चाहता है । जिसमें बल हो, वह आकर इसे मेरे हाथसे बचा ले ।' इस प्रकार समस्त योद्धाओंको ललकारकर महाबली, महामनस्वी, कुपित भीमसेनने एक ही हाथसे वेगपूर्वक दुःशासनकी बाँह उखाड़ ली । उसकी वह बाँह वज्रके समान कठोर थी । भीमसेन समस्त वीरोंके बीच उसीके द्वारा उसे पीटने लगे ॥

उत्कृत्य वक्षः पतितस्य भूमा-
वथापिबच्छोणितमस्य कोष्णम् ।
ततो निपात्यास्य शिरोऽपकृत्य
तेनासिना तव पुत्रस्य राजन् ॥ २८ ॥
सत्यां चिकीर्षुर्मतिमान् प्रतिज्ञां
भीमोऽपिबच्छोणितमस्य कोष्णम्।
आस्वाद्य चास्वाद्य च वीक्षमाणः
क्रुद्धो हि चैनं निजगाद वाक्यम्॥ २९ ॥

इसके बाद पृथ्वीपर पड़े हुए दुःशासनकी छाती फाड़कर वे उसका गरम-गरम रक्त पीनेका उपक्रम करने लगे । राजन् ! उठनेकी चेष्टा करते हुए दुःशासनको पुनः गिराकर बुद्धिमान् भीमसेनने अपनी प्रतिज्ञा सत्य करनेके लिये तलवारसे आपके पुत्रका मस्तक काट डाला और उसके कुछ-कुछ गरम रक्तको वे स्वाद ले-लेकर पीने लगे । फिर क्रोधमें भरकर उसकी ओर देखते हुए इस प्रकार बोले—॥

स्तन्यस्य मातुर्मधुसर्पिषोर्वा
माध्वीकपानस्य च सत्कृतस्य ।
दिव्यस्य वा तोयरसस्य पानात्
पयोदधिभ्यां मथिताच्च मुख्यात्॥ ३० ॥
अन्यानि पानानि च यानि लोके
सुधामृतस्वादुरसानि तेभ्यः ।
सर्वेभ्य एवाभ्यधिको रसोऽयं
ममाद्य चास्याहितलोहितस्य ॥ ३१ ॥

'मैंने माताके दूधका, मधु और घीका, अच्छी तरह तैयार किये हुए मधूक पुष्प-निर्मित पेय पदार्थका, दिव्य जलके रसका, दूध और दहीसे बिलोये हुए ताजे माखनका भी पान या रसास्वादन किया है; इन सबसे तथा इनके अतिरिक्त भी संसारमें जो अमृतके समान स्वादिष्ट पीने योग्य पदार्थ हैं, उन सबसे भी मेरे इस शत्रुके रक्तका स्वाद अधिक है ॥ ३०-३१ ॥

अथाह भीमः पुनरुग्रकर्मा
दुःशासनं क्रोधपरीतचेताः ।
गतासुमालोक्य विहस्य सुस्वरं
किं वा कुर्यां मृत्युना रक्षितोऽसि॥ ३२ ॥

तदनन्तर भयानक कर्म करनेवाले भीमसेन क्रोधसे व्याकुलचित्त हो दुःशासनको प्राणहीन हुआ देख जोर-जोरसे अट्टहास करते हुए बोले—'क्या करूँ ! मृत्युने तुझे दुर्दशासे बचा दिया' ॥ ३२ ॥

एवं ब्रुवाणं पुनराद्रवन्त-
मास्वाद्य रक्तं तमतिप्रहृष्टम् ।
ये भीमसेनं ददृशुस्तदानीं
भयेन तेऽपि व्यथिता निपेतुः ॥ ३३ ॥

ऐसा कहते हुए वे बारंबार अत्यन्त प्रसन्न हो उसके रक्तका आस्वादन करने और उछलने-कूदने लगे । उस समय जिन्होंने भीमसेनकी ओर देखा, वे भी भयसे पीड़ित हो पृथ्वीपर गिर गये ॥ ३३ ॥

ये चापि नासन् व्यथिता मनुष्या-
स्तेषां करेभ्यः पतितं हि शस्त्रम् ।
भयाच्च संचुक्रुशुरस्वरैस्ते
निमीलिताक्षा ददृशुः समन्ततः ॥ ३४ ॥

जो लोग भयसे व्याकुल नहीं हुए, उनके हाथोंसे भी हथियार तो गिर ही पड़ा । वे भयसे मन्द स्वरमें सहायकोंको पुकारने लगे और आँखें कुछ-कुछ बंद किये ही सब ओर देखने लगे ॥ ३४ ॥

तं तत्र भीमं ददृशुः समन्ताद्
दौःशासनं तद् रुधिरं पिबन्तम् ।
सर्वेऽपलायन्त भयाभिपन्ना
न वै मनुष्योऽयमिति ब्रुवाणाः ॥ ३५ ॥

जिन लोगोंने भीमसेनको दुःशासनका रक्त पीते देखा, वे सभी भयभीत हो यह कहते हुए सब ओर भागने लगे कि 'यह मनुष्य नहीं राक्षस है !' ॥ ३५ ॥

तस्मिन् कृते भीमसेनेन रूपे
दृष्ट्वा जनाः शोणितं पीयमानम् ।

सम्प्राद्रवंश्चित्रसेनेन सार्धं
भीमं रक्षो भाषमाणा भयार्ताः ॥ ३६ ॥

भीमसेनके वैसा भयानक रूप बना लेनेपर उनके द्वारा रक्तका पीया जाना देखकर सब लोग भयसे आतुर हो भीमको राक्षस बताते हुए चित्रसेनके साथ भाग चले ॥ ३६ ॥

युधामन्युः प्रद्रुतं चित्रसेनं
सहानीकस्त्वभ्ययाद् राजपुत्रः ।
विव्याध चैनं निशितैः पृषत्कै-
र्व्यपेतभीः सप्तभिराशुमुक्तैः ॥ ३७ ॥

चित्रसेनको भागते देख राजकुमार युधामन्युने अपनी सेनाके साथ उसका पीछा किया और निर्भय होकर शीघ्र छोड़े हुए सात पैने बाणोंद्वारा उसे घायल कर दिया ॥३७॥

संक्रान्तभोग इव लेलिहानो
महोरगः क्रोधविषं सिसृक्षुः ।
निवृत्य पाञ्चालजमभ्यविध्य-
त् त्रिभिः शरैः सारथिमस्य षड्भिः॥३८॥

तब जिसका शरीर पैरोंसे कुचल गया हो, अतएव जो क्रोधजनित विषका वमन करना चाहता हो, उस जीभ लपलपानेवाले महान् सर्पके समान चित्रसेनने पुनः लौटकर उस पाञ्चालराजकुमारको तीन और उसके सारथिको छः बाण मारे ॥ ३८ ॥

ततः सुपुङ्खेन सुयन्त्रितेन
सुसंशिताग्रेण शरेण शूरः ।
आकर्णमुक्तेन समाहितेन
युधामन्युस्तस्य शिरो जहार ॥ ३९ ॥

तत्पश्चात् शूरवीर युधामन्युने धनुषको कानतक खींचकर ठीकसे संधान करके छोड़े हुए सुन्दर पंख और तीखी धारवाले सुनियन्त्रित बाणद्वारा चित्रसेनका मस्तक काट दिया॥

तस्मिन् हते भ्रातरि चित्रसेने
क्रुद्धः कर्णः पौरुषं दर्शयानः ।
व्यद्रावयत् पाण्डवानामनीकं
प्रत्युद्यातो नकुलेनामितौजाः ॥ ४० ॥

अपने भाई चित्रसेनके मारे जानेपर कर्ण क्रोधमें भर गया और अपना पराक्रम दिखाता हुआ पाण्डवसेनाको खदेड़ने लगा। उस समय अमितबलशाली नकुलने आगे आकर उसका सामना किया ॥ ४० ॥

भीमोऽपि हत्वा तत्रैव दुःशासनममर्षणम् ।
पूरयित्वाञ्जलिं भूयो रुधिरस्योग्रनिःस्वनः ॥ ४१ ॥
शृण्वतां लोकवीराणामिदं वचनमब्रवीत् ।

इधर भीमसेन भी अमर्षमें भरे हुए दुःशासनका वहीं वध करके पुनः उसके खूनसे अञ्जलि भरकर भयंकर गर्जना करते और विश्वविख्यात वीरोंके सुनते हुए इस प्रकार बोले—॥

एष ते रुधिरं कण्ठात् पिबामि पुरुषाधम ॥ ४२ ॥
ब्रूहीदानीं तु संहृष्टः पुनर्गौरिति गौरिति ।

'नराधम दुःशासन! यह देख, मैं तेरे गलेका खून पी रहा हूँ। अब इस समय पुनः हर्षमें भरकर मुझे 'बैल-बैल' कहकर पुकार तो सही ॥ ४२½ ॥

ये तदास्मान् प्रनृत्यन्ति पुनर्गौरिति गौरिति ॥ ४३ ॥
तान् वयं प्रतिनृत्यामः पुनर्गौरिति गौरिति ।

'जो लोग उस दिन कौरवसभामें हमें 'बैल बैल' कहकर खुशीके मारे नाच उठते थे, उन सबको आज बारंबार 'बैल-बैल' कहते हुए हम भी प्रसन्नतापूर्वक नृत्य कर रहे हैं।४३½।

प्रमाणकोट्यां शयनं कालकूटस्य भोजनम् ॥ ४४ ॥
दंशनं चाहिभिः कृष्णैर्दाहं च जतुवेश्मनि ।
द्यूतेन राज्यहरणमरण्ये वसतिश्च या ॥ ४५ ॥
द्रौपद्याः केशपक्षस्य ग्रहणं च सुदारुणम् ।
इष्वस्त्राणि च संग्रामेष्वसुखानि च वेश्मनि ॥ ४६ ॥
विराटभवने यश्च क्लेशोऽस्माकं पृथग्विधः ।
शकुनेर्धार्तराष्ट्रस्य राधेयस्य च मन्त्रिते ॥ ४७ ॥
अनुभूतानि दुःखानि तेषां हेतुस्त्वमेव हि ।
दुःखान्येतानि जानीमो न सुखानि कदाचन ॥ ४८ ॥
धृतराष्ट्रस्य दौरात्म्यात् सपुत्रस्य सदा वयम् ।

'मुझे प्रमाणकोटितीर्थमें विष पिलाकर नदीमें डाल दिया गया, कालकूट नामक विष खिलाया गया, काले सर्पोंसे डसाया गया, लाक्षागृहमें जलानेकी चेष्टा की गयी, जूएके द्वारा हमारे राज्यका अपहरण किया गया और हम सब लोगोंको वनवास दे दिया गया। द्रौपदीके केश खींचे गये, जो अत्यन्त दारुण कर्म था। संग्राममें हमपर बाणों तथा अन्य घातक अस्त्रोंका प्रयोग किया गया और घरमें भी चैनसे नहीं रहने दिया गया। राजा विराटके भवनमें हमें जो महान् क्लेश उठाना पड़ा, वह तो सबसे विलक्षण है। शकुनि, दुर्योधन और कर्णकी सलाहसे हमें जो-जो दुःख भोगने पड़े, उन सबकी जड़ तू ही था। पुत्रोंसहित धृतराष्ट्रकी दुष्टतासे हमें ये दुःख भोगने पड़े हैं। इन दुःखोंको तो हम जानते हैं, किंतु हमें कभी सुख मिला हो, इसका स्मरण नहीं है' ॥ ४४—४८½ ॥

इत्युक्त्वा वचनं राजञ्जयं प्राप्य वृकोदरः ।
पुनराह महाराज स्मयंस्तौ केशवार्जुनौ ॥ ४९ ॥

असृग्दिग्धो विस्रवल्लोहितास्यः
क्रुद्धोऽत्यर्थं भीमसेनस्तरस्वी ।
दुःशासने यद् रणे संश्रुतं मे
तद् वै सत्यं कृतमद्येह वीरौ ॥ ५० ॥

महाराज! ऐसी बात कहकर खूनसे भीगे और रक्तसे लाल मुखवाले, अत्यन्त क्रोधी, वेगशाली वीर भीमसेन युद्धमें विजय पाकर मुस्कराते हुए पुनः श्रीकृष्ण और अर्जुनसे बोले—'वीरो! दुःशासनके विषयमें मैंने जो प्रतिज्ञा की थी, उसे आज यहाँ रणभूमिमें सत्य कर दिखाया ॥ ४९-५० ॥

अत्रैव दास्याम्यपरं द्वितीयं
दुर्योधनं यज्ञपशुं विशस्य।
शिरो मृदित्वा च पदा दुरात्मनः
शान्तिं लप्स्ये कौरवाणां समक्षम्॥ ५१॥

'यहीं दूसरे यज्ञपशु दुर्योधनको काटकर उसकी बलि दूँगा और समस्त कौरवोंकी आँखोंके सामने उस दुरात्माके मस्तकको पैरसे कुचलकर शान्ति प्राप्त करूँगा' ॥ ५१ ॥

एतावदुक्त्वा वचनं प्रहृष्टो
ननाद चोच्चै रुधिरार्द्रगात्रः।
ननर्द चैवातिबलो महात्मा
वृत्रं निहत्येव सहस्रनेत्रः॥ ५२॥

ऐसा कहकर खूनसे भीगे शरीरवाले अत्यन्त बलशाली महामना भीम वृत्रासुरका वध करके गर्जनेवाले सहस्र नेत्रधारी इन्द्रके समान उच्चस्वरसे गर्जन और सिंहनाद करने लगे॥

इति श्रीमहाभारते कर्णपर्वणि दुःशासनवधे त्र्यशीतितमोऽध्यायः ॥ ८३ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत कर्णपर्वमें दुःशासनवधविषयक तिरासीवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ८३ ॥

चतुरशीतितमोऽध्यायः

धृतराष्ट्रके दस पुत्रोंका वध, कर्णका भय और शल्यका समझाना तथा नकुल और वृषसेनका युद्ध

संजय उवाच

दुःशासने तु निहते तव पुत्रा महारथाः।
महाक्रोधविषा वीराः समरेष्वपलायिनः॥ १॥
दश राजन् महावीर्या भीमं प्राच्छादयञ्शरैः।

संजय कहते हैं— राजन्! दुःशासनके मारे जानेपर युद्धसे कभी पीठ न दिखानेवाले और महान् क्रोधरूपी विषसे भरे हुए आपके दस महारथी महापराक्रमी वीर पुत्रोंने आकर भीमसेनको अपने बाणोंद्वारा आच्छादित कर दिया॥ १½॥

निषङ्गी कवची पाशी दण्डधारो धनुर्ग्रहः॥ २॥
अलोलुपः शलः सन्धो वातवेगसुवर्चसौ।
एते समेत्य सहिता भ्रातृव्यसनकर्शिताः॥ ३॥
भीमसेनं महाबाहुं मार्गणैः समवारयन्।

निषङ्गी, कवची, पाशी, दण्डधार, धनुर्ग्रह (धनुग्रह), अलोलुप, शल, सन्ध (सत्यसन्ध), वातवेग और सुवर्चा (सुवर्चस्)—ये एक साथ आकर भाईकी मृत्युसे दुखी हो महाबाहु भीमसेनको अपने बाणोंद्वारा रोकने लगे॥ २-३½॥

स वार्यमाणो विशिखैः समन्तात् तैर्महारथैः॥ ४॥
भीमः क्रोधाग्निरक्ताक्षः क्रुद्धः काल इवाबभौ।

उन महारथियोंके चलाये हुए बाणोंद्वारा चारों ओरसे रोके जानेपर भीमसेनकी आँखें क्रोधसे लाल हो गयीं और वे कुपित हुए कालके समान प्रतीत होने लगे॥ ४½॥

तांस्तु भल्लैर्महावेगैर्दशभिर्दश भारतान्॥ ५॥
रुक्माङ्गदान् रुक्मपुङ्खैः पार्थो निन्ये यमक्षयम्।

कुन्तीकुमार भीमने सोनेके पंखवाले महान् वेगशाली दस भल्लोंद्वारा सुवर्णमय अङ्गदोंसे विभूषित उन दसों भरतवंशी राजकुमारोंको यमलोक पहुँचा दिया॥ ५½॥

हतेषु तेषु वीरेषु प्रदुद्राव बलं तव॥ ६॥
पश्यतः सूतपुत्रस्य पाण्डवस्य भयार्दितम्।

उन वीरोंके मारे जानेपर पाण्डुपुत्र भीमसेनके भयसे पीड़ित हो आपकी सारी सेना सूतपुत्रके देखते-देखते भाग चली॥ ६½॥

ततः कर्णो महाराज प्रविवेश महद् भयम्॥ ७॥
दृष्ट्वा भीमस्य विक्रान्तमन्तकस्य प्रजास्विव।

महाराज! जैसे प्रजावर्गपर यमराजका बल काम करता है, उसी प्रकार भीमसेनका वह पराक्रम देखकर कर्णके मनमें महान् भय समा गया॥ ७½॥

तस्य त्वाकारभावज्ञः शल्यः समितिशोभनः॥ ८॥
उवाच वचनं कर्णं प्राप्तकालमरिंदमम्।

युद्धमें शोभा पानेवाले शल्य कर्णकी आकृति देखकर ही उसके मनका भाव समझ गये; अतः शत्रुदमन कर्णसे यह समयोचित वचन बोले—॥ ८½॥

मा व्यथां कुरु राधेय नैवं त्वय्युपपद्यते॥ ९॥
एते द्रवन्ति राजानो भीमसेनभयार्दिताः।
दुर्योधनश्च सम्मूढो भ्रातृव्यसनकर्शितः॥ १०॥

'राधानन्दन! तुम खेद न करो, तुम्हें यह शोभा नहीं देता है। ये राजालोग भीमसेनके भयसे पीड़ित हो भागे जा रहे हैं। अपने भाइयोंकी मृत्युसे दुःखित हो राजा दुर्योधन भी किंकर्तव्यविमूढ़ हो गया है॥ ९-१०॥

दुःशासनस्य रुधिरे पीयमाने महात्मना।
व्यापन्नचेतसश्चैव शोकोपहतचेतसः॥ ११॥
दुर्योधनमुपासन्ते परिवार्य समन्ततः।
कृपप्रभृतयश्चैते हतशेषाः सहोदराः॥ १२॥

'महामना भीमसेन जब दुःशासनका रक्त पी रहे थे, तभीसे ये कृपाचार्य आदि वीर तथा मरनेसे बचे हुए सब भाई कौरव विपन्न और शोकाकुलचित्त होकर दुर्योधनको सब ओरसे घेरकर उसके पास खड़े हैं॥ ११-१२॥

पाण्डवा लब्धलक्ष्याश्च धनंजयपुरोगमाः।
त्वामेवाभिमुखाः शूरा युद्धाय समुपस्थिताः॥ १३॥

'अर्जुन आदि पाण्डव वीर अपना लक्ष्य सिद्ध कर चुके हैं और अब युद्धके लिये तुम्हारे ही सामने उपस्थित हो रहे हैं॥ १३॥

स त्वं पुरुषशार्दूल पौरुषेण समास्थितः।
क्षत्रधर्मं पुरस्कृत्य प्रत्युद्याहि धनंजयम्॥ १४॥

'पुरुषसिंह ! ऐसी अवस्थामें तुम पुरुषार्थका भरोसा करके क्षत्रिय-धर्मको सामने रखते हुए अर्जुनपर चढ़ाई करो ॥

भारो हि धार्तराष्ट्रेण त्वयि सर्वः समाहितः।
तमुद्वह महाबाहो यथाशक्ति यथाबलम् ॥ १५ ॥

'महाबाहो ! धृतराष्ट्रपुत्र दुर्योधनने सारा भार तुम्हींपर रख छोड़ा है। तुम अपने बल और शक्तिके अनुसार उस भारका वहन करो ॥ १५ ॥

जये स्याद् विपुला कीर्तिर्ध्रुवः स्वर्गः पराजये।
वृषसेनश्च राधेय संक्रुद्धस्तनयस्तव ॥ १६ ॥
त्वयि मोहं समापन्ने पाण्डवानभिधावति।

'यदि विजय हुई तो तुम्हारी बहुत बड़ी कीर्ति फैलेगी और पराजय होनेपर अक्षय स्वर्गकी प्राप्ति निश्चित है। राधानन्दन ! तुम्हारे मोहग्रस्त हो जानेके कारण तुम्हारा पुत्र वृषसेन अत्यन्त कुपित हो पाण्डवोंपर धावा कर रहा है' ॥

एतच्छ्रुत्वा तु वचनं शल्यस्यामिततेजसः।
हृदि चावश्यकं भावं चक्रे युद्धाय सुस्थिरम् ॥ १७ ॥

अमिततेजस्वी शल्यकी यह बात सुनकर कर्णने अपने हृदयमें युद्धके लिये आवश्यक भाव (उत्साह, अमर्ष आदि) को दृढ़ किया ॥ १७ ॥

ततः क्रुद्धो वृषसेनोऽभ्यधाव-
दवस्थितं प्रमुखे पाण्डवं तम्।
वृकोदरं कालमिवात्तदण्डं
गदाहस्तं योधयन्तं त्वदीयान् ॥ १८ ॥

तत्पश्चात् क्रोधमें भरे हुए वृषसेनने सामने खड़े हुए पाण्डुपुत्र भीमसेनपर धावा किया, जो दण्डधारी कालके समान हाथमें गदा लिये आपके सैनिकोंके साथ युद्ध कर रहे थे ॥ १८ ॥

तमभ्यधावन्नकुलः प्रवीरो
रोषादमित्रं प्रतुदन् पृषत्कैः।
कर्णस्य पुत्रं समरे प्रहृष्टं
पुरा जिघांसुर्मघवेव जम्भम् ॥ १९ ॥

यह देख प्रमुख वीर नकुलने अपने शत्रु कर्णपुत्र वृषसेनको, जो समराङ्गणमें बड़े हर्षके साथ युद्ध कर रहा था, बाणोंद्वारा पीड़ित करते हुए उसपर रोषपूर्वक चढ़ाई कर दी। ठीक उसी तरह, जैसे पूर्वकालमें इन्द्रने 'जम्भ' नामक दैत्यपर आक्रमण किया था ॥ १९ ॥

ततो ध्वजं स्फाटिकचित्रकञ्चुकं
चिच्छेद वीरो नकुलः क्षुरेण।
कर्णात्मजस्येष्वसनं च चित्रं
भल्लेन जाम्बूनदचित्रनद्धम् ॥ २० ॥

तदनन्तर वीर नकुलने एक क्षुरद्वारा कर्णपुत्रके उस ध्वजको काट डाला, जिसे स्फटिकमणिसे जटित विचित्र कंचुक (चोला) पहनाया गया था। साथ ही एक भल्लद्वारा उसके सुवर्णजटित विचित्र धनुषको भी खण्डित कर दिया ॥ २० ॥

अथान्यदादाय धनुः स शीघ्रं
कर्णात्मजः पाण्डवमभ्यविध्यत्।
दिव्यैरस्त्रैरभ्यवर्षच्च सोऽपि
कर्णस्य पुत्रो नकुलं कृतास्त्रः ॥ २१ ॥

तब कर्णपुत्र वृषसेनने तुरंत ही दूसरा धनुष हाथमें लेकर पाण्डुकुमार नकुलको बींध डाला। कर्णका पुत्र अस्त्र-विद्याका ज्ञाता था, इसलिये वह नकुलपर दिव्यास्त्रोंकी वर्षा करने लगा ॥ २१ ॥

शराभिघाताच्च रुषा च राजन्
स्वया च भासास्त्रसमीरणाच्च।
जज्वाल कर्णस्य सुतोऽतिमात्र-
मिद्धो यथाऽऽज्याहुतिभिर्हुताशः॥२२॥
कर्णस्य पुत्रो नकुलस्य राजन्
सर्वानश्वानक्षिणोदुत्तमास्त्रैः।
वनायुजान् वै नकुलस्य शुभ्रा-
नुदग्रगान् हेमजालावनद्धान् ॥ २३ ॥

राजन् ! जैसे घीकी आहुति पड़नेसे अग्नि अत्यन्त प्रज्वलित हो उठती है, उसी प्रकार कर्णका पुत्र बाणोंके प्रहारसे अपनी प्रभासे, अस्त्रोंके प्रयोगसे और रोषसे जल उठा। उसने नकुलके सब घोड़ोंको, जो वनायु देशमें उत्पन्न, श्वेत-वर्ण, तीव्रगामी और सोनेकी जालीसे आच्छादित थे, अपने अस्त्रोंद्वारा काट डाला ॥ २२-२३ ॥

ततो हताश्वादवरुह्य याना-
दादाय चर्मामलरुक्मचन्द्रम्।
आकाशसंकाशमसिं प्रगृह्य
दोधूयमानः खगवच्चचार ॥ २४ ॥

तत्पश्चात् अश्वहीन रथसे उतरकर स्वर्णमय निर्मल चन्द्राकार चिह्नोंसे युक्त ढाल और आकाशके समान स्वच्छ तलवार ले उसे घुमाते हुए नकुल एक पक्षीके समान विचरने लगे ॥ २४ ॥

ततोऽन्तरिक्षे च रथाश्वनागं
चिच्छेद तूर्णं नकुलश्चित्रयोधी।
ते प्रापतन्नसिना गां विशस्ता
यथाश्वमेधे पशवः शमित्रा ॥ २५ ॥

फिर विचित्र रीतिसे युद्ध करनेवाले नकुलने बड़े-बड़े रथियों, सवारोंसहित घोड़ों और हाथियोंको तुरंत ही आकाशमें तलवार घुमाकर काट डाला। वे अश्वमेध-यज्ञमें शामित्र कर्म करनेवाले पुरुषके द्वारा मारे गये पशुओंके समान तलवारसे कटकर पृथ्वीपर गिर पड़े ॥ २५ ॥

द्विसाहस्राः पातिता युद्धशौण्डा
नानादेश्याः सुभृताः सत्यसंधाः।

एकेन संख्ये नकुलेन कृत्ता
जयेप्सुनानुत्तमचन्दनाङ्गाः ॥ २६ ॥

युद्धस्थलमें विजयकी इच्छा रखनेवाले एकमात्र वीर नकुलके द्वारा उत्तम चन्दनसे चर्चित अङ्गोंवाले, नाना देशोंमें उत्पन्न, युद्धकुशल, सत्यप्रतिज्ञ और अच्छी तरह पाले-पोसे गये दो हजार योद्धा काट डाले गये ॥ २६ ॥

तमापतन्तं नकुलं सोऽभिपत्य
समन्ततः सायकैः प्रत्यविद्ध्यत्।
स तुद्यमानो नकुलः पृषत्कै-
र्विव्याध वीरं स चुकोप विद्धः॥ २७ ॥

अपने ऊपर आक्रमण करनेवाले नकुलके पास पहुँचकर वृषसेनने अपने सायकोंद्वारा उन्हें सब ओरसे बींध डाला। बाणोंसे पीड़ित हुए नकुल अत्यन्त कुपित हो उठे और स्वयं घायल होकर उन्होंने वीर वृषसेनको भी बींध डाला ॥ २७॥

महाभये रक्ष्यमाणो महात्मा
भ्रात्रा भीमेनाकरोत् तत्र भीमम्।
तं कर्णपुत्रो विधमन्तमेकं
नराश्वमातङ्गरथाननेकान् ॥ २८ ॥
क्रीडन्तमष्टादशभिः पृषत्कै-
र्विव्याध वीरं नकुलं सरोषः।

उस महान् भयके अवसरपर अपने भाई भीमसे सुरक्षित हो महामना नकुलने वहाँ भयंकर पराक्रम प्रकट किया। अकेले ही बहुत-से पैदल मनुष्यों, घोड़ों, हाथियों और रथोंका संहार करते एवं खेलते हुए-से वीर नकुलको रोषमें भरे हुए कर्णपुत्रने अठारह बाणोंद्वारा घायल कर दिया ॥२८½॥

स तेन विद्धोऽतिभृशं तरस्वी
महाहवे वृषसेनेन राजन् ॥ २९ ॥
क्रुद्धेन धावन् समरे जिघांसुः
कर्णात्मजं पाण्डुसुतो नृवीरः।

राजन्! उस महासमरमें कुपित हुए वृषसेनके द्वारा अत्यन्त घायल किये गये वेगवान् वीर पाण्डुपुत्र नकुल कर्णके पुत्रको मार डालनेकी इच्छासे उसकी ओर दौड़े ॥२९½॥

वितत्य पक्षौ सहसा पतन्तं
श्येनं यथैवामिषलुब्धमाजौ ॥ ३० ॥
अवाकिरद् वृषसेनस्ततस्तं
शितैः शरैर्नकुलमुदारवीर्यम्।

जैसे बाज मांसके लोभसे पंख फैलाकर सहसा टूट पड़ता है, उसी प्रकार युद्धस्थलमें वेगपूर्वक आक्रमण करनेवाले उदार पराक्रमी नकुलको वृषसेनने अपने पैने बाणोंसे ढक दिया ॥ ३०½ ॥

स तान् मोघांस्तस्य कुर्वञ्शरौघां-
श्चचार मार्गान् नकुलश्चित्ररूपान्॥ ३१ ॥
अथास्य तूर्णं चरतो नरेन्द्र
खड्गेन चित्रं नकुलस्य तस्य।
महेषुभिर्व्यधमत् कर्णपुत्रो
महाहवे चर्म सहस्रतारम् ॥ ३२ ॥

नकुल उसके उन बाणसमूहोंको व्यर्थ करते हुए विचित्र मार्गोंसे विचरने लगे (युद्धके अद्भुत पैंतरे दिखाने लगे)। नरेन्द्र! तलवारके विचित्र हाथ दिखाते हुए शीघ्रतापूर्वक विचरनेवाले नकुलकी सहस्र तारोंके चिह्नवाली ढालको कर्णके पुत्रने उस महायुद्धमें अपने विशाल बाणोंद्वारा नष्ट कर दिया ॥ ३१-३२ ॥

तं चायसं निशितं तीक्ष्णधारं
विकोशमुग्रं गुरुभारसाहम्।
द्विषच्छरीरान्तकरं सुघोर-
माधुन्वतः सर्पमिवोग्ररूपम् ॥ ३३ ॥
क्षिप्रं शरैः षड्भिरमित्रसाह-
श्चकर्त खड्गं निशितैः सुवेगैः।
पुनश्च दीप्तैर्निशितैः पृषत्कैः
स्तनान्तरे गाढमथाभ्यविद्ध्यत्॥ ३४ ॥

इसके बाद शत्रुओंका सामना करनेमें समर्थ वृषसेनने अत्यन्त वेगशाली और तीखी धारवाले छः बाणोंद्वारा तलवार घुमाते हुए नकुलकी उस तलवारके भी शीघ्रतापूर्वक टुकड़े-टुकड़े कर डाले। वह तलवार लोहेकी बनी हुई, तेजधारवाली तीखी, भारी भार सहन करनेमें समर्थ, म्यानसे बाहर निकली हुई, भयंकर, सर्पके समान उग्र रूपधारी, अत्यन्त घोर और शत्रुओंके शरीरोंका अन्त कर देनेवाली थी। तलवार काटनेके पश्चात् उसने पुनः प्रज्वलित एवं पैने बाणोंद्वारा नकुलकी छातीमें गहरी चोट पहुँचायी ॥३३-३४॥

कृत्वा तु तद् दुष्करमार्यजुष्ट-
मन्यैर्नरैः कर्म रणे महात्मा।
ययौ रथं भीमसेनस्य राजञ्
शराभितप्तो नकुलस्त्वरावान् ॥ ३५ ॥

राजन्! महामना नकुल रणभूमिमें अन्य मनुष्योंके लिये दुष्कर तथा सज्जन पुरुषोंद्वारा सेवित उत्तम कर्म करके वृषसेनके बाणोंसे संतप्त हो बड़ी उतावलीके साथ भीमसेनके रथपर जा चढ़े ॥ ३५ ॥

स भीमसेनस्य रथं हताश्वो
माद्रीसुतः कर्णसुताभितप्तः।
आपुप्लुवे सिंह इवाचलाग्रं
सम्प्रेक्षमाणस्य धनंजयस्य ॥ ३६ ॥

अपने घोड़ोंके मारे जानेपर कर्णपुत्रके बाणोंसे पीड़ित हुए माद्रीकुमार नकुल अर्जुनके देखते-देखते पर्वतके शिखरपर उछलकर चढ़नेवाले सिंहके समान छलाँग मारकर भीमसेनके रथपर आरूढ़ हो गये ॥ ३६ ॥

ततः क्रुद्धो वृषसेनो महात्मा
ववर्ष ताविषुजालेन वीरः।

महारथावेकरथे समेतौ
शरैः प्रभिन्दन्निव पाण्डवेयौ ॥ ३७ ॥

इससे महामनस्वी वीर वृषसेनको बड़ा क्रोध हुआ। वह एक रथपर एकत्र हुए उन महारथी पाण्डुकुमारोंको बाणोंद्वारा विदीर्ण करता हुआ उन दोनोंपर बाणसमूहोंकी वर्षा करने लगा ॥ ३७ ॥

तस्मिन् रथे निहते पाण्डवस्य
क्षिप्रं च खड्गे विशिखैर्निकृत्ते।
अन्ये च संहत्य कुरुप्रवीरा-
स्ततो न्यघ्नञ्शरवर्षैरुपेत्य ॥ ३८ ॥

जब पाण्डुपुत्र नकुलका वह रथ नष्ट हो गया और बाणोंद्वारा उनकी तलवार शीघ्रतापूर्वक काट दी गयी, तब दूसरे कौरव वीर भी संगठित हो निकट आकर उन दोनोंको बाणोंकी वर्षासे चोट पहुँचाने लगे ॥ ३८ ॥

तौ पाण्डवेयौ परितः समेतान्
संहूयमानाविव हव्यवाहौ।
भीमार्जुनौ वृषसेनाय क्रुद्धौ
ववर्षतुः शरवर्षं सुघोरम् ॥ ३९ ॥

तब वृषसेनपर कुपित हुए पाण्डुपुत्र भीमसेन और अर्जुन घीकी आहुति पाकर प्रज्वलित हुए दो अग्नियोंके समान प्रकाशित होने लगे। उन दोनोंने अपने आस-पास एकत्र हुए कौरवसैनिकोंपर अत्यन्त घोर बाणवर्षा प्रारम्भ कर दी ॥ ३९ ॥

अथाब्रवीन्मारुतिः फाल्गुनं च
पश्यस्वैनं नकुलं पीड्यमानम्।
अयं च नो बाधते कर्णपुत्र-
स्तस्माद् भवान् प्रत्युपयातु कार्णिम् ॥ ४० ॥

तदनन्तर वायुपुत्र भीमसेनने अर्जुनसे कहा—'देखो, यह नकुल वृषसेनसे पीड़ित हो गया है। कर्णका यह पुत्र हमें बहुत सता रहा है, अतः तुम इस कर्णपुत्रपर आक्रमण करो' ॥ ४० ॥

स तन्निशम्यैव वचः किरीटी
रथं समासाद्य वृकोदरस्य।
अथाब्रवीन्नकुलो वीक्ष्य वीर-
मुपागतं शातय शीघ्रमेनम् ॥ ४१ ॥

भीमसेनके रथके समीप आकर जब किरीटधारी अर्जुन उनकी बात सुनकर जाने लगे, तब नकुलने भी पास आये हुए वीर अर्जुनकी ओर देखकर उनसे कहा—'भैया! आप इस वृषसेनको शीघ्र मार डालिये' ॥ ४१ ॥

इत्येवमुक्तः सहसा किरीटी
भ्रात्रा समक्षं नकुलेन संख्ये।
कपिध्वजं केशवसंगृहीतं
प्रैषीदुदग्रो वृषसेनाय वाहम् ॥ ४२ ॥

युद्धमें सामने आये हुए भाई नकुलके ऐसा कहनेपर किरीटधारी अर्जुनने भगवान् श्रीकृष्णके द्वारा काबूमें किये हुए कपिध्वज रथको सहसा वृषसेनकी ओर तीव्र वेगसे हाँक दिया ॥ ४२ ॥

इति श्रीमहाभारते कर्णपर्वणि वृषसेनयुद्धे नकुलपराजये चतुरशीतितमोऽध्यायः ॥ ८४ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत कर्णपर्वमें वृषसेनका युद्ध और नकुलकी पराजयविषयक चौरासीवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ८४ ॥

पञ्चाशीतितमोऽध्यायः

कौरववीरोंद्वारा कुलिन्दराजके पुत्रों और हाथियोंका संहार तथा अर्जुनद्वारा वृषसेनका वध

संजय उवाच

नकुलमथ विदित्वा छिन्नबाणासनासिं
विरथमरिशरार्तं कर्णपुत्रास्त्रभग्नम्।
पवनधुतपताका ह्लादिनो वल्गिताश्वा
वरपुरुषनियुक्तास्ते रथैः शीघ्रमीयुः ॥ १ ॥

द्रुपदसुतवरिष्ठाः पञ्च शैनेयषष्ठा
द्रुपददुहितृपुत्राः पञ्च चामित्रसाहाः।
द्विरदरथनराश्वान् सूदयन्तस्त्वदीयान्
भुजगपतिनिकाशैर्मार्गणैरात्तशस्त्राः ॥ २ ॥

संजय कहते हैं—महाराज! वृषसेनने नकुलके धनुष और तलवारको काट दिया है, वे रथहीन हो गये हैं, शत्रुके बाणोंसे पीड़ित हैं तथा कर्णके पुत्रने अपने अस्त्रोंद्वारा उन्हें पराजित कर दिया है, यह जानकर श्रेष्ठ पुरुष भीमसेनके आदेशसे हाथोंमें अस्त्र-शस्त्र लिये शत्रुओंका सामना करनेमें समर्थ द्रुपदके पाँच श्रेष्ठ पुत्र, छठे सात्यकि तथा द्रौपदीके पाँच पुत्र—ये ग्यारह वीर आपके पक्षके हाथी, घोड़े, रथ और पैदल सैनिकोंका अपने सर्पतुल्य बाणोंद्वारा संहार करते हुए रथोंद्वारा वहाँ शीघ्रतापूर्वक आ पहुँचे। उस समय उनके रथकी पताकाएँ वायुके वेगसे फहरा रही थीं। उनके घोड़े उछलते हुए आ रहे थे और वे सब-के-सब जोर-जोरसे गर्जना कर रहे थे ॥ १-२ ॥

अथ तव रथमुख्यास्तान् प्रतीयुस्त्वरन्तः
कृपहृदिकसुतौ च द्रौणिदुर्योधनौ च।
शकुनिसुतवृकौ च क्राथदेवावृधौ च
द्विरदजलदघोषैः स्यन्दनैः कार्मुकैश्च ॥ ३ ॥

तदनन्तर कृपाचार्य, कृतवर्मा, अश्वत्थामा, दुर्योधन, शकुनिपुत्र उलूक, वृक, क्राथ और देवावृध—ये आपके प्रमुख महारथी बड़ी उतावलीके साथ धनुष लिये हाथी और मेघोंके समान शब्द करनेवाले रथोंपर आरूढ़ हो उन पाण्डववीरोंका सामना करनेके लिये आ पहुँचे ॥ ३ ॥

तव नृप रथिवर्यास्तान् दशैकं च वीरान्
नृवर शरवराग्रैस्ताडयन्तोऽभ्यरुन्धन्।
नवजलदसवर्णैर्हस्तिभिस्तानुदीयु-
र्गिरिशिखरनिकाशैर्भीमवेगैः कुलिन्दाः ॥ ४ ॥

नरश्रेष्ठ नरेश्वर ! कृपाचार्य आदि आपके रथी वीरोंने अपने उत्तम बाणोंद्वारा प्रहार करते हुए वहाँ पाण्डव-पक्षके उन ग्यारह महारथी वीरोंको आगे बढ़नेसे रोक दिया। तत्पश्चात् कुलिन्ददेशके योधा नूतन मेघके समान काले, पर्वतशिखरोंके समान विशालकाय और भयंकर वेगशाली हाथियोंद्वारा कौरव-वीरोंपर चढ़ आये ॥ ४ ॥

सुकल्पिता हैमवता मदोत्कटा
रणाभिकामैः कृतिभिः समास्थिताः।
सुवर्णजालैर्विततां बभुर्गजा-
स्तथा यथा खे जलदाः सविद्युतः॥ ५ ॥

वे हिमाचलप्रदेशके मदोन्मत्त हाथी अच्छी तरह सजाये गये थे। उनकी पीठोंपर सोनेकी जालियोंसे युक्त झूल पड़े हुए थे और उनके ऊपर युद्धकी अभिलाषा रखनेवाले, रणकुशल कुलिन्द वीर बैठे हुए थे। उस समय रणभूमिमें वे हाथी आकाशमें बिजलीसहित मेघोंके समान शोभा पा रहे थे ॥ ५ ॥

कुलिन्दपुत्रो दशभिर्महायसैः
कृपं ससूताश्वमपीडयद् भृशम्।
ततः शरद्वत्सुतसायकैर्हतः
सहैव नागेन पपात भूतले ॥ ६ ॥

कुलिन्दराजके पुत्रने लोहेके बने हुए दस विशाल बाणों-से सारथि और घोड़ोंसहित कृपाचार्यको अत्यन्त पीड़ित कर दिया। तदनन्तर शरद्वान्‌के पुत्र कृपाचार्यके बाणोंद्वारा मारा जाकर वह हाथीके साथ ही पृथ्वीपर गिर पड़ा ॥ ६ ॥

कुलिन्दपुत्रावरजस्तु तोमरै-
र्दिवाकरांशुप्रतिमैरयस्मयैः ।
रथं च विक्षोभ्य ननाद नर्दत-
स्ततोऽस्य गान्धारपतिः शिरोऽहरत्॥ ७ ॥

कुलिन्द-राजकुमारका छोटा भाई सूर्यकी किरणोंके समान कान्तिमान् एवं लोहेके बने हुए तोमरोंद्वारा गान्धारराजके रथकी धज्जियाँ उड़ाकर जोर-जोरसे गर्जना करने लगा। इतनेहीमें गान्धारराजने उस गर्जते हुए वीरका सिर काट लिया ॥ ७ ॥

ततः कुलिन्देषु हतेषु तेष्वथ
प्रहृष्टरूपास्तव ते महारथाः।
भृशं प्रदध्मुर्लवणाम्बुसम्भवान्
परांश्च बाणासनपाणयोऽभ्ययुः॥ ८ ॥

उन कुलिन्द वीरोंके मारे जानेपर आपके महारथी बड़े प्रसन्न हुए। वे जोर-जोरसे शङ्ख बजाने लगे और हाथमें धनुष-बाण लिये शत्रुओंपर टूट पड़े ॥ ८ ॥

अथाभवद् युद्धमतीव दारुणं
पुनः कुरूणां सह पाण्डुसृञ्जयैः।
शरासिशक्त्यृष्टिगदापरश्वधै-
र्नराश्वनागासुहरं भृशाकुलम् ॥ ९ ॥

तदनन्तर कौरवोंका पाण्डवों तथा सृंजयोंके साथ पुनः अत्यन्त भयंकर युद्ध होने लगा। वह घमासान युद्ध बाण, खड्ग, शक्ति, ऋष्टि, गदा और फरसोंकी मारसे मनुष्यों, घोड़ों और हाथियोंके प्राण ले रहा था ॥ ९ ॥

रथाश्वमातङ्गपदातिभिस्ततः
परस्परं विप्रहतापतन् क्षितौ।
यथा सविद्युत्स्तनिता बलाहकाः
समाहता दिग्भ्य इवोग्रमारुतैः ॥ १० ॥

जैसे बिजलीकी चमक और गर्जनासे युक्त मेघ भयकर वायुके वेगसे ताड़ित हो सम्पूर्ण दिशाओंसे गिर जाते हैं, उसी प्रकार रथों, घोड़ों, हाथियों और पैदलोंद्वारा परस्पर मारे जा-कर वे युद्धपरायण योद्धा धराशायी होने लगे ॥ १० ॥

ततः शतानीकमतान् महागजां-
स्तथा रथान् पत्तिगणांश्च तान् बहून्।
जघान भोजस्तु हयानथापतन्
क्षणाद् विशस्ताः कृतवर्मणः शरैः॥ ११ ॥

तदनन्तर शतानीकद्वारा सम्मानित विशाल गजराजों, अश्वों, रथों और बहुत-से पैदलसमूहोंको कृतवर्माने मार डाला। वे कृतवर्माके बाणोंसे छिन्न-भिन्न हो क्षणभरमें धरतीपर गिर पड़े ॥ ११ ॥

अथापरे द्रौणिहता महाद्विपा-
स्त्रयः ससर्वायुधयोधकेतनाः।
निपेतुरुर्व्यां व्यसवो निपातिता-
स्तथा यथा वज्रहता महाचलाः॥ १२ ॥

इसके बाद अश्वत्थामाने सम्पूर्ण आयुधों, योद्धाओं और ध्वजाओंसहित अन्य तीन विशाल गजराजोंको मार गिराया। उसके द्वारा मारे गये वे विशाल गजराज वज्रके मारे हुए महान् पर्वतोंके समान प्राणशून्य होकर पृथ्वीपर गिर पड़े ॥

कुलिन्दराजावरजादनन्तरः
स्तनान्तरे पत्रिवरैरताडयत्।
तवात्मजं तस्य तवात्मजः शरैः
शितैः शरीरं व्यहनद् द्विपं च तम्॥ १३ ॥

कुलिन्दराजके छोटे भाईसे भी जो छोटा था, उसने श्रेष्ठ बाणोंद्वारा आपके पुत्रकी छातीमें चोट पहुँचायी। तब आपके पुत्रने अपने तीखे बाणोंसे उसके शरीर और हाथी दोनोंको घायल कर दिया ॥ १३ ॥

स नागराजः सह राजसूनुना
पपात रक्तं बहु सर्वतः क्षरन्।
महेन्द्रवज्रप्रहतोऽम्बुदागमे
यथा जलं गैरिकपर्वतस्तथा ॥ १४ ॥

जैसे वर्षाकालमें इन्द्रके वज्रसे आहत हुआ गेरुका पर्वत लाल रंगका पानी बहाता है, इसी प्रकार वह गजराज अपने शरीरसे सब ओर बहुत-सा रक्त बहाता हुआ कुलिन्दराज-कुमारके साथ ही धराशायी हो गया ॥ १४ ॥

कुलिन्दपुत्रप्रहितोऽपरो द्विपः
क्राथस्य सूताश्वरथं व्यपोथयत्।
ततोऽपतत् क्राथशराभिघातितः
सहेश्वरो वज्रहतो यथा गिरिः ॥ १५ ॥

अब कुलिन्दराजकुमारने दूसरा हाथी आगे बढ़ाया। उसने क्राथके सारथि, घोड़ों और रथको कुचल डाला, परंतु क्राथके बाणोंसे पीड़ित हो वह हाथी वज्रताड़ित पर्वतके समान अपने स्वामीके साथ ही धराशायी हो गया ॥ १५ ॥

रथी द्विपस्थेन हतोऽपतच्छरैः
क्राथाधिपः पर्वतजेन दुर्जयः।
सवाजिसूतेष्वसनध्वजस्तथा
यथा महावातहतो महाद्रुमः ॥ १६ ॥

तदनन्तर जैसे आँधीका उखाड़ा हुआ विशाल वृक्ष पृथ्वीपर गिर जाता है, उसी प्रकार घोड़े, सारथि, धनुष और ध्वजसहित दुर्जय महारथी क्राथ नरेश हाथीपर बैठे हुए एक पर्वतीय वीरके बाणोंसे मारा जाकर रथसे नीचे जा गिरा॥

वृको द्विपस्थं गिरिराजवासिनं
भृशं शरैर्द्वादशभिः पराभिनत्।
ततो वृकं साश्वरथं महाद्विपो
द्रुतं चतुर्भिश्चरणैर्व्यपोथयत् ॥ १७ ॥

तब वृकने उस पहाड़ी राजाको बारह बाण मारकर अत्यन्त घायल कर दिया। चोट खाकर पर्वतीय नरेशका वह विशाल गजराज वृककी ओर झपटा और उसने रथ और घोड़ोंसहित वृकको अपने चारों पैरोंसे दबाकर तुरंत ही उसका कचूमर निकाल दिया ॥ १७ ॥

स नागराजः सनियन्तृकोऽपतत्
तथा हतो बभ्रुसुतेषुभिर्भृशम्।
स चापि देवावृधसूनुरर्दितः
पपात नुन्नः सहदेवसूनुना ॥ १८ ॥

अन्तमें बभ्रुपुत्रके बाणोंसे अत्यन्त आहत होकर वह गजराज भी संचालकसहित धरतीपर लोट गया। फिर वह देवावृधकुमार भी सहदेवके पुत्रसे पीड़ित हो धराशायी हो गया॥

विषाणगात्रावरयोधपातिना
गजेन हन्तुं शकुनिं कुलिन्दजः।
जगाम वेगेन भृशार्दयंश्च तं
ततोऽस्य गान्धारपतिः शिरोऽहरत् ॥ १९ ॥

तत्पश्चात् दूसरे कुलिन्दराजकुमारने शकुनिको मार डालनेके लिये दाँत, शरीर और सूँड़के द्वारा बड़े-बड़े योद्धाओंको मार गिरानेवाले हाथीके द्वारा उसपर वेगपूर्वक आक्रमण किया और उसे अत्यन्त घायल कर दिया। तब गान्धारराज शकुनिने उसका सिर काट लिया ॥ १९ ॥

ततः शतानीकहता महागजा
हया रथाः पत्तिगणाश्च तावकाः।
सुपर्णवातप्रहता यथोरगा-
स्तथागता गां विवशा विचूर्णिताः ॥ २० ॥

यह देख शतानीकने आपकी सेनापर आक्रमण किया। जैसे गरुड़के पंखोंकी हवासे आहत हुए सर्प पृथ्वीपर गिर पड़ते हैं, उसी प्रकार शतानीकद्वारा मारे गये आपके विशाल हाथी, घोड़े, रथ और पैदल विवश हो पृथ्वीपर गिरकर चूर-चूर हो गये ॥ २० ॥

ततोऽभ्यविध्यद् बहुभिः शितैः शरैः
कलिङ्गपुत्रो नकुलात्मजं स्मयन्।
ततोऽस्य कोपाद् विचकर्त नाकुलिः
शिरः क्षुरेणाम्बुजसंनिभाननम् ॥ २१ ॥

तदनन्तर मुस्कराते हुए कलिङ्गराजके पुत्रने अपने बहुसंख्यक पैने बाणोंद्वारा नकुलके पुत्र शतानीकको क्षत-विक्षत कर दिया। इससे नकुलकुमारको बड़ा क्रोध हुआ और उसने एक क्षुरके द्वारा कलिङ्गराजकुमारका कमलसदृश मुखवाला मस्तक काट डाला ॥ २१ ॥

ततः शतानीकमविध्यदायसै-
स्त्रिभिः शरैः कर्णसुतोऽर्जुनं त्रिभिः।
त्रिभिश्च भीमं नकुलं च सप्तभि-
र्जनार्दनं द्वादशभिश्च सायकैः ॥ २२ ॥

तत्पश्चात् कर्णपुत्र वृषसेनने लोहेके बने हुए तीन बाणोंसे शतानीकको घायल कर दिया। फिर उसने अर्जुनको तीन, भीमसेनको तीन, नकुलको सात और श्रीकृष्णको बारह बाणोंसे बींध डाला ॥ २२ ॥

तदस्य कर्मातिमनुष्यकर्मणः
समीक्ष्य हृष्टाः कुरवोऽभ्यपूजयन्।
पराक्रमज्ञास्तु धनंजयस्य ये
हुतोऽयमग्नाविति ते तु मेनिरे ॥ २३ ॥

अलौकिक पराक्रम करनेवाले वृषसेनके इस कर्मको देखकर समस्त कौरव हर्षमें भर गये और उसकी भूरि-भूरि प्रशंसा करने लगे; परंतु जो अर्जुनके पराक्रमको जानते थे, उन्होंने निश्चित रूपसे यह समझ लिया कि अब यह वृषसेन आगकी आहुति बन जायगा ॥ २३ ॥

ततः किरीटी परवीरघाती
हताश्वमालोक्य नरप्रवीरः।
माद्रीसुतं नकुलं लोकमध्ये
समीक्ष्य कृष्णं भृशविक्षतं च ॥ २४ ॥
समभ्यधावद् वृषसेनमाहवे
स सूतजस्य प्रमुखे स्थितस्तदा।

तदनन्तर शत्रुवीरोंका संहार करनेवाले मानवलोकके प्रमुख वीर किरीटधारी अर्जुनने समस्त सेनाओंके बीच माद्रीकुमार नकुलके घोड़ोंको वृषसेनद्वारा मारा गया और भगवान् श्रीकृष्णको अत्यन्त घायल हुआ देख युद्धस्थलमें वृषसेनपर धावा किया। वृषसेन उस समय कर्णके सामने खड़ा था ॥ २४½ ॥

तमापतन्तं नरवीरमुग्रं
महाहवे बाणसहस्रधारिणम् ॥ २५ ॥
अभ्यापतत् कर्णसुतो महारथं
यथा महेन्द्रं नमुचिः पुरा तथा ।

महासमरमें सहस्रों बाण धारण करनेवाले भयंकर नरवीर महारथी अर्जुनको अपनी ओर आते देख कर्णकुमार वृषसेन भी उनकी ओर उसी प्रकार दौड़ा, जैसे पूर्वकालमें नमुचिने देवराज इन्द्रपर आक्रमण किया था ॥ २५½ ॥

ततो द्रुतं चैकशरेण पार्थं
शितेन विद्ध्वा युधि कर्णपुत्रः ॥ २६ ॥
ननाद नादं सुमहानुभावो
विद्ध्वेव शक्रं नमुचिः स वीरः ।

फिर महानुभाव कर्णपुत्र वीर वृषसेन युद्धस्थलमें कुन्तीकुमार अर्जुनको तुरंत ही एक तीखे बाणसे घायल करके बड़े जोर-जोरसे गर्जना करने लगा। ठीक वैसे ही, जैसे नमुचिने इन्द्रको बींधकर सिंहनाद किया था ॥ २६½ ॥

पुनः स पार्थं वृषसेन उग्रै-
र्बाणैरविद्ध्यद् भुजमूले तु सव्ये ॥ २७ ॥
तथैव कृष्णं नवभिः समार्दयत्
पुनश्च पार्थं दशभिर्जघान ।

इसके बाद वृषसेनने भयंकर बाणोंद्वारा अर्जुनकी बायीं भुजाके मूलभागमें पुनः प्रहार किया तथा नौ बाणोंसे श्रीकृष्णको भी चोट पहुँचाकर दस बाणोंद्वारा कुन्तीकुमार अर्जुनको फिर घायल कर दिया ॥ २७½ ॥

पूर्वं यथा वृषसेनप्रयुक्तै-
रभ्याहतः श्वेतहयः शरैस्तैः ॥ २८ ॥
संरम्भमीषद्गमितो वधाय
कर्णात्मजस्याथ मनः प्रदध्रे ।

वृषसेनके चलाये हुए उन बाणोंद्वारा पहले ही आहत होकर श्वेतवाहन अर्जुनके मनमें थोड़ा-सा क्रोध जाग्रत् हुआ। फिर उन्होंने मन ही-मन कर्णकुमारके वधका निश्चय किया ॥

ततः किरीटी रणमूर्ध्नि कोपात्
कृत्वा त्रिशाखां भ्रुकुटिं ललाटे ॥ २९ ॥
मुमोच तूर्णं विशिखान् महात्मा
वधे धृतः कर्णसुतस्य संख्ये ।

तदनन्तर किरीटधारी महात्मा अर्जुनने युद्धस्थलमें कर्णपुत्रके वधका दृढ़ निश्चय करके अपने ललाटमें स्थित भौंहोंको क्रोधपूर्वक तीन जगहसे टेढ़ी करके युद्धके मुहानेपर शीघ्रतापूर्वक बाणोंका प्रहार आरम्भ किया ॥ २९½ ॥

आरक्तनेत्रोऽन्तकशत्रुहन्ता
उवाच कर्णं भृशमुत्स्मयंस्तदा ॥ ३० ॥
दुर्योधनं द्रौणिमुखांश्च सर्वा-
नहं रणे वृषसेनं तमुग्रम् ।
सम्पश्यतः कर्ण तवाद्य संख्ये
नयामि लोकं निशितैः पृषत्कैः ॥ ३१ ॥

उस समय उनके नेत्र रोषसे कुछ लाल हो गये थे। वे यमराज-जैसे शत्रुको भी मार डालनेमें समर्थ थे। उस समय उन्होंने मुस्कराते हुए वहाँ कर्ण, दुर्योधन और अश्वत्थामा आदि सब वीरोंको लक्ष्य करके कहा—'कर्ण! आज युद्धस्थलमें मैं तुम्हारे देखते-देखते उस उग्रपराक्रमी वीर वृषसेनको अपने पैने बाणोंद्वारा यमलोक भेज दूँगा ॥ ३०-३१ ॥

ऊनं च तावद्धि जना वदन्ति
सर्वैर्भवद्भिर्मम सूनुर्हतोऽसौ ।
एको रथो मद्विहीनस्तरस्वी
अहं हनिष्ये भवतां समक्षम् ॥ ३२ ॥
संरक्ष्यतां रथसंस्थाः सुतोऽय-
महं हनिष्ये वृषसेनमुग्रम् ।
पश्चाद् वधिष्ये त्वामपि सम्प्रमूढ-
महं हनिष्येऽर्जुन आजिमध्ये ॥ ३३ ॥

'मेरा वेगशाली वीर पुत्र महारथी अभिमन्यु अकेला था। मैं उसके साथ नहीं था। उस अवस्थामें तुम सब लोगोंने मिलकर उसका वध किया था। तुम्हारे उस कर्मको सब लोग खोटा बताते हैं; परंतु आज मैं तुम सब लोगोंके सामने वृषसेनका वध करूँगा। रथपर बैठे हुए महारथियो! अपने इस पुत्रको बचा सको तो बचाओ। मैं अर्जुन आज रणभूमिमें पहले उग्रवीर वृषसेनको मारूँगा; फिर तुझ विवेकशून्य सूतपुत्रका भी वध कर डालूँगा ॥ ३२-३३ ॥

तमद्य मूलं कलहस्य संख्ये
दुर्योधनापाश्रयजातदर्पम् ।
त्वामद्य हन्तास्मि रणे प्रसह्य
अस्यैव हन्ता युधि भीमसेनः ॥ ३४ ॥
दुर्योधनस्याधमपूरुषस्य
यस्यानयादेष महान् क्षयोऽभवत् ।

'कर्ण! तू ही इस कलहकी जड़ है। दुर्योधनका सहारा मिल जानेसे तेरा घमंड बहुत बढ़ गया है। आज रणक्षेत्रमें मैं हठपूर्वक तेरा वध करूँगा और जिसके अन्यायसे यह महान् संहार हुआ है, उस नराधम दुर्योधनका वध युद्धमें भीमसेन करेंगे' ॥ ३४½ ॥

स एवमुक्त्वा विनिमृज्य चापं
लक्ष्यं हि कृत्वा वृषसेनमाजौ ॥ ३५ ॥
ससर्ज बाणान् विशिखान् महात्मा
वधाय राजन् कर्णसुतस्य संख्ये ।

राजन्! ऐसा कहकर महात्मा अर्जुनने अपने धनुषको पोंछा और कर्णपुत्र वृषसेनका वध करनेके लिये युद्धमें उसीको लक्ष्य बनाकर बाणोंका प्रहार आरम्भ किया ॥

विव्याध चैनं दशभिः पृषत्कै-
र्मर्मस्वशङ्कं प्रहसन् किरीटी ॥ ३६ ॥
चिच्छेद चास्येष्वसनं भुजौ च
क्षुरैश्चतुर्भिर्निशितैः शिरश्च ।

किरीटधारी अर्जुनने हँसते हुए-से दस बाणोंसे उसके मर्मस्थानोंमें निर्भीक होकर आघात किया। फिर चार तीखे छुरोंसे उसके धनुषको, दोनों भुजाओंको तथा मस्तकको भी काट डाला॥

स पार्थबाणाभिहतः पपात
रथाद् विबाहुर्विशिरा धरायाम् ॥ ३७ ॥
सुपुष्पितो वृक्षवरोऽतिकायो
वातेरितः शाल इवाद्रिशृङ्गात् ।

अर्जुनके बाणोंसे आहत हो बाहु और मस्तकसे रहित होकर वृषसेन उसी प्रकार रथसे नीचे पृथ्वीपर गिर पड़ा, जैसे सुन्दर फूलोंसे भरा हुआ श्रेष्ठ एवं विशाल शालवृक्ष हवाके झोंके खाकर पर्वतशिखरसे नीचे जा गिरा हो ॥ ३७½ ॥

सम्प्रेक्ष्य बाणाभिहतं पतन्तं
रथात् सुतं सूतजः क्षिप्रकारी ॥ ३८ ॥
रथं रथेनाशु जगाम रोषात्
किरीटिनः पुत्रवधाभितप्तः ।

शीघ्रतापूर्वक कार्य करनेवाला सूतपुत्र कर्ण अपने बेटेको बाणविद्ध हो रथसे नीचे गिरते देख पुत्रके वधसे संतप्त हो उठा और रोषमें भरकर रथके द्वारा अर्जुनके रथकी ओर तीव्र वेगसे चला ॥ ३८½ ॥

ततः समक्षं स्वसुतं विलोक्य
कर्णो हतं श्वेतहयेन संख्ये ।
संरम्भमागम्य परं महात्मा
कृष्णार्जुनौ सहसैवाभ्यधावत् ॥ ३९ ॥

अपने पुत्रको अपनी आँखोंके सामने ही युद्धमें श्वेतवाहन अर्जुनद्वारा मारा गया देख महामनस्वी कर्णको महान् क्रोध हुआ तथा उसने श्रीकृष्ण और अर्जुनपर सहसा आक्रमण कर दिया ॥ ३९ ॥

इति श्रीमहाभारते कर्णपर्वणि वृषसेनवधे पञ्चाशीतितमोऽध्यायः ॥ ८५ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत कर्णपर्वमें वृषसेनका वधविषयक पचासीवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ८५ ॥

षडशीतितमोऽध्यायः

कर्णके साथ युद्ध करनेके विषयमें श्रीकृष्ण और अर्जुनकी बातचीत तथा अर्जुनका कर्णके सामने उपस्थित होना

संजय उवाच

तमायान्तमभिप्रेक्ष्य वेलोद्वृत्तमिवार्णवम् ।
गर्जन्तं सुमहाकायं दुर्निवारं सुरैरपि ॥ १ ॥
अर्जुनं प्राह दाशार्हः प्रहस्य पुरुषर्षभः ।
अयं स रथ आयाति श्वेताश्वः शल्यसारथिः ॥ २ ॥

संजय कहते हैं—राजन्! सीमाको लाँघकर आगे बढ़ते हुए महासागरके सदृश विशालकाय कर्ण गर्जना करता हुआ आगे बढ़ा। वह देवताओंके लिये भी दुर्जय था। उसे आते देख दशार्हकुलनन्दन पुरुषश्रेष्ठ भगवान् श्रीकृष्णने हँसकर अर्जुनसे कहा—'पार्थ! जिसके सारथि शल्य हैं और रथमें श्वेत घोड़े जुते हैं, वही यह कर्ण रथसहित इधर आ रहा है ॥ १-२ ॥

येन ते सह योद्धव्यं स्थिरो भव धनंजय ।
पश्य चैनं समायुक्तं रथं कर्णस्य पाण्डव ॥ ३ ॥
श्वेतवाजिसमायुक्तं युक्तं राधासुतेन च ।

'धनंजय! तुम्हें जिसके साथ युद्ध करना है, वह कर्ण आ गया। अब स्थिर हो जाओ। पाण्डुनन्दन! श्वेत घोड़ोंसे जुते हुए कर्णके इस सजे-सजाये रथको, जिसपर वह स्वयं विराजमान है, देखो ॥ ३½ ॥

नानापताकाकलिलं किङ्किणीजालमालिनम् ॥ ४ ॥
उह्यमानमिवाकाशे विमानं पाण्डुरैर्हयैः ।
ध्वजं च पश्य कर्णस्य नागकक्ष्यं महात्मनः ॥ ५ ॥

'इसपर भाँति-भाँतिकी पताकाएँ फहरा रही हैं तथा वह छोटी-छोटी घंटियोंवाली झालरसे अलंकृत है। ये सफेद घोड़े आकाशमें विमानके समान इस रथको लेकर मानो उड़े जा रहे हैं। महामनस्वी कर्णकी इस ध्वजाको तो देखो, जिसमें हाथीके रस्सेका चिह्न बना हुआ है ॥ ४-५ ॥

आखण्डलधनुःप्रख्यमुल्लिखन्तमिवाम्बरम् ।
पश्य कर्णं समायान्तं धार्तराष्ट्रप्रियैषिणम् ॥ ६ ॥
शरधारा विमुञ्चन्तं धारासारमिवाम्बुदम् ।

'वह ध्वज इन्द्रधनुषके समान प्रकाशित होता हुआ आकाशमें रेखा-सा खींच रहा है। देखो, दुर्योधनका प्रिय चाहनेवाला कर्ण इधर ही आ रहा है। वह जलकी धारा गिरानेवाले बादलके समान बाणधाराकी वर्षा कर रहा है ६½

एष मद्रेश्वरो राजा रथाग्रे पर्यवस्थितः ॥ ७ ॥
नियच्छति हयानस्य राधेयस्यामितौजसः ।

'ये मद्रदेशके स्वामी राजा शल्य रथके अग्रभागमें बैठकर अमित बलशाली इस राधापुत्र कर्णके घोड़ोंको काबूमें रख रहे हैं ॥ ७½ ॥

शृणु दुन्दुभिनिर्घोषं शङ्खशब्दं च दारुणम् ॥ ८ ॥
सिंहनादांश्च विविधाञ्शृणु पाण्डव सर्वतः ।

'पाण्डुनन्दन! सुनो, दुन्दुभिका गम्भीर घोष और

भयंकर शङ्खध्वनि हो रही है। चारों ओर नाना प्रकारके सिंहनाद भी होने लगे हैं, इन्हें सुनो ॥ ८½ ॥

अन्तर्धाय महाशब्दान् कर्णेनामिततेजसा ॥ ९ ॥
दोधूयमानस्य भृशं धनुषः शृणु निःस्वनम्।

'अमिततेजस्वी कर्ण अपने धनुषको बड़े वेगसे हिला रहा है। उसकी टंकारध्वनि बड़ी भारी आवाजको भी दबा-कर सुनायी पड़ रही है, सुनो ॥ ९½ ॥

एते दीर्यन्ति सगणाः पञ्चालानां महारथाः ॥ १० ॥
दृष्ट्वा केसरिणं क्रुद्धं मृगा इव महावने।

'जैसे महान् वनमें मृग कुपित हुए सिंहको देखकर भागने लगते हैं, उसी प्रकार ये पाञ्चाल महारथी अपने सैन्यदलके साथ कर्णको देखकर भागे जा रहे हैं ॥ १०½ ॥

सर्वयत्नेन कौन्तेय हन्तुमर्हसि सूतजम् ॥ ११ ॥
न हि कर्णशरानन्यः सोढुमुत्सहते नरः।

'कुन्तीनन्दन ! तुम्हें पूर्ण प्रयत्न करके सूतपुत्र कर्णका वध करना चाहिये। दूसरा कोई मनुष्य कर्णके बाणोंको नहीं सह सकता है ॥ ११½ ॥

सदेवासुरगन्धर्वांस्त्रीँल्लोकान् सचराचरान् ॥ १२ ॥
त्वं हि जेतुं रणे शक्तस्तथैव विदितं मम।

'देवता, असुर, गन्धर्व तथा चराचर प्राणियोंसहित तीनों लोकोंको तुम रणभूमिमें जीत सकते हो; यह मुझे अच्छी तरह मालूम है ॥ १२½ ॥

भीममुग्रं महात्मानं त्र्यक्षं शर्वं कपर्दिनम् ॥ १३ ॥
न शक्ता द्रष्टुमीशानं किं पुनर्योधितुं प्रभुम्।
त्वया साक्षान्महादेवः सर्वभूतशिवः शिवः ॥ १४ ॥
युद्धेनाराधितः स्थाणुर्देवाश्च वरदास्तव।
तस्य पार्थ प्रसादेन देवदेवस्य शूलिनः ॥ १५ ॥
जहि कर्णं महाबाहो नमुचिं वृत्रहा यथा।
श्रेयस्तेऽस्तु सदा पार्थ युद्धे जयमवाप्नुहि ॥ १६ ॥

'जिनकी मूर्ति बड़ी ही उग्र और भयंकर है, जो महात्मा हैं, जिनके तीन नेत्र और मस्तकपर जटाजूट है, उन सर्वसमर्थ ईश्वर भगवान् शंकरको दूसरे लोग देख भी नहीं सकते फिर उनके साथ युद्ध करनेकी तो बात ही क्या है ? परंतु तुमने सम्पूर्ण जीवोंका कल्याण करनेवाले उन्हीं स्थाणुस्वरूप महादेव साक्षात् भगवान् शिवकी युद्धके द्वारा आराधना की है, अन्य देवताओंने भी तुम्हें वरदान दिये हैं; इसलिये महाबाहु पार्थ ! तुम उन देवाधिदेव त्रिशूलधारी भगवान् शङ्करकी कृपासे कर्णको उसी प्रकार मार डालो, जैसे वृत्रविनाशक इन्द्रने नमुचिका वध किया था। कुन्तीनन्दन ! तुम्हारा सदा ही कल्याण हो। तुम युद्धमें विजय प्राप्त करो' १३—१६

अर्जुन उवाच

ध्रुव एव जयः कृष्ण मम नास्त्यत्र संशयः।
सर्वलोकगुरुर्यस्त्वं तुष्टोऽसि मधुसूदन ॥ १७ ॥

अर्जुनने कहा—मधुसूदन श्रीकृष्ण ! मेरी विजय अवश्य होगी, इसमें संशय नहीं है; क्योंकि सम्पूर्ण जगत्के गुरु आप मुझपर प्रसन्न हैं ॥ १७ ॥

चोदयाश्वान् हृषीकेश रथं मम महारथ।
नाहत्वा समरे कर्णं निवर्तिष्यति फाल्गुनः ॥ १८ ॥

महारथी हृषीकेश ! आप मेरे रथ और घोड़ोंको आगे बढ़ाइये। अब अर्जुन समराङ्गणमें कर्णका वध किये बिना पीछे नहीं लौटेगा ॥ १८ ॥

अद्य कर्णं हतं पश्य मच्छरैः शकलीकृतम्।
मां वा द्रक्ष्यसि गोविन्द कर्णेन निहतं शरैः ॥ १९ ॥

गोविन्द ! आज आप मेरे बाणोंसे मरकर टुकड़े-टुकड़े हुए कर्णको देखिये। अथवा मुझे ही कर्णके बाणोंसे मरा हुआ देखियेगा ॥ १९ ॥

उपस्थितमिदं घोरं युद्धं त्रैलोक्यमोहनम्।
यज्जनाः कथयिष्यन्ति यावद् भूमिर्धरिष्यति ॥ २० ॥

आज तीनों लोकोंको मोहमें डालनेवाला यह घोर युद्ध उपस्थित है। जबतक पृथ्वी कायम रहेगी, तबतक संसारके लोग इस युद्धकी चर्चा करेंगे ॥ २० ॥

एवं ब्रुवंस्तदा पार्थः कृष्णमक्लिष्टकारिणम्।
प्रत्युद्ययौ रथेनाशु गजं प्रतिगजो यथा ॥ २१ ॥

अनायास ही महान् कर्म करनेवाले भगवान् श्रीकृष्णसे ऐसा कहते हुए कुन्तीकुमार अर्जुन उस समय रथके द्वारा शीघ्रतापूर्वक कर्णके सामने गये, मानो किसी हाथीका सामना करनेके लिये प्रतिद्वन्द्वी हाथी जा रहा हो ॥ २१ ॥

पुनरप्याह तेजस्वी पार्थः कृष्णमरिंदमम्।
चोदयाश्वान् हृषीकेश कालोऽयमतिवर्तते ॥ २२ ॥

उस समय तेजस्वी पार्थने शत्रुदमन श्रीकृष्णसे पुनः इस प्रकार कहा—'हृषीकेश ! मेरे घोड़ोंको हाँकिये, यह समय बीता जा रहा है' ॥ २२ ॥

एवमुक्तस्तदा तेन पाण्डवेन महात्मना।
जयेन सम्पूज्य स पाण्डवं तदा
प्रचोदयामास हयान् मनोजवान्।
स पाण्डुपुत्रस्य रथो मनोजवः
क्षणेन कर्णस्य रथाग्रतोऽभवत् ॥ २३ ॥

महामना पाण्डुकुमार अर्जुनके ऐसा कहनेपर भगवान् श्रीकृष्णने विजयसूचक आशीर्वादके द्वारा उनका आदर करके उस समय मनके समान वेगशाली घोड़ोंको तीव्रवेगसे आगे बढ़ाया। पाण्डुपुत्र अर्जुनका वह मनोजव रथ एक ही क्षणमें कर्णके रथके सामने जाकर खड़ा हो गया ॥ २३ ॥

इति श्रीमहाभारते कर्णपर्वणि कर्णार्जुनद्वैरथे वासुदेववाक्ये षडशीतितमोऽध्यायः ॥ ८६ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत कर्णपर्वमें कर्ण और अर्जुनके द्वैरथ-युद्धके प्रसंगमें भगवान् श्रीकृष्णका वाक्यविषयक छियासीवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥

सप्ताशीतितमोऽध्यायः

कर्ण और अर्जुनका द्वैरथयुद्धमें समागम, उनकी जय-पराजयके सम्बन्धमें सब प्राणियोंका संशय, ब्रह्मा और महादेवजीद्वारा अर्जुनकी विजयघोषणा तथा कर्णकी शल्यसे और अर्जुनकी श्रीकृष्णसे वार्ता

संजय उवाच

वृषसेनं हतं दृष्ट्वा शोकामर्षसमन्वितः ।
पुत्रशोकोद्भवं वारि नेत्राभ्यां समवासृजत् ॥ १ ॥

संजय कहते हैं—महाराज ! जब कर्णने वृषसेनको मारा गया देखा, तब वह शोक और अमर्षके वशीभूत हो अपने दोनों नेत्रोंसे पुत्रशोकजनित आँसू बहाने लगा ॥१॥

रथेन कर्णस्तेजस्वी जगामाभिमुखो रिपुम् ।
युद्धायामर्षताम्राक्षः समाहूय धनंजयम् ॥ २ ॥

फिर तेजस्वी कर्ण क्रोधसे लाल आँखें करके अपने शत्रु धनंजयको युद्धके लिये ललकारता हुआ रथके द्वारा उनके सामने आया ॥ २ ॥

तौ रथौ सूर्यसंकाशौ वैयाघ्रपरिवारितौ ।
समेतौ ददृशुस्तत्र द्वाविवार्कौ समुद्गतौ ॥ ३ ॥

व्याघ्रचर्मसे आच्छादित और सूर्यके समान तेजस्वी वे दोनों रथ जब एकत्र हुए, तब लोगोंने वहाँ उन्हें इस प्रकार देखा, मानो दो सूर्य उदित हुए हों ॥ ३ ॥

श्वेताश्वौ पुरुषौ दिव्यावास्थितावरिमर्दनौ ।
शुशुभाते महात्मानौ चन्द्रादित्यौ यथा दिवि॥ ४ ॥

दोनोंके घोड़े सफेद रंगके थे । दोनों ही दिव्य पुरुष और शत्रुओंका मर्दन करनेमें समर्थ थे । वे दोनों महामनस्वी वीर आकाशमें चन्द्रमा और सूर्यके समान रणभूमिमें शोभा पा रहे थे ॥ ४ ॥

तौ दृष्ट्वा विस्मयं जग्मुः सर्वसैन्यानि मारिष ।
त्रैलोक्यविजये यत्ताविन्द्रवैरोचनाविव ॥ ५ ॥

मान्यवर ! तीनों लोकोंपर विजय पानेके लिये प्रयत्नशील हुए इन्द्र और बलिके समान उन दोनों वीरोंको आमने-सामने देखकर समस्त सेनाओंको बड़ा विस्मय हुआ ॥ ५ ॥

रथज्यातलनिर्ह्रादैर्बाणसिंहरवैस्तथा ।
तौ रथावभिधावन्तौ समालोक्य महीक्षिताम्॥ ६ ॥
ध्वजौ च दृष्ट्वा संसक्तौ विस्मयः समपद्यत ।
हस्तिकक्ष्यं च कर्णस्य वानरं च किरीटिनः ॥ ७ ॥

रथ, धनुषकी प्रत्यञ्चा और हथेलीके शब्द, बाणोंकी सनसनाहट तथा सिंहनादके साथ एक दूसरेके सम्मुख दौड़ते हुए उन दोनों रथोंको देखकर एवं उनकी परस्पर सटी हुई ध्वजाओंका अवलोकन करके वहाँ आये हुए राजाओंको बड़ा विस्मय हुआ । कर्णकी ध्वजामें हाथीके साँकलका चिह्न था और किरीटधारी अर्जुनकी ध्वजापर मूर्तिमान् वानर बैठा था ॥ ६-७ ॥

तौ रथौ सम्प्रसक्तौ तु दृष्ट्वा भारत पार्थिवाः ।
सिंहनादरवांश्चक्रुः साधुवादांश्च पुष्कलान् ॥ ८ ॥

भरतनन्दन ! उन दोनों रथोंको एक दूसरेसे सटा देख सब राजा सिंहनाद करने और प्रचुर साधुवाद देने लगे ॥८॥

दृष्ट्वा च द्वैरथं ताभ्यां तत्र योधाः सहस्रशः ।
चक्रुर्बाहुस्वनांश्चैव तथा चैलावधूननम् ॥ ९ ॥

उन दोनोंका द्वैरथ युद्ध प्रस्तुत देख वहाँ खड़े हुए सहस्रों योद्धा अपनी भुजाओंपर ताल ठोकने और कपड़े हिलाने लगे ॥ ९ ॥

आजघ्नुः कुरवस्तत्र वादित्राणि समन्ततः ।
कर्णं प्रहर्षयिष्यन्तः शङ्खान् दध्मुश्च सर्वशः ॥ १० ॥

तदनन्तर कर्णका हर्ष बढ़ानेके लिये कौरवसैनिक वहाँ सब ओर बाजे बजाने और शङ्खध्वनि करने लगे ॥ १० ॥

तथैव पाण्डवाः सर्वे हर्षयन्तो धनंजयम् ।
तूर्यशङ्खनिनादेन दिशः सर्वा व्यनादयन् ॥ ११ ॥

इसी प्रकार समस्त पाण्डव भी अर्जुनका हर्ष बढ़ाते हुए वाद्यों और शङ्खोंकी ध्वनिसे सम्पूर्ण दिशाओंको प्रतिध्वनित करने लगे ॥ ११ ॥

क्ष्वेडितास्फोटितोत्क्रुष्टैस्तुमुलं सर्वतोऽभवत्।
बाहुशब्दैश्च शूराणां कर्णार्जुनसमागमे ॥ १२ ॥

कर्ण और अर्जुनके उस संघर्षमें शूरवीरोंके सिंहनाद करने, ताली बजाने, गर्जने और भुजाओंपर ताल ठोकनेसे सब ओर भयानक आवाज गूँज उठी ॥ १२ ॥

तौ दृष्ट्वा पुरुषव्याघ्रौ रथस्थौ रथिनां वरौ ।
प्रगृहीतमहाचापौ शरशक्तिध्वजायुतौ ॥ १३ ॥
वर्मिणौ बद्धनिस्त्रिंशौ श्वेताश्वौ शङ्खशोभितौ।
तूणीरवरसम्पन्नौ द्वावप्येतौ सुदर्शनौ ॥ १४ ॥
रक्तचन्दनदिग्धाङ्गौ समदौ गोवृषाविव ।
चापविद्युद्ध्वजोपेतौ शस्त्रसम्पत्तियोधिनौ ॥ १५ ॥
चामरव्यजनोपेतौ श्वेतच्छत्रोपशोभितौ ।
कृष्णशल्यरथोपेतौ तुल्यरूपौ महारथौ ॥ १६ ॥
सिंहस्कन्धौ दीर्घभुजौ रक्ताक्षौ हेममालिनौ ।
सिंहस्कन्धप्रतीकाशौ व्यूढोरस्कौ महाबलौ ॥ १७ ॥
अन्योन्यवधमिच्छन्तावन्योन्यजयकाङ्क्षिणौ ।
अन्योन्यमभिधावन्तौ गोष्ठे गोवृषभाविव ।
प्रभिन्नाविव मातङ्गौ सुसंरब्धाविवाचलौ ॥ १८ ॥
आशीविषशिशुप्रख्यौ यमकालान्तकोपमौ ।
इन्द्रवृत्राविव क्रुद्धौ सूर्याचन्द्रसमप्रभौ ॥ १९ ॥
महाग्रहाविव क्रुद्धौ युगान्ताय समुत्थितौ ।
देवगर्भौ देवबलौ देवतुल्यौ च रूपतः ॥ २० ॥
यदृच्छया समायातौ सूर्याचन्द्रमसौ यथा ।
बलिनौ समरे दृप्तौ नानाशस्त्रधरौ युधि ॥ २१ ॥

तौ दृष्ट्वा पुरुषव्याघ्रौ शार्दूलाविव धिष्ठितौ।
बभूव परमो हर्षस्तावकानां विशाम्पते ॥ २२ ॥

वे दोनों पुरुषसिंह रथपर विराजमान और रथियोंमें श्रेष्ठ थे। दोनोंने विशाल धनुष धारण किये थे। दोनों ही बाण, शक्ति और ध्वजसे सम्पन्न थे। दोनों कवचधारी थे और कमरमें तलवार बाँधे हुए थे। उन दोनोंके घोड़े श्वेत रंगके थे। वे दोनों ही शङ्खसे सुशोभित, उत्तम तरकससे सम्पन्न और देखनेमें सुन्दर थे। दोनोंके ही अंगोंमें लाल चन्दनका अनुलेप लगा हुआ था। दोनों ही साँड़ोंके समान मदमत्त थे। दोनोंके धनुष और ध्वज विद्युत्के समान कान्तिमान् थे। दोनों ही शस्त्रसमूहोंद्वारा युद्ध करनेमें कुशल थे। दोनों ही चँवर और व्यजनोंसे युक्त तथा श्वेत छत्रसे सुशोभित थे। एकके सारथि श्रीकृष्ण थे तो दूसरेके शल्य। उन दोनों महारथियोंके रूप एक-से ही थे। उनके कंधे सिंहके समान, भुजाएँ बड़ी-बड़ी और आँखें लाल थीं। दोनोंने सुवर्णकी मालाएँ पहन रक्खी थीं। दोनों सिंहके समान उन्नत कंधोंसे प्रकाशित होते थे। दोनोंकी छाती चौड़ी थी और दोनों ही महान् बलशाली थे। दोनों एक दूसरेका वध चाहते और परस्पर विजय पानेकी अभिलाषा रखते थे। गोशालामें लड़नेवाले दो साँड़ोंके समान वे दोनों एक दूसरेपर धावा करते थे। मद बहानेवाले मदोन्मत्त हाथियोंके समान दोनों ही रोषावेशमें भरे हुए थे। पर्वतके समान अविचल थे। विषधर सर्पोंके शिशुओं-जैसे जान पड़ते थे। यम, काल और अन्तकके समान भयंकर प्रतीत होते थे। इन्द्र और वृत्रासुरके समान वे एक दूसरेपर कुपित थे। सूर्य और चन्द्रमाके समान अपनी प्रभा बिखेर रहे थे। क्रोधमें भरे हुए दो महान् ग्रहोंके समान प्रलय मचानेके लिये उठ खड़े हुए थे। दोनों ही देवताओंके बालक, देवताओंके समान बली और देवतुल्य रूपवान् थे। दैवेच्छासे भूतलपर उतरे हुए सूर्य और चन्द्रमाके समान शोभा पाते थे। दोनों ही समराङ्गणमें बलवान् और अभिमानी थे। युद्धके लिये नाना प्रकारके अस्त्र-शस्त्र धारण किये हुए थे। प्रजानाथ! आमने-सामने खड़े हुए दो सिंहोंके समान उन दोनों नरव्याघ्र वीरोंको देखकर आपके सैनिकोंको महान् हर्ष हुआ ॥ १३–२२ ॥

संशयः सर्वभूतानां विजये समपद्यत।
समेतौ पुरुषव्याघ्रौ प्रेक्ष्य कर्णधनंजयौ ॥ २३ ॥

पुरुषसिंह कर्ण और धनंजयको एकत्र हुआ देखकर समस्त प्राणियोंको किसी एककी विजयमें संदेह होने लगा ॥

उभौ वरायुधधरावुभौ रणकृतश्रमौ।
उभौ च बाहुशब्देन नादयन्तौ नभस्तलम् ॥ २४ ॥

दोनोंने श्रेष्ठ आयुध धारण कर रखे थे, दोनोंने ही युद्धकी कला सीखनेमें परिश्रम किया था और दोनों अपनी भुजाओंके शब्दसे आकाशको प्रतिध्वनित कर रहे थे ॥ २४ ॥

उभौ विश्रुतकर्माणौ पौरुषेण बलेन च।
उभौ च सदृशौ युद्धे शम्बरामरराजयोः ॥ २५ ॥

दोनोंके कर्म विख्यात थे। युद्धमें पुरुषार्थ और बलकी दृष्टिसे दोनों ही शम्बरासुर और देवराज इन्द्रके समान थे ॥ २५ ॥

कार्तवीर्यसमौ चोभौ तथा दाशरथेः समौ।
विष्णुवीर्यसमौ चोभौ तथा भवसमौ युधि ॥ २६ ॥

दोनों ही युद्धमें कार्तवीर्य अर्जुन, दशरथनन्दन श्रीराम, भगवान् विष्णु और भगवान् शङ्करके समान पराक्रमी थे ॥

उभौ श्वेतहयौ राजन् रथप्रवरवाहिनौ।
सारथी प्रवरौ चैव तयोरास्तां महारणे ॥ २७ ॥

राजन्! दोनोंके घोड़े सफेद रंगके थे। दोनों ही श्रेष्ठ रथपर सवार थे और उस महासमरमें दोनोंके सारथि श्रेष्ठ पुरुष थे ॥ २७ ॥

ततो दृष्ट्वा महाराज राजमानौ महारथौ।
सिद्धचारणसंघानां विस्मयः समपद्यत ॥ २८ ॥

महाराज! वहाँ सुशोभित होनेवाले दोनों महारथियोंको देखकर सिद्धों और चारणोंके समुदायोंको बड़ा आश्चर्य हुआ ॥

तव पुत्रास्ततः कर्णं सबला भरतर्षभ।
परिवव्रुर्महात्मानं क्षिप्रमाहवशोभिनम् ॥ २९ ॥

भरतश्रेष्ठ! तदनन्तर सेनासहित आपके पुत्र युद्धमें शोभा पानेवाले महामनस्वी कर्णको शीघ्र ही सब ओरसे घेरकर खड़े हो गये ॥ २९ ॥

तथैव पाण्डवा हृष्टा धृष्टद्युम्नपुरोगमाः।
परिवव्रुर्महात्मानं पार्थमप्रतिमं युधि ॥ ३० ॥

इसी प्रकार हर्षमें भरे हुए धृष्टद्युम्न आदि पाण्डव वीर युद्धमें अपना सानी न रखनेवाले महात्मा कुन्तीकुमार अर्जुनको घेरकर खड़े हुए ॥ ३० ॥

(यमौ च चेकितानश्च प्रहृष्टाश्च प्रभद्रकाः।
नानादेश्याश्च ये शूराः शिष्टा युद्धाभिनन्दिनः ॥
ते सर्वे सहिता हृष्टाः परिवव्रुर्धनंजयम्।
रिरक्षिषन्तः शत्रुघ्नं पत्त्यश्वरथकुञ्जरैः ॥
धनंजयस्य विजये धृताः कर्णवधेऽपि च।

नकुल, सहदेव, चेकितान, हर्षमें भरे हुए प्रभद्रकगण, नाना देशोंके निवासी और युद्धका अभिनन्दन करनेवाले अवशिष्ट शूरवीर—ये सब-के-सब हर्षमें भरकर एक साथ अर्जुनको चारों ओरसे घेरकर खड़े हो गये। वे पैदल, घुड़सवार, रथों और हाथियोंद्वारा शत्रुसूदन अर्जुनकी रक्षा करना चाहते थे। उन्होंने अर्जुनकी विजय और कर्णके वधके लिये दृढ़ निश्चय कर लिया था ॥

तथैव तावकाः सर्वे यत्ताः सेनाप्रहारिणः।
दुर्योधनमुखा राजन् कर्णं जुगुपुराहवे।)

राजन्! इसी प्रकार दुर्योधन आदि आपके सभी पुत्र

सावधान एवं शत्रुसेनापर प्रहार करनेके लिये उद्यत हो युद्धस्थलमें कर्णकी रक्षा करने लगे ॥

तावकानां रणे कर्णो ग्लहो ह्यासीद् विशाम्पते ।
तथैव पाण्डवेयानां ग्लहः पार्थोऽभवत् तदा ॥ ३१ ॥

प्रजानाथ ! आपकी ओरसे युद्धरूपी जूएमें कर्णको दाँव-पर लगा दिया गया था । इसी प्रकार पाण्डवपक्षकी ओरसे कुन्तीकुमार अर्जुन दाँवपर चढ़ गये थे ॥ ३१ ॥

त एव सभ्यास्तत्रासन् प्रेक्षकाश्चाभवन् स्म ते ।
तत्रैषां ग्लहमानानां ध्रुवौ जयपराजयौ ॥ ३२ ॥

जो पहलेके जूएमें दर्शक थे, वे ही वहाँ भी सभासद् बने हुए थे । वहाँ युद्धरूपी जूआ खेलते हुए इन वीरोंमें-से एककी जय और दूसरेकी पराजय अवश्यम्भावी थी ॥ ३२ ॥

ताभ्यां द्यूतं समासक्तं विजयायेतराय च ।
अस्माकं पाण्डवानां च स्थितानां रणमूर्धनि ॥ ३३ ॥

उन दोनोंने युद्धके मुहानेपर खड़े हुए हमलोगों तथा पाण्डवोंकी विजय अथवा पराजयके लिये रणद्यूत आरम्भ किया था ॥ ३३ ॥

तौ तु स्थितौ महाराज समरे युद्धशालिनौ ।
अन्योन्यं प्रतिसंरब्धावन्योन्यवधकाङ्क्षिणौ ॥ ३४ ॥

महाराज ! युद्धमें शोभा पानेवाले वे दोनों वीर परस्पर कुपित हो एक दूसरेके वधकी इच्छासे संग्रामके लिये खड़े हुए थे ॥ ३४ ॥

तावुभौ प्रजिहीर्षन्ताविन्द्रवृत्राविव प्रभो ।
भीमरूपधरावास्तां महाधूमाविव ग्रहौ ॥ ३५ ॥

प्रभो ! इन्द्र और वृत्रासुरके समान वे दोनों एक दूसरे-पर प्रहारकी इच्छा रखते थे । उस समय उन दोनोंने दो महान् केतु—ग्रहोंके समान अत्यन्त भयंकर रूप धारण कर लिया था ॥ ३५ ॥

ततोऽन्तरिक्षे साक्षेपा विवादा भरतर्षभ ।
मिथो भेदाश्च भूतानामासन् कर्णार्जुनान्तरे ॥ ३६ ॥

भरतश्रेष्ठ ! तदनन्तर अन्तरिक्षमें स्थित हुए समस्त भूतोंमें कर्ण और अर्जुनकी जय-पराजयको लेकर परस्पर आक्षेपयुक्त विवाद और मतभेद पैदा हो गया ॥ ३६ ॥

व्यश्रूयन्त मिथो भिन्नाः सर्वलोकास्तु मारिष ।
देवदानवगन्धर्वाः पिशाचोरगराक्षसाः ॥ ३७ ॥
प्रतिपक्षग्रहं चक्रुः कर्णार्जुनसमागमे ।

मान्यवर ! सब लोग परस्पर भिन्न विचार व्यक्त करते सुनायी देते थे । देवता, दानव, गन्धर्व, पिशाच, नाग और राक्षस—इन सबने कर्ण और अर्जुनके युद्धके विषयमें पक्ष और विपक्ष ग्रहण कर लिया ॥ ३७½ ॥

द्यौरासीत् सूतपुत्रस्य पक्षे मातेव धिष्ठिता ॥ ३८ ॥
भूमिर्धनंजयस्यासीन्मातेव जयकाङ्क्षिणी ।

द्यौ (आकाशकी अधिष्ठात्री देवी) माताके समान सूतपुत्र कर्णके पक्षमें खड़ी थी; परंतु भूदेवी माताकी भाँति धनंजयकी विजय चाहती थी ॥ ३८½ ॥

गिरयः सागराश्चैव नद्यश्च सजलास्तथा ॥ ३९ ॥
वृक्षाश्चौषधयश्चैव व्याश्रयन्त किरीटिनम् ।

पर्वत, समुद्र, सजल नदियाँ, वृक्ष तथा ओषधियाँ—इन सबने अर्जुनके पक्षका आश्रय ले रक्खा था ॥ ३९½ ॥

असुरा यातुधानाश्च गुह्यकाश्च परंतप ॥ ४० ॥
ते कर्णं समपद्यन्त हृष्टरूपाः समन्ततः ।

शत्रुओंको तपानेवाले वीर ! असुर, यातुधान और गुह्यक—ये सब ओरसे प्रसन्नचित्त हो कर्णके ही पक्षमें आ गये थे ॥ ४०½ ॥

मुनयश्चारणाः सिद्धा वैनतेया वयांसि च ॥ ४१ ॥
रत्नानि निधयः सर्वे वेदाश्चाख्यानपञ्चमाः ।
सोपवेदोपनिषदः सरहस्याः ससंग्रहाः ॥ ४२ ॥
वासुकिश्चित्रसेनश्च तक्षको मणिकस्तथा ।
सर्पाश्चैव तथा सर्वे काद्रवेयाश्च सान्वयाः ॥ ४३ ॥
विषवन्तो महाराज नागाश्चार्जुनतोऽभवन् ।
ऐरावताः सौरभेया वैशालेयाश्च भोगिनः ॥ ४४ ॥
एतेऽभवन्नर्जुनतः क्षुद्रसर्पाश्च कर्णतः ।

महाराज ! मुनि, चारण, सिद्ध, गरुड़, पक्षी, रत्न, निधियाँ, उपवेद, उपनिषद्, रहस्य, संग्रह और इतिहास-पुराणसहित सम्पूर्ण वेद, वासुकि, चित्रसेन, तक्षक, मणिक, सम्पूर्ण सर्पगण, अपने वंशजोंसहित कद्रूकी संतानें, विषैले नाग, ऐरावत, सौरभेय और वैशालेय सर्प—ये सब अर्जुनके पक्षमें हो गये । छोटे-छोटे सर्प कर्णका साथ देने लगे ॥ ४१—४४½ ॥

ईहामृगा व्यालमृगा माङ्गल्याश्च मृगद्विजाः ॥ ४५ ॥
पार्थस्य विजये राजन् सर्व एवाभिसंस्थिताः ।

राजन् ! ईहामृग, व्यालमृग, मङ्गलसूचक मृग, पशु और पक्षी, सिंह तथा व्याघ्र—ये सब-के-सब अर्जुनकी ही विजयका आग्रह रखने लगे ॥ ४५½ ॥

वसवो मरुतः साध्या रुद्रा विश्वेऽश्विनौ तथा ॥ ४६ ॥
अग्निरिन्द्रश्च सोमश्च पवनोऽथ दिशो दश ।
धनंजयस्य ते पक्षे आदित्याः कर्णतोऽभवन् ॥ ४७ ॥
विशः शूद्राश्च सूताश्च ये च संकरजातयः ।
सर्वशस्ते महाराज राधेयमभजंस्तदा ॥ ४८ ॥

वसु, मरुद्गण, साध्य, रुद्र, विश्वेदेव, अश्विनीकुमार, अग्नि, इन्द्र, सोम, पवन और दसों दिशाएँ अर्जुनके पक्षमें हो गये एवं (इन्द्रके सिवा अन्य) आदित्यगण कर्णके पक्षमें हो गये । महाराज ! वैश्य, शूद्र, सूत तथा सङ्कर-जातिके लोग सब प्रकारसे उस समय राधापुत्र कर्णको ही अपनाने लगे ॥ ४६—४८ ॥

देवास्तु पितृभिः सार्धं सगणाः सपदानुगाः ।
यमो वैश्रवणश्चैव वरुणश्च यतोऽर्जुनः ॥ ४९ ॥
ब्रह्म क्षत्रं च यज्ञाश्च दक्षिणाश्चार्जुनं श्रिताः ।

अपने गणों और सेवकोंसहित देवता, पितर, यम, कुबेर और वरुण अर्जुनके पक्षमें थे। ब्राह्मण, क्षत्रिय, यज्ञ और दक्षिणा आदिने भी अर्जुनका ही साथ दिया ॥ ४९½ ॥

प्रेताश्चैव पिशाचाश्च क्रव्यादाश्च मृगाण्डजाः ॥ ५० ॥
राक्षसाः सह यादोभिः श्वसृगालाश्च कर्णतः ।

प्रेत, पिशाच, मांसभोजी पशु-पक्षी, राक्षस, जल-जन्तु, कुत्ते और सियार—ये कर्णके पक्षमें हो गये ॥ ५०½ ॥

देवब्रह्मनृपर्षीणां गणाः पाण्डवतोऽभवन् ॥ ५१ ॥
तुम्बुरुप्रमुखा राजन् गन्धर्वाश्च यतोऽर्जुनः ।
प्राधेयाः सहमौनेया गन्धर्वाप्सरसां गणाः ॥ ५२ ॥

राजन्! देवर्षि, ब्रह्मर्षि तथा राजर्षियोंके समुदाय पाण्डुपुत्र अर्जुनके पक्षमें थे। तुम्बुरु आदि गन्धर्व, प्राधा और मुनिसे उत्पन्न हुए गन्धर्व एवं अप्सराओंके समुदाय भी अर्जुनकी ही ओर थे ॥ ५१-५२ ॥

(सहाप्सरोभिः शुद्धाभिर्देवदूताश्च गुह्यकाः ।
किरीटिनं संश्रिताः स्म पुण्यगन्धा मनोरमाः ॥
अमनोज्ञाश्च ये गन्धास्ते सर्वे कर्णमाश्रिताः ।

शुद्ध अप्सराओंसहित देवदूत, गुह्यक और मनोरम पवित्र सुगन्ध—ये सब किरीटधारी अर्जुनके पक्षमें आ गये तथा मनको प्रिय न लगनेवाले जो दुर्गन्धयुक्त पदार्थ थे, उन सबने कर्णका आश्रय लिया था ॥

विपरीतान्यरिष्टानि भवन्ति विनशिष्यताम् ॥
ये त्वन्तकाले पुरुषं विपरीतमुपाश्रितम् ।
प्रविशन्ति नरं क्षिप्रं मृत्युकालेऽभ्युपागते ॥
ते भावाः सहिताः कर्णं प्रविष्टाः सूतनन्दनम् ।

विनाशोन्मुख प्राणियोंके समक्ष जो विपरीत अनिष्ट प्रकट होते हैं, अन्तकालमें विपरीत भावका आश्रय लेनेवाले पुरुषमें उसकी मृत्युकी घड़ी आनेपर जो भाव प्रवेश करते हैं, वे सभी भाव और अरिष्ट एक साथ सूतपुत्र कर्णके भीतर प्रविष्ट हुए ॥

ओजस्तेजश्च सिद्धिश्च प्रहर्षः सत्यविक्रमौ ॥
मनस्तुष्टिर्जयश्चापि तथाऽऽनन्दो नृपोत्तम ।
ईदृशानि नरव्याघ्र तस्मिन् संग्रामसागरे ॥
निमित्तानि च शुभ्राणि विविशुर्जिष्णुमाहवे ।

नरव्याघ्र! नृपश्रेष्ठ! ओज, तेज, सिद्धि, हर्ष, सत्य, पराक्रम, मानसिक संतोष, विजय तथा आनन्द—ऐसे ही भाव और शुभ निमित्त उस युद्धसागरमें विजयशील अर्जुनके भीतर प्रविष्ट हुए थे ॥

ऋषयो ब्राह्मणैः सार्धमभजन्त किरीटिनम् ॥
ततो देवगणैः सार्धं सिद्धाश्च सह चारणैः ।
द्विधाभूता महाराज व्याश्रयन्त नरोत्तमौ ॥

ब्राह्मणोंसहित ऋषियोंने किरीटधारी अर्जुनका साथ दिया। महाराज! देवसमुदायों और चारणोंके साथ सिद्ध-गण दो दलोंमें विभक्त होकर उन दोनों नरश्रेष्ठ अर्जुन और कर्णका पक्ष लेने लगे ॥

विमानानि विचित्राणि गुणवन्ति च सर्वशः ।
समारुह्य समाजग्मुर्द्वैरथं कर्णपार्थयोः ॥)

वे सब लोग विचित्र एवं गुणवान् विमानोंपर बैठकर कर्ण और अर्जुनका द्वैरथ युद्ध देखनेके लिये आये थे ॥

ईहामृगाः पक्षिगणा द्विपाश्वरथपत्तिभिः ।
उह्यमानास्तथा मेघैर्वायुना च मनीषिणः ॥ ५३ ॥
दिदृक्षवः समाजग्मुः कर्णार्जुनसमागमम् ।

क्रीडामृग, पक्षीसमुदाय तथा हाथी, घोड़े, रथ और पैदलोंसहित दिव्य मनीषी पुरुष वायु तथा बादलोंको वाहन बनाकर कर्ण और अर्जुनका युद्ध देखनेके लिये वहाँ पधारे थे ॥

देवदानवगन्धर्वा नागयक्षाः पतत्रिणः ॥ ५४ ॥
महर्षयो वेदविदः पितरश्च स्वधाभुजः ।
तपोविद्यास्तथौषध्यो नानारूपबलान्विताः ॥ ५५ ॥
अन्तरिक्षे महाराज विनदन्तोऽवतस्थिरे ।

महाराज! देवता, दानव, गन्धर्व, नाग, यक्ष, पक्षी, वेदज्ञ महर्षि, स्वधाभोजी पितर, तप, विद्या तथा नाना प्रकारके रूप और बलसे सम्पन्न ओषधियाँ—ये सब-के-सब कोलाहल मचाते हुए अन्तरिक्षमें खड़े हुए थे ॥ ५४-५५½ ॥

ब्रह्मा ब्रह्मर्षिभिः सार्धं प्रजापतिभिरेव च ॥ ५६ ॥
भवश्चैव स्थितो याने दिव्ये तं देशमागमत् ।

ब्रह्मर्षियों तथा प्रजापतियोंके साथ ब्रह्मा और महादेवजी भी दिव्य विमानपर स्थित हो उस प्रदेशमें आये ॥

समेतौ तौ महात्मानौ दृष्ट्वा कर्णधनंजयौ ॥ ५७ ॥
अर्जुनो जयतां कर्णमिति शक्रोऽब्रवीत्तदा ।

उन दोनों महामनस्वी वीर कर्ण और अर्जुनको एकत्र हुआ देख उस समय इन्द्र बोल उठे—'अर्जुन कर्णपर विजय प्राप्त करे' ॥ ५७½ ॥

जयतामर्जुनं कर्ण इति सूर्योऽभ्यभाषत ॥ ५८ ॥
हत्वार्जुनं मम सुतः कर्णो जयतु संयुगे ।
हत्वा कर्णं जयत्वद्य मम पुत्रो धनंजयः ॥ ५९ ॥

यह सुनकर सूर्यदेव कहने लगे—'नहीं, कर्ण ही अर्जुनको जीत ले। मेरा पुत्र कर्ण युद्धस्थलमें अर्जुनको मारकर विजय प्राप्त करे।' (इन्द्र बोले—) 'नहीं, मेरा पुत्र अर्जुन ही आज कर्णका वध करके विजयश्रीका वरण करे' ॥ ५८-५९ ॥

इति सूर्यस्य चैवासीद् विवादो वासवस्य च ।
पक्षसंस्थितयोस्तत्र तयोर्विबुधसिंहयोः ।
द्वैपक्ष्यमासीद् देवानामसुराणां च भारत ॥ ६० ॥

इस प्रकार सूर्य और इन्द्रमें विवाद होने लगा। वे दोनों देवश्रेष्ठ वहाँ एक-एक पक्षमें खड़े थे। भारत! देवताओं और असुरोंमें भी वहाँ दो पक्ष हो गये थे ॥ ६० ॥

समेतौ तौ महात्मानौ दृष्ट्वा कर्णधनंजयौ ।

अकम्पन्त त्रयो लोकाः सहदेवर्षिचारणाः ॥ ६१ ॥

महामना कर्ण और अर्जुनको युद्धके लिये एकत्र हुआ देख देवताओं, ऋषियों तथा चारणोंसहित तीनों लोकके प्राणी काँपने लगे ॥ ६१ ॥

सर्वे देवगणाश्चैव सर्वभूतानि यानि च।
यतः पार्थस्ततो देवा यतः कर्णस्ततोऽसुराः ॥ ६२ ॥

सम्पूर्ण देवता तथा समस्त प्राणी भी भयभीत हो उठे थे। जिस ओर अर्जुन थे, उधर देवता और जिस ओर कर्ण था, उधर असुर खड़े थे ॥ ६२ ॥

रथयूथपयोः पक्षौ कुरुपाण्डववीरयोः।
दृष्ट्वा प्रजापतिं देवाः स्वयम्भुवमचोदयन् ॥ ६३ ॥

रथयूथपति कर्ण और अर्जुन कौरव तथा पाण्डव दलके प्रमुख वीर थे। उनके विषयमें दो पक्ष देखकर देवताओंने प्रजापति स्वयम्भू ब्रह्माजीसे पूछा—॥ ६३ ॥

कोऽनयोर्विजयी देव कुरुपाण्डवयोधयोः।
समोऽस्तु विजयो देव एतयोर्नरसिंहयोः ॥ ६४ ॥

'देव ! इन कौरव-पाण्डव योद्धाओंमें कौन विजयी होगा ? भगवन् ! हम चाहते हैं कि इन दोनों पुरुषसिंहोंकी एक-सी ही विजय हो ॥ ६४ ॥

कर्णार्जुनविवादेन सर्वं संशयितं जगत्।
स्वयम्भो ब्रूहि नस्तथ्यमेतयोर्विजयं प्रभो ॥ ६५ ॥
स्वयम्भो ब्रूहि तद्वाक्यं समोऽस्तु विजयोऽनयोः।

'प्रभो ! कर्ण और अर्जुनके विवादसे सारा संसार संशयमें पड़ गया। स्वयम्भू ! आप हमें इनके विजयके सम्बन्धमें सच्ची बात बताइये। आप ऐसा वचन बोलिये, जिससे इन दोनोंकी समान विजय सूचित हो' ॥ ६५½ ॥

तदुपश्रुत्य मघवा प्रणिपत्य पितामहम् ॥ ६६ ॥
व्यज्ञापयत देवेशमिदं मतिमतां वरः।

देवताओंकी वह बात सुनकर बुद्धिमानोंमें श्रेष्ठ इन्द्रने देवेश्वर भगवान् ब्रह्माको प्रणाम करके यह निवेदन किया—॥ ६६½ ॥

पूर्वं भगवता प्रोक्तं कृष्णयोर्विजयो ध्रुवः ॥ ६७ ॥
तत् तथास्तु नमस्तेऽस्तु प्रसीद भगवन् मम।

'भगवन् ! आपने पहले कहा था कि 'इन दोनों कृष्णों-की विजय अटल है।' आपका वह कथन सत्य हो। आपको नमस्कार है। आप मुझपर प्रसन्न होइये' ॥६७½ ॥

ब्रह्मेशानावथो वाक्यमूचतुस्त्रिदशेश्वरम् ॥ ६८ ॥
विजयो ध्रुवमेवास्य विजयस्य महात्मनः।
खाण्डवे येन हुतभुक्तोषितः सव्यसाचिना ॥ ६९ ॥
स्वर्गं च समनुप्राप्य साहाय्यं शक्र ते कृतम्।

तब ब्रह्मा और महादेवजीने देवेश्वर इन्द्रसे कहा—'महात्मा अर्जुनकी विजय तो निश्चित ही है। इन्द्र ! इन्हीं सव्यसाची अर्जुनने खाण्डववनमें अग्निदेवको संतुष्ट किया और स्वर्गलोकमें जाकर तुम्हारी भी सहायता की ॥

कर्णश्च दानवः पक्ष अतः कार्यः पराजयः ॥ ७० ॥
एवं कृते भवेत् कार्यं देवानामेव निश्चितम्।
आत्मकार्यं च सर्वेषां गरीयस्त्रिदशेश्वर ॥ ७१ ॥

'कर्ण दानव पक्षका पुरुष है; अतः उसकी पराजय करनी चाहिये—ऐसा करनेपर निश्चित रूपसे देवताओंका ही कार्य सिद्ध होगा। देवेश्वर ! अपना कार्य सभीके लिये गुरुतर होता है ॥ ७०-७१ ॥

महात्मा फाल्गुनश्चापि सत्यधर्मरतः सदा।
विजयस्तस्य नियतं जायते नात्र संशयः ॥ ७२ ॥

'महात्मा अर्जुन सदा सत्य और धर्ममें तत्पर रहनेवाले हैं; अतः उनकी विजय अवश्य होगी, इसमें संशय नहीं है ॥

तोषितो भगवान् येन महात्मा वृषभध्वजः।
कथं वा तस्य न जयो जायते शतलोचन ॥ ७३ ॥

'शतलोचन ! जिन्होंने महात्मा भगवान् वृषभध्वजको संतुष्ट किया है, उनकी विजय कैसे नहीं होगी ॥ ७३ ॥

यस्य चक्रे स्वयं विष्णुः सारथ्यं जगतः प्रभुः।
मनस्वी बलवाञ्शूरः कृतास्त्रोऽथ तपोधनः ॥ ७४ ॥

'साक्षात् जगदीश्वर भगवान् विष्णुने जिनका सारथ्य किया है, जो मनस्वी, बलवान्, शूरवीर, अस्त्र-शस्त्रोंके ज्ञाता और तपस्याके धनी हैं, उनकी विजय क्यों न होगी ? ॥ ७४ ॥

बिभर्ति च महातेजा धनुर्वेदमशेषतः।
पार्थः सर्वगुणोपेतो देवकार्यमिदं यतः ॥ ७५ ॥

'सर्वगुणसम्पन्न महातेजस्वी कुन्तीकुमार अर्जुन सम्पूर्ण धनुर्वेदको धारण करते हैं; अतः उनकी विजय होगी ही; क्योंकि यह देवताओंका ही कार्य है ॥ ७५ ॥

क्लिश्यन्ते पाण्डवा नित्यं वनवासादिभिर्भृशम्।
सम्पन्नस्तपसा चैव पर्याप्तः पुरुषर्षभः ॥ ७६ ॥

'पाण्डव वनवास आदिके द्वारा सदा महान् कष्ट उठाते आये हैं। पुरुषप्रवर अर्जुन तपोबलसे सम्पन्न और पर्याप्त शक्तिशाली हैं ॥ ७६ ॥

अतिक्रमेच्च माहात्म्याद् दिष्टमप्यर्थपर्ययम्।
अतिक्रान्ते च लोकानामभावो नियतं भवेत् ॥ ७७ ॥

'ये अपनी महिमासे दैवके भी निश्चित विधानको पलट सकते हैं; यदि ऐसा हुआ तो सम्पूर्ण लोकोंका अवश्य ही अन्त हो जायगा ॥ ७७ ॥

न विद्यते व्यवस्थानं क्रुद्धयोः कृष्णयोः क्वचित्।
स्रष्टारौ जगतश्चैव सततं पुरुषर्षभौ ॥ ७८ ॥

'श्रीकृष्ण और अर्जुनके कुपित होनेपर यह संसार कहीं टिक नहीं सकता; पुरुषप्रवर श्रीकृष्ण और अर्जुन ही निरन्तर जगत्की सृष्टि करते हैं ॥ ७८ ॥

नरनारायणावेतौ पुराणावृषिसत्तमौ।
अनियम्यौ नियन्तारावेतौ तस्मात् परंतपौ ॥ ७९ ॥

'ये ही प्राचीन ऋषिश्रेष्ठ नर और नारायण हैं; इन-

पर किसीका शासन नहीं चलता । ये ही सबके नियन्ता हैं; अतः ये शत्रुओंको संताप देनेमें समर्थ हैं ॥ ७९ ॥

नैतयोस्तु समः कश्चिद् दिवि वा मानुषेषु वा ।
अनुगम्यास्त्रयो लोकाः सह देवर्षिचारणैः ॥ ८० ॥
सर्वदेवगणाश्चापि सर्वभूतानि यानि च ।
अनयोस्तु प्रभावेण वर्तते निखिलं जगत् ॥ ८१ ॥

'देवलोक अथवा मनुष्यलोकमें कोई भी इन दोनोंकी समानता करनेवाला नहीं है । देवता, ऋषि और चारणोंके साथ तीनों लोक, समस्त देवगण और सम्पूर्ण भूत इनके ही नियन्त्रणमें रहनेवाले हैं । इन्हींके प्रभावसे सम्पूर्ण जगत् अपने-अपने कर्मोंमें प्रवृत्त होता है ॥ ८०-८१ ॥

कर्णो लोकानयं मुख्यानाप्नोतु पुरुषर्षभः ।
कर्णो वैकर्तनः शूरो विजयस्त्वस्तु कृष्णयोः ॥ ८२॥

'शूरवीर पुरुषप्रवर वैकर्तन कर्ण श्रेष्ठ लोक प्राप्त करे; परंतु विजय तो श्रीकृष्ण और अर्जुनकी ही हो ॥८२॥

वसूनां समलोकत्वं मरुतां वा समाप्नुयात् ।
सहितो द्रोणभीष्माभ्यां नाकलोकमवाप्नुयात्॥ ८३ ॥

'कर्ण द्रोणाचार्य और भीष्मजीके साथ वसुओं अथवा मरुद्गणोंके लोकमें जाय अथवा स्वर्गलोक ही प्राप्त करे' ॥८३॥

इत्युक्तो देवदेवाभ्यां सहस्राक्षोऽब्रवीद् वचः ।
आमन्त्र्य सर्वभूतानि ब्रह्मेशानानुशासनम् ॥ ८४ ॥

देवाधिदेव ब्रह्मा और महादेवजीके ऐसा कहनेपर इन्द्रने सम्पूर्ण प्राणियोंको बुलाकर उन दोनोंकी आज्ञा सुनायी॥

श्रुतं भवद्भिर्यत् प्रोक्तं भगवद्भ्यां जगद्धितम् ।
तत्तथा नान्यथा तद्धि तिष्ठध्वं विगतज्वराः ॥ ८५ ॥

वे बोले—'हमारे पूज्य प्रभुओंने संसारके हितके लिये जो कुछ कहा है, वह सब तुमलोगोंने सुन ही लिया होगा । वह वैसे ही होगा । उसके विपरीत होना असम्भव है; अतः अब निश्चिन्त हो जाओ' ॥ ८५ ॥

इति श्रुत्वेन्द्रवचनं सर्वभूतानि मारिष ।
विस्मितान्यभवन् राजन् पूजायांचक्रिरे तदा ॥ ८६ ॥
व्यसृजंश्च सुगन्धीनि पुष्पवर्षाणि हर्षिताः ।
नानारूपाणि विबुधा देवतूर्याण्यवादयन् ॥ ८७ ॥

माननीय नरेश ! इन्द्रका यह वचन सुनकर समस्त प्राणी विस्मित हो गये और हर्षमें भरकर श्रीकृष्ण और अर्जुनकी प्रशंसा करने लगे । साथ ही उन दोनोंके ऊपर उन्होंने दिव्य सुगन्धित फूलोंकी वर्षा की । देवताओंने नाना प्रकारके दिव्य बाजे बजाने आरम्भ कर दिये ॥ ८६-८७ ॥

दिदृक्षवश्चाप्रतिमं द्वैरथं नरसिंहयोः ।
देवदानवगन्धर्वाः सर्व एवावतस्थिरे ॥ ८८ ॥

पुरुषसिंह कर्ण और अर्जुनका अनुपम द्वैरथ युद्ध देखनेकी इच्छासे देवता, दानव और गन्धर्व सभी वहाँ खड़े हो गये ॥

रथौ तयोः श्वेतहयौ दिव्यौ युक्तौ महात्मनोः ।
यौ तौ कर्णार्जुनौ राजन् प्रहृष्टावभ्यतिष्ठताम् ॥ ८९ ॥

राजन् ! कर्ण और अर्जुन हर्षमें भरकर जिन रथोंपर बैठे हुए थे, उन महामनस्वी वीरोंके वे दोनों रथ श्वेत घोड़ोंसे युक्त, दिव्य और आवश्यक सामग्रियोंसे सम्पन्न थे ॥८९॥

समागता लोकवीराः शङ्खान् दध्मुः पृथक् पृथक् ।
वासुदेवार्जुनौ वीरौ कर्णशल्यौ च भारत ॥ ९० ॥

भरतनन्दन ! वहाँ एकत्र हुए सम्पूर्ण जगत्के वीर पृथक्-पृथक् शङ्खध्वनि करने लगे । वीर श्रीकृष्ण और अर्जुनने तथा शल्य और कर्णने भी अपना-अपना शङ्ख बजाया ॥

तद् भीरुसंत्रासकरं युद्धं समभवत्तदा ।
अन्योन्यस्पर्धिनोरुग्रं शक्रशम्बरयोरिव ॥ ९१ ॥

इन्द्र और शम्बरासुरके समान एक दूसरेसे डाह रखनेवाले उन दोनों वीरोंमें उस समय घोर युद्ध आरम्भ हुआ, जो कायरोंके हृदयमें भय उत्पन्न करनेवाला था ॥ ९१ ॥

तयोर्ध्वजौ वीतमलौ शुशुभाते रथे स्थितौ ।
राहुकेतू यथाऽऽकाशे उदितौ जगतः क्षये ॥ ९२ ॥

उन दोनोंके रथोंपर निर्मल ध्वजाएँ शोभा पा रही थीं, मानो संसारके प्रलयकालमें आकाशमें राहु और केतु दोनों ग्रह उदित हुए हों ॥ ९२ ॥

कर्णस्याशीविषनिभा रत्नसारमयी दृढा ।
पुरन्दरधनुःप्रख्या हस्तिकक्ष्या व्यराजत ॥ ९३ ॥

कर्णके ध्वजकी पताकामें हाथीकी साँकलका चिह्न था, वह साँकल रत्नसारमयी, सुदृढ़ और विषधर सर्पके समान आकारवाली थी । वह आकाशमें इन्द्रधनुषके समान शोभा पाती थी ॥ ९३ ॥

कपिश्रेष्ठस्तु पार्थस्य व्यादितास्य इवान्तकः ।
दंष्ट्राभिर्भीषयन् भाभिर्दुर्निरीक्ष्यो रविर्यथा ॥ ९४ ॥

कुन्तीकुमार अर्जुनके रथपर मुँह बाये हुए यमराजके समान एक श्रेष्ठ वानर बैठा हुआ था, जो अपनी दाढ़ोंसे सबको डराया करता था । वह अपनी प्रभासे सूर्यके समान जान पड़ता था । उसकी ओर देखना कठिन था ॥ ९४ ॥

युद्धाभिलाषुको भूत्वा ध्वजो गाण्डीवधन्वनः ।
कर्णध्वजमुपातिष्ठत् स्वस्थानाद् वेगवान् कपिः॥ ९५ ॥
उत्पपात महावेगः कक्ष्यामभ्याहनत्तदा ।
नखैश्च दशनैश्चैव गरुडः पन्नगं यथा ॥ ९६ ॥

गाण्डीवधारी अर्जुनका ध्वज मानो युद्धका इच्छुक होकर कर्णके ध्वजपर आक्रमण करने लगा । अर्जुनकी ध्वजाका महान् वेगशाली वानर उस समय अपने स्थानसे उछला और कर्णकी ध्वजाकी साँकलपर चोट करने लगा, जैसे गरुड़ अपने पंजों और चोंचसे सर्पपर प्रहार कर रहे हों ॥९५-९६॥

सा किङ्किणीकाभरणा कालपाशोपमाऽऽयसी ।
अभ्यद्रवत् सुसंरब्धा हस्तिकक्ष्याथ तं कपिम् ॥९७॥

कर्णके ध्वजपर जो हाथीकी साँकल थी, वह कालपाशके

समान जान पड़ती थी। वह लोहनिर्मित हाथीकी साँकल छोटी-छोटी घण्टियोंसे विभूषित थी। उसने अत्यन्त कुपित होकर उस वानरपर धावा किया ॥ ९७ ॥

तयोर्घोरतरे युद्धे द्वैरथे द्यूत आहिते।
प्राकुर्वाते ध्वजौ युद्धं पूर्वं पूर्वतरं तदा ॥ ९८ ॥

उन दोनोंमें घोरतर द्वैरथ युद्धरूपी जूएका अवसर उपस्थित था, इसीलिये उन दोनोंकी ध्वजाओंने पहले स्वयं ही युद्ध आरम्भ कर दिया ॥ ९८ ॥

हया हयानभ्यहेषन् स्पर्धमानाः परस्परम्।
अविध्यत् पुण्डरीकाक्षः शल्यं नयनसायकैः ॥ ९९ ॥

एकके घोड़े दूसरेके घोड़ोंको देखकर परस्पर लाग-डाँट रखते हुए हिनहिनाने लगे। इसी समय कमलनयन भगवान् श्रीकृष्णने शल्यकी ओर त्यौरी चढ़ाकर देखा, मानो वे उसे नेत्ररूपी बाणोंसे बींध रहे हों ॥ ९९ ॥

शल्यश्च पुण्डरीकाक्षं तथैवाभिसमैक्षत।
तत्राजयद् वासुदेवः शल्यं नयनसायकैः ॥१००॥

इसी प्रकार शल्यने भी कमलनयन श्रीकृष्णकी ओर दृष्टिपात किया; परंतु वहाँ विजय श्रीकृष्णकी ही हुई। उन्होंने अपने नेत्ररूपी बाणोंसे शल्यको पराजित कर दिया ॥१००॥

कर्णं चाप्यजयद् दृष्ट्या कुन्तीपुत्रो धनंजयः।
अथाब्रवीत् सूतपुत्रः शल्यमाभाष्य सस्मितम् ॥१०१॥
यदि पार्थो रणे हन्यादद्य मामिह कर्हिचित्।
किं करिष्यसि संग्रामे शल्य सत्यमथोच्यताम् ॥१०२॥

इसी तरह कुन्तीनन्दन धनंजयने भी अपनी दृष्टिद्वारा कर्णको परास्त कर दिया। तदनन्तर कर्णने शल्यसे मुसकराते हुए कहा—'शल्य! सच बताओ, यदि कदाचित् आज रणभूमिमें कुन्तीपुत्र अर्जुन मुझे यहाँ मार डालें तो तुम इस संग्राममें क्या करोगे ?' ॥ १०१-१०२ ॥

शल्य उवाच

यदि कर्ण रणे हन्यादद्य त्वां श्वेतवाहनः।
उभावेकरथेनाहं हन्यां माधवपाण्डवौ ॥१०३॥

शल्यने कहा—कर्ण! यदि श्वेतवाहन अर्जुन आज युद्धमें तुझे मार डालें तो मैं एकमात्र रथके द्वारा श्रीकृष्ण और अर्जुन दोनोंका वध कर डालूँगा ॥ १०३ ॥

संजय उवाच

एवमेव तु गोविन्दमर्जुनः प्रत्यभाषत।
तं प्रहस्याब्रवीत् कृष्णः सत्यं पार्थमिदं वचः ॥१०४॥

संजय कहते हैं—राजन्! इसी प्रकार अर्जुनने भी श्रीकृष्णसे पूछा। तब श्रीकृष्णने हँसकर अर्जुनसे यह सत्य बात कही—॥ १०४ ॥

पतेद् दिवाकरः स्थानाच्छुष्येदपि महोदधिः।
शैत्यमग्निरियान्न त्वां हन्यात् कर्णो धनंजय ॥१०५॥

'धनंजय! सूर्य अपने स्थानसे गिर जाय, समुद्र सूख जाय और अग्नि सदाके लिये शीतल हो जाय तो भी कर्ण तुम्हें मार नहीं सकता ॥ १०५ ॥

यदि चैतत् कथञ्चित् स्याल्लोकपर्यासनं भवेत्।
हन्यां कर्णं तथा शल्यं बाहुभ्यामेव संयुगे ॥१०६॥

'यदि किसी तरह ऐसा हो जाय तो संसार उलट जायगा। मैं अपनी दोनों भुजाओंसे ही युद्धभूमिमें कर्ण तथा शल्यको मसल डालूँगा' ॥ १०६ ॥

इति कृष्णवचः श्रुत्वा प्रहसन् कपिकेतनः।
अर्जुनः प्रत्युवाचेदं कृष्णमक्लिष्टकारिणम् ॥१०७॥

भगवान् श्रीकृष्णका यह वचन सुनकर कपिध्वज अर्जुन हँस पड़े और अनायास ही महान् कर्म करनेवाले भगवान् श्रीकृष्णसे इस प्रकार बोले—॥ १०७ ॥

मम तावदपर्याप्तौ कर्णशल्यौ जनार्दन।
सपताकध्वजं कर्णं सशल्यरथवाजिनम् ॥१०८॥
सच्छत्रकवचं चैव सशक्तिशरकार्मुकम्।
द्रष्टास्यद्य रणे कृष्ण शरैश्छिन्नमनेकधा ॥१०९॥

'जनार्दन! ये कर्ण और शल्य तो मेरे ही लिये पर्याप्त नहीं हैं। श्रीकृष्ण! आज रणभूमिमें आप देखियेगा, मैं कवच, छत्र, शक्ति, धनुष, बाण, ध्वजा, पताका, रथ, घोड़े तथा राजा शल्यके सहित कर्णको अपने बाणोंसे टुकड़े-टुकड़े कर डालूँगा ॥ १०८-१०९ ॥

अद्यैव सरथं साश्वं सशक्तिकवचायुधम्।
संचूर्णितमिवारण्ये पादपं दन्तिना यथा ॥११०॥

'जैसे जंगलमें दन्तार हाथी किसी पेड़को टूक-टूक कर देता है, उसी प्रकार आज ही मैं रथ, घोड़े, शक्ति, कवच तथा अस्त्र-शस्त्रोंसहित कर्णको चूर-चूर कर डालूँगा ॥ ११० ॥

अद्य राधेयभार्याणां वैधव्यं समुपस्थितम्।
ध्रुवं स्वप्नेष्वनिष्टानि ताभिर्दृष्टानि माधव ॥१११॥

'माधव! आज राधापुत्र कर्णकी स्त्रियोंके विधवा होनेका अवसर उपस्थित है। निश्चय ही, उन्होंने स्वप्नमें अनिष्ट वस्तुओंके दर्शन किये हैं ॥ १११ ॥

द्रष्टासि ध्रुवमद्यैव विधवाः कर्णयोषितः।
न हि मे शाम्यते मन्युर्यदनेन पुरा कृतम् ॥११२॥
कृष्णां सभागतां दृष्ट्वा मूढेनादीर्घदर्शिना।
अस्मांस्तथावहसता क्षिपता च पुनः पुनः ॥११३॥

'आप निश्चय ही, आज कर्णकी स्त्रियोंको विधवा हुई देखेंगे। इस अदूरदर्शी मूर्खने सभामें द्रौपदीको आयी देख बारंबार उसकी तथा हमलोगोंकी हँसी उड़ायी और हम सब लोगोंपर आक्षेप किया। ऐसा करते हुए इस कर्णने पहले जो कुकृत्य किया है, उसे याद करके मेरा क्रोध शान्त नहीं होता है ॥ ११२-११३ ॥

अद्य द्रष्टासि गोविन्द कर्णमुन्मथितं मया।
वारणेनेव मत्तेन पुष्पितं जगतीरुहम् ॥११४॥

'गोविन्द ! जैसे मतवाला हाथी फले-फूले वृक्षको तोड़ डालता है, उसी प्रकार आज मैं इस कर्णको मथ डालूँगा। आप यह सब कुछ अपनी आँखों देखेंगे ॥ ११४ ॥

अद्य ता मधुरा वाचः श्रोतासि मधुसूदन।
दिष्ट्या जयसि वार्ष्णेय इति कर्णे निपातिते ॥११५॥

'मधुसूदन ! आज कर्णके मारे जानेपर आपको मधुर बातें सुननेको मिलेंगी। हमलोग कहेंगे—'वृष्णिनन्दन! बड़े सौभाग्यकी बात है कि आज आपकी विजय हुई' ॥ ११५ ॥

अद्याभिमन्युजननीं प्रहृष्टः सान्त्वयिष्यसि।
कुन्तीं पितृष्वसारं च प्रहृष्टः सजनार्दन ॥११६॥

'जनार्दन ! आज आप अत्यन्त प्रसन्न होकर अभिमन्युकी माता सुभद्राको और अपनी बुआ कुन्तीदेवीको सान्त्वना देंगे ॥ ११६ ॥

अद्य बाष्पमुखीं कृष्णां सान्त्वयिष्यसि माधव।
वाग्भिश्चामृतकल्पाभिर्धर्मराजं च पाण्डवम् ॥११७॥

'माधव ! आज आप मुखपर आँसुओंकी धारा बहानेवाली द्रुपदकुमारी कृष्णा तथा पाण्डुनन्दन युधिष्ठिरको अमृतके समान मधुर वचनोंद्वारा सान्त्वना प्रदान करेंगे' ॥११७॥

इति श्रीमहाभारते कर्णपर्वणि कर्णार्जुनसमागमे द्वैरथे सप्ताशीतितमोऽध्यायः ॥ ८७ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत कर्णपर्वमें कर्ण और अर्जुनका द्वैरथयुद्धमें समागमविषयक सतासीवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥८७॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठके ११½ श्लोक मिलाकर कुल १२८½ श्लोक हैं)

अष्टाशीतितमोऽध्यायः

अर्जुनद्वारा कौरवसेनाका संहार, अश्वत्थामाका दुर्योधनसे संधिके लिये प्रस्ताव और दुर्योधनद्वारा उसकी अस्वीकृति

संजय उवाच

तद् देवनागासुरसिद्धयक्षै-
र्गन्धर्वरक्षोऽप्सरसां च संघैः।
ब्रह्मर्षिराजर्षिसुपर्णजुष्टं
बभौ वियद् विस्मयनीयरूपम् ॥ १ ॥

संजय कहते हैं—महाराज ! उस समय आकाशमें देवता, नाग, असुर, सिद्ध, यक्ष, गन्धर्व, राक्षस, अप्सराओंके समुदाय, ब्रह्मर्षि, राजर्षि और गरुड़—ये सब जुटे हुए थे। इनके कारण आकाशका स्वरूप अत्यन्त आश्चर्यमय प्रतीत होता था ॥ १ ॥

नानद्यमानं निनदैर्मनोज्ञै-
र्वादित्रगीतस्तुतिनृत्यहासैः।
सर्वेऽन्तरिक्षं ददृशुर्मनुष्याः
खस्थाश्च तद् विस्मयनीयरूपम् ॥ २ ॥

नाना प्रकारके मनोरम शब्दों, वाद्यों, गीतों, स्तोत्रों, नृत्यों और हास्य आदिसे आकाश मुखरित हो उठा। उस समय भूतलके मनुष्य और आकाशचारी प्राणी सभी उस आश्चर्यमय अन्तरिक्षकी ओर देख रहे थे ॥ २ ॥

ततः प्रहृष्टाः कुरुपाण्डुयोधा
वादित्रशङ्खस्वनसिंहनादैः।
विनादयन्तो वसुधां दिशश्च
स्वनेन सर्वान् द्विषतो निजघ्नुः॥ ३ ॥

तदनन्तर कौरव और पाण्डवपक्षके समस्त योद्धा बड़े हर्षमें भरकर वाद्य, शङ्खध्वनि, सिंहनाद और कोलाहलसे रणभूमि एवं सम्पूर्ण दिशाओंको प्रतिध्वनित करते हुए समस्त शत्रुओंका संहार करने लगे ॥ ३ ॥

नराश्वमातङ्गरथैः समाकुलं
शरासिशक्त्यृष्टिनिपातदुःसहम्।
अभीरुजुष्टं हतदेहसंकुलं
रणाजिरं लोहितमाबभौ तदा ॥ ४ ॥

उस समय हाथी, अश्व, रथ और पैदल सैनिकोंसे भरा हुआ बाण, खड्ग, शक्ति और ऋष्टि आदि अस्त्र-शस्त्रोंके प्रहारसे दुःसह प्रतीत होनेवाला एवं मृतकोंके शरीरोंसे व्याप्त हुआ वह वीरसेवित समराङ्गण खूनसे लाल दिखायी देने लगा ॥

बभूव युद्धं कुरुपाण्डवानां
यथा सुराणामसुरैः सहाभवत्।
तथा प्रवृत्ते तुमुले सुदारुणे
धनंजयस्याधिरथेश्च सायकैः ॥ ५ ॥
दिशश्च सैन्यं च शितैरजिह्मगैः
परस्परं प्रावृणुतां सुदंशितौ।

जैसे पूर्वकालमें देवताओंका असुरोंके साथ संग्राम हुआ था, उसी प्रकार पाण्डवोंका कौरवोंके साथ युद्ध होने लगा। अर्जुन और कर्णके बाणोंसे वह अत्यन्त दारुण तुमुल युद्ध आरम्भ होनेपर वे दोनों कवचधारी वीर अपने पैने बाणोंसे परस्पर सम्पूर्ण दिशाओं तथा सेनाको आच्छादित करने लगे ॥ ५½ ॥

ततस्त्वदीयाश्च परे च सायकैः
कृतेऽन्धकारे ददृशुर्न किंचन ॥ ६ ॥
भयातुरा एकरथौ समाश्रयं-
स्ततोऽभवत् त्वद्भुतमेव सर्वतः।

तत्पश्चात् आपके और शत्रुपक्षके सैनिक जब बाणोंसे फैले हुए अन्धकारमें कुछ भी देख न सके, तब भयसे आतुर हो उन दोनों प्रधान रथियोंकी शरणमें आ गये। फिर तो चारों ओर अद्भुत युद्ध होने लगा ॥ ६½ ॥

ततोऽस्त्रमस्त्रेण परस्परं तौ
विधूय वाताविव पूर्वपश्चिमौ ॥ ७ ॥

घनान्धकारे वितते तमोनुदौ
यथोदितौ तद्वदतीव रेजतुः।

तदनन्तर जैसे पूर्व और पश्चिमकी हवाएँ एक दूसरीको दबाती हैं, उसी प्रकार वे दोनों वीर एक दूसरेके अस्त्रोंको अपने अस्त्रोंद्वारा नष्ट करके फैले हुए प्रगाढ़ अन्धकारमें उदित हुए सूर्य और चन्द्रमाके समान अत्यन्त प्रकाशित होने लगे ॥ ७½ ॥

न चाभिसर्तव्यमिति प्रचोदिताः
परे त्वदीयाश्च तथावतस्थिरे ॥ ८ ॥
महारथौ तौ परिवार्य सर्वतः
सुरासुराः शम्बरवासवाविव।

'किसीको युद्धसे मुँह मोड़कर भागना नहीं चाहिये' इस नियमसे प्रेरित होकर आपके और शत्रुपक्षके सैनिक उन दोनों महारथियोंको चारों ओरसे घेरकर उसी प्रकार युद्धमें डटे रहे, जैसे पूर्वकालमें देवता और असुर, इन्द्र और शम्बरासुरको घेरकर खड़े हुए थे ॥ ८½ ॥

मृदङ्गभेरीपणवानकस्वनैः
ससिंहनादैर्नदतुर्नरोत्तमौ ॥ ९ ॥
शशाङ्कसूर्याविव मेघनिःस्वनै-
र्विरेजतुस्तौ पुरुषर्षभौ तदा।

दोनों दलोंमें होती हुई मृदङ्ग, भेरी, पणव और आनक आदि वाद्योंकी ध्वनिके साथ वे दोनों नरश्रेष्ठ जोर-जोरसे सिंहनाद कर रहे थे, उस समय वे दोनों पुरुषरत्न मेघोंकी गम्भीर गर्जनाके साथ उदित हुए चन्द्रमा और सूर्यके समान प्रकाशित हो रहे थे ॥ ९½ ॥

महाधनुर्मण्डलमध्यगावुभौ
सुवर्चसौ बाणसहस्रदीधिती ॥ १० ॥
दिधक्षमाणौ सचराचरं जगद्-
युगान्तसूर्याविव दुःसहौ रणे।

रणभूमिमें वे दोनों वीर चराचर जगत्को दग्ध करनेकी इच्छासे प्रकट हुए प्रलयकालके दो सूर्योंके समान शत्रुओंके लिये दुःसह हो रहे थे। कर्ण और अर्जुनरूप वे दोनों सूर्य अपने विशाल धनुषरूपी मण्डलके मध्यमें प्रकाशित होते थे। सहस्रों बाण ही उनकी किरण थे और वे दोनों ही महान् तेजसे सम्पन्न दिखायी देते थे ॥ १०½ ॥

उभावजेयावहितान्तकावुभा-
वुभौ जिघांसू कृतिनौ परस्परम् ॥ ११ ॥
महाहवे वीतभयौ समीयतु-
र्महेन्द्रजम्भाविव कर्णपाण्डवौ।

दोनों ही अजेय और शत्रुओंका विनाश करनेवाले थे। दोनों ही अस्त्र-शस्त्रोंके विद्वान् और एक दूसरेके वधकी इच्छा रखनेवाले थे। कर्ण और अर्जुन दोनों वीर इन्द्र और जम्भासुरके समान उस महासमरमें निर्भय विचरते थे ॥ ११½ ॥

ततो महास्त्राणि महाधनुर्धरौ
विमुञ्चमानाविषुभिर्भयानकैः ॥ १२ ॥
नराश्वनागानमितान् निजघ्नतुः
परस्परं चापि महारथौ नृप।

नरेश्वर ! वे महाधनुर्धर और महारथी वीर महान् अस्त्रोंका प्रयोग करते हुए अपने भयानक बाणोंद्वारा असंख्य मनुष्यों, घोड़ों और हाथियोंका संहार करते और आपसमें भी एक दूसरेको चोट पहुँचाते थे ॥ १२½ ॥

ततो विसस्रुः पुनरर्दिता नरा
नरोत्तमाभ्यां कुरुपाण्डवाश्रयाः ॥ १३ ॥
सनागपत्त्यश्वरथा दिशो दश
तथा यथा सिंहहता वनौकसः।

जैसे सिंहके द्वारा घायल किये हुए जंगली पशु सब ओर भागने लगते हैं, उसी प्रकार उन नरश्रेष्ठ वीरोंके द्वारा बाणोंसे पीड़ित किये हुए कौरव तथा पाण्डवसैनिक हाथी, घोड़े, रथ और पैदलोंसहित दसों दिशाओंमें भाग खड़े हुए ॥ १३½ ॥

ततस्तु दुर्योधनभोजसौबलाः
कृपेण शारद्वतसूनुना सह ॥ १४ ॥
महारथाः पञ्च धनंजयाच्युतौ
शरैः शरीरार्तिकरैरताडयन्।

महाराज ! तदनन्तर दुर्योधन, कृतवर्मा, शकुनि, शरद्वान्के पुत्र कृपाचार्य और कर्ण—ये पाँच महारथी शरीरको पीड़ा देनेवाले बाणोंद्वारा श्रीकृष्ण और अर्जुनको घायल करने लगे ॥ १४½ ॥

धनूंषि तेषामिषुधीन् ध्वजान् हयान्
रथांश्च सूतांश्च धनंजयः शरैः ॥ १५ ॥
समं प्रमथ्याशु परान् समन्ततः
शरोत्तमैर्द्वादशभिश्च सूतजम्।

यह देख अर्जुनने उनके धनुष, तरकस, ध्वज, घोड़े, रथ और सारथि—इन सबको अपने बाणोंद्वारा एक साथ ही प्रमथित करके चारों ओर खड़े हुए शत्रुओंको शीघ्र ही बींध डाला और सूतपुत्र कर्णपर भी बारह बाणोंका प्रहार किया १५½

अथाभ्यधावंस्त्वरिताः शतं रथाः
शतं गजाश्चार्जुनमाततायिनः ॥ १६ ॥
शकास्तुषारा यवनाश्च सादिनः
सहैव काम्बोजवरैर्जिघांसवः।

तदनन्तर वहाँ सैकड़ों रथी और सैकड़ों हाथीसवार आततायी बनकर अर्जुनको मार डालनेकी इच्छासे दौड़े आये, उनके साथ शक, तुषार, यवन तथा काम्बोजदेशोंके अच्छे घुड़सवार भी थे ॥ १६½ ॥

वरायुधान् पाणिगतैः शरैः सह
क्षुरैर्न्यकृन्तत् प्रपतन् शिरांसि च ॥ १७ ॥
हयांश्च नागांश्च रथांश्च युध्यतो
धनंजयः शत्रुगणान् क्षितौ क्षिणोत्।

परंतु अर्जुनने अपने हाथके बाणों और क्षुरोंद्वारा उन सबके उत्तम-उत्तम अस्त्रोंको काट डाला। शत्रुओंके मस्तक कट-कटकर गिरने लगे। अर्जुनने विपक्षियोंके घोड़ों, हाथियों और रथोंको तथा युद्धमें तत्पर हुए उन शत्रुओंको भी पृथ्वीपर काट गिराया ॥ १७½ ॥

ततोऽन्तरिक्षे सुरतूर्यनिःस्वनाः
ससाधुवादा हृषितैः समीरिताः ॥ १८ ॥
निपेतुरप्युत्तमपुष्पवृष्टयः
सुगन्धिगन्धाः पवनेरिताः शुभाः।

तत्पश्चात् आकाशमें हर्षसे उल्लसित हुए दर्शकोंद्वारा साधुवाद देनेके साथ-साथ दिव्य बाजे भी बजाये जाने लगे। वायुकी प्रेरणासे वहाँ सुन्दर सुगन्धित और उत्तम फूलोंकी वर्षा होने लगी ॥ १८½ ॥

तदद्भुतं देवमनुष्यसाक्षिकं
समीक्ष्य भूतानि विसिस्मियुस्तदा॥१९॥
तवात्मजः सूतसुतश्च न व्यथां
न विस्मयं जग्मतुरेकनिश्चयौ।

देवताओं और मनुष्योंके साक्षित्वमें होनेवाले उस अद्भुत युद्धको देखकर समस्त प्राणी उस समय आश्चर्यसे चकित हो उठे; परंतु आपका पुत्र दुर्योधन और सूतपुत्र कर्ण—ये दोनों एक निश्चयपर पहुँच चुके थे; अतः इनके मनमें न तो व्यथा हुई और न ये विस्मयको ही प्राप्त हुए ॥ १९½ ॥

अथाब्रवीद् द्रोणसुतस्तवात्मजं
करं करेण प्रतिपीड्य सान्त्वयन् ॥ २० ॥
प्रसीद दुर्योधन शाम्य पाण्डवै-
रलं विरोधेन धिगस्तु विग्रहम्।
हतो गुरुर्ब्रह्मसमो महास्त्रवित्
तथैव भीष्मप्रमुखा महारथाः ॥ २१ ॥

तदनन्तर द्रोणकुमार अश्वत्थामाने दुर्योधनका हाथ अपने हाथसे दबाकर उसे सान्त्वना देते हुए कहा—'दुर्योधन! अब प्रसन्न हो जाओ। पाण्डवोंसे संधि कर लो। विरोधसे कोई लाभ नहीं है। आपसके इस झगड़ेको धिक्कार है! तुम्हारे गुरुदेव अस्त्रविद्याके महान् पण्डित थे। साक्षात् ब्रह्माजीके समान थे तो भी इस युद्धमें मारे गये। यही दशा भीष्म आदि महारथियोंकी भी हुई है ॥ २०-२१ ॥

अहं त्ववध्यो मम चापि मातुलः
प्रशाधि राज्यं सह पाण्डवैश्चिरम्।
धनंजयः शाम्यति वारितो मया
जनार्दनो नैव विरोधमिच्छति ॥ २२ ॥

'मैं और मेरे मामा कृपाचार्य तो अवध्य हैं (इसीलिये अबतक बचे हुए हैं)। अतः अब तुम पाण्डवोंके साथ मिलकर चिरकालतक राज्यशासन करो। अर्जुन मेरे मना करनेपर शान्त हो जायँगे। श्रीकृष्ण भी तुमलोगोंमें विरोध नहीं चाहते हैं ॥ २२ ॥

युधिष्ठिरो भूतहिते रतः सदा
वृकोदरस्तद्वशगस्तथा यमौ।
त्वया तु पार्थैश्च कृते च संविदे
प्रजाः शिवं प्राप्नुयुरिच्छया तव॥ २३ ॥
व्रजन्तु शेषाः स्वपुराणि बान्धवा
निवृत्तयुद्धाश्च भवन्तु सैनिकाः।
न चेद् वचः श्रोष्यसि मे नराधिप
ध्रुवं प्रतप्तासि हतोऽरिभिर्युधि ॥ २४ ॥

'युधिष्ठिर तो सभी प्राणियोंके हितमें ही लगे रहते हैं। अतः वे भी मेरी बात मान लेंगे। बाकी रहे भीमसेन और नकुल-सहदेव, सो ये भी धर्मराजके अधीन हैं; (अतः उनकी इच्छाके विरुद्ध कुछ नहीं करेंगे) इस प्रकार पाण्डवोंके साथ तुम्हारी संधि हो जानेपर सारी प्रजाका कल्याण होगा। फिर तुम्हारी इच्छासे शेष सगे-सम्बन्धी भाई-बन्धु अपने-अपने नगरको लौट जायँ और समस्त सैनिकोंको युद्धसे छुट्टी मिल जाय। नरेश्वर! यदि मेरी बात नहीं सुनोगे तो निश्चय ही युद्धमें शत्रुओंके हाथसे मारे जाओगे और उस समय तुम्हें बड़ा पश्चात्ताप होगा ॥ २३-२४ ॥

(वृद्धं पितरमालोक्य गान्धारीं च यशस्विनीम्।
कृपालुर्धर्मराजो हि याचितः शममेष्यति ॥

'बूढ़े पिता धृतराष्ट्र और यशस्विनी माता गान्धारीकी ओर देखकर दयालु धर्मराज युधिष्ठिर मेरे अनुरोध करनेपर भी संधि कर लेंगे ॥

यथोचितं च वै राज्यमनुशास्यति ते प्रभुः।
विपश्चित् सुमतिर्धीरः सर्वशास्त्रार्थतत्त्ववित् ॥

'वे सामर्थ्यशाली, विद्वान्, उत्तम बुद्धिसे युक्त, धैर्यवान् तथा सम्पूर्ण शास्त्रोंके तत्त्वको जाननेवाले हैं; अतः तुम्हारे लिये राज्यका जितना भाग उचित है, उसपर शासन करनेके लिये वे तुम्हें स्वयं ही आज्ञा दे देंगे ॥

वैरं नेष्यति धर्मात्मा स्वजने नास्त्यतिक्रमः।
न विग्रहमतिः कृष्णः स्वजने प्रतिनन्दति ॥

'धर्मात्मा युधिष्ठिर वैर दूर कर देंगे; क्योंकि आत्मीयजनसे कोई भूल हो जाय तो उसे अक्षम्य अपराध नहीं माना जाता। श्रीकृष्ण भी यह नहीं चाहते कि आपसमें कलह हो, वे स्वजनोंपर सदा संतुष्ट रहते हैं ॥

भीमसेनार्जुनौ चोभौ माद्रीपुत्रौ च पाण्डवौ।
वासुदेवमते चैव पाण्डवस्य च धीमतः ॥
स्थास्यन्ति पुरुषव्याघ्रास्तयोर्वचनगौरवात्।

'भीमसेन, अर्जुन और दोनों भाई माद्रीकुमार पाण्डुपुत्र नकुल-सहदेव—ये सब लोग भगवान् श्रीकृष्ण तथा बुद्धिमान् युधिष्ठिरकी रायसे चलते हैं; अतः ये पुरुषसिंह वीर उन दोनोंके आदेशका गौरव रखते हुए युद्धसे निवृत्त हो जायँगे ॥

रक्ष दुर्योधनात्मानमात्मा सर्वस्य भाजनम् ॥
जीवने यत्नमातिष्ठ जीवन् भद्राणि पश्यति।

'दुर्योधन ! तुम स्वयं ही अपनी रक्षा करो। आत्मा ही सब सुखोंका भाजन है। तुम जीवन-रक्षाके लिये प्रयत्न करो। जीवित रहनेवाला पुरुष ही कल्याणका दर्शन करता है॥

राज्यं श्रीश्चैव भद्रं ते जीवमाने तु कल्पते॥
मृतस्य खलु कौरव्य नैव राज्यं कुतः सुखम्।

'तुम्हारा कल्याण हो; तुम जीवित रहोगे, तभी तुम्हें राज्य और लक्ष्मीकी प्राप्ति हो सकती है। कुरुनन्दन ! मरे हुएको राज्य नहीं मिलता, फिर सुख कैसे प्राप्त हो सकता है ?॥

लोकवृत्तमिदं वृत्तं प्रवृत्तं पश्य भारत॥
शाम्य त्वं पाण्डवैः सार्धं शेषं कुरुकुलस्य च।

'भारत ! लोकमें घटित होनेवाले इस प्रचलित व्यवहार-की ओर दृष्टिपात करो; पाण्डवोंके साथ संधि कर लो और कौरवकुलको शेष रहने दो॥

मा भूत् स कालः कौरव्य यदाहमहितं वचः॥
ब्रूयां कामं महाबाहो मावमंस्था वचो मम।

'कुरुनन्दन ! ऐसा समय कभी न आवे जब कि मैं इच्छानुसार तुमसे कोई अहितकर बात कहूँ; अतः महाबाहो! तुम मेरी बातका अनादर न करो॥

धर्मिष्ठमिदमत्यर्थं राज्ञश्चैव कुलस्य च॥
एतद्धि परमं श्रेयः कुरुवंशस्य वृद्धये।

'मेरा यह कथन धर्मके अनुकूल तथा राजा और राज-कुलके लिये अत्यन्त हितकर है; यह कौरववंशकी वृद्धिके लिये परम कल्याणकारी है॥

प्रजाहितं च गान्धारे कुलस्य च सुखावहम्॥
पथ्यमायतिसंयुक्तं कर्णोऽप्यर्जुनमाहवे।
न जेष्यति नरव्याघ्रमिति मे निश्चिता मतिः॥
रोचतां ते नरश्रेष्ठ ममैतद् वचनं शुभम्।
अतोऽन्यथा हि राजेन्द्र विनाशः सुमहान् भवेत्॥)

'गान्धारीनन्दन ! मेरा यह वचन प्रजाजनोंके लिये हित-कर, इस कुलके लिये सुखदायक, लाभकारी तथा भविष्यमें भी मङ्गलकारक है। नरश्रेष्ठ ! मेरी यह निश्चित धारणा है कि कर्ण नरव्याघ्र अर्जुनको कदापि जीत न सकेगा; अतः मेरा यह शुभ वचन तुम्हें पसंद आना चाहिये। राजेन्द्र ! यदि ऐसा नहीं हुआ तो बड़ा भारी विनाश होगा॥

इदं च दृष्टं जगता सह त्वया
कृतं यदेकेन किरीटमालिना।
यथा न कुर्याद् बलभिन्न चान्तको
न चापि धाता भगवान् न यक्षराट्॥ २५॥

'किरीटधारी अर्जुनने अकेले जो पराक्रम किया है, इसे सारे संसारके साथ तुमने प्रत्यक्ष देख लिया है। ऐसा पराक्रम न तो इन्द्र कर सकते हैं और न यमराज। न धाता कर सकते हैं और न भगवान् यक्षराज कुबेर॥ २५॥

अतोऽपि भूयान् स्वगुणैर्धनंजयो
न चातिवर्तिष्यति मे वचोऽखिलम्।
तवानुयात्रां च सदा करिष्यति
प्रसीद राजेन्द्र शमं त्वमाप्नुहि॥ २६॥

'यद्यपि अर्जुन अपने गुणोंद्वारा इससे भी बहुत बढ़े-चढ़े हैं, तथापि मुझे विश्वास है कि वे मेरी कही हुई इन सारी बातोंको कदापि नहीं टालेंगे। यही नहीं, वे सदा तुम्हारा अनुसरण करेंगे; इसलिये राजेन्द्र ! तुम प्रसन्न होओ और संधि कर लो॥ २६॥

ममापि मानः परमः सदा त्वयि
ब्रवीम्यतस्त्वां परमाच्च सौहृदात्।
निवारयिष्यामि च कर्णमप्यहं
यदा भवान् सप्रणयो भविष्यति॥ २७॥

'तुम्हारे प्रति मेरे मनमें भी सदा बड़े आदरका भाव रहा है। हम दोनोंकी जो घनिष्ठ मित्रता है, उसीके कारण मैं तुमसे यह प्रस्ताव करता हूँ। यदि तुम प्रेमपूर्वक राजी हो जाओगे तो मैं कर्णको भी युद्धसे रोक दूँगा॥ २७॥

वदन्ति मित्रं सहजं विचक्षणा-
स्तथैव साम्ना च धनेन चार्जितम्।
प्रतापतश्चोपनतं चतुर्विधं
तदस्ति सर्वं तव पाण्डवेषु॥ २८॥

'विद्वान् पुरुष चार प्रकारके मित्र बतलाते हैं। एक सहज मित्र होते हैं (जिनके साथ स्वाभाविक मैत्री होती हैं)। दूसरे हैं संधि करके बनाये हुए मित्र। तीसरे वे हैं जो धन देकर अपनाये गये हैं। जो किसीके प्रबल प्रतापसे प्रभावित हो स्वतः शरणमें आ जाते हैं, वे चौथे प्रकारके मित्र हैं। पाण्डवोंके साथ तुम्हारी सभी प्रकारकी मित्रता सम्भव है॥

निसर्गतस्ते तव वीर बान्धवाः
पुनश्च साम्ना समवाप्नुहि प्रभो।
त्वयि प्रसन्ने यदि मित्रतां गते
हितं कृतं स्याज्जगतस्त्वयातुलम्॥ २९॥

'वीर ! एक तो वे तुम्हारे जन्मजात भाई हैं; अतः सहज मित्र हैं। प्रभो ! फिर तुम संधि करके उन्हें अपना मित्र बना लो। यदि तुम प्रसन्नतापूर्वक पाण्डवोंसे मित्रता स्वीकार कर लो तो तुम्हारेद्वारा संसारका अनुपम हित हो सकता है'॥ २९॥

स एवमुक्तः सुहृदा वचो हितं
विचिन्त्य निःश्वस्य च दुर्मनाब्रवीत्।
यथा भवानाह सखे तथैव त-
न्ममापि विज्ञापयतो वचः शृणु॥ ३०॥

सुहृद् अश्वत्थामाने जब इस प्रकार हितकी बात कही, तब दुर्योधन उसपर विचार करके लंबी साँस खींचकर मन-ही-मन दुखी हो इस प्रकार बोला—'सखे ! तुम जैसा कहते हो, वह सब ठीक है; परंतु इस विषयमें कुछ मैं भी निवेदन कर रहा हूँ; अतः मेरी बात भी सुन लो॥ ३०॥

निहत्य दुःशासनमुक्तवान् वचः
प्रसह्य शार्दूलवदेष दुर्मतिः ।
वृकोदरस्तद्धृदये मम स्थितं
न तत् परोक्षं भवतः कुतः शमः॥ ३१ ॥

'इस दुर्बुद्धि भीमसेनने सिंहके समान हठपूर्वक दुःशासनका वध करके जो बात कही थी, वह तुमसे छिपी नहीं है। वह इस समय भी मेरे हृदयमें स्थित होकर पीड़ा दे रही है। ऐसी दशामें कैसे संधि हो सकती है ?॥ ३१ ॥

न चापि कर्णं प्रसहेद् रणेऽर्जुनो
महागिरिं मेरुमिवोग्रमारुतः ।
न चाश्वसिष्यन्ति पृथात्मजा मयि
प्रसह्य वैरं बहुशो विचिन्त्य ॥ ३२ ॥

'इसके सिवा भयंकर वायु जैसे महापर्वत मेरुका सामना नहीं कर सकती, उसी प्रकार अर्जुन इस रणभूमिमें कर्णका वेग नहीं सह सकते। हमने हठपूर्वक बारंबार जो वैर किया है, उसे सोचकर कुन्तीके पुत्र मुझपर विश्वास भी नहीं करेंगे॥

न चापि कर्णं गुरुपुत्र संयुगा-
दुपारमेत्यर्हसि वक्तुमच्युत ।
श्रमेण युक्तो महताद्य फाल्गुन-
स्तमेष कर्णः प्रसभं हनिष्यति ॥ ३३ ॥

'अपनी मर्यादा न छोड़नेवाले गुरुपुत्र ! तुम्हें कर्णसे युद्ध बंद करनेके लिये नहीं कहना चाहिये; क्योंकि इस समय अर्जुन महान् परिश्रमसे थक गये हैं; अतः अब कर्ण उन्हें बलपूर्वक मार डालेगा'॥ ३३ ॥

तमेवमुक्त्वाप्यनुनीय चासकृत्
तवात्मजः स्वाननुशास्ति सैनिकान्।
विनिघ्नताभिद्रवताहितान् मम
सबाणहस्ताः किमु जोषमासत ॥ ३४ ॥

अश्वत्थामासे ऐसा कहकर बारंबार अनुनय-विनयके द्वारा उसे प्रसन्न करके आपके पुत्रने अपने सैनिकोंको आदेश देते हुए कहा—'अरे ! तुमलोग हाथोंमें बाण लिये चुपचाप बैठे क्यों हो ? मेरे शत्रुओंपर टूट पड़ो और उन्हें मार डालो'॥

इति श्रीमहाभारते कर्णपर्वणि अश्वत्थामवाक्येऽष्टाशीति तमोऽध्यायः ॥ ८८ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत कर्णपर्वमें अश्वत्थामाका वचनविषयक अठासीवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ८८ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठके १२ श्लोक मिलाकर कुल ४६ श्लोक हैं)

एकोननवतितमोऽध्यायः

कर्ण और अर्जुनका भयंकर युद्ध और कौरव वीरोंका पलायन

संजय उवाच

तौ शङ्खभेरीनिनदे समृद्धे
समीयतुः श्वेतहयौ नराग्र्यौ ।
वैकर्तनः सूतपुत्रोऽर्जुनश्च
दुर्मन्त्रिते तव पुत्रस्य राजन् ॥ १ ॥

संजय कहते हैं—राजन् ! तदनन्तर आपकी कुमन्त्रणाके फलस्वरूप जब वहाँ शङ्ख और भेरियोंकी गम्भीर ध्वनि होने लगी, उस समय वहाँ श्वेत घोड़ोंवाले दोनों नरश्रेष्ठ वैकर्तन कर्ण और अर्जुन युद्धके लिये एक दूसरेकी ओर बढ़े ॥ १ ॥

(आशीविषावग्निमिवापधूमं
वैरं मुखाभ्यामभिनिःश्वसन्तौ ।
यशस्विनौ जज्वलतुर्मृधे तदा
घृतावसिक्ताविव हव्यवाहौ ॥)

वे दोनों यशस्वी वीर उस समय दो विषधर सर्पोंके समान लंबी साँस खींचकर मानो अपने मुखोंसे धूमरहित अग्निके सदृश वैरभाव प्रकट कर रहे थे। वे घीकी आहुतिसे प्रज्वलित हुई दो अग्नियोंकी भाँति युद्धभूमिमें देदीप्यमान होने लगे ॥

यथा गजौ हैमवतौ प्रभिन्नौ
प्रवृद्धदन्ताविव वासितार्थे ।
तथा समाजग्मतुरुग्रवीर्यौ
धनंजयश्चाधिरथिश्च वीरौ ॥ २ ॥

जैसे मदकी धारा बहानेवाले हिमाचलप्रदेशके बड़े-बड़े दाँतोंवाले दो हाथी किसी हथिनीके लिये लड़ रहे हों, उसी प्रकार भयंकर पराक्रमी वीर अर्जुन और कर्ण युद्धके लिये एक-दूसरेके सामने आये ॥ २ ॥

बलाहकेनेव महाबलाहको
यदृच्छया वा गिरिणा यथा गिरिः।
तथा धनुर्ज्यातलनेमिनिस्वनैः
समीयतुस्ताविषुवर्षवर्षिणौ ॥ ३ ॥

जैसे महान् मेघ किसी दूसरे मेघके साथ अथवा दैवेच्छासे एक पर्वत दूसरे पर्वतके साथ टक्कर लेनेके लिये उद्यत हो, उसी प्रकार धनुषकी प्रत्यञ्चा, हथेली तथा रथके पहियोंकी गम्भीर ध्वनिके साथ बाणोंकी वर्षा करते हुए वे दोनों वीर एक दूसरेके सामने आये ॥ ३ ॥

प्रवृद्धशृङ्गद्रुमवीरुदोषधी
प्रवृद्धनानाविधनिर्झरौकसौ ।
यथाचलौ वा चलितौ महाबलौ
तथा महास्त्रैरितरेतरं हतः ॥ ४ ॥

जिनके शिखर, वृक्ष, लता-गुल्म और ओषधि सभी विशाल एवं बढ़े हुए हों तथा जो नाना प्रकारके बड़े-बड़े झरनोंके उद्गमस्थान हों, ऐसे दो पर्वतोंके समान वे महाबली कर्ण और अर्जुन आगे बढ़कर अपने महान् अस्त्रोंद्वारा एक-दूसरेपर आघात करने लगे ॥ ४ ॥

स संनिपातस्तु तयोर्महानभूत्
सुरेशवैरोचनयोर्यथा पुरा।
शरैर्विनुन्नाङ्गनियन्तृवाहयोः
सुदुःसहोऽन्यैः कटुशोणितोदकः॥ ५ ॥

उन दोनोंका वह संग्राम वैसा ही महान् था, जैसा कि पूर्वकालमें इन्द्र और बलिका युद्ध हुआ था। बाणोंके आघातसे उन दोनोंके शरीर, सारथि और घोड़े क्षत-विक्षत हो गये थे और वहाँ कटु रक्तरूपी जलका प्रवाह बह रहा था। वह युद्ध दूसरोंके लिये अत्यन्त दुःसह था॥ ५॥

प्रभूतपद्मोत्पलमत्स्यकच्छपौ
महाह्रदौ पक्षिगणैरिवावृतौ।
सुसंनिकृष्टावनिलोद्धतौ यथा
तथा रथौ तौ ध्वजिनौ समीयतुः॥ ६ ॥

जैसे प्रचुर पद्म, उत्पल, मत्स्य और कच्छपोंसे युक्त तथा पक्षिसमूहोंसे आवृत दो अत्यन्त निकटवर्ती विशाल सरोवर वायुसे संचालित हो परस्पर मिल जायँ, उसी प्रकार ध्वजोंसे सुशोभित उनके वे दोनों रथ एक दूसरेसे भिड़ गये थे॥ ६॥

उभौ महेन्द्रस्य समानविक्रमा-
वुभौ महेन्द्रप्रतिमौ महारथौ।
महेन्द्रवज्रप्रतिमैश्च सायकै-
र्महेन्द्रवृत्राविव सम्प्रजघ्नतुः॥ ७ ॥

वे दोनों वीर इन्द्रके समान पराक्रमी और उन्हींके सदृश महारथी थे। इन्द्रके वज्रतुल्य बाणोंसे इन्द्र और वृत्रासुरके समान वे एक दूसरेको चोट पहुँचाने लगे॥ ७॥

सनागपत्त्यश्वरथे उभे बले
विचित्रवर्माभरणाम्बरायुधे।
चकम्पतुर्विस्मयनीयरूपे
वियद्गताश्चार्जुनकर्णसंयुगे॥ ८ ॥

विचित्र कवच, आभूषण, वस्त्र और आयुध धारण करनेवाली, हाथी, घोड़े, रथ और पैदलोंसहित उभय पक्षकी चतुरङ्गिणी सेनाएँ अर्जुन और कर्णके उस युद्धमें भयके कारण आश्चर्यजनक-रूपसे काँपने लगीं तथा आकाशवर्ती प्राणी भी भयसे थर्रा उठे॥ ८॥

भुजाः सवस्त्राङ्गुलयः समुच्छ्रिताः
ससिंहनादैर्हृषितैर्दिदृक्षुभिः।
यदर्जुनो मत्त इव द्विपो द्विपं
समभ्ययादाधिरथिं जिघांसया॥ ९ ॥

जैसे मतवाला हाथी किसी हाथीपर आक्रमण करता है, उसी प्रकार अर्जुन जब कर्णके वधकी इच्छासे उसपर धावा करने लगे, उस समय दर्शकोंने आनन्दित हो सिंहनाद करते हुए अपने हाथ ऊपर उठा दिये और अङ्गुलियोंमें वस्त्र लेकर उन्हें हिलाना आरम्भ किया॥ ९॥

(ततः कुरूणामथ सोमकानां
शब्दो महान् प्रादुरभूत् समन्तात्।
यदार्जुनं सूतपुत्रोऽपराह्णे
महाहवे शैलमिवाम्बुदोऽछेत्॥
तदैव चासीद् रथयोः समागमो
महारणे शोणितमांसकर्दमे॥)

जब महासमरमें अपराह्णके समय पर्वतपर जानेवाले मेघके समान सूतपुत्र कर्णने अर्जुनपर आक्रमण किया, उस समय कौरवों और सोमकोंका महान् कोलाहल सब ओर प्रकट होने लगा। उसी समय उन दोनों रथोंका संघर्ष आरम्भ हुआ। उस महायुद्धमें रक्त और मांसकी कीच जम गयी थी॥

उदक्रोशन् सोमकास्तत्र पार्थं
पुरःसराश्चार्जुन भिन्धि कर्णम्।
छिन्ध्यस्य मूर्धानमलं चिरेण
श्रद्धां च राज्याद् धृतराष्ट्रसूनोः॥ १० ॥

उस समय सोमकोंने आगे बढ़कर वहाँ कुन्तीकुमारसे पुकार-पुकारकर कहा—'अर्जुन! तुम कर्णको मार डालो। अब देर करनेकी आवश्यकता नहीं है। कर्णके मस्तक और दुर्योधनकी राज्य-प्राप्तिकी आशा दोनोंको एक साथ ही काट डालो'॥ १०॥

तथास्माकं बहवस्तत्र योधाः
कर्णं तथा याहि याहीत्यवोचन्।
जह्यर्जुनं कर्ण शरैः सुतीक्ष्णैः
पुनर्वनं यान्तु चिराय पार्थाः॥ ११ ॥

इसी प्रकार हमारे पक्षके बहुत-से योद्धा कर्णको प्रेरित करते हुए बोले—'कर्ण! आगे बढ़ो, आगे बढ़ो। अपने पैने बाणोंसे अर्जुनको मार डालो, जिससे कुन्तीके सभी पुत्र पुनः दीर्घकालके लिये वनमें चले जायँ'॥ ११॥

ततः कर्णः प्रथमं तत्र पार्थं
महेषुभिर्दशभिः प्रत्यविध्यत्।
तं चार्जुनः प्रत्यविद्ध्यच्छिताग्रैः
कक्षान्तरे दशभिः सम्प्रहस्य॥ १२ ॥

तदनन्तर वहाँ कर्णने पहले दस विशाल बाणोंद्वारा अर्जुनको बींध डाला, तब अर्जुनने भी हँसकर तीखी धारवाले दस बाणोंसे कर्णकी काँखमें प्रहार किया॥ १२॥

परस्परं तौ विशिखैः सुपुङ्खै-
स्ततक्षतुः सूतपुत्रोऽर्जुनश्च।
परस्परं तौ विभिदुर्विमर्दे
सुभीममभ्यापततुश्च हृष्टौ॥ १३ ॥

सूतपुत्र कर्ण और अर्जुन दोनों उस युद्धमें अत्यन्त हर्षमें भरकर सुन्दर पङ्खवाले बाणोंद्वारा एक दूसरेको क्षत-विक्षत करने लगे। वे परस्पर क्षति पहुँचाते और भयानक आक्रमण करते थे॥ १३॥

ततोऽर्जुनः प्रासृजदुग्रधन्वा
भुजावुभौ गाण्डिवं चानुमृज्य।

नाराचनालीकवराहकर्णान्
क्षुरांस्तथा साञ्जलिकार्धचन्द्रान् ॥ १४ ॥

तत्पश्चात् भयंकर धनुषवाले अर्जुनने अपनी दोनों भुजाओं तथा गाण्डीव धनुषको पोंछकर नाराच, नालीक, वराहकर्ण, क्षुर, अञ्जलिक तथा अर्धचन्द्र आदि बाणोंका प्रहार आरम्भ किया ॥ १४ ॥

ते सर्वतः समकीर्यन्त राजन्
पार्थेषवः कर्णरथं विशन्तः ।
अवाङ्मुखाः पक्षिगणा दिनान्ते
विशन्ति केतार्थमिवाशु वृक्षम् ॥ १५ ॥

राजन्! वे अर्जुनके बाण कर्णके रथमें घुसकर सब ओर बिखर जाते थे। ठीक उसी तरह, जैसे संध्याके समय पक्षियोंके झुंड बसेरा लेनेके लिये नीचे मुख किये शीघ्र ही किसी वृक्षपर जा बैठते हैं ॥ १५ ॥

यानर्जुनः सभ्रुकुटीकटाक्षं
कर्णाय राजन्नसृजज्जितारिः ।
तान् सायकैर्ग्रसते सूतपुत्रः
क्षिप्तान् क्षिप्तान् पाण्डवस्याशु संघान् ॥ १६ ॥

नरेश्वर! शत्रुविजयी अर्जुन भौंहें टेढ़ी करके कटाक्षपूर्वक देखते हुए कर्णपर जिन-जिन बाणोंका प्रहार करते थे, पाण्डुपुत्र अर्जुनके चलाये हुए उन सभी बाण-समूहोंको सूतपुत्र कर्ण शीघ्र ही नष्ट कर देता था ॥ १६ ॥

ततोऽस्त्रमाग्नेयममित्रसाधनं
मुमोच कर्णाय महेन्द्रसूनुः ।
भूम्यन्तरिक्षे च दिशोऽर्कमार्गं
प्रावृत्य देहोऽस्य बभूव दीप्तः ॥ १७ ॥

तब इन्द्रकुमार अर्जुनने कर्णपर शत्रुनाशक आग्नेयास्त्रका प्रयोग किया। उस आग्नेयास्त्रका स्वरूप पृथ्वी, आकाश, दिशा तथा सूर्यके मार्गको व्याप्त करके वहाँ प्रज्वलित हो उठा ॥ १७ ॥

योधाश्च सर्वे ज्वलिताम्बरा भृशं
प्रदुद्रुवुस्तत्र विदग्धवस्त्राः ।
शब्दश्च घोरोऽतिवभूव तत्र
यथा वने वेणुवनस्य दह्यतः ॥ १८ ॥

इससे वहाँ समस्त योद्धाओंके वस्त्र जलने लगे। कपड़े जल जानेसे वे सब-के-सब वहाँसे भाग चले। जैसे जंगलके बीच बाँसके वनमें आग लगनेपर जोर-जोरसे चटकनेकी आवाज होती है, उसी प्रकार आगकी लपटमें झुलसते हुए सैनिकोंका अत्यन्त भयंकर आर्तनाद होने लगा ॥ १८ ॥

तद् वीक्ष्य कर्णो ज्वलनास्त्रमुद्यतं
स वारुणं तत्प्रशमार्थमाहवे ।
समुत्सृजन् सूतसुतः प्रतापवान्
स तेन वह्निं शमयाम्बभूव ॥ १९ ॥

प्रतापी सूतपुत्र कर्णने उस आग्नेयास्त्रको उद्दीप्त हुआ देखकर रणक्षेत्रमें उसकी शान्तिके लिये वारुणास्त्रका प्रयोग किया और उसके द्वारा उस आगको बुझा दिया ॥ १९ ॥

बलाहकौघश्च दिशस्तरस्वी
चकार सर्वास्तिमिरेण संवृताः ।
ततो धरित्रीधरतुल्यरोधसः
समन्ततो वै परिवार्य वारिणा ॥ २० ॥

फिर तो बड़े वेगसे मेघोंकी घटा घिर आयी और उसने सम्पूर्ण दिशाओंको अन्धकारसे आच्छादित कर दिया। दिशाओंका अन्तिम भाग काले पर्वतके समान दिखायी देने लगा। मेघोंकी घटाओंने वहाँका सारा प्रदेश जलसे आप्लावित कर दिया था ॥ २० ॥

तैश्चातिवेगात् स तथाविधोऽपि
नीतः शमं वह्निरतिप्रचण्डः ।
बलाहकैरेव दिगन्तराणि
व्याप्तानि सर्वाणि यथा नभश्च ॥ २१ ॥

उन मेघोंने वहाँ पूर्वोक्तरूपसे बढ़ी हुई अति प्रचण्ड आगको बड़े वेगसे बुझा दिया। फिर समस्त दिशाओं और आकाशमें वे ही छा गये ॥ २१ ॥

तथा च सर्वास्तिमिरेण वै दिशो
मेघैर्वृता न प्रदृश्येत किंचित् ।
अथापोवाह्याभ्रसंघान् समस्तान्
वायव्यास्त्रेणापततः स कर्णात् ॥ २२ ॥
ततोऽप्यस्त्रं दयितं देवराज्ञः
प्रादुश्चक्रे वज्रमतिप्रभावम् ।
गाण्डीवं ज्यां विशिखांश्चानुमन्त्र्य
धनंजयः शत्रुभिरप्रधृष्यः ॥ २३ ॥

मेघोंसे घिरकर सारी दिशाएँ अन्धकाराच्छन्न हो गयीं; अतः कोई भी वस्तु दिखायी नहीं देती थी। तदनन्तर कर्णकी ओरसे आये हुए सम्पूर्ण मेघसमूहोंको वायव्यास्त्रसे छिन्न-भिन्न करके शत्रुओंके लिये अजेय अर्जुनने गाण्डीव धनुष, उसकी प्रत्यञ्चा तथा बाणोंको अभिमन्त्रित करके अत्यन्त प्रभावशाली वज्रास्त्रको प्रकट किया, जो देवराज इन्द्रका प्रिय अस्त्र है ॥ २२-२३ ॥

ततः क्षुरप्राञ्जलिकार्धचन्द्रा
नालीकनाराचवराहकर्णाः ।
गाण्डीवतः प्रादुरासन् सुतीक्ष्णाः
सहस्रशो वज्रसमानवेगाः ॥ २४ ॥

उस गाण्डीव धनुषसे क्षुरप्र, अञ्जलिक, अर्धचन्द्र, नालीक, नाराच और वराहकर्ण आदि तीखे अस्त्र हजारोंकी संख्यामें छूटने लगे। वे सभी अस्त्र वज्रके समान वेगशाली थे ॥ २४ ॥

ते कर्णमासाद्य महाप्रभावाः
सुतेजना गार्ध्रपत्राः सुवेगाः ।

गात्रेषु सर्वेषु हयेषु चापि
शरासने युगचक्रे ध्वजे च ॥ २५ ॥

वे महाप्रभावशाली, गीधके पंखोंसे युक्त, तेज धारवाले और अतिशय वेगवान् अस्त्र कर्णके पास पहुँचकर उसके समस्त अङ्गोंमें, घोड़ोंपर, धनुषमें तथा रथके जूओं, पहियों और ध्वजोंमें जा लगे ॥ २५ ॥

निर्भिद्य तूर्णं विविशुः सुतीक्ष्णा-
स्तार्क्ष्यत्रस्ता भूमिमिवोरगास्ते।
शराचिताङ्गो रुधिरार्द्रगात्रः
कर्णस्तदा रोषविवृत्तनेत्रः ॥ २६ ॥

जैसे गरुड़से डरे हुए सर्प धरती छेदकर उसके भीतर घुस जाते हैं, उसी प्रकार वे तीखे अस्त्र उपर्युक्त वस्तुओंको विदीर्ण कर शीघ्र ही उनके भीतर धँस गये। कर्णके सारे अङ्ग बाणोंसे भर गये। सम्पूर्ण शरीर रक्तसे नहा उठा। इससे उसके नेत्र उस समय क्रोधसे घूमने लगे ॥ २६ ॥

दृढज्यमानाम्य समुद्रघोषं
प्रादुश्चक्रे भार्गवास्त्रं महात्मा।
महेन्द्रशस्त्राभिमुखान् विमुक्तां-
श्छित्त्वा कर्णः पाण्डवस्येषुसंघान्॥२७॥
तस्यास्त्रमस्त्रेण निहत्य सोऽथ
जघान संख्ये रथनागपत्तीन्।
अमृष्यमाणश्च महेन्द्रकर्मा
महारणे भार्गवास्त्रप्रतापात् ॥ २८ ॥

उस महामनस्वी वीरने अपने धनुषको जिसकी प्रत्यञ्चा सुदृढ़ थी, झुकाकर समुद्रके समान गम्भीर गर्जना करनेवाले भार्गवास्त्रको प्रकट किया और अर्जुनके महेन्द्रास्त्रसे प्रकट हुए बाण-समूहोंके टुकड़े-टुकड़े करके अपने अस्त्रसे उनके अस्त्रको दबाकर युद्धस्थलमें रथों, हाथियों और पैदल-सैनिकोंका संहार कर डाला। अमर्षशील कर्ण उस महासमरमें भार्गवास्त्रके प्रतापसे देवराज इन्द्रके समान पराक्रम प्रकट कर रहा था ॥

पञ्चालानां प्रवरांश्चापि योधान्
क्रोधाविष्टः सूतपुत्रस्तरस्वी।
बाणैर्विव्याधाहवे सुप्रमुक्तैः
शिलाशितै रुक्मपुङ्खैः प्रसह्य ॥ २९ ॥

क्रोधमें भरे हुए वेगशाली सूतपुत्र कर्णने अच्छी तरह छोड़े गये और शिलापर तेज किये हुए सुवर्णमय पंखवाले बाणोंद्वारा युद्धस्थलमें हठपूर्वक मुख्य-मुख्य पाञ्चालयोद्धाओंको घायल कर दिया ॥ २९ ॥

ततः पञ्चालाः सोमकाश्चापि राजन्
कर्णेनाजौ पीड्यमानाः शरौघैः।
क्रोधाविष्टा विव्यधुस्तं समन्ताद्
तीक्ष्णैर्बाणैः सूतपुत्रं समेताः ॥ ३० ॥

राजन्! समराङ्गणमें कर्णके बाणसमूहोंसे पीड़ित होते हुए पाञ्चाल और सोमक योद्धा भी क्रोधपूर्वक एकत्र हो अप पैने बाणोंसे सूतपुत्र कर्णको बींधने लगे ॥ ३० ॥

तान् सूतपुत्रो निजघान बाणैः
पञ्चालानां रथनागाश्वसंघान्।
अभ्यर्दयद् बाणगणैः प्रसह्य
विद्ध्वा हर्षात् सङ्गरे सूतपुत्रः॥ ३१

किंतु उस रणक्षेत्रमें सूतपुत्र कर्णने बाणसमूहोंद्वा हर्ष और उत्साहके साथ पाञ्चालोंके रथियों, हाथीसवा और घुड़सवारोंको घायल करके बड़ी पीड़ा दी और उन बाणोंसे मार डाला ॥ ३१ ॥

ते भिन्नदेहा व्यसवो निपेतुः
कर्णेषुभिर्भूमितले स्वनन्तः।
क्रुद्धेन सिंहेन यथेभयूथा
महावने भीमबलेन तद्वत् ॥ ३२

कर्णके बाणोंसे उनके शरीरोंके टुकड़े-टुकड़े हो गये औ वे प्राणशून्य होकर कराहते हुए पृथ्वीपर गिर पड़े। जै विशाल वनमें भयानक बलशाली और क्रोधमें भरे हुए सिंह विदीर्ण किये गये हाथियोंके झुंड धराशायी हो जाते हैं, वै ही दशा उन पाञ्चालयोद्धाओंकी भी हुई ॥ ३२ ॥

पञ्चालानां प्रवरान् संनिहत्य
प्रसह्य योधानखिलानदीनः।
ततः स राजन् विरराज कर्णो
यथाम्बरे भास्कर उग्ररश्मिः॥ ३३

राजन्! पाञ्चालोंके समस्त श्रेष्ठ योद्धाओंका बलपूर्व वध करके उदार वीर कर्ण आकाशमें प्रचण्ड किरणोंवा सूर्यके समान प्रकाशित होने लगा ॥ ३३ ॥

कर्णस्य मत्वा तु जयं त्वदीयाः
परां मुदं सिंहनादांश्च चक्रुः।
सर्वे ह्यमन्यन्त भृशाहतौ च
कर्णेन कृष्णाविति कौरवेन्द्र ॥ ३४

उस समय आपके सैनिक कर्णकी विजय समझकर ब प्रसन्न हुए और सिंहनाद करने लगे। कौरवेन्द्र! उन सब यही समझा कि कर्णने श्रीकृष्ण और अर्जुनको बहुत घाय कर दिया है ॥ ३४ ॥

तत् तादृशं प्रेक्ष्य महारथस्य
कर्णस्य वीर्यं च परैरसह्यम्।
दृष्ट्वा च कर्णेन धनंजयस्य
तथाऽऽजिमध्ये निहतं तदस्त्रम् ॥३५
ततस्त्वमर्षी क्रोधसंदीप्तनेत्रो
वातात्मजः पाणिना पाणिमार्च्छत्।
भीमोऽब्रवीदर्जुनं सत्यसंध-
ममर्षितो निःश्वसञ्जातमन्युः ॥ ३६

महारथी कर्णका वह शत्रुओंके लिये असह्य वैसा परा

दृष्टिपथमें लाकर तथा रणभूमिमें कर्णद्वारा अर्जुनके उस अस्त्रको नष्ट हुआ देखकर अमर्षशील वायुपुत्र भीमसेन हाथ-से-हाथ मलने लगे । उनके नेत्र क्रोधसे प्रज्वलित हो उठे । हृदयमें अमर्ष और क्रोधका प्रादुर्भाव हो गया; अतः वे सत्यप्रतिज्ञ अर्जुनसे इस प्रकार बोले—॥ ३५-३६ ॥

कथं नु पापोऽयमपेतधर्मः
सूतात्मजः समरेऽद्य प्रसह्य ।
पञ्चालानां योधमुख्याननेकान्
निजघ्निवांस्तव जिष्णो समक्षम् ॥ ३७ ॥

'विजयी अर्जुन ! आज समराङ्गणमें धर्मसे दूर रहनेवाले इस पापी सूतपुत्र कर्णने तुम्हारी आँखोंके सामने अनेक प्रमुख पाञ्चालयोद्धाओंका वध कैसे कर डाला ? ॥ ३७ ॥

पूर्वं देवैरजितं कालकेयैः
साक्षात् स्थाणोर्बाहुसंस्पर्शमेत्य ।
कथं नु त्वां सूतपुत्रः किरीटि-
न्नथेषुभिर्दशभिः प्रागविद्ध्यत् ॥ ३८ ॥

'किरीटधारी अर्जुन ! तुम्हें तो पूर्वकालमें देवता भी नहीं जीत सके थे । कालकेय दानव भी नहीं परास्त कर सके थे । तुम साक्षात् भगवान् शङ्करकी भुजाओंसे टक्कर ले चुके हो तो भी इस सूतपुत्रने तुम्हें पहले ही दस बाण मारकर कैसे बींध डाला ? ॥ ३८ ॥

त्वया क्षिप्तांश्चाग्रसद् बाणसंघा-
नाश्चर्यमेतत् प्रतिभाति मेऽद्य ।
कृष्णापरिक्लेशमनुस्मर त्वं
यथाब्रवीत् षण्ढतिलान् स्म वाचः ॥ ३९ ॥
रूक्षाः सुतीक्ष्णाश्च हि पापबुद्धिः
सूतात्मजोऽयं गतभीर्दुरात्मा ।
संस्मृत्य सर्वं तदिहाद्य पापं
जह्याशु कर्णं युधि सव्यसाचिन् ॥ ४० ॥

'तुम्हारे चलाये हुए बाणसमूहोंको इसने नष्ट कर दिया, यह तो आज मुझे बड़े आश्चर्यकी बात जान पड़ती है । सव्यसाची अर्जुन ! कौरव-सभामें द्रौपदीको दिये गये उन क्लेशोंको तो याद करो । इस पापबुद्धि दुरात्मा सूतपुत्रने जो निर्भय होकर हमलोगोंको थोथे तिलोंके समान नपुंसक बताया था और बहुत-सी अत्यन्त तीखी एवं रूखी बातें सुनायी थीं, उन सबको यहाँ याद करके तुम पापी कर्णको शीघ्र ही युद्धमें मार डालो ॥ ३९-४० ॥

कस्मादुपेक्षां कुरुषे किरीटि-
न्नुपेक्षितुं नायमिहाद्य कालः ।
यया धृत्या सर्वभूतान्यजैषी-
र्ग्रासं ददत् खाण्डवे पावकाय ॥ ४१ ॥
तया धृत्या सूतपुत्रं जहि त्व-
महं चैनं गदया पोथयिष्ये ।

'किरीटधारी पार्थ ! तुम क्यों इसकी उपेक्षा करते हो ? आज यहाँ यह उपेक्षा करनेका समय नहीं है । तुमने जिस धैर्यसे खाण्डववनमें अग्निदेवको ग्रास समर्पित करते हुए समस्त प्राणियोंपर विजय पायी थी, उसी धैर्यके द्वारा सूतपुत्रको मार डालो । फिर मैं भी इसे अपनी गदासे कुचल डालूँगा' ॥ ४१½ ॥

अथाब्रवीद् वासुदेवोऽपि पार्थं
दृष्ट्वा रथेषून् प्रतिहन्यमानान् ॥ ४२ ॥
अमीमृदत् सर्वथा तेऽद्य कर्णो
ह्यस्त्रैरस्त्रं किमिदं भो किरीटिन् ।
स वीर किं मुह्यसि नावधत्से
नदन्त्येते कुरवः सम्प्रहृष्टाः ॥ ४३ ॥

तदनन्तर वसुदेवनन्दन भगवान् श्रीकृष्णने भी अर्जुनके रथसम्बन्धी बाणोंको कर्णके द्वारा नष्ट होते देख उनसे इस प्रकार कहा 'किरीटधारी अर्जुन ! यह क्या बात है ? तुमने अबतक जितने बार प्रहार किये हैं, उन सबमें कर्णने तुम्हारे अस्त्रको अपने अस्त्रोंद्वारा नष्ट कर दिया है । वीर ! आज तुमपर कैसा मोह छा रहा है ? तुम सावधान क्यों नहीं होते ? देखो, ये तुम्हारे शत्रु कौरव अत्यन्त हर्षमें भरकर सिंहनाद कर रहे हैं ! ॥ ४२-४३ ॥

कर्णं पुरस्कृत्य विदुर्हि सर्वे
तवास्त्रमस्त्रैर्विनिपात्यमानम् ।
यया धृत्या निहतं तामसास्त्रं
युगे युगे राक्षसाश्चापि घोराः ॥ ४४ ॥
दम्भोद्भवाश्चासुराश्चाहवेषु
तया धृत्या जहि कर्णं त्वमद्य ।

'कर्णको आगे करके सब लोग यही समझ रहे हैं कि तुम्हारा अस्त्र उसके अस्त्रोंद्वारा नष्ट होता जा रहा है । तुमने जिस धैर्यसे प्रत्येक युगमें घोर राक्षसोंका, उनके मायामय तामस अस्त्रका तथा दम्भोद्भव नामवाले असुरोंका युद्धस्थलोंमें विनाश किया है, उसी धैर्यसे आज तुम कर्णको भी मार डालो ॥ ४४½ ॥

अनेन चास्य क्षुरनेमिनाद्य
संछिन्धि मूर्धानमरेः प्रसह्य ॥ ४५ ॥
मया विसृष्टेन सुदर्शनेन
वज्रेण शक्रो नमुचेरिवारेः ।

'तुम मेरे दिये हुए इस सुदर्शनचक्रके द्वारा जिसके नेमिभागमें (किनारे) क्षुर लगे हुए हैं, आज बलपूर्वक शत्रुका मस्तक काट डालो । जैसे इन्द्रने वज्रके द्वारा अपने शत्रु नमुचिका सिर काट दिया था ॥ ४५½ ॥

किरातरूपी भगवान् सुधृत्या
त्वया महात्मा परितोषितोऽभूत् ॥ ४६ ॥
तां त्वं पुनर्वीर धृतिं गृहीत्वा
सहानुबन्धं जहि सूतपुत्रम् ।

'वीर ! तुमने अपने जिस उत्तम धैर्यके द्वारा किरातरूपधारी महात्मा भगवान् शङ्करको संतुष्ट किया था, उसी धैर्यको पुनः अपनाकर सगे-सम्बन्धियोंसहित सूतपुत्रका वध कर डालो ॥

ततो महीं सागरमेखलां त्वं
सपत्तनां ग्रामवतीं समृद्धाम् ॥ ४७ ॥
प्रयच्छ राज्ञे निहतारिसंघां
यशश्च पार्थातुलमाप्नुहि त्वम् ।

'पार्थ ! तत्पश्चात् समुद्रसे घिरी हुई' नगरों और गाँवोंसे युक्त तथा शत्रुसमुदायसे शून्य यह समृद्धिशालिनी पृथ्वी राजा युधिष्ठिरको दे दो और अनुपम यश प्राप्त करो' ॥४७½॥

स एवमुक्तोऽतिबलो महात्मा
चकार बुद्धिं हि वधाय सौतेः ॥ ४८ ॥
स चोदितो भीमजनार्दनाभ्यां
स्मृत्वा तथाऽऽत्मानमवेक्ष्य सर्वम् ।
इहात्मनश्चागमने विदित्वा
प्रयोजनं केशवमित्युवाच ॥ ४९ ॥

भीमसेन और श्रीकृष्णके इस प्रकार प्रेरणा देने और कहनेपर अत्यन्त बलशाली महात्मा अर्जुनने सूतपुत्रके वधका विचार किया । उन्होंने अपने स्वरूपका स्मरण करके सब बातोंपर दृष्टिपात किया और इस युद्धभूमिमें अपने आगमनके प्रयोजनको समझकर श्रीकृष्णसे इस प्रकार कहा—॥४८-४९॥

प्रादुष्करोम्येष महास्त्रमुग्रं
शिवाय लोकस्य वधाय सौतेः ।
तन्मेऽनुजानातु भवान् सुराश्च
ब्रह्मा भवो वेदविदश्च सर्वे ॥ ५० ॥

'प्रभो ! मैं जगत्के कल्याण और सूतपुत्रके वधके लिये अब एक महान् एवं भयंकर अस्त्र प्रकट कर रहा हूँ । इसके लिये आप, ब्रह्माजी, शङ्करजी, समस्त देवता तथा सम्पूर्ण ब्रह्मवेत्ता मुझे आज्ञा दें' ॥ ५० ॥

इत्युच्य देवं स तु सव्यसाची
नमस्कृत्वा ब्रह्मणे सोऽमितात्मा ।
तदुत्तमं ब्राह्ममसह्यमस्त्रं
प्रादुश्चक्रे मनसा यद् विधेयम् ॥ ५१ ॥

भगवान् श्रीकृष्णसे ऐसा कहकर अमितात्मा सव्यसाची अर्जुनने ब्रह्माजीको नमस्कार करके जिसका मनसे ही प्रयोग किया जाता है, उस असह्य एवं उत्तम ब्रह्मास्त्रको प्रकट किया ॥ ५१ ॥

तदस्य हत्वा विरराज कर्णो
मुक्त्वा शरान् मेघ इवाम्बुधाराः ।
समीक्ष्य कर्णेन किरीटिनस्तु
तथाऽऽजिमध्ये निहतं तदस्त्रम् ॥ ५२ ॥
ततोऽमर्षी बलवान् क्रोधदीप्तो
भीमोऽब्रवीदर्जुनं सत्यसंधम् ।

परंतु जैसे मेघ जलकी धारा गिराता है, उसी प्रकार बाणोंकी बौछारसे कर्ण उस अस्त्रको नष्ट करके बड़ी शोभा पाने लगा । रणभूमिमें किरीटधारी अर्जुनके उस अस्त्रको कर्णद्वारा नष्ट हुआ देख अमर्षशील बलवान् भीमसेन पुनः क्रोधसे जल उठे और सत्यप्रतिज्ञ अर्जुनसे इस प्रकार बोले—॥

ननु त्वाहुर्वेदितारं महास्त्रं
ब्राह्मं विधेयं परमं जनास्तत् ॥ ५३ ॥
तस्मादन्यद् योजय सव्यसाचि-
न्निति स्मोक्तोऽयोजयत् सव्यसाची ।
ततो दिशः प्रदिशश्चापि सर्वाः
समावृणोत् सायकैर्भूरितेजाः ॥ ५४ ॥
गाण्डीवमुक्तैर्भुजगैरिवोग्रै-
र्दिवाकरांशुप्रतिमैर्ज्वलद्भिः ।

'सव्यसाचिन् ! सब लोग कहते हैं कि तुम परम उत्तम एवं मनके द्वारा प्रयोग करनेयोग्य महान् ब्रह्मास्त्रके ज्ञाता हो; इसलिये तुम दूसरे किसी श्रेष्ठ अस्त्रका प्रयोग करो ।' उनके ऐसा कहनेपर सव्यसाची अर्जुनने दूसरे दिव्यास्त्रका प्रयोग किया । इससे महातेजस्वी अर्जुनने अपने गाण्डीव धनुषसे छूटे हुए सर्पोंके समान भयंकर और सूर्य-किरणोंके तुल्य तेजस्वी बाणोंद्वारा सम्पूर्ण दिशाओंको आच्छादित कर दिया, कोना-कोना ढक दिया ॥ ५३-५४½ ॥

सृष्टास्तु बाणा भरतर्षभेण
शतं शतानीव सुवर्णपुङ्खाः ॥ ५५ ॥
प्राच्छादयन् कर्णरथं क्षणेन
युगान्तवह्न्यर्ककरप्रकाशाः ।

भरतश्रेष्ठ अर्जुनके छोड़े हुए प्रलयकालीन सूर्य और अग्निकी किरणोंके समान प्रकाशित होनेवाले दस हजार बाणोंने क्षणभरमें कर्णके रथको आच्छादित कर दिया ॥

ततश्च शूलानि परश्वधानि
चक्राणि नाराचशतानि चैव ॥ ५६ ॥
निश्चक्रमुर्घोरतराणि योधा-
स्ततो ह्यहन्यन्त समन्ततोऽपि ।

उस दिव्यास्त्रसे शूल, फरसे, चक्र और सैकड़ों नाराच आदि घोरतर अस्त्र-शस्त्र प्रकट होने लगे, जिनसे सब ओरके योद्धाओंका विनाश होने लगा ॥ ५६½ ॥

छिन्नं शिरः कस्यचिदाजिमध्ये
पपात योधस्य परस्य कायात् ॥ ५७ ॥
भयेन सोऽप्याशु पपात भूमा-
वन्यः प्रणष्टः पतितं विलोक्य ।
अन्यस्य सासिर्निपपात कृत्तो
योधस्य बाहुः करिहस्ततुल्यः ॥ ५८ ॥

उस युद्धस्थलमें किसी शत्रुपक्षीय योद्धाका सिर धड़से कटकर धरतीपर गिर पड़ा । उसे देखकर दूसरा भी भयके

मारे धराशायी हो गया। उसको गिरा हुआ देख तीसरा योद्धा वहाँसे भाग खड़ा हुआ। किसी दूसरे योद्धाकी हाथीकी सूँड़के समान मोटी दाहिनी बाँह तलवारसहित कटकर गिर पड़ी ॥ ५७-५८ ॥

अन्यस्य सव्यः सह वर्मणा च
क्षुरप्रकृत्तः पतितो धरण्याम्।
एवं समस्तानपि योधमुख्यान्
विध्वंसयामास किरीटमाली ॥ ५९ ॥

दूसरेकी बायीं भुजा क्षुरोंद्वारा कवचके साथ कटकर भूमिपर गिर गयी। इस प्रकार किरीटधारी अर्जुनने शत्रुपक्षके सभी मुख्य-मुख्य योद्धाओंका संहार कर डाला ॥ ५९ ॥

शरैः शरीरान्तकरैः सुघोरै-
र्दौर्योधनं सैन्यमशेषमेव।
वैकर्तनेनापि तथाऽऽजिमध्ये
सहस्रशो बाणगणा विसृष्टाः ॥ ६० ॥

उन्होंने शरीरका अन्त कर देनेवाले घोर बाणोंद्वारा दुर्योधनकी सारी सेनाका विध्वंस कर दिया। इसी प्रकार वैकर्तन कर्णने भी समराङ्गणमें सहस्रों बाणसमूहोंकी वर्षा की ॥

ते घोषिणः पाण्डवमभ्युपेयुः
पर्जन्यमुक्ता इव वारिधाराः।
ततः स कृष्णं च किरीटिनं च
वृकोदरं चाप्रतिमप्रभावः ॥ ६१ ॥
त्रिभिस्त्रिभिर्भीमबलो निहत्य
ननाद घोरं महता स्वरेण।

वे बाण मेघोंकी बरसायी हुई जलधाराओंके समान शब्द करते हुए पाण्डुपुत्र अर्जुनको जा लगे। तत्पश्चात् अप्रतिम प्रभावशाली और भयंकर बलवान् कर्णने तीन-तीन बाणोंसे श्रीकृष्ण, अर्जुन और भीमसेनको घायल करके बड़े जोरसे भयानक गर्जना की ॥ ६१½ ॥

स कर्णबाणाभिहतः किरीटी
भीमं तथा प्रेक्ष्य जनार्दनं च ॥ ६२ ॥
अमृष्यमाणः पुनरेव पार्थः
शरान् दशाष्टौ च समुद्बबर्ह।

कर्णके बाणोंसे घायल हुए किरीटधारी कुन्तीकुमार अर्जुन भीमसेन तथा भगवान् श्रीकृष्णको भी उसी प्रकार क्षत-विक्षत देखकर सहन न कर सके; अतः उन्होंने अपने तरकससे पुनः अठारह बाण निकाले ॥ ६२½ ॥

स केतुमेकेन शरेण विद्ध्वा
शल्यं चतुर्भिस्त्रिभिरेव कर्णम् ॥ ६३ ॥
ततः स मुक्तैर्दशभिर्जघान
सभापतिं काञ्चनवर्मनद्धम्।

एक बाणसे कर्णकी ध्वजाको बींधकर अर्जुनने चार बाणोंसे शल्यको और तीनसे कर्णको घायल कर दिया। तत्पश्चात् उन्होंने दस बाण छोड़कर सुवर्णमय कवच धारण करनेवाले सभापति नामक राजकुमारको मार डाला ६३½

स राजपुत्रो विशिरा विबाहु-
र्विवाजिसूतो विधनुर्विकेतुः ॥ ६४ ॥
हतो रथाग्रादपतत् स रुग्णः
परश्वधैः शाल इवावकृत्तः।

वह राजकुमार मस्तक, भुजा, घोड़े, सारथि, धनुष और ध्वजसे रहित हो मरकर रथके अग्रभागसे नीचे गिर पड़ा, मानो फरसोंसे काटा गया शालवृक्ष टूटकर धराशायी हो गया हो ॥ ६४½ ॥

पुनश्च कर्णं त्रिभिरष्टभिश्च
द्वाभ्यां चतुर्भिर्दशभिश्च विद्ध्वा ॥ ६५ ॥
चतुःशतान् द्विरदान् सायुधान् वै
हत्वा रथानष्टशतान्जघान।

इसके बाद अर्जुनने पुनः तीन, आठ, दो, चार और दस बाणोंद्वारा कर्णको बारंबार घायल करके अस्त्र-शस्त्रधारी सवारोंसहित चार सौ हाथियोंको मारकर आठ सौ रथोंको नष्ट कर दिया ॥ ६५½ ॥

सहस्रशोऽश्वांश्च पुनः स सादी-
नष्टौ सहस्राणि च पत्तिवीरान् ॥ ६६ ॥
कर्णं ससूतं सरथं सकेतु-
मदृश्यमञ्जोगतिभिः प्रचक्रे।

तदनन्तर सवारोंसहित हजारों घोड़ों और सहस्रों पैदल वीरोंको मारकर रथ, सारथि और ध्वजसहित कर्णको भी शीघ्रगामी बाणोंद्वारा ढककर अदृश्य कर दिया ॥ ६६½ ॥

अथाक्रोशन् कुरवो वध्यमाना
धनंजयेनाधिरथिं समन्तात् ॥ ६७ ॥
मुञ्चाभिविद्ध्यर्जुनमाशु कर्ण
बाणैः पुरा हन्ति कुरून् समग्रान्।

अर्जुनकी मार खाते हुए कौरवसैनिक चारों ओरसे कर्णको पुकारने लगे—'कर्ण! शीघ्र बाण छोड़ो और अर्जुनको घायल कर डालो। कहीं ऐसा न हो कि ये पहले ही समस्त कौरवोंका वध कर डालें' ॥ ६७½ ॥

स चोदितः सर्वयत्नेन कर्णो
मुमोच बाणान् सुबहूनभीक्ष्णम् ॥ ६८ ॥
ते पाण्डुपञ्चालगणान् निजघ्नु-
र्मर्मच्छिदः शोणितपांसुदिग्धाः।

इस प्रकार प्रेरणा मिलनेपर कर्णने सारी शक्ति लगाकर बारंबार बहुत-से बाण छोड़े। रक्त और धूलमें सने हुए वे मर्मभेदी बाण पाण्डव और पाञ्चालोंका विनाश करने लगे ६८½

तावुत्तमौ सर्वधनुर्धराणां
महाबलौ सर्वसपत्नसाहौ ॥ ६९ ॥
निजघ्नतुश्चाहितसैन्यमुग्र-
मन्योन्यमप्यस्त्रविदौ महास्त्रैः।

ये दोनों सम्पूर्ण धनुर्धरोंमें श्रेष्ठ, महाबली, सारे शत्रुओं-का सामना करनेमें समर्थ और अस्त्रविद्याके विद्वान् थे; अतः भयंकर शत्रुसेनाको तथा आपसमें भी एक दूसरेको महान् अस्त्रोंद्वारा घायल करने लगे ॥ ६९½ ॥

अथोपयातस्त्वरितो दिदृक्षु-
र्मन्त्रौषधीभिर्निरुजो विशल्यः ॥ ७० ॥
कृतः सुहृद्भिर्भिषजां वरिष्ठै-
र्युधिष्ठिरस्तत्र सुवर्णवर्मा ।

तत्पश्चात् शिविरमें हितैषी वैद्यशिरोमणियोंने मन्त्र और ओषधियोंद्वारा राजा युधिष्ठिरके शरीरसे बाण निकालकर उन्हें रोगरहित (स्वस्थ) कर दिया; इसलिये वे बड़ी उतावलीके साथ सुवर्णमय कवच धारण करके वहाँ युद्ध देखनेके लिये आये ॥ ७०½ ॥

तथोपयातं युधि धर्मराजं
दृष्ट्वा मुदा सर्वभूतान्यनन्दन् ॥ ७१ ॥
राहोर्विमुक्तं विमलं समग्रं
चन्द्रं यथैवाभ्युदितं तथैव ।

धर्मराजको युद्धस्थलमें आया हुआ देख समस्त प्राणी बड़ी प्रसन्नताके साथ उनका अभिनन्दन करने लगे। ठीक उसी तरह, जैसे राहुके ग्रहणसे छूटे हुए निर्मल एवं सम्पूर्ण चन्द्रमाको उदित देख सब लोग बड़े प्रसन्न होते हैं ॥७१½॥

दृष्ट्वा तु मुख्यावथ युध्यमानौ
दिदृक्षवः शूरवरावरिघ्नौ ॥ ७२ ॥
कर्णं च पार्थं च विलोकयन्तः
खस्था महीस्थाश्च जनावतस्थुः ।

परस्पर जूझते हुए उन दोनों शत्रुनाशक एवं प्रधान शूरवीर कर्ण और अर्जुनको देखकर उन्हींकी ओर दृष्टि लगाये आकाश और भूतलमें ठहरे हुए सभी दर्शक अपनी-अपनी जगह स्थिरभावसे खड़े रहे ॥ ७२½ ॥

स कार्मुकज्यातलसंनिपातः
सुमुक्तबाणस्तुमुलो बभूव ॥ ७३ ॥
घ्नतोस्तथान्योन्यमिषुप्रवेकै-
र्धनंजयस्याधिरथेश्च तत्र ।

उस समय वहाँ अर्जुन और कर्ण उत्तम बाणोंद्वारा एक दूसरेको चोट पहुँचा रहे थे। उनके धनुष, प्रत्यञ्चा और हथेलीका संघर्ष बड़ा भयंकर होता जा रहा था और उससे उत्तमोत्तम बाण छूट रहे थे ॥ ७३½ ॥

ततो धनुर्ज्या सहसातिकृष्टा
सुघोषमच्छिद्यत पाण्डवस्य ॥ ७४ ॥
तस्मिन् क्षणे पाण्डवं सूतपुत्रः
समाचिनोत् क्षुद्रकाणां शतेन ।

इसी समय पाण्डुपुत्र अर्जुनके धनुषकी डोरी अधिक खींची जानेके कारण सहसा भारी आवाजके साथ टूट गयी। उस अवसरपर सूतपुत्र कर्णने पाण्डुकुमार अर्जुनको सौ बाण मारे ॥ ७४½ ॥

निर्मुक्तसर्पप्रतिमैरभीक्ष्णं
तैलप्रधौतैः खगपत्रवाजैः ॥ ७५ ॥
षष्ट्या विभेदाशु च वासुदेव-
मनन्तरं फाल्गुनमष्टभिश्च ।

फिर तेलके धोये और पक्षियोंके पंख लगाये गये, केंचुल छोड़कर निकले हुए सर्पोंके समान भयंकर साठ बाणोंद्वारा वसुदेवनन्दन श्रीकृष्णको भी तुरंत ही क्षत-विक्षत कर दिया। इसके बाद पुनः अर्जुनको आठ बाण मारे ॥ ७५½ ॥

पूषात्मजो मर्मसु निर्बिभेद
मरुत्सुतं चायुतशः शराग्र्यैः ॥ ७६ ॥
कृष्णं च पार्थं च तथा ध्वजं च
पार्थानुजान् सोमकान् पातयंश्च ।

तदनन्तर सूर्यकुमार कर्णने दस हजार उत्तम बाणोंद्वारा वायुपुत्र भीमसेनके मर्मस्थानोंपर गहरा आघात किया। साथ ही, श्रीकृष्ण, अर्जुन और उनके रथकी ध्वजाको, उनके छोटे भाइयोंको तथा सोमकोंको भी उसने मार गिरानेका प्रयत्न किया ॥ ७६½ ॥

प्राच्छादयंस्ते विशिखैः पृषत्कै-
र्जीमूतसंघा नभसीव सूर्यम् ॥ ७७ ॥
आगच्छतस्तान् विशिखैरनेकै-
र्व्यष्टम्भयत् सूतपुत्रः कृतास्त्रः ।

तब जैसे मेघोंके समूह आकाशमें सूर्यको ढक लेते हैं, उसी प्रकार सोमकोंने अपने बाणोंद्वारा कर्णको आच्छादित कर दिया; परंतु सूतपुत्र अस्त्रविद्याका महान् पण्डित था, उसने अनेक बाणोंद्वारा अपने ऊपर आक्रमण करते हुए सोमकोंको जहाँ-के-तहाँ रोक दिया ॥ ७७½ ॥

तैरस्तमस्त्रं विनिहत्य सर्वं
जघान तेषां रथवाजिनागान् ॥ ७८ ॥
तथा तु सैन्यप्रवरांश्च राज-
न्नभ्यर्दयन्मार्गणैः सूतपुत्रः ।

राजन्! उनके चलाये हुए सम्पूर्ण अस्त्र-शस्त्रोंका नाश करके सूतपुत्रने उनके बहुत-से रथों, घोड़ों और हाथियोंका भी संहार कर डाला और अपने बाणोंद्वारा शत्रुपक्षके प्रधान-प्रधान योद्धाओंको पीड़ा देना प्रारम्भ किया ॥ ७८½ ॥

ते भिन्नदेहा व्यसवो निपेतुः
कर्णेषुभिर्भूमितले स्वनन्तः ॥ ७९ ॥
सिंहेन क्रुद्धेन यथा श्वयूथ्या
महाबला भीमबलेन तद्वत् ।

उन सबके शरीर कर्णके बाणोंसे विदीर्ण हो गये और वे आर्तनाद करते हुए प्राणशून्य हो पृथ्वीपर गिर पड़े। जैसे क्रोधमें भरे हुए भयंकर बलशाली सिंहने कुत्तोंके महाबली समुदायको मार गिराया हो, वही दशा सोमकोंकी हुई ७९½

पुनश्च पाञ्चालवरास्तथान्ये
तदन्तरे कर्णधनंजयाभ्याम् ॥ ८० ॥
प्रस्कन्दन्तो बलिना साधुमुक्तैः
कर्णेन बाणैर्निहताः प्रसह्य ।

पाञ्चालोंके प्रधान-प्रधान सैनिक तथा दूसरे योद्धा पुनः कर्ण और अर्जुनके बीचमें आ पहुँचे; परंतु बलवान् कर्णने अच्छी तरह छोड़े हुए बाणोंद्वारा उन सबको हठपूर्वक मार गिराया ॥ ८०½ ॥

जयं मत्वा विपुलं वै त्वदीया-
स्तलान् निजघ्नुःसिंहनादांश्च नेदुः॥ ८१ ॥
सर्वे ह्यमन्यन्त वशे कृतौ तौ
कर्णेन कृष्णाविति ते विमर्दे ।

फिर तो आपके सैनिक कर्णकी बड़ी भारी विजय मानकर ताली पीटने और सिंहनाद करने लगे । उन सबने यह समझ लिया कि 'इस युद्धमें श्रीकृष्ण और अर्जुन कर्णके वशमें हो गये' ॥ ८१½ ॥

ततो धनुर्ज्यामवनाम्य शीघ्रं
शरानस्तानाधिरथेर्विधम्य ॥ ८२ ॥
सुसंरब्धः कर्णशरक्षताङ्गो
रणे पार्थः कौरवान् प्रत्यगृह्णात् ।

तब कर्णके बाणोंसे जिनका अङ्ग-अङ्ग क्षत-विक्षत हो गया था, उन कुन्तीकुमार अर्जुनने रणभूमिमें अत्यन्त कुपित हो शीघ्र ही धनुषकी प्रत्यञ्चाको झुकाकर चढ़ा दिया और कर्णके चलाये हुए बाणोंको छिन्न-भिन्न करके कौरवोंको आगे बढ़नेसे रोक दिया ॥ ८२½ ॥

ज्यां चानुमृज्याभ्यहनत् तलत्रे
बाणान्धकारं सहसा च चक्रे ॥ ८३ ॥
कर्णं च शल्यं च कुरूंश्च सर्वान्
बाणैरविध्यत् प्रसभं किरीटी ।

तत्पश्चात् किरीटधारी अर्जुनने धनुषकी प्रत्यञ्चाको हाथसे रगड़कर कर्णके दस्तानेपर आघात किया और सहसा बाणोंका जाल फैलाकर वहाँ अन्धकार कर दिया। फिर कर्ण, शल्य और समस्त कौरवोंको अपने बाणोंद्वारा बलपूर्वक घायल किया ॥ ८३½ ॥

न पक्षिणो बभ्रमुरन्तरिक्षे
तदा महास्त्रेण कृतेऽन्धकारे ॥ ८४ ॥
वायुर्वियत्स्थैरीरितो भूतसंघै-
र्ववाह दिव्यः सुरभिस्तदानीम् ।

अर्जुनके महान् अस्त्रोंद्वारा आकाशमें घोर अन्धकार फैल जानेसे उस समय वहाँ पक्षी भी नहीं उड़ पाते थे। तब अन्तरिक्षमें खड़े हुए प्राणिसमूहोंसे प्रेरित होकर तत्काल वहाँ दिव्य सुगन्धित वायु चलने लगी ॥ ८४½ ॥

शल्यं च पार्थो दशभिः पृषत्कै-
र्भृशं तनुत्रे प्रहसन्नविध्यत् ॥ ८५ ॥
ततः कर्णं द्वादशभिः सुमुक्तै-
र्विद्ध्वा पुनः सप्तभिरभ्यविद्ध्यत् ।

इसी समय कुन्तीकुमार अर्जुनने हँसते-हँसते दस बाणोंसे शल्यको गहरी चोट पहुँचायी और उनके कवचको छिन्न-भिन्न कर डाला । फिर अच्छी तरह छोड़े हुए बारह बाणोंसे कर्णको घायल करके पुनः उसे सात बाणोंसे बींध डाला ॥ ८५½ ॥

स पार्थबाणासनवेगमुक्तै-
र्दृढाहतः पत्रिभिरुग्रवेगैः ॥ ८६ ॥
विभिन्नगात्रः क्षतजोक्षिताङ्गः
कर्णो बभौ रुद्र इवाततेषुः ।
प्रक्रीडमानोऽथ श्मशानमध्ये
रौद्रे मुहूर्ते रुधिरार्द्रगात्रः ॥ ८७ ॥

अर्जुनके धनुषसे वेगपूर्वक छूटे हुए भयंकर वेगशाली बाणोंद्वारा गहरी चोट खाकर कर्णके सारे अङ्ग विदीर्ण हो गये । वह खूनसे नहा उठा और रौद्र मुहूर्तमें श्मशानके भीतर क्रीड़ा करते हुए, बाणोंसे व्याप्त एवं रक्तसे भीगे शरीरवाले रुद्रदेवके समान प्रतीत होने लगा ॥ ८६-८७ ॥

ततस्त्रिभिस्तं त्रिदशाधिपोपमं
शरैर्बिभेदाधिरथिर्धनंजयम् ।
शरांश्च पञ्च ज्वलितानिवोरगान्
प्रवेशयामास जिघांसयाच्युतम् ॥ ८८ ॥

तदनन्तर अधिरथपुत्र कर्णने देवराज इन्द्रके समान पराक्रमी अर्जुनको तीन बाणोंसे बींध डाला और श्रीकृष्णको मार डालनेकी इच्छासे उनके शरीरमें प्रज्वलित सर्पोंके समान पाँच बाण घुसा दिये ॥ ८८ ॥

ते वर्म भित्त्वा पुरुषोत्तमस्य
सुवर्णचित्रा न्यपतन् सुमुक्ताः ।
वेगेन गामाविविशुः सुवेगाः
स्नात्वा च कर्णाभिमुखाः प्रतीयुः ॥ ८९ ॥

अच्छी तरह छोड़े हुए वे सुवर्णजटित वेगशाली बाण पुरुषोत्तम श्रीकृष्णके कवचको विदीर्ण करके बड़े वेगसे धरतीमें समा गये और पातालगङ्गामें नहाकर पुनः कर्णकी ओर जाने लगे ॥ ८९ ॥

तान् पञ्च भल्लैर्दशभिः सुमुक्तै-
स्त्रिधा त्रिधैकैकमथोचकर्त ।
धनंजयास्त्रैर्न्यपतन् पृथिव्यां
महाहयस्तक्षकपुत्रपक्षाः ॥ ९० ॥

वे बाण नहीं, तक्षकपुत्र अश्वसेनके पक्षपाती पाँच विशाल सर्प थे । अर्जुनने सावधानीसे छोड़े गये दस भल्लोंद्वारा उनमेंसे प्रत्येकके तीन-तीन टुकड़े कर डाले । अर्जुनके बाणोंसे मारे जाकर वे पृथ्वीपर गिर पड़े ॥ ९० ॥

ततः प्रजज्वाल किरीटमाली
क्रोधेन कक्षं प्रदहन्निवाग्निः ।

तथा विनुन्नाङ्गमवेक्ष्य कृष्णं
सर्वेषुभिः कर्णभुजप्रसृष्टैः ॥ ९१ ॥

कर्णके हाथोंसे छूटे हुए उन सभी बाणोंद्वारा श्रीकृष्णके श्रीअङ्गोंको घायल हुआ देख किरीटधारी अर्जुन सूखे काठ या घास-फूसके ढेरको जलानेवाली आगके समान क्रोधसे प्रज्वलित हो उठे ॥ ९१ ॥

स कर्णमाकर्णविकृष्टसृष्टैः
शरैः शरीरान्तकरैर्ज्वलद्भिः ।
मर्मस्वविध्यत् स चचाल दुःखाद्
दैवादवातिष्ठत धैर्यबुद्धिः ॥ ९२ ॥

उन्होंने कानतक खींचकर छोड़े गये शरीरनाशक प्रज्वलित बाणोंद्वारा कर्णके मर्मस्थानोंमें गहरी चोट पहुँचायी। कर्ण दुःखसे विचलित हो उठा; परंतु किसी तरह मनमें धैर्य धारण करके दैवयोगसे रणभूमिमें डटा रहा ॥ ९२ ॥

ततः शरौघैः प्रदिशो दिशश्च
रवेः प्रभा कर्णरथश्च राजन् ।
अदृश्यमासीत् कुपिते धनंजये
तुषारनीहारवृतं यथा नभः ॥ ९३ ॥

राजन्! तत्पश्चात् क्रोधमें भरे हुए अर्जुनने बाणसमूहोंका ऐसा जाल फैलाया कि दिशाएँ, विदिशाएँ, सूर्यकी प्रभा और कर्णका रथ सब कुछ कुहासेसे ढके हुए आकाशकी भाँति अदृश्य हो गया ॥ ९३ ॥

स चक्ररक्षानथ पादरक्षान्
पुरःसरान् पृष्ठगोपांश्च सर्वान् ।
दुर्योधनेनानुमतानरिघ्नः
समुद्यतान् स रथान् सारभूतान्॥ ९४ ॥
द्विसाहस्रान् समरे सव्यसाची
कुरुप्रवीरानृषभः कुरूणाम् ।
क्षणेन सर्वान् सरथाश्वसूतान्
निनाय राजन् क्षयमेकवीरः ॥ ९५ ॥

नरेश्वर! कुरुकुलके श्रेष्ठ पुरुष अद्वितीय वीर शत्रुनाशक सव्यसाची अर्जुनने कर्णके चक्ररक्षक, पादरक्षक, अग्रगामी और पृष्ठरक्षक सभी कौरवदलके सारभूत प्रमुख वीरोंको, जो दुर्योधनकी आज्ञाके अनुसार चलनेवाले और युद्धके लिये सदा उद्यत रहनेवाले थे तथा जिनकी संख्या दो हजार थी, एक ही क्षणमें रथ, घोड़ों और सारथियोंसहित कालके गालमें भेज दिया ॥ ९४-९५ ॥

ततोऽपलायन्त विहाय कर्णं
तवात्मजाः कुरवो येऽवशिष्टाः ।
हतानपाकीर्य शरक्षतांश्च
लालप्यमानांस्तनयान् पितॄंश्च ॥ ९६ ॥

तदनन्तर जो मरनेसे बच गये थे, वे आपके पुत्र और कौरवसैनिक कर्णको छोड़कर तथा मारे गये और बाणोंसे घायल हो सगे-सम्बन्धियोंको पुकारनेवाले अपने पुत्रों एवं पिताओंकी भी उपेक्षा करके वहाँसे भाग गये ॥ ९६ ॥

(सर्वे प्रणेशुः कुरवो विभिन्नाः
पार्थेषुभिः सम्परिकम्पमानाः ।
सुयोधनेनाथ पुनर्वरिष्ठाः
प्रचोदिताः कर्णरथानुयाने ॥

अर्जुनके बाणोंसे संतप्त और क्षत-विक्षत हो समस्त कौरवयोद्धा जब वहाँसे भाग खड़े हुए, तब दुर्योधनने उनमेंसे श्रेष्ठ वीरोंको पुनः कर्णके रथके पीछे जानेके लिये आज्ञा दी॥

दुर्योधन उवाच

भो क्षत्रियाः शूरतमास्तु सर्वे
क्षात्रे च धर्मे निरताः स्थ यूयम् ।
न युक्तरूपं भवतां समीपात्
पलायनं कर्णमिह प्रहाय ॥

दुर्योधन बोला—क्षत्रियो! तुम सब लोग शूरवीर हो, क्षत्रियधर्ममें तत्पर रहते हो। यहाँ कर्णको छोड़कर उसके निकटसे भाग जाना तुम्हारे लिये कदापि उचित नहीं है ॥

संजय उवाच

तवात्मजेनापि तथोच्यमानाः
पार्थेषुभिः सम्परितप्यमानाः ।
नैवावतिष्ठन्त भयाद् विवर्णाः
क्षणेन नष्टाः प्रदिशो दिशश्च ॥)

संजय कहते हैं—राजन्! आपके पुत्रके इस प्रकार कहनेपर भी वे योद्धा वहाँ खड़े न हो सके। अर्जुनके बाणोंसे उन्हें बड़ी पीड़ा हो रही थी। भयसे उनकी कान्ति फीकी पड़ गयी थी; इसलिये वे क्षणभरमें दिशाओं और उनके कोनोंमें जाकर छिप गये ॥

स सर्वतः प्रेक्ष्य दिशो विशून्या
भयावदीर्णैः कुरुभिर्विहीनः ।
न विव्यथे भारत तत्र कर्णः
प्रहृष्ट एवार्जुनमभ्यधावत् ॥ ९७ ॥

भारत! भयसे भागे हुए कौरवयोद्धाओंसे परित्यक्त हो सम्पूर्ण दिशाओंको सूनी देखकर भी वहाँ कर्ण अपने मनमें तनिक भी व्यथित नहीं हुआ। उसने पूरे हर्ष और उत्साहके साथ ही अर्जुनपर धावा किया ॥ ९७ ॥

इति श्रीमहाभारते कर्णपर्वणि कर्णार्जुनद्वैरथे एकोननवतितमोऽध्यायः ॥ ८९ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत कर्णपर्वमें कर्ण और अर्जुनका द्वैरथ-युद्धविषयक नवासीवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ८९ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठके ५½ श्लोक मिलाकर कुल १०२½ श्लोक हैं)

नवतितमोऽध्यायः

अर्जुन और कर्णका घोर युद्ध भगवान् श्रीकृष्णके द्वारा अर्जुनकी सर्पमुख बाणसे रक्षा तथा कर्णका अपना पहिया पृथ्वीमें फँस जानेपर अर्जुनसे बाण न चलानेके लिये अनुरोध करना

संजय उवाच

ततः प्रयाताः शरपातमात्र-
मवस्थिताः कुरवो भिन्नसेनाः ।
विद्युत्प्रकाशं ददृशुः समन्ताद्
धनंजयास्त्रं समुदीर्यमाणम् ॥ १ ॥

संजय कहते हैं—राजन्! तदनन्तर भागे हुए कौरव, जिनकी सेना तितर-बितर हो गयी थी, धनुषसे छोड़ा हुआ बाण जहाँतक पहुँचता है, उतनी दूरीपर जाकर खड़े हो गये। वहींसे उन्होंने देखा कि अर्जुनका बड़े वेगसे बढ़ता हुआ अस्त्र चारों ओर बिजलीके समान चमक रहा है ॥ १ ॥

तदर्जुनास्त्रं ग्रसति स्म कर्णो
वियद्गतं घोरतरैः शरैस्तत् ।
क्रुद्धेन पार्थेन भृशाभिसृष्टं
वधाय कर्णस्य महाविमर्दे ॥ २ ॥

उस महासमरमें अर्जुन कुपित होकर कर्णके वधके लिये जिस-जिस अस्त्रका वेगपूर्वक प्रयोग करते थे, उसे आकाशमें ही कर्ण अपने भयंकर बाणोंद्वारा काट देता था ॥ २ ॥

उदीर्यमाणं स्म कुरून् दहन्तं
सुवर्णपुङ्खैर्विशिखैर्ममर्द ।
कर्णस्त्वमोघेष्वसनं दृढज्यं
विस्फारयित्वा विसृजञ्छरौघान् ॥ ३ ॥

कर्णका धनुष अमोघ था। उसकी डोरी भी बहुत मजबूत थी। वह अपने धनुषको खींचकर उसके द्वारा बाण-समूहोंकी वर्षा करने लगा। कौरवसेनाको दग्ध करनेवाले अर्जुनके छोड़े हुए अस्त्रको उसने सुवर्णमय पंखवाले बाणोंद्वारा धूलमें मिला दिया ॥ ३ ॥

रामादुपात्तेन महामहिम्ना
ह्याथर्वणेनारिविनाशनेन ।
तदर्जुनास्त्रं व्यधमद् दहन्तं
कर्णस्तु बाणैर्निशितैर्महात्मा ॥ ४ ॥

महामनस्वी वीर कर्णने परशुरामजीसे प्राप्त हुए महाप्रभावशाली शत्रुनाशक आथर्वण अस्त्रका प्रयोग करके पैने बाणोंद्वारा अर्जुनके उस अस्त्रको, जो कौरवसेनाको दग्ध कर रहा था, नष्ट कर दिया ॥ ४ ॥

ततो विमर्दः सुमहान् बभूव
तत्रार्जुनस्याधिरथेश्च राजन् ।
अन्योन्यमासादयतोः पृषत्कै-
र्विषाणघातैर्द्विपयोरिवोग्रैः ॥ ५ ॥

राजन्! जैसे दो हाथी अपने भयंकर दाँतोंसे एक दूसरेपर चोट करते हैं, उसी प्रकार अर्जुन और कर्ण एक दूसरेपर बाणोंका प्रहार कर रहे थे। उस समय उन दोनोंमें बड़ा भारी युद्ध होने लगा ॥ ५ ॥

तत्रास्त्रसंघातसमावृतं तदा
बभूव राजंस्तुमुलं स सर्वतः ।
तत् कर्णपार्थौ शरवृष्टिसंघै-
र्निरन्तरं चक्रतुरम्बरं तदा ॥ ६ ॥

नरेश्वर! उस समय वहाँ अस्त्रसमूहोंसे आच्छादित होकर सारा प्रदेश सब ओरसे भयंकर प्रतीत होने लगा। कर्ण और अर्जुनने अपने बाणोंकी वर्षासे आकाशको ठसाठस भर दिया ॥

ततो जालं बाणमयं महान्तं
सर्वेऽद्राक्षुः कुरवः सोमकाश्च ।
नान्यं च भूतं ददृशुस्तदा ते
बाणान्धकारे तुमुलेऽथ किंचित् ॥ ७ ॥

तदनन्तर समस्त कौरवों और सोमकोंने भी देखा कि वहाँ बाणोंका विशाल जाल फैल गया है। बाणजनित उस भयानक अन्धकारमें उस समय उन्हें दूसरे किसी प्राणीका दर्शन नहीं होता था ॥ ७ ॥

(ततस्तु तौ वै पुरुषप्रवीरौ
राजन् वरौ सर्वधनुर्धराणाम् ।
त्यक्त्वाऽऽत्मदेहौ समरेऽतिघोरे
प्राप्तश्रमौ शत्रुदुरासदौ हि ॥
दृष्ट्वा तु तौ संयति सम्प्रयुक्तौ
परस्परं छिद्रनिविष्टदृष्टी ।
देवर्षिगन्धर्वगणाः सयक्षाः
संतुष्टुवुस्तौ पितरश्च हृष्टाः ॥)

राजन्! सम्पूर्ण धनुर्धारियोंमें श्रेष्ठ वे दोनों नरवीर उस भयानक समरमें अपने शरीरोंका मोह छोड़कर बड़ा भारी परिश्रम कर रहे थे, वे दोनों ही शत्रुओंके लिये दुर्जय थे। युद्धमें तत्पर होकर एक दूसरेके छिद्रोंकी ओर दृष्टि रखनेवाले उन दोनों वीरोंको देखकर देवता, ऋषि, गन्धर्व, यक्ष और पितर सभी हर्षमें भरकर उनकी प्रशंसा करने लगे ॥

तौ संदधानावनिशं च राजन्
समस्यन्तौ चापि शराननेकान् ।
संदर्शयेतां युधि मार्गान् विचित्रान्
धनुर्धरौ तौ विविधैः कृतास्त्रैः ॥ ८ ॥

राजन्! निरन्तर अनेकानेक बाणोंका संधान और प्रहार करते हुए वे दोनों धनुर्धर वीर सिद्ध किये हुए विविध अस्त्रोंद्वारा युद्धमें अद्भुत पैंतरे दिखाने लगे ॥ ८ ॥

तयोरेवं युद्ध्यतोराजिमध्ये
सूतात्मजोऽभूदधिकः कदाचित् ।

पार्थः कदाचित् त्वधिकः किरीटी
वीर्यास्त्रमायाबलपौरुषेण ॥ ९ ॥

इस प्रकार संग्रामभूमिमें जूझते समय उन दोनों वीरोंमें पराक्रम, अस्त्रसंचालन, मायाबल तथा पुरुषार्थकी दृष्टिसे कभी सूतपुत्र कर्ण बढ़ जाता था और कभी किरीटधारी अर्जुन ॥

दृष्ट्वा तयोस्तं युधि सम्प्रहारं
परस्परस्यान्तरमीक्षमाणयोः ।
घोरं तयोर्दुर्विषहं रणेऽन्यै-
र्योधाः सर्वे विस्मयमभ्यगच्छन् ॥१०॥

युद्धस्थलमें एक दूसरेपर प्रहार करनेका अवसर देखते हुए उन दोनों वीरोंका दूसरोंके लिये दुःसह वह घोर आघात-प्रत्याघात देखकर रणभूमिमें खड़े हुए समस्त योद्धा आश्चर्यसे चकित हो उठे ॥ १० ॥

ततो भूतान्यन्तरिक्षस्थितानि
तौ कर्णपार्थौ प्रशशंसुर्नरेन्द्र ।
भोः कर्ण साध्वर्जुन साधु चेति
वियत्सु वाणी श्रूयते सर्वतोऽपि ॥ ११ ॥

नरेन्द्र ! उस समय आकाशमें स्थित हुए प्राणी कर्ण और अर्जुन दोनोंकी प्रशंसा करने लगे । 'वाह रे कर्ण !' 'शाबाश अर्जुन !' यही बात अन्तरिक्षमें सब ओर सुनायी देने लगी ॥ ११ ॥

तस्मिन् विमर्दे रथवाजिनागै-
स्तदाभिघातैर्दलिते हि भूतले ।
ततस्तु पातालतले शयानो
नागोऽश्वसेनः कृतवैरोऽर्जुनेन ॥ १२ ॥
राजंस्तदा खाण्डवदाहमुक्तो
विवेश कोपाद् वसुधातले यः ।
अथोत्पपातोर्ध्वगतिर्जवेन
संदृश्य कर्णार्जुनयोर्विमर्दम् ॥ १३ ॥

राजन् ! उस समय घमासान युद्धमें जब रथ, घोड़े और हाथियोंद्वारा सारा भूतल रौंदा जा रहा था, उस समय पाताल-निवासी अश्वसेन नामक नाग, जिसने अर्जुनके साथ वैर बाँध रक्खा था और जो खाण्डवदाहके समय जीवित बचकर क्रोधपूर्वक इस पृथ्वीके भीतर घुस गया था; कर्ण तथा अर्जुन-का वह संग्राम देखकर बड़े वेगसे ऊपरको उछला और उस युद्धस्थलमें आ पहुँचा; उसमें ऊपरको उड़नेकी भी शक्ति थी ॥ १२-१३ ॥

अयं हि कालोऽस्य दुरात्मनो वै
पार्थस्य वैरप्रतियातनाय ।
संचिन्त्य तूर्णं प्रविवेश चैव
कर्णस्य राजञ्शररूपधारी ॥ १४ ॥

नरेश्वर ! वह यह सोचकर कि 'दुरात्मा अर्जुनके वैरका बदला लेनेके लिये यही सबसे अच्छा अवसर है,' बाणका-रूप धारण करके कर्णके तरकसमें घुस गया ॥ १४ ॥

ततोऽस्त्रसंघातसमाकुलं तदा
बभूव जन्यं विततांशुजालम् ।
तत् कर्णपार्थौ शरसंघवृष्टिभि-
र्निरन्तरं चक्रतुरम्बरं तदा ॥ १५ ॥

तदनन्तर अस्त्रसमूहोंके प्रहारसे भरा हुआ वह युद्धस्थल ऐसा प्रतीत होने लगा, मानो वहाँ किरणोंका जाल बिछ गया हो । कर्ण और अर्जुनने अपने बाणसमूहोंकी वर्षासे आकाशमें तिलभर भी अवकाश नहीं रहने दिया ॥ १५ ॥

तद् बाणजालैकमयं महान्तं
सर्वेऽत्रसन् कुरवः सोमकाश्च ।
नान्यत् किंचिद् ददृशुः सम्पतद् वै
बाणान्धकारे तुमुलेऽतिमात्रम् ॥ १६ ॥

वहाँ बाणोंका एक महाजाल-सा बना हुआ देखकर कौरव और सोमक सभी भयसे थर्रा उठे । उस अत्यन्त घोर बाणान्धकारमें उन्हें दूसरा कुछ भी गिरता नहीं दिखायी देता था ॥ १६ ॥

ततस्तौ पुरुषव्याघ्रौ सर्वलोकधनुर्धरौ ।
त्यक्तप्राणौ रणे वीरौ युद्धश्रममुपागतौ ।
समुत्क्षेपैर्वीज्यमानौ सिक्तौ चन्दनवारिणा ॥ १७ ॥
सबालव्यजनैर्दिव्यैर्दिविस्थैरप्सरोगणैः ।
शक्रसूर्यकराब्जाभ्यां प्रमार्जितमुखावुभौ ॥ १८ ॥

तदनन्तर सम्पूर्ण विश्वके विख्यात धनुर्धर वीर पुरुषसिंह कर्ण और अर्जुन प्राणोंका मोह छोड़कर युद्ध करते-करते थक गये । उस समय आकाशमें खड़ी हुई अप्सराओंने दिव्य-चँवर डुलाकर उन दोनोंको चन्दनके जलसे सींचा । फिर इन्द्र और सूर्यने अपने कर-कमलोंसे उनके मुँह पोंछे ॥१७-१८॥

कर्णोऽथ पार्थं न विशेषयद् यदा
भृशं च पार्थेन शराभितप्तः ।
ततस्तु वीरः शरविक्षताङ्गो
दध्रे मनो ह्येकशयस्य तस्य ॥ १९ ॥

जब किसी तरह कर्ण युद्धमें अर्जुनसे बढ़कर पराक्रम न दिखा सका और अर्जुनने अपने बाणोंकी मारसे उसे अत्यन्त संतप्त कर दिया, तब बाणोंके आघातसे सारा शरीर क्षत-विक्षत हो जानेके कारण वीर कर्णने उस सर्पमुख बाणके प्रहारका विचार किया ॥ १९ ॥

ततो रिपुघ्नं समधत्त कर्णः
सुसंचितं सर्पमुखं ज्वलन्तम् ।
रौद्रं शरं संनतमुग्रधौतं
पार्थार्थमत्यर्थचिराभिगुप्तम् ॥ २० ॥
सदार्चितं चन्दनचूर्णशायितं
सुवर्णतूणीरशयं महार्चिषम् ।
आकर्णपूर्णं च विकृष्य कर्णः
पार्थोन्मुखः संदधे चोत्तमौजाः ॥ २१ ॥

उत्तम बलशाली कर्णने अर्जुनको मारनेके लिये ही जिसे सुदीर्घकालसे सुरक्षित रख छोड़ा था, सोनेके तरकसमें चन्दनके चूर्णके अंदर जिसे रखता था और सदा जिसकी पूजा करता था, उस शत्रुनाशक, झुकी हुई गाँठवाले, स्वच्छ, महातेजस्वी, सुसंचित, प्रज्वलित एवं भयानक सर्पमुख बाणको उसने धनुषपर रक्खा और कानतक खींचकर अर्जुनकी ओर संधान किया ॥ २०-२१ ॥

प्रदीप्तमैरावतवंशसम्भवं
शिरो जिहीर्षुर्युधि सव्यसाचिनः ।
ततः प्रजज्वाल दिशो नभश्च
उल्काश्च घोराः शतशः प्रपेतुः ॥ २२ ॥

कर्ण युद्धमें सव्यसाची अर्जुनका मस्तक काट लेना चाहता था। उसका चलाया हुआ वह प्रज्वलित बाण ऐरावतकुलमें उत्पन्न अश्वसेन ही था। उस बाणके छूटते ही सम्पूर्ण दिशाओंसहित आकाश जाज्वल्यमान हो उठा। सैकड़ों भयङ्कर उल्काएँ गिरने लगीं ॥ २२ ॥

तस्मिंस्तु नागे धनुषि प्रयुक्ते
हाहाकृता लोकपालाः सशक्राः ।
न चापि तं बुबुधे सूतपुत्रो
बाणे प्रविष्टं योगबलेन नागम् ॥ २३ ॥

धनुषपर उस नागका प्रयोग होते ही इन्द्रसहित सम्पूर्ण लोकपाल हाहाकार कर उठे। सूतपुत्रको भी यह मालूम नहीं था कि मेरे इस बाणमें योगबलसे नाग घुसा बैठा है ॥

दशशतनयनोऽहिं दृश्य बाणे प्रविष्टं
निहत इति सुतो मे स्रस्तगात्रो बभूव ।
जलजकुसुमयोनिः श्रेष्ठभावो जितात्मा
त्रिदशपतिमवोचन्मा व्यथिष्ठा जये श्रीः ।२४।

सहस्रनेत्रधारी इन्द्र उस बाणमें सर्पको घुसा हुआ देख यह सोचकर शिथिल हो गये कि 'अब तो मेरा पुत्र मारा गया।' तब मनको वशमें रखनेवाले श्रेष्ठस्वभाव कमलयोनि ब्रह्माजीने उन देवराज इन्द्रसे कहा—'देवेश्वर! दुखी न होओ। विजयश्री अर्जुनको ही प्राप्त होगी' ॥ २४ ॥

ततोऽब्रवीन्मद्रराजो महात्मा
दृष्ट्वा कर्णं प्रहितेषुं तमुग्रम् ।
न कर्ण ग्रीवामिषुरेष लप्स्यते
समीक्ष्य संधत्स्व शरं शिरोघ्नम् ॥ २५ ॥

उस समय महामनस्वी मद्रराज शल्यने कर्णको उस भयंकर बाणका प्रहार करनेके लिये उद्यत देख उससे कहा—'कर्ण! तुम्हारा यह बाण शत्रुके कण्ठमें नहीं लगेगा; अतः सोच-विचारकर फिरसे बाणका संधान करो, जिससे वह मस्तक काट सके' ॥ २५ ॥

अथाब्रवीत् क्रोधसंरक्तनेत्रो
मद्राधिपं सूतपुत्रस्तरस्वी ।
न संधत्ते द्विः शरं शल्य कर्णो
न मादृशा जिह्मयुद्धा भवन्ति ॥ २६ ॥

यह सुनकर वेगशाली सूतपुत्र कर्णके नेत्र क्रोधसे लाल हो गये। उसने मद्रराजसे कहा—'कर्ण दो बार बाणका संधान नहीं करता। मेरे-जैसे वीर कपटपूर्वक युद्ध नहीं करते हैं' ॥

इतीदमुक्त्वा विससर्ज तं शरं
प्रयत्नतो वर्षगणाभिपूजितम् ।
हतोऽसि वै फाल्गुन इत्यधिक्षिप-
न्नुवाच चोच्चैर्गिरमूर्जितां वृषः ॥ २७ ॥

ऐसा कहकर कर्णने जिसकी वर्षोंसे पूजा की थी, उस बाणको प्रयत्नपूर्वक शत्रुकी ओर छोड़ दिया और आक्षेप करते हुए उच्चस्वरसे कहा—'अर्जुन! अब तू निश्चय ही मारा गया' ॥ २७ ॥

स सायकः कर्णभुजप्रसृष्टो
हुताशनार्कप्रतिमः सुघोरः ।
गुणच्युतः कर्णधनुःप्रमुक्तो
वियद्गतः प्राज्वलदन्तरिक्षे ॥ २८ ॥

अग्नि और सूर्यके समान तेजस्वी वह अत्यन्त भयंकर बाण कर्णकी भुजाओंसे प्रेरित हो उसके धनुष और प्रत्यञ्चासे छूटकर आकाशमें जाते ही प्रज्वलित हो उठा ॥ २८ ॥

तं प्रेक्ष्य दीप्तं युधि माधवस्तु
त्वरान्वितं सत्वरयैव लीलया ।
पदा विनिष्पिष्य रथोत्तमं स
प्रावेशयत् पृथिवीं किंचिदेव ॥ २९ ॥
क्षितिं गता जानुभिस्तेऽथ वाहा
हेमच्छन्नाश्चन्द्रमरीचिवर्णाः ।
ततोऽन्तरिक्षे सुमहान् निनादः
सम्पूजनार्थं मधुसूदनस्य ॥ ३० ॥
दिव्याश्च वाचः सहसा बभूवु-
र्दिव्यानि पुष्पाण्यथ सिंहनादाः ।
तस्मिंस्तथा वै धरणीं निमग्ने
रथे प्रयत्नान्मधुसूदनस्य ॥ ३१ ॥

उस प्रज्वलित बाणको बड़े वेगसे आते देख भगवान् श्रीकृष्णने युद्धस्थलमें खेल-सा करते हुए अपने उत्तम रथको तुरंत ही पैरसे दबाकर उसके पहियोंका कुछ भाग पृथ्वीमें धँसा दिया। साथ ही सोनेके साज-बाजसे ढके हुए चन्द्रमाकी किरणोंके समान श्वेतवर्णवाले उनके घोड़े भी धरतीपर घुटने टेककर झुक गये। उस समय आकाशमें सब ओर महान् कोलाहल गूँज उठा। भगवान् मधुसूदनकी स्तुति-प्रशंसाके लिये कहे गये दिव्य वचन सहसा सुनायी देने लगे। श्रीमधुसूदनके प्रयत्नसे उस रथके धरतीमें धँस जानेपर भगवान्के ऊपर दिव्यपुष्पोंकी वर्षा होने लगी और दिव्य सिंहनाद भी प्रकट होने लगे ॥ २९-३१ ॥

ततः शरः सोऽभ्यहनत् किरीटं
तस्येन्द्रदत्तं सुदृढं च धीमतः ।

अथार्जुनस्योत्तमगात्रभूषणं
धरावियद्द्योसलिलेषु विश्रुतम् ॥ ३२ ॥

बुद्धिमान् अर्जुनके मस्तकको विभूषित करनेवाला किरीट भूतल, अन्तरिक्ष, स्वर्ग और वरुणलोकमें भी विख्यात था। वह मुकुट उन्हें इन्द्रने प्रदान किया था। कर्णका चलाया हुआ वह सर्पमुख बाण रथ नीचा हो जानेके कारण अर्जुनके उसी किरीटमें जा लगा ॥ ३२ ॥

व्यालास्त्रसर्गोत्तमयत्नमन्युभिः
शरेण मूर्ध्नः प्रजहार सूतजः।
दिवाकरेन्दुज्वलनप्रभत्विषं
सुवर्णमुक्तामणिवज्रभूषितम् ॥ ३३ ॥

सूतपुत्र कर्णने सर्पमुख बाणके निर्माणकी सफलता, उत्तम प्रयत्न और क्रोध—इन सबके सहयोगसे जिस बाणका प्रयोग किया था, उसके द्वारा अर्जुनके मस्तकसे उस किरीटको नीचे गिरा दिया, जो सूर्य, चन्द्रमा और अग्निके समान कान्तिमान् तथा सुवर्ण, मुक्ता, मणि एवं हीरोंसे विभूषित था ॥ ३३ ॥

पुरन्दरार्थं तपसा प्रयत्नतः
स्वयं कृतं यद् विभुना स्वयम्भुवा।
महार्हरूपं द्विषतां भयंकरं
बिभर्तुरत्यर्थसुखं सुगन्धिनम् ॥ ३४ ॥
जिघांसते देवरिपून् सुरेश्वरः
स्वयं ददौ यत् सुमनाः किरीटिने।
हराम्बुपाखण्डलवित्तगोप्तृभिः
पिनाकपाशाशनिसायकोत्तमैः ॥ ३५ ॥
सुरोत्तमैरप्यविषह्यमर्दितुं
प्रसह्य नागेन जहार तद् वृषः।
स दुष्टभावो वितथप्रतिज्ञः
किरीटमत्यद्भुतमर्जुनस्य ॥ ३६ ॥
नागो महार्हं तपनीयचित्रं
पार्थोत्तमाङ्गात् प्रहरत् तरस्वी।

ब्रह्माजीने तपस्या और प्रयत्न करके देवराज इन्द्रके लिये स्वयं ही जिसका निर्माण किया था, जिसका स्वरूप बहुमूल्य, शत्रुओंके लिये भयंकर, धारण करनेवालेके लिये अत्यन्त सुखदायक तथा परम सुगन्धित था, दैत्योंके वधकी इच्छावाले किरीटधारी अर्जुनको स्वयं देवराज इन्द्रने प्रसन्नचित्त होकर जो किरीट प्रदान किया था, भगवान् शिव, वरुण, इन्द्र और कुबेर—ये देवेश्वर भी अपने पिनाक, पाश, वज्र और बाणरूप उत्तम अस्त्रोंद्वारा जिसे नष्ट नहीं कर सकते थे, उसी दिव्य मुकुटको कर्णने अपने सर्पमुख बाणद्वारा बलपूर्वक हर लिया। मनमें दुर्भाव रखनेवाले उस मिथ्याप्रतिज्ञ तथा वेगशाली नागने अर्जुनके मस्तकसे उसी अत्यन्त अद्भुत, बहुमूल्य और सुवर्णचित्रित मुकुटका अपहरण कर लिया था ॥ ३४—३६½ ॥

तद्धेमजालावततं सुघोषं
जाज्वल्यमानं निपपात भूमौ ॥ ३७ ॥
तदुत्तमेषून्मथितं विषाग्निना
प्रदीप्तमर्चिष्मदथो क्षितौ प्रियम्।
पपात पार्थस्य किरीटमुत्तमं
दिवाकरोऽस्तादिव रक्तमण्डलः॥ ३८ ॥

सोनेकी जालीसे व्याप्त वह जगमगाता हुआ मुकुट धमाकेकी आवाज़के साथ धरतीपर जा गिरा। जैसे अस्ताचलसे लाल रंगके मण्डलवाला सूर्य नीचे गिरता है, उसी प्रकार पार्थका वह प्रिय, उत्तम एवं तेजस्वी किरीट पूर्वोक्त श्रेष्ठ बाणसे मथित और विषाग्निसे प्रज्वलित हो पृथ्वीपर गिर पड़ा ॥ ३७-३८ ॥

स वै किरीटं बहुरत्नभूषितं
जहार नागोऽर्जुनमूर्धतो बलात्।
गिरेः सुजाताङ्कुरपुष्पितद्रुमं
महेन्द्रवज्रः शिखरोत्तमं यथा ॥ ३९ ॥

उस नागने नाना प्रकारके रत्नोंसे विभूषित पूर्वोक्त किरीटको अर्जुनके मस्तकसे उसी प्रकार बलपूर्वक हर लिया, जैसे इन्द्रका वज्र वृक्षों और लताओंके नवजात अङ्कुरों तथा पुष्पशाली वृक्षोंसे सुशोभित पर्वतके उत्तम शिखरको नीचे गिरा देता है ॥ ३९ ॥

महीवियद्द्योसलिलानि वायुना
यथा विरुग्णानि नदन्ति भारत।
तथैव शब्दं भुवनेषु तं तदा
जना व्यवस्यन् व्यथिताश्च चस्खलुः॥४०॥

भारत! जैसे पृथ्वी, आकाश, स्वर्ग और जल—ये वायुद्वारा वेगपूर्वक संचालित हो महान् शब्द करने लगते हैं, उस समय वहाँ जगत्के सब लोगोंने वैसे ही शब्दका अनुभव किया और व्यथित होकर सभी अपने-अपने स्थानसे लड़खड़ाकर गिर पड़े ॥ ४० ॥

विना किरीटं शुशुभे स पार्थः
श्यामो युवा नील इवोच्चशृङ्गः।
ततः समुद्ग्रथ्य सितेन वाससा
स्वमूर्धजानव्यथितस्तदार्जुनः ।
विभासितः सूर्यमरीचिना दृढं
शिरोगतेनोदयपर्वतो यथा ॥ ४१ ॥

मुकुट गिर जानेपर श्यामवर्ण, नवयुवक अर्जुन ऊँचे शिखरवाले नीलगिरिके समान शोभा पाने लगे। उस समय उन्हें तनिक भी व्यथा नहीं हुई। वे अपने केशोंको सफेद वस्त्रसे बाँधकर युद्धके लिये डटे रहे। श्वेत वस्त्रसे केश बाँधनेके कारण वे शिखरपर फैली हुई सूर्यदेवकी किरणोंसे प्रकाशित होनेवाले उदयाचलके समान सुशोभित हुए ॥४१॥

गोकर्णा सुमुखी कृतेन इषुणा गोपुत्रसम्प्रेषिता
गोशब्दात्मजभूषणं सुविहितं सुव्यक्तगोऽसुप्रभम्।
दृष्ट्वा गोगतकं जहार मुकुटं गोशब्दगोपूरि वै
गोकर्णासनमर्दनश्च न ययावप्राप्य मृत्योर्वशम्॥ ४२ ॥

अंशुमाली सूर्यके पुत्र कर्णने जिसे चलाया था, जो अपने ही द्वारा उत्पादित एवं सुरक्षित बाणरूपधारी पुत्रके रूपमें मानो स्वयं उपस्थित हुई थी, गौ अर्थात् नेत्रेन्द्रियसे कानोंका काम लेनेके कारण जो गोकर्णा (चक्षुःश्रवा) और मुखसे पुत्रकी रक्षा करनेके कारण सुमुखी कही गयी हैं, उस सर्पिणीने तेज और प्राणशक्तिसे प्रकाशित होनेवाले अर्जुनके मस्तकको घोड़ोंकी लगामके सामने लक्ष्य करके (चलनेपर भी रथ नीचा होनेसे उसे न पाकर) उनके उस मुकुटको ही हर लिया, जिसे ब्रह्माजीने स्वयं सुन्दररूपसे इन्द्रके मस्तकका भूषण बनाया था और जो सूर्यसदृश किरणोंकी प्रभासे जगत्‌को परिपूर्ण (प्रकाशित) करनेवाला था। उक्त सर्पको अपने बाणोंकी मारसे कुचल देनेवाले अर्जुन उसे पुनः आक्रमणका अवसर न देनेके कारण मृत्युके अधीन नहीं हुए ॥

स सायकः कर्णभुजप्रसृष्टो
हुताशनार्कप्रतिमो महार्हः।
महोरगः कृतवैरोऽर्जुनेन
किरीटमाहत्य ततो व्यतीयात् ॥ ४३ ॥

कर्णके हाथोंसे छूटा हुआ वह अग्नि और सूर्यके समान तेजस्वी, बहुमूल्य बाण, जो वास्तवमें अर्जुनके साथ वैर रखनेवाला महानाग था, उनके किरीटपर आघात करके पुनः वहाँसे लौट पड़ा ॥ ४३ ॥

तं चापि दग्ध्वा तपनीयचित्रं
किरीटमाकृष्य तदर्जुनस्य।
इयेष गन्तुं पुनरेव तूर्णं
दृष्टश्च कर्णेन ततोऽब्रवीत् तम् ॥ ४४ ॥

अर्जुनका वह मुकुट सुवर्णमय होनेके कारण विचित्र शोभा धारण करता था। उसे खींचकर अपनी विषाग्निसे दग्ध करके वह सर्प पुनः कर्णके तरकसमें घुसना ही चाहता था कि कर्णकी दृष्टि उसपर पड़ गयी। तब उसने कर्णसे कहा—॥ ४४ ॥

मुक्तस्त्वयाहं त्वसमीक्ष्य कर्ण
शिरो हृतं यन्न मयार्जुनस्य।
समीक्ष्य मां मुञ्च रणे त्वमाशु
हन्तास्मि शत्रुं तव चात्मनश्च ॥ ४५ ॥

'कर्ण! तुमने अच्छी तरह सोच-विचारकर मुझे नहीं छोड़ा था; इसीलिये मैं अर्जुनके मस्तकका अपहरण न कर सका। अब पुनः सोच-समझकर, ठीकसे निशाना साधकर रणभूमिमें शीघ्र ही मुझे छोड़ो, तब मैं अपने और तुम्हारे उस शत्रुका वध कर डालूँगा' ॥ ४५ ॥

स एवमुक्तो युधि सूतपुत्र-
स्तमब्रवीत् को भवानुग्ररूपः।
नागोऽब्रवीद् विद्धि कृतागसं मां
पार्थेन मातुर्वधजातवैरम् ॥ ४६ ॥

यदि स्वयं वज्रधरोऽस्य गोप्ता
तथापि याता पितृराजवेश्मनि।

युद्धस्थलमें उस नागके ऐसा कहनेपर सूतपुत्र कर्णने उससे पूछा—'पहले यह तो बताओ कि ऐसा भयानक रूप धारण करनेवाले तुम हो कौन?' तब नागने कहा—'अर्जुनने मेरा अपराध किया है। मेरी माताका उनके द्वारा वध होनेके कारण मेरा उनसे वैर हो गया है। तुम मुझे नाग समझो। यदि साक्षात् वज्रधारी इन्द्र भी अर्जुनकी रक्षाके लिये आ जायँ तो भी आज अर्जुनको यमलोकमें जाना ही पड़ेगा' ॥ ४६½ ॥

कर्ण उवाच

न नाग कर्णोऽद्य रणे परस्य
बलं समास्थाय जयं बुभूषेत् ॥ ४७ ॥
न संदध्यां द्विः शरं चैव नाग
यद्यर्जुनानां शतमेव हन्याम्।

कर्ण बोला—नाग! आज रणभूमिमें कर्ण दूसरेके बलका सहारा लेकर विजय पाना नहीं चाहता है। नाग! मैं सौ अर्जुनको मार सकूँ तो भी एक बाणका दो बार संधान नहीं कर सकता ॥ ४७½ ॥

तमाह कर्णः पुनरेव नागं
तदाऽऽजिमध्ये रविसूनुसत्तमः ॥ ४८ ॥
व्यालास्त्रसर्गोत्तमयत्नमन्युभि-
र्हन्तास्मि पार्थं सुसुखी व्रज त्वम्।

इतना कहकर सूर्यके श्रेष्ठ पुत्र कर्णने युद्धस्थलमें उस नागसे फिर इस प्रकार कहा—'मेरे पास सर्पमुख बाण है। मैं उत्तम यत्न कर रहा हूँ और मेरे मनमें अर्जुनके प्रति पर्याप्त रोष भी है; अतः मैं स्वयं ही पार्थको मार डालूँगा। तुम सुखपूर्वक यहाँसे पधारो' ॥ ४८½ ॥

इत्येवमुक्तो युधि नागराजः
कर्णेन रोषादसहंस्तस्य वाक्यम् ॥ ४९ ॥
स्वयं प्रायात् पार्थवधाय राजन्
कृत्वा स्वरूपं विजिघांसुरुग्रः।

राजन्! युद्धस्थलमें कर्णके द्वारा इस प्रकार टका-सा उत्तर पाकर वह नागराज रोषपूर्वक उसके इस वचनको सहन न कर सका। उस उग्र सर्पने अपने स्वरूपको प्रकट करके मनमें प्रतिहिंसाकी भावना लेकर पार्थके वधके लिये स्वयं ही उनपर आक्रमण किया ॥ ४९½ ॥

ततः कृष्णः पार्थमुवाच संख्ये
महोरगं कृतवैरं जहि त्वम् ॥ ५० ॥
स एवमुक्तो मधुसूदनेन
गाण्डीवधन्वा रिपुवीर्यसाहः।
उवाच को ह्येष ममाद्य नागः
स्वयं य आयाद् गरुडस्य वक्त्रम् ॥ ५१ ॥

तब भगवान् श्रीकृष्णने युद्धस्थलमें अर्जुनसे कहा—'यह विशाल नाग तुम्हारा वैरी है। तुम इसे मार डालो'। भगवान् मधुसूदनके ऐसा कहनेपर शत्रुओंके बलका सामना करनेवाले गाण्डीवधारी अर्जुनने पूछा—'प्रभो! आज मेरे पास आनेवाला यह नाग कौन है? जो स्वयं ही गरुड़के मुखमें चला आया है' ॥ ५०-५१ ॥

कृष्ण उवाच

योऽसौ त्वया खाण्डवे चित्रभानुं
संतर्पयाणेन धनुर्धरेण।
वियद्गतो जननीगुप्तदेहो
मत्वैकरूपं निहतास्य माता ॥ ५२ ॥

श्रीकृष्णने कहा—अर्जुन! खाण्डव वनमें जब तुम हाथमें धनुष लेकर अग्निदेवको तृप्त कर रहे थे, उस समय यही सर्प अपनी माताके मुँहमें घुसकर अपने शरीरको सुरक्षित करके आकाशमें उड़ा जा रहा था। तुमने उसे एक ही सर्प समझकर केवल इसकी माताका वध किया था ॥ ५२ ॥

स एष तद् वैरमनुस्मरन् वै
त्वां प्रार्थयत्यात्मवधाय नूनम्।
नभश्च्युतां प्रज्वलितामिवोल्कां
पश्यैनमायान्तममित्रसाह ॥ ५३ ॥

उसी वैरको याद करके यह अवश्य अपने वधके लिये ही तुमसे भिड़ना चाहता है। शत्रुसूदन! आकाशसे गिरती हुई प्रज्वलित उल्काके समान आते हुए इस सर्पको देखो ॥५३॥

संजय उवाच

ततः स जिष्णुः परिवृत्य रोषा-
च्चिच्छेद षड्भिर्निशितैः सुधारैः।
नागं वियत्तिर्यगिवोत्पतन्तं
स च्छिन्नगात्रो निपपात भूमौ ॥ ५४ ॥

संजय कहते हैं—राजन्! तब अर्जुनने रोषपूर्वक घूमकर उत्तम धारवाले छः तीखे बाणोंद्वारा आकाशमें तिरछी गतिसे उड़ते हुए उस नागके टुकड़े-टुकड़े कर डाले। शरीर टूक-टूक हो जानेके कारण वह पृथ्वीपर गिर पड़ा ॥ ५४ ॥

हते च तस्मिन् भुजगे किरीटिना
स्वयं विभुः पार्थिव भूतलादथ।
समुज्जहाराशु पुनः पतन्तं
रथं भुजाभ्यां पुरुषोत्तमस्ततः ॥ ५५ ॥

राजन्! किरीटधारी अर्जुनके द्वारा उस सर्पके मारे जानेपर स्वयं भगवान् पुरुषोत्तम श्रीकृष्णने उस नीचे धँसते हुए रथको पुनः अपनी दोनों भुजाओंसे शीघ्र ही ऊपर उठा दिया ॥ ५५ ॥

तस्मिन् मुहूर्ते दशभिः पृषत्कैः
शिलाशितैर्बर्हिणबर्हवाजितैः।
विव्याध कर्णः पुरुषप्रवीरो
धनंजयं तिर्यगवेक्षमाणः ॥ ५६ ॥

उस मुहूर्तमें नरवीर कर्णने धनंजयकी ओर तिरछी दृष्टिसे देखते हुए मयूरपंखसे युक्त, शिलापर तेज किये हुए, दस बाणोंसे उन्हें घायल कर दिया ॥ ॥ ५६ ॥

ततोऽर्जुनो द्वादशभिः सुमुक्तै-
र्वराहकर्णैर्निशितैः समर्प्य।
नाराचमाशीविषतुल्यवेग-
माकर्णपूर्णायतमुत्ससर्ज ॥ ५७ ॥

तब अर्जुनने अच्छी तरह छोड़े हुए बारह वराहकर्ण नामक पैने बाणोंद्वारा कर्णको घायल करके पुनः विषधर सर्पके तुल्य एक वेगशाली नाराचको कानतक खींचकर उसकी ओर छोड़ दिया ॥ ५७ ॥

स चित्रवर्मेषुवरो विदार्य
प्राणान्निरस्यन्निव साधुमुक्तः।
कर्णस्य पीत्वा रुधिरं विवेश
वसुन्धरां शोणितदिग्धवाजः ॥ ५८ ॥

भलीभाँति छूटे हुए उस उत्तम नाराचने कर्णके विचित्र कवचको चीर-फाड़कर उसके प्राण निकालते हुए-से रक्तपान किया, फिर वह धरतीमें समा गया। उस समय उसके पंख खूनसे लथपथ हो रहे थे ॥ ५८ ॥

ततो वृषो बाणनिपातकोपितो
महोरगो दण्डविघट्टितो यथा।
तदाशुकारी व्यसृजच्छरोत्तमान्
महाविषः सर्प इवोत्तमं विषम् ॥ ५९ ॥

तब उस बाणके प्रहारसे क्रोधमें भरे हुए शीघ्रकारी कर्णने लाठीकी चोट खाये हुए महान् सर्पके समान तिलमिलाकर उसी प्रकार उत्तम बाणोंका प्रहार आरम्भ किया, जैसे महाविषैला सर्प अपने उत्तम विषका वमन करता है ॥५९॥

जनार्दनं द्वादशभिः पराभिन-
न्नवैर्नवत्या च शरैस्तथार्जुनम्।
शरेण घोरेण पुनश्च पाण्डवं
विदार्य कर्णो व्यनदज्जहास च ॥ ६० ॥

उसने बारह बाणोंसे श्रीकृष्णको और निन्यानबे बाणोंसे अर्जुनको अच्छी तरह घायल किया। तत्पश्चात् एक भयंकर बाणसे पाण्डुपुत्र अर्जुनको पुनः क्षत-विक्षत करके कर्ण सिंहके समान दहाड़ने और हँसने लगा ॥ ६० ॥

तमस्य हर्षं ममृषे न पाण्डवो
बिभेद मर्माणि ततोऽस्य मर्मवित्।
परःशतैः पत्रिभिरिन्द्रविक्रम-
स्तथा यथेन्द्रो बलमोजसा रणे ॥ ६१ ॥

उसके उस हर्षको पाण्डुपुत्र अर्जुन सहन न कर सके। वे उसके मर्मस्थलोंको जानते थे और इन्द्रके समान पराक्रमी थे। अतः जैसे इन्द्रने रणभूमिमें बलासुरको बलपूर्वक आहत किया था, उसी प्रकार अर्जुनने सौसे भी अधिक बाणोंद्वारा कर्णके मर्मस्थानोंको विदीर्ण कर दिया ॥ ६१ ॥

ततः शराणां नवतिं तदार्जुनः
ससर्ज कर्णेऽन्तकदण्डसंनिभाम् ।
तैः पत्रिभिर्विद्धतनुः स विव्यथे
तथा यथा वज्रविदारितोऽचलः ॥६२॥

तदनन्तर अर्जुनने यमदण्डके समान भयंकर नब्बे बाण कर्णपर छोड़े। उन पंखवाले बाणोंसे उसका सारा शरीर बिंध गया तथा वह वज्रसे विदीर्ण किये हुए पर्वतके समान व्यथित हो उठा ॥ ६२ ॥

मणिप्रवेकोत्तमवज्रहाटकै-
रलंकृतं चास्य वराङ्गभूषणम् ।
प्रविद्धमुर्व्यां निपपात पत्रिभि-
र्धनंजयेनोत्तमकुण्डलेऽपि च ॥ ६३ ॥

उत्तम मणियों, हीरों और सुवर्णसे अलंकृत कर्णके मस्तकका आभूषण मुकुट और उसके दोनों उत्तम कुण्डल भी अर्जुनके बाणोंसे छिन्न-भिन्न होकर पृथ्वीपर गिर पड़े ॥६३॥

महाधनं शिल्पिवरैः प्रयत्नतः
कृतं यदस्योत्तमवर्म भास्वरम् ।
सुदीर्घकालेन ततोऽस्य पाण्डवः
क्षणेन बाणैर्बहुधा व्यशातयत् ॥ ६४ ॥

अच्छे-अच्छे शिल्पियोंने कर्णके जिस उत्तम बहुमूल्य और तेजस्वी कवचको दीर्घकालमें बनाकर तैयार किया था, उसके उसी कवचके पाण्डुपुत्र अर्जुनने अपने बाणोंद्वारा क्षणभरमें बहुत-से टुकड़े कर डाले ॥ ६४ ॥

स तं विवर्माणमथोत्तमेषुभिः
शितैश्चतुर्भिः कुपितः पराभिनत् ।
स विव्यथेऽत्यर्थमरिप्रताडितो
यथातुरः पित्तकफानिलज्वरैः ॥ ६५ ॥

कवच कट जानेपर कर्णको कुपित हुए अर्जुनने चार उत्तम तीखे बाणोंसे पुनः क्षत-विक्षत कर दिया। शत्रुके द्वारा अत्यन्त घायल किये जानेपर कर्ण वात, पित्त और कफ सम्बन्धी ज्वर (त्रिदोष या सन्निपात) से आतुर हुए मनुष्यकी भाँति अधिक पीड़ाका अनुभव करने लगा ॥६५॥

महाधनुर्मण्डलनिःसृतैः शितैः
क्रियाप्रयत्नप्रहितैर्बलेन च ।
ततक्ष कर्णं बहुभिः शरोत्तमै-
र्बिभेद मर्मस्वपि चार्जुनस्त्वरन् ॥६६॥

अर्जुनने उतावले होकर क्रिया, प्रयत्न और बलपूर्वक छोड़े गये तथा विशाल धनुर्मण्डलसे छूटे हुए बहुसंख्यक पैने और उत्तम बाणोंद्वारा कर्णके मर्मस्थानोंमें गहरी चोट पहुँचाकर उसे विदीर्ण कर दिया ॥ ६६ ॥

दृढाहतः पत्रिभिरुग्रवेगैः
पार्थेन कर्णो विविधैः शिताग्रैः ।
बभौ गिरिर्गैरिकधातुरक्तः
क्षरन् प्रपातैरिव रक्तमम्भः ॥ ६७ ॥

अर्जुनके भयंकर वेगशाली और तेजधारवाले नाना प्रकारके बाणोंद्वारा गहरी चोट खाकर कर्ण अपने अङ्गोंसे रक्तकी धारा बहाता हुआ उस पर्वतके समान सुशोभित हुआ, जो गेरु आदि धातुओंसे रँगा होनेके कारण अपने झरनोंसे लाल पानी बहाया करता है ॥ ६७ ॥

ततोऽर्जुनः कर्णमवक्रगैर्नवैः
सुवर्णपुङ्खैः सुदृढैरयस्मयैः ।
यमाग्निदण्डप्रतिमैः स्तनान्तरे
पराभिनत् क्रौञ्चमिवाद्रिमग्निजः ॥६८॥

तत्पश्चात् अर्जुनने सोनेके पंखवाले लोहनिर्मित, सुदृढ़ तथा यमदण्ड और अग्निदण्डके तुल्य भयंकर बाणोंद्वारा कर्णकी छातीको उसी प्रकार विदीर्ण कर डाला, जैसे कुमार कार्तिकेयने क्रौञ्च पर्वतको चीर डाला था ॥ ६८ ॥

ततः शरावापमपास्य सूतजो
धनुश्च तच्छक्रशरासनोपमम् ।
ततो रथस्थः स मुमोह च स्खलन्
प्रशीर्णमुष्टिः सुभृशाहतः प्रभो ॥ ६९ ॥

प्रभो ! अत्यन्त आहत हो जानेके कारण सूतपुत्र कर्ण तरकस और इन्द्रधनुषके समान अपना धनुष छोड़कर रथपर ही लड़खड़ाता हुआ मूर्छित हो गया। उस समय उसकी मुट्ठी ढीली हो गयी थी ॥ ६९ ॥

न चार्जुनस्तं व्यसने तदेषिवान्-
निहन्तुमार्यः पुरुषव्रते स्थितः ।
ततस्तमिन्द्रावरजः सुसम्भ्रमा-
दुवाच किं पाण्डव हे प्रमाद्यसे॥ ७० ॥

राजन् ! अर्जुन सत्पुरुषोंके व्रतमें स्थित रहनेवाले श्रेष्ठ मनुष्य हैं; अतः उन्होंने उस संकटके समय कर्णको मारनेकी इच्छा नहीं की। तब इन्द्रके छोटे भाई भगवान् श्रीकृष्णने बड़े वेगसे कहा—'पाण्डुनन्दन ! तुम लापरवाही क्यों दिखाते हो ? ॥ ७० ॥

नैवाहितानां सततं विपश्चितः
क्षणं प्रतीक्षन्त्यपि दुर्बलीयसाम् ।
विशेषतोऽरीन् व्यसनेषु पण्डितो
निहत्य धर्मं च यशश्च विन्दते ॥ ७१ ॥

'विद्वान् पुरुष कभी दुर्बल-से-दुर्बल शत्रुओंको भी नष्ट करनेके लिये किसी अवसरकी प्रतीक्षा नहीं करते। विशेषतः संकटमें पड़े हुए शत्रुओंको मारकर बुद्धिमान् पुरुष धर्म और यशका भागी होता है ॥ ७१ ॥

तदेकवीरं तव चाहितं सदा
त्वरस्व कर्णं सहसाभिमर्दितुम् ।
पुरा समर्थः समुपैति सूतजो
भिन्धि त्वमेनं नमुचिं यथा हरिः॥७२॥

'इसलिये सदा तुमसे शत्रुता रखनेवाले इस अद्वितीय

वीर कर्णको सहसा कुचल डालनेके लिये तुम शीघ्रता करो। सूतपुत्र कर्ण शक्तिशाली होकर आक्रमण करे, इसके पहले ही तुम इसे उसी प्रकार मार डालो, जैसे इन्द्रने नमुचिका वध किया था' ॥ ७२ ॥

ततस्तदेवेत्यभिपूज्य सत्वरं
जनार्दनं कर्णमविध्यदर्जुनः।
शरोत्तमैः सर्वकुरूत्तमस्त्वरं-
स्तथा यथा शम्वरहा पुरा वलिम् ॥७३॥

'अच्छा, ऐसा ही होगा' यों कहकर श्रीकृष्णका समादर करते हुए सम्पूर्ण कुरुकुलके श्रेष्ठ पुरुष अर्जुन उत्तम बाणोंद्वारा शीघ्रतापूर्वक कर्णको उसी प्रकार बींधने लगे, जैसे पूर्वकालमें शम्बर शत्रु इन्द्रने राजा बलिपर प्रहार किया था ७३

साश्वं तु कर्णं सरथं किरीटी
समाचिनोद् भारत वत्सदन्तैः।
प्रच्छादयामास दिशश्च बाणैः
सर्वप्रयत्नात्तपनीयपुङ्खैः ॥ ७४ ॥

भरतनन्दन ! किरीटधारी अर्जुनने घोड़ों और रथसहित कर्णके शरीरको वत्सदन्त नामक बाणोंसे भर दिया। फिर सारी शक्ति लगाकर सुवर्णमय पंखवाले बाणोंसे उन्होंने सम्पूर्ण दिशाओंको आच्छादित कर दिया ॥ ७४ ॥

स वत्सदन्तैः पृथुपीनवक्षाः
समाचितः सोऽधिरथिर्विभाति।
सुपुष्पिताशोकपलाशशाल्मलि-
र्यथाचलश्चन्दनकाननायुतः ॥ ७५ ॥

चौड़े और मोटे वक्षःस्थलवाले अधिरथपुत्र कर्णका शरीर वत्सदन्तनामक बाणोंसे व्याप्त होकर खिले हुए अशोक, पलाश, सेमल और चन्दनवनसे युक्त पर्वतके समान सुशोभित होने लगा ॥ ७५ ॥

शरैः शरीरे बहुभिः समर्पितै-
र्विभाति कर्णः समरे विशाम्पते।
महीरुहैराचितसानुकन्दरो
यथा गिरीन्द्रः स्फुटकर्णिकारवान् ॥७६॥

प्रजानाथ ! कर्णके शरीरमें बहुत-से बाण धँस गये थे। उनके द्वारा समराङ्गणमें उसकी वैसी ही शोभा हो रही थी, जैसे वृक्षोंसे व्याप्त शिखर और कन्दरावाले गिरिराजके ऊपर लाल कनेरके फूल खिलनेसे उसकी शोभा होती है ॥ ७६ ॥

स बाणसङ्घान् बहुधा व्यवासृजद्
विभाति कर्णः शरजालरश्मिवान्।
सलोहितो रक्तगभस्तिमण्डलो
दिवाकरोऽस्ताभिमुखो यथा तथा ॥ ७७ ॥

तदनन्तर कर्ण (सावधान होकर) शत्रुओंपर बहुत-से बाणसमूहोंकी वर्षा करने लगा। उस समय जैसे अस्ताचलकी ओर जाते हुए सूर्यमण्डल और उसकी किरणें लाल हो जाती हैं, उसी प्रकार खूनसे लाल हुआ वह शरसमूहरूपी किरणोंसे सुशोभित हो रहा था ॥ ७७ ॥

बाह्वन्तरादाधिरथेर्विमुक्तान्
बाणान् महाहीनिव दीप्यमानान्।
व्यध्वंसयन्नर्जुनबाहुमुक्ताः
शराः समासाद्य दिशः शिताग्राः ॥ ७८ ॥

कर्णकी भुजाओंसे छूटकर बड़े-बड़े सर्पोंके समान प्रकाशित होनेवाले बाणोंको अर्जुनके हाथोंसे छूटे हुए तीखे बाणोंने सम्पूर्ण दिशाओंमें फैलकर नष्ट कर दिया ॥ ७८ ॥

ततः स कर्णः समवाप्य धैर्यं
बाणान् विमुञ्चन् कुपिताहिकल्पान्।
विव्याध पार्थं दशभिः पृषत्कैः
कृष्णं च षड्भिः कुपिताहिकल्पैः ॥७९॥

तदनन्तर कर्ण धैर्य धारण करके कुपित सर्पोंके समान भयंकर बाण छोड़ने लगा। उसने क्रोधमें भरे हुए भुजङ्गोंके सदृश दस बाणोंसे अर्जुनको और छःसे श्रीकृष्णको भी घायल कर दिया ॥ ७९ ॥

ततः किरीटी भृशमुग्रनिःस्वनं
महाशरं सर्पविषानलोपमम्।
अयस्मयं रौद्रमहास्त्रसम्भृतं
महाहवे क्षेप्तुमना महामतिः ॥ ८० ॥

तब परम बुद्धिमान् किरीटधारी अर्जुनने उस महासमरमें कर्णपर भयानक शब्द करनेवाले, सर्पविष और अग्निके समान तेजस्वी लोहनिर्मित तथा महारौद्रास्त्रसे अभिमन्त्रित विशाल बाण छोड़नेका विचार किया ॥ ८० ॥

कालो ह्यदृश्यो नृप विप्रकोपा-
न्निदर्शयन् कर्णवधं ब्रुवाणः।
भूमिस्तु चक्रं ग्रसतीत्यवोचत्
कर्णस्य तस्मिन् वधकाल आगते ॥ ८१ ॥

नरेश्वर ! उस समय काल अदृश्य रहकर ब्राह्मणके क्रोधसे कर्णके वधकी सूचना देता हुआ उसकी मृत्युका समय उपस्थित होनेपर इस प्रकार बोला—'अब भूमि तुम्हारे पहियेको निगलना ही चाहती है' ॥ ८१ ॥

ततस्तदस्त्रं मनसः प्रणष्टं
यद् भार्गवोऽस्मै प्रददौ महात्मा।
चक्रं च वामं ग्रसते भूमिरस्य
प्राप्ते तस्मिन् वधकाले नृवीर ॥ ८२ ॥

नरवीर ! अब कर्णके वधका समय आ पहुँचा था। महात्मा परशुरामने कर्णको जो भार्गवास्त्र प्रदान किया था, वह उस समय उसके मनसे निकल गया—उसे उसकी याद न रह सकी। साथ ही, पृथ्वी उसके रथके बायें पहियेको निगलने लगी ॥ ८२ ॥

ततो रथो घूर्णितवान् नरेन्द्र
शापात्तदा ब्राह्मणसत्तमस्य।

ततश्चक्रमपतत्तस्य भूमौ
स विह्वलः समरे सूतपुत्रः ॥ ८३ ॥

नरेन्द्र ! श्रेष्ठ ब्राह्मणके शापसे उस समय उसका रथ डगमगाने लगा और उसका पहिया पृथ्वीमें धँस गया। यह देख सूतपुत्र कर्ण समराङ्गणमें व्याकुल हो उठा ॥ ८३ ॥

सवेदिकश्चैत्य इवातिमात्रः
सुपुष्पितो भूमितले निमग्नः।
घूर्णे रथे ब्राह्मणस्याभिशापाद्
रामादुपात्ते त्वविभाति चास्त्रे ॥८४॥
छिन्ने शरे सर्पमुखे च घोरे
पार्थेन तस्मिन् विषसाद कर्णः।
अमृष्यमाणो व्यसनानि तानि
हस्तौ विधुन्वन् स विगर्हमाणः॥ ८५ ॥

जैसे सुन्दर पुष्पोंसे युक्त विशाल चैत्यवृक्ष वेदीसहित पृथ्वीमें धँस जाय, वही दशा उस रथकी भी हुई। ब्राह्मणके शापसे जब रथ डगमग करने लगा, परशुरामजीसे प्राप्त हुआ अस्त्र भूल गया और घोर सर्पमुख बाण अर्जुनके द्वारा काट डाला गया, तब उस अवस्थामें उन संकटोंको सहन न कर सकनेके कारण कर्ण खिन्न हो उठा और दोनों हाथ हिला-हिलाकर धर्मकी निन्दा करने लगा ॥ ८४-८५ ॥

धर्मप्रधानं किल पाति धर्म
इत्यब्रुवन् धर्मविदः सदैव।
वयं च धर्मे प्रयताम नित्यं
चर्तुं यथाशक्ति यथाश्रुतं च ॥
स चापि निघ्नाति न पाति भक्तान्
मन्ये न नित्यं परिपाति धर्मः ॥ ८६ ॥

'धर्मज्ञ पुरुषोंने सदा ही यह बात कही है कि 'धर्म-परायण पुरुषकी धर्म सदा रक्षा करता है। हम अपनी शक्ति और ज्ञानके अनुसार सदा धर्मपालनके लिये प्रयत्न करते रहते हैं, किंतु वह भी हमें मारता ही है, भक्तोंकी रक्षा नहीं करता; अतः मैं समझता हूँ, धर्म सदा किसीकी रक्षा नहीं करता है' ॥

एवं ब्रुवन् प्रस्खलिताश्वसूतो
विचाल्यमानोऽर्जुनबाणपातैः।
मर्माभिघाताच्छिथिलः क्रियासु
पुनः पुनर्धर्ममसौ जगर्ह ॥ ८७ ॥

ऐसा कहता हुआ कर्ण जब अर्जुनके बाणोंकी मारसे विचलित हो उठा, उसके घोड़े और सारथि लड़खड़ाकर गिरने लगे और मर्मपर आघात होनेसे वह कार्य करनेमें शिथिल हो गया, तब बारंबार धर्मकी ही निन्दा करने लगा ॥८७॥

ततः शरैर्भीमतरैरविध्यत् त्रिभिराहवे।
हस्ते कृष्णं तथा पार्थमभ्यविध्यच्च सप्तभिः ॥ ८८ ॥

तदनन्तर उसने तीन भयानक बाणोंद्वारा युद्धस्थलमें श्रीकृष्णके हाथमें चोट पहुँचायी और अर्जुनको भी सात बाणोंसे बींध डाला ॥ ८८ ॥

ततोऽर्जुनः सप्तदश तिग्मवेगानजिह्मगान्।
इन्द्राशनिसमान् घोरानसृजत् पावकोपमान्॥ ८९ ॥

तत्पश्चात् अर्जुनने इन्द्रके वज्र तथा अग्निके समान प्रचण्ड वेगशाली सत्रह घोर बाण कर्णपर छोड़े ॥ ८९ ॥

निर्भिद्य ते भीमवेगा ह्यपतन् पृथिवीतले।
कम्पितात्मा ततः कर्णः शक्त्या चेष्टामदर्शयत् ॥९०॥

वे भयानक वेगशाली बाण कर्णको घायल करके पृथ्वीपर गिर पड़े। इससे कर्ण काँप उठा। फिर भी यथाशक्ति युद्धकी चेष्टा दिखाता रहा ॥ ९० ॥

बलेनाथ स संस्तभ्य ब्रह्मास्त्रं समुदैरयत्।
ऐन्द्रं ततोऽर्जुनश्चापि तं दृष्ट्वाभ्युपमन्त्रयत् ॥ ९१ ॥

उसने बलपूर्वक धैर्य धारण करके ब्रह्मास्त्र प्रकट किया। यह देख अर्जुनने भी ऐन्द्रास्त्रको अभिमन्त्रित किया ॥९१॥

गाण्डीवं ज्यां च बाणांश्च सोऽनुमन्त्र्य परंतपः।
व्यसृजच्छरवर्षाणि वर्षाणीव पुरन्दरः ॥ ९२ ॥

शत्रुओंको संताप देनेवाले अर्जुनने गाण्डीव धनुष, प्रत्यञ्चा और बाणोंको भी अभिमन्त्रित करके वहाँ शरसमूहोंकी उसी प्रकार वर्षा आरम्भ कर दी, जैसे इन्द्र जलकी वृष्टि करते हैं ॥ ९२ ॥

ततस्तेजोमया बाणा रथात् पार्थस्य निःसृताः।
प्रादुरासन् महावीर्याः कर्णस्य रथमन्तिकात्॥ ९३ ॥

तदनन्तर कुन्तीकुमार अर्जुनके रथसे महान् शक्तिशाली और तेजस्वी बाण निकलकर कर्णके रथके समीप प्रकट होने लगे ॥ ९३ ॥

तान् कर्णस्त्वग्रतो न्यस्तान् मोघांश्चक्रे महारथः।
ततोऽब्रवीद् वृष्णिवीरस्तस्मिन्नस्त्रे विनाशिते ॥९४॥

महारथी कर्णने अपने सामने आये हुए उन सभी बाणोंको व्यर्थ कर दिया। उस अस्त्रके नष्ट कर दिये जानेपर वृष्णिवंशी वीर भगवान् श्रीकृष्णने कहा—॥ ९४ ॥

विसृजास्त्रं परं पार्थ राधेयो ग्रसते शरान्।
ततो ब्रह्मास्त्रमत्युग्रं सम्मन्त्र्य समयोजयत् ॥ ९५ ॥

'पार्थ ! दूसरा कोई उत्तम अस्त्र छोड़ो। राधापुत्र कर्ण तुम्हारे बाणोंको नष्ट करता जा रहा है।' तब अर्जुनने अत्यन्त भयंकर ब्रह्मास्त्रको अभिमन्त्रित करके धनुषपर रक्खा ॥९५॥

छादयित्वा ततो बाणैः कर्णं प्रत्यस्यदर्जुनः।
ततः कर्णः शितैर्बाणैर्ज्यां चिच्छेद सुतेजनैः ॥ ९६ ॥

और उसके द्वारा बाणोंकी वर्षा करके अर्जुनने कर्णको आच्छादित कर दिया। इसके बाद भी वे लगातार बाणोंका प्रहार करते रहे। तब कर्णने तेज किये हुए पैने बाणोंसे अर्जुनके धनुषकी डोरी काट डाली ॥ ९६ ॥

द्वितीयां च तृतीयां च चतुर्थीं पञ्चमीं तथा।
षष्ठीमथास्य चिच्छेद सप्तमीं च तथाष्टमीम् ॥ ९७ ॥

उसने क्रमशः दूसरी, तीसरी, चौथी, पाँचवीं, छठी, सातवीं और आठवीं डोरी भी काट दी ॥ ९७ ॥

नवमीं दशमीं चास्य तथा चैकादशीं वृषः ।
ज्याशतं शतसंधानः स कर्णो नावबुध्यते ॥ ९८ ॥

इतना ही नहीं, नवीं, दसवीं और ग्यारहवीं डोरी काटकर भी सौ बाणोंका संधान करनेवाले कर्णको यह पता नहीं चला कि अर्जुनके धनुषमें सौ डोरियाँ लगी हैं ॥ ९८ ॥

ततो ज्यां विनिधायान्यामभिमन्त्र्य च पाण्डवः ।
शरैरवाकिरत् कर्णं दीप्यमानैरिवाहिभिः ॥ ९९ ॥

तदनन्तर दूसरी डोरी चढ़ाकर पाण्डुकुमार अर्जुनने उसे भी अभिमन्त्रित किया और प्रज्वलित सर्पोंके समान बाणोंद्वारा कर्णको आच्छादित कर दिया ॥ ९९ ॥

तस्य ज्याछेदनं कर्णो ज्यावधानं च संयुगे ।
नान्वबुध्यत शीघ्रत्वात्तदद्भुतमिवाभवत् ॥१००॥

युद्धस्थलमें अर्जुनके धनुषकी डोरी काटना और पुनः दूसरी डोरीका चढ़ जाना इतनी शीघ्रतासे होता था कि कर्णको भी उसका पता नहीं चलता था । वह एक अद्भुत-सी घटना थी ॥ १०० ॥

अस्त्रैरस्त्राणि संवार्य प्रनिघ्नन् सव्यसाचिनः ।
चक्रे चाप्यधिकं पार्थात् स्ववीर्यमतिदर्शयन् ॥१०१॥

कर्ण अपने अस्त्रोंद्वारा सव्यसाची अर्जुनके अस्त्रोंका निवारण करके उन सबको नष्ट कर दिया और अपने पराक्रमका प्रदर्शन करते हुए उसने अपने आपको अर्जुनसे अधिक शक्तिशाली सिद्ध कर दिखाया ॥ १०१ ॥

ततः कृष्णोऽर्जुनं दृष्ट्वा कर्णास्त्रेण च पीडितम् ।
अभ्यसेत्यब्रवीत् पार्थमातिष्ठास्त्रं व्रजेति च ॥१०२॥

तब श्रीकृष्णने अर्जुनको कर्णके अस्त्रसे पीड़ित हुआ देखकर कहा—'पार्थ ! लगातार अस्त्र छोड़ो । उत्तम अस्त्रोंका प्रयोग करो और आगे बढ़े चलो' ॥ १०२ ॥

ततोऽग्निसदृशं घोरं शरं सर्पविषोपमम् ।
अश्मसारमयं दिव्यमभिमन्त्र्य परंतपः ॥१०३॥
रौद्रमस्त्रं समाधाय क्षेप्तुकामः किरीटवान् ।
ततोऽग्रसन्मही चक्रं राधेयस्य तदा नृप ॥ १०४ ॥

तब शत्रुओंको संताप देनेवाले अर्जुनने अग्नि और सर्पविषके समान भयंकर लोहमय दिव्य बाणको अभिमन्त्रित करके उसमें रौद्रास्त्रका आधान किया और उसे कर्णपर छोड़नेका विचार किया । नरेश्वर ! इतनेहीमें पृथ्वीने राधापुत्र कर्णके पहियेको ग्रस लिया ॥ १०३-१०४ ॥

ततोऽवतीर्य राधेयो रथादाशु समुद्यतः ।
चक्रं भुजाभ्यामालम्ब्य समुत्क्षेप्तुमियेष सः ॥१०५॥

यह देख राधापुत्र कर्ण शीघ्र ही रथसे उतर पड़ा और उद्योगपूर्वक अपनी दोनों भुजाओंसे पहियेको थामकर उसे ऊपर उठानेका विचार किया ॥ १०५ ॥

सप्तद्वीपा वसुमती सशैलवनकानना ।
जीर्णचक्रा समुत्क्षिप्ता कर्णेन चतुरङ्गुलम् ॥१०६॥

कर्णने उस रथको ऊपर उठाते समय ऐसा झटका दि[या] कि सात द्वीपोंसे युक्त, पर्वत, वन और काननोंसहित य[ह] सारी पृथ्वी चक्रको निगले हुए ही चार अङ्गुल ऊ[पर] उठ आयी ॥ १०६ ॥

ग्रस्तचक्रस्तु राधेयः क्रोधादश्रूण्यवर्तयत् ।
अर्जुनं वीक्ष्य संरब्धमिदं वचनमब्रवीत् ॥१०७

पहिया फँस जानेके कारण राधापुत्र कर्ण क्रोधसे आँ[सू] बहाने लगा और रोषावेशसे युक्त अर्जुनकी ओर देखकर इ[स] प्रकार बोला— ॥ १०७ ॥

भो भोः पार्थ महेष्वास मुहूर्तं परिपालय ।
यावच्चक्रमिदं ग्रस्तमुद्धरामि महीतलात् ॥१०८

'महाधनुर्धर कुन्तीकुमार ! दो घड़ी प्रतीक्षा करो, जिस[से] मैं इस फँसे हुए पहियेको पृथ्वीतलसे निकाल लूँ ॥ १०८ ॥

सव्यं चक्रं महीग्रस्तं दृष्ट्वा दैवादिदं मम ।
पार्थ कापुरुषाचीर्णमभिसंधिं विसर्जय ॥१०९

'पार्थ ! दैवयोगसे मेरे इस बायें पहियेको धरतीमें फँ[सा] हुआ देखकर तुम कापुरुषोचित कपटपूर्ण बर्ताव[का] परित्याग करो ॥ १०९ ॥

न त्वं कापुरुषाचीर्णं मार्गमास्थातुमर्हसि ।
ख्यातस्त्वमसि कौन्तेय विशिष्टो रणकर्मसु ॥११०
विशिष्टतरमेव त्वं कर्तुमर्हसि पाण्डव ।

'कुन्तीनन्दन ! जिस मार्गपर कायर चला करते हैं, उ[स]पर तुम भी न चलो; क्योंकि तुम युद्धकर्ममें विशिष्ट वीर[के] रूपमें विख्यात हो । पाण्डुनन्दन ! तुम्हें तो अपने आप[को] और भी विशिष्ट ही सिद्ध करना चाहिये ॥ ११०½ ॥

प्रकीर्णकेशे विमुखे ब्राह्मणेऽथ कृताञ्जलौ ॥१११
शरणागते न्यस्तशस्त्रे याचमाने तथार्जुन ।
अबाणे भ्रष्टकवचे भ्रष्टभग्नायुधे तथा ॥११२
न विमुञ्चन्ति शस्त्राणि शूराः साधुव्रते स्थिताः ।

'अर्जुन ! जो केश खोलकर खड़ा हो, युद्धसे मुँह मो[ड़] चुका हो, ब्राह्मण हो, हाथ जोड़कर शरणमें आया हो, हथिय[ार] डाल चुका हो, प्राणोंकी भीख माँगता हो, जिसके बा[ण,] कवच और दूसरे-दूसरे आयुध नष्ट हो गये हों, ऐसे पुरुष[पर] उत्तम व्रतका पालन करनेवाले शूरवीर शस्त्रोंका प्रहार न[हीं] करते हैं ॥ १११-११२½ ॥

त्वं च शूरतमो लोके साधुवृत्तश्च पाण्डव ॥११३
अभिज्ञो युद्धधर्माणां वेदान्तावभृथाप्लुतः ।
दिव्यास्त्रविदमेयात्मा कार्तवीर्यसमो युधि ॥११४

'पाण्डुनन्दन ! तुम लोकमें महान् शूर और सदाच[ारी] माने जाते हो । युद्धके धर्मोंको जानते हो । वेदान्तका अध्यय[न]रूपी यज्ञ समाप्त करके तुम उसमें अवभृथस्नान कर [चुके] हो । तुम्हें दिव्यास्त्रोंका ज्ञान है । तुम अमेय आत्मब[ल]से सम्पन्न तथा युद्धस्थलमें कार्तवीर्य अर्जुनके समान पराक्[रमी] हो ॥ ११३-११४ ॥

कर्णद्वारा पृथ्वीमें धँसे हुए पहियेको उठानेका प्रयत्न

यावच्चक्रमिदं ग्रस्तमुद्धरामि महाभुज।
न मां रथस्थो भूमिष्ठं विकलं हन्तुमर्हसि ॥११५॥

'महाबाहो! जबतक मैं इस फँसे हुए पहियेको निकाल रहा हूँ, तबतक तुम रथारूढ़ होकर भी मुझ भूमिपर खड़े हुएको बाणोंकी मारसे व्याकुल न करो ॥ ११५ ॥

न वासुदेवात् त्वत्तो वा पाण्डवेय बिभेम्यहम्।
त्वं हि क्षत्रियदायादो महाकुलविवर्धनः।
अतस्त्वां प्रब्रवीम्येष मुहूर्तं क्षम पाण्डव ॥११६॥

'पाण्डुपुत्र! मैं वसुदेवनन्दन श्रीकृष्ण अथवा तुमसे तनिक भी डरता नहीं हूँ। तुम क्षत्रियके पुत्र हो, एक उच्च कुलका गौरव बढ़ाते हो; इसलिये तुमसे ऐसी बात कहता हूँ। पाण्डव! तुम दो घड़ीके लिये मुझे क्षमा करो' ॥११६॥

इति श्रीमहाभारते कर्णपर्वणि कर्णरथचक्रग्रसने नवतितमोऽध्यायः ॥ ९० ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत कर्णपर्वमें कर्णके रथके पहियेका पृथ्वीमें फँसना—इस विषयसे सम्बन्ध रखनेवाला नब्बेवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥९०॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठके २ श्लोक मिलाकर कुल ११८ श्लोक हैं)

एकनवतितमोऽध्यायः

भगवान् श्रीकृष्णका कर्णको चेतावनी देना और कर्णका वध

संजय उवाच

तमब्रवीद् वासुदेवो रथस्थो
राधेय दिष्ट्या स्मरसीह धर्मम्।
प्रायेण नीचा व्यसनेषु मग्ना
निन्दन्ति दैवं कुकृतं न तु स्वम् ॥ १ ॥

संजय कहते हैं—राजन्! उस समय रथपर बैठे हुए भगवान् श्रीकृष्णने कर्णसे कहा—'राधानन्दन! सौभाग्यकी बात है कि अब यहाँ तुम्हें धर्मकी याद आ रही है! प्रायः यह देखनेमें आता है कि नीच मनुष्य विपत्तिमें पड़नेपर दैवकी ही निन्दा करते हैं। अपने किये हुए कुकर्मोंकी नहीं ॥ १ ॥

यद् द्रौपदीमेकवस्त्रां सभाया-
मानाययेस्त्वं च सुयोधनश्च।
दुःशासनः शकुनिः सौबलश्च
न ते कर्ण प्रत्यभात्तत्र धर्मः ॥ २ ॥

'कर्ण! जब तुमने तथा दुर्योधन, दुःशासन और सुबलपुत्र शकुनिने एक वस्त्र धारण करनेवाली रजस्वला द्रौपदीको सभामें बुलवाया था, उस समय तुम्हारे मनमें धर्मका विचार नहीं उठा था? ॥ २ ॥

यदा सभायां राजानमनक्षज्ञं युधिष्ठिरम्।
अजैषीच्छकुनिर्ज्ञानात् क ते धर्मस्तदा गतः ॥ ३ ॥

'जब कौरवसभामें जूएके खेलका ज्ञान न रखनेवाले राजा युधिष्ठिरको शकुनिने जान-बूझकर छलपूर्वक हराया था, उस समय तुम्हारा धर्म कहाँ चला गया था? ॥ ३ ॥

वनवासे व्यतीते च कर्ण वर्षे त्रयोदशे।
न प्रयच्छसि यद् राज्यं क ते धर्मस्तदा गतः ॥ ४ ॥

'कर्ण! वनवासका तेरहवाँ वर्ष बीत जानेपर भी जब तुमने पाण्डवोंका राज्य उन्हें वापस नहीं दिया था, उस समय तुम्हारा धर्म कहाँ चला गया था? ॥ ४ ॥

यद् भीमसेनं सर्पैश्च विषयुक्तैश्च भोजनैः।
आचरत् त्वन्मते राजा क ते धर्मस्तदा गतः ॥ ५ ॥

'जब राजा दुर्योधनने तुम्हारी ही सलाह लेकर भीमसेनको जहर मिलाया हुआ अन्न खिलाया और उन्हें सर्पोंसे डँसवाया, उस समय तुम्हारा धर्म कहाँ गया था? ॥ ५ ॥

यद् वारणावते पार्थान् सुप्ताञ्जतुगृहे तदा।
आदीपयस्त्वं राधेय क ते धर्मस्तदा गतः ॥ ६ ॥

'राधानन्दन! उन दिनों वारणावतनगरमें लाक्षाभवनके भीतर सोये हुए कुन्तीकुमारोंको जब तुमने जलानेका प्रयत्न कराया था, उस समय तुम्हारा धर्म कहाँ गया था? ॥ ६ ॥

यदा रजस्वलां कृष्णां दुःशासनवशे स्थिताम्।
सभायां प्राहसः कर्ण क ते धर्मस्तदा गतः ॥ ७ ॥

'कर्ण! भरी सभामें दुःशासनके वशमें पड़ी हुई रजस्वला द्रौपदीको लक्ष्य करके जब तुमने उपहास किया था, तब तुम्हारा धर्म कहाँ चला गया था? ॥ ७ ॥

यदनार्यैः पुरा कृष्णां क्लिश्यमानामनागसम्।
उपप्रेक्षसि राधेय क ते धर्मस्तदा गतः ॥ ८ ॥

'राधानन्दन! पहले नीच कौरवोंद्वारा क्लेश पाती हुई निरपराध द्रौपदीको जब तुम निकटसे देख रहे थे, उस समय तुम्हारा धर्म कहाँ गया था? ॥ ८ ॥

विनष्टाः पाण्डवाः कृष्णे शाश्वतं नरकं गताः।
पतिमन्यं वृणीष्वेति वदंस्त्वं गजगामिनीम् ॥ ९ ॥
उपप्रेक्षसि राधेय क ते धर्मस्तदा गतः।

'(याद है न, तुमने द्रौपदीसे कहा था) 'कृष्णे पाण्डव नष्ट हो गये, सदाके लिये नरकमें पड़ गये। अब तू किसी दूसरे पतिका वरण कर ले। जब तुम ऐसी बात कहते हुए गजगामिनी द्रौपदीको निकटसे आँखें फाड़-फाड़कर देख रहे थे, उस समय तुम्हारा धर्म कहाँ चला गया था? ॥ ९½ ॥

राज्यलुब्धः पुनः कर्ण समाव्ययसि पाण्डवान्।
यदा शकुनिमाश्रित्य क ते धर्मस्तदा गतः ॥ १० ॥

'कर्ण! फिर राज्यके लोभमें पड़कर तुमने शकुनिकी सलाहके अनुसार जब पाण्डवोंको दुबारा जूएके लिये बुलवाया, उस समय तुम्हारा धर्म कहाँ चला गया था? ॥ १० ॥

यदाभिमन्युं बहवो युद्धे जघ्नुर्महारथाः।
परिवार्य रणे बालं क ते धर्मस्तदा गतः ॥ ११ ॥

'जब युद्धमें तुम बहुत-से महारथियोंने मिलकर बालक अभिमन्युको चारों ओरसे घेरकर मार डाला था, उस समय तुम्हारा धर्म कहाँ चला गया था ? ॥ ११ ॥

यद्येव धर्मस्तत्र न विद्यते हि
किं सर्वथा तालुविशोषणेन ।
अद्येह धर्म्याणि विधत्स्व सूत
तथापि जीवन्न विमोक्ष्यसे हि ॥ १२ ॥

'यदि उन अवसरोंपर यह धर्म नहीं था तो आज भी यहाँ सर्वथा धर्मकी दुहाई देकर तालु सुखानेसे क्या लाभ ? सूत ! अब यहाँ धर्मके कितने ही कार्य क्यों न कर डालो, तथापि जीते-जी तुम्हारा छुटकारा नहीं हो सकता ॥ १२ ॥

नलो ह्यक्षैर्निर्जितः पुष्करेण
पुनर्यशो राज्यमवाप वीर्यात् ।
प्राप्तास्तथा पाण्डवा बाहुवीर्यात्
सर्वैः समेताः परिवृत्तलोभाः ॥ १३ ॥
निहत्य शत्रून् समरे प्रवृद्धान्
ससोमका राज्यमवाप्नुयुस्ते ।
तथा गता धार्तराष्ट्रा विनाशं
धर्माभिगुप्तैः सततं नृसिंहैः ॥ १४ ॥

'पुष्करने राजा नलको जूएमें जीत लिया था; किंतु उन्होंने अपने ही पराक्रमसे पुनः अपने राज्य और यश दोनोंको प्राप्त कर लिया। इसी प्रकार लोभशून्य पाण्डव भी अपनी भुजाओंके बलसे सम्पूर्ण सगे-सम्बन्धियोंके साथ रहकर समराङ्गणमें बढ़े-चढ़े शत्रुओंका संहार करके फिर अपना राज्य प्राप्त करेंगे। निश्चय ही ये सोमकोंके साथ अपने राज्यपर अधिकार कर लेंगे। पुरुषसिंह पाण्डव सदैव अपने धर्मसे सुरक्षित हैं; अतः इनके द्वारा अवश्य धृतराष्ट्रके पुत्रोंका नाश हो जायगा' ॥ १३-१४ ॥

संजय उवाच

एवमुक्तस्तदा कर्णो वासुदेवेन भारत ।
लज्जयावनतो भूत्वा नोत्तरं किंचिदुक्तवान् ॥ १५ ॥

संजय कहते हैं—भारत ! उस समय भगवान् श्रीकृष्णके ऐसा कहनेपर कर्णने लज्जासे अपना सिर झुका लिया, उससे कुछ भी उत्तर देते नहीं बना ॥ १५ ॥

क्रोधात् प्रस्फुरमाणौष्ठो धनुरुद्यम्य भारत ।
योधयामास वै पार्थं महावेगपराक्रमः ॥ १६ ॥

भरतनन्दन ! वह महान् वेग और पराक्रमसे सम्पन्न हो क्रोधसे ओंठ फड़फड़ाता हुआ धनुष उठाकर अर्जुनके साथ युद्ध करने लगा ॥ १६ ॥

ततोऽब्रवीद् वासुदेवः फाल्गुनं पुरुषर्षभम् ।
दिव्यास्त्रेणैव निर्भिद्य पातयस्व महाबल ॥ १७ ॥

तब वसुदेवनन्दन श्रीकृष्णने पुरुषप्रवर अर्जुनसे इस प्रकार कहा— 'महाबली वीर ! तुम कर्णको दिव्यास्त्रसे ही घायल करके मार गिराओ' ॥ १७ ॥

एवमुक्तस्तु देवेन क्रोधमागात्तदार्जुनः ।
मन्युमभ्याविशद् घोरं स्मृत्वा तत्तु धनंजयः ॥ १८ ॥

भगवान्‌के ऐसा कहनेपर अर्जुन उस समय कर्णके प्रति अत्यन्त कुपित हो उठे। उसकी पिछली करतूतोंको याद करके उनके मनमें भयानक रोष जाग उठा ॥ १८ ॥

तस्य क्रुद्धस्य सर्वेभ्यः स्रोतोभ्यस्तेजसोऽर्चिषः ।
प्रादुरासंस्तदा राजंस्तदद्भुतमिवाभवत् ॥ १९ ॥

कुपित होनेपर उनके सभी छिद्रोंसे—रोम-रोमसे आगकी चिनगारियाँ छूटने लगीं। राजन् ! उस समय यह एक अद्भुत-सी बात हुई ॥ १९ ॥

तत् समीक्ष्य ततः कर्णो ब्रह्मास्त्रेण धनंजयम् ।
अभ्यवर्षत् पुनर्यत्नमकरोद् रथसर्जने ॥ २० ॥

यह देख कर्णने अर्जुनपर ब्रह्मास्त्रका प्रयोग करके बाणोंकी झड़ी लगा दी और पुनः रथको उठानेका प्रयत्न किया ॥ २० ॥

ब्रह्मास्त्रेणैव तं पार्थो ववर्ष शरवृष्टिभिः ।
तदस्त्रमस्त्रेणावार्य प्रजहार च पाण्डवः ॥ २१ ॥

तब पाण्डुपुत्र अर्जुनने भी ब्रह्मास्त्रसे ही उसके अस्त्रको दबाकर उसके ऊपर बाणोंकी वर्षा प्रारम्भ कर दी और उसे अच्छी तरह घायल किया ॥ २१ ॥

ततोऽन्यदस्त्रं कौन्तेयो दयितं जातवेदसः ।
मुमोच कर्णमुद्दिश्य तत् प्रजज्वाल तेजसा ॥ २२ ॥

तदनन्तर कुन्तीकुमारने कर्णको लक्ष्य करके दूसरे दिव्यास्त्रका प्रयोग किया, जो जातवेदा-अग्निका प्रिय अस्त्र था। वह आग्नेयास्त्र अपने तेजसे प्रज्वलित हो उठा ॥ २२ ॥

वारुणेन ततः कर्णः शमयामास पावकम् ।
जीमूतैश्च दिशः सर्वाश्चक्रे तिमिरदुर्दिनाः ॥ २३ ॥

परंतु कर्णने वारुणास्त्रका प्रयोग करके उस अग्निको बुझा दिया। साथ ही सम्पूर्ण दिशाओंमें मेघोंकी घटा घिर आयी और सब ओर अन्धकार छा गया ॥ २३ ॥

पाण्डवेयस्त्वसम्भ्रान्तो वायव्यास्त्रेण वीर्यवान् ।
अपोवाह तदाभ्राणि राधेयस्य प्रपश्यतः ॥ २४ ॥

पराक्रमी अर्जुन इससे विचलित नहीं हुए। उन्होंने राधापुत्र कर्णके देखते-देखते वायव्यास्त्रसे उन बादलोंको उड़ा दिया ॥ २४ ॥

ततः शरं महाघोरं ज्वलन्तमिव पावकम् ।
आददे पाण्डुपुत्रस्य सूतपुत्रो जिघांसया ॥ २५ ॥

तब सूतपुत्रने पाण्डुकुमार अर्जुनका वध करनेके लिये जलती हुई आगके समान एक महाभयंकर बाण हाथमें लिया ॥

योज्यमाने ततस्तस्मिन् बाणे धनुषि पूजिते ।
चचाल पृथिवी राजन् सशैलवनकानना ॥ २६ ॥

राजन् ! उस उत्तम बाणको धनुषपर चढ़ाते ही पर्वत, वन और काननोंसहित सारी पृथ्वी डगमगाने लगी ॥ २६ ॥

ववौ सशर्करो वायुर्दिशश्च रजसा वृताः ।

हाहाकारश्च संजज्ञे सुराणां दिवि भारत ॥ २७ ॥

भारत ! कंकड़ोंकी वर्षा करती हुई प्रचण्ड वायु चलने लगी । सम्पूर्ण दिशाओंमें धूल छा गयी और स्वर्गके देवताओंमें भी हाहाकार मच गया ॥ २७ ॥

तमिषुं संधितं दृष्ट्वा सूतपुत्रेण मारिष ।
विषादं परमं जग्मुः पाण्डवा दीनचेतसः ॥ २८ ॥

माननीय नरेश ! जब सूतपुत्रने उस बाणका संधान किया, उस समय उसे देखकर समस्त पाण्डव दीनचित्त हो बड़े भारी विषादमें डूब गये ॥ २८ ॥

स सायकः कर्णभुजप्रमुक्तः
शक्राशनिप्रख्यरुचिः शिताग्रः ॥ २९ ॥
भुजान्तरं प्राप्य धनंजयस्य
विवेश वल्मीकमिवोरगोत्तमः ।

कर्णके हाथसे छूटा हुआ वह बाण इन्द्रके वज्रके समान प्रकाशित हो रहा था । उसका अग्रभाग बहुत तेज था । वह अर्जुनकी छातीमें जा लगा और जैसे उत्तम सर्प बाँबीमें घुस जाता है, उसी प्रकार वह उनके वक्षःस्थलमें समा गया २९½

स गाढविद्धः समरे महात्मा
विघूर्णमानः श्लथहस्तगाण्डिवः॥ ३० ॥
चचाल बीभत्सुरमित्रमर्दनः
क्षितेः प्रकम्पे च यथाचलोत्तमः।

समराङ्गणमें उस बाणकी गहरी चोट खाकर महात्मा अर्जुनको चक्कर आ गया । गाण्डीव धनुषपर रक्खा हुआ उनका हाथ ढीला पड़ गया और वे शत्रुमर्दन अर्जुन भूकम्पके समय हिलते हुए श्रेष्ठ पर्वतके समान काँपने लगे ॥३०½॥

तदन्तरं प्राप्य वृषो महारथो
रथाङ्गमुर्वीगतमुज्जिहीर्षुः ॥ ३१ ॥
रथादवप्लुत्य निगृह्य दोर्भ्यां
शशाक दैवान्न महाबलोऽपि ।

इसी बीचमें मौका पाकर महारथी कर्णने धरतीमें धँसे हुए पहियेको निकालनेका विचार किया । वह रथसे कूद पड़ा और दोनों हाथोंसे पकड़कर उसे ऊपर उठानेकी कोशिश करने लगा; परंतु महाबलवान् होनेपर भी वह दैववश अपने प्रयासमें सफल न हो सका ॥ ३१½ ॥

ततः किरीटी प्रतिलभ्य संज्ञां
जग्राह बाणं यमदण्डकल्पम् ॥ ३२ ॥
ततोऽर्जुनः प्राञ्जलिकं महात्मा
ततोऽब्रवीद् वासुदेवोऽपि पार्थम् ।
छिन्ध्यस्य मूर्धानमरेः शरेण
न यावदारोहति वै रथं वृषः ॥ ३३ ॥

इसी समय होशमें आकर किरीटधारी महात्मा अर्जुनने यमदण्डके समान भयंकर अञ्जलिक नामक बाण हाथमें लिया । यह देख भगवान् श्रीकृष्णने भी अर्जुनसे कहा—'पार्थ ! कर्ण जबतक रथपर नहीं चढ़ जाता, तबतक ही अपने बाणके द्वारा इस शत्रुका मस्तक काट डालो' ॥ ३२-३३ ॥

तथैव सम्पूज्य स तद् वचः प्रभो-
स्ततः शरं प्रज्वलितं प्रगृह्य ।
जघान कक्षाममलार्कवर्णां
महारथे रथचक्रे विमग्ने ॥ ३४ ॥

तब 'बहुत अच्छा' कहकर अर्जुनने भगवान्‌की उस आज्ञाको सादर शिरोधार्य किया और उस प्रज्वलित बाणको हाथमें लेकर जिसका पहिया फँसा हुआ था, कर्णके उस विशाल रथपर फहराती हुई सूर्यके समान प्रकाशमान ध्वजापर प्रहार किया ॥ ३४ ॥

तं हस्तिकक्षाप्रवरं च केतुं
सुवर्णमुक्तामणिवज्रपृष्ठम् ।
ज्ञानप्रकर्षोत्तमशिल्पियुक्तैः
कृतं सुरूपं तपनीयचित्रम् ॥ ३५ ॥

हाथीकी साँकलके चिह्नसे युक्त उस श्रेष्ठ ध्वजाके पृष्ठभागमें सुवर्ण, मुक्ता, मणि और हीरे जड़े हुए थे । अत्यन्त ज्ञानवान् एवं उत्तम शिल्पियोंने मिलकर उस सुवर्णजटित सुन्दर ध्वजका निर्माण किया था ॥ ३५ ॥

जयास्पदं तव सैन्यस्य नित्य-
ममित्रवित्रासनमीड्यरूपम् ।
विख्यातमादित्यसमं स्म लोके
त्विषा समं पावकभानुचन्द्रैः ॥ ३६ ॥

वह विश्वविख्यात ध्वजा आपकी सेनाकी विजयका आधार स्तम्भ होकर सदा शत्रुओंको भयभीत करती रहती थी । उसका स्वरूप प्रशंसाके ही योग्य था । वह अपनी प्रभासे सूर्य, चन्द्रमा और अग्निकी समानता करती थी ॥ ३६ ॥

ततः क्षुरप्रेण सुसंशितेन
सुवर्णपुङ्खेन हुताग्निवर्चसा ।
श्रिया ज्वलन्तं ध्वजमुन्ममाथ
महारथस्याधिरथेः किरीटी ॥ ३७ ॥

किरीटधारी अर्जुनने सोनेके पंखवाले और आहुतिसे प्रज्वलित हुई अग्निके समान तेजस्वी उस तीखे क्षुरप्रसे महारथी कर्णके उस ध्वजको नष्ट कर दिया, जो अपनी प्रभासे निरन्तर देदीप्यमान होता रहता था ॥ ३७ ॥

यशश्च दर्पश्च तथा प्रियाणि
सर्वाणि कार्याणि च तेन केतुना ।
साकं कुरूणां हृदयानि चापतन्
बभूव हाहेति च निःस्वनो महान्॥ ३८ ॥

कटकर गिरते हुए उस ध्वजके साथ ही कौरवोंके यश, अभिमान, समस्त प्रिय कार्य तथा हृदयका भी पतन हो गया और चारों ओर महान् हाहाकार मच गया ॥ ३८ ॥

दृष्ट्वा ध्वजं पातितमाशुकारिणा
कुरुप्रवीरेण निकृत्तमाहवे ।

नाशंसिरे सूतपुत्रस्य सर्वे
जयं तदा भारत ये त्वदीयाः ॥ ३९ ॥

भारत ! शीघ्रकारी कौरव वीर अर्जुनके द्वारा युद्धस्थलमें उस ध्वजको काटकर गिराया हुआ देख उस समय आपके सभी सैनिकोंने सूतपुत्रकी विजयकी आशा त्याग दी ॥ ३९ ॥

अथ त्वरन् कर्णवधाय पार्थो
महेन्द्रवज्रानलदण्डसंनिभम् ।
आदत्त चाथाञ्जलिकं निषङ्गात्
सहस्ररश्मेरिव रश्मिमुत्तमम् ॥ ४० ॥

तदनन्तर कर्णके वधके लिये शीघ्रता करते हुए अर्जुनने अपने तरकससे एक अञ्जलिक नामक बाण निकाला, जो इन्द्रके वज्र और अग्निके दण्डके समान भयंकर तथा सूर्यकी एक उत्तम किरणके समान कान्तिमान् था ॥ ४० ॥

मर्मच्छिदं शोणितमांसदिग्धं
वैश्वानरार्कप्रतिमं महार्हम् ।
नराश्वनागासुहरं त्र्यरत्निं
षड्वाजमञ्जोगतिमुग्रवेगम् ॥ ४१ ॥
सहस्रनेत्राशनितुल्यवीर्यं
कालानलं व्यात्तमिवातिघोरम् ।
पिनाकनारायणचक्रसंनिभं
भयङ्करं प्राणभृतां विनाशनम् ॥ ४२ ॥

वह शत्रुके मर्मस्थलको छेदनेमें समर्थ, रक्त और मांससे लिप्त होनेवाला, अग्नि तथा सूर्यके तुल्य तेजस्वी, बहुमूल्य, मनुष्यों, घोड़ों और हाथियोंके प्राण लेनेवाला, मूठी बँधे हुए हाथसे तीन हाथ बड़ा, छः पंखोंसे युक्त, शीघ्रगामी, भयंकर वेगशाली, इन्द्रके वज्रके तुल्य पराक्रम प्रकट करनेवाला, मुँह बाये हुए कालाग्निके समान अत्यन्त भयानक, भगवान् शिवके पिनाक और नारायणके चक्र-सदृश भयदायक तथा प्राणियोंका विनाश करनेवाला था ॥ ४१-४२ ॥

जग्राह पार्थः स शरं प्रहृष्टो
यो देवसङ्घैरपि दुर्निवार्यः ।
सम्पूजितो यः सततं महात्मा
देवासुरान् यो विजयेन्महेषुः ॥ ४३ ॥

देवताओंके समुदाय भी जिनकी गतिको अनायास नहीं रोक सकते, जो सदा सबके द्वारा सम्मानित, महामनस्वी, विशाल बाण धारण करनेवाले और देवताओं तथा असुरोंपर भी विजय पानेमें समर्थ हैं, उन कुन्तीकुमार अर्जुनने अत्यन्त प्रसन्न होकर उस बाणको हाथमें लिया ॥ ४३ ॥

तं वै प्रमृष्टं प्रसमीक्ष्य युद्धे
चचाल सर्वं सचराचरं जगत् ।
स्वस्ति जगत् स्यादृषयः प्रचुक्रुशु-
स्तमुद्यतं प्रेक्ष्य महाहवेषुम् ॥ ४४ ॥

महायुद्धमें उस बाणको हाथमें लिया और ऊपर उठाया गया देख समस्त चराचर जगत् काँप उठा । ऋषिलोग जोर-जोरसे पुकार उठे कि 'जगत्का कल्याण हो !' ॥ ४४ ॥

ततस्तु तं वै शरमप्रमेयं
गाण्डीवधन्वा धनुषि व्ययोजयत् ।
युक्त्वा महास्त्रेण परेण चापं
विकृष्य गाण्डीवमुवाच सत्वरम् ॥ ४५ ॥

तत्पश्चात् गाण्डीवधारी अर्जुनने उस अप्रमेय शक्तिशाली बाणको धनुषपर रक्खा और उसे उत्तम एवं महान् दिव्यास्त्रसे अभिमन्त्रित करके तुरंत ही गाण्डीवको खींचते हुए कहा—॥

अयं महास्त्रप्रहितो महाशरः
शरीरहृच्चासुहरश्च दुर्हृदः ।
तपोऽस्ति तप्तं गुरवश्च तोषिता
मया यदीष्टं सुहृदां श्रुतं तथा ॥ ४६ ॥
अनेन सत्येन निहन्त्वयं शरः
सुसंहितः कर्णमरिं ममोर्जितम् ।
इत्यूचिवांस्तं प्रमुमोच बाणं
धनंजयः कर्णवधाय घोरम् ॥ ४७ ॥

'यह महान् दिव्यास्त्रसे प्रेरित महाबाण शत्रुके शरीर, हृदय और प्राणोंका विनाश करनेवाला है । यदि मैंने तप किया हो, गुरुजनोंको सेवाद्वारा संतुष्ट रक्खा हो, यज्ञ किया हो और हितैषी मित्रोंकी बातें ध्यान देकर सुनी हो तो इस सत्यके प्रभावसे यह अच्छी तरह संधान किया हुआ बाण मेरे शक्तिशाली शत्रु कर्णका नाश कर डाले, ऐसा कहकर धनंजयने उस घोर बाणको कर्णके वधके लिये छोड़ दिया ॥ ४६-४७ ॥

कृत्यामथर्वाङ्गिरसीमिवोग्रां
दीप्तामसह्यां युधि मृत्युनापि ।
ब्रुवन् किरीटी तमतिप्रहृष्टो
ह्ययं शरो मे विजयावहोऽस्तु ॥ ४८ ॥
जिघांसुरर्केन्दुसमप्रभावः
कर्णं मयास्तो नयतां यमाय ।

जैसे अथर्वाङ्गिरस मन्त्रोंद्वारा आभिचारिक प्रयोग करके उत्पन्न की हुई कृत्या उग्र, प्रज्वलित और युद्धमें मृत्युके लिये भी असह्य होती है, उसी प्रकार वह बाण भी था । किरीटधारी अर्जुन अत्यन्त प्रसन्न होकर उस बाणको लक्ष्य करके बोले—'मेरा यह बाण मुझे विजय दिलानेवाला हो । इसका प्रभाव चन्द्रमा और सूर्यके समान है । मेरा छोड़ा हुआ यह घातक अस्त्र कर्णको यमलोक पहुँचा दे' ॥ ४८½ ॥

तेनेषुवर्येण किरीटमाली
प्रहृष्टरूपो विजयावहेन ॥ ४९ ॥
जिघांसुरर्केन्दुसमप्रभेण
चक्रे विषक्तं रिपुमाततायी ।

किरीटधारी अर्जुन अत्यन्त प्रसन्न हो अपने शत्रुको मारनेकी इच्छासे आततायी बन गये थे । उन्होंने चन्द्रमा

कर्णवध

और सूर्यके समान प्रकाशित होनेवाले उस विजयदायक श्रेष्ठ बाणसे अपने शत्रुको बींध डाला ॥ ४९½ ॥

तथा विमुक्तो बलिनार्कतेजाः
प्रज्वालयामास दिशो नभश्च ।
ततोऽर्जुनस्तस्य शिरो जहार
वृत्रस्य वज्रेण यथा महेन्द्रः ॥ ५० ॥

बलवान् अर्जुनके द्वारा इस प्रकार छोड़ा हुआ वह सूर्यके तुल्य तेजस्वी बाण आकाश एवं दिशाओंको प्रकाशित करने लगा । जैसे इन्द्रने अपने वज्रसे वृत्रासुरका मस्तक काट लिया था, उसी प्रकार अर्जुनने उस बाणद्वारा कर्णका सिर धड़से अलग कर दिया ॥ ५० ॥

शरोत्तमेनाञ्जलिकेन राजं-
स्तदा महास्त्रप्रतिमन्त्रितेन ।
पार्थोऽपराह्णे शिर उच्चकर्त
वैकर्तनस्याथ महेन्द्रसूनुः ॥ ५१ ॥

राजन् ! महान् दिव्यास्त्रसे अभिमन्त्रित अञ्जलिक नामक उत्तम बाणके द्वारा इन्द्रपुत्र कुन्तीकुमार अर्जुनने अपराह्ण-कालमें वैकर्तन कर्णका सिर काट लिया ॥ ५१ ॥

तत् प्रापतच्चाञ्जलिकेन छिन्न-
मथास्य कायो निपपात पश्चात् ।
तदुद्यतादित्यसमानतेजसं
शरन्नभोमध्यगभास्करोपमम् ॥ ५२ ॥
वराङ्गमुर्व्यामपतच्चमूमुखे
दिवाकरोऽस्तादिव रक्तमण्डलः ।

अञ्जलिकसे कटा हुआ कर्णका वह मस्तक पृथ्वीपर गिर पड़ा । उसके बाद उसका शरीर भी धराशायी हो गया । जैसे लाल मण्डलवाला सूर्य अस्ताचलसे नीचे गिरता है, उसी प्रकार उदित सूर्यके समान तेजस्वी तथा शरत्कालीन आकाशके मध्यभागमें तपनेवाले भास्करके समान दुःसह वह मस्तक सेनाके अग्रभागमें पृथ्वीपर जा गिरा ॥ ५२½ ॥

ततोऽस्य देहं सततं सुखोचितं
सुरूपमत्यर्थमुदारकर्मणः ॥ ५३ ॥
परेण कृच्छ्रेण शिरः समत्यजद्
गृहं महर्धीव ससङ्गमीश्वरः ।

तदनन्तर सदा सुख भोगनेके योग्य, उदारकर्मा कर्णके उस अत्यन्त सुन्दर शरीरको उसके मस्तकने बड़ी कठिनाईसे छोड़ा । ठीक उसी तरह, जैसे धनवान् पुरुष अपने समृद्धि-शाली घरको और मन एवं इन्द्रियोंको वशमें रखनेवाला पुरुष सत्सङ्गको बड़े कष्टसे छोड़ पाता है ॥ ५३½ ॥

शरैर्विभिन्नं व्यसु तत् सुवर्चसः
पपात कर्णस्य शरीरमुच्छ्रितम् ॥ ५४ ॥
स्रवद्व्रणं गैरिकतोयविस्रवं
गिरेर्यथा वज्रहतं महाशिरः ।

देहाच्च कर्णस्य निपातितस्य
तेजः सूर्यं खं विततत्याविवेश ॥ ५५ ॥

तेजस्वी कर्णका वह ऊँचा शरीर बाणोंसे क्षत-विक्षत हो घावोंसे खूनकी धारा बहाता हुआ प्राणशून्य होकर गिर पड़ा, मानो वज्रके आघातसे भग्न हुआ किसी पर्वतका विशाल शिखर गेरुमिश्रित जलकी धारा बहा रहा हो । धरतीपर गिराये गये कर्णके शरीरसे एक तेज निकलकर आकाशमें फैल गया और ऊपर जाकर सूर्यमण्डलमें विलीन हो गया ५४-५५

तदद्भुतं सर्वमनुष्ययोधाः
संदृष्टवन्तो निहते स्म कर्णे ।
ततः शङ्खान् पाण्डवा दध्मुरुच्चै-
र्दृष्ट्वा कर्णं पातितं फाल्गुनेन ॥ ५६ ॥

इस अद्भुत दृश्यको वहाँ खड़े हुए सब लोगोंने अपनी आँखों देखा था । कर्णके मारे जानेपर उसे अर्जुनद्वारा गिराया हुआ देख पाण्डवोंने उच्चस्वरसे शङ्ख बजाया ॥ ५६ ॥

तथैव कृष्णश्च धनंजयश्च
हृष्टौ यमौ दध्मतुर्वारिजातौ ।
तं सोमकाः प्रेक्ष्य हतं शयानं
सैन्यैः सार्धं सिंहनादान् प्रचक्रुः ॥ ५७ ॥

इसी प्रकार श्रीकृष्ण, अर्जुन तथा हर्षमें भरे हुए नकुल-सहदेवने भी शङ्ख बजाये । सोमकगण कर्णको मरकर गिरा हुआ देख अपनी सेनाओंके साथ सिंहनाद करने लगे ॥५७॥

तूर्याणि संजघ्नुरतीव हृष्टा
वासांसि चैवादुधुवुर्भुजांश्च ।
संवर्धयन्तश्च नरेन्द्र योधाः
पार्थं समाजग्मुरतीव हृष्टाः ॥ ५८ ॥

वे बड़े हर्षमें भरकर बाजे-बजाने और कपड़े तथा हाथ हिलाने लगे । नरेन्द्र ! अत्यन्त हर्षमें भरे हुए पाण्डव योद्धा अर्जुनको बधाई देते हुए उनके पास आकर मिले ॥ ५८ ॥

बलान्विताश्चापरे ह्यप्यनृत्य-
न्नन्योन्यमाश्लिष्य नदन्त ऊचुः ।
दृष्ट्वा तु कर्णं भुवि चा विपन्नं
कृत्तं रथात् सायकैरर्जुनस्य ॥ ५९ ॥

अर्जुनके बाणोंसे छिन्न-भिन्न एवं प्राणशून्य हुए कर्णको रथसे नीचे पृथ्वीपर गिरा देख दूसरे बलवान् सैनिक एक दूसरेको गलेसे लगाकर नाचते और गर्जते हुए बातें करते थे ॥ ५९ ॥

महानिलेनाद्रिमिवापविद्धं
यज्ञावसानेऽग्निमिव प्रशान्तम् ।
रराज कर्णस्य शिरो निकृत्त-
मस्तं गतं भास्करस्येव बिम्बम् ॥ ६० ॥

कर्णका वह कटा हुआ मस्तक वायुके वेगसे टूटकर गिरे हुए पर्वतखण्डके समान, यज्ञके अन्तमें बुझी हुई अग्निके सदृश तथा अस्ताचलपर पहुँचे हुए सूर्यके बिम्बकी भाँति सुशोभित हो रहा था ॥ ६० ॥

शरसंचितसर्वाङ्गः शोणितौघपरिप्लुतः ।
विभाति देहः कर्णस्य स्वरश्मिभिरिवांशुमान् ॥ ६१ ॥

सभी अङ्गोंमें बाणोंसे व्याप्त और खूनसे लथपथ हुआ कर्णका शरीर अपनी किरणोंसे प्रकाशित होनेवाले अंशुमाली सूर्यके समान शोभा पा रहा था ॥ ६१ ॥

प्रताप्य सेनामामित्रीं दीप्तैः शरगभस्तिभिः ।
बलिनार्जुनकालेन नीतोऽस्तं कर्णभास्करः ॥ ६२ ॥

बाणमयी उद्दीप्त किरणोंसे शत्रुकी सेनाको तपाकर कर्णरूपी सूर्य बलवान् अर्जुनरूपी कालसे प्रेरित हो अस्ताचलको जा पहुँचा ॥ ६२ ॥

अस्तं गच्छन् यथादित्यः प्रभामादाय गच्छति ।
तथा जीवितमादाय कर्णस्येषुर्जगाम सः ॥ ६३ ॥

जैसे अस्ताचलको जाता हुआ सूर्य अपनी प्रभाको लेकर चला जाता है, उसी प्रकार वह बाण कर्णके प्राण लेकर चला गया॥

अपराह्णेऽपराह्णोऽस्य सूतपुत्रस्य मारिष ।
छिन्नमञ्जलिकेनाजौ सोत्सेधमपतच्छिरः ॥ ६४ ॥

माननीय नरेश ! दान देते समय जो दूसरे दिनके लिये वादा नहीं करता था, उस सूतपुत्र कर्णका अञ्जलिक नामक बाणसे कटा हुआ देहसहित मस्तक अपराह्णकालमें धराशायी हो गया॥

उपर्युपरि सैन्यानामस्य शत्रोस्तदञ्जसा ।
शिरः कर्णस्य सोत्सेधमिषुः सोऽप्यहरद् द्रुतम् ॥ ६५ ॥

उस बाणने सारी सेनाके ऊपर-ऊपर जाकर अर्जुनके शत्रुभूत कर्णके शरीरसहित मस्तकको वेगपूर्वक अनायास ही काट डाला था ॥ ६५ ॥

कर्णं तु शूरं पतितं पृथिव्यां
शराचितं शोणितदिग्धगात्रम् ।
दृष्ट्वा शयानं भुवि मद्रराज-
श्छिन्नध्वजेनाथ ययौ रथेन ॥ ६६ ॥

शूरवीर कर्णको बाणसे व्याप्त और खूनसे लथपथ होकर पृथ्वीपर पड़ा हुआ देख मद्रराज शल्य उस कटी हुई ध्वजावाले रथके द्वारा ही वहाँसे भाग खड़े हुए ॥ ६६ ॥

हते कर्णे कुरवः प्राद्रवन्त
भयार्दिता गाढविद्धाश्च संख्ये ।
अवेक्षमाणा मुहुरर्जुनस्य
ध्वजं महान्तं वपुषा ज्वलन्तम् ॥ ६७ ॥

कर्णके मारे जानेपर युद्धमें अत्यन्त घायल हुए कौरव-सैनिक अर्जुनके प्रज्वलित होते हुए महान् ध्वजको बारंबार देखते हुए भयसे पीड़ित हो भागने लगे ॥ ६७ ॥

सहस्रनेत्रप्रतिमानकर्मणः
सहस्रपत्रप्रतिमाननं शुभम् ।
सहस्ररश्मिर्दिनसंक्षये यथा
तथापतत् कर्णशिरो वसुंधराम् ॥ ६८ ॥

सहस्रनेत्रधारी इन्द्रके समान पराक्रमी कर्णका सहस्रदल कमलके समान वह सुन्दर मस्तक उसी प्रकार पृथ्वीपर गिर पड़ा, जैसे सायंकालमें सहस्र किरणोंवाले सूर्यका मण्डल अस्त हो जाता है ॥ ६८ ॥

(व्यूढोरस्कं कमलनयनं तप्तहेमावभासं
कर्णं दृष्ट्वा भुवि निपतितं पार्थबाणाभितप्तम् ।
पांसुग्रस्तं मलिनमसकृत् पुत्रमन्वीक्षमाणो
मन्दं मन्दं व्रजति सविता मन्दिरं मन्दरश्मिः ॥)

जिसकी छाती चौड़ी और नेत्र कमलके समान सुन्दर थे तथा कान्ति तपाये हुए सुवर्णके समान जान पड़ती थी, वह कर्ण अर्जुनके बाणोंसे संतप्त हो धरतीपर पड़ा, धूलमें सना मलिन हो गया था । अपने उस पुत्रकी ओर बारंबार देखते हुए मन्द किरणोंवाले सूर्यदेव धीरे-धीरे अपने मन्दिर (अस्ताचल) की ओर जा रहे थे ॥

इति श्रीमहाभारते कर्णपर्वणि कर्णवधे एकनवतितमोऽध्यायः ॥ ९१ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत कर्णपर्वमें कर्णवधविषयक इक्यानबेवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ९१ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठका १ श्लोक मिलाकर कुल ६९ श्लोक हैं)

द्विनवतितमोऽध्यायः

कौरवोंका शोक, भीम आदि पाण्डवोंका हर्ष, कौरव-सेनाका पलायन और दुःखित शल्यका दुर्योधनको सान्त्वना देना

संजय उवाच

शल्यस्तु कर्णार्जुनयोर्विमर्दे
बलानि दृष्ट्वा मृदितानि बाणैः ।
ययौ हते चाधिरथौ पदानुगे
रथेन संछिन्नपरिच्छदेन ॥ १ ॥

संजय कहते हैं—राजन् ! कर्ण और अर्जुनके संग्राममें बाणोंद्वारा सारी सेनाएँ रौंद डाली गयी थीं और अधिरथपुत्र कर्ण पैदल होकर मारा गया था। यह सब देखकर राजा शल्य, जिसका आवरण एवं अन्य सारी सामग्री नष्ट कर दी गयी थी, उस रथके द्वारा वहाँसे चल दिये ॥ १ ॥

निपातितस्यन्दनवाजिनागं
बलं च दृष्ट्वा हतसूतपुत्रम् ।
दुर्योधनोऽश्रुप्रतिपूर्णनेत्रो
दीनो मुहुर्निःश्वसंश्चार्तरूपः ॥ २ ॥

कौरव-सेनाके रथ, घोड़े और हाथी मार डाले गये थे । सूतपुत्रका भी वध कर दिया गया था । उस अवस्थामें उस सेनाको देखकर दुर्योधनकी आँखोंमें आँसू भर आये और वह बारंबार लंबी साँस खींचता हुआ दीन एवं दुखी हो गया ॥

कर्णं तु शूरं पतितं पृथिव्यां
शराचितं शोणितदिग्धगात्रम् ।
यदृच्छया सूर्यमिवावनिस्थं
दिदृक्षवः सम्परिवार्य तस्थुः ॥ ३ ॥

शूरवीर कर्ण पृथ्वीपर पड़ा हुआ था। उसके शरीरमें बहुत-से बाण व्याप्त हो रहे थे तथा सारा अङ्ग खूनसे लथपथ हो रहा था। उस अवस्थामें दैवेच्छासे पृथ्वीपर उतरे हुए सूर्यके समान उसे देखनेके लिये सब लोग उसकी लाशको घेरकर खड़े हो गये ॥ ३ ॥

प्रहृष्टवित्रस्तविषण्णविस्मिता-
स्तथा परे शोकहता इवाभवन् ।
परे त्वदीयाश्च परस्परेण
यथायथैषां प्रकृतिस्तथाभवन् ॥ ४ ॥

कोई प्रसन्न था तो कोई भयभीत। कोई विषादग्रस्त था तो कोई आश्चर्यचकित तथा दूसरे बहुत-से लोग शोकसे मृतप्राय हो रहे थे। आपके और शत्रुपक्षके सैनिकोंमेंसे जिसकी जैसी प्रकृति थी, वे परस्पर उसी भावमें मग्न थे॥४॥

प्रविद्धवर्माभरणाम्बरायुधं
धनंजयेनाभिहतं महौजसम् ।
निशाम्य कर्णं कुरवः प्रदुद्रुवु-
र्हतर्षभा गाव इवाजने वने ॥ ५ ॥

जिसके कवच, आभूषण, वस्त्र और अस्त्र-शस्त्र छिन्न-भिन्न होकर पड़े थे, उस महाबली कर्णको अर्जुनद्वारा मारा गया देख कौरवसैनिक निर्जन वनमें साँड़के मारे जानेपर भागनेवाली गायोंके समान इधर-उधर भाग चले ॥ ५ ॥

भीमश्च भीमेन तदा स्वनेन
नादं कृत्वा रोदसीः कम्पयानः।
आस्फोटयन् वल्गते नृत्यते च
हते कर्णे त्रासयन् धार्तराष्ट्रान् ॥ ६ ॥

कर्णके मारे जानेपर धृतराष्ट्रके पुत्रोंको भयभीत करते हुए भीमसेन भयंकर स्वरसे सिंहनाद करके आकाश और पृथ्वीको कँपाने तथा ताल ठोंककर नाचने-कूदने लगे॥ ६ ॥

तथैव राजन् सोमकाः सृञ्जयाश्च
शङ्खान् दध्मुः सस्वजुश्चापि सर्वे ।
परस्परं क्षत्रिया हृष्टरूपाः
सूतात्मजे वै निहते तदानीम् ॥ ७ ॥

राजन्! इसी प्रकार समस्त सोमक और संजय भी शङ्ख बजाने और एक दूसरेको छातीसे लगाने लगे। सूतपुत्रके मारे जानेपर उस समय पाण्डवदलके सभी क्षत्रिय परस्पर हर्षमग्न हो रहे थे ॥ ७ ॥

कृत्वा विमर्दं महदर्जुनेन
कर्णो हतः केसरिणेव नागः ।
तीर्णा प्रतिज्ञा पुरुषर्षभेण
वैरस्यान्तं गतवांश्चापि पार्थः ॥ ८ ॥

जैसे सिंह हाथीको पछाड़ देता है, उसी प्रकार पुरुषप्रवर अर्जुनने बड़ी भारी मार-काट मचाकर कर्णका वध किया, अपनी प्रतिज्ञा पूरी की और उन्होंने वैरका अन्त कर दिया ॥ ८ ॥

मद्राधिपश्चापि विमूढचेता-
स्तूर्णं रथेनापकृतध्वजेन ।
दुर्योधनस्यान्तिकमेत्य राजन्
सबाष्पदुःखाद् वचनं बभाषे ॥ ९ ॥

राजन्! जिसकी ध्वजा काट दी गयी थी, उस रथके द्वारा मद्रराज शल्य भी विमूढ़चित्त होकर तुरंत दुर्योधनके पास गये और दुःखसे आँसू बहाते हुए इस प्रकार बोले—॥

विशीर्णनागाश्वरथप्रवीरं
बलं त्वदीयं यमराष्ट्रकल्पम् ।
अन्योन्यमासाद्य हतं महद्भि-
र्नराश्वनागैर्गिरिकूटकल्पैः ॥ १० ॥

'नरेश्वर! तुम्हारी सेनाके हाथी, घोड़े, रथ और प्रमुख वीर नष्ट-भ्रष्ट हो गये। सारी सेनामें यमराजका राज्य-सा हो गया है। पर्वतशिखरोंके समान विशाल हाथी, घोड़े और पैदल मनुष्य एक दूसरेसे टक्कर लेकर अपने प्राण खो बैठे हैं॥

नैतादृशं भारत युद्धमासीद्
यथा तु कर्णार्जुनयोर्बभूव ।
ग्रस्तौ हि कर्णेन समेत्य कृष्णा-
वन्ये च सर्वे तव शत्रवो ये ॥ ११ ॥

'भारत! आज कर्ण और अर्जुनमें जैसा युद्ध हुआ है, वैसा पहले कभी नहीं हुआ था। कर्णने धावा करके श्रीकृष्ण, अर्जुन तथा तुम्हारे अन्य सब शत्रुओंको भी प्रायः प्राणोंके संकटमें डाल दिया था; परंतु कोई फल नहीं निकला ॥

दैवं ध्रुवं पार्थवशात् प्रवृत्तं
यत् पाण्डवान् पाति हिनस्ति चास्मान्।
तवार्थसिद्ध्यर्थकरास्तु सर्वे
प्रसह्य वीरा निहता द्विषद्भिः ॥ १२ ॥

'निश्चय ही दैव कुन्तीपुत्रोंके अधीन होकर काम कर रहा है, क्योंकि वह पाण्डवोंकी तो रक्षा करता है और हमारा विनाश। यही कारण है कि तुम्हारे अर्थकी सिद्धिके लिये प्रयत्न करनेवाले प्रायः सभी वीर शत्रुओंके हाथसे बलपूर्वक मारे गये ॥ १२ ॥

कुबेरवैवस्वतवासवानां
तुल्यप्रभावा नृपते सुवीराः ।
वीर्येण शौर्येण बलेन तेजसा
तैस्तैस्तु युक्ता विविधैर्गुणौघैः ॥ १३ ॥

'राजन्! तुम्हारी सेनाके श्रेष्ठ वीर कुबेर, यम और इन्द्रके समान प्रभावशाली तथा बल, पराक्रम, शौर्य, तेज एवं अन्य नाना प्रकारके गुणसमूहोंसे सम्पन्न थे ॥ १३ ॥

अवध्यकल्पा निहता नरेन्द्रा-
स्तवार्थकामा युधि पाण्डवेयैः ।

तस्मा शुचो भारत दिष्टमेतत्
पर्याश्वस त्वं न सदास्ति सिद्धिः ॥१४॥

'जो-जो राजा तुम्हारे स्वार्थकी सिद्धि चाहनेवाले और अवध्यके समान थे, उन सबको पाण्डवोंने युद्धमें मार डाला। अतः भारत ! तुम शोक न करो। यह सब प्रारब्धका खेल है। सबको सदा ही सिद्धि नहीं मिलती, ऐसा जानकर धैर्य धारण करो' ॥ १४ ॥

एतद् वचो मद्रपतेर्निशम्य
स्वं चाप्यनीतं मनसा निरीक्ष्य।
दुर्योधनो दीनमना विसंज्ञः
पुनः पुनर्न्यश्वसदार्तरूपः ॥ १५ ॥

मद्रराज शल्यकी ये बातें सुनकर और अपने अन्यायपर भी मन-ही-मन दृष्टि डालकर दुर्योधन बहुत उदास एवं दुखी हो गया। वह अत्यन्त पीड़ित और अचेत-सा होकर बारंबार लंबी उसाँसें भरने लगा ॥ १५ ॥

इति श्रीमहाभारते कर्णपर्वणि शल्यप्रत्यागमने द्विनवतितमोऽध्यायः ॥ ९२ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत कर्णपर्वमें शल्यका युद्धसे प्रत्यागमनविषयक बानबेवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ९२ ॥

त्रिनवतितमोऽध्यायः

भीमसेनद्वारा पच्चीस हजार पैदल सैनिकोंका वध, अर्जुनद्वारा रथसेनाका विध्वंस, कौरवसेनाका पलायन और दुर्योधनका उसे रोकनेके लिये विफल प्रयास

धृतराष्ट्र उवाच

तस्मिंस्तु कर्णार्जुनयोर्विमर्दे
दग्धस्य रौद्रेऽहनि विद्रुतस्य।
बभूव रूपं कुरुसृञ्जयानां
बलस्य बाणोन्मथितस्य कीदृक् ॥ १ ॥

धृतराष्ट्रने पूछा—संजय ! कर्ण और अर्जुनके उस संग्राममें, जब कि सबके लिये भयानक दिन उपस्थित हुआ था, बाणोंकी आगसे दग्ध और उन्मथित होकर भागती हुई कौरवसेना तथा संजयसेनाकी कैसी अवस्था हुई ? ॥ १ ॥

संजय उवाच

शृणु राजन्नवहितो यथा वृत्तो महाक्षयः।
घोरो मनुष्यदेहानामाजौ च गजवाजिनाम् ॥ २ ॥

संजयने कहा—राजन् ! उस युद्धस्थलमें मनुष्यके शरीरों, हाथियों और घोड़ोंका जैसा घोर एवं महान् विनाश हुआ, वह सब सावधान होकर सुनिये ॥ २ ॥

यत्र कर्णे हते पार्थः सिंहनादमथाकरोत्।
तदा तव सुतान् राजन्नाविवेश महद् भयम् ॥ ३ ॥

महाराज ! कर्णके मारे जानेपर अर्जुनने महान् सिंहनाद किया, उस समय आपके पुत्रोंके मनमें बड़ा भारी भय समा गया ॥ ३ ॥

न संधातुमनीकानि न चैवाशु पराक्रमे।
आसीद् बुद्धिर्हते कर्णे तव योधस्य कर्हिचित्॥ ४ ॥

जब कर्णका वध हो गया, तब आपके किसी भी योद्धाका मन कदापि जल्दी पराक्रम दिखानेमें नहीं लगा और न सेनाको संगठित रखनेकी ओर ही किसीका ध्यान गया ॥४॥

वणिजो नावि भिन्नायामगाधे विप्लवे यथा।
अपारे पारमिच्छन्तो हते द्वीपे किरीटिना ॥ ५ ॥

अगाध एवं अपार समुद्रमें तूफान उठनेपर जब जहाज फट जाता है, उस समय पार जानेकी इच्छावाले व्यापारियोंकी जैसी अवस्था होती है, वही दशा किरीटधारी अर्जुनके द्वारा द्वीपस्वरूप कर्णके मारे जानेपर कौरवोंकी हुई ॥ ५ ॥

सूतपुत्रे हते राजन् वित्रस्ताः शस्त्रविक्षताः।
अनाथा नाथमिच्छन्तो मृगाः सिंहैरिवार्दिताः ॥ ६ ॥

राजन् ! सूतपुत्रका वध हो जानेपर सिंहसे पीड़ित हुए मृगोंके समान कौरवसैनिक भयभीत हो उठे। वे अस्त्र-शस्त्रोंसे घायल हो गये थे और अनाथ होकर अपने लिये कोई रक्षक चाहते थे ॥ ६ ॥

भग्नशृङ्गा वृषा यद्वद् भग्नदंष्ट्रा इवोरगाः।
प्रत्यपायाम सायाह्ने निर्जिताः सव्यसाचिना ॥ ७ ॥

हम सब लोग सायंकालमें सव्यसाची अर्जुनसे परास्त होकर शिविरकी ओर लौटे थे। उस समय हमारी दशा उन बैलोंके समान हो रही थी, जिनके सींग तोड़ दिये गये हों। हम उन सर्पोंके समान हो गये थे, जिनके विषैले दाँत नष्ट कर दिये गये हों ॥ ७ ॥

हतप्रवीरा विध्वस्ता निकृत्ता निशितैः शरैः।
सूतपुत्रे हते राजन् पुत्रास्ते दुद्रुवुर्भयात् ॥ ८ ॥

राजन् ! सूतपुत्रके मारे जानेपर पैने बाणोंसे क्षत-विक्षत एवं पराजित हुए आपके पुत्र भयके मारे भागने लगे। उनके प्रमुख वीर रणभूमिमें मारे जा चुके थे ॥ ८ ॥

विस्रस्तयन्त्रकवचाः कांदिग्भूता विचेतसः।
अन्योन्यमवमृद्नन्तो वीक्षमाणा भयार्दिताः ॥ ९ ॥

उनके यन्त्र और कवच गिर गये थे। वे अचेत होकर यह भी नहीं सोच पाते थे कि हम भागकर किस दिशामें जायँ ? एक दूसरेको कुचलते और चारों ओर देखते हुए भयसे पीड़ित हो गये थे ॥ ९ ॥

मामेव नूनं बीभत्सुर्मामेव च वृकोदरः।
अभियातीति मन्वानाः पेतुर्मम्लुश्च सम्भ्रमात् ॥ १० ॥

'निश्चय अर्जुन मेरा ही पीछा कर रहे हैं। भीमसेन मेरी ही ओर चढ़े आ रहे हैं' ऐसा मानते हुए कौरव सैनिक

घबराहटमें पड़कर गिर जाते थे। वे सब-के-सब उदास हो गये थे ॥ १० ॥

हयानन्ये गजानन्ये रथानन्ये महारथाः।
आरुह्य जवसम्पन्नाः पदातीन् प्रजहुर्भयात् ॥ ११ ॥

कुछ लोग घोड़ोंपर, कुछ हाथियोंपर और कुछ दूसरे महारथी रथोंपर आरूढ़ हो भयके मारे बड़े वेगसे भागने लगे। उन्होंने पैदल सैनिकोंको वहीं छोड़ दिया ॥ ११ ॥

कुञ्जरैः स्यन्दनाः क्षुण्णाः सादिनश्च महारथैः।
पदातिसंघाश्चाश्वौघैः पलायद्भिर्भयार्दितैः ॥ १२ ॥

भयभीत होकर भागते हुए हाथियोंने रथोंको चकनाचूर कर दिया। विशाल रथपर बैठे हुए महारथियोंने घुड़सवारोंको कुचल दिया और अश्वसमुदायोंने पैदलसमूहोंके कचूमर निकाल दिये ॥ १२ ॥

व्यालतस्करसंकीर्णे सार्थहीना यथा वने।
सूतपुत्रे हते राजंस्तव योधास्तथाभवन् ॥ १३ ॥

राजन्! जैसे सर्पों और चोरों-बटमारोंसे भरे हुए वनमें अपने दलसे बिछुड़े हुए लोग अनाथ हो भारी विपत्तिमें पड़ जाते हैं, सूतपुत्र कर्णके मारे जानेपर आपके योद्धाओंकी भी वैसी ही दशा हो गयी ॥ १३ ॥

हतारोहा यथा नागाश्छिन्नहस्ता यथा नराः।
सर्वे पार्थमयं लोकं सम्पश्यन्तो भयार्दिताः ॥ १४ ॥

जिनके सवार मारे गये हों वे हाथी और जिनके हाथ काट लिये गये हों वे मनुष्य जैसी दुरवस्थामें पड़ जाते हैं, वैसी ही दशामें पड़कर समस्त कौरव भयसे पीड़ित हो सारे जगत्‌को अर्जुनमय देखने लगे ॥ १४ ॥

सम्प्रेक्ष्य द्रवतः सर्वान् भीमसेनभयार्दितान्।
दुर्योधनोऽथ स्वं सूतं हा हा कृत्वेदमब्रवीत् ॥ १५ ॥

महाराज! उस समय अपने समस्त योद्धाओंको भीमसेनके भयसे व्याकुल हो भागते देख दुर्योधनने हाहाकार करके अपने सारथिसे कहा—॥ १५ ॥

नातिक्रमेच्च मां पार्थो धनुष्पाणिमवस्थितम्।
जघने सर्वसैन्यानां शनैरश्वान् प्रचोदय ॥ १६ ॥

'सूत! तुम धीरे-धीरे रथ आगे बढ़ाओ। मैं सम्पूर्ण सेनाओंके पीछे जब हाथमें धनुष लेकर खड़ा होऊँगा, उस समय अर्जुन मुझे लाँघकर आगे नहीं बढ़ सकते ॥ १६ ॥

युध्यमानं हि कौन्तेयं हनिष्यामि न संशयः।
नोत्सहेन्मामतिक्रान्तुं वेलामिव महोदधिः ॥ १७ ॥

'यदि वे मुझसे युद्ध करेंगे तो मैं उन्हें निःसंदेह मार गिराऊँगा। जैसे महासागर अपनी तटभूमिको लाँघकर आगे नहीं बढ़ता, उसी प्रकार वे भी मुझे लाँघ नहीं सकते ॥ १७ ॥

अद्यार्जुनं सगोविन्दं मानिनं च वृकोदरम्।
हन्यां शिष्टांस्तथा शत्रून् कर्णस्यानृण्यमाप्नुयाम् ॥ १८ ॥

'आज मैं अर्जुन, श्रीकृष्ण और उस घमंडी भीमसेनको तथा बचे-खुचे दूसरे शत्रुओंको भी मार डालूँ, तभी कर्णके ऋणसे मुक्त हो सकता हूँ' ॥ १८ ॥

तच्छ्रुत्वा कुरुराजस्य शूरार्यसदृशं वचः।
सूतो हेमपरिच्छन्नाञ्शनैरश्वानचोदयत् ॥ १९ ॥

कुरुराज दुर्योधनकी वह श्रेष्ठ शूरवीरोंके योग्य बात सुनकर सारथिने सोनेके साज-बाजसे सजे हुए घोड़ोंको धीरे-धीरे आगे बढ़ाया ॥ १९ ॥

रथाश्वनागहीनास्तु पादातास्तव मारिष।
पञ्चविंशतिसाहस्रा युद्धायैव व्यवस्थिताः ॥ २० ॥

माननीय नरेश! उस समय रथों, घोड़ों और हाथियोंसे रहित आपके केवल पचीस हजार पैदल सैनिक ही युद्धके लिये डटे हुए थे ॥ २० ॥

तान् भीमसेनः संक्रुद्धो धृष्टद्युम्नश्च पार्षतः।
बलेन चतुरङ्गेण संवृत्याजघ्नतुः शरैः ॥ २१ ॥

उन सबको क्रोधमें भरे हुए भीमसेन और द्रुपदकुमार धृष्टद्युम्नने अपनी चतुरङ्गिणी सेनाद्वारा चारों ओरसे घेरकर बाणोंसे मारना आरम्भ किया ॥ २१ ॥

प्रत्ययुध्यन्त समरे भीमसेनं सपार्षतम्।
पार्थपार्षतयोश्चान्ये जगृहुस्तत्र नामनी ॥ २२ ॥

वे भी समराङ्गणमें भीमसेन और धृष्टद्युम्नका डटकर सामना करने लगे। उनमेंसे कितने ही योद्धा भीमसेन और धृष्टद्युम्नके नाम ले-लेकर उन्हें युद्धके लिये ललकारने लगे ॥

अक्रुध्यत रणे भीमस्तैस्तदा पर्यवस्थितैः।
सोऽवतीर्य रथात्तूर्णं गदापाणिरयुध्यत ॥ २३ ॥

उस समय भीमसेन रणमें कुपित हो उठे और तुरंत ही रथसे नीचे उतरकर हाथमें गदा ले वहाँ खड़े हुए पैदल-सैनिकोंके साथ युद्ध करने लगे ॥ २३ ॥

न तान् रथस्थो भूमिष्ठान् धर्मापेक्षी वृकोदरः।
योधयामास कौन्तेयो भुजवीर्यव्यपाश्रयः ॥ २४ ॥

कुन्तीनन्दन भीमसेन युद्धधर्मका पालन करनेवाले थे, इसलिये उन्होंने स्वयं रथपर बैठकर भूमिपर खड़े हुए पैदल-सैनिकोंके साथ युद्ध नहीं किया। उन्हें अपने बाहुबलका पूरा भरोसा था ॥ २४ ॥

जातरूपपरिच्छन्नां प्रगृह्य महतीं गदाम्।
अवधीत्तावकान् सर्वान् दण्डपाणिरिवान्तकः ॥ २५ ॥

वे दण्डपाणि यमराजके समान सुवर्णजटित विशाल गदा हाथमें लेकर आपके समस्त सैनिकोंका वध करने लगे ॥ २५ ॥

पदातिनोऽपि संत्यज्य प्रियं जीवितमात्मनः।
भीममभ्यद्रवन् संख्ये पतङ्गा ज्वलनं यथा ॥ २६ ॥

वे पैदल सैनिक भी अपने प्यारे प्राणोंका मोह छोड़कर उस युद्धस्थलमें भीमसेनकी ओर उसी प्रकार दौड़े, जैसे पतंग आगपर टूट पड़ते हैं ॥ २६ ॥

आसाद्य भीमसेनं तु संरब्धा युद्धदुर्मदाः।

विनेशुः सहसा दृष्ट्वा भूतग्रामा इवान्तकम् ॥ २७ ॥

जैसे प्राणियोंके समुदाय यमराजको देखते ही प्राण त्याग देते हैं, उसी प्रकार वे रोषभरे रणदुर्मद सैनिक भीमसेनसे टक्कर लेकर सहसा नष्ट हो गये ॥ २७ ॥

श्येनवद् विचरन् भीमो गदाहस्तो महाबलः ।
पञ्चविंशतिसाहस्रांस्तावकान् समपोथयत् ॥ २८ ॥

हाथमें गदा लिये बाजके समान विचरते हुए महाबली भीमसेनने आपके उन पचीसों हजार सैनिकोंको मार गिराया ॥

हत्वा तत्पुरुषानीकं भीमः सत्यपराक्रमः ।
धृष्टद्युम्नं पुरस्कृत्य तस्थौ तत्र महाबलः ॥ २९ ॥

सत्यपराक्रमी महाबली भीमसेन उस पैदल सेनाका संहार करके धृष्टद्युम्नको आगे किये वहीं खड़े रहे ॥ २९ ॥

धनंजयो रथानीकमभ्यवर्तत वीर्यवान् ।
माद्रीपुत्रौ तु शकुनिं सात्यकिश्च महारथः ॥ ३० ॥
जवेनाभ्यपतन् हृष्टा घ्नन्तो दौर्योधनं बलम् ।

दूसरी ओर पराक्रमी अर्जुनने रथसेनापर आक्रमण किया। माद्रीकुमार नकुल-सहदेव और महारथी सात्यकि हर्षमें भरकर दुर्योधनकी सेनाका संहार करते हुए बड़े वेगसे शकुनिपर टूट पड़े ॥ ३०½ ॥

तस्याश्वसादीन् सुबहूंस्ते निहत्य शितैः शरैः ॥ ३१ ॥
समभ्यधावंस्त्वरितास्तत्र युद्धमभून्महत् ।

वे अपने पैने बाणोंद्वारा उसके बहुत-से घुड़सवारोंको मारकर तुरंत ही उसकी ओर भी दौड़े । फिर तो वहाँ बड़ा भारी युद्ध होने लगा ॥ ३१½ ॥

धनंजयोऽपि चाभ्येत्य रथानीकं तव प्रभो ॥ ३२ ॥
विश्रुतं त्रिषु लोकेषु गाण्डीवं व्याक्षिपद् धनुः ।

प्रभो ! अर्जुन भी आपकी रथसेनाके समीप जाकर त्रिभुवनविख्यात गाण्डीव धनुषकी टंकार करने लगे ॥३२½॥

कृष्णसारथिमायान्तं दृष्ट्वा श्वेतहयं रथम् ॥ ३३ ॥
अर्जुनं चापि योद्धारं त्वदीयाः प्राद्रवन् भयात् ।

श्रीकृष्ण जिसके सारथि हैं, उस श्वेत घोड़ोंवाले रथ और अर्जुन-जैसे रथी योद्धाको आते देख आपके सैनिक भयसे भागने लगे ॥ ३३½ ॥

विप्रहीणरथाश्चैव शरैश्च परिकर्षिताः ॥ ३४ ॥
पञ्चविंशतिसाहस्राः कालमार्च्छन् पदातयः ।

बहुतोंके रथ नष्ट हो गये और कितने ही बाणोंकी मारसे अत्यन्त घायल हो गये । इस प्रकार पचीस हजार पैदल सैनिक कालके गालमें चले गये ॥ ३४½ ॥

हत्वा तान् पुरुषव्याघ्रः पञ्चालानां महारथः ॥ ३५ ॥
पुत्रः पाञ्चालराजस्य धृष्टद्युम्नो महामनाः ।
भीमसेनं पुरस्कृत्य नचिरात् प्रत्यदृश्यत ॥ ३६ ॥
महाधनुर्धरः श्रीमानमित्रगणतापनः ।

पाञ्चालराजकुमार, पाञ्चाल महारथी और महामनस्वी पुरुषसिंह धृष्टद्युम्न उन पैदल सैनिकोंका संहार करके भीमसेनको आगे किये शीघ्र ही वहाँ दिखायी दिये । वे महाधनुर्धर, तेजस्वी और शत्रुसमूहोंको संताप देनेवाले हैं ॥ ३५-३६½ ॥

पारावतसवर्णाश्वं कोविदारमयध्वजम् ॥ ३७ ॥
धृष्टद्युम्नं रणे दृष्ट्वा त्वदीयाः प्राद्रवन् भयात् ।

धृष्टद्युम्नके रथके घोड़े कबूतरके समान रंगवाले थे, उनकी ध्वजापर कचनारके वृक्षका चिह्न था । धृष्टद्युम्नको रणमें उपस्थित देख आपके योद्धा भयसे भाग खड़े हुए ३७½

गान्धारराजं शीघ्रास्त्रमनुसृत्य यशस्विनौ ॥ ३८ ॥
नचिरात् प्रत्यदृश्येतां माद्रीपुत्रौ ससात्यकी ।

गान्धारराज शकुनि शीघ्रतापूर्वक अस्त्र चला रहा था, यशस्वी माद्रीकुमार नकुल-सहदेव और सात्यकि तुरंत ही उसका पीछा करते दिखायी दिये ॥ ३८½ ॥

चेकितानः शिखण्डी च द्रौपदेयाश्च मारिष ॥ ३९ ॥
हत्वा त्वदीयं सुमहत् सैन्यं शङ्खांस्तथाधमन् ।

माननीय नरेश ! चेकितान, शिखण्डी और द्रौपदीके पाँचों पुत्र आपकी विशाल सेनाका विनाश करके शङ्ख बजाने लगे ॥ ३९½ ॥

ते सर्वे तावकान् प्रेक्ष्य द्रवतोऽपि पराङ्मुखान् ॥४०॥
अभ्यवर्तन्त संरब्धान् वृषाञ्जित्वा यथा वृषाः ।

उन सबने आपके सैनिकोंको पीठ दिखाकर भागते देख उनका उसी प्रकार पीछा किया, जैसे साँड़ रोषमें भरे हुए दूसरे साँड़ोंको जीतकर उन्हें खदेड़ने लगते हैं ॥ ४०½ ॥

सेनावशेषं तं दृष्ट्वा तव सैन्यस्य पाण्डवः ॥ ४१ ॥
व्यवस्थितः सव्यसाची चुक्रोध बलवान् नृप ।
धनंजयो रथानीकमभ्यवर्तत वीर्यवान् ॥ ४२ ॥
विश्रुतं त्रिषु लोकेषु व्याक्षिपद् गाण्डिवं धनुः ।

नरेश्वर ! उस समय वहाँ खड़े हुए बलवान् पराक्रमी सव्यसाची पाण्डुपुत्र अर्जुन आपकी सेनाका कुछ भाग अवशिष्ट देखकर कुपित हो उठे और अपने त्रिलोकविख्यात गाण्डीवधनुषकी टंकार करते हुए आपकी रथसेनापर जा चढ़े ॥ ४१-४२½ ॥

तत एनाञ्शरव्रातैः सहसा समवाकिरत् ॥ ४३ ॥
तमसा संवृतेनाथ न स्म किंचिद् व्यदृश्यत ।

उन्होंने अपने बाणसमूहोंद्वारा उन सबको सहसा आच्छादित कर दिया । उस समय सब ओर अन्धकार फैल गया; अतः कुछ भी दिखायी नहीं देता था ॥ ४३½ ॥

अन्धकारीकृते लोके रजोभूते महीतले ॥ ४४ ॥
योधाः सर्वे महाराज तावकाः प्राद्रवन् भयात् ।

महाराज ! इस प्रकार जब जगत्में अँधेरा छा गया और भूतलपर धूल-ही-धूल उड़ने लगी, तब आपके समस्त योद्धा भयभीत होकर भाग गये ॥ ४४½ ॥

सम्भज्यमाने सैन्ये तु कुरुराजो विशाम्पते ॥ ४५ ॥

पराङ्मुखांश्चैव सुतस्ते समुपाद्रवत् ।
ततो दुर्योधनः सर्वानाजुहावाथ पाण्डवान् ॥ ४६ ॥
युद्धाय भरतश्रेष्ठ देवानिव पुरा बलिः ।

प्रजानाथ ! आपकी सेनामें भगदड़ मच जानेपर आपके पुत्र कुरुराज दुर्योधनने अपने सामने खड़े हुए शत्रुओंपर धावा किया । भरतश्रेष्ठ ! जैसे पूर्वकालमें राजा बलिने देवताओंको युद्धके लिये ललकारा था, उसी प्रकार दुर्योधनने भी समस्त पाण्डवोंका युद्धके लिये आह्वान किया ॥४५-४६½॥

त एनमभिगर्जन्तः सहिताः समुपाद्रवन् ॥ ४७ ॥
नानाशस्त्रभृतः क्रुद्धा भर्त्सयन्तो मुहुर्मुहुः ।

तब नाना प्रकारके अस्त्र-शस्त्र धारण किये कुपित पाण्डव सैनिक एक साथ गर्जना करते हुए वहाँ दुर्योधनपर टूट पड़े और बारंबार उसे फटकारने लगे ॥ ४७½ ॥

दुर्योधनोऽप्यसम्भ्रान्तस्तान् रणे निशितैः शरैः ॥४८॥
तत्रावधीत्ततः क्रुद्धः शतशोऽथ सहस्रशः ।
तत् सैन्यं पाण्डवेयानां योधयामास सर्वतः ॥ ४९ ॥

इससे दुर्योधनको तनिक भी घबराहट नहीं हुई । वह रणभूमिमें कुपित हो पैने बाणोंसे शत्रुपक्षके सैकड़ों और हजारों योद्धाओंका संहार करने लगा । वह सब ओर घूम-घूमकर पाण्डवसेनाके साथ जूझ रहा था ॥ ४८-४९ ॥

तत्राद्भुतमपश्याम तव पुत्रस्य पौरुषम् ।
यदेकः सहितान् सर्वान् रणेऽयुध्यत पाण्डवान् ॥५०॥

राजन् ! वहाँ हमलोगोंने आपके पुत्रका यह अद्भुत पुरुषार्थ देखा कि उसने अकेले ही रणभूमिमें एक साथ आये हुए समस्त पाण्डवोंका डटकर सामना किया ॥ ५० ॥

ततोऽपश्यन्महात्मा स स्वसैन्यं भृशदुःखितम् ।
ततोऽवस्थाप्य राजेन्द्र कृतबुद्धिस्तवात्मजः ॥ ५१ ॥
हर्षयन्निव तान् योधानिदं वचनमब्रवीत् ।

राजेन्द्र ! उस समय आपके बुद्धिमान् पुत्र महामनस्वी दुर्योधनने अपनी सेनाको जब बहुत दुखी देखा, तब उन सबको सुस्थिर करके उनका हर्ष बढ़ाते हुए इस प्रकार कहा—॥ ५१½ ॥

न तं देशं प्रपश्यामि यत्र याता भयार्दिताः ॥ ५२ ॥
गतानां यत्र वै मोक्षः पाण्डवात् किं गतेन वः ।
अल्पं च बलमेतेषां कृष्णौ च भृशविक्षतौ ॥ ५३ ॥
अद्य सर्वान् हनिष्यामि ध्रुवो हि विजयो भवेत् ।

'योद्धाओ ! तुम भयसे पीड़ित हो रहे हो । परंतु मैं ऐसा कोई स्थान नहीं देखता, जहाँ तुम भागकर जाओ और वहाँ जानेपर तुम्हें पाण्डुपुत्र अर्जुन या भीमसेनसे छुटकारा मिल जाय । ऐसी दशामें तुम्हारे भागनेसे क्या लाभ है ? इन शत्रुओंके पास थोड़ी-सी ही सेना बच गयी है । श्रीकृष्ण और अर्जुन भी बहुत घायल हो चुके हैं; अतः आज मैं इन सब लोगोंको मार डालूँगा । हमारी विजय अवश्य होगी ॥५२-५३½ ॥

विप्रयातांस्तु वो भिन्नान् पाण्डवाः कृतकिल्बिषान् ५४
अनुसृत्य वधिष्यन्ति श्रेयान् नः समरे वधः ।

'यदि तुम अलग-अलग होकर भागोगे तो पाण्डव तुम सब अपराधियोंका पीछा करके तुम्हें मार डालेंगे । ऐसी दशामें युद्धमें मारा जाना ही हमारे लिये श्रेयस्कर है ॥ ५४½ ॥

सुखं सांग्रामिको मृत्युः क्षत्रधर्मेण युध्यताम् ॥ ५५॥
मृतो दुःखं न जानीते प्रेत्य चानन्त्यमश्नुते ।

'क्षत्रियधर्मके अनुसार युद्ध करनेवाले वीरोंकी संग्राममें सुखपूर्वक मृत्यु होती है । वहाँ मरे हुएको मृत्युके दुःखका अनुभव नहीं होता और परलोकमें जानेपर उसे अक्षय सुखकी प्राप्ति होती है ॥ ५५½ ॥

शृणुध्वं क्षत्रियाः सर्वे यावन्तः स्थ समागताः ॥ ५६॥
यदा शूरं च भीरुं च मारयत्यन्तको यमः ।
को नु मूढो न युध्येत मादृशः क्षत्रियव्रतः ॥ ५७ ॥

'तुम जितने क्षत्रिय वीर यहाँ आये हो सभी कान खोलकर सुन लो । जब प्राणियोंका अन्त करनेवाला यमराज शूरवीर और कायर दोनोंको ही मार डालता है, तब मेरे-जैसा क्षत्रियव्रतका पालन करनेवाला होकर भी कौन ऐसा मूर्ख होगा, जो युद्ध नहीं करेगा ? ॥ ५६-५७ ॥

द्विषतो भीमसेनस्य क्रुद्धस्य वशमेष्यथ ।
पितामहैराचरितं न धर्मं हातुमर्हथ ॥ ५८ ॥

'हमारा शत्रु भीमसेन क्रोधमें भरा हुआ है । यदि भागोगे तो उसके वशमें पड़कर मारे जाओगे; अतः अपने बाप-दादोंके द्वारा आचरणमें लाये हुए क्षत्रिय-धर्मका परित्याग न करो ॥ ५८ ॥

न ह्यधर्मोऽस्ति पापीयान् क्षत्रियस्य पलायनात् ।
न युद्धधर्माच्छ्रेयो हि पन्थाः स्वर्गस्य कौरवाः ।
अचिरेण हता लोकान् सद्यो योधाः समश्नुत ॥ ५९ ॥

'कौरववीरो ! क्षत्रियके लिये युद्धसे पीठ दिखाकर भागनेसे बढ़कर दूसरा कोई महान् पाप नहीं है तथा युद्धधर्मके पालनसे बढ़कर दूसरा कोई स्वर्गकी प्राप्तिका कल्याणकारी मार्ग भी नहीं है; अतः योद्धाओ ! तुम युद्धमें मारे जाकर शीघ्र ही उत्तम लोकोंके सुखका अनुभव करो' ॥५९॥

संजय उवाच

एवं ब्रुवति पुत्रे ते सैनिका भृशविक्षताः ।
अनवेक्ष्यैव तद्वाक्यं प्राद्रवन् सर्वतो दिशः ॥ ६० ॥

संजय कहते हैं—महाराज ! आपका पुत्र इस प्रकार व्याख्यान देता ही रह गया; किंतु अत्यन्त घायल हुए सैनिक उसकी बातपर ध्यान दिये बिना ही सम्पूर्ण दिशाओंमें भाग गये ॥ ६० ॥

इति श्रीमहाभारते कर्णपर्वणि कौरवसैन्यपलायने त्रिनवतितमोऽध्यायः ॥ ९३ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत कर्णपर्वमें कौरवसेनाका पलायनविषयक तिरानबेवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ९३ ॥

चतुर्नवतितमोऽध्यायः

शल्यके द्वारा रणभूमिका दिग्दर्शन, कौरवसेनाका पलायन और श्रीकृष्ण तथा अर्जुनका शिविरकी ओर गमन

संजय उवाच

दृष्ट्वा तु सैन्यं परिवर्त्यमानं
पुत्रेण ते मद्रपतिस्तदानीम्।
संत्रस्तरूपः परिमूढचेता
दुर्योधनं वाक्यमिदं बभाषे ॥ १ ॥

संजय कहते हैं—राजन्! आपके पुत्रद्वारा सेनाको पुनः लौटानेका प्रयत्न होता देख उस समय भयभीत और मूढ़चित्त हुए मद्रराज शल्यने दुर्योधनसे इस प्रकार कहा ॥ १ ॥

शल्य उवाच

पश्येदमुग्रं नरवाजिनागै-
रायोधनं वीरहतैः सुपूर्णम्।
महीधराभैः पतितैश्च नागैः
सकृत्प्रभिन्नैः शरभिन्नदेहैः ॥ २ ॥

सुविह्वलद्भिश्च गतासुभिश्च
प्रध्वस्तवर्मायुधचर्मखड्गैः।
वज्रापविद्धैरिव चाचलोत्तमै-
र्विभिन्नपाषाणमहाद्रुमौषधैः ॥ ३ ॥

प्रविद्धघण्टाङ्कुशतोमरध्वजैः
सहेमजालै रुधिरौघसम्प्लुतैः।
शराभिन्नैः पतितैस्तुरङ्गमैः
श्वसद्भिरार्तैः क्षतजं वमद्भिः ॥ ४ ॥

दीनं स्तनद्भिः परिवृत्तनेत्रै-
र्महीं दशद्भिः कृपणं नदद्भिः।
तथापविद्धैर्गजवाजियोधैः
शरापविद्धैरथ वीरसंघैः ॥ ५ ॥

मन्दासुभिश्चैव गतासुभिश्च
नराश्वनागैश्च रथैश्च मर्दितैः।
मन्दांशुभिश्चैव मही महाहवे
नूनं यथा वैतरणीव भाति ॥ ६ ॥

शल्य बोले—वीर नरेश्वर! देखो, मारे गये मनुष्यों, घोड़ों और हाथियोंकी लाशोंसे भरा हुआ यही युद्धस्थल कैसा भयंकर जान पड़ता है? पर्वताकार गजराज, जिनके मस्तकोंसे मदकी धारा फूटकर बहती थी, एक ही साथ बाणोंकी मारसे शरीर विदीर्ण हो जानेके कारण धराशायी हो गये हैं। उनमेंसे कितने ही वेदनासे छटपटा रहे हैं, कितनोंके प्राण निकल गये हैं। उनपर बैठे हुए सवारोंके कवच, अस्त्र-शस्त्र, ढाल और तलवार आदि नष्ट हो गये हैं। इन्हें देखकर ऐसा जान पड़ता है मानो वज्रके आघातसे बड़े-बड़े पर्वत ढह गये हों और उनके प्रस्तरखण्ड, विशाल वृक्ष तथा औषध-समूह छिन्न-भिन्न हो गये हों। उन गजराजोंके घंटा, अङ्कुश, तोमर और ध्वज आदि सभी वस्तुएँ बाणोंके आघातसे टूट-फूटकर बिखर गयी हैं। उन हाथियोंके ऊपर सोनेकी जालीसे युक्त आवरण पड़ा है। उनकी लाशें रक्तके प्रवाहसे नहा गयी हैं। घोड़े बाणोंसे विदीर्ण होकर गिरे हैं, वेदनासे व्यथित हो उच्छ्वास लेते और मुखसे रक्त वमन करते हैं। वे दीनतापूर्ण आर्तनाद कर रहे हैं। उनकी आँखें घूम रही हैं। वे धरतीमें दाँत गड़ाते और करुण चीत्कार करते हैं। हाथी, घोड़े, पैदल सैनिक तथा वीरसमुदाय बाणोंसे क्षत-विक्षत हो मरे पड़े हैं। किन्हींकी साँसें कुछ-कुछ चल रही हैं और कुछ लोगोंके प्राण सर्वथा निकल गये हैं। हाथी, घोड़े, मनुष्य और रथ कुचल दिये गये हैं। इन सबकी कान्ति मन्द पड़ गयी है। इनके कारण उस महासमरकी भूमि निश्चय ही वैतरणीके समान प्रतीत होती है ॥ २—६ ॥

गजैर्निकृत्तैर्वरहस्तगात्रै-
रुद्वेपमानैः पतितैः पृथिव्याम्।
विशीर्णदन्तैः क्षतजं वमद्भिः
स्फुरद्भिरार्तैः करुणं नदद्भिः ॥ ७ ॥

हाथियोंके शुण्डदण्ड और शरीर छिन्न-भिन्न हो गये हैं। कितने ही हाथी पृथ्वीपर गिरकर काँप रहे हैं, कितनोंके दाँत टूट गये हैं और वे खून उगलते तथा छटपटाते हुए वेदनाग्रस्त हो करुण स्वरमें कराह रहे हैं ॥ ७ ॥

निकृत्तचक्रेषुयुगैः सयोक्त्रभिः
प्रविद्धतूणीरपताककेतुभिः।
सुवर्णजालावततैर्भृशाहतै-
र्महारथौघैर्जलदैरिवावृता ॥ ८ ॥

बड़े-बड़े रथोंके समूह इस रणभूमिमें बादलोंके समान छा गये हैं। उनके पहिये, बाण, जूए और बन्धन कट गये हैं। तरकस, ध्वज और पताकाएँ फेंकी पड़ी हैं; सोनेके जालसे आवृत हुए वे रथ बहुत ही क्षतिग्रस्त हो गये हैं ॥

यशस्विभिर्नागरथाश्वयोधिभिः
पदातिभिश्चाभिमुखैर्हतैः परैः।
विशीर्णवर्माभरणाम्बरायुधै-
र्वृता प्रशान्तैरिव तावकैर्मही ॥ ९ ॥

हाथी, रथ और घोड़ोंपर सवार होकर युद्ध करनेवाले यशस्वी योद्धा और पैदल वीर सामने लड़ते हुए शत्रुओंके हाथसे मारे गये हैं। उनके कवच, आभूषण, वस्त्र और आयुध सभी छिन्न-भिन्न होकर बिखर गये हैं। इस प्रकार शान्त पड़े हुए आपके प्राणहीन योद्धाओंसे यह पृथ्वी पट गयी है ॥ ९ ॥

शरप्रहाराभिहतैर्महाबलै-
रवेक्ष्यमाणैः पतितैः सहस्रशः ।
दिवश्च्युतैर्भूरतिदीप्तिमद्भि-
र्नक्तं ग्रहैर्द्यौरमलप्रदीप्तैः ॥ १० ॥

बाणोंके प्रहारसे घायल होकर गिरे हुए सहस्रों महाबली योद्धा आकाशसे नीचे गिरे हुए अत्यन्त दीप्तिमान् एवं निर्मल प्रभासे प्रकाशित ग्रहोंके समान दिखायी देते हैं और उनसे ढकी हुई यह भूमि रातके समय उन ग्रहोंसे व्याप्त हुए आकाशके सदृश सुशोभित होती है ॥ १० ॥

प्रणष्टसंज्ञैः पुनरुच्छ्वसद्भि-
र्मही बभूवानुगतैरिवाग्निभिः ।
कर्णार्जुनाभ्यां शरभिन्नगात्रै-
र्हतैः प्रवीरैः कुरुसृञ्जयानाम् ॥ ११ ॥

कर्ण और अर्जुनके बाणोंसे जिनके अङ्ग-अङ्ग छिन्न-भिन्न हो गये हैं, उन मारे गये कौरव-सृंजय वीरोंकी लाशोंसे भरी हुई भूमि यज्ञमें स्थापित हुई अग्नियोंके द्वारा यज्ञभूमिके समान सुशोभित होती है। उनमेंसे कितने ही वीरोंकी चेतना लुप्त हो गयी है और कितने ही पुनः साँस ले रहे हैं ॥ ११॥

शरास्तु कर्णार्जुनबाहुमुक्ता
विदाय नागाश्वमनुष्यदेहान् ।
प्राणान् निरस्याशु महीं प्रतीयु-
र्महोरगा वासमिवातिताम्राः ॥ १२ ॥

कर्ण और अर्जुनके हाथोंसे छूटे हुए बाण हाथी, घोड़े और मनुष्योंके शरीरोंको विदीर्ण करके उनके प्राण निकालकर तुरंत पृथ्वीमें घुस गये थे, मानो अत्यन्त लाल रंगके विशाल सर्प अपनी बिलमें जा घुसे हों ॥ १२ ॥

हतैर्मनुष्याश्वगजैश्च संख्ये
शरापविद्धैश्च रथैर्नरेन्द्र ।
धनंजयस्याधिरथेश्च मार्गणै-
रगम्यरूपा वसुधा बभूव ॥ १३ ॥

नरेन्द्र ! अर्जुन और कर्णके बाणोंद्वारा मारे गये हाथी, घोड़े एवं मनुष्योंसे तथा बाणोंसे नष्ट-भ्रष्ट होकर गिरे पड़े रथोंसे इस पृथ्वीपर चलना-फिरना असम्भव हो गया है॥१३॥

रथैर्वरेषून्मथितैः सुकल्पैः
सयोधशस्त्रैश्च वरायुधैर्ध्वजैः ।
विशीर्णयोक्त्रैर्विनिकृत्तबन्धनै-
र्निकृत्तचक्राक्षयुगत्रिवेणुभिः ॥ १४ ॥

सजे-सजाये रथ बाणोंके आघातसे मथ डाले गये हैं। उनके साथ जो योद्धा, शस्त्र, श्रेष्ठ आयुध और ध्वज आदि थे, उनकी भी यही दशा हुई है। उनके पहिये, बन्धन-रज्जु, धुरे, जूए और त्रिवेणु काष्ठके भी टुकड़े-टुकड़े हो गये हैं ॥

विमुक्तशस्त्रैश्च तथा व्युपस्करै-
र्हतानुकर्षैर्विनिषङ्गबन्धनैः ।
प्रभग्ननीडैर्मणिहेमभूषितैः
स्तृता मही द्यौरिव शारदैर्घनैः॥१५॥

उनपर जो अस्त्र-शस्त्र रक्खे गये थे, वे सब दूर जा पड़े हैं। सारी सामग्री नष्ट हो गयी है। अनुकर्ष, तूणीर और बन्धनरज्जु—ये सब-के-सब नष्ट-भ्रष्ट हो गये हैं। उन रथों-की बैठकें टूट-फूट गयी हैं। सुवर्ण और मणियोंसे विभूषित उन रथोंद्वारा आच्छादित हुई पृथ्वी शरद्-ऋतुके बादलोंसे ढके हुए आकाशके समान जान पड़ती है ॥ १५ ॥

विकृष्यमाणैर्जवनैस्तुरङ्गमै-
र्हतेश्वरै राजरथैः सुकल्पितैः ।
मनुष्यमातङ्गरथाश्वराशिभि-
र्द्रुतं व्रजन्तो बहुधा विचूर्णिताः ॥१६॥

जिनके स्वामी (रथी) मारे गये हैं, राजाओंके उन सुसज्जित रथोंको, जब वेगशाली घोड़े खींचे लिये जाते थे और झुंड-के-झुंड मनुष्य, हाथी, साधारण रथ और अश्व भी भागे जा रहे थे, उस समय उनके द्वारा शीघ्रतापूर्वक भागनेवाले बहुत-से मनुष्य कुचलकर चूर-चूर हो गये हैं ॥ १६ ॥

सहेमपट्टाः परिघाः परश्वधाः
शिताश्च शूला मुसलानि मुद्गराः ।
पेतुश्च खड्गा विमला विकोशा
गदाश्च जाम्बूनदपट्टनद्धाः ॥ १७ ॥

सुवर्ण-पत्रसे जड़े गये परिघ, फरसे, तीखे शूल, मुसल, मुद्गर, म्यानसे बाहर निकाली हुई चमचमाती तलवारें और स्वर्णजटित गदाएँ जहाँ-तहाँ बिखरी पड़ी हैं ॥ १७ ॥

चापानि रुक्माङ्गदभूषणानि
शराश्च कार्तस्वरचित्रपुङ्खाः ।
ऋष्टयश्च पीता विमला विकोशाः
प्रासाश्च दण्डैः कनकावभासैः ॥ १८ ॥

छत्राणि बालव्यजनानि शङ्खा-
श्छिन्नापविद्धाश्च स्रजो विचित्राः ।

सुवर्णमय अङ्गदोंसे विभूषित धनुष, सोनेके विचित्र पंखवाले बाण, ऋष्टि, पानीदार एवं कोशरहित निर्मल खड्ग तथा सुनहरे डंडोंसे युक्त प्रास, छत्र, चँवर, शङ्ख और विचित्र मालाएँ छिन्न-भिन्न होकर फेंकी पड़ी हैं ॥ १८½ ॥

कुथाः पताकाम्बरभूषणानि
किरीटमाला मुकुटाश्च शुभ्राः ॥ १९ ॥
प्रकीर्णका विप्रकीर्णाश्च राजन्
प्रवालमुक्ततरलाश्च हाराः ।

राजन् ! हाथीकी पीठपर बिछाये जानेवाले कम्बल या झूल, पताका, वस्त्र, आभूषण, किरीटमाला, उज्ज्वल मुकुट, श्वेत चामर, मूँगे और मोतियोंके हार—ये सब-के-सब इधर-उधर बिखरे पड़े हैं ॥ १९½ ॥

आपीडकेयूरवराङ्गदानि
ग्रैवेयनिष्काः ससुवर्णसूत्राः ॥ २० ॥
मण्युत्तमा वज्रसुवर्णमुक्ता
रत्नानि चोच्चावचमङ्गलानि ।

गात्राणि चात्यन्तसुखोचितानि
शिरांसि चेन्दुप्रतिमाननानि ॥ २१ ॥
देहांश्च भोगांश्च परिच्छदांश्च
त्यक्त्वा मनोज्ञानि सुखानि चैव ।
स्वधर्मनिष्ठां महतीमवाप्य
व्याप्याशु लोकान् यशसा गतास्ते ॥२२॥

शिरोभूषण, केयूर, सुन्दर अङ्गद, गलेके हार, पदक, सोनेकी जंजीर, उत्तम मणि, हीरे, सुवर्ण तथा मुक्ता आदि छोटे-बड़े माङ्गलिक रत्न, अत्यन्त सुख भोगनेके योग्य शरीर, चन्द्रमाको भी लज्जित करनेवाले मुखसे युक्त मस्तक, देह, भोग, आच्छादन-वस्त्र तथा मनोरम सुख—इन सबको त्यागकर स्वधर्मकी पराकाष्ठाका पालन करते हुए सम्पूर्ण लोकोंमें अपने यशका विस्तार करके वे वीर सैनिक दिव्य लोकोंमें पहुँच गये हैं ॥

निवर्त दुर्योधन यान्तु सैनिका
व्रजस्व राजञ्शिबिराय मानद ।
दिवाकरोऽप्येष विलम्बते प्रभो
पुनस्त्वमेवात्र नरेन्द्र कारणम् ॥ २३ ॥

दूसरोंको सम्मान देनेवाले राजा दुर्योधन ! अब लौटो । इन सैनिकोंको भी जाने दो । शिबिरमें चलो । प्रभो ! ये भगवान् सूर्य भी अस्ताचलपर लटक रहे हैं । नरेन्द्र ! तुम्हीं इस नर-संहारके प्रधान कारण हो ॥ २३ ॥

इत्येवमुक्त्वा विरराम शल्यो
दुर्योधनं शोकपरीतचेताः ।
हा कर्ण हा कर्ण इति ब्रुवाण-
मार्तं विसंज्ञं भृशमश्रुनेत्रम् ॥ २४ ॥

दुर्योधनसे ऐसा कहकर राजा शल्य चुप हो गये। उनका चित्त शोकसे व्याकुल हो रहा था । दुर्योधन भी आर्त होकर 'हा कर्ण ! हा कर्ण !' पुकारने लगा । वह सुध-बुध खो बैठा था। उसके नेत्रोंसे वेगपूर्वक आँसुओंकी अविरल धारा बह रही थी॥

तं द्रोणपुत्रप्रमुखा नरेन्द्राः
सर्वे समाश्वास्य मुहुः प्रयान्ति ।
निरीक्षमाणा मुहुरर्जुनस्य
ध्वजं महान्तं यशसा ज्वलन्तम् ॥ २५ ॥

द्रोणपुत्र अश्वत्थामा तथा अन्य सभी नरेश बारंबार आकर दुर्योधनको सान्त्वना देते और अर्जुनके महान् ध्वजको, जो उनके उज्ज्वल यशसे प्रकाशित हो रहा था, देखते हुए फिर लौट जाते थे ॥ २५ ॥

नराश्वमातङ्गशरीरजेन
रक्तेन सिक्तां च तथैव भूमिम् ।
रक्ताम्बरस्रक्तपनीययोगा-
न्नारीं प्रकाशामिव सर्वगम्याम् ॥ २६ ॥

मनुष्यों, घोड़ों और हाथियोंके शरीरसे बहते हुए रक्तकी धारासे वहाँकी भूमि ऐसी सिंच गयी थी कि लालवस्त्र, लाल फूलोंकी माला तथा तपाये हुए सुवर्णके आभूषण धारण करके सबके सामने आयी हुई सर्वगम्या नारी (वेश्या) के समान प्रतीत होती थी ॥ २६ ॥

प्रच्छन्नरूपां रुधिरेण राजन्
रौद्रे मुहूर्तेऽतिविराजमाने ।
नैवावतस्थुः कुरवः समीक्ष्य
प्रव्राजिता देवलोकाय सर्वे ॥ २७ ॥

राजन् ! अत्यन्त शोभा पानेवाले उस रौद्रमुहूर्त (सायंकाल) में, रुधिरसे जिसका- स्वरूप छिप गया था, उस भूमिको देखते हुए कौरवसैनिक वहाँ ठहर न सके । वे सब-के-सब देवलोककी यात्राके लिये उद्यत थे ॥ २७ ॥

वधेन कर्णस्य तु दुःखितास्ते
हा कर्ण हा कर्ण इति ब्रुवाणाः ।
द्रुतं प्रयाताः शिबिराणि राजन्
दिवाकरं रक्तमवेक्षमाणाः ॥ २८ ॥

महाराज ! समस्त कौरव कर्णके वधसे अत्यन्त दुखी हो 'हा कर्ण ! हा कर्ण !' की रट लगाते और लाल सूर्यकी ओर देखते हुए बड़े वेगसे शिबिरकी ओर चले ॥ २८ ॥

गाण्डीवमुक्तैस्तु सुवर्णपुङ्खैः
शिलाशितैः शोणितदिग्धवाजैः ।
शरैश्चिताङ्गो युधि भाति कर्णो
हतोऽपि सन् सूर्य इवांशुमाली ॥ २९ ॥

गाण्डीव धनुषसे छूटे हुए सुवर्णमय पंखवाले और शिलापर तेज किये हुए बाणोंसे कर्णका अङ्ग-अङ्ग बिंध गया था । उन बाणोंकी पाँखें रक्तमें डूबी हुई थीं । उनके द्वारा युद्धस्थलमें पड़ा हुआ कर्ण मर जानेपर भी अंशुमाली सूर्यके समान सुशोभित हो रहा था ॥ २९ ॥

कर्णस्य देहं रुधिरावसिक्तं
भक्तानुकम्पी भगवान् विवस्वान् ।
स्पृष्ट्वांशुभिर्लोहितरक्तरूपः
सिष्णासुरभ्येति परं समुद्रम् ॥ ३० ॥

भक्तोंपर कृपा करनेवाले भगवान् सूर्य खूनसे भीगे हुए कर्णके शरीरका किरणोंद्वारा स्पर्श करके रक्तके समान ही लालरूप धारणकर मानो स्नान करनेकी इच्छासे पश्चिम समुद्रकी ओर जा रहे थे ॥ ३० ॥

इतीव संचिन्त्य सुरर्षिसंघाः
सम्प्रस्थिता यान्ति यथा निकेतनम् ।
संचिन्तयित्वा जनता विसस्रु-
र्यथासुखं खं च महीतलं च ॥ ३१ ॥

इस युद्धके ही विषयमें सोच-विचार करते हुए देवताओं तथा ऋषियोंके समुदाय वहाँसे प्रस्थित हो अपने-अपने स्थानको चल दिये और इसी विषयका चिन्तन करते हुए अन्य लोग भी सुखपूर्वक अन्तरिक्ष अथवा भूतलपर अपने-अपने निवासस्थानको चले गये ॥ ३१ ॥

तदद्भुतं प्राणभृतां भयंकरं
निशाम्य युद्धं कुरुवीरमुख्ययोः ।

धनंजयस्याधिरथेश्च विस्मिताः
प्रशंसमानाः प्रययुस्तदा जनाः ॥ ३२ ॥

कौरव तथा पाण्डव पक्षके उन प्रमुख वीर अर्जुन और कर्णका वह अद्भुत तथा प्राणियोंके लिये भयंकर युद्ध देखकर सब लोग आश्चर्यचकित हो उनकी प्रशंसा करते हुए वहाँसे चले गये ॥ ३२ ॥

शरसंकृत्तवर्माणं रुधिरोक्षितवाससम् ।
गतासुमपि राधेयं नैव लक्ष्मीर्विमुञ्चति ॥ ३३ ॥

राधापुत्र कर्णका कवच बाणोंसे कट गया था । उसके सारे वस्त्र खूनसे भीग गये थे और प्राण भी निकल गये थे तो भी उसे शोभा छोड़ नहीं रही थी ॥ ३३ ॥

तप्तजाम्बूनदनिभं ज्वलनार्कसमप्रभम् ।
जीवन्तमिव तं शूरं सर्वभूतानि मेनिरे ॥ ३४ ॥

वह तपाये हुए सुवर्ण तथा अग्नि और सूर्यके समान कान्तिमान् था । उस शूरवीरको देखकर सब प्राणी जीवित-सा समझते थे ॥ ३४ ॥

हतस्यापि महाराज सूतपुत्रस्य संयुगे ।
वित्रेसुः सर्वतो योधाः सिंहस्येवेतरे मृगाः ॥ ३५ ॥

महाराज ! जैसे सिंहसे दूसरे जङ्गली पशु सदा डरते रहते हैं, उसी प्रकार युद्धस्थलमें मारे गये सूतपुत्रसे भी समस्त योद्धा भय मानते थे ॥ ३५ ॥

हतोऽपि पुरुषव्याघ्र जीववानिव लक्ष्यते ।
नाभवद् विकृतिः काचिद्धतस्यापि महात्मनः ॥ ३६ ॥

पुरुषसिंह नरेश ! वह मारा जानेपर भी जीवित-सा दीखता था, महामना कर्णके शरीरमें मरनेपर भी कोई विकार नहीं हुआ था ॥ ३६ ॥

चारुवेषधरं वीरं चारुमौलिशिरोधरम् ।
तन्मुखं सूतपुत्रस्य पूर्णचन्द्रसमद्युति ॥ ३७ ॥

सूतपुत्र कर्णका मुख पूर्ण चन्द्रमाके समान कान्तिमान् था । उसने मनोहर वेष धारण किया था । वह वीरोचित शोभासे सम्पन्न था । उसके मस्तक और कण्ठ भी मनोहर थे ॥

नानाभरणवान् राजंस्तप्तजाम्बूनदाङ्गदः ।
हतो वैकर्तनः शेते पादपोऽङ्कुरवानिव ॥ ३८ ॥

राजन् ! नाना प्रकारके आभूषणोंसे विभूषित तथा तपाये हुए सुवर्णका अङ्गद (बाजूबंद) धारण किये वैकर्तन कर्ण मारा जाकर अङ्कुरयुक्त वृक्षके समान पड़ा था ॥ ३८ ॥

कनकोत्तमसंकाशो ज्वलन्निव विभावसुः ।
स शान्तः पुरुषव्याघ्र पार्थसायकवारिणा ॥ ३९ ॥

नरव्याघ्र नरेश ! उत्तम सुवर्णके समान कान्तिमान् कर्ण प्रज्वलित अग्निके तुल्य प्रकाशित होता था; परंतु पार्थके बाणरूपी जलसे वह बुझ गया ॥ ३९ ॥

यथा हि ज्वलनो दीप्तो जलमासाद्य शाम्यति ।
कर्णाग्निः समरे तद्वत् पार्थमेघेन शामितः ॥ ४० ॥

जैसे प्रज्वलित आग जलको पाकर बुझ जाती है, उसी प्रकार समराङ्गणमें कर्णरूपी अग्निको अर्जुनरूपी मेघने बुझा दिया ॥ ४० ॥

आहृत्य च यशो दीप्तं सुयुद्धेनात्मनो भुवि ।
विसृज्य शरवर्षाणि प्रताप्य च दिशो दश ॥ ४१ ॥
सपुत्रः समरे कर्णः स शान्तः पार्थतेजसा ।

इस पृथ्वीपर उत्तम युद्धके द्वारा अपने लिये उत्तम यशका उपार्जन करके, बाणोंकी झड़ी लगाकर, दसों दिशाओंको संतप्त करके, पुत्रसहित कर्ण अर्जुनके तेजसे शान्त हो गया ॥

प्रताप्य पाण्डवान् सर्वान् पञ्चालांश्चास्त्रतेजसा ॥ ४२ ॥
वर्षित्वा शरवर्षेण प्रताप्य रिपुवाहिनीम् ।
श्रीमानिव सहस्रांशुर्जगत् सर्वं प्रताप्य च ॥ ४३ ॥
हतो वैकर्तनः कर्णः सपुत्रः सहवाहनः ।
अर्थिनां पक्षिसंघस्य कल्पवृक्षो निपातितः ॥ ४४ ॥

अस्त्रके तेजसे सम्पूर्ण पाण्डव और पाञ्चालोंको संताप देकर, बाणोंकी वर्षाके द्वारा शत्रुसेनाको तपाकर तथा सहस्र किरणोंवाले तेजस्वी सूर्यके समान सम्पूर्ण संसारमें अपना प्रताप बिखेरकर वैकर्तन कर्ण पुत्र और वाहनोंसहित मारा गया । याचकरूपी पक्षियोंके समुदायके लिये जो कल्पवृक्षके समान था, वह कर्ण मार गिराया गया ॥ ४२—४४ ॥

ददानीत्येव योऽवोचन्न नास्तीत्यर्थितोऽर्थिभिः ।
सद्भिः सदा सत्पुरुषः स हतो द्वैरथे वृषः ॥ ४५ ॥

जो माँगनेपर सदा यही कहता था कि 'मैं दूँगा ।' श्रेष्ठ याचकोंके माँगनेपर जिसके मुँहसे कभी 'नाहीं' नहीं निकला, वह धर्मात्मा कर्ण द्वैरथ युद्धमें मारा गया ॥ ४५ ॥

यस्य ब्राह्मणसात् सर्वं वित्तमासीन्महात्मनः ।
नादेयं ब्राह्मणेष्वासीद् यस्य स्वमपि जीवितम् ॥ ४६ ॥
सदा स्त्रीणां प्रियो नित्यं दाता चैव महारथः ।
स वै पार्थास्त्रनिर्दग्धो गतः परमिकां गतिम् ॥ ४७ ॥

जिस महामनस्वी कर्णका सारा धन ब्राह्मणोंके अधीन था, ब्राह्मणोंके लिये जिसका कुछ भी, अपना जीवन भी अदेय नहीं था, जो स्त्रियोंको सदा प्रिय लगता था और प्रतिदिन दान किया करता था, वह महारथी कर्ण पार्थके बाणोंसे दग्ध हो परम गतिको प्राप्त हो गया ॥ ४६-४७ ॥

यमाश्रित्याकरोद् वैरं पुत्रस्ते स गतो दिवम् ।
आदाय तव पुत्राणां जयाशां शर्म वर्म च ॥ ४८ ॥

राजन् ! जिसका सहारा लेकर आपके पुत्रने पाण्डवोंके साथ वैर किया था, वह कर्ण आपके पुत्रोंकी विजयकी आशा, सुख तथा कवच (रक्षा) लेकर स्वर्गलोकको चला गया ॥ ४८ ॥

हते कर्णे सरितो न प्रसस्रु-
र्जगाम चास्तं सविता दिवाकरः ।
ग्रहश्च तिर्यग् ज्वलनार्कवर्णः
सोमस्य पुत्रोऽभ्युदियाय तिर्यक् ॥ ४९ ॥

कर्णके मारे जानेपर नदियोंका प्रवाह रुक गया, सूर्यदेव अस्ताचलको चले गये और अग्नि तथा सूर्यके समान

कान्तिमान् मङ्गल एवं सोमपुत्र बुध तिरछे होकर उदित हुए॥

नभः पफालेव ननाद चोर्वी
ववुश्च वाताः परुषाः सुघोराः।
दिशो बभूवुर्ज्वलिताः सधूमा
महार्णवाः सस्वनुश्चुक्षुभुश्च ॥ ५० ॥

आकाश फटने-सा लगा; पृथ्वी चीत्कार कर उठी, भयानक और रूखी हवा चलने लगी, सम्पूर्ण दिशाएँ धूमसहित अग्निसे प्रज्वलित-सी होने लगीं और महासागर भयंकर स्वरमें गर्जने तथा विक्षुब्ध होने लगे ॥ ५० ॥

सकाननाश्चाद्रिचयाश्चकम्पिरे
प्रविव्यथुर्भूतगणाश्च सर्वे।
बृहस्पतिः सम्परिवार्य रोहिणीं
बभूव चन्द्रार्कसमो विशाम्पते ॥ ५१ ॥

वनोंसहित पर्वतसमूह काँपने लगे, सम्पूर्ण भूतसमुदाय व्यथित हो उठे। प्रजानाथ ! बृहस्पति नामक ग्रह रोहिणी नक्षत्रको सब ओरसे घेरकर चन्द्रमा और सूर्यके समान प्रकाशित होने लगा ॥ ५१ ॥

हते तु कर्णे विदिशोऽपि जज्वलु-
स्तमोवृता द्यौर्विचचाल भूमिः।
पपात चोल्का ज्वलनप्रकाशा
निशाचराश्चाप्यभवन् प्रहृष्टाः ॥ ५२ ॥

कर्णके मारे जानेपर दिशाओंके कोने-कोनेमें आग-सी लग गयी, आकाशमें अँधेरा छा गया, धरती डोलने लगी, अग्निके समान प्रकाशमान उल्का गिरने लगी और निशाचर प्रसन्न हो गये ॥ ५२ ॥

शशिप्रकाशाननमर्जुनो यदा
क्षुरेण कर्णस्य शिरो न्यपातयत्।
तदान्तरिक्षे सहसैव शब्दो
बभूव हाहेति सुरैर्विमुक्तः ॥ ५३ ॥

जिस समय अर्जुनने क्षुरके द्वारा कर्णके चन्द्रमाके समान कान्तिमान् मुखवाले मस्तकको काट गिराया, उस समय आकाशमें देवताओंके मुखसे निकला हुआ हाहाकारका शब्द गूँज उठा ॥ ५३ ॥

सदेवगन्धर्वमनुष्यपूजितं
निहत्य कर्णं रिपुमाहवेऽर्जुनः।
रराज राजन् परमेण वर्चसा
यथा पुरा वृत्रवधे शतक्रतुः ॥ ५४ ॥

राजन् ! देवता, गन्धर्व और मनुष्योंद्वारा पूजित अपने शत्रु कर्णको युद्धमें मारकर अर्जुन अपने उत्तम तेजसे उसी प्रकार प्रकाशित होने लगे, जैसे पूर्वकालमें वृत्रासुरका वध करके इन्द्र सुशोभित हुए थे ॥ ५४ ॥

ततो रथेनाम्बुदवृन्दनादिना
शरन्नभोमध्यदिवाकरार्चिषा।
पताकिना भीमनिनादकेतुना
हिमेन्दुशङ्खस्फटिकावभासिना॥ ५५ ॥

महेन्द्रवाहप्रतिमेन तावुभौ
महेन्द्रवीर्यप्रतिमानपौरुषौ।
सुवर्णमुक्तामणिवज्रविद्रुमै-
रलंकृतावप्रतिमेन रंहसा ॥ ५६ ॥

नरोत्तमौ केशवपाण्डुनन्दनौ
तदाहितावग्निदिवाकराविव।
रणाजिरे वीतभयौ विरेजतुः
समानयानाविव विष्णुवासवौ ॥ ५७ ॥

तदनन्तर नरश्रेष्ठ श्रीकृष्ण और अर्जुन समराङ्गणमें रथपर आरूढ़ हो अग्नि और सूर्यके समान तेजस्वी एक ही वाहनपर बैठे हुए भगवान् विष्णु और इन्द्रके सदृश भयरहित हो विशेष शोभा पाने लगे। वे जिस रथसे यात्रा करते थे, उससे मेघसमूहोंकी गर्जनाके समान गम्भीर ध्वनि होती थी, वह रथ शरत्कालके मध्याह्नकालीन सूर्यके समान तेजसे उद्दीप्त हो रहा था, उसपर पताका फहराती थी और उसकी ध्वजापर भयानक शब्द करनेवाला वानर बैठा था। उसकी कान्ति हिम, चन्द्रमा, शङ्ख और स्फटिकमणिके समान सुन्दर थी। वह रथ वेगमें अपना सानी नहीं रखता था और देवराज इन्द्रके रथके समान तीव्रगामी था। उसपर बैठे हुए दोनों नरश्रेष्ठ देवराज इन्द्रके समान शक्तिशाली और पुरुषार्थी थे तथा सुवर्ण, मुक्ता, मणि, हीरे और मूँगेके बने हुए आभूषण उनके श्रीअङ्गोंकी शोभा बढ़ाते थे ॥ ५५—५७ ॥

ततो धनुर्ज्यातलबाणनिःस्वनैः
प्रसह्य कृत्वा च रिपून् हतप्रभान्।
संछादयित्वा तु कुरूञ्शरोत्तमैः
कपिध्वजः पक्षिवरध्वजश्च ॥ ५८ ॥

हृष्टौ ततस्तावमितप्रभावौ
मनांस्यरीणामवदारयन्तौ।
सुवर्णजालावततौ महास्वनौ
हिमावदातौ परिगृह्य पाणिभिः।
चुचुम्बतुः शङ्खवरौ नृणां वरौ
वराननाभ्यां युगपच्च दध्मतुः ॥ ५९ ॥

तत्पश्चात् धनुषकी प्रत्यञ्चा, हथेली और बाणके शब्दोंसे शत्रुओंको बलपूर्वक श्रीहीन करके, उत्तम बाणोंद्वारा कौरव-सैनिकोंको ढककर अमित प्रभावशाली नरश्रेष्ठ गरुडध्वज श्रीकृष्ण और कपिध्वज अर्जुन हर्षमें भरकर विपक्षियोंका हृदय विदीर्ण करते हुए हाथोंमें दो श्रेष्ठ शङ्ख ले उन्हें अपने सुन्दर मुखोंसे एक ही साथ चूमने और बजाने लगे। उनके वे दोनों शङ्ख सोनेकी जालीसे आवृत, बर्फके समान सफेद और महान् शब्द करनेवाले थे ॥ ५८-५९ ॥

पाञ्चजन्यस्य निर्घोषो देवदत्तस्य चोभयोः।
पृथिवीं चान्तरिक्षं च दिशश्चैवान्वनादयत् ॥ ६० ॥

पाञ्चजन्य तथा देवदत्त दोनों शङ्खोंकी गम्भीर ध्वनिने

पृथ्वी, आकाश तथा सम्पूर्ण दिशाओंको प्रतिध्वनित कर दिया ॥

वित्रस्ताश्चाभवन् सर्वे कौरवा राजसत्तम ।
शङ्खशब्देन तेनाथ माधवस्यार्जुनस्य च ॥ ६१ ॥

नृपश्रेष्ठ ! श्रीकृष्ण और अर्जुनकी उस शङ्खध्वनिसे समस्त कौरव संत्रस्त हो उठे ॥ ६१ ॥

तौ शङ्खशब्देन निनादयन्तौ
वनानि शैलान् सरितो गुहाश्च ।
वित्रासयन्तौ तव पुत्रसेनां
युधिष्ठिरं नन्दयतां वरिष्ठौ ॥ ६२ ॥

अपने शङ्खनादसे नदियों, पर्वतों, कन्दराओं तथा काननोंको प्रतिध्वनित करके आपके पुत्रकी सेनाको भयभीत करते हुए वे दोनों श्रेष्ठतम वीर युधिष्ठिरका आनन्द बढ़ाने लगे ॥

ततः प्रयाताः कुरवो जवेन
श्रुत्वैव शङ्खस्वनमीर्यमाणम् ।
विहाय मद्राधिपतिं पतिं च
दुर्योधनं भारत भारतानाम् ॥ ६३ ॥

भारत ! उस शङ्खध्वनिको सुनते ही समस्त कौरवयोद्धा मद्रराज शल्य तथा भरतवंशियोंके अधिपति दुर्योधनको वहीं छोड़कर वेगपूर्वक भागने लगे ॥ ६३ ॥

महाहवे तं बहु रोचमानं
धनंजयं भूतगणाः समेताः ।
तदान्वमोदन्त जनार्दनं च
दिवाकरावभ्युदितौ यथैव ॥ ६४ ॥

उस समय उदित हुए दो सूर्योंके समान उस महासमरमें प्रकाशित होनेवाले अत्यन्त कान्तिमान् अर्जुन तथा भगवान् श्रीकृष्णके पास आकर समस्त प्राणी उनके कार्यका अनुमोदन करने लगे ॥ ६४ ॥

समाचितौ कर्णशरैः परंतपा-
वुभौ व्यभातां समरेऽच्युतार्जुनौ ।
तमो निहत्याभ्युदितौ यथामलौ
शशाङ्कसूर्यौ दिवि रश्मिमालिनौ ॥ ६५ ॥

समरभूमिमें कर्णके बाणोंसे व्याप्त हुए वे दोनों शत्रुसंतापी वीर श्रीकृष्ण और अर्जुन अन्धकारका नाश करके आकाशमें उदित हुए निर्मल अंशुमाली सूर्य और चन्द्रमाके समान प्रकाशित हो रहे थे ॥ ६५ ॥

विहाय तान् बाणगणानथागतौ
सुहृद्वृतावप्रतिमानविक्रमौ ।
सुखं प्रविष्टौ शिबिरं स्वमीश्वरौ
सदस्यनिन्द्याविव विष्णुवासवौ॥ ६६ ॥

उन बाणोंको निकालकर वे अनुपम पराक्रमी सर्वसमर्थ श्रीकृष्ण और अर्जुन सुहृदोंसे घिरे हुए छावनीपर आये और यज्ञमें पदार्पण करनेवाले भगवान् विष्णु तथा इन्द्रके समान वे दोनों ही सुखपूर्वक शिबिरके भीतर प्रविष्ट हुए ॥

तौ देवगन्धर्वमनुष्यचारणै-
र्महर्षिभिर्यक्षमहोरगैरपि ।
जयाभिवृद्ध्या परयाभिपूजितौ
हते तु कर्णे परमाहवे तदा ॥ ६७ ॥

उस महासमरमें कर्णके मारे जानेपर देवता, गन्धर्व, मनुष्य, चारण, महर्षि, यक्ष तथा बड़े-बड़े नागोंने भी 'आपकी जय हो, वृद्धि हो' ऐसा कहते हुए बड़ी श्रद्धासे उन दोनोंका समादर किया ॥ ६७ ॥

यथानुरूपं प्रतिपूजितावुभौ
प्रशस्यमानौ स्वकृतैर्गुणौघैः ।
ननन्दतुस्तौ ससुहृद्गणौ तदा
बलं नियम्येव सुरेशकेशवौ ॥ ६८ ॥

जैसे बलासुरका दमन करके देवराज इन्द्र और भगवान् विष्णु अपने सुहृदोंके साथ आनन्दित हुए थे, उसी प्रकार श्रीकृष्ण और अर्जुन कर्णका वध करके यथायोग्य पूजित तथा अपने उपार्जित गुण-समूहोंद्वारा भूरि-भूरि प्रशंसित हो हितैषी-सम्बन्धियोंसहित बड़े हर्षका अनुभव करने लगे ॥

इति श्रीमहाभारते कर्णपर्वणि रणभूमिवर्णने नाम चतुर्नवतितमोऽध्यायः ॥ ९४ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत कर्णपर्वमें रणभूमिका वर्णनविषयक चौरानबेवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ९४ ॥

पञ्चनवतितमोऽध्यायः

कौरवसेनाका शिबिरकी ओर पलायन और शिबिरोंमें प्रवेश

संजय उवाच

हते वैकर्तने राजन् कुरवो भयपीडिताः ।
वीक्षमाणा दिशः सर्वाः पर्यापेतुः सहस्रशः ॥ १ ॥

संजय कहते हैं—राजन् ! वैकर्तन कर्णके मारे जानेपर भयसे पीड़ित हुए सहस्रों कौरव योद्धा सम्पूर्ण दिशाओंकी ओर देखते हुए भाग निकले ॥ १ ॥

कर्णं तु निहतं दृष्ट्वा शत्रुभिः परमाहवे ।
भीता दिशो व्यकीर्यन्त तावकाः क्षतविक्षताः॥ २ ॥

शत्रुओंने उस महायुद्धमें वैकर्तन कर्णको मार डाला है, यह देखकर आपके सैनिक भयभीत हो उठे थे । उनका सारा शरीर घावोंसे भर गया था । इसलिये वे भागकर सम्पूर्ण दिशाओंमें बिखर गये ॥ २ ॥

ततोऽवहारं चक्रुस्ते योधाः सर्वे समन्ततः ।
निवार्यमाणाश्चोद्विग्नास्तावका भृशदुःखिताः ॥ ३ ॥

तब आपके समस्त योद्धा जो अत्यन्त दुःखी और उद्विग्न हो रहे थे, मना करनेपर सब ओरसे युद्ध बंद करके लौटने लगे ॥

तेषां तन्मतमाज्ञाय पुत्रो दुर्योधनस्तव ।
अवहारं ततश्चक्रे शल्यस्यानुमते नृप ॥ ४ ॥

नरेश्वर ! उन सबका अभिप्राय जानकर राजा शल्यकी अनुमति ले आपके पुत्र दुर्योधनने सेनाको लौटनेकी आज्ञा दी॥

कृतवर्मा रथैस्तूर्णं वृतो भारत तावकैः।
नारायणावशेषैश्च शिबिरायैव दुद्रुवे ॥ ५ ॥

भारत ! नारायणी-सेनाके जो वीर शेष रह गये थे, उनसे तथा आपके अन्य रथी योद्धाओंसे घिरा हुआ कृतवर्मा भी तुरंत शिबिरकी ओर ही भाग चला ॥ ५ ॥

गान्धाराणां सहस्रेण शकुनिः परिवारितः।
हतमाधिरथिं दृष्ट्वा शिबिरायैव दुद्रुवे ॥ ६ ॥

सहस्रों गान्धार योद्धाओंसे घिरा हुआ शकुनि भी अधिरथपुत्र कर्णको मारा गया देख छावनीकी ओर ही भागा ॥

कृपः शारद्वतो राजन् नागानीकेन भारत।
महामेघनिभेनाशु शिबिरायैव दुद्रुवे ॥ ७ ॥

भरतवंशी नरेश ! शरद्वान्के पुत्र कृपाचार्य मेघोंकी घटाके समान अपनी गजसेनाके साथ शीघ्रतापूर्वक शिबिरकी ओर ही भाग चले ॥ ७ ॥

अश्वत्थामा ततः शूरो विनिःश्वस्य पुनः पुनः।
पाण्डवानां जयं दृष्ट्वा शिबिरायैव दुद्रुवे ॥ ८ ॥

तदनन्तर शूरवीर अश्वत्थामा पाण्डवोंकी विजय देख बारंबार उच्छ्वास लेता हुआ छावनीकी ओर ही भागने लगा॥

संशप्तकावशिष्टेन बलेन महता वृतः।
सुशर्मापि ययौ राजन् वीक्षमाणो भयार्दितः ॥ ९ ॥

राजन् ! संशप्तकोंकी बची हुई विशाल सेनासे घिरा हुआ सुशर्मा भी भयसे पीड़ित हो इधर-उधर देखता हुआ छावनीकी ओर चल दिया ॥ ९ ॥

दुर्योधनोऽपि नृपतिर्हतसर्वस्वबान्धवः।
ययौ शोकसमाविष्टश्चिन्तयन् विमना बहु ॥ १० ॥

जिसके भाई नष्ट हो गये थे और सर्वस्व लुट गया था, वह राजा दुर्योधन भी शोकमग्न, उदास और विशेष चिन्तित होकर शिबिरकी ओर चल पड़ा ॥ १० ॥

छिन्नध्वजेन शल्यस्तु रथेन रथिनां वरः।
प्रययौ शिबिरायैव वीक्षमाणो दिशो दश ॥ ११ ॥

रथियोंमें श्रेष्ठ राजा शल्यने भी जिसकी ध्वजा कट गयी थी, उस रथके द्वारा दसों दिशाओंकी ओर देखते हुए छावनीकी ओर ही प्रस्थान किया ॥ ११ ॥

ततोऽपरे सुबहवो भरतानां महारथाः।
प्राद्रवन्त भयत्रस्ता ह्रियाविष्टा विचेतसः ॥ १२ ॥

भरतवंशियोंके दूसरे-दूसरे बहुसंख्यक महारथी भी भयभीत, लज्जित और अचेत होकर शिबिरकी ओर दौड़े ॥ १२ ॥

असृक् क्षरन्तः सोद्विग्ना वेपमानास्तथातुराः।
कुरवो दुद्रुवुः सर्वे दृष्ट्वा कर्णं निपातितम् ॥ १३ ॥

कर्णको मारा गया देख सभी कौरव-सैनिक खून बहाते और काँपते हुए उद्विग्न तथा आतुर होकर छावनीकी ओर भागने लगे ॥ १३ ॥

प्रशंसन्तोऽर्जुनं केचित् केचित् कर्णं महारथाः।
व्यद्रवन्त दिशो भीताः कुरवः कुरुसत्तम ॥ १४ ॥

कुरुश्रेष्ठ ! कौरव-महारथियोंमेंसे कुछ लोग अर्जुनकी प्रशंसा करते थे और कुछ कर्णकी । वे सब-के-सब भयभीत होकर चारों दिशाओंमें भाग खड़े हुए ॥ १४ ॥

तेषां योधसहस्राणां तावकानां महामृधे।
नासीत्तत्र पुमान् कश्चिद् यो युद्धाय मनो दधे ॥ १५ ॥

आपके उन हजारों योद्धाओंमें वहाँ कोई भी ऐसा पुरुष नहीं था, जो अपने मनमें उस महासमरमें युद्धके लिये उत्साह रखता हो ॥ १५ ॥

हते कर्णे महाराज निराशाः कुरवोऽभवन्।
जीवितेष्वपि राज्येषु दारेषु च धनेषु च ॥ १६ ॥

महाराज ! कर्णके मारे जानेपर कौरव अपने राज्यसे, धनसे, स्त्रियोंसे और जीवनसे भी निराश हो गये ॥ १६ ॥

तान् समानीय पुत्रस्ते यत्नेन महता विभुः।
निवेशाय मनो दध्रे दुःखशोकसमन्वितः ॥ १७ ॥

दुःख और शोकमें डूबे हुए आपके पुत्र राजा दुर्योधनने बड़े यत्नसे उन सबको साथ ले आकर छावनीमें विश्राम करनेका विचार किया ॥ १७ ॥

तस्याज्ञां शिरसा योधाः परिगृह्य विशाम्पते।
विवर्णवदना राजन् न्यविशन्त महारथाः ॥ १८ ॥

प्रजानाथ ! वे सब महारथी योद्धा दुर्योधनकी आज्ञा शिरोधार्य करके शिबिरमें प्रविष्ट हुए । उन सबके मुखोंकी कान्ति फीकी पड़ गयी थी ॥ १८ ॥

इति श्रीमहाभारते कर्णपर्वणि शिबिरप्रयाणे पञ्चनवतितमोऽध्यायः ॥ ९५ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत कर्णपर्वमें कौरव-सेनाका शिबिरकी ओर प्रस्थानविषयक पञ्चानबेवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ९५ ॥

षण्णवतितमोऽध्यायः

युधिष्ठिरका रणभूमिमें कर्णको मारा गया देखकर प्रसन्न हो श्रीकृष्ण और अर्जुनकी प्रशंसा करना, धृतराष्ट्रका शोकमग्न होना तथा कर्णपर्वके श्रवणकी महिमा

संजय उवाच

तथा निपतिते कर्णे परसैन्ये च विद्रुते।
आश्लिष्य पार्थं दाशार्हो हर्षाद् वचनमब्रवीत्॥ १ ॥

संजय कहते हैं—राजन् ! जब कर्ण मारा गया और शत्रुसेना भाग चली, तब दशार्हनन्दन भगवान् श्रीकृष्ण अर्जुनको हृदयसे लगाकर बड़े हर्षके साथ इस प्रकार बोले—॥

हतो वज्रभृता वृत्रस्त्वया कर्णो धनंजय।
वृत्रकर्णवधं घोरं कथयिष्यन्ति मानवाः ॥ २ ॥

'धनंजय ! पूर्वकालमें वज्रधारी इन्द्रने वृत्रासुरका वध किया था और आज तुमने कर्णको मारा है। वृत्रासुर और कर्ण दोनोंके वधका वृत्तान्त बड़ा भयंकर है। मनुष्य सदा इसकी चर्चा करते रहेंगे ॥ २ ॥

वज्रेण निहतो वृत्रः संयुगे भूरितेजसा।
त्वया तु निहतः कर्णो धनुषा निशितैः शरैः ॥ ३ ॥

'वृत्रासुर युद्धमें महातेजस्वी वज्रके द्वारा मारा गया था; परंतु तुमने कर्णको धनुष एवं पैने बाणोंसे ही मार डाला है ॥

तमिमं विक्रमं लोके प्रथितं ते यशस्करम्।
निवेदयावः कौन्तेय कुरुराजस्य धीमतः ॥ ४ ॥

'कुन्तीनन्दन ! चलो, हम दोनों तुम्हारे इस विश्वविख्यात और यशोवर्धक पराक्रमका वृत्तान्त बुद्धिमान् कुरुराज युधिष्ठिर-को बतावें ॥ ४ ॥

वधं कर्णस्य संग्रामे दीर्घकालचिकीर्षितम्।
निवेद्य धर्मराजाय त्वमानृण्यं गमिष्यसि ॥ ५ ॥

'उन्हें दीर्घकालसे युद्धमें कर्णके वधकी अभिलाषा थी। आज धर्मराजको यह समाचार बताकर तुम उऋण हो जाओगे ॥

वर्तमाने महायुद्धे तव कर्णस्य चोभयोः।
द्रष्टुमायोधनं पूर्वमागतो धर्मनन्दनः ॥ ६ ॥

'जब यह महायुद्ध चल रहा था, उस समय तुम्हारा और कर्णका युद्ध देखनेके लिये धर्मनन्दन युधिष्ठिर पहले आये थे ॥

भृशं तु गाढविद्धत्वान्नाशकत् स्थातुमाहवे।
ततः स शिबिरं गत्वा स्थितवान् पुरुषर्षभः ॥ ७ ॥

'परंतु गहरी चोट खानेके कारण वे देरतक युद्धस्थलमें ठहर न सके। यहाँसे शिबिरमें जाकर वे पुरुषप्रवर युधिष्ठिर विश्राम कर रहे हैं' ॥ ७ ॥

तथेत्युक्तः केशवस्तु पार्थेन यदुपुङ्गवः।
पर्यावर्तयदव्यग्रो रथं रथवरस्य तम् ॥ ८ ॥

तब अर्जुनने केशवसे 'तथास्तु' कहकर उनकी आज्ञा शिरोधार्य की। तत्पश्चात् यदुकुलतिलक श्रीकृष्णने शान्तभावसे रथिश्रेष्ठ अर्जुनके उस रथको युधिष्ठिरके शिबिरकी ओर लौटाया ॥

एवमुक्त्वार्जुनं कृष्णः सैनिकानिदमब्रवीत्।
परानभिमुखा यत्तास्तिष्ठध्वं भद्रमस्तु वः ॥ ९ ॥

अर्जुनसे पूर्वोक्त बात कहकर भगवान् श्रीकृष्ण सैनिकोंसे इस प्रकार बोले—'वीरो ! तुम्हारा कल्याण हो ! तुम शत्रुओं-का सामना करनेके लिये सदा प्रयत्नपूर्वक डटे रहना' ॥ ९ ॥

धृष्टद्युम्नं युधामन्युं माद्रीपुत्रौ वृकोदरम्।
युयुधानं च गोविन्द इदं वचनमब्रवीत् ॥ १० ॥

इसके बाद गोविन्द धृष्टद्युम्न, युधामन्यु, नकुल, सहदेव, भीमसेन और सात्यकिसे इस प्रकार बोले— ॥ १० ॥

यावदावेद्यते राज्ञे हतः कर्णोऽर्जुनेन वै।
तावद्भवद्भिर्यत्तैस्तु भवितव्यं नराधिपैः ॥ ११ ॥

'अर्जुनने कर्णको मार डाला' यह समाचार जबतक हमलोग राजा युधिष्ठिरसे निवेदन करते हैं, तबतक तुम सभी नरेशोंको यहाँ शत्रुओंकी ओरसे सावधान रहना चाहिये ॥

स तैः शूरैरनुज्ञातो ययौ राजनिवेशनम्।
पार्थमादाय गोविन्दो ददर्श च युधिष्ठिरम् ॥ १२ ॥

उन शूरवीरोंने उनकी आज्ञा स्वीकार करके जब जानेकी अनुमति दे दी, तब भगवान् श्रीकृष्णने अर्जुनको साथ लेकर राजा युधिष्ठिरका दर्शन किया ॥ १२ ॥

शयानं राजशार्दूलं काञ्चने शयनोत्तमे।
अगृह्णीतां च मुदितौ चरणौ पार्थिवस्य तौ ॥ १३ ॥

उस समय नृपश्रेष्ठ युधिष्ठिर सोनेके उत्तम पलंगपर सो रहे थे। उन दोनोंने वहाँ पहुँचकर बड़ी प्रसन्नताके साथ राजाके चरण पकड़ लिये ॥ १३ ॥

तयोः प्रहर्षमालक्ष्य हर्षादश्रूण्यवर्तयत्।
राधेयं निहतं मत्वा समुत्तस्थौ युधिष्ठिरः ॥ १४ ॥

उन दोनोंके हर्षोल्लासको देखकर राजा युधिष्ठिर यह समझ गये कि राधापुत्र कर्ण मारा गया; अतः वे शय्यासे उठ खड़े हुए और नेत्रोंसे आनन्दके आँसू बहाने लगे ॥

उवाच च महाबाहुः पुनः पुनररिंदमः।
वासुदेवार्जुनौ प्रेम्णा तावुभौ परिषस्वजे ॥ १५ ॥

शत्रुदमन महाबाहु युधिष्ठिर, श्रीकृष्ण और अर्जुनसे बार-बार प्रेमपूर्वक बोलने और उन दोनोंको हृदयसे लगाने लगे ॥

तत् तस्मै तद् यथावृत्तं वासुदेवः सहार्जुनः।
कथयामास कर्णस्य निधनं यदुपुङ्गवः ॥ १६ ॥

उस समय अर्जुनसहित यदुकुलतिलक वसुदेवनन्दन भगवान् श्रीकृष्णने कर्णके मारे जानेका सारा समाचार उन्हें यथावत्‌रूपसे कह सुनाया ॥ १६ ॥

ईषदुत्स्मयमानस्तु कृष्णो राजानमब्रवीत्।
युधिष्ठिरं हतामित्रं कृताञ्जलिरथाच्युतः ॥ १७ ॥

भगवान् श्रीकृष्ण हाथ जोड़कर किञ्चित् मुस्कराते हुए, जिनका शत्रु मारा गया था, उस राजा युधिष्ठिरसे इस प्रकार बोले— ॥ १७ ॥

दिष्ट्या गाण्डीवधन्वा च पाण्डवश्च वृकोदरः।
त्वं चापि कुशली राजन् माद्रीपुत्रौ च पाण्डवौ ॥ १८ ॥

'राजन् ! बड़े सौभाग्यकी बात है कि गाण्डीवधारी अर्जुन, पाण्डव भीमसेन, पाण्डुकुमार माद्रीनन्दन नकुल-सहदेव और आप भी सकुशल हैं ॥ १८ ॥

मुक्ता वीरक्षयादस्मात् संग्रामाल्लोमहर्षणात्।
क्षिप्रमुत्तरकालानि कुरु कार्याणि पाण्डव ॥ १९ ॥

'आप सब लोग वीरोंका विनाश करनेवाले इस रोमाञ्च-कारी संग्रामसे मुक्त हो गये। पाण्डुनन्दन ! अब आगे जो कार्य करने हैं, उन्हें शीघ्र पूर्ण कीजिये ॥ १९ ॥

हतो वैकर्तनो राजन् सूतपुत्रो महारथः।
दिष्ट्या जयसि राजेन्द्र दिष्ट्या वर्धसि भारत ॥ २० ॥

'राजन्! महारथी सूतपुत्र वैकर्तन कर्ण मारा गया, राजेन्द्र! सौभाग्यसे आप विजयी हो रहे हैं। भारत! आपकी वृद्धि हो रही है, यह परम सौभाग्यकी बात है ॥ २० ॥

यस्तु द्यूतजितां कृष्णां प्राहसत् पुरुषाधमः।
तस्याद्य सूतपुत्रस्य भूमिः पिबति शोणितम् ॥ २१ ॥

'जिस नराधमने जूएमें जीती हुई द्रौपदीका उपहास किया था, आज पृथ्वी उस सूतपुत्र कर्णका रक्त पी रही है ॥ २१ ॥

शेतेऽसौ शरपूर्णाङ्गः शत्रुस्ते कुरुपुङ्गव।
तं पश्य पुरुषव्याघ्र विभिन्नं बहुभिः शरैः ॥ २२ ॥

'कुरुपुङ्गव! आपका वह शत्रु रणभूमिमें सो रहा है और उसके सारे शरीरमें बाण भरे हुए हैं। नरव्याघ्र! अनेक बाणोंसे क्षत-विक्षत हुए उस कर्णको आप देखिये ॥ २२ ॥

हतामित्रामिमामुर्वीमनुशाधि महाभुज।
यत्तो भूत्वा सहास्माभिर्भुङ्क्ष्व भोगांश्च पुष्कलान् ॥ २३ ॥

'महाबाहो! आप सावधान होकर हम सब लोगोंके साथ इस निष्कंटक हुई पृथ्वीका शासन और प्रचुर भोगोंका उपभोग कीजिये' ॥ २३ ॥

संजय उवाच

इति श्रुत्वा वचस्तस्य केशवस्य महात्मनः।
धर्मपुत्रः प्रहृष्टात्मा दाशार्हं वाक्यमब्रवीत् ॥ २४ ॥

संजय कहते हैं—राजन्! महात्मा श्रीकृष्णका यह वचन सुनकर धर्मपुत्र युधिष्ठिरका चित्त प्रसन्न हो गया। उन्होंने भगवान् श्रीकृष्णसे वार्तालाप आरम्भ किया ॥ २४ ॥

दिष्ट्या दिष्ट्येति राजेन्द्र वाक्यं चेदमुवाच ह।
नैतच्चित्रं महाबाहो त्वयि देवकिनन्दन ॥ २५ ॥
त्वया सारथिना पार्थो यत्नवानहनच्च तम्।
न तच्चित्रं महाबाहो युष्मद्बुद्धिप्रसादजम् ॥ २६ ॥

राजेन्द्र! 'अहो भाग्य! अहो भाग्य!' ऐसा कहकर युधिष्ठिर इस प्रकार बोले—'महाबाहु देवकीनन्दन! आपके रहते यह महान् कार्य सम्पन्न होना कोई आश्चर्यकी बात नहीं है। आप-जैसे सारथिके होते ही पार्थने प्रयत्नपूर्वक उसका वध किया है। महाबाहो! आपकी बुद्धिके प्रसादसे ऐसा होना आश्चर्य नहीं है' ॥ २५-२६ ॥

प्रगृह्य च कुरुश्रेष्ठ साङ्गदं दक्षिणं भुजम्।
उवाच धर्मभृत् पार्थ उभौ तौ केशवार्जुनौ ॥ २७ ॥

कुरुश्रेष्ठ! इसके बाद धर्मात्मा राजा युधिष्ठिरने बाजूबंद-विभूषित श्रीकृष्णका दाहिना हाथ अपने हाथमें लेकर श्रीकृष्ण और अर्जुन दोनोंसे कहा— ॥ २७ ॥

नरनारायणौ देवौ कथितौ नारदेन मे।
धर्मात्मानौ महात्मानौ पुराणावृषिसत्तमौ ॥ २८ ॥

'प्रभो! देवर्षि नारदने मुझसे कहा था कि आप दोनों धर्मात्मा, महात्मा, पुराणपुरुष तथा ऋषिप्रवर साक्षात् भगवान् नर और नारायण हैं ॥ २८ ॥

असकृच्चापि मेधावी कृष्णद्वैपायनो मम।
कथामेतां महाभाग कथयामास तत्त्ववित् ॥ २९ ॥

'महाभाग! परम बुद्धिमान् तत्त्ववेत्ता महर्षि श्रीकृष्ण द्वैपायनने भी बारंबार मुझसे यही बात कही है ॥ २९ ॥

तव कृष्ण प्रसादेन पाण्डवोऽयं धनंजयः।
जिगायाभिमुखः शत्रून् न चासीद् विमुखः क्वचित् ॥ ३० ॥

'श्रीकृष्ण! आपके प्रसादसे ही ये पाण्डुपुत्र धनंजय सदा सामने रहकर युद्धमें शत्रुओंपर विजयी हुए हैं और कभी युद्धसे मुँह नहीं मोड़ सके हैं ॥ ३० ॥

जयश्चैव ध्रुवोऽस्माकं न त्वस्माकं पराजयः।
यदा त्वं युधि पार्थस्य सारथ्यमुपजग्मिवान् ॥ ३१ ॥

'प्रभो! जब आप युद्धमें अर्जुनके सारथि बने थे, तभी हमें यह विश्वास हो गया था कि हमलोगोंकी विजय निश्चित है, अटल है। हमारी पराजय नहीं हो सकती ॥ ३१ ॥

भीष्मो द्रोणश्च कर्णश्च महात्मा गौतमः कृपः।
अन्ये च बहवः शूरा ये च तेषां पदानुगाः ॥ ३२ ॥
त्वद्बुद्ध्या निहते कर्णे हता गोविन्द सर्वथा।

'गोविन्द! भीष्म, द्रोण, कर्ण, महात्मा गौतमवंश कृपाचार्य तथा इनके पीछे चलनेवाले जो और भी बहुत-से शूरवीर हैं और रहे हैं, आपकी बुद्धिसे आज कर्णके मा[रे] जानेपर उन सबका वध हो गया, ऐसा मैं मानता हूँ' ३२-[३३]

इत्युक्त्वा धर्मराजस्तु रथं हेमविभूषितम् ॥ ३३ ॥
श्वेतवर्णैर्हयैर्युक्तं कालवालैर्मनोजवैः।
आस्थाय पुरुषव्याघ्रः स्वबलेनाभिसंवृतः ॥ ३४ ॥
प्रययौ स महाबाहुर्द्रष्टुमायोधनं तदा।
कृष्णार्जुनाभ्यां वीराभ्यामनुमन्त्र्य ततः प्रियम् ॥ ३५ ॥
आभाषमाणस्तौ वीरावुभौ माधवफाल्गुनौ।
स ददर्श रणे कर्णं शयानं पुरुषर्षभम् ॥ ३६ ॥

ऐसा कहकर पुरुषसिंह महाबाहु धर्मराज युधिष्ठिर श्वेत वर्ण और काली पूँछवाले, मनके समान वेगशाली घोड़ों[से] जुते हुए सुवर्णभूषित रथपर आरूढ़ हो अपनी सेनाके सा[थ] युद्ध देखनेके लिये चले। श्रीकृष्ण और अर्जुन दोनों वीरों[के] साथ प्रिय विषयपर परामर्श और उनसे वार्तालाप करते हु[ए] युधिष्ठिरने रणभूमिमें सोये हुए पुरुषप्रवर कर्णको देखा ॥ ३३-३[६] ॥

यथा कदम्बकुसुमं केसरैः सर्वतो वृतम्।
चितं शरशतैः कर्णं धर्मराजो ददर्श सः ॥ ३७ ॥

जैसे कदम्बका फूल सब ओरसे केसरोंसे भरा होता है[,] उसी प्रकार कर्णका शरीर सैकड़ों बाणोंसे व्याप्त था। धर्म[-]राज युधिष्ठिरने इसी अवस्थामें उसे देखा ॥ ३७ ॥

गन्धतैलावसिक्ताभिः काञ्चनीभिः सहस्रशः।
दीपिकाभिः कृतोद्योतं पश्यते वै वृषं तदा ॥ ३८ ॥

उस समय सुगन्धित तेलसे भरे हुए सहस्रों सोनेके दीप[क] जलाकर प्रकाश किया गया था। उसी उजालेमें वे धर्मात्म[ा] कर्णको देख रहे थे ॥ ३८ ॥

संछिन्नभिन्नकवचं बाणैश्च विदलीकृतम् ।
सपुत्रं निहतं दृष्ट्वा कर्णं राजा युधिष्ठिरः ॥ ३९ ॥
संजातप्रत्ययोऽतीव वीक्ष्य चैवं पुनः पुनः ।
प्रशशंस नरव्याघ्रावुभौ माधवपाण्डवौ ॥ ४० ॥

उसका कवच छिन्न-भिन्न हो गया था और सारा शरीर बाणोंसे विदीर्ण हो चुका था । उस अवस्थामें पुत्रसहित मरे हुए कर्णको देखकर बारंबार उसका निरीक्षण करके राजा युधिष्ठिरको इस बातपर पूरा-पूरा विश्वास हुआ । फिर वे पुरुषसिंह श्रीकृष्ण और अर्जुन दोनोंकी भूरि-भूरि प्रशंसा करने लगे ॥ ३९-४० ॥

अद्य राजास्मि गोविन्द पृथिव्यां भ्रातृभिः सह ।
त्वया नाथेन वीरेण विदुषा परिपालितः ॥ ४१ ॥

उन्होंने कहा—'गोविन्द ! आप-जैसे विद्वान् और वीर स्वामी एवं संरक्षकके द्वारा सुरक्षित होकर आज मैं भाइयोंसहित इस भूमण्डलका राजा हो गया ॥ ४१ ॥

हतं श्रुत्वा नरव्याघ्रं राधेयमतिमानिनम् ।
निराशोऽद्य दुरात्मासौ धार्तराष्ट्रो भविष्यति॥ ४२ ॥
जीविते चैव राज्ये च हते राधात्मजे रणे ।
त्वत्प्रसादाद् वयं चैव कृतार्थाः पुरुषर्षभ ॥ ४३ ॥

'आज दुरात्मा धृतराष्ट्रपुत्र दुर्योधन अत्यन्त अभिमानी नरव्याघ्र राधापुत्र कर्णके मारे जानेका वृत्तान्त सुनकर राज्य और जीवनसे भी निराश हो जायगा । पुरुषोत्तम ! आपकी कृपासे रणभूमिमें राधापुत्र कर्णके मारे जानेपर हम सब लोग कृतार्थ हो गये ॥ ४२-४३ ॥

दिष्ट्या जयसि गोविन्द दिष्ट्या शत्रुर्निपातितः ।
दिष्ट्या गाण्डीवधन्वा च विजयी पाण्डुनन्दनः ॥ ४४॥

'गोविन्द ! बड़े भाग्यसे आपकी विजय हुई है । भाग्यसे ही हमारा शत्रु कर्ण आज मार गिराया गया है और सौभाग्यसे ही गाण्डीवधारी पाण्डुनन्दन अर्जुन विजयी हुए हैं ॥

त्रयोदश समास्तीर्णा जागरेण सुदुःखिताः ।
स्वप्स्यामोऽद्य सुखं रात्रौ त्वत्प्रसादान्महाभुज॥४५॥

'महाबाहो ! अत्यन्त दुखी होकर हमलोगोंने जागते हुए तेरह वर्ष व्यतीत किये हैं । आजकी रातमें आपकी कृपासे हमलोग सुखपूर्वक सो सकेंगे' ॥ ४५ ॥

संजय उवाच

एवं स बहुशो राजा प्रशशंस जनार्दनम् ।
अर्जुनं च कुरुश्रेष्ठं धर्मराजो युधिष्ठिरः ॥ ४६ ॥

संजय कहते हैं—राजन् ! इस प्रकार धर्मराज राजा युधिष्ठिरने भगवान् श्रीकृष्ण तथा कुरुश्रेष्ठ अर्जुनकी बारंबार प्रशंसा की ॥ ४६ ॥

दृष्ट्वा च निहतं कर्णं सपुत्रं पार्थसायकैः ।
पुनर्जातमिवात्मानं मेने च स महीपतिः ॥ ४७ ॥

पुत्रसहित कर्णको अर्जुनके बाणोंसे मारा गया देख राजा युधिष्ठिरने अपना नया जन्म हुआ-सा माना ॥ ४७ ॥

समेत्य च महाराज कुन्तीपुत्रं युधिष्ठिरम् ।
हर्षयन्ति स्म राजानं हर्षयुक्ता महारथाः ॥ ४८ ॥

महाराज ! उस समय हर्षमें भरे हुए पाण्डवपक्षके महारथी कुन्तीपुत्र युधिष्ठिरसे मिलकर उनका हर्ष बढ़ाने लगे ॥ ४८ ॥

नकुलः सहदेवश्च पाण्डवश्च वृकोदरः ।
सात्यकिश्च महाराज वृष्णीनां प्रवरो रथः ॥ ४९ ॥
धृष्टद्युम्नः शिखण्डी च पाण्डुपाञ्चालसृञ्जयाः ।
पूजयन्ति स्म कौन्तेयं निहते सूतनन्दने ॥ ५० ॥

राजेन्द्र ! नकुल-सहदेव, पाण्डुपुत्र भीमसेन, वृष्णिवंशके श्रेष्ठ महारथी सात्यकि, धृष्टद्युम्न और शिखण्डी आदि पाण्डव, पाञ्चाल तथा सृंजय योद्धा सूतपुत्र कर्णके मारे जानेपर कुन्ती-कुमार अर्जुनकी प्रशंसा करने लगे ॥ ४९-५० ॥

ते वर्धयित्वा नृपतिं धर्मात्मानं युधिष्ठिरम् ।
जितकाशिनो लब्धलक्ष्या युद्धशौण्डाः प्रहारिणः॥५१॥
स्तुवन्तः स्तवयुक्ताभिर्वाग्भिः कृष्णौ परंतपौ ।
जग्मुः स्वशिबिरायैव मुदा युक्ता महारथाः ॥ ५२ ॥

वे विजयसे उल्लसित हो रहे थे । उनका लक्ष्य सिद्ध हो गया था । वे युद्धकुशल महारथी योद्धा धर्मात्मा राजा युधिष्ठिरको बधाई देकर स्तुतियुक्त वचनोंद्वारा शत्रुसंतापी श्रीकृष्ण और अर्जुनकी प्रशंसा करते हुए बड़ी प्रसन्नताके साथ अपने शिबिरको गये ॥ ५१-५२ ॥

एवमेष क्षयो वृत्तः सुमहाँल्लोमहर्षणः ।
तव दुर्मन्त्रिते राजन् किमर्थमनुशोचसि ॥ ५३ ॥

राजन् ! इस प्रकार आपकी ही कुमन्त्रणाके फलस्वरूप यह रोमाञ्चकारी महान् जनसंहार हुआ है । अब आप किसलिये बारंबार शोक करते हैं ? ॥ ५३ ॥

वैशम्पायन उवाच

श्रुत्वैतदप्रियं राजा धृतराष्ट्रोऽम्बिकासुतः ।
पपात भूमौ निश्चेष्टश्छिन्नमूल इव द्रुमः ॥ ५४ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! यह अप्रिय समाचार सुनकर अम्बिकानन्दन राजा धृतराष्ट्र निश्चेष्ट हो जड़से कटे हुए वृक्षकी भाँति पृथ्वीपर गिर पड़े ॥ ५४ ॥

तथा सा पतिता देवी गान्धारी दीर्घदर्शिनी ।
शुशोच बहुलालापैः कर्णस्य निधनं युधि ॥ ५५ ॥

इसी तरह दूरतक सोचनेवाली गान्धारी देवी भी पछाड़ खाकर गिरीं और बहुत विलाप करती हुई युद्धमें कर्णकी मृत्युके लिये शोक करने लगीं ॥ ५५ ॥

तां पर्यगृह्णाद् विदुरो नृपतिं संजयस्तथा ।
पर्याश्वासयतां चैव तावुभावेव भूमिपम् ॥ ५६ ॥

उस समय विदुरजीने गान्धारी देवीको और संजयने

राजा धृतराष्ट्रको सँभाला। फिर दोनों ही मिलकर राजाको समझाने-बुझाने लगे ॥ ५६ ॥

तथैवोत्थापयामासुर्गान्धारीं कुरुयोषितः।
स दैवं परमं मत्वा भवितव्यं च पार्थिवः ॥ ५७ ॥
परां पीडां समाश्रित्य नष्टचित्तो महातपाः।
चिन्ताशोकपरीतात्मा न जज्ञे मोहपीडितः।
स समाश्वासितो राजा तूष्णीमासीद् विचेतनः॥ ५८ ॥

इसी प्रकार कुरुकुलकी स्त्रियोंने आकर गान्धारी देवीको उठाया। भाग्य और भवितव्यताको ही प्रबल मानकर राजा धृतराष्ट्र भारी व्यथाका अनुभव करने लगे। उनकी विवेकशक्ति नष्ट हो गयी। वे महातपस्वी नरेश चिन्ता और शोकमें डूब गये और मोहसे पीड़ित होनेके कारण उन्हें किसी भी बातकी सुध न रही। विदुर और संजयके समझानेपर राजा धृतराष्ट्र अचेत-से होकर चुपचाप बैठे रह गये ॥ ५७-५८ ॥

श्रवणमहिमा

इमं महायुद्धमखं महात्मनो-
धनंजयस्याधिरथेश्च यः पठेत्।
स सम्यगिष्टस्य मखस्य यत् फलं
तदाप्नुयात् संश्रवणाच्च भारत ॥ ५९ ॥

भारत! जो मनुष्य महात्मा अर्जुन और कर्णके इस महायुद्धरूपी यज्ञका पाठ अथवा श्रवण करेगा, वह विधिपूर्वक किये हुए यज्ञानुष्ठानका फल प्राप्त कर लेगा ॥ ५९ ॥

मखो हि विष्णुर्भगवान् सनातनो
वदन्ति तच्चाग्न्यनिलेन्दुभानवः।
अतोऽनसूयुः शृणुयात् पठेच्च यः
स सर्वलोकानुचरः सुखी भवेत्॥ ६० ॥

सनातन भगवान् विष्णु यज्ञस्वरूप हैं, इस बातको अग्नि, वायु, चन्द्रमा और सूर्य भी कहते हैं। अतः जो मनुष्य दोषदृष्टिका परित्याग करके इस युद्धयज्ञका वर्णन पढ़ता या सुनता है, वह सम्पूर्ण लोकोंमें[1] विचरनेवाला और सुखी होता है॥

तां सर्वदा भक्तिमुपागता नराः
पठन्ति पुण्यां वरसंहितामिमाम्।
धनेन धान्येन यशसा च मानुषा
नन्दन्ति ते नात्र विचारणास्ति ॥ ६१ ॥

जो मनुष्य सदा भक्तिभावसे इस उत्तम एवं पुण्यमयी संहिताका पाठ करते हैं, वे धन-धान्य एवं यशसे सम्पन्न हो आनन्दके भागी होते हैं। इस बातमें कोई अन्यथा विचार करनेकी आवश्यकता नहीं है ॥ ६१ ॥

अतोऽनसूयुः शृणुयात् सदा तु वै
नरः स सर्वाणि सुखानि चाप्नुयात्।
विष्णुः स्वयंभूर्भगवान् भवश्च
तुष्यन्ति ते तस्य नरोत्तमस्य ॥ ६२ ॥

अतः जो मनुष्य दोषदृष्टिसे रहित होकर सदा इस संहिताको सुनता है, वह सम्पूर्ण सुखोंको प्राप्त कर लेता है, उस श्रेष्ठ मनुष्यपर भगवान् विष्णु, ब्रह्मा और महादेवजी भी प्रसन्न होते हैं ॥ ६२ ॥

वेदावाप्तिर्ब्राह्मणस्येह दृष्टा
रणे बलं क्षत्रियाणां जयो युधि।
धनज्येष्ठाश्चापि भवन्ति वैश्याः
शूद्राऽऽरोग्यं प्राप्नुवन्तीह सर्वे॥ ६३ ॥

इसके पढ़ने और सुननेसे ब्राह्मणोंको वेदोंका ज्ञान प्राप्त होता है, क्षत्रियोंको बल और युद्धमें विजय प्राप्त होती है, वैश्य धनमें बढ़े-चढ़े हो जाते हैं और समस्त शूद्र आरोग्य लाभ करते हैं ॥ ६३ ॥

तथैव विष्णुर्भगवान् सनातनः
स चात्र देवः परिकीर्त्यते यतः।
ततः स कामाल्लँभते सुखी नरो
महामुनेस्तस्य वचोऽर्चितं यथा॥ ६४ ॥

इसमें सनातन भगवान् विष्णु (श्रीकृष्ण) की महिमाका वर्णन किया गया है; अतः मनुष्य इसके स्वाध्यायसे सुखी होकर सम्पूर्ण मनोवाञ्छित कामनाओंको प्राप्त कर लेता है। महामुनि व्यासदेवकी इस परम पूजित वाणीका ऐसा ही प्रभाव है ॥ ६४ ॥

कपिलानां सवत्सानां वर्षमेकं निरन्तरम्।
यो दद्यात् सुकृतं तद्धि श्रवणात् कर्णपर्वणः॥ ६५ ॥

लगातार एक वर्षतक प्रतिदिन जो बछड़ोंसहित कपिला गौओंका दान करता है, उसे जिस पुण्यकी प्राप्ति होती है, वही कर्णपर्वके श्रवणमात्रसे मिल जाता है ॥ ६५ ॥

इति श्रीमहाभारते कर्णपर्वणि युधिष्ठिरहर्षे षण्णवतितमोऽध्यायः ॥ ९६ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत कर्णपर्वमें युधिष्ठिरका हर्षविषयक छानबेवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ९६ ॥

॥ कर्णपर्व सम्पूर्णम् ॥

	अनुष्टुप्	बड़े श्लोक	बड़े श्लोकोंको अनुष्टुप् माननेपर	कुल
उत्तर भारतीय पाठसे लिये गये	४०९२॥	(९०७॥)	१२४७॥।-	५३४०।-
दक्षिण भारतीय पाठसे लिये गये	१२५॥	(२८)	३८॥	१६४
		कर्णपर्वकी	कुल श्लोक-संख्या	५५०४।-

[1] 'सर्वलोकानुचरः' का यह अर्थ भी हो सकता है कि सब लोग उसके अनुचर हो जाते हैं।
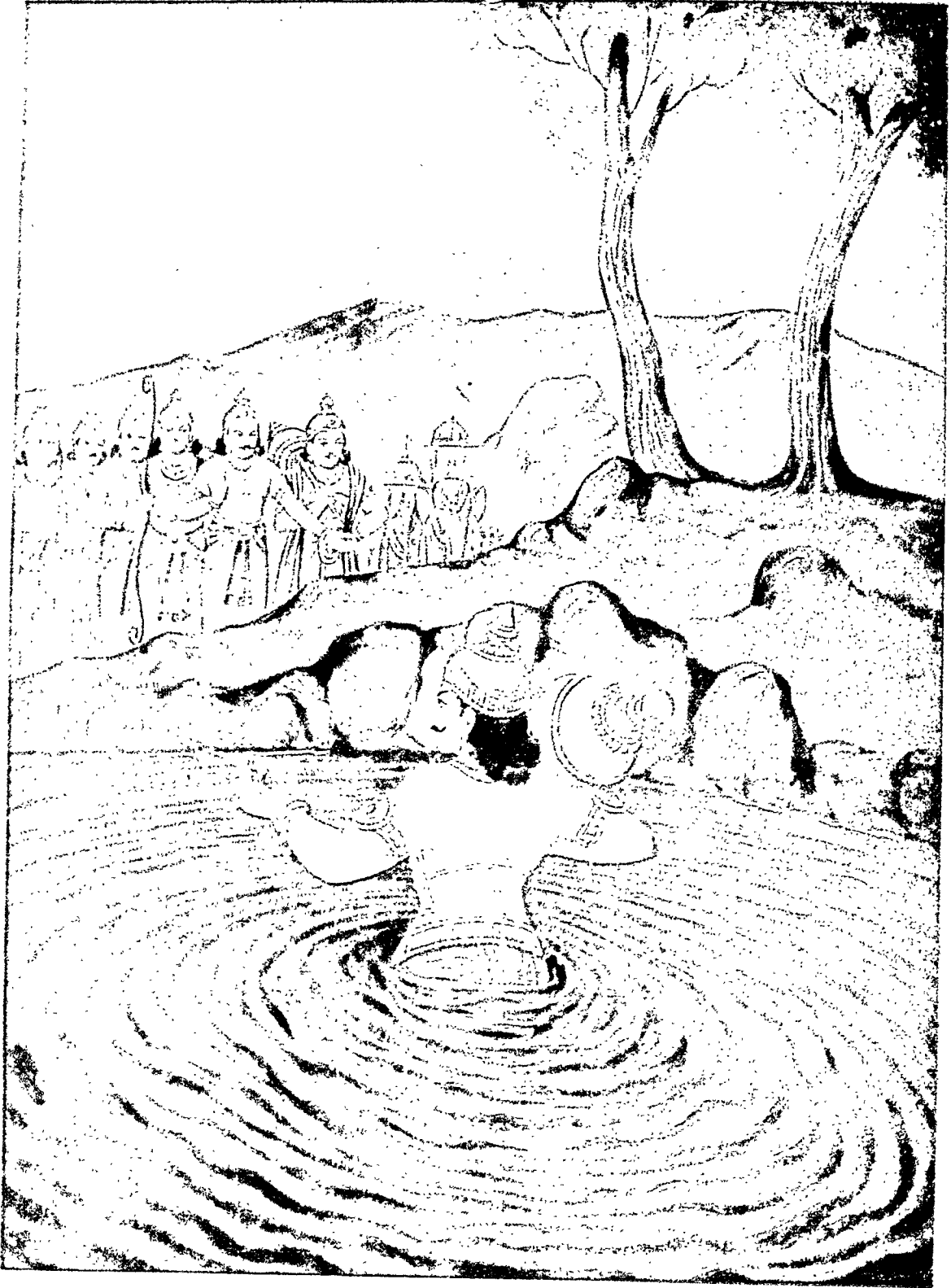
युधिष्ठिरकी ललकारपर दुर्योधनका पानीसे बाहर निकल आना

ॐ

श्रीपरमात्मने नमः

श्रीमहाभारतम्

शल्यपर्व

प्रथमोऽध्यायः

संजयके मुखसे शल्य और दुर्योधनके वधका वृत्तान्त सुनकर राजा धृतराष्ट्रका मूर्च्छित होना और सचेत होनेपर उन्हें विदुरका आश्वासन देना

[न]ारायणं नमस्कृत्य नरं चैव नरोत्तमम् ।
[दे]वीं सरस्वतीं व्यासं ततो जयमुदीरयेत् ॥

अन्तर्यामी नारायणस्वरूप भगवान् श्रीकृष्ण, (उनके [नि]त्य सखा) नरस्वरूप नरश्रेष्ठ अर्जुन, (उनकी लीला [प्र]कट करनेवाली) भगवती सरस्वती और (उन लीलाओंका [सं]कलन करनेवाले) महर्षि वेदव्यासको नमस्कार करके जय (महाभारत) का पाठ करना चाहिये ॥

जनमेजय उवाच

[ए]वं निपातिते कर्णे समरे सव्यसाचिना ।
[अ]ल्पावशिष्टाः कुरवः किमकुर्वत वै द्विज ॥ १ ॥

जनमेजयने पूछा—ब्रह्मन् ! जब इस प्रकार समराङ्गणमें [स]व्यसाची अर्जुनने कर्णको मार गिराया, तब थोड़े-से बचे [हु]ए कौरवसैनिकोंने क्या किया ? ॥ १ ॥

[उ]दीर्यमाणं च बलं दृष्ट्वा राजा सुयोधनः ।
[पा]ण्डवैः प्राप्तकालं च किं प्रापद्यत कौरवः ॥ २ ॥

पाण्डवोंका बल बढ़ता देखकर कुरुवंशी राजा दुर्योधनने उनके साथ कौन-सा समयोचित बर्ताव करनेका निश्चय किया ?॥

[ए]तदिच्छाम्यहं श्रोतुं तदाचक्ष्व द्विजोत्तम ।
[न] हि तृप्यामि पूर्वेषां शृण्वानश्चरितं महत् ॥ ३ ॥

द्विजश्रेष्ठ ! मैं यह सब सुनना चाहता हूँ । मुझे अपने [पू]र्वजोंका महान् चरित्र सुनते-सुनते तृप्ति नहीं हो रही है, अतः आप इसका वर्णन कीजिये ॥ ३ ॥

वैशम्पायन उवाच

ततः कर्णे हते राजन् धार्तराष्ट्रः सुयोधनः ।
भृशं शोकार्णवे मग्नो निराशः सर्वतोऽभवत् ॥ ४ ॥

वैशम्पायनजीने कहा— राजन् ! कर्णके मारे जानेपर धृतराष्ट्रपुत्र राजा दुर्योधन शोकके समुद्रमें डूब गया और सब ओरसे निराश हो गया ॥ ४ ॥

हा कर्ण हा कर्ण इति शोचमानः पुनः पुनः ।
कृच्छ्रात् स्वशिबिरं प्राप्तो हतशेषैर्नृपैः सह ॥ ५ ॥

'हा कर्ण ! हा कर्ण !' ऐसा कहकर बारंबार शोकग्रस्त हो मरनेसे बचे हुए नरेशोंके साथ वह बड़ी कठिनाईसे अपने शिबिरमें आया ॥ ५ ॥

स समाश्वास्यमानोऽपि हेतुभिः शास्त्रनिश्चितैः ।
राजभिर्नालभच्छर्म सूतपुत्रवधं स्मरन् ॥ ६ ॥

राजाओंने शास्त्रनिश्चित युक्तियोंद्वारा उसे बहुत समझाया-बुझाया तो भी सूतपुत्रके वधका स्मरण करके उसे शान्ति नहीं मिली ॥ ६ ॥

स दैवं बलवन्मत्वा भवितव्यं च पार्थिवः ।
संग्रामे निश्चयं कृत्वा पुनर्युद्धाय निर्ययौ ॥ ७ ॥

उस राजा दुर्योधनने दैव और भवितव्यताको प्रबल मानकर संग्राम जारी रखनेका ही दृढ़ निश्चय करके पुनः युद्धके लिये प्रस्थान किया ॥ ७ ॥

शल्यं सेनापतिं कृत्वा विधिवद् राजपुङ्गवः ।
रणाय निर्ययौ राजा हतशेषैर्नृपैः सह ॥ ८ ॥

नृपश्रेष्ठ राजा दुर्योधन शल्यको विधिपूर्वक सेनापति बनाकर मरनेसे बचे हुए राजाओंके साथ युद्धके लिये निकला ॥

ततः सुतुमुलं युद्धं कुरुपाण्डवसेनयोः ।
बभूव भरतश्रेष्ठ देवासुररणोपमम् ॥ ९ ॥

भरतश्रेष्ठ ! तदनन्तर कौरव-पाण्डव सेनाओंमें घोर युद्ध हुआ, जो देवासुर-संग्रामके समान भयंकर था ॥ ९ ॥

ततः शल्यो महाराज कृत्वा कदनमाहवे ।
ससैन्योऽथ स मध्याह्ने धर्मराजेन घातितः ॥ १० ॥

महाराज ! तत्पश्चात् सेनासहित शल्य युद्धमें बड़ा भारी संहार मचाकर मध्याह्नकालमें धर्मराज युधिष्ठिरके हाथसे मारे गये ॥ १० ॥

ततो दुर्योधनो राजा हतबन्धू रणाजिरात् ।
अपसृत्य ह्रदं घोरं विवेश रिपुजाद् भयात् ॥ ११ ॥

तदनन्तर राजा दुर्योधन अपने भाइयोंके मारे जानेपर समराङ्गणसे दूर जाकर शत्रुके भयसे भयंकर तालाबमें घुस गया ॥ ११ ॥

अथापराह्ने तस्याह्नः परिवार्य सुयोधनः ।
ह्रदादाहूय युद्धाय भीमसेनेन पातितः ॥ १२ ॥

इसके बाद उसी दिन अपराह्नकालमें दुर्योधनपर घेरा डालकर उसे युद्धके लिये तालाबमें बुलाकर भीमसेनने मार गिराया ॥ १२ ॥

तस्मिन् हते महेष्वासे हतशिष्टास्त्रयो रथाः ।
संरम्भान्निशि राजेन्द्र जघ्नुः पाञ्चालसोमकान् ॥ १३॥

राजेन्द्र ! उस महाधनुर्धर दुर्योधनके मारे जानेपर मरनेसे बचे हुए तीन रथी—कृपाचार्य, कृतवर्मा और अश्वत्थामाने रातमें सोते समय पाञ्चालों और सोमकोंको रोषपूर्वक मार डाला ॥ १३ ॥

ततः पूर्वाह्णसमये शिबिरादेत्य संजयः ।
प्रविवेश पुरीं दीनो दुःखशोकसमन्वितः ॥ १४ ॥

तत्पश्चात् पूर्वाह्णकालमें दुःख और शोकमें डूबे हुए संजयने शिविरसे आकर दीनभावसे हस्तिनापुरमें प्रवेश किया ॥१४॥

स प्रविश्य पुरीं सूतो भुजावुच्छ्रित्य दुःखितः ।
वेपमानस्ततो राज्ञः प्रविवेश निकेतनम् ॥ १५ ॥

पुरीमें प्रवेश करके दोनों बाँहें ऊपर उठाकर दुःखमग्न हो काँपते हुए संजय राजभवनके भीतर गये ॥ १५ ॥

रुरोद च नरव्याघ्र हा राजन्निति दुःखितः ।
अहो बत विनष्टाः स निधनेन महात्मनः ॥ १६ ॥

और रोते हुए दुखी होकर बोले—'हा नरव्याघ्र नरेश ! हा राजन् ! बड़े शोककी बात है ! महामनस्वी कुरुराजके निधनसे हम सर्वथा नष्टप्राय हो गये ! ॥ १६ ॥

विधिश्च बलवानत्र पौरुषं तु निरर्थकम् ।
शक्रतुल्यबलाः सर्वे यथावध्यन्त पाण्डवैः ॥ १७ ॥

'इस जगत्में भाग्य ही बलवान् है। पुरुषार्थ तो निरर्थक है, क्योंकि आपके सभी पुत्र इन्द्रके तुल्य बलवान् होनेपर भी पाण्डवोंके हाथसे मारे गये !' ॥ १७ ॥

दृष्ट्वैव च पुरे राजञ्जनः सर्वः स संजयम् ।
क्लेशेन महता युक्तं सर्वतो राजसत्तम ॥ १८ ॥
रुरोद च भृशोद्विग्नो हा राजन्निति विस्वरम् ।
आकुमारं नरव्याघ्र तत्र तत्र समन्ततः ॥ १९ ॥
आर्तनादं ततश्चक्रे श्रुत्वा विनिहतं नृपम् ।

राजन् ! नृपश्रेष्ठ ! हस्तिनापुरके सभी लोग संजयको सर्वथा महान् क्लेशसे युक्त देखकर अत्यन्त उद्विग्न हो 'हा राजन् !' ऐसा कहते हुए फूट-फूटकर रोने लगे । नरव्याघ्र ! वहाँ चारों ओर बच्चोंसे लेकर बूढ़ोंतक सब लोग राजाको मारा गया सुन आर्तनाद करने लगे ॥ १८-१९½ ॥

धावतश्चाप्यपश्यामस्तत्र तान् पुरुषर्षभान् ॥ २० ॥
नष्टचित्तानिवोन्मत्ताञ्शोकेन भृशपीडितान् ।

हमलोगोंने देखा कि वे नगरके श्रेष्ठ पुरुष अचेत और उन्मत्त-से होकर शोकसे अत्यन्त पीड़ित हो वहाँ दौड़ रहे हैं ॥

तथा स विह्वलः सूतः प्रविश्य नृपतिक्षयम् ॥ २१ ॥
ददर्श नृपतिश्रेष्ठं प्रज्ञाचक्षुषमीश्वरम् ।

इस प्रकार व्याकुल हुए संजयने राजभवनमें प्रवेश करके अपने स्वामी प्रज्ञाचक्षु नृपश्रेष्ठ धृतराष्ट्रका दर्शन किया ॥

तथा चासीनमनघं समन्तात् परिवारितम् ॥ २२ ॥
स्नुषाभिर्भरतश्रेष्ठ गान्धार्या विदुरेण च ।
तथान्यैश्च सुहृद्भिश्च ज्ञातिभिश्च हितैषिभिः ॥ २३ ॥
तमेव चार्थं ध्यायन्तं कर्णस्य निधनं प्रति ।

भरतश्रेष्ठ ! वे निष्पाप नरेश अपनी पुत्रवधुओं, गान्धारी, विदुर तथा अन्य हितैषी सुहृदों एवं बन्धु-बान्धवोंद्वारा सब ओरसे घिरे हुए बैठे थे और कर्णके मारे जानेसे होनेवाले परिणामका चिन्तन कर रहे थे ॥ २२-२३½ ॥

रुदन्नेवाब्रवीद् वाक्यं राजानं जनमेजय ॥ २४ ॥
नातिहृष्टमनाः सूतो वाक्यसंदिग्धया गिरा ।
संजयोऽहं नरव्याघ्र नमस्ते भरतर्षभ ॥ २५ ॥

जनमेजय ! उस समय संजयने खिन्नचित्त होकर रोते हुए ही संदिग्ध वाणीमें कहा—'नरव्याघ्र ! भरतश्रेष्ठ ! मैं संजय हूँ । आपको नमस्कार है ॥ २४-२५ ॥

मद्राधिपो हतः शल्यः शकुनिः सौबलस्तथा ।
उलूकः पुरुषव्याघ्र कैतव्यो दृढविक्रमः ॥ २६ ॥

'पुरुषसिंह ! मद्रराज शल्य, सुबलपुत्र शकुनि तथा जुआरीका पुत्र सुदृढ़पराक्रमी, उलूक—ये सब-के-सब मारे गये ॥ २६ ॥

संशप्तका हताः सर्वे काम्बोजाश्च शकैः सह ।
म्लेच्छाश्च पर्वतीयाश्च यवना विनिपातिताः ॥ २७ ॥

'समस्त संशप्तक वीर, काम्बोज, शक, म्लेच्छ, पर्वतीय योद्धा और यवनसैनिक मार गिराये गये ॥ २७ ॥

प्राच्या हता महाराज दाक्षिणात्याश्च सर्वशः ।
उदीच्याश्च हताः सर्वे प्रतीच्याश्च नरोत्तमाः ॥ २८ ॥

'महाराज ! पूर्वदेशके योद्धा मारे गये, समस्त दाक्षिणात्योंका संहार हो गया तथा उत्तर और पश्चिमके सभी श्रेष्ठ मनुष्य मार डाले गये ॥ २८ ॥

राजानो राजपुत्राश्च सर्वे ते निहता नृप ।
दुर्योधनो हतो राजा यथोक्तं पाण्डवेन ह ॥ २९ ॥
भग्नसक्थो महाराज शेते पांसुषु रूषितः ।

'नरेश्वर ! समस्त राजा और राजकुमार कालके गालमें चले गये । महाराज ! जैसा पाण्डुपुत्र भीमसेनने कहा था, उसके अनुसार राजा दुर्योधन भी मारा गया । उसकी जाँघ टूट गयी और वह धूल-धूसर होकर पृथ्वीपर पड़ा है ॥२९½॥

धृष्टद्युम्नो महाराज शिखण्डी चापराजितः ॥ ३० ॥
उत्तमौजा युधामन्युस्तथा राजन् प्रभद्रकाः ।
पञ्चालाश्च नरव्याघ्र चेदयश्च निषूदिताः ॥ ३१ ॥

'महाराज ! नरव्याघ्र नरेश ! धृष्टद्युम्न, अपराजित वीर

शिखण्डी, उत्तमौजा, युधामन्यु, प्रभद्रकगण, पाञ्चाल और चेदिदेशीय योद्धाओंका भी संहार हो गया ॥ ३०-३१ ॥

तव पुत्रा हताः सर्वे द्रौपदेयाश्च भारत।
कर्णपुत्रो हतः शूरो वृषसेनः प्रतापवान् ॥ ३२ ॥

'भारत ! आपके तथा द्रौपदीके भी सभी पुत्र मारे गये । कर्णका प्रतापी एवं शूरवीर पुत्र वृषसेन भी नष्ट हो गया ॥ ३२ ॥

नरा विनिहताः सर्वे गजाश्च विनिपातिताः।
रथिनश्च नरव्याघ्र हयाश्च निहता युधि ॥ ३३ ॥

'नरव्याघ्र ! युद्धस्थलमें समस्त पैदल मनुष्य, हाथीसवार, रथी और घुड़सवार भी मार गिराये गये ॥ ३३ ॥

किञ्चिच्छेषं च शिविरं तावकानां कृतं प्रभो।
पाण्डवानां कुरूणां च समासाद्य परस्परम् ॥ ३४ ॥

'प्रभो ! पाण्डवों तथा कौरवोंमें परस्पर संघर्ष होकर आपके पुत्रों तथा पाण्डवके शिविरमें किंचिन्मात्र ही शेष रह गया है ॥

प्रायः स्त्रीशेषमभवज्जगत् कालेन मोहितम्।
सप्त पाण्डवतः शेषा धार्तराष्ट्रास्त्रयो रथाः ॥ ३५ ॥

'प्रायः कालसे मोहित हुए सारे जगत्में स्त्रियाँ ही शेष रह गयी हैं । पाण्डवपक्षमें सात और आपके पक्षमें तीन रथी मरनेसे बचे हैं ॥ ३५ ॥

ते चैव भ्रातरः पञ्च वासुदेवोऽथ सात्यकिः।
कृपश्च कृतवर्मा च द्रौणिश्च जयतां वरः ॥ ३६ ॥

'उधर पाँचों भाई पाण्डव, वसुदेवनन्दन भगवान् श्रीकृष्ण और सात्यकि शेष हैं तथा इधर कृपाचार्य, कृतवर्मा और विजयी वीरोंमें श्रेष्ठ अश्वत्थामा जीवित हैं ॥ ३६ ॥

तथाप्येते महाराज रथिनो नृपसत्तम।
अक्षौहिणीनां सर्वासां समेतानां जनेश्वर ॥ ३७ ॥
एते शेषा महाराज सर्वेऽन्ये निधनं गताः।

'नृपश्रेष्ठ ! जनेश्वर ! महाराज ! उभय पक्षमें जो समस्त अक्षौहिणी सेनाएँ एकत्र हुई थीं, उनमेंसे ये ही रथी शेष रह गये हैं, अन्य सब लोग कालके गालमें चले गये ॥ ३७½ ॥

कालेन निहतं सर्वं जगद् वै भरतर्षभ ॥ ३८ ॥
दुर्योधनं वै पुरतः कृत्वा वैरं च भारत।

'भरतश्रेष्ठ ! भरतनन्दन ! कालने दुर्योधन और उसके वैरको आगे करके सम्पूर्ण जगत्को नष्ट कर दिया' ॥ ३८½ ॥

वैशम्पायन उवाच

एतच्छ्रुत्वा वचः क्रूरं धृतराष्ट्रो जनेश्वरः ॥ ३९ ॥
निपपात स राजेन्द्रो गतसत्त्वो महीतले।

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! यह क्रूर वचन सुनकर राजाधिराज जनेश्वर धृतराष्ट्र प्राणहीन-से होकर पृथ्वीपर गिर पड़े ॥ ३९½ ॥

तस्मिन् निपतिते भूमौ विदुरोऽपि महायशाः ॥ ४० ॥
निपपात महाराज शोकव्यसनकर्षितः।

महाराज ! उनके गिरते ही महायशस्वी विदुरजी भी शोकसंतापसे दुर्बल हो धड़ामसे गिर पड़े ॥ ४०½ ॥

गान्धारी च नृपश्रेष्ठ सर्वाश्च कुरुयोषितः ॥ ४१ ॥
पतिताः सहसा भूमौ श्रुत्वा क्रूरं वचस्तदा।
निःसंज्ञं पतितं भूमौ तदासीद् राजमण्डलम् ॥ ४२ ॥
प्रलापयुक्तं महति चित्रन्यस्तं पटे यथा।

नृपश्रेष्ठ ! उस समय वह क्रूरतापूर्ण वचन सुनकर कुरुकुलकी समस्त स्त्रियाँ और गान्धारी देवी सहसा पृथ्वीपर गिर गयीं, राजपरिवारके सभी लोग अपनी सुध-बुध खोकर धरतीपर गिर पड़े और प्रलाप करने लगे । वे ऐसे जान पड़ते थे मानो विशाल पटपर अङ्कित किये गये चित्र हों ॥ ४१-४२½ ॥

कृच्छ्रेण तु ततो राजा धृतराष्ट्रो महीपतिः ॥ ४३ ॥
शनैरलभत प्राणान् पुत्रव्यसनकर्शितः।

तत्पश्चात् पुत्रशोकसे पीड़ित हुए पृथ्वीपति राजा धृतराष्ट्रमें बड़ी कठिनाईसे धीरे-धीरे प्राणोंका संचार हुआ ॥

लब्ध्वा तु स नृपः संज्ञां वेपमानः सुदुःखितः ॥ ४४ ॥
उदीक्ष्य च दिशः सर्वाः क्षत्तारं वाक्यमब्रवीत्।
विद्वन् क्षत्तर्महाप्राज्ञ त्वं गतिर्भरतर्षभ ॥ ४५ ॥
ममानाथस्य सुभृशं पुत्रैर्हीनस्य सर्वशः।
एवमुक्त्वा ततो भूयो विसंज्ञो निपपात ह ॥ ४६ ॥

चेतना पाकर राजा धृतराष्ट्र अत्यन्त दुखी हो थर-थर काँपने लगे और सम्पूर्ण दिशाओंकी ओर देखकर विदुरसे इस प्रकार बोले—'विद्वन् ! महाज्ञानी विदुर ! भरतभूषण ! अब तुम्हीं मुझ पुत्रहीन और अनाथके सर्वथा आश्रय हो' । इतना कहकर वे पुनः अचेत हो पृथ्वीपर गिर पड़े ॥ ४४-४६ ॥

तं तथा पतितं दृष्ट्वा बान्धवा येऽस्य केचन।
शीतैस्ते सिषिचुस्तोयैर्विव्यजुर्व्यजनैरपि ॥ ४७ ॥

उन्हें इस प्रकार गिरा हुआ देख उनके जो कोई बन्धु-बान्धव वहाँ मौजूद थे, उन्होंने राजाके शरीरपर ठंडे जलके छींटे दिये और व्यजन डुलाये ॥ ४७ ॥

स तु दीर्घेण कालेन प्रत्याश्वस्तो नराधिपः।
तूष्णीं दध्यौ महीपालः पुत्रव्यसनकर्शितः ॥ ४८ ॥

फिर बहुत देरके बाद जब राजा धृतराष्ट्रको होश हुआ, तब वे पुत्रशोकसे पीड़ित हो चिन्तामग्न हो गये ॥ ४८ ॥

निःश्वसञ्जिह्मग इव कुम्भक्षिप्तो विशाम्पते।
संजयोऽप्यरुदत् तत्र दृष्ट्वा राजानमातुरम् ॥ ४९ ॥

प्रजानाथ ! उस समय वे घड़ेमें रक्खे हुए सर्पके समान लंबी साँस खींचने लगे । राजाको इस प्रकार आतुर देखकर संजय भी वहाँ रोने लगे ॥ ४९ ॥

तथा सर्वाः स्त्रियश्चैव गान्धारी च यशस्विनी।
ततो दीर्घेण कालेन विदुरं वाक्यमब्रवीत् ॥ ५० ॥
धृतराष्ट्रो नरश्रेष्ठ मुह्यमानो मुहुर्मुहुः।

गच्छन्तु योषितः सर्वा गान्धारी च यशस्विनी ॥ ५१ ॥
तथेमे सुहृदः सर्वे भ्राम्यते मे मनो भृशम्।

फिर सारी स्त्रियाँ और यशस्विनी गान्धारी देवी भी फूट-फूटकर रोने लगीं। नरश्रेष्ठ ! तत्पश्चात् बहुत देरके बाद बारंबार मोहित होते हुए धृतराष्ट्रने विदुरसे कहा—'ये सारी स्त्रियाँ और यशस्विनी गान्धारी देवी भी यहाँसे चली जायँ। ये समस्त सुहृद् भी अब यहाँसे पधारें; क्योंकि मेरा चित्त अत्यन्त भ्रान्त हो रहा है' ॥ ५०-५१½ ॥

एवमुक्तस्ततः क्षत्ता ताः स्त्रियो भरतर्षभ ॥ ५२ ॥
विसर्जयामास शनैर्वेपमानः पुनः पुनः।

भरतश्रेष्ठ ! उनके ऐसा कहनेपर बारंबार काँपते हुए विदुरजीने उन सब स्त्रियोंको धीरे-धीरे विदा कर दिया ॥

निश्चक्रमुस्ततः सर्वाः स्त्रियो भरतसत्तम ॥ ५३ ॥
सुहृदश्च तथा सर्वे दृष्ट्वा राजानमातुरम्।

भरतभूषण ! फिर वे सारी स्त्रियाँ और समस्त सुहृद्-गण राजाको आतुर देखकर वहाँसे चले गये ॥ ५३½ ॥

ततो नरपतिं तत्र लब्धसंज्ञं परंतप ॥ ५४ ॥
अवैक्षत् संजयो दीनं रोदमानं भृशातुरम्।

शत्रुओंको संताप देनेवाले नरेश ! तदनन्तर होशमें आकर अत्यन्त आतुर हो दीनभावसे विलाप करते हुए राजा धृतराष्ट्रकी ओर संजयने देखा ॥ ५४½ ॥

प्राञ्जलिर्निःश्वसन्तं च तं नरेन्द्रं मुहुर्मुहुः।
समाश्वासयत क्षत्ता वचसा मधुरेण च ॥ ५५ ॥

उस समय बारंबार लंबी साँस खींचते हुए राजा धृतराष्ट्रको विदुरजीने हाथ जोड़कर अपनी मधुर वाणीद्वारा आश्वासन दिया ॥ ५५ ॥

इति श्रीमहाभारते शल्यपर्वणि धृतराष्ट्रप्रमोहे प्रथमोऽध्यायः ॥ १ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शल्यपर्वमें धृतराष्ट्रका मोहविषयक पहला अध्याय पूरा हुआ ॥ १ ॥

द्वितीयोऽध्यायः

राजा धृतराष्ट्रका विलाप करना और संजयसे युद्धका वृत्तान्त पूछना

वैशम्पायन उवाच

चिरसृष्टास्वथ नारीषु धृतराष्ट्रोऽम्बिकासुतः।
विललाप महाराज दुःखाद् दुःखान्तरं गतः ॥ १ ॥
सधूममिव निःश्वस्य करौ धुन्वन् पुनः पुनः।
विचिन्त्य च महाराज वचनं चेदमब्रवीत् ॥ २ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं— महाराज ! स्त्रियोंके विदा हो जानेपर अम्बिकानन्दन राजा धृतराष्ट्र एक दुःखसे दूसरे दुःखमें पड़कर गरम-गरम उच्छ्वास लेते और बारंबार दोनों हाथ हिलाते हुए विलाप करने लगे और बड़ी देरतक चिन्ता-मग्न रहकर इस प्रकार बोले ॥ १-२ ॥

धृतराष्ट्र उवाच

अहो बत महद् दुःखं यदहं पाण्डवान् रणे।
क्षेमिणश्चाव्ययांश्चैव त्वत्तः सूत शृणोमि वै ॥ ३ ॥

धृतराष्ट्रने कहा—सूत ! मेरे लिये महान् दुःखकी बात है कि मैं तुम्हारे मुखसे रणभूमिमें पाण्डवोंको सकुशल और विनाशरहित सुन रहा हूँ ॥ ३ ॥

वज्रसारमयं नूनं हृदयं सुदृढं मम।
यच्छ्रुत्वा निहतान् पुत्रान् दीर्यते न सहस्रधा ॥ ४ ॥

निश्चय ही मेरा यह सुदृढ़ हृदय वज्रके सारतत्त्वका बना हुआ है; क्योंकि अपने पुत्रोंको मारा गया सुनकर भी इसके सहस्रों टुकड़े नहीं हो जाते हैं ॥ ४ ॥

चिन्तयित्वा वयस्तेषां बालक्रीडां च संजय।
हतान् पुत्रानशेषेण दीर्यते मे भृशं मनः ॥ ५ ॥

संजय ! मैं उनकी अवस्था और बाल-क्रीडाका चिन्तन करके जब उन सबके मारे जानेकी बात सोचता हूँ, तब मेरा हृदय अत्यन्त विदीर्ण होने लगता है ॥ ५ ॥

अनेत्रत्वाद् यदेतेषां न मे रूपनिदर्शनम्।
पुत्रस्नेहकृता प्रीतिर्नित्यमेतेषु धारिता ॥ ६ ॥

यद्यपि नेत्रहीन होनेके कारण मैंने उनका रूप कभी नहीं देखा था, तथापि इन सबके प्रति पुत्रस्नेह-जनित प्रेमका भाव सदा ही रक्खा है ॥ ६ ॥

बालभावमतिक्रम्य यौवनस्थांश्च तानहम्।
मध्यप्राप्तांस्तथा श्रुत्वा हृष्ट आसं तदानघ ॥ ७ ॥

निष्पाप संजय ! जब मैं यह सुनता था कि मेरे बच्चे बाल्यावस्थाको लाँघकर युवावस्थामें प्रविष्ट हुए हैं और धीरे-धीरे मध्य अवस्थातक पहुँच गये हैं, तब हर्षसे फूल उठता था ॥ ७ ॥

तानद्य निहताञ्छ्रुत्वा हतैश्वर्यान् हतौजसः।
न लभेयं क्वचिच्छान्तिं पुत्राधिभिरभिप्लुतः ॥ ८ ॥

आज उन्हीं पुत्रोंको ऐश्वर्य और बलसे हीन एवं मारा गया सुनकर उनकी चिन्तासे व्यथित हो कहीं भी शान्ति नहीं पा रहा हूँ ॥ ८ ॥

एह्येहि पुत्र राजेन्द्र ममानाथस्य साम्प्रतम्।
त्वया हीनो महाबाहो कां नु यास्याम्यहं गतिम् ॥ ९ ॥

(इतना कहकर राजा धृतराष्ट्र इस प्रकार विलाप करने लगे—) बेटा ! राजाधिराज ! इस समय मुझ अनाथके पास आओ, आओ। महाबाहो ! तुम्हारे बिना न जाने मैं किस दशाको पहुँच जाऊँगा ? ॥ ९ ॥

कथं त्वं पृथिवीपालांस्त्यक्त्वा तात समागतान्।
शेषे विनिहतो भूमौ प्राकृतः कुनृपो यथा ॥ १० ॥

तात ! तुम यहाँ पधारे हुए समस्त भूमिपालोंको छोड़कर

किसी नीच और दुष्ट राजाके समान मारे जाकर पृथ्वीपर कैसे सो रहे हो ? ॥ १० ॥

गतिर्भूत्वा महाराज ज्ञातीनां सुहृदां तथा।
अन्धं वृद्धं च मां वीर विहाय क्व नु यास्यसि ॥ ११ ॥

वीर महाराज ! तुम भाई-बन्धुओं और सुहृदोंके आश्रय होकर भी मुझ अंधे और बूढ़ेको छोड़कर कहाँ चले जा रहे हो ? ॥ ११ ॥

सा कृपा सा च ते प्रीतिः क्व सा राजन् सुमानिता।
कथं विनिहतः पार्थैः संयुगेष्वपराजितः ॥ १२ ॥

राजन् ! तुम्हारी वह कृपा, वह प्रीति और दूसरोंको सम्मान देनेकी वह वृत्ति कहाँ चली गयी ? तुम तो किसीसे परास्त होनेवाले नहीं थे; फिर कुन्तीके पुत्रोंके द्वारा युद्धमें कैसे मारे गये ? ॥ १२ ॥

को नु मामुत्थितं वीर तात तातेति वक्ष्यति।
महाराजेति सततं लोकनाथेति चासकृत् ॥ १३ ॥

वीर ! अब मेरे उठनेपर मुझे सदा तात, महाराज और लोकनाथ आदि बारंबार कहकर कौन पुकारेगा ? ॥ १३ ॥

परिष्वज्य च मां कण्ठे स्नेहेन क्लिन्नलोचनः।
अनुशाधीति कौरव्य तत् साधु वद मे वचः ॥ १४ ॥

कुरुनन्दन ! तुम पहले स्नेहसे नेत्रोंमें आँसू भरकर मेरे गलेसे लग जाते और कहते 'पिताजी ! मुझे कर्तव्यका उपदेश दीजिये,' वही सुन्दर बात फिर मुझसे कहो ॥ १४ ॥

ननु नामाहमश्रौषं वचनं तव पुत्रक।
भूयसी मम पृथ्वीयं यथा पार्थस्य नो तथा ॥ १५ ॥

बेटा ! मैंने तुम्हारे मुँहसे यह बात सुनी थी कि 'मेरे अधिकारमें बहुत बड़ी पृथ्वी है। इतना विशाल भूभाग कुन्तीपुत्र युधिष्ठिरके अधिकारमें कभी नहीं रहा ॥ १५ ॥

भगदत्तः कृपः शल्य आवन्त्योऽथ जयद्रथः।
भूरिश्रवाः सोमदत्तो महाराजश्च बाह्लिकः ॥ १६ ॥
अश्वत्थामा च भोजश्च मागधश्च महाबलः।
बृहद्बलश्च क्राथश्च शकुनिश्चापि सौबलः ॥ १७ ॥
म्लेच्छाश्च शतसाहस्राः शकाश्च यवनैः सह।
सुदक्षिणश्च काम्बोजस्त्रिगर्ताधिपतिस्तथा ॥ १८ ॥
भीष्मः पितामहश्चैव भारद्वाजोऽथ गौतमः।
श्रुतायुश्चायुतायुश्च शतायुश्चापि वीर्यवान् ॥ १९ ॥
जलसन्धोऽथार्ष्यशृङ्गी राक्षसश्चाप्यलायुधः।
अलम्बुषो महाबाहुः सुबाहुश्च महारथः ॥ २० ॥
एते चान्ये च बहवो राजानो राजसत्तम।
मदर्थमुद्यताः सर्वे प्राणांस्त्यक्त्वा धनानि च ॥ २१ ॥

'नृपश्रेष्ठ ! भगदत्त, कृपाचार्य, शल्य, अवन्तीके राजकुमार, जयद्रथ, भूरिश्रवा, सोमदत्त, महाराज बाह्लिक, अश्वत्थामा, कृतवर्मा, महाबली मगधनरेश बृहद्बल, क्राथ, सुबलपुत्र शकुनि, लाखों म्लेच्छ, यवन एवं शक, काम्बोजराज सुदक्षिण, त्रिगर्तराज सुशर्मा, पितामह भीष्म, भरद्वाजनन्दन द्रोणाचार्य, गौतमगोत्रीय कृपाचार्य, श्रुतायु, अयुतायु, पराक्रमी शतायु, जलसन्ध, ऋष्यशृङ्गपुत्र राक्षस अलायुध, महाबाहु अलम्बुष और महारथी सुबाहु—ये तथा और भी बहुत-से नरेश मेरे लिये प्राणों और धनका मोह छोड़कर सब-के-सब युद्धके लिये उद्यत हैं ॥ १६–२१ ॥

तेषां मध्ये स्थितो युद्धे भ्रातृभिः परिवारितः।
योधयिष्याम्यहं पार्थान् पञ्चालांश्चैव सर्वशः ॥ २२ ॥

'इन सबके बीचमें रहकर भाइयोंसे घिरा हुआ मैं रणभूमिमें पाण्डवों और पाञ्चालोंके साथ युद्ध करूँगा ॥ २२ ॥

चेदींश्च नृपशार्दूल द्रौपदेयांश्च संयुगे।
सात्यकिं कुन्तिभोजं च राक्षसं च घटोत्कचम् ॥ २३ ॥

'राजसिंह ! मैं युद्धस्थलमें चेदियों, द्रौपदीकुमारों, सात्यकि, कुन्तिभोज तथा राक्षस घटोत्कचका भी सामना करूँगा ॥ २३ ॥

एकोऽप्येषां महाराज समर्थः संनिवारणे।
समरे पाण्डवेयानां संक्रुद्धो ह्यभिधावताम् ॥ २४ ॥
किं पुनः सहिता वीराः कृतवैराश्च पाण्डवैः।

'महाराज ! मेरे इन सहयोगियोंमेंसे एक-एक वीर भी समराङ्गणमें कुपित होकर मुझपर आक्रमण करनेवाले समस्त पाण्डवोंको रोकनेमें समर्थ हैं। फिर यदि पाण्डवोंके साथ वैर रखनेवाले ये सारे वीर एक साथ होकर युद्ध करें तब क्या नहीं कर सकते ॥ २४½ ॥

अथवा सर्व एवैते पाण्डवस्यानुयायिभिः ॥ २५ ॥
योत्स्यन्ते सह राजेन्द्र हनिष्यन्ति च तान् मृधे।

'राजेन्द्र ! अथवा ये सभी योद्धा पाण्डुपुत्र युधिष्ठिरके अनुयायियोंके साथ युद्ध करेंगे और उन सबको रणभूमिमें मार गिरायेंगे ॥ २५½ ॥

कर्ण एको मया सार्धं निहनिष्यति पाण्डवान् ॥ २६ ॥
ततो नृपतयो वीराः स्थास्यन्ति मम शासने।

'अकेला कर्ण ही मेरे साथ रहकर समस्त पाण्डवोंको मार डालेगा। फिर सारे वीर नरेश मेरी आज्ञाके अधीन हो जायँगे ॥ २६½ ॥

यश्च तेषां प्रणेता वै वासुदेवो महाबलः ॥ २७ ॥
न स संनह्यते राजन्निति मामब्रवीद् वचः।

'राजन् ! पाण्डवोंके जो नेता हैं, वे महाबली वसुदेवनन्दन श्रीकृष्ण युद्धके लिये कवच नहीं धारण करेंगे'। ऐसी बात दुर्योधन मुझसे कहता था ॥ २७½ ॥

तस्याथ वदतः सूत बहुशो मम संनिधौ ॥ २८ ॥
शक्तितो ह्यनुपश्यामि निहतान् पाण्डवान् रणे।

सूत ! मेरे निकट दुर्योधन जब इस तरहकी बहुत-सी बातें कहने लगा तो मैं यह समझ बैठा कि 'हमारी शक्तिसे समस्त पाण्डव रणभूमिमें मारे जायँगे' ॥ २८½ ॥

तेषां मध्ये स्थिता यत्र हन्यन्ते मम पुत्रकाः ॥ २९ ॥
व्यायच्छमानाः समरे किमन्यद् भागधेयतः ।

जब ऐसे वीरोंके बीचमें रहकर भी प्रयत्नपूर्वक लड़नेवाले मेरे पुत्र समराङ्गणमें मार डाले गये; तब इसे भाग्यके सिवा और क्या कहा जा सकता है ? ॥ २९½ ॥

भीष्मश्च निहतो यत्र लोकनाथः प्रतापवान् ॥ ३० ॥
शिखण्डिनं समासाद्य मृगेन्द्र इव जम्बुकम् ।
द्रोणश्च ब्राह्मणो यत्र सर्वशस्त्रास्त्रपारगः ॥ ३१ ॥
निहतः पाण्डवैः संख्ये किमन्यद् भागधेयतः ।

जैसे सिंह सियारसे लड़कर मारा जाय, उसी प्रकार जहाँ लोकरक्षक प्रतापी वीर भीष्म शिखण्डीसे भिड़कर वध-को प्राप्त हुए, जहाँ सम्पूर्ण शस्त्रास्त्रोंकी विद्याके पारंगत विद्वान् ब्राह्मण द्रोणाचार्य पाण्डवोंद्वारा युद्धस्थलमें मार डाले गये; वहाँ भाग्यके सिवा दूसरा क्या कारण हो सकता है ? ॥

कर्णश्च निहतः संख्ये दिव्यास्त्रज्ञो महाबलः ॥ ३२ ॥
भूरिश्रवा हतो यत्र सोमदत्तश्च संयुगे ।
बाह्लिकश्च महाराजः किमन्यद् भागधेयतः ॥ ३३ ॥

जहाँ दिव्यास्त्रोंका ज्ञान रखनेवाला महाबली कर्ण युद्धमें मारा गया, जहाँ समराङ्गणमें भूरिश्रवा, सोमदत्त तथा महाराज बाह्लिकका संहार हो गया, वहाँ भाग्यके सिवा दूसरा क्या कारण बताया जा सकता है ? ॥ ३२-३३ ॥

भगदत्तो हतो यत्र गजयुद्धविशारदः ।
जयद्रथश्च निहतः किमन्यद् भागधेयतः ॥ ३४ ॥

जहाँ गजयुद्धविशारद राजा भगदत्त मारे गये और सिंधुराज जयद्रथका वध हो गया, वहाँ भाग्यके सिवा दूसरा क्या कारण हो सकता है ? ॥ ३४ ॥

सुदक्षिणो हतो यत्र जलसन्धश्च पौरवः ।
श्रुतायुश्चायुतायुश्च किमन्यद् भागधेयतः ॥ ३५ ॥

जहाँ काम्बोजराज सुदक्षिण, पौरव जलसन्ध, श्रुतायु और अयुतायु मार डाले गये, वहाँ भाग्यके सिवा और क्या कारण हो सकता है ? ॥ ३५ ॥

महाबलस्तथा पाण्ड्यः सर्वशस्त्रभृतां वरः ।
निहतः पाण्डवैः संख्ये किमन्यद् भागधेयतः ॥ ३६ ॥

जहाँ सम्पूर्ण शस्त्रधारियोंमें श्रेष्ठ महाबली पाण्ड्यनरेश युद्धमें पाण्डवोंके हाथसे मारे गये, वहाँ भाग्यके सिवा और क्या कारण है ? ॥ ३६ ॥

बृहद्बलो हतो यत्र मागधश्च महाबलः ।
उग्रायुधश्च विक्रान्तः प्रतिमानं धनुष्मताम् ॥ ३७ ॥
आवन्त्यौ निहतो यत्र त्रैगर्तश्च जनाधिपः ।
संशप्तकाश्च निहताः किमन्यद् भागधेयतः ॥ ३८ ॥

जहाँ बृहद्बल, महाबली मगधनरेश, धनुर्धरोंके आदर्श एवं पराक्रमी उग्रायुध, अवन्तीके राजकुमार, त्रिगर्तनरेश सुशर्मा तथा सम्पूर्ण संशप्तक योद्धा मार डाले गये; वहाँ भाग्यके सिवा दूसरा क्या कारण हो सकता है ? ॥ ३७-३८ ॥

अलम्बुषो महाशूरो राक्षसश्चाप्यलायुधः ।
आर्ष्यशृङ्गिश्च निहतः किमन्यद् भागधेयतः ॥ ३९ ॥

जहाँ शूरवीर अलम्बुष और ऋष्यशृङ्गपुत्र राक्षस अलायुध मारे गये, वहाँ भाग्यके सिवा और क्या कारण बताया जा सकता है ? ॥ ३९ ॥

नारायणा हता यत्र गोपाला युद्धदुर्मदाः ।
म्लेच्छाश्च बहुसाहस्राः किमन्यद् भागधेयतः ॥ ४० ॥

जहाँ नारायण नामवाले रणदुर्मद ग्वाले और कई हजार म्लेच्छ योद्धा मौतके घाट उतार दिये गये, वहाँ भाग्यके सिवा और क्या कहा जा सकता है ? ॥ ४० ॥

शकुनिः सौबलो यत्र कैतव्यश्च महाबलः ।
निहतः सबलो वीरः किमन्यद् भागधेयतः ॥ ४१ ॥

जहाँ सुबलपुत्र महाबली शकुनि और उस जुआरीका पुत्र वीर उलूक दोनों ही सेनासहित मार डाले गये, वहाँ भाग्यके सिवा दूसरा क्या कारण हो सकता है ? ॥ ४१ ॥

एते चान्ये च बहवः कृतास्त्रा युद्धदुर्मदाः ।
राजानो राजपुत्राश्च शूराः परिघबाहवः ॥ ४२ ॥
निहता बहवो यत्र किमन्यद् भागधेयतः ।

ये तथा और भी बहुत-से अस्त्रवेत्ता, रणदुर्मद, शूरवीर और परिघ-जैसी भुजाओंवाले राजा एवं राजकुमार अधिक संख्यामें मार डाले गये, वहाँ भाग्यके सिवा और क्या कारण बताया जाय ? ॥ ४२½ ॥

यत्र शूरा महेष्वासाः कृतास्त्रा युद्धदुर्मदाः ॥ ४३ ॥
बहवो निहताः सूत महेन्द्रसमविक्रमाः ।
नानादेशसमावृत्ताः क्षत्रिया यत्र संजय ॥ ४४ ॥
निहताः समरे सर्वे किमन्यद् भागधेयतः ।

सूत संजय ! जहाँ समरभूमिमें नाना देशोंसे आये हुए देवराज इन्द्रके समान पराक्रमी बहुत-से शूरवीर महाधनुर्धर, अस्त्रवेत्ता एवं युद्धदुर्मद क्षत्रिय सारे-के-सारे मार डाले गये, वहाँ भाग्यके अतिरिक्त दूसरा क्या कारण हो सकता है ? ॥

पुत्राश्च मे विनिहताः पौत्राश्चैव महाबलाः ॥ ४५ ॥
वयस्या भ्रातरश्चैव किमन्यद् भागधेयतः ।

हाय ! मेरे महाबली पुत्र, पौत्र, मित्र और भाई-बन्धु सभी मार डाले गये, इसे दुर्भाग्यके सिवा और क्या कहूँ ? ॥

भागधेयसमायुक्तो ध्रुवमुत्पद्यते नरः ॥ ४६ ॥
यस्तु भाग्यसमायुक्तः स शुभं प्राप्नुयान्नरः ।

निश्चय ही मनुष्य अपना-अपना भाग्य लेकर उत्पन्न होता है, जो सौभाग्यसे सम्पन्न होता है, उसे ही शुभ फलकी प्राप्ति होती है ॥ ४६½ ॥

अहं वियुक्तस्तैर्भाग्यैः पुत्रैश्चैवेह संजय ॥ ४७ ॥
कथमद्य भविष्यामि वृद्धः शत्रुवशं गतः ।

संजय ! मैं उन शुभकारक भाग्योंसे वञ्चित हूँ और पुत्रोंसे भी हीन हूँ । आज इस वृद्धावस्थामें शत्रुके वशमें पड़कर न जाने मेरी कैसी दशा होगी ? ॥ ४७½ ॥

ान्यदत्र परं मन्ये वनवासादृते प्रभो ॥ ४८ ॥
ोऽहं वनं गमिष्यामि निर्बन्धुर्ज्ञातिसंक्षये ।
हि मेऽन्यद् अवेच्छ्रेयो वनाभ्युपगमादृते ॥ ४९ ॥
मामवस्थां प्राप्तस्य लूनपक्षस्य संजय ।

सामर्थ्यशाली संजय ! मेरे लिये वनवासके सिवा और कोई ार्य श्रेष्ठ नहीं जान पड़ता । अब कुटुम्बीजनोंका विनाश हो ानेपर बन्धु-बान्धवोंसे रहित हो मैं वनमें ही चला जाऊँगा । ंजय ! पंख कटे हुए पक्षीकी भाँति इस अवस्थाको पहुँचे ुए मेरे लिये वनवास स्वीकार करनेके सिवा दूसरा कोई ेयस्कर कार्य नहीं है ॥ ४८-४९½ ॥

दुर्योधनो हतो यत्र शल्यश्च निहतो युधि ॥ ५० ॥
दुःशासनो विविंशश्च विकर्णश्च महाबलः ।
कथं हि भीमसेनस्य श्रोष्येऽहं शब्दमुत्तमम् ॥ ५१ ॥
एकेन समरे येन हतं पुत्रशतं मम ।

जब दुर्योधन मारा गया, शल्यका युद्धमें संहार हो ाया तथा दुःशासन, विविंशति और महाबली विकर्ण भी ार डाले गये, तब मैं उस भीमसेनका उच्चस्वरसे कहा ाया वचन कैसे सुनूँगा, जिसने अकेले ही समराङ्गणमें मेरे ौ पुत्रोंका वध कर डाला है ॥ ५०-५१½ ॥

असकृद्वदतस्तस्य दुर्योधनवधेन च ॥ ५२ ॥
दुःखशोकाभिसंतप्तो न श्रोष्ये परुषा गिरः ।

दुर्योधनके वधसे दुःख और शोकसे संतप्त हुआ मैं बारंबार बोलनेवाले भीमसेनकी कठोर बातें नहीं सुन सकूँगा॥

वैशम्पायन उवाच

एवं वृद्धश्च संतप्तः पार्थिवो हतबान्धवः ॥ ५३ ॥
मुहुर्मुहुर्मुह्यमानः पुत्राधिभिरभिप्लुतः ।
विलप्य सुचिरं कालं धृतराष्ट्रोऽम्बिकासुतः ॥ ५४ ॥
दीर्घमुष्णं स निःश्वस्य चिन्तयित्वा पराभवम् ।
दुःखेन महता राजन् संतप्तो भरतर्षभः ॥ ५५ ॥
पुनर्गावल्गणिं सूतं पर्यपृच्छद् यथातथम् ।

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन् ! इस प्रकार पुत्रों-की चिन्तामें डूबकर बारंबार मूर्छित होनेवाले, संतप्त एवं बूढ़े भरतश्रेष्ठ राजा अम्बिकानन्दन धृतराष्ट्र, जिनके बन्धु-बान्धव मार डाले गये थे, दीर्घकालतक विलाप करके गरम साँस खींचते और अपने पराभवकी बात सोचते हुए महान् दुःखसे संतप्त हो उठे तथा गवल्गणपुत्र संजयसे पुनः युद्धका यथावत् समाचार पूछने लगे ॥ ५३—५५½ ॥

धृतराष्ट्र उवाच

भीष्मद्रोणौ हतौ श्रुत्वा सूतपुत्रं च घातितम् ॥ ५६ ॥
सेनापतिं प्रणेतारं किमकुर्वत मामकाः ।

धृतराष्ट्रने कहा—संजय ! भीष्म और द्रोणाचार्यके वधका तथा युद्ध-संचालक सेनापति सूतपुत्र कर्णके विनाशका समाचार सुनकर मेरे पुत्रोंने क्या किया ? ॥ ५६½ ॥

यं यं सेनाप्रणेतारं युधि कुर्वन्ति मामकाः ॥ ५७ ॥
अचिरेणैव कालेन तं तं निघ्नन्ति पाण्डवाः ।

मेरे पुत्र युद्धस्थलमें जिस-जिस वीरको अपना सेनापति बनाते थे, पाण्डव उस-उसको थोड़े ही समयमें मार गिराते थे॥

रणमूर्ध्नि हतो भीष्मः पश्यतां वः किरीटिना ॥ ५८ ॥
एवमेव हतो द्रोणः सर्वेषामेव पश्यताम् ।

युद्धके मुहानेपर तुमलोगोंके देखते-देखते भीष्मजी किरीटधारी अर्जुनके हाथसे मारे गये । इसी प्रकार द्रोणाचार्य-का भी तुम सब लोगोंके सामने ही संहार हो गया ॥ ५८½ ॥

एवमेव हतः कर्णः सूतपुत्रः प्रतापवान् ॥ ५९ ॥
स राजकानां सर्वेषां पश्यतां वः किरीटिना ।

इसी तरह प्रतापी सूतपुत्र कर्ण भी राजाओंसहित तुम सब लोगोंके देखते-देखते किरीटधारी अर्जुनके हाथसे मारा गया ॥ ५९½ ॥

पूर्वमेवाहमुक्तो वै विदुरेण महात्मना ॥ ६० ॥
दुर्योधनापराधेन प्रजेयं विनशिष्यति ।

महात्मा विदुरने मुझसे पहले ही कहा था कि 'दुर्योधनके अपराधसे इस प्रजाका विनाश हो जायगा' ॥ ६०½ ॥

केचिन्न सम्यक् पश्यन्ति मूढाः सम्यगवेक्ष्य च ।
तदिदं मम मूढस्य तथाभूतं वचः स्म तत् ॥ ६१ ॥

संसारमें कुछ मूढ़ मनुष्य ऐसे होते हैं, जो अच्छी तरह देखकर भी नहीं देख पाते । मैं भी वैसा ही मूढ़ हूँ । मेरे लिये वह वचन वैसा ही हुआ (मैं उसे सुनकर भी न सुन सका) ॥ ६१ ॥

यदब्रवीत् स धर्मात्मा विदुरो दीर्घदर्शिवान् ।
तत्तथा समनुप्राप्तं वचनं सत्यवादिनः ॥ ६२ ॥

दूरदर्शी धर्मात्मा विदुरने पहले जो कुछ कहा था, वह सब उसी रूपमें सामने आया है । सत्यवादी महात्माका वचन सत्य होकर ही रहा ॥ ६२ ॥

दैवोपहतचित्तेन यन्मया न कृतं पुरा ।
अनयस्य फलं तस्य ब्रूहि गावल्गणे पुनः ॥ ६३ ॥

संजय ! पहले दैवसे मेरी बुद्धि मारी गयी थी; इसलिये मैंने जो विदुरजीकी बात नहीं मानी, मेरे उस अन्यायका फल जैसे-जैसे प्रकट हुआ है, उसका वर्णन करो ॥ ६३ ॥

को वा मुखमनीकानामासीत् कर्णे निपातिते ।
अर्जुनं वासुदेवं च को वा प्रत्युद्ययौ रथी ॥ ६४ ॥

कर्णके मारे जानेपर सेनाके मुखस्थानपर खड़ा होनेवाला कौन था ? कौन रथी अर्जुन और श्रीकृष्णका सामना करनेके लिये आगे बढ़ा ? ॥ ६४ ॥

केऽरक्षन् दक्षिणं चक्रं मद्रराजस्य संयुगे ।
वामं च योद्धुकामस्य के वा वीरस्य पृष्ठतः ॥ ६५ ॥

युद्धस्थलमें जूझनेकी इच्छावाले मद्रराज शल्यके दाहिने या बायें पहियेकी रक्षा किन लोगोंने की ? अथवा उस वीर सेनापतिके पृष्ठ-रक्षक कौन थे ? ॥ ६५ ॥

कथं च वः समेतानां मद्रराजो महारथः ।

निहतः पाण्डवैः संख्ये पुत्रो वा मम संजय ॥ ६६ ॥

संजय ! तुम सब लोगोंके एक साथ रहते हुए भी महारथी मद्रराज शल्य अथवा मेरा पुत्र दुर्योधन दोनों ही तुम्हारे सामने पाण्डवोंके हाथसे कैसे मारे गये ? ॥ ६६ ॥

ब्रूहि सर्वं यथातत्त्वं भरतानां महाक्षयम् ।
यथा च निहतः संख्ये पुत्रो दुर्योधनो मम ॥ ६७ ॥

तुम भरतवंशियोंके इस महान् विनाशका सारा वृत्तान्त यथार्थ रूपसे बताओ। साथ ही यह भी कहो कि युद्धस्थलमें मेरा पुत्र दुर्योधन किस प्रकार मारा गया ? ॥ ६७ ॥

पञ्चालाश्च यथा सर्वे निहताः सपदानुगाः ।
धृष्टद्युम्नः शिखण्डी च द्रौपद्याः पञ्च चात्मजाः॥ ६८ ॥

समस्त पाञ्चाल-सैनिक अपने सेवकोंसहित कैसे मारे गये ? धृष्टद्युम्न, शिखण्डी तथा द्रौपदीके पाँचों पुत्रोंका वध किस प्रकार हुआ ? ॥ ६८ ॥

पाण्डवाश्च यथा मुक्तास्तथोभौ माधवौ युधि ।
कृपश्च कृतवर्मा च भारद्वाजस्य चात्मजः ॥ ६९ ॥

पाँचों पाण्डव, दोनों मधुवंशी वीर श्रीकृष्ण और सात्यकि, कृपाचार्य, कृतवर्मा और अश्वत्थामा—ये युद्धस्थलसे किस प्रकार जीवित बच गये ? ॥ ६९ ॥

यद् यथा यादृशं चैव युद्धं वृत्तं च साम्प्रतम् ।
अखिलं श्रोतुमिच्छामि कुशलो ह्यसि संजय ॥ ७० ॥

संजय ! जो युद्धका वृत्तान्त जिस प्रकार और जैसे संघटित हुआ हो, वह सब इस समय मैं सुनना चाहता हूँ। तुम वह सब बतानेमें कुशल हो ॥ ७० ॥

इति श्रीमहाभारते शल्यपर्वणि धृतराष्ट्रविलापे द्वितीयोऽध्यायः ॥ २ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शल्यपर्वमें धृतराष्ट्रका विलापविषयक दूसरा अध्याय पूरा हुआ ॥ २ ॥

तृतीयोऽध्यायः

कर्णके मारे जानेपर पाण्डवोंके भयसे कौरवसेनाका पलायन, सामना करनेवाले पचीस हजार पैदलोंका भीमसेनद्वारा वध तथा दुर्योधनका अपने सैनिकोंको समझा-बुझाकर पुनः पाण्डवोंके साथ युद्धमें लगाना

संजय उवाच

शृणु राजन्नवहितो यथावृत्तो महान् क्षयः ।
कुरूणां पाण्डवानां च समासाद्य परस्परम् ॥ १ ॥

संजय कहते हैं—राजन् ! कौरवों और पाण्डवोंके आपसमें भिड़नेसे जिस प्रकार महान् जनसंहार हुआ है, वह सब सावधान होकर सुनिये ॥ १ ॥

निहते सूतपुत्रे तु पाण्डवेन महात्मना ।
विद्रुतेषु च सैन्येषु समानीतेषु चासकृत् ॥ २ ॥
घोरे मनुष्यदेहानामाजौ नरवर क्षये ।
यत्तत् कर्णे हते पार्थः सिंहनादमथाकरोत् ॥ ३ ॥
तदा तव सुतान् राजन् प्राविशत् सुमहद् भयम् ।

नरश्रेष्ठ ! महात्मा पाण्डुकुमार अर्जुनके द्वारा सूतपुत्र कर्णके मारे जानेपर जब आपकी सेनाएँ बारम्बार भागने और लौटायी जाने लगीं एवं रणभूमिमें मानवशरीरोंका भयानक संहार होने लगा, उस समय कर्णवधके पश्चात् कुन्तीकुमार अर्जुनने बड़े जोरसे सिंहनाद किया। राजन् ! उसे सुनकर आपके पुत्रोंके मनमें बड़ा भारी भय समा गया ॥ २-३½ ॥

न संधातुमनीकानि न चैवाथ पराक्रमे ॥ ४ ॥
आसीद् बुद्धिर्हते कर्णे तव योधस्य कस्यचित् ।

कर्णके मारे जानेपर आपके किसी भी योद्धाके मनमें न तो सेनाओंको एकत्र संगठित रखनेका उत्साह रह गया और न पराक्रममें ही वे मन लगा सके ॥ ४½ ॥

वणिजो नावि भिन्नायामगाधे विप्लवा इव ॥ ५ ॥
अपारे पारमिच्छन्तो हते द्वीपे किरीटिना ।
सूतपुत्रे हते राजन् वित्रस्ताः शरविक्षताः ॥ ६ ॥

राजन् ! जैसे अगाध महासागरमें नाव फट जानेपर नौका-रहित व्यापारी उस अपार समुद्रसे पार जानेकी इच्छा रखते हुए घबरा उठते हैं, उसी प्रकार किरीटधारी अर्जुनके द्वारा द्वीपस्वरूप सूतपुत्रके मारे जानेपर बाणोंसे क्षत-विक्षत हो हम सब लोग भयभीत हो गये थे ॥ ५-६ ॥

अनाथा नाथमिच्छन्तो मृगाः सिंहार्दिता इव ।
भग्नशृङ्गा इव वृषाः शीर्णदंष्ट्रा इवोरगाः ॥ ७ ॥

हम अनाथ होकर कोई रक्षक चाहते थे। हमारी दशा सिंहके सताये हुए मृगों, टूटे सींगवाले बैलों तथा जिनके दाँत तोड़ लिये गये हों उन सर्पोंकी तरह हो रही थी ॥ ७ ॥

प्रत्युपायाम सायाह्ने निर्जिताः सव्यसाचिना ।
हतप्रवीरा विध्वस्ता निकृत्ता निशितैः शरैः ॥ ८ ॥

सायंकालमें सव्यसाची अर्जुनसे परास्त होकर हम सब लोग शिविरकी ओर लौटे। हमारी सेनाके प्रमुख वीर मारे गये थे। हम सब लोग पैने बाणोंसे घायल होकर विध्वंसके निकट पहुँच गये थे ॥ ८ ॥

सूतपुत्रे हते राजन् पुत्रास्ते प्राद्रवंस्ततः ।
विध्वस्तकवचाः सर्वे कांदिशीका विचेतसः ॥ ९ ॥

राजन् ! सूतपुत्र कर्णके मारे जानेपर आपके सब पुत्र अचेत हो वहाँसे भागने लगे। उन सबके कवच नष्ट हो गये थे। उन्हें इतनी भी सुध नहीं रह गयी थी कि हम कहाँ और किस दिशामें जायँ ॥ ९ ॥

अन्योन्यमभिनिघ्नन्तो वीक्षमाणा भयाद् दिशः ।
मामेव नूनं बीभत्सुर्मामेव च वृकोदरः ॥ १० ॥
अभियातीति मन्वानाः पेतुर्मम्लुश्च भारत ।

वे सब लोग एक दूसरेपर चोट करते और भयसे सम्पूर्ण दिशाओंकी ओर देखते हुए ऐसा समझते थे कि अर्जुन और भीमसेन मेरे ही पीछे लगे हुए हैं। भारत! ऐसा सोचकर वे हर्ष और उत्साह खो बैठते तथा लड़खड़ाकर गिर पड़ते थे॥

अश्वानन्ये गजानन्ये रथानन्ये महारथाः ॥ ११ ॥
आरुह्य जवसम्पन्नाः पादातान् प्रजहुर्भयात्।

कुछ महारथी भयके मारे घोड़ोंपर, दूसरे लोग हाथियोंपर और कुछ लोग रथोंपर आरूढ़ हो पैदलोंको वहीं छोड़ बड़े वेगसे भागे ॥ ११½ ॥

कुञ्जरैः स्यन्दना भग्नाः सादिनश्च महारथैः ॥ १२ ॥
पदातिसंघाश्चाश्वौघैः पलायद्भिर्भृशं हताः।

भागते हुए हाथियोंने बहुत-से रथ तोड़ डाले, बड़े-बड़े रथोंने घुड़सवारोंको कुचल दिया और दौड़ते हुए अश्व-समूहोंने पैदल सैनिकोंको अत्यन्त घायल कर दिया ॥ १२½ ॥

व्यालतस्करसंकीर्णे सार्थहीना यथा वने ॥ १३ ॥
तथा त्वदीया निहते सूतपुत्रे तदाभवन्।

जैसे सर्पों और लुटेरोंसे भरे हुए जंगलमें अपने साथियोंसे बिछुड़े हुए लोग अनाथके समान भटकते हैं, वही दशा उस समय सूतपुत्र कर्णके मारे जानेपर आपके सैनिकों-की हुई ॥ १३½ ॥

हतारोहास्तथा नागाश्छिन्नहस्तास्तथापरे ॥ १४ ॥
सर्वं पार्थमयं लोकमपश्यन् वै भयार्दिताः।

कितने ही हाथियोंके सवार मारे गये, बहुत-से गजराजों-की सूँड़ें काट डाली गयीं, सब लोग भयसे पीड़ित होकर सम्पूर्ण जगत्को अर्जुनमय देख रहे थे ॥ १४½ ॥

तान् प्रेक्ष्य द्रवतः सर्वान् भीमसेनभयार्दितान् ॥ १५ ॥
दुर्योधनोऽथ स्वं सूतं हा हा कृत्वैवमब्रवीत्।

भीमसेनके भयसे पीड़ित हुए समस्त सैनिकोंको भागते देख दुर्योधनने 'हाय-हाय!' करके अपने सारथिसे इस प्रकार कहा—॥ १५½ ॥

नातिक्रमिष्यते पार्थो धनुष्पाणिमवस्थितम् ॥ १६ ॥
जघने युद्ध्यमानं मां तूर्णमश्वान् प्रचोदय।

'जब मैं सेनाके पिछले भागमें खड़ा हो हाथमें धनुष ले युद्ध करूँगा, उस समय कुन्तीकुमार अर्जुन मुझे लाँघकर आगे नहीं बढ़ सकेंगे; अतः तुम घोड़ोंको आगे बढ़ाओ ॥

समरे युद्ध्यमानं हि कौन्तेयो मां धनंजयः ॥ १७ ॥
नोत्सहेताप्यतिक्रान्तुं वेलामिव महार्णवः।

'जैसे महासागर तटको नहीं लाँघ सकता, उसी प्रकार कुन्तीकुमार अर्जुन समराङ्गणमें युद्ध करते हुए मुझ दुर्योधन-को लाँघकर आगे जानेकी हिम्मत नहीं कर सकते ॥ १७½ ॥

अद्यार्जुनं सगोविन्दं मानिनं च वृकोदरम् ॥ १८ ॥
निहत्य शिष्टाञ्छत्रूंश्च कर्णस्यानृण्यमाप्नुयाम्।

'आज मैं श्रीकृष्ण, अर्जुन, मानी भीमसेन तथा शेष बचे हुए अन्य शत्रुओंका संहार करके कर्णके ऋणसे उऋण हो जाऊँगा' ॥ १८½ ॥

तच्छ्रुत्वा कुरुराजस्य शूरार्यसदृशं वचः ॥ १९ ॥
सूतो हेमपरिच्छन्नाञ्शनैरश्वानचोदयत्।

कुरुराज दुर्योधनके इस श्रेष्ठ वीरोचित वचनको सुनकर सारथिने सोनेके साज-बाजसे ढके हुए अश्वोंको धीरेसे आगे बढ़ाया ॥ १९½ ॥

गजाश्वरथहीनास्तु पादाताश्चैव मारिष ॥ २० ॥
पञ्चविंशतिसाहस्राः प्राद्रवञ्शनकैरिव।

माननीय नरेश! उस समय हाथी, घोड़े और रथोंसे रहित पचीस हजार पैदल सैनिक धीरे-ही-धीरे पाण्डवोंपर चढ़ाई करने लगे ॥ २०½ ॥

तान् भीमसेनः संक्रुद्धो धृष्टद्युम्नश्च पार्षतः ॥ २१ ॥
बलेन चतुरङ्गेण परिक्षिप्याहनच्छरैः।

तब क्रोधमें भरे हुए भीमसेन और द्रुपदकुमार धृष्टद्युम्न-ने अपनी चतुरङ्गिणी सेनाके द्वारा उन्हें तितर-बितर करके बाणोंद्वारा अत्यन्त घायल कर दिया ॥ २१½ ॥

प्रत्ययुध्यंस्तु ते सर्वे भीमसेनं सपार्षतम् ॥ २२ ॥
पार्थपार्षतयोश्चान्ये जगृहुस्तत्र नामनी।

वे समस्त सैनिक भी भीमसेन और धृष्टद्युम्नका डटकर सामना करने लगे। दूसरे बहुत-से योद्धा वहाँ उन दोनोंके नाम ले-लेकर ललकारने लगे ॥ २२½ ॥

अक्रुद्ध्यत रणे भीमस्तैर्मृधे प्रत्यवस्थितैः ॥ २३ ॥
सोऽवतीर्य रथात्तूर्णं गदापाणिरयुध्यत।

युद्धस्थलमें सामने खड़े हुए उन योद्धाओंके साथ जूझते समय भीमसेनको बड़ा क्रोध हुआ। वे तुरंत ही रथसे उतर-कर हाथमें गदा ले उन सबके साथ युद्ध करने लगे ॥२३½॥

न तान् रथस्थो भूमिष्ठान् धर्मापेक्षी वृकोदरः ॥ २४ ॥
योधयामास कौन्तेयो भुजवीर्यमुपाश्रितः।

युद्धधर्मके पालनकी इच्छा रखनेवाले कुन्तीकुमार भीमसेनने स्वयं रथपर बैठकर भूमिपर खड़े हुए पैदल सैनिकोंके साथ युद्ध करना उचित नहीं समझा। वे अपने बाहुबलका भरोसा करके उन सबके साथ पैदल ही जूझने लगे॥

जातरूपपरिच्छन्नां प्रगृह्य महतीं गदाम् ॥ २५ ॥
न्यवधीत् तावकान् सर्वान् दण्डपाणिरिवान्तकः।

उन्होंने दण्डपाणि यमराजके समान सुवर्णपत्रसे जटित विशाल गदा लेकर उसके द्वारा आपके समस्त सैनिकोंका संहार आरम्भ किया ॥ २५½ ॥

पदातयो हि संरब्धास्त्यक्तजीवितबान्धवाः ॥ २६ ॥
भीममभ्यद्रवन् संख्ये पतङ्गा इव पावकम्।

उस समय अपने प्राणों और बन्धु-बान्धवोंका मोह छोड़कर रोष और आवेशमें भरे हुए पैदल सैनिक युद्धस्थलमें भीमसेनकी ओर उसी प्रकार दौड़े, जैसे पतङ्ग जलती हुई आगपर टूट पड़ते हैं ॥ २६½ ॥

आसाद्य भीमसेनं ते संरब्धा युद्धदुर्मदाः ॥ २७ ॥
विनेदुः सहसा दृष्ट्वा भूतग्रामा इवान्तकम् ।

क्रोधमें भरे हुए वे रणदुर्मद योद्धा भीमसेनसे भिड़कर सहसा उसी प्रकार आर्तनाद करने लगे, जैसे प्राणियोंके समुदाय यमराजको देखकर चीख उठते हैं ॥ २७½ ॥

श्येनवद् व्यचरद् भीमः खड्गेन गदया तथा ॥ २८ ॥
पञ्चविंशतिसाहस्रांस्तावकानां व्यपोथयत् ।

उस समय भीमसेन रणभूमिमें बाजकी तरह विचर रहे थे। उन्होंने तलवार और गदाके द्वारा आपके उन पचीस हजार योद्धाओंको मार गिराया ॥ २८½ ॥

हत्वा तत् पुरुषानीकं भीमः सत्यपराक्रमः ॥ २९ ॥
धृष्टद्युम्नं पुरस्कृत्य पुनस्तस्थौ महाबलः ।

सत्यपराक्रमी महाबली भीमसेन उस पैदल-सेनाका संहार करके धृष्टद्युम्नको आगे किये पुनः युद्धके लिये डट गये ॥

धनंजयो रथानीकमन्वपद्यत वीर्यवान् ॥ ३० ॥
माद्रीपुत्रौ च शकुनिं सात्यकिश्च महाबलः ।
जवेनाभ्यपतन् हृष्टा घ्नन्तो दौर्योधनं बलम् ॥ ३१ ॥

दूसरी ओर पराक्रमी अर्जुनने रथसेनापर आक्रमण किया। माद्रीकुमार नकुल-सहदेव तथा महाबली सात्यकि दुर्योधनकी सेनाका विनाश करते हुए बड़े वेगसे शकुनिपर टूट पड़े ॥

तस्याश्ववाहान् सुबहूंस्ते निहत्य शितैः शरैः ।
तमन्वधावंस्त्वरितास्तत्र युद्धमवर्तत ॥ ३२ ॥

उन सबने शकुनिके बहुत-से घुड़सवारोंको अपने पैने बाणोंसे मारकर बड़ी उतावलीके साथ वहाँ शकुनिपर धावा किया। फिर तो उनमें भारी युद्ध छिड़ गया ॥ ३२ ॥

ततो धनंजयो राजन् रथानीकमगाहत ।
विश्रुतं त्रिषु लोकेषु गाण्डीवं व्याक्षिपन् धनुः॥ ३३ ॥

राजन् ! तदनन्तर अर्जुनने अपने त्रिभुवनविख्यात गाण्डीव धनुषकी टंकार करते हुए आपके रथियोंकी सेनामें प्रवेश किया ॥ ३३ ॥

कृष्णसारथिमायान्तं दृष्ट्वा श्वेतहयं रथम् ।
अर्जुनं चापि योद्धारं त्वदीयाः प्राद्रवन् भयात् ॥ ३४ ॥

श्रीकृष्ण जिनके सारथि हैं, उस श्वेत घोड़ोंसे जुते हुए रथको और रथी योद्धा अर्जुनको आते देखकर आपके सारे रथी भयसे भाग चले ॥ ३४ ॥

विप्रहीनरथाश्वाश्च शरैश्च परिवारिताः ।
पञ्चविंशतिसाहस्राः पार्थमार्च्छन् पदातयः ॥ ३५ ॥

तब रथों और घोड़ोंसे रहित तथा बाणोंसे आच्छादित हुए पचीस हजार पैदल योद्धाओंने कुन्तीकुमार अर्जुनपर चढ़ाई की ॥ ३५ ॥

हत्वा तत् पुरुषानीकं पञ्चालानां महारथः ।
भीमसेनं पुरस्कृत्य नचिरात् प्रत्यदृश्यत ॥ ३६ ॥

उस पैदल सेनाका वध करके पाञ्चाल महारथी धृष्टद्युम्न भीमसेनको आगे किये शीघ्र ही वहाँ दृष्टिगोचर हुए ॥३६॥

महाधनुर्धरः श्रीमानमित्रगणमर्दनः ।
पुत्रः पञ्चालराजस्य धृष्टद्युम्नो महायशाः ॥ ३७ ॥

पाञ्चालराजके पुत्र धृष्टद्युम्न महाधनुर्धर, महायशस्वी, तेजस्वी तथा शत्रुसमूहका संहार करनेमें समर्थ थे ॥ ३७ ॥

पारावतसवर्णाश्वं कोविदारवरध्वजम् ।
धृष्टद्युम्नं रणे दृष्ट्वा त्वदीयाः प्राद्रवन् भयात् ॥ ३८ ॥

जिनके रथमें कबूतरके समान रंगवाले घोड़े जुते हुए थे तथा रथकी श्रेष्ठ ध्वजापर कचनारवृक्षका चिह्न बना हुआ था, उन धृष्टद्युम्नको रणभूमिमें उपस्थित देख आपके सैनिक भयसे भाग खड़े हुए ॥ ३८ ॥

गान्धारराजं शीघ्रास्त्रमनुसृत्य यशस्विनौ ।
अचिरात् प्रत्यदृश्येतां माद्रीपुत्रौ ससात्यकी ॥ ३९ ॥

सात्यकिसहित यशस्वी माद्रीकुमार नकुल और सहदेव शीघ्रतापूर्वक अस्त्र चलानेवाले गान्धारराज शकुनिका तुरंत पीछा करते हुए दिखायी दिये ॥ ३९ ॥

चेकितानः शिखण्डी च द्रौपदेयाश्च मारिष ।
हत्वा त्वदीयं सुमहत् सैन्यं शङ्खानथाधमन् ॥ ४० ॥

माननीय नरेश ! चेकितान, शिखण्डी और द्रौपदीके पाँचों पुत्र—आपकी विशाल सेनाका संहार करके शङ्ख बजाने लगे ॥ ४० ॥

ते सर्वे तावकान् प्रेक्ष्य द्रवतो वै पराङ्मुखान् ।
अभ्यधावन्त निघ्नन्तो वृषाञ्जित्वा वृषा इव ॥ ४१ ॥

जैसे साँड़ साँड़ोंको परास्त करके उन्हें बहुत दूरतक खदेड़ते रहते हैं, उसी प्रकार उन सब पाण्डववीरोंने आपके समस्त सैनिकोंको युद्धसे विमुख होकर भागते देख बाणोंका प्रहार करते हुए दूरतक उनका पीछा किया ॥ ४१ ॥

सेनावशेषं तं दृष्ट्वा तव पुत्रस्य पाण्डवः ।
अवस्थितं सव्यसाची चुक्रोध बलवन्नृप ॥ ४२ ॥

नरेश्वर ! पाण्डुकुमार सव्यसाची अर्जुन आपके पुत्रकी सेनाके उस एक भागको अवशिष्ट एवं सामने उपस्थित देख अत्यन्त कुपित हो उठे ॥ ४२ ॥

तत एनं शरै राजन् सहसा समवाकिरत् ।
रजसा चोद्गतेनाथ न स्म किंचन दृश्यते ॥ ४३ ॥

राजन् ! तदनन्तर उन्होंने सहसा बाणोंद्वारा उस सेनाको आच्छादित कर दिया। उस समय इतनी धूल ऊपर उठी कि कुछ भी दिखायी नहीं देता था ॥ ४३ ॥

अन्धकारीकृते लोके शरीभूते महीतले ।
दिशः सर्वा महाराज तावकाः प्राद्रवन् भयात् ॥ ४४ ॥

महाराज ! जब जगत्में उस धूलसे अन्धकार छा गया और पृथ्वीपर बाण-ही-बाण बिछ गया, उस समय आपके सैनिक भयके मारे सम्पूर्ण दिशाओंमें भाग गये ॥ ४४ ॥

भज्यमानेषु सर्वेषु कुरुराजो विशाम्पते ।
परेषामात्मनश्चैव सैन्ये ते समुपाद्रवत् ॥ ४५ ॥

प्रजानाथ ! उन सबके भाग जानेपर कुरुराज दुर्योधनने शत्रुपक्षकी और अपनी दोनों ही सेनाओंपर आक्रमण किया ॥

ततो दुर्योधनः सर्वानाजुहावाथ पाण्डवान् ।
युद्धाय भरतश्रेष्ठ देवानिव पुरा बलिः ॥ ४६ ॥

भरतश्रेष्ठ ! जैसे पूर्वकालमें राजा बलिने देवताओंको युद्धके लिये ललकारा था, उसी प्रकार दुर्योधनने समस्त पाण्डवोंका आह्वान किया ॥ ४६ ॥

त एनमभिगर्जन्तं सहिताः समुपाद्रवन् ।
नानाशस्त्रसृजः क्रुद्धा भर्त्सयन्तो मुहुर्मुहुः ॥ ४७ ॥

तब वे पाण्डवयोद्धा अत्यन्त कुपित हो गर्जना करनेवाले दुर्योधनको बारंबार फटकारते और क्रोधपूर्वक नाना प्रकारके अस्त्र-शस्त्रोंकी वर्षा करते हुए एक साथ ही उसपर टूट पड़े ॥

दुर्योधनोऽप्यसम्भ्रान्तस्तानरीन् व्यधमच्छरैः ।
तत्राद्भुतमपश्याम तव पुत्रस्य पौरुषम् ॥ ४८ ॥
यदेनं पाण्डवाः सर्वे न शेकुरतिवर्तितुम् ।

दुर्योधन भी बिना किसी घबराहटके अपने बाणोंद्वारा उन शत्रुओंको छिन्न-भिन्न करने लगा । वहाँ हमलोगोंने आपके पुत्रका अद्भुत पराक्रम देखा कि समस्त पाण्डव मिलकर भी उसे लाँघकर आगे न बढ़ सके ॥ ४८½ ॥

नातिदूरापयातं च कृतबुद्धिः पलायने ॥ ४९ ॥
दुर्योधनः स्वकं सैन्यमपश्यद् भृशविक्षतम् ।

दुर्योधनने देखा कि मेरी सेना अत्यन्त घायल हो रणभूमिसे पलायन करनेका विचार रखकर भाग रही है, परंतु अधिक दूर नहीं गयी है ॥ ४९½ ॥

ततोऽवस्थाप्य राजेन्द्र कृतबुद्धिस्तवात्मजः ॥ ५० ॥
हर्षयन्निव तान् योधांस्ततो वचनमब्रवीत् ।

राजेन्द्र ! तब युद्धका ही दृढ़ निश्चय रखनेवाले आपके पुत्रने उन समस्त सैनिकोंको खड़ा करके उनका हर्ष बढ़ाते हुए कहा—॥ ५०½ ॥

न तं देशं प्रपश्यामि पृथिव्यां पर्वतेषु च ॥ ५१ ॥
यत्र यातान्न वो हन्युः पाण्डवाः किं सृतेन वः ।

'वीरो ! मैं भूतलपर और पर्वतोंमें भी कोई ऐसा स्थान नहीं देखता, जहाँ चले जानेपर तुमलोगोंको पाण्डव मार न सकें; फिर तुम्हारे भागनेसे क्या लाभ है ? ॥ ५१½ ॥

स्वल्पं चैव बलं तेषां कृष्णौ च भृशविक्षतौ ॥ ५२ ॥
यदि सर्वेऽत्र तिष्ठामो ध्रुवं नो विजयो भवेत् ।

'पाण्डवोंके पास थोड़ी-सी ही सेना शेष रह गयी है और श्रीकृष्ण तथा अर्जुन भी बहुत घायल हो चुके हैं । यदि हम सब लोग यहाँ डटे रहें तो निश्चय ही हमारी विजय होगी ॥ ५२½ ॥

विप्रयातांस्तु वो भिन्नान् पाण्डवाः कृतकिल्बिषान् ॥ ५३ ॥
अनुसृत्य हनिष्यन्ति श्रेयो नः समरे वधः ।

'यदि तुमलोग पृथक्-पृथक् होकर भागोगे तो पाण्डव तुम सभी अपराधियोंका पीछा करके तुम्हें मार डालेंगे, अतः युद्धमें ही मारा जाना हमारे लिये श्रेयस्कर होगा ॥ ५३½ ॥

सुखः सांग्रामिको मृत्युः क्षत्रधर्मेण युध्यताम् ॥ ५४ ॥
मृतो दुःखं न जानीते प्रेत्य चानन्त्यमश्नुते ।

'क्षत्रियधर्मके अनुसार युद्ध करनेवाले वीरोंके लिये संग्रामभूमिमें होनेवाली मृत्यु ही सुखद है; क्योंकि वहाँ मरा हुआ मनुष्य मृत्युके दुःखको नहीं जानता और मृत्युके पश्चात् अक्षय सुखका भागी होता है ॥ ५४½ ॥

शृण्वन्तु क्षत्रियाः सर्वे यावन्तोऽत्र समागताः ॥ ५५ ॥
द्विषतो भीमसेनस्य वशमेष्यथ विद्रुताः ।

'जितने क्षत्रिय यहाँ आये हैं वे सब सुनें—'तुमलोग भागनेपर अपने शत्रु भीमसेनके अधीन हो जाओगे ॥ ५५½ ॥

पितामहैराचरितं न धर्मं हातुमर्हथ ॥ ५६ ॥
नान्यत् कर्मास्ति पापीयः क्षत्रियस्य पलायनात् ।

'इसलिये अपने बाप-दादोंके द्वारा आचरणमें लाये हुए धर्मका परित्याग न करो । क्षत्रियके लिये युद्ध छोड़कर भागनेसे बढ़कर दूसरा कोई अत्यन्त पापपूर्ण कर्म नहीं है ॥

न युद्धधर्माच्छ्रेयान् हि पन्थाः स्वर्गस्य कौरवाः ॥ ५७ ॥
सुचिरेणार्जिताँल्लोकान् सद्यो युद्धात् समश्नुते ।

'कौरवो ! युद्धधर्मसे बढ़कर दूसरा कोई स्वर्गका श्रेष्ठ मार्ग नहीं है । दीर्घकालतक पुण्यकर्म करनेसे प्राप्त होनेवाले पुण्यलोकोंको वीर क्षत्रिय युद्धसे तत्काल प्राप्त कर लेता है' ॥

तस्य तद् वचनं राज्ञः पूजयित्वा महारथाः ॥ ५८ ॥
पुनरेवाभ्यवर्तन्त क्षत्रियाः पाण्डवान् प्रति ।
पराजयममृष्यन्तः कृतचित्ताश्च विक्रमे ॥ ५९ ॥

राजा दुर्योधनकी उस बातका आदर करके वे महारथी क्षत्रिय पुनः युद्ध करनेके लिये पाण्डवोंके सामने आये । उन्हें पराजय असह्य हो उठी थी; इसलिये उन्होंने पराक्रम करनेमें ही मन लगाया था ॥ ५८-५९ ॥

ततः प्रववृते युद्धं पुनरेव सुदारुणम् ।
तावकानां परेषां च देवासुररणोपमम् ॥ ६० ॥

तदनन्तर आपके और शत्रुपक्षके सैनिकोंमें पुनः देवासुर-संग्रामके समान अत्यन्त भयंकर युद्ध होने लगा ॥ ६० ॥

युधिष्ठिरपुरोगांश्च सर्वसैन्येन पाण्डवान् ।
अन्वधावन्महाराज पुत्रो दुर्योधनस्तव ॥ ६१ ॥

महाराज ! उस समय आपके पुत्र दुर्योधनने अपनी सारी सेनाके साथ युधिष्ठिर आदि सभी पाण्डवोंपर धावा किया था ॥ ६१ ॥

इति श्रीमहाभारते शल्यपर्वणि कौरवसैन्यापयाने तृतीयोऽध्यायः ॥ ३ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शल्यपर्वमें कौरवसेनाका पलायनविषयक तीसरा अध्याय पूरा हुआ ॥ ३ ॥

चतुर्थोऽध्यायः

कृपाचार्यका दुर्योधनको संधिके लिये समझाना

संजय उवाच

पतितान् रथनीडांश्च रथांश्चापि महात्मनाम् ।
रणे च निहतान् नागान् दृष्ट्वा पत्तींश्च मारिष ॥ १ ॥
आयोधनं चातिघोरं रुद्रस्याक्रीड संनिभम् ।
अप्रख्यातिं गतानां तु राज्ञां शतसहस्रशः ॥ २ ॥
विमुखे तव पुत्रे तु शोकोपहतचेतसि ।
भृशोद्विग्नेषु सैन्येषु दृष्ट्वा पार्थस्य विक्रमम् ॥ ३ ॥
ध्यायमानेषु सैन्येषु दुःखं प्राप्तेषु भारत ।
बलानां मथ्यमानानां श्रुत्वा निनदमुत्तमम् ॥ ४ ॥
अभिज्ञानं नरेन्द्राणां विक्षतं प्रेक्ष्य संयुगे ।
कृपाविष्टः कृपो राजन् वयःशीलसमन्वितः ॥ ५ ॥
अब्रवीत् तत्र तेजस्वी सोऽभिसृत्य जनाधिपम् ।
दुर्योधनं मन्युवशाद् वाक्यं वाक्यविशारदः ॥ ६ ॥

संजय कहते हैं—माननीय नरेश ! उस समय रणभूमिमें महामनस्वी वीरोंके रथ और उनकी बैठकें टूटी पड़ी थीं । सवारोंसहित हाथी और पैदल सैनिक मार डाले गये थे । वह युद्धस्थल रुद्रदेवकी क्रीडाभूमि श्मशानके समान अत्यन्त भयानक जान पड़ता था और वहाँ लाखों नरेशोंका नामोनिशान मिट गया था । यह सब देखकर जब आपके पुत्र दुर्योधनका मन शोकमें डूब गया और उसने युद्धसे मुँह मोड़ लिया, कुन्तीपुत्र अर्जुनका पराक्रम देखकर समस्त सेनाएँ जब भयसे अत्यन्त व्याकुल हो उठीं और भारी दुःखमें पड़कर चिन्तामग्न हो गयीं, उस समय मथे जाते हुए सैनिकोंका जोर-जोरसे आर्तनाद सुनकर तथा राजाओंके चिह्नस्वरूप ध्वज आदिको युद्धस्थलमें क्षत-विक्षत हुआ देखकर प्रौढ़ अवस्था और उत्तम स्वभावसे युक्त तेजस्वी कृपाचार्यके मनमें बड़ी दया आयी । भरतवंशी नरेश ! वे बातचीत करनेमें अत्यन्त कुशल थे । उन्होंने राजा दुर्योधनके निकट जाकर उसकी दीनता देखकर इस प्रकार कहा—॥ १–६ ॥

दुर्योधन निबोधेदं यत् त्वां वक्ष्यामि कौरव ।
श्रुत्वा कुरु महाराज यदि ते रोचतेऽनघ ॥ ७ ॥

'कुरुवंशी महाराज दुर्योधन ! मैं इस समय तुमसे जो कुछ कहता हूँ, उसे ध्यान देकर सुनो । अनघ ! मेरी बात सुनकर यदि तुम्हें रुचे तो उसके अनुसार कार्य करो ॥ ७ ॥

न युद्धधर्माच्छ्रेयान् वै पन्था राजेन्द्र विद्यते ।
यं समाश्रित्य युद्ध्यन्ते क्षत्रियाः क्षत्रियर्षभ ॥ ८ ॥

'राजेन्द्र ! क्षत्रियशिरोमणे ! युद्धधर्मसे बढ़कर दूसरा कोई कल्याणकारी मार्ग नहीं है, जिसका आश्रय लेकर क्षत्रिय लोग युद्धमें तत्पर रहते हैं ॥ ८ ॥

पुत्रो भ्राता पिता चैव स्वस्रीयो मातुलस्तथा ।
सम्बन्धिबान्धवाश्चैव योद्धव्या वै क्षत्रजीविना ॥ ९ ॥

'क्षत्रिय-धर्मसे जीवन-निर्वाह करनेवाले पुरुषके लिये पुत्र, भ्राता, पिता, भानजा, मामा, सम्बन्धी तथा बन्धु बान्धव—इन सबके साथ युद्ध करना कर्तव्य है ॥ ९ ॥

वधे चैव परो धर्मस्तथाधर्मः पलायने ।
ते स्म घोरां समापन्ना जीविकां जीवितार्थिनः ॥ १० ॥

'युद्धमें शत्रुको मारना या उसके हाथसे मारा जाना दोनों ही उत्तम धर्म है और युद्धसे भागनेपर महान् पाप होता है । सभी क्षत्रिय जीवन-निर्वाहकी इच्छा रखते हुए उसी घोर जीविकाका आश्रय लेते हैं ॥ १० ॥

तदत्र प्रतिवक्ष्यामि किंचिदेव हितं वचः ।
हते भीष्मे च द्रोणे च कर्णे चैव महारथे ॥ ११ ॥
जयद्रथे च निहते तव भ्रातृषु चानघ ।
लक्ष्मणे तव पुत्रे च किं शेषं पर्युपास्महे ॥ १२ ॥

'ऐसी दशामें मैं यहाँ तुम्हारे लिये कुछ हितकी बात बताऊँगा । अनघ ! पितामह भीष्म, आचार्य द्रोण, महारथी कर्ण, जयद्रथ तथा तुम्हारे सभी भाई मारे जा चुके हैं । तुम्हारा पुत्र लक्ष्मण भी जीवित नहीं है । अब दूसरा कौन बच गया है, जिसका हमलोग आश्रय ग्रहण करें ॥ ११-१२ ॥

येषु भारं समासाद्य राज्ये मतिमकुर्महि ।
ते संत्यज्य तनूर्याताः शूरा ब्रह्मविदां गतिम् ॥ १३ ॥

'जिनपर युद्धका भार रखकर हम राज्य पानेकी आशा करते थे, वे शूरवीर तो शरीर छोड़कर ब्रह्मवेत्ताओंकी गतिको प्राप्त हो गये ॥ १३ ॥

वयं त्विह विना भूता गुणवद्भिर्महारथैः ।
कृपणं वर्तयिष्याम पातयित्वा नृपान् बहून् ॥ १४ ॥

'इस समय हमलोग यहाँ भीष्म आदि गुणवान् महारथियोंके सहयोगसे वञ्चित हो गये हैं और बहुत-से नरेशोंको मरवाकर दयनीय स्थितिमें आ गये हैं ॥ १४ ॥

सर्वैरपि च जीवद्भिर्बीभत्सुरपराजितः ।
कृष्णनेत्रो महाबाहुर्देवैरपि दुरासदः ॥ १५ ॥

'जब सब लोग जीवित थे, तब भी अर्जुन किसीके द्वारा पराजित नहीं हुए । श्रीकृष्ण-जैसे नेताके रहते हुए महाबाहु अर्जुन देवताओंके लिये भी दुर्जय हैं ॥ १५ ॥

इन्द्रकार्मुकतुल्याभमिन्द्रकेतुमिवोच्छ्रितम् ।
वानरं केतुमासाद्य संचचाल महाचमूः ॥ १६ ॥

'उनका वानरध्वज इन्द्रधनुषके तुल्य बहुरंगा और इन्द्रध्वजके समान अत्यन्त ऊँचा है । उसके पास पहुँचकर हमारी विशाल सेना भयसे विचलित हो उठती है ॥ १६ ॥

सिंहनादाच्च भीमस्य पाञ्चजन्यस्वनेन च ।
गाण्डीवस्य च निर्घोषात् सम्मुह्यन्ते मनांसि नः ॥ १७ ॥

'भीमसेनके सिंहनाद, पाञ्चजन्य शङ्खकी ध्वनि और

गाण्डीव धनुषकी टङ्कारसे हमारा दिल दहल उठता है ॥ १७ ॥

चरन्तीव महाविद्युन्मुष्णन्ती नयनप्रभाम्।
अलातमिव चाविद्धं गाण्डीवं समदृश्यत ॥ १८ ॥

'जैसे चमकती हुई महाविद्युत् नेत्रोंकी प्रभाको छीनती-सी दिखायी देती है तथा जैसे अलातचक्र घूमता देखा जाता है, उसी प्रकार अर्जुनके हाथमें गाण्डीव धनुष भी दृष्टिगोचर होता है ॥ १८ ॥

जाम्बूनदविचित्रं च धूयमानं महद् धनुः।
दृश्यते दिक्षु सर्वासु विद्युदभ्रघनेष्विव ॥ १९ ॥

'अर्जुनके हाथमें डोलता हुआ उनका सुवर्णजटित महान् धनुष सम्पूर्ण दिशाओंमें वैसा ही दिखायी देता है, जैसे मेघोंकी घटामें बिजली ॥ १९ ॥

श्वेताश्च वेगसम्पन्नाः शशिकाशसमप्रभाः।
पिबन्त इव चाकाशं रथे युक्तास्तु वाजिनः ॥ २० ॥

'उनके रथमें जुते हुए घोड़े श्वेत वर्णवाले, वेगशाली तथा चन्द्रमा और कासके समान उज्ज्वल कान्तिसे सुशोभित हैं। वे ऐसी तीव्र गतिसे चलते हैं, मानो आकाशको पी जायँगे ॥ २० ॥

उह्यमानांश्च कृष्णेन वायुनेव बलाहकाः।
जाम्बूनदविचित्राङ्गा वहन्ते चार्जुनं रणे ॥ २१ ॥

'जैसे वायुकी प्रेरणासे बादल उड़ते फिरते हैं, वैसे ही भगवान् श्रीकृष्णद्वारा हाँके जाते हुए घोड़े, जो सुनहरे साजोंसे सजे होनेके कारण अङ्गोंमें विचित्र शोभा धारण करते हैं, रणभूमिमें अर्जुनकी सवारी ढोते हैं ॥ २१ ॥

तावकं तद् बलं राजन्नर्जुनोऽस्त्रविशारदः।
गहनं शिशिरापाये ददाहाग्निरिवोल्बणः ॥ २२ ॥

'राजन्! अर्जुन अस्त्रविद्यामें कुशल हैं, उन्होंने तुम्हारी सेनाको उसी प्रकार भस्म किया है, जैसे भयंकर आग ग्रीष्म ऋतुमें बहुत बड़े जंगलको जला डालती है ॥ २२ ॥

गाहमानमनीकानि महेन्द्रसदृशप्रभम्।
धनंजयमपश्याम चतुर्दंष्ट्रमिव द्विपम् ॥ २३ ॥

'देवराज इन्द्रके समान तेजस्वी अर्जुनको हम चार दाँत-वाले गजराजके समान अपनी सेनामें प्रवेश करते देखते हैं ॥

विक्षोभयन्तं सेनां ते त्रासयन्तं च पार्थिवान्।
धनंजयमपश्याम नलिनीमिव कुञ्जरम् ॥ २४ ॥

'जैसे मतवाला हाथी तालाबमें घुसकर उसे मथ डालता है, उसी प्रकार हमने अर्जुनको तुम्हारी सेनाको मथते और राजाओंको भयभीत करते देखा है ॥ २४ ॥

त्रासयन्तं तथा योधान् धनुर्घोषेण पाण्डवम्।
भूय एनमपश्याम सिंहं मृगगणानिव ॥ २५ ॥

'जैसे सिंह मृगोंके झुंडको भयभीत कर देता है, उसी प्रकार पाण्डुकुमार अर्जुन अपने धनुषकी टङ्कारसे तुम्हारे समस्त योद्धाओंको बारंबार भयभीत करते दिखायी दिये हैं ॥

सर्वलोकमहेष्वासौ वृषभौ सर्वधन्विनाम्।
आमुक्तकवचौ कृष्णौ लोकमध्ये विचेरतुः ॥ २६ ॥

'अपने अङ्गोंमें कवच धारण किये श्रीकृष्ण और अर्जुन, जो सम्पूर्ण विश्वके महाधनुर्धर और सम्पूर्ण धनुर्धरोंमें श्रेष्ठ हैं, योद्धाओंके समूहमें निर्भय विचरते हैं ॥ २६ ॥

अद्य सप्तदशाहानि वर्तमानस्य भारत।
संग्रामस्यातिघोरस्य वध्यतां चाभितो युधि ॥ २७ ॥

'भारत! परस्पर मार-काट मचाते हुए दोनों ओरसे योद्धाओंके इस अत्यन्त भयंकर संग्रामको आरम्भ हुए आज सत्रह दिन हो गये ॥ २७ ॥

वायुनेव विधूतानि तव सैन्यानि सर्वतः।
शरदम्भोदजालानि व्यशीर्यन्त समन्ततः ॥ २८ ॥

'जैसे हवा शरद् ऋतुके बादलोंको छिन्न-भिन्न कर देती है, उसी प्रकार अर्जुनकी मारसे तुम्हारी सेनाएँ सब ओर तितर-बितर हो गयी हैं ॥ २८ ॥

तां नावमिव पर्यस्तां वातधूतां महार्णवे।
तव सेनां महाराज सव्यसाची व्यकम्पयत् ॥ २९ ॥

'महाराज! जैसे महासागरमें हवाके थपेड़े खाकर नाव डगमगाने लगती है, उसी प्रकार सव्यसाची अर्जुनने तुम्हारी सेनाको कँपा डाला है ॥ २९ ॥

क नु ते सूतपुत्रोऽभूत् क नु द्रोणः सहानुगः।
अहं क च क चात्मा ते हार्दिक्यश्च तथा क नु ॥ ३० ॥
दुःशासनश्च ते भ्राता भ्रातृभिः सहितः क नु।
बाणगोचरसम्प्राप्तं प्रेक्ष्य चैव जयद्रथम् ॥ ३१ ॥

'उस दिन जयद्रथको अर्जुनके बाणोंका निशाना बनते देखकर भी तुम्हारा कर्ण कहाँ चला गया था? अपने अनु-यायियोंके साथ आचार्य द्रोण कहाँ थे? मैं कहाँ था? तुम कहाँ थे? कृतवर्मा कहाँ चले गये थे और भाइयोंसहित तुम्हारा भ्राता दुःशासन भी कहाँ था? ॥ ३०-३१ ॥

सम्बन्धिनस्ते भ्रातॄंश्च सहायान् मातुलांस्तथा।
सर्वान् विक्रम्य मिषतो लोकमाक्रम्य मूर्धनि ॥ ३२ ॥
जयद्रथो हतो राजन् किं नु शेषमुपास्महे।
को हीह स पुमानस्ति यो विजेष्यति पाण्डवम् ॥ ३३ ॥

'राजन्! तुम्हारे सम्बन्धी, भाई, सहायक और मामा सब-के-सब देख रहे थे तो भी अर्जुनने उन सबको अपने पराक्रमद्वारा परास्त करके सब लोगोंके मस्तकपर पैर रखकर जयद्रथको मार डाला। अब और कौन बचा है जिसका हम भरोसा करें? यहाँ कौन ऐसा पुरुष है जो पाण्डुपुत्र अर्जुनपर विजय पायेगा? ॥ ३२-३३ ॥

तस्य चास्त्राणि दिव्यानि विविधानि महात्मनः।
गाण्डीवस्य च निर्घोषो धैर्याणि हरते हि नः ॥ ३४ ॥

'महात्मा अर्जुनके पास नाना प्रकारके दिव्यास्त्र हैं। उनके गाण्डीव धनुषका गम्भीर घोष हमारा धैर्य छीन लेता है ॥

नष्टचन्द्रा यथा रात्रिः सेनेयं हतनायका ।
नागभग्नद्रुमा शुष्का नदीवाकुलतां गता ॥ ३५ ॥

'जैसे चन्द्रमाके उदित न होनेपर रात्रि अन्धकारमयी दिखायी देती है, उसी प्रकार हमारी यह सेना सेनापतिके मारे जानेसे श्रीहीन हो रही है । हाथीने जिसके किनारेके वृक्षोंको तोड़ डाला हो, उस सूखी नदीके समान यह व्याकुल हो उठी है ॥ ३५ ॥

ध्वजिन्यां हतनेत्रायां यथेष्टं श्वेतवाहनः ।
चरिष्यति महाबाहुः कक्षेष्वग्निरिव ज्वलन् ॥ ३६ ॥

'हमारी इस विशाल वाहिनीका नेता नष्ट हो गया है । ऐसी दशामें घास-फूसके ढेरमें प्रज्वलित होनेवाली आगके समान श्वेत घोड़ोंवाले महाबाहु अर्जुन इस सेनाके भीतर इच्छानुसार विचरेंगे ॥ ३६ ॥

सात्यकेश्चैव यो वेगो भीमसेनस्य चोभयोः ।
दारयेच्च गिरीन् सर्वाञ्शोषयेच्चैव सागरान् ॥ ३७ ॥

'उधर सात्यकि और भीमसेन दोनों वीरोंका जो वेग है, वह सारे पर्वतोंको विदीर्ण कर सकता है । समुद्रोंको भी सुखा सकता है ॥ ३७ ॥

उवाच वाक्यं यद् भीमः सभामध्ये विशाम्पते ।
कृतं तत् सफलं तेन भूयश्चैव करिष्यति ॥ ३८ ॥

'प्रजानाथ ! द्यूतसभामें भीमसेनने जो बात कही थी, उसे उन्होंने सत्य कर दिखाया और जो शेष है, उसे भी वे अवश्य ही पूर्ण करेंगे ॥ ३८ ॥

प्रमुखस्थे तदा कर्णे बलं पाण्डवरक्षितम् ।
दुरासदं तदा गुप्तं व्यूढं गाण्डीवधन्वना ॥ ३९ ॥

'जब कर्णके साथ युद्ध चल रहा था, उस समय कर्ण सामने ही था तो भी पाण्डवोंद्वारा रक्षित सेना उसके लिये दुर्जय हो गयी; क्योंकि गाण्डीवधारी अर्जुन व्यूहरचनापूर्वक उसकी रक्षा कर रहे थे ॥ ३९ ॥

युष्माभिस्तानि चीर्णानि यान्यसाधूनि साधुषु ।
अकारणकृतान्येव तेषां वः फलमागतम् ॥ ४० ॥

'पाण्डव साधुपुरुष हैं तो भी तुमलोगोंने अकारण ही उनके साथ जो बहुत-से अनुचित बर्ताव किये हैं, उन्हींका यह फल तुम्हें मिला है ॥ ४० ॥

आत्मनोऽर्थे त्वया लोको यत्नतः सर्व आहृतः ।
स ते संशयितस्तात आत्मा वै भरतर्षभ ॥ ४१ ॥

'भरतश्रेष्ठ ! तुमने अपनी रक्षाके लिये ही प्रयत्नपूर्वक सारे जगत्‌के लोगोंको एकत्र किया था, किंतु तुम्हारा ही जीवन संशयमें पड़ गया है ॥ ४१ ॥

रक्ष दुर्योधनात्मानमात्मा सर्वस्य भाजनम् ।
भिन्ने हि भाजने तात दिशो गच्छति तद्गतम् ॥ ४२ ॥

'दुर्योधन ! अब तुम अपने शरीरकी रक्षा करो; क्योंकि आत्मा (शरीर) ही समस्त सुखोंका भाजन है । जैसे पात्रके फूट जानेपर उसमें रक्खा हुआ जल चारों ओर बह जाता है, उसी प्रकार शरीरके नष्ट होनेसे उसपर अवलम्बित सुखोंका भी अन्त हो जाता है ॥ ४२ ॥

हीयमानेन वै सन्धिः पर्येष्टव्यः समेन वा ।
विग्रहो वर्धमानेन मतिरेषा बृहस्पतेः ॥ ४३ ॥

'बृहस्पतिकी यह नीति है कि जब अपना बल कम या बराबर जान पड़े, तो शत्रुके साथ संधि कर लेनी चाहिये । लड़ाई तो उसी वक्त छेड़नी चाहिये, जब अपनी शक्ति शत्रुसे बढ़ी-चढ़ी हो ॥ ४३ ॥

ते वयं पाण्डुपुत्रेभ्यो हीना स्म बलशक्तितः ।
तदत्र पाण्डवैः सार्धं सन्धिं मन्ये क्षमं प्रभो ॥ ४४ ॥

'हमलोग बल और शक्तिमें पाण्डवोंसे हीन हो गये हैं । अतः प्रभो ! इस अवस्थामें मैं पाण्डवोंके साथ संधि कर लेना ही उचित समझता हूँ ॥ ४४ ॥

न जानीते हि यः श्रेयः श्रेयसश्चावमन्यते ।
स क्षिप्रं भ्रश्यते राज्यान्न च श्रेयोऽनुविन्दते ॥ ४५ ॥

'जो राजा अपनी भलाईकी बात नहीं समझता और श्रेष्ठ पुरुषोंका अपमान करता है, वह शीघ्र ही राज्यसे भ्रष्ट हो जाता है । उसे कभी कल्याणकी प्राप्ति नहीं होती ॥ ४५ ॥

प्रणिपत्य हि राजानं राज्यं यदि लभेमहि ।
श्रेयः स्यान्न तु मौढ्येन राजन् गन्तुः पराभवम् ॥ ४६ ॥

'राजन् ! यदि राजा युधिष्ठिरके सामने नतमस्तक होकर हम अपना राज्य प्राप्त कर लें तो यही श्रेयस्कर होगा । मूर्खतावश पराजय स्वीकार करनेवालेका कभी भला नहीं हो सकता ॥ ४६ ॥

वैचित्रवीर्यवचनात् कृपाशीलो युधिष्ठिरः ।
विनियुञ्जीत राज्ये त्वां गोविन्दवचनेन च ॥ ४७ ॥

'युधिष्ठिर दयालु हैं । वे राजा धृतराष्ट्र और भगवान् श्रीकृष्णके कहनेसे तुम्हें राज्यपर प्रतिष्ठित कर सकते हैं ॥ ४७ ॥

यद् ब्रूयाद्धि हृषीकेशो राजानमपराजितम् ।
अर्जुनं भीमसेनं च सर्वे कुर्युरसंशयम् ॥ ४८ ॥

'भगवान् श्रीकृष्ण किसीसे पराजित न होनेवाले राजा युधिष्ठिर, अर्जुन और भीमसेनसे जो कुछ भी कहेंगे, वे सब लोग उसे निःसंदेह स्वीकार कर लेंगे ॥ ४८ ॥

नातिक्रमिष्यते कृष्णो वचनं कौरवस्य तु ।
धृतराष्ट्रस्य मन्येऽहं नापि कृष्णस्य पाण्डवः ॥ ४९ ॥

'कुरुराज धृतराष्ट्रकी बात श्रीकृष्ण नहीं टालेंगे और श्रीकृष्णकी आज्ञाका उल्लङ्घन युधिष्ठिर नहीं कर सकेंगे, ऐसा मेरा विश्वास है ॥ ४९ ॥

एतत् क्षेममहं मन्ये न च पार्थैश्च विग्रहम् ।
न त्वां ब्रवीमि कार्पण्यान्न प्राणपरिरक्षणात् ॥ ५० ॥
पथ्यं राजन् ब्रवीमि त्वां तत्परासुः स्मरिष्यसि ।

'राजन् ! मैं इस संधिको ही तुम्हारे लिये कल्याणकारी मानता हूँ । पाण्डवोंके साथ किये जानेवाले युद्धको नहीं । मैं

कायरता या प्राण-रक्षाकी भावनासे यह सब नहीं कहता हूँ। तुम्हारे हितकी बात बता रहा हूँ। तुम मरणासन्न अवस्थामें मेरी यह बात याद करोगे ॥ ५०½ ॥

इति वृद्धो विलप्यैतत् कृपः शारद्वतो वचः।
दीर्घमुष्णं च निःश्वस्य शुशोच च मुमोह च ॥ ५१ ॥

शरद्वान्‌के पुत्र वृद्ध कृपाचार्य इस प्रकार विलाप करके गरम-गरम लंबी साँस खींचते हुए शोक और मोहके वशीभूत हो गये ॥ ५१ ॥

इति श्रीमहाभारते शल्यपर्वणि कृपवाक्ये चतुर्थोऽध्यायः ॥ ४ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शल्यपर्वमें कृपाचार्यका वचनविषयक चौथा अध्याय पूरा हुआ ॥ ४ ॥

पञ्चमोऽध्यायः

दुर्योधनका कृपाचार्यको उत्तर देते हुए सन्धि स्वीकार न करके युद्धका ही निश्चय करना

संजय उवाच

एवमुक्तस्ततो राजा गौतमेन तपस्विना।
निःश्वस्य दीर्घमुष्णं च तूष्णीमासीद् विशाम्पते ॥ १ ॥

संजय कहते हैं—प्रजानाथ ! तपस्वी कृपाचार्यके ऐसा कहनेपर दुर्योधन जोर-जोरसे गरम साँस खींचता हुआ कुछ देरतक चुपचाप बैठा रहा ॥ १ ॥

ततो मुहूर्तं स ध्यात्वा धार्तराष्ट्रो महामनाः।
कृपं शारद्वतं वाक्यमित्युवाच परंतपः ॥ २ ॥

दो घड़ीतक सोच-विचार करनेके पश्चात् शत्रुओंको संताप देनेवाले आपके उस महामनस्वी पुत्रने शरद्वान्‌के पुत्र कृपाचार्यको इस प्रकार उत्तर दिया—॥ २ ॥

यत् किंचित् सुहृदा वाच्यं तत् सर्वं श्रावितो ह्यहम्।
कृतं च भवता सर्वं प्राणान् संत्यज्य युध्यता ॥ ३ ॥

'विप्रवर ! एक हितैषी सुहृद्‌को जो कुछ कहना चाहिये, वह सब आपने कह सुनाया। इतना ही नहीं, आपने प्राणोंका मोह छोड़कर युद्ध करते हुए मेरी भलाईके लिये सब कुछ किया है ॥ ३ ॥

गाहमानमनीकानि युध्यमानं महारथैः।
पाण्डवैरतितेजोभिर्लोकस्त्वामनुदृष्टवान् ॥ ४ ॥

'सब लोगोंने आपको शत्रुओंकी सेनाओंमें घुसते और अत्यन्त तेजस्वी महारथी पाण्डवोंके साथ युद्ध करते हुए बारंबार देखा है ॥ ४ ॥

सुहृदा यदिदं वाक्यं भवता श्रावितो ह्यहम्।
न मां प्रीणाति तत् सर्वं मुमूर्षोरिव भेषजम् ॥ ५ ॥

'आप मेरे हितचिन्तक सुहृद् हैं तो भी आपने मुझे जो बात सुनायी है, वह सब मेरे मनको उसी तरह पसंद नहीं आती, जैसे मरणासन्न रोगीको दवा अच्छी नहीं लगती है ॥ ५ ॥

हेतुकारणसंयुक्तं हितं वचनमुत्तमम्।
उच्यमानं महाबाहो न मे विप्राग्र्य रोचते ॥ ६ ॥

'महाबाहो ! विप्रवर ! आपने युक्ति और कारणोंसे सुसङ्गत, हितकारक एवं उत्तम बात कही है तो भी वह मुझे अच्छी नहीं लग रही है ॥ ६ ॥

राज्याद् विनिकृतोऽस्माभिः कथं सोऽस्मासु विश्वसेत्।
अक्षद्यूते च नृपतिर्जितोऽस्माभिर्महाधनः ॥ ७ ॥
स कथं मम वाक्यानि श्रद्दध्याद् भूय एव तु।

'हमलोगोंने राजा युधिष्ठिरके साथ छल किया है। वे महाधनी थे, हमने उन्हें जूएमें जीतकर निर्धन बना दिया। ऐसी दशामें वे हमलोगोंपर विश्वास कैसे कर सकते हैं ? हमारी बातोंपर उन्हें फिर श्रद्धा कैसे हो सकती है ? ॥ ७½ ॥

तथा दौत्येन सम्प्राप्तः कृष्णः पार्थहिते रतः ॥ ८ ॥
प्रलब्धश्च हृषीकेशस्तच्च कर्माविचारितम्।
स च मे वचनं ब्रह्मन् कथमेवाभिमन्यते ॥ ९ ॥

'ब्रह्मन् ! पाण्डवोंके हितमें तत्पर रहनेवाले श्रीकृष्ण मेरे यहाँ दूत बनकर आये थे, किंतु मैंने उन हृषीकेशके साथ धोखा किया। मेरा वह कर्म अविचारपूर्ण था। भला, अब वे मेरी बात कैसे मानेंगे ? ॥ ८-९ ॥

विललाप च यत् कृष्णा सभामध्ये समेयुषी।
न तन्मर्षयते कृष्णो न राज्यहरणं तथा ॥ १० ॥

'सभामें बलात्कारपूर्वक लायी हुई द्रौपदीने जो विलाप किया था तथा पाण्डवोंका जो राज्य छीन लिया गया था, वह बर्ताव श्रीकृष्ण सहन नहीं कर सकते ॥ १० ॥

एकप्राणावुभौ कृष्णावन्योन्यमभिसंश्रितौ।
पुरा यच्छ्रुतमेवासीदद्य पश्यामि तत् प्रभो ॥ ११ ॥

'प्रभो ! श्रीकृष्ण और अर्जुन दोनों दो शरीर और एक प्राण हैं। वे दोनों एक दूसरेके आश्रित हैं। पहले जो बात मैंने केवल सुन रक्खी थी, उसे अब प्रत्यक्ष देख रहा हूँ ॥

स्वस्रीयं निहतं श्रुत्वा दुःखं स्वपिति केशवः।
कृतागसो वयं तस्य स मदर्थं कथं क्षमेत् ॥ १२ ॥

'अपने भानजे अभिमन्युके मारे जानेका समाचार सुनकर श्रीकृष्ण सुखकी नींद नहीं सोते हैं। हम सब लोग उनके अपराधी हैं, फिर वे हमें कैसे क्षमा कर सकते हैं ? ॥ १२ ॥

अभिमन्योर्विनाशेन न शर्म लभतेऽर्जुनः।
स कथं मद्धिते यत्नं प्रकरिष्यति याचितः ॥ १३ ॥

'अभिमन्युके मारे जानेसे अर्जुनको भी चैन नहीं है, फिर वे प्रार्थना करनेपर भी मेरे हितके लिये कैसे यत्न करेंगे ? ॥ १३ ॥

मध्यमः पाण्डवस्तीक्ष्णो भीमसेनो महाबलः।
प्रतिज्ञातं च तेनोग्रं भज्येतापि न संनमेत् ॥ १४ ॥

'भाई ! पाण्डुपुत्र महाबली भीमसेनका स्वभाव बड़ा ही कठोर है । उन्होंने बड़ी भयंकर प्रतिज्ञा की है । सूखे काठकी तरह वे टूट भले ही जायँ, झुक नहीं सकते ॥ १४ ॥

उभौ तौ खड्गनिस्त्रिंशावुभौ चाबद्धकङ्कटौ ।
कृतवैरावुभौ वीरौ यमावपि यमोपमौ ॥ १५ ॥

'दोनों भाई नकुल और सहदेव तलवार बाँधे और कवच धारण किये हुए यमराजके समान भयंकर जान पड़ते हैं । वे दोनों वीर मुझसे वैर मानते हैं ॥ १५ ॥

धृष्टद्युम्नः शिखण्डी च कृतवैरौ मया सह ।
तौ कथं मद्धिते यत्नं कुर्यातां द्विजसत्तम ॥ १६ ॥

'द्विजश्रेष्ठ ! धृष्टद्युम्न और शिखण्डीने भी मेरे साथ वैर बाँध रक्खा है, फिर वे दोनों मेरे हितके लिये कैसे यत्न कर सकते हैं ? ॥ १६ ॥

दुःशासनेन यत् कृष्णा एकवस्त्रा रजस्वला ।
परिक्लिष्टा सभामध्ये सर्वलोकस्य पश्यतः ॥ १७ ॥
तथा विवसनां दीनां स्मरन्त्यद्यापि पाण्डवाः ।

'द्रौपदी एक वस्त्र पहने हुए थी, रजस्वला थी । उस अवस्थामें जो वह भरी सभामें लायी गयी और दुःशासनने सब लोगोंके सामने जो उसे महान् क्लेश पहुँचाया, उसका जो वस्त्र उतारा गया और उसे जो दयनीय दशाको पहुँचा दिया गया, उन सब बातोंको पाण्डव आज भी याद रखते हैं ॥

न निवारयितुं शक्याः संग्रामात्ते परंतपाः ॥ १८ ॥
यदा च द्रौपदी क्लिष्टा मद्विनाशाय दुःखिता ।
स्थण्डिले नित्यदा शेते यावद् वैरस्य यातनम् ॥१९॥

'इसलिये अब उन शत्रुसंतापी वीरोंको युद्धसे रोका नहीं जा सकता । जबसे द्रौपदीको क्लेश दिया गया, तबसे वह दुखी हो मेरे विनाशका संकल्प लेकर प्रतिदिन मिट्टीकी वेदीपर सोया करती है । जबतक वैरका पूरा बदला न चुका लिया जाय, तबतकके लिये उसने यह व्रत ले रक्खा है ॥१८-१९॥

उग्रं तेपे तपः कृष्णा भर्तॄणामर्थसिद्धये ।
निक्षिप्य मानं दर्पं च वासुदेवसहोदरा ॥ २० ॥
कृष्णायाः प्रेष्यवद् भूत्वा शुश्रूषां कुरुते सदा ।
इति सर्वं समुन्नद्धं न निर्वाति कथञ्चन ॥ २१ ॥

'द्रौपदी अपने पतियोंके अभीष्ट मनोरथकी सिद्धिके लिये बड़ी कठोर तपस्या करती है और वसुदेवनन्दन श्रीकृष्णकी सगी बहन सुभद्रा मान और अभिमानको दूर फेंककर सदा दासीकी भाँति द्रौपदीकी सेवा करती है । इस प्रकार इन सारे कार्योंके रूपमें वैरकी आग प्रज्वलित हो उठी है, जो किसी प्रकार बुझ नहीं सकती ॥ २०-२१ ॥

अभिमन्योर्विनाशेन स संधेयः कथं मया ।
कथं च राजा भुक्त्वेमां पृथिवीं सागराम्बराम्॥ २२ ॥
पाण्डवानां प्रसादेन भोक्ष्ये राज्यमहं कथम् ।

'अभिमन्युके विनाशसे जिनके हृदयमें गहरी चोट पहुँची है, उस अर्जुनके साथ मेरी सन्धि कैसे हो सकती है ? जब मैं समुद्रसे घिरी हुई सारी पृथ्वीका एकच्छत्र राजाकी हैसियतसे उपभोग कर चुका हूँ, तब इस समय पाण्डवोंकी कृपाका पात्र बनकर कैसे राज्य भोगूँगा ? ॥ २२½ ॥

उपर्युपरि राज्ञां वै ज्वलित्वा भास्करो यथा ॥ २३ ॥
युधिष्ठिरं कथं पश्चादनुयास्यामि दासवत् ।

'समस्त राजाओंके ऊपर सूर्यके समान प्रकाशित होकर अब दासकी भाँति युधिष्ठिरके पीछे-पीछे कैसे चलूँगा?॥२३½॥

कथं भुक्त्वा स्वयं भोगान् दत्त्वा दायांश्च पुष्कलान् ॥
कृपणं वर्तयिष्यामि कृपणैः सह जीविकाम् ।

'स्वयं बहुत-से भोग भोगकर और प्रचुर धन दान करके अब दीन पुरुषोंके साथ दीनतापूर्ण जीविकाका आश्रय ले किस प्रकार निर्वाह कर सकूँगा ? ॥ २४½ ॥

नाभ्यसूयामि ते वाक्यमुक्तं स्निग्धं हितं त्वया॥२५॥
न तु सन्धिमहं मन्ये प्राप्तकालं कथञ्चन ।

'आपने स्नेहवश हितकी ही बात कही है । आपकी इस बातमें मैं दोष नहीं निकालता और न इसकी निन्दा ही करता हूँ । मेरा कथन तो इतना ही है कि अब किसी प्रकार सन्धिका अवसर नहीं रह गया है । मेरी ऐसी ही मान्यता है ॥२५½॥

सुनीतमनुपश्यामि सुयुद्धेन परंतप ॥ २६ ॥
नायं क्लीबयितुं कालः संयोद्धुं काल एव नः ।

'शत्रुओंको तपानेवाले वीर ! अब मैं अच्छी तरह युद्ध करनेमें ही उत्तम नीतिका पालन समझ रहा हूँ । हमारा यह समय कायरता दिखानेका नहीं, उत्साहपूर्वक युद्ध करनेका ही है ॥ २६½ ॥

इष्टं मे बहुभिर्यज्ञैर्दत्ता विप्रेषु दक्षिणाः ॥ २७ ॥
प्राप्ताः कामाः श्रुता वेदाः शत्रूणां मूर्ध्नि च स्थितम्।
भृत्या मे सुभृतास्तात दीनश्चाभ्युद्धृतो जनः ॥ २८ ॥
नोत्सहेऽद्य द्विजश्रेष्ठ पाण्डवान् वक्तुमीदृशम् ।

'तात ! मैंने बहुतसे यज्ञोंका अनुष्ठान कर लिया । ब्राह्मणोंको पर्याप्त दक्षिणाएँ दे दीं । सारी कामनाएँ पूर्ण कर लीं । वेदोंका श्रवण कर लिया । शत्रुओंके माथेपर पैर रक्खा और भरण-पोषणके योग्य व्यक्तियोंके पालन-पोषणकी अच्छी व्यवस्था कर दी । इतना ही नहीं, मैंने दीनोंका उद्धारकार्य भी सम्पन्न कर दिया है । अतः द्विजश्रेष्ठ ! अब मैं पाण्डवोंसे इस प्रकार सन्धिके लिये याचना नहीं कर सकता ॥२७-२८½॥

जितानि परराष्ट्राणि स्वराष्ट्रमनुपालितम् ॥ २९ ॥
भुक्ताश्च विविधा भोगास्त्रिवर्गः सेवितो मया ।
पितॄणां गतमानृण्यं क्षत्रधर्मस्य चोभयोः ॥ ३० ॥

'मैंने दूसरोंके राज्य जीते, अपने राष्ट्रका निरन्तर पालन किया, नाना प्रकारके भोग भोगे; धर्म, अर्थ और कामका सेवन किया और पितरों तथा क्षत्रियधर्म—दोनोंके ऋणसे उऋण हो गया ॥ २९-३० ॥

न ध्रुवं सुखमस्तीति कुतो राष्ट्रं कुतो यशः ।
इह कीर्तिर्विधातव्या सा च युद्धेन नान्यथा ॥ ३१ ॥

'संसारमें कोई भी सुख सदा रहनेवाला नहीं है। फिर राष्ट्र और यश भी कैसे स्थिर रह सकते हैं ? यहाँ तो कीर्तिका ही उपार्जन करना चाहिये और कीर्ति युद्धके सिवा किसी दूसरे उपायसे नहीं मिल सकती ॥ ३१ ॥

गृहे यत् क्षत्रियस्यापि निधनं तद् विगर्हितम् ।
अधर्मः सुमहानेष यच्छय्यामरणं गृहे ॥ ३२ ॥

'क्षत्रियकी भी यदि घरमें मृत्यु हो जाय तो उसे निन्दित माना गया है। घरमें खाटपर सोकर मरना यह क्षत्रियके लिये महान् पाप है ॥ ३२ ॥

अरण्ये यो विमुच्येत संग्रामे वा तनुं नरः ।
क्रतूनाहृत्य महतो महिमानं स गच्छति ॥ ३३ ॥

'जो बड़े-बड़े यज्ञोंका अनुष्ठान करके वनमें या संग्राममें शरीरका त्याग करता है, वही क्षत्रिय महत्त्वको प्राप्त होता है ॥ ३३ ॥

कृपणं विलपन्नार्तो जरयाभिपरिप्लुतः ।
म्रियते रुदतां मध्ये ज्ञातीनां न स पूरुषः ॥ ३४ ॥

'जिसका शरीर बुढ़ापेसे जर्जर हो गया हो, जो रोगसे पीड़ित हो, परिवारके लोग जिसके आसपास बैठकर रो रहे हों और उन रोते हुए स्वजनोंके बीचमें जो करुण विलाप करते-करते अपने प्राणोंका परित्याग करता है, वह पुरुष कहलानेयोग्य नहीं है ॥ ३४ ॥

त्यक्त्वा तु विविधान् भोगान् प्राप्तानां परमां गतिम् ।
अपीदानीं सुयुद्धेन गच्छेयं यत्सलोकताम् ॥ ३५ ॥

'अतः जिन्होंने नाना प्रकारके भोगोंका परित्याग करके उत्तम गति प्राप्त कर ली है, इस समय युद्धके द्वारा मैं उन्हींके लोकोंमें जाऊँगा ॥ ३५ ॥

शूराणामार्यवृत्तानां संग्रामेष्वनिवर्तिनाम् ।
धीमतां सत्यसंधानां सर्वेषां क्रतुयाजिनाम् ॥ ३६ ॥
शस्त्रावभृथपूतानां ध्रुवं वासस्त्रिविष्टपे ।

'जिनके आचरण श्रेष्ठ हैं, जो युद्धसे कभी पीछे नहीं हटते, अपनी प्रतिज्ञाको सत्य कर दिखाते और यज्ञोंद्वारा यजन करनेवाले हैं तथा जिन्होंने शस्त्रकी धारामें अवभृथस्नान किया है, उन समस्त बुद्धिमान् पुरुषोंका निश्चय ही स्वर्गमें निवास होता है ॥ ३६½ ॥

मुदा नूनं प्रपश्यन्ति युद्धे ह्यप्सरसां गणाः ॥ ३७ ॥
पश्यन्ति नूनं पितरः पूजितान् सुरसंसदि ।
अप्सरोभिः परिवृतान् मोदमानांस्त्रिविष्टपे ॥ ३८ ॥

'निश्चय ही युद्धमें प्राण देनेवालोंकी ओर अप्सराएँ बड़ी प्रसन्नतासे निहारा करती हैं। पितृगण उन्हें अवश्य ही देवताओंकी सभामें सम्मानित होते देखते हैं। वे स्वर्गमें अप्सराओंसे घिरकर आनन्दित होते देखे जाते हैं ॥ ३७-३८ ॥

पन्थानममरैर्यान्तं शूरैश्चैवानिवर्तिभिः ।
अपि तत्संगतं मार्गं वयमध्यारुहेमहि ॥ ३९ ॥
पितामहेन वृद्धेन तथाऽऽचार्येण धीमता ।
जयद्रथेन कर्णेन तथा दुःशासनेन च ॥ ४० ॥

'देवता तथा युद्धमें पीठ न दिखानेवाले शूरवीर जिस मार्गसे जाते हैं, क्या उसी मार्गपर अब हमलोग भी वृद्ध पितामह, बुद्धिमान् आचार्य द्रोण, जयद्रथ, कर्ण तथा दुःशासनके साथ आरूढ़ होंगे ? ॥ ३९-४० ॥

घटमाना मदर्थेऽस्मिन् हताः शूरा जनाधिपाः ।
शेरते लोहिताक्ताङ्गाः संग्रामे शरविक्षताः ॥ ४१ ॥

'कितने ही वीर नरेश मेरी विजयके लिये यथाशक्ति चेष्टा करते हुए बाणोंसे क्षत-विक्षत हो मारे जाकर रक्तरञ्जित शरीरसे संग्रामभूमिमें सो रहे हैं ॥ ४१ ॥

उत्तमास्त्रविदः शूरा यथोक्तक्रतुयाजिनः ।
त्यक्त्वा प्राणान् यथान्यायमिन्द्रसद्मस्वधिष्ठिताः ॥४२॥

'उत्तम अस्त्रोंके ज्ञाता और शास्त्रोक्त विधिसे यज्ञ करनेवाले अन्य शूरवीर यथोचित रीतिसे युद्धमें प्राणोंका परित्याग करके इन्द्रलोकमें प्रतिष्ठित हो रहे हैं ॥ ४२ ॥

तैः स्वयं रचितो मार्गो दुर्गमो हि पुनर्भवेत् ।
सम्पतद्भिर्महावेगैर्यास्यद्भिरिह सद्गतिम् ॥ ४३ ॥

'उन वीरोंने स्वयं ही जिस मार्गका निर्माण किया है, वह पुनः बड़े वेगसे सद्गतिको जानेवाले बहुसंख्यक वीरोंद्वारा दुर्गम हो जाय (अर्थात् इतने अधिक वीर उस मार्गसे यात्रा करें कि भीड़के मारे उसपर चलना कठिन हो जाय) ॥४३॥

ये मदर्थे हताः शूरास्तेषां कृतमनुस्मरन् ।
ऋणं तत् प्रतियुञ्जानो न राज्ये मन आदधे ॥ ४४ ॥

'जो शूरवीर मेरे लिये मारे गये हैं, उनके उस उपकारका निरन्तर स्मरण करता हुआ उस ऋणको उतारनेकी चेष्टामें संलग्न होकर मैं राज्यमें मन नहीं लगा सकता ॥ ४४ ॥

घातयित्वा वयस्यांश्च भ्रातॄनथ पितामहान् ।
जीवितं यदि रक्षेयं लोको मां गर्हयेद् ध्रुवम् ॥ ४५ ॥

'मित्रों, भाइयों और पितामहोंको मरवाकर यदि मैं अपने प्राणोंकी रक्षा करूँ तो सारा संसार निश्चय ही मेरी निन्दा करेगा ॥ ४५ ॥

कीदृशं च भवेद् राज्यं मम हीनस्य बन्धुभिः ।
सखिभिश्च विशेषेण प्रणिपत्य च पाण्डवम् ॥ ४६ ॥

'बन्धु-बान्धवों और मित्रोंसे हीन हो युधिष्ठिरके पैरोंमें पड़नेपर मुझे जो राज्य मिलेगा, वह कैसा होगा ? ॥ ४६ ॥

सोऽहमेतादृशं कृत्वा जगतोऽस्य पराभवम् ।
सुयुद्धेन ततः स्वर्गं प्राप्स्यामि न तदन्यथा ॥ ४७ ॥

'इसलिये मैं जगत्का ऐसा विनाश करके अब उत्तम युद्धके द्वारा ही स्वर्गलोक प्राप्त करूँगा। मेरी सद्गतिके लिये दूसरा कोई उपाय नहीं है' ॥ ४७ ॥

एवं दुर्योधनेनोक्तं सर्वे सम्पूज्य तद्वचः ।
साधु साध्विति राजानं क्षत्रियाः सम्बभाषिरे ॥ ४८ ॥

इस प्रकार राजा दुर्योधनकी कही हुई यह बात सुनकर सब क्षत्रियोंने 'बहुत अच्छा, बहुत अच्छा' कहकर उसका आदर किया और उसे भी धन्यवाद दिया ॥ ४८ ॥

पराजयमशोचन्तः कृतचित्ताश्च विक्रमे ।
सर्वे सुनिश्चिता योद्धुमुदग्रमनसोऽभवन् ॥ ४९ ॥

सबने अपनी पराजयका शोक छोड़कर मन-ही-मन पराक्रम करनेका निश्चय किया । युद्ध करनेके विषयमें सबका पक्का विचार हो गया और सबके हृदयमें उत्साह भर गया ॥

ततो वाहान् समाश्वास्य सर्वे युद्धाभिनन्दिनः ।
ऊने द्वियोजने गत्वा प्रत्यतिष्ठन्त कौरवाः ॥ ५० ॥

तत्पश्चात् सब योद्धाओंने अपने-अपने वाहनोंको विश्राम दे युद्धका अभिनन्दन किया और आठ कोससे कुछ कम दूरीपर जाकर डेरा डाला ॥ ५० ॥

आकाशे विद्रुमे पुण्ये प्रस्थे हिमवतः शुभे ।
अरुणां सरस्वतीं प्राप्य पपुः सस्नुश्च ते जलम् ॥ ५१ ॥

आकाशके नीचे हिमालयके शिखरकी सुन्दर, पवित्र एवं वृक्षरहित चौरस भूमिपर अरुणसलिला सरस्वतीके निकट जाकर उन सबने स्नान और जलपान किया ॥ ५१ ॥

तव पुत्रकृतोत्साहाः पर्यवर्तन्त ते ततः ।
पर्यवस्थाप्य चात्मानमन्योन्येन पुनस्तदा ।
सर्वे राजन् न्यवर्तन्त क्षत्रियाः कालचोदिताः ॥ ५२ ॥

राजन् ! वे कालप्रेरित समस्त क्षत्रिय आपके पुत्रद्वारा उत्साह देनेपर एक दूसरेके द्वारा मनको स्थिर करके पुनः रणभूमिकी ओर लौटे ॥ ५२ ॥

इति श्रीमहाभारते शल्यपर्वणि दुर्योधनवाक्ये पञ्चमोऽध्यायः ॥ ५ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शल्यपर्वमें दुर्योधनका वाक्यविषयक पाँचवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ५ ॥

षष्ठोऽध्यायः

दुर्योधनके पूछनेपर अश्वत्थामाका शल्यको सेनापति बनानेके लिये प्रस्ताव, दुर्योधनका शल्यसे अनुरोध और शल्यद्वारा उसकी स्वीकृति

संजय उवाच

अथ हैमवते प्रस्थे स्थित्वा युद्धाभिनन्दिनः ।
सर्व एव महायोधास्तत्र तत्र समागताः ॥ १ ॥

संजय कहते हैं—महाराज ! तदनन्तर हिमालयके ऊपरकी चौरस भूमिमें डेरा डालकर युद्धका अभिनन्दन करनेवाले सभी महान् योद्धा वहाँ एकत्र हुए ॥ १ ॥

शल्यश्च चित्रसेनश्च शकुनिश्च महारथः ।
अश्वत्थामा कृपश्चैव कृतवर्मा च सात्वतः ॥ २ ॥
सुषेणोऽरिष्टसेनश्च धृतसेनश्च वीर्यवान् ।
जयत्सेनश्च राजानस्ते रात्रिमुषितास्ततः ॥ ३ ॥

शल्य, चित्रसेन, महारथी शकुनि, अश्वत्थामा, कृपाचार्य, सात्वतवंशी कृतवर्मा, सुषेण, अरिष्टसेन, पराक्रमी धृतसेन और जयत्सेन आदि राजाओंने वहीं रात वितायी ॥ २-३ ॥

रणे कर्णे हते वीरे त्रासिता जितकाशिभिः ।
नालभञ्शर्म ते पुत्रा हिमवन्तमृते गिरिम् ॥ ४ ॥

रणभूमिमें वीर कर्णके मारे जानेपर विजयसे उल्लसित होनेवाले पाण्डवोंद्वारा डराये हुए आपके पुत्र हिमालय पर्वतके सिवा और कहीं शान्ति न पा सके ॥ ४ ॥

तेऽब्रुवन् सहितास्तत्र राजानं शल्यसंनिधौ ।
कृतयत्ना रणे राजन् सम्पूज्य विधिवत्तदा ॥ ५ ॥

राजन् ! संग्रामभूमिमें विजयके लिये प्रयत्न करनेवाले उन सब योद्धाओंने वहाँ एक साथ होकर शल्यके समीप राजा दुर्योधनका विधिपूर्वक सम्मान करके उससे इस प्रकार कहा—॥

कृत्वा सेनाप्रणेतारं परांस्त्वं योद्धुमर्हसि ।
येनाभिगुप्ताः संग्रामे जयेमासुहृदो वयम् ॥ ६ ॥

'नरेश्वर ! तुम किसीको सेनापति बनाकर शत्रुओंके साथ युद्ध करो, जिससे सुरक्षित होकर हमलोग विपक्षियोंपर विजय प्राप्त करें' ॥ ६ ॥

ततो दुर्योधनः स्थित्वा रथे रथवरोत्तमम् ।
सर्वयुद्धविभावज्ञमन्तकप्रतिमं युधि ॥ ७ ॥
स्वङ्गं प्रच्छन्नशिरसं कम्बुग्रीवं प्रियंवदम् ।
व्याकोशपद्मपत्राक्षं व्याघ्रास्यं मेरुगौरवम् ॥ ८ ॥
स्थाणोर्वृषस्य सदृशं स्कन्धनेत्रगतिस्वरैः ।
पुष्टश्लिष्टायतभुजं सुविस्तीर्णवरोरसम् ॥ ९ ॥
बले जवे च सदृशमरुणानुजवातयोः ।
आदित्यस्यार्चिषा तुल्यं बुद्ध्या चोशनसा समम् ॥ १० ॥
कान्तिरूपमुखैश्वर्यैस्त्रिभिश्चन्द्रमसा समम् ।
काञ्चनोपलसंघातैः सदृशं श्लिष्टसंधिकम् ॥ ११ ॥
सुवृत्तोरुकटीजङ्घं सुपादं स्वङ्गुलीनखम् ।
स्मृत्वा स्मृत्वैव तु गुणान् धात्रा यत्नाद् विनिर्मितम् ॥ १२ ॥
सर्वलक्षणसम्पन्नं निपुणं श्रुतिसागरम् ।
जेतारं तरसारीणामजेयमरिभिर्बलात् ॥ १३ ॥
दशाङ्गं यश्चतुष्पादमिष्वस्त्रं वेद तत्त्वतः ।
साङ्गांस्तु चतुरो वेदान् सम्यगाख्यानपञ्चमान् ॥ १४ ॥
आराध्य त्र्यम्बकं यत्नाद् व्रतैरुग्रैर्महातपाः ।
अयोनिजायामुत्पन्नो द्रोणेनायोनिजेन यः ॥ १५ ॥
तमप्रतिमकर्माणं रूपेणाप्रतिमं भुवि ।
पारगं सर्वविद्यानां गुणार्णवमनिन्दितम् ॥ १६ ॥

तमभ्येत्यात्मजस्तुभ्यमश्वत्थामानमब्रवीत् ।

राजन् ! तब आपका पुत्र दुर्योधन रथपर बैठकर अश्वत्थामाके निकट गया। अश्वत्थामा महारथियोंमें श्रेष्ठ, युद्धविषयक सभी विभिन्न भावोंका ज्ञाता और युद्धमें यमराजके समान भयंकर है। उसके अङ्ग सुन्दर हैं, मस्तक केशोंसे आच्छादित है और कण्ठ शङ्खके समान सुशोभित होता है। वह प्रिय वचन बोलनेवाला है। उसके नेत्र विकसित कमलदलके समान सुन्दर और मुख व्याघ्रके समान भयंकर है। उसमें मेरुपर्वतकी-सी गुरुता है। स्कन्ध, नेत्र, गति और स्वरमें वह भगवान् शङ्करके वाहन वृषभके समान है। उसकी भुजाएँ पुष्ट, सुगठित एवं विशाल हैं। वक्षःस्थलका उत्तमभाग भी सुविस्तृत है। वह बल और वेगमें गरुड़ एवं वायुकी बराबरी करनेवाला है। तेजमें सूर्य और बुद्धिमें शुक्राचार्यके समान है। कान्ति, रूप तथा मुखकी शोभा—इन तीन गुणोंमें वह चन्द्रमाके तुल्य है। उसका शरीर सुवर्णमय प्रस्तरसमूहके समान सुशोभित होता है। अङ्गोंका जोड़ या संधिस्थान भी सुगठित है। ऊरु, कटिप्रदेश और पिण्डलियाँ—ये सुन्दर और गोल हैं। उसके दोनों चरण मनोहर हैं। अङ्गुलियाँ और नख भी सुन्दर हैं, मानो विधाताने उत्तम गुणोंका बारंबार स्मरण करके बड़े यत्नसे उसके अङ्गोंका निर्माण किया हो। वह समस्त शुभलक्षणोंसे सम्पन्न, समस्त कार्योंमें कुशल और वेदविद्याका समुद्र है। अश्वत्थामा शत्रुओंपर वेगपूर्वक विजय पानेमें समर्थ है। परंतु शत्रुओंके लिये बलपूर्वक उसके ऊपर विजय पाना असम्भव है। वह दसों अङ्गोंसे युक्त चारों चरणोंवाले धनुर्वेदको ठीक-ठीक जानता है। छहों अङ्गोंसहित चार वेदों और इतिहास-पुराणस्वरूप पञ्चम वेदका भी अच्छा ज्ञाता है। महातपस्वी अश्वत्थामाको उसके पिता अयोनिज द्रोणाचार्यने बड़े यत्नसे कठोर व्रतोंद्वारा तीन नेत्रोंवाले भगवान् शङ्करकी आराधना करके अयोनिजा कृपीके गर्भसे उत्पन्न किया था। उसके कर्मोंकी कहीं तुलना नहीं है। इस भूतलपर वह अनुपम रूप-सौन्दर्यसे युक्त है। सम्पूर्ण विद्याओंका पारङ्गत विद्वान् और गुणोंका महासागर है। उस अनिन्दित अश्वत्थामाके निकट जाकर आपके पुत्र दुर्योधनने इस प्रकार कहा—॥ ७—१६½ ॥

यं पुरस्कृत्य सहिता युधि जेष्याम पाण्डवान् ॥ १७ ॥
गुरुपुत्रोऽद्य सर्वेषामस्माकं परमा गतिः ।
भवांस्तस्मान्नियोगात्ते कोऽस्तु सेनापतिर्मम ॥ १८ ॥

'ब्रह्मन् ! तुम हमारे गुरुपुत्र हो और इस समय तुम्हीं हमारे सबसे बड़े सहारे हो। अतः मैं तुम्हारी आज्ञासे सेनापतिका निर्वाचन करना चाहता हूँ। बताओ, अब कौन मेरा सेनापति हो, जिसे आगे रखकर हम सब लोग एक साथ हो युद्धमें पाण्डवोंपर विजय प्राप्त करें ?' ॥ १७-१८ ॥

द्रौणिरुवाच

अयं कुलेन रूपेण तेजसा यशसा श्रिया ।
सर्वैर्गुणैः समुदितः शल्यो नोऽस्तु चमूपतिः ॥ १९ ॥

अश्वत्थामाने कहा—ये राजा शल्य उत्तम कुल, सुन्दर रूप, तेज, यश, श्री एवं समस्त सद्गुणोंसे सम्पन्न हैं, अतः ये ही हमारे सेनापति हों ॥ १९ ॥

भागिनेयान् निजांस्त्यक्त्वा कृतज्ञोऽस्मानुपागतः।
महासेनो महाबाहुर्महासेन इवापरः ॥ २० ॥

ये ऐसे कृतज्ञ हैं कि अपने सगे भानजोंको भी छोड़कर हमारे पक्षमें आ गये हैं। ये महाबाहु शल्य दूसरे महासेन (कार्तिकेय) के समान महती सेनासे सम्पन्न हैं ॥ २० ॥

एनं सेनापतिं कृत्वा नृपतिं नृपसत्तम ।
शक्यः प्राप्तुं जयोऽस्माभिर्देवैः स्कन्दमिवाजितम् २१

नृपश्रेष्ठ ! जैसे देवताओंने किसीसे पराजित न होनेवाले स्कन्दको सेनापति बनाकर असुरोंपर विजय प्राप्त की थी, उसी प्रकार हमलोग भी इन राजा शल्यको सेनापति बनाकर शत्रुओंपर विजय प्राप्त कर सकते हैं ॥ २१ ॥

तथोक्ते द्रोणपुत्रेण सर्व एव नराधिपाः ।
परिवार्य स्थिताः शल्यं जयशब्दांश्च चक्रिरे ॥ २२ ॥
युद्धाय च मतिं चक्रुरावेशं च परं ययुः ।

द्रोणपुत्रके ऐसा कहनेपर सभी नरेश राजा शल्यको घेरकर खड़े हो गये और उनकी जय-जयकार करने लगे। उन्होंने युद्धके लिये पूर्ण निश्चय कर लिया और वे अत्यन्त आवेशमें भर गये ॥ २२½ ॥

ततो दुर्योधनो भूमौ स्थित्वा रथवरे स्थितम् ॥ २३ ॥
उवाच प्राञ्जलिर्भूत्वा द्रोणभीष्मसमं रणे ।
अयं स कालः सम्प्राप्तो मित्राणां मित्रवत्सल ॥ २४ ॥
यत्र मित्रममित्रं वा परीक्षन्ते बुधा जनाः ।

तदनन्तर राजा दुर्योधनने भूमिपर खड़ा हो रथपर बैठे हुए रणभूमिमें द्रोण और भीष्मके समान पराक्रमी राजा शल्यसे हाथ जोड़कर कहा—'मित्रवत्सल ! आज आपके मित्रोंके सामने वह समय आ गया है जब कि विद्वान् पुरुष शत्रु या मित्रकी परीक्षा करते हैं ॥ २३-२४½ ॥

स भवानस्तु नः शूरः प्रणेता वाहिनीमुखे ॥ २५ ॥
रणं याते च भवति पाण्डवा मन्दचेतसः ।
भविष्यन्ति सहामात्याः पञ्चालाश्च निरुद्यमाः ॥ २६ ॥

'आप हमारे शूरवीर सेनापति होकर सेनाके मुहानेपर खड़े हों। रणभूमिमें आपके जाते ही मन्दबुद्धि पाण्डव और पाञ्चाल अपने मन्त्रियोंसहित उद्योगशून्य हो जायँगे' ॥ २५-२६ ॥

दुर्योधनवचः श्रुत्वा शल्यो मद्राधिपस्तदा ।
उवाच वाक्यं वाक्यज्ञो राजानं राजसंनिधौ ॥ २७ ॥

१. धनुर्वेदके दस अङ्ग इस प्रकार हैं—व्रत, प्राप्ति, धृति, पुष्टि, स्मृति, क्षेप, शत्रुभेदन, चिकित्सा, उद्दीपन और कृष्टि।

२. दीक्षा, शिक्षा, आत्मरक्षा और इसका साधन—ये धनुर्वेदके चार चरण कहे गये हैं।

उस समय वचनके महत्त्वको जाननेवाले मद्रदेशके स्वामी राजा शल्य दुर्योधनके वचन सुनकर समस्त राजाओंके सम्मुख राजा दुर्योधनसे यह वचन बोले ॥ २७ ॥

शल्य उवाच

यत्तु मां मन्यसे राजन् कुरुराज करोमि तत्।
त्वत्प्रियार्थं हि मे सर्वं प्राणा राज्यं धनानि च ॥ २८ ॥

शल्य बोले—राजन्! कुरुराज! तुम मुझसे जो कुछ चाहते हो, मैं उसे पूर्ण करूँगा; क्योंकि मेरे प्राण, राज्य और धन सब तुम्हारा प्रिय करनेके लिये ही हैं ॥ २८ ॥

दुर्योधन उवाच

सैनापत्येन वरये त्वामहं मातुलातुलम्।
सोऽस्मान् पाहि युधां श्रेष्ठ स्कन्दो देवानिवाहवे ॥ २९ ॥

दुर्योधनने कहा—योद्धाओंमें श्रेष्ठ मामाजी! आप अनुपम वीर हैं। अतः मैं सेनापति-पद ग्रहण करनेके लिये आपका वरण करता हूँ। जैसे स्कन्दने युद्धस्थलमें देवताओंकी रक्षा की थी, उसी प्रकार आप हमलोगोंका पालन कीजिये ॥

अभिषिच्यस्व राजेन्द्र देवानामिव पावकिः।
जहि शत्रून् रणे वीर महेन्द्रो दानवानिव ॥ ३० ॥

राजाधिराज! वीर! जैसे स्कन्दने देवताओंका सेनापतित्व स्वीकार किया था, उसी प्रकार आप भी हमारे सेनापतिके पदपर अपना अभिषेक कराइये तथा दानवोंका वध करनेवाले देवराज इन्द्रके समान रणभूमिमें हमारे शत्रुओंका संहार कीजिये ॥

इति श्रीमहाभारते शल्यपर्वणि शल्यदुर्योधनसंवादे षष्ठोऽध्यायः ॥ ६ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शल्यपर्वमें शल्य और दुर्योधनका संवादविषयक छठा अध्याय पूरा हुआ ॥ ६ ॥

सप्तमोऽध्यायः

राजा शल्यके वीरोचित उद्गार तथा श्रीकृष्णका युधिष्ठिरको शल्यवधके लिये उत्साहित करना

संजय उवाच

एतच्छ्रुत्वा वचो राज्ञो मद्रराजः प्रतापवान्।
दुर्योधनं तदा राजन् वाक्यमेतदुवाच ह ॥ १ ॥

संजय कहते हैं—महाराज! राजा दुर्योधनकी यह बात सुनकर प्रतापी मद्रराज शल्यने उससे इस प्रकार कहा— ॥

दुर्योधन महाबाहो शृणु वाक्यविदां वर।
यावेतौ मन्यसे कृष्णौ रथस्थौ रथिनां वरौ ॥ २ ॥
न मे तुल्यावुभावेतौ बाहुवीर्ये कथंचन।

'वाक्यवेत्ताओंमें श्रेष्ठ महाबाहु दुर्योधन! तुम रथपर बैठे हुए जिन दोनों श्रीकृष्ण और अर्जुनको रथियोंमें श्रेष्ठ समझते हो, ये दोनों बाहुबलमें किसी प्रकार मेरे समान नहीं हैं ॥ २½ ॥

उद्यतां पृथिवीं सर्वां ससुरासुरमानवाम् ॥ ३ ॥
योधयेयं रणमुखे संक्रुद्धः किमु पाण्डवान्।

'मैं युद्धके मुहानेपर कुपित हो अपने सामने युद्धके लिये आये हुए देवताओं, असुरों और मनुष्योंसहित सारे भूमण्डलके साथ युद्ध कर सकता हूँ। फिर पाण्डवोंकी तो बात ही क्या है? ॥ ३½ ॥

विजेष्यामि रणे पार्थान् सोमकांश्च समागतान् ॥ ४ ॥
अहं सेनाप्रणेता ते भविष्यामि न संशयः।
तं च व्यूहं विधास्यामि न तरिष्यन्ति यं परे ॥ ५ ॥
इति सत्यं ब्रवीम्येष दुर्योधन न संशयः।

'मैं रणभूमिमें कुन्तीके सभी पुत्रों और सामने आये हुए सोमकोंपर भी विजय प्राप्त कर लूँगा। इसमें भी संदेह नहीं कि मैं तुम्हारा सेनापति होऊँगा और ऐसे व्यूहका निर्माण करूँगा, जिसे शत्रु लाँघ नहीं सकेंगे। दुर्योधन! यह मैं तुमसे सच्ची बात कहता हूँ। इसमें कोई संशय नहीं है' ॥ ४-५½ ॥

एवमुक्तस्ततो राजा मद्राधिपतिमञ्जसा ॥ ६ ॥
अभ्यषिञ्चत सेनाया मध्ये भरतसत्तम।
विधिना शास्त्रदृष्टेन क्लिष्टरूपो विशाम्पते ॥ ७ ॥

भरतश्रेष्ठ! प्रजानाथ! उनके ऐसा कहनेपर क्लेशसे दबे हुए राजा दुर्योधनने शास्त्रीय विधिके अनुसार सेनाके मध्यभागमें मद्रराज शल्यका सेनापतिके पदपर अभिषेक कर दिया ॥ ६-७ ॥

अभिषिक्ते ततस्तस्मिन् सिंहनादो महानभूत्।
तव सैन्येऽभ्यवाद्यन्त वादित्राणि च भारत ॥ ८ ॥

भारत! उनका अभिषेक हो जानेपर आपकी सेनामें बड़े जोरसे सिंहनाद होने लगा और भाँति-भाँतिके बाजे बज उठे ॥

हृष्टाश्चासंस्तथा योधा मद्रकाश्च महारथाः।
तुष्टुवुश्चैव राजानं शल्यमाहवशोभिनम् ॥ ९ ॥

मद्रदेशके महारथी योद्धा हर्षमें भर गये और संग्राममें शोभा पानेवाले राजा शल्यकी स्तुति करने लगे— ॥ ९ ॥

जय राजंश्चिरञ्जीव जहि शत्रून् समागतान्।
तव बाहुबलं प्राप्य धार्तराष्ट्रा महाबलाः ॥ १० ॥
निखिलाः पृथिवीं सर्वां प्रशासन्तु हतद्विषः।

'राजन्! आप चिरंजीवी हों। सामने आये हुए शत्रुओंका संहार कर डालें। आपके बाहुबलको पाकर धृतराष्ट्रके सभी महाबली पुत्र शत्रुओंका नाश करके सारी पृथ्वीका शासन करें ॥ १०½ ॥

त्वं हि शक्तो रणे जेतुं ससुरासुरमानवान् ॥ ११ ॥
मर्त्यधर्माण इह तु किमु सृञ्जयसोमकान्।

'आप रणभूमिमें सम्पूर्ण देवताओं, असुरों और मनुष्योंको जीत सकते हैं। फिर यहाँ मरणधर्मा सृंजयों और सोमकोंपर विजय पाना कौन बड़ी बात है?' ॥ ११½ ॥

शल्यका कौरवोंके सेनापति-पदपर अभिषेक

एवं सम्पूज्यमानस्तु मद्राणामधिपो बली ॥ १२ ॥
हर्षं प्राप तदा वीरो दुरापमकृतात्मभिः ।

उनके द्वारा इस प्रकार प्रशंसित होनेपर बलवान् वीर मद्रराज शल्यको वह हर्ष प्राप्त हुआ, जो अकृतात्मा (युद्धकी शिक्षासे रहित) पुरुषोंके लिये दुर्लभ है ॥ १२½ ॥

शल्य उवाच

अद्य चाहं रणे सर्वान् पञ्चालान् सह पाण्डवैः ॥१३॥
निहनिष्यामि वा राजन् स्वर्गं यास्यामि वा हतः।

शल्यने कहा—राजन् ! आज मैं रणभूमिमें पाण्डवों-सहित समस्त पाञ्चालोंको मार डालूँगा या स्वयं ही मारा जाकर स्वर्गलोकमें जा पहुँचूँगा ॥ १३½ ॥

अद्य पश्यन्तु मां लोका विचरन्तमभीतवत् ॥ १४ ॥
अद्य पाण्डुसुताः सर्वे वासुदेवः ससात्यकिः ।
पञ्चालाश्चेदयश्चैव द्रौपदेयाश्च सर्वशः ॥ १५ ॥
धृष्टद्युम्नः शिखण्डी च सर्वे चापि प्रभद्रकाः ।
विक्रमं मम पश्यन्तु धनुषश्च महद् बलम् ॥ १६ ॥

आज सब लोग मुझे रणभूमिमें निर्भय विचरते देखें, आज समस्त पाण्डव, श्रीकृष्ण, सात्यकि, पाञ्चाल और चेदि-देशके योद्धा, द्रौपदीके सभी पुत्र, धृष्टद्युम्न, शिखण्डी तथा समस्त प्रभद्रकगण मेरा पराक्रम तथा मेरे धनुषका महान् बल अपनी आँखों देख लें ॥ १४–१६ ॥

लाघवं चास्त्रवीर्यं च भुजयोश्च बलं युधि ।
अद्य पश्यन्तु मे पार्थाः सिद्धाश्च सह चारणैः ॥ १७ ॥
यादृशं मे बलं बाह्वोः सम्पदस्त्रेषु या च मे ।
अद्य मे विक्रमं दृष्ट्वा पाण्डवानां महारथाः ॥ १८ ॥
प्रतीकारपरा भूत्वा चेष्टन्तां विविधाः क्रियाः ।

आज कुन्तीके सभी पुत्र तथा चारणोंसहित सिद्धगण भी युद्धमें मेरी फुर्ती, अस्त्र-बल और बाहुबलको देखें । मेरी दोनों भुजाओंमें जैसा बल है तथा अस्त्रोंका मुझे जैसा ज्ञान है, उसके अनुसार आज मेरा पराक्रम देखकर पाण्डव महारथी उसके प्रतीकारमें तत्पर हो नाना प्रकारके कार्योंके लिये सचेष्ट हों ॥ १७-१८½ ॥

अद्य सैन्यानि पाण्डूनां द्रावयिष्ये समन्ततः ॥ १९ ॥
द्रोणभीष्मावति विभो सूतपुत्रं च संयुगे ।
विचरिष्ये रणे युध्यन् प्रियार्थं तव कौरव ॥ २० ॥

कुरुनन्दन ! आज मैं पाण्डवोंकी सेनाओंको चारों ओर भगा दूँगा । प्रभो ! युद्धस्थलमें तुम्हारा प्रिय करनेके लिये आज मैं द्रोणाचार्य, भीष्म तथा सूतपुत्र कर्णसे भी बढ़कर पराक्रम दिखाता और जूझता हुआ रणभूमिमें सब ओर विचरण करूँगा ॥ १९-२० ॥

संजय उवाच

अभिषिक्ते तथा शल्ये तव सैन्येषु मानद ।
न कर्णव्यसनं किंचिन्मेनिरे तत्र भारत ॥ २१ ॥

संजय कहते हैं—मानद ! भरतनन्दन ! इस प्रकार आपकी सेनाओंमें राजा शल्यका अभिषेक होनेपर समस्त योद्धाओंको कर्णके मारे जानेका थोड़ा-सा भी दुःख नहीं रह गया ॥ २१ ॥

हृष्टाः सुमनसश्चैव बभूवुस्तत्र सैनिकाः ।
मेनिरे निहतान् पार्थान् मद्रराजवशं गतान् ॥ २२ ॥

वे सब-के-सब प्रसन्नचित्त होकर हर्षसे भर गये और यह मानने लगे कि कुन्तीके पुत्र मद्रराज शल्यके वशमें पड़कर अवश्य ही मारे जायँगे ॥ २२ ॥

प्रहर्षं प्राप्य सेना तु तावकी भरतर्षभ ।
तां रात्रिमुषिता सुप्ता हर्षचित्ता च साभवत् ॥ २३ ॥

भरतश्रेष्ठ ! आपकी सेना महान् हर्ष पाकर उस रातमें वहीं रही और सो गयी । उसके मनमें बड़ा उत्साह था ॥ २३ ॥

सैन्यस्य तव तं शब्दं श्रुत्वा राजा युधिष्ठिरः ।
वार्ष्णेयमब्रवीद् वाक्यं सर्वक्षत्रस्य पश्यतः ॥ २४ ॥

उस समय आपकी सेनाका वह महान् हर्षनाद सुनकर राजा युधिष्ठिरने समस्त क्षत्रियोंके सामने ही भगवान् श्रीकृष्ण-से कहा—॥ २४ ॥

मद्रराजः कृतः शल्यो धार्तराष्ट्रेण माधव ।
सेनापतिर्महेष्वासः सर्वसैन्येषु पूजितः ॥ २५ ॥

'माधव ! धृतराष्ट्रपुत्र दुर्योधनने समस्त सेनाओंद्वारा सम्मानित महाधनुर्धर मद्रराज शल्यको सेनापति बनाया है ॥

एतज्ज्ञात्वा यथाभूतं कुरु माधव यत्क्षमम् ।
भवान् नेता च गोप्ता च विधत्स्व यदनन्तरम् ॥ २६ ॥

'माधव ! यह यथार्थ रूपसे जानकर आप जो उचित हो वैसा करें; क्योंकि आप ही हमारे नेता और संरक्षक हैं । इसलिये अब जो कार्य आवश्यक हो, उसका सम्पादन कीजिये'॥

तमब्रवीन्महाराज वासुदेवो जनाधिपम् ।
आर्तायनिमहं जाने यथातत्त्वेन भारत ॥ २७ ॥

महाराज ! तब भगवान् श्रीकृष्णने राजासे कहा—'भारत ! मैं ऋतायनकुमार राजा शल्यको अच्छी तरह जानता हूँ ॥ २७ ॥

वीर्यवांश्च महातेजा महात्मा च विशेषतः ।
कृती च चित्रयोधी च संयुक्तो लाघवेन च ॥ २८ ॥

'वे बलशाली, महातेजस्वी, महामनस्वी, विद्वान्, विचित्र युद्ध करनेवाले और शीघ्रतापूर्वक अस्त्र-शस्त्रोंका प्रयोग करने-वाले हैं ॥ २८ ॥

यादृग् भीष्मस्तथा द्रोणो यादृक् कर्णश्च संयुगे ।
तादृशस्तद्विशिष्टो वा मद्रराजो मतो मम ॥ २९ ॥

'भीष्म, द्रोणाचार्य और कर्ण—ये सब लोग युद्धमें जैसे पराक्रमी थे, वैसे ही या उनसे भी बढ़कर पराक्रमी मैं मद्रराज शल्यको मानता हूँ ॥ २९ ॥

युद्ध्यमानस्य तस्याहं चिन्तयानश्च भारत ।
योद्धारं नाधिगच्छामि तुल्यरूपं जनाधिप ॥ ३० ॥

'भारत ! नरेश्वर ! मैं बहुत सोचनेपर भी युद्धपरायण शल्यके अनुरूप दूसरे किसी योद्धाको नहीं पा रहा हूँ ॥३०॥

शिखण्ड्यर्जुनभीमानां सात्वतस्य च भारत ।

धृष्टद्युम्नश्च न तथा बलेनाभ्यधिको रणे ॥ ३१ ॥

'कुरुनन्दन! शिखण्डी, अर्जुन, भीम, सात्यकि और धृष्टद्युम्न भी वे रणभूमिमें अधिक बलशाली हैं ॥ ३१ ॥

मद्रराजो महाराज सिंहद्विरदविक्रमः ।
विचरिष्यत्यभीः काले कालः क्रुद्धः प्रजास्विव ॥ ३२ ॥

'महाराज! सिंह और हाथीके समान पराक्रमी मद्रराज शल्य प्रलयकालमें प्रजापर कुपित हुए कालके समान निर्भय होकर रणभूमिमें विचरेंगे ॥ ३२ ॥

तस्याद्य न प्रपश्यामि प्रतियोद्धारमाहवे ।
त्वामृते पुरुषव्याघ्र शार्दूलसमविक्रमम् ॥ ३३ ॥

'पुरुषसिंह! आपका पराक्रम सिंहके समान है। आज आपके सिवा युद्धस्थलमें दूसरेको ऐसा नहीं देखता, जो शल्यके सम्मुख होकर युद्ध कर सके ॥ ३३ ॥

सदेवलोके कृत्स्नेऽस्मिन् नान्यस्त्वत्तः पुमान् भवेत्।
मद्रराजं रणे क्रुद्धं यो हन्यात् कुरुनन्दन ॥ ३४ ॥

'कुरुनन्दन! देवताओंसहित इस सम्पूर्ण जगत्में आपके सिवा दूसरा कोई ऐसा पुरुष नहीं है, जो रणमें कुपित हुए मद्रराज शल्यको मार सके ॥ ३४ ॥

अहन्यहनि युध्यन्तं क्षोभयन्तं बलं तव ।
तस्माज्जहि रणे शल्यं मघवानिव शम्बरम् ॥ ३५ ॥

'इसलिये प्रतिदिन समराङ्गणमें जूझते और आपकी सेनाको विक्षुब्ध करते हुए राजा शल्यको युद्धमें आप उसी प्रकार मार डालिये, जैसे इन्द्रने शम्बरासुरका वध किया था ॥ ३५ ॥

अजेयश्चाप्यसौ वीरो धार्तराष्ट्रेण सत्कृतः ।
तवैव हि जयो नूनं हते मद्रेश्वरे युधि ॥ ३६ ॥

'वीर शल्य अजेय हैं। दुर्योधनने उनका बड़ा सम्मान किया है। युद्धमें मद्रराजके मारे जानेपर निश्चय आपकी ही जीत होगी ॥ ३६ ॥

तस्मिन् हते हतं सर्वं धार्तराष्ट्रबलं महत् ।
एतच्छ्रुत्वा महाराज वचनं मम साम्प्रतम् ॥ ३७ ॥
प्रत्युद्याहि रणे पार्थ मद्रराजं महारथम् ।
जहि चैनं महाबाहो वासवो नमुचिं यथा ॥ ३८ ॥

'महाराज! कुन्तीकुमार! उनके मारे जानेपर आप समझ लें कि दुर्योधनकी सारी विशाल सेना ही मार डाली गयी। इस समय मेरी इस बातको सुनकर महारथी मद्रराजपर चढ़ाई कीजिये और महाबाहो! जैसे इन्द्रने नमुचिका वध किया था, उसी प्रकार आप भी उन्हें मार डालिये ॥ ३७-३८ ॥

न चैवात्र दया कार्या मातुलोऽयं ममेति वै ।
क्षत्रधर्मं पुरस्कृत्य जहि मद्रजनेश्वरम् ॥ ३९ ॥

'ये मेरे मामा हैं' ऐसा समझकर आपको उनपर दया नहीं करनी चाहिये। आप क्षत्रियधर्मको सामने रखते हुए मद्रराज शल्यको मार डालें ॥ ३९ ॥

द्रोणभीष्मार्णवं तीर्त्वा कर्णपातालसम्भवम् ।
मा निमज्जस्व सगणः शल्यमासाद्य गोष्पदम् ॥ ४० ॥

'भीष्म, द्रोण और कर्णरूपी महासागरको पार करके आप अपने सेवकोंसहित शल्यरूपी गायकी खुरीमें न डूब जाइये ॥ ४० ॥

यच्च ते तपसो वीर्यं यच्च क्षात्रं बलं तव ।
तद् दर्शय रणे सर्वं जहि चैनं महारथम् ॥ ४१ ॥

'राजन्! आपका जो तपोबल और क्षात्रबल है, वह सब रणभूमिमें दिखाइये और इन महारथी शल्यको मार डालिये'॥

एतावदुक्त्वा वचनं केशवः परवीरहा ।
जगाम शिबिरं सायं पूज्यमानोऽथ पाण्डवैः ॥ ४२ ॥

शत्रुवीरोंका संहार करनेवाले भगवान् श्रीकृष्ण यह बात कहकर सायंकाल पाण्डवोंसे सम्मानित हो अपने शिविरमें चले गये ॥ ४२ ॥

केशवे तु तदा याते धर्मपुत्रो युधिष्ठिरः ।
विसृज्य सर्वान् भ्रातॄंश्च पञ्चालानथ सोमकान् ॥ ४३ ॥
सुष्वाप रजनीं तां तु विशल्य इव कुञ्जरः ।

श्रीकृष्णके चले जानेपर उस समय धर्मपुत्र युधिष्ठिरने अपने सब भाइयों तथा पाञ्चालों और सोमकोंको भी विदा करके रातमें अङ्कुशरहित हाथीके समान शयन किया ॥ ४३½ ॥

ते च सर्वे महेष्वासाः पञ्चालाः पाण्डवास्तथा ॥ ४४ ॥
कर्णस्य निधने हृष्टाः सुषुपुस्तां निशां तदा ।

वे सभी महाधनुर्धर पाञ्चाल और पाण्डव-योद्धा कर्णके मारे जानेसे हर्षमें भरकर रात्रिमें सुखकी नींद सोये ॥ ४४½ ॥

गतज्वरं महेष्वासं तीर्णपारं महारथम् ॥ ४५ ॥
बभूव पाण्डवेयानां सैन्यं च मुदितं नृप ।
सूतपुत्रस्य निधने जयं लब्ध्वा च मारिष ॥ ४६ ॥

माननीय नरेश! सूतपुत्र कर्णके मारे जानेसे विजय पाकर महान् धनुष एवं विशाल रथोंसे सुशोभित पाण्डव-सेना बहुत प्रसन्न हुई थी, मानो वह युद्धसे पार होकर निश्चिन्त हो गयी हो ॥ ४५-४६ ॥

इति श्रीमहाभारते शल्यपर्वणि शल्यसैनापत्याभिषेके सप्तमोऽध्यायः ॥ ७ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शल्यपर्वमें शल्यका सेनापतिके पदपर अभिषेकविषयक सातवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ७ ॥

अष्टमोऽध्यायः

उभय पक्षकी सेनाओंका समराङ्गणमें उपस्थित होना एवं बची हुई दोनों सेनाओंकी संख्याका वर्णन

संजय उवाच

व्यतीतायां रजन्यां तु राजा दुर्योधनस्तदा ।
अब्रवीत् तावकान् सर्वान् संनह्यन्तां महारथाः ॥ १ ॥

संजय कहते हैं—जब रात व्यतीत हो गयी, तब राजा दुर्योधनने आपके समस्त सैनिकोंसे कहा—'महारथीगण कवच बाँधकर युद्धके लिये तैयार हो जायँ' ॥ १ ॥

राज्ञश्च मतमाज्ञाय समनह्यत सा चमूः।
अयोजयन् रथांस्तूर्णं पर्यधावंस्तथा परे॥ २॥
अकल्प्यन्त च मातङ्गाः समनह्यन्त पत्तयः।
रथानास्तरणोपेतांश्चक्रुरन्ये सहस्रशः॥ ३॥

राजाका यह अभिप्राय जानकर सारी सेना युद्धके लिये सुसज्जित होने लगी। कुछ लोगोंने तुरंत ही रथ जोत दिये। दूसरे चारों ओर दौड़ने लगे। हाथी सुसज्जित किये जाने लगे। पैदल सैनिक कवच बाँधने लगे तथा अन्य सहस्रों सैनिकोंने रथोंपर आवरण डाल दिये॥ २-३॥

वादित्राणां च निनदः प्रादुरासीद् विशाम्पते।
आयोधनार्थं योधानां बलानां चाप्युदीर्यताम्॥ ४॥

प्रजानाथ! उस समय सब ओरसे भाँति-भाँतिके वाद्योंकी गम्भीर ध्वनि प्रकट होने लगी। युद्धके लिये उद्यत योद्धाओं और आगे बढ़ती हुई सेनाओंका महान् कोलाहल सुनायी देने लगा॥ ४॥

ततो बलानि सर्वाणि हतशिष्टानि भारत।
प्रस्थितानि व्यदृश्यन्त मृत्युं कृत्वा निवर्तनम्॥ ५॥

भारत! तत्पश्चात् मरनेसे बची हुई सारी सेनाएँ मृत्युको ही युद्धसे लौटनेका निमित्त बनाकर प्रस्थान करती दिखायी दीं॥ ५॥

शल्यं सेनापतिं कृत्वा मद्रराजं महारथाः।
प्रविभज्य बलं सर्वमनीकेषु व्यवस्थिताः॥ ६॥

समस्त महारथी मद्रराज शल्यको सेनापति बनाकर और सारी सेनाको अनेक भागोंमें विभक्त करके भिन्न-भिन्न दलोंमें खड़े हुए॥ ६॥

ततः सर्वे समागम्य पुत्रेण तव सैनिकाः।
कृपश्च कृतवर्मा च द्रौणिः शल्योऽथ सौबलः॥ ७॥
अन्ये च पार्थिवाः शेषाः समयं चक्रुराद्दताः।

तदनन्तर आपके सम्पूर्ण सैनिक कृपाचार्य, कृतवर्मा, अश्वत्थामा, शल्य, शकुनि तथा बचे हुए अन्य नरेशोंने राजा दुर्योधनसे मिलकर आदरपूर्वक यह नियम बनाया—॥ ७½॥

न न एकेन योद्धव्यं कथञ्चिदपि पाण्डवैः॥ ८॥
यो ह्येकः पाण्डवैर्युध्येद् यो वा युध्यन्तमुत्सृजेत्।
स पञ्चभिर्भवेद् युक्तः पातकैश्चोपपातकैः॥ ९॥

'हमलोगोंमेंसे कोई एक योद्धा अकेला रहकर किसी तरह भी पाण्डवोंके साथ युद्ध न करे। जो अकेला ही पाण्डवोंके साथ युद्ध करेगा अथवा जो पाण्डवोंके साथ जूझते हुए वीरको अकेला छोड़ देगा, वह पाँच पातकों और उपपातकोंसे युक्त होगा॥ ८-९॥

(अद्याचार्यसुतो द्रौणिर्नैको युध्येत शत्रुभिः।)
अन्योन्यं परिरक्षद्भिर्योद्धव्यं सहितैश्च ह।
एवं ते समयं कृत्वा सर्वे तत्र महारथाः॥ १०॥
मद्रराजं पुरस्कृत्य तूर्णमभ्यद्रवन् परान्।

'आज आचार्यपुत्र अश्वत्थामा शत्रुओंके साथ अकेले युद्ध न करें। हम सब लोगोंको एक साथ होकर एक दूसरेकी रक्षा करते हुए युद्ध करना चाहिये। ऐसा नियम बनाकर वे सब महारथी मद्रराज शल्यको आगे करके तुरंत ही शत्रुओंपर टूट पड़े॥ १०½॥

तथैव पाण्डवा राजन् व्यूह्य सैन्यं महारणे॥ ११॥
अभ्ययुः कौरवान् राजन् योत्स्यमानाः समन्ततः।

राजन्! इसी प्रकार उस महासमरमें पाण्डव भी अपनी सेनाका व्यूह बनाकर सब ओरसे युद्धके लिये उद्यत हो कौरवोंपर चढ़ आये॥ ११½॥

तद् बलं भरतश्रेष्ठ क्षुब्धार्णवसमस्वनम्॥ १२॥
समुद्धूतार्णवाकारमुद्धूतरथकुञ्जरम्।

भरतश्रेष्ठ! वह सेना विक्षुब्ध महासागरके समान कोलाहल कर रही थी। उसके रथ और हाथी बड़े वेगसे आगे बढ़ रहे थे, मानो किसी महासमुद्रमें ज्वार उठ रहा हो॥ १२½॥

धृतराष्ट्र उवाच

द्रोणस्य चैव भीष्मस्य राधेयस्य च मे श्रुतम्॥ १३॥
पातनं शंस मे भूयः शल्यस्याथ सुतस्य मे।

धृतराष्ट्र बोले—संजय! मैंने द्रोणाचार्य, भीष्म तथा राधापुत्र कर्णके वधका सारा वृत्तान्त सुन लिया है। अब पुनः मुझे शल्य तथा मेरे पुत्र दुर्योधनके मारे जानेका सारा समाचार कह सुनाओ॥ १३½॥

कथं रणे हतः शल्यो धर्मराजेन संजय॥ १४॥
भीमेन च महाबाहुः पुत्रो दुर्योधनो मम।

संजय! रणभूमिमें राजा शल्य धर्मराजके द्वारा कैसे मारे गये तथा भीमसेनने मेरे महाबाहु पुत्र दुर्योधनका वध कैसे किया?॥ १४½॥

संजय उवाच

क्षयं मनुष्यदेहानां तथा नागाश्वसंक्षयम्॥ १५॥
शृणु राजन् स्थिरो भूत्वा संग्रामं शंसतो मम।

संजयने कहा—राजन्! जहाँ हाथी, घोड़े और मनुष्योंके शरीरोंका महान् संहार हुआ था, उस संग्रामका मैं वर्णन करता हूँ; आप सुस्थिर होकर सुनिये॥ १५½॥

आशा बलवती राजन् पुत्राणां तेऽभवत्तदा॥ १६॥
हते द्रोणे च भीष्मे च सूतपुत्रे च पातिते।
शल्यः पार्थान् रणे सर्वान् निहनिष्यति मारिष॥ १७॥

माननीय नरेश! द्रोणाचार्य, भीष्म तथा सूतपुत्र कर्णके मारे जानेपर आपके पुत्रोंके मनमें यह प्रबल आशा हो गयी कि शल्य रणभूमिमें सम्पूर्ण कुन्तीकुमारोंका वध कर डालेंगे॥ १६-१७॥

तामाशां हृदये कृत्वा समाश्वस्य च भारत।
मद्रराजं च समरे समाश्रित्य महारथम्॥ १८॥
नाथवन्तं तदाऽऽत्मानममन्यन्त सुतास्तव।

भारत! उसी आशाको हृदयमें रखकर आपके पुत्रोंको कुछ आश्वासन मिला और वे समराङ्गणमें महारथी मद्रराज शल्यका आश्रय ले अपने-आपको सनाथ मानने लगे॥ १८½॥

यदा कर्णे हते पार्थाः सिंहनादं प्रचक्रिरे॥ १९॥

तदा तु तावकान् राजन्नाविवेश महद् भयम् ।

राजन्! कर्णके मारे जानेसे प्रसन्न हुए कुन्तीके पुत्र जब सिंहनाद करने लगे, उस समय आपके पुत्रोंके मनमें बड़ा भारी भय समा गया ॥ १९½ ॥

तान् समाश्वास्य योधांस्तु मद्रराजः प्रतापवान् ॥ २० ॥
व्यूह्य व्यूहं महाराज सर्वतोभद्रमृद्धिमत् ।
प्रत्युद्ययौ रणे पार्थान् मद्रराजः प्रतापवान् ॥ २१ ॥
विधुन्वन् कार्मुकं चित्रं भारघ्नं वेगवत्तरम् ।
रथप्रवरमास्थाय सैन्धवाश्वं महारथः ॥ २२ ॥

महाराज! तब प्रतापी महारथी मद्रराज शल्यने उन योद्धाओंको आश्वासन दे समृद्धिशाली सर्वतोभद्रनामक व्यूह बनाकर भारनाशक, अत्यन्त वेगशाली और विचित्र धनुषको कँपाते हुए सिंधी घोड़ोंसे युक्त श्रेष्ठ रथपर आरूढ़ हो पाण्डवोंपर आक्रमण किया ॥ २०-२२ ॥

तस्य सूतो महाराज रथस्थोऽशोभयद् रथम् ।
स तेन संवृतो वीरो रथेनामित्रकर्षणः ॥ २३ ॥
तस्थौ शूरो महाराज पुत्राणां ते भयप्रणुत् ।

राजाधिराज! शल्यके रथपर बैठा हुआ उनका सारथि उस रथकी शोभा बढ़ा रहा था। उस रथसे घिरे हुए शत्रुसूदन शूरवीर राजा शल्य आपके पुत्रोंका भय दूर करते हुए युद्धके लिये खड़े हो गये ॥ २३½ ॥

प्रयाणे मद्रराजोऽभून्मुखं व्यूहस्य दंशितः ॥ २४ ॥
मद्रकैः सहितो वीरैः कर्णपुत्रैश्च दुर्जयैः ।

प्रस्थानकालमें कवचधारी मद्रराज शल्य उस सैन्यव्यूहके मुखस्थानमें थे। उनके साथ मद्रदेशीय वीर तथा कर्णके दुर्जय पुत्र भी थे ॥ २४½ ॥

सव्येऽभूत् कृतवर्मा च त्रिगर्तैः परिवारितः ॥ २५ ॥
गौतमो दक्षिणे पार्श्वे शकैश्च यवनैः सह ।
अश्वत्थामा पृष्ठतोऽभूत् काम्बोजैः परिवारितः ॥ २६ ॥

व्यूहके वामभागमें त्रिगर्तोंसे घिरा हुआ कृतवर्मा खड़ा था। दक्षिण पार्श्वमें शकों और यवनोंकी सेनाके साथ कृपाचार्य थे और पृष्ठभागमें काम्बोजोंसे घिरकर अश्वत्थामा खड़ा था ॥ २५-२६ ॥

दुर्योधनोऽभवन्मध्ये रक्षितः कुरुपुङ्गवैः ।
हयानीकेन महता सौबलश्चापि संवृतः ॥ २७ ॥
प्रययौ सर्वसैन्येन कैतव्यश्च महारथः ।

मध्यभागमें कुरुकुलके प्रमुख वीरोंद्वारा सुरक्षित दुर्योधन और घुड़सवारोंकी विशाल सेनासे घिरा हुआ शकुनि भी था। उसके साथ महारथी उलूक भी सम्पूर्ण सेनासहित युद्धके लिये आगे बढ़ रहा था ॥ २७½ ॥

पाण्डवाश्च महेष्वासा व्यूह्य सैन्यमरिंदमाः ॥ २८ ॥
त्रिधा भूता महाराज तव सैन्यमुपाद्रवन् ।

महाराज! शत्रुओंका दमन करनेवाले महाधनुर्धर पाण्डव भी सेनाका व्यूह बनाकर तीन भागोंमें विभक्त हो आपकी सेनापर चढ़ आये ॥ २८½ ॥

धृष्टद्युम्नः शिखण्डी च सात्यकिश्च महारथः ॥ २९ ॥
शल्यस्य वाहिनीं हन्तुमभिदुद्रुवुराहवे ।

(उन तीनोंके अध्यक्ष थे—) धृष्टद्युम्न, शिखण्डी और महारथी सात्यकि। इन लोगोंने युद्धस्थलमें शल्यकी सेनाका वध करनेके लिये उसपर धावा बोल दिया ॥ २९½ ॥

ततो युधिष्ठिरो राजा स्वेनानीकेन संवृतः ॥ ३० ॥
शल्यमेवाभिदुद्राव जिघांसुर्भरतर्षभः ।

अपनी सेनासे घिरे हुए भरतश्रेष्ठ राजा युधिष्ठिरने शल्यको मार डालनेकी इच्छासे उनपर ही आक्रमण किया ॥ ३०½ ॥

हार्दिक्यं च महेष्वासमर्जुनः शत्रुसैन्यहा ॥ ३१ ॥
संशप्तकगणांश्चैव वेगितोऽभिविदुद्रुवे ।

शत्रुसेनाका संहार करनेवाले अर्जुनने महाधनुर्धर कृतवर्मा तथा संशप्तकगणोंपर बड़े वेगसे आक्रमण किया ॥

गौतमं भीमसेनो वै सोमकाश्च महारथाः ॥ ३२ ॥
अभ्यद्रवन्त राजेन्द्र जिघांसन्तः परान् युधि ।

राजेन्द्र! भीमसेन और महारथी सोमकगणोंने युद्धमें शत्रुओंका संहार करनेकी इच्छासे कृपाचार्यपर धावा बोल दिया ॥

माद्रीपुत्रौ तु शकुनिमुलूकं च महारथम् ॥ ३३ ॥
ससैन्यौ सहसैन्यौ तावुपतस्थतुराहवे ।

सेनासहित माद्रीकुमार नकुल और सहदेव युद्धस्थलमें अपनी सेनाके साथ खड़े हुए महारथी शकुनि और उलूकका सामना करनेके लिये उपस्थित थे ॥ ३३½ ॥

तथैवायुतशो योधास्तावकाः पाण्डवान् रणे ॥ ३४ ॥
अभ्यवर्तन्त संक्रुद्धा विविधायुधपाणयः ।

इसी प्रकार रणभूमिमें नाना प्रकारके अस्त्र-शस्त्र लिये क्रोधमें भरे हुए आपके पक्षके दस हजार योद्धा पाण्डवोंका सामना करने लगे ॥ ३४½ ॥

धृतराष्ट्र उवाच

हते भीष्मे महेष्वासे द्रोणे कर्णे महारथे ॥ ३५ ॥
कुरुष्वल्पावशिष्टेषु पाण्डवेषु च संयुगे ।
सुसंरब्धेषु पार्थेषु पराक्रान्तेषु संजय ॥ ३६ ॥
मामकानां परेषां च किं शिष्टमभवद् बलम् ।

धृतराष्ट्रने पूछा—संजय! महाधनुर्धर भीष्म, द्रोण तथा महारथी कर्णके मारे जानेपर जब युद्धस्थलमें कौरव और पाण्डवयोद्धा थोड़े-से ही बच गये थे और कुन्तीके पुत्र अत्यन्त कुपित होकर पराक्रम दिखाने लगे थे, उस समय मेरे और शत्रुओंके पक्षमें कितनी सेना शेष रह गयी थी? ॥ ३६½ ॥

संजय उवाच

यथा वयं परे राजन् युद्धाय समुपस्थिताः ॥ ३७ ॥
यावच्चासीद् बलं शिष्टं संग्रामे तन्निबोध मे ।

संजयने कहा—राजन्! हम और हमारे शत्रु जिस प्रकार युद्धके लिये उपस्थित हुए और उस समय संग्राममें हमलोगोंके पास जितनी सेना शेष रह गयी थी, वह सब बताता हूँ, सुनिये ॥ ३७½ ॥

एकादश सहस्राणि रथानां भरतर्षभ ॥ ३८ ॥

दश दन्तिसहस्राणि सप्त चैव शतानि च।
पूर्णे शतसहस्रे द्वे हयानां तत्र भारत ॥ ३९ ॥
पत्तिकोट्यस्तथा तिस्रो बलमेतत्तवाभवत्।

भरतश्रेष्ठ ! आपके पक्षमें ग्यारह हजार रथ, दस हजार सात सौ हाथी, दो लाख घोड़े तथा तीन करोड़ पैदल—इतनी सेना शेष रह गयी थी ॥ ३८-३९½ ॥

रथानां षट्सहस्राणि षट्सहस्राश्च कुञ्जराः ॥ ४० ॥
दश चाश्वसहस्राणि पत्तिकोटी च भारत।
एतद् बलं पाण्डवानामभवच्छेषमाहवे ॥ ४१ ॥

भारत ! उस युद्धमें पाण्डवोंके पास छः हजार रथ, छः हजार हाथी, दस हजार घोड़े और दो करोड़ पैदल—इतनी सेना शेष थी ॥ ४०-४१ ॥

एत एव समाजग्मुर्युद्धाय भरतर्षभ।
एवं विभज्य राजेन्द्र मद्रराजवशे स्थिताः ॥ ४२ ॥
पाण्डवान् प्रत्युदीयुस्ते जयगृद्धाः प्रमन्यवः।

भरतश्रेष्ठ ! ये ही सैनिक युद्धके लिये उपस्थित हुए थे। राजेन्द्र ! इस प्रकार सेनाका विभाग करके विजयकी अभिलाषासे क्रोधमें भरे हुए आपके सैनिक मद्रराज शल्यके अधीन हो पाण्डवोंपर चढ़ आये ॥ ४२½ ॥

तथैव पाण्डवाः शूराः समरे जितकाशिनः ॥ ४३ ॥
उपयाता नरव्याघ्राः पञ्चालाश्च यशस्विनः।

इसी प्रकार समराङ्गणमें विजयसे सुशोभित होनेवाले शूरवीर पुरुषसिंह पाण्डव और यशस्वी पाञ्चाल वीर आपकी सेनाके समीप आ पहुँचे ॥ ४३½ ॥

इमे ते च बलौघेन परस्परवधैषिणः ॥ ४४ ॥
उपयाता नरव्याघ्राः पूर्वां संध्यां प्रति प्रभो।

प्रभो ! इस प्रकार परस्पर वधकी इच्छावाले ये और वे पुरुषसिंह योद्धा प्रातःकाल एक दूसरेके निकट आये ॥४४½॥

ततः प्रववृते युद्धं घोररूपं भयानकम्।
तावकानां परेषां च निघ्नतामितरेतरम् ॥ ४५ ॥

फिर तो परस्पर प्रहार करते हुए आपके और शत्रु-पक्षके सैनिकोंमें अत्यन्त भयानक घोर युद्ध छिड़ गया ॥ ४५ ॥

इति श्रीमहाभारते शल्यपर्वणि व्यूहनिर्माणेऽष्टमोऽध्यायः ॥ ८ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शल्यपर्वमें व्यूह-निर्माणविषयक आठवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ८ ॥
(दाक्षिणात्य अधिक पाठका ½ श्लोक मिलाकर कुल ४५½ श्लोक हैं)

नवमोऽध्यायः

उभय पक्षकी सेनाओंका घमासान युद्ध और कौरव-सेनाका पलायन

संजय उवाच

ततः प्रववृते युद्धं कुरूणां भयवर्धनम्।
सृंजयैः सह राजेन्द्र घोरं देवासुरोपमम् ॥ १ ॥

संजय कहते हैं—राजेन्द्र ! तदनन्तर कौरवोंका सृंजयोंके साथ घोर युद्ध आरम्भ हो गया, जो देवासुर-संग्रामके समान भय बढ़ानेवाला था ॥ १ ॥

नरा रथा गजौघाश्च सादिनश्च सहस्रशः।
वाजिनश्च पराक्रान्ताः समाजग्मुः परस्परम् ॥ २ ॥

पैदल, रथी, हाथीसवार तथा सहस्रों घुड़सवार पराक्रम दिखाते हुए एक दूसरेसे भिड़ गये ॥ २ ॥

गजानां भीमरूपाणां द्रवतां निःस्वनो महान्।
अश्रूयत यथा काले जलदानां नभस्तले ॥ ३ ॥

जैसे वर्षाकालके आकाशमें मेघोंकी गम्भीर गर्जना होती रहती है, उसी प्रकार रणभूमिमें दौड़ लगाते हुए भीमकाय गजराजोंका महान् कोलाहल सुनायी देने लगा ॥ ३ ॥

नागैरभ्याहताः केचित् सरथा रथिनोऽपतन्।
व्यद्रवन्त रणे वीरा द्राव्यमाणा मदोत्कटैः ॥ ४ ॥

मदोन्मत्त हाथियोंके आघातसे कितने ही रथी रथसहित धरतीपर लोट गये। बहुत-से वीर उनसे खदेड़े जाकर इधर-उधर भागने लगे ॥ ४ ॥

हयौघान् पादरक्षांश्च रथिनस्तत्र शिक्षिताः।
शरैः सम्प्रेषयामासुः परलोकाय भारत ॥ ५ ॥

भारत ! उस युद्धस्थलमें शिक्षाप्राप्त रथियोंने घुड़सवारों तथा पादरक्षकोंको अपने बाणोंसे मारकर यमलोक भेज दिया॥

सादिनः शिक्षिता राजन् परिवार्य महारथान्।
विचरन्तो रणेऽभ्यघ्नन् प्रासशक्त्यृष्टिभिस्तथा ॥ ६ ॥

राजन् ! रणभूमिमें विचरते हुए बहुत-से सुशिक्षित घुड़सवार बड़े-बड़े रथोंको घेरकर उनपर प्रास, शक्ति तथा ऋष्टियोंका प्रहार करने लगे ॥ ६ ॥

धन्विनः पुरुषाः केचित् परिवार्य महारथान्।
एकं बहव आसाद्य प्रययुर्यमसादनम् ॥ ७ ॥

कितने ही धनुर्धर पुरुष महारथियोंको घेर लेते और एक-एकपर बहुत-से योद्धा आक्रमण करके उसे यमलोक पहुँचा देते थे ॥ ७ ॥

नागान् रथवरांश्चान्ये परिवार्य महारथाः।
सान्तरायोधिनं जघ्नुर्द्रवमाणं महारथम् ॥ ८ ॥

अन्य महारथी कितने ही हाथियों और श्रेष्ठ रथियोंको घेर लेते और किसीकी ओटमें युद्ध करनेवाले भागते हुए महारथीको मार डालते थे ॥ ८ ॥

तथा च रथिनं क्रुद्धं विकिरन्तं शरान् बहून्।
नागा जघ्नुर्महाराज परिवार्य समन्ततः ॥ ९ ॥

महाराज ! कई हाथियोंने क्रोधपूर्वक बहुत-से बाणोंकी वर्षा करनेवाले किसी रथीको सब ओरसे घेरकर मार डाला॥

नागो नागमभिद्रुत्य रथी च रथिनं रणे।
शक्तितोमरनाराचैर्निजघ्ने तत्र भारत ॥ १० ॥

भारत ! वहाँ रणभूमिमें एक हाथीसवार दूसरे हाथी-

मारकर और एक रथी दूसरे रथीपर आक्रमण करके शक्ति, तोमर और नाराचोंकी मारसे उसे यमलोक पहुँचा देता था ॥

पादातानवमृद्नन्तो रथवारणवाजिनः।
रणमध्ये व्यदृश्यन्त कुर्वन्तो महदाकुलम् ॥ ११ ॥

समराङ्गणके बीच बहुत-से रथ, हाथी और घोड़े पैदल योद्धाओंको कुचलते तथा सबको अत्यन्त व्याकुल करते हुए दृष्टिगोचर होते थे ॥ ११ ॥

हयाश्च पर्यधावन्त चामरैरुपशोभिताः।
हंसा हिमवतः प्रस्थे पिबन्त इव मेदिनीम् ॥ १२ ॥

जैसे हिमालयके शिखरकी चौरस भूमिपर रहनेवाले हंस नीचे पृथ्वीपर जल पीनेके लिये तीव्र गतिसे उड़ते हुए जाते हैं, उसी प्रकार चामरशोभित अश्व वहाँ सब ओर बड़े वेगसे दौड़ लगा रहे थे ॥ १२ ॥

तेषां तु वाजिनां भूमिः खुरैश्चित्रा विशाम्पते।
अशोभत यथा नारी करजैः क्षतविक्षता ॥ १३ ॥

प्रजानाथ ! उन घोड़ोंकी टापोंसे खुदी हुई भूमि प्रियतमके नखोंसे क्षत-विक्षत हुई नारीके समान विचित्र शोभा धारण करती थी ॥ १३ ॥

वाजिनां खुरशब्देन रथनेमिस्वनेन च।
पत्तीनां चापि शब्देन नागानां बृंहितेन च ॥ १४ ॥
वादित्राणां च घोषेण शङ्खानां निनदेन च।
अभवन्नादिता भूमिर्निर्घातैरिव भारत ॥ १५ ॥

भारत! घोड़ोंकी टापोंके शब्द, रथके पहियोंकी घर्घराहट, पैदल योद्धाओंके कोलाहल, हाथियोंकी गर्जना तथा वाद्योंके गम्भीर घोष और शङ्खोंकी ध्वनिसे प्रतिध्वनित हुई यह पृथ्वी वज्रपातकी आवाजसे गूँजती हुई-सी प्रतीत होती थी ॥

धनुषां कूजमानानां शस्त्रौघानां च दीप्यताम्।
कवचानां प्रभाभिश्च न प्राज्ञायत किञ्चन ॥ १६ ॥

टंकारते हुए धनुष, दमकते हुए अस्त्र-शस्त्रोंके समुदाय तथा कवचोंकी प्रभासे चकाचौंधके कारण कुछ भी सूझ नहीं पड़ता था ॥ १६ ॥

बहवो बाहवश्छिन्ना नागराजकरोपमाः।
उद्वेष्टन्ते विवेष्टन्ते वेगं कुर्वन्ति दारुणम् ॥ १७ ॥

हाथीकी सूँड़के समान बहुत-सी भुजाएँ कटकर धरतीपर उछलती, लोटती और भयंकर वेग प्रकट करती थीं ॥१७॥

शिरसां च महाराज पततां धरणीतले।
च्युतानामिव तालेभ्यस्तालानां श्रूयते स्वनः ॥ १८ ॥

महाराज ! पृथ्वीपर गिरते हुए मस्तकोंका शब्द, ताड़के वृक्षोंसे चूकर गिरे हुए फलोंके धमाकेकी आवाजके समान सुनायी देता था ॥ १८ ॥

शिरोभिः पतितैर्भाति रुधिरार्द्रैर्वसुन्धरा।
तपनीयनिभैः काले नलिनैरिव भारत ॥ १९ ॥

भारत ! गिरे हुए रक्तरञ्जित मस्तकोंसे इस पृथ्वीकी ऐसी शोभा हो रही थी, मानो वहाँ सुवर्णमय कमल बिछाये गये हों ॥ १९॥

उद्वृत्तनयनैस्तैस्तु गतसत्त्वैः सुविक्षतैः।
व्यभ्राजत मही राजन् पुण्डरीकैरिवावृता ॥ २० ॥

राजन् ! खुले नेत्रोंवाले प्राणशून्य घायल मस्तकोंसे ढकी हुई पृथ्वी लाल कमलोंसे आच्छादित हुई-सी शोभा पाती थी ॥ २० ॥

बाहुभिश्चन्दनादिग्धैः सकेयूरैर्महाधनैः।
पतितैर्भाति राजेन्द्र महाशक्रध्वजैरिव ॥ २१ ॥

राजेन्द्र ! बाजूबंद तथा दूसरे बहुमूल्य आभूषणोंसे विभूषित, चन्दनचर्चित भुजाएँ कटकर पृथ्वीपर गिरी थीं, जो महान् इन्द्रध्वजके समान जान पड़ती थीं। उनके द्वारा रणभूमिकी अपूर्व शोभा हो रही थी ॥ २१ ॥

ऊरुभिश्च नरेन्द्राणां विनिकृत्तैर्महाहवे।
हस्तिहस्तोपमैरन्यैः संवृतं तद् रणाङ्गणम् ॥ २२॥

उस महासमरमें कटी हुई नरेशोंकी जाँघें हाथीकी सूँड़ोंके समान प्रतीत होती थी। उनके द्वारा वह सारा समराङ्गण पट गया था ॥ २२ ॥

कबन्धशतसंकीर्णं छत्रचामरसंकुलम्।
सेनावनं तच्छुशुभे वनं पुष्पाचितं यथा ॥ २३ ॥

वहाँ सैकड़ों कबन्ध सब ओर बिखरे पड़े थे। छत्र और चँवर भरे हुए थे। उन सबसे वह सेनारूपी वन फूलोंसे व्याप्त हुए विशाल विपिनके समान सुशोभित होता था ॥२३॥

तत्र योधा महाराज विचरन्तो ह्यभीतवत्।
दृश्यन्ते रुधिराक्ताङ्गाः पुष्पिता इव किंशुकाः ॥ २४ ॥

महाराज ! वहाँ खूनसे लथपथ शरीर लेकर निर्भय-से विचरनेवाले योद्धा फूले हुए पलाशवृक्षोंके समान दिखायी देते थे ॥ २४ ॥

मातङ्गाश्चाप्यदृश्यन्त शरतोमरपीडिताः।
पतन्तस्तत्र तत्रैव छिन्नाभ्रसदृशा रणे ॥ २५ ॥

रणभूमिमें बाणों और तोमरोंकी मारसे पीड़ित हो जहाँ-तहाँ गिरते हुए मतवाले हाथी भी कटे हुए बादलोंके समान दिखायी देते थे ॥ २५ ॥

गजानीकं महाराज वध्यमानं महात्मभिः।
व्यदीर्यत दिशः सर्वा वातनुन्ना घना इव ॥ २६ ॥

महाराज ! वायुके वेगसे छिन्न-भिन्न हुए बादलोंके समान महामनस्वी वीरोंके बाणोंसे घायल हुई गजसेना सम्पूर्ण दिशाओंमें विदीर्ण हो रही थी ॥ २६ ॥

ते गजा घनसंकाशाः पेतुरुर्व्यां समन्ततः।
वज्रनुन्ना इव बभुः पर्वता युगसंक्षये ॥ २७ ॥

मेघोंकी घटाके समान प्रतीत होनेवाले हाथी चारों ओरसे पृथ्वीपर पड़े थे, जो प्रलयकालमें वज्रके आघातसे विदीर्ण होकर गिरे हुए पर्वतोंके समान प्रतीत होते थे ॥ २७ ॥

हयानां सादिभिः सार्धं पतितानां महीतले।
राशयः स्म प्रदृश्यन्ते गिरिमात्रास्ततस्ततः ॥ २८ ॥

सवारोंसहित धरतीपर गिरे हुए घोड़ोंके पहाड़ों-जैसे ढेर यत्र-तत्र दृष्टिगोचर होते थे ॥ २८ ॥

संजज्ञे रणभूमौ तु परलोकवहा नदी।
शोणितोदा रथावर्ता ध्वजवृक्षास्थिशर्करा॥ २९॥
भुजनक्रा धनुःस्रोता हस्तिशैला हयोपला।
मेदोमज्जाकर्दमिनी छत्रहंसा गदोडुपा॥ ३०॥
कवचोष्णीषसंछन्ना पताकारुचिरद्रुमा।
चक्रचक्रावलीजुष्टा त्रिवेणूरगसंवृता॥ ३१॥

उस समय रणभूमिमें एक रक्तकी नदी बह चली, जो परलोककी ओर प्रवाहित होनेवाली थी। रक्त ही उसका जल था, रथ भँवरके समान प्रतीत होते थे, ध्वज तटवर्ती वृक्षके समान जान पड़ते थे, हड्डियाँ कंकड़-पत्थरोंका भ्रम उत्पन्न करती थीं, कटी हुई भुजाएँ नाकोंके समान दिखायी देती थीं, धनुष उसके स्रोत थे, हाथी पार्श्ववर्ती पर्वत और घोड़े प्रस्तर-खण्डके तुल्य थे, मेदा और मज्जा ये ही उसके पङ्क थे, छत्र हंस थे, गदाएँ नौका जान पड़ती थीं, कवच और पगड़ी आदि वस्तुएँ सेवारके समान उस नदीके जलको आच्छादित किये हुए थीं, पताकाएँ सुन्दर वृक्ष-सी दिखायी देती थीं, चक्र (पहिये) चक्रवाकोंके समूहकी भाँति उस नदीका सेवन करते थे और त्रिवेणुरूपी सर्प उसमें भरे हुए थे॥ २९-३१॥

शूराणां हर्षजननी भीरूणां भयवर्धनी।
प्रावर्तत नदी रौद्रा कुरुसृञ्जयसंकुला॥ ३२॥

वह भयंकर नदी शूरवीरोंके लिये हर्षजनक तथा कायरोंके लिये भय बढ़ानेवाली थी। कौरवों और संजयोंके समुदायसे वह व्याप्त हो रही थी॥ ३२॥

तां नदीं परलोकाय वहन्तीमतिभैरवाम्।
तेरुर्वाहननौभिस्तैः शूराः परिघबाहवः॥ ३३॥

परलोककी ओर ले जानेवाली उस अत्यन्त भयंकर नदीको परिघ-जैसी मोटी भुजाओंवाले शूरवीर योद्धा अपने-अपने वाहनरूपी नौकाओंद्वारा पार करते थे॥ ३३॥

वर्तमाने तदा युद्धे निर्मर्यादे विशाम्पते।
चतुरङ्गक्षये घोरे पूर्वदेवासुरोपमे॥ ३४॥
व्याक्रोशन् बान्धवानन्ये तत्र तत्र परंतप।
क्रोशद्भिर्दयितैरन्ये भयार्ता न निवर्तिरे॥ ३५॥

प्रजानाथ! परंतप! प्राचीन देवासुर-संग्रामके समान चतुरङ्गिणी सेनाका विनाश करनेवाला वह मर्यादाशून्य घोर युद्ध जब चलने लगा; तब भयसे पीड़ित हुए कितने ही सैनिक अपने बन्धु-बान्धवोंको पुकारने लगे और बहुत-से योद्धा प्रियजनोंके पुकारनेपर भी पीछे नहीं लौटते थे॥ ३४-३५॥

निर्मर्यादे तथा युद्धे वर्तमाने भयानके।
अर्जुनो भीमसेनश्च मोहयांचक्रतुः परान्॥ ३६॥

इस प्रकार वह भयानक युद्ध सारी मर्यादाको तोड़कर चल रहा था। उस समय अर्जुन और भीमसेनने शत्रुओंको मूर्छित कर दिया था॥ ३६॥

सा वध्यमाना महती सेना तव नराधिप।
अमुह्यत् तत्र तत्रैव योषिन्मदवशादिव॥ ३७॥

नरेश्वर! उनकी मार पड़नेसे आपकी विशाल सेना मदमत्त युवतीकी भाँति जहाँकी तहाँ बेहोश हो गयी॥ ३७॥

मोहयित्वा च तां सेनां भीमसेनधनंजयौ।
दध्मतुर्वारिजौ तत्र सिंहनादांश्च चक्रतुः॥ ३८॥

उस कौरवसेनाको मूर्छित करके भीमसेन और अर्जुन शङ्ख बजाने तथा सिंहनाद करने लगे॥ ३८॥

श्रुत्वैव तु महाशब्दं धृष्टद्युम्नशिखण्डिनौ।
धर्मराजं पुरस्कृत्य मद्रराजमभिद्रुतौ॥ ३९॥

उस महान् शब्दको सुनते ही धृष्टद्युम्न और शिखण्डीने धर्मराज युधिष्ठिरको आगे करके मद्रराज शल्यपर धावा कर दिया॥ ३९॥

तत्राश्चर्यमपश्याम घोररूपं विशाम्पते।
शल्येन सङ्गताः शूरा यदयुध्यन्त भागशः॥ ४०॥

प्रजानाथ! वहाँ हमने यह भयंकर आश्चर्यकी बात देखी कि पृथक्-पृथक् दल बनाकर आये हुए सभी शूरवीर अकेले शल्यके साथ ही जूझते रहे॥ ४०॥

माद्रीपुत्रौ तु रभसौ कृतास्त्रौ युद्धदुर्मदौ।
अभ्ययातां त्वरायुक्तौ जिगीषन्तौ परंतप॥ ४१॥

शत्रुओंको संताप देनेवाले नरेश! अस्त्रोंके ज्ञाता, रणदुर्मद और वेगशाली वीर माद्रीकुमार नकुल-सहदेव विजयकी अभिलाषा लेकर बड़ी उतावलीके साथ राजा शल्यपर चढ़ आये॥ ४१॥

ततो न्यवर्तत बलं तावकं भरतर्षभ।
शरैः प्रणुन्नं बहुधा पाण्डवैर्जितकाशिभिः॥ ४२॥

भरतश्रेष्ठ! विजयसे उल्लसित होनेवाले पाण्डवोंने अपने बाणोंकी मारसे आपकी सेनाको बारंबार घायल किया॥४२॥

वध्यमाना चमूः सा तु पुत्राणां प्रेक्षतां तव।
भेजे दिशो महाराज प्रणुन्ना शरवृष्टिभिः॥ ४३॥

महाराज! इस प्रकार चोट सहती हुई वह सेना बाणोंकी वर्षासे क्षत-विक्षत हो आपके पुत्रोंके देखते-देखते सम्पूर्ण दिशाओंमें भाग चली॥ ४३॥

हाहाकारो महाञ्जज्ञे योधानां तव भारत।
तिष्ठ तिष्ठेति चाप्यासीद् द्रावितानां महात्मनाम्॥४४॥

भरतनन्दन! वहाँ आपके योद्धाओंमें महान् हाहाकार मच गया। भागे हुए योद्धाओंके पीछे महामनस्वी पाण्डव वीरोंकी 'ठहरो, ठहरो' की आवाज सुनायी देने लगी॥४४॥

क्षत्रियाणां तदान्योन्यं संयुगे जयमिच्छताम्।
प्राद्रवन्नेव सम्भग्नाः पाण्डवैस्तव सैनिकाः॥ ४५॥
त्यक्त्वा युद्धे प्रियान् पुत्रान् भ्रातॄनथ पितामहान्।
मातुलान् भागिनेयांश्च वयस्यानपि भारत॥ ४६॥

भारत! युद्धमें परस्पर विजयकी अभिलाषा रखनेवाले क्षत्रियोंमेंसे पाण्डवोंद्वारा पराजित होकर आपके सैनिक युद्धमें अपने प्यारे पुत्रों, भाइयों, पितामहों, मामाओं, भानजों और मित्रोंको भी छोड़कर भाग गये॥ ४५-४६॥

हयान् द्विपांस्त्वरयन्तो योधा जग्मुः समन्ततः।

आत्मत्राणकृतोत्साहास्तावका भरतर्षभ ॥ ४७ ॥

भरतश्रेष्ठ ! अपनी रक्षामात्रके लिये उत्साह रखनेवाले आपके सैनिक घोड़ों और हाथियोंको तीव्र गतिसे हाँकते हुए सब ओर भाग चले ॥ ४७ ॥

इति श्रीमहाभारते शल्यपर्वणि संकुलयुद्धे नवमोऽध्यायः ॥ ९ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शल्यपर्वमें संकुलयुद्धविषयक नवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ९ ॥

दशमोऽध्यायः

नकुलद्वारा कर्णके तीन पुत्रोंका वध तथा उभयपक्षकी सेनाओंका भयानक युद्ध

संजय उवाच

तत् प्रभग्नं बलं दृष्ट्वा मद्रराजः प्रतापवान्।
उवाच सारथिं तूर्णं चोदयाश्वान् महाजवान् ॥ १ ॥

संजय कहते हैं—राजन् ! उस सेनाको इस तरह भागती देख प्रतापी मद्रराज शल्यने अपने सारथिसे कहा—'सूत ! मेरे महावेगशाली घोड़ोंको शीघ्रतापूर्वक आगे बढ़ाओ॥

एष तिष्ठति वै राजा पाण्डुपुत्रो युधिष्ठिरः।
छत्रेण ध्रियमाणेन पाण्डुरेण विराजता ॥ २ ॥

'देखो, ये सामने मस्तकपर शोभाशाली श्वेत छत्र लगाये हुए पाण्डुपुत्र राजा युधिष्ठिर खड़े हैं ॥ २ ॥

अत्र मां प्रापय क्षिप्रं पश्य मे सारथे बलम्।
न समर्थो हि मे पार्थः स्थातुमद्य पुरो युधि ॥ ३ ॥

'सारथे ! मुझे शीघ्र उनके पास पहुँचा दो। फिर मेरा बल देखो। आज युद्धमें कुन्तीकुमार युधिष्ठिर मेरे सामने कदापि नहीं ठहर सकते' ॥ ३ ॥

एवमुक्तस्ततः प्रायान्मद्रराजस्य सारथिः।
यत्र राजा सत्यसंधो धर्मपुत्रो युधिष्ठिरः ॥ ४ ॥

उनके ऐसा कहनेपर मद्रराजका सारथि वहीं जा पहुँचा, जहाँ सत्यप्रतिज्ञ धर्मपुत्र युधिष्ठिर खड़े थे ॥ ४ ॥

प्रापतत् तच्च सहसा पाण्डवानां महद् बलम्।
दधारैको रणे शल्यो वेलोद्वृत्तमिवार्णवम् ॥ ५ ॥

साथ ही पाण्डवोंकी वह विशाल सेना भी सहसा वहाँ आ पहुँची। परंतु जैसे तट उमड़ते हुए समुद्रको रोक देता है, उसी प्रकार अकेले राजा शल्यने रणभूमिमें उस सेनाको आगे बढ़नेसे रोक दिया ॥ ५ ॥

पाण्डवानां बलौघस्तु शल्यमासाद्य मारिष।
व्यतिष्ठत तदा युद्धे सिन्धोर्वेग इवाचलम् ॥ ६ ॥

माननीय नरेश ! जैसे किसी नदीका वेग किसी पर्वतके पास पहुँचकर अवरुद्ध हो जाता है, उसी प्रकार पाण्डवोंकी सेनाका वह समुदाय युद्धमें राजा शल्यके पास पहुँचकर खड़ा हो गया ॥ ६ ॥

मद्रराजं तु समरे दृष्ट्वा युद्धाय धिष्ठितम्।
कुरवः संन्यवर्तन्त मृत्युं कृत्वा निवर्तनम् ॥ ७ ॥

समराङ्गणमें मद्रराज शल्यको युद्धके लिये डटा हुआ देख कौरव-सैनिक मृत्युको ही युद्धसे निवृत्तिकी सीमा नियत करके पुनः रणभूमिमें लौट आये ॥ ७ ॥

तेषु राजन् निवृत्तेषु व्यूढानीकेषु भागशः।
प्रावर्तत महारौद्रः संग्रामः शोणितोदकः ॥ ८ ॥

राजन् ! पृथक्-पृथक् सेनाओंकी व्यूह-रचना करके जब वे सभी सैनिक लौट आये, तब दोनों दलोंमें महाभयंकर संग्राम छिड़ गया, जहाँ पानीकी तरह खून बहाया जा रहा था ॥ ८ ॥

समार्च्छच्चित्रसेनं तु नकुलो युद्धदुर्मदः।
तौ परस्परमासाद्य चित्रकार्मुकधारिणौ ॥ ९ ॥
मेघाविव यथोद्वृत्तौ दक्षिणोत्तरवर्षिणौ।
शरतोयैः सिषिचतुस्तौ परस्परमाहवे ॥ १० ॥

इसी समय रणदुर्मद नकुलने कर्णपुत्र चित्रसेनपर आक्रमण किया। विचित्र धनुष धारण करनेवाले वे दोनों वीर एक-दूसरेसे भिड़कर दक्षिण तथा उत्तरकी ओरसे आये हुए दो बड़े जलवर्षक मेघोंके समान परस्पर बाणरूपी जलकी बौछार करने लगे ॥ ९-१० ॥

नान्तरं तत्र पश्यामि पाण्डवस्येतरस्य च।
उभौ कृतास्त्रौ बलिनौ रथचर्याविशारदौ ॥ ११ ॥
परस्परवधे यत्तौ छिद्रान्वेषणतत्परौ।

उस समय वहाँ पाण्डुपुत्र नकुल और कर्णकुमार चित्रसेनमें मुझे कोई अन्तर नहीं दिखायी देता था। दोनों ही अस्त्र-शस्त्रोंके विद्वान्, बलवान् तथा रथयुद्धमें कुशल थे। परस्पर घातमें लगे हुए वे दोनों वीर एक-दूसरेके छिद्र (प्रहारके योग्य अवसर) ढूँढ़ रहे थे ॥ ११½ ॥

चित्रसेनस्तु भल्लेन पीतेन निशितेन च ॥ १२ ॥
नकुलस्य महाराज मुष्टिदेशेऽच्छिनद् धनुः।

महाराज ! इतनेहीमें चित्रसेनने एक पानीदार पैने भल्लके द्वारा नकुलके धनुषको मुट्ठी पकड़नेकी जगहसे काट दिया ॥

अथैनं छिन्नधन्वानं रुक्मपुङ्खैः शिलाशितैः ॥ १३ ॥
त्रिभिः शरैरसम्भ्रान्तो ललाटे वै समार्पयत्।

धनुष कट जानेपर उनके ललाटमें शिलापर तेज किये हुए सुनहरे पंखवाले तीन बाणोंद्वारा गहरी चोट पहुँचायी। उस समय चित्रसेनके चित्तमें तनिक भी घबराहट नहीं हुई ॥

हयांश्चास्य शरैस्तीक्ष्णैः प्रेषयामास मृत्यवे ॥ १४ ॥
तथा ध्वजं सारथिं च त्रिभिस्त्रिभिरपातयत्।

उसने अपने तीखे बाणोंद्वारा नकुलके घोड़ोंको भी मृत्युके हवाले कर दिया तथा तीन-तीन बाणोंसे उनके ध्वज और सारथिको भी काट गिराया ॥ १४½ ॥

स शत्रुभुजनिर्मुक्तैर्ललाटस्थैस्त्रिभिः शरैः ॥ १५ ॥
नकुलः शुशुभे राजंस्त्रिशृङ्ग इव पर्वतः।

राजन् ! शत्रुकी भुजाओंसे छूटकर ललाटमें धँसे हुए उन तीन बाणोंके द्वारा नकुल तीन शिखरोंवाले पर्वतके समान

शोभा पाने लगे ॥ १५½ ॥

स च्छिन्नधन्वा विरथः खड्गमादाय चर्म च ॥ १६ ॥
रथादवातरद् वीरः शैलाग्रादिव केसरी ।

धनुष कट जानेपर रथहीन हुए वीर नकुल हाथमें ढाल-तलवार लेकर पर्वतके शिखरसे उतरनेवाले सिंहके समान रथसे नीचे आ गये ॥ १६½ ॥

पद्भ्यामापततस्तस्य शरवृष्टिं समासृजत् ॥ १७ ॥
नकुलोऽप्यग्रसत् तां वै चर्मणा लघुविक्रमः ।

उस समय चित्रसेन पैदल आक्रमण करनेवाले नकुलके ऊपर बाणोंकी वृष्टि करने लगा । परंतु शीघ्रतापूर्वक पराक्रम प्रकट करनेवाले नकुलने ढालके द्वारा ही रोककर उस बाण-वर्षाको नष्ट कर दिया ॥ १७½ ॥

चित्रसेनरथं प्राप्य चित्रयोधी जितश्रमः ॥ १८ ॥
आरुरोह महाबाहुः सर्वसैन्यस्य पश्यतः ।

विचित्र रीतिसे युद्ध करनेवाले महाबाहु नकुल परिश्रम-को जीत चुके थे । वे सारी सेनाके देखते-देखते चित्रसेनके रथके समीप जा उसपर चढ़ गये ॥ १८½ ॥

सकुण्डलं समुकुटं सुनसं स्वायतेक्षणम् ॥ १९ ॥
चित्रसेनशिरः कायादपाहरत पाण्डवः ।

तत्पश्चात् पाण्डुकुमारने सुन्दर नासिका और विशाल नेत्रोंसे युक्त कुण्डल और मुकुटसहित चित्रसेनके मस्तकको धड़से काट लिया ॥ १९½ ॥

स पपात रथोपस्थे दिवाकरसमद्युतिः ॥ २० ॥
चित्रसेनं विशस्तं तु दृष्ट्वा तत्र महारथाः ।
साधुवादस्वनांश्चक्रुः सिंहनादांश्च पुष्कलान् ॥ २१ ॥

सूर्यके समान तेजस्वी चित्रसेन रथके पिछले भागमें गिर पड़ा । चित्रसेनको मारा गया देख वहाँ खड़े हुए पाण्डव महारथी नकुलको साधुवाद देने और प्रचुरमात्रामें सिंहनाद करने लगे ॥ २०-२१ ॥

विशस्तं भ्रातरं दृष्ट्वा कर्णपुत्रौ महारथौ ।
सुषेणः सत्यसेनश्च मुञ्चन्तौ विविधाञ्शरान् ॥ २२ ॥
ततोऽभ्यधावतां तूर्णं पाण्डवं रथिनां वरम् ।

अपने भाईको मारा गया देख कर्णके दो महारथी पुत्र सुषेण और सत्यसेन नाना प्रकारके बाणोंकी वर्षा करते हुए रथियोंमें श्रेष्ठ पाण्डुपुत्र नकुलपर तुरंत ही चढ़ आये ।२२½।

जिघांसन्तौ यथा नागं व्याघ्रौ राजन् महावने ॥ २३ ॥
तावभ्यधावतां तीक्ष्णौ द्वावप्येनं महारथम् ।
शरौघान् सम्यगस्यन्तौ जीमूतौ सलिलं यथा ॥ २४ ॥

राजन् ! जैसे विशाल वनमें दो व्याघ्र किसी एक हाथी-को मार डालनेकी इच्छासे उसकी ओर दौड़ें, उसी प्रकार तीखे स्वभाववाले वे दोनों भाई इन महारथी नकुलपर अपने बाणसमूहोंकी वर्षा करने लगे, मानो दो मेघ पानीकी धारावाहिक वृष्टि करते हों ॥ २३-२४ ॥

स शरैः सर्वतो विद्धः प्रहृष्ट इव पाण्डवः ।
अन्यत् कार्मुकमादाय रथमारुह्य वेगवान् ॥ २५ ॥
अतिष्ठत रणे वीरः क्रुद्धरूप इवान्तकः ।

सब ओरसे बाणोंद्वारा विद्ध होनेपर भी पाण्डुकुमार नकुल हर्ष और उत्साहमें भरे हुए वीर योद्धाकी भाँति दूसरा धनुष हाथमें लेकर बड़े वेगसे दूसरे रथपर जा चढ़े और कुपित हुए कालके समान रणभूमिमें खड़े हो गये ॥ २५½ ॥

तस्य तौ भ्रातरौ राजञ्शरैः संनतपर्वभिः ॥ २६ ॥
रथं विशकलीकर्तुं समारब्धौ विशाम्पते ।

राजन् ! प्रजानाथ ! उन दोनों भाइयोंने झुकी हुई गाँठवाले बाणोंद्वारा नकुलके रथके टुकड़े-टुकड़े करनेकी चेष्टा आरम्भ की ॥ २६½ ॥

ततः प्रहस्य नकुलश्चतुर्भिश्चतुरो रणे ॥ २७ ॥
जघान निशितैर्बाणैः सत्यसेनस्य वाजिनः ।

तब नकुलने हँसकर रणभूमिमें चार पैने बाणोंद्वारा सत्य-सेनके चारों घोड़ोंको मार डाला ॥ २७½ ॥

ततः संधाय नाराचं रुक्मपुङ्खं शिलाशितम् ॥ २८ ॥
धनुश्चिच्छेद राजेन्द्र सत्यसेनस्य पाण्डवः ।

राजेन्द्र ! तत्पश्चात् सानपर चढ़ाकर तेज किये हुए सुवर्णमय पंखवाले एक नाराचका संधान करके पाण्डुपुत्र नकुलने सत्यसेनका धनुष काट दिया ॥ २८½ ॥

अथान्यं रथमास्थाय धनुरादाय चापरम् ॥ २९ ॥
सत्यसेनः सुषेणश्च पाण्डवं पर्यधावताम् ।

इसके बाद दूसरे रथपर सवार हो दूसरा धनुष हाथमें लेकर सत्यसेन और सुषेण दोनोंने पाण्डुकुमार नकुलपर धावा किया ॥ २९½ ॥

अविध्यत् तावसम्भ्रान्तो माद्रीपुत्रः प्रतापवान् ॥ ३० ॥
द्वाभ्यां द्वाभ्यां महाराज शराभ्यां रणमूर्धनि ।

महाराज ! माद्रीके प्रतापी पुत्र नकुलने बिना किसी घबराहटके युद्धके मुहानेपर दो-दो बाणोंसे उन दोनों भाइयोंको घायल कर दिया ॥ ३०½ ॥

सुषेणस्तु ततः क्रुद्धः पाण्डवस्य महद् धनुः ॥ ३१ ॥
चिच्छेद प्रहसन् युद्धे क्षुरप्रेण महारथः ।

इससे सुषेणको बड़ा क्रोध हुआ । उस महारथीने हँसते-हँसते युद्धस्थलमें एक क्षुरप्रके द्वारा पाण्डुकुमार नकुलके विशाल धनुषको काट डाला ॥ ३१½ ॥

अथान्यद् धनुरादाय नकुलः क्रोधमूर्च्छितः ॥ ३२ ॥
सुषेणं पञ्चभिर्विद्ध्वा ध्वजमेकेन चिच्छिदे ।

फिर तो नकुल क्रोधसे तमतमा उठे और दूसरा धनुष लेकर उन्होंने पाँच बाणोंसे सुषेणको घायल करके एकसे उसकी ध्वजाको भी काट डाला ॥ ३२½ ॥

सत्यसेनस्य च धनुर्हस्तावापं च मारिष ॥ ३३ ॥
चिच्छेद तरसा युद्धे तत उच्चुक्रुशुर्जनाः ।

आर्य ! इसके बाद रणभूमिमें सत्यसेनके धनुष और दस्तानेके भी नकुलने वेगपूर्वक टुकड़े-टुकड़े कर डाले । इससे सब लोग जोर-जोरसे कोलाहल करने लगे ॥ ३३½ ॥

अथान्यद् धनुरादाय वेगघ्नं भारसाधनम् ॥ ३४ ॥

शरैः संछादयामास समन्तात् पाण्डुनन्दनम् ।

तब सत्यसेनने शत्रुका वेग नष्ट करनेवाले दूसरे भार-साधक धनुषको हाथमें लेकर अपने बाणोंद्वारा पाण्डुनन्दन नकुलको ढक दिया ॥ ३४½ ॥

संनिवार्य तु तान् बाणान् नकुलः परवीरहा ॥ ३५ ॥
सत्यसेनं सुषेणं च द्वाभ्यां द्वाभ्यामविध्यत ।

शत्रुवीरोंका संहार करनेवाले नकुलने उन बाणोंका निवारण करके सत्यसेन और सुषेणको भी दो-दो बाणोंद्वारा घायल कर दिया ॥ ३५½ ॥

तावेनं प्रत्यविध्येतां पृथक् पृथगजिह्मगैः ॥ ३६ ॥
सारथिं चास्य राजेन्द्र शितैर्विव्यधतुः शरैः ।

राजेन्द्र ! फिर उन दोनों भाइयोंने भी पृथक्-पृथक् अनेक बाणोंसे नकुलको बींध डाला और पैने बाणोंद्वारा उनके सारथिको भी घायल कर दिया ॥ ३६½ ॥

सत्यसेनो रथेषां तु नकुलस्य धनुस्तथा ॥ ३७ ॥
पृथक्छराभ्यां चिच्छेद कृतहस्तः प्रतापवान् ।

तत्पश्चात् सिद्धहस्त और प्रतापी वीर सत्यसेनने पृथक्-पृथक् दो-दो बाणोंसे नकुलका धनुष और उनके रथके ईषा-दण्ड भी काट डाले ॥ ३७½ ॥

स रथेऽतिरथस्तिष्ठन् रथशक्तिं परामृशत् ॥ ३८ ॥
स्वर्णदण्डामकुण्ठाग्रां तैलधौतां सुनिर्मलाम् ।
लेलिहानामिव विभो नागकन्यां महाविषाम् ॥ ३९ ॥
समुद्यम्य च चिक्षेप सत्यसेनस्य संयुगे ।

तदनन्तर रथपर खड़े हुए अतिरथी वीर नकुलने एक रथशक्ति हाथमें ली, जिसमें सोनेका डंडा लगा हुआ था । उसका अग्रभाग कहीं भी कुण्ठित होनेवाला नहीं था । प्रभो ! तेलमें धोकर साफ की हुई वह निर्मल शक्ति जीभ लपलपाती हुई महाविषैली नागिनके समान प्रतीत होती थी । नकुल-ने युद्धस्थलमें सत्यसेनको लक्ष्य करके ऊपर उठाकर वह रथशक्ति चला दी ॥ ३८-३९½ ॥

सा तस्य हृदयं संख्ये बिभेद च तथा नृप ॥ ४० ॥
स पपात रथाद् भूमिं गतसत्त्वोऽल्पचेतनः ।

नरेश्वर ! उस शक्तिने रणभूमिमें उसके वक्षःस्थलको विदीर्ण कर दिया । सत्यसेनकी चेतना जाती रही और वह प्राणशून्य होकर रथसे पृथ्वीपर गिर पड़ा ॥ ४०½ ॥

भ्रातरं निहतं दृष्ट्वा सुषेणः क्रोधमूर्छितः ॥ ४१ ॥
अभ्यवर्षच्छरैस्तूर्णं पादातं पाण्डुनन्दनम् ।

भाईको मारा गया देख सुषेण क्रोधसे व्याकुल हो उठा और तुरंत ही रथके कट जानेसे पैदल हुए-से पाण्डुनन्दन नकुलपर बाणोंकी वर्षा करने लगा ॥ ४१½ ॥

चतुर्भिश्चतुरो वाहान् ध्वजं छित्त्वा च पञ्चभिः ॥ ४२ ॥
त्रिभिर्वै सारथिं हत्वा कर्णपुत्रो ननाद ह ।

उसने चार बाणोंसे उनके चारों घोड़ोंको मार डाला और पाँचसे उनकी ध्वजा काटकर तीनसे सारथिके भी प्राण ले लिये । इसके बाद कर्णपुत्र जोर-जोरसे सिंहनाद करने लगा ॥

नकुलं विरथं दृष्ट्वा द्रौपदेयो महारथम् ॥ ४३ ॥
सुतसोमोऽभिदुद्राव परीप्सन् पितरं रणे ।

महारथी नकुलको रथहीन हुआ देख द्रौपदीका पुत्र सुतसोम अपने चाचाकी रक्षाके लिये वहाँ दौड़ा आया ४३½

ततोऽधिरुह्य नकुलः सुतसोमस्य तं रथम् ॥ ४४ ॥
शुशुभे भरतश्रेष्ठो गिरिस्थ इव केसरी ।

तब सुतसोमके उस रथपर आरूढ़ हो भरतश्रेष्ठ नकुल पर्वतपर बैठे हुए सिंहके समान सुशोभित होने लगे ॥४४½॥

अन्यत् कार्मुकमादाय सुषेणं समयोधयत् ॥ ४५ ॥
तावुभौ शरवर्षाभ्यां समासाद्य परस्परम् ।
परस्परवधे यत्नं चक्रतुः सुमहारथौ ॥ ४६ ॥

उन्होंने दूसरा धनुष हाथमें लेकर सुषेणके साथ युद्ध आरम्भ कर दिया । वे दोनों महारथी वीर बाणोंकी वर्षाद्वारा एक दूसरेसे टक्कर लेकर परस्पर वधके लिये प्रयत्न करने लगे ॥ ४५-४६ ॥

सुषेणस्तु ततः क्रुद्धः पाण्डवं विशिखैस्त्रिभिः ।
सुतसोमं तु विंशत्या बाह्वोरुरसि चार्पयत् ॥ ४७ ॥

उस समय सुषेणने कुपित होकर तीन बाणोंसे पाण्डुपुत्र नकुलको बींध डाला और सुतसोमकी दोनों भुजाओं एवं छातीमें बीस बाण मारे ॥ ४७ ॥

ततः क्रुद्धो महाराज नकुलः परवीरहा ।
शरैस्तस्य दिशः सर्वाश्छादयामास वीर्यवान् ॥ ४८ ॥

महाराज ! तत्पश्चात् शत्रुवीरोंका संहार करनेवाले पराक्रमी नकुलने कुपित हो बाणोंकी वर्षासे सुषेणकी सम्पूर्ण दिशाओंको आच्छादित कर दिया ॥ ४८ ॥

ततो गृहीत्वा तीक्ष्णाग्रमर्धचन्द्रं सुतेजनम् ।
सुवेगवन्तं चिक्षेप कर्णपुत्राय संयुगे ॥ ४९ ॥

इसके बाद तीखी धारवाले एक अत्यन्त तेज और वेगशाली अर्धचन्द्राकार बाण लेकर उसे समराङ्गणमें कर्णपुत्र-पर चला दिया ॥ ४९ ॥

तस्य तेन शिरः कायाज्जहार नृपसत्तम ।
पश्यतां सर्वसैन्यानां तदद्भुतमिवाभवत् ॥ ५० ॥

नृपश्रेष्ठ ! उस बाणसे नकुलने सम्पूर्ण सेनाओंके देखते-देखते सुषेणका मस्तक धड़से काट गिराया । वह अद्भुत-सी घटना हुई ॥ ५० ॥

स हतः प्रापतद् राजन् नकुलेन महात्मना ।
नदीवेगादिवारुग्णस्तीरजः पादपो महान् ॥ ५१ ॥

महामनस्वी नकुलके हाथसे मारा जाकर सुषेण पृथ्वीपर गिर पड़ा, मानो नदीके वेगसे कटकर महान् तटवर्ती वृक्ष धराशायी हो गया हो ॥ ५१ ॥

कर्णपुत्रवधं दृष्ट्वा नकुलस्य च विक्रमम् ।
प्रदुद्राव भयात् सेना तावकी भरतर्षभ ॥ ५२ ॥

भरतश्रेष्ठ ! कर्णपुत्रोंका वध और नकुलका पराक्रम देखकर आपकी सेना भयसे भाग चली ॥ ५२ ॥

तां तु सेनां महाराज मद्रराजः प्रतापवान्।
अपालयद् रणे शूरः सेनापतिररिंदमः ॥ ५३ ॥

महाराज! उस समय रणभूमिमें शत्रुओंका दमन करनेवाले वीर सेनापति प्रतापी मद्रराज शल्यने आपकी उस सेनाका संरक्षण किया ॥ ५३ ॥

विभीस्तस्थौ महाराज व्यवस्थाप्य च वाहिनीम्।
सिंहनादं भृशं कृत्वा धनुःशब्दं च दारुणम् ॥ ५४ ॥

राजाधिराज! वे जोर-जोरसे सिंहनाद और धनुषकी भयंकर टंकार करके कौरवसेनाको स्थिर रखते हुए रणभूमिमें निर्भय खड़े थे ॥ ५४ ॥

तावकाः समरे राजन् रक्षिता दृढधन्वना।
प्रत्युद्ययुररातींस्तु समन्ताद् विगतव्यथाः ॥ ५५ ॥

राजन्! सुदृढ़ धनुष धारण करनेवाले राजा शल्यसे सुरक्षित हो व्यथाशून्य हुए आपके सैनिक समरमें सब ओरसे शत्रुओंकी ओर बढ़ने लगे ॥ ५५ ॥

मद्रराजं महेष्वासं परिवार्य समन्ततः।
स्थिता राजन् महासेना योद्धुकामा समन्ततः ॥ ५६ ॥

नरेश्वर! आपकी विशाल सेना महाधनुर्धर मद्रराज शल्यको चारों ओरसे घेरकर शत्रुओंके साथ युद्धके लिये खड़ी हो गयी ॥ ५६ ॥

सात्यकिर्भीमसेनश्च माद्रीपुत्रौ च पाण्डवौ।
युधिष्ठिरं पुरस्कृत्य ह्रीनिषेवमरिंदमम् ॥ ५७ ॥

उधरसे सात्यकि, भीमसेन तथा माद्रीकुमार पाण्डुनन्दन नकुल-सहदेव शत्रुदमन एवं लज्जाशील युधिष्ठिरको आगे करके चढ़ आये ॥ ५७ ॥

परिवार्य रणे वीराः सिंहनादं प्रचक्रिरे।
बाणशङ्खरवांस्तीव्रान् क्ष्वेडाश्च विविधा दधुः ॥ ५८ ॥

रणभूमिमें वे सभी वीर युधिष्ठिरको बीचमें करके सिंहनाद करने, बाणों और शङ्खोंकी तीव्र ध्वनि फैलाने तथा भाँति-भाँतिसे गर्जना करने लगे ॥ ५८ ॥

तथैव तावकाः सर्वे मद्राधिपतिमञ्जसा।
परिवार्य सुसंरब्धाः पुनर्युद्धमरोचयन् ॥ ५९ ॥

इसी प्रकार आपके समस्त सैनिक मद्रराजको चारों ओरसे घेरकर रोष और आवेशसे युक्त हो पुनः युद्धमें ही रुचि दिखाने लगे ॥ ५९ ॥

ततः प्रववृते युद्धं भीरूणां भयवर्धनम्।
तावकानां परेषां च मृत्युं कृत्वा निवर्तनम् ॥ ६० ॥

तदनन्तर मृत्युको ही युद्धसे निवृत्तिका निमित्त बनाकर आपके और शत्रुपक्षके योद्धाओंमें घोर युद्ध आरम्भ हो गया, जो कायरोंका भय बढ़ानेवाला था ॥ ६० ॥

यथा देवासुरं युद्धं पूर्वमासीद् विशाम्पते।
अभीतानां तथा राजन् यमराष्ट्रविवर्धनम् ॥ ६१ ॥

राजन्! प्रजानाथ! जैसे पूर्वकालमें देवताओं और असुरोंका युद्ध हुआ था, उसी प्रकार भयशून्य कौरवों और पाण्डवोंमें यमराजके राज्यकी वृद्धि करनेवाला भयंकर संग्राम होने लगा ॥ ६१ ॥

ततः कपिध्वजो राजन् हत्वा संशप्तकान् रणे।
अभ्यद्रवत तां सेनां कौरवीं पाण्डुनन्दनः ॥ ६२ ॥

नरेश्वर! तदनन्तर पाण्डुनन्दन कपिध्वज अर्जुनने भी संशप्तकोंका संहार करके रणभूमिमें उस कौरवसेनापर आक्रमण किया ॥ ६२ ॥

तथैव पाण्डवाः सर्वे धृष्टद्युम्नपुरोगमाः।
अभ्यधावन्त तां सेनां विसृजन्तः शिताञ्शरान् ॥ ६३ ॥

इसी प्रकार धृष्टद्युम्न आदि समस्त पाण्डव वीर पैने बाणोंकी वर्षा करते हुए आपकी उस सेनापर चढ़ आये ॥

पाण्डवैरवकीर्णानां सम्मोहः समजायत।
न च जज्ञुस्त्वनीकानि दिशो वा विदिशस्तथा ॥ ६४ ॥

पाण्डवोंके बाणोंसे आच्छादित हुए कौरव-योद्धाओंपर मोह छा गया। उन्हें दिशाओं अथवा विदिशाओंका भी ज्ञान न रहा ॥ ६४ ॥

आपूर्यमाणा निशितैः शरैः पाण्डवचोदितैः।
हतप्रवीरा विध्वस्ता वार्यमाणा समन्ततः ॥ ६५ ॥

पाण्डवोंके चलाये हुए पैने बाणोंसे व्याप्त हो कौरवसेनाके मुख्य-मुख्य वीर मारे गये। वह सेना नष्ट होने लगी और चारों ओरसे उसकी गति अवरुद्ध हो गयी ॥ ६५ ॥

कौरव्यवध्यत चमूः पाण्डुपुत्रैर्महारथैः।
तथैव पाण्डवं सैन्यं शरै राजन् समन्ततः ॥ ६६ ॥
रणेऽहन्यत पुत्रैस्ते शतशोऽथ सहस्रशः।

राजन्! महारथी पाण्डुपुत्र कौरवसेनाका वध करने लगे। इसी प्रकार आपके पुत्र भी पाण्डवसेनाके सैकड़ों, हजारों वीरोंका समराङ्गणमें सब ओरसे अपने बाणोंद्वारा संहार करने लगे ॥ ६६½ ॥

ते सेने भृशसंतप्ते वध्यमाने परस्परम् ॥ ६७ ॥
व्याकुले समपद्येतां वर्षासु सरिताविव।

जैसे वर्षाकालमें दो नदियाँ एक दूसरीके जलसे भरकर व्याकुल-सी हो उठती हैं, उसी प्रकार आपसकी मार खाती हुई वे दोनों सेनाएँ अत्यन्त संतप्त हो उठीं ॥ ६७½ ॥

आविवेश ततस्तीव्रं तावकानां महद् भयम्।
पाण्डवानां च राजेन्द्र तथाभूते महाहवे ॥ ६८ ॥

राजेन्द्र! उस अवस्थामें उस महासमरमें खड़े हुए आपके और पाण्डवयोद्धाओंके मनमें भी दुःसह एवं भारी भय समा गया ॥ ६८ ॥

इति श्रीमहाभारते शल्यपर्वणि संकुलयुद्धे दशमोऽध्यायः ॥ १० ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शल्यपर्वमें संकुलयुद्धविषयक दसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १० ॥

एकादशोऽध्यायः

शल्यका पराक्रम, कौरव-पाण्डव योद्धाओंके द्वन्द्वयुद्ध तथा भीमसेनके द्वारा शल्यकी पराजय

संजय उवाच

तस्मिन् विलुलिते सैन्ये वध्यमाने परस्परम्।
द्रवमाणेषु योधेषु विनदत्सु च दन्तिषु ॥ १ ॥
कूजतां स्तनतां चैव पदातीनां महाहवे।
निहतेषु महाराज हयेषु बहुधा तदा ॥ २ ॥
प्रक्षये दारुणे घोरे संहारे सर्वदेहिनाम्।
नानाशस्त्रसमावाये व्यतिषक्तरथद्विपे ॥ ३ ॥
हर्षणे युद्धशौण्डानां भीरूणां भयवर्धने।
गाहमानेषु योधेषु परस्परवधैषिषु ॥ ४ ॥
प्राणादाने महाघोरे वर्तमाने दुरोदरे।
संग्रामे घोररूपे तु यमराष्ट्रविवर्धने ॥ ५ ॥
पाण्डवास्तावकं सैन्यं व्यधमन्निशितैः शरैः।
तथैव तावका योधा जघ्नुः पाण्डवसैनिकान् ॥ ६ ॥

संजय कहते हैं—महाराज! उस महासमरमें जब दोनों पक्षोंकी सेनाएँ परस्परकी मार खाकर भयसे व्याकुल हो उठीं, दोनों दलोंके योद्धा पलायन करने लगे, हाथी चिग्घाड़ने तथा पैदल सैनिक कराहने और चिल्लाने लगे; बहुत-से घोड़े मारे गये, सम्पूर्ण देहधारियोंका घोर भयंकर एवं विनाशकारी संहार होने लगा, नाना प्रकारके अस्त्र-शस्त्र परस्पर टकराने लगे, रथ और हाथी एक दूसरेसे उलझ गये, युद्धकुशल योद्धाओंका हर्ष और कायरोंका भय बढ़ानेवाला संग्राम होने लगा, एक दूसरेके वधकी इच्छासे उभयपक्षकी सेनाओंमें दोनों दलोंके योद्धा प्रवेश करने लगे, प्राणोंकी बाजी लगाकर महाभयंकर युद्धका जूआ आरम्भ हो गया तथा यमराजके राज्यकी वृद्धि करनेवाला घोर संग्राम चलने लगा, उस समय पाण्डव अपने तीखे बाणोंसे आपकी सेनाका संहार करने लगे। इसी प्रकार आपके योद्धा भी पाण्डवसैनिकोंके वधमें प्रवृत्त हो गये ॥ १–६ ॥

तस्मिंस्तथा वर्तमाने युद्धे भीरुभयावहे।
पूर्वाह्णे चापि सम्प्राप्ते भास्करोदयनं प्रति ॥ ७ ॥
लब्धलक्षाः परे राजन् रक्षितास्तु महात्मना।
अयोधयंस्तव बलं मृत्युं कृत्वा निवर्तनम् ॥ ८ ॥

राजन्! पूर्वाह्णकाल प्राप्त होनेपर सूर्योदयके समय जब कायरोंका भय बढ़ानेवाला वर्तमान युद्ध चल रहा था, उस समय महात्मा अर्जुनसे सुरक्षित शत्रु-योद्धा, जो लक्ष्य वेधनेमें कुशल थे, मृत्युको ही युद्धसे निवृत्त होनेकी सीमा नियत करके आपकी सेनाके साथ जूझने लगे ॥ ७-८ ॥

बलिभिः पाण्डवैर्दृप्तैर्लब्धलक्षैः प्रहारिभिः।
कौरव्यसीदत् पृतना मृगीवाग्निसमाकुला ॥ ९ ॥

पाण्डव योद्धा बलवान् और प्रहारकुशल थे। उनका निशाना कभी खाली नहीं जाता था। उनकी मार खाकर कौरवसेना दावानलसे घिरी हुई हरिणीके समान अत्यन्त संतप्त हो उठी ॥ ९ ॥

तां दृष्ट्वा सीदतीं सेनां पङ्के गामिव दुर्बलाम्।
उज्जिहीर्षुस्तदा शल्यः प्रायात् पाण्डुसुतान् प्रति ॥ १० ॥

कीचड़में फँसी हुई दुर्बल गायके समान कौरवसेनाको बहुत कष्ट पाती देख उसका उद्धार करनेकी इच्छासे राजा शल्यने उस समय पाण्डवोंपर आक्रमण किया ॥ १० ॥

मद्रराजः सुसंक्रुद्धो गृहीत्वा धनुरुत्तमम्।
अभ्यद्रवत संग्रामे पाण्डवानाततायिनः ॥ ११ ॥

मद्रराज शल्यने अत्यन्त क्रोधमें भरकर उत्तम धनुष हाथमें ले संग्राममें अपने वधके लिये उद्यत हुए पाण्डवोंपर वेगपूर्वक धावा किया ॥ ११ ॥

पाण्डवा अपि भूपाल समरे जितकाशिनः।
मद्रराजं समासाद्य विभिदुर्निशितैः शरैः ॥ १२ ॥

भूपाल! समरमें विजयसे सुशोभित होनेवाले पाण्डव भी मद्रराज शल्यके निकट जाकर उन्हें अपने पैने बाणोंसे बींधने लगे ॥ १२ ॥

ततः शरशतैस्तीक्ष्णैर्मद्रराजो महारथः।
अर्दयामास तां सेनां धर्मराजस्य पश्यतः ॥ १३ ॥

तब महारथी मद्रराज धर्मराज युधिष्ठिरके देखते-देखते उनकी सेनाको अपने सैकड़ों तीखे बाणोंसे संतप्त करने लगे ॥ १३ ॥

प्रादुरासन् निमित्तानि नानारूपाण्यनेकशः।
चचाल शब्दं कुर्वाणा मही चापि सपर्वता ॥ १४ ॥

उस समय नाना प्रकारके बहुत-से अशुभसूचक निमित्त प्रकट होने लगे। पर्वतोंसहित पृथ्वी महान् शब्द करती हुई डोलने लगी ॥ १४ ॥

सदण्डशूला दीप्ताग्राः शीर्यमाणाः समन्ततः।
उल्का भूमिं दिवः पेतुराहत्य रविमण्डलम् ॥ १५ ॥

आकाशसे बहुत-सी उल्काएँ सूर्यमण्डलसे टकराकर पृथ्वीपर गिरने लगीं। उनके साथ दण्डयुक्त शूल भी गिर रहे थे। उन उल्काओंके अग्रभाग अपनी दीप्तिसे दमक रहे थे। वे सब-की-सब चारों ओर बिखरी पड़ती थीं ॥ १५ ॥

मृगाश्च महिषाश्चापि पक्षिणश्च विशाम्पते।
अपसव्यं तदा चक्रुः सेनां ते बहुशो नृप ॥ १६ ॥

प्रजानाथ! नरेश्वर! उस समय मृग, महिष और पक्षी आपकी सेनाको बारंबार दाहिने करके जाने लगे ॥ १६ ॥

भृगुसूनुधरापुत्रौ शशिजेन समन्वितौ।
चरमं पाण्डुपुत्राणां पुरस्तात् सर्वभूभुजाम् ॥ १७ ॥

शुक्र और मंगल बुधसे संयुक्त हो पाण्डवोंके पृष्ठभागमें तथा अन्य सब नरेशोंके सम्मुख उदित हुए थे ॥ १७ ॥

शस्त्राग्रेष्वभवज्ज्वाला नेत्राण्याहत्य वर्षती।
शिरःस्वलीयन्त भृशं काकोलूकाश्च केतुषु ॥ १८ ॥

शस्त्रोंके अग्रभागमें ज्वाला-सी प्रकट होती और नेत्रोंमें चकाचौंध पैदा करके वह पृथ्वीपर गिर जाती थी। योद्धाओं-

के मस्तकों और ध्वजाओंमें कौए और उल्लू बारंबार छिपने लगे ॥

ततस्तद् युद्धमत्युग्रमभवत् सहचारिणाम्।
तथा सर्वाण्यनीकानि संनिपत्य जनाधिप ॥ १९ ॥
अभ्ययुः कौरवा राजन् पाण्डवानामनीकिनीम्।

नरेश्वर! तत्पश्चात् एक साथ संगठित होकर जूझनेवाले दोनों पक्षोंके वीरोंका वह युद्ध बड़ा भयंकर हो गया। राजन्! कौरव-योद्धाओंने अपनी सारी सेनाओंको एकत्र करके पाण्डव-सेनापर धावा बोल दिया ॥ १९½ ॥

शल्यस्तु शरवर्षेण वर्षन्निव सहस्रदृक् ॥ २० ॥
अभ्यवर्षत धर्मात्मा कुन्तीपुत्रं युधिष्ठिरम्।

धर्मात्मा राजा शल्यने वर्षा करनेवाले इन्द्रकी भाँति कुन्तीपुत्र युधिष्ठिरपर बाणोंकी वर्षा आरम्भ कर दी ॥२०½॥

भीमसेनं शरैश्चापि रुक्मपुङ्खैः शिलाशितैः ॥ २१ ॥
द्रौपदेयांस्तथा सर्वान् माद्रीपुत्रौ च पाण्डवौ।
धृष्टद्युम्नं च शैनेयं शिखण्डिनमथापि च ॥ २२ ॥
एकैकं दशभिर्बाणैर्विव्याध स महाबलः।
ततोऽसृजद् बाणवर्षं घर्मान्ते मघवानिव ॥ २३ ॥

महाबली शल्यने भीमसेन, द्रौपदीके सभी पुत्र, माद्री-कुमार नकुल-सहदेव, धृष्टद्युम्न, सात्यकि तथा शिखण्डी—इनमेंसे प्रत्येकको शिलापर तेज किये हुए सुवर्णमय पंख-वाले दस-दस बाणोंसे घायल कर दिया। तत्पश्चात् वे वर्षा-कालमें जल बरसानेवाले इन्द्रके समान बाणोंकी वृष्टि करने लगे ॥ २१–२३ ॥

ततः प्रभद्रका राजन् सोमकाश्च सहस्रशः।
पतिताः पात्यमानाश्च दृश्यन्ते शल्यसायकैः ॥ २४ ॥

राजन्! तत्पश्चात् सहस्रों प्रभद्रक और सोमक योद्धा शल्यके बाणोंसे घायल होकर गिरे और गिरते हुए दिखायी देने लगे ॥ २४ ॥

भ्रमराणामिव व्राताः शलभानामिव व्रजाः।
ह्रादिन्य इव मेघेभ्यः शल्यस्य न्यपतञ्शराः ॥ २५ ॥

शल्यके बाण भ्रमरोंके समूह, टिड्डियोंके दल और मेघों-की घटासे प्रकट होनेवाली बिजलियोंके समान पृथ्वीपर गिर रहे थे ॥ २५ ॥

द्विरदास्तुरगाश्चार्ताः पत्तयो रथिनस्तथा।
शल्यस्य बाणैरपतन् बभ्रमुर्व्यनदंस्तथा ॥ २६ ॥

शल्यके बाणोंकी मार खाकर पीड़ित हुए हाथी, घोड़े, रथी और पैदल-सैनिक गिरने, चक्कर काटने और आर्तनाद करने लगे ॥ २६ ॥

आविष्ट इव मद्रेशो मन्युना पौरुषेण च।
प्राच्छादयदरीन् संख्ये कालसृष्ट इवान्तकः ॥ २७ ॥

प्रलयकालमें प्रकट हुए यमराजके समान मद्रराज शल्य क्रोधसे आविष्ट हुए पुरुषकी भाँति अपने पुरुषार्थसे युद्धस्थल-में शत्रुओंको बाणोंद्वारा आच्छादित करने लगे ॥ २७ ॥

विनर्दमानो मद्रेशो मेघह्रादो महाबलः।
सा वध्यमाना शल्येन पाण्डवानामनीकिनी ॥ २८ ॥
अजातशत्रुं कौन्तेयमभ्यधावद् युधिष्ठिरम्।

महाबली मद्रराज मेघोंकी गर्जनाके समान सिंहनाद कर रहे थे। उनके द्वारा मारी जाती हुई पाण्डवसेना भागकर अजातशत्रु कुन्तीकुमार युधिष्ठिरके पास चली गयी ॥ २८½॥

तां सम्मर्द्य ततः संख्ये लघुहस्तः शितैः शरैः ॥ २९ ॥
बाणवर्षेण महता युधिष्ठिरमताडयत्।

शीघ्रतापूर्वक हाथ चलानेवाले शल्यने युद्धस्थलमें पैने बाणोंद्वारा पाण्डवसेनाका मर्दन करके बड़ी भारी बाणवर्षाके द्वारा युधिष्ठिरको भी गहरी चोट पहुँचायी ॥ २९½ ॥

तमापतन्तं पत्त्यश्वैः क्रुद्धो राजा युधिष्ठिरः ॥ ३० ॥
अवारयच्छरैस्तीक्ष्णैर्महाद्विपमिवाङ्कुशैः।

तब क्रोधमें भरे हुए राजा युधिष्ठिरने पैदलों और घुड़-सवारोंके साथ आते हुए शल्यको अपने तीखे बाणोंसे उसी प्रकार रोक दिया, जैसे महावत अङ्कुशोंकी मारसे विशालकाय हाथीको आगे बढ़नेसे रोक देता है ॥ ३०½ ॥

तस्य शल्यः शरं घोरं मुमोचाशीविषोपमम् ॥ ३१ ॥
स निर्भिद्य महात्मानं वेगेनाभ्यपतच्च गाम्।

उस समय शल्यने युधिष्ठिरपर विषैले सर्पके समान एक भयंकर बाणका प्रहार किया। वह बाण बड़े वेगसे महात्मा युधिष्ठिरको घायल करके पृथ्वीपर गिर पड़ा ॥ ३१½ ॥

ततो वृकोदरः क्रुद्धः शल्यं विव्याध सप्तभिः ॥ ३२ ॥
पञ्चभिः सहदेवस्तु नकुलो दशभिः शरैः।
द्रौपदेयाश्च शत्रुघ्नं शूरमार्तायनिं शरैः ॥ ३३ ॥

यह देख भीमसेन कुपित हो उठे। उन्होंने सात बाणोंसे शल्यको बींध डाला। फिर सहदेवने पाँच, नकुलने दस और द्रौपदीके पुत्रोंने अनेक बाणोंसे शत्रुसूदन शूरवीर शल्यको घायल कर दिया ॥ ३२-३३ ॥

अभ्यवर्षन् महाराज मेघा इव महीधरम्।
ततो दृष्ट्वा वार्यमाणं शल्यं पार्थैः समन्ततः ॥ ३४ ॥
कृतवर्मा कृपश्चैव संक्रुद्धावभ्यधावताम्।
उलूकश्च महावीर्यः शकुनिश्चापि सौबलः ॥ ३५ ॥
समागम्याथ शनकैरश्वत्थामा महाबलः।
तव पुत्राश्च कार्त्स्न्येन जुगुपुः शल्यमाहवे ॥ ३६ ॥

महाराज! जैसे मेघ पर्वतपर पानी बरसाते हैं, उसी प्रकार वे शल्यपर बाणोंकी वर्षा कर रहे थे। शल्यको कुन्ती-के पुत्रोंद्वारा सब ओरसे अवरुद्ध हुआ देख कृतवर्मा और कृपाचार्य क्रोधमें भरकर उनकी ओर दौड़े आये। साथ ही महापराक्रमी उलूक, सुबलपुत्र शकुनि, महाबली अश्वत्थामा तथा आपके सम्पूर्ण पुत्र भी धीरे-धीरे वहाँ आकर रणभूमिमें शल्यकी रक्षा करने लगे ॥ ३४–३६ ॥

भीमसेनं त्रिभिर्विद्ध्वा कृतवर्मा शिलीमुखैः।
बाणवर्षेण महता क्रुद्धरूपमवारयत् ॥ ३७ ॥

कृतवर्माने क्रोधमें भरे हुए भीमसेनको तीन बाणोंसे घायल करके भारी बाणवर्षाके द्वारा आगे बढ़नेसे रोक दिया ॥३७॥

धृष्टद्युम्नं कृपः क्रुद्धो बाणवर्षैरपीडयत्।
द्रौपदेयांश्च शकुनिर्यमौ च द्रौणिरभ्ययात् ॥ ३८ ॥

तत्पश्चात् कुपित हुए कृपाचार्यने धृष्टद्युम्नको अपनी बाण-वर्षाद्वारा पीड़ित कर दिया। शकुनिने द्रौपदीके पुत्रोंपर और अश्वत्थामाने नकुल-सहदेवपर धावा किया ॥ ३८ ॥

दुर्योधनो युधां श्रेष्ठ आहवे केशवार्जुनौ।
समभ्ययादुग्रतेजाः शरैश्चाप्यहनद् बली ॥ ३९ ॥

योद्धाओंमें श्रेष्ठ, भयंकर तेजस्वी और बलवान् दुर्योधनने समराङ्गणमें श्रीकृष्ण और अर्जुनपर चढ़ाई की तथा बाणोंद्वारा उन्हें गहरी चोट पहुँचायी ॥ ३९ ॥

एवं द्वन्द्वशतान्यासंस्त्वदीयानां परैः सह।
घोररूपाणि चित्राणि तत्र तत्र विशाम्पते ॥ ४० ॥

प्रजानाथ ! इस प्रकार जहाँ-तहाँ आपके सैनिकोंके शत्रुओं-के साथ सैकड़ों भयानक एवं विचित्र द्वन्द्वयुद्ध होने लगे ॥

ऋक्षवर्णाञ्जघानाश्वान् भोजो भीमस्य संयुगे।
सोऽवतीर्य रथोपस्थाद्धताश्वात् पाण्डुनन्दनः ॥ ४१ ॥
कालो दण्डमिवोद्यम्य गदापाणिरयुध्यत।

कृतवर्माने युद्धस्थलमें भीमसेनके रीछके समान रंगवाले घोड़ोंको मार डाला। घोड़ोंके मारे जानेपर पाण्डुनन्दन भीम-सेन रथकी बैठकसे नीचे उतरकर हाथमें गदा ले युद्ध करने लगे, मानो यमराज अपना दण्ड उठाकर प्रहार कर रहे हों ॥ ४१½ ॥

प्रमुखे सहदेवस्य जघानाश्वान् स मद्रराट् ॥ ४२ ॥
ततः शल्यस्य तनयं सहदेवोऽसिनावधीत्।

मद्रराज शल्यने अपने सामने आये हुए सहदेवके घोड़ों-को मार डाला। तब सहदेवने भी शल्यके पुत्रको तलवारसे मार गिराया ॥ ४२½ ॥

गौतमः पुनराचार्यो धृष्टद्युम्नमयोधयत् ॥ ४३ ॥
असम्भ्रान्तमसम्भ्रान्तो यत्नवान् यत्नवत्तरम्।

कृपाचार्य बिना किसी घबराहटके विजयके लिये यत्न-शील हो सम्भ्रमरहित और अधिक प्रयत्नशील धृष्टद्युम्नके साथ युद्ध करने लगे ॥ ४३½ ॥

द्रौपदेयांस्तथा वीरानेकैकं दशभिः शरैः ॥ ४४ ॥
अविध्यद्‌द्रोणाचार्यसुतो नातिक्रुद्धो हसन्निव।

आचार्य द्रोणके पुत्र अश्वत्थामाने अधिक क्रुद्ध न होकर हँसते हुए-से दस-दस बाणोंद्वारा द्रौपदीके वीर पुत्रोंमेंसे प्रत्येक-को घायल कर दिया ॥ ४४½ ॥

पुनश्च भीमसेनस्य जघानाश्वांस्तथाऽऽहवे ॥ ४५ ॥
सोऽवतीर्य रथात्तूर्णं हताश्वः पाण्डुनन्दनः।
कालो दण्डमिवोद्यम्य गदां क्रुद्धो महाबलः ॥ ४६ ॥
पोथयामास तुरगान् रथं च कृतवर्मणः।
कृतवर्मा त्ववप्लुत्य रथात् तस्मादपाक्रमत् ॥ ४७ ॥

(इसी बीचमें भीमसेन दूसरे रथपर आरूढ़ हो गये थे) कृतवर्माने युद्धस्थलमें पुनः भीमसेनके घोड़ोंको मार डाला। तब घोड़ोंके मारे जानेपर महाबली पाण्डुकुमार भीम-सेन शीघ्र ही रथसे उतर पड़े और कुपित हो दण्ड उठाये कालके समान गदा लेकर उन्होंने कृतवर्माके घोड़ों तथा रथ-को चूर-चूर कर दिया। कृतवर्मा उस रथसे कूदकर भाग गया ॥ ४५-४७ ॥

शल्योऽपि राजन् संक्रुद्धो निघ्नन् सोमकपाण्डवान्।
पुनरेव शितैर्बाणैर्युधिष्ठिरमपीडयत् ॥ ४८ ॥

राजन् ! इधर शल्य भी अत्यन्त क्रोधमें भरकर सोमकों और पाण्डवयोद्धाओंका संहार करने लगे। उन्होंने पुनः पैने बाणोंद्वारा युधिष्ठिरको पीड़ा देना प्रारम्भ किया ॥ ४८ ॥

तस्य भीमो रणे क्रुद्धः संदश्य दशनच्छदम्।
विनाशायाभिसंधाय गदामादाय वीर्यवान् ॥ ४९ ॥
यमदण्डप्रतीकाशां कालरात्रिमिवोद्यताम्।
गजवाजिमनुष्याणां देहान्तकरणीमपि ॥ ५० ॥

यह देख पराक्रमी भीमसेन कुपित हो ओठ चबाते हुए रणभूमिमें शल्यके विनाशका संकल्प लेकर यमदण्डके समान भयंकर गदा लिये उनपर टूट पड़े। हाथी, घोड़े और मनुष्योंके भी शरीरोंका विनाश करनेवाली वह गदा संहारके लिये उद्यत हुई कालरात्रिके समान जान पड़ती थी ॥ ४९-५० ॥

हेमपट्टपरिक्षिप्तामुल्कां प्रज्वलितामिव।
शैक्यां व्यालीमिवात्युग्रां वज्रकल्पामयोमयीम् ॥ ५१ ॥
चन्दनागुरुपङ्काक्तां प्रमदामीप्सितामिव।
वसामेदोपदिग्धाङ्गीं जिह्वां वैवस्वतीमिव ॥ ५२ ॥

उसके ऊपर सोनेका पत्र जड़ा गया था। वह लोहेकी बनी हुई वज्रतुल्य गदा प्रज्वलित उल्का तथा छींकेपर बैठी हुई सर्पिणीके समान अत्यन्त भयंकर प्रतीत होती थी। अङ्गों-में चन्दन और अगुरुका लेप लगाये हुए मनचाही प्रियतमा रमणीके समान उसके सर्वाङ्गमें वसा और मेद लिपटे हुए थे। वह देखनेमें यमराजकी जिह्वाके समान भयंकर थी ५१-५२

पट्टघण्टाशतरवां वासवीमशनीमिव।
निर्मुक्ताशीविषाकारां पृक्तां गजमदैरपि ॥ ५३ ॥
त्रासनीं सर्वभूतानां स्वसैन्यपरिहर्षिणीम्।
मनुष्यलोके विख्यातां गिरिशृङ्गविदारणीम् ॥ ५४ ॥

उसमें सैकड़ों घंटियाँ लगी थीं, जिनका कलरव गूँजता रहता था। वह इन्द्रके वज्रकी भाँति भयानक जान पड़ती थी। केंचुलसे छूटे हुए विषधर सर्पके समान वह सम्पूर्ण प्राणियोंके मनमें भय उत्पन्न करती थी और अपनी सेनाका हर्ष बढ़ाती रहती थी। उसमें हाथीके मद लिपटे हुए थे। पर्वतशिखरों-को विदीर्ण करनेवाली वह गदा मनुष्यलोकमें सर्वत्र विख्यात है ॥ ५३-५४ ॥

यया कैलासभवने महेश्वरसखं बली।
आह्वयामास युद्धाय भीमसेनो महाबलः ॥ ५५ ॥

यह वही गदा है, जिसके द्वारा महाबली भीमसेनने कैलासशिखरपर भगवान् शङ्करके सखा कुबेरको युद्धके लिये ललकारा था ॥ ५५ ॥

यया मायामयान् दृप्तान् सुबहून् धनदालये।
जघान गुह्यकान् क्रुद्धो नदन् पार्थो महाबलः ॥ ५६ ॥
निवार्यमाणो बहुभिर्द्रौपद्याः प्रियमास्थितः।

तथा जिसके द्वारा क्रोधमें भरे हुए महाबलवान् कुन्ती-कुमार भीमने बहुतोंके मना करनेपर भी द्रौपदीका प्रिय करने-के लिये उद्यत हो गर्जना करते हुए कुबेरभवनमें रहनेवाले

बहुत-से मायामय अभिमानी गुह्यकोंका वध किया था ५६½
तां वज्रमणिरत्नौघकल्मषां वज्रगौरवाम् ॥ ५७ ॥
समुद्यम्य महाबाहुः शल्यमभ्यपतद् रणे ।

जिसमें वज्रकी गुरुता भरी है और जो हीरे, मणि तथा रत्न-समूहोंसे जटित होनेके कारण विचित्र शोभा धारण करती है, उसीको हाथमें उठाकर महाबाहु भीमसेन रणभूमिमें शल्यपर टूट पड़े ॥

गदया युद्धकुशलस्तया दारुणनादया ॥ ५८ ॥
पोथयामास शल्यस्य चतुरोऽश्वान् महाजवान् ।

युद्धकुशल भीमसेनने भयंकर शब्द करनेवाली उस गदाके द्वारा शल्यके महान् वेगशाली चारों घोड़ोंको मार गिराया ॥५८½॥

ततः शल्यो रणे क्रुद्धः पीने वक्षसि तोमरम् ॥ ५९ ॥
निचखान नदन् वीरो वर्म भित्त्वा च सोऽभ्ययात् ।

तब रणभूमिमें कुपित हो गर्जना करते हुए वीर शल्यने भीमसेनके विशाल वक्षःस्थलमें एक तोमर धँसा दिया । वह उनके कवचको छेदकर छातीमें गड़ गया ॥ ५९½ ॥

वृकोदरस्त्वसम्भ्रान्तस्तमेवोद्धृत्य तोमरम् ॥ ६० ॥
यन्तारं मद्रराजस्य निर्बिभेद ततो हृदि ।

इससे भीमसेनको तनिक भी घबराहट नहीं हुई । उन्होंने उसी तोमरको निकालकर उसके द्वारा मद्रराज शल्यके सारथिकी छाती छेद डाली ॥ ६०½ ॥

स भिन्नमर्मा रुधिरं वमन् वित्रस्तमानसः ॥ ६१ ॥
पपाताभिमुखो दीनो मद्रराजस्त्वपाक्रमत् ।

इससे सारथिका मर्मस्थल विदीर्ण हो गया और वह मुँहसे रक्तवमन करता हुआ दीन एवं भयभीतचित्त होकर शल्यके सामने ही रथसे नीचे गिर पड़ा । फिर तो मद्रराज शल्य वहाँसे पीछे हट गये ॥ ६१½ ॥

कृतप्रतिकृतं दृष्ट्वा शल्यो विस्मितमानसः ॥ ६२ ॥
गदामाश्रित्य धर्मात्मा प्रत्यमित्रमवैक्षत ।

अपने प्रहारका भरपूर उत्तर प्राप्त हुआ देख धर्मात्मा शल्यका चित्त आश्चर्यसे चकित हो उठा । वे गदा हाथमें लेकर अपने शत्रुकी ओर देखने लगे ॥ ६२½ ॥

ततः सुमनसः पार्था भीमसेनमपूजयन् ।
ते दृष्ट्वा कर्म संग्रामे घोरमक्लिष्टकर्मणः ॥ ६३ ॥

संग्राममें अनायास ही महान् कर्म करनेवाले भीमसेनका वह घोर पराक्रम देखकर कुन्तीके सभी पुत्र प्रसन्नचित्त हो उनकी भूरि-भूरि प्रशंसा करने लगे ॥ ६३ ॥

इति श्रीमहाभारते शल्यपर्वणि भीमसेनशल्ययुद्धे एकादशोऽध्यायः ॥ ११ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शल्यपर्वमें भीमसेन और शल्यका युद्धविषयक ग्यारहवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ११ ॥

द्वादशोऽध्यायः

भीमसेन और शल्यका भयानक गदायुद्ध तथा युधिष्ठिरके साथ शल्यका युद्ध, दुर्योधनद्वारा चेकितानका और युधिष्ठिरद्वारा चन्द्रसेन एवं द्रुमसेनका वध, पुनः युधिष्ठिर और माद्रीपुत्रोंके साथ शल्यका युद्ध

संजय उवाच

पतितं प्रेक्ष्य यन्तारं शल्यः सर्वायसीं गदाम् ।
आदाय तरसा राजंस्तस्थौ गिरिरिवाचलः ॥ १ ॥

संजय कहते हैं—राजन् ! अपने सारथिको गिरा हुआ देख मद्रराज शल्य वेगपूर्वक लोहेकी गदा हाथमें लेकर पर्वतके समान अविचल भावसे खड़े हो गये ॥ १ ॥

तं दीप्तमिव कालाग्निं पाशहस्तमिवान्तकम् ।
सशृङ्गमिव कैलासं सवज्रमिव वासवम् ॥ २ ॥
सशूलमिव हर्यक्षं वने मत्तमिव द्विपम् ।
जवेनाभ्यपतद् भीमः प्रगृह्य महतीं गदाम् ॥ ३ ॥

वे प्रलयकालकी प्रज्वलित अग्नि, पाशधारी यमराज, शिखरयुक्त कैलास, वज्रधारी इन्द्र, त्रिशूलधारी रुद्र तथा जंगलके मतवाले हाथीके समान भयंकर जान पड़ते थे । भीमसेन बहुत बड़ी गदा हाथमें लेकर वेगपूर्वक उनके ऊपर टूट पड़े ॥

ततः शङ्खप्रणादश्च तूर्याणां च सहस्रशः ।
सिंहनादश्च संजज्ञे शूराणां हर्षवर्धनः ॥ ४ ॥

फिर तो शङ्खनाद, सहस्रों वाद्योंका गम्भीर घोष तथा शूरवीरोंका हर्ष बढ़ानेवाला सिंहनाद सब ओर होने लगा ॥

प्रेक्षन्तः सर्वतस्तौ हि योधा योधमहाद्विपौ ।
तावकाश्चापरे चैव साधु साध्वित्यपूजयन् ॥ ५ ॥

योद्धाओंमें महान् गजराजके समान पराक्रमी उन दोनों वीरोंको देखकर आपके और शत्रुपक्षके योद्धा सब ओरसे 'वाह-वाह' कहकर उनके प्रति सम्मान प्रकट करने लगे—॥

न हि मद्राधिपादन्यो रामाद् वा यदुनन्दनात् ।
सोढुमुत्सहते वेगं भीमसेनस्य संयुगे ॥ ६ ॥

'संसारमें मद्रराज शल्य अथवा यदुनन्दन बलरामजीके सिवा दूसरा कोई ऐसा योद्धा नहीं है, जो युद्धमें भीमसेनका वेग सह सके ॥ ६ ॥

तथा मद्राधिपस्यापि गदावेगं महात्मनः ।
सोढुमुत्सहते नान्यो योधो युधि वृकोदरात् ॥ ७ ॥

'इसी प्रकार महामना मद्रराज शल्यकी गदाका वेग भी रणभूमिमें भीमसेनके सिवा दूसरा कोई योद्धा नहीं सह सकता'॥

तौ वृषाविव नर्दन्तौ मण्डलानि विचेरतुः ।
आवर्तितौ गदाहस्तौ मद्रराजवृकोदरौ ॥ ८ ॥

शल्य और भीमसेन दोनों वीर हाथमें गदा लिये साँड़ोंकी तरह गर्जते हुए चक्कर लगाने और पैंतरे देने लगे ॥ ८ ॥

मण्डलावर्तमार्गेषु गदाविहरणेषु च ।
निर्विशेषमभूद् युद्धं तयोः पुरुषसिंहयोः ॥ ९ ॥

मण्डलाकार गतिसे घूमनेमें, भाँति-भाँतिके पैंतरे दिखानेकी कलामें तथा गदाका प्रहार करनेमें उन दोनों पुरुषसिंहोंमें

कोई भी अन्तर नहीं दिखायी देता था, दोनों एक-से जान पड़ते थे ॥ ९ ॥

तप्तकाञ्चनमयैः शुभ्रैर्बभूव भयवर्धिनी ।
अग्निजालैरिवाबद्धा पट्टैः शल्यस्य सा गदा ॥ १० ॥

तपाये हुए उज्ज्वल सुवर्णमय पत्रोंसे जड़ी हुई शल्यकी वह भयंकर गदा आगकी ज्वालाओंसे लिपटी हुई-सी प्रतीत होती थी ॥ १० ॥

तथैव चरतो मार्गान् मण्डलेषु महात्मनः ।
विद्युदभ्रप्रतीकाशा भीमस्य शुशुभे गदा ॥ ११ ॥

इसी प्रकार मण्डलाकार गतिसे विचित्र पैंतरोंके साथ विचरते हुए महामनस्वी भीमसेनकी गदा बिजलीसहित मेघके समान सुशोभित होती थी ॥ ११ ॥

ताडिता मद्रराजेन भीमस्य गदया गदा ।
दह्यमानेव खे राजन् सासृजत् पावकार्चिषः ॥ १२ ॥

राजन्! मद्रराजने अपनी गदासे जब भीमसेनकी गदा-पर चोट की, तब वह प्रज्वलित-सी हो उठी और उससे आग-की लपटें निकलने लगीं ॥ १२ ॥

तथा भीमेन शल्यस्य ताडिता गदया गदा ।
अङ्गारवर्षं मुमुचे तदद्भुतमिवाभवत् ॥ १३ ॥

इसी प्रकार भीमसेनकी गदासे ताडित होकर शल्यकी गदा भी अङ्गारे बरसाने लगी। वह अद्भुत-सा दृश्य हुआ ॥ १३ ॥

दन्तैरिव महानागौ शृङ्गैरिव महर्षभौ ।
तोत्रैरिव तदान्योन्यं गदाग्राभ्यां निजघ्नतुः ॥ १४ ॥

जैसे दो विशाल हाथी दाँतोंसे और दो बड़े-बड़े साँड़ सींगोंसे एक दूसरेपर चोट करते हैं, उसी प्रकार अङ्कुशों-जैसी उन श्रेष्ठ गदाओंद्वारा वे दोनों वीर एक दूसरेपर आघात करने लगे ॥ १४ ॥

तौ गदाभिहतैर्गात्रैः क्षणेन रुधिरोक्षितौ ।
प्रेक्षणीयतरावास्तां पुष्पिताविव किंशुकौ ॥ १५ ॥

उन दोनोंके अङ्गोंमें गदाकी गहरी चोटोंसे घाव हो गये थे। अतः दोनों ही क्षणभरमें खूनसे नहा गये। उस समय खिले हुए दो पलाशवृक्षोंके समान वे दोनों वीर देखने ही योग्य जान पड़ते थे ॥ १५ ॥

गदया मद्रराजस्य सव्यदक्षिणमाहतः ।
भीमसेनो महाबाहुर्न चचालाचलो यथा ॥ १६ ॥

मद्रराजकी गदासे दायें-बायें अच्छी तरह चोट खाकर भी महाबाहु भीमसेन विचलित नहीं हुए। वे पर्वतके समान अविचल भावसे खड़े रहे ॥ १६ ॥

तथा भीमगदावेगैस्ताड्यमानो मुहुर्मुहुः ।
शल्यो न विव्यथे राजन् दन्तिनेव महागिरिः ॥ १७ ॥

इसी प्रकार भीमसेनकी गदाके वेगसे बारंबार आहत होनेपर भी शल्यको उसी प्रकार व्यथा नहीं हुई, जैसे दन्तार हाथीके आघातसे महान् पर्वत पीड़ित नहीं होता ॥ १७ ॥

शुश्रुवे दिक्षु सर्वासु तयोः पुरुषसिंहयोः ।
गदानिपातसंह्रादो वज्रयोरिव निस्वनः ॥ १८ ॥

उस समय उन दोनों पुरुषसिंहोंकी गदाओंके टकरानेकी आवाज सम्पूर्ण दिशाओंमें दो वज्रोंके आघातके समान सुनायी देती थी ॥ १८ ॥

निवृत्य तु महावीर्यौ समुच्छ्रितमहागदौ ।
पुनरन्तरमार्गस्थौ मण्डलानि विचेरतुः ॥ १९ ॥

महापराक्रमी भीमसेन और शल्य दोनों वीर अपनी विशाल गदाओंको ऊपर उठाये कभी पीछे लौट पड़ते, कभी मध्यम मार्गमें स्थित होते और कभी मण्डलाकार घूमने लगते थे ॥ १९ ॥

अथाभ्येत्य पदान्यष्टौ संनिपातोऽभवत् तयोः ।
उद्यम्य लोहदण्डाभ्यामतिमानुषकर्मणोः ॥ २० ॥

वे युद्ध करते-करते आठ कदम आगे बढ़ आये और लोहेके डंडे उठाकर एक दूसरेको मारने लगे। उनका पराक्रम अलौकिक था। उन दोनोंमें उस समय भयानक संघर्ष होने लगा ॥ २० ॥

पोथयन्तौ तदान्योन्यं मण्डलानि विचेरतुः ।
क्रियाविशेषं कृतिनौ दर्शयामासतुस्तदा ॥ २१ ॥

वे दोनों युद्धकलाके विद्वान् वीर, एक दूसरेको कुचलते हुए मण्डलाकार विचरते और अपना-अपना विशेष कार्य-कौशल प्रदर्शित करते थे ॥ २१ ॥

अथोद्यम्य गदे घोरे सशृङ्गाविव पर्वतौ ।
तावाजघ्नतुरन्योन्यं मण्डलानि विचेरतुः ॥ २२ ॥

तदनन्तर वे पुनः अपनी भयंकर गदाएँ उठाकर शिखरयुक्त दो पर्वतोंके समान परस्पर आघात करने और मण्डलाकार गतिसे विचरने लगे ॥ २२ ॥

क्रियाविशेषकृतिनौ रणभूमितलेऽचलौ ।
तौ परस्परसंरम्भाद् गदाभ्यां सुभृशाहतौ ॥ २३ ॥
युगपत् पेततुर्वीरावुभाविन्द्रध्वजाविव ।
उभयोः सेनयोर्वीरास्तदा हाहाकृतोऽभवन् ॥ २४ ॥

युद्धविषयक कार्यविशेषके ज्ञाता वे दोनों वीर अविचल-भावसे रणभूमिमें डटे हुए थे। वे एक दूसरेपर क्रोधपूर्वक गदाओंका प्रहार करके अत्यन्त घायल हो गये और दो इन्द्र-ध्वजोंके समान एक ही साथ पृथ्वीपर गिर पड़े। उस समय दोनों सेनाओंके वीर हाहाकार करने लगे ॥ २३-२४ ॥

भृशं मर्माण्यभिहतावुभावास्तां सुविह्वलौ ।
ततः स्वरथमारोप्य मद्राणामृषभं रणे ॥ २५ ॥
अपोवाह कृपः शल्यं तूर्णमायोधनादथ ।

भीम और शल्य दोनोंके मर्मस्थानोंमें गहरी चोटें लगी थीं; इसलिये दोनों ही अत्यन्त व्याकुल हो गये थे। इतने-हीमें कृपाचार्य मद्रराज शल्यको अपने रथपर बिठाकर तुरंत ही युद्धभूमिसे दूर हटा ले गये ॥ २५½ ॥

क्षीबवद् विह्वलत्वात् तु निमेषात् पुनरुत्थितः ॥ २६ ॥
भीमसेनो गदापाणिः समाह्वयत मद्रपम् ।

इधर गदाधारी भीमसेन पलक मारते-मारते पुनः होशमें आकर उठ खड़े हुए और विह्वलताके कारण मतवाले पुरुष-

के समान मद्रराजको युद्धके लिये ललकारने लगे ॥ २६½ ॥

ततस्तु तावकाः शूरा नानाशस्त्रसमायुताः ॥ २७ ॥
नानावादित्रशब्देन पाण्डुसेनामयोधयन् ।

तब आपके सैनिक नाना प्रकारके अस्त्र-शस्त्र लेकर भाँति-भाँतिके रणवाद्योंकी गम्भीर ध्वनिके साथ पाण्डवसेनासे युद्ध करने लगे ॥ २७½ ॥

भुजावुच्छ्रित्य शस्त्रं च शब्देन महता ततः ॥ २८ ॥
अभ्यद्रवन् महाराज दुर्योधनपुरोगमाः ।

महाराज ! दुर्योधन आदि कौरववीर दोनों हाथ और शस्त्र उठाकर महान् कोलाहल एवं सिंहनाद करते हुए शत्रुओं-पर टूट पड़े ॥ २८½ ॥

तदनीकमभिप्रेक्ष्य ततस्ते पाण्डुनन्दनाः ॥ २९ ॥
प्रययुः सिंहनादेन दुर्योधनपुरोगमान् ।

उस कौरवदलको धावा करते देख पाण्डव-वीर सिंहके समान गर्जना करके दुर्योधन आदिकी ओर बढ़ चले ।२९½।

तेषामापततां तूर्णं पुत्रस्ते भरतर्षभ ॥ ३० ॥
प्रासेन चेकितानं वै विव्याध हृदये भृशम् ।

भरतश्रेष्ठ ! आपके पुत्रने तुरंत ही एक प्रासका प्रहार करके उन आक्रमणकारी पाण्डव योद्धाओंमेंसे चेकितानकी छातीपर गहरी चोट पहुँचायी ॥ ३०½ ॥

स पपात रथोपस्थे तव पुत्रेण ताडितः ॥ ३१ ॥
रुधिरौघपरिक्लिन्नः प्रविश्य विपुलं तमः ।

आपके पुत्रद्वारा ताड़ित होकर चेकितान अत्यन्त मूर्छित हो रथकी बैठकमें गिर पड़ा । उस समय उसका सारा शरीर खूनसे लथपथ हो गया था ॥ ३१½ ॥

चेकितानं हतं दृष्ट्वा पाण्डवेया महारथाः ॥ ३२ ॥
असक्तमभ्यवर्षन्त शरवर्षाणि भागशः ।

चेकितानको मारा गया देख पाण्डव महारथी पृथक्-पृथक् बाणोंकी लगातार वर्षा करने लगे ॥ ३२½ ॥

तावकानामनीकेषु पाण्डवा जितकाशिनः ॥ ३३ ॥
व्यचरन्त महाराज प्रेक्षणीयाः समन्ततः ।

महाराज ! विजयसे उल्लसित होनेवाले पाण्डव आपकी सेनाओंमें सब ओर निर्भय विचरते थे । उस समय वे देखने ही योग्य थे ॥ ३३½ ॥

कृपश्च कृतवर्मा च सौबलश्च महारथः ॥ ३४ ॥
अयोधयन् धर्मराजं मद्रराजपुरस्कृताः ।

तत्पश्चात् कृपाचार्य, कृतवर्मा और महारथी शकुनि मद्रराज शल्यको आगे करके धर्मराज युधिष्ठिरसे युद्ध करने लगे ॥

भारद्वाजस्य हन्तारं भूरिवीर्यपराक्रमम् ॥ ३५ ॥
दुर्योधनो महाराज धृष्टद्युम्नमयोधयत् ।

राजाधिराज ! आपका पुत्र दुर्योधन अत्यन्त बल-पराक्रमसे सम्पन्न द्रोणहन्ता धृष्टद्युम्नके साथ जूझने लगा ॥३५½॥

त्रिसाहस्रास्तथा राजंस्तव पुत्रेण चोदिताः ॥ ३६ ॥
अयोधयन्त विजयं द्रोणपुत्रपुरस्कृताः ।

राजन् ! आपके पुत्रसे प्रेरित हो तीन हजार योद्धा अश्वत्थामाको अगुआ बनाकर अर्जुनके साथ युद्ध करने लगे ॥

विजये धृतसंकल्पाः समरे त्यक्तजीविताः ॥ ३७ ॥
प्राविशंस्तावका राजन् हंसा इव महत् सरः ।

नरेश्वर ! जैसे हंस महान् सरोवरमें प्रवेश करते हैं, उसी प्रकार आपके सैनिक समराङ्गणमें विजयका दृढ़ संकल्प ले प्राणोंका मोह छोड़कर शत्रुओंकी सेनामें जा घुसे ॥ ३७½ ॥

ततो युद्धमभूद् घोरं परस्परवधैषिणाम् ॥ ३८ ॥
अन्योन्यवधसंयुक्तमन्योन्यप्रीतिवर्धनम् ।

फिर तो एक दूसरेके वधकी इच्छावाले उभयपक्षके सैनिकोंमें घोर युद्ध होने लगा । सभी एक दूसरेके संहारके लिये सचेष्ट थे और वह युद्ध उनकी पारस्परिक प्रसन्नताको बढ़ा रहा था ॥ ३८½ ॥

तस्मिन् प्रवृत्ते संग्रामे राजन् वीरवरक्षये ॥ ३९ ॥
अनिलेनेरितं घोरमुत्तस्थौ पार्थिवं रजः ।

राजन् ! बड़े-बड़े वीरोंका विनाश करनेवाले उस घोर संग्रामके आरम्भ होते ही वायुकी प्रेरणासे धरतीकी भयंकर धूल ऊपरको उठने लगी ॥ ३९½ ॥

श्रवणान्नामधेयानां पाण्डवानां च कीर्तनात् ॥ ४० ॥
परस्परं विजानीमो यदयुध्यन्नभीतवत् ।

उस समय उस धूलके अन्धकारमें समस्त योद्धा निर्भय-से होकर युद्ध कर रहे थे । पाण्डव तथा कौरवयोद्धा जो अपना नाम लेकर परिचय देते थे, उसे ही सुनकर हमलोग एक दूसरेको पहचान पाते थे ॥ ४०½ ॥

तद्रजः पुरुषव्याघ्र शोणितेन प्रशामितम् ॥ ४१ ॥
दिशश्च विमला जातास्तस्मिंस्तमसि नाशिते ।

पुरुषसिंह ! उस समय इतना खून बहा कि उससे वहाँ छायी हुई सारी धूल बैठ गयी । उस धूलजनित अन्धकारका नाश होनेपर सम्पूर्ण दिशाएँ स्वच्छ हो गयीं ॥ ४१½ ॥

तथा प्रवृत्ते संग्रामे घोररूपे भयानके ॥ ४२ ॥
तावकानां परेषां च नासीत् कश्चित् पराङ्मुखः ।

इस प्रकार वह घोर एवं भयानक संग्राम चलने लगा । उस समय आपके और शत्रुपक्षके योद्धाओंमेंसे कोई भी युद्धसे विमुख नहीं हुआ ॥ ४२½ ॥

ब्रह्मलोकपरा भूत्वा प्रार्थयन्तो जयं युधि ॥ ४३ ॥
सुयुद्धेन पराक्रान्ता नराः स्वर्गमभीप्सवः ।

सबका लक्ष्य था ब्रह्मलोककी प्राप्ति । वे सभी सैनिक युद्धमें विजय चाहते और उत्तम युद्धके द्वारा पराक्रम दिखाते हुए स्वर्गलोक पानेकी अभिलाषा रखते थे ॥ ४३½ ॥

भर्तृपिण्डविमोक्षार्थं भर्तृकार्यविनिश्चिताः ॥ ४४ ॥
स्वर्गसंसक्तमनसो योधा युयुधिरे तदा ।

सभी योद्धा स्वामीके दिये हुए अन्नके ऋणसे उऋण होनेके लिये उनके कार्यको सिद्ध करनेका दृढ़ निश्चय किये मनमें स्वर्गकी अभिलाषा रखकर उस समय उत्साहपूर्वक युद्ध कर रहे थे ॥ ४४½ ॥

नानारूपाणि शस्त्राणि विसृजन्तो महारथाः ॥ ४५ ॥
अन्योन्यमभिगर्जन्तः प्रहरन्तः परस्परम् ।

नाना प्रकारके अस्त्र-शस्त्रोंका प्रयोग करके परस्पर प्रहार करनेवाले महारथी एक दूसरेको लक्ष्य करके गर्जना करते थे ॥

हत विध्यत गृह्णीत प्रहरध्वं निकृन्तत ॥ ४६ ॥
इति स्म वाचः श्रूयन्ते तव तेषां च वै बले ।

आपकी और पाण्डवोंकी सेनामें 'मारो, बींध डालो, पकड़ो, प्रहार करो और टुकड़े-टुकड़े कर डालो' ये ही बातें सुनायी देती थीं ॥ ४६½ ॥

ततः शल्यो महाराज धर्मपुत्रं युधिष्ठिरम् ॥ ४७ ॥
विव्याध निशितैर्बाणैर्हन्तुकामो महारथम् ।

महाराज ! तदनन्तर राजा शल्यने महारथी धर्मपुत्र राजा युधिष्ठिरको मार डालनेकी इच्छासे पैने बाणोंद्वारा बींध डाला ॥

तस्य पार्थो महाराज नाराचान् वै चतुर्दश ॥ ४८ ॥
मर्माण्युद्दिश्य मर्मज्ञो निचखान हसन्निव ।

महाराज ! मर्मज्ञ कुन्तीकुमारने शल्यके मर्मस्थानोंको लक्ष्य करके हँसते हुए-से चौदह नाराच चलाये और उनके अङ्गोंमें धँसा दिये ॥ ४८½ ॥

आवार्य पाण्डवं बाणैर्हन्तुकामो महाबलः ॥ ४९ ॥
विव्याध समरे क्रुद्धो बहुभिः कङ्कपत्रिभिः ।

महाबली शल्य पाण्डुपुत्र युधिष्ठिरको रोककर उन्हें मार डालनेकी इच्छासे समराङ्गणमें कङ्कपत्रयुक्त अनेक बाणोंद्वारा उनपर क्रोधपूर्वक प्रहार करने लगे ॥ ४९½ ॥

अथ भूयो महाराज शरेणानतपर्वणा ॥ ५० ॥
युधिष्ठिरं समाजघ्ने सर्वसैन्यस्य पश्यतः ।

राजाधिराज ! फिर उन्होंने सारी सेनाके देखते-देखते झुकी हुई गाँठवाले बाणसे युधिष्ठिरको घायल कर दिया ५०½

धर्मराजोऽपि संक्रुद्धो मद्रराजं महायशाः ॥ ५१ ॥
विव्याध निशितैर्बाणैः कङ्कबर्हिणवाजितैः ।

तब महायशस्वी धर्मराजने भी अत्यन्त कुपित हो कङ्क और मोरकी पाँखोंवाले पैने बाणोंसे मद्रराज शल्यको क्षत-विक्षत कर दिया ॥ ५१½ ॥

चन्द्रसेनं च सप्तत्या सूतं च नवभिः शरैः ॥ ५२ ॥
द्रुमसेनं चतुःषष्ट्या निजघान महारथः ।

इसके बाद महारथी युधिष्ठिरने सत्तर बाणोंसे चन्द्रसेनको, नव बाणोंसे शल्यके सारथिको और चौंसठ बाणोंसे द्रुमसेनको मार डाला ॥ ५२½ ॥

चक्ररक्षे हते शल्यः पाण्डवेन महात्मना ॥ ५३ ॥
निजघान ततो राजंश्चेदीन् वै पञ्चविंशतिम् ।

महात्मा पाण्डवके द्वारा अपने चक्ररक्षकके मारे जानेपर राजा शल्यने पचीस चेदि-योद्धाओंका संहार कर डाला ५३½

सात्यकिं पञ्चविंशत्या भीमसेनं च पञ्चभिः ॥ ५४ ॥
माद्रीपुत्रौ शतेनाजौ विव्याध निशितैः शरैः ।

फिर सात्यकिको पचीस, भीमसेनको पाँच तथा माद्रीके पुत्रोंको सौ तीखे बाणोंसे रणभूमिमें घायल कर दिया ॥५४½॥

एवं विचरतस्तस्य संग्रामे राजसत्तम ॥ ५५ ॥
सम्प्रैषयच्छितान् पार्थः शरानाशीविषोपमान् ।

नृपश्रेष्ठ ! इस प्रकार संग्राममें विचरते हुए राजा शल्यको लक्ष्य करके कुन्तीकुमारने विषधर सर्पोंके समान भयंकर एवं तीखे बाण चलाये ॥ ५५½ ॥

ध्वजाग्रं चास्य समरे कुन्तीपुत्रो युधिष्ठिरः ॥ ५६ ॥
प्रमुखे वर्तमानस्य भल्लेनापाहरद् रथात् ।

कुन्तीपुत्र युधिष्ठिरने समराङ्गणमें सामने खड़े हुए शल्यकी ध्वजाके अग्रभागको एक भल्लके द्वारा रथसे काट गिराया ॥

पाण्डुपुत्रेण वै तस्य केतुं छिन्नं महात्मना ॥ ५७ ॥
निपतन्तमपश्याम गिरिशृङ्गमिवाहतम् ।

महात्मा पाण्डुपुत्रके द्वारा कटकर गिरते हुए उस ध्वजको हमलोगोंने वज्रके आघातसे टूटकर नीचे गिरनेवाले पर्वत-शिखरके समान देखा था ॥ ५७½ ॥

ध्वजं निपतितं दृष्ट्वा पाण्डवं च व्यवस्थितम् ॥ ५८ ॥
संक्रुद्धो मद्रराजोऽभूच्छरवर्षं मुमोच ह ।

ध्वज नीचे गिर पड़ा और पाण्डुपुत्र युधिष्ठिर सामने खड़े हैं; यह देखकर मद्रराज शल्यको बड़ा क्रोध हुआ और वे बाणोंकी वर्षा करने लगे ॥ ५८½ ॥

शल्यः सायकवर्षेण पर्जन्य इव वृष्टिमान् ॥ ५९ ॥
अभ्यवर्षदमेयात्मा क्षत्रियान् क्षत्रियर्षभः ।

अमेय आत्मबलसे सम्पन्न क्षत्रियशिरोमणि शल्य वृष्टिकारी मेघके समान क्षत्रियोंपर बाणोंकी वर्षा कर रहे थे ५९½

सात्यकिं भीमसेनं च माद्रीपुत्रौ च पाण्डवौ ॥ ६० ॥
एकैकं पञ्चभिर्विद्ध्वा युधिष्ठिरमपीडयत् ।

सात्यकि, भीमसेन और माद्रीकुमार पाण्डुपुत्र नकुल-सहदेव—इनमेंसे प्रत्येकको पाँच-पाँच बाणोंसे घायल करके वे युधिष्ठिरको पीड़ा देने लगे ॥ ६०½ ॥

ततो बाणमयं जालं विततं पाण्डवोरसि ॥ ६१ ॥
अपश्याम महाराज मेघजालमिवोद्गतम् ।

महाराज ! तदनन्तर हमलोगोंने पाण्डुपुत्र युधिष्ठिरकी छातीपर बाणोंका जाल-सा बिछा हुआ देखा, मानो आकाशमें मेघोंकी घटा घिर आयी हो ॥ ६१½ ॥

तस्य शल्यो रणे क्रुद्धः शरैः संनतपर्वभिः ॥ ६२ ॥
दिशः संछादयामास प्रदिशश्च महारथः ।

रणभूमिमें कुपित हुए महारथी शल्यने झुकी हुई गाँठवाले बाणोंसे युधिष्ठिरकी सम्पूर्ण दिशाओं और विदिशाओंको ढक दिया ॥ ६२½ ॥

ततो युधिष्ठिरो राजा बाणजालेन पीडितः ।
बभूवाद्भुतविक्रान्तो जम्भो वृत्रहणा यथा ॥ ६३ ॥

उस समय अद्भुत पराक्रमी राजा युधिष्ठिर उस बाणसमूहसे वैसे ही पीड़ित हो गये, जैसे इन्द्रने जम्भासुरको संतप्त किया था ॥ ६३ ॥

इति श्रीमहाभारते शल्यपर्वणि संकुलयुद्धे द्वादशोऽध्यायः ॥ १२ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शल्यपर्वमें संकुलयुद्धविषयक बारहवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १२ ॥

त्रयोदशोऽध्यायः

मद्रराज शल्यका अद्भुत पराक्रम

संजय उवाच

पीडिते धर्मराजे तु मद्रराजेन मारिष।
सात्यकिर्भीमसेनश्च माद्रीपुत्रौ च पाण्डवौ॥ १॥
परिवार्य रथैः शल्यं पीडयामासुराहवे।

संजय कहते हैं—आर्य! जब मद्रराज शल्य धर्मराज युधिष्ठिरको पीड़ा देने लगे, तब सात्यकि, भीमसेन और माद्रीपुत्र पाण्डव नकुल-सहदेवने युद्धस्थलमें शल्यको रथोंद्वारा घेरकर उन्हें पीड़ा देना प्रारम्भ किया॥ १½॥

तमेकं बहुभिर्दृष्ट्वा पीड्यमानं महारथैः॥ २॥
साधुवादो महाञ्जज्ञे सिद्धाश्चासन् प्रहर्षिताः।
आश्चर्यमित्यभाषन्त मुनयश्चापि सङ्गताः॥ ३॥

अकेले शल्यको अनेक महारथियोंद्वारा पीड़ित होते देख उनको सब ओरसे महान् साधुवाद प्राप्त होने लगा। वहाँ एकत्र हुए सिद्ध और महर्षि भी हर्षमें भरकर बोल उठे—'आश्चर्य है'॥ २-३॥

भीमसेनो रणे शल्यं शल्यभूतं पराक्रमे।
एकेन विद्ध्वा बाणेन पुनर्विव्याध सप्तभिः॥ ४॥

भीमसेनने रणभूमिमें अपने पराक्रमके लिये कण्टकरूप शल्यको पहले एक बाणसे घायल करके फिर सात बाणोंसे बींध डाला॥ ४॥

सात्यकिश्च शतेनैनं धर्मपुत्रपरीप्सया।
मद्रेश्वरमवाकीर्य सिंहनादमथानदत्॥ ५॥

सात्यकि भी धर्मपुत्र युधिष्ठिरकी रक्षाके लिये मद्रराजको सौ बाणोंसे आच्छादित करके सिंहके समान दहाड़ने लगे॥ ५॥

नकुलः पञ्चभिश्चैनं सहदेवश्च पञ्चभिः।
विद्ध्वा तं तु पुनस्तूर्णं ततो विव्याध सप्तभिः॥ ६॥

नकुल और सहदेवने पाँच-पाँच बाणोंसे शल्यको घायल करके फिर सात बाणोंसे उन्हें तुरंत ही बींध डाला॥ ६॥

स तु शूरो रणे यत्तः पीडितस्तैर्महारथैः।
विकृष्य कार्मुकं घोरं वेगघ्नं भारसाधनम्॥ ७॥
सात्यकिं पञ्चविंशत्या शल्यो विव्याध मारिष।
भीमसेनं तु सप्तत्या नकुलं सप्तभिस्तथा॥ ८॥

माननीय नरेश! समराङ्गणमें शूरवीर शल्यने उन महारथियोंद्वारा पीड़ित होनेपर भी विजयके लिये यत्नशील हो भार सहन करनेमें समर्थ और शत्रुके वेगका नाश करनेवाले एक भयंकर धनुषको खींचकर सात्यकिको पचीस, भीमसेनको सत्तर और नकुलको सात बाण मारे॥ ७-८॥

ततः सविशिखं चापं सहदेवस्य धन्विनः।
छित्त्वा भल्लेन समरे विव्याधैनं त्रिसप्तभिः॥ ९॥

तत्पश्चात् समरभूमिमें एक भल्लके द्वारा धनुर्धर सहदेवके बाणसहित धनुषको काटकर शल्यने उन्हें इक्कीस बाणोंसे घायल कर दिया॥ ९॥

सहदेवस्तु समरे मातुलं भूरिवर्चसम्।
सज्यमन्यद् धनुः कृत्वा पञ्चभिः समताडयत्॥ १०॥
शरैराशीविषाकारैर्ज्वलज्ज्वलनसंनिभैः।

तब सहदेवने संग्राममें दूसरे धनुषपर प्रत्यञ्चा चढ़ाकर अपने अत्यन्त तेजस्वी मामाको विषधर सर्पोंके समान भयंकर और जलती हुई आगके समान प्रज्वलित पाँच बाणोंद्वारा घायल कर दिया॥ १०½॥

सारथिं चास्य समरे शरेणानतपर्वणा॥ ११॥
विव्याध भृशसंक्रुद्धस्तं वै भूयस्त्रिभिः शरैः।

साथ ही अत्यन्त कुपित होकर उन्होंने झुकी हुई गाँठवाले बाणसे उनके सारथिको भी पीट दिया और उन्हें भी पुनः तीन बाणोंसे घायल किया॥ ११½॥

भीमसेनस्तु सप्तत्या सात्यकिर्नवभिः शरैः॥ १२॥
धर्मराजस्तथा षष्ट्या गात्रे शल्यं समार्पयत्।

तत्पश्चात् भीमसेनने सत्तर, सात्यकिने नौ और धर्मराज युधिष्ठिरने साठ बाणोंसे शल्यके शरीरको चोट पहुँचायी १२½

ततः शल्यो महाराज निर्विद्धस्तैर्महारथैः॥ १३॥
सुस्राव रुधिरं गात्रैर्गैरिकं पर्वतो यथा।

महाराज! उन महारथियोंद्वारा अत्यन्त घायल कर दिये जानेपर राजा शल्य अपने अङ्गोंसे रक्तकी धारा बहाने लगे, मानो पर्वत गेरु-मिश्रित जलका झरना बहा रहा हो॥ १३½॥

तांश्च सर्वान् महेष्वासान् पञ्चभिः पञ्चभिः शरैः॥ १४॥
विव्याध तरसा राजंस्तदद्भुतमिवाभवत्।

राजन्! उन्होंने उन सभी महाधनुर्धरोंको पाँच-पाँच बाणोंसे वेगपूर्वक घायल कर दिया। वह उनके द्वारा अद्भुत-सा कार्य हुआ॥ १४½॥

ततोऽपरेण भल्लेन धर्मपुत्रस्य मारिष॥ १५॥
धनुश्चिच्छेद समरे सज्यं स सुमहारथः।

मान्यवर! तदनन्तर उन श्रेष्ठ महारथी शल्यने समराङ्गणमें एक दूसरे भल्लके द्वारा धर्मपुत्र युधिष्ठिरके प्रत्यञ्चासहित धनुषको काट डाला॥ १५½॥

अथान्यद् धनुरादाय धर्मपुत्रो युधिष्ठिरः॥ १६॥
साश्वसूतध्वजरथं शल्यं प्राच्छादयच्छरैः।

तब धर्मपुत्र युधिष्ठिरने दूसरा धनुष हाथमें लेकर घोड़े, सारथि, ध्वज और रथसहित शल्यको अपने बाणोंसे आच्छादित कर दिया॥ १६½॥

स च्छाद्यमानः समरे धर्मपुत्रस्य सायकैः॥ १७॥
युधिष्ठिरमथाविध्यद् दशभिर्निशितैः शरैः।

समराङ्गणमें धर्मपुत्रके बाणोंसे आच्छादित होते हुए शल्यने युधिष्ठिरको दस पैने बाणोंसे बींध डाला॥ १७½॥

सात्यकिस्तु ततः क्रुद्धो धर्मपुत्रे शरार्दिते॥ १८॥
मद्राणामधिपं शूरं शरैर्विव्याध पञ्चभिः।

जब धर्मपुत्र युधिष्ठिर शल्यके बाणोंसे पीड़ित हो गये, तब क्रोधमें भरे हुए सात्यकिने शूरवीर मद्रराजपर पाँच बाणोंका प्रहार किया ॥ १८½ ॥

स सात्यकेः प्रचिच्छेद क्षुरप्रेण महद् धनुः ॥ १९ ॥
भीमसेनमुखांस्तांश्च त्रिभिस्त्रिभिरताडयत् ।

तब शल्यने एक क्षुरप्रसे सात्यकिके विशाल धनुषको काट दिया और भीमसेन आदिको भी तीन-तीन बाणोंसे चोट पहुँचायी ॥ १९½ ॥

तस्य क्रुद्धो महाराज सात्यकिः सत्यविक्रमः ॥ २० ॥
तोमरं प्रेषयामास स्वर्णदण्डं महाधनम् ।

महाराज ! तब सत्यपराक्रमी सात्यकिने कुपित हो शल्यपर सुवर्णमय दण्डसे विभूषित एक बहुमूल्य तोमरका प्रहार किया ॥ २०½ ॥

भीमसेनोऽथ नाराचं ज्वलन्तमिव पन्नगम् ॥ २१ ॥
नकुलः समरे शक्तिं सहदेवो गदां शुभाम् ।
धर्मराजः शतघ्नीं च जिघांसुः शल्यमाहवे ॥ २२ ॥

भीमसेनने प्रज्वलित सर्पके समान नाराच चलाया, नकुलने संग्रामभूमिमें शल्यपर शक्ति छोड़ी, सहदेवने सुन्दर गदा चलायी और धर्मराज युधिष्ठिरने रणक्षेत्रमें शल्यको मार डालनेकी इच्छासे उनपर शतघ्नीका प्रहार किया ॥२१-२२॥

तानापतत एवाशु पञ्चानां वै भुजच्युतान् ।
वारयामास समरे शस्त्रसङ्घैः स मद्रराट् ॥ २३ ॥

परंतु मद्रराज शल्यने समराङ्गणमें अपने शस्त्रसमूहोंद्वारा उन पाँचों वीरोंके हाथोंसे छूटे हुए उक्त सभी अस्त्रोंका शीघ्र ही निवारण कर दिया ॥ २३ ॥

सात्यकिप्रहितं शल्यो भल्लैश्चिच्छेद तोमरम् ।
प्रहितं भीमसेनेन शरं कनकभूषणम् ॥ २४ ॥
द्विधा चिच्छेद समरे कृतहस्तः प्रतापवान् ।

सिद्धहस्त एवं प्रतापी वीर शल्यने अपने भल्लोंद्वारा सात्यकिके चलाये हुए तोमरके टुकड़े-टुकड़े कर डाले और भीमसेनके छोड़े हुए सुवर्णभूषित बाणके दो खण्ड कर डाले ॥

नकुलप्रेषितां शक्तिं हेमदण्डां भयावहाम् ॥ २५ ॥
गदां च सहदेवेन शरौघैः समवारयत् ।

इसी प्रकार उन्होंने नकुलकी चलायी हुई स्वर्ण-दण्ड-विभूषित भयंकर शक्तिका तथा सहदेवकी फेंकी हुई गदाका भी अपने बाणसमूहोंद्वारा निवारण कर दिया ॥ २५½ ॥

शराभ्यां च शतघ्नीं तां राज्ञश्चिच्छेद भारत ॥ २६ ॥
पश्यतां पाण्डुपुत्राणां सिंहनादं ननाद च ।

भारत ! फिर शल्यने दो बाणोंसे राजा युधिष्ठिरकी उस शतघ्नीको भी पाण्डवोंके देखते-देखते काट डाला और सिंहके समान दहाड़ना आरम्भ किया ॥ २६½ ॥

नामृष्यत्तत्तु शैनेयः शत्रोर्विजयमाहवे ॥ २७ ॥
अथान्यद् धनुरादाय सात्यकिः क्रोधमूर्च्छितः ।
द्वाभ्यां मद्रेश्वरं विद्ध्वा सारथिं च त्रिभिः शरैः॥२८॥

युद्धमें शत्रुकी इस विजयको शिनिपौत्र सात्यकि नहीं सहन कर सके । उन्होंने दूसरा धनुष हाथमें लेकर क्रोधसे आतुर हो दो बाणोंसे मद्रराजको घायल करके तीनसे उनके सारथिको भी बींध डाला ॥ २७-२८ ॥

ततः शल्यो रणे राजन् सर्वांस्तान् दशभिः शरैः ।
विव्याध भृशसंक्रुद्धस्तोत्त्रैरिव महाद्विपान् ॥ २९ ॥

राजन् ! तब राजा शल्य रणभूमिमें अत्यन्त कुपित हो उठे और जैसे महावत अङ्कुशोंसे बड़े-बड़े हाथियोंको चोट पहुँचाते हैं, उसी प्रकार उन्होंने उन सब योद्धाओंको दस बाणोंसे घायल कर दिया ॥ २९ ॥

ते वार्यमाणाः समरे मद्रराज्ञा महारथाः ।
न शेकुः सम्मुखे स्थातुं तस्य शत्रुनिषूदनाः ॥ ३० ॥

समराङ्गणमें मद्रराज शल्यके द्वारा इस प्रकार रोके जाते हुए शत्रुसूदन पाण्डव-महारथी उनके सामने ठहर न सके ॥

ततो दुर्योधनो राजा दृष्ट्वा शल्यस्य विक्रमम् ।
निहतान् पाण्डवान् मेने पञ्चालानथ सृञ्जयान्॥ ३१ ॥

उस समय राजा दुर्योधन शल्यका वह पराक्रम देखकर ऐसा समझने लगा कि अब पाण्डव, पाञ्चाल और सृंजय अवश्य मार डाले जायँगे ॥ ३१ ॥

ततो राजन् महाबाहुर्भीमसेनः प्रतापवान् ।
संत्यज्य मनसा प्राणान् मद्राधिपमयोधयत् ॥ ३२ ॥

राजन् ! तदनन्तर प्रतापी महाबाहु भीमसेन मनसे प्राणोंका मोह छोड़कर मद्रराज शल्यके साथ युद्ध करने लगे ॥

नकुलः सहदेवश्च सात्यकिश्च महारथः ।
परिवार्य तदा शल्यं समन्ताद् व्यकिरञ्शरैः ॥ ३३ ॥

नकुल, सहदेव और महारथी सात्यकिने भी उस समय शल्यको घेरकर उनके ऊपर चारों ओरसे बाणोंकी वर्षा प्रारम्भ कर दी ॥ ३३ ॥

स चतुर्भिर्महेष्वासैः पाण्डवानां महारथैः ।
वृतस्तान् योधयामास मद्रराजः प्रतापवान् ॥ ३४ ॥

इन चार महाधनुर्धर पाण्डवपक्षके महारथियोंसे घिरे हुए प्रतापी मद्रराज शल्य उन सबके साथ युद्ध कर रहे थे ॥

तस्य धर्मसुतो राजन् क्षुरप्रेण महाहवे ।
चक्ररक्षं जघानाशु मद्रराजस्य पार्थिवः ॥ ३५ ॥

राजन् ! उस महासमरमें धर्मपुत्र राजा युधिष्ठिरने एक क्षुरप्रद्वारा मद्रराज शल्यके चक्ररक्षकको शीघ्र ही मार डाला॥

तस्मिंस्तु निहते शूरे चक्ररक्षे महारथे ।
मद्रराजोऽपि बलवान् सैनिकानावृणोच्छरैः ॥ ३६ ॥

अपने महारथी शूरवीर चक्ररक्षकके मारे जानेपर बलवान् मद्रराजने भी बाणोंद्वारा शत्रुपक्षके समस्त योद्धाओंको आच्छादित कर दिया ॥ ३६ ॥

समावृतांस्ततस्तांस्तु राजन् वीक्ष्य स्वसैनिकान् ।
चिन्तयामास समरे धर्मपुत्रो युधिष्ठिरः ॥ ३७ ॥

राजन् ! समराङ्गणमें अपने समस्त सैनिकोंको बाणोंसे ढका हुआ देख धर्मपुत्र युधिष्ठिर मन-ही-मन इस प्रकार चिन्ता करने लगे—॥ ३७ ॥

कथं नु समरे शक्यं तन्माधववचो महत् ।
न हि क्रुद्धो रणे राजा क्षपयेत बलं मम ॥ ३८ ॥

'इस युद्धस्थलमें भगवान् श्रीकृष्णकी कही हुई वह महत्त्वपूर्ण बात कैसे सिद्ध हो सकेगी ? कहीं ऐसा न हो कि रणभूमिमें कुपित हुए महाराज शल्य मेरी सारी सेनाका संहार कर डालें ॥ ३८ ॥

(अहं मद्भ्रातरश्चैव सात्यकिश्च महारथः ।
पञ्चालाः सृञ्जयाश्चैव न शक्ताः स्म हि मद्रपम् ॥
निहनिष्यति चैवाद्य मातुलोऽस्मान् महाबलः ।
गोविन्दवचनं सत्यं कथं भवति किं त्विदम् ॥)

'मैं, मेरे भाई, महारथी सात्यकि तथा पाञ्चाल और संजय योद्धा सब मिलकर भी मद्रराज शल्यको पराजित करनेमें समर्थ नहीं हो रहे हैं । जान पड़ता है ये महाबली मामा आज हमलोगोंका वध कर डालेंगे । फिर भगवान् श्रीकृष्णकी यह बात (कि शल्य मेरे हाथसे मारे जायँगे) कैसे सिद्ध होगी ?' ॥

ततः सरथनागाश्वाः पाण्डवाः पाण्डुपूर्वज ।
मद्रराजं समासेदुः पीडयन्तः समन्ततः ॥ ३९ ॥

पाण्डुके बड़े भाई महाराज धृतराष्ट्र ! तदनन्तर रथ, हाथी और घोड़ोंसहित समस्त पाण्डवयोद्धा मद्रराज शल्यको सब ओरसे पीड़ा देते हुए उनपर चढ़ आये ॥ ३९ ॥

नानाशस्त्रौघबहुलां शस्त्रवृष्टिं समुद्यताम् ।
व्यधमत् समरे राजा महाभ्राणीव मारुतः ॥ ४० ॥

जैसे वायु बड़े-बड़े बादलोंको उड़ा देती है, उसी प्रकार समराङ्गणमें राजा शल्यने अनेक प्रकारके अस्त्र-शस्त्रोंसे परिपूर्ण उस उमड़ी हुई शस्त्रवर्षाको छिन्न-भिन्न कर डाला ॥

ततः कनकपुङ्खां तां शल्यक्षिप्तां वियद्गताम् ।
शरवृष्टिमपश्याम शलभानामिवायतिम् ॥ ४१ ॥

तत्पश्चात् शल्यके चलाये हुए सुनहरे पंखवाले बाणोंकी वर्षा आकाशमें टिड्डीदलोंके समान छा गयी, जिसे हमने अपनी आँखों देखा था ॥ ४१ ॥

ते शरा मद्रराजेन प्रेषिता रणमूर्धनि ।
सम्पतन्तः स्म दृश्यन्ते शलभानां व्रजा इव ॥ ४२ ॥

युद्धके मुहानेपर मद्रराजके चलाये हुए वे बाण शलभसमूहोंके समान गिरते दिखायी देते थे ॥ ४२ ॥

मद्रराजधनुर्मुक्तैः शरैः कनकभूषणैः ।
निरन्तरमिवाकाशं सम्बभूव जनाधिप ॥ ४३ ॥

नरेश्वर ! मद्रराज शल्यके धनुषसे छूटे हुए उन सुवर्णभूषित बाणोंसे आकाश ठसाठस भर गया था ॥ ४३ ॥

न पाण्डवानां नास्माकं तत्र किञ्चिद् व्यदृश्यत ।
बाणान्धकारे महति कृते तत्र महाहवे ॥ ४४ ॥

उस महायुद्धमें बाणोंद्वारा महान् अन्धकार छा गया, जिससे वहाँ हमारी और पाण्डवोंकी कोई भी वस्तु दिखायी नहीं देती थी ॥ ४४ ॥

मद्रराजेन बलिना लाघवाच्छरवृष्टिभिः ।
चाल्यमानं तु तं दृष्ट्वा पाण्डवानां बलार्णवम् ॥ ४५॥
विस्मयं परमं जग्मुर्देवगन्धर्वदानवाः ।

बलवान् मद्रराजके द्वारा शीघ्रतापूर्वक की जानेवाली उस बाणवर्षासे पाण्डवोंके उस सैन्यसमुद्रको विचलित होते देख देवता, गन्धर्व और दानव अत्यन्त आश्चर्यमें पड़ गये ४५½

स तु तान् सर्वतो यत्ताञ्शरैः संछाद्य मारिष ॥४६ ॥
धर्मराजमवच्छाद्य सिंहवद् व्यनदन्मुहुः ।

मान्यवर ! विजयके लिये प्रयत्न करनेवाले उन समस्त योद्धाओंको सब ओरसे बाणोंद्वारा आच्छादित करके शल्य धर्मराज युधिष्ठिरको भी ढककर बारंबार सिंहके समान गर्जना करने लगे ॥ ४६½ ॥

ते च्छन्नाः समरे तेन पाण्डवानां महारथाः ॥ ४७ ॥
नाशक्नुवंस्तदा युद्धे प्रत्युद्यातुं महारथम् ।

समराङ्गणमें उनके बाणोंसे आच्छादित हुए पाण्डवोंके महारथी उस युद्धमें महारथी शल्यकी ओर आगे बढ़नेमें समर्थ न हो सके ॥ ४७½ ॥

धर्मराजपुरोगास्तु भीमसेनमुखा रथाः ।
न जहुः समरे शूरं शल्यमाहवशोभिनम् ॥ ४८ ॥

तो भी धर्मराजको आगे रखकर भीमसेन आदि रथी संग्राममें शोभा पानेवाले शूरवीर शल्यको वहाँ छोड़कर पीछे न हटे ॥ ४८ ॥

इति श्रीमहाभारते शल्यपर्वणि शल्ययुद्धे त्रयोदशोऽध्यायः ॥ १३ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शल्यपर्वमें शल्यका युद्धविषयक तेरहवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १३ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठके २ श्लोक मिलाकर कुल ५० श्लोक हैं)

चतुर्दशोऽध्यायः

अर्जुन और अश्वत्थामाका युद्ध तथा पाञ्चाल वीर सुरथका वध

संजय उवाच

अर्जुनो द्रौणिना विद्धो युद्धे बहुभिरायसैः ।
तस्य चानुचरैः शूरैस्त्रिगर्तानां महारथैः ॥ १ ॥

संजय कहते हैं—महाराज ! दूसरी ओर द्रोणपुत्र अश्वत्थामा तथा उसके पीछे चलनेवाले त्रिगर्तदेशीय शूरवीर महारथियोंने अर्जुनको लोहेके बने हुए बहुत-से बाणोंद्वारा घायल कर दिया ॥ १ ॥

द्रौणिं विव्याध समरे त्रिभिरेव शिलीमुखैः ।
तथेतरान् महेष्वासान् द्वाभ्यां द्वाभ्यां धनंजयः ॥ २ ॥

तब अर्जुनने समरभूमिमें तीन बाणोंसे अश्वत्थामाको और दो-दो बाणोंसे अन्य महाधनुर्धरोंको बींध डाला ॥ २ ॥

भूयश्चैव महाराज शरवर्षैरवाकिरत् ।
शरकण्टकितास्ते तु तावका भरतर्षभ ॥ ३ ॥
न जहुः पार्थमासाद्य ताड्यमानाः शितैः शरैः ।

महाराज ! भरतश्रेष्ठ ! तदनन्तर अर्जुनने पुनः उन सब-को अपने बाणोंकी वर्षासे आच्छादित कर दिया । अर्जुनके पैने बाणोंकी मार खाकर उन बाणोंसे कण्टकयुक्त होकर भी आपके सैनिक अर्जुनको छोड़ न सके ॥ ३½ ॥

अर्जुनं रथवंशेन द्रोणपुत्रपुरोगमाः ॥ ४ ॥
अयोधयन्त समरे परिवार्य महारथाः ।

समराङ्गणमें द्रोणपुत्रको आगे करके कौरव महारथी अर्जुनको रथसमूहसे घेरकर उनके साथ युद्ध करने लगे ॥४½॥

तैस्तु क्षिप्ताः शरा राजन् कार्तस्वरविभूषिताः ॥ ५ ॥
अर्जुनस्य रथोपस्थं पूरयामासुरञ्जसा ।

राजन् ! उनके चलाये हुए सुवर्णभूषित बाणोंने अर्जुनके रथकी बैठकको अनायास ही भर दिया ॥ ५½ ॥

तथा कृष्णौ महेष्वासौ वृषभौ सर्वधन्विनाम् ॥ ६ ॥
शरैर्वीक्ष्य वितुन्नाङ्गौ प्रहृष्टा युद्धदुर्मदाः ।

सम्पूर्ण धनुर्धरोंमें श्रेष्ठ तथा महाधनुर्धर श्रीकृष्ण और अर्जुनके सम्पूर्ण अङ्गोंको बाणोंसे व्यथित हुआ देख रणदुर्मद कौरवयोद्धा बड़े प्रसन्न हुए ॥ ६½ ॥

कूबरं रथचक्राणि ईषा योक्त्राणि वा विभो ॥ ७ ॥
युगं चैवानुकर्षं च शरभूतमभूत्तदा ।

प्रभो ! अर्जुनके रथके पहिये, कूबर, ईषादण्ड, लगाम या जोते, जूआ और अनुकर्ष—ये सब-के-सब उस समय बाण-मय हो रहे थे ॥ ७½ ॥

नैतादृशं दृष्टपूर्वं राजन् नैव च नः श्रुतम् ॥ ८ ॥
यादृशं तत्र पार्थस्य तावकाः सम्प्रचक्रिरे ।

राजन् ! वहाँ आपके योद्धाओंने अर्जुनकी जैसी अवस्था कर दी थी, वैसी पहले कभी न तो देखी गयी और न सुनी ही गयी थी ॥ ८½ ॥

स रथः सर्वतो भाति चित्रपुङ्खैः शितैः शरैः ॥ ९ ॥
उल्काशतैः सम्प्रदीप्तं विमानमिव भूतले ।

विचित्र पंखवाले पैने बाणोंद्वारा सब ओरसे व्याप्त हुआ अर्जुनका रथ भूतलपर सैकड़ों मसालोंसे प्रकाशित होनेवाले विमानके समान शोभा पाता था ॥ ९½ ॥

ततोऽर्जुनो महाराज शरैः संनतपर्वभिः ॥ १० ॥
अवाकिरत्तां पृतनां मेघो वृष्ट्येव पर्वतम् ।

महाराज ! तदनन्तर अर्जुनने झुकी हुई गाँठवाले बाणों-द्वारा आपकी उस सेनाको उसी प्रकार ढक दिया, जैसे मेघ पानीकी वर्षासे पर्वतको आच्छादित कर देता है ॥ १०½ ॥

ते वध्यमानाः समरे पार्थनामाङ्कितैः शरैः ॥ ११ ॥
पार्थभूतममन्यन्त प्रेक्षमाणास्तथाविधम् ।

समरभूमिमें अर्जुनके नामसे अङ्कित बाणोंकी चोट खाते हुए कौरवसैनिक उन्हें उसी रूपमें देखते हुए सब कुछ अर्जुनमय ही मानने लगे ॥ ११½ ॥

कोपोद्धतशरज्वालो धनुःशब्दानिलो महान् ॥ १२ ॥
सैन्येन्धनं ददाहाशु तावकं पार्थपावकः ।

अर्जुनकी महान् अग्निने क्रोधसे प्रज्वलित हुई बाणमयी ज्वालाएँ फैलाकर धनुषकी टंकाररूपी वायुसे प्रेरित हो आपके सैन्यरूपी ईंधनको शीघ्रतापूर्वक जलाना आरम्भ किया ॥१२½॥

चक्राणां पततां चापि युगानां च धरातले ॥ १३ ॥
तूणीराणां पताकानां ध्वजानां च रथैः सह ।
ईषाणामनुकर्षाणां त्रिवेणूनां च भारत ॥ १४ ॥
अक्षाणामथ योक्त्राणां प्रतोदानां च सर्वशः ।
शिरसां पततां चापि कुण्डलोष्णीषधारिणाम् ॥ १५ ॥
भुजानां च महाभाग स्कन्धानां च समन्ततः ।
छत्राणां व्यजनैः सार्धं मुकुटानां च राशयः ॥ १६ ॥
समदृश्यन्त पार्थस्य रथमार्गेषु भारत ।

भारत ! महाभाग ! अर्जुनके रथके मार्गोंमें धरतीपर गिरते हुए रथके पहियों, जूओं, तरकसों, पताकाओं, ध्वजों, रथों, हरसों, अनुकर्षों, त्रिवेणु नामक काठों, धुरों, रस्सियों, चाबुकों, कुण्डल और पगड़ी धारण करनेवाले मस्तकों, भुजाओं, कंधों, छत्रों, व्यजनों और मुकुटोंके ढेर-के-ढेर दिखायी देने लगे। १३—१६½।

ततः क्रुद्धस्य पार्थस्य रथमार्गे विशाम्पते ॥ १७ ॥
अगम्यरूपा पृथिवी मांसशोणितकर्दमा ।

प्रजानाथ ! कुपित हुए अर्जुनके रथके मार्गकी भूमिपर मांस और रक्तकी कीच जम जानेके कारण वहाँ चलना-फिरना असम्भव हो गया ॥ १७½ ॥

भीरूणां त्रासजननी शूराणां हर्षवर्धिनी ॥ १८ ॥
बभूव भरतश्रेष्ठ रुद्रस्याक्रीडनं यथा ।

भरतश्रेष्ठ ! वह रणभूमि रुद्रदेवके क्रीडास्थल (श्मशान) की भाँति कायरोंके मनमें भय उत्पन्न करनेवाली और शूर-वीरोंका हर्ष बढ़ानेवाली थी ॥ १८½ ॥

हत्वा तु समरे पार्थः सहस्रे द्वे परंतपः ॥ १९ ॥
रथानां सवरूथानां विधूमोऽग्निरिव ज्वलन् ।

शत्रुओंको संताप देनेवाले पार्थ समराङ्गणमें आवरणसहित दो सहस्र रथोंका संहार करके धूमरहित प्रज्वलित अग्निके समान प्रकाशित हो रहे थे ॥ १९½ ॥

यथा हि भगवानग्निर्जगद् दग्ध्वा चराचरम् ॥ २० ॥
विधूमो दृश्यते राजंस्तथा पार्थो धनंजयः ।

राजन् ! जैसे चराचर जगत्को दग्ध करके भगवान् अग्नि-देव धूमरहित देखे जाते हैं, उसी प्रकार कुन्तीकुमार अर्जुन भी देदीप्यमान हो रहे थे ॥ २०½ ॥

द्रौणिस्तु समरे दृष्ट्वा पाण्डवस्य पराक्रमम् ॥ २१ ॥
रथेनातिपताकेन पाण्डवं प्रत्यवारयत् ।

संग्रामभूमिमें पाण्डुपुत्र अर्जुनका वह पराक्रम देखकर द्रोणकुमार अश्वत्थामाने अत्यन्त ऊँची पताकावाले रथके द्वारा आकर उन्हें रोका ॥ २१½ ॥

तावुभौ पुरुषव्याघ्रौ तावुभौ धन्विनां वरौ ॥ २२ ॥
समीयतुस्तदान्योन्यं परस्परवधैषिणौ ।

वे दोनों ही मनुष्योंमें व्याघ्रके समान पराक्रमी थे और दोनों ही धनुर्धरोंमें श्रेष्ठ समझे जाते थे । उस समय परस्पर वधकी इच्छासे दोनों ही एक-दूसरेके साथ भिड़ गये ॥२२½॥

तयोरासीन्महाराज बाणवर्षं सुदारुणम् ॥ २३ ॥
जीमूतयोर्यथा वृष्टिस्तपान्ते भरतर्षभ ।

महाराज ! भरतश्रेष्ठ ! जैसे वर्षा ऋतुमें दो मेघखण्ड पानी बरसा रहे हों, उसी प्रकार उन दोनोंके बाणोंकी वहाँ अत्यन्त भयंकर वर्षा होने लगी ॥ २३½ ॥

अन्योन्यस्पर्धिनौ तौ तु शरैः संनतपर्वभिः ॥ २४ ॥
ततक्षतुस्तदान्योन्यं शृङ्गाभ्यां वृषभाविव ।

जैसे दो साँड़ परस्पर सींगोंसे प्रहार करते हैं, उसी प्रकार आपसमें लाग-डाँट रखनेवाले वे दोनों वीर झुकी हुई गाँठ-वाले बाणोंद्वारा एक-दूसरेको क्षत-विक्षत करने लगे ॥ २४½ ॥

तयोर्युद्धं महाराज चिरं सममिवाभवत् ॥ २५ ॥
शस्त्राणां सङ्गमश्चैव घोरस्तत्राभवत् पुनः ।

महाराज ! बहुत देरतक तो उन दोनोंका युद्ध एक-सा चलता रहा । फिर उनमें वहाँ अस्त्र-शस्त्रोंका घोर संघर्ष आरम्भ हो गया ॥ २५½ ॥

ततोऽर्जुनं द्वादशभी रुक्मपुङ्खैः सुतेजनैः ॥ २६ ॥
वासुदेवं च दशभिर्द्रौणिर्विव्याध भारत ।

भरतनन्दन ! तब अश्वत्थामाने अत्यन्त तेज किये हुए सुवर्णमय पंखवाले बारह बाणोंसे अर्जुनको और दस सायकोंसे श्रीकृष्णको भी घायल कर दिया ॥ २६½ ॥

ततः प्रहर्षाद् बीभत्सुर्व्याक्षिपद् गाण्डिवं धनुः ॥२७॥
मानयित्वा मुहूर्तं तु गुरुपुत्रं महाहवे ।

तदनन्तर उस महासमरमें दो घड़ीतक गुरुपुत्रका आदर करके अर्जुनने बड़े हर्ष और उत्साहके साथ गाण्डीव धनुषको खींचना आरम्भ किया ॥ २७½ ॥

व्यश्वसूतरथं चक्रे सव्यसाची परंतपः ॥ २८ ॥
मृदुपूर्वं ततश्चैनं पुनः पुनरताडयत् ।

शत्रुओंको संताप देनेवाले सव्यसाचीने अश्वत्थामाके घोड़े, सारथि एवं रथको चौपट कर दिया । फिर वे हल्के हाथों बाण चलाकर बारंबार उसे घायल करने लगे ॥ २८½ ॥

हताश्वे तु रथे तिष्ठन् द्रोणपुत्रस्त्वयस्मयम् ॥ २९ ॥
मुसलं पाण्डुपुत्राय चिक्षेप परिघोपमम् ।

जिसके घोड़े मार डाले गये थे, उसी रथपर खड़े हुए द्रोणपुत्रने पाण्डुकुमार अर्जुनपर लोहेका एक मुसल चलाया, जो परिघके समान प्रतीत होता था ॥ २९½ ॥

तमापतन्तं सहसा हेमपट्टविभूषितम् ॥ ३० ॥
चिच्छेद सप्तधा वीरः पार्थः शत्रुनिबर्हणः ।

शत्रुओंका संहार करनेवाले वीर अर्जुनने सहसा अपनी ओर आते हुए उस सुवर्णपत्रविभूषित मुसलके सात टुकड़े कर डाले ॥ ३०½ ॥

स च्छिन्नं मुसलं दृष्ट्वा द्रौणिः परमकोपनः ॥ ३१ ॥
आददे परिघं घोरं नगेन्द्रशिखरोपमम् ।

अपने मुसलको कटा हुआ देख अश्वत्थामाको बड़ा क्रोध हुआ और उसने पर्वतशिखरके समान एक भयंकर परिघ हाथमें ले लिया ॥ ३१½ ॥

चिक्षेप चैव पार्थाय द्रौणिर्युद्धविशारदः ॥ ३२ ॥
तमन्तकमिव क्रुद्धं परिघं प्रेक्ष्य पाण्डवः ।
अर्जुनस्त्वरितो जघ्ने पञ्चभिः सायकोत्तमैः ॥ ३३ ॥

युद्धविशारद द्रोणपुत्रने वह परिघ अर्जुनपर दे मारा । क्रोधमें भरे हुए यमराजके समान उस परिघको देखकर पाण्डुपुत्र अर्जुनने तुरंत ही पाँच उत्तम बाणोंद्वारा उसे काट गिराया ॥ ३२-३३ ॥

स च्छिन्नः पतितो भूमौ पार्थबाणैर्महाहवे ।
दारयन् पृथिवीन्द्राणां मनांसीव च भारत ॥ ३४ ॥

भारत ! उस महासमरमें पार्थके बाणोंसे कटकर वह परिघ राजाओंके हृदयोंको विदीर्ण करता हुआ-सा पृथ्वीपर गिर पड़ा ॥ ३४ ॥

ततोऽपरैस्त्रिभिर्भल्लैर्द्रौणिं विव्याध पाण्डवः ।
सोऽतिविद्धो बलवता पार्थेन सुमहात्मना ॥ ३५ ॥
नाकम्पत तदा द्रौणिः पौरुषे स्वे व्यवस्थितः ।

तत्पश्चात् पाण्डुकुमार अर्जुनने दूसरे तीन भल्लोंसे द्रोणपुत्रको घायल कर दिया । महामनस्वी बलवान् वीर अर्जुनके द्वारा अत्यन्त घायल होकर भी अश्वत्थामा अपने पुरुषार्थका आश्रय ले तनिक भी कम्पित नहीं हुआ ॥ ३५½ ॥

सुरथं च ततो राजन् भारद्वाजो महारथम् ॥ ३६ ॥
अवाकिरच्छरव्रातैः सर्वक्षत्रस्य पश्यतः ।

राजन् ! तब भारद्वाजनन्दन अश्वत्थामाने सम्पूर्ण क्षत्रियोंके देखते-देखते महारथी सुरथको अपने बाणसमूहोंसे आच्छादित कर दिया ॥ ३६½ ॥

ततस्तु सुरथोऽप्याजौ पञ्चालानां महारथः ॥ ३७ ॥
रथेन मेघघोषेण द्रौणिमेवाभ्यधावत ।

तब युद्धस्थलमें पाञ्चाल महारथी सुरथने भी मेघके समान गम्भीर घोष करनेवाले रथके द्वारा अश्वत्थामापर ही धावा किया ॥

विकर्षन् वै धनुः श्रेष्ठं सर्वभारसहं दृढम् ॥ ३८ ॥
ज्वलनाशीविषनिभैः शरैश्चैनमवाकिरत् ।

सब प्रकारके भारोंको सहन करनेमें समर्थ, सुदृढ़ एवं उत्तम धनुषको खींचकर सुरथने अग्नि और विषैले सर्पोंके समान भयंकर बाणोंकी वर्षा करके अश्वत्थामाको ढक दिया ॥

सुरथं तं ततः क्रुद्धमापतन्तं महारथम् ॥ ३९ ॥
चुकोप समरे द्रौणिर्दण्डाहत इवोरगः ।

महारथी सुरथको क्रोधपूर्वक आक्रमण करते देख अश्वत्थामा समरमें डंडेकी चोट खाये हुए सर्पके समान अत्यन्त कुपित हो उठा ॥ ३९½ ॥

त्रिशिखां भ्रुकुटीं कृत्वा सृक्किणी परिसंलिहन् ॥४०॥
उद्वीक्ष्य सुरथं रोषाद् धनुर्ज्यामवमृज्य च ।
मुमोच तीक्ष्णं नाराचं यमदण्डोपमद्युतिम् ॥ ४१ ॥

वह भौंहोंको तीन जगहसे टेढ़ी करके अपने गलफरोंको चाटने लगा और सुरथकी ओर रोषपूर्वक देखकर धनुषकी प्रत्यञ्चाको साफ करके उसने यमदण्डके समान तेजस्वी तीखे नाराचका प्रहार किया ॥ ४०-४१ ॥

स तस्य हृदयं भित्त्वा प्रविवेशातिवेगितः ।
शक्राशनिरिवोत्सृष्टो विदार्य धरणीतलम् ॥ ४२ ॥

जैसे इन्द्रका छोड़ा हुआ अत्यन्त वेगशाली वज्र पृथ्वी फाड़कर उसके भीतर घुस जाता है, उसी प्रकार वह नाराच वेगपूर्वक सुरथकी छाती छेदकर उसके भीतर समा गया ॥ ४२ ॥

ततः स पतितो भूमौ नाराचेन समाहतः ।
वज्रेण च यथा शृङ्गं पर्वतस्येव दीर्यतः ॥ ४३ ॥

नाराचसे घायल हुआ सुरथ वज्रसे विदीर्ण हुए पर्वतके शिखरकी भाँति पृथ्वीपर गिर पड़ा ॥ ४३ ॥

तस्मिन् विनिहते वीरे द्रोणपुत्रः प्रतापवान् ।
आरुरोह रथं तूर्णं तमेव रथिनां वरः ॥ ४४ ॥

उस वीरके मारे जानेपर रथियोंमें श्रेष्ठ प्रतापी द्रोणपुत्र अश्वत्थामा तुरंत ही उसी रथपर आरूढ हो गया ॥ ४४ ॥

ततः सज्जो महाराज द्रौणिराहवदुर्मदः ।
अर्जुनं योधयामास संशप्तकवृतो रणे ॥ ४५ ॥

महाराज ! फिर युद्धसज्जासे सुसज्जित हो रणभूमिमें संशप्तकोंसे घिरा हुआ रणदुर्मद द्रोणकुमार अर्जुनके साथ युद्ध करने लगा ॥ ४५ ॥

तत्र युद्धं महच्चासीदर्जुनस्य परैः सह ।
मध्यंदिनगते सूर्ये यमराष्ट्रविवर्धनम् ॥ ४६ ॥

वहाँ दोपहर होते-होते अर्जुनका शत्रुओंके साथ महाघोर युद्ध होने लगा, जो यमराजके राष्ट्रकी वृद्धि करनेवाला था ॥

तत्राश्चर्यमपश्याम दृष्ट्वा तेषां पराक्रमम् ।
यदेको युगपद् वीरान् समयोधयदर्जुनः ॥ ४७ ॥

उस समय उन कौरवपक्षीय वीरोंका पराक्रम देखकर हमने एक और आश्चर्यकी बात यह देखी कि अर्जुन अकेले ही एक ही समय उन सभी वीरोंके साथ युद्ध कर रहे हैं ॥ ४७ ॥

विमर्दः सुमहानासीदेकस्य बहुभिः सह ।
शतक्रतुर्यथा पूर्वं महत्या दैत्यसेनया ॥ ४८ ॥

जैसे पूर्वकालमें विशाल दैत्यसेनाके साथ इन्द्रका युद्ध हुआ था, उसी प्रकार एकमात्र अर्जुनका बहुसंख्यक विपक्षियोंके साथ महान् संग्राम होने लगा ॥ ४८ ॥

इति श्रीमहाभारते शल्यपर्वणि संकुलयुद्धे चतुर्दशोऽध्यायः ॥ १४ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शल्यपर्वमें संकुलयुद्धविषयक चौदहवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १४ ॥

पञ्चदशोऽध्यायः

दुर्योधन और धृष्टद्युम्नका एवं अर्जुन और अश्वत्थामाका तथा शल्यके साथ नकुल और सात्यकि आदिका घोर संग्राम

संजय उवाच

दुर्योधनो महाराज धृष्टद्युम्नश्च पार्षतः ।
चक्रतुः सुमहद् युद्धं शरशक्तिसमाकुलम् ॥ १ ॥

संजय कहते हैं—महाराज ! एक ओर दुर्योधन तथा द्रुपदकुमार धृष्टद्युम्न महान् युद्ध कर रहे थे । वह युद्ध बाणों और शक्तियोंके प्रहारसे व्याप्त हो रहा था ॥ १ ॥

तयोरासन् महाराज शरधाराः सहस्रशः ।
अम्बुदानां यथा काले जलधाराः समन्ततः ॥ २ ॥

राजाधिराज ! जैसे वर्षाकालमें सब ओर मेघोंकी जलधाराएँ बरसती हैं, उसी प्रकार उन दोनोंकी ओरसे बाणोंकी सहस्रों धाराएँ गिर रही थीं ॥ २ ॥

राजा च पार्षतं विद्ध्वा शरैः पञ्चभिराशुगैः ।
द्रोणहन्तारमुग्रेषुं पुनर्विव्याध सप्तभिः ॥ ३ ॥

राजा दुर्योधनने पाँच शीघ्रगामी बाणोंद्वारा भयंकर बाणवाले द्रोणहन्ता धृष्टद्युम्नको बींधकर पुनः सात बाणोंद्वारा उन्हें घायल कर दिया ॥ ३ ॥

धृष्टद्युम्नस्तु समरे बलवान् दृढविक्रमः ।
सप्तत्या विशिखानां वै दुर्योधनमपीडयत् ॥ ४ ॥

तब सुदृढ पराक्रमी बलवान् धृष्टद्युम्नने संग्रामभूमिमें सत्तर बाण मारकर दुर्योधनको पीड़ित कर दिया ॥ ४ ॥

पीडितं वीक्ष्य राजानं सोदर्या भरतर्षभ ।
महत्या सेनया सार्धं परिवव्रुः स पार्षतम् ॥ ५ ॥

भरतश्रेष्ठ ! राजा दुर्योधनको पीड़ित हुआ देख उसके सारे भाइयोंने विशाल सेनाके साथ आकर धृष्टद्युम्नको घेर लिया ॥

स तैः परिवृतः शूरः सर्वतोऽतिरथैर्भृशम् ।
व्यचरत् समरे राजन् दर्शयन्नस्त्रलाघवम् ॥ ६ ॥

राजन् ! उन अतिरथी वीरोंद्वारा सब ओरसे घिरे हुए धृष्टद्युम्न अपनी अस्त्रसंचालनकी फुर्ती दिखाते हुए समरभूमिमें विचरने लगे ॥ ६ ॥

शिखण्डी कृतवर्माणं गौतमं च महारथम् ।
प्रभद्रकैः समायुक्तो योधयामास धन्विनौ ॥ ७ ॥

दूसरी ओर शिखण्डीने प्रभद्रकोंकी सेना साथ लेकर कृतवर्मा और महारथी कृपाचार्य—इन दोनों धनुर्धरोंसे युद्ध छेड़ दिया ॥ ७ ॥

तत्रापि सुमहद् युद्धं घोररूपं विशाम्पते ।
प्राणान् संत्यजतां युद्धे प्राणद्यूताभिदेवने ॥ ८ ॥

प्रजानाथ ! वहाँ भी जीवनका मोह छोड़कर प्राणोंकी बाजी लगाकर खेले जानेवाले युद्धरूपी जूएमें लगे हुए समस्त सैनिकोंमें घोर संग्राम हो रहा था ॥ ८ ॥

शल्यः सायकवर्षाणि विमुञ्चन् सर्वतोदिशम् ।
पाण्डवान् पीडयामास ससात्यकिवृकोदरान् ॥ ९ ॥

इधर शल्य सम्पूर्ण दिशाओंमें बाणोंकी वर्षा करते हुए युद्धमें सात्यकि और भीमसेनसहित पाण्डवोंको पीड़ा देने लगे ॥

तथा तौ तु यमौ युद्धे यमतुल्यपराक्रमौ ।
योधयामास राजेन्द्र वीर्येणास्त्रबलेन च ॥ १० ॥

राजेन्द्र ! वे युद्धमें यमराजके तुल्य पराक्रमी नकुल और सहदेवके साथ भी अपने पराक्रम और अस्त्रबलसे युद्ध कर रहे थे ॥ १० ॥

शल्यसायकनुन्नानां पाण्डवानां महामृधे ।
त्रातारं नाभ्यगच्छन्त केचित्तत्र महारथाः ॥ ११ ॥

जब शल्य अपने बाणोंसे पाण्डव महारथियोंको आहत कर रहे थे, उस समय उस महासमरमें उन्हें कोई अपना रक्षक नहीं मिलता था ॥ ११ ॥

ततस्तु नकुलः शूरो धर्मराजे प्रपीडिते ।
अभिदुद्राव वेगेन मातुलं मातृनन्दनः ॥ १२ ॥

जब धर्मराज युधिष्ठिर शल्यकी मारसे अत्यन्त पीड़ित हो गये, तब माताको आनन्दित करनेवाले शूरवीर नकुलने बड़े वेगसे अपने मामापर आक्रमण किया ॥ १२ ॥

संछाद्य समरे शल्यं नकुलः परवीरहा ।
विव्याध चैनं दशभिः स्मयमानः स्तनान्तरे ॥ १३ ॥

शत्रुवीरोंका संहार करनेवाले नकुलने समराङ्गणमें शल्यको शरसमूहोंद्वारा आच्छादित करके मुसकराते हुए उनकी छातीमें दस बाण मारे ॥ १३ ॥

सर्वपारसवैर्बाणैः कर्मारपरिमार्जितैः ।
स्वर्णपुङ्खैः शिलाधौतैर्धनुर्यन्त्रप्रचोदितैः ॥ १४ ॥

वे बाण सब-के-सब लोहेके बने थे । कारीगरने उन्हें अच्छी तरह माँज-धोकर स्वच्छ बनाया था । उनमें सोनेके पंख लगे थे और उन्हें सानपर चढ़ाकर तेज किया गया था । वे दसों बाण धनुषरूपी यन्त्रपर रखकर चलाये गये थे ॥ १४ ॥

शल्यस्तु पीडितस्तेन स्वस्रीयेण महात्मना ।
नकुलं पीडयामास पत्रिभिर्नतपर्वभिः ॥ १५ ॥

अपने महामनस्वी भानजेके द्वारा पीड़ित हुए शल्यने झुकी हुई गाँठवाले बहुसंख्यक बाणोंद्वारा नकुलको गहरी चोट पहुँचायी ॥ १५ ॥

ततो युधिष्ठिरो राजा भीमसेनोऽथ सात्यकिः ।
सहदेवश्च माद्रेयो मद्रराजमुपाद्रवन् ॥ १६ ॥

तदनन्तर राजा युधिष्ठिर, भीमसेन, सात्यकि और माद्रीकुमार सहदेवने एक साथ मद्रराज शल्यपर आक्रमण किया ॥

तानापतत एवाशु पूरयाणान् रथस्वनैः ।
दिशश्च विदिशश्चैव कम्पयानांश्च मेदिनीम् ॥ १७ ॥
प्रतिजग्राह समरे सेनापतिरमित्रजित् ।

वे अपने रथकी घर्घराहटसे सम्पूर्ण दिशाओं और विदिशाओंको गुँजाते हुए पृथ्वीको कम्पित कर रहे थे । सहसा आक्रमण करनेवाले उन वीरोंको शत्रुविजयी सेनापति शल्यने समरभूमिमें आगे बढ़नेसे रोक दिया ॥ १७½ ॥

युधिष्ठिरं त्रिभिर्विद्ध्वा भीमसेनं च पञ्चभिः ॥ १८ ॥
सात्यकिं च शतेनाजौ सहदेवं त्रिभिः शरैः ।
ततस्तु सशरं चापं नकुलस्य महात्मनः ॥ १९ ॥
मद्रेश्वरः क्षुरप्रेण तदा मारिष चिच्छिदे ।
तदशीर्यत विच्छिन्नं धनुः शल्यस्य सायकैः ॥ २० ॥

माननीय नरेश ! मद्रराज शल्यने युद्धस्थलमें युधिष्ठिरको तीन, भीमसेनको पाँच, सात्यकिको सौ और सहदेवको तीन बाणोंसे घायल करके महामनस्वी नकुलके बाणसहित धनुषको क्षुरप्रसे काट डाला । शल्यके बाणोंसे कटा हुआ वह धनुष टूक-टूक होकर बिखर गया ॥ १८–२० ॥

अथान्यद् धनुरादाय माद्रीपुत्रो महारथः ।
मद्रराजरथं तूर्णं पूरयामास पत्रिभिः ॥ २१ ॥

इसके बाद माद्रीपुत्र महारथी नकुलने तुरंत ही दूसरा धनुष हाथमें लेकर मद्रराजके रथको बाणोंसे भर दिया ॥ २१ ॥

युधिष्ठिरस्तु मद्रेशं सहदेवश्च मारिष ।
दशभिर्दशभिर्बाणैरुरस्येनमविध्यताम् ॥ २२ ॥

आर्य ! साथ ही युधिष्ठिर और सहदेवने दस-दस बाणोंसे उनकी छाती छेद डाली ॥ २२ ॥

भीमसेनस्तु तं षष्ट्या सात्यकिर्दशभिः शरैः ।
मद्रराजमभिद्रुत्य जघ्नतुः कङ्कपत्रिभिः ॥ २३ ॥

फिर भीमसेनने साठ और सात्यकिने कङ्कपत्रयुक्त दस बाणोंसे मद्रराजपर वेगपूर्वक प्रहार किया ॥ २३ ॥

मद्रराजस्ततः क्रुद्धः सात्यकिं नवभिः शरैः ।
विव्याध भूयः सप्तत्या शराणां नतपर्वणाम् ॥ २४ ॥

तब कुपित हुए मद्रराज शल्यने सात्यकिको झुकी हुई गाँठवाले नौ बाणोंसे घायल करके फिर सत्तर बाणोंद्वारा क्षत-विक्षत कर दिया ॥ २४ ॥

अथास्य सशरं चापं मुष्टौ चिच्छेद मारिष ।
हयांश्च चतुरः संख्ये प्रेषयामास मृत्यवे ॥ २५ ॥

मान्यवर ! इसके बाद शल्यने उनके बाणसहित धनुषको मुट्ठी पकड़नेकी जगहसे काट दिया और संग्राममें उनके चारों घोड़ोंको भी मौतके घर भेज दिया ॥ २५ ॥

विरथं सात्यकिं कृत्वा मद्रराजो महारथः ।
विशिखानां शतेनैनमाजघान समन्ततः ॥ २६ ॥

सात्यकिको रथहीन करके महारथी मद्रराज शल्यने सौ बाणोंद्वारा उन्हें सब ओरसे घायल कर दिया ॥ २६ ॥

माद्रीपुत्रौ च संरब्धौ भीमसेनं च पाण्डवम् ।
युधिष्ठिरं च कौरव्य विव्याध दशभिः शरैः ॥ २७ ॥

कुरुनन्दन ! इतना ही नहीं, उन्होंने क्रोधमें भरे हुए माद्रीकुमार नकुल-सहदेव, पाण्डुपुत्र भीमसेन तथा युधिष्ठिरको भी दस बाणोंसे क्षत-विक्षत कर दिया ॥ २७ ॥

तत्राद्भुतमपश्याम मद्रराजस्य पौरुषम् ।
यदेनं सहिताः पार्था नाभ्यवर्तन्त संयुगे ॥ २८ ॥

उस महान् संग्राममें हमलोगोंने मद्रराज शल्यका यह अद्भुत पराक्रम देखा कि समस्त पाण्डव एक साथ होकर भी इन्हें युद्धमें पराजित न कर सके ॥ २८ ॥

अथान्यं रथमास्थाय सात्यकिः सत्यविक्रमः ।
पीडितान् पाण्डवान् दृष्ट्वा मद्रराजवशंगतान् ॥ २९ ॥
अभिदुद्राव वेगेन मद्राणामधिपं बलात् ।

तत्पश्चात् सत्यपराक्रमी सात्यकिने दूसरे रथपर आरूढ़

इधर पाण्डवोंको पीड़ित तथा मद्रराजके अधीन हुआ देख बड़े वेगसे बलपूर्वक उनपर धावा किया ॥ २९½ ॥

आपतन्तं रथं तस्य शल्यः समितिशोभनः ॥ ३० ॥
प्रत्युद्ययौ रथेनैव मत्तो मत्तमिव द्विपम् ।

युद्धमें शोभा पानेवाले शल्य उनके रथको अपनी ओर आते देख स्वयं भी रथके द्वारा ही उनकी ओर बढ़े । ठीक उसी तरह, जैसे एक मतवाला हाथी दूसरे मदमत्त हाथीका सामना करनेके लिये जाता है ॥ ३०½ ॥

स संनिपातस्तुमुलो बभूवाद्भुतदर्शनः ॥ ३१ ॥
सात्यकेश्चैव शूरस्य मद्राणामधिपस्य च ।
यादृशो वै पुरा वृत्तः शम्बरामरराजयोः ॥ ३२ ॥

शूरवीर सात्यकि और मद्रराज शल्य इन दोनोंका वह संग्राम बड़ा भयंकर और अद्भुत दिखायी देता था। वह वैसा ही था, जैसा कि पूर्वकालमें शम्बरासुर और देवराज इन्द्रका युद्ध हुआ था ॥ ३१-३२ ॥

सात्यकिः प्रेक्ष्य समरे मद्रराजमवस्थितम् ।
विव्याध दशभिर्बाणैस्तिष्ठ तिष्ठेति चाब्रवीत् ॥ ३३ ॥

सात्यकिने समराङ्गणमें खड़े हुए मद्रराजको देखकर उन्हें दस बाणोंसे बींध डाला और कहा—'खड़े रहो, खड़े रहो' ॥

मद्रराजस्तु सुभृशं विद्धस्तेन महात्मना ।
सात्यकिं प्रतिविव्याध चित्रपुङ्खैः शितैः शरैः ॥ ३४ ॥

महामनस्वी सात्यकिके द्वारा अत्यन्त घायल किये हुए मद्रराजने विचित्र पंखवाले पैने बाणोंसे सात्यकिको भी घायल करके बदला चुकाया ॥ ३४ ॥

ततः पार्था महेष्वासाः सात्वताभिसृतं नृपम् ।
अभ्यवर्तन् रथैस्तूर्णं मातुलं वधकाङ्क्षया ॥ ३५ ॥

तब महाधनुर्धर पृथापुत्रोंने सात्यकिके साथ उलझे हुए मामा मद्रराज शल्यके वधकी इच्छासे रथोंद्वारा उनपर आक्रमण किया ॥ ३५ ॥

तत आसीत् परामर्दस्तुमुलः शोणितोदकः ।
शूराणां युध्यमानानां सिंहानामिव नर्दताम् ॥ ३६ ॥

फिर तो वहाँ घोर संग्राम छिड़ गया । सिंहोंके समान गर्जते और जूझते हुए शूरवीरोंका खून पानीकी तरह बहाया जाने लगा ॥ ३६ ॥

तेषामासीन्महाराज व्यतिक्षेपः परस्परम् ।
सिंहानामामिषेप्सूनां कूजतामिव संयुगे ॥ ३७ ॥

महाराज ! जैसे मांसके लोभसे सिंह गर्जते हुए आपसमें लड़ते हों, उसी प्रकार उस युद्धस्थलमें उन समस्त योद्धाओंका एक-दूसरेके प्रति भयंकर प्रहार हो रहा था ॥ ३७ ॥

तेषां बाणसहस्रौघैराकीर्णा वसुधाभवत् ।
अन्तरिक्षं च सहसा बाणभूतमभूत्तदा ॥ ३८ ॥

उस समय उनके सहस्रों बाणसमूहोंसे रणभूमि आच्छादित हो गयी और आकाश भी सहसा बाणमय प्रतीत होने लगा ॥ ३८ ॥

शरान्धकारं सहसा कृतं तत्र समन्ततः ।
अभ्रच्छायेव संजज्ञे शरैर्मुक्तैर्महात्मभिः ॥ ३९ ॥

उन महामनस्वी वीरोंके छोड़े हुए बाणोंसे सहसा चारों ओर अन्धकार छा गया । मेघोंकी छाया-सी प्रकट हो गयी ॥

तत्र राजञ्शरैर्मुक्तैर्निर्मुक्तैरिव पन्नगैः ।
स्वर्णपुङ्खैः प्रकाशद्भिर्व्यरोचन्त दिशस्तदा ॥ ४० ॥

राजन् ! केंचुल छोड़कर निकले हुए सर्पोंके समान वहाँ छूटे हुए सुवर्णमय पंखवाले चमकीले बाणोंसे उस समय सम्पूर्ण दिशाएँ प्रकाशित हो उठी थीं ॥ ४० ॥

तत्राद्भुतं परं चक्रे शल्यः शत्रुनिबर्हणः ।
यदेकः समरे शूरो योधयामास वै बहून् ॥ ४१ ॥

उस रणभूमिमें शत्रुसूदन शूरवीर शल्यने यह बड़ा अद्भुत पराक्रम किया कि अकेले ही वे उन बहुसंख्यक वीरोंके साथ युद्ध करते रहे ॥ ४१ ॥

मद्रराजभुजोत्सृष्टैः कङ्कबर्हिणवाजितैः ।
सम्पतद्भिः शरैर्घोरैरवाकीर्यत मेदिनी ॥ ४२ ॥

मद्रराजकी भुजाओंसे छूटकर गिरनेवाले कंक और मोरकी पाँखोंसे युक्त भयानक बाणोंद्वारा वहाँकी सारी पृथ्वी ढक गयी थी ॥ ४२ ॥

तत्र शल्यरथं राजन् विचरन्तं महाहवे ।
अपश्याम यथापूर्वं शक्रस्यासुरसंक्षये ॥ ४३ ॥

राजन् ! जैसे पूर्वकालमें असुरोंका विनाश करते समय इन्द्रका रथ आगे बढ़ता था, उसी प्रकार उस महासमरमें हमलोगोंने राजा शल्यके रथको विचरते देखा था ॥ ४३ ॥

इति श्रीमहाभारते शल्यपर्वणि संकुलयुद्धे पञ्चदशोऽध्यायः ॥ १५ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शल्यपर्वमें संकुलयुद्धविषयक पंद्रहवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १५ ॥

षोडशोऽध्यायः

पाण्डवसैनिकों और कौरवसैनिकोंका द्वन्द्वयुद्ध, भीमसेनद्वारा दुर्योधनकी तथा युधिष्ठिरद्वारा शल्यकी पराजय

संजय उवाच

ततः सैन्यास्तव विभो मद्रराजपुरस्कृताः ।
पुनरभ्यद्रवन् पार्थान् वेगेन महता रणे ॥ १ ॥

संजय कहते हैं—प्रभो ! तदनन्तर आपके सभी सैनिक रणभूमिमें मद्रराजको आगे करके पुनः बड़े वेगसे पाण्डवोंपर टूट पड़े ॥ १ ॥

पीडितास्तावकाः सर्वे प्रधावन्तो रणोत्कटाः ।
क्षणेन चैव पार्थांस्ते बहुत्वात् समलोडयन् ॥ २ ॥

युद्धके लिये उन्मत्त रहनेवाले आपके सभी योद्धा यद्यपि पीड़ित हो रहे थे, तथापि संख्यामें अधिक होनेके कारण उन सबने धावा बोलकर क्षणभरमें पाण्डवयोद्धाओंको मथ डाला ॥ २ ॥

ते वध्यमानाः समरे पाण्डवा नावतस्थिरे ।
निवार्यमाणा भीमेन पश्यतोः कृष्णयोस्तदा ॥ ३ ॥

समराङ्गणमें कौरवोंकी मार खाकर पाण्डवयोद्धा श्रीकृष्ण और अर्जुनके देखते-देखते भीमसेनके रोकनेपर भी वहाँ ठहर न सके ॥ ३ ॥

ततो धनंजयः क्रुद्धः कृपं सह पदानुगैः ।
अवाकिरच्छरौघेण कृतवर्माणमेव च ॥ ४ ॥

तदनन्तर दूसरी ओर क्रोधमें भरे हुए अर्जुनने सेवकों-सहित कृपाचार्य और कृतवर्माको अपने बाणसमूहोंसे ढक दिया ॥ ४ ॥

शकुनिं सहदेवस्तु सहसैन्यमवाकिरत् ।
नकुलः पार्श्वतः स्थित्वा मद्रराजमवैक्षत ॥ ५ ॥

सहदेवने सेनासहित शकुनिको बाणोंसे आच्छादित कर दिया । नकुल पास ही खड़े होकर मद्रराजकी ओर देख रहे थे ॥ ५ ॥

द्रौपदेया नरेन्द्रांश्च भूयिष्ठान् समवारयन् ।
द्रोणपुत्रं च पाञ्चाल्यः शिखण्डी समवारयत् ॥ ६ ॥

द्रौपदीके पुत्रोंने बहुत-से राजाओंको आगे बढ़नेसे रोक रक्खा था । पाञ्चालराजकुमार शिखण्डीने द्रोणपुत्र अश्वत्थामाको रोक दिया ॥ ६ ॥

भीमसेनस्तु राजानं गदापाणिरवारयत् ।
शल्यं तु सह सैन्येन कुन्तीपुत्रो युधिष्ठिरः ॥ ७ ॥

भीमसेनने हाथमें गदा लेकर राजा दुर्योधनको रोका और सेनासहित कुन्तीपुत्र युधिष्ठिरने शल्यको ॥ ७ ॥

ततः समभवद् सैन्यं संसक्तं तत्र तत्र ह ।
तावकानां परेषां च संग्रामेष्वनिवर्तिनाम् ॥ ८ ॥

तत्पश्चात् संग्राममें पीठ न दिखानेवाले आपके और शत्रुपक्षके योद्धाओंकी वह सेना जहाँ-तहाँ परस्पर युद्ध करने लगी ॥ ८ ॥

तत्र पश्याम्यहं कर्म शल्यस्यातिमहद्रणे ।
यदेकः सर्वसैन्यानि पाण्डवानामयोधयत् ॥ ९ ॥

वहाँ रणभूमिमें मैंने राजा शल्यका बहुत बड़ा पराक्रम यह देखा कि वे अकेले ही पाण्डवोंकी सम्पूर्ण सेनाओंके साथ युद्ध कर रहे थे ॥ ९ ॥

व्यदृश्यत तदा शल्यो युधिष्ठिरसमीपतः ।
रणे चन्द्रमसोऽभ्याशे शनैश्चर इव ग्रहः ॥ १० ॥

उस समय शल्य युधिष्ठिरके समीप रणभूमिमें ऐसे दिखायी दे रहे थे, मानो चन्द्रमाके समीप शनैश्चर नामक ग्रह हो ॥ १० ॥

पीडयित्वा तु राजानं शरैराशीविषोपमैः ।
अभ्यधावत् पुनर्भीमं शरवर्षैरवाकिरत् ॥ ११ ॥

वे विषधर सर्पोंके समान भयंकर बाणोंद्वारा राजा युधिष्ठिरको पीड़ित करके पुनः भीमसेनकी ओर दौड़े और उन्हें अपने बाणोंकी वर्षासे आच्छादित करने लगे ॥ ११ ॥

तस्य तल्लाघवं दृष्ट्वा तथैव च कृतास्त्रताम् ।
अपूजयन्ननीकानि परेषां तावकानि च ॥ १२ ॥

उनकी वह फुर्ती और अस्त्रविद्याका ज्ञान देखकर आपके और शत्रुपक्षके सैनिकोंने भी उनकी भूरि-भूरि प्रशंसा की ॥

पीड्यमानास्तु शल्येन पाण्डवा भृशविक्षताः ।
प्राद्रवन्त रणं हित्वा क्रोशमाने युधिष्ठिरे ॥ १३ ॥

शल्यके द्वारा पीड़ित एवं अत्यन्त घायल हुए पाण्डव-सैनिक युधिष्ठिरके पुकारनेपर भी युद्ध छोड़कर भाग चले ॥

वध्यमानेष्वनीकेषु मद्रराजेन पाण्डवः ।
अमर्षवशमापन्नो धर्मराजो युधिष्ठिरः ॥ १४ ॥

जब मद्रराजके द्वारा इस प्रकार पाण्डव-सैनिकोंका संहार होने लगा, तब पाण्डुपुत्र धर्मराज युधिष्ठिर अमर्षके वशीभूत हो गये ॥ १४ ॥

ततः पौरुषमास्थाय मद्रराजमताडयत् ।
जयो वास्तु वधो वास्तु कृतबुद्धिर्महारथः ॥ १५ ॥

तदनन्तर उन्होंने अपने पुरुषार्थका आश्रय ले मद्रराज-पर प्रहार आरम्भ किया । महारथी युधिष्ठिरने यह निश्चय कर लिया कि आज या तो मेरी विजय होगी अथवा मेरा वध हो जायगा ॥ १५ ॥

समाहूयाब्रवीत् सर्वान् भ्रातॄन् कृष्णं च माधवम् ।
भीष्मो द्रोणश्च कर्णश्च ये चान्ये पृथिवीक्षितः ॥ १६ ॥
कौरवार्थे पराक्रान्ताः संग्रामे निधनं गताः ।
यथाभागं यथोत्साहं भवन्तः कृतपौरुषाः ॥ १७ ॥

उन्होंने अपने समस्त भाइयों तथा श्रीकृष्ण और सात्यकिको बुलाकर इस प्रकार कहा—'बन्धुओ ! भीष्म, द्रोण, कर्ण तथा अन्य जो-जो राजा दुर्योधनके लिये पराक्रम दिखाते थे, वे सब-के-सब संग्राममें मारे गये । तुमलोगोंने पुरुषार्थ करके उत्साहपूर्वक अपने-अपने हिस्सेका कार्य पूरा कर लिया ॥ १६-१७ ॥

भागोऽवशिष्ट एकोऽयं मम शल्यो महारथः ।
सोऽहमद्य युधा जेतुमाशंसे मद्रकाधिपम् ॥ १८ ॥

अब एकमात्र महारथी शल्य शेष रह गये हैं, जो मेरे हिस्सेमें पड़ गये हैं । अतः आज मैं इन मद्रराज शल्यको युद्धमें जीतनेकी आशा करता हूँ ॥ १८ ॥

तत्र यन्मानसं मह्यं तत् सर्वं निगदामि वः ।
चक्ररक्षाविमौ वीरौ मम माद्रवतीसुतौ ॥ १९ ॥
अजेयौ वासवेनापि समरे शूरसम्मतौ ।

'इसके सम्बन्धमें मेरे मनमें जो संकल्प है, वह सब तुम लोगोंसे बता रहा हूँ, सुनो । जो समराङ्गणमें इन्द्रके लिये भी अजेय तथा शूरवीरोंद्वारा सम्मानित हैं, वे दोनों माद्रीकुमार वीर नकुल और सहदेव मेरे रथके पहियोंकी रक्षा करें ॥ १९ ॥

साध्विमौ मातुलं युद्धे क्षत्रधर्मपुरस्कृतौ ॥ २० ॥
मदर्थं प्रतियुद्ध्येतां मानार्हौ सत्यसङ्गरौ ।
मां वा शल्यो रणे हन्ता तं वाहं भद्रमस्तु वः ॥ २१ ॥

'क्षत्रिय-धर्मको सामने रखते हुए ये सम्मान पानेके योग्य सत्यप्रतिज्ञ नकुल और सहदेव मेरे लिये समराङ्गणमें अपने मामाके साथ अच्छी तरह युद्ध करें । फिर या तो शल्य रण-

भाईमें मुझे मार डालें या मैं उनका वध कर डालूँ। आप-लोगोंका कल्याण हो ॥ २०-२१ ॥

इति सत्यामिमां वाणीं लोकवीरा निबोधत ।
योत्स्येऽहं मातुलेनाद्य क्षात्रधर्मेण पार्थिवाः ॥ २२ ॥
स्वमंशमभिसंधाय विजयायेतराय च ।

'विश्वविख्यात वीरो ! तुमलोग मेरा यह सत्य वचन सुन लो। राजाओ ! मैं क्षत्रियधर्मके अनुसार अपने हिस्से-का कार्य पूर्ण करनेका संकल्प लेकर अपनी विजय अथवा वधके लिये मामा शल्यके साथ आज युद्ध करूँगा ॥ २२½ ॥

तस्य मेऽभ्यधिकं शस्त्रं सर्वोपकरणानि च ॥ २३ ॥
संसज्जन्तु रथे क्षिप्रं शास्त्रवद् रथयोजकाः ।

'अतः रथ जोतनेवाले लोग शीघ्र ही मेरे रथपर शास्त्रीय विधिके अनुसार अधिक-से-अधिक शस्त्र तथा अन्य सब आवश्यक सामग्री सजाकर रख दें ॥ २३½ ॥

शैनेयो दक्षिणं चक्रं धृष्टद्युम्नस्तथोत्तरम् ॥ २४ ॥
पृष्ठगोपो भवत्वद्य मम पार्थो धनंजयः ।
पुरःसरो ममाद्यास्तु भीमः शस्त्रभृतां वरः ॥ २५ ॥

'(नकुल-सहदेवके अतिरिक्त) सात्यकि मेरे दाहिने चक्रकी रक्षा करें और धृष्टद्युम्न बायें चक्रकी। आज कुन्ती-कुमार अर्जुन मेरे पृष्ठभागकी रक्षामें तत्पर रहें और शस्त्र-धारियोंमें श्रेष्ठ भीमसेन मेरे आगे-आगे चलें ॥ २४-२५ ॥

एवमभ्यधिकः शल्याद् भविष्यामि महामृधे ।
एवमुक्तास्तथा चक्रुस्तदा राज्ञः प्रियैषिणः ॥ २६ ॥

'ऐसी व्यवस्था होनेपर मैं इस महायुद्धमें शल्यसे अधिक शक्तिशाली हो जाऊँगा।' उनके ऐसा कहनेपर राजाका प्रिय करनेकी इच्छावाले भाइयोंने उस समय वैसा ही किया ।२६।

ततः प्रहर्षः सैन्यानां पुनरासीत् तदा मृधे ।
पञ्चालानां सोमकानां मत्स्यानां च विशेषतः॥ २७ ॥

तदनन्तर उस युद्धस्थलमें पुनः पाण्डवसैनिकों विशेषतः पाञ्चालों, सोमकों और मत्स्यदेशीय योद्धाओंके मनमें महान् हर्षोल्लास छा गया ॥ २७ ॥

प्रतिज्ञां तां तदा राजा कृत्वा मद्रेशमभ्ययात् ।
ततः शङ्खांश्च भेरीश्च शतशश्चैव पुष्कलान् ॥ २८ ॥
अवादयन्त पञ्चालाः सिंहनादांश्च नेदिरे ।

राजा युधिष्ठिरने उस समय पूर्वोक्त प्रतिज्ञा करके मद्र-राज शल्यपर चढ़ाई की। फिर तो पाञ्चाल योद्धा शङ्ख, भेरी आदि सैकड़ों प्रकारके प्रचुर रणवाद्य बजाने और सिंहनाद करने लगे ॥ २८½ ॥

तेऽभ्यधावन्त संरब्धा मद्रराजं तरस्विनम् ॥ २९ ॥
महता हर्षजेनाथ नादेन कुरुपुङ्गवाः ।

उन कुरुकुलके श्रेष्ठ वीरोंने रोषमें भरकर महान् हर्षनाद-के साथ वेगशाली वीर मद्रराज शल्यपर धावा किया ॥२९½॥

ह्रादेन गजघण्टानां शङ्खानां निनदेन च ॥ ३० ॥
तूर्यशब्देन महता नादयन्तश्च मेदिनीम् ।

वे हाथियोंके घण्टोंकी आवाज, शङ्खोंकी ध्वनि तथा वाद्यों-के महान् घोषसे पृथ्वीको गुँजा रहे थे ॥ ३०½ ॥

तान् प्रत्यगृह्णात् पुत्रस्ते मद्रराजश्च वीर्यवान् ॥ ३१ ॥
महामेघानिव बहूञ्शैलावस्तोदयावुभौ ।

उस समय आपके पुत्र दुर्योधन तथा पराक्रमी मद्रराज शल्यने उन सबको आगे बढ़नेसे रोका। ठीक उसी तरह, जैसे अस्ताचल और उदयाचल दोनों बहुसंख्यक महामेघों-को रोक देते हैं ॥ ३१½ ॥

शल्यस्तु समरश्लाघी धर्मराजमरिंदमम् ॥ ३२ ॥
ववर्ष शरवर्षेण शम्बरं मघवा इव ।

युद्धकी स्पृहा रखनेवाले शल्य शत्रुदमन धर्मराज युधिष्ठिरपर उसी प्रकार बाणोंकी वर्षा करने लगे, जैसे शम्बरा-सुरपर इन्द्र ॥ ३२½ ॥

तथैव कुरुराजोऽपि प्रगृह्य रुचिरं धनुः ॥ ३३ ॥
द्रोणोपदेशान् विविधान् दर्शयानो महामनाः ।
ववर्ष शरवर्षाणि चित्रं लघु च सुष्ठु च ॥ ३४ ॥

इसी प्रकार महामना कुरुराज युधिष्ठिरने भी सुन्दर धनुष हाथमें लेकर द्रोणाचार्यके दिये हुए नाना प्रकारके उपदेशोंका प्रदर्शन करते हुए शीघ्रतापूर्वक सुन्दर एवं विचित्र रीतिसे बाणोंकी वर्षा प्रारम्भ कर दी ॥ ३३-३४ ॥

न चास्य विवरं कश्चिद् ददर्श चरतो रणे ।
तावुभौ विविधैर्बाणैस्ततक्षाते परस्परम् ॥ ३५ ॥
शार्दूलावामिषप्रेप्सू पराक्रान्ताविवाहवे ।

रणमें विचरते हुए युधिष्ठिरकी कोई भी त्रुटि किसीने नहीं देखी। मांसके लोभसे पराक्रम प्रकट करनेवाले दो सिंहों-के समान वे दोनों वीर युद्धस्थलमें नाना प्रकारके बाणोंद्वारा एक दूसरेको घायल करने लगे ॥ ३५½ ॥

भीमस्तु तव पुत्रेण युद्धशौण्डेन संगतः ॥ ३६ ॥
पाञ्चाल्यः सात्यकिश्चैव माद्रीपुत्रौ च पाण्डवौ ।
शकुनिप्रमुखान् वीरान् प्रत्यगृह्णन् समन्ततः ॥ ३७ ॥

राजन् ! भीमसेन तो आपके युद्धकुशल पुत्र दुर्योधनके साथ भिड़ गये और धृष्टद्युम्न, सात्यकि तथा पाण्डुपुत्र माद्री-कुमार नकुल-सहदेव सब ओरसे शकुनि आदि वीरोंका सामना करने लगे ॥ ३६-३७ ॥

तदाऽऽसीत् तुमुलं युद्धं पुनरेव जयैषिणाम् ।
तावकानां परेषां च राजन् दुर्मन्त्रिते तव ॥ ३८ ॥

नरेश्वर ! फिर विजयकी अभिलाषा रखनेवाले आपके और शत्रुपक्षके योद्धाओंमें उस समय घोर संग्राम छिड़ गया, जो आपकी कुमन्त्रणाका परिणाम था ॥ ३८ ॥

दुर्योधनस्तु भीमस्य शरेणानतपर्वणा ।
चिच्छेदादिश्य संग्रामे ध्वजं हेमपरिष्कृतम् ॥ ३९ ॥

दुर्योधनने घोषणा करके झुकी हुई गाँठवाले बाणसे संग्राममें भीमसेनके सुवर्णभूषित ध्वजको काट डाला ॥ ३९ ॥

स किङ्किणीकजालेन महता चारुदर्शनः ।
पपात रुचिरः संख्ये भीमसेनस्य पश्यतः ॥ ४० ॥

वह देखनेमें मनोहर और सुन्दर ध्वज भीमसेनके देखते-

देखते छोटी-छोटी घंटियोंके महान् समूहके साथ युद्धस्थलमें गिर पड़ा ॥ ४० ॥

पुनश्चास्य धनुश्चित्रं गजराजकरोपमम् ।
क्षुरेण शितधारेण प्रचकर्त नराधिपः ॥ ४१ ॥

तत्पश्चात् राजा दुर्योधनने तीखी धारवाले क्षुरसे भीमसेनके विचित्र धनुषको भी, जो हाथीकी सूँड़के समान था, काट डाला ॥ ४१ ॥

स च्छिन्नधन्वा तेजस्वी रथशक्त्या सुतं तव ।
बिभेदोरसि विक्रम्य स रथोपस्थ आविशत् ॥ ४२ ॥

धनुष कट जानेपर तेजस्वी भीमसेनने पराक्रमपूर्वक आपके पुत्रकी छातीमें रथशक्तिका प्रहार किया। उसकी चोट खाकर दुर्योधन रथके पिछले भागमें मूर्छित होकर बैठ गया ॥ ४२ ॥

तस्मिन् मोहमनुप्राप्ते पुनरेव वृकोदरः ।
यन्तुरेव शिरः कायात् क्षुरप्रेणाहरत् तदा ॥ ४३ ॥

उसके मूर्छित हो जानेपर भीमसेनने फिर क्षुरप्रके द्वारा उसके सारथिका ही सिर धड़से अलग कर दिया ॥ ४३ ॥

हतसूता हयास्तस्य रथमादाय भारत ।
व्यद्रवन्त दिशो राजन् हाहाकारस्तदाभवत् ॥ ४४ ॥

भरतवंशी नरेश ! सारथिके मारे जानेपर उसके घोड़े रथ लिये चारों दिशाओंमें दौड़ लगाने लगे। उस समय आपकी सेनामें हाहाकार मच गया ॥ ४४ ॥

तमभ्यधावत् त्राणार्थं द्रोणपुत्रो महारथः ।
कृपश्च कृतवर्मा च पुत्रं तेऽपि परीप्सवः ॥ ४५ ॥

तब महारथी द्रोणपुत्र दुर्योधनकी रक्षाके लिये दौड़ा। कृपाचार्य और कृतवर्मा भी आपके पुत्रको बचानेके लिये आ पहुँचे ॥ ४५ ॥

तस्मिन् विलुलिते सैन्ये त्रस्तास्तस्य पदानुगाः ।
गाण्डीवधन्वा विस्फार्य धनुस्तानहनच्छरैः ॥ ४६ ॥

इस प्रकार जब सारी सेनामें हलचल मच गयी, तब दुर्योधनके पीछे चलनेवाले सैनिक भयसे थर्रा उठे। उस समय गाण्डीवधारी अर्जुनने अपने धनुषको खींचकर छोड़े हुए बाणोंद्वारा उन सबको मार डाला ॥ ४६ ॥

युधिष्ठिरस्तु मद्रेशमभ्यधावदमर्षितः ।
स्वयं संनोदयन्नश्वान् दन्तवर्णान् मनोजवान् ॥ ४७ ॥

तत्पश्चात् राजा युधिष्ठिरने अमर्षमें भरकर दाँतोंके समान श्वेत वर्णवाले और मनके तुल्य वेगशाली घोड़ोंको स्वयं ही हाँकते हुए मद्रराज शल्यपर धावा किया ॥ ४७ ॥

तत्राश्चर्यमपश्याम कुन्तीपुत्रे युधिष्ठिरे ।
पुरा भूत्वा मृदुर्दान्तो यत् तदा दारुणोऽभवत्॥ ४८ ॥

वहाँ हमने कुन्तीपुत्र युधिष्ठिरमें एक आश्चर्यकी बात देखी। वे पहलेसे जितेन्द्रिय और कोमल स्वभावके होकर भी उस समय कठोर हो गये ॥ ४८ ॥

विवृताक्षश्च कौन्तेयो वेपमानश्च मन्युना ।
चिच्छेद योधान् निशितैः शरैः शतसहस्रशः॥ ४९ ॥

क्रोधसे काँपते तथा आँखें फाड़-फाड़कर देखते हुए कुन्तीकुमारने अपने पैने बाणोंद्वारा सैकड़ों और हजारों शत्रुसैनिकोंका संहार कर डाला ॥ ४९ ॥

यां यां प्रत्युद्ययौ सेनां तां तां ज्येष्ठः स पाण्डवः ।
शरैरपातयद् राजन् गिरीन् वज्रैरिवोत्तमैः ॥ ५० ॥

राजन् ! जैसे इन्द्रने उत्तम वज्रोंके प्रहारसे पर्वतोंको धराशायी कर दिया था, उसी प्रकार वे ज्येष्ठ पाण्डव जिस-जिस सेनाकी ओर अग्रसर हुए, उसी-उसीको अपने बाणोंद्वारा मार गिराया ॥ ५० ॥

साश्वसूतध्वजरथान् रथिनः पातयन् बहून् ।
अक्रीडदेको बलवान् पवनस्तोयदानिव ॥ ५१ ॥

जैसे प्रबल वायु मेघोंको छिन्न-भिन्न करती हुई उनके साथ खेलती है, उसी प्रकार बलवान् युधिष्ठिर अकेले ही घोड़े, सारथि, ध्वज और रथोंसहित बहुत-से रथियोंको धराशायी करते हुए उनके साथ खेल-सा करने लगे ॥ ५१ ॥

साश्वारोहांश्च तुरगान् पत्तींश्चैव सहस्रधा ।
व्यपोथयत संग्रामे क्रुद्धो रुद्रः पशूनिव ॥ ५२ ॥

जैसे क्रोधमें भरे हुए रुद्रदेव पशुओंका संहार करते हैं, उसी प्रकार युधिष्ठिरने इस संग्राममें कुपित हो घुड़सवारों, घोड़ों और पैदलोंके सहस्रों टुकड़े कर डाले ॥ ५२ ॥

शून्यमायोधनं कृत्वा शरवर्षैः समन्ततः ।
अभ्यद्रवत मद्रेशं तिष्ठ शल्येति चाब्रवीत् ॥ ५३ ॥

उन्होंने अपने बाणोंकी वर्षाद्वारा चारों ओरसे युद्धस्थलको सूना करके मद्रराजपर धावा किया और कहा—'शल्य ! खड़े रहो, खड़े रहो' ॥ ५३ ॥

तस्य तच्चरितं दृष्ट्वा संग्रामे भीमकर्मणः ।
वित्रेसुस्तावकाः सर्वे शल्यस्त्वेनं समभ्ययात्॥ ५४ ॥

भयंकर कर्म करनेवाले युधिष्ठिरका युद्धमें वह पराक्रम देखकर आपके सारे सैनिक थर्रा उठे; परंतु शल्यने इनपर आक्रमण कर दिया ॥ ५४ ॥

ततस्तौ भृशसंक्रुद्धौ प्रध्माय सलिलोद्भवौ ।
समाहूय तदान्योन्यं भर्त्सयन्तौ समीयतुः ॥ ५५ ॥

फिर वे दोनों वीर अत्यन्त कुपित हो शङ्ख बजाकर एक दूसरेको ललकारते और फटकारते हुए परस्पर भिड़ गये ॥

शल्यस्तु शरवर्षेण पीडयामास पाण्डवम् ।
मद्रराजं तु कौन्तेयः शरवर्षैरवाकिरत् ॥ ५६ ॥

शल्यने बाणोंकी वर्षा करके पाण्डुपुत्र युधिष्ठिरको पीड़ित कर दिया तथा कुन्तीकुमार युधिष्ठिरने भी बाणोंकी वर्षाद्वारा मद्रराज शल्यको आच्छादित कर दिया ॥ ५६ ॥

अदृश्येतां तदा राजन् कङ्कपत्रिभिराचितौ ।
उद्भिन्नरुधिरौ शूरौ मद्रराजयुधिष्ठिरौ ॥ ५७ ॥

राजन् ! उस समय शूरवीर मद्रराज और युधिष्ठिर दोनों कङ्कपत्रयुक्त बाणोंसे व्याप्त हो खून बहाते दिखायी देते थे ॥५७॥

पुष्पितौ शुशुभाते वै वसन्ते किंशुकौ यथा ।
दीप्यमानौ महात्मानौ प्राणद्यूतेन दुर्मदौ ॥ ५८ ॥
दृष्ट्वा सर्वाणि सैन्यानि नाध्यवस्यंस्तयोर्जयम् ।

जैसे वसन्त ऋतुमें फूले हुए दो पलाशके वृक्ष शोभा पाते हैं, वैसे ही उन दोनोंकी शोभा हो रही थी । प्राणोंकी बाजी लगाकर युद्धका जूआ खेलते हुए उन मदमत्त महामनस्वी एवं दीप्तिमान् वीरोंको देखकर सारी सेनाएँ यह निश्चय नहीं कर पाती थीं कि इन दोनोंमें किसकी विजय होगी ॥ ५८½ ॥

हत्वा मद्राधिपं पार्थो भोक्ष्यतेऽद्य वसुन्धराम्॥ ५९ ॥
शल्यो वा पाण्डवं हत्वा दद्याद् दुर्योधनाय गाम्।
इतीव निश्चयो नाभूद् योधानां तत्र भारत ॥ ६० ॥

भरतनन्दन ! 'आज कुन्तीकुमार युधिष्ठिर मद्रराजको मारकर इस भूतलका राज्य भोगेंगे अथवा शल्य ही पाण्डुकुमार युधिष्ठिरको मारकर दुर्योधनको भूमण्डलका राज्य सौंप देंगे ।' इस बातका निश्चय वहाँ योद्धाओंको नहीं हो पाता था ॥ ५९-६० ॥

प्रदक्षिणमभूत् सर्वं धर्मराजस्य युध्यतः ।
ततः शरशतं शल्यो मुमोचाथ युधिष्ठिरे ॥ ६१ ॥
धनुश्चास्य शिताग्रेण बाणेन निरकृन्तत ।

युद्ध करते समय युधिष्ठिरके लिये सब कुछ प्रदक्षिण (अनुकूल) हो रहा था । तदनन्तर शल्यने युधिष्ठिरपर सौ बाणोंका प्रहार किया तथा तीखी धारवाले बाणसे उनके धनुषको भी काट दिया ॥ ६१½ ॥

सोऽन्यत् कार्मुकमादाय शल्यं शरशतैस्त्रिभिः॥ ६२ ॥
अविध्यत् कार्मुकं चास्य क्षुरेण निरकृन्तत ।
अथास्य निजघानाश्वांश्चतुरो नतपर्वभिः ॥ ६३ ॥
द्वाभ्यामतिशिताग्राभ्यामुभौ तत् पार्ष्णिसारथी।
ततोऽस्य दीप्यमानेन पीतेन निशितेन च ॥ ६४ ॥
प्रमुखे वर्तमानस्य भल्लेनापाहरद् ध्वजम् ।
ततः प्रभग्नं तत् सैन्यं दौर्योधनमरिंदम ॥ ६५ ॥

तब युधिष्ठिरने दूसरा धनुष लेकर शल्यको तीन सौ बाणोंसे घायल कर दिया और एक क्षुरके द्वारा उनके धनुषके भी दो टुकड़े कर दिये । इसके बाद झुकी हुई गाँठवाले बाणोंसे उनके चारों घोड़ोंको मार डाला । फिर दो अत्यन्त तीखे बाणोंसे दोनों पार्श्वरक्षकोंको यमलोक भेज दिया । तदनन्तर एक चमकते हुए पानीदार पैने भल्लसे सामने खड़े हुए शल्यके ध्वजको भी काट गिराया। शत्रुदमन नरेश ! फिर तो दुर्योधनकी वह सेना वहाँसे भाग खड़ी हुई ॥ ६२–६५ ॥

ततो मद्राधिपं द्रौणिरभ्यधावत् तथा कृतम् ।
आरोप्य चैनं स्वरथे त्वरमाणः प्रदुद्रुवे ॥ ६६ ॥

उस समय मद्रराज शल्यकी ऐसी अवस्था हुई देख अश्वत्थामा दौड़ा और उन्हें अपने रथपर बिठाकर तुरंत वहाँसे भाग गया ॥ ६६ ॥

मुहूर्तमिव तौ गत्वा नर्दमाने युधिष्ठिरे ।
स्थित्वा ततो मद्रपतिरन्यं स्यन्दनमास्थितः ॥ ६७ ॥
विधिवत् कल्पितं शुभ्रं महाम्बुदनिनादिनम् ।
सज्जयन्त्रोपकरणं द्विषतां लोमहर्षणम् ॥ ६८ ॥

युधिष्ठिर दो घड़ीतक उनका पीछा करके सिंहके समान दहाड़ते रहे । तत्पश्चात् मद्रराज शल्य मुस्कराकर दूसरे रथपर जा बैठे । उनका वह उज्ज्वल रथ विधिपूर्वक सजाया गया था । उससे महान् मेघके समान गम्भीर ध्वनि होती थी । उसमें यन्त्र आदि आवश्यक उपकरण सजाकर रख दिये गये थे और वह रथ शत्रुओंके रोंगटे खड़े कर देनेवाला था ॥ ६७-६८ ॥

इति श्रीमहाभारते शल्यपर्वणि शल्ययुधिष्ठिरयुद्धे षोडशोऽध्यायः ॥ १६ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शल्यपर्वमें शल्य और युधिष्ठिरका युद्धविषयक सोलहवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १६ ॥

सप्तदशोऽध्यायः

भीमसेनद्वारा राजा शल्यके घोड़े और सारथिका तथा युधिष्ठिरद्वारा राजा शल्य और उनके भाईका वध एवं कृतवर्माकी पराजय

संजय उवाच

अथान्यद् धनुरादाय बलवान् वेगवत्तरम् ।
युधिष्ठिरं मद्रपतिर्भित्त्वा सिंह इवानदत् ॥ १ ॥

संजय कहते हैं—राजन् ! तदनन्तर बलवान् मद्रराज शल्य दूसरा अत्यन्त वेगशाली धनुष हाथमें लेकर युधिष्ठिरको घायल करके सिंहके समान गर्जने लगे ॥ १ ॥

ततः स शरवर्षेण पर्जन्य इव वृष्टिमान् ।
अभ्यवर्षदमेयात्मा क्षत्रियान् क्षत्रियर्षभः ॥ २ ॥

तत्पश्चात् अमेय आत्मबलसे सम्पन्न क्षत्रियशिरोमणि शल्य वर्षा करनेवाले मेघके समान क्षत्रियवीरोंपर बाणोंकी वृष्टि करने लगे ॥ २ ॥

सात्यकिं दशभिर्विद्ध्वा भीमसेनं त्रिभिः शरैः ।
सहदेवं त्रिभिर्विद्ध्वा युधिष्ठिरमपीडयत् ॥ ३ ॥

उन्होंने सात्यकिको दस, भीमसेनको तीन तथा सहदेवको भी तीन बाणोंसे घायल करके युधिष्ठिरको भी पीड़ित कर दिया ॥

तांस्तानन्यान् महेष्वासान् साश्वान् सरथकूबरान् ।
अर्दयामास विशिखैरुल्काभिरिव कुञ्जरान् ॥ ४ ॥

जैसे शिकारी जलते हुए काष्ठोंसे हाथियोंको पीड़ा देते हैं, उसी प्रकार वे दूसरे-दूसरे महाधनुर्धर वीरोंको भी घोड़े, रथ और कूबरोंसहित अपने बाणोंद्वारा पीड़ित करने लगे ॥ ४ ॥

कुञ्जरान् कुञ्जरारोहानश्वानश्वप्रयायिनः ।
रथांश्च रथिनः सार्धं जघान रथिनां वरः ॥ ५ ॥

रथियोंमें श्रेष्ठ शल्यने हाथियों और हाथीसवारोंको, घोड़ों और घुड़सवारोंको तथा रथों और रथियोंको एक साथ ही नष्ट कर दिया ॥ ५ ॥

बाहूंश्चिच्छेद तरसा सायुधान् केतनानि च ।

चकार च महीं योधैस्तीर्णां वेदीं कुशैरिव ॥ ६ ॥

उन्होंने आयुधोंसहित भुजाओं और ध्वजोंको वेगपूर्वक काट डाला और पृथ्वीपर उसी प्रकार योद्धाओंकी लाशें बिछा दीं, जैसे वेदीपर कुश बिछाये जाते हैं ॥ ६ ॥

तथा तमरिसैन्यानि घ्नन्तं मृत्युमिवान्तकम् ।
परिवव्रुर्भृशं क्रुद्धाः पाण्डुपाञ्चालसोमकाः ॥ ७ ॥

इस प्रकार मृत्यु और यमराजके समान शत्रुसेनाका संहार करनेवाले राजा शल्यको अत्यन्त क्रोधमें भरे हुए पाण्डव, पाञ्चाल तथा सोमक-योद्धाओंने चारों ओरसे घेर लिया ॥ ७ ॥

तं भीमसेनश्च शिनेश्च नप्ता
माद्र्याश्च पुत्रौ पुरुषप्रवीरौ ।
समागतं भीमबलेन राज्ञा
पर्याप्तमन्योन्यमथाह्वयन्त ॥ ८ ॥

भीमसेन, शिनिपौत्र सात्यकि और माद्रीके पुत्र नरश्रेष्ठ नकुल-सहदेव—ये भयंकर बलशाली राजा युधिष्ठिरके साथ भिड़े हुए सामर्थ्यशाली वीर शल्यको परस्पर युद्धके लिये ललकारने लगे ॥ ८ ॥

ततस्तु शूराः समरे नरेन्द्र
नरेश्वरं प्राप्य युधां वरिष्ठम् ।
आवार्य चैनं समरे नृवीरा
जघ्नुः शरैः पत्रिभिरुग्रवेगैः ॥ ९ ॥

नरेन्द्र ! तत्पश्चात् वे शौर्यशाली नरवीर योद्धाओंमें श्रेष्ठ नरेश्वर शल्यको रोककर समरभूमिमें भयंकर वेगशाली बाणोंद्वारा घायल करने लगे ॥ ९ ॥

संरक्षितो भीमसेनेन राजा
माद्रीसुताभ्यामथ माधवेन ।
मद्राधिपं पत्रिभिरुग्रवेगैः
स्तनान्तरे धर्मसुतो निजघ्ने ॥ १० ॥

धर्मपुत्र राजा युधिष्ठिरने भीमसेन, नकुल-सहदेव तथा सात्यकिसे सुरक्षित हो मद्रराज शल्यकी छातीमें उग्रवेगशाली बाणोंद्वारा प्रहार किया ॥ १० ॥

ततो रणे तावकानां रथौघाः
समीक्ष्य मद्राधिपतिं शरार्तम् ।
पर्यावव्रुः प्रवरास्ते सुसज्जा
दुर्योधनस्यानुमते पुरस्तात् ॥ ११ ॥

तब रणभूमिमें मद्रराजको बाणोंसे पीड़ित देख आपके श्रेष्ठ रथी योद्धा दुर्योधनकी आज्ञासे सुसज्जित हो उन्हें घेरकर युधिष्ठिरके आगे खड़े हो गये ॥ ११ ॥

ततो द्रुतं मद्रजनाधिपो रणे
युधिष्ठिरं सप्तभिरभ्यविद्ध्यत् ।
तं चापि पार्थो नवभिः पृषत्कै-
र्विव्याध राजंस्तुमुले महात्मा ॥ १२ ॥

इसके बाद मद्रराजने संग्राममें तुरंत ही सात बाणोंसे युधिष्ठिरको बींध डाला । राजन् ! उस तुमुल युद्धमें महात्मा युधिष्ठिरने भी नौ बाणोंसे शल्यको घायल कर दिया ॥ १२ ॥

आकर्णपूर्णायतसम्प्रयुक्तैः
शरैस्तदा संयति तैलधौतैः ।
अन्योन्यमाच्छादयतां महारथौ
मद्राधिपश्चापि युधिष्ठिरश्च ॥ १३ ॥

मद्रराज शल्य और युधिष्ठिर दोनों महारथी कानतक खींचकर छोड़े गये और तेलमें धोये हुए बाणोंद्वारा उस समय युद्धमें एक-दूसरेको आच्छादित करने लगे ॥ १३ ॥

ततस्तु तूर्णं समरे महारथौ
परस्परस्यान्तरमीक्षमाणौ ।
शरैर्भृशं विव्यधतुर्नृपोत्तमौ
महाबलौ शत्रुभिरप्रधृष्यौ ॥ १४ ॥

वे दोनों महारथी समरभूमिमें एक-दूसरेपर प्रहार करनेका अवसर देख रहे थे । दोनों ही शत्रुओंके लिये अजेय, महाबलवान् तथा राजाओंमें श्रेष्ठ थे । अतः बड़ी उतावलीके साथ बाणोंद्वारा एक-दूसरेको गहरी चोट पहुँचाने लगे ॥ १४ ॥

तयोर्धनुर्ज्यातलनिःस्वनो महान्
महेन्द्रवज्राशनितुल्यनिःस्वनः ।
परस्परं बाणगणैर्महात्मनोः
प्रवर्षतोर्मद्रपपाण्डुवीरयोः ॥ १५ ॥

परस्पर बाणोंकी वर्षा करते हुए महामना मद्रराज तथा पाण्डववीर युधिष्ठिरके धनुषकी प्रत्यञ्चाका महान् शब्द इन्द्रके वज्रकी गड़गड़ाहटके समान जान पड़ता था ॥ १५ ॥

तौ चेरतुर्व्याघ्रशिशुप्रकाशौ
महावनेष्वामिषगृद्धिनाविव ।
विषाणिनौ नागवराविवोभौ
ततक्षतुः संयति जातदर्पौ ॥ १६ ॥

उन दोनोंका घमण्ड बढ़ा हुआ था । वे दोनों मांसके लोभसे महान् वनमें जूझते हुए व्याघ्रके दो बच्चोंके समान तथा दाँतोंवाले दो बड़े-बड़े गजराजोंकी भाँति युद्धस्थलमें परस्पर आघात करने लगे ॥ १६ ॥

ततस्तु मद्राधिपतिर्महात्मा
युधिष्ठिरं भीमबलं प्रसह्य ।
विव्याध वीरं हृदयेऽतिवेगं
शरेण सूर्याग्निसमप्रभेण ॥ १७ ॥

तत्पश्चात् महामना मद्रराज शल्यने सूर्य और अग्निके समान तेजस्वी बाणसे अत्यन्त वेगवान् और भयंकर बलशाली वीर युधिष्ठिरकी छातीमें चोट पहुँचायी ॥ १७ ॥

ततोऽतिविद्धोऽथ युधिष्ठिरोऽपि
सुसम्प्रयुक्तेन शरेण राजन् ।
जघान मद्राधिपतिं महात्मा
मुदं च लेभे ऋषभः कुरूणाम् ॥ १८ ॥

राजन् ! उससे अत्यन्त घायल होनेपर भी कुरुकुल-शिरोमणि महात्मा युधिष्ठिरने अच्छी तरह चलाये हुए बाणके द्वारा मद्रराज शल्यको आहत (एवं मूर्च्छित) कर दिया । इससे उन्हें बड़ी प्रसन्नता हुई ॥ १८ ॥

ततो मुहूर्तादिव पार्थिवेन्द्रो
लब्ध्वा संज्ञां क्रोधसंरक्तनेत्रः ।
शतेन पार्थं त्वरितो जघान
सहस्रनेत्रप्रतिमप्रभावः ॥ १९ ॥

तब इन्द्रके समान प्रभावशाली राजा शल्यने दो ही घड़ीमें होशमें आकर क्रोधसे लाल आँखें करके बड़ी उतावलीके साथ युधिष्ठिरको सौ बाण मारे ॥ १९ ॥

त्वरंस्ततो धर्मसुतो महात्मा
शल्यस्य कोपान्नवभिः पृषत्कैः ।
भित्त्वा ह्युरस्तपनीयं च वर्म
जघान षड्भिस्त्वपरैः पृषत्कैः ॥ २० ॥

इसके बाद धर्मपुत्र महात्मा युधिष्ठिरने कुपित हो शीघ्रतापूर्वक नौ बाण मारकर राजा शल्यकी छाती और उनके सुवर्णमय कवचको विदीर्ण कर दिया । फिर छः बाण और मारे ॥ २० ॥

ततस्तु मद्राधिपतिः प्रहृष्टो
धनुर्विकृष्य व्यसृजत् पृषत्कान् ।
द्वाभ्यां शराभ्यां च तथैव राज्ञ-
श्चिच्छेद चापं कुरुपुङ्गवस्य ॥ २१ ॥

तदनन्तर मद्रराजने अपने उत्तम धनुषको खींचकर बहुत-से बाण छोड़े । उन्होंने दो बाणोंसे कुरुकुलशिरोमणि राजा युधिष्ठिरके धनुषको काट दिया ॥ २१ ॥

नवं ततोऽन्यत् समरे प्रगृह्य
राजा धनुर्घोरतरं महात्मा ।
शल्यं तु विव्याध शरैः समन्ताद्
यथा महेन्द्रो नमुचिं शिताग्रैः ॥ २२ ॥

तब महात्मा राजा युधिष्ठिरने समराङ्गणमें दूसरे नये और अत्यन्त भयंकर धनुषको हाथमें लेकर तीखी धारवाले बाणोंसे शल्यको उसी प्रकार सब ओरसे घायल कर दिया, जैसे देवराज इन्द्रने नमुचिको ॥ २२ ॥

ततस्तु शल्यो नवभिः पृषत्कै-
र्भीमस्य राज्ञश्च युधिष्ठिरस्य ।
निकृत्य रौक्मे पटुवर्मणी तयो-
र्विदारयामास भुजौ महात्मा ॥ २३ ॥

तब महामनस्वी शल्यने नौ बाणोंसे भीमसेन तथा राजा युधिष्ठिरके सोनेके सुदृढ़ कवचोंको काटकर उन दोनोंकी भुजाओंको विदीर्ण कर डाला ॥ २३ ॥

ततोऽपरेण ज्वलनार्कतेजसा
क्षुरेण राज्ञो धनुरुन्ममाथ ।
कृपश्च तस्यैव जघान सूतं
षड्भिः शरैः सोऽभिमुखः पपात ॥ २४ ॥

इसके बाद अग्नि और सूर्यके समान तेजस्वी क्षुरके द्वारा उन्होंने राजा युधिष्ठिरके धनुषको मथित कर दिया। फिर कृपाचार्यने भी छः बाणोंसे उन्हींके सारथिको मार डाला। सारथि उनके सामने ही पृथ्वीपर गिर पड़ा ॥ २४ ॥

मद्राधिपश्चापि युधिष्ठिरस्य
शरैश्चतुर्भिर्निजघान वाहान् ।
वाहांश्च हत्वा व्यकरोन्महात्मा
योधक्षयं धर्मसुतस्य राज्ञः ॥ २५ ॥

तत्पश्चात् मद्रराजने चार बाणोंसे युधिष्ठिरके चारों घोड़ोंका भी संहार कर डाला । घोड़ोंको मारकर महामनस्वी शल्यने धर्मपुत्र राजा युधिष्ठिरके योद्धाओंका विनाश आरम्भ कर दिया ॥ २५ ॥

(यदद्भुतं कर्म न शक्यमन्यैः
सुदुःसहं तत् कृतवन्तमेकम् ।
शल्यं नरेन्द्रस्य विषण्णभावाद्
विचिन्तयामास मृदङ्गकेतुः ॥
किमेतदिन्द्रावरजस्य वाक्यं
मोघं भवत्यद्य विधेर्बलेन ।
जहीति शल्यं ह्यवदत् तदाजौ
न लोकनाथस्य वचोऽन्यथा स्यात् ॥)

जो अद्भुत एवं दुःसह कार्य दूसरे किसीसे नहीं हो सकता, वही एकमात्र शल्यने राजा युधिष्ठिरके प्रति कर दिखाया । इससे मृदंगचिह्नित ध्वजवाले युधिष्ठिर विषादग्रस्त हो इस प्रकार चिन्ता करने लगे—'क्या आज दैवबलसे इन्द्रके छोटे भाई भगवान् श्रीकृष्णकी बात झूठी हो जायगी । उन्होंने स्पष्ट कहा था कि 'आप युद्धमें शल्यको मार डालिये' उन जगदीश्वरका कथन व्यर्थ तो नहीं होना चाहिये ॥'

तथा कृते राजनि भीमसेनो
मद्राधिपस्याथ ततो महात्मा ।
छित्त्वा धनुर्वेगवता शरेण
द्वाभ्यामविध्यत् सुभृशं नरेन्द्रम् ॥ २६ ॥

जब मद्रराज शल्यने राजा युधिष्ठिरकी ऐसी दशा कर दी, तब महामनस्वी भीमसेनने एक वेगवान् बाणद्वारा उनके धनुषको काट दिया और दो बाणोंसे उन नरेशको भी अत्यन्त घायल कर दिया ॥ २६ ॥

तथापरेणास्य जहार यन्तुः
कायाच्छिरः संहननीयमध्यात् ।
जघान चाश्वांश्चतुरः सुशीघ्रं
तथा भृशं कुपितो भीमसेनः ॥ २७ ॥

तत्पश्चात् अधिक क्रोधमें भरे हुए भीमसेनने दूसरे बाणसे शल्यके सारथिका मस्तक उसके धड़से अलग कर दिया और उनके चारों घोड़ोंको भी शीघ्र ही मार डाला ॥ २७ ॥

तमग्रणीः सर्वधनुर्धराणा-
मेकं चरन्तं समरेऽतिवेगम् ।
भीमः शतेन व्यकिरच्छराणां
माद्रीपुत्रः सहदेवस्तथैव ॥ २८ ॥

इसके बाद सम्पूर्ण धनुर्धरोंमें अग्रगण्य भीमसेन तथा माद्रीकुमार सहदेवने समराङ्गणमें बड़े वेगसे एकाकी विचरनेवाले शल्यपर सैकड़ों बाणोंकी वर्षा की ॥ २८ ॥

तैः सायकैर्मोहितं वीक्ष्य शल्यं
भीमः शरैरस्य चकर्त वर्म ।
स भीमसेनेन निकृत्तवर्मा
मद्राधिपश्चर्म सहस्रतारम् ॥ २९ ॥
प्रगृह्य खड्गं च रथान्महात्मा
प्रस्कन्द्य कुन्तीसुतमभ्यधावत् ।
छित्त्वा रथेषां नकुलस्य सोऽथ
युधिष्ठिरं भीमबलोऽभ्यधावत् ॥ ३० ॥

उन बाणोंसे शल्यको मोहित हुआ देख भीमसेनने उनके कवचको भी काट डाला । भीमसेनके द्वारा अपना कवच कट जानेपर भयंकर बलशाली महामनस्वी मद्रराज शल्य सहस्र तारोंके चिह्नसे सुशोभित ढाल और तलवार लेकर उस रथसे कूद पड़े और कुन्तीपुत्रकी ओर दौड़े । उन्होंने नकुलके रथका हरसा काटकर युधिष्ठिरपर धावा किया ॥ २९-३० ॥

तं चापि राजानमथोत्पतन्तं
क्रुद्धं यथैवान्तकमापतन्तम् ।
धृष्टद्युम्नो द्रौपदेयाः शिखण्डी
शिनेश्च नप्ता सहसा परीयुः ॥ ३१ ॥

क्रोधमें भरे हुए यमराजके समान उछलकर आनेवाले राजा शल्यको धृष्टद्युम्न, द्रौपदीके पुत्र, शिखण्डी तथा सात्यकिने सहसा चारों ओरसे घेर लिया ॥ ३१ ॥

अथास्य चर्माप्रतिमं न्यकृन्तद्
भीमो महात्मा नवभिः पृषत्कैः ।
खड्गं च भल्लैर्निचकर्त मुष्टौ
नदन् प्रहृष्टस्तव सैन्यमध्ये ॥ ३२ ॥

महामना भीमने नौ बाणोंसे उनकी अनुपम ढालके टुकड़े-टुकड़े कर डाले । फिर आपकी सेनाके बीचमें बड़े हर्षके साथ गर्जना करते हुए उन्होंने अनेक भल्लोंद्वारा उनकी तलवारकी मुट्ठी भी काट डाली ॥ ३२ ॥

तत् कर्म भीमस्य समीक्ष्य हृष्टा-
स्ते पाण्डवानां प्रवरा रथौघाः ।
नादं च चक्रुर्भृशमुत्स्मयन्तः
शङ्खांश्च दध्मुः शशिसंनिकाशान् ॥३३॥

भीमसेनका यह अद्भुत कर्म देखकर पाण्डवदलके श्रेष्ठ रथी बड़े प्रसन्न हुए और वे हँसते हुए जोर-जोरसे सिंहनाद करने तथा चन्द्रमाके समान उज्ज्वल शङ्ख बजाने लगे ॥३३॥

तेनाथ शब्देन विभीषणेन
तथाभितप्तं बलमप्रधृष्यम् ।
कांदिग्भूतं रुधिरेणोक्षिताङ्गं
विसंज्ञकल्पं च तदा विषण्णम् ॥ ३४ ॥

उस भयानक शब्दसे संतप्त हो अजेय कौरवसेना विषाद-ग्रस्त एवं अचेत-सी हो गयी । वह खूनसे लथपथ हो अज्ञात दिशाओंकी ओर भागने लगी ॥ ३४ ॥

स मद्रराजः सहसा विकीर्णो
भीमाग्रगैः पाण्डवयोधमुख्यैः ।
युधिष्ठिरस्याभिमुखं जवेन
सिंहो यथा मृगहेतोः प्रयातः ॥ ३५ ॥

भीम जिनके अगुआ थे, उन पाण्डवपक्षके प्रमुख वीरों-द्वारा बाणोंसे आच्छादित किये गये मद्रराज शल्य सहसा बड़े वेगसे युधिष्ठिरकी ओर दौड़े, मानो कोई सिंह किसी मृगको पकड़नेके लिये झपटा हो ॥ ३५ ॥

स धर्मराजो निहताश्वसूतः
क्रोधेन दीप्तो ज्वलनप्रकाशः ।
दृष्ट्वा च मद्राधिपतिं स तूर्णं
समभ्यधावत् तमरिं बलेन ॥ ३६ ॥

धर्मराज युधिष्ठिरके घोड़े और सारथि मारे गये थे, इसलिये वे क्रोधसे उद्दीप्त हो प्रज्वलित अग्निके समान जान पड़ते थे । उन्होंने अपने शत्रु मद्रराज शल्यको देखकर उन-पर बलपूर्वक आक्रमण किया ॥ ३६ ॥

गोविन्दवाक्यं त्वरितं विचिन्त्य
दध्रे मतिं शल्यविनाशनाय ।
स धर्मराजो निहताश्वसूतो
रथे तिष्ठञ्शक्तिमेवाभ्यकाङ्क्षत् ॥३७॥

उस समय श्रीकृष्णके वचनको स्मरण करके उन्होंने शीघ्र ही शल्यको मार डालनेका निश्चय किया । धर्मराजके घोड़े और सारथि तो मारे ही जा चुके थे केवल रथ शेष था, अतः उसीपर खड़े होकर उन्होंने शल्यपर शक्तिके ही प्रयोग-का विचार किया ॥ ३७ ॥

तच्चापि शल्यस्य निशम्य कर्म
महात्मनो भागमथावशिष्टम् ।
कृत्वा मनः शल्यवधे महात्मा
यथोक्तमिन्द्रावरजस्य चक्रे ॥ ३८ ॥

महात्मा युधिष्ठिरने महामना शल्यके पूर्वोक्त कर्मको देख-सुनकर और उन्हें अपना ही भाग अवशिष्ट जानकर, जैसा श्रीकृष्णने कहा था उसके अनुसार शल्यके वधका संकल्प किया॥

स धर्मराजो मणिहेमदण्डां
जग्राह शक्तिं कनकप्रकाशाम् ।
नेत्रे च दीप्ते सहसा विवृत्य
मद्राधिपं क्रुद्धमना निरैक्षत् ॥ ३९ ॥

धर्मराजने मणि और सुवर्णमय दण्डसे युक्त तथा सोनेके समान प्रकाशित होनेवाली शक्ति हाथमें ली और मन-ही-मन कुपित हो सहसा रोषसे जलती हुई आँखें फाड़कर मद्र-राज शल्यकी ओर देखा ॥ ३९ ॥

निरीक्षितोऽसौ नरदेव राज्ञा
पूतात्मना निहतकल्मषेण ।
आसीन्न यद् भस्मसान्मद्रराज-
स्तदद्भुतं मे प्रतिभाति राजन् ॥ ४० ॥

नरदेव ! पापरहित, पवित्र अन्तःकरणवाले, राजा युधिष्ठिरके रोषपूर्वक देखनेपर भी मद्रराज शल्य जलकर भस्म नहीं हो गये, यह मुझे अद्भुत बात जान पड़ती है ॥ ४० ॥

ततस्तु शक्तिं रुचिरोग्रदण्डां
मणिप्रवेकोज्ज्वलितां प्रदीप्ताम् ।
चिक्षेप वेगात् सुभृशं महात्मा
मद्राधिपाय प्रवरः कुरूणाम् ॥ ४१ ॥

तदनन्तर कौरव-शिरोमणि महात्मा युधिष्ठिरने सुन्दर एवं भयंकर दण्डवाली तथा उत्तम मणियोंसे जटित होनेके कारण प्रज्वलित दिखायी देनेवाली उस देदीप्यमान शक्तिको मद्रराज शल्यके ऊपर बड़े वेगसे चलाया ॥ ४१ ॥

दीप्तामथैनां प्रहितां बलेन
सविस्फुलिङ्गां सहसा पतन्तीम् ।
प्रैक्षन्त सर्वे कुरवः समेता
दिवो युगान्ते महतीमिवोल्काम् ॥ ४२ ॥

बलपूर्वक फेंकी जानेसे प्रज्वलित हुई तथा आगकी चिनगारियाँ छोड़ती हुई उस शक्तिको, वहाँ आये हुए समस्त कौरवोंने प्रलयकालमें आकाशसे गिरनेवाली बड़ी भारी उल्काके समान सहसा शल्यपर गिरती देखा ॥ ४२ ॥

तां कालरात्रीमिव पाशहस्तां
यमस्य धात्रीमिव चोग्ररूपाम् ।
स ब्रह्मदण्डप्रतिमाममोघां
ससर्ज यत्तो युधि धर्मराजः ॥ ४३ ॥

वह शक्ति पाश हाथमें लिये हुए कालरात्रिके समान उग्र, यमराजकी धायके समान भयंकर तथा ब्रह्मदण्डके समान अमोघ थी । धर्मराजने बड़े यत्न और सावधानीके साथ युद्धमें उसका प्रयोग किया था ॥ ४३ ॥

गन्धस्रगग्र्यासनपानभोजनै-
रभ्यर्चितां पाण्डुसुतैः प्रयत्नात् ।
सांवर्तकाग्निप्रतिमां ज्वलन्तीं
कृत्यामथर्वाङ्गिरसीमिवोग्राम् ॥ ४४ ॥

पाण्डवोंने गन्ध (चन्दन), माला, उत्तम आसन, पेय-पदार्थ और भोजन आदि अर्पण करके सदा प्रयत्नपूर्वक उसकी पूजा की थी । वह प्रलयकालिक संवर्तक नामक अग्निके समान प्रज्वलित होती और अथर्वाङ्गिरस मन्त्रोंसे प्रकट की गयी कृत्याके समान अत्यन्त भयंकर जान पड़ती थी ॥ ४४ ॥

ईशानहेतोः प्रतिनिर्मितां तां
त्वष्ट्रा रिपूणामसुदेहभक्ष्याम् ।
भूम्यन्तरिक्षादिजलाशयानि
प्रसह्य भूतानि निहन्तुमीशाम् ॥ ४५ ॥

त्वष्टा प्रजापति (विश्वकर्मा) ने भगवान् शंकरके लिये उस शक्तिका निर्माण किया था । वह शत्रुओंके प्राण और शरीरको अपना ग्रास बना लेनेवाली थी तथा जल, थल एवं आकाश आदिमें रहनेवाले प्राणियोंको भी बलपूर्वक मार डालनेमें समर्थ थी ॥ ४५ ॥

घण्टापताकामणिवज्रभाजं
वैदूर्यचित्रां तपनीयदण्डाम् ।
त्वष्ट्रा प्रयत्नान्नियमेन क्लृप्तां
ब्रह्मद्विषामन्तकरीममोघाम् ॥ ४६ ॥

उसमें छोटी-छोटी घंटियाँ और पताकाएँ लगी थीं, मणि और हीरे जड़े गये थे, वैदूर्यमणिके द्वारा उसे चित्रित किया गया था । उस शक्तिका दण्ड तपाये हुए सुवर्णका बना था । विश्वकर्माने नियमपूर्वक रहकर बड़े प्रयत्नसे उसको बनाया था । वह ब्रह्मद्रोहियोंका विनाश करनेवाली तथा लक्ष्य वेधनेमें अचूक थी ॥ ४६ ॥

बलप्रयत्नादधिरूढवेगां
मन्त्रैश्च घोरैरभिमन्त्र्य यत्नात् ।
ससर्ज मार्गेण च तां परेण
वधाय मद्राधिपतेस्तदानीम् ॥ ४७ ॥

बल और प्रयत्नके द्वारा उसका वेग बहुत बढ़ गया था, युधिष्ठिरने उस समय मद्रराजका वध करनेके लिये उसे घोर मन्त्रोंसे अभिमन्त्रित करके उत्तम मार्गके द्वारा प्रयत्नपूर्वक छोड़ा था ॥ ४७ ॥

हतोऽसि पापेत्यभिगर्जमानो
रुद्रोऽन्धकायान्तकरं यथेषुम् ।
प्रसार्य बाहुं सुदृढं सुपाणिं
क्रोधेन नृत्यन्निव धर्मराजः ॥ ४८ ॥

जैसे रुद्रने अन्धकासुरपर प्राणान्तकारी बाण छोड़ा था, उसी प्रकार क्रोधसे नृत्य-सा करते हुए धर्मराज युधिष्ठिरने सुन्दर हाथवाली अपनी सुदृढ़ बाँह फैलाकर वह शक्ति शल्यपर चला दी और गरजते हुए कहा—'ओ पापी ! तू मारा गया' ॥

(स्फुरत्प्रभामण्डलमंशुजालै-
र्धर्मात्मनो मद्रविनाशकाले ।
पुरत्रयप्रोत्सरणे पुरस्ता-
न्माहेश्वरं रूपमभूत् तदानीम् ॥)

पूर्वकालमें त्रिपुरोंका विनाश करते समय भगवान् महेश्वरका जैसा स्वरूप प्रकट हुआ था, वैसा ही शल्यके संहारकालमें उस समय धर्मात्मा युधिष्ठिरका रूप जान पड़ता था । वे अपने किरणसमूहोंसे प्रभाका पुञ्ज बिखेर रहे थे ॥

तां सर्वशक्त्या प्रहितां सुशक्तिं
युधिष्ठिरेणाप्रतिवार्यवीर्याम् ।
प्रतिग्रहायाभिननर्द शल्यः
सम्यग्घुतामग्निरिवाज्यधाराम् ॥ ४९ ॥

युधिष्ठिरने उस उत्तम शक्तिको अपना सारा बल लगाकर चलाया था । इसके सिवा, उसके बल और प्रभावको रोकना किसीके लिये भी असम्भव था तो भी उसकी चोट सहनेके लिये मद्रराज शल्य गरज उठे, मानो हवन की हुई घृतधाराको ग्रहण करनेके लिये अग्निदेव प्रज्वलित हो उठे हों ॥ ४९ ॥

सा तस्य मर्माणि विदार्य शुभ्र-
मुरो विशालं च तथैव भित्त्वा ।
विवेश गां तोयमिवाप्रसक्ता
यशो विशालं नृपतेर्दहन्ती ॥ ५० ॥

परंतु वह शक्ति राजा शल्यके मर्मस्थानोंको विदीर्ण करके उनके उज्ज्वल एवं विशाल वक्षःस्थलको चीरती तथा विस्तृत
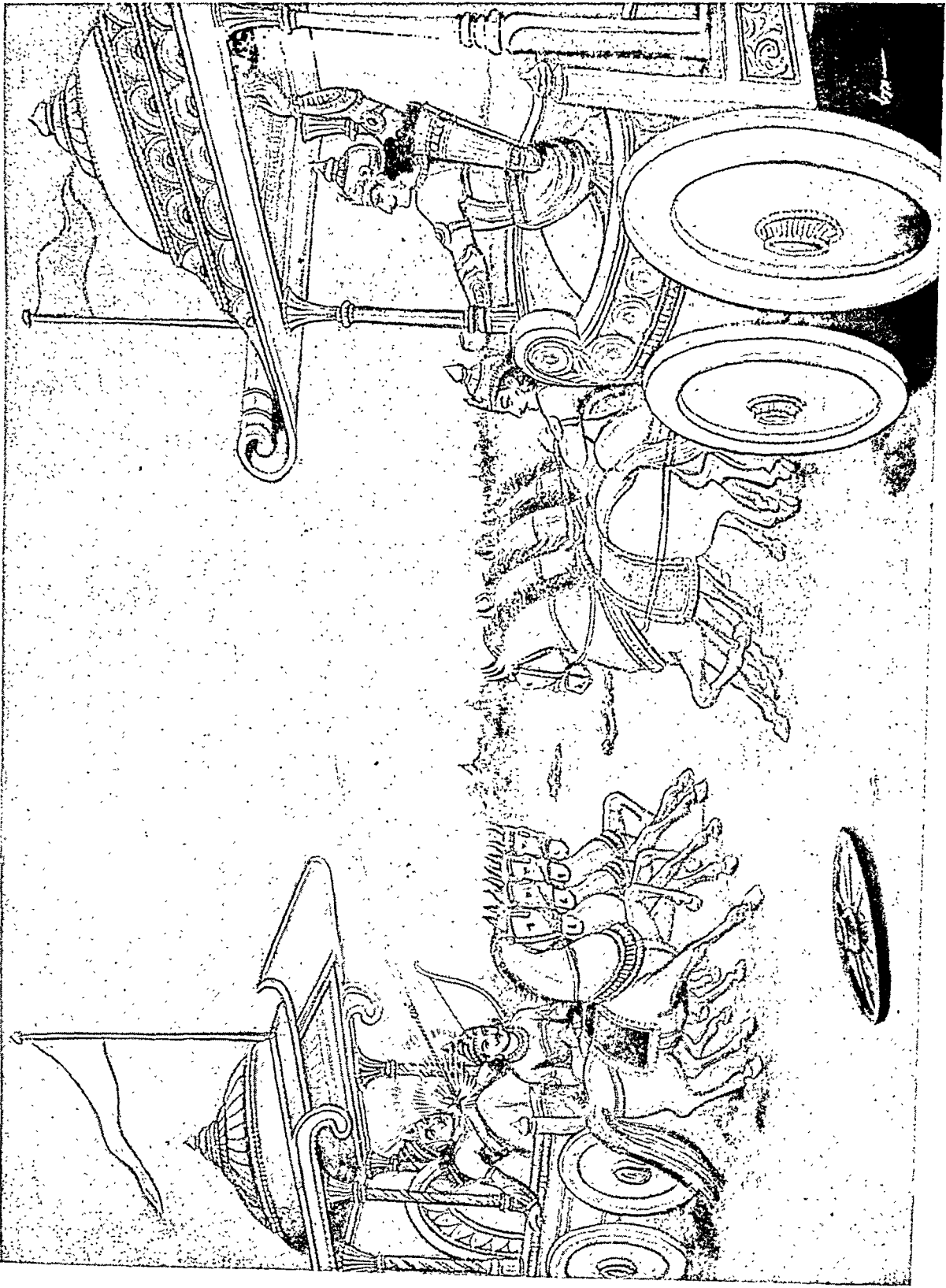
युधिष्ठिरद्वारा शल्यपर शक्तिका घातक प्रहार

यशको दग्ध करती हुई जलकी भाँति धरतीमें समा गयी। उसकी गति कहीं भी कुण्ठित नहीं होती थी ॥ ५० ॥

नासाक्षिकर्णास्यविनिःसृतेन
प्रस्यन्दता च व्रणसम्भवेन।
संसिक्तगात्रो रुधिरेण सोऽभूत्
क्रौञ्चो यथा स्कन्दहतो महाद्रिः ॥ ५१ ॥

जैसे कार्तिकेयकी शक्तिसे आहत हुआ महापर्वत क्रौञ्च गेरूमिश्रित झरनोंके जलसे भीग गया था, उसी प्रकार नाक, आँख, कान और मुखसे निकले तथा घावोंसे बहते हुए खूनसे शल्यका सारा शरीर नहा गया ॥ ५१ ॥

प्रसार्य बाहू च रथाद् गतो गां
संछिन्नवर्मा कुरुनन्दनेन।
महेन्द्रवाहप्रतिमो महात्मा
वज्राहतं शृङ्गमिवाचलस्य ॥ ५२ ॥

कुरुनन्दन! भीमसेनने जिनके कवचको छिन्न-भिन्न कर डाला था, वे इन्द्रके ऐरावत हाथीके समान विशालकाय राजा शल्य दोनों बाहें फैलाकर वज्रके मारे हुए पर्वत-शिखरकी भाँति रथसे पृथ्वीपर गिर पड़े ॥ ५२ ॥

बाहू प्रसार्याभिमुखो धर्मराजस्य मद्रराट्।
ततो निपतितो भूमाविन्द्रध्वज इवोच्छ्रितः ॥ ५३ ॥

मद्रराज शल्य धर्मराज युधिष्ठिरके सामने ही अपनी दोनों भुजाओंको फैलाकर ऊँचे इन्द्रध्वजके समान धराशायी हो गये ॥ ५३ ॥

स तथा भिन्नसर्वाङ्गो रुधिरेण समुक्षितः।
प्रत्युद्गत इव प्रेम्णा भूम्या स नरपुङ्गवः ॥ ५४ ॥
प्रियया कान्तया कान्तः पतमान इवोरसि।

उनके सारे अङ्ग विदीर्ण हो गये थे तथा वे खूनसे नहा उठे थे। जैसे प्रियतमा कामिनी अपने वक्षःस्थलपर गिरनेकी इच्छावाले प्रियतमका प्रेमपूर्वक स्वागत करती है, उसी प्रकार पृथ्वीने अपने ऊपर गिरते हुए नरश्रेष्ठ शल्यको मानो प्रेमपूर्वक आगे बढ़कर अपनाया था ॥ ५४½ ॥

चिरं भुक्त्वा वसुमतीं प्रियां कान्तामिव प्रभुः ॥ ५५ ॥
सर्वैरङ्गैः समाश्लिष्य प्रसुप्त इव चाभवत्।

प्रियतमा कान्ताकी भाँति इस वसुधाका चिरकालतक उपभोग करनेके पश्चात् राजा शल्य मानो अपने सम्पूर्ण अङ्गोंसे उसका आलिङ्गन करके सो गये थे ॥ ५५½ ॥

धर्म्ये धर्मात्मना युद्धे निहतो धर्मसूनुना ॥ ५६ ॥
सम्यग्घुत इव स्विष्टः प्रशान्तोऽग्निरिवाध्वरे।

उस धर्मानुकूल युद्धमें धर्मात्मा धर्मपुत्र युधिष्ठिरके द्वारा मारे गये राजा शल्य यज्ञमें विधिपूर्वक घीकी आहुति पाकर शान्त होनेवाली 'स्विष्टकृत्' अग्निके समान सर्वथा शान्त हो गये ॥ ५६½ ॥

शक्त्या विभिन्नहृदयं विप्रविद्धायुधध्वजम् ॥ ५७ ॥
संशान्तमपि मद्रेशं लक्ष्मीर्नैव विमुञ्चति।

शक्तिने राजा शल्यके वक्षःस्थलको विदीर्ण कर डाला था, उनके आयुध तथा ध्वज छिन्न-भिन्न हो बिखरे पड़े थे और वे सदाके लिये शान्त हो गये थे तो भी मद्रराजको लक्ष्मी (शोभा या कान्ति) छोड़ नहीं रही थी ॥ ५७½ ॥

ततो युधिष्ठिरश्चापमादायेन्द्रधनुष्प्रभम् ॥ ५८ ॥
व्यधमद् द्विषतः संख्ये खगराडिव पन्नगान्।
देहान् सुनिशितैर्भल्लै रिपूणां नाशयन् क्षणात् ॥ ५९ ॥

तदनन्तर युधिष्ठिरने इन्द्रधनुषके समान कान्तिमान् दूसरा धनुष लेकर सर्पोंका संहार करनेवाले गरुड़की भाँति युद्धस्थलमें तीखे भल्लोंद्वारा शत्रुओंके शरीरोंका नाश करते हुए क्षणभरमें उन सबका विध्वंस कर दिया ॥ ५८-५९ ॥

ततः पार्थस्य बाणौघैरावृताः सैनिकास्तव।
निमीलिताक्षाः क्षिण्वन्तो भृशमन्योन्यमर्दिताः ॥ ६० ॥
क्षरन्तो रुधिरं देहैर्विपन्नायुधजीविताः।

युधिष्ठिरके बाणसमूहोंसे आच्छादित हुए आपके सैनिकोंने आँखें मीच लीं और आपसमें ही एक-दूसरेको घायल करके वे अत्यन्त पीडित हो गये। उस समय शरीरोंसे रक्तकी धारा बहाते हुए वे अपने अस्त्र-शस्त्र और जीवनसे भी हाथ धो बैठे॥

ततः शल्ये निपतिते मद्रराजानुजो युवा ॥ ६१ ॥
भ्रातुस्तुल्यो गुणैः सर्वै रथी पाण्डवमभ्ययात्।

तदनन्तर, मद्रराज शल्यके मारे जानेपर उनका छोटा भाई, जो अभी नवयुवक था और सभी गुणोंमें अपने भाईकी ही समानता करता था, रथपर आरूढ हो पाण्डुपुत्र युधिष्ठिरपर चढ़ आया ॥ ६१½ ॥

विव्याध च नरश्रेष्ठो नाराचैर्बहुभिस्त्वरन् ॥ ६२ ॥
हतस्यापचितिं भ्रातुश्चिकीर्षुर्युद्धदुर्मदः।

मारे गये भाईका प्रतिशोध लेनेकी इच्छासे वह रणदुर्मद नरश्रेष्ठ वीर बड़ी उतावलीके साथ उन्हें बहुत-से नाराचोंद्वारा घायल करने लगा ॥ ६२½ ॥

तं विव्याधाशुगैः षड्भिर्धर्मराजस्त्वरन्निव ॥ ६३ ॥
कार्मुकं चास्य चिच्छेद क्षुराभ्यां ध्वजमेव च।

तब धर्मराजने उसे शीघ्रतापूर्वक छः बाणोंसे बींध डाला तथा दो क्षुरोंसे उसके धनुष और ध्वजको काट दिया ॥

ततोऽस्य दीप्यमानेन सुदृढेन शितेन च ॥ ६४ ॥
प्रमुखे वर्तमानस्य भल्लेनापाहरच्छिरः।

तत्पश्चात् एक चमकीले, सुदृढ़ और तीखे भल्लसे सामने खड़े हुए उस राजकुमारके मस्तकको काट गिराया ॥ ६४½ ॥

सकुण्डलं तद् ददृशे पतमानं शिरो रथात् ॥ ६५ ॥
पुण्यक्षयमनुप्राप्य पतन् स्वर्गादिव च्युतः।

पुण्य समाप्त होनेपर स्वर्गसे भ्रष्ट हो नीचे गिरनेवाले जीवकी भाँति उसका वह कुण्डलसहित मस्तक रथसे भूतलपर गिरता देखा गया ॥ ६५½ ॥

तस्यापकृत्तशीर्षं तु शरीरं पतितं रथात् ॥ ६६ ॥
रुधिरेणावसिक्ताङ्गं दृष्ट्वा सैन्यमभज्यत।

फिर खूनसे लथपथ हुआ उसका शरीर भी, जिसका सिर काट लिया गया था, रथसे नीचे गिर पड़ा। उसे देखकर आपकी सेनामें भगदड़ मच गयी ॥ ६६½ ॥

विचित्रकवचे तस्मिन् हते मद्रनृपानुजे ॥ ६७ ॥
हाहाकारं प्रकुर्वाणाः कुरवोऽभिप्रदुद्रुवुः ।

मद्रनरेशका वह छोटा भाई विचित्र कवचसे सुशोभित था, उसके मारे जानेपर समस्त कौरव हाहाकार करते हुए भाग चले ॥ ६७½ ॥

शल्यानुजं हतं दृष्ट्वा तावकास्त्यक्तजीविताः ॥ ६८॥
वित्रेसुः पाण्डवभयाद् रजोध्वस्तास्तदा भृशम् ।

शल्यके भाईको मारा गया देख धूलिधूसरित हुए आपके सारे सैनिक पाण्डुपुत्रके भयसे जीवनकी आशा छोड़कर अत्यन्त त्रस्त हो गये ॥ ६८½ ॥

तांस्तथा भज्यमानांस्तु कौरवान् भरतर्षभ ॥ ६९ ॥
शिनेर्नप्ता किरन् बाणैरभ्यवर्तत सात्यकिः ।

भरतश्रेष्ठ! इस प्रकार भागते हुए उन कौरवयोद्धाओंपर बाणोंकी वर्षा करते हुए शिनि-पौत्र सात्यकि उनका पीछा करने लगे ॥ ६९½ ॥

तमायान्तं महेष्वासं दुष्प्रसह्यं दुरासदम् ॥ ७० ॥
हार्दिक्यस्त्वरितो राजन् प्रत्यगृह्णादभीतवत् ।

राजन्! दुःसह एवं दुर्जय महाधनुर्धर सात्यकिको आक्रमण करते देख कृतवर्माने शीघ्रतापूर्वक एक निर्भय वीरकी भाँति उन्हें रोका ॥ ७०½ ॥

तौ समेतौ महात्मानौ वार्ष्णेयौ वरवाजिनौ ॥ ७१ ॥
हार्दिक्यः सात्यकिश्चैव सिंहाविव बलोत्कटौ ।

श्रेष्ठ घोड़ोंवाले वे महामनस्वी वृष्णिवंशी वीर सात्यकि और कृतवर्मा दो बलोन्मत्त सिंहोंके समान एक दूसरेसे भिड़ गये ॥ ७१½ ॥

इषुभिर्विमलाभासैश्छादयन्तौ परस्परम् ॥ ७२ ॥
अर्चिर्भिरिव सूर्यस्य दिवाकरसमप्रभौ ।

सूर्यके समान तेजस्वी वे दोनों वीर दिनकरकी किरणोंके सदृश निर्मल कान्तिवाले बाणोंद्वारा एक दूसरेको आच्छादित करने लगे ॥ ७२½ ॥

चापमार्गबलोद्धूतान् मार्गणान् वृष्णिसिंहयोः ॥ ७३ ॥
आकाशगानपश्याम पतङ्गानिव शीघ्रगान् ।

वृष्णिवंशके उन दोनों सिंहोंके धनुषद्वारा बलपूर्वक चलाये हुए शीघ्रगामी बाणोंको हमने टिड्डीदलोंके समान आकाशमें व्याप्त हुआ देखा था ॥ ७३½ ॥

सात्यकिं दशभिर्विद्ध्वा हयांश्चास्य त्रिभिः शरैः ॥ ७४ ॥
चापमेकेन चिच्छेद हार्दिक्यो नतपर्वणा ।

कृतवर्माने दस बाणोंसे सात्यकिको तथा तीनसे उनके घोड़ोंको घायल करके झुकी हुई गाँठवाले एक बाणसे उनके धनुषको भी काट दिया ॥ ७४½ ॥

तन्निकृत्तं धनुः श्रेष्ठमपास्य शिनिपुङ्गवः ॥ ७५ ॥
अन्यदादत्त वेगेन वेगवत्तरमायुधम् ।

उस कटे हुए श्रेष्ठ धनुषको फेंककर शिनिप्रवर सात्यकिने उससे भी अत्यन्त वेगशाली दूसरा धनुष शीघ्रतापूर्वक हाथमें ले लिया ॥ ७५½ ॥

तदादाय धनुः श्रेष्ठं वरिष्ठः सर्वधन्विनाम् ॥ ७६ ॥
हार्दिक्यं दशभिर्बाणैः प्रत्यविध्यत् स्तनान्तरे ।

उस श्रेष्ठ धनुषको लेकर सम्पूर्ण धनुर्धरोंमें अग्रगण्य सात्यकिने कृतवर्माकी छातीमें दस बाणोंद्वारा गहरी चोट पहुँचायी ॥ ७६½ ॥

ततो रथं युगेषां च च्छित्त्वा भल्लैः सुसंयतैः ॥ ७७ ॥
अश्वांस्तस्यावधीत् तूर्णमुभौ च पार्ष्णिसारथी ।

तत्पश्चात् सुसंयत भल्लोंके प्रहारसे उसके रथ, जूए और ईषादण्ड (हरसे) को काटकर शीघ्र ही घोड़ों तथा दोनों पार्श्वरक्षकोंको भी मार डाला ॥ ७७½ ॥

ततस्तं विरथं दृष्ट्वा कृपः शारद्वतः प्रभो ॥ ७८ ॥
अपोवाह ततः क्षिप्रं रथमारोप्य वीर्यवान् ।

प्रभो! कृतवर्माको रथहीन हुआ देख शरद्वान्‌के पराक्रमी पुत्र कृपाचार्य उसे शीघ्र ही अपने रथपर बिठाकर वहाँसे दूर हटा ले गये ॥ ७८½ ॥

मद्रराजे हते राजन् विरथे कृतवर्मणि ॥ ७९ ॥
दुर्योधनबलं सर्वं पुनरासीत् पराङ्मुखम् ।

राजन्! जब मद्रराज मारे गये और कृतवर्मा भी रथहीन हो गया, तब दुर्योधनकी सारी सेना पुनः युद्धसे मुँह मोड़कर भागने लगी ॥ ७९½ ॥

तत् परे नान्वबुध्यन्त सैन्येन रजसा वृते ॥ ८० ॥
बलं तु हतभूयिष्ठं तत् तदाऽऽसीत् पराङ्मुखम् ।

परंतु वहाँ सब ओर धूल छा रही थी, इसलिये शत्रुओंको इस बातका पता न चला। अधिकांश योद्धाओंके मारे जानेसे उस समय वह सारी सेना युद्धसे विमुख हो गयी थी ॥ ८०½ ॥

ततो मुहूर्तात् तेऽपश्यन् रजो भौमं समुत्थितम् ॥ ८१ ॥
विविधैः शोणितस्रावैः प्रशान्तं पुरुषर्षभ ।

पुरुषप्रवर! तदनन्तर दो ही घड़ीमें उन सबने देखा कि धरतीकी जो धूल ऊपर उड़ रही थी, वह नाना प्रकारके रक्तका स्रोत बहनेसे शान्त हो गयी है ॥ ८१½ ॥

ततो दुर्योधनो दृष्ट्वा भग्नं स्वबलमन्तिकात् ॥ ८२ ॥
जवेनापततः पार्थानेकः सर्वानवारयत् ।

उस समय दुर्योधनने यह देखकर कि मेरी सेना मेरे पाससे भाग गयी है, वेगसे आक्रमण करनेवाले समस्त पाण्डव-योद्धाओंको अकेले ही रोका ॥ ८२½ ॥

पाण्डवान् सरथान् दृष्ट्वा धृष्टद्युम्नं च पार्षतम् ॥ ८३ ॥
आनर्तं च दुराधर्षं शितैर्बाणैरवारयत् ।

रथसहित पाण्डवोंको, द्रुपदकुमार धृष्टद्युम्नको तथा दुर्जय वीर आनर्तनरेशको सामने देखकर उसने तीखे बाणोंद्वारा उन सबको आगे बढ़नेसे रोक दिया ॥ ८३½ ॥

तं परे नाभ्यवर्तन्त मर्त्या मृत्युमिवागतम् ॥ ८४ ॥
अथान्यं रथमास्थाय हार्दिक्योऽपि न्यवर्तत ।

जैसे मरणधर्मा मनुष्य पास आयी हुई अपनी मौतको नहीं टाल सकते, उसी प्रकार वे शत्रुपक्षके सैनिक दुर्योधनको

लाँघकर आगे न बढ़ सके। इसी समय कृतवर्मा भी दूसरे रथपर आरूढ़ हो पुनः वहीं लौट आया ॥ ८४½ ॥

ततो युधिष्ठिरो राजा त्वरमाणो महारथः ॥ ८५ ॥
चतुर्भिर्निजघानाश्वान् पत्रिभिः कृतवर्मणः।
विव्याध गौतमं चापि षड्भिर्भल्लैः सुतेजनैः ॥ ८६ ॥

तब महारथी राजा युधिष्ठिरने बड़ी उतावलीके साथ चार बाण मारकर कृतवर्माके चारों घोड़ोंका संहार कर डाला तथा छः तेज धारवाले भल्लोंसे कृपाचार्यको भी घायल कर दिया ॥ ८५-८६ ॥

अश्वत्थामा ततो राज्ञा हताश्वं विरथीकृतम्।
तमपोवाह हार्दिक्यं स्वरथेन युधिष्ठिरात् ॥ ८७ ॥

इसके बाद अश्वत्थामा अपने रथके द्वारा घोड़ोंके मारे जानेसे रथहीन हुए कृतवर्माको राजा युधिष्ठिरके पाससे दूर हटा ले गया ॥ ८७ ॥

ततः शारद्वतः षड्भिः प्रत्यविद्ध्यद् युधिष्ठिरम्।
विव्याध चाश्वान्निशितैस्तस्याष्टाभिः शिलीमुखैः॥८८॥

तब कृपाचार्यने छः बाणोंसे राजा युधिष्ठिरको बींध डाला और आठ पैने बाणोंसे उनके घोड़ोंको भी घायल कर दिया ॥

एवमेतन्महाराज युद्धशेषमवर्तत।
तव दुर्मन्त्रिते राजन् सह पुत्रस्य भारत ॥ ८९ ॥

महाराज! भरतवंशी नरेश! इस प्रकार पुत्रसहित आपकी कुमन्त्रणासे इस युद्धका अन्त हुआ ॥ ८९ ॥

तस्मिन् महेष्वासवरे विशस्ते
संग्राममध्ये कुरुपुङ्गवेन।
पार्थाः समेताः परमप्रहृष्टाः
शङ्खान् प्रदध्मुर्हतमीक्ष्य शल्यम्॥ ९० ॥

कुरुकुलशिरोमणि युधिष्ठिरके द्वारा युद्धमें श्रेष्ठ महाधनुर्धर शल्यके मारे जानेपर कुन्तीके सभी पुत्र एकत्र हो अत्यन्त हर्षमें भर गये और शल्यको मारा गया देख शङ्ख बजाने लगे ॥ ९० ॥

युधिष्ठिरं च प्रशशंसुराजौ
पुरा कृते वृत्रवधे यथेन्द्रम्।
चक्रुश्च नानाविधवाद्यशब्दान्
निनादयन्तो वसुधां समेताः ॥ ९१ ॥

जैसे पूर्वकालमें वृत्रासुरका वध करनेपर देवताओंने इन्द्रकी स्तुति की थी, उसी प्रकार सब पाण्डवोंने रणभूमिमें युधिष्ठिरकी भूरि-भूरि प्रशंसा की और पृथ्वीको प्रतिध्वनित करते हुए वे सब लोग नाना प्रकारके वाद्योंकी ध्वनि फैलाने लगे ॥ ९१ ॥

इति श्रीमहाभारते शल्यपर्वणि शल्यवधे सप्तदशोऽध्यायः ॥ १७ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शल्यपर्वमें शल्यका वधविषयक सत्रहवाँ अध्याय पूरा हुआ॥ १७ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठके ३ श्लोक मिलाकर कुल ९४ श्लोक हैं)

अष्टादशोऽध्यायः

मद्रराजके अनुचरोंका वध और कौरवसेनाका पलायन

संजय उवाच

शल्येऽथ निहते राजन् मद्रराजपदानुगाः।
रथाः सप्तशता वीरा निर्ययुर्महतो बलात् ॥ १ ॥
दुर्योधनस्तु द्विरदमारुह्याचलसंनिभम्।
छत्रेण ध्रियमाणेन वीज्यमानश्च चामरैः ॥ २ ॥
न गन्तव्यं न गन्तव्यमिति मद्रानवारयत्।
दुर्योधनेन ते वीरा वार्यमाणाः पुनः पुनः ॥ ३ ॥
युधिष्ठिरं जिघांसन्तः पाण्डूनां प्राविशन् बलम्।

संजय कहते हैं—राजन्! मद्रराज शल्यके मारे जानेपर उनके अनुगामी सात सौ वीर रथी विशाल कौरव-सेनासे निकल पड़े। उस समय दुर्योधन पर्वताकार हाथीपर आरूढ़ हो सिरपर छत्र धारण किये चामरोंसे वीजित होता हुआ वहाँ आया और 'न जाओ, न जाओ' ऐसा कहकर उन मद्रदेशीय वीरोंको रोकने लगा; परंतु दुर्योधनके बारंबार रोकनेपर भी वे वीर योद्धा युधिष्ठिरके वधकी इच्छासे पाण्डवोंकी सेनामें जा घुसे ॥ १-३½ ॥

ते तु शूरा महाराज कृतचित्ताश्च योधने ॥ ४ ॥
धनुःशब्दं महत् कृत्वा सहायुध्यन्त पाण्डवैः।

महाराज! उन शूरवीरोंने युद्ध करनेका दृढ़ निश्चय कर लिया था, अतः धनुषकी गम्भीर टंकार करके पाण्डवोंके साथ संग्राम आरम्भ कर दिया ॥ ४½ ॥

श्रुत्वा च निहतं शल्यं धर्मपुत्रं च पीडितम् ॥ ५ ॥
मद्रराजप्रिये युक्तैर्मद्रकाणां महारथैः।
आजगाम ततः पार्थो गाण्डीवं विक्षिपन् धनुः ॥ ६ ॥
पूरयन् रथघोषेण दिशः सर्वा महारथः।

शल्य मारे गये और मद्रराजका प्रिय करनेमें लगे हुए मद्रदेशीय महारथियोंने धर्मपुत्र युधिष्ठिरको पीड़ित कर रखा है; यह सुनकर कुन्तीपुत्र महारथी अर्जुन गाण्डीव धनुषकी टंकार करते और रथके गम्भीर घोषसे सम्पूर्ण दिशाओंको परिपूर्ण करते हुए वहाँ आ पहुँचे ॥ ५-६½ ॥

ततोऽर्जुनश्च भीमश्च माद्रीपुत्रौ च पाण्डवौ ॥ ७ ॥
सात्यकिश्च नरव्याघ्रो द्रौपदेयाश्च सर्वशः।
धृष्टद्युम्नः शिखण्डी च पञ्चालाः सह सोमकैः॥ ८ ॥
युधिष्ठिरं परीप्सन्तः समन्तात् पर्यवारयन्।

तदनन्तर अर्जुन, भीमसेन, माद्रीपुत्र पाण्डुकुमार नकुल, सहदेव, पुरुषसिंह सात्यकि, द्रौपदीके पाँचों पुत्र, धृष्टद्युम्न, शिखण्डी, पाञ्चाल और सोमक वीर—इन सबने युधिष्ठिरकी रक्षाके लिये उन्हें चारों ओरसे घेर लिया ७-८½

ते समन्तात् परिवृताः पाण्डवाः पुरुषर्षभाः ॥ ९ ॥
क्षोभयन्ति स तां सेनां मकराः सागरं यथा।

युधिष्ठिरको सब ओरसे घेरकर खड़े हुए पुरुषप्रवर पाण्डव उस सेनाको उसी प्रकार क्षुब्ध करने लगे, जैसे मगर समुद्रको ॥ ९½ ॥

वृक्षानिव महावाताः कम्पयन्ति स्म तावकान् ॥ १० ॥
पुरोवातेन गङ्गेव क्षोभ्यमाणा महानदी ।
अक्षोभ्यत तदा राजन् पाण्डूनां ध्वजिनी ततः ॥ ११ ॥

जैसे महावायु (आँधी) वृक्षोंको हिला देती है, उसी प्रकार पाण्डव-वीरोंने आपके सैनिकोंको कम्पित कर दिया। राजन्! जैसे पूर्वी हवा महानदी गङ्गाको क्षुब्ध कर देती है, उसी प्रकार उन सैनिकोंने पाण्डवोंकी सेनामें भी हलचल मचा दी ॥ १०-११ ॥

प्रस्कन्द्य सेनां महतीं महात्मानो महारथाः ।
बहवश्चुक्रुशुस्तत्र क्व स राजा युधिष्ठिरः ॥ १२ ॥
भ्रातरो वास्य ते शूरा दृश्यन्ते नेह केन च ।

वे बहुसंख्यक महामनस्वी मद्रमहारथी विशाल पाण्डव-सेनाको मथकर जोर-जोरसे पुकार-पुकारकर कहने लगे—'कहाँ है वह राजा युधिष्ठिर? अथवा उसके वे शूरवीर भाई? वे सब यहाँ दिखायी क्यों नहीं देते?॥ १२½ ॥

धृष्टद्युम्नोऽथ शैनेयो द्रौपदेयाश्च सर्वशः ॥ १३ ॥
पञ्चालाश्च महावीर्याः शिखण्डी च महारथः ।

'धृष्टद्युम्न, सात्यकि, द्रौपदीके सभी पुत्र, महापराक्रमी पाञ्चाल और महारथी शिखण्डी—ये सब कहाँ हैं?' ॥ १३½॥

एवं तान् वादिनः शूरान् द्रौपदेया महारथाः ॥ १४ ॥
अभ्यघ्नन् युयुधानश्च मद्रराजपदानुगान् ।

ऐसी बातें कहते हुए उन मद्रराजके अनुगामी वीर योद्धाओंको द्रौपदीके महारथी पुत्रों और सात्यकिने मारना आरम्भ किया ॥ १४½ ॥

चक्रैर्विमथितैः केचित् केचिच्छिन्नैर्महाध्वजैः ॥ १५ ॥
ते दृश्यन्तेऽपि समरे तावका निहताः परैः ।

समराङ्गणमें आपके वे सैनिक शत्रुओंद्वारा मारे जाने लगे। कुछ योद्धा छिन्न-भिन्न हुए रथके पहियों और कुछ कटे हुए विशाल ध्वजोंके साथ ही धराशायी होते दिखायी देने लगे ॥ १५½ ॥

आलोक्य पाण्डवान् युद्धे योधा राजन् समन्ततः ॥ १६॥
वार्यमाणा ययुर्वेगात् पुत्रेण तव भारत ।

राजन्! भरतनन्दन! वे योद्धा युद्धमें सब ओर फैले हुए पाण्डवोंको देखकर आपके पुत्रके मना करनेपर भी वेग-पूर्वक आगे बढ़ गये ॥ १६½ ॥

दुर्योधनश्च तान् वीरान् वारयामास सान्त्वयन्॥ १७ ॥
न चास्य शासनं केचित्तत्र चक्रुर्महारथाः ।

दुर्योधनने उन वीरोंको सान्त्वना देते हुए बहुत मना किया, किंतु वहाँ किन्हीं महारथियोंने उसकी इस आज्ञाका पालन नहीं किया ॥ १७½ ॥

ततो गान्धारराजस्य पुत्रः शकुनिरब्रवीत् ॥ १८ ॥
दुर्योधनं महाराज वचनं वचनक्षमः ।

महाराज! तब प्रवचनपटु गान्धारराजपुत्र शकुनिने दुर्योधनसे यह बात कही—॥ १८½ ॥

किं नः सम्प्रेक्षमाणानां मद्राणां हन्यते बलम् ॥ १९ ॥
न युक्तमेतत् समरे त्वयि तिष्ठति भारत ।

'भारत! हमलोगोंके देखते-देखते मद्रदेशकी यह सेना क्यों मारी जाती है? तुम्हारे रहते ऐसा, कदापि नहीं होना चाहिये ॥ १९½ ॥

सहितैश्चापि योद्धव्यमित्येष समयः कृतः ॥ २० ॥
अथ कस्मात् परानेव घ्नतो मर्षयसे नृप ।

'यह शपथ ली जा चुकी है कि 'हम सब लोग एक साथ होकर लड़ें।' नरेश्वर! ऐसी दशामें शत्रुओंको अपनी सेनाका संहार करते देखकर भी तुम क्यों सहन करते हो?' ॥ २०½ ॥

दुर्योधन उवाच

वार्यमाणा मया पूर्वं नैते चक्रुर्वचो मम ॥ २१ ॥
एते विनिहताः सर्वे प्रस्कन्नाः पाण्डुवाहिनीम् ।

दुर्योधनने कहा—मैंने पहले ही इन्हें बहुत मना किया था, परंतु इन लोगोंने मेरी बात नहीं मानी और पाण्डवसेनामें घुसकर ये प्रायः सब-के-सब मारे गये ॥ २१½॥

शकुनिरुवाच

न भर्तुः शासनं वीरा रणे कुर्वन्त्यमर्षिताः ॥ २२ ॥
अलं क्रोद्धुमथैतेषां नायं काल उपेक्षितुम् ।
यामः सर्वे च सम्भूय सवाजिरथकुञ्जराः ॥ २३ ॥
परित्रातुं महेष्वासान् मद्रराजपदानुगान् ।
अन्योन्यं परिरक्षामो यत्नेन महता नृप ॥ २४ ॥

शकुनि बोला—नरेश्वर! युद्धस्थलमें रोषामर्षके वशीभूत हुए वीर स्वामीकी आज्ञाका पालन नहीं करते हैं; वैसी दशामें इनपर क्रोध करना उचित नहीं है। यह इनकी उपेक्षा करनेका समय नहीं है। हम सब लोग एक साथ हो मद्रराजके महाधनुर्धर सेवकोंकी रक्षाके लिये हाथी, घोड़े और रथसहित चलें तथा महान् प्रयत्नपूर्वक एक दूसरेकी रक्षा करें ॥ २२–२४ ॥

संजय उवाच

एवं सर्वेऽनुसंचिन्त्य प्रययुर्यत्र सैनिकाः ।
एवमुक्तस्तदा राजा बलेन महता वृतः ॥ २५ ॥
प्रययौ सिंहनादेन कम्पयन्निव मेदिनीम् ।

संजय कहते हैं—राजन्! ऐसा विचारकर सब लोग वहीं गये, जहाँ वे सैनिक मौजूद थे। शकुनिके वैसा कहने-पर राजा दुर्योधन विशाल सेनाके साथ सिंहनाद करता और पृथ्वीको कँपाता हुआ-सा आगे बढ़ा ॥ २५½ ॥

हत विद्ध्यत गृह्णीत प्रहरध्वं निकृन्तत ॥ २६ ॥
इत्यासीत् तुमुलः शब्दस्तव सैन्यस्य भारत ।

भारत! उस समय आपकी सेनामें 'मार डालो, घायल करो, पकड़ लो, प्रहार करो और टुकड़े-टुकड़े कर डालो' यह भयंकर शब्द गूँज रहा था ॥ २६½ ॥

पाण्डवास्तु रणे दृष्ट्वा मद्रराजपदानुगान् ॥ २७ ॥
सहितानभ्यवर्तन्त गुल्ममास्थाय मध्यमम् ।

रणभूमिमें मद्रराजके सेवकोंको एक साथ धावा करते देख पाण्डवोंने मध्यम गुल्म (सेना) का आश्रय ले उनका सामना किया ॥ २७½ ॥

ते मुहूर्ताद् रणे वीरा हस्ताहस्ति विशाम्पते ॥ २८ ॥
निहताः प्रत्यदृश्यन्त मद्रराजपदानुगाः ।

प्रजानाथ ! वे मद्रराजके अनुगामी वीर रणभूमिमें दो ही घड़ीके भीतर हाथों-हाथ मारे गये दिखायी दिये ॥२८½॥

ततो नः सम्प्रयातानां हता मद्रास्तरस्विनः ॥ २९ ॥
हृष्टाः किलकिलाशब्दमकुर्वन् सहिताः परे ।

वहाँ हमारे पहुँचते ही मद्रदेशके वे वेगशाली वीर कालके गालमें चले गये और शत्रुसैनिक अत्यन्त प्रसन्न हो एक साथ किलकारियाँ भरने लगे ॥ २९½ ॥

उत्थितानि कबन्धानि समदृश्यन्त सर्वशः ॥ ३० ॥
पपात महती चोल्का मध्येनादित्यमण्डलम् ।

सब ओर कबन्ध खड़े दिखायी दे रहे थे और सूर्यमण्डलके बीचसे वहाँ बड़ी भारी उल्का गिरी ॥ ३०½ ॥

रथैर्भग्नैर्युगाक्षैश्च निहतैश्च महारथैः ॥ ३१ ॥
अश्वैर्निपतितैश्चैव संछन्नाभूद् वसुन्धरा ।

टूटे-फूटे रथों, जूओं और धुरोंसे, मारे गये महारथियोंसे तथा धराशायी हुए घोड़ोंसे भूमि ढक गयी थी ॥ ३१½॥

वातायमानैस्तुरगैर्युगासक्तैस्ततस्ततः ॥ ३२ ॥
अदृश्यन्त महाराज योधास्तत्र रणाजिरे ।

महाराज ! वहाँ समराङ्गणमें बहुत-से योद्धा जूएमें बँधे हुए वायुके समान वेगशाली घोड़ोंद्वारा इधर-उधर ले जाये जाते दिखायी देते थे ॥ ३२½ ॥

भग्नचक्रान् रथान् केचिदहरंस्तुरगा रणे ॥ ३३ ॥
रथार्धं केचिदादाय दिशो दश विबभ्रमुः ।

कुछ घोड़े रणभूमिमें टूटे पहियोंवाले रथोंको लिये जा रहे थे और कितने ही अश्व आधे ही रथको लेकर दसों दिशाओंमें चक्कर लगाते थे ॥ ३३½ ॥

तत्र तत्र व्यदृश्यन्त योक्त्रैः श्लिष्टाः स्म वाजिनः॥३४॥
रथिनः पतमानाश्च दृश्यन्ते स्म नरोत्तमाः ।
गगनात् प्रच्युताः सिद्धाः पुण्यानामिव संक्षये ॥ ३५ ॥

जहाँ-तहाँ जोतोंसे जुड़े हुए घोड़े और नरश्रेष्ठ रथी गिरते दिखायी दे रहे थे, मानो सिद्ध (पुण्यात्मा) पुरुष पुण्यक्षय होनेपर आकाशसे पृथ्वीपर गिर पड़े हों ॥ ३४-३५ ॥

निहतेषु च शूरेषु मद्रराजानुगेषु वै ।
अस्मानापततश्चापि दृष्ट्वा पार्था महारथाः ॥ ३६ ॥
अभ्यवर्तन्त वेगेन जयगृद्धाः प्रहारिणः ।
बाणशब्दरवान् कृत्वा विमिश्राञ्शङ्खनिःस्वनैः ॥ ३७ ॥

मद्रराजके उन शूरवीर सैनिकोंके मारे जानेपर हमें आक्रमण करते देख विजयकी अभिलाषा रखनेवाले महारथी पाण्डव-योद्धा शङ्खध्वनिके साथ बाणोंकी सनसनाहट फैलाते हुए हमारा सामना करनेके लिये बड़े वेगसे आये ३६-३७

अस्मांस्तु पुनरासाद्य लब्धलक्ष्यप्रहारिणः ।
शरासनानि धुन्वानाः सिंहनादान् प्रचुक्रुशुः ॥ ३८ ॥

हमारे पास पहुँचकर लक्ष्य वेधनेमें सफल और प्रहार-कुशल पाण्डव-सैनिक अपने धनुष हिलाते हुए जोर-जोरसे सिंहनाद करने लगे ॥ ३८ ॥

ततो हतमभिप्रेक्ष्य मद्रराजबलं महत् ।
मद्रराजं च समरे दृष्ट्वा शूरं निपातितम् ॥ ३९ ॥
दुर्योधनबलं सर्वं पुनरासीत् पराङ्मुखम् ।

मद्रराजकी वह विशाल सेना मारी गयी तथा शूरवीर मद्रराज शल्य पहले ही समरभूमिमें धराशायी किये जा चुके हैं, यह सब अपनी आँखों देखकर दुर्योधनकी सारी सेना पुनः पीठ दिखाकर भाग चली ॥ ३९½ ॥

वध्यमानं महाराज पाण्डवैर्जितकाशिभिः ।
दिशो भेजेऽथ सम्भ्रान्तं भ्रामितं दृढधन्विभिः ॥ ४० ॥

महाराज ! विजयसे उल्लसित होनेवाले दृढ़ धनुर्धर पाण्डवोंकी मार खाकर कौरव-सेना घबरा उठी और भ्रान्त-सी होकर सम्पूर्ण दिशाओंमें भागने लगी ॥ ४० ॥

इति श्रीमहाभारते शल्यपर्वणि संकुलयुद्धे अष्टादशोऽध्यायः ॥ १८ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शल्यपर्वमें संकुलयुद्धविषयक अठारहवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १८ ॥

एकोनविंशोऽध्यायः

पाण्डवसैनिकोंका आपसमें बातचीत करते हुए पाण्डवोंकी प्रशंसा और धृतराष्ट्रकी निन्दा करना तथा कौरव-सेनाका पलायन, भीमद्वारा इक्कीस हजार पैदलोंका संहार और दुर्योधनका अपनी सेनाको उत्साहित करना

संजय उवाच

पातिते युधि दुर्धर्षे मद्रराजे महारथे ।
तावकास्तव पुत्राश्च प्रायशो विमुखाभवन् ॥ १ ॥

संजय कहते हैं—राजन् ! दुर्जय महारथी मद्रराज शल्यके मारे जानेपर आपके सैनिक और पुत्र प्रायः संग्रामसे विमुख हो गये ॥ १ ॥

वणिजो नावि भिन्नायां यथागाधेऽप्लवेऽर्णवे ।
अपारे पारमिच्छन्तो हते शूरे महात्मना ॥ २ ॥
मद्रराजे महाराज वित्रस्ताः शरविक्षताः ।

महाराज ! जैसे अगाध महासागरमें नाव टूट जानेपर उस नौकारहित अपार समुद्रसे पार जानेकी इच्छावाले व्यापारी व्याकुल हो उठते हैं, उसी प्रकार महात्मा युधिष्ठिरके द्वारा

शूरवीर मद्रराज शल्यके मारे जानेपर आपके सैनिक बाणोंसे क्षत-विक्षत एवं भयभीत हो बड़ी घबराहटमें पड़ गये ॥

अनाथा नाथमिच्छन्तो मृगाः सिंहार्दिता इव ॥ ३ ॥
वृषा यथा भग्नशृङ्गाः शीर्णदन्ता यथा गजाः ।

वे अपनेको अनाथ समझते हुए किसी नाथ (सहायक) की इच्छा रखते थे और सिंहके सताये हुए मृगों, टूटे सींगवाले बैलों तथा जीर्ण-शीर्ण दाँतोंवाले हाथियोंके समान असमर्थ हो गये थे ॥ ३½ ॥

मध्याह्ने प्रत्यपायाम निर्जिताजातशत्रुणा ॥ ४ ॥
न संधातुमनीकानि न च राजन् पराक्रमे ।
आसीद् बुद्धिर्हते शल्ये भूयो योधस्य कस्यचित् ॥ ५ ॥

राजन् ! अजातशत्रु युधिष्ठिरसे पराजित हो दोपहरके समय हमलोग युद्धसे भाग चले थे । शल्यके मारे जानेसे किसी भी योद्धाके मनमें सेनाओंको संगठित करने तथा पराक्रम दिखानेका उत्साह नहीं होता था ॥ ४-५ ॥

भीष्मे द्रोणे च निहते सूतपुत्रे च भारत ।
यद् दुःखं तव योधानां भयं चासीद् विशाम्पते ॥ ६ ॥
तद् भयं स च नः शोको भूय एवाभ्यवर्तत ।

भारत ! प्रजानाथ ! भीष्म, द्रोण और सूतपुत्र कर्णके मारे जानेपर आपके योद्धाओंको जो दुःख और भय प्राप्त हुआ था, वही भय और वही शोक पुनः (शल्यके मारे जानेपर) हमारे सामने उपस्थित हुआ ॥ ६½ ॥

निराशाश्च जये तस्मिन् हते शल्ये महारथे ॥ ७ ॥
हतप्रवीरा विध्वस्ता निकृत्ताश्च शितैः शरैः ।

जिनके प्रमुख वीर मारे गये थे, वे कौरव-सैनिक महारथी शल्यका वध हो जानेपर पैने बाणोंसे क्षत-विक्षत और विध्वस्त हो विजयकी ओरसे निराश हो गये थे ॥ ७½ ॥

मद्रराजे हते राजन् योधास्ते प्राद्रवन् भयात् ॥ ८ ॥
अश्वानन्ये गजानन्ये रथानन्ये महारथाः ।
आरुह्य जवसम्पन्नाः पादाताः प्राद्रवंस्तथा ॥ ९ ॥

राजन् ! मद्रराजकी मृत्यु हो जानेपर आपके वे सभी योद्धा भयके मारे भागने लगे । कुछ सैनिक घोड़ोंपर, कुछ हाथियोंपर और दूसरे महारथी रथोंपर आरूढ़ हो बड़े वेगसे भागे । पैदल सैनिक भी वहाँसे भाग खड़े हुए ॥

द्विसाहस्राश्च मातङ्गा गिरिरूपाः प्रहारिणः ।
सम्प्राद्रवन् हते शल्ये अङ्कुशाङ्गुष्ठनोदिताः ॥ १० ॥

दो हजार प्रहारकुशल पर्वताकार मतवाले हाथी शल्यके मारे जानेपर अङ्कुशों और पैरके अँगूठोंसे प्रेरित हो तीव्र गतिसे पलायन करने लगे ॥ १० ॥

ते रणाद् भरतश्रेष्ठ तावकाः प्राद्रवन् दिशः ।
धावतश्चाप्यपश्याम श्वसमानाञ्शराहतान् ॥ ११ ॥

भरतश्रेष्ठ ! आपके वे सैनिक रणभूमिसे सम्पूर्ण दिशाओंकी ओर भागे थे । हमने देखा, वे बाणोंसे क्षत-विक्षत हो हाँफते हुए दौड़े जा रहे हैं ॥ ११ ॥

तान् प्रभग्नान् द्रुतान् दृष्ट्वा हतोत्साहान् पराजितान् ।
अभ्यवर्तन्त पञ्चालाः पाण्डवाश्च जयैषिणः ॥ १२ ॥

उन्हें हतोत्साह, पराजित एवं हताश होकर भागते देख विजयकी अभिलाषा रखनेवाले पाञ्चाल और पाण्डव उनका पीछा करने लगे ॥ १२ ॥

बाणशब्दरवाश्चापि सिंहनादाश्च पुष्कलाः ।
शङ्खशब्दश्च शूराणां दारुणः समपद्यत ॥ १३ ॥

बाणोंकी सनसनाहट, शूरवीरोंका सिंहनाद और शङ्खध्वनि इन सबकी मिली-जुली आवाज बड़ी भयानक जान पड़ती थी ॥

दृष्ट्वा तु कौरवं सैन्यं भयत्रस्तं प्रविद्रुतम् ।
अन्योन्यं समभाषन्त पञ्चालाः पाण्डवैः सह ॥ १४ ॥

कौरव-सेनाको भयसे संत्रस्त होकर भागती देख पाण्डवों-सहित पाञ्चाल योद्धा आपसमें इस प्रकार वार्तालाप करने लगे—॥

अद्य राजा सत्यधृतिर्हतामित्रो युधिष्ठिरः ।
अद्य दुर्योधनो हीनो दीप्तया नृपतिश्रिया ॥ १५ ॥

'आज सत्यपरायण राजा युधिष्ठिर शत्रुहीन हो गये और आज दुर्योधन अपनी देदीप्यमान राजलक्ष्मीसे भ्रष्ट हो गया ॥

अद्य श्रुत्वा हतं पुत्रं धृतराष्ट्रो जनेश्वरः ।
विह्वलः पतितो भूमौ किल्बिषं प्रतिपद्यताम् ॥ १६ ॥

'आज राजा धृतराष्ट्र अपने पुत्रको मारा गया सुनकर व्याकुल हो पृथ्वीपर पछाड़ खाकर गिरें और दुःख भोगें ॥

अद्य जानातु कौन्तेयं समर्थं सर्वधन्विनाम् ।
अद्यात्मानं च दुर्मेधा गर्हयिष्यति पापकृत् ॥ १७ ॥
अद्य क्षत्तुर्वचः सत्यं स्मरतां ब्रुवतो हितम् ।

'आज वे समझ लें कि कुन्तीपुत्र अर्जुन सम्पूर्ण धनुर्धरोंमें श्रेष्ठ एवं सामर्थ्यशाली हैं । आज पापाचारी दुर्बुद्धि धृतराष्ट्र अपनी भरपेट निन्दा करें और विदुरजीने जो सत्य एवं हितकर वचन कहे थे, उन्हें याद करें ॥ १७½ ॥

अद्यप्रभृति पार्थं स प्रेष्यभूत इवाचरन् ॥ १८ ॥
विजानातु नृपो दुःखं यत् प्राप्तं पाण्डुनन्दनैः ।

'आजसे वे स्वयं ही दासतुल्य होकर कुन्तीपुत्र युधिष्ठिरकी परिचर्या करते हुए अच्छी तरह समझ लें कि 'पाण्डवोंने पहले कितना कष्ट उठाया था !' ॥ १८½ ॥

अद्य कृष्णस्य माहात्म्यं विजानातु महीपतिः ॥ १९ ॥
अद्यार्जुनधनुर्घोषं घोरं जानातु संयुगे ।
अस्त्राणां च बलं सर्वं बाह्वोश्च बलमाहवे ॥ २० ॥

'आज राजा धृतराष्ट्र अनुभव करें कि भगवान् श्रीकृष्णका कैसा माहात्म्य है और आज वे यह भी जान लें कि युद्धस्थलमें अर्जुनके गाण्डीव धनुषकी टंकार कितनी भयंकर है ? उनके अस्त्र-शस्त्रोंकी सारी शक्ति कैसी है तथा रणभूमिमें उनकी दोनों भुजाओंका बल कितना अद्भुत है !॥ १९-२० ॥

अद्य ज्ञास्यति भीमस्य बलं घोरं महात्मनः ।
हते दुर्योधने युद्धे शक्रेणेवासुरे बले ॥ २१ ॥

'जैसे इन्द्रने असुरोंकी सेनाका संहार किया था, उसी प्रकार युद्धमें भीमसेनके हाथसे दुर्योधनके मारे जानेपर आज धृतराष्ट्रको यह ज्ञात हो जायगा कि 'महामनस्वी भीमका बल कैसा भयंकर है !' ॥ २१ ॥

यत् कृतं भीमसेनेन दुःशासनवधे तदा ।
नान्यः कर्तास्ति लोकेऽस्मिन्नृते भीमान्महाबलात् ॥२२॥

'दुःशासनके वधके समय भीमसेनने जो कुछ किया था, उसे महाबली भीमसेनके सिवा इस संसारमें दूसरा कोई नहीं कर सकता ॥ २२ ॥

अद्य श्रेष्ठस्य जानीतां पाण्डवस्य पराक्रमम् ।
मद्रराजं हतं श्रुत्वा देवैरपि सुदुःसहम् ॥ २३ ॥

'देवताओंके लिये भी दुःसह मद्रराज शल्यके वधका वृत्तान्त सुनकर आज धृतराष्ट्र ज्येष्ठ पाण्डव युधिष्ठिरके पराक्रम-को भी अच्छी तरह जान लें ॥ २३ ॥

अद्य ज्ञास्यति संग्रामे माद्रीपुत्रौ सुदुःसहौ ।
निहते सौबले वीरे प्रवीरेषु च सर्वशः ॥ २४ ॥

'आज संग्राममें सुबलपुत्र वीर शकुनि तथा दूसरे समस्त प्रमुख वीरोंके मारे जानेपर उन्हें शत्रुके लिये अत्यन्त दुःसह माद्रीकुमार नकुल-सहदेवकी शक्तिका भी ज्ञान हो जायगा ॥

कथं जयो न तेषां स्याद् येषां योद्धा धनंजयः ।
सात्यकिर्भीमसेनश्च धृष्टद्युम्नश्च पार्षतः ॥ २५ ॥
द्रौपद्यास्तनयाः पञ्च माद्रीपुत्रौ च पाण्डवौ ।
शिखण्डी च महेष्वासो राजा चैव युधिष्ठिरः ॥ २६ ॥

'जिनकी ओरसे युद्ध करनेवाले धनंजय, सात्यकि, भीमसेन, द्रुपदकुमार धृष्टद्युम्न, द्रौपदीके पाँचों पुत्र, माद्रीकुमार पाण्डुनन्दन नकुल-सहदेव, महाधनुर्धर शिखण्डी तथा स्वयं राजा युधिष्ठिर-जैसे वीर हैं, उनकी विजय कैसे न हो ? ।२५-२६।

येषां च जगतीनाथो नाथः कृष्णो जनार्दनः ।
कथं तेषां जयो न स्याद् येषां धर्मो व्यपाश्रयः ॥२७॥

'सम्पूर्ण जगत्के स्वामी जनार्दन श्रीकृष्ण जिनके रक्षक हैं और जिन्हें धर्मका आश्रय प्राप्त है, उनकी विजय क्यों न हो ? ॥ २७ ॥

(लाभस्तेषां जयस्तेषां कुतस्तेषां पराभवः ।
येषां नाथो हृषीकेशः सर्वलोकविभुर्हरिः ॥)

'अखिल विश्वके प्रभु और सबकी इन्द्रियोंके नियन्ता भगवान् श्रीहरि जिनके स्वामी और संरक्षक हैं, उन्हींको लाभ प्राप्त होता है और उन्हींकी विजय होती है । भला उनकी पराजय कैसे हो सकती है ? ॥

भीष्मं द्रोणं च कर्णं च मद्रराजानमेव च ।
तथान्यान् नृपतीन् वीराञ्शतशोऽथ सहस्रशः॥ २८ ॥
कोऽन्यः शक्तो रणे जेतुमृते पार्थाद् युधिष्ठिरात् ।
यस्य नाथो हृषीकेशः सदा सत्ययशोनिधिः ॥ २९ ॥

'कुन्तीपुत्र युधिष्ठिरके सिवा दूसरा कौन ऐसा राजा है जो रणभूमिमें भीष्म, द्रोण, कर्ण, मद्रराज शल्य तथा अन्य सैकड़ों-हजारों नरपतियोंपर विजय प्राप्त कर सके । सदा सत्य और यशके सागर भगवान् श्रीकृष्ण जिनके स्वामी एवं रक्षक हैं, उन्हींको यह सफलता प्राप्त हो सकती है' ॥ २८-२९ ॥

इत्येवं वदमानास्ते हर्षेण महता युताः ।
प्रभग्नांस्तावकान् योधान् सृंजयाः पृष्ठतोऽन्ययुः ॥३०॥

इस तरहकी बातें करते हुए सृंजयवीर अत्यन्त हर्षमें भरकर आपके भागते हुए योद्धाओंका पीछा करने लगे ॥

धनंजयो रथानीकमभ्यवर्तत वीर्यवान् ।
माद्रीपुत्रौ च शकुनिं सात्यकिश्च महारथः ॥ ३१ ॥

इसी समय पराक्रमी अर्जुनने आपकी रथसेनापर धावा किया । साथ ही नकुल-सहदेव और महारथी सात्यकिने शकुनिपर चढ़ाई की ॥ ३१ ॥

तान् प्रेक्ष्य द्रवतः सर्वान् भीमसेनभयार्दितान् ।
दुर्योधनस्तदा सूतमब्रवीद् विजयाय च ॥ ३२ ॥

भीमसेनके भयसे पीड़ित हुए अपने उन समस्त योद्धाओं-को भागते देख दुर्योधनने विजयकी इच्छासे अपने सारथि-से कहा—॥ ३२ ॥

मामतिक्रमते पार्थो धनुष्पाणिमवस्थितम् ।
जघने सर्वसैन्यानां ममाश्वान् प्रतिपादय ॥ ३३ ॥

'सूत ! मैं यहाँ हाथमें धनुष लिये खड़ा हूँ और अर्जुन मुझे लाँघ जानेकी चेष्टा कर रहे हैं । अतः तुम मेरे घोड़ोंको सारी सेनाके पिछले भागमें पहुँचा दो ॥ ३३ ॥

जघने युध्यमानं हि कौन्तेयो मां समन्ततः ।
नोत्सहेदभ्यतिक्रान्तुं वेलामिव महोदधिः ॥ ३४ ॥

'पृष्ठभागमें रहकर युद्ध करते समय मुझे अर्जुन किसी ओरसे भी लाँघनेका साहस नहीं कर सकते । ठीक वैसे ही, जैसे महासागर अपने तटप्रान्तको नहीं लाँघ पाता है ॥ ३४ ॥

पश्य सैन्यं महत् सूत पाण्डवैः समभिद्रुतम् ।
सैन्यरेणुं समुद्भूतं पश्यस्वैनं समन्ततः ॥ ३५ ॥

'सारथे ! देखो, पाण्डव मेरी विशाल सेनाको खदेड़ रहे हैं और सैनिकोंके दौड़नेसे उठी हुई धूल जो सब ओर छा गयी है उसपर भी दृष्टिपात करो ॥ ३५ ॥

सिंहनादांश्च बहुशः शृणु घोरान् भयावहान् ।
तस्माद् याहि शनैः सूत जघनं परिपालय ॥ ३६ ॥

'सूत ! वह सुनो, बारंबार भय उत्पन्न करनेवाले घोर सिंहनाद हो रहे हैं । इसलिये तुम धीरे-धीरे चलो और सेनाके पृष्ठ-भागकी रक्षा करो ॥ ३६ ॥

मयि स्थिते च समरे निरुद्धेषु च पाण्डुषु ।
पुनरावर्तते तूर्णं मामकं बलमोजसा ॥ ३७ ॥

'जब मैं समराङ्गणमें खड़ा होऊँगा और पाण्डवोंका बढ़ाव रुक जायगा, तब मेरी सेना पुनः शीघ्र ही लौट आयेगी और सारी शक्ति लगाकर युद्ध करेगी' ॥ ३७ ॥

तच्छ्रुत्वा तव पुत्रस्य शूरार्यसदृशं वचः ।
सारथिर्हेमसंछन्नाञ्शनैरश्वानचोदयत् ॥ ३८ ॥

राजन् ! आपके पुत्रका यह श्रेष्ठ वीरोचित वचन सुन-कर सारथिने सोनेके साज-बाजसे सजे हुए घोड़ोंको धीरे-धीरे आगे बढ़ाया ॥ ३८ ॥

गजाश्वरथिभिर्हीनास्त्यक्तात्मानः पदातयः ।
एकविंशतिसाहस्राः संयुगायावतस्थिरे ॥ ३९ ॥

उस समय वहाँ हाथीसवार, घुड़सवार तथा रथियोंसे

शेष इक्कीस हजार सैनिक पैदल योद्धा अपने जीवनका मोह छोड़कर युद्धके लिये डट गये ॥ ३९ ॥

नानादेशसमुद्भूता नानानगरवासिनः।
अवस्थितास्तदा योधाः प्रार्थयन्तो महद् यशः ॥ ४० ॥

वे अनेक देशोंमें उत्पन्न और अनेक नगरोंके निवासी वीर सैनिक महान् यशकी अभिलाषा रखते हुए वहाँ युद्ध करनेके लिये खड़े हुए थे ॥ ४० ॥

तेषामापततां तत्र संहृष्टानां परस्परम्।
सम्मर्दः सुमहाञ्जज्ञे घोररूपो भयानकः ॥ ४१ ॥

परस्पर हर्षमें भरकर एक-दूसरेपर आक्रमण करनेवाले उभय पक्षके सैनिकोंका वह घोर एवं महान् संघर्ष बड़ा भयंकर हुआ ॥ ४१ ॥

भीमसेनस्तदा राजन् धृष्टद्युम्नश्च पार्षतः।
बलेन चतुरङ्गेण नानादेश्यानवारयत् ॥ ४२ ॥

राजन्! उस समय भीमसेन और द्रुपदकुमार धृष्टद्युम्न चतुरंगिणी सेना साथ लेकर उन अनेकदेशीय सैनिकोंको रोकने लगे ॥ ४२ ॥

भीममेवाभ्यवर्तन्त रणेऽन्ये तु पदातयः।
प्रक्ष्वेड्यास्फोट्य संहृष्टा वीरलोकं यियासवः ॥४३॥

तब रणभूमिमें अन्य पैदल योद्धा हर्ष और उत्साहमें भरकर भुजाओंपर ताल ठोंकते और सिंहनाद करते हुए वीरलोकमें जानेकी इच्छासे भीमसेनके ही सामने आ पहुँचे ॥

आसाद्य भीमसेनं तु संरब्धा युद्धदुर्मदाः।
धार्तराष्ट्रा विनेदुर्हि नान्यामकथयन् कथाम् ॥ ४४ ॥

भीमसेनके पास पहुँचकर वे रोषभरे रणदुर्मद कौरव-योद्धा केवल गर्जना करने लगे, मुँहसे दूसरी कोई बात नहीं कहते थे ॥ ४४ ॥

परिवार्य रणे भीमं निजघ्नुस्ते समन्ततः।
स वध्यमानः समरे पदातिगणसंवृतः ॥ ४५ ॥
न चचाल ततः स्थानान्मैनाक इव पर्वतः।

उन्होंने रणभूमिमें भीमसेनको चारों ओरसे घेरकर उनपर प्रहार आरम्भ कर दिया। समराङ्गणमें पैदल सैनिकोंसे घिरे हुए भीमसेन उनके अस्त्र-शस्त्रोंकी चोट सहते हुए भी मैनाक पर्वतके समान अपने स्थानसे विचलित नहीं हुए ॥

ते तु क्रुद्धा महाराज पाण्डवस्य महारथम् ॥ ४६ ॥
निग्रहीतुं प्रवृत्ता हि योधांश्चान्यानवारयन्।

महाराज! वे सभी सैनिक कुपित हो पाण्डव महारथी भीमसेनको पकड़नेकी चेष्टामें संलग्न हो गये और दूसरे योद्धाओंको भी आगे बढ़नेसे रोकने लगे ॥ ४६½ ॥

अक्रुध्यत रणे भीमस्तैस्तदा पर्यवस्थितैः ॥ ४७ ॥
सोऽवतीर्य रथात् तूर्णं पदातिः समवस्थितः।
जातरूपप्रतिच्छन्नां प्रगृह्य महतीं गदाम् ॥ ४८ ॥
अवधीत् तावकान् योधान् दण्डपाणिरिवान्तकः।

उनके इस प्रकार सब ओर खड़े होनेपर उस समय रणभूमिमें भीमसेनको बड़ा क्रोध हुआ। वे तुरंत अपने रथसे उतरकर पैदल खड़े हो गये और सोनेसे जड़ी हुई विशाल गदा हाथमें लेकर दण्डधारी यमराजके समान आपके उन योद्धाओंका संहार करने लगे ॥ ४७-४८½ ॥

विप्रहीणरथाश्वांस्तानवधीत् पुरुषर्षभः ॥ ४९ ॥
एकविंशतिसाहस्रान् पदातीन् समपोथयत्।

रथ और घोड़ोंसे रहित उन इक्कीसों हजार पैदल सैनिकोंको पुरुषप्रवर भीमने गदासे मारकर धराशायी कर दिया ॥

हत्वा तत् पुरुषानीकं भीमः सत्यपराक्रमः ॥ ५० ॥
धृष्टद्युम्नं पुरस्कृत्य नचिरात् प्रत्यदृश्यत।

सत्यपराक्रमी भीमसेन उस पैदल सेनाका संहार करके थोड़ी ही देरमें धृष्टद्युम्नको आगे किये दिखायी दिये ॥५०½॥

पादाता निहता भूमौ शिश्यिरे रुधिरोक्षिताः ॥ ५१ ॥
सम्भग्ना इव वातेन कर्णिकाराः सुपुष्पिताः।

मारे गये पैदल सैनिक खूनसे लथपथ हो पृथ्वीपर सदाके लिये सो गये, मानो हवाके उखाड़े हुए सुन्दर लाल फूलोंसे भरे कनेरके वृक्ष पड़े हों ॥ ५१½ ॥

नानाशस्त्रसमायुक्ता नानाकुण्डलधारिणः ॥ ५२ ॥
नानाजात्या हतास्तत्र नानादेशसमागताः।

वहाँ नाना देशोंसे आये हुए, नाना जातिके, नाना शस्त्र धारण किये और नाना प्रकारके कुण्डलधारी योद्धा मारे गये थे ॥ ५२½ ॥

पताकाध्वजसंछन्नं पदातीनां महद् बलम् ॥ ५३ ॥
निकृत्तं विबभौ रौद्रं घोररूपं भयावहम्।

ध्वज और पताकाओंसे आच्छादित पैदलोंकी वह विशाल सेना छिन्न-भिन्न होकर रौद्र, घोर एवं भयानक प्रतीत होती थी ॥ ५३½ ॥

युधिष्ठिरपुरोगाश्च सहसैन्या महारथाः ॥ ५४ ॥
अभ्यधावन् महात्मानं पुत्रं दुर्योधनं तव।

तत्पश्चात् सेनासहित युधिष्ठिर आदि महारथी आपके महामनस्वी पुत्र दुर्योधनकी ओर दौड़े ॥ ५४½ ॥

ते सर्वे तावकान् दृष्ट्वा महेष्वासाः पराङ्मुखान् ॥५५॥
नात्यवर्तन्त ते पुत्रं वेलेव मकरालयम्।

आपके योद्धाओंको युद्धसे विमुख हो भागते देख वे सब महाधनुर्धर पाण्डव-महारथी आपके पुत्रको लाँघकर आगे नहीं बढ़ सके। जैसे तटभूमि समुद्रको आगे नहीं बढ़ने देती है (उसी प्रकार दुर्योधनने उन्हें अग्रसर नहीं होने दिया)॥

तदद्भुतमपश्याम तव पुत्रस्य पौरुषम् ॥ ५६ ॥
यदेकं सहिताः पार्था न शेकुरतिवर्तितुम्।

उस समय हमलोगोंने आपके पुत्रका अद्भुत पराक्रम देखा कि कुन्तीके सभी पुत्र एक साथ प्रयत्न करनेपर भी उसे लाँघकर आगे न जा सके ॥ ५६½ ॥

नातिदूरापयातं तु कृतबुद्धिं पलायने ॥ ५७ ॥
दुर्योधनः स्वकं सैन्यमब्रवीद् भृशविक्षतम्।

जब दुर्योधनने देखा कि मेरी सेना भागनेका निश्चय करके अभी अधिक दूर नहीं गयी है, तब उसने उन अत्यन्त घायल हुए सैनिकोंको पुकारकर कहा—॥ ५७½ ॥

न तं देशं प्रपश्यामि पृथिव्यां पर्वतेषु च ॥ ५८ ॥
यत्र यातान्न वा हन्युः पाण्डवाः किं सृतेन वः ।

'अरे ! इस तरह भागनेसे क्या लाभ है ? मैं पृथ्वीमें या पर्वतोंपर ऐसा कोई स्थान नहीं देखता, जहाँ जानेपर तुम्हें पाण्डव मार न सकें ॥ ५८½ ॥

अल्पं च बलमेतेषां कृष्णौ च भृशविक्षतौ ॥ ५९ ॥
यदि सर्वेऽत्र तिष्ठामो ध्रुवं नो विजयो भवेत् ।

'अब तो इनके पास बहुत थोड़ी सेना शेष रह गयी है और श्रीकृष्ण तथा अर्जुन भी अत्यन्त घायल हो चुके हैं, ऐसी दशामें यदि हम सब लोग साहस करके डटे रहें तो हमारी विजय अवश्य होगी ॥ ५९½ ॥

विप्रयातांस्तु वो भिन्नान् पाण्डवाः कृतविप्रियाः ॥ ६० ॥
अनुसृत्य हनिष्यन्ति श्रेयान्नः समरे वधः ।

'तुम पाण्डवोंके अपराध तो कर ही चुके हो। यदि अलग-अलग होकर भागोगे तो पाण्डव पीछा करके तुम्हें अवश्य मार डालेंगे। ऐसी दशामें हमारे लिये संग्राममें मारा जाना ही श्रेयस्कर है ॥ ६०½ ॥

शृण्वन्तु क्षत्रियाः सर्वे यावन्तोऽत्र समागताः ॥ ६१ ॥
यदा शूरं च भीरुं च मारयत्यन्तकः सदा ।
को नु मूढो न युध्येत पुरुषः क्षत्रियो ध्रुवम् ॥ ६२ ॥

'जितने क्षत्रिय यहाँ एकत्र हुए हैं, वे सब कान खोलकर सुन लें—जब शूरवीर और कायर सभीको सदा ही मौत मार डालती है, तब ऐसा कौन मूर्ख मनुष्य है, जो क्षत्रिय कहलाकर भी निश्चितरूपसे युद्ध नहीं करेगा ॥ ६१-६२ ॥

श्रेयो नो भीमसेनस्य क्रुद्धस्याभिमुखे स्थितम् ।
सुखः सांग्रामिको मृत्युः क्षत्रधर्मेण युध्यताम् ॥ ६३ ॥

'अतः क्रोधमें भरे हुए भीमसेनके सामने डटे रहना ही हमारे लिये कल्याणकारी होगा। क्षत्रिय-धर्मके अनुसार युद्ध करनेवाले वीर पुरुषोंके लिये संग्राममें होनेवाली मृत्यु ही सुखद है॥

मर्त्येनावश्यमर्तव्यं गृहेष्वपि कदाचन ।
युध्यतः क्षत्रधर्मेण मृत्युरेष सनातनः ॥ ६४ ॥

'मरणधर्मा मनुष्यको कभी-न-कभी अवश्य मरना पड़ेगा। घरमें भी उससे छुटकारा नहीं है। अतः क्षत्रिय-धर्मके अनुसार युद्ध करते हुए ही जो मृत्यु होती है, यही क्षत्रियके लिये सनातन मृत्यु है ॥ ६४ ॥

हत्वेह सुखमाप्नोति हतः प्रेत्य महत् फलम् ।
न युद्धधर्माच्छ्रेयान् वै पन्थाः स्वर्गस्य कौरवाः ॥ ६५ ॥
अचिरेणैव ताँल्लोकान् हतो युद्धे समश्नुते ।

'कौरवो ! वीर पुरुष शत्रुको मारकर इस लोकमें सुख भोगता है और यदि मारा गया तो वह परलोकमें जाकर महान् फलका भागी होता है; अतः युद्धधर्मसे बढ़कर स्वर्गकी प्राप्तिके लिये दूसरा कोई कल्याणकारी मार्ग नहीं है। युद्धमें मारा गया वीर पुरुष थोड़ी ही देरमें उन प्रसिद्ध पुण्य-लोकोंमें जाकर सुख भोगता है' ॥ ६५½ ॥

श्रुत्वा तद् वचनं तस्य पूजयित्वा च पार्थिवाः ॥ ६६ ॥
पुनरेवाभ्यवर्तन्त पाण्डवानाततायिनः ।

दुर्योधनकी यह बात सुनकर सब राजा उसका आदर करते हुए पुनः आततायी पाण्डवोंका सामना करनेके लिये लौट आये ॥ ६६½ ॥

तानापतत एवाशु व्यूढानीकाः प्रहारिणः ॥ ६७ ॥
प्रत्युद्ययुस्तदा पार्था जयगृद्धाः प्रमन्यवः ।

उनके आक्रमण करते ही अपनी सेनाका व्यूह बनाकर प्रहारकुशल, विजयाभिलाषी तथा बढ़े हुए क्रोधवाले पाण्डव शीघ्र ही उनका सामना करनेके लिये आगे बढ़े ॥

धनंजयो रथेनाजावभ्यवर्तत वीर्यवान् ॥ ६८ ॥
विश्रुतं त्रिषु लोकेषु व्याक्षिपन् गाण्डिवं धनुः ।

पराक्रमी अर्जुन अपने त्रिलोकविख्यात गाण्डीव धनुष-की टङ्कार करते हुए रथके द्वारा युद्धके लिये वहाँ आ पहुँचे॥

माद्रीपुत्रौ च शकुनिं सात्यकिश्च महाबलः ॥ ६९ ॥
जवेनाभ्यपतन् हृष्टा यत्ता वै तावकं बलम् ॥ ७० ॥

माद्रीपुत्र नकुल-सहदेव और महाबली सात्यकिने शकुनिपर धावा किया। ये सब लोग हर्ष और उत्साहमें भरकर बड़ी सावधानीके साथ आपकी सेनापर वेगपूर्वक टूट पड़े ॥ ६९-७० ॥

इति श्रीमहाभारते शल्यपर्वणि संकुलयुद्धे एकोनविंशोऽध्यायः ॥ १९ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शल्यपर्वमें संकुलयुद्धविषयक उन्नीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १९ ॥

(दाक्षिणात्य पाठका १ श्लोक मिलाकर कुल ७१ श्लोक हैं)

विंशोऽध्यायः

धृष्टद्युम्नद्वारा राजा शाल्वके हाथीका और सात्यकिद्वारा राजा शाल्वका वध

संजय उवाच

संनिवृत्ते जनौघे तु शाल्वो म्लेच्छगणाधिपः ।
अभ्यवर्तत संक्रुद्धः पाण्डवानां महद् बलम् ॥ १ ॥
आस्थाय सुमहानागं प्रभिन्नं पर्वतोपमम् ।
दृप्तमैरावतप्रख्यममित्रगणमर्दनम् ॥ २ ॥

संजय कहते हैं—राजन् ! जब कौरवपक्षका जन-समूह पुनः युद्धके लिये लौट आया, उस समय म्लेच्छोंका राजा शाल्व अत्यन्त क्रुद्ध हो मदकी धारा बहानेवाले, पर्वतके समान विशालकाय, अभिमानी तथा ऐरावतके सदृश शत्रु-समुदायका संहार करनेमें समर्थ एक महान् गजराजपर आरूढ़ हो पाण्डवोंकी विशाल सेनाका सामना करनेके लिये आया ॥

योऽसौ महाभद्रकुलप्रसूतः
सुपूजितो धार्तराष्ट्रेण नित्यम् ।
सुकल्पितः शास्त्रविनिश्चयज्ञैः
सदोपवाह्यः समरेषु राजन् ॥ ३ ॥

राजन् ! वह हाथी महाभद्र नामक गजराजके कुलमें

उत्पन्न हुआ था। धृतराष्ट्रपुत्र दुर्योधनने नित्य ही उसका आदर किया था, गजशास्त्रके ज्ञाता पुरुषोंने उसे अच्छी तरह सजाया था और सदा ही युद्धके अवसरोंपर वह सवारीके उपयोगमें लाया जाता था ॥ ३ ॥

तमास्थितो राजवरो बभूव
यथोदयस्थः सविता क्षपान्ते।
स तेन नागप्रवरेण राज-
न्नभ्युद्ययौ पाण्डुसुतान् समेतान् ॥४॥
शितैः पृषत्कैर्विददार वेगै-
र्महेन्द्रवज्रप्रतिमैः सुघोरैः।

राजाओंमें श्रेष्ठ शाल्व उस गजराजपर बैठकर प्रातःकाल उदयाचलपर स्थित हुए सूर्यदेवके समान सुशोभित होने लगा। महाराज! वह उस श्रेष्ठ हाथीके द्वारा वहाँ एकत्र हुए समस्त पाण्डवोंपर चढ़ आया और इन्द्रके वज्रकी भाँति अत्यन्त भयंकर तीखे बाणोंसे उन सबको वेगपूर्वक विदीर्ण करने लगा ॥ ४½ ॥

ततः शरान् वै सृजतो महारणे
योधांश्च राजन् नयतो यमालयम् ॥ ५ ॥
नास्यान्तरं ददृशुः स्वे परे वा
यथा पुरा वज्रधरस्य दैत्याः।
ऐरावणस्थस्य चमूविमर्दे-
ऽदैत्याः पुरा वासवस्येव राजन् ॥ ६ ॥

राजन्! जैसे पूर्वकालमें ऐरावतपर बैठकर शत्रु-सेनाका संहार करते हुए वज्रधारी इन्द्रके बाण छोड़ने और विपक्षीको मार गिरानेके अन्तरको दैत्य और देवता नहीं देख पाते थे, उसी प्रकार उस महासमरमें शाल्वके बाण छोड़ने तथा सैनिकोंको यमलोक पहुँचानेमें कितनी देर लगती है, इसे अपने या शत्रुपक्षके योद्धा नहीं देख सके ॥ ५-६ ॥

ते पाण्डवाः सोमकाः सृञ्जयाश्च
तमेकनागं ददृशुः समन्तात्।
सहस्रशो वै विचरन्तमेकं
यथा महेन्द्रस्य गजं समीपे ॥ ७ ॥

इन्द्रके ऐरावत हाथीकी भाँति म्लेच्छराजका वह गजराज यद्यपि रणभूमिमें अकेला ही निकट विचर रहा था, तो भी पाण्डव, संजय और सोमक योद्धा उसे सहस्रोंकी संख्यामें देखते थे। उन्हें सब ओर वही वह दिखायी देता था ॥ ७ ॥

संद्राव्यमाणं तु बलं परेषां
परीतकल्पं विबभौ समन्ततः।
नैवावतस्थे समरे भृशं भयाद्
विमृद्यमानं तु परस्परं तदा ॥ ८ ॥

उस हाथीके द्वारा खदेड़ी जाती हुई वह सेना सब ओरसे घिरी हुई-सी जान पड़ती थी। अत्यन्त भयके कारण वह समरभूमिमें ठहर न सकी। उस समय सभी सैनिक आपसमें ही धक्के खाकर कुचले जाने लगे ॥ ८ ॥

ततः प्रभग्ना सहसा महाचमूः
सा पाण्डवी तेन नराधिपेन।
दिशश्चतस्रः सहसा विधाविता
गजेन्द्रवेगं तमपारयन्ती ॥ ९ ॥
दृष्ट्वा च तां वेगवतीं प्रभग्नां
सर्वे त्वदीया युधि योधमुख्याः।
अपूजयंस्ते तु नराधिपं तं
दध्मुश्च शङ्खाञ्शशिसंनिकाशान् ॥ १० ॥

म्लेच्छराज शाल्वने पाण्डवोंकी उस विशाल सेनामें सहसा भगदड़ मचा दी। उस गजराजके वेगको सहन न कर सकनेके कारण वह सेना तत्काल चारों दिशाओंमें भाग चली। उस वेगशालिनी सेनाको भागती देख युद्धस्थलमें खड़े हुए आपके सभी प्रधान-प्रधान योद्धा म्लेच्छराज शाल्वकी प्रशंसा करने और चन्द्रमाके समान उज्ज्वल शङ्ख बजाने लगे ॥ ९-१० ॥

श्रुत्वा निनादं त्वथ कौरवाणां
हर्षाद् विमुक्तं सह शङ्खशब्दैः।
सेनापतिः पाण्डवसृञ्जयानां
पाञ्चालपुत्रो ममृषे न कोपात् ॥ ११ ॥

शङ्खध्वनिके साथ कौरवोंका वह हर्षनाद सुनकर पाण्डवों और संजयोंके सेनापति पाञ्चालराजकुमार धृष्टद्युम्न क्रोधपूर्वक उसे सहन न कर सके ॥ ११ ॥

ततस्तु तं वै द्विरदं महात्मा
प्रत्युद्ययौ त्वरमाणो जयाय।
जम्भो यथा शक्रसमागमे वै
नागेन्द्रमैरावणमिन्द्रवाह्यम् ॥ १२ ॥

तदनन्तर उन महामनस्वी धृष्टद्युम्नने बड़ी उतावलीके साथ विजय प्राप्त करनेके लिये उस हाथीपर चढ़ाई की। जैसे इन्द्रके साथ युद्ध छिड़नेपर जम्भासुरने इन्द्रवाहन नागराज ऐरावतपर धावा किया था ॥ १२ ॥

तमापतन्तं सहसा तु दृष्ट्वा
पाञ्चालपुत्रं युधि राजसिंहः।
तं वै द्विपं प्रेषयामास तूर्णं
वधाय राजन् द्रुपदात्मजस्य ॥ १३ ॥

राजन्! पाञ्चालपुत्र धृष्टद्युम्नको युद्धमें सहसा आक्रमण करते देख नृपश्रेष्ठ शाल्वने उस हाथीको उनके वधके लिये तुरंत ही उनकी ओर बढ़ाया ॥ १३ ॥

स तं द्विपेन्द्रं सहसा पतन्त-
मविध्यदग्निप्रतिमैः पृषत्कैः।
कर्मारधौतैर्निशितैर्ज्वलद्भि-
र्नाराचमुख्यैस्त्रिभिरुग्रवेगैः ॥ १४ ॥

उस नागराजको सहसा आते देख धृष्टद्युम्नने अग्निके समान प्रज्वलित, कारीगरके साफ किये हुए, तेजधारवाले, तीन भयंकर वेगशाली उत्तम नाराचोंद्वारा घायल कर दिया ॥

ततोऽपरान् पञ्चशतान् महात्मा
नाराचमुख्यान् विससर्ज कुम्भे।
स तैस्तु विद्धः परमद्विपो रणे
तदा परावृत्य भृशं प्रदुद्रुवे ॥ १५ ॥

तत्पश्चात् महामना धृष्टद्युम्नने उसके कुम्भस्थलको लक्ष्य करके पाँच सौ उत्तम नाराच और छोड़े। उनके द्वारा अत्यन्त घायल हुआ वह महान् गजराज युद्धसे मुँह मोड़कर वेगपूर्वक भागने लगा ॥ १५ ॥

तं नागराजं सहसा प्रणुन्नं
विद्राव्यमाणं विनिवर्त्य शाल्वः ।
तोत्राङ्कुशैः प्रेषयामास तूर्णं
पाञ्चालराजस्य रथं प्रदिश्य ॥ १६ ॥

उस नागराजको सहसा पीड़ित होकर भागते देख शाल्वराजने पुनः युद्धकी ओर लौटाया और पीड़ा देनेवाले अङ्कुशोंसे मारकर उसे तुरंत ही पाञ्चालराजके रथकी ओर दौड़ाया ॥

दृष्ट्वाऽऽपतन्तं सहसा तु नागं
धृष्टद्युम्नः स्वरथाच्छीघ्रमेव ।
गदां प्रगृह्योग्रजवेन वीरो
भूमिं प्रपन्नो भयविह्वलाङ्गः ॥ १७ ॥

हाथीको सहसा आक्रमण करते देख वीर धृष्टद्युम्न हाथमें गदा ले शीघ्र ही अत्यन्त वेगपूर्वक अपने रथसे कूदकर पृथ्वीपर आ गये। उस समय उनके सारे अङ्ग भयसे व्याकुल हो रहे थे ॥ १७ ॥

स तं रथं हेमविभूषिताङ्गं
साश्वं ससूतं सहसा विमृद्य ।
उत्क्षिप्य हस्तेन नदन् महाद्विपो
विपोथयामास वसुन्धरातले ॥ १८ ॥

गर्जना करते हुए उस विशालकाय हाथीने धृष्टद्युम्नके उस सुवर्णभूषित रथको घोड़ों और सारथिसहित सहसा कुचल डाला और सूँड़से ऊपर उठाकर पृथ्वीपर दे मारा ॥

पाञ्चालराजस्य सुतं च दृष्ट्वा
तदार्दितं नागवरेण तेन ।
तमभ्यधावत् सहसा जवेन
भीमः शिखण्डी च शिनेश्च नप्ता ॥ १९ ॥

पाञ्चालराजकुमार धृष्टद्युम्नको उस गजराजके द्वारा पीड़ित हुआ देख भीमसेन, शिखण्डी और सात्यकि सहसा बड़े वेगसे उसकी ओर दौड़े ॥ १९ ॥

शरैश्च वेगं सहसा निगृह्य
तस्याभितो व्यापततो गजस्य ।
स संगृहीतो रथिभिर्गजो वै
चचाल तैर्वार्यमाणश्च संख्ये ॥ २० ॥

उन रथियोंने सब ओर आक्रमण करनेवाले उस हाथीके वेगको सहसा अपने बाणोंद्वारा अवरुद्ध कर दिया। उनके द्वारा अपनी प्रगति रुक जानेके कारण वह निगृहीत-सा होकर विचलित हो उठा ॥ २० ॥

ततः पृषत्कान् प्रववर्ष राजा
सूर्यो यथा रश्मिजालं समन्तात् ।
तैराशुगैर्वध्यमाना रथौघाः
प्रदुद्रुवुः सहितास्तत्र तत्र ॥ २१ ॥

तदनन्तर जैसे सूर्यदेव सब ओर अपनी किरणोंका प्रसार करते हैं, उसी प्रकार राजा शाल्वने बाणोंकी वर्षा आरम्भ कर दी। उन शीघ्रगामी बाणोंकी मार खाकर वे पाण्डव रथी एक साथ इधर-उधर भागने लगे ॥ २१ ॥

तत् कर्म शाल्वस्य समीक्ष्य सर्वे
पाञ्चालपुत्रा नृप सृञ्जयाश्च ।
हाहाकारैर्नादयन्ति स्म युद्धे
द्विपं समन्ताद् रुरुधुर्नराग्र्याः ॥ २२ ॥

नरेश्वर! शाल्वका वह पराक्रम देखकर समस्त नरश्रेष्ठ पाञ्चाल तथा सृंजय अपने हाहाकारोंसे सम्पूर्ण दिशाओंको प्रतिध्वनित करने लगे। उन्होंने युद्धभूमिमें उस हाथीको चारों ओरसे घेर लिया ॥ २२ ॥

पाञ्चालपुत्रस्त्वरितस्तु शूरो
गदां प्रगृह्याचलशृङ्गकल्पाम् ।
ससम्भ्रमं भारत शत्रुघाती
जवेन वीरोऽनुससार नागम् ॥ २३ ॥

भारत! इसी समय शत्रुघाती शूरवीर पाञ्चालराजकुमार धृष्टद्युम्नने तुरंत ही पर्वतशिखरके समान विशाल गदा हाथमें लेकर बड़े वेगसे उस हाथीपर आक्रमण किया ॥ २३ ॥

ततस्तु नागं धरणीधराभं
मदं स्रवन्तं जलदप्रकाशम् ।
गदां समाविद्ध्य भृशं जघान
पाञ्चालराजस्य सुतस्तरस्वी ॥ २४ ॥

पाञ्चालराजके वेगवान् पुत्रने मेघोंके समान मदकी वर्षा करनेवाले उस पर्वताकार गजराजपर अपनी गदा घुमाकर बड़े वेगसे प्रहार किया ॥ २४ ॥

स भिन्नकुम्भः सहसा विनद्य
मुखात् प्रभूतं क्षतजं विमुञ्चन् ।
पपात नागो धरणीधराभः
क्षितिप्रकम्पाच्चलितो यथाद्रिः ॥ २५ ॥

गदाके आघातसे हाथीका कुम्भस्थल फट गया और वह पर्वतके समान विशालकाय गजराज सहसा चीत्कार करके मुँहसे रक्तवमन करता हुआ गिर पड़ा, मानो भूकम्प आनेसे कोई पहाड़ ढह गया हो ॥ २५ ॥

निपात्यमाने तु तदा गजेन्द्रे
हाहाकृते तव पुत्रस्य सैन्ये ।
स शाल्वराजस्य शिनिप्रवीरो
जहार भल्लेन शिरः शितेन ॥ २६ ॥

जब वह गजराज गिराया जाने लगा, उस समय आपके पुत्रकी सेनामें हाहाकार मच गया। इतनेहीमें शिनिवंशके प्रमुख वीर सात्यकिने एक तीखे भल्लसे शाल्वराजका सिर काट दिया ॥ २६ ॥

हृतोत्तमाङ्गो युधि सात्वतेन
पपात भूमौ सह नागराज्ञा ।
यथाद्रिशृङ्गं सुमहत् प्रणुन्नं
वज्रेण देवाधिपचोदितेन ॥ २७ ॥

रणभूमिमें सात्यकिद्वारा मस्तक कट जानेपर शाल्वराज भी उस गजराजके साथ ही धराशायी हो गया, मानो देवराज इन्द्रके चलाये हुए वज्रसे कटकर कोई विशाल पर्वतशिखर पृथ्वीपर गिर पड़ा हो ॥ २७ ॥

इति श्रीमहाभारते शल्यपर्वणि शाल्ववधे विंशोऽध्यायः ॥ २० ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शल्यपर्वमें शाल्वका वधविषयक बीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २० ॥

एकविंशोऽध्यायः

सात्यकिद्वारा क्षेमधूर्तिका वध, कृतवर्माका युद्ध और उसकी पराजय एवं कौरवसेनाका पलायन

संजय उवाच

तस्मिंस्तु निहते शूरे शाल्वे समितिशोभने।
तवाभज्यद् बलं वेगाद् वातेनेव महाद्रुमः॥ १ ॥

संजय कहते हैं—राजन्! युद्धमें शोभा पानेवाले शूरवीर शाल्वके मारे जानेपर आपकी सेनाके पाँव उखड़ गये। जैसे वेगपूर्वक चली हुई वायुके झोंकेसे कोई विशाल वृक्ष उखड़ गया हो ॥ १ ॥

तत् प्रभग्नं बलं दृष्ट्वा कृतवर्मा महारथः।
दधार समरे शूरः शत्रुसैन्यं महाबलः॥ २ ॥

अपनी सेनाका व्यूह भङ्ग हुआ देखकर महाबलवान् महारथी शूरवीर कृतवर्माने समराङ्गणमें शत्रुकी सेनाको आगे बढ़नेसे रोक दिया ॥ २ ॥

संनिवृत्तास्तु ते शूरा दृष्ट्वा सात्वतमाहवे।
शैलोपमं स्थिरं राजन् कीर्यमाणं शरैर्युधि॥ ३ ॥

राजन्! कृतवर्माको युद्धस्थलमें डटा हुआ देख वे भागे हुए शूरमा भी लौट आये। युद्धस्थलमें बाणोंकी वर्षासे आच्छादित होनेपर भी वह सात्वतवंशी वीर पर्वतके समान अविचल भावसे खड़ा था ॥ ३ ॥

ततः प्रववृते युद्धं कुरूणां पाण्डवैः सह।
निवृत्तानां महाराज मृत्युं कृत्वा निवर्तनम्॥ ४ ॥

महाराज! तदनन्तर लौटे हुए कौरवोंका पाण्डवोंके साथ मृत्युको ही युद्धसे निवृत्तिकी सीमा नियत करके घोर संग्राम होने लगा ॥ ४ ॥

तत्राश्चर्यमभूद् युद्धं सात्वतस्य परैः सह।
यदेको वारयामास पाण्डुसेनां दुरासदाम्॥ ५ ॥

वहाँ कृतवर्माका शत्रुओंके साथ होनेवाला युद्ध अत्यन्त आश्चर्यजनक प्रतीत होता था; क्योंकि उसने अकेले ही दुर्जय पाण्डव-सेनाकी प्रगति रोक दी थी ॥ ५ ॥

तेषामन्योन्यसुहृदां कृते कर्मणि दुष्करे।
सिंहनादः प्रहृष्टानां दिविस्पृक् सुमहानभूत्॥ ६ ॥

एक दूसरेका हित चाहनेवाले कौरवसैनिक कृतवर्माके द्वारा यह दुष्कर पराक्रम किये जानेपर अत्यन्त हर्षमें भर गये। उनका महान् सिंहनाद आकाशमें गूँज उठा ॥ ६ ॥

तेन शब्देन वित्रस्ताः पञ्चाला भरतर्षभ।
शिनेर्नप्ता महाबाहुरन्वपद्यत सात्यकिः॥ ७ ॥

भरतश्रेष्ठ! उनकी उस गर्जनासे पाञ्चाल सैनिक थर्रा उठे। उस समय शिनिपौत्र महाबाहु सात्यकि उन शत्रुओंका सामना करनेके लिये आये ॥ ७ ॥

स समासाद्य राजानं क्षेमधूर्तिं महाबलम्।
सप्तभिर्निशितैर्बाणैरनयद् यमसादनम्॥ ८ ॥

उन्होंने आते ही महाबली राजा क्षेमधूर्तिको सात पैने बाणोंसे मारकर यमलोक पहुँचा दिया ॥ ८ ॥

तमायान्तं महाबाहुं प्रवपन्तं शिताञ्शरान्।
जवेनाभ्यपतद् धीमान् हार्दिक्यः शिनिपुङ्गवम्॥ ९ ॥

तीखे बाणोंकी वर्षा करते हुए शिनि-पौत्र महाबाहु सात्यकिको आते देख बुद्धिमान् कृतवर्मा बड़े वेगसे उनका सामना करनेके लिये आ पहुँचा ॥ ९ ॥

सात्वतौ च महावीर्यौ धन्विनौ रथिनां वरौ।
अन्योन्यमभ्यधावेतां शस्त्रप्रवरधारिणौ॥ १० ॥

फिर तो उत्तम अस्त्र-शस्त्र धारण करनेवाले, रथियोंमें श्रेष्ठ, महापराक्रमी, धनुर्धर वीर सात्वतवंशी सात्यकि और कृतवर्मा एक दूसरेपर धावा करने लगे ॥ १० ॥

पाण्डवाः सहपञ्चाला योधाश्चान्ये नृपोत्तमाः।
प्रेक्षकाः समपद्यन्त तयोर्घोरे समागमे॥ ११ ॥

उन दोनोंके घोर संग्राममें पाञ्चालोंसहित पाण्डव और दूसरे नृपश्रेष्ठ योद्धा दर्शक होकर तमाशा देखने लगे ॥ ११ ॥

नाराचैर्वत्सदन्तैश्च वृष्ण्यन्धकमहारथौ।
अभिजघ्नतुरन्योन्यं प्रहृष्टाविव कुञ्जरौ॥ १२ ॥

वृष्णि और अन्धकवंशके वे दोनों वीर महारथी हर्षमें भरकर लड़ते हुए दो हाथियोंके समान एक दूसरेपर नाराचों और वत्सदन्तोंका प्रहार करने लगे ॥ १२ ॥

चरन्तौ विविधान् मार्गान् हार्दिक्यशिनिपुङ्गवौ।
मुहुरन्तर्दधाते तौ बाणवृष्ट्या परस्परम्॥ १३ ॥

कृतवर्मा और सात्यकि दोनों नाना प्रकारके पैंतरे दिखाते हुए विचरते थे और बारंबार बाणोंकी वर्षा करके वे एक दूसरेको अदृश्य कर देते थे ॥ १३ ॥

चापवेगबलोद्धूतान् मार्गणान् वृष्णिसिंहयोः।
आकाशे समपश्याम पतङ्गानिव शीघ्रगान्॥ १४ ॥

वृष्णिवंशके उन दोनों सिंहोंके धनुषके वेग और बलसे चलाये हुए शीघ्रगामी बाणोंको हम आकाशमें छाये हुए टिड्डीदलोंके समान देखते थे ॥ १४ ॥

तमेकं सत्यकर्माणमासाद्य हृदिकात्मजः।
अविध्यन्निशितैर्बाणैश्चतुर्भिश्चतुरो हयान्॥ १५ ॥

कृतवर्माने अद्वितीय वीर सत्यपराक्रमी सात्यकिके पास पहुँचकर चार पैने बाणोंसे उनके चारों घोड़ोंको घायल कर दिया ॥ १५ ॥

स दीर्घबाहुः संक्रुद्धस्तोत्रार्दित इव द्विपः।
अष्टभिः कृतवर्माणमविद्ध्यत् परमेषुभिः ॥ १६ ॥

तब महाबाहु सात्यकिने अङ्कुशोंकी चोट खाये हुए गजराजके समान अत्यन्त क्रोधमें भरकर आठ उत्तम बाणोंद्वारा कृतवर्माको घायल कर दिया ॥ १६ ॥

ततः पूर्णायतोत्सृष्टैः कृतवर्मा शिलाशितैः।
सात्यकिं त्रिभिराहत्य धनुरेकेन चिच्छिदे ॥ १७ ॥

यह देख कृतवर्माने धनुषको पूर्णतः खींचकर छोड़े गये और शिलापर तेज किये हुए तीन बाणोंसे सात्यकिको घायल करके एकसे उनके धनुषको काट डाला ॥ १७ ॥

निकृत्तं तद् धनुः श्रेष्ठमपास्य शिनिपुङ्गवः।
अन्यदादत्त वेगेन शैनेयः सशरं धनुः ॥ १८ ॥

उस कटे हुए श्रेष्ठ धनुषको फेंककर शिनिप्रवर सात्यकिने बाणसहित दूसरे धनुषको वेगपूर्वक हाथमें ले लिया ॥ १८ ॥

तदादाय धनुः श्रेष्ठं वरिष्ठः सर्वधन्विनाम्।
आरोप्य च धनुः शीघ्रं महावीर्यो महाबलः ॥ १९ ॥
अमृष्यमाणो धनुषश्छेदनं कृतवर्मणा।
कुपितोऽतिरथः शीघ्रं कृतवर्माणमभ्ययात् ॥ २० ॥

सम्पूर्ण धनुर्धरोंमें श्रेष्ठ महाबली एवं महापराक्रमी युयुधानने उस उत्तम धनुषको लेकर शीघ्र ही उसपर बाण चढ़ाया और कृतवर्माके द्वारा अपने धनुषका काटा जाना सहन न करके उन अतिरथी वीरने कुपित हो शीघ्रतापूर्वक उसपर आक्रमण किया ॥ १९-२० ॥

ततः सुनिशितैर्बाणैर्दशभिः शिनिपुङ्गवः।
जघान सूतं चाश्वांश्च ध्वजं च कृतवर्मणः ॥ २१ ॥

तत्पश्चात् शिनिप्रवर सात्यकिने अत्यन्त तीखे दस बाणोंके द्वारा कृतवर्माके ध्वज, सारथि और घोड़ोंको नष्ट कर दिया ॥

ततो राजन् महेष्वासः कृतवर्मा महारथः।
हताश्वसूतं सम्प्रेक्ष्य रथं हेमपरिष्कृतम् ॥ २२ ॥
रोषेण महताऽऽविष्टः शूलमुद्यम्य मारिष।
चिक्षेप भुजवेगेन जिघांसुः शिनिपुङ्गवम् ॥ २३ ॥

राजन्! महाधनुर्धर महारथी कृतवर्मा अपने सुवर्णभूषित रथको घोड़े और सारथिसे रहित देख महान् रोषसे भर गया। मान्यवर! फिर उसने शिनिप्रवर सात्यकिको मार डालनेकी इच्छासे एक शूल उठाकर उसे अपनी भुजाओंके सम्पूर्ण वेगसे चला दिया ॥ २२-२३ ॥

तच्छूलं सात्वतो ह्याजौ निर्भिद्य निशितैः शरैः।
चूर्णितं पातयामास मोहयन्निव माधवम् ॥ २४ ॥

परंतु सात्यकिने युद्धस्थलमें अपने पैने बाणोंद्वारा उस शूलको काटकर चकनाचूर कर दिया और कृतवर्माको मोहमें डालते हुए से उस चूर-चूर हुए शूलको पृथ्वीपर गिरा दिया॥

ततोऽपरेण भल्लेन हृद्येनं समताडयत्।
स युद्धे युयुधानेन हताश्वो हतसारथिः ॥ २५ ॥
कृतवर्मा कृतस्तेन धरणीमन्वपद्यत।

इसके बाद उन्होंने कृतवर्माकी छातीमें एक भल्लद्वारा गहरी चोट पहुँचायी। तब वह युयुधानद्वारा घोड़ों और सारथिसे रहित किया हुआ कृतवर्मा रथ छोड़कर युद्धस्थलमें पृथ्वीपर खड़ा हो गया ॥ २५½ ॥

तस्मिन् सात्यकिना वीरे द्वैरथे विरथीकृते ॥ २६ ॥
समपद्यत सर्वेषां सैन्यानां सुमहद् भयम्।

उस द्वैरथ युद्धमें सात्यकिद्वारा वीर कृतवर्माके रथहीन हो जानेपर आपके सारे सैनिकोंके मनमें महान् भय समा गया॥

पुत्रस्य तव चात्यर्थं विषादः समजायत ॥ २७ ॥
हतसूते हताश्वे तु विरथे कृतवर्मणि।

जब कृतवर्माके घोड़े और सारथि मारे गये तथा वह रथहीन हो गया, तब आपके पुत्र दुर्योधनके मनमें बड़ा खेद हुआ ॥

हताश्वं च समालक्ष्य हतसूतमरिंदम ॥ २८ ॥
अभ्यधावत् कृपो राजञ्जिघांसुः शिनिपुङ्गवम्।

शत्रुदमन नरेश! कृतवर्माके घोड़ों और सारथिको मारा गया देख कृपाचार्य सात्यकिको मार डालनेकी इच्छासे वहाँ दौड़े हुए आये ॥ २८½ ॥

तमारोप्य रथोपस्थे मिषतां सर्वधन्विनाम् ॥ २९ ॥
अपोवाह महाबाहुं तूर्णमायोधनादपि।

फिर सम्पूर्ण धनुर्धरोंके देखते-देखते महाबाहु कृतवर्माको अपने रथपर बिठाकर वे उसे तुरंत ही युद्धस्थलसे दूर हटा ले गये ॥ २९½ ॥

शैनेयेऽधिष्ठिते राजन् विरथे कृतवर्मणि ॥ ३० ॥
दुर्योधनबलं सर्वं पुनरासीत् पराङ्मुखम्।

राजन्! जब सात्यकि युद्धके लिये डटे रहे और कृतवर्मा रथहीन होकर भाग गया, तब दुर्योधनकी सारी सेना पुनः युद्धसे विमुख हो वहाँसे पलायन करने लगी ॥ ३०½ ॥

तत् परे नान्वबुध्यन्त सैन्येन रजसा वृताः ॥ ३१ ॥
तावकाः प्रद्रुता राजन् दुर्योधनमृते नृपम्।

परंतु सेनाद्वारा उड़ायी हुई धूलसे आच्छादित होनेके कारण शत्रुओंके सैनिक कौरव-सेनाके भागनेकी बात न जान सके। राजन्! राजा दुर्योधनके सिवा, आपके सभी योद्धा वहाँसे भाग गये ॥ ३१½ ॥

दुर्योधनस्तु सम्प्रेक्ष्य भग्नं स्वबलमन्तिकात् ॥ ३२ ॥
जवेनाभ्यपतत् तूर्णं सर्वांश्चैको न्यवारयत्।

दुर्योधन अपनी सेनाको निकटसे भागती देख बड़े वेगसे शत्रुओंपर टूट पड़ा और उन सबको अकेले ही शीघ्रतापूर्वक रोकने लगा ॥ ३२½ ॥

पाण्डूंश्च सर्वान् संक्रुद्धो धृष्टद्युम्नं च पार्षतम् ॥ ३३ ॥
शिखण्डिनं द्रौपदेयान् पञ्चालानां च ये गणाः।
केकयान् सोमकांश्चैव सृञ्जयांश्चैव मारिष ॥ ३४ ॥
असम्भ्रमं दुराधर्षः शितैर्बाणैरवाकिरत्।
अतिष्ठदाहवे यत्तः पुत्रस्तव महाबलः ॥ ३५ ॥

माननीय नरेश! उस समय क्रोधमें भरा हुआ आपका महाबली पुत्र दुर्धर्ष दुर्योधन सावधान हो बिना किसी घबराहटके समस्त पाण्डवों, द्रुपदपुत्र धृष्टद्युम्न, शिखण्डी,

द्रौपदीके पाँचों पुत्रों, पाञ्चालों, केकयों, सोमकों और सृञ्जयों-पर पैने बाणोंकी वर्षा करने लगा तथा निर्भय होकर युद्धभूमिमें डटा रहा ॥ ३३-३५ ॥

यथा यज्ञे महानग्निर्मन्त्रपूतः प्रकाशवान्।
तथा दुर्योधनो राजा संग्रामे सर्वतोऽभवत् ॥ ३६ ॥

जैसे यज्ञमें मन्त्रोंद्वारा पवित्र हुए महान् अग्निदेव प्रकाशित होते हैं, उसी प्रकार संग्राममें राजा दुर्योधन सब ओरसे देदीप्यमान हो रहा था ॥ ३६ ॥

तं परे नाभ्यवर्तन्त मर्त्या मृत्युमिवाहवे।
अथान्यं रथमास्थाय हार्दिक्यः समपद्यत ॥ ३७ ॥

जैसे मरणधर्मा मनुष्य अपनी मृत्युका उल्लङ्घन नहीं कर सकते, उसी प्रकार युद्धभूमिमें शत्रुसैनिक राजा दुर्योधनका सामना न कर सके। इतनेहीमें कृतवर्मा दूसरे रथपर आरूढ होकर वहाँ आ पहुँचा ॥ ३७ ॥

इति श्रीमहाभारते शल्यपर्वणि सात्यकिकृतवर्मयुद्धे एकविंशोऽध्यायः ॥ २१ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शल्यपर्वमें सात्यकि और कृतवर्माका युद्धविषयक इक्कीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २१ ॥

द्वाविंशोऽध्यायः

दुर्योधनका पराक्रम और उभयपक्षकी सेनाओंका घोर संग्राम

संजय उवाच

पुत्रस्तु ते महाराज रथस्थो रथिनां वरः।
दुरुत्सहो बभौ युद्धे यथा रुद्रः प्रतापवान् ॥ १ ॥

संजय कहते हैं—महाराज ! रथपर बैठा हुआ रथियोंमें श्रेष्ठ आपका प्रतापी पुत्र दुर्योधन रुद्रदेवके समान युद्धमें शत्रुओंके लिये दुःसह प्रतीत होने लगा ॥ १ ॥

तस्य बाणसहस्रैस्तु प्रच्छन्ना ह्यभवन्मही।
परांश्च सिषिचे बाणैर्धाराभिरिव पर्वतान् ॥ २ ॥

उसके सहस्रों बाणोंसे वहाँकी सारी पृथ्वी आच्छादित हो गयी। जैसे मेघ जलकी धाराओंसे पर्वतको सींचते हैं, उसी प्रकार वह शत्रुओंको अपनी बाणधारासे नहलाने लगा ॥ २ ॥

न च सोऽस्ति पुमान् कश्चित् पाण्डवानां बलार्णवे।
हयो गजो रथो वापि यः स्याद् बाणैरविक्षतः ॥ ३ ॥

पाण्डवोंके सैन्यसागरमें कोई भी ऐसा मनुष्य, घोड़ा, हाथी अथवा रथ नहीं था, जो दुर्योधनके बाणोंसे क्षत-विक्षत न हुआ हो ॥ ३ ॥

यं यं हि समरे योधं प्रपश्यामि विशाम्पते।
स स बाणैश्चितोऽभूद् वै पुत्रेण तव भारत ॥ ४ ॥

प्रजानाथ ! भरतनन्दन ! मैं समराङ्गणमें जिस-जिस योद्धाको देखता था, वही-वही आपके पुत्रके बाणोंसे व्याप्त हुआ दिखायी देता था ॥ ४ ॥

यथा सैन्येन रजसा समुद्धूतेन वाहिनी।
प्रत्यदृश्यत संछन्ना तथा बाणैर्महात्मनः ॥ ५ ॥

जैसे सैनिकोंद्वारा उड़ायी हुई धूलसे सारी सेना आच्छादित हो गयी थी, उसी प्रकार वह महामनस्वी दुर्योधनके बाणोंसे ढकी दिखायी देती थी ॥ ५ ॥

बाणभूतामपश्याम पृथिवीं पृथिवीपते।
दुर्योधनेन प्रकृतां क्षिप्रहस्तेन धन्विना ॥ ६ ॥

पृथ्वीपते ! हमने देखा कि शीघ्रतापूर्वक हाथ चलानेवाले धनुर्धर वीर दुर्योधनने सारी रणभूमिको बाणमयी कर दिया है ॥ ६ ॥

तेषु योधसहस्रेषु तावकेषु परेषु च।
एको दुर्योधनो ह्यासीत् पुमानिति मतिर्मम ॥ ७ ॥

आपके या शत्रुपक्षके सहस्रों योद्धाओंमें मुझे एकमात्र दुर्योधन ही वीर पुरुष जान पड़ता था ॥ ७ ॥

तत्राद्भुतमपश्याम तव पुत्रस्य विक्रमम्।
यदेकं सहिताः पार्था नाभ्यवर्तन्त भारत ॥ ८ ॥

भारत ! हमने वहाँ आपके पुत्रका यह अद्भुत पराक्रम देखा कि समस्त पाण्डव एक साथ मिलकर भी उस एकाकी वीरका सामना नहीं कर सके ॥ ८ ॥

युधिष्ठिरं शतेनाजौ विव्याध भरतर्षभ।
भीमसेनं च सप्तत्या सहदेवं च पञ्चभिः ॥ ९ ॥
नकुलं च चतुःषष्ट्या धृष्टद्युम्नं च पञ्चभिः।
सप्तभिर्द्रौपदेयांश्च त्रिभिर्विव्याध सात्यकिम् ॥ १० ॥
धनुश्चिच्छेद भल्लेन सहदेवस्य मारिष।

भरतश्रेष्ठ ! उसने युद्धस्थलमें युधिष्ठिरको सौ, भीमसेनको सत्तर, सहदेवको पाँच, नकुलको चौसठ, धृष्टद्युम्नको पाँच, द्रौपदीके पुत्रोंको सात तथा सात्यकिको तीन बाणोंसे घायल कर दिया। मान्यवर ! साथ ही उसने एक भल्ल मारकर सहदेवका धनुष भी काट डाला ॥ ९-१०½ ॥

तदपास्य धनुश्छिन्नं माद्रीपुत्रः प्रतापवान् ॥ ११ ॥
अभ्यद्रवत राजानं प्रगृह्यान्यन्महद् धनुः।
ततो दुर्योधनं संख्ये विव्याध दशभिः शरैः ॥ १२ ॥

प्रतापी माद्रीपुत्र सहदेवने उस कटे हुए धनुषको फेंककर दूसरा विशाल धनुष हाथमें ले राजा दुर्योधनपर धावा किया और युद्धस्थलमें दस बाणोंसे उसे घायल कर दिया ॥

नकुलस्तु ततो वीरो राजानं नवभिः शरैः।
घोररूपैर्महेष्वासो विव्याध च ननाद च ॥ १३ ॥

इसके बाद महाधनुर्धर वीर नकुलने नौ भयंकर बाणोंद्वारा राजा दुर्योधनको बींध डाला और उच्चस्वरसे गर्जना की ॥ १३ ॥

सात्यकिश्चैव राजानं शरेणानतपर्वणा।
द्रौपदेयास्त्रिसप्तत्या धर्मराजश्च पञ्चभिः ॥ १४ ॥
अशीत्या भीमसेनश्च शरै राजानमार्दयन्।

फिर सात्यकिने भी झुकी हुई गाँठवाले एक बाणसे राजाको घायल कर दिया। तदनन्तर द्रौपदीके पुत्रोंने राजा

दुर्योधनको तिहत्तर, धर्मराजने पाँच और भीमसेनने अस्सी बाण मारे ॥ १४½ ॥

समन्तात् कीर्यमाणस्तु बाणसंघैर्महात्मभिः ॥ १५ ॥
न चचाल महाराज सर्वसैन्यस्य पश्यतः ।

महाराज ! वे महामनस्वी वीर सारी सेनाके देखते-देखते दुर्योधनपर चारों ओरसे बाणसमूहोंकी वर्षा कर रहे थे तो भी वह विचलित नहीं हुआ ॥ १५½ ॥

लाघवं सौष्ठवं चापि वीर्यं चापि महात्मनः ॥ १६ ॥
अति सर्वाणि भूतानि ददृशुः सर्वमानवाः ।

उस महामनस्वी वीरकी फुर्ती, अस्त्र-संचालनका सुन्दर ढंग तथा पराक्रम—इन सबको सब लोगोंने सम्पूर्ण प्राणियोंसे बढ़-चढ़कर देखा ॥ १६½ ॥

धार्तराष्ट्रा हि राजेन्द्र योधास्तु स्वल्पमन्तरम् ॥ १७ ॥
अपश्यमाना राजानं पर्यवर्तन्त दंशिताः ।

राजेन्द्र ! आपके योद्धा थोड़ा-सा भी अन्तर न देखकर कवच आदिसे सुसज्जित हो राजा दुर्योधनको चारों ओरसे घेर-कर खड़े हो गये ॥ १७½ ॥

तेषामापततां घोरस्तुमुलः समपद्यत ॥ १८ ॥
क्षुब्धस्य हि समुद्रस्य प्रावृट्काले यथा स्वनः ।

जैसे वर्षाकालमें विक्षुब्ध हुए समुद्रकी भीषण गर्जना सुनायी देती है, उसी प्रकार उन आक्रमणकारी कौरवोंका घोर एवं भयंकर कोलाहल प्रकट होने लगा ॥ १८½ ॥

समासाद्य रणे ते तु राजानमपराजितम् ॥ १९ ॥
प्रत्युद्ययुर्महेष्वासाः पाण्डवानाततायिनः ।

वे महाधनुर्धर कौरवयोद्धा रणभूमिमें अपराजित राजा दुर्योधनके पास पहुँचकर आततायी पाण्डवोंपर जा चढ़े ॥

भीमसेनं रणे क्रुद्धो द्रोणपुत्रो न्यवारयत् ॥ २० ॥
नानाबाणैर्महाराज प्रमुक्तैः सर्वतोदिशम् ।
नाज्ञायन्त रणे वीरा न दिशः प्रदिशः कुतः ॥ २१ ॥

महाराज ! रणक्षेत्रमें कुपित हुए द्रोणपुत्र अश्वत्थामाने सम्पूर्ण दिशाओंमें छोड़े गये अनेक प्रकारके बाणोंद्वारा भीम-सेनको आगे बढ़नेसे रोक दिया । उस समय संग्राममें न तो वीरोंकी पहचान होती थी और न दिशाओंकी, फिर अवान्तर-दिशाओं (कोणों) की तो बात ही क्या है ? ॥ २०-२१ ॥

तावुभौ क्रूरकर्माणावुभौ भारत दुःसहौ ।
घोररूपमयुध्येतां कृतप्रतिकृतैषिणौ ॥ २२ ॥

भारत ! वे दोनों वीर क्रूरतापूर्ण कर्म करनेवाले और शत्रुओंके लिये दुःसह थे । अतः एक-दूसरेके प्रहारका भरपूर जवाब देनेकी इच्छा रखकर वे घोर युद्ध करने लगे ॥ २२ ॥

त्रासयन्तौ दिशः सर्वा ज्याक्षेपकठिनत्वचौ ।
शकुनिस्तु रणे वीरो युधिष्ठिरमपीडयत् ॥ २३ ॥

प्रत्यञ्चा खींचनेसे उनके हाथोंकी त्वचा बहुत कठोर हो गयी थी और वे सम्पूर्ण दिशाओंको आतङ्कित कर रहे थे । दूसरी ओर वीर शकुनि रणभूमिमें युधिष्ठिरको पीड़ा देने लगा॥

तस्याश्वांश्चतुरो हत्वा सुबलस्य सुतो विभो ।
नादं चकार बलवत् सर्वसैन्यानि कोपयन् ॥ २४ ॥

प्रभो ! सुबलके उस पुत्रने युधिष्ठिरके चारों घोड़ोंको मारकर सम्पूर्ण सेनाओंका क्रोध बढ़ाते हुए बड़े जोरसे सिंहनाद किया ॥ २४ ॥

एतस्मिन्नन्तरे वीरं राजानमपराजितम् ।
अपोवाह रथेनाजौ सहदेवः प्रतापवान् ॥ २५ ॥

इसी बीचमें प्रतापी सहदेव युद्धमें किसीसे परास्त न होनेवाले वीर राजा युधिष्ठिरको अपने रथपर बिठाकर दूर हटा ले गये ॥ २५ ॥

अथान्यं रथमास्थाय धर्मपुत्रो युधिष्ठिरः ।
शकुनिं नवभिर्विद्ध्वा पुनर्विव्याध पञ्चभिः ॥ २६ ॥

तदनन्तर धर्मपुत्र युधिष्ठिरने दूसरे रथपर आरूढ़ हो पुनः धावा किया और शकुनिको पहले नौ बाणोंसे घायल करके फिर पाँच बाणोंसे बींध डाला ॥ २६ ॥

ननाद च महानादं प्रवरः सर्वधन्विनाम् ।
तद् युद्धमभवच्चित्रं घोररूपं च मारिष ॥ २७ ॥
प्रेक्षतां प्रीतिजननं सिद्धचारणसेवितम् ।

इसके बाद सम्पूर्ण धनुर्धरोंमें श्रेष्ठ युधिष्ठिरने बड़े जोरसे सिंहनाद किया । मान्यवर ! उनका वह युद्ध विचित्र, भयंकर, सिद्धों और चारणोंद्वारा सेवित तथा दर्शकोंका हर्ष बढ़ानेवाला था॥

उलूकस्तु महेष्वासं नकुलं युद्धदुर्मदम् ॥ २८ ॥
अभ्यद्रवदमेयात्मा शरवर्षैः समन्ततः ।

दूसरी ओर अमेय आत्मबलसे सम्पन्न उलूकने महाधनुर्धर रणदुर्मद नकुलपर चारों ओरसे बाणोंकी वर्षा करते हुए धावा किया।

तथैव नकुलः शूरः सौबलस्य सुतं रणे ॥ २९ ॥
शरवर्षेण महता समन्तात् पर्यवारयत् ।

इसी प्रकार शूरवीर नकुलने रणभूमिमें शकुनिके पुत्रको बड़ी भारी बाणवर्षाके द्वारा सब ओरसे अवरुद्ध कर दिया ॥

तौ तत्र समरे वीरौ कुलपुत्रौ महारथौ ॥ ३० ॥
योधयन्तावपश्येतां कृतप्रतिकृतैषिणौ ।

वे दोनों वीर महारथी उत्तम कुलमें उत्पन्न हुए थे ! अतः समराङ्गणमें एक-दूसरेके प्रहारका प्रतीकार करनेकी इच्छा रखकर जूझते दिखायी देते थे ॥ ३०½ ॥

तथैव कृतवर्माणं शैनेयः शत्रुतापनः ॥ ३१ ॥
योधयञ्शुशुभे राजन् बलिं शक्र इवाहवे ।

राजन् ! इसी तरह शत्रुसंतापी सात्यकि कृतवर्माके साथ युद्ध करते हुए युद्धस्थलमें उसी प्रकार शोभा पाने लगे, जैसे इन्द्र बलिके साथ ॥ ३१½ ॥

दुर्योधनो धनुश्छित्त्वा धृष्टद्युम्नस्य संयुगे ॥ ३२ ॥
अथैनं छिन्नधन्वानं विव्याध निशितैः शरैः ।

दुर्योधनने युद्धस्थलमें धृष्टद्युम्नका धनुष काट दिया और धनुष कट जानेपर उन्हें पैने बाणोंसे बींध डाला ॥ ३२½ ॥

धृष्टद्युम्नोऽपि समरे प्रगृह्य परमायुधम् ॥ ३३ ॥
राजानं योधयामास पश्यतां सर्वधन्विनाम् ।

तब धृष्टद्युम्न भी दूसरा उत्तम धनुष लेकर समरभूमिमें

सम्पूर्ण धनुर्धरोंके देखते-देखते राजा दुर्योधनके साथ युद्ध करने लगे ॥ ३३½ ॥

तयोर्युद्धं महच्चासीत् संग्रामे भरतर्षभ ॥ ३४ ॥
प्रभिन्नयोर्यथा सक्तं मत्तयोर्वरहस्तिनोः ।

भरतश्रेष्ठ ! रणभूमिमें उन दोनोंका महान् युद्ध ऐसा जान पड़ता था, मानो मदकी धारा बहानेवाले दो उत्तम मतवाले हाथी आपसमें जूझ रहे हों ॥ ३४½ ॥

गौतमस्तु रणे क्रुद्धो द्रौपदेयान् महाबलान् ॥ ३५ ॥
विव्याध बहुभिः शूरः शरैः संनतपर्वभिः ।

दूसरी ओर शूरवीर कृपाचार्यने रणभूमिमें कुपित हो महाबली द्रौपदीपुत्रोंको झुकी हुई गाँठवाले बहुत-से बाणोंद्वारा घायल कर दिया ॥ ३५½ ॥

तस्य तैरभवद् युद्धमिन्द्रियैरिव देहिनः ॥ ३६ ॥
घोररूपमसंवार्यं निर्मर्यादमवर्तत ।

जैसे देहधारी जीवात्माका पाँचों इन्द्रियोंके साथ युद्ध हो रहा हो, उसी प्रकार उन पाँचों भाइयोंके साथ कृपाचार्यका युद्ध हो रहा था । धीरे-धीरे वह युद्ध अत्यन्त घोर, अनिवार्य और अमर्यादित हो गया ॥ ३६½ ॥

ते च सम्पीडयामासुरिन्द्रियाणीव बालिशम् ॥ ३७ ॥
स च तान् प्रति संरब्धः प्रत्ययोधयदाहवे ।

जैसे इन्द्रियाँ मूढ़ मनुष्यको पीड़ा देती हैं, उसी प्रकार वे पाँचों भाई कृपाचार्यको पीड़ित करने लगे । कृपाचार्य भी अत्यन्त रोषमें भरकर रणक्षेत्रमें उन सबके साथ युद्ध कर रहे थे ॥

एवं चित्रमभूद् युद्धं तस्य तैः सह भारत ॥ ३८ ॥
उत्थायोत्थाय हि यथा देहिनामिन्द्रियैर्विभो ।

भारत ! उनका उन द्रौपदीपुत्रोंके साथ ऐसा विचित्र युद्ध होने लगा, जैसे बारंबार उठ-उठकर विषयोंकी ओर प्रवृत्त होनेवाली इन्द्रियोंके साथ देहधारियोंका युद्ध होता रहता है ॥

नराश्चैव नरैः सार्धं दन्तिनो दन्तिभिस्तथा ॥ ३९ ॥
हया हयैः समासक्ता रथिनो रथिभिः सह ।
संकुलं चाभवद् भूयो घोररूपं विशाम्पते ॥ ४० ॥

प्रजानाथ ! उस समय मनुष्य मनुष्योंसे, हाथी हाथियोंसे, घोड़े घोड़ोंसे और रथी रथियोंसे भिड़ गये थे । फिर उनमें अत्यन्त घोर घमासान युद्ध होने लगा ॥ ३९-४० ॥

इदं चित्रमिदं घोरमिदं रौद्रमिति प्रभो ।
युद्धान्यासन् महाराज घोराणि च बहूनि च ॥ ४१ ॥

प्रभो ! महाराज ! यह विचित्र, यह घोर, यह रौद्र युद्ध— इस प्रकार बहुत-से भीषण युद्ध चलने लगे ॥ ४१ ॥

ते समासाद्य समरे परस्परमरिंदमाः ।
व्यनदंश्चैव जघ्नुश्च समासाद्य महाहवे ॥ ४२ ॥

शत्रुओंका दमन करनेवाले वे समस्त योद्धा समराङ्गणमें एक-दूसरेसे भिड़कर उस महायुद्धमें परस्पर टक्कर लेते हुए प्रहार और सिंहनाद करने लगे ॥ ४२ ॥

तेषां पत्रसमुद्भूतं रजस्तीव्रमदृश्यत ।
वातेन चोद्धतं राजन् धावद्भिश्चाश्वसादिभिः ॥ ४३ ॥

राजन् ! उनके वाहनोंसे, हवासे और दौड़ते हुए घुड़सवारोंसे उड़ायी गयी भयंकर धूल सब ओर व्याप्त दिखायी देती थी ॥

रथनेमिसमुद्भूतं निःश्वासैश्चापि दन्तिनाम् ।
रजः संध्याभ्रकलिलं दिवाकरपथं ययौ ॥ ४४ ॥

रथके पहियों और हाथियोंके उच्छ्वासोंसे ऊपर उठायी हुई धूल संध्याकालके मेघोंके समान सूर्यके मार्गमें छा गयी थी ॥

रजसा तेन सम्पृक्तो भास्करो निष्प्रभः कृतः ।
संछादिताभवद् भूमिस्ते च शूरा महारथाः ॥ ४५ ॥

उस धूलके सम्पर्कमें आकर सूर्य प्रभाहीन हो गये थे तथा पृथ्वी और वे महारथी शूरवीर भी ढक गये थे ॥ ४५ ॥

मुहूर्तादिव संवृत्तं नीरजस्कं समन्ततः ।
वीरशोणितसिक्तायां भूमौ भरतसत्तम ॥ ४६ ॥

भरतश्रेष्ठ ! तदनन्तर दो ही घड़ीमें वीरोंके रक्तसे धरती सिंच उठी और सब ओरकी धूल बैठ जानेके कारण रणक्षेत्र निर्मल हो गया ॥ ४६ ॥

उपाशाम्यत् ततस्तीव्रं तद् रजो घोरदर्शनम् ।
ततोऽपश्यमहं भूयो द्वन्द्वयुद्धानि भारत ॥ ४७ ॥
यथाप्राणं यथाश्रेष्ठं मध्याह्ने वै सुदारुणे ।
वर्मणां तत्र राजेन्द्र व्यदृश्यन्तोज्ज्वलाः प्रभाः ॥ ४८ ॥

वह भयंकर दिखायी देनेवाली तीव्र धूलि सर्वथा शान्त हो गयी । भारत ! राजेन्द्र ! तब मैं फिर उस दारुण मध्याह्न-कालमें अपने बल और श्रेष्ठताके अनुसार अनेक द्वन्द्वयुद्ध देखने लगा । योद्धाओंके कवचोंकी प्रभा वहाँ अत्यन्त उज्ज्वल दिखायी देती थी ॥ ४७-४८ ॥

शब्दश्च तुमुलः संख्ये शराणां पततामभूत् ।
महावेणुवनस्येव दह्यमानस्य पर्वते ॥ ४९ ॥

जैसे पर्वतपर जलते हुए विशाल बाँसोंके वनसे प्रकट होनेवाला चटचट शब्द सुनायी देता है, उसी प्रकार युद्ध-स्थलमें बाणोंके गिरनेका भयंकर शब्द वहाँ गूँज रहा था ॥

इति श्रीमहाभारते शल्यपर्वणि संकुलयुद्धे द्वाविंशोऽध्यायः ॥ २२ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शल्यपर्वमें संकुलयुद्धविषयक बाईसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २२ ॥

त्रयोविंशोऽध्यायः

कौरवपक्षके सात सौ रथियोंका वध, उभयपक्षकी सेनाओंका मर्यादाशून्य घोर संग्राम तथा शकुनिका कूट युद्ध और उसकी पराजय

संजय उवाच

वर्तमाने तदा युद्धे घोररूपे भयानके ।
अभज्यत बलं तत्र तव पुत्रस्य पाण्डवैः ॥ १ ॥

संजय कहते हैं—राजन् ! जब वह भयानक घोर

युद्ध होने लगा, उस समय पाण्डवोंने आपके पुत्रकी सेनाके पाँव उखाड़ दिये ॥ १ ॥

तांस्तु यत्नेन महता संनिवार्य महारथान्।
पुत्रस्ते योधयामास पाण्डवानामनीकिनीम् ॥ २ ॥

उन भागते हुए महारथियोंको महान् प्रयत्नसे रोककर आपका पुत्र पाण्डवोंकी सेनाके साथ युद्ध करने लगा ॥ २ ॥

निवृत्ताः सहसा योधास्तव पुत्रजयैषिणः।
संनिवृत्तेषु तेष्वेवं युद्धमासीत् सुदारुणम् ॥ ३ ॥

यह देख आपके पुत्रकी विजय चाहनेवाले योद्धा सहसा लौट पड़े। इस प्रकार उनके लौटनेपर उन सबमें अत्यन्त भयंकर युद्ध होने लगा ॥ ३ ॥

तावकानां परेषां च देवासुररणोपमम्।
परेषां तव सैन्ये वा नासीत् कश्चित् पराङ्मुखः ॥ ४ ॥

आपके और शत्रुओंके योद्धाओंका वह युद्ध देवासुर-संग्रामके समान भयंकर था। उस समय शत्रुओंकी अथवा आपकी सेनामें भी कोई युद्धसे विमुख नहीं होता था ॥ ४ ॥

अनुमानेन युध्यन्ते संज्ञाभिश्च परस्परम्।
तेषां क्षयो महानासीद् युध्यतामितरेतरम् ॥ ५ ॥

सब लोग अनुमानसे और नाम बतानेसे शत्रु तथा मित्रकी पहचान करके परस्पर युद्ध करते थे। परस्पर जूझते हुए उन वीरोंका वहाँ बड़ा भारी विनाश हो रहा था ॥ ५ ॥

ततो युधिष्ठिरो राजा क्रोधेन महता युतः।
जिगीषमाणः संग्रामे धार्तराष्ट्रान् सराजकान् ॥ ६ ॥

उस समय राजा युधिष्ठिर महान् क्रोधसे युक्त हो संग्राममें राजा दुर्योधनसहित आपके पुत्रोंको जीतना चाहते थे ॥ ६ ॥

त्रिभिः शारद्वतं विद्ध्वा रुक्मपुङ्खैः शिलाशितैः।
चतुर्भिर्निजघानाश्वान् नाराचैः कृतवर्मणः ॥ ७ ॥

उन्होंने शिलापर तेज किये हुए सुवर्णमय पंखवाले तीन बाणोंसे कृपाचार्यको घायल करके चार नाराचोंसे कृत-वर्माके घोड़ोंको मार डाला ॥ ७ ॥

अश्वत्थामा तु हार्दिक्यमपोवाह यशस्विनम्।
अथ शारद्वतोऽष्टाभिः प्रत्यविद्ध्यद् युधिष्ठिरम्॥ ८ ॥

तब अश्वत्थामा यशस्वी कृतवर्माको अपने रथपर बिठाकर अन्यत्र हटा ले गया। तदनन्तर कृपाचार्यने आठ बाणोंसे राजा युधिष्ठिरको बींध डाला ॥ ८ ॥

ततो दुर्योधनो राजा रथान् सप्तशतान् रणे।
प्रैषयद् यत्र राजासौ धर्मपुत्रो युधिष्ठिरः ॥ ९ ॥

इसके बाद राजा दुर्योधनने रणभूमिमें सात सौ रथियोंको वहाँ भेजा, जहाँ धर्मपुत्र युधिष्ठिर खड़े थे ॥ ९ ॥

ते रथा रथिभिर्युक्ता मनोमारुतरंहसः।
अभ्यद्रवन्त संग्रामे कौन्तेयस्य रथं प्रति ॥१०॥

रथियोंसे युक्त और मन तथा वायुके समान वेगशाली वे रथ रणभूमिमें कुन्तीपुत्र युधिष्ठिरके रथकी ओर दौड़े ॥

ते समन्तान्महाराज परिवार्य युधिष्ठिरम्।
अदृश्यं सायकैश्चक्रुर्मेघा इव दिवाकरम् ॥११॥

महाराज! जैसे बादल सूर्यको ढक देते हैं, उसी प्रकार उन रथियोंने युधिष्ठिरको चारों ओरसे घेरकर अपने बाणों-द्वारा उन्हें अदृश्य कर दिया ॥ ११ ॥

ते दृष्ट्वा धर्मराजानं कौरवेयैस्तथा कृतम्।
नामृष्यन्त सुसंरब्धाः शिखण्डिप्रमुखा रथाः ॥ १२ ॥

धर्मराज युधिष्ठिरको कौरवोंद्वारा वैसी दशामें पहुँचाया गया देख अत्यन्त क्रोधमें भरे हुए शिखण्डी आदि रथी सहन न कर सके ॥ १२ ॥

रथैरश्ववरैर्युक्तैः किङ्किणीजालसंवृतैः।
आजग्मुरथ रक्षन्तः कुन्तीपुत्रं युधिष्ठिरम् ॥ १३ ॥

वे छोटी-छोटी घंटियोंकी जालीसे ढके और श्रेष्ठ अश्वोंसे जुते हुए रथोंद्वारा कुन्तीपुत्र राजा युधिष्ठिरकी रक्षाके लिये वहाँ आ पहुँचे ॥ १३ ॥

ततः प्रववृते रौद्रः संग्रामः शोणितोदकः।
पाण्डवानां कुरूणां च यमराष्ट्रविवर्धनः ॥ १४ ॥

तदनन्तर कौरवों और पाण्डवोंका अत्यन्त भयंकर संग्राम आरम्भ हो गया, जिसमें पानीकी तरह खून बहाया जाता था। वह युद्ध यमराजके राज्यकी वृद्धि करनेवाला था॥

रथान् सप्तशतान् हत्वा कुरूणामाततायिनाम्।
पाण्डवाः सह पञ्चालैः पुनरेवाभ्यवारयन् ॥ १५ ॥

उस समय पाञ्चालोंसहित पाण्डवोंने आततायी कौरवोंके उन सात सौ रथियोंको मारकर पुनः अन्य योद्धाओंको आगे बढ़नेसे रोका ॥ १५ ॥

तत्र युद्धं महच्चासीत् तव पुत्रस्य पाण्डवैः।
न च तत् तादृशं दृष्टं नैव चापि परिश्रुतम् ॥ १६ ॥

वहाँ आपके पुत्रका पाण्डवोंके साथ बड़ा भारी युद्ध हुआ। वैसा युद्ध मैंने न तो कभी देखा था और न मेरे सुननेमें ही आया था ॥ १६ ॥

वर्तमाने तदा युद्धे निर्मर्यादे समन्ततः।
वध्यमानेषु योधेषु तावकेष्वितरेषु च ॥ १७ ॥
विनदत्सु च योधेषु शङ्खवर्यैश्च पूरितैः।
उत्कुष्टैः सिंहनादैश्च गर्जितैश्चैव धन्विनाम् ॥ १८ ॥
अतिप्रवृत्ते युद्धे च छिद्यमानेषु मर्मसु।
धावमानेषु योधेषु जयगृद्धिषु मारिष ॥ १९ ॥
संहारे सर्वतो जाते पृथिव्यां शोकसम्भवे।
बह्वीनामुत्तमस्त्रीणां सीमन्तोद्धरणे तथा ॥ २० ॥
निर्मर्यादे महायुद्धे वर्तमाने सुदारुणे।
प्रादुरासन् विनाशाय तदोत्पाताः सुदारुणाः ॥ २१ ॥

माननीय नरेश! जब सब ओरसे वह मर्यादाशून्य युद्ध होने लगा, आपके और शत्रुपक्षके योद्धा मारे जाने लगे, युद्ध-परायण वीरोंकी गर्जना और श्रेष्ठ शङ्खोंकी ध्वनि होने लगी, धनुर्धरोंकी ललकार, सिंहनाद और गर्जनाओंके साथ जब वह युद्ध औचित्यकी सीमाको पार कर गया, योद्धाओंके मर्मस्थल विदीर्ण किये जाने लगे, विजयाभिलाषी योद्धा इधर-उधर दौड़ने लगे, रणभूमिमें सब ओर शोकजनक संहार होने

सब सुहागिनी सुन्दरी स्त्रियोंके सीमन्तके सिन्दूर मिटाये जाने लगे, सब सारी मर्यादाओंको तोड़कर अत्यन्त भयंकर महायुद्ध चलने लगा, उस समय विनाशकी सूचना देनेवाले बड़े दारुण उत्पात प्रकट होने लगे ॥ १७—२१ ॥

चचाल शब्दं कुर्वाणा सपर्वतवना मही ।
सदण्डाः सोल्मुका राजन् कीर्यमाणाः समन्ततः ॥२२॥
उल्का पेतुर्दिवो भूमावाहत्य रविमण्डलम् ।

राजन् ! पर्वत और वनोंसहित पृथ्वी भयानक शब्द करती हुई डोलने लगी और आकाशसे दण्ड तथा जलते हुए काष्ठोंसहित बहुत सी उल्काएँ सूर्यमण्डलसे टकराकर सम्पूर्ण दिशाओंमें बिखरी पड़ती थीं ॥ २२½ ॥

विष्वग्वाताः प्रादुरासन् नीचैः शर्करवर्षिणः ॥ २३ ॥
अश्रूणि मुमुचुर्नागा वेपथुं चास्पृशन् भृशम् ।

चारों ओर नीचे बालू और कंकड़ बरसानेवाली हवाएँ चलने लगीं । हाथी आँसू बहाने और थरथर काँपने लगे ॥

एतान् घोराननादृत्य समुत्पातान् सुदारुणान् ॥ २४ ॥
पुनर्युद्धाय संयत्ताः क्षत्रियास्तस्थुरव्यथाः ।
रमणीये कुरुक्षेत्रे पुण्ये स्वर्गं यियासवः ॥ २५ ॥

इन घोर एवं दारुण उत्पातोंकी अवहेलना करके क्षत्रिय वीर मनमें व्यथासे रहित हो पुनः युद्धके लिये तैयार हो गये और स्वर्गमें जानेकी अभिलाषा ले रमणीय एवं पुण्यमय कुरुक्षेत्रमें उत्साहपूर्वक डट गये ॥ २४-२५ ॥

ततो गान्धारराजस्य पुत्रः शकुनिरब्रवीत् ।
युद्धयध्वमग्रतो यावत् पृष्ठतो हन्मि पाण्डवान् ॥२६॥

तत्पश्चात् गान्धारराजके पुत्र शकुनिने कौरवयोद्धाओंसे कहा—'वीरो ! तुमलोग सामनेसे युद्ध करो और मैं पीछेसे पाण्डवोंका संहार करता हूँ' ॥ २६ ॥

ततो नः सम्प्रयातानां मद्रयोधास्तरस्विनः ।
हृष्टाः किलकिलाशब्दमकुर्वन्तापरे तथा ॥ २७ ॥

इस सलाहके अनुसार जब हमलोग चले तो मद्रदेशके वेगशाली योद्धा तथा अन्य सैनिक हर्षसे उल्लसित हो किलकारियाँ भरने लगे ॥ २७ ॥

अस्मांस्तु पुनरासाद्य लब्धलक्ष्या दुरासदाः ।
शरासनानि धुन्वन्तः शरवर्षैरवाकिरन् ॥ २८ ॥

इतनेहीमें दुर्धर्ष पाण्डव पुनः हमारे पास आ पहुँचे और हमें अपने लक्ष्यके रूपमें पाकर धनुष हिलाते हुए हम लोगोंपर बाणोंकी वर्षा करने लगे ॥ २८ ॥

ततो हतं परैस्तत्र मद्रराजबलं तदा ।
दुर्योधनबलं दृष्ट्वा पुनरासीत् पराङ्मुखम् ॥ २९ ॥

थोड़ी ही देरमें शत्रुओंने वहाँ मद्रराजकी सेनाका संहार कर डाला । यह देख दुर्योधनकी सेना पुनः पीठ दिखाकर भागने लगी ॥ २९ ॥

गान्धारराजस्तु पुनर्वाक्यमाह ततो बली ।
निवर्तध्वमधर्मज्ञा युध्यध्वं किं सृतेन वः ॥ ३० ॥

तब बलवान् गान्धारराज शकुनिने पुनः इस प्रकार कहा—'अपने धर्मको न जाननेवाले पापियो ! इस तरह तुम्हारे भागनेसे क्या होगा ? लौटो और युद्ध करो' ॥ ३० ॥

अनीकं दशसाहस्रमश्वानां भरतर्षभ ।
आसीद् गान्धारराजस्य विशालप्रासयोधिनाम् ॥ ३१ ॥
बलेन तेन विक्रम्य वर्तमाने जनक्षये ।
पृष्ठतः पाण्डवानीकमभ्यघ्नन्निशितैः शरैः ॥ ३२ ॥

भरतश्रेष्ठ ! उस समय गान्धारराज शकुनिके पास विशाल प्रास लेकर युद्ध करनेवाले घुड़सवारोंकी दस हजार सेना मौजूद थी । उसीको साथ लेकर वह उस जन-संहारकारी युद्धमें पाण्डव-सेनाके पिछले भागकी ओर गया और वे सब मिलकर पैने बाणोंसे उस सेनापर चोट करने लगे ॥

तदभ्रमिव वातेन क्षिप्यमाणं समन्ततः ।
अभज्यत महाराज पाण्डूनां सुमहद् बलम् ॥ ३३ ॥

महाराज ! जैसे वायुके वेगसे मेघोंका दल सब ओरसे छिन्न-भिन्न हो जाता है, उसी प्रकार इस आक्रमणसे पाण्डवोंकी विशाल सेनाका व्यूह भंग हो गया ॥ ३३ ॥

ततो युधिष्ठिरः प्रेक्ष्य भग्नं स्वबलमन्तिकात् ।
अभ्यनादयदव्यग्रः सहदेवं महाबलम् ॥ ३४ ॥

तब युधिष्ठिरने पास ही अपनी सेनामें भगदड़ मची देख शान्तभावसे महाबली सहदेवको पुकारा ॥ ३४ ॥

असौ सुबलपुत्रो नो जघनं पीड्य दंशितः ।
सैन्यानि सूदयत्येष पश्य पाण्डव दुर्मतिम् ॥ ३५ ॥

और कहा—'पाण्डुनन्दन ! कवच धारण करके आया हुआ वह सुबलपुत्र शकुनि हमारी सेनाके पिछले भागको पीड़ा देकर सारे सैनिकोंका संहार कर रहा है; इस दुर्बुद्धिको देखो तो सही ॥ ३५ ॥

गच्छ त्वं द्रौपदेयैश्च शकुनिं सौबलं जहि ।
रथानीकमहं धक्ष्ये पाञ्चालसहितोऽनघ ॥ ३६ ॥

'निष्पाप वीर ! तुम द्रौपदीके पुत्रोंको साथ लेकर जाओ और सुबलपुत्र शकुनिको मार डालो । मैं पाञ्चाल योद्धाओंके साथ यहीं रहकर शत्रुकी इस रथसेनाको भस्म कर डालूँगा ॥

गच्छन्तु कुञ्जराः सर्वे वाजिनश्च सह त्वया ।
पादाताश्च त्रिसाहस्राः शकुनिं तैर्वृतो जहि ॥ ३७ ॥

'तुम्हारे साथ सभी हाथीसवार, घुड़सवार और तीन हजार पैदल सैनिक भी जायँ तथा उन सबसे घिरे रहकर तुम शकुनिका नाश करो' ॥ ३७ ॥

ततो गजाः सप्तशताश्चापपाणिभिरास्थिताः ।
पञ्च चाश्वसहस्राणि सहदेवश्च वीर्यवान् ॥ ३८ ॥
पादाताश्च त्रिसाहस्रा द्रौपदेयाश्च सर्वशः ।
रणे ह्यभ्यद्रवंस्ते तु शकुनिं युद्धदुर्मदम् ॥ ३९ ॥

तदनन्तर धर्मराजकी आज्ञाके अनुसार हाथमें धनुष लिये बैठे हुए सवारोंसे युक्त सात सौ हाथी, पाँच हजार घुड़सवार, पराक्रमी सहदेव, तीन हजार पैदल योद्धा और द्रौपदीके सभी पुत्र—इन सबने रणभूमिमें युद्ध-दुर्मद शकुनिपर धावा किया ॥ ३८-३९ ॥

ततस्तु सौबलो राजन्नभ्यतिक्रम्य पाण्डवान् ।
जघान पृष्ठतः सेनां जयगृद्धः प्रतापवान् ॥ ४० ॥

राजन् ! उधर विजयाभिलाषी प्रतापी सुबलपुत्र शकुनि पाण्डवोंका उल्लङ्घन करके पीछेकी ओरसे उनकी सेनाका संहार कर रहा था ॥ ४० ॥

अश्वारोहास्तु संरब्धाः पाण्डवानां तरस्विनाम् ।
प्राविशन् सौबलानीकमभ्यतिक्रम्य तान् रथान् ॥ ४१ ॥

वेगशाली पाण्डवोंके घुड़सवारोंने अत्यन्त कुपित होकर उन कौरव रथियोंका उल्लङ्घन करके सुबलपुत्रकी सेनामें प्रवेश किया ॥ ४१ ॥

ते तत्र सादिनः शूराः सौबलस्य महद् बलम् ।
रणमध्ये व्यतिष्ठन्त शरवर्षैरवाकिरन् ॥ ४२ ॥

वे शूरवीर घुड़सवार वहाँ जाकर रणभूमिके मध्यभागमें खड़े हो गये और शकुनिकी उस विशाल सेनापर बाणोंकी वर्षा करने लगे ॥ ४२ ॥

तदुद्यतगदाप्रासमकापुरुषसेवितम् ।
प्रावर्तत महद् युद्धं राजन् दुर्मन्त्रिते तव ॥ ४३ ॥

राजन् ! फिर तो आपकी कुमन्त्रणाके फलस्वरूप वह महान् युद्ध आरम्भ हो गया, जो कायरोंसे नहीं, वीर पुरुषोंसे सेवित था । उस समय सभी योद्धाओंके हाथोंमें गदा अथवा प्रास उठे रहते थे ॥ ४३ ॥

उपारमन्त ज्याशब्दाः प्रेक्षका रथिनोऽभवन् ।
न हि स्वेषां परेषां वा विशेषः प्रत्यदृश्यत ॥ ४४ ॥

धनुषकी प्रत्यञ्चाके शब्द बंद हो गये । रथी योद्धा दर्शक बनकर तमाशा देखने लगे । उस समय अपने या शत्रुपक्षके योद्धाओंमें पराक्रमकी दृष्टिसे कोई अन्तर नहीं दिखायी देता था ॥ ४४ ॥

शूरबाहुविसृष्टानां शक्तीनां भरतर्षभ ।
ज्योतिषामिव सम्पातमपश्यन् कुरुपाण्डवाः ॥ ४५ ॥

भरतश्रेष्ठ ! शूरवीरोंकी भुजाओंसे छूटी हुई शक्तियाँ शत्रुओंपर इस प्रकार गिरती थीं, मानो आकाशसे तारे टूटकर पड़ रहे हों । कौरव-पाण्डवयोद्धाओंने इसे प्रत्यक्ष देखा था ॥

ऋष्टिभिर्विमलाभिश्च तत्र तत्र विशाम्पते ।
सम्पतन्तीभिराकाशमावृतं बह्वशोभत ॥ ४६ ॥

प्रजानाथ ! वहाँ गिरती हुई निर्मल ऋष्टियोंसे व्याप्त हुए आकाशकी बड़ी शोभा हो रही थी ॥ ४६ ॥

प्रासानां पततां राजन् रूपमासीत् समन्ततः ।
शलभानामिवाकाशे तदा भरतसत्तम ॥ ४७ ॥

भरतकुलभूषण नरेश ! उस समय सब ओर गिरते हुए प्रासोंका स्वरूप आकाशमें छाये हुए टिड्डीदलोंके समान जान पड़ता था ॥ ४७ ॥

रुधिरोक्षितसर्वाङ्गा विप्रविद्धैर्नियन्तृभिः ।
हयाः परिपतन्ति स्म शतशोऽथ सहस्रशः ॥ ४८ ॥

सैकड़ों और हजारों घोड़े अपने घायल सवारोंके साथ सारे अङ्गोंमें लहू-लुहान होकर धरतीपर गिर रहे थे ॥ ४८ ॥

अन्योन्यं परिपिष्टाश्च समासाद्य परस्परम् ।
आविक्षताः स्म दृश्यन्ते वमन्तो रुधिरं मुखैः ॥ ४९ ॥

बहुत-से सैनिक परस्पर टकराकर एक दूसरेसे पिस जाते और क्षत-विक्षत हो मुखोंसे रक्त वमन करते हुए दिखायी देते थे ॥ ४९ ॥

ततोऽभवत्तमो घोरं सैन्येन रजसा वृते ।
तानपाक्रमतोऽद्राक्षं तस्माद् देशादरिंदम ॥ ५० ॥

शत्रुदमन नरेश ! तत्पश्चात् जब सेनाद्वारा उठी हुई धूलसे सब ओर घोर अन्धकार छा गया, उस समय हमने देखा कि बहुत-से योद्धा वहाँसे भागे जा रहे हैं ॥ ५० ॥

अश्वान् राजन् मनुष्यांश्च रजसा संवृते सति ।
भूमौ निपतिताश्चान्ये वमन्तो रुधिरं बहु ॥ ५१ ॥

राजन् ! धूलसे सारा रणक्षेत्र भर जानेके कारण अँधेरेमें बहुत-से घोड़ों और मनुष्योंको भी हमने भागते देखा था । कितने ही योद्धा पृथ्वीपर गिरकर मुँहसे बहुत-सा रक्त वमन कर रहे थे ॥ ५१ ॥

केशाकेशि समालग्ना न शेकुश्चेष्टितुं नराः ।
अन्योन्यमश्वपृष्ठेभ्यो विकर्षन्तो महाबलाः ॥ ५२ ॥

बहुत-से मनुष्य परस्पर केश पकड़कर इतने सट गये थे कि कोई चेष्टा नहीं कर पाते थे । कितने ही महाबली योद्धा एक दूसरेको घोड़ोंकी पीठोंसे खींच रहे थे ॥ ५२ ॥

मल्ला इव समासाद्य निजघ्नुरितरेतरम् ।
अश्वैश्च व्यपकृष्यन्त बहवोऽत्र गतासवः ॥ ५३ ॥

बहुत-से सैनिक पहलवानोंकी भाँति परस्पर भिड़कर एक दूसरेपर चोट करते थे । कितने ही प्राणशून्य होकर अश्वोंद्वारा इधर-उधर घसीटे जा रहे थे ॥ ५३ ॥

भूमौ निपतिताश्चान्ये बहवो विजयैषिणः ।
तत्र तत्र व्यदृश्यन्त पुरुषाः शूरमानिनः ॥ ५४ ॥

बहुतेरे विजयाभिलाषी तथा अपनेको शूरवीर माननेवाले पुरुष जहाँ-तहाँ पृथ्वीपर पड़े दिखायी देते थे ॥ ५४ ॥

रक्तोक्षितैश्छिन्नभुजैरवकृष्टशिरोरुहैः ।
व्यदृश्यत मही कीर्णा शतशोऽथ सहस्रशः ॥ ५५ ॥

कटी हुई बाँहों और खींचे गये केशोंवाले सैकड़ों और हजारों रक्तरंजित शरीरोंसे रणभूमि आच्छादित दिखायी देती थी ॥

दूरं न शक्यं तत्रासीद् गन्तुमश्वेन केनचित् ।
साश्वारोहैर्हतैरश्वैरावृते वसुधातले ॥ ५६ ॥

सवारोंसहित घोड़ोंकी लाशोंसे पटे हुए भूतलपर किसीके लिये भी घोड़ेद्वारा दूरतक जाना असम्भव हो गया था ॥

रुधिरोक्षितसन्नाहैरात्तशस्त्रैरुदायुधैः ।
नानाप्रहरणैर्घोरैः परस्परवधैषिभिः ॥ ५७ ॥
सुसंनिकृष्टैः संग्रामे हतभूयिष्ठसैनिकैः ।

योद्धाओंके कवच रक्तसे भीग गये थे । वे सब हाथोंमें अस्त्र-शस्त्र लिये धनुष उठाये नाना प्रकारके भयंकर आयुधोंद्वारा एक दूसरेके वधकी इच्छा रखते थे । उस संग्राममें सभी योद्धा अत्यन्त निकट होकर युद्ध करते थे और उनमेंसे अधिकांश सैनिक मार डाले गये थे ॥ ५७½ ॥

स मुहूर्तं ततो युद्ध्वा सौबलोऽथ विशाम्पते ॥ ५८ ॥
षट्सहस्रैर्हयैः शिष्टैरपायाच्छकुनिस्ततः ।

प्रजानाथ ! शकुनि वहाँ दो घड़ी युद्ध करके शेष बचे हुए छः हजार घुड़सवारोंके साथ भाग निकला ॥ ५८½ ॥

तथैव पाण्डवानीकं रुधिरेण समुक्षितम् ॥ ५९ ॥
षट्सहस्रैर्हयैः शिष्टैरपायाच्छ्रान्तवाहनम् ।

इसी प्रकार खूनसे नहायी हुई पाण्डव-सेना भी शेष छः हजार घुड़सवारोंके साथ युद्धसे निवृत्त हो गयी। उसके सारे वाहन थक गये थे ॥ ५९½ ॥

अश्वारोहाश्च पाण्डूनामब्रुवन् रुधिरोक्षिताः ॥ ६० ॥
सुसंनिकृष्टे संग्रामे भूयिष्ठे त्यक्तजीविताः ।

उस समय उस निकटवर्ती महायुद्धमें प्राणोंका मोह छोड़कर जूझनेवाले पाण्डवसेनाके रक्तरंजित घुड़सवार इस प्रकार बोले—॥ ६०½ ॥

न हि शक्यं रथैर्योद्धुं कुत एव महागजैः ॥ ६१ ॥
रथानेव रथा यान्तु कुञ्जराः कुञ्जरानपि ।
प्रतियातो हि शकुनिः स्वमनीकमवस्थितः ॥ ६२ ॥
न पुनः सौबलो राजा युद्धमभ्यागमिष्यति ।

'यहाँ रथोंद्वारा भी युद्ध नहीं किया जा सकता। फिर बड़े-बड़े हाथियोंकी तो बात ही क्या है ? रथ रथोंका सामना करनेके लिये जायँ और हाथी हाथियोंका। शकुनि भागकर अपनी सेनामें चला गया। अब फिर राजा शकुनि युद्धमें नहीं आयेगा' ॥ ६१-६२½ ॥

ततस्तु द्रौपदेयाश्च ते च मत्ता महाद्विपाः ॥ ६३ ॥
प्रययुर्यत्र पाञ्चाल्यो धृष्टद्युम्नो महारथः ।

उनकी यह बात सुनकर द्रौपदीके पाँचों पुत्र और वे मतवाले हाथी वहीं चले गये, जहाँ पाञ्चालराजकुमार महारथी धृष्टद्युम्न थे ॥ ६३½ ॥

सहदेवोऽपि कौरव्य रजोमेघे समुत्थिते ॥ ६४ ॥
एकाकी प्रययौ तत्र यत्र राजा युधिष्ठिरः ।

कुरुनन्दन ! वहाँ धूलका बादल-सा घिर आया था। उस समय सहदेव भी अकेले ही, जहाँ राजा युधिष्ठिर थे, वहीं चले गये ॥ ६४½ ॥

ततस्तेषु प्रयातेषु शकुनिः सौबलः पुनः ॥ ६५ ॥
पार्श्वतोऽभ्यहनत् क्रुद्धो धृष्टद्युम्नस्य वाहिनीम् ।

उन सबके चले जानेपर सुबलपुत्र शकुनि पुनः कुपित हो पार्श्वभागसे आकर धृष्टद्युम्नकी सेनाका संहार करने लगा॥

तत् पुनस्तुमुलं युद्धं प्राणांस्त्यक्त्वाभ्यवर्तत॥ ६६ ॥
तावकानां परेषां च परस्परवधैषिणाम् ।

फिर तो परस्पर वधकी इच्छावाले आपके और शत्रुपक्षके सैनिकोंमें प्राणोंका मोह छोड़कर भयंकर युद्ध होने लगा।६६½।

ते चान्योन्यमवैक्षन्त तस्मिन् वीरसमागमे ॥ ६७ ॥
योधाः पर्यपतन् राजन् शतशोऽथ सहस्रशः ।

राजन् ! शूरवीरोंके उस संघर्षमें सब ओरसे सैकड़ों-हजारों योद्धा टूट पड़े और वे एक-दूसरेकी ओर देखने लगे॥

असिभिश्छिद्यमानानां शिरसां लोकसंक्षये ॥ ६८ ॥
प्रादुरासीन्महाञ्शब्दस्तालानां पततामिव ।

उस लोकसंहारकारी संग्राममें तलवारोंसे काटे जाते हुए मस्तक जब पृथ्वीपर गिरते थे, तब उनसे ताड़के फलोंके गिरनेकी-सी धमाकेकी आवाज होती थी ॥ ६८½ ॥

विमुक्तानां शरीराणां छिन्नानां पततां भुवि ॥ ६९ ॥
सायुधानां च बाहूनामूरूणां च विशाम्पते ।
आसीत् कटकटाशब्दः सुमहाँल्लोमहर्षणः ॥ ७० ॥

प्रजानाथ ! छिन्न-भिन्न होकर धरतीपर गिरनेवाले कवच-शून्य शरीरों, आयुधोंसहित भुजाओं और जाँघोंका अत्यन्त भयंकर एवं रोमाञ्चकारी कट-कट शब्द सुनायी पड़ता था ॥

निघ्नन्तो निशितैः शस्त्रैर्भ्रातॄन् पुत्रान् सखीनपि ।
योधाः परिपतन्ति स्म यथामिषकृते खगाः ॥ ७१ ॥

जैसे पक्षी मांसके लिये एक-दूसरेपर झपटते हैं, उसी प्रकार वहाँ योद्धा अपने तीखे शस्त्रोंद्वारा भाइयों, मित्रों और पुत्रोंका भी संहार करते हुए एक दूसरेपर टूटे पड़ते थे ॥

अन्योन्यं प्रतिसंरब्धाः समासाद्य परस्परम् ।
अहं पूर्वमहं पूर्वमिति न्यघ्नन् सहस्रशः ॥ ७२ ॥

दोनों पक्षोंके योद्धा एक दूसरेसे भिड़कर परस्पर अत्यन्त कुपित हो 'पहले मैं, पहले मैं' ऐसा कहते हुए सहस्रों सैनिकोंका वध करने लगे ॥ ७२ ॥

संघातेनासनभ्रष्टैरश्वारोहैर्गतासुभिः ।
हयाः परिपतन्ति स्म शतशोऽथ सहस्रशः ॥ ७३ ॥

शत्रुओंके आघातसे प्राणशून्य होकर आसनसे भ्रष्ट हुए अश्वारोहियोंके साथ सैकड़ों और हजारों घोड़े धराशायी होने लगे ॥ ७३ ॥

स्फुरतां प्रतिपिष्टानामश्वानां शीघ्रगामिनाम् ।
स्तनतां च मनुष्याणां संनद्धानां विशाम्पते ॥ ७४ ॥
शक्त्यृष्टिप्रासशब्दश्च तुमुलः समपद्यत ।
भिन्दतां परमर्माणि राजन् दुर्मन्त्रिते तव ॥ ७५ ॥

प्रजापालक नरेश ! आपकी खोटी सलाहके अनुसार बहुत-से शीघ्रगामी अश्व गिरकर छटपटा रहे थे। कितने ही पिस गये थे और बहुत-से कवचधारी मनुष्य गर्जना करते हुए शत्रुओंके मर्म विदीर्ण कर रहे थे। उन सबके शक्ति, ऋष्टि और प्रासोंका भयंकर शब्द वहाँ गूँजने लगा था ॥

श्रमाभिभूताः संरब्धाः श्रान्तवाहाः पिपासवः ।
विक्षताश्च शितैः शस्त्रैरभ्यवर्तन्त तावकाः ॥ ७६ ॥

आपके सैनिक परिश्रमसे थक गये थे, क्रोधमें भरे हुए थे, उनके वाहन भी थकावटसे चूर-चूर हो रहे थे और वे सब-के-सब प्याससे पीड़ित थे। उनके सारे अङ्ग तीक्ष्ण शस्त्रोंसे क्षत-विक्षत हो गये थे ॥ ७६ ॥

मत्ता रुधिरगन्धेन बहवोऽत्र विचेतसः ।
जघ्नुः परान् स्वकांश्चैव प्राप्तान् प्राप्ताननन्तरान् ॥७७॥

वहाँ बहते हुए रक्तकी गन्धसे मतवाले हो बहुत-से सैनिक विवेक-शक्ति खो बैठे थे और बारी-बारीसे अपने पास आये

हुए शत्रुपक्षके तथा अपने पक्षके सैनिकोंका भी वध कर डालते थे ॥ ७७ ॥

बहवश्च गतप्राणाः क्षत्रिया जयगृद्धिनः ।
भूमावभ्यपतन् राजन् शरवृष्टिभिरावृताः ॥ ७८ ॥

राजन्! बहुत-से विजयाभिलाषी क्षत्रिय बाणोंकी वर्षासे आच्छादित हो प्राणोंका परित्याग करके पृथ्वीपर पड़े थे ॥

वृकगृध्रशृगालानां तुमुले मोदनेऽहनि ।
आसीद् बलक्षयो घोरस्तव पुत्रस्य पश्यतः ॥ ७९ ॥

भेड़ियों, गीधों और सियारोंका आनन्द बढ़ानेवाले उस भयंकर दिनमें आपके पुत्रकी आँखोंके सामने कौरवसेनाका घोर संहार हुआ ॥ ७९ ॥

नराश्वकायैः संछन्ना भूमिरासीद् विशाम्पते ।
रुधिरोदकचित्रा च भीरूणां भयवर्धिनी ॥ ८० ॥

प्रजानाथ! वह रणभूमि मनुष्यों और घोड़ोंकी लाशोंसे पट गयी थी तथा पानीकी तरह बहाये जाते हुए रक्तसे विचित्र शोभा धारण करके कायरोंका भय बढ़ा रही थी ॥

असिभिः पट्टिशैः शूलैस्तक्षमाणाः पुनः पुनः ।
तावकाः पाण्डवेयाश्च न न्यवर्तन्त भारत ॥ ८१ ॥

भारत! खड्गों, पट्टिशों और शूलोंसे एक-दूसरेको बारंबार घायल करते हुए आपके और पाण्डवोंके योद्धा युद्धसे पीछे नहीं हटते थे ॥ ८१ ॥

प्रहरन्तो यथाशक्ति यावत् प्राणस्य धारणम् ।
योधाः परिपतन्ति स्म वमन्तो रुधिरं व्रणैः ॥ ८२ ॥

जबतक प्राण रहते, तबतक यथाशक्ति प्रहार करते हुए योद्धा अन्ततोगत्वा अपने घावोंसे रक्त बहाते हुए धराशायी हो जाते थे ॥ ८२ ॥

शिरो गृहीत्वा केशेषु कबन्धः स्म प्रदृश्यते ।
उद्यम्य च शितं खड्गं रुधिरेण परिप्लुतम् ॥ ८३ ॥

वहाँ कोई-कोई कबन्ध (धड़) ऐसा दिखायी दिया, जो एक हाथमें शत्रुके कटे हुए मस्तकको केशसहित पकड़े हुए और दूसरे हाथमें खूनसे रँगी हुई तीखी तलवार उठाये खड़ा था॥

तथोत्थितेषु बहुषु कबन्धेषु नराधिप ।
तथा रुधिरगन्धेन योधाः कश्मलमाविशन् ॥ ८४ ॥

नरेश्वर! फिर उस तरहके बहुत-से कबन्ध उठे दिखायी देने लगे तथा रुधिरकी गन्धसे प्रायः सभी योद्धाओंपर मोह छा गया था ॥ ८४ ॥

मन्दीभूते ततः शब्दे पाण्डवानां महद् बलम् ।
अल्पावशिष्टैस्तुरगैरभ्यवर्तत सौबलः ॥ ८५ ॥

तत्पश्चात् जब उस युद्धका कोलाहल कुछ कम हुआ, तब सुबलपुत्र शकुनि थोड़े-से बचे हुए घुड़सवारोंके साथ पुनः पाण्डवोंकी विशाल सेनापर टूट पड़ा ॥ ८५ ॥

ततोऽभ्यधावंस्त्वरिताः पाण्डवा जयगृद्धिनः ।
पदातयश्च नागाश्च सादिनश्चोद्यतायुधाः ॥ ८६ ॥
कोष्ठकीकृत्य चाप्येनं परिक्षिप्य च सर्वशः ।
शस्त्रैर्नानाविधैर्जघ्नुर्युद्धपारं तितीर्षवः ॥ ८७ ॥

तब विजयाभिलाषी पाण्डवोंने भी तुरंत उसपर धावा कर दिया। पाण्डव युद्धसे पार होना चाहते थे; अतः उनके पैदल, हाथीसवार और घुड़सवार सभी हथियार उठाये आगे बढ़े तथा शकुनिको सब ओरसे घेरकर उसे कोष्ठबद्ध करके नाना प्रकारके शस्त्रोंद्वारा घायल करने लगे ॥८६-८७॥

त्वदीयास्तांस्तु सम्प्रेक्ष्य सर्वतः समभिद्रुतान् ।
रथाश्वपत्तिद्विरदाः पाण्डवानभिदुद्रुवुः ॥ ८८ ॥

पाण्डवसैनिकोंको सब ओरसे आक्रमण करते देख आपके रथी, घुड़सवार, पैदल और हाथीसवार भी पाण्डवोंपर टूट पड़े॥

केचित् पदातयः पद्भिर्मुष्टिभिश्च परस्परम् ।
निजघ्नुः समरे शूराः क्षीणशस्त्रास्ततोऽपतन् ॥ ८९ ॥

कुछ शूरवीर पैदल योद्धा समराङ्गणमें पैदलोंके साथ भिड़ गये और अस्त्र-शस्त्रोंके क्षीण हो जानेपर एक दूसरेको मुक्कोंसे मारने लगे। इस प्रकार लड़ते-लड़ते वे पृथ्वीपर गिर पड़े ॥ ८९ ॥

रथेभ्यो रथिनः पेतुर्द्विपेभ्यो हस्तिसादिनः ।
विमानेभ्यो दिवो भ्रष्टाः सिद्धाः पुण्यक्षयादिव ॥ ९० ॥

जैसे सिद्ध पुरुष पुण्यक्षय होनेपर स्वर्गलोकके विमानोंसे नीचे गिर जाते हैं, उसी प्रकार वहाँ रथी रथोंसे और हाथी-सवार हाथियोंसे पृथ्वीपर गिर पड़े ॥ ९० ॥

एवमन्योन्यमायत्ता योधा जघ्नुर्महाहवे ।
पितॄन् भ्रातॄन् वयस्यांश्च पुत्रानपि तथा परे ॥ ९१ ॥

इस प्रकार उस महायुद्धमें दूसरे-दूसरे योद्धा परस्पर विजयके लिये प्रयत्नशील हो पिता, भाई, मित्र और पुत्रोंका भी वध करने लगे ॥ ९१ ॥

एवमासीदमर्यादं युद्धं भरतसत्तम ।
प्रासासिबाणकलिले वर्तमाने सुदारुणे ॥ ९२ ॥

भरतश्रेष्ठ! प्रास, खड्ग और बाणोंसे व्याप्त हुए उस अत्यन्त भयंकर रणक्षेत्रमें इस प्रकार मर्यादाशून्य युद्ध हो रहा था ॥ ९२ ॥

इति श्रीमहाभारते शल्यपर्वणि संकुलयुद्धे त्रयोविंशोऽध्यायः ॥ २३ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शल्यपर्वमें संकुलयुद्धविषयक तेईसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २३ ॥

चतुर्विंशोऽध्यायः

श्रीकृष्णके सम्मुख अर्जुनद्वारा दुर्योधनके दुराग्रहकी निन्दा और रथियोंकी सेनाका संहार

संजय उवाच

तस्मिञ्शब्दे मृदौ जाते पाण्डवैर्निहते बले ।
अश्वैः सप्तशतैः शिष्टैरुपावर्तत सौबलः ॥ १ ॥

संजय कहते हैं—राजन्! जब पाण्डव-योद्धाओंने

रथियोंकी सेनाका संहार हो जाने और युद्धका कोलाहल शान्त हो जानेपर सुबलपुत्र शकुनि शेष बचे हुए सात सौ घुड़सवारोंके साथ कौरव सेनाके समीप चला गया ॥ १ ॥

स यात्वा वाहिनीं तूर्णमब्रवीत् त्वरयन् युधि ।
युध्यध्वमिति संहृष्टाः पुनः पुनररिंदमाः ॥ २ ॥
अपृच्छन् क्षत्रियांस्तत्र क्व नु राजा महाबलः ।

वह तुरंत कौरव-सेनामें पहुँचकर सबको युद्धके लिये शीघ्रता करनेकी प्रेरणा देता हुआ बोला—'शत्रुओंका दमन करनेवाले वीरो ! तुम हर्ष और उत्साहके साथ युद्ध करो ।' ऐसा कहकर उसने वहाँ बारम्बार क्षत्रियोंसे पूछा—'महाबली राजा दुर्योधन कहाँ है ?' ॥ २½ ॥

शकुनेस्तद् वचः श्रुत्वा तमूचुर्भरतर्षभ ॥ ३ ॥
असौ तिष्ठति कौरव्यो रणमध्ये महाबलः ।
यत्रैतत् सुमहच्छत्रं पूर्णचन्द्रसमप्रभम् ॥ ४ ॥
यत्र ते सतनुत्राणा रथास्तिष्ठन्ति दंशिताः ।

भरतश्रेष्ठ ! शकुनिकी वह बात सुनकर उन क्षत्रियोंने उसे यह उत्तर दिया—'प्रभो ! महाबली कुरुराज रणक्षेत्रके मध्यभागमें वहाँ खड़े हैं, जहाँ यह पूर्ण चन्द्रमाके समान कान्तिमान् विशाल छत्र तना हुआ है तथा जहाँ वे शरीर-रक्षक आवरणों एवं कवचोंसे सुसज्जित रथ खड़े हैं ॥ ३-४½ ॥

यत्रैष तुमुलः शब्दः पर्जन्यनिनदोपमः ॥ ५ ॥
तत्र गच्छ द्रुतं राजंस्ततो द्रक्ष्यसि कौरवम् ।

'राजन् ! जहाँ यह मेघोंकी गम्भीर गर्जनाके समान भयानक शब्द गूँज रहा है, वहीं शीघ्रतापूर्वक चले जाइये, वहाँ आप कुरुराजका दर्शन कर सकेंगे' ॥ ५½ ॥

एवमुक्तस्तु तैर्योधैः शकुनिः सौबलस्तदा ॥ ६ ॥
प्रययौ तत्र यत्रासौ पुत्रस्तव नराधिप ।
सर्वतः संवृतो वीरैः समरे चित्रयोधिभिः ॥ ७ ॥

नरेश्वर ! तब उन योद्धाओंके ऐसा कहनेपर सुबलपुत्र शकुनि वहीं गया, जहाँ आपका पुत्र दुर्योधन समराङ्गणमें विचित्र युद्ध करनेवाले वीरोंद्वारा सब ओरसे घिरा हुआ खड़ा था ॥ ६-७ ॥

ततो दुर्योधनं दृष्ट्वा रथानीके व्यवस्थितम् ।
स रथांस्तावकान् सर्वान् हर्षयञ्शकुनिस्ततः ॥ ८ ॥
दुर्योधनमिदं वाक्यं हृष्टरूपो विशाम्पते ।
कृतकार्यमिवात्मानं मन्यमानोऽब्रवीन्नृपम् ॥ ९ ॥

प्रजानाथ ! तदनन्तर दुर्योधनको रथसेनामें खड़ा देख आपके सम्पूर्ण रथियोंका हर्ष बढ़ाता हुआ शकुनि अपनेको कृतार्थ-सा मानकर बड़े हर्षके साथ राजा दुर्योधनसे इस प्रकार बोला—॥

जहि राजन् रथानीकमश्वाः सर्वे जिता मया ।
नात्यक्त्वा जीवितं संख्ये शक्यो जेतुं युधिष्ठिरः ॥ १० ॥

'राजन् ! शत्रुकी रथसेनाका नाश कीजिये । समस्त घुड़सवारोंको मैंने जीत लिया है । राजा युधिष्ठिर अपने प्राणोंका परित्याग किये बिना जीते नहीं जा सकते ॥ १० ॥

हते तस्मिन् रथानीके पाण्डवेनाभिपालिते ।
गजानेतान् हनिष्यामः पदातींश्चेतरांस्तथा ॥ ११ ॥

'पाण्डुपुत्र युधिष्ठिरके द्वारा सुरक्षित इस रथ-सेनाका संहार हो जानेपर हम इन हाथीसवारों, पैदलों और घुड़सवारोंका भी वध कर डालेंगे' ॥ ११ ॥

श्रुत्वा तु वचनं तस्य तावका जयगृद्धिनः ।
जवेनाभ्यपतन् हृष्टाः पाण्डवानामनीकिनीम् ॥ १२ ॥

विजयाभिलाषी शकुनिकी यह बात सुनकर आपके सैनिक अत्यन्त प्रसन्न हो बड़े वेगसे पाण्डव-सेनापर टूट पड़े॥

सर्वे विवृततूणीराः प्रगृहीतशरासनाः ।
शरासनानि धुन्वानाः सिंहनादान् प्रणेदिरे ॥ १३ ॥

सबके तरकसोंके मुँह खुल गये, सबने हाथमें धनुष ले लिये और सभी धनुष हिलाते हुए जोर-जोरसे सिंहनाद करने लगे ॥ १३ ॥

ततो ज्यातलनिर्घोषः पुनरासीद् विशाम्पते ।
प्रादुरासीच्छराणां च सुमुक्तानां सुदारुणः ॥ १४ ॥

प्रजानाथ ! तदनन्तर फिर प्रत्यञ्चाकी टङ्कार और अच्छी तरह छोड़े हुए बाणोंकी भयानक सनसनाहट प्रकट होने लगी॥

तान् समीपगतान् दृष्ट्वा जवेनोद्यतकार्मुकान् ।
उवाच देवकीपुत्रं कुन्तीपुत्रो धनंजयः ॥ १५ ॥

उन सबको बड़े वेगसे धनुष उठाये पास आया देखकर कुन्तीकुमार अर्जुनने देवकीनन्दन भगवान् श्रीकृष्णसे इस प्रकार कहा—॥ १५ ॥

चोदयाश्वानसम्भ्रान्तः प्रविशैतद् बलार्णवम् ।
अन्तमद्य गमिष्यामि शत्रूणां निशितैः शरैः ॥ १६ ॥
अष्टादश दिनान्यद्य युद्धस्यास्य जनार्दन ।
वर्तमानस्य महतः समासाद्य परस्परम् ॥ १७ ॥

'जनार्दन ! आप स्वस्थचित्त होकर इन घोड़ोंको हाँकिये और इस सैन्यसागरमें प्रवेश कीजिये । आज मैं तीखे बाणोंसे शत्रुओंका अन्त कर डालूँगा । परस्पर भिड़कर इस महान् संग्रामके आरम्भ हुए आज अठारह दिन हो गये ॥१६-१७॥

अनन्तकल्पा ध्वजिनी भूत्वा ह्येषां महात्मनाम् ।
क्षयमद्य गता युद्धे पश्य दैवं यथाविधम् ॥ १८ ॥

'इन महामनस्वी कौरवोंके पास अपार सेना थी; परंतु युद्धमें इस समयतक प्रायः नष्ट हो गयी । देखिये, प्रारब्धका कैसा खेल है ? ॥ १८ ॥

समुद्रकल्पं च बलं धार्तराष्ट्रस्य माधव ।
अस्मानासाद्य संजातं गोष्पदोपममच्युत ॥ १९ ॥

'माधव ! अच्युत ! दुर्योधनकी समुद्र-जैसी अनन्त सेना हमलोगोंसे टक्कर लेकर आज गायकी खुरीके समान हो गयी है ॥ १९ ॥

हते भीष्मे तु संदध्याच्छिवं स्यादिह माधव ।
न च तत् कृतवान् मूढो धार्तराष्ट्रः सुबालिशः॥ २० ॥

'माधव ! यदि भीष्मके मारे जानेपर दुर्योधन सन्धि कर लेता तो यहाँ सबका कल्याण होता; परंतु उस अज्ञानी मूर्खने वैसा नहीं किया ॥ २० ॥

उक्तं भीष्मेण यद् वाक्यं हितं तथ्यं च माधव।
तच्चापि नासौ कृतवान् वीतबुद्धिः सुयोधनः ॥ २१ ॥

'मधुकुलभूषण! भीष्मजीने जो सच्ची और हितकर बात बतायी थी, उसे भी उस बुद्धिहीन दुर्योधनने नहीं माना॥

तस्मिंस्तु तुमुले भीष्मे प्रच्युते धरणीतले।
न जाने कारणं किं तु येन युद्धमवर्तत ॥ २२ ॥

'तदनन्तर घमासान युद्ध आरम्भ हुआ और उसमें भीष्मजी पृथ्वीपर मार गिराये गये। फिर भी न जाने क्या कारण था, जिससे युद्ध चालू ही रह गया ॥ २२ ॥

मूढांस्तु सर्वथा मन्ये धार्तराष्ट्रान् सुबालिशान्।
पतिते शान्तनोः पुत्रे येऽकार्षुः संयुगं पुनः ॥ २३ ॥

'मैं धृतराष्ट्रके सभी पुत्रोंको सर्वथा मूर्ख और नादान समझता हूँ, जिन्होंने शान्तनुनन्दन भीष्मजीके धराशायी होनेपर भी पुनः युद्ध जारी रक्खा ॥ २३ ॥

अनन्तरं च निहते द्रोणे ब्रह्मविदां वरे।
राधेये च विकर्णे च नैवाशाम्यत वैशसम् ॥ २४ ॥

'तत्पश्चात् वेदवेत्ताओंमें श्रेष्ठ द्रोणाचार्य, राधापुत्र कर्ण और विकर्ण मारे गये तो भी यह मार-काट बंद नहीं हुई ॥ २४ ॥

अल्पावशिष्टे सैन्येऽस्मिन् सूतपुत्रे च पातिते।
सपुत्रे वै नरव्याघ्रे नैवाशाम्यत वैशसम् ॥ २५ ॥

'पुत्रसहित नरश्रेष्ठ सूतपुत्रके मार गिराये जानेपर जब कौरवसेना थोड़ी-सी ही बच रही थी तो भी यह युद्धकी आग नहीं बुझी ॥ २५ ॥

श्रुतायुषि हते वीरे जलसन्धे च पौरवे।
श्रुतायुधे च नृपतौ नैवाशाम्यत वैशसम् ॥ २६ ॥

'श्रुतायु, वीर जलसन्ध पौरव तथा राजा श्रुतायुधके मारे जानेपर भी यह संहार बंद नहीं हुआ ॥ २६ ॥

भूरिश्रवसि शल्ये च शाल्वे चैव जनार्दन।
आवन्त्येषु च वीरेषु नैवाशाम्यत वैशसम् ॥ २७॥

'जनार्दन! भूरिश्रवा, शल्य, शाल्व तथा अवन्ति देशके वीर मारे गये तो भी यह युद्धकी ज्वाला शान्त न हो सकी ॥

जयद्रथे च निहते राक्षसे चाप्यलायुधे।
बाह्लिके सोमदत्ते च नैवाशाम्यत वैशसम् ॥ २८ ॥

'जयद्रथ, बाह्लिक, सोमदत्त तथा राक्षस अलायुध—ये सभी परलोकवासी हो गये तो भी यह युद्धकी प्यास न बुझ सकी॥

भगदत्ते हते शूरे काम्बोजे च सुदारुणे।
दुःशासने च निहते नैवाशाम्यत वैशसम् ॥ २९॥

'भगदत्त, शूरवीर काम्बोजराज सुदक्षिण तथा अत्यन्त दारुण दुःशासनके मारे जानेपर भी कौरवोंकी युद्ध-पिपासा शान्त नहीं हुई ॥ २९ ॥

दृष्ट्वा विनिहताञ्शूरान् पृथङ्माण्डलिकान् नृपान्।
बलिनश्च रणे कृष्ण नैवाशाम्यत वैशसम् ॥ ३०॥

'श्रीकृष्ण! विभिन्न मण्डलोंके स्वामी शूरवीर बलवान् नरेशोंको रणभूमिमें मारा गया देखकर भी यह युद्धकी आग बुझ न सकी॥ ३० ॥

अक्षौहिणीपतीन् दृष्ट्वा भीमसेननिपातितान्।
मोहाद् वा यदि वा लोभान्नैवाशाम्यत वैशसम्॥ ३१ ॥

'भीमसेनके द्वारा धराशायी किये गये अक्षौहिणीपतियोंको देखकर भी मोहवश अथवा लोभके कारण युद्ध बंद न हो सका ॥ ३१ ॥

को नु राजकुले जातः कौरवेयो विशेषतः।
निरर्थकं महद् वैरं कुर्यादन्यः सुयोधनात् ॥ ३२ ॥

'राजाके कुलमें उत्पन्न होकर विशेषतः कुरुकुलकी संतान होकर दुर्योधनके सिवा दूसरा कौन ऐसा है, जो व्यर्थ ही (अपने बन्धुओंके साथ) महान् वैर बाँधे ॥ ३२ ॥

गुणतोऽभ्यधिकाञ्ज्ञात्वा बलतः शौर्यतोऽपि वा।
अमूढः को नु युद्ध्येत जानन् प्राज्ञो हिताहितम्॥ ३३ ॥

'दूसरोंको गुणसे, बलसे अथवा शौर्यसे भी अपनी अपेक्षा महान् जानकर भी अपने हित और अहितको समझनेवाला मूढ़ताशून्य कौन ऐसा बुद्धिमान् पुरुष होगा? जो उनके साथ युद्ध करेगा ॥ ३३ ॥

यन्न तस्य मनो ह्यासीत् त्वयोक्तस्य हितं वचः।
प्रशमे पाण्डवैः सार्धं सोऽन्यस्य शृणुयात् कथम्॥३४॥

'आपके द्वारा हितकारक वचन कहे जानेपर भी जिसका पाण्डवोंके साथ संधि करनेका मन नहीं हुआ, वह दूसरेकी बात कैसे सुन सकता है? ॥ ३४ ॥

येन शान्तनवो वीरो द्रोणो विदुर एव च।
प्रत्याख्याताः शमस्यार्थे किं नु तस्याद्य भेषजम्॥ ३५ ॥

'जिसने संधिके विषयमें वीर शान्तनुनन्दन भीष्म, द्रोणाचार्य और विदुरजीकी भी बात माननेसे इन्कार कर दी, उसके लिये अब कौन-सी दवा है? ॥ ३५ ॥

मौर्ख्याद् येन पिता वृद्धः प्रत्याख्यातो जनार्दन।
तथा माता हितं वाक्यं भाषमाणा हितैषिणी ॥ ३६ ॥
प्रत्याख्याता ह्यसत्कृत्य स कस्मै रोचयेद् वचः।

'जनार्दन! जिसने मूर्खतावश अपने वृद्ध पिताकी भी बात नहीं मानी और हितकी बात बतानेवाली अपनी हितैषिणी माताका भी अपमान करके उसकी आज्ञा माननेसे इन्कार कर दिया, उसे दूसरे किसीकी बात क्यों रुचेगी? ॥ ३६½ ॥

कुलान्तकरणो व्यक्तं जात एष जनार्दन ॥ ३७ ॥
तथास्य दृश्यते चेष्टा नीतिश्चैव विशाम्पते।

'जनार्दन! निश्चय ही यह अपने कुलका विनाश करनेवाला पैदा हुआ है। प्रजानाथ! इसकी नीति और चेष्टा ऐसी ही दिखायी देती है ॥ ३७½ ॥

नैष दास्यति नो राज्यमिति मे मतिरच्युत ॥ ३८ ॥
उक्तोऽहं बहुशस्तात विदुरेण महात्मना।
न जीवन् दास्यते भागं धार्तराष्ट्रस्तु मानद ॥ ३९ ॥

'अच्युत! मैं समझता हूँ, यह अब भी हमें अपना राज्य नहीं देगा। तात! महात्मा विदुरने मुझसे अनेक बार कहा है कि 'मानद! दुर्योधन जीते-जी राज्यका भाग नहीं लौटायेगा ॥ ३८-३९ ॥

यावत् प्राणा धरिष्यन्ति धार्तराष्ट्रस्य दुर्मतेः ।
तावद् युष्मास्वपापेषु प्रचरिष्यति पापकम् ॥ ४० ॥

'दुर्बुद्धि दुर्योधनके प्राण जबतक शरीरमें स्थित रहेंगे, तबतक तुम निष्पाप बन्धुओंपर भी वह पापपूर्ण बर्ताव ही करता रहेगा ॥ ४० ॥

न च युक्तोऽन्यथा जेतुमृते युद्धेन माधव ।
इत्यब्रवीत् सदा मां हि विदुरः सत्यदर्शनः ॥ ४१ ॥

'माधव ! युद्धके सिवा और किसी उपायसे दुर्योधनको जीतना सम्भव नहीं है ।' यह बात सत्यदर्शी विदुरजी सदासे ही मुझसे कहते आ रहे हैं ॥ ४१ ॥

तत् सर्वमद्य जानामि व्यवसायं दुरात्मनः ।
यदुक्तं वचनं तेन विदुरेण महात्मना ॥ ४२ ॥

'महात्मा विदुरने जो बात कही है, उसके अनुसार मैं उस दुरात्माके सम्पूर्ण निश्चयको आज जानता हूँ ॥ ४२ ॥

यो हि श्रुत्वा वचः पथ्यं जामदग्न्याद् यथातथम्।
अवामन्यत दुर्बुद्धिर्ध्रुवं नाशमुखे स्थितः ॥ ४३ ॥

'जिस दुर्बुद्धिने यमदग्निनन्दन परशुरामजीके मुखसे यथार्थ एवं हितकारक वचन सुनकर भी उसकी अवहेलना कर दी, वह निश्चय ही विनाशके मुखमें स्थित है ॥ ४३ ॥

उक्तं हि बहुशः सिद्धैर्जातमात्रे सुयोधने ।
एनं प्राप्य दुरात्मानं क्षयं क्षत्रं गमिष्यति ॥ ४४ ॥

'दुर्योधनके जन्म लेते ही सिद्ध पुरुषोंने बारंबार कहा था कि 'इस दुरात्माको पाकर क्षत्रियजातिका विनाश हो जायगा'॥

तदिदं वचनं तेषां निरुक्तं वै जनार्दन ।
क्षयं याता हि राजानो दुर्योधनकृते भृशम् ॥ ४५ ॥

'जनार्दन ! उनकी वह बात यथार्थ हो गयी; क्योंकि दुर्योधनके कारण बहुत-से राजा नष्ट हो गये ॥ ४५ ॥

सोऽद्य सर्वान् रणे योधान् निहनिष्यामि माधव ।
क्षत्रियेषु हतेष्वाशु शून्ये च शिविरे कृते ॥ ४६ ॥
वधाय चात्मनोऽस्माभिः संयुगं रोचयिष्यति ।
तदन्तं हि भवेद् वैरमनुमानेन माधव ॥ ४७ ॥

'माधव ! आज मैं रणभूमिमें शत्रुपक्षके समस्त योद्धाओं-को मार गिराऊँगा । इन क्षत्रियोंका शीघ्र ही संहार हो जाने-पर जब सारा शिविर सूना हो जायगा, तब वह अपने वधके लिये हमलोगोंके साथ जूझना पसंद करेगा । माधव ! मेरे अनुमानसे उसका वध होनेपर ही इस वैरका अन्त होगा ॥

एवं पश्यामि वार्ष्णेय चिन्तयन् प्रज्ञया स्वया ।
विदुरस्य च वाक्येन चेष्टया च दुरात्मनः ॥ ४८ ॥

'वृष्णिनन्दन ! मैं अपनी बुद्धिसे, विदुरजीके वाक्यसे और दुरात्मा दुर्योधनकी चेष्टासे भी सोच-विचारकर ऐसा ही होता देखता हूँ ॥ ४८ ॥

तस्माद् याहि चमूं वीर यावद्धन्मि शितैः शरैः ।
दुर्योधनं महाबाहो वाहिनीं चास्य संयुगे ॥ ४९ ॥

'अतः वीर ! महाबाहो ! आप कौरव-सेनाकी ओर चलिये, जिससे मैं पैने बाणोंद्वारा युद्धस्थलमें दुर्योधन और उसकी सेनाका संहार करूँ ॥ ४९ ॥

क्षेममद्य करिष्यामि धर्मराजस्य माधव ।
हत्वैतद् दुर्बलं सैन्यं धार्तराष्ट्रस्य पश्यतः ॥ ५० ॥

'माधव ! आज मैं दुर्योधनके देखते-देखते इस दुर्बल सेनाका नाश करके धर्मराजका कल्याण करूँगा' ॥ ५० ॥

संजय उवाच

अभीषुहस्तो दाशार्हस्तथोक्तः सव्यसाचिना ।
तद् बलौघममित्राणामभीतः प्राविशद् बलात् ॥ ५१ ॥

संजय कहते हैं—राजन् ! सव्यसाची अर्जुनके ऐसा कहने-पर घोड़ोंकी बागडोर हाथमें लिये दशार्हकुलनन्दन श्रीकृष्णने निर्भय हो शत्रुओंके उस सैन्य-सागरमें बलपूर्वक प्रवेश किया॥ ५१ ॥

कुन्तखड्गशरैर्घोरं शक्तिकण्टकसंकुलम् ।
गदापरिघपन्थानं रथनागमहाद्रुमम् ॥ ५२ ॥
हयपत्तिलताकीर्णं गाहमानो महायशाः ।
व्यचरत्तत्र गोविन्दो रथेनातिपताकिना ॥ ५३ ॥

वह सेना एक वनके समान थी । वह वन कुन्त, खड्ग और बाणोंसे अत्यन्त भयंकर प्रतीत होता था, शक्तिरूपी काँटोंसे भरा हुआ था, गदा और परिघ उसमें जानेके मार्ग थे, रथ और हाथी उसमें रहनेवाले बड़े-बड़े वृक्ष थे, घोड़े और पैदलरूपी लताओंसे वह व्याप्त हो रहा था, महायशस्वी भगवान् श्रीकृष्ण ऊँची पताकावाले रथके द्वारा उस सैन्य-वनमें प्रवेश करके सब ओर विचरने लगे ॥ ५२-५३ ॥

ते हयाः पाण्डुरा राजन् वहन्तोऽर्जुनमाहवे ।
दिक्षु सर्वास्वदृश्यन्त दाशार्हेण प्रचोदिताः ॥ ५४ ॥

राजन् ! श्रीकृष्णके द्वारा हाँके गये वे सफेद घोड़े युद्ध-स्थलमें अर्जुनको ढोते हुए सम्पूर्ण दिशाओंमें दिखायी पड़ते थे ॥

ततः प्रायाद् रथेनाजौ सव्यसाची परंतपः ।
किरञ्शरशतांस्तीक्ष्णान् वारिधारा घनो यथा॥ ५५ ॥
प्रादुरासीन्महाञ्शब्दः शराणां नतपर्वणाम् ।

फिर तो जैसे बादल पानीकी धारा बरसाता है, उसी प्रकार शत्रुओंको संताप देनेवाले अर्जुन युद्धस्थलमें सैकड़ों पैने बाणोंकी वर्षा करते हुए रथके द्वारा आगे बढ़े । उस समय झुकी हुई गाँठवाले बाणोंका महान् शब्द प्रकट होने लगा ॥

इषुभिश्छाद्यमानानां समरे सव्यसाचिना ॥ ५६ ॥
असज्जन्तस्तनुत्रेषु शरौघाः प्रापतन् भुवि ।

सव्यसाची अर्जुनद्वारा समरभूमिमें बाणोंसे आच्छादित होनेवाले सैनिकोंके कवचोंपर उनके बाण अटकते नहीं थे । वे चोट करके पृथ्वीपर गिर जाते थे ॥ ५६½ ॥

इन्द्राशनिसमस्पर्शा गाण्डीवप्रेषिताः शराः ॥ ५७ ॥
नरान् नागान् समाहत्य हयांश्चापि विशाम्पते ।
अपतन्त रणे बाणाः पतङ्गा इव घोषिणः ॥ ५८ ॥

प्रजानाथ ! इन्द्रके वज्रकी भाँति कठोर स्पर्शवाले बाण गाण्डीवसे प्रेरित हो मनुष्यों, घोड़ों और हाथियोंका भी संहार करके शब्द करनेवाले टिड्डीदलोंके समान रणभूमिमें गिर पड़ते थे॥

आसीत् सर्वमवच्छन्नं गाण्डीवप्रेषितैः शरैः ।
न प्राज्ञायन्त समरे दिशो वा प्रदिशोऽपि वा ॥ ५९ ॥

गाण्डीव धनुषसे छूटे हुए बाणोंद्वारा उस रणभूमिकी सारी वस्तुएँ आच्छादित हो गयी थीं। दिशाओं अथवा विदिशाओंका भी ज्ञान नहीं हो पाता था ॥ ५९ ॥

सर्वमासीज्जगत् पूर्णं पार्थनामाङ्कितैः शरैः।
रुक्मपुङ्खैस्तैलधौतैः कर्मारपरिमार्जितैः ॥ ६० ॥

अर्जुनके नामसे अंकित, तेलके धोये और कारीगरके साफ किये सुवर्णमय पंखवाले बाणोंद्वारा वहाँका सारा जगत् व्याप्त हो रहा था ॥ ६० ॥

ते दह्यमानाः पार्थेन पावकेनेव कुञ्जराः।
पार्थं न प्रजहुर्घोरा वध्यमानाः शितैः शरैः ॥ ६१ ॥

दावानलके आगसे जलनेवाले हाथियोंके समान पार्थके पैने बाणोंकी मार खाकर दग्ध होते हुए वे घोर कौरव-योद्धा अर्जुनको छोड़कर हटते नहीं थे ॥ ६१ ॥

शरचापधरः पार्थः प्रज्वलन्निव भास्करः।
ददाह समरे योधान् कक्षमग्निरिव ज्वलन् ॥ ६२ ॥

जैसे जलती हुई आग घास-फूसके ढेरको जला देती है, उसी प्रकार सूर्यके समान प्रकाशित होनेवाले धनुष-बाणधारी अर्जुनने समराङ्गणमें आपके योद्धाओंको दग्ध कर दिया ॥

यथा वनान्ते वनपैर्विसृष्टः
कक्षं दहेत् कृष्णगतिः सुघोषः।
भूरिद्रुमं शुष्कलतावितानं
भृशं समृद्धो ज्वलनः प्रतापी ॥ ६३ ॥
एवं स नाराचगणप्रतापी
शरार्चिरुच्चावचतिग्मतेजाः।
ददाह सर्वां तव पुत्रसेना-
ममृष्यमाणस्तरसा तरस्वी ॥ ६४ ॥

जैसे वनचरोंद्वारा वनके भीतर लगायी हुई आग धीरे-धीरे बढ़कर प्रज्वलित एवं महान् तापसे युक्त हो घास-फूसके ढेरको, बहुसंख्यक वृक्षोंको और सूखी हुई लतावल्लरियोंको भी जलाकर भस्म कर देती है, उसी प्रकार नाराचसमूहोंद्वारा ताप देनेवाले, बाणरूपी ज्वालाओंसे युक्त, वेगवान्, प्रचण्ड तेजस्वी और अमर्षमें भरे हुए अर्जुनने समराङ्गणमें आपके पुत्रकी सारी रथसेनाको शीघ्रतापूर्वक भस्म कर डाला।६३-६४।

तस्येषवः प्राणहराः सुमुक्ता
नासज्जन् वै वर्मसु रुक्मपुङ्खाः।
न च द्वितीयं प्रमुमोच बाणं
नरे हये वा परमद्विपे वा ॥ ६५ ॥

उनके अच्छी तरह छोड़े हुए सुवर्णमय पंखवाले प्राणान्तकारी बाण कवचोंपर नहीं अटकते थे। उन्हें छेदकर भीतर घुस जाते थे। वे मनुष्य, घोड़े अथवा विशालकाय हाथीपर भी दूसरा बाण नहीं छोड़ते थे (एक ही बाणसे उसका काम तमाम कर देते थे) ॥ ६५ ॥

अनेकरूपाकृतिभिर्हि बाणै-
र्महारथानीकमनुप्रविश्य।
स एवैकस्तव पुत्रस्य सेनां
जघान दैत्यानिव वज्रपाणिः ॥ ६६ ॥

जैसे वज्रधारी इन्द्र दैत्योंका संहार कर डालते हैं, उसी प्रकार एकमात्र अर्जुनने ही रथियोंकी विशाल सेनामें प्रवेश करके अनेक रूप-रंगवाले बाणोंद्वारा आपके पुत्रकी सेनाका विनाश कर दिया ॥ ६६ ॥

इति श्रीमहाभारते शल्यपर्वणि संकुलयुद्धे चतुर्विंशोऽध्यायः ॥ २४ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शल्यपर्वमें संकुलयुद्धविषयक चौबीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २४ ॥

पञ्चविंशोऽध्यायः

अर्जुन और भीमसेनद्वारा कौरवोंकी रथसेना एवं गजसेनाका संहार, अश्वत्थामा आदिके द्वारा दुर्योधनकी खोज, कौरवसेनाका पलायन तथा सात्यकिद्वारा संजयका पकड़ा जाना

संजय उवाच

पश्यतां यतमानानां शूराणामनिवर्तिनाम्।
संकल्पमकरोन्मोघं गाण्डीवेन धनंजयः ॥ १ ॥

संजय कहते हैं—महाराज! यद्यपि कौरवयोद्धा युद्धसे पीछे न हटनेवाले शूरवीर थे और विजयके लिये पूरा प्रयत्न कर रहे थे तो भी उनके देखते-देखते अर्जुनने गाण्डीव धनुषसे उनके संकल्पको व्यर्थ कर दिया ॥ १ ॥

इन्द्राशनिसमस्पर्शानविषह्यान् महौजसः।
विसृजन् दृश्यते बाणान् धारा मुञ्चन्निवाम्बुदः ॥ २ ॥

जैसे बादल पानीकी धारा गिराता है, उसी प्रकार वे बाणोंकी वर्षा करते दिखायी देते थे। उन बाणोंका स्पर्श इन्द्रके वज्रकी भाँति कठोर था। वे बाण असह्य एवं महान् शक्तिशाली थे ॥ २ ॥

तत् सैन्यं भरतश्रेष्ठ वध्यमानं किरीटिना।
सम्प्रदुद्राव संग्रामात् तव पुत्रस्य पश्यतः ॥ ३ ॥

भरतश्रेष्ठ! किरीटधारी अर्जुनकी मार खाकर वह बची हुई सेना आपके पुत्रके देखते-देखते रणभूमिसे भाग चली ॥

पितॄन् भ्रातॄन् परित्यज्य वयस्यानपि चापरे।
हतधुर्या रथाः केचिद्धतसूतास्तथा परे ॥ ४ ॥

कुछ लोग अपने पिता और भाइयोंको छोड़कर भागे तो दूसरे लोग मित्रोंको। कितने ही रथोंके घोड़े मारे गये थे और कितनोंके सारथि ॥ ४ ॥

भग्नाक्षयुगचक्रेषाः केचिदासन् विशाम्पते।
अन्येषां सायकाः क्षीणास्तथान्ये बाणपीडिताः ॥ ५ ॥

प्रजानाथ! किन्हींके रथोंके जूए, धुरे, पहिये और हरसे भी टूट गये थे, दूसरे योद्धाओंके बाण नष्ट हो गये और अन्य योद्धा अर्जुनके बाणोंसे पीड़ित हो गये थे ॥ ५ ॥

सहसा युगपत् केचित् प्राद्रवन् भयपीडिताः ।
केचित् पुत्रानुपादाय हतभूयिष्ठबान्धवाः ॥ ६ ॥

कुछ लोग आहत न होनेपर भी भयसे पीड़ित हो एक साथ ही भागने लगे और कुछ लोग अधिकांश बन्धु-बान्धवों-के मारे जानेपर पुत्रोंको साथ लेकर भागे ॥ ६ ॥

विचुक्रुशुः पितॄंस्त्वन्ये सहायानपरे पुनः ।
बान्धवांश्च नरव्याघ्र भ्रातॄन् सम्बन्धिनस्तथा ॥ ७ ॥
दुद्रुवुः केचिदुत्सृज्य तत्र तत्र विशाम्पते ।
बहवोऽत्र भृशं विद्धा मुह्यमाना महारथाः ॥ ८ ॥

नरव्याघ्र ! कोई पिताको पुकारते थे, कोई सहायकोंको । प्रजानाथ ! कुछ लोग अपने भाई-बन्धुओं और सगे-सम्बन्धियों-को जहाँ-के-तहाँ छोड़कर भाग गये । बहुत-से महारथी पार्थके बाणोंसे अत्यन्त घायल हो मूर्च्छित हो रहे थे ॥७-८॥

निःश्वसन्ति स्म दृश्यन्ते पार्थबाणहता नराः ।
तानन्ये रथमारोप्य ह्याश्वास्य च मुहूर्तकम् ॥ ९ ॥
विश्रान्ताश्च वितृष्णाश्च पुनर्युद्धाय जग्मिरे ।

अर्जुनके बाणोंसे आहत हो कितने ही मनुष्य रणभूमिमें ही पड़े-पड़े उच्छ्वास लेते दिखायी देते थे । उन्हें दूसरे लोग अपने रथपर बिठाकर घड़ी-दो-घड़ी आश्वासन दे स्वयं भी विश्राम करके प्यास बुझाकर पुनः युद्धके लिये जाते थे ॥

तानपास्य गताः केचित् पुनरेव युयुत्सवः ॥ १० ॥
कुर्वन्तस्तव पुत्रस्य शासनं युद्धदुर्मदाः ।

रणभूमिमें उन्मत्त होकर लड़नेवाले कितने ही युद्धा-भिलाषी योद्धा उन घायलोंको वैसे ही छोड़कर आपके पुत्रकी आज्ञाका पालन करते हुए पुनः युद्धके लिये चल देते थे ॥ १०½ ॥

पानीयमपरे पीत्वा पर्याश्वास्य च वाहनम् ॥ ११ ॥
वर्माणि च समारोप्य केचिद् भरतसत्तम ।
समाश्वास्यापरे भ्रातॄन् निक्षिप्य शिबिरेऽपि च ॥ १२ ॥
पुत्रानन्ये पितॄनन्ये पुनर्युद्धमरोचयन् ।

भरतश्रेष्ठ ! दूसरे लोग स्वयं पानी पीकर घोड़ोंकी भी थकावट दूर करते । उसके बाद कवच धारण करके लड़नेके लिये जाते थे । अन्य बहुत-से सैनिक अपने घायल बन्धुओं, पुत्रों और पिताओंको आश्वासन दे उन्हें शिबिरमें रख आते । उसके बाद युद्धमें मन लगाते थे ॥ ११-१२½ ॥

सज्जयित्वा रथान् केचिद् यथामुख्यं विशाम्पते ॥ १३ ॥
आप्लुत्य पाण्डवानीकं पुनर्युद्धमरोचयन् ।

प्रजानाथ ! कुछ लोग अपने रथको रणसामग्रीसे सुसज्जित करके पाण्डव-सेनापर चढ़ आते और अपनी प्रधानताके अनुसार किसी श्रेष्ठ वीरके साथ जूझना पसंद करते थे ॥

ते शूराः किङ्किणीजालैः समाच्छन्ना बभासिरे ॥ १४ ॥
त्रैलोक्यविजये युक्ता यथा दैतेयदानवाः ।

वे शूरवीर कौरव-सैनिक रथमें लगे हुए किंकिणीसमूहसे आच्छादित हो तीनों लोकोंपर विजय पानेके लिये उद्यत हुए दैत्यों और दानवोंके समान सुशोभित होते थे ॥ १४½ ॥

आगम्य सहसा केचिद् रथैः स्वर्णविभूषितैः ॥ १५ ॥
पाण्डवानामनीकेषु धृष्टद्युम्नमयोधयन् ।

कुछ लोग अपने सुवर्णभूषित रथोंके द्वारा सहसा आकर पाण्डवसेनाओंमें धृष्टद्युम्नके साथ युद्ध करने लगे ॥ १५½ ॥

धृष्टद्युम्नोऽपि पाञ्चाल्यः शिखण्डी च महारथः ॥ १६ ॥
नाकुलिस्तु शतानीको रथानीकमयोधयन् ।

पाञ्चालराजपुत्र धृष्टद्युम्न, महारथी शिखण्डी और नकुलपुत्र शतानीक—ये आपकी रथसेनाके साथ युद्ध कर रहे थे ॥ १६½ ॥

पाञ्चाल्यस्तु ततः क्रुद्धः सैन्येन महताऽऽवृतः ॥ १७ ॥
अभ्यद्रवत् सुसंक्रुद्धस्तावकान् हन्तुमुद्यतः ।

तदनन्तर आपके सैनिकोंका वध करनेके लिये उद्यत हो विशाल सेनासे घिरे हुए धृष्टद्युम्नने अत्यन्त क्रोधपूर्वक आक्रमण किया ॥ १७½ ॥

ततस्त्वापततस्तस्य तव पुत्रो जनाधिप ॥ १८ ॥
बाणसंघाननेकान् वै प्रेषयामास भारत ।

नरेश्वर ! भरतनन्दन ! उस समय आपके पुत्रने आक्रमण करनेवाले धृष्टद्युम्नपर बहुत-से बाणसमूहोंका प्रहार किया ॥

धृष्टद्युम्नस्ततो राजंस्तव पुत्रेण धन्विना ॥ १९ ॥
नाराचैरर्धनाराचैर्बहुभिः क्षिप्रकारिभिः ।
वत्सदन्तैश्च बाणैश्च कर्मारपरिमार्जितैः ॥ २० ॥
अश्वांश्च चतुरो हत्वा बाह्वोरुरसि चार्पितः ।

राजन् ! आपके धनुर्धर पुत्रने बहुत-से नाराच, अर्ध-नाराच, शीघ्रकारी वत्सदन्त और कारीगरद्वारा साफ किये हुए बाणोंसे धृष्टद्युम्नके चारों घोड़ोंको मारकर उनकी दोनों भुजाओं और छातीमें भी चोट पहुँचायी ॥ १९-२०½ ॥

सोऽतिविद्धो महेष्वासस्तोत्रार्दित इव द्विपः ॥ २१ ॥
तस्याश्वांश्चतुरो बाणैः प्रेषयामास मृत्यवे ।
सारथेश्चास्य भल्लेन शिरः कायादपाहरत् ॥ २२ ॥

दुर्योधनके प्रहारसे अत्यन्त घायल हुए महाधनुर्धर धृष्टद्युम्न अङ्कुशसे पीड़ित हुए हाथीके समान कुपित हो उठे और उन्होंने अपने बाणोंद्वारा उसके चारों घोड़ोंको मौतके हवाले कर दिया तथा एक भल्लसे उसके सारथिका भी सिर धड़से काट लिया ॥ २१-२२ ॥

ततो दुर्योधनो राजा पृष्ठमारुह्य वाजिनः ।
अपाक्रामद्धतरथो नातिदूरमरिंदमः ॥ २३ ॥

इस प्रकार रथके नष्ट हो जानेपर शत्रुदमन राजा दुर्योधन एक घोड़ेकी पीठपर सवार हो वहाँसे कुछ दूर हट गया ॥

दृष्ट्वा तु हतविक्रान्तं स्वमनीकं महाबलः ।
तव पुत्रो महाराज प्रययौ यत्र सौबलः ॥ २४ ॥

महाराज ! अपनी सेनाका पराक्रम नष्ट हुआ देख आपका महाबली पुत्र दुर्योधन वहीं चला गया, जहाँ सुबलपुत्र शकुनि खड़ा था ॥ २४ ॥

ततो रथेषु भग्नेषु त्रिसाहस्रा महाद्विपाः ।
पाण्डवान् रथिनः सर्वान् समन्तात् पर्यवारयन् ॥ २५ ॥

रथसेनाके भंग हो जानेपर तीन हजार विशालकाय गज-

राजोंने समस्त पाण्डवरथियोंको चारों ओरसे घेर लिया ॥

ते वृताः समरे पञ्च गजानीकेन भारत।
अशोभन्त महाराज ग्रहा व्याप्ता घनैरिव ॥ २६ ॥

भरतनन्दन ! महाराज ! समराङ्गणमें गजसेनासे घिरे हुए पाँचों पाण्डव मेघोंसे आवृत हुए पाँच ग्रहोंके समान शोभा पाते थे ॥ २६ ॥

ततोऽर्जुनो महाराज लब्धलक्ष्यो महाभुजः।
विनिर्ययौ रथेनैव श्वेताश्वः कृष्णसारथिः ॥ २७ ॥

राजेन्द्र ! तब भगवान् श्रीकृष्ण जिनके सारथि हैं, वे श्वेतवाहन महाबाहु अर्जुन अपने बाणोंका लक्ष्य पाकर रथके द्वारा आगे बढ़े ॥ २७ ॥

तैः समन्तात् परिवृतः कुञ्जरैः पर्वतोपमैः।
नाराचैर्विमलैस्तीक्ष्णैर्गजानीकमयोधयत् ॥ २८ ॥

उन्हें चारों ओरसे पर्वताकार हाथियोंने घेर रक्खा था। वे तीखी धारवाले निर्मल नाराचोंद्वारा उस गजसेनाके साथ युद्ध करने लगे ॥ २८ ॥

तत्रैकबाणनिहतानपश्याम महागजान्।
पतितान् पात्यमानांश्च निर्भिन्नान् सव्यसाचिना॥ २९ ॥

वहाँ हमने देखा कि सव्यसाची अर्जुनके एक ही बाणकी चोट खाकर बड़े-बड़े हाथियोंके शरीर विदीर्ण होकर गिर गये हैं और लगातार गिराये जा रहे हैं ॥ २९ ॥

भीमसेनस्तु तान् दृष्ट्वा नागान् मत्तगजोपमः।
करेणादाय महतीं गदामभ्यपतद् बली ॥ ३० ॥
अथाप्लुत्य रथात् तूर्णं दण्डपाणिरिवान्तकः।

मतवाले हाथीके समान पराक्रमी बलवान् भीमसेन उन गजराजोंको आते देख तुरंत ही रथसे कूदकर हाथमें विशाल गदा लिये दण्डधारी यमराजके समान उनपर टूट पड़े ।३०½।

तमुद्यतगदं दृष्ट्वा पाण्डवानां महारथम् ॥ ३१ ॥
वित्रेसुस्तावकाः सैन्याः शकृन्मूत्रं च सुस्रुवुः।

पाण्डव महारथी भीमसेनको गदा उठाये देख आपके सैनिक भयसे थर्रा उठे और मल-मूत्र करने लगे ॥ ३१½ ॥

आविग्नं च बलं सर्वं गदाहस्ते वृकोदरे ॥ ३२ ॥
गदया भीमसेनेन भिन्नकुम्भान् रजस्वलान्।
धावमानानपश्याम कुञ्जरान् पर्वतोपमान् ॥ ३३ ॥

भीमसेनके गदा हाथमें लेते ही सारी कौरवसेना उद्विग्न हो उठी। हमने देखा, भीमसेनकी गदासे उन धूलिधूसर पर्वताकार हाथियोंके कुम्भस्थल फट गये हैं और वे इधर-उधर भाग रहे हैं ॥ ३२-३३ ॥

प्राद्रवन् कुञ्जरास्ते तु भीमसेनगदाहताः।
पेतुरार्तस्वरं कृत्वा छिन्नपक्षा इवाद्रयः ॥ ३४ ॥

भीमसेनकी गदासे घायल हो वे हाथी भाग चले और आर्तनाद करके पंख कटे हुए पर्वतोंके समान पृथ्वीपर गिर पड़े ॥ ३४ ॥

प्रभिन्नकुम्भांस्तु बहून् द्रवमाणानितस्ततः।
पतमानांश्च सम्प्रेक्ष्य वित्रेसुस्तव सैनिकाः ॥ ३५ ॥

कुम्भस्थल फट जानेके कारण इधर-उधर भागते और गिरते हुए बहुत-से हाथियोंको देखकर आपके सैनिक संत्रस्त हो उठे ॥ ३५ ॥

युधिष्ठिरोऽपि संक्रुद्धो माद्रीपुत्रौ च पाण्डवौ।
गार्ध्रपत्रैः शितैर्बाणैर्निन्युर्वै यमसादनम् ॥ ३६ ॥

युधिष्ठिर तथा माद्रीकुमार पाण्डुपुत्र नकुल-सहदेव भी अत्यन्त कुपित हो गीधकी पाँखोंसे युक्त पैने बाणोंद्वारा उन हाथियोंको यमलोक भेजने लगे ॥ ३६ ॥

धृष्टद्युम्नस्तु समरे पराजित्य नराधिपम्।
अपक्रान्ते तव सुते हयपृष्ठं समाश्रिते ॥ ३७ ॥
दृष्ट्वा च पाण्डवान् सर्वान् कुञ्जरैः परिवारितान्।
धृष्टद्युम्नो महाराज सहसा समुपाद्रवत् ॥ ३८ ॥
पुत्रः पाञ्चालराजस्य जिघांसुः कुञ्जरान् ययौ।

उधर धृष्टद्युम्नने समराङ्गणमें राजा दुर्योधनको पराजित कर दिया था। महाराज ! जब आपका पुत्र घोड़ेकी पीठपर सवार हो वहाँसे भाग गया, तब समस्त पाण्डवोंको हाथियोंसे घिरा हुआ देखकर धृष्टद्युम्नने सहसा उस गजसेनापर धावा किया। पाञ्चालराजके पुत्र धृष्टद्युम्न उन हाथियोंको मार डालनेके लिये वहाँसे चल दिये ॥ ३७-३८½ ॥

अदृष्ट्वा तु रथानीके दुर्योधनमरिंदमम् ॥ ३९ ॥
अश्वत्थामा कृपश्चैव कृतवर्मा च सात्वतः।
अपृच्छन् क्षत्रियांस्तत्र क्व नु दुर्योधनो गतः ॥ ४० ॥

इधर रथसेनामें शत्रुदमन दुर्योधनको न देखकर अश्वत्थामा, कृपाचार्य और सात्वतवंशी कृतवर्माने समस्त क्षत्रियोंसे पूछा—'राजा दुर्योधन कहाँ चले गये ? ॥३९-४०॥

तेऽपश्यमाना राजानं वर्तमाने जनक्षये।
मन्वाना निहतं तत्र तव पुत्रं महारथाः ॥ ४१ ॥
विवर्णवदना भूत्वा पर्यपृच्छन्त ते सुतम्।

वर्तमान जनसंहारमें राजाको न देखकर वे महारथी आपके पुत्रको मारा गया मान बैठे और मुँह उदास करके सबसे आपके पुत्रका पता पूछने लगे ॥ ४१½ ॥

आहुः केचिद्धते सूते प्रयातो यत्र सौबलः ॥ ४२ ॥
हित्वा पाञ्चालराजस्य तदनीकं दुरुत्सहम्।

कुछ लोगोंने कहा—'सारथिके मारे जानेपर पाञ्चालराजकी उस दुःसह सेनाको त्यागकर राजा दुर्योधन वहीं गये हैं, जहाँ शकुनि हैं' ॥ ४२½ ॥

अपरे त्वब्रुवंस्तत्र क्षत्रिया भृशविक्षताः ॥ ४३ ॥
दुर्योधनेन किं कार्यं द्रक्ष्यध्वं यदि जीवति।
युद्ध्यध्वं सहिताः सर्वे किं वो राजा करिष्यति ॥ ४४ ॥

दूसरे अत्यन्त घायल हुए क्षत्रिय वहाँ इस प्रकार कहने लगे—'अरे ! दुर्योधनसे यहाँ क्या काम है ? यदि वे जीवित होंगे तो तुम सब लोग उन्हें देख ही लोगे। इस समय तो सब लोग एक साथ होकर केवल युद्ध करो। राजा तुम्हारी क्या (सहायता) करेंगे' ॥ ४३-४४ ॥

ते क्षत्रियाः क्षतैर्गात्रैर्हतभूयिष्ठवाहनाः।

शरैः सम्प्रीड्यमानास्तु नातिव्यक्तमथाब्रुवन् ॥ ४५ ॥
यद्वै सर्वं बलं हन्मो येन स्म परिवारिताः ।
एते सर्वे गजान् हत्वा उपयान्ति स्म पाण्डवाः ॥ ४६ ॥

जहाँ जो अधिक युद्ध कर रहे थे, उनके अधिकांश वाहन नष्ट हो गये थे। शरीर क्षत-विक्षत हो रहे थे। वे बाणोंसे पीड़ित होकर कुछ अस्पष्ट वाणीमें बोले—'हमलोग जिससे घिरे हैं, इस सारी सेनाको मार डालें। ये सारे पाण्डव गज-सेनाका संहार करके हमारे समीप चले आ रहे हैं' ॥४५-४६॥

श्रुत्वा तु वचनं तेषामश्वत्थामा महाबलः ।
भित्त्वा पाञ्चालराजस्य तदनीकं दुरुत्सहम् ॥ ४७ ॥
कृपश्च कृतवर्मा च प्रययौ यत्र सौबलः ।
रथानीकं परित्यज्य शूराः सुदृढधन्विनः ॥ ४८ ॥

उनकी बात सुनकर महाबली अश्वत्थामा, कृपाचार्य और कृतवर्मा—ये सभी दृढ़ धनुर्धर शूरवीर पाञ्चालराजकी उस दुःसह सेनाका व्यूह तोड़कर, रथसेनाका परित्याग करके जहाँ शकुनि था, वहीं जा पहुँचे ॥ ४७-४८ ॥

ततस्तेषु प्रयातेषु धृष्टद्युम्नपुरस्कृताः ।
आययुः पाण्डवा राजन् विनिघ्नन्तः स्म तावकम् ॥ ४९ ॥

राजन्! उन सबके आगे बढ़ जानेपर धृष्टद्युम्न आदि पाण्डव आपकी सेनाका संहार करते हुए वहाँ आ पहुँचे ॥

दृष्ट्वा तु तानापततः सम्प्रहृष्टान् महारथान् ।
पराक्रान्तास्ततो वीरा निराशा जीविते तदा ॥ ५० ॥

हर्ष और उत्साहमें भरे हुए उन महारथियोंको आक्रमण करते देख आपके पराक्रमी वीर उस समय जीवनसे निराश हो गये ॥ ५० ॥

विवर्णमुखभूयिष्ठमभवत् तावकं बलम् ।
परिक्षीणायुधान् दृष्ट्वा तानहं परिवारितान् ॥ ५१ ॥
राजन् बलेन द्व्यङ्गेन त्यक्त्वा जीवितमात्मनः ।
आत्मना पञ्चमोऽयुद्ध्यं पाञ्चालस्य बलेन ह ॥ ५२ ॥

आपकी सेनाके अधिकांश योद्धाओंका मुख उदास हो गया। उन सबके आयुध नष्ट हो गये थे और वे चारों ओरसे घिर गये थे। राजन्! उन सबकी वैसी अवस्था देख मैं जीवनका मोह छोड़कर अन्य चार महारथियोंको साथ ले हाथी और घोड़े दो अङ्गोंवाली सेनासे मिलकर धृष्टद्युम्नकी सेनाके साथ युद्ध करने लगा ॥ ५१-५२ ॥

तस्मिन् देशे व्यवस्थाय यत्र शारद्वतः स्थितः ।
सम्प्रद्रुता वयं पञ्च किरीटिशरपीडिताः ॥ ५३ ॥
धृष्टद्युम्नं महारौद्रं तत्र नोऽभूद् रणो महान् ।
जितास्तेन वयं सर्वे व्यपयाम रणात् ततः ॥ ५४ ॥

मैं उसी स्थानमें स्थित होकर युद्ध कर रहा था, जहाँ कृपाचार्य मौजूद थे; परंतु किरीटधारी अर्जुनके बाणोंसे पीड़ित होकर हम पाँचों वहाँसे भागकर महाभयंकर धृष्टद्युम्नके पास जा पहुँचे। वहाँ उनके साथ हमलोगोंका बड़ा भारी युद्ध हुआ। उन्होंने हम सबको परास्त कर दिया। तब हम वहाँसे भी भाग निकले ॥ ५३-५४ ॥

अथापश्यं सात्यकिं तमुपायान्तं महारथम् ।
रथैश्चतुःशतैर्वीरो मामभ्यद्रवदाहवे ॥ ५५ ॥

इतनेहीमें मैंने महारथी सात्यकिको अपने पास आते देखा। वीर सात्यकिने युद्धस्थलमें चार सौ रथियोंके साथ मुझपर धावा किया ॥ ५५ ॥

धृष्टद्युम्नादहं मुक्तः कथंचिच्छ्रान्तवाहनात् ।
पतितो माधवानीकं दुष्कृती नरकं यथा ॥ ५६ ॥

थके हुए वाहनोंवाले धृष्टद्युम्नसे किसी प्रकार छूटा तो मैं सात्यकिकी सेनामें आ फँसा; जैसे कोई पापी नरकमें गिर गया हो ॥ ५६ ॥

तत्र युद्धमभूद् घोरं मुहूर्तमतिदारुणम् ।
सात्यकिस्तु महाबाहुर्मम हत्वा परिच्छदम् ॥ ५७ ॥
जीवग्राहमगृह्णान्मां मूर्छितं पतितं भुवि ।

वहाँ दो घड़ीतक बड़ा भयंकर एवं घोर युद्ध हुआ। महाबाहु सात्यकिने मेरी सारी युद्धसामग्री नष्ट कर दी और जब मैं मूर्च्छित होकर पृथ्वीपर गिर पड़ा, तब मुझे जीवित ही पकड़ लिया ॥ ५७½ ॥

ततो मुहूर्तादिव तद् गजानीकमवध्यत ॥ ५८ ॥
गदया भीमसेनेन नाराचैरर्जुनेन च ।

तदनन्तर दो ही घड़ीमें भीमसेनने गदासे और अर्जुनने नाराचोंसे उस गजसेनाका संहार कर डाला ॥ ५८½ ॥

अभिपिष्टैर्महानागैः समन्तात् पर्वतोपमैः ॥ ५९ ॥
नातिप्रसिद्धेव गतिः पाण्डवानामजायत ।

चारों ओर पर्वताकार विशालकाय हाथी पड़े थे, जो भीमसेन और अर्जुनके आघातोंसे पिस गये थे। उनके कारण पाण्डवोंका आगे बढ़ना अत्यन्त दुष्कर हो गया था ॥५९½॥

रथमार्गं ततश्चक्रे भीमसेनो महाबलः ॥ ६० ॥
पाण्डवानां महाराज व्यपाकर्षन्महागजान् ।

महाराज! तब महाबली भीमसेनने बड़े-बड़े हाथियोंको खींचकर हटाया और पाण्डवोंके लिये रथ जानेका मार्ग बनाया ॥

अश्वत्थामा कृपश्चैव कृतवर्मा च सात्वतः ॥ ६१ ॥
अपश्यन्तो रथानीके दुर्योधनमरिंदमम् ।
राजानं मृगयामासुस्तव पुत्रं महारथम् ॥ ६२ ॥

इधर अश्वत्थामा, कृपाचार्य और सात्वतवंशी कृतवर्मा—ये रथसेनामें आपके महारथी पुत्र शत्रुदमन राजा दुर्योधनको न देखकर उसकी खोज करने लगे ॥ ६१-६२ ॥

परित्यज्य च पाञ्चाल्यं प्रयाता यत्र सौबलः ।
राज्ञोऽदर्शनसंविग्ना वर्तमाने जनक्षये ॥ ६३ ॥

वे धृष्टद्युम्नका सामना करना छोड़कर जहाँ शकुनि था, वहाँ चले गये। वर्तमान नरसंहारमें राजा दुर्योधनको न देखनेके कारण वे उद्विग्न हो उठे थे ॥ ६३ ॥

इति श्रीमहाभारते शल्यपर्वणि दुर्योधनापयाने पञ्चविंशोऽध्यायः ॥ २५ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शल्यपर्वमें दुर्योधनका पलायनविषयक पचीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २५ ॥

षड्विंशोऽध्यायः

भीमसेनके द्वारा धृतराष्ट्रके ग्यारह पुत्रोंका और बहुत-सी चतुरङ्गिणी सेनाका वध

संजय उवाच

गजानीके हते तस्मिन् पाण्डुपुत्रेण भारत।
वध्यमाने बले चैव भीमसेनेन संयुगे॥ १॥
चरन्तं च तथा दृष्ट्वा भीमसेनमरिंदमम्।
दण्डहस्तं यथा क्रुद्धमन्तकं प्राणहारिणम्॥ २॥
समेत्य समरे राजन् हतशेषाः सुतास्तव।
अदृश्यमाने कौरव्ये पुत्रे दुर्योधने तव॥ ३॥
सोदर्याः सहिता भूत्वा भीमसेनमुपाद्रवन्।

संजय कहते हैं—राजन्! भरतनन्दन! पाण्डुपुत्र भीमसेनके द्वारा आपकी गजसेना तथा दूसरी सेनाका भी संहार हो जानेपर जब आपका पुत्र कुरुवंशी दुर्योधन कहीं दिखायी नहीं दिया, तब मरनेसे बचे हुए आपके सभी पुत्र एक साथ हो गये और समराङ्गणमें दण्डधारी, प्राणान्तकारी यमराजके समान कुपित हुए शत्रुदमन भीमसेनको विचरते देख सब मिलकर उनपर टूट पड़े॥ १–३½॥

दुर्मर्षणः श्रुतान्तश्च जैत्रो भूरिवलो रविः॥ ४॥
जयत्सेनः सुजातश्च तथा दुर्विषहोऽरिहा।
दुर्विमोचननामा च दुष्प्रधर्षस्तथैव च॥ ५॥
श्रुतर्वा च महाबाहुः सर्वे युद्धविशारदाः।
इत्येते सहिता भूत्वा तव पुत्राः समन्ततः॥ ६॥
भीमसेनमभिद्रुत्य रुरुधुः सर्वतोदिशम्।

दुर्मर्षण, श्रुतान्त (चित्राङ्ग), जैत्र, भूरिवल (भीमबल), रवि, जयत्सेन, सुजात, दुर्विषह (दुर्विगाह), शत्रुनाशक दुर्विमोचन, दुष्प्रधर्ष (दुष्प्रधर्षण) और महाबाहु श्रुतर्वा—ये सभी आपके युद्धविशारद पुत्र एक साथ हो सब ओरसे भीमसेनपर धावा करके उनकी सम्पूर्ण दिशाओंको रोककर खड़े हो गये॥ ४–६½॥

ततो भीमो महाराज स्वरथं पुनराश्रितः॥ ७॥
मुमोच निशितान् बाणान् पुत्राणां तव मर्मसु।

महाराज! तब भीम पुनः अपने रथपर आरूढ़ हो आपके पुत्रोंके मर्मस्थानोंमें तीखे बाणोंका प्रहार करने लगे॥

ते कीर्यमाणा भीमेन पुत्रास्तव महारणे॥ ८॥
भीमसेनमपाकर्षन् प्रवणादिव कुञ्जरम्।

उस महासमरमें जब भीमसेन आपके पुत्रोंपर बाणोंका प्रहार करने लगे, तब वे भीमसेनको उसी प्रकार दूरतक खींच ले गये, जैसे शिकारी नीचे स्थानसे हाथीको खींचते हैं॥

ततः क्रुद्धो रणे भीमः शिरो दुर्मर्षणस्य ह॥ ९॥
क्षुरप्रेण प्रमथ्याशु पातयामास भूतले।

तब रणभूमिमें क्रुद्ध हुए भीमसेनने एक क्षुरप्रसे दुर्मर्षणका मस्तक शीघ्रतापूर्वक पृथ्वीपर काट गिराया॥ ९½॥

ततोऽपरेण भल्लेन सर्वावरणभेदिना॥ १०॥
श्रुतान्तमवधीद् भीमस्तव पुत्रं महारथः।

तत्पश्चात् समस्त आवरणोंका भेदन करनेवाले दूसरे भल्लके द्वारा महारथी भीमसेनने आपके पुत्र श्रुतान्तका अन्त कर दिया॥ १०½॥

जयत्सेनं ततो विद्ध्वा नाराचेन हसन्निव॥ ११॥
पातयामास कौरव्यं रथोपस्थादरिंदमः।

फिर हँसते-हँसते उन शत्रुदमन वीरने कुरुवंशी जयत्सेनको नाराचसे घायल करके उसे रथकी बैठकसे नीचे गिरा दिया॥ ११½॥

स पपात रथाद् राजन् भूमौ तूर्णं ममार च॥ १२॥
श्रुतर्वा तु ततो भीमं क्रुद्धो विव्याध मारिष।
शतेन गृध्रवाजानां शराणां नतपर्वणाम्॥ १३॥

राजन्! जयत्सेन रथसे पृथ्वीपर गिरा और तुरंत मर गया। मान्यवर नरेश! तदनन्तर क्रोधमें भरे हुए श्रुतर्वाने गीधकी पाँख और झुकी हुई गाँठवाले सौ बाणोंसे भीमसेनको बींध डाला॥ १२-१३॥

ततः क्रुद्धो रणे भीमो जैत्रं भूरिवलं रविम्।
त्रीनेतांस्त्रिभिरानर्च्छद् विषाग्निप्रतिमैः शरैः॥ १४॥

यह देख भीमसेन क्रोधसे जल उठे और उन्होंने रणभूमिमें विष और अग्निके समान भयंकर तीन बाणोंद्वारा जैत्र, भूरिवल और रवि—इन तीनोंपर प्रहार किया॥ १४॥

ते हता न्यपतन् भूमौ स्यन्दनेभ्यो महारथाः।
वसन्ते पुष्पशबला निकृत्ता इव किंशुकाः॥ १५॥

उन बाणोंद्वारा मारे गये वे तीनों महारथी वसन्त ऋतुमें कटे हुए पुष्पयुक्त पलाशके वृक्षोंकी भाँति रथोंसे पृथ्वीपर गिर पड़े॥ १५॥

ततोऽपरेण भल्लेन तीक्ष्णेन च परंतपः।
दुर्विमोचनमाहत्य प्रेषयामास मृत्यवे॥ १६॥

इसके बाद शत्रुओंको संताप देनेवाले भीमसेनने दूसरे तीखे भल्लसे दुर्विमोचनको मारकर मृत्युके लोकमें भेज दिया॥

स हतः प्रापतद् भूमौ स्वरथाद् रथिनां वरः।
गिरेस्तु कूटजो भग्नो मारुतेनेव पादपः॥ १७॥

रथियोंमें श्रेष्ठ दुर्विमोचन उस भल्लकी चोट खाकर अपने रथसे भूमिपर गिर पड़ा, मानो पर्वतके शिखरपर उत्पन्न हुआ वृक्ष वायुके वेगसे टूटकर धराशायी हो गया हो॥

दुष्प्रधर्षं ततश्चैव सुजातं च सुतं तव।
एकैकं न्यहनत् संख्ये द्वाभ्यां द्वाभ्यां चमूमुखे॥ १८॥

तदनन्तर भीमसेनने आपके पुत्र दुष्प्रधर्ष और सुजातको रणक्षेत्रमें सेनाके मुहानेपर दो-दो बाणोंसे मार गिराया॥१८॥

तौ शिलीमुखविद्धाङ्गौ पेततू रथसत्तमौ।
ततः पतन्तं समरे अभिवीक्ष्य सुतं तव॥ १९॥
भल्लेन पातयामास भीमो दुर्विषहं रणे।
स पपात हतो वाहात् पश्यतां सर्वधन्विनाम्॥ २०॥

वे दोनों महारथी वीर बाणोंसे सारा शरीर छिद जानेके कारण रणभूमिमें गिर पड़े । तत्पश्चात् आपके पुत्र दुर्विषहको संग्राममें लड़ाई करते देख भीमसेनने एक भल्लसे मार गिराया । उस भल्लकी चोट खाकर दुर्विषह सम्पूर्ण धनुर्धरोंके देखते-देखते रथसे नीचे जा गिरा ॥ १९-२० ॥

दृष्ट्वा तु निहतान् भ्रातॄन् बहूनेकेन संयुगे ।
अमर्षवशमापन्नः श्रुतर्वा भीममभ्ययात् ॥ २१ ॥

युद्धस्थलमें एकमात्र भीमके द्वारा अपने बहुत-से भाइयोंको मारा गया देख श्रुतर्वा अमर्षके वशीभूत हो भीमसेनका सामना करनेके लिये आ पहुँचा ॥ २१ ॥

विक्षिपन् सुमहच्चापं कार्तस्वरविभूषितम् ।
विसृजन् सायकांश्चैव विषाग्निप्रतिमान् बहून् ॥ २२ ॥

वह अपने सुवर्णभूषित विशाल धनुषको खींचकर उसके द्वारा विष और अग्निके समान भयंकर बहुतेरे बाणोंकी वर्षा कर रहा था ॥ २२ ॥

स तु राजन् धनुश्छित्त्वा पाण्डवस्य महामृधे ।
अथैनं छिन्नधन्वानं विंशत्या समवाकिरत् ॥ २३ ॥

राजन् ! उसने उस महासमरमें पाण्डुपुत्रके धनुषको काटकर कटे हुए धनुषवाले भीमसेनको बीस बाणोंसे घायल कर दिया ॥ २३ ॥

ततोऽन्यद् धनुरादाय भीमसेनो महाबलः ।
अवाकिरत् तव सुतं तिष्ठ तिष्ठेति चाब्रवीत् ॥ २४ ॥

तब महाबली भीमसेन दूसरा धनुष लेकर आपके पुत्रपर बाणोंकी वर्षा करने लगे और बोले—'खड़ा रह, खड़ा रह' ॥

महदासीत् तयोर्युद्धं चित्ररूपं भयानकम् ।
यादृशं समरे पूर्वं जम्भवासवयोर्युधि ॥ २५ ॥

उस समय उन दोनोंमें विचित्र, भयानक और महान् युद्ध होने लगा । पूर्वकालमें रणक्षेत्रमें जम्भ और इन्द्रका जैसा युद्ध हुआ था, वैसा ही उन दोनोंका भी हुआ ॥ २५ ॥

तयोस्तत्र शितैर्मुक्तैर्यमदण्डनिभैः शरैः ।
समाच्छन्ना धरा सर्वा खं दिशो विदिशस्तथा ॥ २६ ॥

उन दोनोंके छोड़े हुए यमदण्डके समान तीखे बाणोंसे सारी पृथ्वी, आकाश, दिशाएँ और विदिशाएँ आच्छादित हो गयीं ॥ २६ ॥

ततः श्रुतर्वा संक्रुद्धो धनुरादाय सायकैः ।
भीमसेनं रणे राजन् बाह्वोरुरसि चार्पयत् ॥ २७ ॥

राजन् ! तदनन्तर क्रोधमें भरे हुए श्रुतर्वाने धनुष लेकर अपने बाणोंसे रणभूमिमें भीमसेनकी दोनों भुजाओं और छातीमें प्रहार किया ॥ २७ ॥

सोऽतिविद्धो महाराज तव पुत्रेण धन्विना ।
भीमः संचुक्षुभे क्रुद्धः पर्वणीव महोदधिः ॥ २८ ॥

महाराज ! आपके धनुर्धर पुत्रद्वारा अत्यन्त घायल कर दिये जानेपर भीमसेनका क्रोध भड़क उठा और वे पूर्णिमाके दिन उमड़ते हुए महासागरके समान बहुत ही क्षुब्ध हो उठे ॥

ततो भीमो रुषाविष्टः पुत्रस्य तव मारिष ।
सारथिं चतुरश्चाश्वाञ्शरैर्निन्ये यमक्षयम् ॥ २९ ॥

आर्य ! फिर रोषसे आविष्ट हुए भीमसेनने अपने बाणों द्वारा आपके पुत्रके सारथि और चारों घोड़ोंको यमलोक पहुँचा दिया ॥ २९ ॥

विरथं तं समालक्ष्य विशिखैर्लोमवाहिभिः ।
अवाकिरदमेयात्मा दर्शयन् पाणिलाघवम् ॥ ३० ॥

अमेय आत्मबलसे सम्पन्न भीमसेन श्रुतर्वाको रथहीन हुआ देख अपने हाथोंकी फुर्ती दिखाते हुए उसके ऊपर पक्षियोंके पंखसे युक्त होकर उड़नेवाले बाणोंकी वर्षा करने लगे ॥

श्रुतर्वा विरथो राजन्नाददे खड्गचर्मणी ।
अथास्याददतः खड्गं शतचन्द्रं च भानुमत् ॥ ३१ ॥
क्षुरप्रेण शिरः कायात् पातयामास पाण्डवः ।

राजन् ! रथहीन हुए श्रुतर्वाने अपने हाथोंमें ढाल और तलवार ले ली । वह सौ चन्द्राकार चिह्नोंसे युक्त ढाल तथा अपनी प्रभासे चमकती हुई तलवार ले ही रहा था कि पाण्डुपुत्र भीमसेनने एक क्षुरप्रद्वारा उसके मस्तकको धड़से काट गिराया ॥ ३१½ ॥

छिन्नोत्तमाङ्गस्य ततः क्षुरप्रेण महात्मना ॥ ३२ ॥
पपात कायः स रथाद् वसुधामनुनादयन् ।

महामनस्वी भीमसेनके क्षुरप्रसे मस्तक कट जानेपर उसका धड़ वसुधाको प्रतिध्वनित करता हुआ रथसे नीचे गिर पड़ा ॥ ३२½ ॥

तस्मिन् निपतिते वीरे तावका भयमोहिताः ॥ ३३ ॥
अभ्यद्रवन्त संग्रामे भीमसेनं युयुत्सवः ।

उस वीरके गिरते ही आपके सैनिक भयसे व्याकुल होनेपर भी संग्राममें जूझनेकी इच्छासे भीमसेनकी ओर दौड़े ॥

तानापतत एवाशु हतशेषाद् बलार्णवात् ॥ ३४ ॥
दंशितान् प्रतिजग्राह भीमसेनः प्रतापवान् ।

मरनेसे बचे हुए सैन्य-समूहसे निकलकर शीघ्रतापूर्वक अपने ऊपर आक्रमण करते हुए उन कवचधारी योद्धाओंको प्रतापी भीमसेनने आगे बढ़नेसे रोक दिया ॥ ३४½ ॥

ते तु तं वै समासाद्य परिवव्रुः समन्ततः ॥ ३५ ॥
ततस्तु संवृतो भीमस्तावकान् निशितैः शरैः ।
पीडयामास तान् सर्वान् सहस्राक्ष इवासुरान् ॥ ३६ ॥

वे योद्धा भीमसेनके पास पहुँचकर उन्हें चारों ओरसे घेरकर खड़े हो गये । तब जैसे इन्द्र असुरोंको नष्ट करते हैं, उसी प्रकार घिरे हुए भीमसेनने पैने बाणोंद्वारा आपके उन समस्त सैनिकोंको पीड़ित करना आरम्भ किया ॥ ३५-३६ ॥

ततः पञ्चशतान् हत्वा सवरूथान् महारथान् ।
जघान कुञ्जरानीकं पुनः सप्तशतं युधि ॥ ३७ ॥
हत्वा शतसहस्राणि पत्तीनां परमेषुभिः ।
वाजिनां च शतान्यष्टौ पाण्डवः स विराजते ॥ ३८ ॥

तदनन्तर भीमसेनने आवरणोंसहित पाँच सौ विशाल रथोंका संहार करके युद्धमें सात सौ हाथियोंकी सेनाको पुनः मार गिराया । फिर उत्तम बाणोंद्वारा एक लाख पैदलों और सवारों-

श्रीकृष्ण दुर्योधनकी ओर संकेत करते हुए उसे मारनेके लिये अर्जुनको प्रेरित कर रहे हैं
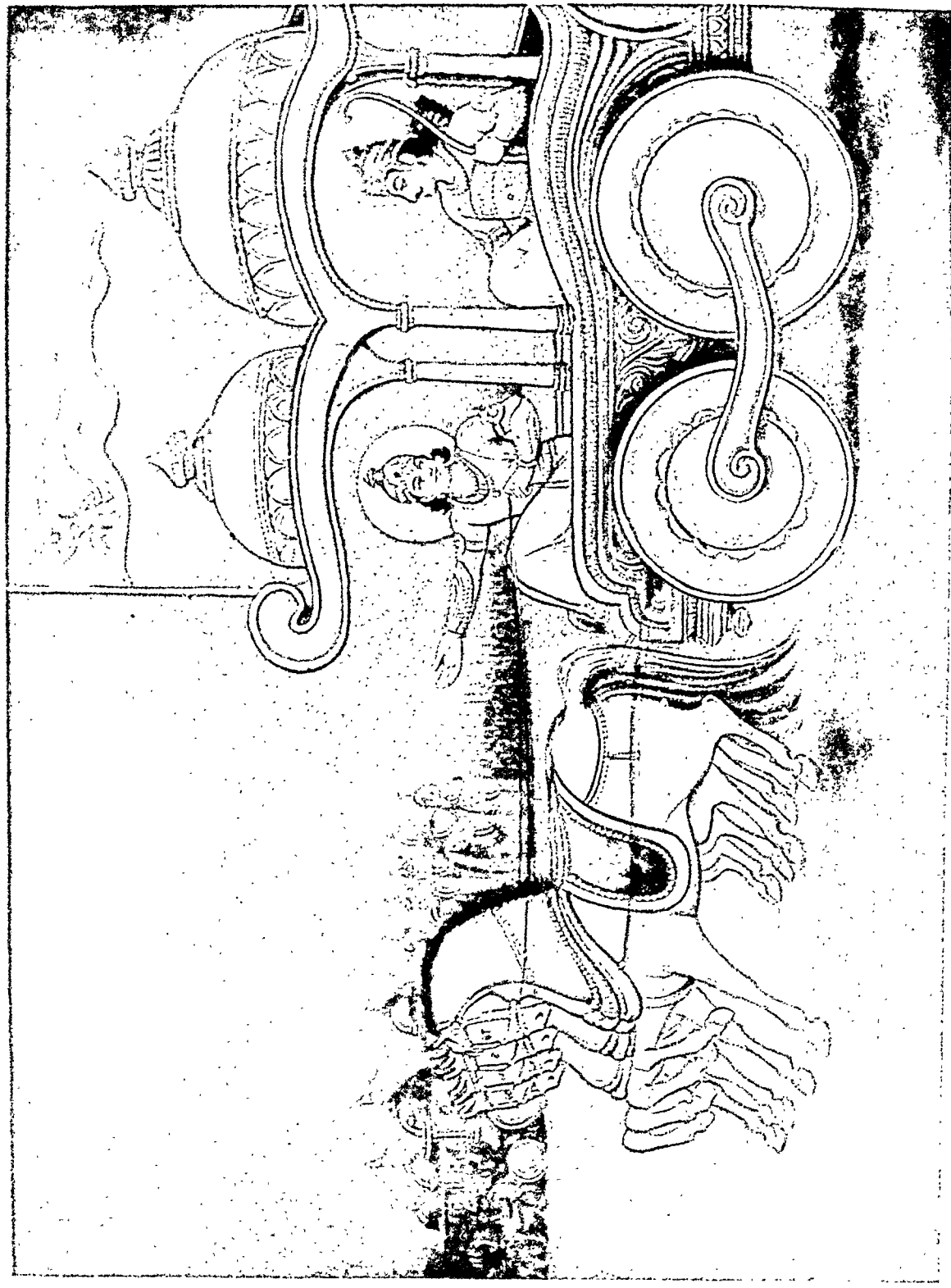
सहित आठ सौ घोड़ोंका वध करके पाण्डव भीमसेन विजयश्री-से सुशोभित होने लगे ॥ ३७-३८ ॥

भीमसेनस्तु कौन्तेयो हत्वा युद्धे सुतांस्तव ।
मेने कृतार्थमात्मानं सफलं जन्म च प्रभो ॥ ३९ ॥

प्रभो ! इस प्रकार कुन्तीपुत्र भीमसेनने युद्धमें आपके पुत्रोंका विनाश करके अपने आपको कृतार्थ और जन्मको सफल हुआ समझा ॥ ३९ ॥

तं तथा युद्ध्यमानं च विनिघ्नन्तं च तावकान् ।
ईक्षितुं नोत्सहन्ते स्म तव सैन्या नराधिप ॥ ४० ॥

नरेश्वर ! इस तरह युद्ध और आपके पुत्रोंका वध करते हुए भीमसेनको आपके सैनिक देखनेका भी साहस नहीं कर पाते थे ॥ ४० ॥

विद्राव्य च कुरून् सर्वांस्तांश्च हत्वा पदानुगान् ।
दोर्भ्यां शब्दं ततश्चक्रे त्रासयानो महाद्विपान् ॥ ४१ ॥

समस्त कौरवोंको भगाकर और उनके अनुगामी सैनिकोंका संहार करके भीमसेनने बड़े-बड़े हाथियोंको डराते हुए अपनी दोनों भुजाओंद्वारा ताल ठोंकनेका शब्द किया ॥४१॥

हतभूयिष्ठयोधा तु तव सेना विशाम्पते ।
किंचिच्छेषा महाराज कृपणं समपद्यत ॥ ४२ ॥

प्रजानाथ ! महाराज ! आपकी सेनाके अधिकांश योद्धा मारे गये और बहुत थोड़े सैनिक शेष रह गये; अतः वह सेना अत्यन्त दीन हो गयी थी ॥ ४२ ॥

इति श्रीमहाभारते शल्यपर्वणि एकादशधार्तराष्ट्रवधे षड्विंशोऽध्यायः ॥ २६ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शल्यपर्वमें धृतराष्ट्रके ग्यारह पुत्रोंका वधविषयक छब्बीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २६ ॥

सप्तविंशोऽध्यायः

श्रीकृष्ण और अर्जुनकी बातचीत, अर्जुनद्वारा सत्यकर्मा, सत्येषु तथा पैंतालीस पुत्रों और सेनासहित सुशर्माका वध तथा भीमके द्वारा धृतराष्ट्रपुत्र सुदर्शनका अन्त

संजय उवाच

दुर्योधनो महाराज सुदर्शश्चापि ते सुतः ।
हतशेषौ तदा संख्ये वाजिमध्ये व्यवस्थितौ ॥ १ ॥

संजय कहते हैं—महाराज ! उस समय आपके पुत्र दुर्योधन और सुदर्शन ये—दो ही बच गये थे । दोनों ही घुड़सवारोंके बीचमें खड़े थे ॥ १ ॥

ततो दुर्योधनं दृष्ट्वा वाजिमध्ये व्यवस्थितम् ।
उवाच देवकीपुत्रः कुन्तीपुत्रं धनंजयम् ॥ २ ॥

तदनन्तर दुर्योधनको घुड़सवारोंके बीचमें खड़ा देख देवकीनन्दन भगवान् श्रीकृष्णने कुन्तीकुमार अर्जुनसे इस प्रकार कहा—॥ २ ॥

शत्रवो हतभूयिष्ठा ज्ञातयः परिपालिताः ।
गृहीत्वा संजयं चासौ निवृत्तः शिनिपुङ्गवः ॥ ३ ॥
परिश्रान्तश्च नकुलः सहदेवश्च भारत ।
योधयित्वा रणे पापान् धार्तराष्ट्रान् सहानुगान्॥ ४ ॥

'भरतनन्दन ! शत्रुओंके अधिकांश योद्धा मारे गये और अपने कुटुम्बी जनोंकी रक्षा हुई । उधर देखो, वे शिनिप्रवर सात्यकि संजयको कैद करके उसे साथ लिये लौटे आ रहे हैं । रणभूमिमें सेवकोंसहित धृतराष्ट्रके पापी पुत्रोंसे युद्ध करके दोनों भाई नकुल और सहदेव भी बहुत थक गये हैं ॥३-४॥

दुर्योधनमभित्यज्य त्रय एते व्यवस्थिताः ।
कृपश्च कृतवर्मा च द्रौणिश्चैव महारथः ॥ ५ ॥

'उधर कृपाचार्य, कृतवर्मा और महारथी अश्वत्थामा—ये तीनों युद्धभूमिमें दुर्योधनको छोड़कर कहीं अन्यत्र स्थित हैं ॥५॥

असौ तिष्ठति पाञ्चाल्यः श्रिया परमया युतः ।
दुर्योधनबलं हत्वा सह सर्वैः प्रभद्रकैः ॥ ६ ॥

'इधर, सम्पूर्ण प्रभद्रकोंसहित दुर्योधनकी सेनाका संहार करके पाञ्चालराजकुमार धृष्टद्युम्न अपनी सुन्दर कान्तिसे सुशोभित हो रहे हैं ॥ ६ ॥

असौ दुर्योधनः पार्थ वाजिमध्ये व्यवस्थितः ।
छत्रेण ध्रियमाणेन प्रेक्षमाणो मुहुर्मुहुः ॥ ७ ॥

'पार्थ ! वह रहा दुर्योधन, जो छत्र धारण किये घुड़सवारोंके बीचमें खड़ा है और बारंबार इधर ही देख रहा है ॥

प्रतिव्यूह्य बलं सर्वं रणमध्ये व्यवस्थितः ।
एनं हत्वा शितैर्बाणैः कृतकृत्यो भविष्यसि ॥ ८ ॥

'वह अपनी सारी सेनाका व्यूह बनाकर युद्धभूमिमें खड़ा है । तुम इसे पैने बाणोंसे मारकर कृतकृत्य हो जाओगे ॥८॥

गजानीकं हतं दृष्ट्वा त्वां च प्राप्तमरिंदम ।
यावन्न विद्रवन्त्येते तावज्जहि सुयोधनम् ॥ ९ ॥

'शत्रुदमन ! गजसेनाका वध और तुम्हारा आगमन हुआ देख ये कौरव-योद्धा जबतक भाग नहीं जाते तभीतक दुर्योधनको मार डालो ॥ ९ ॥

यातु कश्चित्तु पाञ्चाल्यं क्षिप्रमागम्यतामिति ।
परिश्रान्तबलस्तात नैष मुच्येत किल्बिषी ॥ १० ॥

'अपने दलका कोई पुरुष पाञ्चालराज धृष्टद्युम्नके पास जाय और कहे कि 'आप शीघ्रतापूर्वक चलें ।' तात ! यह पापात्मा दुर्योधन अब बच नहीं सकता, क्योंकि इसकी सारी सेना थक गयी है ॥ १० ॥

हत्वा तव बलं सर्वं संग्रामे धृतराष्ट्रजः ।
जितान् पाण्डुसुतान् मत्वा रूपं धारयते महत्॥ ११ ॥

'दुर्योधन समझता है कि 'संग्रामभूमिमें तुम्हारी सारी सेनाका संहार करके पाण्डवोंको पराजित कर दूँगा ।' इसीलिये वह अत्यन्त उग्र रूप धारण कर रहा है ॥ ११ ॥

निहतं स्वबलं दृष्ट्वा पीडितं चापि पाण्डवैः ।
ध्रुवमेष्यति संग्रामे वधायैवात्मनो नृपः ॥ १२ ॥

'परंतु अपनी सेनाको पाण्डवोंद्वारा पीड़ित एवं मारी गयी देख राजा दुर्योधन निश्चय ही अपने विनाशके लिये ही युद्धमें पदार्पण करेगा' ॥ १२ ॥

एवमुक्तः फाल्गुनस्तु कृष्णं वचनमब्रवीत् ।
धृतराष्ट्रसुताः सर्वे हता भीमेन माधव ॥ १३ ॥
यावेतावास्थितौ कृष्ण तावद्य न भविष्यतः ।

भगवान् श्रीकृष्णके ऐसा कहनेपर अर्जुन उनसे इस प्रकार बोले—'माधव ! धृतराष्ट्रके प्रायः सभी पुत्र भीमसेनके हाथसे मारे गये हैं। श्रीकृष्ण ! ये जो दो पुत्र खड़े हैं, इनका भी आज अन्त हो जायगा ॥ १३½ ॥

हतो भीष्मो हतो द्रोणः कर्णो वैकर्तनो हतः ॥ १४ ॥
मद्रराजो हतः शल्यो हतः कृष्ण जयद्रथः ।

'श्रीकृष्ण ! भीष्म मारे जा चुके, द्रोणका भी अन्त हो गया, वैकर्तन कर्ण भी मार डाला गया, मद्रराज शल्यका भी वध हो गया और जयद्रथ भी यमलोक पहुँच गया ॥ १४½ ॥

हयाः पञ्चशताः शिष्टाः शकुनेः सौबलस्य च ॥ १५ ॥
रथानां तु शते शिष्टे द्वे एव तु जनार्दन ।
दन्तिनां च शतं साग्रं त्रिसाहस्राः पदातयः ॥ १६ ॥

'सुबलपुत्र शकुनिके पास पाँच सौ घुड़सवारोंकी सेना अभी शेष है। जनार्दन ! उसके पास दो सौ रथ, सौसे कुछ अधिक हाथी और तीन हजार पैदल सैनिक भी शेष रह गये हैं ॥ १५-१६ ॥

अश्वत्थामा कृपश्चैव त्रिगर्ताधिपतिस्तथा ।
उलूकः शकुनिश्चैव कृतवर्मा च सात्वतः ॥ १७ ॥
एतद् बलमभूच्छेषं धार्तराष्ट्रस्य माधव ।

'माधव ! दुर्योधनकी सेनामें अश्वत्थामा, कृपाचार्य, त्रिगर्तराज सुशर्मा, उलूक, शकुनि और सात्वतवंशी कृतवर्मा—ये थोड़े-से ही वीर सैनिक शेष रह गये हैं ॥ १७½ ॥

मोक्षो न नूनं कालात् तु विद्यते भुवि कस्यचित्॥ १८ ॥
तथा विनिहते सैन्ये पश्य दुर्योधनं स्थितम् ।
अद्याह्ना हि महाराजो हतामित्रो भविष्यति ॥ १९ ॥

'निश्चय ही इस पृथ्वीपर किसीको भी कालसे छुटकारा नहीं मिलता, तभी तो इस प्रकार अपनी सेनाका संहार होनेपर भी दुर्योधन युद्धके लिये खड़ा है, उसे देखिये। आजके दिन महाराज युधिष्ठिर शत्रुहीन हो जायँगे ॥ १८-१९ ॥

न हि मे मोक्ष्यते कश्चित् परेषामिह चिन्तये ।
ये त्वद्य समरं कृष्ण न हास्यन्ति मदोत्कटाः ॥ २० ॥
तान् वै सर्वान् हनिष्यामि यद्यपि स्युर्न मानुषाः ।

'श्रीकृष्ण ! मैं सोचता हूँ कि आज शत्रुदलका कोई भी योद्धा यहाँ मेरे हाथसे बचकर नहीं जा सकेगा। जो मदोन्मत्त वीर आज युद्ध छोड़कर भाग नहीं जायँगे, उन सबको, वे मनुष्य न होकर देवता या दैत्य ही क्यों न हों, मैं मार डालूँगा ॥ २०½ ॥

अद्य युद्धे सुसंक्रुद्धो दीर्घं राज्ञः प्रजागरम् ॥ २१ ॥
अपनेष्यामि गान्धारं घातयित्वा शितैः शरैः ।

'आज मैं अत्यन्त कुपित हो गान्धारराज शकुनिको पैने बाणोंसे मरवाकर राजा युधिष्ठिरके दीर्घकालीन जागरणरूपी रोगको दूर कर दूँगा ॥ २१½ ॥

निकृत्या वै दुराचारो यानि रत्नानि सौबलः ॥ २२ ॥
सभायामहरद् द्यूते पुनस्तान्याहराम्यहम् ।

'दुराचारी सुबलपुत्र शकुनिने द्यूतसभामें छल करके जिन रत्नोंको हर लिया था, उन सबको मैं वापस ले लूँगा ॥

अद्य ता अपि रोत्स्यन्ति सर्वा नागपुरे स्त्रियः॥ २३ ॥
श्रुत्वा पतींश्च पुत्रांश्च पाण्डवैर्निहतान् युधि ।

'आज हस्तिनापुरकी वे सारी स्त्रियाँ भी युद्धमें पाण्डवोंके हाथसे-अपने पतियों और पुत्रोंको मारा गया सुनकर फूट-फूटकर रोयेंगी ॥ २३½ ॥

समाप्तमद्य वै कर्म सर्वं कृष्ण भविष्यति ॥ २४ ॥
अद्य दुर्योधनो दीप्तां श्रियं प्राणांश्च मोक्ष्यति ।

'श्रीकृष्ण ! आज हमलोगोंका सारा कार्य समाप्त हो जायगा। आज दुर्योधन अपनी उज्ज्वल राजलक्ष्मी और प्राणोंको भी खो बैठेगा ॥ २४½ ॥

नापयाति भयात् कृष्ण संग्रामाद् यदि चेन्मम॥ २५ ॥
निहतं विद्धि वार्ष्णेय धार्तराष्ट्रं सुबालिशम् ।

'वृष्णिनन्दन श्रीकृष्ण ! यदि वह मेरे भयसे युद्धसे भाग न जाय, तो मेरेद्वारा उस मूढ़ दुर्योधनको आप मारा गया ही समझें ॥ २५½ ॥

मम ह्येतदशक्तं वै वाजिवृन्दमरिंदम ॥ २६ ॥
सोढुं ज्यातलनिर्घोषं याहि यावन्निहन्म्यहम् ।

'शत्रुदमन ! यह घुड़सवारोंकी सेना मेरे गाण्डीव धनुष-की टङ्कारको नहीं सह सकेगी। आप घोड़े बढ़ाइये, मैं अभी इन सबको मारे डालता हूँ' ॥ २६½ ॥

एवमुक्तस्तु दाशार्हः पाण्डवेन यशस्विना ॥ २७ ॥
अचोदयद्धयान् राजन् दुर्योधनबलं प्रति ।

राजन् ! यशस्वी पाण्डुपुत्र अर्जुनके ऐसा कहनेपर दशार्हकुलनन्दन श्रीकृष्णने दुर्योधनकी सेनाकी ओर घोड़े बढ़ा दिये ॥ २७½ ॥

तदनीकमभिप्रेक्ष्य त्रयः सज्जा महारथाः ॥ २८ ॥
भीमसेनोऽर्जुनश्चैव सहदेवश्च मारिष ।
प्रययुः सिंहनादेन दुर्योधनजिघांसया ॥ २९ ॥

मान्यवर ! उस सेनाको देखकर तीन महारथी भीमसेन, अर्जुन और सहदेव युद्ध-सामग्रीसे सुसज्जित हो दुर्योधनके वधकी इच्छासे सिंहनाद करते हुए आगे बढ़े ॥ २८-२९ ॥

तान् प्रेक्ष्य सहितान् सर्वाञ्जवेनोद्यतकार्मुकान् ।
सौबलोऽभ्यद्रवद् युद्धे पाण्डवानाततायिनः ॥ ३० ॥

उन सबको बड़े वेगसे धनुष उठाये एक साथ आक्रमण करते देख सुबलपुत्र शकुनि रणभूमिमें आततायी पाण्डवोंकी ओर दौड़ा ॥ ३० ॥

सुदर्शनस्तव सुतो भीमसेनं समभ्ययात् ।
सुशर्मा शकुनिश्चैव युयुधाते किरीटिना ॥ ३१ ॥

आपका पुत्र सुदर्शन भीमका सामना करने लगा। सुशर्मा और शकुनिने किरीटधारी अर्जुनके साथ युद्ध छेड़ दिया॥

सहदेवं तव सुतो हयपृष्ठगतोऽभ्ययात्।
ततो हि यत्नतः क्षिप्रं तव पुत्रो जनाधिप॥ ३२॥
प्रासेन सहदेवस्य शिरसि प्राहरद् भृशम्।

नरेश्वर! घोड़ेकी पीठपर बैठा हुआ आपका पुत्र दुर्योधन सहदेवके सामने आया। उसने बड़े यत्नसे सहदेवके मस्तकपर शीघ्रतापूर्वक प्रासका प्रहार किया॥ ३२½॥

सोपाविशद् रथोपस्थे तव पुत्रेण ताडितः॥ ३३॥
रुधिराप्लुतसर्वाङ्ग आशीविष इव श्वसन्।

आपके पुत्रद्वारा ताड़ित होकर सहदेव फुफकारते हुए विषधर सर्पके समान लंबी साँस खींचते हुए रथके पिछले भागमें बैठ गये। उनका सारा शरीर लहू-लुहान हो गया॥ ३३½॥

प्रतिलभ्य ततः संज्ञां सहदेवो विशाम्पते॥ ३४॥
दुर्योधनं शरैस्तीक्ष्णैः संक्रुद्धः समवाकिरत्।

प्रजानाथ! थोड़ी देरमें सचेत होनेपर क्रोधमें भरे हुए सहदेव दुर्योधनपर पैने बाणोंकी वर्षा करने लगे॥ ३४½॥

पार्थोऽपि युधि विक्रम्य कुन्तीपुत्रो धनंजयः॥ ३५॥
शूराणामश्वपृष्ठेभ्यः शिरांसि निचकर्त ह।

कुन्तीपुत्र अर्जुनने भी युद्धमें पराक्रम करके घोड़ोंकी पीठोंसे शूरवीरोंके मस्तक काट गिराये॥ ३५½॥

तदनीकं तदा पार्थो व्यधमद् बहुभिः शरैः॥ ३६॥
पातयित्वा हयान् सर्वांस्त्रिगर्तानां रथान् ययौ।

पार्थने अपने बहुसंख्यक बाणोंद्वारा घुड़सवारोंकी उस सेनाको छिन्न-भिन्न कर डाला तथा समस्त घोड़ोंको धराशायी करके त्रिगर्तदेशीय रथियोंपर चढ़ाई कर दी॥ ३६½॥

ततस्ते सहिता भूत्वा त्रिगर्तानां महारथाः॥ ३७॥
अर्जुनं वासुदेवं च शरवर्षैरवाकिरन्।

तब वे त्रिगर्तदेशीय महारथी एक साथ होकर अर्जुन और श्रीकृष्णको अपने बाणोंकी वर्षासे आच्छादित करने लगे॥

सत्यकर्माणमाक्षिप्य क्षुरप्रेण महायशाः॥ ३८॥
ततोऽस्य स्यन्दनस्येषां चिच्छिदे पाण्डुनन्दनः।
शिलाशितेन च विभो क्षुरप्रेण महायशाः॥ ३९॥
शिरश्चिच्छेद सहसा तप्तकुण्डलभूषणम्।

प्रभो! उस समय महायशस्वी पाण्डुनन्दन अर्जुनने क्षुरप्रद्वारा सत्यकर्मापर प्रहार करके उसके रथकी ईषा (हरसा) काट डाली। तत्पश्चात् उन महायशस्वी वीरने शिलापर तेज किये हुए क्षुरप्रद्वारा उसके तपाये हुए सुवर्णके कुण्डलोंसे विभूषित मस्तकको सहसा काट लिया॥ ३८-३९½॥

सत्येषुमथ चादत्त योधानां मिषतां ततः॥ ४०॥
यथा सिंहो वने राजन् मृगं परिबुभुक्षितः।

राजन्! जैसे वनमें भूखा सिंह किसी मृगको दबोच लेता है, उसी प्रकार अर्जुनने समस्त योद्धाओंके देखते-देखते सत्येषुके भी प्राण हर लिये॥ ४०½॥

तं निहत्य ततः पार्थः सुशर्माणं त्रिभिः शरैः॥ ४१॥
विद्ध्वा तानहनत् सर्वान् रथान् रुक्मविभूषितान्।

सत्येषुका वध करके अर्जुनने सुशर्माको तीन बाणोंसे घायल कर दिया और उन समस्त स्वर्णभूषित रथोंका विध्वंस कर डाला॥ ४१½॥

ततः प्रायात् त्वरन् पार्थो दीर्घकालं सुसंवृतम्॥ ४२॥
मुञ्चन् क्रोधविषं तीक्ष्णं प्रस्थलाधिपतिं प्रति।

तत्पश्चात् पार्थ अपने दीर्घकालसे संचित किये हुए तीखे क्रोधरूपी विषको प्रस्थलेश्वर सुशर्मापर छोड़नेके लिये तीव्र गतिसे आगे बढ़े॥ ४२½॥

तमर्जुनः पृषत्कानां शतेन भरतर्षभ॥ ४३॥
पूरयित्वा ततो वाहान् प्राहरत् तस्य धन्विनः।

भरतश्रेष्ठ! अर्जुनने सौ बाणोंद्वारा उसे आच्छादित करके उस धनुर्धर वीरके घोड़ोंपर घातक प्रहार किया॥ ४३½॥

ततः शरं समादाय यमदण्डोपमं तदा॥ ४४॥
सुशर्माणं समुद्दिश्य चिक्षेपाशु हसन्निव।

इसके बाद यमदण्डके समान भयंकर बाण हाथमें लेकर सुशर्माको लक्ष्य करके हँसते हुए-से शीघ्र ही छोड़ दिया॥

स शरः प्रेषितस्तेन क्रोधदीप्तेन धन्विना॥ ४५॥
सुशर्माणं समासाद्य बिभेद हृदयं रणे।

क्रोधसे तमतमाये हुए धनुर्धर अर्जुनके द्वारा चलाये गये उस बाणने सुशर्मापर चोट करके उसकी छाती छेद डाली॥

स गतासुर्महाराज पपात धरणीतले॥ ४६॥
नन्दयन् पाण्डवान् सर्वान् व्यथयंश्चापि तावकान्।

महाराज! सुशर्मा आपके पुत्रोंको व्यथित और समस्त पाण्डवोंको आनन्दित करता हुआ प्राणशून्य होकर पृथ्वीपर गिर पड़ा॥ ४६½॥

सुशर्माणं रणे हत्वा पुत्रानस्य महारथान्॥ ४७॥
सप्त चाष्टौ च त्रिंशच्च सायकैरनयत् क्षयम्।

रणभूमिमें सुशर्माका वध करके अर्जुनने अपने बाणोंद्वारा उसके पैंतालीस महारथी पुत्रोंको भी यमलोक पहुँचा दिया॥

ततोऽस्य निशितैर्बाणैः सर्वान् हत्वा पदानुगान्॥ ४८॥
अभ्यगाद् भारतीं सेनां हतशेषां महारथः।

तदनन्तर पैने बाणोंद्वारा उसके सारे सेवकोंका संहार करके महारथी अर्जुनने मरनेसे बची हुई कौरवी सेनापर आक्रमण किया॥

भीमस्तु समरे क्रुद्धः पुत्रं तव जनाधिप॥ ४९॥
सुदर्शनमदृश्यं तं शरैश्चक्रे हसन्निव।
ततोऽस्य प्रहसन् क्रुद्धः शिरः कायादपाहरत्॥ ५०॥
क्षुरप्रेण सुतीक्ष्णेन स हतः प्रापतद् भुवि।

जनेश्वर! दूसरी ओर कुपित हुए भीमसेनने हँसते-हँसते बाणोंकी वर्षा करके सुदर्शनको ढक दिया। फिर क्रोधपूर्वक अट्टहास करते हुए उन्होंने उसके मस्तकको तीखे क्षुरप्रद्वारा धड़से काट लिया। सुदर्शन मरकर पृथ्वीपर गिर पड़ा॥ ४९-५०½॥

तस्मिंस्तु निहते वीरे ततस्तस्य पदानुगाः॥ ५१॥
परिवव्रू रणे भीमं किरन्तो विविधाञ्शरान्।

उस वीरके मारे जानेपर उसके सेवकोंने नाना प्रकारके

बाणोंकी वर्षा करते हुए रणभूमिमें भीमसेनको सब ओरसे घेर लिया ॥ ५१½ ॥

ततस्तु निशितैर्बाणैस्तवानीकं वृकोदरः ॥ ५२ ॥
इन्द्राशनिसमस्पर्शैः समन्तात् पर्यवाकिरत् ।

तत्पश्चात् भीमसेनने इन्द्रके वज्रकी भाँति कठोर स्पर्शवाले तीखे बाणोंद्वारा आपकी सेनाको चारों ओरसे ढक दिया॥

ततः क्षणेन तद् भीमो न्यहनद् भरतर्षभ ॥ ५३ ॥
तेषु तून्साद्यमानेषु सेनाध्यक्षा महारथाः ।
भीमसेनं समासाद्य ततोऽयुद्ध्यन्त भारत ॥ ५४ ॥

भरतश्रेष्ठ ! इसके बाद भीमसेनने क्षणभरमें आपकी सेनाका संहार कर डाला । भारत ! जब उन कौरव-सैनिकोंका संहार होने लगा, तब महारथी सेनापतिगण भीमसेनपर आक्रमण करके उनके साथ युद्ध करने लगे ॥ ५३-५४ ॥

स तान् सर्वाञ्छरैर्घोरैरवाकिरत पाण्डवः ।
तथैव तावका राजन् पाण्डवेयान् महारथान् ॥ ५५ ॥
शरवर्षेण महता समन्तात् पर्यवारयन् ।

राजन् ! पाण्डुपुत्र भीमने उन सबपर भयंकर बाणोंकी वृष्टि की । इसी प्रकार आपके सैनिकोंने भी बड़ी भारी बाण-वर्षा करके पाण्डव महारथियोंको सब ओरसे आच्छादित कर दिया ॥ ५५½ ॥

व्याकुलं तदभूत् सर्वं पाण्डवानां परैः सह ॥ ५६ ॥
तावकानां च समरे पाण्डवेयैर्युयुत्सताम् ।

शत्रुओंके साथ जूझनेवाले पाण्डवोंका और पाण्डवोंके साथ युद्धकी इच्छा रखनेवाले आपके सैनिकोंका सारा सैन्यदल समराङ्गणमें परस्पर मिलकर एक-सा हो गया ॥ ५६½ ॥

तत्र योधास्तदा पेतुः परस्परसमाहताः ।
उभयोः सेनयो राजन् संशोचन्तः स बान्धवान्॥ ५७ ॥

राजन् ! उस समय वहाँ एक-दूसरेकी मार खाकर दोनों दलोंके योद्धा अपने भाई-बन्धुओंके लिये शोक करते हुए धराशायी हो जाते थे ॥ ५७ ॥

इति श्रीमहाभारते शल्यपर्वणि सुशर्मवधे सप्तविंशोऽध्यायः ॥ २७ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शल्यपर्वमें सुशर्माका वधविषयक सत्ताईसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २७ ॥

अष्टाविंशोऽध्यायः

सहदेवके द्वारा उलूक और शकुनिका वध एवं बची हुई सेनासहित दुर्योधनका पलायन

संजय उवाच

तस्मिन् प्रवृत्ते संग्रामे गजवाजिनरक्षये ।
शकुनिः सौबलो राजन् सहदेवं समभ्ययात् ॥ १ ॥

संजय कहते हैं—राजन् ! हाथी-घोड़ों और मनुष्योंका संहार करनेवाले उस युद्धका आरम्भ होनेपर सुबलपुत्र शकुनिने सहदेवपर धावा किया ॥ १ ॥

ततोऽस्यापततस्तूर्णं सहदेवः प्रतापवान् ।
शरौघान् प्रेषयामास पतङ्गानिव शीघ्रगान् ॥ २ ॥

तब प्रतापी सहदेवने भी अपने ऊपर आक्रमण करनेवाले शकुनिपर तुरंत ही बहुत-से शीघ्रगामी बाणसमूहोंकी वर्षा आरम्भ कर दी, जो आकाशमें टिड्डीदलोंके समान छा रहे थे॥

उलूकश्च रणे भीमं विव्याध दशभिः शरैः ।
शकुनिश्च महाराज भीमं विद्ध्वा त्रिभिः शरैः ॥ ३ ॥
सायकानां नवत्या वै सहदेवमवाकिरत् ।

महाराज ! शकुनिके साथ उलूक भी था, उसने भीमसेनको दस बाणोंसे बींध डाला । फिर शकुनिने भी तीन बाणोंसे भीमको घायल करके नब्बे बाणोंसे सहदेवको ढक दिया ॥

ते शूराः समरे राजन् समासाद्य परस्परम् ॥ ४ ॥
विव्यधुर्निशितैर्बाणैः कङ्कबर्हिणवाजितैः ।
स्वर्णपुङ्खैः शिलाधौतैराकर्णप्रहितैः शरैः ॥ ५ ॥

राजन् ! वे शूरवीर समराङ्गणमें एक-दूसरेसे टक्कर लेकर कङ्क और मोरके-से पङ्खवाले तीखे बाणोंद्वारा परस्पर आघात-प्रत्याघात करने लगे । उनके वे बाण सुनहरी पाँखोंसे सुशोभित, शिलापर साफ किये हुए और कानोंतक खींचकर छोड़े गये थे ॥ ४-५ ॥

तेषां चापभुजोत्सृष्टा शरवृष्टिर्विशाम्पते ।
आच्छादयद् दिशः सर्वा धारा इव पयोमुचः ॥ ६ ॥

प्रजानाथ ! उन वीरोंके धनुष और बाहुबलसे छोड़े गये बाणोंकी उस वर्षाने सम्पूर्ण दिशाओंको उसी प्रकार आच्छादित कर दिया, जैसे मेघकी जलधारा सारी दिशाओंको ढक देती है ॥ ६ ॥

ततः क्रुद्धो रणे भीमः सहदेवश्च भारत ।
चेरतुः कदनं संख्ये कुर्वन्तौ सुमहाबलौ ॥ ७ ॥

भारत ! तदनन्तर क्रोधमें भरे हुए भीमसेन और सहदेव दोनों महाबली वीर युद्धस्थलमें भीषण संहार मचाते हुए विचरने लगे ॥ ७ ॥

ताभ्यां शरशतैश्छन्नं तद् बलं तव भारत ।
सान्धकारमिवाकाशमभवत् तत्र तत्र ह ॥ ८ ॥

भरतनन्दन ! उन दोनोंके सैकड़ों बाणोंसे ढकी हुई आपकी सेना जहाँ-तहाँ अन्धकारपूर्ण आकाशके समान प्रतीत होती थी ॥ ८ ॥

अश्वैर्विपरिधावद्भिः शरच्छन्नैर्विशाम्पते ।
तत्र तत्र वृतो मार्गो विकर्षद्भिर्हतान् बहून् ॥ ९ ॥

प्रजानाथ ! बाणोंसे ढके हुए भागते घोड़ोंने, जो बहुत-से मरे हुए वीरोंको अपने साथ इधर-उधर खींचे लिये जाते थे, यत्र-तत्र जानेका मार्ग अवरुद्ध कर दिया ॥ ९ ॥

निहतानां हयानां च सहैव हयसादिभिः ।
वर्मभिर्विनिकृत्तैश्च प्रासैश्छिन्नैश्च मारिष ॥ १० ॥
ऋष्टिभिः शक्तिभिश्चैव सासिप्रासपरश्वधैः ।
संछन्ना पृथिवी जज्ञे कुसुमैः शबला इव ॥ ११ ॥

मान्यवर नरेश ! घुड़सवारोंसहित मारे गये घोड़ोंके शरीरों, कटे हुए कवचों, टूक-टूक हुए प्रासों, ऋष्टियों, शक्तियों, खड्गों, भालों और फरसोंसे ढकी हुई पृथ्वी बहुरंगी फलोंसे आच्छादित हो चितकबरी हुई-सी जान पड़ती थी ॥

योधास्तत्र महाराज समासाद्य परस्परम् ।
व्यचरन्त रणे क्रुद्धा विनिघ्नन्तः परस्परम् ॥ १२ ॥

महाराज ! वहाँ रणभूमिमें कुपित हुए योद्धा एक-दूसरेसे भिड़कर परस्पर चोट करते हुए घूम रहे थे ॥ १२ ॥

उद्वृत्तनयनै रोषात् संदष्टौष्ठपुटैर्मुखैः ।
सकुण्डलैर्मही च्छन्ना पद्मकिञ्जल्कसंनिभैः ॥ १३ ॥

कमलकेसरकी-सी कान्तिवाले कुण्डलमण्डित कटे हुए मस्तकोंसे यह पृथ्वी ढक गयी थी । उनकी आँखें घूर रही थीं और उन्होंने रोषके कारण अपने ओठोंको दाँतोंसे दबा रक्खा था ॥ १३ ॥

भुजैश्छिन्नैर्महाराज नागराजकरोपमैः ।
साङ्गदैः सतनुत्रैश्च सासिप्रासपरश्वधैः ॥ १४ ॥
कबन्धैरुत्थितैश्छिन्नैर्नृत्यद्भिश्चापरैर्युधि ।
क्रव्यादगणसंछन्ना घोराभूत् पृथिवी विभो ॥ १५ ॥

महाराज ! अङ्गद, कवच, खड्ग, प्रास और फरसोंसहित कटी हुई हाथीकी सूँड़के समान भुजाओं, छिन्न-भिन्न एवं खड़े होकर नाचते हुए कबन्धों तथा अन्य लोगोंसे भरी और मांसभक्षी जीव-जन्तुओंसे आच्छादित हुई यह पृथ्वी बड़ी भयंकर प्रतीत होती थी ॥ १४-१५ ॥

अल्पावशिष्टे सैन्ये तु कौरवेयान् महाहवे ।
प्रहृष्टाः पाण्डवा भूत्वा निन्यिरे यमसादनम् ॥ १६ ॥

इस प्रकार उस महासमरमें जब कौरवोंके पास बहुत थोड़ी सेना शेष रह गयी, तब हर्ष और उत्साहमें भरकर पाण्डव वीर उन सबको यमलोक पहुँचाने लगे ॥ १६ ॥

एतस्मिन्नन्तरे शूरः सौबलेयः प्रतापवान् ।
प्रासेन सहदेवस्य शिरसि प्राहरद् भृशम् ॥ १७ ॥

इसी समय प्रतापी वीर सुबलपुत्र शकुनिने अपने प्राससे सहदेवके मस्तकपर गहरी चोट पहुँचायी ॥ १७ ॥

स विह्वलो महाराज रथोपस्थ उपाविशत् ।
सहदेवं तथा दृष्ट्वा भीमसेनः प्रतापवान् ॥ १८ ॥
सर्वसैन्यानि संक्रुद्धो वारयामास भारत ।
निर्बिभेद च नाराचैः शतशोऽथ सहस्रशः ॥ १९ ॥

महाराज ! उस चोटसे व्याकुल होकर सहदेव रथकी बैठकमें धम्मसे बैठ गये । उनकी वैसी अवस्था देख प्रतापी भीमसेन अत्यन्त कुपित हो उठे । भारत ! उन्होंने आपकी सारी सेनाओंको आगे बढ़नेसे रोक दिया तथा सैकड़ों और हजारों नाराचोंकी वर्षा करके उन सबको विदीर्ण कर डाला॥

विनिर्भिद्याकरोच्चैव सिंहनादमरिंदमः ।
तेन शब्देन वित्रस्ताः सर्वे सहयवारणाः ॥ २० ॥
प्राद्रवन् सहसा भीताः शकुनेश्च पदानुगाः ।

शत्रुदमन भीमसेनने शत्रुसेनाको विदीर्ण करके बड़े जोरसे सिंहनाद किया । उनकी उस गर्जनासे भयभीत हो शकुनिके पीछे चलनेवाले सारे सैनिक घोड़े और हाथियोंसहित सहसा भाग खड़े हुए ॥ २०½ ॥

प्रभग्नानथ तान् दृष्ट्वा राजा दुर्योधनोऽब्रवीत् ॥ २१ ॥
निवर्तध्वमधर्मज्ञा युध्यध्वं किं सृतेन वः ।
इह कीर्तिं समाधाय प्रेत्य लोकान् समश्नुते ॥ २२ ॥
प्राणाञ्जहाति यो धीरो युद्धे पृष्ठमदर्शयन् ।

उन सबको भागते देख राजा दुर्योधनने इस प्रकार कहा—'अरे पापियो ! लौट आओ और युद्ध करो । भागनेसे तुम्हें क्या लाभ होगा ? जो धीर वीर रणभूमिमें पीठ न दिखाकर प्राणोंका परित्याग करता है, वह इस लोकमें अपनी कीर्ति स्थापित करके मृत्युके पश्चात् उत्तम लोकोंमें सुख भोगता है' ॥

एवमुक्तास्तु ते राज्ञा सौबलस्य पदानुगाः ॥ २३ ॥
पाण्डवानभ्यवर्तन्त मृत्युं कृत्वा निवर्तनम् ।

राजा दुर्योधनके ऐसा कहनेपर सुबलपुत्र शकुनिके पीछे चलनेवाले सैनिक 'अब हमें मृत्यु ही युद्धसे लौटा सकती है' ऐसा संकल्प लेकर पुनः पाण्डवोंपर टूट पड़े ॥ २३½ ॥

द्रवद्भिस्तत्र राजेन्द्र कृतः शब्दोऽतिदारुणः ॥ २४ ॥
क्षुब्धसागरसंकाशाः क्षुभिताः सर्वतोऽभवन् ।

राजेन्द्र ! वहाँ धावा करते समय उन सैनिकोंने बड़ा भयंकर कोलाहल मचाया । वे विक्षुब्ध समुद्रके समान क्षोभमें भरकर सब ओर छा गये ॥ २४½ ॥

तांस्तथा पुरतो दृष्ट्वा सौबलस्य पदानुगान् ॥ २५ ॥
प्रत्युद्ययुर्महाराज पाण्डवा विजयोद्यताः ।

महाराज ! शकुनिके सेवकोंको इस प्रकार सामने आया देख विजयके लिये उद्यत हुए पाण्डव वीर आगे बढ़े ॥

प्रत्याश्वस्य च दुर्धर्षः सहदेवो विशाम्पते ॥ २६ ॥
शकुनिं दशभिर्विद्ध्वा हयांश्चास्य त्रिभिः शरैः ।
धनुश्चिच्छेद च शरैः सौबलस्य हसन्निव ॥ २७ ॥

प्रजानाथ ! इतनेहीमें स्वस्थ होकर दुर्धर्ष वीर सहदेवने हँसते हुए-से दस बाणोंसे शकुनिको बींध डाला और तीन बाणोंसे उसके घोड़ोंको मारकर हँसते हुए-से अनेक बाणोंद्वारा सुबलपुत्रके धनुषको भी टूक-टूक कर डाला ॥ २६-२७ ॥

अथान्यद् धनुरादाय शकुनिर्युद्धदुर्मदः ।
विव्याध नकुलं षष्ट्या भीमसेनं च सप्तभिः ॥ २८ ॥

तदनन्तर दूसरा धनुष हाथमें लेकर रणदुर्मद शकुनिने नकुलको साठ और भीमसेनको सात बाणोंसे घायल कर दिया॥

उलूकोऽपि महाराज भीमं विव्याध सप्तभिः ।
सहदेवं च सप्तत्या परीप्सन् पितरं रणे ॥ २९ ॥

महाराज ! रणभूमिमें पिताकी रक्षा करते हुए उलूकने भीमसेनको सात और सहदेवको सत्तर बाणोंसे क्षत-विक्षत कर दिया ॥ २९ ॥

तं भीमसेनः समरे विव्याध नवभिः शरैः ।
शकुनिं च चतुःषष्ट्या पार्श्वस्थांश्च त्रिभिस्त्रिभिः ॥ ३० ॥

तब भीमसेनने समराङ्गणमें नौ बाणोंसे उलूकको, चौसठ

बाणोंसे शकुनिको और तीन-तीन बाणोंसे उसके पार्श्वरक्षकोंको भी घायल कर दिया ॥ ३० ॥

ते हन्यमाना भीमेन नाराचैस्तैलपायितैः ।
सहदेवं रणे क्रुद्धाश्छादयञ्शरवृष्टिभिः ॥ ३१ ॥
पर्वतं वारिधाराभिः सविद्युत इवाम्बुदाः ।

भीमसेनके नाराचोंको तेल पिलाया गया था । उनके द्वारा भीमसेनके हाथसे मार खाये हुए शत्रु-सैनिकोंने रणभूमिमें कुपित होकर सहदेवको अपने बाणोंकी वर्षासे ढक दिया, मानो बिजलीसहित मेघोंने जलकी धाराओंसे पर्वतको आच्छादित कर दिया हो ॥ ३१½ ॥

ततोऽस्यापततः शूरः सहदेवः प्रतापवान् ॥ ३२ ॥
उलूकस्य महाराज भल्लेनापाहरच्छिरः ।

महाराज ! तब प्रतापी शूरवीर सहदेवने एक भल्ल मारकर अपने ऊपर आक्रमण करनेवाले उलूकका मस्तक काट डाला ॥ ३२½ ॥

स जगाम रथाद् भूमिं सहदेवेन पातितः ॥ ३३ ॥
रुधिराप्लुतसर्वाङ्गो नन्दयन् पाण्डवान् युधि ।

सहदेवके हाथसे मारा गया उलूक युद्धमें पाण्डवोंको आनन्दित करता हुआ रथसे पृथ्वीपर गिर पड़ा । उस समय उसके सारे अङ्ग खूनसे लथपथ हो गये थे ॥ ३३½ ॥

पुत्रं तु निहतं दृष्ट्वा शकुनिस्तत्र भारत ॥ ३४ ॥
साश्रुकण्ठो विनिःश्वस्य क्षत्तुर्वाक्यमनुस्मरन् ।
चिन्तयित्वा मुहूर्तं स बाष्पपूर्णेक्षणः श्वसन् ॥ ३५ ॥

भारत ! अपने पुत्रको मारा गया देख वहाँ शकुनिका गला भर आया । वह लंबी साँस खींचकर विदुरजीकी बातोंको याद करने लगा । अपनी आँखोंमें आँसू भरकर उच्छ्वास लेता हुआ दो घड़ीतक चिन्तामें डूबा रहा ॥ ३४-३५ ॥

सहदेवं समासाद्य त्रिभिर्विव्याध सायकैः ।
तानपास्य शरान् मुक्ताञ्शरसंघैः प्रतापवान् ॥ ३६ ॥
सहदेवो महाराज धनुश्चिच्छेद संयुगे ।

महाराज ! इसके बाद सहदेवके पास जाकर उसने तीन बाणोंद्वारा उनपर प्रहार किया । उसके छोड़े हुए उन बाणोंका अपने बाणसमूहोंसे निवारण करके प्रतापी सहदेवने युद्धस्थलमें उसका धनुष काट डाला ॥ ३६½ ॥

छिन्ने धनुषि राजेन्द्र शकुनिः सौबलस्तदा ॥ ३७ ॥
प्रगृह्य विपुलं खड्गं सहदेवाय प्राहिणोत् ।

राजेन्द्र ! धनुष कट जानेपर उस समय सुबलपुत्र शकुनिने एक विशाल खड्ग लेकर उसे सहदेवपर दे मारा ॥ ३७½ ॥

तमापतन्तं सहसा घोररूपं विशाम्पते ॥ ३८ ॥
द्विधा चिच्छेद समरे सौबलस्य हसन्निव ।

प्रजानाथ ! शकुनिके उस घोर खड्गको सहसा आते देख समराङ्गणमें सहदेवने हँसते हुए-से उसके दो टुकड़े कर डाले ॥

असिं दृष्ट्वा तथा छिन्नं प्रगृह्य महतीं गदाम् ॥ ३९ ॥
प्राहिणोत् सहदेवाय सा मोघा न्यपतद् भुवि ।

उस खड्गको कटा हुआ देख शकुनिने सहदेवपर एक विशाल गदा चलायी; परंतु वह विफल होकर पृथ्वीपर गिर पड़ी ॥ ३९½ ॥

ततः शक्तिं महाघोरां कालरात्रिमिवोद्यताम् ॥ ४० ॥
प्रेषयामास संक्रुद्धः पाण्डवं प्रति सौबलः ।

यह देख सुबलपुत्र क्रोधसे जल उठा । अबकी बार उसने उठी हुई कालरात्रिके समान एक महाभयंकर शक्ति सहदेवको लक्ष्य करके चलायी ॥ ४०½ ॥

तामापतन्तीं सहसा शरैः कनकभूषणैः ॥ ४१ ॥
त्रिधा चिच्छेद समरे सहदेवो हसन्निव ।

अपने ऊपर आती हुई उस शक्तिको सुवर्णभूषित बाणोंद्वारा मारकर सहदेवने समराङ्गणमें हँसते हुए-से सहसा उसके तीन टुकड़े कर डाले ॥ ४१½ ॥

सा पपात त्रिधा छिन्ना भूमौ कनकभूषणा ॥ ४२ ॥
शीर्यमाणा यथा दीप्ता गगनाद् वै शतह्रदा ।

तीन टुकड़ोंमें कटी हुई वह सुवर्णभूषित शक्ति आकाशसे गिरनेवाली चमकीली बिजलीके समान पृथ्वीपर बिखर गयी ॥

शक्तिं विनिहतां दृष्ट्वा सौबलं च भयार्दितम् ॥ ४३ ॥
दुद्रुवुस्तावकाः सर्वे भये जाते ससौबलाः ।

उस शक्तिको नष्ट हुई देख और सुबलपुत्र शकुनिको भी भयसे पीड़ित जान आपके सभी सैनिक भयभीत हो शकुनिसहित वहाँसे भाग खड़े हुए ॥ ४३½ ॥

अथोत्क्रुष्टं महच्चासीत् पाण्डवैर्जितकाशिभिः ॥ ४४ ॥
धार्तराष्ट्रास्ततः सर्वे प्रायशो विमुखाभवन् ।

उस समय विजयसे उल्लसित होनेवाले पाण्डवोंने बड़े जोरसे सिंहनाद किया । इससे आपके सभी सैनिक प्रायः युद्धसे विमुख हो गये ॥ ४४½ ॥

तान् वै विमनसो दृष्ट्वा माद्रीपुत्रः प्रतापवान् ॥ ४५ ॥
शरैरनेकसाहस्रैर्वारयामास संयुगे ।

उन सबको युद्धसे उदासीन देख प्रतापी माद्रीकुमार सहदेवने अनेक सहस्र बाणोंकी वर्षा करके उन्हें युद्धस्थलमें ही रोक दिया ॥ ४५½ ॥

ततो गान्धारकैर्गुप्तं पुष्टैरश्वैर्जये धृतम् ॥ ४६ ॥
आससाद रणे यान्तं सहदेवोऽथ सौबलम् ।

इसके बाद गान्धारदेशके हृष्टपुष्ट घोड़ों और घुड़सवारोंसे सुरक्षित तथा विजयके लिये दृढ़संकल्प होकर रणभूमिमें जाते हुए सुबलपुत्र शकुनिपर सहदेवने आक्रमण किया ॥

स्वमंशमवशिष्टं तं संस्मृत्य शकुनिं नृप ॥ ४७ ॥
रथेन काञ्चनाङ्गेन सहदेवः समभ्ययात् ।

नरेश्वर ! शकुनिको अपना अवशिष्ट भाग मानकर सहदेवने सुवर्णमय अङ्गोंवाले रथके द्वारा उसका पीछा किया ॥

अधिज्यं बलवत् कृत्वा व्याक्षिपन् सुमहद् धनुः ॥ ४८ ॥
स सौबलमभिद्रुत्य गार्ध्रपत्रैः शिलाशितैः ।
भृशमभ्यहनत् क्रुद्धस्तोत्रैरिव महाद्विपम् ॥ ४९ ॥

उन्होंने एक विशाल धनुषपर बलपूर्वक प्रत्यञ्चा चढ़ाकर शिलापर तेज किये हुए गीधके पंखोंवाले बाणोंद्वारा शकुनिपर

आक्रमण किया और जैसे किसी विशाल गजराजको अङ्कुशोंसे मारा जाय, उसी प्रकार कुपित हो उसको गहरी चोट पहुँचायी॥

उवाच चैनं मेधावी विगृह्य स्मारयन्निव।
क्षत्रधर्मे स्थिरो भूत्वा युध्यस्व पुरुषो भव॥ ५०॥
यत् तदा हृष्यसे मूढ ग्लहन्नक्षैः सभातले।
फलमद्य प्रपश्यस्व कर्मणस्तस्य दुर्मते॥ ५१॥

बुद्धिमान् सहदेवने उसपर आक्रमण करके कुछ याद दिलाते हुए-से इस प्रकार कहा—'ओ मूढ़! क्षत्रियधर्ममें स्थित होकर युद्ध कर और पुरुष बन। खोटी बुद्धिवाले शकुनि! तू सभामें पासे फेंककर जूआ खेलते समय जो उस दिन बहुत खुश हो रहा था, आज उस दुष्कर्मका महान् फल प्राप्त कर ले॥ ५०-५१॥

निहतास्ते दुरात्मानो येऽस्मानवहसन् पुरा।
दुर्योधनः कुलाङ्गारः शिष्टस्त्वं चास्य मातुलः॥ ५२॥
अद्य ते निहनिष्यामि क्षुरेणोन्मथितं शिरः।
वृक्षात् फलमिवाविद्धं लगुडेन प्रमाथिना॥ ५३॥

'जिन दुरात्माओंने पूर्वकालमें हमलोगोंकी हँसी उड़ायी थी, वे सब मारे गये। अब केवल कुलाङ्गार दुर्योधन और उसका मामा तू—ये दो ही बच गये हैं। जैसे मथ डालनेवाले डंडेसे मारकर पेड़से फल तोड़ लिया जाता है, उसी प्रकार आज मैं क्षुरके द्वारा तेरा मस्तक काटकर तुझे मौतके हवाले कर दूँगा'॥ ५२-५३॥

एवमुक्त्वा महाराज सहदेवो महाबलः।
संक्रुद्धो रणशार्दूलो वेगेनाभिजगाम तम्॥ ५४॥

महाराज! ऐसा कहकर रणक्षेत्रमें सिंहके समान पराक्रम दिखानेवाले महाबली सहदेवने अत्यन्त कुपित हो बड़े वेगसे उसपर आक्रमण किया॥ ५४॥

अभिगम्य सुदुर्धर्षः सहदेवो युधां पतिः।
विकृष्य बलवच्चापं क्रोधेन प्रज्वलन्निव॥ ५५॥
शकुनिं दशभिर्विद्ध्वा चतुर्भिश्चास्य वाजिनः।
छत्रं ध्वजं धनुश्चास्य छित्त्वा सिंह इवानदत्॥ ५६॥

योद्धाओंमें श्रेष्ठ सहदेव अत्यन्त दुर्जय वीर हैं। उन्होंने क्रोधसे जलते हुए-से पास जाकर अपने धनुषको बलपूर्वक खींचा और दस बाणोंसे शकुनिको घायल करके चार बाणोंसे उसके घोड़ोंको भी बींध डाला। तत्पश्चात् उसके छत्र, ध्वज और धनुषको भी काटकर सिंहके समान गर्जना की॥ ५५-५६॥

छिन्नध्वजधनुश्छत्रः सहदेवेन सौबलः।
कृतो विद्धश्च बहुभिः सर्वमर्मसु सायकैः॥ ५७॥

सहदेवने शकुनिके ध्वज, छत्र और धनुषको काट देनेके पश्चात् उसके सम्पूर्ण मर्मस्थानोंमें बाणोंद्वारा गहरी चोट पहुँचायी॥

ततो भूयो महाराज सहदेवः प्रतापवान्।
शकुनेः प्रेषयामास शरवृष्टिं दुरासदाम्॥ ५८॥

महाराज! तत्पश्चात् प्रतापी सहदेवने पुनः शकुनिपर दुर्जय बाणोंकी वर्षा प्रारम्भ कर दी॥ ५८॥

ततस्तु क्रुद्धः सुबलस्य पुत्रो
माद्रीसुतं सहदेवं विमर्दे।
प्रासेन जाम्बूनदभूषणेन
जिघांसुरेकोऽभिपपात शीघ्रम्॥ ५९॥

इससे सुबलपुत्र शकुनिको बड़ा क्रोध हुआ। उसने उस संग्राममें माद्रीकुमार सहदेवको सुवर्णभूषित प्रासके द्वारा मार डालनेकी इच्छासे अकेले ही उनपर तीव्र गतिसे आक्रमण किया॥

माद्रीसुतस्तस्य समुद्यतं तं
प्रासं सुवृत्तौ च भुजौ रणाग्रे।
भल्लैस्त्रिभिर्युगपत् संचकर्त
ननाद चोच्चैस्तरसाऽऽजिमध्ये॥ ६०॥

माद्रीकुमारने शकुनिके उस उठे हुए प्रासको और उसकी दोनों सुन्दर गोल-गोल भुजाओंको भी युद्धके मुहानेपर तीन भल्लोंद्वारा एक साथ ही काट डाला और युद्धस्थलमें उच्चस्वरसे वेगपूर्वक गर्जना की॥ ६०॥

तस्याशुकारी सुसमाहितेन
सुवर्णपुङ्खेन दृढायसेन।
भल्लेन सर्वावरणातिगेन
शिरः शरीरात् प्रममाथ भूयः॥ ६१॥

तत्पश्चात् शीघ्रता करनेवाले सहदेवने अच्छी तरह संधान करके छोड़े गये सुवर्णमय पंखवाले लोहेके बने हुए सुदृढ़ भल्लके द्वारा, जो समस्त आवरणोंको छेद डालनेवाला था, शकुनिके मस्तकको पुनः धड़से काट गिराया॥ ६१॥

शरेण कार्तस्वरभूषितेन
दिवाकराभेण सुसंहितेन।
हृतोत्तमाङ्गो युधि पाण्डवेन
पपात भूमौ सुबलस्य पुत्रः॥ ६२॥

वह सुवर्णभूषित बाण सूर्यके समान तेजस्वी तथा अच्छी तरह संधान करके चलाया गया था। उसके द्वारा पाण्डुकुमार सहदेवने युद्धस्थलमें जब सुबलपुत्र शकुनिका मस्तक काट डाला, तब वह प्राणशून्य होकर पृथ्वीपर गिर पड़ा॥

स तच्छिरो वेगवता शरेण
सुवर्णपुङ्खेन शिलाशितेन।
प्रावेरयत् कुपितः पाण्डुपुत्रो
यत्तत् कुरूणामनयस्य मूलम्॥ ६३॥

क्रोधमें भरे हुए पाण्डुपुत्र सहदेवने शिलापर तेज किये हुए और सुवर्णमय पंखवाले वेगवान् बाणसे शकुनिके उस मस्तकको काट गिराया, जो कौरवोंके अन्यायका मूल कारण था॥

भुजौ सुवृत्तौ प्रचकर्त वीरः
पश्चात् कबन्धं रुधिरावसिक्तम्।
विस्पन्दमानं निपपात घोरं
रथोत्तमात् पार्थिव पार्थिवस्य॥ ६४॥

राजन्! वीर सहदेवने जब उसकी गोल-गोल सुन्दर दोनों भुजाएँ काट दीं, उसके पश्चात् राजा शकुनिका भयंकर धड़ लहूलुहान होकर श्रेष्ठ रथसे नीचे गिर पड़ा और छटपटाने लगा॥

हृतोत्तमाङ्गं शकुनिं समीक्ष्य
भूमौ शयानं रुधिरार्द्रगात्रम्।

योधास्त्वदीया भयनष्टसत्त्वा
दिशः प्रजग्मुः प्रगृहीतशस्त्राः ॥ ६५ ॥

शकुनिको मस्तकसे रहित एवं खूनसे लथपथ होकर पृथ्वीपर पड़ा देख आपके योद्धा भयके कारण अपना धैर्य खो बैठे और हथियार लिये हुए सम्पूर्ण दिशाओंमें भाग गये ॥

प्रविद्रुताः शुष्कमुखा विसंज्ञा
गाण्डीवघोषेण समाहताश्च ।
भयार्दिता भग्नरथाश्वनागाः
पदातयश्चैव सधार्तराष्ट्राः ॥ ६६ ॥

उनके मुख सूख गये थे। उनकी चेतना लुप्त-सी हो रही थी। वे गाण्डीवकी टंकारसे मृतप्राय हो रहे थे; उनके रथ, घोड़े और हाथी नष्ट हो गये थे; अतः वे भयसे पीड़ित हो आपके पुत्र दुर्योधनसहित पैदल ही भाग चले ॥ ६६ ॥

ततो रथाच्छकुनिं पातयित्वा
मुदान्विता भारत पाण्डवेयाः ।
शङ्खान् प्रदध्मुः समरेऽतिहृष्टाः
सकेशवाः सैनिकान् हर्षयन्तः ॥ ६७ ॥

भरतनन्दन ! रथसे शकुनिको गिराकर समराङ्गणमें श्रीकृष्णसहित समस्त पाण्डव अत्यन्त हर्षमें भरकर सैनिकोंका हर्ष बढ़ाते हुए प्रसन्नतापूर्वक शङ्खनाद करने लगे ॥ ६७ ॥

तं चापि सर्वे प्रतिपूजयन्तो
हृष्टा ब्रुवाणाः सहदेवमाजौ ।
दिष्ट्या हतो नैकृतिको महात्मा
सहात्मजो वीर रणे त्वयेति ॥ ६८ ॥

सहदेवको देखकर युद्धक्षेत्रमें सब लोग उनकी पूजा (प्रशंसा) करते हुए इस प्रकार कहने लगे—'वीर ! बड़े सौभाग्यकी बात है कि तुमने रणभूमिमें कपटद्यूतके विधायक महामना शकुनिको पुत्रसहित मार डाला है' ॥ ६८ ॥

इति श्रीमहाभारते शल्यपर्वणि शकुन्युलूकवधेऽष्टाविंशोऽध्यायः ॥ २८ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शल्यपर्वमें शकुनि और उलूकका वधविषयक अट्ठाईसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २८ ॥

(ह्रदप्रवेशपर्व)

एकोनत्रिंशोऽध्यायः

बची हुई समस्त कौरवसेनाका वध, संजयका कैदसे छूटना, दुर्योधनका सरोवरमें प्रवेश तथा युयुत्सुका राजमहिलाओंके साथ हस्तिनापुरमें जाना

संजय उवाच

ततः क्रुद्धा महाराज सौबलस्य पदानुगाः ।
त्यक्त्वा जीवितमाक्रन्दे पाण्डवान् पर्यवारयन् ॥ १ ॥

संजय कहते हैं—महाराज ! तदनन्तर शकुनिके अनुचर क्रोधमें भर गये और प्राणोंका मोह छोड़कर उन्होंने उस महासमरमें पाण्डवोंको चारों ओरसे घेर लिया ॥ १ ॥

तानर्जुनः प्रत्यगृह्णात् सहदेवजये धृतः ।
भीमसेनश्च तेजस्वी क्रुद्धाशीविषदर्शनः ॥ २ ॥

उस समय सहदेवकी विजयको सुरक्षित रखनेका दृढ़ निश्चय लेकर अर्जुनने उन समस्त सैनिकोंको आगे बढ़नेसे रोका। उनके साथ तेजस्वी भीमसेन भी थे, जो कुपित हुए विषधर सर्पके समान दिखायी देते थे ॥ २ ॥

शक्त्यृष्टिप्रासहस्तानां सहदेवं जिघांसताम् ।
संकल्पमकरोन्मोघं गाण्डीवेन धनंजयः ॥ ३ ॥

सहदेवको मारनेकी इच्छासे शक्ति, ऋष्टि और प्रास हाथमें लेकर आक्रमण करनेवाले उन समस्त योद्धाओंका संकल्प अर्जुनने गाण्डीव धनुषके द्वारा व्यर्थ कर दिया ॥ ३ ॥

संगृहीतायुधान् बाहून् योधानामभिधावताम् ।
भल्लैश्चिच्छेद बीभत्सुः शिरांस्यपि हयानपि ॥ ४ ॥

सहदेवपर धावा करनेवाले उन योद्धाओंकी अस्त्र-शस्त्र-युक्त भुजाओं, मस्तकों और उनके घोड़ोंको भी अर्जुनने भल्लोंसे काट गिराया ॥ ४ ॥

ते हयाः प्रत्यपद्यन्त वसुधां विगतासवः ।
चरता लोकवीरेण प्रहताः सव्यसाचिना ॥ ५ ॥

रणभूमिमें विचरते हुए विश्वविख्यात वीर सव्यसाची अर्जुनके द्वारा मारे गये वे घोड़े और घुड़सवार प्राणहीन होकर पृथ्वीपर गिर पड़े ॥ ५ ॥

ततो दुर्योधनो राजा दृष्ट्वा स्वबलसंक्षयम् ।
हतशेषान् समानीय क्रुद्धो रथगणान् बहून् ॥ ६ ॥
कुञ्जरांश्च हयांश्चैव पादातांश्च समन्ततः ।
उवाच सहितान् सर्वान् धार्तराष्ट्र इदं वचः ॥ ७ ॥

अपनी सेनाका इस प्रकार संहार होता देख राजा दुर्योधनको बड़ा क्रोध हुआ। उसने मरनेसे बचे हुए बहुत-से रथियों, हाथीसवारों, घुड़सवारों और पैदलोंको सब ओरसे एकत्र करके उन सबसे इस प्रकार कहा—॥ ६-७ ॥

समासाद्य रणे सर्वान् पाण्डवान् ससुहृद्गणान् ।
पाञ्चाल्यं चापि सबलं हत्वा शीघ्रं न्यवर्तत ॥ ८ ॥

'वीरो ! तुम सब लोग रणभूमिमें समस्त पाण्डवों तथा उनके मित्रोंसे भिड़कर उन्हें मार डालो और पाञ्चालराज धृष्टद्युम्नका भी सेनासहित संहार करके शीघ्र लौट आओ' ॥

तस्य ते शिरसा गृह्य वचनं युद्धदुर्मदाः ।
अभ्युद्ययू रणे पार्थास्तव पुत्रस्य शासनात् ॥ ९ ॥

राजन् ! आपके पुत्रकी आज्ञासे उसके उस वचनको शिरोधार्य करके वे रणदुर्मद योद्धा युद्धके लिये आगे बढ़े ॥

तानभ्यापततः शीघ्रं हतशेषान् महारणे ।
शरैराशीविषाकारैः पाण्डवाः समवाकिरन् ॥ १० ॥

उस महासमरमें शीघ्रतापूर्वक आक्रमण करनेवाले मरनेसे बचे हुए उन सैनिकोंपर समस्त पाण्डवोंने विषधर सर्पके समान आकारवाले बाणोंकी वर्षा आरम्भ कर दी ॥ १० ॥

तत् सैन्यं भरतश्रेष्ठ मुहूर्तेन महात्मभिः।
अवध्यत रणं प्राप्य त्रातारं नाभ्यविन्दत ॥ ११ ॥
प्रतिष्ठमानं तु भयान्नावतिष्ठति दंशितम्।

भरतश्रेष्ठ ! वह सेना युद्धस्थलमें आकर महात्मा पाण्डवोंद्वारा दो ही घड़ीमें मार डाली गयी। उस समय उसे कोई भी अपना रक्षक नहीं मिला। वह युद्धके लिये कवच बाँधकर प्रस्थित तो हुई, किंतु भयके मारे वहाँ टिक न सकी ॥ ११½ ॥

अश्वैर्विपरिधावद्भिः सैन्येन रजसा वृते ॥ १२ ॥
न प्राज्ञायन्त समरे दिशः सप्रदिशस्तथा।

चारों ओर दौड़ते हुए घोड़ों तथा सेनाके द्वारा उड़ायी हुई धूलसे वहाँका सारा प्रदेश छा गया था। अतः समरभूमिमें दिशाओं तथा विदिशाओंका कुछ पता नहीं चलता था॥ १२½ ॥

ततस्तु पाण्डवानीकान्निःसृत्य बहवो जनाः ॥ १३ ॥
अभ्यघ्नंस्तावकान् युद्धे मुहूर्तादिव भारत।
ततो निःशेषमभवत् तत् सैन्यं तव भारत ॥ १४ ॥

भारत ! पाण्डवसेनासे बहुत-से सैनिकोंने निकलकर युद्धमें एक ही मुहूर्तके भीतर आपके सम्पूर्ण योद्धाओंका संहार कर डाला। भरतनन्दन ! उस समय आपकी वह सेना सर्वथा नष्ट हो गयी। उसमेंसे एक भी योद्धा बच न सका ॥

अक्षौहिण्यः समेतास्तु तव पुत्रस्य भारत।
एकादश हता युद्धे ताः प्रभो पाण्डुसृञ्जयैः ॥ १५ ॥

प्रभो ! भरतवंशी नरेश ! आपके पुत्रके पास ग्यारह अक्षौहिणी सेनाएँ थीं; परंतु युद्धमें पाण्डवों और संजयोंने उन सबका विनाश कर डाला ॥ १५ ॥

तेषु राजसहस्रेषु तावकेषु महात्मसु।
एको दुर्योधनो राजन्नदृश्यत भृशं क्षतः ॥ १६ ॥

राजन् ! आपके दलके उन सहस्रों महामनस्वी राजाओंमें एकमात्र दुर्योधन ही उस समय दिखायी देता था; परंतु वह भी बहुत घायल हो चुका था ॥ १६ ॥

ततो वीक्ष्य दिशः सर्वा दृष्ट्वा शून्यां च मेदिनीम्।
विहीनः सर्वयोधैश्च पाण्डवान् वीक्ष्य संयुगे ॥ १७ ॥
मुदितान् सर्वतः सिद्धान् नर्दमानान् समन्ततः।
बाणशब्दरवांश्चैव श्रुत्वा तेषां महात्मनाम् ॥ १८ ॥
दुर्योधनो महाराज कश्मलेनाभिसंवृतः।
अपयाने मनश्चक्रे विहीनबलवाहनः ॥ १९ ॥

उस समय उसे सम्पूर्ण दिशाएँ और सारी पृथ्वी सूनी दिखायी दी। वह अपने समस्त योद्धाओंसे हीन हो चुका था। महाराज ! दुर्योधनने युद्धस्थलमें पाण्डवोंको सर्वथा प्रसन्न, सफलमनोरथ और सब ओरसे सिंहनाद करते देख तथा उन महामनस्वी वीरोंके बाणोंकी सनसनाहट सुनकर शोकसे संतप्त हो वहाँसे भाग जानेका विचार किया। उसके पास न तो सेना थी और न कोई सवारी ही ॥ १७–१९ ॥

धृतराष्ट्र उवाच

निहते मामके सैन्ये निःशेषे शिविरे कृते।
पाण्डवानां बले सूत किं नु शेषमभूत् तदा ॥ २० ॥

धृतराष्ट्रने पूछा—सूत ! जब मेरी सेना मार डाली गयी और सारी छावनी सूनी कर दी गयी, उस समय पाण्डवोंकी सेनामें कितने सैनिक शेष रह गये थे? ॥ २० ॥

एतन्मे पृच्छतो ब्रूहि कुशलो ह्यसि संजय।
यच्च दुर्योधनो मन्दः कृतवांस्तनयो मम ॥ २१ ॥
बलक्षयं तथा दृष्ट्वा स एकः पृथिवीपतिः।

संजय ! मैं यह बात पूछ रहा हूँ, तुम मुझे बताओ; क्योंकि यह सब बतानेमें तुम कुशल हो। अपनी सेनाका संहार हुआ देखकर अकेले बचे हुए मेरे मूर्ख पुत्र राजा दुर्योधनने क्या किया? ॥ २१½ ॥

संजय उवाच

रथानां द्वे सहस्रे तु सप्त नागशतानि च ॥ २२ ॥
पञ्च चाश्वसहस्राणि पत्तीनां च शतं शताः।
एतच्छेषमभूद् राजन् पाण्डवानां महद् बलम् ॥ २३ ॥

संजयने कहा—राजन् ! पाण्डवोंकी विशाल सेनामेंसे केवल दो हजार रथ, सात सौ हाथी, पाँच हजार घोड़े और दस हजार पैदल बच गये थे ॥ २२-२३ ॥

परिगृह्य हि यद् युद्धे धृष्टद्युम्नो व्यवस्थितः।
एकाकी भरतश्रेष्ठ ततो दुर्योधनो नृपः ॥ २४ ॥

इन सबको साथ लेकर सेनापति धृष्टद्युम्न युद्धभूमिमें खड़े थे। उधर राजा दुर्योधन अकेला हो गया था ॥ २४ ॥

नापश्यत् समरे कंचित् सहायं रथिनां वरः।
नर्दमानान् परान् दृष्ट्वा स्वबलस्य च संक्षयम् ॥ २५ ॥
तथा दृष्ट्वा महाराज एकः स पृथिवीपतिः।
हतं स्वहयमुत्सृज्य प्राङ्मुखः प्राद्रवद् भयात् ॥ २६ ॥

महाराज ! रथियोंमें श्रेष्ठ दुर्योधनने जब समरभूमिमें अपने किसी सहायकको न देखकर शत्रुओंको गर्जते देखा और अपनी सेनाके विनाशपर दृष्टिपात किया, तब वह अकेला भूपाल अपने मरे हुए घोड़ेको वहीं छोड़कर भयके मारे पूर्व दिशाकी ओर भाग चला ॥ २५-२६ ॥

एकादशचमूभर्ता पुत्रो दुर्योधनस्तव।
गदामादाय तेजस्वी पदातिः प्रस्थितो ह्रदम् ॥ २७ ॥

जो किसी समय ग्यारह अक्षौहिणी सेनाका सेनापति था, वही आपका तेजस्वी पुत्र दुर्योधन अब गदा लेकर पैदल ही सरोवरकी ओर भागा जा रहा था ॥ २७ ॥

नातिदूरं ततो गत्वा पद्भ्यामेव नराधिपः।
सस्मार वचनं क्षत्तुर्धर्मशीलस्य धीमतः ॥ २८ ॥

अपने पैरोंसे ही थोड़ी ही दूर जानेके पश्चात् राजा दुर्योधनको धर्मशील बुद्धिमान् विदुरजीकी कही हुई बातें याद आने लगीं ॥ २८ ॥

इदं नूनं महाप्राज्ञो विदुरो दृष्टवान् पुरा।
महद् वैशसमस्माकं क्षत्रियाणां च संयुगे ॥ २९ ॥

यह सब [illegible] सोचने लगा कि हमारा और इन क्षत्रियों-का जो महान् संहार हुआ है, इसे महाज्ञानी विदुरजीने अवश्य पहले ही देख और समझ लिया था ॥ २९ ॥

एवं विचिन्तयानस्तु प्रविविक्षुर्ह्रदं नृपः ।
दुःखसंतप्तहृदयो दृष्ट्वा राजन् बलक्षयम् ॥ ३० ॥

राजन् ! अपनी सेनाका संहार देखकर इस प्रकार चिन्ता करते हुए राजा दुर्योधनका हृदय दुःख और शोकसे संतप्त हो उठा था । उसने सरोवरमें प्रवेश करनेका विचार किया ॥

पाण्डवास्तु महाराज धृष्टद्युम्नपुरोगमाः ।
अभ्यद्रवन्त संक्रुद्धास्तव राजन् बलं प्रति ॥ ३१ ॥
शक्त्यृष्टिप्रासहस्तानां बलानामभिगर्जताम् ।
संकल्पमकरोन्मोघं गाण्डीवेन धनंजयः ॥ ३२ ॥

महाराज ! धृष्टद्युम्न आदि पाण्डवोंने अत्यन्त कुपित होकर आपकी सेनापर धावा किया था तथा शक्ति, ऋष्टि और प्रास हाथमें लेकर गर्जना करनेवाले आपके योद्धाओंका सारा संकल्प अर्जुनने अपने गाण्डीव धनुषसे व्यर्थ कर दिया था ॥

तान् हत्वा निशितैर्बाणैः सामात्यान् सह बन्धुभिः ।
रथे श्वेतहये तिष्ठन्नर्जुनो बह्वशोभत ॥ ३३ ॥

अपने पैने बाणोंसे बन्धुओं और मन्त्रियोंसहित उन योद्धाओंका संहार करके श्वेत घोड़ोंवाले रथपर स्थित हुए अर्जुनकी बड़ी शोभा हो रही थी ॥ ३३ ॥

सुबलस्य हते पुत्रे सवाजिरथकुञ्जरे ।
महावनमिव च्छिन्नमभवत् तावकं बलम् ॥ ३४ ॥

घोड़े, रथ और हाथियोंसहित सुबलपुत्रके मारे जानेपर आपकी सेना कटे हुए विशाल वनके समान प्रतीत होती थी ॥

अनेकशतसाहस्रे बले दुर्योधनस्य ह ।
नान्यो महारथो राजन् जीवमानो व्यदृश्यत ॥ ३५ ॥
द्रोणपुत्रादृते वीरात् तथैव कृतवर्मणः ।
कृपाच्च गौतमाद् राजन् पार्थिवाच्च तवात्मजात् ॥ ३६ ॥

राजन् ! दुर्योधनकी कई लाख सेनामेंसे द्रोणपुत्र वीर अश्वत्थामा, कृतवर्मा, गौतमवंशी कृपाचार्य तथा आपके पुत्र राजा दुर्योधनके अतिरिक्त दूसरा कोई महारथी जीवित नहीं दिखायी देता था ॥ ३५-३६ ॥

धृष्टद्युम्नस्तु मां दृष्ट्वा हसन् सात्यकिमब्रवीत् ।
किमनेन गृहीतेन नानेनार्थोऽस्ति जीवता ॥ ३७ ॥

उस समय मुझे कैदमें पड़ा हुआ देखकर हँसते हुए धृष्टद्युम्नने सात्यकिसे कहा—'इसको कैद करके क्या करना है ? इसके जीवित रहनेसे अपना कोई लाभ नहीं है' ॥ ३७ ॥

धृष्टद्युम्नवचः श्रुत्वा शिनेर्नप्ता महारथः ।
उद्यम्य निशितं खड्गं हन्तुं मामुद्यतस्तदा ॥ ३८ ॥

धृष्टद्युम्नकी बात सुनकर शिनिपौत्र महारथी सात्यकि तीखी तलवार उठाकर उसी क्षण मुझे मार डालनेके लिये उद्यत हो गये ॥ ३८ ॥

तमागम्य महाप्राज्ञः कृष्णद्वैपायनोऽब्रवीत् ।
मुच्यतां संजयो जीवन् न हन्तव्यः कथंचन ॥ ३९ ॥

उस समय महाज्ञानी श्रीकृष्णद्वैपायन व्यासजी सहसा आकर बोले—'संजयको जीवित छोड़ दो । यह किसी प्रकार वधके योग्य नहीं है' ॥ ३९ ॥

द्वैपायनवचः श्रुत्वा शिनेर्नप्ता कृताञ्जलिः ।
ततो मामब्रवीन्मुक्त्वा स्वस्ति संजय साधय ॥ ४० ॥

हाथ जोड़े हुए शिनिपौत्र सात्यकिने व्यासजीकी वह बात सुनकर मुझे कैदसे मुक्त करके कहा—'संजय ! तुम्हारा कल्याण हो । जाओ, अपना अभीष्ट साधन करो' ॥ ४० ॥

अनुज्ञातस्त्वहं तेन न्यस्तवर्मा निरायुधः ।
प्रातिष्ठं येन नगरं सायाह्ने रुधिरोक्षितः ॥ ४१ ॥

उनके इस प्रकार आज्ञा देनेपर मैंने कवच उतार दिया और अस्त्र-शस्त्रोंसे रहित हो सायंकालके समय नगरकी ओर प्रस्थित हुआ । उस समय मेरा सारा शरीर रक्तसे भीगा हुआ था ॥

क्रोशमात्रमपक्रान्तं गदापाणिमवस्थितम् ।
एकं दुर्योधनं राजन्नपश्यं भृशविक्षतम् ॥ ४२ ॥

राजन् ! एक कोस आनेपर मैंने भागे हुए दुर्योधनको गदा हाथमें लिये अकेला खड़ा देखा । उसके शरीरपर बहुत-से घाव हो गये थे ॥ ४२ ॥

स तु मामश्रुपूर्णाक्षो नाशक्नोदभिवीक्षितुम् ।
उपप्रैक्षत मां दृष्ट्वा तथा दीनमवस्थितम् ॥ ४३ ॥

मुझपर दृष्टि पड़ते ही उसके नेत्रोंमें आँसू भर आये । वह अच्छी तरह मेरी ओर देख न सका । मैं उस समय दीन भावसे खड़ा था । वह मेरी उस अवस्थापर दृष्टिपात करता रहा ॥ ४३ ॥

तं चाहमपि शोचन्तं दृष्ट्वैकाकिनमाहवे ।
मुहूर्तं नाशकं वक्तुमतिदुःखपरिप्लुतः ॥ ४४ ॥

मैं भी युद्धक्षेत्रमें अकेले शोकमग्न हुए दुर्योधनको देखकर अत्यन्त दुःखशोकमें डूब गया और दो घड़ीतक कोई बात मुँहसे न निकाल सका ॥ ४४ ॥

(यस्य मूर्धाभिषिक्तानां सहस्रं मणिमौलिनाम् ।
आहृत्य च करं सर्वे स्वस्य वै वशमागतम् ॥
चतुःसागरपर्यन्ता पृथिवी रत्नभूषिता ।
कर्णेनैकेन यस्यार्थे करमाहारिता पुरा ॥
यस्याज्ञा परराष्ट्रेषु कर्णेनैव प्रसारिता ।
नाभवद् यस्य शस्त्रेषु खेदो राज्ञः प्रशासतः ॥
आसीनो हास्तिनपुरे क्षेमं राज्यमकण्टकम् ।
अन्वपालयदैश्वर्यात् कुबेरमपि नास्मरत् ॥
भवनाद् भवनं राजन् प्रयातुः पृथिवीपते ।
देवालयप्रवेशे च पन्था यस्य हिरण्मयः ॥
आरुह्यैरावतप्रख्यं नागमिन्द्रसमो बली ।
विभूत्या सुमहत्या यः प्रयाति पृथिवीपतिः ॥
तं भृशक्षतमिन्द्राभं पद्भ्यामेव धरातले ।
तिष्ठन्तमेकं दृष्ट्वा तु ममाभूत् क्लेश उत्तमः ॥
तस्य चैवंविधस्यास्य जगन्नाथस्य भूपतेः ।
विपदप्रतिमाभूद् या बलीयान् विधिरेव हि ॥)
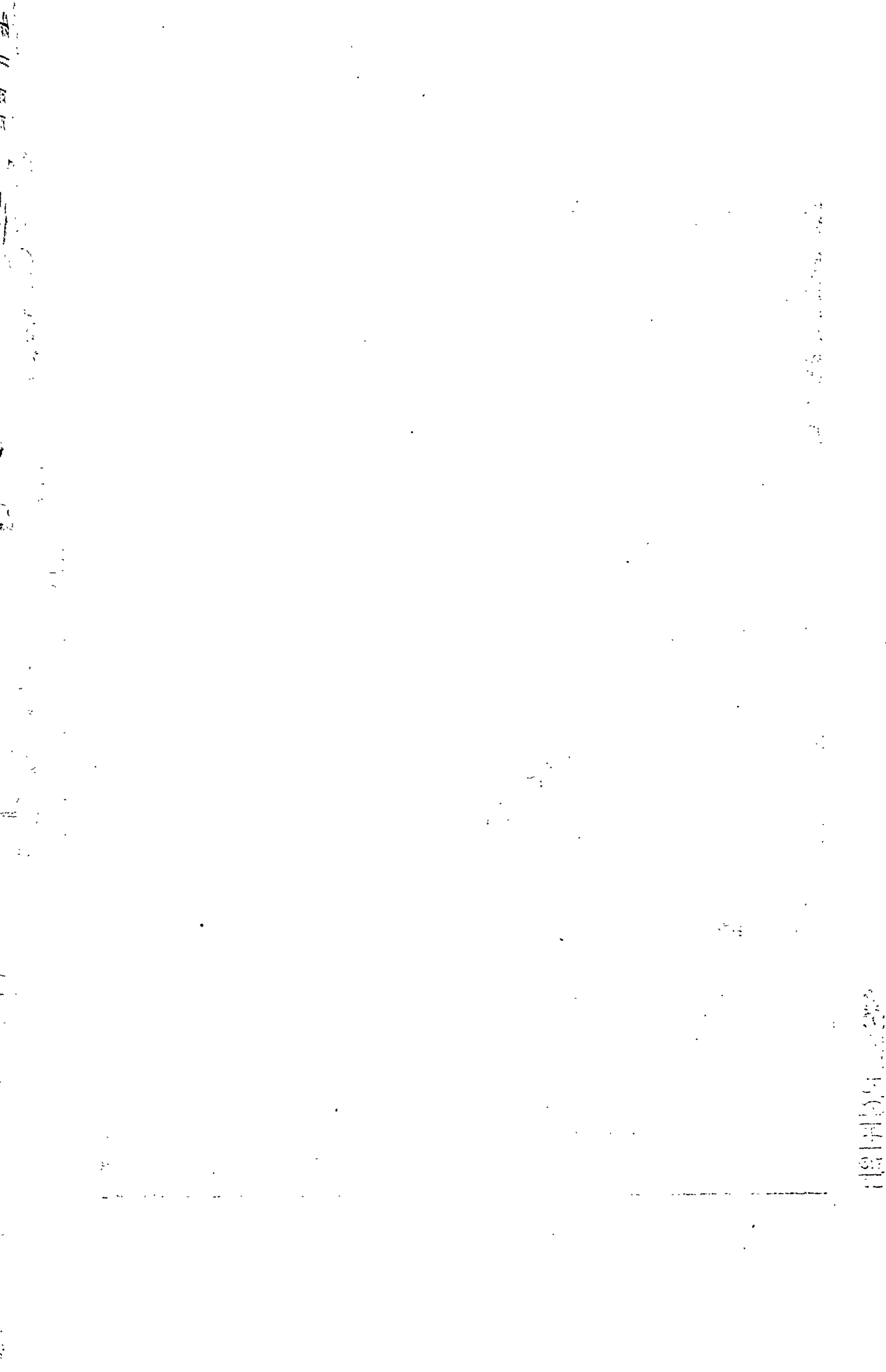
विश्रामके लिये सरोवरमें छिपे हुए दुर्योधन

मस्तकपर मुकुट धारण करनेवाले सहस्रों मूर्धाभिषिक्त नरेश जिसके लिये भेंट लाकर देते थे और वे सब-के-सब जिसकी अधीनता स्वीकार कर चुके थे, पूर्वकालमें एकमात्र वीर कर्णने जिसके लिये चारों समुद्रोंतक फैली हुई इस रत्न-भूषित पृथ्वीसे कर वसूल किया था, कर्णने ही दूसरे राष्ट्रोंमें जिसकी आज्ञाका प्रसार किया था, जिस राजाको राज्य-शासन करते समय कभी हथियार उठानेका कष्ट नहीं सहन करना पड़ा था, जो हस्तिनापुरमें ही रहकर अपने कल्याणमय निष्कण्टक राज्यका निरन्तर पालन करता था, जिसने अपने ऐश्वर्यसे कुबेरको भी भुला दिया था, राजन्! पृथ्वीनाथ ! एक घरसे दूसरे घरमें जाने अथवा देवालयमें प्रवेश करनेके हेतु जिसके लिये सुवर्णमय मार्ग बनाया गया था, जो इन्द्रके समान बलवान् भूपाल ऐरावतके समान कान्तिमान् गजराजपर आरूढ़ हो महान् ऐश्वर्यके साथ यात्रा करता था, उसी इन्द्र-तुल्य तेजस्वी राजा दुर्योधनको अत्यन्त घायल हो पाँव-पयादे ही पृथ्वीपर अकेला खड़ा देख मुझे महान् क्लेश हुआ। ऐसे प्रतापी और सम्पूर्ण जगत्के स्वामी इस भूपालको जो अनुपम विपत्ति प्राप्त हुई, उसे देखकर कहना पड़ता है कि 'विधाता ही सबसे बड़ा बलवान् है' ॥

ततोऽस्मै तदहं सर्वमुक्तवान् ग्रहणं तदा।
द्वैपायनप्रसादाच्च जीवतो मोक्षमाहवे ॥ ४५ ॥

तत्पश्चात् मैंने युद्धमें अपने पकड़े जाने और व्यासजीकी कृपासे जीवित छूटनेका सारा समाचार उससे कह सुनाया ॥

स मुहूर्तमिव ध्यात्वा प्रतिलभ्य च चेतनाम्।
भ्रातॄंश्च सर्वसैन्यानि पर्यपृच्छत मां ततः ॥ ४६ ॥

उसने दो घड़ीतक कुछ सोच-विचारकर सचेत होनेपर मुझसे अपने भाइयों तथा सम्पूर्ण सेनाओंका समाचार पूछा ॥

तस्मै तदहमाचक्षे सर्वं प्रत्यक्षदर्शिवान्।
भ्रातॄंश्च निहतान् सर्वान् सैन्यं च विनिपातितम्॥ ४७ ॥
त्रयः किल रथाः शिष्टास्तावकानां नराधिप।
इति प्रस्थानकाले मां कृष्णद्वैपायनोऽब्रवीत् ॥ ४८ ॥

मैंने भी जो कुछ आँखों देखा था, वह सब कुछ उसे इस प्रकार बताया—'नरेश्वर ! तुम्हारे सारे भाई मार डाले गये और समस्त सेनाका भी संहार हो गया। रणभूमिसे प्रस्थान करते समय व्यासजीने मुझसे कहा था कि 'तुम्हारे पक्षमें तीन ही महारथी बच गये हैं' ॥ ४७-४८ ॥

स दीर्घमिव निःश्वस्य प्रत्यवेक्ष्य पुनः पुनः।
असौ मां पाणिना स्पृष्ट्वा पुत्रस्ते पर्यभाषत ॥ ४९ ॥
त्वदन्यो नेह संग्रामे कश्चिज्जीवति संजय।
द्वितीयं नेह पश्यामि ससहायाश्च पाण्डवाः ॥ ५० ॥

यह सुनकर आपके पुत्रने लंबी साँस खींचकर बारंबार मेरी ओर देखा और हाथसे मेरा स्पर्श करके इस प्रकार कहा—'संजय ! इस संग्राममें तुम्हारे सिवा दूसरा कोई मेरा आत्मीय जन सम्भवतः जीवित नहीं है; क्योंकि मैं यहाँ दूसरे किसी स्वजनको देख नहीं रहा हूँ। उधर पाण्डव अपने सहायकोंसे सम्पन्न हैं ॥ ४९-५० ॥

ब्रूयाः संजय राजानं प्रज्ञाचक्षुषमीश्वरम्।
दुर्योधनस्तव सुतः प्रविष्टो ह्रदमित्युत ॥ ५१ ॥
सुहृद्भिस्तादृशैर्हीनः पुत्रैर्भ्रातृभिरेव च।
पाण्डवैश्च हृते राज्ये को नु जीवेत मादृशः ॥ ५२ ॥
आचक्षीथाः सर्वमिदं मां च मुक्तं महाहवात्।
अस्मिंस्तोयह्रदे गुप्तं जीवन्तं भृशविक्षतम् ॥ ५३ ॥

'संजय ! तुम प्रज्ञाचक्षु ऐश्वर्यशाली महाराजसे कहना कि 'आपका पुत्र दुर्योधन वैसे पराक्रमी सुहृदों, पुत्रों और भ्राताओंसे हीन होकर सरोवरमें प्रवेश कर गया है। जब पाण्डवोंने मेरा राज्य हर लिया, तब इस दयनीय-दशामें मेरे-जैसा कौन पुरुष जीवन धारण कर सकता है ?' संजय ! तुम ये सारी बातें कहना और यह भी बताना कि 'दुर्योधन उस महासंग्रामसे जीवित बचकर पानीसे भरे हुए इस सरोवरमें छिपा है और उसका सारा शरीर अत्यन्त घायल हो गया है'' ॥ ५१-५३ ॥

एवमुक्त्वा महाराज प्राविशत् तं महाह्रदम्।
अस्तम्भयत तोयं च मायया मनुजाधिपः ॥ ५४ ॥

महाराज ! ऐसा कहकर राजा दुर्योधनने उस महान् सरोवरमें प्रवेश किया और मायासे उसका पानी बाँध दिया ॥

तस्मिन् ह्रदं प्रविष्टे तु त्रीन् रथान् श्रान्तवाहनान्।
अपश्यं सहितानेकस्तं देशं समुपेयुषः ॥ ५५ ॥

जब दुर्योधन सरोवरमें समा गया, उसके बाद अकेले खड़े हुए मैंने अपने पक्षके तीन महारथियोंको वहाँ उपस्थित देखा, जो एक साथ उस स्थानपर आ पहुँचे थे। उन तीनोंके घोड़े थक गये थे ॥ ५५ ॥

कृपं शारद्वतं वीरं द्रौणिं च रथिनां वरम्।
भोजं च कृतवर्माणं सहिताञ्शरविक्षतान् ॥ ५६ ॥

उनके नाम इस प्रकार हैं—शरद्वान्के पुत्र वीर कृपाचार्य, रथियोंमें श्रेष्ठ द्रोणकुमार अश्वत्थामा तथा भोजवंशी कृतवर्मा। ये सब लोग एक साथ थे और बाणोंसे क्षत-विक्षत हो रहे थे ॥ ५६ ॥

ते सर्वे मामभिप्रेक्ष्य तूर्णमश्वाननोदयन्।
उपायाय तु मामूचुर्दिष्ट्या जीवसि संजय ॥ ५७ ॥

मुझे देखते ही उन तीनोंने शीघ्रतापूर्वक अपने घोड़े बढ़ाये और निकट आकर मुझसे कहा—'संजय ! सौभाग्यकी बात है कि तुम जीवित हो' ॥ ५७ ॥

अपृच्छंश्चैव मां सर्वे पुत्रं तव जनाधिपम्।
कच्चिद् दुर्योधनो राजा स नो जीवति संजय ॥ ५८ ॥

फिर उन सबने आपके पुत्र राजा दुर्योधनका समाचार पूछा—'संजय ! क्या हमारे राजा दुर्योधन जीवित हैं?' ॥ ५८ ॥

आख्यातवानहं तेभ्यस्तदा कुशलिनं नृपम्।
तच्चैव सर्वमाचक्षं यन्मां दुर्योधनोऽब्रवीत् ॥ ५९ ॥
ह्रदं चैवाहमाचक्षं यं प्रविष्टो नराधिपः।

तब मैंने उन लोगोंसे दुर्योधनका कुशल-समाचार बताया तथा दुर्योधनने मुझसे जो संदेश दिया था, वह भी सब उनसे

[illegible] सुनकर [illegible] ने [illegible] सुना था। उसका भी [illegible] ॥ ५९ ॥

अश्वत्थामा तु तद् राजन् निशम्य वचनं मम ॥ ६० ॥
तं ह्रदं विपुलं प्रेक्ष्य करुणं पर्यदेवयत् ।
अहो धिङ् स न जानाति जीवतोऽस्मान् नराधिपः॥ ६१॥
पर्याप्ता हि वयं तेन सह योधयितुं परान् ।

राजन्! मेरी बात सुनकर अश्वत्थामाने उस विशाल सरोवरकी ओर देखा और करुण विलाप करते हुए कहा—'अहो! धिक्कार है, राजा दुर्योधन नहीं जानते हैं कि हम सब जीवित हैं। उनके साथ रहकर हमलोग शत्रुओंसे जूझनेके लिये पर्याप्त हैं' ॥ ६०-६१½ ॥

ते तु तत्र चिरं कालं विलप्य च महारथाः ॥ ६२ ॥
प्राद्रवन् रथिनां श्रेष्ठा दृष्ट्वा पाण्डुसुतान् रणे ।

तत्पश्चात् वे महारथी दीर्घकाल तक वहाँ विलाप करते रहे। फिर रणभूमिमें पाण्डवोंको आते देख वे रथियोंमें श्रेष्ठ तीनों वीर वहाँसे भाग निकले ॥ ६२½ ॥

ते तु मां रथमारोप्य कृपस्य सुपरिष्कृतम् ॥ ६३ ॥
सेनानिवेशमाजग्मुर्हतशेषास्त्रयो रथाः ।
तत्र गुल्माः परित्रस्ताः सूर्ये चास्तमिते सति ॥ ६४ ॥
सर्वे विचुक्रुशुः श्रुत्वा पुत्राणां तव संक्षयम् ।

मरनेसे बचे हुए वे तीनों रथी मुझे भी कृपाचार्यके सुसज्जित रथपर बिठाकर छावनीतक ले आये। सूर्य अस्ताचल-पर जा चुके थे। वहाँ छावनीके पहरेदार भयसे घबराये हुए थे। आपके पुत्रोंके विनाशका समाचार सुनकर वे सभी फूट-फूटकर रोने लगे ॥ ६३-६४½ ॥

ततो वृद्धा महाराज योषितां रक्षिणो नराः ॥ ६५ ॥
राजदारानुपादाय प्रययुर्नगरं प्रति ।

महाराज! तदनन्तर स्त्रियोंकी रक्षामें नियुक्त हुए वृद्ध पुरुषोंने राजकुलकी महिलाओंको साथ लेकर नगरकी ओर प्रस्थान करनेकी तैयारी की ॥ ६५½ ॥

तत्र विक्रोशमानानां रुदतीनां च सर्वशः ॥ ६६ ॥
प्रादुरासीन्महाञ्शब्दः श्रुत्वा तद् बलसंक्षयम्।
ततस्ता योषितो राजन् क्रन्दन्त्यो वै मुहुर्मुहुः ॥ ६७ ॥
कुरर्य इव शब्देन नादयन्त्यो महीतलम् ।

उस समय वहाँ अपने पतियोंको पुकारती और रोती-बिलखती हुई राजमहिलाओंका महान् आर्तनाद सब ओर गूँज उठा। राजन्! अपनी सेना और पतियोंके संहारका समाचार सुनकर वे राजकुलकी युवतियाँ अपने आर्तनादसे भूतलको प्रतिध्वनित करती हुई बारंबार कुररीकी भाँति विलाप करने लगीं ॥ ६६-६७½ ॥

आजघ्नुः करजैश्चापि पाणिभिश्च शिरांस्युत ॥ ६८ ॥
लुलुचुश्च तदा केशान् क्रोशन्त्यस्तत्र तत्र ह ।
हाहाकारविनादिन्यो विनिघ्नन्त्य उरांसि च ॥ ६९ ॥
शोचन्त्यस्तत्र रुरुदुः क्रन्दमाना विशाम्पते ।

वे जहाँ-तहाँ हाहाकार करती हुई अपने ऊपर नखोंसे आघात करने, हाथोंसे सिर और छाती पीटने तथा केश नोचने लगीं। प्रजानाथ! शोकमें डूबकर पतिको पुकारती हुई वे रानियाँ करुण स्वरसे क्रन्दन करने लगीं ॥ ६८-६९½॥

ततो दुर्योधनामात्याः साश्रुकण्ठा भृशातुराः ॥ ७० ॥
राजदारानुपादाय प्रययुर्नगरं प्रति ।

इससे दुर्योधनके मन्त्रियोंका गला भर आया और वे अत्यन्त व्याकुल हो राजमहिलाओंको साथ ले नगरकी ओर चल दिये ॥ ७०½ ॥

वेत्रव्यासक्तहस्ताश्च द्वाराध्यक्षा विशाम्पते ॥ ७१ ॥
शयनीयानि शुभ्राणि स्पर्ध्यास्तरणवन्ति च ।
समादाय ययुस्तूर्णं नगरं दाररक्षिणः ॥ ७२ ॥

प्रजानाथ! उनके साथ हाथोंमें बेंतकी छड़ी लिये द्वारपाल भी चल रहे थे। रानियोंकी रक्षामें नियुक्त हुए सेवक शुभ्र एवं बहुमूल्य बिछौने लेकर शीघ्रतापूर्वक नगरकी ओर चलने लगे ॥ ७१-७२ ॥

आस्थायाश्वतरीयुक्तान् स्यन्दनानपरे पुनः ।
स्वान् स्वान् दारानुपादाय प्रययुर्नगरं प्रति ॥ ७३ ॥

अन्य बहुत-से राजकीय पुरुष खच्चरियोंसे जुते हुए रथोंपर आरूढ़ हो अपनी-अपनी रक्षामें स्थित स्त्रियोंको लेकर नगरकी ओर यात्रा करने लगे ॥ ७३ ॥

अदृष्टपूर्वा या नार्यो भास्करेणापि वेश्मसु ।
ददृशुस्ता महाराज जना याताः पुरं प्रति ॥ ७४ ॥

महाराज! जिन राजमहिलाओंको महलोंमें रहते समय पहले सूर्यदेवने भी नहीं देखा होगा, उन्हें ही नगरकी ओर जाते हुए साधारण लोग भी देख रहे थे ॥ ७४ ॥

ताः स्त्रियो भरतश्रेष्ठ सौकुमार्यसमन्विताः ।
प्रययुर्नगरं तूर्णं हतस्वजनबान्धवाः ॥ ७५ ॥

भरतश्रेष्ठ! जिनके स्वजन और बान्धव मारे गये थे, वे सुकुमारी स्त्रियाँ तीव्र गतिसे नगरकी ओर जा रही थीं ॥७५॥

आगोपालाविपालेभ्यो द्रवन्तो नगरं प्रति ।
ययुर्मनुष्याः सम्भ्रान्ता भीमसेनभयार्दिताः ॥ ७६ ॥

उस समय भीमसेनके भयसे पीड़ित हो सभी मनुष्य गायों और भेड़ोंके चरवाहे तक घबराकर नगरकी ओर भाग रहे थे ॥ ७६ ॥

अपि चैषां भयं तीव्रं पार्थेभ्योऽभूत् सुदारुणम् ।
प्रेक्षमाणास्तदान्योन्यमाधावन्नगरं प्रति ॥ ७७ ॥

उन्हें कुन्तीके पुत्रोंसे दारुण एवं तीव्र भय प्राप्त हुआ था। वे एक दूसरेकी ओर देखते हुए नगरकी ओर भागने लगे॥

तस्मिंस्तथा वर्तमाने विद्रवे भृशदारुणे ।
युयुत्सुः शोकसम्मूढः प्राप्तकालमचिन्तयत् ॥ ७८ ॥

जब इस प्रकार अति भयंकर भगदड़ मची हुई थी, उस समय युयुत्सु शोकसे मूर्छित हो मन-ही-मन समयोचित कर्तव्यका विचार करने लगा—॥ ७८ ॥

जितो दुर्योधनः संख्ये पाण्डवैर्भीमविक्रमैः ।
एकादशचमूभर्ता भ्रातरश्चास्य सूदिताः ॥ ७९ ॥

'भयंकर पराक्रमी पाण्डवोंने ग्यारह अक्षौहिणीसेनाके स्वामी राजा दुर्योधनको युद्धमें परास्त कर दिया और उसके भाइयोंको भी मार डाला ॥ ७९ ॥

हताश्च कुरवः सर्वे भीष्मद्रोणपुरःसराः ।
अहमेको विमुक्तस्तु भाग्ययोगाद् यदृच्छया ॥ ८० ॥

'भीष्म और द्रोणाचार्य जिनके अगुआ थे, वे समस्त कौरव मारे गये। अकस्मात् भाग्य-योगसे अकेला मैं ही बच गया हूँ ॥ ८० ॥

विद्रुतानि च सर्वाणि शिबिराणि समन्ततः ।
इतस्ततः पलायन्ते हतनाथा हतौजसः ॥ ८१ ॥

'सारे शिबिरके लोग सब ओर भाग गये। स्वामीके मारे जानेसे हतोत्साह होकर सभी सेवक इधर-उधर पलायन कर रहे हैं ॥ ८१ ॥

अदृष्टपूर्वा दुःखार्ता भयव्याकुललोचनाः ।
हरिणा इव वित्रस्ता वीक्षमाणा दिशो दश ॥ ८२ ॥
दुर्योधनस्य सचिवा ये केचिदवशेषिताः ।
राजदारानुपादाय प्रययुर्नगरं प्रति ॥ ८३ ॥

'उन सबकी ऐसी अवस्था हो गयी है, जैसी पहले कभी नहीं देखी गयी। सभी दुःखसे आतुर हैं और सबके नेत्र भयसे व्याकुल हो उठे हैं। सभी लोग भयभीत मृगोंके समान दसों दिशाओंकी ओर देख रहे हैं। दुर्योधनके मन्त्रियोंमेंसे जो कोई बच गये हैं, वे राजमहिलाओंको साथ लेकर नगरकी ओर जा रहे हैं ॥ ८२-८३ ॥

प्राप्तकालमहं मन्ये प्रवेशं तैः सह प्रभुम् ।
युधिष्ठिरमनुज्ञाप्य वासुदेवं तथैव च ॥ ८४ ॥

'मैं राजा युधिष्ठिर और वसुदेवनन्दन श्रीकृष्णकी आज्ञा लेकर उन मन्त्रियोंके साथ ही नगरमें प्रवेश करूँ, यही मुझे समयोचित कर्तव्य जान पड़ता है' ॥ ८४ ॥

एतमर्थं महाबाहुरुभयोः स न्यवेदयत् ।
तस्य प्रीतोऽभवद् राजा नित्यं करुणवेदिता ॥ ८५ ॥
परिष्वज्य महाबाहुर्वैश्यापुत्रं व्यसर्जयत् ।

ऐसा सोचकर महाबाहु युयुत्सुने उन दोनोंके सामने अपना विचार प्रकट किया। उसकी बात सुनकर निरन्तर करुणाका अनुभव करनेवाले महाबाहु राजा युधिष्ठिर बहुत प्रसन्न हुए और उन्होंने वैश्यकुमारीके पुत्र युयुत्सुको छातीसे लगाकर बिदा कर दिया ॥ ८५½ ॥

ततः स रथमास्थाय द्रुतमश्वानचोदयत् ॥ ८६ ॥
संवाहयितवांश्चापि राजदारान् पुरं प्रति ।

तत्पश्चात् उसने रथपर बैठाकर तुरंत ही अपने घोड़े बढ़ाये और राजकुलकी स्त्रियोंको राजधानीमें पहुँचा दिया ॥

तैश्चैव सहितः क्षिप्रमस्तं गच्छति भास्करे ॥ ८७ ॥
प्रविष्टो हास्तिनपुरं बाष्पकण्ठोऽश्रुलोचनः ।

सूर्यके अस्त होते-होते नेत्रोंसे आँसू बहाते हुए उसने उन सबके साथ हस्तिनापुरमें प्रवेश किया। उस समय उसका गला भर आया था ॥ ८७½ ॥

अपश्यत महाप्राज्ञं विदुरं साश्रुलोचनम् ॥ ८८ ॥
राज्ञः समीपान्निष्क्रान्तं शोकोपहतचेतसम् ।

राजन्! वहाँ उसने आपके पाससे निकले हुए महाज्ञानी विदुरजीका दर्शन किया, जिनके नेत्रोंमें आँसू भरे हुए थे और मन शोकमें डूबा हुआ था ॥ ८८½ ॥

तमब्रवीत् सत्यधृतिः प्रणतं त्वग्रतः स्थितम् ॥ ८९ ॥
दिष्ट्या कुरुक्षये वृत्ते अस्मिंस्त्वं पुत्र जीवसि ।
विना राज्ञः प्रवेशाद् वै किमसि त्वमिहागतः ॥ ९० ॥
एतद् वै कारणं सर्वं विस्तरेण निवेदय ।

सत्यपरायण विदुरने प्रणाम करके सामने खड़े हुए युयुत्सुसे कहा—'बेटा! बड़े सौभाग्यकी बात है कि कौरवोंके इस विकट संहारमें भी तुम जीवित बच गये हो; परंतु राजा युधिष्ठिरके हस्तिनापुरमें प्रवेश करनेसे पहले ही तुम यहाँ कैसे चले आये? यह सारा कारण मुझे विस्तारपूर्वक बताओ' ॥

युयुत्सुरुवाच

निहते शकुनौ तत्र सज्ञातिसुतबान्धवे ॥ ९१ ॥
हतशेषपरीवारो राजा दुर्योधनस्ततः ।
स्वकं स हयमुत्सृज्य प्राङ्मुखः प्राद्रवद् भयात् ॥ ९२ ॥

युयुत्सुने कहा—चाचाजी! जाति, भाई और पुत्रसहित शकुनिके मारे जानेपर जिसके शेष परिवार नष्ट हो गये थे, वह राजा दुर्योधन अपने घोड़ेको युद्धभूमिमें ही छोड़कर भयके मारे पूर्व दिशाकी ओर भाग गया ॥ ९१-९२ ॥

अपक्रान्ते तु नृपतौ स्कन्धावारनिवेशनात् ।
भयव्याकुलितं सर्वं प्राद्रवन्नगरं प्रति ॥ ९३ ॥

राजाके छावनीसे दूर भाग जानेपर सब लोग भयसे व्याकुल हो राजधानीकी ओर भाग चले ॥ ९३ ॥

ततो राज्ञः कलत्राणि भ्रातॄणां चास्य सर्वतः ।
वाहनेषु समारोप्य अध्यक्षाः प्राद्रवन् भयात् ॥ ९४ ॥

तब राजा तथा उनके भाइयोंकी पत्नियोंको सब ओरसे सवारियोंपर बिठाकर अन्तःपुरके अध्यक्ष भी भयके मारे भाग खड़े हुए ॥ ९४ ॥

ततोऽहं समनुज्ञाप्य राजानं सहकेशवम् ।
प्रविष्टो हास्तिनपुरं रक्षँल्लोकान् प्रधावितान् ॥ ९५ ॥

तदनन्तर मैं भगवान् श्रीकृष्ण और राजा युधिष्ठिरकी आज्ञा लेकर भागे हुए लोगोंकी रक्षाके लिये हस्तिनापुरमें चला आया हूँ ॥ ९५ ॥

एतच्छ्रुत्वा तु वचनं वैश्यापुत्रेण भाषितम् ।
प्राप्तकालमिति ज्ञात्वा विदुरः सर्वधर्मवित् ॥ ९६ ॥
अपूजयदमेयात्मा युयुत्सुं वाक्यमब्रवीत् ।
प्राप्तकालमिदं सर्वं ब्रुवता भरतक्षये ॥ ९७ ॥
रक्षितः कुलधर्मश्च सानुक्रोशतया त्वया ।

वैश्यापुत्र युयुत्सुकी कही हुई यह बात सुनकर और इसे समयोचित जानकर सम्पूर्ण धर्मोंके ज्ञाता तथा अमेय आत्मबलसे सम्पन्न विदुरजीने युयुत्सुकी भूरि-भूरि प्रशंसा की एवं इस प्रकार कहा—'भरतवंशियोंके इस विनाशके समय जो यह समयोचित कर्तव्य प्राप्त था, वह सब बताकर अपनी दयालुता-

के समान तुमने कुल-धर्मकी रक्षा की है ॥ ९६-९७½ ॥

दिष्ट्या त्वामिह संग्रामादस्माद् वीरक्षयात् पुरम् ॥९८॥
समागतमपश्याम अंशुमन्तमिव प्रजाः।

वीरोंका विनाश करनेवाले इस संग्राममें बचकर तुम कुशलपूर्वक नगरमें लौट आये—इस अवस्थामें हमने तुम्हें उसी प्रकार देखा है, जैसे रात्रिके अन्तमें प्रजा भगवान् भास्करका दर्शन करती है ॥ ९८½ ॥

अन्धस्य नृपतेर्यष्टिर्लुब्धस्यादीर्घदर्शिनः ॥ ९९ ॥
बहुशो याच्यमानस्य दैवोपहतचेतसः।
त्वमेको व्यसनार्तस्य ध्रियसे पुत्र सर्वथा ॥१००॥

'लोभी, अदूरदर्शी और अन्धे राजाके लिये तुम लाठीके सहारे हो। मैंने उनसे युद्ध रोकनेके लिये बारंबार याचना की थी, परंतु दैवसे उनकी बुद्धि मारी गयी थी; इसलिये उन्होंने मेरी बात नहीं सुनी। आज वे संकटसे पीड़ित हैं, बेटा! इस अवस्थामें एकमात्र तुम्हीं उन्हें सहारा देनेके लिये जीवित हो ॥ ९९-१०० ॥

अद्य त्वमिह विश्रान्तः श्वोऽभिगन्ता युधिष्ठिरम्।
एतावदुक्त्वा वचनं विदुरः साश्रुलोचनः ॥१०१॥
युयुत्सुं समनुप्राप्य प्रविवेश नृपक्षयम्।
पौरजानपदैर्दुःखाद्धाहेति भृशनादितम् ॥१०२॥

'आज यहीं विश्राम करो। कल सबेरे युधिष्ठिरके पास चले जाना' ऐसा कहकर नेत्रोंमें आँसू भरे विदुरजीने युयुत्सुको साथ लेकर राजमहलमें प्रवेश किया। वह भवन नगर और जनपदके लोगोंद्वारा दुःखपूर्वक किये जानेवाले हाहाकार एवं भयंकर आर्तनादसे गूँज उठा था ॥ १०१-१०२ ॥

निरानन्दं गतश्रीकं हताराममिवाशयम्।
शून्यरूपमपध्वस्तं दुःखाद् दुःखतरोऽभवत् ॥१०३॥

वहाँ न तो आनन्द था और न वैभवजनित शोभा ही दृष्टिगोचर होती थी। वह राजभवन उस जलाशयके समान जनशून्य और विध्वस्त-सा जान पड़ता था, जिसके तटका उद्यान नष्ट हो गया हो। वहाँ पहुँचकर विदुरजी दुःखसे अत्यन्त खिन्न हो गये ॥ १०३ ॥

विदुरः सर्वधर्मज्ञो विक्लवेनान्तरात्मना।
विवेश नगरे राजन् निःश्वास शनैः शनैः ॥१०४॥

राजन्! सम्पूर्ण धर्मोंके ज्ञाता विदुरजीने व्याकुल अन्तःकरणसे नगरमें प्रवेश किया और धीरे-धीरे वे लंबी साँस खींचने लगे ॥ १०४ ॥

युयुत्सुरपि तां रात्रिं स्वगृहे न्यवसत् तदा।
वन्द्यमानः स्वकैश्चापि नाभ्यनन्दत् सुदुःखितः।
चिन्तयानः क्षयं तीव्रं भरतानां परस्परम् ॥१०५॥

युयुत्सु भी उस रातमें अपने घरपर ही रहे। उनके मनमें अत्यन्त दुःख था, इसलिये वे स्वजनोंद्वारा वन्दित होनेपर भी प्रसन्न नहीं हुए। इस पारस्परिक युद्धसे भरतवंशियोंका जो घोर संहार हुआ था, उसीकी चिन्तामें वे निमग्न होगये थे॥

इति श्रीमहाभारते शल्यपर्वणि ह्रदप्रवेशपर्वणि एकोनत्रिंशोऽध्यायः ॥ २९ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शल्यपर्वके अन्तर्गत ह्रदप्रवेशपर्वमें उन्तीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २९ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठके ८ श्लोक मिलाकर कुल ११३ श्लोक हैं)

(गदापर्व)

त्रिंशोऽध्यायः

अश्वत्थामा, कृतवर्मा और कृपाचार्यका सरोवरपर जाकर दुर्योधनसे युद्ध करनेके विषयमें बातचीत करना, व्याधोंसे दुर्योधनका पता पाकर युधिष्ठिरका सेनासहित सरोवरपर जाना और कृपाचार्य आदिका दूर हट जाना

धृतराष्ट्र उवाच

हतेषु सर्वसैन्येषु पाण्डुपुत्रै रणाजिरे।
मम सैन्यावशिष्टास्ते किमकुर्वत संजय ॥ १ ॥

धृतराष्ट्रने पूछा—संजय! जब पाण्डुके पुत्रोंने समराङ्गणमें समस्त सेनाओंका संहार कर डाला, तब मेरी सेनाके शेष वीरोंने क्या किया? ॥ १ ॥

कृतवर्मा कृपश्चैव द्रोणपुत्रश्च वीर्यवान्।
दुर्योधनश्च मन्दात्मा राजा किमकरोत् तदा ॥ २ ॥

कृतवर्मा, कृपाचार्य, पराक्रमी द्रोणपुत्र अश्वत्थामा तथा मन्दबुद्धि राजा दुर्योधनने उस समय क्या किया? ॥ २ ॥

संजय उवाच

सम्प्राद्रवत्सु दारेषु क्षत्रियाणां महात्मनाम्।
विद्रुते शिबिरे शून्ये भृशोद्विग्नास्त्रयो रथाः ॥ ३ ॥

संजयने कहा—राजन्! जब महामनस्वी क्षत्रिय राजाओंकी पत्नियाँ भाग चलीं और सब लोगोंके पलायन करनेसे सारा शिबिर सूना हो गया, उस समय पूर्वोक्त तीनों रथी अत्यन्त उद्विग्न हो गये ॥ ३ ॥

निशम्य पाण्डुपुत्राणां तदा वै जयिनां स्वनम्।
विद्रुतं शिबिरं दृष्ट्वा सायाह्ने राजगृद्धिनः ॥ ४ ॥
स्थानं नारोचयंस्तत्र ततस्ते ह्रदमभ्ययुः।

सायंकालमें विजयी पाण्डवोंकी गर्जना सुनकर और अपने सारे शिबिरके लोगोंको भागा हुआ देखकर राजा दुर्योधनको चाहनेवाले उन तीनों महारथियोंको वहाँ ठहरना अच्छा न लगा; इसलिये वे उसी सरोवरके तटपर गये ॥ ४½ ॥

युधिष्ठिरोऽपि धर्मात्मा भ्रातृभिः सहितो रणे ॥ ५ ॥
हृष्टः पर्यचरद् राजन् दुर्योधनवधेप्सया ।

राजन् ! इधर धर्मात्मा युधिष्ठिर भी रणभूमिमें दुर्योधनके वधकी इच्छासे बड़े हर्षके साथ भाइयोंसहित विचर रहे थे ॥ ५½ ॥

मार्गमाणास्तु संक्रुद्धास्तव पुत्रं जयैषिणः ॥ ६ ॥
यत्नतोऽन्वेषमाणास्ते नैवापश्यञ्जनाधिपम् ।

विजयके अभिलाषी पाण्डव अत्यन्त कुपित होकर आपके पुत्रका पता लगाने लगे; परंतु यत्नपूर्वक खोज करनेपर भी उन्हें राजा दुर्योधन कहीं दिखायी नहीं दिया ॥ ६½ ॥

स हि तीव्रेण वेगेन गदापाणिरपाक्रमत् ॥ ७ ॥
तं ह्रदं प्राविशच्चापि विष्टभ्यापः स्वमायया ।

वह हाथमें गदा लेकर तीव्र वेगसे भागा और अपनी मायासे जलको स्तम्भित करके उस सरोवरके भीतर जा घुसा ॥ ७½ ॥

यदा तु पाण्डवाः सर्वे सुपरिश्रान्तवाहनाः ॥ ८ ॥
ततः स्वशिबिरं प्राप्य व्यतिष्ठन्त ससैनिकाः ।

दुर्योधनकी खोज करते-करते जब पाण्डवोंके वाहन बहुत थक गये, तब सभी पाण्डव सैनिकोंसहित अपने शिबिरमें आकर ठहर गये ॥ ८½ ॥

ततः कृपश्च द्रौणिश्च कृतवर्मा च सात्वतः ॥ ९ ॥
संनिविष्टेषु पार्थेषु प्रयातास्तं ह्रदं शनैः ।

तदनन्तर जब कुन्तीके सभी पुत्र शिबिरमें विश्राम करने लगे, तब कृपाचार्य, अश्वत्थामा और सात्वतवंशी कृतवर्मा धीरे-धीरे उस सरोवरके तटपर जा पहुँचे ॥ ९½ ॥

ते तं ह्रदं समासाद्य यत्र शेते जनाधिपः ॥ १० ॥
अभ्यभाषन्त दुर्धर्षं राजानं सुप्तमम्भसि ।
राजन्नुत्तिष्ठ युद्ध्यस्व सहास्माभिर्युधिष्ठिरम् ॥ ११ ॥
जित्वा वा पृथिवीं भुङ्क्ष्व हतो वा स्वर्गमाप्नुहि ।

जिसमें राजा दुर्योधन सो रहा था, उस सरोवरके समीप पहुँचकर, वे जलमें सोये हुए उस दुर्धर्ष नरेशसे इस प्रकार बोले—'राजन् ! उठो और हमारे साथ चलकर युधिष्ठिरसे युद्ध करो । विजयी होकर पृथ्वीका राज्य भोगो अथवा मारे जाकर स्वर्गलोक प्राप्त करो ॥ १०-११½ ॥

तेषामपि बलं सर्वं हतं दुर्योधन त्वया ॥ १२ ॥
प्रतिविद्धाश्च भूयिष्ठं ये शिष्टास्तत्र सैनिकाः ।
न ते वेगं विषहितुं शक्तास्तव विशाम्पते ॥ १३ ॥
अस्माभिरपि गुप्तस्य तस्मादुत्तिष्ठ भारत ।

'प्रजानाथ दुर्योधन ! भरतनन्दन ! तुमने भी तो पाण्डवोंकी सारी सेनाका संहार कर डाला है । वहाँ जो सैनिक शेष रह गये हैं, वे भी बहुत घायल हो चुके हैं; अतः जब तुम हमारेद्वारा सुरक्षित होकर उनपर आक्रमण करोगे तो वे तुम्हारा वेग नहीं सह सकेंगे; इसलिये तुम युद्धके लिये उठो' ॥ १३½ ॥

दुर्योधन उवाच

दिष्ट्या पश्यामि वो मुक्तानीदृशात् पुरुषक्षयात् ॥ १४ ॥
पाण्डुकौरवसम्मर्दाज्जीवमानान् नरर्षभान् ।

दुर्योधन बोला—मैं ऐसे जनसंहारकारी पाण्डव-कौरव-संग्राममें से आप सभी नरश्रेष्ठ वीरोंको जीवित बचा हुआ देख रहा हूँ, यह बड़े सौभाग्यकी बात है ॥ १४½ ॥

विजेष्यामो वयं सर्वे विश्रान्ता विगतक्लमाः ॥ १५ ॥
भवन्तश्च परिश्रान्ता वयं च भृशविक्षताः ।
उदीर्णं च बलं तेषां तेन युद्धं न रोचये ॥ १६ ॥

हम सब लोग विश्राम करके अपनी थकावट दूर कर लें तो अवश्य विजयी होंगे । आप लोग भी बहुत थके हुए हैं और हम भी अत्यन्त घायल हो चुके हैं । उधर पाण्डवोंका बल बढ़ा हुआ है; इसलिये इस समय मेरी युद्ध करनेकी रुचि नहीं हो रही है ॥ १५-१६ ॥

न त्वेतदद्भुतं वीरा यद् वो महदिदं मनः ।
अस्मासु च परा भक्तिर्न तु कालः पराक्रमे ॥ १७ ॥

वीरो ! आपके मनमें जो युद्धके लिये महान् उत्साह बना हुआ है, यह कोई अद्भुत बात नहीं है । आपलोगोंका मुझपर महान् प्रेम भी है, तथापि यह पराक्रम प्रकट करनेका समय नहीं है ॥ १७ ॥

विश्रम्यैकां निशामद्य भवद्भिः सहितो रणे ।
प्रतियोत्स्याम्यहं शत्रूञ्श्वो न मेऽस्त्यत्र संशयः ॥ १८ ॥

आज एक रात विश्राम करके कल सवेरे रणभूमिमें आप लोगोंके साथ रहकर मैं शत्रुओंके साथ युद्ध करूँगा, इसमें संशय नहीं है ॥ १८ ॥

संजय उवाच

एवमुक्तोऽब्रवीद् द्रौणी राजानं युद्धदुर्मदम् ।
उत्तिष्ठ राजन् भद्रं ते विजेष्यामो वयं परान् ॥ १९ ॥

संजय कहते हैं—राजन् ! दुर्योधनके ऐसा कहनेपर द्रोणकुमारने उस रणदुर्मद राजासे इस प्रकार कहा—'महाराज ! उठो, तुम्हारा कल्याण हो । हम शत्रुओंपर विजय प्राप्त करेंगे ॥ १९ ॥

इष्टापूर्तेन दानेन सत्येन च जपेन च ।
शपे राजन् यथा ह्यद्य निहनिष्यामि सोमकान् ॥ २० ॥

'राजन् ! मैं अपने इष्टापूर्त कर्म, दान, सत्य और जयकी शपथ खाकर कहता हूँ कि आज सोमकोंका संहार कर डालूँगा ॥ २० ॥

मा स्म यज्ञकृतां प्रीतिमाप्नुयां सज्जनोचिताम् ।
यदीमां रजनीं व्युष्टां न हि हन्मि परान् रणे ॥ २१ ॥

'यदि यह रात वीतते ही प्रातःकाल रणभूमिमें शत्रुओंको न मार डालूँ तो मुझे सज्जन पुरुषोंके योग्य और यज्ञकर्ताओंको प्राप्त होनेवाली प्रसन्नता न प्राप्त हो ॥ २१ ॥

नाहत्वा सर्वपञ्चालान् विमोक्ष्ये कवचं विभो ।
इति सत्यं ब्रवीम्येतत्तन्मे शृणु जनाधिप ॥ २२ ॥

'प्रभो ! नरेश्वर ! मैं समस्त पाञ्चालोंका संहार किये बिना अपना कवच नहीं उतारूँगा, यह तुमसे सच्ची बात कहता हूँ । मेरे इस कथनको तुम ध्यानसे सुनो' ॥ २२ ॥

तेषु तत्रासनस्थेषु व्याधास्तं देशमाययुः ।
मांसभारपरिश्रान्ताः पानीयार्थं यदृच्छया ॥ २३ ॥

वे इस प्रकार बात कर ही रहे थे कि मांसके भारसे थके हुए बहुतसे व्याध उस स्थानपर पानी पीनेके लिये अकस्मात् आ पहुँचे ॥ २३ ॥

ते तत्र धिष्ठितास्तेषां सर्वं तद् वचनं रहः ।
दुर्योधनवचश्चैव शुश्रुवुः संगता मिथः ॥ २४ ॥

उन्होंने वहाँ खड़े होकर उनकी एकान्तमें होनेवाली सारी बातें सुन लीं । परस्पर मिले हुए उन व्याधोंने दुर्योधनकी भी बात सुनी ॥ २४ ॥

तेऽपि सर्वे महेष्वासा अयुद्धार्थिनि कौरवे ।
निर्बन्धं परमं चक्रुस्तदा वै युद्धकाङ्क्षिणः ॥ २५ ॥

कुरुराज दुर्योधन युद्ध नहीं चाहता था तो भी युद्धकी अभिलाषा रखनेवाले वे सभी महाधनुर्धर योद्धा उससे युद्ध छेड़नेके लिये बड़ा आग्रह कर रहे थे ॥ २५ ॥

तांस्तथा समुदीक्ष्याथ कौरवाणां महारथान् ।
अयुद्धमनसं चैव राजानं स्थितमम्भसि ॥ २६ ॥
तेषां श्रुत्वा च संवादं राज्ञश्च सलिले सतः ।
व्याधाभ्यजानन् राजेन्द्र सलिलस्थं सुयोधनम् ॥ २७ ॥

राजन् ! उन कौरवमहारथियोंकी वैसी मनोवृत्ति जानकर जलमें ठहरे हुए राजा दुर्योधनके मनमें युद्धका उत्साह न देखकर और सलिलनिवासी नरेशके साथ उन तीनोंका संवाद सुनकर व्याध यह समझ गये कि 'दुर्योधन इसी सरोवरके जलमें छिपा हुआ है' ॥ २६-२७ ॥

ते पूर्वं पाण्डुपुत्रेण पृष्टा ह्यासन् सुतं तव ।
यदृच्छोपगतास्तत्र राजानं परिमार्गता ॥ २८ ॥

पहले राजा दुर्योधनकी खोज करते हुए पाण्डुकुमार युधिष्ठिरने दैववश अपने पास पहुँचे हुए उन व्याधोंसे आपके पुत्रका पता पूछा था ॥ २८ ॥

ततस्ते पाण्डुपुत्रस्य स्मृत्वा तद् भाषितं तदा ।
अन्योन्यमब्रुवन् राजन् मृगव्याधाः शनैरिव ॥ २९ ॥

राजन् ! उस समय पाण्डुपुत्रकी कही हुई बात याद करके वे व्याध आपसमें धीरे-धीरे बोले—॥ २९ ॥

दुर्योधनं ख्यापयामो धनं दास्यति पाण्डवः ।
सुव्यक्तमिह नः ख्यातो ह्रदे दुर्योधनो नृपः ॥ ३० ॥

'यदि हम दुर्योधनका पता बता दें तो पाण्डुपुत्र युधिष्ठिर हमें धन देंगे। हमें तो यहाँ यह स्पष्टरूपसे ज्ञात हो गया कि राजा दुर्योधन इसी सरोवरमें छिपा हुआ है ॥ ३० ॥

तस्माद् गच्छामहे सर्वे यत्र राजा युधिष्ठिरः ।
आख्यातुं सलिले सुप्तं दुर्योधनममर्षणम् ॥ ३१ ॥

अतः जलमें सोये हुए अमर्षशील दुर्योधनका पता बतानेके लिये हम सब लोग उस स्थानपर चलें, जहाँ राजा युधिष्ठिर मौजूद हैं ॥ ३१ ॥

धृतराष्ट्रात्मजं तस्मै भीमसेनाय धीमते ।
शयानं सलिले सर्वे कथयामो धनुर्भृते ॥ ३२ ॥

'बुद्धिमान् धनुर्धर भीमसेनको हम सब यह बता दें कि धृतराष्ट्रका पुत्र दुर्योधन जलमें सो रहा है ॥ ३२ ॥

स नो दास्यति सुप्रीतो धनानि बहुलान्युत ।
किं नो मांसेन शुष्केण परिक्लिष्टेन शोषिणा ॥ ३३ ॥

'इससे अत्यन्त प्रसन्न होकर वे हमें बहुत धन देंगे । फिर हमें शरीरका रक्त सुखा देनेवाले इस सूखे मांसको ढोकर व्यर्थ कष्ट उठानेकी क्या आवश्यकता है ?' ॥ ३३ ॥

एवमुक्त्वा तु ते व्याधाः सम्प्रहृष्टा धनार्थिनः ।
मांसभारानुपादाय प्रययुः शिबिरं प्रति ॥ ३४ ॥

इस प्रकार परस्पर वार्तालाप करके धनकी अभिलाषा रखनेवाले वे व्याध बड़े प्रसन्न हुए और मांसके बोझ उठाकर पाण्डव-शिविरकी ओर चल दिये ॥ ३४ ॥

पाण्डवाश्चापि महाराज लब्धलक्ष्याः प्रहारिणः ।
अपश्यमानाः समरे दुर्योधनमवस्थितम् ॥ ३५ ॥
निकृतेस्तस्य पापस्य ते पारं गमनेप्सवः ।
चारान् सम्प्रेषयामासुः समन्तात् तद्रणाजिरे ॥ ३६ ॥

महाराज ! प्रहार करनेमें कुशल पाण्डवोंने अपना लक्ष्य सिद्ध कर लिया था; उन्होंने दुर्योधनको समराङ्गणमें खड़ा न देख उस पापीके किये हुए छल-कपटका बदला चुकाकर वैरके पार जानेकी इच्छासे उस संग्रामभूमिमें चारों ओर गुप्तचर भेज रक्खे थे ॥ ३५-३६ ॥

आगम्य तु ततः सर्वे नष्टं दुर्योधनं नृपम् ।
न्यवेदयन्त सहिता धर्मराजस्य सैनिकाः ॥ ३७ ॥

धर्मराजके उन सभी गुप्तचर सैनिकोंने एक साथ लौटकर यह निवेदन किया कि 'राजा दुर्योधन लापता हो गया है' ॥

तेषां तद् वचनं श्रुत्वा चाराणां भरतर्षभ ।
चिन्तामभ्यगमत् तीव्रां निःशश्वास च पार्थिवः ॥ ३८ ॥

भरतश्रेष्ठ ! उन गुप्तचरोंकी बात सुनकर राजा युधिष्ठिर घोर चिन्तामें पड़ गये और लंबी साँस खींचने लगे ॥ ३८ ॥

अथ स्थितानां पाण्डूनां दीनानां भरतर्षभ ।
तस्माद् देशादपक्रम्य त्वरिता लुब्धका विभो ॥ ३९ ॥
आजग्मुः शिबिरं हृष्टा दृष्ट्वा दुर्योधनं नृपम् ।
वार्यमाणाः प्रविष्टाश्च भीमसेनस्य पश्यतः ॥ ४० ॥

भरतभूषण ! नरेश ! तदनन्तर जब पाण्डव खिन्न होकर बैठे हुए थे, उसी समय वे व्याध राजा दुर्योधनको अपनी आँखों देखकर तुरंत ही उस स्थानसे हट गये और बड़े हर्षके साथ पाण्डव-शिविरमें जा पहुँचे । द्वारपालोंके रोकनेपर भी वे भीमसेनके देखते-देखते भीतर घुस गये ॥ ३९-४० ॥

ते तु पाण्डवमासाद्य भीमसेनं महाबलम् ।
तस्मै तत् सर्वमाचख्युर्यद् वृत्तं यच्च वै श्रुतम् ॥ ४१ ॥

महाबली पाण्डुपुत्र भीमसेनके पास जाकर उन्होंने सरोवरके तटपर जो कुछ हुआ था और जो कुछ सुननेमें आया था, वह सब कह सुनाया ॥ ४१ ॥

ततो वृकोदरो राजन् दत्त्वा तेषां धनं बहु ।

धर्मराजाय तत् सर्वमाचचक्षे परंतपः ॥ ४२ ॥

राजन् ! तब शत्रुओंको संताप देनेवाले भीमने उन व्याधोंको बहुत धन देकर धर्मराजसे सारा समाचार कहा ॥४२॥

असौ दुर्योधनो राजन् विज्ञातो मम लुब्धकैः ।
संस्तभ्य सलिलं शेते यस्यार्थे परितप्यसे ॥ ४३ ॥

वे बोले—'धर्मराज ! मेरे व्याधोंने राजा दुर्योधनका पता लगा लिया है। आप जिसके लिये संतप्त हैं, वह मायासे पानी बाँधकर सरोवरमें सो रहा है' ॥४३॥

तद् वचो भीमसेनस्य प्रियं श्रुत्वा विशाम्पते ।
अजातशत्रुः कौन्तेयो हृष्टोऽभूत् सह सोदरैः ॥ ४४ ॥

प्रजानाथ ! भीमसेनका वह प्रिय वचन सुनकर अजातशत्रु कुन्तीकुमार युधिष्ठिर अपने भाइयोंके साथ बड़े प्रसन्न हुए॥

तं च श्रुत्वा महेष्वासं प्रविष्टं सलिलह्रदे ।
क्षिप्रमेव ततोऽगच्छन् पुरस्कृत्य जनार्दनम् ॥ ४५ ॥

महाधनुर्धर दुर्योधनको पानीसे भरे सरोवरमें घुसा सुनकर राजा युधिष्ठिर भगवान् श्रीकृष्णको आगे करके शीघ्र ही वहाँसे चल दिये ॥ ४५ ॥

ततः किलकिलाशब्दः प्रादुरासीद् विशाम्पते ।
पाण्डवानां प्रहृष्टानां पञ्चालानां च सर्वशः ॥ ४६ ॥

प्रजानाथ ! फिर तो हर्षमें भरे हुए पाण्डव और पाञ्चालोंकी किलकिलाहटका शब्द सब ओर गूँजने लगा ॥ ४६ ॥

सिंहनादांस्ततश्चक्रुः क्ष्वेडाश्च भरतर्षभ ।
त्वरिताः क्षत्रिया राजञ्जग्मुर्द्वैपायनं ह्रदम् ॥ ४७ ॥

भरतभूषण नरेश ! वे सभी क्षत्रिय सिंहनाद एवं गर्जना करने लगे तथा तुरंत ही द्वैपायन नामक सरोवरके पास जा पहुँचे ॥ ४७ ॥

ज्ञातः पापो धार्तराष्ट्रो दृष्टश्चेत्यसकृद्रणे ।
प्राक्रोशन् सोमकास्तत्र हृष्टरूपाः समन्ततः ॥ ४८ ॥

हर्षमें भरे हुए सोमक वीर रणभूमिमें सब ओर पुकार-पुकारकर कहने लगे 'धृतराष्ट्रके पापी पुत्रका पता लग गया और उसे देख लिया गया' ॥ ४८ ॥

तेषामाशु प्रयातानां रथानां तत्र वेगिनाम् ।
बभूव तुमुलः शब्दो दिविस्पृक् पृथिवीपते ॥ ४९ ॥

पृथ्वीनाथ ! वहाँ शीघ्रतापूर्वक यात्रा करनेवाले उनके वेगशाली रथोंका घोर घर्घर शब्द आकाशमें व्याप्त हो गया॥

दुर्योधनं परीप्सन्तस्तत्र तत्र युधिष्ठिरम् ।
अन्वयुस्त्वरितास्ते वै राजानं श्रान्तवाहनाः ॥ ५० ॥
अर्जुनो भीमसेनश्च माद्रीपुत्रौ च पाण्डवौ ।
धृष्टद्युम्नश्च पाञ्चाल्यः शिखण्डी चापराजितः ॥ ५१ ॥
उत्तमौजा युधामन्युः सात्यकिश्च महारथः ।
पञ्चालानां च ये शिष्टा द्रौपदेयाश्च भारत ॥ ५२ ॥
हयाश्च सर्वे नागाश्च शतशश्च पदातयः ।

भारत ! उस समय अर्जुन, भीमसेन, माद्रीकुमार पाण्डुपुत्र नकुल-सहदेव, पाञ्चालराजकुमार धृष्टद्युम्न, अपराजित वीर शिखण्डी, उत्तमौजा, युधामन्यु, महारथी सात्यकि, द्रौपदीके पाँचों पुत्र तथा पाञ्चालोंमेंसे जो जीवित बच गये थे, वे वीर दुर्योधनको पकड़नेकी इच्छासे अपने वाहनोंके थके होनेपर भी बड़ी उतावलीके साथ राजा युधिष्ठिरके पीछे-पीछे गये। उनके साथ सभी घुड़सवार, हाथीसवार और सैकड़ों पैदल सैनिक भी थे ॥ ५०—५२½ ॥

ततः प्राप्तो महाराज धर्मराजः प्रतापवान् ॥ ५३ ॥
द्वैपायनं ह्रदं घोरं यत्र दुर्योधनोऽभवत् ।

महाराज ! तत्पश्चात् प्रतापी धर्मराज युधिष्ठिर उस भयंकर द्वैपायनह्रदके तटपर जा पहुँचे, जिसके भीतर दुर्योधन छिपा हुआ था ॥ ५३½ ॥

शीतामलजलं हृद्यं द्वितीयमिव सागरम् ॥ ५४ ॥
मायया सलिलं स्तभ्य यत्राभूत् ते स्थितः सुतः ।
अत्यद्भुतेन विधिना दैवयोगेन भारत ॥ ५५ ॥

उसका जल शीतल और निर्मल था। वह देखनेमें मनोरम और दूसरे समुद्रके समान विशाल था। भारत ! उसीके भीतर मायाद्वारा जलको स्तम्भित करके दैवयोग एवं अद्भुत विधिसे आपका पुत्र विश्राम कर रहा था ॥ ५४-५५ ॥

सलिलान्तर्गतः शेते दुर्दर्शः कस्यचित् प्रभो ।
मानुषस्य मनुष्येन्द्र गदाहस्तो जनाधिपः ॥ ५६ ॥

प्रभो ! नरेन्द्र ! हाथमें गदा लिये राजा दुर्योधन जलके भीतर सोया था। उस समय किसी भी मनुष्यके लिये उसको देखना कठिन था ॥ ५६ ॥

ततो दुर्योधनो राजा सलिलान्तर्गतो वसन् ।
शुश्रुवे तुमुलं शब्दं जलदोपमनिःस्वनम् ॥ ५७ ॥

तदनन्तर पानीके भीतर बैठे हुए राजा दुर्योधनने मेघकी गर्जनाके समान भयंकर शब्द सुना ॥ ५७ ॥

युधिष्ठिरश्च राजेन्द्र तं ह्रदं सह सोदरैः ।
आजगाम महाराज तव पुत्रवधाय वै ॥ ५८ ॥

राजेन्द्र ! महाराज ! आपके पुत्रका वध करनेके लिये राजा युधिष्ठिर अपने भाइयोंके साथ उस सरोवरके तटपर आ पहुँचे ॥ ५८ ॥

महता शङ्खनादेन रथनेमिस्वनेन च ।
ऊर्ध्वं धुन्वन् महारेणुं कम्पयंश्चापि मेदिनीम् ॥ ५९ ॥
यौधिष्ठिरस्य सैन्यस्य श्रुत्वा शब्दं महारथाः ।
कृतवर्मा कृपो द्रौणी राजानमिदमब्रुवन् ॥ ६० ॥

वे महान् शङ्खनाद तथा रथके पहियोंकी घर्घराहटसे पृथ्वीको कँपाते और धूलका महान् ढेर ऊपर उड़ाते हुए वहाँ आये थे। युधिष्ठिरकी सेनाका कोलाहल सुनकर कृतवर्मा, कृपाचार्य और अश्वत्थामा तीनों महारथी राजा दुर्योधनसे इस प्रकार बोले—॥ ५९-६० ॥

इमे ह्यायान्ति संहृष्टाः पाण्डवा जितकाशिनः ।
अपयास्यामहे तावदनुजानातु नो भवान् ॥ ६१ ॥

'वे विजयसे उल्लसित होनेवाले पाण्डव बड़े हर्षमें भर-

कर इधर ही आ रहे हैं। अतः हमलोग यहाँसे हट जायँगे। इसके लिये तुम हमें आज्ञा प्रदान करो' ॥ ६१ ॥

दुर्योधनस्तु तच्छ्रुत्वा तेषां तत्र तरस्विनाम्।
तथेत्युक्त्वा ह्रदं तं वै माययास्तम्भयत् प्रभो ॥ ६२ ॥

प्रभो! उन वेगशाली वीरोंकी वह बात सुनकर दुर्योधनने 'तथास्तु' कहकर उस सरोवरके जलको पुनः मायाद्वारा स्तम्भित कर दिया ॥ ६२ ॥

ते त्वनुज्ञाप्य राजानं भृशं शोकपरायणाः।
जग्मुर्दूरे महाराज कृपप्रभृतयो रथाः ॥ ६३ ॥

महाराज! राजाकी आज्ञा लेकर अत्यन्त शोकमें डूबे हुए कृपाचार्य आदि महारथी वहाँसे दूर चले गये ॥ ६३ ॥

ते गत्वा दूरमध्वानं न्यग्रोधं प्रेक्ष्य मारिष।
न्यविशन्त भृशं श्रान्ताश्चिन्तयन्तो नृपं प्रति ॥ ६४ ॥

मान्यवर! दूरके मार्गपर जाकर उन्हें एक बरगदका वृक्ष दिखायी दिया। वे अत्यन्त थके होनेके कारण राजा दुर्योधनके विषयमें चिन्ता करते हुए उसीके नीचे बैठ गये॥

विष्टभ्य सलिलं सुप्तो धार्तराष्ट्रो महाबलः।
पाण्डवाश्चापि सम्प्राप्तास्तं देशं युद्धमीप्सवः ॥ ६५ ॥

इधर महाबली धृतराष्ट्रपुत्र दुर्योधन पानी बाँधकर सो गया। इतनेहीमें युद्धकी अभिलाषा रखनेवाले पाण्डव भी वहाँ आ पहुँचे ॥ ६५ ॥

कथं नु युद्धं भविता कथं राजा भविष्यति।
कथं नु पाण्डवा राजन् प्रतिपत्स्यन्ति कौरवम्॥ ६६ ॥
इत्येवं चिन्तयानास्तु रथेभ्योऽश्वान् विमुच्य ते।
तत्रासांचक्रिरे राजन् कृपप्रभृतयो रथाः ॥ ६७ ॥

राजन्! उधर कृपाचार्य आदि महारथी रथोंसे घोड़ोंको खोलकर यह सोचने लगे कि 'अब युद्ध किस तरह होगा? राजा दुर्योधनकी क्या दशा होगी और पाण्डव किस प्रकार कुरुराज दुर्योधनका पता पायेंगे' ऐसी चिन्ता करते हुए वे वहाँ बैठकर आराम करने लगे ॥ ६६-६७ ॥

इति श्रीमहाभारते शल्यपर्वणि गदापर्वणि त्रिंशोऽध्यायः ॥ ३० ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शल्यपर्वके अन्तर्गत गदापर्वमें तीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ३० ॥

एकत्रिंशोऽध्यायः

पाण्डवोंका द्वैपायनसरोवरपर जाना, वहाँ युधिष्ठिर और श्रीकृष्णकी बातचीत तथा तालाबमें छिपे हुए दुर्योधनके साथ युधिष्ठिरका संवाद

संजय उवाच

ततस्तेष्वपयातेषु रथेषु त्रिषु पाण्डवाः।
ते ह्रदं प्रत्यपद्यन्त यत्र दुर्योधनोऽभवत् ॥ १ ॥

संजय कहते हैं—महाराज! उन तीनों रथियोंके हट जानेपर पाण्डव उस सरोवरके तटपर आये, जिसमें दुर्योधन छिपा हुआ था ॥ १ ॥

आसाद्य च कुरुश्रेष्ठ तदा द्वैपायनं ह्रदम्।
स्तम्भितं धार्तराष्ट्रेण दृष्ट्वा तं सलिलाशयम् ॥ २ ॥
वासुदेवमिदं वाक्यमब्रवीत् कुरुनन्दनः।
पश्येमां धार्तराष्ट्रेण मायामप्सु प्रयोजिताम् ॥ ३ ॥

कुरुश्रेष्ठ! द्वैपायन-कुण्डपर पहुँचकर युधिष्ठिरने देखा कि दुर्योधनने इस जलाशयके जलको स्तम्भित कर दिया है। यह देखकर कुरुनन्दन युधिष्ठिरने भगवान् वासुदेवसे इस प्रकार कहा—'प्रभो! देखिये तो सही, दुर्योधनने जलके भीतर इस मायाका कैसा प्रयोग किया है? ॥ २-३ ॥

विष्टभ्य सलिलं शेते नास्य मानुषतो भयम्।
दैवीं मायामिमां कृत्वा सलिलान्तर्गतो ह्ययम् ॥ ४ ॥

'यह पानीको रोककर सो रहा है। इसे यहाँ मनुष्यसे किसी प्रकारका भय नहीं है; क्योंकि यह इस दैवी मायाका प्रयोग करके जलके भीतर निवास करता है ॥ ४ ॥

निकृत्या निकृतिप्रज्ञो न मे जीवन् विमोक्ष्यते।
यद्यस्य समरे साह्यं कुरुते वज्रभृत् स्वयम् ॥ ५ ॥
तथाप्येनं हतं युद्धे लोका द्रक्ष्यन्ति माधव।

'माधव! यद्यपि यह छल-कपटकी विद्यामें बड़ा चतुर है, तथापि कपट करके मेरे हाथसे जीवित नहीं छूट सकता। यदि समराङ्गणमें साक्षात् वज्रधारी इन्द्र इसकी सहायता करें तो भी युद्धमें इसे सब लोग मरा हुआ ही देखेंगे' ॥ ५½ ॥

वासुदेव उवाच

मायाविन इमां मायां मायया जहि भारत ॥ ६ ॥
मायावी मायया वध्यः सत्यमेतद् युधिष्ठिर।

भगवान् श्रीकृष्णने कहा—भारत! मायावी दुर्योधनकी इस मायाको आप मायाद्वारा ही नष्ट कर डालिये! युधिष्ठिर! मायावीका वध मायासे ही करना चाहिये, यह सच्ची नीति है ॥ ६½ ॥

क्रियाभ्युपायैर्बहुभिर्मायामप्सु प्रयोज्य च ॥ ७ ॥
जहि त्वं भरतश्रेष्ठ मायात्मानं सुयोधनम्।

भरतश्रेष्ठ! आप बहुत-से रचनात्मक उपायोंद्वारा जलमें मायाका प्रयोग करके मायामय दुर्योधनका वध कीजिये ॥

क्रियाभ्युपायैरिन्द्रेण निहता दैत्यदानवाः ॥ ८ ॥
क्रियाभ्युपायैर्बहुभिर्बलिर्बद्धो महात्मना।
क्रियाभ्युपायैर्बहुभिर्हिरण्याक्षो महासुरः ॥ ९ ॥

रचनात्मक उपायोंसे ही इन्द्रने बहुत-से दैत्य और दानवोंका संहार किया, नाना प्रकारके रचनात्मक उपायोंसे ही महात्मा श्रीहरिने बलिको बाँधा और बहुसंख्यक रचनात्मक उपायोंसे ही उन्होंने महान् असुर हिरण्याक्षका वध किया था ॥ ८-९ ॥

हिरण्यकशिपुश्चैव क्रिययैव निषूदितौ ।
वृत्रश्च निहतो राजन् क्रिययैव न संशयः ॥ १० ॥

क्रियात्मक प्रयत्नके द्वारा ही भगवान्ने हिरण्यकशिपुको भी मारा था । राजन् ! वृत्रासुरका वध भी क्रियात्मक उपायसे ही हुआ था, इसमें संशय नहीं है ॥ १० ॥

तथा पौलस्त्यतनयो रावणो नाम राक्षसः ।
रामेण निहतो राजन् सानुबन्धः सहानुगः ॥ ११ ॥
क्रियया योगमास्थाय तथा त्वमपि विक्रम ।

राजन् ! पुलस्त्यकुमार विश्रवाका पुत्र रावणनामक राक्षस श्रीरामचन्द्रजीके द्वारा क्रियात्मक उपाय और युक्ति-कौशलके सहारे ही सम्बन्धियों और सेवकोंसहित मारा गया, उसी प्रकार आप भी पराक्रम प्रकट करें ॥ ११½ ॥

क्रियाभ्युपायैर्निहतौ मया राजन् पुरातनौ ॥ १२ ॥
तारकश्च महादैत्यो विप्रचित्तिश्च वीर्यवान् ।

नरेश्वर ! पूर्वकालके महादैत्य तारक और पराक्रमी विप्रचित्तिको मैंने क्रियात्मक उपायोंसे ही मारा था ॥ १२½ ॥

वातापिरिल्वलश्चैव त्रिशिराश्च तथा विभो ॥ १३ ॥
सुन्दोपसुन्दावसुरौ क्रिययैव निषूदितौ ।
क्रियाभ्युपायैरिन्द्रेण त्रिदिवं भुज्यते विभो ॥ १४ ॥

प्रभो ! वातापि, इल्वल, त्रिशिरा तथा सुन्द-उपसुन्द नामक असुर भी कार्यकौशलसे ही मारे गये हैं । क्रियात्मक उपायोंसे ही इन्द्र स्वर्गका राज्य भोगते हैं ॥ १३-१४ ॥

क्रिया बलवती राजन् नान्यत् किंचिद् युधिष्ठिर ।
दैत्याश्च दानवाश्चैव राक्षसाः पार्थिवास्तथा ॥ १५ ॥
क्रियाभ्युपायैर्निहताः क्रियां तस्मात् समाचर ।

राजन् ! कार्यकौशल ही बलवान् है, दूसरी कोई वस्तु नहीं । युधिष्ठिर ! दैत्य, दानव, राक्षस तथा बहुत-से भूपाल क्रियात्मक उपायोंसे ही मारे गये हैं; अतः आप भी क्रियात्मक उपायका ही आश्रय लें ॥ १५½ ॥

संजय उवाच

इत्युक्तो वासुदेवेन पाण्डवः संशितव्रतः ॥ १६ ॥
जलस्थं तं महाराज तव पुत्रं महाबलम् ।
अभ्यभाषत कौन्तेयः प्रहसन्निव भारत ॥ १७ ॥

संजय कहते हैं—महाराज ! भरतनन्दन ! भगवान् श्रीकृष्णके ऐसा कहनेपर उत्तम एवं कठोर व्रतका पालन करनेवाले पाण्डुकुमार कुन्तीनन्दन युधिष्ठिरने जलमें स्थित हुए आपके महाबली पुत्रसे हँसते हुए-से कहा—॥ १६-१७ ॥

सुयोधन किमर्थोऽयमारम्भोऽप्सु कृतस्त्वया ।
सर्वं क्षत्रं घातयित्वा स्वकुलं च विशाम्पते ॥ १८ ॥
जलाशयं प्रविष्टोऽद्य वाञ्छञ्जीवितमात्मनः ।
उत्तिष्ठ राजन् युध्यस्व सहास्माभिः सुयोधन ॥ १९ ॥

'प्रजानाथ सुयोधन ! तुमने किस लिये पानीमें यह अनुष्ठान आरम्भ किया है । सम्पूर्ण क्षत्रियों तथा अपने कुलका संहार कराकर आज अपनी जान बचानेकी इच्छासे तुम जलाशयमें घुसे बैठे हो । राजा सुयोधन ! उठो और हम लोगोंके साथ युद्ध करो ॥ १८-१९ ॥

स ते दर्पो नरश्रेष्ठ स च मानः क्व ते गतः ।
यस्त्वं संस्तभ्य सलिलं भीतो राजन् व्यवस्थितः ॥ २० ॥

'राजन् ! नरश्रेष्ठ ! तुम्हारा वह पहलेका दर्प और अभिमान कहाँ चला गया, जो डरके मारे जलका स्तम्भन करके यहाँ छिपे हुए हो ? ॥ २० ॥

सर्वे त्वां शूर इत्येवं जना जल्पन्ति संसदि ।
व्यर्थं तद् भवतो मन्ये शौर्यं सलिलशायिनः ॥ २१ ॥

'सभामें सब लोग तुम्हें शूरवीर कहा करते हैं । जब तुम भयभीत होकर पानीमें सो रहे हो, तब तुम्हारे उस तथा-कथित शौर्यको मैं व्यर्थ समझता हूँ ॥ २१ ॥

उत्तिष्ठ राजन् युध्यस्व क्षत्रियोऽसि कुलोद्भवः ।
कौरवेयो विशेषेण कुलं जन्म च संस्मर ॥ २२ ॥

'राजन् ! उठो, युद्ध करो; क्योंकि तुम कुलीन क्षत्रिय हो, विशेषतः कुरुकुलकी संतान हो, अपने कुल और जन्म-का स्मरण तो करो ॥ २२ ॥

स कथं कौरवे वंशे प्रशंसञ्जन्म चात्मनः ।
युद्धाद् भीतस्ततस्तोयं प्रविश्य प्रतितिष्ठसि ॥ २३ ॥

'तुम तो कौरववंशमें उत्पन्न होनेके कारण अपने जन्मकी प्रशंसा करते थे । फिर आज युद्धसे डरकर पानीके भीतर कैसे घुसे बैठे हो ? ॥ २३ ॥

अयुद्धमव्यवस्थानं नैष धर्मः सनातनः ।
अनार्यजुष्टमस्वर्ग्यं रणे राजन् पलायनम् ॥ २४ ॥

'नरेश्वर ! युद्ध न करना अथवा युद्धमें स्थिर न रहकर वहाँसे पीठ दिखाकर भागना यह सनातन धर्म नहीं है । नीच पुरुष ही ऐसे कुमार्गका आश्रय लेते हैं । इससे स्वर्गकी प्राप्ति नहीं होती ॥ २४ ॥

कथं पारमगत्वा हि युद्धे त्वं वै जिजीविषुः ।
इमान् निपतितान् दृष्ट्वा पुत्रान् भ्रातॄन् पितॄंस्तथा ॥ २५ ॥
सम्बन्धिनो वयस्यांश्च मातुलान् बान्धवांस्तथा ।
घातयित्वा कथं तात ह्रदे तिष्ठसि साम्प्रतम् ॥ २६ ॥

'युद्धसे पार पाये बिना ही तुम्हें जीवित रहनेकी इच्छा कैसे हो गयी ? तात ! रणभूमिमें गिरे हुए इन पुत्रों, भाइयों और चाचे-ताउओंको देखकर सम्बन्धियों, मित्रों, मामाओं और बन्धु-बान्धवोंका वध कराकर इस समय तालाबमें क्यों छिपे बैठे हो ? ॥ २५-२६ ॥

शूरमानी न शूरस्त्वं मृषा वदसि भारत ।

[illegible] ॥ २७ ॥

[illegible]

[illegible] ॥ २८ ॥

[illegible]

स त्वमुत्तिष्ठ युध्यस्व विनीय भयमात्मनः ।
घातयित्वा सर्वसैन्यं भ्रातॄंश्चैव सुयोधन ॥ २९ ॥
नेदानीं जीविते बुद्धिः कार्या धर्मचिकीर्षया ।
क्षत्रधर्ममुपाश्रित्य त्वद्विधेन सुयोधन ॥ ३० ॥

[illegible] तुम अपना भय दूर करके उठो और युद्ध करो । [illegible] सम्पूर्ण सेनाको मरवाकर क्षत्रिय-[illegible] तुम्हारे जैसे पुरुषको धर्मसम्पादन-की इच्छासे इस प्रकार केवल अपनी जान बचानेका विचार नहीं करना चाहिये ॥ २९-३० ॥

यत्तु कर्णमुपाश्रित्य शकुनिं चापि सौबलम् ।
अमर्त्य इव सम्मोहात् त्वमात्मानं न बुद्धवान्॥ ३१ ॥
तत् पापं सुमहत् कृत्वा प्रतियुध्यस्व भारत ।
कथं हि त्वद्विधो मोहाद् रोचयेत पलायनम् ॥ ३२ ॥

तुम जो कर्ण और सुबलपुत्र शकुनिका सहारा लेकर मोहवश अपने-आपको अजर-अमर-सा मान बैठे थे, अपनेको मनुष्य समझते ही नहीं थे, वह महान् पाप करके अब युद्ध क्यों नहीं करते ? भारत ! उठो, हमारे साथ युद्ध करो । तुम्हारे जैसे वीर पुरुष मोहवश पीठ दिखाकर भागना कैसे पसंद करेगा ? ॥ ३१-३२ ॥

क्व ते तत् पौरुषं यातं क्व च मानः सुयोधन ।
क्व च विक्रान्तता याता क्व च विस्फूर्जितं महत्॥ ३३ ॥
क्व ते कृतास्त्रता याता किमर्थं शेषे जलाशये ।
स त्वमुत्तिष्ठ युध्यस्व क्षत्रधर्मेण भारत ॥ ३४ ॥

सुयोधन ! तुम्हारा वह पौरुष कहाँ चला गया ? कहाँ है वह तुम्हारा अभिमान ? कहाँ गया पराक्रम ? कहाँ है वह महान् गर्जन-तर्जन ? और कहाँ गया वह अस्त्रविद्याका ज्ञान ? इस समय इस जलाशयमें तुम्हें कैसे नींद आ रही है ? भारत ! उठो और क्षत्रियधर्मके अनुसार युद्ध करो ॥ ३३-३४ ॥

अस्मांस्तु वा पराजित्य प्रशाधि पृथिवीमिमाम् ।
अथवा निहतोऽस्माभिर्भूमौ स्वप्स्यसि भारत ॥ ३५ ॥

भरतनन्दन ! हम सब लोगोंको परास्त करके इस पृथ्वीका शासन करो अथवा हमारे हाथों मारे जाकर सदाके लिये रणभूमिमें सो जाओ ॥ ३५ ॥

एष ते परमो धर्मः सृष्टो धात्रा महात्मना ।
तं कुरुष्व यथातथ्यं राजा भव महारथ ॥ ३६ ॥

महाराज ! विधाताने तुम्हारे लिये यही उत्तम धर्म बनाया है । इस धर्मका यथार्थरूपसे पालन करो । महारथी वीर ! राजा बनो (राजोचित पराक्रम प्रकट करो) ॥ ३६ ॥

संजय उवाच

एवमुक्तो महाराज धर्मपुत्रेण धीमता ।
सलिलस्थस्तव सुत इदं वचनमब्रवीत् ॥ ३७ ॥

संजय कहते हैं—महाराज ! बुद्धिमान् धर्मपुत्र युधिष्ठिरके ऐसा कहनेपर जलके भीतर स्थित हुए तुम्हारे पुत्रने यह बात कही ॥ ३७ ॥

दुर्योधन उवाच

नैतच्चित्रं महाराज यद् भीः प्राणिनमाविशेत् ।
न च प्राणभयाद् भीतो व्यपयातोऽस्मि भारत॥ ३८ ॥

दुर्योधन बोला—महाराज ! किसी भी प्राणीके मनमें भय समा जाय, यह आश्चर्यकी बात नहीं है; परंतु भरत-नन्दन ! मैं प्राणोंके भयसे भागकर यहाँ नहीं आया हूँ ॥ ३८ ॥

अरथश्चानिषङ्गी च निहतः पार्ष्णिसारथिः ।
एकश्चाप्यगणः संख्ये प्रत्याश्वासमरोचयम् ॥ ३९ ॥

मेरे पास न तो रथ है और न तरकस । मेरे पार्श्वरक्षक भी मारे जा चुके हैं । मेरी सेना नष्ट हो गयी और मैं युद्ध-स्थलमें अकेला रह गया था; इस दशामें मुझे कुछ देरतक विश्राम करनेकी इच्छा हुई ॥ ३९ ॥

न प्राणहेतोर्न भयान्न विषादाद् विशाम्पते ।
इदमम्भः प्रविष्टोऽस्मि श्रमात् त्विदमनुष्ठितम् ॥ ४० ॥

प्रजानाथ ! मैं न तो प्राणोंकी रक्षाके लिये, न किसी भयसे और न विषादके ही कारण इस जलमें आ घुसा हूँ । केवल थक जानेके कारण मैंने ऐसा किया है ॥ ४० ॥

त्वं चाश्वसिहि कौन्तेय ये चाप्यनुगतास्तव ।
अहमुत्थाय वः सर्वान् प्रतियोत्स्यामि संयुगे ॥ ४१ ॥

कुन्तीकुमार ! तुम भी कुछ देरतक विश्राम कर लो । तुम्हारे अनुगामी सेवक भी सुस्ता लें । फिर मैं उठकर समराङ्गणमें तुम सब लोगोंके साथ युद्ध करूँगा ॥ ४१ ॥

युधिष्ठिर उवाच

आश्वस्ता एव सर्वे स्म चिरं त्वां मृगयामहे ।
तदिदानीं समुत्तिष्ठ युध्यस्वेह सुयोधन ॥ ४२ ॥

युधिष्ठिरने कहा—सुयोधन ! हम सब लोग तो सुस्ता ही चुके हैं और बहुत देरसे तुम्हें खोज रहे हैं; इस-लिये अब तुम उठो और यहीं युद्ध करो ॥ ४२ ॥

हत्वा वा समरे पार्थान् स्फीतं राज्यमवाप्नुहि ।
निहतो वा रणेऽस्माभिर्वीरलोकमवाप्स्यसि ॥ ४३ ॥

संग्राममें समस्त पाण्डवोंको मारकर समृद्धिशाली राज्य

प्राप्त करो अथवा रणभूमिमें हमारे हाथों मारे जाकर वीरोंको मिलने योग्य पुण्यलोकोंमें चले जाओ ॥ ४३ ॥

दुर्योधन उवाच

यदर्थं राज्यमिच्छामि कुरूणां कुरुनन्दन।
त इमे निहताः सर्वे भ्रातरो मे जनेश्वर ॥ ४४ ॥
क्षीणरत्नां च पृथिवीं हतक्षत्रियपुङ्गवाम्।
न ह्युत्सहाम्यहं भोक्तुं विधवामिव योषितम् ॥ ४५ ॥

दुर्योधन बोला—कुरुनन्दन नरेश्वर ! मैं जिनके लिये कौरवोंका राज्य चाहता था, वे मेरे सभी भाई मारे जा चुके हैं। भूमण्डलके सभी क्षत्रियशिरोमणियोंका संहार हो गया है। यहाँके सभी रत्न नष्ट हो गये हैं; अतः विधवा स्त्रीके समान श्रीहीन हुई इस पृथ्वीका उपभोग करनेके लिये मेरे मनमें तनिक भी उत्साह नहीं है ॥ ४४-४५ ॥

अद्यापि त्वहमाशंसे त्वां विजेतुं युधिष्ठिर।
भङ्क्त्वा पाञ्चालपाण्डूनामुत्साहं भरतर्षभ ॥ ४६ ॥

भरतश्रेष्ठ युधिष्ठिर ! मैं आज भी पाञ्चालों और पाण्डवों-का उत्साह भङ्ग करके तुम्हें जीतनेका हौसला रखता हूँ ॥ ४६ ॥

न त्विदानीमहं मन्ये कार्यं युद्धेन कर्हिचित्।
द्रोणे कर्णे च संशान्ते निहते च पितामहे ॥ ४७ ॥

किंतु जब द्रोण और कर्ण शान्त हो गये तथा पितामह भीष्म मार डाले गये तो अब मेरी रायमें कभी भी इस युद्धकी कोई आवश्यकता नहीं रही ॥ ४७ ॥

अस्त्विदानीमियं राजन् केवला पृथिवी तव।
असहायो हि को राजा राज्यमिच्छेत् प्रशासितुम् ॥४८॥

राजन् ! अब यह सूनी पृथ्वी तुम्हारी ही रहे। कौन राजा सहायकोंसे रहित होकर राज्य-शासनकी इच्छा करेगा ? ॥ ४८ ॥

सुहृदस्तादृशान् हित्वा पुत्रान् भ्रातॄन् पितॄनपि।
भवद्भिश्च हृते राज्ये को नु जीवेत मादृशः ॥ ४९ ॥

वैसे हितैषी सुहृदों, पुत्रों, भाइयों और पिताओंको छोड़कर तुमलोगोंके द्वारा राज्यका अपहरण हो जानेपर कौन मेरे-जैसा पुरुष जीवित रहेगा ? ॥ ४९ ॥

अहं वनं गमिष्यामि ह्यजिनैः प्रतिवासितः।
रतिर्हि नास्ति मे राज्ये हतपक्षस्य भारत ॥ ५० ॥

भरतनन्दन ! मैं मृगचर्म धारण करके वनमें चला जाऊँगा। अपने पक्षके लोगोंके मारे जानेसे अब इस राज्यमें मेरा तनिक भी अनुराग नहीं है ॥ ५० ॥

हतबान्धवभूयिष्ठा हताश्वा हतकुञ्जरा।
एषा ते पृथिवी राजन् भुङ्क्ष्वैनां विगतज्वरः ॥ ५१ ॥

राजन् ! यह पृथ्वी, जहाँ मेरे अधिक-से-अधिक भाई-बन्धु, घोड़े और हाथी मारे गये हैं, अब तुम्हारे ही अधिकार-में रहे। तुम निश्चिन्त होकर इसका उपभोग करो ॥ ५१ ॥

वनमेव गमिष्यामि वसानो मृगचर्मणी।
न हि मे निर्जनस्यास्ति जीवितेऽद्य स्पृहा विभो ॥ ५२ ॥

प्रभो ! मैं तो दो मृगछाला धारण करके वनमें ही चला जाऊँगा, जब मेरे स्वजन ही नहीं रहे, तब मुझे भी इस जीवनको सुरक्षित रखनेकी इच्छा नहीं है ॥ ५२ ॥

गच्छ त्वं भुङ्क्ष्व राजेन्द्र पृथिवीं निहतेश्वराम्।
हतयोधां नष्टरत्नां क्षीणवृत्तिर्यथासुखम् ॥ ५३ ॥

राजेन्द्र ! जाओ, जिसके स्वामीका नाश हो गया है, योद्धा मारे गये हैं और सारे रत्न नष्ट हो गये हैं, उस पृथ्वीका आनन्दपूर्वक उपभोग करो; क्योंकि तुम्हारी जीविका क्षीण हो गयी थी ॥ ५३ ॥

संजय उवाच

दुर्योधनं तव सुतं सलिलस्थं महायशाः।
श्रुत्वा तु करुणं वाक्यमभाषत युधिष्ठिरः ॥ ५४ ॥

संजय कहते हैं—राजन् ! महायशस्वी युधिष्ठिरने वह करुणायुक्त वचन सुनकर पानीमें स्थित हुए आपके पुत्र दुर्योधनसे इस प्रकार कहा ॥ ५४ ॥

युधिष्ठिर उवाच

आर्तप्रलापान्मा तात सलिलस्थः प्रभाषिथाः।
नैतन्मनसि मे राजन् वाशितं शकुनेरिव ॥ ५५ ॥

युधिष्ठिर बोले—नरेश्वर ! तुम जलमें स्थित होकर आर्त पुरुषोंके समान प्रलाप न करो। तात ! चिड़ियोंके चहचहानेके समान तुम्हारी यह बात मेरे मनमें कोई अर्थ नहीं रखती है॥ ५५ ॥

यदि वापि समर्थः स्यास्त्वं दानाय सुयोधन।
नाहमिच्छेयमवनिं त्वया दत्तां प्रशासितुम् ॥ ५६ ॥

सुयोधन ! यदि तुम इसे देनेमें समर्थ होते तो भी मैं तुम्हारी दी हुई इस पृथ्वीपर शासन करनेकी इच्छा नहीं रखता ॥ ५६ ॥

अधर्मेण न गृह्णीयां त्वया दत्तां महीमिमाम्।
न हि धर्मः स्मृतो राजन् क्षत्रियस्य प्रतिग्रहः ॥ ५७ ॥

राजन् ! तुम्हारी दी हुई इस भूमिको मैं अधर्मपूर्वक नहीं ले सकता; क्षत्रियके लिये दान लेना धर्म नहीं बताया गया है॥ ५७ ॥

त्वया दत्तां न चेच्छेयं पृथिवीमखिलामहम्।
त्वां तु युद्धे विनिर्जित्य भोक्तास्मि वसुधामिमाम्॥५८॥

तुम्हारे देनेपर इस सम्पूर्ण पृथ्वीको भी मैं नहीं लेना चाहता। तुम्हें युद्धमें परास्त करके ही इस वसुधाका उपभोग करूँगा ॥ ५८ ॥

अनीश्वरश्च पृथिवीं कथं त्वं दातुमिच्छसि।
त्वयेयं पृथिवी राजन् किन्न दत्ता तदैव हि ॥ ५९ ॥
धर्मतो याचमानानां प्रशमार्थं कुलस्य नः।

अब तो तुम स्वयं ही इस पृथ्वीके स्वामी नहीं रहे; फिर इसका दान कैसे करना चाहते हो ? राजन् ! जब हम लोग कुलमें शान्ति बनाये रखनेके लिये पहले धर्मके अनुसार अपना ही राज्य माँग रहे थे, उसी समय तुमने हमें यह पृथ्वी क्यों नहीं दे दी ॥ ५९½ ॥

वार्ष्णेयं प्रथमं राजन् प्रत्याख्याय महाबलम् ॥ ६० ॥
किमिदानीं ददासि त्वं को हि ते चित्तविभ्रमः।

नरेश्वर ! पहले महाबली भगवान् श्रीकृष्णको हमारे लिये

[illegible] ॥ ६१½ ॥

[illegible] मेदिनीम् ॥ ६१ ॥
[illegible] ।
[illegible] ॥ ६२ ॥

[illegible] ॥

[illegible] संग्रामे [illegible] वसुन्धराम् ।
सूच्यग्रेणापि यद् भूमेरपि ध्रियेत भारत ॥ ६३ ॥
तन्मात्रमपि नोऽस्मभ्यं न ददाति पुरा भवान् ।
स कथं पृथिवीमेतां प्रददासि विशाम्पते ॥ ६४ ॥

[illegible] इस पृथ्वीका शासन करो । भारत! [illegible] भूमिका [illegible] भी मुझे नहीं दे रहे थे । प्रजानाथ ! फिर आज यह [illegible] कैसे दे रहे हो ? ॥ ६३-६४ ॥

सूच्यग्रं नात्यजः पूर्वं स कथं त्यजसि क्षितिम् ।
एवमैश्वर्यमासाद्य प्रशास्य पृथिवीमिमाम् ॥ ६५ ॥
को हि मूढो व्यवस्येत शत्रोर्दातुं वसुन्धराम् ।

पहले तो तुम सुईकी नोकके बराबर भी भूमि नहीं छोड़ रहे थे, [illegible] सारी पृथ्वी कैसे त्याग रहे हो ? इस प्रकार ऐश्वर्य पाकर [illegible] शासन करके कौन मूर्ख शत्रुके हाथमें अपनी भूमि देना चाहेगा ? ॥ ६५½ ॥

त्वं तु केवलमौर्ख्येण विमूढो नावबुध्यसे ॥ ६६ ॥
पृथिवीं दातुकामोऽपि जीवितेन विमोक्ष्यसे ।

तुम तो केवल मूर्खतावश विवेक खो बैठे हो; इसीलिये यह नहीं समझते कि अब भूमि देनेकी इच्छा करनेपर भी तुम्हें अपने जीवनसे हाथ धोना पड़ेगा ॥ ६६½ ॥

अस्मान् वा त्वं पराजित्य प्रशाधि पृथिवीमिमाम् ॥ ६७ ॥
अथवा निहतोऽस्माभिर्व्रज लोकाननुत्तमान् ।

या तो हमलोगोंको परास्त करके तुम्हीं इस पृथ्वीका शासन करो या हमारे हाथों मारे जाकर परम उत्तम लोकोंमें चले जाओ ॥ ६७½ ॥

आवयोर्जीवतो राजन् मयि च त्वयि च ध्रुवम् ॥ ६८ ॥
संशयः सर्वभूतानां विजये नौ भविष्यति ।

राजन् ! मेरे और तुम्हारे दोनोंके जीते जी हमारी विजयके विषयमें समस्त प्राणियोंको संदेह बना रहेगा ॥ ६८½ ॥

जीवितं तव दुष्प्रज्ञ मयि सम्प्रति वर्तते ॥ ६९ ॥
जीवयेयमहं कामं न तु त्वं जीवितुं क्षमः ।

दुर्मते ! इस समय तुम्हारा जीवन मेरे हाथमें है । मैं इच्छानुसार तुम्हें जीवनदान दे सकता हूँ; परंतु तुम स्वेच्छा-पूर्वक जीवित रहनेमें समर्थ नहीं हो ॥ ६९½ ॥

दहने हि कृतो यत्नस्त्वयास्मासु विशेषतः ॥ ७० ॥
आशीविषैर्विषैश्चापि जले चापि प्रवेशनैः ।
त्वया विनिकृता राजन् राज्यस्य हरणेन च ॥ ७१ ॥
अप्रियाणां च वचनैर्द्रौपद्याः कर्षणेन च ।
एतस्मात् कारणात् पाप जीवितं ते न विद्यते ॥ ७२ ॥
उत्तिष्ठोत्तिष्ठ युध्यस्व युद्धे श्रेयो भविष्यति ।

याद है न, तुमने हमलोगोंको जला डालनेके लिये विशेष प्रयत्न किया था । भीमको विषधर सर्पोंसे डसवाया, विष खिलाकर उन्हें पानीमें डुबाया, हमलोगोंका राज्य छीनकर हमें अपने कपटजालका शिकार बनाया, द्रौपदीको कटु वचन सुनाये और उसके केश खींचे । पापी ! इन सब कारणोंसे तुम्हारा जीवन नष्ट-सा हो चुका है । उठो-उठो, युद्ध करो; इसीसे तुम्हारा कल्याण होगा ॥ ७०–७२½ ॥

एवं तु विविधा वाचो जययुक्ताः पुनः पुनः ।
कीर्तयन्ति स्म ते वीरास्तत्र तत्र जनाधिप ॥ ७३ ॥

नरेश्वर ! वे विजयी वीर पाण्डव इस प्रकार वहाँ बारम्बार नाना प्रकारकी बातें कहने लगे ॥ ७३ ॥

इति श्रीमहाभारते शल्यपर्वान्तर्गतगदापर्वणि सुयोधनयुधिष्ठिरसंवादे एकत्रिंशोऽध्यायः ॥ ३१ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शल्यपर्वके अन्तर्गत गदापर्वमें दुर्योधन-युधिष्ठिरसंवादविषयक इकतीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ३१ ॥

द्वात्रिंशोऽध्यायः

युधिष्ठिरके कहनेसे दुर्योधनका तालाबसे बाहर होकर किसी एक पाण्डवके साथ गदायुद्धके लिये तैयार होना

धृतराष्ट्र उवाच

एवं संतर्ज्यमानस्तु मम पुत्रो महीपतिः ।
प्रकृत्या मन्युमान् वीरः कथमासीत् परंतपः ॥ १ ॥

धृतराष्ट्रने पूछा—संजय ! [illegible] तब युधिष्ठिरने [illegible] हुई ? ॥ १ ॥

न हि संतर्जना तेन श्रुतपूर्वा कथंचन ।
राजभावेन मान्यश्च सर्वलोकस्य सोऽभवत् ॥ २ ॥

उसने पहले कभी किसी तरह ऐसी फटकार नहीं सुनी थी; क्योंकि राजा होनेके कारण वह सब लोगोंके सम्मानका पात्र था ॥ २ ॥

यस्यातपत्रच्छायापि स्वका भानोस्तथा प्रभा ।
खेदायैवाभिमानित्वात् सहेत् सैवं कथं गिरः ॥ ३ ॥

अभिमानी होनेके कारण जिसके मनमें अपने छत्रकी छाया और सूर्यकी प्रभा भी खेद ही उत्पन्न करती थी, वह ऐसी कठोर बातें कैसे सह सकता था ? ॥ ३ ॥

इयं च पृथिवी सर्वा सम्लेच्छाटविका भृशम्।
प्रसादाद् ध्रियते यस्य प्रत्यक्षं तव संजय॥ ४॥

संजय! तुमने तो प्रत्यक्ष ही देखा था कि म्लेच्छों तथा जंगली जातियोंसहित यह सारी पृथ्वी दुर्योधनकी कृपासे ही जीवन धारण करती थी॥ ४॥

स तथा तर्ज्यमानस्तु पाण्डुपुत्रैर्विशेषतः।
विहीनश्च स्वकैर्भृत्यैर्निर्जने चावृतो भृशम्॥ ५॥
स श्रुत्वा कटुका वाचो जययुक्ताः पुनः पुनः।
किमब्रवीत् पाण्डवेयांस्तन्ममाचक्ष्व संजय॥ ६॥

इस समय वह अपने सेवकोंसे हीन हो चुका था और एकान्त स्थानमें घिर गया था। उस दशामें विशेषतः पाण्डवोंने जब उसे वैसी कड़ी फटकार सुनायी, तब शत्रुओंके विजयसे युक्त उन कटुवचनोंको बारंबार सुनकर दुर्योधनने पाण्डवोंसे क्या कहा? यह मुझे बताओ॥ ५-६॥

संजय उवाच

तर्ज्यमानस्तदा राजन्नुदकस्थस्तवात्मजः।
युधिष्ठिरेण राजेन्द्र भ्रातृभिः सहितेन ह॥ ७॥
श्रुत्वा स कटुका वाचो विषमस्थो नराधिपः।
दीर्घमुष्णं च निःश्वस्य सलिलस्थः पुनः पुनः॥ ८॥
सलिलान्तर्गतो राजा धुन्वन् हस्तौ पुनः पुनः।
मनश्चकार युद्धाय राजानं चाभ्यभाषत॥ ९॥

संजयने कहा—राजाधिराज! राजन्! उस समय भाइयोंसहित युधिष्ठिरने जब इस प्रकार फटकारा, तब जलमें खड़े हुए आपके पुत्रने उन कठोर वचनोंको सुनकर गरम-गरम लंबी साँस छोड़ी। राजा दुर्योधन विषम परिस्थितिमें पड़ गया था और पानीमें स्थित था; इसलिये बारंबार उच्छ्वास लेता रहा। उसने जलके भीतर ही अनेक बार दोनों हाथ हिलाकर मन-ही मन युद्धका निश्चय किया और राजा युधिष्ठिरसे इस प्रकार कहा—॥ ७—९॥

यूयं ससुहृदः पार्थाः सर्वे सरथवाहनाः।
अहमेकः परिद्यूनो विरथो हतवाहनः॥ १०॥

'तुम सभी पाण्डव अपने हितैषी मित्रोंको साथ लेकर आये हो। तुम्हारे रथ और वाहन भी मौजूद हैं। मैं अकेला थका-मादा, रथहीन और वाहनशून्य हूँ॥ १०॥

आत्तशस्त्रै रथोपेतैर्बहुभिः परिवारितः।
कथमेकः पदातिः सन्नशस्त्रो योद्धुमुत्सहे॥ ११॥

'तुम्हारी संख्या अधिक है। तुमने रथपर बैठकर नाना प्रकारके अस्त्र-शस्त्र लेकर मुझे घेर रक्खा है। फिर तुम्हारे साथ मैं अकेला पैदल और अस्त्र-शस्त्रोंसे रहित होकर कैसे युद्ध कर सकता हूँ?॥ ११॥

एकैकेन तु मां यूयं योधयध्वं युधिष्ठिर।
न ह्येको बहुभिर्वीरैर्न्याय्यो योधयितुं युधि॥ १२॥

'युधिष्ठिर! तुमलोग एक-एक करके मुझसे युद्ध करो। युद्धमें बहुत-से वीरोंके साथ किसी एकको लड़नेके लिये विवश करना न्यायोचित नहीं है॥ १२॥

विशेषतो विकवचः श्रान्तश्चापत्समाश्रितः।
भृशं विक्षतगात्रश्च श्रान्तवाहनसैनिकः॥ १३॥

'विशेषतः उस दशामें जिसके शरीरपर कवच नहीं हो, जो थका-माँदा, आपत्तिमें पड़ा और अत्यन्त घायल हो तथा जिसके वाहन और सैनिक भी थक गये हों, उसे युद्धके लिये विवश करना न्यायसंगत नहीं है॥ १३॥

न मे त्वत्तो भयं राजन् न च पार्थाद् वृकोदरात्।
फाल्गुनाद् वासुदेवाद् वा पञ्चालेभ्योऽथवा पुनः॥ १४॥
यमाभ्यां युयुधानाद् वा ये चान्ये तव सैनिकाः।
एकः सर्वानहं क्रुद्धो वारयिष्ये युधि स्थितः॥ १५॥

'राजन्! मुझे न तो तुमसे, न कुन्तीके बेटे भीमसेनसे, न अर्जुनसे, न श्रीकृष्णसे अथवा पाञ्चालोंसे ही कोई भय है। नकुल-सहदेव, सात्यकि तथा अन्य जो-जो तुम्हारे सैनिक हैं, उनसे भी मैं नहीं डरता। युद्धमें क्रोधपूर्वक स्थित होनेपर मैं अकेला ही तुम सब लोगोंको आगे बढ़नेसे रोक दूँगा॥

धर्ममूला सतां कीर्तिर्मनुष्याणां जनाधिप।
धर्मं चैवेह कीर्तिं च पालयन् प्रब्रवीम्यहम्॥ १६॥

'नरेश्वर! साधु पुरुषोंकी कीर्तिका मूल कारण धर्म ही है। मैं यहाँ उस धर्म और कीर्तिका पालन करता हुआ ही यह बात कह रहा हूँ॥ १६॥

अहमुत्थाय सर्वान् वै प्रतियोत्स्यामि संयुगे।
अनुगम्यागतान् सर्वानृतून् संवत्सरो यथा॥ १७॥

'मैं उठकर रणभूमिमें एक-एक करके आये हुए तुम सब लोगोंके साथ युद्ध करूँगा, ठीक उसी तरह, जैसे संवत्सर बारी-बारीसे आये हुए सम्पूर्ण ऋतुओंको ग्रहण करता है॥ १७॥

अद्य वः सरथान् साश्वानशस्त्रो विरथोऽपि सन्।
नक्षत्राणीव सर्वाणि सविता रात्रिसंक्षये॥ १८॥
तेजसा नाशयिष्यामि स्थिरीभवत पाण्डवाः।

'पाण्डवो! स्थिर होकर खड़े रहो। आज मैं अस्त्र-शस्त्र एवं रथसे हीन होकर भी घोड़ों और रथोंपर चढ़कर आये हुए तुम सब लोगोंको उसी तरह अपने तेजसे नष्ट कर दूँगा, जैसे रात्रिके अन्तमें सूर्यदेव सम्पूर्ण नक्षत्रोंको अपने तेजसे अदृश्य कर देते हैं॥ १८½॥

अद्यानृण्यं गमिष्यामि क्षत्रियाणां यशस्विनाम्॥ १९॥
बाह्लीकद्रोणभीष्माणां कर्णस्य च महात्मनः।
जयद्रथस्य शूरस्य भगदत्तस्य चोभयोः॥ २०॥
मद्रराजस्य शल्यस्य भूरिश्रवस एव च।
पुत्राणां भरतश्रेष्ठ शकुनेः सौबलस्य च॥ २१॥
मित्राणां सुहृदां चैव बान्धवानां तथैव च।
आनृण्यमद्य गच्छामि हत्वा त्वां भ्रातृभिः सह॥ २२॥
एतावदुक्त्वा वचनं विरराम जनाधिपः।

'भरतश्रेष्ठ! आज मैं भाइयोंसहित तुम्हारा वध करके उन यशस्वी क्षत्रियोंके ऋणसे उऋण हो जाऊँगा। बाह्लीक, द्रोण, भीष्म, महामना कर्ण, शूरवीर जयद्रथ, भगदत्त, मद्रराज-

[illegible] ॥ १९—२२½ ॥

युधिष्ठिर उवाच

दिष्ट्या त्वमपि जानीषे क्षत्रधर्मं सुयोधन ॥ २३ ॥
दिष्ट्या ते वर्तते बुद्धिर्युद्धायैव महाभुज ।
दिष्ट्या शूरोऽसि कौरव्य दिष्ट्या जानासि संगरम् ॥

युधिष्ठिर बोले—सुयोधन ! सौभाग्यकी बात है कि तुम भी क्षत्रियधर्मको जानते हो । महाबाहो ! यह जानकर प्रसन्नता हुई कि अभी तुम्हारा विचार युद्ध करनेका ही है । कुरुनन्दन ! तुम शूरवीर हो और युद्ध करना जानते हो—यह भी और सौभाग्यकी बात है ॥ २३-२४ ॥

यस्त्वमेकोऽपि नः सर्वान् संगरे योद्धुमिच्छसि ।
एक एकेन संगम्य यत् ते सम्मतमायुधम् ॥ २५ ॥
तत् त्वमादाय युध्यस्व प्रेक्षकास्ते वयं स्थिताः ।

तुम रणभूमिमें अकेले ही एक-एकके साथ भिड़कर हम सब लोगोंसे युद्ध करना चाहते हो तो ऐसा ही सही । जो हथियार तुम्हें पसंद हो, उसीको लेकर हमलोगोंमेंसे एक-एकके साथ युद्ध करो । हम सब लोग दर्शक बनकर खड़े रहेंगे ॥

स्वयमिष्टं च ते कामं वीर भूयो ददाम्यहम् ॥ २६ ॥
हत्वैकं भवतो राज्यं हतो वा स्वर्गमाप्नुहि ।

वीर ! मैं स्वयं ही पुनः तुम्हें यह अभीष्ट वर देता हूँ कि हममेंसे एकका भी वध कर देनेपर सारा राज्य तुम्हारा हो जायगा अथवा यदि तुम्हीं मारे गये तो स्वर्गलोक प्राप्त करोगे।'

दुर्योधन उवाच

एकश्चेद् योद्धुमाक्रन्दे शूरोऽद्य मम दीयताम् ॥ २७ ॥
आयुधानामियं चापि वृता त्वत्सम्मते गदा ।

दुर्योधन बोला—राजन् ! यदि ऐसी बात है तो इस महासमरमें मेरे साथ लड़नेके लिये आज किसी भी एक शूरवीरको दे दो और तुम्हारी सम्मतिके अनुसार हथियारोंमें मैंने एक मात्र इस गदाका ही वरण किया है ॥ २७½ ॥

हन्त्वेकं भवतामेकः शक्यं मां योऽभिमन्यते ॥ २८ ॥
पदातिर्गदया संख्ये स युध्यतु मया सह ।

मैं [illegible] कह रहा हूँ कि तुममेंसे कोई भी एक वीर जो मुझ अकेलेको जीत सकनेका अभिमान रखता हो, वह रणभूमिमें पैदल ही गदाद्वारा मेरे साथ युद्ध करे' ॥ २८½ ॥

वृत्तानि रथयुद्धानि विचित्राणि पदे पदे ॥ २९ ॥
इदमेकं गदायुद्धं भवत्वद्याद्भुतं महत् ।

रथके विचित्र युद्ध तो पग-पगपर हुए हैं । आज यह एक अत्यन्त अद्भुत गदायुद्ध भी हो जाय ॥ २९½ ॥

अस्त्राणामपि पर्यायं कर्तुमिच्छन्ति मानवाः ॥ ३० ॥
युद्धानामपि पर्यायो भवत्वनुमते तव ।

मनुष्य अस्त्र-शस्त्रोंमें [illegible] प्रयोग करना चाहते हैं । अतः आज तुम्हारी अनुमतिसे युद्ध भी क्रमशः एक-एक योद्धाके साथ ही हो ॥ ३०½ ॥

गदया त्वां महाबाहो विजेष्यामि सहानुजम् ॥ ३१ ॥
पञ्चालान् सृंजयांश्चैव ये चान्ये तव सैनिकाः ।
न हि मे सम्भ्रमो जातु शक्रादपि युधिष्ठिर ॥ ३२ ॥

महाबाहो ! मैं गदाके द्वारा भाइयोंसहित तुमको, पाञ्चालों और सृंजयोंको तथा जो तुम्हारे दूसरे सैनिक हैं, उनको भी जीत लूँगा । युधिष्ठिर ! मुझे इन्द्रसे भी कभी घबराहट नहीं होती ॥ ३१-३२ ॥

युधिष्ठिर उवाच

उत्तिष्ठोत्तिष्ठ गान्धारे मां योधय सुयोधन ।
एक एकेन संगम्य संयुगे गदया बली ॥ ३३ ॥
पुरुषो भव गान्धारे युध्यस्व सुसमाहितः ।
अद्य ते जीवितं नास्ति यदीन्द्रोऽपि तवाश्रयः ॥ ३४ ॥

युधिष्ठिर बोले—गान्धारीनन्दन ! सुयोधन ! उठो-उठो और मेरे साथ युद्ध करो । बलवान् तो तुम हो ही । युद्धमें गदाके द्वारा अकेले किसी एक वीरके साथ ही भिड़कर अपने पुरुषत्वका परिचय दो । एकाग्रचित्त होकर युद्ध करो । यदि इन्द्र भी तुम्हारे आश्रयदाता हो जायँ तो भी आज तुम्हारे प्राण नहीं बच सकते ॥ ३३-३४ ॥

संजय उवाच

एतत् स नरशार्दूलो नामृष्यत तवात्मजः ।
सलिलान्तर्गतः श्वभ्रे महानाग इव श्वसन् ॥ ३५ ॥

संजय कहते हैं—राजन् ! युधिष्ठिरके इस कथनको जलमें स्थित हुआ आपका पुत्र पुरुषसिंह दुर्योधन नहीं सह सका । वह बिलमें बैठे हुए विशाल सर्पके समान लंबी साँस खींचने लगा ॥ ३५ ॥

तथासौ वाक्प्रतोदेन तुद्यमानः पुनः पुनः ।
वचो न ममृषे राजन्नुत्तमाश्वः कशामिव ॥ ३६ ॥

राजन् ! जैसे अच्छा घोड़ा कोड़ेकी मार नहीं सह सकता है, उसी प्रकार वचनरूपी चाबुकसे बारंबार पीड़ित किया जाता हुआ दुर्योधन युधिष्ठिरकी उस बातको सहन न कर सका॥

संक्षोभ्य सलिलं वेगाद् गदामादाय वीर्यवान् ।
अद्रिसारमयीं गुर्वीं काञ्चनाङ्गदभूषणाम् ॥ ३७ ॥
अन्तर्जलात् समुत्तस्थौ नागेन्द्र इव निःश्वसन् ।

वह पराक्रमी वीर बड़े वेगसे सोनेके अङ्गदसे विभूषित एवं लोहेकी बनी हुई भारी गदा हाथमें लेकर पानीको चीरता हुआ उसके भीतरसे उठ खड़ा हुआ और सर्पराजके समान लंबी साँस खींचने लगा ॥ ३७½ ॥

स भित्त्वा स्तम्भितं तोयं स्कन्धे कृत्वाऽऽयसीं गदाम् ॥
उदतिष्ठत पुत्रस्ते प्रतपन् रश्मिवानिव ।

कंधेपर लोहेकी गदा रखकर बँधे हुए जलका भेदन करके आपका वह पुत्र प्रतापी सूर्यके समान ऊपर उठा ॥ ३८½ ॥

ततः शैक्यायसीं गुर्वीं जातरूपपरिष्कृताम् ॥ ३९ ॥
गदां परामृशद् धीमान् धार्तराष्ट्रो महाबलः ।

इसके बाद महाबली बुद्धिमान् दुर्योधनने लोहेकी बनी हुई वह सुवर्णभूषित भारी गदा हाथमें ली ॥ ३९½ ॥

गदाहस्तं तु तं दृष्ट्वा सशृङ्गमिव पर्वतम् ॥ ४० ॥
प्रजानामिव संक्रुद्धं शूलपाणिमिव स्थितम् ।

हाथमें गदा लिये हुए दुर्योधनको पाण्डवोंने इस प्रकार देखा, मानो कोई शृङ्गयुक्त पर्वत हो अथवा प्रजापर कुपित होकर हाथमें त्रिशूल लिये हुए रुद्रदेव खड़े हों ॥ ४०½ ॥

सगदो भारतो भाति प्रतपन् भास्करो यथा ॥ ४१ ॥
तमुत्तीर्णं महाबाहुं गदाहस्तमरिंदमम् ।
मेनिरे सर्वभूतानि दण्डपाणिमिवान्तकम् ॥ ४२ ॥

वह गदाधारी भरतवंशी वीर तपते हुए सूर्यके समान प्रकाशित हो रहा था। शत्रुओंका दमन करनेवाले महाबाहु दुर्योधनको हाथमें गदा लिये जलसे निकला हुआ देख समस्त प्राणी ऐसा मानने लगे, मानो दण्डधारी यमराज प्रकट हो गये हों ॥ ४१-४२ ॥

वज्रहस्तं यथा शक्रं शूलहस्तं यथा हरम् ।
ददृशुः सर्वपञ्चालाः पुत्रं तव जनाधिप ॥ ४३ ॥

नरेश्वर ! सम्पूर्ण पाञ्चालोंने आपके पुत्रको वज्रधारी इन्द्र और त्रिशूलधारी रुद्रके समान देखा ॥ ४३ ॥

तमुत्तीर्णं तु सम्प्रेक्ष्य समहृष्यन्त सर्वशः ।
पञ्चालाः पाण्डवेयाश्च तेऽन्योन्यस्य तलान् ददुः॥ ४४ ॥

उसे जलसे बाहर निकला देख समस्त पाञ्चाल और पाण्डव हर्षसे खिल उठे और एक-दूसरेसे हाथ मिलाने लगे ॥

अवहासं तु तं मत्वा पुत्रो दुर्योधनस्तव ।
उद्वृत्य नयने क्रुद्धो दिधक्षुरिव पाण्डवान् ॥ ४५ ॥

महाराज ! उनके इस हाथ मिलनेको दुर्योधनने अपना उपहास समझा; अतः क्रोधपूर्वक आँखें घुमाकर पाण्डवोंकी ओर इस प्रकार देखा, मानो उन्हें जलाकर भस्म कर देना चाहता हो ॥ ४५ ॥

त्रिशिखां भ्रुकुटीं कृत्वा संदष्टदशनच्छदः ।
प्रत्युवाच ततस्तान् वै पाण्डवान् सहकेशवान् ॥ ४६ ॥

उसने अपनी भौंहोंको तीन जगहसे टेढ़ी करके दाँतोंसे ओठको दबाया और श्रीकृष्णसहित पाण्डवोंसे इस प्रकार कहा ॥

दुर्योधन उवाच

अस्यावहासस्य फलं प्रतिभोक्ष्यथ पाण्डवाः ।
गमिष्यथ हताः सद्यः सपञ्चाला यमक्षयम् ॥ ४७ ॥

दुर्योधन बोला—पाञ्चालो और पाण्डवो ! इस उपहासका फल तुम्हें अभी भोगना पड़ेगा; मेरे हाथसे मारे जाकर तुम तत्काल यमलोकमें पहुँच जाओगे ॥ ४७ ॥

संजय उवाच

उत्थितश्च जलात् तस्मात् पुत्रो दुर्योधनस्तव ।
अतिष्ठत गदापाणी रुधिरेण समुक्षितः ॥ ४८ ॥

संजय कहते हैं—राजन् ! आपका पुत्र दुर्योधन उस जलसे निकलकर हाथमें गदा लिये खड़ा हो गया। वह रक्तसे भीगा हुआ था ॥ ४८ ॥

तस्य शोणितदिग्धस्य सलिलेन समुक्षितम् ।
शरीरं स्म तदा भाति स्रवन्निव महीधरः ॥ ४९ ॥

उस समय खूनसे लथपथ हुए दुर्योधनका शरीर पानीसे भीगकर जलका स्रोत बहानेवाले पर्वतके समान प्रतीत होता था॥

तमुद्यतगदं वीरं मेनिरे तत्र पाण्डवाः ।
वैवस्वतमिव क्रुद्धं शूलपाणिमिव स्थितम् ॥ ५० ॥

वहाँ हाथमें गदा उठाये हुए वीर दुर्योधनको पाण्डवोंने क्रोधमें भरे हुए यमराज तथा हाथमें त्रिशूल लेकर खड़े हुए रुद्रके समान समझा ॥ ५० ॥

स मेघनिनदो हर्षान्नर्दन्निव च गोवृषः ।
आजुहाव ततः पार्थान् गदया युधि वीर्यवान् ॥ ५१ ॥

उस पराक्रमी वीरने हँकड़ते हुए साँड़के समान मेघके तुल्य गम्भीर गर्जना करते हुए बड़े हर्षके साथ गदायुद्धके लिये पाण्डवोंको ललकारा ॥ ५१ ॥

दुर्योधन उवाच

एकैकेन च मां यूयमासीदत युधिष्ठिर ।
न ह्येको बहुभिर्न्याय्यो वीरो योधयितुं युधि ॥ ५२ ॥

दुर्योधन बोला—युधिष्ठिर ! तुमलोग एक-एक करके मेरे साथ युद्धके लिये आते जाओ। रणभूमिमें किसी एक वीरको बहुसंख्यक वीरोंके साथ युद्धके लिये विवश करना न्यायसंगत नहीं है ॥ ५२ ॥

न्यस्तवर्मा विशेषेण श्रान्तश्चाप्सु परिप्लुतः ।
भृशं विक्षतगात्रश्च हतवाहनसैनिकः ॥ ५३ ॥

विशेषतः उस वीरको जिसने अपना कवच उतार दिया हो, जो थककर जलमें गोता लगाकर विश्राम कर रहा हो, जिसके सारे अङ्ग अत्यन्त घायल हो गये हों तथा जिसके वाहन और सैनिक मार डाले गये हों, किसी समूहके साथ युद्धके लिये बाध्य करना कदापि उचित नहीं है ॥ ५३ ॥

अवश्यमेव योद्धव्यं सर्वैरेव मया सह ।
युक्तं त्वयुक्तमित्येतद् वेत्सि त्वं चैव सर्वदा ॥ ५४ ॥

मुझे तो तुम सब लोगोंके साथ अवश्य युद्ध करना है; परंतु इसमें क्या उचित है और क्या अनुचित; इसे तुम सदा अच्छी तरह जानते हो ॥ ५४ ॥

युधिष्ठिर उवाच

मा भूदियं तव प्रज्ञा कथमेवं सुयोधन ।
यदाभिमन्युं बहवो जघ्नुर्युधि महारथाः ॥ ५५ ॥

युधिष्ठिरने कहा—सुयोधन ! जब तुम बहुत-से महारथियोंने मिलकर युद्धमें अभिमन्युको मारा था, उस समय तुम्हारे मनमें ऐसा विचार क्यों नहीं उत्पन्न हुआ ? ॥ ५५ ॥

क्षत्रधर्मं भृशं क्रूरं निरपेक्षं सुनिर्घृणम् ।
अन्यथा तु कथं हन्युरभिमन्युं तथा गतम् ॥ ५६ ॥
सर्वे भवन्तो धर्मज्ञाः सर्वे शूरास्तनुत्यजः ।

वास्तवमें क्षत्रिय-धर्म बड़ा ही क्रूर, किसीकी भी अपेक्षा

[illegible] ॥ ५६ ॥

[illegible] धर्मः [illegible] गतिः परा ॥ ५७ ॥
[illegible] न हन्तव्यो बहुभिर्धर्म एव तु ।
कथमभिमन्युं बहवो निजघ्नुस्त्वन्मते कथम् ॥ ५८ ॥

[illegible] वीरोंके लिये परम उत्तम इन्द्र-लोककी प्राप्ति करानेवाली बतायी गयी है। ‘बहुत-से योद्धा मिलकर किसी एक वीरको न मारें’ यदि यही धर्म है तो तुम्हारी सम्मतिसे अनेक महारथियोंने अभिमन्युका वध कैसे किया ? ॥ ५८ ॥

सर्वो विमृशते जन्तुः कृच्छ्रस्थो धर्मदर्शनम् ।
पदस्थः पिहितं द्वारं परलोकस्य पश्यति ॥ ५९ ॥

प्रायः सभी प्राणी जब स्वयं संकटमें पड़ जाते हैं तो अपनी रक्षाके लिये धर्मशास्त्रकी दुहाई देने लगते हैं और जब अपने उच्च पदपर प्रतिष्ठित होते हैं, उस समय उन्हें परलोकका दरवाजा बंद दिखायी देता है ॥ ५९ ॥

आमुञ्च कवचं वीर मूर्धजान् यमयस्व च ।
यच्चान्यदपि ते नास्ति तदप्यादत्स्व भारत ॥ ६० ॥

वीर भरतनन्दन ! तुम कवच धारण कर लो, अपने केशोंको अच्छी तरह बाँध लो तथा युद्धकी और कोई आवश्यक सामग्री जो तुम्हारे पास न हो, उसे भी ले लो ॥ ६० ॥

इममेकं च ते कामं वीर भूयो ददाम्यहम् ।
पञ्चानां पाण्डवेयानां येन त्वं योद्धुमिच्छसि ॥ ६१ ॥
तं हत्वा वै भवान् राजा हतो वा स्वर्गमाप्नुहि ।
ऋते च जीविताद् वीर युद्धे किं कर्म ते प्रियम् ॥ ६२ ॥

वीर ! मैं पुनः तुम्हें एक अभीष्ट वर देता हूँ—‘पाँचों पाण्डवोंमेंसे जिसके साथ युद्ध करना चाहो, उस एकका ही वध कर देनेपर तुम राजा हो सकते हो अथवा यदि स्वयं मारे गये तो स्वर्गलोक प्राप्त कर लोगे। शूरवीर ! बताओ, युद्धमें जीवनकी रक्षाके सिवा तुम्हारा और कौन-सा प्रिय कार्य हम कर सकते हैं ? ॥ ६१-६२ ॥

संजय उवाच

ततस्तव सुतो राजन् वर्म जग्राह काञ्चनम् ।
विचित्रं च शिरस्त्राणं जाम्बूनदपरिष्कृतम् ॥ ६३ ॥

संजय कहते हैं—राजन् ! तदनन्तर आपके पुत्रने सुवर्णमय कवच तथा स्वर्णजटित विचित्र शिरस्त्राण धारण किया ॥

सोऽवबद्धशिरस्त्राणः शुभकाञ्चनवर्मभृत् ।
रराज राजन् पुत्रस्ते काञ्चनः शैलराडिव ॥ ६४ ॥

महाराज ! शिरस्त्राण बाँधकर सुन्दर सुवर्णमय कवच धारण करके आपका पुत्र स्वर्णमय गिरिराज मेरुके समान शोभा पाने लगा ॥ ६४ ॥

संनद्धः सगदो राजन् सज्जः संग्राममूर्धनि ।
अब्रवीत् पाण्डवान् सर्वान् पुत्रो दुर्योधनस्तव ॥ ६५ ॥

नरेश्वर ! युद्धके मुहानेपर सुसज्जित हो कवच बाँधे और गदा हाथमें लिये आपके पुत्र दुर्योधनने समस्त पाण्डवोंसे कहा—॥

भ्रातॄणां भवतामेको युध्यतां गदया मया ।
सहदेवेन वा योत्स्ये भीमेन नकुलेन वा ॥ ६६ ॥
अथवा फाल्गुनेनाद्य त्वया वा भरतर्षभ ।

‘भरतश्रेष्ठ ! तुम्हारे भाइयोंमेंसे कोई एक मेरे साथ गदाद्वारा युद्ध करे। मैं सहदेव, नकुल, भीमसेन, अर्जुन अथवा स्वयं तुमसे भी युद्ध कर सकता हूँ ॥ ६६½ ॥

योत्स्येऽहं संगरं प्राप्य विजेष्ये च रणाजिरे ॥ ६७ ॥
अहमद्य गमिष्यामि वैरस्यान्तं सुदुर्गमम् ।
गदया पुरुषव्याघ्र हेमपट्टनिबद्धया ॥ ६८ ॥

‘रणक्षेत्रमें पहुँचकर मैं तुममेंसे किसी एकके साथ युद्ध करूँगा और मेरा विश्वास है कि समराङ्गणमें विजय पाऊँगा। पुरुषसिंह ! आज मैं सुवर्णपत्रजटित गदाके द्वारा वैरके उस पार पहुँच जाऊँगा, जहाँ जाना किसीके लिये भी अत्यन्त कठिन है ॥ ६७-६८ ॥

गदायुद्धे न मे कश्चित् सदृशोऽस्तीति चिन्तये ।
गदया वो हनिष्यामि सर्वानेव समागतान् ॥ ६९ ॥

‘मैं इस बातको सदा याद रखता हूँ कि ‘गदायुद्धमें मेरी समानता करनेवाला दूसरा कोई नहीं है।’ गदाके द्वारा सामने आनेपर मैं तुम सभी लोगोंको मार डालूँगा ॥ ६९ ॥

न मे समर्थाः सर्वे वै योद्धुं न्यायेन केचन ।
न युक्तमात्मना वक्तुमेवं गर्वोद्धतं वचः ।
अथवा सफलं ह्येतत् करिष्ये भवतां पुरः ॥ ७० ॥

‘तुम सभी लोग अथवा तुममेंसे कोई भी मेरे साथ न्यायपूर्वक युद्ध करनेमें समर्थ नहीं हो। मुझे स्वयं ही अपने विषयमें इस प्रकार गर्वसे उद्धत वचन नहीं कहना चाहिये, तथापि कहना पड़ा है अथवा कहनेकी क्या आवश्यकता ? मैं तुम्हारे सामने ही यह सब सफल कर दिखाऊँगा ॥ ७० ॥

अस्मिन् मुहूर्ते सत्यं वा मिथ्या वैतद् भविष्यति ।
गृह्णातु च गदां यो वै योत्स्यतेऽद्य मया सह ॥ ७१ ॥

‘मेरा वचन सत्य है या मिथ्या, यह इसी मुहूर्तमें स्पष्ट हो जायगा। आज मेरे साथ जो भी युद्ध करनेको उद्यत हो, वह गदा उठावे’ ॥ ७१ ॥

इति श्रीमहाभारते शल्यपर्वणि गदापर्वणि युधिष्ठिरदुर्योधनसंवादे द्वात्रिंशोऽध्यायः ॥ ३२ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शल्यपर्वके अन्तर्गत गदापर्वमें युधिष्ठिर और दुर्योधनका संवादविषयक बत्तीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ३२ ॥

रजि० सं० ए० ८

श्रीहरिः

प्रकाशित हो

श्रीमन्महाभारतम् (मूलमात्रम्, द्वितीयं खण्डम्)

[विराट, उद्योग, भीष्म और द्रोणपर्व]

आकार २२×३० आठपेजी, पृष्ठ-संख्या ७६४, चार बहुरंगे चित्र, मूल्य ६), डाकखर्च २।)

पूरे महाभारतका मूल-पाठ प्रकाशित करनेकी योजनाके अन्तर्गत आदि, सभा और वनपर्वको प्रथम खण्ड लगभग ६ मास पूर्व प्रकाशित कर दिया गया था। अब विराट, उद्योग, भीष्म और द्रोण—इन चारों पर्वोंका द्वितीय खण्डके नामसे निकाला गया है। यह भी गीताप्रेससे प्रकाशित बड़े आकारकी मूल भागवतकी तरह ही दो दिया गया है। जिन्हें लेना हो, वे मँगवानेकी कृपा करें।

मनुष्य-जीवनकी सफलता

(लेखक—श्रीजयदयालजी गोयन्दका)

आकार २०×३० सोलहपेजी, पृष्ठ-संख्या ३५८, बहुरंगे पाँच चित्र, मूल्य १), सजिल्द १।=) डाकखर्च

इसमें मनुष्यमात्रके लिये लाभदायक सब प्रकारकी उन्नति करनेके उपाय बतलाये गये हैं। ज्ञान, वैराग्य, सदाचार और इन्द्रियोंके संयमकी बातें और उत्तम गुण, उत्तम भाव, सत्पुरुषोंके सङ्ग, महिमा, गुण, प्रभाव आदिका विवेचन किया गया है। स्त्रियोंको घरवालोंके साथ एवं भाइयोंको परस्पर किस प्रकार त्यागपूर्वक प्रेम-व्यवहार करना यह भी दिखाया गया है। आशा है कि पाठकगण इससे लाभ उठानेकी कृपा करेंगे।

महाप्रभु श्रीवल्लभाचार्य (पाँच अङ्कोंमें एक ऐतिहासिक नाटक)

लेखक—सेठ श्रीगोविन्ददासजी, एम्० पी०

आकार २०×३० सोलहपेजी, पृष्ठ-संख्या १०८, मूल्य ॥), डाकखर्च ॥≡)

'कल्याण' वर्ष ३० के अङ्क ३ से ६ तक धारावाहिक रूपसे प्रकाशित यह नाटक अब पुस्तकरूपमें पाठकोंके प्रस्तुत है। इसमें श्रीवल्लभाचार्यजीके जीवनकी प्रायः सभी प्रमुख घटनाओंको स्थान देनेका प्रयत्न किया गया है। अधिकांश पद उसी समयके वल्लभीय सम्प्रदायके महाकवियोंद्वारा रचित हैं।

श्रीमद्गोस्वामी तुलसीदासजीरचित तीन पुस्तकें

रामाज्ञा-प्रश्न (सरल भावार्थसहित)

आकार २०×३० सोलहपेजी, पृष्ठ-संख्या १०४, मूल्य ।=), डाकखर्च ॥≡)

यह ग्रन्थ सात सर्गोंमें समाप्त हुआ है। प्रत्येक सर्गमें सात-सात सप्तक और प्रत्येक सप्तकमें सात-सात दोहे हैं श्रीरामचरितमानसकी कथा वर्णित है, परंतु क्रम भिन्न है। प्रथम सर्ग तथा चतुर्थ सर्गमें बालकाण्डकी कथा है। अयोध्याकाण्ड तथा कुछ अरण्यकाण्डकी, तृतीय सर्गमें अरण्य और किष्किन्धाकाण्डकी, पञ्चममें सुन्दर तथा लङ्का और षष्ट सर्गमें राज्याभिषेककी तथा कुछ अन्य कथाएँ हैं। सप्तम सर्गमें स्फुट दोहे और शकुन देखनेकी विधि है।

जानकी-मङ्गल (सरल भावार्थसहित)

आकार २०×३० सोलहपेजी, पृष्ठ-संख्या ५२, सुन्दर टाइटल, मूल्य ≡) मात्र। डाकखर्च अलग

पूज्य गोस्वामीजीकी यह मङ्गलमयी कृति सरल अनुवादसहित श्रीरामभक्तोंकी सेवामें प्रस्तुत की जा रही है निम्नलिखित शीर्षक हैं—मङ्गलाचरण, स्वयंवरकी तैयारी, विश्वामित्रजीकी रामभिक्षा, विश्वामित्रजीका स्वयंवरके लिये रङ्गभूमिमें राम, धनुर्भङ्ग, विवाहकी तैयारी, राम-विवाह, बरातकी विदा और अयोध्यामें आनन्द।

पार्वती-मङ्गल (सरल भावार्थसहित)

आकार २०×३० सोलहपेजी, पृष्ठ-संख्या ४०, सुन्दर मुखपृष्ठ, मूल्य =) मात्र। डाकखर्च अलग

जानकी-मङ्गलमें जिस प्रकार मर्यादा-पुरुषोत्तम भगवान् श्रीरामके साथ जगज्जननी जानकीके मङ्गलमय विवाह वर्णन है, उसी प्रकार पार्वती-मङ्गलमें प्रातःस्मरणीय गोस्वामीजीने देवाधिदेव भगवान् शङ्करके द्वारा पार्वतीके कल पाणिग्रहणका काव्यमय एवं रसमय चित्रण किया है।

जीवनमें उतारनेकी सोलह बातें

२२×२९ बत्तीसपेजी आकारमें आठ पृष्ठका ट्रैक्ट, मूल्य)। मात्र।

व्यवस्थापक—**गीताप्रेस, पो० गीताप्रेस (गोर**

महाभारत

संस्कृत मूल

हिन्दी अनुवाद

संस्कृत मूल

हिन्दी अनुवाद

गीताप्रेस, गोरखपुर

ॐ श्रीपरमात्मने नमः
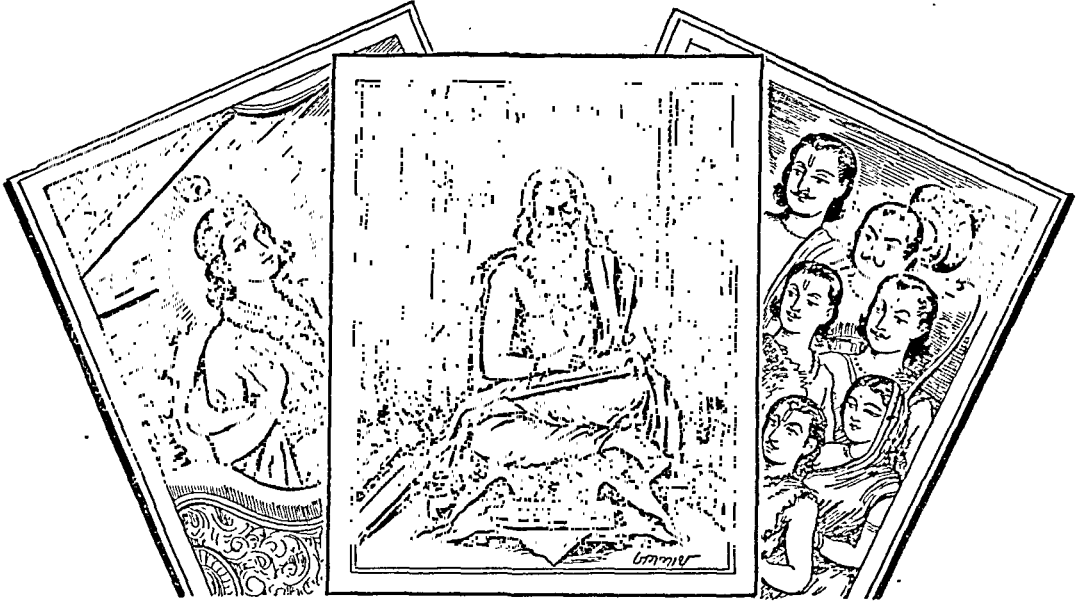
महाभारत

नारायणं नमस्कृत्य नरं चैव नरोत्तमम् । देवीं सरस्वतीं व्यासं ततो जयमुदीरयेत् ॥
व्यासाय विष्णुरूपाय व्यासरूपाय विष्णवे । नमो वै ब्रह्महृदये वासिष्ठाय नमो नमः ॥

वर्ष २ } गोरखपुर, श्रावण २०१४, अगस्त १९५७ { संख्या १० पूर्ण संख्या २२

बलरामजीके पास देवर्षि नारदका आगमन

आजगामाथ तं देशं यत्र रामो व्यवस्थितः ।
जटामण्डलसंवीतः स्वर्णचीरो महातपाः ॥
हेमदण्डधरो राजन् कमण्डलुधरस्तथा ।
कच्छपीं सुखशब्दां तां गृह्यवीणां मनोरमाम् ॥

राजन् ! देवर्षि नारद उनके पास उसी स्थानपर आ पहुँचे, जहाँ बलरामजी विराजमान थे । महातपस्वी नारद जटामण्डलसे मण्डित हो सुनहरा चीर धारण किये हुए थे । उन्होंने कमण्डलु, सोनेका दण्ड तथा सुखदायक शब्द करनेवाली कच्छपी नामक मनोरम वीणा ले रखी थी ।

* श्रीहरिः *

विषय-सूची (शल्यपर्व)

चित्र-सूची

* श्रीहरिः *

विषय-सूची (सौप्तिकपर्व)

चित्र-सूची

* श्रीहरिः *

विषय-सूची (स्त्रीपर्व)

चित्र-सूची

मित्रावरुणके आश्रममें बलरामजीकी देवर्षि नारदजीसे भेंट

त्रयस्त्रिंशोऽध्यायः

श्रीकृष्णका युधिष्ठिरको फटकारना, भीमसेनकी प्रशंसा तथा भीम और दुर्योधनमें वाग्युद्ध

संजय उवाच

त्वं दुर्योधने राजन् गर्जमाने मुहुर्मुहुः।
युधिष्ठिरस्य संक्रुद्धो वासुदेवोऽब्रवीदिदम् ॥ १ ॥

संजय कहते हैं—राजन्! जब यों कहकर दुर्योधन बारंबार गर्जना करने लगा, उस समय भगवान् श्रीकृष्ण अत्यन्त कुपित होकर युधिष्ठिरसे बोले—॥ १ ॥

यदि नाम ह्ययं युद्धे वरयेत् त्वां युधिष्ठिर।
अर्जुनं नकुलं चैव सहदेवमथापि वा ॥ २ ॥

'युधिष्ठिर! यदि यह दुर्योधन युद्धमें तुमको, अर्जुनको अथवा नकुल या सहदेवको ही युद्धके लिये वरण कर ले, तब क्या होगा? ॥ २ ॥

किमिदं साहसं राजंस्त्वया व्याहृतमीदृशम्।
एकमेव निहत्याजौ भव राजा कुरुष्विति ॥ ३ ॥

'राजन्! आपने क्यों ऐसी दुःसाहस पूर्ण बात कह डाली कि 'तुम हममेंसे एकको ही मारकर कौरवोंका राजा हो जाओ'॥

न समर्थानहं मन्ये गदाहस्तस्य संयुगे।
एतेन हि कृता योग्या वर्षाणीह त्रयोदश ॥ ४ ॥
आयसे पुरुषे राजन् भीमसेनजिघांसया।

'मैं नहीं मानता कि आपलोग युद्धमें गदाधारी दुर्योधनका सामना करनेमें समर्थ हैं। राजन्! इसने भीमसेनका वध करनेकी इच्छासे उनकी लोहेकी मूर्तिके साथ तेरह वर्षोंतक गदायुद्धका अभ्यास किया है ॥ ४½ ॥

कथं नाम भवेत् कार्यमस्माभिर्भरतर्षभ ॥ ५ ॥
साहसं कृतवांस्त्वं तु ह्यनुक्रोशान्नृपोत्तम।

'भरतभूषण! अब हमलोग अपना कार्य कैसे सिद्ध कर सकते हैं? नृपश्रेष्ठ! आपने दयावश यह दुःसाहसपूर्ण कार्य कर डाला है ॥ ५½ ॥

नान्यमस्यानुपश्यामि प्रतियोद्धारमाहवे ॥ ६ ॥
ऋते वृकोदरात् पार्थात् स च नातिकृतश्रमः।

'मैं कुन्तीपुत्र भीमसेनके सिवा, दूसरे किसीको ऐसा नहीं देखता, जो गदायुद्धमें दुर्योधनका सामना कर सके, परंतु भीमसेनने भी अधिक परिश्रम नहीं किया है ॥ ६½ ॥

तदिदं द्यूतमारब्धं पुनरेव यथा पुरा ॥ ७ ॥
विषमं शकुनेश्चैव तव चैव विशाम्पते।

'इस समय आपने पहलेके समान ही पुनः यह जूएका खेल आरम्भ कर दिया है। प्रजानाथ! आपका यह जूआ शकुनिके जूएसे कहीं अधिक भयंकर है ॥ ७½ ॥

बली भीमः समर्थश्च कृती राजा सुयोधनः ॥ ८ ॥
बलवान् वा कृती वेति कृती राजन् विशिष्यते।

'राजन्! माना कि भीमसेन बलवान् और समर्थ हैं, परंतु राजा दुर्योधनने अभ्यास अधिक किया है। एक ओर बलवान् हो और दूसरी ओर युद्धका अभ्यासी, तो उनमें युद्धका अभ्यास करनेवाला ही बड़ा माना जाता है ॥ ८½ ॥

सोऽयं राजंस्त्वया शत्रुः समे पथि निवेशितः ॥ ९ ॥
न्यस्तश्चात्मा सुविषमे कृच्छ्रमापादिता वयम्।

'अतः महाराज! आपने अपने शत्रुको समान मार्गपर ला दिया है। अपने आपको तो भारी सङ्कटमें फँसाया ही है, हमलोगोंको भी भारी कठिनाईमें डाल दिया है ॥ ९½ ॥

को नु सर्वान् विनिर्जित्य शत्रूनेकेन वैरिणा ॥ १० ॥
कृच्छ्रप्राप्तेन च तथा हारयेद् राज्यमागतम्।
पणित्वा चैकपाणेन रोचयेदेवमाहवम् ॥ ११ ॥

'भला कौन ऐसा होगा, जो सब शत्रुओंको जीत लेनेके बाद जब एक ही बाकी रह जाय और वह भी सङ्कटमें पड़ा हो तो उसके साथ अपने हाथमें आये हुए राज्यको दाँवपर लगाकर हार जाय और इस प्रकार एकके साथ युद्ध करनेकी शर्त रखकर लड़ना पसंद करे? ॥ १०-११ ॥

न हि पश्यामि तं लोके योऽद्य दुर्योधनं रणे।
गदाहस्तं विजेतुं वै शक्तः स्यादमरोऽपि हि ॥ १२ ॥

'मैं संसारमें किसी भी शूरवीरको, वह देवता ही क्यों न हो, ऐसा नहीं देखता, जो आज रणभूमिमें गदाधारी दुर्योधनको परास्त करनेमें समर्थ हो ॥ १२ ॥

न त्वं भीमो न नकुलः सहदेवोऽथ फाल्गुनः।
जेतुं न्यायेन शक्तो वै कृती राजा सुयोधनः ॥ १३ ॥

'आप, भीमसेन, नकुल, सहदेव अथवा अर्जुन—कोई भी न्यायपूर्वक युद्ध करके दुर्योधनपर विजय नहीं पा सकते; क्योंकि राजा सुयोधनने गदायुद्धका अधिक अभ्यास किया है ॥ १३ ॥

स कथं वदसे शत्रुं युध्यस्व गदयेति हि।
एकं च नो निहत्याजौ भव राजेति भारत ॥ १४ ॥

'भारत! जब ऐसी अवस्था है, तब आपने अपने शत्रुसे कैसे यह कह दिया कि 'तुम गदाद्वारा युद्ध करो और हममेंसे किसी एकको मारकर राजा हो जाओ' ॥ १४ ॥

वृकोदरं समासाद्य संशयो वै जये हि नः।
न्यायतो युध्यमानानां कृती ह्येष महाबलः ॥ १५ ॥

'भीमसेनपर युद्धका भार रक्खा जाय तो भी हमें विजय मिलनेमें संदेह है; क्योंकि न्यायपूर्वक युद्ध करनेवाले योद्धाओंमें महाबली सुयोधनका अभ्यास सबसे अधिक है ॥ १५ ॥

एकं वास्मान् निहत्य त्वं भव राजेति वै पुनः।
नूनं न राज्यभागेषा पाण्डोः कुन्त्याश्च संततिः ॥ १६ ॥
अत्यन्तवनवासाय सृष्टा भैक्ष्याय वा पुनः।

'फिर भी आपने बारंबार कहा है कि 'तुम हमलोगोंमेंसे एकको भी मारकर राजा हो जाओ।' निश्चय ही राजा पाण्डु और कुन्तीदेवीकी संतान राज्य भोगनेकी अधिकारिणी नहीं है। विधाताने इसे अनन्त कालतक वनवास करने अथवा भीख माँगनेके लिये ही पैदा किया है' ॥ १६½ ॥

भीमसेन उवाच

मधुसूदन मा कार्षीर्विषादं यदुनन्दन ॥ १७ ॥
अद्य पारं गमिष्यामि वैरस्य भृशदुर्गमम् ।

यह सुनकर भीमसेन बोले—मधुसूदन ! आप विषाद न करें । यदुनन्दन ! मैं आज वैरकी उस अन्तिम सीमापर पहुँच जाऊँगा, जहाँ जाना दूसरोंके लिये अत्यन्त कठिन है ॥ १७½ ॥

अहं सुयोधनं संख्ये हनिष्यामि न संशयः ॥ १८ ॥
विजयो वै ध्रुवः कृष्ण धर्मराजस्य दृश्यते ।

श्रीकृष्ण ! इसमें तनिक भी संशय नहीं है कि मैं युद्धमें सुयोधनको मार डालूँगा । मुझे तो धर्मराजकी निश्चय ही विजय दिखायी देती है ॥ १८½ ॥

अध्यर्धेन गुणेनेयं गदा गुरुतरी मम ॥ १९ ॥
न तथा धार्तराष्ट्रस्य मा कार्षीर्माधव व्यथाम् ।
अहमेनं हि गदया संयुगे योद्धुमुत्सहे ॥ २० ॥

मेरी यह गदा दुर्योधनकी गदासे डेढ़गुनी भारी है । ऐसी दुर्योधनकी गदा नहीं है; अतः माधव ! आप व्यथित न हों । मैं समराङ्गणमें इस गदाद्वारा इससे भिड़नेका उत्साह रखता हूँ ॥ १९-२० ॥

भवन्तः प्रेक्षकाः सर्वे मम सन्तु जनार्दन ।
सामरानपि लोकांस्त्रीन् नानाशस्त्रधरान् युधि ॥ २१ ॥
योधयेयं रणे कृष्ण किमुताद्य सुयोधनम् ।

जनार्दन ! आप सब लोग दर्शक बनकर मेरा युद्ध देखते रहें । श्रीकृष्ण ! मैं रणक्षेत्रमें नाना प्रकारके अस्त्र-शस्त्र धारण करनेवाले देवताओंसहित तीनों लोकोंके साथ युद्ध कर सकता हूँ; फिर इस सुयोधनकी तो बात ही क्या है ? ॥

संजय उवाच

तथा सम्भाषमाणं तु वासुदेवो वृकोदरम् ॥ २२ ॥
हृष्टः सम्पूजयामास वचनं चेदमब्रवीत् ।

संजय कहते हैं—महाराज ! भीमसेनने जब ऐसी बात कही, तब भगवान् श्रीकृष्ण बहुत प्रसन्न होकर उनकी प्रशंसा करने लगे और इस प्रकार बोले—॥ २२½ ॥

त्वामाश्रित्य महाबाहो धर्मराजो युधिष्ठिरः ॥ २३ ॥
निहतारिः स्वकां दीप्तां श्रियं प्राप्तो न संशयः ।
त्वया विनिहताः सर्वे धृतराष्ट्रसुता रणे ॥ २४ ॥

'महाबाहो ! इसमें संदेह नहीं कि धर्मराज युधिष्ठिरने तुम्हारा आश्रय लेकर ही शत्रुओंका संहार करके पुनः अपनी उज्ज्वल राज्यलक्ष्मीको प्राप्त कर लिया है । धृतराष्ट्रके सभी पुत्र तुम्हारे ही हाथसे युद्धमें मारे गये हैं ॥ २३-२४ ॥

राजानो राजपुत्राश्च नागाश्च विनिपातिताः ।
कलिङ्गा मागधाः प्राच्या गान्धाराः कुरवस्तथा ॥ २५ ॥
त्वामासाद्य महायुद्धे निहताः पाण्डुनन्दन ।

'तुमने कितने ही राजाओं, राजकुमारों और गजराजोंको मार गिराया है । पाण्डुनन्दन ! कलिङ्ग, मगध, प्राच्य, गान्धार और कुरुदेशके योद्धा भी इस महायुद्धमें तुम्हारे सामने आकर कालके गालमें चले गये हैं ॥ २५½ ॥

हत्वा दुर्योधनं चापि प्रयच्छोर्वीं ससागराम् ॥ २६ ॥
धर्मराजाय कौन्तेय यथा विष्णुः शचीपतेः ।

'कुन्तीकुमार ! जैसे भगवान् विष्णुने शचीपति इन्द्रको त्रिलोकीका राज्य प्रदान किया था, उसी प्रकार तुम भी दुर्योधनका वध करके समुद्रोंसहित यह सारी पृथ्वी धर्मराज युधिष्ठिरको समर्पित कर दो ॥ २६½ ॥

त्वां च प्राप्य रणे पापो धार्तराष्ट्रो विनङ्क्ष्यति ॥ २७ ॥
त्वमस्य सक्थिनी भङ्क्त्वा प्रतिज्ञां पालयिष्यसि ।

'अवश्य ही रणभूमिमें तुमसे टक्कर लेकर पापी दुर्योधन नष्ट हो जायगा और तुम उसकी दोनों जाँघें तोड़कर अपनी प्रतिज्ञाका पालन करोगे ॥ २७½ ॥

यत्नेन तु सदा पार्थ योद्धव्यो धृतराष्ट्रजः ॥ २८ ॥
कृती च बलवांश्चैव युद्धशौण्डश्च नित्यदा ।

'किंतु पार्थ ! तुम्हें दुर्योधनके साथ सदा प्रयत्नपूर्वक युद्ध करना चाहिये; क्योंकि वह अभ्यासकुशल, बलवान् और युद्धकी कलामें निरन्तर चतुर है' ॥ २८½ ॥

ततस्तु सात्यकी राजन् पूजयामास पाण्डवम् ॥ २९ ॥
पञ्चालाः पाण्डवेयाश्च धर्मराजपुरोगमाः ।
तद् वचो भीमसेनस्य सर्व एवाभ्यपूजयन् ॥ ३० ॥

राजन् ! तदनन्तर सात्यकिने पाण्डुपुत्र भीमसेनकी भूरि-भूरि प्रशंसा की । धर्मराज आदि पाण्डव तथा पाञ्चाल समीने भीमसेनके उस वचनका बड़ा आदर किया ॥ २९-३० ॥

ततो भीमबलो भीमो युधिष्ठिरमथाब्रवीत् ।
सृंजयैः सह तिष्ठन्तं तपन्तमिव भास्करम् ॥ ३१ ॥

तदनन्तर भयंकर बलशाली भीमसेनने सृंजयोंके साथ खड़े हुए तपते सूर्यके समान तेजस्वी युधिष्ठिरसे कहा—॥ ३१ ॥

अहमेतेन संगम्य संयुगे योद्धुमुत्सहे ।
न हि शक्तो रणे जेतुं मामेष पुरुषाधमः ॥ ३२ ॥

'भैया ! मैं रणभूमिमें इस दुर्योधनके साथ भिड़कर लड़नेका उत्साह रखता हूँ । यह नराधम मुझे युद्धमें परास्त नहीं कर सकता ॥ ३२ ॥

अद्य क्रोधं विमोक्ष्यामि निहितं हृदये भृशम् ।
सुयोधने धार्तराष्ट्रे खाण्डवेऽग्निमिवार्जुनः ॥ ३३ ॥

'मेरे हृदयमें दीर्घकालसे जो अत्यन्त क्रोध संचित है, उसे आज मैं धृतराष्ट्रपुत्र दुर्योधनपर उसी प्रकार छोड़ूँगा, जैसे अर्जुनने खाण्डव वनमें अग्निदेवको छोड़ा था ॥ ३३ ॥

शल्यमद्योद्धरिष्यामि तव पाण्डव हृच्छयम् ।
निहत्य गदया पापमद्य राजन् सुखी भव ॥ ३४ ॥

'पाण्डुनन्दन ! नरेश ! आज मैं गदाद्वारा पापी दुर्योधन-का वध करके आपके हृदयका काँटा निकाल दूँगा; अतः आप सुखी होइये ॥ ३४ ॥

अद्य कीर्तिमयीं मालां प्रतिमोक्ष्ये तवानघ ।
प्राणाञ्छ्रियं च राज्यं च मोक्ष्यतेऽद्य सुयोधनः ॥ ३५ ॥

'अनघ ! आज आपके गलेमें मैं कीर्तिमयी माला

पहनाऊँगा तथा आज यह दुर्योधन अपने राज्यलक्ष्मी और प्राणोंका परित्याग करेगा ॥ ३५ ॥

राजा च धृतराष्ट्रोऽद्य श्रुत्वा पुत्रं मया हतम्।
स्मरिष्यत्यशुभं कर्म यत् तच्छकुनिबुद्धिजम् ॥ ३६ ॥

'आज मेरे हाथसे पुत्रको मारा गया सुनकर राजा धृतराष्ट्र शकुनिकी सलाहसे किये हुए अपने अशुभ कर्मोंको याद करेंगे' ॥ ३६ ॥

इत्युक्त्वा भरतश्रेष्ठो गदामुद्यम्य वीर्यवान्।
उदतिष्ठत युद्धाय शक्रो वृत्रमिवाह्वयन् ॥ ३७ ॥

ऐसा कहकर भरतवंशी वीरोंमें श्रेष्ठ पराक्रमी भीमसेन गदा उठाकर युद्धके लिये उठ खड़े हुए और जैसे इन्द्रने वृत्रासुरको ललकारा था, उसी प्रकार उन्होंने दुर्योधनका आह्वान किया ॥ ३७ ॥

तदाह्वानममृष्यन् वै तव पुत्रोऽतिवीर्यवान्।
प्रत्युपस्थित एवाशु मत्तो मत्तमिव द्विपम् ॥ ३८ ॥

महाराज! उस समय आपका अत्यन्त पराक्रमी पुत्र दुर्योधन भीमसेनकी उस ललकारको न सह सका। वह तुरंत ही उनका सामना करनेके लिये उपस्थित हो गया, मानो एक मतवाला हाथी दूसरे मदोन्मत्त गजराजसे भिड़नेको उद्यत हो गया हो ॥ ३८ ॥

गदाहस्तं तव सुतं युद्धाय समुपस्थितम्।
ददृशुः पाण्डवाः सर्वे कैलासमिव श्रृङ्गिणम् ॥ ३९ ॥

हाथमें गदा लेकर युद्धके लिये उपस्थित हुए आपके पुत्रको समस्त पाण्डवोंने श्रृङ्गधारी कैलासपर्वतके समान देखा॥

तमेकाकिनमासाद्य धार्तराष्ट्रं महाबलम्।
वियूथमिव मातङ्गं समहृष्यन्त पाण्डवाः ॥ ४० ॥

जैसे कोई मतवाला हाथी अपने यूथसे बिछुड़ गया हो, उसी प्रकार अकेले आये हुए आपके महाबली पुत्र दुर्योधनको पाकर समस्त पाण्डव हर्षसे खिल उठे ॥ ४० ॥

न सम्भ्रमो न च भयं न च ग्लानिर्न च व्यथा।
आसीद् दुर्योधनस्यापि स्थितः सिंह इवाहवे ॥ ४१ ॥

उस समय दुर्योधनके मनमें न घबराहट थी, न भय। न ग्लानि थी, न व्यथा। वह युद्धस्थलमें सिंहके समान निर्भय खड़ा था ॥ ४१ ॥

समुद्यतगदं दृष्ट्वा कैलासमिव श्रृङ्गिणम्।
भीमसेनस्तदा राजन् दुर्योधनमथाब्रवीत् ॥ ४२ ॥

राजन्! श्रृङ्गधारी कैलासपर्वतके समान गदा उठाये दुर्योधनको देखकर भीमसेनने उससे कहा— ॥ ४२ ॥

राज्ञापि धृतराष्ट्रेण त्वया चास्मासु यत् कृतम्।
स्मर तद् दुष्कृतं कर्म यद् वृत्तं वारणावते ॥ ४३ ॥

'दुर्योधन! तूने तथा राजा धृतराष्ट्रने भी हमलोगोंपर जो-जो अत्याचार किया था और वारणावत नगरमें जो कुछ हुआ था, उन सारे पापकर्मोंको याद कर ले ॥ ४३ ॥

द्रौपदी च परिक्लिष्टा सभामध्ये रजस्वला।
द्यूते यद् विजितो राजा शकुनेर्बुद्धिनिश्चयात् ॥ ४४ ॥

यानि चान्यानि दुष्टात्मन् पापानि कृतवानसि।
अनागःसु च पार्थेषु तस्य पश्य महत् फलम् ॥ ४५ ॥

'दुरात्मन्! तूने भरी सभामें रजस्वला द्रौपदीको क्लेश पहुँचाया, शकुनिकी सलाह लेकर राजा युधिष्ठिरको कपटपूर्वक जूएमें हराया तथा निरपराध कुन्तीपुत्रोंपर दूसरे-दूसरे जो पाप एवं अत्याचार किये थे, उन सबका महान् अशुभ फल आज तू अपनी आँखों देख ले ॥ ४४-४५ ॥

त्वत्कृते निहतः शेते शरतल्पे महायशाः।
गाङ्गेयो भरतश्रेष्ठः सर्वेषां नः पितामहः ॥ ४६ ॥

'तेरे ही कारण हम सब लोगोंके पितामह महायशस्वी गङ्गानन्दन भरतश्रेष्ठ भीष्मजी आज शरशय्यापर पड़े हुए हैं॥

हतो द्रोणश्च कर्णश्च हतः शल्यः प्रतापवान्।
वैरस्य चादिकर्तासौ शकुनिर्निहतो रणे ॥ ४७ ॥

'तेरी ही करतूतोंसे आचार्य द्रोण, कर्ण, प्रतापी शल्य तथा वैरका आदि स्रष्टा वह शकुनि—ये सभी रणभूमिमें मारे गये हैं ॥ ४७ ॥

भ्रातरस्ते हताः शूराः पुत्राश्च सहसैनिकाः।
राजानश्च हताः शूराः समरेष्वनिवर्तिनः ॥ ४८ ॥

'तेरे भाई, शूरवीर पुत्र, सैनिक तथा युद्धमें पीठ न दिखानेवाले अन्य बहुत-से शौर्यसम्पन्न नरेश भी मृत्युके अधीन हो गये हैं ॥ ४८ ॥

एते चान्ये च निहता बहवः क्षत्रियर्षभाः।
प्रातिकामी तथा पापो द्रौपद्याः क्लेशकृद्धतः ॥ ४९ ॥

'ये तथा दूसरे बहुसंख्यक क्षत्रियशिरोमणि वीर मार डाले गये हैं। द्रौपदीको क्लेश पहुँचानेवाले पापी प्रातिकामीका भी वध हो चुका है ॥ ४९ ॥

अवशिष्टस्त्वमेवैकः कुलघ्नोऽधमपूरुषः।
त्वामप्यद्य हनिष्यामि गदया नात्र संशयः ॥ ५० ॥

'अब इस वंशका नाश करनेवाला नराधम एकमात्र तू ही बच गया है। आज इस गदासे तुझे भी मार डालूँगा; इसमें संशय नहीं है ॥ ५० ॥

अद्य तेऽहं रणे दर्पं सर्वं नाशयिता नृप।
राज्याशां विपुलां राजन् पाण्डवेषु च दुष्कृतम्॥ ५१ ॥

'नरेश्वर! आज रणभूमिमें मैं तेरा सारा घमंड चूर्ण कर दूँगा। राजन्! तेरे मनमें राज्य पानेकी जो बड़ी भारी लालसा है, उसका तथा पाण्डवोंपर तेरे द्वारा किये जानेवाले अत्याचारोंका भी अन्त कर डालूँगा' ॥ ५१ ॥

दुर्योधन उवाच

किं कत्थितेन बहुना युद्ध्यस्वाद्य मया सह।
अद्य तेऽहं विनेष्यामि युद्धश्रद्धां वृकोदर ॥ ५२ ॥

दुर्योधन बोला—वृकोदर! बहुत बढ़-बढ़कर बातें बनानेसे क्या लाभ? आज मेरे साथ भिड़ तो सही। मैं युद्धका तेरा सारा हौसला मिटा दूँगा ॥ ५२ ॥

किं न पश्यसि मां पाप गदायुद्धे व्यवस्थितम्।
हिमवच्छिखराकारां प्रगृह्य महतीं गदाम् ॥ ५३ ॥

पापी ! क्या तू देखता नहीं कि मैं हिमालयके शिखरकी भाँति विशाल गदा हाथमें लेकर युद्धके लिये खड़ा हूँ॥

गदिनं कोऽद्य मां पाप हन्तुमुत्सहते रिपुः।
न्यायतो युद्ध्यमानस्य देवेष्वपि पुरन्दरः॥ ५४॥

ओ पापी ! आज कौन ऐसा शत्रु है, जो मेरे हाथमें गदा रहते हुए भी मुझे मार सके। न्यायपूर्वक युद्ध करते हुए देवताओंके राजा इन्द्र भी मुझे परास्त नहीं कर सकते॥

मा वृथा गर्ज कौन्तेय शारदाभ्रमिवाजलम्।
दर्शयस्व बलं युद्धे यावत् तत् तेऽद्य विद्यते॥ ५५॥

कुन्तीपुत्र ! शरद् ऋतुके निर्जल मेघकी भाँति व्यर्थ गर्जना न कर। आज तेरे पास जितना बल हो, वह सब युद्धमें दिखा॥ ५५॥

तस्य तद् वचनं श्रुत्वा पाण्डवाः सहसृंजयाः।
सर्वे सम्पूजयामासुस्तद्वचो विजिगीषवः॥ ५६

दुर्योधनका यह वचन सुनकर विजयकी इच्छा रखनेवा समस्त पाण्डवों और सृंजयोंने भी उसकी बड़ी सराहना की

उन्मत्तमिव मातङ्गं तलशब्देन मानवाः।
भूयः संहर्षयामासू राजन् दुर्योधनं नृपम्॥ ५७

राजन् ! जैसे मतवाले हाथीको मनुष्य ताली बजाव कुपित कर देते हैं, उसी प्रकार उन्होंने बारंबार ताल ठोकव राजा दुर्योधनके युद्धविषयक हर्ष और उत्साहको बढ़ाया

बृंहन्ति कुञ्जरास्तत्र हया ह्रेषन्ति चासकृत्।
शस्त्राणि सम्प्रदीप्यन्ते पाण्डवानां जयैषिणाम्॥५८

उस समय वहाँ विजयाभिलाषी पाण्डवोंके हाथी बारंब चिग्घाड़ने और घोड़े हिनहिनाने लगे। साथ ही उनके अ शस्त्र दीप्तिसे प्रकाशित हो उठे॥ ५८॥

इति श्रीमहाभारते शल्यपर्वणि गदापर्वणि भीमसेनदुर्योधनसंवादे त्रयस्त्रिंशोऽध्यायः॥ ३३॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शल्यपर्वके अन्तर्गत गदापर्वमें भीमसेन और दुर्योधनका संवादविषयक तैंतीसवाँ अध्याय पूरा हुआ॥ ३३॥

चतुस्त्रिंशोऽध्यायः

बलरामजीका आगमन और स्वागत तथा भीमसेन और दुर्योधनके युद्धका आरम्भ

संजय उवाच

तस्मिन् युद्धे महाराज सुसंवृत्ते सुदारुणे।
उपविष्टेषु सर्वेषु पाण्डवेषु महात्मसु॥ १॥
ततस्तालध्वजो रामस्तयोर्युद्ध उपस्थिते।
श्रुत्वा तच्छिष्ययो राजन्नाजगाम हलायुधः॥ २॥

संजय कहते हैं—महाराज ! वह अत्यन्त भयंकर युद्ध जब आरम्भ होने लगा और समस्त महात्मा पाण्डव उसे देखनेके लिये बैठ गये, उस समय अपने दोनों शिष्योंका संग्राम उपस्थित होनेपर उसका समाचार सुन तालचिह्नित ध्वजवाले हलधारी बलरामजी वहाँ आ पहुँचे॥ १-२॥

तं दृष्ट्वा परमप्रीताः पाण्डवाः सहकेशवाः।
उपगम्योपसंगृह्य विधिवत् प्रत्यपूजयन्॥ ३॥

उन्हें देखकर श्रीकृष्णसहित पाण्डव बड़े प्रसन्न हुए। उन्होंने निकट जाकर उनका चरणस्पर्श किया और विधिपूर्वक उनकी पूजा की॥ ३॥

पूजयित्वा ततः पश्चादिदं वचनमब्रुवन्।
शिष्ययोः कौशलं युद्धे पश्य रामेति पार्थिव॥ ४॥

राजन् ! पूजनके पश्चात् उन्होंने इस प्रकार कहा— 'बलरामजी ! अपने दोनों शिष्योंका युद्धकौशल देखिये'॥

अब्रवीच्च तदा रामो दृष्ट्वा कृष्णं सपाण्डवम्।
दुर्योधनं च कौरव्यं गदापाणिमवस्थितम्॥ ५॥
चत्वारिंशदहान्यद्य द्वे च मे निःसृतस्य वै।
पुष्येण सम्प्रयातोऽस्मि श्रवणे पुनरागतः॥ ६॥
शिष्ययोर्वै गदायुद्धं द्रष्टुकामोऽस्मि माधव।

उस समय बलरामजीने श्रीकृष्ण, पाण्डव तथा हाथमें गदा लेकर खड़े हुए कुरुवंशी दुर्योधनकी ओर देखकर कहा— 'माधव ! तीर्थयात्राके लिये निकले हुए आज मुझे बयालीस दिन हो गये। पुष्य नक्षत्रमें चला था और श्रवण नक्षत्र पुनः वापस आया हूँ। मैं अपने दोनों शिष्योंका गदायु देखना चाहता हूँ'॥ ५-६½॥

ततस्तदा गदाहस्तौ दुर्योधनवृकोदरौ॥ ७
युद्धभूमिं गतौ वीरावुभावेव रराजतुः।

तदनन्तर गदा हाथमें लेकर दुर्योधन और भीमसेन यु भूमिमें उतरे। वे दोनों ही वीर वहाँ बड़ी शोभा पा रहे थे

ततो युधिष्ठिरो राजा परिष्वज्य हलायुधम्॥ ८
स्वागतं कुशलं चास्मै पर्यपृच्छद् यथातथम्।

उस समय राजा युधिष्ठिरने बलरामजीको हृदयसे लगाव उनका स्वागत किया और यथोचितरूपसे उनका कुश समाचार पूछा॥ ८½॥

कृष्णौ चापि महेष्वासावभिवाद्य हलायुधम्॥ ९
सस्वजाते परिप्रीतौ प्रीयमाणौ यशस्विनौ।

यशस्वी महाधनुर्धर श्रीकृष्ण और अर्जुन भी बलराम को प्रणाम करके अत्यन्त प्रसन्न हो प्रेमपूर्वक उनके हृदय लग गये॥ ९½॥

माद्रीपुत्रौ तथा शूरौ द्रौपद्याः पञ्च चात्मजाः॥ १०
अभिवाद्य स्थिता राजन् रौहिणेयं महाबलम्।

राजन् ! माद्रीके दोनों शूरवीर पुत्र नकुल-सहदेव औ द्रौपदीके पाँचों पुत्र भी रोहिणीनन्दन महाबली बलरामजी प्रणाम करके उनके पास विनीतभावसे खड़े हो गये॥१०½

भीमसेनोऽथ बलवान् पुत्रस्तव जनाधिप॥ ११
तथैव चोद्यतगदौ पूजयामासतुर्बलम्।

नरेश्वर ! भीमसेन और आपका बलवान् पुत्र दुर्योध इन दोनोंने गदाको ऊँचे उठाकर बलरामजीके प्रति सम्म प्रदर्शित किया॥ ११½॥
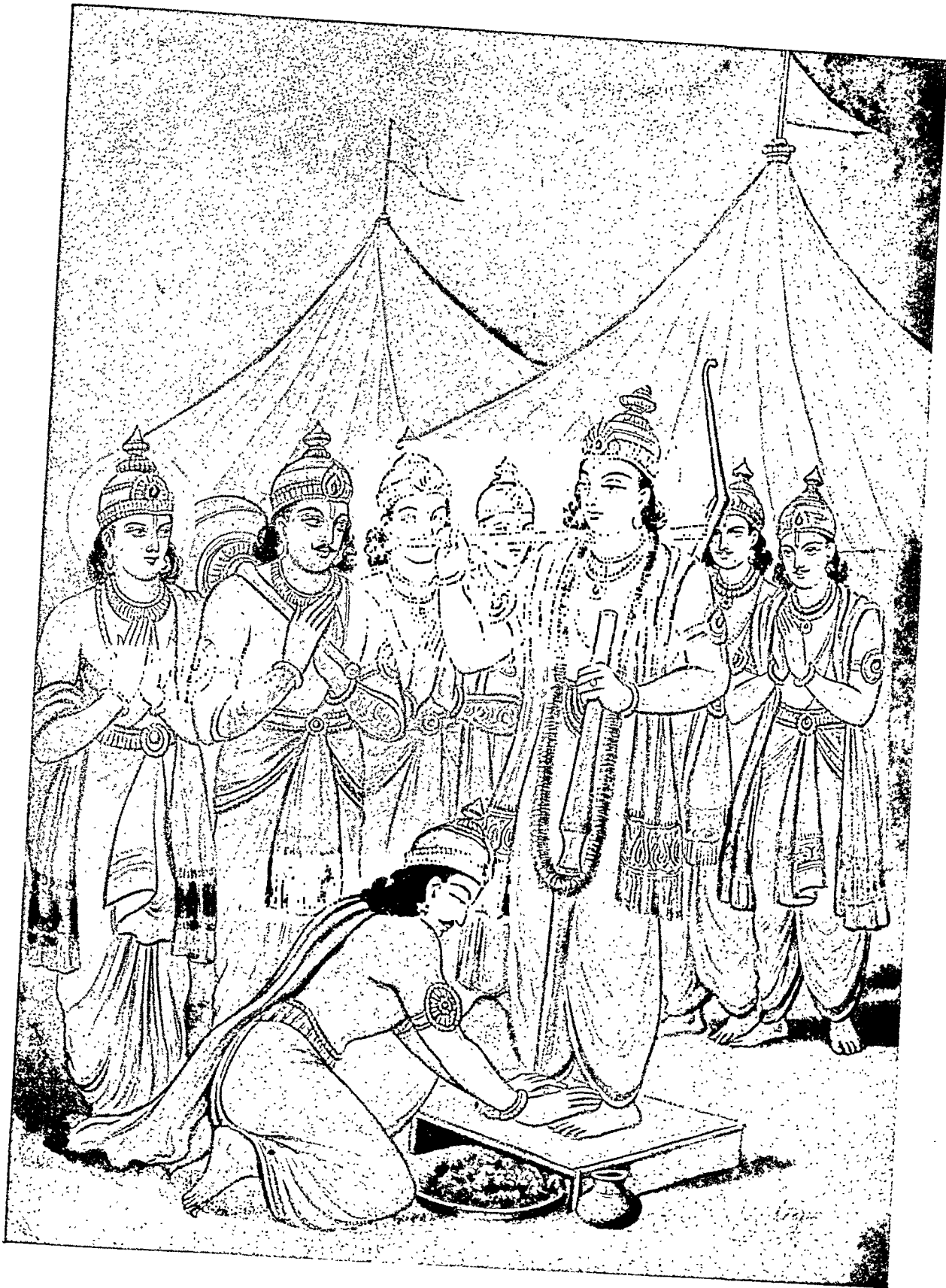
पाण्डवोंद्वारा बलरामजीकी पूजा

स्वागतेन च ते तत्र प्रतिपूज्य समन्ततः ॥ १२ ॥
पश्य युद्धं महाबाहो इति ते राममब्रुवन् ।
एवमूचुर्महात्मानं रौहिणेयं नराधिपाः ॥ १३ ॥

वे सब नरेश सब ओरसे स्वागतपूर्वक समादर करके वहाँ महात्मा रोहिणीपुत्र बलरामजीसे बोले—'महाबाहो ! युद्ध देखिये' ॥ १२-१३ ॥

परिष्वज्य तदा रामः पाण्डवान् सहसृञ्जयान् ।
अपृच्छत् कुशलं सर्वान् पार्थिवांश्चामितौजसः ॥१४॥

उस समय बलरामजीने पाण्डवों, सृंजयों तथा अमित बलशाली सम्पूर्ण भूपालोंको हृदयसे लगाकर उनका कुशल-मङ्गल पूछा ॥ १४ ॥

तथैव ते समासाद्य पप्रच्छुस्तमनामयम् ।
प्रत्यभ्यर्च्य हली सर्वान् क्षत्रियांश्च महात्मनः ॥ १५ ॥
कृत्वा कुशलसंयुक्तां संविदं च यथावयः ।
जनार्दनं सात्यकिं च प्रेम्णा स परिषस्वजे ॥ १६ ॥

उसी प्रकार वे राजा भी उनसे मिलकर उनके आरोग्यका समाचार पूछने लगे । हलधरने सम्पूर्ण महामनस्वी क्षत्रियोंका समादर करके अवस्थाके अनुसार क्रमशः उनसे कुशल-मङ्गलकी जिज्ञासा की और श्रीकृष्ण तथा सात्यकिको प्रेमपूर्वक छातीसे लगा लिया ॥ १५-१६ ॥

मूर्ध्नि चैतावुपाघ्राय कुशलं पर्यपृच्छत ।
तौ च तं विधिवद् राजन् पूजयामासतुर्गुरुम् ॥ १७ ॥
ब्रह्माणमिव देवेशमिन्द्रोपेन्द्रौ मुदान्वितौ ।

राजन् ! इन दोनोंका मस्तक सूँघकर उन्होंने कुशल-समाचार पूछा और उन दोनोंने भी अपने गुरुजन बलरामजीका विधिपूर्वक पूजन किया । ठीक उसी तरह, जैसे इन्द्र और उपेन्द्रने प्रसन्नतापूर्वक देवेश्वर ब्रह्माजीकी पूजा की थी ॥

ततोऽब्रवीद् धर्मसुतो रौहिणेयमरिंदमम् ॥ १८ ॥
इदं भ्रात्रोर्महायुद्धं पश्य रामेति भारत ।

भारत ! तत्पश्चात् धर्मपुत्र युधिष्ठिरने शत्रुदमन रोहिणीकुमारसे कहा—'बलरामजी ! दोनों भाइयोंका यह महान् युद्ध देखिये' ॥ १८½ ॥

तेषां मध्ये महाबाहुः श्रीमान् केशवपूर्वजः ॥ १९ ॥
न्यविशत् परमप्रीतः पूज्यमानो महारथैः ।

उनके ऐसा कहनेपर श्रीकृष्णके बड़े भ्राता महाबाहु बलवान् श्रीराम उन महारथियोंसे पूजित हो उनके बीचमें अत्यन्त प्रसन्न होकर बैठे ॥ १९½ ॥

स बभौ राजमध्यस्थो नीलवासाः सितप्रभः ॥ २० ॥
दिवीव नक्षत्रगणैः परिकीर्णो निशाकरः ।

राजाओंके मध्यभागमें बैठे हुए नीलाम्बरधारी गौरकान्ति बलरामजी आकाशमें नक्षत्रोंसे घिरे हुए चन्द्रमाके समान शोभा पा रहे थे ॥ २०½ ॥

ततस्तयोः संनिपातस्तुमुलो लोमहर्षणः ॥ २१ ॥
आसीदन्तकरो राजन् वैरस्य तव पुत्रयोः ॥ २२ ॥

राजन् ! तदनन्तर आपके उन दोनों पुत्रोंमें वैरका अन्त कर देनेवाला भयंकर एवं रोमाञ्चकारी संग्राम होने लगा ॥

इति श्रीमहाभारते शल्यपर्वणि गदापर्वणि बलदेवागमने चतुस्त्रिंशोऽध्यायः ॥ ३४ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शल्यपर्वके अन्तर्गत गदापर्वमें बलरामजीका आगमनविषयक चौंतीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ३४ ॥

पञ्चत्रिंशोऽध्यायः

बलदेवजीकी तीर्थयात्रा तथा प्रभास-क्षेत्रके प्रभावका वर्णनके प्रसंगमें चन्द्रमाके शापमोचनकी कथा

जनमेजय उवाच

पूर्वमेव यदा रामस्तस्मिन् युद्ध उपस्थिते ।
आमन्त्र्य केशवं यातो वृष्णिभिः सहितः प्रभुः ॥ १ ॥
साहाय्यं धार्तराष्ट्रस्य न च कर्तास्मि केशव ।
न चैव पाण्डुपुत्राणां गमिष्यामि यथागतम् ॥ २ ॥

जनमेजयने कहा—ब्रह्मन् ! जब महाभारतयुद्ध आरम्भ होनेका समय निकट आ गया, उस समय युद्ध प्रारम्भ होनेसे पहले ही भगवान् बलराम श्रीकृष्णकी सम्मति ले, अन्य वृष्णिवंशियोंके साथ तीर्थयात्राके लिये चले गये और जाते समय यह कह गये कि 'केशव ! मैं न तो धृतराष्ट्रपुत्र दुर्योधनकी सहायता करूँगा और न पाण्डवोंकी ही' ॥ १-२ ॥

एवमुक्त्वा तदा रामो यातः क्षत्रनिबर्हणः ।
तस्य चागमनं भूयो ब्रह्मञ्शंसितुमर्हसि ॥ ३ ॥

विप्रवर ! उन दिनों ऐसी बात कहकर जब क्षत्रिय-संहारक बलरामजी चले गये, तब उनका पुनः आगमन कैसे हुआ, यह बतानेकी कृपा करें ॥ ३ ॥

आख्याहि मे विस्तरशः कथं राम उपस्थितः ।
कथं च दृष्टवान् युद्धं कुशलो ह्यसि सत्तम ॥ ४ ॥

साधुशिरोमणे ! आप कथा कहनेमें कुशल हैं; अतः मुझे विस्तारपूर्वक बताइये कि बलरामजी कैसे वहाँ उपस्थित हुए और किस प्रकार उन्होंने युद्ध देखा ? ॥ ४ ॥

वैशम्पायन उवाच

उपप्लव्ये निविष्टेषु पाण्डवेषु महात्मसु ।
प्रेषितो धृतराष्ट्रस्य समीपं मधुसूदनः ॥ ५ ॥
शमं प्रति महाबाहो हितार्थं सर्वदेहिनाम् ।

वैशम्पायनजीने कहा—राजन् ! जिन दिनों महामनस्वी पाण्डव उपप्लव्य नामक स्थानमें छावनी डालकर ठहरे हुए थे, उन्हीं दिनोंकी बात है । महाबाहो ! पाण्डवोंने समस्त प्राणियोंके हितके लिये सन्धिके उद्देश्यसे भगवान् श्रीकृष्णको धृतराष्ट्रके पास भेजा ॥ ५½ ॥

स गत्वा हास्तिनपुरं धृतराष्ट्रं समेत्य च ॥ ६ ॥
उक्तवान् वचनं तथ्यं हितं चैव विशेषतः ।

भगवान्‌ने हस्तिनापुर जाकर धृतराष्ट्रसे भेंट की और उनसे सबके लिये विशेष हितकारक एवं यथार्थ बातें कहीं ॥

न च तत् कृतवान् राजा यथाख्यातं हि तत् पुरा॥ ७ ॥
अनवाप्य शमं तत्र कृष्णः पुरुषसत्तमः ।
आगच्छत महाबाहुरुपप्लव्यं जनाधिप ॥ ८ ॥

नरेश्वर ! किंतु राजा धृतराष्ट्रने भगवान्‌का कहना नहीं माना । यह सब बात पहले यथार्थरूपसे बतायी गयी है । महाबाहु पुरुषोत्तम भगवान् श्रीकृष्ण वहाँ संधि करानेमें सफलता न मिलनेपर पुनः उपप्लव्यमें ही लौट आये ॥७-८॥

ततः प्रत्यागतः कृष्णो धार्तराष्ट्रविसर्जितः ।
अक्रियायां नरव्याघ्र पाण्डवानिदमब्रवीत् ॥ ९ ॥

नरव्याघ्र ! कार्य न होनेपर धृतराष्ट्रसे विदा ले वहाँसे लौटे हुए श्रीकृष्णने पाण्डवोंसे इस प्रकार कहा—॥ ९ ॥

न कुर्वन्ति वचो मह्यं कुरवः कालनोदिताः ।
निर्गच्छध्वं पाण्डवेयाः पुष्येण सहिता मया ॥ १० ॥

'कौरव कालके अधीन हो रहे हैं, इसलिये वे मेरा कहना नहीं मानते हैं । पाण्डवो ! अब तुमलोग मेरे साथ पुष्य नक्षत्रमें युद्धके लिये निकल पड़ो' ॥ १० ॥

ततो विभज्यमानेषु बलेषु बलिनां वरः ।
प्रोवाच भ्रातरं कृष्णं रौहिणेयो महामनाः ॥ ११ ॥

इसके बाद जब सेनाका बटवारा होने लगा, तब बलवानोंमें श्रेष्ठ महामना बलदेवजीने अपने भाई श्रीकृष्णसे कहा—॥

तेषामपि महाबाहो साहाय्यं मधुसूदन ।
क्रियतामिति तत् कृष्णो नास्य चक्रे वचस्तदा ॥ १२ ॥

'महाबाहु मधुसूदन ! उनकौरवोंकी भी सहायता करना।' परंतु श्रीकृष्णने उस समय उनकी यह बात नहीं मानी' ॥

ततो मन्युपरीतात्मा जगाम यदुनन्दनः ।
तीर्थयात्रां हलधरः सरस्वत्यां महायशाः॥ १३ ॥

इससे मन-ही-मन कुपित और खिन्न होकर महायशस्वी यदुनन्दन हलधर सरस्वतीके तटपर तीर्थयात्राके लिये चल दिये॥

मैत्रनक्षत्रयोगे स सहितः सर्वयादवैः ।
आश्रयामास भोजस्तु दुर्योधनमरिंदमः ॥ १४ ॥

इसके बाद शत्रुओंका दमन करनेवाले कृतवर्माने सम्पूर्ण यादवोंके साथ अनुराधानक्षत्रमें दुर्योधनका पक्ष ग्रहण किया॥

युयुधानेन सहितो वासुदेवस्तु पाण्डवान् ।
रौहिणेये गते शूरे पुष्येण मधुसूदनः ॥ १५ ॥
पाण्डवेयान् पुरस्कृत्य ययावभिमुखः कुरून् ।

सात्यकिसहित भगवान् श्रीकृष्णने पाण्डवोंका पक्ष लिया । रोहिणीनन्दन शूरवीर बलरामजीके चले जानेपर मधुसूदन भगवान् श्रीकृष्णने पाण्डवोंको आगे करके पुष्यनक्षत्रमें कुरुक्षेत्रकी ओर प्रस्थान किया ॥ १५½ ॥

गच्छन्नेव पथिस्थस्तु रामः प्रेष्यानुवाच ह ॥ १६ ॥
सम्भारांस्तीर्थयात्रायां सर्वोपकरणानि च ।
आनयध्वं द्वारकायामग्नीन् वै याजकांस्तथा ॥ १७ ॥

यात्रा करते हुए बलरामजीने स्वयं मार्गमें ही रहकर अपने सेवकोंसे कहा—'तुमलोग शीघ्र ही द्वारका जाकर वहाँसे तीर्थयात्रामें काम आनेवाली सब सामग्री, समस्त आवश्यक उपकरण, अग्निहोत्रकी अग्नि तथा पुरोहितोंको ले आओ ॥

सुवर्णं रजतं चैव धेनूर्वासांसि वाजिनः ।
कुञ्जरांश्च रथांश्चैव खरोष्ट्रं वाहनानि च ॥ १८ ॥
क्षिप्रमानीयतां सर्वं तीर्थहेतोः परिच्छदम् ।

'सोना, चाँदी, दूध देनेवाली गायें, वस्त्र, घोड़े, हाथी, रथ, गदहा और ऊँट आदि वाहन एवं तीर्थोपयोगी सब सामान शीघ्र ले आओ ॥ १८½ ॥

प्रतिस्रोतः सरस्वत्या गच्छध्वं शीघ्रगामिनः ॥ १९ ॥
ऋत्विजश्चानयध्वं वै शतशश्च द्विजर्षभान् ।

'शीघ्रगामी सेवको ! तुम सरस्वतीके स्रोतकी ओर चलो और सैकड़ों श्रेष्ठ ब्राह्मणों तथा ऋत्विजोंको ले आओ' ॥१९½॥

एवं संदिश्य तु प्रेष्यान् बलदेवो महाबलः ॥ २० ॥
तीर्थयात्रां ययौ राजन् कुरूणां वैशसे तदा ।
सरस्वतीं प्रतिस्रोतः समन्तादभिजग्मिवान् ॥ २१ ॥
ऋत्विग्भिश्च सुहृद्भिश्च तथान्यैर्द्विजसत्तमैः ।
रथैर्गजैस्तथाश्वैश्च प्रेष्यैश्च भरतर्षभ ॥ २२ ॥
गोखरोष्ट्रप्रयुक्तैश्च यानैश्च बहुभिर्वृतः ।

राजन् ! महाबली बलदेवजीने सेवकोंको ऐसी आज्ञा देकर उस समय कुरुक्षेत्रमें ही तीर्थयात्रा आरम्भ कर दी । भरतश्रेष्ठ ! वे सरस्वतीके स्रोतकी ओर चलकर उसके दोनों तटोंपर गये । उनके साथ ऋत्विज, सुहृद्, अन्यान्य श्रेष्ठ ब्राह्मण, रथ, हाथी, घोड़े और सेवक भी थे । बैल, गदहा और ऊँटोंसे जुते हुए बहुसंख्यक रथोंसे बलरामजी घिरे हुए थे॥

श्रान्तानां क्लान्तवपुषां शिशूनां विपुलायुषाम् ॥ २३ ॥
देशे देशे तु देयानि दानानि विविधानि च ।
अर्चायै चार्थिनां राजन् क्लृप्तानि बहुशस्तथा॥ २४ ॥

राजन् ! उस समय उन्होंने देश-देशमें थके-माँदे रोगी, बालक और वृद्धोंका सत्कार करनेके लिये नाना प्रकारकी देने योग्य वस्तुएँ प्रचुर मात्रामें तैयार करा रक्खी थीं ॥२३-२४॥

तानि यानीह देशेषु प्रतीक्षन्ति स्म भारत ।
बुभुक्षितानामर्थाय क्लृप्तमन्नं समन्ततः ॥ २५ ॥

भारत ! विभिन्न देशोंमें लोग जिन वस्तुओंकी इच्छा रखते थे, उन्हें वे ही दी जाती थीं । भूखोंको भोजन करानेके लिये सर्वत्र अन्नका प्रबन्ध किया गया था ॥ २५ ॥

यो यो यत्र द्विजो भोज्यं भोक्तुं कामयते तदा ।
तस्य तस्य तु तत्रैवमुपजह्रुस्तदा नृप ॥ २६ ॥

नरेश्वर ! जिस किसी देशमें जो-जो ब्राह्मण जब कभी भोजनकी इच्छा प्रकट करता, बलरामजीके सेवक उसे वहीं तत्काल खाने-पीनेकी वस्तुएँ अर्पित करते थे ॥ २६ ॥

तत्र तत्र स्थिता राजन् रौहिणेयस्य शासनात् ।
भक्ष्यपेयस्य कुर्वन्ति राशींस्तत्र समन्ततः ॥ २७ ॥

राजन् ! रोहिणीकुमार बलरामजीकी आज्ञासे उनके सेवक विभिन्न तीर्थस्थानोंमें खाने-पीनेकी वस्तुओंके ढेर लगाये रखते थे ॥ २७ ॥

वासांसि च महार्हाणि पर्यङ्कास्तरणानि च ।

पूजार्थं तत्र क्लृप्तानि विप्राणां सुखमिच्छताम्॥ २८ ॥

सुख चाहनेवाले ब्राह्मणोंके सत्कारके लिये बहुमूल्य वस्त्र, पलंग और बिछौने तैयार रक्खे जाते थे ॥ २८ ॥

यत्र यः स्वपते विप्रो यो वा जागर्ति भारत ।
तत्र तत्र तु तस्यैव सर्वं क्लृप्तमदृश्यत ॥ २९ ॥

भारत ! जो ब्राह्मण जहाँ भी सोता या जागता था, वहाँ-वहाँ उसके लिये सारी आवश्यक वस्तुएँ सदा प्रस्तुत दिखायी देती थीं ॥ २९ ॥

यथासुखं जनः सर्वो याति तिष्ठति वै तदा ।
यातुकामस्य यानानि पानानि तृषितस्य च ॥ ३० ॥
बुभुक्षितस्य चान्नानि स्वादूनि भरतर्षभ ।
उपजह्रुर्नरास्तत्र वस्त्राण्याभरणानि च ॥ ३१ ॥

भरतश्रेष्ठ ! इस यात्रामें सब लोग सुखपूर्वक चलते और विश्राम करते थे । यात्रीकी इच्छा हो तो उसे सवारियाँ दी जाती थीं, प्यासेको पानी और भूखेको स्वादिष्ठ अन्न दिये जाते थे । साथ ही वहाँ बलरामजीके सेवक वस्त्र और आभूषण भी भेंट करते थे ॥ ३०-३१ ॥

स पन्थाः प्रबभौ राजन् सर्वस्यैव सुखावहः ।
स्वर्गोपमस्तदा वीर नराणां तत्र गच्छताम् ।
नित्यप्रमुदितोपेतः स्वादुभक्ष्यः शुभान्वितः ॥ ३२ ॥

वीर नरेश ! वहाँ यात्रा करनेवाले सब लोगोंको वह मार्ग स्वर्गके समान सुखदायक प्रतीत होता था । उस मार्गमें सदा आनन्द रहता, स्वादिष्ठ भोजन मिलता और शुभकी ही प्राप्ति होती थी ॥ ३२ ॥

विपण्यापणपण्यानां नानाजनशतैर्वृतः ।
नानाद्रुमलतोपेतो नानारत्नविभूषितः ॥ ३३ ॥

उस पथपर खरीदने-बेचनेकी वस्तुओंका बाजार भी साथ-साथ चलता था, जिसमें नाना प्रकारके सैकड़ों मनुष्य भरे रहते थे । वह हाट भाँति-भाँतिके वृक्षों और लताओंसे सुशोभित तथा अनेकानेक रत्नोंसे विभूषित दिखायी देता था॥

ततो महात्मा नियमे स्थितात्मा
पुण्येषु तीर्थेषु वसूनि राजन् ।
ददौ द्विजेभ्यः क्रतुदक्षिणाश्च
यदुप्रवीरो हलभृत् प्रतीतः ॥ ३४ ॥

राजन् ! यदुकुलके प्रमुख वीर हलधारी महात्मा बलराम नियमपूर्वक रहकर प्रसन्नताके साथ पुण्यतीर्थोंमें ब्राह्मणोंको धन और यज्ञकी दक्षिणाएँ देते थे ॥ ३४ ॥

दोग्ध्रीश्च धेनूश्च सहस्रशो वै
सुवाससः काञ्चनबद्धशृङ्गीः ।
हयांश्च नानाविधदेशजातान्
यानानि दासांश्च शुभान् द्विजेभ्यः॥ ३५ ॥
रत्नानि मुक्तामणिविद्रुमं चा-
प्यग्र्यं सुवर्णं रजतं सुशुद्धम् ।
अयस्मयं ताम्रमयं च भाण्डं
ददौ द्विजातिप्रवरेषु रामः ॥ ३६ ॥

बलरामने श्रेष्ठ ब्राह्मणोंको सहस्रों दूध देनेवाली गौएँ दान कीं, जिन्हें सुन्दर वस्त्रोंसे सुसज्जित करके उनके सींगोंमें सोनेके पत्र जड़े गये थे । साथ ही उन्होंने अनेक देशोंमें उत्पन्न घोड़े, रथ और सुन्दर वेश-भूषावाले दास भी ब्राह्मणोंकी सेवामें अर्पित किये । इतना ही नहीं, बलरामने भाँति-भाँतिके रत्न, मोती, मणि, मूँगा, उत्तम सुवर्ण, विशुद्ध चाँदी तथा लोहे और ताँबेके बर्तन भी बाँटे थे ॥ ३५-३६ ॥

एवं स वित्तं प्रददौ महात्मा
सरस्वतीतीर्थवरेषु भूरि ।
ययौ क्रमेणाप्रतिमप्रभाव-
स्ततः कुरुक्षेत्रमुदारवृत्तिः ॥ ३७ ॥

इस प्रकार उदार वृत्तिवाले अनुपम प्रभावशाली महात्मा बलरामने सरस्वतीके श्रेष्ठ तीर्थोंमें बहुत धन दान किया और क्रमशः यात्रा करते हुए वे कुरुक्षेत्रमें आये ॥ ३७ ॥

जनमेजय उवाच

सारस्वतानां तीर्थानां गुणोत्पत्तिं वदस्व मे ।
फलं च द्विपदां श्रेष्ठ कर्मनिर्वृत्तिमेव च ॥ ३८ ॥
यथाक्रमेण भगवंस्तीर्थानामनुपूर्वशः ।
ब्रह्मन् ब्रह्मविदां श्रेष्ठ परं कौतूहलं हि मे ॥ ३९ ॥

जनमेजय बोले—ब्रह्मवेत्ताओंमें श्रेष्ठ और मनुष्योंमें उत्तम ब्राह्मणदेव ! अब आप मुझे सरस्वती-तटवर्ती तीर्थोंके गुण, प्रभाव और उत्पत्तिकी कथा सुनाइये । भगवन् ! क्रमशः उन तीर्थोंके सेवनका फल और जिस कर्मसे वहाँ सिद्धि प्राप्त होती है, उसका अनुष्ठान भी बताइये, मेरे मनमें यह सब सुननेके लिये बड़ी उत्कण्ठा हो रही है ॥ ३८-३९ ॥

वैशम्पायन उवाच

तीर्थानां च फलं राजन् गुणोत्पत्तिं च सर्वशः ।
मयोच्यमानं वै पुण्यं शृणु राजेन्द्र कृत्स्नशः ॥ ४० ॥

वैशम्पायनजीने कहा—राजेन्द्र ! मैं तुम्हें तीर्थोंके गुण, प्रभाव, उत्पत्ति तथा उनके सेवनका पुण्य-फल बता रहा हूँ । वह सब तुम ध्यानसे सुनो ॥ ४० ॥

पूर्वं महाराज यदुप्रवीर
ऋत्विक्सुहृद्विप्रगणैश्च सार्धम् ।
पुण्यं प्रभासं समुपाजगाम
यत्रोडुराड् यक्ष्मणा क्लिश्यमानः॥ ४१ ॥
विमुक्तशापः पुनराप्य तेजः
सर्वं जगद् भासयते नरेन्द्र ।
एवं तु तीर्थप्रवरं पृथिव्यां
प्रभासनात् तस्य ततः प्रभासः ॥ ४२ ॥

महाराज ! यदुकुलके प्रमुख वीर बलरामजी सबसे पहले ऋत्विजों, सुहृदों और ब्राह्मणोंके साथ पुण्यमय प्रभासक्षेत्रमें गये, जहाँ राजयक्ष्मासे कष्ट पाते हुए चन्द्रमाको शापसे छुटकारा मिला था । नरेन्द्र ! वे वहीं पुनः अपना तेज प्राप्त करके सम्पूर्ण जगत्को प्रकाशित करते हैं । इस प्रकार चन्द्रमाको प्रभासित करनेके कारण ही वह प्रधान तीर्थ इस पृथ्वीपर प्रभास नामसे विख्यात हुआ ॥ ४१-४२ ॥

जनमेजय उवाच

कथं तु भगवन् सोमो यक्ष्मणा समगृह्यत ।
कथं च तीर्थप्रवरे तस्मिंश्चन्द्रो न्यमज्जत ॥ ४३ ॥

जनमेजयने पूछा—भगवन् ! चन्द्रमा कैसे राजयक्ष्मासे ग्रस्त हो गये और उस उत्तम तीर्थमें किस प्रकार उन्होंने स्नान किया ? ॥ ४३ ॥

कथमाप्लुत्य तस्मिंस्तु पुनराप्यायितः शशी ।
एतन्मे सर्वमाचक्ष्व विस्तरेण महामुने ॥ ४४ ॥

महामुने ! उस तीर्थमें गोता लगाकर चन्द्रमा पुनः किस प्रकार हृष्ट-पुष्ट हुए ? यह सब प्रसंग मुझे विस्तारपूर्वक बताइये॥

वैशम्पायन उवाच

दक्षस्य तनयास्तात प्रादुरासन् विशाम्पते ।
स सप्तविंशतिं कन्या दक्षः सोमाय वै ददौ ॥ ४५ ॥

वैशम्पायनजीने कहा—तात ! प्रजानाथ ! प्रजापति दक्षके बहुत-सी संतानें उत्पन्न हुई थीं । उनमेंसे अपनी सत्ताईस कन्याओंका विवाह उन्होंने चन्द्रमाके साथ कर दिया था ॥ ४५ ॥

नक्षत्रयोगनिरताः संख्यानार्थं च ताभवन् ।
पत्न्यो वै तस्य राजेन्द्र सोमस्य शुभकर्मणः ॥ ४६ ॥

राजेन्द्र ! शुभ कर्म करनेवाले सोमकी वे पत्नियाँ समयकी गणनाके लिये नक्षत्रोंसे सम्बन्ध रखनेके कारण उसी नामसे विख्यात हुईं ॥ ४६ ॥

तास्तु सर्वा विशालाक्ष्यो रूपेणाप्रतिमा भुवि ।
अत्यरिच्यत तासां तु रोहिणी रूपसम्पदा ॥ ४७ ॥

वे सब-की-सब विशाल नेत्रोंसे सुशोभित होती थीं । इस भूतलपर उनके रूपकी समानता करनेवाली कोई स्त्री नहीं थी । उनमें भी रोहिणी अपने रूप-वैभवकी दृष्टिसे सबकी अपेक्षा बढ़ी-चढ़ी थी ॥ ४७ ॥

ततस्तस्यां स भगवान् प्रीतिं चक्रे निशाकरः ।
सास्य हृद्या बभूवाथ तस्मात् तां बुभुजे सदा ॥ ४८ ॥

इसलिये भगवान् चन्द्रमा उससे अधिक प्रेम करने लगे, वही उनकी हृदयवल्लभा हुई; अतः वे सदा उसीका उपभोग करते थे ॥ ४८ ॥

पुरा हि सोमो राजेन्द्र रोहिण्यामवसत् परम् ।
ततस्ताः कुपिताः सर्वा नक्षत्राख्या महात्मनः ॥ ४९ ॥

राजेन्द्र ! पूर्वकालमें चन्द्रमा सदा रोहिणीके ही समीप रहते थे; अतः नक्षत्रनामसे प्रसिद्ध हुई महात्मा सोमकी वे सारी पत्नियाँ उनपर कुपित हो उठीं ॥ ४९ ॥

ता गत्वा पितरं प्राहुः प्रजापतिमतन्द्रिताः ।
सोमो वसति नास्मासु रोहिणीं भजते सदा ॥ ५० ॥

और आलस्य छोड़कर अपने पिताके पास जाकर बोलीं—'प्रभो ! चन्द्रमा हमारे पास नहीं आते । वे सदा रोहिणीका ही सेवन करते हैं ॥ ५० ॥

ता वयं सहिताः सर्वास्त्वत्सकाशे प्रजेश्वर ।
वत्स्यामो नियताहारास्तपश्चरणतत्पराः ॥ ५१ ॥

'अतः प्रजेश्वर ! हम सब बहिनें एक साथ नियमित आहार करके तपस्यामें संलग्न हो आपके ही पास रहेंगी' ॥ ५१ ॥

श्रुत्वा तासां तु वचनं दक्षः सोममथाब्रवीत् ।
समं वर्तस्व भार्यासु मा त्वाधर्मो महान् स्पृशेत् ॥ ५२ ॥

उनकी यह बात सुनकर प्रजापति दक्षने चन्द्रमासे कहा—'सोम ! तुम अपनी सभी पत्नियोंके साथ समानतापूर्ण वर्ताव करो, जिससे तुम्हें महान् पाप न लगे' ॥ ५२ ॥

तास्तु सर्वाब्रवीद् दक्षो गच्छध्वं शशिनोऽन्तिकम् ।
समं वत्स्यति सर्वासु चन्द्रमा मम शासनात् ॥ ५३ ॥

फिर दक्षने उन सभी कन्याओंसे कहा—'अब तुमलोग चन्द्रमाके पास ही जाओ । वे मेरी आज्ञासे तुम सब लोगोंके प्रति समान भाव रक्खेंगे' ॥ ५३ ॥

विसृष्टास्तास्तथा जग्मुः शीतांशुभवनं तदा ।
तथापि सोमो भगवान् पुनरेव महीपते ॥ ५४ ॥
रोहिणीं निवसत्येव प्रीयमाणो मुहुर्मुहुः ।

पृथ्वीनाथ ! पिताके विदा करनेपर वे पुनः चन्द्रमाके घरमें लौट गयीं, तथापि भगवान् सोम फिर रोहिणीके पास ही अधिकाधिक प्रेमपूर्वक रहने लगे ॥ ५४½ ॥

ततस्ताः सहिताः सर्वा भूयः पितरमब्रुवन् ॥ ५५ ॥
तव शुश्रूषणे युक्ता वत्स्यामो हि तवान्तिके ।
सोमो वसति नास्मासु नाकरोद् वचनं तव ॥ ५६ ॥

तब वे सब कन्याएँ पुनः एक साथ अपने पिताके पास जाकर बोलीं—'हम सब लोग आपकी सेवामें तत्पर रहकर आपके ही समीप रहेंगी । चन्द्रमा हमारे साथ नहीं रहते । उन्होंने आपकी बात नहीं मानी' ॥ ५५-५६ ॥

तासां तद् वचनं श्रुत्वा दक्षः सोममथाब्रवीत् ।
समं वर्तस्व भार्यासु मा त्वां शप्स्ये विरोचन ॥ ५७ ॥

उनकी बात सुनकर दक्षने पुनः सोमसे कहा—'प्रकाशमान चन्द्रदेव ! तुम अपनी सभी पत्नियोंके साथ समान वर्ताव करो, नहीं तो तुम्हे शाप दे दूँगा' ॥ ५७ ॥

अनादृत्य तु तद् वाक्यं दक्षस्य भगवाञ्शशी ।
रोहिण्या सार्धमवसत् ततस्ताः कुपिताः पुनः ॥ ५८ ॥
गत्वा च पितरं प्राहुः प्रणम्य शिरसा तदा ।
सोमो वसति नास्मासु तस्मान्नः शरणं भव ॥ ५९ ॥

दक्षके इतना कहनेपर भी भगवान् चन्द्रमा उनकी बातकी अवहेलना करके केवल रोहिणीके ही साथ रहने लगे । यह देख दूसरी स्त्रियाँ पुनः क्रोधसे जल उठीं और पिताके पास जा उनके चरणोंमें मस्तक नवाकर प्रणाम करनेके अनन्तर बोलीं—'भगवन् ! सोम हमारे पास नहीं रहते । अतः आप हमें शरण दें ॥ ५८-५९ ॥

रोहिण्यामेव भगवान् सदा वसति चन्द्रमाः ।
न त्वद्वचो गणयति नास्मासु स्नेहमिच्छति ॥ ६० ॥
तस्मान्नस्त्राहि सर्वा वै यथा नः सोम आविशेत् ।

'भगवान् चन्द्रमा सदा रोहिणीके ही समीप रहते हैं । वे आपकी बातको कुछ गिनते ही नहीं हैं । हमलोगोंपर स्नेह

रखना नहीं चाहते हैं; अतः आप हम सब लोगोंकी रक्षा करें, जिससे चन्द्रमा हमारे साथ भी सम्बन्ध रक्खें' ॥ ६०½ ॥

तच्छ्रुत्वा भगवान् क्रुद्धो यक्ष्माणं पृथिवीपते ॥ ६१ ॥
ससर्ज रोषात् सोमाय स चोडुपतिमाविशत् ।

पृथ्वीनाथ ! यह सुनकर भगवान् दक्ष कुपित हो उठे । उन्होंने चन्द्रमाके लिये रोषपूर्वक राजयक्ष्माकी सृष्टि की । वह चन्द्रमाके भीतर प्रविष्ट हो गया ॥ ६१½ ॥

स यक्ष्मणाभिभूतात्माक्षीयताहरहः शशी ॥ ६२ ॥
यत्नं चाप्यकरोद् राजन् मोक्षार्थं तस्य यक्ष्मणः ।

यक्ष्मासे शरीर ग्रस्त हो जानेके कारण चन्द्रमा प्रतिदिन क्षीण होने लगे । राजन् ! उस यक्ष्मासे छूटनेके लिये उन्होंने बड़ा यत्न किया ॥ ६२½ ॥

इष्ट्वेष्टिभिर्महाराज विविधाभिर्निशाकरः ॥ ६३ ॥
न चामुच्यत शापाद् वै क्षयं चैवाभ्यगच्छत ।

महाराज ! नाना प्रकारके यज्ञ-यागोंका अनुष्ठान करके भी चन्द्रमा उस शापसे मुक्त न हो सके और धीरे-धीरे क्षीण होते चले गये ॥ ६३½ ॥

क्षीयमाणे ततः सोमे ओषध्यो न प्रजज्ञिरे ॥ ६४ ॥
निरास्वादरसाः सर्वा हतवीर्याश्च सर्वशः ।

चन्द्रमाके क्षीण होनेसे अन्न आदि ओषधियाँ उत्पन्न नहीं होती थीं । उन सबके स्वाद, रस और प्रभाव नष्ट हो गये ॥ ६४½ ॥

ओषधीनां क्षये जाते प्राणिनामपि संक्षयः ॥ ६५ ॥
कृशाश्चासन् प्रजाः सर्वाः क्षीयमाणे निशाकरे ।

ओषधियोंके क्षीण होनेसे समस्त प्राणियोंका भी क्षय होने लगा । इस प्रकार चन्द्रमाके क्षयके साथ-साथ सारी प्रजा अत्यन्त दुर्बल हो गयी ॥ ६५½ ॥

ततो देवाः समागम्य सोममूचुर्महीपते ॥ ६६ ॥
किमिदं भवतो रूपमीदृशं न प्रकाशते ।
कारणं ब्रूहि नः सर्वं येनेदं ते महद् भयम् ॥ ६७ ॥
श्रुत्वा तु वचनं त्वत्तो विधास्यामस्ततो वयम् ।

पृथ्वीनाथ ! उस समय देवताओंने चन्द्रमासे मिलकर पूछा—'आपका रूप ऐसा कैसे हो गया ? यह प्रकाशित क्यों नहीं होता है ? हमलोगोंसे सारा कारण बताइये, जिससे आपको महान् भय प्राप्त हुआ । आपकी बात सुनकर हमलोग इस संकटके निवारणका कोई उपाय करेंगे' ॥ ६६-६७½ ॥

एवमुक्तः प्रत्युवाच सर्वांस्ताञ्शशलक्षणः ॥ ६८ ॥
शापस्य लक्षणं चैव यक्ष्माणं च तथाऽऽत्मनः ।

उनके इस प्रकार पूछनेपर चन्द्रमाने उन सबको उत्तर देते हुए अपनेको प्राप्त हुए शापके कारण राजयक्ष्माकी उत्पत्ति बतलायी ॥ ६८½ ॥

देवास्तथा वचः श्रुत्वा गत्वा दक्षमथाब्रुवन् ॥ ६९ ॥
प्रसीद भगवन् सोमे शापोऽयं विनिवर्त्यताम् ।

उनका वचन सुनकर देवता दक्षके पास जाकर बोले—'भगवन् ! आप चन्द्रमापर प्रसन्न होइये और यह शाप हटा लीजिये ॥ ६९½ ॥

असौ हि चन्द्रमाः क्षीणः किञ्चिच्छेषो हि लक्ष्यते ॥ ७० ॥
क्षयाच्चैवास्य देवेश प्रजाश्चैव गताः क्षयम् ।
वीरुदोषधयश्चैव बीजानि विविधानि च ॥ ७१ ॥

'चन्द्रमा क्षीण हो चुके हैं और उनका कुछ ही अंश शेष दिखायी देता है । देवेश्वर ! उनके क्षयसे लता, वीरुत्, ओषधियाँ भाँति-भाँतिके बीज और सम्पूर्ण प्रजा भी क्षीण हो गयी है ॥

तेषां क्षये क्षयोऽस्माकं विनास्माभिर्जगच्च किम् ।
इति ज्ञात्वा लोकगुरो प्रसादं कर्तुमर्हसि ॥ ७२ ॥

'उन सबके क्षीण होनेपर हमारा भी क्षय हो जायगा । फिर हमारे बिना संसार कैसे रह सकता है ? लोकगुरो ! ऐसा जानकर आपको चन्द्रदेवपर अवश्य कृपा करनी चाहिये' ॥ ७२ ॥

एवमुक्तस्ततो देवान् प्राह वाक्यं प्रजापतिः ।
नैतच्छक्यं मम वचो व्यावर्तयितुमन्यथा ॥ ७३ ॥
हेतुना तु महाभागा निवर्तिष्यति केनचित् ।

उनके ऐसा कहनेपर प्रजापति दक्ष देवताओंसे इस प्रकार बोले—'महाभाग देवगण ! मेरी बात पलटी नहीं जा सकती । किसी विशेष कारणसे वह स्वतः निवृत्त हो जायगी ॥ ७३½ ॥

समं वर्ततु सर्वासु शशी भार्यासु नित्यशः ॥ ७४ ॥
सरस्वत्या वरे तीर्थे उन्मज्जञ्शशलक्षणः ।
पुनर्वर्धिष्यते देवास्तद् वै सत्यं वचो मम ॥ ७५ ॥

'यदि चन्द्रमा अपनी सभी पत्नियोंके प्रति सदा समान बर्ताव करें और सरस्वतीके श्रेष्ठ तीर्थमें गोता लगायें तो वे पुनः बढ़कर पुष्ट हो जायँगे । देवताओ ! मेरी यह बात अवश्य सच होगी ॥ ७४-७५ ॥

मासार्धं च क्षयं सोमो नित्यमेव गमिष्यति ।
मासार्धं तु सदा वृद्धिं सत्यमेतद् वचो मम ॥ ७६ ॥

'सोम आधे मासतक प्रतिदिन क्षीण होंगे और आधे मासतक निरन्तर बढ़ते रहेंगे । मेरी यह बात अवश्य सत्य होगी ॥ ७६ ॥

समुद्रं पश्चिमं गत्वा सरस्वत्यब्धिसङ्गमम् ।
आराधयतु देवेशं ततः कान्तिमवाप्स्यति ॥ ७७ ॥

'पश्चिमी समुद्रके तटपर जहाँ सरस्वती और समुद्रका सङ्गम हुआ है, वहाँ जाकर चन्द्रमा देवेश्वर महादेवजीकी आराधना करें तो पुनः ये अपनी कान्ति प्राप्त कर लेंगे' ॥ ७७ ॥

सरस्वतीं ततः सोमः स जगामर्षिशासनात् ।
प्रभासं प्रथमं तीर्थं सरस्वत्या जगाम ह ॥ ७८ ॥

ऋषि (दक्ष प्रजापति) के इस आदेशसे सोम सरस्वतीके प्रथम तीर्थ प्रभासक्षेत्रमें गये ॥ ७८ ॥

अमावास्यां महातेजास्तत्रोन्मज्जन् महाद्युतिः ।
लोकान् प्रभासयामास शीतांशुत्वमवाप च ॥ ७९ ॥

महातेजस्वी महाकान्तिमान् चन्द्रमाने अमावास्याको उस तीर्थमें गोता लगाया । इससे उन्हें शीतल किरणें प्राप्त हुईं और वे सम्पूर्ण जगत्को प्रकाशित करने लगे ॥ ७९ ॥

देवास्तु सर्वे राजेन्द्र प्रभासं प्राप्य पुष्कलम् ।
सोमेन सहिता भूत्वा दक्षस्य प्रमुखेऽभवन् ॥ ८० ॥

राजेन्द्र ! फिर सम्पूर्ण देवता सोमके साथ महान् प्रकाश प्राप्त करके पुनः दक्षप्रजापतिके सामने उपस्थित हुए ॥८०॥

ततः प्रजापतिः सर्वा विससर्जाथ देवताः ।
सोमं च भगवान् प्रीतो भूयो वचनमब्रवीत् ॥ ८१ ॥

तब भगवान् प्रजापतिने समस्त देवताओंको विदा कर दिया और सोमसे पुनः प्रसन्नतापूर्वक कहा—॥ ८१ ॥

मावमंस्थाः स्त्रियः पुत्र मा च विप्रान् कदाचन ।
गच्छ युक्तः सदा भूत्वा कुरु वै शासनं मम ॥ ८२ ॥

'बेटा ! अपनी स्त्रियों तथा ब्राह्मणोंकी कभी अवहेलना न करना । जाओ, सदा सावधान रहकर मेरी आज्ञाका पालन करते रहो' ॥ ८२ ॥

स विसृष्टो महाराज जगामाथ स्वमालयम् ।
प्रजाश्च मुदिता भूत्वा पुनस्तस्थुर्यथा पुरा ॥ ८३ ॥

महाराज ! ऐसा कहकर प्रजापतिने उन्हें विदा कर दिया । चन्द्रमा अपने स्थानको चले गये और सारी प्रजा पूर्ववत् प्रसन्न रहने लगी ॥ ८३ ॥

एवं ते सर्वमाख्यातं यथा शप्तो निशाकरः ।
प्रभासं च यथा तीर्थं तीर्थानां प्रवरं महत् ॥ ८४ ॥

इस प्रकार चन्द्रमाको जैसे शाप प्राप्त हुआ था और महान् प्रभासतीर्थ जिस प्रकार सब तीर्थोंमें श्रेष्ठ माना गया, वह सारा प्रसङ्ग मैंने तुमसे कह सुनाया ॥ ८४ ॥

अमावास्यां महाराज नित्यशः शशलक्षणः ।
स्नात्वा ह्याप्यायते श्रीमान् प्रभासे तीर्थ उत्तमे ॥ ८५ ॥

महाराज ! चन्द्रमा उत्तम प्रभासतीर्थमें प्रत्येक अमावास्याको स्नान करके कान्तिमान् एवं पुष्ट होते हैं ॥ ८५ ॥

अतश्चैतत् प्रजानन्ति प्रभासमिति भूमिप ।
प्रभां हि परमां लेभे तस्मिन्नुन्मज्ज्य चन्द्रमाः ॥ ८६ ॥

भूमिपाल ! इसीलिये सब लोग इसे प्रभासतीर्थके नामसे जानते हैं; क्योंकि उसमें गोता लगाकर चन्द्रमाने उत्कृष्ट प्रभा प्राप्त की थी ॥ ८६ ॥

ततस्तु चमसोद्भेदमच्युतस्त्वगमद् बली ।
चमसोद्भेद इत्येवं यं जनाः कथयन्त्युत ॥ ८७ ॥

तदनन्तर भगवान् बलराम चमसोद्भेद नामक तीर्थमें गये । उस तीर्थको सब लोग चमसोद्भेदके नामसे ही पुकारते हैं ॥

तत्र दत्त्वा च दानानि विशिष्टानि हलायुधः ।
उषित्वा रजनीमेकां स्नात्वा च विधिवत्तदा ॥ ८८ ॥
उदपानमथागच्छत्त्वरावान् केशवाग्रजः ।
आद्यं स्वस्त्ययनं चैव यत्रावाप्य महत् फलम् ॥ ८९ ॥
स्निग्धत्वादोषधीनां च भूमेश्च जनमेजय ।
जानन्ति सिद्धा राजेन्द्र नष्टामपि सरस्वतीम् ॥ ९० ॥

श्रीकृष्णके बड़े भाई हलधारी बलरामने वहाँ विधिपूर्वक स्नान करके उत्तम दान दे एक रात रहकर बड़ी उतावलीके साथ वहाँसे उदपानतीर्थको प्रस्थान किया, जो मङ्गलकारी आदि तीर्थ है । राजेन्द्र जनमेजय ! उदपान वह तीर्थ है, जहाँ उपस्थित होने मात्रसे महान् फलकी प्राप्ति होती है । सिद्ध पुरुष वहाँ ओषधियों (वृक्षों और लताओं) की स्निग्धता और भूमिकी आर्द्रता देखकर अदृश्य हुई सरस्वतीको भी जान लेते हैं ॥ ८८–९० ॥

इति श्रीमहाभारते शल्यपर्वणि गदापर्वणि बलदेवतीर्थयात्रायां प्रभासोत्पत्तिकथने पञ्चत्रिंशोऽध्यायः ॥ ३५ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शल्यपर्वके अन्तर्गत गदापर्वमें बलदेवजीकी तीर्थयात्राके प्रसङ्गमें प्रभासतीर्थका वर्णनविषयक पैंतीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ३५ ॥

षट्त्रिंशोऽध्यायः

उदपानतीर्थकी उत्पत्तिकी तथा त्रित मुनिके कूपमें गिरने, वहाँ यज्ञ करने और अपने भाइयोंको शाप देनेकी कथा

वैशम्पायन उवाच

तस्मान्नदीगतं चापि ह्युदपानं यशस्विनः ।
त्रितस्य च महाराज जगामाथ हलायुधः ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—महाराज ! उस चमसोद्भेदतीर्थसे चलकर बलरामजी यशस्वी त्रितमुनिके उदपान तीर्थमें गये, जो सरस्वती नदीके जलमें स्थित है ॥ १ ॥

तत्र दत्त्वा बहु द्रव्यं पूजयित्वा तथा द्विजान् ।
उपस्पृश्य च तत्रैव प्रहृष्टो मुसलायुधः ॥ २ ॥

मुसलधारी बलरामजीने वहाँ जलका स्पर्श, आचमन एवं स्नान करके बहुत-सा द्रव्य दान करनेके पश्चात् ब्राह्मणोंका पूजन किया । फिर वे बहुत प्रसन्न हुए ॥ २ ॥

तत्र धर्मपरो भूत्वा त्रितः स सुमहातपाः ।
कूपे च वसता तेन सोमः पीतो महात्मना ॥ ३ ॥

वहाँ महातपस्वी त्रितमुनि धर्मपरायण होकर रहते थे । उन महात्माने कुएँमें रहकर ही सोमपान किया था ॥ ३ ॥

तत्र चैनं समुत्सृज्य भ्रातरौ जग्मतुर्गृहान् ।
ततस्तौ वै शशापाथ त्रितो ब्राह्मणसत्तमः ॥ ४ ॥

उनके दो भाई उस कुएँमें ही उन्हें छोड़कर घरको चले गये थे । इससे ब्राह्मणश्रेष्ठ त्रितने दोनोंको शाप दे दिया था ॥ ४ ॥

जनमेजय उवाच

उदपानं कथं ब्रह्मन् कथं च सुमहातपाः ।
पतितः किं च संत्यक्तो भ्रातृभ्यां द्विजसत्तम ॥ ५ ॥
कूपे कथं च हित्वैनं भ्रातरौ जग्मतुर्गृहान् ।
कथं च याजयामास पपौ सोमं च वै कथम् ॥ ६ ॥
एतदाचक्ष्व मे ब्रह्मञ्श्रोतव्यं यदि मन्यसे ।

जनमेजयने पूछा—ब्रह्मन् ! उदपान तीर्थ कैसे हुआ ? वे महातपस्वी त्रितमुनि उसमें कैसे गिर पड़े और द्विजश्रेष्ठ ! उनके दोनों भाइयोंने उन्हें क्यों वहीं छोड़ दिया था ? क्या कारण था, जिससे वे दोनों भाई उन्हें कुएँमें ही त्यागकर घर चले गये थे ? वहाँ रहकर उन्होंने यज्ञ और सोमपान कैसे किया ? ब्रह्मन् ! यदि यह प्रसङ्ग मेरे सुनने योग्य समझें तो अवश्य मुझे बतावें ॥ ५-६½ ॥

वैशम्पायन उवाच

आसन् पूर्वयुगे राजन् मुनयो भ्रातरस्त्रयः ॥ ७ ॥
एकतश्च द्वितश्चैव त्रितश्चादित्यसंनिभाः ।
सर्वे प्रजापतिसमाः प्रजावन्तस्तथैव च ॥ ८ ॥
ब्रह्मलोकजितः सर्वे तपसा ब्रह्मवादिनः ।

वैशम्पायनजीने कहा—राजन् ! पहले युगमें तीन सहोदर भाई रहते थे । वे तीनों ही मुनि थे । उनके नाम थे एकत, द्वित और त्रित । वे सभी महर्षि सूर्यके समान तेजस्वी, प्रजापतिके समान संतानवान् और ब्रह्मवादी थे । उन्होंने तपस्याद्वारा ब्रह्मलोकपर विजय प्राप्त की थी ।७-८½।

तेषां तु तपसा प्रीतो नियमेन दमेन च ॥ ९ ॥
अभवद् गौतमो नित्यं पिता धर्मरतः सदा ।

उनकी तपस्या, नियम और इन्द्रियनिग्रहसे उनके धर्मपरायण पिता गौतम सदा ही प्रसन्न रहा करते थे ॥ ९½ ॥

स तु दीर्घेण कालेन तेषां प्रीतिमवाप्य च ॥ १० ॥
जगाम भगवान् स्थानमनुरूपमिवात्मनः ।

उन पुत्रोंकी त्याग-तपस्यासे संतुष्ट रहते हुए वे पूजनीय महात्मा गौतम दीर्घकालके पश्चात् अपने अनुरूप स्थान (स्वर्गलोक) में चले गये ॥ १०½ ॥

राजानस्तस्य ये ह्यासन् याज्या राजन् महात्मनः॥११॥
ते सर्वे स्वर्गते तस्मिंस्तस्य पुत्रानपूजयन् ।

राजन् ! उन महात्मा गौतमके यजमान जो राजा लोग थे, वे सब उनके स्वर्गवासी हो जानेपर उनके पुत्रोंका ही आदर-सत्कार करने लगे ॥ ११½ ॥

तेषां तु कर्मणा राजंस्तथा चाध्ययनेन च ॥ १२ ॥
त्रितः स श्रेष्ठतां प्राप यथैवास्य पिता तथा ।

नरेश्वर ! उन तीनोंमें भी अपने शुभ कर्म और स्वाध्यायके द्वारा महर्षि त्रितने सर्वश्रेष्ठ स्थान प्राप्त किया ! जैसे उनके पिता सम्मानित थे, वैसे ही वे भी हो गये ॥ १२½ ॥

तथा सर्वे महाभागा मुनयः पुण्यलक्षणाः ॥ १३ ॥
अपूजयन् महाभागं यथास्य पितरं तथा ।

महान् सौभाग्यशाली और पुण्यात्मा सभी महर्षि भी महाभाग त्रितका उनके पिताके तुल्य ही सम्मान करते थे ॥

कदाचिद्धि ततो राजन् भ्रातरावेकतद्वितौ ॥ १४ ॥
यज्ञार्थं चक्रतुश्चिन्तां तथा वित्तार्थमेव च ।
तयोर्बुद्धिः समभवत् त्रितं गृह्य परंतप ॥ १५ ॥
याज्यान् सर्वानुपादाय प्रतिगृह्य पशूंस्ततः ।
सोमं पास्यामहे हृष्टाः प्राप्य यज्ञं महाफलम् ॥ १६ ॥

राजन् ! एक दिनकी बात है, उनके दोनों भाई एकत और द्वित यज्ञ और धनके लिये चिन्ता करने लगे । शत्रुओंको संताप देनेवाले नरेश ! उनके मनमें यह विचार उत्पन्न हुआ कि हमलोग त्रितको साथ लेकर यजमानोंका यज्ञ करावें और दक्षिणाके रूपमें बहुत-से पशु प्राप्त करके महान् फलदायक यज्ञका अनुष्ठान करें और उसीमें प्रसन्नतापूर्वक सोमरसका पान करें ॥ १४–१६ ॥

चक्रुश्चैवं तथा राजन् भ्रातरस्त्रय एव च ।
तथा ते तु परिक्रम्य याज्यान् सर्वान् पशून् प्रति॥१७॥
याजयित्वा ततो याज्याँल्लब्ध्वा तु सुबहून् पशून् ।
याज्येन कर्मणा तेन प्रतिगृह्य विधानतः ॥ १८ ॥
प्राचीं दिशं महात्मान आजग्मुस्ते महर्षयः ।

राजन् ! ऐसा विचार करके उन तीनों भाइयोंने वही किया । वे सभी यजमानोंके यहाँ पशुओंकी प्राप्तिके उद्देश्यसे गये और उनसे विधिपूर्वक यज्ञ करवाकर उस याज्यकर्मके द्वारा उन्होंने बहुतेरे पशु प्राप्त कर लिये । तत्पश्चात् वे महात्मा महर्षि पूर्वदिशाकी ओर चल दिये ॥ १७-१८½ ॥

त्रितस्तेषां महाराज पुरस्ताद् याति हृष्टवत् ॥ १९ ॥
एकतश्च द्वितश्चैव पृष्ठतः कालयन् पशून् ।

महाराज ! उनमें त्रित मुनि तो प्रसन्नतापूर्वक आगे-आगे चलते थे और एकत तथा द्वित पीछे रहकर पशुओंको हाँकते जाते थे ॥ १९½ ॥

तयोश्चिन्ता समभवद् दृष्ट्वा पशुगणं महत् ॥ २० ॥
कथं च स्युरिमा गाव आवाभ्यां हि विना त्रितम् ।

पशुओंके उस महान् समुदायको देखकर एकत और द्वितके मनमें यह चिन्ता समायी कि किस उपायसे ये गौएँ त्रितको न मिलकर हम दोनोंके ही पास रह जायँ ॥ २०½ ॥

तावन्योन्यं समाभाष्य एकतश्च द्वितश्च ह ॥ २१ ॥
यदूचतुर्मिथः पापौ तन्निबोध जनेश्वर ।

जनेश्वर ! उन एकत और द्वित दोनों पापियोंने एक दूसरेसे सलाह करके परस्पर जो कुछ कहा, वह बताता हूँ, सुनो ॥ २१½ ॥

त्रितो यज्ञेषु कुशलस्त्रितो वेदेषु निष्ठितः ॥ २२ ॥
अन्यास्तु बहुला गावस्त्रितः समुपलप्स्यते ।
तदावां सहितौ भूत्वा गाः प्रकाल्य व्रजावहे ॥ २३ ॥
त्रितोऽपि गच्छतां काममावाभ्यां वै विना कृतः ।

'त्रित यज्ञ करानेमें कुशल हैं, त्रित वेदोंके परिनिष्ठित विद्वान् हैं, अतः वे और बहुत-सी गौएँ प्राप्त कर लेंगे । इस समय हम दोनों एक साथ होकर इन गौओंको हाँक ले चलें और त्रित हमसे अलग होकर जहाँ इच्छा हो वहाँ चले जायँ'॥

तेषामागच्छतां रात्रौ पथिस्थानां वृकोऽभवत् ॥ २४ ॥
तत्र कूपोऽविदूरेऽभूत् सरस्वत्यास्तटे महान् ।

रात्रिका समय था और वे तीनों भाई रास्ता पकड़े चले आ रहे थे । उनके मार्गमें एक भेड़िया खड़ा था । वहाँ पास ही सरस्वतीके तटपर एक बहुत बड़ा कुआँ था ॥ २४½ ॥

अथ त्रितो वृकं दृष्ट्वा पथि तिष्ठन्तमग्रतः ॥ २५ ॥
तद्भयादपसर्पन् वै तस्मिन् कूपे पपात ह ।
अगाधे सुमहाघोरे सर्वभूतभयंकरे ॥ २६ ॥

त्रित अपने आगे रास्तेमें खड़े हुए भेड़ियेको देखकर उसके भयसे भागने लगे । भागते-भागते वे समस्त प्राणियोंके लिये भयंकर उस महाघोर अगाध कूपमें गिर पड़े ॥२५-२६॥

त्रितस्ततो महाराज कूपस्थो मुनिसत्तमः ।
आर्तनादं ततश्चक्रे तौ तु शुश्रुवतुर्मुनी ॥ २७ ॥

महाराज ! कुएँमें पहुँचनेपर मुनिश्रेष्ठ त्रितने बड़े जोरसे आर्तनाद किया, जिसे उन दोनों मुनियोंने सुना ॥ २७ ॥

तं ज्ञात्वा पतितं कूपे भ्रातरावेकतद्वितौ ।
वृकत्रासाच्च लोभाच्च समुत्सृज्य प्रजग्मतुः ॥ २८ ॥

अपने भाईको कुएँमें गिरा हुआ जानकर भी दोनों भाई एकत और द्वित भेड़ियेके भय और लोभसे उन्हें वहीं छोड़कर चल दिये ॥ २८ ॥

भ्रातृभ्यां पशुलुब्धाभ्यामुत्सृष्टः स महातपाः ।
उदपाने तदा राजन् निर्जले पांसुसंवृते ॥ २९ ॥

राजन् ! पशुओंके लोभमें आकर उन दोनों भाइयोंने उस समय उन महातपस्वी त्रितको धूलिसे भरे हुए उस निर्जल कूपमें ही छोड़ दिया ॥ २९ ॥

त्रित आत्मानमालक्ष्य कूपे वीरुत्तृणावृते ।
निमग्नं भरतश्रेष्ठ नरके दुष्कृती यथा ॥ ३० ॥
स बुद्ध्यागणयत् प्राज्ञो मृत्योर्भीतो ह्यसोमपः ।
सोमः कथं तु पातव्य इहस्थेन मया भवेत् ॥ ३१ ॥

भरतश्रेष्ठ ! जैसे पापी मनुष्य अपने-आपको नरकमें डूबा हुआ देखता है, उसी प्रकार तृण, वीरुध और लताओंसे व्याप्त हुए उस कुएँमें अपने आपको गिरा देख मृत्युसे डरे और सोमपानसे वञ्चित हुए विद्वान् त्रित अपनी बुद्धिसे सोचने लगे कि 'मैं इस कुएँमें रहकर कैसे सोमरसका पान कर सकता हूँ ?' ॥ ३०-३१ ॥

स एवमभिनिश्चित्य तस्मिन् कूपे महातपाः ।
ददर्श वीरुधं तत्र लम्बमानां यदृच्छया ॥ ३२ ॥

इस प्रकार विचार करते-करते महातपस्वी त्रितने उस कुएँमें एक लता देखी, जो दैवयोगसे वहाँ फैली हुई थी ॥

पांसुग्रस्ते ततः कूपे विचिन्त्य सलिलं मुनिः ।
अग्नीन् संकल्पयामास होतॄनात्मानमेव च ॥ ३३ ॥

मुनिने उस बालूभरे कूपमें जलकी भावना करके उसीमें संकल्पद्वारा अग्निकी स्थापना की और होता आदिके स्थानपर अपने आपको ही प्रतिष्ठित किया ॥ ३३ ॥

ततस्तां वीरुधं सोमं संकल्प्य सुमहातपाः ।
ऋचो यजूंषि सामानि मनसा चिन्तयन् मुनिः ॥ ३४ ॥
ग्रावाणः शर्कराः कृत्वा प्रचक्रेऽभिषवं नृप ।
आज्यं च सलिलं चक्रे भागांश्च त्रिदिवौकसाम् ॥ ३५ ॥
सोमस्याभिषवं कृत्वा चकार विपुलं ध्वनिम् ।

तत्पश्चात् उन महातपस्वी त्रितने उस फैली हुई लतामें सोमकी भावना करके मन-ही-मन ऋग्, यजु और सामका चिन्तन किया । नरेश्वर ! इसके बाद कंकड़ या बालू-कणोंमें सिल और लोढ़ेकी भावना करके उसपर पीसकर लतासे सोमरस निकाला । फिर जलमें घीका संकल्प करके उन्होंने देवताओंके भाग नियत किये और सोमरस तैयार करके उसकी आहुति देते हुए वेद-मन्त्रोंकी गम्भीर ध्वनि की ॥ ३४-३५½ ॥

स चाविशद् दिवं राजन् पुनः शब्दस्त्रितस्य वै ॥ ३६ ॥
समवाप्य च तं यज्ञं यथोक्तं ब्रह्मवादिभिः ।

राजन् ! ब्रह्मवादियोंने जैसा बताया है, उसके अनुसार ही उस यज्ञका सम्पादन करके की हुई त्रितकी वह वेदध्वनि स्वर्गलोक तक गूँज उठी ॥ ३६½ ॥

वर्तमाने महायज्ञे त्रितस्य सुमहात्मनः ॥ ३७ ॥
आविग्नं त्रिदिवं सर्वं कारणं च न बुद्ध्यते ।

महात्मा त्रितका वह महान् यज्ञ जब चालू हुआ, उस समय सारा स्वर्गलोक उद्विग्न हो उठा, परंतु किसीको इसका कोई कारण नहीं जान पड़ा ॥ ३७½ ॥

ततः सुतुमुलं शब्दं शुश्रावाथ बृहस्पतिः ॥ ३८ ॥
श्रुत्वा चैवाब्रवीत् सर्वान् देवान् देवपुरोहितः ।
त्रितस्य वर्तते यज्ञस्तत्र गच्छामहे सुराः ॥ ३९ ॥

तब देवपुरोहित बृहस्पतिजीने वेदमन्त्रोंके उस तुमुलनादको सुनकर देवताओंसे कहा—'देवगण ! त्रित मुनिका यज्ञ हो रहा है, वहाँ हमलोगोंको चलना चाहिये ॥ ३८-३९ ॥

स हि क्रुद्धः सृजेदन्यान् देवानपि महातपाः ।

'वे महान् तपस्वी हैं । यदि हम नहीं चलेंगे तो वे कुपित होकर दूसरे देवताओंकी सृष्टि कर लेंगे' ॥ ३९½ ॥

तच्छ्रुत्वा वचनं तस्य सहिताः सर्वदेवताः ॥ ४० ॥
प्रययुस्तत्र यत्रासौ त्रितयज्ञः प्रवर्तते ।

बृहस्पतिजीका यह वचन सुनकर सब देवता एक साथ हो उस स्थानपर गये, जहाँ त्रितमुनिका यज्ञ हो रहा था ॥

ते तत्र गत्वा विबुधास्तं कूपं यत्र स त्रितः ॥ ४१ ॥
ददृशुस्तं महात्मानं दीक्षितं यज्ञकर्मसु ।
दृष्ट्वा चैनं महात्मानं श्रिया परमया युतम् ॥ ४२ ॥
ऊचुश्चैनं महाभागं प्राप्ता भागार्थिनो वयम् ।

वहाँ पहुँचकर देवताओंने उस कूपको देखा, जिसमें त्रित मौजूद थे । साथ ही उन्होंने यज्ञमें दीक्षित हुए महात्मा त्रितमुनिका भी दर्शन किया । वे बड़े तेजस्वी दिखायी दे रहे थे । उन महाभाग मुनिका दर्शन करके देवताओंने उनसे कहा—'हमलोग यज्ञमें अपना भाग लेनेके लिये आये हैं' ॥

अथाब्रवीदृषिर्देवान् पश्यध्वं मा दिवौकसः ॥ ४३ ॥
अस्मिन् प्रतिभये कूपे निमग्नं नष्टचेतसम् ।

उस समय महर्षिने उनसे कहा—'देवताओ ! देखो, मैं किस दशामें पड़ा हूँ । इस भयानक कूपमें गिरकर अपनी सुधबुध खो बैठा हूँ' ॥ ४३½ ॥

ततस्त्रितो महाराज भागांस्तेषां यथाविधि ॥ ४४ ॥
मन्त्रयुक्तान् समददत् ते च प्रीतास्तदाभवन् ।

महाराज ! तदनन्तर त्रितने देवताओंको विधिपूर्वक मन्त्रोच्चारण करते हुए उनके भाग समर्पित किये। इससे वे उस समय बड़े प्रसन्न हुए ॥ ४४½ ॥

ततो यथाविधि प्राप्तान् भागान् प्राप्य दिवौकसः॥ ४५॥
प्रीतात्मानो ददुस्तस्मै वरान् यान् मनसेच्छति।

विधिपूर्वक प्राप्त हुए उन भागोंको ग्रहण करके प्रसन्नचित्त हुए देवताओंने उन्हें मनोवाञ्छित वर प्रदान किया ॥

स तु वव्रे वरं देवांस्त्रातुमर्हथ मामितः ॥ ४६ ॥
यश्चेहोपस्पृशेत् कूपे स सोमपगतिं लभेत्।

मुनिने देवताओंसे वर माँगते हुए कहा—'मुझे इस कूपसे आपलोग बचावें तथा जो मनुष्य इसमें आचमन करे, उसे यज्ञमें सोमपान करनेवालोंकी गति प्राप्त हो' ॥ ४६½ ॥

तत्र चोर्मिमती राजन्नुत्पपात सरस्वती ॥ ४७ ॥
तयोत्क्षिप्तः समुत्तस्थौ पूजयंस्त्रिदिवौकसः।

राजन्! मुनिके इतना कहते ही कुएँमें तरङ्गमालाओंसे सुशोभित सरस्वती लहरा उठी। उसने अपने जलके वेगसे मुनिको ऊपर उठा दिया और वे बाहर निकल आये। फिर उन्होंने देवताओंका पूजन किया ॥ ४७½ ॥

तथेति चोक्त्वा विबुधा जग्मू राजन् यथागताः॥ ४८ ॥
त्रितश्चाभ्यागमत् प्रीतः स्वमेव निलयं तदा।

नरेश्वर! मुनिके माँगे हुए वरके विषयमें 'तथास्तु' कहकर सब देवता जैसे आये थे, वैसे ही चले गये। फिर त्रित भी प्रसन्नतापूर्वक अपने घरको ही लौट गये ॥ ४८½ ॥

क्रुद्धस्तु स समासाद्य तावृषी भ्रातरौ तदा ॥ ४९ ॥
उवाच परुषं वाक्यं शशाप च महातपाः।
पशुलुब्धौ युवां यस्मान्मामुत्सृज्य प्रधावितौ ॥ ५० ॥
तस्माद् वृकाकृती रौद्रौ दंष्ट्रिणावभितश्चरौ।
भवितारौ मया शप्तौ पापेनानेन कर्मणा ॥ ५१ ॥
प्रसवश्चैव युवयोर्गोलाङ्गूलर्क्षवानराः।

उन महातपस्वीने कुपित हो अपने उन दोनों ऋषि-भाइयोंके पास पहुँचकर कठोर वाणीमें शाप देते हुए कहा—'तुम दोनों पशुओंके लोभमें फँसकर मुझे छोड़कर भाग आये। इसलिये इसी पापकर्मके कारण मेरे शापसे तुम दोनों भाई महाभयंकर भेड़ियेका शरीर धारण करके दाढ़ोंसे युक्त हो इधर-उधर भटकते फिरोगे। तुम दोनोंकी संतानके रूपमें गोलाङ्गूल, रीछ और वानर आदि पशुओंकी उत्पत्ति होगी' ॥

इत्युक्तेन तदा तेन क्षणादेव विशाम्पते ॥ ५२ ॥
तथाभूतावदृश्येतां वचनात् सत्यवादिनः।

प्रजानाथ! उनके इतना कहते ही वे दोनों भाई उस सत्यवादीके वचनसे उसी क्षण भेड़ियेकी शकलमें दिखायी देने लगे ॥ ५२½ ॥

तत्राप्यमितविक्रान्तः स्पृष्ट्वा तोयं हलायुधः ॥ ५३ ॥
दत्त्वा च विविधान् दायान् पूजयित्वा च वै द्विजान्।

अमित पराक्रमी बलरामजीने उस तीर्थमें भी जलका स्पर्श किया और ब्राह्मणोंकी पूजा करके उन्हें नाना प्रकारके धन प्रदान किये ॥ ५३½ ॥

उदपानं च तं वीक्ष्य प्रशस्य च पुनः पुनः ॥ ५४ ॥
नदीगतमदीनात्मा प्राप्तो विनशनं तदा ॥ ५५ ॥

उदार चित्तवाले बलरामजी सरस्वती नदीके अन्तर्गत उदपानतीर्थका दर्शन करके उसकी बारंबार स्तुति-प्रशंसा करते हुए वहाँसे विनशन तीर्थमें चले गये ॥ ५४-५५ ॥

इति श्रीमहाभारते शल्यपर्वणि गदापर्वणि बलदेवतीर्थयात्रायां त्रिताख्याने षट्त्रिंशोऽध्यायः ॥ ३६ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शल्यपर्वके अन्तर्गत गदापर्वमें बलदेवजीकी तीर्थयात्राके प्रसङ्गमें त्रितका उपाख्यानविषयक छत्तीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ३६ ॥

सप्तत्रिंशोऽध्यायः

विनशन, सुभूमिक, गन्धर्व, गर्गस्रोत, शङ्ख, द्वैतवन तथा नैमिषेय आदि तीर्थोंमें होते हुए बलभद्रजीका सप्त सारस्वततीर्थमें प्रवेश

वैशम्पायन उवाच

ततो विनशनं राजन् जगामाथ हलायुधः।
शूद्राभीरान् प्रति द्वेषाद् यत्र नष्टा सरस्वती ॥ १ ॥
तस्मात् तु ऋषयो नित्यं प्राहुर्विनशनेति च।

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन्! उदपानतीर्थसे चलकर हलधारी बलराम विनशनतीर्थमें आये, जहाँ (दुष्कर्म-परायण) शूद्रों और आभीरोंके प्रति द्वेष होनेसे सरस्वती नदी विनष्ट (अदृश्य) हो गयी है। इसीलिये ऋषिगण उसे सदा विनशनतीर्थ कहते हैं ॥ १½ ॥

तत्राप्युपस्पृश्य बलः सरस्वत्यां महाबलः ॥ २ ॥
सुभूमिकं ततोऽगच्छत् सरस्वत्यास्तटे वरे।

महाबली बलराम वहाँ भी सरस्वतीमें आचमन और स्नान करके उसके सुन्दर तटपर स्थित हुए 'सुभूमिक' तीर्थमें गये॥

तत्र चाप्सरसः शुभ्रा नित्यकालमतन्द्रिताः ॥ ३ ॥
क्रीडाभिर्विमलाभिश्च क्रीडन्ति विमलाननाः।

उस तीर्थमें गौरवर्ण तथा निर्मल मुखवाली सुन्दरी अप्सराएँ आलस्य त्यागकर सदा नाना प्रकारकी विमल क्रीडाओंद्वारा मनोरञ्जन करती हैं ॥ ३½ ॥

तत्र देवाः सगन्धर्वा मासि मासि जनेश्वर ॥ ४ ॥
अभिगच्छन्ति तत् तीर्थं पुण्यं ब्राह्मणसेवितम्।

जनेश्वर! वहाँ उस ब्राह्मणसेवित पुण्यतीर्थमें गन्धर्वों-सहित देवता भी प्रतिमास आया करते हैं ॥ ४½ ॥

तत्रादृश्यन्त गन्धर्वास्तथैवाप्सरसां गणाः ॥ ५ ॥
समेत्य सहिता राजन् यथाप्राप्तं यथासुखम्।

राजन् ! गन्धर्वगण और अप्सराएँ एक साथ मिलकर वहाँ आतीं और सुखपूर्वक विचरण करती दिखायी देती हैं ॥

तत्र मोदन्ति देवाश्च पितरश्च सवीरुधः ॥ ६ ॥
पुण्यैः पुष्पैः सदा दिव्यैः कीर्यमाणाः पुनः पुनः ।

वहाँ देवता और पितर लता-बेलोंके साथ आमोदित होते हैं, उनके ऊपर सदा पवित्र एवं दिव्य पुष्पोंकी वर्षा बारंबार होती रहती है ॥ ६½ ॥

आक्रीडभूमिः सा राजंस्तासामप्सरसां शुभा ॥ ७ ॥
सुभूमिकेति विख्याता सरस्वत्यास्तटे वरे ।

राजन् ! सरस्वतीके सुन्दर तटपर वह उन अप्सराओंकी मङ्गलमयी क्रीडाभूमि है, इसलिये वह स्थान सुभूमिक नामसे विख्यात है ॥ ७½ ॥

तत्र स्नात्वा च दत्त्वा च वसु विप्राय माधवः ॥ ८ ॥
श्रुत्वा गीतं च तद् दिव्यं वादित्राणां च निःस्वनम् ।
छायाश्च विपुला दृष्ट्वा देवगन्धर्वरक्षसाम् ॥ ९ ॥
गन्धर्वाणां ततस्तीर्थमागच्छद् रोहिणीसुतः ।

बलरामजीने वहाँ स्नान करके ब्राह्मणोंको धन दान किया और दिव्य गीत एवं दिव्य वाद्योंकी ध्वनि सुनकर देवताओं, गन्धर्वों तथा राक्षसोंकी बहुत-सी मूर्तियोंका दर्शन किया। तत्पश्चात् रोहिणीनन्दन बलराम गन्धर्वतीर्थमें गये ॥८-९½॥

विश्वावसुमुखास्तत्र गन्धर्वास्तपसान्विताः ॥ १० ॥
नृत्यवादित्रगीतं च कुर्वन्ति सुमनोरमम् ।

वहाँ तपस्यामें लगे हुए विश्वावसु आदि गन्धर्व अत्यन्त मनोरम नृत्य, वाद्य और गीतका आयोजन करते रहते हैं ॥

तत्र दत्त्वा हलधरो विप्रेभ्यो विविधं वसु ॥ ११ ॥
अजाविकं गोखरोष्ट्रं सुवर्णं रजतं तथा ।
भोजयित्वा द्विजान् कामैः संतर्प्य च महाधनैः ॥१२॥
प्रययौ सहितो विप्रैः स्तूयमानश्च माधवः ।

हलधरने वहाँ भी ब्राह्मणोंको भेड़, बकरी, गाय, गदहा, ऊँट और सोना-चाँदी आदि नाना प्रकारके धन देकर उन्हें इच्छानुसार भोजन कराया तथा प्रचुर धनसे संतुष्ट करके ब्राह्मणोंके साथ ही वहाँसे प्रस्थान किया। उस समय ब्राह्मण लोग बलरामजीकी बड़ी स्तुति करते थे ॥ ११-१२½ ॥

तस्माद् गन्धर्वतीर्थाच्च महाबाहुररिंदमः ॥ १३ ॥
गर्गस्रोतो महातीर्थमाजगामैककुण्डली ।

उस गन्धर्वतीर्थसे चलकर एक कानमें कुण्डल धारण करनेवाले शत्रुदमन महाबाहु बलराम गर्गस्रोत नामक महातीर्थमें आये ॥ १३½ ॥

तत्र गर्गेण वृद्धेन तपसा भावितात्मना ॥ १४ ॥
कालज्ञानगतिश्चैव ज्योतिषां च व्यतिक्रमः ।
उत्पाता दारुणाश्चैव शुभाश्च जनमेजय ॥ १५ ॥
सरस्वत्याः शुभे तीर्थे विदिता वै महात्मना ।
तस्य नाम्ना च तत् तीर्थं गर्गस्रोत इति स्मृतम्॥ १६ ॥

जनमेजय ! वहाँ तपस्यासे पवित्र अन्तःकरणवाले महात्मा वृद्ध गर्गने सरस्वतीके उस शुभ तीर्थमें कालका ज्ञान, कालकी गति, ग्रहों और नक्षत्रोंके उलट-फेर, दारुण उत्पात तथा शुभ लक्षण—इन सभी बातोंकी जानकारी प्राप्त कर ली थी। उन्हींके नामसे वह तीर्थ गर्गस्रोत कहलाता है।१४-१६।

तत्र गर्गं महाभागमृषयः सुव्रता नृप ।
उपासांचक्रिरे नित्यं कालज्ञानं प्रति प्रभो ॥ १७ ॥

सामर्थ्यशाली नरेश्वर ! वहाँ उत्तम व्रतका पालन करनेवाले ऋषियोंने कालज्ञानके लिये सदा महाभाग गर्गमुनिकी उपासना (सेवा) की थी ॥ १७ ॥

तत्र गत्वा महाराज बलः श्वेतानुलेपनः ।
विधिवद्धि धनं दत्त्वा मुनीनां भावितात्मनाम् ॥ १८ ॥
उच्चावचांस्तथा भक्ष्यान् विप्रेभ्यो विप्रदाय सः ।
नीलवासास्तदागच्छच्छङ्खतीर्थं महायशाः ॥ १९ ॥

महाराज ! वहाँ जाकर श्वेतचन्दनचर्चित, नीलाम्बरधारी महायशस्वी बलरामजी विशुद्ध अन्तःकरणवाले महर्षियोंको विधिपूर्वक धन देकर ब्राह्मणोंको नाना प्रकारके भक्ष्य-भोज्य पदार्थ समर्पित करके वहाँसे शङ्खतीर्थमें चले गये ॥

तत्रापश्यन्महाशङ्खं महामेरुमिवोच्छ्रितम् ।
श्वेतपर्वतसंकाशमृषिसंघैर्निषेवितम् ॥ २० ॥
सरस्वत्यास्तटे जातं नगं तालध्वजो बली ।

वहाँ तालचिह्नित ध्वजावाले बलवान् बलरामने महाशङ्ख नामक एक वृक्ष देखा, जो महान् मेरुपर्वतके समान ऊँचा और श्वेताचलके समान उज्ज्वल था। उसके नीचे ऋषियोंके समूह निवास करते थे। वह वृक्ष सरस्वतीके तटपर ही उत्पन्न हुआ था ॥ २०½ ॥

यक्षा विद्याधराश्चैव राक्षसाश्चामितौजसः ॥ २१ ॥
पिशाचाश्चामितबला यत्र सिद्धाः सहस्रशः ।

उस वृक्षके आस-पास यक्ष, विद्याधर, अमित तेजस्वी राक्षस, अनन्त बलशाली पिशाच तथा सिद्धगण सहस्रोंकी संख्यामें निवास करते थे ॥ २१½ ॥

ते सर्वे ह्यशनं त्यक्त्वा फलं तस्य वनस्पतेः ॥ २२ ॥
व्रतैश्च नियमैश्चैव काले काले स्म भुञ्जते ।

वे सब-के-सब अन्न छोड़कर व्रत और नियमोंका पालन करते हुए समय-समयपर उस वृक्षका ही फल खाया करते थे॥

प्राप्तैश्च नियमैस्तैस्तैर्विचरन्तः पृथक् पृथक् ॥ २३ ॥
अदृश्यमाना मनुजैर्व्यचरन् पुरुषर्षभ ।
एवं ख्यातो नरव्याघ्र लोकेऽस्मिन् स वनस्पतिः॥ २४ ॥

पुरुषश्रेष्ठ ! वे उन स्वीकृत नियमोंके अनुसार पृथक्-पृथक् विचरते हुए मनुष्योंसे अदृश्य रहकर घूमते थे। नरव्याघ्र ! इस प्रकार वह वनस्पति इस विश्वमें विख्यात था ॥

ततस्तीर्थं सरस्वत्याः पावनं लोकविश्रुतम् ।
तस्मिंश्च यदुशार्दूलो दत्त्वा तीर्थे पयस्विनीः ॥ २५ ॥
ताम्रायसानि भाण्डानि वस्त्राणि विविधानि च ।
पूजयित्वा द्विजांश्चैव पूजितश्च तपोधनैः ॥ २६ ॥

वह वृक्ष सरस्वतीका लोकविख्यात पावन तीर्थ है। यदुश्रेष्ठ बलराम उस तीर्थमें दूध देनेवाली गौओंका दान करके

ताँबे और लोहेके बर्तन तथा नाना प्रकारके वस्त्र भी ब्राह्मणोंको दिये। ब्राह्मणोंका पूजन करके वे स्वयं भी तपस्वी मुनियोंद्वारा पूजित हुए ॥ २५-२६ ॥

पुण्यं द्वैतवनं राजन्नाजगाम हलायुधः।
तत्र गत्वा मुनीन् दृष्ट्वा नानावेषधरान् बलः ॥ २७ ॥
आप्लुत्य सलिले चापि पूजयामास वै द्विजान्।

राजन्! वहाँसे हलधर बलभद्रजी पवित्र द्वैतवनमें आये और वहाँके नाना वेशधारी मुनियोंका दर्शन करके जलमें गोता लगाकर उन्होंने ब्राह्मणोंका पूजन किया ॥ २७½ ॥

तथैव दत्त्वा विप्रेभ्यः परिभोगान् सुपुष्कलान् ॥ २८ ॥
ततः प्रायाद् बलो राजन् दक्षिणेन सरस्वतीम्।

राजन्! इसी प्रकार विप्रवृन्दको प्रचुर भोगसामग्री अर्पित करके फिर बलरामजी सरस्वतीके दक्षिण तटपर होकर यात्रा करने लगे ॥ २८½ ॥

गत्वा चैवं महाबाहुर्नातिदूरे महायशाः ॥ २९ ॥
धर्मात्मा नागधन्वानं तीर्थमागमदच्युतः।
यत्र पन्नगराजस्य वासुकेः संनिवेशनम् ॥ ३० ॥
महाद्युतेर्महाराज बहुभिः पन्नगैर्वृतम्।
ऋषीणां हि सहस्राणि तत्र नित्यं चतुर्दश ॥ ३१ ॥

महाराज! इस प्रकार थोड़ी ही दूर जाकर महाबाहु, महायशस्वी धर्मात्मा भगवान् बलराम नागधन्वा नामक तीर्थमें पहुँच गये, जहाँ महातेजस्वी नागराज वासुकिका बहुसंख्यक सर्पोंसे घिरा हुआ निवासस्थान है। वहाँ सदा चौदह हजार ऋषि निवास करते हैं ॥ २९—३१ ॥

यत्र देवाः समागम्य वासुकिं पन्नगोत्तमम्।
सर्वपन्नगराजानमभ्यषिञ्चन् यथाविधि ॥ ३२ ॥

वहीं देवताओंने आकर सर्पोंमें श्रेष्ठ वासुकिको समस्त सर्पोंके राजाके पदपर विधिपूर्वक अभिषिक्त किया था ॥ ३२ ॥

पन्नगेभ्यो भयं तत्र विद्यते न स्म पौरव।
तत्रापि विधिवद् दत्त्वा विप्रेभ्यो रत्नसंचयान् ॥ ३३ ॥
प्रायात् प्राचीं दिशं तत्र तत्र तीर्थान्यनेकशः।
सहस्रशतसंख्यानि प्रथितानि पदे पदे ॥ ३४ ॥

पौरव! वहाँ किसीको सर्पोंसे भय नहीं होता। उस तीर्थमें भी बलरामजी ब्राह्मणोंको विधिपूर्वक ढेर-के-ढेर रत्न देकर पूर्वदिशाकी ओर चल दिये, जहाँ पग-पगपर अनेक प्रकारके प्रसिद्ध तीर्थ प्रकट हुए हैं। उनकी संख्या लगभग एक लाख है ॥ ३३-३४ ॥

आप्लुत्य तत्र तीर्थेषु यथोक्तं तत्र चर्षिभिः।
कृत्वोपवासनियमं दत्त्वा दानानि सर्वशः ॥ ३५ ॥
अभिवाद्य मुनींस्तान् वै तत्र तीर्थनिवासिनः।
उद्दिष्टमार्गः प्रययौ यत्र भूयः सरस्वती ॥ ३६ ॥
प्राङ्मुखं वै निववृते वृष्टिर्वातहता यथा।

उन तीर्थोंमें स्नान करके उन्होंने ऋषियोंके बताये अनुसार व्रत-उपवास आदि नियमोंका पालन किया। फिर सब प्रकारके दान करके तीर्थनिवासी मुनियोंको मस्तक नवाकर उनके बताये हुए मार्गसे वे पुनः उस स्थानकी ओर चल दिये, जहाँ सरस्वती हवाकी मारी हुई वर्षाके समान पुनः पूर्व दिशाकी ओर लौट पड़ी हैं ॥ ३५-३६½ ॥

ऋषीणां नैमिषेयाणामवेक्षार्थं महात्मनाम् ॥ ३७ ॥
निवृत्तां तां सरिच्छ्रेष्ठां तत्र दृष्ट्वा तु लाङ्गली।
बभूव विस्मितो राजन् बलः श्वेतानुलेपनः ॥ ३८ ॥

राजन्! नैमिषारण्यनिवासी महात्मा मुनियोंके दर्शनके लिये पूर्व दिशाकी ओर लौटी हुई सरिताओंमें श्रेष्ठ सरस्वतीका दर्शन करके श्वेत-चन्दनचर्चित हलधारी बलराम आश्चर्यचकित हो उठे ॥ ३७-३८ ॥

जनमेजय उवाच

कस्मात् सरस्वती ब्रह्मन् निवृत्ता प्राङ्मुखीभवत्।
व्याख्यातमेतदिच्छामि सर्वमध्वर्युसत्तम ॥ ३९ ॥
कस्मिंश्चित् कारणे तत्र विस्मितो यदुनन्दनः।
निवृत्ता हेतुना केन कथमेव सरिद्वरा ॥ ४० ॥

जनमेजयने पूछा—यजुर्वेदके ज्ञाताओंमें श्रेष्ठ विप्रवर! मैं आपके मुँहसे यह सुनना चाहता हूँ कि सरस्वती नदी किस कारणसे पीछे लौटकर पूर्वाभिमुख बहने लगी? क्या कारण था कि वहाँ यदुनन्दन बलरामजीको भी आश्चर्य हुआ? सरिताओंमें श्रेष्ठ सरस्वती किस कारणसे और किस प्रकार पूर्व दिशाकी ओर लौटी थीं? ॥ ३९-४० ॥

वैशम्पायन उवाच

पूर्वं कृतयुगे राजन् नैमिषेयास्तपस्विनः।
वर्तमाने सुविपुले सत्रे द्वादशवार्षिके ॥ ४१ ॥
ऋषयो बहवो राजंस्तत् सत्रमभिपेदिरे।

वैशम्पायनजीने कहा—राजन्! पूर्वकालके सत्ययुगकी बात है, वहाँ बारह वर्षोंमें पूर्ण होनेवाले एक महान् यज्ञका अनुष्ठान आरम्भ किया गया था। उस सत्रमें नैमिषारण्यनिवासी तपस्वी मुनि तथा अन्य बहुत-से ऋषि पधारे थे ॥

उषित्वा च महाभागास्तस्मिन् सत्रे यथाविधि ॥ ४२ ॥
निवृत्ते नैमिषेये वै सत्रे द्वादशवार्षिके।
आजग्मुर्ऋषयस्तत्र बहवस्तीर्थकारणात् ॥ ४३ ॥

नैमिषारण्यवासियोंके उस द्वादशवर्षीय यज्ञमें वे महाभाग ऋषि दीर्घकालतक रहे। जब वह यज्ञ समाप्त हो गया तब बहुत-से महर्षि तीर्थसेवनके लिये वहाँ आये ॥ ४२-४३ ॥

ऋषीणां बहुलत्वात्तु सरस्वत्या विशाम्पते।
तीर्थानि नगरायन्ते कूले वै दक्षिणे तदा ॥ ४४ ॥

प्रजानाथ! ऋषियोंकी संख्या अधिक होनेके कारण सरस्वतीके दक्षिण तटपर जितने तीर्थ थे, वे सभी नगरोंके समान प्रतीत होने लगे ॥ ४४ ॥

समन्तपञ्चकं यावत्तावत्ते द्विजसत्तमाः।
तीर्थलोभान्नरव्याघ्र नद्यास्तीरं समाश्रिताः ॥ ४५ ॥

पुरुषसिंह! तीर्थसेवनके लोभसे वे ब्रह्मर्षिगण समन्तपञ्चक तीर्थतक सरस्वती नदीके तटपर ठहर गये ॥ ४५ ॥

जुह्वतां तत्र तेषां तु मुनीनां भावितात्मनाम्।

स्वाध्यायेनातिमहता बभूवुः पूरिता दिशः ॥ ४६ ॥

वहाँ होम करते हुए पवित्रात्मा मुनियोंके अत्यन्त गम्भीर स्वरसे किये जानेवाले स्वाध्यायके शब्दसे सम्पूर्ण दिशाएँ गूँज उठी थीं ॥ ४६ ॥

अग्निहोत्रैस्ततस्तेषां क्रियमाणैर्महात्मनाम् ।
अशोभत सरिच्छ्रेष्ठा दीप्यमानैः समन्ततः ॥ ४७ ॥

चारों ओर प्रकाशित हुए उन महात्माओंद्वारा किये जानेवाले यज्ञसे सरिताओंमें श्रेष्ठ सरस्वतीकी बड़ी शोभा हो रही थी ॥ ४७ ॥

वालखिल्या महाराज अश्मकुट्टाश्च तापसाः ।
दन्तोलूखलिनश्चान्ये प्रसंख्यानास्तथा परे ॥ ४८ ॥
वायुभक्षा जलाहाराः पर्णभक्षाश्च तापसाः ।
नानानियमयुक्ताश्च तथा स्थण्डिलशायिनः ॥ ४९ ॥
आसन् वै मुनयस्तत्र सरस्वत्याः समीपतः ।
शोभयन्तः सरिच्छ्रेष्ठां गङ्गामिव दिवौकसः ॥ ५० ॥

महाराज ! सरस्वतीके उस निकटवर्ती तटपर सुप्रसिद्ध तपस्वी वालखिल्य, अश्मकुट्ट[1], दन्तोलूखली[2], प्रसंख्यान[3], हवा पीकर रहनेवाले, जलपानपर ही निर्वाह करनेवाले, पत्तोंका ही आहार करनेवाले, भाँति-भाँतिके नियमोंमें संलग्न तथा वेदीपर शयन करनेवाले तपस्वी-मुनि विराजमान थे । वे सरिताओंमें श्रेष्ठ सरस्वतीकी उसी प्रकार शोभा बढ़ा रहे थे, जैसे देवतालोग गङ्गाजीकी ॥ ४८-५० ॥

शतशश्च समापेतुरृषयः सत्रयाजिनः ।
तेऽवकाशं न ददृशुः सरस्वत्या महाव्रताः ॥ ५१ ॥

सत्रयागमें सम्मिलित हुए सैकड़ों महान् व्रतधारी ऋषि वहाँ आये थे; परंतु उन्होंने सरस्वतीके तटपर अपने रहनेके लिये स्थान नहीं देखा ॥ ५१ ॥

ततो यज्ञोपवीतैस्ते तत्तीर्थं निर्मिमाय वै ।
जुहुवुश्चाग्निहोत्रांश्च चक्रुश्च विविधाः क्रियाः ॥ ५२ ॥

तब उन्होंने यज्ञोपवीतसे उस तीर्थका निर्माण करके वहाँ अग्निहोत्र-सम्बन्धी आहुतियाँ दीं और नाना प्रकारके कर्मोंका अनुष्ठान किया ॥ ५२ ॥

ततस्तमृषिसंघातं निराशं चिन्तयान्वितम् ।
दर्शयामास राजेन्द्र तेषामर्थे सरस्वती ॥ ५३ ॥

राजेन्द्र ! उस समय उस ऋषि-समूहको निराश और चिन्तित जान सरस्वतीने उनकी अभीष्ट-सिद्धिके लिये उन्हें प्रत्यक्ष दर्शन दिया ॥ ५३ ॥

ततः कुञ्जान् बहून् कृत्वा संनिवृत्ता सरस्वती ।
ऋषीणां पुण्यतपसां कारुण्याज्जनमेजय ॥ ५४ ॥

जनमेजय ! तत्पश्चात् बहुत-से कुञ्जोंका निर्माण करती हुई सरस्वती पीछे लौट पड़ी; क्योंकि उन पुण्यतपस्वी ऋषियोंपर उनके हृदयमें करुणाका संचार हो आया था ॥ ५४ ॥

ततो निवृत्य राजेन्द्र तेषामर्थे सरस्वती ।
भूयः प्रतीच्यभिमुखी प्रसुस्राव सरिद्वरा ॥ ५५ ॥

राजेन्द्र ! उनके लिये लौटकर सरिताओंमें श्रेष्ठ सरस्वती पुनः पश्चिमकी ओर मुड़कर बहने लगीं ॥ ५५ ॥

अमोघागमनं कृत्वा तेषां भूयो व्रजाम्यहम् ।
इत्यद्भुतं महच्चक्रे तदा राजन् महानदी ॥ ५६ ॥

राजन् ! उस महानदीने यह सोच लिया था कि मैं इन ऋषियोंके आगमनको सफल बनाकर पुनः पश्चिम मार्गसे ही लौट जाऊँगी । यह सोचकर ही उसने वह महान् अद्भुत कर्म किया ॥ ५६ ॥

एवं स कुञ्जो राजन् वै नैमिषीय इति स्मृतः ।
कुरुश्रेष्ठ कुरुक्षेत्रे कुरुष्व महतीं क्रियाम् ॥ ५७ ॥

नरेश्वर ! इस प्रकार वह कुञ्ज नैमिषीय नामसे प्रसिद्ध हुआ । कुरुश्रेष्ठ ! तुम भी कुरुक्षेत्रमें महान् कर्म करो ॥

तत्र कुञ्जान् बहून् दृष्ट्वा निवृत्तां च सरस्वतीम् ।
बभूव विस्मयस्तत्र रामस्याथ महात्मनः ॥ ५८ ॥

वहाँ बहुत-से कुञ्जों तथा लौटी हुई सरस्वतीका दर्शन करके महात्मा बलरामजीको बड़ा विस्मय हुआ ॥ ५८ ॥

उपस्पृश्य तु तत्रापि विधिवद् यदुनन्दनः ।
दत्त्वा दायान् द्विजातिभ्यो भाण्डानि विविधानि च ॥ ५९ ॥
भक्ष्यं भोज्यं च विविधं ब्राह्मणेभ्यः प्रदाय च ।
ततः प्रायाद् बली राजन् पूज्यमानो द्विजातिभिः ॥ ६० ॥

यदुनन्दन बलरामने वहाँ विधिपूर्वक स्नान और आचमन करके ब्राह्मणोंको धन और भाँति-भाँतिके बर्तन दान किये । राजन् ! फिर उन्हें नाना प्रकारके भक्ष्य-भोज्य पदार्थ देकर द्विजातियोंद्वारा पूजित होते हुए बलरामजी वहाँसे चल दिये ॥

सरस्वतीतीर्थवरं नानाद्विजगणायुतम् ।
बदरेङ्गुदकाश्मर्यप्लक्षाश्वत्थविभीतकैः ॥ ६१ ॥
कङ्कोलैश्च पलाशैश्च करीरैः पीलुभिस्तथा ।
सरस्वतीतीर्थरुहैस्तरुभिर्विविधैस्तथा ॥ ६२ ॥
करूषकवरैश्चैव बिल्वैराम्रातकैस्तथा ।
अतिमुक्तकषण्डैश्च पारिजातैश्च शोभितम् ॥ ६३ ॥
कदलीवनभूयिष्ठं दृष्टिकान्तं मनोहरम् ।
वाय्वम्बुफलपर्णादैर्दन्तोलूखलिकैरपि ॥ ६४ ॥
तथाश्मकुट्टैर्वानेयैर्मुनिभिर्बहुभिर्वृतम् ।
स्वाध्यायघोषसंघुष्टं मृगयूथशताकुलम् ॥ ६५ ॥
अहिंस्रैर्धर्मपरमैर्नृभिरत्यर्थसेवितम् ।
सप्तसारस्वतं तीर्थमाजगाम हलायुधः ॥ ६६ ॥
यत्र मङ्कणकः सिद्धस्तपस्तेपे महामुनिः ॥ ६७ ॥

तदनन्तर हलायुध बलदेवजी सप्तसारस्वत-नामक तीर्थमें आये, जो सरस्वतीके तीर्थोंमें सबसे श्रेष्ठ है । वहाँ अनेकानेक ब्राह्मणोंके समुदाय निवास करते थे । बेर, इंगुद, काश्मर्य (गम्भारी), पाकर, पीपल, बहेड़े, कङ्कोल, पलाश, करीर, पीलु, करूष, बिल्व, अमड़ा, अतिमुक्त, पारिजात तथा

1. पत्थरसे फोड़े हुए फलका भोजन करनेवाले ।
2. दाँतसे ही ओखलीका काम लेनेवाले अर्थात् ओखलीमें कूटकर नहीं, दाँतोंसे ही चबाकर खानेवाले ।
3. गिने हुए फल खानेवाले ।

सरस्वतीके तटपर उगे हुए अन्य नाना प्रकारके वृक्षोंसे सुशोभित वह तीर्थ देखनेमें कमनीय और मनको मोह लेनेवाला है। वहाँ केलेके बहुत-से बगीचे हैं। उस तीर्थमें वायु, जल, फल और पत्ते चबाकर रहनेवाले, दाँतोंसे ही ओखलीका काम लेनेवाले और पत्थरसे फोड़े हुए फल खानेवाले बहुतेरे वानप्रस्थ मुनि भरे हुए थे। वहाँ वेदोंके स्वाध्यायकी गम्भीर ध्वनि गूँज रही थी। मृगोंके सैकड़ों यूथ सब ओर फैले हुए थे। हिंसारहित धर्मपरायण मनुष्य उस तीर्थका अधिक सेवन करते थे। वहीं सिद्ध महामुनि मङ्कणकने बड़ी भारी तपस्या की थी ॥ ६१–६७ ॥

इति श्रीमहाभारते शल्यपर्वणि गदापर्वणि बलदेवतीर्थयात्रायां सारस्वतोपाख्याने सप्तत्रिंशोऽध्यायः ॥ ३७ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शल्यपर्वके अन्तर्गत गदापर्वमें बलदेवजीकी तीर्थयात्राके प्रसंगमें सारस्वतोपाख्यानविषयक सैंतीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ३७ ॥

अष्टात्रिंशोऽध्यायः

सप्तसारस्वत तीर्थकी उत्पत्ति, महिमा और मङ्कणक मुनिका चरित्र

जनमेजय उवाच

सप्तसारस्वतं कस्मात् कश्च मङ्कणको मुनिः ।
कथं सिद्धः स भगवान् कश्चास्य नियमोऽभवत् ॥ १ ॥

जनमेजयने पूछा—विप्रवर! सप्तसारस्वत तीर्थकी उत्पत्ति किस हेतुसे हुई? पूजनीय मङ्कणक मुनि कौन थे? कैसे उन्हें सिद्धि प्राप्त हुई और उनका नियम क्या था? ॥ १ ॥

कस्य वंशे समुत्पन्नः किं चाधीतं द्विजोत्तम ।
एतदिच्छाम्यहं श्रोतुं विधिवद् द्विजसत्तम ॥ २ ॥

द्विजश्रेष्ठ! वे किसके वंशमें उत्पन्न हुए थे और उन्होंने किस शास्त्रका अध्ययन किया था? यह सब मैं विधिपूर्वक सुनना चाहता हूँ ॥ २ ॥

वैशम्पायन उवाच

राजन् सप्त सरस्वत्यो याभिर्व्याप्तमिदं जगत् ।
आहूता बलवद्भिर्हि तत्र तत्र सरस्वती ॥ ३ ॥

वैशम्पायनजीने कहा—राजन्! सरस्वती नामकी सात नदियाँ और हैं, जो इस सारे जगत्में फैली हुई हैं। तपोबलसम्पन्न महात्माओंने जहाँ-जहाँ सरस्वतीका आवाहन किया है, वहाँ-वहाँ वे गयी हैं ॥ ३ ॥

सुप्रभा काञ्चनाक्षी च विशाला च मनोरमा ।
सरस्वती चौघवती सुरेणुर्विमलोदका ॥ ४ ॥

उन सबके नाम इस प्रकार हैं—सुप्रभा, काञ्चनाक्षी, विशाला, मनोरमा, सरस्वती, ओघवती, सुरेणु और विमलोदका ॥

पितामहस्य महतो वर्तमाने महामखे ।
वितते यज्ञवाटे च संसिद्धेषु द्विजातिषु ॥ ५ ॥
पुण्याहघोषैर्विमलैर्वेदानां निनदैस्तथा ।
देवेषु चैव व्यग्रेषु तस्मिन् यज्ञविधौ तदा ॥ ६ ॥

एक समयकी बात है, पुष्करतीर्थमें महात्मा ब्रह्माजीका एक महान् यज्ञ हो रहा था। उनकी विस्तृत यज्ञशालामें सिद्ध ब्राह्मण विराजमान थे। पुण्याहवाचनके निर्दोष घोष तथा वेदमन्त्रोंकी ध्वनिसे सारा यज्ञमण्डप गूँज रहा था और सम्पूर्ण देवता उस यज्ञ-कर्मके सम्पादनमें व्यस्त थे ॥

तत्र चैव महाराज दीक्षिते प्रपितामहे ।
यजतस्तस्य सत्रेण सर्वकामसमृद्धिना ॥ ७ ॥

महाराज! साक्षात् ब्रह्माजीने उस यज्ञकी दीक्षा ली थी। उनके यज्ञ करते समय सबकी समस्त इच्छाएँ उस यज्ञद्वारा परिपूर्ण होती थीं ॥ ७ ॥

मनसा चिन्तिता ह्यर्था धर्मार्थकुशलैस्तदा ।
उपतिष्ठन्ति राजेन्द्र द्विजातींस्तत्र तत्र ह ॥ ८ ॥

राजेन्द्र! धर्म और अर्थमें कुशल मनुष्य मनमें जिन पदार्थोंका चिन्तन करते थे, वे उनके पास वहाँ तत्काल उपस्थित हो जाते थे ॥ ८ ॥

जगुश्च तत्र गन्धर्वा ननृतुश्चाप्सरोगणाः ।
वादित्राणि च दिव्यानि वादयामासुरञ्जसा ॥ ९ ॥

उस यज्ञमें गन्धर्व गीत गाते और अप्सराएँ नृत्य करती थीं। वहाँ दिव्य बाजे बजाये जा रहे थे ॥ ९ ॥

तस्य यज्ञस्य सम्पत्त्या तुतुषुर्देवता अपि ।
विस्मयं परमं जग्मुः किमु मानुषयोनयः ॥ १० ॥

उस यज्ञके वैभवसे देवता भी संतुष्ट थे और अत्यन्त आश्चर्यमें निमग्न हो रहे थे; फिर मनुष्योंकी तो बात ही क्या है? ॥

वर्तमाने तथा यज्ञे पुष्करस्थे पितामहे ।
अब्रुवन्नृषयो राजन्नायं यज्ञो महागुणः ॥ ११ ॥
न दृश्यते सरिच्छ्रेष्ठा यस्मादिह सरस्वती ।

राजन्! इस प्रकार जब पितामह ब्रह्मा पुष्करमें रहकर यज्ञ कर रहे थे, उस समय ऋषियोंने उनसे कहा—'भगवन्! आपका यह यज्ञ अभी महान् गुणसे सम्पन्न नहीं है; क्योंकि यहाँ सरिताओंमें श्रेष्ठ सरस्वती नहीं दिखायी देती हैं' ॥ ११½ ॥

तच्छ्रुत्वा भगवान् प्रीतः सस्माराथ सरस्वतीम् ॥ १२ ॥
पितामहेन यजता आहूता पुष्करेषु वै ।

यह सुनकर भगवान् ब्रह्माने प्रसन्नतापूर्वक सरस्वती देवीकी आराधना करके पुष्करमें यज्ञ करते समय उनका आवाहन किया ॥

सुप्रभा नाम राजेन्द्र नाम्ना तत्र सरस्वती ॥ १३ ॥
तां दृष्ट्वा मुनयस्तुष्टास्त्वरायुक्तां सरस्वतीम् ।
पितामहं मानयन्तीं क्रतुं ते बहु मेनिरे ॥ १४ ॥

राजेन्द्र! तब वहाँ सरस्वती सुप्रभा नामसे प्रकट हुई। बड़ी उतावलीके साथ आकर ब्रह्माजीका सम्मान करती हुई सरस्वतीका दर्शन करके ऋषिगण बड़े प्रसन्न हुए और उन्होंने उस यज्ञको बहुत सम्मान दिया ॥ १३-१४ ॥

एवमेषा सरिच्छ्रेष्ठा पुष्करेषु सरस्वती ।

पितामहार्थं सम्भूता तुष्ट्यर्थं च मनीषिणाम् ॥ १५ ॥

इस प्रकार सरिताओंमें श्रेष्ठ सरस्वती पुष्करतीर्थमें ब्रह्माजी तथा मनीषी महात्माओंके संतोषके लिये प्रकट हुई ॥

नैमिषे मुनयो राजन् समागम्य समासते ।
तत्र चित्राः कथा ह्यासन् वेदं प्रति जनेश्वर ॥ १६ ॥

राजन् ! जनेश्वर ! नैमिषारण्यमें बहुत-से मुनि आकर रहते थे। वहाँ वेदके विषयमें विचित्र कथा-वार्ता होती रहती थी ॥

यत्र ते मुनयो ह्यासन् नानास्वाध्यायवेदिनः ।
ते समागम्य मुनयः सस्मरुर्वै सरस्वतीम् ॥ १७ ॥

जहाँ वे नाना प्रकारके स्वाध्यायोंका ज्ञान रखनेवाले मुनि रहते थे, वहीं उन्होंने परस्पर मिलकर सरस्वती देवीका स्मरण किया ॥ १७ ॥

सा तु ध्याता महाराज ऋषिभिः सत्रयाजिभिः ।
समागतानां राजेन्द्र साहाय्यार्थं महात्मनाम् ॥ १८ ॥
आजगाम महाभागा तत्र पुण्या सरस्वती ।

महाराज ! राजाधिराज ! उन सत्रयाजी (ज्ञानयज्ञ करनेवाले) ऋषियोंके ध्यान लगानेपर महाभागा पुण्यसलिला सरस्वतीदेवी उन समागत महात्माओंकी सहायताके लिये वहाँ आयी ॥ १८½ ॥

नैमिषे काञ्चनाक्षी तु मुनीनां सत्रयाजिनाम् ॥ १९ ॥
आगता सरितां श्रेष्ठा तत्र भारत पूजिता ।

भारत ! नैमिषारण्य तीर्थमें उन सत्रयाजी मुनियोंके समक्ष आयी हुई सरिताओंमें श्रेष्ठ सरस्वती काञ्चनाक्षी नामसे सम्मानित हुई ॥ १९½ ॥

गयस्य यजमानस्य गयेष्वेव महाक्रतुम् ॥ २० ॥
आहूता सरितां श्रेष्ठा गययज्ञे सरस्वती ।
विशालां तु गयस्याहुर्ऋषयः संशितव्रताः ॥ २१ ॥

राजा गय गयदेशमें ही एक महान् यज्ञका अनुष्ठान कर रहे थे। उनके यज्ञमें भी सरिताओंमें श्रेष्ठ सरस्वतीका आवाहन किया गया था। कठोर व्रतका पालन करनेवाले महर्षि गयके यज्ञमें आयी हुई सरस्वतीको विशाला कहते हैं ॥ २०-२१ ॥

सरित् सा हिमवत्पार्श्वात् प्रस्रुता शीघ्रगामिनी ।
औद्दालकेस्तथा यज्ञे यजतस्तस्य भारत ॥ २२ ॥

भरतनन्दन ! यज्ञपरायण उद्दालक ऋषिके यज्ञमें भी सरस्वतीका आवाहन किया गया। वे शीघ्रगामिनी सरस्वती हिमालयसे निकलकर उस यज्ञमें आयी थीं ॥ २२ ॥

समेते सर्वतः स्फीते मुनीनां मण्डले तदा ।
उत्तरे कोसलाभागे पुण्ये राजन् महात्मना ॥ २३ ॥
उद्दालकेन यजता पूर्वं ध्याता सरस्वती ।
आजगाम सरिच्छ्रेष्ठा तं देशं मुनिकारणात् ॥ २४ ॥

राजन् ! उन दिनों समृद्धिशाली एवं पुण्यमय उत्तर कोसल प्रान्तमें सब ओरसे मुनिमण्डली एकत्र हुई थी। उसमें यज्ञ करते हुए महात्मा उद्दालकने पूर्वकालमें सरस्वती देवीका ध्यान किया। तब मुनिका कार्य सिद्ध करनेके लिये सरिताओंमें श्रेष्ठ सरस्वती उस देशमें आयीं ॥ २३-२४ ॥

पूज्यमाना मुनिगणैर्वल्कलाजिनसंवृतैः ।
मनोरमेति विख्याता सा हि तैर्मनसा कृता ॥ २५ ॥

वहाँ वल्कल और मृगचर्मधारी मुनियोंसे पूजित होनेवाली सरस्वतीका नाम हुआ मनोरमा; क्योंकि उन्होंने मनके द्वारा उनका चिन्तन किया था ॥ २५ ॥

सुरेणुर्ऋषभे द्वीपे पुण्ये राजर्षिसेविते ।
कुरोश्च यजमानस्य कुरुक्षेत्रे महात्मनः ॥ २६ ॥
आजगाम महाभागा सरिच्छ्रेष्ठा सरस्वती ।

राजर्षियोंसे सेवित पुण्यमय ऋषभद्वीप तथा कुरुक्षेत्रमें जब महात्मा राजा कुरु यज्ञ कर रहे थे, उस समय सरिताओंमें श्रेष्ठ महाभागा सरस्वती वहाँ आयी थीं; उनका नाम हुआ सुरेणु ॥ २६½ ॥

ओघवत्यपि राजेन्द्र वसिष्ठेन महात्मना ॥ २७ ॥
समाहूता कुरुक्षेत्रे दिव्यतोया सरस्वती ।
दक्षेण यजता चापि गङ्गाद्वारे सरस्वती ॥ २८ ॥
सुरेणुरिति विख्याता प्रस्रुता शीघ्रगामिनी ।

गङ्गाद्वारमें यज्ञ करते समय दक्षप्रजापतिने जब सरस्वतीका स्मरण किया था, उस समय भी शीघ्रगामिनी सरस्वती वहाँ बहती हुई सुरेणु नामसे ही विख्यात हुई। राजेन्द्र ! इसी प्रकार महात्मा वसिष्ठने भी कुरुक्षेत्रमें दिव्यसलिला सरस्वतीका आवाहन किया था, जो ओघवतीके नामसे प्रसिद्ध हुई ॥ २७-२८½ ॥

विमलोदा भगवती ब्रह्मणा यजता पुनः ॥ २९ ॥
समाहूता ययौ तत्र पुण्ये हैमवते गिरौ ।

ब्रह्माजीने एक बार फिर पुण्यमय हिमालयपर्वतपर यज्ञ किया था। उस समय उनके आवाहन करनेपर भगवती सरस्वतीने विमलोदका नामसे प्रसिद्ध होकर वहाँ पदार्पण किया था ॥ २९½ ॥

एकीभूतास्ततस्तास्तु तस्मिंस्तीर्थे समागताः ॥ ३० ॥
सप्तसारस्वतं तीर्थं ततस्तु प्रथितं भुवि ।

फिर ये सातों सरस्वतियाँ एकत्र होकर उस तीर्थमें आयी थीं, इसीलिये इस भूतलपर 'सप्तसारस्वत तीर्थके नामसे उसकी प्रसिद्धि हुई ॥ ३०½ ॥

इति सप्तसरस्वत्यो नामतः परिकीर्तिताः ॥ ३१ ॥
सप्तसारस्वतं चैव तीर्थं पुण्यं तथा स्मृतम् ।

इस प्रकार सात सरस्वती नदियोंका नामोल्लेखपूर्वक वर्णन किया गया है। इन्हींसे सप्तसारस्वत नामक परम पुण्यमय तीर्थका प्रादुर्भाव बताया गया है ॥ ३१½ ॥

शृणु मङ्कणकस्यापि कौमारब्रह्मचारिणः ॥ ३२ ॥
आपगामवगाढस्य राजन् प्रक्रीडितं महत् ।

राजन् ! कुमारावस्थासे ही ब्रह्मचर्यव्रतका पालन तथा प्रतिदिन सरस्वती नदीमें स्नान करनेवाले मङ्कणक मुनिका महान् लीलामय चरित्र सुनो ॥ ३२½ ॥

दृष्ट्वा यदृच्छया तत्र स्त्रियमम्भसि भारत ॥ ३३ ॥
जायन्तीं रुचिरापाङ्गीं दिग्वाससमनिन्दिताम् ।

सरस्वत्यां महाराज चस्कन्दे वीर्यमम्भसि ॥ ३४ ॥

भरतनन्दन ! महाराज ! एक समयकी बात है, कोई सुन्दर नेत्रोंवाली अनिन्द्य सुन्दरी रमणी सरस्वतीके जलमें नंगी नहा रही थी । दैवयोगसे मङ्कणक मुनिकी दृष्टि उसपर पड़ गयी और उनका वीर्य स्खलित होकर जलमें गिर पड़ा ॥

तद् रेतः स तु जग्राह कलशे वै महातपाः ।
सप्तधा प्रविभागं तु कलशस्थं जगाम ह ॥ ३५ ॥

महातपस्वी मुनिने उस वीर्यको एक कलशमें ले लिया । कलशमें स्थित होनेपर वह वीर्य सात भागोंमें विभक्त हो गया ॥

तत्रर्षयः सप्त जाता जज्ञिरे मरुतां गणाः ।
वायुवेगो वायुबलो वायुहा वायुमण्डलः ॥ ३६ ॥
वायुज्वालो वायुरेता वायुचक्रश्च वीर्यवान् ।
एवमेते समुत्पन्ना मरुतां जनयिष्णवः ॥ ३७ ॥

उस कलशमें सात ऋषि उत्पन्न हुए, जो मूलभूत मरुद्गण थे । उनके नाम इस प्रकार हैं—वायुवेग, वायुबल, वायुहा, वायुमण्डल, वायुज्वाल, वायुरेता और शक्तिशाली वायुचक्र । ये उन्चास मरुद्गणोंके जन्मदाता 'मरुत्' उत्पन्न हुए थे* ॥

इदमत्यद्भुतं राजञ्शृण्वाश्चर्यतरं भुवि ।
महर्षेश्चरितं यादृक् त्रिषु लोकेषु विश्रुतम् ॥ ३८ ॥

राजन् ! महर्षि मङ्कणकका यह तीनों लोकोंमें विख्यात अद्भुत चरित्र जैसा सुना गया है, इसे तुम भी श्रवण करो । वह अत्यन्त आश्चर्यजनक है ॥ ३८ ॥

पुरा मङ्कणकः सिद्धः कुशाग्रेणेति नः श्रुतम् ।
क्षतः किल करे राजंस्तस्य शाकरसोऽस्रवत् ॥ ३९ ॥

नरेश्वर ! हमारे सुननेमें आया है कि पहले कभी सिद्ध मङ्कणक मुनिका हाथ किसी कुशके अग्रभागसे छिद गया था, उससे रक्तके स्थानपर शाकका रस चूने लगा था ॥ ३९ ॥

स वै शाकरसं दृष्ट्वा हर्षाविष्टः प्रनृत्तवान् ।
ततस्तस्मिन् प्रनृत्ते वै स्थावरं जङ्गमं च यत् ॥ ४० ॥
प्रनृत्तमुभयं वीर तेजसा तस्य मोहितम् ।

वह शाकका रस देखकर मुनि हर्षके आवेशसे मतवाले हो नृत्य करने लगे । वीर ! उनके नृत्यमें प्रवृत्त होते ही स्थावर और जङ्गम दोनों प्रकारके प्राणी उनके तेजसे मोहित होकर नाचने लगे ॥ ४०½ ॥

ब्रह्मादिभिः सुरैः राजन्नृषिभिश्च तपोधनैः ॥ ४१ ॥
विज्ञप्तो वै महादेव ऋषेरर्थे नराधिप ।
नायं नृत्येद् यथा देव तथा त्वं कर्तुमर्हसि ॥ ४२ ॥

राजन् ! नरेश्वर ! तब ब्रह्मा आदि देवताओं तथा तपोधन महर्षियोंने ऋषिके विषयमें महादेवजीसे निवेदन किया—'देव ! आप ऐसा कोई उपाय करें, जिससे ये मुनि नृत्य न करें' ॥ ४१-४२ ॥

ततो देवो मुनिं दृष्ट्वा हर्षाविष्टमतीव ह ।
सुराणां हितकामार्थं महादेवोऽभ्यभाषत ॥ ४३ ॥

मुनिको हर्षके आवेशसे अत्यन्त मतवाला हुआ देख महादेवजीने (ब्राह्मणका रूप धारण करके) देवताओंके हितके लिये उनसे इस प्रकार कहा— ॥ ४३ ॥

भो भो ब्राह्मण धर्मज्ञ किमर्थं नृत्यते भवान् ।
हर्षस्थानं किमर्थं च तवेदमधिकं मुने ॥ ४४ ॥
तपस्विनो धर्मपथे स्थितस्य द्विजसत्तम ।

'धर्मज्ञ ब्राह्मण ! आप किसलिये नृत्य कर रहे हैं ? मुने ! आपके लिये अधिक हर्षका कौन-सा कारण उपस्थित हो गया है ? द्विजश्रेष्ठ ! आप तो तपस्वी हैं, सदा धर्मके मार्गपर स्थित रहते हैं, फिर आप क्यों हर्षसे उन्मत्त हो रहे हैं?' ॥

ऋषिरुवाच

किं न पश्यसि मे ब्रह्मन् कराच्छाकरसं स्रुतम् ॥ ४५ ॥
यं दृष्ट्वा सम्प्रनृत्तो वै हर्षेण महता विभो ।

ऋषिने कहा—ब्रह्मन् ! क्या आप नहीं देखते कि मेरे हाथसे शाकका रस चू रहा है । प्रभो ! उसीको देखकर मैं महान् हर्षसे नाचने लगा हूँ ॥ ४५½ ॥

तं प्रहस्याब्रवीद् देवो मुनिं रागेण मोहितम् ॥ ४६ ॥
अहं न विस्मयं विप्र गच्छामीति प्रपश्य माम् ।

यह सुनकर महादेवजी ठठाकर हँस पड़े और उन आसक्तिसे मोहित हुए मुनिसे बोले—'विप्रवर ! मुझे तो यह देखकर विस्मय नहीं हो रहा है । मेरी ओर देखो' ॥ ४६½ ॥

एवमुक्त्वा मुनिश्रेष्ठं महादेवेन धीमता ॥ ४७ ॥
अङ्गुल्यग्रेण राजेन्द्र स्वङ्गुष्ठस्ताडितोऽभवत् ।
ततो भस्म क्षताद् राजन् निर्गतं हिमसंनिभम् ॥ ४८ ॥

राजेन्द्र ! मुनिश्रेष्ठ मङ्कणकसे ऐसा कहकर बुद्धिमान् महादेवजीने अपनी अङ्गुलिके अग्रभागसे अँगूठेमें घाव कर दिया । उस घावसे बर्फके समान सफेद भस्म झड़ने लगा ॥

तद् दृष्ट्वा व्रीडितो राजन् स मुनिः पादयोर्गतः ।
मेने देवं महादेवमिदं चोवाच विस्मितः ॥ ४९ ॥

राजन् ! यह देखकर मुनि लजा गये और महादेवजीके चरणोंमें गिर पड़े । उन्होंने महादेवजीको पहचान लिया और विस्मित होकर कहा— ॥ ४९ ॥

नान्यं देवादहं मन्ये रुद्रात् परतरं महत् ।
सुरासुरस्य जगतो गतिस्त्वमसि शूलधृत् ॥ ५० ॥

'भगवन् ! मैं रुद्रदेवके सिवा दूसरे किसी देवताको परम महान् नहीं मानता । आप ही देवताओं तथा असुरों-सहित सम्पूर्ण जगत्के आश्रयभूत त्रिशूलधारी महादेव हैं ॥

त्वया सृष्टमिदं विश्वं वदन्तीह मनीषिणः ।
त्वामेव सर्वं व्रजति पुनरेव युगक्षये ॥ ५१ ॥

'मनीषी पुरुष कहते हैं कि आपने ही इस सम्पूर्ण विश्वकी सृष्टि की है । प्रलयके समय यह सारा जगत् आपमें ही विलीन हो जाता है ॥ ५१ ॥

देवैरपि न शक्यस्त्वं परिज्ञातुं कुतो मया ।

---

* इन्हीं ऋषियोंकी तपस्यासे कल्पान्तरमें दितिके गर्भसे उन्चास मरुद्गणोंका आविर्भाव हुआ । ये ही दितिके उदरमें एक गर्भके रूपमें प्रकट हुए, फिर इन्द्रके वज्रसे कटकर उन्चास अमर शरीरोंके रूपमें उत्पन्न हुए—ऐसा समझना चाहिये ।

त्वयि सर्वेश दृश्यन्ते भावा ये जगति स्थिताः ॥ ५२ ॥

'सम्पूर्ण देवता भी आपको यथार्थरूपसे नहीं जान सकते, फिर मैं कैसे जान सकूँगा ? संसारमें जो-जो पदार्थ स्थित हैं, वे सब आपमें देखे जाते हैं ॥ ५२ ॥

त्वामुपासन्त वरदं देवा ब्रह्मादयोऽनघ ।
सर्वस्त्वमसि देवानां कर्ता कारयिता च ह ॥ ५३ ॥
त्वत्प्रसादात् सुराः सर्वे मोदन्तीहाकुतोभयाः ।

'अनघ ! ब्रह्मा आदि देवता आप वरदायक प्रभुकी ही उपासना करते हैं । आप सर्वस्वरूप हैं । देवताओंके कर्ता और कारयिता भी आप ही हैं । आपके प्रसादसे ही सम्पूर्ण देवता यहाँ निर्भय हो आनन्दका अनुभव करते हैं ॥ ५३½ ॥

(त्वं प्रभुः परमैश्वर्यादधिकं भासि शङ्कर ।
त्वयि ब्रह्मा च शक्रश्च लोकान् संधार्य तिष्ठतः॥

'शङ्कर ! आप सबके प्रभु हैं । अपने उत्कृष्ट ऐश्वर्यसे आपकी अधिक शोभा हो रही है । ब्रह्मा और इन्द्र सम्पूर्ण लोकोंको धारण करके आपमें ही स्थित हैं ॥

त्वन्मूलं च जगत् सर्वं त्वदन्तं हि महेश्वर ।
त्वया हि वितता लोकाः सप्तेमे सर्वसम्भव ॥

'महेश्वर ! सम्पूर्ण जगत्के मूलकारण आप ही हैं। इसका अन्त भी आपमें ही होता है । सबकी उत्पत्तिके हेतुभूत परमेश्वर ! ये सातों लोक आपसे ही उत्पन्न होकर ब्रह्माण्डमें फैले हुए हैं ॥

सर्वथा सर्वभूतेश त्वामेवार्चन्ति देवताः ।
त्वन्मयं हि जगत् सर्वं भूतं स्थावरजङ्गमम् ॥

'सर्वभूतेश्वर ! देवता सब प्रकारसे आपकी ही पूजा-अर्चा करते हैं । सम्पूर्ण विश्व तथा चराचर भूतोंके उपादान कारण भी आप ही हैं ॥

स्वर्गं च परमं स्थानं नृणामभ्युदयार्थिनाम् ।
ददासि कर्मिणां कर्म भावयन् ध्यानयोगतः ॥

'आप ही अभ्युदयकी इच्छा रखनेवाले सत्कर्मपरायण मनुष्योंको ध्यानयोगसे उनके कर्मोका विचार करके उत्तम पद—स्वर्गलोक प्रदान करते हैं ॥

न वृथास्ति महादेव प्रसादस्ते महेश्वर ।
यस्मात् त्वयोपकरणात् करोमि कमलेक्षण ॥
प्रपद्ये शरणं शम्भुं सर्वदा सर्वतः स्थितम् ।)

'महादेव ! महेश्वर ! कमलनयन ! आपका कृपाप्रसाद कभी व्यर्थ नहीं होता ! आपकी दी हुई सामग्रीसे ही मैं कार्य कर पाता हूँ, अतः सर्वदा सब ओर स्थित हुए सर्वव्यापी आप भगवान् शङ्करकी मैं शरणमें आता हूँ' ॥

एवं स्तुत्वा महादेवं स ऋषिः प्रणतोऽभवत् ॥ ५४ ॥
यदिदं चापलं देव कृतमेतत् स्मयादिकम् ।
ततः प्रसादयामि त्वां तपो मे न क्षरेदिति ॥ ५५ ॥

इस प्रकार महादेवजीकी स्तुति करके वे महर्षि नतमस्तक हो गये और इस प्रकार बोले—'देव ! मैंने जो यह अहंकार आदि प्रकट करनेकी चपलता की है, उसके लिये क्षमा माँगते हुए आपसे प्रसन्न होनेकी मैं प्रार्थना करता हूँ । मेरी तपस्या नष्ट न हो' ॥ ५४-५५ ॥

ततो देवः प्रीतमनास्तमृषिं पुनरब्रवीत् ।
तपस्ते वर्धतां विप्र मत्प्रसादात् सहस्रधा ॥ ५६ ॥
आश्रमे चेह वत्स्यामि त्वया सार्धमहं सदा ।
सप्तसारस्वते चास्मिन् यो मामर्चिष्यते नरः ॥ ५७ ॥
न तस्य दुर्लभं किञ्चिद् भवितेह परत्र वा ।
सारस्वतं च ते लोकं गमिष्यन्ति न संशयः ॥ ५८ ॥

यह सुनकर महादेवजीका मन प्रसन्न हो गया । वे उन महर्षिसे पुनः बोले—'विप्रवर ! मेरे प्रसादसे तुम्हारी तपस्या सहस्रगुनी बढ़ जाय । मैं इस आश्रममें सदा तुम्हारे साथ निवास करूँगा । जो इस सप्तसारस्वत तीर्थमें मेरी पूजा करेगा, उसके लिये इहलोक या परलोकमें कुछ भी दुर्लभ न होगा । वे सारस्वत लोकमें जायँगे—इसमें संशय नहीं है'॥

एतन्मङ्कणकस्यापि चरितं भूरितेजसः ।
स हि पुत्रः सुकन्यायामुत्पन्नो मातरिश्वना ॥ ५९ ॥

यह महातेजस्वी मङ्कणक मुनिका चरित्र बताया गया है । वे वायुके औरस पुत्र थे । वायुदेवताने सुकन्याके गर्भसे उन्हें उत्पन्न किया था ॥ ५९ ॥

इति श्रीमहाभारते शल्यपर्वणि गदापर्वणि बलदेवतीर्थयात्रायां सारस्वतोपाख्यानेऽष्टात्रिंशोऽध्यायः॥ ३८ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शल्यपर्वके अन्तर्गत गदापर्वमें बलदेवजीकी तीर्थयात्राके प्रसंगमें सारस्वतोपाख्यानविषयक अड़तीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ३८ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठके ५½ श्लोक मिलाकर कुल ६४½ श्लोक हैं)

एकोनचत्वारिंशोऽध्यायः

औशनस एवं कपालमोचन तीर्थकी माहात्म्यकथा तथा रुषङ्गुके आश्रम पृथूदक तीर्थकी महिमा

वैशम्पायन उवाच

उषित्वा तत्र रामस्तु सम्पूज्याश्रमवासिनः ।
तथा मङ्कणके प्रीतिं शुभां चक्रे हलायुधः ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन् ! उस सप्तसारस्वत तीर्थमें रहकर हलधर बलरामजीने आश्रमवासी ऋषियोंका पूजन किया और मङ्कणक मुनिपर अपनी उत्तम प्रीतिका परिचय दिया॥

दत्त्वा दानं द्विजातिभ्यो रजनीं तामुपोष्य च ।
पूजितो मुनिसङ्घैश्च प्रातरुत्थाय लाङ्गली ॥ २ ॥
अनुज्ञाप्य मुनीन् सर्वान् स्पृष्ट्वा तोयं च भारत ।
प्रययौ त्वरितो रामस्तीर्थहेतोर्महाबलः ॥ ३ ॥

भरतनन्दन ! वहाँ ब्राह्मणोंको दान दे उस रात्रिमें निवास करनेके पश्चात् प्रातःकाल उठकर मुनिमण्डलीसे सम्मानित हो महाबली लाङ्गलधारी बलरामने पुनः तीर्थके जलमें स्नान किया और सम्पूर्ण ऋषि-मुनियोंकी आज्ञा ले

अन्य तीर्थोंमें जानेके लिये वहाँसे शीघ्रतापूर्वक प्रस्थान कर दिया ॥ २-३ ॥

ततस्त्वौशनसं तीर्थमाजगाम हलायुधः ।
कपालमोचनं नाम यत्र मुक्तो महामुनिः ॥ ४ ॥
महता शिरसा राजन् ग्रस्तजङ्घो महोदरः ।
राक्षसस्य महाराज रामक्षिप्तस्य वै पुरा ॥ ५ ॥

तदनन्तर हलधारी बलराम औशनस तीर्थमें आये, जिसका दूसरा नाम कपालमोचन तीर्थ भी है । महाराज ! पूर्वकालमें भगवान् श्रीरामने एक राक्षसको मारकर उसे दूर फेंक दिया था । उसका विशाल सिर महामुनि महोदरकी जाँघमें चपक गया था । वे महामुनि इस तीर्थमें स्नान करनेपर उस कपाल-से मुक्त हुए थे ॥ ४-५ ॥

तत्र पूर्वं तपस्तप्तं काव्येन सुमहात्मना ।
यत्रास्य नीतिरखिला प्रादुर्भूता महात्मनः ॥ ६ ॥

महात्मा शुक्राचार्यने वहीं पहले तप किया था, जिससे उनके हृदयमें सम्पूर्ण नीति-विद्या स्फुरित हुई थी ॥ ६ ॥

यत्रस्थश्चिन्तयामास दैत्यदानवविग्रहम् ।
तत् प्राप्य च बलो राजंस्तीर्थप्रवरमुत्तमम् ॥ ७ ॥
विधिवद् वै ददौ वित्तं ब्राह्मणानां महात्मनाम् ।

वहीं रहकर उन्होंने दैत्यों अथवा दानवोंके युद्धके विषयमें विचार किया था । राजन् ! उस श्रेष्ठ तीर्थमें पहुँच-कर बलरामजीने महात्मा ब्राह्मणोंको विधिपूर्वक धनका दान दिया था ॥ ७½ ॥

जनमेजय उवाच

कपालमोचनं ब्रह्मन् कथं यत्र महामुनिः ॥ ८ ॥
मुक्तः कथं चास्य शिरो लग्नं केन च हेतुना ।

जनमेजयने पूछा—ब्रह्मन् ! उस तीर्थका नाम कपाल-मोचन कैसे हुआ, जहाँ महामुनि महोदरको छुटकारा मिला था ? उनकी जाँघमें वह सिर कैसे और किस कारणसे चिपक गया था ? ॥ ८½ ॥

वैशम्पायन उवाच

पुरा वै दण्डकारण्ये राघवेण महात्मना ॥ ९ ॥
वसता राजशार्दूल राक्षसान् शमयिष्यता ।
जनस्थाने शिरश्छिन्नं राक्षसस्य दुरात्मनः ॥ १० ॥
क्षुरेण शितधारेण उत्पपात महावने ।
महोदरस्य तल्लग्नं जंघायां वै यदृच्छया ॥ ११ ॥
वने विचरतो राजन्नस्थि भित्त्वास्फुरत् तदा ।

वैशम्पायनजीने कहा—नृपश्रेष्ठ ! पूर्वकालकी बात है, रघुकुलतिलक महात्मा श्रीरामचन्द्रजीने दण्डकारण्यमें रहते समय जब राक्षसोंके संहारका विचार किया, तब तीखी धारवाले क्षुरसे जनस्थानमें उस दुरात्मा राक्षसका मस्तक काट दिया । वह कटा हुआ मस्तक उस महान् वनमें ऊपरको उछला और दैवयोगसे वनमें विचरते हुए महोदर मुनिकी जाँघमें जा लगा । नरेश्वर ! उस समय उनकी हड्डी छेदकर वह भीतर तक घुस गया ॥ ९—११½ ॥

स तेन लग्नेन तदा द्विजातिर्न शशाक ह ॥ १२ ॥
अभिगन्तुं महाप्राज्ञस्तीर्थान्यायतनानि च ।

उस मस्तकके चिपक जानेसे वे महाबुद्धिमान् ब्राह्मण किसी तीर्थ या देवालयमें सुगमतापूर्वक आ-जा नहीं सकते थे॥

स पूतिना विस्रवता वेदनार्तो महामुनिः ॥ १३ ॥
जगाम सर्वतीर्थानि पृथिव्यां चेति नः श्रुतम् ।

उस मस्तकसे दुर्गन्धयुक्त पीब बहती रहती थी और महामुनि महोदर वेदनासे पीड़ित हो गये थे । हमने सुना है कि मुनिने किसी तरह भूमण्डलके सभी तीर्थोंकी यात्रा की ॥

स गत्वा सरितः सर्वाः समुद्रांश्च महातपाः ॥ १४ ॥
कथयामास तत् सर्वमृषीणां भावितात्मनाम् ।
आप्लुत्य सर्वतीर्थेषु न च मोक्षमवाप्तवान् ॥ १५ ॥

उन महातपस्वी महर्षिने सम्पूर्ण सरिताओं और समुद्रोंकी यात्रा करके वहाँ रहनेवाले पवित्रात्मा मुनियोंसे वह सब वृत्तान्त कह सुनाया । सम्पूर्ण तीर्थोंमें स्नान करके भी वे उस कपालसे छुटकारा न पा सके ॥ १४-१५ ॥

स तु शुश्राव विप्रेन्द्र मुनीनां वचनं महत् ।
सरस्वत्यास्तीर्थवरं ख्यातमौशनसं तदा ॥ १६ ॥
सर्वपापप्रशमनं सिद्धिक्षेत्रमनुत्तमम् ।

विप्रवर ! उन्होंने मुनियोंके मुखसे यह महत्त्वपूर्ण बात सुनी कि 'सरस्वतीका श्रेष्ठ तीर्थ जो औशनस नामसे विख्यात है, सम्पूर्ण पापोंको नष्ट करनेवाला तथा परम उत्तम सिद्धि-क्षेत्र है' ॥ १६½ ॥

स तु गत्वा ततस्तत्र तीर्थमौशनसं द्विजः ॥ १७ ॥
तत औशनसे तीर्थे तस्योपस्पृशतस्तदा ।
तच्छिरश्चरणं मुक्त्वा पपातान्तर्जले तदा ॥ १८ ॥

तदनन्तर वे ब्रह्मर्षि वहाँ औशनस तीर्थमें गये और उसके जलसे आचमन एवं स्नान किया । उसी समय वह कपाल उनके चरण (जाँघ) को छोड़कर पानीके भीतर गिर पड़ा॥

विमुक्तस्तेन शिरसा परं सुखमवाप ह ।
स चाप्यन्तर्जले मूर्धा जगामादर्शनं विभो ॥ १९ ॥

प्रभो ! उस मस्तक या कपालसे मुक्त होनेपर महोदर मुनिको बड़ा सुख मिला । साथ ही वह मस्तक भी (जो उनकी जाँघसे छूटकर गिरा था) पानीके भीतर अदृश्य हो गया॥

ततः स विशिरा राजन् पूतात्मा वीतकल्मषः ।
आजगामाश्रमं प्रीतः कृतकृत्यो महोदरः ॥ २० ॥

राजन् ! उस कपालसे मुक्त हो निष्पाप एवं पवित्र अन्तःकरणवाले महोदर मुनि कृतकृत्य हो प्रसन्नतापूर्वक अपने आश्रमपर लौट आये ॥ २० ॥

सोऽथ गत्वाऽऽश्रमं पुण्यं विप्रमुक्तो महातपाः ।
कथयामास तत् सर्वमृषीणां भावितात्मनाम् ॥ २१ ॥

संकटसे मुक्त हुए उन महातपस्वी मुनिने अपने पवित्र आश्रमपर जाकर वहाँ रहनेवाले पवित्रात्मा ऋषियोंसे अपना सारा वृत्तान्त कह सुनाया ॥ २१ ॥

ते श्रुत्वा वचनं तस्य ततस्तीर्थस्य मानद ।

कपालमोचनमिति नाम चक्रुः समागताः ॥ २२ ॥

मानद ! तदनन्तर वहाँ आये हुए महर्षियोंने महोदर मुनिकी बात सुनकर उस तीर्थका नाम कपालमोचन रख दिया ॥

स चापि तीर्थप्रवरं पुनर्गत्वा महानृषिः ।
पीत्वा पयः सुविपुलं सिद्धिमायात् तदा मुनिः ॥२३॥

इसके बाद महर्षि महोदर पुनः उस श्रेष्ठ तीर्थमें गये और वहाँका प्रचुर जल पीकर उत्तम सिद्धिको प्राप्त हुए ॥

तत्र दत्त्वा बहून् दायान् विप्रान् सम्पूज्य माधवः ।
जगाम वृष्णिप्रवरो रुषङ्गोराश्रमं तदा ॥ २४ ॥

वृष्णिवंशावतंस बलरामजीने वहाँ ब्राह्मणोंकी पूजा करके उन्हें बहुत धनका दान किया । इसके बाद वे रुषङ्गु मुनिके आश्रमपर गये ॥ २४ ॥

यत्र तप्तं तपो घोरमार्ष्टिषेणेन भारत ।
ब्राह्मण्यं लब्धवांस्तत्र विश्वामित्रो महामुनिः ॥ २५ ॥

भरतनन्दन ! वहीं आर्ष्टिषेण मुनिने घोर तपस्या की थी और वहीं महामुनि विश्वामित्रने ब्राह्मणत्व प्राप्त किया था ॥

सर्वकामसमृद्धं च तदाश्रमपदं महत् ।
मुनिभिर्ब्राह्मणैश्चैव सेवितं सर्वदा विभो ॥ २६ ॥

प्रभो ! वह महान् आश्रम सम्पूर्ण मनोवाञ्छित वस्तुओंसे सम्पन्न है । वहाँ बहुत-से मुनि और ब्राह्मण सदा निवास करते हैं ॥ २६ ॥

ततो हलधरः श्रीमान् ब्राह्मणैः परिवारितः ।
जगाम तत्र राजेन्द्र रुषङ्गुस्तनुमत्यजत् ॥ २७ ॥

राजेन्द्र ! तत्पश्चात् श्रीमान् हलधर ब्राह्मणोंसे घिरकर उस स्थानपर गये, जहाँ रुषङ्गुने अपना शरीर छोड़ा था ॥

रुषङ्गुर्ब्राह्मणो वृद्धस्तपोनित्यश्च भारत ।
देहन्यासे कृतमना विचिन्त्य बहुधा तदा ॥ २८ ॥
ततः सर्वानुपादाय तनयान् वै महातपाः ।
रुषङ्गुरब्रवीत् तत्र नयध्वं मां पृथूदकम् ॥ २९ ॥

भारत ! बूढ़े ब्राह्मण रुषङ्गु सदा तपस्यामें संलग्न रहते थे । एक समय उन महातपस्वी रुषङ्गु मुनिने शरीर त्याग देनेका विचार करके बहुत कुछ सोचकर अपने सभी पुत्रोंको बुलाया और उनसे कहा—'मुझे पृथूदक तीर्थमें ले चलो' ॥

विज्ञायातीतवयसं रुषङ्गुं ते तपोधनाः ।
तं च तीर्थमुपानिन्युः सरस्वत्यास्तपोधनम् ॥ ३० ॥

उन तपस्वी पुत्रोंने तपोधन रुषङ्गुको अत्यन्त वृद्ध जानकर उन्हें सरस्वतीके उस उत्तम तीर्थमें पहुँचा दिया।३०।

स तैः पुत्रैस्तदा धीमानानीतो वै सरस्वतीम् ।
पुण्यां तीर्थशतोपेतां विप्रसङ्घैर्निषेविताम् ॥ ३१ ॥
स तत्र विधिना राजन्नाप्लुत्य सुमहातपाः ।
ज्ञात्वा तीर्थगुणांश्चैव प्राहेदमृषिसत्तमः ॥ ३२ ॥
सुप्रीतः पुरुषव्याघ्र सर्वान् पुत्रानुपासतः ।

राजन् ! नरव्याघ्र ! वे पुत्र जब उन बुद्धिमान् मुनिको ब्राह्मणसमूहोंसे सेवित तथा सैकड़ों तीर्थोंसे सुशोभित पुण्य-सलिला सरस्वतीके तटपर ले आये, तब वे महातपस्वी महर्षि वहाँ विधिपूर्वक स्नान करके तीर्थके गुणोंको जानकर अपने पास बैठे हुए सभी पुत्रोंसे प्रसन्नतापूर्वक बोले—॥३१-३२½॥

सरस्वत्युत्तरे तीरे यस्त्यजेदात्मनस्तनुम् ॥ ३३ ॥
पृथूदके जप्यपरो नैनं श्वोमरणं तपेत् ।

'जो सरस्वतीके उत्तर तटपर पृथूदक तीर्थमें जप करते हुए अपने शरीरका परित्याग करता है, उसे भविष्यमें पुनः मृत्युका कष्ट नहीं भोगना पड़ता' ॥ ३३½ ॥

तत्राप्लुत्य स धर्मात्मा उपस्पृश्य हलायुधः ॥ ३४ ॥
दत्त्वा चैव बहून् दायान् विप्राणां विप्रवत्सलः ।

धर्मात्मा विप्रवत्सल हलधर बलरामजीने उस तीर्थमें स्नान करके ब्राह्मणोंको बहुत धनका दान किया ॥ ३४½ ॥

ससर्ज यत्र भगवाँल्लोकाँल्लोकपितामहः ॥ ३५ ॥
यत्रार्ष्टिषेणः कौरव्य ब्राह्मण्यं संशितव्रतः ।
तपसा महता राजन् प्राप्तवानृषिसत्तमः ॥ ३६ ॥
सिन्धुद्वीपश्च राजर्षिर्देवापिश्च महातपाः ।
ब्राह्मण्यं लब्धवान् यत्र विश्वामित्रस्तथा मुनिः ॥ ३७ ॥
महातपस्वी भगवानुग्रतेजा महायशाः ।
तत्राजगाम बलवान् बलभद्रः प्रतापवान् ॥ ३८ ॥

कुरुवंशी नरेश ! तत्पश्चात् बलवान् एवं प्रतापी बलभद्रजी उस तीर्थमें आ गये, जहाँ लोकपितामह भगवान् ब्रह्माने सृष्टि की थी, जहाँ कठोर व्रतका पालन करनेवाले मुनिश्रेष्ठ आर्ष्टिषेणने बड़ी भारी तपस्या करके ब्राह्मणत्व पाया था तथा जहाँ राजर्षि सिन्धुद्वीप, महान् तपस्वी देवापि और महायशस्वी, उग्रतेजस्वी एवं महातपस्वी भगवान् विश्वामित्र मुनिने भी ब्राह्मणत्व प्राप्त किया था ॥ ३५–३८ ॥

इति श्रीमहाभारते शल्यपर्वणि गदापर्वणि बलदेवतीर्थयात्रायां सारस्वतोपाख्याने एकोनचत्वारिंशोऽध्यायः ॥ ३९ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शल्यपर्वके अन्तर्गत गदापर्वमें बलदेवजीकी तीर्थयात्राके प्रसङ्गमें सारस्वतोपाख्यानविषयक उन्तालीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ३९ ॥

चत्वारिंशोऽध्यायः

आर्ष्टिषेण एवं विश्वामित्रकी तपस्या तथा वरप्राप्ति

जनमेजय उवाच

कथमार्ष्टिषेणो भगवान् विपुलं तप्तवांस्तपः ।
सिन्धुद्वीपः कथं चापि ब्राह्मण्यं लब्धवांस्तदा ॥ १ ॥
देवापिश्च कथं ब्रह्मन् विश्वामित्रश्च सत्तम ।
तन्ममाचक्ष्व भगवन् परं कौतूहलं हि मे ॥ २ ॥

जनमेजयने पूछा—ब्रह्मन् ! मुनिश्रेष्ठ ! पूज्य आर्ष्टिषेण-

ने वहाँ किस प्रकार बड़ी भारी तपस्या की थी तथा सिन्धुद्वीप, देवापि और विश्वामित्रजीने किस तरह ब्राह्मणत्व प्राप्त किया था ? भगवन् ! यह सब मुझे बताइये। इसे जाननेके लिये मेरे मनमें बड़ी भारी उत्सुकता है ॥ १-२ ॥

वैशम्पायन उवाच

पुरा कृतयुगे राजन्नार्ष्टिषेणो द्विजोत्तमः।
वसन् गुरुकुले नित्यं नित्यमध्ययने रतः॥ ३ ॥

वैशम्पायनजीने कहा—राजन् ! प्राचीन कालकी सत्ययुगकी बात है, द्विजश्रेष्ठ आर्ष्टिषेण सदा गुरुकुलमें निवास करते हुए निरन्तर वेद-शास्त्रोंके अध्ययनमें लगे रहते थे ॥३॥

तस्य राजन् गुरुकुले वसतो नित्यमेव च।
समाप्तिं नागमद् विद्या नापि वेदा विशाम्पते ॥ ४ ॥

प्रजानाथ ! नरेश्वर ! गुरुकुलमें सर्वदा रहते हुए भी न तो उनकी विद्या समाप्त हुई और न वे सम्पूर्ण वेद ही पढ़ सके॥

स निर्विण्णस्ततो राजंस्तपस्तेपे महातपाः।
ततो वै तपसा तेन प्राप्य वेदाननुत्तमान् ॥ ५ ॥
स विद्वान् वेदयुक्तश्च सिद्धश्चाप्यृषिसत्तमः।
तत्र तीर्थे वरान् प्रादात् त्रीनेव सुमहातपाः ॥ ६ ॥

नरेश्वर ! इससे महातपस्वी आर्ष्टिषेण खिन्न एवं विरक्त हो उठे, फिर उन्होंने सरस्वतीके उसी तीर्थमें जाकर बड़ी भारी तपस्या की। उस तपके प्रभावसे उत्तम वेदोंका ज्ञान प्राप्त करके वे ऋषिश्रेष्ठ विद्वान् वेदज्ञ और सिद्ध हो गये। तदनन्तर उन महातपस्वीने उस तीर्थको तीन वर प्रदान किये—॥

अस्मिंस्तीर्थे महानद्या अद्यप्रभृति मानवः।
आप्लुतो वाजिमेधस्य फलं प्राप्स्यति पुष्कलम् ॥ ७ ॥
अद्यप्रभृति नैवात्र भयं व्यालाद् भविष्यति।
अपि चाल्पेन कालेन फलं प्राप्स्यति पुष्कलम् ॥ ८ ॥

'आजसे जो मनुष्य महानदी सरस्वतीके इस तीर्थमें स्नान करेगा, उसे अश्वमेध यज्ञका सम्पूर्ण फल प्राप्त होगा। आजसे इस तीर्थमें किसीको सर्पसे भय नहीं होगा। थोड़े समय तक ही इस तीर्थके सेवनसे मनुष्यको बहुत अधिक फल प्राप्त होगा' ॥ ७-८ ॥

एवमुक्त्वा महातेजा जगाम त्रिदिवं मुनिः।
एवं सिद्धः स भगवानार्ष्टिषेणः प्रतापवान् ॥ ९ ॥

ऐसा कहकर वे महातेजस्वी मुनि स्वर्गलोकको चले गये। इस प्रकार पूजनीय एवं प्रतापी आर्ष्टिषेण ऋषि उस तीर्थमें सिद्धि प्राप्त कर चुके हैं ॥ ९ ॥

तस्मिन्नेव तदा तीर्थे सिन्धुद्वीपः प्रतापवान्।
देवापिश्च महाराज ब्राह्मण्यं प्रापतुर्महत् ॥ १० ॥

महाराज ! उन्हीं दिनों उसी तीर्थमें प्रतापी सिन्धुद्वीप तथा देवापिने वहाँ तप करके महान् ब्राह्मणत्व प्राप्त किया था॥

तथा च कौशिकस्तात तपोनित्यो जितेन्द्रियः।
तपसा वै सुतप्तेन ब्राह्मणत्वमवाप्तवान् ॥ ११ ॥

तात ! कुशिकवंशी विश्वामित्र भी वहीं निरन्तर इन्द्रिय-संयमपूर्वक तपस्या करते थे। उस भारी तपस्याके प्रभावसे उन्हें ब्राह्मणत्वकी प्राप्ति हुई ॥ ११ ॥

गाधिर्नाम महानासीत् क्षत्रियः प्रथितो भुवि।
तस्य पुत्रोऽभवद् राजन् विश्वामित्रः प्रतापवान् ॥ १२॥

राजन् ! पहले इस भूतलपर गाधिनामसे विख्यात महान् क्षत्रिय राजा राज्य करते थे। प्रतापी विश्वामित्र उन्हींके पुत्र थे ॥ १२ ॥

स राजा कौशिकस्तात महायोग्यभवत् किल।
स पुत्रमभिषिच्याथ विश्वामित्रं महातपाः ॥ १३ ॥
देहन्यासे मनश्चक्रे तमूचुः प्रणताः प्रजाः।
न गन्तव्यं महाप्राज्ञ त्राहि चास्मान् महाभयात्॥ १४ ॥

तात ! लोग कहते हैं कि कुशिकवंशी राजा गाधि महान् योगी और बड़े भारी तपस्वी थे। उन्होंने अपने पुत्र विश्वामित्रको राज्यपर अभिषिक्त करके शरीरको त्याग देनेका विचार किया। तब सारी प्रजा उनसे नतमस्तक होकर बोली—'महाबुद्धिमान् नरेश ! आप कहीं न जायँ, यहीं रहकर हमारी इस जगत्के महान् भयसे रक्षा करते रहें' ॥१३-१४॥

एवमुक्तः प्रत्युवाच ततो गाधिः प्रजास्ततः।
विश्वस्य जगतो गोप्ता भविष्यति सुतो मम ॥ १५ ॥

उनके ऐसा कहनेपर गाधिने सम्पूर्ण प्रजाओंसे कहा—'मेरा पुत्र सम्पूर्ण जगत्की रक्षा करनेवाला होगा (अतः तुम्हें भयभीत नहीं होना चाहिये)' ॥ १५ ॥

इत्युक्त्वा तु ततो गाधिर्विश्वामित्रं निवेश्य च।
जगाम त्रिदिवं राजन् विश्वामित्रोऽभवन्नृपः ॥ १६ ॥

राजन् ! यों कहकर राजा गाधि विश्वामित्रको राजसिंहासनपर बिठाकर स्वर्गलोकको चले गये। तत्पश्चात् विश्वामित्र राजा हुए ॥ १६ ॥

न स शक्नोति पृथिवीं यत्नवानपि रक्षितुम्।
ततः शुश्राव राजा स राक्षसेभ्यो महाभयम् ॥ १७ ॥

वे प्रयत्नशील होनेपर भी सम्पूर्ण भूमण्डलकी रक्षा नहीं कर पाते थे। एक दिन राजा विश्वामित्रने सुना कि 'प्रजाको राक्षसोंसे महान् भय प्राप्त हुआ है' ॥ १७ ॥

निर्ययौ नगराच्चापि चतुरङ्गबलान्वितः।
स गत्वा दूरमध्वानं वसिष्ठाश्रममभ्ययात् ॥ १८ ॥

तब वे चतुरंगिणी सेना लेकर नगरसे निकल पड़े और दूर तकका रास्ता तय करके वसिष्ठके आश्रमके पास जा पहुँचे॥

तस्य ते सैनिका राजंश्चक्रुस्तत्रानयान् बहून्।
ततस्तु भगवान् विप्रो वसिष्ठोऽऽश्रममभ्ययात् ॥ १९॥

राजन् ! उनके उन सैनिकोंने वहाँ बहुत-से अन्याय एवं अत्याचार किये। तदनन्तर पूज्य ब्रह्मर्षि वसिष्ठ कहींसे अपने आश्रमपर आये ॥ १९ ॥

ददृशेऽथ ततः सर्वं भज्यमानं महावनम्।
तस्य क्रुद्धो महाराज वसिष्ठो मुनिसत्तमः ॥ २० ॥

आकर उन्होंने देखा कि वह सारा विशाल वन उजाड़ होता जा रहा है। महाराज ! यह देखकर मुनिवर वसिष्ठ राजा विश्वामित्रपर कुपित हो उठे ॥ २० ॥

सृजस्व शबरान् घोरानिति स्वां गामुवाच ह ।
तथोक्ता सासृजद् धेनुः पुरुषान् घोरदर्शनान् ॥ २१ ॥

फिर उन्होंने अपनी गौ नन्दिनीसे कहा—'तुम भयंकर भील जातिके सैनिकोंकी सृष्टि करो'। उनके इस प्रकार आज्ञा देनेपर उनकी होमधेनुने ऐसे पुरुषोंको उत्पन्न किया, जो देखनेमें बड़े भयानक थे ॥ २१ ॥

ते तु तद्बलमासाद्य बभञ्जुः सर्वतोदिशम् ।
तच्छ्रुत्वा विद्रुतं सैन्यं विश्वामित्रस्तु गाधिजः ॥ २२ ॥
तपः परं मन्यमानस्तपस्येव मनो दधे ।

उन्होंने विश्वामित्रकी सेनापर आक्रमण करके उनके सैनिकोंको सम्पूर्ण दिशाओंमें मार भगाया । गाधिनन्दन विश्वामित्रने जब यह सुना कि मेरी सेना भाग गयी तो तपको ही अधिक प्रबल मानकर तपस्यामें ही मन लगाया ॥२२½॥

सोऽस्मिंस्तीर्थवरे राजन् सरस्वत्याः समाहितः ॥ २३ ॥
नियमैश्चोपवासैश्च कर्षयन् देहमात्मनः ।

राजन् ! उन्होंने सरस्वतीके उस श्रेष्ठ तीर्थमें चित्तको एकाग्र करके नियमों और उपवासोंके द्वारा अपने शरीरको सुखाना आरम्भ किया ॥ २३½ ॥

जलाहारो वायुभक्षः पर्णाहारश्च सोऽभवत् ॥ २४ ॥
तथा स्थण्डिलशायी च ये चान्ये नियमाः पृथक् ।

वे कभी जल पीकर रहते, कभी वायुको ही आहार बनाते और कभी पत्ते चबाकर रहते थे । सदा भूमिकी वेदी बनाकर उसपर सोते और तपस्यासम्बन्धी जो अन्य सारे नियम हैं, उनका भी पृथक्-पृथक् पालन करते थे ॥ २४½ ॥

असकृत्तस्य देवास्तु व्रतविघ्नं प्रचक्रिरे ॥ २५ ॥
न चास्य नियमाद् बुद्धिरपयाति महात्मनः ।

देवताओंने उनके व्रतमें बारंबार विघ्न डाला; परंतु उन महात्माकी बुद्धि कभी नियमसे विचलित नहीं होती थी॥२५½॥

ततः परेण यत्नेन तप्त्वा बहुविधं तपः ॥ २६ ॥
तेजसा भास्कराकारो गाधिजः समपद्यत ।

तदनन्तर महान् प्रयत्नके द्वारा नाना प्रकारकी तपस्या करके गाधिनन्दन विश्वामित्र अपने तेजसे सूर्यके समान प्रकाशित होने लगे ॥ २६½ ॥

तपसा तु तथा युक्तं विश्वामित्रं पितामहः ॥ २७ ॥
अमन्यत महातेजा वरदो वरमस्य तत् ।

विश्वामित्रको ऐसी तपस्यासे युक्त देख महातेजस्वी एवं वरदायक ब्रह्माजीने उन्हें वर देनेका विचार किया ॥२७½॥

स तु वव्रे वरं राजन् स्यामहं ब्राह्मणस्त्विति ॥ २८ ॥
तथेति चाब्रवीद् ब्रह्मा सर्वलोकपितामहः ।

राजन् ! तब उन्होंने यह वर माँगा कि 'मैं ब्राह्मण हो जाऊँ।' सम्पूर्ण लोकोंके पितामह ब्रह्माजीने उन्हें 'तथास्तु' कहकर वह वर दे दिया ॥ २८½ ॥

स लब्ध्वा तपसोग्रेण ब्राह्मणत्वं महायशाः ॥ २९ ॥
विचचार महीं कृत्स्नां कृतकामः सुरोपमः ।

उस उग्र तपस्याके द्वारा ब्राह्मणत्व पाकर सफलमनोरथ हुए महायशस्वी विश्वामित्र देवताके समान समस्त भूमण्डलमें विचरने लगे ॥ २९½ ॥

तस्मिंस्तीर्थवरे रामः प्रदाय विविधं वसु ॥ ३० ॥
पयस्विनीस्तथा धेनूर्यानानि शयनानि च ।
अथ वस्त्राण्यलङ्कारं भक्ष्यं पेयं च शोभनम् ॥ ३१ ॥
अददान्मुदितो राजन् पूजयित्वा द्विजोत्तमान् ।
ययौ राजंस्ततो रामो बकस्याश्रममन्तिकात् ।
यत्र तेपे तपस्तीव्रं दाल्भ्यो बक इति श्रुतिः ॥ ३२ ॥

राजन् ! बलरामजीने उस श्रेष्ठ तीर्थमें उत्तम ब्राह्मणोंकी पूजा करके उन्हें दूध देनेवाली गौएँ, वाहन, शय्या, वस्त्र, अलङ्कार तथा खाने-पीनेके सुन्दर पदार्थ प्रसन्नतापूर्वक दिये । फिर वहाँसे वे बकके आश्रमके निकट गये, जहाँ दल्भपुत्र बकने तीव्र तपस्या की थी ॥ ३०–३२ ॥

इति श्रीमहाभारते शल्यपर्वणि गदापर्वणि बलदेवतीर्थयात्रायां सारस्वतोपाख्याने चत्वारिंशोऽध्यायः ॥ ४० ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शल्यपर्वके अन्तर्गत गदापर्वमें बलदेवजीकी तीर्थयात्राके प्रसङ्गमें सारस्वतोपाख्यानविषयक चालीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ४० ॥

एकचत्वारिंशोऽध्यायः

अवाकीर्ण और यायात तीर्थकी महिमाके प्रसङ्गमें दाल्भ्यकी कथा और ययातिके यज्ञका वर्णन

वैशम्पायन उवाच

ब्रह्मयोनेरवाकीर्णं जगाम यदुनन्दनः ।
यत्र दाल्भ्यो बको राजन्नाश्रमस्थो महातपाः ॥ १ ॥
जुहाव धृतराष्ट्रस्य राष्ट्रं वैचित्रवीर्यिणः ।
तपसा घोररूपेण कर्षयन् देहमात्मनः ॥ २ ॥
क्रोधेन महताऽऽविष्टो धर्मात्मा वै प्रतापवान् ।

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन् ! ब्राह्मणत्वकी प्राप्ति करानेवाले उस तीर्थसे प्रस्थित होकर यदुनन्दन बलरामजी 'अवाकीर्ण' तीर्थमें गये, जहाँ आश्रममें रहते हुए महातपस्वी धर्मात्मा एवं प्रतापी दल्भपुत्र बकने महान् क्रोधमें भरकर घोर तपस्याद्वारा अपने शरीरको सुखाते हुए विचित्रवीर्यकुमार राजा धृतराष्ट्रके राष्ट्रका होम कर दिया था ॥ १-२½ ॥

पुरा हि नैमिषीयाणां सत्रे द्वादशवार्षिके ॥ ३ ॥
वृत्ते विश्वजितोऽन्ते वै पञ्चालानृषयोऽगमन् ।
तत्रेश्वरमयाचन्त दक्षिणार्थं मनस्विनः ॥ ४ ॥

पूर्वकालमें नैमिषारण्यनिवासी ऋषियोंने बारह वर्षोंतक चालू रहनेवाले एक सत्रका आरम्भ किया था । जब वह पूरा हो गया, तब वे सब ऋषि विश्वजित् नामक यज्ञके अन्तमें पाञ्चाल देशमें गये । वहाँ जाकर उन मनस्वी मुनियोंने उस देशके राजासे दक्षिणाके लिये धनकी याचना की ॥ ३-४ ॥

(तत्र ते लेभिरे राजन् पञ्चालेभ्यो महर्षयः)
बलान्वितान् वत्सतरान् निर्व्याधीनेकविंशतिम् ।
तानब्रवीद् बको दाल्भ्यो विभजध्वं पशूनिति ॥ ५ ॥
पशूनेतानहं त्यक्त्वा भिक्षिष्ये राजसत्तमम् ।

राजन् ! वहाँ महर्षियोंने पाञ्चालोंसे इक्कीस बलवान् और नीरोग बछड़े प्राप्त किये । तब उनमेंसे दल्भपुत्र बकने अन्य सब ऋषियोंसे कहा—'आपलोग इन पशुओंको बाँट लें । मैं इन्हें छोड़कर किसी श्रेष्ठ राजासे दूसरे पशु माँग लूँगा'॥

एवमुक्त्वा ततो राजन्नृषीन् सर्वान् प्रतापवान्॥
जगाम धृतराष्ट्रस्य भवनं ब्राह्मणोत्तमः ।

नरेश्वर ! उन सब ऋषियोंसे ऐसा कहकर वे प्रतापी उत्तम ब्राह्मण राजा धृतराष्ट्रके घरपर गये ॥ ६½ ॥

स समीपगतो भूत्वा धृतराष्ट्रं जनेश्वरम् ॥ ७ ॥
अयाचत पशून् दाल्भ्यः स चैनं रुषितोऽब्रवीत् ।
यदृच्छया मृता दृष्ट्वा गास्तदा नृपसत्तमः ॥ ८ ॥
एतान् पशून् नय क्षिप्रं ब्रह्मबन्धो यदीच्छसि ।

निकट जाकर दाल्भ्यने कौरवनरेश धृतराष्ट्रसे पशुओंकी याचना की । यह सुनकर नृपश्रेष्ठ धृतराष्ट्र कुपित हो उठे । उनके यहाँ कुछ गौएँ दैवेच्छासे मर गयी थीं । उन्हींको लक्ष्य करके राजाने क्रोधपूर्वक कहा—'ब्रह्मबन्धो ! यदि पशु चाहते हो तो इन मरे हुए पशुओंको ही शीघ्र ले जाओ' ॥

ऋषिस्तथा वचः श्रुत्वा चिन्तयामास धर्मवित्॥ ९ ॥
अहो बत नृशंसं वै वाक्यमुक्तोऽस्मि संसदि ।

उनकी वैसी बात सुनकर धर्मज्ञ ऋषिने चिन्तामग्न होकर सोचा—'अहो ! बड़े खेदकी बात है कि इस राजाने भरी सभामें मुझसे ऐसा कठोर वचन कहा है' ॥ ९½ ॥

चिन्तयित्वा मुहूर्तेन रोषाविष्टो द्विजोत्तमः ॥ १० ॥
मतिं चक्रे विनाशाय धृतराष्ट्रस्य भूपतेः ।

दो घड़ीतक इस प्रकार चिन्ता करके रोषमें भरे हुए द्विजश्रेष्ठ दाल्भ्यने राजा धृतराष्ट्रके विनाशका विचार किया ॥

स तूत्कृत्य मृतानां वै मांसानि मुनिसत्तमः ॥ ११ ॥
जुहाव धृतराष्ट्रस्य राष्ट्रं नरपतेः पुरा ।

वे मुनिश्रेष्ठ उन मृत पशुओंके ही मांस काट-काटकर उनके द्वारा राजा धृतराष्ट्रके राष्ट्रकी ही आहुति देने लगे ॥

अवाकीर्णे सरस्वत्यास्तीर्थे प्रज्वाल्य पावकम् ॥ १२ ॥
बको दाल्भ्यो महाराज नियमं परमं स्थितः ।
स तैरेव जुहावास्य राष्ट्रं मांसैर्महातपाः ॥ १३ ॥

महाराज ! सरस्वतीके अवाकीर्ण तीर्थमें अग्नि प्रज्वलित करके महातपस्वी दल्भपुत्र बक उत्तम नियमका आश्रय ले उन मृत पशुओंके मांसोंद्वारा ही उनके राष्ट्रका हवन करने लगे॥

तस्मिंस्तु विधिवत् सत्रे सम्प्रवृत्ते सुदारुणे ।
अक्षीयत ततो राष्ट्रं धृतराष्ट्रस्य पार्थिव ॥ १४ ॥

राजन् ! वह भयंकर यज्ञ जब विधिपूर्वक आरम्भ हुआ, तबसे धृतराष्ट्रका राष्ट्र क्षीण होने लगा ॥ १४ ॥

ततः प्रक्षीयमाणं तद् राज्यं तस्य महीपतेः ।
छिद्यमानं यथानन्तं वनं परशुना विभो ॥ १५ ॥
बभूवापद्गतं तच्च व्यवकीर्णमचेतनम् ।

प्रभो ! जैसे बड़ा भारी वन कुल्हाड़ीसे काटा जा रहा हो, उसी प्रकार उस राजाका राज्य क्षीण होता हुआ भारी आफतमें फँस गया; वह संकटग्रस्त होकर अचेत हो गया ॥

दृष्ट्वा तथावकीर्णं तु राष्ट्रं स मनुजाधिपः ॥ १६ ॥
बभूव दुर्मना राजंश्चिन्तयामास च प्रभुः ।
मोक्षार्थमकरोद् यत्नं ब्राह्मणैः सहितः पुरा ॥ १७ ॥

राजन् ! अपने राष्ट्रको इस प्रकार सङ्कटमग्न हुआ देख वे नरेश मन-ही-मन बहुत दुखी हुए और गहरी चिन्तामें डूब गये । फिर ब्राह्मणोंके साथ अपने देशको सङ्कटसे बचानेका प्रयत्न करने लगे ॥ १६-१७ ॥

न च श्रेयोऽध्यगच्छत्तु क्षीयते राष्ट्रमेव च ।
यदा स पार्थिवः खिन्नस्ते च विप्रास्तदानघ ॥ १८ ॥

अनघ ! जब किसी प्रकार भी वे भूपाल अपने राष्ट्रका कल्याण साधन न कर सके और वह दिन-प्रतिदिन क्षीण होता ही चला गया, तब राजा और उन ब्राह्मणोंको बड़ा खेद हुआ ॥ १८ ॥

यदा चापि न शक्नोति राष्ट्रं मोक्षयितुं नृप ।
अथ वै प्राश्निकांस्तत्र पप्रच्छ जनमेजय ॥ १९ ॥

नरेश्वर जनमेजय ! जब धृतराष्ट्र अपने राष्ट्रको उस विपत्तिसे छुटकारा दिलानेमें समर्थ न हो सके, तब उन्होंने प्राश्निकों (प्रश्न पूछनेपर भूत, वर्तमान और भविष्यकी बातें बतानेवालों) को बुलाकर उनसे इसका कारण पूछा ॥

ततो वै प्राश्निकाः प्राहुः पशोर्विप्रकृतस्त्वया ।
मांसैरभिजुहोतीदं तव राष्ट्रं मुनिर्बकः ॥ २० ॥

तब उन प्राश्निकोंने कहा—'आपने पशुके लिये याचना करनेवाले बक मुनिका तिरस्कार किया है; इसलिये वे मृत पशुओंके मांसोंद्वारा आपके इस राष्ट्रका विनाश करनेकी इच्छासे होम कर रहे हैं ॥ २० ॥

तेन ते हूयमानस्य राष्ट्रस्यास्य क्षयो महान् ।
तस्यैतत् तपसः कर्म येन तेऽद्य लयो महान् ॥ २१ ॥

'उनके द्वारा आपके राष्ट्रकी आहुति दी जा रही है; इसलिये इसका महान् विनाश हो रहा है । यह सब उनकी तपस्याका प्रभाव है, जिससे आपके इस देशका इस समय महान् विलय होने लगा है ॥ २१ ॥

अपां कुञ्जे सरस्वत्यास्तं प्रसादय पार्थिव ।
सरस्वतीं ततो गत्वा स राजा बकमब्रवीत् ॥ २२ ॥

'भूपाल ! सरस्वतीके कुञ्जमें जलके समीप वे मुनि विराजमान हैं, आप उन्हें प्रसन्न कीजिये ।' तब राजाने सरस्वतीके तटपर जाकर बक मुनिसे इस प्रकार कहा ॥ २२ ॥

निपत्य शिरसा भूमौ प्राञ्जलिर्भरतर्षभ ।
प्रसादये त्वां भगवन्नपराधं क्षमस्व मे ॥ २३ ॥
मम दीनस्य लुब्धस्य मौर्ख्येण हतचेतसः ।
त्वं गतिस्त्वं च मे नाथः प्रसादं कर्तुमर्हसि ॥ २४ ॥

जनमेजय ! वे पृथ्वीपर माथा टेक हाथ जोड़कर बोले— 'भगवन् ! मैं आपको प्रसन्न करना चाहता हूँ। आप मुझ दीन, लोभी और मूर्खतासे हतबुद्धि हुए अपराधीके अपराधको क्षमा कर दें। आप ही मेरी गति हैं। आप ही मेरे रक्षक हैं। आप मुझपर अवश्य कृपा करें' ॥ २३-२४ ॥

तं तथा विलपन्तं तु शोकोपहतचेतसम्।
दृष्ट्वा तस्य कृपा जज्ञे राष्ट्रं तस्य व्यमोचयत् ॥ २५ ॥

राजा धृतराष्ट्रको इस प्रकार शोकसे अचेत होकर विलाप करते देख उनके मनमें दया आ गयी और उन्होंने राजाके राज्यको सङ्कटसे मुक्त कर दिया ॥ २५ ॥

ऋषिः प्रसन्नस्तस्याभूत् संरम्भं च विहाय सः।
मोक्षार्थं तस्य राज्यस्य जुहाव पुनराहुतिम् ॥ २६ ॥

ऋषि क्रोध छोड़कर राजापर प्रसन्न हुए और पुनः उनके राज्यको सङ्कटसे बचानेके लिये आहुति देने लगे ॥२६॥

मोक्षयित्वा ततो राष्ट्रं प्रतिगृह्य पशून् बहून्।
हृष्टात्मा नैमिषारण्यं जगाम पुनरेव सः ॥ २७ ॥

इस प्रकार राज्यको विपत्तिसे छुड़ाकर राजासे बहुत-से पशु ले प्रसन्नचित्त हुए महर्षि दाल्भ्य पुनः नैमिषारण्यको ही चले गये ॥ २७ ॥

धृतराष्ट्रोऽपि धर्मात्मा स्वस्थचेता महामनाः।
स्वमेव नगरं राजन् प्रतिपेदे महर्द्धिमत् ॥ २८ ॥

राजन् ! फिर महामनस्वी धर्मात्मा धृतराष्ट्र भी स्वस्थचित्त हो अपने समृद्धिशाली नगरको ही लौट आये ॥२८॥

तत्र तीर्थे महाराज बृहस्पतिरुदारधीः।
असुराणामभावाय भवाय च दिवौकसाम् ॥ २९ ॥
मांसैरभिजुहावेष्टिमक्षीयन्त ततोऽसुराः।
दैवतैरपि सम्भग्ना जितकाशिभिराहवे ॥ ३० ॥

महाराज ! उसी तीर्थमें उदारबुद्धि बृहस्पतिजीने असुरोंके विनाश और देवताओंकी उन्नतिके लिये मांसोंद्वारा आभिचारिक यज्ञका अनुष्ठान किया था। इससे वे असुर क्षीण हो गये और युद्धमें विजयसे सुशोभित होनेवाले देवताओंने उन्हें मार भगाया ॥ २९-३० ॥

तत्रापि विधिवद् दत्त्वा ब्राह्मणेभ्यो महायशाः।
वाजिनः कुञ्जरांश्चैव रथांश्चाश्वतरीयुतान् ॥ ३१ ॥
रत्नानि च महार्हाणि धनं धान्यं च पुष्कलम्।
ययौ तीर्थं महाबाहुर्यायातं पृथिवीपते ॥ ३२ ॥

पृथ्वीनाथ ! महायशस्वी महाबाहु बलरामजी उस तीर्थमें भी ब्राह्मणोंको विधिपूर्वक हाथी, घोड़े, खच्चरियोंसे जुते हुए रथ, बहुमूल्य रत्न तथा प्रचुर धन-धान्यका दान करके वहाँसे यायात तीर्थमें गये ॥ ३१-३२ ॥

तत्र यज्ञे ययातेश्च महाराज सरस्वती।
सर्पिः पयश्च सुस्राव नाहुषस्य महात्मनः ॥ ३३ ॥

महाराज ! वहाँ पूर्वकालमें नहुषनन्दन महात्मा ययातिने यज्ञ किया था, जिसमें सरस्वतीने उनके लिये दूध और घीका स्रोत बहाया था ॥ ३३ ॥

तत्रेष्ट्वा पुरुषव्याघ्रो ययातिः पृथिवीपतिः।
अक्रामदूर्ध्वं मुदितो लेभे लोकांश्च पुष्कलान् ॥ ३४ ॥

पुरुषसिंह भूपाल ययाति वहाँ यज्ञ करके प्रसन्नतापूर्वक ऊर्ध्वलोकमें चले गये और वहाँ उन्हें बहुत-से पुण्यलोक प्राप्त हुए॥

पुनस्तत्र च राज्ञस्तु ययातेर्यजतः प्रभोः।
औदार्यं परमं कृत्वा भक्तिं चात्मनि शाश्वतीम् ॥३५॥
ददौ कामान् ब्राह्मणेभ्यो यान् यान् यो मनसेच्छति।

शक्तिशाली राजा ययाति जब वहाँ यज्ञ कर रहे थे, उस समय उनकी उत्कृष्ट उदारताको दृष्टिमें रखकर और अपने प्रति उनकी सनातन भक्ति देख सरस्वतीने उस यज्ञमें आये हुए ब्राह्मणोंको, जिसने अपने मनसे जिन-जिन भोगोंको चाहा, वे सभी मनोवाञ्छित भोग प्रदान किये ॥ ३५½ ॥

यो यत्र स्थित एवेह आहूतो यज्ञसंस्तरे ॥ ३६ ॥
तस्य तस्य सरिच्छ्रेष्ठा गृहादिशयनादिकम्।
षड्रसं भोजनं चैव दानं नानाविधं तथा ॥ ३७ ॥

राजाके यज्ञमण्डपमें बुलाकर आया हुआ जो ब्राह्मण जहाँ कहीं ठहर गया, वहीं उसके लिये सरिताओंमें श्रेष्ठ सरस्वतीने पृथक्-पृथक् गृह, शय्या, आसन, षड्रस भोजन तथा नाना प्रकारके दानकी व्यवस्था की ॥ ३६-३७ ॥

ते मन्यमाना राज्ञस्तु सम्प्रदानमनुत्तमम्।
राजानं तुष्टुवुः प्रीता दत्त्वा चैवाशिषः शुभाः ॥ ३८ ॥

उन ब्राह्मणोंने यह समझकर कि राजाने ही वह उत्तम दान दिया है, अत्यन्त प्रसन्न होकर राजा ययातिको शुभाशीर्वाद दे उनकी भूरि-भूरि प्रशंसा की ॥ ३८ ॥

तत्र देवाः सगन्धर्वाः प्रीता यज्ञस्य सम्पदा।
विस्मिता मानुषाश्चासन् दृष्ट्वा तां यज्ञसम्पदम् ॥ ३९ ॥

उस यज्ञकी सम्पत्तिसे देवता और गन्धर्व भी बड़े प्रसन्न हुए थे। मनुष्योंको तो वह यज्ञ-वैभव देखकर महान् आश्चर्य हुआ था ॥ ३९ ॥

ततस्तालकेतुर्महाधर्मकेतु-
र्महात्मा कृतात्मा महादाननित्यः।
वसिष्ठापवाहं महाभीमवेगं
धृतात्मा जितात्मा समभ्याजगाम ॥ ४० ॥

तदनन्तर महान् धर्म ही जिनकी ध्वजा है और जिनकी पताकापर ताड़का चिह्न सुशोभित है, वे महात्मा, कृतात्मा, धृतात्मा तथा जितात्मा बलरामजी, जो प्रतिदिन बड़े-बड़े दान किया करते थे, वहाँसे वसिष्ठापवाह नामक तीर्थमें गये, जहाँ सरस्वतीका वेग बड़ा भयङ्कर है ॥ ४० ॥

इति श्रीमहाभारते शल्यपर्वणि गदापर्वणि बलदेवतीर्थयात्रायां सारस्वतोपाख्याने एकचत्वारिंशोऽध्यायः ॥ ४१ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शल्यपर्वके अन्तर्गत गदापर्वमें बलदेवजीकी तीर्थयात्राके प्रसङ्गमें सारस्वतोपाख्यानविषयक इकतालीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ४१ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठका ½ श्लोक मिलाकर कुल ४०½ श्लोक हैं)

द्विचत्वारिंशोऽध्यायः

वसिष्ठापवाह तीर्थकी उत्पत्तिके प्रसङ्गमें विश्वामित्रका क्रोध और वसिष्ठजीकी सहनशीलता

जनमेजय उवाच

वसिष्ठस्यापवाहोऽसौ भीमवेगः कथं नु सः।
किमर्थं च सरिच्छ्रेष्ठा तमृषिं प्रत्यवाहयत्॥ १॥
कथमस्याभवद् वैरं कारणं किं च तत् प्रभो।
शंस पृष्टो महाप्राज्ञ न हि तृप्यामि ते वचः॥ २॥

जनमेजयने पूछा—प्रभो! वसिष्ठापवाह तीर्थमें सरस्वतीके जलका भयंकर वेग कैसे हुआ? सरिताओंमें श्रेष्ठ सरस्वतीने उन महर्षिको किस लिये बहाया? उनके साथ उसका वैर कैसे हुआ? उस वैरका कारण क्या है? महामते! मैंने जो पूछा है, वह बताइये। मैं आपके वचनोंको सुनते-सुनते तृप्त नहीं होता हूँ॥ १-२॥

वैशम्पायन उवाच

विश्वामित्रस्य विप्रर्षेर्वसिष्ठस्य च भारत।
भृशं वैरमभूद् राजंस्तपःस्पर्धाकृतं महत्॥ ३॥

वैशम्पायनजीने कहा—भारत! तपस्यामें होड़ लग जानेके कारण विश्वामित्र तथा ब्रह्मर्षि वसिष्ठमें बड़ा भारी वैर हो गया था॥ ३॥

आश्रमो वै वसिष्ठस्य स्थाणुतीर्थेऽभवन्महान्।
पूर्वतः पार्श्वतश्चासीद् विश्वामित्रस्य धीमतः॥ ४॥

सरस्वतीके स्थाणुतीर्थमें पूर्वतटपर वसिष्ठका बहुत बड़ा आश्रम था और पश्चिम तटपर बुद्धिमान् विश्वामित्र मुनिका आश्रम बना हुआ था॥ ४॥

यत्र स्थाणुर्महाराज तप्तवान् परमं तपः।
तत्रास्य कर्म तद् घोरं प्रवदन्ति मनीषिणः॥ ५॥

महाराज! जहाँ भगवान् स्थाणुने बड़ी भारी तपस्या की थी, वहाँ मनीषी पुरुष उनके घोर तपका वर्णन करते हैं॥ ५॥

यत्रेष्ट्वा भगवान् स्थाणुः पूजयित्वा सरस्वतीम्।
स्थापयामास तत् तीर्थं स्थाणुतीर्थमिति प्रभो॥ ६॥

प्रभो! जहाँ भगवान् स्थाणु (शिव) ने सरस्वतीका पूजन और यज्ञ करके तीर्थकी स्थापना की थी, वहाँ वह तीर्थ स्थाणुतीर्थके नामसे विख्यात हुआ॥ ६॥

तत्र तीर्थे सुराः स्कन्दमभ्यषिञ्चन्नराधिप।
सैनापत्येन महता सुरारिविनिबर्हणम्॥ ७॥

नरेश्वर! उसी तीर्थमें देवताओंने देवशत्रुओंका विनाश करनेवाले स्कन्दको महान् सेनापतिके पदपर अभिषिक्त किया था।

तस्मिन् सारस्वते तीर्थे विश्वामित्रो महामुनिः।
वसिष्ठं चालयामास तपसोग्रेण तच्छृणु॥ ८॥

उसी सारस्वत तीर्थमें महामुनि विश्वामित्रने अपनी उग्र तपस्यासे वसिष्ठमुनिको विचलित कर दिया था। वह प्रसंग सुनाता हूँ, सुनो॥ ८॥

विश्वामित्रवसिष्ठौ तावहन्यहनि भारत।
स्पर्धां तपःकृतां तीव्रां चक्रतुस्तौ तपोधनौ॥ ९॥

भारत! विश्वामित्र और वसिष्ठ दोनों ही तपस्याके धनी थे, वे प्रतिदिन होड़ लगाकर अत्यन्त कठोर तप किया करते थे॥ ९॥

तत्राप्यधिकसंतापो विश्वामित्रो महामुनिः।
दृष्ट्वा तेजो वसिष्ठस्य चिन्तामभिजगाम ह॥ १०॥

उनमें भी महामुनि विश्वामित्रको ही अधिक संताप होता था, वे वसिष्ठका तेज देखकर चिन्तामग्न हो गये थे॥ १०॥

तस्य बुद्धिरियं ह्यासीद् धर्मनित्यस्य भारत।
इयं सरस्वती तूर्णं मत्समीपं तपोधनम्॥ ११॥
आनयिष्यति वेगेन वसिष्ठं तपतां वरम्।
इहागतं द्विजश्रेष्ठं हनिष्यामि न संशयः॥ १२॥

भरतनन्दन! सदा धर्ममें तत्पर रहनेवाले विश्वामित्र मुनिके मनमें यह विचार उत्पन्न हुआ कि यह सरस्वती तपोधन वसिष्ठको अपने जलके वेगसे तुरंत ही मेरे समीप ला देगी और यहाँ आ जानेपर तपस्वी मुनियोंमें श्रेष्ठ विप्रवर वसिष्ठका मैं वध कर डालूँगा; इसमें संशय नहीं है॥ ११-१२॥

एवं निश्चित्य भगवान् विश्वामित्रो महामुनिः।
सस्मार सरितां श्रेष्ठां क्रोधसंरक्तलोचनः॥ १३॥

ऐसा निश्चय करके पूज्य महामुनि विश्वामित्रके नेत्र क्रोधसे रक्त-वर्ण हो गये। उन्होंने सरिताओंमें श्रेष्ठ सरस्वतीका स्मरण किया॥ १३॥

सा ध्याता मुनिना तेन व्याकुलत्वं जगाम ह।
जज्ञे चैनं महावीर्यं महाकोपं च भाविनी॥ १४॥

उन मुनिके चिन्तन करनेपर विचारशीला सरस्वती व्याकुल हो उठी। उसे ज्ञात हो गया कि ये महान् शक्तिशाली महर्षि इस समय बड़े भारी क्रोधसे भरे हुए हैं॥ १४॥

तत एनं वेपमाना विवर्णा प्राञ्जलिस्तदा।
उपतस्थे मुनिवरं विश्वामित्रं सरस्वती॥ १५॥

इससे सरस्वतीकी कान्ति फीकी पड़ गयी और वह हाथ जोड़ थर-थर काँपती हुई मुनिवर विश्वामित्रकी सेवामें उपस्थित हुई॥ १५॥

हतवीरा यथा नारी साभवद् दुःखिता भृशम्।
ब्रूहि किं करवाणीति प्रोवाच मुनिसत्तमम्॥ १६॥

जिसका पति मारा गया हो उस विधवा नारीके समान वह अत्यन्त दुखी हो गयी और उन मुनिश्रेष्ठसे बोली—'प्रभो! बताइये, मैं आपकी किस आज्ञाका पालन करूँ?'॥

तामुवाच मुनिः क्रुद्धो वसिष्ठं शीघ्रमानय।
यावदेनं निहन्म्यद्य तच्छ्रुत्वा व्यथिता नदी॥ १७॥

तब कुपित हुए मुनिने उससे कहा—'वसिष्ठको शीघ्र यहाँ बहाकर ले आओ, जिससे आज मैं इनका वध कर डालूँ।' यह सुनकर सरस्वती नदी व्यथित हो उठी॥ १७॥

प्राञ्जलिं तु ततः कृत्वा पुण्डरीकनिभेक्षणा।

प्राकम्पत भृशं भीता वायुनेवाहता लता ॥ १८ ॥

वह कमलनयना अबला हाथ जोड़कर वायुके झकोरेसे हिलायी गयी लताके समान अत्यन्त भयभीत हो जोर-जोरसे काँपने लगी ॥ १८ ॥

तथारूपां तु तां दृष्ट्वा मुनिराह महानदीम्।
अविचारं वसिष्ठं त्वमानयस्वान्तिकं मम ॥ १९ ॥

उसकी ऐसी अवस्था देखकर मुनिने उस महानदीसे कहा—'तुम बिना कोई विचार किये वसिष्ठको मेरे पास ले आओ' ॥

सा तस्य वचनं श्रुत्वा ज्ञात्वा पापं चिकीर्षितम्।
वसिष्ठस्य प्रभावं च जानन्त्यप्रतिमं भुवि ॥ २० ॥
साभिगम्य वसिष्ठं च इममर्थमचोदयत्।
यदुक्ता सरितां श्रेष्ठा विश्वामित्रेण धीमता ॥ २१ ॥

विश्वामित्रकी बात सुनकर और उनकी पापपूर्ण चेष्टा जानकर वसिष्ठके भूतलपर विख्यात अनुपम प्रभावको जानती हुई उस नदीने उनके पास जाकर बुद्धिमान् विश्वामित्रने जो कुछ कहा था, वह सब उनसे कह सुनाया ॥ २०-२१ ॥

उभयोः शापयोर्भीता वेपमाना पुनः पुनः।
चिन्तयित्वा महाशापमृषिवित्रासिता भृशम् ॥ २२ ॥

वह दोनोंके शापसे भयभीत हो बारंबार काँप रही थी। महान् शापका चिन्तन करके विश्वामित्र ऋषिके डरसे बहुत डर गयी थी ॥ २२ ॥

तां कृशां च विवर्णां च दृष्ट्वा चिन्तासमन्विताम्।
उवाच राजन् धर्मात्मा वसिष्ठो द्विपदां वरः ॥ २३ ॥

राजन्! उसे दुर्बल, उदास और चिन्तामग्न देख मनुष्योंमें श्रेष्ठ धर्मात्मा वसिष्ठने कहा ॥ २३ ॥

वसिष्ठ उवाच

पाह्यात्मानं सरिच्छ्रेष्ठे वह मां शीघ्रगामिनी।
विश्वामित्रः शपेद्धि त्वां मा कृथास्त्वं विचारणाम् ॥ २४ ॥

वसिष्ठ बोले—सरिताओंमें श्रेष्ठ सरस्वती! तुम शीघ्र गतिसे प्रवाहित होकर मुझे बहा ले चलो और अपनी रक्षा करो, अन्यथा विश्वामित्र तुम्हें शाप दे देंगे; इसलिये तुम कोई दूसरा विचार मनमें न लाओ ॥ २४ ॥

तस्य तद् वचनं श्रुत्वा कृपाशीलस्य सा सरित्।
चिन्तयामास कौरव्य किं कृत्वा सुकृतं भवेत् ॥ २५ ॥

कुरुनन्दन! उन कृपाशील महर्षिका वह वचन सुनकर सरस्वती सोचने लगी, 'क्या करनेसे शुभ होगा?' ॥ २५ ॥

तस्याश्चिन्ता समुत्पन्ना वसिष्ठो मय्यतीव हि।
कृतवान् हि दयां नित्यं तस्य कार्यं हितं मया ॥ २६ ॥

उसके मनमें यह विचार उठा कि 'वसिष्ठने मुझपर बड़ी भारी दया की है। अतः सदा मुझे इनका हित साधन करना चाहिये' ॥ २६ ॥

अथ कूले स्वके राजन् जपन्तमृषिसत्तमम्।
जुह्वानं कौशिकं प्रेक्ष्य सरस्वत्यभ्यचिन्तयत् ॥ २७ ॥
इदमन्तरमित्येवं ततः सा सरितां वरा।
कूलापहारमकरोत् स्वेन वेगेन सा सरित् ॥ २८ ॥

राजन्! तदनन्तर ऋषिश्रेष्ठ विश्वामित्रको अपने तटपर जप और होम करते देख सरिताओंमें श्रेष्ठ सरस्वतीने सोचा, यही अच्छा अवसर है, फिर तो उस नदीने पूर्वतटको तोड़कर उसे अपने वेगसे बहाना आरम्भ किया ॥ २७-२८ ॥

तेन कूलापहारेण मैत्रावरुणिरौह्यत।
उह्यमानः स तुष्टाव तदा राजन् सरस्वतीम् ॥ २९ ॥

उस बहते हुए किनारेके साथ मित्रावरुणके पुत्र वसिष्ठजी भी बहने लगे। राजन्! बहते समय वसिष्ठजी सरस्वतीकी स्तुति करने लगे—॥ २९ ॥

पितामहस्य सरसः प्रवृत्तासि सरस्वति।
व्याप्तं चेदं जगत् सर्वं तवैवाम्भोभिरुत्तमैः ॥ ३० ॥

'सरस्वती! तुम पितामह ब्रह्माजीके सरोवरसे प्रकट हुई हो, इसीलिये तुम्हारा नाम सरस्वती है। तुम्हारे उत्तम जलसे ही यह सारा जगत् व्याप्त है ॥ ३० ॥

त्वमेवाकाशगा देवि मेघेषु सृजसे पयः।
सर्वाश्चापस्त्वमेवेति त्वत्तो वयमधीमहि ॥ ३१ ॥

'देवि! तुम्हीं आकाशमें जाकर मेघोंमें जलकी सृष्टि करती हो, तुम्हीं सम्पूर्ण जल हो; तुमसे ही हम ऋषिगण वेदोंका अध्ययन करते हैं ॥ ३१ ॥

पुष्टिर्द्युतिस्तथा कीर्तिः सिद्धिर्बुद्धिरुमा तथा।
त्वमेव वाणी स्वाहा त्वं तवायत्तमिदं जगत् ॥ ३२ ॥
त्वमेव सर्वभूतेषु वससीह चतुर्विधा।

'तुम्हीं पुष्टि, कीर्ति, द्युति, सिद्धि, बुद्धि, उमा, वाणी और स्वाहा हो। यह सारा जगत् तुम्हारे अधीन है। तुम्हीं समस्त प्राणियोंमें चार* प्रकारके रूप धारण करके निवास करती हो' ॥ ३२½ ॥

एवं सरस्वती राजन् स्तूयमाना महर्षिणा ॥ ३३ ॥
वेगेनोवाह तं विप्रं विश्वामित्राश्रमं प्रति।
न्यवेदयत चाभीक्ष्णं विश्वामित्राय तं मुनिम् ॥ ३४ ॥

राजन्! महर्षिके मुखसे इस प्रकार स्तुति सुनती हुई सरस्वतीने उन ब्रह्मर्षिको अपने वेगद्वारा विश्वामित्रके आश्रमपर पहुँचा दिया और विश्वामित्रसे बारंबार निवेदन किया कि 'वसिष्ठ मुनि उपस्थित हैं' ॥ ३३-३४ ॥

तमानीतं सरस्वत्या दृष्ट्वा कोपसमन्वितः।
अथान्वेषत् प्रहरणं वसिष्ठान्तकरं तदा ॥ ३५ ॥

सरस्वतीद्वारा लाये हुए वसिष्ठको देखकर विश्वामित्र कुपित हो उठे और उनके जीवनका अन्त कर देनेके लिये कोई हथियार ढूँढ़ने लगे ॥ ३५ ॥

तं तु क्रुद्धमभिप्रेक्ष्य ब्रह्मवध्याभयान्नदी।
अपोवाह वसिष्ठं तु प्राचीं दिशमतन्द्रिता ॥ ३६ ॥
उभयोः कुर्वती वाक्यं वञ्चयित्वा च गाधिजम्।

उन्हें कुपित देख सरस्वती नदी ब्रह्महत्याके भयसे आलस्य छोड़ दोनोंकी आज्ञाका पालन करती हुई विश्वामित्रको धोखा देकर वसिष्ठ मुनिको पुनः पूर्व दिशाकी ओर बहा ले गयी ॥

* परा, पश्यन्ती, मध्यमा और वैखरी—यह चार प्रकारकी वाणी ही सरस्वतीका चतुर्विध रूप है।

ततोऽपवाहितं दृष्ट्वा वसिष्ठमृषिसत्तमम् ॥ ३७ ॥
अब्रवीद् दुःखसंक्रुद्धो विश्वामित्रो ह्यमर्षणः ।
यस्मान्मां त्वं सरिच्छ्रेष्ठे वञ्चयित्वा पुनर्गता ॥ ३८ ॥
शोणितं वह कल्याणि रक्षोग्रामणिसम्मतम् ।

मुनिश्रेष्ठ वसिष्ठको पुनः अपनेसे दूर बहाया गया देख अमर्षशील विश्वामित्र दुःखसे अत्यन्त कुपित हो बोले—'सरिताओंमें श्रेष्ठ कल्याणमयी सरस्वती! तुम मुझे धोखा देकर फिर चली गयी, इसलिये अब जलकी जगह रक्त बहाओ, जो राक्षसोंके समूहको अधिक प्रिय है ॥ ३७-३८½ ॥

ततः सरस्वती शप्ता विश्वामित्रेण धीमता ॥ ३९ ॥
अवहच्छोणितोन्मिश्रं तोयं संवत्सरं तदा ।

बुद्धिमान् विश्वामित्रके इस प्रकार शाप देनेपर सरस्वती नदी एक सालतक रक्तमिश्रित जल बहाती रही ॥ ३९½ ॥

अथर्षयश्च देवाश्च गन्धर्वाप्सरसस्तदा ॥ ४० ॥
सरस्वतीं तथा दृष्ट्वा बभूवुर्भृशदुःखिताः ।

तदनन्तर ऋषि, देवता, गन्धर्व और अप्सरा सरस्वतीको उस अवस्थामें देखकर अत्यन्त दुखी हो गये ॥ ४०½ ॥

एवं वसिष्ठापवाहो लोके ख्यातो जनाधिप ॥ ४१ ॥
आगच्छच्च पुनर्मार्गं स्वमेव सरितां वरा ॥ ४२ ॥

नरेश्वर! इस प्रकार वह स्थान जगत्‌में वसिष्ठापवाहके नामसे विख्यात हुआ। वसिष्ठजीको बहानेके पश्चात् सरिताओंमें श्रेष्ठ सरस्वती फिर अपने पूर्व मार्गपर ही बहने लग गयी ॥

इति श्रीमहाभारते शल्यपर्वणि गदापर्वणि बलदेवतीर्थयात्रायां सारस्वतोपाख्याने द्विचत्वारिंशोऽध्यायः ॥ ४२ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शल्यपर्वके अन्तर्गत गदापर्वमें बलदेवजीकी तीर्थयात्राके प्रसंगमें सारस्वतोपाख्यानविषयक बयालीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ४२ ॥

त्रिचत्वारिंशोऽध्यायः

ऋषियोंके प्रयत्नसे सरस्वतीके शापकी निवृत्ति, जलकी शुद्धि तथा अरुणासङ्गममें स्नान करनेसे राक्षसों और इन्द्रका संकटमोचन

वैशम्पायन उवाच

सा शप्ता तेन क्रुद्धेन विश्वामित्रेण धीमता ।
तस्मिंस्तीर्थवरे शुभ्रे शोणितं समुपावहत् ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन्! कुपित हुए बुद्धिमान् विश्वामित्रने जब सरस्वती नदीको शाप दे दिया, तब वह नदी उस उज्ज्वल एवं श्रेष्ठ तीर्थमें रक्तकी धारा बहाने लगी ॥ १ ॥

अथाजग्मुस्ततो राजन् राक्षसास्तत्र भारत ।
तत्र ते शोणितं सर्वे पिबन्तः सुखमासते ॥ २ ॥

भारत! तदनन्तर वहाँ बहुत-से राक्षस आ पहुँचे। वे सब-के-सब उस रक्तको पीते हुए वहाँ सुखपूर्वक रहने लगे ॥

तृप्ताश्च सुभृशं तेन सुखिता विगतज्वराः ।
नृत्यन्तश्च हसन्तश्च यथा स्वर्गजितस्तथा ॥ ३ ॥

उस रक्तसे अत्यन्त तृप्त, सुखी और निश्चिन्त हो वे राक्षस वहाँ नाचने और हँसने लगे, मानो उन्होंने स्वर्गलोकको जीत लिया हो ॥ ३ ॥

कस्यचित् त्वथ कालस्य ऋषयः सुतपोधनाः ।
तीर्थयात्रां समाजग्मुः सरस्वत्यां महीपते ॥ ४ ॥

पृथ्वीनाथ! कुछ कालके पश्चात् बहुत-से तपोधन मुनि सरस्वतीके तटपर तीर्थयात्राके लिये पधारे ॥ ४ ॥

तेषु सर्वेषु तीर्थेषु स्वाप्लुत्य मुनिपुङ्गवाः ।
प्राप्य प्रीतिं परां चापि तपोलुब्धा विशारदाः ॥ ५ ॥
प्रययुर्हि ततो राजन् येन तीर्थमसृग्वहम् ।

पूर्वोक्त सभी तीर्थोंमें गोता लगाकर वे तपस्याके लोभी विज्ञ मुनिवर पूर्ण प्रसन्न हो उसी ओर गये, जिधर रक्तकी धारा बहानेवाला पूर्वोक्त तीर्थ था ॥ ५½ ॥

अथागम्य महाभागास्तत् तीर्थं दारुणं तदा ॥ ६ ॥
दृष्ट्वा तोयं सरस्वत्याः शोणितेन परिप्लुतम् ।
पीयमानं च रक्षोभिर्बहुभिर्नृपसत्तम ॥ ७ ॥

नृपश्रेष्ठ! वहाँ आकर उन महाभाग मुनियोंने देखा कि उस तीर्थकी दारुण दशा हो गयी है, वहाँ सरस्वतीका जल रक्तसे ओतप्रोत है और बहुत-से राक्षस उसका पान कर रहे हैं ॥

तान् दृष्ट्वा राक्षसान् राजन् मुनयः संशितव्रताः ।
परित्राणे सरस्वत्याः परं यत्नं प्रचक्रिरे ॥ ८ ॥

राजन्! उन राक्षसोंको देखकर कठोर व्रतका पालन करनेवाले मुनियोंने सरस्वतीके उस तीर्थकी रक्षाके लिये महान् प्रयत्न किया ॥ ८ ॥

ते तु सर्वे महाभागाः समागम्य महाव्रताः ।
आहूय सरितां श्रेष्ठामिदं वचनमब्रुवन् ॥ ९ ॥

उन सभी महान् व्रतधारी महाभाग ऋषियोंने मिलकर सरिताओंमें श्रेष्ठ सरस्वतीको बुलाकर पूछा— ॥ ९ ॥

कारणं ब्रूहि कल्याणि किमर्थं ते ह्रदो ह्ययम् ।
एवमाकुलतां यातः श्रुत्वा ध्यास्यामहे वयम् ॥ १० ॥

'कल्याणि! तुम्हारा यह कुण्ड इस प्रकार रक्तसे मिश्रित क्यों हो गया? इसका क्या कारण है? बताओ। उसे सुनकर हमलोग कोई उपाय सोचेंगे' ॥ १० ॥

ततः सा सर्वमाचष्ट यथावृत्तं प्रवेपती ।
दुःखितामथ तां दृष्ट्वा ऊचुस्ते वै तपोधनाः ॥ ११ ॥

तब काँपती हुई सरस्वतीने सारा वृत्तान्त यथार्थ रूपसे कह सुनाया। उसे दुखी देख वे तपोधन महर्षि उससे बोले— ॥

कारणं श्रुतमस्माभिः शापश्चैव श्रुतोऽनघे ।
करिष्यन्ति तु यत् प्राप्तं सर्व एव तपोधनाः ॥ १२ ॥

'निष्पाप सरस्वती! हमने शाप और उसका कारण सुन

किया । ये सभी नरोत्तम इस विषयमें समयोचित कर्तव्यका पालन करेंगे' ॥ १२ ॥

एवमुक्त्वा सरिच्छ्रेष्ठामूचुस्तेऽथ परस्परम् ।
विमोचयामहे सर्वे शापादेतां सरस्वतीम् ॥ १३ ॥

सरिताओंमें श्रेष्ठ सरस्वतीसे ऐसा कहकर वे आपसमें बोले—'हम सब लोग मिलकर इस सरस्वतीको शापसे छुटकारा दिलावें' ॥ १३ ॥

ते सर्वे ब्राह्मणा राजंस्तपोभिर्नियमैस्तथा ।
उपवासैश्च विविधैर्यमैः कष्टव्रतैस्तथा ॥ १४ ॥
आराध्य पशुभर्तारं महादेवं जगत्पतिम् ।
तां देवीं मोक्षयामासुः सरिच्छ्रेष्ठां सरस्वतीम् ॥ १५ ॥

राजन् ! उन सभी ब्राह्मणोंने तप, नियम, उपवास, नाना प्रकारके संयम तथा कष्टसाध्य व्रतोंके द्वारा पशुपति विश्वनाथ महादेवजीकी आराधना करके सरिताओंमें श्रेष्ठ उस सरस्वती देवीको शापसे छुटकारा दिलाया ॥ १४-१५ ॥

तेषां तु सा प्रभावेण प्रकृतिस्था सरस्वती ।
प्रसन्नसलिला जज्ञे यथापूर्वं तथैव हि ॥ १६ ॥

उनके प्रभावसे सरस्वती प्रकृतिस्थ हुई, उसका जल पूर्ववत् स्वच्छ हो गया ॥ १६ ॥

निर्मुक्ता च सरिच्छ्रेष्ठा विबभौ सा यथा पुरा ।
दृष्ट्वा तोयं सरस्वत्या मुनिभिस्तैस्तथा कृतम् ॥ १७ ॥
तानेव शरणं जग्मू राक्षसाः क्षुधितास्तथा ।

शापमुक्त हुई सरिताओंमें श्रेष्ठ सरस्वती पहलेकी भाँति शोभा पाने लगी । उन मुनियोंके द्वारा सरस्वतीका जल वैसा शुद्ध कर दिया गया—यह देखकर वे भूखे हुए राक्षस उन्हीं महर्षियोंकी शरणमें गये ॥ १७½ ॥

कृत्वाञ्जलिं ततो राजन् राक्षसाः क्षुधयार्दिताः ॥ १८ ॥
ऊचुस्तान् वै मुनीन् सर्वान् कृपायुक्तान् पुनः पुनः ।
वयं च क्षुधिताश्चैव धर्माद्धीनाश्च शाश्वतात् ॥ १९ ॥

राजन् ! तदनन्तर वे भूखसे पीड़ित हुए राक्षस उन सभी कृपालु मुनियोंसे बारंबार हाथ जोड़कर कहने लगे—'महात्माओ ! हम भूखे हैं । सनातन धर्मसे भ्रष्ट हो गये हैं ॥

न च नः कामकारोऽयं यद् वयं पापकारिणः ।
युष्माकं चाप्रसादेन दुष्कृतेन च कर्मणा ॥ २० ॥
यत् पापं वर्धतेऽस्माकं ततः स्मो ब्रह्मराक्षसाः ।

'हमलोग जो पापाचार करते हैं, यह हमारा स्वेच्छाचार नहीं है । आप-जैसे महात्माओंकी हमलोगोंपर कभी कृपा नहीं हुई और हम सदा दुष्कर्म ही करते चले आये । इससे हमारे पापकी निरन्तर वृद्धि होती रहती है और हम ब्रह्मराक्षस हो गये हैं ॥ २०½ ॥

योषितां चैव पापेन योनिदोषकृतेन च ॥ २१ ॥
एवं हि वैश्यशूद्राणां क्षत्रियाणां तथैव च ।
ये ब्राह्मणान् प्रद्विषन्ति ते भवन्तीह राक्षसाः ॥ २२ ॥

'स्त्रियाँ अपने योनिदोषजनित पाप (व्यभिचार) से राक्षसी हो जाती हैं । इसी प्रकार क्षत्रिय, वैश्य और शूद्रोंमें से जो लोग ब्राह्मणोंसे द्वेष करते हैं, वे भी इस जगत्में राक्षस होते हैं ॥ २१-२२ ॥

आचार्यमृत्विजं चैव गुरुं वृद्धजनं तथा ।
प्राणिनो येऽवमन्यन्ते ते भवन्तीह राक्षसाः ॥ २३ ॥

'जो प्राणधारी मानव आचार्य, ऋत्विज, गुरु और वृद्ध पुरुषोंका अपमान करते हैं, वे भी यहाँ राक्षस होते हैं ॥ २३ ॥

तत् कुरुध्वमिहास्माकं तारणं द्विजसत्तमाः ।
शक्ता भवन्तः सर्वेषां लोकानामपि तारणे ॥ २४ ॥

'अतः विप्रवरो ! आप यहाँ हमारा उद्धार करें, क्योंकि आपलोग सम्पूर्ण लोकोंका उद्धार करनेमें समर्थ हैं' ॥ २४ ॥

तेषां तु वचनं श्रुत्वा तुष्टुवुस्तां महानदीम् ।
मोक्षार्थं रक्षसां तेषामूचुः प्रयतमानसाः ॥ २५ ॥

उन राक्षसोंका वचन सुनकर एकाग्रचित्त महर्षियोंने उनकी मुक्तिके लिये महानदी सरस्वतीका स्तवन किया और इस प्रकार कहा—॥ २५ ॥

क्षुतं कीटावपन्नं च यच्चोच्छिष्टाशितं भवेत् ।
सकेशमवधूतं च रुदितोपहतं च यत् ॥ २६ ॥
श्वभिः संसृष्टमन्नं च भागोऽसौ रक्षसामिह ।
तस्माज्ज्ञात्वा सदा विद्वानेतान्यन्नानि वर्जयेत् ॥ २७ ॥
राक्षसान्नमसौ भुङ्क्ते यो भुङ्क्ते ह्यन्नमीदृशम् ।

'जिस अन्नपर थूक पड़ गयी हो, जिसमें कीड़े पड़े हों, जो जूठा हो, जिसमें बाल गिरा हो, जो तिरस्कारपूर्वक प्राप्त हुआ हो, जो अश्रुपातसे दूषित हो गया हो तथा जिसे कुत्तोंने छू दिया हो, वह सारा अन्न इस जगत्में राक्षसोंका भाग है । अतः विद्वान् पुरुष सदा समझ-बूझकर इन सब प्रकारके अन्नोंका प्रयत्नपूर्वक परित्याग करे । जो ऐसे अन्नको खाता है, वह मानो राक्षसोंका अन्न खाता है' ॥ २६-२७½ ॥

शोधयित्वा ततस्तीर्थमृषयस्ते तपोधनाः ॥ २८ ॥
मोक्षार्थं राक्षसानां च नदीं तां प्रत्यचोदयन् ।

तदनन्तर उन तपोधन महर्षियोंने उस तीर्थकी शुद्धि करके उन राक्षसोंकी मुक्तिके लिये सरस्वती नदीसे अनुरोध किया ।

महर्षीणां मतं ज्ञात्वा ततः सा सरितां वरा ॥ २९ ॥
अरुणामानयामास स्वां तनूं पुरुषर्षभ ।
तस्यां ते राक्षसाः स्नात्वा तनूस्त्यक्त्वा दिवं गताः ॥ ३० ॥
अरुणायां महाराज ब्रह्मवध्यापहा हि सा ।

नरश्रेष्ठ ! महर्षियोंका यह मत जानकर सरिताओंमें श्रेष्ठ सरस्वती अपनी ही स्वरूपभूता अरुणाको ले आयी । महाराज ! उस अरुणामें स्नान करके वे राक्षस अपना शरीर छोड़कर स्वर्गलोकमें चले गये; क्योंकि वह ब्रह्महत्याका निवारण करनेवाली है ॥

एतमर्थमभिज्ञाय देवराजः शतक्रतुः ॥ ३१ ॥
तस्मिंस्तीर्थे वरे स्नात्वा विमुक्तः पाप्मना किल ।

राजन् ! कहते हैं, इस बातको जानकर देवराज इन्द्र उसी श्रेष्ठ तीर्थमें स्नान करके ब्रह्महत्याके पापसे मुक्त हुए थे ॥

जनमेजय उवाच

किमर्थं भगवान् शक्रो ब्रह्मवध्यामवाप्तवान् ॥ ३२ ॥

कथमस्मिंश्च तीर्थे वै आप्लुत्याकल्मषोऽभवत् ।

जनमेजयने पूछा—ब्रह्मन् ! भगवान् इन्द्रको ब्रह्महत्याका पाप कैसे लगा तथा वे किस प्रकार इस तीर्थमें स्नान करके पाप मुक्त हुए थे ? ॥ ३२½ ॥

वैशम्पायन उवाच

शृणुष्वैतदुपाख्यानं यथावृत्तं जनेश्वर ॥ ३३ ॥
यथा बिभेद समयं नमुचेर्वासवः पुरा ।

वैशम्पायनजीने कहा—जनेश्वर ! पूर्वकालमें इन्द्रने नमुचिके साथ अपनी की हुई प्रतिज्ञाको जिस प्रकार तोड़ डाला था, वह सारी कथा जैसे घटित हुई थी, तुम यथार्थरूपसे सुनो ॥ ३३½ ॥

नमुचिर्वासवाद् भीतः सूर्यरश्मिं समाविशत् ॥ ३४ ॥
तेनेन्द्रः सख्यमकरोत् समयं चेदमब्रवीत् ।
न चार्द्रेण न शुष्केण न रात्रौ नापि चाहनि ॥ ३५ ॥
वधिष्याम्यसुरश्रेष्ठ सखे सत्येन ते शपे ।

पहलेकी बात है, नमुचि इन्द्रके भयसे डरकर सूर्यकी किरणोंमें समा गया था। तब इन्द्रने उसके साथ मित्रता कर ली और यह प्रतिज्ञा की 'असुरश्रेष्ठ ! मैं न तो तुम्हें गीले हथियारसे मारूँगा न सूखेसे । न दिनमें मारूँगा न रातमें । सखे ! मैं सत्यकी सौगन्ध खाकर यह बात तुमसे कहता हूँ' ॥

एवं स कृत्वा समयं दृष्ट्वा नीहारमीश्वरः ॥ ३६ ॥
चिच्छेदास्य शिरो राजन्नपां फेनेन वासवः ।

राजन् ! इस प्रकार प्रतिज्ञा करके भी देवराज इन्द्रने चारों ओर कुहासा छाया हुआ देख पानीके फेनसे नमुचिका सिर काट लिया ॥ ३६½ ॥

तच्छिरो नमुचेश्छिन्नं पृष्ठतः शक्रमन्वियात् ॥ ३७ ॥
भो भो मित्रघ्न पापेति ब्रुवाणं शक्रमन्तिकात् ।

नमुचिका वह कटा हुआ मस्तक इन्द्रके पीछे लग गया। वह उनके पास जाकर बारंबार कहने लगा, 'ओ मित्रघाती पापात्मा इन्द्र ! तू कहाँ जाता है ?' ॥ ३७½ ॥

एवं स शिरसा तेन चोद्यमानः पुनः पुनः ॥ ३८ ॥
पितामहाय संतप्त एतमर्थं न्यवेदयत् ।

इस प्रकार उस मस्तकके द्वारा बारंबार पूर्वोक्त बात पूछी जानेपर अत्यन्त संतप्त हुए इन्द्रने ब्रह्माजीसे यह सारा समाचार निवेदन किया ॥ ३८½ ॥

तमब्रवील्लोकगुरुररुणायां यथाविधि ॥ ३९ ॥
इष्ट्वोपस्पृश देवेन्द्र तीर्थे पापभयापहे ।

तब लोकगुरु ब्रह्माने उनसे कहा—'देवेन्द्र ! अरुणा तीर्थ पाप-भयको दूर करनेवाला है । तुम वहाँ विधिपूर्वक यज्ञ करके अरुणाके जलमें स्नान करो ॥ ३९½ ॥

एषा पुण्यजला शक्र कृता मुनिभिरेव तु ॥ ४० ॥
निगूढमस्यागमनमिहासीत् पूर्वमेव तु ।
ततोऽभ्येत्यारुणां देवीं प्लावयामास वारिणा ॥ ४१ ॥

'शक्र ! महर्षियोंने इस अरुणाके जलको परम पवित्र बना दिया है । इस तीर्थमें पहले ही गुप्तरूपसे उसका आगमन हो चुका था, फिर सरस्वतीने निकट आकर अरुणादेवीको अपने जलसे आप्लावित कर दिया ॥ ४०-४१ ॥

सरस्वत्यारुणायाश्च पुण्योऽयं संगमो महान् ।
इह त्वं यज देवेन्द्र दद दानान्यनेकशः ॥ ४२ ॥
अत्राप्लुत्य सुघोरात् त्वं पातकाद् विप्रमोक्ष्यसे ।

'देवेन्द्र ! सरस्वती और अरुणाका यह संगम महान् पुण्यदायक तीर्थ है । तुम यहाँ यज्ञ करो और अनेक प्रकारके दान दो । फिर उसमें स्नान करके तुम भयानक पातकसे मुक्त हो जाओगे' ॥ ४२½ ॥

इत्युक्तः स सरस्वत्याः कुञ्जे वै जनमेजय ॥ ४३ ॥
इष्ट्वा यथावद् बलभिदरुणायामुपास्पृशत् ।
स मुक्तः पाप्मना तेन ब्रह्मवध्याकृतेन च ॥ ४४ ॥
जगाम संहृष्टमनास्त्रिदिवं त्रिदशेश्वरः ।

जनमेजय ! उनके ऐसा कहनेपर इन्द्रने सरस्वतीके कुञ्जमें विधिपूर्वक यज्ञ करके अरुणामें स्नान किया । फिर ब्रह्महत्याजनित पापसे मुक्त हो देवराज इन्द्र हर्षोत्फुल्ल हृदयसे स्वर्गलोकमें चले गये ॥ ४३-४४½ ॥

शिरस्तच्चापि नमुचेस्तत्रैवाप्लुत्य भारत ।
लोकान् कामदुघान् प्राप्तमक्षयान् राजसत्तम ॥ ४५ ॥

भारत ! नृपश्रेष्ठ ! नमुचिका वह मस्तक भी उसी तीर्थमें गोता लगाकर मनोवाञ्छित फल देनेवाले अक्षय लोकोंमें चला गया ॥ ४५ ॥

वैशम्पायन उवाच

तत्राप्युपस्पृश्य बलो महात्मा
दत्त्वा च दानानि पृथग्विधानि ।
अवाप्य धर्मं परमार्थकर्मा
जगाम सोमस्य महत् सुतीर्थम् ॥ ४६ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन् ! पारमार्थिक कार्य करनेवाले महात्मा बलरामजी उस तीर्थमें भी स्नान करके नाना प्रकारकी वस्तुओंका दान करके धर्मका फल पाकर सोमके महान् एवं उत्तम तीर्थमें गये ॥ ४६ ॥

यत्रायजद् राजसूयेन सोमः
साक्षात् पुरा विधिवत् पार्थिवेन्द्रः ।
अत्रिर्धीमान् विप्रमुख्यो बभूव
होता यस्मिन् क्रतुमुख्ये महात्मा ॥ ४७ ॥

जहाँ पूर्वकालमें साक्षात् राजाधिराज सोमने विधिपूर्वक राजसूय यज्ञका अनुष्ठान किया था । उस श्रेष्ठ यज्ञमें बुद्धिमान् विप्रवर महात्मा अत्रिने होताका कार्य किया था ॥ ४७ ॥

यस्यान्तेऽभूत् सुमहद् दानवानां
दैतेयानां राक्षसानां च देवैः ।
यस्मिन् युद्धं तारकाख्यं सुतीव्रं
यत्र स्कन्दस्तारकाख्यं जघान ॥ ४८ ॥

उस यज्ञके अन्तमें देवताओंके साथ दानवों, दैत्यों तथा राक्षसोंका महान् एवं भयंकर तारकामय संग्राम हुआ था, जिसमें स्कन्दने तारकासुरका वध किया था ॥ ४८ ॥

सैनापत्यं लब्धवान् देवतानां
महासेनो यत्र दैत्यान्तकर्ता ।
साक्षाच्चैवं न्यवसत् कार्तिकेयः
सदा कुमारो यत्र स प्लक्षराजः ॥ ४९ ॥

उसीमें दैत्यविनाशक महासेन कार्तिकेयने देवताओंका सेनापतित्व ग्रहण किया था । जहाँ वह पाकड़का श्रेष्ठ वृक्ष है, वहाँ साक्षात् कुमार कार्तिकेय इस तीर्थमें सदा निवास करते हैं ॥ ४९ ॥

इति श्रीमहाभारते शल्यपर्वणि गदापर्वणि बलदेवतीर्थयात्रायां सारस्वतोपाख्याने त्रिचत्वारिंशोऽध्यायः ॥ ४३ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शल्यपर्वके अन्तर्गत गदापर्वमें बलदेवजीकी तीर्थयात्राके प्रसंगमें सारस्वतोपाख्यान विषयक तैंतालीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥

चतुश्चत्वारिंशोऽध्यायः

कुमार कार्तिकेयका प्राकट्य और उनके अभिषेककी तैयारी

जनमेजय उवाच

सरस्वत्याः प्रभावोऽयमुक्तस्ते द्विजसत्तम ।
कुमारस्याभिषेकं तु ब्रह्मन् व्याख्यातुमर्हसि ॥ १ ॥

जनमेजयने कहा—द्विजश्रेष्ठ ! आपने सरस्वतीका यह प्रभाव बताया है । ब्रह्मन् ! अब कुमार कार्तिकेयके अभिषेकका वर्णन कीजिये ॥ १ ॥

यस्मिन् देशे च काले च यथा च वदतां वर ।
यैश्चाभिषिक्तो भगवान् विधिना येन च प्रभुः ॥ २ ॥

वक्ताओंमें श्रेष्ठ ! किस देश और कालमें किन लोगोंने किस विधिसे किस प्रकार शक्तिशाली भगवान् स्कन्दका अभिषेक किया ? ॥ २ ॥

स्कन्दो यथा च दैत्यानामकरोत् कदनं महत् ।
तथा मे सर्वमाचक्ष्व परं कौतूहलं हि मे ॥ ३ ॥

स्कन्दने जिस प्रकार दैत्योंका महान् संहार किया हो, वह सब उसी तरह मुझे बताइये; क्योंकि मेरे मनमें इसे सुननेके लिये बड़ा कौतूहल हो रहा है ॥ ३ ॥

वैशम्पायन उवाच

कुरुवंशस्य सदृशं कौतूहलमिदं तव ।
हर्षमुत्पादयत्येव वचो मे जनमेजय ॥ ४ ॥

वैशम्पायनजी बोले—जनमेजय ! तुम्हारा यह कौतूहल कुरुवंशके योग्य ही है । तुम्हारा वचन मेरे मनमें बड़ा भारी हर्ष उत्पन्न कर रहा है ॥ ४ ॥

हन्त ते कथयिष्यामि शृण्वानस्य नराधिप ।
अभिषेकं कुमारस्य प्रभावं च महात्मनः ॥ ५ ॥

नरेश्वर ! तुम ध्यान देकर सुन रहे हो, इसलिये मैं तुमसे प्रसन्नतापूर्वक महात्मा कुमार कार्तिकेयके अभिषेक और प्रभावका वर्णन करता हूँ ॥ ५ ॥

तेजो माहेश्वरं स्कन्नमग्नौ प्रपतितं पुरा ।
तत् सर्वभक्षो भगवान् नाशकद् दग्धुमक्षयम् ॥ ६ ॥

पूर्वकालकी बात है, भगवान् शिवका तेजोमय वीर्य अग्निमें गिर पड़ा । भगवान् अग्नि सर्वभक्षी हैं तो भी उस अक्षय वीर्यको वे भस्म न कर सके ॥ ६ ॥

तेनासीदतितेजस्वी दीप्तिमान् हव्यवाहनः ।
न चैव धारयामास गर्भं तेजोमयं तदा ॥ ७ ॥
स गङ्गामभिसंगम्य नियोगाद् ब्रह्मणः प्रभुः ।
गर्भमाहितवान् दिव्यं भास्करोपमतेजसम् ॥ ८ ॥

उस वीर्यके कारण अग्निदेव दीप्तिमान्, तेजस्वी तथा शक्तिसम्पन्न होकर भी कष्टका अनुभव करने लगे । वे उस समय उस तेजोमय गर्भको जब धारण न कर सके, तब ब्रह्माजीकी आज्ञासे उन भगवान् अग्निदेवने सूर्यके समान तेजस्वी उस दिव्य गर्भको गङ्गाजीमें डाल दिया ॥ ७-८ ॥

अथ गङ्गापि तं गर्भमसहन्ती विधारणे ।
उत्ससर्ज गिरौ रम्ये हिमवत्यमरार्चिते ॥ ९ ॥

तदनन्तर गङ्गाने भी उस गर्भको धारण करनेमें असमर्थ होकर उसे देवपूजित सुरम्य हिमालय पर्वतके शिखरपर सरकण्डोंमें छोड़ दिया ॥ ९ ॥

स तत्र ववृधे लोकानावृत्य ज्वलनात्मजः ।
ददृशुर्ज्वलनाकारं तं गर्भमथ कृत्तिकाः ॥ १० ॥
शरस्तम्बे महात्मानमनलात्मजमीश्वरम् ।
ममायमिति ताः सर्वाः पुत्रार्थिन्योऽभिचुक्रुशुः ॥ ११ ॥

अग्निका वह पुत्र अपने तेजसे सम्पूर्ण लोकोंको व्याप्त करके वहाँ बढ़ने लगा । सरकण्डोंके समूहमें अग्निके समान प्रकाशित होते हुए उस सर्वसमर्थ महात्मा अग्निपुत्रको, जो नवजात शिशुके रूपमें उपस्थित था, छहों कृत्तिकाओंने देखा । उसे देखते ही पुत्रकी अभिलाषा रखनेवाली वे सभी कृत्तिकाएँ पुकार-पुकारकर कहने लगीं 'यह मेरा पुत्र है' ॥ १०-११ ॥

तासां विदित्वा भावं तं मातॄणां भगवान् प्रभुः ।
प्रस्नुतानां पयः षड्भिर्वदनैरपिवत् तदा ॥ १२ ॥

उन माताओंके उस वात्सल्यभावको जानकर प्रभावशाली भगवान् स्कन्द छः मुख प्रकट करके उनके स्तनोंसे झरते हुए दूधको पीने लगे ॥ १२ ॥

तं प्रभावं समालक्ष्य तस्य बालस्य कृत्तिकाः ।
परं विस्मयमापन्ना देव्यो दिव्यवपुर्धराः ॥ १३ ॥

वे दिव्य रूपधारिणी छहों कृत्तिका देवियाँ उस बालकका वह प्रभाव देखकर अत्यन्त आश्चर्यसे चकित हो उठीं ॥ १३ ॥

यत्रोत्सृष्टः स भगवान् गङ्गया गिरिमूर्धनि ।
स शैलः काञ्चनः सर्वः सम्बभौ कुरुसत्तम ॥ १४ ॥

कुरुश्रेष्ठ ! गङ्गाजीने पर्वतके जिस शिखरपर स्कन्दको छोड़ा था, वह सारा-का-सारा सुवर्णमय हो गया ॥ १४ ॥

वर्धता चैव गर्भेण पृथिवी तेन रञ्जिता ।
अतश्च सर्वे संवृत्ता गिरयः काञ्चनाकराः ॥ १५ ॥

उस बढ़ते हुए शिशुने वहाँकी भूमिको रंजित (प्रकाशित)

कर दिया था। इसलिये वहाँके सभी पर्वत सोनेकी खान बन गये ॥ १५ ॥

कुमारः सुमहावीर्यः कार्तिकेय इति स्मृतः ।
गाङ्गेयः पूर्वमभवन्महायोगबलान्वितः ॥ १६ ॥

वह महान् शक्तिशाली कुमार कार्तिकेयके नामसे विख्यात हुआ। वह महान् योगबलसे सम्पन्न बालक पहले गङ्गाजीका पुत्र था ॥ १६ ॥

शमेन तपसा चैव वीर्येण च समन्वितः ।
ववृधेऽतीव राजेन्द्र चन्द्रवत् प्रियदर्शनः ॥ १७ ॥

राजेन्द्र! शम, तपस्या और पराक्रमसे युक्त वह कुमार अत्यन्त वेगसे बढ़ने लगा। वह देखनेमें चन्द्रमाके समान प्रिय लगता था ॥ १७ ॥

स तस्मिन् काञ्चने दिव्ये शरस्तम्बे श्रिया वृतः ।
स्तूयमानः सदा शेते गन्धर्वैर्मुनिभिस्तथा ॥ १८ ॥

उस दिव्य सुवर्णमय प्रदेशमें सरकण्डोंके समूहपर स्थित हुआ वह कान्तिमान् बालक निरन्तर गन्धर्वों एवं मुनियोंके मुखसे अपनी स्तुति सुनता हुआ सो रहा था ॥ १८ ॥

तथैतमन्वनृत्यन्त देवकन्याः सहस्रशः ।
दिव्यवादित्रनृत्यज्ञाः स्तुवन्त्यश्चारुदर्शनाः ॥ १९ ॥

तदनन्तर दिव्य वाद्य और नृत्यकी कला जाननेवाली सहस्रों सुन्दरी देवकन्याएँ उस कुमारकी स्तुति करती हुई उसके समीप नृत्य करने लगीं ॥ १९ ॥

अन्वास्ते च नदी देवं गङ्गा वै सरितां वरा ।
दधार पृथिवी चैनं बिभ्रती रूपमुत्तमम् ॥ २० ॥

सरिताओंमें श्रेष्ठ गङ्गा भी उस दिव्य बालकके पास आ बैठीं। पृथ्वीदेवीने उत्तम रूप धारण करके उसे अपने अङ्कमें धारण किया ॥ २० ॥

जातकर्मादिकास्तत्र क्रियाश्चक्रे बृहस्पतिः ।
वेदश्चैनं चतुर्मूर्तिरुपतस्थे कृताञ्जलिः ॥ २१ ॥

बृहस्पतिजीने वहाँ उस बालकके जातकर्म आदि संस्कार किये और चार स्वरूपोंमें अभिव्यक्त होनेवाला वेद हाथ जोड़कर उसकी सेवामें उपस्थित हुआ ॥ २१ ॥

धनुर्वेदश्चतुष्पादः शस्त्रग्रामः ससंग्रहः ।
तत्रैनं समुपातिष्ठत् साक्षाद् वाणी च केवला ॥ २२ ॥

चारों चरणोंसे युक्त धनुर्वेद, संग्रहसहित शस्त्र-समूह तथा केवल साक्षात् वाणी—ये सभी कुमारकी सेवामें उपस्थित हुए॥

स ददर्श महावीर्यं देवदेवमुमापतिम् ।
शैलपुत्र्या समासीनं भूतसंघशतैर्वृतम् ॥ २३ ॥

कुमारने देखा कि सैकड़ों भूतसङ्घोंसे घिरे हुए महापराक्रमी देवाधिदेव उमापति गिरिराजनन्दिनी उमाके साथ पास ही बैठे हुए हैं ॥ २३ ॥

निकाया भूतसंघानां परमाद्भुतदर्शनाः ।
विकृता विकृताकारा विकृताभरणध्वजाः ॥ २४ ॥

उनके साथ आये हुए भूतसङ्घोंके शरीर देखनेमें बड़े ही अद्भुत, विकृत और विकराल थे। उनके आभूषण और ध्वज भी बड़े विकट थे ॥ २४ ॥

व्याघ्रसिंहर्क्षवदना बिडालमकराननाः ।
वृषदंशमुखाश्चान्ये गजोष्ट्रवदनास्तथा ॥ २५ ॥
उलूकवदनाः केचिद् गृध्रगोमायुदर्शनाः ।
क्रौञ्चपारावतनिभैर्वदनै राङ्कवैरपि ॥ २६ ॥

उनमेंसे किन्हींके मुँह बाघ और सिंहके समान थे तो किन्हींके रीछ, बिल्ली और मगरके समान। कितनोंके मुख वन-बिलावोंके तुल्य थे। कितने ही हाथी, ऊँट और उल्लूके समान मुखवाले थे। बहुत-से गीधों और गीदड़ोंके समान दिखायी देते थे। किन्हीं-किन्हींके मुख क्रौञ्च पक्षी, कबूतर और रङ्कु मृगके समान थे ॥ २५-२६ ॥

श्वाविच्छल्यकगोधाखरमजैडकगवां तथा ।
सदृशानि वपूंष्यन्ये तत्र तत्र व्यधारयन् ॥ २७ ॥

बहुतेरे भूत जहाँ-तहाँ हिंसक जन्तु, साही, गोह, बकरी, भेड़ और गायोंके समान शरीर धारण करते थे ॥ २७ ॥

केचिच्छैलाम्बुदप्रख्याश्चक्रोद्यतगदायुधाः ।
केचिदञ्जनपुञ्जाभाः केचिच्छ्वेताचलप्रभाः ॥ २८ ॥

कितने ही मेघों और पर्वतोंके समान जान पड़ते थे। उन्होंने अपने हाथोंमें चक्र और गदा आदि आयुध ले रक्खे थे। कोई अंजन-पुञ्जके समान काले और कोई श्वेत गिरिके समान गौर कान्तिसे सुशोभित होते थे ॥ २८ ॥

सप्त मातृगणाश्चैव समाजग्मुर्विशाम्पते ।
साध्या विश्वेऽथ मरुतो वसवः पितरस्तथा ॥ २९ ॥
रुद्रादित्यास्तथा सिद्धा भुजगा दानवाः खगाः ।
ब्रह्मा स्वयम्भूर्भगवान् सपुत्रः सह विष्णुना ॥ ३० ॥
शक्रस्तथाभ्ययाद् द्रष्टुं कुमारवरमच्युतम् ।

प्रजानाथ! वहाँ सात मातृकाएँ[1] आ गयी थीं। साध्य, विश्व, मरुद्गण, वसुगण, पितर, रुद्र, आदित्य, सिद्ध, भुजङ्ग, दानव, पक्षी, पुत्रसहित स्वयम्भू भगवान् ब्रह्मा, श्रीविष्णु तथा इन्द्र अपने नियमोंसे च्युत न होनेवाले उस श्रेष्ठ कुमारको देखनेके लिये पधारे थे ॥ २९-३०½ ॥

नारदप्रमुखाश्चापि देवगन्धर्वसत्तमाः ॥ ३१ ॥
देवर्षयश्च सिद्धाश्च बृहस्पतिपुरोगमाः ।
पितरो जगतः श्रेष्ठा देवानामपि देवताः ॥ ३२ ॥
तेऽपि तत्र समाजग्मुर्यामा धामाश्च सर्वशः ।

देवताओं और गन्धर्वोंमें श्रेष्ठ नारद आदि देवर्षि, बृहस्पति आदि सिद्ध, सम्पूर्ण जगत्से श्रेष्ठ तथा देवताओंके भी देवता पितृ-गण, सम्पूर्ण यामगण और धामगण भी वहाँ आये थे ॥ ३१-३२½ ॥

स तु बालोऽपि बलवान् महायोगबलान्वितः ॥ ३३ ॥
अभ्याजगाम देवेशं शूलहस्तं पिनाकिनम् ।

बालक होनेपर भी बलशाली एवं महान् योगबलसे सम्पन्न कुमार त्रिशूल और पिनाक धारण करनेवाले देवेश्वर भगवान् शिवकी ओर चले ॥ ३३½ ॥

तमाव्रजन्तमालक्ष्य शिवस्यासीन्मनोगतम् ॥ ३४ ॥
युगपच्छैलपुत्र्याश्च गङ्गायाः पावकस्य च ।

---

[1] १. ब्राह्मी, माहेश्वरी, वैष्णवी, कौमारी, इन्द्राणी, वाराही तथा चामुण्डा—ये सात मातृकाएँ हैं।

कं नु पूर्वमयं बालो गौरवादभ्युपैष्यति ॥ ३५ ॥
अपि मामिति सर्वेषां तेषामासीन्मनोगतम् ।

उन्हें आते देख एक ही समय भगवान् शङ्कर, गिरिराजनन्दिनी उमा, गङ्गा और अग्निदेवके मनमें यह संकल्प उठा कि देखें यह बालक पिता-माताका गौरव प्रदान करनेके लिये पहले किसके पास जाता है ? क्या यह मेरे पास आयेगा ? यह प्रश्न उन सबके मनमें उठा ॥ ३४-३५½ ॥

तेषामेनमभिप्रायं चतुर्णामुपलक्ष्य सः ॥ ३६ ॥
युगपद् योगमास्थाय ससर्ज विविधास्तनूः ।

तब उन सबके अभिप्रायको लक्ष्य करके कुमारने एक ही साथ योगबलका आश्रय ले अपने अनेक शरीर बना लिये ॥

ततोऽभवच्चतुर्मूर्तिः क्षणेन भगवान् प्रभुः ॥ ३७ ॥
तस्य शाखो विशाखश्च नैगमेयश्च पृष्ठतः ।

तदनन्तर प्रभावशाली भगवान् स्कन्द क्षणभरमें चार रूपोंमें प्रकट हो गये । पीछे जो उनकी मूर्तियाँ प्रकट हुईं, उनका नाम क्रमशः शाख, विशाख और नैगमेय हुआ ॥

एवं स कृत्वा ह्यात्मानं चतुर्धा भगवान् प्रभुः ॥ ३८ ॥
यतो रुद्रस्ततः स्कन्दो जगामाद्भुतदर्शनः ।
विशाखस्तु ययौ येन देवी गिरिवरात्मजा ॥ ३९ ॥

इस प्रकार अपने आपको चार स्वरूपोंमें प्रकट करके अद्भुत दिखायी देनेवाले प्रभावशाली भगवान् स्कन्द जहाँ रुद्र थे, उधर ही गये । विशाख उस ओर चल दिये, जिस ओर गिरिराजनन्दिनी उमा देवी बैठी थीं ॥ ३८-३९ ॥

शाखो ययौ स भगवान् वायुमूर्तिर्विभावसुम् ।
नैगमेयोऽगमद् गङ्गां कुमारः पावकप्रभः ॥ ४० ॥

वायुमूर्ति भगवान् शाख अग्निके पास और अग्नितुल्य तेजस्वी नैगमेय गङ्गाजीके निकट गये ॥ ४० ॥

सर्वे भासुरदेहास्ते चत्वारः समरूपिणः ।
तान् समभ्ययुरव्यग्रास्तदद्भुतमिवाभवत् ॥ ४१ ॥

उन चारोंके रूप एक समान थे । उन सबके शरीर तेजसे उद्भासित हो रहे थे । वे चारों कुमार उन चारोंके पास एक साथ जा पहुँचे । वह एक अद्भुत-सा कार्य हुआ ॥ ४१ ॥

हाहाकारो महानासीद् देवदानवरक्षसाम् ।
तद् दृष्ट्वा महदाश्चर्यमद्भुतं लोमहर्षणम् ॥ ४२ ॥

वह महान् आश्चर्यमय, अद्भुत तथा रोमाञ्चकारी घटना देखकर देवताओं, दानवों तथा राक्षसोंमें महान् हाहाकार मच गया ॥ ४२ ॥

ततो रुद्रश्च देवी च पावकश्च पितामहम् ।
गङ्गया सहिताः सर्वे प्रणिपेतुर्जगत्पतिम् ॥ ४३ ॥

तदनन्तर भगवान् रुद्र, देवी पार्वती, अग्निदेव तथा गङ्गाजी—इन सबने एक साथ लोकनाथ ब्रह्माजीको प्रणाम किया ॥

प्रणिपत्य ततस्ते तु विधिवद् राजपुङ्गव ।
इदमूचुर्वचो राजन् कार्तिकेयप्रियेप्सया ॥ ४४ ॥

राजन् ! नृपश्रेष्ठ ! विधिपूर्वक प्रणाम करके वे सब कार्तिकेयका प्रिय करनेकी इच्छासे यह वचन बोले— ॥ ४४ ॥

अस्य बालस्य भगवन्नाधिपत्यं यथेप्सितम् ।
अस्मत्प्रियार्थं देवेश सदृशं दातुमर्हसि ॥ ४५ ॥

'देवेश्वर ! भगवन् ! आप हमलोगोंका प्रिय करनेके लिये इस बालकको यथायोग्य मनकी इच्छाके अनुरूप कोई आधिपत्य प्रदान कीजिये' ॥ ४५ ॥

ततः स भगवान् धीमान् सर्वलोकपितामहः ।
मनसा चिन्तयामास किमयं लभतामिति ॥ ४६ ॥

तदनन्तर सर्वलोकपितामह बुद्धिमान् भगवान् ब्रह्माने मन-ही-मन चिन्तन किया कि 'यह बालक कौन-सा आधिपत्य ग्रहण करे' ॥ ४६ ॥

ऐश्वर्याणि च सर्वाणि देवगन्धर्वरक्षसाम् ।
भूतयक्षविहङ्गानां पन्नगानां च सर्वशः ॥ ४७ ॥
पूर्वमेवादिदेशासौ निकायेषु महात्मनाम् ।
समर्थं च तमैश्वर्ये महामतिरमन्यत ॥ ४८ ॥

महामति ब्रह्माने जगत्के भिन्न-भिन्न पदार्थोंके ऊपर देवता, गन्धर्व, राक्षस, यक्ष, भूत, नाग और पक्षियोंका आधिपत्य पहलेसे ही निर्धारित कर रक्खा था । साथ ही वे कुमारको भी आधिपत्य करनेमें समर्थ मानते थे ॥ ४७-४८ ॥

ततो मुहूर्तं स ध्यात्वा देवानां श्रेयसि स्थितः ।
सैनापत्यं ददौ तस्मै सर्वभूतेषु भारत ॥ ४९ ॥

भरतनन्दन ! तदनन्तर देवगणोंके मङ्गल सम्पादनमें तत्पर हुए ब्रह्माने दो घड़ी तक चिन्तन करनेके पश्चात् सब प्राणियोंमें श्रेष्ठ कार्तिकेयको सम्पूर्ण देवताओंका सेनापति पद प्रदान किया ॥ ४९ ॥

सर्वदेवनिकायानां ये राजानः परिश्रुताः ।
तान् सर्वान् व्यादिदेशास्मै सर्वभूतपितामहः ॥ ५० ॥

जो सम्पूर्ण देवसमूहोंके राजारूपमें विख्यात थे, उन सबको सर्वभूतपितामह ब्रह्माने कुमारके अधीन रहनेका आदेश दिया ॥ ५० ॥

ततः कुमारमादाय देवा ब्रह्मपुरोगमाः ।
अभिषेकार्थमाजग्मुः शैलेन्द्रं सहितास्ततः ॥ ५१ ॥
पुण्यां हैमवतीं देवीं सरिच्छ्रेष्ठां सरस्वतीम् ।
समन्तपञ्चके या वै त्रिषु लोकेषु विश्रुता ॥ ५२ ॥

तब ब्रह्मा आदि देवता अभिषेकके लिये कुमारको लेकर एक साथ गिरिराज हिमालयपर वहाँसे निकली हुई सरिताओंमें श्रेष्ठ पुण्यसलिला सरस्वती देवीके तटपर गये, जो समन्तपञ्चक तीर्थमें प्रवाहित होकर तीनों लोकोंमें विख्यात है ॥ ५१-५२ ॥

तत्र तीरे सरस्वत्याः पुण्ये सर्वगुणान्विते ।
निषेदुर्देवगन्धर्वाः सर्वे सम्पूर्णमानसाः ॥ ५३ ॥

वहाँ वे सभी देवता और गन्धर्व पूर्ण मनोरथ हो सरस्वतीके सर्वगुणसम्पन्न पावन तटपर विराजमान हुए ॥ ५३ ॥

इति श्रीमहाभारते शल्यपर्वणि गदापर्वणि बलदेवतीर्थयात्रायां सारस्वतोपाख्याने कुमाराभिषेकोपक्रमे चतुश्चत्वारिंशोऽध्यायः ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शल्यपर्वके अन्तर्गत गदापर्वमें बलदेवजीकी तीर्थयात्रा और सारस्वतोपाख्यानके प्रसङ्गमें कुमारके अभिषेककी तैयारीविषयक चौवालीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ४४ ॥

पञ्चचत्वारिंशोऽध्यायः

स्कन्दका अभिषेक और उनके महापार्षदोंके नाम, रूप आदिका वर्णन

वैशम्पायन उवाच

ततोऽभिषेकसम्भारान् सर्वान् सम्भृत्य शास्त्रतः।
बृहस्पतिः समिद्धेऽग्नौ जुहावाग्निं यथाविधि ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन्! तदनन्तर बृहस्पतिजीने सम्पूर्ण अभिषेकसामग्रीका संग्रह करके शास्त्रीय पद्धतिसे प्रज्वलित की हुई अग्निमें विधिपूर्वक होम किया ॥ १ ॥

ततो हिमवता दत्ते मणिप्रवरशोभिते।
दिव्यरत्नाचिते पुण्ये निषण्णं परमासने ॥ २ ॥
सर्वमङ्गलसम्भारैर्विधिमन्त्रपुरस्कृतम् ।
आभिषेचनिकं द्रव्यं गृहीत्वा देवतागणाः ॥ ३ ॥

तत्पश्चात् हिमवान्‌के दिये हुए उत्तम मणियोंसे सुशोभित तथा दिव्य रत्नोंसे जटित पवित्र सिंहासनपर कुमार कार्तिकेय विराजमान हुए। उस समय उनके पास सम्पूर्ण माङ्गलिक उपकरणोंके साथ विधि एवं मन्त्रोच्चारणपूर्वक अभिषेक-द्रव्य लेकर समस्त देवता वहाँ पधारे ॥ २-३ ॥

इन्द्राविष्णू महावीर्यौ सूर्याचन्द्रमसौ तथा।
धाता चैव विधाता च तथा चैवानिलानलौ ॥ ४ ॥
पूष्णा भगेनार्यम्णा च अंशेन च विवस्वता।
रुद्रश्च सहितो धीमान् मित्रेण वरुणेन च ॥ ५ ॥
रुद्रैर्वसुभिरादित्यैरश्विभ्यां च वृतः प्रभुः।

महापराक्रमी इन्द्र और विष्णु, सूर्य और चन्द्रमा, धाता और विधाता, वायु और अग्नि, पूषा, भग, अर्यमा, अंश, विवस्वान्, मित्र और वरुणके साथ बुद्धिमान् रुद्रदेव, एकादश रुद्रगण, आठ वसु, बारह आदित्य और दोनों अश्विनीकुमार—ये सब-के-सब प्रभावशाली कुमार कार्तिकेयको घेरकर खड़े हुए ॥ ४-५½ ॥

विश्वेदेवैर्मरुद्भिश्च साध्यैश्च पितृभिः सह ॥ ६ ॥
गन्धर्वैरप्सरोभिश्च यक्षराक्षसपन्नगैः।
देवर्षिभिरसंख्यातैस्तथा ब्रह्मर्षिभिस्तथा ॥ ७ ॥
वैखानसैर्वालखिल्यैर्वाय्वाहारैर्मरीचिपैः ।
भृगुभिश्चाङ्गिरोभिश्च यतिभिश्च महात्मभिः ॥ ८ ॥
सर्पैर्विद्याधरैः पुण्यैर्योगसिद्धैस्तथा वृतः।

विश्वेदेव, मरुद्गण, साध्यगण, पितृगण, गन्धर्व, अप्सरा, यक्ष, राक्षस, नाग, असंख्य देवर्षि, ब्रह्मर्षि, वनवासी मुनि, वालखिल्य, वायु पीकर रहनेवाले ऋषि, सूर्यकी किरणोंका पान करनेवाले मुनि, भृगु और अङ्गिराके वंशमें उत्पन्न महर्षि, महात्मा यतिगण, सर्प, विद्याधर तथा पुण्यात्मा योगसिद्ध मुनि भी कार्तिकेयको घेरकर खड़े हुए ॥ ६—८½ ॥

पितामहः पुलस्त्यश्च पुलहश्च महातपाः ॥ ९ ॥
अङ्गिराः कश्यपोऽत्रिश्च मरीचिर्भृगुरेव च।
क्रतुर्हरः प्रचेताश्च मनुर्दक्षस्तथैव च ॥ १० ॥
ऋतवश्च ग्रहाश्चैव ज्योतींषि च विशाम्पते।
मूर्तिमत्यश्च सरितो वेदाश्चैव सनातनाः ॥ ११ ॥
समुद्राश्च ह्रदाश्चैव तीर्थानि विविधानि च।
पृथिवी द्यौर्दिशश्चैव पादपाश्च जनाधिप ॥ १२ ॥
अदितिर्देवमाता च ह्रीः श्रीः स्वाहा सरस्वती।
उमा शची सिनीवाली तथा चानुमतिः कुहूः ॥ १३ ॥
राका च धिषणा चैव पत्न्यश्चान्या दिवौकसाम्।
हिमवांश्चैव विन्ध्यश्च मेरुश्चानेकशृङ्गवान् ॥ १४ ॥
ऐरावतः सानुचरः कलाः काष्ठास्तथैव च।
मासार्धमासा ऋतवस्तथा राज्यहनी नृप ॥ १५ ॥
उच्चैःश्रवा हयश्रेष्ठो नागराजश्च वासुकिः।
अरुणो गरुडश्चैव वृक्षाश्चौषधिभिः सह ॥ १६ ॥
धर्मश्च भगवान् देवः समाजग्मुर्हि सङ्गताः।
कालो यमश्च मृत्युश्च यमस्यानुचराश्च ये ॥ १७ ॥

प्रजानाथ! ब्रह्माजी, पुलस्त्य, महातपस्वी पुलह, अङ्गिरा, कश्यप, अत्रि, मरीचि, भृगु, क्रतु, हर, वरुण, मनु, दक्ष, ऋतु, ग्रह, नक्षत्र, मूर्तिमती सरिताएँ, मूर्तिमान् सनातन वेद, समुद्र, सरोवर, नाना प्रकारके तीर्थ, पृथिवी, द्युलोक, दिशा, वृक्ष, देवमाता अदिति, ह्री, श्री, स्वाहा, सरस्वती, उमा, शची, सिनीवाली, अनुमति, कुहू, राका, धिषणा, देवताओंकी अन्यान्य पत्नियाँ, हिमवान्, विन्ध्य, अनेक शिखरोंसे सुशोभित मेरुगिरि, अनुचरोंसहित ऐरावत, कला, काष्ठा, मास, पक्ष, ऋतु, रात्रि, दिन, अश्वोंमें श्रेष्ठ उच्चैःश्रवा, नागराज वासुकि, अरुण, गरुड़, ओषधियों-सहित वृक्ष, भगवान् धर्मदेव, काल, यम, मृत्यु तथा यमके अनुचर—ये सब-के-सब वहाँ एक साथ पधारे थे ॥ ९—१७ ॥

बहुलत्वाच्च नोक्ता ये विविधा देवतागणाः।
ते कुमाराभिषेकार्थं समाजग्मुस्ततस्ततः ॥ १८ ॥

संख्यामें अधिक होनेके कारण जिनके नाम यहाँ नहीं बताये गये हैं, वे सभी नाना प्रकारके देवता कुमार कार्तिकेयका अभिषेक करनेके लिये इधर-उधरसे वहाँ आ पहुँचे थे ॥ १८ ॥

जगृहुस्ते तदा राजन् सर्व एव दिवौकसः।
आभिषेचनिकं भाण्डं मङ्गलानि च सर्वशः ॥ १९ ॥

राजन्! उस समय उन सभी देवताओंने अभिषेकके पात्र और सब प्रकारके माङ्गलिक द्रव्य हाथोंमें ले रक्खे थे ॥ १९ ॥

दिव्यसम्भारसंयुक्तैः कलशैः काञ्चनैर्नृप।
सरस्वतीभिः पुण्याभिर्दिव्यतोयाभिरेव तु ॥ २० ॥
अभ्यषिञ्चन् कुमारं वै सम्प्रहृष्टा दिवौकसः।
सेनापतिं महात्मानमसुराणां भयंकरम् ॥ २१ ॥

नरेश्वर! हर्षसे उत्फुल्ल देवता पवित्र एवं दिव्य जलवाली सातों सरस्वती नदियोंके जलसे भरे हुए, दिव्य सामग्रियोंसे सम्पन्न, सुवर्णमय कलशोंद्वारा असुर-भयंकर महामनस्वी-कुमार कार्तिकेयका सेनापतिके पदपर अभिषेक करने लगे ॥

पुरा यथा महाराज वरुणं वै जलेश्वरम् ।
तथाभ्यषिञ्चद् भगवान् सर्वलोकपितामहः ॥ २२ ॥
कश्यपश्च महातेजा ये चान्ये लोकविश्रुताः ।

महाराज ! जैसे पूर्वकालमें जलके स्वामी वरुणका अभिषेक किया गया था, उसी प्रकार सर्वलोकपितामह भगवान् ब्रह्मा, महातेजस्वी कश्यप तथा दूसरे विश्वविख्यात महर्षियोंने कार्तिकेयका अभिषेक किया ॥ २२½ ॥

तस्मै ब्रह्मा ददौ प्रीतो बलिनो वातरंहसः ॥ २३ ॥
कामवीर्यधरान् सिद्धान् महापारिषदान् प्रभुः ।
नन्दिसेनं लोहिताक्षं घण्टाकर्णं च सम्मतम् ॥ २४ ॥
चतुर्थमस्यानुचरं ख्यातं कुमुदमालिनम् ।

उस समय भगवान् ब्रह्माने संतुष्ट होकर कार्तिकेयको वायुके समान वेगशाली, इच्छानुसार शक्तिधारी, बलवान् और सिद्ध चार महान् अनुचर प्रदान किये, जिनमें पहला नन्दिसेन, दूसरा लोहिताक्ष, तीसरा परम प्रिय घंटाकर्ण और उनका चौथा अनुचर कुमुदमालीके नामसे विख्यात था ॥ २३-२४½ ॥

तत्र स्थाणुर्महातेजा महापारिषदं प्रभुः ॥ २५ ॥
मायाशतधरं कामं कामवीर्यं बलान्वितम् ।
ददौ स्कन्दाय राजेन्द्र सुरारिविनिबर्हणम् ॥ २६ ॥

राजेन्द्र ! फिर वहाँ महातेजस्वी भगवान् शङ्करने स्कन्दको एक महान् असुर समर्पित किया, जो सैकड़ों मायाओंको धारण करनेवाला, इच्छानुसार बल-पराक्रमसे सम्पन्न तथा दैत्योंका संहार करनेमें समर्थ था ॥ २५-२६ ॥

स हि देवासुरे युद्धे दैत्यानां भीमकर्मणाम् ।
जघान दोर्भ्यां संक्रुद्धः प्रयुतानि चतुर्दश ॥ २७ ॥

उसने देवासुरसंग्राममें अत्यन्त कुपित होकर भयानक कर्म करनेवाले चौदह प्रयुत[1] दैत्योंका केवल अपनी दोनों भुजाओंसे वध कर डाला था ॥ २७ ॥

तथा देवा ददुस्तस्मै सेनां नैर्ऋतसंकुलाम् ।
देवशत्रुक्षयकरीमजय्यां विष्णुरूपिणीम् ॥ २८ ॥

इसी प्रकार देवताओंने उन्हें देव-शत्रुओंका विनाश करनेवाली, अजेय एवं विष्णुरूपिणी सेना प्रदान की, जो नैर्ऋतोंसे भरी हुई थी ॥ २८ ॥

जयशब्दं तथा चक्रुर्देवाः सर्वे सवासवाः ।
गन्धर्वा यक्षरक्षांसि मुनयः पितरस्तथा ॥ २९ ॥

उस समय इन्द्रसहित सम्पूर्ण देवताओं, गन्धर्वों, यक्षों, राक्षसों, मुनियों तथा पितरोंने जय-जयकार किया ॥ २९ ॥

ततः प्रादादनुचरौ यमः कालोपमावुभौ ।
उन्माथश्च प्रमाथश्च महावीर्यौ महाद्युती ॥ ३० ॥

तत्पश्चात् यमराजने उन्हें दो अनुचर प्रदान किये, जिनके नाम थे उन्माथ और प्रमाथ । वे दोनों कालके समान महापराक्रमी और महातेजस्वी थे ॥ ३० ॥

सुभ्राजो भास्वरश्चैव यौ तौ सूर्यानुयायिनौ ।
तौ सूर्यः कार्तिकेयाय ददौ प्रीतः प्रतापवान् ॥ ३१ ॥

सुभ्राज और भास्वर—जो सूर्यके अनुचर थे, उन्हें प्रतापी सूर्यने प्रसन्न होकर कार्तिकेयकी सेवामें दे दिया ॥ ३१ ॥

कैलासशृङ्गसंकाशौ श्वेतमाल्यानुलेपनौ ।
सोमोऽप्यनुचरौ प्रादान्मणिं सुमणिमेव च ॥ ३२ ॥

चन्द्रमाने भी कैलास-शिखरके समान श्वेतवर्णवाले तथा श्वेत माला और श्वेत चन्दन धारण करनेवाले दो अनुचर प्रदान किये, जिनके नाम थे मणि और सुमणि ॥ ३२ ॥

ज्वालाजिह्वं तथा ज्योतिरात्मजाय हुताशनः ।
ददावनुचरौ शूरौ परसैन्यप्रमाथिनौ ॥ ३३ ॥

अग्निदेवने भी अपने पुत्र स्कन्दको ज्वालाजिह्व तथा ज्योति नामक दो शूर सेवक प्रदान किये, जो शत्रुसेनाको मथ डालनेवाले थे ॥ ३३ ॥

परिघं च वटं चैव भीमं च सुमहाबलम् ।
दहतिं दहनं चैव प्रचण्डौ वीर्यसम्मतौ ॥ ३४ ॥
अंशोऽप्यनुचरान् पञ्च ददौ स्कन्दाय धीमते ।

अंशने भी बुद्धिमान् स्कन्दको पाँच अनुचर प्रदान किये, जिनके नाम इस प्रकार हैं—परिघ, वट, महाबली भीम तथा दहति और दहन । इनमेंसे दहति और दहन बड़े प्रचण्ड तथा बल-पराक्रमकी दृष्टिसे सम्मानित थे ॥ ३४½ ॥

उत्क्रोशं पञ्चकं चैव वज्रदण्डधरावुभौ ॥ ३५ ॥
ददावनलपुत्राय वासवः परवीरहा ।
तौ हि शत्रून् महेन्द्रस्य जघ्नतुः समरे बहून् ॥ ३६ ॥

शत्रुवीरोंका संहार करनेवाले इन्द्रने अग्निकुमार स्कन्दको उत्क्रोश और पञ्चक नामक दो अनुचर प्रदान किये । वे दोनों क्रमशः वज्र और दण्ड धारण करनेवाले थे । उन दोनोंने समराङ्गणमें इन्द्रके बहुत-से शत्रुओंका संहार कर डाला था ॥

चक्रं विक्रमकं चैव संक्रमं च महाबलम् ।
स्कन्दाय त्रीननुचरान् ददौ विष्णुर्महायशाः ॥ ३७ ॥

महायशस्वी भगवान् विष्णुने स्कन्दको चक्र, विक्रम और महाबली संक्रम—ये तीन अनुचर दिये ॥ ३७ ॥

वर्धनं नन्दनं चैव सर्वविद्याविशारदौ ।
स्कन्दाय ददतुः प्रीतावश्विनौ भिषजां वरौ ॥ ३८ ॥

सम्पूर्ण विद्याओंमें प्रवीण चिकित्सकचूड़ामणि अश्विनीकुमारोंने प्रसन्न होकर स्कन्दको वर्धन और नन्दन नामक दो सेवक दिये ॥ ३८ ॥

कुन्दं च कुसुमं चैव कुमुदं च महायशाः ।
डम्बराडम्बरौ चैव ददौ धाता महात्मने ॥ ३९ ॥

महायशस्वी धाताने महात्मा स्कन्दको कुन्द, कुसुम, कुमुद, डम्बर और आडम्बर—ये पाँच सेवक प्रदान किये ॥

चक्रानुचक्रौ बलिनौ मेघचक्रौ बलोत्कटौ ।
ददौ त्वष्टा महामायौ स्कन्दायानुचरावुभौ ॥ ४० ॥

प्रजापति त्वष्टाने बलवान्, बलोन्मत्त, महामायावी और मेघचक्रधारी चक्र और अनुचक्र नामक दो अनुचर स्कन्दकी सेवामें उपस्थित किये ॥ ४० ॥

सुव्रतं सत्यसंधं च ददौ मित्रो महात्मने ।

[1] एक प्रयुत दस लाखके बराबर होता है ।

कुमाराय महात्मानौ तपोविद्याधरौ प्रभुः ॥ ४१ ॥
सुदर्शनीयौ वरदौ त्रिषु लोकेषु विश्रुतौ ।

भगवान् मित्रने महात्मा कुमारको सुव्रत और सत्यसंध नामक दो सेवक प्रदान किये । वे दोनों ही तप और विद्या धारण करनेवाले तथा महामनस्वी थे । इतना ही नहीं, वे देखनेमें बड़े ही सुन्दर, वर देनेमें समर्थ तथा तीनों लोकोंमें विख्यात थे ॥ ४१½ ॥

सुव्रतं च महात्मानं शुभकर्माणमेव च ॥ ४२ ॥
कार्तिकेयाय सम्प्रादाद् विधाता लोकविश्रुतौ ।

विधाताने कार्तिकेयको महामना सुव्रत और सुकर्मा—ये दो लोक-विख्यात सेवक प्रदान किये ॥ ४२½ ॥

पाणीतकं कालिकं च महामायाविनावुभौ ॥ ४३ ॥
पूषा च पार्षदौ प्रादात् कार्तिकेयाय भारत ।

भरतनन्दन ! पूषाने कार्तिकेयको पाणीतक और कालिक नामक दो पार्षद प्रदान किये । वे दोनों ही बड़े भारी मायावी थे॥

बलं चातिबलं चैव महावक्त्रौ महाबलौ ॥ ४४ ॥
प्रददौ कार्तिकेयाय वायुर्भरतसत्तम ।

भरतश्रेष्ठ ! वायु देवताने कृत्तिकाकुमारको महान् बल-शाली एवं विशाल मुखवाले बल और अतिबल नामक दो सेवक प्रदान किये ॥ ४४½ ॥

यमं चातियमं चैव तिमिवक्त्रौ महाबलौ ॥ ४५ ॥
प्रददौ कार्तिकेयाय वरुणः सत्यसङ्गरः ।

सत्यप्रतिज्ञ वरुणने कृत्तिकानन्दन स्कन्दको यम और अतियम नामक दो महाबली पार्षद दिये, जिनके मुख तिमि नामक महामत्स्यके समान थे ॥ ४५½ ॥

सुवर्चसं महात्मानं तथैवाप्यतिवर्चसम् ॥ ४६ ॥
हिमवान् प्रददौ राजन् हुताशनसुताय वै ।

राजन् ! हिमवान्ने अग्निकुमारको महामना सुवर्चा और अतिवर्चा नामक दो पार्षद प्रदान किये ॥ ४६½ ॥

काञ्चनं च महात्मानं मेघमालिनमेव च ॥ ४७ ॥
ददावनुचरौ मेरुरग्निपुत्राय भारत ।

भारत ! मेरुने अग्निपुत्र स्कन्दको महामना काञ्चन और मेघमाली नामक दो अनुचर अर्पित किये ॥ ४७½ ॥

स्थिरं चातिस्थिरं चैव मेरुरेवापरौ ददौ ॥ ४८ ॥
महात्मा त्वग्निपुत्राय महाबलपराक्रमौ ।

महामना मेरुने ही अग्निपुत्र कार्तिकेयको स्थिर और अतिस्थिर नामक दो पार्षद और दिये । वे दोनों महान् बल और पराक्रमसे सम्पन्न थे ॥ ४८½ ॥

उच्छ्रृङ्गं चातिश्रृङ्गं च महापाषाणयोधिनौ ॥ ४९ ॥
प्रददावग्निपुत्राय विन्ध्यः पारिषदावुभौ ।

विन्ध्य पर्वतने भी अग्निकुमारको दो पार्षद प्रदान किये, जिनके नाम थे उच्छ्रृङ्ग और अतिश्रृङ्ग । वे दोनों ही बड़े-बड़े पत्थरोंकी चट्टानोंद्वारा युद्ध करनेमें कुशल थे ॥ ४९½ ॥

संग्रहं विग्रहं चैव समुद्रोऽपि गदाधरौ ॥ ५० ॥
प्रददावग्निपुत्राय महापारिषदावुभौ ।

समुद्रने भी अग्निपुत्रको दो गदाधारी महापार्षद दिये, जिनके नाम थे—संग्रह और विग्रह ॥ ५०½ ॥

उन्मादं शङ्कुकर्णं च पुष्पदन्तं तथैव च ॥ ५१ ॥
प्रददावग्निपुत्राय पार्वती शुभदर्शना ।

शुभदर्शना पार्वती देवीने अग्निपुत्रको तीन पार्षद दिये—उन्माद, शङ्कुकर्ण तथा पुष्पदन्त ॥ ५१½ ॥

जयं महाजयं चैव नागौ ज्वलनसूनवे ॥ ५२ ॥
प्रददौ पुरुषव्याघ्र वासुकिः पन्नगेश्वरः ।

पुरुषसिंह ! नागराज वासुकिने अग्निकुमारको पार्षदरूपसे जय और महाजय नामक दो नाग भेंट किये ॥ ५२½ ॥

एवं साध्याश्च रुद्राश्च वसवः पितरस्तथा ॥ ५३ ॥
सागराः सरितश्चैव गिरयश्च महाबलाः ।
ददुः सेनागणाध्यक्षान् शूलपट्टिशधारिणः ॥ ५४ ॥
दिव्यप्रहरणोपेतान् नानावेषविभूषितान् ।

इस प्रकार साध्य, रुद्र, वसु, पितृगण, समुद्र, सरिताओं और महाबली पर्वतोंने उन्हें विभिन्न सेनापति अर्पित किये, जो शूल, पट्टिश और नाना प्रकारके दिव्य आयुध धारण किये हुए थे । वे सब-के-सब भाँति-भाँतिकी वेश-भूषासे विभूषित थे ॥ ५३-५४½ ॥

शृणु नामानि चाप्येषां येऽन्ये स्कन्दस्य सैनिकाः॥ ५५॥
विविधायुधसम्पन्नाश्चित्राभरणभूषिताः ।

स्कन्दके जो नाना प्रकारके अस्त्र-शस्त्रोंसे सम्पन्न और विचित्र आभूषणोंसे विभूषित अन्य सैनिक थे, उनके नाम सुनो ॥

शङ्कुकर्णो निकुम्भश्च पद्मः कुमुद एव च ॥ ५६ ॥
अनन्तो द्वादशभुजस्तथा कृष्णोपकृष्णकौ ।
घ्राणश्रवाः कपिस्कन्धः काञ्चनाक्षो जलन्धमः ॥ ५७ ॥
अक्षः संतर्जनो राजन् कुनदीकस्तमोऽन्तकृत् ।
एकाक्षो द्वादशाक्षश्च तथैवैकजटः प्रभुः ॥ ५८ ॥
सहस्रबाहुर्विकटो व्याघ्राक्षः क्षितिकम्पनः ।
पुण्यनामा सुनामा च सुचक्रः प्रियदर्शनः ॥ ५९ ॥
परिश्रुतः कोकनदः प्रियमाल्यानुलेपनः ।
अजोदरो गजशिराः स्कन्धाक्षः शतलोचनः ॥ ६० ॥
ज्वालाजिह्वः करालाक्षः शितिकेशो जटी हरिः ।
परिश्रुतः कोकनदः कृष्णकेशो जटाधरः ॥ ६१ ॥
चतुर्दंष्ट्रोऽष्टजिह्वश्च मेघनादः पृथुश्रवाः ।
विद्युताक्षो धनुर्वक्त्रो जाठरो मारुताशनः ॥ ६२ ॥
उदाराक्षो रथाक्षश्च वज्रनाभो वसुप्रभः ।
समुद्रवेगो राजेन्द्र शैलकम्पी तथैव च ॥ ६३ ॥
वृषो मेषः प्रवाहश्च तथा नन्दोपनन्दकौ ।
धूम्रः श्वेतः कलिङ्गश्च सिद्धार्थो वरदस्तथा ॥ ६४ ॥
प्रियकश्चैव नन्दश्च गोनन्दश्च प्रतापवान् ।
आनन्दश्च प्रमोदश्च स्वस्तिको ध्रुवकस्तथा ॥ ६५ ॥
क्षेमवाहः सुवाहश्च सिद्धपात्रश्च भारत ।
गोव्रजः कनकापीडो महापारिषदेश्वरः ॥ ६६ ॥
गायनो हसनश्चैव बाणः खड्गश्च वीर्यवान् ।

वैताली गतिताली च तथा कथकवातिकौ ॥ ६७ ॥
हंसजः पङ्कदिग्धाङ्गः समुद्रोन्मादनश्च ह ।
रणोत्कटः प्रहासश्च श्वेतसिद्धश्च नन्दनः ॥ ६८ ॥
कालकण्ठः प्रभासश्च तथा कुम्भाण्डकोदरः ।
कालकक्षः सितश्चैव भूतानां मथनस्तथा ॥ ६९ ॥
यज्ञवाहः सुवाहश्च देवयाजी च सोमपः ।
मज्जानश्च महातेजाः क्रथक्राथौ च भारत ॥ ७० ॥
तुहरश्च तुहारश्च चित्रदेवश्च वीर्यवान् ।
मधुरः सुप्रसादश्च किरीटी च महाबलः ॥ ७१ ॥
वत्सलो मधुवर्णश्च कलशोदर एव च ।
धर्मदो मन्मथकरः सूचीवक्त्रश्च वीर्यवान् ॥ ७२ ॥
श्वेतवक्त्रः सुवक्त्रश्च चारुवक्त्रश्च पाण्डुरः ।
दण्डबाहुः सुबाहुश्च रजः कोकिलकस्तथा ॥ ७३ ॥
अचलः कनकाक्षश्च बालानामपि यः प्रभुः ।
संचारकः कोकनदो गृध्रपत्रश्च जम्बुकः ॥ ७४ ॥
लोहाजवक्त्रो जवनः कुम्भवक्त्रश्च कुम्भकः ।
स्वर्णग्रीवश्च कृष्णौजा हंसवक्त्रश्च चन्द्रभः ॥ ७५ ॥
पाणिकूर्चश्च शम्बूकः पञ्चवक्त्रश्च शिक्षकः ।
चापवक्त्रश्च जम्बूकः शाकवक्त्रश्च कुञ्जलः ॥ ७६ ॥

शङ्कुकर्ण, निकुम्भ, पद्म, कुमुद, अनन्त, द्वादशभुज, कृष्ण, उपकृष्ण, घ्राणश्रवा, कपिस्कन्ध, काञ्चनाक्ष, जलन्धम, अक्ष, संतर्जन, कुनदीक, तमोऽन्तकृत्, एकाक्ष, द्वादशाक्ष, एकजट, प्रभु, सहस्रबाहु, विकट, व्याघ्राक्ष, क्षितिकम्पन, पुण्यनामा, सुनामा, सुचक्र, प्रियदर्शन, परिश्रुत, कोकनद, प्रियमाल्यानुलेपन, अजोदर, गजशिरा, स्कन्धाक्ष, शतलोचन, ज्वालाजिह्व, करालाक्ष, शितिकेश, जटी, हरि, परिश्रुत, कोकनद, कृष्णकेश, जटाधर, चतुर्दंष्ट्र, अष्टजिह्व, मेघनाद, पृथुश्रवा, विद्युताक्ष, धनुर्वक्त्र, जाठर, मारुताशन, उदाराक्ष, रथाक्ष, वज्रनाभ, वसुप्रभ, समुद्रवेग, शैलकम्पी, वृष, मेष, प्रवाह, नन्द, उपनन्द, धूम्र, श्वेत, कलिङ्ग, सिद्धार्थ, वरद, प्रियक, नन्द, प्रतापी गोनन्द, आनन्द, प्रमोद, स्वस्तिक, ध्रुवक, क्षेमवाह, सुवाह, सिद्धपात्र, गोव्रज, कनकापीड, महापारिषदेश्वर, गायन, हसन, बाण, पराक्रमी खड्ग, वैताली, गतिताली, कथक, वातिक, हंसज, पङ्कदिग्धाङ्ग, समुद्रोन्मादन, रणोत्कट, प्रहास, श्वेतसिद्ध, नन्दन, कालकण्ठ, प्रभास, कुम्भाण्डकोदर, कालकक्ष, सित, भूतमथन, यज्ञवाह, सुवाह, देवयाजी, सोमप, मज्जान, महातेजा, क्रथ, क्राथ, तुहर, तुहार, पराक्रमी चित्रदेव, मधुर, सुप्रसाद, किरीटी, महाबल, वत्सल, मधुवर्ण, कलशोदर, धर्मद, मन्मथकर, शक्तिशाली सूचीवक्त्र, श्वेतवक्त्र, सुवक्त्र, चारुवक्त्र, पाण्डुर, दण्डबाहु, सुबाहु, रज, कोकिलक, अचल, कनकाक्ष, बालस्वामी, संचारक, कोकनद, गृध्रपत्र, जम्बुक, लोहवक्त्र, अजवक्त्र, जवन, कुम्भवक्त्र, कुम्भक, स्वर्णग्रीव, कृष्णौजा, हंसवक्त्र, चन्द्रभ, पाणिकूर्च, शम्बूक, पञ्चवक्त्र, शिक्षक, चापवक्त्र, जम्बूक, शाकवक्त्र और कुञ्जल ॥ ५६—७६ ॥

योगयुक्ता महात्मानः सततं ब्राह्मणप्रियाः ।
पैतामहा महात्मानो महापारिषदाश्च ये ॥ ७७ ॥
यौवनस्थाश्च बालाश्च वृद्धाश्च जनमेजय ।
सहस्रशः पारिषदाः कुमारमवतस्थिरे ॥ ७८ ॥

जनमेजय! ये सब पार्षद योगयुक्त, महामना तथा निरन्तर ब्राह्मणोंसे प्रेम रखनेवाले हैं। इनके सिवा, पितामह ब्रह्माजीके दिये हुए जो महामना महापार्षद हैं, वे तथा दूसरे बालक, तरुण एवं वृद्ध सहस्रों पार्षद कुमारकी सेवामें उपस्थित हुए॥ ७७-७८ ॥

वक्त्रैर्नानाविधैर्ये तु शृणु ताञ्जनमेजय ।
कूर्मकुक्कुटवक्त्राश्च शशोलूकमुखास्तथा ॥ ७९ ॥
खरोष्ट्रवदनाश्चान्ये वराहवदनास्तथा ।

जनमेजय! उन सबके नाना प्रकारके मुख थे। किनके कैसे मुख थे? यह बताता हूँ, सुनो। कुछ पार्षदोंके मुख कछुओं और मुर्गोंके समान थे, कितनोंके मुख खरगोश, उल्लू, गदहा, ऊँट और सूअरके समान थे ॥ ७९½ ॥

मार्जारशशवक्त्राश्च दीर्घवक्त्राश्च भारत ॥ ८० ॥
नकुलोलूकवक्त्राश्च काकवक्त्रास्तथा परे ।
आखुबभ्रुकवक्त्राश्च मयूरवदनास्तथा ॥ ८१ ॥

भारत! बहुतोंके मुख बिल्ली और खरगोशके समान थे। किन्हींके मुख बहुत बड़े थे और किन्हींके नेवले, उल्लू, कौए, चूहे, बभ्रु तथा मयूरके मुखोंके समान थे ॥८०-८१॥

मत्स्यमेषाननाश्चान्ये अजाविमहिषाननाः ।
ऋक्षशार्दूलवक्त्राश्च द्वीपिसिंहाननास्तथा ॥ ८२ ॥

किन्हीं-किन्हींके मुख मछली, मेढे, बकरी, भेड़, भैंसे, रीछ, व्याघ्र, भेड़िये तथा सिंहोंके समान थे ॥ ८२ ॥

भीमा गजाननाश्चैव तथा नक्रमुखाश्च ये ।
गरुडाननाः कङ्कमुखा वृककाकमुखास्तथा ॥ ८३ ॥

किन्हींके मुख हाथीके समान थे, इसलिये वे बड़े भयानक जान पड़ते थे। कुछ पार्षदोंके मुख मगर, गरुड़, कङ्क, भेड़ियों और कौओंके समान जान पड़ते थे ॥ ८३ ॥

गोखरोष्ट्रमुखाश्चान्ये वृषदंशमुखास्तथा ।
महाजठरपादाङ्गास्तारकाक्षाश्च भारत ॥ ८४ ॥

भारत! कुछ पार्षद गाय, गदहा, ऊँट और वनबिलावके समान मुख धारण करते थे। किन्हींके पेट, पैर और दूसरे-दूसरे अङ्ग भी विशाल थे। उनकी आँखें तारोंके समान चमकती थीं ॥ ८४ ॥

पारावतमुखाश्चान्ये तथा वृषमुखाः परे ।
कोकिलाभाननाश्चान्ये श्येनतित्तिरिकाननाः ॥ ८५ ॥

कुछ पार्षदोंके मुख कबूतर, बैल, कोयल, बाज और तीतरोंके समान थे ॥ ८५ ॥

कृकलासमुखाश्चैव विरजोऽम्बरधारिणः ।
व्यालवक्त्राः शूलमुखाश्चण्डवक्त्राः शुभाननाः ॥८६॥

किन्हीं-किन्हींके मुख गिरगिटके समान जान पड़ते थे। कुछ बहुत ही श्वेत वस्त्र धारण करते थे। किन्हींके मुख सर्पोंके समान थे तो किन्हींके शूलके समान। किन्हींके मुखसे

अत्यन्त क्रोध टपकता था और किन्हींके मुखपर सौम्यभाव छा रहा था ॥ ८६ ॥

आशीविषाश्चीरधरा गोनासावदनास्तथा ।
स्थूलोदराः कृशाङ्गाश्च स्थूलाङ्गाश्च कृशोदराः ॥ ८७ ॥

कुछ विषधर सर्पोंके समान जान पड़ते थे । कोई चीर धारण करते थे और किन्हीं-किन्हींके मुख गायके नथुनोंके समान प्रतीत होते थे । किन्हींके पेट बहुत मोटे थे और किन्हींके अत्यन्त कृश । कोई शरीरसे बहुत दुबले-पतले थे तो कोई महास्थूलकाय दिखायी देते थे ॥ ८७ ॥

ह्रस्वग्रीवा महाकर्णा नानाव्यालविभूषणाः ।
गजेन्द्रचर्मवसनास्तथा कृष्णाजिनाम्बराः ॥ ८८ ॥

किन्हींकी गर्दन छोटी और कान बड़े-बड़े थे । नाना प्रकारके सर्पोंको उन्होंने आभूषणके रूपमें धारण कर रक्खा था । कोई अपने शरीरमें हाथीकी खाल लपेटे हुए थे तो कोई काला मृगछाला धारण करते थे ॥ ८८ ॥

स्कन्धेमुखा महाराज तथाप्युदरतोमुखाः ।
पृष्ठेमुखा हनुमुखास्तथा जङ्घामुखा अपि ॥ ८९ ॥

महाराज ! किन्हींके मुख कंधोंपर थे तो किन्हींके पेटमें । कोई पीठमें, कोई दाढ़ीमें और कोई जाँघोंमें ही मुख धारण करते थे ॥ ८९ ॥

पार्श्वाननाश्च बहवो नानादेशमुखास्तथा ।
तथा कीटपतङ्गानां सदृशास्या गणेश्वराः ॥ ९० ॥

बहुत-से ऐसे भी थे, जिनके मुख पार्श्वभागमें स्थित थे । शरीरके विभिन्न प्रदेशोंमें मुख धारण करनेवाले पार्षदोंकी संख्या भी कम नहीं थी । भिन्न-भिन्न गणोंके अधिपति कीट-पतङ्गोंके समान मुख धारण करते थे ॥ ९० ॥

नानाव्यालमुखाश्चान्ये बहुबाहुशिरोधराः ।
नानावृक्षभुजाः केचित् कटिशीर्षास्तथा परे ॥ ९१ ॥

किन्हींके अनेक और सर्पाकार मुख थे । किन्हीं-किन्हींके बहुत-सी भुजाएँ और गर्दनें थीं । किन्हींकी बहुसंख्यक भुजाएँ नाना प्रकारके वृक्षोंके समान जान पड़ती थीं । किन्हीं-किन्हींके मस्तक उनके कटि-प्रदेशमें ही दिखायी देते थे ॥ ९१ ॥

भुजङ्गभोगवदना नानागुल्मनिवासिनः ।
चीरसंवृतगात्राश्च नानाकनकवाससः ॥ ९२ ॥

किन्हींके सर्पाकार मुख थे । कोई नाना प्रकारके गुल्मों और लताओंसे अपनेको आच्छादित किये हुए थे । कोई चीर वस्त्रसे ही अपनेको ढके हुए थे और कोई नाना प्रकारके सुनहरे वस्त्र धारण करते थे ॥ ९२ ॥

नानावेषधराश्चैव नानामाल्यानुलेपनाः ।
नानावस्त्रधराश्चैव चर्मवासस एव च ॥ ९३ ॥

वे नाना प्रकारके वेश, भाँति-भाँतिकी माला और चन्दन तथा अनेक प्रकारके वस्त्र धारण करते थे । कोई-कोई चमड़ेका ही वस्त्र पहनते थे ॥ ९३ ॥

उष्णीषिणो मुकुटिनः सुग्रीवाश्च सुवर्चसः ।
किरीटिनः पञ्चशिखास्तथा काञ्चनमूर्धजाः ॥ ९४ ॥

किन्हींके मस्तकपर पगड़ी थी तो किन्हींके सिरपर मुकुट शोभा पाते थे । किन्हींकी गर्दन और अङ्गकान्ति बड़ी ही सुन्दर थी । कोई किरीट धारण करते और कोई सिरपर पाँच शिखाएँ रखते थे । किन्हींके सिरके बाल सुनहरे रंगके थे ॥

त्रिशिखा द्विशिखाश्चैव तथा सप्तशिखाः परे ।
शिखण्डिनो मुकुटिनो मुण्डाश्च जटिलास्तथा ॥ ९५ ॥

कोई दो, कोई तीन और कोई सात शिखाएँ रखते थे । कोई माथेपर मोरपंख और कोई मुकुट धारण करते थे । कोई मूँड़ मुड़ाये और कोई जटा बढ़ाये हुए थे ॥ ९५ ॥

चित्रमालाधराः केचित् केचिद् रोमाननास्तथा ।
विग्रहैकरसा नित्यमजेयाः सुरसत्तमैः ॥ ९६ ॥

कोई विचित्र माला धारण किये हुए थे और किन्हींके मुखपर बहुत-से रोयें जमे हुए थे । उन सबको लड़ाई-झगड़ेमें ही रस आता था । वे सदा श्रेष्ठ देवताओंके लिये भी अजेय थे ॥

कृष्णा निर्मांसवक्त्राश्च दीर्घपृष्ठास्तनूदराः ।
स्थूलपृष्ठा ह्रस्वपृष्ठाः प्रलम्बोदरमेहनाः ॥ ९७ ॥

कोई काले थे, किन्हींके मुखपर मांसरहित हड्डियोंका ढाँचा मात्र था । किन्हींकी पीठ बहुत बड़ी थी और पेट भीतरको धँसा हुआ था । किन्हींकी पीठ मोटी और किन्हींकी छोटी थी । किन्हींके पेट और मूत्रेन्द्रिय दोनों बड़े थे ॥ ९७ ॥

महाभुजा ह्रस्वभुजा ह्रस्वगात्राश्च वामनाः ।
कुब्जाश्च ह्रस्वजङ्घाश्च हस्तिकर्णशिरोधराः ॥ ९८ ॥

किन्हींकी भुजाएँ विशाल थीं तो किन्हींकी बहुत छोटी । कोई छोटे-छोटे अङ्गोंवाले और बौने थे । कोई कुबड़े थे तो किन्हीं-किन्हींकी जाँघें बहुत छोटी थीं । कोई हाथीके समान कान और गर्दन धारण करते थे ॥ ९८ ॥

हस्तिनासाः कूर्मनासा वृकनासास्तथा परे ।
दीर्घोच्छ्वासा दीर्घजङ्घा विकराला ह्यधोमुखाः ॥ ९९ ॥

किन्हींकी नाक हाथी-जैसी, किन्हींकी कछुओंके समान और किन्हींकी भेड़ियों-जैसी थी । कोई लंबी साँस लेते थे । किन्हींकी जाँघें बहुत बड़ी थीं । किन्हींका मुख नीचेकी ओर था और वे विकराल दिखायी देते थे ॥ ९९ ॥

महादंष्ट्रा ह्रस्वदंष्ट्राश्चतुर्दंष्ट्रास्तथा परे ।
वारणेन्द्रनिभाश्चान्ये भीमा राजन् सहस्रशः ॥ १०० ॥

किन्हींकी दाढ़ें बड़ी, किन्हींकी छोटी और किन्हींकी चार थीं । राजन् ! दूसरे भी सहस्रों पार्षद गजराजके समान विशालकाय एवं भयंकर थे ॥ १०० ॥

सुविभक्तशरीराश्च दीप्तिमन्तः स्वलंकृताः ।
पिङ्गाक्षाः शङ्कुकर्णाश्च रक्तनासाश्च भारत ॥ १०१ ॥

उनके शरीरके सभी अङ्ग सुन्दर विभागपूर्वक देखे जाते थे । वे दीप्तिमान् तथा वस्त्राभूषणोंसे विभूषित थे । भारत ! उनके नेत्र पिंगलवर्णके थे, कान शङ्कुके समान जान पड़ते थे और नासिका लाल रंगकी थी ॥ १०१ ॥

पृथुदंष्ट्रा महादंष्ट्राः स्थूलौष्ठा हरिमूर्धजाः ।
नानापादौष्ठदंष्ट्राश्च नानाहस्तशिरोधराः ॥ १०२ ॥

किन्हींकी दाढ़ें बड़ी और किन्हींकी मोटी थीं। किन्हींके ओठ मोटे और सिरके बाल नीले थे। किन्हींके पैर, ओठ, दाढ़ें, हाथ और गर्दनें नाना प्रकारकी और अनेक थीं ॥१०२॥

नानाचर्मभिराच्छन्ना नानाभाषाश्च भारत।
कुशला देशभाषासु जल्पन्तोऽन्योन्यमीश्वराः ॥१०३॥

भारत ! कुछ लोग नाना प्रकारके चर्ममय वस्त्रोंसे आच्छादित, नाना प्रकारकी भाषाएँ बोलनेवाले, देशकी सभी भाषाओंमें कुशल एवं परस्पर बातचीत करनेमें समर्थ थे ॥१०३॥

हृष्टाः परिपतन्ति स्म महापारिषदास्तथा।
दीर्घग्रीवा दीर्घनखा दीर्घपादशिरोभुजाः ॥१०४॥

वे महापार्षदगण हर्षमें भरकर चारों ओरसे दौड़े चले आ रहे थे। उनकी ग्रीवा, मस्तक, हाथ, पैर और नख सभी बड़े-बड़े थे ॥ १०४ ॥

पिङ्गाक्षा नीलकण्ठाश्च लम्बकर्णाश्च भारत।
वृकोदरनिभाश्चैव केचिदञ्जनसंनिभाः ॥१०५॥

भरतनन्दन ! उनकी आँखें भूरी थीं, कण्ठमें नीले रङ्गका चिह्न था और कान लंबे लंबे थे। किन्हींका रङ्ग भेड़ियोंके उदरके समान था तो कोई काजलके समान काले थे ॥१०५॥

श्वेताक्षा लोहितग्रीवाः पिङ्गाक्षाश्च तथा परे।
कल्माषा बहवो राजंश्चित्रवर्णाश्च भारत ॥१०६॥

किन्हींकी आँखें सफेद और गर्दन लाल थीं। कुछ लोगोंके नेत्र पिङ्गल वर्णके थे। भरतवंशी नरेश ! बहुत-से पार्षद विचित्र वर्णवाले और चितकबरे थे ॥ १०६ ॥

चामरापीडकनिभाः श्वेतलोहितराजयः।
नानावर्णाः सवर्णाश्च मयूरसदृशप्रभाः ॥१०७॥

कितने ही पार्षदोंके शरीरका रङ्ग चँवर तथा फूलोंके मुकुट-सा सफेद था। कुछ लोगोंके अङ्गोंमें श्वेत और लाल रङ्गोंकी पङ्क्तियाँ दिखायी देती थीं। कुछ पार्षद एक दूसरेसे भिन्न रङ्गके थे और बहुत-से समान रङ्गवाले भी थे। किन्हीं-किन्हींकी कान्ति मोरोंके समान थी ॥ १०७ ॥

पुनः प्रहरणान्येषां कीर्त्यमानानि मे शृणु।
शेषैः कृतः पारिषदैरायुधानां परिग्रहः ॥१०८॥

अब शेष पार्षदोंने जिन आयुधोंको ग्रहण किया था, उनके नाम बता रहा हूँ, सुनो ॥ १०८ ॥

पाशोद्यतकराः केचिद् व्यादितास्याः खराननाः।
पृथ्वक्षा नीलकण्ठाश्च तथा परिघबाहवः ॥१०९॥

कुछ पार्षद हाथोंमें पाश लिये हुए थे, कोई मुँह बाये खड़े थे, किन्हींके मुख गदहोंके समान थे, कितनोंकी आँखें पृष्ठभागमें थीं और कितनोंके कण्ठोंमें नील रङ्गका चिह्न था। बहुत-से पार्षदोंकी भुजाएँ ही परिघके समान थीं ॥ १०९ ॥

शतघ्नीचक्रहस्ताश्च तथा मुसलपाणयः।
असिमुद्गरहस्ताश्च दण्डहस्ताश्च भारत ॥११०॥

भरतनन्दन ! किन्हींके हाथोंमें शतघ्नी थी तो किन्हींके चक्र। कोई हाथमें मुसल लिये हुए थे तो कोई तलवार, मुद्गर और डंडे लेकर खड़े थे ॥ ११० ॥

गदाभुशुण्डिहस्ताश्च तथा तोमरपाणयः।
आयुधैर्विविधैर्घोरैर्महात्मानो महाजवाः ॥१११॥

किन्हींके हाथोंमें गदा, तोमर और भुशुण्डि शोभा पा रहे थे। वे महावेगशाली महामनस्वी पार्षद नाना प्रकारके भयंकर अस्त्र-शस्त्रोंसे सम्पन्न थे ॥ १११ ॥

महाबला महावेगा महापारिषदास्तथा।
अभिषेकं कुमारस्य दृष्ट्वा हृष्टा रणप्रियाः ॥११२॥

उनका बल और वेग महान् था। वे युद्धप्रेमी महा-पार्षदगण कुमारका अभिषेक देखकर बड़े प्रसन्न हुए ॥११२॥

घण्टाजालपिनद्धाङ्गा ननृतुस्ते महौजसः।
एते चान्ये च बहवो महापारिषदा नृप ॥११३॥
उपतस्थुर्महात्मानं कार्तिकेयं यशस्विनम्।

वे अपने अङ्गोंमें छोटी-छोटी घंटियोंसे युक्त जालीदार वस्त्र पहने हुए थे। उनमें महान् ओज भरा था। नरेश्वर ! वे हर्षमें भरकर नृत्य कर रहे थे। ये तथा और भी बहुत-से महापार्षदगण यशस्वी महात्मा कार्तिकेयकी सेवामें उपस्थित हुए थे ॥ ११३½ ॥

दिव्याश्चाप्यान्तरिक्षाश्च पार्थिवाश्चानिलोपमाः ॥११४॥
व्यादिष्टा दैवतैः शूराः स्कन्दस्यानुचराभवन्।

देवताओंकी आज्ञा पाकर देवलोक, अन्तरिक्षलोक तथा भूलोकके वायुतुल्य वेगशाली शूरवीर पार्षद स्कन्दके अनुचर हुए थे ॥ ११४½ ॥

तादृशानां सहस्राणि प्रयुतान्यर्बुदानि च।
अभिषिक्तं महात्मानं परिवार्योपतस्थिरे ॥११५॥

ऐसे-ऐसे सहस्रों, लाखों और अरबों पार्षद अभिषेकके पश्चात् महात्मा स्कन्दको चारों ओरसे घेरकर खड़े हो गये ॥

इति श्रीमहाभारते शल्यपर्वणि गदापर्वणि बलरामतीर्थयात्रायां सारस्वतोपाख्याने स्कन्दाभिषेके पञ्चचत्वारिंशोऽध्यायः ॥४५॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शल्यपर्वके अन्तर्गत गदापर्वमें बलरामजीकी तीर्थयात्रा और सारस्वतोपाख्यानके प्रसङ्गमें स्कन्दका अभिषेकविषयक पैंतालीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ४५ ॥

षट्चत्वारिंशोऽध्यायः

मातृकाओंका परिचय तथा स्कन्ददेवकी रणयात्रा और उनके द्वारा तारकासुर, महिषासुर आदि दैत्योंका सेनासहित संहार

वैशम्पायन उवाच

शृणु मातृगणान् राजन् कुमारानुचरानिमान्।
कीर्त्यमानान् मया वीर सपत्नगणसूदनान् ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—वीर नरेश ! अब मैं उन

मातृकाओंके नाम बता रहा हूँ, जो शत्रुओंका संहार करनेवाली तथा कुमार कार्तिकेयकी अनुचरी हैं ॥ १ ॥

यशस्विनीनां मातॄणां शृणु नामानि भारत ।
याभिर्व्याप्तास्त्रयो लोकाः कल्याणीभिश्च भागशः ॥ २ ॥

भरतनन्दन ! तुम उन यशस्वी मातृकाओंके नाम सुनो, जिन कल्याणकारिणी देवियोंने विभागपूर्वक तीनों लोकोंको व्याप्त कर रक्खा है ॥ २ ॥

प्रभावती विशालाक्षी पालिता गोस्तनी तथा ।
श्रीमती बहुला चैव तथैव बहुपुत्रिका ॥ ३ ॥
अप्सु जाता च गोपाली बृहदम्बालिका तथा ।
जयावती मालतिका ध्रुवरत्ना भयंकरी ॥ ४ ॥
वसुदामा च दामा च विशोका नन्दिनी तथा ।
एकचूडा महाचूडा चक्रनेमिश्च भारत ॥ ५ ॥
उत्तेजनी जयत्सेना कमलाक्ष्यथ शोभना ।
शत्रुंजया तथा चैव क्रोधना शलभी खरी ॥ ६ ॥
माधवी शुभवक्त्रा च तीर्थनेमिश्च भारत ।
गीतप्रिया च कल्याणी रुद्ररोमामिताशना ॥ ७ ॥
मेघस्वना भोगवती सुभ्रूश्च कनकावती ।
अलाताक्षी वीर्यवती विद्युज्जिह्वा च भारत ॥ ८ ॥
पद्मावती सुनक्षत्रा कन्दरा बहुयोजना ।
संतानिका च कौरव्य कमला च महाबला ॥ ९ ॥
सुदामा बहुदामा च सुप्रभा च यशस्विनी ।
नृत्यप्रिया च राजेन्द्र शतोलूखलमेखला ॥ १० ॥
शतघण्टा शतानन्दा भगनन्दा च भाविनी ।
वपुष्मती चन्द्रसीता भद्रकाली च भारत ॥ ११ ॥
ऋक्षाम्बिका निष्कुटिका वामा चत्वरवासिनी ।
सुमङ्गला स्वस्तिमती बुद्धिकामा जयप्रिया ॥ १२ ॥
धनदा सुप्रसादा च भवदा च जलेश्वरी ।
एडी भेडी समेडी च वेतालजननी तथा ॥ १३ ॥
कण्डूतिः कालिका चैव देवमित्रा च भारत ।
वसुश्रीः कोटरा चैव चित्रसेना तथाचला ॥ १४ ॥
कुक्कुटिका शङ्खलिका तथा शकुनिका नृप ।
कुण्डारिका कौकुलिका कुम्भिकाथ शतोदरी ॥ १५ ॥
उत्क्राथिनी जलेला च महावेगा च कङ्कणा ।
मनोजवा कण्टकिनी प्रघसा पूतना तथा ॥ १६ ॥
केशयन्त्री त्रुटिर्वामा क्रोशनाथ तडित्प्रभा ।
मन्दोदरी च मुण्डी च कोटरा मेघवाहिनी ॥ १७ ॥
सुभगा लम्बनी लम्बा ताम्रचूडा विकाशिनी ।
ऊर्ध्ववेणीधरा चैव पिङ्गाक्षी लोहमेखला ॥ १८ ॥
पृथुवस्त्रा मधुलिका मधुकुम्भा तथैव च ।
पक्षालिका मत्कुलिका जरायुर्जर्जरानना ॥ १९ ॥
ख्याता दहदहा चैव तथा धमधमा नृप ।
खण्डखण्डा च राजेन्द्र पूषणा मणिकुट्टिका ॥ २० ॥
अमोघा चैव कौरव्य तथा लम्बपयोधरा ।
वेणुवीणाधरा चैव पिङ्गाक्षी लोहमेखला ॥ २१ ॥
शशोलूकमुखी कृष्णा खरजङ्घा महाजवा ।
शिशुमारमुखी श्वेता लोहिताक्षी विभीषणा ॥ २२ ॥
जटालिका कामचरी दीर्घजिह्वा बलोत्कटा ।
कालेहिका वामनिका मुकुटा चैव भारत ॥ २३ ॥
लोहिताक्षी महाकाया हरिपिण्डा च भूमिप ।
एकत्वचा सुकुसुमा कृष्णकर्णी च भारत ॥ २४ ॥
क्षुरकर्णी चतुष्कर्णी कर्णप्रावरणा तथा ।
चतुष्पथनिकेता च गोकर्णी महिषानना ॥ २५ ॥
खरकर्णी महाकर्णी भेरीस्वनमहास्वना ।
शङ्खकुम्भश्रवाश्चैव भगदा च महाबला ॥ २६ ॥
गणा च सुगणा चैव तथाभीत्यथ कामदा ।
चतुष्पथरता चैव भूतितीर्थान्यगोचरी ॥ २७ ॥
पशुदा वित्तदा चैव सुखदा च महायशाः ।
पयोदा गोमहिषदा सुविशाला च भारत ॥ २८ ॥
प्रतिष्ठा सुप्रतिष्ठा च रोचमाना सुरोचना ।
नौकर्णी मुखकर्णी च विशिरा मन्थिनी तथा ॥ २९ ॥
एकचन्द्रा मेघकर्णा मेघमाला विरोचना ।

कुरुवंशी ! भरतकुलनन्दन ! राजेन्द्र ! वे नाम इस प्रकार हैं—प्रभावती, विशालाक्षी, पालिता, गोस्तनी, श्रीमती, बहुला, बहुपुत्रिका, अप्सु जाता, गोपाली, बृहदम्बालिका, जयावती, मालतिका, ध्रुवरत्ना, भयंकरी, वसुदामा, दामा, विशोका, नन्दिनी, एकचूडा, महाचूडा, चक्रनेमि, उत्तेजनी, जयत्सेना, कमलाक्षी, शोभना, शत्रुंजया, क्रोधना, शलभी, खरी, माधवी, शुभवक्त्रा, तीर्थनेमि, गीतप्रिया, कल्याणी, रुद्ररोमा, अमिताशना, मेघस्वना, भोगवती, सुभ्रू, कनकावती, अलाताक्षी, वीर्यवती, विद्युज्जिह्वा, पद्मावती, सुनक्षत्रा, कन्दरा, बहुयोजना, संतानिका, कमला, महाबला, सुदामा, बहुदामा, सुप्रभा, यशस्विनी, नृत्यप्रिया, शतोलूखलमेखला, शतघण्टा, शतानन्दा, भगनन्दा, भाविनी, वपुष्मती, चन्द्रसीता, भद्रकाली, ऋक्षाम्बिका, निष्कुटिका, वामा, चत्वरवासिनी, सुमङ्गला, स्वस्तिमती, बुद्धिकामा, जयप्रिया, धनदा, सुप्रसादा, भवदा, जलेश्वरी, एडी, भेडी, समेडी, वेतालजननी, कण्डूतिकालिका, देवमित्रा, वसुश्री, कोटरा, चित्रसेना, अचला, कुक्कुटिका, शङ्खलिका, शकुनिका, कुण्डारिका, कौकुलिका, कुम्भिका, शतोदरी, उत्क्राथिनी, जलेला, महावेगा, कङ्कणा, मनोजवा, कण्टकिनी, प्रघसा, पूतना, केशयन्त्री, त्रुटि, वामा, क्रोशना, तडित्प्रभा, मन्दोदरी, मुण्डी, कोटरा, मेघवाहिनी, सुभगा, लम्बिनी, लम्बा, ताम्रचूड़ा, विकाशिनी, ऊर्ध्ववेणीधरा, पिङ्गाक्षी, लोहमेखला, पृथुवस्त्रा, मधुलिका, मधुकुम्भा, पक्षालिका, मत्कुलिका, जरायु, जर्जरानना, ख्याता, दहदहा, धमधमा, खण्डखण्डा, पूषणा, मणिकुट्टिका, अमोघा, लम्बपयोधरा, वेणुवीणाधरा, पिङ्गाक्षी, लोहमेखला, शशोलूकमुखी, कृष्णा, खरजंघा, महाजवा, शिशुमारमुखी, श्वेता, लोहिताक्षी, विभीषणा, जटालिका, कामचरी, दीर्घजिह्वा, बलोत्कटा,

[illegible] वामनिका, कुकुटा, लोहिताक्षी, महाकाया, [illegible] एकत्वचा, सुकुसुमा, कृष्णकर्णी, क्षुरकर्णी, चतुष्कर्णी, कर्णप्रावरणा, चतुष्पथनिकेता, गोकर्णी, महिषानना, [illegible] महाकर्णी, भेरीस्वना, महास्वना, शङ्खश्रवा, कुम्भश्रवा, भगदा, महाबला, गणा, सुगणा, अभीति, कामदा, चतुष्पथरता, भूतितीर्था, अन्यगोचरी, पशुदा, वित्तदा, सुखदा, महायशा, पयोदा, गोदा, महिषदा, सुविशाला, प्रतिष्ठा, सुप्रतिष्ठा, रोचमाना, सुरोचना, नौकर्णी, मुखकर्णी, विशिरा, मन्थिनी, एकचन्द्रा, मेघकर्णा, मेघमाला और विरोचना ॥ ३—२९½ ॥

एताश्चान्याश्च वहवो मातरो भरतर्षभ ॥ ३० ॥
कार्तिकेयानुयायिन्यो नानारूपाः सहस्रशः ।

भरतश्रेष्ठ ! ये तथा और भी नाना रूपधारिणी बहुत-सी सहस्रों मातृकाएँ हैं, जो कुमार कार्तिकेयका अनुसरण करती हैं॥

दीर्घनख्यो दीर्घदन्त्यो दीर्घतुण्ड्यश्च भारत ॥ ३१ ॥
सवला मधुराश्चैव यौवनस्थाः स्वलंकृताः ।
माहात्म्येन च संयुक्ताः कामरूपधरास्तथा ॥ ३२ ॥

भरतनन्दन ! इनके नख, दाँत और मुख सभी विशाल हैं। ये सवला, मधुरा (सुन्दरी), युवावस्थासे सम्पन्न तथा वस्त्राभूषणोंसे विभूषित हैं। इनकी बड़ी महिमा है। ये अपनी इच्छाके अनुसार रूप धारण करनेवाली हैं ॥३१-३२॥

निर्मांसगात्र्यः श्वेताश्च तथा काञ्चनसंनिभाः ।
कृष्णमेघनिभाश्चान्या धूम्राश्च भरतर्षभ ॥ ३३ ॥

इनमेंसे कुछ मातृकाओंके शरीर केवल हड्डियोंके ढाँचे हैं। उनमें मांसका पता नहीं है। कुछ श्वेत वर्णकी हैं और कितनोंकी ही अङ्गकान्ति सुवर्णके समान है। भरतश्रेष्ठ ! कुछ मातृकाएँ कृष्णमेघके समान काली तथा कुछ धूम्रवर्णकी हैं॥

अरुणाभा महाभोगा दीर्घकेश्यः सिताम्बराः ।
ऊर्ध्ववेणीधराश्चैव पिङ्गाक्ष्यो लम्बमेखलाः ॥ ३४ ॥

कितनोंकी कान्ति अरुण वर्णकी है। वे सभी महान् भोगोंसे सम्पन्न हैं। उनके केश बड़े-बड़े और वस्त्र उज्ज्वल हैं। वे ऊपरकी ओर वेणी धारण करनेवाली, भूरी आँखोंसे सुशोभित तथा लम्बी मेखलासे अलंकृत हैं ॥ ३४ ॥

लम्बोदर्यो लम्बकर्णास्तथा लम्बपयोधराः ।
ताम्राक्ष्यस्ताम्रवर्णाश्च हर्यक्ष्यश्च तथा पराः ॥ ३५ ॥

उनमेंसे किन्हींके उदर, किन्हींके कान तथा किन्हींके दोनों स्तन लंबे हैं। कितनोंकी आँखें ताँबेके समान लाल रङ्गकी हैं। कुछ मातृकाओंके शरीरकी कान्ति भी ताम्रवर्णकी हैं। बहुतोंकी आँखें काले रङ्गकी हैं ॥ ३५ ॥

वरदाः कामचारिण्यो नित्यं प्रमुदितास्तथा ।
याम्या रौद्रास्तथा सौम्याः कौबेर्योऽथ महाबलाः ॥३६॥
वारुण्योऽथ च माहेन्द्र्यस्तथाऽऽग्नेय्यः परंतप ।
वायव्यश्चाथ कौमार्यो ब्राह्मयश्च भरतर्षभ ॥ ३७ ॥
वैष्णव्यश्च तथा सौर्यो वाराह्यश्च महाबलाः ।
रूपेणाप्सरसां तुल्या मनोहार्यो मनोरमाः ॥ ३८ ॥

वे वर देनेमें समर्थ, अपनी इच्छाके अनुसार चलनेवाली और सदा आनन्दमें निमग्न रहनेवाली हैं। शत्रुओंको संताप देनेवाले भरतश्रेष्ठ ! उन मातृकाओंमेंसे कुछ यमकी शक्तियाँ हैं, कुछ रुद्रकी। कुछ सोमकी शक्तियाँ हैं और कुछ कुबेरकी। वे सबकी सब महान् बलसे सम्पन्न हैं। इसी तरह कुछ वरुणकी, कुछ देवराज इन्द्रकी, कुछ अग्नि, वायु, कुमार, ब्रह्मा, विष्णु, सूर्य तथा भगवान् वराहकी महाबलशालिनी शक्तियाँ हैं, जो रूपमें अप्सराओंके समान मनोहारिणी और मनोरमा हैं ॥ ३६–३८ ॥

परपुष्टोपमा वाक्ये तथर्द्ध्या धनदोपमाः ।
शक्रवीर्योपमा युद्धे दीप्त्या वह्निसमास्तथा ॥ ३९ ॥

वे मीठी वाणी बोलनेमें कोयल और धनसमृद्धिमें कुबेरके समान हैं। युद्धमें इन्द्रके सदृश पराक्रम प्रकट करनेवाली तथा अग्निके समान तेजस्विनी हैं ॥ ३९ ॥

शत्रूणां विग्रहे नित्यं भयदास्ता भवन्त्युत ।
कामरूपधराश्चैव जवे वायुसमास्तथा ॥ ४० ॥

युद्ध छिड़ जानेपर वे सदा शत्रुओंके लिये भयदायिनी होती हैं। वे इच्छानुसार रूप धारण करनेवाली तथा वायुके समान वेगशालिनी हैं ॥ ४० ॥

अचिन्त्यबलवीर्याश्च तथाचिन्त्यपराक्रमाः ।
वृक्षचत्वरवासिन्यश्चतुष्पथनिकेतनाः ॥ ४१ ॥

उनके बल, वीर्य और पराक्रम अचिन्त्य हैं। वे वृक्षों, चबूतरों और चौराहोंपर निवास करती हैं ॥ ४१ ॥

गुहाश्मशानवासिन्यः शैलप्रस्रवणालयाः ।
नानाभरणधारिण्यो नानामाल्याम्बरास्तथा ॥ ४२ ॥

गुफाएँ, श्मशान, पर्वत और झरने भी उनके निवासस्थान हैं। वे नाना प्रकारके आभूषण, पुष्पहार और वस्त्र धारण करती हैं ॥ ४२ ॥

नानाविचित्रवेषाश्च नानाभाषास्तथैव च ।
एते चान्ये च वहवो गणाः शत्रुभयंकराः ॥ ४३ ॥
अनुजग्मुर्महात्मानं त्रिदशेन्द्रस्य सम्मते ।

उनके वेश नाना प्रकारके और विचित्र हैं। वे अनेक प्रकारकी भाषाएँ बोलती हैं। ये तथा और भी बहुत-से शत्रुओंको भयभीत करनेवाले गण देवेन्द्रकी सम्मतिसे महात्मा स्कन्दका अनुसरण करने लगे ॥ ४३½ ॥

ततः शक्त्यस्त्रमददद् भगवान् पाकशासनः ॥ ४४ ॥
गुहाय राजशार्दूल विनाशाय सुरद्विषाम् ।
महास्वनां महाघण्टां द्योतमानां सितप्रभाम् ॥ ४५ ॥

नृपश्रेष्ठ ! तदनन्तर भगवान् पाकशासनने देवद्रोहियोंके विनाशके लिये कुमार कार्तिकेयको शक्ति नामक अस्त्र प्रदान किया। साथ ही उन्होंने बड़े जोरसे आवाज करनेवाला एक विशाल घंटा भी दिया, जो अपनी उज्ज्वल प्रभासे प्रकाशित हो रहा था ॥ ४४-४५ ॥

अरुणादित्यवर्णां च पताकां भरतर्षभ ।
ददौ पशुपतिस्तस्मै सर्वभूतमहाचमूम् ॥ ४६ ॥

भरतश्रेष्ठ ! भगवान् पशुपतिने उन्हें अरुण और सूर्यके समान प्रकाशमान एक पताका और अपने सम्पूर्ण भूतगणोंकी विशाल सेना भी प्रदान की ॥ ४६ ॥

उग्रां नानाप्रहरणां तपोवीर्यबलान्विताम् ।
अजेयां स्वगणैर्युक्तां नाम्ना सेनां धनंजयाम् ॥ ४७॥
रुद्रतुल्यबलैर्युक्तां योधानामयुतैस्त्रिभिः ।
न सा विजानाति रणात् कदाचिद् विनिवर्तितुम् ॥ ४८॥

वह भयंकर सेना धनंजय नामसे विख्यात थी । उसमें सभी सैनिक नाना प्रकारके अस्त्र-शस्त्र, तपस्या, बल और पराक्रमसे सम्पन्न थे । रुद्रके समान बलशाली तीस हजार रुद्रगणोंसे युक्त वह सेना शत्रुओंके लिये अजेय थी । वह कभी भी युद्धसे पीछे हटना जानती ही नहीं थी ॥ ४७-४८ ॥

विष्णुर्ददौ वैजयन्तीं मालां बलविवर्धिनीम् ।
उमा ददौ विरजसी वाससी रविसप्रभे ॥ ४९ ॥

भगवान् विष्णुने कुमारको बल बढ़ानेवाली वैजयन्ती माला दी और उमाने सूर्यके समान चमकीले दो निर्मल वस्त्र प्रदान किये ॥ ४९ ॥

गङ्गा कमण्डलुं दिव्यममृतोद्भवमुत्तमम् ।
ददौ प्रीत्या कुमाराय दण्डं चैव बृहस्पतिः ॥ ५० ॥

गङ्गाने कुमारको प्रसन्नतापूर्वक एक दिव्य और उत्तम कमण्डलु दिया, जो अमृत प्रकट करनेवाला था । बृहस्पतिजीने दण्ड प्रदान किया ॥ ५० ॥

गरुडो दयितं पुत्रं मयूरं चित्रबर्हिणम् ।
अरुणस्ताम्रचूडं च प्रददौ चरणायुधम् ॥ ५१ ॥

गरुडने विचित्र पङ्खोंसे सुशोभित अपना प्रिय पुत्र मयूर भेंट किया । अरुणने लाल शिखावाले अपने पुत्र ताम्रचूड (मुर्गे) को समर्पित किया, जिसका पैर ही आयुध था ॥ ५१ ॥

नागं तु वरुणो राजा बलवीर्यसमन्वितम् ।
कृष्णाजिनं ततो ब्रह्मा ब्रह्मण्याय ददौ प्रभुः ॥ ५२ ॥
समरेषु जयं चैव प्रददौ लोकभावनः ।

राजा वरुणने बल और वीर्यसे सम्पन्न एक नाग भेंट किया और लोकस्रष्टा भगवान् ब्रह्माने ब्राह्मणहितैषी कुमारको काला मृगचर्म तथा युद्धमें विजयका आशीर्वाद प्रदान किया॥

सैनापत्यमनुप्राप्य स्कन्दो देवगणस्य ह ॥ ५३ ॥
शुशुभे ज्वलितोऽर्चिष्मान् द्वितीय इव पावकः ।

देवताओंका सेनापतित्व पाकर तेजस्वी स्कन्द अपने तेजसे प्रज्वलित हो दूसरे अग्निदेवके समान सुशोभित होने लगे॥

ततः पारिषदैश्चैव मातृभिश्च समन्वितः ॥ ५४ ॥
ययौ दैत्यविनाशाय ह्लादयन् सुरपुङ्गवान् ।

तदनन्तर अपने पार्षदों तथा मातृकागणोंके साथ कुमार कार्तिकेयने देवेश्वरोंको आनन्द प्रदान करते हुए दैत्योंके विनाशके लिये प्रस्थान किया ॥ ५४½ ॥

सा सेना नैर्ऋती भीमा सघण्टोच्छ्रितकेतना ॥ ५५ ॥
सभेरीशङ्खमुरजा सायुधा सपताकिनी ।
शारदी द्यौरिवाभाति ज्योतिर्भिरिव शोभिता ॥ ५६ ॥

नैर्ऋतों (भूतगणों) की वह भयंकर सेना घंटा, भेरी, शङ्ख और मृदङ्गकी ध्वनिसे गूँज रही थी । उसकी ऊँचे उठी हुई पताकाएँ फहरा रही थीं । अस्त्र-शस्त्रों और पताकाओंसे सम्पन्न वह विशाल वाहिनी नक्षत्रोंसे सुशोभित शरत् कालके आकाशकी भाँति शोभा पा रही थी ॥५५-५६॥

ततो देवनिकायास्ते नानाभूतगणास्तथा ।
वादयामासुरव्यग्रा भेरीः शङ्खांश्च पुष्कलान् ॥ ५७ ॥
पटहाञ्झर्झरांश्चैव क्रकचान् गोविषाणकान् ।
आडम्बरान् गोमुखांश्च डिण्डिमांश्च महास्वनान् ॥५८॥

तदनन्तर वे देवसमूह तथा नाना प्रकारके भूतगण शान्तचित्त हो भेरी, बहुत-से शङ्ख, पटह, झाँझ, क्रकच, गोशृङ्ग, आडम्बर, गोमुख और भारी आवाज करनेवाले नगाड़े बजाने लगे ॥ ५७-५८ ॥

तुष्टुवुस्ते कुमारं तु सर्वे देवाः सवासवाः ।
जगुश्च देवगन्धर्वा ननृतुश्चाप्सरोगणाः ॥ ५९ ॥

फिर इन्द्रसहित सम्पूर्ण देवता कुमारकी स्तुति करने लगे । देव-गन्धर्व गाने और अप्सराएँ नाचने लगीं ॥ ५९ ॥

ततः प्रीतो महासेनस्त्रिदशेभ्यो वरं ददौ ।
रिपून् हन्तास्मि समरे ये वो वधचिकीर्षवः ॥ ६० ॥

इससे प्रसन्न होकर कुमार महासेनने देवताओंको यह वर दिया कि 'जो आपलोगोंका वध करना चाहते हैं, आपके उन समस्त शत्रुओंका मैं समराङ्गणमें संहार कर डालूँगा' ॥

प्रतिगृह्य वरं देवास्तस्माद् विबुधसत्तमात् ।
प्रीतात्मानो महात्मानो मेनिरे निहतान् रिपून् ॥ ६१ ॥

उन सुरश्रेष्ठ कुमारसे वह वर पाकर महामनस्वी देवता बड़े प्रसन्न हुए और अपने शत्रुओंको मरा हुआ ही मानने लगे॥

सर्वेषां भूतसंघानां हर्षान्नादः समुत्थितः ।
अपूरयत लोकांस्त्रीन् वरे दत्ते महात्मना ॥ ६२ ॥

महात्मा कुमारके वर देनेपर सम्पूर्ण भूत-समुदायोंने जो हर्षनाद किया, वह तीनों लोकोंमें गूँज उठा ॥ ६२ ॥

स निर्ययौ महासेनो महत्या सेनया वृतः ।
वधाय युधि दैत्यानां रक्षार्थं च दिवौकसाम् ॥ ६३ ॥

तत्पश्चात् विशाल सेनासे घिरे हुए स्वामी महासेन युद्धमें दैत्योंका वध और देवताओंकी रक्षा करनेके लिये आगे बढ़े॥

व्यवसायो जयो धर्मः सिद्धिर्लक्ष्मीर्धृतिः स्मृतिः ।
महासेनस्य सैन्यानामग्रे जग्मुर्नराधिप ॥ ६४ ॥

नरेश्वर ! उस समय व्यवसाय (दृढ़ निश्चय), विजय, धर्म, सिद्धि, लक्ष्मी, धृति और स्मृति—ये सब-के-सब महासेनके सैनिकोंके आगे-आगे चलने लगे ॥ ६४ ॥

स तया भीमया देवः शूलमुद्गरहस्तया ।
ज्वलितालातधारिण्या चित्राभरणवर्मया ॥ ६५ ॥
गदामुसलनाराचशक्तितोमरहस्तया ।
दृप्तसिंहनिनादिन्या विनद्य प्रययौ गुहः ॥ ६६ ॥

वह सेना बड़ी भयंकर थी । उसने हाथोंमें शूल, मुद्गर,

उन्होंने हुए फाल, गदा, मुसल, नाराच, शक्ति और तोमर धारण कर रक्खे थे। सारी सेना विचित्र आभूषणों और कवचोंसे सुसज्जित थी तथा दर्पयुक्त सिंहके समान दहाड़ रही थी; उस सेनाके साथ सिंहनाद करके कुमार कार्तिकेय युद्धके लिये प्रस्थित हुए ॥ ६५-६६ ॥

तं दृष्ट्वा सर्वदैतेया राक्षसा दानवास्तथा ।
व्यद्रवन्त दिशः सर्वा भयोद्विग्नाः समन्ततः॥ ६७ ॥

उन्हें देखकर सम्पूर्ण दैत्य, दानव और राक्षस भयसे उद्विग्न हो सारी दिशाओंमें सब ओर भाग गये ॥ ६७ ॥

अभ्यद्रवन्त देवास्तान् विविधायुधपाणयः ।
दृष्ट्वा च स ततः क्रुद्धः स्कन्दस्तेजोबलान्वितः ॥ ६८ ॥
शक्त्यस्त्रं भगवान् भीमं पुनः पुनरवाकिरत् ।
आदधच्चात्मनस्तेजो हविषेद्ध इवानलः ॥ ६९ ॥

देवता अपने हाथोंमें नाना प्रकारके अस्त्र-शस्त्र ले उन दैत्योंका पीछा करने लगे । यह सब देखकर तेज और बलसे सम्पन्न भगवान् स्कन्द कुपित हो उठे और शक्ति नामक भयानक अस्त्रका बारंबार प्रयोग करने लगे । उन्होंने उसमें अपना तेज स्थापित कर दिया था और वे उस समय घीसे प्रज्वलित हुई अग्निके समान प्रकाशित हो रहे थे ॥६८-६९॥

अभ्यस्यमाने शक्त्यस्त्रे स्कन्देनामिततेजसा ।
उल्काज्वाला महाराज पपात वसुधातले ॥ ७० ॥

महाराज ! अमित तेजस्वी स्कन्दके द्वारा शक्तिका बारंबार प्रयोग होनेसे पृथ्वीपर प्रज्वलित उल्का गिरने लगी॥

संह्रादयन्तश्च तथा निर्घाताश्चापतन् क्षितौ ।
यथान्तकालसमये सुघोराः स्युस्तथा नृप ॥ ७१ ॥

नरेश्वर ! जैसे प्रलयके समय अत्यन्त भयंकर वज्र भारी गड़गड़ाहटके साथ पृथ्वीपर गिरने लगते हैं, उसी प्रकार उस समय भी भीषण गर्जनाके साथ वज्रपात होने लगा॥७१॥

क्षिप्ता ह्येका यदा शक्तिः सुघोरानलसूनुना ।
ततः कोट्यो विनिष्पेतुः शक्तीनां भरतर्षभ ॥ ७२ ॥

भरतश्रेष्ठ ! अग्निकुमारने जब एक बार अत्यन्त भयंकर शक्ति छोड़ी, तब उससे करोड़ों शक्तियाँ प्रकट होकर गिरने लगीं ॥ ७२ ॥

ततः प्रीतो महासेनो जघान भगवान् प्रभुः ।
दैत्येन्द्रं तारकं नाम महाबलपराक्रमम् ॥ ७३ ॥
वृतं दैत्यायुतैर्वीरैर्बलिभिर्दशभिर्नृप ।

इससे प्रभावशाली भगवान् महासेन बड़े प्रसन्न हुए और उन्होंने महान् बल एवं पराक्रमसे सम्पन्न उस दैत्यराज तारकको मार गिराया, जो एक लाख बलवान् एवं वीर दैत्यों-से घिरा हुआ था ॥ ७३½ ॥

महिषं चाष्टभिः पद्मैर्वृतं संख्ये निजघ्निवान् ॥ ७४ ॥
त्रिपादं चायुतशतैर्जघान दशभिर्वृतम् ।
ह्रदोदरं निखर्वैश्च वृतं दशभिरीश्वरः ॥ ७५ ॥
जघानानुचरैः सार्धं विविधायुधपाणिभिः ।

साथ ही उन्होंने युद्धस्थलमें आठ पद्म दैत्योंसे घिरे हुए महिषासुरका, दस लाख असुरोंसे सुरक्षित त्रिपादका और दस निखर्व दैत्य-योद्धाओंसे घिरे हुए ह्रदोदरका भी नाना प्रकारके आयुधधारी अनुचरोंसहित वध कर डाला॥७४-७५½॥

तथाकुर्वन्त विपुलं नादं वध्यत्सु शत्रुषु ॥ ७६ ॥
कुमारानुचरा राजन् पूरयन्तो दिशो दश ।
ननृतुश्च ववल्गुश्च जहसुश्च मुदान्विताः ॥ ७७ ॥

राजन् ! जब शत्रु मारे जाने लगे, उस समय कुमारके अनुचर दसों दिशाओंको गुँजाते हुए बड़े जोर-जोरसे गर्जना करने लगे । इतना ही नहीं, वे आनन्दमग्न होकर नाचने, कूदने तथा जोर-जोरसे हँसने भी लगे ॥ ७६-७७ ॥

शक्त्यस्त्रस्य तु राजेन्द्र ततोऽर्चिर्भिः समन्ततः ।
त्रैलोक्यं त्रासितं सर्वं जृम्भमाणाभिरेव च ॥ ७८ ॥

राजेन्द्र ! उस शक्तिनामक अस्त्रकी सब ओर फैलती हुई ज्वालाओंसे सारी त्रिलोकी थर्रा उठी ॥ ७८ ॥

दग्धाः सहस्रशो दैत्या नादैः स्कन्दस्य चापरे ।
पताकयावधूताश्च हताः केचित् सुरद्विषः ॥ ७९ ॥

सहस्रों दैत्य उस शक्तिकी आगमें जलकर भस्म हो गये। कितने ही स्कन्दके सिंहनादोंसे ही डरकर अपने प्राण खो बैठे तथा कुछ देवद्रोही उनकी पताकासे ही कम्पित होकर मर गये ॥ ७९ ॥

केचिद् घण्टारवत्रस्ता निषेदुर्वसुधातले ।
केचित् प्रहरणैश्छिन्ना विनिष्पेतुर्गतायुषः ॥ ८० ॥

कुछ दैत्य उनके घंटानादसे संत्रस्त होकर धरतीपर बैठ गये और कुछ उनके आयुधोंसे छिन्न-भिन्न हो गतायु होकर पृथ्वीपर गिर पड़े ॥ ८० ॥

एवं सुरद्विषोऽनेकान् बलवानाततायिनः ।
जघान समरे वीरः कार्तिकेयो महाबलः ॥ ८१ ॥

इस प्रकार महाबली शक्तिशाली वीर कार्तिकेयने समराङ्गणमें अनेक आततायी देवद्रोहियोंका संहार कर डाला ॥

बाणो नामाथ दैतेयो बलेः पुत्रो महाबलः ।
क्रौञ्चं पर्वतमाश्रित्य देवसंघानबाधत ॥ ८२ ॥

राजा बलिका महाबली पुत्र बाणासुर क्रौञ्च पर्वतका आश्रय लेकर देवसमूहोंको कष्ट पहुँचाया करता था ॥ ८२ ॥

तमभ्ययान्महासेनः सुरशत्रुमुदारधीः ।
स कार्तिकेयस्य भयात् क्रौञ्चं शरणमीयिवान् ॥ ८३ ॥

उदारबुद्धि महासेनने उस दैत्यपर भी आक्रमण किया। तब वह कार्तिकेयके भयसे क्रौञ्च पर्वतकी शरणमें जा छिपा ॥

ततः क्रौञ्चं महामन्युः क्रौञ्चनादनिनादितम् ।
शक्त्या बिभेद भगवान् कार्तिकेयोऽग्निदत्तया ॥ ८४ ॥

इससे भगवान् कार्तिकेयको महान् क्रोध हुआ । उन्होंने अग्निकी दी हुई शक्तिसे क्रौञ्च पक्षियोंके कोलाहलसे गूँजते हुए क्रौञ्चपर्वतको विदीर्ण कर डाला ॥ ८४ ॥

स शालस्कन्धशबलं त्रस्तवानरवारणम् ।
प्रोड्डीनोद्भ्रान्तविहगं विनिष्पतितपन्नगम् ॥ ८५ ॥
गोलाङ्गूलर्क्षसंघैश्च द्रवद्भिरनुनादितम् ।

कुरङ्गमविनिर्घोषनिनादितवनान्तरम् ॥ ८६ ॥
विनिष्पतद्भिः शरभैः सिंहैश्च सहसा द्रुतैः ।
शोच्यामपि दशां प्राप्तो रराजैव स पर्वतः ॥ ८७ ॥

क्रौञ्च पर्वत शालवृक्षके तनोंसे भरा हुआ था। वहाँके वानर और हाथी संत्रस्त हो उठे थे, पक्षी भयसे व्याकुल होकर उड़ चले थे, सर्प धराशायी हो गये थे, गोलाङ्गूल जातिके वानरों और रीछोंके समुदाय भाग रहे थे तथा उनके चीत्कारसे वह पर्वत गूँज उठा था, हरिणोंके आर्तनादसे उस पर्वतका वनप्रान्त प्रतिध्वनित हो रहा था, गुफासे निकलकर सहसा भागनेवाले सिंहों और शरभोंके कारण वह पर्वत बड़ी शोचनीय दशामें पड़ गया था तो भी वह सुशोभित-सा ही हो रहा था ॥ ८५–८७ ॥

विद्याधराः समुत्पेतुस्तस्य शृङ्गनिवासिनः ।
किन्नराश्च समुद्विग्नाः शक्तिपातरवोद्धताः ॥ ८८ ॥

उस पर्वतके शिखरपर निवास करनेवाले विद्याधर और किन्नर शक्तिके आघातजनित शब्दसे उद्विग्न होकर आकाशमें उड़ गये ॥ ८८ ॥

ततो दैत्या विनिष्पेतुः शतशोऽथ सहस्रशः ।
प्रदीप्तात् पर्वतश्रेष्ठाद् विचित्राभरणस्रजः ॥ ८९ ॥

तत्पश्चात् उस जलते हुए श्रेष्ठ पर्वतसे विचित्र आभूषण और माला धारण करनेवाले सैकड़ों और हजारों दैत्य निकल पड़े॥

तान् निजघ्नुरतिक्रम्य कुमारानुचरा मृधे ।
स चैव भगवान् क्रुद्धो दैत्येन्द्रस्य सुतं तदा ॥ ९० ॥
सहानुजं जघानाशु वृत्रं देवपतिर्यथा ।

कुमारके पार्षदोंने युद्धमें आक्रमण करके उन सब दैत्योंको मार गिराया। साथ ही भगवान् कार्तिकेयने कुपित होकर वृत्रासुरको मारनेवाले देवराज इन्द्रके समान दैत्यराजके उस पुत्रको उसके छोटे भाईसहित शीघ्र ही मार डाला ॥

बिभेद क्रौञ्चं शक्त्या च पावकिः परवीरहा ॥ ९१ ॥
बहुधा चैकधा चैव कृत्वाऽऽत्मानं महाबलः ।

शत्रुवीरोंका संहार करनेवाले महाबली अग्निपुत्र कार्तिकेयने अपने आपको एक और अनेक रूपोंमें प्रकट करके शक्तिद्वारा क्रौञ्च पर्वतको विदीर्ण कर डाला ॥ ९१½ ॥

शक्तिः क्षिप्ता रणे तस्य पाणिमेति पुनः पुनः ॥ ९२ ॥
एवंप्रभावो भगवांस्ततो भूयश्च पावकिः ।
शौर्याद्दिगुणयोगेन तेजसा यशसा श्रिया ॥ ९३ ॥
क्रौञ्चस्तेन विनिर्भिन्नो दैत्याश्च शतशो हताः ।

रणभूमिमें बार-बार चलायी हुई उनकी शक्ति शत्रुका संहार करके पुनः उनके हाथमें लौट आती थी। अग्निपुत्र कार्तिकेयका ऐसा ही प्रभाव है, बल्कि इससे भी बढ़कर है। वे शौर्यकी अपेक्षा उत्तरोत्तर दुगुने तेज, यश और श्रीसे सम्पन्न हैं। उन्होंने क्रौञ्च पर्वतको विदीर्ण करके सैकड़ों दैत्योंको मार गिराया ॥ ९२-९३½ ॥

ततः स भगवान् देवो निहत्य विबुधद्विषः ॥ ९४ ॥
सभाज्यमानो विबुधैः परं हर्षमवाप ह ।

तदनन्तर भगवान् स्कन्ददेव देवशत्रुओंका संहार करके देवताओंसे सेवित हो अत्यन्त आनन्दित हुए ॥ ९४½ ॥

ततो दुन्दुभयो राजन् नेदुः शङ्खाश्च भारत ॥ ९५ ॥
मुमुचुर्देवयोषाश्च पुष्पवर्षमनुत्तमम् ।
योगिनामीश्वरं देवं शतशोऽथ सहस्रशः ॥ ९६ ॥

भरतवंशी नरेश ! तत्पश्चात् दुन्दुभियाँ बज उठीं, शङ्खोंकी ध्वनि होने लगी, सैकड़ों और हजारों देवाङ्गनाएँ योगीश्वर स्कन्ददेवपर उत्तम फूलोंकी वर्षा करने लगीं ॥

दिव्यगन्धमुपादाय ववौ पुण्यश्च मारुतः ।
गन्धर्वास्तुष्टुवुश्चैनं यज्वानश्च महर्षयः ॥ ९७ ॥

दिव्य फूलोंकी सुगन्ध लेकर पवित्र वायु चलने लगी। गन्धर्व और यज्ञपरायण महर्षि उनकी स्तुति करने लगे॥९७॥

केचिदेनं व्यवस्यन्ति पितामहसुतं प्रभुम् ।
सनत्कुमारं सर्वेषां ब्रह्मयोनिं तमग्रजम् ॥ ९८ ॥

कोई उनके विषयमें यह निश्चय करने लगे कि 'ये ब्रह्माजीके पुत्र, सबके अग्रज एवं ब्रह्मयोनि सनत्कुमार हैं' ॥

केचिन्महेश्वरसुतं केचित् पुत्रं विभावसोः ।
उमायाः कृत्तिकानां च गङ्गायाश्च वदन्त्युत ॥ ९९ ॥

कोई उन्हें महादेवजीका, कोई अग्निका, कोई पार्वतीका, कोई कृत्तिकाओंका और कोई गङ्गाजीका पुत्र बताने लगे ॥

एकधा च द्विधा चैव चतुर्धा च महाबलम् ।
योगिनामीश्वरं देवं शतशोऽथ सहस्रशः ॥१००॥

उन महाबली योगेश्वर स्कन्ददेवको लोग एक, दो, चार, सौ तथा सहस्रों रूपोंमें देखते और जानते हैं ॥१००॥

एतत् ते कथितं राजन् कार्तिकेयाभिषेचनम् ।
शृणु चैव सरस्वत्यास्तीर्थवर्यस्य पुण्यताम् ॥१०१॥

राजन् ! यह मैंने तुम्हें कार्तिकेयके अभिषेकका प्रसङ्ग सुनाया है। अब तुम सरस्वतीके उस श्रेष्ठ तीर्थकी पावनताका वर्णन सुनो ॥ १०१ ॥

बभूव तीर्थप्रवरं हतेषु सुरशत्रुषु ।
कुमारेण महाराज त्रिविष्टपमिवापरम् ॥ १०२॥

महाराज ! कुमार कार्तिकेयके द्वारा देवशत्रुओंके मारे जानेपर वह श्रेष्ठ तीर्थ दूसरे स्वर्गके समान सुखदायक हो गया॥

ऐश्वर्याणि च तत्रस्थो ददावीशः पृथक् पृथक् ।
ददौ नैर्ऋतमुख्येभ्यस्त्रैलोक्यं पावकात्मजः ॥१०३॥

वहीं रहकर स्वामी स्कन्दने पृथक्-पृथक् ऐश्वर्य प्रदान किये। अग्निकुमारने अपनी सेनाके मुख्य-मुख्य अधिकारियोंको तीनों लोक सौंप दिये ॥ १०३ ॥

एवं स भगवांस्तस्मिंस्तीर्थे दैत्यकुलान्तकः ।
अभिषिक्तो महाराज देवसेनापतिः सुरैः ॥१०४॥

महाराज ! इस प्रकार दैत्यकुलविनाशक देवसेनापति भगवान् स्कन्दका उस तीर्थमें देवताओंद्वारा अभिषेक किया गया ॥ १०४ ॥

तैजसं नाम तत् तीर्थं यत्र पूर्वमपां पतिः ।
अभिषिक्तः सुरगणैर्वरुणो भरतर्षभ ॥१०५॥

भरतश्रेष्ठ ! वह तैजस नामका तीर्थ है, जहाँ पहले जलके स्वामी वरुणदेवका देवताओंद्वारा अभिषेक किया गया था ॥

अग्निस्तीर्थवरे स्नात्वा स्कन्दं चाभ्यर्च्य लाङ्गली ।
ब्राह्मणेभ्यो ददौ रुक्मं वासांस्याभरणानि च ॥१०६॥

उस श्रेष्ठ तीर्थमें हलधारी बलरामने स्नान करके स्कन्द देवका पूजन किया और ब्राह्मणोंको सुवर्ण, वस्त्र एवं आभूषण दिये ॥ १०६ ॥

उषित्वा रजनीं तत्र माधवः परवीरहा ।
पूज्य तीर्थवरं तच्च स्पृष्ट्वा तोयं च लाङ्गली ॥१०७॥
हृष्टः प्रीतमनाश्चैव ह्यभवन्माधवोत्तमः ।

शत्रुवीरोंका संहार करनेवाले मधुवंशी हलधर वहाँ रात-भर रहे और उस श्रेष्ठ तीर्थका पूजन एवं उसके जलमें स्नान करके हर्षसे खिल उठे । उन यदुश्रेष्ठ बलरामका मन वहाँ प्रसन्न हो गया था ॥ १०७½ ॥

एतत् ते सर्वमाख्यातं यन्मां त्वं परिपृच्छसि ।
यथाभिषिक्तो भगवान् स्कन्दो देवैः समागतैः ॥१०८॥
(सेनानीश्च कृतो राजन् बाल एव महाबलः ।)

राजन् ! तुम मुझसे जो कुछ पूछ रहे थे, वह सब प्रसङ्ग मैंने तुम्हें कह सुनाया । समागत देवताओंद्वारा किस प्रकार भगवान् स्कन्दका अभिषेक हुआ और किस प्रकार बाल्यावस्थामें ही वे महाबली कुमार सेनापति बना दिये गये, यह सब कुछ बता दिया गया ॥ १०८ ॥

इति श्रीमहाभारते शल्यपर्वणि गदापर्वणि बलदेवतीर्थयात्रायां सारस्वतोपाख्याने तारकवधे षट्चत्वारिंशोऽध्यायः ॥ ४६ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शल्यपर्वके अन्तर्गत गदापर्वमें बलदेवजीकी तीर्थयात्रा एवं सारस्वतोपाख्यानके प्रसङ्गमें तारकासुरका वधविषयक छियालीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ४६ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठका ½ श्लोक मिलाकर कुल १०८½ श्लोक हैं)

सप्तचत्वारिंशोऽध्यायः

वरुणका अभिषेक तथा अग्नितीर्थ, ब्रह्मयोनि और कुबेरतीर्थकी उत्पत्तिका प्रसङ्ग

जनमेजय उवाच

अत्यद्भुतमिदं ब्रह्मन् श्रुतवानस्मि तत्त्वतः ।
अभिषेकं कुमारस्य विस्तरेण यथाविधि ॥ १ ॥

जनमेजयने कहा—ब्रह्मन् ! आज मैंने आपके मुखसे कुमारके विधिपूर्वक अभिषेकका यह अद्भुत वृत्तान्त यथार्थरूपसे और विस्तारपूर्वक सुना है ॥ १ ॥

यच्छ्रुत्वा पूतमात्मानं विजानामि तपोधन ।
प्रहृष्टानि च रोमाणि प्रसन्नं च मनो मम ॥ २ ॥

तपोधन ! उसे सुनकर मैं अपने आपको पवित्र हुआ समझता हूँ । हर्षसे मेरे रोयें खड़े हो गये हैं और मेरा मन प्रसन्नतासे भर गया है ॥ २ ॥

अभिषेकं कुमारस्य दैत्यानां च वधं तथा ।
श्रुत्वा मे परमा प्रीतिर्भूयः कौतूहलं हि मे ॥ ३ ॥

कुमारके अभिषेक और उनके द्वारा दैत्योंके वधका वृत्तान्त सुनकर मुझे बड़ा आनन्द प्राप्त हुआ है और पुनः मेरे मनमें इस विषयको सुननेकी उत्कण्ठा जाग्रत् हो गयी है ॥

अपां पतिः कथं ह्यस्मिन्नभिषिक्तः पुरा सुरैः ।
तन्मे ब्रूहि महाप्राज्ञ कुशलो ह्यसि सत्तम ॥ ४ ॥

साधुशिरोमणे ! महाप्राज्ञ ! इस तीर्थमें देवताओंने पहले जलके स्वामी वरुणका अभिषेक किस प्रकार किया था, यह सब मुझे बताइये; क्योंकि आप प्रवचन करनेमें कुशल हैं ॥

वैशम्पायन उवाच

शृणु राजन्निदं चित्रं पूर्वकल्पे यथातथम् ।
आदौ कृतयुगे राजन् वर्तमाने यथाविधि ॥ ५ ॥
वरुणं देवताः सर्वा समेत्येदमथाब्रुवन् ।

वैशम्पायनजीने कहा—राजन् ! इस विचित्र प्रसङ्गको यथार्थरूपसे सुनो । पूर्वकल्पकी बात है, जब आदि कृतयुग चल रहा था, उस समय सम्पूर्ण देवताओंने वरुणके पास जाकर इस प्रकार कहा—॥ ५½ ॥

यथास्मान् सुरराट् छक्रो भयेभ्यः पाति सर्वदा ॥ ६ ॥
तथा त्वमपि सर्वासां सरितां वै पतिर्भव ।

'जैसे देवराज इन्द्र सदा भयसे हमलोगोंकी रक्षा करते हैं, उसी प्रकार आप भी समस्त सरिताओंके अधिपति हो जाइये (और हमारी रक्षा कीजिये) ॥ ६½ ॥

वासश्च ते सदा देव सागरे मकरालये ॥ ७ ॥
समुद्रोऽयं तव वशे भविष्यति नदीपतिः ।
सोमेन सार्धं च तव हानिवृद्धी भविष्यतः ॥ ८ ॥

'देव ! मकरालय समुद्रमें आपका सदा निवासस्थान होगा और यह नदीपति समुद्र सदा आपके वशमें रहेगा । चन्द्रमाके साथ आपकी भी हानि और वृद्धि होगी' ॥ ७-८ ॥

एवमस्त्विति तान् देवान् वरुणो वाक्यमब्रवीत् ।
समागम्य ततः सर्वे वरुणं सागरालयम् ॥ ९ ॥
अपां पतिं प्रचक्रुर्हि विधिदृष्टेन कर्मणा ।

तब वरुणने उन देवताओंसे कहा—'एवमस्तु' । इस प्रकार उनकी अनुमति पाकर सब देवता इकट्ठे होकर उन्होंने समुद्रनिवासी वरुणको शास्त्रीय विधिके अनुसार जलका राजा बना दिया ॥ ९½ ॥

अभिषिच्य ततो देवा वरुणं यादसां पतिम् ॥ १० ॥
जग्मुः स्वान्येव स्थानानि पूजयित्वा जलेश्वरम् ।

जलजन्तुओंके स्वामी जलेश्वर वरुणका अभिषेक और पूजन करके सम्पूर्ण देवता अपने-अपने स्थानको ही चले गये ॥

अभिषिक्तस्ततो देवैर्वरुणोऽपि महायशाः ॥ ११ ॥
सरितः सागरांश्चैव नदांश्चापि सरांसि च ।
पालयामास विधिना यथा देवाञ्शतक्रतुः ॥ १२ ॥

देवताओंद्वारा अभिषिक्त होकर महायशस्वी वरुण देवगणोंकी रक्षा करनेवाले इन्द्रके समान सरिताओं, सागरों, नदों और सरोवरोंका भी विधिपूर्वक पालन करने लगे ॥

ततस्तत्राप्युपस्पृश्य दत्त्वा च विविधं वसु ।
अग्नितीर्थं महाप्राज्ञो जगामाथ प्रलम्बहा ॥ १३ ॥

प्रलम्बासुरका वध करनेवाले महाज्ञानी बलरामजी उस तीर्थमें स्नान और भाँति-भाँतिके धनका दान करके अग्नितीर्थमें गये ॥ १३ ॥

नष्टो न दृश्यते यत्र शमीगर्भे हुताशनः ।
लोकालोकविनाशे च प्रादुर्भूते तदानघ ॥ १४ ॥
उपतस्थुः सुरा यत्र सर्वलोकपितामहम् ।
अग्निः प्रणष्टो भगवान् कारणं च न विद्महे ॥१५ ॥
सर्वभूतक्षयो मा भूत् सम्पादय विभोऽनलम् ।

निष्पाप नरेश ! जब शमीके गर्भमें छिप जानेके कारण कहीं अग्निदेवका दर्शन नहीं हो रहा था और सम्पूर्ण जगत्के प्रकाश अथवा दृष्टिशक्तिके विनाशकी घड़ी उपस्थित हो गयी, तब सब देवता सर्वलोकपितामह ब्रह्माजीकी सेवामें उपस्थित हुए और बोले—'प्रभो ! भगवान् अग्निदेव अदृश्य हो गये हैं। इसका क्या कारण है, यह हमारी समझमें नहीं आता । सम्पूर्ण भूतोंका विनाश न हो जाय, इसके लिये अग्निदेवको प्रकट कीजिये' ॥ १४-१५½ ॥

जनमेजय उवाच

किमर्थं भगवानग्निः प्रणष्टो लोकभावनः ॥ १६ ॥
विज्ञातश्च कथं देवैस्तन्ममाचक्ष्व तत्त्वतः ।

जनमेजयने पूछा—ब्रह्मन् ! लोकभावन भगवान् अग्नि क्यों अदृश्य हो गये थे और देवताओंने कैसे उनका पता लगाया ? यह यथार्थरूपसे बताइये ॥ १६½ ॥

वैशम्पायन उवाच

भृगोः शापाद् भृशं भीतो जातवेदाः प्रतापवान् ॥ १७ ॥
शमीगर्भमथासाद्य ननाश भगवांस्ततः ।

वैशम्पायनजीने कहा—राजन् ! एक समयकी बात है कि प्रतापी भगवान् अग्निदेव महर्षि भृगुके शापसे अत्यन्त भयभीत हो शमीके भीतर जाकर अदृश्य हो गये ॥ १७½ ॥

प्रणष्टे तु तदा वह्नौ देवाः सर्वे सवासवाः ॥ १८ ॥
अन्वैषन्त तदा नष्टं ज्वलनं भृशदुःखिताः ।

उस समय अग्निदेवके दिखायी न देनेपर इन्द्रसहित सम्पूर्ण देवता बहुत दुखी हो उनकी खोज करने लगे ।१८½।

ततोऽग्नितीर्थमासाद्य शमीगर्भस्थमेव हि ॥ १९ ॥
ददृशुर्ज्वलनं तत्र वसमानं यथाविधि ।

तत्पश्चात् अग्नितीर्थमें आकर देवताओंने अग्निको शमीके गर्भमें विधिपूर्वक निवास करते देखा ॥ १९½ ॥

देवाः सर्वे नरव्याघ्र बृहस्पतिपुरोगमाः ॥ २० ॥
ज्वलनं तं समासाद्य प्रीताभूवन् सवासवाः ।

नरव्याघ्र ! इन्द्रसहित सब देवता बृहस्पतिको आगे करके अग्निदेवके समीप आये और उन्हें देखकर बड़े प्रसन्न हुए ॥ २०½ ॥

पुनर्यथागतं जग्मुः सर्वभक्षश्च सोऽभवत् ॥ २१ ॥
भृगोः शापान्महाभाग यदुक्तं ब्रह्मवादिना ।

महाभाग ! फिर वे जैसे आये थे, वैसे लौट गये और अग्निदेव महर्षि भृगुके शापसे सर्वभक्षी हो गये । उन ब्रह्मवादी मुनिने जैसा कहा था, वैसा ही हुआ ॥ २१½ ॥

तत्राप्याप्लुत्य मतिमान् ब्रह्मयोनिं जगाम ह ॥ २२ ॥
ससर्ज भगवान् यत्र सर्वलोकपितामहः ।

उस तीर्थमें गोता लगाकर बुद्धिमान् बलरामजी ब्रह्मयोनि तीर्थमें गये, जहाँ सर्वलोकपितामह ब्रह्माने सृष्टि की थी॥

तत्राप्लुत्य ततो ब्रह्मा सह देवैः प्रभुः पुरा ॥ २३ ॥
ससर्ज तीर्थानि तथा देवतानां यथाविधि ।

पूर्वकालमें देवताओंसहित भगवान् ब्रह्माने वहाँ स्नान करके विधिपूर्वक देवतीर्थोंकी रचना की थी ॥ २३½ ॥

तत्र स्नात्वा च दत्त्वा च वसूनि विविधानि च ॥ २४ ॥
कौबेरं प्रययौ तीर्थं तत्र तप्त्वा महत्तपः ।
धनाधिपत्यं सम्प्राप्तो राजन्नैलविलः प्रभुः ॥ २५ ॥

राजन् ! उस तीर्थमें स्नान और नाना प्रकारके धनका दान करके बलरामजी कुबेर-तीर्थमें गये, जहाँ बड़ी भारी तपस्या करके भगवान् कुबेरने धनाध्यक्षका पद प्राप्त किया था॥

तत्रस्थमेव तं राजन् धनानि निधयस्तथा ।
उपतस्थुर्नरश्रेष्ठ तत् तीर्थं लाङ्गली बलः ॥ २६ ॥
गत्वा स्नात्वा च विधिवद् ब्राह्मणेभ्यो धनं ददौ ।

नरेश्वर ! वहीं उनके पास धन और निधियाँ पहुँच गयी थीं । नरश्रेष्ठ ! हलधारी बलरामने उस तीर्थमें जाकर स्नानके पश्चात् ब्राह्मणोंके लिये विधिपूर्वक धनका दान किया ॥२६½॥

ददृशे तत्र तत् स्थानं कौबेरे काननोत्तमे ॥ २७ ॥
पुरा यत्र तपस्तप्तं विपुलं सुमहात्मना ।
यक्षराज्ञा कुबेरेण वरा लब्धाश्च पुष्कलाः ॥ २८ ॥

तत्पश्चात् उन्होंने वहाँके एक उत्तम वनमें कुबेरके उस स्थानका दर्शन किया, जहाँ पूर्वकालमें महात्मा यक्षराज कुबेरने बड़ी भारी तपस्या की और बहुत-से वर प्राप्त किये॥२७-२८॥

धनाधिपत्यं सख्यं च रुद्रेणामिततेजसा ।
सुरत्वं लोकपालत्वं पुत्रं च नलकूबरम् ॥ २९ ॥
यत्र लेभे महाबाहो धनाधिपतिरञ्जसा ।

महाबाहो ! धनपति कुबेरने वहाँ अमिततेजस्वी रुद्रके साथ मित्रता, धनका स्वामित्व, देवत्व, लोकपालत्व और नलकूबर नामक पुत्र अनायास ही प्राप्त कर लिये ॥ २९½ ॥

अभिषिक्तश्च तत्रैव समागम्य मरुद्गणैः ॥ ३० ॥
वाहनं चास्य तद् दत्तं हंसयुक्तं मनोजवम् ।
विमानं पुष्पकं दिव्यं नैर्ऋतैश्वर्यमेव च ॥ ३१ ॥

वहीं आकर देवताओंने उनका अभिषेक किया तथा उनके लिये हंसोंसे जुता हुआ और मनके समान वेगशाली वाहन दिव्य पुष्पक विमान दिया । साथ ही उन्हें यक्षोंका राजा बना दिया ॥ ३०-३१ ॥

तत्राप्लुत्य बलो राजन् दत्त्वा दायांश्च पुष्कलान् ।

जगाम त्वरितो रामस्तीर्थं श्वेतानुलेपनः ॥ ३२ ॥
निषेवितं सर्वसत्त्वैर्नाम्ना बदरपाचनम्।
नानर्तुकवनोपेतं सदापुष्पफलं शुभम् ॥ ३३ ॥

राजन् ! उस तीर्थमें स्नान और प्रचुर दान करके श्वेत चन्दनधारी बलरामजी शीघ्रतापूर्वक बदरपाचन नामक शुभ तीर्थमें गये, जो सब प्रकारके जीव-जन्तुओंसे सेवित, नाना ऋतुओंकी शोभासे सम्पन्न वनस्थलियोंसे युक्त तथा निरन्तर फूलों और फलोंसे भरा रहनेवाला था ॥ ३२-३३ ॥

इति श्रीमहाभारते शल्यपर्वणि गदापर्वणि बलदेवतीर्थयात्रायां सारस्वतोपाख्याने सप्तचत्वारिंशोऽध्यायः ॥ ४७ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शल्यपर्वके अन्तर्गत गदापर्वमें बलदेवजीकी तीर्थयात्रा और सारस्वतोपाख्यानविषयक सैंतालीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥

अष्टचत्वारिंशोऽध्यायः

बदरपाचन तीर्थकी महिमाके प्रसङ्गमें श्रुतावती और अरुन्धतीके तपकी कथा

वैशम्पायन उवाच

ततस्तीर्थवरं रामो ययौ बदरपाचनम्।
तपस्विसिद्धचरितं यत्र कन्या धृतव्रता ॥ १ ॥
भरद्वाजस्य दुहिता रूपेणाप्रतिमा भुवि।
श्रुतावती नाम विभो कुमारी ब्रह्मचारिणी ॥ २ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन् ! पहले कहा गया है कि वहाँसे बलरामजी बदरपाचन-नामक श्रेष्ठ तीर्थमें गये, जहाँ तपस्वी और सिद्ध पुरुष विचरण करते हैं तथा जहाँ पूर्वकालमें उत्तम व्रत धारण करनेवाली भरद्वाजकी ब्रह्मचारिणी पुत्री कुमारी कन्या श्रुतावती, जिसके रूप और सौन्दर्यकी भूमण्डलमें कहीं तुलना नहीं थी, निवास करती थी ॥ १-२ ॥

तपश्चचार सात्युग्रं नियमैर्बहुभिर्वृता।
भर्ता मे देवराजः स्यादिति निश्चित्य भामिनी ॥ ३ ॥

वह भामिनी बहुत-से नियमोंको धारण करके वहाँ अत्यन्त उग्र तपस्या कर रही थी। उसने अपनी तपस्याका यही उद्देश्य निश्चित कर लिया था कि देवराज इन्द्र मेरे पति हों ॥ ३ ॥

समास्तस्या व्यतिक्रान्ता बह्व्यः कुरुकुलोद्वह।
चरन्त्या नियमांस्तांस्तान् स्त्रीभिस्तीव्रान् सुदुश्चरान् ४

कुरुकुलभूषण ! स्त्रियोंके लिये जिनका पालन अत्यन्त दुष्कर और दुःसह है, उन-उन कठोर नियमोंका पालन करती हुई श्रुतावतीके वहाँ अनेक वर्ष व्यतीत हो गये ॥ ४ ॥

तस्यास्तु तेन वृत्तेन तपसा च विशाम्पते।
भक्त्या च भगवान् प्रीतः परया पाकशासनः ॥ ५ ॥

प्रजानाथ ! उसके उस आचरण, तपस्या तथा पराभक्तिसे भगवान् पाकशासन (इन्द्र) बड़े प्रसन्न हुए ॥ ५ ॥

आजगामाथमं तस्यास्त्रिदशाधिपतिः प्रभुः।
आस्थाय रूपं विप्रर्षेर्वसिष्ठस्य महात्मनः ॥ ६ ॥

वे शक्तिशाली देवराज ब्रह्मर्षि महात्मा वसिष्ठका रूप धारण करके उसके आश्रमपर आये ॥ ६ ॥

सा तं दृष्ट्वोग्रतपसं वसिष्ठं तपतां वरम्।
आचारैर्मुनिभिर्दृष्टैः पूजयामास भारत ॥ ७ ॥

भरतनन्दन ! उसने तपस्वी मुनियोंमें श्रेष्ठ और उग्र तपस्यापरायण वसिष्ठको देखकर मुनिजनोचित आचारोंद्वारा उनका पूजन किया ॥ ७ ॥

उवाच नियमज्ञा च कल्याणी सा प्रियंवदा।
भगवन् मुनिशार्दूल किमाज्ञापयसि प्रभो ॥ ८ ॥
सर्वमद्य यथाशक्ति तव दास्यामि सुव्रत।
शक्रभक्त्या च ते पाणिं न दास्यामि कथंचन ॥ ९ ॥

फिर नियमोंका ज्ञान रखनेवाली और मधुर एवं प्रिय वचन बोलनेवाली कल्याणमयी श्रुतावतीने इस प्रकार कहा— 'भगवन् ! मुनिश्रेष्ठ ! प्रभो ! मेरे लिये क्या आज्ञा है ? सुव्रत ! आज मैं यथाशक्ति आपको सब कुछ दूँगी; परंतु इन्द्रके प्रति अनुराग रखनेके कारण अपना हाथ आपको किसी प्रकार नहीं दे सकूँगी ॥ ८-९ ॥

व्रतैश्च नियमैश्चैव तपसा च तपोधन।
शक्रस्तोषयितव्यो वै मया त्रिभुवनेश्वरः ॥ १० ॥

'तपोधन ! मुझे अपने व्रतों, नियमों तथा तपस्याद्वारा त्रिभुवनसम्राट् भगवान् इन्द्रको ही संतुष्ट करना है' ॥ १० ॥

इत्युक्तो भगवान् देवः स्मयन्निव निरीक्ष्य ताम्।
उवाच नियमं ज्ञात्वा सान्त्वयन्निव भारत ॥ ११ ॥

भारत ! श्रुतावतीके ऐसा कहनेपर भगवान् इन्द्रने मुस्कराते हुए-से उसकी ओर देखा और उसके नियमको जानकर उसे सान्त्वना देते हुए-से कहा— ॥ ११ ॥

उग्रं तपश्चरसि वै विदिता मेऽसि सुव्रते।
यदर्थमयमारम्भस्तव कल्याणि हृद्गतः ॥ १२ ॥
तच्च सर्वं यथाभूतं भविष्यति वरानने।

'सुव्रते ! मैं जानता हूँ तुम बड़ी उग्र तपस्या कर रही हो। कल्याणि ! सुमुखि ! जिस उद्देश्यसे तुमने यह अनुष्ठान आरम्भ किया है और तुम्हारे हृदयमें जो संकल्प है, वह सब यथार्थरूपसे सफल होगा ॥ १२½ ॥

तपसा लभ्यते सर्वं यथाभूतं भविष्यति ॥ १३ ॥
यथा स्थानानि दिव्यानि विबुधानां शुभानने।
तपसा तानि प्राप्याणि तपोमूलं महत् सुखम् ॥ १४ ॥

'शुभानने ! तपस्यासे सब कुछ प्राप्त होता है। तुम्हारा मनोरथ भी यथावत् रूपसे सिद्ध होगा। देवताओंके जो दिव्य स्थान हैं, वे तपस्यासे प्राप्त होनेवाले हैं। महान् सुखका मूल कारण तपस्या ही है ॥ १३-१४ ॥

इति कृत्वा तपो घोरं देहं संन्यस्य मानवाः।
देवत्वं यान्ति कल्याणि शृणुष्वैकं वचो मम ॥ १५ ॥

'कल्याणि ! इस उद्देश्यसे मनुष्य घोर तपस्या करके अपने शरीरको त्यागकर देवत्व प्राप्त कर लेते हैं। अच्छा, अब तुम मेरी एक बात सुनो ॥ १५ ॥

पञ्च चैतानि सुभगे बदराणि शुभव्रते ।
पचेत्युक्त्वा तु भगवाञ्जगाम बलसूदनः ॥ १६ ॥
आमन्त्र्य तां तु कल्याणीं ततो जप्यं जजाप सः ।
अविदूरे ततस्तस्मादाश्रमात् तीर्थमुत्तमम् ॥ १७ ॥

'सुभगे ! शुभव्रते ! ये पाँच बेरके फल हैं । तुम इन्हें पका दो ।' ऐसा कहकर भगवान् इन्द्र कल्याणी श्रुतावतीसे पूछकर उस आश्रमसे थोड़ी ही दूरपर स्थित उत्तम तीर्थमें गये और वहाँ स्नान करके जप करने लगे ॥ १६-१७ ॥

इन्द्रतीर्थेति विख्यातं त्रिषु लोकेषु मानद ।
तस्या जिज्ञासनार्थं स भगवान् पाकशासनः ॥ १८ ॥
बदराणामपचनं चकार विबुधाधिपः ।

मानद ! वह तीर्थ तीनों लोकोंमें इन्द्र-तीर्थके नामसे विख्यात है । देवराज भगवान् पाकशासनने उस कन्याके मनोभावकी परीक्षा लेनेके लिये उन बेरके फलोंको पकने नहीं दिया ॥

ततः प्रतप्ता सा राजन् वाग्यता विगतक्लमा ॥ १९ ॥
तत्परा शुचिसंवीता पावके समधिश्रयत् ।
अपचद् राजशार्दूल बदराणि महाव्रता ॥ २० ॥

राजन् ! तदनन्तर शौचाचारसे सम्पन्न उस तपस्विनीने थकावटसे रहित हो मौनभावसे उन फलोंको आगपर चढ़ा दिया । नृपश्रेष्ठ ! फिर वह महाव्रता कुमारी बड़ी तत्परताके साथ उन बेरके फलोंको पकाने लगी ॥ १९-२० ॥

तस्याः पचन्त्याः सुमहान् कालोऽगात् पुरुषर्षभ ।
न च स्म तान्यपच्यन्त दिनं च क्षयमभ्यगात् ॥ २१ ॥

पुरुषप्रवर ! उन फलोंको पकाते हुए उसका बहुत समय व्यतीत हो गया, परंतु वे फल पक न सके । इतनेमें ही दिन समाप्त हो गया ॥ २१ ॥

हुताशनेन दग्धश्च यस्तस्याः काष्ठसंचयः ।
अकाष्ठमग्निं सा दृष्ट्वा स्वशरीरमथादहत् ॥ २२ ॥

उसने जो ईंधन जमा कर रक्खे थे, वे सब आगमें जल गये । तब अग्निको ईंधनरहित देख उसने अपने शरीरको जलाना आरम्भ किया ॥ २२ ॥

पादौ प्रक्षिप्य सा पूर्वं पावके चारुदर्शना ।
दग्धौ दग्धौ पुनः पादावुपावर्तयतानघ ॥ २३ ॥

निष्पाप नरेश ! मनोहर दिखायी देनेवाली उस कन्याने पहले अपने दोनों पैर आगमें डाल दिये । वे ज्यों-ज्यों जलने लगे, त्यों-ही-त्यों वह उन्हें आगके भीतर बढ़ाती गयी ॥२३॥

चरणौ दह्यमानौ च नाचिन्तयदनिन्दिता ।
कुर्वाणा दुष्करं कर्म महर्षिप्रियकाम्यया ॥ २४ ॥

उस साध्वीने अपने जलते हुए चरणोंकी कुछ भी परवा नहीं की । वह महर्षिका प्रिय करनेकी इच्छासे दुष्कर कार्य कर रही थी ॥ २४ ॥

न वैमनस्यं तस्यास्तु मुखभेदोऽथवाभवत् ।
शरीरमग्निनाऽऽदीप्य जलमध्ये यथा स्थिता ॥ २५ ॥

उसके मनमें तनिक भी उदासी नहीं आयी । मुखकी कान्तिमें भी कोई अन्तर नहीं पड़ा । वह अपने शरीरको आगमें जलाकर भी ऐसी प्रसन्न थी, मानो जलके भीतर खड़ी हो ॥

तच्चास्या वचनं नित्यमवर्तद्धृदि भारत ।
सर्वथा बदराण्येव पक्तव्यानीति कन्यका ॥ २६ ॥

भारत ! उसके मनमें निरन्तर इसी बातका चिन्तन होता रहता था कि 'इन बेरके फलोंको हर तरहसे पकाना है' ॥ २६ ॥

सा तन्मनसि कृत्वैव महर्षेर्वचनं शुभा ।
अपचद् बदराण्येव न चापच्यन्त भारत ॥ २७ ॥

भरतनन्दन ! महर्षिके वचनको मनमें रखकर वह शुभलक्षणा कन्या उन बेरोंको पकाती ही रही, परंतु वे पक न सके ॥ २७ ॥

तस्यास्तु चरणौ वह्निर्ददाह भगवान् स्वयम् ।
न च तस्या मनोदुःखं स्वल्पमप्यभवत् तदा ॥ २८ ॥

भगवान् अग्निने स्वयं ही उसके दोनों पैरोंको जला दिया, तथापि उस समय उसके मनमें थोड़ा-सा भी दुःख नहीं हुआ ॥

अथ तत् कर्म दृष्ट्वास्याः प्रीतस्त्रिभुवनेश्वरः ।
ततः संदर्शयामास कन्यायै रूपमात्मनः ॥ २९ ॥

उसका यह कर्म देखकर त्रिभुवनके स्वामी इन्द्र बड़े प्रसन्न हुए । फिर उन्होंने उस कन्याको अपना यथार्थ रूप दिखाया ॥ २९ ॥

उवाच च सुरश्रेष्ठस्तां कन्यां सुदृढव्रताम् ।
प्रीतोऽस्मि ते शुभे भक्त्या तपसा नियमेन च ॥ ३० ॥
तस्माद् योऽभिमतः कामः स ते सम्पत्स्यते शुभे ।
देहं त्यक्त्वा महाभागे त्रिदिवे मयि वत्स्यसि ॥ ३१ ॥

इसके बाद सुरश्रेष्ठ इन्द्रने दृढ़तापूर्वक उत्तम व्रतका पालन करनेवाली उस कन्यासे इस प्रकार कहा—'शुभे ! मैं तुम्हारी तपस्या, नियमपालन और भक्तिसे बहुत संतुष्ट हूँ । अतः कल्याणि ! तुम्हारे मनमें जो अभीष्ट मनोरथ है, वह पूर्ण होगा । महाभागे ! तुम इस शरीरका परित्याग करके स्वर्गलोकमें मेरे पास रहोगी ॥ ३०-३१ ॥

इदं च ते तीर्थवरं स्थिरं लोके भविष्यति ।
सर्वपापापहं सुभ्रु नाम्ना बदरपाचनम् ॥ ३२ ॥

'सुभ्रु ! तुम्हारा यह श्रेष्ठ तीर्थ इस जगत्में सुस्थिर होगा, बदरपाचन नामसे प्रसिद्ध होकर सम्पूर्ण पापोंका नाश करनेवाला होगा ॥ ३२ ॥

विख्यातं त्रिषु लोकेषु ब्रह्मर्षिभिरभिप्लुतम् ।
अस्मिन् खलु महाभागे शुभे तीर्थवरेऽनघे ॥ ३३ ॥
त्यक्त्वा सप्तर्षयो जग्मुर्हिमवन्तमरुन्धतीम् ।

'यह तीनों लोकोंमें विख्यात है । बहुत-से ब्रह्मर्षियोंने इसमें स्नान किया है । पापरहित महाभागे ! एक समय सप्तर्षिगण इस मङ्गलमय श्रेष्ठ तीर्थमें अरुन्धतीको छोड़कर हिमालय पर्वतपर गये थे ॥ ३३½ ॥

ततस्ते वै महाभागा गत्वा तत्र सुसंशिताः ॥ ३४ ॥
वृत्त्यर्थं फलमूलानि समाहर्तुं ययुः किल ।

'वहाँ पहुँचकर कठोर व्रतका पालन करनेवाले वे महाभाग महर्षि जीवन-निर्वाहके निमित्त फल-मूल लानेके लिये वनमें गये ॥

तेषां वृत्त्यर्थिनां तत्र वसतां हिमवद्वने ॥ ३५ ॥
अनावृष्टिरनुप्राप्ता तदा द्वादशवार्षिकी ।

'जीविकाकी इच्छासे जब वे हिमालयके वनमें निवास करते थे, उन्हीं दिनों बारह वर्षोतक इस देशमें वर्षा ही नहीं हुई ॥

ते कृत्वा चाश्रमं तत्र न्यवसन्त तपस्विनः ॥ ३६ ॥
अरुन्धत्यपि कल्याणी तपोनित्याभवत् तदा ।

'वे तपस्वी मुनि वहीं आश्रम बनाकर रहने लगे । उस समय कल्याणी अरुन्धती भी प्रतिदिन तपस्यामें ही लगी रही॥

अरुन्धतीं ततो दृष्ट्वा तीव्रं नियममास्थिताम् ॥ ३७ ॥
अथागमत् त्रिनयनः सुप्रीतो वरदस्तदा ।

'अरुन्धतीको कठोर नियमका आश्रय लेकर तपस्या करती देख त्रिनेत्रधारी वरदायक भगवान् शंकर बड़े प्रसन्न हुए ॥

ब्राह्मं रूपं ततः कृत्वा महादेवो महायशाः ॥ ३८ ॥
तामभ्येत्याब्रवीद् देवो भिक्षामिच्छाम्यहं शुभे ।

'फिर वे महायशस्वी महादेवजी ब्राह्मणका रूप धारण करके उनके पास गये और बोले—'शुभे ! मैं भिक्षा चाहता हूँ'॥

प्रत्युवाच ततः सा तं ब्राह्मणं चारुदर्शना ॥ ३९ ॥
क्षीणोऽन्नसंचयो विप्र बदराणीह भक्षय ।

'तब परम सुन्दरी अरुन्धतीने उन ब्राह्मण देवतासे कहा—'विप्रवर ! अन्नका संग्रह तो समाप्त हो गया । अब यहाँ ये बेर हैं, इन्हींको खाइये' ॥ ३९½ ॥

ततोऽब्रवीन्महादेवः पचस्वैतानि सुव्रते ॥ ४० ॥
इत्युक्ता सापचत् तानि ब्राह्मणप्रियकाम्यया ।
अधिश्रित्य समिद्धेऽग्नौ बदराणि यशस्विनी ॥ ४१ ॥

'तब महादेवजीने कहा—'सुव्रते ! इन बेरोंको पका दो ।' उनके इस प्रकार आदेश देनेपर यशस्विनी अरुन्धतीने ब्राह्मण-का प्रिय करनेकी इच्छासे उन बेरोंको प्रज्वलित अग्निपर रखकर पकाना आरम्भ किया ॥ ४०-४१ ॥

दिव्या मनोरमाः पुण्याः कथाः शुश्राव सा तदा।
अतीता सा त्वनावृष्टिर्घोरा द्वादशवार्षिकी ॥ ४२ ॥
अनश्नन्त्याः पचन्त्याश्च शृण्वन्त्याश्च कथाः शुभाः।
दिनोपमः स तस्याथ कालोऽतीतः सुदारुणः॥ ४३ ॥

'उस समय उसे परम पवित्र मनोहर एवं दिव्य कथाएँ सुनायी देने लगीं । वह बिना खाये ही बेर पकाती और मङ्गल-मयी कथाएँ सुनती रही । इतनेमें ही बारह वर्षोंकी वह भयंकर अनावृष्टि समाप्त हो गयी । वह अत्यन्त दारुण समय उसके लिये एक दिनके समान व्यतीत हो गया ॥ ४२-४३ ॥

ततस्तु मुनयः प्राप्ताः फलान्यादाय पर्वतात् ।
ततः स भगवान् प्रीतः प्रोवाचारुन्धतीं ततः ॥ ४४ ॥
उपसर्पस्व धर्मज्ञे यथापूर्वमिमानृषीन् ।
प्रीतोऽस्मि तव धर्मज्ञे तपसा नियमेन च ॥ ४५ ॥

'तदनन्तर सप्तर्षिगण हिमालय पर्वतसे फल लेकर वहाँ आये । उस समय भगवान् शंकरने प्रसन्न होकर अरुन्धतीसे कहा—'धर्मज्ञे ! अब तुम पहलेके समान इन ऋषियोंके पास जाओ । धर्मको जाननेवाली देवि ! मैं तुम्हारी तपस्या और नियमसे बहुत प्रसन्न हूँ' ॥ ४४-४५ ॥

ततः संदर्शयामास स्वरूपं भगवान् हरः ।
ततोऽब्रवीत् तदा तेभ्यस्तस्याश्च चरितं महत् ॥ ४६ ॥

'ऐसा कहकर भगवान् शंकरने अपने स्वरूपका दर्शन कराया और उन सप्तर्षियोंसे अरुन्धतीके महान् चरित्रका वर्णन किया ॥ ४६ ॥

भवद्भिर्हिमवत्पृष्ठे यत् तपः समुपार्जितम् ।
अस्याश्च यत् तपो विप्रा न समं तन्मतं मम ॥ ४७ ॥

'वे बोले—'विप्रवरो ! आपलोगोंने हिमालयके शिखरपर रहकर जो तपस्या की है और अरुन्धतीने यहीं रहकर जो तप किया है, इन दोनोंमें कोई समानता नहीं है (अरुन्धतीका ही तप श्रेष्ठ है) ॥ ४७ ॥

अनया हि तपस्विन्या तपस्तप्तं सुदुश्चरम् ।
अनश्नन्त्या पचन्त्या च समा द्वादश पारिताः ॥ ४८ ॥

'इस तपस्विनीने बिना कुछ खाये-पीये बेर पकाते हुए बारह वर्ष बिता दिये हैं । इस प्रकार इसने दुष्कर तपका उपार्जन कर लिया है' ॥ ४८ ॥

ततः प्रोवाच भगवांस्तामेवारुन्धतीं पुनः ।
वरं वृणीष्व कल्याणि यत् तेऽभिलषितं हृदि ॥ ४९ ॥

'इसके बाद भगवान् शंकरने पुनः अरुन्धतीसे कहा—'कल्याणि ! तुम्हारे मनमें जो अभिलाषा हो, उसके अनुसार कोई वर माँग लो' ॥ ४९ ॥

साब्रवीत् पृथुताम्राक्षी देवं सप्तर्षिसंसदि ।
भगवान् यदि मे प्रीतस्तीर्थं स्यादिदमद्भुतम् ॥ ५० ॥
सिद्धदेवर्षिदयितं नाम्ना बदरपाचनम् ।

'तब विशाल एवं अरुण नेत्रोंवाली अरुन्धतीने सप्तर्षियों-की सभामें महादेवजीसे कहा—'भगवान् यदि मुझपर प्रसन्न हैं तो यह स्थान बदरपाचन नामसे प्रसिद्ध होकर सिद्धों और देवर्षियोंका प्रिय एवं अद्भुत तीर्थ हो जाय ॥ ५०½ ॥

तथास्मिन् देवदेवेश त्रिरात्रमुषितः शुचिः ॥ ५१ ॥
प्राप्नुयादुपवासेन फलं द्वादशवार्षिकम् ।

'देवदेवेश्वर ! इस तीर्थमें तीन राततक पवित्र भावसे रहकर वास करनेसे मनुष्यको बारह वर्षोंके उपवासका फल प्राप्त हो' ॥ ५१½ ॥

एवमस्त्विति तां देवः प्रत्युवाच तपस्विनीम् ॥ ५२ ॥
सप्तर्षिभिः स्तुतो देवस्ततो लोकं ययौ तदा ।

'तब महादेवजीने उस तपस्विनीसे कहा—'एवमस्तु' (ऐसा ही हो) । फिर सप्तर्षियोंने उनकी स्तुति की । तत्पश्चात् महादेवजी अपने लोकमें चले गये ॥ ५२½ ॥

ऋषयो विस्मयं जग्मुस्तां दृष्ट्वा चाप्यरुन्धतीम् ॥ ५३ ॥
अश्रान्तां चाविवर्णां च क्षुत्पिपासासमायुताम् ।

'अरुन्धती भूख-प्याससे युक्त होनेपर भी न तो थकी थी और न उसकी अङ्गकान्ति ही फीकी पड़ी थी । उसे देखकर ऋषियोंको बड़ा आश्चर्य हुआ ॥ ५३½ ॥

एवं सिद्धिः परा प्राप्ता अरुन्धत्या विशुद्धया ॥ ५४ ॥

यथा त्वया महाभागे मदर्थं संशितव्रते ।
विशेषो हि त्वया भद्रे व्रते ह्यस्मिन् समर्पितः ॥ ५५ ॥

'कठोर व्रतका पालन करनेवाली महाभागे ! इस प्रकार विशुद्धहृदया अरुन्धती देवीने यहाँ परम सिद्धि प्राप्त की थी, जैसी कि तुमने मेरे लिये तप करके सिद्धि पायी है। भद्रे ! तुमने इस व्रतमें विशेष आत्मसमर्पण किया है।५४-५५।

तथा चेदं ददाम्यद्य नियमेन सुतोषितः ।
विशेषं तव कल्याणि प्रयच्छामि वरं वरे ॥ ५६ ॥

'सती कल्याणि ! मैं तुम्हारे नियमसे संतुष्ट होकर यह विशेष वर प्रदान करता हूँ ॥ ५६ ॥

अरुन्धत्या वरस्तस्या यो दत्तो वै महात्मना ।
तस्य चाहं प्रभावेण तव कल्याणि तेजसा ॥ ५७ ॥
प्रवक्ष्यामि परं भूयो वरमत्र यथाविधि ।

'कल्याणि ! महात्मा भगवान् शंकरने अरुन्धती देवीको जो वर दिया था, तुम्हारे तेज और प्रभावसे मैं उससे भी बढ़कर उत्तम वर देता हूँ ॥ ५७½ ॥

यस्त्वेकां रजनीं तीर्थे वत्स्यते सुसमाहितः ॥ ५८ ॥
स स्नात्वा प्राप्स्यते लोकान् देहन्यासात् सुदुर्लभान् ।

'जो इस तीर्थमें एकाग्रचित्त होकर एक रात निवास करेगा, वह यहाँ स्नान करके देह-त्यागके पश्चात् उन पुण्यलोकोंमें जायगा, जो दूसरोंके लिये अत्यन्त दुर्लभ हैं' ॥ ५८½ ॥

इत्युक्त्वा भगवान् देवः सहस्राक्षः प्रतापवान् ॥ ५९ ॥
श्रुतावतीं ततः पुण्यां जगाम त्रिदिवं पुनः ।

पुण्यमयी श्रुतावतीसे ऐसा कहकर सहस्र नेत्रधारी प्रतापी भगवान् इन्द्रदेव पुनः स्वर्गलोकमें चले गये ॥ ५९½ ॥

गते वज्रधरे राजंस्तत्र वर्षं पपात ह ॥ ६० ॥
पुष्पाणां भरतश्रेष्ठ दिव्यानां पुण्यगन्धिनाम् ।
देवदुन्दुभयश्चापि नेदुस्तत्र महास्वनाः ॥ ६१ ॥

राजन् ! भरतश्रेष्ठ ! वज्रधारी इन्द्रके चले जानेपर वहाँ पवित्र सुगन्धवाले दिव्य पुष्पोंकी वर्षा होने लगी और महान् शब्द करनेवाली देवदुन्दुभियाँ बज उठीं ॥ ६०-६१ ॥

मारुतश्च ववौ पुण्यः पुण्यगन्धो विशाम्पते ।
उत्सृज्य तु शुभा देहं जगामास्य च भार्यताम् ॥ ६२ ॥
तपसोग्रेण तं लब्ध्वा तेन रेमे सहाच्युत ।

प्रजानाथ ! पावन सुगंधसे युक्त पवित्र वायु चलने लगी। शुभलक्षणा श्रुतावती अपने शरीरको त्यागकर इन्द्रकी भार्या हो गयी । अच्युत ! वह अपनी उग्र तपस्यासे इन्द्रको पाकर उनके साथ रमण करने लगी ॥ ६२½ ॥

जनमेजय उवाच

का तस्या भगवन् माता क्व संवृद्धा च शोभना ।
श्रोतुमिच्छाम्यहं विप्र परं कौतूहलं हि मे ॥ ६३ ॥

जनमेजयने पूछा—भगवन् ! शोभामयी श्रुतावतीकी माता कौन थी और वह कहाँ पली थी? यह मैं सुनना चाहता हूँ । विप्रवर! इसके लिये मेरे मनमें बड़ी उत्कण्ठा हो रही है॥

वैशम्पायन उवाच

भरद्वाजस्य विप्रर्षेः स्कन्नं रेतो महात्मनः ॥ ६४ ॥
दृष्ट्वाप्सरसमायान्तीं घृताचीं पृथुलोचनाम् ।

वैशम्पायनजीने कहा—राजन् ! एक दिन विशाल नेत्रोंवाली घृताची अप्सरा कहींसे आ रही थी । उसे देखकर महात्मा महर्षि भरद्वाजका वीर्य स्खलित हो गया ॥ ६४½ ॥

स तु जग्राह तद्रेतः करेण जपतां वरः ॥ ६५ ॥
तदापतत् पर्णपुटे तत्र सा समभवत् सुता ।

जप करनेवालोंमें श्रेष्ठ ऋषिने उस वीर्यको अपने हाथमें ले लिया, परंतु वह तत्काल ही एक पत्तेके दोनेमें गिर पड़ा । वहीं वह कन्या प्रकट हो गयी ॥ ६५½ ॥

तस्यास्तु जातकर्मादि कृत्वा सर्वं तपोधनः ॥ ६६ ॥
नाम चास्याः स कृतवान् भरद्वाजो महामुनिः ।
श्रुतावतीति धर्मात्मा देवर्षिगणसंसदि ।
स्वे च तामाश्रमे न्यस्य जगाम हिमवद्वनम् ॥ ६७ ॥

तपस्याके धनी धर्मात्मा महामुनि भरद्वाजने उसके जातकर्म आदि सब संस्कार करके देवर्षियोंकी सभामें उसका नाम श्रुतावती रख दिया । फिर वे उस कन्याको अपने आश्रममें रखकर हिमालयके जंगलमें चले गये थे ॥ ६६-६७ ॥

तत्राप्युपस्पृश्य महानुभावो
वसूनि दत्त्वा च महाद्विजेभ्यः ।
जगाम तीर्थं सुसमाहितात्मा
शक्रस्य वृष्णिप्रवरस्तदानीम् ॥ ६८ ॥

वृष्णिवंशावतंस महानुभाव बलरामजी उस तीर्थमें भी स्नान और श्रेष्ठ ब्राह्मणोंको धनका दान करके उस समय एकाग्रचित्त हो वहाँसे इन्द्र-तीर्थमें चले गये ॥ ६८ ॥

इति श्रीमहाभारते शल्यपर्वणि गदापर्वणि बलदेवतीर्थयात्रायां सारस्वतोपाख्याने बदरपाचनतीर्थकथने अष्टचत्वारिंशोऽध्यायः ॥ ४८ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शल्यपर्वके अन्तर्गत गदापर्वमें बलदेवजीकी तीर्थयात्रा और सारस्वतोपाख्यानके प्रसंगमें बदरपाचन तीर्थका वर्णनविषयक अड़तालीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ४८ ॥

एकोनपञ्चाशत्तमोऽध्यायः

इन्द्रतीर्थ, रामतीर्थ, यमुनातीर्थ और आदित्यतीर्थकी महिमा

वैशम्पायन उवाच

इन्द्रतीर्थं ततो गत्वा यदूनां प्रवरो बलः ।
विप्रेभ्यो धनरत्नानि ददौ स्नात्वा यथाविधि ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन् ! वहाँसे इन्द्रतीर्थमें जाकर स्नान करके यदुकुलतिलक बलरामजीने ब्राह्मणोंको विधिपूर्वक धन और रत्नोंका दान किया ॥ १ ॥

तत्र ह्यमरराजोऽसावीजे क्रतुशतेन च।
बृहस्पतेश्च देवेशः प्रददौ विपुलं धनम्॥ २॥

उस तीर्थमें देवेश्वर देवराज इन्द्रने सौ यज्ञोंका अनुष्ठान किया था और बृहस्पतिजीको प्रचुर धन दिया था॥ २॥

निरर्गलान् सजारूथ्यान् सर्वान् विविधदक्षिणान्।
आजहार क्रतूंस्तत्र यथोक्तान् वेदपारगैः॥ ३॥

नाना प्रकारकी दक्षिणाओंसे युक्त एवं पुष्ट उन सभी शास्त्रोक्त यज्ञोंको इन्द्रने वेदोंके पारंगत विद्वान् ब्राह्मणोंके साथ बिना किसी विघ्न-बाधाके वहाँ पूर्ण कर लिया॥ ३॥

तान् क्रतून् भरतश्रेष्ठ शतकृत्वो महाद्युतिः।
पूरयामास विधिवत् ततः ख्यातः शतक्रतुः॥ ४॥

भरतश्रेष्ठ! महातेजस्वी इन्द्रने उन यज्ञोंको सौ बार विधिपूर्वक पूर्ण किया, इसलिये इन्द्र शतक्रतु नामसे विख्यात हो गये॥

तस्य नाम्ना च तत् तीर्थं शिवं पुण्यं सनातनम्।
इन्द्रतीर्थमिति ख्यातं सर्वपापप्रमोचनम्॥ ५॥

उन्हींके नामसे वह सर्वपापापहारी, कल्याणकारी एवं सनातन पुण्य तीर्थ 'इन्द्रतीर्थ' कहलाने लगा॥ ५॥

उपस्पृश्य च तत्रापि विधिवन्मुसलायुधः।
ब्राह्मणान् पूजयित्वा च सदाच्छादनभोजनैः॥ ६॥
शुभं तीर्थवरं तस्माद् रामतीर्थं जगाम ह।

मुसलधारी बलरामजी वहाँ भी विधिपूर्वक स्नान तथा उत्तम भोजन-वस्त्रद्वारा ब्राह्मणोंका पूजन करके वहाँसे शुभ तीर्थप्रवर-रामतीर्थमें चले गये॥ ६½॥

यत्र रामो महाभागो भार्गवः सुमहातपाः॥ ७॥
असकृत् पृथिवीं जित्वा हतक्षत्रियपुङ्गवाम्।
उपाध्यायं पुरस्कृत्य कश्यपं मुनिसत्तमम्॥ ८॥
अयजद् वाजपेयेन सोऽश्वमेधशतेन च।
प्रददौ दक्षिणां चैव पृथिवीं वै ससागराम्॥ ९॥

जहाँ महातपस्वी भृगुवंशी महाभाग परशुरामजीने बारंबार क्षत्रियनरेशोंका संहार करके इस पृथ्वीको जीतनेके पश्चात् मुनिश्रेष्ठ कश्यपको आचार्यरूपसे आगे रखकर वाजपेय तथा एक सौ अश्वमेध यज्ञद्वारा भगवान्‌का पूजन किया और दक्षिणारूपमें समुद्रोंसहित यह सारी पृथ्वी दे दी॥ ७—९॥

दत्त्वा च दानं विविधं नानारत्नसमन्वितम्।
सगोहस्तिकदासीकं साजाविं गतवान् वनम्॥ १०॥

नाना प्रकारके रत्न, गौ, हाथी, दास, दासी और भेड़-बकरोंसहित अनेक प्रकारके दान देकर वे वनमें चले गये॥

पुण्ये तीर्थवरे तत्र देवब्रह्मर्षिसेविते।
मुनींश्चैवाभिवाद्याथ यमुनातीर्थमागमत्॥ ११॥
यत्रानयामास तदा राजसूयं महीपते।
पुत्रोऽदितेर्महाभागो वरुणो वै सितप्रभः॥ १२॥

पृथ्वीनाथ! देवताओं और ब्रह्मर्षियोंसे सेवित उस उत्तम पुण्यमय तीर्थमें मुनियोंको प्रणाम करके बलरामजी यमुनातीर्थमें आये, जहाँ अदितिके महाभाग पुत्र गौरकान्ति वरुणजीने राजसूय यज्ञका अनुष्ठान किया था॥ ११-१२॥

तत्र निर्जित्य संग्रामे मानुषान् देवतास्तथा।
वरं क्रतुं समाजह्रे वरुणः परवीरहा॥ १३॥

शत्रुवीरोंका संहार करनेवाले वरुणने संग्राममें मनुष्यों और देवताओंको जीतकर उस श्रेष्ठ यज्ञका आयोजन किया था॥

तस्मिन् क्रतुवरे वृत्ते संग्रामः समजायत।
देवानां दानवानां च त्रैलोक्यस्य भयावहः॥ १४॥

राजन्! वह श्रेष्ठ यज्ञ समाप्त होनेपर देवताओं और दानवोंमें घोर संग्राम हुआ था, जो तीनों लोकोंके लिये भयंकर था॥ १४॥

राजसूये क्रतुश्रेष्ठे निवृत्ते जनमेजय।
जायते सुमहाघोरः संग्रामः क्षत्रियान् प्रति॥ १५॥

जनमेजय! क्रतुश्रेष्ठ राजसूयका अनुष्ठान पूर्ण हो जानेपर उस देशके क्षत्रियोंमें महाभयंकर संग्राम हुआ करता है॥

तत्रापि लाङ्गली देव ऋषीनभ्यर्च्य पूजया।
इतरेभ्योऽप्यदाद् दानमर्थिभ्यः कामदो विभुः॥ १६॥

सबकी इच्छा पूर्ण करनेवाले भगवान् हलधरने उस तीर्थमें भी स्नान एवं ऋषियोंका पूजन करके अन्य याचकोंको भी धन दान किया॥ १६॥

वनमाली ततो हृष्टः स्तूयमानो महर्षिभिः।
तस्मादादित्यतीर्थं च जगाम कमलेक्षणः॥ १७॥

तदनन्तर महर्षियोंके मुखसे अपनी स्तुति सुनकर प्रसन्न हुए वनमालाधारी कमलनयन बलराम वहाँसे आदित्य-तीर्थमें गये॥ १७॥

यत्रेष्ट्वा भगवाञ्ज्योतिर्भास्करो राजसत्तम।
ज्योतिषामाधिपत्यं च प्रभावं चाभ्यपद्यत॥ १८॥

नृपश्रेष्ठ! वहीं यज्ञ करके ज्योतिर्मय भगवान् भास्करने ज्योतियोंका आधिपत्य एवं प्रभुत्व प्राप्त किया था॥ १८॥

तस्या नद्यास्तु तीरे वै सर्वे देवाः सवासवाः।
विश्वेदेवाः समरुतो गन्धर्वाप्सरसश्च ह॥ १९॥
द्वैपायनः शुकश्चैव कृष्णश्च मधुसूदनः।
यक्षाश्च राक्षसाश्चैव पिशाचाश्च विशाम्पते॥ २०॥
एते चान्ये च बहवो योगसिद्धाः सहस्रशः।

प्रजानाथ! उसी नदीके तटपर इन्द्र आदि सम्पूर्ण देवता, विश्वेदेव, मरुद्गण, गन्धर्व, अप्सराएँ, द्वैपायन व्यास, शुकदेव, मधुसूदन श्रीकृष्ण, यक्ष, राक्षस एवं पिशाच—ये तथा और भी बहुत-से पुरुष सहस्रोंकी संख्यामें योगसिद्ध हो गये हैं॥

तस्मिंस्तीर्थे सरस्वत्याः शिवे पुण्ये परंतप॥ २१॥
तत्र हत्वा पुरा विष्णुरसुरौ मधुकैटभौ।
आप्लुत्य भरतश्रेष्ठ तीर्थप्रवर उत्तमे॥ २२॥
द्वैपायनश्च धर्मात्मा तत्रैवाप्लुत्य भारत।
सम्प्राप्य परमं योगं सिद्धिं च परमां गतः॥ २३॥

शत्रुओंको संताप देनेवाले भरतश्रेष्ठ! सरस्वतीके उस परम उत्तम कल्याणकारी पुण्यतीर्थमें पहले मधु और कैटभ नामक असुरोंका वध करके भगवान् विष्णुने स्नान किया था। भारत! इसी प्रकार धर्मात्मा द्वैपायन व्यासने भी उसी तीर्थमें

गोता लगाया था। इससे उन्होंने परम योगको पाकर उत्तम सिद्धि प्राप्त कर ली ॥ २१-२३ ॥

असितो देवलश्चैव तस्मिन्नेव महातपाः।
परमं योगमास्थाय ऋषिर्योगमवाप्तवान् ॥ २४ ॥

महातपस्वी असित देवल ऋषिने उसी तीर्थमें परम योगका आश्रय ले योगसिद्धि पायी थी ॥ २४ ॥

इति श्रीमहाभारते शल्यपर्वणि गदापर्वणि बलदेवतीर्थयात्रायां सारस्वतोपाख्याने एकोनपञ्चाशत्तमोऽध्यायः॥ ४९॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शल्यपर्वके अन्तर्गत गदापर्वमें बलदेवजीकी तीर्थयात्राके प्रसंगमें सारस्वतोपाख्यानविषयक उनचासवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ४९ ॥

पञ्चाशत्तमोऽध्यायः

आदित्यतीर्थकी महिमाके प्रसङ्गमें असित देवल तथा जैगीषव्य मुनिका चरित्र

वैशम्पायन उवाच

तस्मिन्नेव तु धर्मात्मा वसति स्म तपोधनः।
गार्हस्थ्यं धर्ममास्थाय ह्यसितो देवलः पुरा ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! प्राचीन कालकी बात है, उसी तीर्थमें तपस्याके धनी धर्मात्मा असित देवल मुनि गृहस्थधर्मका आश्रय लेकर निवास करते थे ॥ १ ॥

धर्मनित्यः शुचिर्दान्तो न्यस्तदण्डो महातपाः।
कर्मणा मनसा वाचा समः सर्वेषु जन्तुषु ॥ २ ॥

वे सदा धर्मपरायण, पवित्र, जितेन्द्रिय, किसीको भी दण्ड न देनेवाले, महातपस्वी तथा मन, वाणी और क्रियाद्वारा सभी जीवोंके प्रति समान भाव रखनेवाले थे ॥ २ ॥

अक्रोधनो महाराज तुल्यनिन्दात्मसंस्तुतिः।
प्रियाप्रिये तुल्यवृत्तिर्यमवत्समदर्शनः ॥ ३ ॥

महाराज! उनमें क्रोध नहीं था। वे अपनी निन्दा और स्तुतिको समान समझते थे। प्रिय और अप्रियकी प्राप्तिमें उनकी चित्तवृत्ति एक-सी रहती थी। वे यमराजकी भाँति सबके प्रति सम दृष्टि रखते थे ॥ ३ ॥

काञ्चने लोष्टभावे च समदर्शी महातपाः।
देवानपूजयन्नित्यमतिथींश्च द्विजैः सह ॥ ४ ॥

सोना हो या मिट्टीका ढेला, महातपस्वी देवल दोनोंको समान दृष्टिसे देखते थे और प्रतिदिन देवताओं तथा ब्राह्मणोंसहित अतिथियोंका पूजन एवं आदर-सत्कार करते थे ॥ ४ ॥

ब्रह्मचर्यरतो नित्यं सदा धर्मपरायणः।
ततोऽभ्येत्य महाभाग योगमास्थाय भिक्षुकः ॥ ५ ॥
जैगीषव्यो मुनिर्धीमांस्तस्मिंस्तीर्थे समाहितः।

वे मुनि सदा ब्रह्मचर्यपालनमें तत्पर रहते थे। उन्हें सब समय धर्मका ही सबसे बड़ा सहारा था। महाभाग! एक दिन बुद्धिमान् जैगीषव्य मुनि जो संन्यासी थे, योगका आश्रय लेकर उस तीर्थमें आये और एकाग्रचित्त होकर वहाँ रहने लगे ॥ ५½ ॥

देवलस्याश्रमे राजन्न्यवसत् स महाद्युतिः ॥ ६ ॥
योगनित्यो महाराज सिद्धिं प्राप्तो महातपाः।

राजन्! महाराज! वे महातेजस्वी और महातपस्वी जैगीषव्य सदा योगपरायण रहकर सिद्धि प्राप्त कर चुके थे तथा देवलके ही आश्रममें रहते थे ॥ ६½ ॥

तं तत्र वसमानं तु जैगीषव्यं महामुनिम् ॥ ७ ॥
देवलो दर्शयन्नेव नैवायुञ्जत धर्मतः।
एवं तयोर्महाराज दीर्घकालो व्यतिक्रमत् ॥ ८ ॥

यद्यपि महामुनि जैगीषव्य उस आश्रममें ही रहते थे तथापि देवल मुनि उन्हें दिखाकर धर्मतः योग-साधना नहीं करते थे। इस तरह दोनोंको वहाँ रहते हुए बहुत समय बीत गया ॥ ७-८ ॥

जैगीषव्यं मुनिवरं न ददर्शाथ देवलः।
आहारकाले मतिमान् परिव्राड् जनमेजय ॥ ९ ॥
उपातिष्ठत धर्मज्ञो भैक्षकाले स देवलम्।

जनमेजय! तदनन्तर कुछ कालतक ऐसा हुआ कि देवल मुनिवर जैगीषव्यको हर समय नहीं देख पाते थे। धर्मके ज्ञाता बुद्धिमान् संन्यासी जैगीषव्य केवल भोजन या भिक्षा लेनेके समय देवलके पास आते थे ॥ ९½ ॥

स दृष्ट्वा भिक्षुरूपेण प्राप्तं तत्र महामुनिम् ॥ १० ॥
गौरवं परमं चक्रे प्रीतिं च विपुलां तथा।
देवलस्तु यथाशक्ति पूजयामास भारत ॥ ११ ॥
ऋषिदृष्टेन विधिना समा बह्वीः समाहितः।

भारत! संन्यासीके रूपमें वहाँ आये हुए महामुनि जैगीषव्यको देखकर देवल उनके प्रति अत्यन्त गौरव और महान् प्रेम प्रकट करते तथा यथाशक्ति शास्त्रीय विधिसे एकाग्रचित्त हो उनका पूजन (आदर-सत्कार) किया करते थे। बहुत वर्षोंतक उन्होंने ऐसा ही किया ॥ १०-११½ ॥

कदाचित् तस्य नृपते देवलस्य महात्मनः ॥ १२ ॥
चिन्ता सुमहती जाता मुनिं दृष्ट्वा महाद्युतिम्।

नरेश्वर! एक दिन महातेजस्वी जैगीषव्य मुनिको देखकर महात्मा देवलके मनमें बड़ी भारी चिन्ता हुई ॥ १२½ ॥

समास्तु समतिक्रान्ता बह्व्यः पूजयतो मम ॥ १३ ॥
न चायमलसो भिक्षुरभ्यभाषत किंचन।

उन्होंने सोचा, 'इनकी पूजा करते हुए मुझे बहुत वर्ष बीत गये; परंतु ये आलसी भिक्षु आजतक एक बात भी नहीं बोले' ॥ १३½ ॥

एवं विगणयन्नेव स जगाम महोदधिम् ॥ १४ ॥
अन्तरिक्षचरः श्रीमान् कलशं गृह्य देवलः।

यही सोचते हुए श्रीमान् देवलमुनि कलश हाथमें लेकर आकाशमार्गसे समुद्र तटकी ओर चल दिये ॥ १४½ ॥

गच्छन्नेव स धर्मात्मा समुद्रं सरितां पतिम् ॥ १५ ॥

जैगीषव्यं ततोऽपश्यद् गतं प्रागेव भारत।

भारत ! नदीपति समुद्रके पास पहुँचते ही धर्मात्मा देवलने देखा कि जैगीषव्य वहाँ पहलेसे ही गये हैं ॥ १५½ ॥

ततः सविस्मयश्चिन्तां जगामाथामितप्रभः ॥ १६ ॥
कथं भिक्षुरयं प्राप्तः समुद्रे स्नात एव च।
इत्येवं चिन्तयामास महर्षिरसितस्तदा ॥ १७ ॥

तब तो अमित तेजस्वी महर्षि असित देवलको चिन्ताके साथ-साथ आश्चर्य भी हुआ। वे सोचने लगे, 'ये भिक्षु यहाँ पहले ही कैसे आ पहुँचे ? इन्होंने तो समुद्रमें स्नानका कार्य भी पूर्ण कर लिया' ॥ १६-१७ ॥

स्नात्वा समुद्रे विधिवच्छुचिर्जप्यं जजाप सः।
कृतजप्याह्निकः श्रीमानाश्रमं च जगाम ह ॥ १८ ॥
कलशं जलपूर्णं वै गृहीत्वा जनमेजय।

जनमेजय ! फिर उन्होंने समुद्रमें विधिपूर्वक स्नान करके पवित्र हो जपने योग्य मन्त्रका जप किया। जप आदि नित्य कर्म पूर्ण करके श्रीमान् देवल जलसे भरा हुआ कलश लेकर अपने आश्रमपर आये ॥ १८½ ॥

ततः स प्रविशन्नेव स्वमाश्रमपदं मुनिः ॥ १९ ॥
आसीनमाश्रमे तत्र जैगीषव्यमपश्यत।
न व्याहरति चैवैनं जैगीषव्यः कथंचन ॥ २० ॥
काष्ठभूतोऽऽश्रमपदे वसति स महातपाः।

आश्रममें प्रवेश करते ही देवल मुनिने वहाँ बैठे हुए जैगीषव्यको देखा, परंतु जैगीषव्यने उस समय भी किसी तरह उनसे बात नहीं की। वे महातपस्वी मुनि आश्रमपर काष्ठमौन होकर बैठे हुए थे ॥ १९-२०½ ॥

तं दृष्ट्वा चाप्लुतं तोये सागरे सागरोपमम् ॥ २१ ॥
प्रविष्टमाश्रमं चापि पूर्वमेव ददर्श सः।
असितो देवलो राजंश्चिन्तयामास बुद्धिमान् ॥ २२ ॥

राजन् ! समुद्रके समान अत्यन्त प्रभावशाली मुनिको समुद्रके जलमें स्नान करके अपनेसे पहले ही आश्रममें प्रविष्ट हुआ देख बुद्धिमान् असित देवलको पुनः बड़ी चिन्ता हुई ॥

दृष्ट्वा प्रभावं तपसो जैगीषव्यस्य योगजम्।
चिन्तयामास राजेन्द्र तदा स मुनिसत्तमः ॥ २३ ॥
मया दृष्टः समुद्रे च आश्रमे च कथं त्वयम्।

राजेन्द्र ! जैगीषव्यकी तपस्याका वह योगजनित प्रभाव देखकर वे मुनिश्रेष्ठ देवल फिर सोचने लगे—'मैंने इन्हें अभी-अभी समुद्रतट पर देखा है, फिर ये आश्रममें कैसे उपस्थित हैं ?' ॥ २३½ ॥

एवं विगणयन्नेव स मुनिर्मन्त्रपारगः ॥ २४ ॥
उत्पपाताश्रमात् तस्मादन्तरिक्षं विशाम्पते।
जिज्ञासार्थं तदा भिक्षोर्जैगीषव्यस्य देवलः ॥ २५ ॥

प्रजानाथ ! ऐसा विचार करते हुए वे मन्त्रशास्त्रके पारंगत विद्वान् मुनि उस आश्रमसे आकाशकी ओर उड़ चले। उस समय भिक्षु जैगीषव्यकी परीक्षा लेनेके लिये उन्होंने ऐसा किया ॥ २४-२५ ॥

सोऽन्तरिक्षचरान् सिद्धान् समपश्यत् समाहितान्।
जैगीषव्यं च तैः सिद्धैः पूज्यमानमपश्यत ॥ २६ ॥

ऊपर जाकर उन्होंने बहुत-से अन्तरिक्षचारी एकाग्रचित्तवाले सिद्धोंको देखा। साथ ही उन सिद्धोंके द्वारा पूजे जाते हुए जैगीषव्य मुनिका भी उन्हें दर्शन हुआ ॥ २६ ॥

ततोऽसितः सुसंरब्धो व्यवसायी दृढव्रतः।
अपश्यद् वै दिवं यान्तं जैगीषव्यं स देवलः ॥ २७ ॥

तदनन्तर दृढ़तापूर्वक व्रतका पालन करनेवाले दृढ़-निश्चयी असित देवल मुनि रोषावेशमें भर गये। फिर उन्होंने जैगीषव्यको स्वर्गलोकमें जाते देखा ॥ २७ ॥

तस्मात् तु पितृलोकं तं व्रजन्तं सोऽन्वपश्यत।
पितृलोकाच्च तं यान्तं याम्यं लोकमपश्यत ॥ २८ ॥

स्वर्गलोकसे उन्हें पितृलोकमें और पितृलोकसे यमलोकमें जाते देखा ॥ २८ ॥

तस्मादपि समुत्पत्य सोमलोकमभिप्लुतम्।
व्रजन्तमन्वपश्यत् स जैगीषव्यं महामुनिम् ॥ २९ ॥

वहाँसे भी ऊपर उठकर महामुनि जैगीषव्य जलमय चन्द्रलोकमें जाते दिखायी दिये ॥ २९ ॥

लोकान् समुत्पतन्तं तु शुभानेकान्तयाजिनाम्।
ततोऽग्निहोत्रिणां लोकांस्ततश्चाप्युत्पपात ह ॥ ३० ॥

फिर वे एकान्ततः यज्ञ करनेवाले पुरुषोंके उत्तम लोकोंकी ओर उड़ते दिखायी दिये। वहाँसे वे अग्निहोत्रियोंके लोकोंमें गये ॥ ३० ॥

दर्शं च पौर्णमासं च ये यजन्ति तपोधनाः।
तेभ्यः स ददृशे धीमाँल्लोकेभ्यः पशुयाजिनाम् ॥ ३१ ॥

उन लोकोंसे ऊपर उठकर वे बुद्धिमान् मुनि उन तपोधनोंके लोकमें गये, जो दर्श और पौर्णमास यज्ञ करते हैं। वहाँसे वे पशुयाग करनेवालोंके लोकोंमें जाते दिखायी दिये॥

व्रजन्तं लोकममलमपश्यद् देवपूजितम्।
चातुर्मास्यैर्बहुविधैर्यजन्ते ये तपोधनाः ॥ ३२ ॥

जो तपस्वी नाना प्रकारके चातुर्मास यज्ञ करते हैं, उनके निर्मल लोकोंमें जाते हुए जैगीषव्यको देवल मुनिने देखा। वे वहाँ देवताओंसे पूजित हो रहे थे ॥ ३२ ॥

तेषां स्थानं ततो यातं तथाग्निष्टोमयाजिनाम्।
अग्निष्टुतेन च तथा ये यजन्ति तपोधनाः ॥ ३३ ॥
तत् स्थानमनुसम्प्राप्तमन्वपश्यत देवलः।

वहाँसे अग्निष्टोमयाजी तथा अग्निष्टुत् यज्ञके द्वारा यज्ञ करनेवाले तपोधनोंके लोकमें पहुँचे हुए जैगीषव्यको देवल मुनिने देखा ॥ ३३½ ॥

वाजपेयं क्रतुवरं तथा बहुसुवर्णकम् ॥ ३४ ॥
आहरन्ति महाप्राज्ञास्तेषां लोकेष्वपश्यत।

जो महाप्राज्ञ पुरुष बहुत-सी सुवर्णमयी दक्षिणाओंसे युक्त क्रतुश्रेष्ठ वाजपेय यज्ञका अनुष्ठान करते हैं, उनके लोकोंमें भी उन्होंने जैगीषव्यका दर्शन किया ॥ ३४½ ॥

यजन्ते राजसूयेन पुण्डरीकेण चैव ये ॥ ३५ ॥

तेषां लोकेष्वपश्यच्च जैगीषव्यं स देवलः।

जो राजसूय और पुण्डरीक यज्ञके द्वारा यजन करते हैं, उनके लोकोंमें भी देवलने जैगीषव्यको देखा ॥ ३५½ ॥

अश्वमेधं क्रतुवरं नरमेधं तथैव च ॥ ३६ ॥
आहरन्ति नरश्रेष्ठास्तेषां लोकेष्वपश्यत।

जो नरश्रेष्ठ क्रतुओंमें उत्तम अश्वमेध तथा नरमेधका अनुष्ठान करते हैं, उनके लोकोंमें भी उनका दर्शन किया ॥

सर्वमेधं च दुष्प्रापं तथा सौत्रामणिं च ये ॥ ३७ ॥
तेषां लोकेष्वपश्यच्च जैगीषव्यं स देवलः।

जो लोग दुर्लभ सर्वमेध तथा सौत्रामणि यज्ञ करते हैं, उनके लोकोंमें भी देवलने जैगीषव्यको देखा ॥ ३७½ ॥

द्वादशाहैश्च सत्रैश्च यजन्ते विविधैर्नृप ॥ ३८ ॥
तेषां लोकेष्वपश्यच्च जैगीषव्यं स देवलः।

नरेश्वर ! जो नाना प्रकारके द्वादशाह यज्ञोंका अनुष्ठान करते हैं, उनके लोकोंमें भी देवलने जैगीषव्यका दर्शन किया॥

मैत्रावरुणयोर्लोकानादित्यानां तथैव च ॥ ३९ ॥
सलोकतामनुप्राप्तमपश्यत ततोऽसितः।

तत्पश्चात् असितने मित्र, वरुण और आदित्योंके लोकोंमें पहुँचे हुए जैगीषव्यको देखा ॥ ३९½ ॥

रुद्राणां च वसूनां च स्थानं यच्च बृहस्पतेः ॥ ४० ॥
तानि सर्वाण्यतीतानि समपश्यत् ततोऽसितः।

तदनन्तर रुद्र, वसु और बृहस्पतिके जो स्थान हैं, उन सबको लाँघकर ऊपर उठे हुए जैगीषव्यका असित देवलने दर्शन किया ॥ ४०½ ॥

आरुह्य च गवां लोकं प्रयातो ब्रह्मसत्रिणाम् ॥ ४१ ॥
लोकानपश्यद् गच्छन्तं जैगीषव्यं ततोऽसितः।

इसके बाद असितने गौओंके लोकमें जाकर जैगीषव्यको ब्रह्मसत्र करनेवालोंके लोकोंमें जाते देखा ॥ ४१½ ॥

त्रीँल्लोकानपरान् विप्रमुत्पतन्तं स्वतेजसा ॥ ४२ ॥
पतिव्रतानां लोकांश्च व्रजन्तं सोऽन्वपश्यत।

तत्पश्चात् देवलने देखा कि विप्रवर जैगीषव्य मुनि अपने तेजसे ऊपर-ऊपरके तीन लोकोंको लाँघकर पतिव्रताओंके लोकमें जा रहे हैं ॥ ४२½ ॥

ततो मुनिवरं भूयो जैगीषव्यमथासितः ॥ ४३ ॥
नान्वपश्यत लोकस्थमन्तर्हितमरिंदम।

शत्रुओंका दमन करनेवाले नरेश ! इसके बाद असितने मुनिवर जैगीषव्यको पुनः किसी लोकमें स्थित नहीं देखा। वे अदृश्य हो गये थे ॥ ४३½ ॥

सोऽचिन्तयन्महाभागो जैगीषव्यस्य देवलः ॥ ४४ ॥
प्रभावं सुव्रतत्वं च सिद्धिं योगस्य चातुलाम्।

तत्पश्चात् महाभाग देवलने जैगीषव्यके प्रभाव, उत्तम व्रत और अनुपम योगसिद्धिके विषयमें विचार किया ॥

असितोऽपृच्छत तदा सिद्धाँल्लोकेषु सत्तमान्॥ ४५ ॥
प्रयतः प्राञ्जलिर्भूत्वा धीरस्तान् ब्रह्मसत्रिणः।
जैगीषव्यं न पश्यामि तं शंसध्वं महौजसम् ॥ ४६ ॥
एतदिच्छाम्यहं श्रोतुं परं कौतूहलं हि मे।

इसके बाद धैर्यवान् असितने उन लोकोंमें रहनेवाले ब्रह्मयाजी सिद्धों और साधु पुरुषोंसे हाथ जोड़कर विनीतभावसे पूछा—'महात्माओ ! मैं महातेजस्वी जैगीषव्यको अब देख नहीं रहा हूँ । आप उनका पता बतावें । मैं उनके विषयमें सुनना चाहता हूँ । इसके लिये मेरे मनमें बड़ी उत्कण्ठा है'॥

सिद्धा ऊचुः

शृणु देवल भूतार्थं शंसतां नो दृढव्रत ॥ ४७ ॥
जैगीषव्यः स वै लोकं शाश्वतं ब्रह्मणो गतः।

सिद्धोंने कहा—दृढ़तापूर्वक उत्तम व्रतका पालन करनेवाले देवल! सुनो। हम तुम्हें वह बात बता रहे हैं, जो हो चुकी है। जैगीषव्य मुनि सनातन ब्रह्मलोकमें जा पहुँचे हैं ॥

वैशम्पायन उवाच

स श्रुत्वा वचनं तेषां सिद्धानां ब्रह्मसत्रिणाम्॥ ४८ ॥
असितो देवलस्तूर्णमुत्पपात पपात च।
ततः सिद्धास्त ऊचुर्हि देवलं पुनरेव ह ॥ ४९ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन् ! उन ब्रह्मयाजी सिद्धोंकी बात सुनकर देवलमुनि तुरंत ऊपरकी ओर उछले, परंतु नीचे गिर पड़े। तब उन सिद्धोंने पुनः देवलसे कहा—॥

न देवलगतिस्तत्र तव गन्तुं तपोधन।
ब्रह्मणः सदने विप्र जैगीषव्यो यदाप्तवान् ॥ ५० ॥

'तपोधन देवल ! विप्रवर ! जहाँ जैगीषव्य गये हैं, उस ब्रह्मलोकमें जानेकी शक्ति तुममें नहीं है' ॥ ५० ॥

वैशम्पायन उवाच

तेषां तद् वचनं श्रुत्वा सिद्धानां देवलः पुनः।
आनुपूर्व्येण लोकांस्तान् सर्वानवततार ह ॥ ५१ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन् ! उन सिद्धोंकी बात सुनकर देवलमुनि पुनः क्रमशः उन सभी लोकोंमें होते हुए नीचे उतर आये ॥ ५१ ॥

स्वमाश्रमपदं पुण्यमाजगाम पतत्रिवत्।
प्रविशन्नेव चापश्यज्जैगीषव्यं स देवलः ॥ ५२ ॥

पक्षीकी तरह उड़ते हुए वे अपने पुण्यमय आश्रमपर आ पहुँचे। आश्रमके भीतर प्रवेश करते ही देवलने जैगीषव्य मुनिको वहाँ बैठा देखा ॥ ५२ ॥

ततो बुद्ध्या व्यगणयद् देवलो धर्मयुक्तया।
दृष्ट्वा प्रभावं तपसो जैगीषव्यस्य योगजम् ॥ ५३ ॥

तब देवलने जैगीषव्यकी तपस्याका वह योगजनित प्रभाव देखकर धर्मयुक्त बुद्धिसे उसपर विचार किया ॥ ५३ ॥

ततोऽब्रवीन्महात्मानं जैगीषव्यं स देवलः।
विनयावनतो राजन्नुपसर्प्य महामुनिम् ॥ ५४ ॥

राजन् ! इसके बाद महामुनि महात्मा जैगीषव्यके पास जाकर देवलने विनीतभावसे कहा—॥ ५४ ॥

मोक्षधर्मं समास्थातुमिच्छेयं भगवन्नहम्।
तस्य तद् वचनं श्रुत्वा उपदेशं चकार सः ॥ ५५ ॥

विधिं च योगस्य परं कार्याकार्यस्य शास्त्रतः ।
संन्यासकृतबुद्धिं तं ततो दृष्ट्वा महातपाः ॥ ५६ ॥
सर्वाश्चास्य क्रियाश्चक्रे विधिदृष्टेन कर्मणा ।

'भगवन् ! मैं मोक्षधर्मका आश्रय लेना चाहता हूँ ।' उनकी यह बात सुनकर महातपस्वी जैगीषव्यने उनका संन्यास लेनेका विचार जानकर उन्हें ज्ञानका उपदेश किया। साथ ही योगकी उत्तम विधि बताकर शास्त्रके अनुसार कर्तव्य-अकर्तव्यका भी उपदेश दिया । इतना ही नहीं, उन्होंने शास्त्रीय विधिके अनुसार उनके संन्यासग्रहणसम्बन्धी समस्त कार्य (दीक्षा और संस्कार आदि) किये ॥ ५५-५६½ ॥

संन्यासकृतबुद्धिं तं भूतानि पितृभिः सह ॥ ५७ ॥
ततो दृष्ट्वा प्ररुरुदुः कोऽस्मान् संविभजिष्यति ।

उनका संन्यास लेनेका विचार जानकर पितरोंसहित समस्त प्राणी यह कहते हुए रोने लगे 'कि अब हमें कौन विभागपूर्वक अन्नदान करेगा' ॥ ५७½ ॥

देवलस्तु वचः श्रुत्वा भूतानां करुणं तथा ॥ ५८ ॥
दिशो दश व्याहरतां मोक्षं त्यक्तुं मनो दधे ।

दसों दिशाओंमें विलाप करते हुए उन प्राणियोंका करुणायुक्त वचन सुनकर देवलने मोक्षधर्म (संन्यास) को त्याग देनेका विचार किया ॥ ५८½ ॥

ततस्तु फलमूलानि पवित्राणि च भारत ॥ ५९ ॥
पुष्पाण्योषधयश्चैव रोरूयन्ति सहस्रशः ।
पुनर्नो देवलः क्षुद्रो नूनं छेत्स्यति दुर्मतिः ॥ ६० ॥
अभयं सर्वभूतेभ्यो यो दत्त्वा नावबुध्यते ।

भारत ! यह देख फल-मूल, पवित्री (कुश), पुष्प और ओषधियाँ—ये सहस्रों पदार्थ यह कहकर बारंबार रोने लगे कि 'यह खोटी बुद्धिवाला क्षुद्र देवल निश्चय ही फिर हमारा उच्छेद करेगा। तभी तो यह सम्पूर्ण भूतोंको अभयदान देकर भी अब अपनी प्रतिज्ञाको स्मरण नहीं करता है' ॥५९-६०½॥

ततो भूयो व्यगणयत् स्वबुद्ध्या मुनिसत्तमः ॥ ६१ ॥
मोक्षे गार्हस्थ्यधर्मे वा किं नु श्रेयस्करं भवेत्।

तब मुनिश्रेष्ठ देवल पुनः अपनी बुद्धिसे विचार करने लगे, मोक्ष और गार्हस्थ्यधर्म इनमेंसे कौन-सा मेरे लिये श्रेयस्कर होगा ॥ ६१½ ॥

इति निश्चित्य मनसा देवलो राजसत्तम ॥ ६२ ॥
त्यक्त्वा गार्हस्थ्यधर्मं स मोक्षधर्ममरोचयत् ।

नृपश्रेष्ठ ! देवलने मन-ही मन इस बातपर निश्चित विचार करके गार्हस्थ्यधर्मको त्यागकर अपने लिये मोक्षधर्मको पसंद किया ॥ ६२½ ॥

एवमादीनि संचिन्त्य देवलो निश्चयात् ततः ॥ ६३ ॥
प्राप्तवान् परमां सिद्धिं परं योगं च भारत ।

भारत ! इन सब बातोंको सोच-विचारकर देवलने जो संन्यास लेनेका ही निश्चय किया, उससे उन्होंने परमसिद्धि और उत्तम योगको प्राप्त कर लिया ॥ ६३½ ॥

ततो देवाः समागम्य बृहस्पतिपुरोगमाः ॥ ६४ ॥
जैगीषव्ये तपश्चास्य प्रशंसन्ति तपस्विनः ।

तब बृहस्पति आदि सब देवता और तपस्वी वहाँ आकर जैगीषव्य मुनिके तपकी प्रशंसा करने लगे ॥ ६४½ ॥

अथाब्रवीदृषिवरो देवान् वै नारदस्तथा ॥ ६५ ॥
जैगीषव्ये तपो नास्ति विस्मापयति योऽसितम् ।

तदनन्तर मुनिश्रेष्ठ नारदने देवताओंसे कहा—'जैगीषव्यमें तपस्या नहीं है; क्योंकि ये असित मुनिको अपना प्रभाव दिखाकर आश्चर्यमें डाल रहे हैं' ॥ ६५½ ॥

तमेवंवादिनं धीरं प्रत्यूचुस्ते दिवौकसः ॥ ६६ ॥
नैवमित्येव शंसन्तो जैगीषव्यं महामुनिम् ।
नातः परतरं किंचित् तुल्यमस्ति प्रभावतः ॥ ६७ ॥
तेजसस्तपसश्चास्य योगस्य च महात्मनः ।

ऐसा कहनेवाले ज्ञानी नारदमुनिको देवताओंने महामुनि जैगीषव्यकी प्रशंसा करते हुए इस प्रकार उत्तर दिया—'आपको ऐसी बात नहीं कहनी चाहिये; क्योंकि प्रभाव, तेज, तपस्या और योगकी दृष्टिसे इन महात्मासे बढ़कर दूसरा कोई नहीं है' ॥ ६६-६७½ ॥

एवं प्रभावो धर्मात्मा जैगीषव्यस्तथासितः ।
तयोरिदं स्थानवरं तीर्थं चैव महात्मनोः ॥ ६८ ॥

धर्मात्मा जैगीषव्य तथा असितमुनिका ऐसा ही प्रभाव था । उन दोनों महात्माओंका यह श्रेष्ठ स्थान ही तीर्थ है ॥

तत्राप्युपस्पृश्य ततो महात्मा
दत्त्वा च वित्तं हलभृद् द्विजेभ्यः ।
अवाप्य धर्मं परमार्थकर्मा
जगाम सोमस्य महत् सुतीर्थम् ॥ ६९ ॥

पारमार्थिक कर्म करनेवाले महात्मा हलधर वहाँ भी स्नान करके ब्राह्मणोंको धन-दान दे धर्मका फल पाकर सोमके महान् एवं उत्तम तीर्थमें गये ॥ ६९ ॥

इति श्रीमहाभारते शल्यपर्वणि गदापर्वणि बलदेवतीर्थयात्रायां सारस्वतोपाख्याने पञ्चाशत्तमोऽध्यायः ॥ ५० ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शल्यपर्वके अन्तर्गत गदापर्वमें बलदेवजीकी तीर्थयात्राके प्रसंगमें सारस्वतोपाख्यानविषयक पचासवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ५० ॥

एकपञ्चाशत्तमोऽध्यायः

सारस्वततीर्थकी महिमाके प्रसंगमें दधीच ऋषि और सारस्वत मुनिके चरित्रका वर्णन

वैशम्पायन उवाच

यत्रेजिवानुडुपती राजसूयेन भारत ।
तस्मिंस्तीर्थे महानासीत् संग्रामस्तारकामयः ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—भरतनन्दन ! वही सोमतीर्थ है, जहाँ नक्षत्रोंके स्वामी चन्द्रमाने राजसूय यज्ञ किया था । उसी तीर्थमें महान् तारकामय संग्राम हुआ था ॥ १ ॥

तत्राप्युपस्पृश्य बलो दत्त्वा दानानि चात्मवान्।
सारस्वतस्य धर्मात्मा मुनेस्तीर्थं जगाम ह॥ २॥

धर्मात्मा एवं मनस्वी बलरामजी उस तीर्थमें भी स्नान एवं दान करके सारस्वत मुनिके तीर्थमें गये॥ २॥

तत्र द्वादशवार्षिक्यामनावृष्ट्यां द्विजोत्तमान्।
वेदानध्यापयामास पुरा सारस्वतो मुनिः॥ ३॥

प्राचीनकालमें जब बारह वर्षोंतक अनावृष्टि हो गयी थी, सारस्वत मुनिने वहीं उत्तम ब्राह्मणोंको वेदाध्ययन कराया था॥

जनमेजय उवाच

कथं द्वादशवार्षिक्यामनावृष्ट्यां द्विजोत्तमान्।
ऋषीनध्यापयामास पुरा सारस्वतो मुनिः॥ ४॥

जनमेजयने पूछा—मुने! प्राचीन कालमें सारस्वत मुनिने बारह वर्षोंकी अनावृष्टिके समय उत्तम ब्राह्मणोंको किस प्रकार वेदोंका अध्ययन कराया था?॥ ४॥

वैशम्पायन उवाच

आसीत् पूर्वं महाराज मुनिर्धीमान् महातपाः।
दधीच इति विख्यातो ब्रह्मचारी जितेन्द्रियः॥ ५॥

वैशम्पायनजीने कहा—महाराज! पूर्वकालमें एक बुद्धिमान् महातपस्वी मुनि रहते थे, जो ब्रह्मचारी और जितेन्द्रिय थे। उनका नाम था दधीच॥ ५॥

तस्यातितपसः शक्रो बिभेति सततं विभो।
न स लोभयितुं शक्यः फलैर्बहुविधैरपि॥ ६॥

प्रभो! उनकी भारी तपस्यासे इन्द्र सदा डरते रहते थे। नाना प्रकारके फलोंका प्रलोभन देनेपर भी उन्हें लुभाया नहीं जा सकता था॥ ६॥

प्रलोभनार्थं तस्याथ प्राहिणोत् पाकशासनः।
दिव्यामप्सरसं पुण्यां दर्शनीयामलम्बुषाम्॥ ७॥

तब इन्द्रने मुनिको लुभानेके लिये एक पवित्र दर्शनीय एवं दिव्य अप्सरा भेजी, जिसका नाम था अलम्बुषा॥ ७॥

तस्य तर्पयतो देवान् सरस्वत्यां महात्मनः।
समीपतो महाराज सोपातिष्ठत भाविनी॥ ८॥

महाराज! एक दिन, जब महात्मा दधीच सरस्वती नदीमें देवताओंका तर्पण कर रहे थे, वह माननीय अप्सरा उनके पास जाकर खड़ी हो गयी॥ ८॥

तां दिव्यवपुषं दृष्ट्वा तस्यर्षेर्भावितात्मनः।
रेतः स्कन्नं सरस्वत्यां तत् सा जग्राह निम्नगा॥ ९॥

उस दिव्यरूपधारिणी अप्सराको देखकर उन विशुद्ध अन्तःकरणवाले महर्षिका वीर्य सरस्वतीके जलमें गिर पड़ा। उस वीर्यको सरस्वती नदीने स्वयं ग्रहण कर लिया॥ ९॥

कुक्षौ चाप्यदधाद्धृष्टा तद् रेतः पुरुषर्षभ।
सा दधार च तं गर्भं पुत्रहेतोर्महानदी॥ १०॥

पुरुषप्रवर! उस महानदीने हर्षमें भरकर पुत्रके लिये उस वीर्यको अपनी कुक्षिमें रख लिया और इस प्रकार वह गर्भवती हो गयी॥ १०॥

सुषुवे चापि समये पुत्रं सा सरितां वरा।
जगाम पुत्रमादाय तमृषिं प्रति च प्रभो॥ ११॥

प्रभो! समय आनेपर सरिताओंमें श्रेष्ठ सरस्वतीने एक पुत्रको जन्म दिया और उसे लेकर वह ऋषिके पास गयी॥

ऋषिसंसदि तं दृष्ट्वा सा नदी मुनिसत्तमम्।
ततः प्रोवाच राजेन्द्र ददती पुत्रमस्य तम्॥ १२॥

राजेन्द्र! ऋषियोंकी सभामें बैठे हुए मुनिश्रेष्ठ दधीचको देखकर उन्हें उनका वह पुत्र सौंपती हुई सरस्वती नदी इस प्रकार बोली—॥ १२॥

ब्रह्मर्षे तव पुत्रोऽयं त्वद्भक्त्या धारितो मया।
दृष्ट्वा तेऽप्सरसं रेतो यत् स्कन्नं प्रागलम्बुषाम्॥ १३॥
तत् कुक्षिणा वै ब्रह्मर्षे त्वद्भक्त्या धृतवत्यहम्।
न विनाशमिदं गच्छेत् त्वत्तेज इति निश्चयात्॥ १४॥
प्रतिगृह्णीष्व पुत्रं स्वं मया दत्तमनिन्दितम्।

'ब्रह्मर्षे! यह आपका पुत्र है। इसे आपके प्रति भक्ति होनेके कारण मैंने अपने गर्भमें धारण किया था। ब्रह्मर्षे! पहले अलम्बुषा नामक अप्सराको देखकर जो आपका वीर्य स्खलित हुआ था, उसे आपके प्रति भक्ति होनेके कारण मैंने अपने गर्भमें धारण कर लिया था; क्योंकि मेरे मनमें यह विचार हुआ था कि आपका यह तेज नष्ट न होने पावे। अतः आप मेरे दिये हुए अपने इस अनिन्दनीय पुत्रको ग्रहण कीजिये'॥ १३-१४½॥

इत्युक्तः प्रतिजग्राह प्रीतिं चावाप पुष्कलाम्॥ १५॥
स्वसुतं चाप्यजिघ्रत् तं मूर्ध्नि प्रेम्णा द्विजोत्तमः।
परिष्वज्य चिरं कालं तदा भरतसत्तम॥ १६॥
सरस्वत्यै वरं प्रादात् प्रीयमाणो महामुनिः।
विश्वेदेवाः सपितरो गन्धर्वाप्सरसां गणाः॥ १७॥
तृप्तिं यास्यन्ति सुभगे तर्प्यमाणास्तवाम्भसा।

उसके ऐसा कहनेपर मुनिने उस पुत्रको ग्रहण कर लिया और वे बड़े प्रसन्न हुए। भरतभूषण! उन द्विजश्रेष्ठने बड़े प्रेमसे अपने उस पुत्रका मस्तक सूँघा और दीर्घकालतक छातीसे लगाकर अत्यन्त प्रसन्न हुए महामुनिने सरस्वतीको वर दिया—'सुभगे! तुम्हारे जलसे तर्पण करनेपर विश्वेदेव, पितृगण तथा गन्धर्वों और अप्सराओंके समुदाय सभी तृप्तिलाभ करेंगे'॥ १५-१७½॥

इत्युक्त्वा स तु तुष्टाव वचोभिर्वै महानदीम्॥ १८॥
प्रीतः परमहृष्टात्मा यथावच्छृणु पार्थिव।

राजन्! ऐसा कहकर अत्यन्त हर्षोत्फुल्ल हृदयसे मुनिने प्रेमपूर्वक उत्तम वाणीद्वारा सरस्वती देवीका स्तवन किया। उस स्तुतिको तुम यथार्थरूपसे सुनो॥ १८½॥

प्रसृतासि महाभागे सरसो ब्रह्मणः पुरा॥ १९॥
जानन्ति त्वां सरिच्छ्रेष्ठे मुनयः संशितव्रताः।
मम प्रियकरी चापि सततं प्रियदर्शने॥ २०॥
तस्मात् सारस्वतः पुत्रो महांस्ते वरवर्णिनि।
तवैव नाम्ना प्रथितः पुत्रस्ते लोकभावनः॥ २१॥

'महाभागे! तुम पूर्वकालमें ब्रह्माजीके सरोवरसे प्रकट हुई

हो। सरिताओंमें श्रेष्ठ सरस्वती ! कठोर व्रतका पालन करनेवाले मुनि तुम्हारी महिमाको जानते हैं। प्रियदर्शने ! तुम सदा मेरा भी प्रिय करती रही हो; अतः वरवर्णिनि ! तुम्हारा यह लोकभावन महान् पुत्र तुम्हारे ही नामपर 'सारस्वत' कहलायेगा ॥

सारस्वत इति ख्यातो भविष्यति महातपाः।
एष द्वादशवार्षिक्यामनावृष्ट्यां द्विजर्षभान् ॥ २२ ॥
सारस्वतो महाभागे वेदानध्यापयिष्यति।

'यह सारस्वत नामसे विख्यात महातपस्वी होगा। महाभागे ! इस संसारमें बारह वर्षोंतक जब वर्षा बंद हो जायगी, उस समय यह सारस्वत ही श्रेष्ठ ब्राह्मणोंको वेद पढ़ायेगा ॥ २२½ ॥

पुण्याभ्यश्च सरिद्भ्यस्त्वं सदा पुण्यतमा शुभे॥ २३ ॥
भविष्यसि महाभागे मत्प्रसादात् सरस्वति।

'शुभे ! महासौभाग्यशालिनी सरस्वति ! तुम मेरे प्रसादसे अन्य पवित्र सरिताओंकी अपेक्षा सदा ही अधिक पवित्र बनी रहोगी' ॥ २३½ ॥

एवं सा संस्तुतानेन वरं लब्ध्वा महानदी ॥ २४ ॥
पुत्रमादाय मुदिता जगाम भरतर्षभ।

भरतश्रेष्ठ ! इस प्रकार उनके द्वारा प्रशंसित हो वर पाकर वह महानदी पुत्रको लेकर प्रसन्नतापूर्वक चली गयी ॥

एतस्मिन्नेव काले तु विरोधे देवदानवैः ॥ २५ ॥
शक्रः प्रहरणान्वेषी लोकांस्त्रीन् विचचार ह।

इसी समय देवताओं और दानवोंमें विरोध होनेपर इन्द्र अस्त्र-शस्त्रोंकी खोजके लिये तीनों लोकोंमें विचरण करने लगे॥

न चोपलेभे भगवाञ्छक्रः प्रहरणं तदा ॥ २६ ॥
यद्वै तेषां भवेद् योग्यं वधाय विबुधद्विषाम्।

परंतु भगवान् शक्र उस समय ऐसा कोई हथियार न पा सके, जो उन देवद्रोहियोंके वधके लिये उपयोगी हो सके ॥

ततोऽब्रवीत् सुरान्शक्रो न मे शक्या महासुराः॥ २७ ॥
ऋतेऽस्थिभिर्दधीचस्य निहन्तुं त्रिदशद्विषः।

तदनन्तर इन्द्रने देवताओंसे कहा—'दधीच मुनिकी अस्थियोंके सिवा और किसी अस्त्र-शस्त्रसे मेरे द्वारा देवद्रोही महान् असुर नहीं मारे जा सकते ॥ २७½ ॥

तस्माद् गत्वा ऋषिश्रेष्ठो याच्यतां सुरसत्तमाः॥ २८ ॥
दधीचास्थीनि देहीति तैर्वधिष्यामहे रिपून्।

'अतः सुरश्रेष्ठगण ! तुमलोग जाकर मुनिवर दधीचसे याचना करो कि आप अपनी हड्डियाँ हमें दे दें। हम उन्हींके द्वारा अपने शत्रुओंका वध करेंगे' ॥ २८½ ॥

स च तैर्याचितोऽस्थीनि यत्नादृषिवरस्तदा ॥ २९ ॥
प्राणत्यागं कुरुश्रेष्ठ चकारैवाविचारयन्।
स लोकानक्षयान् प्राप्तो देवप्रियकरस्तदा ॥ ३० ॥

कुरुश्रेष्ठ ! देवताओंके द्वारा प्रयत्नपूर्वक अस्थियोंके लिये याचना की जानेपर मुनिवर दधीचने बिना कोई विचार किये अपने प्राणोंका परित्याग कर दिया। उस समय देवताओंका प्रिय करनेके कारण वे अक्षय लोकोंमें चले गये ॥ २९-३० ॥

तस्यास्थिभिरथो शक्रः सम्प्रहृष्टमनास्तदा।
कारयामास दिव्यानि नानाप्रहरणानि च ॥ ३१ ॥
गदावज्राणि चक्राणि गुरून् दण्डांश्च पुष्कलान्।

तब इन्द्रने प्रसन्नचित्त होकर दधीचकी हड्डियोंसे गदा, वज्र, चक्र और बहुसंख्यक भारी दण्ड आदि नाना प्रकारके दिव्य आयुध तैयार कराये ॥ ३१½ ॥

स हि तीव्रेण तपसा सम्भृतः परमर्षिणा ॥ ३२ ॥
प्रजापतिसुतेनाथ भृगुणा लोकभावनः।
अतिकायः स तेजस्वी लोकसारो विनिर्मितः ॥ ३३ ॥

ब्रह्माजीके पुत्र महर्षि भृगुने तीव्र तपस्यासे भरे हुए लोकमङ्गलकारी विशालकाय एवं तेजस्वी दधीचको उत्पन्न किया था। ऐसा जान पड़ता था, मानो सम्पूर्ण जगत्‌के सारतत्त्वसे उनका निर्माण किया गया हो ॥ ३२-३३ ॥

जज्ञे शैलगुरुः प्रांशुर्महिम्ना प्रथितः प्रभुः।
नित्यमुद्विजते चास्य तेजसः पाकशासनः ॥ ३४ ॥

वे पर्वतके समान भारी और ऊँचे थे। अपनी महत्ताके लिये वे सामर्थ्यशाली मुनि सर्वत्र विख्यात थे। पाकशासन इन्द्र उनके तेजसे सदा उद्विग्न रहते थे ॥ ३४ ॥

तेन वज्रेण भगवान् मन्त्रयुक्तेन भारत।
भृशं क्रोधविसृष्टेन ब्रह्मतेजोद्भवेन च ॥ ३५ ॥
दैत्यदानववीराणां जघान नवतीर्नव।

भरतनन्दन ! ब्रह्मतेजसे प्रकट हुए उस वज्रको मन्त्रोच्चारणके साथ अत्यन्त क्रोधपूर्वक छोड़कर भगवान् इन्द्रने आठ सौ दस दैत्य-दानव वीरोंका वध कर डाला ॥ ३५½ ॥

अथ काले व्यतिक्रान्ते महत्यतिभयंकरे ॥ ३६ ॥
अनावृष्टिरनुप्राप्ता राजन् द्वादशवार्षिकी।

राजन् ! तदनन्तर सुदीर्घ काल व्यतीत होनेपर जगत्‌में बारह वर्षोंतक स्थिर रहनेवाली अत्यन्त भयंकर अनावृष्टि प्राप्त हुई ॥ ३६½ ॥

तस्यां द्वादशवार्षिक्यामनावृष्ट्यां महर्षयः ॥ ३७ ॥
वृत्त्यर्थं प्राद्रवन् राजन् क्षुधार्ताः सर्वतोदिशम्।

नरेश्वर ! बारह वर्षोंकी उस अनावृष्टिमें सब महर्षि भूखसे पीड़ित हो जीविकाके लिये सम्पूर्ण दिशाओंमें दौड़ने लगे ॥

दिग्भ्यस्तान् प्रद्रुतान् दृष्ट्वा मुनिः सारस्वतस्तदा ॥ ३८ ॥
गमनाय मतिं चक्रे तं प्रोवाच सरस्वती।

सम्पूर्ण दिशाओंसे भागकर इधर-उधर जाते हुए उन महर्षियोंको देखकर सारस्वत मुनिने भी वहाँसे अन्यत्र जानेका विचार किया। तब सरस्वतीदेवीने उनसे कहा ॥ ३८½ ॥

न गन्तव्यमितः पुत्र तवाहारमहं सदा ॥ ३९ ॥
दास्यामि मत्स्यप्रवरानुष्यतामिह भारत।

भरतनन्दन ! सरस्वती इस प्रकार बोलीं—'बेटा ! तुम्हें यहाँसे कहीं नहीं जाना चाहिये। मैं सदा तुम्हें भोजनके लिये उत्तमोत्तम मछलियाँ दूँगी; अतः तुम यहीं रहो' ॥ ३९½ ॥

इत्युक्तस्तर्पयामास स पितॄन् देवतास्तथा ॥ ४० ॥
आहारमकरोन्नित्यं प्राणान् वेदांश्च धारयन्।

सरस्वतीके ऐसा कहनेपर सारस्वत मुनि वहीं रहकर देवताओं और पितरोंको तृप्त करने लगे । वे प्रतिदिन भोजन करते और अपने प्राणों तथा वेदोंकी रक्षा करते थे ॥४०½॥

अथ तस्यामनावृष्ट्यामतीतायां महर्षयः ॥ ४१ ॥
अन्योन्यं परिपप्रच्छुः पुनः स्वाध्यायकारणात् ।

जब बारह वर्षोंकी वह अनावृष्टि प्रायः बीत गयी, तब महर्षि पुनः स्वाध्यायके लिये एक-दूसरेसे पूछने लगे ॥४१½॥

तेषां क्षुधापरीतानां नष्टा वेदाभिधावताम् ॥ ४२ ॥
सर्वेषामेव राजेन्द्र न कश्चित् प्रतिभानवान् ।

राजेन्द्र ! उस समय भूखसे पीड़ित होकर इधर-उधर दौड़नेवाले सभी महर्षि वेद भूल गये थे । कोई भी ऐसा प्रतिभाशाली नहीं था, जिसे वेदोंका स्मरण रह गया हो ॥

अथ कश्चिदृषिस्तेषां सारस्वतमुपेयिवान् ॥ ४३ ॥
कुर्वाणं संशितात्मानं स्वाध्यायमृषिसत्तमम् ।

तदनन्तर उनमेंसे कोई ऋषि प्रतिदिन स्वाध्याय करनेवाले शुद्धात्मा मुनिवर सारस्वतके पास आये ॥ ४३½ ॥

स गत्वाऽऽचष्ट तेभ्यश्च सारस्वतमतिप्रभम् ॥ ४४ ॥
स्वाध्यायममरप्रख्यं कुर्वाणं विजने वने ।

फिर वहाँसे जाकर उन्होंने सब महर्षियोंको बताया कि 'देवताओंके समान अत्यन्त कान्तिमान् एक सारस्वत मुनि हैं, जो निर्जन वनमें रहकर सदा स्वाध्याय करते हैं' ॥ ४४½ ॥

ततः सर्वे समाजग्मुस्तत्र राजन् महर्षयः ॥ ४५ ॥
सारस्वतं मुनिश्रेष्ठमिदमूचुः समागताः ।
अस्मानध्यापयस्वेति तानुवाच ततो मुनिः ॥ ४६ ॥
शिष्यत्वमुपगच्छध्वं विधिवद्धि ममेत्युत ।

राजन् ! यह सुनकर वे सब महर्षि वहाँ आये और आकर मुनिश्रेष्ठ सारस्वतसे इस प्रकार बोले—'मुने ! आप हम लोगोंको वेद पढ़ाइये ।' तब सारस्वतने उनसे कहा—'आपलोग विधिपूर्वक मेरी शिष्यता ग्रहण करें' ॥ ४५-४६½ ॥

तत्राब्रुवन् मुनिगणा बालस्त्वमसि पुत्रक ॥ ४७ ॥
स तानाह न मे धर्मो नश्येदिति पुनर्मुनीन् ।
यो ह्यधर्मेण वै ब्रूयाद् गृह्णीयाद् योऽप्यधर्मतः ॥ ४८ ॥
हीयेतां तावुभौ क्षिप्रं स्यातां वा वैरिणावुभौ ।

तब वहाँ उन मुनियोंने कहा—'बेटा ! तुम तो अभी बालक हो' (हम तुम्हारे शिष्य कैसे हो सकते हैं?) तब सारस्वतने पुनः उन मुनियोंसे कहा—'मेरा धर्म नष्ट न हो, इसलिये मैं आपलोगोंको शिष्य बनाना चाहता हूँ; क्योंकि जो अधर्मपूर्वक वेदोंका प्रवचन करता है तथा जो अधर्मपूर्वक उन वेदमन्त्रोंको ग्रहण करता है, वे दोनों शीघ्र ही हीनावस्थाको प्राप्त होते हैं अथवा दोनों एक-दूसरेके वैरी हो जाते हैं ॥

न हायनैर्न पलितैर्न वित्तेन न बन्धुभिः ॥ ४९ ॥
ऋषयश्चक्रिरे धर्मं योऽनूचानः स नो महान् ।

'न बहुत वर्षोंकी अवस्था होनेसे, न बाल पकनेसे, न धनसे और न अधिक भाई-बन्धुओंसे कोई बड़ा होता है । ऋषियोंने हमारे लिये यही धर्म निश्चित किया है कि हममेंसे जो वेदोंका प्रवचन कर सके, वही महान् है' ॥ ४९½ ॥

एतच्छ्रुत्वा वचस्तस्य मुनयस्ते विधानतः ॥ ५० ॥
तस्माद् वेदाननुप्राप्य पुनर्धर्मं प्रचक्रिरे ।

सारस्वतकी यह बात सुनकर वे मुनि उनसे विधिपूर्वक वेदोंका उपदेश पाकर पुनः धर्मका अनुष्ठान करने लगे ॥

षष्टिर्मुनिसहस्राणि शिष्यत्वं प्रतिपेदिरे ॥ ५१ ॥
सारस्वतस्य विप्रर्षेर्वेदस्वाध्यायकारणात् ।

साठ हजार मुनियोंने स्वाध्यायके निमित्त ब्रह्मर्षि सारस्वतकी शिष्यता ग्रहण की थी ॥ ५१½ ॥

मुष्टिं मुष्टिं ततः सर्वे दर्भाणां ते ह्युपाहरन् ।
तस्यासनार्थं विप्रर्षेर्बालस्यापि वशे स्थिताः ॥ ५२ ॥

वे ब्रह्मर्षि यद्यपि बालक थे तो भी वे सभी बड़े-बड़े महर्षि उनकी आज्ञाके अधीन रहकर उनके आसनके लिये एक-एक मुट्ठी कुश ले आया करते थे ॥ ५२ ॥

तत्रापि दत्त्वा वसु रौहिणेयो
महाबलः केशवपूर्वजोऽथ ।
जगाम तीर्थं मुदितः क्रमेण
ख्यातं महद् वृद्धकन्या स्म यत्र ॥ ५३ ॥

श्रीकृष्णके बड़े भाई महाबली रोहिणीनन्दन बलरामजी वहाँ भी स्नान और धन दान करके प्रसन्नतापूर्वक क्रमशः सब तीर्थोंमें विचरते हुए उस विख्यात महातीर्थमें गये, जहाँ कभी बूढ़ी कुमारी कन्या निवास करती थी ॥ ५३ ॥

इति श्रीमहाभारते शल्यपर्वणि गदापर्वणि बलदेवतीर्थयात्रायां सारस्वतोपाख्याने एकपञ्चाशत्तमोऽध्यायः ॥ ५१ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शल्यपर्वके अन्तर्गत गदापर्वमें बलदेवजीकी तीर्थयात्राके प्रसंगमें सारस्वतोपाख्यानविषयक इक्यावनवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ५१ ॥

द्विपञ्चाशत्तमोऽध्यायः

वृद्ध कन्याका चरित्र, शृङ्गवान्‌के साथ उसका विवाह और स्वर्गगमन तथा उस तीर्थका माहात्म्य

जनमेजय उवाच

कथं कुमारी भगवंस्तपोयुक्ता ह्यभूत् पुरा ।
किमर्थं च तपस्तेपे को वास्या नियमोऽभवत् ॥ १ ॥

जनमेजयने पूछा—भगवन् ! पूर्वकालमें वह कुमारी तपस्यामें क्यों संलग्न हुई ? उसने किसलिये तपस्या की और उसका कौन-सा नियम था ? ॥ १ ॥

सुदुष्करमिदं ब्रह्मंस्त्वत्तः श्रुतमनुत्तमम् ।
आख्याहि तत्त्वमखिलं यथा तपसि सा स्थिता ॥ २ ॥

ब्रह्मन् ! मैंने आपके मुखसे यह अत्यन्त उत्तम तथा परम दुष्कर तपकी बात सुनी है । आप सारा वृत्तान्त यथार्थ

[illegible] वह कन्या क्यों तपस्यामें प्रवृत्त हुई थी ? ॥

वैशम्पायन उवाच

ऋषिरासीन्महावीर्यः कुणिर्गर्गो महायशाः ।
स तप्त्वा विपुलं राजंस्तपो वै तपतां वरः ॥ ३ ॥
मनसाथ सुतां सुभ्रूं समुत्पादितवान् विभुः ।

वैशम्पायनजीने कहा—राजन् ! प्राचीन कालमें एक महान् शक्तिशाली और महायशस्वी कुणिर्गर्ग नामक ऋषि रहते थे । तपस्या करनेवालोंमें श्रेष्ठ उन महर्षिने बड़ा भारी तप करके अपने मनसे एक सुन्दरी कन्या उत्पन्न की ॥ ३½ ॥

तां च दृष्ट्वा मुनिः प्रीतः कुणिर्गर्गो महायशाः ॥ ४ ॥
जगाम त्रिदिवं राजन् संत्यज्येह कलेवरम् ।

नरेश्वर ! उसे देखकर महायशस्वी मुनि कुणिर्गर्ग बड़े प्रसन्न हुए और कुछ कालके पश्चात् अपना यह शरीर छोड़कर स्वर्गलोकमें चले गये ॥ ४½ ॥

सुभ्रूः सा ह्यथ कल्याणी पुण्डरीकनिभेक्षणा ॥ ५ ॥
महता तपसोग्रेण कृत्वाऽऽश्रममनिन्दिता ।
उपवासैः पूजयन्ती पितॄन् देवांश्च सा पुरा ॥ ६ ॥

तदनन्तर कमलके समान सुन्दर नेत्रोंवाली वह कल्याणमयी सती साध्वी सुन्दरी कन्या पूर्वकालमें अपने लिये आश्रम बनाकर बड़ी कठोर तपस्या तथा उपवासके साथ-साथ देवताओं और पितरोंका पूजन करती हुई वहाँ रहने लगी ॥ ५-६ ॥

तस्यास्तु तपसोग्रेण महान् कालोऽत्यगान्नृप ।
सा पित्रा दीयमानापि तत्र नैच्छदनिन्दिता ॥ ७ ॥
आत्मनः सदृशं सा तु भर्तारं नान्वपश्यत ।

राजन् ! उग्र तपस्या करते हुए उसका बहुत समय व्यतीत हो गया । पिताने अपने जीवनकालमें उसका किसीके साथ ब्याह कर देनेका प्रयत्न किया; परंतु उस अनिन्द्य सुन्दरीने विवाहकी इच्छा नहीं की । उसे अपने योग्य कोई वर ही नहीं दिखायी देता था ॥ ७½ ॥

ततः सा तपसोग्रेण पीडयित्वाऽऽत्मनस्तनुम् ॥ ८ ॥
पितृदेवार्चनरता बभूव विजने वने ।

तब वह उग्र तपस्याके द्वारा अपने शरीरको पीड़ा देकर निर्जन वनमें पितरों तथा देवताओंके पूजनमें तत्पर हो गयी ॥

साऽऽत्मानं मन्यमानापि कृतकृत्यं श्रमान्विता ॥ ९ ॥
वार्धकेन च राजेन्द्र तपसा चैव कर्शिता ।

राजेन्द्र ! परिश्रमसे थक जानेपर भी वह अपने आपको कृतार्थ मानती रही । धीरे-धीरे बुढ़ापा और तपस्याने उसे दुर्बल बना दिया ॥ ९½ ॥

सा नाशकद् यदा गन्तुं पदात् पदमपि स्वयम् ॥ १० ॥
चकार गमने बुद्धिं परलोकाय वै तदा ।

जब वह स्वयं एक पग भी चलनेमें असमर्थ हो गयी, तब उसने परलोकमें जानेका विचार किया ॥ १०½ ॥

मोक्तुकामां तु तां दृष्ट्वा शरीरं नारदोऽब्रवीत् ॥ ११ ॥
असंस्कृतायाः कन्यायाः कुतो लोकास्तवानघे ।
एवं तु श्रुतमस्माभिर्देवलोके महाव्रते ॥ १२ ॥
तपः परमकं प्राप्तं न तु लोकास्त्वया जिताः ।

उसकी देहत्यागकी इच्छा देख देवर्षि नारदने उससे कहा—'महान् व्रतका पालन करनेवाली निष्पाप नारी ! तुम्हारा तो अभी विवाहसंस्कार भी नहीं हुआ, तुम तो अभी कन्या हो । फिर तुम्हें पुण्यलोक कैसे प्राप्त हो सकते हैं ? तुम्हारे सम्बन्धमें ऐसी बात मैंने देवलोकमें सुनी है । तुमने तपस्या तो बहुत बड़ी की है; परंतु पुण्यलोकोंपर अधिकार नहीं प्राप्त किया है' ॥ ११-१२½ ॥

तन्नारदवचः श्रुत्वा साब्रवीदृषिसंसदि ॥ १३ ॥
तपसोऽर्धं प्रयच्छामि पाणिग्राहस्य सत्तम ।

नारदजीकी यह बात सुनकर वह ऋषियोंकी सभामें उपस्थित होकर बोली—'साधुशिरोमणे ! आपमेंसे जो कोई मेरा पाणिग्रहण करेगा, उसे मैं अपनी तपस्याका आधा भाग दे दूँगी' ॥ १३½ ॥

इत्युक्ते चास्या जग्राह पाणिं गालवसम्भवः ॥ १४ ॥
ऋषिः प्राक् शृङ्गवान्नाम समयं चेममब्रवीत् ।
समयेन तवाद्याहं पाणिं स्प्रक्ष्यामि शोभने ॥ १५ ॥
यद्येकरात्रं वस्तव्यं त्वया सह मयेति ह ।

उसके ऐसा कहनेपर सबसे पहले गालवके पुत्र शृङ्गवान् ऋषिने उसका पाणिग्रहण करनेकी इच्छा प्रकट की और सबसे पहले उसके सामने यह शर्त रक्खी—'शोभने ! मैं एक शर्तके साथ आज तुम्हारा पाणिग्रहण करूँगा । विवाहके बाद तुम्हें एक रात मेरे साथ रहना होगा । यदि यह स्वीकार हो तो मैं तैयार हूँ' ॥ १४-१५½ ॥

तथेति सा प्रतिश्रुत्य तस्मै पाणिं ददौ तदा ॥ १६ ॥
यथादृष्टेन विधिना हुत्वा चाग्निं विधानतः ।
चक्रे च पाणिग्रहणं तस्योद्वाहं च गालविः ॥ १७ ॥

तब 'बहुत अच्छा' कहकर उसने मुनिके हाथमें अपना हाथ दे दिया । फिर गालव-पुत्रने शास्त्रोक्त रीतिसे विधिपूर्वक अग्निमें हवन करके उसका पाणिग्रहण और विवाह-संस्कार किया ॥

सा रात्रावभवद् राजंस्तरुणी वरवर्णिनी ।
दिव्याभरणवस्त्रा च दिव्यगन्धानुलेपना ॥ १८ ॥

राजन् ! रात्रिमें वह दिव्य वस्त्राभूषणोंसे विभूषित और दिव्य गन्धयुक्त अङ्गरागसे अलंकृत परम सुन्दरी तरुणी हो गयी ॥ १८ ॥

तां दृष्ट्वा गालविः प्रीतो दीपयन्तीमिव श्रिया ।
उवास च क्षपामेकां प्रभाते साब्रवीच्च तम् ॥ १९ ॥

उसे अपनी कान्तिसे सब ओर प्रकाश फैलाती देख गालवकुमार बड़े प्रसन्न हुए और उसके साथ एक रात निवास किया । सवेरा होते ही वह मुनिसे बोली— ॥ १९ ॥

यस्त्वया समयो विप्र कृतो मे तपतां वर ।
तेनोषितास्मि भद्रं ते स्वस्ति तेऽस्तु व्रजाम्यहम् ॥ २० ॥

'तपस्वी मुनियोंमें श्रेष्ठ ब्रह्मर्षे ! आपने जो शर्त की थी, उसके अनुसार मैं आपके साथ रह चुकी । आपका मङ्गल हो, कल्याण हो । अब आज्ञा दीजिये, मैं जाती हूँ' ॥ २० ॥

सा निर्गता ब्रवीद् भूयो योऽस्मिंस्तीर्थे समाहितः।
वसते रजनीमेकां तर्पयित्वा दिवौकसः ॥ २१ ॥
चत्वारिंशतमष्टौ च द्वौ चाष्टौ सम्यगाचरेत्।
यो ब्रह्मचर्यं वर्षाणि फलं तस्य लभेत सः ॥ २२ ॥

यों कहकर वह वहाँसे चल दी। जाते-जाते उसने फिर कहा—'जो अपने चित्तको एकाग्र कर इस तीर्थमें स्नान और देवताओंका तर्पण करके एक रात निवास करेगा, उसे अट्ठावन वर्षोंतक विधिपूर्वक ब्रह्मचर्य पालन करनेका फल प्राप्त होगा' ॥ २१-२२ ॥

एवमुक्त्वा ततः साध्वी देहं त्यक्त्वा दिवं गता।
ऋषिरप्यभवद् दीनस्तस्या रूपं विचिन्तयन् ॥ २३ ॥

ऐसा कहकर वह साध्वी तपस्विनी देह त्यागकर स्वर्गलोकमें चली गयी और मुनि उसके दिव्यरूपका चिन्तन करते हुए बहुत दुखी हो गये ॥ २३ ॥

समयेन तपोऽर्धं च कृच्छ्रात् प्रतिगृहीतवान्।
साधयित्वा तदाऽऽत्मानं तस्याः स गतिमन्वियात् ॥
दुःखितो भरतश्रेष्ठ तस्या रूपबलात्कृतः।

उन्होंने शर्तके अनुसार उसकी तपस्याका आधा भाग बड़े कष्टसे स्वीकार किया। फिर वे भी अपने शरीरका परित्याग करके उसीके पथपर चले गये। भरतश्रेष्ठ! वे उसके रूपपर बलात् आकृष्ट होकर अत्यन्त दुखी हो गये थे ॥ २४½ ॥

एतत्ते वृद्धकन्याया व्याख्यातं चरितं महत् ॥२५॥
तथैव ब्रह्मचर्यं च स्वर्गस्य च गतिः शुभा।

यह मैंने तुमसे वृद्ध कन्याके महान् चरित्र, ब्रह्मचर्यपालन तथा स्वर्गलोककी प्राप्तिरूप सद्गतिका वर्णन किया ॥

तत्रस्थश्चापि शुश्राव हतं शल्यं हलायुधः ॥ २६ ॥
तत्रापि दत्त्वा दानानि द्विजातिभ्यः परंतपः।
शुश्राव शल्यं संग्रामे निहतं पाण्डवैस्तदा ॥ २७ ॥
समन्तपञ्चकद्वारात् ततो निष्क्रम्य माधवः।
पप्रच्छर्षिगणान् रामः कुरुक्षेत्रस्य यत् फलम् ॥ २८ ॥

वहीं रहकर शत्रुओंको संताप देनेवाले बलरामजीने शल्यके मारे जानेका समाचार सुना था। वहाँ भी मधुवंशी बलरामने ब्राह्मणोंको अनेक प्रकारके दान दे समन्तपञ्चक द्वारसे निकलकर ऋषियोंसे कुरुक्षेत्रके सेवनका फल पूछा॥

ते पृष्टा यदुसिंहेन कुरुक्षेत्रफलं विभो।
समाचख्युर्महात्मानस्तस्मै सर्वं यथातथम् ॥ २९ ॥

प्रभो! उस यदुसिंहके द्वारा कुरुक्षेत्रके फलके विषयमें पूछे जानेपर वहाँ रहनेवाले महात्माओंने उन्हें सब कुछ यथावत् रूपसे बताया ॥ २९ ॥

इति श्रीमहाभारते शल्यपर्वणि गदापर्वणि बलदेवतीर्थयात्रायां सारस्वतोपाख्याने द्विपञ्चाशत्तमोऽध्यायः ॥ ५२ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शल्यपर्वके अन्तर्गत गदापर्वमें बलदेवजीको तीर्थयात्राके प्रसंगमें सारस्वतोपाख्यानविषयक बावनवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ५२ ॥

त्रिपञ्चाशत्तमोऽध्यायः

ऋषियोंद्वारा कुरुक्षेत्रकी सीमा और महिमाका वर्णन

ऋषय ऊचुः

प्रजापतेरुत्तरवेदिरुच्यते
सनातनं राम समन्तपञ्चकम्।
समीजिरे यत्र पुरा दिवौकसो
वरेण सत्रेण महावरप्रदाः ॥ १ ॥

ऋषियोंने कहा—बलरामजी! समन्तपञ्चक क्षेत्र सनातन तीर्थ है। इसे प्रजापतिकी उत्तरवेदी कहते हैं। वहाँ प्राचीनकालमें महान् वरदायक देवताओंने बहुत बड़े यज्ञका अनुष्ठान किया था ॥ १ ॥

पुरा च राजर्षिवरेण धीमता
बहूनि वर्षाण्यमितेन तेजसा।
प्रकृष्टमेतत् कुरुणा महात्मना
ततः कुरुक्षेत्रमितीह पप्रथे ॥ २ ॥

पहले अमित तेजस्वी बुद्धिमान् राजर्षिप्रवर महात्मा कुरुने इस क्षेत्रको बहुत वर्षोंतक जोता था, इसलिये इस जगत्में इसका नाम कुरुक्षेत्र प्रसिद्ध हो गया ॥ २ ॥

राम उवाच

किमर्थं कुरुणा कृष्टं क्षेत्रमेतन्महात्मना।
एतदिच्छाम्यहं श्रोतुं कथ्यमानं तपोधनाः ॥ ३ ॥

बलरामजीने पूछा—तपोधनो! महात्मा कुरुने इस क्षेत्रको किसलिये जोता था? मैं आपलोगोंके मुखसे यह कथा सुनना चाहता हूँ ॥ ३ ॥

ऋषय ऊचुः

पुरा किल कुरुं राम कर्षन्तं सततोत्थितम्।
अभ्येत्य शक्रस्त्रिदिवात् पर्यपृच्छत कारणम् ॥ ४ ॥

ऋषि बोले—राम! सुना जाता है कि पूर्वकालमें सदा प्रत्येक शुभ कार्यके लिये उद्यत रहनेवाले कुरु जब इस क्षेत्रको जोत रहे थे, उस समय इन्द्रने स्वर्गसे आकर इसका कारण पूछा ॥ ४ ॥

इन्द्र उवाच

किमिदं वर्तते राजन् प्रयत्नेन परेण च।
राजर्षे किमभिप्रेतं येनेयं कृष्यते क्षितिः ॥ ५ ॥

इन्द्रने प्रश्न किया—राजन्! यह महान् प्रयत्नके साथ क्या हो रहा है? राजर्षे! आप क्या चाहते हैं, जिसके कारण यह भूमि जोत रहे हैं? ॥ ५ ॥

कुरुरुवाच

इह ये पुरुषाः क्षेत्रे मरिष्यन्ति शतक्रतो।
ते गमिष्यन्ति सुकृताँल्लोकान् पापविवर्जितान् ॥ ६ ॥

कुरुने कहा—शतक्रतो ! जो मनुष्य इस क्षेत्रमें मरेंगे, वे पुण्यात्माओंके पापरहित लोकोंमें जायँगे ॥ ६ ॥

अवहस्य ततः शक्रो जगाम त्रिदिवं पुनः ।
राजर्षिरप्यनिर्विण्णः कर्षत्येव वसुंधराम् ॥ ७ ॥

तब इन्द्र उनका उपहास करके स्वर्गलोकमें चले गये । राजर्षि कुरु उस कार्यसे उदासीन न होकर वहाँकी भूमि जोतते ही रहे ॥ ७ ॥

आगम्यागम्य चैवैनं भूयोभूयोऽवहस्य च ।
शतक्रतुरनिर्विण्णं पृष्ट्वा पृष्ट्वा जगाम ह ॥ ८ ॥

शतक्रतु इन्द्र अपने कार्यसे विरत न होनेवाले कुरुके पास बारंबार आते और उनसे पूछ-पूछकर प्रत्येक बार उनकी हँसी उड़ाकर स्वर्गलोकमें चले जाते थे ॥ ८ ॥

यदा तु तपसोग्रेण चकर्ष वसुधां नृपः ।
ततः शक्रोऽब्रवीद् देवान् राजर्षेर्यच्चिकीर्षितम् ॥ ९ ॥

जब राजा कुरु कठोर तपस्यापूर्वक पृथ्वीको जोतते ही रह गये, तब इन्द्रने देवताओंसे राजर्षि कुरुकी वह चेष्टा बतायी ॥ ९ ॥

एतच्छ्रुत्वाब्रुवन् देवाः सहस्राक्षमिदं वचः ।
वरेण च्छन्द्यतां शक्र राजर्षिर्यदि शक्यते ॥ १० ॥

यह सुनकर देवताओंने सहस्रनेत्रधारी इन्द्रसे कहा—'शक्र ! यदि सम्भव हो तो राजर्षि कुरुको वर देकर अपने अनुकूल किया जाय ॥ १० ॥

यदि ह्यत्र प्रमीता वै स्वर्गं गच्छन्ति मानवाः ।
अस्मानन‍िष्ट्वा क्रतुभिर्भागो नो न भविष्यति ॥ ११ ॥

'यदि यहाँ मरे हुए मानव यज्ञोंद्वारा हमारा पूजन किये बिना ही स्वर्गलोकमें चले जायँगे, तब तो हमलोगोंका भाग सर्वथा नष्ट हो जायगा' ॥ ११ ॥

आगम्य च ततः शक्रस्तदा राजर्षिमब्रवीत् ।
अलं खेदेन भवतः क्रियतां वचनं मम ॥ १२ ॥
मानवा ये निराहारा देहं त्यक्ष्यन्त्यतन्द्रिताः ।
युधि वा निहताः सम्यगपि तिर्यग्गता नृप ॥ १३ ॥
ते स्वर्गभाजो राजेन्द्र भविष्यन्ति महामते ।

तब इन्द्रने वहाँसे आकर राजर्षि कुरुसे कहा—'नरेश्वर ! आप व्यर्थ कष्ट क्यों उठाते हैं ? मेरी बात मान लीजिये । महामते ! राजेन्द्र ! जो मनुष्य और पशु-पक्षी यहाँ निराहार रहकर देह त्याग करेंगे अथवा युद्धमें मारे जायँगे, वे स्वर्गलोकके भागी होंगे' ॥ १२-१३½ ॥

तथास्त्विति ततो राजा कुरुः शक्रमुवाच ह ॥ १४ ॥
ततस्तमभ्यनुज्ञाप्य प्रहृष्टेनान्तरात्मना ।
जगाम त्रिदिवं भूयः क्षिप्रं बलनिषूदनः ॥ १५ ॥

तब राजा कुरुने इन्द्रसे कहा—'देवराज ! ऐसा ही हो' तदनन्तर कुरुसे विदा ले बलसूदन इन्द्र फिर शीघ्र ही प्रसन्न चित्तसे स्वर्गलोकमें चले गये ॥ १४-१५ ॥

एवमेतद् यदुश्रेष्ठ कृष्टं राजर्षिणा पुरा ।
शक्रेण चाभ्यनुज्ञातं ब्रह्माद्यैश्च सुरैस्तथा ॥ १६ ॥

यदुश्रेष्ठ ! इस प्रकार प्राचीनकालमें राजर्षि कुरुने इस क्षेत्रको जोता और इन्द्र तथा ब्रह्मा आदि देवताओंने इसे वर देकर अनुगृहीत किया ॥ १६ ॥

नातः परतरं पुण्यं भूमेः स्थानं भविष्यति ।
इह तप्स्यन्ति ये केचित्तपः परमकं नराः ॥ १७ ॥
देहत्यागेन ते सर्वे यास्यन्ति ब्रह्मणः क्षयम् ।

भूतलका कोई भी स्थान इससे बढ़कर पुण्यदायक नहीं होगा । जो मनुष्य यहाँ रहकर बड़ी भारी तपस्या करेंगे, वे सब लोग देहत्यागके पश्चात् ब्रह्मलोकमें जायँगे ॥ १७½ ॥

ये पुनः पुण्यभाजो वै दानं दास्यन्ति मानवाः ॥ १८ ॥
तेषां सहस्रगुणितं भविष्यत्यचिरेण वै ।

जो पुण्यात्मा मानव वहाँ दान देंगे, उनका वह दान शीघ्र ही सहस्रगुना हो जायगा ॥ १८½ ॥

ये चेह नित्यं मनुजा निवत्स्यन्ति शुभैषिणः ॥ १९ ॥
यमस्य विषयं ते तु न द्रक्ष्यन्ति कदाचन ।

जो मानव शुभकी इच्छा रखकर यहाँ नित्य निवास करेंगे, उन्हें कभी यमका राज्य नहीं देखना पड़ेगा ॥ १९½ ॥

यक्ष्यन्ति ये च क्रतुभिर्महद्भिर्मनुजेश्वराः ॥ २० ॥
तेषां त्रिविष्टपे वासो यावद्भूमिर्धरिष्यति ।

जो नरेश्वर यहाँ बड़े-बड़े यज्ञोंका अनुष्ठान करेंगे, वे जबतक यह पृथ्वी रहेगी, तबतक स्वर्गलोकमें निवास करेंगे ॥ २०½ ॥

अपि चात्र स्वयं शक्रो जगौ गाथां सुराधिपः ॥ २१ ॥
कुरुक्षेत्रनिबद्धां वै तां शृणुष्व हलायुध ।

हलायुध ! स्वयं देवराज इन्द्रने कुरुक्षेत्रके सम्बन्धमें यहाँ जो गाथा गायी है, उसे आप सुनिये ॥ २१½ ॥

पांसवोऽपि कुरुक्षेत्राद् वायुना समुदीरिताः ।
अपि दुष्कृतकर्माणं नयन्ति परमां गतिम् ॥ २२ ॥

'कुरुक्षेत्रसे वायुद्वारा उड़ायी हुई धूलियाँ भी यदि ऊपर पड़ जायँ तो वे पापी मनुष्यको भी परम पदकी प्राप्ति कराती हैं ॥ २२ ॥

सुरर्षभा ब्राह्मणसत्तमाश्च
तथा नृगाद्या नरदेवमुख्याः ।
इष्ट्वा महार्हैः क्रतुभिर्नृसिंहाः
संत्यज्य देहान् सुगतिं प्रपन्नाः ॥ २३ ॥

'श्रेष्ठ देवताओ ! यहाँ ब्राह्मणशिरोमणि तथा नृग आदि मुख्य-मुख्य पुरुषसिंह नरेश महान् यज्ञोंका अनुष्ठान करके देहत्यागके पश्चात् उत्तम गतिको प्राप्त हुए हैं ॥ २३ ॥

तरन्तुकारन्तुकयोर्यदन्तरं
रामह्रदानां च मचक्रुकस्य च ।
एतत् कुरुक्षेत्रसमन्तपञ्चकं
प्रजापतेरुत्तरवेदिरुच्यते ॥ २४ ॥

(तरन्तुक, अरन्तुक, रामह्रद (परशुराम कुण्ड) तथा मचक्रुक—इनके बीचका जो भूभाग है, यही समन्तपञ्चक एवं कुरुक्षेत्र है । इसे प्रजापतिकी उत्तरवेदी कहते हैं ॥ ४ ॥

शिवं महापुण्यमिदं दिवौकसां
सुसम्मतं सर्वगुणैः समन्वितम्।
अतश्च सर्वे निहता नृपा रणे
यास्यन्ति पुण्यां गतिमक्षयां सदा ॥ २५ ॥

'यह महान् पुण्यप्रद, कल्याणकारी, देवताओंका प्रिय एवं सर्वगुणसम्पन्न तीर्थ है। अतः यहाँ रणभूमिमें मारे गये सम्पूर्ण नरेश सदा पुण्यमयी अक्षय गति प्राप्त करेंगे' ॥ २५ ॥

इत्युवाच स्वयं शक्रः सह ब्रह्मादिभिस्तदा।
तच्चानुमोदितं सर्वं ब्रह्मविष्णुमहेश्वरैः ॥ २६ ॥

ब्रह्मा आदि देवताओंसहित साक्षात् इन्द्रने ऐसी बातें कही थीं तथा ब्रह्मा, विष्णु और महादेवजीने इन सारी बातोंका अनुमोदन किया था ॥ २६ ॥

इति श्रीमहाभारते शल्यपर्वणि गदापर्वणि बलदेवतीर्थयात्रायां सारस्वतोपाख्याने कुरुक्षेत्रकथने त्रिपञ्चाशत्तमोऽध्यायः ॥ ५३ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शल्यपर्वके अन्तर्गत गदापर्वमें बलदेवजीकी तीर्थयात्रा और सारस्वतोपाख्यानके प्रसङ्गमें कुरुक्षेत्रकी महिमाका वर्णनविषयक तिरपनवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ५३ ॥

चतुष्पञ्चाशत्तमोऽध्यायः

प्लक्षप्रस्रवण आदि तीर्थों तथा सरस्वतीकी महिमा एवं नारदजीसे कौरवोंके विनाश और भीम तथा दुर्योधनके युद्धका समाचार सुनकर बलरामजीका उसे देखनेके लिये जाना

वैशम्पायन उवाच

कुरुक्षेत्रं ततो दृष्ट्वा दत्त्वा दायांश्च सात्वतः।
आश्रमं सुमहद् दिव्यमगमज्जनमेजय ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! सात्वतवंशी बलरामजी कुरुक्षेत्रका दर्शन कर वहाँ बहुत-सा धन दान करके उस स्थानसे एक महान् एवं दिव्य आश्रममें गये ॥ १ ॥

मधूकाम्रवणोपेतं प्लक्षन्यग्रोधसंकुलम्।
चिरबिल्वयुतं पुण्यं पनसार्जुनसंकुलम् ॥ २ ॥
तं दृष्ट्वा यादवश्रेष्ठः प्रवरं पुण्यलक्षणम्।
पप्रच्छ तानृषीन् सर्वान् कस्याश्रमवरस्त्वयम् ॥ ३ ॥

महुआ और आमके वन उस आश्रमकी शोभा बढ़ा रहे थे। पाकड़ और बरगदके वृक्ष वहाँ अपनी छाया फैला रहे थे। चिलबिल, कटहल और अर्जुन (समूह)के पेड़ चारों ओर भरे हुए थे। पुण्यदायक लक्षणोंसे युक्त उस पुण्यमय श्रेष्ठ आश्रमका दर्शन करके यादवश्रेष्ठ बलरामजीने उन समस्त ऋषियोंसे पूछा कि 'यह सुन्दर आश्रम किसका है?' ॥ २-३ ॥

ते तु सर्वे महात्मानमूचू राजन् हलायुधम्।
शृणु विस्तरशो राम यस्यायं पूर्वमाश्रमः ॥ ४ ॥

राजन्! तब वे सभी ऋषि महात्मा हलधरसे बोले—'बलरामजी! पहले यह आश्रम जिसके अधिकारमें था, उसकी कथा विस्तारपूर्वक सुनिये— ॥ ४ ॥

अत्र विष्णुः पुरा देवस्तप्तवांस्तप उत्तमम्।
अत्रास्य विधिवद् यज्ञाः सर्वे वृत्ताः सनातनाः ॥ ५ ॥

'प्राचीनकालमें यहाँ भगवान् विष्णुने उत्तम तपस्या की है, यहीं उनके सभी सनातन यज्ञ विधिपूर्वक सम्पन्न हुए हैं ॥ ५ ॥

अत्रैव ब्राह्मणी सिद्धा कौमारब्रह्मचारिणी।
योगयुक्ता दिवं याता तपःसिद्धा तपस्विनी ॥ ६ ॥

'यहीं कुमारावस्थासे ब्रह्मचर्यका पालन करनेवाली एक सिद्ध ब्राह्मणी रहती थी, जो तपःसिद्ध तपस्विनी थी। वह योगयुक्त होकर स्वर्गलोकमें चली गयी ॥ ६ ॥

बभूव श्रीमती राजञ्शाण्डिल्यस्य महात्मनः।
सुता धृतव्रता साध्वी नियता ब्रह्मचारिणी ॥ ७ ॥

'राजन्! नियमपूर्वक व्रतधारण और ब्रह्मचर्यपालन करनेवाली वह तेजस्विनी साध्वी महात्मा शाण्डिल्यकी सुपुत्री थी ॥ ७ ॥

सा तु तप्त्वा तपो घोरं दुश्चरं स्त्रीजनेन ह।
गता स्वर्गं महाभागा देवब्राह्मणपूजिता ॥ ८ ॥

'स्त्रियोंके लिये जो अत्यन्त दुष्कर था, ऐसा घोर तप करके देवताओं और ब्राह्मणोंद्वारा सम्मानित हुई वह महान् सौभाग्यशालिनी देवी स्वर्गलोकको चली गयी थी' ॥ ८ ॥

श्रुत्वा ऋषीणां वचनमाश्रमं तं जगाम ह।
ऋषींस्तानभिवाद्याथ पार्श्वे हिमवतोऽच्युतः ॥ ९ ॥
संध्याकार्याणि सर्वाणि निर्वर्त्यारुरुहेऽचलम्।

ऋषियोंका वचन सुनकर अपनी महिमासे कभी च्युत न होनेवाले बलरामजी उस आश्रममें गये। वहाँ हिमालयके पार्श्वभागमें उन ऋषियोंको प्रणाम करके संध्या-वन्दन आदि सब कार्य करनेके अनन्तर वे हिमालयपर चढ़ने लगे ॥ ९½ ॥

नातिदूरं ततो गत्वा नगं तालध्वजो बली ॥ १० ॥
पुण्यं तीर्थवरं दृष्ट्वा विस्मयं परमं गतः।
प्रभावं च सरस्वत्याः प्लक्षप्रस्रवणं बलः ॥ ११ ॥

जिनकी ध्वजापर तालका चिह्न सुशोभित होता है, वे बलरामजी उस पर्वतपर थोड़ी ही दूर गये थे कि उनकी दृष्टि एक पुण्यमय उत्तम तीर्थपर पड़ी। वह सरस्वतीकी उत्पत्तिका स्थान प्लक्षप्रस्रवण नामक तीर्थ था। उसका दर्शन करके बलरामजीको बड़ा आश्चर्य हुआ ॥ १०-११ ॥

सम्प्राप्तः कारपवनं प्रवरं तीर्थमुत्तमम्।
हलायुधस्तत्र चापि दत्त्वा दानं महाबलः ॥ १२ ॥
आप्लुतः सलिले पुण्ये सुशीते विमले शुचौ।
संतर्पयामास पितॄन् देवांश्च रणदुर्मदः ॥ १३ ॥
तत्रोष्यैकां तु रजनीं यतिभिर्ब्राह्मणैः सह।
मित्रावरुणयोः पुण्यं जगामाश्रममच्युतः ॥ १४ ॥

फिर वे कारपवन नामक उत्तम तीर्थमें गये। महाबली

बलरामने वहाँके निर्मल, पवित्र और अत्यन्त शीतल पुण्यदायक जलमें गोता लगाकर ब्राह्मणोंको दान दे देवताओं और पितरोंका तर्पण किया। तत्पश्चात् रणदुर्मद बलरामजी यतियों और ब्राह्मणोंके साथ वहाँ एक रात रहकर मित्रावरुणके पवित्र आश्रमपर गये ॥ १२–१४ ॥

इन्द्रोऽग्निरर्यमा चैव यत्र प्राक् प्रीतिमाप्नुवन् ।
तं देशं कारपवनाद् यमुनायां जगाम ह ॥ १५ ॥
स्नात्वा तत्र च धर्मात्मा परां प्रीतिमवाप्य च ।
ऋषिभिश्चैव सिद्धैश्च सहितो वै महाबलः ॥ १६ ॥
उपविष्टः कथाः शुभ्राः शुश्राव यदुपुङ्गवः ।

जहाँ पूर्वकालमें इन्द्र, अग्नि और अर्यमाने बड़ी प्रसन्नता प्राप्त की थी, वह स्थान यमुनाके तटपर है। कारपवनसे उस तीर्थमें जाकर महाबली धर्मात्मा बलरामने स्नान करके बड़ा हर्ष प्राप्त किया। फिर वे यदुपुङ्गव बलभद्र ऋषियों और सिद्धोंके साथ बैठकर उत्तम कथाएँ सुनने लगे ॥ १५-१६½ ॥

तथा तु तिष्ठतां तेषां नारदो भगवानृषिः ॥ १७ ॥
आजगामाथ तं देशं यत्र रामो व्यवस्थितः ।

इस प्रकार वे लोग वहीं ठहरे हुए थे, तबतक देवर्षि भगवान् नारद भी उनके पास उसी स्थानपर आ पहुँचे, जहाँ बलरामजी विराजमान थे ॥ १७½ ॥

जटामण्डलसंवीतः स्वर्णचीरो महातपाः ॥ १८ ॥
हेमदण्डधरो राजन् कमण्डलुधरस्तथा ।
कच्छपीं सुखशब्दां तां गृह्य वीणां मनोरमाम् ॥ १९ ॥

राजन्! महातपस्वी नारद जटामण्डलसे मण्डित हो सुनहरा चीर धारण किये हुए थे। उन्होंने कमण्डलु, सोनेका दण्ड तथा सुखदायक शब्द करनेवाली कच्छपी नामक मनोरम वीणा भी ले रक्खी थी ॥ १८-१९ ॥

नृत्ये गीते च कुशलो देवब्राह्मणपूजितः ।
प्रकर्ता कलहानां च नित्यं च कलहप्रियः ॥ २० ॥

वे नृत्य-गीतमें कुशल, देवताओं तथा ब्राह्मणोंसे सम्मानित, कलह करानेवाले तथा सदैव कलहके प्रेमी हैं ॥ २० ॥

तं देशमगमद् यत्र श्रीमान् रामो व्यवस्थितः ।
प्रत्युत्थाय च तं सम्यक् पूजयित्वा यतव्रतम् ॥ २१ ॥
देवर्षिं पर्यपृच्छत् स यथा वृत्तं कुरून् प्रति ।

वे उस स्थानपर गये, जहाँ तेजस्वी बलराम बैठे हुए थे। उन्होंने उठकर नियम और व्रतका पालन करनेवाले देवर्षिका भलीभाँति पूजन करके उनसे कौरवोंका समाचार पूछा ॥ २१½ ॥

ततोऽस्याकथयद् राजन् नारदः सर्वधर्मवित् ॥ २२ ॥
सर्वमेतद् यथावृत्तमतीव कुरुसंक्षयम् ।

राजन्! तब सम्पूर्ण धर्मोंके ज्ञाता नारदजीने उनसे यह सारा वृत्तान्त यथार्थरूपसे बता दिया कि कुरुकुलका अत्यन्त संहार हो गया है ॥ २२½ ॥

ततोऽब्रवीद् रौहिणेयो नारदं दीनया गिरा ॥ २३ ॥
किमवस्थं तु तत् क्षत्रं ये तु तत्राभवन् नृपाः ।
श्रुतमेतन्मया पूर्वं सर्वमेव तपोधन ॥ २४ ॥
विस्तरश्रवणे जातं कौतूहलमतीव मे ।

तब रोहिणीनन्दन बलरामने दीनवाणीमें नारदजीसे पूछा—'तपोधन! जो राजा लोग वहाँ उपस्थित हुए थे, उन सब क्षत्रियोंकी क्या अवस्था हुई है, यह सब तो मैंने पहले ही सुन लिया था। इस समय कुछ विशेष और विस्तृत समाचार जाननेके लिये मेरे मनमें अत्यन्त उत्सुकता हुई है' ॥ २३-२४½ ॥

नारद उवाच

पूर्वमेव हतो भीष्मो द्रोणः सिन्धुपतिस्तथा ॥ २५ ॥
हतो वैकर्तनः कर्णः पुत्राश्चास्य महारथाः ।
भूरिश्रवा रौहिणेय मद्रराजश्च वीर्यवान् ॥ २६ ॥

नारदजीने कहा—रोहिणीनन्दन! भीष्मजी तो पहले ही मारे गये। फिर सिंधुराज जयद्रथ, द्रोण, वैकर्तन कर्ण तथा उसके महारथी पुत्र भी मारे गये हैं। भूरिश्रवा तथा पराक्रमी मद्रराज शल्य भी मार डाले गये ॥ २५-२६ ॥

एते चान्ये च बहवस्तत्र तत्र महाबलाः ।
प्रियान् प्राणान् परित्यज्य जयार्थं कौरवस्य वै ॥ २७ ॥
राजानो राजपुत्राश्च समरेष्वनिवर्तिनः ।

ये तथा और भी बहुत-से महाबली राजा और राजकुमार जो युद्धसे पीछे हटनेवाले नहीं थे, कुरुराज दुर्योधनकी विजयके लिये अपने प्यारे प्राणोंका परित्याग करके स्वर्गलोकमें चले गये हैं ॥ २७½ ॥

अहतांस्तु महाबाहो शृणु मे तत्र माधव ॥ २८ ॥
धार्तराष्ट्रबले शेषास्त्रयः समितिमर्दनाः ।
कृपश्च कृतवर्मा च द्रोणपुत्रश्च वीर्यवान् ॥ २९ ॥

महाबाहु माधव! जो वहाँ नहीं मारे गये हैं, उनके नाम भी मुझसे सुन लो। दुर्योधनकी सेनामें कृपाचार्य, कृतवर्मा और पराक्रमी द्रोणपुत्र अश्वत्थामा—ये शत्रुदलका मर्दन करनेवाले तीन ही वीर शेष रह गये हैं ॥ २८-२९ ॥

तेऽपि वै विद्रुता राम दिशो दश भयात् तदा ।
दुर्योधने हते शल्ये विद्रुतेषु कृपादिषु ॥ ३० ॥
ह्रदं द्वैपायनं नाम विवेश भृशदुःखितः ।

परंतु बलरामजी! जब शल्य मारे गये, तब ये तीनों भी भयके मारे सम्पूर्ण दिशाओंमें पलायन कर गये थे। शल्यके मारे जाने और कृप आदिके भाग जानेपर दुर्योधन बहुत दुखी हुआ और भागकर द्वैपायनसरोवरमें जा छिपा ३०½

शयानं धार्तराष्ट्रं तु सलिले स्तम्भिते तदा ॥ ३१ ॥
पाण्डवाः सह कृष्णेन वाग्भिरुग्राभिरार्दयन् ।

जब दुर्योधन जलको स्तम्भित करके उसके भीतर सो रहा था, उस समय पाण्डवलोग भगवान् श्रीकृष्णके साथ वहाँ आ पहुँचे और अपनी कठोर बातोंसे उसे कष्ट पहुँचाने लगे ३१½

स तुद्यमानो बलवान् वाग्भी राम समन्ततः ॥ ३२ ॥
उत्थितः स ह्रदाद् वीरः प्रगृह्य महतीं गदाम् ।

बलराम ! जब सब ओरसे कड़वी बातोंद्वारा उसे व्यथित किया जाने लगा, तब वह बलवान् वीर विशाल गदा हाथमें लेकर सरोवरसे उठ खड़ा हुआ ॥ ३२½ ॥

स चाप्युपगतो योद्धुं भीमेन सह साम्प्रतम् ॥ ३३ ॥
भविष्यति तयोरद्य युद्धं राम सुदारुणम् ।
यदि कौतूहलं तेऽस्ति व्रज माधव मा चिरम् ।
पश्य युद्धं महाघोरं शिष्ययोर्यदि मन्यसे ॥ ३४ ॥

इस समय वह भीमके साथ युद्ध करनेके लिये उनके पास जा पहुँचा है । राम ! आज उन दोनोंमें बड़ा भयंकर युद्ध होगा, माधव ! यदि तुम्हारे मनमें भी उसे देखनेका कौतूहल हो तो शीघ्र जाओ । यदि ठीक समझो तो अपने दोनों शिष्योंका वह महाभयंकर युद्ध अपनी आँखोंसे देख लो ॥ ३३-३४ ॥

वैशम्पायन उवाच

नारदस्य वचः श्रुत्वा तानभ्यर्च्य द्विजर्षभान् ।
सर्वान् विसर्जयामास ये तेनाभ्यागताः सह ॥ ३५ ॥
गम्यतां द्वारकां चेति सोऽन्वशादनुयायिनः ।

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन् ! नारदजीकी बात सुनकर बलरामजीने अपने साथ आये हुए श्रेष्ठ ब्राह्मणोंकी पूजा करके उन्हें विदा कर दिया और सेवकोंको आज्ञा दे दी कि तुम लोग द्वारका चले जाओ ॥ ३५½ ॥

सोऽवतीर्याचलश्रेष्ठात् प्लक्षप्रस्रवणाच्छुभात् ॥ ३६ ॥
ततः प्रीतमना रामः श्रुत्वा तीर्थफलं महत् ।
विप्राणां संनिधौ श्लोकमगायदिममच्युतः ॥ ३७ ॥

फिर वे प्लक्षप्रस्रवण नामक शुभ पर्वतशिखरसे नीचे उतर आये और तीर्थ-सेवनका महान् फल सुनकर प्रसन्नचित्त हो अच्युत बलरामने ब्राह्मणोंके समीप इस श्लोकका गान किया—॥ ३६-३७ ॥

सरस्वतीवाससमा कुतो रतिः
सरस्वतीवाससमाः कुतो गुणाः ।
सरस्वतीं प्राप्य दिवं गता जनाः
सदा स्मरिष्यन्ति नदीं सरस्वतीम् ॥ ३८ ॥

'सरस्वती नदीके तटपर निवास करनेमें जो सुख और आनन्द है, वह अन्यत्र कहाँसे मिल सकता है ? सरस्वती-तटपर निवास करनेमें जो गुण हैं, वे अन्यत्र कहाँ हैं ? सरस्वतीका सेवन करके स्वर्गलोकमें पहुँचे हुए मनुष्य सदा सरस्वती नदीका स्मरण करते रहेंगे ॥ ३८ ॥

सरस्वती सर्वनदीषु पुण्या
सरस्वती लोकशुभावहा सदा ।
सरस्वतीं प्राप्य जनाः सुदुष्कृतं
सदा न शोचन्ति परत्र चेह च ॥ ३९ ॥

'सरस्वती सब नदियोंमें पवित्र है । सरस्वती सदा सम्पूर्ण जगत्का कल्याण करनेवाली है । सरस्वतीको पाकर मनुष्य इहलोक और परलोकमें कभी पापोंके लिये शोक नहीं करते हैं' ॥ ३९ ॥

ततो मुहुर्मुहुः प्रीत्या प्रेक्षमाणः सरस्वतीम् ।
हयैर्युक्तं रथं शुभ्रमातिष्ठत परंतपः ॥ ४० ॥

तदनन्तर शत्रुओंको संताप देनेवाले बलरामजी बारंबार प्रेमपूर्वक सरस्वती नदीकी ओर देखते हुए घोड़ोंसे जुते उज्ज्वल रथपर आरूढ़ हुए ॥ ४० ॥

स शीघ्रगामिना तेन रथेन यदुपुङ्गवः ।
दिदृक्षुरभिसम्प्राप्तः शिष्ययुद्धमुपस्थितम् ॥ ४१ ॥

उसी शीघ्रगामी रथके द्वारा तत्काल उपस्थित हुए दोनों शिष्योंका युद्ध देखनेके लिये यदुपुङ्गव बलरामजी उनके पास जा पहुँचे ॥ ४१ ॥

इति श्रीमहाभारते शल्यपर्वणि गदापर्वणि बलदेवतीर्थयात्रायां सारस्वतोपाख्याने चतुष्पञ्चाशत्तमोऽध्यायः ॥ ५४ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शल्यपर्वके अन्तर्गत गदापर्वमें बलदेवजीकी तीर्थयात्राके प्रसंगमें सारस्वतोपाख्यानविषयक चौवनवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ५४ ॥

पञ्चपञ्चाशत्तमोऽध्यायः

बलरामजीकी सलाहसे सबका कुरुक्षेत्रके समन्तपञ्चक तीर्थमें जाना और वहाँ भीम तथा दुर्योधनमें गदायुद्धकी तैयारी

वैशम्पायन उवाच

एवं तदभवद् युद्धं तुमुलं जनमेजय ।
यत्र दुःखान्वितो राजा धृतराष्ट्रोऽब्रवीदिदम् ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! इस प्रकार वह तुमुल युद्ध हुआ, जिसके विषयमें अत्यन्त दुखी हुए राजा धृतराष्ट्रने इस तरह प्रश्न किया ॥ १ ॥

धृतराष्ट्र उवाच

रामं संनिहितं दृष्ट्वा गदायुद्ध उपस्थिते ।
मम पुत्रः कथं भीमं प्रत्ययुध्यत संजय ॥ २ ॥

धृतराष्ट्र बोले—संजय ! गदायुद्ध उपस्थित होनेपर बलरामजीको निकट आया देख मेरे पुत्रने भीमसेनके साथ किस प्रकार युद्ध किया ? ॥ २ ॥

संजय उवाच

रामसांनिध्यमासाद्य पुत्रो दुर्योधनस्तव ।
युद्धकामो महाबाहुः समहृष्यत वीर्यवान् ॥ ३ ॥

संजयने कहा—राजन् ! बलरामजीको निकट पाकर युद्धकी इच्छा रखनेवाला आपका शक्तिशाली पुत्र महाबाहु दुर्योधन बड़ा प्रसन्न हुआ ॥ ३ ॥

दृष्ट्वा लाङ्गलिनं राजा प्रत्युत्थाय च भारत ।
प्रीत्या परमया युक्तः समभ्यर्च्य यथाविधि ॥ ४ ॥

आसनं च ददौ तस्मै पर्यपृच्छदनामयम् ।

भरतनन्दन ! हलधरको देखते ही राजा युधिष्ठिर उठकर खड़े हो गये और बड़े प्रेमसे विधिपूर्वक उनकी पूजा करके उन्हें बैठनेके लिये उन्होंने आसन दिया तथा उनके स्वास्थ्यका समाचार पूछा ॥ ४½ ॥

ततो युधिष्ठिरं रामो वाक्यमेतदुवाच ह ॥ ५ ॥
मधुरं धर्मसंयुक्तं शूराणां हितमेव च ।

तब बलरामने युधिष्ठिरसे मधुर वाणीमें शूरवीरोंके लिये हितकर धर्मयुक्त वचन कहा—॥ ५½ ॥

मया श्रुतं कथयतामृषीणां राजसत्तम ॥ ६ ॥
कुरुक्षेत्रं परं पुण्यं पावनं स्वर्ग्यमेव च ।
दैवतैर्ऋषिभिर्जुष्टं ब्राह्मणैश्च महात्मभिः ॥ ७ ॥

'नृपश्रेष्ठ ! मैंने माहात्म्य-कथा कहनेवाले ऋषियोंके मुखसे यह सुना है कि कुरुक्षेत्र परम पावन पुण्यमय तीर्थ है। वह स्वर्ग प्रदान करनेवाला है। देवता, ऋषि तथा महात्मा ब्राह्मण सदा उसका सेवन करते हैं ॥ ६-७ ॥

तत्र वै योत्स्यमाना ये देहं त्यक्ष्यन्ति मानवाः ।
तेषां स्वर्गे ध्रुवो वासः शक्रेण सह मारिष ॥ ८ ॥

'माननीय नरेश ! जो मानव वहाँ युद्ध करते हुए अपने शरीरका त्याग करेंगे, उनका निश्चय ही स्वर्गलोकमें इन्द्रके साथ निवास होगा ॥ ८ ॥

तस्मात् समन्तपञ्चकमितो याम द्रुतं नृप ।
प्रथितोत्तरवेदी सा देवलोके प्रजापतेः ॥ ९ ॥
तस्मिन् महापुण्यतमे त्रैलोक्यस्य सनातने ।
संग्रामे निधनं प्राप्य ध्रुवं स्वर्गे भविष्यति ॥ १० ॥

'अतः नरेश्वर ! हम सब लोग यहाँसे शीघ्र ही समन्तपञ्चक तीर्थमें चलें। वह भूमि देवलोकमें प्रजापतिकी उत्तरवेदीके नामसे प्रसिद्ध है। त्रिलोकीके उस परम पुण्यतम सनातन तीर्थमें युद्ध करके मृत्युको प्राप्त हुआ मनुष्य निश्चय ही स्वर्गलोकमें जायगा' ॥ ९-१० ॥

तथेत्युक्त्वा महाराज कुन्तीपुत्रो युधिष्ठिरः ।
समन्तपञ्चकं वीरः प्रायादभिमुखः प्रभुः ॥ ११ ॥
ततो दुर्योधनो राजा प्रगृह्य महतीं गदाम् ।
पद्भ्याममर्षी द्युतिमानगच्छत् पाण्डवैः सह ॥ १२ ॥

महाराज ! तब 'बहुत अच्छा', कहकर वीर राजा कुन्तीपुत्र युधिष्ठिर समन्तपञ्चक तीर्थकी ओर चल दिये। उस समय अमर्षमें भरा हुआ तेजस्वी राजा दुर्योधन हाथमें विशाल गदा लेकर पाण्डवोंके साथ पैदल ही चला ॥ ११-१२ ॥

तथाऽऽयान्तं गदाहस्तं वर्मणा चापि दंशितम् ।
अन्तरिक्षचरा देवाः साधु साध्वित्यपूजयन् ॥ १३ ॥

गदा हाथमें लिये कवच धारण किये दुर्योधनको इस प्रकार आते देख आकाशमें विचरनेवाले देवता साधु-साधु कहकर उसकी प्रशंसा करने लगे ॥ १३ ॥

वातिकाश्चारणा ये तु दृष्ट्वा ते हर्षमागताः ।
स पाण्डवैः परिवृतः कुरुराजस्तवात्मजः ॥ १४ ॥
मत्तस्येव गजेन्द्रस्य गतिमास्थाय सोऽव्रजत् ।

वातिक और चारण भी उसे देखकर हर्षसे खिल उठे। पाण्डवोंसे घिरा हुआ आपका पुत्र कुरुराज दुर्योधन मतवाले गजराजकी-सी गतिका आश्रय लेकर चल रहा था ॥ १४½ ॥

ततः शङ्खनिनादेन भेरीणां च महास्वनैः ॥ १५ ॥
सिंहनादैश्च शूराणां दिशः सर्वाः प्रपूरिताः ।

उस समय शङ्खोंकी ध्वनि, रणभेरियोंके गम्भीर घोष और शूरवीरोंके सिंहनादोंसे सम्पूर्ण दिशाएँ गूँज उठीं ॥ १५½ ॥

ततस्ते तु कुरुक्षेत्रं प्राप्ता नरवरोत्तमाः ॥ १६ ॥
प्रतीच्यभिमुखं देशं यथोद्दिष्टं सुतेन ते ।
दक्षिणेन सरस्वत्याः स्वयनं तीर्थमुत्तमम् ॥ १७ ॥
तस्मिन् देशे त्वनिरिणे ते तु युद्धमरोचयन् ।

तदनन्तर वे सभी श्रेष्ठ नरवीर आपके पुत्रके साथ पश्चिमाभिमुख चलकर पूर्वोक्त कुरुक्षेत्रमें आ पहुँचे। वह उत्तम तीर्थ सरस्वतीके दक्षिण तटपर स्थित एवं सद्गतिकी प्राप्ति करानेवाला था। वहाँ कहीं ऊसर भूमि नहीं थी। उसी स्थानमें आकर सबने युद्ध करना पसंद किया ॥ १६-१७½ ॥

ततो भीमो महाकोटिं गदां गृह्याथ वर्मभृत् ॥ १८ ॥
बिभ्रद्रूपं महाराज सदृशं हि गरुत्मतः ।

फिर तो भीमसेन कवच पहनकर बहुत बड़ी नोकवाली गदा हाथमें ले गरुडका-सा रूप धारण करके युद्धके लिये तैयार हो गये ॥ १८½ ॥

अवबद्धशिरस्त्राणः संख्ये काञ्चनवर्मभृत् ॥ १९ ॥
रराज राजन् पुत्रस्ते काञ्चनः शैलराडिव ।

तत्पश्चात् दुर्योधन भी सिरपर टोप लगाये सोनेका कवच बाँधे भीमके साथ युद्धके लिये डट गया। राजन् ! उस समय आपका पुत्र सुवर्णमय गिरिराज मेरुके समान शोभा पा रहा था ॥ १९½ ॥

वर्मभ्यां संयतौ वीरौ भीमदुर्योधनावुभौ ॥ २० ॥
संयुगे च प्रकाशेते संरब्धाविव कुञ्जरौ ।

कवच बाँधे हुए दोनों वीर भीमसेन और दुर्योधन युद्धभूमिमें कुपित हुए दो मतवाले हाथियोंके समान प्रकाशित हो रहे थे ॥ २०½ ॥

रणमण्डलमध्यस्थौ भ्रातरौ तौ नरर्षभौ ॥ २१ ॥
अशोभेतां महाराज चन्द्रसूर्याविवोदितौ ।

महाराज ! रणमण्डलके बीचमें खड़े हुए ये दोनों नरश्रेष्ठ भ्राता उदित हुए चन्द्रमा और सूर्यके समान शोभा पा रहे थे ॥ २१½ ॥

तावन्योन्यं निरीक्षेतां क्रुद्धाविव महाद्विपौ ॥ २२ ॥
दहन्तौ लोचनै राजन् परस्परवधैषिणौ ।

राजन् ! क्रोधमें भरे हुए दो गजराजोंके समान एक दूसरेके वधकी इच्छा रखनेवाले वे दोनों वीर परस्पर इस प्रकार देखने लगे, मानो नेत्रोंद्वारा एक दूसरेको भस्म कर डालेंगे ॥ २२½ ॥

सम्प्रहृष्टमना राजन् गदामादाय कौरवः ॥ २३ ॥

सृक्किणी संलिहन् राजन् क्रोधरक्तेक्षणः श्वसन्।
ततो दुर्योधनो राजन् गदामादाय वीर्यवान् ॥ २४ ॥
भीमसेनमभिप्रेक्ष्य गजो गजमिवाह्वयत्।

नरेश्वर ! तदनन्तर शक्तिशाली कुरुवंशी राजा दुर्योधन प्रसन्नचित्त हो गदा हाथमें ले क्रोधसे लाल आँखें करके गलफरोंको चाटता और लंबी साँसें खींचता हुआ भीमसेनकी ओर देखकर उसी प्रकार ललकारने लगा, जैसे एक हाथी दूसरे हाथीको पुकार रहा हो ॥ २३-२४½ ॥

अद्रिसारमयीं भीमस्तथैवादाय वीर्यवान् ॥ २५ ॥
आह्वयामास नृपतिं सिंहं सिंहो यथा वने।

उसी प्रकार पराक्रमी भीमसेनने लोहेकी गदा लेकर राजा दुर्योधनको ललकारा, मानो वनमें एक सिंह दूसरे सिंहको पुकार रहा हो ॥ २५½ ॥

तावुद्यतगदापाणी दुर्योधनवृकोदरौ ॥ २६ ॥
संयुगे च प्रकाशेतां गिरी सशिखराविव।

दुर्योधन और भीमसेन दोनोंकी गदाएँ ऊपरको उठी थीं। उस समय रणभूमिमें वे दोनों शिखरयुक्त दो पर्वतोंके समान प्रकाशित हो रहे थे ॥ २६½ ॥

तावुभौ समतिक्रुद्धावुभौ भीमपराक्रमौ ॥ २७ ॥
उभौ शिष्यौ गदायुद्धे रौहिणेयस्य धीमतः।

दोनों ही अत्यन्त क्रोधमें भरे थे। दोनों भयंकर पराक्रम प्रकट करनेवाले थे और दोनों ही गदायुद्धमें बुद्धिमान् रोहिणीनन्दन बलरामजीके शिष्य थे ॥ २७½ ॥

उभौ सदृशकर्माणौ यमवासवयोरिव ॥ २८ ॥
तथा सदृशकर्माणौ वरुणस्य महाबलौ।
वासुदेवस्य रामस्य तथा वैश्रवणस्य च ॥ २९ ॥
सदृशौ तौ महाराज मधुकैटभयोर्युधि।
उभौ सदृशकर्माणौ तथा सुन्दोपसुन्दयोः ॥ ३० ॥
रामरावणयोश्चैव वालिसुग्रीवयोस्तथा।
तथैव कालस्य समौ मृत्योश्चैव परंतपौ ॥ ३१ ॥

महाराज ! शत्रुओंको संताप देनेवाले वे दोनों महाबली वीर यमराज, इन्द्र, वरुण, श्रीकृष्ण, बलराम, कुबेर, मधु, कैटभ, सुन्द, उपसुन्द, राम, रावण तथा वाली और सुग्रीवके समान पराक्रम दिखानेवाले थे तथा काल एवं मृत्युके समान जान पड़ते थे ॥ २८-३१ ॥

अन्योन्यमभिधावन्तौ मत्ताविव महाद्विपौ।
वासितासंगमे दृप्तौ शरदीव मदोत्कटौ ॥ ३२ ॥
उभौ क्रोधविषं दीप्तं वमन्तावुरगाविव।
अन्योन्यमभिसंरब्धौ प्रेक्षमाणावरिंदमौ ॥ ३३ ॥

जैसे शरद् ऋतुमें मैथुनकी इच्छावाली हथिनीसे समागम करनेके लिये दो मतवाले हाथी मदोन्मत्त होकर एक दूसरेपर धावा करते हों, उसी प्रकार अपने बलका गर्व रखनेवाले वे दोनों वीर एक दूसरेसे टक्कर लेनेको उद्यत थे। शत्रुओंका दमन करनेवाले वे दोनों योद्धा दो सर्पोंके समान प्रज्वलित क्रोधरूपी विषका वमन करते हुए एक दूसरेको रोषपूर्वक देख रहे थे ॥ ३२-३३ ॥

उभौ भरतशार्दूलौ विक्रमेण समन्वितौ।
सिंहाविव दुराधर्षौ गदायुद्धविशारदौ ॥ ३४ ॥

भरतवंशके वे विक्रमशाली सिंह दो जंगली सिंहोंके समान दुर्जय थे और दोनों ही गदायुद्धके विशेषज्ञ माने जाते थे ॥ ३४ ॥

नखदंष्ट्रायुधौ वीरौ व्याघ्राविव दुरुत्सहौ।
प्रजासंहरणे क्षुब्धौ समुद्राविव दुस्तरौ ॥ ३५ ॥
लोहिताङ्गाविव क्रुद्धौ प्रतपन्तौ महारथौ।

पञ्जों और दाढ़ोंसे प्रहार करनेवाले दो व्याघ्रोंके समान उन दोनों वीरोंका वेग शत्रुओंके लिये दुःसह था। प्रलयकालमें विक्षुब्ध हुए दो समुद्रोंके समान उन्हें पार करना कठिन था। वे दोनों महारथी क्रोधमें भरे हुए दो मङ्गल ग्रहोंके समान एक दूसरेको ताप दे रहे थे ॥ ३५½ ॥

पूर्वपश्चिमजौ मेघौ प्रेक्षमाणावरिंदमौ ॥ ३६ ॥
गर्जमानौ सुविषमं क्षरन्तौ प्रावृषीव हि।

जैसे वर्षा ऋतुमें पूर्व और पश्चिम दिशाओंमें स्थित दो वृष्टिकारक मेघ भयंकर गर्जना कर रहे हों, उसी प्रकार शत्रुओंका दमन करनेवाले वे दोनों वीर एक दूसरेको देखते हुए भयानक सिंहनाद कर रहे थे ॥ ३६½ ॥

रश्मियुक्तौ महात्मानौ दीप्तिमन्तौ महाबलौ ॥ ३७ ॥
ददृशाते कुरुश्रेष्ठौ कालसूर्याविवोदितौ।

महामनस्वी महाबली कुरुश्रेष्ठ दुर्योधन और भीमसेन प्रखर किरणोंसे युक्त, प्रलयकालमें उगे हुए दो दीप्तिशाली सूर्योंके समान दृष्टिगोचर हो रहे थे ॥ ३७½ ॥

व्याघ्राविव सुसंरब्धौ गर्जन्ताविव तोयदौ ॥ ३८ ॥
जहृषाते महाबाहू सिंहकेसरिणाविव।

रोषमें भरे हुए दो व्याघ्रों, गरजते हुए दो मेघों और दहाड़ते हुए दो सिंहोंके समान वे दोनों महाबाहु वीर हर्षोत्फुल्ल हो रहे थे ॥ ३८½ ॥

गजाविव सुसंरब्धौ ज्वलिताविव पावकौ ॥ ३९ ॥
ददृशाते महात्मानौ सशृङ्गाविव पर्वतौ।

वे दोनों महामनस्वी योद्धा परस्पर कुपित हुए दो हाथियों, प्रज्वलित हुई दो अग्नियों और शिखरयुक्त दो पर्वतोंके समान दिखायी देते थे ॥ ३९½ ॥

रोषात् प्रस्फुरमाणोष्ठौ निरीक्षन्तौ परस्परम् ॥ ४० ॥
तौ समेतौ महात्मानौ गदाहस्तौ नरोत्तमौ।

उन दोनोंके ओठ रोषसे फड़क रहे थे। वे दोनों नरश्रेष्ठ एक दूसरेपर दृष्टिपात करते हुए हाथमें गदा ले परस्पर भिड़नेके लिये उद्यत थे ॥ ४०½ ॥

उभौ परमसंहृष्टावुभौ परमसम्मतौ ॥ ४१ ॥
सदश्वाविव हेषन्तौ बृंहन्ताविव कुञ्जरौ।
वृषभाविव गर्जन्तौ दुर्योधनवृकोदरौ ॥ ४२ ॥
दैत्याविव बलोन्मत्तौ रेजतुस्तौ नरोत्तमौ।

दोनों अत्यन्त हर्ष और उत्साहमें भरे थे। दोनों ही बड़े सम्मानित वीर थे। मनुष्योंमें श्रेष्ठ वे दुर्योधन और भीमसेन

हींसते हुए दो अच्छे घोड़ों, चिग्घाड़ते हुए दो गजराजों और डँकरते हुए दो साँड़ों तथा बलसे उन्मत्त हुए दो दैत्योंके समान शोभा पाते थे ॥ ४१-४२½ ॥

ततो दुर्योधनो राजन्निदमाह युधिष्ठिरम् ॥ ४३ ॥
भ्रातृभिः सहितं चैव कृष्णेन च महात्मना ।
रामेणामितवीर्येण वाक्यं शौटीर्यसम्मतम् ॥ ४४ ॥
केकयैः सृञ्जयैर्दृप्तं पञ्चालैश्च महात्मभिः ।

राजन् ! तदनन्तर दुर्योधनने अमितपराक्रमी बलराम, महात्मा श्रीकृष्ण, महामनस्वी पाञ्चाल, सृंजय, केकयगण तथा अपने भाइयोंके साथ खड़े हुए अभिमानी युधिष्ठिरसे इस प्रकार गर्वयुक्त वचन कहा—॥ ४३-४४½ ॥

इदं व्यवसितं युद्धं मम भीमस्य चोभयोः ॥ ४५ ॥
उपोपविष्टाः पश्यध्वं सहितैर्नृपपुङ्गवैः ।

'वीरो ! मेरा और भीमसेनका जो यह युद्ध निश्चित हुआ है, इसे आपलोग सभी श्रेष्ठ नरेशोंके साथ निकट बैठकर देखिये' ॥ ४५½ ॥

श्रुत्वा दुर्योधनवचः प्रत्यपद्यन्त तत्तथा ॥ ४६ ॥
ततः समुपविष्टं तत् सुमहद्राजमण्डलम् ।
विराजमानं ददृशे दिवीवादित्यमण्डलम् ॥ ४७ ॥
तेषां मध्ये महाबाहुः श्रीमान् केशवपूर्वजः ।
उपविष्टो महाराज पूज्यमानः समन्ततः ॥ ४८ ॥
शुशुभे राजमध्यस्थो नीलवासाः सितप्रभः ।
नक्षत्रैरिव सम्पूर्णो वृतो निशि निशाकरः ॥ ४९ ॥

दुर्योधनकी यह बात सुनकर सब लोगोंने उसे स्वीकार कर लिया, फिर तो राजाओंका वह विशाल समूह वहाँ सब ओर बैठ गया। नरेशोंकी वह मण्डली आकाशमें सूर्यमण्डलके समान दिखायी दे रही थी। उन सबके बीचमें भगवान् श्रीकृष्णके बड़े भ्राता तेजस्वी महाबाहु बलरामजी विराजमान हुए। महाराज ! सब ओरसे सम्मानित होते हुए नीलाम्बरधारी, गौरकान्ति बलभद्रजी राजाओंके बीचमें वैसे ही शोभा पा रहे थे, जैसे रात्रिमें नक्षत्रोंसे घिरे हुए पूर्ण चन्द्रमा सुशोभित होते हैं ॥ ४६–४९ ॥

तौ तथा तु महाराज गदाहस्तौ सुदुःसहौ ।
अन्योन्यं वाग्भिरुग्राभिस्तक्षमाणौ व्यवस्थितौ ॥ ५० ॥

महाराज ! हाथमें गदा लिये वे दोनों दुःसह वीर एक दूसरेको अपने कठोर वचनोंद्वारा पीड़ा देते हुए खड़े थे ॥ ५० ॥

अप्रियाणि ततोऽन्योन्यमुक्त्वा तौ कुरुसत्तमौ ।
उदीक्षन्तौ स्थितौ तत्र वृत्रशक्रौ यथाऽऽहवे ॥ ५१ ॥

परस्पर कटु वचनोंका प्रयोग करके वे दोनों कुरुकुलके श्रेष्ठतम वीर वहाँ युद्धस्थलमें वृत्रासुर और इन्द्रके समान एक दूसरेको देखते हुए युद्धके लिये डटे रहे ॥ ५१ ॥

इति श्रीमहाभारते शल्यपर्वणि गदापर्वणि युद्धारम्भे पञ्चपञ्चाशत्तमोऽध्यायः ॥ ५५ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शल्यपर्वके अन्तर्गत गदापर्वमें युद्धका आरम्भविषयक पचपनवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ५५ ॥

षट्पञ्चाशत्तमोऽध्यायः

दुर्योधनके लिये अपशकुन, भीमसेनका उत्साह तथा भीम और दुर्योधनमें वाग्युद्धके पश्चात् गदायुद्धका आरम्भ

वैशम्पायन उवाच

ततो वाग्युद्धमभवत् तुमुलं जनमेजय ।
यत्र दुःखान्वितो राजा धृतराष्ट्रोऽब्रवीदिदम् ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! तदनन्तर भीमसेन और दुर्योधनमें भयंकर वाग्युद्ध होने लगा। इस प्रसङ्गको सुनकर राजा धृतराष्ट्र बहुत दुखी हुए और संजयसे इस प्रकार बोले—॥ १ ॥

धिगस्तु खलु मानुष्यं यस्य निष्ठेयमीदृशी ।
एकादशचमूभर्ता यत्र पुत्रो ममानघ ॥ २ ॥
आज्ञाप्य सर्वान् नृपतीन् भुक्त्वा चेमां वसुंधराम् ।
गदामादाय वेगेन पदातिः प्रस्थितो रणे ॥ ३ ॥

'निष्पाप संजय ! जिसका परिणाम ऐसा दुःखद होता है, उस मानव-जन्मको धिक्कार है ! मेरा पुत्र एक दिन ग्यारह अक्षौहिणी सेनाओंका स्वामी था। उसने सब राजाओंपर हुक्म चलाया और सारी पृथ्वीका अकेले उपभोग किया; किंतु अन्तमें उसकी यह दशा हुई कि गदा हाथमें लेकर उसे वेगपूर्वक पैदल ही युद्धमें जाना पड़ा ॥ २-३ ॥

भूत्वा हि जगतो नाथो ह्यनाथ इव मे सुतः ।
गदामुद्यम्य यो याति किमन्यद् भागधेयतः ॥ ४ ॥

'जो मेरा पुत्र सम्पूर्ण जगत्का नाथ था, वही अनाथकी भाँति गदा हाथमें लेकर युद्धस्थलमें पैदल जा रहा था। इसे भाग्यके सिवा और क्या कहा जा सकता है ? ॥ ४ ॥

अहो दुःखं महत् प्राप्तं पुत्रेण मम संजय ।
एवमुक्त्वा स दुःखार्तो विरराम जनाधिपः ॥ ५ ॥

'संजय ! हाय ! मेरे पुत्रने बड़ा भारी दुःख उठाया !' ऐसा कहकर राजा धृतराष्ट्र दुःखसे पीड़ित हो चुप हो रहे ॥

संजय उवाच

स मेघनिनदो हर्षान्निनदन्निव गोवृषः ।
आजुहाव तदा पार्थं युद्धाय युधि वीर्यवान् ॥ ६ ॥

संजयने कहा—महाराज ! उस समय रणभूमिमें मेघके समान गम्भीर गर्जना करनेवाले पराक्रमी दुर्योधनने हर्षमें भरकर जोर-जोरसे शब्द करनेवाले साँड़की भाँति सिंहनाद करके कुन्तीपुत्र भीमसेनको युद्धके लिये ललकारा ॥ ६ ॥

भीममाह्वयमाने तु कुरुराजे महात्मनि ।

प्रादुरासन् सुघोराणि रूपाणि विविधान्युत ॥ ७ ॥

महामनस्वी कुरुराज दुर्योधन जब भीमसेनका आह्वान करने लगा, उस समय नाना प्रकारके भयंकर अपशकुन प्रकट हुए ॥ ७ ॥

ववुर्वाताः सनिर्घाताः पांशुवर्षं पपात च ।
बभूवुश्च दिशः सर्वास्तिमिरेण समावृताः ॥ ८ ॥
महास्वनाः सनिर्घातास्तुमुला लोमहर्षणाः ।
पेतुस्तथोल्काः शतशः स्फोटयन्त्यो नभस्तलात्॥ ९ ॥
राहुश्चाग्रसदादित्यमपर्वणि विशाम्पते ।
चकम्पे च महाकम्पं पृथिवी सवनद्रुमा ॥ १० ॥

बिजलीकी गड़गड़ाहटके साथ प्रचण्ड वायु चलने लगी, सब ओर धूलिकी वर्षा होने लगी, सम्पूर्ण दिशाएँ अन्धकारसे आच्छन्न हो गयीं, आकाशसे महान् शब्द तथा वज्रकी-सी गड़गड़ाहटके साथ रोंगटे खड़े कर देनेवाली सैकड़ों भयंकर उल्काएँ भूतलको विदीर्ण करती हुई गिरने लगीं । प्रजानाथ! अमावास्याके बिना ही राहुने सूर्यको ग्रस लिया, वन और वृक्षोंसहित सारी पृथ्वी जोर-जोरसे काँपने लगी ॥ ८–१० ॥

रूक्षाश्च वाताः प्रववुर्नीचैः शर्करकर्षिणः ।
गिरीणां शिखराण्येव न्यपतन्त महीतले ॥ ११ ॥

नीचे धूल और कंकड़की वर्षा करती हुई रूखी हवा चलने लगी । पर्वतोंके शिखर टूट-टूटकर पृथ्वीपर गिरने लगे ॥ ११ ॥

मृगा बहुविधाकाराः सम्पतन्ति दिशो दश ।
दीप्ताः शिवाश्चाप्यनदन् घोररूपाः सुदारुणाः ॥ १२ ॥

नाना प्रकारकी आकृतिवाले मृग दसों दिशाओंमें दौड़ लगाने लगे । अत्यन्त भयंकर एवं घोररूप धारण करनेवाली सियारिनें जिनका मुख अग्निसे प्रज्वलित हो रहा था, अमङ्गलसूचक बोली बोल रही थीं ॥ १२ ॥

निर्घाताश्च महाघोरा बभूवुर्लोमहर्षणाः ।
दीप्तायां दिशि राजेन्द्र मृगाश्चाशुभवेदिनः ॥ १३ ॥

राजेन्द्र ! अत्यन्त भयंकर और रोमाञ्चकारी शब्द प्रकट हो रहे थे, दिशाएँ मानो जल रही थीं और मृग किसी भावी अमङ्गलकी सूचना दे रहे थे ॥ १३ ॥

उदपानगताश्चापो व्यवर्धन्त समन्ततः ।
अशरीरा महानादाः श्रूयन्ते स्म तदा नृप ॥ १४ ॥

नरेश्वर ! कुओंके जल सब ओरसे अपने आप बढ़ने लगे और बिना शरीरके ही जोर-जोरसे गर्जनाएँ सुनायी दे रही थीं ॥ १४ ॥

एवमादीनि दृष्ट्वाथ निमित्तानि वृकोदरः ।
उवाच भ्रातरं ज्येष्ठं धर्मराजं युधिष्ठिरम् ॥ १५ ॥

इस प्रकार बहुत-से अपशकुन देखकर भीमसेन अपने ज्येष्ठ भ्राता धर्मराज युधिष्ठिरसे बोले—॥ १५ ॥

नैष शक्तो रणे जेतुं मन्दात्मा मां सुयोधनः ।
अद्य क्रोधं विमोक्ष्यामि निगूढं हृदये चिरम् ॥ १६ ॥
सुयोधने कौरवेन्द्रे खाण्डवेऽग्निमिवार्जुनः ।
शल्यमद्योद्धरिष्यामि तव पाण्डव हृच्छयम् ॥ १७ ॥

'भैया ! यह मन्दबुद्धि दुर्योधन रणभूमिमें मुझे किसी प्रकार परास्त नहीं कर सकता । आज मैं अपने हृदयमें चिरकालसे छिपाये हुए क्रोधको कौरवराज दुर्योधनपर उसी प्रकार छोड़ूँगा, जैसे अर्जुनने खाण्डववनमें अग्निको छोड़ा था । पाण्डुनन्दन ! आज आपके हृदयका काँटा मैं निकाल दूँगा ॥ १६-१७ ॥

निहत्य गदया पापमिमं कुरुकुलाधमम् ।
अद्य कीर्तिमयीं मालां प्रतिमोक्ष्याम्यहं त्वयि ॥ १८ ॥

'मैं अपनी गदासे इस कुरुकुलाधम पापीको मारकर आज आपको कीर्तिमयी माला पहनाऊँगा ॥ १८ ॥

हत्वेमं पापकर्माणं गदया रणमूर्धनि ।
अद्यास्य शतधा देहं भिनद्मि गदयानया ॥ १९ ॥

'युद्धके मुहानेपर गदाके आघातसे इस पापीका वध करके आज इसी गदासे इसके शरीरके सौ-सौ टुकड़े कर डालूँगा ॥ १९ ॥

नायं प्रवेष्टा नगरं पुनर्वारणसाह्वयम् ।
सर्पोत्सर्गस्य शयने विषदानस्य भोजने ॥ २० ॥
प्रमाणकोट्यां पातस्य दाहस्य जतुवेश्मनि ।
सभायामवहासस्य सर्वस्वहरणस्य च ॥ २१ ॥
वर्षमज्ञातवासस्य वनवासस्य चानघ ।
अद्यान्तमेषां दुःखानां गन्ताहं भरतर्षभ ॥ २२ ॥

'अब फिर कभी यह हस्तिनापुरमें प्रवेश नहीं करेगा । भरतश्रेष्ठ ! इसने जो मेरी शय्यापर साँप छोड़ा था, भोजनमें विष दिया था, प्रमाणकोटिके जलमें मुझे गिराया था, लाक्षागृहमें जलानेकी चेष्टा की थी, भरी सभामें मेरा उपहास किया था, सर्वस्व हर लिया था तथा बारह वर्षोंतक वनवास और एक वर्षतक अज्ञातवासके लिये विवश किया था; इसके द्वारा प्राप्त हुए मैं इन सभी दुःखोंका अन्त कर डालूँगा ॥ २०–२२ ॥

एकाह्ना विनिहत्येमं भविष्याम्यात्मनोऽनृणः ।
अद्यायुर्धार्तराष्ट्रस्य दुर्मतेरकृतात्मनः ॥ २३ ॥
समाप्तं भरतश्रेष्ठ मातापित्रोश्च दर्शनम् ।

'आज एक दिनमें इसका वध करके मैं अपने आपसे उऋण हो जाऊँगा । भरतभूषण ! आज दुर्बुद्धि एवं अजितात्मा धृतराष्ट्रपुत्रकी आयु समाप्त हो गयी है । इसे माता-पिताके दर्शनका अवसर भी अब नहीं मिलनेवाला है ॥ २३½ ॥

अद्य सौख्यं तु राजेन्द्र कुरुराजस्य दुर्मतेः ॥ २४ ॥
समाप्तं च महाराज नारीणां दर्शनं पुनः ।

'राजेन्द्र ! महाराज ! आज खोटी बुद्धिवाले कुरुराज दुर्योधनका सारा सुख समाप्त हो गया । अब इसके लिये पुनः अपनी स्त्रियोंको देखना और उनसे मिलना असम्भव है ॥ २४½ ॥

अद्यायं कुरुराजस्य शान्तनोः कुलपांसनः ॥ २५ ॥
प्राणाञ्छ्रियं च राज्यं च त्यक्त्वा शेष्यति भूतले ।

'कुरुराज शान्तनुके कुलका यह जीता-जागता कलंक

आज आपके प्राण, लक्ष्मी तथा राज्यको छोड़कर सदाके लिये पृथ्वीपर सो जायगा ॥ २५½ ॥

राजा च धृतराष्ट्रोऽद्य श्रुत्वा पुत्रं निपातितम् ॥ २६ ॥
स्मरिष्यत्यशुभं कर्म यत्तच्छकुनिबुद्धिजम् ।

'आज राजा धृतराष्ट्र अपने इस पुत्रको मारा गया सुनकर अपने उन अशुभ कर्मोंको याद करेंगे, जिन्हें उन्होंने शकुनिकी सलाहके अनुसार किया था' ॥ २६½ ॥

इत्युक्त्वा राजशार्दूल गदामादाय वीर्यवान् ॥ २७ ॥
अभ्यतिष्ठत युद्धाय शक्रो वृत्रमिवाह्वयन् ।

नृपश्रेष्ठ ! ऐसा कहकर पराक्रमी भीमसेन हाथमें गदा ले युद्धके लिये खड़े हो गये और जैसे इन्द्रने वृत्रासुरको ललकारा था, उसी प्रकार वे दुर्योधनका आह्वान करने लगे ॥ २७½ ॥

तमुद्यतगदं दृष्ट्वा कैलासमिव शृङ्गिणम् ॥ २८ ॥
भीमसेनः पुनः क्रुद्धो दुर्योधनमुवाच ह ।

शिखरयुक्त कैलास पर्वतके समान गदा उठाये दुर्योधनको खड़ा देख भीमसेन पुनः कुपित हो उससे इस प्रकार बोले—॥ २८½ ॥

राज्ञश्च धृतराष्ट्रस्य तथा त्वमपि चात्मनः ॥ २९ ॥
स्मर तद् दुष्कृतं कर्म यद् वृत्तं वारणावते ।

'दुर्योधन ! वारणावत नगरमें जो कुछ हुआ था, राजा धृतराष्ट्रके और अपने भी उस कुकर्मको तू याद कर ले ॥ २९½ ॥

द्रौपदी च परिक्लिष्टा सभामध्ये रजस्वला ॥ ३० ॥
द्यूते च वञ्चितो राजा यत् त्वया सौबलेन च ।
वने दुःखं च यत् प्राप्तमस्माभिस्त्वत्कृतं महत् ॥ ३१ ॥
विराटनगरे चैव योन्यन्तरगतैरिव ।
तत् सर्वं पातयाम्यद्य दिष्ट्या दृष्टोऽसि दुर्मते ॥ ३२ ॥

'तूने भरी सभामें जो रजस्वला द्रौपदीको अपमानित करके उसे क्लेश पहुँचाया था, सुबलपुत्र शकुनिके द्वारा जूएमें जो राजा युधिष्ठिरको ठग लिया था, तुम्हारे कारण हम सब लोगोंने जो वनमें महान् दुःख उठाया था और विराटनगरमें जो हमें दूसरी योनिमें गये हुए प्राणियोंके समान रहना पड़ा था; इन सब कष्टोंके कारण मेरे मनमें जो क्रोध संचित है, वह सब-का-सब आज तुझपर डाल दूँगा । दुर्मते ! सौभाग्यसे आज तू मुझे दीख गया है ॥ ३०—३२ ॥

त्वत्कृतेऽसौ हतः शेते शरतल्पे प्रतापवान् ।
गाङ्गेयो रथिनां श्रेष्ठो निहतो याज्ञसेनिना ॥ ३३ ॥

'तेरे ही कारण रथियोंमें श्रेष्ठ प्रतापी गङ्गानन्दन भीष्म द्रुपदकुमार शिखण्डीके हाथसे मारे जाकर बाणशय्यापर सो रहे हैं ॥ ३३ ॥

हतो द्रोणश्च कर्णश्च तथा शल्यः प्रतापवान् ।
वैराग्नेरादिकर्तासौ शकुनिः सौबलो हतः ॥ ३४ ॥

'द्रोणाचार्य, कर्ण और प्रतापी शल्य मारे गये तथा इस वैरकी आगको प्रज्वलित करनेमें जिसका सबसे पहला हाथ था, वह सुबलपुत्र शकुनि भी मार डाला गया ॥ ३४ ॥

प्रातिकामी तथा पापो द्रौपद्याः क्लेशकृद्धतः ।
भ्रातरस्ते हताः सर्वे शूरा विक्रान्तयोधिनः ॥ ३५ ॥

'द्रौपदीको क्लेश देनेवाला पापात्मा प्रातिकामी भी मारा गया । साथ ही जो पराक्रमपूर्वक युद्ध करनेवाले थे, वे तेरे सभी शूरवीर भाई भी मारे जा चुके हैं ॥

एते चान्ये च बहवो निहतास्त्वत्कृते नृपाः ।
त्वामद्य निहनिष्यामि गदया नात्र संशयः ॥ ३६ ॥

'ये तथा और भी बहुत-से नरेश तेरे लिये युद्धमें मारे गये हैं । आज तुझे भी गदासे मार गिराऊँगा, इसमें संशय नहीं है' ॥ ३६ ॥

इत्येवमुच्चै राजेन्द्र भाषमाणं वृकोदरम् ।
उवाच गतभी राजन् पुत्रस्ते सत्यविक्रमः ॥ ३७ ॥

राजेन्द्र ! इस प्रकार उच्च स्वरसे बोलनेवाले भीमसेनसे आपके सत्यपराक्रमी पुत्रने निर्भय होकर कहा—॥ ३७ ॥

किं कत्थनेन बहुना युध्यस्व त्वं वृकोदर ।
अद्य तेऽहं विनेष्यामि युद्धश्रद्धां कुलाधम ॥ ३८ ॥

'वृकोदर ! बहुत बढ़-बढ़कर बातें बनानेसे क्या लाभ ? तू मेरे साथ संग्राम कर ले । कुलाधम ! आज मैं तेरा युद्धका हौसला मिटा दूँगा ॥ ३८ ॥

न हि दुर्योधनः क्षुद्र केनचित् त्वद्विधेन वै ।
शक्यस्त्रासयितुं वाचा यथान्यः प्राकृतो नरः ॥ ३९ ॥

'ओ नीच ! तेरे-जैसा कोई भी मनुष्य अन्य प्राकृत पुरुषके समान दुर्योधनको वाणीद्वारा नहीं डरा सकता ॥ ३९ ॥

चिरकालेप्सितं दिष्ट्या हृदयस्थमिदं मम ।
त्वया सह गदायुद्धं त्रिदशैरुपपादितम् ॥ ४० ॥

'सौभाग्यकी बात है कि मेरे हृदयमें दीर्घकालसे जो तेरे साथ गदायुद्ध करनेकी अभिलाषा थी, उसे देवताओंने पूर्ण कर दिया ॥ ४० ॥

किं वाचा बहुनोक्तेन कत्थितेन च दुर्मते ।
वाणी सम्पद्यतामेषा कर्मणा मा चिरं कृथाः ॥ ४१ ॥

'दुर्बुद्धे ! वाणीद्वारा बहुत शेखी बघारनेसे क्या होगा? तू जो कुछ कहता है, उसे शीघ्र ही कार्यरूपमें परिणत कर' ॥

तस्य तद् वचनं श्रुत्वा सर्व एवाभ्यपूजयन् ।
राजानः सोमकाश्चैव ये तत्रासन् समागताः ॥ ४२ ॥

दुर्योधनकी यह बात सुनकर वहाँ आये हुए समस्त राजाओं तथा सोमकोंने उसकी बड़ी सराहना की ॥ ४२ ॥

ततः सम्पूजितः सर्वैः सम्प्रहृष्टतनूरुहः ।
भूयो धीरां मतिं चक्रे युद्धाय कुरुनन्दनः ॥ ४३ ॥

तदनन्तर सबसे सम्मानित हो कुरुनन्दन दुर्योधनने युद्धके लिये धीर बुद्धिका आश्रय लिया । उस समय उसके शरीरमें रोमाञ्च हो आया था ॥ ४३ ॥

उन्मत्तमिव मातङ्गं तलशब्दैर्नराधिपाः ।
भूयः संहर्षयांचक्रुर्दुर्योधनममर्षणम् ॥ ४४ ॥

इसके बाद जैसे लोग ताली बजाकर मतवाले हाथीको कुपित कर देते हैं, उसी प्रकार राजाओंने ताली पीटकर

दुर्योधन और भीमका गदायुद्ध

अमर्षशील दुर्योधनको पुनः हर्ष और उत्साहसे भर दिया ॥

तं महात्मा महात्मानं गदामुद्यम्य पाण्डवः ।
अभिदुद्राव वेगेन धार्तराष्ट्रं वृकोदरः ॥ ४५ ॥

महामनस्वी पाण्डुपुत्र भीमसेनने गदा उठाकर आपके महामना पुत्र दुर्योधनपर बड़े वेगसे आक्रमण किया ॥ ४५ ॥

बृंहन्ति कुञ्जरास्तत्र हया हेषन्ति चासकृत् ।
शस्त्राणि चाप्यदीप्यन्त पाण्डवानां जयैषिणाम् ॥ ४६ ॥

उस समय हाथी बारंबार चिग्घाड़ने और घोड़े हिनहिनाने लगे । साथ ही विजयाभिलाषी पाण्डवोंके अस्त्र-शस्त्र चमक उठे ॥ ४६ ॥

इति श्रीमहाभारते शल्यपर्वणि गदापर्वणि गदायुद्धारम्भे षट्पञ्चाशत्तमोऽध्यायः ॥ ५६ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शल्यपर्वके अन्तर्गत गदापर्वमें गदायुद्धका आरम्भविषयक छप्पनवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ५६ ॥

सप्तपञ्चाशत्तमोऽध्यायः

भीमसेन और दुर्योधनका गदायुद्ध

संजय उवाच

ततो दुर्योधनो दृष्ट्वा भीमसेनं तथागतम् ।
प्रत्युद्ययावदीनात्मा वेगेन महता नदन् ॥ १ ॥

संजय कहते हैं—राजन् ! तदनन्तर उदारहृदय दुर्योधनने भीमसेनको इस प्रकार आक्रमण करते देख स्वयं भी गर्जना करते हुए बड़े वेगसे आगे बढ़कर उनका सामना किया ॥

समापेततुरन्योन्यं शृङ्गिणौ वृषभाविव ।
महानिर्घातघोषश्च प्रहाराणामजायत ॥ २ ॥

वे दोनों बड़े-बड़े सींगवाले दो साँड़ोंके समान एक-दूसरेसे भिड़ गये । उनके प्रहारोंकी आवाज महान् वज्रपातके समान भयंकर जान पड़ती थी ॥ २ ॥

अभवच्च तयोर्युद्धं तुमुलं लोमहर्षणम् ।
जिगीषतोर्यथान्योन्यमिन्द्रप्रह्लादयोरिव ॥ ३ ॥

एक-दूसरेको जीतनेकी इच्छा रखनेवाले उन दोनोंमें इन्द्र और प्रह्लादके समान भयंकर एवं रोमाञ्चकारी युद्ध होने लगा ॥ ३ ॥

रुधिरोक्षितसर्वाङ्गौ गदाहस्तौ मनस्विनौ ।
ददृशाते महात्मानौ पुष्पिताविव किंशुकौ ॥ ४ ॥

उनके सारे अङ्ग खूनसे लथपथ हो गये थे । हाथमें गदा लिये वे दोनों महामना मनस्वी वीर फूले हुए दो पलाश-वृक्षोंके समान दिखायी देते थे ॥ ४ ॥

तथा तस्मिन् महायुद्धे वर्तमाने सुदारुणे ।
खद्योतसंघैरिव खं दर्शनीयं व्यरोचत ॥ ५ ॥

उस अत्यन्त भयंकर महायुद्धके चालू होनेपर गदाओंके आघातसे आगकी चिनगारियाँ छूटने लगीं । वे आकाशमें जुगनुओंके दलके समान जान पड़ती थीं और उनसे वहाँके आकाशकी दर्शनीय शोभा हो रही थी ॥ ५ ॥

तथा तस्मिन् वर्तमाने संकुले तुमुले भृशम् ।
उभावपि परिश्रान्तौ युध्यमानावरिंदमौ ॥ ६ ॥

इस प्रकार चलते हुए उस अत्यन्त भयंकर घमासान युद्धमें लड़ते-लड़ते वे दोनों शत्रुदमन वीर बहुत थक गये ॥

तौ मुहूर्तं समाश्वस्य पुनरेव परंतपौ ।
सम्प्रहारयतां चित्रे सम्प्रगृह्य गदे शुभे ॥ ७ ॥

फिर उन दोनोंने दो घड़ीतक विश्राम किया । इसके बाद शत्रुओंको संताप देनेवाले वे दोनों योद्धा फिर विचित्र एवं सुन्दर गदाएँ हाथमें लेकर एक-दूसरेपर प्रहार करने लगे ॥

तौ तु दृष्ट्वा महावीर्यौ समाश्वस्तौ नरर्षभौ ।
बलिनौ वारणौ यद्वद् वासितार्थे मदोत्कटौ ॥ ८ ॥
समानवीर्यौ सम्प्रेक्ष्य प्रगृहीतगदावुभौ ।
विस्मयं परमं जग्मुर्देवगन्धर्वमानवाः ॥ ९ ॥

उन समान बलशाली महापराक्रमी नरश्रेष्ठ वीरोंने विश्राम करके पुनः हाथमें गदा ले ली और मैथुनकी इच्छावाली हथिनीके लिये लड़नेवाले दो बलवान् एवं मदोन्मत्त गजराजोंके समान पुनः युद्ध आरम्भ कर दिया है, यह देखकर देवता, गन्धर्व और मनुष्य सभी अत्यन्त आश्चर्यसे चकित हो उठे ॥ ८-९ ॥

प्रगृहीतगदौ दृष्ट्वा दुर्योधनवृकोदरौ ।
संशयः सर्वभूतानां विजये समपद्यत ॥ १० ॥

दुर्योधन और भीमसेनको पुनः गदा उठाये देख उनमेंसे किसी एककी विजयके सम्बन्धमें समस्त प्राणियोंके हृदयमें संशय उत्पन्न हो गया ॥ १० ॥

समागम्य ततो भूयो भ्रातरौ बलिनां वरौ ।
अन्योन्यस्यान्तरप्रेप्सू प्रचक्रातेऽन्तरं प्रति ॥ ११ ॥

बलवानोंमें श्रेष्ठ उन दोनों भाइयोंमें जब पुनः भिड़न्त हुई तो दोनों ही दोनोंके चूकनेका अवसर देखते हुए पैंतरे बदलने लगे ॥ ११ ॥

यमदण्डोपमां गुर्वीमिन्द्राशनिमिवोद्यताम् ।
ददृशुः प्रेक्षका राजन् रौद्रीं विशसनीं गदाम् ॥ १२ ॥
आविध्यतो गदां तस्य भीमसेनस्य संयुगे ।
शब्दः सुतुमुलो घोरो मुहूर्तं समपद्यत ॥ १३ ॥

राजन् ! उस समय युद्धस्थलमें जब भीमसेन अपनी गदा घुमाने लगे, तब दर्शकोंने देखा, उनकी भारी गदा यमदण्डके समान भयंकर है । वह इन्द्रके वज्रके समान ऊपर उठी हुई है और शत्रुको छिन्न-भिन्न कर डालनेमें समर्थ है । गदा घुमाते समय उसकी घोर एवं भयानक आवाज वहाँ दो घड़ीतक गूँजती रही ॥ १२-१३ ॥

आविध्यन्तमरिं प्रेक्ष्य धार्तराष्ट्रोऽथ पाण्डवम् ।
गदामतुलवेगां तां विस्मितः सम्बभूव ह ॥ १४ ॥

आपका पुत्र दुर्योधन अपने शत्रु पाण्डुकुमार भीमसेनको वह अनुपम वेगशालिनी गदा घुमाते देख आश्चर्यमें पड़ गया ॥

चरंश्च विविधान् मार्गान् मण्डलानि च भारत ।
अशोभत तदा वीरो भूय एव वृकोदरः ॥ १५ ॥

भरतनन्दन ! वीर भीमसेन भाँति-भाँतिके मार्गों और मण्डलोंका प्रदर्शन करते हुए पुनः बड़ी शोभा पाने लगे ॥

तौ परस्परमासाद्य यत्तावन्योन्यरक्षणे ।
मार्जाराविव भक्षार्थे ततक्षाते मुहुर्मुहुः ॥ १६ ॥

वे दोनों परस्पर भिड़कर एक दूसरेसे अपनी रक्षाके लिये प्रयत्नशील हो रोटीके टुकड़ोंके लिये लड़नेवाले दो बिलावोंके समान बारंबार आघात-प्रतिघात कर रहे थे ॥ १६ ॥

अचरद् भीमसेनस्तु मार्गान् बहुविधांस्तथा ।
मण्डलानि विचित्राणि गतप्रत्यागतानि च ॥ १७ ॥

उस समय भीमसेन नाना प्रकारके मार्ग और विचित्र मण्डल दिखाने लगे । वे कभी शत्रुके सम्मुख आगे बढ़ते और कभी उसका सामना करते हुए ही पीछे हट आते थे ॥

अस्त्रयन्त्राणि चित्राणि स्थानानि विविधानि च ।
परिमोक्षं प्रहाराणां वर्जनं परिधावनम् ॥ १८ ॥

विचित्र अस्त्र-यन्त्रों और भाँति-भाँतिके स्थानोंका प्रदर्शन करते हुए वे दोनों शत्रुके प्रहारोंसे अपनेको बचाते, विपक्षीके प्रहारको व्यर्थ कर देते और दायें-बायें दौड़ लगाते थे ॥१८॥

अभिद्रवणमाक्षेपमवस्थानं सविग्रहम् ।
परिवर्तनसंवर्तमवप्लुतमुपप्लुतम् ॥ १९ ॥
उपन्यस्तमपन्यस्तं गदायुद्धविशारदौ ।
एवं तौ विचरन्तौ तु परस्परमविध्यताम् ॥ २० ॥

कभी वेगसे एक-दूसरेके सामने जाते, कभी विरोधीको गिरानेकी चेष्टा करते, कभी स्थिरभावसे खड़े होते, कभी गिरे हुए शत्रुके उठनेपर पुनः उसके साथ युद्ध करते, कभी विरोधीपर प्रहार करनेके लिये चक्कर काटते, कभी शत्रुके बढ़ावको रोक देते, कभी विपक्षीके प्रहारको विफल करनेके लिये झुककर निकल जाते, कभी उछलते-कूदते, कभी निकट आकर गदाका प्रहार करते और कभी लौटकर पीछेकी ओर किये हुए हाथसे शत्रुपर आघात करते थे । दोनों ही गदा-युद्धके विशेषज्ञ थे और इस प्रकार पैंतरे बदलते हुए एक-दूसरेपर चोट करते थे ॥ १९-२० ॥

वञ्चयानौ पुनश्चैव चेरतुः कुरुसत्तमौ ।
विक्रीडन्तौ सुबलिनौ मण्डलानि विचेरतुः ॥ २१ ॥

कुरुकुलके वे दोनों श्रेष्ठ और बलवान् वीर विपक्षीको चकमा देते हुए बारंबार युद्धके खेल दिखाते तथा पैंतरे बदलते थे ॥ २१ ॥

तौ दर्शयन्तौ समरे युद्धक्रीडां समन्ततः ।
गदाभ्यां सहसान्योन्यमाजघ्नतुररिंदमौ ॥ २२ ॥

समराङ्गणमें सब ओर युद्धकी क्रीडाका प्रदर्शन करते हुए उन दोनों शत्रुदमन वीरोंने सहसा अपनी गदाओंद्वारा एक-दूसरेपर प्रहार किया ॥ २२ ॥

परस्परं समासाद्य दंष्ट्राभ्यां द्विरदौ यथा ।
अशोभेतां महाराज शोणितेन परिप्लुतौ ॥ २३ ॥

महाराज ! जैसे दो हाथी अपने दाँतोंसे परस्पर प्रहार करके लहू-लुहान हो जाते हैं, उसी प्रकार वे दोनों एक-दूसरेपर चोट करके खूनसे भीगकर शोभा पाने लगे ॥ २३ ॥

एवं तदभवद् युद्धं घोररूपं परंतप ।
परिवृत्तेऽहनि क्रूरं वृत्रवासवयोरिव ॥ २४ ॥

शत्रुओंको संताप देनेवाले नरेश ! इस प्रकार दिनकी समाप्तिके समय उन दोनों वीरोंमें वृत्रासुर और इन्द्रके समान क्रूरतापूर्ण एवं भयंकर युद्ध होने लगा ॥ २४ ॥

गदाहस्तौ ततस्तौ तु मण्डलावस्थितौ बली ।
दक्षिणं मण्डलं राजन् धार्तराष्ट्रोऽभ्यवर्तत ॥ २५ ॥
सव्यं तु मण्डलं तत्र भीमसेनोऽभ्यवर्तत ।

राजन् ! दोनों ही हाथमें गदा लेकर मण्डलाकार युद्ध-स्थलमें खड़े थे । उनमेंसे बलवान् दुर्योधन दक्षिण मण्डलमें खड़ा था और भीमसेन बायें मण्डलमें ॥ २५½ ॥

तथा तु चरतस्तस्य भीमस्य रणमूर्धनि ॥ २६ ॥
दुर्योधनो महाराज पार्श्वदेशेऽभ्यताडयत् ।

महाराज ! युद्धके मुहानेपर वाममण्डलमें विचरते हुए भीमसेनकी पसलीमें दुर्योधनने गदा मारी ॥ २६½ ॥

आहतस्तु ततो भीमः पुत्रेण तव भारत ॥ २७ ॥
आविद्ध्यत गदां गुर्वीं प्रहारं तमचिन्तयन् ।

भरतनन्दन ! आपके पुत्रद्वारा आहत किये गये भीमसेन उस प्रहारको कुछ भी न गिनते हुए अपनी भारी गदा घुमाने लगे ॥ २७½ ॥

इन्द्राशनिसमां घोरां यमदण्डमिवोद्यताम् ॥ २८ ॥
ददृशुस्ते महाराज भीमसेनस्य तां गदाम् ।

राजेन्द्र ! दर्शकोंने भीमसेनकी उस भयंकर गदाको इन्द्रके वज्र और यमराजके दण्डके समान उठी हुई देखा ॥

आविध्यन्तं गदां दृष्ट्वा भीमसेनं तवात्मजः ॥ २९ ॥
समुद्यम्य गदां घोरां प्रत्यविध्यत् परंतपः ।

शत्रुओंको संताप देनेवाले आपके पुत्र दुर्योधनने भीमसेनको गदा घुमाते देख अपनी भयंकर गदा उठाकर उनकी गदापर दे मारी ॥ २९½ ॥

गदामारुतवेगेन तव पुत्रस्य भारत ॥ ३० ॥
शब्द आसीत् सुतुमुलस्तेजश्च समजायत ।

भारत ! आपके पुत्रकी वायुतुल्य गदाके वेगसे उस गदाके टकरानेपर बड़े जोरका शब्द हुआ और दोनों गदाओंसे आगकी चिनगारियाँ छूटने लगीं ॥ ३०½ ॥

स चरन् विविधान् मार्गान् मण्डलानि च भागशः ॥ ३१ ॥
समशोभत तेजस्वी भूयो भीमात् सुयोधनः ।

नाना प्रकारके मार्गों और भिन्न-भिन्न मण्डलोंसे विचरते हुए तेजस्वी दुर्योधनकी उस समय भीमसेनसे अधिक शोभा हुई ॥

आविद्धा सर्ववेगेन भीमेन महती गदा ॥ ३२ ॥
सधूमं सार्चिषं चाग्निं मुमोचोग्रमहास्वना ।

भीमसेनके द्वारा सम्पूर्ण वेगसे घुमायी गयी वह विशाल गदा उस समय भयंकर शब्द करती हुई धूम और ज्वालाओं-सहित आग प्रकट करने लगी ॥ ३२½ ॥

आधूतां भीमसेनेन गदां दृष्ट्वा सुयोधनः ॥ ३३ ॥
अद्रिसारमयीं गुर्वीमाविध्यन् बह्वशोभत ।

भीमसेनके द्वारा घुमायी गयी उस गदाको देखकर दुर्योधन भी अपनी लोहमयी भारी गदाको घुमाता हुआ अधिक शोभा पाने लगा ॥ ३३½ ॥

गदामारुतवेगं हि दृष्ट्वा तस्य महात्मनः ॥ ३४ ॥
भयं विवेश पाण्डूंस्तु सर्वानेव ससोमकान् ।

उस महामनस्वी वीरकी वायुतुल्य गदाके वेगको देखकर सोमकोंसहित समस्त पाण्डवोंके मनमें भय समा गया ॥

तौ दर्शयन्तौ समरे युद्धक्रीडां समन्ततः ॥ ३५ ॥
गदाभ्यां सहसान्योन्यमाजघ्नतुररिंदमौ ।

समराङ्गणमें सब ओर युद्धकी क्रीडाका प्रदर्शन करते हुए उन दोनों शत्रुदमन वीरोंने सहसा अपनी गदाओंद्वारा एक-दूसरेपर प्रहार किया ॥ ३५½ ॥

तौ परस्परमासाद्य दंष्ट्राभ्यां द्विरदौ यथा ॥ ३६ ॥
अशोभेतां महाराज शोणितेन परिप्लुतौ ।

महाराज ! जैसे दो हाथी अपने दाँतोंसे परस्पर प्रहार करके लहू-लुहान हो जाते हैं, उसी प्रकार वे दोनों एक-दूसरेपर चोट करके खूनसे लथपथ हो अद्भुत शोभा पाने लगे ॥

एवं तदभवद् युद्धं घोररूपमसंवृतम् ॥ ३७ ॥
परिवृत्तेऽहनि क्रूरं वृत्रवासवयोरिव ।

इस प्रकार दिनकी समाप्तिके समय, उन दोनों वीरोंमें प्रकटरूपमें वृत्रासुर और इन्द्रके समान क्रूरतापूर्ण एवं भयंकर युद्ध होने लगा ॥ ३७½ ॥

दृष्ट्वा व्यवस्थितं भीमं तव पुत्रो महाबलः ॥ ३८ ॥
चरंश्चित्रतरान् मार्गान् कौन्तेयमभिदुद्रुवे ।

तदनन्तर विचित्र मार्गोंसे विचरते हुए आपके महाबली पुत्रने कुन्तीकुमार भीमसेनको खड़ा देख उनपर सहसा आक्रमण किया ॥ ३८½ ॥

तस्य भीमो महावेगां जाम्बूनदपरिष्कृताम् ॥ ३९ ॥
अतिक्रुद्धस्य क्रुद्धस्तु ताडयामास तां गदाम् ।

यह देख क्रोधमें भरे भीमसेनने अत्यन्त कुपित हुए दुर्योधनकी सुवर्णजटित उस महावेगशालिनी गदापर ही अपनी गदासे आघात किया ॥ ३९½ ॥

सविस्फुलिङ्गो निर्ह्रादस्तयोस्तत्राभिघातजः ॥ ४० ॥
प्रादुरासीन्महाराज सृष्टयोर्वज्रयोरिव ।

महाराज ! उन दोनों गदाओंके टकरानेसे भयंकर शब्द हुआ और आगकी चिनगारियाँ छूटने लगीं । उस समय ऐसा जान पड़ा, मानो दोनों ओरसे छोड़े गये दो वज्र परस्पर टकरा गये हों ॥ ४०½ ॥

वेगवत्या तया तत्र भीमसेनप्रमुक्तया ॥ ४१ ॥
निपतन्त्या महाराज पृथिवी समकम्पत ।

राजेन्द्र ! भीमसेनकी छोड़ी हुई उस वेगवती गदाके गिरनेसे धरती डोलने लगी ॥ ४१½ ॥

तां नामृष्यत कौरव्यो गदां प्रतिहतां रणे ॥ ४२ ॥
मत्तो द्विप इव क्रुद्धः प्रतिकुञ्जरदर्शनात् ।

जैसे क्रोधमें भरा हुआ मतवाला हाथी अपने प्रतिद्वन्द्वी गजराजको देखकर सहन नहीं कर पाता, उसी प्रकार रणभूमिमें अपनी गदाको प्रतिहत हुई देख कुरुवंशी दुर्योधन नहीं सह सका ॥ ४२½ ॥

स सव्यं मण्डलं राजा उद्भ्राम्य कृतनिश्चयः ॥ ४३ ॥
आजघ्ने मूर्ध्नि कौन्तेयं गदया भीमवेगया ।

तत्पश्चात् राजा दुर्योधनने अपने मनमें दृढ़ निश्चय लेकर बायें मण्डलसे चक्कर लगाते हुए अपनी भयंकर वेगशाली गदासे कुन्तीकुमार भीमसेनके मस्तकपर प्रहार किया ॥४३½॥

तया त्वभिहतो भीमः पुत्रेण तव पाण्डवः ॥ ४४ ॥
नाकम्पत महाराज तदद्भुतमिवाभवत् ।

महाराज ! आपके पुत्रके आघातसे पीड़ित होनेपर भी पाण्डुपुत्र भीमसेन विचलित नहीं हुए । वह अद्भुत-सी बात हुई ॥ ४४½ ॥

आश्चर्यं चापि तद् राजन् सर्वसैन्यान्यपूजयन् ॥ ४५ ॥
यद् गदाभिहतो भीमो नाकम्पत पदात् पदम् ।

राजन् ! गदाकी चोट खाकर भी जो भीमसेन एक पग भी इधर-उधर नहीं हुए, वह महान् आश्चर्यकी बात थी, जिसकी सभी सैनिकोंने भूरि-भूरि प्रशंसा की ॥ ४५½ ॥

ततो गुरुतरां दीप्तां गदां हेमपरिष्कृताम् ॥ ४६ ॥
दुर्योधनाय व्यसृजद् भीमो भीमपराक्रमः ।

तदनन्तर भयंकर पराक्रमी भीमसेनने दुर्योधनपर अपनी सुवर्णजटित तेजस्विनी एवं बड़ी भारी गदा छोड़ी ॥ ४६½ ॥

तं प्रहारमसम्भ्रान्तो लाघवेन महाबलः ॥ ४७ ॥
मोघं दुर्योधनश्चक्रे तत्राभूद् विस्मयो महान् ।

परंतु महाबली दुर्योधनको इससे तनिक भी घबराहट नहीं हुई । उसने फुर्तीसे इधर-उधर होकर उस प्रहारको व्यर्थ कर दिया । यह देख वहाँ सब लोगोंको महान् आश्चर्य हुआ॥

सा तु मोघा गदा राजन् पतन्ती भीमचोदिता ॥ ४८ ॥
चालयामास पृथिवीं महानिर्घातनिःस्वना ।

राजन् ! भीमसेनकी चलायी हुई वह गदा जब व्यर्थ होकर गिरने लगी, उस समय उसने वज्रपातके समान महान् शब्द प्रकट करके पृथ्वीको हिला दिया ॥ ४८½ ॥

आस्थाय कौशिकान् मार्गानुत्पतन् स पुनः पुनः॥ ४९ ॥
गदानिपातं प्रज्ञाय भीमसेनं च वञ्चितम् ।
वञ्चयित्वा तदा भीमं गदया कुरुसत्तमः ॥ ५० ॥
ताडयामास संक्रुद्धो वक्षोदेशे महाबलः ।

जब राजा दुर्योधनने देखा कि भीमसेनकी गदा नीचे गिर गयी और उनका वार खाली गया, तब क्रोधमें भरे हुए महाबली कुरुश्रेष्ठ दुर्योधनने कौशिक मार्गोंका आश्रय ले बारबार उछलकर भीमसेनको धोखा देकर उनकी छातीमें गदा मारी ॥ ४९-५०½ ॥

गदया निहतो भीमो मुह्यमानो महारणे ॥ ५१ ॥
नाभ्यमन्यत कर्तव्यं पुत्रेणाभ्याहतस्तव ।

उस महासमरमें आपके पुत्रकी गदाकी चोट खाकर भीमसेन मूर्च्छितसे हो गये और एक क्षणतक उन्हें अपने कर्तव्यका भानतक न रहा ॥ ५१½ ॥

तस्मिंस्तथा वर्तमाने राजन् सोमकपाण्डवाः ॥ ५२ ॥
भृशोपहतसंकल्पा न हृष्टमनसोऽभवन् ।

राजन् ! जब भीमसेनकी ऐसी अवस्था हो गयी, उस समय सोमक और पाण्डव बहुत ही खिन्न और उदास हो गये । उनकी विजयकी आशा नष्ट हो गयी ॥ ५२½ ॥

स तु तेन प्रहारेण मातङ्ग इव रोषितः ॥ ५३ ॥
हस्तिवद्धस्तिसंकाशमभिदुद्राव ते सुतम् ।

उस प्रहारसे भीमसेन मतवाले हाथीकी भाँति कुपित हो उठे और जैसे एक गजराज दूसरे गजराजपर धावा करता है, उसी प्रकार उन्होंने आपके पुत्रपर आक्रमण किया ॥ ५३½ ॥

ततस्तु तरसा भीमो गदया तनयं तव ॥ ५४ ॥
अभिदुद्राव वेगेन सिंहो वनगजं यथा ।

जैसे सिंह जंगली हाथीपर झपटता है, उसी प्रकार भीमसेन गदा लेकर बड़े वेगसे आपके पुत्रकी ओर दौड़े ॥ ५४½ ॥

उपसृत्य तु राजानं गदामोक्षविशारदः ॥ ५५ ॥
आविध्यत गदां राजन् समुद्दिश्य सुतं तव ।
अताडयद् भीमसेनः पार्श्वे दुर्योधनं तदा ॥ ५६ ॥

राजन् ! गदाका प्रहार करनेमें कुशल भीमसेनने आपके पुत्र राजा दुर्योधनके निकट पहुँचकर गदा घुमायी और उसे मार डालनेके उद्देश्यसे उसकी पसलीमें आघात किया ॥

स विह्वलः प्रहारेण जानुभ्यामगमन्महीम् ।
तस्मिन् कुरुकुलश्रेष्ठे जानुभ्यामवनीं गते ॥ ५७ ॥
उदतिष्ठत् ततो नादः सृंजयानां जगत्पते ।

राजन् ! उस प्रहारसे व्याकुल हो आपका पुत्र पृथ्वीपर घुटने टेककर बैठ गया । उस कुरुकुलके श्रेष्ठ वीर दुर्योधनके घुटने टेक देनेपर सृंजयोंने बड़े जोरसे हर्षध्वनि की ॥ ५७½ ॥

तेषां तु निनदं श्रुत्वा सृंजयानां नरर्षभः ॥ ५८ ॥
अमर्षाद् भरतश्रेष्ठ पुत्रस्ते समकुप्यत ।
उत्थाय तु महाबाहुर्महानाग इव श्वसन् ॥ ५९ ॥
दिधक्षन्निव नेत्राभ्यां भीमसेनमवैक्षत ।

भरतश्रेष्ठ ! उन सृंजयोंका वह सिंहनाद सुनकर पुरुषप्रवर आपका महाबाहु पुत्र दुर्योधन अमर्षसे कुपित हो उठा और खड़ा होकर महान् सर्पके समान फुंकार करने लगा । उसने दोनों आँखोंसे भीमसेनकी ओर इस प्रकार देखा, मानो उन्हें भस्म कर डालना चाहता हो ॥ ५८-५९½ ॥

ततः स भरतश्रेष्ठो गदापाणिरभिद्रवन् ॥ ६० ॥
प्रमथिष्यन्निव शिरो भीमसेनस्य संयुगे ।

भरतवंशका वह श्रेष्ठ वीर हाथमें गदा लेकर युद्धस्थलमें भीमसेनका मस्तक कुचल डालनेके लिये उनकी ओर दौड़ा ॥

स महात्मा महात्मानं भीमं भीमपराक्रमः ॥ ६१ ॥
अताडयच्छङ्खदेशे न चचालाचलोपमः ।

पास पहुँचकर उस भयंकर पराक्रमी महामनस्वी वीरने महामना भीमसेनके ललाटपर गदासे आघात किया, परंतु भीमसेन पर्वतके समान अविचलभावसे खड़े रह गये, तनिक भी विचलित नहीं हुए ॥ ६१½ ॥

स भूयः शुशुभे पार्थस्ताडितो गदया रणे ।
उद्भिन्नरुधिरो राजन् प्रभिन्न इव कुञ्जरः ॥ ६२ ॥

राजन् ! रणभूमिमें उस गदाकी चोट खाकर भीमसेनके मस्तकसे रक्तकी धारा बह चली और वे मदकी धारा बहानेवाले गजराजके समान अधिक शोभा पाने लगे ॥ ६२ ॥

ततो गदां वीरहणीमयोमयीं
प्रगृह्य वज्राशनितुल्यनिःस्वनाम् ।
अताडयच्छत्रुममित्रकर्षणो
बलेन विक्रम्य धनंजयाग्रजः ॥ ६३ ॥

तदनन्तर अर्जुनके बड़े भाई शत्रुसूदन भीमसेनने बलपूर्वक पराक्रम प्रकट करके वज्र और अशनिके तुल्य महान् शब्द करनेवाली वीरविनाशिनी लोहमयी गदा हाथमें लेकर उसके द्वारा अपने शत्रुपर प्रहार किया ॥ ६३ ॥

स भीमसेनाभिहतस्तवात्मजः
पपात संकम्पितदेहबन्धनः ।
सुपुष्पितो मारुतवेगताडितो
वने यथा शाल इवावघूर्णितः ॥ ६४ ॥

भीमसेनके उस प्रहारसे आहत होकर आपके पुत्रके शरीरकी नस-नस ढीली हो गयी और वह वायुके वेगसे प्रताड़ित हो झोंके खानेवाले विकसित शालवृक्षकी भाँति काँपता हुआ पृथ्वीपर गिर पड़ा ॥ ६४ ॥

ततः प्रणेदुर्जहृषुश्च पाण्डवाः
समीक्ष्य पुत्रं पतितं क्षितौ तव ।
ततः सुतस्ते प्रतिलभ्य चेतनां
समुत्पपात द्विरदो यथा ह्रदात् ॥ ६५ ॥

आपके पुत्रको पृथ्वीपर पड़ा देख पाण्डव हर्षमें भरकर सिंहनाद करने लगे । इतनेहीमें आपका पुत्र होशमें आ गया और सरोवरसे निकले हुए हाथीके समान उछलकर खड़ा हो गया ॥ ६५ ॥

स पार्थिवो नित्यममर्षितस्तदा
महारथः शिक्षितवत् परिभ्रमन् ।
अताडयत् पाण्डवमग्रतः स्थितं
स विह्वलाङ्गो जगतीमुपास्पृशत् ॥ ६६ ॥

सदा अमर्षमें भरे रहनेवाले महारथी राजा दुर्योधनने एक शिक्षित योद्धाकी भाँति विचरते हुए अपने सामने खड़े भीमसेनपर पुनः गदाका प्रहार किया । उसकी चोट खाकर भीमसेनका सारा शरीर शिथिल हो गया और उन्होंने धरती थाम ली ॥

स सिंहनादं विननाद कौरवो
निपात्य भूमौ युधि भीममोजसा ।
बिभेद चैवाशनितुल्यमोजसा
गदानिपातेन शरीररक्षणम् ॥ ६७ ॥

भीमसेनको युद्धस्थलमें बलपूर्वक भूमिपर गिराकर कुरुराज दुर्योधन सिंहके समान दहाड़ने लगा । उसने सारी शक्ति

लगाकर चलायी हुई गदाके आघातसे भीमसेनके वज्रतुल्य कवचका भेदन कर दिया था ॥ ६७ ॥

ततोऽन्तरिक्षे निनदो महानभूद्
दिवौकसामप्सरसां च नेदुषाम् ।
पपात चोच्चैरमरप्रवेरितं
विचित्रपुष्पोत्करवर्षमुत्तमम् ॥ ६८ ॥

उस समय आकाशमें हर्षध्वनि करनेवाले देवताओं और अप्सराओंका महान् कोलाहल गूँज उठा। साथ ही देवताओं-द्वारा बहुत ऊँचेसे की हुई विचित्र पुष्पसमूहोंकी वहाँ अच्छी वर्षा होने लगी ॥ ६८ ॥

ततः परानाविशदुत्तमं भयं
समीक्ष्य भूमौ पतितं नरोत्तमम् ।
अहीयमानं च बलेन कौरवं
निशाम्य भेदं सुदृढस्य वर्मणः ॥ ६९ ॥

राजन् ! तदनन्तर यह देखकर कि भीमसेनका सुदृढ़ कवच छिन्न-भिन्न हो गया, नरश्रेष्ठ भीम धराशायी हो गये और कुरुराज दुर्योधनका बल क्षीण नहीं हो रहा है, शत्रुओंके मनमें बड़ा भारी भय समा गया ॥ ६९ ॥

ततो मुहूर्तादुपलभ्य चेतनां
प्रमृज्य वक्त्रं रुधिराक्तमात्मनः ।
धृतिं समालम्ब्य विवृत्य लोचने
बलेन संस्तभ्य वृकोदरः स्थितः ॥ ७० ॥

तत्पश्चात् दो घड़ीमें सचेत हो भीमसेन खूनसे भीगे हुए अपने मुँहको पोंछते हुए उठे और बलपूर्वक अपनेको सँभालकर धैर्यका आश्रय ले आँख खोलकर देखते हुए पुनः युद्धके लिये खड़े हो गये ॥ ७० ॥

(ततो यमौ यमसदृशौ पराक्रमे
सपार्षतः शिनितनयश्च वीर्यवान् ।
समाह्वयन्नहमित्यभित्वरं-
स्तवात्मजं समभिययुर्जयैषिणः ॥

उस समय यमराजके सदृश पराक्रमी नकुल और सहदेव, धृष्टद्युम्न तथा पराक्रमी शिनिपौत्र सात्यकि—ये सब-के-सब विजयके अभिलाषी हो 'मैं लडूँगा, मैं लडूँगा' ऐसा कहकर बड़ी उतावलीके साथ आपके पुत्रको ललकारने और उसपर आक्रमण करने लगे ॥

निगृह्य तान् पुनरपि पाण्डवो बली
तवात्मजं स्वयमभिगम्य कालवत् ।
चचार च व्यपगतखेदवेपथुः
सुरेश्वरो नमुचिमिवोत्तमं रणे ॥)

परंतु बलवान् पाण्डुपुत्र भीमने उन सबको रोककर स्वयं ही आपके पुत्रपर पुनः कालके समान आक्रमण किया और खेद एवं कम्पसे रहित होकर वे रणभूमिमें उसी प्रकार विचरने लगे, जैसे देवराज इन्द्र श्रेष्ठ दैत्य नमुचिपर आक्रमण करके युद्धस्थलमें विचरण करते थे ॥

इति श्रीमहाभारते शल्यपर्वणि गदापर्वणि गदायुद्धे सप्तपञ्चाशत्तमोऽध्यायः ॥ ५७ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शल्यपर्वके अन्तर्गत गदापर्वमें गदायुद्धविषयक सत्तावनवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ५७ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठके २ श्लोक मिलाकर कुल ७२ श्लोक हैं)

अष्टपञ्चाशत्तमोऽध्यायः

श्रीकृष्ण और अर्जुनकी बातचीत तथा अर्जुनके संकेतके अनुसार भीमसेनका गदासे दुर्योधनकी जाँघें तोड़कर उसे धराशायी करना एवं भीषण उत्पातोंका प्रकट होना

संजय उवाच

समुदीर्णं ततो दृष्ट्वा संग्रामं कुरुमुख्ययोः ।
अथाब्रवीदर्जुनस्तु वासुदेवं यशस्विनम् ॥ १ ॥

संजय कहते हैं—राजन् ! कुरुकुलके उन दोनों प्रमुख वीरोंके उस संग्रामको उत्तरोत्तर बढ़ता देख अर्जुनने यशस्वी भगवान् श्रीकृष्णसे पूछा—॥ १ ॥

अनयोर्वीरयोर्युद्धे को ज्यायान् भवतो मतः ।
कस्य वा को गुणो भूयानेतद् वद जनार्दन ॥ २ ॥

'जनार्दन ! आपकी रायमें इन दोनों वीरोंमेंसे इस युद्धस्थलमें कौन बड़ा है अथवा किसमें कौन-सा गुण अधिक है ? यह मुझे बताइये' ॥ २ ॥

वासुदेव उवाच

उपदेशोऽनयोस्तुल्यो भीमस्तु बलवत्तरः ।
कृती यत्नपरस्त्वेष धार्तराष्ट्रो वृकोदरात् ॥ ३ ॥

भगवान् श्रीकृष्ण बोले—अर्जुन ! इन दोनोंको शिक्षा तो एक-सी मिली है; परंतु भीमसेन बलमें अधिक हैं और यह दुर्योधन उनकी अपेक्षा अभ्यास और प्रयत्नमें बढ़ा-चढ़ा है ॥ ३ ॥

भीमसेनस्तु धर्मेण युद्ध्यमानो न जेष्यति ।
अन्यायेन तु युध्यन् वै हन्यादेव सुयोधनम् ॥ ४ ॥

यदि भीमसेन धर्मपूर्वक युद्ध करते रहे तो कदापि नहीं जीतेंगे और अन्यायपूर्वक युद्ध करनेपर निश्चय ही दुर्योधनका वध कर डालेंगे ॥ ४ ॥

मायया निर्जिता देवैरसुरा इति नः श्रुतम् ।
विरोचनस्तु शक्रेण मायया निर्जितः स वै ॥ ५ ॥

हमने सुना है कि देवताओंने पूर्वकालमें मायासे ही असुरोंपर विजय पायी थी और इन्द्रने मायासे ही विरोचनको परास्त किया था ॥ ५ ॥

मायया चाक्षिपत् तेजो वृत्रस्य बलसूदनः ।
तस्मान्मायामयं भीम आतिष्ठतु पराक्रमम् ॥ ६ ॥

बलसूदन इन्द्रने मायासे वृत्रासुरके तेजको नष्ट कर दिया था, इसलिये भीमसेन भी यहाँ मायामय पराक्रमका ही आश्रय लें ॥ ६ ॥

प्रतिज्ञातं तु भीमेन द्यूतकाले धनंजय।
ऊरू भेत्स्यामि ते संख्ये गदयेति सुयोधनम् ॥ ७ ॥

धनंजय ! जूएके समय भीमने प्रतिज्ञा करते हुए दुर्योधनसे यह कहा था कि 'मैं युद्धमें गदा मारकर तेरी दोनों जाँघें तोड़ डालूँगा' ॥ ७ ॥

सोऽयं प्रतिज्ञां तां चापि पालयत्वरिकर्षणः।
मायाविनं तु राजानं माययैव निकृन्ततु ॥ ८ ॥

अतः शत्रुसूदन भीमसेन अपनी उस प्रतिज्ञाका पालन करें और मायावी राजा दुर्योधनको मायासे ही नष्ट कर डालें॥

यद्येष बलमास्थाय न्यायेन प्रहरिष्यति।
विषमस्थस्ततो राजा भविष्यति युधिष्ठिरः ॥ ९ ॥

यदि ये बलका सहारा लेकर न्यायपूर्वक प्रहार करेंगे, तब राजा युधिष्ठिर पुनः बड़ी विषम परिस्थितिमें पड़ जायँगे ॥

पुनरेव तु वक्ष्यामि पाण्डवेय निबोध मे।
धर्मराजापराधेन भयं नः पुनरागतम् ॥ १० ॥

पाण्डुनन्दन ! मैं पुनः यह बात कहे देता हूँ, तुम उसे ध्यान देकर सुनो। धर्मराजके अपराधसे हमलोगोंपर फिर भय आ पहुँचा है ॥ १० ॥

कृत्वा हि सुमहत् कर्म हत्वा भीष्ममुखान् कुरून्।
जयः प्राप्तो यशः प्राग्र्यं वैरं च प्रतियातितम् ॥ ११ ॥
तदेवं विजयः प्राप्तः पुनः संशयितः कृतः।

महान् प्रयास करके भीष्म आदि कौरवोंको मारकर विजय एवं श्रेष्ठ यशकी प्राप्ति की गयी और वैरका पूरा-पूरा बदला चुकाया गया था। इस प्रकार जो विजय प्राप्त हुई थी, उसे उन्होंने फिर संशयमें डाल दिया है ॥ ११½ ॥

अबुद्धिरेषा महती धर्मराजस्य पाण्डव ॥ १२ ॥
यदेकविजये युद्धं पणितं घोरमीदृशम्।

पाण्डुनन्दन ! एककी ही हार-जीतसे सबकी हार-जीतकी शर्त लगाकर जो इन्होंने इस भयंकर युद्धको जूएका दाँव बना डाला, यह धर्मराजकी बड़ी भारी नासमझी है॥ १२½ ॥

सुयोधनः कृती वीर एकायनगतस्तथा ॥ १३ ॥
अपि चोशनसा गीतः श्रूयतेऽयं पुरातनः।
श्लोकस्तत्त्वार्थसहितस्तन्मे निगदतः शृणु ॥ १४ ॥

दुर्योधन युद्धकी कला जानता है, वीर है और एक निश्चयपर डटा हुआ है। इस विषयमें शुक्राचार्यका कहा हुआ यह एक प्राचीन श्लोक सुननेमें आता है, जो नीति-शास्त्रके तात्त्विक अर्थसे भरा हुआ है, उसे सुना रहा हूँ, मेरे कहनेसे वह श्लोक सुनो ॥ १३-१४ ॥

पुनरावर्तमानानां भग्नानां जीवितैषिणाम्।
भेतव्यमरिशेषाणामेकायनगता हिते ॥ १५ ॥

मरनेसे बचे हुए शत्रुगण यदि युद्धमें जान बचानेकी इच्छासे भाग गये हों और पुनः युद्धके लिये लौटने लगे हों तो उनसे डरते रहना चाहिये; क्योंकि वे एक निश्चयपर पहुँचे हुए होते हैं (उस समय वे मृत्युसे भी नहीं डरते हैं)॥

साहसोत्पतितानां च निराशानां च जीविते।
न शक्यमग्रतः स्थातुं शक्रेणापि धनंजय ॥ १६ ॥

धनंजय ! जो जीवनकी आशा छोड़कर साहसपूर्वक युद्धमें कूद पड़े हों, उनके सामने इन्द्र भी नहीं ठहर सकते॥

सुयोधनमिमं भग्नं हतसैन्यं ह्रदं गतम्।
पराजितं वनप्रेप्सुं निराशं राज्यलम्भने ॥ १७ ॥
को न्वेष संयुगे प्राज्ञः पुनर्द्वन्द्वे समाह्वयेत्।

इस दुर्योधनकी सेना मारी गयी थी। यह परास्त हो गया था और अब राज्य पानेसे निराश हो वनमें चला जाना चाहता था; इसीलिये भागकर पोखरेमें छिपा था, ऐसे हताश शत्रुको कौन बुद्धिमान् पुरुष समराङ्गणमें द्वन्द्व-युद्धके लिये आमन्त्रित करेगा ? ॥ १७½ ॥

अपि नो निर्जितं राज्यं न हरेत सुयोधनः ॥ १८ ॥
यस्त्रयोदशवर्षाणि गदया कृतनिश्रमः।
चरत्यूर्ध्वं च तिर्यक् च भीमसेनजिघांसया ॥ १९ ॥

कहीं ऐसा न हो कि हमारे जीते हुए राज्यको दुर्योधन फिर हड़प ले। उसने तेरह वर्षोंतक गदाद्वारा युद्ध करनेका निरन्तर श्रम एवं अभ्यास किया है। देखो, यह भीमसेनके वधकी इच्छासे इधर-उधर और ऊपरकी ओर विचर रहा है॥

एनं चेन्न महाबाहुरन्यायेन हनिष्यति।
एष वः कौरवो राजा धार्तराष्ट्रो भविष्यति ॥ २० ॥

यदि महाबाहु भीमसेन इसे अन्यायपूर्वक नहीं मारेंगे तो यह धृतराष्ट्रका पुत्र दुर्योधन ही आपका तथा समस्त कुरुकुल-का राजा होगा ॥ २० ॥

धनंजयस्तु श्रुत्वैतत् केशवस्य महात्मनः।
प्रेक्षतो भीमसेनस्य सव्यमूरुमताडयत् ॥ २१ ॥

महात्मा भगवान् केशवका यह वचन सुनकर अर्जुनने भीमसेनके देखते हुए अपनी बायीं जाँघको ठोंका ॥ २१ ॥

गृह्य संज्ञां ततो भीमो गदया व्यचरद् रणे।
मण्डलानि विचित्राणि यमकानीतराणि च ॥ २२ ॥

इससे संकेत पाकर भीमसेन रणभूमिमें गदाद्वारा यमक तथा अन्य प्रकारके विचित्र मण्डल दिखाते हुए विचरने लगे॥

दक्षिणं मण्डलं सव्यं गोमूत्रकमथापि च।
व्यचरत् पाण्डवो राजन्नरिं सम्मोहयन्निव ॥ २३ ॥

राजन् ! पाण्डुपुत्र भीमसेन आपके शत्रुको मोहित करते हुए-से दक्षिण, वाम और गोमूत्रक मण्डलसे विचरने लगे ॥

तथैव तव पुत्रोऽपि गदामार्गविशारदः।
व्यचरल्लघु चित्रं च भीमसेनजिघांसया ॥ २४ ॥

इसी प्रकार गदायुद्धकी प्रणालीका विशेषज्ञ आपका पुत्र भी भीमसेनके वधकी इच्छासे शीघ्रतापूर्वक विचित्र पैंतरे देता हुआ विचरने लगा ॥ २४ ॥

आधुन्वन्तौ गदे घोरे चन्दनागरुरूषिते।
वैरस्यान्तं परीप्सन्तौ रणे क्रुद्धाविवान्तकौ ॥ २५ ॥

वैरका अन्त करनेकी इच्छावाले वे दोनों वीर रणभूमिमें चन्दन और अगुरुसे चर्चित भयंकर गदाएँ घुमाते हुए कुपित कालके समान प्रतीत होते थे ॥ २५ ॥

अन्योन्यं तौ जिघांसन्तौ प्रवीरौ पुरुषर्षभौ।
युयुधाते गरुत्मन्तौ यथा नागामिषैषिणौ ॥ २६ ॥

जैसे दो गरुड़ किसी सर्पके मांसको पानेकी इच्छासे परस्पर लड़ रहे हों, उसी प्रकार एक दूसरेके वधकी इच्छावाले वे दोनों पुरुषप्रवर प्रमुख वीर भीमसेन और दुर्योधन आपसमें जूझ रहे थे ॥ २६ ॥

मण्डलानि विचित्राणि चरतोर्नृपभीमयोः।
गदासम्पातजास्तत्र प्रजज्ञुः पावकार्चिषः ॥ २७ ॥

विचित्र मण्डलों (पैंतरों) से विचरते हुए राजा दुर्योधन और भीमसेनकी गदाओंके टकरानेसे वहाँ आगकी लपटें प्रकट होने लगीं ॥ २७ ॥

समं प्रहरतोस्तत्र शूरयोर्बलिनोर्मृधे।
क्षुब्धयोर्वायुना राजन् द्वयोरिव समुद्रयोः ॥ २८ ॥
तयोः प्रहरतोस्तुल्यं मत्तकुञ्जरयोरिव।
गदानिर्घातसंह्रादः प्रहाराणामजायत ॥ २९ ॥

राजन्! जैसे वायुसे विक्षुब्ध हुए दो समुद्र एक दूसरेसे टकरा रहे हों अथवा दो मतवाले हाथी परस्पर चोट कर रहे हों, उसी प्रकार वहाँ एक दूसरेपर समान रूपसे प्रहार करनेवाले दोनों बलवान् वीरोंके परस्पर चोट करनेपर गदाओंके टकरानेकी आवाज वज्रकी कड़कके समान प्रकट होती थी॥

तस्मिंस्तदा सम्प्रहारे दारुणे संकुले भृशम्।
उभावपि परिश्रान्तौ युध्यमानावरिंदमौ ॥ ३० ॥

उस समय उस अत्यन्त भयंकर घमासान युद्धमें शत्रुओंका दमन करनेवाले वे दोनों वीर परस्पर युद्ध करते हुए बहुत थक गये ॥ ३० ॥

तौ मुहूर्तं समाश्वस्य पुनरेव परंतप।
अभ्यहारयतां क्रुद्धौ प्रगृह्य महती गदे ॥ ३१ ॥

शत्रुओंको संताप देनेवाले नरेश! तब दोनों दो घड़ीतक विश्राम करके पुनः विशाल गदाएँ हाथमें लेकर क्रोधपूर्वक एक दूसरेपर प्रहार करने लगे ॥ ३१ ॥

तयोः समभवद् युद्धं घोररूपमसंवृतम्।
गदानिपातै राजेन्द्र तक्षतोर्वै परस्परम् ॥ ३२ ॥

राजेन्द्र! गदाकी चोटसे एक दूसरेको घायल करते हुए उन दोनोंमें खुले तौरपर घोर युद्ध हो रहा था ॥ ३२ ॥

समरे प्रद्रुतौ तौ तु वृषभाक्षौ तरस्विनौ।
अन्योन्यं जघ्नतुर्वीरौ पङ्कस्थौ महिषाविव ॥ ३३ ॥

बैलके समान विशाल नेत्रोंवाले वे दोनों वेगशाली वीर समराङ्गणमें परस्पर धावा करके कीचड़में खड़े हुए दो भैंसोंके समान एक दूसरेपर चोट करते थे ॥ ३३ ॥

जर्जरीकृतसर्वाङ्गौ रुधिरेणाभिसम्प्लुतौ।
ददृशाते हिमवति पुष्पिताविव किंशुकौ ॥ ३४ ॥

उन दोनोंके सारे अङ्ग गदाके प्रहारसे जर्जर हो गये थे और दोनों ही खूनसे लथपथ हो गये थे। उस दशामें वे हिमालयपर खिले हुए दो पलाश वृक्षोंके समान दिखायी देते थे ॥ ३४ ॥

दुर्योधनस्तु पार्थेन विवरे सम्प्रदर्शिते।
ईषदुन्मिषमाणस्तु सहसा प्रससार ह ॥ ३५ ॥

जब अर्जुनने छिद्रकी ओर संकेत किया, तब कनखियोंसे उसे देखकर दुर्योधन सहसा भीमसेनकी ओर बढ़ा ॥ ३५ ॥

तमभ्याशगतं प्राज्ञो रणे प्रेक्ष्य वृकोदरः।
अवाक्षिपद् गदां तस्मिन् वेगेन महता बली ॥ ३६ ॥

रणभूमिमें उसे निकट आया देख बुद्धिमान् एवं बलवान् भीमने उसपर बड़े वेगसे गदा चलायी ॥ ३६ ॥

आक्षिपन्तं तु तं दृष्ट्वा पुत्रस्तव विशाम्पते।
अवासर्पत्ततः स्थानात् सा मोघा न्यपतद् भुवि ॥ ३७ ॥

प्रजानाथ! उन्हें गदा चलाते देख आपका पुत्र सहसा उस स्थानसे हट गया और वह गदा व्यर्थ होकर पृथ्वीपर गिर पड़ी ॥ ३७ ॥

मोक्षयित्वा प्रहारं तं सुतस्तव सुसम्भ्रमात्।
भीमसेनं च गदया प्राहरत् कुरुसत्तम ॥ ३८ ॥

कुरुश्रेष्ठ! उस प्रहारसे अपनेको बचाकर आपके पुत्रने भीमसेनपर बड़े वेगसे गदाद्वारा आघात किया ॥ ३८ ॥

तस्य विस्यन्दमानेन रुधिरेणामितौजसः।
प्रहारगुरुपाताच्च मूर्छेव समजायत ॥ ३९ ॥

उसकी चोटसे अमिततेजस्वी भीमके शरीरसे रक्तकी धारा बह चली। साथ ही उस प्रहारके गहरे आघातसे उन्हें मूर्छा-सी आ गयी ॥ ३९ ॥

दुर्योधनो न तं वेद पीडितं पाण्डवं रणे।
धारयामास भीमोऽपि शरीरमतिपीडितम् ॥ ४० ॥

उस समय दुर्योधन यह न जान सका कि रणभूमिमें पाण्डुपुत्र भीमसेन अधिक पीड़ित हो गये हैं। यद्यपि उनके शरीरमें अत्यन्त वेदना हो रही थी तो भी भीमसेन उसे सँभाले रहे ॥ ४० ॥

अमन्यत स्थितं ह्येनं प्रहरिष्यन्तमाहवे।
अतो न प्राहरत् तस्मै पुनरेव तवात्मजः ॥ ४१ ॥

उसने यही समझा कि रणक्षेत्रमें भीमसेन अब मुझपर प्रहार करनेके लिये खड़े हैं; अतः बचनेकी ही चेष्टामें संलग्न होकर आपके पुत्रने पुनः उनपर प्रहार नहीं किया ॥ ४१ ॥

ततो मुहूर्तमाश्वस्य दुर्योधनमुपस्थितम्।
वेगेनाभ्यपतद् राजन् भीमसेनः प्रतापवान् ॥ ४२ ॥

राजन्! तदनन्तर दो घड़ी सुस्ताकर प्रतापी भीमसेनने निकट आये हुए दुर्योधनपर बड़े वेगसे आक्रमण किया॥४२॥

तमापतन्तं सम्प्रेक्ष्य संरब्धममितौजसम्।
मोघमस्य प्रहारं तं चिकीर्षुर्भरतर्षभ ॥ ४३ ॥

भरतश्रेष्ठ! अमिततेजस्वी भीमको रोषपूर्वक धावा करते देख आपके पुत्रने उनके उस प्रहारको व्यर्थ कर देनेकी इच्छा की ॥ ४३ ॥

अवस्थाने मतिं कृत्वा पुत्रस्तव महामनाः।
इयेषोत्पतितुं राजञ्छलयिष्यन् वृकोदरम् ॥ ४४ ॥

राजन्! भीमसेनको छलनेके लिये आपके महामनस्वी

पुत्रने पहले वहीं स्थिरतापूर्वक खड़े रहनेका विचार करके फिर उछलकर दूर हट जानेकी इच्छा की ॥ ४४ ॥

अबुद्ध्यद् भीमसेनस्तु राज्ञस्तस्य चिकीर्षितम् ।
अथास्य समभिद्रुत्य समुत्क्रुश्य च सिंहवत् ॥ ४५ ॥
सृत्या वञ्चयतो राजन् पुनरेवोत्पतिष्यतः ।
ऊरुभ्यां प्राहिणोद् राजन् गदां वेगेन पाण्डवः ॥ ४६ ॥

भीमसेन समझ गये कि राजा दुर्योधन क्या करना चाहता है। अतः पैंतरेसे छलने और ऊपर उछलनेकी इच्छा-वाले दुर्योधनके ऊपर आक्रमण करके भीमसेनने सिंहके समान गर्जना की और उसकी जाँघोंपर बड़े वेगसे गदा चलायी ॥

सा वज्रनिष्पेषसमा प्रहिता भीमकर्मणा ।
ऊरू दुर्योधनस्याथ बभञ्ज प्रियदर्शनौ ॥ ४७ ॥

भयंकर कर्म करनेवाले भीमसेनके द्वारा चलायी हुई वह गदा वज्रपातके समान गिरी और दुर्योधनकी सुन्दर दिखायी देनेवाली जाँघोंको उसने तोड़ दिया ॥ ४७ ॥

स पपात नरव्याघ्रो वसुधामनुनादयन् ।
भग्नोरुर्भीमसेनेन पुत्रस्तव महीपते ॥ ४८ ॥

पृथ्वीनाथ ! इस प्रकार जब भीमसेनने उसकी जाँघें तोड़ डालीं, तब आपका पुत्र पुरुषसिंह दुर्योधन पृथ्वीको प्रतिध्वनित करता हुआ गिर पड़ा ॥ ४८ ॥

ववुर्वाताः सनिर्घाताः पांसुवर्षं पपात च ।
चचाल पृथिवी चापि सवृक्षक्षुपपर्वता ॥ ४९ ॥
तस्मिन् निपतिते वीरे पत्यौ सर्वमहीक्षिताम् ।

फिर तो समस्त भूपालोंके स्वामी वीर राजा दुर्योधनके धराशायी होनेपर वहाँ बिजलीकी गड़गड़ाहटके साथ प्रचण्ड हवा चलने लगी, धूलिकी वर्षा होने लगी और वृक्षों, वनों एवं पर्वतोंसहित सारी पृथ्वी काँपने लगी ॥ ४९½ ॥

महास्वना पुनर्दीप्ता सनिर्घाता भयंकरी ॥ ५० ॥
पपात चोल्का महती पतिते पृथिवीपतौ ।

पृथ्वीपति दुर्योधनके गिर जानेपर आकाशसे पुनः महान् शब्द और बिजलीकी कड़कके साथ प्रज्वलित, भयंकर एवं विशाल उल्का भूमिपर गिरी ॥ ५०½ ॥

तथा शोणितवर्षं च पांसुवर्षं च भारत ॥ ५१ ॥
ववर्ष मघवांस्तत्र तव पुत्रे निपातिते ।

भरतनन्दन ! आपके पुत्रके धराशायी हो जानेपर इन्द्रने वहाँ रक्त और धूलिकी वर्षा की ॥ ५१½ ॥

यक्षाणां राक्षसानां च पिशाचानां तथैव च ॥ ५२ ॥
अन्तरिक्षे महानादः श्रूयते भरतर्षभ ।

भरतश्रेष्ठ ! उस समय आकाशमें यक्षों, राक्षसों तथा पिशाचोंका महान् कोलाहल सुनायी देने लगा ॥ ५२½ ॥

तेन शब्देन घोरेण मृगाणामथ पक्षिणाम् ॥ ५३ ॥
जज्ञे घोरतरः शब्दो बहूनां सर्वतोदिशम् ।

उस घोर शब्दके साथ बहुत-से पशुओं और पक्षियोंकी भयानक आवाज भी सम्पूर्ण दिशाओंमें गूँज उठी ॥ ५३½ ॥

ये तत्र वाजिनः शेषा गजाश्च मनुजैः सह ॥ ५४ ॥
मुमुचुस्ते महानादं तव पुत्रे निपातिते ।

वहाँ जो घोड़े, हाथी और मनुष्य शेष रह गये थे, वे सभी आपके पुत्रके मारे जानेपर महान् कोलाहल करने लगे ॥

भेरीशङ्खमृदङ्गानामभवच्च स्वनो महान् ॥ ५५ ॥
अन्तर्भूमिगतश्चैव तव पुत्रे निपातिते ।

राजन् ! जब आपका पुत्र मार गिराया गया, उस समय इस भूतलपर भेरी, शङ्खों और मृदङ्गोंका गम्भीर घोष होने लगा ॥ ५५½ ॥

बहुपादैर्बहुभुजैः कबन्धैर्घोरदर्शनैः ॥ ५६ ॥
नृत्यद्भिर्भयदैर्व्याप्ता दिशस्तत्राभवन् नृप ।

नरेश्वर ! वहाँ सम्पूर्ण दिशाओंमें नाचते हुए अनेक पैर और अनेक बाँहवाले घोर एवं भयंकर कबन्ध व्याप्त हो रहे थे ॥ ५६½ ॥

ध्वजवन्तोऽस्त्रवन्तश्च शस्त्रवन्तस्तथैव च ॥ ५७ ॥
प्राकम्पन्त ततो राजंस्तव पुत्रे निपातिते ।

राजन् ! आपके पुत्रके धराशायी हो जानेपर वहाँ अस्त्र-शस्त्र और ध्वजावाले सभी वीर काँपने लगे ॥ ५७½ ॥

ह्रदाः कूपाश्च रुधिरमुद्वेमुर्नृपसत्तम ॥ ५८ ॥
नद्यश्च सुमहावेगाः प्रतिस्रोतोवहाभवन् ।

नृपश्रेष्ठ ! तालाबों और कूपोंमें रक्तका उफान आने लगा और महान् वेगशालिनी नदियाँ उल्टी अपने उद्गमकी ओर बहने लगीं ॥ ५८½ ॥

पुंलिङ्गा इव नार्यस्तु स्त्रीलिङ्गाः पुरुषाभवन् ॥ ५९ ॥
दुर्योधने तदा राजन् पतिते तनये तव ।

राजन् ! आपके पुत्र दुर्योधनके धराशायी होनेपर स्त्रियोंमें पुरुषत्व और पुरुषोंमें स्त्रीत्वके सूचक लक्षण प्रकट होने लगे ॥

दृष्ट्वा तानद्भुतोत्पातान् पञ्चालाः पाण्डवैः सह ॥ ६० ॥
आविग्नमनसः सर्वे बभूवुर्भरतर्षभ ।

भरतश्रेष्ठ ! उन अद्भुत उत्पातोंको देखकर पाण्डवों-सहित समस्त पाञ्चाल मन-ही-मन अत्यन्त उद्विग्न हो उठे ॥

ययुर्देवा यथाकामं गन्धर्वाप्सरसस्तथा ॥ ६१ ॥
कथयन्तोऽद्भुतं युद्धं सुतयोस्तव भारत ।

भारत ! तदनन्तर देवता, गन्धर्व और अप्सराओंके समूह आपके दोनों पुत्रोंके अद्भुत युद्धकी चर्चा करते हुए अपने अभीष्ट स्थानको चले गये ॥ ६१½ ॥

तथैव सिद्धा राजेन्द्र तथा वातिकचारणाः ।
नरसिंहौ प्रशंसन्तौ विप्रजग्मुर्यथागतम् ॥ ६२ ॥

राजेन्द्र ! उसी प्रकार सिद्ध, वातिक (वायुचारी) और चारण उन दोनों पुरुषसिंहोंकी प्रशंसा करते हुए जैसे आये थे, वैसे चले गये ॥ ६२ ॥

इति श्रीमहाभारते शल्यपर्वणि गदापर्वणि दुर्योधनवधेऽष्टपञ्चाशत्तमोऽध्यायः ॥ ५८ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शल्यपर्वके अन्तर्गत गदापर्वमें दुर्योधनका वधविषयक अट्ठावनवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ५८ ॥

एकोनषष्टितमोऽध्यायः

भीमसेनके द्वारा दुर्योधनका तिरस्कार, युधिष्ठिरका भीमसेनको समझाकर अन्यायसे रोकना और दुर्योधनको सान्त्वना देते हुए खेद प्रकट करना

संजय उवाच

तं पातितं ततो दृष्ट्वा महाशालमिवोद्गतम्।
प्रहृष्टमनसः सर्वे ददृशुस्तत्र पाण्डवाः॥ १॥

संजय कहते हैं—राजन्! दुर्योधनको ऊँचे एवं विशाल शालवृक्षके समान गिराया गया देख समस्त पाण्डव मन-ही-मन बड़े प्रसन्न हुए और निकट जाकर उसे देखने लगे॥ १॥

उन्मत्तमिव मातङ्गं सिंहेन विनिपातितम्।
ददृशुर्हृष्टरोमाणः सर्वे ते चापि सोमकाः॥ २॥

समस्त सोमकोंने भी सिंहके द्वारा गिराये गये मदमत्त गजराजके समान जब दुर्योधनको धराशायी हुआ देखा तो हर्षसे उनके अङ्गोंमें रोमाञ्च हो आया॥ २॥

ततो दुर्योधनं हत्वा भीमसेनः प्रतापवान्।
पातितं कौरवेन्द्रं तमुपगम्येदमब्रवीत्॥ ३॥

इस प्रकार दुर्योधनका वध करके प्रतापी भीमसेन उस गिराये गये कौरवराजके पास जाकर बोले—॥ ३॥

गौर्गौरिति पुरा मन्द द्रौपदीमेकवाससम्।
यत् सभायां हसन्नस्मांस्तदा वदसि दुर्मते॥ ४॥
तस्यावहासस्य फलमद्य त्वं समवाप्नुहि।

'खोटी बुद्धिवाले मूर्ख! तूने पहले मुझे 'बैल, बैल' कहकर और एक वस्त्रधारिणी रजस्वला द्रौपदीको सभामें लाकर जो हमलोगोंका उपहास किया था तथा हम सबके प्रति कटुवचन सुनाये थे, उस उपहासका फल आज तू प्राप्त कर ले'॥ ४½॥

एवमुक्त्वा स वामेन पदा मौलिमुपास्पृशत्॥ ५॥
शिरश्च राजसिंहस्य पादेन समलोडयत्।

ऐसा कहकर भीमसेनने अपने बायें पैरसे उसके मुकुटको ठुकराया और उस राजसिंहके मस्तकपर भी पैरसे ठोकर मारा॥ ५½॥

तथैव क्रोधसंरक्तो भीमः परबलार्दनः॥ ६॥
पुनरेवाब्रवीद् वाक्यं यत् तच्छृणु नराधिप।

नरेश्वर! इसी प्रकार शत्रुसेनाका संहार करनेवाले भीमसेनने क्रोधसे लाल आँखें करके फिर जो बात कही, उसे भी सुन लीजिये॥ ६½॥

येऽस्मान् पुरोपनृत्यन्त मूढा गौरिति गौरिति॥ ७॥
तान् वयं प्रतिनृत्यामः पुनर्गौरिति गौरिति।

जिन मूर्खोंने पहले हमें 'बैल-बैल' कहकर नृत्य किया था, आज उन्हें 'बैल-बैल' कहकर उस अपमानका बदला लेते हुए हम भी प्रसन्नतासे नाच रहे हैं॥ ७½॥

नास्माकं निकृतिर्वह्निर्नाक्षद्यूतं न वञ्चना।
स्वबाहुबलमाश्रित्य प्रबाधामो वयं रिपून्॥ ८॥

छल-कपट करना, घरमें आग लगाना, जूआ खेलना अथवा ठगी करना हमारा काम नहीं है। हम तो अपने बाहुबलका भरोसा करके शत्रुओंको संताप देते हैं॥ ८॥

सोऽवाप्य वैरस्य परस्य पारं
वृकोदरः प्राह शनैः प्रहस्य।
युधिष्ठिरं केशवसृंजयांश्च
धनंजयं माद्रवतीसुतौ च॥ ९॥

इस प्रकार भारी वैरसे पार होकर भीमसेन धीरे-धीरे हँसते हुए युधिष्ठिर, श्रीकृष्ण, सृंजयगण, अर्जुन तथा माद्रीकुमार नकुल-सहदेवसे बोले—॥ ९॥

रजस्वलां द्रौपदीमानयन् ये
ये चाप्यकुर्वन्त सदस्यवस्त्राम्।
तान् पश्यध्वं पाण्डवैर्धार्तराष्ट्रान्
रणे हतांस्तपसा याज्ञसेन्याः॥ १०॥

'जिन लोगोंने रजस्वला द्रौपदीको सभामें बुलाया, जिन्होंने उसे भरी सभामें नंगी करनेका प्रयत्न किया, उन्हीं धृतराष्ट्रपुत्रोंको द्रौपदीकी तपस्यासे पाण्डवोंने रणभूमिमें मार गिराया, यह सब लोग देख लो॥ १०॥

ये नः पुरा षण्ढतिलानवोचन्
क्रूरा राज्ञो धृतराष्ट्रस्य पुत्राः।
ते नो हताः सगणाः सानुबन्धाः
कामं स्वर्गं नरकं वा पतामः॥ ११॥

'राजा धृतराष्ट्रके जिन क्रूर पुत्रोंने पहले हमें थोथे तिलोंके समान नपुंसक कहा था, वे अपने सेवकों और सम्बन्धियोंसहित हमारे हाथसे मार डाले गये। अब हम भले ही स्वर्गमें जायँ या नरकमें गिरें, इसकी चिन्ता नहीं है'॥ ११॥

पुनश्च राज्ञः पतितस्य भूमौ
स तां गदां स्कन्धगतां प्रगृह्य।
वामेन पादेन शिरः प्रमृद्य
दुर्योधनं नैकृतिकं न्यवोचत्॥ १२॥

यों कहकर भीमसेनने पृथ्वीपर पड़े हुए राजा दुर्योधनके कंधेसे लगी हुई उसकी गदा ले ली और बायें पैरसे उसका सिर कुचलकर उसे छलिया और कपटी कहा॥ १२॥

हृष्टेन राजन् कुरुसत्तमस्य
क्षुद्रात्मना भीमसेनेन पादम्।
दृष्ट्वा कृतं मूर्धनि नाभ्यनन्दन्
धर्मात्मानः सोमकानां प्रबर्हाः॥ १३॥

राजन्! क्षुद्र बुद्धिवाले भीमसेनने हर्षमें भरकर जो कुरुश्रेष्ठ राजा दुर्योधनके मस्तकपर पैर रक्खा, उनके इस कार्यको देखकर सोमकोंमें जो श्रेष्ठ एवं धर्मात्मा पुरुष थे, वे प्रसन्न नहीं हुए और न उन्होंने उनके इस कुकृत्यका अभिनन्दन ही किया॥ १३॥

तव पुत्रं तथा हत्वा कत्थमानं वृकोदरम्।

नृत्यमानं च बहुशो धर्मराजोऽब्रवीदिदम् ॥ १४ ॥

आपके पुत्रको मारकर बहुत बढ़-बढ़कर बातें बनाते और बारंबार नाचते-कूदते हुए भीमसेनसे धर्मराज युधिष्ठिरने इस प्रकार कहा—॥ १४ ॥

गतोऽसि वैरस्यानृण्यं प्रतिज्ञा पूरिता त्वया ।
शुभेनाथाशुभेनैव कर्मणा विरमाधुना ॥ १५ ॥

'भीम ! तुम वैरसे उऋण हुए । तुमने शुभ या अशुभ कर्मसे अपनी प्रतिज्ञा पूरी कर ली । अब तो इस कार्यसे विरत हो जाओ ॥ १५ ॥

मा शिरोऽस्य पदा मर्दीर्मा धर्मस्तेऽतिगो भवेत्।
राजा ज्ञातिर्हतश्चायं नैतन्न्याय्यं तवानघ ॥१६॥

'तुम इसके मस्तकको पैरसे न ठुकराओ । तुम्हारे द्वारा धर्मका उल्लङ्घन नहीं होना चाहिये । अनघ ! दुर्योधन राजा और हमारा भाई-बन्धु है; यह मार डाला गया, अब तुम्हें इसके साथ ऐसा बर्ताव करना उचित नहीं है ॥ १६॥

एकादशचमूनाथं कुरूणामधिपं तथा ।
मा स्प्राक्षीर्भीम पादेन राजानं ज्ञातिमेव च ॥१७॥

'भीम ! ग्यारह अक्षौहिणी सेनाके स्वामी तथा अपने ही बान्धव कुरुराज राजा दुर्योधनको पैरसे न ठुकराओ ॥ १७ ॥

हतबन्धुर्हतामात्यो भ्रष्टसैन्यो हतो मृधे ।
सर्वाकारेण शोच्योऽयं नावहास्योऽयमीश्वरः ॥१८॥

'इसके भाई और मन्त्री मारे गये, सेना नष्ट-भ्रष्ट हो गयी और यह स्वयं भी युद्धमें मारा गया । ऐसी दशामें राजा दुर्योधन सर्वथा शोकके योग्य है, उपहासका पात्र नहीं है ॥ १८ ॥

विध्वस्तोऽयं हतामात्यो हतभ्राता हतप्रजः ।
उत्सन्नपिण्डो भ्राता च नैतन्न्याय्यं कृतं त्वया॥ १९ ॥

'इसका सर्वथा विध्वंस हो गया इसके मन्त्री, भाई और पुत्र भी मार डाले गये । अब इसे पिण्ड देनेवाला भी कोई नहीं रह गया है । इसके सिवा यह हमारा ही भाई है । तुमने इसके साथ यह न्यायोचित बर्ताव नहीं किया है ॥१९॥

धार्मिको भीमसेनोऽसावित्याहुस्त्वां पुरा जनाः।
स कस्माद् भीमसेन त्वं राजानमधितिष्ठसि ॥ २०॥

'तुम्हारे विषयमें लोग पहले कहा करते थे कि भीमसेन बड़े धर्मात्मा हैं । भीम ! वही तुम आज राजा दुर्योधनको क्यों पैरसे ठुकराते हो ?' ॥ २० ॥

इत्युक्त्वा भीमसेनं तु साश्रुकण्ठो युधिष्ठिरः ।
उपसृत्याब्रवीद् दीनो दुर्योधनमरिंदमम् ॥ २१ ॥

भीमसेनसे ऐसा कहकर राजा युधिष्ठिर दीनभावसे शत्रुदमन दुर्योधनके पास गये और अश्रुगद्गद कण्ठसे इस प्रकार बोले—॥ २१ ॥

तात मन्युर्न ते कार्यो नात्मा शोच्यस्त्वया तथा।
नूनं पूर्वकृतं कर्म सुघोरमनुभूयते ॥ २२ ॥

'तात ! तुम्हें खेद या क्रोध नहीं करना चाहिये । साथ ही अपने लिये शोक करना भी उचित नहीं है । निश्चय ही सब लोग अपने पहलेके किये हुए अत्यन्त भयंकर कर्मोंका ही परिणाम भोगते हैं ॥ २२ ॥

धात्रोपदिष्टं विषमं नूनं फलमसंस्कृतम् ।
यद् वयं त्वां जिघांसामस्त्वं चास्मान् कुरुसत्तम॥२३॥

'कुरुश्रेष्ठ ! इस समय जो हमलोग तुम्हें और तुम हमें मार डालना चाहते थे, यह अवश्य ही विधाताका दिया हुआ, हमारे ही अशुद्ध कर्मोंका विषम फल है ॥ २३ ॥

आत्मनो ह्यपराधेन महद् व्यसनमीदृशम् ।
प्राप्तवानसि यल्लोभान्मदाद् बाल्याच्च भारत॥ २४ ॥

'भरतनन्दन ! तुमने लोभ, मद और अविवेकके कारण अपने ही अपराधसे ऐसा भारी संकट प्राप्त किया है ॥ २४॥

घातयित्वा वयस्यांश्च भ्रातॄनथ पितॄंस्तथा ।
पुत्रान् पौत्रांस्तथा चान्यांस्ततोऽसि निधनं गतः॥ २५॥

'तुम अपने मित्रों, भाइयों, पितृतुल्य पुरुषों, पुत्रों और पौत्रोंका वध कराकर फिर स्वयं भी मारे गये ॥ २५ ॥

तवापराधादस्माभिर्भ्रातरस्ते निपातिताः ।
निहता ज्ञातयश्चापि दिष्टं मन्ये दुरत्ययम् ॥ २६ ॥

'तुम्हारे अपराधसे ही हमलोगोंने तुम्हारे भाइयोंको मार गिराया और कुटुम्बीजनोंका वध किया है, मैं इसे दैवका दुर्लङ्घ्य विधान ही मानता हूँ ॥ २६ ॥

आत्मा न शोचनीयस्ते श्लाघ्यो मृत्युस्तवानघ ।
वयमेवाधुना शोच्याः सर्वावस्थासु कौरव ॥ २७ ॥
कृपणं वर्तयिष्यामस्तैर्हीना बन्धुभिः प्रियैः ।

'अनघ ! तुम्हें अपने लिये शोक नहीं करना चाहिये, तुम्हारी प्रशंसनीय मृत्यु हो रही है । कुरुराज ! अब तो सभी अवस्थाओंमें इस समय हमलोग ही शोचनीय हो गये हैं; क्योंकि उन प्रिय बन्धु-बान्धवोंसे रहित होकर हमें दीनतापूर्ण जीवन व्यतीत करना पड़ेगा ॥ २७½ ॥

भ्रातॄणां चैव पुत्राणां तथा वै शोकविह्वलाः ॥ २८ ॥
कथं द्रक्ष्यामि विधवा वधूः शोकपरिप्लुताः ।

'भला, मैं भाइयों और पुत्रोंकी उन शोकविह्वला और दुःखमें डूबी हुई विधवा बहुओंको कैसे देख सकूँगा ॥२८½॥

त्वमेकः सुस्थितो राजन् स्वर्गे ते निलयो ध्रुवः॥ २९ ॥
वयं नरकसंज्ञं वै दुःखं प्राप्स्याम दारुणम् ।

'राजन् ! तुम अकेले सुखी हो । निश्चय ही स्वर्गमें तुम्हें स्थान प्राप्त होगा और हमें यहाँ नरकतुल्य दारुण दुःख भोगना पड़ेगा ॥ २९½ ॥

स्नुषाश्च प्रस्नुषाश्चैव धृतराष्ट्रस्य विह्वलाः ।
गर्हयिष्यन्ति नो नूनं विधवाः शोककर्शिताः ॥ ३० ॥

'धृतराष्ट्रकी वे शोकातुर एवं व्याकुल विधवा पुत्रवधुएँ और पौत्रवधुएँ भी निश्चय ही हमलोगोंकी निन्दा करेंगी' ॥

संजय उवाच

एवमुक्त्वा सुदुःखार्तो निशश्वास स पार्थिवः ।

विललाप चिरं चापि धर्मपुत्रो युधिष्ठिरः ॥ ३१ ॥

संजय कहते हैं—राजन् ! ऐसा कहकर धर्मपुत्र राजा युधिष्ठिर अत्यन्त दुःखसे आतुर हो लंबी साँस छोड़ते हुए बहुत देरतक विलाप करते रहे ॥ ३१ ॥

इति श्रीमहाभारते शल्यपर्वणि गदापर्वणि युधिष्ठिरविलापे एकोनषष्टितमोऽध्यायः ॥ ५९ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शल्यपर्वके अन्तर्गत गदापर्वमें युधिष्ठिरका विलापविषयक उनसठवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ५९ ॥

षष्टितमोऽध्यायः

क्रोधमें भरे हुए बलरामको श्रीकृष्णका समझाना और युधिष्ठिरके साथ श्रीकृष्णकी तथा भीमसेनकी बातचीत

धृतराष्ट्र उवाच

अधर्मेण हतं दृष्ट्वा राजानं माधवोत्तमः ।
किमब्रवीत् तदा सूत बलदेवो महाबलः ॥ १ ॥

धृतराष्ट्रने पूछा—सूत ! उस समय राजा दुर्योधनको अधर्मपूर्वक मारा गया देख महाबली मधुकुलशिरोमणि बलदेवजीने क्या कहा था ? ॥ १ ॥

गदायुद्धविशेषज्ञो गदायुद्धविशारदः ।
कृतवान् रौहिणेयो यत् तन्ममाचक्ष्व संजय ॥ २ ॥

संजय ! गदायुद्धके विशेषज्ञ तथा उसकी कलामें कुशल रोहिणीनन्दन बलरामजीने वहाँ जो कुछ किया हो, वह मुझे बताओ ॥ २ ॥

संजय उवाच

शिरस्यभिहतं दृष्ट्वा भीमसेनेन ते सुतम् ।
रामः प्रहरतां श्रेष्ठश्चुक्रोध बलवद्बली ॥ ३ ॥

संजयने कहा—राजन् ! भीमसेनके द्वारा आपके पुत्रके मस्तक पर पैरका प्रहार हुआ देख योद्धाओंमें श्रेष्ठ बलवान् बलरामको बड़ा क्रोध हुआ ॥ ३ ॥

ततो मध्ये नरेन्द्राणामूर्ध्वबाहुर्हलायुधः ।
कुर्वन्नार्तस्वरं घोरं धिग् धिग् भीमेत्युवाच ह ॥ ४ ॥

फिर वहाँ राजाओंकी मण्डलीमें अपनी दोनों बाँहें ऊपर उठाकर हलधर बलरामने भयंकर आर्तनाद करते हुए कहा—'भीमसेन ! तुम्हें धिक्कार है ! धिक्कार है !! ॥ ४ ॥

अहो धिग् यदधो नाभेः प्रहृतं धर्मविग्रहे ।
नैतद् दृष्टं गदायुद्धे कृतवान् यद् वृकोदरः ॥ ५ ॥

'अहो ! इस धर्मयुद्धमें नाभिसे नीचे, जो प्रहार किया गया है और जिसे भीमसेनने स्वयं किया है, यह गदायुद्धमें कभी नहीं देखा गया ॥ ५ ॥

अधो नाभ्या न हन्तव्यमिति शास्त्रस्य निश्चयः ।
अयं त्वशास्त्रविन्मूढः स्वच्छन्दात् सम्प्रवर्तते ॥ ६ ॥

'नाभिसे नीचे आघात नहीं करना चाहिये । यह गदायुद्धके विषयमें शास्त्रका सिद्धान्त है । परंतु यह शास्त्रज्ञानसे शून्य मूर्ख भीमसेन यहाँ स्वेच्छाचार कर रहा है' ॥ ६ ॥

तस्य तत् तद् ब्रुवाणस्य रोषः समभवन्महान् ।
ततो राजानमालोक्य रोषसंरक्तलोचनः ॥ ७ ॥

ये सब बातें कहते हुए बलदेवजीका रोष बहुत बढ़ गया । फिर राजा दुर्योधनकी ओर दृष्टिपात करके उनकी आँखें क्रोधसे लाल हो गयीं ॥ ७ ॥

बलदेवो महाराज ततो वचनमब्रवीत् ।
न चैष पतितः कृष्ण केवलं मत्समोऽसमः ॥ ८ ॥
आश्रितस्य तु दौर्बल्यादाश्रयः परिभर्त्स्यते ।

महाराज ! फिर बलदेवजीने कहा—'श्रीकृष्ण ! राजा दुर्योधन मेरे समान बलवान् था । गदायुद्धमें उसकी समानता करनेवाला कोई नहीं था । यहाँ अन्याय करके केवल दुर्योधन ही नहीं गिराया गया है, (मेरा भी अपमान किया गया है) शरणागतकी दुर्बलताके कारण शरण देनेवालेका तिरस्कार किया जा रहा है' ॥ ८½ ॥

ततो लाङ्गलमुद्यम्य भीममभ्यद्रवद् बली ॥ ९ ॥
तस्योर्ध्वबाहोः सदृशं रूपमासीन्महात्मनः ।
बहुधातुविचित्रस्य श्वेतस्येव महागिरेः ॥ १० ॥

ऐसा कहकर महाबली बलराम अपना हल उठाकर भीमसेनकी ओर दौड़े । उस समय अपनी भुजाएँ ऊपर उठाये हुए महात्मा बलरामजीका रूप अनेक धातुओंके कारण विचित्र शोभा पानेवाले महान् श्वेतपर्वतके समान जान पड़ता था ॥ ९-१० ॥

(भ्रातृभिः सहितो भीमः सार्जुनैरस्त्रकोविदैः ।
न विव्यथे महाराज दृष्ट्वा हलधरं बली ॥)

महाराज ! हलधरको आक्रमण करते देख अर्जुनसहित अस्त्रवेत्ता भाइयोंके साथ खड़े हुए बलवान् भीमसेन तनिक भी व्यथित नहीं हुए ॥

तमुत्पतन्तं जग्राह केशवो विनयान्वितः ।
बाहुभ्यां पीनवृत्ताभ्यां प्रयत्नाद् बलवद्बली ॥ ११ ॥

उस समय विनयशील, बलवान् श्रीकृष्णने आक्रमण करते हुए बलरामजीको अपनी मोटी एवं गोल-गोल भुजाओंद्वारा बड़े प्रयत्नसे पकड़ा ॥ ११ ॥

सितासितौ यदुवरौ शुशुभातेऽधिकं तदा ।
(संगताविव राजेन्द्र कैलासाञ्जनपर्वतौ ॥)
नभोगतौ यथा राजंश्चन्द्रसूर्यौ दिनक्षये ॥ १२ ॥

राजेन्द्र ! वे श्याम-गौर यदुकुलतिलक दोनों भाई परस्पर मिले हुए कैलास और कज्जल पर्वतोंके समान शोभा पा रहे थे । राजन् ! संध्याकालके आकाशमें जैसे चन्द्रमा और सूर्य उदित हुए हों, वैसे ही उस रणक्षेत्रमें वे दोनों भाई सुशोभित हो रहे थे ॥ १२ ॥

उवाच चैनं संरब्धं शमयन्निव केशवः ।
आत्मवृद्धिर्मित्रवृद्धिर्मित्रमित्रोदयस्तथा ॥ १३ ॥

विपरीतं क्षयस्त्वेतत् षड्विधा वृद्धिरात्मनः ।

उस समय श्रीकृष्णने रोषसे भरे हुए बलरामजीको शान्त करते हुए-से कहा—'भैया ! अपनी उन्नति छः प्रकारकी होती है—अपनी वृद्धि, मित्रकी वृद्धि और मित्रके मित्रकी वृद्धि । तथा शत्रुपक्षमें इसके विपरीत स्थिति अर्थात् शत्रुकी हानि, शत्रुके मित्रकी हानि तथा शत्रुके मित्रके मित्र-की हानि ॥ १३½ ॥

आत्मन्यपि च मित्रे च विपरीतं यदा भवेत् ॥ १४ ॥
तदा विद्यान्मनोग्लानिमाशु शान्तिकरो भवेत् ।

'अपनी और अपने मित्रकी यदि इसके विपरीत परि-स्थिति हो तो मन-ही-मन ग्लानिका अनुभव करना चाहिये और मित्रोंकी उस हानिके निवारणके लिये शीघ्र प्रयत्नशील होना चाहिये ॥ १४½ ॥

अस्माकं सहजं मित्रं पाण्डवाः शुद्धपौरुषाः ॥ १५ ॥
स्वकाः पितृष्वसुः पुत्रास्ते परैर्निकृता भृशम् ।

'शुद्ध पुरुषार्थका आश्रय लेनेवाले पाण्डव हमारे सहज मित्र हैं । बुआके पुत्र होनेके कारण सर्वथा अपने हैं । शत्रुओंने इनके साथ बहुत छल-कपट किया था ॥ १५½ ॥

प्रतिज्ञापालनं धर्मः क्षत्रियस्येह वेद्म्यहम् ॥ १६ ॥
सुयोधनस्य गदया भङ्क्तास्म्यूरू महाहवे ।
इति पूर्वं प्रतिज्ञातं भीमेन हि सभातले ॥ १७ ॥

'मैं समझता हूँ कि इस जगत्‌में अपनी प्रतिज्ञाका पालन करना क्षत्रियके लिये धर्म ही है । पहले सभामें भीमसेनने यह प्रतिज्ञा की थी कि 'मैं महायुद्धमें अपनी गदासे दुर्योधन-की दोनों जाँघें तोड़ डालूँगा' ॥ १६-१७ ॥

मैत्रेयेणाभिशप्तश्च पूर्वमेव महर्षिणा ।
ऊरू ते भेत्स्यते भीमो गदयेति परंतप ॥ १८ ॥

'शत्रुओंको संताप देनेवाले बलरामजी ! महर्षि मैत्रेयने भी दुर्योधनको पहलेसे ही यह शाप दे रक्खा था कि 'भीमसेन अपनी गदासे तेरी दोनों जाँघें तोड़ डालेंगे' ॥ १८ ॥

अतो दोषं न पश्यामि मा क्रुद्धस्त्वं प्रलम्बहन् ।
यौनैः स्वैः सुखहार्दैश्च सम्बन्धः सह पाण्डवैः ॥ १९ ॥
तेषां वृद्ध्या हि वृद्धिर्नो मा क्रुधः पुरुषर्षभ ।

'अतः प्रलम्बहन्ता बलभद्रजी ! मैं इसमें भीमसेनका कोई दोष नहीं देखता; इसलिये आप क्रोध न कीजिये । हमारा पाण्डवोंके साथ यौन-सम्बन्ध तो है ही । परस्पर सुख देनेवाले सौहार्दसे भी हमलोग बँधे हुए हैं । पुरुषप्रवर ! इन पाण्डवोंकी वृद्धिसे हमारी भी वृद्धि है, अतः आप क्रोध न करें' ॥ १९½ ॥

वासुदेववचः श्रुत्वा सीरभृत् प्राह धर्मवित् ॥ २० ॥
धर्मः सुचरितः सद्भिः स च द्वाभ्यां नियच्छति ।

श्रीकृष्णकी यह बात सुनकर धर्मज्ञ हलधरने इस प्रकार कहा—'श्रीकृष्ण ! श्रेष्ठ पुरुषोंने धर्मका अच्छी तरह आचरण किया है; किंतु वह अर्थ और काम—इन दो वस्तुओंसे संकुचित हो जाता है ॥ २०½ ॥

अर्थश्चात्यर्थलुब्धस्य कामश्चातिप्रसङ्गिणः ॥ २१ ॥
धर्मार्थौ धर्मकामौ च कामार्थौ चाप्यपीडयन् ।
धर्मार्थकामान् योऽभ्येति सोऽत्यन्तं सुखमश्नुते ॥ २२ ॥

'अत्यन्त लोभीका अर्थ और अधिक आसक्ति रखने-वालेका काम—ये दोनों ही धर्मको हानि पहुँचाते हैं ! जो मनुष्य कामसे धर्म और अर्थको, अर्थसे धर्म और कामको तथा धर्मसे अर्थ और कामको हानि न पहुँचाकर धर्म, अर्थ और काम तीनोंका यथोचित रूपसे सेवन करता है, वह अत्यन्त सुखका भागी होता है ॥ २१-२२ ॥

तदिदं व्याकुलं सर्वं कृतं धर्मस्य पीडनात् ।
भीमसेनेन गोविन्द कामं त्वं तु यथाऽऽत्थ माम् ॥ २३ ॥

'गोविन्द ! भीमसेनने (अर्थके लोभसे) धर्मको हानि पहुँचाकर इन सबको विकृत कर डाला है । तुम मुझसे जिस प्रकार इस कार्यको धर्मसंगत बता रहे हो वह सब तुम्हारी मनमानी कल्पना है' ॥ २३ ॥

श्रीकृष्ण उवाच

अरोषणो हि धर्मात्मा सततं धर्मवत्सलः ।
भवान् प्रख्यायते लोके तस्मात् संशाम्य मा क्रुधः ॥ २४ ॥

श्रीकृष्णने कहा—भैया ! आप संसारमें क्रोधरहित, धर्मात्मा और निरन्तर धर्मपर अनुग्रह रखनेवाले सत्पुरुषके रूपमें विख्यात हैं; अतः शान्त हो जाइये, क्रोध न कीजिये ॥

प्राप्तं कलियुगं विद्धि प्रतिज्ञां पाण्डवस्य च ।
आनृण्यं यातु वैरस्य प्रतिज्ञायाश्च पाण्डवः ॥ २५ ॥

समझ लीजिये कि कलियुग आ गया । पाण्डुपुत्र भीमसेनकी प्रतिज्ञापर भी ध्यान दीजिये । आज पाण्डुकुमार भीम वैर और प्रतिज्ञाके ऋणसे मुक्त हो जायँ ॥ २५ ॥

(गतः पुरुषशार्दूलो हत्वा नैकृतिकं रणे ।
अधर्मो विद्यते नात्र यद् भीमो हतवान् रिपुम् ॥

पुरुषसिंह भीम रणभूमिमें कपटी दुर्योधनको मारकर चले गये । उन्होंने जो अपने शत्रुका वध किया है, इसमें कोई अधर्म नहीं है ॥

युद्ध्यन्तं समरे वीरं कुरुवृष्णियशस्करम् ।
अनेन कर्णः संदिष्टः पृष्ठतो धनुराच्छिनत् ॥

इसी दुर्योधनने कर्णको आज्ञा दी थी, जिससे उसने कुरु और वृष्णि दोनों कुलोंके सुयशकी वृद्धि करनेवाले, युद्ध-परायण, वीर अभिमन्युके धनुषको समराङ्गणमें पीछेसे आकर काट दिया था ॥

ततः संछिन्नधन्वानं विरथं पौरुषे स्थितम् ।
व्यायुधीकृत्य हतवान् सौभद्रमपलायिनम् ॥

इस प्रकार धनुष कट जाने और रथसे हीन हो जानेपर भी जो पुरुषार्थमें ही तत्पर था, रणभूमिमें पीठ न दिखाने-वाले उस सुभद्राकुमार अभिमन्युको इसने निर्दयता करके मार डाला था ॥

जन्मप्रभृतिलुब्धश्च पापश्चैव दुरात्मवान् ।

निहतो भीमसेनेन दुर्बुद्धिः कुलपांसनः ॥

यह दुरात्मा, दुर्बुद्धि एवं पापी दुर्योधन जन्मसे ही लोभी तथा कुरुकुलका कलंक रहा है, जो भीमसेनके हाथसे मारा गया है॥

प्रतिज्ञां भीमसेनस्य त्रयोदशसमार्जिताम् ।
किमर्थं नाभिजानाति युद्ध्यमानोऽपि विश्रुताम्॥

भीमसेनकी प्रतिज्ञा तेरह वर्षोंसे चल रही थी और सर्वत्र प्रसिद्ध हो चुकी थी। युद्ध करते समय दुर्योधनने उसे याद क्यों नहीं रक्खा ? ॥

ऊर्ध्वमुत्क्रम्य वेगेन जिघांसन्तं वृकोदरः ।
बभञ्ज गदया चोरू न स्थाने न च मण्डले ॥)

यह वेगसे ऊपर उछलकर भीमसेनको मार डालना चाहता था। उस अवस्थामें भीमने अपनी गदासे इसकी दोनों जाँघें तोड़ डाली थीं। उस समय न तो यह किसी स्थानमें था और न मण्डलमें ही ॥

संजय उवाच

धर्मच्छलमपि श्रुत्वा केशवात् स विशाम्पते ।
नैव प्रीतमना रामो वचनं प्राह संसदि ॥ २६ ॥

संजय कहते हैं—प्रजानाथ ! भगवान् श्रीकृष्णसे यह छलरूप धर्मका विवेचन सुनकर बलदेवजीके मनको संतोष नहीं हुआ। उन्होंने भरी सभामें कहा—॥ २६ ॥

हत्वाधर्मेण राजानं धर्मात्मानं सुयोधनम् ।
जिह्मयोधीति लोकेऽस्मिन् ख्यातिं यास्यति पाण्डवः ॥

'धर्मात्मा राजा दुर्योधनको अधर्मपूर्वक मारकर पाण्डुपुत्र भीमसेन इस संसारमें कपटपूर्ण युद्ध करनेवाले योद्धाके रूपमें विख्यात होंगे ॥ २७ ॥

दुर्योधनोऽपि धर्मात्मा गतिं यास्यति शाश्वतीम् ।
ऋजुयोधी हतो राजा धार्तराष्ट्रो नराधिपः ॥ २८ ॥

'धृतराष्ट्रपुत्र धर्मात्मा राजा दुर्योधन सरलतासे युद्ध कर रहा था, उस अवस्थामें मारा गया है; अतः वह सनातन सद्गतिको प्राप्त होगा ॥ २८ ॥

युद्धदीक्षां प्रविश्याजौ रणयज्ञं वितत्य च ।
हुत्वाऽऽत्मानममित्राग्नौ प्राप चावभृथं यशः ॥ २९ ॥

'युद्धकी दीक्षा ले संग्रामभूमिमें प्रविष्ट हो रणयज्ञका विस्तार करके शत्रुरूपी प्रज्वलित अग्निमें अपने शरीरकी आहुति दे दुर्योधनने सुयशरूपी अवभृथ-स्नानका शुभ अवसर प्राप्त किया है' ॥ २९ ॥

इत्युक्त्वा रथमास्थाय रौहिणेयः प्रतापवान् ।
श्वेताभ्रशिखराकारः प्रययौ द्वारकां प्रति ॥ ३० ॥

यह कहकर प्रतापी रोहिणीनन्दन बलरामजी, जो श्वेत बादलोंके अग्रभागकी भाँति गौर-कान्तिसे सुशोभित हो रहे थे, रथपर आरूढ़ हो द्वारकाकी ओर चल दिये ॥३०॥

पञ्चालाश्च सवार्ष्णेयाः पाण्डवाश्च विशाम्पते ।
रामे द्वारवतीं याते नातिप्रमनसोऽभवन् ॥ ३१ ॥

प्रजानाथ ! बलरामजीके इस प्रकार द्वारका चले जानेपर पाञ्चाल, वृष्णिवंशी तथा पाण्डव वीर उदास हो गये। उनके मनमें अधिक उत्साह नहीं रह गया ॥ ३१ ॥

ततो युधिष्ठिरं दीनं चिन्तापरमधोमुखम् ।
शोकोपहतसंकल्पं वासुदेवोऽब्रवीदिदम् ॥ ३२ ॥

उस समय युधिष्ठिर बहुत दुखी थे। वे नीचे मुख किये चिन्तामें डूब गये थे। शोकसे उनका मनोरथ भङ्ग हो गया था। उस अवस्थामें उनसे भगवान् श्रीकृष्ण बोले ॥

वासुदेव उवाच

धर्मराज किमर्थं त्वमधर्ममनुमन्यसे ।
हतबन्धोर्यदेतस्य पतितस्य विचेतसः ॥ ३३ ॥
दुर्योधनस्य भीमेन मृद्यमानं शिरः पदा ।
उपप्रेक्षसि कस्मात् त्वं धर्मज्ञः सन्नराधिप ॥ ३४ ॥

श्रीकृष्णने पूछा—धर्मराज ! आप चुप होकर अधर्मका अनुमोदन क्यों कर रहे हैं ? नरेश्वर दुर्योधनके भाई और सहायक मारे जा चुके हैं। यह पृथ्वीपर गिरकर अचेत हो रहा है। ऐसी दशामें भीमसेन इसके मस्तकको पैरसे कुचल रहे हैं। आप धर्मज्ञ होकर समीपसे ही यह सब कैसे देख रहे हैं॥

युधिष्ठिर उवाच

न ममैतत् प्रियं कृष्ण यद् राजानं वृकोदरः ।
पदा मूर्ध्न्यस्पृशत् क्रोधान्न च हृष्ये कुलक्षये ॥ ३५ ॥

युधिष्ठिरने कहा—श्रीकृष्ण ! भीमसेनने क्रोधमें भरकर जो राजा दुर्योधनके मस्तकको पैरोंसे ठुकराया है, यह मुझे भी अच्छा नहीं लगा। अपने कुलका संहार हो जानेसे मैं प्रसन्न नहीं हूँ ॥ ३५ ॥

निकृत्या निकृता नित्यं धृतराष्ट्रसुतैर्वयम् ।
बहूनि परुषाण्युक्त्वा वनं प्रस्थापिताः स्म ह ॥ ३६ ॥

परंतु क्या करूँ, धृतराष्ट्रके पुत्रोंने सदा ही हमें अपने कपट-जालका शिकार बनाया और बहुत-से कटुवचन सुनाकर वनमें भेज दिया ॥ ३६ ॥

भीमसेनस्य तद् दुःखमतीव हृदि वर्तते ।
इति संचिन्त्य वार्ष्णेय मयैतत् समुपेक्षितम् ॥ ३७ ॥

वृष्णिनन्दन ! भीमसेनके हृदयमें इन सब बातोंके लिये बड़ा दुःख था। यही सोचकर मैंने उनके इस कार्यकी उपेक्षा की है ॥ ३७ ॥

तस्माद्धत्वाकृतप्रज्ञं लुब्धं कामवशानुगम् ।
लभतां पाण्डवः कामं धर्मेऽधर्मे च वा कृते ॥ ३८ ॥

इसलिये मैंने विचार किया कि कामके वशीभूत हुए लोभी और अजितात्मा दुर्योधनको मारकर धर्म या अधर्म करके पाण्डुपुत्र भीम अपनी इच्छा पूरी कर लें ॥ ३८ ॥

संजय उवाच

इत्युक्ते धर्मराजेन वासुदेवोऽब्रवीदिदम् ।
काममस्त्वेतदिति वै कृच्छ्राद् यदुकुलोद्वहः ॥ ३९ ॥

संजय कहते हैं—राजन् ! धर्मराजके ऐसा कहनेपर यदुकुलश्रेष्ठ भगवान् श्रीकृष्णने बड़े कष्टसे यह कहा कि 'अच्छा, ऐसा ही सही' ॥ ३९ ॥

इत्युक्तो वासुदेवेन भीमप्रियहितैषिणा ।
अन्वमोदत तत् सर्वं यद् भीमेन कृतं युधि ॥ ४० ॥

भीमसेनका प्रिय और हित चाहनेवाले भगवान् श्रीकृष्ण-के ऐसा कहनेपर युधिष्ठिरने भीमसेनके द्वारा युद्धस्थलमें जो कुछ किया गया था, उस सबका अनुमोदन किया ॥ ४० ॥

(अर्जुनोऽपि महाबाहुरप्रीतेनान्तरात्मना ।
नोवाच वचनं किंचित् भ्रातरं साध्वसाधु वा ॥)

महाबाहु अर्जुन भी अप्रसन्न-चित्तसे अपने भाईके प्रति भला बुरा कुछ नहीं बोले ॥

भीमसेनोऽपि हत्वाऽऽजौ तव पुत्रममर्षणः ।
अभिवाद्याग्रतः स्थित्वा सम्प्रहृष्टः कृताञ्जलिः ॥ ४१ ॥

अमर्षशील भीमसेन युद्धस्थलमें आपके पुत्रका वध करके बड़े प्रसन्न हुए और युधिष्ठिरको प्रणाम करके उनके आगे हाथ जोड़कर खड़े हो गये ॥ ४१ ॥

प्रोवाच सुमहातेजा धर्मराजं युधिष्ठिरम् ।
हर्षादुत्फुल्लनयनो जितकाशी विशाम्पते ॥ ४२ ॥

प्रजानाथ ! उस समय महातेजस्वी भीमसेन विजयश्रीसे प्रकाशित हो रहे थे । उनके नेत्र हर्षसे खिल उठे थे, उन्होंने धर्मराज युधिष्ठिरसे कहा—॥ ४२ ॥

तवाद्य पृथिवी सर्वा क्षेमा निहतकण्टका ।
तां प्रशाधि महाराज स्वधर्ममनुपालय ॥ ४३ ॥

'महाराज ! आज यह सारी पृथ्वी आपकी हो गयी, इसके काँटे नष्ट कर दिये गये, अतः यह मङ्गलमयी हो गयी है । आप इसका शासन तथा अपने धर्मका पालन कीजिये ॥

यस्तु कर्तास्य वैरस्य निकृत्या निकृतिप्रियः ।
सोऽयं विनिहतः शेते पृथिव्यां पृथिवीपते ॥ ४४ ॥

'पृथ्वीनाथ ! जिसे छल और कपट ही प्रिय था तथा जिसने कपटसे ही इस वैरकी नींव डाली थी, वही यह दुर्योधन आज मारा जाकर पृथ्वीपर सो रहा है ॥ ४४ ॥

दुःशासनप्रभृतयः सर्वे ते चोग्रवादिनः ।
राधेयः शकुनिश्चैव हताश्च तव शत्रवः ॥ ४५ ॥

'वे भयङ्कर कटुवचन बोलनेवाले दुःशासन आदि धृतराष्ट्रपुत्र तथा कर्ण और शकुनि आदि आपके सभी शत्रु मार डाले गये ॥ ४५ ॥

सेयं रत्नसमाकीर्णा मही सवनपर्वता ।
उपावृत्ता महाराज त्वामद्य निहतद्विषम् ॥ ४६ ॥

'महाराज ! आपके शत्रु नष्ट हो गये । आज यह रत्नोंसे भरी हुई वन और पर्वतोंसहित सारी पृथ्वी आपकी सेवामें प्रस्तुत है' ॥ ४६ ॥

युधिष्ठिर उवाच

गतो वैरस्य निधनं हतो राजा सुयोधनः ।
कृष्णस्य मतमास्थाय विजितेयं वसुन्धरा ॥ ४७ ॥

युधिष्ठिर बोले—भीमसेन ! सौभाग्यकी बात है कि तुमने वैरका अन्त कर दिया, राजा दुर्योधन मारा गया और श्रीकृष्णके मतका आश्रय लेकर हमने यह सारी पृथ्वी जीत ली ॥ ४७ ॥

दिष्ट्या गतस्त्वमानृण्यं मातुः कोपस्य चोभयोः ।
दिष्ट्या जयति दुर्धर्ष दिष्ट्या शत्रुर्निपातितः ॥ ४८ ॥

सौभाग्यसे तुम माता तथा क्रोध दोनोंके ऋणसे उऋण हो गये । दुर्धर्ष वीर ! भाग्यवश तुम विजयी हुए और सौभाग्यसे ही तुमने अपने शत्रुको मार गिराया ॥ ४८ ॥

इति श्रीमहाभारते शल्यपर्वणि गदापर्वणि बलदेवसान्त्वने षष्टितमोऽध्यायः ॥ ६० ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शल्यपर्वके अन्तर्गत गदापर्वमें श्रीकृष्णका बलदेवजीको सान्त्वना देनाविषयक साठवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ६० ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठके ८½ श्लोक मिलाकर कुल ५६½ श्लोक हैं)

एकषष्टितमोऽध्यायः

पाण्डव-सैनिकोंद्वारा भीमकी स्तुति, श्रीकृष्णका दुर्योधनपर आक्षेप, दुर्योधनका उत्तर तथा श्रीकृष्णके द्वारा पाण्डवोंका समाधान एवं शङ्खध्वनि

धृतराष्ट्र उवाच

हतं दुर्योधनं दृष्ट्वा भीमसेनेन संयुगे ।
पाण्डवाः सृञ्जयाश्चैव किमकुर्वत संजय ॥ १ ॥

धृतराष्ट्रने पूछा—संजय ! रणभूमिमें भीमसेनके द्वारा दुर्योधनको मारा गया देख पाण्डवों तथा सृंजयोंने क्या किया? ॥

संजय उवाच

हतं दुर्योधनं दृष्ट्वा भीमसेनेन संयुगे ।
सिंहेनेव महाराज मत्तं वनगजं यथा ॥ २ ॥
प्रहृष्टमनसस्तत्र कृष्णेन सह पाण्डवाः ।

संजयने कहा—महाराज ! जैसे कोई मतवाला जंगली हाथी सिंहके द्वारा मारा गया हो, उसी प्रकार दुर्योधन-को भीमसेनके हाथसे रणभूमिमें मारा गया देख श्रीकृष्ण-सहित पाण्डव मन-ही-मन बड़े प्रसन्न हुए ॥ २½ ॥

पञ्चाला सृञ्जयाश्चैव निहते कुरुनन्दने ॥ ३ ॥
आविद्ध्यन्नुत्तरीयाणि सिंहनादांश्च नेदिरे ।
नैतान् हर्षसमाविष्टानियं सेहे वसुंधरा ॥ ४ ॥

कुरुनन्दन दुर्योधनके मारे जानेपर पाञ्चाल और सृंजय तो अपने दुपट्टे उछालने और सिंहनाद करने लगे । हर्षमें भरे हुए इन पाण्डव वीरोंका भार यह पृथ्वी सहन नहीं कर पाती थी ॥ ३-४ ॥

धनूंष्यन्ये व्याक्षिपन्त ज्याश्चाप्यन्ये तथाक्षिपन् ।
दध्मुरन्ये महाशङ्खानन्ये जघ्नुश्च दुन्दुभीन् ॥ ५ ॥

किसीने धनुष टंकारा, किसीने प्रत्यञ्चा खींची, कुछ लोग बड़े-बड़े शङ्ख बजाने लगे और दूसरे बहुत-से सैनिक डंके पीटने लगे ॥ ५ ॥

चिक्रीडुश्च तथैवान्ये जहसुश्च तवाहिताः ।
अब्रुवंश्चासकृद् वीरा भीमसेनमिदं वचः ॥ ६ ॥

आपके बहुत-से शत्रु भाँति-भाँतिके खेल खेलने और

हास-परिहास करने लगे। कितने ही वीर भीमसेनके पास जाकर इस प्रकार कहने लगे—॥ ६ ॥

दुष्करं भवता कर्म रणेऽद्य सुमहत् कृतम्।
कौरवेन्द्रं रणे हत्वा गदयातिकृतश्रमम् ॥ ७ ॥

'कौरवराज दुर्योधनने गदायुद्धमें बड़ा भारी परिश्रम किया था। आज रणभूमिमें उसका वध करके आपने महान् एवं दुष्कर पराक्रम कर दिखाया है ॥ ७ ॥

इन्द्रेणेव हि वृत्रस्य वधं परमसंयुगे।
त्वया कृतममन्यन्त शत्रोर्वधमिमं जनाः ॥ ८ ॥

'जैसे महासमरमें इन्द्रने वृत्रासुरका वध किया था, आपके द्वारा किया हुआ यह शत्रुका संहार भी उसी कोटिका है—ऐसा सब लोग समझने लगे हैं ॥ ८ ॥

चरन्तं विविधान् मार्गान् मण्डलानि च सर्वशः।
दुर्योधनमिमं शूरं कोऽन्यो हन्याद् वृकोदरात्॥ ९ ॥

'भला, नाना प्रकारके पैंतरे बदलते और सब तरहकी मण्डलाकार गतियोंसे चलते हुए इस शूरवीर दुर्योधनको भीमसेनके सिवा दूसरा कौन मार सकता था ? ॥ ९ ॥

वैरस्य च गतः पारं त्वमिहान्यैः सुदुर्गमम्।
अशक्यमेतदन्येन सम्पादयितुमीदृशम् ॥ १० ॥

'आप वैरके समुद्रसे पार हो गये, जहाँ पहुँचना दूसरे लोगोंके लिये अत्यन्त कठिन है। दूसरे किसीके लिये ऐसा पराक्रम कर दिखाना सर्वथा असम्भव है ॥ १० ॥

कुञ्जरेणेव मत्तेन वीर संग्राममूर्धनि।
दुर्योधनशिरो दिष्ट्या पादेन मृदितं त्वया ॥ ११ ॥

'वीर ! मतवाले गजराजकी भाँति आपने युद्धके मुहानेपर अपने पैरसे दुर्योधनके मस्तकको कुचल दिया है, यह बड़े सौभाग्यकी बात है ॥ ११ ॥

सिंहेन महिषस्येव कृत्वा सङ्गरमुत्तमम्।
दुःशासनस्य रुधिरं दिष्ट्या पीतं त्वयानघ ॥ १२ ॥

'अनघ ! जैसे सिंहने भैंसेका खून पी लिया हो, उसी प्रकार आपने महान् युद्ध ठानकर दुःशासनके रक्तका पान किया है, यह भी सौभाग्यकी ही बात है ॥ १२ ॥

ये विप्रकुर्वन् राजानं धर्मात्मानं युधिष्ठिरम्।
मूर्ध्नि तेषां कृतः पादो दिष्ट्या ते स्वेन कर्मणा ॥ १३ ॥

'जिन लोगोंने धर्मात्मा राजा युधिष्ठिरका अपराध किया था, उन सबके मस्तकपर आपने अपने पराक्रमद्वारा पैर रख दिया, यह कितने हर्षका विषय है ॥ १३ ॥

अमित्राणामधिष्ठानाद् वधाद् दुर्योधनस्य च।
भीम दिष्ट्या पृथिव्यां ते प्रथितं सुमहद् यशः ॥ १४ ॥

'भीम ! शत्रुओंपर अपना प्रभुत्व स्थापित करने और दुर्योधनको मार डालनेसे भाग्यवश इस भूमण्डलमें आपका महान् यश फैल गया है ॥ १४ ॥

एवं नूनं हते वृत्रे शक्रं नन्दन्ति वन्दिनः।
तथा त्वां निहतामित्रं वयं नन्दाम भारत ॥ १५ ॥

'भारत ! निश्चय ही वृत्रासुरके मारे जानेपर वन्दीजनोंने जिस प्रकार इन्द्रका अभिनन्दन किया था, उसी प्रकार हम शत्रुओंका वध करनेवाले आपका अभिनन्दन करते हैं ॥ १५ ॥

दुर्योधनवधे यानि रोमाणि हृषितानि नः।
अद्यापि न विकृष्यन्ते तानि तद् विद्धि भारत ॥ १६ ॥

'भरतनन्दन ! दुर्योधनके वधके समय हमारे शरीरमें जो रोंगटे खड़े हुए थे, वे अब भी ज्यों-के-त्यों हैं, गिर नहीं रहे हैं। इन्हें आप देख लें' ॥ १६ ॥

इत्यब्रुवन् भीमसेनं वातिकास्तत्र सङ्गताः।
तान् हृष्टान् पुरुषव्याघ्रान् पञ्चालान् पाण्डवैः सह॥ १७॥
ब्रुवतोऽसदृशं तत्र प्रोवाच मधुसूदनः।

प्रशंसा करनेवाले वीरगण वहाँ एकत्र होकर भीमसेनसे उपर्युक्त बातें कह रहे थे। भगवान् श्रीकृष्णने जब देखा कि पुरुषसिंह पाञ्चाल और पाण्डव अयोग्य बातें कह रहे हैं, तब वे वहाँ उन सबसे बोले—॥ १७½ ॥

न न्याय्यं निहतं शत्रुं भूयो हन्तुं नराधिपाः ॥ १८ ॥
असकृद् वाग्भिरुग्राभिर्निहतो ह्येष मन्दधीः।

'नरेश्वरो ! मरे हुए शत्रुको पुनः मारना उचित नहीं है। तुमलोगोंने इस मन्दबुद्धि दुर्योधनको बारंबार कठोर वचनोंद्वारा घायल किया है ॥ १८½ ॥

तदैवैष हतः पापो यदैव निरपत्रपः ॥ १९ ॥
लुब्धः पापसहायश्च सुहृदां शासनातिगः।

'यह निर्लज्ज पापी तो उसी समय मर चुका था जब लोभमें फँसा और पापियोंको अपना सहायक बनाकर सुहृदोंके शासनसे दूर रहने लगा ॥ १९½ ॥

बहुशो विदुरद्रोणकृपगाङ्गेयसृंजयैः ॥ २० ॥
पाण्डुभ्यः प्रार्थ्यमानोऽपि पित्र्यमंशं न दत्तवान्।

'विदुर, द्रोणाचार्य, कृपाचार्य, भीष्म तथा संजयोंके बारंबार प्रार्थना करनेपर भी इसने पाण्डवोंको उनका पैतृक भाग नहीं दिया ॥ २०½ ॥

नैष योग्योऽद्य मित्रं वा शत्रुर्वा पुरुषाधमः ॥ २१ ॥
किमनेनातिभुग्नेन वाग्भिः काष्ठसधर्मणा।
रथेष्वारोहत क्षिप्रं गच्छामो वसुधाधिपाः ॥ २२ ॥
दिष्ट्या हतोऽयं पापात्मा सामात्यज्ञातिबान्धवः।

'यह नराधम अब किसी योग्य नहीं है। न यह किसीका मित्र है और न शत्रु। राजाओ ! यह तो सूखे काठके समान कठोर है। इसे कटुवचनोंद्वारा अधिक झुकानेकी चेष्टा करनेसे क्या लाभ ? अब शीघ्र अपने रथोंपर बैठो। हम सब लोग छावनीकी ओर चलें। सौभाग्यसे यह पापात्मा अपने मन्त्री, कुटुम्ब और भाई-बन्धुओंसहित मार डाला गया।'

इति श्रुत्वा त्वधिक्षेपं कृष्णाद् दुर्योधनो नृपः ॥ २३ ॥
अमर्षवशमापन्न उदतिष्ठद् विशाम्पते।
स्फिग्देशेनोपविष्टः स दोर्भ्यां विष्टभ्य मेदिनीम्॥ २४ ॥

प्रजानाथ ! श्रीकृष्णके मुखसे यह आक्षेपयुक्त वचन सुन राजा दुर्योधन अमर्षके वशीभूत होकर उठा और दोनों हाथ पृथ्वीपर टेककर चूतड़के सहारे बैठ गया ॥ २३-२४ ॥

दृष्टिं भ्रुकुटीं कृत्वा वासुदेवे न्यपातयत्।
अर्धोन्नतशरीरस्य रूपमासीन्नृपस्य तु ॥ २५ ॥
क्रुद्धस्याशीविषस्येव छिन्नपुच्छस्य भारत।

तत्पश्चात् उसने श्रीकृष्णकी ओर भौंहें टेढ़ी करके देखा, उसका आधा शरीर उठा हुआ था। उस समय राजा दुर्योधनका रूप उस कुपित विषधरके समान जान पड़ता था, जो पूँछ कट जानेके कारण अपने आधे शरीरको ही उठाकर देख रहा हो ॥ २५½ ॥

प्राणान्तकरिणीं घोरां वेदनामप्यचिन्तयन् ॥ २६ ॥
दुर्योधनो वासुदेवं वाग्भिरुग्राभिरार्दयत्।

उसे प्राणोंका अन्त कर देनेवाली भयंकर वेदना हो रही थी, तो भी उसकी चिन्ता न करते हुए दुर्योधनने अपने कठोर-वचनोंद्वारा वसुदेवनन्दन श्रीकृष्णको पीड़ा देना प्रारम्भ किया—॥ २६½ ॥

कंसदासस्य दायाद न ते लज्जास्त्यनेन वै ॥ २७ ॥
अधर्मेण गदायुद्धे यदहं विनिपातितः।

'ओ कंसके दासके बेटे! मैं जो गदायुद्धमें अधर्मसे मारा गया हूँ, इस कुकृत्यके कारण क्या तुम्हें लज्जा नहीं आती है? ॥ २७½ ॥

ऊरू भिन्धीति भीमस्य स्मृतिं मिथ्या प्रयच्छता॥ २८ ॥
किं न विज्ञातमेतन्मे यदर्जुनमवोचथाः।

'भीमसेनको मेरी जाँघें तोड़ डालनेका मिथ्या स्मरण दिलाते हुए तुमने अर्जुनसे जो कुछ कहा था, क्या वह मुझे ज्ञात नहीं है? ॥ २८½ ॥

घातयित्वा महीपालानृजुयुद्धान् सहस्रशः ॥ २९ ॥
जिह्मैरुपायैर्बहुभिर्न ते लज्जा न ते घृणा।

'सरलतासे धर्मानुकूल युद्ध करनेवाले सहस्रों भूमिपालोंको बहुत-से कुटिल उपायोंद्वारा मरवाकर न तुम्हें लज्जा आती है और न इस बुरे कर्मसे घृणा ही होती है ॥ २९½ ॥

अहन्यहनि शूराणां कुर्वाणः कदनं महत् ॥ ३० ॥
शिखण्डिनं पुरस्कृत्य घातितस्ते पितामहः।

'जो प्रतिदिन शूरवीरोंका भारी संहार मचा रहे थे, उन पितामह भीष्मका तुमने शिखण्डीको आगे रखकर वध कराया ॥ ३०½ ॥

अश्वत्थाम्नः सनामानं हत्वा नागं सुदुर्मते ॥ ३१ ॥
आचार्यो न्यासितः शस्त्रं किं तन्न विदितं मया।

'दुर्मते! अश्वत्थामाके सदृश नामवाले एक हाथीको मारकर तुमलोगोंने द्रोणाचार्यके हाथसे शस्त्र नीचे डलवा दिया था, क्या वह मुझे ज्ञात नहीं है? ॥ ३१½ ॥

स चानेन नृशंसेन धृष्टद्युम्नेन वीर्यवान् ॥ ३२ ॥
पात्यमानस्त्वया दृष्टो न चैनं त्वमवारयः।

'इस नृशंस धृष्टद्युम्नने पराक्रमी आचार्यको उस अवस्थामें मार गिराया, जिसे तुमने अपनी आँखों देखा; किंतु मना नहीं किया ॥ ३२½ ॥

वधार्थं पाण्डुपुत्रस्य याचितां शक्तिमेव च ॥ ३३ ॥
घटोत्कचे व्यंसयतः कस्त्वत्तः पापकृत्तमः।

'पाण्डुपुत्र अर्जुनके वधके लिये माँगी हुई इन्द्रकी शक्तिको तुमने घटोत्कचपर छुड़वा दिया। तुमसे बढ़कर महापापी कौन हो सकता है? ॥ ३३½ ॥

छिन्नहस्तः प्रायगतस्तथा भूरिश्रवा बली ॥ ३४ ॥
त्वयाभिसृष्टेन हतः शैनेयेन महात्मना।

'बलवान् भूरिश्रवाका हाथ कट गया था और वे आमरण अनशनका व्रत लेकर बैठे हुए थे। उस दशामें तुमसे ही प्रेरित होकर महामना सात्यकिने उनका वध किया॥

कुर्वाणश्चोत्तमं कर्म कर्णः पार्थजिगीषया ॥ ३५ ॥
व्यंसनेनाश्वसेनस्य पन्नगेन्द्रस्य वै पुनः।
पुनश्च पतिते चक्रे व्यसनार्तः पराजितः ॥ ३६ ॥
पातितः समरे कर्णश्चक्रव्यग्रोऽग्रणीर्नृणाम्।

'मनुष्योंमें अग्रगण्य कर्ण अर्जुनको जीतनेकी इच्छासे उत्तम पराक्रम कर रहा था। उस समय नागराज अश्वसेनको जो कर्णके बाणके साथ अर्जुनके वधके लिये जा रहा था, तुमने अपने प्रयत्नसे विफल कर दिया। फिर जब कर्णके रथका पहिया गड्ढेमें गिर गया और वह उसे उठानेमें व्यग्रतापूर्वक संलग्न हुआ, उस समय उसे संकटसे पीड़ित एवं पराजित जानकर तुमलोगोंने मार गिराया॥ ३५—३६½ ॥

यदि मां चापि कर्णं च भीष्मद्रोणौ च संयुतौ॥ ३७ ॥
ऋजुना प्रतियुध्येथा न ते स्याद् विजयो ध्रुवम्।

'यदि मेरे, कर्णके तथा भीष्म और द्रोणाचार्यके साथ मायारहित सरलभावसे तुम युद्ध करते तो निश्चय ही तुम्हारे पक्षकी विजय नहीं होती ॥ ३७½ ॥

त्वया पुनरनार्येण जिह्ममार्गेण पार्थिवाः ॥ ३८ ॥
स्वधर्ममनुतिष्ठन्तो वयं चान्ये च घातिताः।

'परंतु तुम-जैसे अनार्यने कुटिल मार्गका आश्रय लेकर स्वधर्म-पालनमें लगे हुए हमलोगोंका तथा दूसरे राजाओंका भी वध करवाया है' ॥ ३८½ ॥

वासुदेव उवाच

हतस्त्वमसि गान्धारे सभ्रातृसुतबान्धवः ॥ ३९ ॥
सगणः ससुहृच्चैव पापं मार्गमनुष्ठितः।
तवैव दुष्कृतैर्वीरौ भीष्मद्रोणौ निपातितौ ॥ ४० ॥
कर्णश्च निहतः संख्ये तव शीलानुवर्तकः।

भगवान् श्रीकृष्ण बोले—गान्धारीनन्दन! तुमने पापके रास्तेपर पैर रक्खा था; इसीलिये तुम भाई, पुत्र, बान्धव, सेवक और सुहृद्गणोंसहित मारे गये हो। वीर भीष्म और द्रोणाचार्य तुम्हारे दुष्कर्मोंसे ही मारे गये हैं। कर्ण भी तुम्हारे स्वभावका ही अनुसरण करनेवाला था; इसलिये युद्धमें मारा गया ॥ ३९-४०½ ॥

याच्यमानं मया मूढ पित्र्यमंशं न दित्ससि ॥ ४१ ॥
पाण्डवेभ्यः स्वराज्यं च लोभाच्छकुनिनिश्चयात्।

ओ मूर्ख! तुम शकुनिकी सलाह मानकर मेरे माँगनेपर भी पाण्डवोंको उनकी पैतृकसम्पत्ति, उनका अपना राज्य लोभवश नहीं देना चाहते थे ॥ ४१½ ॥

विषं ते भीमसेनाय दत्तं सर्वे च पाण्डवाः ॥ ४२ ॥
प्रदीपिता जतुगृहे मात्रा सह सुदुर्मते ।
सभायां याज्ञसेनी च कृष्टा द्यूते रजस्वला ॥ ४३ ॥
तदैव तावद् दुष्टात्मन् वध्यस्त्वं निरपत्रप ।

सुदुर्मते ! तुमने जब भीमसेनको विष दिया, समस्त पाण्डवोंको उनकी माताके साथ लाक्षागृहमें जला डालनेका प्रयत्न किया और निर्लज्ज ! दुष्टात्मन् ! द्यूतक्रीड़ाके समय भरी सभामें रजस्वला द्रौपदीको जब तुमलोग घसीट लाये, तभी तुम वधके योग्य हो गये थे ॥ ४२-४३½ ॥

अनक्षज्ञं च धर्मज्ञं सौबलेनाक्षवेदिना ॥ ४४ ॥
निकृत्या यत् पराजैषीस्तस्मादसि हतो रणे ।

तुमने द्यूतक्रीड़ाके जानकार सुबलपुत्र शकुनिके द्वारा उस कलाको न जाननेवाले धर्मज्ञ युधिष्ठिरको, जो छलसे पराजित किया था, उसी पापसे तुम रणभूमिमें मारे गये हो ॥४४½॥

जयद्रथेन पापेन यत् कृष्णा क्लेशिता वने ॥ ४५ ॥
यातेषु मृगयां चैव तृणबिन्दोरथाश्रमम् ।
अभिमन्युश्च यद् बाल एको बहुभिराहवे ॥ ४६ ॥
त्वद्दोषैर्निहतः पाप तस्मादसि हतो रणे ।

जब पाण्डव शिकारके लिये तृणबिन्दुके आश्रमपर चले गये थे, उस समय पापी जयद्रथने वनके भीतर द्रौपदीको जो क्लेश पहुँचाया और पापात्मन् ! तुम्हारे ही अपराधसे बहुत-से योद्धाओंने मिलकर युद्धस्थलमें जो अकेले बालक अभिमन्यु-का वध किया था, इन्हीं सब कारणोंसे आज तुम भी रण-भूमिमें मारे गये हो ॥ ४५-४६½ ॥

(कुर्वाणं कर्म समरे पाण्डवानर्थकाङ्क्षिणम् ।
यच्छिखण्ड्यवधीद् भीष्मं मित्रार्थे न व्यतिक्रमः॥

भीष्म पाण्डवोंके अनर्थकी इच्छा रखकर समरभूमिमें पराक्रम प्रकट कर रहे थे । उस समय अपने मित्रोंके हितके लिये शिखण्डीने जो उनका वध किया है, वह कोई दोष या अपराधकी बात नहीं है ॥

स्वधर्मं पृष्ठतः कृत्वा आचार्यस्त्वत्प्रियेप्सया ।
पार्षतेन हतः संख्ये वर्तमानोऽसतां पथि ॥

आचार्य द्रोण तुम्हारा प्रिय करनेकी इच्छासे अपने धर्म-को पीछे करके असाधु पुरुषोंके मार्गपर चल रहे थे; अतः युद्धस्थलमें धृष्टद्युम्नने उनका वध किया है ॥

प्रतिज्ञामात्मनः सत्यां चिकीर्षन् समरे रिपुम् ।
हतवान् सात्वतो विद्वान् सौमदत्तिं महारथम्॥

विद्वान् सात्वतवंशी सात्यकिने अपनी सच्ची प्रतिज्ञाका पालन करनेकी इच्छासे समराङ्गणमें अपने शत्रु महारथी भूरिश्रवाका वध किया था ॥

अर्जुनः समरे राजन् युध्यमानः कदाचन ।
निन्दितं पुरुषव्याघ्रः करोति न कथंचन ॥

राजन् ! समरभूमिमें युद्ध करते हुए पुरुषसिंह अर्जुन कभी किसी प्रकार भी कोई निन्दित कार्य नहीं करते हैं ॥

लब्ध्वापि बहुशश्छिद्रं वीरवृत्तमनुस्मरन् ।
न जघान रणे कर्णं मैवं वोचः सुदुर्मते ॥

दुर्मते ! अर्जुनने वीरोचित सदाचारका विचार करके बहुत-से छिद्र (प्रहार करनेके अवसर) पाकर भी युद्धमें कर्णका वध नहीं किया है; अतः तुम उनके विषयमें ऐसी बात न कहो ॥

देवानां मतमाज्ञाय तेषां प्रियहितेप्सया ।
नार्जुनस्य महानागं मया व्यंसितमस्त्रजम् ॥

देवताओंका मत जानकर उनका प्रिय और हित करनेकी इच्छासे मैंने अर्जुनपर महानागास्त्रका प्रहार नहीं होने दिया। उसे विफल कर दिया ॥

त्वं च भीष्मश्च कर्णश्च द्रोणो द्रौणिस्तथा कृपः ।
विराटनगरे तस्य आनृशंस्याच्च जीविताः ॥

तुम, भीष्म, कर्ण, द्रोण, अश्वत्थामा तथा कृपाचार्य विराटनगरमें अर्जुनकी दयालुतासे ही जीवित बच गये ॥

स्मर पार्थस्य विक्रान्तं गन्धर्वेषु कृतं तदा ।
अधर्मः कोऽत्र गान्धारे पाण्डवैर्यत् कृतं त्वयि॥

याद करो, अर्जुनके उस पराक्रमको; जो उन्होंने तुम्हारे लिये उन दिनों गन्धर्वोंपर प्रकट किया था । गान्धारीनन्दन ! पाण्डवोंने यहाँ तुम्हारे साथ जो बर्ताव किया है, उसमें कौन-सा अधर्म है ॥

स्वबाहुबलमास्थाय स्वधर्मेण परंतपाः ।
जितवन्तो रणे वीरा पापोऽसि निधनं गतः ॥)

शत्रुओंको संताप देनेवाले वीर पाण्डवोंने अपने बाहुबल-का आश्रय लेकर क्षत्रिय-धर्मके अनुसार विजय पायी है । तुम पापी हो, इसीलिये मारे गये हो ॥

यान्यकार्याणि चास्माकं कृतानीति प्रभाषसे ॥ ४७ ॥
वैगुण्येन तवात्यर्थं सर्वं हि तदनुष्ठितम् ।

तुम जिन्हें हमारे किये हुए अनुचित कार्य बता रहे हो, वे सब तुम्हारे महान् दोषसे ही किये गये हैं ॥ ४७½ ॥

बृहस्पतेरुशनसो नोपदेशः श्रुतस्त्वया ॥ ४८ ॥
वृद्धा नोपासिताश्चैव हितं वाक्यं न ते श्रुतम् ।

तुमने बृहस्पति और शुक्राचार्यके नीतिसम्बन्धी उपदेश-को नहीं सुना है, बड़े-बूढ़ोंकी उपासना नहीं की है और उनके हितकर वचन भी नहीं सुने हैं ॥ ४८½ ॥

लोभेनातिबलेन त्वं तृष्णया च वशीकृतः ॥ ४९ ॥
कृतवानस्यकार्याणि विपाकस्तस्य भुज्यताम् ।

तुमने अत्यन्त प्रबल लोभ और तृष्णाके वशीभूत होकर न करने योग्य कार्य किये हैं; अतः उनका परिणाम अब तुम्हीं भोगो ॥ ४९½ ॥

दुर्योधन उवाच

अधीतं विधिवद् दत्तं भूः प्रशास्ता ससागरा ॥ ५० ॥
मूर्ध्नि स्थितममित्राणां को नु स्वन्ततरो मया ।

दुर्योधनने कहा—मैंने विधिपूर्वक अध्ययन किया, दान दिये, समुद्रोंसहित पृथ्वीका शासन किया और शत्रुओंके मस्तकपर पैर रखकर मैं खड़ा रहा। मेरे समान उत्तम अन्त (परिणाम) किसका हुआ है ? ॥ ५०½ ॥

यदिष्टं क्षत्रबन्धूनां स्वधर्ममनुपश्यताम् ॥ ५१ ॥
तदिदं निधनं प्राप्तं को नु स्वन्ततरो मया ।

अपने धर्मपर दृष्टि रखनेवाले क्षत्रिय-बन्धुओंको जो अभीष्ट है, वही यह मृत्यु मुझे प्राप्त हुई है; अतः मुझसे अच्छा अन्त और किसका हुआ है ? ॥ ५१½ ॥

देवार्हा मानुषा भोगाः प्राप्ता असुलभा नृपैः ॥ ५२ ॥
ऐश्वर्यं चोत्तमं प्राप्तं को नु स्वन्ततरो मया ।

जो दूसरे राजाओंके लिये दुर्लभ हैं, वे देवताओंको ही सुलभ होनेवाले मानवभोग मुझे प्राप्त हुए हैं। मैंने उत्तम ऐश्वर्य पा लिया है; अतः मुझसे उत्कृष्ट अन्त और किसका हुआ है ?॥ ५२½ ॥

ससुहृत् सानुगश्चैव स्वर्गं गन्ताहमच्युत ॥ ५३ ॥
यूयं निहतसंकल्पाः शोचन्तो वर्तयिष्यथ ।

अच्युत ! मैं सुहृदों और सेवकोंसहित स्वर्गलोकमें जाऊँगा और तुमलोग भग्नमनोरथ होकर शोचनीय जीवन बिताते रहोगे ॥ ५३½ ॥

(न मे विषादो भीमेन पादेन शिर आहतम् ।
काका वा कङ्कगृध्रा वा निधास्यन्ति पदं क्षणात् ॥)

भीमसेनने अपने पैरसे जो मेरे सिरपर आघात किया है, इसके लिये मुझे कोई खेद नहीं है; क्योंकि अभी क्षणभरके बाद कौए, कङ्क अथवा गृध्र भी तो इस शरीरपर अपना पैर रक्खेंगे ॥

संजय उवाच

अस्य वाक्यस्य निधने कुरुराजस्य धीमतः ॥ ५४ ॥
अपतत् सुमहद् वर्षं पुष्पाणां पुण्यगन्धिनाम् ।

संजय कहते हैं—राजन् ! बुद्धिमान् कुरुराज दुर्योधनकी यह बात पूरी होते ही उसके ऊपर पवित्र सुगंधवाले पुष्पोंकी बड़ी भारी वर्षा होने लगी ॥ ५४½ ॥

अवादयन्त गन्धर्वा वादित्रं सुमनोहरम् ॥ ५५ ॥
जगुश्चाप्सरसो राज्ञो यशःसम्बद्धमेव च ।

गन्धर्वगण अत्यन्त मनोहर बाजे बजाने लगे और अप्सराएँ राजा दुर्योधनके सुयशसम्बन्धी गीत गाने लगीं॥ ५५½ ॥

सिद्धाश्च मुमुचुर्वाचः साधु साध्विति पार्थिव ॥ ५६ ॥
ववौ च सुरभिर्वायुः पुण्यगन्धो मृदुः सुखः ।
व्यराजंश्च दिशः सर्वा नभो वैदूर्यसंनिभम् ॥ ५७ ॥

राजन् ! उस समय सिद्धगण बोल उठे—'बहुत अच्छा, बहुत अच्छा' । फिर पवित्र गन्धवाली मनोहर, मृदुल एवं सुखदायक हवा चलने लगी। सारी दिशाओंमें प्रकाश छा गया और आकाश नीलमके समान चमक उठा ॥ ५६-५७ ॥

अत्यद्भुतानि ते दृष्ट्वा वासुदेवपुरोगमाः ।
दुर्योधनस्य पूजां तु दृष्ट्वा व्रीडामुपागमन् ॥ ५८ ॥

श्रीकृष्ण आदि सब लोग ये अद्भुत बातें और दुर्योधनकी यह पूजा देखकर बहुत लज्जित हुए ॥ ५८ ॥

हतांश्चाधर्मतः श्रुत्वा शोकार्ताः शुशुचुर्हि ते ।
भीष्मं द्रोणं तथा कर्णं भूरिश्रवसमेव च ॥ ५९ ॥

भीष्म, द्रोण, कर्ण और भूरिश्रवाको अधर्मपूर्वक मारा गया सुनकर सब लोग शोकसे व्याकुल हो खेद प्रकट करने लगे ॥ ५९ ॥

तांस्तु चिन्तापरान् दृष्ट्वा पाण्डवान् दीनचेतसः ।
प्रोवाचेदं वचः कृष्णो मेघदुन्दुभिनिस्वनः ॥ ६० ॥

पाण्डवोंको दीनचित्त एवं चिन्तामग्न देख मेघ और दुन्दुभिके समान गम्भीर घोष करनेवाले श्रीकृष्णने इस प्रकार कहा—॥ ६० ॥

नैष शक्योऽतिशीघ्रास्त्रस्ते च सर्वे महारथाः ।
ऋजुयुद्धेन विक्रान्ता हन्तुं युष्माभिराहवे ॥ ६१ ॥

'यह दुर्योधन अत्यन्त शीघ्रतापूर्वक अस्त्र चलानेवाला था, अतः इसे कोई जीत नहीं सकता था और वे भीष्म, द्रोण आदि महारथी भी बड़े पराक्रमी थे। उन्हें धर्मानुकूल सरलतापूर्वक युद्धके द्वारा आपलोग नहीं मार सकते थे ॥ ६१ ॥

नैष शक्यः कदाचित् तु हन्तुं धर्मेण पार्थिवः ।
ते वा भीष्ममुखाः सर्वे महेष्वासा महारथाः ॥ ६२ ॥

'यह राजा दुर्योधन अथवा वे भीष्म आदि सभी महाधनुर्धर महारथी कभी धर्मयुद्धके द्वारा नहीं मारे जा सकते थे ॥ ६२ ॥

मयानेकैरुपायैस्तु मायायोगेन चासकृत् ।
हतास्ते सर्व एवाजौ भवतां हितमिच्छता ॥ ६३ ॥

'आपलोगोंका हित चाहते हुए मैंने ही बारंबार मायाका प्रयोग करके अनेक उपायोंसे युद्धस्थलमें उन सबका वध किया ॥ ६३ ॥

यदि नैवंविधं जातु कुर्यां जिह्ममहं रणे ।
कुतो वो विजयो भूयः कुतो राज्यं कुतो धनम्॥ ६४ ॥

'यदि कदाचित् युद्धमें मैं इस प्रकार कपटपूर्ण कार्य नहीं करता तो फिर तुम्हें विजय कैसे प्राप्त होती, राज्य कैसे हाथमें आता और धन कैसे मिल सकता था ? ॥ ६४ ॥

ते हि सर्वे महात्मानश्चत्वारोऽतिरथा भुवि ।
न शक्या धर्मतो हन्तुं लोकपालैरपि स्वयम् ॥ ६५ ॥

'भीष्म, द्रोण, कर्ण और भूरिश्रवा—ये चारों महामना इस भूतलपर अतिरथीके रूपमें विख्यात थे। साक्षात् लोकपाल भी धर्मयुद्ध करके उन सबको नहीं मार सकते थे ॥६५॥

तथैवायं गदापाणिर्धार्तराष्ट्रो गतक्लमः ।
न शक्यो धर्मतो हन्तुं कालेनापीह दण्डिना ॥ ६६ ॥

'यह गदाधारी धृतराष्ट्रपुत्र दुर्योधन भी युद्धसे थकता नहीं था, इसे दण्डधारी काल भी धर्मानुकूल युद्धके द्वारा नहीं मार सकता था ॥ ६६ ॥

न च वो हृदि कर्तव्यं यदयं घातितो रिपुः ।
मिथ्यावध्यास्तथोपायैर्बहवः शत्रवोऽधिकाः ॥ ६७ ॥

'इस प्रकार जो यह शत्रु मारा गया है इसके लिये तुम्हें अपने मनमें विचार नहीं करना चाहिये ? बहुतेरे अधिक शक्तिशाली शत्रु नाना प्रकारके उपायों और कूटनीतिके प्रयोगोंद्वारा मारनेके योग्य होते हैं ॥ ६७ ॥

पूर्वैरनुगतो मार्गो देवैरसुरघातिभिः ।
सद्भिश्चानुगतः पन्थाः स सर्वैरनुगम्यते ॥ ६८ ॥

'असुरोंका विनाश करनेवाले पूर्ववर्ती देवताओंने इस मार्गका आश्रय लिया है। श्रेष्ठ पुरुष जिस मार्गसे चले हैं, उसका सभी लोग अनुसरण करते हैं ॥ ६८ ॥

कृतकृत्याश्च सायाह्ने निवासं रोचयामहे ।
साश्वनागरथाः सर्वे विश्रमामो नराधिपाः ॥ ६९ ॥

'अब हमलोगोंका कार्य पूरा हो गया, अतः सायंकालके समय विश्राम करनेकी इच्छा हो रही है। राजाओ! हम सब लोग घोड़े, हाथी एवं रथसहित विश्राम करें' ॥ ६९ ॥

वासुदेववचः श्रुत्वा तदानीं पाण्डवैः सह ।
पञ्चाला भृशसंहृष्टा विनेदुः सिंहसंघवत् ॥ ७० ॥

भगवान् श्रीकृष्णका यह वचन सुनकर उस समय पाण्डवोंसहित समस्त पाञ्चाल अत्यन्त प्रसन्न हुए और सिंहसमुदायके समान दहाड़ने लगे ॥ ७० ॥

ततः प्राध्मापयञ्शङ्खान् पाञ्चजन्यं च माधवः ।
हृष्टा दुर्योधनं दृष्ट्वा निहतं पुरुषर्षभ ॥ ७१ ॥

पुरुषप्रवर! तदनन्तर भगवान् श्रीकृष्ण तथा अन्य लोग दुर्योधनको मारा गया देख हर्षमें भरकर अपने-अपने शङ्ख बजाने लगे। श्रीकृष्णने पाञ्चजन्य शङ्ख बजाया ॥ ७१ ॥

(देवदत्तं प्रहृष्टात्मा शङ्खप्रवरमर्जुनः ।
अनन्तविजयं राजा कुन्तीपुत्रो युधिष्ठिरः ॥
पौण्ड्रं दध्मौ महाशङ्खं भीमकर्मा वृकोदरः ।

प्रसन्नचित्त अर्जुनने देवदत्त नामक श्रेष्ठ शङ्खकी ध्वनि की। कुन्तीपुत्र राजा युधिष्ठिरने अनन्तविजय तथा भयंकर कर्म करनेवाले भीमसेनने पौण्ड्र नामक महान् शङ्ख बजाया ॥

नकुलः सहदेवश्च सुघोषमणिपुष्पकौ ॥
धृष्टद्युम्नस्तथा जैत्रं सात्यकिर्नन्दिवर्धनम् ।
तेषां नादेन महता शङ्खानां भरतर्षभ ॥
आपुपूरे नभः सर्वं पृथिवी च चचाल ह ॥

नकुल और सहदेवने क्रमशः सुघोष और मणिपुष्पक नामक शङ्ख बजाये। धृष्टद्युम्नने जैत्र और सात्यकिने नन्दिवर्धन नामक शङ्खकी ध्वनि फैलायी। भरतश्रेष्ठ! उन महान् शङ्खोंके शब्दसे सारा आकाश भर गया और धरती डोलने लगी ॥

ततः शङ्खाश्च भेर्यश्च पणवानकगोमुखाः ।
पाण्डुसैन्येष्ववाद्यन्त स शब्दस्तुमुलोऽभवत् ॥
अस्तुवन् पाण्डवानन्ये गीर्भिश्च स्तुतिमङ्गलैः ।)

तत्पश्चात् पाण्डवसेनाओंमें शङ्ख, भेरी, पणव, आनक और गोमुख आदि बाजे बजाये जाने लगे। उन सबकी मिली-जुली आवाज बड़ी भयानक जान पड़ती थी। उस समय अन्य बहुत-से मनुष्य स्तुति एवं मङ्गलमय वचनोंद्वारा पाण्डवोंका स्तवन करने लगे ॥

इति श्रीमहाभारते शल्यपर्वणि गदापर्वणि कृष्णपाण्डवदुर्योधनसंवादे एकषष्टितमोऽध्यायः ॥ ६१ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शल्यपर्वके अन्तर्गत गदापर्वमें श्रीकृष्ण, पाण्डव और दुर्योधनका संवादविषयक इकसठवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ६१ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठके १५ श्लोक मिलाकर कुल ८६ श्लोक हैं)

द्विषष्टितमोऽध्यायः

पाण्डवोंका कौरव शिबिरमें पहुँचना, अर्जुनके रथका दग्ध होना और पाण्डवोंका भगवान् श्रीकृष्णको हस्तिनापुर भेजना

संजय उवाच

ततस्ते प्रययुः सर्वे निवासाय महीक्षितः ।
शङ्खान् प्रध्मापयन्तो वै हृष्टाः परिघबाहवः ॥ १ ॥

संजय कहते हैं—राजन्! तदनन्तर परिघके समान मोटी भुजाओंवाले सब नरेश अपना-अपना शङ्ख बजाते हुए शिबिरमें विश्राम करनेके लिये प्रसन्नतापूर्वक चल दिये ॥ १ ॥

पाण्डवान् गच्छतश्चापि शिबिरं नो विशाम्पते ।
महेष्वासोऽन्वगात् पश्चाद् युयुत्सुः सात्यकिस्तथा ॥ २ ॥
धृष्टद्युम्नः शिखण्डी च द्रौपदेयाश्च सर्वशः ।
सर्वे चान्ये महेष्वासाः प्रययुः शिबिराण्युत ॥ ३ ॥

प्रजानाथ! हमारे शिबिरकी ओर जाते हुए पाण्डवोंके पीछे-पीछे महाधनुर्धर युयुत्सु, सात्यकि, धृष्टद्युम्न, शिखण्डी, द्रौपदीके सभी पुत्र तथा अन्य सब धनुर्धर योद्धा भी उन शिबिरोंमें गये ॥ २-३ ॥

ततस्ते प्राविशन् पार्था हतत्विट्कं हतेश्वरम् ।
दुर्योधनस्य शिबिरं रङ्गवद्विसृते जने ॥ ४ ॥
गतोत्सवं पुरमिव हृतनागमिव ह्रदम् ।
स्त्रीवर्षवरभूयिष्ठं वृद्धामात्यैरधिष्ठितम् ॥ ५ ॥

तत्पश्चात् कुन्तीके पुत्रोंने पहले दुर्योधनके शिबिरमें प्रवेश किया। जैसे दर्शकोंके चले जानेपर सूना रङ्गमण्डप शोभाहीन दिखायी देता है, उसी प्रकार जिसका स्वामी मारा गया था, वह शिबिर उत्सवशून्य नगर और नागरहित सरोवरके समान श्रीहीन जान पड़ता था। वहाँ रहनेवाले लोगोंमें अधिकांश स्त्रियाँ और नपुंसक थे तथा बूढ़े मन्त्री

[illegible] बनकर उस शिविरका संरक्षण कर रहे थे ॥४-५॥

तत्रैनान् पर्युपातिष्ठन् दुर्योधनपुरःसराः ।
कृताञ्जलिपुटा राजन् काषायमलिनाम्बराः ॥ ६ ॥

राजन्! वहाँ दुर्योधनके आगे-आगे चलनेवाले सेवकगण मलिन भगवा वस्त्र पहनकर हाथ जोड़े हुए इन पाण्डवोंके समक्ष उपस्थित हुए ॥ ६ ॥

शिबिरं समनुप्राप्य कुरुराजस्य पाण्डवाः ।
अवतेरुर्महाराज रथेभ्यो रथसत्तमाः ॥ ७ ॥

महाराज! कुरुराजके शिविरमें पहुँचकर रथियोंमें श्रेष्ठ पाण्डव अपने रथोंसे नीचे उतरे ॥ ७ ॥

ततो गाण्डीवधन्वानमभ्यभाषत केशवः ।
स्थितः प्रियहिते नित्यमतीव भरतर्षभ ॥ ८ ॥
अवरोपय गाण्डीवमक्षय्यौ च महेषुधी ।
अथाहमवरोक्ष्यामि पश्चाद् भरतसत्तम ॥ ९ ॥
स्वयं चैवावरोह त्वमेतच्छ्रेयस्तवानघ ।

भरतश्रेष्ठ! तत्पश्चात् सदा अर्जुनके प्रिय एवं हितमें तत्पर रहनेवाले भगवान् श्रीकृष्णने गाण्डीवधारी अर्जुनसे कहा—'भरतवंशशिरोमणे! तुम गाण्डीव धनुषको और इन दोनों बाणोंसे भरे हुए अक्षय तरकसोंको उतार लो। फिर स्वयं भी उतर जाओ। इसके बाद मैं उतरूँगा। अनघ! ऐसा करनेमें ही तुम्हारी भलाई है' ॥ ८-९½ ॥

तच्चाकरोत् तथा वीरः पाण्डुपुत्रो धनंजयः ॥ १० ॥
अथ पश्चात् ततः कृष्णो रश्मीनुत्सृज्य वाजिनाम् ।
अवारोहत मेधावी रथाद् गाण्डीवधन्वनः ॥ ११ ॥

वीर पाण्डुपुत्र अर्जुनने वह सब वैसे ही किया। तदनन्तर परम बुद्धिमान् भगवान् श्रीकृष्ण घोड़ोंकी बागडोर छोड़कर गाण्डीवधारी अर्जुनके रथसे स्वयं भी उतर पड़े ॥ १०-११ ॥

अथावतीर्णे भूतानामीश्वरे सुमहात्मनि ।
कपिरन्तर्दधे दिव्यो ध्वजो गाण्डीवधन्वनः ॥ १२ ॥

समस्त प्राणियोंके ईश्वर परमात्मा श्रीकृष्णके उतरते ही गाण्डीवधारी अर्जुनका ध्वजस्वरूप दिव्य वानर उस रथसे अन्तर्धान हो गया ॥ १२॥

स दग्धो द्रोणकर्णाभ्यां दिव्यैरस्त्रैर्महारथः ।
अथार्दीप्तोऽग्निना ह्याशु प्रजज्वाल महीपते ॥ १३ ॥

पृथ्वीनाथ! इसके बाद अर्जुनका वह विशाल रथ, जो द्रोण और कर्णके दिव्यास्त्रोंद्वारा दग्धप्राय हो गया था, तुरंत ही आगसे प्रज्वलित हो उठा ॥ १३ ॥

सोपासङ्गः सरश्मिश्च साश्वः सयुगबन्धुरः ।
भस्मीभूतोऽपतद् भूमौ रथो गाण्डीवधन्वनः ॥ १४ ॥

गाण्डीवधारीका वह रथ उपासङ्ग, बागडोर, जूआ, बन्धुरकाष्ठ और घोड़ोंसहित भस्म होकर भूमिपर गिर पड़ा ॥

तं तथा भस्मभूतं तु दृष्ट्वा पाण्डुसुताः प्रभो ।
अभवन् विस्मिता राजन्नर्जुनश्चेदमब्रवीत् ॥ १५ ॥
कृताञ्जलिः सप्रणयं प्रणिपत्याभिवाद्य ह ।
गोविन्द कस्माद् भगवन् रथो दग्धोऽयमग्निना ॥ १६ ॥
किमेतन्महदाश्चर्यमभवद् यदुनन्दन ।
तन्मे ब्रूहि महाबाहो श्रोतव्यं यदि मन्यसे ॥ १७ ॥

प्रभो! नरेश्वर! उस रथको भस्मीभूत हुआ देख समस्त पाण्डव आश्चर्यचकित हो उठे और अर्जुनने भी हाथ जोड़कर भगवान्के चरणोंमें बारंबार प्रणाम करके प्रेमपूर्वक पूछा—'गोविन्द! यह रथ अकस्मात् कैसे आगसे जल गया? भगवन्! यदुनन्दन! यह कैसी महान् आश्चर्यकी बात हो गयी? महाबाहो! यदि आप सुनने योग्य समझें तो इसका रहस्य मुझे बतावें' ॥ १५—१७ ॥

वासुदेव उवाच

अस्त्रैर्बहुविधैर्दग्धः पूर्वमेवायमर्जुन ।
मदधिष्ठितत्वात् समरे न विशीर्णः परंतप ॥ १८ ॥

श्रीकृष्णने कहा—शत्रुओंको संताप देनेवाले अर्जुन! यह रथ नाना प्रकारके अस्त्रोंद्वारा पहले ही दग्ध हो चुका था; परंतु मेरे बैठे रहनेके कारण समराङ्गणमें भस्म होकर गिर न सका ॥ १८ ॥

इदानीं तु विशीर्णोऽयं दग्धो ब्रह्मास्त्रतेजसा ।
मया विमुक्तः कौन्तेय त्वय्यद्य कृतकर्मणि ॥ १९ ॥

कुन्तीनन्दन! आज जब तुम अपना अभीष्ट कार्य पूर्ण कर चुके हो, तब मैंने इसे छोड़ दिया है; इसलिये पहलेसे ही ब्रह्मास्त्रके तेजसे दग्ध हुआ यह रथ इस समय बिखरकर गिर पड़ा है ॥ १९ ॥

ईषदुत्स्मयमानस्तु भगवान् केशवोऽरिहा ।
परिष्वज्य च राजानं युधिष्ठिरमभाषत ॥ २० ॥

इसके बाद शत्रुओंका संहार करनेवाले भगवान् श्रीकृष्णने किञ्चित् मुस्कराते हुए वहाँ राजा युधिष्ठिरको हृदयसे लगाकर कहा— ॥ २० ॥

दिष्ट्या जयसि कौन्तेय दिष्ट्या ते शत्रवो जिताः ।
दिष्ट्या गाण्डीवधन्वा च भीमसेनश्च पाण्डवः ॥ २१ ॥
त्वं चापि कुशली राजन् माद्रीपुत्रौ च पाण्डवौ ।
मुक्ता वीरक्षयादस्मात् संग्रामान्निहतद्विषः ॥ २२ ॥

'कुन्तीनन्दन! सौभाग्यसे आपकी विजय हुई और सारे शत्रु परास्त हो गये। राजन्! गाण्डीवधारी अर्जुन, पाण्डुकुमार भीमसेन, आप और माद्रीपुत्र पाण्डुनन्दन नकुल-सहदेव—ये सब-के-सब सकुशल हैं तथा जहाँ वीरोंका विनाश हुआ और तुम्हारे सारे शत्रु कालके गालमें चले गये, उस घोर संग्रामसे तुमलोग जीवित बच गये, यह बड़े सौभाग्यकी बात है ॥ २१-२२ ॥
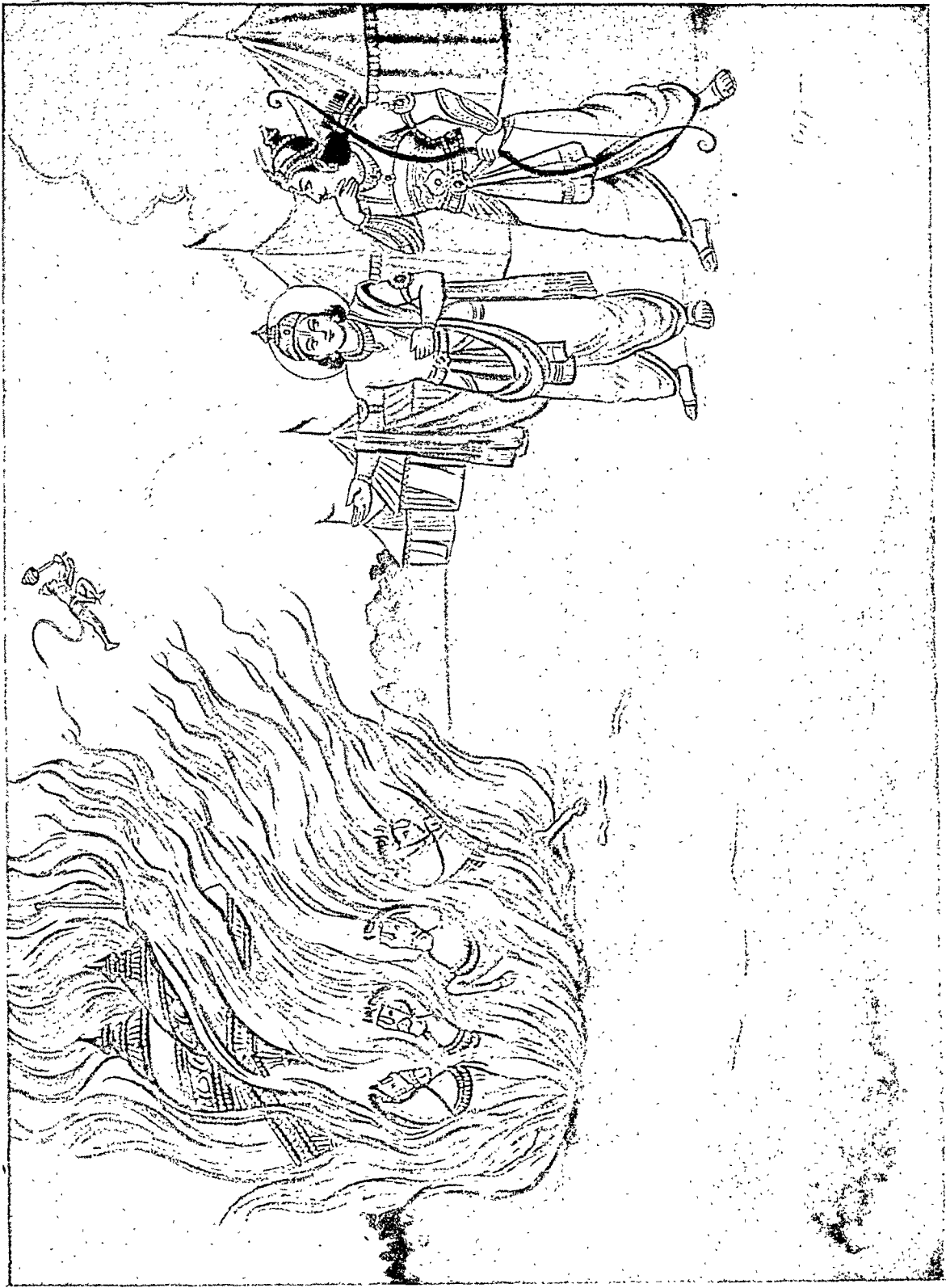
युद्धके अन्तमें अर्जुनके रथका दाह

क्षिप्रमुत्तरकालानि कुरु कार्याणि भारत।
उपायातमुपप्लव्यं सह गाण्डीवधन्वना ॥ २३ ॥
आनीय मधुपर्कं मां यत् पुरा त्वमवोचथाः।
एष भ्राता सखा चैव तव कृष्ण धनंजयः ॥ २४ ॥
रक्षितव्यो महाबाहो सर्वास्वापत्स्विति प्रभो।

'भरतनन्दन ! अब आगे समयानुसार जो कार्य प्राप्त हो उसे शीघ्र कर डालिये। पहले गाण्डीवधारी अर्जुनके साथ जब मैं उपप्लव्य नगरमें आया था, उस समय मेरे लिये मधुपर्क अर्पित करके आपने मुझसे यह बात कही थी कि 'श्रीकृष्ण ! यह अर्जुन तुम्हारा भाई और सखा है। प्रभो ! महाबाहो ! तुम्हें इसकी सब आपत्तियोंसे रक्षा करनी चाहिये' २३-२४½

तव चैव ब्रुवाणस्य तथेत्येवाहमब्रुवम् ॥ २५ ॥
स सव्यसाची गुप्तस्ते विजयी च जनेश्वर।
भ्रातृभिः सह राजेन्द्र शूरः सत्यपराक्रमः ॥ २६ ॥
मुक्तो वीरक्षयादस्मात् संग्रामाल्लोमहर्षणात्।

'आपने जब ऐसा कहा, तब मैंने 'तथास्तु' कहकर वह आज्ञा स्वीकार कर ली थी। जनेश्वर ! राजेन्द्र ! आपका वह शूरवीर, सत्यपराक्रमी भाई सव्यसाची अर्जुन मेरे द्वारा सुरक्षित रहकर विजयी हुआ है तथा वीरोंका विनाश करनेवाले इस रोमाञ्चकारी संग्रामसे भाइयोंसहित जीवित बच गया है' ॥ २५-२६½ ॥

एवमुक्तस्तु कृष्णेन धर्मराजो युधिष्ठिरः ॥ २७ ॥
हृष्टरोमा महाराज प्रत्युवाच जनार्दनम्।

महाराज ! श्रीकृष्णके ऐसा कहनेपर धर्मराज युधिष्ठिरके शरीरमें रोमाञ्च हो आया। वे उनसे इस प्रकार बोले॥२७½॥

युधिष्ठिर उवाच

प्रमुक्तं द्रोणकर्णाभ्यां ब्रह्मास्त्रमरिमर्दन ॥ २८ ॥
कस्त्वदन्यः सहेत् साक्षादपि वज्री पुरंदरः।

युधिष्ठिरने कहा—शत्रुमर्दन श्रीकृष्ण ! द्रोणाचार्य और कर्णने जिस ब्रह्मास्त्रका प्रयोग किया था, उसे आपके सिवा दूसरा कौन सह सकता था। साक्षात् वज्रधारी इन्द्र भी उसका आघात नहीं सह सकते थे ॥ २८½ ॥

भवतस्तु प्रसादेन संशप्तकगणा जिताः ॥ २९ ॥
महारणगतः पार्थो यच्च नासीत् पराङ्मुखः।

आपकी ही कृपासे संशप्तकगण परास्त हुए हैं और कुन्तीकुमार अर्जुनने उस महासमरमें जो कभी पीठ नहीं दिखायी है, वह भी आपके ही अनुग्रहका फल है ॥ २९½ ॥

तथैव च महाबाहो पर्यायैर्बहुभिर्मया ॥ ३० ॥
कर्मणामनुसंतानं तेजसश्च गतीः शुभाः।

महाबाहो ! आपके द्वारा अनेकों बार हमारे कार्योंकी सिद्धि हुई है और हमें तेजके शुभ परिणाम प्राप्त हुए हैं ॥ ३०½ ॥

उपप्लव्ये महर्षिर्मे कृष्णद्वैपायनोऽब्रवीत् ॥ ३१ ॥
यतो धर्मस्ततः कृष्णो यतः कृष्णस्ततो जयः।

उपप्लव्य नगरमें महर्षि श्रीकृष्ण द्वैपायनने मुझसे कहा था कि 'जहाँ धर्म है, वहाँ श्रीकृष्ण हैं और जहाँ श्रीकृष्ण हैं, वहीं विजय है' ॥ ३१½ ॥

इत्येवमुक्ते ते वीराः शिबिरं तव भारत ॥ ३२ ॥
प्रविश्य प्रत्यपद्यन्त कोशरत्नर्धिसंचयान्।

भारत ! युधिष्ठिरके ऐसा कहनेपर पाण्डव वीरोंने आपके शिबिरमें प्रवेश करके खजाना, रत्नोंकी ढेरी तथा भण्डार-घरपर अधिकार कर लिया ॥ ३२½ ॥

रजतं जातरूपं च मणीनथ च मौक्तिकान् ॥ ३३ ॥
भूषणान्यथ मुख्यानि कम्बलान्यजिनानि च।
दासीदासमसंख्येयं राज्योपकरणानि च ॥ ३४ ॥

चाँदी, सोना, मोती, मणि, अच्छे-अच्छे आभूषण, कम्बल (कालीन), मृगचर्म, असंख्य दास-दासी तथा राज्यके बहुत-से सामान उनके हाथ लगे ॥ ३३-३४ ॥

ते प्राप्य धनमक्षय्यं त्वदीयं भरतर्षभ।
उदक्रोशन्महाभागा नरेन्द्र विजितारयः ॥ ३५ ॥

भरतश्रेष्ठ ! नरेश्वर ! आपके धनका अक्षय भण्डार पाकर शत्रुविजयी महाभाग पाण्डव जोर-जोरसे हर्षध्वनि करने लगे ॥ ३५ ॥

ते तु वीराः समाश्वस्य वाहनान्यवमुच्य च।
अतिष्ठन्त मुहुः सर्वे पाण्डवाः सात्यकिस्तथा ॥ ३६ ॥

वे सारे वीर अपने वाहनोंको खोलकर वहीं विश्राम करने लगे। समस्त पाण्डव और सात्यकि वहाँ एक साथ बैठे हुए थे ॥ ३६ ॥

अथाब्रवीन्महाराज वासुदेवो महायशाः।
अस्माभिर्मङ्गलार्थाय वस्तव्यं शिबिराद् बहिः ॥ ३७ ॥

महाराज ! तदनन्तर महायशस्वी वसुदेवनन्दन श्रीकृष्णने कहा—'आजकी रातमें हमलोगोंको अपने मङ्गलके लिये शिबिरसे बाहर ही रहना चाहिये' ॥ ३७ ॥

तथेत्युक्त्वा हि ते सर्वे पाण्डवाः सात्यकिस्तथा।
वासुदेवेन सहिता मङ्गलार्थं बहिर्ययुः ॥ ३८ ॥

तब 'बहुत अच्छा' कहकर समस्त पाण्डव और सात्यकि श्रीकृष्णके साथ अपने मङ्गलके लिये छावनीसे बाहर चले गये ॥ ३८ ॥

ते समासाद्य सरितं पुण्यामोघवतीं नृप।
न्यवसन्नथ तां रात्रिं पाण्डवा हतशत्रवः ॥ ३९ ॥

नरेश्वर ! जिनके शत्रु मारे गये थे, उन पाण्डवोंने उस रातमें पुण्यसलिला ओघवती नदीके तटपर जाकर निवास किया ॥ ३९ ॥

युधिष्ठिरस्ततो राजा प्राप्तकालमचिन्तयत्।
तत्र ते गमनं प्राप्तं रोचते तव माधव ॥ ४० ॥
गान्धार्याः क्रोधदीप्तायाः प्रशमार्थमरिंदम।

तब राजा युधिष्ठिरने वहाँ समयोचित कार्यका विचार किया और कहा—'शत्रुदमन माधव ! एक बार क्रोधसे जलती हुई गान्धारी देवीको शान्त करनेके लिये आपका हस्तिनापुरमें जाना उचित जान पड़ता है ॥ ४०½ ॥

हेतुकारणयुक्तैश्च वाक्यैः कालसमीरितैः ॥ ४१ ॥
क्षिप्रमेव महाभाग गान्धारीं प्रशमिष्यसि।
पितामहश्च भगवान् व्यासस्तत्र भविष्यति ॥ ४२ ॥

'महाभाग ! आप युक्ति और कारणोंसहित समयोचित बातें कहकर गान्धारी देवीको शीघ्र ही शान्त कर सकेंगे। हमारे पितामह भगवान् व्यास भी इस समय वहीं होंगे' ४१-४२

वैशम्पायन उवाच

ततः सम्प्रेषयामासुर्यादवं नागसाह्वयम्।
स च प्रायाज्जवेनाशु वासुदेवः प्रतापवान् ॥ ४३ ॥
दारुकं रथमारोप्य येन राजाम्बिकासुतः।

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! ऐसा कहकर पाण्डवोंने यदुकुलतिलक भगवान् श्रीकृष्णको हस्तिनापुर भेजा। प्रतापी वासुदेव दारुकको रथपर बिठाकर स्वयं भी बैठे और जहाँ अम्बिकानन्दन राजा धृतराष्ट्र थे, वहाँ पहुँचनेके लिये बड़े वेगसे चले ॥ ४३½ ॥

तमूचुः सम्प्रयास्यन्तं शैब्यसुग्रीववाहनम् ॥ ४४ ॥
प्रत्याश्वासय गान्धारीं हतपुत्रां यशस्विनीम्।

शैब्य और सुग्रीव नामक अश्व जिनके वाहन हैं, उन भगवान् श्रीकृष्णके जाते समय पाण्डवोंने फिर उनसे कहा—'प्रभो ! यशस्विनी गान्धारी देवीके पुत्र मारे गये हैं; अतः आप उस दुखिया माताको धीरज बँधावें' ॥ ४४½ ॥

स प्रायात् पाण्डवैरुक्तस्तत् पुरं सात्वतां वरः ॥
आससाद ततः क्षिप्रं गान्धारीं निहतात्मजाम् ॥ ४५ ॥

पाण्डवोंके ऐसा कहनेपर सात्वतवंशके श्रेष्ठ पुरुष भगवान् श्रीकृष्ण जिनके पुत्र मारे गये थे, उन गान्धारी देवीके पास हस्तिनापुरमें शीघ्र जा पहुँचे ॥ ४५ ॥

इति श्रीमहाभारते शल्यपर्वणि गदापर्वणि वासुदेवप्रेषणे द्विषष्टितमोऽध्यायः ॥ ६२ ॥
इस प्रकार श्रीमहाभारत शल्यपर्वके अन्तर्गत गदापर्वमें पाण्डवोंका भगवान् श्रीकृष्णको हस्तिनापुर भेजनाविषयक बासठवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ६२ ॥

त्रिषष्टितमोऽध्यायः

युधिष्ठिरकी प्रेरणासे श्रीकृष्णका हस्तिनापुरमें जाकर धृतराष्ट्र और गान्धारीको आश्वासन दे पुनः पाण्डवोंके पास लौट आना

जनमेजय उवाच

किमर्थं द्विजशार्दूल धर्मराजो युधिष्ठिरः।
गान्धार्याः प्रेषयामास वासुदेवं परंतपम् ॥ १ ॥

जनमेजयने पूछा—द्विजश्रेष्ठ ! धर्मराज युधिष्ठिरने शत्रुसंतापी भगवान् श्रीकृष्णको गान्धारी देवीके पास किसलिये भेजा ? ॥ १ ॥

यदा पूर्वं गतः कृष्णः शमार्थं कौरवान् प्रति।
न च तं लब्धवान् कामं ततो युद्धमभूदिदम् ॥ २ ॥

जब पूर्वकालमें श्रीकृष्ण संधि करानेके लिये कौरवोंके पास गये थे, उस समय तो उन्हें उनका अभीष्ट मनोरथ प्राप्त ही नहीं हुआ, जिससे यह युद्ध उपस्थित हुआ ॥ २ ॥

निहतेषु तु योधेषु हते दुर्योधने तदा।
पृथिव्यां पाण्डवेयस्य निःसपत्ने कृते युधि ॥ ३ ॥
विद्रुते शिबिरे शून्ये प्राप्ते यशसि चोत्तमे।
किं नु तत् कारणं ब्रह्मन् येन कृष्णो गतः पुनः ॥ ४ ॥

ब्रह्मन् ! जब युद्धमें सारे योद्धा मारे गये, दुर्योधनका भी अन्त हो गया, भूमण्डलमें पाण्डुपुत्र युधिष्ठिरके शत्रुओंका सर्वथा अभाव हो गया, कौरवदलके लोग शिविरको सूना करके भाग गये और पाण्डवोंको उत्तम यशकी प्राप्ति हो गयी, तब कौन-सा ऐसा कारण आ गया, जिससे श्रीकृष्ण पुनः हस्तिनापुरमें गये ? ॥ ३-४ ॥

न चैतत् कारणं ब्रह्मन्नल्पं विप्रतिभाति मे।
यत्रागमदमेयात्मा स्वयमेव जनार्दनः ॥ ५ ॥

विप्रवर ! मुझे इसका कोई छोटा-मोटा कारण नहीं जान पड़ता, जिससे अप्रमेयस्वरूप साक्षात् भगवान् जनार्दनको ही जाना पड़ा ॥ ५ ॥

तत्त्वतो वै समाचक्ष्व सर्वमध्वर्युसत्तम।
यच्चात्र कारणं ब्रह्मन् कार्यस्यास्य विनिश्चये ॥ ६ ॥

यजुर्वेदीय विद्वानोंमें श्रेष्ठ ब्राह्मणदेव ! इस कार्यका निश्चय करनेमें जो भी कारण हो, वह सब यथार्थरूपसे मुझे बताइये॥

वैशम्पायन उवाच

त्वद्युक्तोऽयमनुप्रश्नो यन्मां पृच्छसि पार्थिव।
तत्तेऽहं सम्प्रवक्ष्यामि यथावद् भरतर्षभ ॥ ७ ॥

वैशम्पायनजीने कहा—भरतकुलभूषण नरेश ! तुमने

जो प्रश्न किया है, वह सर्वथा उचित है। तुम मुझसे जो कुछ पूछ रहे हो, वह सब मैं तुझे यथार्थरूपसे बताऊँगा ॥ ७ ॥

हतं दुर्योधनं दृष्ट्वा भीमसेनेन संयुगे।
व्युत्क्रम्य समयं राजन् धार्तराष्ट्रं महाबलम् ॥ ८ ॥
अन्यायेन हतं दृष्ट्वा गदायुद्धेन भारत।
युधिष्ठिरं महाराज महद् भयमथाविशत् ॥ ९ ॥

राजन्! भरतवंशी महाराज! धृतराष्ट्रपुत्र महाबली दुर्योधनको भीमसेनने युद्धमें उसके नियमका उल्लङ्घन करके मारा है। वह गदायुद्धके द्वारा अन्यायपूर्वक मारा गया है। इन सब बातोंपर दृष्टिपात करके युधिष्ठिरके मनमें बड़ा भारी भय समा गया ॥ ८-९ ॥

चिन्तयानो महाभागां गान्धारीं तपसान्विताम्।
घोरेण तपसा युक्तां त्रैलोक्यमपि सा दहेत् ॥ १० ॥

वे घोर तपस्यासे युक्त महाभागा तपस्विनी गान्धारीदेवीका चिन्तन करने लगे। उन्होंने सोचा 'गान्धारी देवी कुपित होनेपर तीनों लोकोंको जलाकर भस्म कर सकती हैं' ॥ १० ॥

तस्य चिन्तयमानस्य बुद्धिः समभवत् तदा।
गान्धार्याः क्रोधदीप्तायाः पूर्वं प्रशमनं भवेत् ॥ ११ ॥

इस प्रकार चिन्ता करते हुए राजा युधिष्ठिरके हृदयमें उस समय यह विचार हुआ कि पहले क्रोधसे जलती हुई गान्धारी देवीको शान्त कर देना चाहिये ॥ ११ ॥

सा हि पुत्रवधं श्रुत्वा कृतमस्माभिरीदृशम्।
मानसेनाग्निना क्रुद्धा भस्मसान्नः करिष्यति ॥ १२ ॥

वे हमलोगोंके द्वारा इस तरह पुत्रका वध किया गया सुनकर कुपित हो अपने संकल्पजनित अग्निसे हमें भस्म कर डालेंगी ॥ १२ ॥

कथं दुःखमिदं तीव्रं गान्धारी सा सहिष्यति।
श्रुत्वा विनिहतं पुत्रं छलेनाजिह्मयोधिनम् ॥ १३ ॥

उनका पुत्र सरलतासे युद्ध कर रहा था; परंतु छलसे मारा गया। यह सुनकर गान्धारी देवी इस तीव्र दुःखको कैसे सह सकेंगी? ॥ १३ ॥

एवं विचिन्त्य बहुधा भयशोकसमन्वितः।
वासुदेवमिदं वाक्यं धर्मराजोऽभ्यभाषत ॥ १४ ॥

इस तरह अनेक प्रकारसे विचार करके धर्मराज युधिष्ठिर भय और शोकमें डूब गये और वसुदेवनन्दन भगवान् श्रीकृष्णसे बोले—॥ १४ ॥

तव प्रसादाद् गोविन्द राज्यं निहतकण्टकम्।
अप्राप्यं मनसापीदं प्राप्तमस्माभिरच्युत ॥ १५ ॥

'गोविन्द! अच्युत! जिसे मनके द्वारा भी प्राप्त करना असम्भव था, वही यह अकण्टक राज्य हमें आपकी कृपासे प्राप्त हो गया ॥ १५ ॥

प्रत्यक्षं मे महाबाहो संग्रामे लोमहर्षणे।
विमर्दः सुमहान् प्राप्तस्त्वया यादवनन्दन ॥ १६ ॥

'यादवनन्दन! महाबाहो! इस रोमाञ्चकारी संग्राममें जो महान् विनाश प्राप्त हुआ था, वह सब आपने प्रत्यक्ष देखा था ॥ १६ ॥

त्वया देवासुरे युद्धे वधार्थममरद्विषाम्।
यथा साह्यं पुरा दत्तं हताश्च विबुधद्विषः ॥ १७ ॥
साह्यं तथा महाबाहो दत्तमस्माकमच्युत।
सारथ्येन च वार्ष्णेय भवता हि धृता वयम् ॥ १८ ॥

'पूर्वकालमें देवासुर-संग्रामके अवसरपर जैसे आपने देवद्रोही दैत्योंके वधके लिये देवताओंकी सहायता की थी, जिससे वे सारे देवशत्रु मारे गये, महाबाहु अच्युत! उसी प्रकार इस युद्धमें आपने हमें सहायता प्रदान की है। वृष्णिनन्दन! आपने सारथिका कार्य करके हमलोगोंको बचा लिया ॥ १७-१८ ॥

यदि न त्वं भवेर्नाथः फाल्गुनस्य महारणे।
कथं शक्यो रणे जेतुं भवेदेष बलार्णवः ॥ १९ ॥

'यदि आप इस महासमरमें अर्जुनके स्वामी और सहायक न होते तो युद्धमें इस कौरव-सेनारूपी समुद्रपर विजय पाना कैसे सम्भव हो सकता था? ॥ १९ ॥

गदाप्रहारा विपुलाः परिघैश्चापि ताडनम्।
शक्तिभिर्भिन्दिपालैश्च तोमरैः सपरश्वधैः ॥ २० ॥
अस्मत्कृते त्वया कृष्ण वाचः सुपरुषाः श्रुताः।
शस्त्राणां च निपाता वै वज्रस्पर्शोपमा रणे ॥ २१ ॥

'श्रीकृष्ण! आपने हमलोगोंके लिये गदाओंके बहुत-से आघात सहे, परिघोंकी मार खायी; शक्ति, भिन्दिपाल, तोमर और फरसोंकी चोटें सहन कीं तथा बहुत-सी कठोर बातें सुनीं। आपके ऊपर रणभूमिमें ऐसे-ऐसे शस्त्रोंके प्रहार हुए, जिनका स्पर्श वज्रके तुल्य था ॥ २०-२१ ॥

ते च ते सफला जाता हते दुर्योधनेऽच्युत।
तत् सर्वं न यथा नश्येत् पुनः कृष्ण तथा कुरु ॥ २२ ॥

'अच्युत! दुर्योधनके मारे जानेपर वे सारे आघात सफल हो गये। श्रीकृष्ण! अब ऐसा कीजिये, जिससे वह सारा किया-कराया कार्य फिर नष्ट न हो जाय ॥ २२ ॥

संदेहदोलां प्राप्तं नश्चेतः कृष्ण जये सति।
गान्धार्या हि महाबाहो क्रोधं बुद्ध्यस्व माधव ॥ २३ ॥

श्रीकृष्ण! आज विजय हो जानेपर भी हमारा मन संदेहके झूलापर झूल रहा है। महाबाहु माधव! आप गान्धारी देवीके क्रोधपर तो ध्यान दीजिये ॥ २३ ॥

सा हि नित्यं महाभागा तपसोग्रेण कर्शिता।
पुत्रपौत्रवधं श्रुत्वा ध्रुवं नः सम्प्रधक्ष्यति ॥ २४ ॥

'महाभागा गान्धारी प्रतिदिन उग्र तपस्यासे अपने शरीरको दुर्बल करती जा रही हैं। वे पुत्रों और पौत्रोंका वध

हुआ सुनकर निश्चय ही हमें जला डालेंगी ॥ २४ ॥

तस्याः प्रसादनं वीर प्राप्तकालं मतं मम ।
कश्च तां क्रोधताम्राक्षीं पुत्रव्यसनकर्शिताम् ॥ २५ ॥
वीक्षितुं पुरुषः शक्तस्त्वामृते पुरुषोत्तम ।

'वीर ! अब उन्हें प्रसन्न करनेका कार्य ही मुझे समयोचित जान पड़ता है । पुरुषोत्तम ! आपके सिवा दूसरा कौन ऐसा पुरुष है, जो पुत्रोंके शोकसे दुर्बल हो क्रोधसे लाल आँखें करके बैठी हुई गान्धारी देवीकी ओर आँख उठाकर देख सके ॥ २५½ ॥

तत्र मे गमनं प्राप्तं रोचते तव माधव ॥ २६ ॥
गान्धार्याः क्रोधदीप्तायाः प्रशमार्थमरिंदम ।

'शत्रुओंका दमन करनेवाले माधव ! इस समय क्रोधसे जलती हुई गान्धारी देवीको शान्त करनेके लिये आपका वहाँ जाना ही मुझे उचित जान पड़ता है ॥ २६½ ॥

त्वं हि कर्ता विकर्ता च लोकानां प्रभवाप्ययः ॥ २७ ॥
हेतुकारणसंयुक्तैर्वाक्यैः कालसमीरितैः ।
क्षिप्रमेव महाबाहो गान्धारीं शमयिष्यसि ॥ २८ ॥

'महाबाहो ! आप सम्पूर्ण लोकोंके स्रष्टा और संहारक हैं । आप ही सबकी उत्पत्ति और प्रलयके स्थान हैं । आप युक्ति और कारणोंसे संयुक्त समयोचित वचनोंद्वारा गान्धारी देवीको शीघ्र ही शान्त कर देंगे ॥ २७-२८ ॥

पितामहश्च भगवान् कृष्णस्तत्र भविष्यति ।
सर्वथा ते महाबाहो गान्धार्याः क्रोधनाशनम् ॥ २९ ॥
कर्तव्यं सात्वतां श्रेष्ठ पाण्डवानां हितार्थिना ।

'हमारे पितामह श्रीकृष्णद्वैपायन भगवान् व्यास भी वहीं होंगे । महाबाहो ! सात्वतवंशके श्रेष्ठ पुरुष ! आप पाण्डवोंके हितैषी हैं । आपको सब प्रकारसे गान्धारी देवीके क्रोधको शान्त कर देना चाहिये' ॥ २९½ ॥

धर्मराजस्य वचनं श्रुत्वा यदुकुलोद्वहः ॥ ३० ॥
आमन्त्र्य दारुकं प्राह रथः सज्जो विधीयताम् ।

धर्मराजकी यह बात सुनकर यदुकुलतिलक श्रीकृष्णने दारुकको बुलाकर कहा—'रथ तैयार करो' ॥ ३०½ ॥

केशवस्य वचः श्रुत्वा त्वरमाणोऽथ दारुकः ॥ ३१ ॥
न्यवेदयद् रथं सज्जं केशवाय महात्मने ।

केशवका यह आदेश सुनकर दारुकने बड़ी उतावलीके साथ रथको सुसज्जित किया और उन महात्माको इसकी सूचना दी ॥ ३१½ ॥

तं रथं यादवश्रेष्ठः समारुह्य परंतपः ॥ ३२ ॥
जगाम हास्तिनपुरं त्वरितः केशवो विभुः ।

शत्रुओंको संताप देनेवाले यादवश्रेष्ठ भगवान् श्रीकृष्ण तुरंत ही उस रथपर आरूढ़ हो हस्तिनापुरकी ओर चल दिये॥

ततः प्रायान्महाराज माधवो भगवान् रथी ॥ ३३ ॥
नागसाह्वयमासाद्य प्रविवेश च वीर्यवान् ।

महाराज ! पराक्रमी भगवान् माधव उस रथपर बैठकर हस्तिनापुरमें जा पहुँचे । वहाँ पहुँचकर उन्होंने नगरमें प्रवेश किया ॥ ३३½ ॥

प्रविश्य नगरं वीरो रथघोषेण नादयन् ॥ ३४ ॥
विदितो धृतराष्ट्रस्य सोऽवतीर्य रथोत्तमात् ।
अभ्यगच्छददीनात्मा धृतराष्ट्रनिवेशनम् ॥ ३५ ॥

नगरमें प्रविष्ट होकर वीर श्रीकृष्ण अपने रथके गम्भीर घोषसे सम्पूर्ण दिशाओंको प्रतिध्वनित करने लगे । धृतराष्ट्रको उनके आगमनकी सूचना दी गयी और वे अपने उत्तम रथसे उतरकर मनमें दीनता न लाते हुए धृतराष्ट्रके महलमें गये ॥

पूर्वं चाभिगतं तत्र सोऽपश्यदृषिसत्तमम् ।
पादौ प्रपीड्य कृष्णस्य राज्ञश्चापि जनार्दनः ॥ ३६ ॥
अभ्यवादयदव्यग्रो गान्धारीं चापि केशवः ।

वहाँ उन्होंने मुनिश्रेष्ठ व्यासजीको पहलेसे ही उपस्थित देखा । व्यास तथा राजा धृतराष्ट्र दोनोंके चरण दबाकर जनार्दन श्रीकृष्णने बिना किसी व्यग्रताके गान्धारी देवीको प्रणाम किया ॥ ३६½ ॥

ततस्तु यादवश्रेष्ठो धृतराष्ट्रमधोक्षजः ॥ ३७ ॥
पाणिमालम्ब्य राजेन्द्र सुस्वरं प्ररुरोद ह ।

राजेन्द्र ! तदनन्तर यादवश्रेष्ठ श्रीकृष्ण धृतराष्ट्रका हाथ अपने हाथमें लेकर उन्मुक्त स्वरसे फूट-फूटकर रोने लगे ॥

स मुहूर्तादिवोत्सृज्य बाष्पं शोकसमुद्भवम् ॥ ३८ ॥
प्रक्षाल्य वारिणा नेत्रे ह्याचम्य च यथाविधि ।
उवाच प्रस्तुतं वाक्यं धृतराष्ट्रमरिंदमः ॥ ३९ ॥
न तेऽस्त्यविदितं किंचिद् वृद्धस्य तव भारत ।
कालस्य च यथावृत्तं तत् ते सुविदितं प्रभो ॥ ४० ॥

उन्होंने दो घड़ीतक शोकके आँसू बहाकर शुद्ध जलसे नेत्र धोये और विधिपूर्वक आचमन किया । तत्पश्चात् शत्रुदमन श्रीकृष्णने राजा धृतराष्ट्रसे प्रस्तुत वचन कहा—'भारत ! आप वृद्ध पुरुष हैं; अतः कालके द्वारा जो कुछ भी संघटित हुआ और हो रहा है, वह कुछ भी आपसे अज्ञात नहीं है । प्रभो ! आपको सब कुछ अच्छी तरह विदित है ॥३८–४०॥

यतितं पाण्डवैः सर्वैस्तव चित्तानुरोधिभिः ।
कथं कुलक्षयो न स्यात्तथा क्षत्रस्य भारत ॥ ४१ ॥

'भारत ! समस्त पाण्डव सदासे ही आपकी इच्छाके अनुसार बर्ताव करनेवाले हैं । उन्होंने बहुत प्रयत्न किया कि किसी तरह हमारे कुलका तथा क्षत्रियसमूहका विनाश न हो ॥ ४१ ॥

भ्रातृभिः समयं कृत्वा क्षान्तवान् धर्मवत्सलः ।
द्यूतच्छलजितैः शुद्धैर्वनवासो ह्युपागतः ॥ ४२

'धर्मवत्सल युधिष्ठिरने अपने भाइयोंके साथ नियत समयकी प्रतीक्षा करते हुए सारा कष्ट चुपचाप सहन किया था। पाण्डव शुद्ध भावसे आपके पास आये थे तो भी उन्हें कपटपूर्वक जूएमें हराकर वनवास दिया गया ॥ ४२ ॥

अज्ञातवासचर्या च नानावेषसमावृतैः ।
अन्ये च बहवः क्लेशास्त्वशक्तैरिव सर्वदा ॥ ४३ ॥

'उन्होंने नाना प्रकारके वेशोंमें अपनेको छिपाकर अज्ञातवासका कष्ट भोगा। इसके सिवा और भी बहुत-से क्लेश उन्हें असमर्थ पुरुषोंके समान सदा सहन करने पड़े हैं ॥ ४३ ॥

मया च स्वयमागम्य युद्धकाल उपस्थिते ।
सर्वलोकस्य सांनिध्ये ग्रामांस्त्वं पञ्च याचितः ॥ ४४ ॥

'जब युद्धका अवसर उपस्थित हुआ, उस समय मैंने स्वयं आकर शान्ति स्थापित करनेके लिये सब लोगोंके सामने आपसे केवल पाँच गाँव माँगे थे ॥ ४४ ॥

त्वया कालोपसृष्टेन लोभतो नापवर्जिताः ।
तवापराधान्नृपते सर्वं क्षत्रं क्षयं गतम् ॥ ४५ ॥

'परंतु कालसे प्रेरित हो आपने लोभवश वे पाँच गाँव भी नहीं दिये। नरेश्वर! आपके अपराधसे समस्त क्षत्रियोंका विनाश हो गया ॥ ४५ ॥

भीष्मेण सोमदत्तेन बाह्लीकेन कृपेण च ।
द्रोणेन च सपुत्रेण विदुरेण च धीमता ॥ ४६ ॥
याचितस्त्वं शमं नित्यं न च तत् कृतवानसि ।

'भीष्म, सोमदत्त, बाह्लीक, कृपाचार्य, द्रोणाचार्य, अश्वत्थामा और बुद्धिमान् विदुरजीने भी सदा आपसे शान्तिके लिये याचना की थी; परंतु आपने वह कार्य नहीं किया ॥

कालोपहतचित्ता हि सर्वे मुह्यन्ति भारत ॥ ४७ ॥
यथा मूढो भवान् पूर्वमस्मिन्नर्थे समुद्यते ।
किमन्यत् कालयोगाद्धि दिष्टमेव परायणम् ॥ ४८ ॥

'भारत! जिनका चित्त कालके प्रभावसे दूषित हो जाता है, वे सब लोग मोहमें पड़ जाते हैं। जैसे कि पहले युद्धकी तैयारीके समय आपकी भी बुद्धि मोहित हो गयी थी। इसे कालयोगके सिवा और क्या कहा जा सकता है? भाग्य ही सबसे बड़ा आश्रय है ॥ ४७-४८ ॥

मा च दोषान् महाप्राज्ञ पाण्डवेषु निवेशय ।
अल्पोऽप्यतिक्रमो नास्ति पाण्डवानां महात्मनाम् ॥ ४९ ॥
धर्मतो न्यायतश्चैव स्नेहतश्च परंतप ।

'महाप्राज्ञ! आप पाण्डवोंपर दोषारोपण न कीजियेगा। परंतप! धर्म, न्याय और स्नेहकी दृष्टिसे महात्मा पाण्डवोंका इसमें थोड़ा-सा भी अपराध नहीं है ॥ ४९½ ॥

एतत् सर्वं तु विज्ञाय ह्यात्मदोषकृतं फलम् ॥ ५० ॥
असूयां पाण्डुपुत्रेषु न भवान् कर्तुमर्हति ।

'यह सब अपने ही अपराधोंका फल है, ऐसा जानकर आपको पाण्डवोंके प्रति दोषदृष्टि नहीं करनी चाहिये ॥ ५०½ ॥

कुलं वंशश्च पिण्डाश्च यच्च पुत्रकृतं फलम् ॥ ५१ ॥
गान्धार्यास्तव वै नाथ पाण्डवेषु प्रतिष्ठितम् ।

'अब तो आपका कुल और वंश पाण्डवोंसे ही चलनेवाला है। नाथ! आपको और गान्धारी देवीको पिण्डा-पानी तथा पुत्रसे प्राप्त होनेवाला सारा फल पाण्डवोंसे ही मिलनेवाला है। उन्हींपर यह सब कुछ अवलम्बित है ॥ ५१½ ॥

त्वं चैव कुरुशार्दूल गान्धारी च यशस्विनी ॥ ५२ ॥
मा शुचो नरशार्दूल पाण्डवान् प्रति किल्बिषम् ।

'कुरुप्रवर! पुरुषसिंह! आप और यशस्वी गान्धारीदेवी कभी पाण्डवोंकी बुराई करनेकी बात न सोचें ॥ ५२½ ॥

एतत् सर्वमनुध्याय आत्मनश्च व्यतिक्रमम् ॥ ५३ ॥
शिवेन पाण्डवान् पाहि नमस्ते भरतर्षभ ।

'भरतश्रेष्ठ! इन सब बातों तथा अपने अपराधोंका चिन्तन करके आप पाण्डवोंके प्रति कल्याण-भावना रखते हुए उनकी रक्षा करें। आपको नमस्कार है ॥ ५३½ ॥

जानासि च महाबाहो धर्मराजस्य या त्वयि ॥ ५४ ॥
भक्तिर्भरतशार्दूल स्नेहश्चापि स्वभावतः ।

'महाबाहो! भरतवंशके सिंह! आप जानते हैं कि धर्मराज युधिष्ठिरके मनमें आपके प्रति कितनी भक्ति और कितना स्वाभाविक स्नेह है ॥ ५४½ ॥

एतच्च कदनं कृत्वा शत्रूणामपकारिणाम् ॥ ५५ ॥
दह्यते स दिवा रात्रौ न च शर्माधिगच्छति ।

'अपने अपराधी शत्रुओंका ही यह संहार करके वे दिन-रात शोककी आगमें जलते हैं, कभी चैन नहीं पाते हैं ॥

त्वां चैव नरशार्दूल गान्धारीं च यशस्विनीम् ॥ ५६ ॥
स शोचन् नरशार्दूलः शान्तिं नैवाधिगच्छति ।

'पुरुषसिंह! आप और यशस्विनी गान्धारी देवीके लिये निरन्तर शोक करते हुए नरश्रेष्ठ युधिष्ठिरको शान्ति नहीं मिल रही है ॥ ५६½ ॥

ह्रिया च परयाऽऽविष्टो भवन्तं नाधिगच्छति ॥ ५७ ॥
पुत्रशोकाभिसंतप्तं बुद्धिव्याकुलितेन्द्रियम् ।

'आप पुत्रशोकसे सर्वथा संतप्त हैं। आपकी बुद्धि और इन्द्रियाँ शोकसे व्याकुल हैं। ऐसी दशामें वे अत्यन्त लज्जित होनेके कारण आपके सामने नहीं आ रहे हैं' ॥ ५७½ ॥

एवमुक्त्वा महाराज धृतराष्ट्रं यदूत्तमः ॥ ५८ ॥
उवाच परमं वाक्यं गान्धारीं शोककर्शिताम् ।

महाराज! यदुश्रेष्ठ श्रीकृष्ण राजा धृतराष्ट्रसे ऐसा कहकर शोकसे दुर्बल हुई गान्धारी देवीसे यह उत्तम वचन बोले—॥

सौबलेयि निबोध त्वं यत् त्वां वक्ष्यामि तच्छृणु ॥ ५९ ॥
त्वत्समा नास्ति लोकेऽस्मिन्नद्य सीमन्तिनी शुभे ।

'सुबलनन्दिनि! मैं तुमसे जो कुछ कहता हूँ, उसे ध्यान

देकर सुनो और समझो। शुभे! इस संसारमें तुम्हारी-जैसी तपोबल-सम्पन्न स्त्री दूसरी कोई नहीं है ॥ ५९½ ॥

जानासि च यथा राज्ञि सभायां मम संनिधौ ॥ ६० ॥
धर्मार्थसहितं वाक्यमुभयोः पक्षयोर्हितम्।
उक्तवत्यसि कल्याणि न च ते तनयैः कृतम् ॥ ६१ ॥

'रानी! तुम्हें याद होगा, उस दिन सभामें मेरे सामने ही तुमने दोनों पक्षोंका हित करनेवाला धर्म और अर्थयुक्त वचन कहा था, किंतु कल्याणि! तुम्हारे पुत्रोंने उसे नहीं माना ॥ ६०-६१ ॥

दुर्योधनस्त्वया चोक्तो जयार्थी परुषं वचः।
शृणु मूढ वचो मह्यं यतो धर्मस्ततो जयः ॥ ६२ ॥

'तुमने विजयकी अभिलाषा रखनेवाले दुर्योधनको सम्बोधित करके उससे बड़ी रुखाईके साथ कहा था—'ओ मूढ! मेरी बात सुन ले, जहाँ धर्म होता है, उसी पक्षकी जीत होती है' ॥ ६२ ॥

तदिदं समनुप्राप्तं तव वाक्यं नृपात्मजे।
एवं विदित्वा कल्याणि मा स्म शोके मनः कृथाः॥ ६३ ॥

'कल्याणमयी राजकुमारी! तुम्हारी वही बात आज सत्य हुई है, ऐसा समझकर तुम मनमें शोक न करो ॥ ६३ ॥

पाण्डवानां विनाशाय मा ते बुद्धिः कदाचन।
शक्ता चासि महाभागे पृथिवीं सचराचराम् ॥ ६४ ॥
चक्षुषा क्रोधदीप्तेन निर्दग्धुं तपसो बलात्।

'पाण्डवोंके विनाशका विचार तुम्हारे मनमें कभी नहीं आना चाहिये। महाभागे! तुम अपनी तपस्याके बलसे क्रोधभरी दृष्टिद्वारा चराचर प्राणियोंसहित समूची पृथ्वीको भस्म कर डालनेकी शक्ति रखती हो' ॥ ६४½ ॥

वासुदेववचः श्रुत्वा गान्धारी वाक्यमब्रवीत् ॥ ६५ ॥
एवमेतन्महाबाहो यथा वदसि केशव।
आधिभिर्दह्यमानाया मतिः संचलिता मम ॥ ६६ ॥
सा मे व्यवस्थिता श्रुत्वा तव वाक्यं जनार्दन।

भगवान् श्रीकृष्णकी यह बात सुनकर गान्धारीने कहा—'महाबाहु केशव! तुम जैसा कहते हो, वह बिल्कुल ठीक है। अबतक मेरे मनमें बड़ी व्यथाएँ थीं और उन व्यथाओंकी आगसे दग्ध होनेके कारण मेरी बुद्धि विचलित हो गयी थी (अतः मैं पाण्डवोंके अनिष्टकी बात सोचने लगी थी); परंतु जनार्दन! इस समय तुम्हारी बात सुनकर मेरी बुद्धि स्थिर हो गयी है—क्रोधका आवेश उतर गया है ॥ ६५-६६½ ॥

राज्ञस्त्वन्धस्य वृद्धस्य हतपुत्रस्य केशव ॥ ६७ ॥
त्वं गतिः सहितैर्वीरैः पाण्डवैर्द्विपदां वर।

'मनुष्योंमें श्रेष्ठ केशव! ये राजा अन्धे और बूढ़े हैं तथा इनके सभी पुत्र मारे गये हैं। अब समस्त वीर पाण्डवोंके साथ तुम्हीं इनके आश्रयदाता हो' ॥ ६७½ ॥

एतावदुक्त्वा वचनं मुखं प्रच्छाद्य वाससा ॥ ६८ ॥
पुत्रशोकाभिसंतप्ता गान्धारी प्ररुरोद ह।

इतनी बात कहकर पुत्रशोकसे संतप्त हुई गान्धारी देवी अपने मुखको आँचलसे ढककर फूट-फूटकर रोने लगीं ॥

तत एनां महाबाहुः केशवः शोककर्शिताम् ॥ ६९ ॥
हेतुकारणसंयुक्तैर्वाक्यैराश्वासयत् प्रभुः ।

तब महाबाहु भगवान् केशवने शोकसे दुर्बल हुई गान्धारीको कितने ही कारण बताकर युक्तियुक्त वचनोंद्वारा आश्वासन दिया—धीरज बँधाया ॥ ६९½ ॥

समाश्वास्य च गान्धारीं धृतराष्ट्रं च माधवः ॥ ७० ॥
द्रौणिसंकल्पितं भावमवबुद्ध्यत केशवः।

गान्धारी और धृतराष्ट्रको सान्त्वना दे माधव श्रीकृष्णने अश्वत्थामाके मनमें जो भीषण संकल्प हुआ था, उसका स्मरण किया ॥ ७०½ ॥

ततस्त्वरित उत्थाय पादौ मूर्ध्ना प्रणम्य च ॥ ७१ ॥
द्वैपायनस्य राजेन्द्र ततः कौरवमब्रवीत्।
आपृच्छे त्वां कुरुश्रेष्ठ मा च शोके मनः कृथाः॥ ७२ ॥
द्रौणेः पापोऽस्त्यभिप्रायस्तेनास्मि सहसोत्थितः।
पाण्डवानां वधे रात्रौ बुद्धिस्तेन प्रदर्शिता ॥ ७३ ॥

राजेन्द्र! तदनन्तर वे सहसा उठकर खड़े हो गये और व्यासजीके चरणोंमें मस्तक झुकाकर प्रणाम करके कुरुवंशी धृतराष्ट्रसे बोले—'कुरुश्रेष्ठ! अब मैं आपसे जानेकी आज्ञा चाहता हूँ। अब आप अपने मनको शोकमग्न न कीजिये। द्रोणपुत्र अश्वत्थामाके मनमें पापपूर्ण संकल्प उदित हुआ है। इसीलिये मैं सहसा उठ गया हूँ। उसने रातको सोते समय पाण्डवोंके वधका विचार किया है' ॥ ७१-७३ ॥

एतच्छ्रुत्वा तु वचनं गान्धार्या सहितोऽब्रवीत्।
धृतराष्ट्रो महाबाहुः केशवं केशिसूदनम् ॥ ७४ ॥
शीघ्रं गच्छ महाबाहो पाण्डवान् परिपालय।
भूयस्त्वया समेष्यामि क्षिप्रमेव जनार्दन ॥ ७५ ॥

यह सुनकर गान्धारीसहित महाबाहु धृतराष्ट्रने केशिहन्ता केशवसे कहा—'महाबाहु जनार्दन! आप शीघ्र जाइये और पाण्डवोंकी रक्षा कीजिये। मैं पुनः शीघ्र ही आपसे मिलूँगा' ॥

प्रायात् ततस्तु त्वरितो दारुकेण सहाच्युतः।
वासुदेवे गते राजन् धृतराष्ट्रं जनेश्वरम् ॥ ७६ ॥
आश्वासयदमेयात्मा व्यासो लोकनमस्कृतः।

तत्पश्चात् भगवान् श्रीकृष्ण दारुकके साथ वहाँसे शीघ्र चल दिये। राजन्! श्रीकृष्णके चले जानेपर अप्रमेयस्वरूप विश्ववन्दित भगवान् व्यासने राजा धृतराष्ट्रको सान्त्वना दी ॥

वासुदेवोऽपि धर्मात्मा कृतकृत्यो जगाम ह ॥ ७७ ॥
शिबिरं हास्तिनपुराद् दिदृक्षुः पाण्डवान् नृप।

नरेश्वर ! इधर धर्मात्मा वसुदेवनन्दन श्रीकृष्ण कृतकृत्य हो हस्तिनापुरसे पाण्डवोंको देखनेके लिये शिविरमें लौट आये॥

आगम्य शिविरं रात्रौ सोऽभ्यगच्छत पाण्डवान्।
तच्च तेभ्यः समाख्याय सहितस्तैः समाहितः ॥ ७८ ॥

शिविरमें आकर रातमें वे पाण्डवोंसे मिले और उनसे सारा समाचार कहकर उन्हींके साथ सावधान होकर रहे ॥ ७८ ॥

इति श्रीमहाभारते शल्यपर्वणि गदापर्वणि धृतराष्ट्रगान्धारीसमाश्वासने त्रिषष्टितमोऽध्यायः ॥ ६३ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शल्यपर्वके अन्तर्गत गदापर्वमें धृतराष्ट्र और गान्धारीका श्रीकृष्णको आश्वासन देना विषयक तिरसठवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ६३ ॥

चतुःषष्टितमोऽध्यायः

दुर्योधनका संजयके सम्मुख विलाप और वाहकोंद्वारा अपने साथियोंको संदेश भेजना

धृतराष्ट्र उवाच

अधिष्ठितः पदा मूर्ध्नि भग्नसक्थो महीं गतः।
शौटीर्यमानी पुत्रो मे किमभाषत संजय ॥ १ ॥
अत्यर्थं कोपनो राजा जातवैरश्च पाण्डुषु।
व्यसनं परमं प्राप्तः किमाह परमाहवे ॥ २ ॥

धृतराष्ट्रने पूछा—संजय ! जब जाँघें टूट जानेके कारण मेरा पुत्र पृथ्वीपर गिर पड़ा और भीमसेनने उसके मस्तकपर पैर रख दिया, तब उसने क्या कहा ? उसे अपने बलपर बड़ा अभिमान था। राजा दुर्योधन अत्यन्त क्रोधी तथा पाण्डवोंसे वैर रखनेवाला था। उस युद्धभूमिमें जब वह बड़ी भारी विपत्तिमें फँस गया, तब क्या बोला ?॥१-२॥

संजय उवाच

शृणु राजन् प्रवक्ष्यामि यथावृत्तं नराधिप।
राज्ञा यदुक्तं भग्नेन तस्मिन् व्यसन आगते ॥ ३ ॥

संजयने कहा—राजन्! सुनिये। नरेश्वर! उस भारी संकटमें पड़ जानेपर टूटी जाँघवाले राजा दुर्योधनने जो कुछ कहा था, वह सब वृत्तान्त यथार्थरूपसे बता रहा हूँ॥

भग्नसक्थो नृपो राजन् पांसुना सोऽवगुण्ठितः।
यमयन् मूर्धजांस्तत्र वीक्ष्य चैव दिशो दश ॥ ४ ॥
केशान् नियम्य यत्नेन निःश्वसन्नुरगो यथा।
संरम्भाश्रुपरीताभ्यां नेत्राभ्यामभिवीक्ष्य माम् ॥ ५ ॥
बाहू धरण्यां निष्पिष्य सुदुर्मत्त इव द्विपः।
प्रकीर्णान् मूर्धजान् धुन्वन् दन्तैर्दन्तानुपस्पृशन्॥ ६ ॥
गर्हयन् पाण्डवं ज्येष्ठं निःश्वस्येदमथाब्रवीत्।

राजन्! जब कौरव-नरेशकी जाँघें टूट गयीं, तब वह धरतीपर गिरकर धूलमें सन गया। फिर बिखरे हुए बालोंको समेटता हुआ वहाँ दसों दिशाओंकी ओर देखने लगा। बड़े प्रयत्नसे अपने बालोंको बाँधकर सर्पके समान फुफकारते हुए उसने रोष और आँसुओंसे भरे हुए नेत्रोंद्वारा मेरी ओर देखा। इसके बाद दोनों भुजाओंको पृथ्वीपर रगड़कर मदोन्मत्त गजराजके समान अपने बिखरे केशोंको हिलाता, दाँतोंसे दाँतोंको पीसता तथा ज्येष्ठ पाण्डव युधिष्ठिरकी निन्दा करता हुआ, वह उच्छ्वास ले इस प्रकार बोला—॥ ४-६½ ॥

भीष्मे शान्तनवे नाथे कर्णे शस्त्रभृतां वरे ॥ ७ ॥
गौतमे शकुनौ चापि द्रोणे चास्त्रभृतां वरे।
अश्वत्थाम्नि तथा शल्ये शूरे च कृतवर्मणि ॥ ८ ॥
इमामवस्थां प्राप्तोऽस्मि कालो हि दुरतिक्रमः।

'शान्तनुनन्दन भीष्म, अस्त्रधारियोंमें श्रेष्ठ कर्ण, कृपाचार्य, शकुनि, अस्त्रधारियोंमें सर्वश्रेष्ठ द्रोणाचार्य, अश्वत्थामा, शूरवीर शल्य तथा कृतवर्मा मेरे रक्षक थे तो भी मैं इस दशाको आ पहुँचा। निश्चय ही कालका उल्लङ्घन करना किसीके लिये भी अत्यन्त कठिन है ॥ ७-८½ ॥

एकादशचमूभर्ता सोऽहमेतां दशां गतः ॥ ९ ॥
कालं प्राप्य महाबाहो न कश्चिदतिवर्तते।

'महाबाहो! मैं एक दिन ग्यारह अक्षौहिणी सेनाका स्वामी था; परंतु आज इस दशामें आ पड़ा हूँ। वास्तवमें कालको पाकर कोई उसका उल्लङ्घन नहीं कर सकता ॥

आख्यातव्यं मदीयानां येऽस्मिञ्जीवन्ति संयुगे ॥ १० ॥
यथाहं भीमसेनेन व्युत्क्रम्य समयं हतः।

'मेरे पक्षके वीरोंमेंसे जो लोग इस युद्धमें जीवित बच गये हों, उन्हें यह बताना कि भीमसेनने किस तरह गदायुद्धके नियमका उल्लङ्घन करके मुझे मारा ॥ १०½ ॥

बहूनि सुनृशंसानि कृतानि खलु पाण्डवैः ॥ ११ ॥
भूरिश्रवसि कर्णे च भीष्मे द्रोणे च श्रीमति।

'पाण्डवोंने भूरिश्रवा, कर्ण, भीष्म तथा श्रीमान् द्रोणाचार्यके प्रति बहुत-से नृशंस कार्य किये हैं ॥ ११½ ॥

इदं चाकीर्तिजं कर्म नृशंसैः पाण्डवैः कृतम् ॥ १२ ॥
येन ते सत्सु निर्वेदं गमिष्यन्ति हि मे मतिः।

'उन क्रूरकर्मा पाण्डवोंने यह भी अपनी अकीर्ति फैलानेवाला कर्म ही किया है, जिससे वे साधु पुरुषोंकी सभामें पश्चात्ताप करेंगे; ऐसा मेरा विश्वास है ॥ १२½ ॥

का प्रीतिः सत्त्वयुक्तस्य कृत्वोपधिकृतं जयम् ॥ १३ ॥

को वा समयभेत्तारं बुधः सम्मन्तुमर्हति ।

'छलसे विजय पाकर किसी सत्त्वगुणी या शक्तिशाली पुरुषको क्या प्रसन्नता होगी ? अथवा जो युद्धके नियमको भंग कर देता है, उसका सम्मान कौन विद्वान् कर सकता है?॥

अधर्मेण जयं लब्ध्वा को नु हृष्येत पण्डितः ॥ १४ ॥
यथा संहृष्यते पापः पाण्डुपुत्रो वृकोदरः ।

'अधर्मसे विजय प्राप्त करके किस बुद्धिमान् पुरुषको हर्ष होगा ? जैसा कि पापी पाण्डुपुत्र भीमसेनको हो रहा है ॥

किन्नु चित्रमितस्त्वद्य भग्नसक्थस्य यन्मम ॥ १५ ॥
क्रुद्धेन भीमसेनेन पादेन मृदितं शिरः ।

'आज जब मेरी जाँघें टूट गयी हैं; ऐसी दशामें कुपित हुए भीमसेनने मेरे मस्तकको जो पैरसे ठुकराया है, इससे बढ़कर आश्चर्यकी बात और क्या हो सकती है ? ॥ १५½ ॥

प्रतपन्तं श्रिया जुष्टं वर्तमानं च बन्धुषु ॥ १६ ॥
एवं कुर्यान्नरो यो हि स वै संजय पूजितः ।

'संजय ! जो अपने तेजसे तप रहा हो, राजलक्ष्मीसे सेवित हो और अपने सहायक बन्धुओंके बीचमें विद्यमान हो, ऐसे शत्रुके साथ जो उक्त बर्ताव करे, वही वीर पुरुष सम्मानित होता है (मरे-हुएको मारनेमें क्या बड़ाई है) ॥

अभिज्ञौ युद्धधर्मस्य मम माता पिता च मे ॥ १७ ॥
तौ हि संजय दुःखार्तौ विज्ञाप्यौ वचनाद्धि मे ।
इष्टं भृत्या भृताः सम्यग् भूः प्रशास्ता ससागरा॥१८ ॥

'मेरे माता-पिता युद्धधर्मके ज्ञाता हैं। वे दोनों मेरी मृत्युका समाचार सुनकर दुःखसे आतुर हो जायँगे। तुम मेरे कहनेसे उन्हें यह संदेश देना कि मैंने यज्ञ किये, जो भरण-पोषण करने योग्य थे, उनका पालन किया और समुद्रपर्यन्त पृथ्वीका अच्छी तरह शासन किया ॥ १७-१८ ॥

मूर्ध्नि स्थितममित्राणां जीवतामेव संजय ।
दत्ता दाया यथाशक्ति मित्राणां च प्रियं कृतम् ॥ १९ ॥
अमित्रा बाधिताः सर्वे को नु स्वन्ततरो मया ।

'संजय ! मैंने जीवित शत्रुओंके ही मस्तकपर पैर रक्खा। यथाशक्ति धनका दान और मित्रोंका प्रिय किया। साथ ही सम्पूर्ण शत्रुओंको सदा ही क्लेश पहुँचाया। संसारमें कौन ऐसा पुरुष है, जिसका अन्त मेरे समान सुन्दर हुआ हो ? ॥

मानिता बान्धवाः सर्वे वश्यः सम्पूजितो जनः ॥ २० ॥
त्रितयं सेवितं सर्वं को नु स्वन्ततरो मया ।

'मैंने सभी बन्धु-बान्धवोंको सम्मान दिया। अपनी आज्ञाके अधीन रहनेवाले लोगोंका सत्कार किया और धर्म, अर्थ एवं काम सबका सेवन कर लिया। मेरे समान सुन्दर अन्त किसका हुआ होगा ? ॥ २०½ ॥

आज्ञप्तं नृपमुख्येषु मानः प्राप्तः सुदुर्लभः ॥ २१ ॥
आजानेयैस्तथा यातं को नु स्वन्ततरो मया ।

'बड़े-बड़े राजाओंपर हुक्म चलाया, अत्यन्त दुर्लभ सम्मान प्राप्त किया तथा आजानेय (अरबी) घोड़ोंपर सवारी की, मुझसे अच्छा अन्त और किसका हुआ होगा ? ॥ २१½ ॥

यातानि परराष्ट्राणि नृपा भुक्ताश्च दासवत् ॥ २२ ॥
प्रियेभ्यः प्रकृतं साधु को नु स्वन्ततरो मया ।

'दूसरे राष्ट्रोंपर आक्रमण किया और कितने ही राजाओं-से दासकी भाँति सेवाएँ लीं। जो अपने प्रिय व्यक्ति थे, उनकी सदा ही भलाई की। फिर मुझसे अच्छा अन्त किसका हुआ होगा ? ॥ २२½ ॥

अधीतं विधिवद् दत्तं प्राप्तमायुर्निरामयम् ॥ २३ ॥
स्वधर्मेण जिता लोकाः को नु स्वन्ततरो मया ।
दिष्ट्या नाहं जितः संख्ये परान् प्रेष्यवदाश्रितः॥ २४ ॥
दिष्ट्या मे विपुला लक्ष्मीर्मृते त्वन्यगता विभो ।

'विधिवत् वेदोंका स्वाध्याय किया, नाना प्रकारके दान दिये और रोगरहित आयु प्राप्त की। इसके सिवा, मैंने अपने धर्मके द्वारा पुण्यलोकोंपर विजय पायी है। फिर मेरे समान अच्छा अन्त और किसका हुआ होगा ? सौभाग्यकी बात है कि मैं न तो युद्धमें कभी पराजित हुआ और न दासकी भाँति कभी शत्रुओंकी शरण ली। सौभाग्यसे मेरे अधिकारमें विशाल राजलक्ष्मी रही है, जो मेरे मरनेके बाद ही दूसरेके हाथमें गयी है ॥ २३-२४½ ॥

यदिष्टं क्षत्रबन्धूनां स्वधर्ममनुतिष्ठताम् ॥ २५ ॥
निधनं तन्मया प्राप्तं को नु स्वन्ततरो मया ।

'अपने धर्मका पालन करनेवाले क्षत्रिय-बन्धुओंको जो अभीष्ट है, वैसी ही मृत्यु मुझे प्राप्त हुई है; अतः मुझसे अच्छा अन्त और किसका हुआ होगा ? ॥ २५½ ॥

दिष्ट्या नाहं परावृत्तो वैरात् प्राकृतवज्जितः ॥ २६ ॥
दिष्ट्या न विमतिं कांचिद् भजित्वा तु पराजितः ।

'हर्षकी बात है कि मैं युद्धमें पीठ दिखाकर भागा नहीं। निम्नश्रेणीके मनुष्यकी भाँति हार मानकर वैरसे कभी पीछे नहीं हटा तथा कभी किसी दुर्विचारका आश्रय लेकर पराजित नहीं हुआ—यह भी मेरे लिये गौरवकी ही बात है॥ २६½ ॥

सुप्तं वाथ प्रमत्तं वा यथा हन्याद् विषेण वा ॥ २७ ॥
एवं व्युत्क्रान्तधर्मेण व्युत्क्रम्य समयं हतः ।

'जैसे कोई सोये अथवा पागल हुए मनुष्यको मार दे या धोखेसे जहर देकर किसीकी हत्या कर डाले, उसी प्रकार धर्मका उल्लङ्घन करनेवाले पापी भीमसेनने गदायुद्धकी मर्यादाका उल्लङ्घन करके मुझे मारा है ॥ २७½ ॥

अश्वत्थामा महाभागः कृतवर्मा च सात्वतः ॥ २८ ॥
कृपः शारद्वतश्चैव वक्तव्या वचनान्मम ।

'महाभाग अश्वत्थामा, सात्वतवंशी कृतवर्मा तथा शरद्वान्‌के पुत्र कृपाचार्य—इन सबको मेरी यह बात सुना देना॥

अधर्मेण प्रवृत्तानां पाण्डवानामनेकशः ॥ २९ ॥
विश्वासं समयघ्नानां न यूयं गन्तुमर्हथ ।

'पाण्डवोंने अधर्ममें प्रवृत्त होकर अनेकों बार युद्धकी मर्यादा तोड़ी है; अतः आपलोग कभी उनका विश्वास न करें' ॥

वार्तिकांश्चाब्रवीद् राजा पुत्रस्ते सत्यविक्रमः ॥ ३० ॥
अधर्माद् भीमसेनेन निहतोऽहं यथा रणे ।
सोऽहं द्रोणं स्वर्गगतं कर्णशल्यावुभौ तथा ॥ ३१ ॥
वृषसेनं महावीर्यं शकुनिं चापि सौबलम् ।
जलसंधं महावीर्यं भगदत्तं च पार्थिवम् ॥ ३२ ॥
सोमदत्तं महेष्वासं सैन्धवं च जयद्रथम् ।
दुःशासनपुरोगांश्च भ्रातॄनात्मसमांस्तथा ॥ ३३ ॥
दौःशासनिं च विक्रान्तं लक्ष्मणं चात्मजावुभौ ।
एतांश्चान्यांश्च सुबहून् मदीयांश्च सहस्रशः ॥ ३४ ॥
पृष्ठतोऽनुगमिष्यामि सार्थहीनो यथाध्वगः ।

इसके बाद आपके सत्यपराक्रमी पुत्र राजा दुर्योधनने संदेशवाहक दूतोंसे इस प्रकार कहा—'भीमसेनने रणभूमिमें अधर्मसे मेरा वध किया है । अब मैं स्वर्गमें गये हुए द्रोणाचार्य, कर्ण, शल्य, महापराक्रमी वृषसेन, सुबलपुत्र शकुनि, महाबली जलसन्ध, राजा भगदत्त, महाधनुर्धर सोमदत्त, सिंधुराज जयद्रथ, अपने ही समान पराक्रमी दुःशासन आदि बन्धुगण, विक्रमशाली दुःशासनकुमार और अपने पुत्र लक्ष्मण—इन सबके तथा और भी जो बहुत-से मेरे पक्षके सहस्रों योद्धा मारे गये हैं, उन सबके पीछे मैं स्वर्गमें जाऊँगा । मेरी दशा उस पथिकके समान है, जो अपने साथियोंसे बिछुड़ गया हो ॥ ३०-३४½ ॥

कथं भ्रातॄन् हताञ्छ्रुत्वा भर्तारं च स्वसा मम ॥ ३५ ॥
रोरूयमाणा दुःखार्ता दुःशला सा भविष्यति ।

'हाय ! अपने भाइयों और पतिकी मृत्युका समाचार सुनकर दुःखसे आतुर हो अत्यन्त रोदन करती हुई मेरी बहिन दुःशलाकी क्या दशा होगी ? ॥ ३५½ ॥

स्नुषाभिः प्रस्नुषाभिश्च वृद्धो राजा पिता मम ॥ ३६ ॥
गान्धारीसहितश्चैव कां गतिं प्रतिपत्स्यति ।

'पुत्रों और पौत्रोंकी बिलखती हुई बहुओंके साथ मेरे बूढ़े पिता राजा धृतराष्ट्र माता गान्धारीसहित किस अवस्थाको पहुँच जायँगे ? ॥ ३६½ ॥

नूनं लक्ष्मणमातापि हतपुत्रा हतेश्वरा ॥ ३७ ॥
विनाशं यास्यति क्षिप्रं कल्याणी पृथुलोचना ।

'निश्चय ही जिसके पति और पुत्र मारे गये हैं, वह कल्याणमयी विशाललोचना लक्ष्मणकी माता भी सारा समाचार सुनकर तुरंत ही प्राण दे देगी ॥ ३७½ ॥

यदि जानाति चार्वाकः परिव्राड् वाग्विशारदः ॥ ३८ ॥
करिष्यति महाभागो ध्रुवं चापचितिं मम ।

'संन्यासीके वेषमें सब ओर घूमनेवाले प्रवचनकुशल चार्वाक[1] को यदि मेरी दशा ज्ञात हो जायगी तो वे महाभाग निश्चय ही मेरे वैरका बदला लेंगे ॥ ३८½ ॥

समन्तपञ्चके पुण्ये त्रिषु लोकेषु विश्रुते ॥ ३९ ॥
अहं निधनमासाद्य लोकान् प्राप्स्यामि शाश्वतान् ।

'तीनों लोकोंमें विख्यात पुण्यमय समन्तपञ्चकक्षेत्रमें मृत्युको प्राप्त होकर अब मैं सनातन लोकोंमें जाऊँगा' ॥ ३९½ ॥

ततो जनसहस्राणि बाष्पपूर्णानि मारिष ॥ ४० ॥
प्रलापं नृपतेः श्रुत्वा व्यद्रवन्त दिशो दश ।

मान्यवर ! राजा दुर्योधनका यह विलाप सुनकर हजारों मनुष्योंकी आँखोंमें आँसू भर आये और वे दसों दिशाओंमें भाग चले ॥ ४०½ ॥

ससागरवना घोरा पृथिवी सचराचरा ॥ ४१ ॥
चचालाथ सनिर्ह्रादा दिशश्चैवाविलाभवन् ।

उस समय समुद्र, वन और चराचर प्राणियोंसहित यह पृथ्वी भयानक रूपसे हिलने लगी । सब ओर वज्रकी-सी गर्जना होने लगी और सारी दिशाएँ मलिन हो गयीं ॥ ४१½ ॥

ते द्रोणपुत्रमासाद्य यथावृत्तं न्यवेदयन् ॥ ४२ ॥
व्यवहारं गदायुद्धे पार्थिवस्य च पातनम् ।
तदाख्याय ततः सर्वे द्रोणपुत्रस्य भारत ॥
(वार्तिका दुःखसंतप्ताः शोकोपहतचेतसः ।)
ध्यात्वा च सुचिरं कालं जग्मुरार्ता यथागतम् ॥ ४३ ॥

उन संदेशवाहकोंने आकर द्रोणपुत्र अश्वत्थामासे यथावत् समाचार कह सुनाया । भारत ! गदायुद्धमें भीमसेनका जैसा व्यवहार हुआ तथा राजाको जिस प्रकार धराशायी किया गया, वह सारा वृत्तान्त द्रोणपुत्रको बताकर दुःखसे संतप्त हो वे बहुत देरतक चिन्तामें डूबे रहे । फिर शोकसे व्याकुल-चित्त एवं आर्त होकर जैसे आये थे, वैसे चले गये ॥ ४२-४३ ॥

इति श्रीमहाभारते शल्यपर्वणि गदापर्वणि दुर्योधनविलापे चतुःषष्टितमोऽध्यायः ॥ ६४ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शल्यपर्वके अन्तर्गत गदापर्वमें दुर्योधनका विलापविषयक चौसठवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ६४ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठका ½ श्लोक मिलाकर कुल ४३½ श्लोक हैं)

---

१. आचार्य नीलकण्ठकी सम्मतिके अनुसार चार्वाक संन्यासी मुनिके वेषमें विचरनेवाला एक नास्तिक राक्षस था ।

पञ्चषष्टितमोऽध्यायः

दुर्योधनकी दशा देखकर अश्वत्थामाका विषाद, प्रतिज्ञा और सेनापतिके पदपर अभिषेक

संजय उवाच

वार्तिकाणां सकाशात् तु श्रुत्वा दुर्योधनं हतम्।
हतशिष्टास्ततो राजन् कौरवाणां महारथाः ॥ १ ॥
विनिर्भिन्नाः शितैर्बाणैर्गदातोमरशक्तिभिः।
अश्वत्थामा कृपश्चैव कृतवर्मा च सात्वतः ॥ २ ॥
त्वरिता जवनैरश्वैरायोधनमुपागमन्।

संजय कहते हैं—राजन्! संदेशवाहकोंके मुखसे दुर्योधनके मारे जानेका समाचार सुनकर मरनेसे बचे हुए कौरव महारथी अश्वत्थामा, कृपाचार्य और सात्वतवंशी कृतवर्मा—जो स्वयं भी तीखे बाण, गदा, तोमर और शक्तियोंके प्रहारसे विशेष घायल हो चुके थे, तेज चलनेवाले घोड़ोंसे जुते हुए रथपर सवार हो तुरंत ही युद्धभूमिमें आये॥

तत्रापश्यन् महात्मानं धार्तराष्ट्रं निपातितम् ॥ ३ ॥
प्रभग्नं वायुवेगेन महाशालं यथा वने।
भूमौ विचेष्टमानं तं रुधिरेण समुक्षितम् ॥ ४ ॥
महागजमिवारण्ये व्याधेन विनिपातितम्।
विवर्तमानं बहुशो रुधिरौघपरिप्लुतम् ॥ ५ ॥

वहाँ आकर उन्होंने देखा कि महामनस्वी धृतराष्ट्रपुत्र दुर्योधन मार गिराया गया है, मानो वनमें कोई विशाल शालवृक्ष वायुके वेगसे टूटकर धराशायी हो गया हो। खूनसे लथपथ हो दुर्योधन पृथ्वीपर पड़ा छटपटा रहा था, मानो जंगलमें किसी व्याधेने बहुत बड़े हाथीको मार गिराया हो। रक्तकी धारामें डूबा हुआ वह बारंबार करवटें बदल रहा था॥

यदृच्छया निपतितं चक्रमादित्यगोचरम्।
महावातसमुत्थेन संशुष्कमिव सागरम् ॥ ६ ॥
पूर्णचन्द्रमिव व्योम्नि तुषारावृतमण्डलम्।
रेणुध्वस्तं दीर्घभुजं मातङ्गमिव विक्रमे ॥ ७ ॥

जैसे दैवेच्छासे सूर्यका चक्र गिर पड़ा हो, बहुत बड़ी आँधी चलनेसे समुद्र सूख गया हो, आकाशमें पूर्ण चन्द्र-मण्डलपर कुहरा छा गया हो, वही दशा उस समय दुर्योधन-की हुई थी। मतवाले हाथीके समान पराक्रमी और विशाल भुजाओंवाला वह वीर धूलमें सन गया था ॥ ६-७ ॥

वृतं भूतगणैर्घोरैः क्रव्यादैश्च समन्ततः।
यथा धनं लिप्समानैर्भृत्यैर्नृपतिसत्तमम् ॥ ८ ॥

जैसे धन चाहनेवाले भृत्यगण किसी श्रेष्ठ राजाको घेरे रहते हैं, उसी प्रकार भयंकर मांसभक्षी भूतोंने चारों ओरसे उसे घेर रक्खा था ॥ ८ ॥

भ्रुकुटीकृतवक्त्रान्तं क्रोधादुद्वृत्तचक्षुषम्।
सामर्षं तं नरव्याघ्रं व्याघ्रं निपतितं यथा ॥ ९ ॥

उसके मुँहपर भौंहें तनी हुई थीं, आँखें क्रोधसे चढ़ी हुई थीं और गिरे हुए व्याघ्रके समान वह नरश्रेष्ठ वीर अमर्षमें भरा हुआ दिखायी देता था ॥ ९ ॥

ते तं दृष्ट्वा महेष्वासं भूतले पतितं नृपम्।
मोहमभ्यागमन् सर्वे कृपप्रभृतयो रथाः ॥ १० ॥

महाधनुर्धर राजा दुर्योधनको पृथ्वीपर पड़ा हुआ देख कृपाचार्य आदि सभी महारथी मोहके वशीभूत हो गये॥१०॥

अवतीर्य रथेभ्यश्च प्राद्रवन् राजसंनिधौ।
दुर्योधनं च सम्प्रेक्ष्य सर्वे भूमावुपाविशन् ॥ ११ ॥

वे अपने रथोंसे उतरकर राजाके पास दौड़े गये और दुर्योधनको देखकर सब लोग उसके पास ही जमीनपर बैठ गये ॥ ११ ॥

ततो द्रौणिर्महाराज बाष्पपूर्णेक्षणः श्वसन्।
उवाच भरतश्रेष्ठं सर्वलोकेश्वरेश्वरम् ॥ १२ ॥

महाराज! उस समय अश्वत्थामाकी आँखोंमें आँसू भर आये। वह सिसकता हुआ सम्पूर्ण जगत्के राजाधिराज भरत-श्रेष्ठ दुर्योधनसे इस प्रकार बोला—॥ १२ ॥

न नूनं विद्यते सत्यं मानुषे किंचिदेव हि।
यत्र त्वं पुरुषव्याघ्र शेषे पांसुषु रूषितः ॥ १३ ॥

'पुरुषसिंह! निश्चय ही इस मनुष्यलोकमें कुछ भी सत्य नहीं है, सभी नाशवान् है, जहाँ तुम्हारे-जैसा राजा धूलमें सना हुआ लोट रहा है ॥ १३ ॥

भूत्वा हि नृपतिः पूर्वं समाज्ञाप्य च मेदिनीम्।
कथमेकोऽद्य राजेन्द्र तिष्ठसे निर्जने वने ॥ १४ ॥

'राजेन्द्र! तुम पहले सम्पूर्ण जगत्के मनुष्योंपर आधिपत्य रखकर सारे भूमण्डलपर हुक्म चलाते थे। वही तुम आज अकेले इस निर्जन वनमें कैसे पड़े हुए हो? ॥१४॥

दुःशासनं न पश्यामि नापि कर्णं महारथम्।
नापि तान् सुहृदः सर्वान् किमिदं भरतर्षभ ॥ १५ ॥

'भरतश्रेष्ठ! न तो मैं दुःशासनको देखता हूँ और न महारथी कर्णको। अन्य सब सुहृदोंका भी मुझे दर्शन नहीं हो रहा है, यह क्या बात है! ॥ १५ ॥

दुःखं नूनं कृतान्तस्य गतिं ज्ञातुं कथंचन।
लोकानां च भवान् यत्र शेषे पांसुषु रूषितः॥ १६ ॥

'निश्चय ही काल और लोकोंकी गतिको जानना किसी प्रकार भी कठिन ही है, जिसके अधीन होकर आप धूलमें सने हुए पड़े हैं ॥ १६ ॥

एष मूर्धाभिषिक्तानामग्रे गत्वा परंतपः।
सतृणं ग्रसते पांसुं पश्य कालस्य पर्ययम् ॥ १७ ॥

'अहो ! ये मूर्धाभिषिक्त राजाओंके आगे चलनेवाले शत्रुसंतापी महाराज दुर्योधन तिनकोंसहित धूल फाँक रहे हैं। यह कालका उलट-फेर तो देखो ॥ १७ ॥

क्व ते तदमलं छत्रं व्यजनं क्व च पार्थिव।
सा च ते महती सेना क्व गता पार्थिवोत्तम ॥ १८ ॥

'नृपश्रेष्ठ ! महाराज ! कहाँ है आपका वह निर्मल छत्र, कहाँ है व्यजन और कहाँ गयी आपकी वह विशालसेना ! ॥ १८ ॥

दुर्विज्ञेया गतिर्नूनं कार्याणां कारणान्तरे।
यद् वै लोकगुरुर्भूत्वा भवानेतां दशां गतः ॥ १९ ॥

'किस कारणसे कौन-सा कार्य होगा, इसको समझ लेना निश्चय ही बहुत कठिन है; क्योंकि सम्पूर्ण जगत्के आदरणीय नरेश होकर भी आज तुम इस दशाको पहुँच गये ॥ १९ ॥

अध्रुवा सर्वमर्त्येषु श्रीरुपालक्ष्यते भृशम्।
भवतो व्यसनं दृष्ट्वा शक्रविस्पर्धिनो भृशम् ॥ २० ॥

'तुम तो अपनी साम्राज्य-लक्ष्मीके द्वारा इन्द्रकी समानता करनेवाले थे। आज तुमपर भी यह संकट आया हुआ देखकर निश्चय हो गया कि किसी भी मनुष्यकी सम्पत्ति सदा स्थिर नहीं देखी जा सकती' ॥ २० ॥

तस्य तद् वचनं श्रुत्वा दुःखितस्य विशेषतः।
उवाच राजन् पुत्रस्ते प्राप्तकालमिदं वचः ॥ २१ ॥
विमृज्य नेत्रे पाणिभ्यां शोकजं बाष्पमुत्सृजन्।
कृपादीन् स तदा वीरान् सर्वानेव नराधिपः ॥ २२ ॥

राजन् ! अत्यन्त दुखी हुए अश्वत्थामाकी वह बात सुनकर आपके पुत्र राजा दुर्योधनके नेत्रोंसे शोकके आँसू बहने लगे। उसने दोनों हाथोंसे नेत्रोंको पोंछा और कृपाचार्य आदि समस्त वीरोंसे यह समयोचित वचन कहा—॥ २१-२२॥

ईदृशो लोकधर्मोऽयं धात्रा निर्दिष्ट उच्यते।
विनाशः सर्वभूतानां कालपर्यायमागतः ॥ २३ ॥

'मित्रो ! इस मर्त्यलोकका ऐसा ही धर्म (नियम) है। विधाताने ही इसका निर्देश किया है, ऐसा कहा जाता है; इसलिये कालक्रमसे एक-न-एक दिन सम्पूर्ण प्राणियोंके विनाशकी घड़ी आ ही जाती है ॥ २३ ॥

सोऽयं मां समनुप्राप्तः प्रत्यक्षं भवतां हि यः।
पृथिवीं पालयित्वाहमेतां निष्ठामुपागतः ॥ २४ ॥

'वही यह विनाशका समय अब मुझे भी प्राप्त हुआ है, जिसे आपलोग प्रत्यक्ष देख रहे हैं। एक दिन मैं सारी पृथ्वीका पालन करता था और आज इस अवस्थाको पहुँच गया हूँ ॥ २४ ॥

दिष्ट्या नाहं परावृत्तो युद्धे कस्यांचिदापदि।
दिष्ट्याहं निहतः पापैश्छलेनैव विशेषतः ॥ २५ ॥

'तो भी मुझे इस बातकी खुशी है कि कैसी ही आपत्ति क्यों न आयी, मैं युद्धमें कभी पीछे नहीं हटा। पापियोंने मुझे मारा भी तो छलसे ॥ २५ ॥

उत्साहश्च कृतो नित्यं मया दिष्ट्या युयुत्सता।
दिष्ट्या चास्मिन् हतो युद्धे निहतज्ञातिबान्धवः॥ २६ ॥

'सौभाग्यवश मैंने रणभूमिमें जूझनेकी इच्छा रखकर सदा ही उत्साह दिखाया है और भाई-बन्धुओंके मारे जानेपर स्वयं भी युद्धमें ही प्राण-त्याग कर रहा हूँ, इससे मुझे विशेष संतोष है ॥ २६ ॥

दिष्ट्या च वोऽहं पश्यामि मुक्तानस्माज्जनक्षयात्।
स्वस्तियुक्तांश्च कल्यांश्च तन्मे प्रियमनुत्तमम् ॥ २७ ॥

'सौभाग्यकी बात है कि मैं आपलोगोंको इस नरसंहारसे मुक्त देख रहा हूँ। साथ ही आपलोग सकुशल एवं कुछ करनेमें समर्थ हैं—यह मेरे लिये और भी उत्तम एवं प्रसन्नताकी बात है ॥ २७ ॥

मा भवन्तोऽत्र तप्यन्तां सौहृदान्निधनेन मे।
यदि वेदाः प्रमाणं वो जिता लोका मयाक्षयाः ॥ २८ ॥

'आपलोगोंका मुझपर स्वाभाविक स्नेह है, इसलिये मेरी मृत्युसे यहाँ आपलोगोंको जो दुःख और संताप हो रहा है, वह नहीं होना चाहिये। यदि आपकी दृष्टिमें वेदशास्त्र प्रामाणिक हैं तो मैंने अक्षय लोकोंपर अधिकार प्राप्त कर लिया ॥ २८ ॥

मन्यमानः प्रभावं च कृष्णस्यामिततेजसः।
तेन न च्यावितश्चाहं क्षत्रधर्मात् स्वनुष्ठितात् ॥ २९ ॥
स मया समनुप्राप्तो नास्मि शोच्यः कथंचन।

'मैं अमित तेजस्वी श्रीकृष्णके अद्भुत प्रभावको मानता हुआ भी कभी उनकी प्रेरणासे अच्छी तरह पालन किये हुए क्षत्रियधर्मसे विचलित नहीं हुआ। मैंने उस धर्मका फल प्राप्त किया है; अतः किसी प्रकार भी मैं शोकके योग्य नहीं हूँ ॥

कृतं भवद्भिः सदृशमनुरूपमिवात्मनः ॥ ३० ॥
यतितं विजये नित्यं दैवं तु दुरतिक्रमम्।

'आपलोगोंने अपने स्वरूपके अनुरूप योग्य पराक्रम प्रकट किया और सदा मुझे विजय दिलानेकी ही चेष्टा की; तथापि दैवके विधानका उल्लङ्घन करना किसीके लिये भी सर्वथा कठिन है' ॥ ३०½ ॥

एतावदुक्त्वा वचनं बाष्पव्याकुललोचनः ॥ ३१ ॥
तूष्णीं बभूव राजेन्द्र रुजासौ विह्वलो भृशम्।

राजेन्द्र ! इतना कहते-कहते दुर्योधनकी आँखें आँसुओंसे भर आयीं और वह वेदनासे अत्यन्त व्याकुल होकर चुप हो गया—उससे कुछ बोला नहीं गया ॥ ३१½ ॥

तथा दृष्ट्वा तु राजानं बाष्पशोकसमन्वितम् ॥ ३२ ॥
द्रौणिः क्रोधेन जज्वाल यथा वह्निर्जगत्क्षये।

राजा दुर्योधनको शोकके आँसू बहाते देख अश्वत्थामा प्रलयकालकी अग्निके समान क्रोधसे प्रज्वलित हो उठा ॥

स च क्रोधसमाविष्टः पाणौ पाणिं निपीड्य च॥ ३३ ॥
बाष्पविह्वलया वाचा राजानमिदमब्रवीत् ।

रोषके आवेशमें भरकर उसने हाथपर हाथ दबाया और अश्रुगद्गद वाणीद्वारा उसने राजा दुर्योधनसे इस प्रकार कहा—॥ ३३½ ॥

पिता मे निहतः क्षुद्रैः सुनृशंसेन कर्मणा ॥ ३४ ॥
न तथा तेन तप्यामि यथा राजंस्त्वयाद्य वै ।

'राजन्! नीच पाण्डवोंने अत्यन्त क्रूरतापूर्ण कर्मके द्वारा मेरे पिताका वध किया था; परंतु उसके कारण भी मैं उतना संतप्त नहीं हूँ, जैसा कि आज तुम्हारे वधके कारण मुझे कष्ट हो रहा है ॥ ३४½ ॥

शृणु चेदं वचो मह्यं सत्येन वदतः प्रभो ॥ ३५ ॥
इष्टापूर्तेन दानेन धर्मेण सुकृतेन च ।
अद्याहं सर्वपञ्चालान् वासुदेवस्य पश्यतः ॥ ३६ ॥
सर्वोपायैर्हि नेष्यामि प्रेतराजनिवेशनम् ।
अनुज्ञां तु महाराज भवान् मे दातुमर्हति ॥ ३७ ॥

'प्रभो! मैं सत्यकी शपथ खाकर जो कह रहा हूँ, मेरी इस बातको सुनो। मैं अपने इष्ट, आपूर्त, दान, धर्म तथा अन्य शुभ कर्मोंकी शपथ खाकर प्रतिज्ञा करता हूँ कि आज श्रीकृष्णके देखते-देखते सम्पूर्ण पाञ्चालोंको सभी उपायोंद्वारा यमराजके लोकमें भेज दूँगा। महाराज! इसके लिये तुम मुझे आज्ञा दे दो' ॥ ३५—३७ ॥

इति श्रुत्वा तु वचनं द्रोणपुत्रस्य कौरवः ।
मनसः प्रीतिजननं कृपं वचनमब्रवीत् ॥ ३८ ॥
आचार्य शीघ्रं कलशं जलपूर्णं समानय ।

द्रोणपुत्रका यह मनको प्रसन्न करनेवाला वचन सुनकर कुरुराज दुर्योधनने कृपाचार्यसे कहा—'आचार्य! आप शीघ्र ही जलसे भरा हुआ कलश ले आइये' ॥ ३८½ ॥

स तद् वचनमाज्ञाय राज्ञो ब्राह्मणसत्तमः ॥ ३९ ॥
कलशं पूर्णमादाय राज्ञोऽन्तिकमुपागमत् ।

राजाकी वह बात मानकर ब्राह्मणशिरोमणि कृपाचार्य जलसे भरा हुआ कलश ले उसके समीप आये ॥ ३९½ ॥

तमब्रवीन्महाराज पुत्रस्तव विशाम्पते ॥ ४० ॥
ममाज्ञया द्विजश्रेष्ठ द्रोणपुत्रोऽभिषिच्यताम् ।
सैनापत्येन भद्रं ते मम चेदिच्छसि प्रियम् ॥ ४१ ॥

महाराज! प्रजानाथ! तब आपके पुत्रने उनसे कहा—'द्विजश्रेष्ठ! आपका कल्याण हो। यदि आप मेरा प्रिय करना चाहते हैं तो मेरी आज्ञासे द्रोणपुत्रका सेनापतिके पद-पर अभिषेक कीजिये ॥ ४०-४१ ॥

राज्ञो नियोगाद् योद्धव्यं ब्राह्मणेन विशेषतः ।
वर्तता क्षत्रधर्मेण ह्येवं धर्मविदो विदुः ॥ ४२ ॥

'ब्राह्मणको विशेषतः राजाकी आज्ञासे क्षत्रिय-धर्मके अनुसार बर्ताव करते हुए युद्ध करना चाहिये—ऐसा धर्मज्ञ पुरुष मानते हैं' ॥ ४२ ॥

राज्ञस्तु वचनं श्रुत्वा कृपः शारद्वतस्तथा ।
द्रौणिं राज्ञो नियोगेन सैनापत्येऽभ्यषेचयत् ॥ ४३ ॥

राजाकी वह बात सुनकर शरद्वान्के पुत्र कृपाचार्यने उसकी आज्ञाके अनुसार अश्वत्थामाका सेनापतिके पदपर अभिषेक किया ॥ ४३ ॥

सोऽभिषिक्तो महाराज परिष्वज्य नृपोत्तमम् ।
प्रययौ सिंहनादेन दिशः सर्वा विनादयन् ॥ ४४ ॥

महाराज! अभिषेक हो जानेपर अश्वत्थामाने नृपश्रेष्ठ दुर्योधनको हृदयसे लगाया और अपने सिंहनादसे सम्पूर्ण दिशाओंको प्रतिध्वनित करते हुए वहाँसे प्रस्थान किया ॥ ४४ ॥

दुर्योधनोऽपि राजेन्द्र शोणितेन परिप्लुतः ।
तां निशां प्रतिपेदेऽथ सर्वभूतभयावहाम् ॥ ४५ ॥

राजेन्द्र! खूनमें डूबे हुए दुर्योधनने भी सम्पूर्ण भूतोंके मनमें भय उत्पन्न करनेवाली वह रात वहीं व्यतीत की ॥ ४५ ॥

अपक्रम्य तु ते तूर्णं तस्मादायोधनान्नृप ।
शोकसंविग्नमनसश्चिन्ताध्यानपराभवन् ॥ ४६ ॥

नरेश्वर! शोकसे व्याकुलचित्त हुए वे तीनों महारथी उस युद्धभूमिसे तुरंत ही दूर हट गये और चिन्ता एवं कर्तव्यके विचारमें निमग्न हो गये ॥ ४६ ॥

इति श्रीमहाभारते शल्यपर्वणि गदापर्वणि अश्वत्थामसैनापत्याभिषेके पञ्चषष्टितमोऽध्यायः ॥ ६५ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शल्यपर्वके अन्तर्गत गदापर्वमें अश्वत्थामाका सेनापतिके पदपर अभिषेकविषयक पैंसठवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ६५ ॥

॥ शल्यपर्व सम्पूर्णम् ॥

	अनुष्टुप्	बड़े श्लोक	बड़े श्लोकोंको अनुष्टुप् माननेपर	कुल
उत्तर भारतीय पाठसे लिये गये	३५३१	(११५)	१५८=	३६८९=
दक्षिण भारतीय पाठसे लिये गये	४२	(५)	६॥।=	४८॥।=
शल्यपर्वकी कुल श्लोकसंख्या				३७३८
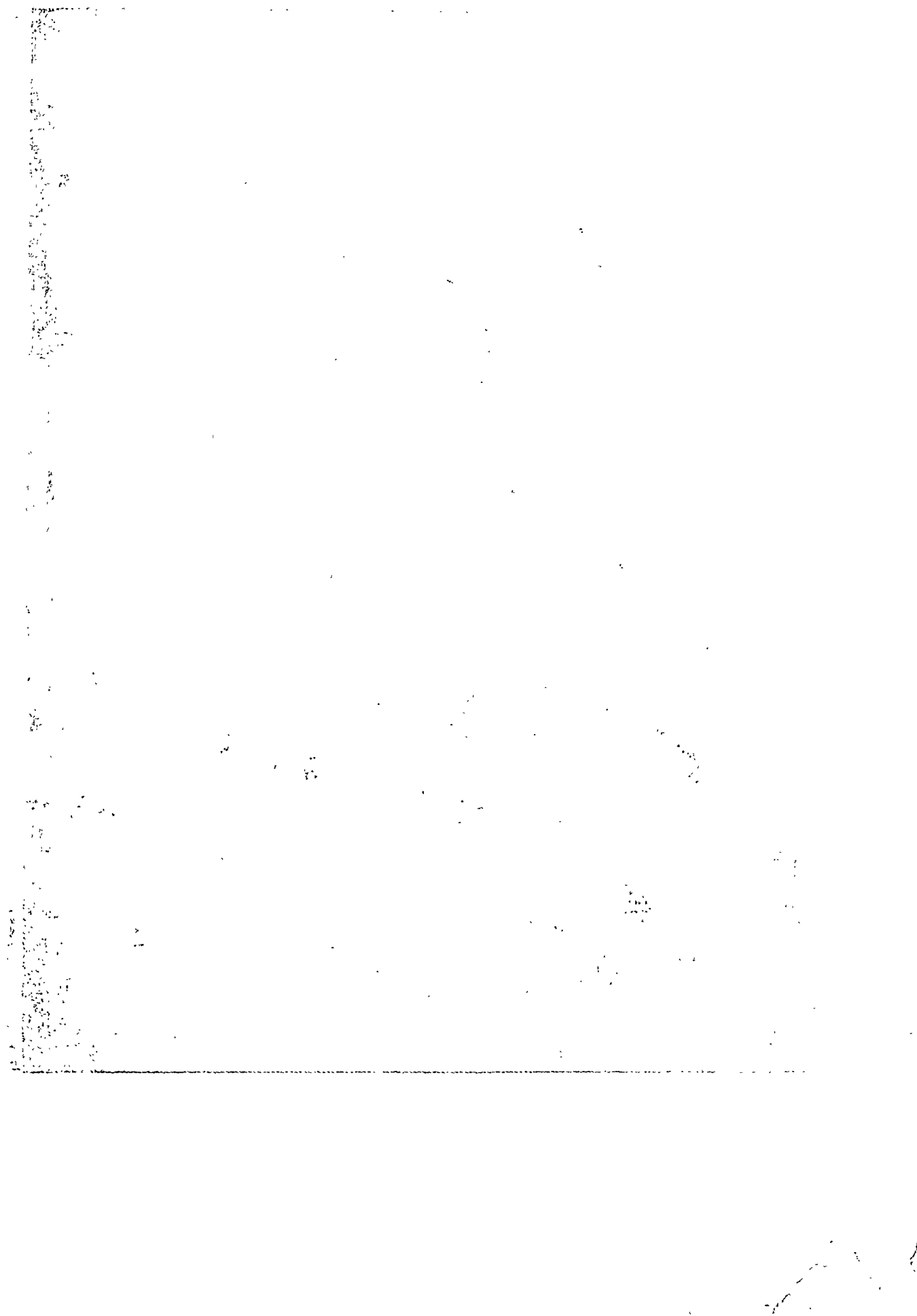
भीमसेन अश्वत्थामासे प्राप्त हुई मणि द्रौपदीको दे रहे हैं

ॐ

श्रीपरमात्मने नमः

श्रीमहाभारतम्

सौप्तिकपर्व

प्रथमोऽध्यायः

तीनों महारथियोंका एक वनमें विश्राम, कौओंपर उल्लूका आक्रमण देख अश्वत्थामाके मनमें क्रूर संकल्पका उदय तथा अपने दोनों साथियोंसे उसका सलाह पूछना

नारायणं नमस्कृत्य नरं चैव नरोत्तमम् ।
देवीं सरस्वतीं व्यासं ततो जयमुदीरयेत् ॥

अन्तर्यामी नारायण भगवान् श्रीकृष्ण, (उनके नित्य सखा) नरस्वरूप नरश्रेष्ठ अर्जुन, (उनकी लीला प्रकट करनेवाली) भगवती सरस्वती और उनकी लीलाओंका संकलन करनेवाले महर्षि वेदव्यासको नमस्कार करके जय (महाभारत) का पाठ करना चाहिये ॥

संजय उवाच

ततस्ते सहिता वीराः प्रयाता दक्षिणामुखाः ।
उपास्तमनवेलायां शिबिराभ्याशमागताः ॥ १ ॥

संजय कहते हैं—राजन् ! दुर्योधनकी आज्ञाके अनुसार कृपाचार्यके द्वारा अश्वत्थामाका सेनापतिके पदपर अभिषेक हो जानेके अनन्तर वे तीनों वीर अश्वत्थामा, कृपाचार्य और कृतवर्मा एक साथ दक्षिण दिशाकी ओर चले और सूर्यास्तके समय सेनाकी छावनीके निकट जा पहुँचे ॥ १ ॥

विमुच्य वाहांस्त्वरिता भीता समभवंस्तदा ।
गहनं देशमासाद्य प्रच्छन्ना न्यविशन्त ते ॥ २ ॥

शत्रुओंको पता न लग जाय, इस भयसे वे सब-के-सब डरे हुए थे, अतः बड़ी उतावलीके साथ वनके गहन प्रदेशमें जाकर उन्होंने घोड़ोंको खोल दिया और छिपकर एक स्थानपर वे जा बैठे ॥ २ ॥

सेनानिवेशमभितो नातिदूरमवस्थिताः ।
निकृत्ता निशितैः शस्त्रैः समन्तात् क्षतविक्षताः ॥ ३ ॥

जहाँ सेनाकी छावनी थी, उस स्थानके पास थोड़ी ही दूरपर वे तीनों विश्राम करने लगे। उनके शरीर तीखे शस्त्रोंके आघातसे घायल हो गये थे । वे सब ओरसे क्षत-विक्षत हो रहे थे ॥ ३ ॥

दीर्घमुष्णं च निःश्वस्य पाण्डवानेव चिन्तयन् ।
श्रुत्वा च निनदं घोरं पाण्डवानां जयैषिणाम् ॥ ४ ॥
अनुसारभयाद् भीताः प्राङ्मुखाः प्राद्रवन् पुनः।

वे गरम-गरम लंबी साँस खींचते हुए पाण्डवोंकी ही चिन्ता करने लगे । इतनेहीमें विजयाभिलाषी पाण्डवोंकी भयंकर गर्जना सुनकर उन्हें यह भय हुआ कि पाण्डव कहीं हमारा पीछा न करने लगें; अतः वे पुनः घोड़ोंको रथमें जोतकर पूर्व दिशाकी ओर भाग चले ॥ ४½ ॥

ते मुहूर्तात् ततो गत्वा श्रान्तवाहाः पिपासिताः॥ ५ ॥
नामृष्यन्त महेष्वासाः क्रोधामर्षवशं गताः ।
राज्ञो वधेन संतप्ता मुहूर्तं समवस्थिताः ॥ ६ ॥

दो ही घड़ीमें उस स्थानसे कुछ दूर जाकर क्रोध और अमर्षके वशीभूत हुए वे महाधनुर्धर योद्धा प्याससे पीड़ित हो गये । उनके घोड़े भी थक गये । उनके लिये यह अवस्था असह्य हो उठी थी । वे राजा दुर्योधनके मारे जानेसे बहुत दुखी हो एक मुहूर्ततक वहाँ चुपचाप खड़े रहे ॥ ५-६ ॥

धृतराष्ट्र उवाच

अश्रद्धेयमिदं कर्म कृतं भीमेन संजय ।
यत् स नागायुतप्राणः पुत्रो मम निपातितः ॥ ७ ॥

धृतराष्ट्र बोले—संजय ! मेरे पुत्र दुर्योधनमें दस हजार हाथियोंका बल था तो भी उसे भीमसेनने मार गिराया। उनके द्वारा जो यह कार्य किया गया है, इसपर सहसा विश्वास नहीं होता ॥ ७ ॥

अवध्यः सर्वभूतानां वज्रसंहननो युवा ।
पाण्डवैः समरे पुत्रो निहतो मम संजय ॥ ८ ॥

संजय ! मेरा पुत्र नवयुवक था । उसका शरीर वज्रके समान कठोर था और इसीलिये वह सम्पूर्ण प्राणियोंके लिये अवध्य था, तथापि पाण्डवोंने समराङ्गणमें उसका वध कर डाला ॥ ८ ॥

न दिष्टमभ्यतिक्रान्तुं शक्यं गावल्गणे नरैः ।
यत् समेत्य रणे पार्थैः पुत्रो मम निपातितः ॥ ९ ॥

गवल्गणकुमार ! कुन्तीके पुत्रोंने मिलकर रणभूमिमें जो मेरे पुत्रको धराशायी कर दिया है, इससे जान पड़ता है कि कोई भी मनुष्य दैवके विधानका उल्लङ्घन नहीं कर सकता॥

अद्रिसारमयं नूनं हृदयं मम संजय ।

हतं पुत्रशतं श्रुत्वा यन्न दीर्णं सहस्रधा ॥ १० ॥

संजय ! निश्चय ही मेरा हृदय पत्थरके सारतत्त्वका बना हुआ है, जो अपने सौ पुत्रोंके मारे जानेका समाचार सुनकर भी इसके सहस्रों टुकड़े नहीं हो गये ॥ १० ॥

कथं हि वृद्धमिथुनं हतपुत्रं भविष्यति ।
न ह्यहं पाण्डवेयस्य विषये वस्तुमुत्सहे ॥ ११ ॥

हाय ! अब हम दोनों बूढ़े पति-पत्नी अपने पुत्रोंके मारे जानेसे कैसे जीवित रहेंगे ? मैं पाण्डुकुमार युधिष्ठिरके राज्यमें नहीं रह सकता ॥ ११ ॥

कथं राज्ञः पिता भूत्वा स्वयं राजा च संजय ।
प्रेष्यभूतः प्रवर्तेयं पाण्डवेयस्य शासनात् ॥ १२ ॥

संजय ! मैं राजाका पिता और स्वयं भी राजा ही था । अब पाण्डुपुत्र युधिष्ठिरकी आज्ञाके अधीन हो दासकी भाँति कैसे जीवननिर्वाह करूँगा ? ॥ १२ ॥

आज्ञाप्य पृथिवीं सर्वां स्थित्वा मूर्ध्नि च संजय ।
कथमद्य भविष्यामि प्रेष्यभूतो दुरन्तकृत् ॥ १३ ॥

संजय ! पहले समस्त भूमण्डलपर मेरी आज्ञा चलती थी और मैं सबका शिरमौर था; ऐसा होकर अब मैं दूसरोंका दास बनकर कैसे रहूँगा । मैंने स्वयं ही अपने जीवनकी अन्तिम अवस्थाको दुःखमय बना दिया है ! ॥ १३ ॥

कथं भीमस्य वाक्यानि श्रोतुं शक्ष्यामि संजय ।
येन पुत्रशतं पूर्णमेकेन निहतं मम ॥ १४ ॥

ओह ! जिसने अकेले ही मेरे पूरे-के-पूरे सौ पुत्रोंका वध कर डाला, उस भीमसेनकी बातोंको मैं कैसे सुन सकूँगा !

कृतं सत्यं वचस्तस्य विदुरस्य महात्मनः ।
अकुर्वता वचस्तेन मम पुत्रेण संजय ॥ १५ ॥

संजय ! मेरे पुत्रने मेरी बात न मानकर महात्मा विदुरके कहे हुए वचनको सत्य कर दिखाया ॥ १५ ॥

अधर्मेण हते तात पुत्रे दुर्योधने मम ।
कृतवर्मा कृपो द्रौणिः किमकुर्वत संजय ॥ १६ ॥

तात संजय ! अब यह बताओ कि मेरे पुत्र दुर्योधनके अधर्मपूर्वक मारे जानेपर कृतवर्मा, कृपाचार्य और अश्वत्थामाने क्या किया ? ॥ १६ ॥

संजय उवाच

गत्वा तु तावका राजन् नातिदूरमवस्थिताः ।
अपश्यन्त वनं घोरं नानाद्रुमलतावृतम् ॥ १७ ॥

संजयने कहा—राजन् ! आपके पक्षके वे तीनों वीर वहाँसे थोड़ी ही दूरपर जाकर खड़े हो गये । वहाँ उन्होंने नाना प्रकारके वृक्षों और लताओंसे भरा हुआ एक भयंकर वन देखा ॥ १७ ॥

ते मुहूर्तं तु विश्रम्य लब्धतोयैर्हयोत्तमैः ।
सूर्यास्तमनवेलायां समासेदुर्महद् वनम् ॥ १८ ॥
नानामृगगणैर्जुष्टं नानापक्षिगणावृतम् ।
नानाद्रुमलताच्छन्नं नानाव्यालनिषेवितम् ॥ १९ ॥

उस स्थानपर थोड़ी देरतक ठहरकर उन सब लोगोंने अपने उत्तम घोड़ोंको पानी पिलाया और सूर्यास्त होते-होते वे उस विशाल वनमें जा पहुँचे, जहाँ अनेक प्रकारके मृग और भाँति-भाँतिके पक्षी निवास करते थे, तरह-तरहके वृक्षों और लताओंने उस वनको व्याप्त कर रक्खा था और अनेक जातिके सर्प उसका सेवन करते थे ॥ १८-१९ ॥

नानातोयैः समाकीर्णं नानापुष्पोपशोभितम् ।
पद्मिनीशतसंछन्नं नीलोत्पलसमायुतम् ॥ २० ॥

उसमें जहाँ-तहाँ अनेक प्रकारके जलाशय थे, भाँति-भाँतिके पुष्प उस वनकी शोभा बढ़ा रहे थे, शत-शत रक्त कमल और असंख्य नीलकमल वहाँके जलाशयोंमें सब ओर छा रहे थे ॥ २० ॥

प्रविश्य तद् वनं घोरं वीक्षमाणाः समन्ततः ।
शाखासहस्रसंछन्नं न्यग्रोधं ददृशुस्ततः ॥ २१ ॥

उस भयंकर वनमें प्रवेश करके सब ओर दृष्टि डालनेपर उन्हें सहस्रों शाखाओंसे आच्छादित एक बरगदका वृक्ष दिखायी दिया ॥ २१ ॥

उपेत्य तु तदा राजन् न्यग्रोधं ते महारथाः ।
ददृशुर्द्विपदां श्रेष्ठाः श्रेष्ठं तं वै वनस्पतिम् ॥ २२ ॥

राजन् ! मनुष्योंमें श्रेष्ठ उन महारथियोंने पास जाकर उस उत्तम वनस्पति (बरगद) को देखा ॥ २२ ॥

तेऽवतीर्य रथेभ्यश्च विप्रमुच्य च वाजिनः ।
उपस्पृश्य यथान्यायं संध्यामन्वासत प्रभो ॥ २३ ॥

प्रभो ! वहाँ रथोंसे उतरकर उन तीनोंने अपने घोड़ोंको खोल दिया और यथोचितरूपसे स्नान आदि करके संध्योपासना की ॥ २३ ॥

ततोऽस्तं पर्वतश्रेष्ठमनुप्राप्ते दिवाकरे ।
सर्वस्य जगतो धात्री शर्वरी समपद्यत ॥ २४ ॥

तदनन्तर सूर्यदेवके पर्वतश्रेष्ठ अस्ताचलपर पहुँच जानेपर धायकी भाँति सम्पूर्ण जगत्‌को अपनी गोदमें विश्राम देनेवाली रात्रिदेवीका सर्वत्र आधिपत्य हो गया ॥ २४ ॥

ग्रहनक्षत्रताराभिः सम्पूर्णाभिरलंकृतम् ।
नभोंऽशुकमिवाभाति प्रेक्षणीयं समन्ततः ॥ २५ ॥

सम्पूर्ण ग्रहों, नक्षत्रों और ताराओंसे अलंकृत हुआ आकाश जरीकी साड़ीके समान सब ओरसे देखनेयोग्य प्रतीत होता था ॥ २५ ॥

इच्छया ते प्रवल्गन्ति ये सत्त्वा रात्रिचारिणः ।
दिवाचराश्च ये सत्त्वास्ते निद्रावशमागताः ॥ २६ ॥

रात्रिमें विचरनेवाले प्राणी अपनी इच्छाके अनुसार उछल-कूद मचाने लगे और जो दिनमें विचरनेवाले जीव-जन्तु थे, वे निद्राके अधीन हो गये ॥ २६ ॥

रात्रिचराणां सत्त्वानां निर्घोषोऽभूत् सुदारुणः ।
क्रव्यादाश्च प्रमुदिता घोरा प्राप्ता च शर्वरी ॥ २७ ॥

रात्रिमें घूमने-फिरनेवाले जीवोंका अत्यन्त भयंकर शब्द प्रकट होने लगा । मांसभक्षी प्राणी प्रसन्न हो गये और वह भयंकर रात्रि सब ओर व्याप्त हो गयी ॥ २७ ॥

तस्मिन् रात्रिमुखे घोरे दुःखशोकसमन्विताः ।
कृतवर्मा कृपो द्रौणिरुपोपविविशुः समम् ॥ २८ ॥

रात्रिका प्रथम प्रहर बीत रहा था । उस भयंकर वेलामें दुःख और शोकसे संतप्त हुए कृतवर्मा, कृपाचार्य तथा अश्वत्थामा एक साथ ही आस-पास बैठ गये ॥ २८ ॥

तत्रोपविष्टाः शोचन्तो न्यग्रोधस्य समीपतः ।
तमेवार्थमतिक्रान्तं कुरुपाण्डवयोः क्षयम् ॥ २९ ॥
निद्रया च परीताङ्गा निषेदुर्धरणीतले ।
श्रमेण सुदृढं युक्ता विक्षता विविधैः शरैः ॥ ३० ॥

वटवृक्षके समीप बैठकर कौरवों तथा पाण्डवयोद्धाओंके उसी विनाशकी बीती हुई बातके लिये शोक करते हुए वे तीनों वीर निद्रासे सारे अंग शिथिल हो जानेके कारण पृथ्वीपर लेट गये । उस समय वे भारी थकावटसे चूर-चूर हो रहे थे और नाना प्रकारके बाणोंसे उनके सारे अंग क्षत-विक्षत हो गये थे॥

ततो निद्रावशं प्राप्तौ कृपभोजौ महारथौ ।
सुखोचितावदुःखार्हौ निषण्णौ धरणीतले ॥ ३१ ॥

तदनन्तर कृपाचार्य और कृतवर्मा—इन दोनों महारथियोंको गाढ़ी नींद आ गयी । वे सुख भोगनेके योग्य थे; दुःख पानेके योग्य कदापि नहीं थे, तो भी धरतीपर ही सो गये थे ॥ ३१ ॥

तौ तु सुप्तौ महाराज श्रमशोकसमन्वितौ ।
महार्हशयनोपेतौ भूमावेव ह्यनाथवत् ॥ ३२ ॥
क्रोधामर्षवशं प्राप्तो द्रोणपुत्रस्तु भारत ।
न वै स्म स जगामाथ निद्रां सर्प इव श्वसन् ॥ ३३ ॥

महाराज ! बहुमूल्य शय्या एवं सुखसामग्रीसे सम्पन्न होनेपर भी उन दोनों वीरोंको परिश्रम और शोकसे पीड़ित हो अनाथकी भाँति पृथ्वीपर ही पड़ा देख द्रोणपुत्र अश्वत्थामा क्रोध और अमर्षके वशीभूत हो गया । भारत ! उस समय उसे नींद नहीं आयी। वह सर्पके समान लंबी साँस खींचता रहा॥

न लेभे स तु निद्रां वै दह्यमानो हि मन्युना ।
वीक्षाञ्चक्रे महाबाहुस्तद् वनं घोरदर्शनम् ॥ ३४ ॥

क्रोधसे जलते रहनेके कारण नींद उसके पास फटकने नहीं पाती थी । उस महाबाहु वीरने भयंकर दिखायी देनेवाले उस वनकी ओर बारंबार दृष्टिपात किया ॥ ३४ ॥

वीक्षमाणो वनोद्देशं नानासत्त्वैर्निषेवितम् ।
अपश्यत महाबाहुर्न्यग्रोधं वायसैर्युतम् ॥ ३५ ॥

नाना प्रकारके जीव-जन्तुओंसे सेवित वनस्थलीका निरीक्षण करते हुए महाबाहु अश्वत्थामाने कौओंसे भरे हुए वटवृक्षपर दृष्टिपात किया ॥ ३५ ॥

तत्र काकसहस्राणि तां निशां पर्यणामयन् ।
सुखं स्वपन्ति कौरव्य पृथक् पृथगुपाश्रयाः ॥ ३६ ॥

कुरुनन्दन ! उस वृक्षपर सहस्रों कौए रातमें बसेरा ले रहे थे । वे पृथक्-पृथक् घोंसलोंका आश्रय लेकर सुखकी नींद सो रहे थे ॥ ३६ ॥

सुप्तेषु तेषु काकेषु विश्रब्धेषु समन्ततः ।
सोऽपश्यत् सहसा यान्तमुलूकं घोरदर्शनम् ॥ ३७ ॥

उन कौओंके सब ओर निर्भय होकर सो जानेपर अश्वत्थामाने देखा कि सहसा एक भयानक उल्लू उधर आ निकला॥

महास्वनं महाकायं हर्यक्षं बभ्रुपिङ्गलम् ।
सुदीर्घघोणानखरं सुपर्णमिव वेगितम् ॥ ३८ ॥

उसकी बोली बड़ी भयंकर थी । डील-डौल भी बड़ा था । आँखें काले रंगकी थीं, उसका शरीर भूरा और पिङ्गलवर्णका था । उसकी चोंच और पंजे बहुत बड़े थे और वह गरुड़के समान वेगशाली जान पड़ता था ॥ ३८ ॥

सोऽथ शब्दं मृदुं कृत्वा लीयमान इवाण्डजः ।
न्यग्रोधस्य ततः शाखां प्रार्थयामास भारत ॥ ३९ ॥

भरतनन्दन ! वह पक्षी कोमल बोली बोलकर छिपता हुआ-सा बरगदकी उस शाखापर आनेकी इच्छा करने लगा॥

संनिपत्य तु शाखायां न्यग्रोधस्य विहङ्गमः ।
सुप्ताञ्जघान सुबहून् वायसान् वायसान्तकः ॥ ४० ॥

कौओंके लिये कालरूपधारी उस विहङ्गमने वटवृक्षकी उस शाखापर बड़े वेगसे आक्रमण किया और सोये हुए बहुत-से कौओंको मार डाला ॥ ४० ॥

केषांचिदच्छिनत् पक्षाञ्छिरांसि च चकर्त ह ।
चरणांश्चैव केषांचिद् बभञ्ज चरणायुधः ॥ ४१ ॥

उसने अपने पंजोंसे ही अस्त्रका काम लेकर किन्हीं कौओंके पंख नोच डाले, किन्हींके सिर काट लिये और किन्हींके पैर तोड़ डाले ॥ ४१ ॥

क्षणेनाहन् स बलवान् येऽस्य दृष्टिपथे स्थिताः ।
तेषां शरीरावयवैः शरीरैश्च विशाम्पते ॥ ४२ ॥
न्यग्रोधमण्डलं सर्वं संछन्नं सर्वतोऽभवत् ।

प्रजानाथ ! उस बलवान् उल्लूने, जो-जो कौए उसकी दृष्टिमें आ गये, उन सबको क्षणभरमें मार डाला । इससे वह सारा वटवृक्ष कौओंके शरीरों तथा उनके विभिन्न अवयवोंद्वारा सब ओरसे आच्छादित हो गया ॥ ४२½ ॥

तांस्तु हत्वा ततः काकान् कौशिको मुदितोऽभवत् ॥
प्रतिकृत्य यथाकामं शत्रूणां शत्रुसूदनः ।

वह शत्रुओंका संहार करनेवाला उल्लू उन कौओंका वध करके अपने शत्रुओंसे इच्छानुसार भरपूर बदला लेकर बहुत प्रसन्न हुआ ॥ ४३½ ॥

तद् दृष्ट्वा सोपधं कर्म कौशिकेन कृतं निशि ॥ ४४ ॥
तद्भावकृतसंकल्पो द्रौणिरेकोऽन्वचिन्तयत् ।

रात्रिमें उल्लूके द्वारा किये गये उस कपटपूर्ण क्रूर कर्मको देखकर स्वयं भी वैसा ही करनेका संकल्प लेकर अश्वत्थामा अकेला ही विचार करने लगा—॥ ४४½ ॥

उपदेशः कृतोऽनेन पक्षिणा मम संयुगे ॥ ४५ ॥
शत्रूणां क्षपणे युक्तः प्राप्तः कालश्च मे मतः ।

'इस पक्षीने युद्धमें क्या करना चाहिये, इसका उपदेश मुझे दे दिया । मैं समझता हूँ कि मेरे लिये इसी प्रकार शत्रुओंके संहार करनेका समय प्राप्त हुआ है ॥ ४५½ ॥

नाद्य शक्या मया हन्तुं पाण्डवा जितकाशिनः ॥ ४६ ॥
बलवन्तः कृतोत्साहाः प्राप्तलक्ष्याः प्रहारिणः ।

'पाण्डव इस समय विजयसे उल्लसित हो रहे हैं। वे बलवान्, उत्साही और प्रहार करनेमें कुशल हैं। उन्हें अपना लक्ष्य प्राप्त हो गया है। ऐसी अवस्थामें आज मैं अपनी शक्तिसे उनका वध नहीं कर सकता ॥ ४६½ ॥

राज्ञः सकाशात् तेषां तु प्रतिज्ञातो वधो मया ॥ ४७ ॥
पतङ्गाग्निसमां वृत्तिमास्थायात्मविनाशिनीम् ।
न्यायतो युध्यमानस्य प्राणत्यागो न संशयः ॥ ४८ ॥

'इधर मैंने राजा दुर्योधनके समीप पाण्डवोंके वधकी प्रतिज्ञा कर ली है। परंतु यह कार्य वैसा ही है, जैसा पतिंगोंका आगमें कूद पड़ना। मैंने जिस वृत्तिका आश्रय लेकर पूर्वोक्त प्रतिज्ञा की है, वह मेरा ही विनाश करनेवाली है। इसमें संदेह नहीं कि यदि मैं न्यायके अनुसार युद्ध करूँगा तो मुझे अपने प्राणोंका परित्याग करना पड़ेगा ॥ ४७-४८ ॥

छद्मना च भवेत् सिद्धिः शत्रूणां च क्षयो महान् ।
तत्र संशयितादर्थाद् योऽर्थो निःसंशयो भवेत् ॥ ४९ ॥
तं जना बहु मन्यन्ते ये च शास्त्रविशारदाः ।

'यदि छलसे काम लूँ तो अवश्य मेरे अभीष्ट मनोरथकी सिद्धि हो सकती है। शत्रुओंका महान् संहार भी तभी सम्भव होगा। जहाँ सिद्धि मिलनेमें संदेह हो, उसकी अपेक्षा उस उपायका अवलम्बन करना उत्तम है, जिसमें संशयके लिये स्थान न हो। साधारण लोग तथा शास्त्रज्ञ पुरुष भी उसीका अधिक आदर करते हैं ॥ ४९½ ॥

यच्चाप्यत्र भवेद् वाच्यं गर्हितं लोकनिन्दितम् ॥ ५० ॥
कर्तव्यं तन्मनुष्येण क्षत्रधर्मेण वर्तता ।

'इस लोकमें जिस कार्यको गर्हणीय समझा जाता हो, जिसकी सब लोग भरपेट निन्दा करते हों, वह भी क्षत्रियधर्मके अनुसार बर्ताव करनेवाले मनुष्यके लिये कर्तव्य माना गया है ॥ ५०½ ॥

निन्दितानि च सर्वाणि कुत्सितानि पदे पदे ॥ ५१ ॥
सोपधानि कृतान्येव पाण्डवैरकृतात्मभिः ।

'अपवित्र अन्तःकरणवाले पाण्डवोंने भी तो पद-पदपर ऐसे कार्य किये हैं, जो सब-के-सब निन्दा और घृणाके योग्य रहे हैं। उनके द्वारा भी अनेक कपटपूर्ण कर्म किये ही गये हैं॥

अस्मिन्नर्थे पुरा गीता श्रूयन्ते धर्मचिन्तकैः ॥ ५२ ॥
श्लोका न्यायमवेक्षद्भिस्तत्त्वार्थास्तत्त्वदर्शिभिः ।

'इस विषयमें न्यायपर दृष्टि रखनेवाले धर्मचिन्तक एवं तत्त्वदर्शी पुरुषोंने प्राचीन कालमें ऐसे श्लोकोंका गान किया है, जो तात्त्विक अर्थका प्रतिपादन करनेवाले हैं। वे श्लोक इस प्रकार सुने जाते हैं—॥ ५२½ ॥

परिश्रान्ते विदीर्णे वा भुञ्जाने वापि शत्रुभिः ॥ ५३ ॥
प्रस्थाने वा प्रवेशे वा प्रहर्तव्यं रिपोर्बलम् ।

''शत्रुओंकी सेना यदि बहुत थक गयी हो, तितर-बितर हो गयी हो, भोजन कर रही हो, कहीं जा रही हो अथवा किसी स्थानविशेषमें प्रवेश कर रही हो तो भी विपक्षियोंको उसपर प्रहार करना ही चाहिये ॥ ५३½ ॥

निद्रार्तमर्धरात्रे च तथा नष्टप्रणायकम् ॥ ५४ ॥
भिन्नयोधं बलं यच्च द्विधा युक्तं च यद् भवेत् ।

''जो सेना आधी रातके समय नींदमें अचेत पड़ी हो, जिसका नायक नष्ट हो गया हो, जिसके योद्धाओंमें फूट हो गयी हो और जो दुविधेमें पड़ गयी हो, उसपर भी शत्रुको अवश्य प्रहार करना चाहिये'' ॥ ५४½ ॥

इत्येवं निश्चयं चक्रे सुप्तानां निशि मारणे ॥ ५५ ॥
पाण्डूनां सह पञ्चालैर्द्रोणपुत्रः प्रतापवान् ।

इस प्रकार विचार करके प्रतापी द्रोणपुत्रने रातको सोते समय पाञ्चालोंसहित पाण्डवोंको मार डालनेका निश्चय किया ॥

स क्रूरां मतिमास्थाय विनिश्चित्य मुहुर्मुहुः ॥ ५६ ॥
सुप्तौ प्राबोधयत् तौ तु मातुलं भोजमेव च ।

क्रूरतापूर्ण बुद्धिका आश्रय ले बारंबार उपर्युक्त निश्चय करके अश्वत्थामाने सोये हुए अपने मामा कृपाचार्यको तथा भोजवंशी कृतवर्माको भी जगाया ॥ ५६½ ॥

तौ प्रबुद्धौ महात्मानौ कृपभोजौ महाबलौ ॥ ५७ ॥
नोत्तरं प्रतिपद्येतां तत्र युक्तं ह्रिया वृतौ ।

जागनेपर महामनस्वी महाबली कृपाचार्य और कृतवर्माने जब अश्वत्थामाका निश्चय सुना, तब वे लज्जासे गड़ गये और उन्हें कोई उचित उत्तर नहीं सूझा ॥ ५७½ ॥

स मुहूर्तमिव ध्यात्वा बाष्पविह्वलमब्रवीत् ॥ ५८ ॥
हतो दुर्योधनो राजा एकवीरो महाबलः ।
यस्यार्थे वैरमस्माभिरासक्तं पाण्डवैः सह ॥ ५९ ॥

तब अश्वत्थामा दो घड़ीतक चिन्तामग्न रहकर अश्रुगद्गद वाणीमें इस प्रकार बोला—'संसारका अद्वितीय वीर महाबली राजा दुर्योधन मारा गया, जिसके लिये हमलोगोंने पाण्डवोंके साथ वैर बाँध रक्खा था ॥ ५८-५९ ॥

एकाकी बहुभिः क्षुद्रैराहवे शुद्धविक्रमः ।
पातितो भीमसेनेन एकादशचमूपतिः ॥ ६० ॥

'जो किसी दिन ग्यारह अक्षौहिणी सेनाओंका स्वामी था, वह राजा दुर्योधन विशुद्ध पराक्रमका परिचय देता हुआ अकेला युद्ध कर रहा था; किंतु बहुत-से नीच पुरुषोंने मिलकर युद्धस्थलमें उसे भीमसेनके द्वारा धराशायी करा दिया ॥

वृकोदरेण क्षुद्रेण सुनृशंसमिदं कृतम् ।
मूर्धाभिषिक्तस्य शिरः पादेन परिमृद्नता ॥ ६१ ॥

'एक मूर्धाभिषिक्त सम्राट्के मस्तकपर लात मारते हुए नीच भीमसेनने यह बड़ा ही क्रूरतापूर्ण कार्य कर डाला है ॥

विनर्दन्ति च पञ्चालाः क्ष्वेलन्ति च हसन्ति च ।
धमन्ति शङ्खाञ्शतशो हृष्टा घ्नन्ति च दुन्दुभीन् ॥ ६२ ॥

'पाञ्चालयोद्धा हर्षमें भरकर सिंहनाद करते, हल्ला मचाते, हँसते, सैकड़ों शङ्ख बजाते और डंके पीटते हैं ॥ ६२ ॥

वादित्रघोषस्तुमुलो विमिश्रः शङ्खनिःस्वनैः ।
अनिलेनेरितो घोरो दिशः पूरयतीव ह ॥ ६३ ॥

'शङ्खध्वनिसे मिला हुआ नाना प्रकारके वाद्योंका गम्भीर एवं भयंकर घोष वायुसे प्रेरित हो सम्पूर्ण दिशाओंको भरता-सा जान पड़ता है ॥ ६३ ॥

अश्वानां हेषमाणानां गजानां चैव बृंहताम् ।
सिंहनादश्च शूराणां श्रूयते सुमहानयम् ॥ ६४ ॥

'हींसते हुए घोड़ों और चिग्घाड़ते हुए हाथियोंकी आवाजके साथ शूरवीरोंका यह महान् सिंहनाद सुनायी दे रहा है ॥

दिशं प्राचीं समाश्रित्य हृष्टानां गच्छतां भृशम् ।
रथनेमिस्वनाश्चैव श्रूयन्ते लोमहर्षणाः ॥ ६५ ॥

'हर्षमें भरकर पूर्व दिशाकी ओर वेगपूर्वक जाते हुए पाण्डव-योद्धाओंके रथोंके पहियोंके ये रोमाञ्चकारी शब्द कानोंमें पड़ रहे हैं ॥ ६५ ॥

पाण्डवैर्धार्तराष्ट्राणां यदिदं कदनं कृतम् ।
वयमेव त्रयः शिष्टा अस्मिन् महति वैशसे ॥ ६६ ॥

'हाय ! पाण्डवोंने धृतराष्ट्रके पुत्रों और सैनिकोंका जो यह विनाश किया है, इस महान् संहारसे हम तीन ही बच पाये हैं ॥ ६६ ॥

केचिन्नागशतप्राणाः केचित् सर्वास्त्रकोविदाः ।
निहताः पाण्डवेयैस्ते मन्ये कालस्य पर्ययम् ॥ ६७ ॥

'कितने ही वीर सौ-सौ हाथियोंके बराबर बलशाली थे और कितने ही सम्पूर्ण अस्त्र-शस्त्रोंकी संचालन-कलामें कुशल थे; किंतु पाण्डवोंने उन सबको मार गिराया । मैं इसे समयका ही फेर समझता हूँ ॥ ६७ ॥

एवमेतेन भाव्यं हि नूनं कार्येण तत्त्वतः ।
यथा ह्यस्येदृशी निष्ठा कृतकार्येऽपि दुष्करे ॥ ६८ ॥

'निश्चय ही इस कार्यसे ठीक ऐसा ही परिणाम होनेवाला था । हमलोगोंके द्वारा अत्यन्त दुष्कर कार्य किया गया तो भी इस युद्धका अन्तिम फल इस रूपमें प्रकट हुआ ॥ ६८ ॥

भवतोस्तु यदि प्रज्ञा न मोहादपनीयते ।
व्यापन्नेऽस्मिन् महत्यर्थे यन्नः श्रेयस्तदुच्यताम् ॥ ६९ ॥

'यदि आप दोनोंकी बुद्धि मोहसे नष्ट न हो गयी हो तो इस महान् संकटके समय अपने बिगड़े हुए कार्यको बनानेके उद्देश्यसे हमारे लिये क्या करना श्रेष्ठ होगा ? यह बताइये' ॥

इति श्रीमहाभारते सौप्तिकपर्वणि द्रौणिमन्त्रणायां प्रथमोऽध्यायः ॥ १ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत सौप्तिकपर्वमें अश्वत्थामाकी मन्त्रणाविषयक पहला अध्याय पूरा हुआ ॥ १ ॥

द्वितीयोऽध्यायः

कृपाचार्यका अश्वत्थामाको दैवकी प्रबलता बताते हुए कर्तव्यके विषयमें सत्पुरुषोंसे सलाह लेनेकी प्रेरणा देना

कृप उवाच

श्रुतं ते वचनं सर्वं यद् यदुक्तं त्वया विभो ।
ममापि तु वचः किंचिच्छृणुष्वाद्य महाभुज ॥ १ ॥

तब कृपाचार्यने कहा—शक्तिशाली महाबाहो ! तुमने जो-जो बात कही है, वह सब मैंने सुन ली । अब कुछ मेरी भी बात सुनो ॥ १ ॥

आबद्धा मानुषाः सर्वे निबद्धाः कर्मणोर्द्वयोः ।
दैवे पुरुषकारे च परं ताभ्यां न विद्यते ॥ २ ॥

सभी मनुष्य प्रारब्ध और पुरुषार्थ दो प्रकारके कर्मोंसे बँधे हुए हैं । इन दोके सिवा दूसरा कुछ नहीं है ॥ २ ॥

न हि दैवेन सिध्यन्ति कार्याण्येकेन सत्तम ।
न चापि कर्मणैकेन द्वाभ्यां सिद्धस्तु योगतः ॥ ३ ॥

सत्पुरुषोंमें श्रेष्ठ अश्वत्थामन् ! केवल दैव या प्रारब्धसे अथवा अकेले पुरुषार्थसे भी कार्योंकी सिद्धि नहीं होती है । दोनोंके संयोगसे ही सिद्धि प्राप्त होती है ॥ ३ ॥

ताभ्यामुभाभ्यां सर्वार्था निबद्धा अधमोत्तमाः ।
प्रवृत्ताश्चैव दृश्यन्ते निवृत्ताश्चैव सर्वशः ॥ ४ ॥

उन दोनोंसे ही उत्तम-अधम सभी कार्य बँधे हुए हैं । उन्हींसे प्रवृत्ति और निवृत्ति-सम्बन्धी कार्य होते देखे जाते हैं ॥ ४ ॥

पर्जन्यः पर्वते वर्षन् किन्नु साधयते फलम् ।
कृष्टे क्षेत्रे तथा वर्षन् किन्न साधयते फलम् ॥ ५ ॥

बादल पर्वतपर वर्षा करके किस फलकी सिद्धि करता है ? वही यदि जोते हुए खेतमें वर्षा करे तो वह कौन-सा फल नहीं उत्पन्न कर सकता ? ॥ ५ ॥

उत्थानं चाप्यदैवस्य ह्यनुत्थानं च दैवतम् ।
व्यर्थं भवति सर्वत्र पूर्वस्तत्र विनिश्चयः ॥ ६ ॥

दैवरहित पुरुषका पुरुषार्थ व्यर्थ है और पुरुषार्थशून्य दैव भी व्यर्थ हो जाता है । सर्वत्र ये दो ही पक्ष उठाये जाते हैं । इन दोनोंमें पहला पक्ष ही सिद्धान्तभूत एवं श्रेष्ठ है (अर्थात् दैवके सहयोगके बिना पुरुषार्थ नहीं काम देता है) ॥

सुवृष्टे च यथा देवे सम्यक् क्षेत्रे च कर्षिते ।
बीजं महागुणं भूयात् तथा सिद्धिर्हि मानुषी ॥ ७ ॥

जैसे मेघने अच्छी तरह वर्षा की हो और खेतको भी भलीभाँति जोता गया हो, तब उसमें बोया हुआ बीज अधिक लाभदायक हो सकता है । इसी प्रकार मनुष्योंकी सारी सिद्धि दैव और पुरुषार्थके सहयोगपर ही अवलम्बित है ॥ ७ ॥

तयोर्दैवं विनिश्चित्य स्वयं चैव प्रवर्तते ।
प्राज्ञाः पुरुषकारेषु वर्तन्ते दाक्ष्यमाश्रिताः ॥ ८ ॥

इन दोनोंमें दैव बलवान् है । वह स्वयं ही निश्चय करके पुरुषार्थकी अपेक्षा किये बिना ही फल-साधनमें प्रवृत्त हो जाता है, तथापि विद्वान् पुरुष कुशलताका आश्रय ले पुरुषार्थमें ही प्रवृत्त होते हैं ॥ ८ ॥

नाभ्यां त्वर्थे हि कार्यार्था मनुष्याणां नरर्षभ ।
विचेष्टन्तः स्म दृश्यन्ते निवृत्तास्तु तथैव च ॥ ९ ॥

नरश्रेष्ठ ! मनुष्योंके प्रवृत्ति और निवृत्ति-सम्बन्धी सारे कार्य दैव और पुरुषार्थ दोनोंसे ही सिद्ध होते देखे जाते हैं ॥

कृतः पुरुषकारश्च सोऽपि दैवेन सिध्यति ।
तथास्य कर्मणः कर्तुरभिनिर्वर्तते फलम् ॥१० ॥

किया हुआ पुरुषार्थ भी दैवके सहयोगसे ही सफल होता है तथा दैवकी अनुकूलतासे ही कर्ताको उसके कर्मका फल प्राप्त होता है ॥ १० ॥

उत्थानं च मनुष्याणां दक्षाणां दैववर्जितम् ।
अफलं दृश्यते लोके सम्यगप्युपपादितम् ॥११ ॥

चतुर मनुष्योंद्वारा अच्छी तरह सम्पादित किया हुआ पुरुषार्थ भी यदि दैवके सहयोगसे वञ्चित है तो वह संसारमें निष्फल होता दिखायी देता है ॥ ११ ॥

तत्रालसा मनुष्याणां ये भवन्त्यमनस्विनः ।
उत्थानं ते विगर्हन्ति प्राज्ञानां तन्न रोचते ॥१२ ॥

मनुष्योंमें जो आलसी और मनपर काबू न रखनेवाले होते हैं, वे पुरुषार्थकी निन्दा करते हैं । परंतु विद्वानोंको यह बात अच्छी नहीं लगती ॥ १२ ॥

प्रायशो हि कृतं कर्म नाफलं दृश्यते भुवि ।
अकृत्वा च पुनर्दुःखं कर्म पश्येन्महाफलम् ॥१३ ॥

प्रायः किया हुआ कर्म इस भूतलपर कभी निष्फल होता नहीं देखा जाता है; परंतु कर्म न करनेसे दुःखकी प्राप्ति ही देखनेमें आती है; अतः कर्मको महान् फलदायक समझना चाहिये ॥ १३ ॥

चेष्टामकुर्वँल्लभते यदि किंचिद् यदृच्छया ।
यो वा न लभते कृत्वा दुर्दशौ तावुभावपि ॥१४ ॥

यदि कोई पुरुषार्थ न करके दैवेच्छासे ही कुछ पा जाता है अथवा जो पुरुषार्थ करके भी कुछ नहीं पाता, इन दोनों प्रकारके मनुष्योंका मिलना बहुत कठिन है ॥ १४ ॥

शक्नोति जीवितुं दक्षो नालसः सुखमेधते ।
दृश्यन्ते जीवलोकेऽस्मिन् दक्षाः प्रायो हितैषिणः ॥१५ ॥

पुरुषार्थमें लगा हुआ दक्ष पुरुष सुखसे जीवन-निर्वाह कर सकता है; परंतु आलसी मनुष्य कभी सुखी नहीं होता है । इस जीव-जगत्में प्रायः तत्परतापूर्वक कर्म करनेवाले ही अपना हित साधन करते देखे जाते हैं ॥ १५ ॥

यदि दक्षः समारम्भात् कर्मणो नाश्नुते फलम् ।
नास्य वाच्यं भवेत् किंचिल्लब्धव्यं वाधिगच्छति ॥१६॥

यदि कार्य-दक्ष मनुष्य कर्मका आरम्भ करके भी उसका कोई फल नहीं पाता है तो उसके लिये उसकी कोई निन्दा नहीं की जाती अथवा वह अपने प्राप्तव्य लक्ष्यको पा ही लेता है ॥ १६ ॥

अकृत्वा कर्म यो लोके फलं विन्दति धिष्ठितः ।
स तु वक्तव्यतां याति द्वेष्यो भवति भूयशः ॥ १७ ॥

परंतु जो इस जगत्में कोई काम न करके बैठा-बैठा फल भोगता है; वह प्रायः निन्दित होता है और दूसरोंके द्वेषका पात्र बन जाता है ॥ १७ ॥

एवमेतदनादृत्य वर्तते यस्त्वतोऽन्यथा ।
स करोत्यात्मनोऽनर्थान्नैष बुद्धिमतां नयः ॥ १८ ॥

इस प्रकार जो पुरुष इस मतका अनादर करके इसके विपरीत बर्ताव करता है अर्थात् जो दैव और पुरुषार्थ दोनों-के सहयोगको न मानकर केवल एकके भरोसे ही बैठा रहता है, वह अपना ही अनर्थ करता है, यही बुद्धिमानोंकी नीति है ॥ १८ ॥

हीनं पुरुषकारेण यदि दैवेन वा पुनः ।
कारणाभ्यामथैताभ्यामुत्थानमफलं भवेत् ॥ १९ ॥

पुरुषार्थहीन दैव अथवा दैवहीन पुरुषार्थ—इन दो ही कारणोंसे मनुष्यका उद्योग निष्फल होता है ॥ १९ ॥

हीनं पुरुषकारेण कर्म त्विह न सिद्ध्यति ।
दैवतेभ्यो नमस्कृत्य यस्त्वर्थान् सम्यगीहते ॥ २० ॥
दक्षो दाक्षिण्यसम्पन्नो न स मोघैर्विहन्यते ।

पुरुषार्थके बिना तो यहाँ कोई कार्य सिद्ध नहीं हो सकता । जो दैवको मस्तक झुकाकर सभी कार्योंके लिये भली-भाँति चेष्टा करता है, वह दक्ष एवं उदार पुरुष असफलताओं-का शिकार नहीं होता ॥ २०½ ॥

सम्यगीहा पुनरियं यो वृद्धानुपसेवते ॥ २१ ॥
आपृच्छति च यच्छ्रेयः करोति च हितं वचः ।

यह भलीभाँति चेष्टा उसीकी मानी जाती है जो बड़े-बूढ़ों-की सेवा करता है, उनसे अपने कल्याणकी बात पूछता है और उनके बताये हुए हितकारक वचनोंका पालन करता है ॥ २१½ ॥

उत्थायोत्थाय हि सदा प्रष्टव्या वृद्धसम्मताः ॥ २२ ॥
ते स्म योगे परं मूलं तन्मूला सिद्धिरुच्यते ।

प्रतिदिन सबेरे उठ-उठकर वृद्धजनोंद्वारा सम्मानित पुरुषोंसे अपने हितकी बात पूछनी चाहिये; क्योंकि वे अप्राप्तकी प्राप्ति करानेवाले उपायके मुख्य हेतु हैं । उनका बताया हुआ वह उपाय ही सिद्धिका मूल कारण कहा जाता है ॥ २२½ ॥

वृद्धानां वचनं श्रुत्वा योऽभ्युत्थानं प्रयोजयेत् ॥ २३ ॥
उत्थानस्य फलं सम्यक् तदा स लभतेऽचिरात् ।

जो वृद्ध पुरुषोंका वचन सुनकर उसके अनुसार कार्य आरम्भ करता है, वह उस कार्यका उत्तम फल शीघ्र ही प्राप्त कर लेता है ॥ २३½ ॥

रागात् क्रोधाद् भयाल्लोभाद् योऽर्थानीहति मानवः ॥२४॥
अनीशश्चावमानी च स शीघ्रं भ्रश्यते श्रियः ।

अपने मनको वशमें न रखते हुए दूसरोंकी अवहेलना करनेवाला जो मानव राग, क्रोध, भय और लोभसे किसी कार्यकी सिद्धिके लिये चेष्टा करता है, वह बहुत जल्दी अपने ऐश्वर्यसे भ्रष्ट हो जाता है ॥ २४½ ॥

सोऽयं दुर्योधनेनार्थो लुब्धेनादीर्घदर्शिना ॥ २५ ॥

असमर्थ्यं समारब्धो मूढत्वादविचिन्तितः ।
हितबुद्धीननादृत्य सम्मन्त्र्यासाधुभिः सह ॥ २६ ॥
वार्यमाणोऽकरोद् वैरं पाण्डवैर्गुणवत्तरैः ।

दुर्योधन लोभी और अदूरदर्शी था। उसने मूर्खतावश न तो किसीका समर्थन प्राप्त किया और न स्वयं ही अधिक सोच-विचार किया। उसने अपना हित चाहनेवाले लोगोंका अनादर करके दुष्टोंके साथ सलाह की और सबके मना करनेपर भी अधिक गुणवान् पाण्डवोंके साथ वैर बाँध लिया ॥ २५-२६½ ॥

पूर्वमप्यतिदुःशीलो न धैर्यं कर्तुमर्हति ॥ २७ ॥
तपत्यर्थे विपन्ने हि मित्राणां न कृतं वचः ।

पहले भी वह बड़े दुष्ट स्वभावका था। धैर्य रखना तो वह जानता ही नहीं था। उसने मित्रोंकी बात नहीं मानी; इसलिये अब काम बिगड़ जानेपर पश्चात्ताप करता है ।२७½।

अनुवर्तामहे यत्तु तं वयं पापपूरुषम् ॥ २८ ॥
अस्मानप्यनयस्तस्मात् प्राप्तोऽयं दारुणो महान् ।

हमलोग जो उस पापीका अनुसरण करते हैं, इसीलिये हमें भी यह अत्यन्त दारुण अनर्थ प्राप्त हुआ है ॥ २८½ ॥

अनेन तु ममाद्यापि व्यसनेनोपतापिता ॥ २९ ॥
बुद्धिश्चिन्तयते किंचित् स्वं श्रेयो नावबुद्ध्यते ।

इस संकटसे सर्वथा संतप्त होनेके कारण मेरी बुद्धि आज बहुत सोचने-विचारनेपर भी अपने लिये किसी हितकर कार्यका निर्णय नहीं कर पाती है ॥ २९½ ॥

मुह्यता तु मनुष्येण प्रष्टव्याः सुहृदो जनाः ॥ ३० ॥
तत्रास्य बुद्धिर्विनयस्तत्र श्रेयश्च पश्यति ।

जब मनुष्य मोहके वशीभूत हो हिताहितका निर्णय करनेमें असमर्थ हो जाय, तब उसे अपने सुहृदोंसे सलाह लेनी चाहिये। वहीं उसे बुद्धि और विनयकी प्राप्ति हो सकती है और वहीं उसे अपने हितका साधन भी दिखायी देता है ३०½

ततोऽस्य मूलं कार्याणां बुद्ध्या निश्चित्य वै बुधाः ॥ ३१ ॥
तेऽत्र पृष्टा यथा ब्रूयुस्तत् कर्तव्यं तथा भवेत् ।

पूछनेपर वे विद्वान् हितैषी अपनी बुद्धिसे उसके कार्योंके मूल कारणका निश्चय करके जैसी सलाह दें, वैसा ही उसे करना चाहिये ॥ ३१½ ॥

ते वयं धृतराष्ट्रं च गान्धारीं च समेत्य ह ॥ ३२ ॥
उपपृच्छामहे गत्वा विदुरं च महामतिम् ।

अतः हमलोग राजा धृतराष्ट्र, गान्धारी देवी तथा परम बुद्धिमान् विदुरजीके पास चलकर पूछें ॥ ३२½ ॥

ते पृष्टास्तु वदेयुर्यच्छ्रेयो नः समनन्तरम् ॥ ३३ ॥
तदस्माभिः पुनः कार्यमिति मे नैष्ठिकी मतिः ।

हमारे पूछनेपर वे लोग अब हमारे लिये जो श्रेयस्कर कार्य बतावें, वही हमें करना चाहिये; मेरी बुद्धिका तो यही दृढ़ निश्चय है ॥ ३३½ ॥

अनारम्भात् तु कार्याणां नार्थः सम्पद्यते क्वचित् ॥ ३४ ॥
कृते पुरुषकारे तु येषां कार्यं न सिद्ध्यति ।
दैवेनोपहतास्ते तु नात्र कार्या विचारणा ॥ ३५ ॥

कार्यको आरम्भ न करनेसे कहीं कोई भी प्रयोजन सिद्ध नहीं होता है; परंतु पुरुषार्थ करनेपर भी जिनका कार्य सिद्ध नहीं होता है, वे निश्चय ही दैवके मारे हुए हैं। इसमें कोई अन्यथा विचार नहीं करना चाहिये ॥ ३४-३५ ॥

इति श्रीमहाभारते सौप्तिकपर्वणि द्रौणिकृपसंवादे द्वितीयोऽध्यायः ॥ २ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत सौप्तिकपर्वमें अश्वत्थामा और कृपाचार्यका संवादविषयक दूसरा अध्याय पूरा हुआ ॥ २ ॥

तृतीयोऽध्यायः

अश्वत्थामाका कृपाचार्य और कृतवर्माको उत्तर देते हुए उन्हें अपना क्रूरतापूर्ण निश्चय बताना

संजय उवाच

कृपस्य वचनं श्रुत्वा धर्मार्थसहितं शुभम् ।
अश्वत्थामा महाराज दुःखशोकसमन्वितः ॥ १ ॥

संजय कहते हैं—महाराज! कृपाचार्यका वचन धर्म और अर्थसे युक्त तथा मङ्गलकारी था। उसे सुनकर अश्वत्थामा दुःख और शोकमें डूब गया ॥ १ ॥

दह्यमानस्तु शोकेन प्रदीप्तेनाग्निना यथा ।
क्रूरं मनस्ततः कृत्वा तावुभौ प्रत्यभाषत ॥ २ ॥

उसके हृदयमें शोककी आग प्रज्वलित हो उठी। वह उससे जलने लगा और अपने मनको कठोर बनाकर कृपाचार्य और कृतवर्मा दोनोंसे बोला— ॥ २ ॥

पुरुषे पुरुषे बुद्धिर्या या भवति शोभना ।
तुष्यन्ति च पृथक् सर्वे प्रज्ञया ते स्वया स्वया ॥ ३ ॥

'मामाजी! प्रत्येक मनुष्यमें जो पृथक्-पृथक् बुद्धि होती है, वही उसे सुन्दर जान पड़ती है। अपनी-अपनी उसी बुद्धिसे वे सब लोग अलग-अलग संतुष्ट रहते हैं ॥ ३ ॥

सर्वो हि मन्यते लोक आत्मानं बुद्धिमत्तरम् ।
सर्वस्यात्मा बहुमतः सर्वात्मानं प्रशंसति ॥ ४ ॥

'सभी लोग अपने आपको अधिक बुद्धिमान् समझते हैं। सबको अपनी ही बुद्धि अधिक महत्त्वपूर्ण जान पड़ती है और सब लोग अपनी ही बुद्धिकी प्रशंसा करते हैं ॥ ४ ॥

सर्वस्य हि स्वका प्रज्ञा साधुवादे प्रतिष्ठिता ।
परबुद्धिं च निन्दन्ति स्वां प्रशंसन्ति चासकृत् ॥ ५ ॥

'सबकी दृष्टिमें अपनी ही बुद्धि धन्यवाद पानेके योग्य ऊँचे पदपर प्रतिष्ठित जान पड़ती है। सब लोग दूसरोंकी बुद्धिकी निन्दा और अपनी बुद्धिकी बारंबार सराहना करते हैं ॥ ५ ॥

कारणान्तरयोगेन योगे येषां समागतिः ।

अन्योन्येन च तुष्यन्ति बहु मन्यन्ति चासकृत् ॥ ६ ॥

'यदि किन्हीं दूसरे कारणोंके संयोगसे एक समुदायमें जिनके-जिनके विचार परस्पर मिल जाते हैं, वे एक दूसरेसे संतुष्ट होते हैं और बारंबार एक दूसरेके प्रति अधिक सम्मान प्रकट करते हैं ॥ ६ ॥

तस्यैव तु मनुष्यस्य सा सा बुद्धिस्तदा तदा ।
कालयोगे विपर्यासं प्राप्यान्योन्यं विपद्यते ॥ ७ ॥

'किंतु समयके फेरसे उसी मनुष्यकी वही-वही बुद्धि विपरीत होकर परस्पर विरुद्ध हो जाती है ॥ ७ ॥

विचित्रत्वात् तु चित्तानां मनुष्याणां विशेषतः ।
चित्तवैक्लव्यमासाद्य सा सा बुद्धिः प्रजायते ॥ ८ ॥

'सभी प्राणियोंके विशेषतः मनुष्योंके चित्त एक दूसरेसे विलक्षण तथा भिन्न-भिन्न प्रकारके होते हैं; अतः विभिन्न घटनाओंके कारण जो चित्तमें व्याकुलता होती है, उसका आश्रय लेकर भिन्न-भिन्न प्रकारकी बुद्धि पैदा हो जाती है ॥

यथा हि वैद्यः कुशलो ज्ञात्वा व्याधिं यथाविधि ।
भैषज्यं कुरुते योगात् प्रशमार्थमिति प्रभो ॥ ९ ॥
एवं कार्यस्य योगार्थं बुद्धिं कुर्वन्ति मानवाः ।
प्रज्ञया हि स्वया युक्तास्तां च निन्दन्ति मानवाः ॥ १० ॥

'प्रभो ! जैसे कुशल वैद्य विधिपूर्वक रोगकी जानकारी प्राप्त करके उसकी शान्तिके लिये योग्यतानुसार औषध प्रदान करता है, इसी प्रकार मनुष्य कार्यकी सिद्धिके लिये अपनी विवेकशक्तिसे विचार करके किसी निश्चयात्मक बुद्धिका आश्रय लेते हैं; परंतु दूसरे लोग उसकी निन्दा करने लगते हैं ९-१०

अन्यया यौवने मर्त्यो बुद्ध्या भवति मोहितः ।
मध्येऽन्यया जरायां तु सोऽन्यां रोचयते मतिम् ॥ ११ ॥

'मनुष्य जवानीमें किसी और ही प्रकारकी बुद्धिसे मोहित होता है, मध्यम अवस्थामें दूसरी ही बुद्धिसे वह प्रभावित होता है; किंतु वृद्धावस्थामें उसे अन्य प्रकारकी ही बुद्धि अच्छी लगने लगती है ॥ ११ ॥

व्यसनं वा महाघोरं समृद्धिं चापि तादृशीम् ।
अवाप्य पुरुषो भोज कुरुते बुद्धिवैकृतम् ॥ १२ ॥

'भोज[1] ! मनुष्य जब किसी अत्यन्त घोर संकटमें पड़ जाता है अथवा उसे किसी महान् ऐश्वर्यकी प्राप्ति हो जाती है, तब उस संकट और समृद्धिको पाकर उसकी बुद्धिमें क्रमशः शोक एवं हर्षरूपी विकार उत्पन्न हो जाते हैं ॥ १२ ॥

एकस्मिन्नेव पुरुषे सा सा बुद्धिस्तदा तदा ।
भवत्यकृतधर्मत्वात् सा तस्यैव न रोचते ॥ १३ ॥

'उस विकारके कारण एक ही पुरुषमें उसी समय भिन्न-भिन्न प्रकारकी बुद्धि (विचारधारा) उत्पन्न हो जाती है; परंतु अवसरके अनुरूप न होनेपर उसकी अपनी ही बुद्धि उसीके लिये अरुचिकर हो जाती है ॥ १३ ॥

निश्चित्य तु यथाप्रज्ञं यां मतिं साधु पश्यति ।
तया प्रकुरुते भावं सा तस्योद्योगकारिका ॥ १४ ॥

'मनुष्य अपने विवेकके अनुसार किसी निश्चयपर पहुँचकर जिस बुद्धिको अच्छा समझता है, उसीके द्वारा कार्य-सिद्धिकी चेष्टा करता है। वही बुद्धि उसके उद्योगको सफल बनानेवाली होती है ॥ १४ ॥

सर्वो हि पुरुषो भोज साध्वेतदिति निश्चितः ।
कर्तुमारभते प्रीतो मारणादिषु कर्मसु ॥ १५ ॥

'कृतवर्मन् ! सभी मनुष्य 'यह अच्छा कार्य है' ऐसा निश्चय करके प्रसन्नतापूर्वक कार्य आरम्भ करते हैं और हिंसा आदि कर्मोंमें भी लग जाते हैं ॥ १५ ॥

सर्वे हि बुद्धिमाज्ञाय प्रज्ञां वापि स्वकां नराः ।
चेष्टन्ते विविधां चेष्टां हितमित्येव जानते ॥ १६ ॥

'सब लोग अपनी ही बुद्धि अथवा विवेकका आश्रय लेकर तरह-तरहकी चेष्टाएँ करते हैं और उन्हें अपने लिये हितकर ही समझते हैं ॥ १६ ॥

उपजाता व्यसनजा येयमद्य मतिर्मम ।
युवयोस्तां प्रवक्ष्यामि मम शोकविनाशिनीम् ॥ १७ ॥

'आज संकटमें पड़नेसे मेरे अंदर जो बुद्धि पैदा हुई है, उसे मैं आप दोनोंको बता रहा हूँ। वह मेरे शोकका विनाश करनेवाली है ॥ १७ ॥

प्रजापतिः प्रजाः सृष्ट्वा कर्म तासु विधाय च ।
वर्णे वर्णे समाधत्ते ह्येकैकं गुणभाग् गुणम् ॥ १८ ॥

'गुणवान् प्रजापति ब्रह्माजी प्रजाओंकी सृष्टि करके उनके लिये कर्मका विधान करते हैं और प्रत्येक वर्णमें एक-एक विशेष गुणकी स्थापना कर देते हैं ॥ १८ ॥

ब्राह्मणे वेदमग्र्यं तु क्षत्रिये तेज उत्तमम् ।
दाक्ष्यं वैश्ये च शूद्रे च सर्ववर्णानुकूलताम् ॥ १९ ॥

'वे ब्राह्मणमें सर्वोत्तम वेद, क्षत्रियमें उत्तम तेज, वैश्यमें व्यापारकुशलता तथा शूद्रमें सब वर्णोंके अनुकूल चलनेकी वृत्तिको स्थापित कर देते हैं ॥ १९ ॥

अदान्तो ब्राह्मणोऽसाधुर्निस्तेजाः क्षत्रियोऽधमः ।
अदक्षो निन्द्यते वैश्यः शूद्रश्च प्रतिकूलवान् ॥ २० ॥

'मन और इन्द्रियोंको वशमें न रखनेवाला ब्राह्मण अच्छा नहीं माना जाता। तेजोहीन क्षत्रिय अधम समझा जाता है, जो व्यापारमें कुशल नहीं है, उस वैश्यकी निन्दा की जाती है और अन्य वर्णोंके प्रतिकूल चलनेवाले शूद्रको भी निन्दनीय माना जाता है ॥ २० ॥

सोऽस्मि जातः कुले श्रेष्ठे ब्राह्मणानां सुपूजिते ।
मन्दभाग्यतयास्म्येतं क्षत्रधर्ममनुष्ठितः ॥ २१ ॥

'मैं ब्राह्मणोंके परम सम्मानित श्रेष्ठ कुलमें उत्पन्न हुआ हूँ, तथापि दुर्भाग्यके कारण इस क्षत्रिय-धर्मका अनुष्ठान करता हूँ ॥ २१ ॥

क्षत्रधर्मं विदित्वाहं यदि ब्राह्मण्यमाश्रितः ।
प्रकुर्यां सुमहत् कर्म न मे तत् साधुसम्मतम् ॥ २२ ॥

'यदि क्षत्रियके धर्मको जानकर भी मैं ब्राह्मणत्वका सहारा लेकर कोई दूसरा महान् कर्म करने लगूँ तो सत्पुरुषोंके

[1] १. भोजका अर्थ है भोजवंशी कृतवर्मा ।

समाजमें मेरे उस कार्यका सम्मान नहीं होगा ॥ २२ ॥

धारयंश्च धनुर्दिव्यं दिव्यान्यस्त्राणि चाहवे ।
पितरं निहतं दृष्ट्वा किं नु वक्ष्यामि संसदि ॥ २३ ॥

'मैं दिव्य धनुष और दिव्य अस्त्रोंको धारण करता हूँ तो भी युद्धमें अपने पिताको अन्यायपूर्वक मारा गया देखकर यदि उसका बदला न लूँ तो वीरोंकी सभामें क्या कहूँगा ? ॥

सोऽहमद्य यथाकामं क्षत्रधर्ममुपास्य तम् ।
गन्तास्मि पदवीं राज्ञः पितुश्चापि महात्मनः ॥ २४ ॥

'अतः आज मैं अपनी रुचिके अनुसार उस क्षत्रियधर्मका सहारा लेकर अपने महात्मा पिता तथा राजा दुर्योधनके पथका अनुसरण करूँगा ॥ २४ ॥

अद्य स्वप्स्यन्ति पञ्चाला विश्वस्ता जितकाशिनः ।
विमुक्तयुग्यकवचा हर्षेण च समन्विताः ॥ २५ ॥
जयं मत्वाऽऽत्मनश्चैव श्रान्ता व्यायामकर्शिताः ।

'आज अपनी जीत हुई जान विजयसे सुशोभित होनेवाले पाञ्चाल योद्धा बड़े हर्षमें भरकर कवच उतार, जूओंमें जुते हुए घोड़ोंको खोलकर बेखटके सो रहे होंगे । वे थके तो होंगे ही, विशेष परिश्रमके कारण चूर-चूर हो गये होंगे २५½

तेषां निशि प्रसुप्तानां सुस्थानां शिविरे स्वके ॥ २६ ॥
अवस्कन्दं करिष्यामि शिविरस्याद्य दुष्करम् ।

'रातमें सुस्थिर चित्तसे सोये हुए उन पाञ्चालोंके अपने ही शिविरमें घुसकर मैं उन सबका संहार कर डालूँगा । समूचे शिविरका ऐसा विनाश करूँगा जो दूसरोंके लिये दुष्कर है ॥ २६½ ॥

तानवस्कन्द्य शिविरे प्रेतभूतविचेतसः ॥ २७ ॥
सूदयिष्यामि विक्रम्य मघवानिव दानवान् ।

'जैसे इन्द्र दानवोंपर आक्रमण करते हैं, उसी प्रकार मैं भी शिविरमें मुर्दोंके समान अचेत पड़े हुए पाञ्चालोंकी छातीपर चढ़कर उन्हें पराक्रमपूर्वक मार डालूँगा ॥ २७½ ॥

अद्य तान् सहितान् सर्वान् धृष्टद्युम्नपुरोगमान् ॥२८॥
सूदयिष्यामि विक्रम्य कक्षं दीप्त इवानलः ।
निहत्य चैव पञ्चालान् शान्तिं लब्धास्मि सत्तम॥२९॥

'साधुशिरोमणे ! जैसे जलती हुई आग सूखे जंगल या तिनकोंकी राशिको जला डालती है, उसी प्रकार आज मैं एक साथ सोये हुए धृष्टद्युम्न आदि समस्त पाञ्चालोंपर आक्रमण करके उन्हें मौतके घाट उतार दूँगा । उनका संहार कर लेनेपर ही मुझे शान्ति मिलेगी ॥ २८-२९ ॥

पञ्चालेषु भविष्यामि सूदयन्नद्य संयुगे ।
पिनाकपाणिः संक्रुद्धः स्वयं रुद्रः पशुष्विव ॥ ३० ॥

'जैसे प्रलयके समय क्रोधमें भरे हुए साक्षात् पिनाकधारी रुद्र समस्त पशुओं (प्राणियों) पर आक्रमण करते हैं, उसी प्रकार आज युद्धमें मैं पाञ्चालोंका विनाश करता हुआ उनके लिये कालरूप हो जाऊँगा ॥ ३० ॥

अद्याहं सर्वपञ्चालान् निहत्य च निकृत्य च ।
अर्दयिष्यामि संहृष्टो रणे पाण्डुसुतांस्तथा ॥ ३१ ॥

'आज मैं रणभूमिमें समस्त पाञ्चालोंको मारकर उनके टुकड़े-टुकड़े करके हर्ष और उत्साहसे सम्पन्न हो पाण्डवोंको भी कुचल डालूँगा ॥ ३१ ॥

अद्याहं सर्वपञ्चालैः कृत्वा भूमिं शरीरिणीम् ।
प्रहृत्यैकैकशस्तेषु भविष्याम्यनृणः पितुः ॥ ३२ ॥

'आज समस्त पाञ्चालोंके शरीरोंसे रणभूमिको शरीरधारिणी बनाकर एक-एक पाञ्चालपर भरपूर प्रहार करके मैं अपने पिताके ऋणसे मुक्त हो जाऊँगा ॥ ३२ ॥

दुर्योधनस्य कर्णस्य भीष्मसैन्धवयोरपि ।
गमयिष्यामि पञ्चालान् पदवीमद्य दुर्गमाम् ॥ ३३ ॥

'आज पाञ्चालोंको दुर्योधन, कर्ण, भीष्म तथा जयद्रथके दुर्गम मार्गपर भेजकर छोड़ूँगा ॥ ३३ ॥

अद्य पाञ्चालराजस्य धृष्टद्युम्नस्य वै निशि ।
नचिरात् प्रमथिष्यामि पशोरिव शिरो बलात्॥ ३४ ॥

'आज रातमें मैं शीघ्र ही पाञ्चालराज धृष्टद्युम्नके सिरको पशुके मस्तककी भाँति बलपूर्वक मरोड़ डालूँगा ॥ ३४ ॥

अद्य पाञ्चालपाण्डूनां शयितानात्मजान् निशि ।
खड्गेन निशितेनाजौ प्रमथिष्यामि गौतम ॥ ३५ ॥

'गौतम ! आज रातके युद्धमें सोये हुए पाञ्चालों और पाण्डवोंके पुत्रोंको भी मैं अपनी तीखी तलवारसे टूक-टूक कर दूँगा ॥ ३५ ॥

अद्य पाञ्चालसेनां तां निहत्य निशि सौप्तिके ।
कृतकृत्यः सुखी चैव भविष्यामि महामते ॥ ३६ ॥

'महामते ! आज रातको सोते समय उस पाञ्चालसेनाका वध करके मैं कृतकृत्य एवं सुखी हो जाऊँगा' ॥ ३६ ॥

इति श्रीमहाभारते सौप्तिकपर्वणि द्रौणिमन्त्रणायां तृतीयोऽध्यायः ॥ ३ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत सौप्तिकपर्वमें अश्वत्थामाकी मन्त्रणाविषयक तीसरा अध्याय पूरा हुआ ॥ ३ ॥

चतुर्थोऽध्यायः

कृपाचार्यका कल प्रातःकाल युद्ध करनेकी सलाह देना और अश्वत्थामाका इसी रात्रिमें सोते हुओंको मारनेका आग्रह प्रकट करना

कृप उवाच

दिष्ट्या ते प्रतिकर्तव्ये मतिर्जातेयमच्युत ।
न त्वां वारयितुं शक्तो वज्रपाणिरपि स्वयम् ॥ १ ॥

कृपाचार्य बोले—तात ! तुम अपनी टेकसे टलनेवाले नहीं हो, सौभाग्यकी बात है कि तुम्हारे मनमें बदला लेनेका दृढ़ विचार उत्पन्न हुआ । तुम्हें साक्षात् वज्रधारी

इन्द्र भी इस कार्यसे रोक नहीं सकते ॥ १ ॥

अनुयास्यावहे त्वां तु प्रभाते सहितावुभौ।
अद्य रात्रौ विश्रमस्व विमुक्तकवचध्वजः ॥ २ ॥

आज रातमें कवच और ध्वजा खोलकर विश्राम करो। कल सबेरे हम दोनों एक साथ होकर तुम्हारे पीछे-पीछे चलेंगे ॥ २ ॥

अहं त्वामनुयास्यामि कृतवर्मा च सात्वतः।
परानभिमुखं यान्तं रथावास्थाय दंशितौ ॥ ३ ॥

जब तुम शत्रुओंका सामना करनेके लिये आगे बढ़ोगे, उस समय मैं और सात्वतवंशी कृतवर्मा दोनों ही कवच धारण करके रथोंपर आरूढ़ हो तुम्हारे साथ चलेंगे ॥ ३ ॥

आवाभ्यां सहितः शत्रूञ्श्वो निहन्ता समागमे।
विक्रम्य रथिनां श्रेष्ठ पञ्चालान् सपदानुगान्॥ ४ ॥

रथियोंमें श्रेष्ठ वीर! कल सबेरेके संग्राममें हम दोनोंके साथ रहकर तुम अपने शत्रु पाञ्चालों और उनके सेवकोंको बलपूर्वक मार डालना ॥ ४ ॥

शक्तस्त्वमसि विक्रम्य विश्रमस्व निशामिमाम्।
चिरं ते जाग्रतस्तात स्वप तावन्निशामिमाम् ॥ ५ ॥

तात! तुम पराक्रम दिखाकर शत्रुओंका वध करनेमें समर्थ हो, अतः इस रातमें विश्राम कर लो। तुम्हें जागते हुए बहुत देर हो गयी है, अब इस रातमें सो लो ॥ ५ ॥

विश्रान्तश्च विनिद्रश्च स्वस्थचित्तश्च मानद।
समेत्य समरे शत्रून् वधिष्यसि न संशयः ॥ ६ ॥

मानद! थकावट दूर करके नींद पूरी कर लेनेसे तुम्हारा चित्त स्वस्थ हो जायगा। फिर तुम समरभूमिमें जाकर शत्रुओं-का वध कर सकोगे, इसमें संशय नहीं है ॥ ६ ॥

न हि त्वां रथिनां श्रेष्ठं प्रगृहीतवरायुधम्।
जेतुमुत्सहते शश्वदपि देवेषु वासवः ॥ ७ ॥

तुम रथियोंमें श्रेष्ठ हो, तुमने अपने हाथमें उत्तम आयुध ले रक्खा है। तुम्हें देवताओंके राजा इन्द्र भी कभी जीतनेका साहस नहीं कर सकते हैं ॥ ७ ॥

कृपेण सहितं यान्तं गुप्तं च कृतवर्मणा।
को द्रौणिं युधि संरब्धं योधयेदपि देवराट् ॥ ८ ॥

जब कृतवर्मासे सुरक्षित हो द्रोणपुत्र अश्वत्थामा मुझ कृपाचार्यके साथ कुपित होकर युद्धके लिये प्रस्थान करेगा, उस समय कौन वीर, वह देवराज इन्द्र ही क्यों न हो, उसका सामना कर सकता है? ॥ ८ ॥

ते वयं निशि विश्रान्ता विनिद्रा विगतज्वराः।
प्रभातायां रजन्यां वै निहनिष्याम शात्रवान् ॥ ९ ॥

अतः हमलोग रातमें विश्राम करके निद्रारहित और विगतज्वर हो प्रातःकाल अपने शत्रुओंका संहार करेंगे ॥ ९ ॥

तव ह्यस्त्राणि दिव्यानि मम चैव न संशयः।
सात्वतोऽपि महेष्वासो नित्यं युद्धेषु कोविदः ॥ १० ॥

इसमें संशय नहीं कि तुम्हारे और मेरे पास भी दिव्यास्त्र हैं तथा महाधनुर्धर कृतवर्मा भी युद्ध करनेकी कलामें सदा ही कुशल हैं ॥ १० ॥

ते वयं सहितास्तात सर्वाञ्शत्रून् समागतान्।
प्रसह्य समरे हत्वा प्रीतिं प्राप्स्याम पुष्कलाम् ॥ ११ ॥

तात! हम सब लोग एक साथ होकर समराङ्गणमें सामने आये हुए समस्त शत्रुओंका संहार करके अत्यन्त हर्ष-का अनुभव करेंगे ॥ ११ ॥

विश्रमस्व त्वमव्यग्रः स्वप चेमां निशां सुखम्।
अहं च कृतवर्मा च त्वां प्रयान्तं नरोत्तमम् ॥ १२ ॥
अनुयास्याव सहितौ धन्विनौ परतापनौ।
रथिनं त्वरया यान्तं रथमास्थाय दंशितौ ॥ १३ ॥

तुम व्यग्रता छोड़कर विश्राम करो और इस रातमें सुखपूर्वक सो लो। कल सवेरे युद्धके लिये प्रस्थान करते समय तुम-जैसे नरश्रेष्ठ वीरके पीछे शत्रुओंको संताप देनेवाले हम और कृतवर्मा धनुष लेकर एक साथ चलेंगे। बड़ी उतावलीके साथ आगे बढ़ते हुए रथी अश्वत्थामाके साथ हम दोनों भी कवच धारण करके रथपर आरूढ़ हो यात्रा करेंगे ॥ १२-१३ ॥

स गत्वा शिविरं तेषां नाम विश्राव्य चाहवे।
ततः कर्तासि शत्रूणां युध्यतां कदनं महत् ॥ १४ ॥

उस अवस्थामें शत्रुओंके शिविरमें जाकर युद्धके लिये अपने नामकी घोषणा करके सामने आकर जूझते हुए उन शत्रुओंका बड़ा भारी संहार मचा देना ॥ १४ ॥

कृत्वा च कदनं तेषां प्रभाते विमलेऽहनि।
विहरस्व यथा शक्रः सूदयित्वा महासुरान् ॥ १५ ॥

जैसे इन्द्र बड़े-बड़े असुरोंका विनाश करके सुखपूर्वक विचरते हैं, उसी प्रकार तुम भी कल प्रातःकाल निर्मल दिन निकल आनेपर उन शत्रुओंका विनाश करके इच्छानुसार विहार करो ॥ १५ ॥

त्वं हि शक्तो रणे जेतुं पञ्चालानां वरूथिनीम्।
दैत्यसेनामिव क्रुद्धः सर्वदानवसूदनः ॥ १६ ॥

जैसे सम्पूर्ण दानवोंका संहार करनेवाले इन्द्र कुपित होनेपर दैत्योंकी सेनाको जीत लेते हैं, उसी प्रकार तुम भी रणभूमिमें पाञ्चालोंकी विशाल वाहिनीपर विजय पानेमें समर्थ हो ॥ १६ ॥

मया त्वां सहितं संख्ये गुप्तं च कृतवर्मणा।
न सहेत विभुः साक्षाद् वज्रपाणिरपि स्वयम् ॥ १७ ॥

युद्धस्थलमें जब तुम मेरे साथ खड़े होओगे और कृत-वर्मा तुम्हारी रक्षामें लगे होंगे, उस समय हाथमें वज्र लिये हुए साक्षात् देवसम्राट् इन्द्र भी तुम्हारा वेग नहीं सह सकेंगे ॥ १७ ॥

न चाहं समरे तात कृतवर्मा न चैव हि।
अनिर्जित्य रणे पाण्डून् न च यास्यामि कर्हिचित्॥ १८ ॥

तात! समराङ्गणमें मैं और कृतवर्मा पाण्डवोंको परास्त किये बिना कभी पीछे नहीं हटेंगे ॥ १८ ॥

हत्वा च समरे क्रुद्धान् पञ्चालान् पाण्डुभिः सह।
निवर्तिष्यामहे सर्वे हता वा स्वर्गगा वयम् ॥ १९ ॥

समराङ्गणमें कुपित हुए पाञ्चालोंको पाण्डवोंसहित मारकर ही हम सब लोग पीछे हटेंगे अथवा स्वयं ही मारे जाकर स्वर्गलोककी राह लेंगे ॥ १९ ॥

सर्वोपायैः सहायास्ते प्रभाते वयमाहवे ।
सत्यमेतन्महाबाहो प्रब्रवीमि तवानघ ॥ २० ॥

निष्पाप महाबाहु वीर ! कल प्रातःकाल हमलोग सभी उपायोंसे युद्धमें तुम्हारे सहायक होंगे । मैं तुमसे यह सच्ची बात कह रहा हूँ ॥ २० ॥

एवमुक्तस्ततो द्रौणिर्मातुलेन हितं वचः ।
अब्रवीन्मातुलं राजन् क्रोधसंरक्तलोचनः ॥ २१ ॥

राजन् ! मामाके इस प्रकार हितकारक वचन कहनेपर द्रोणकुमार अश्वत्थामाने क्रोधसे लाल आँखें करके उनसे कहा—॥ २१ ॥

आतुरस्य कुतो निद्रा नरस्यामर्षितस्य च ।
अर्थांश्चिन्तयतश्चापि कामयानस्य वा पुनः ।
तदिदं समनुप्राप्तं पश्य मेऽद्य चतुष्टयम् ॥ २२ ॥

'मामाजी ! जो मनुष्य शोकसे आतुर हो, अमर्षसे भरा हुआ हो, नाना प्रकारके कार्योंकी चिन्ता कर रहा हो अथवा किसी कामनामें आसक्त हो, उसे नींद कैसे आ सकती है ? देखिये, ये चारों बातें आज मेरे ऊपर एक साथ आ पड़ी हैं ॥ २२ ॥

यस्य भागश्चतुर्थो मे स्वप्नमह्नाय नाशयेत् ।
किं नाम दुःखं लोकेऽस्मिन् पितुर्वधमनुस्मरन् ॥ २३ ॥
हृदयं निर्दहन्मेऽद्य रात्र्यहानि न शाम्यति ।

'इन चारोंका एक चौथाई भाग जो क्रोध है, वही मेरी निद्राको तत्काल नष्ट किये देता है । अपने पिताके वधकी घटनाका बारंबार स्मरण करके इस संसारमें कौन-सा ऐसा दुःख है, जिसका मुझे अनुभव न होता हो । वह दुःखकी आग रात-दिन मेरे हृदयको जलाती हुई अबतक बुझ नहीं पा रही है ॥ २३½ ॥

यथा च निहतः पापैः पिता मम विशेषतः ॥ २४ ॥
प्रत्यक्षमपि ते सर्वं तन्मे मर्माणि कृन्तति ।
कथं हि मादृशो लोके मुहूर्तमपि जीवति ॥ २५ ॥

'इन पापियोंने विशेषतः मेरे पिताजीको जिस प्रकार मारा था, वह सब आपने प्रत्यक्ष देखा है । वह घटना मेरे मर्मस्थानोंको छेदे डालती है । ऐसी अवस्थामें मेरे-जैसा वीर इस जगत्में दो घड़ी भी कैसे जीवित रह सकता है ? ॥ २४-२५ ॥

द्रोणो हतेति यद् वाचः पञ्चालानां शृणोम्यहम् ।
धृष्टद्युम्नमहत्वा तु नाहं जीवितुमुत्सहे ॥ २६ ॥

'द्रोणाचार्य धृष्टद्युम्नके हाथसे मारे गये' यह बात जब मैं पाञ्चालोंके मुखसे सुनता आ रहा हूँ, तब धृष्टद्युम्नका वध किये बिना जीवित नहीं रह सकता ॥ २६ ॥

स मे पितुर्वधाद् वध्यः पञ्चाला ये च संगताः ।
विलापो भग्नसक्थस्य यस्तु राज्ञो मया श्रुतः ॥ २७ ॥
स पुनर्हृदयं कस्य क्रूरस्यापि न निर्दहेत् ।

'धृष्टद्युम्न तो पिताजीका वध करनेके कारण मेरा वध्य होगा और उसके सङ्गी-साथी जो पाञ्चाल हैं, वे भी उसका साथ देनेके कारण मारे जायँगे । इधर, जिसकी जाँघें तोड़ डाली गयी हैं, उस राजा दुर्योधनका जो विलाप मैंने अपने कानों सुना है, वह किस क्रूर मनुष्यके भी हृदयको शोक-दग्ध नहीं कर देगा ? ॥ २७½ ॥

कस्य ह्यकरुणस्यापि नेत्राभ्यामश्रु नाव्रजेत् ॥ २८ ॥
नृपतेर्भग्नसक्थस्य श्रुत्वा तादृग् वचः पुनः ।

'टूटी जाँघवाले राजा दुर्योधनकी वैसी बात पुनः सुनकर किस निष्ठुरके भी नेत्रोंसे आँसू नहीं बह चलेगा ? ॥ २८½ ॥

यश्चायं मित्रपक्षो मे मयि जीवति निर्जितः ॥ २९ ॥
शोकं मे वर्धयत्येष वारिवेग इवार्णवम् ।
एकाग्रमनसो मेऽद्य कुतो निद्रा कुतः सुखम् ॥ ३० ॥

'मेरे जीते-जी जो यह मेरा मित्र-पक्ष परास्त हो गया, वह मेरे शोकको उसी प्रकार वृद्धि कर रहा है, जैसे जलका वेग समुद्रको बढ़ा देता है । आज मेरा मन एक ही कार्यकी ओर लगा हुआ है, फिर मुझे नींद कैसे आ सकती है और मुझे सुख भी कैसे मिल सकता है ? ॥ २९-३० ॥

वासुदेवार्जुनाभ्यां च तानहं परिरक्षितान् ।
अविषह्यतमान् मन्ये महेन्द्रेणापि सत्तम ॥ ३१ ॥

'सत्पुरुषोंमें श्रेष्ठ मामाजी ! पाण्डव और पाञ्चाल जब श्रीकृष्ण और अर्जुनसे सुरक्षित हों, उस दशामें मैं उन्हें देवराज इन्द्रके लिये भी अत्यन्त असह्य एवं अजेय मानता हूँ ॥ ३१ ॥

न चापि शक्तः संयन्तुं कोपमेतं समुत्थितम् ।
तं न पश्यामि लोकेऽस्मिन् यो मां कोपान्निवर्तयेत् ॥ ३२ ॥

'इस समय जो क्रोध उत्पन्न हुआ है, इसे मैं स्वयं भी रोक नहीं सकता । इस संसारमें किसी भी ऐसे पुरुषको नहीं देख रहा हूँ, जो मुझे क्रोधसे दूर हटा दे ॥ ३२ ॥

तथैव निश्चिता बुद्धिरेषा साधु मता मम ।
वार्तिकैः कथ्यमानस्तु मित्राणां मे पराभवः ॥ ३३ ॥
पाण्डवानां च विजयो हृदयं दहतीव मे ।

'इसी प्रकार मैंने जो अपनी बुद्धिमें शत्रुओंके संहारका यह दृढ़ निश्चय कर लिया है, यही मुझे अच्छा प्रतीत होता है । जब संदेशवाहक दूत मेरे मित्रोंकी पराजय और पाण्डवोंकी विजयका समाचार कहने लगते हैं, तब वह मेरे हृदयको दग्ध-सा कर देता है ॥ ३३½ ॥

अहं तु कदनं कृत्वा शत्रूणामद्य सौप्तिके ।
ततो विश्रमिता चैव स्वप्ता च विगतज्वरः ॥ ३४ ॥

'मैं तो आज सोते समय शत्रुओंका संहार करके निश्चिन्त होनेपर ही विश्राम करूँगा और नींद लूँगा' ॥ ३४ ॥

इति श्रीमहाभारते सौप्तिकपर्वणि द्रौणिमन्त्रणायां चतुर्थोऽध्यायः ॥ ४ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत सौप्तिकपर्वमें अश्वत्थामाकी मन्त्रणाविषयक चौथा अध्याय पूरा हुआ ॥ ४ ॥

पञ्चमोऽध्यायः

अश्वत्थामा और कृपाचार्यका संवाद तथा तीनोंका पाण्डवोंके शिविरकी ओर प्रस्थान

कृप उवाच

शुश्रूषुरपि दुर्मेधाः पुरुषोऽनियतेन्द्रियः।
नालं वेदयितुं कृत्स्नौ धर्मार्थाविति मे मतिः॥ १॥

कृपाचार्य बोले—अश्वत्थामन्! मेरा विचार है कि जिस मनुष्यकी बुद्धि दुर्भावनासे युक्त है तथा जिसने अपनी इन्द्रियोंको काबूमें नहीं रखा है, वह धर्म और अर्थकी बातोंको सुननेकी इच्छा रखनेपर भी उन्हें पूर्णरूपसे समझ नहीं सकता॥ १॥

तथैव तावन्मेधावी विनयं यो न शिक्षते।
न च किंचन जानाति सोऽपि धर्मार्थनिश्चयम्॥ २॥

इसी प्रकार मेधावी होनेपर भी जो मनुष्य विनय नहीं सीखता, वह भी धर्म और अर्थके निर्णयको थोड़ा भी नहीं समझ पाता है॥ २॥

चिरं ह्यपि जडः शूरः पण्डितं पर्युपास्य हि।
न स धर्मान् विजानाति दर्वी सूपरसानिव॥ ३॥

जिसकी बुद्धिपर जडता छा रही हो, वह शूरवीर योद्धा दीर्घकालतक विद्वान्‌की सेवामें रहनेपर भी धर्मोंका रहस्य नहीं जान पाता। ठीक उसी तरह, जैसे करछुल दालमें डूबी रहनेपर भी उसके स्वादको नहीं जानती है॥ ३॥

मुहूर्तमपि तं प्राज्ञः पण्डितं पर्युपास्य हि।
क्षिप्रं धर्मान् विजानाति जिह्वा सूपरसानिव॥ ४॥

जैसे जिह्वा दालके स्वादको जानती है, उसी प्रकार बुद्धिमान् पुरुष यदि दो घड़ी भी विवेकशीलकी सेवामें रहे तो वह शीघ्र ही धर्मोंका रहस्य जान लेता है॥ ४॥

शुश्रूषुस्त्वेव मेधावी पुरुषो नियतेन्द्रियः।
जानीयादागमान् सर्वान् ग्राह्यं च न विरोधयेत्॥ ५॥

अपनी इन्द्रियोंको वशमें रखनेवाला मेधावी पुरुष यदि विद्वानोंकी सेवामें रहे और उनसे कुछ सुननेकी इच्छा रखे तो वह सम्पूर्ण शास्त्रोंको समझ लेता है तथा ग्रहण करने योग्य वस्तुका विरोध नहीं करता॥ ५॥

अनेयस्त्ववमानी यो दुरात्मा पापपूरुषः।
दिष्टमुत्सृज्य कल्याणं करोति बहुपापकम्॥ ६॥

परंतु जिसे सन्मार्गपर नहीं ले जाया जा सकता, जो दूसरोंकी अवहेलना करनेवाला है तथा जिसका अन्तःकरण दूषित है, वह पापात्मा पुरुष बताये हुए कल्याणकारी पथको छोड़कर बहुत-से पापकर्म करने लगता है॥ ६॥

नाथवन्तं तु सुहृदः प्रतिषेधन्ति पातकात्।
निवर्तते तु लक्ष्मीवान् नालक्ष्मीवान् निवर्तते॥ ७॥

जो सनाथ है, उसे उसके हितैषी सुहृद् पापकर्मोंसे रोकते हैं; जो भाग्यवान् है—जिसके भाग्यमें सुख भोगना बदा है, वह मना करनेपर उस पापकर्मसे रुक जाता है; परंतु जो भाग्यहीन है, वह उस दुष्कर्मसे नहीं निवृत्त होता है॥ ७॥

यथा ह्युच्चावचैर्वाक्यैः क्षिप्तचित्तो नियम्यते।
तथैव सुहृदा शक्यो न शक्यस्त्ववसीदति॥ ८॥

जैसे मनुष्य विक्षिप्त चित्तवाले पागलको नाना प्रकारके ऊँच-नीच वचनोंद्वारा समझा-बुझाकर या डरा-धमकाकर काबूमें लाते हैं, उसी प्रकार सुहृद्‌गण भी अपने स्वजनको समझा-बुझाकर और डाँट-डपटकर वशमें रखनेकी चेष्टा करते हैं। जो वशमें आ जाता है, वह तो सुखी होता है और जो किसी तरह काबूमें नहीं आ सकता, वह दुःख भोगता है॥ ८॥

तथैव सुहृदं प्राज्ञं कुर्वाणं कर्म पापकम्।
प्राज्ञाः सम्प्रतिषेधन्ति यथाशक्ति पुनः पुनः॥ ९॥

इसी तरह विद्वान् पुरुष पापकर्ममें प्रवृत्त होनेवाले अपने बुद्धिमान् सुहृद्‌को भी यथाशक्ति बारंबार मना करते हैं॥ ९॥

स कल्याणे मनः कृत्वा नियम्यात्मानमात्मना।
कुरु मे वचनं तात येन पश्चान्न तप्यसे॥ १०॥

तात! तुम भी स्वयं ही अपने मनको काबूमें करके उसे कल्याणसाधनमें लगाकर मेरी बात मानो, जिससे तुम्हें पश्चात्ताप न करना पड़े॥ १०॥

न वधः पूज्यते लोके सुप्तानामिह धर्मतः।
तथैवापास्तशस्त्राणां विमुक्तरथवाजिनाम्॥ ११॥
ये च ब्रूयुस्तवास्मीति ये च स्युः शरणागताः।
विमुक्तमूर्धजा ये च ये चापि हतवाहनाः॥ १२॥

जो सोये हुए हों, जिन्होंने अस्त्र-शस्त्र रख दिये हों, रथ और घोड़े खोल दिये हों, 'जो मैं आपका ही हूँ' ऐसा कह रहे हों, जो शरणमें आ गये हों, जिनके बाल खुले हुए हों तथा जिनके वाहन नष्ट हो गये हों, इस लोकमें ऐसे लोगोंका वध करना धर्मकी दृष्टिसे अच्छा नहीं समझा जाता ११-१२

अद्य स्वप्स्यन्ति पञ्चाला विमुक्तकवचा विभो।
विश्वस्ता रजनीं सर्वे प्रेता इव विचेतसः॥ १३॥
यस्तेषां तदवस्थानां द्रुह्येत पुरुषोऽनृजुः।
व्यक्तं स नरके मज्जेदगाधे विपुलेऽप्लवे॥ १४॥

प्रभो! आज रातमें समस्त पाञ्चाल कवच उतारकर निश्चिन्त हो मुर्दोंके समान अचेत सो रहे होंगे। उस अवस्थामें जो क्रूर मनुष्य उनके साथ द्रोह करेगा, वह निश्चय ही नौकारहित अगाध एवं विशाल नरकके समुद्रमें डूब जायगा॥ १३-१४॥

सर्वास्त्रविदुषां लोके श्रेष्ठस्त्वमसि विश्रुतः।
न च ते जातु लोकेऽस्मिन् सुसूक्ष्ममपि किल्बिषम्॥

संसारके सम्पूर्ण अस्त्रवेत्ताओंमें तुम श्रेष्ठ हो। तुम्हारी सर्वत्र ख्याति है। इस जगत्‌में अबतक कभी तुम्हारा छोटे-से-छोटा दोष भी देखनेमें नहीं आया है॥ १५॥

त्वं पुनः सूर्यसंकाशः श्वोभूत उदिते रवौ ।
प्रकाशे सर्वभूतानां विजेता युधि शात्रवान् ॥ १६ ॥

कल सवेरे सूर्योदय होनेपर तुम सूर्यके समान प्रकाशित हो उजालेमें युद्ध छेड़कर समस्त प्राणियोंके सामने पुनः शत्रुओंपर विजय प्राप्त करना ॥ १६ ॥

असम्भावितरूपं हि त्वयि कर्म विगर्हितम् ।
शुक्ले रक्तमिव न्यस्तं भवेदिति मतिर्मम ॥ १७ ॥

जैसे सफेद वस्त्रमें लाल रंगका धब्बा लग जाय, उस प्रकार तुममें निन्दित कर्मका होना सम्भावनासे परेकी बात है, ऐसा मेरा विश्वास है ॥ १७ ॥

अश्वत्थामोवाच

एवमेव यथाऽऽत्थ त्वं मातुलेह न संशयः ।
तैस्तु पूर्वमयं सेतुः शतधा विदलीकृतः ॥ १८ ॥

अश्वत्थामा बोला—मामाजी ! आप जैसा कहते हैं, निःसंदेह वही ठीक है; परंतु पाण्डवोंने ही पहले इस धर्म-मर्यादाके सैकड़ों टुकड़े कर डाले हैं ॥ १८ ॥

प्रत्यक्षं भूमिपालानां भवतां चापि संनिधौ ।
न्यस्तशस्त्रो मम पिता धृष्टद्युम्नेन पातितः ॥ १९ ॥

धृष्टद्युम्नने समस्त राजाओंके सामने और आपलोगोंके निकट ही मेरे उस पिताको मार गिराया, जिन्होंने अस्त्र-शस्त्र रख दिये थे ॥ १९ ॥

कर्णश्च पतिते चक्रे रथस्य रथिनां वरः ।
उत्तमे व्यसने मग्नो हतो गाण्डीवधन्वना ॥ २० ॥

रथियोंमें श्रेष्ठ कर्णको भी गाण्डीवधारी अर्जुनने उस अवस्थामें मारा था, जब कि उनके रथका पहिया गड्ढेमें गिरकर फँस गया था और इसीलिये वे भारी संकटमें पड़े हुए थे ॥ २० ॥

तथा शान्तनवो भीष्मो न्यस्तशस्त्रो निरायुधः ।
शिखण्डिनं पुरस्कृत्य हतो गाण्डीवधन्वना ॥ २१ ॥

इसी प्रकार शान्तनुनन्दन भीष्म जब हथियार डालकर अस्त्रहीन हो गये, उस अवस्थामें शिखण्डीको आगे करके गाण्डीवधारी धनंजयने उनका वध किया था ॥ २१ ॥

भूरिश्रवा महेष्वासस्तथा प्रायगतो रणे ।
क्रोशतां भूमिपालानां युयुधानेन पातितः ॥ २२ ॥

महाधनुर्धर भूरिश्रवा तो रणभूमिमें अनशन व्रत लेकर बैठ गये थे। उस अवस्थामें समस्त भूमिपाल चिल्ला-चिल्लाकर रोकते ही रह गये; परंतु सात्यकिने उन्हें मार गिराया ॥ २२ ॥

दुर्योधनश्च भीमेन समेत्य गदया रणे ।
पश्यतां भूमिपालानामधर्मेण निपातितः ॥ २३ ॥

भीमसेनने भी सम्पूर्ण राजाओंके देखते-देखते रणभूमिमें गदायुद्ध करते समय दुर्योधनको अधर्मपूर्वक गिराया था ॥ २३ ॥

एकाकी बहुभिस्तत्र परिवार्य महारथैः ।
अधर्मेण नरव्याघ्रो भीमसेनेन पातितः ॥ २४ ॥

नरश्रेष्ठ राजा दुर्योधन अकेला था और बहुत-से महारथियोंने उसे वहाँ घेर रक्खा था, उस दशामें भीमसेनने उसको धराशायी किया है ॥ २४ ॥

विलापो भग्नसक्थस्य यो मे राज्ञः परिश्रुतः ।
वार्तिकाणां कथयतां स मे मर्माणि कृन्तति ॥ २५ ॥

टूटी जाँघोंवाले राजा दुर्योधनका जो विलाप मैंने सुना है और संदेशवाहक दूतोंके मुखसे जो समाचार मुझे ज्ञात हुआ है, वह सब मेरे मर्मस्थानोंको विदीर्ण किये देता है ॥ २५ ॥

एवं चाधार्मिकाः पापाः पञ्चाला भिन्नसेतवः ।
तानेवं भिन्नमर्यादान् किं भवान् न विगर्हति ॥ २६ ॥

इस प्रकार वे सब-के-सब पापी और अधार्मिक हैं। पाञ्चालोंने भी धर्मकी मर्यादा तोड़ डाली है। इस तरह मर्यादा भङ्ग करनेवाले उन पाण्डवों और पाञ्चालोंकी आप निन्दा क्यों नहीं करते हैं ? ॥ २६ ॥

पितृहन्तॄनहं हत्वा पञ्चालान् निशि सौप्तिके ।
कामं कीटः पतङ्गो वा जन्म प्राप्य भवामि वै ॥ २७ ॥

पिताकी हत्या करनेवाले पाञ्चालोंका रातको सोते समय वध करके मैं भले ही दूसरे जन्ममें कीट या पतङ्ग हो जाऊँ, सब कुछ स्वीकार है ॥ २७ ॥

त्वरे चाहमनेनाद्य यदिदं मे चिकीर्षितम् ।
तस्य मे त्वरमाणस्य कुतो निद्रा कुतः सुखम् ॥ २८ ॥

इस समय मैं जो कुछ करना चाहता हूँ, उसीको पूर्ण करनेके उद्देश्यसे उतावला हो रहा हूँ। इतनी उतावलीमें रहते हुए मुझे नींद कहाँ और सुख कहाँ ? ॥ २८ ॥

न स जातः पुमाँल्लोके कश्चिन्न स भविष्यति ।
यो मे व्यावर्तयेदेतां वधे तेषां कृतां मतिम् ॥ २९ ॥

इस संसारमें ऐसा कोई पुरुष न तो पैदा हुआ है और न होगा ही, जो उन पाञ्चालोंके वधके लिये किये गये मेरे इस दृढ़ निश्चयको पलट दे ॥ २९ ॥

संजय उवाच

एवमुक्त्वा महाराज द्रोणपुत्रः प्रतापवान् ।
एकान्ते योजयित्वाश्वान् प्रायादभिमुखः परान् ॥ ३० ॥

संजय कहते हैं—महाराज ! ऐसा कहकर प्रतापी द्रोणपुत्र अश्वत्थामा एकान्तमें घोड़ोंको जोतकर शत्रुओंकी ओर चल दिया ॥ ३० ॥

तमब्रूतां महात्मानौ भोजशारद्वतावुभौ ।
किमर्थं स्यन्दनो युक्तः किं च कार्यं चिकीर्षितम् ॥ ३१ ॥

उस समय भोजवंशी कृतवर्मा और शरद्वान्के पुत्र कृपाचार्य दोनों महामनस्वी वीरोंने उससे कहा—'अश्वत्थामन् ! तुमने किस लिये रथको जोता है ? तुम इस समय कौन-सा कार्य करना चाहते हो ? ॥ ३१ ॥

एकसार्थप्रयातौ स्वस्त्वया सह नरर्षभ ।
समदुःखसुखौ चापि नावां शङ्कितुमर्हसि ॥ ३२ ॥

'नरश्रेष्ठ ! हम दोनों एक साथ तुम्हारी सहायताके लिये चले हैं। तुम्हारे दुःख-सुखमें हमारा समान भाग होगा, तुम्हें हम दोनोंपर संदेह नहीं करना चाहिये' ॥ ३२ ॥

अश्वत्थामा तु संक्रुद्धः पितुर्वधमनुस्मरन् ।
ताभ्यां तथ्यं तथाऽऽचख्यौ यदस्यात्मचिकीर्षितम् ॥

उस समय अश्वत्थामा पिताके वधका स्मरण करके रोषमें आगबबूला हो रहा था। उसके मनमें जो कुछ करनेकी इच्छा थी, वह सब उसने उन दोनोंसे ठीक ठीक कह सुनाया ॥ ३३ ॥

हत्वा शतसहस्राणि योधानां निशितैः शरैः ।
न्यस्तशस्त्रो मम पिता धृष्टद्युम्नेन पातितः ॥ ३४ ॥

वह बोला—'मेरे पिता अपने तीखे बाणोंसे लाखों योद्धाओंका वध करके जब अस्त्र-शस्त्र नीचे डाल चुके थे, उस अवस्थामें धृष्टद्युम्नने उन्हें मारा है ॥ ३४ ॥

तं तथैव हनिष्यामि न्यस्तधर्माणमद्य वै ।
पुत्रं पाञ्चालराजस्य पापं पापेन कर्मणा ॥ ३५ ॥

'अतः धर्मका परित्याग करनेवाले उस पापी पाञ्चाल-राजकुमारको भी मैं उसी प्रकार पापकर्मद्वारा ही मार डालूँगा ॥ ३५ ॥

कथं च निहतः पापः पाञ्चाल्यः पशुवन्मया ।
शस्त्रेण विजिताँल्लोकान् नाप्नुयादिति मे मतिः ॥ ३६ ॥

'मेरा ऐसा निश्चय है कि मेरे हाथसे पशुकी भाँति मारे गये पापी पाञ्चालराजकुमार धृष्टद्युम्नको किसी तरह भी अस्त्र-शस्त्रोंद्वारा मिलनेवाले पुण्यलोकोंकी प्राप्ति न हो ॥ ३६ ॥

क्षिप्रं संनद्धकवचौ सखड्गावात्तकार्मुकौ ।
मामास्थाय प्रतीक्षेतां रथवर्यौ परंतपौ ॥ ३७ ॥

'आप दोनों रथियोंमें श्रेष्ठ और शत्रुओंको संताप देनेवाले वीर हैं। शीघ्र ही कवच बाँधकर खड्ग और धनुष लेकर रथपर बैठ जाइये तथा मेरी प्रतीक्षा कीजिये' ॥ ३७ ॥

इत्युक्त्वा रथमास्थाय प्रायादभिमुखः परान् ।
तमन्वगात् कृपो राजन् कृतवर्मा च सात्वतः ॥ ३८ ॥

राजन्! ऐसा कहकर अश्वत्थामा रथपर आरूढ़ हो शत्रुओंकी ओर चल दिया। कृपाचार्य और सात्वतवंशी कृतवर्मा भी उसीके मार्गका अनुसरण करने लगे ॥ ३८ ॥

ते प्रयाता व्यरोचन्त परानभिमुखास्त्रयः ।
हूयमाना यथा यज्ञे समिद्धा हव्यवाहनाः ॥ ३९ ॥

शत्रुओंकी ओर जाते समय वे तीनों तेजस्वी वीर यज्ञमें आहुति पाकर प्रज्वलित हुए तीन अग्नियोंकी भाँति प्रकाशित हो रहे थे ॥ ३९ ॥

ययुश्च शिबिरं तेषां सम्प्रसुप्तजनं विभो ।
द्वारदेशं तु सम्प्राप्य द्रौणिस्तस्थौ महारथः ॥ ४० ॥

प्रभो! वे तीनों पाण्डवों और पाञ्चालोंके उस शिविरके पास गये, जहाँ सब लोग सो गये थे। शिविरके द्वारपर पहुँचकर महारथी अश्वत्थामा खड़ा हो गया ॥ ४० ॥

इति श्रीमहाभारते सौप्तिकपर्वणि द्रौणिगमने पञ्चमोऽध्यायः ॥ ५ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत सौप्तिकपर्वमें अश्वत्थामाका प्रयाणविषयक पाँचवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ५ ॥

षष्ठोऽध्यायः

अश्वत्थामाका शिविर-द्वारपर एक अद्भुत पुरुषको देखकर उसपर अस्त्रोंका प्रहार करना और अस्त्रोंके अभावमें चिन्तित हो भगवान् शिवकी शरणमें जाना

धृतराष्ट्र उवाच

द्वारदेशे ततो द्रौणिमवस्थितमवेक्ष्य तौ ।
अकुर्वातां भोजकृपौ किं संजय वदस्व मे ॥ १ ॥

धृतराष्ट्रने पूछा—संजय! अश्वत्थामाको शिविरके द्वारपर खड़ा देख कृतवर्मा और कृपाचार्यने क्या किया? यह मुझे बताओ ॥ १ ॥

संजय उवाच

कृतवर्माणमामन्त्र्य कृपं च स महारथः ।
द्रौणिर्मन्युपरीतात्मा शिविरद्वारमागमत् ॥ २ ॥

संजयने कहा—राजन्! कृतवर्मा और कृपाचार्यको आमन्त्रित करके महारथी अश्वत्थामा क्रोधपूर्ण हृदयसे शिविरके द्वारपर आया ॥ २ ॥

तत्र भूतं महाकायं चन्द्रार्कसदृशद्युतिम् ।
सोऽपश्यद् द्वारमाश्रित्य तिष्ठन्तं लोमहर्षणम् ॥ ३ ॥
वसानं चर्म वैयाघ्रं महारुधिरविस्रवम् ।
कृष्णाजिनोत्तरासङ्गं नागयज्ञोपवीतिनम् ॥ ४ ॥
बाहुभिः स्वायतैः पीनैर्नानाप्रहरणोद्यतैः ।
बद्धाङ्गदमहासर्पं ज्वालामालाकुलाननम् ॥ ५ ॥
दंष्ट्राकरालवदनं व्यादितास्यं भयानकम् ।
नयनानां सहस्रैश्च विचित्रैरभिभूषितम् ॥ ६ ॥

वहाँ उसने चन्द्रमा और सूर्यके समान तेजस्वी एक विशालकाय अद्भुत प्राणीको देखा, जो द्वार रोककर खड़ा था, उसे देखते ही रोंगटे खड़े हो जाते थे। उस महापुरुषने व्याघ्रका ऐसा चर्म धारण कर रक्खा था, जिससे बहुत अधिक रक्त चू रहा था, वह काले मृगचर्मकी चादर ओढ़े और सर्पोंका यज्ञोपवीत पहने हुए था। उसकी विशाल और मोटी भुजाएँ नाना प्रकारके अस्त्र-शस्त्र लिये प्रहार करनेको उद्यत जान पड़ती थीं। उनमें बाजूबंदोंके स्थानमें बड़े-बड़े सर्प बँधे हुए थे तथा उसका मुख आगकी लपटोंसे व्याप्त दिखायी देता था। उसने मुँह फैला रक्खा था, जो दाढ़ोंके कारण विकराल जान पड़ता था। वह भयानक पुरुष सहस्रों विचित्र नेत्रोंसे सुशोभित था ॥ ३–६ ॥

नैव तस्य वपुः शक्यं प्रवक्तुं वेष एव च ।
सर्वथा तु तदालक्ष्य स्फुटेयुरपि पर्वताः ॥ ७ ॥

उसके शरीर और वेषका वर्णन नहीं किया जा सकता। सर्वथा उसे देख लेनेपर पर्वत भी भयके मारे विदीर्ण हो सकते थे ॥ ७ ॥

तस्यास्यान्नासिकाभ्यां च श्रवणाभ्यां च सर्वशः।
तेभ्यश्चाक्षिसहस्रेभ्यः प्रादुरासन् महार्चिषः ॥ ८ ॥

उसके मुखसे, दोनों नासिकाओंसे, कानोंसे और हजारों नेत्रोंसे भी सब ओर आगकी बड़ी-बड़ी लपटें निकल रही थीं॥ ८॥

तथा तेजोमरीचिभ्यः शङ्खचक्रगदाधराः।
प्रादुरासन् हृषीकेशाः शतशोऽथ सहस्रशः ॥ ९ ॥

उसके तेजकी किरणोंसे शङ्ख, चक्र और गदा धारण करनेवाले सैकड़ों, हजारों विष्णु प्रकट हो रहे थे ॥ ९॥

तदत्यद्भुतमालोक्य भूतं लोकभयंकरम्।
द्रौणिरव्यथितो दिव्यैरस्त्रवर्षैरवाकिरत् ॥ १० ॥

सम्पूर्ण जगत्‌को भयभीत करनेवाले उस अद्भुत प्राणीको देखकर द्रोणकुमार अश्वत्थामा भयभीत नहीं हुआ, अपितु उसके ऊपर दिव्य अस्त्रोंकी वर्षा करने लगा ॥ १०॥

द्रौणिमुक्ताञ्छरांस्तांस्तु तद् भूतं महदग्रसत्।
उदधेरिव वार्योघान् पावको वडवामुखः ॥ ११ ॥

परंतु जैसे वडवानल समुद्रकी जलराशिको पी जाता है, उसी प्रकार उस महाभूतने अश्वत्थामाके छोड़े हुए सारे बाणों-को अपना ग्रास बना लिया ॥ ११ ॥

अग्रसत् तांस्तथाभूतं द्रौणिना प्रहिताञ्शरान्।
अश्वत्थामा तु सम्प्रेक्ष्य शरौघांस्तान् निरर्थकान्॥१२॥
रथशक्तिं मुमोचास्मै दीप्तामग्निशिखामिव।

अश्वत्थामाने जो-जो बाण छोड़े, उन सबको वह महाभूत निगल गया। अपने बाण-समूहोंको व्यर्थ हुआ देख अश्वत्थामा-ने प्रज्वलित अग्निशिखाके समान देदीप्यमान रथ-शक्ति छोड़ी ॥ १२½ ॥

सा तमाहत्य दीप्ताग्रा रथशक्तिरदीर्यत ॥ १३ ॥
युगान्ते सूर्यमाहत्य महोल्केव दिवश्च्युता।

उसका अग्रभाग तेजसे प्रकाशित हो रहा था। वह रथ-शक्ति उस महापुरुषसे टकराकर उसी प्रकार विदीर्ण हो गयी, जैसे प्रलयकालमें आकाशसे गिरी हुई बड़ी भारी उल्का सूर्यसे टकराकर नष्ट हो जाती है ॥ १३½॥

अथ हेमत्सरुं दिव्यं खड्गमाकाशवर्चसम् ॥ १४ ॥
कोशात् समुद्बबर्हाशु बिलाद् दीप्तमिवोरगम्।

तब अश्वत्थामाने सोनेकी मूँठसे सुशोभित तथा आकाश-के समान निर्मल कान्तिवाली अपनी दिव्य तलवार तुरंत ही म्यानसे बाहर निकाली, मानो प्रज्वलित सर्पको बिलसे बाहर निकाला गया हो ॥ १४½ ॥

ततः खड्गवरं धीमान् भूताय प्राहिणोत् तदा ॥ १५ ॥
स तदासाद्य भूतं वै विलयं नकुलवद् ययौ।

फिर बुद्धिमान् द्रोणपुत्रने वह अच्छी-सी तलवार तत्काल ही उस महाभूतपर चला दी; परंतु वह उसके शरीरमें लगकर उसी तरह विलीन हो गयी, जैसे कोई नेवला बिलमें घुस गया हो ॥ १५½ ॥

ततः स कुपितो द्रौणिरिन्द्रकेतुनिभां गदाम् ॥ १६ ॥
ज्वलन्तीं प्राहिणोत् तस्मै भूतं तामपि चाग्रसत्।

तदनन्तर कुपित हुए अश्वत्थामाने उसके ऊपर अपनी इन्द्रध्वजके समान प्रकाशित होनेवाली गदा चलायी; परंतु वह भूत उसे भी लील गया ॥ १६½ ॥

ततः सर्वायुधाभावे वीक्षमाणस्ततस्ततः ॥ १७ ॥
अपश्यत् कृतमाकाशमनाकाशं जनार्दनैः।

इस प्रकार जब उसके सारे अस्त्र-शस्त्र समाप्त हो गये, तब वह इधर-उधर देखने लगा। उस समय उसे सारा आकाश असंख्य विष्णुओंसे भरा दिखायी दिया ॥ १७½ ॥

तदद्भुततमं दृष्ट्वा द्रोणपुत्रो निरायुधः ॥ १८ ॥
अब्रवीदतिसंतप्तः कृपवाक्यमनुस्मरन्।

अस्त्रहीन अश्वत्थामा यह अत्यन्त अद्भुत दृश्य देखकर कृपाचार्यके वचनोंका बारंबार स्मरण करता हुआ अत्यन्त संतप्त हो उठा और मन-ही-मन इस प्रकार कहने लगा—॥ १८½ ॥

ब्रुवतामप्रियं पथ्यं सुहृदां न शृणोति यः ॥ १९ ॥
स शोचत्यापदं प्राप्य यथाहमतिवर्त्य तौ।

'जो पुरुष अप्रिय किंतु हितकर वचन बोलनेवाले अपने सुहृदोंकी सीख नहीं सुनता है, वह विपत्तिमें पड़कर उसी तरह शोक करता है, जैसे मैं अपने उन दोनों सुहृदोंकी आज्ञाका उल्लङ्घन करके कष्ट पा रहा हूँ॥ १९½ ॥

शास्त्रदृष्टानविद्वान् यः समतीत्य जिघांसति ॥ २० ॥
स पथः प्रच्युतो धर्मात् कुपथे प्रतिहन्यते।

'जो मूर्ख शास्त्रदर्शी पुरुषोंकी आज्ञाका उल्लङ्घन करके दूसरोंकी हिंसा करना चाहता है, वह धर्ममार्गसे भ्रष्ट हो कुमार्गमें पड़कर स्वयं ही मारा जाता है ॥ २०½ ॥

गोब्राह्मणनृपस्त्रीषु सख्युर्मातुर्गुरोस्तथा ॥ २१ ॥
हीनप्राणजडान्धेषु सुप्तभीतोत्थितेषु च।
मत्तोन्मत्तप्रमत्तेषु न शस्त्राणि च पातयेत् ॥ २२ ॥

'गौ, ब्राह्मण, राजा, स्त्री, मित्र, माता, गुरु, दुर्बल, जड, अन्धे, सोये हुए, डरे हुए, मतवाले, उन्मत्त और असावधान पुरुषोंपर मनुष्य शस्त्र न चलाये ॥ २१-२२ ॥

इत्येवं गुरुभिः पूर्वमुपदिष्टं नृणां सदा।
सोऽहमुत्क्रम्य पन्थानं शास्त्रदिष्टं सनातनम् ॥ २३ ॥
अमार्गेणैवमारभ्य घोरामापदमागतः।

'इस प्रकार गुरुजनोंने पहले-से ही सब लोगोंको सदाके लिये यह शिक्षा दे रक्खी है। परंतु मैं उस शास्त्रोक्त सनातन मार्गका उल्लङ्घन करके बिना रास्तेके ही चलकर इस प्रकार अनुचित कर्मका आरम्भ करके भयंकर आपत्तिमें पड़ गया हूँ ॥ २३½ ॥

तां चापदं घोरतरां प्रवदन्ति मनीषिणः ॥ २४ ॥
यदुद्यम्य महत् कृत्यं भयादपि निवर्तते।
अशक्तश्चैव तत् कर्तुं कर्म शक्तिबलादिह ॥ २५ ॥

'मनीषी पुरुष उसीको अत्यन्त भयंकर आपत्ति बताते हैं, जब कि मनुष्य किसी महान् कार्यका आरम्भ करके भयके कारण भी उससे पीछे हट जाता है और शक्ति-बलसे यहाँ उस कर्मको करनेमें असमर्थ हो जाता है ॥ २४-२५ ॥

न हि दैवाद् गरीयो वै मानुषं कर्म कथ्यते।
मानुष्यं कुर्वतः कर्म यदि दैवान्न सिध्यति ॥ २६ ॥
स पथः प्रच्युतो धर्माद् विपदं प्रतिपद्यते।

'मानव-कर्म (पुरुषार्थ) को दैवसे बढ़कर नहीं बताया गया है। पुरुषार्थ करते समय यदि दैववश सिद्धि नहीं प्राप्त हुई तो मनुष्य धर्ममार्गसे भ्रष्ट होकर विपत्तिमें फँस जाता है॥

प्रतिघातं ह्यविज्ञानं प्रवदन्ति मनीषिणः ॥ २७ ॥
यदारभ्य क्रियां काञ्चिद् भयादिह निवर्तते।

'यदि मनुष्य किसी कार्यको आरम्भ करके यहाँ भयके कारण उससे निवृत्त हो जाता है तो ज्ञानी पुरुष उसकी उस कार्यको करनेकी प्रतिज्ञाको अज्ञान या मूर्खता बताते हैं ॥

तदिदं दुष्प्रणीतेन भयं मां समुपस्थितम् ॥ २८ ॥
न हि द्रोणसुतः संख्ये निवर्तेत कथंचन।
इदं च सुमहद् भूतं दैवदण्डमिवोद्यतम् ॥ २९ ॥

'इस समय अपने ही दुष्कर्मके कारण मुझपर यह भय आ पहुँचा है। द्रोणाचार्यका पुत्र किसी प्रकार भी युद्धसे पीछे नहीं हट सकता; परंतु क्या करूँ, यह महाभूत मेरे मार्गमें विघ्न डालनेके लिये दैवदण्डके समान उठ खड़ा हुआ है ॥ २८-२९ ॥

न चैतदभिजानामि चिन्तयन्नपि सर्वथा।
ध्रुवं येयमधर्मे मे प्रवृत्ता कलुषा मतिः ॥ ३० ॥
तस्याः फलमिदं घोरं प्रतिघाताय कल्पते।
तदिदं दैवविहितं मम संख्ये निवर्तनम् ॥ ३१ ॥

'मैं सब प्रकारसे सोचने-विचारनेपर भी नहीं समझ पाता कि यह कौन है? निश्चय ही जो मेरी यह कलुषित बुद्धि अधर्ममें प्रवृत्त हुई है, उसीका विघात करनेके लिये यह भयंकर परिणाम सामने आया है, अतः आज युद्धसे मेरा पीछे हटना दैवके विधानसे ही सम्भव हुआ है।३०-३१।

नान्यत्र दैवादुद्यन्तुमिह शक्यं कथंचन।
सोऽहमद्य महादेवं प्रपद्ये शरणं विभुम् ॥ ३२ ॥
दैवदण्डमिमं घोरं स हि मे नाशयिष्यति।

'दैवकी अनुकूलताके सिवा दूसरा कोई उपाय नहीं है, जिससे किसी प्रकार फिर यहाँ युद्धविषयक उद्योग किया जा सके; इसलिये आज मैं सर्वव्यापी भगवान् महादेवजीकी शरण लेता हूँ। वे ही मेरे सामने आये हुए इस भयानक दैवदण्डका नाश करेंगे ॥ ३२½ ॥

कपर्दिनं देवदेवमुमापतिमनामयम् ॥ ३३ ॥
कपालमालिनं रुद्रं भगनेत्रहरं हरम्।
स हि देवोऽत्यगाद् देवांस्तपसा विक्रमेण च।
तस्माच्छरणमभ्येमि गिरिशं शूलपाणिनम् ॥ ३४ ॥

'भगवान् शङ्कर तपस्या और पराक्रममें सब देवताओंसे बढ़कर हैं; अतः मैं उन्हीं रोग-शोकसे रहित, जटाजूटधारी, देवताओंके भी देवता, भगवती उमाके प्राणवल्लभ, कपाल-मालाधारी, भगनेत्र-विनाशक, पापहारी, त्रिशूलधारी एवं पर्वतपर शयन करनेवाले रुद्रदेवकी शरणमें जाता हूँ'।३३-३४।

इति श्रीमहाभारते सौप्तिकपर्वणि द्रौणिचिन्तायां षष्ठोऽध्यायः ॥ ६ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत सौप्तिकपर्वमें अश्वत्थामाकी चिन्ताविषयक छठा अध्याय पूरा हुआ ॥ ६ ॥

सप्तमोऽध्यायः

अश्वत्थामाद्वारा शिवकी स्तुति, उसके सामने एक अग्निवेदी तथा भूतगणोंका प्राकट्य और उसका आत्मसमर्पण करके भगवान् शिवसे खड्ग प्राप्त करना

संजय उवाच

एवं संचिन्तयित्वा तु द्रोणपुत्रो विशाम्पते।
अवतीर्य रथोपस्थाद् देवेशं प्रणतः स्थितः ॥ १ ॥

संजय कहते हैं—प्रजानाथ! ऐसा सोचकर द्रोणपुत्र अश्वत्थामा रथकी बैठकसे उतर पड़ा और देवेश्वर महादेवजी-को प्रणाम करके खड़ा हो इस प्रकार स्तुति करने लगा ॥१॥

द्रौणिरुवाच

उग्रं स्थाणुं शिवं रुद्रं शर्वमीशानमीश्वरम्।
गिरिशं वरदं देवं भवभावनमीश्वरम् ॥ २ ॥
शितिकण्ठमजं शुक्रं दक्षक्रतुहरं हरम्।
विश्वरूपं विरूपाक्षं बहुरूपमुमापतिम् ॥ ३ ॥
श्मशानवासिनं दृप्तं महागणपतिं विभुम्।
खट्वाङ्गधारिणं रुद्रं जटिलं ब्रह्मचारिणम् ॥ ४ ॥
मनसा सुविशुद्धेन दुष्करेणाल्पचेतसा।
सोऽहमात्मोपहारेण यक्ष्ये त्रिपुरघातिनम् ॥ ५ ॥

अश्वत्थामा बोला—प्रभो! आप उग्र, स्थाणु, शिव, रुद्र, शर्व, ईशान, ईश्वर और गिरिश आदि नामोंसे प्रसिद्ध वरदायक देवता तथा सम्पूर्ण जगत्को उत्पन्न करनेवाले परमेश्वर हैं। आपके कण्ठमें नील चिह्न है। आप अजन्मा एवं शुद्धात्मा हैं। आपने ही दक्षके यज्ञका विनाश किया है। आप ही संहारकारी हर, विश्वरूप, भयानक नेत्रोंवाले, अनेक रूपधारी तथा उमादेवीके प्राणनाथ हैं। आप श्मशानमें निवास करते हैं। आपको अपनी शक्तिपर गर्व है। आप अपने महान् गणोंके अधिपति, सर्वव्यापी तथा खट्वाङ्गधारी हैं, उपासकोंका दुःख दूर करनेवाले रुद्र हैं, मस्तकपर जटा धारण करनेवाले ब्रह्मचारी हैं। आपने त्रिपुरासुरका विनाश किया है। मैं विशुद्ध हृदयसे अपने आपकी बलि देकर, जो मन्दमति मानवोंके लिये अति दुष्कर है, आपका यजन करूँगा॥

स्तुतं स्तुत्यं स्तूयमानममोघं कृत्तिवाससम्।
विलोहितं नीलकण्ठमसह्यं दुर्निवारणम् ॥ ६ ॥
शुक्रं ब्रह्मसृजं ब्रह्म ब्रह्मचारिणमेव च।
व्रतवन्तं तपोनिष्ठमनन्तं तपतां गतिम् ॥ ७ ॥
बहुरूपं गणाध्यक्षं त्र्यक्षं पारिषदप्रियम्।

धनाध्यक्षेक्षितसुखं गौरीहृदयवल्लभम् ॥ ८ ॥
कुमारपितरं पिङ्गं गोवृषोत्तमवाहनम् ।
तनुवाससमत्युग्रमुमाभूषणतत्परम् ॥ ९ ॥
परं परेभ्यः परमं परं यस्मान्न विद्यते ।
इष्वस्त्रोत्तमभर्तारं दिगन्तं देशरक्षिणम् ॥ १० ॥
हिरण्यकवचं देवं चन्द्रमौलिविभूषणम् ।
प्रपद्ये शरणं देवं परमेण समाधिना ॥ ११ ॥

पूर्वकालमें आपकी स्तुति की गयी है, भविष्यमें भी आप स्तुतिके योग्य बने रहेंगे और वर्तमानकालमें भी आपकी स्तुति की जाती है। आपका कोई भी संकल्प या प्रयत्न व्यर्थ नहीं होता। आप व्याघ्र-चर्ममय वस्त्र धारण करते हैं, लोहितवर्ण और नीलकण्ठ हैं। आपके वेगको सहन करना असम्भव है और आपको रोकना सर्वथा कठिन है। आप शुद्धस्वरूप ब्रह्म हैं। आपने ही ब्रह्माजीकी सृष्टि की है। आप ब्रह्मचारी, व्रतधारी तथा तपोनिष्ठ हैं, आपका कहीं अन्त नहीं है। आप तपस्वी जनोंके आश्रय, बहुत-से रूप धारण करनेवाले तथा गणपति हैं। आपके तीन नेत्र हैं। अपने पार्षदोंको आप बहुत प्रिय हैं। धनाध्यक्ष कुबेर सदा आपका मुख निहारा करते हैं। आप गौराङ्गिनी गिरिराजनन्दिनीके हृदय-वल्लभ हैं। कुमार कार्तिकेयके पिता भी आप ही हैं। आपका वर्ण पिङ्गल है। वृषभ आपका श्रेष्ठ वाहन है। आप अत्यन्त सूक्ष्म वस्त्र धारण करनेवाले और अत्यन्त उग्र हैं। उमा देवीको विभूषित करनेमें तत्पर रहते हैं। ब्रह्मा आदि देवताओंसे श्रेष्ठ और परात्पर हैं। आपसे श्रेष्ठ दूसरा कोई नहीं है। आप उत्तम धनुष धारण करनेवाले, दिगन्तव्यापी तथा सब देशोंके रक्षक हैं। आपके श्रीअङ्गोंमें सुवर्णमय कवच शोभा पाता है। आपका स्वरूप दिव्य है तथा आप चन्द्रमय मुकुटसे विभूषित होते हैं। मैं अपने चित्तको पूर्णतः एकाग्र करके आप परमेश्वरकी शरणमें आता हूँ ॥ ६—११ ॥

इमां चेदापदं घोरां तराम्यद्य सुदुष्कराम् ।
सर्वभूतोपहारेण यक्ष्येऽहं शुचिना शुचिम् ॥ १२ ॥

यदि मैं आज इस अत्यन्त दुष्कर और भयंकर विपत्तिसे पार पा जाऊँ तो मैं सर्वभूतमय पवित्र उपहार समर्पित करके आप परम पावन परमेश्वरकी पूजा करूँगा ॥ १२ ॥

इति तस्य व्यवसितं ज्ञात्वा योगात् सुकर्मणः ।
पुरस्तात् काञ्चनी वेदी प्रादुरासीन्महात्मनः ॥ १३ ॥

इस प्रकार अश्वत्थामाका दृढ़ निश्चय जानकर उसके शुभकर्मके योगसे उस महामनस्वी वीरके आगे एक सुवर्णमयी वेदी प्रकट हुई ॥ १३ ॥

तस्यां वेद्यां तदा राजंश्चित्रभानुरजायत ।
स दिशो विदिशः खं च ज्वालाभिरिव पूरयन् ॥ १४ ॥

राजन्! उस वेदीपर तत्काल ही अग्निदेव प्रकट हो गये, जो अपनी ज्वालाओंसे सम्पूर्ण दिशाओं-विदिशाओं और आकाशको परिपूर्ण-सा कर रहे थे ॥ १४ ॥

दीप्तास्यनयनाश्चात्र नैकपादशिरोभुजाः ।
रत्नचित्राङ्गदधराः समुद्यतकरास्तथा ॥ १५ ॥
द्वीपशैलप्रतीकाशाः प्रादुरासन् महागणाः ।

वहाँ बहुत-से महान् गण प्रकट हो गये, जो द्वीपवर्ती पर्वतोंके समान बहुत ऊँचे कदके थे। उनके मुख और नेत्र दीप्तिसे दमक रहे थे। उन गणोंके पैर, मस्तक और भुजाएँ अनेक थीं। वे अपनी बाहोंमें रत्न-निर्मित विचित्र अङ्गद धारण किये हुए थे। उन सबने अपने हाथ ऊपर उठा रक्खे थे ॥ १५½ ॥

श्ववराहोष्ट्ररूपाश्च हयगोमायुगोमुखाः ॥ १६ ॥
ऋक्षमार्जारवदना व्याघ्रद्वीपिमुखास्तथा ।
काकवक्त्राः प्लवमुखाः शुकवक्त्रास्तथैव च ॥ १७ ॥
महाजगरवक्त्राश्च हंसवक्त्राः सितप्रभाः ।
दार्वाघाटमुखाश्चापि चाषवक्त्राश्च भारत ॥ १८ ॥

उनके रूप कुत्ते, सूअर और ऊँटोंके समान थे; मुँह घोड़ों, गीदड़ों और गाय-बैलोंके समान जान पड़ते थे। किन्हींके मुख रीछोंके समान थे तो किन्हींके बिलावोंके समान। कोई बाघोंके समान मुँहवाले थे तो कोई चीतोंके। कितने ही गणोंके मुख कौओं, वानरों, तोतों, बड़े-बड़े अजगरों और हंसोंके समान थे। भारत! कितनोंकी कान्ति भी हंसोंके समान सफेद थी, कितने ही गणोंके मुख कठफोरवा पक्षी और नीलकण्ठके समान थे ॥ १६—१८ ॥

कूर्मनक्रमुखाश्चैव शिशुमारमुखास्तथा ।
महामकरवक्त्राश्च तिमिवक्त्रास्तथैव च ॥ १९ ॥
हरिवक्त्राः क्रौञ्चमुखाः कपोतेभमुखास्तथा ।
पारावतमुखाश्चैव मद्गुवक्त्रास्तथैव च ॥ २० ॥

इसी प्रकार बहुत-से गण कछुए, नाके, सूँस, बड़े-बड़े मगर, तिमि नामक मत्स्य, मोर, क्रौञ्च (कुरर), कबूतर, हाथी, परेवा तथा मद्गु नामक जलपक्षीके समान मुखवाले थे ॥ १९-२० ॥

पाणिकर्णाः सहस्राक्षास्तथैव च महोदराः ।
निर्मांसाः काकवक्त्राश्च श्येनवक्त्राश्च भारत ॥ २१ ॥
तथैवाशिरसो राजन्नृक्षवक्त्राश्च भारत ।
प्रदीप्तनेत्रजिह्वाश्च ज्वालावर्णास्तथैव च ॥ २२ ॥

किन्हींके हाथोंमें ही कान थे। कितने ही हजार-हजार नेत्र और लंबे पेटवाले थे। कितनोंके शरीर मांसरहित, हड्डियोंके ढाँचे मात्र थे। भरतनन्दन! कोई कौओंके समान मुखवाले थे तो कोई बाजके समान। राजन्! किन्हीं-किन्हींके तो सिर ही नहीं थे। भारत! कोई-कोई भालूके समान मुखवाले थे। उन सबके नेत्र और जिह्वाएँ तेजसे प्रज्वलित हो रही थीं। अङ्गोंकी कान्ति आगकी ज्वालाके समान जान पड़ती थी ॥ २१-२२ ॥

ज्वालाकेशाश्च राजेन्द्र ज्वलद्रोमचतुर्भुजाः ।
मेषवक्त्रास्तथैवान्ये तथा छागमुखा नृप ॥ २३ ॥

राजेन्द्र! उनके केश भी अग्नि-शिखाके समान प्रतीत होते थे। उनका रोम-रोम प्रज्वलित हो रहा था। उन सबके

चार भुजाएँ थीं। नरेश्वर ! कितने ही गणोंके मुख भेड़ों और बकरोंके समान थे ॥ २३ ॥

शङ्खाभाः शङ्खवक्त्राश्च शङ्खवर्णास्तथैव च ।
शङ्खमालापरिकराः शङ्खध्वनिसमस्वनाः ॥ २४ ॥

कितनोंके मुख, वर्ण और कान्ति शङ्खके सदृश थे। वे शङ्खकी मालाओंसे अलङ्कृत थे और उनके मुखसे शङ्खध्वनिके समान ही शब्द प्रकट होते थे ॥ २४ ॥

जटाधराः पञ्चशिखास्तथा मुण्डाः कृशोदराः ।
चतुर्दंष्ट्राश्चतुर्जिह्वाः शङ्कुकर्णाः किरीटिनः ॥ २५ ॥

कोई समूचे सिरपर जटा धारण करते थे, कोई पाँच शिखाएँ रखते थे और कितने ही मूड़ मुड़ाये रहते थे। बहुतोंके उदर अत्यन्त कृश थे, कितनोंके चार दाढ़ें और चार जिह्वाएँ थीं। किन्हींके कान खूँटीके समान जान पड़ते थे और कितने ही पार्षद अपने मस्तकपर किरीट धारण करते थे ॥ २५ ॥

मौञ्जीधराश्च राजेन्द्र तथा कुञ्चितमूर्धजाः ।
उष्णीषिणो मुकुटिनश्चारुवक्त्राः स्वलङ्कृताः ॥ २६ ॥

राजेन्द्र ! कोई मूँजकी मेखला पहने हुए थे, किन्हींके सिरके बाल घुँघराले दिखायी देते थे, कोई पगड़ी धारण किये हुए थे तो कोई मुकुट। कितनोंके मुख बड़े ही मनोहर थे। कितने ही सुन्दर आभूषणोंसे विभूषित थे ॥ २६ ॥

पद्मोत्पलापीडधरास्तथा मुकुटधारिणः ।
माहात्म्येन च संयुक्ताः शतशोऽथ सहस्रशः ॥ २७ ॥

कोई अपने मस्तकपर कमलों और कुमुदोंका किरीट धारण करते थे। बहुतोंने विशुद्ध मुकुट धारण कर रक्खा था। वे भूतगण सैकड़ों और हजारोंकी संख्यामें थे और सभी अद्भुत माहात्म्यसे सम्पन्न थे ॥ २७ ॥

शतघ्नीवज्रहस्ताश्च तथा मुसलपाणयः ।
भुशुण्डीपाशहस्ताश्च दण्डहस्ताश्च भारत ॥ २८ ॥

भारत ! उनके हाथोंमें शतघ्नी, वज्र, मूसल, भुशुण्डी, पाश और दण्ड शोभा पाते थे ॥ २८ ॥

पृष्ठेषु बद्धेषुधयश्चित्रबाणोत्कटास्तथा ।
सध्वजाः सपताकाश्च सघण्टाः सपरश्वधाः ॥ २९ ॥

उनकी पीठोंपर तरकस बँधे थे। वे विचित्र बाण लिये युद्धके लिये उन्मत्त जान पड़ते थे। उनके पास ध्वजा, पताका, घंटे और फरसे मौजूद थे ॥ २९ ॥

महापाशोद्यतकरास्तथा लगुडपाणयः ।
स्थूणाहस्ताः खड्गहस्ताः सर्पोच्छ्रितकिरीटिनः ॥ ३० ॥

उन्होंने अपने हाथोंमें बड़े-बड़े पाश उठा रक्खे थे, कितनोंके हाथोंमें डंडे, खम्भे और खड्ग शोभा पाते थे तथा कितनोंके मस्तकपर सर्पोंके उन्नत किरीट सुशोभित होते थे ॥

महासर्पाङ्गदधराश्चित्राभरणधारिणः ।
रजोध्वस्ताः पङ्कदिग्धाः सर्वे शुक्लाम्बरस्रजः ॥ ३१ ॥

कितनोंने बाजूबंदोंके स्थानमें बड़े-बड़े सर्प धारण कर रक्खे थे। कितने ही विचित्र आभूषणोंसे विभूषित थे, बहुतोंके शरीर धूलि-धूसर हो रहे थे। कितने ही अपने अङ्गोंमें कीचड़ लपेटे हुए थे। उन सबने श्वेत वस्त्र और श्वेत फूलोंकी माला धारण कर रक्खी थी ॥ ३१ ॥

नीलाङ्गाः पिङ्गलाङ्गाश्च मुण्डवक्त्रास्तथैव च ।
भेरीशङ्खमृदङ्गांश्च झर्झरानकगोमुखान् ॥ ३२ ॥
अवादयन् पारिषदाः प्रहृष्टाः कनकप्रभाः ।
गायमानास्तथैवान्ये नृत्यमानास्तथा परे ॥ ३३ ॥

कितनोंके अङ्ग नील और पिङ्गलवर्णके थे। कितनोंने अपने मस्तकके बाल मुँड़वा दिये। कितने ही सुनहरी प्रभासे प्रकाशित हो रहे थे। वे सभी पार्षद हर्षसे उत्फुल्ल हो भेरी, शङ्ख, मृदङ्ग, झाँझ, ढोल और गोमुख बजा रहे थे। कितने ही गीत गा रहे थे और दूसरे बहुत-से पार्षद नाच रहे थे ॥

लङ्घयन्तः प्लवन्तश्च वल्गन्तश्च महारथाः ।
धावन्तो जवना मुण्डाः पवनोद्धूतमूर्धजाः ॥ ३४ ॥

वे महारथी भूतगण उछलते, कूदते और लाँघते हुए बड़े वेगसे दौड़ रहे थे। उनमेंसे कितने तो माथ मुँड़ाये हुए थे और कितनोंके सिरके बाल हवाके झोंकेसे ऊपरकी ओर उठ गये थे ॥ ३४ ॥

मत्ता इव महानागा विनदन्तो मुहुर्मुहुः ।
सुभीमा घोररूपाश्च शूलपट्टिशपाणयः ॥ ३५ ॥

वे मतवाले गजराजोंके समान बारंबार गर्जना करते थे। उनके हाथोंमें शूल और पट्टिश दिखायी देते थे। वे घोर रूपधारी और भयंकर थे ॥ ३५ ॥

नानाविरागवसनाश्चित्रमाल्यानुलेपनाः ।
रत्नचित्राङ्गदधराः समुद्यतकरास्तथा ॥ ३६ ॥

उनके वस्त्र नाना प्रकारके रंगोंमें रँगे हुए थे। वे विचित्र माला और चन्दनसे अलङ्कृत थे। उन्होंने रत्ननिर्मित विचित्र अङ्गद धारण कर रक्खे थे और उन सबके हाथ ऊपरकी ओर उठे हुए थे ॥ ३६ ॥

हन्तारो द्विषतां शूराः प्रसह्यासह्यविक्रमाः ।
पातारोऽसृग्वसौघानां मांसान्त्रकृतभोजनाः ॥ ३७ ॥

वे शूरवीर पार्षद हठपूर्वक शत्रुओंका वध करनेमें समर्थ थे। उनका पराक्रम असह्य था। वे रक्त और वसा पीते तथा आँत और मांस खाते थे ॥ ३७ ॥

चूडालाः कर्णिकाराश्च प्रहृष्टाः पिठरोदराः ।
अतिह्रस्वातिदीर्घाश्च प्रलम्बाश्चातिभैरवाः ॥ ३८ ॥

कितनोंके मस्तकपर शिखाएँ थीं। कितने ही कनेरके फूल धारण करते थे। बहुतेरे पार्षद अत्यन्त हर्षसे खिल उठे थे। कितनोंके पेट बटलोई या कड़ाहीके समान जान पड़ते थे। कोई बहुत नाटे, कोई बहुत मोटे, कोई बहुत लंबे और कोई अत्यन्त भयंकर थे ॥ ३८ ॥

विकटाः काललम्बोष्ठा बृहच्छेफाण्डपिण्डिकाः ।
महार्हनानामुकटा मुण्डाश्च जटिलाः परे ॥ ३९ ॥

कितनोंके आकार बहुत विकट थे, कितनोंके काले-काले और लंबे ओठ लटक रहे थे, किन्हींके लिङ्ग बड़े थे तो किन्हीं-

के अण्डकोष। किन्हींके मस्तकोंपर नाना प्रकारके बहुमूल्य मुकुट शोभा पाते थे, कुछ लोग मथमुंडे थे और कुछ जटाधारी ॥

सार्केन्दुग्रहनक्षत्रां द्यां कुर्युस्ते महीतले।
उत्सहेरंश्च ये हन्तुं भूतग्रामं चतुर्विधम् ॥ ४० ॥

वे सूर्य, चन्द्रमा, ग्रह और नक्षत्रोंसहित सम्पूर्ण आकाशमण्डलको पृथ्वीपर गिरा सकते थे और चार प्रकारके समस्त प्राणि-समुदायका संहार करनेमें समर्थ थे ॥ ४० ॥

ये च वीतभया नित्यं हरस्य भ्रुकुटीसहाः।
कामकारकरा नित्यं त्रैलोक्यस्येश्वरेश्वराः ॥ ४१ ॥

वे सदा निर्भय होकर भगवान् शंकरके भ्रूभंगको सहन करनेवाले थे। प्रतिदिन इच्छानुसार कार्य करते और तीनों लोकोंके ईश्वरोंपर भी शासन कर सकते थे ॥ ४१ ॥

नित्यानन्दप्रमुदिता वागीशा वीतमत्सराः।
प्राप्याष्टगुणमैश्वर्यं ये न यास्यन्ति वै स्मयम् ॥ ४२ ॥

वे पार्षद नित्य आनन्दमें मग्न रहते थे, वाणीपर उनका अधिकार था। उनके मनमें किसीके प्रति ईर्ष्या और द्वेष नहीं रह गये थे। वे अणिमा-महिमा आदि आठ प्रकारके ऐश्वर्यको पाकर भी कभी अभिमान नहीं करते थे ॥ ४२ ॥

येषां विस्मयते नित्यं भगवान् कर्मभिर्हरः।
मनोवाक्कर्मभिर्युक्तैर्नित्यमाराधितश्च यैः ॥ ४३ ॥

साक्षात् भगवान् शंकर भी प्रतिदिन उनके कर्मोंको देखकर आश्चर्यचकित हो जाते थे। वे मन, वाणी और क्रियाओंद्वारा सदा सावधान रहकर महादेवजीकी आराधना करते थे ॥

मनोवाक्कर्मभिर्भक्तान् पाति पुत्रानिवौरसान्।
पिबन्तोऽसृग्वसाश्चान्ये क्रुद्धा ब्रह्मद्विषां सदा ॥ ४४ ॥

मन, वाणी और कर्मसे अपने प्रति भक्ति रखनेवाले उन भक्तोंका भगवान् शिव सदा औरस पुत्रोंकी भाँति पालन करते थे। बहुत-से पार्षद रक्त और वसा पीकर रहते थे। वे ब्रह्मद्रोहियोंपर सदा क्रोध प्रकट करते थे ॥ ४४ ॥

चतुर्विधात्मकं सोमं ये पिबन्ति च सर्वदा।
श्रुतेन ब्रह्मचर्येण तपसा च दमेन च ॥ ४५ ॥
ये समाराध्य शूलाङ्कं भवसायुज्यमागताः।

अन्न, सोमलताका रस, अमृत और चन्द्रमण्डल—ये चार प्रकारके सोम हैं, वे पार्षदगण इनका सदा पान करते हैं। उन्होंने वेदोंके स्वाध्याय, ब्रह्मचर्यपालन, तपस्या और इन्द्रिय-संयमके द्वारा त्रिशूल-चिह्नित भगवान् शिवकी आराधना करके उनका सायुज्य प्राप्त कर लिया है ॥ ४५½ ॥

यैरात्मभूतैर्भगवान् पार्वत्या च महेश्वरः ॥ ४६ ॥
महाभूतगणैर्भुङ्क्ते भूतभव्यभवत्प्रभुः।

वे महाभूतगण भगवान् शिवके आत्मस्वरूप हैं, उनके तथा पार्वतीदेवीके साथ भूत, वर्तमान और भविष्यके स्वामी महेश्वर यज्ञ-भाग ग्रहण करते हैं ॥ ४६½ ॥

नानावादित्रहसितक्ष्वेडितोत्कुष्टगर्जितैः ॥ ४७ ॥
संत्रासयन्तस्ते विश्वमश्वत्थामानमभ्ययुः।

भगवान् शिवके वे पार्षद नाना प्रकारके बाजे बजाने, हँसने, सिंहनाद करने, ललकारने तथा गर्जने आदिके द्वारा सम्पूर्ण विश्वको भयभीत करते हुए अश्वत्थामाके पास आये ॥

संस्तुवन्तो महादेवं भाः कुर्वाणाः सुवर्चसः ॥ ४८ ॥
विवर्धयिषवो द्रौणेर्महिमानं महात्मनः।
जिज्ञासमानास्तत्तेजः सौप्तिकं च दिदृक्षवः ॥ ४९ ॥
भीमोग्रपरिघालातशूलपट्टिशपाणयः।
घोररूपाः समाजग्मुर्भूतसङ्घाः समन्ततः ॥ ५० ॥

भूतोंके वे समूह बड़े भयंकर और तेजस्वी थे तथा सब ओर अपनी प्रभा फैला रहे थे। अश्वत्थामामें कितना तेज है, इस बातको वे जानना चाहते थे और सोते समय जो महान् संहार होनेवाला था, उसे भी देखनेकी इच्छा रखते थे। साथ ही महामनस्वी द्रोणकुमारकी महिमा बढ़ाना चाहते थे; इसीलिये महादेवजीकी स्तुति करते हुए वे चारों ओरसे वहाँ आ पहुँचे। उनके हाथोंमें अत्यन्त भयंकर परिघ, जलते लुआठे, त्रिशूल और पट्टिश शोभा पा रहे थे ॥ ४८—५० ॥

जनयेयुर्भयं ये स्म त्रैलोक्यस्यापि दर्शनात्।
तान् प्रेक्षमाणोऽपि व्यथां न चकार महाबलः ॥ ५१ ॥

भगवान् भूतनाथके वे गण दर्शन देनेमात्रसे तीनों लोकोंके मनमें भय उत्पन्न कर सकते थे, तथापि महाबली अश्वत्थामा उन्हें देखकर तनिक भी व्यथित नहीं हुआ ॥

अथ द्रौणिर्धनुष्पाणिर्बद्धगोधाङ्गुलित्रवान्।
स्वयमेवात्मनात्मानमुपहारमुपाहरत् ॥ ५२ ॥

तदनन्तर हाथमें धनुष लिये और गोहके चर्मके बने दस्ताने पहने हुए द्रोणकुमारने स्वयं ही अपने आपको भगवान् शिवके चरणोंमें भेंट चढ़ा दिया ॥ ५२ ॥

धनूंषि समिधस्तत्र पवित्राणि शिताः शराः।
हविरात्मवतश्चात्मा तस्मिन् भारत कर्मणि ॥ ५३ ॥

भारत! उस आत्म समर्पणरूपी यज्ञकर्ममें आत्मबलसम्पन्न अश्वत्थामाका धनुष ही समिधा, तीखे बाण ही कुशा और शरीर ही हविष्यरूपमें प्रस्तुत हुए ॥ ५३ ॥

ततः सौम्येन मन्त्रेण द्रोणपुत्रः प्रतापवान्।
उपहारं महामन्युरथात्मानमुपाहरत् ॥ ५४ ॥

फिर महाक्रोधी प्रतापी द्रोणपुत्रने सोमदेवता-सम्बन्धी मन्त्र[1]के द्वारा अपने शरीरको ही उपहारके रूपमें अर्पित कर दिया ॥

तं रुद्रं रौद्रकर्माणं रौद्रैः कर्मभिरच्युतम्।
अभिष्टुत्य महात्मानमित्युवाच कृताञ्जलिः ॥ ५५ ॥

भयंकर कर्म करनेवाले तथा अपनी महिमासे कभी च्युत न होनेवाले महात्मा रुद्रदेवकी रौद्रकर्मोंद्वारा ही स्तुति करके अश्वत्थामा हाथ जोड़कर इस प्रकार बोला ॥ ५५ ॥

द्रौणिरुवाच

इममात्मानमद्याहं जातमाङ्गिरसे कुले।
स्वग्नौ जुहोमि भगवन् प्रतिगृह्णीष्व मां बलिम् ॥ ५६ ॥

अश्वत्थामाने कहा—भगवन्! आज मैं आङ्गिरस

---

१. वह मन्त्र इस प्रकार है—'आप्यायस्व समेतु ते विश्वतः सोम वृष्ण्यम्। भवा वाजस्य संगथे।'

[illegible] अपने शरीरकी प्रज्वलित अग्निमें आहुति [illegible] आप मुझे हविष्यरूपमें ग्रहण कीजिये ॥ ५६ ॥

भक्त्या त्वया महादेव परमेण समाधिना ।
अस्यामापदि विश्वात्मन्नुपाकुर्मि तवाग्रतः ॥ ५७ ॥

विश्वात्मन् ! महादेव ! इस आपत्तिके समय आपके प्रति भक्तिभावसे अपने चित्तको पूर्ण एकाग्र करके आपके समक्ष यह भेंट समर्पित करता हूँ (आप इसे स्वीकार करें) ॥५७॥

त्वयि सर्वाणि भूतानि सर्वभूतेषु चासि वै ।
गुणानां हि प्रधानानामेकत्वं त्वयि तिष्ठति ॥ ५८ ॥

प्रभो ! सम्पूर्ण भूत आपमें स्थित हैं और आप सम्पूर्ण भूतोंमें स्थित हैं । आपमें ही मुख्य-मुख्य गुणोंकी एकता होती है ॥ ५८ ॥

सर्वभूताश्रय विभो हविर्भूतमवस्थितम् ।
प्रतिगृहाण मां देव यद्यशक्याः परे मया ॥ ५९ ॥

विभो ! आप सम्पूर्ण भूतोंके आश्रय हैं । देव ! यदि शत्रुओंका मेरे द्वारा पराभव नहीं हो सकता तो आप हविष्य-रूपमें सामने खड़े हुए मुझ अश्वत्थामाको स्वीकार कीजिये ॥ ५९ ॥

इत्युक्त्वा द्रौणिरास्थाय तां वेदीं दीप्तपावकाम् ।
संत्यज्यात्मानमारुह्य कृष्णवर्त्मन्युपाविशत् ॥ ६० ॥

ऐसा कहकर द्रोणकुमार अश्वत्थामा प्रज्वलित अग्निसे प्रकाशित हुई उस वेदीपर चढ़ गया और प्राणोंका मोह छोड़-कर आगके बीचमें बैठ गया ॥ ६० ॥

तमूर्ध्वबाहुं निश्चेष्टं दृष्ट्वा हविरुपस्थितम् ।
अब्रवीद् भगवान् साक्षान्महादेवो हसन्निव ॥ ६१ ॥

उसे हविष्यरूपसे दोनों बाँहें ऊपर उठाये निश्चेष्ट भावसे बैठे देख साक्षात् भगवान् महादेवने हँसते हुए-से कहा— ॥

सत्यशौचार्जवत्यागैस्तपसा नियमेन च ।
क्षान्त्या भक्त्या च धृत्या च बुद्ध्या च वचसा तथा ॥
यथावदहमाराद्धः कृष्णेनाक्लिष्टकर्मणा ।
तस्मादिष्टतमः कृष्णादन्यो मम न विद्यते ॥ ६३ ॥

'अनायास ही महान् कर्म करनेवाले श्रीकृष्णने सत्य, शौच, सरलता, त्याग, तपस्या, नियम, क्षमा, भक्ति, धैर्य, बुद्धि और वाणीके द्वारा मेरी यथोचित आराधना की है; अतः श्रीकृष्णसे बढ़कर दूसरा कोई मुझे परम प्रिय नहीं है ॥

कुर्वता तात सम्मानं त्वां च जिज्ञासता मया ।
पञ्चालाः सहसा गुप्ता मायाश्च बहुशः कृता ॥ ६४ ॥

'तात ! उन्हींका सम्मान और तुम्हारी परीक्षा करनेके लिये मैंने पाञ्चालोंकी सहसा रक्षा की है और बारंबार मायाओं-का प्रयोग किया है ॥ ६४ ॥

कृतस्तस्यैव सम्मानः पञ्चालान् रक्षता मया ।
अभिभूतास्तु कालेन नैषामद्यास्ति जीवितम् ॥ ६५ ॥

'पाञ्चालोंकी रक्षा करके मैंने श्रीकृष्णका ही सम्मान किया है; परंतु अब वे कालसे पराजित हो गये हैं, अब इनका जीवन शेष नहीं है' ॥ ६५ ॥

एवमुक्त्वा महात्मानं भगवानात्मनस्तनुम् ।
आविवेश ददौ चास्मै विमलं खड्गमुत्तमम् ॥ ६६ ॥

महामना अश्वत्थामासे ऐसा कहकर भगवान् शिवने अपने स्वरूपभूत उसके शरीरमें प्रवेश किया और उसे एक निर्मल एवं उत्तम खड्ग प्रदान किया ॥ ६६ ॥

अथाविष्टो भगवता भूयो जज्वाल तेजसा ।
वेगवांश्चाभवद् युद्धे देवसृष्टेन तेजसा ॥ ६७ ॥

भगवान्का आवेश हो जानेपर अश्वत्थामा पुनः अत्यन्त तेजसे प्रज्वलित हो उठा । उस देवप्रदत्त तेजसे सम्पन्न हो वह युद्धमें और भी वेगशाली हो गया ॥ ६७ ॥

तमदृश्यानि भूतानि रक्षांसि च समाद्रवन् ।
अभितः शत्रुशिबिरं यान्तं साक्षादिवेश्वरम् ॥ ६८ ॥

साक्षात् महादेवजीके समान शत्रुशिबिरकी ओर जाते हुए अश्वत्थामाके साथ-साथ बहुत-से अदृश्य भूत और राक्षस भी दौड़े गये ॥ ६८ ॥

इति श्रीमहाभारते सौप्तिके पर्वणि द्रौणिकृतशिवार्चने सप्तमोऽध्यायः ॥ ७ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत सौप्तिकपर्वमें द्रोणपुत्रद्वारा की हुई भगवान् शिवकी पूजाविषयक सातवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ७ ॥

अष्टमोऽध्यायः

अश्वत्थामाके द्वारा रात्रिमें सोये हुए पाञ्चाल आदि समस्त वीरोंका संहार तथा फाटकसे निकलकर भागते हुए योद्धाओंका कृतवर्मा और कृपाचार्य द्वारा वध

धृतराष्ट्र उवाच

तथा प्रयाते शिबिरं द्रोणपुत्रे महारथे ।
कच्चित् कृपश्च भोजश्च भयार्तौ न व्यवर्तताम् ॥ १ ॥

धृतराष्ट्रने पूछा—संजय ! जब महारथी द्रोणपुत्र इस प्रकार शिबिरकी ओर चला, तब कृपाचार्य और कृतवर्मा भयसे पीड़ित हो लौट तो नहीं गये ? ॥ १ ॥

कच्चिन्न वारितौ क्षुद्रै रक्षिभिर्नोपलक्षितौ ।
असह्यमिति मन्वानौ न निवृत्तौ महारथौ ॥ २ ॥
कच्चिदुन्मथ्य शिबिरं हत्वा सोमकपाण्डवान् ।
(कृता प्रतिज्ञा सफला कच्चित् संजय सा निशि ।)

कहीं नीच द्वार-रक्षकोंने उन्हें रोक तो नहीं दिया ? किसीने उन्हें देखा तो नहीं ? कहीं ऐसा तो नहीं हुआ कि वे दोनों महारथी इस कार्यको असह्य मानकर लौट गये हों ? संजय ! क्या उस शिबिरको मथकर सोमकों और पाण्डवोंकी हत्या करके रातमें अश्वत्थामाने अपनी प्रतिज्ञा सफल कर ली ? ॥

दुर्योधनस्य पदवीं गतौ परमिकां रणे ॥ ३ ॥
पञ्चालैर्निहतौ वीरौ कच्चिन्नास्वपतां क्षितौ ।
कच्चित् ताभ्यां कृतं कर्म तन्ममाचक्ष्व संजय ॥ ४ ॥

वे दोनों वीर पाञ्चालोंके द्वारा मारे जाकर धरतीपर सदाके लिये सो तो नहीं गये ? रणभूमिमें मरकर दुर्योधनके ही उत्तम मार्गपर चले तो नहीं गये ? क्या उन दोनोंने भी वहाँ कोई पराक्रम किया ? संजय ! ये सब बातें मुझे बताओ॥

संजय उवाच

तस्मिन् प्रयाते शिविरं द्रोणपुत्रे महात्मनि ।
कृपश्च कृतवर्मा च शिविरद्वार्यतिष्ठताम् ॥ ५ ॥

संजयने कहा—राजन् ! महामनस्वी द्रोणपुत्र अश्वत्थामा जब शिविरके भीतर जाने लगा, उस समय कृपाचार्य और कृतवर्मा भी उसके दरवाजेपर जा खड़े हुए ॥ ५ ॥

अश्वत्थामा तु तौ दृष्ट्वा यत्नवन्तौ महारथौ ।
प्रहृष्टः शनकै राजन्निदं वचनमब्रवीत् ॥ ६ ॥

महाराज ! उन दोनों महारथियोंको अपना साथ देनेके लिये प्रयत्नशील देख अश्वत्थामाको बड़ी प्रसन्नता हुई । उसने उनसे धीरेसे इस प्रकार कहा—॥ ६ ॥

यत्तौ भवन्तौ पर्याप्तौ सर्वक्षत्रस्य नाशने ।
किं पुनर्योधशेषस्य प्रसुप्तस्य विशेषतः ॥ ७ ॥

'यदि आप दोनों सावधान होकर चेष्टा करें तो सम्पूर्ण क्षत्रियोंका विनाश करनेके लिये पर्याप्त हैं । फिर इन बचे-खुचे और विशेषतः सोये हुए योद्धाओंको मारना कौन बड़ी बात है ? ॥ ७ ॥

अहं प्रवेक्ष्ये शिविरं चरिष्यामि च कालवत् ।
यथा न कश्चिदपि वा जीवन् मुच्येत मानवः ॥ ८ ॥
तथा भवद्भ्यां कार्यं स्यादिति मे निश्चिता मतिः ।

'मैं तो इस शिविरके भीतर घुस जाऊँगा और वहाँ कालके समान विचरूँगा । आपलोग ऐसा करें जिससे कोई भी मनुष्य आप दोनोंके हाथसे जीवित न बच सके, यही मेरा दृढ़ विचार है' ॥ ८½ ॥

इत्युक्त्वा प्राविशद् द्रौणिः पार्थानां शिविरं महत् ॥ ९ ॥
अद्वारेणाभ्यवस्कन्द्य विहाय भयमात्मनः ।

ऐसा कहकर द्रोणकुमार पाण्डवोंके विशाल शिविरमें बिना दरवाजेके ही कूदकर घुस गया । उसने अपने जीवनका भय छोड़ दिया था ॥ ९½ ॥

स प्रविश्य महाबाहुरुद्देशज्ञश्च तस्य ह ॥ १० ॥
धृष्टद्युम्नस्य निलयं शनकैरभ्युपागमत् ।

वह महाबाहु वीर शिविरके प्रत्येक स्थानसे परिचित था, अतः धीरे-धीरे धृष्टद्युम्नके खेमेमें जा पहुँचा ॥ १०½ ॥

ते तु कृत्वा महत् कर्म श्रान्ताश्च बलवद् रणे ॥ ११ ॥
प्रसुप्ताश्चैव विश्वस्ताः स्वसैन्यपरिवारिताः ।

वहाँ वे पाञ्चाल वीर रणभूमिमें महान् पराक्रम करके बहुत थक गये थे और अपने सैनिकोंसे घिरे हुए निश्चिन्त सो रहे थे ॥ ११½ ॥

अथ प्रविश्य तद् वेश्म धृष्टद्युम्नस्य भारत ॥ १२ ॥
पाञ्चाल्यं शयने द्रौणिरपश्यत् सुप्तमन्तिकात् ।
क्षौमावदाते महति स्पर्ध्यास्तरणसंवृते ॥ १३ ॥
माल्यप्रवरसंयुक्ते धूपैश्चूर्णैश्च वासिते ।

भरतनन्दन ! धृष्टद्युम्नके उस डेरेमें प्रवेश करके द्रोणकुमारने देखा कि पाञ्चालराजकुमार पास ही बहुमूल्य बिछौनोंसे युक्त तथा रेशमी चादरसे ढकी हुई एक विशाल शय्यापर सो रहा है । वह शय्या श्रेष्ठ मालाओंसे सुसज्जित तथा धूप एवं चन्दन चूर्णसे सुवासित थी ॥ १२-१३½ ॥

तं शयानं महात्मानं विश्रब्धमकुतोभयम् ॥ १४ ॥
प्राबोधयत पादेन शयनस्थं महीपते ।

भूपाल ! अश्वत्थामाने निश्चिन्त एवं निर्भय होकर शय्यापर सोये हुए महामनस्वी धृष्टद्युम्नको पैरसे ठोकर मारकर जगाया ॥ १४½ ॥

सम्बुध्य चरणस्पर्शादुत्थाय रणदुर्मदः ॥ १५ ॥
अभ्यजानादमेयात्मा द्रोणपुत्रं महारथम् ।

अमेय आत्मबलसे सम्पन्न रणदुर्मद धृष्टद्युम्न उसके पैर लगते ही जाग उठा और जागते ही उसने महारथी द्रोणपुत्रको पहचान लिया ॥ १५½ ॥

तमुत्पतन्तं शयनादश्वत्थामा महाबलः ॥ १६ ॥
केशेष्वालभ्य पाणिभ्यां निष्पिपेष महीतले ।

अब वह शय्यासे उठनेकी चेष्टा करने लगा । इतनेहीमें महाबली अश्वत्थामाने दोनों हाथसे उसके बाल पकड़कर पृथ्वीपर पटक दिया और वहाँ अच्छी तरह रगड़ा ॥ १६½ ॥

सबलं तेन निष्पिष्टः साध्वसेन च भारत ॥ १७ ॥
निद्रया चैव पाञ्चाल्यो नाशकच्चेष्टितुं तदा ।

भारत ! धृष्टद्युम्न भय और निद्रासे दबा हुआ था । उस अवस्थामें जब अश्वत्थामाने उसे जोरसे पटककर रगड़ना आरम्भ किया, तब उससे कोई भी चेष्टा करते न बना ॥

तमाक्रम्य पदा राजन् कण्ठे चोरसि चोभयोः॥ १८ ॥
नदन्तं विस्फुरन्तं च पशुमारममारयत् ।

राजन् ! उसने पैरसे उसकी छाती और गला दोनोंको दबा दिया और उसे पशुकी तरह मारना आरम्भ किया । वह बेचारा चीखता और छटपटाता रह गया ॥ १८½ ॥

तुदन्नखैस्तु स द्रौणिं नातिव्यक्तमुदाहरत् ॥ १९ ॥
आचार्यपुत्र शस्त्रेण जहि मां मा चिरं कृथाः ।
त्वत्कृते सुकृताँल्लोकान् गच्छेयं द्विपदां वर ॥ २० ॥

उसने अपने नखोंसे द्रोणकुमारको बकोटते हुए अस्पष्ट वाणीमें कहा—'मनुष्योंमें श्रेष्ठ आचार्यपुत्र ! अब देरी न करो । मुझे किसी शस्त्रसे मार डालो, जिससे तुम्हारे कारण मैं पुण्यलोकोंमें जा सकूँ' ॥ १९-२० ॥

एवमुक्त्वा तु वचनं विरराम परंतपः ।
सुतः पाञ्चालराजस्य आक्रान्तो बलिना भृशम् ॥ २१ ॥

ऐसा कहकर बलवान् शत्रुके द्वारा बड़े जोरसे दबाया हुआ शत्रुसंतापी पाञ्चालराजकुमार धृष्टद्युम्न चुप हो गया ॥

तस्याव्यक्तां तु तां वाचं संश्रुत्य द्रौणिरब्रवीत् ।
आचार्यघातिनां लोका न सन्ति कुलपांसन ॥ २२ ॥
तस्माच्छस्त्रेण निधनं न त्वमर्हसि दुर्मते ।

उसकी उस अस्पष्ट वाणीको सुनकर द्रोणपुत्रने कहा—'रे कुलकलङ्क! अपने आचार्यकी हत्या करनेवाले लोगोंके लिये पुण्यलोक नहीं है; अतः दुर्मते! तू शस्त्रके द्वारा मारे जानेके योग्य नहीं है' ॥ २२½ ॥

एवं ब्रुवाणस्तं वीरं सिंहो मत्तमिव द्विपम् ॥ २३ ॥
मर्मस्वभ्यवधीत् क्रुद्धः पादाष्ठीलैः सुदारुणैः ।

उस वीरसे ऐसा कहते हुए क्रोधी अश्वत्थामाने मतवाले हाथीपर चोट करनेवाले सिंहके समान अपनी अत्यन्त भयंकर एड़ियोंसे उसके मर्मस्थानोंपर प्रहार किया ॥ २३½ ॥

तस्य वीरस्य शब्देन मार्यमाणस्य वेश्मनि ॥ २४ ॥
अबुध्यन्त महाराज स्त्रियो ये चास्य रक्षिणः ।

महाराज! उस समय मारे जाते हुए वीर धृष्टद्युम्नके आर्तनादसे उस शिविरकी स्त्रियाँ तथा सारे रक्षक जाग उठे॥

ते दृष्ट्वा धर्षयन्तं तमतिमानुषविक्रमम् ॥ २५ ॥
भूतमेवाध्यवस्यन्तो न स्म प्रव्याहरन् भयात् ।

उन्होंने उस अलौकिक पराक्रमी पुरुषको धृष्टद्युम्नपर प्रहार करते देख उसे कोई भूत ही समझा; इसीलिये भयके मारे वे कुछ बोल न सके ॥ २५½ ॥

तं तु तेनाभ्युपायेन गमयित्वा यमक्षयम् ॥ २६ ॥
अध्यतिष्ठत तेजस्वी रथं प्राप्य सुदर्शनम् ।
स तस्य भवनाद् राजन् निष्क्रम्यानादयन् दिशः॥२७॥
रथेन शिबिरं प्रायाज्जिघांसुर्द्विषतो बली ।

राजन्! इस उपायसे धृष्टद्युम्नको यमलोक भेजकर तेजस्वी अश्वत्थामा उसके खेमेसे बाहर निकला और सुन्दर दिखायी देनेवाले अपने रथके पास आकर उसपर सवार हो गया। इसके बाद वह बलवान् वीर अन्य शत्रुओंको मार डालनेकी इच्छा रखकर अपनी गर्जनासे सम्पूर्ण दिशाओंको प्रतिध्वनित करता हुआ रथके द्वारा प्रत्येक शिविरपर आक्रमण करने लगा ॥ २६-२७½ ॥

अपक्रान्ते ततस्तस्मिन् द्रोणपुत्रे महारथे ॥ २८ ॥
सहितै रक्षिभिः सर्वैः प्राणेदुर्योषितस्तदा ।

महारथी द्रोणपुत्रके वहाँसे हट जानेपर एकत्र हुए सम्पूर्ण रक्षकोंसहित धृष्टद्युम्नकी रानियाँ फूट-फूटकर रोने लगीं ॥

राजानं निहतं दृष्ट्वा भृशं शोकपरायणाः ॥ २९ ॥
व्याक्रोशन् क्षत्रियाः सर्वे धृष्टद्युम्नस्य भारत ।

भरतनन्दन! अपने राजाको मारा गया देख धृष्टद्युम्नकी सेनाके सारे क्षत्रिय अत्यन्त शोकमें मग्न हो आर्तस्वरसे विलाप करने लगे ॥ २९½ ॥

तासां तु तेन शब्देन समीपे क्षत्रियर्षभाः ॥ ३० ॥
क्षिप्रं च समनह्यन्त किमेतदिति चाब्रुवन् ।

स्त्रियोंके रोनेकी आवाज सुनकर आसपासके सारे क्षत्रिय-शिरोमणि वीर तुरंत कवच बाँधकर तैयार हो गये और बोले—'अरे! यह क्या हुआ?' ॥ ३०½ ॥

स्त्रियस्तु राजन् वित्रस्ता भारद्वाजं निरीक्ष्य ताः॥ ३१ ॥
अब्रुवन् दीनकण्ठेन क्षिप्रमाद्रवतेति वै ।
राक्षसो वा मनुष्यो वा नैनं जानीमहे वयम् ॥ ३२ ॥
हत्वा पाञ्चालराजानं रथमारुह्य तिष्ठति ।

राजन्! वे सारी स्त्रियाँ अश्वत्थामाको देखकर बहुत डर गयी थीं; अतः दीन कण्ठसे बोलीं—'अरे! जल्दी दौड़ो! जल्दी दौड़ो! हमारी समझमें नहीं आता कि यह कोई राक्षस है या मनुष्य। देखो, यह पाञ्चालराजकी हत्या करके रथपर चढ़कर खड़ा है' ॥ ३१-३२½ ॥

ततस्ते योधमुख्याश्च सहसा पर्यवारयन् ॥ ३३ ॥
स तानापततः सर्वान् रुद्रास्त्रेण व्यपोथयत् ।

तब उन श्रेष्ठ योद्धाओंने सहसा पहुँचकर अश्वत्थामाको चारों ओरसे घेर लिया; परंतु अश्वत्थामाने पास आते ही उन सबको रुद्रास्त्रसे मार गिराया ॥ ३३½ ॥

धृष्टद्युम्नं च हत्वा स तांश्चैवास्य पदानुगान् ॥ ३४ ॥
अपश्यच्छयने सुप्तमुत्तमौजसमन्तिके ।

इस प्रकार धृष्टद्युम्न और उसके सेवकोंका वध करके अश्वत्थामाने निकटके ही खेमेमें पलंगपर सोये हुए उत्तमौजाको देखा ॥ ३४½ ॥

तमप्याक्रम्य पादेन कण्ठे चोरसि तेजसा ॥ ३५ ॥
तथैव मारयामास विनर्दन्तमरिंदमम् ।

फिर तो शत्रुदमन उत्तमौजाके भी कण्ठ और छातीको बलपूर्वक पैरसे दबाकर उसने उसी प्रकार पशुकी तरह मार डाला। वह बेचारा भी चीखता-चिल्लाता रह गया था ॥

युधामन्युश्च सम्प्राप्तो मत्वा तं रक्षसा हतम् ॥ ३६ ॥
गदामुद्यम्य वेगेन हृदि द्रौणिमताडयत् ।

उत्तमौजाको राक्षसद्वारा मारा गया समझकर युधामन्यु भी वहाँ आ पहुँचा। उसने बड़े वेगसे गदा उठाकर अश्वत्थामाकी छातीमें प्रहार किया ॥ ३६½ ॥

तमभिद्रुत्य जग्राह क्षितौ चैनमपातयत् ॥ ३७ ॥
विस्फुरन्तं च पशुवत् तथैवैनममारयत् ।

अश्वत्थामाने झपटकर उसे पकड़ लिया और पृथ्वीपर दे मारा। वह उसके चंगुलसे छूटनेके लिये बहुतेरा हाथ-पैर मारता रहा; किंतु अश्वत्थामाने उसे भी पशुकी तरह गला घोंटकर मार डाला ॥ ३७½ ॥

तथा स वीरो हत्वा तं ततोऽन्यान् समुपाद्रवत् ॥३८॥
संसुप्तानेव राजेन्द्र तत्र तत्र महारथान् ।
स्फुरतो वेपमानांश्च शमितेव पशून् मखे ॥ ३९ ॥

राजेन्द्र! इस प्रकार युधामन्युका वध करके वीर अश्वत्थामाने अन्य महारथियोंपर भी वहाँ सोते समय ही आक्रमण किया। वे सब भयसे काँपने और छटपटाने लगे। परंतु जैसे हिंसाप्रधान यज्ञमें वधके लिये नियुक्त हुआ पुरुष पशुओंको मार डालता है, उसी प्रकार उसने भी उन्हें मार डाला ॥ ३८-३९ ॥

ततो निस्त्रिंशमादाय जघानान्यान् पृथक् पृथक् ।
भागशो विचरन् मार्गानसियुद्धविशारदः ॥ ४० ॥

तदनन्तर तलवारसे युद्ध करनेमें कुशल अश्वत्थामाने

हाथमें खड्ग लेकर प्रत्येक भागमें विभिन्न मार्गोंसे विचरते हुए वहाँ बारी-बारीसे अन्य वीरोंका भी वध कर डाला ॥ ४० ॥

तथैव गुल्मे सम्प्रेक्ष्य शयानान् मध्यगौल्मिकान् ।
श्रान्तान् व्यस्तायुधान् सर्वान् क्षणेनैव व्यपोथयत् ॥

इसी प्रकार खेमेमें मध्य श्रेणीके रक्षक सैनिक भी थक-कर सो रहे थे। उनके अस्त्र-शस्त्र अस्त-व्यस्त होकर पड़े थे। उन सबको उस अवस्थामें देखकर अश्वत्थामाने क्षणभरमें मार डाला ॥ ४१ ॥

योधानश्वान् द्विपांश्चैव प्राच्छिनत् स वरासिना ।
रुधिरोक्षितसर्वाङ्गः कालसृष्ट इवान्तकः ॥ ४२॥

उसने अपनी अच्छी तलवारसे योद्धाओं, घोड़ों और हाथियोंके भी टुकड़े-टुकड़े कर डाले। उसके सारे अङ्ग खून-से लथपथ हो रहे थे, वह कालप्रेरित यमराजके समान जान पड़ता था ॥ ४२ ॥

विस्फुरद्भिश्च तैर्द्रौणिर्निस्त्रिंशस्योद्यमेन च ।
आक्षेपणेन चैवासेस्त्रिधा रक्तोक्षितोऽभवत् ॥ ४३ ॥

मारे जानेवाले योद्धाओंका हाथ-पैर हिलाना, उन्हें मारने-के लिये तलवारको उठाना तथा उसके द्वारा सब ओर प्रहार करना—इन तीन कारणोंसे द्रोणपुत्र अश्वत्थामा खूनसे नहा गया था ॥ ४३ ॥

तस्य लोहितरक्तस्य दीप्तखड्गस्य युध्यतः ।
अमानुष इवाकारो बभौ परमभीषणः ॥ ४४ ॥

वह खूनसे रँग गया था। जूझते हुए उस वीरकी तलवार चमक रही थी। उस समय उसका आकार मानवेतर प्राणीके समान अत्यन्त भयंकर प्रतीत होता था ॥ ४४ ॥

ये त्वजाग्रन्त कौरव्य तेऽपि शब्देन मोहिताः ।
निरीक्ष्यमाणा अन्योन्यं दृष्ट्वा दृष्ट्वा प्रविव्यथुः ॥ ४५ ॥

कुरुनन्दन ! जो जाग रहे थे, वे भी उस कोलाहलसे किंकर्तव्यविमूढ हो गये थे। परस्पर देखे जाते हुए वे सभी सैनिक अश्वत्थामाको देख-देखकर व्यथित हो रहे थे ॥

तद् रूपं तस्य ते दृष्ट्वा क्षत्रियाः शत्रुकर्षिणः ।
राक्षसं मन्यमानास्तं नयनानि न्यमीलयन् ॥ ४६ ॥

वे शत्रुसूदन क्षत्रिय अश्वत्थामाका वह रूप देख उसे राक्षस समझकर आँखें मूँद लेते थे ॥ ४६ ॥

स घोररूपो व्यचरत् कालवच्छिबिरे ततः ।
अपश्यद् द्रौपदीपुत्रानवशिष्टांश्च सोमकान् ॥ ४७ ॥

वह भयानक रूपधारी द्रोणकुमार सारे शिविरमें कालके समान विचरने लगा। उसने द्रौपदीके पाँचों पुत्रों और मरनेसे बचे हुए सोमकोंको देखा ॥ ४७ ॥

तेन शब्देन वित्रस्ता धनुर्हस्ता महारथाः ।
धृष्टद्युम्नं हतं श्रुत्वा द्रौपदेया विशाम्पते ॥ ४८ ॥

प्रजानाथ ! धृष्टद्युम्नको मारा गया सुनकर द्रौपदीके पाँचों महारथी पुत्र उस शब्दसे भयभीत हो हाथमें धनुष लिये आगे बढ़े ॥ ४८ ॥

अवाकिरञ्शरव्रातैर्भारद्वाजमभीतवत् ।
ततस्तेन निनादेन सम्प्रबुद्धाः प्रभद्रकाः ॥ ४९ ॥
शिलीमुखैः शिखण्डी च द्रोणपुत्रं समार्दयन् ।

उन्होंने निर्भयसे होकर अश्वत्थामापर बाणसमूहोंकी वर्षा आरम्भ कर दी। तदनन्तर वह कोलाहल सुनकर वीर प्रभद्रकगण जाग उठे। शिखण्डी भी उनके साथ हो लिया। उन सबने द्रोणपुत्रको पीड़ा देना आरम्भ किया ४९½

भारद्वाजः स तान् दृष्ट्वा शरवर्षाणि वर्षतः ॥ ५० ॥
ननाद बलवन्नादं जिघांसुस्तान् महारथान् ।

उन महारथियोंको बाणोंकी वर्षा करते देख अश्वत्थामा उन्हें मार डालनेकी इच्छासे जोर-जोरसे गर्जना करने लगा ॥ ५०½ ॥

ततः परमसंक्रुद्धः पितुर्वधमनुस्मरन् ॥ ५१ ॥
अवरुह्य रथोपस्थात् त्वरमाणोऽभिदुद्रुवे ।
सहस्रचन्द्रविमलं गृहीत्वा चर्म संयुगे ॥ ५२ ॥
खड्गं च विमलं दिव्यं जातरूपपरिष्कृतम् ।

तदनन्तर पिताके वधका स्मरण करके वह अत्यन्त कुपित हो उठा और रथकी बैठकसे उतरकर सहस्रों चन्द्रा-कार चिह्नोंसे युक्त चमकीली ढाल और सुवर्णभूषित दिव्य एवं निर्मल खड्ग लेकर युद्धमें बड़ी उतावलीके साथ उनकी ओर दौड़ा ॥ ५१-५२½ ॥

द्रौपदेयानभिद्रुत्य खड्गेन व्यधमद् बली ॥ ५३ ॥
ततः स नरशार्दूलः प्रतिविन्ध्यं महाहवे ।
कुक्षिदेशेऽवधीद् राजन् स हतो न्यपतद् भुवि ॥ ५४ ॥

उस बलवान् वीरने द्रौपदीके पुत्रोंपर आक्रमण करके उन्हें खड्गसे छिन्न-भिन्न कर दिया। राजन् ! उस समय पुरुषसिंह अश्वत्थामाने उस महासमरमें प्रतिविन्ध्यको उसकी कोखमें तलवार भोंककर मार डाला। वह मरकर पृथ्वीपर गिर पड़ा ॥ ५३-५४ ॥

प्रासेन विद्ध्वा द्रौणिं तु सुतसोमः प्रतापवान् ।
पुनश्चासिं समुद्यम्य द्रोणपुत्रमुपाद्रवत् ॥ ५५ ॥

तत्पश्चात् प्रतापी सुतसोमने द्रोणकुमारको पहले प्राससे घायल करके फिर तलवार उठाकर उसपर धावा किया ॥

सुतसोमस्य सासिं तं बाहुं छित्त्वा नरर्षभ ।
पुनरप्याहनत् पार्श्वे स भिन्नहृदयोऽपतत् ॥ ५६ ॥

नरश्रेष्ठ ! तब अश्वत्थामाने तलवारसहित सुतसोमकी बाँह काटकर पुनः उसकी पसलीमें आघात किया। इससे उसकी छाती फट गयी और वह धराशायी हो गया ॥ ५६ ॥

नाकुलिस्तु शतानीको रथचक्रेण वीर्यवान् ।
दोर्भ्यामुत्क्षिप्य वेगेन वक्षस्येनमताडयत् ॥ ५७ ॥

इसके बाद नकुलके पराक्रमी पुत्र शतानीकने अपनी दोनों भुजाओंसे रथचक्रको उठाकर उसके द्वारा बड़े वेगसे अश्वत्थामाकी छातीपर प्रहार किया ॥ ५७ ॥

अताडयच्छतानीकं मुक्तचक्रं द्विजस्तु सः ।
स विह्वलो ययौ भूमिं ततोऽस्यापाहरच्छिरः ॥ ५८ ॥

शतानीकने जब चक्र चला दिया, तब ब्राह्मण अश्व-

त्थामाने भी उसपर गहरा आघात किया। इससे व्याकुल होकर वह पृथ्वीपर गिर पड़ा। इतनेहीमें अश्वत्थामाने उसका सिर काट लिया ॥ ५८ ॥

श्रुतकर्मा तु परिघं गृहीत्वा समताडयत्।
अभिद्रुत्य ययौ द्रौणिं सव्ये सफलके भृशम् ॥ ५९ ॥

अब श्रुतकर्मा परिघ लेकर अश्वत्थामाकी ओर दौड़ा। उसने उसके ढालयुक्त बायें हाथमें भारी चोट पहुँचायी ॥

स तु तं श्रुतकर्माणमास्ये जघ्ने वरासिना।
स हतो न्यपतद् भूमौ विमूढो विकृताननः ॥ ६० ॥

अश्वत्थामाने अपनी तेज तलवारसे श्रुतकर्माके मुखपर आघात किया। वह चोट खाकर बेहोश हो पृथ्वीपर गिर पड़ा। उस समय उसका मुख विकृत हो गया था ॥ ६० ॥

तेन शब्देन वीरस्तु श्रुतकीर्तिर्महारथः।
अश्वत्थामानमासाद्य शरवर्षैरवाकिरत् ॥ ६१ ॥

वह कोलाहल सुनकर वीर महारथी श्रुतकीर्ति अश्वत्थामाके पास आकर उसके ऊपर बाणोंकी वर्षा करने लगा ॥ ६१ ॥

तस्यापि शरवर्षाणि चर्मणा प्रतिवार्य सः।
सकुण्डलं शिरः कायाद् भ्राजमानमुपाहरत् ॥ ६२ ॥

उसकी बाण-वर्षाको ढालसे रोककर अश्वत्थामाने उसके कुण्डलमण्डित तेजस्वी मस्तकको धड़से अलग कर दिया ६२

ततो भीष्मनिहन्ता तं सह सर्वैः प्रभद्रकैः।
अहनत् सर्वतो वीरं नानाप्रहरणैर्बली ॥ ६३ ॥
शिलीमुखेन चान्येन भ्रुवोर्मध्ये समार्पयत्।

तदनन्तर समस्त प्रभद्रकोंसहित बलवान् भीष्महन्ता शिखण्डी नाना प्रकारके अस्त्रोंद्वारा अश्वत्थामापर सब ओरसे प्रहार करने लगा तथा एक दूसरे बाणसे उसने उसकी दोनों भौंहोंके बीचमें आघात किया ॥ ६३½ ॥

स तु क्रोधसमाविष्टो द्रोणपुत्रो महाबलः ॥ ६४ ॥
शिखण्डिनं समासाद्य द्विधा चिच्छेद सोऽसिना।

तब महाबली द्रोणपुत्रने क्रोधके आवेशमें आकर शिखण्डीके पास जा अपनी तलवारसे उसके दो टुकड़े कर डाले ॥ ६४½ ॥

शिखण्डिनं ततो हत्वा क्रोधाविष्टः परंतपः ॥ ६५ ॥
प्रभद्रकगणान् सर्वानभिदुद्राव वेगवान्।
यच्च शिष्टं विराटस्य बलं तु भृशमाद्रवत् ॥ ६६ ॥

क्रोधसे भरे हुए शत्रुसंतापी अश्वत्थामाने इस प्रकार शिखण्डीका वध करके समस्त प्रभद्रकोंपर बड़े वेगसे धावा किया। साथ ही, राजा विराटकी जो सेना शेष थी, उसपर भी जोरसे चढ़ाई कर दी ॥ ६५-६६ ॥

द्रुपदस्य च पुत्राणां पौत्राणां सुहृदामपि।
चकार कदनं घोरं दृष्ट्वा दृष्ट्वा महाबलः ॥ ६७ ॥

उस महाबली वीरने द्रुपदके पुत्रों, पौत्रों और सुहृदोंको ढूँढ़-ढूँढ़कर उनका घोर संहार मचा दिया ॥ ६७ ॥

अन्यानन्यांश्च पुरुषानभिसृत्याभिसृत्य च।
न्यकृन्तदसिना द्रौणिरसिमार्गविशारदः ॥ ६८ ॥

तलवारके पैंतरोंमें कुशल द्रोणपुत्रने दूसरे-दूसरे पुरुषोंके भी निकट जाकर तलवारसे ही उनके टुकड़े-टुकड़े कर डाले ॥ ६८ ॥

कालीं रक्तास्यनयनां रक्तमाल्यानुलेपनाम्।
रक्ताम्बरधरामेकां पाशहस्तां कुटुम्बिनीम् ॥ ६९ ॥
ददृशुः कालरात्रिं ते गायमानामवस्थिताम्।
नराश्वकुञ्जरान् पाशैर्बद्ध्वा घोरैः प्रतस्थुषीम् ॥ ७० ॥

उस समय पाण्डव-पक्षके योद्धाओंने मूर्तिमती कालरात्रिको देखा, जिसके शरीरका रंग काला था, मुख और नेत्र लाल थे। वह लाल फूलोंकी माला पहने और लाल चन्दन लगाये हुए थी। उसने लाल रंगकी ही साड़ी पहन रक्खी थी। वह अपने ढंगकी अकेली थी और हाथमें पाश लिये हुए थी। उसकी सखियोंका समुदाय भी उसके साथ था। वह गीत गाती हुई खड़ी थी और भयंकर पाशोंद्वारा मनुष्यों, घोड़ों एवं हाथियोंको बाँधकर लिये जाती थी ॥ ६९-७० ॥

वहन्तीं विविधान् प्रेतान् पाशबद्धान् विमूर्धजान्।
तथैव च सदा राजन् न्यस्तशस्त्रान् महारथान् ॥ ७१ ॥
स्वप्ने सुप्तान्नयन्तीं तां रात्रिष्वन्यासु मारिष।
ददृशुर्योधमुख्यास्ते घ्नन्तं द्रौणिं च सर्वदा ॥ ७२ ॥

माननीय नरेश! मुख्य-मुख्य योद्धा अन्य रात्रियोंमें भी सपनेमें उस कालरात्रिको देखते थे। राजन्! वह सदा नाना प्रकारके केशरहित प्रेतोंको अपने पाशोंमें बाँधकर लिये जाती दिखायी देती थी, इसी प्रकार हथियार डालकर सोये हुए महारथियोंको भी लिये जाती हुई स्वप्नमें दृष्टिगोचर होती थी। वे योद्धा सबका संहार करते हुए द्रोणकुमारको भी सदा सपनोंमें देखा करते थे ॥ ७१-७२ ॥

यतः प्रभृति संग्रामः कुरुपाण्डवसेनयोः।
ततः प्रभृति तां कन्यामपश्यन् द्रौणिमेव च ॥ ७३ ॥
तांस्तु दैवहतान् पूर्वं पश्चाद् द्रौणिर्व्यपातयत्।
त्रासयन् सर्वभूतानि विनदन् भैरवान् रवान् ॥ ७४ ॥

जबसे कौरव-पाण्डव सेनाओंका संग्राम आरम्भ हुआ था, तभीसे वे योद्धा कन्यारूपिणी कालरात्रिको और कालरूपधारी अश्वत्थामाको भी देखा करते थे। पहलेसे ही दैवके मारे हुए उन वीरोंका द्रोणपुत्र अश्वत्थामाने पीछे वध किया था। वह अश्वत्थामा भयानक स्वरसे गर्जना करके समस्त प्राणियोंको भयभीत कर रहा था ॥ ७३-७४ ॥

तदनुस्मृत्य ते वीरा दर्शनं पूर्वकालिकम्।
इदं तदित्यमन्यन्त दैवेनोपनिपीडिताः ॥ ७५ ॥

वे दैवपीडित वीरगण पूर्वकालके देखे हुए सपनेको याद करके ऐसा मानने लगे कि 'यह वही स्वप्न इस रूपमें सत्य हो रहा है' ॥ ७५ ॥

ततस्तेन निनादेन प्रत्यबुद्ध्यन्त धन्विनः।
शिबिरे पाण्डवेयानां शतशोऽथ सहस्रशः ॥ ७६ ॥

तदनन्तर अश्वत्थामाके उस सिंहनादसे पाण्डवोंके शिबिरमें सैकड़ों और हजारों धनुर्धर वीर जाग उठे ॥ ७६ ॥

सोऽच्छिनत् कस्यचित् पादौ जघनं चैव कस्यचित्।
कांश्चिद् बिभेद पार्श्वेषु कालसृष्ट इवान्तकः ॥ ७७ ॥

उस समय कालप्रेरित यमराजके समान उसने किसीके पैर काट लिये, किसीकी कमर टूक-टूक कर दी और किन्हींकी पसलियोंमें तलवार भोंककर उन्हें चीर डाला ॥ ७७ ॥

अत्युग्रप्रतिपिष्टैश्च नदद्भिश्च भृशोत्कटैः।
गजाश्वमथितैश्चान्यैर्मही कीर्णाभवत् प्रभो ॥ ७८ ॥

वे सब-के-सब बड़े भयानक रूपसे कुचल दिये गये थे, अतः उन्मत्त-से होकर जोर-जोरसे चीखते और चिल्लाते थे। इसी प्रकार छूटे हुए घोड़ों और हाथियोंने भी अन्य बहुत-से योद्धाओंको कुचल दिया था। प्रभो ! उन सबकी लाशोंसे धरती पट गयी थी ॥ ७८ ॥

क्रोशतां किमिदं कोऽयं कः शब्दः किं नु किं कृतम्।
एवं तेषां तथा द्रौणिरन्तकः समपद्यत ॥ ७९॥

घायल वीर चिल्ला-चिल्लाकर कहते थे कि 'यह क्या है? यह कौन है? यह कैसा कोलाहल हो रहा है? यह क्या कर डाला ?' इस प्रकार चीखते हुए उन सब योद्धाओंके लिये द्रोणकुमार अश्वत्थामा काल बन गया था ॥ ७९ ॥

अपेतशस्त्रसन्नाहान् सन्नद्धान् पाण्डुसृंजयान्।
प्राहिणोन्मृत्युलोकाय द्रौणिः प्रहरतां वरः ॥ ८० ॥

पाण्डवों और सृंजयोंमेंसे जिन्होंने अस्त्र-शस्त्र और कवच उतार दिये थे तथा जिन लोगोंने पुनः कवच बाँध लिये थे, उन सबको प्रहार करनेवाले योद्धाओंमें श्रेष्ठ द्रोणपुत्रने मृत्युके लोकमें भेज दिया ॥ ८० ॥

ततस्तच्छब्दवित्रस्ता उत्पतन्तो भयातुराः।
निद्रान्धा नष्टसंज्ञाश्च तत्र तत्र निलिल्यिरे ॥ ८१ ॥

जो लोग नींदके कारण अंधे और अचेत-से हो रहे थे, वे उसके शब्दसे चौंककर उछल पड़े; किंतु पुनः भयसे व्याकुल हो जहाँ-तहाँ छिप गये ॥ ८१ ॥

ऊरुस्तम्भगृहीताश्च कश्मलाभिहतौजसः।
विनदन्तो भृशं त्रस्ताः समासीदन् परस्परम् ॥ ८२ ॥

उनकी जाँघें अकड़ गयी थीं। मोहवश उनका बल और उत्साह मारा गया था। वे भयभीत हो जोर-जोरसे चीखते हुए एक दूसरेसे लिपट जाते थे ॥ ८२ ॥

ततो रथं पुनर्द्रौणिरास्थितो भीमनिःस्वनम्।
धनुष्पाणिः शरैरन्यान् प्रैषयद् वै यमक्षयम् ॥ ८३ ॥

इसके बाद द्रोणकुमार अश्वत्थामा पुनः भयानक शब्द करनेवाले अपने रथपर सवार हुआ और हाथमें धनुष ले बाणोंद्वारा दूसरे योद्धाओंको यमलोक भेजने लगा ॥ ८३ ॥

पुनरुत्पततश्चापि दूरादपि नरोत्तमान्।
शूरान् सम्पततश्चान्यान् कालरात्र्यै न्यवेदयत् ॥ ८४॥

अश्वत्थामा पुनः उछलने और अपने ऊपर आक्रमण करनेवाले दूसरे-दूसरे नरश्रेष्ठ शूरवीरोंको दूरसे भी मारकर कालरात्रिके हवाले कर देता था ॥ ८४ ॥

तथैव स्यन्दनाग्रेण प्रमथन् स विधावति।
शरवर्षैश्च विविधैरवर्षच्छात्रवांस्ततः ॥ ८५ ॥

वह अपने रथके अग्रभागसे शत्रुओंको कुचलता हुआ सब ओर दौड़ लगाता और नाना प्रकारके बाणोंकी वर्षासे शत्रुसैनिकोंको घायल करता था ॥ ८५ ॥

पुनश्च सुविचित्रेण शतचन्द्रेण चर्मणा।
तेन चाकाशवर्णेन तथाचरत सोऽसिना ॥ ८६ ॥

फिर वह सौ चन्द्राकार चिह्नोंसे युक्त विचित्र ढाल और आकाशके रंगवाली चमचमाती तलवार लेकर सब ओर विचरने लगा ॥ ८६ ॥

तथा च शिबिरं तेषां द्रौणिराहवदुर्मदः।
व्यक्षोभयत राजेन्द्र महाह्रदमिव द्विपः ॥ ८७ ॥

राजेन्द्र ! रणदुर्मद द्रोणकुमारने उन शत्रुओंके शिबिरको उसी प्रकार मथ डाला, जैसे कोई गजराज किसी विशाल सरोवरको विक्षुब्ध कर डालता है ॥ ८७ ॥

उत्पेतुस्तेन शब्देन योधा राजन् विचेतसः।
निद्रार्ताश्च भयार्ताश्च व्यधावन्त ततस्ततः ॥ ८८ ॥

राजन् ! उस मार-काटके कोलाहलसे निद्रामें अचेत पड़े हुए योद्धा चौंककर उछल पड़ते और भयसे व्याकुल हो इधर-उधर भागने लगते थे ॥ ८८ ॥

विस्वरं चुक्रुशुश्चान्ये बह्वबद्धं तथा वदन्।
न च स्म प्रत्यपद्यन्त शस्त्राणि वसनानि च ॥ ८९ ॥

कितने ही योद्धा गला फाड़-फाड़कर चिल्लाते और बहुत-सी उटपटाँग बातें बकने लगते थे। वे अपने अस्त्र-शस्त्र तथा वस्त्रोंको भी नहीं ढूँढ़ पाते थे ॥ ८९ ॥

विमुक्तकेशाश्चाप्यन्ये नाभ्यजानन् परस्परम्।
उत्पतन्तोऽपतञ्श्रान्ताः केचित् तत्राभ्रमंस्तदा ॥ ९० ॥

दूसरे बहुत-से योद्धा बाल बिखेरे हुए भागते थे। उस दशामें वे एक दूसरेको पहचान नहीं पाते थे। कोई उछलते हुए भागते और थककर गिर जाते थे तथा कोई उसी स्थानपर चक्कर काटते रहते थे ॥ ९० ॥

पुरीषमसृजन् केचित् केचिन्मूत्रं प्रसुस्रुवुः।
बन्धनानि च राजेन्द्र संछिद्य तुरगा द्विपाः ॥ ९१ ॥
समं पर्यपतंश्चान्ये कुर्वन्तो महदाकुलम्।

कितने ही मलत्याग करने लगे। कितनोंके पेशाब झड़ने लगे। राजेन्द्र ! दूसरे बहुत से घोड़े और हाथी बन्धन तोड़कर एक साथ ही सब ओर दौड़ने और लोगोंको अत्यन्त व्याकुल करने लगे ॥ ९१½ ॥

तत्र केचिन्नरा भीता व्यलीयन्त महीतले ॥ ९२ ॥
तथैव तान् निपतितानपिंषन् गजवाजिनः।

कितने ही योद्धा भयभीत हो पृथ्वीपर छिपे पड़े थे। उन्हें उसी अवस्थामें भागते हुए घोड़ों और हाथियोंने अपने पैरोंसे कुचल दिया ॥ ९२½ ॥

तस्मिंस्तथा वर्तमाने रक्षांसि पुरुषर्षभ ॥ ९३ ॥
हृष्टानि व्यनदन्नुच्चैर्मुदा भरतसत्तम।

पुरुषप्रवर ! भरतश्रेष्ठ ! इस प्रकार जब वह मारकाट

गयी हुई थी, उस समय हर्षसे भरे हुए राक्षस बड़े जोर-जोरसे गर्जना करते थे ॥ ९३½ ॥

स शब्दः पूरितो राजन् भूतसंघैर्मुदायुतैः ॥ ९४ ॥
अपूरयद् दिशः सर्वा दिवं चातिमहान् स्वनः ।

राजन् ! आनन्दमग्न हुए भूतसमुदायोंके द्वारा किया हुआ वह महान् कोलाहल सम्पूर्ण दिशाओं तथा आकाशमें गूँज उठा ॥ ९४½ ॥

तेषामार्तरवं श्रुत्वा वित्रस्ता गजवाजिनः ॥ ९५ ॥
मुक्ताः पर्यपतन् राजन् मृद्नन्तः शिविरे जनम् ।

राजन् ! मारे जानेवाले योद्धाओंका आर्तनाद सुनकर हाथी और घोड़े भयसे थर्रा उठे और बन्धनमुक्त हो शिविरमें रहनेवाले लोगोंको रौंदते हुए चारों ओर दौड़ लगाने लगे ॥ ९५½ ॥

तैस्तत्र परिधावद्भिश्चरणोदीरितं रजः ॥ ९६ ॥
अकरोच्छिबिरे तेषां रजन्यां द्विगुणं तमः ।

उन दौड़ते हुए घोड़ों और हाथियोंने अपने पैरोंसे जो धूल उड़ायी थी, उसने पाण्डवोंके शिविरमें रात्रिके अन्धकारको दुगुना कर दिया ॥ ९६½ ॥

तस्मिंस्तमसि संजाते प्रमूढाः सर्वतो जनाः ॥ ९७ ॥
नाजानन् पितरः पुत्रान् भ्रातॄन् भ्रातर एव च ।

वह घोर अन्धकार फैल जानेपर वहाँ सब लोगोंपर मोह छा गया । उस समय पिता पुत्रोंको और भाई भाइयोंको नहीं पहचान पाते थे ॥ ९७½ ॥

गजा गजानतिक्रम्य निर्मनुष्या हया हयान् ॥ ९८ ॥
अताडयंस्तथाभञ्जंस्तथामृद्नंश्च भारत ।

भारत ! हाथी हाथियोंपर और बिना सवारके घोड़े घोड़ोंपर आक्रमण करके एक दूसरेपर चोट करने लगे । उन्होंने अङ्ग-भंग करके एक दूसरेको रौंद डाला ॥ ९८½ ॥

ते भग्नाः प्रपतन्ति स्म निघ्नन्तश्च परस्परम् ॥ ९९ ॥
न्यपातयंस्तथा चान्यान् पातयित्वा तदापिषन् ।

परस्पर आघात करते हुए वे हाथी, घोड़े स्वयं भी घायल होकर गिर जाते थे तथा दूसरोंको भी गिरा देते और गिराकर उनका कचूमर निकाल देते थे ॥ ९९½ ॥

विचेतसः सनिद्राश्च तमसा चावृता नराः ॥ १०० ॥
जघ्नुः स्वानेव तत्राथ कालेनैव प्रचोदिताः ।

कितने ही मनुष्य निद्रामें अचेत पड़े थे और घोर अन्धकारसे घिर गये थे । वे सहसा उठकर कालसे प्रेरित हो आत्मीय जनोंका ही वध करने लगे ॥ १००½ ॥

त्यक्त्वा द्वाराणि च द्वाःस्थास्तथा गुल्मानि गौल्मिकाः ॥
प्राद्रवन्त यथाशक्ति कांदिशीका विचेतसः ।

द्वारपाल दरवाजोंको और तम्बूकी रक्षा करनेवाले सैनिक तम्बुओंको छोड़कर यथाशक्ति भागने लगे । वे सब-के-सब अपनी सुध-बुध खो बैठे थे और यह भी नहीं जानते थे कि 'उन्हें किस दिशामें भागकर जाना है' ॥ १०१½ ॥

विप्रणष्टाश्च तेऽन्योन्यं नाजानन्त तथा विभो ॥ १०२ ॥
क्रोशन्तस्तात पुत्रेति दैवोपहतचेतसः ।

प्रभो ! वे भागे हुए सैनिक एक दूसरेको पहचान नहीं पाते थे । दैववश उनकी बुद्धि मारी गयी थी । वे 'हा तात ! हा पुत्र !' कहकर अपने स्वजनोंको पुकार रहे थे ॥ १०२½ ॥

पलायतां दिशस्तेषां स्वानप्युत्सृज्य बान्धवान् ॥ १०३ ॥
गोत्रनामभिरन्योन्यमाक्रन्दन्त ततो जनाः ।
हाहाकारं च कुर्वाणाः पृथिव्यां शेरते परे ॥ १०४ ॥

अपने सगे-सम्बन्धियोंको भी छोड़कर सम्पूर्ण दिशाओंमें भागते हुए योद्धाओंके नाम और गोत्रको पुकार-पुकारकर लोग परस्पर बुला रहे थे । कितने ही मनुष्य हाहाकार करते हुए धरतीपर पड़ गये थे ॥ १०३-१०४ ॥

तान् बुद्ध्वा रणमत्तोऽसौ द्रोणपुत्रो व्यपोथयत् ।
तत्रापरे वध्यमाना मुहुर्मुहुरचेतसः ॥ १०५ ॥
शिबिरान्निष्पतन्ति स्म क्षत्रिया भयपीडिताः ।

युद्धके लिये उन्मत्त हुआ द्रोणपुत्र अश्वत्थामा उन सबको पहचान-पहचानकर मार गिराता था । बारंबार उसकी मार खाते हुए दूसरे बहुत-से क्षत्रिय भयसे पीड़ित और अचेत हो शिविरसे बाहर निकलने लगे ॥ १०५½ ॥

तांस्तु निष्पतितांस्त्रस्तान् शिबिराज्जीवितैषिणः ॥ १०६ ॥
कृतवर्मा कृपश्चैव द्वारदेशे निजघ्नतुः ।

प्राण बचानेकी इच्छासे भयभीत हो शिविरसे निकले हुए उन क्षत्रियोंको कृतवर्मा और कृपाचार्यने दरवाजेपर ही मार डाला ॥ १०६½ ॥

विस्रस्तयन्त्रकवचान् मुक्तकेशान् कृताञ्जलीन् ॥ १०७ ॥
वेपमानान् क्षितौ भीतान् नैव कांश्चिदमुञ्चताम् ।
नामुच्यत तयोः कश्चिन्निष्क्रान्तः शिबिराद् बहिः ॥

उनके यन्त्र और कवच गिर गये थे । वे बाल खोले, हाथ जोड़े, भयभीत हो थरथर काँपते हुए पृथ्वीपर खड़े थे, किंतु उन दोनोंने उनमेंसे किसीको भी जीवित नहीं छोड़ा । शिविरसे निकला हुआ कोई भी क्षत्रिय उन दोनोंके हाथसे जीवित नहीं छूट सका ॥ १०७-१०८ ॥

कृपश्चैव महाराज हार्दिक्यश्चैव दुर्मतिः ।
भूयश्चैव चिकीर्षन्तौ द्रोणपुत्रस्य तौ प्रियम् ॥ १०९ ॥
त्रिषु देशेषु ददतुः शिबिरस्य हुताशनम् ।

महाराज ! कृपाचार्य तथा दुर्बुद्धि कृतवर्मा दोनों ही द्रोणपुत्र अश्वत्थामाका अधिक-से-अधिक प्रिय करना चाहते थे; अतः उन्होंने उस शिविरमें तीन ओरसे आग लगा दी ॥ १०९½ ॥

ततः प्रकाशे शिबिरे खड्गेन पितृनन्दनः ॥ ११० ॥
अश्वत्थामा महाराज व्यचरत् कृतहस्तवत् ।

महाराज ! उससे सारे शिविरमें उजाला हो गया और उस उजालेमें पिताको आनन्दित करनेवाला अश्वत्थामा हाथमें खड्ग लिये एक सिद्धहस्त योद्धाकी भाँति बेखटके विचरने लगा ॥ ११०½ ॥

कांश्चिदापततो वीरानपरांश्चैव धावतः ॥ १११ ॥

व्ययोजयत खड्गेन प्राणैर्द्विजवरोत्तमः ।

उस समय कुछ वीर क्षत्रिय आक्रमण कर रहे थे और दूसरे पीठ दिखाकर भागे जा रहे थे । ब्राह्मणशिरोमणि अश्वत्थामाने उन दोनों ही प्रकारके योद्धाओंको तलवारसे मारकर प्राणहीन कर दिया ॥ १११½ ॥

कांश्चिद् योधान् स खड्गेन मध्ये संछिद्य वीर्यवान् ॥११२॥
अपातयद् द्रोणपुत्रः संरब्धस्तिलकाण्डवत् ।

क्रोधसे भरे हुए शक्तिशाली द्रोणपुत्रने कुछ योद्धाओंको तिलके डंठलोंकी भाँति बीचसे ही तलवारसे काट गिराया ॥

निनदद्भिर्भृशायस्तैर्नराश्वद्विरदोत्तमैः ॥११३॥
पतितैरभवत् कीर्णा मेदिनी भरतर्षभ ।

भरतश्रेष्ठ ! अत्यन्त घायल हो पृथ्वीपर गिरकर चिल्लाते हुए मनुष्यों, घोड़ों और बड़े-बड़े हाथियोंसे वहाँकी भूमि ढँक गयी थी ॥ ११३½ ॥

मानुषाणां सहस्रेषु हतेषु पतितेषु च ॥११४॥
उदतिष्ठन् कबन्धानि बहून्युत्थाय चापतन् ।

सहस्रों मनुष्य मारे जाकर पृथ्वीपर पड़े थे । उनमेंसे बहुतेरे कबन्ध (धड़) उठकर खड़े हो जाते और पुनः गिर पड़ते थे ॥ ११४½ ॥

सायुधान् साङ्गदान् बाहून् विचकर्त शिरांसि च॥११५॥
हस्तिहस्तोपमानूरून् हस्तान् पादांश्च भारत ।

भारत ! उसने आयुधों और भुजबंदोंसहित बहुत-सी भुजाओं तथा मस्तकोंको काट डाला । हाथीकी सूँडके समान दिखायी देनेवाली जाँघों, हाथों और पैरोंके भी टुकड़े-टुकड़े कर डाले ॥ ११५½ ॥

पृष्ठच्छिन्नान् पार्श्वच्छिन्नाञ्शिरश्छिन्नांस्तथा परान्॥११६॥
स महात्माकरोद् द्रौणिः कांश्चिच्चापि पराङ्मुखान् ।

महामनस्वी द्रोणकुमारने किन्हींकी पीठ काट डाली, किन्हीं-की पसलियाँ उड़ा दीं, किन्हींके सिर उतार लिये तथा कितनोंको उसने मार भगाया ॥ ११६½ ॥

मध्यदेशे नरानन्यांश्चिच्छेदान्यांश्च कर्णतः ॥११७॥
अंसदेशे निहत्यान्यान् काये प्रावेशयच्छिरः ।

बहुत-से मनुष्योंको अश्वत्थामाने कटिभागसे ही काट डाला और कितनोंको कर्णहीन कर दिया । दूसरे-दूसरे योद्धाओंके कंधेपर चोट करके उनके सिरको धड़में घुसेड़ दिया ॥ ११७½ ॥

एवं विचरतस्तस्य निघ्नतः सुबहून् नरान् ॥११८॥
तमसा रजनी घोरा बभौ दारुणदर्शना ।

इस प्रकार अनेकों मनुष्योंका संहार करता हुआ वह शिविरमें विचरण करने लगा । उस समय दारुण दिखायी देनेवाली वह रात्रि अन्धकारके कारण और भी घोर तथा भयानक प्रतीत होती थी ॥ ११८½ ॥

किंचित्प्राणैश्च पुरुषैर्हतैश्चान्यैः सहस्रशः ॥११९॥
बहुना च गजाश्वेन भूरभूद् भीमदर्शना ।

मरे और अधमरे सहस्रों मनुष्यों और बहुसंख्यक हाथी-घोड़ोंसे पटी हुई भूमि बड़ी डरावनी दिखायी देती थी ॥

यक्षरक्षःसमाकीर्णे रथाश्वद्विपदारुणे ॥१२०॥
क्रुद्धेन द्रोणपुत्रेण संछिन्नाः प्रापतन् भुवि ।

यक्षों तथा राक्षसोंसे भरे हुए एवं रथों, घोड़ों और हाथियोंसे भयंकर दिखायी देनेवाले रणक्षेत्रमें कुपित हुए द्रोणपुत्रके हाथोंसे कटकर कितने ही क्षत्रिय पृथ्वीपर पड़े थे॥

भ्रातॄनन्ये पितॄनन्ये पुत्रानन्ये विचुक्रुशुः ॥१२१॥
केचिदूचुर्न तत् क्रुद्धैर्धार्तराष्ट्रैः कृतं रणे ।
यत् कृतं नः प्रसुप्तानां रक्षोभिः क्रूरकर्मभिः ॥१२२॥

कुछ लोग भाइयोंको, कुछ पिताओंको और दूसरे लोग पुत्रोंको पुकार रहे थे । कुछ लोग कहने लगे—'भाइयो ! रोषमें भरे हुए धृतराष्ट्रके पुत्रोंने भी रणभूमिमें हमारी वैसी दुर्गति नहीं की थी, जो आज इन क्रूरकर्मा राक्षसोंने हम सोये हुए लोगोंकी कर डाली है ॥ १२१-१२२ ॥

असांनिध्याद्धि पार्थानामिदं नः कदनं कृतम् ।
न चासुरैर्न गन्धर्वैर्न च यक्षैर्न च राक्षसैः ॥१२३॥
शक्यो विजेतुं कौन्तेयो गोप्ता यस्य जनार्दनः ।
ब्रह्मण्यः सत्यवाग् दान्तः सर्वभूतानुकम्पकः ॥१२४॥

'आज कुन्तीके पुत्र हमारे पास नहीं हैं, इसीलिये हम-लोगोंका यह संहार किया गया है । कुन्तीपुत्र अर्जुनको तो असुर, गन्धर्व, यक्ष तथा राक्षस कोई भी नहीं जीत सकते; क्योंकि साक्षात् श्रीकृष्ण उनके रक्षक हैं । वे ब्राह्मणभक्त, सत्यवादी, जितेन्द्रिय तथा सम्पूर्ण भूतोंपर दया करनेवाले हैं ॥

न च सुप्तं प्रमत्तं वा न्यस्तशस्त्रं कृताञ्जलिम् ।
धावन्तं मुक्तकेशं वा हन्ति पार्थो धनंजयः ॥१२५॥

'कुन्तीनन्दन अर्जुन सोये हुए, असावधान, शस्त्रहीन, हाथ जोड़े हुए, भागते हुए अथवा बाल खोलकर दीनता दिखाते हुए मनुष्यको कभी नहीं मारते हैं ॥ १२५ ॥

तदिदं नः कृतं घोरं रक्षोभिः क्रूरकर्मभिः ।
इति लालप्यमानाः स्म शेरते बहवो जनाः ॥१२६॥

'आज क्रूरकर्मा राक्षसोंद्वारा हमारी यह भयंकर दुर्दशा की गयी है ।' इस प्रकार विलाप करते हुए बहुत-से मनुष्य रणभूमिमें सो रहे थे ॥ १२६ ॥

स्तनतां च मनुष्याणामपरेषां च कूजताम् ।
ततो मुहूर्तात् प्राशाम्यत् स शब्दस्तुमुलो महान्॥१२७॥

तदनन्तर दो ही घड़ीमें कराहते और विलाप करते हुए मनुष्योंका वह भयंकर कोलाहल शान्त हो गया ॥ १२७ ॥

शोणितव्यतिषिक्तायां वसुधायां च भूमिप ।
तद्रजस्तुमुलं घोरं क्षणेनान्तरधीयत ॥१२८॥

राजन् ! खूनसे भीगी हुई पृथ्वीपर गिरकर वह भयानक धूल क्षणभरमें अदृश्य हो गयी ॥ १२८ ॥

स चेष्टमानानुद्विग्नान् निरुत्साहान् सहस्रशः ।

न्यपातयन्नरान् क्रुद्धः पशून् पशुपतिर्यथा ॥१२९॥

जैसे प्रलयके समय क्रोधमें भरे हुए पशुपति रुद्र समस्त पशुओं (प्राणियों) का संहार कर डालते हैं, उसी प्रकार कुपित हुए अश्वत्थामाने ऐसे सहस्रों मनुष्योंको भी मार डाला, जो किसी प्रकार प्राण बचानेके प्रयत्नमें लगे हुए थे, एक-दम घबराये हुए थे और सारा उत्साह खो बैठे थे ॥१२९॥

अन्योन्यं सम्परिष्वज्य शयानान् द्रवतोऽपरान् ।
संलीनान् युद्ध्यमानांश्च सर्वान् द्रौणिरपोथयत् ॥१३०॥

कुछ लोग एक दूसरेसे लिपटकर सो रहे थे, दूसरे भाग रहे थे, तीसरे छिप गये थे और चौथी श्रेणीके लोग जूझ रहे थे, उन सबको द्रोणकुमारने वहाँ मार गिराया ॥

दह्यमाना हुताशेन वध्यमानाश्च तेन ते ।
परस्परं तदा योधा अनयन् यमसादनम् ॥१३१॥

एक ओर लोग आगसे जल रहे थे और दूसरी ओर अश्वत्थामाके हाथसे मारे जाते थे, ऐसी दशामें वे सब योद्धा स्वयं ही एक दूसरेको यमलोक भेजने लगे ॥ १३१ ॥

तस्या रजन्यास्त्वर्धेन पाण्डवानां महद् बलम् ।
गमयामास राजेन्द्र द्रौणिर्यमनिवेशनम् ॥१३२॥

राजेन्द्र ! उस रातका आधा भाग बीतते-बीतते द्रोणपुत्र अश्वत्थामाने पाण्डवोंकी उस विशाल सेनाको यमराजके घर भेज दिया ॥ १३२ ॥

निशाचराणां सत्त्वानां रात्रिः सा हर्षवर्धिनी ।
आसीन्नरगजाश्वानां रौद्री क्षयकरी भृशम् ॥१३३॥

वह भयानक रात्रि निशाचर प्राणियोंका हर्ष बढ़ानेवाली थी और मनुष्यों, घोड़ों तथा हाथियोंके लिये अत्यन्त विनाशकारिणी सिद्ध हुई ॥ १३३ ॥

तत्रादृश्यन्त रक्षांसि पिशाचाश्च पृथग्विधाः ।
खादन्तो नरमांसानि पिबन्तः शोणितानि च ॥१३४॥

वहाँ नाना प्रकारकी आकृतिवाले बहुत-से राक्षस और पिशाच मनुष्योंके मांस खाते और खून पीते दिखायी देते थे॥

करालाः पिङ्गलाश्चैव शैलदन्ता रजस्वलाः ।
जटिला दीर्घशङ्खाश्च पञ्चपादा महोदराः ॥१३५॥

वे बड़े ही विकराल और पिङ्गल वर्णके थे । उनके दाँत पहाड़ों-जैसे जान पड़ते थे । वे सारे अङ्गोंमें धूल लपेटे और सिरपर जटा रखाये हुए थे । उनके माथेकी हड्डी बहुत बड़ी थी । उनके पाँच-पाँच पैर और बड़े-बड़े पेट थे ॥ १३५ ॥

पश्चादङ्गुलयो रूक्षा विरूपा भैरवस्वनाः ।
घण्टाजालावसक्ताश्च नीलकण्ठा विभीषणाः ॥१३६॥
सपुत्रदाराः सक्रूराः सुदुर्दर्शाः सुनिर्घृणाः ।
विविधानि च रूपाणि तत्रादृश्यन्त रक्षसाम् ॥१३७॥

उनकी अङ्गुलियाँ पीछेकी ओर थीं । वे रूखे, कुरूप और भयंकर गर्जना करनेवाले थे । बहुतोंने घंटोंकी मालाएँ पहन रक्खी थीं । उनके गलेमें नील चिह्न था । वे बड़े भयानक दिखायी देते थे । उनके स्त्री और पुत्र भी साथ ही थे । वे अत्यन्त क्रूर और निर्दय थे । उनकी ओर देखना भी बहुत कठिन था । वहाँ उन राक्षसोंके भाँति-भाँतिके रूप दृष्टिगोचर हो रहे थे ॥ १३६-१३७ ॥

पीत्वा च शोणितं हृष्टाः प्रानृत्यन् गणशोऽपरे ।
इदं परमिदं मेध्यमिदं स्वाद्विति चाब्रुवन् ॥१३८॥

कोई रक्त पीकर हर्षसे खिल उठे थे । दूसरे अलग-अलग झुंड बनाकर नाच रहे थे । वे आपसमें कहते थे—'यह उत्तम है, यह पवित्र है और यह बहुत स्वादिष्ठ है' ॥

मेदोमज्जास्थिरक्तानां वसानां च भृशाशिताः ।
परमांसानि खादन्तः क्रव्यादा मांसजीविनः ॥१३९॥

मेदा, मज्जा, हड्डी, रक्त और चर्वीका विशेष आहार करनेवाले मांसजीवी राक्षस एवं हिंसक जन्तु दूसरोंके मांस खा रहे थे ॥ १३९ ॥

वसाश्चैवापरे पीत्वा पर्यधावन् विकुक्षिकाः ।
नानावक्त्रास्तथा रौद्राः क्रव्यादाः पिशिताशनाः ॥१४०॥

दूसरे कुक्षिरहित राक्षस चर्बियोंका पान करके चारों ओर दौड़ लगा रहे थे । कच्चा मांस खानेवाले उन भयंकर राक्षसोंके अनेक मुख थे ॥ १४० ॥

अयुतानि च तत्रासन् प्रयुतान्यर्बुदानि च ।
रक्षसां घोररूपाणां महतां क्रूरकर्मणाम् ॥१४१॥
मुदितानां वितृप्तानां तस्मिन् महति वैशसे ।
समेतानि बहून्यासन् भूतानि च जनाधिप ॥१४२॥

वहाँ उस महान् जनसंहारमें तृप्त और आनन्दित हुए क्रूर कर्म करनेवाले घोर रूपधारी महाकाय राक्षसोंके कई दल थे । किसी दलमें दस हजार, किसीमें एक लाख और किसीमें एक अर्बुद (दस लाख) राक्षस थे । नरेश्वर ! वहाँ और भी बहुत-से मांसभक्षी प्राणी एकत्र हो गये थे ॥

प्रत्यूषकाले शिविरात् प्रतिगन्तुमियेष सः ।
नृशोणितावसिक्तस्य द्रौणेरासीदसित्सरुः ॥१४३॥
पाणिना सह संश्लिष्ट एकीभूत इव प्रभो ।

प्रातःकाल पौ फटते ही अश्वत्थामाने शिविरसे बाहर निकल जानेका विचार किया । प्रभो ! उस समय नररक्तसे नहाये हुए अश्वत्थामाके हाथसे सटकर उसकी तलवारकी मूँठ ऐसी जान पड़ती थी, मानो वह उससे अभिन्न हो ॥

दुर्गमां पदवीं गत्वा विरराज जनक्षये ॥१४४॥
युगान्ते सर्वभूतानि भस्म कृत्वेव पावकः ।

जैसे प्रलयकालमें आग सम्पूर्ण प्राणियोंको भस्म करके प्रकाशित होती है, उसी प्रकार वह नरसंहार हो जानेपर अपने दुर्गम लक्ष्यतक पहुँचकर अश्वत्थामा अधिक शोभा पाने लगा ॥ १४४½ ॥

यथाप्रतिज्ञं तत् कर्म कृत्वा द्रौणायनिः प्रभो ॥१४५॥
दुर्गमां पदवीं गच्छन् पितुरासीद् गतज्वरः ।

नरेश्वर ! अपने पिताके दुर्गम पथपर चलता हुआ द्रोण-कुमार अपनी प्रतिज्ञाके अनुसार सारा कार्य पूर्ण करके शोक और चिन्तासे रहित हो गया ॥ १४५½ ॥

यथैव संसुप्तजने शिविरे प्राविशन्निशि ॥१४६॥

तथैव हत्वा निःशब्दे निश्चक्राम नरर्षभः ।

जिस प्रकार रातके समय सबके सो जानेपर शान्त शिविरमें उसने प्रवेश किया था, उसी प्रकार वह नरश्रेष्ठ वीर सबको मारकर कोलाहलशून्य हुए शिविरसे बाहर निकला ॥

निष्क्रम्य शिविरात् तस्मात् ताभ्यां संगम्य वीर्यवान् ॥
आचख्यौ कर्म तत् सर्वं हृष्टः संहर्षयन् विभो ।

प्रभो ! उस शिविरसे निकलकर शक्तिशाली अश्वत्थामा उन दोनोंसे मिला और स्वयं हर्षमग्न हो उन दोनोंका हर्ष बढ़ाते हुए उसने अपना किया हुआ सारा कर्म उनसे कह सुनाया ॥ १४७½ ॥

तावथाचख्यतुस्तस्मै प्रियं प्रियकरौ तदा ॥१४८॥
पञ्चालान् सृञ्जयांश्चैव विनिकृत्तान् सहस्रशः ।

अश्वत्थामाका प्रिय करनेवाले उन दोनों वीरोंने भी उस समय उससे यह प्रिय समाचार निवेदन किया कि हम दोनोंने भी सहस्रों पाञ्चालों और सृंजयोंके टुकड़े-टुकड़े कर डाले हैं ॥

प्रीत्या चोच्चैरुदक्रोशंस्तथैवास्फोटयंस्तलान् ॥१४९॥
एवंविधा हि सा रात्रिः सोमकानां जनक्षये ।
प्रसुप्तानां प्रमत्तानामासीत् सुभृशदारुणा ॥१५०॥

फिर तो वे तीनों प्रसन्नताके मारे उच्चस्वरसे गर्जने और ताल ठोकने लगे । इस प्रकार वह रात्रि उस जन-संहारकी वेलामें असावधान होकर सोये हुए सोमकोंके लिये अत्यन्त भयंकर सिद्ध हुई ॥ १४९-१५० ॥

असंशयं हि कालस्य पर्यायो दुरतिक्रमः ।
तादृशा निहता यत्र कृत्वास्माकं जनक्षयम् ॥१५१॥

राजन् ! इसमें संशय नहीं कि कालकी गतिका उल्लङ्घन करना अत्यन्त कठिन है । जहाँ हमारे पक्षके लोगोंका संहार करके विजयको प्राप्त हुए वैसे-वैसे वीर मार डाले गये ॥

धृतराष्ट्र उवाच

प्रागेव सुमहत् कर्म द्रौणिरेतन्महारथः ।
नाकरोदीदृशं कस्मान्मत्पुत्रविजये धृतः ॥१५२॥

राजा धृतराष्ट्रने पूछा—संजय ! अश्वत्थामा तो मेरे पुत्रको विजय दिलानेका दृढ़ निश्चय कर चुका था । फिर उस महारथी वीरने पहले ही ऐसा महान् पराक्रम क्यों नहीं किया?॥

अथ कस्माद्धते क्षुद्रं कर्मेदं कृतवानसौ ।
द्रोणपुत्रो महात्मा स तन्मे शंसितुमर्हसि ॥१५३॥

जब दुर्योधन मार डाला गया, तब उस महामनस्वी द्रोणपुत्रने ऐसा नीच कर्म क्यों किया ? यह सब मुझे बताओ॥

संजय उवाच

तेषां नूनं भयान्नासौ कृतवान् कुरुनन्दन ।
असांनिध्याद्धि पार्थानां केशवस्य च धीमतः ॥१५४॥
सात्यकेश्चापि कर्मेदं द्रोणपुत्रेण साधितम् ।

संजयने कहा—कुरुनन्दन ! अश्वत्थामाको पाण्डव, श्रीकृष्ण और सात्यकिसे सदा भय बना रहता था; इसीलिये पहले उसने ऐसा नहीं किया । इस समय कुन्तीके पुत्र, बुद्धिमान् श्रीकृष्ण तथा सात्यकिके दूर चले जानेसे अश्वत्थामाने अपना यह कार्य सिद्ध कर लिया ॥ १५४½ ॥

को हि तेषां समक्षं तान् हन्यादपि मरुत्पतिः ॥१५५॥
एतदीदृशकं वृत्तं राजन् सुप्तजने विभो ।

उन पाण्डव आदिके समक्ष कौन उन्हें मार सकता था? साक्षात् देवराज इन्द्र भी उस दशामें उनका कुछ नहीं बिगाड़ सकते थे । प्रभो ! नरेश्वर ! उस रात्रिमें सब लोगोंके सो जानेपर यह इस प्रकारकी घटना घटित हुई ॥ १५५½ ॥

ततो जनक्षयं कृत्वा पाण्डवानां महात्ययम् ॥१५६॥
दिष्ट्या दिष्ट्येव चान्योन्यं समेत्योचुर्महारथाः ।

उस समय पाण्डवोंके लिये महान् विनाशकारी जनसंहार करके वे तीनों महारथी जब परस्पर मिले, तब आपसमें कहने लगे—'बड़े सौभाग्यसे यह कार्य सिद्ध हुआ है' ॥

पर्यष्वजत् ततो द्रौणिस्ताभ्यां सम्प्रतिनन्दितः ॥१५७॥
इदं हर्षात् तु सुमहदाददे वाक्यमुत्तमम् ।

तदनन्तर उन दोनोंका अभिनन्दन स्वीकार करके द्रोणपुत्रने उन्हें हृदयसे लगाया और बड़े हर्षसे यह महत्त्वपूर्ण उत्तम वचन मुँहसे निकाला—॥ १५७½ ॥

पञ्चाला निहताः सर्वे द्रौपदेयाश्च सर्वशः ॥१५८॥
सोमका मत्स्यशेषाश्च सर्वे विनिहता मया ।

'सारे पाञ्चाल, द्रौपदीके सभी पुत्र, सोमकवंशी क्षत्रिय तथा मत्स्य देशके अवशिष्ट सैनिक ये सभी मेरे हाथसे मारे गये॥

इदानीं कृतकृत्याः स याम तत्रैव मा चिरम् ।
यदि जीवति नो राजा तस्मै शंसमहे वयम् ॥१५९॥

'इस समय हम कृतकृत्य हो गये । अब हमें शीघ्र वहीं चलना चाहिये । यदि हमारे राजा दुर्योधन जीवित हों तो हम उन्हें भी यह समाचार कह सुनावें' ॥ १५९ ॥

इति श्रीमहाभारते सौप्तिकपर्वणि रात्रियुद्धे पाञ्चालादिवधेऽष्टमोऽध्यायः ॥ ८ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत सौप्तिकपर्वमें रात्रियुद्धके प्रसङ्गमें पाञ्चाल आदिका वधविषयक आठवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ८ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठका ½ श्लोक मिलाकर कुल १५९½ श्लोक हैं)

नवमोऽध्यायः

दुर्योधनकी दशा देखकर कृपाचार्य और अश्वत्थामाका विलाप तथा उनके मुखसे पाञ्चालोंके वधका वृत्तान्त जानकर दुर्योधनका प्रसन्न होकर प्राणत्याग करना

संजय उवाच

ते हत्वा सर्वपञ्चालान् द्रौपदेयांश्च सर्वशः ।
आगच्छन् सहितास्तत्र यत्र दुर्योधनो हतः ॥ १ ॥

संजय कहते हैं—राजन् ! वे तीनों महारथी समस्त पाञ्चालों और द्रौपदीके सभी पुत्रोंका वध करके एक साथ उस स्थानमें आये, जहाँ राजा दुर्योधन मारा गया था ॥१॥

गत्वा चैनमपश्यन्त किंचित्प्राणं जनाधिपम् ।
ततो रथेभ्यः प्रस्कन्द्य परिवव्रुस्तवात्मजम् ॥ २ ॥

वहाँ जाकर उन्होंने राजा दुर्योधनको देखा, उसकी कुछ-कुछ साँस चल रही थी। फिर वे रथोंसे कूद पड़े और आपके पुत्रके पास जा उसे सब ओरसे घेरकर बैठ गये ॥

तं भग्नसक्थं राजेन्द्र कृच्छ्रप्राणमचेतसम् ।
वमन्तं रुधिरं वक्त्रादपश्यन् वसुधातले ॥ ३ ॥
वृतं समन्ताद् बहुभिः श्वापदैर्घोरदर्शनैः ।
शालावृकगणैश्चैव भक्षयिष्यद्भिरन्तिकात् ॥ ४ ॥
निवारयन्तं कृच्छ्रात्ताञ्श्वापदांश्च चिखादिषून् ।
विचेष्टमानं मह्यां च सुभृशं गाढवेदनम् ॥ ५ ॥

राजेन्द्र ! उन्होंने देखा कि राजाकी जाँघें टूट गयी हैं। ये बड़े कष्टसे प्राण धारण करते हैं। इनकी चेतना लुप्त-सी हो गयी है और ये अपने मुँहसे पृथ्वीपर खून उगल रहे हैं। इन्हें चट कर जानेके लिये बहुत-से भयंकर दिखायी देनेवाले हिंसक जीव और कुत्ते चारों ओरसे घेरकर आसपास ही खड़े हैं। ये अपनेको खा जानेकी इच्छा रखनेवाले उन हिंसक जन्तुओंको बड़ी कठिनाईसे रोकते हैं। इन्हें बड़ी भारी पीड़ा हो रही है, जिसके कारण ये पृथ्वीपर पड़े-पड़े छटपटा रहे हैं ॥

तं शयानं तथा दृष्ट्वा भूमौ सुरुधिरोक्षितम् ।
हतशिष्टास्त्रयो वीराः शोकार्ताः पर्यवारयन् ॥ ६ ॥
अश्वत्थामा कृपश्चैव कृतवर्मा च सात्वतः ।

दुर्योधनको इस प्रकार खूनसे लथपथ हो पृथ्वीपर पड़ा देख मरनेसे बचे हुए वे तीनों वीर अश्वत्थामा, कृपाचार्य और सात्वतवंशी कृतवर्मा शोकसे व्याकुल हो उसे तीन ओरसे घेरकर बैठ गये ॥ ६½ ॥

तैस्त्रिभिः शोणितादिग्धैर्निःश्वसद्भिर्महारथैः ॥ ७ ॥
शुशुभे स वृतो राजा वेदी त्रिभिरिवाग्निभिः ।

वे तीनों महारथी वीर खूनसे रँग गये थे और लंबी साँसें खींच रहे थे। उनसे घिरा हुआ राजा दुर्योधन तीन अग्नियोंसे घिरी हुई वेदीके समान सुशोभित हो रहा था ॥

ते तं शयानं सम्प्रेक्ष्य राजानमतथोचितम् ॥ ८ ॥
अविषह्येन दुःखेन ततस्ते रुरुदुस्त्रयः ।

राजाको इस प्रकार अयोग्य अवस्थामें सोया देख वे तीनों असह्य दुःखसे पीड़ित हो रोने लगे ॥ ८½ ॥

ततस्तु रुधिरं हस्तैर्मुखान्निर्मृज्य तस्य हि ।
रणे राज्ञः शयानस्य कृपणं पर्यदेवयन् ॥ ९ ॥

तत्पश्चात् रणभूमिमें सोये हुए राजा दुर्योधनके मुखसे बहते हुए रक्तको हाथोंसे पोंछकर वे तीनों दीन वाणीमें विलाप करने लगे ॥ ९ ॥

कृप उवाच

न दैवस्यातिभारोऽस्ति यदयं रुधिरोक्षितः ।
एकादशचमूभर्ता शेते दुर्योधनो हतः ॥ १० ॥

कृपाचार्य बोले—हाय ! विधाताके लिये कुछ भी करना कठिन नहीं है। जो कभी ग्यारह अक्षौहिणी सेनाके स्वामी थे, वे ही ये राजा दुर्योधन यहाँ मारे जाकर खूनसे लथपथ हुए पड़े हैं ॥ १० ॥

पश्य चामीकराभस्य चामीकरविभूषिताम् ।
गदां गदाप्रियस्येमां समीपे पतितां भुवि ॥ ११ ॥

देखो, सुवर्णके समान कान्तिवाले इन गदाप्रेमी नरेशके समीप यह सुवर्णभूषित गदा पृथ्वीपर पड़ी है ॥ ११ ॥

इयमेनं गदा शूरं न जहाति रणे रणे ।
स्वर्गायापि व्रजन्तं हि न जहाति यशस्विनम् ॥ १२ ॥

यह गदा इन शूरवीर भूपालका साथ किसी भी युद्धमें नहीं छोड़ती थी और आज स्वर्गलोकमें जाते समय भी यशस्वी नरेशका साथ नहीं छोड़ रही है ॥ १२ ॥

पश्येमां सह वीरेण जाम्बूनदविभूषिताम् ।
शयानां शयने हर्म्ये भार्यां प्रीतिमतीमिव ॥ १३ ॥

देखो, यह सुवर्णभूषित गदा इन वीर भूपालके साथ रणशय्यापर उसी प्रकार सो रही है, जैसे महलमें प्रेम रखनेवाली पत्नी इनके साथ सोया करती थी ॥ १३ ॥

योऽयं मूर्धाभिषिक्तानामग्रे यातः परंतपः ।
स हतो ग्रसते पांसून् पश्य कालस्य पर्ययम् ॥ १४ ॥

जो ये शत्रुसंतापी नरेश सभी मूर्धाभिषिक्त राजाओंके आगे चला करते थे, वे ही आज मारे जाकर धरतीपर पड़े-पड़े धूल फाँक रहे हैं। यह समयका उलट-फेर तो देखो ॥

येनाजौ निहता भूमावशेरत पुरा द्विषः ।
स भूमौ निहतः शेते कुरुराजः परैरयम् ॥ १५ ॥

पूर्वकालमें जिनके द्वारा युद्धमें मारे गये शत्रु भूमिपर सोया करते थे, वे ही ये कुरुराज आज शत्रुओंद्वारा स्वयं मारे जाकर भूमिपर शयन करते हैं ॥ १५ ॥

भयान्नमन्ति राजानो यस्य स्म शतसंघशः ।
स वीरशयने शेते क्रव्याद्भिः परिवारितः ॥ १६ ॥

जिनके आगे सैकड़ों राजा भयसे सिर झुकाते थे, वे ही आज हिंसक जन्तुओंसे घिरे हुए वीर-शय्यापर सो रहे हैं ॥

उपासत द्विजाः पूर्वमर्थहेतोर्यमीश्वरम् ।
उपासते च तं ह्यद्य क्रव्यादा मांसहेतवः ॥ १७ ॥

पहले बहुत-से ब्राह्मण धनकी प्राप्तिके लिये जिन नरेशके पास बैठे रहते थे, उन्हींके समीप आज मांसके लिये मांसाहारी जन्तु बैठे हुए हैं ॥ १७ ॥

संजय उवाच

तं शयानं कुरुश्रेष्ठं ततो भरतसत्तम ।
अश्वत्थामा समालोक्य करुणं पर्यदेवयत् ॥ १८ ॥

संजय कहते हैं—भरतश्रेष्ठ ! तदनन्तर कुरुकुल-भूषण दुर्योधनको रणशय्यापर पड़ा देख अश्वत्थामा इस प्रकार करुण विलाप करने लगा—॥ १८ ॥

आहुस्त्वां राजशार्दूल मुख्यं सर्वधनुष्मताम् ।
धनाध्यक्षोपमं युद्धे शिष्यं संकर्षणस्य च ॥ १९ ॥
कथं विवरमद्राक्षीद् भीमसेनस्तवानघ ।
बलिनं कृतिनं नित्यं स च पापात्मवान् नृप ॥ २० ॥

'निष्पाप राजसिंह ! आपको समस्त धनुर्धरोंमें श्रेष्ठ कहा जाता था। आप गदायुद्धमें धनाध्यक्ष कुबेरकी समानता करनेवाले तथा साक्षात् संकर्षणके शिष्य थे तो भी भीमसेनने कैसे आपपर प्रहार करनेका अवसर पा लिया ? नरेश्वर ! आप तो सदासे ही बलवान् और गदायुद्धके विद्वान् रहे हैं। फिर उस पापात्माने कैसे आपको मार दिया ? ॥१९-२०॥

कालो नूनं महाराज लोकेऽस्मिन् बलवत्तरः ।
पश्यामो निहतं त्वां च भीमसेनेन संयुगे ॥ २१ ॥

'महाराज ! निश्चय ही इस संसारमें समय महाबलवान् है, तभी तो युद्धस्थलमें हम आपको भीमसेनके द्वारा मारा गया देखते हैं॥ २१ ॥

कथं त्वां सर्वधर्मज्ञं क्षुद्रः पापो वृकोदरः ।
निकृत्या हतवान् मन्दो नूनं कालो दुरत्ययः ॥ २२ ॥

'आप तो सम्पूर्ण धर्मोंके ज्ञाता थे। आपको उस मूर्ख, नीच और पापी भीमसेनने किस तरह धोखेसे मार डाला ? अवश्य ही कालका उल्लङ्घन करना सर्वथा कठिन है ॥२२॥

धर्मयुद्धे ह्यधर्मेण समाहूयौजसा मृधे ।
गदया भीमसेनेन निर्भग्ने सक्थिनी तव ॥ २३ ॥

'भीमसेनने आपको धर्मयुद्धके लिये बुलाकर रणभूमिमें अधर्मके बलसे गदाद्वारा आपकी दोनों जाँघें तोड़ डालीं॥

अधर्मेण हतस्याजौ मृद्यमानं पदा शिरः ।
य उपेक्षितवान् क्षुद्रं धिक् कृष्णं धिग्युधिष्ठिरम्॥२४॥

'एक तो आप रणभूमिमें अधर्मपूर्वक मारे गये। दूसरे भीमसेनने आपके मस्तकपर लात मारी। इतनेपर भी जिन्होंने उस नीचकी उपेक्षा की, उसे कोई दण्ड नहीं दिया, उन श्रीकृष्ण और युधिष्ठिरको धिक्कार है ! ॥ २४ ॥

युद्धेष्वपवदिष्यन्ति योधा नूनं वृकोदरम् ।
यावत् स्थास्यन्ति भूतानि निकृत्या ह्यसि पातितः॥२५॥

'आप धोखेसे गिराये गये हैं, अतः इस संसारमें जबतक प्राणियोंकी स्थिति रहेगी, तबतक सभी युद्धोंमें सम्पूर्ण योद्धा भीमसेनकी निन्दा ही करेंगे ॥ २५ ॥

ननु रामोऽब्रवीद् राजंस्त्वां सदा यदुनन्दनः ।
दुर्योधनसमो नास्ति गदया इति वीर्यवान् ॥ २६ ॥

'राजन् ! पराक्रमी यदुनन्दन बलरामजी आपके विषयमें सदा कहा करते थे कि 'गदायुद्धकी शिक्षामें दुर्योधनकी समानता करनेवाला दूसरा कोई नहीं है' ॥ २६ ॥

श्लाघते त्वां हि वार्ष्णेयो राजसंसत्सु भारत ।
स शिष्यो मम कौरव्यो गदायुद्ध इति प्रभो ॥ २७ ॥

'प्रभो ! भरतनन्दन ! वे वृष्णिकुलभूषण बलराम राजाओंकी सभामें सदा आपकी प्रशंसा करते हुए कहते थे कि 'कुरुराज दुर्योधन गदायुद्धमें मेरा शिष्य है' ॥ २७ ॥

यां गतिं क्षत्रियस्याहुः प्रशस्तां परमर्षयः ।
हतस्याभिमुखस्याजौ प्राप्तस्त्वमसि तां गतिम्॥ २८ ॥

'महर्षियोंने युद्धमें शत्रुका सामना करते हुए मारे जानेवाले क्षत्रियके लिये जो उत्तम गति बतायी है, आपने वही गति प्राप्त की है ॥ २८ ॥

दुर्योधन न शोचामि त्वामहं पुरुषर्षभ ।
हतपुत्रौ तु शोचामि गान्धारीं पितरं च ते ॥ २९ ॥

'पुरुषश्रेष्ठ राजा दुर्योधन ! मैं तुम्हारे लिये शोक नहीं करता। मुझे तो माता गान्धारी और आपके पिता धृतराष्ट्रके लिये शोक हो रहा है, जिनके सभी पुत्र मार डाले गये हैं ॥

भिक्षुकौ विचरिष्येते शोचन्तौ पृथिवीमिमाम् ।
धिगस्तु कृष्णं वार्ष्णेयमर्जुनं चापि दुर्मतिम् ॥ ३० ॥
धर्मज्ञमानिनौ यौ त्वां वध्यमानमुपेक्षताम् ।

'अब वे बेचारे शोकमग्न हो भिखारी बनकर इस भूतलपर भीख माँगते फिरेंगे। उस वृष्णिवंशी श्रीकृष्ण और खोटी बुद्धिवाले अर्जुनको भी धिक्कार है, जिन्होंने अपनेको धर्मज्ञ मानते हुए भी आपके अन्यायपूर्वक वधकी उपेक्षा की ॥

पाण्डवाश्चापि ते सर्वे किं वक्ष्यन्ति नराधिप ॥ ३१ ॥
कथं दुर्योधनोऽस्माभिर्हत इत्यनपत्रपाः ।

'नरेश्वर ! क्या वे समस्त पाण्डव भी निर्लज्ज होकर लोगोंके सामने कह सकेंगे कि 'हमने दुर्योधनको किस प्रकार मारा था ?' ॥ ३१½ ॥

धन्यस्त्वमसि गान्धारे यस्त्वमायोधने हतः ॥ ३२ ॥
प्रायशोऽभिमुखः शत्रून् धर्मेण पुरुषर्षभ ।

'पुरुषप्रवर गान्धारीनन्दन ! आप धन्य हैं, क्योंकि युद्धमें प्रायः धर्मपूर्वक शत्रुओंका सामना करते हुए मारे गये हैं ॥

हतपुत्रा हि गान्धारी निहतज्ञातिबान्धवा ॥ ३३ ॥
प्रज्ञाचक्षुश्च दुर्धर्षः कां गतिं प्रतिपत्स्यते ।

'जिनके सभी पुत्र, कुटुम्बी और भाई-बन्धु मारे जा चुके हैं, वे माता गान्धारी तथा प्रज्ञाचक्षु दुर्जय राजा धृतराष्ट्र अब किस दशाको प्राप्त होंगे ? ॥ ३३½ ॥

धिगस्तु कृतवर्माणं मां कृपं च महारथम् ॥ ३४ ॥
ये वयं न गताः स्वर्गं त्वां पुरस्कृत्य पार्थिवम् ।

'मुझको, कृतवर्माको तथा महारथी कृपाचार्यको भी धिक्कार है कि हम आप-जैसे महाराजको आगे करके स्वर्गलोकमें नहीं गये ॥ ३४½ ॥

दातारं सर्वकामानां रक्षितारं प्रजाहितम् ॥ ३५ ॥
यद् वयं नानुगच्छाम त्वां धिगस्मान् नराधमान् ।

'आप हमें सम्पूर्ण मनोवाञ्छित पदार्थ देते रहे और प्रजाके हितकी रक्षा करते रहे। फिर भी हमलोग जो आपका अनुसरण नहीं कर रहे हैं, इसके लिये हम-जैसे नराधमोंको धिक्कार है ! ॥ ३५½ ॥

कृपस्य तव वीर्येण मम चैव पितुश्च मे ॥ ३६ ॥
सभृत्यानां नरव्याघ्र रत्नवन्ति गृहाणि च ।

'नरश्रेष्ठ ! आपके ही बल-पराक्रमसे सेवकोंसहित कृपाचार्यको, मुझको तथा मेरे पिताजीको रत्नोंसे भरे हुए भव्य भवन प्राप्त हुए थे ॥ ३६½ ॥

तव प्रसादादस्माभिः समित्रैः सह बान्धवैः ॥ ३७ ॥
अवाप्ताः क्रतवो मुख्या बहवो भूरिदक्षिणाः ।

'आपके ही प्रसादसे मित्रों और बन्धु-बान्धवोंसहित हम

लोगोंने प्रचुर दक्षिणाओंसे सम्पन्न अनेक मुख्य-मुख्य यज्ञोंका अनुष्ठान किया है ॥ ३७½ ॥

कृतश्चार्यदर्शं पापाः प्रवर्तिष्यामहे वयम् ॥ ३८ ॥
यादृशेन पुरस्कृत्य त्वं गतः सर्वपार्थिवान् ।

'महाराज ! आप जिस भावसे समस्त राजाओंको आगे करके स्वर्ग सिधार रहे हैं, हम पापी ऐसा भाव कहाँसे ला सकेंगे ? ॥ ३८½ ॥

वयमेव त्रयो राजन् गच्छन्तं परमां गतिम् ॥ ३९ ॥
यद् वै त्वां नानुगच्छामस्तेन धक्ष्यामहे वयम् ।
तत् स्वर्गहीना हीनार्थाः स्मरन्तः सुकृतस्य ते ॥ ४० ॥

'राजन् ! परम गतिको जाते समय आपके पीछे-पीछे जो हम तीनों भी नहीं चल रहे हैं, इसके कारण हम स्वर्ग और अर्थ दोनोंसे वञ्चित हो आपके सुकृतोंका स्मरण करते हुए दिन-रात शोकाग्निमें जलते रहेंगे ॥ ३९-४० ॥

किं नाम तद् भवेत् कर्म येन त्वां न व्रजाम वै ।
दुःखं नूनं कुरुश्रेष्ठ चरिष्याम महीमिमाम् ॥ ४१ ॥

'कुरुश्रेष्ठ ! न जाने वह कौन-सा कर्म है, जिससे विवश होकर हम आपके साथ नहीं चल रहे हैं । निश्चय ही इस पृथ्वीपर हमें निरन्तर दुःख भोगना पड़ेगा ॥ ४१ ॥

हीनानां नस्त्वया राजन् कुतः शान्तिः कुतः सुखम् ।
गत्वैव तु महाराज समेत्य च महारथान् ॥४२॥
यथाज्येष्ठं यथाश्रेष्ठं पूजयेर्वचनान्मम ।

'महाराज ! आपसे बिछुड़ जानेपर हमें शान्ति और सुख कैसे मिल सकते हैं ? राजन् ! स्वर्गमें जाकर सब महारथियोंसे मिलनेपर आप मेरी ओरसे बड़े-छोटेके क्रमसे उन सबका आदर-सत्कार करें ॥ ४२½ ॥

आचार्यं पूजयित्वा च केतुं सर्वधनुष्मताम् ॥ ४३ ॥
हतं मयाद्य शंसेथा धृष्टद्युम्नं नराधिप ।

'नरेश्वर ! फिर सम्पूर्ण धनुर्धरोंके ध्वजस्वरूप आचार्यका पूजन करके उनसे कह दें कि 'आज अश्वत्थामाके द्वारा धृष्टद्युम्न मार डाला गया' ॥ ४३½ ॥

परिष्वजेथा राजानं बाह्लिकं सुमहारथम् ॥ ४४ ॥
सैन्धवं सोमदत्तं च भूरिश्रवसमेव च ।

'महारथी राजा बाह्लिक, सिन्धुराज जयद्रथ, सोमदत्त तथा भूरिश्रवाका भी आप मेरी ओरसे आलिङ्गन करें ॥ ४४½ ॥

तथा पूर्वगतानन्यान् स्वर्गे पार्थिवसत्तमान् ॥ ४५ ॥
अस्मद्वाक्यात् परिष्वज्य सम्पृच्छेस्त्वमनामयम्॥४६॥

'दूसरे-दूसरे भी जो नृपश्रेष्ठ पहलेसे ही स्वर्गलोकमें जा पहुँचे हैं, उन सबको मेरे कथनानुसार हृदयसे लगाकर उनकी कुशल पूछें' ॥ ४५-४६ ॥

संजय उवाच

इत्येवमुक्त्वा राजानं भग्नसक्थमचेतनम् ।
अश्वत्थामा समुद्वीक्ष्य पुनर्वचनमब्रवीत् ॥ ४७ ॥

संजय कहते हैं—महाराज ! जिसकी जाँघें टूट गयी थीं, उस अचेत पड़े हुए राजा दुर्योधनसे ऐसा कहकर अश्वत्थामाने पुनः उसकी ओर देखा और इस प्रकार कहा—॥

दुर्योधन जीवसि त्वं वाक्यं श्रोत्रसुखं शृणु ।
सप्त पाण्डवतः शेषा धार्तराष्ट्रास्त्रयो वयम् ॥ ४८ ॥

'राजा दुर्योधन ! यदि आप जीवित हों तो यह कानोंको सुख देनेवाली बात सुनें । पाण्डवपक्षमें केवल सात और कौरवपक्षमें सिर्फ हम तीन ही व्यक्ति बच गये हैं ॥ ४८ ॥

ते चैव भ्रातरः पञ्च वासुदेवोऽथ सात्यकिः ।
अहं च कृतवर्मा च कृपः शारद्वतस्तथा ॥ ४९ ॥

'उधर तो पाँचों भाई पाण्डव, श्रीकृष्ण और सात्यकि बचे हैं और इधर मैं, कृतवर्मा तथा शरद्वान्‌के पुत्र कृपाचार्य शेष रह गये हैं ॥ ४९ ॥

द्रौपदेया हताः सर्वे धृष्टद्युम्नस्य चात्मजाः ।
पञ्चाला निहताः सर्वे मत्स्यशेषं च भारत ॥ ५० ॥

'भरतनन्दन ! द्रौपदी तथा धृष्टद्युम्नके सभी पुत्र मारे गये, समस्त पाञ्चालोंका संहार कर दिया गया और मत्स्य देशकी अवशिष्ट सेना भी समाप्त हो गयी ॥ ५० ॥

कृते प्रतिकृतं पश्य हतपुत्रा हि पाण्डवाः ।
सौप्तिके शिबिरं तेषां हतं सनरवाहनम् ॥ ५१ ॥

'राजन् ! देखिये, शत्रुओंकी करनीका कैसा बदला चुकाया गया ? पाण्डवोंके भी सारे पुत्र मार डाले गये । रातमें सोते समय मनुष्यों और वाहनोंसहित उनके सारे शिबिरका नाश कर दिया गया ॥ ५१ ॥

मया च पापकर्मासौ धृष्टद्युम्नो महीपते ।
प्रविश्य शिबिरं रात्रौ पशुमारेण मारितः ॥ ५२ ॥

'भूपाल ! मैंने स्वयं रातके समय शिबिरमें घुसकर पापाचारी धृष्टद्युम्नको पशुओंकी तरह गला घोंट-घोंटकर मार डाला है' ॥ ५२ ॥

दुर्योधनस्तु तां वाचं निशम्य मनसः प्रियाम् ।
प्रतिलभ्य पुनश्चेत इदं वचनमब्रवीत् ॥ ५३ ॥

यह मनको प्रिय लगनेवाली बात सुनकर दुर्योधनको पुनः होश आ गया और वह इस प्रकार बोला—॥ ५३ ॥

न मेऽकरोत् तद् गाङ्गेयो न कर्णो न च ते पिता ।
यत् त्वया कृपभोजाभ्यां सहितेनाद्य मे कृतम् ॥ ५४ ॥

'मित्रवर ! आज आचार्य कृप और कृतवर्माके साथ तुमने जो कार्य कर दिखाया है, उसे न गङ्गानन्दन भीष्म, न कर्ण और न तुम्हारे पिताजी ही कर सके थे ॥ ५४ ॥

स च सेनापतिः क्षुद्रो हतः सार्धं शिखण्डिना ।
तेन मन्ये मघवता सममात्मानमद्य वै ॥ ५५ ॥

'शिखण्डीसहित वह नीच सेनापति धृष्टद्युम्न मार डाला गया, इससे आज निश्चय ही मैं अपनेको इन्द्रके समान समझता हूँ ॥ ५५ ॥

स्वस्ति प्राप्नुत भद्रं वः स्वर्गे नः संगमः पुनः ।
इत्येवमुक्त्वा तूष्णीं स कुरुराजो महामनाः ॥ ५६ ॥
प्राणानुपासृजद् वीरः सुहृदां दुःखमुत्सृजन् ।
अपाक्रामद् दिवं पुण्यां शरीरं क्षितिमाविशत् ॥ ५७ ॥

'तुम सब लोगोंका कल्याण हो । तुम्हें सुख प्राप्त हो । अब स्वर्गमें ही हमलोगोंका पुनर्मिलन होगा।' ऐसा कहकर महामनस्वी वीर कुरुराज दुर्योधन चुप हो गया और अपने सुहृदोंके लिये दुःख छोड़कर उसने अपने प्राण त्याग दिये। वह स्वयं तो पुण्यधाम स्वर्गलोकमें चला गया; किंतु उसका पार्थिव शरीर इस पृथ्वीपर ही पड़ा रह गया ॥ ५६-५७ ॥

एवं ते निधनं यातः पुत्रो दुर्योधनो नृप।
अग्रे यात्वा रणे शूरः पश्चाद् विनिहतः परैः ॥ ५८ ॥

नरेश्वर ! इस प्रकार आपका पुत्र दुर्योधन मृत्युको प्राप्त हुआ। वह समराङ्गणमें सबसे पहले गया था और सबसे पीछे शत्रुओंद्वारा मारा गया ॥ ५८ ॥

तथैव ते परिष्वक्ताः परिष्वज्य च ते नृपम्।
पुनः पुनः प्रेक्षमाणाः स्वकानारुरुहू रथान् ॥ ५९ ॥

मरनेसे पहले दुर्योधनने तीनों वीरोंको गले लगाया और उन तीनोंने भी राजाको हृदयसे लगाकर विदा दी, फिर वे बारंबार उसकी ओर देखते हुए अपने-अपने रथोंपर सवार हो गये ॥ ५९ ॥

इत्येवं द्रोणपुत्रस्य निशम्य करुणां गिरम्।
प्रत्यूषकाले शोकार्तः प्राद्रवन्नगरं प्रति ॥ ६० ॥

इस प्रकार द्रोणपुत्रके मुखसे वह करुणाजनक समाचार सुनकर मैं शोकसे व्याकुल हो उठा और प्रातःकाल नगरकी ओर दौड़ा चला आया ॥ ६० ॥

एवमेष क्षयो वृत्तः कुरुपाण्डवसेनयोः।
घोरो विशसनो रौद्रो राजन् दुर्मन्त्रिते तव ॥ ६१ ॥

राजन् ! इस प्रकार आपकी कुमन्त्रणाके अनुसार कौरवों तथा पाण्डवोंकी सेनाओंका यह घोर एवं भयंकर विनाशकार्य सम्पन्न हुआ है ॥ ६१ ॥

तव पुत्रे गते स्वर्गं शोकार्तस्य ममानघ।
ऋषिदत्तं प्रणष्टं तद् दिव्यदर्शित्वमद्य वै ॥ ६२ ॥

निष्पाप नरेश ! आपके पुत्रके स्वर्गलोकमें चले जानेसे मैं शोकसे आतुर हो गया हूँ और महर्षि व्यासजीकी दी हुई मेरी वह दिव्य दृष्टि भी अब नष्ट हो गयी है ॥ ६२ ॥

वैशम्पायन उवाच

इति श्रुत्वा स नृपतिः पुत्रस्य निधनं तदा।
निःश्वस्य दीर्घमुष्णं च ततश्चिन्तापरोऽभवत् ॥ ६३ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन् ! इस प्रकार अपने पुत्रकी मृत्युका समाचार सुनकर राजा धृतराष्ट्र गरम-गरम लंबी साँस खींचकर गहरी चिन्तामें डूब गये ॥ ६३ ॥

इति श्रीमहाभारते सौप्तिकपर्वणि दुर्योधनप्राणत्यागे नवमोऽध्यायः ॥ ९ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत सौप्तिकपर्वमें दुर्योधनका प्राणत्यागविषयक नवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ९ ॥

(ऐषीकपर्व)

दशमोऽध्यायः

धृष्टद्युम्नके सारथिके मुखसे पुत्रों और पाञ्चालोंके वधका वृत्तान्त सुनकर युधिष्ठिरका विलाप, द्रौपदीको बुलानेके लिये नकुलको भेजना, सुहृदोंके साथ शिविरमें जाना तथा मारे हुए पुत्रादिको देखकर भाईसहित शोकातुर होना

वैशम्पायन उवाच

तस्यां राज्यां व्यतीतायां धृष्टद्युम्नस्य सारथिः।
शशंस धर्मराजाय सौप्तिके कदनं कृतम् ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन् ! वह रात व्यतीत होनेपर धृष्टद्युम्नके सारथिने रातको सोते समय जो संहार किया गया था, उसका समाचार धर्मराज युधिष्ठिरसे कह सुनाया ॥ १ ॥

सूत उवाच

द्रौपदेया हता राजन् द्रुपदस्यात्मजैः सह।
प्रमत्ता निशि विश्वस्ताः स्वपन्तः शिविरे स्वके ॥ २ ॥

सारथि बोला—राजन् ! द्रुपदके पुत्रोंसहित द्रौपदी देवीके भी सारे पुत्र मारे गये। वे रातको अपने शिविरमें निश्चिन्त एवं असावधान होकर सो रहे थे ॥ २ ॥

कृतवर्मणा नृशंसेन गौतमेन कृपेण च।
अश्वत्थाम्ना च पापेन हतं वः शिविरं निशि ॥ ३ ॥

उसी समय क्रूर कृतवर्मा, गौतमवंशी कृपाचार्य तथा पापी अश्वत्थामाने आक्रमण करके आपके सारे शिविरका विनाश कर डाला ॥ ३ ॥

एतैर्नरगजाश्वानां प्रासशक्तिपरश्वधैः।
सहस्राणि निकृन्तद्भिर्निःशेषं ते बलं कृतम् ॥ ४ ॥

इन तीनोंने प्रास, शक्ति और फरसोंद्वारा सहस्रों मनुष्यों, घोड़ों और हाथियोंको काट-काटकर आपकी सारी सेनाको समाप्त कर दिया है ॥ ४ ॥

छिद्यमानस्य महतो वनस्येव परश्वधैः।
शुश्रुवे सुमहाञ्शब्दो बलस्य तव भारत ॥ ५ ॥

भारत ! जैसे फरसोंसे विशाल जङ्गल काटा जा रहा हो, उसी प्रकार उनके द्वारा छिन्न-भिन्न की जाती हुई आपकी विशाल वाहिनीका महान् आर्तनाद सुनायी पड़ता था ॥ ५ ॥

अहमेकोऽवशिष्टस्तु तस्मात् सैन्यान्महामते।
मुक्तः कथंचिद् धर्मात्मन् व्यग्राच्च कृतवर्मणः ॥ ६ ॥

महामते ! धर्मात्मन् ! उस विशाल सेनासे अकेला मैं ही किसी प्रकार बचकर निकल आया हूँ। कृतवर्मा दूसरोंको

मारनेमें लगा हुआ था; इसीलिये मैं उस सङ्कटसे मुक्त हो गया हूँ ॥ ६ ॥

तच्छ्रुत्वा वाक्यमशिवं कुन्तीपुत्रो युधिष्ठिरः।
पपात मह्यां दुर्धर्षः पुत्रशोकसमन्वितः ॥ ७ ॥

यह अमङ्गलमय वचन सुनकर दुर्धर्ष राजा कुन्तीपुत्र युधिष्ठिर पुत्रशोकसे संतप्त हो पृथ्वीपर गिर पड़े ॥ ७ ॥

पतन्तं तमतिक्रम्य परिजग्राह सात्यकिः।
भीमसेनोऽर्जुनश्चैव माद्रीपुत्रौ च पाण्डवौ ॥ ८ ॥

गिरते समय आगे बढ़कर सात्यकिने उन्हें थाम लिया। भीमसेन, अर्जुन तथा माद्रीकुमार नकुल-सहदेवने भी उन्हें पकड़ लिया ॥ ८ ॥

लब्धचेतास्तु कौन्तेयः शोकविह्वलया गिरा।
जित्वा शत्रूञ्जितः पश्चात् पर्यदेवयदार्तवत् ॥ ९ ॥

फिर होशमें आनेपर कुन्तीनन्दन युधिष्ठिर शोकाकुल वाणीद्वारा आर्तकी भाँति विलाप करने लगे—'हाय ! मैं शत्रुओंको पहले जीतकर पीछे पराजित हो गया ॥ ९ ॥

दुर्विदा गतिरर्थानामपि ये दिव्यचक्षुषः।
जीयमाना जयन्त्यन्ये जयमाना वयं जिताः ॥ १० ॥

'जो लोग दिव्य दृष्टिसे सम्पन्न हैं, उनके लिये भी पदार्थोंकी गतिको समझना अत्यन्त दुष्कर है। हाय ! दूसरे लोग तो हारकर जीतते हैं; किंतु हमलोग जीतकर हार गये हैं ! ॥१०॥

हत्वा भ्रातॄन् वयस्यांश्च पितॄन् पुत्रान् सुहृद्गणान्।
बन्धूनमात्यान् पौत्रांश्च जित्वा सर्वाञ्जिता वयम् ॥ ११ ॥

'हमने भाइयों, समवयस्क मित्रों, पितृतुल्य पुरुषों, पुत्रों, सुहृद्गणों, बन्धुओं, मन्त्रियों तथा पौत्रोंकी हत्या करके उन सबको जीतकर विजय प्राप्त की थी; परंतु अब शत्रुओंद्वारा हम ही पराजित हो गये ॥ ११ ॥

अनर्थो ह्यर्थसंकाशस्तथानर्थोऽर्थदर्शनः।
जयोऽयमजयाकारो जयस्तस्मात् पराजयः ॥ १२ ॥

'कभी-कभी अनर्थ भी अर्थ-सा हो जाता है और अर्थके रूपमें दिखायी देनेवाली वस्तु भी अनर्थके रूपमें परिणत हो जाती है, इसी प्रकार हमारी यह विजय भी पराजयका ही रूप धारण करके आयी थी, इसलिये जय भी पराजय बन गयी ॥ १२ ॥

यज्जित्वा तप्यते पश्चादापन्न इव दुर्मतिः।
कथं मन्येत विजयं ततो जिततरः परैः ॥ १३ ॥

'दुर्बुद्धि मनुष्य यदि विजय-लाभके पश्चात् विपत्तिमें पड़े हुए पुरुषकी भाँति अनुताप करता है तो वह अपनी उस जीतको जीत कैसे मान सकता है ? क्योंकि उस दशामें तो वह शत्रुओंद्वारा पूर्णतः पराजित हो चुका है ॥ १३ ॥

येषामर्थाय पापं स्याद् विजयस्य सुहृद्वधैः।
निर्जितैरप्रमत्तैर्हि विजिता जितकाशिनः ॥ १४ ॥

'जिन्हें विजयके लिये सुहृदोंके वधका पाप करना पड़ता है, वे एक बार विजयलक्ष्मीसे उल्लसित भले ही हो जायँ, अन्तमें पराजित होकर सतत सावधान रहनेवाले शत्रुओंके हाथसे उन्हें पराजित होना ही पड़ता है ॥ १४ ॥

कर्णिनालीकदंष्ट्रस्य खड्गजिह्वस्य संयुगे।
चापव्यात्तस्य रौद्रस्य ज्यातलस्वननादिनः ॥ १५ ॥
क्रुद्धस्य नरसिंहस्य संग्रामेष्वपलायिनः।
ये व्यमुच्यन्त कर्णस्य प्रमादात् त इमे हताः ॥ १६ ॥

'क्रोधमें भरा हुआ कर्ण मनुष्योंमें सिंहके समान था। कर्णि और नालीक नामक बाण उसकी दाढ़ें तथा युद्धमें उठी हुई तलवार उसकी जिह्वा थी। धनुषका खींचना ही उसका मुँह फैलाना था। प्रत्यञ्चाकी टङ्कार ही उसके लिये दहाड़नेके समान थी। युद्धोंमें कभी पीठ न दिखानेवाले उस भयंकर पुरुषसिंहके हाथसे जो जीवित छूट गये, वे ही ये मेरे सगे-सम्बन्धी अपनी असावधानीके कारण मार डाले गये हैं ॥ १५-१६ ॥

रथह्रदं शरवर्षोर्मिमन्तं
रत्नाचितं वाहनवाजियुक्तम्।
शक्त्यृष्टिमीनध्वजनागनक्रं
शरासनावर्तमहेषुफेनम् ॥ १७ ॥
संग्रामचन्द्रोदयवेगवेलं
द्रोणार्णवं ज्यातलनेमिघोषम्।
ये तेरुरुच्चावचशस्त्रनौभि-
स्ते राजपुत्रा निहताः प्रमादात् ॥ १८ ॥

'द्रोणाचार्य महासागरके समान थे, रथ ही पानीका कुण्ड था, बाणोंकी वर्षा ही लहरोंके समान ऊपर उठती थी, रत्नमय आभूषण ही उस द्रोणरूपी समुद्रके रत्न थे, रथके घोड़े ही समुद्री घोड़ोंके समान जान पड़ते थे, शक्ति और ऋष्टि मत्स्यके समान तथा ध्वज नाग एवं मगरके तुल्य थे, धनुष ही भँवर तथा बड़े-बड़े बाण ही फेन थे, संग्राम ही चन्द्रोदय बनकर उस समुद्रके वेगको चरम सीमातक पहुँचा देता था, प्रत्यञ्चा और पहियोंकी ध्वनि ही उस महासागरकी गर्जना थी; ऐसे द्रोणरूपी सागरको जो छोटे बड़े नाना प्रकारके शस्त्रोंकी नौका बनाकर पार गये, वे ही राजकुमार असावधानीसे मार डाले गये ॥ १७-१८ ॥

न हि प्रमादात् परमस्ति कश्चिद्
वधो नराणामिह जीवलोके।
प्रमत्तमर्था हि नरं समन्तात्
त्यजन्त्यनर्थाश्च समाविशन्ति ॥ १९ ॥

'प्रमादसे बढ़कर इस संसारमें मनुष्योंके लिये दूसरी कोई मृत्यु नहीं। प्रमादी मनुष्यको सारे अर्थ सब ओरसे त्याग देते हैं और अनर्थ बिना बुलाये ही उसके पास चले आते हैं ॥ १९ ॥

ध्वजोत्तमाग्रोच्छ्रितधूमकेतुं
शरार्चिषं कोपमहासमीरम्।
महाधनुर्ज्यातलनेमिघोषं
तनुत्रनानाविधशस्त्रहोमम् ॥ २० ॥
महाचमूकक्षदवाभिपन्नं
महाहवे भीष्ममयाग्निदाहम्।
ये सेहुरात्तायुधतीक्ष्णवेगं
ते राजपुत्रा निहताः प्रमादात् ॥ २१ ॥

'महासमरमें भीष्मरूपी अग्नि जब पाण्डव-सेनाको जला रही थी, उस समय ऊँची ध्वजाओंके शिखरपर फहराती हुई पताका ही धूमके समान जान पड़ती थी, बाणवर्षा ही आगकी लपटें थीं, क्रोध ही प्रचण्ड वायु बनकर उस ज्वालाको बढ़ा रहा था, विशाल धनुषकी प्रत्यञ्चा, हथेली और रथके पहियोंका शब्द ही मानो उस अग्निदाहसे उठनेवाली चट-चट ध्वनि था, कवच और नाना प्रकारके अस्त्र-शस्त्र उस आगकी आहुति बन रहे थे, विशाल सेनारूपी सूखे जङ्गलमें दावानलके समान वह आग लगी थी, हाथमें लिये हुए अस्त्र-शस्त्र ही उस अग्निके प्रचण्ड वेग थे, ऐसे अग्निदाहके कष्टको जिन्होंने सह लिया, वे ही राजपुत्र प्रमादवश मारे गये ॥ २०-२१॥

न हि प्रमत्तेन नरेण शक्यं
विद्या तपः श्रीर्विपुलं यशो वा ।
पश्याप्रमादेन निहत्य शत्रून्
सर्वान् महेन्द्रं सुखमेधमानम् ॥ २२ ॥

'प्रमादी मनुष्य कभी विद्या, तप, वैभव अथवा महान् यश नहीं प्राप्त कर सकता । देखो, देवराज इन्द्र प्रमाद छोड़ देनेके ही कारण अपने सारे शत्रुओंका संहार करके सुखपूर्वक उन्नति कर रहे हैं ॥ २२ ॥

इन्द्रोपमान् पार्थिवपुत्रपौत्रान्
पश्याविशेषेण हतान् प्रमादात् ।
तीर्त्वा समुद्रं वणिजः समृद्धा
मग्नाः कुनद्यामिव हेलमानाः ॥ २३ ॥

'देखो, प्रमादके ही कारण ये इन्द्रके समान पराक्रमी, राजाओंके पुत्र और पौत्र सामान्य रूपसे मार डाले गये, जैसे समृद्धिशाली व्यापारी समुद्रको पार करके प्रमादवश अवहेलना करनेके कारण छोटी-सी नदीमें डूब गये हों ॥ २३ ॥

अमर्षितैर्ये निहताः शयाना
निःसंशयं ते त्रिदिवं प्रपन्नाः ।
कृष्णां तु शोचामि कथं नु साध्वी
शोकार्णवे साद्य विनङ्क्ष्यतीति ॥ २४ ॥

'शत्रुओंने अमर्षके वशीभूत होकर जिन्हें सोते समय ही मार डाला है वे तो निःसंदेह स्वर्गलोकमें पहुँच गये हैं । मुझे तो उस सती साध्वी कृष्णाके लिये चिन्ता हो रही है जो आज शोकके समुद्रमें डूबकर नष्ट हो जानेकी स्थितिमें पहुँच गयी है ॥ २४ ॥

भ्रातॄंश्च पुत्रांश्च हतान् निशम्य
पाञ्चालराजं पितरं च वृद्धम् ।
ध्रुवं विसंज्ञा पतिता पृथिव्यां
सा शोष्यते शोककृशाङ्गयष्टिः ॥ २५ ॥

'एक तो पहलेसे ही शोकके कारण क्षीण होकर उसकी देह सूखी लकड़ीके समान हो गयी है ? दूसरे फिर जब वह अपने भाइयों, पुत्रों तथा बूढ़े पिता पाञ्चालराज द्रुपदकी मृत्युका समाचार सुनेगी तब और भी सूख जायगी तथा अवश्य ही अचेत होकर पृथ्वीपर गिर पड़ेगी ॥ २५ ॥

तच्छोकजं दुःखमपारयन्ती
कथं भविष्यत्युचिता सुखानाम् ।
पुत्रक्षयभ्रातृवधप्रणुन्ना
प्रदह्यमानेन हुताशनेन ॥ २६ ॥

'जो सदा सुख भोगनेके ही योग्य है, वह उस शोकजनित दुःखको न सह सकनेके कारण न जाने कैसी दशाको पहुँच जायगी ? पुत्रों और भाइयोंके विनाशसे व्यथित हो उसके हृदयमें जो शोककी आग जल उठेगी, उससे उसकी बड़ी शोचनीय दशा हो जायगी' ॥ २६ ॥

इत्येवमार्तः परिदेवयन् स
राजा कुरूणां नकुलं बभाषे ।
गच्छानयैनामिह मन्दभाग्यां
समातृपक्षामिति राजपुत्रीम् ॥ २७ ॥

इस प्रकार आर्तस्वरसे विलाप करते हुए कुरुराज युधिष्ठिरने नकुलसे कहा—'भाई ! जाओ, मन्दभागिनी राजकुमारी द्रौपदीको उसके मातृपक्षकी स्त्रियोंके साथ यहाँ लिवा लाओ' ॥

माद्रीसुतस्तत् परिगृह्य वाक्यं
धर्मेण धर्मप्रतिमस्य राज्ञः ।
ययौ रथेनालयमाशु देव्याः
पाञ्चालराजस्य च यत्र दाराः ॥ २८ ॥

माद्रीकुमार नकुलने धर्माचरणके द्वारा साक्षात् धर्मराजकी समानता करनेवाले राजा युधिष्ठिरकी आज्ञा शिरोधार्य करके रथके द्वारा तुरंत ही महारानी द्रौपदीके उस भवनकी ओर प्रस्थान किया, जहाँ पाञ्चालराजके घरकी भी महिलाएँ रहती थीं ॥ २८ ॥

प्रस्थाप्य माद्रीसुतमाजमीढः
शोकार्दितस्तैः सहितः सुहृद्भिः ।
रोरूयमाणः प्रययौ सुताना-
मायोधनं भूतगणानुकीर्णम् ॥ २९ ॥

माद्रीकुमारको वहाँ भेजकर अजमीढकुलनन्दन युधिष्ठिर शोकाकुल हो उन सभी सुहृदोंके साथ बारंबार रोते हुए पुत्रोंके उस युद्धस्थलमें गये, जो भूतगणोंसे भरा हुआ था ॥

स तत् प्रविश्याशिवमुग्ररूपं
ददर्श पुत्रान् सुहृदः सखींश्च ।
भूमौ शयानान् रुधिरार्द्रगात्रान्
विभिन्नदेहान् प्रहृतोत्तमाङ्गान् ॥ ३० ॥

उस भयङ्कर एवं अमङ्गलमय स्थानमें प्रवेश करके उन्होंने अपने पुत्रों, सुहृदों और सखाओंको देखा, जो खूनसे लथपथ होकर पृथ्वीपर पड़े थे । उनके शरीर छिन्न-भिन्न हो गये थे और मस्तक कट गये थे ॥ ३० ॥

स तांस्तु दृष्ट्वा भृशमार्तरूपो
युधिष्ठिरो धर्मभृतां वरिष्ठः ।
उच्चैः प्रचुक्रोश च कौरवाग्र्यः
पपात चोर्व्यां सगणो विसंज्ञः ॥ ३१ ॥

उन्हें देखकर कुरुकुलशिरोमणि तथा धर्मात्माओंमें श्रेष्ठ राजा युधिष्ठिर अत्यन्त दुःखी हो गये और उच्चस्वरसे फूट-फूटकर रोने लगे। धीरे-धीरे उनकी संज्ञा लुप्त हो गयी और वे अपने साथियोंसहित पृथ्वीपर गिर पड़े ॥ ३१॥

इति श्रीमहाभारते सौप्तिकपर्वणि ऐषीकपर्वणि युधिष्ठिरशिबिरप्रवेशे दशमोऽध्यायः ॥ १० ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत सौप्तिकपर्वके अन्तर्गत ऐषीकपर्वमें युधिष्ठिरका शिबिरमें प्रवेशविषयक दसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १० ॥

एकादशोऽध्यायः

युधिष्ठिरका शोकमें व्याकुल होना, द्रौपदीका विलाप तथा द्रोणकुमारके वधके लिये आग्रह, भीमसेनका अश्वत्थामाको मारनेके लिये प्रस्थान

वैशम्पायन उवाच

स दृष्ट्वा निहतान् संख्ये पुत्रान् पौत्रान् सखींस्तथा।
महादुःखपरीतात्मा बभूव जनमेजय ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! अपने पुत्रों, पौत्रों और मित्रोंको युद्धमें मारा गया देख राजा युधिष्ठिरका हृदय महान् दुःखसे संतप्त हो उठा ॥ १ ॥

ततस्तस्य महाञ्शोकः प्रादुरासीन्महात्मनः।
स्मरतः पुत्रपौत्राणां भ्रातॄणां स्वजनस्य ह ॥ २ ॥

उस समय पुत्रों, पौत्रों, भाइयों और स्वजनोंका स्मरण करके उन महात्माके मनमें महान् शोक प्रकट हुआ ॥ २ ॥

तमश्रुपरिपूर्णाक्षं वेपमानमचेतसम्।
सुहृदो भृशसंविग्नाः सान्त्वयाञ्चक्रिरे तदा ॥ ३ ॥

उनकी आँखें आँसुओंसे भर आयीं, शरीर काँपने लगा और चेतना लुप्त होने लगी। उनकी ऐसी अवस्था देख उनके सुहृद् अत्यन्त व्याकुल हो उस समय उन्हें सान्त्वना देने लगे ॥ ३ ॥

ततस्तस्मिन् क्षणे कल्पो रथेनादित्यवर्चसा।
नकुलः कृष्णया सार्धमुपायात् परमार्तया ॥ ४ ॥

इसी समय सामर्थ्यशाली नकुल सूर्यके समान तेजस्वी रथके द्वारा शोकसे अत्यन्त पीड़ित हुई कृष्णाको साथ लेकर वहाँ आ पहुँचे ॥ ४ ॥

उपप्लव्यं गता सा तु श्रुत्वा सुमहदप्रियम्।
तदा विनाशं सर्वेषां पुत्राणां व्यथिताभवत् ॥ ५ ॥

उस समय द्रौपदी उपप्लव्य नगरमें गयी हुई थी, वहाँ अपने सारे पुत्रोंके मारे जानेका अत्यन्त अप्रिय समाचार सुनकर वह व्यथित हो उठी थी ॥ ५ ॥

कम्पमानेव कदली वातेनाभिसमीरिता।
कृष्णा राजानमासाद्य शोकार्ता न्यपतद् भुवि ॥ ६ ॥

राजा युधिष्ठिरके पास पहुँचकर शोकसे व्याकुल हुई कृष्णा हवासे हिलायी गयी कदलीके समान कम्पित हो पृथ्वीपर गिर पड़ी ॥ ६ ॥

बभूव वदनं तस्याः सहसा शोककर्षितम्।
फुल्लपद्मपलाशाक्ष्यास्तमोग्रस्त इवांशुमान् ॥ ७ ॥

प्रफुल्ल कमलके समान विशाल एवं मनोहर नेत्रोंवाली द्रौपदीका मुख सहसा शोकसे पीड़ित हो राहुके द्वारा ग्रस्त हुए सूर्यके समान तेजोहीन हो गया ॥ ७ ॥

ततस्तां पतितां दृष्ट्वा संरम्भी सत्यविक्रमः।
बाहुभ्यां परिजग्राह समुत्पत्य वृकोदरः ॥ ८ ॥
सा समाश्वासिता तेन भीमसेनेन भामिनी।

उसे गिरी हुई देख क्रोधमें भरे हुए सत्यपराक्रमी भीमसेनने उछलकर दोनों बाँहोंसे उसको उठा लिया और उस मानिनी पत्नीको धीरज बँधाया ॥ ८½ ॥

रुदती पाण्डवं कृष्णा सा हि भारतमब्रवीत् ॥ ९ ॥
दिष्ट्या राजन्नवाप्येमामखिलां भोक्ष्यसे महीम्।
आत्मजान् क्षत्रधर्मेण सम्प्रदाय यमाय वै ॥ १० ॥

उस समय रोती हुई कृष्णाने भरतनन्दन पाण्डुपुत्र युधिष्ठिरसे कहा—'राजन्! सौभाग्यकी बात है कि आप क्षत्रिय-धर्मके अनुसार अपने पुत्रोंको यमराजकी भेंट चढ़ाकर यह सारी पृथ्वी पा गये और अब इसका उपभोग करेंगे ९-१० ॥

दिष्ट्या त्वं कुशली पार्थ मत्तमातङ्गगामिनीम्।
अवाप्य पृथिवीं कृत्स्नां सौभद्रं न स्मरिष्यसि ॥ ११ ॥

'कुन्तीनन्दन! सौभाग्यसे ही आपने कुशलपूर्वक रहकर इस मत्त-मातङ्गगामिनी सम्पूर्ण पृथ्वीका राज्य प्राप्त कर लिया, अब तो आपको सुभद्राकुमार अभिमन्युकी भी याद नहीं आयेगी ॥ ११ ॥

आत्मजान् क्षत्रधर्मेण श्रुत्वा शूरान् निपातितान्।
उपप्लव्ये मया सार्धं दिष्ट्या त्वं न स्मरिष्यसि ॥ १२ ॥

'अपने वीर पुत्रोंको क्षत्रिय-धर्मके अनुसार मारा गया सुनकर भी आप उपप्लव्यनगरमें मेरे साथ रहते हुए उन्हें सर्वथा भूल जायँगे; यह भी भाग्यकी ही बात है ॥ १२ ॥

प्रसुप्तानां वधं श्रुत्वा द्रौणिना पापकर्मणा।
शोकस्तपति मां पार्थ हुताशन इवाश्रयम् ॥ १३ ॥

'पार्थ! पापाचारी द्रोणपुत्रके द्वारा मेरे सोये हुए पुत्रोंका वध किया गया, यह सुनकर शोक मुझे उसी प्रकार संतप्त कर रहा है, जैसे आग अपने आधारभूत काष्ठको ही जला डालती है ॥ १३ ॥

तस्य पापकृतो द्रौणेर्न चेदद्य त्वया रणे।
ह्रियते सानुबन्धस्य युधि विक्रम्य जीवितम् ॥ १४ ॥
इहैव प्रायमासिष्ये तन्निबोधत पाण्डवाः।
न चेत् फलमवाप्नोति द्रौणिः पापस्य कर्मणः ॥ १५ ॥

'यदि आज आप रणभूमिमें पराक्रम प्रकट करके सगे-सम्बन्धियोंसहित पापाचारी द्रोणकुमारके प्राण नहीं हर लेते

हैं तो मैं यहीं अनशन करके अपने जीवनका अन्त कर दूँगी। पाण्डवो ! आप सब लोग इस बातको कान खोलकर सुन लें। यदि अश्वत्थामा अपने पापकर्मका फल नहीं पा लेता है तो मैं अवश्य प्राण त्याग दूँगी' ॥ १४-१५ ॥

एवमुक्त्वा ततः कृष्णा पाण्डवं प्रत्युपाविशत्।
युधिष्ठिरं याज्ञसेनी धर्मराजं यशस्विनी ॥ १६ ॥

ऐसा कहकर यशस्विनी द्रुपदकुमारी कृष्णा पाण्डुपुत्र युधिष्ठिरके सामने ही अनशनके लिये बैठ गयी ॥ १६ ॥

दृष्ट्वोपविष्टां राजर्षिः पाण्डवो महिषीं प्रियाम्।
प्रत्युवाच स धर्मात्मा द्रौपदीं चारुदर्शनाम् ॥ १७ ॥

अपनी प्रिय महारानी परम सुन्दरी द्रौपदीको उपवासके लिये बैठी देख धर्मात्मा राजर्षि युधिष्ठिरने उससे कहा—॥

धर्म्यं धर्मेण धर्मज्ञे प्राप्तास्ते निधनं शुभे।
पुत्रास्ते भ्रातरश्चैव तान् न शोचितुमर्हसि ॥ १८ ॥

'शुभे ! तुम धर्मको जाननेवाली हो। तुम्हारे पुत्रों और भाइयोंने धर्मपूर्वक युद्ध करके धर्मानुकूल मृत्यु प्राप्त की है; अतः तुम्हें उनके लिये शोक नहीं करना चाहिये ॥ १८ ॥

स कल्याणि वनं दुर्गं दूरं द्रौणिरितो गतः।
तस्य त्वं पातनं संख्ये कथं ज्ञास्यसि शोभने ॥ १९ ॥

'कल्याणि ! द्रोणकुमार तो यहाँसे भागकर दुर्गम वनमें चला गया है। शोभने ! यदि उसे युद्धमें मार गिराया जाय तो भी तुम्हें इसका विश्वास कैसे होगा ?' ॥ १९ ॥

द्रौपद्युवाच

द्रोणपुत्रस्य सहजो मणिः शिरसि मे श्रुतः।
निहत्य संख्ये तं पापं पश्येयं मणिमाहृतम् ॥ २० ॥
राजञ्छिरसि ते कृत्वा जीवेयमिति मे मतिः।

द्रौपदी बोली—महाराज ! मैंने सुना है कि द्रोणपुत्रके मस्तकमें एक मणि है जो उसके जन्मके साथ ही पैदा हुई है। उस पापीको युद्धमें मारकर यदि वह मणि ला दी जायगी तो मैं उसे देख लूँगी राजन् ! उस मणिको आपके सिरपर धारण कराकर ही मैं जीवन धारण कर सकूँगी; ऐसा मेरा दृढ़ निश्चय है २०½

इत्युक्त्वा पाण्डवं कृष्णा राजानं चारुदर्शना ॥ २१ ॥
भीमसेनमथागत्य परमं वाक्यमब्रवीत्।
त्रातुमर्हसि मां भीम क्षत्रधर्ममनुस्मरन् ॥ २२ ॥

पाण्डुपुत्र राजा युधिष्ठिरसे ऐसा कहकर सुन्दरी कृष्णा भीमसेनके पास आयी और यह उत्तम वचन बोली—'प्रिय भीम ! आप क्षत्रिय-धर्मका स्मरण करके मेरे जीवनकी रक्षा कर सकते हैं ॥ २१-२२ ॥

जहि तं पापकर्माणं शम्बरं मघवानिव।
न हि ते विक्रमे तुल्यः पुमानस्तीह कश्चन ॥ २३ ॥

'वीर ! जैसे इन्द्रने शम्बरासुरको मारा था, उसी प्रकार आप भी उस पापकर्मी अश्वत्थामाका वध करें। इस संसारमें कोई भी पुरुष पराक्रममें आपकी समानता करनेवाला नहीं है ॥ २३ ॥

श्रुतं तत् सर्वलोकेषु परमव्यसने यथा।
द्वीपोऽभूस्त्वं हि पार्थानां नगरे वारणावते ॥ २४ ॥

'यह बात सम्पूर्ण जगत्में प्रसिद्ध है कि वारणावतनगरमें जब कुन्तीके पुत्रोंपर भारी सङ्कट पड़ा था, तब आप ही द्वीपके समान उनके रक्षक हुए थे ॥ २४ ॥

हिडिम्बदर्शने चैव तथा त्वमभवो गतिः।
तथा विराटनगरे कीचकेन भृशार्दिताम् ॥ २५ ॥
मामप्युद्धृतवान् कृच्छ्रात् पौलोमीं मघवानिव।

'इसी प्रकार हिडिम्बासुरसे भेंट होनेपर भी आप ही उनके आश्रयदाता हुए। विराटनगरमें जब कीचकने मुझे बहुत तंग कर दिया, तब उस महान् संकटसे आपने मेरा भी उसी तरह उद्धार किया, जैसे इन्द्रने शचीका किया था ॥ २५½ ॥

यथैतान्यकृथाः पार्थ महाकर्माणि वै पुरा ॥ २६ ॥
तथा द्रौणिममित्रघ्न विनिहत्य सुखी भव।

'शत्रुसूदन पार्थ ! जैसे पूर्वकालमें ये महान् कर्म आपने किये थे, उसी प्रकार इस द्रोणपुत्रको भी मारकर सुखी हो जाइये' ॥ २६½ ॥

तस्या बहुविधं दुःखान्निशम्य परिदेवितम् ॥ २७ ॥
नामर्षयत कौन्तेयो भीमसेनो महाबलः।

दुःखके कारण द्रौपदीका यह भाँति-भाँतिका विलाप सुनकर महाबली कुन्तीकुमार भीमसेन इसे सहन न कर सके ॥ २७½ ॥

स काञ्चनविचित्राङ्गमारुरोह महारथम् ॥ २८ ॥
आदाय रुचिरं चित्रं समार्गणगुणं धनुः।
नकुलं सारथिं कृत्वा द्रोणपुत्रवधे धृतः ॥ २९ ॥
विस्फार्य सशरं चापं तूर्णमश्वानचोदयत्।

वे द्रोणपुत्रके वधका निश्चय करके सुवर्णभूषित विचित्र अङ्गोंवाले रथपर आरूढ़ हुए। उन्होंने बाण और प्रत्यञ्चासहित एक सुन्दर एवं विचित्र धनुष हाथमें लेकर नकुलको सारथि बनाया तथा बाणसहित धनुषको फैलाकर तुरंत ही घोड़ोंको हँकवाया ॥ २८-२९½ ॥

ते हयाः पुरुषव्याघ्र चोदिता वातरंहसः ॥ ३० ॥
वेगेन त्वरिता जग्मुर्हरयः शीघ्रगामिनः।

पुरुषसिंह नरेश ! नकुलके द्वारा हाँके गये वे वायुके समान वेगवाले शीघ्रगामी घोड़े बड़ी उतावलीके साथ तीव्र गतिसे चल दिये ॥ ३०½ ॥

शिबिरात् स्वाद् गृहीत्वा स रथस्य पदमच्युतः ॥ ३१ ॥
(द्रोणपुत्रगतेनाशु ययौ मार्गेण भारत।)

भरतनन्दन ! छावनीसे बाहर निकलकर अपनी टेकसे न टलनेवाले भीमसेन अश्वत्थामाके रथका चिह्न देखते हुए उसी मार्गसे शीघ्रतापूर्वक आगे बढ़े, जिससे द्रोणपुत्र अश्वत्थामा गया था ॥ ३१ ॥

इति श्रीमहाभारते सौप्तिकपर्वणि ऐषीकपर्वणि द्रौणिवधार्थं भीमसेनगमने एकादशोऽध्यायः ॥ ११ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत सौप्तिकपर्वके अन्तर्गत ऐषीकपर्वमें अश्वत्थामाके वधके लिये भीमसेनका प्रस्थानविषयक ग्यारहवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ११ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठका ½ श्लोक मिलाकर कुल ३१½ श्लोक हैं)

द्वादशोऽध्यायः

श्रीकृष्णका अश्वत्थामाकी चपलता एवं क्रूरताके प्रसङ्गमें सुदर्शनचक्र माँगनेकी बात सुनाते हुए उससे भीमसेनकी रक्षाके लिये प्रयत्न करनेका आदेश देना

वैशम्पायन उवाच

तस्मिन् प्रयाते दुर्धर्षे यदूनामृषभस्ततः।
अब्रवीत् पुण्डरीकाक्षः कुन्तीपुत्रं युधिष्ठिरम् ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन्! दुर्धर्ष वीर भीमसेनके चले जानेपर यदुकुलतिलक कमलनयन भगवान् श्रीकृष्णने कुन्तीपुत्र युधिष्ठिरसे कहा— ॥ १ ॥

एष पाण्डव ते भ्राता पुत्रशोकपरायणः।
जिघांसुर्द्रौणिमाक्रन्दे एक एवाभिधावति ॥ २ ॥

'पाण्डुनन्दन! ये आपके भाई भीमसेन पुत्रशोकमें मग्न होकर युद्धमें द्रोणकुमारके वधकी इच्छासे अकेले ही उसपर धावा कर रहे हैं ॥ २ ॥

भीमः प्रियस्ते सर्वेभ्यो भ्रातृभ्यो भरतर्षभ।
तं कृच्छ्रगतमद्य त्वं कस्मान्नाभ्युपपद्यसे ॥ ३ ॥

'भरतश्रेष्ठ! भीमसेन आपको समस्त भाइयोंसे अधिक प्रिय हैं; किंतु आज वे संकटमें पड़ गये हैं। फिर आप उनकी सहायताके लिये जाते क्यों नहीं हैं? ॥ ३ ॥

यत् तदाचष्ट पुत्राय द्रोणः परपुरञ्जयः।
अस्त्रं ब्रह्मशिरो नाम दहेत पृथिवीमपि ॥ ४ ॥

'शत्रुओंकी नगरीपर विजय पानेवाले द्रोणाचार्यने अपने पुत्रको जिस ब्रह्मशिर नामक अस्त्रका उपदेश दिया है, वह समस्त भूमण्डलको भी दग्ध कर सकता है ॥ ४ ॥

तन्महात्मा महाभागः केतुः सर्वधनुष्मताम्।
प्रत्यपादयदाचार्यः प्रीयमाणो धनंजयम् ॥ ५ ॥

'सम्पूर्ण धनुर्धरोंके सिरमौर महाभाग महात्मा द्रोणाचार्यने प्रसन्न होकर वह अस्त्र पहले अर्जुनको दिया था ॥ ५ ॥

तं पुत्रोऽप्येक एवैनमन्वयाचदमर्षणः।
ततः प्रोवाच पुत्राय नातिहृष्टमना इव ॥ ६ ॥

'अश्वत्थामा इसे सहन न कर सका। वह उनका एकलौता पुत्र था; अतः उसने भी अपने पितासे उसी अस्त्रके लिये प्रार्थना की। तब आचार्यने अपने पुत्रको उस अस्त्रका उपदेश कर दिया; किंतु इससे उनका मन अधिक प्रसन्न नहीं था ॥ ६ ॥

विदितं चापलं ह्यासीदात्मजस्य दुरात्मनः।
सर्वधर्मविदाचार्यः सोऽन्वशात् स्वसुतं ततः ॥ ७ ॥

'उन्हें अपने दुरात्मा पुत्रकी चपलता ज्ञात थी; अतः सब धर्मोंके ज्ञाता आचार्यने अपने पुत्रको इस प्रकार शिक्षा दी ॥ ७ ॥

परमापद्गतेनापि न स्म तात त्वया रणे।
इदमस्त्रं प्रयोक्तव्यं मानुषेषु विशेषतः ॥ ८ ॥

''बेटा! बड़ी-से-बड़ी आपत्तिमें पड़नेपर भी तुम्हें रणभूमिमें विशेषतः मनुष्योंपर इस अस्त्रका प्रयोग नहीं करना चाहिये' ॥ ८ ॥

इत्युक्तवान् गुरुः पुत्रं द्रोणः पश्चादथोक्तवान्।
न त्वं जातु सतां मार्गे स्थातेति पुरुषर्षभ ॥ ९ ॥

'नरश्रेष्ठ! अपने पुत्रसे ऐसा कहकर गुरु द्रोण पुनः उससे बोले—'बेटा! मुझे संदेह है कि तुम कभी सत्पुरुषोंके मार्गपर स्थिर नहीं रहोगे' ॥ ९ ॥

स तदाज्ञाय दुष्टात्मा पितुर्वचनमप्रियम्।
निराशः सर्वकल्याणैः शोकात् पर्यचरन्महीम् ॥ १० ॥

'पिताके इस अप्रिय वचनको सुन और समझकर दुष्टात्मा द्रोणपुत्र सब प्रकारके कल्याणकी आशा छोड़ बैठा और बड़े शोकसे पृथ्वीपर विचरने लगा ॥ १० ॥

ततस्तदा कुरुश्रेष्ठ वनस्थे त्वयि भारत।
अवसद् द्वारकामेत्य वृष्णिभिः परमार्चितः ॥ ११ ॥

'भरतनन्दन! कुरुश्रेष्ठ! तदनन्तर जब तुम वनमें रहते थे, उन्हीं दिनों अश्वत्थामा द्वारकामें आकर रहने लगा। वहाँ वृष्णिवंशियोंने उसका बड़ा सत्कार किया ॥ ११ ॥

स कदाचित् समुद्रान्ते वसन् द्वारवतीमनु।
एक एकं समागम्य मामुवाच हसन्निव ॥ १२ ॥

'एक दिन द्वारकामें समुद्रके तटपर रहते समय उसने अकेले ही मुझ अकेलेके पास आकर हँसते हुए-से कहा— ॥ १२ ॥

यत् तदुग्रं तपः कृष्ण चरन् सत्यपराक्रमः।
अगस्त्याद् भारताचार्यः प्रत्यपद्यत मे पिता ॥ १३ ॥
अस्त्रं ब्रह्मशिरो नाम देवगन्धर्वपूजितम्।
तदद्य मयि दाशार्ह यथा पितरि मे तथा ॥ १४ ॥
अस्मत्तस्तदुपादाय दिव्यमस्त्रं यदूत्तम।
ममाप्यस्त्रं प्रयच्छ त्वं चक्रं रिपुहणं रणे ॥ १५ ॥

''दशार्हनन्दन! श्रीकृष्ण! भरतवंशके आचार्य मेरे सत्यपराक्रमी पिताने उग्र तपस्या करके महर्षि अगस्त्यसे जो ब्रह्मास्त्र प्राप्त किया था, वह देवताओं और गन्धर्वोंद्वारा सम्मानित अस्त्र इस समय जैसा मेरे पिताके पास है, वैसा ही मेरे पास भी है; अतः यदुश्रेष्ठ! आप मुझसे वह दिव्य अस्त्र लेकर रणभूमिमें शत्रुओंका नाश करनेवाला अपना चक्रनामक अस्त्र मुझे दे दीजिये' ॥ १३—१५ ॥

स राजन् प्रीयमाणेन मयाप्युक्तः कृताञ्जलिः।
याचमानः प्रयत्नेन मत्तोऽस्त्रं भरतर्षभ ॥ १६ ॥

'भरतश्रेष्ठ! वह हाथ जोड़कर बड़े प्रयत्नके द्वारा मुझसे अस्त्रकी याचना कर रहा था, तब मैंने भी प्रसन्नतापूर्वक ही उससे कहा— ॥ १६ ॥

देवदानवगन्धर्वमनुष्यपतगोरगाः ।
न समा मम वीर्यस्य शतांशेनापि पिण्डिताः ॥ १७ ॥

"ब्रह्मन् ! देवता, दानव, गन्धर्व, मनुष्य, पक्षी और नाग—ये सब मिलकर मेरे पराक्रमके सौवें अंशकी भी समानता नहीं कर सकते ॥ १७ ॥

इदं धनुरियं शक्तिरिदं चक्रमियं गदा ।
यद्यदिच्छसि चेदस्त्रं मत्तस्तत् तद् ददामि ते ॥ १८ ॥

"यह मेरा धनुष है, यह शक्ति है, यह चक्र है और यह गदा है । तुम जो-जो अस्त्र मुझसे लेना चाहते हो, वही वह तुम्हें दिये देता हूँ ॥ १८ ॥

यच्छक्नोषि समुद्यन्तुं प्रयोक्तुमपि वा रणे ।
तद् गृहाण विनास्त्रेण यन्मे दातुमभीप्ससि ॥ १९ ॥

"तुम मुझे जो अस्त्र देना चाहते हो, उसे दिये बिना ही रणभूमिमें मेरे जिस आयुधको उठा अथवा चला सको, उसे ही ले लो' ॥ १९ ॥

स सुनाभं सहस्रारं वज्रनाभमयस्मयम् ।
वव्रे चक्रं महाभागो मत्तः स्पर्धन्मया सह ॥ २० ॥

'तब उस महाभागने मेरे साथ स्पर्धा रखते हुए मुझसे मेरा वह लोहमय चक्र माँगा, जिसकी सुन्दर नाभिमें वज्र लगा हुआ है तथा जो एक सहस्र अरोंसे सुशोभित होता है ! ॥

गृहाण चक्रमित्युक्तो मया तु तदनन्तरम् ।
जग्राहोत्पत्य सहसा चक्रं सव्येन पाणिना ॥ २१ ॥

'मैंने भी कह दिया—'ले लो चक्र,' मेरे इतना कहते ही उसने सहसा उछलकर बायें हाथसे चक्रको पकड़ लिया ।२१।

न चैनमशकत् स्थानात् संचालयितुमप्युत ।
अथैनं दक्षिणेनापि ग्रहीतुमुपचक्रमे ॥ २२ ॥

'परंतु वह उसे अपनी जगहसे हिला भी न सका । तब उसने उसे दाहिने हाथसे उठानेका प्रयत्न आरम्भ किया ॥

सर्वयत्नबलेनापि गृह्णन्नेवमिदं ततः ।
ततः सर्वबलेनापि यदैनं न शशाक ह ॥ २३ ॥
उद्यन्तुं वा चालयितुं द्रौणिः परमदुर्मनाः ।
कृत्वा यत्नं परिश्रान्तः स न्यवर्तत भारत ॥ २४ ॥

'सारा प्रयत्न और सारी शक्ति लगाकर भी जब उसे पकड़कर उठा अथवा हिला न सका, तब द्रोणकुमार मन-ही-मन बहुत दुखी हो गया । भारत ! यत्न करके थक जानेपर वह उसे लेनेकी चेष्टासे निवृत्त हो गया ॥ २३-२४ ॥

निवृत्तमनसं तस्मादभिप्रायाद् विचेतसम् ।
अहमामन्त्र्य संविग्नमश्वत्थामानमब्रुवम् ॥ २५ ॥

'जब उस संकल्पसे उसका मन हट गया और वह दुःखसे अचेत एवं उद्विग्न हो गया, तब मैंने अश्वत्थामाको बुलाकर पूछा— ॥ २५ ॥

यः सदैव मनुष्येषु प्रमाणं परमं गतः ।
गाण्डीवधन्वा श्वेताश्वः कपिप्रवरकेतनः ॥ २६ ॥
यः साक्षाद् देवदेवेशं शितिकण्ठमुमापतिम् ।
द्वन्द्वयुद्धे पराजिष्णुस्तोषयामास शङ्करम् ॥ २७ ॥
यस्मात् प्रियतरो नास्ति ममान्यः पुरुषो भुवि ।
नादेयं यस्य मे किञ्चिदपि दाराः सुतास्तथा ॥ २८ ॥
तेनापि सुहृदा ब्रह्मन् पार्थेनाक्लिष्टकर्मणा ।
नोक्तपूर्वमिदं वाक्यं यत् त्वं मामभिभाषसे ॥ २९ ॥

"ब्रह्मन् ! जो मनुष्य समाजमें सदा ही परम प्रामाणिक समझे जाते हैं, जिनके पास गाण्डीव धनुष और श्वेत घोड़े हैं, जिनकी ध्वजापर श्रेष्ठ वानर विराजमान होता है, जिन्होंने द्वन्द्वयुद्धमें साक्षात् देवदेवेश्वर नीलकण्ठ उमावल्लभ भगवान् शङ्करको पराजित करनेका साहस करके उन्हें संतुष्ट किया था, इस भूमण्डलमें मुझे जिनसे बढ़कर परम प्रिय दूसरा कोई मनुष्य नहीं है, जिनके लिये मेरे पास स्त्री, पुत्र आदि कोई भी ऐसी वस्तु नहीं है, जो देने योग्य न हो, अनायास ही महान् कर्म करनेवाले मेरे उस प्रिय सुहृद् कुन्तीकुमार अर्जुनने भी पहले कभी ऐसी बात नहीं कही थी, जो आज तुम मुझसे कह रहे हो ॥ २६–२९ ॥

ब्रह्मचर्यं महद् घोरं तीर्त्वा द्वादशवार्षिकम् ।
हिमवत्पार्श्वमास्थाय यो मया तपसार्जितः ॥ ३० ॥
समानव्रतचारिण्यां रुक्मिण्यां योऽन्वजायत ।
सनत्कुमारस्तेजस्वी प्रद्युम्नो नाम मे सुतः ॥ ३१ ॥
तेनाप्येतन्महद् दिव्यं चक्रमप्रतिमं रणे ।
न प्रार्थितमभून्मूढ यदिदं प्रार्थितं त्वया ॥ ३२ ॥

" मूढ ब्राह्मण ! मैंने बारह वर्षोंतक अत्यन्त घोर ब्रह्मचर्यव्रतका पालन करके हिमालयकी घाटीमें रहकर बड़ी भारी तपस्याके द्वारा जिसे प्राप्त किया था, मेरे समान व्रतका पालन करनेवाली रुक्मिणीदेवीके गर्भसे जिसका जन्म हुआ है, जिसके रूपमें साक्षात् तेजस्वी सनत्कुमारने ही मेरे यहाँ अवतार लिया है, वह प्रद्युम्न मेरा प्रिय पुत्र है । परंतु रणभूमिमें जिसकी कहीं तुलना नहीं है, मेरे इस परम दिव्य चक्रको कभी उस प्रद्युम्नने भी नहीं माँगा था, जिसकी आज तुमने माँग की है ॥ ३०–३२ ॥

रामेणातिबलेनैतन्नोक्तपूर्वं कदाचन ।
न गदेन न साम्बेन यदिदं प्रार्थितं त्वया ॥ ३३ ॥

"अत्यन्त बलशाली बलरामजीने भी पहले कभी ऐसी बात नहीं कही है । जिसे तुमने माँगा है, उसे गद और साम्बने भी कभी लेनेकी इच्छा नहीं की ॥ ३३ ॥

द्वारकावासिभिश्चान्यैर्वृष्ण्यन्धकमहारथैः ।
नोक्तपूर्वमिदं जातु यदिदं प्रार्थितं त्वया ॥ ३४ ॥

"द्वारकामें निवास करनेवाले जो अन्य वृष्णि तथा अन्धकवंशके महारथी हैं, उन्होंने भी कभी मेरे सामने ऐसा प्रस्ताव नहीं किया था, जैसा कि तुमने इस चक्रको माँगते हुए किया है ॥ ३४ ॥

भारताचार्यपुत्रस्त्वं मानितः सर्वयादवैः ।
चक्रेण रथिनां श्रेष्ठ कं नु तात युयुत्ससे ॥ ३५ ॥

"तात ! रथियोंमें श्रेष्ठ ! तुम तो भरतकुलके आचार्यके

पुत्र हो। सम्पूर्ण यादवोंने तुम्हारा बड़ा सम्मान किया है। फिर बताओ तो सही, इस चक्रके द्वारा तुम किसके साथ युद्ध करना चाहते हो?' ॥ ३५ ॥

एवमुक्तो मया द्रौणिर्मामिदं प्रत्युवाच ह।
प्रयुज्य भवते पूजां योत्स्ये कृष्ण त्वया सह ॥ ३६ ॥
प्रार्थितं ते मया चक्रं देवदानवपूजितम्।
अजेयः स्यामिति विभो सत्यमेतद् ब्रवीमि ते ॥ ३७ ॥

'जब मैंने इस तरह पूछा, तब द्रोणकुमारने मुझे इस प्रकार उत्तर दिया—'श्रीकृष्ण! मैं आपकी पूजा करके फिर आपके ही साथ युद्ध करूँगा। प्रभो! मैं यह सच कहता हूँ कि मैंने इस देव-दानवपूजित चक्रको आपसे इसीलिये माँगा था कि इसे पाकर अजेय हो जाऊँ ॥ ३६-३७ ॥

त्वत्तोऽहं दुर्लभं काममनवाप्यैव केशव।
प्रतियास्यामि गोविन्द शिवेनाभिवदस्व माम् ॥ ३८ ॥

''किंतु केशव! अब मैं अपनी इस दुर्लभ कामनाको आपसे प्राप्त किये बिना ही लौट जाऊँगा। गोविन्द! आप मुझसे केवल इतना कह दें कि 'तेरा कल्याण हो' ॥ ३८ ॥

एतत् सुभीमं भीमानामृषभेण त्वया धृतम्।
चक्रमप्रतिचक्रेण भुवि नान्योऽभिपद्यते ॥ ३९ ॥

''यह चक्र अत्यन्त भयंकर है और आप भी भयानक वीरोंके शिरोमणि हैं। आपके किसी विरोधीके पास ऐसा चक्र नहीं है। आपने ही इसे धारण कर रक्खा है। इस भूतलपर दूसरा कोई पुरुष इसे नहीं उठा सकता' ॥ ३९ ॥

एतावदुक्त्वा द्रौणिर्मां युग्यानश्वान् धनानि च।
आदायोपययौ काले रत्नानि विविधानि च ॥ ४० ॥

'मुझसे इतना ही कहकर द्रोणकुमार अश्वत्थामा रथमें जोतने योग्य घोड़े, धन तथा नाना प्रकारके रत्न लेकर वहाँसे यथासमय लौट गया ॥ ४० ॥

स संरम्भी दुरात्मा च चपलः क्रूर एव च।
वेद चास्त्रं ब्रह्मशिरस्तस्माद् रक्ष्यो वृकोदरः ॥ ४१ ॥

'वह क्रोधी, दुरात्मा, चपल और क्रूर है। साथ ही उसे ब्रह्मास्त्रका भी ज्ञान है; अतः उससे भीमसेनकी रक्षा करनी चाहिये' ॥ ४१ ॥

इति श्रीमहाभारते सौप्तिकपर्वणि ऐषीकपर्वणि युधिष्ठिरकृष्णसंवादे द्वादशोऽध्यायः ॥ १२ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत सौप्तिकपर्वके अन्तर्गत ऐषीकपर्वमें युधिष्ठिर और श्रीकृष्णका संवादविषयक बारहवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १२ ॥

त्रयोदशोऽध्यायः

श्रीकृष्ण, अर्जुन और युधिष्ठिरका भीमसेनके पीछे जाना, भीमका गङ्गातटपर पहुँचकर अश्वत्थामाको ललकारना और अश्वत्थामाके द्वारा ब्रह्मास्त्रका प्रयोग

वैशम्पायन उवाच

एवमुक्त्वा युधां श्रेष्ठः सर्वयादवनन्दनः।
सर्वायुधवरोपेतमारुरोह रथोत्तमम् ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन्! सम्पूर्ण यादवकुलको आनन्दित करनेवाले योद्धाओंमें श्रेष्ठ भगवान् श्रीकृष्ण ऐसा कहकर समस्त श्रेष्ठ आयुधोंसे सम्पन्न उत्तम रथपर आरूढ़ हुए ॥ १ ॥

युक्तं परमकाम्बोजैस्तुरगैर्हेममालिभिः।
आदित्योदयवर्णस्य धुरं रथवरस्य तु ॥ २ ॥
दक्षिणामवहच्छैब्यः सुग्रीवः सव्यतोऽभवत्।
पार्ष्णिवाहौ तु तस्यास्तां मेघपुष्पबलाहकौ ॥ ३ ॥

उसमें सोनेकी माला पहने हुए अच्छी जातिके काबुली घोड़े जुते हुए थे। उस श्रेष्ठ रथकी कान्ति उदयकालीन सूर्यके समान अरुण थी। उसकी दाहिनी धुराका बोझ शैब्य ढो रहा था और बायींका सुग्रीव। उन दोनोंके पार्श्वभागमें क्रमशः मेघपुष्प और बलाहक जुते हुए थे ॥ २-३ ॥

विश्वकर्मकृता दिव्या रत्नधातुविभूषिता।
उच्छ्रितेव रथे माया ध्वजयष्टिरदृश्यत ॥ ४ ॥

उस रथपर विश्वकर्माद्वारा निर्मित तथा रत्नमय धातुओंसे विभूषित दिव्य ध्वजा दिखायी दे रही थी, जो ऊँचे उठी हुई मायाके समान प्रतीत होती थी ॥ ४ ॥

वैनतेयः स्थितस्तस्यां प्रभामण्डलरश्मिवान्।
तस्य सत्यवतः केतुर्भुजगारिरदृश्यत ॥ ५ ॥

उस ध्वजापर प्रभापुञ्ज एवं किरणोंसे सुशोभित विनतानन्दन गरुड़ विराज रहे थे। सर्पोंके शत्रु गरुड़ सत्यवान् श्रीकृष्णके रथकी पताकाके रूपमें दृष्टिगोचर हो रहे थे ॥ ५ ॥

अथारोहद्धृषीकेशः केतुः सर्वधनुष्मताम्।
अर्जुनः सत्यकर्मा च कुरुराजो युधिष्ठिरः ॥ ६ ॥

सम्पूर्ण धनुर्धरोंमें श्रेष्ठ श्रीकृष्ण पहले उस रथपर सवार हुए। तत्पश्चात् सत्यपराक्रमी अर्जुन तथा कुरुराज युधिष्ठिर उस रथपर बैठे ॥ ६ ॥

अशोभेतां महात्मानौ दाशार्हमभितः स्थितौ।
रथस्थं शार्ङ्गधन्वानमश्विनाविव वासवम् ॥ ७ ॥

वे दोनों महात्मा पाण्डव रथपर स्थित हुए शार्ङ्ग धनुषधारी दशार्हकुलनन्दन श्रीकृष्णके समीप विराजमान हो इन्द्रके पास बैठे हुए दोनों अश्विनीकुमारोंके समान सुशोभित हो रहे थे ॥ ७ ॥

तावुपारोप्य दाशार्हः स्यन्दनं लोकपूजितम्।
प्रतोदेन जवोपेतान् परमाश्वानचोदयत् ॥ ८ ॥

उन दोनों भाइयोंको उस लोकपूजित रथपर चढ़ाकर दशार्हवंशी श्रीकृष्णने वेगशाली उत्तम अश्वोंको चाबुकसे हाँका।

ते हयाः सहसोत्पेतुर्गृहीत्वा स्यन्दनोत्तमम् ।
आस्थितं पाण्डवेयाभ्यां यदूनामृषभेण च ॥ ९ ॥

वे घोड़े दोनों पाण्डवों तथा यदुकुलतिलक श्रीकृष्णकी सवारीमें आये हुए उस उत्तम रथको लेकर सहसा उड़ चले ॥

वहतां शार्ङ्गधन्वानमश्वानां शीघ्रगामिनाम् ।
प्रादुरासीन्महाञ्शब्दः पक्षिणां पततामिव ॥ १० ॥

शार्ङ्गधन्वा श्रीकृष्णकी सवारी ढोते हुए उन शीघ्रगामी अश्वोंका महान् शब्द उड़ते हुए पक्षियोंके समान प्रकट हो रहा था ॥ १० ॥

ते समाच्छंन्नरव्याघ्राः क्षणेन भरतर्षभ ।
भीमसेनं महेष्वासं समनुद्रुत्य वेगिताः ॥ ११ ॥

भरतश्रेष्ठ ! वे तीनों नरश्रेष्ठ बड़े वेगसे पीछे-पीछे दौड़कर क्षणभरमें महाधनुर्धर भीमसेनके पास जा पहुँचे ॥ ११ ॥

क्रोधदीप्तं तु कौन्तेयं द्विषदर्थे समुद्यतम् ।
नाशक्नुवन् वारयितुं समेत्यापि महारथाः ॥ १२ ॥

इस समय कुन्तीकुमार भीमसेन क्रोधसे प्रज्वलित हो शत्रुका संहार करनेके लिये तुले हुए थे । इसलिये वे तीनों महारथी उनसे मिलकर भी उन्हें रोक न सके ॥ १२ ॥

स तेषां प्रेक्षतामेव श्रीमतां दृढधन्विनाम् ।
ययौ भागीरथीतीरं हरिभिर्भृशवेगितैः ॥ १३ ॥
यत्र स्म श्रूयते द्रौणिः पुत्रहन्ता महात्मनाम् ।

उन सुदृढ़ धनुर्धर तेजस्वी वीरोंके देखते-देखते वे अत्यन्त वेगशाली घोड़ोंके द्वारा भागीरथीके तटपर जा पहुँचे, जहाँ उन महात्मा पाण्डवोंके पुत्रोंका वध करनेवाला अश्वत्थामा बैठा सुना गया था ॥ १३½ ॥

स ददर्श महात्मानमुदकान्ते यशस्विनम् ॥ १४ ॥
कृष्णद्वैपायनं व्यासमासीनमृषिभिः सह ।
तं चैव क्रूरकर्माणं घृताक्तं कुशचीरिणम् ॥ १५ ॥
रजसा ध्वस्तमासीनं ददर्श द्रौणिमन्तिके ।

वहाँ जाकर उन्होंने गङ्गाजीके जलके किनारे परम यशस्वी महात्मा श्रीकृष्ण द्वैपायन व्यासको अनेकों महर्षियोंके साथ बैठे देखा । उनके पास ही वह क्रूरकर्मा द्रोणपुत्र भी बैठा दिखायी दिया । उसने अपने शरीरमें घी लगाकर कुशका चीर पहन रक्खा था । उसके सारे अङ्गोंपर धूल छा रही थी ॥ १४-१५½ ॥

तमभ्यधावत् कौन्तेयः प्रगृह्य सशरं धनुः ॥ १६ ॥
भीमसेनो महाबाहुस्तिष्ठ तिष्ठेति चाब्रवीत् ।

कुन्तीकुमार महाबाहु भीमसेन बाणसहित धनुष लिये उसकी ओर दौड़े और बोले—'अरे ! खड़ा रह, खड़ा रह' ॥

स दृष्ट्वा भीमधन्वानं प्रगृहीतशरासनम् ॥ १७ ॥
भ्रातरौ पृष्ठतश्चास्य जनार्दनरथे स्थितौ ।
व्यथितात्माभवद् द्रौणिः प्राप्तं चेदममन्यत ॥ १८ ॥

अश्वत्थामाने देखा कि भयंकर धनुर्धर भीमसेन हाथमें धनुष लिये आ रहे हैं । उनके पीछे श्रीकृष्णके रथपर बैठे हुए दो भाई और हैं । यह सब देखकर द्रोणकुमारके हृदयमें बड़ी व्यथा हुई । उस घबराहटमें उसने यही करना उचित समझा ॥ १७-१८ ॥

स तद् दिव्यमदीनात्मा परमास्त्रमचिन्तयत् ।
जग्राह च स चैषीकां द्रौणिः सव्येन पाणिना ॥ १९ ॥

उदारहृदय अश्वत्थामाने उस दिव्य एवं उत्तम अस्त्रका चिन्तन किया । साथ ही बायें हाथसे एक सींक उठा ली ॥

स तामापदमासाद्य दिव्यमस्त्रमुदैरयत् ।
अमृष्यमाणस्ताञ्छूरान् दिव्यायुधधरान् स्थितान् ॥ २० ॥
अपाण्डवायेति रुषा व्यसृजद् दारुणं वचः ।

दिव्य आयुध धारण करके खड़े हुए उन शूरवीरोंका आना वह सहन न कर सका । उस आपत्तिमें पड़कर उसने रोषपूर्वक दिव्यास्त्रका प्रयोग किया और मुखसे कठोर वचन निकाला कि 'यह अस्त्र समस्त पाण्डवोंका विनाश कर डाले' ॥

इत्युक्त्वा राजशार्दूल द्रोणपुत्रः प्रतापवान् ॥ २१ ॥
सर्वलोकप्रमोहार्थं तदस्त्रं प्रमुमोच ह ।

नृपश्रेष्ठ ! ऐसा कहकर प्रतापी द्रोणपुत्रने सम्पूर्ण लोकोंको मोहमें डालनेके लिये वह अस्त्र छोड़ दिया ॥ २१½ ॥

ततस्तस्यामिषीकायां पावकः समजायत ।
प्रधक्ष्यन्निव लोकांस्त्रीन् कालान्तकयमोपमः ॥ २२ ॥

तदनन्तर उस सींकमें काल, अन्तक और यमराजके समान भयंकर आग प्रकट हो गयी । उस समय ऐसा जान पड़ा कि वह अग्नि तीनों लोकोंको जलाकर भस्म कर डालेगी ॥ २२ ॥

इति श्रीमहाभारते सौप्तिकपर्वणि ऐषीकपर्वणि ब्रह्मशिरोऽस्त्रत्यागे त्रयोदशोऽध्यायः ॥ १३ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत सौप्तिकपर्वके अन्तर्गत ऐषीकपर्वमें अश्वत्थामाके द्वारा ब्रह्मास्त्रका प्रयोगविषयक तेरहवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १३ ॥

चतुर्दशोऽध्यायः

अश्वत्थामाके अस्त्रका निवारण करनेके लिये अर्जुनके द्वारा ब्रह्मास्त्रका प्रयोग एवं वेदव्यासजी और देवर्षि नारदका प्रकट होना

वैशम्पायन उवाच

इङ्गितेनैव दाशार्हस्तमभिप्रायमादितः ।
द्रौणेर्बुद्ध्वा महाबाहुरर्जुनं प्रत्यभाषत ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन् ! दशार्हनन्दन महाबाहु भगवान् श्रीकृष्ण अश्वत्थामाकी चेष्टासे ही उसके मनका भाव पहले ही ताड़ गये थे । उन्होंने अर्जुनसे कहा—॥

अर्जुनार्जुन यद्दिव्यमस्त्रं ते हृदि वर्तते ।
द्रोणोपदिष्टं तस्यायं कालः सम्प्रति पाण्डव ॥ २ ॥

'अर्जुन ! अर्जुन ! पाण्डुनन्दन ! आचार्य द्रोणका उपदेश किया हुआ जो दिव्य अस्त्र तुम्हारे हृदयमें विद्यमान है, उसके प्रयोगका अब यह समय आ गया है ॥ २ ॥

भ्रातृणामात्मनश्चैव परित्राणाय भारत ।
विसृजैतत् त्वमप्याजावस्त्रमस्त्रनिवारणम् ॥ ३ ॥

'भरतनन्दन ! भाइयोंकी और अपनी रक्षाके लिये तुम भी युद्धमें इस ब्रह्मास्त्रका प्रयोग करो । अश्वत्थामाके अस्त्रका निवारण इसीके द्वारा हो सकता है' ॥ ३ ॥

केशवेनैवमुक्तोऽथ पाण्डवः परवीरहा ।
अवातरद् रथात् तूर्णं प्रगृह्य सशरं धनुः ॥ ४ ॥

भगवान् श्रीकृष्णके ऐसा कहनेपर शत्रुवीरोंका संहार करनेवाले पाण्डुपुत्र अर्जुन धनुष-बाण हाथमें लेकर तुरंत ही रथसे नीचे उतर गये ॥ ४ ॥

पूर्वमाचार्यपुत्राय ततोऽनन्तरमात्मने ।
भ्रातृभ्यश्चैव सर्वेभ्यः स्वस्तीत्युक्त्वा परंतपः ॥ ५ ॥
देवताभ्यो नमस्कृत्य गुरुभ्यश्चैव सर्वशः ।
उत्ससर्ज शिवं ध्यायन्नस्त्रमस्त्रेण शाम्यताम् ॥ ६ ॥

शत्रुओंको संताप देनेवाले अर्जुनने सबसे पहले यह कहा कि 'आचार्यपुत्रका कल्याण हो' । तत्पश्चात् अपने और सम्पूर्ण भाइयोंके लिये मङ्गल-कामना करके उन्होंने देवताओं और सभी गुरुजनोंको नमस्कार किया । इसके बाद 'इस ब्रह्मास्त्रसे शत्रुका ब्रह्मास्त्र शान्त हो जाय' ऐसा संकल्प करके सबके कल्याणकी भावना करते हुए अपना दिव्य अस्त्र छोड़ दिया ॥ ५-६ ॥

ततस्तदस्त्रं सहसा सृष्टं गाण्डीवधन्वना ।
प्रजज्वाल महार्चिष्मद् युगान्तानलसंनिभम् ॥ ७ ॥

गाण्डीवधारी अर्जुनके द्वारा छोड़ा गया वह ब्रह्मास्त्र सहसा प्रज्वलित हो उठा । उससे प्रलयाग्निके समान बड़ी-बड़ी लपटें उठने लगीं ॥ ७ ॥

तथैव द्रोणपुत्रस्य तदस्त्रं तिग्मतेजसः ।
प्रजज्वाल महाज्वालं तेजोमण्डलसंवृतम् ॥ ८ ॥

इसी प्रकार प्रचण्ड तेजस्वी द्रोणपुत्रका वह अस्त्र भी तेजोमण्डलसे घिरकर बड़ी-बड़ी ज्वालाओंके साथ जलने लगा॥

निर्घाता बहवश्चासन् पेतुरुल्काः सहस्रशः ।
महद् भयं च भूतानां सर्वेषां समजायत ॥ ९ ॥

उस समय बारंबार वज्रपातके समान शब्द होने लगे, आकाशसे सहस्रों उल्काएँ टूट-टूटकर गिरने लगीं और समस्त प्राणियोंपर महान् भय छा गया ॥ ९ ॥

सशब्दमभवद् व्योम ज्वालामालाकुलं भृशम् ।
चचाल च मही कृत्स्ना सपर्वतवनद्रुमा ॥ १०॥

सारा आकाश आगकी प्रचण्ड ज्वालाओंसे व्याप्त हो उठा और वहाँ जोर-जोरसे शब्द होने लगा । पर्वत, वन और वृक्षोंसहित सारी पृथ्वी हिलने लगी ॥ १० ॥

ते त्वस्त्रतेजसी लोकांस्तापयन्ती व्यवस्थिते ।
महर्षी सहितौ तत्र दर्शयामासतुस्तदा ॥ ११॥
नारदः सर्वभूतात्मा भरतानां पितामहः ।

उन दोनों अस्त्रोंके तेज समस्त लोकोंको संतप्त करते हुए वहाँ स्थित हो गये । उस समय वहाँ सम्पूर्ण भूतोंके आत्मा नारद तथा भरतवंशके पितामह व्यास इन दोनों महर्षियोंने एक साथ दर्शन दिया ॥ ११½ ॥

उभौ शमयितुं वीरौ भारद्वाजधनंजयौ ॥ १२॥
तौ मुनी सर्वधर्मज्ञौ सर्वभूतहितैषिणौ ।
दीप्तयोरस्त्रयोर्मध्ये स्थितौ परमतेजसौ ॥ १३॥

सम्पूर्ण धर्मोंके ज्ञाता तथा समस्त प्राणियोंके हितैषी वे दोनों परम तेजस्वी मुनि अश्वत्थामा और अर्जुन—इन दोनों वीरोंको शान्त करनेके लिये इनके प्रज्वलित अस्त्रोंके बीचमें खड़े हो गये ॥ १२-१३ ॥

तदन्तरमथाधृष्यावुपगम्य यशस्विनौ ।
आस्तामृषिवरौ तत्र ज्वलिताविव पावकौ ॥ १४॥

उन अस्त्रोंके बीचमें आकर वे दुर्धर्ष एवं यशस्वी मुनिप्रवर दो प्रज्वलित अग्नियोंके समान वहाँ स्थित हो गये ॥

प्राणभृद्भिरनाधृष्यौ देवदानवसम्मतौ ।
अस्त्रतेजः शमयितुं लोकानां हितकाम्यया ॥ १५॥

कोई भी प्राणी उन दोनोंका तिरस्कार नहीं कर सकता था । देवता और दानव दोनों ही उनका सम्मान करते थे । वे समस्त लोकोंके हितकी कामनासे उन अस्त्रोंके तेजको शान्त करानेके लिये वहाँ आये थे ॥ १५ ॥

ऋषी ऊचतुः

नानाशस्त्रविदः पूर्वे येऽप्यतीता महारथाः ।
नैतदस्त्रं मनुष्येषु तैः प्रयुक्तं कथंचन ।
किमिदं साहसं वीरौ कृतवन्तौ महात्ययम् ॥ १६॥

उन दोनों ऋषियोंने उन दोनों वीरोंसे कहा—'वीरो ! पूर्वकालमें भी जो बहुत-से महारथी हो चुके हैं, वे नाना प्रकारके शस्त्रोंके जानकार थे, परंतु उन्होंने किसी प्रकार भी मनुष्योंपर इस अस्त्रका प्रयोग नहीं किया था। तुम दोनोंने यह महान् विनाशकारी दुःसाहस क्यों किया है ?'

इति श्रीमहाभारते सौप्तिकपर्वणि ऐषीकपर्वणि अर्जुनास्त्रत्यागे चतुर्दशोऽध्यायः ॥ १४ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत सौप्तिकपर्वके अन्तर्गत ऐषीकपर्वमें अर्जुनके द्वारा ब्रह्मास्त्रका प्रयोगविषयक चौदहवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १४ ॥
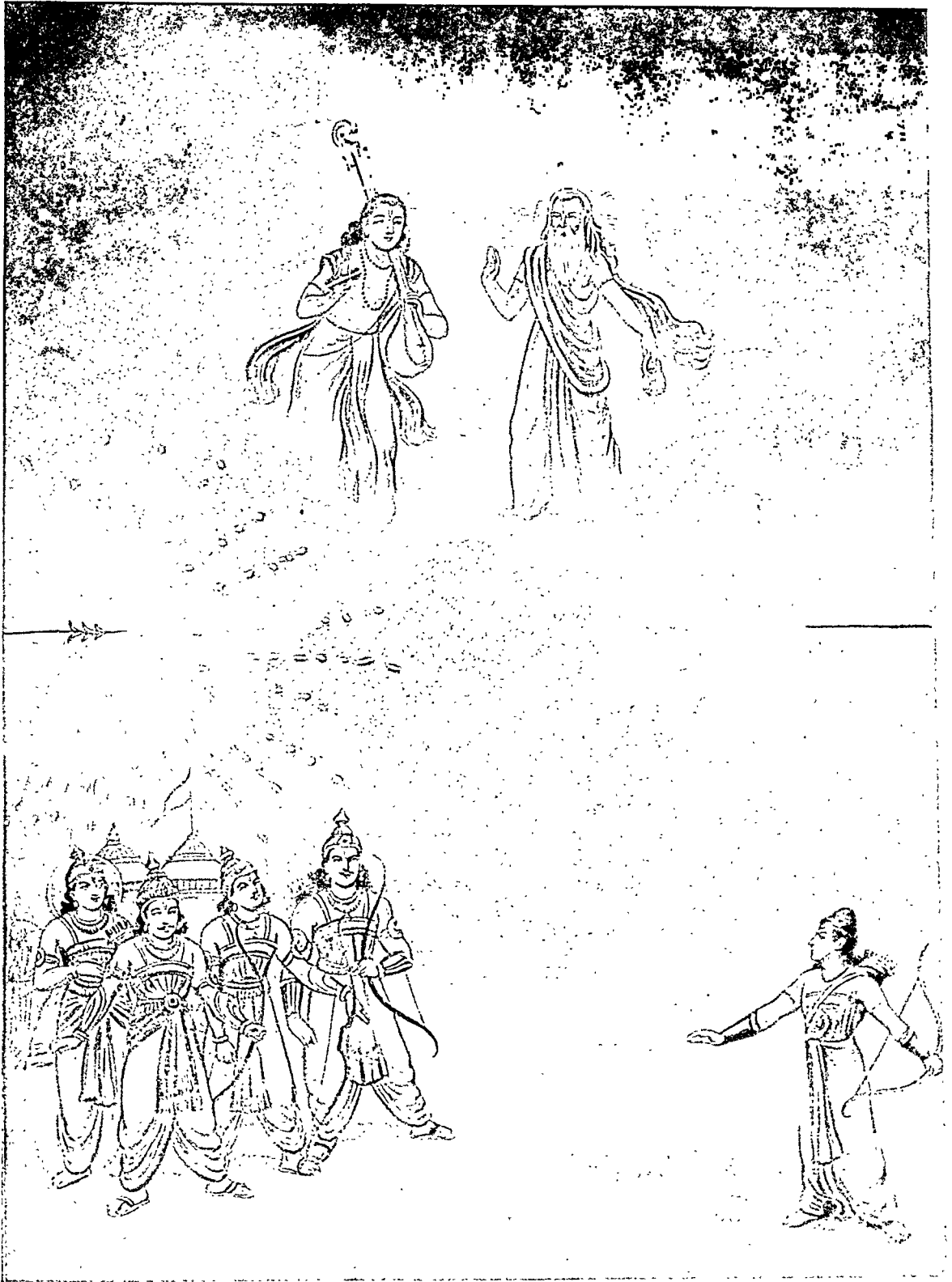
अश्वत्थामा एवं अर्जुनके छोड़े हुए ब्रह्मास्त्रोंको शान्त करनेके लिये नारदजी और व्यासजीका आगमन

पञ्चदशोऽध्यायः

वेदव्यासजीकी आज्ञासे अर्जुनके द्वारा अपने अस्त्रका उपसंहार तथा अश्वत्थामाका अपनी मणि देकर पाण्डवोंके गर्भोंपर दिव्यास्त्र छोड़ना

वैशम्पायन उवाच

दृष्ट्वैव नरशार्दूल तावग्निसमतेजसौ।
गाण्डीवधन्वा संचिन्त्य प्राप्तकालं महारथः।
संजहार शरं दिव्यं त्वरमाणो धनंजयः॥ १॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—नरश्रेष्ठ! उन अग्निके समान तेजस्वी दोनों महर्षियोंको देखते ही गाण्डीवधारी महारथी अर्जुनने समयोचित कर्त्तव्यका विचार करके बड़ी फुर्तीसे अपने दिव्यास्त्रका उपसंहार आरम्भ किया॥ १॥

उवाच भरतश्रेष्ठ तावृषी प्राञ्जलिस्तदा।
प्रमुक्तमस्त्रमस्त्रेण शाम्यतामिति वै मया॥ २॥
संहृते परमास्त्रेऽस्मिन् सर्वानस्मानशेषतः।
पापकर्मा ध्रुवं द्रौणिः प्रधक्ष्यत्यस्त्रतेजसा॥ ३॥

भरतश्रेष्ठ! उस समय उन्होंने हाथ जोड़कर उन दोनों महर्षियोंसे कहा—'मुनिवरो! मैंने तो इसी उद्देश्यसे यह अस्त्र छोड़ा था कि इसके द्वारा शत्रुका छोड़ा हुआ ब्रह्मास्त्र शान्त हो जाय। अब इस उत्तम अस्त्रको लौटा लेनेपर पापाचारी अश्वत्थामा अपने अस्त्रके तेजसे अवश्य ही हम सब लोगोंको भस्म कर डालेगा॥ २-३॥

यदत्र हितमस्माकं लोकानां चैव सर्वथा।
भवन्तौ देवसंकाशौ तथा सम्मन्तुमर्हतः॥ ४॥

'आप दोनों देवताके तुल्य हैं; अतः इस समय जैसा करनेसे हमारा और सब लोगोंका सर्वथा हित हो, उसीके लिये आप हमें सलाह दें'॥ ४॥

इत्युक्त्वा संजहारास्त्रं पुनरेवं धनंजयः।
संहारो दुष्करस्तस्य देवैरपि हि संयुगे॥ ५॥
विसृष्टस्य रणे तस्य परमास्त्रस्य संग्रहे।
अशक्तः पाण्डवादन्यः साक्षादपि शतक्रतुः॥ ६॥

ऐसा कहकर अर्जुनने पुनः उस अस्त्रको पीछे लौटा लिया। युद्धमें उसे लौटा लेना देवताओंके लिये भी दुष्कर था। संग्राममें एक बार उस दिव्य अस्त्रको छोड़ देनेपर पुनः उसे लौटा लेनेमें पाण्डुपुत्र अर्जुनके सिवा साक्षात् इन्द्र भी समर्थ नहीं थे॥ ५-६॥

ब्रह्मतेजोद्भवं तद्धि विसृष्टमकृतात्मना।
न शक्यमावर्तयितुं ब्रह्मचारिव्रतादृते॥ ७॥

वह अस्त्र ब्रह्मतेजसे प्रकट हुआ था। यदि अजितेन्द्रिय पुरुषके द्वारा इसका प्रयोग किया गया हो तो उसके लिये इसे पुनः लौटाना असम्भव है; क्योंकि ब्रह्मचर्य-व्रतका पालन किये बिना कोई इसे लौटा नहीं सकता॥ ७॥

अचीर्णब्रह्मचर्यो यः सृष्ट्वा वर्तयते पुनः।
तदस्त्रं सानुबन्धस्य मूर्धानं तस्य कृन्तति॥ ८॥

जिसने ब्रह्मचर्यका पालन नहीं किया हो, वह पुरुष यदि उसका एक बार प्रयोग करके उसे फिर लौटानेका प्रयत्न करे तो वह अस्त्र सगे-सम्बन्धियोंसहित उसका सिर काट लेता था॥ ८॥

ब्रह्मचारी व्रती चापि दुरवापमवाप्य तत्।
परमव्यसनार्तोऽपि नार्जुनोऽस्त्रं व्यमुञ्चत॥ ९॥

अर्जुनने ब्रह्मचारी तथा व्रतधारी रहकर ही उस दुर्लभ अस्त्रको प्राप्त किया था। वे बड़े-से-बड़े सङ्कटमें पड़नेपर भी कभी उस अस्त्रका प्रयोग नहीं करते थे॥ ९॥

सत्यव्रतधरः शूरो ब्रह्मचारी च पाण्डवः।
गुरुवर्ती च तेनास्त्रं संजहारार्जुनः पुनः॥ १०॥

सत्यव्रतधारी, ब्रह्मचारी, शूरवीर पाण्डव अर्जुन गुरुकी आज्ञाका पालन करनेवाले थे; इसलिये उन्होंने फिर उस अस्त्रको लौटा लिया॥ १०॥

द्रौणिरप्यथ सम्प्रेक्ष्य तावृषी पुरतः स्थितौ।
न शशाक पुनर्घोरमस्त्रं संहर्तुमोजसा॥ ११॥

अश्वत्थामाने भी जब उन ऋषियोंको अपने सामने खड़ा देखा तो उस घोर अस्त्रको बलपूर्वक लौटा लेनेका प्रयत्न किया, किंतु वह उसमें सफल न हो सका॥ ११॥

अशक्तः प्रतिसंहारे परमास्त्रस्य संयुगे।
द्रौणिर्दीनमना राजन् द्वैपायनमभाषत॥ १२॥

राजन्! युद्धमें उस दिव्य अस्त्रका उपसंहार करनेमें समर्थ न होनेके कारण द्रोणकुमार मन-ही-मन बहुत दुखी हुआ और व्यासजीसे इस प्रकार बोला—॥ १२॥

उत्तमव्यसनार्तेन प्राणत्राणमभीप्सुना।
मयैतदस्त्रमुत्सृष्टं भीमसेनभयान्मुने॥ १३॥

'मुने! मैंने भीमसेनके भयसे भारी संकटमें पड़कर अपने प्राणोंको बचानेके लिये ही यह अस्त्र छोड़ा था॥ १३॥

अधर्मश्च कृतोऽनेन धार्तराष्ट्रं जिघांसता।
मिथ्याचारेण भगवन् भीमसेनेन संयुगे॥ १४॥

'भगवन्! दुर्योधनके वधकी इच्छासे इस भीमसेनने संग्रामभूमिमें मिथ्याचारका आश्रय लेकर महान् अधर्म किया था॥ १४॥

अतः सृष्टमिदं ब्रह्मन् मयास्त्रमकृतात्मना।
तस्य भूयोऽद्य संहारं कर्तुं नाहमिहोत्सहे॥ १५॥

'ब्रह्मन्! यद्यपि मैं जितेन्द्रिय नहीं हूँ, तथापि मैंने इस अस्त्रका प्रयोग कर दिया है। अब पुनः इसे लौटा लेनेकी शक्ति मुझमें नहीं है॥ १५॥

विसृष्टं हि मया दिव्यमेतदस्त्रं दुरासदम्।
अपाण्डवायेति मुने वह्नितेजोऽनुमन्त्र्य वै॥ १६॥

'मुने ! मैंने इस दुर्जय दिव्यास्त्रको अग्निके तेजसे युक्त एवं अभिमन्त्रित करके इस उद्देश्यसे छोड़ा था कि पाण्डवोंका नाम-निशान मिट जाय ॥ १६ ॥

तदिदं पाण्डवेयानामन्तकायाभिसंहितम् ।
अद्य पाण्डुसुतान् सर्वान् जीविताद् भ्रंशयिष्यति ॥१७॥

'पाण्डवोंके विनाशका संकल्प लेकर छोड़ा गया यह दिव्यास्त्र आज समस्त पाण्डुपुत्रोंको जीवनशून्य कर देगा ॥१७

कृतं पापमिदं ब्रह्मन् रोषाविष्टेन चेतसा ।
वधमाशास्य पार्थानां मयास्त्रं सृजता रणे ॥ १८ ॥

'ब्रह्मन् ! मैंने मनमें रोष भरकर रणभूमिमें कुन्तीपुत्रोंके वधकी इच्छासे इस अस्त्रका प्रयोग करके अवश्य ही बड़ा भारी पाप किया है' ॥ १८ ॥

व्यास उवाच

अस्त्रं ब्रह्मशिरस्तात विद्वान् पार्थो धनंजयः ।
उत्सृष्टवान्न रोषेण न नाशाय तवाहवे ॥ १९ ॥

व्यासजीने कहा—तात ! कुन्तीपुत्र धनंजय भी तो इस ब्रह्मास्त्रके ज्ञाता हैं; किंतु उन्होंने रोषमें भरकर युद्धमें तुम्हें मारनेके लिये उसे नहीं छोड़ा है ॥ १९ ॥

अस्त्रमस्त्रेण तु रणे तव संशमयिष्यता ।
विसृष्टमर्जुनेनेदं पुनश्च प्रतिसंहृतम् ॥ २० ॥

देखो, रणभूमिमें अपने अस्त्रद्वारा तुम्हारे अस्त्रको शान्त करनेके उद्देश्यसे ही अर्जुनने उसका प्रयोग किया था और अब पुनः उसे लौटा लिया है ॥ २० ॥

ब्रह्मास्त्रमप्यवाप्यैतदुपदेशात् पितुस्तव ।
क्षत्रधर्मान्महाबाहुर्नाकम्पत धनंजयः ॥ २१ ॥

इस ब्रह्मास्त्रको पाकर भी महाबाहु अर्जुन तुम्हारे पिताजीका उपदेश मानकर कभी क्षात्रधर्मसे विचलित नहीं हुए हैं ॥

एवं धृतिमतः साधोः सर्वास्त्रविदुषः सतः ।
सभ्रातृबन्धोः कस्मात् त्वं वधमस्य चिकीर्षसि॥ २२ ॥

ये ऐसे धैर्यवान्, साधु, सम्पूर्ण अस्त्रोंके ज्ञाता तथा सत्पुरुष हैं, तथापि तुम भाई-बन्धुओंसहित इनका वध करनेकी इच्छा क्यों रखते हो ? ॥ २२ ॥

अस्त्रं ब्रह्मशिरो यत्र परमास्त्रेण वध्यते ।
समा द्वादश पर्जन्यस्तद्राष्ट्रं नाभिवर्षति ॥ २३ ॥

जिस देशमें एक ब्रह्मास्त्रको दूसरे उत्कृष्ट अस्त्रसे दबा दिया जाता है, उस राष्ट्रमें बारह वर्षोंतक वर्षा नहीं होती है॥

एतदर्थं महाबाहुः शक्तिमानपि पाण्डवः ।
न विहन्त्येतदस्त्रं तु प्रजाहितचिकीर्षया ॥ २४ ॥

इसीलिये प्रजावर्गके हितकी इच्छासे महाबाहु अर्जुन शक्तिशाली होते हुए भी तुम्हारे इस अस्त्रको नष्ट नहीं कर रहे हैं॥

पाण्डवास्त्वं च राष्ट्रं च सदा संरक्ष्यमेव हि ।
तस्मात् संहर दिव्यं त्वमस्त्रमेतन्महाभुज ॥ २५ ॥

महाबाहो ! तुम्हें पाण्डवोंकी, अपनी और इस राष्ट्रकी भी सदा रक्षा ही करनी चाहिये; इसलिये तुम अपने इस दिव्यास्त्रको लौटा लो ॥ २५ ॥

अरोषस्तव चैवास्तु पार्थाः सन्तु निरामयाः ।
न ह्यधर्मेण राजर्षिः पाण्डवो जेतुमिच्छति ॥ २६ ॥

तुम्हारा रोष शान्त हो और पाण्डव भी स्वस्थ रहें। पाण्डुपुत्र राजर्षि युधिष्ठिर किसीको भी अधर्मसे नहीं जीतना चाहते हैं ॥ २६ ॥

मणिं चैव प्रयच्छाद्य यस्ते शिरसि तिष्ठति ।
एतदादाय ते प्राणान् प्रतिदास्यन्ति पाण्डवाः ॥ २७ ॥

तुम्हारे सिरमें जो मणि है, इसे आज इन्हें दे दो। इस मणिको ही लेकर पाण्डव बदलेमें तुम्हें प्राणदान देंगे ॥२७॥

द्रौणिरुवाच

पाण्डवैर्यानि रत्नानि यच्चान्यत् कौरवैर्धनम् ।
अवाप्तमिह तेभ्योऽयं मणिर्मम विशिष्यते ॥ २८ ॥

अश्वत्थामा बोला—पाण्डवोंने अबतक जो-जो रत्न प्राप्त किये हैं तथा कौरवोंने भी यहाँ जो धन पाया है, मेरी यह मणि उन सबसे अधिक मूल्यवान् है ॥ २८ ॥

यमाबध्य भयं नास्ति शस्त्रव्याधिक्षुधाश्रयम् ।
देवेभ्यो दानवेभ्यो वा नागेभ्यो वा कथंचन ॥ २९ ॥

इसे बाँध लेनेपर शस्त्र, व्याधि, क्षुधा, देवता, दानव अथवा नाग किसीसे भी किसी तरहका भय नहीं रहता ॥

न च रक्षोगणभयं न तस्करभयं तथा ।
एवंवीर्यो मणिरयं न मे त्याज्यः कथंचन ॥ ३० ॥

न राक्षसोंका भय रहता है न चोरोंका। मेरी इस मणिका ऐसा अद्भुत प्रभाव है। इसलिये मुझे इसका त्याग तो किसी प्रकार भी नहीं करना चाहिये ॥ ३० ॥

यत्तु मे भगवानाह तन्मे कार्यमनन्तरम् ।
अयं मणिरयं चाहमीषिका तु पतिष्यति ॥ ३१ ॥
गर्भेषु पाण्डवेयानाममोघं चैतदुत्तमम् ।
न च शक्तोऽस्मि भगवन् संहर्तुं पुनरुद्यतम् ॥ ३२ ॥

परंतु आप पूज्यपाद महर्षि मुझे जो आज्ञा देते हैं उसीका अब मुझे पालन करना है, अतः यह रही मणि और यह रहा मैं। किंतु यह दिव्यास्त्रसे अभिमन्त्रित की हुई सींक तो पाण्डवोंके गर्भस्थ शिशुओंपर गिरेगी ही; क्योंकि यह उत्तम अस्त्र अमोघ है। भगवन् ! इस उठे हुए अस्त्रको मैं पुनः लौटा लेनेमें असमर्थ हूँ ॥ ३१-३२ ॥

एतदस्त्रमतश्चैव गर्भेषु विसृजाम्यहम् ।
न च वाक्यं भगवतो न करिष्ये महामुने ॥ ३३ ॥

महामुने ! अतः यह अस्त्र मैं पाण्डवोंके गर्भोंपर ही छोड़ रहा हूँ। आपकी आज्ञाका मैं कदापि उल्लङ्घन नहीं करूँगा॥

व्यास उवाच

एवं कुरु न चान्या तु बुद्धिः कार्या त्वयानघ ।
गर्भेषु पाण्डवेयानां विसृज्यैतदुपारम ॥ ३४ ॥

व्यासजीने कहा—अनघ ! अच्छा, ऐसा ही करो। अब अपने मनमें दूसरा कोई विचार न लाना। इस अस्त्रको पाण्डवोंके गर्भोंपर ही छोड़कर शान्त हो जाओ ॥ ३४ ॥

वैशम्पायन उवाच

ततः परममस्त्रं तु द्रौणिरुद्यतमाहवे।
द्वैपायनवचः श्रुत्वा गर्भेषु प्रमुमोच ह ॥ ३५ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन्! व्यासजीका यह वचन सुनकर द्रोणकुमारने युद्धमें उठे हुए उस दिव्यास्त्रको पाण्डवोंके गर्भोंपर ही छोड़ दिया ॥ ३५ ॥

इति श्रीमहाभारते सौप्तिकपर्वणि ऐषीकपर्वणि ब्रह्मशिरोऽस्त्रस्य पाण्डवेयगर्भप्रवेशने पञ्चदशोऽध्यायः १५ ॥ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत सौप्तिकपर्वके अन्तर्गत ऐषीकपर्वमें ब्रह्मास्त्रका पाण्डवोंके गर्भमें प्रवेशविषयक पंद्रहवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥१५॥

षोडशोऽध्यायः

श्रीकृष्णसे शाप पाकर अश्वत्थामाका वनको प्रस्थान तथा पाण्डवोंका मणि देकर द्रौपदीको शान्त करना

वैशम्पायन उवाच

तदाज्ञाय हृषीकेशो विसृष्टं पापकर्मणा।
हृष्यमाण इदं वाक्यं द्रौणिं प्रत्यब्रवीत्तदा ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन्! पापी अश्वत्थामाने अपना अस्त्र पाण्डवोंके गर्भपर छोड़ दिया, यह जानकर भगवान् श्रीकृष्णको बड़ी प्रसन्नता हुई। उस समय उन्होंने द्रोणपुत्रसे इस प्रकार कहा—॥ १ ॥

विराटस्य सुतां पूर्वं स्नुषां गाण्डीवधन्वनः।
उपप्लव्यगतां दृष्ट्वा व्रतवान् ब्राह्मणोऽब्रवीत् ॥ २ ॥

'पहलेकी बात है, राजा विराटकी कन्या और गाण्डीवधारी अर्जुनकी पुत्रवधू जब उपप्लव्यनगरमें रहती थी, उस समय किसी व्रतवान् ब्राह्मणने उसे देखकर कहा—॥

परिक्षीणेषु कुरुषु पुत्रस्तव भविष्यति।
एतदस्य परिक्षित्त्वं गर्भस्थस्य भविष्यति ॥ ३ ॥

'बेटी! जब कौरववंश परिक्षीण हो जायगा, तब तुम्हें एक पुत्र प्राप्त होगा और इसीलिये उस गर्भस्थ शिशुका नाम परिक्षित् होगा' ॥ ३ ॥

तस्य तद् वचनं साधोः सत्यमेतद् भविष्यति।
परिक्षिद् भविता ह्येषां पुनर्वंशकरः सुतः ॥ ४ ॥

'उस साधु ब्राह्मणका वह वचन सत्य होगा। उत्तराका पुत्र परिक्षित् ही पुनः पाण्डववंशका प्रवर्तक होगा'॥ ४ ॥

एवं ब्रुवाणं गोविन्दं सात्वतां प्रवरं तदा।
द्रौणिः परमसंरब्धः प्रत्युवाचेदमुत्तरम् ॥ ५ ॥

सात्वतवंशशिरोमणि भगवान् श्रीकृष्ण जब इस प्रकार कह रहे थे, उस समय द्रोणकुमार अश्वत्थामा अत्यन्त कुपित हो उठा और उन्हें उत्तर देता हुआ बोला—॥ ५ ॥

नैतदेवं यथाऽऽत्थ त्वं पक्षपातेन केशव।
वचनं पुण्डरीकाक्ष न च मद्वाक्यमन्यथा ॥ ६ ॥

'कमलनयन केशव! तुम पाण्डवोंका पक्षपात करते हुए इस समय जैसी बात कह गये हो, वह कभी हो नहीं सकती। मेरा वचन झूठा नहीं होगा ॥ ६ ॥

पतिष्यति तदस्त्रं हि गर्भे तस्या मयोद्यतम्।
विराटदुहितुः कृष्ण यं त्वं रक्षितुमिच्छसि ॥ ७ ॥

'श्रीकृष्ण! मेरे द्वारा चलाया गया वह अस्त्र विराटपुत्री उत्तराके गर्भपर ही, जिसकी तुम रक्षा करना चाहते हो, गिरेगा' ॥ ७ ॥

श्रीभगवानुवाच

अमोघः परमास्त्रस्य पातस्तस्य भविष्यति।
स तु गर्भो मृतो जातो दीर्घमायुरवाप्स्यति ॥ ८ ॥

श्रीभगवान् बोले—द्रोणकुमार! उस दिव्य अस्त्रका प्रहार तो अमोघ ही होगा। उत्तराका वह गर्भ मरा हुआ ही पैदा होगा; फिर उसे लंबी आयु प्राप्त हो जायगी ॥ ८ ॥

त्वां तु कापुरुषं पापं विदुः सर्वे मनीषिणः।
असकृत्पापकर्माणं बालजीवितघातकम् ॥ ९ ॥
तस्मात्त्वमस्य पापस्य कर्मणः फलमाप्नुहि।
त्रीणि वर्षसहस्राणि चरिष्यसि महीमिमाम् ॥ १० ॥
अप्राप्नुवन् क्वचित् काञ्चित् संविदं जातु केनचित्।
निर्जनानसहायस्त्वं देशान् प्रविचरिष्यसि ॥ ११ ॥

परंतु तुझे सभी मनीषी पुरुष कायर, पापी, बारंबार पापकर्म करनेवाला और बाल-हत्यारा समझते हैं। इसलिये तू इस पाप-कर्मका फल प्राप्त कर ले। आजसे तीन हजार वर्षोंतक तू इस पृथ्वीपर भटकता फिरेगा। तुझे कभी कहीं और किसीके साथ भी बातचीत करनेका सुख नहीं मिल सकेगा। तू अकेला ही निर्जन-स्थानोंमें घूमता रहेगा ९—११

भवित्री न हि ते क्षुद्र जनमध्येषु संस्थितिः।
पूयशोणितगन्धी च दुर्गकान्तारसंश्रयः ॥ १२ ॥
विचरिष्यसि पापात्मन् सर्वव्याधिसमन्वितः।

ओ नीच! तू जनसमुदायमें नहीं ठहर सकेगा। तेरे शरीरसे पीब और लोहूकी दुर्गन्ध निकलती रहेगी; अतः तुझे दुर्गम स्थानोंका ही आश्रय लेना पड़ेगा। पापात्मन्! तू सभी रोगोंसे पीड़ित होकर इधर-उधर भटकेगा ॥ १२½ ॥

वयः प्राप्य परिक्षित् तु वेदव्रतमवाप्य च ॥ १३ ॥
कृपाच्छारद्वताच्छूरः सर्वास्त्राण्युपपत्स्यते।

परिक्षित् तो दीर्घ आयु प्राप्त करके ब्रह्मचर्यपालन एवं वेदाध्ययनका व्रत धारण करेगा और वह शूरवीर बालक शरद्वान्के पुत्र कृपाचार्यसे ही सम्पूर्ण अस्त्र-शस्त्रोंका ज्ञान प्राप्त करेगा ॥ १३½ ॥

विदित्वा परमास्त्राणि क्षत्रधर्मव्रते स्थितः ॥ १४ ॥
षष्टिं वर्षाणि धर्मात्मा वसुधां पालयिष्यति।

इस प्रकार उत्तम अस्त्रोंका ज्ञान प्राप्त करके क्षत्रिय-धर्ममें स्थित हो साठ वर्षोंतक इस पृथ्वीका पालन करेगा १४½

इतश्चोर्ध्वं महाबाहुः कुरुराजो भविष्यति ॥ १५ ॥
परिक्षिन्नाम नृपतिर्मिषतस्ते सुदुर्मते ।

दुर्मते ! इसके बाद तेरे देखते-देखते महाबाहु कुरुराज परिक्षित् ही इस भूमण्डलका सम्राट् होगा ॥ १५½ ॥

अहं तं जीवयिष्यामि दग्धं शस्त्राग्नितेजसा ।
पश्य मे तपसो वीर्यं सत्यस्य च नराधम ॥ १६ ॥

नराधम ! तेरी शस्त्राग्निके तेजसे दग्ध हुए उस बालकको मैं जीवित कर दूँगा। उस समय तू मेरे तप और सत्यका प्रभाव देख लेना ॥ १६ ॥

व्यास उवाच

यस्मादनादृत्य कृतं त्वयास्मान् कर्म दारुणम् ।
ब्राह्मणस्य सतश्चैव यस्मात् ते वृत्तमीदृशम् ॥ १७ ॥
तस्माद् यद् देवकीपुत्र उक्तवानुत्तमं वचः ।
असंशयं ते तद् भावि क्षत्रधर्मस्त्वयाऽऽश्रितः ॥ १८ ॥

व्यासजीने कहा—द्रोणकुमार ! तूने हमलोगोंका अनादर करके यह भयंकर कर्म किया है, ब्राह्मण होनेपर भी तेरा आचार ऐसा गिर गया है और तूने क्षत्रियधर्मको अपना लिया है; इसलिये देवकीनन्दन श्रीकृष्णने जो उत्तम बात कही है, वह सब तेरे लिये होकर ही रहेगी, इसमें संशय नहीं है ॥ १७-१८ ॥

अश्वत्थामोवाच

सहैव भवता ब्रह्मन् स्थास्यामि पुरुषेष्विह ।
सत्यवागस्तु भगवानयं च पुरुषोत्तमः ॥ १९ ॥

अश्वत्थामा बोला—ब्रह्मन् ! अब मैं मनुष्योंमें केवल आपके ही साथ रहूँगा । इन भगवान् पुरुषोत्तमकी बात सत्य हो ॥ १९ ॥

वैशम्पायन उवाच

प्रदायाथ मणिं द्रौणिः पाण्डवानां महात्मनाम् ।
जगाम विमनास्तेषां सर्वेषां पश्यतां वनम् ॥ २० ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन् ! इसके बाद महात्मा पाण्डवोंको मणि देकर द्रोणकुमार अश्वत्थामा उदास मनसे उन सबके देखते-देखते वनमें चला गया ॥ २० ॥

पाण्डवाश्चापि गोविन्दं पुरस्कृत्य हतद्विषः ।
कृष्णद्वैपायनं चैव नारदं च महामुनिम् ॥ २१ ॥
द्रोणपुत्रस्य सहजं मणिमादाय सत्वराः ।
द्रौपदीमभ्यधावन्त प्रायोपेतां मनस्विनीम् ॥ २२ ॥

इधर जिनके शत्रु मारे गये थे, वे पाण्डव भी भगवान् श्रीकृष्ण, श्रीकृष्णद्वैपायन व्यास तथा महामुनि नारदजीको आगे करके द्रोणपुत्रके साथ ही उत्पन्न हुई मणि लिये आमरण अनशनका निश्चय किये बैठी हुई मनस्विनी द्रौपदीके पास पहुँचनेके लिये शीघ्रतापूर्वक चले ॥ २१-२२ ॥

वैशम्पायन उवाच

ततस्ते पुरुषव्याघ्राः सदश्वैरनिलोपमैः ।
अभ्ययुः सहदाशार्हाः शिबिरं पुनरेव हि ॥ २३ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन् ! भगवान् श्रीकृष्ण-सहित वे पुरुषसिंह पाण्डव वहाँसे वायुके समान वेगशाली उत्तम घोड़ोंद्वारा पुनः अपने शिविरमें आ पहुँचे ॥ २३ ॥

अवतीर्य रथेभ्यस्तु त्वरमाणा महारथाः ।
ददृशुर्द्रौपदीं कृष्णामार्तामार्ततराः स्वयम् ॥ २४ ॥

वहाँ रथोंसे उतरकर वे महारथी वीर बड़ी उतावलीके साथ आकर शोकपीड़ित द्रुपदकुमारी कृष्णासे मिले। वे स्वयं भी शोकसे अत्यन्त व्याकुल हो रहे थे ॥ २४ ॥

तामुपेत्य निरानन्दां दुःखशोकसमन्विताम् ।
परिवार्य व्यतिष्ठन्त पाण्डवाः सहकेशवाः ॥ २५ ॥

दुःख-शोकमें डूबी हुई आनन्दशून्य द्रौपदीके पास पहुँचकर श्रीकृष्णसहित पाण्डव उसे चारों ओरसे घेरकर बैठ गये ॥ २५ ॥

ततो राज्ञाभ्यनुज्ञातो भीमसेनो महाबलः ।
प्रददौ तं मणिं दिव्यं वचनं चेदमब्रवीत् ॥ २६ ॥

तब राजाकी आज्ञा पाकर महाबली भीमसेनने वह दिव्य मणि द्रौपदीके हाथमें दे दी और इस प्रकार कहा— ॥ २६ ॥

अयं भद्रे तव मणिः पुत्रहन्तुर्जितः स ते ।
उत्तिष्ठ शोकमुत्सृज्य क्षात्रधर्ममनुस्मर ॥ २७ ॥

'भद्रे ! यह तुम्हारे पुत्रोंका वध करनेवाले अश्वत्थामाकी मणि है। तुम्हारे उस शत्रुको हमने जीत लिया। अब शोक छोड़कर उठो और क्षत्रिय-धर्मका स्मरण करो ॥ २७ ॥

प्रयाणे वासुदेवस्य शमार्थमसितेक्षणे ।
यान्युक्तानि त्वया भीरु वाक्यानि मधुघातिनि॥ २८ ॥

'कजरारे नेत्रोंवाली भोली-भाली कृष्णे ! जब मधुसूदन श्रीकृष्ण कौरवोंके पास संधि करानेके लिये जा रहे थे, उस समय तुमने इनसे जो बातें कही थीं, उन्हें याद तो करो ॥

नैव मे पतयः सन्ति न पुत्रा भ्रातरो न च ।
न वै त्वमिति गोविन्द शममिच्छति राजनि ॥ २९ ॥
उक्तवत्यसि तीव्राणि वाक्यानि पुरुषोत्तमम् ।
क्षत्रधर्मानुरूपाणि तानि संस्मर्तुमर्हसि ॥ ३० ॥

'जब राजा युधिष्ठिर शान्तिके लिये संधि कर लेना चाहते थे, उस समय तुमने पुरुषोत्तम श्रीकृष्णसे बड़े कठोर वचन कहे थे—'गोविन्द ! (मेरे अपमानको भुलाकर शत्रुओंके साथ संधि की जा रही है, इसलिये मैं समझती हूँ कि) न मेरे पति हैं, न पुत्र हैं, न भाई हैं और न तुम्हीं हो।' क्षत्रिय-धर्मके अनुसार कहे गये उन वचनोंको तुम्हें आज स्मरण करना चाहिये ॥ २९-३० ॥

हतो दुर्योधनः पापो राज्यस्य परिपन्थिकः ।
दुःशासनस्य रुधिरं पीतं विस्फुरतो मया ॥ ३१ ॥
वैरस्य गतमानृण्यं न स्म वाच्या विवक्षताम् ।
जित्वा मुक्तो द्रोणपुत्रो ब्राह्मण्याद् गौरवेण च ॥ ३२ ॥

'हमारे राज्यका लुटेरा पापी दुर्योधन भाग गया और छटपटाते हुए दुःशासनका रक्त भी मैंने पी लिया। वैरका भरपूर बदला चुका लिया गया। अब कुछ कहनेकी इच्छावाले लोग हमलोगोंकी निन्दा नहीं कर सकते। हमने द्रोणपुत्र अश्वत्थामाको जीतकर केवल ब्राह्मण और गुरुपुत्र होनेके कारण ही उसे जीवित छोड़ दिया है ॥ ३१-३२ ॥

यशोऽस्य पतितं देवि शरीरं त्ववशेषितम्।
वियोजितश्च मणिना भ्रंशितश्चायुधं भुवि ॥ ३३ ॥

'देवि! उसका सारा यश धूलमें मिल गया। केवल शरीर शेष रह गया है। उसकी मणि भी छीन ली गयी और उससे पृथ्वीपर हथियार डलवा दिया गया है' ॥ ३३ ॥

द्रौपद्युवाच

केवलानृण्यमाप्तास्मि गुरुपुत्रो गुरुर्मम।
शिरस्येतं मणिं राजा प्रतिबध्नातु भारत ॥ ३४ ॥

द्रौपदी बोली—भरतनन्दन! गुरुपुत्र तो मेरे लिये भी गुरुके ही समान हैं। मैं तो केवल पुत्रोंके वधका प्रतिशोध लेना चाहती थी, वह पा गयी। अब महाराज इस मणिको अपने मस्तकपर धारण करें ॥ ३४ ॥

तं गृहीत्वा ततो राजा शिरस्येवाकरोत् तदा।
गुरोरुच्छिष्टमित्येव द्रौपद्या वचनादपि ॥ ३५ ॥

तब राजा युधिष्ठिरने वह मणि लेकर द्रौपदीके कथनानुसार उसे अपने मस्तकपर ही धारण कर लिया। उन्होंने उस मणिको गुरुका प्रसाद ही समझा ॥ ३५ ॥

ततो दिव्यं मणिवरं शिरसा धारयन् प्रभुः।
शुशुभे स तदा राजा सचन्द्र इव पर्वतः ॥ ३६ ॥

उस दिव्य एवं उत्तम मणिको मस्तकपर धारण करके शक्तिशाली राजा युधिष्ठिर चन्द्रोदयकी शोभासे युक्त उदयाचलके समान सुशोभित हुए ॥ ३६ ॥

उत्तस्थौ पुत्रशोकार्ता ततः कृष्णा मनस्विनी।
कृष्णं चापि महाबाहुः परिपप्रच्छ धर्मराट् ॥ ३७ ॥

तब पुत्रशोकसे पीड़ित हुई मनस्विनी कृष्णा अनशन छोड़कर उठ गयी और महाबाहु धर्मराजने भगवान् श्रीकृष्णसे एक बात पूछी ॥ ३७ ॥

इति श्रीमहाभारते सौप्तिकपर्वणि ऐषीकपर्वणि द्रौपदीसान्त्वनायां षोडशोऽध्यायः ॥ १६ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत सौप्तिकपर्वके अन्तर्गत ऐषीकपर्वमें द्रौपदीकी सान्त्वनाविषयक सोलहवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १६ ॥

सप्तदशोऽध्यायः

अपने समस्त पुत्रों और सैनिकोंके मारे जानेके विषयमें युधिष्ठिरका श्रीकृष्णसे पूछना और उत्तरमें श्रीकृष्णके द्वारा महादेवजीकी महिमाका प्रतिपादन

वैशम्पायन उवाच

हतेषु सर्वसैन्येषु सौप्तिके तै रथैस्त्रिभिः।
शोचन् युधिष्ठिरो राजा दाशार्हमिदमब्रवीत् ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन्! रातको सोते समय उन तीन महारथियोंने पाण्डवोंकी सारी सेनाओंका जो संहार कर डाला था, उसके लिये शोक करते हुए राजा युधिष्ठिरने दशार्हनन्दन भगवान् श्रीकृष्णसे इस प्रकार कहा— ॥ १ ॥

कथं नु कृष्ण पापेन क्षुद्रेणाकृतकर्मणा।
द्रौणिना निहताः सर्वे मम पुत्रा महारथाः ॥ २ ॥

'श्रीकृष्ण! नीच एवं पापात्मा द्रोणकुमारने कोई विशेष तप या पुण्यकर्म भी तो नहीं किया था, जिससे उसमें अलौकिक शक्ति आ जाती। फिर उसने मेरे सभी महारथी पुत्रोंका वध कैसे कर डाला? ॥ २ ॥

तथा कृतास्त्रविक्रान्ताः सहस्रशतयोधिनः।
द्रुपदस्यात्मजाश्चैव द्रोणपुत्रेण पातिताः ॥ ३ ॥

'द्रुपदके पुत्र तो अस्त्र-विद्याके पूरे पण्डित, पराक्रमी तथा लाखों योद्धाओंके साथ युद्ध करनेमें समर्थ थे तो भी द्रोणपुत्रने उन्हें मार गिराया, यह कितने आश्चर्यकी बात है? ॥ ३ ॥

यस्य द्रोणो महेष्वासो न प्रादादाहवे मुखम्।
निजघ्ने रथिनां श्रेष्ठं धृष्टद्युम्नं कथं नु सः ॥ ४ ॥

'महाधनुर्धर द्रोणाचार्य युद्धमें जिसके सामने मुँह नहीं दिखाते थे, उसी रथियोंमें श्रेष्ठ धृष्टद्युम्नको अश्वत्थामाने कैसे मार डाला? ॥ ४ ॥

किं नु तेन कृतं कर्म तथायुक्तं नरर्षभ।
यदेकः समरे सर्वानवधीन्नो गुरोः सुतः ॥ ५ ॥

'नरश्रेष्ठ! आचार्यपुत्रने ऐसा कौन-सा उपयुक्त कर्म किया था, जिससे उसने अकेले ही समराङ्गणमें हमारे सभी सैनिकोंका वध कर डाला' ॥ ५ ॥

श्रीभगवानुवाच

नूनं स देवदेवानामीश्वरेश्वरमव्ययम्।
जगाम शरणं द्रौणिरेकस्तेनावधीद् बहून् ॥ ६ ॥

श्रीभगवान् बोले—राजन्! निश्चय ही अश्वत्थामाने ईश्वरोंके भी ईश्वर देवाधिदेव अविनाशी भगवान् शिवकी शरण ली थी, इसीलिये उसने अकेले ही बहुत-से वीरोंका विनाश कर डाला ॥ ६ ॥

प्रसन्नो हि महादेवो दद्यादमरतामपि।
वीर्यं च गिरिशो दद्याद् येनेन्द्रमपि शातयेत् ॥ ७ ॥

पर्वतपर शयन करनेवाले महादेवजी तो प्रसन्न होनेपर अमरत्व भी दे सकते हैं। वे उपासकको इतनी शक्ति दे देते हैं, जिससे वह इन्द्रको भी नष्ट कर सकता है ॥ ७ ॥

वेदाहं हि महादेवं तत्त्वेन भरतर्षभ ।
यानि चास्य पुराणानि कर्माणि विविधानि च॥ ८ ॥

भरतश्रेष्ठ ! मैं महादेवजीको यथार्थरूपसे जानता हूँ। उनके जो नाना प्रकारके प्राचीन कर्म हैं, उनसे भी मैं पूर्ण परिचित हूँ ॥ ८ ॥

आदिरेष हि भूतानां मध्यमन्तश्च भारत ।
विचेष्टते जगच्चेदं सर्वमस्यैव कर्मणा ॥ ९ ॥

भरतनन्दन ! ये भगवान् शिव सम्पूर्ण भूतोंके आदि, मध्य और अन्त हैं। उन्हींके प्रभावसे यह सारा जगत् भाँति-भाँतिकी चेष्टाएँ करता है ॥ ९ ॥

एवं सिसृक्षुर्भूतानि ददर्श प्रथमं विभुः ।
पितामहोऽब्रवीच्चैनं भूतानि सृज मा चिरम् ॥ १० ॥

प्रभावशाली ब्रह्माजीने प्राणियोंकी सृष्टि करनेकी इच्छासे सबसे पहले महादेवजीको ही देखा था। तब पितामह ब्रह्माने उनसे कहा—'प्रभो ! आप अविलम्ब सम्पूर्ण भूतोंकी सृष्टि कीजिये' ॥ १० ॥

हरिकेशस्तथेत्युक्त्वा भूतानां दोषदर्शिवान् ।
दीर्घकालं तपस्तेपे मग्नोऽम्भसि महातपाः ॥ ११ ॥

यह सुन महादेवजी 'तथास्तु' कहकर भूतगणोंके नाना प्रकारके दोष देख जलमें मग्न हो गये और महान् तपका आश्रय ले दीर्घकालतक तपस्या करते रहे ॥ ११ ॥

सुमहान्तं ततः कालं प्रतीक्ष्यैनं पितामहः ।
स्रष्टारं सर्वभूतानां ससर्ज मनसा परम् ॥ १२ ॥

इधर पितामह ब्रह्माने सुदीर्घकालतक उनकी प्रतीक्षा करके अपने मानसिक संकल्पसे दूसरे सर्वभूतस्रष्टाको उत्पन्न किया ॥ १२ ॥

सोऽब्रवीत् पितरं दृष्ट्वा गिरिशं सुप्तमम्भसि ।
यदि मे नाग्रजोऽस्त्यन्यस्ततः स्रक्ष्याम्यहं प्रजाः॥ १३ ॥

उस विराट् पुरुष या स्रष्टाने महादेवजीको जलमें सोया देख अपने पिता ब्रह्माजीसे कहा—'यदि दूसरा कोई मुझसे ज्येष्ठ न हो तो मैं प्रजाकी सृष्टि करूँगा' ॥ १३ ॥

तमब्रवीत् पिता नास्ति त्वदन्यः पुरुषोऽग्रजः ।
स्थाणुरेष जले मग्नो विस्रब्धः कुरु वैकृतम् ॥ १४ ॥

यह सुनकर पिता ब्रह्माने स्रष्टासे कहा—'तुम्हारे सिवा दूसरा कोई अग्रज पुरुष नहीं है। ये स्थाणु (शिव) हैं भी तो पानीमें डूबे हुए हैं; अतः तुम निश्चिन्त होकर सृष्टिका कार्य आरम्भ करो' ॥ १४ ॥

भूतान्यन्वसृजत् सप्त दक्षादींस्तु प्रजापतीन् ।
यैरिमं व्यकरोत् सर्वं भूतग्रामं चतुर्विधम् ॥ १५ ॥

तब स्रष्टाने सात प्रकारके प्राणियों और दक्ष आदि प्रजापतियोंको उत्पन्न किया, जिनके द्वारा उन्होंने इस चार प्रकारके समस्त प्राणिसमुदायका विस्तार किया ॥ १५ ॥

ताः सृष्टमात्राः क्षुधिताः प्रजाः सर्वाः प्रजापतिम्।
बिभक्षयिषवो राजन् सहसा प्राद्रवंस्तदा ॥ १६ ॥

राजन् ! सृष्टि होते ही समस्त प्रजा भूखसे पीड़ित हो प्रजापतिको ही खा जानेकी इच्छासे सहसा उनके पास दौड़ी गयी ॥ १६ ॥

स भक्ष्यमाणस्त्राणार्थी पितामहमुपाद्रवत् ।
आभ्यो मां भगवांस्त्रातु वृत्तिरासां विधीयताम्॥ १७ ॥

जब प्रजा प्रजापतिको अपना आहार बनानेके लिये उद्यत हुई, तब वे आत्मरक्षाके लिये बड़े वेगसे भागकर पितामह ब्रह्माजीकी सेवामें उपस्थित हुए और बोले—'भगवन् ! आप मुझे इन प्रजाओंसे बचाइये और इनके लिये कोई जीविका-वृत्ति नियत कर दीजिये' ॥ १७ ॥

ततस्ताभ्यो ददावन्नमोषधीः स्थावराणि च ।
जङ्गमानि च भूतानि दुर्बलानि बलीयसाम् ॥ १८ ॥

तब ब्रह्माजीने उन प्रजाओंको अन्न और ओषधि आदि स्थावर वस्तुएँ जीवन-निर्वाहके लिये दीं और अत्यन्त बलवान् हिंसक जन्तुओंके लिये दुर्बल जङ्गम प्राणियोंको ही आहार निश्चित कर दिया ॥ १८ ॥

विहितान्नाः प्रजास्तास्तु जग्मुः सृष्टा यथागतम् ।
ततो ववृधिरे राजन् प्रीतिमत्यः स्वयोनिषु ॥ १९ ॥

जिनकी सृष्टि हुई थी, उनके लिये जब भोजनकी व्यवस्था कर दी गयी, तब वे प्रजावर्गके लोग जैसे आये थे, वैसे लौट गये। राजन् ! तदनन्तर सारी प्रजा अपनी ही योनियोंमें प्रसन्नतापूर्वक रहती हुई उत्तरोत्तर बढ़ने लगी॥ १९॥

भूतग्रामे विवृद्धे तु तुष्टे लोकगुरावपि ।
उदतिष्ठज्जलाज्ज्येष्ठः प्रजाश्चेमा ददर्श सः ॥ २० ॥

जब प्राणिसमुदायकी भलीभाँति वृद्धि हो गयी और लोक-गुरु ब्रह्मा भी संतुष्ट हो गये, तब वे ज्येष्ठ पुरुष शिव जलसे बाहर निकले । निकलनेपर उन्होंने इन समस्त प्रजाओंको देखा ॥ २० ॥

बहुरूपाः प्रजाः सृष्टा विवृद्धाश्च स्वतेजसा ।
चुक्रोध भगवान् रुद्रो लिङ्गं स्वं चाप्यविध्यत॥ २१ ॥

अनेक रूपवाली प्रजाकी सृष्टि हो गयी और वह अपने ही तेजसे भलीभाँति बढ़ भी गयी। यह देखकर भगवान् रुद्र कुपित हो उठे और उन्होंने अपना लिङ्ग काटकर फेंक दिया ॥ २१ ॥

तत् प्रविद्धं तथा भूमौ तथैव प्रत्यतिष्ठत ।
तमुवाचाव्ययो ब्रह्मा वचोभिः शमयन्निव ॥ २२ ॥

इस प्रकार भूमिपर डाला गया वह लिङ्ग उसी रूपमें प्रतिष्ठित हो गया। तब अविनाशी ब्रह्माने अपने वचनोंद्वारा उन्हें शान्त करते हुए-से कहा—॥ २२ ॥

किं कृतं सलिले शर्व चिरकालस्थितेन ते ।
किमर्थं चेदमुत्पाद्य लिङ्गं भूमौ प्रवेशितम् ॥ २३ ॥

'रुद्रदेव ! आपने दीर्घकालतक जलमें स्थित रहकर कौन-सा कार्य किया है ? और इस लिङ्गको उत्पन्न करके किसलिये पृथ्वीपर डाल दिया है ?' ॥ २३ ॥

सोऽब्रवीज्जातसंरम्भस्तथा लोकगुरुर्गुरुम् ।
प्रजाः सृष्टाः परेणेमाः किं करिष्याम्यनेन वै ॥ २४ ॥

यह प्रश्न सुनकर कुपित हुए जगद्गुरु शिवने ब्रह्माजीसे कहा—'प्रजाकी सृष्टि तो दूसरेने कर डाली; फिर इस लिङ्गको रखकर मैं क्या करूँगा ॥ २४ ॥

तपसाधिगतं चान्नं प्रजार्थं मे पितामह ।
ओषध्यः परिवर्तेरन् यथैवं सततं प्रजाः ॥ २५ ॥

'पितामह ! मैंने जलमें तपस्या करके प्रजाके लिये अन्न प्राप्त किया है; वे अन्नरूप ओषधियाँ प्रजाओंके ही समान निरन्तर विभिन्न अवस्थाओंमें परिणत होती रहेंगी' ॥ २५ ॥

एवमुक्त्वा स सक्रोधो जगाम विमना भवः ।
गिरेर्मुञ्जवतः पादं तपस्तप्तुं महातपाः ॥ २६ ॥

ऐसा कहकर क्रोधमें भरे हुए महातपस्वी महादेवजी उदास मनसे मुञ्जवान् पर्वतकी घाटीपर तपस्या करनेके लिये चले गये ॥ २६ ॥

इति श्रीमहाभारते सौप्तिकपर्वणि ऐषीकपर्वणि युधिष्ठिरकृष्णसंवादे सप्तदशोऽध्यायः ॥ १७ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत सौप्तिकपर्वके अन्तर्गत ऐषीकपर्वमें युधिष्ठिर और श्रीकृष्णका संवादविषयक सतरहवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १७ ॥

अष्टादशोऽध्यायः

महादेवजीके कोपसे देवता, यज्ञ और जगत्‌की दुरवस्था तथा उनके प्रसादसे सबका स्वस्थ होना

श्रीभगवानुवाच

ततो देवयुगेऽतीते देवा वै समकल्पयन् ।
यज्ञं वेदप्रमाणेन विधिवद् यष्टुमीप्सवः ॥ १ ॥

श्रीभगवान् बोले—तदनन्तर सत्ययुग बीत जानेपर देवताओंने विधिपूर्वक भगवान्‌का यजन करनेकी इच्छासे वैदिक प्रमाणके अनुसार यज्ञकी कल्पना की ॥ १ ॥

कल्पयामासुरथ ते साधनानि हवींषि च ।
भागार्हा देवताश्चैव यज्ञियं द्रव्यमेव च ॥ २ ॥

तत्पश्चात् उन्होंने यज्ञके साधनों, हविष्यों, यज्ञभागके अधिकारी देवताओं और यज्ञोपयोगी द्रव्योंकी कल्पना की ॥

ता वै रुद्रमजानन्त्यो याथातथ्येन देवताः ।
नाकल्पयन्त देवस्य स्थाणोर्भागं नराधिप ॥ ३ ॥

नरेश्वर ! उस समय देवता भगवान् रुद्रको यथार्थरूपसे नहीं जानते थे; इसलिये उन्होंने 'स्थाणु' नामधारी भगवान् शिवके भागकी कल्पना नहीं की ॥ ३ ॥

सोऽकल्प्यमाने भागे तु कृत्तिवासा मखेऽमरैः।
ततः साधनमन्विच्छन् धनुरादौ ससर्ज ह ॥ ४ ॥

जब देवताओंने यज्ञमें उनका कोई भाग नियत नहीं किया, तब व्याघ्रचर्मधारी भगवान् शिवने उनके दमनके लिये साधन जुटानेकी इच्छा रखकर सबसे पहले धनुषकी सृष्टि की।

लोकयज्ञः क्रियायज्ञो गृहयज्ञः सनातनः ।
पञ्चभूतनृयज्ञश्च जज्ञे सर्वमिदं जगत् ॥ ५ ॥

लोकयज्ञ, क्रियायज्ञ, सनातन गृहयज्ञ, पञ्चभूतयज्ञ और मनुष्ययज्ञ—ये पाँच प्रकारके यज्ञ हैं । इन्हींसे यह सम्पूर्ण जगत् उत्पन्न होता है ॥ ५ ॥

लोकयज्ञैर्नृयज्ञैश्च कपर्दी विदधे धनुः ।
धनुः सृष्टमभूत् तस्य पञ्चकिष्कुप्रमाणतः ॥ ६ ॥

मस्तकपर जटाजूट धारण करनेवाले भगवान् शिवने लोकयज्ञ और मनुष्ययज्ञोंसे एक धनुषका निर्माण किया । उनका वह धनुष पाँच हाथ लंबा बनाया गया था ॥ ६ ॥

वषट्कारोऽभवज्ज्या तु धनुषस्तस्य भारत ।
यज्ञाङ्गानि च चत्वारि तस्य संनहनेऽभवन् ॥ ७ ॥

भरतनन्दन ! वषट्कार उस धनुषकी प्रत्यञ्चा था। यज्ञके चारों अङ्ग स्नान, दान, होम और जप उन भगवान् शिवके लिये कवच हो गये ॥ ७ ॥

ततः क्रुद्धो महादेवस्तदुपादाय कार्मुकम् ।
आजगामाथ तत्रैव यत्र देवाः समीजिरे ॥ ८ ॥

तदनन्तर कुपित हुए महादेवजी उस धनुषको लेकर उसी स्थानपर आये, जहाँ देवतालोग यज्ञ कर रहे थे ॥ ८ ॥

तमात्तकार्मुकं दृष्ट्वा ब्रह्मचारिणमव्ययम् ।
विव्यथे पृथिवी देवी पर्वताश्च चकम्पिरे ॥ ९ ॥

उन ब्रह्मचारी एवं अविनाशी रुद्रको हाथमें धनुष उठाये देख पृथ्वीदेवीको बड़ी व्यथा हुई और पर्वत भी काँपने लगे ॥ ९ ॥

न ववौ पवनश्चैव नाग्निर्जज्वाल चैधितः ।
व्यभ्रमच्चापि संविग्नं दिवि नक्षत्रमण्डलम् ॥ १० ॥

हवाकी गति रुक गयी, आग समिधा और घी आदिसे जलानेकी चेष्टा की जानेपर भी प्रज्वलित नहीं होती थी और आकाशमें नक्षत्रोंका समूह उद्विग्न होकर घूमने लगा ॥ १० ॥

न बभौ भास्करश्चापि सोमः श्रीमुक्तमण्डलः ।
तिमिरेणाकुलं सर्वमाकाशं चाभवद् वृतम् ॥ ११ ॥

सूर्य भी पूर्णतः प्रकाशित नहीं हो रहे थे, चन्द्रमण्डल भी श्रीहीन हो गया था तथा सारा आकाश अन्धकारसे व्याप्त हो रहा था ॥ ११ ॥

अभिभूतास्ततो देवा विषयान्न प्रजज्ञिरे ।
न प्रत्यभाच्च यज्ञः स देवतास्त्रेसिरे तथा ॥ १२ ॥

उससे अभिभूत होकर देवता किसी विषयको पहचान नहीं पाते थे, वह यज्ञ भी अच्छी तरह प्रतीत नहीं होता था । इससे सारे देवता भयसे थर्रा उठे ॥ १२ ॥

ततः स यज्ञं विव्याध रौद्रेण हृदि पत्रिणा ।
अपक्रान्तस्ततो यज्ञो मृगो भूत्वा सपावकः ॥ १३ ॥

तदनन्तर रुद्रदेवने भयंकर बाणके द्वारा उस यज्ञके हृदयमें आघात किया। तब अग्निसहित यज्ञ मृगका रूप धारण करके वहाँसे भाग निकला ॥ १३ ॥

स तु तेनैव रूपेण दिवं प्राप्य व्यराजत।
अन्वीयमानो रुद्रेण युधिष्ठिर नभस्तले ॥ १४ ॥

वह उसी रूपसे आकाशमें पहुँचकर (मृगशिरा नक्षत्रके रूपमें) प्रकाशित होने लगा। युधिष्ठिर! आकाशमण्डलमें रुद्रदेव उस दशामें भी (आर्द्रा नक्षत्रके रूपमें) उसके पीछे लगे रहते हैं ॥ १४ ॥

अपक्रान्ते ततो यज्ञे संज्ञा न प्रत्यभात् सुरान्।
नष्टसंज्ञेषु देवेषु न प्राज्ञायत किंचन ॥ १५ ॥

यज्ञके वहाँसे हट जानेपर देवताओंकी चेतना लुप्त-सी हो गयी। चेतना लुप्त होनेसे देवताओंको कुछ भी प्रतीत नहीं होता था ॥ १५ ॥

त्र्यम्बकः सवितुर्बाहू भगस्य नयने तथा।
पूष्णश्च दशनान् क्रुद्धो धनुष्कोट्या व्यशातयत्॥ १६ ॥

उस समय कुपित हुए त्रिनेत्रधारी भगवान् शिवने अपने धनुषकी कोटिसे सविताकी दोनों बाँहें काट डालीं, भगकी आँखें फोड़ दीं और पूषाके सारे दाँत तोड़ डाले ॥ १६ ॥

प्राद्रवन्त ततो देवा यज्ञाङ्गानि च सर्वशः।
केचित् तत्रैव घूर्णन्तो गतासव इवाभवन् ॥ १७ ॥

तदनन्तर सम्पूर्ण देवता और यज्ञके सारे अङ्ग वहाँसे पलायन कर गये। कुछ वहीं चक्कर काटते हुए प्राणहीन-से हो गये ॥ १७ ॥

स तु विद्राव्य तत् सर्वं शितिकण्ठोऽवहस्य च।
अवष्टभ्य धनुष्कोटिं रुरोध विबुधांस्ततः ॥ १८ ॥

वह सब कुछ दूर हटाकर भगवान् नीलकण्ठने देवताओंका उपहास करते हुए धनुषकी कोटिका सहारा ले उन सबको रोक दिया ॥ १८ ॥

ततो वागमरैरुक्ता ज्यां तस्य धनुषोऽच्छिनत्।
अथ तत् सहसा राजंश्छिन्नज्यं व्यस्फुरद् धनुः॥ १९ ॥

तत्पश्चात् देवताओंद्वारा प्रेरित हुई वाणीने महादेवजीके धनुषकी प्रत्यञ्चा काट डाली। राजन्! सहसा प्रत्यञ्चा कट जानेपर वह धनुष उछलकर गिर पड़ा ॥ १९ ॥

ततो विधनुषं देवा देवश्रेष्ठमुपागमन्।
शरणं सह यज्ञेन प्रसादं चाकरोत् प्रभुः ॥ २० ॥

तब देवता यज्ञको साथ लेकर धनुषरहित देवश्रेष्ठ महादेवजीकी शरणमें गये। उस समय भगवान् शिवने उन सबपर कृपा की ॥ २० ॥

ततः प्रसन्नो भगवान् स्थाप्य कोपं जलाशये।
स जलं पावको भूत्वा शोषयत्यनिशं प्रभो ॥ २१ ॥

इसके बाद प्रसन्न हुए भगवान्ने अपने क्रोधको समुद्रमें स्थापित कर दिया। प्रभो! वह क्रोध बडवानल बनकर निरन्तर उसके जलको सोखता रहता है ॥ २१ ॥

भगस्य नयने चैव बाहू च सवितुस्तथा।
प्रादात् पूष्णश्च दशनान् पुनर्यज्ञांश्च पाण्डव ॥ २२ ॥

पाण्डुनन्दन! फिर भगवान् शिवने भगको आँखें, सविताको दोनों बाँहें, पूषाको दाँत और देवताओंको यज्ञ प्रदान किये ॥ २२ ॥

ततः सुस्थमिदं सर्वं बभूव पुनरेव हि।
सर्वाणि च हवींष्यस्य देवा भागमकल्पयन् ॥ २३ ॥

तदनन्तर यह सारा जगत् पुनः सुस्थिर हो गया। देवताओंने सारे हविष्योंमेंसे महादेवजीके लिये भाग नियत किया ॥ २३ ॥

तस्मिन् क्रुद्धेऽभवत् सर्वमसुस्थं भुवनं प्रभो।
प्रसन्ने च पुनः सुस्थं प्रसन्नोऽस्य च वीर्यवान्॥ २४ ॥

राजन्! भगवान् शङ्करके कुपित होनेपर सारा जगत् डाँवाडोल हो गया था और उनके प्रसन्न होनेपर वह पुनः सुस्थिर हो गया। वे ही शक्तिशाली भगवान् शिव अश्वत्थामापर प्रसन्न हो गये थे ॥ २४ ॥

ततस्ते निहताः सर्वे तव पुत्रा महारथाः।
अन्ये च बहवः शूराः पाञ्चालस्य पदानुगाः ॥ २५ ॥

इसीलिये उसने आपके सभी महारथी पुत्रों तथा पाञ्चालराजका अनुसरण करनेवाले अन्य बहुत-से शूरवीरोंका वध किया है ॥ २५ ॥

न तन्मनसि कर्तव्यं न च तद् द्रौणिना कृतम्।
महादेवप्रसादेन कुरु कार्यमनन्तरम् ॥ २६ ॥

अतः इस बातको आप मनमें न लावें। अश्वत्थामाने यह कार्य अपने बलसे नहीं, महादेवजीकी कृपासे सम्पन्न किया है। अब आप आगे जो कुछ करना हो, वही कीजिये ॥ २६ ॥

इति श्रीमहाभारते सौप्तिकपर्वणि ऐषीकपर्वणि अष्टादशोऽध्यायः ॥ १८ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत सौप्तिकपर्वके अन्तर्गत ऐषीकपर्वमें अठारहवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १८ ॥

॥ सौप्तिकपर्व सम्पूर्णम् ॥

	अनुष्टुप्	बड़े श्लोक	बड़े श्लोकोंको अनुष्टुप् माननेपर	कुल
उत्तर भारतीय पाठसे लिये गये	७९०॥	(१४)	१९।	८०९॥।
दक्षिण भारतीय पाठसे लिये गये	१	...	...	१
सौप्तिकपर्वकी कुल श्लोकसंख्या				८१०॥।

ॐ

श्रीपरमात्मने नमः

श्रीमहाभारतम्

स्त्रीपर्व

(जलप्रदानिकपर्व)

प्रथमोऽध्यायः

धृतराष्ट्रका विलाप और संजयका उनको सान्त्वना देना

नारायणं नमस्कृत्य नरं चैव नरोत्तमम् ।
देवीं सरस्वतीं व्यासं ततो जयमुदीरयेत् ॥

अन्तर्यामी नारायणस्वरूप भगवान् श्रीकृष्ण, (उनके नित्य सखा) नरस्वरूप नरश्रेष्ठ अर्जुन, (उनकी लीला प्रकट करनेवाली) भगवती सरस्वती और (उनकी लीलाओंका संकलन करनेवाले) महर्षि वेदव्यासको नमस्कार करके जय (महाभारत) का पाठ करना चाहिये ॥

जनमेजय उवाच

हते दुर्योधने चैव हते सैन्ये च सर्वशः ।
धृतराष्ट्रो महाराज श्रुत्वा किमकरोन्मुने ॥ १ ॥

जनमेजयने पूछा—मुने ! दुर्योधन और उसकी सारी सेनाका संहार हो जानेपर महाराज धृतराष्ट्रने जब इस समाचारको सुना तो क्या किया ? ॥ १ ॥

तथैव कौरवो राजा धर्मपुत्रो महामनाः ।
कृपप्रभृतयश्चैव किमकुर्वत ते त्रयः ॥ २ ॥

इसी प्रकार कुरुवंशी राजा महामनस्वी धर्मपुत्र युधिष्ठिरने तथा कृपाचार्य आदि तीनों महारथियोंने भी इसके बाद क्या किया ? ॥ २ ॥

अश्वत्थाम्नः श्रुतं कर्म शापादन्योन्यकारितात् ।
वृत्तान्तमुत्तरं ब्रूहि यदभाषत संजयः ॥ ३ ॥

अश्वत्थामाको श्रीकृष्णसे और पाण्डवोंको अश्वत्थामासे जो परस्पर शाप प्राप्त हुए थे, वहाँतक मैंने अश्वत्थामाकी करतूत सुन ली । अब उसके बादका वृत्तान्त बताइये कि संजयने धृतराष्ट्रसे क्या कहा ? ॥ ३ ॥

वैशम्पायन उवाच

हते पुत्रशते दीनं छिन्नशाखमिव द्रुमम् ।
पुत्रशोकाभिसंतप्तं धृतराष्ट्रं महीपतिम् ॥ ४ ॥

वैशम्पायनजी बोले—राजन् ! अपने सौ पुत्रोंके मारे जानेपर राजा धृतराष्ट्रकी दशा वैसी ही दयनीय हो गयी, जैसे समस्त शाखाओंके कट जानेपर वृक्षकी हो जाती है । वे पुत्रोंके शोकसे संतप्त हो उठे ॥ ४ ॥

ध्यानमूकत्वमापन्नं चिन्तया समभिप्लुतम् ।
अभिगम्य महाराज संजयो वाक्यमब्रवीत् ॥ ५ ॥

महाराज ! उन्हीं पुत्रोंका ध्यान करते-करते वे मौन हो गये, चिन्तामें डूब गये । उस अवस्थामें उनके पास जाकर संजयने इस प्रकार कहा— ॥ ५ ॥

किं शोचसि महाराज नास्ति शोके सहायता ।
अक्षौहिण्यो हताश्चाष्टौ दश चैव विशाम्पते ॥ ६ ॥

'महाराज ! आप क्यों शोक कर रहे हैं ? इस शोकमें जो आपकी सहायता कर सके, आपका दुःख बँटा ले, ऐसा भी तो कोई नहीं बच गया है । प्रजानाथ ! इस युद्धमें अठारह अक्षौहिणी सेनाएँ मारी गयी हैं ॥ ६ ॥

निर्जनेयं वसुमती शून्या सम्प्रति केवला ।
नानादिग्भ्यः समागम्य नानादेश्या नराधिपाः ॥ ७ ॥
सहैव तव पुत्रेण सर्वे वै निधनं गताः ।

'इस समय यह पृथ्वी निर्जन होकर केवल सूनी-सी दिखायी देती है । नाना देशोंके नरेश विभिन्न दिशाओंसे आकर आपके पुत्रके साथ ही सब-के-सब कालके गालमें चले गये हैं ॥ ७½ ॥

पितॄणां पुत्रपौत्राणां ज्ञातीनां सुहृदां तथा ।
गुरूणां चानुपूर्व्येण प्रेतकार्याणि कारय ॥ ८ ॥

'राजन् ! अब आप क्रमशः अपने चाचा, ताऊ, पुत्र, पौत्र, भाई-बन्धु, सुहृद् तथा गुरुजनोंके प्रेतकार्य सम्पन्न कराइये' ॥

वैशम्पायन उवाच

तच्छ्रुत्वा करुणं वाक्यं पुत्रपौत्रवधार्दितः ।
पपात भुवि दुर्धर्षो वाताहत इव द्रुमः ॥ ९ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—नरेश्वर ! संजयकी यह करुणाजनक बात सुनकर बेटों और पोतोंके वधसे व्याकुल हुए दुर्जय राजा धृतराष्ट्र आँधीके उखाड़े हुए वृक्षकी भाँति पृथ्वीपर गिर पड़े ॥ ९ ॥

धृतराष्ट्र उवाच

हतपुत्रो हतामात्यो हतसर्वसुहृज्जनः ।
दुःखं नूनं भविष्यामि विचरन् पृथिवीमिमाम् ॥ १० ॥

धृतराष्ट्र बोले—संजय ! मेरे पुत्र, मन्त्री और समस्त सुहृद् मारे गये । अब तो अवश्य ही मैं इस पृथ्वीपर भटकता हुआ केवल दुःख-ही-दुःख भोगूँगा ॥ १० ॥

किं नु बन्धुविहीनस्य जीवितेन ममाद्य वै ।
लूनपक्षस्य इव मे जराजीर्णस्य पक्षिणः ॥ ११ ॥

जिसकी पाँखें काट ली गयी हों, उस जराजीर्ण पक्षीके समान बन्धु-बान्धवोंसे हीन हुए मुझ वृद्धको अब इस जीवनसे क्या प्रयोजन है ? ॥ ११ ॥

हृतराज्यो हतबन्धुर्हतचक्षुश्च वै तथा ।
न भ्राजिष्ये महाप्राज्ञ क्षीणरश्मिरिवांशुमान् ॥ १२ ॥

महामते ! मेरा राज्य छिन गया, बन्धु-बान्धव मारे गये और आँखें तो पहलेसे ही नष्ट हो चुकी थीं । अब मैं क्षीण किरणोंवाले सूर्यके समान इस जगत्में प्रकाशित नहीं होऊँगा ॥

न कृतं सुहृदां वाक्यं जामदग्न्यस्य जल्पतः ।
नारदस्य च देवर्षेः कृष्णद्वैपायनस्य च ॥ १३ ॥

मैंने सुहृदोंकी बात नहीं मानी, जमदग्निनन्दन परशुराम, देवर्षि नारद तथा श्रीकृष्णद्वैपायन व्यास सबने हितकी बात बतायी थी, पर मैंने किसीकी नहीं सुनी ॥ १३ ॥

सभामध्ये तु कृष्णेन यच्छ्रेयोऽभिहितं मम ।
अलं वैरेण ते राजन् पुत्रः संगृह्यतामिति ॥ १४ ॥
तच्च वाक्यमकृत्वाहं भृशं तप्यामि दुर्मतिः ।

श्रीकृष्णने सारी सभाके बीचमें मेरे भलेके लिये कहा था—'राजन् ! वैर बढ़ानेसे आपको क्या लाभ है ? अपने पुत्रोंको रोकिये ।' उनकी उस बातको न मानकर आज मैं अत्यन्त संतप्त हो रहा हूँ । मेरी बुद्धि बिगड़ गयी थी ॥ १४½ ॥

न हि श्रोतास्मि भीष्मस्य धर्मयुक्तं प्रभाषितम् ॥ १५ ॥
दुर्योधनस्य च तथा वृषभस्येव नर्दतः ।

हाय ! अब मैं भीष्मजीकी धर्मयुक्त बात नहीं सुन सकूँगा । साँड़के समान गर्जनेवाले दुर्योधनके वीरोचित वचन भी अब मेरे कानोंमें नहीं पड़ सकेंगे ॥ १५½ ॥

दुःशासनवधं श्रुत्वा कर्णस्य च विपर्ययम् ॥ १६ ॥
द्रोणसूर्योपरागं च हृदयं मे विदीर्यते ।

दुःशासन मारा गया, कर्णका विनाश हो गया और द्रोणरूपी सूर्यपर भी ग्रहण लग गया, यह सब सुनकर मेरा हृदय विदीर्ण हो रहा है ॥ १६½ ॥

न स्मराम्यात्मनः किंचित् पुरा संजय दुष्कृतम् ॥ १७ ॥
यस्येदं फलमद्येह मया मूढेन भुज्यते ।

संजय ! इस जन्ममें पहले कभी अपना किया हुआ कोई ऐसा पाप मुझे नहीं याद आ रहा है, जिसका मुझ मूढ़को आज यहाँ यह फल भोगना पड़ रहा है ॥ १७½ ॥

नूनं व्यपकृतं किंचिन्मया पूर्वेषु जन्मसु ॥ १८ ॥
येन मां दुःखभागेषु धाता कर्मसु युक्तवान् ।

अवश्य ही मैंने पूर्वजन्मोंमें कोई ऐसा महान् पाप किया है, जिससे विधाताने मुझे इन दुःखमय कर्मोंमें नियुक्त कर दिया है ॥ १८½ ॥

परिणामश्च वयसः सर्वबन्धुक्षयश्च मे ॥ १९ ॥
सुहृन्मित्रविनाशश्च दैवयोगादुपागतः ।
कोऽन्योऽस्ति दुःखिततरो मत्तोऽन्यो हि पुमान् भुवि ॥

अब मेरा बुढ़ापा आ गया, सारे बन्धु-बान्धवोंका विनाश हो गया और दैववश मेरे सुहृदों तथा मित्रोंका भी अन्त हो गया । भला, इस भूमण्डलमें अब मुझसे बढ़कर महान् दुखी दूसरा कौन होगा ? ॥ १९-२० ॥

तन्मामद्यैव पश्यन्तु पाण्डवाः संशितव्रताः ।
विवृतं ब्रह्मलोकस्य दीर्घमध्वानमास्थितम् ॥ २१ ॥

इसलिये कठोर व्रतका पालन करनेवाले पाण्डवलोग मुझे आज ही ब्रह्मलोकके खुले हुए विशाल मार्गपर आगे बढ़ते देखें ॥ २१ ॥

वैशम्पायन उवाच

तस्य लालप्यमानस्य बहुशोकं वितन्वतः ।
शोकापहं नरेन्द्रस्य संजयो वाक्यमब्रवीत् ॥ २२ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन् ! इस प्रकार राजा धृतराष्ट्र जब बहुत शोक प्रकट करते हुए बारंबार विलाप करने लगे, तब संजयने उनके शोकका निवारण करनेके लिये यह बात कही—॥ २२ ॥

शोकं राजन् व्यपनुद श्रुतास्ते वेदनिश्चयाः ।
शास्त्रागमाश्च विविधा वृद्धेभ्यो नृपसत्तम ॥ २३ ॥
सृंजये पुत्रशोकार्ते यदूचुर्मुनयः पुरा ।

'नृपश्रेष्ठ राजन् ! आपने बड़े-बूढ़ोंके मुखसे वे वेदोंके सिद्धान्त, नाना प्रकारके शास्त्र एवं आगम सुने हैं, जिन्हें पूर्वकालमें मुनियोंने राजा सृंजयको पुत्रशोकसे पीडित होनेपर सुनाया था, अतः आप शोक त्याग दीजिये ॥ २३½ ॥

यथा यौवनजं दर्पमास्थिते ते सुते नृप ॥ २४ ॥
न त्वया सुहृदां वाक्यं ब्रुवतामवधारितम् ।

'नरेश्वर ! जब आपका पुत्र दुर्योधन जवानीके घमंडमें आकर मनमाना बर्ताव करने लगा, तब आपने हितकी बात बतानेवाले सुहृदोंके कथनपर ध्यान नहीं दिया ॥ २४½ ॥

स्वार्थश्च न कृतः कश्चिल्लुब्धेन फलगृद्धिना ॥ २५ ॥
असिनैवैकधारेण स्वबुद्ध्या तु विचेष्टितम् ।
प्रायशोऽवृत्तसम्पन्नाः सततं पर्युपासिताः ॥ २६ ॥

उसके मनमें लोभ था और वह राज्यका सारा लाभ स्वयं ही भोगना चाहता था, इसलिये उसने दूसरे किसीको अपने स्वार्थका सहायक या साझीदार नहीं बनाया । एक ओर धारवाली तलवारके समान अपनी ही बुद्धिसे सदा काम लिया । प्रायः जो अनाचारी मनुष्य थे, उन्हींका निरन्तर साथ किया ॥ २५-२६ ॥

यस्य दुःशासनो मन्त्री राधेयश्च दुरात्मवान् ।
शकुनिश्चैव दुष्टात्मा चित्रसेनश्च दुर्मतिः ॥ २७ ॥
शल्यश्च येन वै सर्वं शल्यभूतं कृतं जगत् ।

'दुःशासन, दुरात्मा राधापुत्र कर्ण, दुष्टात्मा शकुनि, दुर्बुद्धि चित्रसेन तथा जिन्होंने सारे जगत्को शल्यमय (कण्टकाकीर्ण) बना दिया था, वे शल्य—ये ही लोग दुर्योधनके मन्त्री थे ॥

कुरुवृद्धस्य भीष्मस्य गान्धार्या विदुरस्य च ॥ २८ ॥
द्रोणस्य च महाराज कृपस्य च शरद्वतः ।
कृष्णस्य च महाबाहो नारदस्य च धीमतः ॥ २९ ॥
ऋषीणां च तथान्येषां व्यासस्यामिततेजसः ।
न कृतं तेन वचनं तव पुत्रेण भारत ॥ ३० ॥

'महाराज ! महाबाहो ! भरतनन्दन ! कुरुकुलके ज्ञान-वृद्ध पुरुष भीष्म, गान्धारी, विदुर, द्रोणाचार्य, शरद्वान्‌के पुत्र कृपाचार्य, श्रीकृष्ण, बुद्धिमान् देवर्षि नारद, अमिततेजस्वी वेदव्यास तथा अन्य महर्षियोंकी भी बातें आपके पुत्रने नहीं मानीं ॥ २८-३० ॥

न धर्मः सत्कृतः कश्चिन्नित्यं युद्धमभीप्सता ।
अल्पबुद्धिरहंकारी नित्यं युद्धमिति ब्रुवन् ।
क्रूरो दुर्मर्षणो नित्यमसंतुष्टश्च वीर्यवान् ॥ ३१ ॥

'वह सदा युद्धकी ही इच्छा रखता था; इसलिये उसने कभी किसी धर्मका आदरपूर्वक अनुष्ठान नहीं किया । वह मन्दबुद्धि और अहङ्कारी था; अतः नित्य युद्ध-युद्ध ही चिल्लाया करता था । उसके हृदयमें क्रूरता भरी थी । वह सदा अमर्षमें भरा रहनेवाला, पराक्रमी और असंतोषी था (इसीलिये उसकी दुर्गति हुई है) ॥ ३१ ॥

श्रुतवानसि मेधावी सत्यवांश्चैव नित्यदा ।
न मुह्यन्तीदृशाः सन्तो बुद्धिमन्तो भवादृशाः ॥ ३२ ॥

'आप तो शास्त्रोंके विद्वान्, मेधावी और सदा सत्यमें तत्पर रहनेवाले हैं । आप-जैसे बुद्धिमान् एवं साधु पुरुष मोहके वशीभूत नहीं होते हैं ॥ ३२ ॥

न धर्मः सत्कृतः कश्चित् तव पुत्रेण मारिष ।
क्षपिताः क्षत्रियाः सर्वे शत्रूणां वर्धितं यशः ॥ ३३ ॥

'मान्यवर नरेश ! आपके उस पुत्रने किसी भी धर्मका सत्कार नहीं किया । उसने सारे क्षत्रियोंका संहार करा डाला और शत्रुओंका यश बढ़ाया ॥ ३३ ॥

मध्यस्थो हि त्वमप्यासीर्न क्षमं किञ्चिदुक्तवान् ।
दुर्धरेण त्वया भारस्तुलया न समं धृतः ॥ ३४ ॥

'आप भी मध्यस्थ बनकर बैठे रहे, उसे कोई उचित सलाह नहीं दी । आप दुर्धर्ष वीर थे—आपकी बात कोई टाल नहीं सकता था, तो भी आपने दोनों ओरके बोझेको समभावसे तराजूपर रखकर नहीं तौला ॥ ३४ ॥

आदावेव मनुष्येण वर्तितव्यं यथाक्षमम् ।
यथा नातीतमर्थं वै पश्चात्तापेन युज्यते ॥ ३५ ॥

'मनुष्यको पहले ही यथायोग्य बर्ताव करना चाहिये, जिससे आगे चलकर उसे बीती हुई बातके लिये पश्चात्ताप न करना पड़े ॥ ३५ ॥

पुत्रगृद्ध्या त्वया राजन् प्रियं तस्य चिकीर्षितम् ।
पश्चात्तापमिमं प्राप्तो न त्वं शोचितुमर्हसि ॥ ३६ ॥

'राजन् ! आपने पुत्रके प्रति आसक्ति रखनेके कारण सदा उसीका प्रिय करना चाहा, इसीलिये इस समय आपको यह पश्चात्तापका अवसर प्राप्त हुआ है; अतः अब आप शोक न करें ॥ ३६ ॥

मधु यः केवलं दृष्ट्वा प्रपातं नानुपश्यति ।
स भ्रष्टो मधुलोभेन शोचत्येवं यथा भवान् ॥ ३७ ॥

'जो केवल ऊँचे स्थानपर लगे हुए मधुको देखकर वहाँसे गिरनेकी सम्भावनाकी ओरसे आँख बंद कर लेता है, वह उस मधुके लालचसे नीचे गिरकर इसी तरह शोक करता है, जैसे आप कर रहे हैं ॥ ३७ ॥

अर्थान्न शोचन् प्राप्नोति न शोचन् विन्दते फलम् ।
न शोचञ्छ्रियमाप्नोति न शोचन् विन्दते परम् ॥ ३८ ॥

'शोक करनेवाला मनुष्य अपने अभीष्ट पदार्थोंको नहीं पाता है, शोकपरायण पुरुष किसी फलको नहीं हस्तगत कर पाता है । शोक करनेवालेको न तो लक्ष्मीकी प्राप्ति होती है और न उसे परमात्मा ही मिलता है ॥ ३८ ॥

स्वयमुत्पादयित्वाग्निं वस्त्रेण परिवेष्टयन् ।
दह्यमानो मनस्तापं भजते न स पण्डितः ॥ ३९ ॥

'जो मनुष्य स्वयं आग जलाकर उसे कपड़ेमें लपेट लेता है और जलनेपर मन-ही-मन संतापका अनुभव करता है, वह बुद्धिमान् नहीं कहा जा सकता है ॥ ३९ ॥

त्वयैव ससुतेनायं वाक्यवायुसमीरितः ।
लोभाज्येन च संसिक्तो ज्वलितः पार्थपावकः ॥ ४० ॥

'पुत्रसहित आपने ही अपने लोभरूपी घीसे सींचकर और वचनरूपी वायुसे प्रेरित करके पार्थरूपी अग्निको प्रज्वलित किया था ॥ ४० ॥

तस्मिन् समिद्धे पतिताः शलभा इव ते सुताः ।
तान् वै शराग्निनिर्दग्धान्न त्वं शोचितुमर्हसि ॥ ४१ ॥

'उसी प्रज्वलित अग्निमें आपके सारे पुत्र पतङ्गोंके समान पड़ गये हैं । बाणोंकी आगमें जलकर भस्म हुए उन पुत्रोंके लिये आपको शोक नहीं करना चाहिये ॥ ४१ ॥

यच्चाश्रुपातात् कलिलं वदनं वहसे नृप ।
अशास्त्रदृष्टमेतद्धि न प्रशंसन्ति पण्डिताः ॥ ४२ ॥

'नरेश्वर ! आप जो आँसुओंकी धारासे भीगा हुआ मुँह लिये फिरते हैं, यह अशास्त्रीय कार्य है । विद्वान् पुरुष इसकी प्रशंसा नहीं करते हैं ॥ ४२ ॥

विस्फुलिङ्गा इव ह्येतान् दहन्ति किल मानवान् ।
जहीहि मन्युं बुद्ध्या वै धारयात्मानमात्मना ॥ ४३ ॥

'ये शोकके आँसू आगकी चिनगारियोंके समान इन मनुष्योंको निःसंदेह जलाया करते हैं; अतः आप शोक छोड़िये और बुद्धिके द्वारा अपने मनको स्वयं ही सुस्थिर कीजिये' ॥ ४३ ॥

वैशम्पायन उवाच

एवमाश्वासितस्तेन संजयेन महात्मना ।
विदुरो भूय एवाह बुद्धिपूर्वं परंतप ॥ ४४ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—शत्रुओंको संताप देनेवाले जनमेजय ! महात्मा संजयने जब इस प्रकार राजा धृतराष्ट्रको आश्वासन दिया, तब विदुरजीने भी पुनः सान्त्वना देते हुए उनसे वह विचारपूर्ण वचन कहा ॥ ४४ ॥

इति श्रीमहाभारते स्त्रीपर्वणि जलप्रदानिकपर्वणि धृतराष्ट्रविशोककरणे प्रथमोऽध्यायः ॥ १ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत स्त्रीपर्वके अन्तर्गत जलप्रदानिकपर्वमें धृतराष्ट्रके शोकका निवारणविषयक पहला अध्याय पूरा हुआ ॥ १ ॥

द्वितीयोऽध्यायः

विदुरजीका राजा धृतराष्ट्रको समझाकर उनको शोकका त्याग करनेके लिये कहना

वैशम्पायन उवाच

ततोऽमृतसमैर्वाक्यैर्ह्लादयन् पुरुषर्षभम् ।
वैचित्रवीर्यं विदुरो यदुवाच निबोध तत् ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! तदनन्तर विदुरजीने पुरुषप्रवर धृतराष्ट्रको अपने अमृतसमान मधुर वचनोंद्वारा आह्लाद प्रदान करते हुए वहाँ जो कुछ कहा, उसे सुनो ॥ १ ॥

विदुर उवाच

उत्तिष्ठ राजन् किं शेषे धारयात्मानमात्मना ।
एषा वै सर्वसत्त्वानां लोकेश्वर परा गतिः ॥ २ ॥

विदुरजी बोले—राजन् ! आप धरतीपर क्यों पड़े हैं ? उठकर बैठ जाइये और बुद्धिके द्वारा अपने मनको स्थिर कीजिये । लोकेश्वर ! समस्त प्राणियोंकी यही अन्तिम गति है ॥ २ ॥

सर्वे क्षयान्ता निचयाः पतनान्ताः समुच्छ्रयाः ।
संयोगा विप्रयोगान्ता मरणान्तं च जीवितम् ॥ ३ ॥

सारे संग्रहोंका अन्त उनके क्षयमें ही है । भौतिक उन्नतियोंका अन्त पतनमें ही है । सारे संयोगोंका अन्त वियोगमें ही है । इसी प्रकार सम्पूर्ण जीवनका अन्त मृत्युमें ही होनेवाला है ॥ ३ ॥

यदा शूरं च भीरुं च यमः कर्षति भारत ।
तत् किं न योत्स्यन्ति हि ते क्षत्रियाः क्षत्रियर्षभ ॥ ४ ॥

भरतनन्दन ! क्षत्रियशिरोमणे ! जब शूरवीर और डरपोक दोनोंको ही यमराज खींच ले जाते हैं, तब वे क्षत्रियलोग युद्ध क्यों न करते ! ॥ ४ ॥

अयुध्यमानो म्रियते युध्यमानश्च जीवति ।
कालं प्राप्य महाराज न कश्चिदतिवर्तते ॥ ५ ॥

महाराज ! जो युद्ध नहीं करता, वह भी मर जाता है और जो संग्राममें जूझता है, वह भी जीवित बच जाता है । कालको पाकर कोई भी उसका उल्लङ्घन नहीं कर सकता ॥ ५ ॥

अभावादीनि भूतानि भावमध्यानि भारत ।
अभावनिधनान्येव तत्र का परिदेवना ॥ ६ ॥

जितने प्राणी हैं, वे जन्मसे पहले यहाँ व्यक्त नहीं थे । वे बीचमें ही व्यक्त होकर दिखायी देते हैं और अन्तमें पुनः उनका अभाव (अव्यक्तरूपसे अवस्थान) हो जायगा । ऐसी अवस्थामें उनके लिये रोने-धोनेकी क्या आवश्यकता है ? ॥ ६ ॥

न शोचन् मृतमन्वेति न शोचन् म्रियते नरः ।
एवं सांसिद्धिके लोके किमर्थमनुशोचसि ॥ ७ ॥

शोक करनेवाला मनुष्य न तो मरनेवालेके साथ जा सकता है और न मर ही सकता है । जब लोककी ऐसी ही स्वाभाविक स्थिति है, तब आप किसलिये शोक कर रहे हैं ? ॥ ७ ॥

कालः कर्षति भूतानि सर्वाणि विविधान्युत ।
न कालस्य प्रियः कश्चिन्न द्वेष्यः कुरुसत्तम ॥ ८ ॥

कुरुश्रेष्ठ ! काल नाना प्रकारके समस्त प्राणियोंको खींच लेता है । कालको न तो कोई प्रिय है और न उसके द्वेषका ही पात्र है ॥ ८ ॥

यथा वायुस्तृणाग्राणि संवर्तयति सर्वशः ।
तथा कालवशं यान्ति भूतानि भरतर्षभ ॥ ९ ॥

भरतश्रेष्ठ ! जैसे हवा तिनकोंको सब ओर उड़ाती और डालती रहती है, उसी प्रकार समस्त प्राणी कालके अधीन होकर आते-जाते हैं ॥ ९ ॥

एकसार्थप्रयातानां सर्वेषां तत्र गामिनाम् ।
यस्य कालः प्रयात्यग्रे तत्र का परिदेवना ॥ १० ॥

जो एक साथ संसारकी यात्रामें आये हैं, उन सबको एक दिन वहीं (परलोकमें) जाना है । उनमेंसे जिसका काल पहले उपस्थित हो गया, वह आगे चला जाता है । ऐसी दशामें किसीके लिये शोक क्या करना है ? ॥ १० ॥

न चाप्येतान् हतान् युद्धे राजञ्शोचितुमर्हसि ।
प्रमाणं यदि शास्त्राणि गतास्ते परमां गतिम् ॥ ११ ॥

राजन् ! युद्धमें मारे गये इन वीरोंके लिये तो आपको शोक करना ही नहीं चाहिये । यदि आप शास्त्रोंका प्रमाण मानते हैं तो वे निश्चय ही परम गतिको प्राप्त हुए हैं ॥ ११ ॥

सर्वे स्वाध्यायवन्तो हि सर्वे च चरितव्रताः ।
सर्वे चाभिमुखाः क्षीणास्तत्र का परिदेवना ॥ १२ ॥

वे सभी वीर वेदोंका स्वाध्याय करनेवाले थे । सबने ब्रह्मचर्यव्रतका पालन किया था तथा वे सभी युद्धमें शत्रुका सामना करते हुए वीरगतिको प्राप्त हुए हैं; अतः उनके लिये शोक करनेकी क्या बात है ? ॥ १२ ॥

अदर्शनादापतिताः पुनश्चादर्शनं गताः ।
नैते तव न तेषां त्वं तत्र का परिदेवना ॥ १३ ॥

ये अदृश्य जगत्से आये थे और पुनः अदृश्य जगत्में ही चले गये हैं । ये न तो आपके थे और न आप ही इनके हैं । फिर यहाँ शोक करनेका क्या कारण है ? ॥ १३ ॥

हतोऽपि लभते स्वर्गं हत्वा च लभते यशः।
उभयं नो बहुगुणं नास्ति निष्फलता रणे ॥ १४ ॥

युद्धमें जो मारा जाता है, वह स्वर्गलोक प्राप्त कर लेता है और जो शत्रुको मारता है, उसे यशकी प्राप्ति होती है। ये दोनों ही अवस्थाएँ हमलोगोंके लिये बहुत लाभदायक हैं। युद्धमें निष्फलता तो है ही नहीं ॥ १४ ॥

तेषां कामदुघाँल्लोकानिन्द्रः संकल्पयिष्यति।
इन्द्रस्यातिथयो ह्येते भवन्ति भरतर्षभ ॥ १५ ॥

भरतश्रेष्ठ! इन्द्र उन वीरोंके लिये इच्छानुसार भोग प्रदान करनेवाले लोकोंकी व्यवस्था करेंगे। वे सब-के-सब इन्द्रके अतिथि होंगे ॥ १५ ॥

न यज्ञैर्दक्षिणावद्भिर्न तपोभिर्न विद्यया।
स्वर्गं यान्ति तथा मर्त्या यथा शूरा रणे हताः ॥ १६ ॥

युद्धमें मारे गये शूरवीर जितनी सुगमतासे स्वर्गलोकमें जाते हैं, उतनी सुविधासे मनुष्य प्रचुर दक्षिणावाले यज्ञ, तपस्या और विद्याद्वारा भी नहीं जा सकते ॥ १६ ॥

शरीराग्निषु शूराणां जुहुवुस्ते शराहुतीः।
हूयमानाञ्शरांश्चैव सेहुस्तेजस्विनो मिथः ॥ १७ ॥

शूरवीरोंके शरीररूपी अग्नियोंमें उन्होंने बाणोंकी आहुतियाँ दी हैं और उन तेजस्वी वीरोंने एक दूसरेकी शरीराग्नियोंमें होम किये जानेवाले बाणोंको सहन किया है ॥१७॥

एवं राजंस्तवाचक्षे स्वर्ग्यं पन्थानमुत्तमम्।
न युद्धादधिकं किंचित् क्षत्रियस्येह विद्यते ॥ १८ ॥

राजन्! इसलिये मैं आपसे कहता हूँ कि क्षत्रियके लिये इस जगत्‌में धर्मयुद्धसे बढ़कर दूसरा कोई स्वर्ग-प्राप्तिका उत्तम मार्ग नहीं है ॥ १८ ॥

क्षत्रियास्ते महात्मानः शूराः समितिशोभनाः।
आशिषः परमाः प्राप्ता न शोच्याः सर्व एव हि॥ १९ ॥

वे महामनस्वी वीर क्षत्रिय युद्धमें शोभा पानेवाले थे; अतः उन्होंने अपनी कामनाओंके अनुरूप उत्तम लोक प्राप्त किये हैं। उन सबके लिये शोक करना तो किसी प्रकार उचित ही नहीं है ॥ १९ ॥

आत्मानमात्मनाऽऽश्वास्य मा शुचः पुरुषर्षभ।
नाद्य शोकाभिभूतस्त्वं कायमुत्स्रष्टुमर्हसि ॥ २० ॥

पुरुषप्रवर! आप स्वयं ही अपने मनको सान्त्वना देकर शोकका परित्याग कीजिये। आज शोकसे व्याकुल होकर आपको अपने शरीरका त्याग नहीं करना चाहिये ॥ २० ॥

मातापितृसहस्राणि पुत्रदारशतानि च।
संसारेष्वनुभूतानि कस्य ते कस्य वा वयम् ॥ २१ ॥

हमलोगोंने बारंबार संसारमें जन्म लेकर सहस्रों माता-पिता तथा सैकड़ों स्त्री-पुत्रोंके सुखका अनुभव किया है; परंतु आज वे किसके हैं अथवा हम उनमेंसे किसके हैं ?॥ २१ ॥

शोकस्थानसहस्राणि भयस्थानशतानि च।
दिवसे दिवसे मूढमाविशन्ति न पण्डितम् ॥ २२ ॥

शोकके हजारों स्थान हैं और भयके भी सैकड़ों स्थान हैं। वे प्रतिदिन मूढ़ मनुष्यपर ही अपना प्रभाव डालते हैं, विद्वान् पुरुषपर नहीं ॥ २२ ॥

न कालस्य प्रियः कश्चिन्न द्वेष्यः कुरुसत्तम।
न मध्यस्थः क्वचित्कालः सर्वं कालः प्रकर्षति ॥ २३ ॥

कुरुश्रेष्ठ! कालका न किसीसे प्रेम है और न किसीसे द्वेष, उसका कहीं उदासीन भाव भी नहीं है। काल सभीको अपने पास खींच लेता है ॥ २३ ॥

कालः पचति भूतानि कालः संहरते प्रजाः।
कालः सुप्तेषु जागर्ति कालो हि दुरतिक्रमः ॥ २४ ॥

काल ही प्राणियोंको पकाता है, काल ही प्रजाओंका संहार करता है और काल ही सबके सो जानेपर भी जागता रहता है। कालका उल्लङ्घन करना बहुत ही कठिन है ॥ २४ ॥

अनित्यं यौवनं रूपं जीवितं द्रव्यसंचयः।
आरोग्यं प्रियसंवासो गृध्येदेषु न पण्डितः ॥ २५ ॥

रूप, जवानी, जीवन, धनका संग्रह, आरोग्य तथा प्रिय जनोंका एक साथ निवास—ये सभी अनित्य हैं, अतः विद्वान् पुरुष इनमें कभी आसक्त न हो ॥ २५ ॥

न जानपदिकं दुःखमेकः शोचितुमर्हसि।
अप्यभावेन युज्येत तच्चास्य न निवर्तते ॥ २६ ॥

जो दुःख सारे देशपर पड़ा है, उसके लिये अकेले आपको ही शोक करना उचित नहीं है। शोक करते-करते कोई मर जाय तो भी उसका वह शोक दूर नहीं होता है ॥ २६ ॥

अशोचन् प्रतिकुर्वीत यदि पश्येत् पराक्रमम्।
भैषज्यमेतद् दुःखस्य यदेतन्नानुचिन्तयेत् ॥ २७ ॥
चिन्त्यमानं हि न व्येति भूयश्चापि प्रवर्धते।

यदि अपनेमें पराक्रम देखे तो शोक न करते हुए शोकके कारणका निवारण करनेकी चेष्टा करे। दुःखको दूर करनेके लिये सबसे अच्छी दवा यही है कि उसका चिन्तन छोड़ दिया जाय, चिन्तन करनेसे दुःख कम नहीं होता बल्कि और भी बढ़ जाता है ॥ २७½ ॥

अनिष्टसम्प्रयोगाच्च विप्रयोगात् प्रियस्य च ॥ २८ ॥
मानुषा मानसैर्दुःखैर्दह्यन्ते चाल्पबुद्धयः।

मन्दबुद्धि मनुष्य ही अप्रिय वस्तुका संयोग और प्रिय वस्तुका वियोग होनेपर मानसिक दुःखोंसे दग्ध होने लगते हैं ॥ २८½ ॥

नार्थो न धर्मो न सुखं यदेतदनुशोचसि ॥ २९ ॥
न च नापैति कार्यार्थात्त्रिवर्गाच्चैव हीयते।

जो आप यह शोक कर रहे हैं, यह न अर्थका साधक है, न धर्मका और न सुखका ही। इसके द्वारा मनुष्य अपने कर्तव्य-पथसे तो भ्रष्ट होता ही है, धर्म, अर्थ और कामरूप त्रिवर्गसे भी वञ्चित हो जाता है ॥ २९½ ॥

अन्यामन्यां धनावस्थां प्राप्य वैशेषिकीं नराः ॥ ३० ॥
असंतुष्टाः प्रमुह्यन्ति संतोषं यान्ति पण्डिताः।

धनकी भिन्न-भिन्न अवस्थाविशेषको पाकर असंतोषी मनुष्य तो मोहित हो जाते हैं; परंतु विद्वान् पुरुष सदा संतुष्ट ही रहते हैं ॥ ३०½ ॥

प्रज्ञया मानसं दुःखं हन्याच्छारीरमौषधैः ।
एतद् विज्ञानसामर्थ्यं न बालैः समतामियात् ॥ ३१ ॥

मनुष्यको चाहिये कि वह मानसिक दुःखको बुद्धि एवं विचारद्वारा और शारीरिक कष्टको ओषधियोंद्वारा दूर करे, यही विज्ञानकी शक्ति है । उसे बालकोंके समान अविवेकपूर्ण बर्ताव नहीं करना चाहिये ॥ ३१ ॥

शयानं चानुशेते हि तिष्ठन्तं चानुतिष्ठति ।
अनुधावति धावन्तं कर्म पूर्वकृतं नरम् ॥ ३२ ॥

मनुष्यका पूर्वकृत कर्म उसके सोनेपर साथ ही सोता है, उठनेपर साथ ही उठता है और दौड़नेपर भी साथ-ही-साथ दौड़ता है ॥ ३२ ॥

यस्यां यस्यामवस्थायां यत् करोति शुभाशुभम् ।
तस्यां तस्यामवस्थायां तत्फलं समुपाश्नुते ॥ ३३ ॥

मनुष्य जिस-जिस अवस्थामें जो-जो शुभ या अशुभ कर्म करता है, उसी-उसी अवस्थामें उसका फल भी पा लेता है ॥

येन येन शरीरेण यद्यत् कर्म करोति यः ।
तेन तेन शरीरेण तत्फलं समुपाश्नुते ॥ ३४ ॥

जो जिस-जिस शरीरसे जो-जो कर्म करता है, दूसरे जन्ममें वह उसी-उसी शरीरसे उसका फल भोगता है ॥ ३४ ॥

आत्मैव ह्यात्मनो बन्धुरात्मैव रिपुरात्मनः ।
आत्मैव ह्यात्मनः साक्षी कृतस्यापकृतस्य च ॥ ३५ ॥

मनुष्य आप ही अपना बन्धु है, आप ही अपना शत्रु है और आप ही अपने शुभ या अशुभ कर्मका साक्षी है ॥ ३५ ॥

शुभेन कर्मणा सौख्यं दुःखं पापेन कर्मणा ।
कृतं भवति सर्वत्र नाकृतं विद्यते क्वचित् ॥ ३६ ॥

शुभ कर्मसे सुख मिलता है और पापकर्मसे दुःख, सर्वत्र किये हुए कर्मका ही फल प्राप्त होता है, कहीं भी बिना कियेका नहीं ॥

न हि ज्ञानविरुद्धेषु बह्वपायेषु कर्मसु ।
मूलघातिषु सज्जन्ते बुद्धिमन्तो भवद्विधाः ॥ ३७ ॥

आप-जैसे बुद्धिमान् पुरुष अनेक विनाशकारी दोषोंसे युक्त तथा मूलभूत शरीरका भी नाश करनेवाले बुद्धिविरुद्ध कर्मोंमें नहीं आसक्त होते हैं ॥ ३७ ॥

इति श्रीमहाभारते स्त्रीपर्वणि जलप्रदानिकपर्वणि धृतराष्ट्रविशोककरणे द्वितीयोऽध्यायः ॥ २ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत स्त्रीपर्वके अन्तर्गत जलप्रदानिकपर्वमें धृतराष्ट्रके शोकका निवारणविषयक दूसरा अध्याय पूरा हुआ ॥ २ ॥

तृतीयोऽध्यायः

विदुरजीका शरीरकी अनित्यता बताते हुए धृतराष्ट्रको शोक त्यागनेके लिये कहना

धृतराष्ट्र उवाच

सुभाषितैर्महाप्राज्ञ शोकोऽयं विगतो मम ।
भूय एव तु वाक्यानि श्रोतुमिच्छामि तत्त्वतः ॥ १ ॥

धृतराष्ट्र बोले—परम बुद्धिमान् विदुर ! तुम्हारा उत्तम भाषण सुनकर मेरा यह शोक दूर हो गया, तथापि तुम्हारे इन तात्त्विक वचनोंको मैं अभी और सुनना चाहता हूँ ॥ १ ॥

अनिष्टानां च संसर्गादिष्टानां च विसर्जनात् ।
कथं हि मानसैर्दुःखैः प्रमुच्यन्ते तु पण्डिताः ॥ २ ॥

विद्वान् पुरुष अनिष्टके संयोग और इष्टके वियोगसे होनेवाले मानसिक दुःखोंसे किस प्रकार छुटकारा पाते हैं ? ॥

विदुर उवाच

यतो यतो मनो दुःखात् सुखाद् वा विप्रमुच्यते ।
ततस्ततो नियम्यैतच्छान्तिं विन्देत वै बुधः ॥ ३ ॥

विदुरजीने कहा—महाराज ! विद्वान् पुरुषको चाहिये कि जिन-जिन साधनोंमें लगनेसे मन दुःख अथवा सुखसे मुक्त होता हो, उन्हींमें इसे नियमपूर्वक लगाकर शान्ति प्राप्त करे ॥

अशाश्वतमिदं सर्वं चिन्त्यमानं नरर्षभ ।
कदलीसंनिभो लोकः सारो ह्यस्य न विद्यते ॥ ४ ॥

नरश्रेष्ठ ! विचार करनेपर यह सारा जगत् अनित्य ही जान पड़ता है । सम्पूर्ण विश्व केलेके समान सारहीन है; इसमें सार कुछ भी नहीं है ॥ ४ ॥

यदा प्राज्ञाश्च मूढाश्च धनवन्तोऽथ निर्धनाः ।
सर्वे पितृवनं प्राप्य स्वपन्ति विगतज्वराः ॥ ५ ॥
निर्मांसैरस्थिभूयिष्ठैर्गात्रैः स्नायुनिबन्धनैः ।
किं विशेषं प्रपश्यन्ति तत्र तेषां परे जनाः ॥ ६ ॥
येन प्रत्यवगच्छेयुः कुलरूपविशेषणम् ।
कस्मादन्योन्यमिच्छन्ति विप्रलब्धधियो नराः ॥ ७ ॥

जब विद्वान्-मूर्ख, धनवान् और निर्धन सभी श्मशान-भूमिमें जाकर निश्चिन्त सो जाते हैं, उस समय उनके मांस-रहित, नाड़ियोंसे बँधे हुए तथा अस्थिबहुल अङ्गोंको देखकर क्या दूसरे लोग वहाँ उनमें कोई ऐसा अन्तर देख पाते हैं, जिससे वे उनके कुल और रूपकी विशेषताको समझ सकें; फिर भी वे मनुष्य एक दूसरेको क्यों चाहते हैं ? इसलिये कि उनकी बुद्धि ठगी गयी है ॥ ५–७ ॥

गृहाणीव हि मर्त्यानामाहुर्देहानि पण्डिताः ।
कालेन विनियुज्यन्ते सत्त्वमेकं तु शाश्वतम् ॥ ८ ॥

पण्डितलोग मरणधर्मा प्राणियोंके शरीरोंको घरके तुल्य बतलाते हैं; क्योंकि सारे शरीर समयपर नष्ट हो जाते हैं, किंतु उसके भीतर जो एकमात्र सत्त्वस्वरूप आत्मा है, वह नित्य है ॥ ८ ॥

यथा जीर्णमजीर्णं वा वस्त्रं त्यक्त्वा तु पूरुषः ।
अन्यद् रोचयते वस्त्रमेवं देहाः शरीरिणाम् ॥ ९ ॥

जैसे मनुष्य नये अथवा पुराने वस्त्रको उतारकर दूसरे नूतन वस्त्रको पहननेकी रुचि रखता है, उसी प्रकार देहधारियोंके शरीर उनके द्वारा समय-समयपर त्यागे और ग्रहण किये जाते हैं ॥ ९ ॥

वैचित्रवीर्य प्राप्यं हि दुःखं वा यदि वा सुखम् ।
प्राप्नुवन्तीह भूतानि स्वकृतेनैव कर्मणा ॥ १० ॥

विचित्रवीर्यनन्दन ! यदि दुःख या सुख प्राप्त होनेवाला है तो प्राणी उसे अपने किये हुए कर्मके अनुसार ही पाते हैं ॥

कर्मणा प्राप्यते स्वर्गः सुखं दुःखं च भारत ।
ततो वहति तं भारमवशः स्ववशोऽपि वा ॥ ११ ॥

भरतनन्दन ! कर्मके अनुसार ही परलोकमें स्वर्ग या नरक तथा इहलोकमें सुख और दुःख प्राप्त होते हैं; फिर मनुष्य सुख या दुःखके उस भारको स्वाधीन या पराधीन होकर ढोता रहता है ॥ ११ ॥

यथा च मृन्मयं भाण्डं चक्रारूढं विपद्यते ।
किंचित् प्रक्रियमाणं वा कृतमात्रमथापि वा ॥ १२ ॥
छिन्नं वाप्यवरोप्यन्तमवतीर्णमथापि वा ।
आर्द्रं वाप्यथवा शुष्कं पच्यमानमथापि वा ॥ १३ ॥
उत्तार्यमाणमापाकादुद्धृतं चापि भारत ।
अथवा परिभुज्यन्तमेवं देहाः शरीरिणाम् ॥ १४ ॥

जैसे मिट्टीका बर्तन बनाये जानेके समय कभी चाकपर चढ़ाते ही नष्ट हो जाता है, कभी कुछ-कुछ बननेपर, कभी पूरा बन जानेपर, कभी सूतसे काट देनेपर, कभी चाकसे उतारते समय, कभी उतर जानेपर, कभी गीली या सूखी अवस्थामें, कभी पकाये जाते समय, कभी आवाँसे उतारते समय, कभी पाकस्थानसे उठाकर ले जाते समय अथवा कभी उसे उपयोगमें लाते समय फूट जाता है; ऐसी ही दशा देहधारियोंके शरीरोंकी भी होती है ॥ १२—१४ ॥

गर्भस्थो वा प्रसूतो वाप्यथ वा दिवसान्तरः ।
अर्धमासगतो वापि मासमात्रगतोऽपि वा ॥ १५ ॥
संवत्सरगतो वापि द्विसंवत्सर एव वा ।
यौवनस्थोऽथ मध्यस्थो वृद्धो वापि विपद्यते ॥ १६ ॥

कोई गर्भमें रहते समय, कोई पैदा हो जानेपर, कोई कई दिनोंका होनेपर, कोई पंद्रह दिनका, कोई एक मासका तथा कोई एक या दो सालका होनेपर, कोई युवावस्थामें, कोई मध्यावस्थामें अथवा कोई वृद्धावस्थामें पहुँचनेपर मृत्युको प्राप्त हो जाता है ॥ १५-१६ ॥

प्राक्कर्मभिस्तु भूतानि भवन्ति न भवन्ति च ।
एवं सांसिद्धिके लोके किमर्थमनुतप्यसे ॥ १७ ॥

प्राणी पूर्वजन्मके कर्मोंके अनुसार ही इस जगत्में रहते और नहीं रहते हैं । जब लोककी ऐसी ही स्वाभाविक स्थिति है, तब आप किसलिये शोक कर रहे हैं ? ॥ १७ ॥

यथा तु सलिलं राजन् क्रीडार्थमनुसंतरत् ।
उन्मज्जेच्च निमज्जेच्च किंचित् सत्त्वं नराधिप ॥ १८ ॥
एवं संसारगहने उन्मज्जननिमज्जने ।
कर्मभोगेन बध्यन्ते क्लिश्यन्ते चाल्पबुद्धयः ॥ १९ ॥

राजन् ! नरेश्वर ! जैसे क्रीडाके लिये पानीमें तैरता हुआ कोई प्राणी कभी डूबता है और कभी ऊपर आ जाता है, इसी प्रकार इस अगाध संसार-समुद्रमें जीवोंका डूबना और उतराना (मरना और जन्म लेना) लगा रहता है, मन्दबुद्धि मनुष्य ही यहाँ कर्मभोगसे बँधते और कष्ट पाते हैं ॥ १८-१९ ॥

ये तु प्राज्ञाः स्थिताः सत्त्वे संसारेऽस्मिन् हितैषिणः ।
समागमज्ञा भूतानां ते यान्ति परमां गतिम् ॥ २० ॥

जो बुद्धिमान् मानव इस संसारमें सत्त्वगुणसे युक्त, सबका हित चाहनेवाले और प्राणियोंके समागमको कर्मानुसार समझनेवाले हैं, वे परम गतिको प्राप्त होते हैं ॥ २० ॥

इति श्रीमहाभारते स्त्रीपर्वणि जलप्रदानिकपर्वणि धृतराष्ट्रविशोककरणे तृतीयोऽध्यायः ॥ ३ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत स्त्रीपर्वके अन्तर्गत जलप्रदानिकपर्वमें धृतराष्ट्रके शोकका निवारणविषयक तीसरा अध्याय पूरा हुआ ॥३॥

चतुर्थोऽध्यायः

दुःखमय संसारके गहन स्वरूपका वर्णन और उससे छूटनेका उपाय

धृतराष्ट्र उवाच

कथं संसारगहनं विज्ञेयं वदतां वर ।
एतदिच्छाम्यहं श्रोतुं तत्त्वमाख्याहि पृच्छतः ॥ १ ॥

धृतराष्ट्रने पूछा—वक्ताओंमें श्रेष्ठ विदुर ! इस गहन संसारके स्वरूपका ज्ञान कैसे हो ? यह मैं सुनना चाहता हूँ । मेरे प्रश्नके अनुसार तुम इस विषयका यथार्थरूपसे वर्णन करो ॥

विदुर उवाच

जन्मप्रभृति भूतानां क्रिया सर्वोपलक्ष्यते ।
पूर्वमेवेह कलिले वसते किंचिदन्तरम् ॥ २ ॥
ततः स पञ्चमेऽतीते मासे वासमकल्पयत् ।
ततः सर्वाङ्गसम्पूर्णो गर्भो वै स तु जायते ॥ ३ ॥

विदुरजीने कहा—महाराज ! जब गर्भाशयमें वीर्य और रजका संयोग होता है तभीसे जीवोंकी गर्भवृद्धिरूप सारी क्रिया शास्त्रके अनुसार देखी जाती है ।* आरम्भमें जीव

* 'एकरात्रोषितं कलिलं भवति पञ्चरात्राद् बुद्बुदः' एक रातमें रज और वीर्य मिलकर 'कलिल' रूप होते हैं और पाँच रातमें 'बुद्बुद' के आकारमें परिणत हो जाते हैं। इत्यादि शास्त्रवचनोंके अनुसार गर्भके बढ़ने आदिकी सारी क्रिया ज्ञात होती है ।

कलिल (वीर्य और रजके संयोग) के रूपमें रहता है, फिर कुछ दिन बाद पाँचवाँ महीना बीतनेपर वह चैतन्यरूपसे प्रकट होकर पिण्डमें निवास करने लगता है। इसके बाद वह गर्भस्थ पिण्ड सर्वाङ्गपूर्ण हो जाता है ॥ २-३ ॥

अमेध्यमध्ये वसति मांसशोणितलेपने ।
ततस्तु वायुवेगेन ऊर्ध्वपादो ह्यधःशिराः ॥ ४ ॥

उस समय उसे मांस और रुधिरसे लिपे हुए अत्यन्त अपवित्र गर्भाशयमें रहना पड़ता है। फिर वायुके वेगसे उसके पैर ऊपरकी ओर हो जाते हैं और सिर नीचेकी ओर ॥ ४ ॥

योनिद्वारमुपागम्य बहून् क्लेशान् समृच्छति ।
योनिसम्पीडनाच्चैव पूर्वकर्मभिरन्वितः ॥ ५ ॥
तस्मान्मुक्तः स संसारादन्यान् पश्यत्युपद्रवान् ।
ग्रहास्तमनुगच्छन्ति सारमेया इवामिषम् ॥ ६ ॥

इस स्थितिमें योनिद्वारके समीप आ जानेसे उसे बड़े दुःख सहने पड़ते हैं। फिर पूर्वकर्मोंसे संयुक्त हुआ वह जीव योनिमार्गसे पीड़ित हो उससे छुटकारा पाकर बाहर आ जाता है और संसारमें आकर अन्यान्य प्रकारके उपद्रवोंका सामना करता है। जैसे कुत्ते मांसकी ओर झपटते हैं, उसी प्रकार बालग्रह उस शिशुके पीछे लगे रहते हैं ॥ ५-६ ॥

ततः प्राप्तोत्तरे काले व्याधयश्चापि तं तथा ।
उपसर्पन्ति जीवन्तं बध्यमानं स्वकर्मभिः ॥ ७ ॥

तदनन्तर ज्यों-ज्यों समय बीतता जाता है, त्यों ही-त्यों अपने कर्मोंसे बँधे हुए उस जीवको जीवित अवस्थामें नयी-नयी व्याधियाँ प्राप्त होने लगती हैं ॥ ७ ॥

तं बद्धमिन्द्रियैः पाशैः संगस्वादुभिरावृतम् ।
व्यसनान्यपि वर्तन्ते विविधानि नराधिप ॥ ८ ॥

नरेश्वर ! फिर आसक्तिके कारण जिनमें रसकी प्रतीति होती है, उन विषयोंसे घिरे और इन्द्रियरूपी पाशोंसे बँधे हुए उस संसारी जीवको नाना प्रकारके सङ्कट घेर लेते हैं ॥ ८ ॥

बध्यमानश्च तैर्भूयो नैव तृप्तिमुपैति सः ।
तदा नावैति चैवायं प्रकुर्वन् साध्वसाधु वा ॥ ९ ॥

उनसे बँध जानेपर पुनः इसे कभी तृप्ति ही नहीं होती है। उस अवस्थामें वह भले-बुरे कर्म करता हुआ भी उनके विषयमें कुछ समझ नहीं पाता ॥ ९ ॥

तथैव परिरक्षन्ति ये ध्यानपरिनिष्ठिताः ।
अयं न बुध्यते तावद् यमलोकमथागतम् ॥ १० ॥

जो लोग भगवान्के ध्यानमें लगे रहनेवाले हैं, वे ही शास्त्रके अनुसार चलकर अपनी रक्षा कर पाते हैं। साधारण जीव तो अपने सामने आये हुए यमलोकको भी नहीं समझ पाता है ॥ १० ॥

यमदूतैर्विकृष्यंश्च मृत्युं कालेन गच्छति ।
वाग्घीनस्य च यन्मात्रमिष्टानिष्टं कृतं मुखे ।
भूय एवात्मनाऽऽत्मानं बध्यमानमुपेक्षते ॥ ११ ॥

तदनन्तर कालसे प्रेरित हो यमदूत उसे शरीरसे बाहर खींच लेते हैं और वह मृत्युको प्राप्त हो जाता है। उस समय उसमें बोलनेकी भी शक्ति नहीं रहती। उसके जितने भी शुभ या अशुभ कर्म हैं वे सामने प्रकट होते हैं। उनके अनुसार पुनः अपने आपको देहबन्धनमें बँधता हुआ देखकर भी वह उपेक्षा कर देता है—अपने उद्धारका प्रयत्न नहीं करता ॥ ११ ॥

अहो विनिकृतो लोको लोभेन च वशीकृतः ।
लोभक्रोधभयोन्मत्तो नात्मानमवबुध्यते ॥ १२ ॥

अहो ! लोभके वशीभूत होकर यह सारा संसार ठगा जा रहा है। लोभ, क्रोध और भयसे यह इतना पागल हो गया है कि अपने आपको भी नहीं जानता ॥ १२ ॥

कुलीनत्वे च रमते दुष्कुलीनान् विकुत्सयन् ।
धनदर्पेण दृप्तश्च दरिद्रान् परिकुत्सयन् ॥ १३ ॥

जो लोग हीन कुलमें उत्पन्न हुए हैं, उनकी निन्दा करता हुआ कुलीन मनुष्य अपनी कुलीनतामें ही मस्त रहता है और धनी धनके घमंडसे चूर होकर दरिद्रोंके प्रति अपनी घृणा प्रकट करता है ॥ १३ ॥

मूर्खानिति परानाह नात्मानं समवेक्षते ।
दोषान् क्षिपति चान्येषां नात्मानं शास्तुमिच्छति ॥ १४ ॥

वह दूसरोंको तो मूर्ख बताता है, पर अपनी ओर कभी नहीं देखता। दूसरोंके दोषोंके लिये उनपर आक्षेप करता है, परंतु उन्हीं दोषोंसे स्वयंको बचानेके लिये अपने मनको काबूमें नहीं रखना चाहता ॥ १४ ॥

यदा प्राज्ञाश्च मूर्खाश्च धनवन्तश्च निर्धनाः ।
कुलीनाश्चाकुलीनाश्च मानिनोऽथाप्यमानिनः ॥ १५ ॥
सर्वे पितृवनं प्राप्ताः स्वपन्ति विगतत्वचः ।
निर्मांसैरस्थिभूयिष्ठैर्गात्रैः स्नायुनिबन्धनैः ॥ १६ ॥
विशेषं न प्रपश्यन्ति तत्र तेषां परे जनाः ।
येन प्रत्यवगच्छेयुः कुलरूपविशेषणम् ॥ १७ ॥

जब ज्ञानी और मूर्ख, धनवान् और निर्धन, कुलीन और अकुलीन तथा मानी और मानरहित सभी मरघटमें जाकर सो जाते हैं, उनकी चमड़ी भी नष्ट हो जाती है और नाड़ियोंसे बँधे हुए मांसरहित हड्डियोंके ढेररूप उनके नग्न शरीर सामने आते हैं, तब वहाँ खड़े हुए दूसरे लोग उनमें कोई ऐसा अन्तर नहीं देख पाते हैं, जिससे एककी अपेक्षा दूसरेके कुल और रूपकी विशेषताको जान सकें ॥ १५-१७ ॥

यदा सर्वे समं न्यस्ताः स्वपन्ति धरणीतले ।
कस्मादन्योन्यमिच्छन्ति प्रलब्धुमिह दुर्बुधाः ॥ १८ ॥

जब मरनेके बाद श्मशानमें डाल दिये जानेपर सभी लोग समानरूपसे पृथ्वीकी गोदमें सोते हैं, तब वे मूर्ख मानव इस संसारमें क्यों एक दूसरेको ठगनेकी इच्छा करते हैं ? ॥ १८ ॥

प्रत्यक्षं च परोक्षं च यो निशम्य श्रुतिं त्विमाम् ।
अध्रुवे जीवलोकेऽस्मिन् यो धर्ममनुपालयन् ।
जन्मप्रभृति वर्तेत प्राप्नुयात् परमां गतिम् ॥ १९ ॥

इस क्षणभङ्गुर जगत्में जो पुरुष इस वेदोक्त उपदेशको साक्षात् जानकर या किसीके द्वारा सुनकर जन्मसे ही निरन्तर

धर्मका पालन करता है, वह परम गतिको प्राप्त होता है ॥ १९ ॥

एवं सर्वं विदित्वा वै यस्तत्त्वमनुवर्तते ।
स प्रमोक्षाय लभते पन्थानं मनुजेश्वर ॥ २० ॥

नरेश्वर ! जो इस प्रकार सब कुछ जानकर तत्त्वका अनुसरण करता है, वह मोक्ष तक पहुँचनेके लिये मार्ग प्राप्त कर लेता है ॥ २० ॥

इति श्रीमहाभारते स्त्रीपर्वणि जलप्रदानिकपर्वणि धृतराष्ट्रविशोककरणे चतुर्थोऽध्यायः ॥ ४ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत स्त्रीपर्वके अन्तर्गत जलप्रदानिकपर्वमें धृतराष्ट्रके शोकका निवारणविषयक चौथा अध्याय पूरा हुआ ॥४॥

पञ्चमोऽध्यायः

गहन वनके दृष्टान्तसे संसारके भयंकर स्वरूपका वर्णन

धृतराष्ट्र उवाच

यदिदं धर्मगहनं बुद्ध्या समनुगम्यते ।
तद्धि विस्तरतः सर्वं बुद्धिमार्गं प्रशंस मे ॥ १ ॥

धृतराष्ट्रने कहा—विदुर ! यह जो धर्मका गूढ़ स्वरूप है, वह बुद्धिसे ही जाना जाता है; अतः तुम मुझसे सम्पूर्ण बुद्धिमार्गका विस्तारपूर्वक वर्णन करो ॥ १ ॥

विदुर उवाच

अत्र ते वर्तयिष्यामि नमस्कृत्वा स्वयंभुवे ।
यथा संसारगहनं वदन्ति परमर्षयः ॥ २ ॥

विदुरजीने कहा—राजन् ! मैं भगवान् स्वयम्भूको नमस्कार करके संसाररूप गहन वनके उस स्वरूपका वर्णन करता हूँ, जिसका निरूपण बड़े-बड़े महर्षि करते हैं ॥ २ ॥

कश्चिन्महति कान्तारे वर्तमानो द्विजः किल ।
महद् दुर्गमनुप्राप्तो वनं क्रव्यादसंकुलम् ॥ ३ ॥

कहते हैं कि किसी विशाल दुर्गम वनमें कोई ब्राह्मण यात्रा कर रहा था । वह वनके अत्यन्त दुर्गम प्रदेशमें जा पहुँचा, जो हिंसक जन्तुओंसे भरा हुआ था ॥ ३ ॥

सिंहव्याघ्रगजर्क्षौघैरतिघोरं महास्वनैः ।
पिशितादैरतिभयैर्महोग्राकृतिभिस्तथा ॥ ४ ॥
समन्तात् संपरिक्षिप्तं यत् स दृष्ट्वा त्रसेद् यमः ।

जोर-जोरसे गर्जना करनेवाले सिंह, व्याघ्र, हाथी और रीछोंके समुदायोंने उस स्थानको अत्यन्त भयानक बना दिया था । भीषण आकारवाले अत्यन्त भयंकर मांसभक्षी प्राणियोंने उस वनप्रान्तको चारों ओरसे घेरकर ऐसा बना दिया था, जिसे देखकर यमराज भी भयसे थर्रा उठे ॥ ४½ ॥

तदस्य दृष्ट्वा हृदयमुद्वेगमगमत् परम् ॥ ५ ॥
अभ्युच्छ्रयश्च रोम्णां वै विक्रियाश्च परंतप ।

शत्रुदमन नरेश ! वह स्थान देखकर ब्राह्मणका हृदय अत्यन्त उद्विग्न हो उठा । उसे रोमाञ्च हो आया और मनमें अन्य प्रकारके भी विकार उत्पन्न होने लगे ॥ ५½ ॥

स तद् वनं व्यनुसरन् सम्प्रधावन्नितस्ततः ॥ ६ ॥
वीक्षमाणो दिशः सर्वाः शरणं क्व भवेदिति ।

वह उस वनका अनुसरण करता इधर-उधर दौड़ता तथा सम्पूर्ण दिशाओंमें ढूँढ़ता फिरता था कि कहीं मुझे शरण मिले ॥ ६½ ॥

स तेषां छिद्रमन्विच्छन् प्रद्रुतो भयपीडितः ॥ ७ ॥
न च निर्याति वै दूरं न वा तैर्विप्रमोच्यते ।

वह उन हिंसक जन्तुओंका छिद्र देखता हुआ भयसे पीड़ित हो भागने लगा; परंतु न तो वहाँसे दूर निकल पाता था और न वे ही उसका पीछा छोड़ते थे ॥ ७½ ॥

अथापश्यद् वनं घोरं समन्ताद् वागुरावृतम् ॥ ८ ॥
बाहुभ्यां सम्परिक्षिप्तं स्त्रिया परमघोरया ।

इतनेहीमें उसने देखा कि वह भयानक वन चारों ओरसे जालसे घिरा हुआ है और एक बड़ी भयानक स्त्रीने अपनी दोनों भुजाओंसे उसको आवेष्टित कर रक्खा है ॥ ८½ ॥

पञ्चशीर्षधरैर्नागैः शैलैरिव समुन्नतैः ॥ ९ ॥
नभःस्पृशैर्महावृक्षैः परिक्षिप्तं महावनम् ।

पर्वतोंके समान ऊँचे और पाँच सिरवाले नागों तथा बड़े-बड़े गगनचुम्बी वृक्षोंसे वह विशाल वन व्याप्त हो रहा है ॥ ९½ ॥

वनमध्ये च तत्राभूदुदपानः समावृतः ॥ १० ॥
वल्लीभिस्तृणछन्नाभिर्दृढाभिरभिसंवृतः ।

उस वनके भीतर एक कुआँ था, जो घासोंसे ढकी हुई सुदृढ़ लताओंके द्वारा सब ओरसे आच्छादित हो गया था १०½

पपात स द्विजस्तत्र निगूढे सलिलाशये ॥ ११ ॥
विलग्नश्चाभवत् तस्मिन् लतासंतानसंकुले ।

वह ब्राह्मण उस छिपे हुए कुएँमें गिर पड़ा; परंतु लता-वेलोंसे व्याप्त होनेके कारण वह उसमें फँसकर नीचे नहीं गिरा, ऊपर ही लटका रह गया ॥ ११½ ॥

पनसस्य यथा जातं वृन्तबद्धं महाफलम् ॥ १२ ॥
स तथा लम्बते तत्र ह्यूर्ध्वपादो ह्यधःशिराः ।

जैसे कटहलका विशाल फल वृन्तमें बँधा हुआ लटकता रहता है, उसी प्रकार वह ब्राह्मण ऊपरको पैर और नीचेको सिर किये उस कुएँमें लटक गया ॥ १२½ ॥

अथ तत्रापि चान्योऽस्य भूयो जात उपद्रवः ॥ १३ ॥
कूपमध्ये महानागमपश्यत महाबलम् ।
कूपवीनाहवेलायामपश्यत महागजम् ॥ १४ ॥
षड्वक्त्रं कृष्णशुक्लं च द्विषट्कपदचारिणम् ।

वहाँ भी उसके सामने पुनः दूसरा उपद्रव खड़ा हो गया। उसने कूपके भीतर एक महाबली महानाग बैठा हुआ देखा तथा कुएँके ऊपरी तटपर उसके मुखबन्धके पास एक विशाल हाथीको खड़ा देखा, जिसके छः मुँह थे । वह सफेद और काले रंगका था तथा बारह पैरोंसे चला करता था १३-१४½

क्रमेण परिसर्पन्तं वल्लीवृक्षसमावृतम् ॥ १५ ॥
तस्य चापि प्रशाखासु वृक्षशाखावलम्बिनः ।
नानारूपा मधुकरा घोररूपा भयावहाः ॥ १६ ॥
आसते मधु संवृत्य पूर्वमेव निकेतजाः ।

वह लताओं तथा वृक्षोंसे घिरे हुए उस कूपमें क्रमशः बढ़ा आ रहा था। वह ब्राह्मण, जिस वृक्षकी शाखापर लटका था, उसकी छोटी-छोटी टहनियोंपर पहलेसे ही मधुके छत्तोंसे पैदा हुई अनेक रूपवाली, घोर एवं भयंकर मधुमक्खियाँ मधुको घेरकर बैठी हुई थीं ॥ १५-१६½ ॥

भूयो भूयः समीहन्ते मधूनि भरतर्षभ ॥ १७ ॥
स्वादनीयानि भूतानां यैर्बालो विप्रकृष्यते ।

भरतश्रेष्ठ ! समस्त प्राणियोंको स्वादिष्ट प्रतीत होनेवाले उस मधुको, जिसपर बालक आकृष्ट हो जाते हैं, वे मक्खियाँ बारंबार पीना चाहती थीं ॥ १७½ ॥

तेषां मधूनां बहुधा धारा प्रस्रवते तदा ॥ १८ ॥
आलम्बमानः स पुमान् धारां पिबति सर्वदा ।

उस समय उस मधुकी अनेक धाराएँ वहाँ झर रही थीं और वह लटका हुआ पुरुष निरन्तर उस मधुधाराको पी रहा था ॥ १८½ ॥

न चास्य तृष्णा विरता पिबमानस्य संकटे ॥ १९ ॥
अभीप्सति तदा नित्यमतृप्तः स पुनः पुनः ।

यद्यपि वह संकटमें था तो भी उस मधुको पीते-पीते उसकी तृष्णा शान्त नहीं होती थी। वह सदा अतृप्त रहकर ही बारंबार उसे पीनेकी इच्छा रखता था ॥ १९½ ॥

न चास्य जीविते राजन् निर्वेदः समजायत ॥ २० ॥
तत्रैव च मनुष्यस्य जीविताशा प्रतिष्ठिता ।

राजन् ! उसे अपने उस संकटपूर्ण जीवनसे वैराग्य नहीं हुआ है। उस मनुष्यके मनमें वहीं उसी दशासे जीवित रहकर मधु पीते रहनेकी आशा जड़ जमाये हुए है ॥ २०½ ॥

कृष्णाः श्वेताश्च तं वृक्षं कुट्टयन्ति च मूषिकाः ॥ २१ ॥
व्यालैश्च वनदुर्गान्ते स्त्रिया च परमोग्रया ।
कूपाधस्ताच्च नागेन वीनाहे कुञ्जरेण च ॥ २२ ॥
वृक्षप्रपाताच्च भयं मूषिकेभ्यश्च पञ्चमम् ।
मधुलोभान्मधुकरैः षष्ठमाहुर्महद् भयम् ॥ २३ ॥

जिस वृक्षके सहारे वह लटका हुआ है, उसे काले और सफेद चूहे निरन्तर काट रहे हैं। पहले तो उसे वनके दुर्गम प्रदेशके भीतर ही अनेक सर्पोंसे भय है, दूसरा भय सीमापर खड़ी हुई उस भयंकर स्त्रीसे है, तीसरा कुँएके नीचे बैठे हुए नागसे है, चौथा कुँएके मुखबन्धके पास खड़े हुए हाथीसे है और पाँचवाँ भय चूहोंके काट देनेपर उस वृक्षसे गिर जानेका है। इनके सिवा, मधुके लोभसे मधुमक्खियोंकी ओरसे जो उसको महान् भय प्राप्त होनेवाला है, वह छठा भय बताया गया है ॥ २१—२३ ॥

एवं स वसते तत्र क्षिप्तः संसारसागरे ।
न चैव जीविताशायां निर्वेदमुपगच्छति ॥ २४ ॥

इस प्रकार संसार-सागरमें गिरा हुआ वह मनुष्य इतने भयोंसे घिरकर वहाँ निवास करता है तो भी उसे जीवनकी आशा बनी हुई है और उसके मनमें वैराग्य नहीं उत्पन्न होता है ॥ २४ ॥

इति श्रीमहाभारते स्त्रीपर्वणि जलप्रदानिकपर्वणि धृतराष्ट्रविशोककरणे पञ्चमोऽध्यायः ॥ ५ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत स्त्रीपर्वके अन्तर्गत जलप्रदानिकपर्वमें धृतराष्ट्रके शोकका निवारणविषयक पाँचवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ५ ॥

षष्ठोऽध्यायः

संसाररूपी वनके रूपकका स्पष्टीकरण

धृतराष्ट्र उवाच

अहो खलु महद् दुःखं कृच्छ्रवासश्च तस्य ह ।
कथं तस्य रतिस्तत्र तुष्टिर्वा वदतां वर ॥ १ ॥

धृतराष्ट्र बोले—वक्ताओंमें श्रेष्ठ विदुर ! यह तो बड़े आश्चर्यकी बात है ! उस ब्राह्मणको तो महान् दुःख प्राप्त हुआ था। वह बड़े कष्टसे वहाँ रह रहा था तो भी वहाँ कैसे उसका मन लगता था और कैसे उसे संतोष होता था ? ॥ १ ॥

स देशः क नु यत्रासौ वसते धर्मसंकटे ।
कथं वा स विमुच्येत नरस्तस्मान्महाभयात् ॥ २ ॥

कहाँ है वह देश, जहाँ वेचारा ब्राह्मण ऐसे धर्मसङ्कटमें रहता है ? उस महान् भयसे उसका छुटकारा किस प्रकार हो सकता है ? ॥ २ ॥

एतन्मे सर्वमाचक्ष्व साधु चेष्टामहे तदा ।
कृपा मे महती जाता तस्याभ्युद्धरणेन हि ॥ ३ ॥

यह सब मुझे बताओ; फिर हम सब लोग उसे वहाँसे निकालनेकी पूरी चेष्टा करेंगे। उसके उद्धारके लिये मुझे बड़ी दया आ रही है ॥ ३ ॥

विदुर उवाच

उपमानमिदं राजन् मोक्षविद्भिरुदाहृतम् ।
सुकृतं विन्दते येन परलोकेषु मानवः ॥ ४ ॥

विदुरजीने कहा—राजन् ! मोक्षतत्त्वके विद्वानोंद्वारा बताया गया यह एक दृष्टान्त है, जिसे समझकर वैराग्य धारण करनेसे मनुष्य परलोकमें पुण्यका फल पाता है ॥ ४ ॥

उच्यते यत् तु कान्तारं महासंसार एव सः ।
वनं दुर्गं हि यच्चैतत् संसारगहनं हि तत् ॥ ५ ॥

जिसे दुर्गम स्थान बताया गया है, वह महासंसार ही है और जो यह दुर्गम वन कहा गया है, यह संसारका ही गहन स्वरूप है ॥ ५ ॥

ये च ते कथिता व्याला व्याधयस्ते प्रकीर्तिताः ।
या सा नारी बृहत्काया अध्यतिष्ठत तत्र वै ॥ ६ ॥

तामाहुस्तु जरां प्राज्ञा रूपवर्णविनाशिनीम् ।

जो सर्प कहे गये हैं, वे नाना प्रकारके रोग हैं । उस वनकी सीमापर जो विशालकाय नारी खड़ी थी, उसे विद्वान् पुरुष रूप और कान्तिका विनाश करनेवाली वृद्धावस्था बताते हैं ॥ ६½ ॥

यस्तत्र कूपो नृपते स तु देहः शरीरिणाम् ॥ ७ ॥
यस्तत्र वसतेऽधस्तान्महाहिः काल एव सः ।
अन्तकः सर्वभूतानां देहिनां सर्वहार्यसौ ॥ ८ ॥

नरेश्वर ! उस वनमें जो कुआँ कहा गया है, वह देहधारियोंका शरीर है । उसमें नीचे जो विशाल नाग रहता है, वह काल ही है । वही सम्पूर्ण प्राणियोंका अन्त करनेवाला और देहधारियोंका सर्वस्व हर लेनेवाला है ॥ ७-८ ॥

कूपमध्ये च या जाता वल्ली यत्र स मानवः ।
प्रताने लम्बते लग्नो जीविताशा शरीरिणाम् ॥ ९ ॥

कुँएके मध्यभागमें जो लता उत्पन्न हुई बतायी गयी है, जिसको पकड़कर वह मनुष्य लटक रहा है, वह देहधारियोंके जीवनकी आशा ही है ॥ ९ ॥

स यस्तु कूपवीनाहे तं वृक्षं परिसर्पति ।
षड्वक्त्रः कुञ्जरो राजन् स तु संवत्सरः स्मृतः ॥ १० ॥

राजन् ! जो कुएँके मुखबन्धके समीप छः मुखोंवाला हाथी उस वृक्षकी ओर बढ़ रहा है, उसे संवत्सर माना गया है ॥ १० ॥

मुखानि ऋतवो मासाः पादा द्वादश कीर्तिताः ।
ये तु वृक्षं निकृन्तन्ति मूषिकाः सततोत्थिताः ॥ ११ ॥
रात्र्यहानि तु तान्याहुर्भूतानां परिचिन्तकाः ।

छः ऋतुएँ ही उसके छः मुख हैं और बारह महीने ही बारह पैर बताये गये हैं । जो चूहे सदा उद्यत रहकर उस वृक्षको काटते हैं, उन चूहोंको विचारशील विद्वान् प्राणियोंके दिन और रात बताते हैं ॥ ११½ ॥

ये ते मधुकरास्तत्र कामास्ते परिकीर्तिताः ॥ १२ ॥
यास्तु ता बहुशो धाराः स्रवन्ति मधुनिस्रवम् ।
तांस्तु कामरसान् विद्याद् यत्र मज्जन्ति मानवाः ॥ १३ ॥

और जो-जो वहाँ मधुमक्खियाँ कही गयी हैं, वे सब कामनाएँ हैं । जो बहुत-सी धाराएँ मधुके झरने झरती रहती हैं, उन्हें कामरस जानना चाहिये, जहाँ सभी मानव डूब जाते हैं ॥ १२-१३ ॥

एवं संसारचक्रस्य परिवृत्तिं विदुर्बुधाः ।
येन संसारचक्रस्य पाशांश्छिन्दन्ति वै बुधाः ॥ १४ ॥

विद्वान् पुरुष इस प्रकार संसारचक्रकी गतिको जानते हैं; इसीलिये वे वैराग्यरूपी शस्त्रसे इसके सारे बन्धनोंको काट देते हैं ॥ १४ ॥

इति श्रीमहाभारते स्त्रीपर्वणि जलप्रदानिकपर्वणि धृतराष्ट्रविशोककरणे षष्ठोऽध्यायः ॥ ६ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत स्त्रीपर्वके अन्तर्गत जलप्रदानिकपर्वमें धृतराष्ट्रके शोकका निवारणविषयक छठा अध्याय पूरा हुआ ॥ ६ ॥

सप्तमोऽध्यायः

संसारचक्रका वर्णन और रथके रूपकसे संयम और ज्ञान आदिको मुक्तिका उपाय बताना

धृतराष्ट्र उवाच

अहोऽभिहितमाख्यानं भवता तत्त्वदर्शिना ।
भूय एव तु मे हर्षः श्रुत्वा वागमृतं तव ॥ १ ॥

धृतराष्ट्रने कहा—विदुर ! तुमने अद्भुत आख्यान सुनाया । वास्तवमें तुम तत्त्वदर्शी हो । पुनः तुम्हारी अमृतमयी वाणी सुनकर मुझे बड़ा हर्ष होगा ॥ १ ॥

विदुर उवाच

शृणु भूयः प्रवक्ष्यामि मार्गस्यैतस्य विस्तरम् ।
यच्छ्रुत्वा विप्रमुच्यन्ते संसारेभ्यो विचक्षणाः ॥ २ ॥

विदुरजीने कहा—राजन् ! सुनिये । मैं पुनः विस्तारपूर्वक इस मार्गका वर्णन करता हूँ, जिसे सुनकर बुद्धिमान् पुरुष संसार-बन्धनसे मुक्त हो जाते हैं ॥ २ ॥

यथा तु पुरुषो राजन् दीर्घमध्वानमास्थितः ।
क्वचित् क्वचिच्छ्रमाच्छ्रान्तः कुरुते वासमेव वा ॥ ३ ॥
एवं संसारपर्याये गर्भवासेषु भारत ।
कुर्वन्ति दुर्बुधा वासं मुच्यन्ते तत्र पण्डिताः ॥ ४ ॥

नरेश्वर ! जिस प्रकार किसी लंबे रास्तेपर चलनेवाला पुरुष परिश्रमसे थककर बीचमें कहीं-कहीं विश्रामके लिये ठहर जाता है, उसी प्रकार इस संसारयात्रामें चलते हुए अज्ञानी पुरुष विश्रामके लिये गर्भवास किया करते हैं । भारत ! किंतु विद्वान् पुरुष इस संसारसे मुक्त हो जाते हैं ॥ ३-४ ॥

तस्मादध्वानमेवैतमाहुः शास्त्रविदो जनाः ।
यत्तु संसारगहनं वनमाहुर्मनीषिणः ॥ ५ ॥

इसीलिये शास्त्रज्ञ पुरुषोंने गर्भवासको मार्गका ही रूपक दिया है और गहन संसारको मनीषी पुरुष वन कहा करते हैं ॥ ५ ॥

सोऽयं लोकसमावर्तो मर्त्यानां भरतर्षभ ।
चराणां स्थावराणां च न गृध्येत् तत्र पण्डितः ॥ ६ ॥

भरतश्रेष्ठ ! यही मनुष्यों तथा स्थावर-जङ्गम प्राणियोंका संसारचक्र है । विवेकी पुरुषको इसमें आसक्त नहीं होना चाहिये ॥ ६ ॥

शारीरा मानसाश्चैव मर्त्यानां ये तु व्याधयः ।
प्रत्यक्षाश्च परोक्षाश्च ते व्यालाः कथिता बुधैः ॥ ७ ॥

मनुष्योंकी जो प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष शारीरिक और मानसिक व्याधियाँ हैं, उन्हींको विद्वानोंने सर्प एवं हिंसक जीव बताया है ॥ ७ ॥

क्लिश्यमानाश्च तैर्नित्यं वार्यमाणाश्च भारत ।

स्वकर्मभिर्महाव्यालैर्नोद्विजन्त्यल्पबुद्धयः ॥ ८ ॥

भरतनन्दन ! अपने कर्मरूपी इन महान् हिंसक जन्तुओंसे सदा सताये तथा रोके जानेपर भी मन्दबुद्धि मानव संसारसे उद्विग्न या विरक्त नहीं होते हैं ॥ ८ ॥

अथापि तैर्विमुच्येत व्याधिभिः पुरुषो नृप ।
आवृणोत्येव तं पश्चाज्जरा रूपविनाशिनी ॥ ९ ॥
शब्दरूपरसस्पर्शैर्गन्धैश्च विविधैरपि ।
मज्जमांसमहापङ्के निरालम्बे समन्ततः ॥ १० ॥

नरेश्वर ! यदि शब्द, स्पर्श, रूप, रस और नाना प्रकारकी गन्धोंसे युक्त, मज्जा और मांसरूपी बड़ी भारी कीचड़से भरे हुए एवं सब ओरसे अवलम्बशून्य इस शरीररूपी कूपमें रहनेवाला मनुष्य इन व्याधियोंसे किसी तरह मुक्त हो जाय तो भी अन्तमें रूप-सौन्दर्यका विनाश करनेवाली वृद्धावस्था तो उसे घेर ही लेती है ॥ ९-१० ॥

संवत्सराश्च मासाश्च पक्षाहोरात्रसंधयः ।
क्रमेणास्योपयुञ्जन्ति रूपमायुस्तथैव च ॥ ११ ॥
एते कालस्य निधयो नैतान्जानन्ति दुर्बुधाः ।
धात्राभिलिखितान्याहुः सर्वभूतानि कर्मणा ॥ १२ ॥

वर्ष, मास, पक्ष, दिन-रात और संध्याएँ क्रमशः इसके रूप और आयुका शोषण करती ही रहती हैं। ये सब कालके प्रतिनिधि हैं। मूढ़ मनुष्य इन्हें इस रूपमें नहीं जानते हैं। श्रेष्ठ पुरुषोंका कथन है कि विधाताने सम्पूर्ण भूतोंके ललाटमें कर्मके अनुसार रेखा खींच दी है (प्रारब्धके अनुसार उनकी आयु और सुख-दुःखके भोग नियत कर दिये हैं) ११-१२

रथः शरीरं भूतानां सत्त्वमाहुस्तु सारथिम् ।
इन्द्रियाणि हयानाहुः कर्मबुद्धिस्तु रश्मयः ॥ १३ ॥
तेषां हयानां यो वेगं धावतामनुधावति ।
स तु संसारचक्रेऽस्मिंश्चक्रवत् परिवर्तते ॥ १४ ॥

विद्वान् पुरुष कहते हैं कि प्राणियोंका शरीर रथके समान है, सत्त्व (सत्त्वगुणप्रधान बुद्धि) सारथि है, इन्द्रियाँ घोड़े हैं और मन लगाम है। जो पुरुष स्वेच्छापूर्वक दौड़ते हुए उन घोड़ोंके वेगका अनुसरण करता है, वह तो इस संसारचक्रमें पहियेके समान घूमता रहता है ॥ १३-१४ ॥

यस्तान् संयमते बुद्ध्या संयतो न निवर्तते ।
ये तु संसारचक्रेऽस्मिंश्चक्रवत् परिवर्तिते ॥ १५ ॥
भ्रममाणा न मुह्यन्ति संसारे न भ्रमन्ति ते ।

किंतु जो संयमशील होकर बुद्धिके द्वारा उन इन्द्रियरूपी अश्वोंको काबूमें रखते हैं, वे फिर इस संसारमें नहीं लौटते। जो लोग चक्रकी भाँति घूमनेवाले इस संसारचक्रमें घूमते हुए भी मोहके वशीभूत नहीं होते हैं, उन्हें फिर संसारमें नहीं भटकना पड़ता ॥ १५½ ॥

संसारे भ्रमतां राजन् दुःखमेतद्धि जायते ॥ १६ ॥
तस्मादस्य निवृत्त्यर्थं यत्नमेवाचरेद् बुधः ।
उपेक्षा नात्र कर्तव्या शतशाखः प्रवर्धते ॥ १७ ॥

राजन् ! संसारमें भटकनेवालोंको यह दुःख प्राप्त होता ही है; अतः विज्ञ पुरुषको इस संसारबन्धनकी निवृत्तिके लिये अवश्य यत्न करना चाहिये। इस विषयमें कदापि उपेक्षा नहीं करनी चाहिये; नहीं तो यह संसार सैकड़ों शाखाओंमें फैलकर बहुत बड़ा हो जाता है ॥ १६-१७ ॥

यतेन्द्रियो नरो राजन् क्रोधलोभनिराकृतः ।
संतुष्टः सत्यवादी यः स शान्तिमधिगच्छति ॥ १८ ॥

राजन् ! जो मनुष्य जितेन्द्रिय, क्रोध और लोभसे शून्य, संतोषी तथा सत्यवादी होता है, उसे शान्ति प्राप्त होती है ॥

याम्यमाहू रथं ह्येनं मुह्यन्ते येन दुर्बुधाः ।
स चैतत् प्राप्नुयाद् राजन् यत् त्वं प्राप्तो नराधिप ॥ १९ ॥

नरेश्वर ! इस संसारको याम्य (यमलोकको प्राप्ति करानेवाला) रथ कहते हैं, जिससे मूर्ख मनुष्य मोहित हो जाते हैं। राजन् ! जो दुःख आपको प्राप्त हुआ है, वही प्रत्येक अज्ञानी पुरुषको उपलब्ध होता है ॥ १९ ॥

अनुतर्षुलमेवैतद् दुःखं भवति मारिष ।
राज्यनाशं सुहृन्नाशं सुतनाशं च भारत ॥ २० ॥

माननीय भारत ! जिसकी तृष्णा बढ़ी हुई है, उसीको राज्य, सुहृद् और पुत्रोंका नाशरूपी यह महान् दुःख प्राप्त होता है ॥ २० ॥

साधुः परमदुःखानां दुःखभैषज्यमाचरेत् ।
ज्ञानौषधमवाप्येह दूरपारं महौषधम् ।
छिन्द्याद् दुःखमहाव्याधिं नरः संयतमानसः ॥ २१ ॥

साधु पुरुषको चाहिये कि वह अपने मनको वशमें करके ज्ञानरूपी महान् ओषधि प्राप्त करे, जो परम दुर्लभ है। उससे अपने बड़े-से-बड़े दुःखोंकी चिकित्सा करे। उस ज्ञानरूपी ओषधिसे दुःखरूपी महान् व्याधिका नाश कर डाले २१

न विक्रमो न चाप्यर्थो न मित्रं न सुहृज्जनः ।
तथोन्मोचयते दुःखाद् यथाऽऽत्मा स्थिरसंयमः ॥

पराक्रम, धन, मित्र और सुहृद् भी उस तरह दुःखसे छुटकारा नहीं दिला सकते, जैसा कि दृढ़तापूर्वक संयममें रहनेवाला अपना मन दिला सकता है ॥ २२ ॥

तस्मान्मैत्रं समास्थाय शीलमापद्य भारत ।
दमस्त्यागोऽप्रमादश्च ते त्रयो ब्रह्मणो हयाः ॥ २३ ॥
शीलरश्मिसमायुक्तः स्थितो यो मानसे रथे ।
त्यक्त्वा मृत्युभयं राजन् ब्रह्मलोकं स गच्छति ॥ २४ ॥

भरतनन्दन ! इसलिये सर्वत्र मैत्रीभाव रखते हुए शील प्राप्त करना चाहिये। दम, त्याग और अप्रमाद—ये तीन परमात्माके धाममें ले जानेवाले घोड़े हैं। जो मनुष्य शीलरूपी लगामको पकड़कर इन तीनों घोड़ोंसे जुते हुए मनरूपी रथपर सवार होता है, वह मृत्युका भय छोड़कर ब्रह्मलोकमें चला जाता है ॥ २३-२४ ॥

अभयं सर्वभूतेभ्यो यो ददाति महीपते ।
स गच्छति परं स्थानं विष्णोः पदमनामयम् ॥ २५ ॥

भूपाल ! जो सम्पूर्ण प्राणियोंको अभयदान देता है, वह

भगवान् विष्णुके अविनाशी परमधाममें चला जाता है ॥ २५ ॥

न तत् क्रतुसहस्रेण नोपवासैश्च नित्यशः ।
अभयस्य च दानेन यत् फलं प्राप्नुयान्नरः ॥ २६ ॥

अभयदानसे मनुष्य जिस फलको पाता है, वह उसे सहस्रों यज्ञ और नित्यप्रति उपवास करनेसे भी नहीं मिल सकता है ॥ २६ ॥

न ह्यात्मनः प्रियतरं किंचिद् भूतेषु निश्चितम् ।
अनिष्टं सर्वभूतानां मरणं नाम भारत ॥ २७ ॥
तस्मात् सर्वेषु भूतेषु दया कार्या विपश्चिता ।

भारत ! यह बात निश्चितरूपसे कही जा सकती है कि प्राणियोंको अपने आत्मासे अधिक प्रिय कोई भी वस्तु नहीं है; इसीलिये मरना किसी भी प्राणीको अच्छा नहीं लगता; अतः विद्वान् पुरुषको सभी प्राणियोंपर दया करनी चाहिये ॥ २७½ ॥

नानामोहसमायुक्ता बुद्धिजालेन संवृताः ॥ २८ ॥
असूक्ष्मदृष्टयो मन्दा भ्राम्यन्ते तत्र तत्र ह ।

जो मूढ़ नाना प्रकारके मोहमें डूबे हुए हैं, जिन्हें बुद्धिके जालने बाँध रक्खा है और जिनकी दृष्टि स्थूल है, वे भिन्न-भिन्न योनियोंमें भटकते रहते हैं ॥ २८½ ॥

सुसूक्ष्मदृष्टयो राजन् व्रजन्ति ब्रह्म शाश्वतम् ॥ २९ ॥
(एवं ज्ञात्वा महाप्राज्ञ स तेषामौर्ध्वदैहिकम् ।
कर्तुमर्हति तेनैव फलं प्राप्स्यति वै भवान् ॥)

राजन् ! महाप्राज्ञ ! सूक्ष्मदर्शी ज्ञानी पुरुष सनातन ब्रह्मको प्राप्त होते हैं, ऐसा जानकर आप अपने मरे हुए सगे-सम्बन्धियोंका और्ध्वदैहिक संस्कार कीजिये । इसीसे आपको उत्तम फलकी प्राप्ति होगी ॥ २९ ॥

इति श्रीमहाभारते स्त्रीपर्वणि जलप्रदानिकपर्वणि धृतराष्ट्रविशोककरणे सप्तमोऽध्यायः ॥ ७ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत स्त्रीपर्वके अन्तर्गत जलप्रदानिकपर्वमें धृतराष्ट्रके शोकका निवारणविषयक सातवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ७ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठका १ श्लोक मिलाकर कुल ३० श्लोक हैं)

अष्टमोऽध्यायः

व्यासजीका संहारको अवश्यम्भावी बताकर धृतराष्ट्रको समझाना

वैशम्पायन उवाच

विदुरस्य तु तद् वाक्यं निशम्य कुरुसत्तमः ।
पुत्रशोकाभिसंतप्तः पपात भुवि मूर्छितः ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन् ! विदुरजीके ये वचन सुनकर कुरुश्रेष्ठ राजा धृतराष्ट्र पुत्रशोकसे संतप्त एवं मूर्छित होकर पृथ्वीपर गिर पड़े ॥ १ ॥

तं तथा पतितं भूमौ निःसंज्ञं प्रेक्ष्य बान्धवाः ।
कृष्णद्वैपायनश्चैव क्षत्ता च विदुरस्तथा ॥ २ ॥
संजयः सुहृदश्चान्ये द्वाःस्था ये चास्य सम्मताः ।
जलेन सुखशीतेन तालवृन्तैश्च भारत ॥ ३ ॥
पस्पृशुश्च करैर्गात्रं वीजमानाश्च यत्नतः ।
अन्वासन् सुचिरं कालं धृतराष्ट्रं तथागतम् ॥ ४ ॥

उन्हें इस प्रकार अचेत होकर भूमिपर गिरा देख सभी भाई-बन्धु, व्यासजी, विदुर, संजय, सुहृद्गण तथा जो विश्वसनीय द्वारपाल थे, वे सभी शीतल जलके छींटे देकर ताड़के पङ्खोंसे हवा करने और उनके शरीरपर हाथ फेरने लगे । उस बेहोशीकी अवस्थामें वे बड़े यत्नके साथ धृतराष्ट्रको होशमें लानेके लिये देरतक आवश्यक उपचार करते रहे ॥

अथ दीर्घस्य कालस्य लब्धसंज्ञो महीपतिः ।
विललाप चिरं कालं पुत्राधिभिरभिप्लुतः ॥ ५ ॥

तदनन्तर दीर्घकालके पश्चात् राजा धृतराष्ट्रको चेत हुआ और वे पुत्रोंकी चिन्तामें डूबकर बड़ी देरतक विलाप करते रहे ॥ ५ ॥

धिगस्तु खलु मानुष्यं मानुषेषु परिग्रहे ।
यतो मूलानि दुःखानि सम्भवन्ति मुहुर्मुहुः ॥ ६ ॥

वे बोले—'इस मनुष्यजन्मको धिक्कार है ! इसमें भी विवाह आदि करके परिवार बढ़ाना तो और भी बुरा है; क्योंकि उसीके कारण बारंबार नाना प्रकारके दुःख प्राप्त होते हैं ॥ ६ ॥

पुत्रनाशेऽर्थनाशे च ज्ञातिसम्बन्धिनामथ ।
प्राप्यते सुमहद् दुःखं विषाग्निप्रतिमं विभो ॥ ७ ॥

'प्रभो ! पुत्र, धन, कुटुम्ब और सम्बन्धियोंका नाश होनेपर तो विष पीने और आगमें जलनेके समान बड़ा भारी दुःख भोगना पड़ता है ॥ ७ ॥

येन दह्यन्ति गात्राणि येन प्रज्ञा विनश्यति ।
येनाभिभूतः पुरुषो मरणं बहु मन्यते ॥ ८ ॥

'उस दुःखसे सारा शरीर जलने लगता है, बुद्धि नष्ट हो जाती है और उस असह्य शोकसे पीड़ित हुआ पुरुष जीनेकी अपेक्षा मर जाना अधिक अच्छा समझता है ॥ ८ ॥

तदिदं व्यसनं प्राप्तं मया भाग्यविपर्ययात् ।
तस्यान्तं नाधिगच्छामि ऋते प्राणविमोक्षणात् ॥ ९ ॥

'आज भाग्यके फेरसे वही यह स्वजनोंके विनाशका महान् दुःख मुझे प्राप्त हुआ है । अब प्राण त्याग देनेके सिवा और किसी उपायद्वारा मैं इस दुःखसे पार नहीं पा सकता ॥ ९ ॥

तथैवाहं करिष्यामि अद्यैव द्विजसत्तम ।
इत्युक्त्वा तु महात्मानं पितरं ब्रह्मवित्तमम् ॥ १० ॥
धृतराष्ट्रोऽभवन्मूढः स शोकं परमं गतः ।
अभूच्च तूष्णीं राजासौ ध्यायमानो महीपते ॥ ११ ॥

'द्विजश्रेष्ठ ! इसलिये आज ही मैं अपने प्राणोंका परित्याग कर दूँगा ।' अपने ब्रह्मवेत्ता पिता महात्मा व्यासजीसे ऐसा कहकर राजा धृतराष्ट्र अत्यन्त शोकमें डूब गये और सुध-बुध खो बैठे । राजन् ! पुत्रोंका ही चिन्तन करते हुए वे बूढ़े नरेश वहाँ मौन होकर बैठे रह गये ॥ १०-११ ॥

तस्य तद् वचनं श्रुत्वा कृष्णद्वैपायनः प्रभुः ।
पुत्रशोकाभिसंतप्तं पुत्रं वचनमब्रवीत् ॥ १२ ॥

उनकी बात सुनकर शक्तिशाली महात्मा श्रीकृष्णद्वैपायन व्यास पुत्रशोकसे संतप्त हुए अपने बेटेसे इस प्रकार बोले—॥

व्यास उवाच

धृतराष्ट्र महाबाहो यत् त्वां वक्ष्यामि तच्छृणु ।
श्रुतवानसि मेधावी धर्मार्थकुशलः प्रभो ॥ १३ ॥

व्यासजीने कहा—महाबाहु धृतराष्ट्र ! मैं तुमसे जो कुछ कहता हूँ, उसे ध्यान देकर सुनो । प्रभो ! तुम वेद-शास्त्रोंके ज्ञानमें सम्पन्न, मेधावी तथा धर्म और अर्थके साधनमें कुशल हो ॥ १३ ॥

न तेऽस्त्यविदितं किंचिद् वेदितव्यं परंतप ।
अनित्यतां हि मर्त्यानां विजानासि न संशयः ॥ १४ ॥

शत्रुसंतापी नरेश ! जानने योग्य जो कोई भी तत्त्व है, वह तुमसे अज्ञात नहीं है । तुम मानव-जीवनकी अनित्यताको अच्छी तरह जानते हो, इसमें संशय नहीं है ॥ १४ ॥

अध्रुवे जीवलोके च स्थाने वा शाश्वते सति ।
जीविते मरणान्ते च कस्माच्छोचसि भारत ॥ १५ ॥

भरतनन्दन ! जब जीव-जगत् अनित्य है, सनातन परम पद नित्य है और इस जीवनका अन्त मृत्युमें ही है, तब तुम इसके लिये शोक क्यों करते हो ? ॥ १५ ॥

प्रत्यक्षं तव राजेन्द्र वैरस्यास्य समुद्भवः ।
पुत्रं ते कारणं कृत्वा कालयोगेन कारितः ॥ १६ ॥

राजेन्द्र ! तुम्हारे पुत्रको निमित्त बनाकर कालकी प्रेरणासे इस वैरकी उत्पत्ति तो तुम्हारे सामने ही हुई थी ॥ १६ ॥

अवश्यं भवितव्ये च कुरूणां वैशसे नृप ।
कस्माच्छोचसि ताञ्छूरान् गतान् परमिकां गतिम् ॥

नरेश्वर ! जब कौरवोंका यह विनाश अवश्यम्भावी था, तब परम गतिको प्राप्त हुए उन शूरवीरोंके लिये तुम क्यों शोक कर रहे हो ? ॥ १७ ॥

जानता च महाबाहो विदुरेण महात्मना ।
यतितं सर्वयत्नेन शमं प्रति जनेश्वर ॥ १८ ॥

महाबाहु नरेश्वर ! महात्मा विदुर इस भावी परिणामको जानते थे, इसीलिये इन्होंने सारी शक्ति लगाकर संधिके लिये प्रयत्न किया था ॥ १८ ॥

न च दैवकृतो मार्गः शक्यो भूतेन केनचित् ।
घटतापि चिरं कालं नियन्तुमिति मे मतिः ॥ १९ ॥

मेरा तो ऐसा विश्वास है कि दीर्घ कालतक प्रयत्न करके भी कोई प्राणी दैवके विधानको रोक नहीं सकता ॥ १९ ॥

देवतानां हि यत् कार्यं मया प्रत्यक्षतः श्रुतम् ।
तत् तेऽहं सम्प्रवक्ष्यामि यथा स्थैर्यं भवेत् तव ॥ २० ॥

देवताओंका जो कार्य मैंने प्रत्यक्ष अपने कानोंसे सुना है, वह तुम्हें बता रहा हूँ, जिससे तुम्हारा मन स्थिर हो सके ॥

पुराहं त्वरितो यातः सभामैन्द्रीं जितक्लमः ।
अपश्यं तत्र च तदा समवेतान् दिवौकसः ॥ २१ ॥

पूर्वकालकी बात है, एक बार मैं यहाँसे शीघ्रतापूर्वक इन्द्रकी सभामें गया । वहाँ जानेपर भी मुझे कोई थकावट नहीं हुई; क्योंकि मैं इन सबपर विजय पा चुका हूँ । वहाँ उस समय मैंने देखा कि इन्द्रकी सभामें सम्पूर्ण देवता एकत्र हुए हैं ॥ २१ ॥

नारदप्रमुखाश्चापि सर्वे देवर्षयोऽनघ ।
तत्र चापि मया दृष्टा पृथिवी पृथिवीपते ॥ २२ ॥
कार्यार्थमुपसम्प्राप्ता देवतानां समीपतः ।

अनघ ! वहाँ नारद आदि समस्त देवर्षि भी उपस्थित थे । पृथ्वीनाथ ! मैंने वहीं इस पृथ्वीको भी देखा, जो किसी कार्यके लिये देवताओंके पास गयी थी ॥ २२½ ॥

उपगम्य तदा धात्री देवानाह समागतान् ॥ २३ ॥
यत् कार्यं मम युष्माभिर्ब्रह्मणः सदने तदा ।
प्रतिज्ञातं महाभागास्तच्छीघ्रं संविधीयताम् ॥ २४ ॥

उस समय विश्वधारिणी पृथ्वीने वहाँ एकत्र हुए देवताओंके पास जाकर कहा—'महाभाग देवताओ ! आपलोगोंने उस दिन ब्रह्माजीकी सभामें मेरे जिस कार्यको सिद्ध करनेकी प्रतिज्ञा की थी, उसे शीघ्र पूर्ण कीजिये' ॥ २३-२४ ॥

तस्यास्तद् वचनं श्रुत्वा विष्णुर्लोकनमस्कृतः ।
उवाच वाक्यं प्रहसन् पृथिवीं देवसंसदि ॥ २५ ॥
धृतराष्ट्रस्य पुत्राणां यस्तु ज्येष्ठः शतस्य वै ।
दुर्योधन इति ख्यातः स ते कार्यं करिष्यति ॥ २६ ॥
तं च प्राप्य महीपालं कृतकृत्या भविष्यसि ।

उसकी बात सुनकर विश्ववन्दित भगवान् विष्णुने देवसभामें पृथ्वीकी ओर देखकर हँसते हुए कहा—'शुभे ! धृतराष्ट्रके सौ पुत्रोंमें जो सबसे बड़ा और दुर्योधननामसे विख्यात है, वही तेरा कार्य सिद्ध करेगा । उसे राजाके रूपमें पाकर तू कृतार्थ हो जायगी ॥ २५-२६½ ॥

तस्यार्थे पृथिवीपालाः कुरुक्षेत्रं समागताः ॥ २७ ॥
अन्योन्यं घातयिष्यन्ति दृढैः शस्त्रैः प्रहारिणः ।

'उसके लिये सारे भूपाल कुरुक्षेत्रमें एकत्र होंगे और सुदृढ़ शस्त्रोंद्वारा परस्पर प्रहार करके एक दूसरेका वध कर डालेंगे ॥ २७½ ॥

ततस्ते भविता देवि भारस्य युधि नाशनम् ॥ २८ ॥
गच्छ शीघ्रं स्वकं स्थानं लोकान् धारय शोभने ।

'देवि ! इस प्रकार उस युद्धमें तेरे भारका नाश हो जायगा । शोभने ! अब तू शीघ्र अपने स्थानपर जा और समस्त लोकोंको पूर्ववत् धारण कर' ॥ २८½ ॥

य एष ते सुतो राजन् लोकसंहारकारणात् ॥ २९ ॥
कलेरंशः समुत्पन्नो गान्धार्या जठरे नृप ।
अमर्षी चपलश्चापि क्रोधनो दुष्प्रसाधनः ॥ ३० ॥

राजन् ! नरेश्वर ! यह जो तुम्हारा पुत्र दुर्योधन था, वह सारे जगत्का संहार करनेके लिये कलिका मूर्तिमान् अंश ही गान्धारीके पेटसे पैदा हुआ था । वह अमर्षशील, क्रोधी, चञ्चल और कूटनीतिसे काम लेनेवाला था ॥ २९-३० ॥

दैवयोगात् समुत्पन्ना भ्रातरश्चास्य तादृशाः ।
शकुनिर्मातुलश्चैव कर्णश्च परमः सखा ॥ ३१ ॥

दैवयोगसे उसके भाई भी वैसे ही उत्पन्न हुए। मामा शकुनि और परम मित्र कर्ण भी उसी विचारके मिल गये ॥

समुत्पन्ना विनाशार्थं पृथिव्यां सहिता नृपाः ।
यादृशो जायते राजा तादृशोऽस्य जनो भवेत् ॥ ३२ ॥

ये सब नरेश शत्रुओंका विनाश करनेके लिये ही एक साथ इस भूमण्डलपर उत्पन्न हुए थे। जैसा राजा होता है, वैसे ही उसके स्वजन और सेवक भी होते हैं ॥ ३२ ॥

अधर्मो धर्मतां याति स्वामी चेद् धार्मिको भवेत् ।
स्वामिनो गुणदोषाभ्यां भृत्याः स्युर्नात्र संशयः ॥ ३३ ॥

यदि स्वामी धार्मिक हो तो अधर्मी सेवक भी धार्मिक बन जाते हैं। सेवक स्वामीके ही गुण-दोषोंसे युक्त होते हैं, इसमें संशय नहीं है ॥ ३३ ॥

दुष्टं राजानमासाद्य गतास्ते तनया नृप ।
एतमर्थं महाबाहो नारदो वेद तत्त्ववित् ॥ ३४ ॥

महाबाहु नरेश्वर ! दुष्ट राजाको पाकर तुम्हारे सभी पुत्र उसीके साथ नष्ट हो गये। इस बातको तत्त्ववेत्ता नारदजी जानते हैं ॥ ३४ ॥

आत्मापराधात् पुत्रास्ते विनष्टाः पृथिवीपते ।
मा ताञ्शोचस्व राजेन्द्र न हि शोकेऽस्ति कारणम् ॥

पृथ्वीनाथ ! आपके पुत्र अपने ही अपराधसे विनाशको प्राप्त हुए हैं। राजेन्द्र ! उनके लिये शोक न करो; क्योंकि शोकके लिये कोई उपयुक्त कारण नहीं है ॥ ३५ ॥

न हि ते पाण्डवाः स्वल्पमपराध्यन्ति भारत ।
पुत्रास्तव दुरात्मानो यैरियं घातिता मही ॥ ३६ ॥

भारत ! पाण्डवोंने तुम्हारा थोड़ा-सा भी अपराध नहीं किया है। तुम्हारे पुत्र ही दुष्ट थे, जिन्होंने इस भूमण्डलका नाश करा दिया ॥ ३६ ॥

नारदेन च भद्रं ते पूर्वमेव न संशयः ।
युधिष्ठिरस्य समितौ राजसूये निवेदितम् ॥ ३७ ॥
पाण्डवाः कौरवाः सर्वे समासाद्य परस्परम् ।
न भविष्यन्ति कौन्तेय यत् ते कृत्यं तदाचर ॥ ३८ ॥

राजन् ! तुम्हारा कल्याण हो। राजसूय यज्ञके समय देवर्षि नारदने राजा युधिष्ठिरकी सभामें निःसंदेह पहले ही यह बात बता दी थी कि कौरव और पाण्डव सभी आपसमें लड़कर नष्ट हो जायँगे; अतः कुन्तीनन्दन ! तुम्हारे लिये जो आवश्यक कर्तव्य हो, उसे करो ॥ ३७-३८ ॥

नारदस्य वचः श्रुत्वा तदाशोचन्त पाण्डवाः ।
एवं ते सर्वमाख्यातं देवगुह्यं सनातनम् ॥ ३९ ॥
कथं ते शोकनाशः स्यात् प्राणेषु च दया प्रभो ।
स्नेहश्च पाण्डुपुत्रेषु ज्ञात्वा दैवकृतं विधिम् ॥ ४० ॥

प्रभो ! नारदजीकी वह बात सुनकर उस समय पाण्डव बहुत चिन्तित हो गये थे। इस प्रकार मैंने तुमसे देवताओं-का यह सारा सनातन रहस्य बताया है, जिससे किसी तरह तुम्हारे शोकका नाश हो। तुम अपने प्राणोंपर दया कर सको और देवताओंका विधान समझकर पाण्डुके पुत्रोंपर भी तुम्हारा स्नेह बना रहे ॥ ३९-४० ॥

एष चार्थो महाबाहो पूर्वमेव मया श्रुतः ।
कथितो धर्मराजस्य राजसूये क्रतूत्तमे ॥ ४१ ॥

महाबाहो ! यह बात मैंने बहुत पहले ही सुन रक्खी थी और क्रतुश्रेष्ठ राजसूयमें धर्मराज युधिष्ठिरको बता भी दी थी॥

यतितं धर्मपुत्रेण मया गुह्ये निवेदिते ।
अविग्रहे कौरवाणां दैवं तु बलवत्तरम् ॥ ४२ ॥

मेरेद्वारा उस गुप्त रहस्यके बता दिये जानेपर धर्मपुत्र युधिष्ठिरने बहुत प्रयत्न किया कि कौरवोंमें परस्पर कलह न हो; परंतु दैवका विधान बड़ा प्रबल होता है ॥ ४२ ॥

अनतिक्रमणीयो हि विधी राजन् कथंचन ।
कृतान्तस्य तु भूतेन स्थावरेण चरेण च ॥ ४३ ॥

राजन् ! दैव अथवा कालके विधानको चराचर प्राणियोंमें-से कोई भी किसी तरह लाँघ नहीं सकता ॥ ४३ ॥

भवान् धर्मपरो यत्र बुद्धिश्रेष्ठश्च भारत ।
मुह्यते प्राणिनां ज्ञात्वा गतिं चागतिमेव च ॥ ४४ ॥

भरतनन्दन ! तुम धर्मपरायण और बुद्धिमें श्रेष्ठ हो। तुम्हें प्राणियोंके आवागमनका रहस्य भी ज्ञात है, तो भी क्यों मोहके वशीभूत हो रहे हो ? ॥ ४४ ॥

त्वां तु शोकेन संतप्तं मुह्यमानं मुहुर्मुहुः ।
ज्ञात्वा युधिष्ठिरो राजा प्राणानपि परित्यजेत् ॥ ४५ ॥

तुम्हें बारंबार शोकसे संतप्त और मोहित होते जानकर राजा युधिष्ठिर अपने प्राणोंका भी परित्याग कर देंगे ॥४५॥

कृपालुर्नित्यशो वीरस्तिर्यग्योनिगतेष्वपि ।
स कथं त्वयि राजेन्द्र कृपां नैव करिष्यति ॥ ४६ ॥

राजेन्द्र ! वीर युधिष्ठिर पशु-पक्षी आदि योनिके प्राणियों-पर भी सदा दयाभाव बनाये रखते हैं; फिर तुमपर वे कैसे दया नहीं करेंगे ? ॥ ४६ ॥

मम चैव नियोगेन विधेश्चाप्यनिवर्तनात् ।
पाण्डवानां च कारुण्यात् प्राणान् धारय भारत ॥४७॥

अतः भारत ! मेरी आज्ञा मानकर, विधाताका विधान टल नहीं सकता, ऐसा समझकर तथा पाण्डवोंपर करुणा करके तुम अपने प्राण धारण करो ॥ ४७ ॥

एवं ते वर्तमानस्य लोके कीर्तिर्भविष्यति ।
धर्मार्थः सुमहांस्तात तप्तं स्याच्च तपश्चिरात् ॥ ४८ ॥

तात ! ऐसा बर्ताव करनेसे संसारमें तुम्हारी कीर्ति बढ़ेगी, महान् धर्म और अर्थकी सिद्धि होगी तथा दीर्घ कालतक तपस्या करनेका तुम्हें फल प्राप्त होगा ॥ ४८ ॥

पुत्रशोकं समुत्पन्नं हुताशं ज्वलितं यथा ।
प्रज्ञाम्भसा महाभाग निर्वापय सदा सदा ॥ ४९ ॥

महाभाग ! प्रज्वलित आगके समान जो तुम्हें यह पुत्र-शोक प्राप्त हुआ है, इसे विचाररूपी जलके द्वारा सदाके लिये बुझा दो ॥ ४९ ॥

वैशम्पायन उवाच

तच्छ्रुत्वा तस्य वचनं व्यासस्यामिततेजसः।
मुहूर्तं समनुध्यायन् धृतराष्ट्रोऽभ्यभाषत ॥ ५० ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन्! अमिततेजस्वी व्यासजीका यह वचन सुनकर राजा धृतराष्ट्र दो घड़ीतक कुछ सोच-विचार करते रहे; फिर इस प्रकार बोले—॥ ५० ॥

महता शोकजालेन प्रणुन्नोऽस्मि द्विजोत्तम।
नात्मानमवबुध्यामि मुह्यमानो मुहुर्मुहुः ॥ ५१ ॥

'विप्रवर ! मुझे महान् शोकजालने सब ओरसे जकड़ रक्खा है। मैं अपने आपको ही नहीं समझ पा रहा हूँ। मुझे बारंबार मूर्छा आ जाती है ॥ ५१ ॥

इदं तु वचनं श्रुत्वा तव देवनियोगजम्।
धारयिष्याम्यहं प्राणान् घटिष्ये न तु शोचितुम्॥५२॥

'अब आपका यह वचन सुनकर कि सब कुछ देवताओंकी प्रेरणासे हुआ है, मैं अपने प्राण धारण करूँगा और यथाशक्ति इस बातके लिये भी प्रयत्न करूँगा कि मुझे शोक न हो'॥

एतच्छ्रुत्वा तु वचनं व्यासः सत्यवतीसुतः।
धृतराष्ट्रस्य राजेन्द्र तत्रैवान्तरधीयत ॥ ५३ ॥

राजेन्द्र ! धृतराष्ट्रका यह वचन सुनकर सत्यवतीनन्दन व्यास वहीं अन्तर्धान हो गये ॥ ५३ ॥

इति श्रीमहाभारते स्त्रीपर्वणि जलप्रदानिकपर्वणि धृतराष्ट्रविशोककरणे अष्टमोऽध्यायः ॥ ८ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत स्त्रीपर्वके अन्तर्गत जलप्रदानिकपर्वमें धृतराष्ट्रके शोकका निवारणविषयक आठवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥८॥

नवमोऽध्यायः

धृतराष्ट्रका शोकातुर हो जाना और विदुरजीका उन्हें पुनः शोकनिवारणके लिये उपदेश

जनमेजय उवाच

गते भगवति व्यासे धृतराष्ट्रो महीपतिः।
किमचेष्टत विप्रर्षे तन्मे व्याख्यातुमर्हसि ॥ १ ॥

जनमेजयने पूछा—विप्रर्षे ! भगवान् व्यासके चले जानेपर राजा धृतराष्ट्रने क्या किया ? यह मुझे विस्तारपूर्वक बतानेकी कृपा करें ॥ १ ॥

तथैव कौरवो राजा धर्मपुत्रो महामनाः।
कृपप्रभृतयश्चैव किमकुर्वत ते त्रयः ॥ २ ॥

इसी प्रकार कुरुवंशी राजा महामनस्वी धर्मपुत्र युधिष्ठिरने तथा कृप आदि तीनों महारथियोंने क्या किया ? ॥ २ ॥

अश्वत्थाम्नः श्रुतं कर्म शापश्चान्योन्यकारितः।
वृत्तान्तमुत्तरं ब्रूहि यदभाषत संजयः ॥ ३ ॥

अश्वत्थामाका कर्म तो मैंने सुन लिया, परस्पर जो शाप दिये गये, उनका हाल भी मालूम हो गया। अब आगेका वृत्तान्त बताइये, जिसे संजयने धृतराष्ट्रको सुनाया हो ॥ ३ ॥

वैशम्पायन उवाच

हते दुर्योधने चैव हते सैन्ये च सर्वशः।
संजयो विगतप्रज्ञो धृतराष्ट्रमुपस्थितः ॥ ४ ॥

वैशम्पायनजीने कहा—राजन्! दुर्योधन तथा उसकी सारी सेनाओंके मारे जानेपर संजयकी दिव्य दृष्टि चली गयी और वह धृतराष्ट्रकी सभामें उपस्थित हुआ ॥ ४ ॥

संजय उवाच

आगम्य नानादेशेभ्यो नानाजनपदेश्वराः।
पितृलोकं गता राजन् सर्वे तव सुतैः सह ॥ ५ ॥

संजय बोला—राजन् ! नाना जनपदोंके स्वामी विभिन्न देशोंसे आकर सब-के-सब आपके पुत्रोंके साथ पितृलोकके पथिक बन गये ॥ ५ ॥

याच्यमानेन सततं तव पुत्रेण भारत।
घातिता पृथिवी सर्वा वैरस्यान्तं विधित्सता ॥ ६ ॥

भारत ! आपके पुत्रसे सब लोगोंने सदा शान्तिके लिये याचना की, तो भी उसने वैरका अन्त करनेकी इच्छासे सारे भूमण्डलका विनाश करा दिया ॥ ६ ॥

पुत्राणामथ पौत्राणां पितॄणां च महीपते।
आनुपूर्व्येण सर्वेषां प्रेतकार्याणि कारय ॥ ७ ॥

महाराज ! अब आप क्रमशः अपने ताऊ, चाचा, पुत्र और पौत्रोंका मृतकसम्बन्धी कर्म करवाइये ॥ ७ ॥

वैशम्पायन उवाच

तच्छ्रुत्वा वचनं घोरं संजयस्य महीपतिः।
गतासुरिव निश्चेष्टो न्यपतत् पृथिवीतले ॥ ८ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन् ! संजयका यह घोर वचन सुनकर राजा धृतराष्ट्र प्राणशून्यकी भाँति निश्चेष्ट हो पृथ्वीपर गिर पड़े ॥ ८ ॥

तं शयानमुपागम्य पृथिव्यां पृथिवीपतिम्।
विदुरः सर्वधर्मज्ञ इदं वचनमब्रवीत् ॥ ९ ॥

पृथ्वीपति धृतराष्ट्रको पृथ्वीपर सोया देख सब धर्मोंके ज्ञाता विदुरजी उनके पास आये और इस प्रकार बोले—॥९॥

उत्तिष्ठ राजन् किं शेषे मा शुचो भरतर्षभ।
एषा वै सर्वसत्त्वानां लोकेश्वर परा गतिः ॥ १० ॥

'राजन् ! उठिये, क्यों सो रहे हैं ? भरतश्रेष्ठ ! शोक न कीजिये। लोकनाथ ! समस्त प्राणियोंकी यही अन्तिम गति है॥

अभावादीनि भूतानि भावमध्यानि भारत।
अभावनिधनान्येव तत्र का परिदेवना ॥ ११ ॥

'भरतनन्दन ! सभी प्राणी जन्मसे पहले अव्यक्त थे, बीचमें व्यक्त हुए और अन्तमें मृत्युके बाद फिर अव्यक्त ही हो जायँगे, ऐसी दशामें उनके लिये शोक करनेकी क्या बात है ? ॥ ११ ॥

न शोचन् मृतमन्वेति न शोचन् म्रियते नरः।
एवं सांसिद्धिके लोके किमर्थमनुशोचसि ॥ १२ ॥

'शोक करनेवाला मनुष्य न तो मरे हुएके साथ जाता है और न स्वयं ही मरता है। जब लोककी यही स्वाभाविक स्थिति है, तब आप किस लिये बारंबार शोक कर रहे हैं ?॥

अयुध्यमानो म्रियते युद्ध्यमानस्तु जीवति।
कालं प्राप्य महाराज न कश्चिदतिवर्तते॥ १३॥

'महाराज! जो युद्ध नहीं करता, वह भी मरता है और युद्ध करनेवाला भी जीवित बच जाता है। कालको पाकर कोई भी उसका उल्लङ्घन नहीं कर सकता॥ १३॥

कालः कर्षति भूतानि सर्वाणि विविधानि च।
न कालस्य प्रियः कश्चिन्न द्वेष्यः कुरुसत्तम॥ १४॥

'काल सभी विविध प्राणियोंको खींचता है। कुरुश्रेष्ठ! कालके लिये न तो कोई प्रिय है और न कोई द्वेषका पात्र ही॥ १४॥

यथा वायुस्तृणाग्राणि संवर्तयति सर्वतः।
तथा कालवशं यान्ति भूतानि भरतर्षभ॥ १५॥

'भरतश्रेष्ठ! जैसे वायु तिनकोंको सब ओर उड़ाती और गिराती रहती है, उसी प्रकार सारे प्राणी कालके अधीन होकर आते-जाते रहते हैं॥ १५॥

एकसार्थप्रयातानां सर्वेषां तत्र गामिनाम्।
यस्य कालः प्रयात्यग्रे तत्र का परिदेवना॥ १६॥

'एक साथ आये हुए सभी प्राणियोंको एक दिन वहीं जाना है। जिसका काल आ गया, वह पहले चला जाता है; फिर उसके लिये व्यर्थ शोक क्यों ?॥ १६॥

यांश्चापि निहतान् युद्धे राजंस्त्वमनुशोचसि।
न शोच्या हि महात्मानः सर्वे ते त्रिदिवं गताः॥ १७॥

'राजन्! जो लोग युद्धमें मारे गये हैं और जिनके लिये आप बारंबार शोक कर रहे हैं, वे महामनस्वी वीर शोक करनेके योग्य नहीं हैं, वे सब-के-सब स्वर्गलोकमें चले गये॥

न यज्ञैर्दक्षिणावद्भिर्न तपोभिर्न विद्यया।
तथा स्वर्गमुपायान्ति यथा शूरास्तनुत्यजः॥ १८॥

'अपने शरीरका त्याग करनेवाले शूरवीर जिस तरह स्वर्गमें जाते हैं, उस तरह दक्षिणावाले यज्ञों, तपस्याओं तथा विद्याके भी कोई नहीं जा सकता॥ १८॥

सर्वे वेदविदः शूराः सर्वे सुचरितव्रताः।
सर्वे चाभिमुखाः क्षीणास्तत्र का परिदेवना॥ १९॥

'वे सभी वीर वेदवेत्ता और अच्छी तरह ब्रह्मचर्यव्रतका पालन करनेवाले थे। ये सब-के-सब शत्रुओंका सामना करते हुए मारे गये थे; अतः उनके लिये शोक करनेकी क्या आवश्यकता है ?॥ १९॥

शरीराग्निषु शूराणां जुहुवुस्ते शराहुतीः।
हूयमानाञ्शरांश्चैव सेहुरुत्तमपूरुषाः॥ २०॥

'उन श्रेष्ठ पुरुषोंने शूरवीरोंके शरीररूपी अग्नियोंमें बाणरूपी हविष्यकी आहुतियाँ दी थीं और अपने शरीरमें जिनका हवन किया गया था, उन बाणोंका आघात सहन किया था॥ २०॥

एवं राजंस्तवाचक्षे स्वर्ग्यं पन्थानमुत्तमम्।
न युद्धादधिकं किंचित् क्षत्रियस्येह विद्यते॥ २१॥

'राजन्! मैं तुम्हें स्वर्ग-प्राप्तिका सबसे उत्तम मार्ग बता रहा हूँ। इस जगत्‌में क्षत्रियके लिये युद्धसे बढ़कर स्वर्ग-साधक दूसरा कोई उपाय नहीं है॥ २१॥

क्षत्रियास्ते महात्मानः शूराः समितिशोभनाः।
आशिषं परमां प्राप्ता न शोच्याः सर्व एव हि॥ २२॥

'वे सभी महामनस्वी क्षत्रिय वीर युद्धमें शोभा पानेवाले थे। वे उत्तम भोगोंसे सम्पन्न पुण्यलोकोंमें जा पहुँचे हैं, अतः उन सबके लिये शोक नहीं करना चाहिये॥ २२॥

आत्मनाऽऽत्मानमाश्वास्य मा शुचः पुरुषर्षभ।
नाद्य शोकाभिभूतस्त्वं कार्यमुत्स्रष्टुमर्हसि॥ २३॥

'पुरुषप्रवर! आप स्वयं ही अपने मनको आश्वासन देकर शोकको त्याग दीजिये। आज शोकसे व्याकुल होकर आपको अपने कर्तव्य कर्मका त्याग नहीं करना चाहिये'॥ २३॥

इति श्रीमहाभारते स्त्रीपर्वणि जलप्रदानिकपर्वणि विदुरवाक्ये नवमोऽध्यायः॥ ९॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत स्त्रीपर्वके अन्तर्गत जलप्रदानिकपर्वमें विदुरजीका वाक्यविषयक नवाँ अध्याय पूरा हुआ॥ ९॥

दशमोऽध्यायः

स्त्रियों और प्रजाके लोगोंके सहित राजा धृतराष्ट्रका रणभूमिमें जानेके लिये नगरसे बाहर निकलना

वैशम्पायन उवाच

विदुरस्य तु तद् वाक्यं श्रुत्वा तु पुरुषर्षभः।
युज्यतां यानमित्युक्त्वा पुनर्वचनमब्रवीत्॥ १॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन्! विदुरकी यह बात सुनकर पुरुषश्रेष्ठ राजा धृतराष्ट्रने रथ जोतनेकी आज्ञा देकर पुनः इस प्रकार कहा॥ १॥

धृतराष्ट्र उवाच

शीघ्रमानय गान्धारीं सर्वाश्च भरतस्त्रियः।
वधूं कुन्तीमुपादाय याश्चान्यास्तत्र योषितः॥ २॥

धृतराष्ट्र बोले—गान्धारीको तथा भरतवंशी अन्य सब स्त्रियोंको शीघ्र ले आओ तथा वधू कुन्तीको साथ लेकर वहाँ जो दूसरी स्त्रियाँ हों, उन्हें भी बुला लो॥ २॥

एवमुक्त्वा स धर्मात्मा विदुरं धर्मवित्तमम्।
शोकविप्रहतज्ञानो यानमेवान्वपद्यत॥ ३॥

परम धर्मज्ञ विदुरजीसे ऐसा कहकर शोकसे जिनकी ज्ञानशक्ति नष्ट-सी हो गयी थी, वे धर्मात्मा राजा धृतराष्ट्र रथपर सवार हुए॥ ३॥

गान्धारी पुत्रशोकार्ता भर्तुर्वचनचोदिता।
सह कुन्त्या यतो राजा सह स्त्रीभिरुपाद्रवत्॥ ४॥

गान्धारी पुत्रशोकसे पीड़ित हो रही थीं, पतिकी आज्ञा

[illegible] वे कुन्ती तथा अन्य स्त्रियोंके साथ जहाँ राजा धृतराष्ट्र थे, वहाँ आयीं ॥ ४ ॥

ताः समासाद्य राजानं भृशं शोकसमन्विताः ।
आमन्त्र्यान्योन्यमीयुः स्म भृशमुच्चुक्रुशुस्ततः ॥ ५ ॥

वहाँ राजाके पास पहुँचकर अत्यन्त शोकमें डूबी हुई वे सारी स्त्रियाँ एक दूसरीको पुकार-पुकारकर परस्पर गलेसे लग गयीं और जोर-जोरसे फूट-फूटकर रोने लगीं ॥ ५ ॥

ताः समाश्वासयत् क्षत्ता ताभ्यश्चार्ततरः स्वयम् ।
अश्रुकण्ठीः समारोप्य ततोऽसौ निर्ययौ पुरात् ॥ ६ ॥

विदुरजीने उन सब स्त्रियोंको आश्वासन दिया। वे स्वयं भी उनसे अधिक आर्त हो गये थे। आँसुओंसे गद्गद कण्ठ हुई उन सबको रथपर चढ़ाकर वे नगरसे बाहर निकले ॥ ६ ॥

ततः प्रणादः संजज्ञे सर्वेषु कुरुवेश्मसु ।
आकुमारं पुरं सर्वमभवच्छोककर्षितम् ॥ ७ ॥

तदनन्तर कौरवोंके सभी घरोंमें बड़ा भारी आर्तनाद होने लगा। बूढ़ोंसे लेकर बच्चोंतक सारा नगर शोकसे व्याकुल हो उठा ॥ ७ ॥

अदृष्टपूर्वा या नार्यः पुरा देवगणैरपि ।
पृथग्जनेन दृश्यन्ते तास्तदा निहतेश्वराः ॥ ८ ॥

जिन स्त्रियोंको पहले कभी देवताओंने भी नहीं देखा था, उन्हींको उस समय पतियोंके मारे जानेपर साधारण लोग देख रहे थे ॥ ८ ॥

प्रकीर्य केशान् सुशुभान् भूषणान्यवमुच्य च ।
एकवस्त्रधरा नार्यः परिपेतुरनाथवत् ॥ ९ ॥

वे नारियाँ अपने सुन्दर केश बिखराये सारे आभूषण उतारकर एक ही वस्त्र धारण किये अनाथकी भाँति रणभूमिकी ओर जा रही थीं ॥ ९ ॥

श्वेतपर्वतरूपेभ्यो गृहेभ्यस्तास्त्वपाक्रमन् ।
गुहाभ्य इव शैलानां पृषत्यो हतयूथपाः ॥ १० ॥

कौरवोंके घर श्वेत पर्वतके समान जान पड़ते थे। उनसे जब वे स्त्रियाँ बाहर निकलीं, उस समय जिनका यूथपति मारा गया हो, पर्वतोंकी गुफासे निकली हुई उन चितकबरी हरिणियोंके समान दिखायी देने लगीं ॥ १० ॥

तान्युदीर्णानि नारीणां तदा वृन्दान्यनेकशः ।
शोकार्तान्यद्रवन् राजन् किशोरीणामिवाङ्गने ॥ ११ ॥

राजन्! राजभवनके विशाल आँगनमें एकत्र हुई उन किशोरी स्त्रियोंके अनेक समुदाय शोकसे पीड़ित होकर रणभूमिकी ओर उसी प्रकार चले, जैसे बछेड़ियाँ शिक्षाभूमिपर लायी जाती हैं ॥

प्रगृह्य बाहून् क्रोशन्त्यः पुत्रान् भ्रातॄन् पितॄनपि ।
दर्शयन्तीव ता ह स्म युगान्ते लोकसंक्षयम् ॥ १२ ॥

एक दूसरीके हाथ पकड़कर पुत्रों, भाइयों और पिताओंके नाम ले-लेकर रोती हुई वे कुरुकुलकी नारियाँ प्रलयकालमें लोक-संहारका दृश्य दिखाती हुई-सी जान पड़ती थीं ॥ १२ ॥

विलपन्त्यो रुदत्यश्च धावमानास्ततस्ततः ।
शोकेनोपहतज्ञानाः कर्तव्यं न प्रजज्ञिरे ॥ १३ ॥

शोकसे उनकी ज्ञानशक्ति लुप्त-सी हो गयी थी। वे रोती और विलाप करती हुई इधर-उधर दौड़ रही थीं। उन्हें कोई कर्तव्य नहीं सूझ रहा था ॥ १३ ॥

व्रीडां जग्मुः पुरा याः स्म सखीनामपि योषितः ।
ता एकवस्त्रा निर्लज्जाः श्वश्रूणां पुरतोऽभवन् ॥ १४ ॥

जो युवतियाँ पहले सखियोंके सामने आनेमें भी लजाती थीं, वे ही उस दिन लाज छोड़कर एक वस्त्र धारण किये अपनी सासुओंके सामने उपस्थित हो गयी थीं ॥ १४ ॥

परस्परं सुसूक्ष्मेषु शोकेष्वाश्वासयंस्तदा ।
ताः शोकविह्वला राजन्नवैक्षन्त परस्परम् ॥ १५ ॥

राजन्! जो नारियाँ छोटे-से-छोटे शोकमें भी एक दूसरीके पास जाकर आश्वासन दिया करती थीं, वे ही शोकसे व्याकुल हो परस्पर दृष्टिपात मात्र कर रही थीं ॥ १५ ॥

ताभिः परिवृतो राजा रुदतीभिः सहस्रशः ।
निर्ययौ नगराद् दीनस्तूर्णमायोधनं प्रति ॥ १६ ॥

उन रोती हुई सहस्रों स्त्रियोंसे घिरे हुए दुखी राजा धृतराष्ट्र नगरसे युद्धस्थलमें जानेके लिये तुरंत निकल पड़े ॥ १६ ॥

शिल्पिनो वणिजो वैश्याः सर्वकर्मोपजीविनः ।
ते पार्थिवं पुरस्कृत्य निर्ययुर्नगराद् बहिः ॥ १७ ॥

कारीगर, व्यापारी वैश्य तथा सब प्रकारके कर्मोंसे जीवन-निर्वाह करनेवाले लोग राजाको आगे करके नगरसे बाहर निकले ॥ १७ ॥

तासां विक्रोशमानानामार्तानां कुरुसंक्षये ।
प्रादुरासीन्महाञ्शब्दो व्यथयन् भुवनान्युत ॥ १८ ॥

कौरवोंका संहार हो जानेपर आर्तभावसे रोती और विलपती हुई उन नारियोंका महान् आर्तनाद सम्पूर्ण लोकोंको व्यथित करता हुआ प्रकट होने लगा ॥ १८ ॥

युगान्तकाले सम्प्राप्ते भूतानां दह्यतामिव ।
अभावः स्यादयं प्राप्त इति भूतानि मेनिरे ॥ १९ ॥

प्रलयकाल आनेपर दग्ध होते हुए प्राणियोंके चीखने-चिल्लानेके समान उन स्त्रियोंके रोनेका वह महान् शब्द गूँज रहा था। सब प्राणी ऐसा समझने लगे कि यह संहारकाल आ पहुँचा है ॥ १९ ॥

भृशमुद्विग्नमनसस्ते पौराः कुरुसंक्षये ।
प्राक्रोशन्त महाराज स्वनुरक्तास्तदा भृशम् ॥ २० ॥

महाराज! कुरुकुलका संहार हो जानेसे अत्यन्त उद्विग्न-चित्त हुए पुरवासी जो राजवंशके साथ पूर्ण अनुराग रखते थे, जोर-जोरसे रोने लगे ॥ २० ॥

इति श्रीमहाभारते स्त्रीपर्वणि जलप्रदानिकपर्वणि धृतराष्ट्रनिर्गमने दशमोऽध्यायः ॥ १० ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत स्त्रीपर्वके अन्तर्गत जलप्रदानिकपर्वमें धृतराष्ट्रका नगरसे निकलनाविषयक दसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १० ॥

एकादशोऽध्यायः

राजा धृतराष्ट्रसे कृपाचार्य, अश्वत्थामा और कृतवर्माकी भेंट और कृपाचार्यका कौरव-पाण्डवोंकी सेनाके विनाशकी सूचना देना

वैशम्पायन उवाच

क्रोशमात्रं ततो गत्वा ददृशुस्तान् महारथान्।
शारद्वतं कृपं द्रौणिं कृतवर्माणमेव च ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन्! वे सब लोग हस्तिनापुरसे एक ही कोसकी दूरीपर पहुँचे होंगे कि उन्हें शरद्वान्‌के पुत्र कृपाचार्य, द्रोणकुमार अश्वत्थामा और कृतवर्मा—ये तीनों महारथी दिखायी दिये ॥ १ ॥

ते तु दृष्ट्वैव राजानं प्रज्ञाचक्षुषमीश्वरम्।
अश्रुकण्ठा विनिःश्वस्य रुदन्तमिदमब्रुवन् ॥ २ ॥

रोते हुए ऐश्वर्यशाली प्रज्ञाचक्षु राजा धृतराष्ट्रको देखते ही आँसुओंसे उनका गला भर आया और वे इस प्रकार बोले—॥

पुत्रस्तव महाराज कृत्वा कर्म सुदुष्करम्।
गतः सानुचरो राजञ्शक्रलोकं महीपते ॥ ३ ॥

'पृथ्वीनाथ महाराज! आपका पुत्र अत्यन्त दुष्कर कर्म करके अपने सेवकोंसहित इन्द्रलोकमें जा पहुँचा है ॥ ३ ॥

दुर्योधनबलान्मुक्ता वयमेव त्रयो रथाः।
सर्वमन्यत् परिक्षीणं सैन्यं ते भरतर्षभ ॥ ४ ॥

'भरतश्रेष्ठ! दुर्योधनकी सेनासे केवल हम तीन रथी ही जीवित बचे हैं। आपकी अन्य सारी सेना नष्ट हो गयी' ॥ ४ ॥

इत्येवमुक्त्वा राजानं कृपः शारद्वतस्ततः।
गान्धारीं पुत्रशोकार्तामिदं वचनमब्रवीत् ॥ ५ ॥

राजा धृतराष्ट्रसे ऐसा कहकर शरद्वान्‌के पुत्र कृपाचार्य पुत्रशोकसे पीड़ित हुई गान्धारीसे इस प्रकार बोले—॥ ५ ॥

अभीता युद्ध्यमानास्ते घ्नन्तः शत्रुगणान् बहून्।
वीरकर्माणि कुर्वाणाः पुत्रास्ते निधनं गताः ॥ ६ ॥

'देवि! आपके सभी पुत्र निर्भय होकर जूझते और बहुसंख्यक शत्रुओंका संहार करते हुए वीरोचित कर्म करके वीरगतिको प्राप्त हुए हैं ॥ ६ ॥

ध्रुवं सम्प्राप्य लोकांस्ते निर्मलाञ्शस्त्रनिर्जितान्।
भास्वरं देहमास्थाय विहरन्त्यमरा इव ॥ ७ ॥

'निश्चय ही वे शस्त्रोंद्वारा जीते हुए निर्मल लोकोंमें पहुँचकर तेजस्वी शरीर धारण करके वहाँ देवताओंके समान विहार करते होंगे ॥ ७ ॥

न हि कश्चिद्धि शूराणां युद्ध्यमानः पराङ्मुखः।
शस्त्रेण निधनं प्राप्तो न च कश्चित् कृताञ्जलिः॥ ८ ॥

'उन शूरवीरोंमेंसे कोई भी युद्ध करते समय पीठ नहीं दिखा सका है। किसीने भी शत्रुके सामने हाथ नहीं जोड़े हैं। सभी शस्त्रके द्वारा मारे गये हैं ॥ ८ ॥

एवं तां क्षत्रियस्याहुः पुराणाः परमां गतिम्।
शस्त्रेण निधनं संख्ये तन्न शोचितुमर्हसि ॥ ९ ॥

'इस प्रकार युद्धमें जो शस्त्रद्वारा मृत्यु होती है, उसे प्राचीन महर्षि क्षत्रियके लिये उत्तम गति बताते हैं; अतः उनके लिये आपको शोक नहीं करना चाहिये ॥ ९ ॥

न चापि शत्रवस्तेषामृद्ध्यन्ते राज्ञि पाण्डवाः।
शृणु यत् कृतमस्माभिरश्वत्थामपुरोगमैः ॥ १० ॥

'महारानी! उनके शत्रु पाण्डव भी विशेष लाभमें नहीं हैं। अश्वत्थामाको आगे करके हमने जो कुछ किया है, उसे सुनिये ॥ १० ॥

अधर्मेण हतं श्रुत्वा भीमसेनेन ते सुतम्।
सुप्तं शिबिरमासाद्य पाण्डूनां कदनं कृतम् ॥ ११ ॥

'भीमसेनने आपके पुत्रको अधर्मसे मारा है, यह सुनकर हमलोग भी पाण्डवोंके सोते हुए शिविरमें जा पहुँचे और पाण्डववीरोंका संहार कर डाला ॥ ११ ॥

पञ्चाला निहताः सर्वे धृष्टद्युम्नपुरोगमाः।
द्रुपदस्यात्मजाश्चैव द्रौपदेयाश्च पातिताः ॥ १२ ॥

'द्रुपदके पुत्र धृष्टद्युम्न आदि सारे पाञ्चाल मार डाले गये और द्रौपदीके पाँचों पुत्रोंको भी हमने मार गिराया ॥ १२ ॥

तथा विशसनं कृत्वा पुत्रशत्रुगणस्य ते।
प्राद्रवाम रणे स्थातुं न हि शक्यामहे त्रयः ॥ १३ ॥

'इस प्रकार आपके पुत्रके शत्रुओंका रणभूमिमें संहार करके हम तीनों भागे जा रहे हैं। अब यहाँ ठहर नहीं सकते ॥ १३ ॥

ते हि शूरा महेष्वासाः क्षिप्रमेष्यन्ति पाण्डवाः।
अमर्षवशमापन्ना वैरं प्रतिजिहीर्षवः ॥ १४ ॥

'क्योंकि अमर्षमें भरे हुए वे महाधनुर्धर वीर पाण्डव वैरका बदला लेनेकी इच्छासे शीघ्र यहाँ आयेंगे ॥ १४ ॥

ते हतानात्मजाञ्श्रुत्वा प्रमत्ताः पुरुषर्षभाः।
निरीक्षन्तः पदं शूराः क्षिप्रमेव यशस्विनि ॥ १५ ॥

'यशस्विनि! अपने पुत्रोंके मारे जानेका समाचार सुनकर सदा सावधान रहनेवाले पुरुषप्रवर पाण्डव हमारा चरणचिह्न देखते हुए शीघ्र ही हमलोगोंका पीछा करेंगे ॥ १५ ॥

तेषां तु कदनं कृत्वा संस्थातुं नोत्सहामहे।
अनुजानीहि नो राज्ञि मा च शोके मनः कृथाः ॥ १६ ॥

'रानीजी! उनके पुत्रों और सम्बन्धियोंका विनाश करके हम यहाँ ठहर नहीं सकते; अतः हमें जानेकी आज्ञा दीजिये और आप भी अपने मनसे शोकको निकाल दीजिये ॥ १६ ॥

राजंस्त्वमनुजानीहि धैर्यमातिष्ठ चोत्तमम्।
दिष्टान्तं पश्य चापि त्वं क्षात्रं धर्मं च केवलम् ॥ १७ ॥

(फिर वे धृतराष्ट्रसे बोले—) 'राजन्! आप भी हमें जानेकी आज्ञा प्रदान करें और महान् धैर्यका आश्रय लें, केवल क्षात्रधर्मपर दृष्टि रखकर इतना ही देखें कि उनकी मृत्यु कैसे हुई है?' ॥ १७ ॥

इत्येवमुक्त्वा राजानं कृत्वा चाभिप्रदक्षिणम्।
कृपश्च कृतवर्मा च द्रोणपुत्रश्च भारत ॥ १८ ॥
अवेक्षमाणा राजानं धृतराष्ट्रं मनीषिणम्।

गङ्गामनु महाराज तूर्णमश्वानचोदयन् ॥ १९ ॥

भरत ! राजासे ऐसा कहकर उनकी प्रदक्षिणा करके कृपाचार्य, कृतवर्मा और अश्वत्थामाने मनीषी राजा धृतराष्ट्रकी ओर देखते हुए तुरंत ही गङ्गातटकी ओर अपने घोड़े हाँक दिये ॥ १८-१९ ॥

अपक्रम्य तु ते राजन् सर्व एव महारथाः ।
आमन्त्र्यान्योन्यमुद्विग्नास्त्रिधा ते प्रययुस्तदा ॥ २० ॥

राजन् ! वहाँसे हटकर वे सभी महारथी उद्विग्न हो एक दूसरेसे विदा ले तीन मार्गोंपर चल दिये ॥ २० ॥

जगाम हास्तिनपुरं कृपः शारद्वतस्तदा ।
स्वमेव राष्ट्रं हार्दिक्यो द्रौणिर्व्यासाश्रमं ययौ ॥ २१ ॥

शरद्वान‌के पुत्र कृपाचार्य तो हस्तिनापुर चले गये, कृतवर्मा अपने ही देशकी ओर चल दिया और द्रोणपुत्र अश्वत्थामाने व्यास-आश्रमकी राह ली ॥ २१ ॥

एवं ते प्रययुर्वीरा वीक्षमाणाः परस्परम् ।
भयार्ताः पाण्डुपुत्राणामागस्कृत्वा महात्मनाम् ॥ २२ ॥

महात्मा पाण्डवोंका अपराध करके भयसे पीडित हुए वे तीनों वीर इस प्रकार एक दूसरेकी ओर देखते हुए वहाँसे खिसक गये ॥ २२ ॥

समेत्य वीरा राजानं तदा त्वनुदिते रवौ ।
विप्रजग्मुर्महात्मानो यथेच्छकमरिंदमाः ॥ २३ ॥

राजा धृतराष्ट्रसे मिलकर शत्रुओंका दमन करनेवाले वे तीनों महामनस्वी वीर सूर्योदयसे पहले ही अपने अभीष्ट स्थानोंकी ओर चल पड़े ॥ २३ ॥

समासाद्याथ वै द्रौणिं पाण्डुपुत्रा महारथाः ।
व्यजयंस्ते रणे राजन् विक्रम्य तदनन्तरम् ॥ २४ ॥

राजन् ! तदनन्तर महारथी पाण्डवोंने द्रोणपुत्र अश्वत्थामाके पास पहुँचकर उसे बलपूर्वक युद्धमें पराजित किया ॥ २४ ॥

इति श्रीमहाभारते स्त्रीपर्वणि जलप्रदानिकपर्वणि कृपद्रौणिभोजदर्शने एकादशोऽध्यायः ॥ ११ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत स्त्रीपर्वके अन्तर्गत जलप्रदानिकपर्वमें कृपाचार्य, अश्वत्थामा और कृतवर्माका दर्शनविषयक ग्यारहवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ११ ॥

द्वादशोऽध्यायः

पाण्डवोंका धृतराष्ट्रसे मिलना, धृतराष्ट्रके द्वारा भीमकी लोहमयी प्रतिमाका भङ्ग होना और शोक करनेपर श्रीकृष्णका उन्हें समझाना

वैशम्पायन उवाच

हतेषु सर्वसैन्येषु धर्मराजो युधिष्ठिरः ।
शुश्रुवे पितरं वृद्धं निर्यान्तं गजसाह्वयात् ॥ १ ॥
सोऽभ्ययात् पुत्रशोकार्तः पुत्रशोकपरिप्लुतम् ।
शोचमानं महाराज भ्रातृभिः सहितस्तदा ॥ २ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—महाराज जनमेजय ! समस्त सेनाओंका संहार हो जानेपर धर्मराज युधिष्ठिरने जब सुना कि हमारे बूढ़े ताऊ संग्राममें मरे हुए वीरोंका अन्त्येष्टिकर्म करानेके लिये हस्तिनापुरसे चल दिये हैं, तब वे स्वयं पुत्रशोकसे आतुर हो पुत्रोंके ही शोकमें डूबकर चिन्तामग्न हुए राजा धृतराष्ट्रके पास अपने सब भाइयोंके साथ गये ॥ १-२ ॥

अन्वीयमानो वीरेण दाशार्हेण महात्मना ।
युयुधानेन च तथा तथैव च युयुत्सुना ॥ ३ ॥

उस समय दशार्हकुलनन्दन वीर महात्मा श्रीकृष्ण, सात्यकि और युयुत्सु भी उनके पीछे-पीछे गये ॥ ३ ॥

तमन्वगात् सुदुःखार्ता द्रौपदी शोककर्शिता ।
सह पाञ्चालयोषिद्भिर्यास्तत्रासन् समागताः ॥ ४ ॥

अत्यन्त दुःखसे आतुर और शोकसे दुबली हुई द्रौपदीने भी वहाँ आयी हुई पाञ्चाल-महिलाओंके साथ उनका अनुसरण किया ॥ ४ ॥

स गङ्गामनु वृन्दानि स्त्रीणां भरतसत्तम ।
कुररीणामिवार्तानां क्रोशन्तीनां ददर्श ह ॥ ५ ॥

भरतश्रेष्ठ ! गङ्गातटपर पहुँचकर युधिष्ठिरने कुररीकी तरह आर्तस्वरसे विलाप करती हुई स्त्रियोंके कई दल देखे ॥ ५ ॥

ताभिः परिवृतो राजा क्रोशन्तीभिः सहस्रशः ।
ऊर्ध्वबाहुभिरार्ताभी रुदतीभिः प्रियाप्रियैः ॥ ६ ॥

वहाँ पाण्डवोंके प्रिय और अप्रिय जनोंके लिये हाथ उठाकर आर्तस्वरसे रोती और करुण क्रन्दन करती हुई सहस्रों महिलाओंने राजा युधिष्ठिरको चारों ओरसे घेर लिया ॥ ६ ॥

क्व नु धर्मज्ञता राज्ञः क्व नु साद्यानृशंसता ।
यच्चावधीत् पितॄन् भ्रातॄन् गुरुपुत्रान् सखीनपि ॥ ७ ॥

वे बोलीं—'अहो ! राजाकी वह धर्मज्ञता और दयालुता कहाँ चली गयी कि इन्होंने ताऊ, चाचा, भाई, गुरुपुत्रों और मित्रोंका भी वध कर डाला ॥ ७ ॥

घातयित्वा कथं द्रोणं भीष्मं चापि पितामहम् ।
मनस्तेऽभून्महाबाहो हत्वा चापि जयद्रथम् ॥ ८ ॥

'महाबाहो ! द्रोणाचार्य, पितामह भीष्म और जयद्रथका भी वध करके आपके मनकी कैसी अवस्था हुई ? ॥ ८ ॥

किं नु राज्येन ते कार्यं पितॄन् भ्रातॄनपश्यतः ।
अभिमन्युं च दुर्धर्षं द्रौपदेयांश्च भारत ॥ ९ ॥

'भरतवंशी नरेश ! अपने ताऊ, चाचा और भाइयोंको, दुर्जय वीर अभिमन्युको तथा द्रौपदीके सभी पुत्रोंको न देखनेपर इस राज्यसे आपका क्या प्रयोजन है ?' ॥ ९ ॥

अतीत्य ता महाबाहुः क्रोशन्तीः कुररीरिव ।
ववन्दे पितरं ज्येष्ठं धर्मराजो युधिष्ठिरः ॥ १० ॥

धर्मराज महाबाहु युधिष्ठिरने कुररीकी भाँति क्रन्दन करती हुई उन स्त्रियोंके घेरेको लाँघकर अपने ताऊ धृतराष्ट्रको प्रणाम किया ॥ १० ॥

ततोऽभिवाद्य पितरं धर्मेणामित्रकर्षणाः ।
न्यवेदयन्त नामानि पाण्डवास्तेऽपि सर्वशः ॥ ११ ॥

तत्पश्चात् सभी शत्रुसूदन पाण्डवोंने धर्मानुसार ताऊको प्रणाम करके अपने नाम बताये ॥ ११ ॥

तमात्मजान्तकरणं पिता पुत्रवधार्दितः ।
अप्रीयमाणः शोकार्तः पाण्डवं परिषस्वजे ॥ १२ ॥

पुत्रवधसे पीड़ित हुए पिताने शोकसे व्याकुल हो अपने पुत्रोंका अन्त करनेवाले पाण्डुपुत्र युधिष्ठिरको हृदयसे लगाया; परंतु उस समय उनका मन प्रसन्न नहीं था ॥ १२ ॥

धर्मराजं परिष्वज्य सान्त्वयित्वा च भारत ।
दुष्टात्मा भीममन्वैच्छद् दिधक्षुरिव पावकः ॥ १३ ॥

भरतनन्दन ! धर्मराजको हृदयसे लगाकर उन्हें सान्त्वना दे धृतराष्ट्र भीमको इस प्रकार खोजने लगे, मानो आग बनकर उन्हें जला डालना चाहते हों । उस समय उनके मनमें दुर्भावना जाग उठी थी ॥ १३ ॥

स कोपपावकस्तस्य शोकवायुसमीरितः ।
भीमसेनमयं दावं दिधक्षुरिव दृश्यते ॥ १४ ॥

शोकरूपी वायुसे बढ़ी हुई उनकी क्रोधमयी अग्नि ऐसी दिखायी दे रही थी, मानो वह भीमसेनरूपी वनको जलाकर भस्म कर देना चाहती हो ॥ १४ ॥

तस्य संकल्पमाज्ञाय भीमं प्रत्यशुभं हरिः ।
भीममाक्षिप्य पाणिभ्यां प्रददौ भीममायसम् ॥ १५ ॥

भीमसेनके प्रति उनके अशुभ संकल्पको जानकर श्रीकृष्णने भीमसेनको झटका देकर हटा दिया और दोनों हाथोंसे उनकी लोहमयी मूर्ति धृतराष्ट्रके सामने कर दी ॥ १५ ॥

प्रागेव तु महाबुद्धिर्बुद्ध्वा तस्येङ्गितं हरिः ।
संविधानं महाप्राज्ञस्तत्र चक्रे जनार्दनः ॥ १६ ॥

महाज्ञानी और परम बुद्धिमान् भगवान् श्रीकृष्णको पहलेसे ही उनका अभिप्राय ज्ञात हो गया था, इसलिये उन्होंने वहाँ यह व्यवस्था कर ली थी ॥ १६ ॥

तं गृहीत्वैव पाणिभ्यां भीमसेनमयस्मयम् ।
बभञ्ज बलवान् राजा मन्यमानो वृकोदरम् ॥ १७ ॥

बलवान् राजा धृतराष्ट्रने उस लोहमय भीमसेनको ही असली भीम समझा और उसे दोनों बाँहोंसे दबाकर तोड़ डाला ॥ १७ ॥

नागायुतबलप्राणः स राजा भीममायसम् ।
भङ्क्त्वा विमथितोरस्कः सुस्राव रुधिरं मुखात् ॥ १८ ॥

राजा धृतराष्ट्रमें दस हजार हाथियोंका बल था तो भी भीमकी लोहमयी प्रतिमाको तोड़कर उनकी छाती व्यथित हो गयी और मुँहसे खून निकलने लगा ॥ १८ ॥

ततः पपात मेदिन्यां तथैव रुधिरोक्षितः ।
प्रपुष्पिताग्रशिखरः पारिजात इव द्रुमः ॥ १९ ॥

वे उसी अवस्थामें खूनसे भीगकर पृथ्वीपर गिर पड़े, मानो ऊपरकी डालीपर खिले हुए लाल फूलोंसे सुशोभित पारिजातका वृक्ष धराशायी हो गया हो ॥ १९ ॥

प्रत्यगृह्णाच्च तं विद्वान् सूतो गावल्गणिस्तदा ।
मैवमित्यब्रवीच्चैनं शमयन् सान्त्वयन्निव ॥ २० ॥

उस समय उनके विद्वान् सारथि गवल्गणपुत्र संजयने उन्हें पकड़कर उठाया और समझा-बुझाकर शान्त करते हुए कहा—'आपको ऐसा नहीं करना चाहिये' ॥ २० ॥

स तु कोपं समुत्सृज्य गतमन्युर्महामनाः ।
हा हा भीमेति चुक्रोश नृपः शोकसमन्वितः ॥ २१ ॥

जब रोषका आवेश दूर हो गया, तब वे महामना नरेश क्रोध छोड़कर शोकमें डूब गये और 'हा भीम ! हा भीम !' कहते हुए विलाप करने लगे ॥ २१ ॥

तं विदित्वा गतक्रोधं भीमसेनवधार्दितम् ।
वासुदेवो वरः पुंसामिदं वचनमब्रवीत् ॥ २२ ॥

उन्हें भीमसेनके वधकी आशङ्कासे पीड़ित और क्रोधशून्य हुआ जान पुरुषोत्तम श्रीकृष्णने इस प्रकार कहा— ॥ २२ ॥

मा शुचो धृतराष्ट्र त्वं नैष भीमस्त्वया हतः ।
आयसी प्रतिमा ह्येषा त्वया निष्पातिता विभो ॥ २३ ॥

'महाराज धृतराष्ट्र ! आप शोक न करें । ये भीम आपके हाथसे नहीं मारे गये हैं । प्रभो ! यह तो लोहेकी एक प्रतिमा थी, जिसे आपने चूर-चूर कर डाला ॥ २३ ॥

त्वां क्रोधवशमापन्नं विदित्वा भरतर्षभ ।
मयापकृष्टः कौन्तेयो मृत्योर्दंष्ट्रान्तरं गतः ॥ २४ ॥

'भरतश्रेष्ठ ! आपको क्रोधके वशीभूत हुआ जान मैंने मृत्युकी दाढ़ोंमें फँसे हुए कुन्तीकुमार भीमसेनको पीछे खींच लिया था ॥ २४ ॥

न हि ते राजशार्दूल बले तुल्योऽस्ति कश्चन ।
कः सहेत महाबाहो बाह्वोर्विग्रहणं नरः ॥ २५ ॥

'राजसिंह ! बलमें आपकी समानता करनेवाला कोई नहीं है । महाबाहो ! आपकी दोनों भुजाओंकी पकड़ कौन मनुष्य सह सकता है ? ॥ २५ ॥

यथान्तकमनुप्राप्य जीवन् कश्चिन्न मुच्यते ।
एवं बाह्वन्तरं प्राप्य तव जीवेन्न कश्चन ॥ २६ ॥

'जैसे यमराजके पास पहुँचकर कोई भी जीवित नहीं छूट सकता, उसी प्रकार आपकी भुजाओंके बीचमें पड़ जानेपर किसीके प्राण नहीं बच सकते ॥ २६ ॥

तस्मात् पुत्रेण या तेऽसौ प्रतिमा कारिताऽऽयसी ।
भीमस्य सेयं कौरव्य तवैवोपहृता मया ॥ २७ ॥

'कुरुनन्दन ! इसलिये आपके पुत्रने जो भीमसेनकी लोहमयी प्रतिमा बनवा रक्खी थी, वही मैंने आपको भेंट कर दी ॥ २७ ॥

पुत्रशोकाभिसंतप्तं धर्मादपकृतं मनः ।
तव राजेन्द्र तेन त्वं भीमसेनं जिघांससि ॥ २८ ॥

'राजेन्द्र ! आपका मन पुत्रशोकसे संतप्त हो धर्मसे विचलित हो गया है; इसीलिये आप भीमसेनको मार डालना चाहते हैं ॥ २८ ॥

न त्वेतत् ते क्षमं राजन् हन्यास्त्वं यद् वृकोदरम् ।

न हि पुत्रा महाराज जीवेयुस्ते कथंचन ॥ २९ ॥

'राजन् ! आपके लिये यह कदापि उचित न होगा कि आप भीमका वध करें । महाराज ! (भीमसेन न मारते तो भी) आपके पुत्र किसी तरह जीवित नहीं रह सकते थे (क्योंकि उनकी आयु पूरी हो चुकी थी) ॥ २९ ॥

तस्माद् यत् कृतमस्माभिर्मन्यमानैः शमं प्रति ।
अनुमन्यस्व तत् सर्वं मा च शोके मनः कृथाः ॥ ३०

'अतः हमलोगोंने सर्वत्र शान्ति स्थापित करनेके उद्देश जो कुछ किया है, उन सब बातोंका आप भी अनुमो करें । मनको व्यर्थ शोकमें न डालें' ॥ ३० ॥

इति श्रीमहाभारते स्त्रीपर्वणि जलप्रदानिकपर्वणि आयसभीमभङ्गे द्वादशोऽध्यायः ॥ १२ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत स्त्रीपर्वके अन्तर्गत जलप्रदानिकपर्वमें भीमसेनकी लोहमयी प्रतिमाका भंग होनाविषयक बारहवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥१२

त्रयोदशोऽध्यायः

श्रीकृष्णका धृतराष्ट्रको फटकारकर उनका क्रोध शान्त करना और धृतराष्ट्रका पाण्डवोंको हृदयसे लगा

वैशम्पायन उवाच

तत एनमुपातिष्ठञ्शौचार्थं परिचारकाः ।
कृतशौचं पुनश्चैनं प्रोवाच मधुसूदनः ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन् ! तदनन्तर सेवकगण शौच-सम्बन्धी कार्य सम्पन्न करानेके लिये राजा धृतराष्ट्रकी सेवामें उपस्थित हुए । जब वे शौचकृत्य पूर्ण कर चुके, तब भगवान् मधुसूदनने फिर उनसे कहा— ॥ १ ॥

राजन्नधीता वेदास्ते शास्त्राणि विविधानि च ।
श्रुतानि च पुराणानि राजधर्माश्च केवलाः ॥ २ ॥

'राजन् ! आपने वेदों और नाना प्रकारके शास्त्रोंका अध्ययन किया है । सभी पुराणों और केवल राजधर्मोंका भी श्रवण किया है ॥ २ ॥

एवं विद्वान् महाप्राज्ञः समर्थः सन् बलाबले ।
आत्मापराधात् कस्मात् त्वं कुरुषे कोपमीदृशम् ॥ ३ ॥

'ऐसे विद्वान्, परम बुद्धिमान् और बलाबलका निर्णय करनेमें समर्थ होकर भी अपने ही अपराधसे होनेवाले इस विनाशको देखकर आप ऐसा क्रोध क्यों कर रहे हैं ? ॥ ३ ॥

उक्तवांस्त्वां तदैवाहं भीष्मद्रोणौ च भारत ।
विदुरः संजयश्चैव वाक्यं राजन् न तत् कृथाः ॥ ४ ॥

'भरतनन्दन ! मैंने तो उसी समय आपसे यह बात कह दी थी, भीष्म, द्रोणाचार्य, विदुर और संजयने भी आपको समझाया था । राजन् ! परंतु आपने किसीकी बात नहीं मानी ॥ ४ ॥

स वार्यमाणो नास्माकमकार्षीर्वचनं तदा ।
पाण्डवानधिकाञ्जानन् बले शौर्ये च कौरव ॥ ५ ॥

'कुरुनन्दन ! हमलोगोंने आपको बहुत रोका; परंतु आपने बल और शौर्यमें पाण्डवोंको बढ़ा-चढ़ा जानकर भी हमारा कहना नहीं माना ॥ ५ ॥

राजा हि यः स्थिरप्रज्ञः स्वयं दोषानवेक्षते ।
देशकालविभागं च परं श्रेयः स विन्दति ॥ ६ ॥

'जिसकी बुद्धि स्थिर है, ऐसा जो राजा स्वयं दोषोंको देखता और देश-कालके विभागको समझता है, वह परम कल्याणका भागी होता है ॥ ६ ॥

उच्यमानस्तु यः श्रेयो गृह्णीते नो हिताहिते ।
आपदः समनुप्राप्य स शोचत्यनये स्थितः ॥ ७ ॥

'जो हितकी बात बतानेपर भी हिताहितकी बातको नहीं समझ पाता, वह अन्यायका आश्रय ले बड़ी भारी विपत्तिमें पड़कर शोक करता है ॥ ७ ॥

ततोऽन्यवृत्तमात्मानं समवेक्षस्व भारत ।
राजंस्त्वं ह्यविधेयात्मा दुर्योधनवशे स्थितः ॥ ८ ॥

'भरतनन्दन ! आप अपनी ओर तो देखिये । आपका बर्ताव सदा ही न्यायके विपरीत रहा है । राजन् ! आप अपने मनको वशमें न करके सदा दुर्योधनके अधीन रहे हैं ॥

आत्मापराधादापन्नस्तत् किं भीमं जिघांससि ।
तस्मात् संयच्छ कोपं त्वं स्वमनुस्मर दुष्कृतम् ॥ ९ ॥

'अपने ही अपराधसे विपत्तिमें पड़कर आप भीमसेनको क्यों मार डालना चाहते हैं ? इसलिये क्रोधको रोकिये और अपने दुष्कर्मोंको याद कीजिये ॥ ९ ॥

यस्तु तां स्पर्धया क्षुद्रः पाञ्चालीमानयत् सभाम् ।
स हतो भीमसेनेन वैरं प्रतिजिहीर्षता ॥ १० ॥

'जिस नीच दुर्योधनने मनमें जलन रखनेके कारण पाञ्चालराजकुमारी कृष्णाको भरी सभामें बुलाकर अपमानित किया, उसे वैरका बदला लेनेकी इच्छासे भीमसेनने मार डाला ॥ १० ॥

आत्मनोऽतिक्रमं पश्य पुत्रस्य च दुरात्मनः ।
यदनागसि पाण्डूनां परित्यागस्त्वया कृतः ॥ ११ ॥

'आप अपने और दुरात्मा पुत्र दुर्योधनके उस अत्याचारपर तो दृष्टि डालिये, जब कि बिना किसी अपराधके आपने पाण्डवोंका परित्याग कर दिया था' ॥ ११ ॥

वैशम्पायन उवाच

एवमुक्तः स कृष्णेन सर्वं सत्यं जनाधिप ।
उवाच देवकीपुत्रं धृतराष्ट्रो महीपतिः ॥ १२ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं— नरेश्वर ! जब इस प्रकार भगवान् श्रीकृष्णने सब सच्ची-सच्ची बातें कह डालीं, तब पृथ्वीपति धृतराष्ट्रने देवकीनन्दन श्रीकृष्णसे कहा— ॥ १२ ॥

एवमेतन्महाबाहो यथा वदसि माधव ।
पुत्रस्नेहस्तु बलवान् धैर्यान्मां समचालयत् ॥ १३ ॥

'महाबाहु ! माधव ! आप जैसा कह रहे हैं, ठीक वैसी ही बात है; परंतु पुत्रका स्नेह प्रबल होता है, जिसने मुझे धैर्यसे विचलित कर दिया था ॥ १३ ॥

दिष्ट्या तु पुरुषव्याघ्रो बलवान् सत्यविक्रमः ।
त्वद्गुप्तो नागमत् कृष्ण भीमो बाह्वन्तरं मम ॥ १४
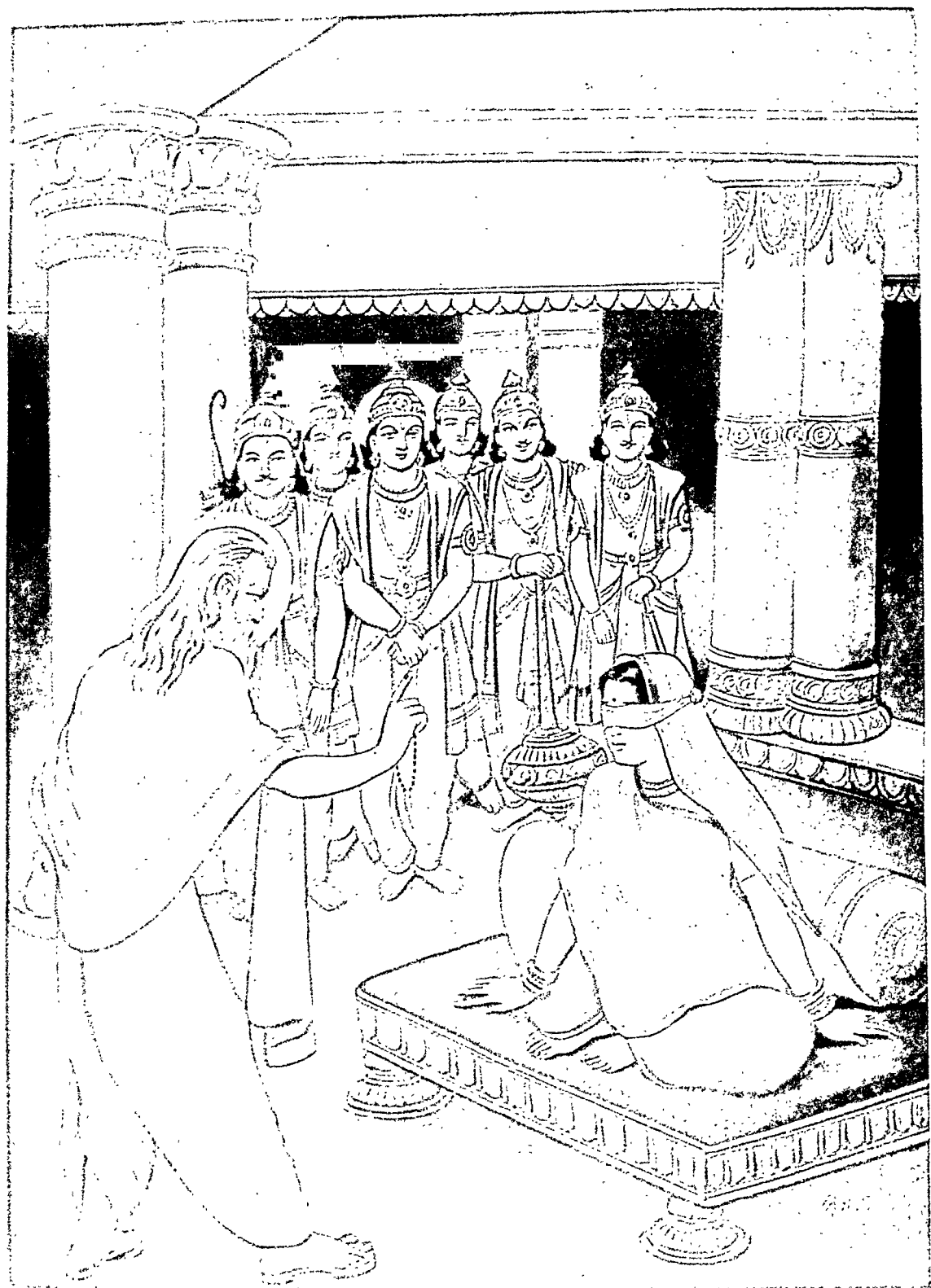
व्यासजी गान्धारीको समझा रहे हैं

'श्रीकृष्ण ! सौभाग्यकी बात है कि आपसे सुरक्षित होकर बलवान् सत्यपराक्रमी पुरुषसिंह भीमसेन मेरी दोनों भुजाओं-के बीचमें नहीं आये ॥ १४ ॥

इदानीं त्वहमव्यग्रो गतमन्युर्गतज्वरः ।
मध्यमं पाण्डवं वीरं द्रष्टुमिच्छामि माधव ॥ १५ ॥

'माधव ! अब इस समय मैं शान्त हूँ । मेरा क्रोध उतर गया है और चिन्ता भी दूर हो गयी है; अतः मैं मध्यम पाण्डव वीर अर्जुनको देखना चाहता हूँ ॥ १५ ॥

हतेषु पार्थिवेन्द्रेषु पुत्रेषु निहतेषु च ।
पाण्डुपुत्रेषु वै शर्म प्रीतिश्चाप्यवतिष्ठते ॥ १६ ॥

'समस्त राजाओं तथा अपने पुत्रोंके मारे जानेपर अब मेरा प्रेम और हितचिन्तन पाण्डुके इन पुत्रोंपर ही आश्रित है' ॥

ततः स भीमं च धनंजयं च
माद्र्याश्च पुत्रौ पुरुषप्रवीरौ ।
पस्पर्श गात्रैः प्ररुदन् सुगात्रा-
नाश्वास्य कल्याणमुवाच चैतान् ॥ १७ ॥

तदनन्तर रोते हुए धृतराष्ट्रने सुन्दर शरीरवाले भीमसेन, अर्जुन तथा माद्रीके दोनों पुत्र नरवीर नकुल-सहदेवको अपने अङ्गोंसे लगाया और उन्हें सान्त्वना देकर कहा—'तुम्हारा कल्याण हो' ॥ १७ ॥

इति श्रीमहाभारते स्त्रीपर्वणि जलप्रदानिकपर्वणि धृतराष्ट्रकोपविमोचने पाण्डवपरिष्वङ्गो नाम त्रयोदशोऽध्यायः ॥ १३ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत स्त्रीपर्वके अन्तर्गत जलप्रदानिकपर्वमें 'धृतराष्ट्रका क्रोध छोड़कर पाण्डवोंको हृदयसे लगाना' नामक तेरहवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १३ ॥

चतुर्दशोऽध्यायः

पाण्डवोंको शाप देनेके लिये उद्यत हुई गान्धारीको व्यासजीका समझाना

वैशम्पायन उवाच

धृतराष्ट्राभ्यनुज्ञातास्ततस्ते कुरुपाण्डवाः ।
अभ्ययुर्भ्रातरः सर्वे गान्धारीं सह केशवाः ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन् ! तदनन्तर धृतराष्ट्रकी आज्ञा लेकर वे कुरुवंशी पाण्डव सभी भाई भगवान् श्रीकृष्णके साथ गान्धारीके पास गये ॥ १ ॥

ततो ज्ञात्वा हतामित्रं युधिष्ठिरमुपागतम् ।
गान्धारी पुत्रशोकार्ता शप्तुमैच्छदनिन्दिता ॥ २ ॥

पुत्रशोकसे पीड़ित हुई गान्धारीको जब यह मालूम हुआ कि युधिष्ठिर अपने शत्रुओंका संहार करके मेरे पास आये हैं, तब उन सती-साध्वी देवीने उन्हें शाप देनेकी इच्छा की ॥ २ ॥

तस्याः पापमभिप्रायं विदित्वा पाण्डवान् प्रति ।
ऋषिः सत्यवतीपुत्रः प्रागेव समबुध्यत ॥ ३ ॥
स गङ्गायामुपस्पृश्य पुण्यगन्धि पयः शुचि ।
तं देशमुपसम्पेदे परमर्षिर्मनोजवः ॥ ४ ॥

पाण्डवोंके प्रति गान्धारीके मनमें पापपूर्ण संकल्प है, इस बातको सत्यवतीनन्दन महर्षि व्यास पहले ही जान गये थे । उनके उस अभिप्रायको जानकर वे मनके समान वेगशाली महर्षि गङ्गाजीके पवित्र एवं सुगन्धित जलसे आचमन करके शीघ्र ही उस स्थानपर आ पहुँचे ॥ ३-४ ॥

दिव्येन चक्षुषा पश्यन् मनसा तद्गतेन च ।
सर्वप्राणभृतां भावं स तत्र समबुध्यत ॥ ५ ॥

वे दिव्य दृष्टिसे तथा अपने मनको समस्त प्राणियोंके साथ एकाग्र करके उनके आन्तरिक भावको समझ लेते थे ॥ ५ ॥

स स्नुषामब्रवीत् काले कल्यवादी महातपाः ।
शापकालमवाक्षिप्य शमकालमुदीरयन् ॥ ६ ॥

अतः हितकी बात बतानेवाले वे महातपस्वी व्यास समयपर अपनी पुत्रवधूके पास जा पहुँचे और शापका अवसर हटाकर शान्तिका अवसर उपस्थित करते हुए इस प्रकार बोले— ॥ ६ ॥

न कोपः पाण्डवे कार्यो गान्धारि शममाप्नुहि ।
वचो निगृह्यतामेतच्छृणु चेदं वचो मम ॥ ७ ॥

'गान्धारराजकुमारी ! शान्त हो जाओ । तुम्हें पाण्डुपुत्र युधिष्ठिरपर क्रोध नहीं करना चाहिये । अभी-अभी जो बात मुँहसे निकालना चाहती हो, उसे रोक लो और मेरी यह बात सुनो ॥ ७ ॥

उक्तास्यष्टादशाहानि पुत्रेण जयमिच्छता ।
शिवमाशास्व मे मातर्युध्यमानस्य शत्रुभिः ॥ ८ ॥

'गत अठारह दिनोंमें विजयकी अभिलाषा रखनेवाला तुम्हारा पुत्र प्रतिदिन तुमसे जाकर कहता था कि "माँ ! मैं शत्रुओंके साथ युद्ध करने जा रहा हूँ । तुम मेरे कल्याणके लिये आशीर्वाद दो" ॥ ८ ॥

सा तथा याच्यमाना त्वं काले काले जयैषिणा ।
उक्तवत्यसि गान्धारि यतो धर्मस्ततो जयः ॥ ९ ॥

'इस प्रकार जब विजयाभिलाषी दुर्योधन समय-समयपर तुमसे प्रार्थना करता था, तब तुम सदा यही उत्तर देती थीं कि "जहाँ धर्म है, वहीं विजय है" ॥ ९ ॥

न चाप्यतीतां गान्धारि वाचं ते वितथामहम् ।
स्मरामि भाषमाणायास्तथा प्रणिहिता ह्यसि ॥ १० ॥

'गान्धारी ! तुमने बातचीतके प्रसङ्गमें भी पहले कभी झूठ कहा हो, ऐसा मुझे स्मरण नहीं है तथा तुम सदा प्राणियोंके हितमें तत्पर रहती आयी हो ॥ १० ॥

विग्रहे तुमुले राज्ञां गत्वा पारमसंशयम् ।
जितं पाण्डुसुतैर्युद्धे नूनं धर्मस्ततोऽधिकः ॥ ११ ॥

'राजाओंके इस घोर संग्रामसे पार होकर पाण्डवोंने जो युद्धमें विजय पायी है, इससे निःसंदेह यह बात सिद्ध हो गयी कि "धर्मका बल सबसे अधिक है" ॥ ११ ॥

क्षमाशीला पुरा भूत्वा साद्य न क्षमसे कथम्।
अधर्मं जहि धर्मज्ञे यतो धर्मस्ततो जयः ॥ १२ ॥

'धर्मज्ञे ! तुम तो पहले बड़ी क्षमाशील थीं । अब क्यों नहीं क्षमा करती हो ? अधर्म छोड़ो, क्योंकि जहाँ धर्म है, वहीं विजय है ॥ १२ ॥

स्वं च धर्मं परिस्मृत्य वाचं चोक्तां मनस्विनि ।
कोपं संयच्छ गान्धारि मैवं भूः सत्यवादिनि ॥ १३ ॥

'मनस्विनी गान्धारी ! अपने धर्म तथा कही हुई बातका स्मरण करके क्रोधको रोको। सत्यवादिनि ! अब फिर तुम्हारा ऐसा बर्ताव नहीं होना चाहिये' ॥ १३ ॥

गान्धार्युवाच

भगवन्नाभ्यसूयामि नैतानिच्छामि नश्यतः ।
पुत्रशोकेन तु बलान्मनो विह्वलतीव मे ॥ १४ ॥

गान्धारी बोली—भगवन् ! मैं पाण्डवोंके प्रति कोई दुर्भाव नहीं रखती और न इनका विनाश ही चाहती हूँ; परंतु क्या करूँ ? पुत्रोंके शोकसे मेरा मन हठात् व्याकुल-सा हो जाता है ॥ १४ ॥

यथैव कुन्त्या कौन्तेया रक्षितव्यास्तथा मया ।
तथैव धृतराष्ट्रेण रक्षितव्या यथा त्वया ॥ १५ ॥

कुन्तीके ये बेटे जिस प्रकार कुन्तीके द्वारा रक्षणीय हैं, उसी प्रकार मुझे भी इनकी रक्षा करनी चाहिये । जैसे आप इनकी रक्षा चाहते हैं, उसी प्रकार महाराज धृतराष्ट्रका भी कर्तव्य है कि इनकी रक्षा करें ॥ १५ ॥

दुर्योधनापराधेन शकुनेः सौबलस्य च ।
कर्णदुःशासनाभ्यां च कृतोऽयं कुरुसंक्षयः ॥ १६ ॥

कुरुकुलका यह संहार तो दुर्योधन, मेरे भाई शकुनि, कर्ण तथा दुःशासनके अपराधसे ही हुआ है ॥ १६ ॥

नापराध्यति बीभत्सुर्न च पार्थो वृकोदरः ।
नकुलः सहदेवश्च नैव जातु युधिष्ठिरः ॥ १७ ॥

इसमें न तो अर्जुनका अपराध है और न कुन्तीपुत्र भीमसेनका । नकुल-सहदेव और युधिष्ठिरको भी कभी इसके लिये दोष नहीं दिया जा सकता ॥ १७ ॥

युध्यमाना हि कौरव्याः कृन्तमानाः परस्परम् ।
निहताः सहिताश्चान्यैस्तत्र नास्त्यप्रियं मम ॥ १८ ॥

कौरव आपसमें ही जूझकर मारकाट मचाते हुए अपने दूसरे साथियोंके साथ मारे गये हैं; अतः इसमें मुझे अप्रिय लगनेवाली कोई बात नहीं है ॥ १८ ॥

किं तु कर्माकरोद् भीमो वासुदेवस्य पश्यतः ।
दुर्योधनं समाहूय गदायुद्धे महामनाः ॥ १९ ॥
शिक्षयाभ्यधिकं ज्ञात्वा चरन्तं बहुधा रणे ।
अधो नाभ्याः प्रहृतवांस्तन्मे कोपमवर्धयत् ॥ २० ॥

परंतु महामना भीमसेनने गदायुद्धके लिये दुर्योधनको बुलाकर श्रीकृष्णके देखते-देखते उसके प्रति जो बर्ताव किया है, वह मुझे अच्छा नहीं लगा । वह रणभूमिमें अनेक प्रकारके पैंतरे दिखाता हुआ विचर रहा था; अतः शिक्षामें उसे अपनेसे अधिक जान भीमने जो उसकी नाभिसे नीचे प्रहार किया, इनके इसी बर्तावने मेरे क्रोधको बढ़ा दिया है १९-२०

कथं नु धर्मं धर्मज्ञैः समुद्दिष्टं महात्मभिः ।
त्यजेयुराहवे शूराः प्राणहेतोः कथंचन ॥ २१ ॥

धर्मज्ञ महात्माओंने गदायुद्धके लिये जिस धर्मका प्रतिपादन किया है, उसे शूरवीर योद्धा रणभूमिमें किसी तरह अपने प्राण बचानेके लिये कैसे त्याग सकते हैं ? ॥ २१ ॥

इति श्रीमहाभारते स्त्रीपर्वणि जलप्रदानिकपर्वणि गान्धारीसान्त्वनायां चतुर्दशोऽध्यायः ॥ १४ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत स्त्रीपर्वके अन्तर्गत जलप्रदानिकपर्वमें गान्धारीकी सान्त्वनाविषयक चौदहवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १४ ॥

पञ्चदशोऽध्यायः

भीमसेनका गान्धारीको अपनी सफ़ाई देते हुए उनसे क्षमा माँगना, युधिष्ठिरका अपना अपराध स्वीकार करना, गान्धारीके दृष्टिपातसे युधिष्ठिरके पैरोंके नखोंका काला पड़ जाना, अर्जुनका भयभीत होकर श्रीकृष्णके पीछे छिप जाना, पाण्डवोंका अपनी मातासे मिलना, द्रौपदीका विलाप, कुन्तीका आश्वासन तथा गान्धारीका उन दोनोंको धीरज बँधाना

वैशम्पायन उवाच

तच्छ्रुत्वा वचनं तस्या भीमसेनोऽथ भीतवत् ।
गान्धारीं प्रत्युवाचेदं वचः सानुनयं तदा ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! गान्धारीकी यह बात सुनकर भीमसेनने डरे हुएकी भाँति विनयपूर्वक उनकी बातका उत्तर देते हुए कहा—॥ १ ॥

अधर्मो यदि वा धर्मस्त्रासात् तत्र मया कृतः ।
आत्मानं त्रातुकामेन तन्मे त्वं क्षन्तुमर्हसि ॥ २ ॥

'माताजी ! यह अधर्म हो या धर्म; मैंने दुर्योधनसे डरकर अपने प्राण बचानेके लिये ही वहाँ ऐसा किया था; अतः आप मेरे उस अपराधको क्षमा कर दें ॥ २ ॥

न हि युद्धेन पुत्रस्ते धर्म्येण स महाबलः ।
शक्यः केनचिदुद्यन्तुमतो विषममाचरम् ॥ ३ ॥

'आपके उस महाबली पुत्रको कोई भी धर्मानुकूल युद्ध करके मारनेका साहस नहीं कर सकता था; अतः मैंने विषमतापूर्ण बर्ताव किया ॥ ३ ॥

अधर्मेण जितः पूर्वं तेन चापि युधिष्ठिरः ।
निकृताश्च सदैव स्म ततो विषममाचरम् ॥ ४ ॥

'पहले उसने भी अधर्मसे ही राजा युधिष्ठिरको जीता था और हमलोगोंके साथ सदा ही धोखा किया था, इसलिये मैंने भी उसके साथ विषम बर्ताव किया ॥ ४ ॥

सैन्यस्यैकोऽवशिष्टोऽयं गदायुद्धेन वीर्यवान्।
मां हत्वा न हरेद् राज्यमिति वै तत् कृतं मया॥ ५ ॥

'कौरवसेनाका एकमात्र बचा हुआ यह पराक्रमी वीर गदायुद्धके द्वारा मुझे मारकर पुनः सारा राज्य हर न ले, इसी आशङ्कासे मैंने वह अयोग्य बर्ताव किया था ॥ ५ ॥

राजपुत्रीं च पाञ्चालीमेकवस्त्रां रजस्वलाम्।
भवत्या विदितं सर्वमुक्तवान् यत् सुतस्तव ॥ ६ ॥

'राजकुमारी द्रौपदीसे, जो एक वस्त्र धारण किये रजस्वला-अवस्थामें थी, आपके पुत्रने जो कुछ कहा था, वह सब आप जानती हैं ॥ ६ ॥

सुयोधनमसंगृह्य न शक्या भूः ससागरा।
केवला भोक्तुमस्माभिरतश्चैतत् कृतं मया ॥ ७ ॥

'दुर्योधनका संहार किये बिना हमलोग निष्कण्टक पृथ्वीका राज्य नहीं भोग सकते थे, इसलिये मैंने यह अयोग्य कार्य किया ॥ ७ ॥

तथाप्यप्रियमस्माकं पुत्रस्ते समुपाचरत्।
द्रौपद्या यत् सभामध्ये सव्यमूरुमदर्शयत् ॥ ८ ॥

'आपके पुत्रने तो हम सब लोगोंका इससे भी बढ़कर अप्रिय किया था कि उसने भरी सभामें द्रौपदीको अपनी बाँयीं जाँघ दिखायी ॥ ८ ॥

तदैव वध्यः सोऽस्माकं दुराचारश्च ते सुतः।
धर्मराजाज्ञया चैव स्थिताः स्म समये तदा ॥ ९ ॥

'आपके उस दुराचारी पुत्रको तो हमें उसी समय मार डालना चाहिये था; परंतु धर्मराजकी आज्ञासे हमलोग समयके बन्धनमें बँधकर चुप रह गये ॥ ९ ॥

वैरमुद्दीपितं राज्ञि पुत्रेण तव तन्महत्।
क्लेशिताश्च वने नित्यं तत एतत् कृतं मया ॥ १० ॥

'रानी ! आपके पुत्रने उस महान् वैरकी आगको और भी प्रज्वलित कर दिया और हमें वनमें भेजकर सदा क्लेश पहुँचाया; इसीलिये हमने उसके साथ ऐसा व्यवहार किया है॥

वैरस्यास्य गताः पारं हत्वा दुर्योधनं रणे।
राज्यं युधिष्ठिरः प्राप्तो वयं च गतमन्यवः ॥ ११ ॥

'रणभूमिमें दुर्योधनका वध करके हमलोग इस वैरसे पार हो गये। राजा युधिष्ठिरको राज्य मिल गया और हमलोगोंका क्रोध शान्त हो गया' ॥ ११ ॥

गान्धार्युवाच

न तस्यैष वधस्तात यत् प्रशंससि मे सुतम्।
कृतवांश्चापि तत् सर्वं यदिदं भाषसे मयि ॥ १२ ॥

गान्धारी बोलीं—तात ! तुम मेरे पुत्रकी इतनी प्रशंसा कर रहे हो; इसलिये यह उसका वध नहीं हुआ (वह अपने यशोमय शरीरसे अमर है) और मेरे सामने तुम जो कुछ कह रहे हो, वह सारा अपराध दुर्योधनने अवश्य किया है ॥ १२ ॥

हताश्वे नकुले यत्तु वृषसेनेन भारत।
अपिबः शोणितं संख्ये दुःशासनशरीरजम् ॥ १३ ॥
सद्भिर्विगर्हितं घोरमनार्यजनसेवितम्।
क्रूरं कर्माकृथास्तस्मात्तदयुक्तं वृकोदर ॥ १४ ॥

भारत ! परंतु वृषसेनने जब नकुलके घोड़ोंको मारकर उसे रथहीन कर दिया था, उस समय तुमने युद्धमें दुःशासनको मारकर जो उसका खून पी लिया, वह सत्पुरुषोंद्वारा निन्दित और नीच पुरुषोंद्वारा सेवित घोर क्रूरतापूर्ण कर्म है। वृकोदर ! तुमने वही क्रूर कार्य किया है, इसलिये तुम्हारे द्वारा अत्यन्त अयोग्य कर्म बन गया है ॥ १३-१४ ॥

भीमसेन उवाच

अन्यस्यापि न पातव्यं रुधिरं किं पुनः स्वकम्।
यथैवात्मा तथा भ्राता विशेषो नास्ति कश्चन ॥ १५ ॥

भीमसेन बोले—माताजी ! दूसरेका भी खून नहीं पीना चाहिये; फिर अपना ही खून कोई कैसे पी सकता है ? जैसे अपना शरीर है, वैसे ही भाईका शरीर है। अपनेमें और भाईमें कोई अन्तर नहीं है ॥ १५ ॥

रुधिरं न व्यतिक्रामद् दन्तोष्ठं मेऽम्ब मा शुचः।
वैवस्वतस्तु तद् वेद हस्तौ मे रुधिरोक्षितौ ॥ १६ ॥

माँ ! आप शोक न करें। वह खून मेरे दाँतों और ओठोंको लाँघकर आगे नहीं जा सका था। इस बातको सूर्यपुत्र यमराज जानते हैं कि केवल मेरे दोनों हाथ ही रक्तमें सने हुए थे ॥ १६ ॥

हताश्वं नकुलं दृष्ट्वा वृषसेनेन संयुगे।
भ्रातॄणां सम्प्रहृष्टानां त्रासः संजनितो मया ॥ १७ ॥

युद्धमें वृषसेनके द्वारा नकुलके घोड़ोंको मारा गया देख जो दुःशासनके सभी भाई हर्षसे उल्लसित हो उठे थे, उनके मनमें वैसा करके मैंने केवल त्रास उत्पन्न किया था ॥

केशपक्षपरामर्शे द्रौपद्या द्यूतकारिते।
क्रोधाद् यदब्रवं चाहं तच्च मे हृदि वर्तते ॥ १८ ॥

द्यूतक्रीडाके समय जब द्रौपदीका केश खींचा गया, उस समय क्रोधमें भरकर मैंने जो प्रतिज्ञा की थी, उसकी याद हमारे हृदयमें बराबर बनी रहती थी ॥ १८ ॥

क्षत्रधर्माच्च्युतो राज्ञि भवेयं शाश्वतीः समाः।
प्रतिज्ञां तामनिस्तीर्य ततस्तत् कृतवानहम् ॥ १९ ॥

रानीजी ! यदि मैं उस प्रतिज्ञाको पूर्ण न करता तो सदाके लिये क्षत्रिय-धर्मसे गिर जाता, इसलिये मैंने यह काम किया था ॥ १९ ॥

न मामर्हसि गान्धारि दोषेण परिशङ्कितुम्।
अनिगृह्य पुरा पुत्रानस्मास्वनपकारिषु।
अधुना किं नु दोषेण परिशङ्कितुमर्हसि ॥ २० ॥

माता गान्धारी ! आपको मुझमें दोषकी आशङ्का नहीं करनी चाहिये। पहले जब हमलोगोंने कोई अपराध नहीं किया था, उस समय हमपर अत्याचार करनेवाले अपने पुत्रोंको तो आपने रोका नहीं; फिर इस समय आप क्यों मुझपर दोषारोपण करती हैं ? ॥ २० ॥

गान्धार्युवाच

वृद्धस्यास्य शतं पुत्रान् निघ्नंस्त्वमपराजितः।
कस्मान्नाशेषयः कंचिद् येनाल्पमपराधितम् ॥ २१ ॥

गान्धारी बोलीं—बेटा ! तुम अपराजित वीर हो। तुमने इन बूढ़े महाराजके सौ पुत्रोंको मारते समय किसी एकको भी, जिसने बहुत थोड़ा अपराध किया था, क्यों नहीं जीवित छोड़ दिया ? ॥ २१ ॥

संतानमावयोस्तात वृद्धयोर्हृतराज्ययोः ।
कथमन्धद्वयस्यास्य यष्टिरेका न वर्जिता ॥ २२ ॥

तात ! हम दोनों बूढ़े हुए। हमारा राज्य भी तुमने छीन लिया। ऐसी दशामें हमारी एक ही संतानको—हम दो अन्धोंके लिये एक ही लाठीके सहारेको तुमने क्यों नहीं जीवित छोड़ दिया ? ॥ २२ ॥

शेषे ह्यवस्थिते तात पुत्राणामन्तके त्वयि ।
न मे दुःखं भवेदेतद् यदि त्वं धर्ममाचरेः ॥ २३ ॥

तात ! तुम मेरे सारे पुत्रोंके लिये यमराज बन गये। यदि तुम धर्मका आचरण करते और मेरा एक पुत्र भी शेष रह जाता तो मुझे इतना दुःख नहीं होता ॥ २३ ॥

वैशम्पायन उवाच

एवमुक्त्वा तु गान्धारी युधिष्ठिरमपृच्छत ।
क्व स राजेति सक्रोधा पुत्रपौत्रवधार्दिता ॥ २४ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन् ! भीमसेनसे ऐसा कहकर अपने पुत्रों और पौत्रोंके वधसे पीड़ित हुई गान्धारीने कुपित होकर पूछा—'कहाँ है वह राजा युधिष्ठिर ?' ॥ २४ ॥

तमभ्यगच्छद् राजेन्द्रो वेपमानः कृताञ्जलिः ।
युधिष्ठिरस्त्विदं तत्र मधुरं वाक्यमब्रवीत् ॥ २५ ॥
पुत्रहन्ता नृशंसोऽहं तव देवि युधिष्ठिरः ।
शापार्हः पृथिवीनाशे हेतुभूतः शपस्व माम् ॥ २६ ॥

यह सुनकर महाराज युधिष्ठिर काँपते हुए हाथ जोड़े उनके सामने आये और बड़ी मीठी वाणीमें बोले—'देवि ! आपके पुत्रोंका संहार करनेवाला क्रूरकर्मा युधिष्ठिर मैं हूँ। पृथ्वीभरके राजाओंका नाश करानेमें मैं ही हेतु हूँ, इसलिये शापके योग्य हूँ। आप मुझे शाप दे दीजिये ॥ २५-२६ ॥

न हि मे जीवितेनार्थो न राज्येन धनेन वा ।
तादृशान् सुहृदो हत्वा मूढस्यास्य सुहृद्द्रुहः ॥ २७ ॥

'मैं अपने सुहृदोंका द्रोही और अविवेकी हूँ। वैसे-वैसे श्रेष्ठ सुहृदोंका वध करके अब मुझे जीवन, राज्य अथवा धनसे कोई प्रयोजन नहीं है' ॥ २७ ॥

तमेवंवादिनं भीतं संनिकर्षगतं तदा ।
नोवाच किंचिद् गान्धारी निःश्वासपरमा भृशम् ॥ २८ ॥

जब निकट आकर डरे हुए राजा युधिष्ठिरने, ऐसी बातें कहीं, तब गान्धारी देवी जोर-जोरसे साँस खींचती हुई सिसकने लगीं। वे मुँहसे कुछ बोल न सकीं ॥ २८ ॥

तस्यावनतदेहस्य पादयोर्निपतिष्यतः ।
युधिष्ठिरस्य नृपतेर्धर्मज्ञा दीर्घदर्शिनी ॥ २९ ॥
अङ्गुल्यग्राणि ददृशे देवी पट्टान्तरेण सा ।
ततः स कुनखीभूतो दर्शनीयनखो नृपः ॥ ३० ॥

राजा युधिष्ठिर शरीरको झुकाकर गान्धारीके चरणोंपर गिर जाना चाहते थे। इतनेहीमें धर्मको जाननेवाली दूरदर्शिनी देवी गान्धारीने पट्टीके भीतरसे ही राजा युधिष्ठिरके पैरोंकी अङ्गुलियोंके अग्रभाग देख लिये। इतनेहीसे राजाके नख काले पड़ गये। इसके पहले उनके नख बड़े ही सुन्दर और दर्शनीय थे ॥ २९-३० ॥

तं दृष्ट्वा चार्जुनोऽगच्छद् वासुदेवस्य पृष्ठतः ।
एवं संचेष्टमानांस्तानितश्चेतश्च भारत ॥ ३१ ॥
गान्धारी विगतक्रोधा सान्त्वयामास मातृवत् ।

उनकी यह अवस्था देख अर्जुन भगवान् श्रीकृष्णके पीछे जाकर छिप गये। भारत ! उन्हें इस प्रकार इधर-उधर छिपनेकी चेष्टा करते देख गान्धारीका क्रोध उतर गया और उन्होंने उन सबको स्नेहमयी माताके समान सान्त्वना दी॥

तया ते समनुज्ञाता मातरं वीरमातरम् ॥ ३२ ॥
अभ्यगच्छन्त सहिताः पृथां पृथुलवक्षसः ।

फिर उनकी आज्ञा ले चौड़ी छातीवाले सभी पाण्डव एक साथ वीरजननी माता कुन्तीके पास गये ॥ ३२½ ॥

चिरस्य दृष्ट्वा पुत्रान् सा पुत्राधिभिरभिप्लुता ॥ ३३ ॥
बाष्पमाहारयद् देवी वस्त्रेणावृत्य वै मुखम् ।

कुन्तीदेवी दीर्घकालके बाद अपने पुत्रोंको देखकर उनके कष्टोंका स्मरण करके करुणामें डूब गयीं और अञ्चलसे मुँह ढककर आँसू बहाने लगीं ॥ ३३½ ॥

ततो बाष्पं समुत्सृज्य सह पुत्रैस्तदा पृथा ॥ ३४ ॥
अपश्यदेताञ्शस्त्रौघैर्बहुधा क्षतविक्षतान् ।

पुत्रोंसहित आँसू बहाकर उन्होंने उनके शरीरोंपर बारंबार दृष्टिपात किया। वे सभी अस्त्र-शस्त्रोंकी चोटसे घायल हो रहे थे ॥ ३४½ ॥

सा तानेकैकशः पुत्रान् संस्पृशन्ती पुनः पुनः ॥ ३५ ॥
अन्वशोचत दुःखार्ता द्रौपदीं च हतात्मजाम् ।
रुदतीमथ पाञ्चालीं ददर्श पतितां भुवि ॥ ३६ ॥

बारी-बारीसे पुत्रोंके शरीरपर बारंबार हाथ फेरती हुई कुन्ती दुःखसे आतुर हो उस द्रौपदीके लिये शोक करने लगीं, जिसके सभी पुत्र मारे गये थे। इतनेमें ही उन्होंने देखा कि द्रौपदी पास ही पृथ्वीपर गिरकर रो रही है ॥ ३५-३६ ॥

द्रौपद्युवाच

आर्ये पौत्राः क्व ते सर्वे सौभद्रसहिता गताः ।
न त्वां तेऽद्याभिगच्छन्ति चिरं दृष्ट्वा तपस्विनीम् ॥ ३७ ॥
किं नु राज्येन वै कार्यं विहीनायाः सुतैर्मम ।

द्रौपदी बोली—आर्ये ! अभिमन्युसहित वे आपके सभी पौत्र कहाँ चले गये ? वे दीर्घकालके बाद आयी हुई आज आप तपस्विनी देवीको देखकर आपके निकट क्यों नहीं आ रहे हैं ? अपने पुत्रोंसे हीन होकर अब इस राज्यसे हमें क्या कार्य है ? ॥ ३७½ ॥

तां समाश्वासयामास पृथा पृथुललोचना ॥ ३८ ॥
उत्थाप्य याज्ञसेनीं तु रुदतीं शोककर्शिताम् ।
तयैव सहिता चापि पुत्रैरनुगता नृप ॥ ३९ ॥
अभ्यगच्छत गान्धारीमार्तामार्ततरा स्वयम् ।

नरेश्वर ! विशाल नेत्रोंवाली कुन्तीने शोकसे कातर हो रोती हुई द्रुपदकुमारीको उठाकर धीरज बँधाया और उसके साथ ही वे स्वयं भी अत्यन्त आर्त होकर शोकाकुल गान्धारीके पास गयीं। उस समय उनके पुत्र पाण्डव भी उनके पीछे-पीछे गये ॥ ३८-३९½ ॥

वैशम्पायन उवाच

तामुवाचाथ गान्धारी सह वध्वा यशस्विनीम् ॥ ४० ॥
मैवं पुत्रीति शोकार्ता पश्य मामपि दुःखिताम्।
मन्ये लोकविनाशोऽयं कालपर्यायनोदितः ॥ ४१ ॥
अवश्यभावी सम्प्राप्तः स्वभावाल्लोमहर्षणः।
इदं तत् समनुप्राप्तं विदुरस्य वचो महत् ॥ ४२ ॥
असिद्धानुनये कृष्णे यदुवाच महामतिः।

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! गान्धारीने बहू द्रौपदी और यशस्विनी कुन्तीसे कहा—'बेटी ! इस प्रकार शोकसे व्याकुल न होओ। देखो, मैं भी तो दुःखमें डूबी हुई हूँ। मैं समझती हूँ, समयके उलट-फेरसे प्रेरित होकर यह सम्पूर्ण जगत्का विनाश हुआ है, जो स्वभावसे ही रोमाञ्चकारी है। यह काण्ड अवश्यम्भावी था, इसीलिये प्राप्त हुआ है। जब संधि करानेके विषयमें श्रीकृष्णकी अनुनय-विनय सफल नहीं हुई, उस समय परम बुद्धिमान् विदुरजीने जो महत्त्वपूर्ण बात कही थी, उसीके अनुसार यह सब कुछ सामने आया है ॥ ४०-४२½ ॥

तस्मिन्नपरिहार्येऽर्थे व्यतीते च विशेषतः ॥ ४३ ॥
मा शुचो न हि शोच्यास्ते संग्रामे निधनं गताः।
यथैवाहं तथैव त्वं को नावाश्वासयिष्यति।
ममैव ह्यपराधेन कुलमग्र्यं विनाशितम् ॥ ४४ ॥

'जब यह विनाश किसी तरह टल नहीं सकता था, विशेषतः जब सब कुछ होकर समाप्त हो गया, तो अब तुम्हें शोक नहीं करना चाहिये। वे सभी वीर संग्राममें मारे गये हैं, अतः शोक करनेके योग्य नहीं हैं। आज जैसी मैं हूँ, वैसी ही तुम भी हो। हम दोनोंको कौन धीरज बँधायेगा ? मेरे ही अपराधसे इस श्रेष्ठ कुलका संहार हुआ है' ॥ ४३-४४ ॥

इति श्रीमहाभारते स्त्रीपर्वणि जलप्रदानिकपर्वणि पृथापुत्रदर्शने पञ्चदशोऽध्यायः ॥ १५ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत स्त्रीपर्वके अन्तर्गत जलप्रदानिकपर्वमें कुन्तीको अपने पुत्रोंका दर्शनविषयक पंद्रहवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १५ ॥

(स्त्रीविलापपर्व)

षोडशोऽध्यायः

वेदव्यासजीके वरदानसे दिव्य दृष्टिसम्पन्न हुई गान्धारीका युद्धस्थलमें मारे गये योद्धाओं तथा रोती हुई बहुओंको देखकर श्रीकृष्णके सम्मुख विलाप

वैशम्पायन उवाच

एवमुक्त्वा तु गान्धारी कुरूणामवकर्तनम्।
अपश्यत्तत्र तिष्ठन्ती सर्वं दिव्येन चक्षुषा ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! ऐसा कहकर गान्धारी देवीने वहीं खड़ी रहकर अपनी दिव्य दृष्टिसे कौरवोंका वह सारा विनाशस्थल देखा ॥ १ ॥

पतिव्रता महाभागा समानव्रतचारिणी।
उग्रेण तपसा युक्ता सततं सत्यवादिनी ॥ २ ॥

गान्धारी बड़ी ही पतिव्रता, परम सौभाग्यवती, पतिके समान व्रतका पालन करनेवाली, उग्र तपस्यासे युक्त तथा सदा सत्य बोलनेवाली थीं ॥ २ ॥

वरदानेन कृष्णस्य महर्षेः पुण्यकर्मणः।
दिव्यज्ञानबलोपेता विविधं पर्यदेवयत् ॥ ३ ॥

पुण्यात्मा महर्षि व्यासके वरदानसे वे दिव्य ज्ञान-बलसे सम्पन्न हो गयी थीं; अतः रणभूमिका दृश्य देखकर अनेक प्रकारसे विलाप करने लगीं ॥ ३ ॥

ददर्श सा बुद्धिमती दूरादपि यथान्तिके।
रणाजिरं नृवीराणामद्भुतं लोमहर्षणम् ॥ ४ ॥

बुद्धिमती गान्धारीने नरवीरोंके उस अद्भुत एवं रोमाञ्चकारी समराङ्गणको दूरसे भी उसी तरह देखा, जैसे निकटसे देखा जाता है ॥ ४ ॥

अस्थिकेशवसाकीर्णं शोणितौघपरिप्लुतम्।
शरीरैर्बहुसाहस्रैर्विनिकीर्णं समन्ततः ॥ ५ ॥

वह रणक्षेत्र हड्डियों, केशों और चर्बियोंसे भरा था, रक्तके प्रवाहसे आप्लावित हो रहा था, कई हजार लाशें वहाँ चारों ओर बिखरी हुई थीं ॥ ५ ॥

गजाश्वरथयोधानामावृतं रुधिराविलैः।
शरीरैरशिरस्कैश्च विदेहैश्च शिरोगणैः ॥ ६ ॥

हाथीसवार, घुड़सवार तथा रथी योद्धाओंके रक्तसे मलिन हुए बिना सिरके अगणित धड़ और बिना धड़के असंख्य मस्तक उस रणभूमिको ढँके हुए थे ॥ ६ ॥

गजाश्वनरनारीणां निःस्वनैरभिसंवृतम्।
शृगालबककाकोलकङ्काकनिषेवितम् ॥ ७ ॥

हाथियों, घोड़ों, मनुष्यों और स्त्रियोंके आर्तनादसे वह सारा युद्धस्थल गूँज रहा था। सियार, बगुले, काले कौए, कङ्क और काक उस भूमिका सेवन करते थे ॥ ७ ॥

रक्षसां पुरुषादानां मोदनं कुररकुलम्।
अशिवाभिः शिवाभिश्च नादितं गृध्रसेवितम् ॥ ८ ॥

वह स्थान नरभक्षी राक्षसोंको आनन्द दे रहा था। वहाँ सब ओर कुरर पक्षी छा रहे थे। अमङ्गलमयी गीदड़ियाँ अपनी बोली बोल रही थीं, गीध सब ओर बैठे हुए थे ॥ ८ ॥

ततो व्यासाभ्यनुज्ञातो धृतराष्ट्रो महीपतिः।

पाण्डुपुत्राश्च ते सर्वे युधिष्ठिरपुरोगमाः ॥ ९ ॥

उस समय भगवान् व्यासकी आज्ञा पाकर राजा धृतराष्ट्र तथा युधिष्ठिर आदि समस्त पाण्डव रणभूमिकी ओर चले ॥

वासुदेवं पुरस्कृत्य हतबन्धुं च पार्थिवम् ।
कुरुस्त्रियः समासाद्य जग्मुरायोधनं प्रति ॥ १० ॥

जिनके बन्धु-बान्धव मारे गये थे, उन राजा धृतराष्ट्र तथा भगवान् श्रीकृष्णको आगे करके कुरुकुलकी स्त्रियोंको साथ ले वे सब लोग युद्धस्थलमें गये ॥ १० ॥

समासाद्य कुरुक्षेत्रं ताः स्त्रियो निहतेश्वराः ।
अपश्यन्त हतांस्तत्र पुत्रान् भ्रातॄन् पितॄन् पतीन् ॥ ११ ॥
क्रव्यादैर्भक्ष्यमाणान् वै गोमायुबलवायसैः ।
भूतैः पिशाचै रक्षोभिर्विविधैश्च निशाचरैः ॥ १२ ॥

कुरुक्षेत्रमें पहुँचकर उन अनाथ स्त्रियोंने वहाँ मारे गये अपने पुत्रों, भाइयों, पिताओं तथा पतियोंके शरीरोंको देखा, जिन्हें मांसभक्षी जीव-जन्तु, गीदड़समूह, कौए, भूत, पिशाच, राक्षस और नाना प्रकारके निशाचर नोच-नोचकर खा रहे थे ॥

रुद्राक्रीडनिभं दृष्ट्वा तदा विशसनं स्त्रियः ।
महार्हेभ्योऽथ यानेभ्यो विक्रोशन्त्यो निपेतिरे ॥ १३ ॥

रुद्रकी क्रीडास्थलीके समान उस रणभूमिको देखकर वे स्त्रियाँ अपने बहुमूल्य रथोंसे क्रन्दन करती हुई नीचे गिर पड़ीं ॥ १३ ॥

अदृष्टपूर्वं पश्यन्त्यो दुःखार्ता भरतस्त्रियः ।
शरीरेष्वस्खलन्नन्याः पतन्त्यश्चापरा भुवि ॥ १४ ॥

जिसे कभी देखा नहीं था, उस अद्भुत रणक्षेत्रको देखकर भरतकुलकी कुछ स्त्रियाँ दुःखसे आतुर हो लाशोंपर गिर पड़ीं और दूसरी बहुत-सी स्त्रियाँ धरतीपर गिर गयीं ॥

श्रान्तानां चाप्यनाथानां नासीत् काचन चेतना ।
पाञ्चालकुरुयोषाणां कृपणं तदभून्महत् ॥ १५ ॥

उन थकी-माँदी और अनाथ हुई पाञ्चालों तथा कौरवोंकी स्त्रियोंको वहाँ चेत नहीं रह गया था। उन सबकी बड़ी दयनीय दशा हो गयी थी ॥ १५ ॥

दुःखोपहतचित्ताभिः समन्तादनुनादितम् ।
दृष्ट्वाऽऽयोधनमत्युग्रं धर्मज्ञा सुबलात्मजा ॥ १६ ॥
ततः सा पुण्डरीकाक्षमामन्त्र्य पुरुषोत्तमम् ।
कुरूणां वैशसं दृष्ट्वा इदं वचनमब्रवीत् ॥ १७ ॥

दुःखसे व्याकुलचित्त हुई युवतियोंके करुण-क्रन्दनसे वह अत्यन्त भयंकर युद्धस्थल सब ओरसे गूँज उठा। यह देखकर धर्मको जाननेवाली सुबलपुत्री गान्धारीने कमलनयन श्रीकृष्णको सम्बोधित करके कौरवोंके उस विनाशपर दृष्टिपात करते हुए कहा—॥ १६-१७ ॥

पश्यैताः पुण्डरीकाक्ष स्नुषा मे निहतेश्वराः ।
प्रकीर्णकेशाः क्रोशन्तीः कुररीरिव माधव ॥ १८ ॥

'कमलनयन माधव! मेरी इन विधवा पुत्रवधुओंकी ओर देखो, जो केश बिखराये कुररीकी भाँति विलाप कर रही हैं ॥ १८ ॥

अमूस्त्वभिसमागम्य स्मरन्त्यो भर्तृजान् गुणान् ।
पृथगेवाभ्यधावन्त्यः पुत्रान् भ्रातॄन् पितॄन् पतीन् ॥ १९ ॥

'वे अपने पतियोंके गुणोंका स्मरण करती हुई उनकी लाशोंके पास जा रही हैं और पतियों, भाइयों, पिताओं तथा पुत्रोंके शरीरोंकी ओर पृथक्-पृथक् दौड़ रही हैं ॥ १९ ॥

वीरसूभिर्महाराज हतपुत्राभिरावृतम् ।
क्वचिच्च वीरपत्नीभिर्हतवीराभिरावृतम् ॥ २० ॥

'महाराज! कहीं तो जिनके पुत्र मारे गये हैं उन वीरप्रसविनी माताओंसे और कहीं जिनके पति वीरगतिको प्राप्त हो गये हैं, उन वीरपत्नियोंसे यह युद्धस्थल घिर गया है ॥

शोभितं पुरुषव्याघ्रैः कर्णभीष्माभिमन्युभिः ।
द्रोणद्रुपदशल्यैश्च ज्वलद्भिरिव पावकैः ॥ २१ ॥

'पुरुषसिंह कर्ण, भीष्म, अभिमन्यु, द्रोण, द्रुपद और शल्य-जैसे वीरोंसे, जो प्रज्वलित अग्निके समान तेजस्वी थे, यह रणभूमि सुशोभित है ॥ २१ ॥

काञ्चनैः कवचैर्निष्कैर्मणिभिश्च महात्मनाम् ।
अङ्गदैर्हस्तकेयूरैः स्रग्भिश्च समलङ्कृतम् ॥ २२ ॥

'उन महामनस्वी वीरोंके सुवर्णमय कवचों, निष्कों, मणियों, अङ्गदों, केयूरों और हारोंसे समराङ्गण विभूषित दिखायी देता है ॥ २२ ॥

वीरबाहुविसृष्टाभिः शक्तिभिः परिघैरपि ।
खड्गैश्च विविधैस्तीक्ष्णैः सशरैश्च शरासनैः ॥ २३ ॥
क्रव्यादसंघैर्मुदितैस्तिष्ठद्भिः सहितैः क्वचित् ।
क्वचिदाक्रीडमानैश्च शयानैश्चापरैः क्वचित् ॥ २४ ॥
एतदेवंविधं वीर सम्पश्यायोधनं विभो ।
पश्यमाना हि दह्यामि शोकेनाहं जनार्दन ॥ २५ ॥

'कहीं वीरोंकी भुजाओंसे छोड़ी गयी शक्तियाँ पड़ी हैं, कहीं परिघ, नाना प्रकारके तीखे खड्ग और बाणसहित धनुष गिरे हुए हैं। कहीं झुंड-के-झुंड मांसभक्षी जीव-जन्तु आनन्दमग्न होकर एक साथ खड़े हैं, कहीं वे खेल रहे हैं और कहीं दूसरे-दूसरे जन्तु सोये पड़े हैं। वीर! प्रभो! इस प्रकार इन सबसे भरे हुए युद्धस्थलको देखो। जनार्दन! मैं तो इसे देखकर शोकसे दग्ध हुई जाती हूँ ॥ २३-२५ ॥

पञ्चालानां कुरूणां च विनाशे मधुसूदन ।
पञ्चानामपि भूतानामहं वधमचिन्तयम् ॥ २६ ॥

'मधुसूदन! इन पाञ्चाल और कौरव वीरोंके मारे जानेसे तो मेरे मनमें यह धारणा हो रही है कि पाँचों भूतोंका ही विनाश हो गया ॥ २६ ॥

तान् सुपर्णाश्च गृध्राश्च कर्षयन्त्यसृगुक्षिताः ।
विगृह्य चरणैर्गृध्रा भक्षयन्ति सहस्रशः ॥ २७ ॥

'उन वीरोंको खूनसे भीगे हुए गरुड़ और गीध इधर-उधर खींच रहे हैं। सहस्रों गीध उनके पैर पकड़-पकड़कर खा रहे हैं ॥ २७ ॥

जयद्रथस्य कर्णस्य तथैव द्रोणभीष्मयोः ।
अभिमन्योर्विनाशं च कश्चिन्तयितुमर्हति ॥ २८ ॥

'इस युद्धमें जयद्रथ, कर्ण, द्रोणाचार्य, भीष्म और अभिमन्यु-जैसे वीरोंका विनाश हो जायगा, यह कौन सोच सकता था ? ॥ २८ ॥

अवध्यकल्पान् निहतान् गतसत्त्वानचेतसः ।
गृध्रकङ्कवटश्येनश्वशृगालादनीकृतान् ॥ २९ ॥

'जो अवध्य समझे जाते थे, वे भी मारे गये और अचेत एवं प्राणशून्य होकर यहाँ पड़े हैं । गीध, कंक, बटेर, बाज, कुत्ते और सियार उन्हें अपना आहार बना रहे हैं ॥ २९ ॥

अमर्षवशमापन्नान् दुर्योधनवशे स्थितान् ।
पश्येमान् पुरुषव्याघ्रान् संशान्तान् पावकानिव ॥ ३० ॥

'दुर्योधनके अधीन रहकर अमर्षके वशीभूत हो ये पुरुषसिंह वीरगण बुझी हुई आगके समान शान्त हो गये हैं । इनकी ओर दृष्टिपात तो करो ॥ ३० ॥

शयाना ये पुरा सर्वे मृदूनि शयनानि च ।
विपन्नास्तेऽद्य वसुधां विवृतामधिशेरते ॥ ३१ ॥

'जो लोग पहले कोमल बिछौनोंपर सोया करते थे, वे सभी आज मरकर नंगी भूमिपर सो रहे हैं ॥ ३१ ॥

बन्दिभिः सततं काले स्तुवद्भिरभिनन्दिताः ।
शिवानामशिवा घोराः शृण्वन्ति विविधा गिरः ॥ ३२ ॥

'जिन्हें सदा ही समय-समयपर स्तुति करनेवाले बन्दीजन अपने वचनोंद्वारा आनन्दित करते थे, वे ही अब सियारिनोंकी अमङ्गलसूचक भाँति-भाँतिकी बोलियाँ सुन रहे हैं ॥ ३२ ॥

ये पुरा शेरते वीराः शयनेषु यशस्विनः ।
चन्दनागुरुदिग्धाङ्गास्तेऽद्य पांसुषु शेरते ॥ ३३ ॥

'जो यशस्वी वीर पहले अपने अङ्गोंमें चन्दन और अगुरुचूर्णसे चर्चित हो सुखदायिनी शय्याओंपर सोते थे, वे ही आज धूलमें लोट रहे हैं ॥ ३३ ॥

तेषामाभरणान्येते गृध्रगोमायुवायसाः ।
आक्षिपन्ति शिवा घोरा विनदन्त्यः पुनः पुनः ॥ ३४ ॥

'उनके आभूषणोंको ये गीध, गीदड़, कौए और भयानक गीदड़ियाँ बारंबार चिल्लाती हुई इधर-उधर फेंकती हैं ॥ ३४ ॥

बाणान् विनिशितान् पीतान् निस्त्रिंशान् विमला गदाः ।
युद्धाभिमानिनः सर्वे जीवन्त इव बिभ्रति ॥ ३५ ॥

'ये सभी युद्धाभिमानी वीर जीवित पुरुषोंकी भाँति इस समय भी तीखे बाण, पानीदार तलवार और चमकीली गदाएँ हाथोंमें लिये हुए हैं ॥ ३५ ॥

सुरूपवर्णा बहवः क्रव्यादैरवघट्टिताः ।
ऋषभप्रतिरूपाश्च शेरते हरितस्रजः ॥ ३६ ॥

'सुन्दर रूप और कान्तिवाले, साँड़ोंके समान हृष्ट-पुष्ट तथा हरे रंगके हार पहने हुए बहुत-से योद्धा यहाँ सोये पड़े हैं और मांसभक्षी जन्तु इन्हें उलट-पलट रहे हैं ॥ ३६ ॥

अपरे पुनरालिङ्ग्य गदाः परिघबाहवः ।
शेरतेऽभिमुखाः शूरा दयिता इव योषितः ॥ ३७ ॥

'परिघके समान मोटी बाँहोंवाले दूसरे शूरवीर प्रेयसी युवतियोंकी भाँति गदाओंका आलिङ्गन करके सम्मुख सो रहे हैं।

बिभ्रतः कवचान्यन्ये विमलान्यायुधानि च ।
न धर्षयन्ति क्रव्यादा जीवन्तीति जनार्दन ॥ ३८ ॥

'जनार्दन ! बहुत-से योद्धा चमकीले कवच और आयुध धारण किये हुए हैं, जिससे उन्हें जीवित समझकर मांसभक्षी जन्तु उनपर आक्रमण नहीं करते हैं ॥ ३८ ॥

क्रव्यादैः कृष्यमाणानामपरेषां महात्मनाम् ।
शातकौम्भ्यः स्रजश्चित्रा विप्रकीर्णाः समन्ततः ॥ ३९ ॥

'दूसरे महामनस्वी वीरोंको मांसाहारी जीव इधर-उधर खींच रहे हैं, जिससे सोनेकी बनी हुई उनकी विचित्र मालाएँ सब ओर बिखर गयी हैं ॥ ३९ ॥

एते गोमायवो भीमा निहतानां यशस्विनाम् ।
कण्ठान्तरगतान् हारानाक्षिपन्ति सहस्रशः ॥ ४० ॥

'यहाँ मारे गये यशस्वी वीरोंके कण्ठमें पड़े हुए हारोंको ये सहस्रों भयानक गीदड़ खींचते और झटकते हैं ॥ ४० ॥

सर्वेष्वपररात्रेषु याननन्दन्त बन्दिनः ।
स्तुतिभिश्च परार्ध्याभिरुपचारैश्च शिक्षिताः ॥ ४१ ॥
तानिमाः परिदेवन्ति दुःखार्ताः परमाङ्गनाः ।
कृपणं वृष्णिशार्दूल दुःखशोकार्दिता भृशम् ॥ ४२ ॥

'वृष्णिसिंह ! प्रायः प्रत्येक रात्रिके पिछले पहरमें सुशिक्षित बन्दीजन उत्तम स्तुतियों और उपचारोंद्वारा जिन्हें आनन्दित करते थे, उन्हींके पास आज ये दुःख और शोकसे अत्यन्त पीड़ित हुई सुन्दरी युवतियाँ करुण विलाप कर रही हैं ॥

रक्तोत्पलवनानीव विभान्ति रुचिराणि च ।
मुखानि परमस्त्रीणां परिशुष्काणि केशव ॥ ४३ ॥

'केशव ! इन सुन्दरियोंके सूखे हुए सुन्दर मुख लाल कमलोंके समूहकी भाँति शोभा पा रहे हैं ॥ ४३ ॥

रुदिताद् विरता ह्येता ध्यायन्त्यः सपरिच्छदाः ।
कुरुस्त्रियोऽभिगच्छन्ति तेन तेनैव दुःखिताः ॥ ४४ ॥

'ये कुरुकुलकी स्त्रियाँ रोना बंद करके स्वजनोंका चिन्तन करती हुई परिजनोंसहित उन्हींकी खोजमें जाती और दुखी होकर उन-उन व्यक्तियोंसे मिल रही हैं ॥ ४४ ॥

एतान्यादित्यवर्णानि तपनीयनिभानि च ।
रोषरोदनताम्राणि वक्त्राणि कुरुयोषिताम् ॥ ४५ ॥

'कौरववंशकी युवतियोंके ये सूर्य और सुवर्णके समान कान्तिमान् मुख रोष और रोदनसे ताम्रवर्णके हो गये हैं ॥ ४५ ॥

श्यामानां वरवर्णानां गौरीणामेकवाससाम् ।
दुर्योधनवरस्त्रीणां पश्य वृन्दानि केशव ॥ ४६ ॥

'केशव ! सुन्दर कान्तिसे सम्पन्न, एकवस्त्रधारिणी तथा श्याम गौरवर्णवाली दुर्योधनकी इन सुन्दरी स्त्रियोंकी टोलियोंको देखो ॥ ४६ ॥

आसामपरिपूर्णार्थं निशाम्य परिदेवितम् ।
इतरेतरसंक्रन्दान्न विजानन्ति योषितः ॥ ४७ ॥

'एक दूसरीकी रोदन-ध्वनिसे मिल जानेके कारण इनके विलापका अर्थ पूर्णरूपसे समझमें नहीं आता, उसे सुनकर अन्य स्त्रियाँ भी कुछ नहीं समझ पाती हैं ॥ ४७ ॥

एता दीर्घमिवोच्छ्वस्य विक्रुश्य च विलप्य च ।
विस्पन्दमाना दुःखेन वीरा जहति जीवितम् ॥ ४८ ॥

'ये वीर वनिताएँ लंबी साँस खींचकर स्वजनोंको पुकार-पुकारकर करुण विलाप करके दुःखसे छटपटाती हुई अपने प्राण त्याग देना चाहती हैं ॥ ४८ ॥

बह्व्यो दृष्ट्वा शरीराणि क्रोशन्ति विलपन्ति च ।
पाणिभिश्चापरा घ्नन्ति शिरांसि मृदुपाणयः ॥ ४९ ॥

'बहुत-सी स्त्रियाँ स्वजनोंकी लाशोंको देखकर रोती, चिल्लाती और विलाप करती हैं। कितनी ही कोमल हाथोंवाली कामिनियाँ अपने हाथोंसे सिर पीट रही हैं ॥ ४९ ॥

शिरोभिः पतितैर्हस्तैः सर्वाङ्गैर्यूथशः कृतैः ।
इतरेतरसम्पृक्तैराकीर्णा भाति मेदिनी ॥ ५० ॥

'कटकर गिरे हुए मस्तकों, हाथों और सम्पूर्ण अङ्गोंके ढेर लगे हैं। वे सभी एकके ऊपर एक करके पड़े हैं। उनसे यहाँकी सारी पृथ्वी ढँकी हुई जान पड़ती है ॥ ५० ॥

विशिरस्कानथो कायान् दृष्ट्वा ह्येताननिन्दितान् ।
मुह्यन्त्यनुगता नार्यो विदेहानि शिरांसि च ॥ ५१ ॥

'इन बिना मस्तकके सुन्दर धड़ों और बिना धड़के मस्तकोंको देख-देखकर ये अनुगामिनी स्त्रियाँ मूर्छित-सी हो रही हैं ॥ ५१ ॥

शिरः कायेन संधाय प्रेक्षमाणा विचेतसः ।
अपश्यन्त्योऽपरं तत्र नेदमस्येति दुःखिताः ॥ ५२ ॥

'कितनी ही अचेत-सी होकर स्वजनोंकी खोज करनेवाली स्त्रियाँ एक मस्तकको निकटवर्ती धड़के साथ जोड़ करके देखती हैं और जब वह मस्तक उससे नहीं जुड़ता तथा दूसरा कोई मस्तक वहाँ देखनेमें नहीं आता तो वे दुखी होकर कहने लगती हैं कि यह तो उनका सिर नहीं है ॥ ५२ ॥

बाहूरुचरणानन्यान् विशिखोन्मथितान् पृथक् ।
संदधत्योऽसुखाविष्टा मूर्च्छन्त्येताः पुनः पुनः ॥ ५३ ॥

'बाणोंसे कट-कटकर अलग हुई बाँहों, जाँघों और पैरोंको जोड़ती हुई ये दुखी अबलाएँ बारंबार मूर्छित हो जाती हैं ॥

उत्कृत्तशिरसश्चान्यान् विजग्धान् मृगपक्षिभिः ।
दृष्ट्वा काश्चिन्न जानन्ति भर्तॄन् भरतयोषितः ॥ ५४ ॥

'कितनी ही लाशोंके सिर कटकर गायब हो गये हैं, कितनोंको मांसभक्षी पशुओं और पक्षियोंने खा डाला है; अतः उनको देखकर भी ये हमारे ही पति हैं, इस रूपमें भरतकुलकी स्त्रियाँ पहचान नहीं पाती हैं ॥ ५४ ॥

पाणिभिश्चापरा घ्नन्ति शिरांसि मधुसूदन ।
प्रेक्ष्य भ्रातॄन् पितॄन् पुत्रान् पतींश्च निहतान् परैः ॥ ५५ ॥

'मधुसूदन ! देखो, बहुत-सी स्त्रियाँ शत्रुओंद्वारा मारे गये भाइयों, पिताओं, पुत्रों और पतियोंको देखकर अपने हाथोंसे सिर पीट रही हैं ॥ ५५ ॥

बाहुभिश्च सखड्गैश्च शिरोभिश्च सकुण्डलैः ।
अगम्यकल्पा पृथिवी मांसशोणितकर्दमा ॥ ५६ ॥

'खड्गयुक्त भुजाओं और कुण्डलोंसहित मस्तकोंसे ढँकी हुई इस पृथ्वीपर चलना-फिरना असम्भव हो गया है। यहाँ मांस और रक्तकी कीच जम गयी है ॥ ५६ ॥

न दुःखेषूचिताः पूर्वं दुःखं गाहन्त्यनिन्दिताः ।
भ्रातृभिः पतिभिः पुत्रैरुपाकीर्णा वसुंधरा ॥ ५७ ॥

'ये सती साध्वी सुन्दरी स्त्रियाँ पहले कभी ऐसे दुःखमें नहीं पड़ी थीं; किंतु आज दुःखके समुद्रमें डूब रही हैं। यह सारी पृथ्वी इनके भाइयों, पतियों और पुत्रोंसे ढँक गयी है ॥ ५७ ॥

यूथानीव किशोरीणां सुकेशीनां जनार्दन ।
स्नुषाणां धृतराष्ट्रस्य पश्य वृन्दान्यनेकशः ॥ ५८ ॥

'जनार्दन ! देखो, महाराज धृतराष्ट्रकी सुन्दर केशोंवाली पुत्रवधुओंकी ये कई टोलियाँ बछेड़ियोंके झुंडके समान दिखायी दे रही हैं ॥ ५८ ॥

इतो दुःखतरं किं नु केशव प्रतिभाति मे ।
यदिमाः कुर्वते सर्वा रवमुच्चावचं स्त्रियः ॥ ५९ ॥

'केशव ! मेरे लिये इससे बढ़कर महान् दुःख और क्या होगा कि ये सारी बहुएँ यहाँ आकर अनेक प्रकारसे आर्तनाद कर रही हैं ॥ ५९ ॥

नूनमाचरितं पापं मया पूर्वेषु जन्मसु ।
या पश्यामि हतान् पुत्रान् पौत्रान् भ्रातॄंश्च माधव ॥ ६० ॥

'माधव ! निश्चय ही मैंने पूर्वजन्मोंमें कोई बड़ा भारी पाप किया है, जिससे आज अपने पुत्रों, पौत्रों और भाइयोंको यहाँ मारा गया देख रही हूँ' ॥ ६० ॥

एवमार्ता विलपती समाभाष्य जनार्दनम् ।
गान्धारी पुत्रशोकार्ता ददर्श निहतं सुतम् ॥ ६१ ॥

भगवान् श्रीकृष्णको सम्बोधित करके पुत्रशोकसे व्याकुल हो इस प्रकार आर्तविलाप करती हुई गान्धारीने युद्धमें मारे गये अपने पुत्र दुर्योधनको देखा ॥ ६१ ॥

इति श्रीमहाभारते स्त्रीपर्वणि स्त्रीविलापपर्वणि आयोधनदर्शने षोडशोऽध्यायः ॥ १६ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत स्त्रीपर्वके अन्तर्गत स्त्रीविलापपर्वमें युद्धदर्शनविषयक सोलहवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १६ ॥

सप्तदशोऽध्यायः

दुर्योधन तथा उसके पास रोती हुई पुत्रवधूको देखकर गान्धारीका श्रीकृष्णके सम्मुख विलाप

वैशम्पायन उवाच

दुर्योधनं हतं दृष्ट्वा गान्धारी शोककर्शिता ।
सहसा न्यपतद् भूमौ छिन्नेव कदली वने ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! दुर्योधनको मारा गया देखकर शोकसे पीड़ित हुई गान्धारी वनमें कटे हुए केलेके वृक्षकी तरह सहसा पृथ्वीपर गिर पड़ीं ॥ १ ॥

सा तु लब्ध्वा पुनः संज्ञां विक्रुश्य च विलप्य च।
दुर्योधनमभिप्रेक्ष्य शयानं रुधिरोक्षितम् ॥ २ ॥
परिष्वज्य च गान्धारी कृपणं पर्यदेवयत्।
हा हा पुत्रेति शोकार्ता विललापाकुलेन्द्रिया ॥ ३ ॥

पुनः होशमें आनेपर अपने पुत्रको पुकार-पुकारकर वे विलाप करने लगीं। दुर्योधनको खूनसे लथपथ होकर सोया देख उसे हृदयसे लगाकर गान्धारी दीन होकर रोने लगीं। उनकी सारी इन्द्रियाँ व्याकुल हो उठी थीं। वे शोकसे आतुर हो 'हा पुत्र! हा पुत्र!' कहकर विलाप करने लगीं॥२-३॥

सुगूढजत्रुविपुलं हारनिष्कविभूषितम्।
वारिणा नेत्रजेनोरः सिंचन्ती शोकतापिता ॥ ४ ॥

दुर्योधनके गलेकी विशाल हड्डी मांससे छिपी हुई थी। उसने गलेमें हार और निष्क पहन रक्खे थे। उन आभूषणोंसे विभूषित बेटेके वक्षःस्थलको आँसुओंसे सींचती हुई गान्धारी शोकाग्निसे संतप्त हो रही थीं॥ ४ ॥

समीपस्थं हृषीकेशमिदं वचनमब्रवीत्।
उपस्थितेऽस्मिन् संग्रामे ज्ञातीनां संक्षये विभो॥ ५ ॥
मामयं प्राह वार्ष्णेय प्राञ्जलिर्नृपसत्तमः।
अस्मिन् ज्ञातिसमुद्धर्षे जयमम्बा ब्रवीतु मे ॥ ६ ॥

वे पास ही खड़े हुए श्रीकृष्णसे इस प्रकार कहने लगीं—'वृष्णिनन्दन! प्रभो! भाई-बन्धुओंका विनाश करनेवाला जब यह भीषण संग्राम उपस्थित हुआ था, उस समय इस नृपश्रेष्ठ दुर्योधनने मुझसे हाथ जोड़कर कहा—'माताजी! कुटुम्बीजनोंके इस संग्राममें आप मुझे मेरी विजयके लिये आशीर्वाद दें'॥ ५-६ ॥

इत्युक्ते जानती सर्वमहं स्वव्यसनागमम्।
अब्रवं पुरुषव्याघ्र यतो धर्मस्ततो जयः ॥ ७ ॥

'पुरुषसिंह श्रीकृष्ण! उसके ऐसा कहनेपर मैं यह सब जानती थी कि मुझपर बड़ा भारी संकट आनेवाला है, तथापि मैंने उससे यही कहा—'जहाँ धर्म है, वहीं विजय है'॥ ७ ॥

यथा च युध्यमानस्त्वं न वै मुह्यसि पुत्रक।
ध्रुवं शस्त्रजिताँल्लोकान् प्राप्स्यस्यमरवत् प्रभो॥ ८ ॥

''बेटा! शक्तिशाली पुत्र! यदि तुम युद्ध करते हुए धर्मसे मोहित न होओगे तो निश्चय ही देवताओंके समान शस्त्रोंद्वारा जीते हुए लोकोंको प्राप्त कर लोगे'॥ ८ ॥

इत्येवमब्रवं पूर्वं नैनं शोचामि वै प्रभो।
धृतराष्ट्रं तु शोचामि कृपणं हतबान्धवम् ॥ ९ ॥

'प्रभो! यह बात मैंने पहले ही कह दी थी; इसलिये मुझे इस दुर्योधनके लिये शोक नहीं हो रहा है। मैं तो इन दीन राजा धृतराष्ट्रके लिये शोकमग्न हो रही हूँ, जिनके सारे भाई-बन्धु मार डाले गये॥ ९ ॥

अमर्षणं युधां श्रेष्ठं कृतास्त्रं युद्धदुर्मदम्।
शयानं वीरशयने पश्य माधव मे सुतम् ॥ १० ॥

'माधव! अमर्षशील, योद्धाओंमें श्रेष्ठ, अस्त्रविद्याके ज्ञाता, रणदुर्मद तथा वीरशय्यापर सोये हुए मेरे इस पुत्रको देखो तो सही॥ १० ॥

योऽयं मूर्धाभिषिक्तानामग्रे याति परंतपः।
सोऽयं पांसुषु शेतेऽद्य पश्य कालस्य पर्ययम्॥ ११ ॥

'शत्रुओंको संताप देनेवाला जो दुर्योधन मूर्धाभिषिक्त राजाओंके आगे-आगे चलता था, वही आज यह धूलमें लोट रहा है। कालके इस उलट-फेरको तो देखो॥ ११ ॥

ध्रुवं दुर्योधनो वीरो गतिं न सुलभां गतः।
तथा ह्यभिमुखः शेते शयने वीरसेविते ॥ १२ ॥

'निश्चय ही वीर दुर्योधन उस उत्तम गतिको प्राप्त हुआ है, जो सबके लिये सुलभ नहीं है; क्योंकि यह वीरसेवित शय्यापर सामने मुहँ किये सो रहा है॥ १२ ॥

यं पुरा पर्युपासीना रमयन्ति वरस्त्रियः।
तं वीरशयने सुप्तं रमयन्त्यशिवाः शिवाः ॥ १३ ॥

'पूर्वकालमें जिसके पास बैठकर सुन्दरी स्त्रियाँ उसका मनोरंजन करती थीं, वीरशय्यापर सोये हुए आज उसी वीरका ये अमङ्गलकारिणी गीदड़ियाँ मन-बहलाव करती हैं॥

यं पुरा पर्युपासीना रमयन्ति महीक्षितः।
महीतलस्थं निहतं गृध्रास्तं पर्युपासते ॥ १४ ॥

'जिसके पास पहले राजा लोग बैठकर उसे आनन्द प्रदान करते थे, आज मरकर धरतीपर पड़े हुए उसी वीरके पास गीध बैठे हुए हैं॥ १४ ॥

यं पुरा व्यजनै रम्यैरुपवीजन्ति योषितः।
तमद्य पक्षव्यजनैरुपवीजन्ति पक्षिणः ॥ १५ ॥

'पहले जिसके पास खड़ी होकर युवतियाँ सुन्दर पंखे झला करती थीं, आज उसीको पक्षीगण अपनी पाँखोंसे हवा करते हैं॥ १५ ॥

एष शेते महाबाहुर्बलवान् सत्यविक्रमः।
सिंहेनेव द्विपः संख्ये भीमसेनेन पातितः ॥ १६ ॥

'यह महाबाहु सत्यपराक्रमी बलवान् वीर दुर्योधन भीमसेनके द्वारा गिराया जाकर युद्धस्थलमें सिंहके मारे हुए गजराजके समान सो रहा है॥ १६ ॥

पश्य दुर्योधनं कृष्ण शयानं रुधिरोक्षितम्।
निहतं भीमसेनेन गदां सम्मृज्य भारतम् ॥ १७ ॥

'श्रीकृष्ण! भीमसेनकी चोट खाकर खूनसे लथपथ हो गदा लिये धरतीपर सोये हुए दुर्योधनको अपनी आँखसे देख लो॥ १७ ॥

अक्षौहिणीर्महाबाहुर्दश चैकां च केशव।
आनयद् यः पुरा संख्ये सोऽनयान्निधनं गतः॥ १८ ॥

'केशव! जिस महाबाहु वीरने पहले ग्यारह अक्षौहिणी सेनाओंको जुटा लिया था, वही अपनी अनीतिके कारण युद्धमें मार डाला गया॥ १८ ॥

एष दुर्योधनः शेते महेष्वासो महाबलः।
शार्दूल इव सिंहेन भीमसेनेन पातितः ॥ १९ ॥

'सिंहके मारे हुए दूसरे सिंहके समान भीमसेनके हाथों

[illegible] दुर्योधन सो रहा है ॥ १९ ॥

विदुरं त्ववमत्यैव पितरं चैव मन्दभाक्।
बालो वृद्धावमानेन मन्दो मृत्युवशं गतः ॥ २० ॥

'यह मूर्ख और अभागा बालक विदुर तथा अपने पिताका अपमान करके बड़े-बूढ़ोंकी अवहेलनाके पापसे ही कालके गालमें चला गया है ॥ २० ॥

निःसपत्ना मही यस्य त्रयोदश समाः स्थिता।
स शेते निहतो भूमौ पुत्रो मे पृथिवीपतिः ॥ २१ ॥

'यह सारी पृथ्वी तेरह वर्षोंतक निष्कण्टक भावसे जिसके अधिकारमें रही है, वही मेरा पुत्र पृथ्वीपति दुर्योधन आज मारा जाकर पृथ्वीपर पड़ा है ॥ २१ ॥

अपश्यं कृष्ण पृथिवीं धार्तराष्ट्रानुशासिताम्।
पूर्णां हस्तिगवाश्वैश्च वार्ष्णेय न तु तच्चिरम् ॥ २२ ॥

'वृष्णिनन्दन श्रीकृष्ण ! मैंने दुर्योधनद्वारा शासित हुई इस पृथ्वीको हाथी, घोड़े और गौओंसे भरी-पूरी देखा था; किंतु वह राज्य चिरस्थायी न रह सका ॥ २२ ॥

तामेवाद्य महाबाहो पश्याम्यन्यानुशासिताम्।
हीनां हस्तिगवाश्वेन किं नु जीवामि माधव ॥ २३ ॥

'महाबाहु माधव ! आज उसी पृथ्वीको मैं देखती हूँ कि वह दूसरेके शासनमें जाकर हाथी, घोड़े और गाय-बैलोंसे हीन हो गयी है; फिर मैं किस लिये जीवन धारण करूँ ? ॥ २३ ॥

इदं कष्टतरं पश्य पुत्रस्यापि वधान्मम।
यदिमाः पर्युपासन्ते हताञ्शूरान् रणे स्त्रियः ॥ २४ ॥

'मेरे लिये पुत्रके वधसे भी अधिक कष्ट देनेवाली बात यह है कि ये स्त्रियाँ रणभूमिमें मारे गये अपने शूरवीर पतियोंके पास बैठी रो रही हैं। इनकी दयनीय दशा तो देखो ॥

प्रकीर्णकेशां सुश्रोणीं दुर्योधनशुभाङ्कगाम्।
रुक्मवेदीनिभां पश्य कृष्ण लक्ष्मणमातरम् ॥ २५ ॥

'श्रीकृष्ण ! सुवर्णकी वेदीके समान तेजस्विनी तथा सुन्दर कटि-प्रदेशवाली उस लक्ष्मणकी माताको तो देखो, जो दुर्योधनके शुभ-अङ्कमें स्थित हो केश खोले रो रही है ॥ २५ ॥

नूनमेषा पुरा बाला जीवमाने महाभुजे।
भुजावाश्रित्य रमते सुभुजस्य मनस्विनी ॥ २६ ॥

'पहले जब राजा दुर्योधन जीवित था, तब निश्चय ही यह मनस्विनी बाला सुन्दर बाँहोंवाले अपने वीर पतिकी दोनों भुजाओंका आश्रय लेकर इसी तरह उसके साथ सानन्द क्रीड़ा करती रही होगी ॥ २६ ॥

कथं तु शतधा नेदं हृदयं मम दीर्यते।
पश्यन्त्या निहतं पुत्रं पुत्रेण सहितं रणे ॥ २७ ॥

'रणभूमिमें वही मेरा पुत्र अपने पुत्रके साथ ही मार डाला गया है, इसे इस अवस्थामें देखकर मेरे इस हृदयके सैकड़ों टुकड़े क्यों नहीं हो जाते ? ॥ २७ ॥

पुत्रं रुधिरसंसिक्तमुपजिघ्रत्यनिन्दिता।
दुर्योधनं तु वामोरूः पाणिना परिमार्जती ॥ २८ ॥

'सुन्दर जाँघोंवाली मेरी सती साध्वी पुत्रवधू कभी खूनसे भीगे हुए अपने पुत्र लक्ष्मणका मुँह सूँघती है तो कभी पति दुर्योधनका शरीर अपने हाथसे पोंछती है ॥ २८ ॥

किं नु शोचति भर्तारं पुत्रं चैषा मनस्विनी।
तथा ह्यवस्थिता भाति पुत्रं चाप्यभिवीक्ष्य सा ॥ २९ ॥
स्वशिरः पञ्चशाखाभ्यामभिहत्यायतेक्षणा।
पतत्युरसि वीरस्य कुरुराजस्य माधव ॥ ३० ॥

'पता नहीं, यह मनस्विनी बहू पुत्रके लिये शोक करती है या पतिके लिये ? कुछ ऐसी ही अवस्थामें वह जान पड़ती है। माधव ! वह देखो, वह विशाललोचना वधू पुत्रकी ओर देखकर दोनों हाथोंसे सिर पीटती हुई अपने वीर पति कुरुराजकी छातीपर गिर पड़ी है ॥ २९-३० ॥

पुण्डरीकनिभा भाति पुण्डरीकान्तरप्रभा।
मुखं विमृज्य पुत्रस्य भर्तुश्चैव तपस्विनी ॥ ३१ ॥

'कमल-पुष्पके भीतरी भागकी-सी मनोहर कान्तिवाली मेरी तपस्विनी पुत्रवधू जो प्रफुल्ल कमलके समान सुशोभित हो रही है, कभी अपने पुत्रका मुँह पोंछती है तो कभी अपने पतिका ॥ ३१ ॥

यदि सत्यागमाः सन्ति यदि वै श्रुतयस्तथा।
ध्रुवं लोकानवाप्तोऽयं नृपो बाहुबलार्जितान् ॥ ३२ ॥

'श्रीकृष्ण ! यदि वेद-शास्त्र सत्य हैं तो मेरा पुत्र यह राजा दुर्योधन निश्चय ही अपने बाहुबलसे प्राप्त हुए पुण्यमय लोकोंमें गया है' ॥ ३२ ॥

इति श्रीमहाभारते स्त्रीपर्वणि स्त्रीविलापपर्वणि दुर्योधनदर्शने सप्तदशोऽध्यायः ॥ १७ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत स्त्रीपर्वके अन्तर्गत स्त्रीविलापपर्वमें दुर्योधनका दर्शनविषयक सत्रहवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १७ ॥

अष्टादशोऽध्यायः

अपने अन्य पुत्रों तथा दुःशासनको देखकर गान्धारीका श्रीकृष्णके सम्मुख विलाप

गान्धार्युवाच

पश्य माधव पुत्रान्मे शतसंख्याञ्जितक्लमान्।
गदया भीमसेनेन भूयिष्ठं निहतान् रणे ॥ १ ॥

गान्धारी बोलीं—माधव ! जो परिश्रमको जीत चुके थे, उन मेरे सौ पुत्रोंको देखो, जिन्हें रणभूमिमें प्रायः भीमसेनने अपनी गदासे मार डाला है ॥ १ ॥

इदं दुःखतरं मेऽद्य यदिमा मुक्तमूर्धजाः।
हतपुत्रा रणे बालाः परिधावन्ति मे स्नुषाः ॥ २ ॥

सबसे अधिक दुःख मुझे आज यह देखकर हो रहा है कि ये मेरी बालवधुएँ, जिनके पुत्र भी मारे जा चुके हैं, रणभूमिमें केश खोले चारों ओर अपने स्वजनोंकी खोजमें दौड़ रही हैं ॥ २ ॥

प्रासादतलचारिण्यश्चरणैर्भूषणान्वितैः ।
आपन्ना यत् स्पृशन्तीमां रुधिरार्द्रां वसुन्धराम् ॥ ३ ॥

ये महलकी अट्टालिकाओंमें आभूषणभूषित चरणोंद्वारा विचरण करनेवाली थीं; परंतु आज विपत्तिकी मारी हुई ये इस खूनसे भीगी हुई वसुधाका स्पर्श कर रही हैं ॥ ३ ॥

कृच्छ्रादुत्सारयन्ति स्म गृध्रगोमायुवायसान् ।
दुःखेनार्ता विघूर्णन्त्यो मत्ता इव चरन्त्युत ॥ ४ ॥

ये दुःखसे आतुर हो पगली स्त्रियोंके समान झूमती हुई सब ओर विचरती हैं तथा बड़ी कठिनाईसे गीधों, गीदड़ों और कौओंको लाशोंके पाससे दूर हटा रही हैं ॥ ४ ॥

एषान्या त्वनवद्याङ्गी करसम्मितमध्यमा ।
घोरमायोधनं दृष्ट्वा निपतत्यतिदुःखिता ॥ ५ ॥

यह पतली कमरवाली सर्वाङ्गसुन्दरी दूसरी वधू युद्धस्थलका भयानक दृश्य देखकर अत्यन्त दुखी हो पृथ्वीपर गिर पड़ती है ॥ ५ ॥

दृष्ट्वा मे पार्थिवसुतामेतां लक्ष्मणमातरम् ।
राजपुत्रीं महाबाहो मनो न ह्युपशाम्यति ॥ ६ ॥

महाबाहो ! यह लक्ष्मणकी माता एक भूमिपालकी बेटी है, इस राजकुमारीकी दशा देखकर मेरा मन किसी तरह शान्त नहीं होता है ॥ ६ ॥

भ्रातॄंश्चान्याः पितॄंश्चान्याः पुत्रांश्च निहतान् भुवि ।
दृष्ट्वा परिपतन्त्येताः प्रगृह्य सुमहाभुजान् ॥ ७ ॥

कुछ स्त्रियाँ रणभूमिमें मारे गये अपने भाइयोंको, कुछ पिताओंको और कुछ पुत्रोंको देखकर उन महाबाहु वीरोंको पकड़ लेती और वहीं गिर पड़ती हैं ॥ ७ ॥

मध्यमानां तु नारीणां वृद्धानां चापराजित ।
आक्रन्दं हतबन्धूनां दारुणे वैशसे शृणु ॥ ८ ॥

अपराजित वीर ! इस दारुण संग्राममें जिनके बन्धु-बान्धव मारे गये हैं, उन अधेड़ और बूढ़ी स्त्रियोंका यह करुणाजनक क्रन्दन सुनो ॥ ८ ॥

रथनीडानि देहांश्च हतानां गजवाजिनाम् ।
आश्रित्य श्रममोहार्ताः स्थिताः पश्य महाभुज ॥ ९ ॥

महाबाहो ! देखो, ये स्त्रियाँ परिश्रम और मोहसे पीड़ित हो टूटे हुए रथोंकी बैठकों तथा मारे गये हाथी-घोड़ोंकी लाशोंका सहारा लेकर खड़ी हैं ॥ ९ ॥

अन्यां चापहृतं कायाच्चारुकुण्डलमुन्नसम् ।
स्वस्य बन्धोः शिरः कृष्ण गृहीत्वा पश्य तिष्ठतीम् ॥ १० ॥

श्रीकृष्ण ! देखो, वह दूसरी स्त्री किसी आत्मीय जनके मनोहर कुण्डलोंसे सुशोभित और ऊँची नासिकावाले कटे हुए मस्तकको लेकर खड़ी है ॥ १० ॥

पूर्वजातिकृतं पापं मन्ये नाल्पमिवानघ ।
एताभिर्निरवद्याभिर्मया चैवाल्पमेधया ॥ ११ ॥
यदिदं धर्मराजेन पातितं नो जनार्दन ।
न हि नाशोऽस्ति वार्ष्णेय कर्मणोः शुभपापयोः ॥ १२ ॥

अनघ ! मैं समझती हूँ कि इन अनिन्द्य सुन्दरी अबलाओंने तथा मन्द बुद्धिवाली मैंने भी पूर्वजन्मोंमें कोई बड़ा भारी पाप किया है, जिसके फलस्वरूप धर्मराजने हमलोगोंको बड़ी भारी विपत्तिमें डाल दिया है। जनार्दन ! वृष्णिनन्दन ! जान पड़ता है कि किये हुए पुण्य और पापकर्मोंका उनके फलका उपभोग किये बिना नाश नहीं होता है ॥ ११-१२ ॥

प्रत्यग्रवयसः पश्य दर्शनीयकुचाननाः ।
कुलेषु जाता ह्रीमत्यः कृष्णपक्ष्माक्षिमूर्धजाः ॥ १३ ॥
हंसगद्गदभाषिण्यो दुःखशोकप्रमोहिताः ।
सारस्य इव वाशन्त्यः पतिताः पश्य माधव ॥ १४ ॥

माधव ! देखो, इन महिलाओंकी नयी अवस्था है। इनके वक्षःस्थल और मुख दर्शनीय हैं। इनकी आँखोंकी बरौनियाँ और सिरके केश काले हैं। ये सब-की-सब कुलीन और सलज्ज हैं। ये हंसके समान गद्गद स्वरमें बोलती हैं; परंतु आज दुःख और शोकसे मोहित हो चहचहाती सारसियोंके समान रोती-बिलखती हुई पृथ्वीपर गिर पड़ी हैं॥ १३-१४ ॥

फुल्लपद्मप्रकाशानि पुण्डरीकाक्ष योषिताम् ।
अनवद्यानि वक्त्राणि तापयत्येष रश्मिवान् ॥ १५ ॥

कमलनयन ! खिले हुए कमलके समान प्रकाशित होनेवाले युवतियोंके इन सुन्दर मुखोंको ये सूर्यदेव संतप्त कर रहे हैं ॥ १५ ॥

ईर्षूणां मम पुत्राणां वासुदेवावरोधनम् ।
मत्तमातङ्गदर्पाणां पश्यन्त्यद्य पृथग्जनाः ॥ १६ ॥

वासुदेव ! मतवाले हाथीके समान घमंडमें चूर रहनेवाले मेरे ईर्ष्यालु पुत्रोंकी इन रानियोंको आज साधारण लोग देख रहे हैं ॥ १६ ॥

शतचन्द्राणि चर्माणि ध्वजांश्चादित्यवर्चसः ।
रौक्माणि चैव वर्माणि निष्कानपि च काञ्चनान् ॥ १७ ॥
शीर्षत्राणानि चैतानि पुत्राणां मे महीतले ।
पश्य दीप्तानि गोविन्द पावकान् सुहुतानिव ॥ १८ ॥

गोविन्द ! देखो, मेरे पुत्रोंकी ये सौ चन्द्राकार चिह्नोंसे सुशोभित ढालें, सूर्यके समान तेजस्विनी ध्वजाएँ, सुवर्णमय कवच, सोनेके निष्क तथा शिरस्त्राण घीकी उत्तम आहुति पाकर प्रज्वलित हुई अग्नियोंके समान पृथ्वीपर देदीप्यमान हो रहे हैं ॥ १७-१८ ॥

एष दुःशासनः शेते शूरेणामित्रघातिना ।
पीतशोणितसर्वाङ्गो युधि भीमेन पातितः ॥ १९ ॥

शत्रुघाती शूरवीर भीमसेनने युद्धमें जिसे मार गिराया तथा जिसके सारे अङ्गोंका रक्त पी लिया, वही यह दुःशासन यहाँ सो रहा है ॥ १९ ॥

गदया भीमसेनेन पश्य माधव मे सुतम् ।
द्यूतक्लेशाननुस्मृत्य द्रौपदीनोदितेन च ॥ २० ॥

माधव ! देखो, द्यूतक्रीडाके समय पाये हुए क्लेशोंको स्मरण करके द्रौपदीसे प्रेरित हुए भीमसेनने मेरे इस पुत्रको गदासे मार डाला है ॥ २० ॥

उक्ता ह्यनेन पाञ्चाली सभायां द्यूतनिर्जिता ।

प्रियं चिकीर्षता भ्रातुः कर्णस्य च जनार्दन ॥ २१ ॥
सहैव सहदेवेन नकुलेनार्जुनेन च ।
दासीभूतासि पाञ्चालि क्षिप्रं प्रविश नो गृहान् ॥ २२ ॥

जनार्दन ! इसने अपने भाई और कर्णका प्रिय करनेकी इच्छासे सभामें जूएसे जीती गयी द्रौपदीके प्रति कहा था कि 'पाञ्चालि ! तू नकुल-सहदेव तथा अर्जुनके साथ ही हमारी दासी हो गयी; अतः शीघ्र ही हमारे घरोंमें प्रवेश कर' २१-२२

ततोऽहमब्रुवं कृष्ण तदा दुर्योधनं नृपम् ।
मृत्युपाशपरिक्षिप्तं शकुनिं पुत्र वर्जय ॥ २३ ॥
निबोधैनं सुदुर्बुद्धिं मातुलं कलहप्रियम् ।
क्षिप्रमेनं परित्यज्य पुत्र शाम्यस्व पाण्डवैः ॥ २४ ॥
न बुध्यसे त्वं दुर्बुद्धे भीमसेनममर्षणम् ।
वाङ्नाराचैस्तुदंस्तीक्ष्णैरुल्काभिरिव कुञ्जरम् ॥ २५ ॥

श्रीकृष्ण ! उस समय मैं राजा दुर्योधनसे बोली—'बेटा ! शकुनि मौतके फँदेमें फँसा हुआ है । तुम इसका साथ छोड़ दो । पुत्र ! तुम अपने इस खोटी बुद्धिवाले मामाको कलहप्रिय समझो और शीघ्र ही इसका परित्याग करके पाण्डवोंके साथ संधि कर लो । दुर्बुद्धे ! तुम नहीं जानते कि भीमसेन कितने अमर्षशील हैं । तभी जलती लकड़ीसे हाथीको मारनेके समान तुम अपने तीखे वाग्बाणोंसे उन्हें पीड़ा दे रहे हो' ॥ २३—२५ ॥

तानेव रहसि क्रुद्धो वाक्शल्यानवधारयन् ।
उत्ससर्ज विषं तेषु सर्पो गोवृषभेष्विव ॥ २६ ॥

इस प्रकार एकान्तमें मैंने उन सबको डाँटा था । श्रीकृष्ण ! उन्हीं वाग्बाणोंको याद करके क्रोधी भीमसेनने मेरे पुत्रोंपर उसी प्रकार क्रोधरूपी विष छोड़ा है, जैसे सर्प गाय-बैलोंको डँसकर उनमें अपने विषका संचार कर देता है ॥ २६ ॥

एष दुःशासनः शेते विक्षिप्य विपुलौ भुजौ ।
निहतो भीमसेनेन सिंहेनेव महागजः ॥ २७ ॥

सिंहके मारे हुए विशाल हाथीके समान भीमसेनका मारा हुआ यह दुःशासन दोनों विशाल हाथ फैलाये रणभूमिमें पड़ा हुआ है ॥ २७ ॥

अत्यर्थमकरोद् रौद्रं भीमसेनोऽत्यमर्षणः ।
दुःशासनस्य यत् क्रुद्धोऽपिबच्छोणितमाहवे ॥ २८ ॥

अत्यन्त अमर्षमें भरे हुए भीमसेनने युद्धस्थलमें कुद्ध होकर जो दुःशासनका रक्त पी लिया, यह बड़ा भयानक कर्म किया है ॥ २८ ॥

इति श्रीमहाभारते स्त्रीपर्वणि स्त्रीविलापपर्वणि गान्धारीवाक्येऽष्टादशोऽध्यायः ॥ १८ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत स्त्रीपर्वके अन्तर्गत स्त्रीविलापपर्वमें गान्धारीवाक्यविषयक अठारहवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १८ ॥

एकोनविंशोऽध्यायः

विकर्ण, दुर्मुख, चित्रसेन, विविंशति तथा दुःसहको देखकर गान्धारीका श्रीकृष्णके सम्मुख विलाप

गान्धार्युवाच

एष माधव पुत्रो मे विकर्णः प्राज्ञसम्मतः ।
भूमौ विनिहतः शेते भीमेन शतधा कृतः ॥ १ ॥

गान्धारी बोलीं—माधव ! यह मेरा पुत्र विकर्ण, जो विद्वानोंद्वारा सम्मानित होता था, भूमिपर मरा पड़ा है । भीमसेनने इसके भी सौ-सौ टुकड़े कर डाले हैं ॥ १ ॥

गजमध्ये हतः शेते विकर्णो मधुसूदन ।
नीलमेघपरिक्षिप्तः शरदीव निशाकरः ॥ २ ॥

मधुसूदन ! जैसे शरत्कालमें काले मेघोंकी घटासे घिरा हुआ चन्द्रमा शोभा पा रहा हो, उसी प्रकार भीमद्वारा मारा गया विकर्ण हाथियोंकी सेनाके बीचमें सो रहा है ॥ २ ॥

अस्य चापग्रहेणैव पाणिः कृतकिणो महान् ।
कथञ्चिच्छिद्यते गृध्रैरत्तुकामैस्तलत्रवान् ॥ ३ ॥

बराबर धनुष लिये रहनेसे इसकी विशाल हथेलीमें घट्ठा पड़ गया है । इसके हाथमें इस समय भी दस्ताना बँधा हुआ है; इसलिये इसे खानेकी इच्छावाले गीध बड़ी कठिनाईसे किसी-किसी तरह काट पाते हैं ॥ ३ ॥

अस्य भार्याऽऽमिषप्रेप्सून् गृध्रकाकांस्तपस्विनी ।
वारयत्यनिशं बाला न च शक्नोति माधव ॥ ४ ॥

माधव ! इसकी तपस्विनी पत्नी जो अभी बालिका है, मांसलोलुप गीधों और कौओंको हटानेकी निरन्तर चेष्टा करती है; परंतु सफल नहीं हो पाती है ॥ ४ ॥

युवा वृन्दारकः शूरो विकर्णः पुरुषर्षभ ।
सुखोचितः सुखार्हश्च शेते पांसुषु माधव ॥ ५ ॥

पुरुषप्रवर माधव ! विकर्ण नवयुवक, देवताके समान कान्तिमान्, शूरवीर, सुखमें पला हुआ तथा सुख भोगनेके ही योग्य था; परंतु आज धूलमें लोट रहा है ॥ ५ ॥

कर्णिनालीकनाराचैर्भिन्नमर्माणमाहवे ।
अद्यापि न जहात्येनं लक्ष्मीर्भरतसत्तमम् ॥ ६ ॥

युद्धमें कर्णी, नालीक और नाराचोंके प्रहारसे इसके मर्मस्थल विदीर्ण हो गये हैं तो भी इस भरतभूषण वीरको अभीतक लक्ष्मी (अङ्गकान्ति) छोड़ नहीं रही है ॥ ६ ॥

एष संग्रामशूरेण प्रतिज्ञां पालयिष्यता ।
दुर्मुखोऽभिमुखः शेते हतोऽरिगणहा रणे ॥ ७ ॥

जो शत्रुसमूहोंका संहार करनेवाला था, वह दुर्मुख प्रतिज्ञा पालन करनेवाले संग्राम-शूर भीमसेनके हाथों मारा जाकर समरमें सम्मुख सो रहा है ॥ ७ ॥

तस्यैतद् वदनं कृष्ण श्वापदैरर्धभक्षितम् ।
विभात्यभ्यधिकं तात सप्तम्यामिव चन्द्रमाः ॥ ८ ॥

तात श्रीकृष्ण ! इसका यह मुख हिंसक जन्तुओंद्वारा आधा खा लिया गया है, इसलिये सप्तमीके चन्द्रमाकी भाँति सुशोभित हो रहा है ॥ ८ ॥

शूरस्य हि रणे कृष्ण पश्याननमथेदृशम्।
स कथं निहतोऽमित्रैः पांसून् ग्रसति मे सुतः॥ ९॥

श्रीकृष्ण! देखो, मेरे इस रणशूर पुत्रका मुख कैसा तेजस्वी है? पता नहीं, मेरा यह वीर पुत्र किस तरह शत्रुओंके हाथसे मारा जाकर धूल फाँक रहा है?॥ ९॥

यस्याहवमुखे सौम्य स्थाता नैवोपपद्यते।
स कथं दुर्मुखोऽमित्रैर्हतो विबुधलोकजित्॥ १०॥

सौम्य! युद्धके मुहानेपर जिसके सामने कोई ठहर नहीं पाता था, उस देवलोकविजयी दुर्मुखको शत्रुओंने कैसे मार डाला?॥ १०॥

चित्रसेनं हतं भूमौ शयानं मधुसूदन।
धार्तराष्ट्रमिमं पश्य प्रतिमानं धनुष्मताम्॥ ११॥

मधुसूदन! देखो, जो धनुर्धरोंका आदर्श था, वही यह धृतराष्ट्रका पुत्र चित्रसेन मारा जाकर पृथ्वीपर पड़ा हुआ है॥

तं चित्रमाल्याभरणं युवत्यः शोककर्शिताः।
क्रव्यादसंघैः सहिता रुदत्यः पर्युपासते॥ १२॥

विचित्र माला और आभूषण धारण करनेवाले उस चित्रसेनको घेरकर शोकसे कातर हो रोती हुई युवतियाँ हिंसक जन्तुओंके साथ उसके पास बैठी हैं॥ १२॥

स्त्रीणां रुदितनिर्घोषः श्वापदानां च गर्जितम्।
चित्ररूपमिदं कृष्ण विचित्रं प्रतिभाति मे॥ १३॥

श्रीकृष्ण! एक ओर स्त्रियोंके रोनेकी आवाज है तो दूसरी ओर हिंसक जन्तुओंकी गर्जना हो रही है। यह अद्भुत दृश्य मुझे विचित्र प्रतीत होता है॥ १३॥

युवा वृन्दारको नित्यं प्रवरस्त्रीनिषेवितः।
विविंशतिरसौ शेते ध्वस्तः पांसुषु माधव॥ १४॥

माधव! देखो, वह देवतुल्य नवयुवक विविंशति, जिसकी सुन्दरी स्त्रियाँ सदा सेवा किया करती थीं, आज विध्वस्त होकर धूलमें पड़ा है॥ १४॥

शरसंकृत्तवर्माणं वीरं विशसने हतम्।
परिवार्यासते गृध्राः पश्य कृष्ण विविंशतिम्॥ १५॥

श्रीकृष्ण! देखो, बाणोंसे इसका कवच छिन्न-भिन्न हो गया है। युद्धमें मारे गये इस वीर विविंशतिको गीध चारों ओरसे घेरकर बैठे हैं॥ १५॥

प्रविश्य समरे शूरः पाण्डवानामनीकिनीम्।
स वीरशयने शेते पुनः सत्पुरुषोचिते॥ १६॥

जो शूरवीर समराङ्गणमें पाण्डवोंकी सेनाके भीतर घुसकर लोहा लेता था, वही आज सत्पुरुषोचित वीरशय्यापर शयन कर रहा है॥ १६॥

स्मितोपपन्नं सुनसं सुभ्रु ताराधिपोपमम्।
अतीव शुभ्रं वदनं कृष्ण पश्य विविंशतेः॥ १७॥

श्रीकृष्ण! देखो, विविंशतिका मुख अत्यन्त उज्ज्वल है, इसके अधरोंपर मुस्कराहट खेल रही है, नासिका मनोहर और भौंहें सुन्दर हैं। यह मुख चन्द्रमाके समान शोभा पा रहा है॥ १७॥

एनं हि पर्युपासन्ते बहुधा वरयोषितः।
क्रीडन्तमिव गन्धर्वं देवकन्याः सहस्रशः॥ १८॥

जैसे क्रीडा करते हुए गन्धर्वके साथ सहस्रों देवकन्याएँ होती हैं, उसी प्रकार इस विविंशतिकी सेवामें बहुत-सी सुन्दरी स्त्रियाँ रहा करती थीं॥ १८॥

हन्तारं परसैन्यानां शूरं समितिशोभनम्।
निबर्हणममित्राणां दुःसहं विषहेत कः॥ १९॥

शत्रुकी सेनाओंका संहार करनेमें समर्थ तथा युद्धमें शोभा पानेवाले शूरवीर शत्रुसूदन दुःसहका वेग कौन सह सकता था?॥ १९॥

दुःसहस्यैतदाभाति शरीरं संवृतं शरैः।
गिरिरात्मगतैः फुल्लैः कर्णिकारैरिवाचितः॥ २०॥

उसी दुःसहका यह शरीर बाणोंसे खचाखच भरा हुआ है, जो अपने ऊपर खिले हुए कनेरके फूलोंसे व्याप्त पर्वतके समान सुशोभित होता है॥ २०॥

शातकौम्भ्या स्रजा भाति कवचेन च भास्वता।
अग्निनेव गिरिः श्वेतो गतासुरपि दुःसहः॥ २१॥

यद्यपि दुःसहके प्राण चले गये हैं तो भी वह सोनेकी माला और तेजस्वी कवचसे सुशोभित हो अग्नियुक्त श्वेत पर्वतके समान जान पड़ता है॥ २१॥

इति श्रीमहाभारते स्त्रीपर्वणि स्त्रीविलापपर्वणि गान्धारीवाक्ये एकोनविंशोऽध्यायः॥ १९॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत स्त्रीपर्वके अन्तर्गत स्त्रीविलापपर्वमें गान्धारीवाक्यविषयक उन्नीसवाँ अध्याय पूरा हुआ॥ १९॥

विंशोऽध्यायः

गान्धारीद्वारा श्रीकृष्णके प्रति उत्तरा और विराटकुलकी स्त्रियोंके शोक एवं विलापका वर्णन

गान्धार्युवाच

अध्यर्धगुणमाहुर्यं बले शौर्ये च केशव।
पित्रा त्वया च दाशार्ह दृप्तं सिंहमिवोत्कटम्॥ १॥
यो बिभेद चमूमेको मम पुत्रस्य दुर्भिदाम्।
स भूत्वा मृत्युरन्येषां स्वयं मृत्युवशं गतः॥ २॥

गान्धारी बोलीं—दशार्हनन्दन केशव! जिसे बल और शौर्यमें अपने पितासे तथा तुमसे भी डेढ़ गुना बताया जाता था, जो प्रचण्ड सिंहके समान अभिमानमें भरा रहता था, जिसने अकेले ही मेरे पुत्रके दुर्भेद्य व्यूहको तोड़ डाला था, वही अभिमन्यु दूसरोंकी मृत्यु बनकर स्वयं भी मृत्युके अधीन हो गया॥ १-२॥

तस्योपलक्षये कृष्ण कार्ष्णेरमिततेजसः।
अभिमन्योर्हतस्यापि प्रभा नैवोपशाम्यति॥ ३॥

श्रीकृष्ण! मैं देख रही हूँ कि मारे जानेपर भी अमित

[illegible] अभिमन्युकी कान्ति अभी बुझ नहीं पा रही है ॥ ३ ॥

एषा विराटदुहिता स्नुषा गाण्डीवधन्वनः ।
आर्ता बालं पतिं वीरं दृष्ट्वा शोचत्यनिन्दिता ॥ ४ ॥

यह राजा विराटकी पुत्री और गाण्डीवधारी अर्जुनकी पुत्रवधू सती-साध्वी उत्तरा अपने बालक पति वीर अभिमन्युको मरा देख आर्त होकर शोक प्रकट कर रही है ॥ ४ ॥

तमेषा हि समागम्य भार्या भर्तारमन्तिके ।
विराटदुहिता कृष्ण पाणिना परिमार्जति ॥ ५ ॥

श्रीकृष्ण ! यह विराटकी पुत्री और अभिमन्युकी पत्नी उत्तरा अपने पतिके निकट जा उसके शरीरपर हाथ फेर रही है॥

तस्य वक्त्रमुपाघ्राय सौभद्रस्य मनस्विनी ।
विबुद्धकमलाकारं कम्बुवृत्तशिरोधरम् ॥ ६ ॥
काम्यरूपवती चैषा परिष्वजति भामिनी ।
लज्जमाना पुरा चैनं माध्वीकमदमूर्च्छिता ॥ ७ ॥

सुभद्राकुमारका मुख प्रफुल्ल कमलके समान शोभा पाता है । उसकी ग्रीवा शङ्खके समान और गोल है । कमनीय रूप-सौन्दर्यसे सुशोभित माननीय एवं मनस्विनी उत्तरा पतिके मुखारविन्दको सूँघकर उसे गलेसे लगा रही है । पहले भी वह इसी प्रकार मधुके मदसे अचेत हो सलज्ज भावसे उसका आलिङ्गन करती रही होगी ॥ ६-७ ॥

तस्य क्षतजसंदिग्धं जातरूपपरिष्कृतम् ।
विमुच्य कवचं कृष्ण शरीरमभिवीक्षते ॥ ८ ॥

श्रीकृष्ण ! अभिमन्युका सुवर्ण-भूषित कवच खूनसे रँग गया है । बालिका उत्तरा उस कवचको खोलकर पतिके शरीरको देख रही है ॥ ८ ॥

अवेक्षमाणा तं बाला कृष्ण त्वामभिभाषते ।
अयं ते पुण्डरीकाक्ष सदृशाक्षो निपातितः ॥ ९ ॥

उसे देखती हुई वह बाला तुमसे पुकारकर कहती है, 'कमलनयन ! आपके भानजेके नेत्र भी आपके ही समान थे । ये रणभूमिमें मार गिराये गये हैं ॥ ९ ॥

बले वीर्ये च सदृशस्तेजसा चैव तेऽनघ ।
रूपेण च तथात्यर्थं शेते भुवि निपातितः ॥ १० ॥

'अनघ ! जो बल, वीर्य, तेज और रूपमें सर्वथा आपके समान थे, वे ही सुभद्राकुमार शत्रुओंद्वारा मारे जाकर पृथ्वीपर सो रहे हैं' ॥ १० ॥

अत्यन्तं सुकुमारस्य राङ्कवाजिनशायिनः ।
कच्चिदद्य शरीरं ते भूमौ न परितप्यते ॥ ११ ॥

(श्रीकृष्ण ! अब उत्तरा अपने पतिको सम्बोधित करके कहती है) 'प्रियतम ! आपका शरीर तो अत्यन्त सुकुमार है । आप रङ्कुमृगके चर्मसे बने हुए सुकोमल बिछौनेपर सोया करते थे । क्या आज इस तरह पृथ्वीपर पड़े रहनेसे आपके शरीरको कष्ट नहीं होता है ? ॥ ११ ॥

मातङ्गभुजवर्ष्माणौ ज्याक्षेपकठिनत्वचौ ।
काञ्चनाङ्गदिनौ शेते निक्षिप्य विपुलौ भुजौ ॥ १२ ॥

'जो हाथीकी सूँड़के समान बड़ी हैं, निरन्तर प्रत्यञ्चा खींचनेके कारण रगड़से जिनकी त्वचा कठोर हो गयी है तथा जो सोनेके बाजूबन्द धारण करते हैं, उन विशाल भुजाओंको फैलाकर आप सो रहे हैं ॥ १२ ॥

व्यायम्य बहुधा नूनं सुखसुप्तः श्रमादिव ।
एवं विलपतीमार्तां न हि मामभिभाषसे ॥ १३ ॥

'निश्चय ही बहुत परिश्रम करके मानो थक जानेके कारण आप सुखकी नींद ले रहे हों । मैं इस तरह आर्त होकर विलाप करती हूँ, किंतु आप मुझसे बोलतेतक नहीं हैं॥

न स्मराम्यपराधं ते किं मां न प्रतिभाषसे ।
ननु मां त्वं पुरा दूरादभिवीक्ष्याभिभाषसे ॥ १४ ॥

'मैंने कोई अपराध किया हो, ऐसा तो मुझे स्मरण नहीं है, फिर क्या कारण है कि आप मुझसे नहीं बोलते हैं । पहले तो आप मुझे दूरसे भी देख लेनेपर बोले बिना नहीं रहते थे॥

आर्यामार्य सुभद्रां त्वमिमांश्च त्रिदशोपमान् ।
पितॄन् मां चैव दुःखार्तां विहाय क्व गमिष्यसि ॥ १५ ॥

'आर्य ! आप माता सुभद्राको, इन देवताओंके समान ताऊ, पिता और चाचाओंको तथा मुझ दुःखातुरा पत्नीको छोड़कर कहाँ जायँगे ?' ॥ १५ ॥

तस्य शोणितदिग्धान् वै केशानुद्यम्य पाणिना ।
उत्सङ्गे वक्त्रमाधाय जीवन्तमिव पृच्छति ॥ १६ ॥

जनार्दन ! देखो, अभिमन्युके सिरको गोदीमें रखकर उत्तरा उसके खूनसे सने हुए केशोंको हाथसे उठा-उठाकर सुलझाती है और मानो वह जी रहा हो, इस प्रकार उससे पूछती है ॥ १६ ॥

स्वस्रीयं वासुदेवस्य पुत्रं गाण्डीवधन्वनः ।
कथं त्वां रणमध्यस्थं जघ्नुरेते महारथाः ॥ १७ ॥

'प्राणनाथ ! आप वसुदेवनन्दन श्रीकृष्णके भानजे और गाण्डीवधारी अर्जुनके पुत्र थे । रणभूमिके मध्यभागमें खड़े हुए आपको इन महारथियोंने कैसे मार डाला ? ॥ १७ ॥

धिगस्तु क्रूरकर्तॄंस्तान् कृपकर्णजयद्रथान् ।
द्रोणद्रौणायनी चोभौ यैरहं विधवा कृता ॥ १८ ॥

'उन क्रूरकर्मा कृपाचार्य, कर्ण और जयद्रथको धिक्कार है, द्रोणाचार्य और उनके पुत्रको भी धिक्कार है ! जिन्होंने मुझे इसी उम्रमें विधवा बना दिया ॥ १८ ॥

रथर्षभाणां सर्वेषां कथमासीत् तदा मनः ।
बालं त्वां परिवार्यैकं मम दुःखाय जघ्नुषाम् ॥ १९ ॥

'आप बालक थे और अकेले युद्ध कर रहे थे तो भी मुझे दुःख देनेके लिये जिन लोगोंने मिलकर आपको मारा था, उन समस्त श्रेष्ठ महारथियोंके मनकी उस समय क्या दशा हुई थी? ॥ १९ ॥

कथं नु पाण्डवानां च पञ्चालानां तु पश्यताम् ।
त्वं वीर निधनं प्राप्तो नाथवान् सन्ननाथवत् ॥ २० ॥

'वीर ! आप पाण्डवों और पाञ्चालोंके देखते-देखते सनाथ होते हुए भी अनाथकी भाँति कैसे मारे गये? ॥ २० ॥

दृष्ट्वा बहुभिराक्रन्दे निहतं त्वां पिता तव।
वीरः पुरुषशार्दूलः कथं जीवति पाण्डवः ॥ २१ ॥

'आपको युद्धस्थलमें बहुत-से महारथियोंद्वारा मारा गया देख आपके पिता पुरुषसिंह वीर पाण्डव अर्जुन कैसे जी रहे हैं ? ॥ २१ ॥

न राज्यलाभो विपुलः शत्रूणां च पराभवः।
प्रीतिं धास्यति पार्थानां त्वामृते पुष्करेक्षण ॥ २२ ॥

'कमलनयन ! प्राणेश्वर ! पाण्डवोंको जो यह विशाल राज्य मिल गया है, उन्होंने शत्रुओंको जो पराजित कर दिया है, यह सब कुछ आपके बिना उन्हें प्रसन्न नहीं कर सकेगा ॥

तव शस्त्रजिताँल्लोकान् धर्मेण च दमेन च।
क्षिप्रमन्वागमिष्यामि तत्र मां प्रतिपालय ॥ २३ ॥

'आर्यपुत्र ! आपके शस्त्रोंद्वारा जीते हुए पुण्यलोकोंमें मैं भी धर्म और इन्द्रिय-संयमके बलसे शीघ्र ही आऊँगी। आप वहाँ मेरी राह देखिये ॥ २३ ॥

दुर्मरं पुनरप्राप्ते काले भवति केनचित्।
यदहं त्वां रणे दृष्ट्वा हतं जीवामि दुर्भगा ॥ २४ ॥

'जान पड़ता है कि मृत्युकाल आये बिना किसीका भी मरना अत्यन्त कठिन है, तभी तो मैं अभागिनी आपको युद्धमें मारा गया देखकर भी अबतक जी रही हूँ ॥ २४ ॥

कामिदानीं नरव्याघ्र श्लक्ष्णया स्मितया गिरा।
पितृलोके समेत्यान्यां मामिवामन्त्रयिष्यसि ॥ २५ ॥

'नरश्रेष्ठ ! आप पितृलोकमें जाकर इस समय मेरी ही तरह दूसरी किस स्त्रीको मन्द मुस्कानके साथ मीठी वाणीद्वारा बुलायेंगे ? ॥ २५ ॥

नूनमप्सरसां स्वर्गे मनांसि प्रमथिष्यसि।
परमेण च रूपेण गिरा च स्मितपूर्वया ॥ २६ ॥

'निश्चय ही स्वर्गमें जाकर आप अपने सुन्दर रूप और मन्द मुस्कानयुक्त मधुर वाणीके द्वारा वहाँकी अप्सराओंके मनको मथ डालेंगे ॥ २६ ॥

प्राप्य पुण्यकृताँल्लोकानप्सरोभिः समेयिवान्।
सौभद्र विहरन् काले स्मरेथाः सुकृतानि मे ॥ २७ ॥

'सुभद्रानन्दन ! आप पुण्यात्माओंके लोकोंमें जाकर अप्सराओंके साथ मिलकर विहार करते समय मेरे शुभ कर्मोंका भी स्मरण कीजियेगा ॥ २७ ॥

एतावानिह संवासो विहितस्ते मया सह।
षण्मासान् सप्तमे मासि त्वं वीर निधनं गतः ॥ २८ ॥

'वीर ! इस लोकमें तो मेरे साथ आपका कुल छः महीनोंतक ही सहवास रहा है। सातवें महीनेमें ही आप वीरगतिको प्राप्त हो गये' ॥ २८ ॥

इत्युक्तवचनामेतामपकर्षन्ति दुःखिताम्।
उत्तरां मोघसंकल्पां मत्स्यराजकुलस्त्रियः ॥ २९ ॥

इस तरहकी बातें कहकर दुःखमें डूबी हुई इस उत्तराको जिसका सारा संकल्प मिट्टीमें मिल गया है, मत्स्यराज विराटके कुलकी स्त्रियाँ खींचकर दूर ले जा रही हैं ॥ २९ ॥

उत्तरामपकृष्यैनामार्तामार्ततराः स्वयम्।
विराटं निहतं दृष्ट्वा क्रोशन्ति विलपन्ति च ॥ ३० ॥

शोकसे आतुर हुई उत्तराको खींचकर अत्यन्त आर्त हुई वे स्त्रियाँ राजा विराटको मारा गया देख स्वयं भी चीखने और विलाप करने लगी हैं ॥ ३० ॥

द्रोणास्त्रशरसंकृत्तं शयानं रुधिरोक्षितम्।
विराटं वितुदन्त्येते गृध्रगोमायुवायसाः ॥ ३१ ॥

द्रोणाचार्यके बाणोंसे छिन्न-भिन्न हो खूनसे लथपथ होकर रणभूमिमें पड़े हुए राजा विराटको ये गीध, गीदड़ और कौए नोच रहे हैं ॥ ३१ ॥

वितुद्यमानं विहगैर्विराटमसितेक्षणाः।
न शक्नुवन्ति विहगान् निवारयितुमातुराः ॥ ३२ ॥

विराटको उन विहङ्गमोंद्वारा नोचे जाते देख कजरारी आँखोंवाली उनकी रानियाँ आतुर हो-होकर उन्हें हटानेकी चेष्टा करती हैं, पर हटा नहीं पाती हैं ॥ ३२ ॥

आसामातपतप्तानामायासेन च योषिताम्।
श्रमेण च विवर्णानां वक्त्राणां विप्लुतं वपुः ॥ ३३ ॥

इन युवतियोंके मुखारविन्द धूपसे तप गये हैं, आयास और परिश्रमसे उनके रंग फीके पड़ गये हैं ॥ ३३ ॥

उत्तरं चाभिमन्युं च काम्बोजं च सुदक्षिणम्।
शिशूनेतान् हतान् पश्य लक्ष्मणं च सुदर्शनम् ॥ ३४ ॥
आयोधनशिरोमध्ये शयानं पश्य माधव ॥ ३५ ॥

माधव ! उत्तर, अभिमन्यु, काम्बोजनिवासी सुदक्षिण और सुन्दर दिखायी देनेवाले लक्ष्मण—ये सभी बालक थे। इन मारे गये बालकोंको देखो। युद्धके मुहानेपर सोये हुए परम सुन्दर कुमार लक्ष्मणपर भी दृष्टिपात करो ॥ ३४-३५ ॥

इति श्रीमहाभारते स्त्रीपर्वणि स्त्रीविलापपर्वणि गान्धारीवाक्ये विंशतितमोऽध्यायः ॥ २० ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत स्त्रीपर्वके अन्तर्गत स्त्रीविलापपर्वमें गान्धारीवाक्यविषयक बीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २० ॥

एकविंशोऽध्यायः

गान्धारीके द्वारा कर्णको देखकर उसके शौर्य तथा उसकी स्त्रीके विलापका श्रीकृष्णके सम्मुख वर्णन

गान्धार्युवाच

एष वैकर्तनः शेते महेष्वासो महारथः।
ज्वलितानलवत् संख्ये संशान्तः पार्थतेजसा ॥ १ ॥

गान्धारी बोलीं—श्रीकृष्ण ! देखो, यह महाधनुर्धर महारथी वैकर्तन कर्ण कुन्तीकुमार अर्जुनके तेजसे बुझी हुई प्रज्वलित आगके समान युद्धस्थलमें शान्त होकर सो रहा है ॥

पश्य वैकर्तनं कर्णं निहत्यातिरथान् बहून्।
शोणितौघपरीताङ्गं शयानं पतितं भुवि ॥ २ ॥

[illegible] ! देखो, [illegible] कर्ण बहुत-से अतिरथी वीरोंका [illegible] समरभूमिमें [illegible] होकर पृथ्वीपर सोया गया है ॥ २ ॥

अमर्षी दीर्घरोषश्च महेष्वासो महाबलः ।
रणे विनिहतः शेते शूरो गाण्डीवधन्वना ॥ ३ ॥

गम्भीर कर्ण महान् बलवान् और महाधनुर्धर था। वह दीर्घकालतक रोषमें भरा रहनेवाला और अमर्षशील था, परंतु गाण्डीवधारी अर्जुनके हाथसे मारा जाकर यह वीर रणभूमिमें सो गया है ॥ ३ ॥

यं स्म पाण्डवसंत्रासान्मम पुत्रा महारथाः ।
प्रायुध्यन्त पुरस्कृत्य मातङ्गा इव यूथपम् ॥ ४ ॥
शार्दूलमिव सिंहेन समरे सव्यसाचिना ।
मातङ्गमिव मत्तेन मातङ्गेन निपातितम् ॥ ५ ॥

पाण्डुपुत्र अर्जुनके डरसे मेरे महारथी पुत्र जिसे आगे करके यूथपतिको आगे रखकर लड़नेवाले हाथियोंके समान पाण्डवसेनाके साथ युद्ध करते थे, उसी वीरको सव्यसाची अर्जुनने समराङ्गणमें उसी तरह मार डाला है, जैसे एक सिंहने दूसरे सिंहको तथा एक मतवाले हाथीने दूसरे मदोन्मत्त गजराजको मार गिराया हो ॥ ४-५ ॥

समेताः पुरुषव्याघ्र निहतं शूरमाहवे ।
प्रकीर्णमूर्धजाः पत्न्यो रुदत्यः पर्युपासते ॥ ६ ॥

पुरुषसिंह ! रणभूमिमें मारे गये इस शूरवीरके पास आकर इसकी पत्नियाँ सिरके बाल बिखेरे बैठी हुई रो रही हैं॥

उद्विग्नः सततं यस्माद् धर्मराजो युधिष्ठिरः ।
त्रयोदश समा निद्रां चिन्तयन् नाध्यगच्छत ॥ ७ ॥
अनाधृष्यः परैर्युद्धे शत्रुभिर्मघवानिव ।
युगान्ताग्निरिवार्चिष्मान् हिमवानिव निश्चलः ॥ ८ ॥
स भूत्वा शरणं वीरो धार्तराष्ट्रस्य माधव ।
भूमौ विनिहतः शेते वातभग्न इव द्रुमः ॥ ९ ॥

माधव ! जिससे निरन्तर उद्विग्न रहनेके कारण धर्मराज युधिष्ठिरको चिन्ताके मारे तेरह वर्षोंतक नींद नहीं आयी, जो युद्धस्थलमें इन्द्रके समान शत्रुओंके लिये अजेय था, प्रलयकर अग्निके समान तेजस्वी और हिमालयके समान निश्चल था, वही वीर कर्ण धृतराष्ट्रपुत्र दुर्योधनके लिये शरणदाता हो मारा जाकर आँधीसे टूटकर पड़े हुए वृक्षके समान रणशायी हो गया है ॥ ७-९ ॥

पश्य कर्णस्य पत्नीं त्वं वृषसेनस्य मातरम् ।
लालप्यमानां करुणं रुदतीं पतितां भुवि ॥ १० ॥

देखो, कर्णकी पत्नी एवं वृषसेनकी माता पृथ्वीपर गिरकर रोती हुई कैसा करुणाजनक विलाप कर रही है ! ॥ १० ॥

आचार्यशापोऽनुगतो ध्रुवं त्वां
यदग्रसच्चक्रमिदं धरित्री ।
ततः शरेणापहृतं शिरस्ते
धनंजयेनाहवशोभिना युधि ॥ ११ ॥

'प्राणनाथ ! निश्चय ही तुमपर आचार्यका दिया हुआ शाप लागू हो गया, जिससे इस पृथ्वीने तुम्हारे रथके पहियेको ग्रस लिया, तभी युद्धमें शोभा पानेवाले अर्जुनने रणभूमिमें अपने बाणसे तुम्हारा सिर काट लिया' ॥ ११ ॥

हाहा धिगेषा पतिता विसंज्ञा
समीक्ष्य जाम्बूनदबद्धकक्षम् ।
कर्णं महाबाहुमदीनसत्त्वं
सुषेणमाता रुदती भृशार्ता ॥ १२ ॥

हाय ! हाय ! मुझे धिक्कार है। सुवर्ण-कवचधारी उदार हृदय महाबाहु कर्णको इस अवस्थामें देखकर अत्यन्त आतुर हो रोती हुई सुषेणकी माता मूर्छित होकर गिर पड़ी॥

अल्पावशेषोऽपि कृतो महात्मा
शरीरभक्षैः परिभक्षयद्भिः ।
द्रष्टुं न नः प्रीतिकरः शशीव
कृष्णस्य पक्षस्य चतुर्दशाहे ॥ १३ ॥

मानव-शरीरका भक्षण करनेवाले जन्तुओंने खा-खाकर महामना कर्णके शरीरको थोड़ा-सा ही शेष रहने दिया है। उसका यह अल्पावशेष शरीर कृष्णपक्षकी चतुर्दशीके चन्द्रमाकी भाँति देखनेपर हमलोगोंको प्रसन्नता नहीं प्रदान करता है ॥ १३ ॥

सा वर्तमाना पतिता पृथिव्या-
मुत्थाय दीना पुनरेव चैषा ।
कर्णस्य वक्त्रं परिजिघ्रमाणा
रोरूयते पुत्रवधाभितप्ता ॥ १४ ॥

वह बेचारी कर्णकी पत्नी पृथ्वीपर गिरकर उठी और उठकर पुनः गिर पड़ी। कर्णका मुख सूँघती हुई यह नारी अपने पुत्रके वधसे संतप्त हो फूट-फूटकर रो रही है ॥ १४ ॥

इति श्रीमहाभारते स्त्रीपर्वणि स्त्रीविलापपर्वणि कर्णदर्शनो नामैकविंशतितमोऽध्यायः ॥ २१ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत स्त्रीपर्वके अन्तर्गत स्त्रीविलापपर्वमें कर्णका दर्शनविषयक इक्कीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २१ ॥

द्वाविंशोऽध्यायः

अपनी-अपनी स्त्रियोंसे घिरे हुए अवन्ती-नरेश और जयद्रथको देखकर तथा दुःशलापर दृष्टिपात करके गान्धारीका श्रीकृष्णके सम्मुख विलाप

गान्धार्युवाच

आवन्त्यं भीमसेनेन भक्षयन्ति निपातितम् ।
गृध्रगोमायवः शूरं बहुबन्धुमबन्धुवत् ॥ १ ॥

गान्धारी बोलीं—भीमसेनने जिसे मार गिराया था,

वह शूरवीर अवन्तीनरेश बहुतेरे बन्धु-बान्धवोंसे सम्पन्न था; परंतु आज उसे बन्धुहीनकी भाँति गीध और गीदड़ नोच-नोचकर खा रहे हैं ॥ १ ॥

तं पश्य कदनं कृत्वा शूराणां मधुसूदन ।
शयानं वीरशयने रुधिरेण समुक्षितम् ॥ २ ॥

मधुसूदन ! देखो, अनेकों शूरवीरोंका संहार करके वह खूनसे लथपथ हो वीरशय्यापर सो रहा है ॥ २ ॥

तं शृगालाश्च कङ्काश्च क्रव्यादाश्च पृथग्विधाः ।
तेन तेन विकर्षन्ति पश्य कालस्य पर्ययम् ॥ ३ ॥

उसे सियार, कङ्क और नाना प्रकारके मांसभक्षी जीवजन्तु इधर-उधर खींच रहे हैं । यह समयका उलट-फेर तो देखो ॥

शयानं वीरशयने शूरमाक्रन्दकारिणम् ।
आवन्त्यमभितो नार्यो रुदत्यः पर्युपासते ॥ ४ ॥

भयानक मार-काट मचानेवाले इस शूरवीर अवन्तीनरेशको वीरशय्यापर सोया हुआ देख उसकी स्त्रियाँ रोती हुई उसे सब ओरसे घेरकर बैठी हैं ॥ ४ ॥

प्रातिपेयं महेष्वासं हतं भल्लेन बाह्लिकम् ।
प्रसुप्तमिव शार्दूलं पश्य कृष्ण मनस्विनम् ॥ ५ ॥

श्रीकृष्ण ! देखो, महाधनुर्धर प्रतीपनन्दन मनस्वी बाह्लिक भल्लसे मारे जाकर सोये हुए सिंहके समान पड़े हैं ॥ ५ ॥

अतीव मुखवर्णोऽस्य निहतस्यापि शोभते ।
सोमस्येवाभिपूर्णस्य पौर्णमास्यां समुद्यतः ॥ ६ ॥

रणभूमिमें मारे जानेपर भी पूर्णमासीको उगते हुए पूर्ण चन्द्रमाकी भाँति इनके मुखकी कान्ति अत्यन्त प्रकाशित हो रही है ॥

पुत्रशोकाभितप्तेन प्रतिज्ञां चाभिरक्षता ।
पाकशासनिना संख्ये वार्धक्षत्रिर्निपातितः ॥ ७ ॥
एकादश चमूर्भित्त्वा रक्ष्यमाणं महात्मना ।
सत्यं चिकीर्षता पश्य हतमेनं जयद्रथम् ॥ ८ ॥

श्रीकृष्ण ! पुत्रशोकसे संतप्त हो अपनी की हुई प्रतिज्ञाका पालन करते हुए इन्द्रकुमार अर्जुनने युद्धस्थलमें वृद्धक्षत्रके पुत्र जयद्रथको मार गिराया है । यद्यपि उसकी रक्षाकी पूरी व्यवस्था की गयी थी, तब भी अपनी प्रतिज्ञाको सत्य कर दिखानेकी इच्छावाले महात्मा अर्जुनने ग्यारह अक्षौहिणी सेनाओंका भेदन करके जिसे मार डाला था, वही यह जयद्रथ यहाँ पड़ा है । इसे देखो ॥ ७-८ ॥

सिन्धुसौवीरभर्तारं दर्पपूर्णं मनस्विनम् ।
भक्षयन्ति शिवा गृध्रा जनार्दन जयद्रथम् ॥ ९ ॥

जनार्दन ! सिन्धु और सौवीर देशके स्वामी अभिमानी और मनस्वी जयद्रथको गीध और सियार नोच-नोचकर खा रहे हैं ॥९॥

संरक्ष्यमाणं भार्याभिरनुरक्ताभिरच्युत ।
भीषयन्त्यो विकर्षन्ति गहनं निम्नमन्तिकात् ॥ १० ॥

अच्युत ! इसमें अनुराग रखनेवाली इसकी पत्नियाँ यद्यपि रक्षामें लगी हुई हैं, तथापि गीदड़ियाँ उन्हें डरवाकर जयद्रथकी लाशको उनके निकटसे गहरे गड्ढेकी ओर खींचे लिये जा रही हैं ॥ १० ॥

तमेताः पर्युपासन्ते रक्ष्यमाणं महाभुजम् ।
सिन्धुसौवीरभर्तारं काम्बोजयवनस्त्रियः ॥ ११ ॥

ये काम्बोज और यवनदेशकी स्त्रियाँ सिन्धु और सौवीरदेशके स्वामी महाबाहु जयद्रथको चारों ओरसे घेरकर बैठी हैं और वह उन्हींके द्वारा सुरक्षित हो रहा है ॥ ११ ॥

यदा कृष्णामुपादाय प्राद्रवत् केकयैः सह ।
तदैव वध्यः पाण्डूनां जनार्दन जयद्रथः ॥ १२ ॥
दुःशलां मानयद्भिस्तु तदा मुक्तो जयद्रथः ।
कथमद्य न तां कृष्ण मानयन्ति स्म ते पुनः ॥ १३ ॥

जनार्दन ! जिस दिन जयद्रथ द्रौपदीको हरकर केकयोंके साथ भागा था, उसी दिन यह पाण्डवोंके द्वारा वध्य हो गया था; परंतु उस समय दुःशलाका सम्मान करते हुए उन्होंने जयद्रथको जीवित छोड़ दिया था ! श्रीकृष्ण ! उन्हीं पाण्डवोंने आज फिर क्यों नहीं उसका सम्मान किया ? ॥ १२-१३ ॥

सैषा मम सुता बाला विलपन्ती च दुःखिता ।
आत्मना हन्ति चात्मानमाक्रोशन्ती च पाण्डवान् ॥ १४ ॥

देखो, वहीं मेरी यह बेटी दुःशला जो अभी बालिका है, किस तरह दुखी हो-होकर विलाप कर रही है ? और पाण्डवोंको कोसती हुई स्वयं ही अपनी छाती पीट रही है ! ॥ १४ ॥

किं नु दुःखतरं कृष्ण परं मम भविष्यति ।
यत् सुता विधवा बाला स्नुषाश्च निहतेश्वराः ॥ १५ ॥

श्रीकृष्ण ! मेरे लिये इससे बढ़कर महान् दुःखकी बात और क्या होगी कि यह छोटी अवस्थाकी मेरी बेटी विधवा हो गयी तथा मेरी सारी पुत्रवधुएँ भी अनाथा हो गयीं ॥ १५ ॥

हा हा धिग् दुःशलां पश्य वीतशोकभयामिव ।
शिरो भर्तुरनासाद्य धावमानामितस्ततः ॥ १६ ॥

हाय ! हाय, धिक्कार है ! देखो, देखो दुःशला शोक और भयसे रहित-सी होकर अपने पतिका मस्तक न पानेके कारण इधर-उधर दौड़ रही है ॥ १६ ॥

वारयामास यः सर्वान् पाण्डवान् पुत्रगृद्धिनः ।
स हत्वा विपुलाः सेनाः स्वयं मृत्युवशं गतः ॥ १७ ॥

जिस वीरने अपने पुत्रको बचानेकी इच्छावाले समस्त पाण्डवोंको अकेले रोक दिया था, वही कितनी ही सेनाओंका संहार करके स्वयं मृत्युके अधीन हो गया ॥ १७ ॥

तं मत्तमिव मातङ्गं वीरं परमदुर्जयम् ।
परिवार्य रुदन्त्येताः स्त्रियश्चन्द्रोपमाननाः ॥ १८ ॥

मतवाले हाथीके समान उस परम दुर्जय वीरको सब ओरसे घेरकर ये चन्द्रमुखी रमणियाँ रो रही हैं ॥ १८ ॥

इति श्रीमहाभारते स्त्रीपर्वणि स्त्रीविलापपर्वणि गान्धारीवाक्ये द्वाविंशोऽध्यायः ॥ २२ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत स्त्रीपर्वके अन्तर्गत स्त्रीविलापपर्वमें गान्धारीका वाक्यविषयक बाईसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २२ ॥

त्रयोविंशोऽध्यायः

शल्य, भगदत्त, भीष्म और द्रोणको देखकर श्रीकृष्णके सम्मुख गान्धारीका विलाप

गान्धार्युवाच

एष शल्यो हतः शेते साक्षान्नकुलमातुलः।
धर्मज्ञेन हतस्तात धर्मराजेन संयुगे ॥ १ ॥

गान्धारी बोलीं—तात ! देखो, ये नकुलके सगे मामा शल्य मरे पड़े हैं। इन्हें धर्मके ज्ञाता धर्मराज युधिष्ठिरने युद्धमें मारा है ॥ १ ॥

यस्त्वया स्पर्धते नित्यं सर्वत्र पुरुषर्षभ।
स एष निहतः शेते मद्रराजो महाबलः ॥ २ ॥

पुरुषोत्तम ! जो सदा और सर्वत्र तुम्हारे साथ होड़ लगाये रहते थे, वे ही ये महाबली मद्रराज शल्य यहाँ मारे जाकर चिरनिद्रामें सो रहे हैं ॥ २ ॥

येन संगृह्णता तात रथमाधिरथेर्युधि।
जयार्थं पाण्डुपुत्राणां तथा तेजोवधः कृतः ॥ ३ ॥

तात ! ये वे ही शल्य हैं, जिन्होंने युद्धमें सूतपुत्र कर्णके रथकी बागडोर सँभालते समय पाण्डवोंकी विजयके लिये उसके तेज और उत्साहको नष्ट किया था ॥ ३ ॥

अहो धिक्पश्य शल्यस्य पूर्णचन्द्रसुदर्शनम्।
मुखं पद्मपलाशाक्षं काकैरादष्टमव्रणम् ॥ ४ ॥

अहो ! धिक्कार है। देखो न, शल्यके पूर्ण चन्द्रमाकी भाँति दर्शनीय तथा कमलदलके सदृश नेत्रोंवाले व्रणरहित मुखको कौओंने कुछ-कुछ काट दिया है ॥ ४ ॥

अस्य चामीकराभस्य तप्तकाञ्चनसप्रभा।
आस्याद् विनिःसृता जिह्वा भक्ष्यते कृष्ण पक्षिभिः ॥ ५ ॥

श्रीकृष्ण ! सुवर्णके समान कान्तिमान् शल्यके मुखसे तपाये हुए सोनेके समान कान्तिवाली जीभ बाहर निकल आयी है और पक्षी उसे नोच-नोचकर खा रहे हैं ॥ ५ ॥

युधिष्ठिरेण निहतं शल्यं समितिशोभनम्।
रुदन्त्यः पर्युपासन्ते मद्रराजं कुलाङ्गनाः ॥ ६ ॥

युधिष्ठिरके द्वारा मारे गये तथा युद्धमें शोभा पानेवाले मद्रराज शल्यको ये कुलाङ्गनाएँ चारों ओरसे घेरकर बैठी हैं और रो रही हैं ॥ ६ ॥

एताः सुसूक्ष्मवसना मद्रराजं नरर्षभम्।
क्रोशन्त्योऽथ समासाद्य क्षत्रियाः क्षत्रियर्षभम् ॥ ७ ॥

अत्यन्त महीन वस्त्र पहने हुए ये क्षत्राणियाँ क्षत्रिय-शिरोमणि नरश्रेष्ठ मद्रराजके पास आकर कैसा करुण क्रन्दन कर रही हैं ॥ ७ ॥

शल्यं निपतितं नार्यः परिवार्याभितः स्थिताः।
वाशिता गृष्टयः पङ्के परिमग्नमिव द्विपम् ॥ ८ ॥

रणभूमिमें गिरे हुए राजा शल्यको उनकी स्त्रियाँ उसी तरह सब ओरसे घेरे हुए हैं, जैसे एक बारकी व्यायी हुई हथिनियाँ कीचड़में फँसे हुए गजराजको घेरकर खड़ी हों ॥ ८ ॥

शल्यं शरणदं शूरं पश्येमं वृष्णिनन्दन।
शयानं वीरशयने शरैर्विशकलीकृतम् ॥ ९ ॥

वृष्णिनन्दन ! देखो, ये दूसरोंको शरण देनेवाले शूरवीर शल्य बाणोंसे छिन्न-भिन्न होकर वीरशय्यापर सो रहे हैं ॥ ९ ॥

एष शैलालयो राजा भगदत्तः प्रतापवान्।
गजाङ्कुशधरः श्रीमाञ्छेते भुवि निपातितः ॥ १० ॥

ये पर्वतीय, तेजस्वी एवं प्रतापी राजा भगदत्त हाथमें हाथीका अङ्कुश लिये पृथ्वीपर सो रहे हैं। इन्हें अर्जुनने मार गिराया था ॥

यस्य रुक्ममयी माला शिरस्येषा विराजते।
श्वापदैर्भक्ष्यमाणस्य शोभयन्तीव मूर्धजान् ॥ ११ ॥

इन्हें हिंसक जीव-जन्तु खा रहे हैं। इनके सिरपर यह सोनेकी माला विराज रही है, जो केशोंकी शोभा बढ़ाती-सी जान पड़ती है ॥ ११ ॥

एतेन किल पार्थस्य युद्धमासीत् सुदारुणम्।
रोमहर्षणमत्युग्रं शक्रस्य त्वहिना यथा ॥ १२ ॥

जैसे वृत्रासुरके साथ इन्द्रका अत्यन्त भयङ्कर संग्राम हुआ था, उसी प्रकार इन भगदत्तके साथ कुन्तीकुमार अर्जुनका अत्यन्त दारुण एवं रोमाञ्चकारी युद्ध हुआ था ॥ १२ ॥

योधयित्वा महाबाहुरेष पार्थं धनंजयम्।
संशयं गमयित्वा च कुन्तीपुत्रेण पातितः ॥ १३ ॥

उन महाबाहुने कुन्तीकुमार धनंजयके साथ युद्ध करके उन्हें संशयमें डाल दिया था; परंतु अन्तमें ये उन कुन्तीकुमार-के ही हाथसे मारे गये ॥ १३ ॥

यस्य नास्ति समो लोके शौर्ये वीर्ये च कश्चन।
स एष निहतः शेते भीष्मो भीष्मकृताहवे ॥ १४ ॥

संसारमें शौर्य और बलमें जिनकी समानता करनेवाला दूसरा कोई नहीं है, वे ही ये युद्धमें भयङ्कर कर्म करनेवाले भीष्मजी घायल हो बाणशय्यापर सो रहे हैं ॥ १४ ॥

पश्य शान्तनवं कृष्ण शयानं सूर्यवर्चसम्।
युगान्त इव कालेन पतितं सूर्यमम्बरात् ॥ १५ ॥

श्रीकृष्ण ! देखो, ये सूर्यके समान तेजस्वी शान्तनुनन्दन भीष्म कैसे सो रहे हैं, ऐसा जान पड़ता है, मानो प्रलयकालमें कालसे प्रेरित हो सूर्यदेव आकाशसे भूमिपर गिर पड़े हैं ॥ १५ ॥

एष तप्त्वा रणे शत्रूञ्शस्त्रतापेन वीर्यवान्।
नरसूर्योऽस्तमभ्येति सूर्योऽस्तमिव केशव ॥ १६ ॥

केशव ! जैसे सूर्य सारे जगत्को ताप देकर अस्ताचलको चले जाते हैं, उसी तरह ये पराक्रमी मानवसूर्य रणभूमिमें अपने शस्त्रोंके प्रतापसे शत्रुओंको संतप्त करके अस्त हो रहे हैं ॥ १६ ॥

शरतल्पगतं भीष्ममूर्ध्वरेतसमच्युतम्।
शयानं वीरशयने पश्य शूरनिषेविते ॥ १७ ॥

जो ऊर्ध्वरेता ब्रह्मचारी रहकर कभी मर्यादासे च्युत नहीं हुए हैं, उन भीष्मको शूरसेवित वीरोचित शयन बाणशय्या-पर सोते हुए देख लो ॥ १७ ॥

कर्णिनालीकनाराचैरास्तीर्य शयनोत्तमम् ।
आविश्य शेते भगवान् स्कन्दः शरवणं यथा ॥ १८ ॥

जैसे भगवान् स्कन्द सरकण्डोंके समूहपर सोये थे, उसी प्रकार ये भीष्मजी कर्णी, नालीक और नाराच आदि बाणोंकी उत्तम शय्या बिछाकर उसीका आश्रय ले सो रहे हैं ॥ १८ ॥

अतूलपूर्णं गाङ्गेयस्त्रिभिर्बाणैः समन्वितम् ।
उपधायोपधानाग्र्यं दत्तं गाण्डीवधन्वना ॥ १९ ॥

इन गङ्गानन्दन भीष्मने रुई भरा हुआ तकिया नहीं लिया है। इन्होंने तो गाण्डीवधारी अर्जुनके दिये हुए तीन बाणोंद्वारा निर्मित श्रेष्ठ उपधान (तकिये) को ही स्वीकार किया है ॥ १९ ॥

पालयानः पितुः शास्त्रमूर्ध्वरेता महायशाः ।
एष शान्तनवः शेते माधवाप्रतिमो युधि ॥ २० ॥

माधव ! पिताकी आज्ञाका पालन करते हुए महायशस्वी नैष्ठिक ब्रह्मचारी ये शान्तनुनन्दन भीष्म जिनकी युद्धमें कहीं तुलना नहीं है, यहाँ सो रहे हैं ॥ २० ॥

धर्मात्मा तात सर्वज्ञः पारावर्येण निर्णये ।
अमर्त्य इव मर्त्यः सन्नेष प्राणानधारयत् ॥ २१ ॥

तात ! ये धर्मात्मा और सर्वज्ञ हैं। परलोक और इह-लोकसम्बन्धी ज्ञानद्वारा सभी आध्यात्मिक प्रश्नोंका निर्णय करनेमें समर्थ हैं तथा मनुष्य होनेपर भी देवताके तुल्य हैं; इन्होंने अभीतक अपने प्राण धारण कर रक्खे हैं ॥ २१ ॥

नास्ति युद्धे कृती कश्चिन्न विद्वान् न पराक्रमी।
यत्र शान्तनवो भीष्मः शेतेऽद्य निहतः शरैः ॥ २२ ॥

जब ये शान्तनुनन्दन भीष्म भी आज शत्रुओंके बाणोंसे मारे जाकर सो रहे हैं तो यही कहना पड़ता है कि 'युद्धमें न कोई कुशल है, न विद्वान् है और न पराक्रमी ही है'॥ २२॥

स्वयमेतेन शूरेण पृच्छ्यमानेन पाण्डवैः ।
धर्मज्ञेनाहवे मृत्युरादिष्टः सत्यवादिना ॥ २३ ॥

पाण्डवोंके पूछनेपर इन धर्मज्ञ एवं सत्यवादी शूरवीरने स्वयं ही अपनी मृत्युका उपाय बता दिया था॥ २३ ॥

प्रणष्टः कुरुवंशश्च पुनर्येन समुद्धृतः ।
स गतः कुरुभिः सार्धं महाबुद्धिः पराभवम् ॥ २४ ॥

जिन्होंने नष्ट हुए कुरुवंशका पुनः उद्धार किया था, वे ही परम बुद्धिमान् भीष्म इन कौरवोंके साथ परास्त हो गये॥

धर्मेषु कुरवः कं नु परिप्रक्ष्यन्ति माधव ।
गते देवव्रते स्वर्गं देवकल्पे नरर्षभे ॥ २५ ॥

माधव ! इन देवतुल्य नरश्रेष्ठ देवव्रतके स्वर्गलोकमें चले जानेपर अब कौरव किसके पास जाकर ध प्रश्न करेंगे ॥ २५ ॥

अर्जुनस्य विनेतारमाचार्यं सात्यकेस्तथा
तं पश्य पतितं द्रोणं कुरूणां गुरुमुत्तमम्

जो अर्जुनके शिक्षक, सात्यकिके आचार्य तथा श्रेष्ठ गुरु थे, वे द्रोणाचार्य रणभूमिमें गिरे हुए हैं, देख लो ॥ २६ ॥

अस्त्रं चतुर्विधं वेद यथैव त्रिदशेश्वरः
भार्गवो वा महावीर्यस्तथा द्रोणोऽपि माधव

माधव ! जैसे देवराज इन्द्र अथवा महापराक्र रामजी चार प्रकारकी अस्त्रविद्याको जानते हैं, उ द्रोणाचार्य भी जानते थे ॥ २७ ॥

यस्य प्रसादाद् बीभत्सुः पाण्डवः कर्म दुष्करम
चकार स हतः शेते नैनमस्त्राण्यपालयन्

जिनके प्रसादसे पाण्डुनन्दन अर्जुनने दुष्कर है, वे ही आचार्य यहाँ मरे पड़े हैं । उन अस्त्रों रक्षा नहीं की ॥ २८ ॥

यं पुरोधाय कुरव आह्वयन्ति स्म पाण्डवान्
सोऽयं शस्त्रभृतां श्रेष्ठो द्रोणः शस्त्रैः परिक्षतः

जिनको आगे रखकर कौरव पाण्डवोंको ललक थे, वे ही शस्त्रधारियोंमें श्रेष्ठ द्रोणाचार्य शस्त्रोंसे हो गये हैं ॥ २९ ॥

यस्य निर्दहतः सेनां गतिरग्नेरिवाभवत्
स भूमौ निहतः शेते शान्तार्चिरिव पावकः

शत्रुओंकी सेनाको दग्ध करते समय जिनकी के समान होती थी, वे ही बुझी हुई लपटोंवाली अ मरकर पृथ्वीपर पड़े हैं ॥ ३० ॥

धनुर्मुष्टिरशीर्णश्च हस्तावापश्च माधव
द्रोणस्य निहतस्याजौ दृश्यते जीवतो यथा

माधव ! युद्धमें मारे जानेपर भी द्रोणाचार्य साथ जुड़ी हुई मुट्ठी ढीली नहीं हुई है। दस्ताना त्यों दिखायी देता है, मानो वह जीवित पुरुषके ह

वेदा यस्माच्च चत्वारः सर्वाण्यस्त्राणि केशव
अनपेतानि वै शूराद् यथैवादौ प्रजापतेः
वन्दनार्हाविमौ तस्य बन्दिभिर्वन्दितौ शुभौ
गोमायवो विकर्षन्ति पादौ शिष्यशतार्चितौ

केशव ! जैसे पूर्वकालसे ही प्रजापति ब्रह्मासे अलग नहीं हुए, उसी प्रकार जिन शूरवीर द्रोणा और सम्पूर्ण अस्त्र-शस्त्र कभी दूर नहीं हुए, उन्हींके द्वारा वन्दित इन दोनों सुन्दर एवं वन्दनीय च को जिनकी सैकड़ों शिष्य पूजा कर चुके हैं, गी रहे हैं ॥ ३२-३३ ॥

द्रोणं द्रुपदपुत्रेण निहतं मधुसूदन।
कृपी कृपणमन्वास्ते दुःखोपहतचेतना ॥ ३४ ॥

मधुसूदन! द्रुपदपुत्रके द्वारा मारे गये द्रोणाचार्यके पास दुःखी पत्नी कृपी बड़े दीनभावसे बैठी है। दुःखसे उसकी चेतना लुप्त-सी हो गयी है ॥ ३४ ॥

तां पश्य रुदतीमार्तां मुक्तकेशीमधोमुखीम्।
हतं पतिमुपासन्तीं द्रोणं शस्त्रभृतां वरम् ॥ ३५ ॥

देखो, कृपी केश खोले नीचे मुँह किये रोती हुई अपने मारे गये पति शस्त्रधारियोंमें श्रेष्ठ द्रोणाचार्यकी उपासना कर रही है ॥ ३५ ॥

बाणैर्भिन्नतनुत्राणं धृष्टद्युम्नेन केशव।
उपास्ते वै मृधे द्रोणं जटिला ब्रह्मचारिणी ॥ ३६ ॥

केशव! धृष्टद्युम्नने अपने बाणोंसे जिन आचार्य द्रोणका कवच छिन्न भिन्न कर दिया है, उन्हींके पास युद्धस्थलमें वह जटाधारिणी ब्रह्मचारिणी कृपी बैठी हुई है ॥ ३६ ॥

प्रेतकृत्ये च यतते कृपी कृपणमातुरा।
हतस्य समरे भर्तुः सुकुमारी यशस्विनी ॥ ३७ ॥

शोकसे दीन और आतुर हुई यशस्विनी सुकुमारी कृपी समरमें मारे गये पतिदेवका प्रेतकर्म करनेकी चेष्टा कर रही है ॥

अग्नीनाधाय विधिवच्चितां प्रज्वाल्य सर्वतः।
द्रोणमाधाय गायन्ति त्रीणि सामानि सामगाः ॥ ३८ ॥

ये विधिपूर्वक अग्निकी स्थापना करके चिताको सब ओरसे प्रज्वलित कर दिया गया है और उसपर द्रोणाचार्यके शरीरको रखकर सामगान करनेवाले ब्राह्मण त्रिविध सामका गान करते हैं ॥ ३८ ॥

कुर्वन्ति च चितामेते जटिला ब्रह्मचारिणः।
धनुर्भिः शक्तिभिश्चैव रथनीडैश्च माधव ॥ ३९ ॥
शरैश्च विविधैरन्यैर्धक्ष्यते भूरितेजसम्।
इति द्रोणं समाधाय शंसन्ति च रुदन्ति च ॥ ४० ॥
सामभिस्त्रिभिरन्तस्थैरनुशंसन्ति चापरे।

माधव! इन जटाधारी ब्रह्मचारियोंने धनुष, शक्ति, रथकी बैठक और नाना प्रकारके बाण तथा अन्य आवश्यक वस्तुओंसे उस चिताका निर्माण किया है। वे उसीपर महातेजस्वी द्रोणको जलाना चाहते थे; इसलिये द्रोणको चितापर रखकर वे वेदमन्त्र पढ़ते और रोते हैं, कुछ लोग अन्त समयमें उपयोगी त्रिविध सामोंका गान करते हैं ॥ ३९-४०½ ॥

अग्नावग्निं समाधाय द्रोणं हुत्वा हुताशने ॥ ४१ ॥
गच्छन्त्यभिमुखा गङ्गां द्रोणशिष्या द्विजातयः।
अपसव्यां चितिं कृत्वा पुरस्कृत्य कृपीं च ते ॥ ४२ ॥

चिताकी अग्निमें अग्निहोत्रसहित द्रोणाचार्यको रखकर उनकी आहुति दे उन्हींके शिष्य द्विजातिगण कृपीको आगे और चिताको दायें करके गङ्गाजीके तटकी ओर जा रहे हैं ॥ ४१-४२ ॥

इति श्रीमहाभारते स्त्रीपर्वणि स्त्रीविलापपर्वणि गान्धारीवचने त्रयोविंशोऽध्यायः ॥ २३ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत स्त्रीपर्वके अन्तर्गत स्त्रीविलापपर्वमें गान्धारीवचनविषयक तेईसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २३ ॥

चतुर्विंशोऽध्यायः

भूरिश्रवाके पास उसकी पत्नियोंका विलाप, उन सबको तथा शकुनिको देखकर गान्धारीका श्रीकृष्णके सम्मुख शोकोद्गार

गान्धार्युवाच

सोमदत्तसुतं पश्य युयुधानेन पातितम्।
वितुद्यमानं विहगैर्बहुभिर्माधवान्तिके ॥ १ ॥

गान्धारी बोलीं—माधव! देखो, सात्यकिने जिन्हें मार गिराया था, वे ही ये सोमदत्तके पुत्र भूरिश्रवा पास ही दिखायी दे रहे हैं। इन्हें बहुत-से पक्षी चोंच मार-मारकर नोच रहे हैं ॥ १ ॥

पुत्रशोकाभिसंतप्तः सोमदत्तो जनार्दन।
युयुधानं महेष्वासं गर्हयन्निव दृश्यते ॥ २ ॥

जनार्दन! उधर पुत्रशोकसे संतप्त होकर मरे हुए सोमदत्त महाधनुर्धर सात्यकिकी निन्दा करते हुए-से दिखायी दे रहे हैं ॥ २ ॥

असौ हि भूरिश्रवसो माता शोकपरिप्लुता।
आश्वासयति भर्तारं सोमदत्तमनिन्दिता ॥ ३ ॥

उधर वे शोकमें डूबी हुई भूरिश्रवाकी सती साध्वी माता अपने पतिको मानो आश्वासन देती हुई कहती हैं—॥ ३ ॥

दिष्ट्या नैनं महाराज दारुणं भरतक्षयम्।
कुरुसंक्रन्दनं घोरं युगान्तमनुपश्यसि ॥ ४ ॥

'महाराज! सौभाग्यसे आपको यह भरतवंशियोंका दारुण विनाश, घोर प्रलयके समान कुरुकुलका महासंहार देखनेका अवसर नहीं मिला है ॥ ४ ॥

दिष्ट्या यूपध्वजं पुत्रं वीरं भूरिसहस्रदम्।
अनेकक्रतुयज्वानं निहतं नानुपश्यसि ॥ ५ ॥

'जिसकी ध्वजामें यूपका चिह्न था, जो सहस्रों स्वर्णमुद्राओंकी भूरि-भूरि दक्षिणा दिया करता था और जिसने अनेक यज्ञोंका अनुष्ठान पूरा कर लिया था, उस वीर पुत्र भूरिश्रवाकी मृत्युका कष्ट सौभाग्यसे आप नहीं देख रहे हैं ॥

दिष्ट्या स्नुषाणामाक्रन्दे घोरं विलपितं बहु।

न शृणोषि महाराज सारसीनामिवार्णवे ॥ ६ ॥

'महाराज ! समुद्रतटपर चीत्कार करनेवाली सारसियोंके समान इस युद्धस्थलमें आप अपने इन पुत्रवधुओंका अत्यन्त भयानक विलाप नहीं सुन रहे हैं, यह भाग्यकी ही बात है ॥

एकवस्त्रार्धसंवीताः प्रकीर्णासितमूर्धजाः ।
स्नुषास्ते परिधावन्ति हतापत्या हतेश्वराः ॥ ७ ॥

'आपकी पुत्रवधुएँ एक वस्त्र अथवा आधे वस्त्रसे ही शरीरको ढँककर अपनी काली-काली लटें छिटकाये इस युद्ध-भूमिमें चारों ओर दौड़ रही हैं। इन सबके पुत्र और पति भी मारे जा चुके हैं ॥ ७ ॥

श्वापदैर्भक्ष्यमाणं त्वमहो दिष्ट्या न पश्यसि ।
छिन्नबाहुं नरव्याघ्रमर्जुनेन निपातितम् ॥ ८ ॥
शलं विनिहतं संख्ये भूरिश्रवसमेव च ।
स्नुषाश्च विविधाः सर्वा दिष्ट्या नाद्येह पश्यसि॥ ९ ॥

'अहो ! आपका बड़ा भाग्य है कि अर्जुनने जिसकी एक बाँह काट ली थी और सात्यकिने जिसे मार गिराया था, युद्धमें मारे गये उस भूरिश्रवा और शलको आप हिंसक-जन्तुओंका आहार बनते नहीं देखते हैं तथा इन सब अनेक प्रकारके रूप रंगवाली पुत्रवधुओंको भी आज यहाँ रणभूमिमें भटकती हुई नहीं देख रहे हैं ॥ ८-९ ॥

दिष्ट्या तत् काञ्चनं छत्रं यूपकेतोर्महात्मनः ।
विनिकीर्णं रथोपस्थे सौमदत्तेर्न पश्यसि ॥ १० ॥

'सौभाग्यसे अपने महामनस्वी पुत्र यूपध्वज भूरिश्रवाके रथ-पर खण्डित होकर गिरे हुए उसके सुवर्णमय छत्रको आप नहीं देख पा रहे हैं' ॥ १० ॥

अमूस्तु भूरिश्रवसो भार्याः सात्यकिना हतम् ।
परिवार्यानुशोचन्ति भर्तारमसितेक्षणाः ॥ ११ ॥

श्रीकृष्ण ! भूरिश्रवाकी कजरारे नेत्रोंवाली वे पत्नियाँ सात्यकिद्वारा मारे गये अपने पतिको सब ओरसे घेरकर बार-बार शोकसे पीड़ित हो रही हैं ॥ ११ ॥

एता विलप्य करुणं भर्तृशोकेन कर्शिताः ।
पतन्त्यभिमुखा भूमौ कृपणं बत केशव ॥ १२ ॥

केशव ! पतिशोकसे पीड़ित हुई ये अबलाएँ करुणा-जनक विलाप करके पतिके सामने अत्यन्त दुःखसे पछाड़ खा-खाकर गिर रही हैं ॥ १२ ॥

बीभत्सुरतिबीभत्सं कर्मेदमकरोत् कथम् ।
प्रमत्तस्य यदच्छैत्सीद् बाहुं शूरस्य यज्वनः ॥ १३ ॥

वे कहती हैं—'अर्जुनने यह अत्यन्त घृणित कर्म कैसे किया ? कि दूसरेके साथ युद्धमें लगे रहकर उनकी ओरसे असावधान हुए आप-जैसे यज्ञपरायण शूरवीरकी बाँह काट डाली ॥ १३ ॥

ततः पापतरं कर्म कृतवानपि सात्यकिः ।
यस्मात् प्रायोपविष्टस्य प्राहार्षीत् संशितात्मनः॥ १४ ॥

'उनसे भी बढ़कर घोर पापकर्म सात्यकिने किया है; क्योंकि उन्होंने आमरण अनशनके लिये बैठे हुए एक शुद्धात्मा साधुपुरुषके ऊपर खड्गका प्रहार किया है ॥ १४ ॥

एको द्वाभ्यां हतः शेषे त्वमधर्मेण धार्मिक।
किं नु वक्ष्यति वै सत्सु गोष्ठीषु च सभासु च ॥ १५ ॥
अपुण्यमयशस्यं च कर्मेदं सात्यकिः स्वयम् ।
इति यूपध्वजस्यैताः स्त्रियः क्रोशन्ति माधव ॥ १६ ॥

'धर्मात्मा महापुरुष ! तुम अकेले दो महारथियोंद्वारा अधर्मपूर्वक मारे जाकर रणभूमिमें सो रहे हो। भला, सात्यकि साधु पुरुषोंकी सभाओं और बैठकोंमें अपने लिये कलङ्कका टीका लगानेवाले इस पापकर्मका वर्णन स्वयं अपने ही मुखसे किस प्रकार करेंगे ?' माधव ! इस प्रकार यूपध्वज-की ये स्त्रियाँ सात्यकिको कोस रही हैं ॥ १५-१६ ॥

भार्या यूपध्वजस्यैषा करसम्मितमध्यमा ।
कृत्वोत्सङ्गे भुजं भर्तुः कृपणं परिदेवति ॥ १७ ॥

श्रीकृष्ण ! देखो, यूपध्वजकी यह पतली कमरवाली भार्या पतिकी कटी हुई बाँहको गोदमें लेकर बड़े दीनभावसे विलाप कर रही है ॥ १७ ॥

अयं स हन्ता शूराणां मित्राणामभयप्रदः ।
प्रदाता गोसहस्राणां क्षत्रियान्तकरः करः ॥ १८ ॥

वह कहती है—'हाय ! यह वही हाथ है, जिसने युद्धमें अनेक शूरवीरोंका वध, मित्रोंको अभयदान, सहस्रों गोदान तथा क्षत्रियोंका संहार किया है ॥ १८ ॥

अयं स रसनोत्कर्षी पीनस्तनविमर्दनः ।
नाभ्यूरुजघनस्पर्शी नीवीविस्रंसनः करः ॥ १९ ॥

'यह वही हाथ है, जो हमारी करधनीको खींच लेता, उभरे हुए स्तनोंका मर्दन करता, नाभि, ऊरु और जघन प्रदेशको छूता और नीवीका बन्धन सरका दिया करता था ॥

वासुदेवस्य सांनिध्ये पार्थेनाक्लिष्टकर्मणा ।
युध्यतः समरेऽन्येन प्रमत्तस्य निपातितः ॥ २० ॥

'जब मेरे पति समराङ्गणमें दूसरेके साथ युद्धमें संलग्न हो अर्जुनकी ओरसे असावधान थे, उस समय भगवान् श्री-कृष्णके निकट अनायास ही महान् कर्म करनेवाले अर्जुनने इस हाथको काट गिराया था ॥ २० ॥

किं नु वक्ष्यसि संसत्सु कथासु च जनार्दन ।
अर्जुनस्य महत् कर्म स्वयं वा स किरीटभृत् ॥ २१ ॥

'जनार्दन ! तुम सत्पुरुषोंकी सभाओंमें, बातचीतके प्रसङ्गमें अर्जुनके महान् कर्मका किस तरह वर्णन करोगे ?

आपके नाते किरीटधारी अर्जुन ही कैसे इस जघन्य कार्यकी चर्चा करेंगे ?' ॥ २१ ॥

इत्येवं गर्हयित्वैषा तूष्णीमास्ते वराङ्गना ।
तामेतामनुशोचन्ति सपत्न्यः स्वामिव स्नुषाम् ॥ २२ ॥

इस तरह अर्जुनकी निन्दा करके यह सुन्दरी चुप हो गयी है । इसकी वही सौतें इसके लिये उसी प्रकार शोक प्रकट कर रही हैं, जैसे सास अपनी बहूके लिये किया करती है २२

गान्धारराजः शकुनिर्बलवान् सत्यविक्रमः ।
निहतः सहदेवेन भागिनेयेन मातुलः ॥ २३ ॥

यह गान्धारदेशका राजा महाबली सत्यपराक्रमी शकुनि पड़ा हुआ है । इसे सहदेवने मारा है । भानजेने मामाके प्राण लिये हैं ॥ २३ ॥

यः पुरा हेमदण्डाभ्यां व्यजनाभ्यां स्म वीज्यते।
स एष पक्षिभिः पक्षैः शयान उपवीज्यते ॥ २४ ॥

पहले सोनेके डंडोंसे विभूषित दो-दो व्यजनोंद्वारा जिसको हवा की जाती थी, वही शकुनि आज धरतीपर सो रहा है और पक्षी अपनी पाँखोंसे इसको हवा करते हैं ॥ २४ ॥

यः स्वरूपाणि कुरुते शतशोऽथ सहस्रशः ।
तस्य मायाविनो माया दग्धाः पाण्डवतेजसा ॥ २५ ॥

जो अपने सैकड़ों और हजारों रूप बना लिया करता था, उस मायावीकी सारी मायाएँ पाण्डुपुत्र सहदेवके तेजसे दग्ध हो गयीं ॥ २५ ॥

मायया निकृतिप्रज्ञो जितवान् यो युधिष्ठिरम् ।
सभायां विपुलं राज्यं स पुनर्जीवितं जितः ॥ २६ ॥

जो छलविद्याका पण्डित था, जिसने द्यूतसभामें मायाद्वारा युधिष्ठिर तथा उनके विशाल राज्यको जीत लिया था, वही फिर अपना जीवन भी हार गया ॥ २६ ॥

शकुन्ताः शकुनिं कृष्ण समन्तात् पर्युपासते ।
कैतवं मम पुत्राणां विनाशायोपशिक्षितम् ॥ २७ ॥

श्रीकृष्ण ! आज शकुनि (पक्षी) ही इस शकुनिकी चारों ओरसे उपासना करते हैं । इसने मेरे पुत्रोंके विनाशके लिये ही द्यूतविद्या अथवा धूर्तविद्या सीखी थी ॥ २७ ॥

एतेनैतन्महद् वैरं प्रसक्तं पाण्डवैः सह ।
वधाय मम पुत्राणामात्मनः सगणस्य च ॥ २८ ॥

इसीने सगे-सम्बन्धियोंसहित अपने और मेरे पुत्रोंके वधके लिये पाण्डवोंके साथ महान् वैरकी नींव डाली थी ॥२८॥

यथैव मम पुत्राणां लोकाः शस्त्रजिताः प्रभो ।
एवमस्यापि दुर्बुद्धेर्लोकाः शस्त्रेण वै जिताः ॥ २९ ॥

प्रभो ! जैसे मेरे पुत्रोंको शस्त्रोंद्वारा जीते हुए पुण्यलोक प्राप्त हुए हैं, उसी प्रकार इस दुर्बुद्धि शकुनिको भी शस्त्रद्वारा जीते हुए उत्तम लोक प्राप्त होंगे ॥ २९ ॥

कथं च नायं तत्रापि पुत्रान्मे भ्रातृभिः सह ।
विरोधयेदृजुप्रज्ञानृजुर्मधुसूदन ॥ ३० ॥

मधुसूदन ! मेरे पुत्र सरल बुद्धिके हैं । मुझे भय है कि उन पुण्यलोकोंमें पहुँचकर यह शकुनि फिर किसी प्रकार उन सब भाइयोंमें परस्पर विरोध न उत्पन्न कर दे ॥ ३० ॥

इति श्रीमहाभारते स्त्रीपर्वणि स्त्रीविलापपर्वणि गान्धारीवाक्ये चतुर्विंशोऽध्यायः ॥ २४ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत स्त्रीपर्वके अन्तर्गत स्त्रीविलापपर्वमें गान्धारीवाक्यविषयक चौबीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २४ ॥

पञ्चविंशोऽध्यायः

अन्यान्य वीरोंको मरा हुआ देखकर गान्धारीका शोकातुर होकर विलाप करना और क्रोधपूर्वक श्रीकृष्णको यदुवंशविनाशविषयक शाप देना

गान्धार्युवाच

काम्बोजं पश्य दुर्धर्षं काम्बोजास्तरणोचितम् ।
शयानमृषभस्कन्धं हतं पांसुषु माधव ॥ १ ॥

गान्धारी बोलीं—माधव ! जो काबुलके बने हुए मुलायम बिछौनोंपर सोनेके योग्य है, वह बैलके समान हृष्ट-पुष्ट कंधोंवाला दुर्जय वीर काम्बोजराज सुदक्षिण मरकर धूलमें पड़ा हुआ है ॥ १ ॥

यस्य क्षतजसंदिग्धौ बाहू चन्दनभूषितौ ।
अवेक्ष्य करुणं भार्या विलपत्यतिदुःखिता ॥ २ ॥

उसकी चन्दनचर्चित भुजाओंको रक्तमें सनी हुई देख उसकी पत्नी अत्यन्त दुखी हो करुणाजनक विलाप कर रही है ॥ २ ॥

इमौ तौ परिघप्रख्यौ बाहू शुभतलाङ्गुली ।
ययोर्विवरमापन्नां न रतिर्मां पुराजहात् ॥ ३ ॥
कां गतिं तु गमिष्यामि त्वया हीना जनेश्वर ।

वह कहती है—'प्राणनाथ ! सुन्दर हथेली और अङ्गुलियोंसे युक्त तथा परिघके समान मोटी ये वे ही दोनों भुजाएँ हैं, जिनके भीतर आप मुझे अङ्कमें भर लेते थे और उस अवस्थामें मुझे जो प्रसन्नता प्राप्त होती थी, उसने पहले कभी मेरा साथ नहीं छोड़ा था । जनेश्वर ! अब आपके बिना मेरी क्या गति होगी ?' ॥ ३½ ॥

हतबन्धुरनाथा च वेपन्ती मधुरस्वरा ॥ ४ ॥
आतपे क्लाम्यमानानां विविधानामिव स्रजाम् ।
क्लान्तानामपि नारीणां श्रीर्जहाति न वै तनूः ॥ ५ ॥

श्रीकृष्ण ! अपने जीवनबन्धुके मारे जानेसे अनाथ हुई यह रानी काँपती हुई मधुरस्वरसे विलाप कर रही है। घामसे मुरझाती हुई नाना प्रकारकी पुष्पमालाओंके समान ये राजरानियाँ धूपसे तप गयी हैं, तो भी इनके शरीरोंको सौन्दर्य-श्री छोड़ नहीं रही है ॥ ४-५ ॥

शयानमभितः शूरं कालिङ्गं मधुसूदन ।
पश्य दीप्ताङ्गदयुगप्रतिनद्धमहाभुजम् ॥ ६ ॥

मधुसूदन ! देखो, पास ही वह शूरवीर कलिङ्गराज सो रहा है, जिसकी दोनों विशाल भुजाओंमें चमकीले अङ्गद (बाजूबन्द) बँधे हुए हैं ॥ ६ ॥

मागधानामधिपतिं जयत्सेनं जनार्दन ।
आवार्य सर्वतः पत्न्यः प्ररुदत्यः सुविह्वलाः ॥ ७ ॥

जनार्दन ! उधर मगधराज जयत्सेन पड़ा है, जिसे चारों ओरसे घेरकर उसकी पत्नियाँ अत्यन्त व्याकुल हो फूट-फूटकर रो रही हैं ॥ ७ ॥

आसामायतनेत्राणां सुस्वराणां जनार्दन ।
मनःश्रुतिहरो नादो मनो मोहयतीव मे ॥ ८ ॥

श्रीकृष्ण ! मधुर स्वरवाली इन विशाललोचना रानियोंका मन और कानोंको मोह लेनेवाला आर्तनाद मेरे मनको मूर्छित-सा किये देता है ॥ ८ ॥

प्रकीर्णवस्त्राभरणा रुदत्यः शोककर्शिताः ।
स्वास्तीर्णशयनोपेता मागध्यः शेरते भुवि ॥ ९ ॥

इनके वस्त्र और आभूषण अस्त-व्यस्त हो रहे हैं। सुन्दर बिछौनोंसे युक्त शय्याओंपर शयन करनेके योग्य ये मगधदेशकी रानियाँ शोकसे व्याकुल हो रोती हुई भूमिपर लोट रही हैं॥

कोसलानामधिपतिं राजपुत्रं बृहद्बलम् ।
भर्तारं परिवार्यैताः पृथक् प्ररुदिताः स्त्रियः ॥ १० ॥

अपने पति कोसलनरेश राजकुमार बृहद्बलको भी चारों ओरसे घेरकर उनकी रानियाँ अलग-अलग रो रही हैं ॥१०॥

अस्य गात्रगतान् बाणान् कार्ष्णिबाहुबलार्पितान् ।
उद्धरन्त्यसुखाविष्टा मूर्छमानाः पुनः पुनः ॥ ११ ॥

अभिमन्युके बाहुबलसे प्रेरित होकर कोसलनरेशके अङ्गोंमें धँसे हुए बाणोंको ये रानियाँ अत्यन्त दुखी होकर निकालती हैं और बारंबार मूर्छित हो जाती हैं ॥ ११ ॥

आसां सर्वानवद्यानामातपेन परिश्रमात् ।
प्रम्लाननलिनाभानि भान्ति वक्त्राणि माधव ॥ १२ ॥

माधव ! इन सर्वाङ्गसुन्दरी राजमहिलाओंके सुन्दर मुख धूप और परिश्रमके कारण मुरझाये हुए कमलोंके समान प्रतीत होते हैं ॥ १२ ॥

द्रोणेन निहताः शूराः शेरते रुचिराङ्गदाः ।
धृष्टद्युम्नसुताः सर्वे शिशवो हेममालिनः ॥ १३ ॥

ये द्रोणाचार्यके मारे हुए धृष्टद्युम्नके सभी छोटे-छोटे शूरवीर बालक सो रहे हैं। इनकी भुजाओंमें सुन्दर अङ्गद और गलेमें सोनेके हार शोभा पाते हैं ॥ १३ ॥

रथाग्न्यगारं चापार्चिःशरशक्तिगदेन्धनम् ।
द्रोणमासाद्य निर्दग्धाः शलभा इव पावकम् ॥ १४ ॥

द्रोणाचार्य प्रज्वलित अग्निके समान थे, उनका रथ ही अग्निशाला था, धनुष ही उस अग्निकी लपट था, बाण, शक्ति और गदाएँ समिधाका काम दे रही थीं, धृष्टद्युम्नके पुत्र पतङ्गोंके समान उस द्रोणरूपी अग्निमें जलकर भस्म हो गये ॥ १४ ॥

तथैव निहताः शूराः शेरते रुचिराङ्गदाः ।
द्रोणेनाभिमुखाः सर्वे भ्रातरः पञ्च केकयाः ॥ १५ ॥

इसी प्रकार सुन्दर अङ्गदोंसे विभूषित पाँचों शूरवीर भाई केकय राजकुमार समराङ्गणमें सम्मुख होकर जूझ रहे थे। वे सब-के-सब आचार्य द्रोणके हाथसे मारे जाकर सो रहे हैं ॥

तप्तकाञ्चनवर्माणस्तालध्वजरथव्रजाः ।
भासयन्ति महीं भासा ज्वलिता इव पावकाः ॥ १६ ॥

इन सबके कवच तपाये हुए सुवर्णके बने हैं और इनके रथ-समूह तालचिह्नित ध्वजाओंसे सुशोभित हैं। ये राजकुमार अपनी प्रभासे प्रज्वलित अग्निके समान भूतलको प्रकाशित कर रहे हैं ॥ १६ ॥

द्रोणेन द्रुपदं संख्ये पश्य माधव पातितम् ।
महाद्विपमिवारण्ये सिंहेन महता हतम् ॥ १७ ॥

माधव ! देखो, युद्धस्थलमें द्रोणाचार्यने जिन्हें मार गिराया था, वे राजा द्रुपद सो रहे हैं, मानो किसी वनमें विशाल सिंहके द्वारा कोई महान् गजराज मारा गया हो १७

पाञ्चालराज्ञो विमलं पुण्डरीकाक्ष पाण्डुरम् ।
आतपत्रं समाभाति शरदीव निशाकरः ॥ १८ ॥

कमलनयन ! पाञ्चालराजका वह निर्मल श्वेत छत्र शरत्कालके चन्द्रमाकी भाँति सुशोभित हो रहा है ॥ १८ ॥

एतास्तु द्रुपदं वृद्धं स्नुषा भार्याश्च दुःखिताः ।
दग्ध्वा गच्छन्ति पाञ्चाल्यं राजानमपसव्यतः ॥ १९ ॥

इन बूढ़े पाञ्चालराज द्रुपदको इनकी दुखी रानियाँ और पुत्रवधुएँ चितामें जलाकर इनकी प्रदक्षिणा करके जा रही हैं ॥ १९ ॥

धृष्टकेतुं महात्मानं चेदिपुङ्गवमङ्गनाः ।
द्रोणेन निहतं शूरं हरन्ति हतचेतसः ॥ २० ॥

[illegible] शूरवीर धृष्टकेतुको जो द्रोणाचार्यके [illegible] उसकी रानियाँ अचेत-सी होकर दाह-[illegible] ॥ २० ॥

द्रोणास्त्रमभिहत्यैव विमर्दे मधुसूदन ।
[illegible] हतः शेते नद्या हृत इव द्रुमः ॥ २१ ॥

[illegible] ! यह महाधनुर्धर वीर संग्राममें द्रोणाचार्यके [illegible] नाश करके नदीके वेगसे कटे हुए वृक्षके समान [illegible] धराशायी हो गया ॥ २१ ॥

एष चेदिपतिः शूरो धृष्टकेतुर्महारथः ।
शेते विनिहतः संख्ये हत्वा शत्रून् सहस्रशः ॥ २२ ॥

यह चेदिराज शूरवीर महारथी धृष्टकेतु सहस्रों शत्रुओं-को मारकर मारा गया और रणशय्यापर सदाके लिये सो गया ॥ २२ ॥

वितुद्यमानं विहगैस्तं भार्याः पर्युपासिताः ।
चेदिराजं हृषीकेश हतं सबलबान्धवम् ॥ २३ ॥

हृषीकेश ! सेना और बन्धुओंसहित मारे गये इस चेदि-राजको पक्षी नोंच मार रहे हैं और उसकी स्त्रियाँ उसे चारों ओरसे घेरकर बैठी हैं ॥ २३ ॥

दाशार्हीपुत्रजं वीरं शयानं सत्यविक्रमम् ।
आरोप्याङ्के रुदन्त्येताश्चेदिराजवराङ्गनाः ॥ २४ ॥

दशार्हकुलकी कन्या (श्रुतश्रवा)के पुत्र शिशुपालका यह सत्यपराक्रमी वीर पुत्र रणभूमिमें सो रहा है और इसे अङ्कमें लेकर ये चेदिराजकी सुन्दरी रानियाँ रो रही हैं ॥ २४ ॥

अस्य पुत्रं हृषीकेश सुवक्त्रं चारुकुण्डलम् ।
द्रोणेन समरे पश्य निकृत्तं बहुधा शरैः ॥ २५ ॥

हृषीकेश ! देखो तो सही, इस धृष्टकेतुके सुन्दर मुख और मनोहर कुण्डलोंवाले पुत्रको द्रोणाचार्यने समराङ्गणमें अपने बाणोंद्वारा मारकर उसके अनेक टुकड़े कर डाले हैं ॥

पितरं नूनमाजिस्थं युद्ध्यमानं परैः सह ।
नाजहात् पितरं वीरमद्यापि मधुसूदन ॥ २६ ॥

मधुसूदन ! रणभूमिमें स्थित होकर शत्रुओंके साथ जूझ-नेवाले अपने पिताका साथ इसने कभी नहीं छोड़ा था, आज मृत्युके बाद भी वह पिताको नहीं छोड़ सका है ॥ २६ ॥

एवं ममापि पुत्रस्य पुत्रः पितरमन्वगात् ।
दुर्योधनं महाबाहो लक्ष्मणः परवीरहा ॥ २७ ॥

महाबाहो ! इसी प्रकार मेरे पुत्रके पुत्र शत्रुवीरहन्ता लक्ष्मणने भी अपने पिता दुर्योधनका अनुसरण किया है ॥ २७ ॥

विन्दानुविन्दावावन्त्यौ पतितौ पश्य माधव ।
हिमान्ते पुष्पितौ शालौ मरुता गलिताविव ॥ २८ ॥

माधव ! जैसे ग्रीष्म ऋतुमें हवाके वेगसे दो खिले हुए [illegible] गिर गये हों, उसी प्रकार अवन्तीदेशके दोनों वीर राजपुत्र विन्द और अनुविन्द धराशायी हो गये हैं, इनपर दृष्टिपात करो ॥ २८ ॥

काञ्चनाङ्गदवर्माणौ बाणखड्गधनुर्धरौ ।
ऋषभप्रतिरूपाक्षौ शयानौ विमलस्रजौ ॥ २९ ॥

इन दोनोंने सोनेके कवच धारण किये हैं, बाण, खड्ग और धनुष लिये हैं तथा बैलके समान बड़ी-बड़ी आँखोंवाले ये दोनों वीर चमकीले हार पहने हुए सो रहे हैं ॥ २९ ॥

अवध्याः पाण्डवाः कृष्ण सर्व एव त्वया सह ।
ये मुक्ता द्रोणभीष्माभ्यां कर्णाद् वैकर्तनात् कृपात् ॥ ३० ॥
दुर्योधनाद् द्रोणसुतात् सैन्धवाच्च जयद्रथात् ।
सोमदत्ताद् विकर्णाच्च शूराच्च कृतवर्मणः ॥ ३१ ॥

श्रीकृष्ण ! तुम्हारे साथ ही ये समस्त पाण्डव अवध्य जान पड़ते हैं, जो कि द्रोण, भीष्म, वैकर्तन कर्ण, कृपाचार्य, दुर्योधन, द्रोणपुत्र अश्वत्थामा, सिंधुराज जयद्रथ, सोमदत्त, विकर्ण और शूरवीर कृतवर्माके हाथसे जीवित बच गये हैं ॥ ३०-३१ ॥

ये हन्युः शस्त्रवेगेन देवानपि नरर्षभाः ।
त इमे निहताः संख्ये पश्य कालस्य पर्ययम् ॥ ३२ ॥

जो नरश्रेष्ठ अपने शस्त्रके वेगसे देवताओंको भी नष्ट कर सकते थे, वे ही ये युद्धमें मार डाले गये हैं; यह कालका उलट-फेर तो देखो ॥ ३२ ॥

नातिभारोऽस्ति दैवस्य ध्रुवं माधव कश्चन ।
यदिमे निहताः शूराः क्षत्रियैः क्षत्रियर्षभाः ॥ ३३ ॥

माधव ! निश्चय ही दैवके लिये कोई भी कार्य अधिक कठिन नहीं है; क्योंकि उसने क्षत्रियोंद्वारा ही इन शूरवीर क्षत्रियशिरोमणियोंका संहार कर डाला है ॥ ३३ ॥

तदैव निहताः कृष्ण मम पुत्रास्तरस्विनः ।
यदैवाकृतकामस्त्वमुपप्लव्यं गतः पुनः ॥ ३४ ॥

श्रीकृष्ण ! मेरे वेगशाली पुत्र तो उसी दिन मार डाले गये, जब कि तुम अपूर्णमनोरथ होकर पुनः उपप्लव्यको लौट गये थे ॥ ३४ ॥

शान्तनोश्चैव पुत्रेण प्राज्ञेन विदुरेण च ।
तदैवोक्तास्मि मा स्नेहं कुरुष्वात्मसुतेष्विति ॥ ३५ ॥

मुझे तो शान्तनुनन्दन भीष्म तथा ज्ञानी विदुरने उसी दिन कह दिया था 'कि अब तुम अपने पुत्रोंपर स्नेह न करो' ॥ ३५ ॥

तयोर्हि दर्शनं नैतन्मिथ्या भवितुमर्हति ।
अचिरेणैव मे पुत्रा भस्मीभूता जनार्दन ॥ ३६ ॥

जनार्दन ! उन दोनोंकी यह दृष्टि मिथ्या नहीं हो सकती थी; अतः थोड़े ही समयमें मेरे सारे पुत्र युद्धकी आगमें जल-कर भस्म हो गये ॥ ३६ ॥

वैशम्पायन उवाच

इत्युक्त्वा न्यपतद् भूमौ गान्धारी शोकमूर्छिता ।
दुःखोपहतविज्ञाना धैर्यमुत्सृज्य भारत ॥ ३७ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—भारत ! ऐसा कहकर शोकसे मूर्छित हुई गान्धारी धैर्य छोड़कर पृथ्वीपर गिर पड़ीं, दुःखसे उनकी विवेकशक्ति नष्ट हो गयी ॥ ३७ ॥

ततः कोपपरीताङ्गी पुत्रशोकपरिप्लुता ।
जगाम शौरिं दोषेण गान्धारी व्यथितेन्द्रिया ॥ ३८ ॥

तदनन्तर उनके सारे अङ्गोंमें क्रोध व्याप्त हो गया । पुत्रशोकमें डूब जानेके कारण उनकी सारी इन्द्रियाँ व्याकुल हो उठीं । उस समय गान्धारीने सारा दोष श्रीकृष्णके ही माथे मढ़ दिया ॥ ३८ ॥

गान्धार्युवाच

पाण्डवा धार्तराष्ट्राश्च दग्धाः कृष्ण परस्परम् ।
उपेक्षिता विनश्यन्तस्त्वया कस्माज्जनार्दन ॥ ३९ ॥

गान्धारीने कहा—श्रीकृष्ण ! जनार्दन ! पाण्डव और धृतराष्ट्रके पुत्र आपसमें लड़कर भस्म हो गये । तुमने इन्हें नष्ट होते देखकर भी इनकी उपेक्षा कैसे कर दी ? ३९

शक्तेन बहुभृत्येन विपुले तिष्ठता बले ।
उभयत्र समर्थेन श्रुतवाक्येन चैव ह ॥ ४० ॥
इच्छतोपेक्षितो नाशः कुरूणां मधुसूदन ।
यस्मात् त्वया महाबाहो फलं तस्मादवाप्नुहि ॥ ४१ ॥

महाबाहु मधुसूदन ! तुम शक्तिशाली थे । तुम्हारे पास बहुत-से सेवक और सैनिक थे । तुम महान् बलमें प्रतिष्ठित थे । दोनों पक्षोंसे अपनी बात मनवा लेनेकी सामर्थ्य तुममें मौजूद थी । तुमने वेद-शास्त्रों और महात्माओंकी बातें सुनी और जानी थीं । यह सब होते हुए भी तुमने स्वेच्छासे कुरुकुलके नाशकी उपेक्षा की—जान-बूझकर इस वंशका विनाश होने दिया । यह तुम्हारा महान् दोष है, अतः तुम इसका फल प्राप्त करो ॥ ४०-४१ ॥

पतिशुश्रूषया यन्मे तपः किंचिदुपार्जितम् ।
तेन त्वां दुरवापेन शप्स्ये चक्रगदाधर ॥ ४२ ॥

चक्र और गदा धारण करनेवाले केशव ! मैंने पतिकी सेवासे जो कुछ भी तप प्राप्त किया है, उस दुर्लभ तपोबलसे तुम्हें शाप दे रही हूँ ॥ ४२ ॥

यस्मात् परस्परं घ्नन्तो ज्ञातयः कुरुपाण्डवाः ।
उपेक्षितास्ते गोविन्द तस्माज्ज्ञातीन् वधिष्यसि ॥ ४३ ॥

गोविन्द ! तुमने आपसमें मार-काट मचाते हुए कुटुम्बी कौरवों और पाण्डवोंकी उपेक्षा की है; इसलिये तुम अपने भाई-बन्धुओंका भी विनाश कर डालोगे ॥ ४३ ॥

त्वमप्युपस्थिते वर्षे षट्त्रिंशे मधुसूदन ।
हतज्ञातिर्हतामात्यो हतपुत्रो वनेचरः ॥ ४४ ॥
अनाथवदविज्ञातो लोकेष्वनभिलक्षितः ।
कुत्सितेनाभ्युपायेन निधनं समवाप्स्यसि ॥ ४५ ॥

मधुसूदन ! आजसे छत्तीसवाँ वर्ष उपस्थित होनेपर तुम्हारे कुटुम्बी, मन्त्री और पुत्र सभी आपसमें लड़कर मर जायँगे । तुम सबसे अपरिचित और लोगोंकी आँखोंसे ओझल होकर अनाथके समान वनमें विचरोगे और किसी निन्दित उपायसे मृत्युको प्राप्त होओगे ॥ ४४-४५ ॥

तवाप्येवं हतसुता निहतज्ञातिबान्धवाः ।
स्त्रियः परिपतिष्यन्ति यथैता भरतस्त्रियः ॥ ४६ ॥

इन भरतवंशकी स्त्रियोंके समान तुम्हारे कुलकी स्त्रियाँ भी पुत्रों तथा भाई-बन्धुओंके मारे जानेपर इसी तरह सगे-सम्बन्धियोंकी लाशोंपर गिरेंगी ॥ ४६ ॥

वैशम्पायन उवाच

तच्छ्रुत्वा वचनं घोरं वासुदेवो महामनाः ।
उवाच देवीं गान्धारीमीषदभ्युत्स्मयन्निव ॥ ४७ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन् ! वह घोर वचन सुनकर महामनस्वी वसुदेवनन्दन श्रीकृष्णने कुछ मुस्कराते हुए-से गान्धारीदेवीसे कहा—॥ ४७ ॥

जानेऽहमेतदप्येवं चीर्णं चरसि क्षत्रिये ।
दैवादेव विनश्यन्ति वृष्णयो नात्र संशयः ॥ ४८ ॥

'क्षत्राणी ! मैं जानता हूँ, यह ऐसा ही होनेवाला है । तुम तो किये हुएको ही कर रही हो । इसमें संदेह नहीं कि वृष्णिवंशके यादव दैवसे ही नष्ट होंगे ॥ ४८ ॥

संहर्ता वृष्णिचक्रस्य नान्यो मद् विद्यते शुभे ।
अवध्यास्ते नरैरन्यैरपि वा देवदानवैः ॥ ४९ ॥
परस्परकृतं नाशमतः प्राप्स्यन्ति यादवाः ।

'शुभे ! वृष्णिकुलका संहार करनेवाला मेरे सिवा दूसरा कोई नहीं है । यादव दूसरे मनुष्यों तथा देवताओं और दानवोंके लिये भी अवध्य हैं; अतः आपसमें ही लड़कर नष्ट होंगे' ॥ ४९½ ॥

इत्युक्तवति दाशार्हे पाण्डवास्त्रस्तचेतसः ।
बभूवुर्भृशसंविग्ना निराशाश्चापि जीविते ॥ ५० ॥

श्रीकृष्णके ऐसा कहनेपर पाण्डव मन-ही-मन भयभीत हो उठे । उन्हें बड़ा उद्वेग हुआ । वे सब-के-सब अपने जीवनसे निराश हो गये ॥ ५० ॥

इति श्रीमहाभारते स्त्रीपर्वणि स्त्रीविलापपर्वणि गान्धारीशापदाने पञ्चविंशोऽध्यायः ॥ २५ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत स्त्रीपर्वके अन्तर्गत स्त्रीविलापपर्वमें गान्धारीका शापदानविषयक पचीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥२५॥

(श्राद्धपर्व)

षड्विंशोऽध्यायः

श्रीकृष्णका गान्धारीको फटकारना, धृतराष्ट्रके पूछनेपर युधिष्ठिरका महाभारतयुद्धमें मारे गये लोगोंकी संख्या और गतिका वर्णन तथा युधिष्ठिरकी आज्ञासे सबका दाह-संस्कार

श्रीभगवानुवाच

उत्तिष्ठोत्तिष्ठ गान्धारि मा च शोके मनः कृथाः ।
तवैव ह्यपराधेन कुरवो निधनं गताः ॥ १ ॥

श्रीभगवान् बोले—गान्धारी ! उठो, उठो । शोकमें मनको न डुबाओ । तुम्हारे ही अपराधसे कौरवोंका विनाश हुआ है ॥ १ ॥

यत् त्वं पुत्रं दुरात्मानमीर्षुमत्यन्तमानिनम् ।
दुर्योधनं पुरस्कृत्य दुष्कृतं साधु मन्यसे ॥ २ ॥
निष्ठुरं वैरपुरुषं वृद्धानां शासनातिगम् ।
कथमात्मकृतं दोषं मय्याधातुमिहेच्छसि ॥ ३ ॥

तुम्हारा पुत्र दुर्योधन दुरात्मा, दूसरोंसे ईर्ष्या एवं जलन रखनेवाला और अत्यन्त अभिमानी था । दुष्कर्मपरायण, निष्ठुर, वैरका मूर्तिमान् स्वरूप और बड़े-बूढ़ोंकी आज्ञाका उल्लङ्घन करनेवाला था । तुमने उसको अगुआ बनाकर जो अपराध किया है, उसे क्या तुम अच्छा समझती हो ? अपने ही किये हुए दोषको यहाँ मुझपर कैसे लादना चाहती हो ? ॥

मृतं वा यदि वा नष्टं योऽतीतमनुशोचति ।
दुःखेन लभते दुःखं द्वावनर्थौ प्रपद्यते ॥ ४ ॥

यदि कोई मनुष्य किसी मरे हुए सम्बन्धी, नष्ट हुई वस्तु अथवा बीती हुई बातके लिये शोक करता है तो वह एक दुःखसे दूसरे दुःखका भागी होता है, इस प्रकार वह दो अनर्थोंको प्राप्त होता है ॥ ४ ॥

तपोऽर्थीयं ब्राह्मणी धत्त गर्भं
गौर्वोढारं धावितारं तुरङ्गी ।
शूद्रा दासं पशुपालं च वैश्या
वधार्थीयं त्वद्विधा राजपुत्री ॥ ५ ॥

ब्राह्मणी तपके लिये, गाय बोझ ढोनेके लिये, घोड़ी वेगसे दौड़नेके लिये, शूद्रा सेवाके लिये, वैश्यकन्या पशु-पालन करनेके लिये और तुम-जैसी राजपुत्री युद्धमें लड़कर मरनेके लिये पुत्र पैदा करती है ॥ ५ ॥

वैशम्पायन उवाच

तच्छ्रुत्वा वासुदेवस्य पुनरुक्तं वचोऽप्रियम् ।
तूष्णीं बभूव गान्धारी शोकव्याकुललोचना ॥ ६ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! श्रीकृष्णका दुबारा कहा हुआ वह अप्रिय वचन सुनकर गान्धारी चुप हो गयी । उसके नेत्र शोकसे व्याकुल हो उठे थे ॥ ६ ॥

धृतराष्ट्रस्तु राजर्षिर्निगृह्याबुद्धिजं तमः ।
पर्यपृच्छत धर्मज्ञो धर्मराजं युधिष्ठिरम् ॥ ७ ॥

उस समय धर्मज्ञ राजर्षि धृतराष्ट्रने अज्ञानसे उत्पन्न होनेवाले शोक और मोहको रोककर धर्मराज युधिष्ठिरसे पूछा—॥

जीवतां परिमाणज्ञः सैन्यानामसि पाण्डव ।
हतानां यदि जानीषे परिमाणं वदस्व मे ॥ ८ ॥

'पाण्डुनन्दन ! तुम जीवित सैनिकोंकी संख्याके जानकार तो हो ही । यदि मरे हुओंकी संख्या जानते हो तो मुझे बताओ ॥

युधिष्ठिर उवाच

दशायुतानामयुतं सहस्राणि च विंशतिः ।
कोट्यः षष्टिश्च षट् चैव ह्यस्मिन् राजन् मृधे हताः ॥ ९ ॥

युधिष्ठिर बोले—राजन् ! इस युद्धमें एक अरब, छाछठ करोड़, बीस हजार योद्धा मारे गये हैं ॥ ९ ॥

अलक्षितानां वीराणां सहस्राणि चतुर्दश ।
दश चान्यानि राजेन्द्र शतं षष्टिश्च पञ्च च ॥ १० ॥

राजेन्द्र ! इनके अतिरिक्त चौबीस हजार एक सौ पैंसठ सैनिक लापता हैं ॥ १० ॥

धृतराष्ट्र उवाच

युधिष्ठिर गतिं कां ते गताः पुरुषसत्तम ।
आचक्ष्व मे महाबाहो सर्वज्ञो ह्यसि मे मतः ॥ ११ ॥

धृतराष्ट्रने पूछा—पुरुषप्रवर ! महाबाहु युधिष्ठिर ! तुम तो मुझे सर्वज्ञ जान पड़ते हो; अतः यह तो बताओ कि 'वे मरे हुए सैनिक किस गतिको प्राप्त हुए हैं ?' ॥ ११ ॥

युधिष्ठिर उवाच

यैर्हुतानि शरीराणि हृष्टैः परमसंयुगे ।
देवराजसमाँल्लोकान् गतास्ते सत्यविक्रमाः ॥ १२ ॥

युधिष्ठिरने कहा—जिन लोगोंने इस महासमरमें बड़े हर्ष और उत्साहके साथ अपने शरीरोंकी आहुति दी है, वे सत्यपराक्रमी वीर देवराज इन्द्रके समान लोकोंमें गये हैं ॥

ये त्वहृष्टेन मनसा मर्तव्यमिति भारत ।
युध्यमाना हताः संख्ये गन्धर्वैः सह संगताः ॥ १३ ॥

भारत ! जो अप्रसन्न मनसे मरनेका निश्चय करके रण-क्षेत्रमें जूझते हुए मारे गये हैं, वे गन्धर्वोंके साथ जा मिले हैं ॥

ये च संग्रामभूमिष्ठा याचमानाः पराङ्मुखाः ।
शस्त्रेण निधनं प्राप्ता गतास्ते गुह्यकान् प्रति ॥ १४ ॥

जो संग्राम-भूमिमें खड़े हो प्राणोंकी भीख माँगते हुए

युद्धसे विमुख हो गये थे; उनमेंसे जो लोग शस्त्रद्वारा मारे गये हैं, वे गुह्यकलोकोंमें गये हैं ॥ १४ ॥

पात्यमानाः परैर्ये तु हीयमाना निरायुधाः ।
ह्रीनिषेवा महात्मानः परानभिमुखा रणे ॥ १५ ॥
छिद्यमानाः शितैः शस्त्रैः क्षत्रधर्मपरायणाः ।
गतास्ते ब्रह्मसदनं न मेऽत्रास्ति विचारणा ॥ १६ ॥

जिन महामनस्वी पुरुषोंको शत्रुओंने गिरा दिया था, जिनके पास युद्ध करनेका कोई साधन नहीं रह गया था, जो शस्त्रहीन हो गये थे और उस अवस्थामें भी लज्जाशील होनेके कारण जो रणभूमिमें निरन्तर शत्रुओंका सामना करते हुए ही तीखे अस्त्र-शस्त्रोंसे कट गये, वे क्षत्रियधर्मपरायण पुरुष ब्रह्मलोकमें गये हैं, इस विषयमें मेरा कोई दूसरा विचार नहीं है ॥ १५-१६ ॥

ये त्वत्र निहता राजन्नन्तरायोधनं प्रति ।
यथाकथंचित् पुरुषास्ते गतास्तूत्तरान् कुरून्॥ १७ ॥

राजन् ! इनके सिवा, जो लोग इस युद्धकी सीमाके भीतर रहकर जिस किसी भी प्रकारसे मार डाले गये हैं, वे उत्तर कुरुदेशमें जन्म धारण करेंगे ॥ १७ ॥

धृतराष्ट्र उवाच

केन ज्ञानबलेनैवं पुत्र पश्यसि सिद्धवत् ।
तन्मे वद महाबाहो श्रोतव्यं यदि वै मया ॥ १८ ॥

धृतराष्ट्रने पूछा—बेटा ! किस ज्ञानबलसे तुम इस तरह सिद्ध पुरुषोंके समान सब कुछ प्रत्यक्ष देख रहे हो । महाबाहो ! यदि मेरे सुनने योग्य हो तो बताओ ॥ १८ ॥

युधिष्ठिर उवाच

निदेशाद् भवतः पूर्वं वने विचरता मया ।
तीर्थयात्राप्रसङ्गेन सम्प्राप्तोऽयमनुग्रहः ॥ १९ ॥

युधिष्ठिर बोले—महाराज ! पहले आपकी आज्ञासे जब मैं वनमें विचरता था, उन्हीं दिनों तीर्थयात्राके प्रसङ्गसे मुझे एक महात्माका इस रूपमें अनुग्रह प्राप्त हुआ ॥ १९ ॥

देवर्षिर्लोमशो दृष्टस्ततः प्राप्तोऽस्म्यनुस्मृतिम् ।
दिव्यं चक्षुरपि प्राप्तं ज्ञानयोगेन वै पुरा ॥ २० ॥

तीर्थयात्राके समय देवर्षि लोमशका दर्शन हुआ था । उन्हींसे मैंने यह अनुस्मृतिविद्या प्राप्त की थी । इसके सिवा, पूर्वकालमें ज्ञानयोगके प्रभावसे मुझे दिव्यदृष्टि भी प्राप्त हो गयी थी ॥ २० ॥

धृतराष्ट्र उवाच

अनाथानां जनानां च सनाथानां च भारत ।
कच्चित् तेषां शरीराणि धक्ष्यसे विधिपूर्वकम्॥ २१ ॥

धृतराष्ट्रने पूछा—भारत ! यहाँ जो अनाथ और सनाथ योद्धा मरे पड़े हैं, क्या तुम उनके शरीरोंका विधिपूर्वक दाह-संस्कार करा दोगे ? ॥ २१ ॥

न येषामस्ति संस्कर्ता न च येऽत्राहिताग्नयः ।
वयं च कस्य कुर्याम बहुत्वात् तात कर्मणाम् ॥२२ ॥

जिनका कोई संस्कार करनेवाला नहीं है तथा जो अग्निहोत्री नहीं रहे हैं, उनका भी प्रेतकर्म तो करना ही होगा, तात ! यहाँ तो बहुतोंके अन्त्येष्टि-कर्म करने हैं, हम किस-किसका करें ? ॥ २२ ॥

यान् सुपर्णाश्च गृध्राश्च विकर्षन्ति यतस्ततः ।
तेषां तु कर्मणा लोका भविष्यन्ति युधिष्ठिर ॥ २३ ॥

युधिष्ठिर ! जिनकी लाशोंको गरुड़ और गीध इधर-उधर घसीट रहे हैं, उन्हें तो श्राद्धकर्मसे ही शुभलोक प्राप्त होंगे ? ॥ २३ ॥

वैशम्पायन उवाच

एवमुक्तो महाराज कुन्तीपुत्रो युधिष्ठिरः ।
आदिदेश सुधर्माणं धौम्यं सूतं च संजयम् ॥ २४ ॥
विदुरं च महाबुद्धिं युयुत्सुं चैव कौरवम् ।
इन्द्रसेनमुखांश्चैव भृत्यान् सूतांश्च सर्वशः ॥ २५ ॥
भवन्तः कारयन्त्वेषां प्रेतकार्याण्यशेषतः ।
यथा चानाथवत् किंचिच्छरीरं न विनश्यति ॥ २६ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—महाराज ! राजा धृतराष्ट्रके ऐसा कहनेपर कुन्तीपुत्र युधिष्ठिरने सुधर्मा, धौम्य, सारथि संजय, परम बुद्धिमान् विदुर, कुरुवंशी युयुत्सु तथा इन्द्रसेन आदि सेवकों एवं सम्पूर्ण सूतोंको यह आज्ञा दी कि 'आप-लोग इन सबके प्रेतकार्य सम्पन्न करावें । ऐसा न हो कि कोई भी लाश अनाथके समान नष्ट हो जाय' ॥ २४—२६ ॥

शासनाद् धर्मराजस्य क्षत्ता सूतश्च संजयः ।
सुधर्मा धौम्यसहित इन्द्रसेनादयस्तथा ॥ २७ ॥
चन्दनागुरुकाष्ठानि तथा कालीयकान्युत ।
घृतं तैलं च गन्धांश्च क्षौमाणि वसनानि च ॥ २८ ॥
समाहृत्य महार्हाणि दारूणां चैव संचयान् ।
रथांश्च मृदितांस्तत्र नानाप्रहरणानि च ॥ २९ ॥
चिताः कृत्वा प्रयत्नेन यथामुख्यान् नराधिपान् ।
दाहयामासुरव्यग्राः शास्त्रदृष्टेन कर्मणा ॥ ३० ॥

धर्मराजके आदेशसे विदुरजी, सारथि संजय, सुधर्मा, धौम्य तथा इन्द्रसेन आदिने चन्दन और अगरकी लकड़ी काली-यक, घी, तेल, सुगन्धित पदार्थ और बहुमूल्य रेशमी वस्त्र आदि वस्तुएँ एकत्र कीं, लकड़ियोंका संग्रह किया, टूटे हुए रथों तथा नाना प्रकारके अस्त्र-शस्त्रोंको भी एकत्र कर लिया । फिर उन सबके द्वारा प्रयत्नपूर्वक कई चिताएँ बनाकर जेठे-छोटेके क्रमसे सभी राजाओंका शास्त्रीय विधिके अनुसार उन्होंने शान्तभावसे दाह-संस्कार सम्पन्न कराया ॥ २७-३० ॥

दुर्योधनं च राजानं भ्रातृंश्चास्य महारथान्।
शल्यं शलं च राजानं भूरिश्रवसमेव च ॥ ३१ ॥
जयद्रथं च राजानमभिमन्युं च भारत।
दौःशासनिं लक्ष्मणं च धृष्टकेतुं च पार्थिवम् ॥ ३२ ॥
बृहन्तं सोमदत्तं च सृंजयांश्च शताधिकान्।
राजानं क्षेमधन्वानं विराटद्रुपदौ तथा ॥ ३३ ॥
शिखण्डिनं च पाञ्चाल्यं धृष्टद्युम्नं च पार्षतम्।
युधामन्युं च विक्रान्तमुत्तमौजसमेव च ॥ ३४ ॥
कौसल्यं द्रौपदेयांश्च शकुनिं चापि सौबलम्।
अचलं वृषकं चैव भगदत्तं च पार्थिवम् ॥ ३५ ॥
कर्णं वैकर्तनं चैव सहपुत्रममर्षणम्।
केकयांश्च महेष्वासांस्त्रिगर्तांश्च महारथान् ॥ ३६ ॥
घटोत्कचं राक्षसेन्द्रं बकभ्रातरमेव च।
अलम्बुषं राक्षसेन्द्रं जलसन्धं च पार्थिवम् ॥ ३७ ॥
एतांश्चान्यांश्च सुबहून् पार्थिवांश्च सहस्रशः।
घृतधाराहुतैर्दीप्तैः पावकैः समदाहयन् ॥ ३८ ॥

राजा दुर्योधन, उनके निन्यानबे महारथी भाई, राजा शल्य, शल, भूरिश्रवा, राजा जयद्रथ, अभिमन्यु, दुःशासन-पुत्र, लक्ष्मण, राजा धृष्टकेतु, बृहन्त, सोमदत्त, सौसे भी अधिक सृंजय वीर, राजा क्षेमधन्वा, विराट, द्रुपद, शिखण्डी, पाञ्चालदेशीय द्रुपदपुत्र धृष्टद्युम्न, युधामन्यु, पराक्रमी उत्त-मौजा, कोसलराज बृहद्बल, द्रौपदीके पाँचों पुत्र, सुबलपुत्र शकुनि, अचल, वृषक, राजा भगदत्त, पुत्रोंसहित अमर्ष-शील वैकर्तन कर्ण, महाधनुर्धर पाँचों केकयराजकुमार, महारथी त्रिगर्त, राक्षसराज घटोत्कच, बकके भाई राक्षस-प्रवर अलम्बुष और राजा जलसंध—इनका तथा अन्य बहुतेरे सहस्रों भूपालोंका घीकी धारासे प्रज्वलित हुई अग्नियोंद्वारा इन लोगोंने दाह-कर्म कराया ॥ ३१–३८ ॥

पितृमेधाश्च केषांचित् प्रावर्तन्त महात्मनाम्।
सामभिश्चाप्यगायन्त तेऽन्वशोचन्त चापरैः ॥

किन्हीं महामनस्वी वीरोंके लिये पितृमेध (श्रा भी आरम्भ कर दिये गये। कुछ लोगोंने वहाँ किया तथा कितने ही मनुष्योंने वहाँ मरे हुए विभिन्न लिये महान् शोक प्रकट किया ॥ ३९ ॥

साम्नामृचां च नादेन स्त्रीणां च रुदितस्वनैः।
कश्मलं सर्वभूतानां निशायां समपद्यत ॥

सामवेदीय मन्त्रों तथा ऋचाओंके घोष और रोनेकी आवाजसे वहाँ रातमें सभी प्राणियोंको बड़ा क

ते विधूमाः प्रदीप्ताश्च दीप्यमानाश्च पावकाः।
नभसीवान्वदृश्यन्त ग्रहास्तन्वभ्रसंवृताः ॥

उस समय स्वल्प धूमयुक्त, प्रज्वलित तथा जाती हुई चिताकी अग्नियाँ आकाशमें सूक्ष्म बादले हुए ग्रहोंके समान दिखायी देती थीं ॥ ४१ ॥

ये चाप्यनाथास्तत्रासन् नानादेशसमागताः।
तांश्च सर्वान् समानाय्य राशीन् कृत्वा सहस्रश
चित्वा दारुभिरव्यग्रैः प्रभूतैः स्नेहपाचितैः।
दाहयामास तान् सर्वान् विदुरो राजशासनात्

इसके बाद वहाँ अनेक देशोंसे आये हुए जो लोग मारे गये, उन सबकी लाशोंको मँगवाकर उन ढेर लगाये। फिर घी-तेलमें भिगोयी हुई बहुत-सी द्वारा स्थिर चित्तवाले लोगोंसे चिता बनाकर उन विदुरजीने राजाकी आज्ञाके अनुसार दग्ध करवा

कारयित्वा क्रियास्तेषां कुरुराजो युधिष्ठिरः।
धृतराष्ट्रं पुरस्कृत्य गङ्गामभिमुखोऽगमत्।

इस प्रकार उन सबका दाहकर्म कराकर कुरुराज धृतराष्ट्रको आगे करके गङ्गाजीकी ओर चले गये ॥

इति श्रीमहाभारते स्त्रीपर्वणि श्राद्धपर्वणि कुरूणामौर्ध्वदेहिके षड्विंशोऽध्यायः ॥ २६ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत स्त्रीपर्वके अन्तर्गत श्राद्धपर्वमें कौरवोंका और्ध्वदैहिक संस्कारविषयक छब्बीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥

सप्तविंशोऽध्यायः

सभी स्त्री-पुरुषोंका अपने मरे हुए सम्बन्धियोंको जलाञ्जलि देना, कुन्तीका अपने गर्भसे क जन्म होनेका रहस्य प्रकट करना तथा युधिष्ठिरका कर्णके लिये शोक प्रकट करते हुए उनक प्रेतकृत्य सम्पन्न करना और स्त्रियोंके मनमें रहस्यकी बात न छिपनेका शाप देना

वैशम्पायन उवाच

ते समासाद्य गङ्गां तु शिवां पुण्यजलोचिताम्।
ह्रदिनीं च प्रसन्नां च महारूपां महावनाम् ॥ १ ॥
भूषणान्युत्तरीयाणि वेष्टनान्यवमुच्य च।
ततः पितॄणां भ्रातॄणां पौत्राणां स्वजनस्य च ॥ २ ॥

पुत्राणामार्यकाणां च पतीनां च कुरुस्त्रियः
उदकं चक्रिरे सर्वा रुदत्यो भृशदुःखिताः

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन्! वे युधि सब लोग कल्याणमयी, पुण्यसलिला, अनेक ज सुशोभित, स्वच्छ, विशाल रूपधारिणी तथा

युद्धमें काम आये हुए वीरोंको उनके सम्बन्धियोंद्वारा जलदान

महान् वनवाली गङ्गाजीके तटपर आकर अपने सारे आभूषण, दुपट्टे तथा पगड़ी आदि उतार डाले और पिताओं, भाइयों, पुत्रों, पौत्रों, स्वजनों तथा आर्य वीरोंके लिये जलाञ्जलि प्रदान की। अत्यन्त दुःखसे रोती हुई कुरुकुलकी सभी स्त्रियोंने भी अपने पिता आदिके साथ-साथ पतियोंके लिये जल अर्पण किये॥

सुहृदां चापि धर्मज्ञाः प्रचक्रुः सलिलक्रियाः।
उदके क्रियमाणे तु वीराणां वीरपत्निभिः॥ ४॥
सूपतीर्था भवद्गङ्गा भूयो विप्रससार च।

धर्मज्ञ पुरुषोंने अपने हितैषी सुहृदोंके लिये भी जलाञ्जलि देनेका कार्य सम्पन्न किया। वीरोंकी पत्नियोंद्वारा जब उन वीरोंके लिये जलाञ्जलि दी जा रही थी, उस समय गङ्गाजीके जलमें उतरनेके लिये बड़ा सुन्दर मार्ग बन गया और गङ्गाका पाट अधिक चौड़ा हो गया॥ ४½॥

तन्महोदधिसंकाशं निरानन्दमनुत्सवम्॥ ५॥
वीरपत्नीभिराकीर्णं गङ्गातीरमशोभत।

महासागरके समान विशाल वह गङ्गातट आनन्द और उत्सवसे शून्य होनेपर भी उन वीर-पत्नियोंसे व्याप्त होनेके कारण बड़ी शोभा पाने लगा॥ ५½॥

ततः कुन्ती महाराज सहसा शोककर्शिता॥ ६॥
रुदती मन्दया वाचा पुत्रान् वचनमब्रवीत्।

महाराज! तदनन्तर कुन्तीदेवी सहसा शोकसे कातर हो रोती हुई मन्द वाणीमें अपने पुत्रोंसे बोलीं—॥ ६½॥

यः स वीरो महेष्वासो रथयूथपयूथपः॥ ७॥
अर्जुनेन जितः संख्ये वीरलक्षणलक्षितः।
यं सूतपुत्रं मन्यध्वं राधेयमिति पाण्डवाः॥ ८॥
यो व्यराजच्च मूमध्ये दिवाकर इव प्रभुः।
प्रत्ययुध्यत वः सर्वान् पुरा यः सपदानुगान्॥ ९॥
दुर्योधनबलं सर्वं यः प्रकर्षन् व्यरोचत।
यस्य नास्ति समो वीर्ये पृथिव्यामपि पार्थिवः॥ १०॥
योऽवृणीत यशः शूरः प्राणैरपि सदा भुवि।
कर्णस्य सत्यसंधस्य संग्रामेष्वपलायिनः॥ ११॥
कुरुध्वमुदकं तस्य भ्रातुरक्लिष्टकर्मणः।
स हि वः पूर्वजो भ्राता भास्करान्मय्यजायत॥ १२॥
कुण्डली कवची शूरो दिवाकरसमप्रभः।

'पाण्डवो! जो महाधनुर्धर वीर रथ-यूथपतियोंका भी यूथपति तथा वीरोचित शुभ लक्षणोंसे सम्पन्न था, जिसे युद्धमें अर्जुनने परास्त किया है तथा जिसे तुमलोग सूतपुत्र एवं राधापुत्रके रूपमें मानते-जानते हो, जो सेनाके मध्यभागमें भगवान् सूर्यके समान प्रकाशित होता था, जिसने पहले सेवकोंसहित तुम सब लोगोंका अच्छी तरह सामना किया था, जो दुर्योधनकी सारी सेनाको अपने पीछे खींचता हुआ बड़ी शोभा पाता था, बल और पराक्रममें जिसकी समानता करनेवाला इस भूतलपर दूसरा कोई राजा नहीं है, जिस शूरवीरने अपने प्राणोंकी बाजी लगाकर भी भूमण्डलमें सदा यशका ही उपार्जन किया है, संग्राममें कभी पीठ न दिखानेवाले और अनायास ही महान् कर्म करनेवाले अपने उस सत्य-प्रतिज्ञ भ्राता कर्णके लिये भी तुमलोग जल-दान करो। वह तुमलोगोंका बड़ा भाई था। भगवान् सूर्यके अंशसे वह वीर मेरे ही गर्भसे उत्पन्न हुआ था। जन्मके साथ ही उस शूरवीरके शरीरमें कवच और कुण्डल शोभा पाते थे। वह सूर्यदेवके समान ही तेजस्वी था॥ ७—१२½॥

श्रुत्वा तु पाण्डवाः सर्वे मातुर्वचनमप्रियम्॥ १३॥
कर्णमेवानुशोचन्तो भूयः क्लान्ततराभवन्।

माताका यह अप्रिय वचन सुनकर समस्त पाण्डव कर्णके लिये ही बारंबार शोक करते हुए अत्यन्त कष्टमें पड़ गये॥

ततः स पुरुषव्याघ्रः कुन्तीपुत्रो युधिष्ठिरः॥ १४॥
उवाच मातरं वीरो निःश्वसन्निव पन्नगः।

तदनन्तर पुरुषसिंह वीर कुन्तीपुत्र युधिष्ठिर सर्पके समान लंबी साँस खींचते हुए अपनी मातासे बोले—॥ १४½॥

यः शरोर्मिर्ध्वजावर्तो महाभुजमहाग्रहः॥ १५॥
तलशब्दानुनदितो महारथमहाह्रदः।
यस्येषुपातमासाद्य नान्यस्तिष्ठेद् धनंजयात्॥ १६॥
कथं पुत्रो भवत्याः स देवगर्भः पुराभवत्।

'माँ! जो बड़े-बड़े महारथियोंको डुबो देनेके लिये अत्यन्त गहरे जलाशयके समान थे, बाण ही जिनकी लहर, ध्वजा भँवर, बड़ी-बड़ी भुजाएँ महान् ग्राह और हथेलीका शब्द ही गम्भीर गर्जन था, जिनके बाणोंके गिरनेकी सीमामें आकर अर्जुनके सिवा दूसरा कोई वीर नहीं टिक सकता था, वे सूर्यकुमार तेजस्वी कर्ण पूर्वकालमें आपके पुत्र कैसे हुए?॥

यस्य बाहुप्रतापेन तापिताः सर्वतो वयम्॥ १७॥
तमग्निमिव वस्त्रेण कथं छादितवत्यसि।

'जिनकी भुजाओंके प्रतापसे हम सब ओरसे संतप्त रहते थे, कपड़ेमें ढकी हुई आगके समान उन्हें अबतक आपने कैसे छिपा रक्खा था?॥ १७½॥

यस्य बाहुबलं नित्यं धार्तराष्ट्रैरुपासितम्॥ १८॥
उपासितं यथास्माभिर्बलं गाण्डीवधन्वनः।

'धृतराष्ट्रके पुत्रोंने सदा उन्हींके बाहुबलका भरोसा कर रक्खा था, जैसे कि हमलोगोंने गाण्डीवधारी अर्जुनके बलका आश्रय लिया था॥ १८½॥

भूमिपानां च सर्वेषां बलं बलवतां वरः॥ १९॥
नान्यः कुन्तीसुतात् कर्णादगृह्णाद् रथिनां रथी।

'कुन्तीपुत्र कर्णके सिवा दूसरा कोई रथी ऐसा बड़ा बलवान् नहीं हुआ है, जिसने समस्त राजाओंकी सेनाको रोक दिया हो॥

स नः प्रथमजो भ्राता सर्वशस्त्रभृतां वरः ॥ २० ॥
असूत तं भवत्यग्रे कथमद्भुतविक्रमम् ।

हे समस्त शस्त्रधारियोंमें श्रेष्ठ कर्ण क्या सचमुच हमारे बड़े भाई थे ? आपने पहले उन अद्भुत पराक्रमी वीरको कैसे उत्पन्न किया था ? ॥ २०½ ॥

अहो भवत्या मन्त्रस्य गूहनेन वयं हताः ॥ २१ ॥
निधनेन हि कर्णस्य पीडितास्तु सबान्धवाः ।

अहो ! आपने इस गूढ़ रहस्यको छिपाकर हमलोगोंको मार डाला । कर्णकी मृत्युसे भाइयोंसहित हमें बड़ी पीड़ा हो रही है ॥ २१½ ॥

अभिमन्योर्विनाशेन द्रौपदेयवधेन च ॥ २२ ॥
पञ्चालानां विनाशेन कुरूणां पतनेन च ।
ततः शतगुणं दुःखमिदं मामस्पृशद् भृशम् ॥ २३ ॥

'अभिमन्यु, द्रौपदीके पुत्र और पाञ्चालोंके विनाशसे तथा कुरुकुलके इस पतनसे हमें जितना दुःख हुआ था, उससे सौ गुना यह दुःख इस समय मुझे अत्यन्त व्यथित कर रहा है ॥ २२-२३ ॥

कर्णमेवानुशोचामि दह्याम्यग्नाविवाहितः ।
नेह स्म किंचिदप्राप्यं भवेदपि दिवि स्थितम् ॥ २४ ॥
न चेदं वैशसं घोरं कौरवान्तकरं भवेत् ।

'अब तो मैं केवल कर्णके ही शोकमें डूब गया हूँ और इस तरह जल रहा हूँ, मानो मुझे किसीने जलती आगमें रख दिया हो । यदि पहले ही यह बात मुझे मालूम हो गयी होती तो कर्णको पाकर हमारे लिये इस जगत्में कोई स्वर्गीय वस्तु भी अलभ्य नहीं होती तथा कुरुकुलका अन्त कर देनेवाला यह घोर संग्राम भी नहीं हुआ होता' ॥ २४½ ॥

एवं विलप्य बहुलं धर्मराजो युधिष्ठिरः ॥ २५ ॥
व्यरुदच्छनकै राजंश्चकारास्योदकं प्रभुः ।
ततो विनेदुः सहसा स्त्रियस्ताः खलु सर्वशः ॥ २६ ॥
अभितो याः स्थितास्तत्र तस्मिन्नुदककर्मणि ।

राजन् ! इस प्रकार बहुत विलाप करके धर्मराज युधिष्ठिर फूट-फूटकर रोने लगे । रोते-ही-रोते उन्होंने धीरे-धीरे कर्णके लिये जलदान किया । यह सब सुनकर वहाँ एकत्र हुई सारी स्त्रियाँ, जो वहाँ जलाञ्जलि देनेके लिये सब ओर खड़ी थीं, सहसा जोर-जोरसे रोने लगीं ॥ २५-२६½ ॥

तत आनाययामास कर्णस्य सपरिच्छदाः ॥ २७ ॥
स्त्रियः कुरुपतिर्धीमान् भ्रातुः प्रेम्णा युधिष्ठिरः ।
स ताभिः सह धर्मात्मा प्रेतकृत्यमनन्तरम् ॥ २८ ॥
चकार विधिवद् धीमान् धर्मराजो युधिष्ठिरः ।

तदनन्तर बुद्धिमान् कुरुराज युधिष्ठिरने भाईके प्रेमसे कर्णकी स्त्रियोंको परिवारसहित बुलवा लिया और उन सबके साथ रहकर उन धर्मात्मा बुद्धिमान् धर्मराज युधिष्ठिरने विधिपूर्वक कर्णका प्रेतकृत्य सम्पन्न किया ॥ २७-२८½ ॥

पापेनासौ मया श्रेष्ठो भ्राता ज्ञातिर्निपातितः ।
अतो मनसि यद् गुह्यं स्त्रीणां तन्न भविष्यति ॥ २९ ॥

तदनन्तर वे बोले—'मुझ पापीने इस रहस्यको न जाननेके कारण अपने बड़े भाईको मरवा दिया; अतः आजसे स्त्रियोंके मनमें कोई गुप्त रहस्य नहीं छिपा रह सकेगा' ॥ २९ ॥

इत्युक्त्वा स तु गङ्गाया उत्ततराकुलेन्द्रियः ।
भ्रातृभिः सहितः सर्वैर्गङ्गातीरमुपेयिवान् ॥ ३० ॥

ऐसा कहकर व्याकुल इन्द्रियोंवाले राजा युधिष्ठिर गङ्गाजीके जलसे निकले और समस्त भाइयोंके साथ तटपर आये ॥

इति श्रीमहाभारते स्त्रीपर्वणि श्राद्धपर्वणि कर्णगूढजत्वकथने सप्तविंशोऽध्यायः ॥ २७ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत स्त्रीपर्वके अन्तर्गत श्राद्धपर्वमें कर्णके जन्मके गूढ़ रहस्यका कथनविषयक सत्ताईसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २७ ॥

स्त्रीपर्व सम्पूर्णम्
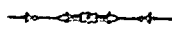
	अनुष्टुप्	बड़े श्लोक	बड़े श्लोकोंको अनुष्टुप् माननेपर	कुल
उत्तर भारतीय पाठसे लिये गये	८२२	(५)	६॥।=	८२८॥।=
दक्षिण भारतीय पाठसे लिये गये	१	...	...	१
			स्त्रीपर्वकी कुल श्लोकसंख्या	८२९॥।=

रजि० सं० ए० ८५४

कल्याणके २४ वें वर्षका विशेषाङ्क 'हिंदू-संस्कृति-अङ्क'

पृष्ठ ९०४, लेख-संख्या ३४४, कविता ४६, संगृहीत २९, चित्र २४८, मूल्य ६॥) डाकव्ययसहित। साथ ही इसी वर्षका अङ्क दूसरा तथा तीसरा विना मूल्य।

इस अङ्कमें महान् हिंदू-संस्कृतिके प्रायः सभी विषयोंपर प्रकाश डाला गया है। इसमें वेद, उपनिषद्, महाभारत, रामायण तथा श्रीमद्भागवतकी सानुवाद सूक्तियाँ; हिंदू-संस्कृतिका स्वरूप तथा महत्त्व, हिंदूधर्म, वर्णाश्रम, दर्शन-परिचय, हिंदू-संस्कृतिकी व्यापकता, परलोकवाद, श्राद्धतत्त्व, हिंदू-संस्कृतिमें त्याग और भोगका समन्वय, समाजरचना, ज्ञान, भक्ति, योग, मन्त्र-यन्त्र-तन्त्र, यज्ञानुष्ठान, पीठविज्ञान, रामराज्यका स्वरूप, शिष्टाचार और सदाचार, आहार-विवेक, आयुर्वेद, विज्ञान, अङ्कगणित, कर्मविज्ञान, उपासनातत्त्व, तीर्थ-व्रत, पर्व-त्योहार, शिक्षा, विभिन्न सम्प्रदाय, स्थापत्यकला, मन्दिर, मूर्तिकला, शिल्प, चित्रकला, नाट्यकला, चौसठकला, गान्धर्व-विद्या, वाद्ययन्त्र, क्रीडा, अस्त्र-शस्त्रादि, वैमानिककला, नौनिर्माणकला; काल-विज्ञान, ज्योतिर्विज्ञान, ज्यौतिष, सामुद्रिक, नक्षत्रविज्ञान, रत्न-विज्ञान, गोरक्षा, जीवरक्षा आदि विविध विषयोंपर बड़े-बड़े विद्वानों तथा अनुभवी पुरुषोंके लेख हैं।

इसके अतिरिक्त भगवान्‌के अवतारोंके, देवताओंके, आदर्श ऋषि-महर्षियोंके, परोपकारी भक्त, राजा तथा सत्पुरुषोंके, आचार्य, महात्मा और भक्तोंके एवं आदर्श हिंदू-नारियोंके बहुत-से पवित्र चरित्र हैं।

'हिंदू-संस्कृति-अङ्क'पर कौन क्या कहते हैं—

महामहोपाध्याय डा० पं० श्रीउमेशजी मिश्र, एम्० ए०, डी० लिट्०, प्रयाग-विश्वविद्यालय—

"इस अङ्कको पढ़नेसे भारतीय संस्कृतिका जागता हुआ एक चित्र हमारे सामने उपस्थित हो जाता है। भारतीय संस्कृतिका सर्वाङ्गपूर्ण विवेचन किसी एक ग्रन्थमें सकल-साधारण लोगोंके समझने योग्य शब्दोंमें आजतक देख नहीं पड़ा था। ××× इस घोर कलिकालमें, जब कि चारों ओरसे भारतीय संस्कृतिके ऊपर इतना प्रहार हो रहा है और इसके रक्षक ही जब इसके भक्षक हो चले हैं, इस ग्रन्थरत्नको प्रकाशितकर भारतीयोंके हृदयमें संस्कृतिके संस्कारको पुनः जगाया है। प्रत्येक भारतीयको यह ग्रन्थ पढ़ना चाहिये और अपने पास सदा रखना चाहिये"। परीक्षाकी बधाईके स्थानमें यही अङ्क उपहारस्वरूपमें दिया जाय। इसका प्रयत्न लोग करें। ×××"

हिंदीके प्रसिद्ध और गम्भीर लेखक डा० श्रीवासुदेवशरणजी अग्रवाल, एम्० ए०, पी-एच्० डी०—

"××× लगभग नौ सौ पृष्ठोंकी इतनी बहुविध सुपाठ्य और रोचक सामग्री इस अङ्कमें एकत्र देखकर चित्त बहुत प्रसन्न हुआ। भारतीय धर्म, दर्शन, कला और जीवनके कितने ही महत्त्वपूर्ण अंशोंपर प्रकाश डाला गया है। कलाके चित्रोंका चुनाव कल्याणके लिये एक नवीन आयोजन है। ×××× भारतीय संस्कृतिकी सामग्री तो वस्तुतः अपरम्पार है। उसका जितना अधिक व्याख्यान एवं रूप-प्रकाशन किया जाय, स्वागतके योग्य है। ×× इस अङ्कके सम्पादन-प्रयत्नसे एक अभावकी पूर्ति हुई है।××××"

व्यवस्थापक—'कल्याण', पो० गीताप्रेस (गोरखपुर)

महाभारत

संस्कृत मूल

हिन्दी अनुवाद

संस्कृत मूल

हिन्दी अनुवाद

वर्ष २

गीताप्रेस, गोरखपुर

संख्या १

॥ श्रीहरिः ॥

विषय-सूची (शान्तिपर्व)

अध्याय	विषय	पृष्ठ-संख्या

(राजधर्मानुशासनपर्व)

चित्र-सूची

वार्षिक मूल्य भारतमें २०) विदेशमें २६॥) (४० शिलिंग)

सम्पादक—हनुमानप्रसाद पोद्दार
टीकाकार—पण्डित रामनारायणदत्त शास्त्री पाण्डेय 'राम'
मुद्रक-प्रकाशक—घनश्यामदास जालान, गीताप्रेस, गोरखपुर

एक प्रतिका भारतमें २) विदेशमें २॥) (४ शिलिंग)
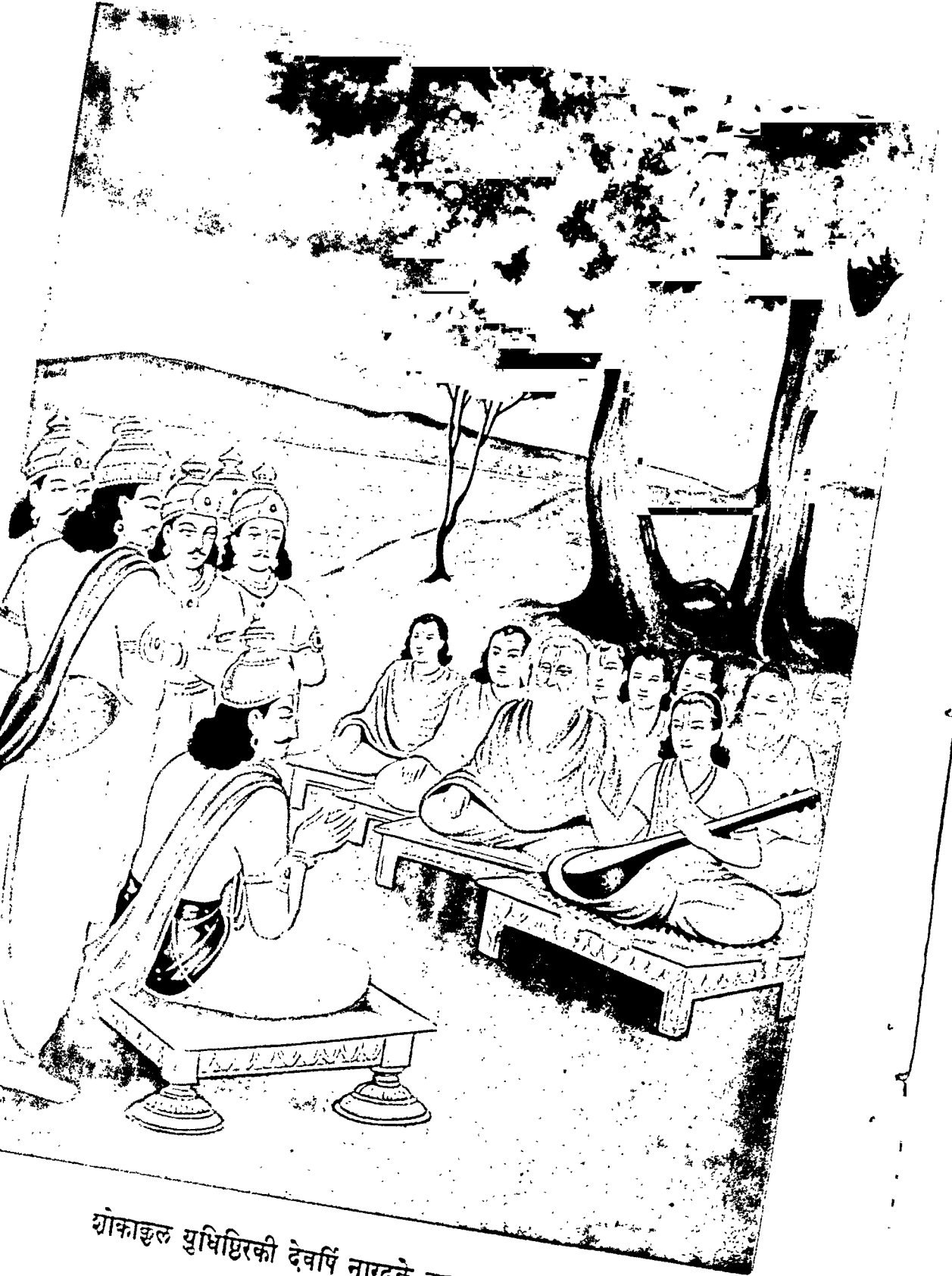
शोकाकुल युधिष्ठिरको देवर्षि नारदके द्वारा सान्त्वना

ॐ

श्रीपरमात्मने नमः

श्रीमहाभारतम्

शान्तिपर्व

(राजधर्मानुशासनपर्व)

प्रथमोऽध्यायः

युधिष्ठिरके पास नारद आदि महर्षियोंका आगमन और युधिष्ठिरका कर्णके साथ अपना सम्बन्ध बताते हुए कर्णको शाप मिलनेका वृत्तान्त पूछना

नारायणं नमस्कृत्य नरं चैव नरोत्तमम् ।
देवीं सरस्वतीं व्यासं ततो जयमुदीरयेत् ॥

अन्तर्यामी नारायणस्वरूप भगवान् श्रीकृष्ण, (उनके नित्य सखा) नरस्वरूप नरश्रेष्ठ अर्जुन, (उनकी लीला प्रकट करनेवाली) भगवती सरस्वती और (उनकी लीलाओंका संकलन करनेवाले) महर्षि वेदव्यासको नमस्कार करके जय (महाभारत) का पाठ करना चाहिये ॥

वैशम्पायन उवाच

कृतोदकास्ते सुहृदां सर्वेषां पाण्डुनन्दनाः ।
विदुरो धृतराष्ट्रश्च सर्वाश्च भरतस्त्रियः ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन् ! पाण्डव, विदुर, धृतराष्ट्र तथा भरतवंशकी सम्पूर्ण स्त्रियाँ—इन सबने गङ्गाजीमें अपने समस्त सुहृदोंके लिये जलाञ्जलियाँ प्रदान कीं ॥ १ ॥

तत्र ते सुमहात्मानो न्यवसन् पाण्डुनन्दनाः ।
शौचं निवर्तयिष्यन्तो मासमात्रं बहिः पुरात् ॥ २ ॥

तदनन्तर वे महामनस्वी पाण्डव आत्मशुद्धिका सम्पादन करनेके लिये एक मासतक वहीं (गङ्गातटपर) नगरसे बाहर टिके रहे ॥ २ ॥

कृतोदकं तु राजानं धर्मपुत्रं युधिष्ठिरम् ।
अभिजग्मुर्महात्मानः सिद्धा ब्रह्मर्षिसत्तमाः ॥ ३ ॥

मृतकोंके लिये जलाञ्जलि देकर बैठे हुए धर्मपुत्र राजा युधिष्ठिरके पास बहुत-से श्रेष्ठ ब्रह्मर्षि सिद्ध महात्मा पधारे ॥

द्वैपायनो नारदश्च देवलश्च महानृषिः ।
देवस्थानश्च कण्वश्च तेषां शिष्याश्च सत्तमाः ॥ ४ ॥

द्वैपायन व्यास, नारद, महर्षि देवल, देवस्थान, कण्व तथा उनके श्रेष्ठ शिष्य भी वहाँ आये थे ॥ ४ ॥

अन्ये च वेदविद्वांसः कृतप्रज्ञा द्विजातयः ।
गृहस्थाः स्नातकाः सन्तो ददृशुः कुरुसत्तमम् ॥ ५ ॥

इनके अतिरिक्त अनेक वेदवेत्ता एवं पवित्र बुद्धिवाले ब्राह्मण, गृहस्थ एवं स्नातक संत भी वहाँ आकर कुरुश्रेष्ठ युधिष्ठिरसे मिले ॥ ५ ॥

तेऽभिगम्य महात्मानः पूजिताश्च यथाविधि ।
आसनेषु महार्हेषु विविशुस्ते महर्षयः ॥ ६ ॥

वे महात्मा महर्षि वहाँ पहुँचकर विधिपूर्वक पूजित हो राजाके दिये हुए बहुमूल्य आसनोंपर विराजमान हुए ॥६॥

प्रतिगृह्य ततः पूजां तत्कालसदृशीं तदा ।
पर्युपासन् यथान्यायं परिवार्य युधिष्ठिरम् ॥ ७ ॥
पुण्ये भागीरथीतीरे शोकव्याकुलचेतसम् ।
आश्वासयन्तो राजानं विप्राः शतसहस्रशः ॥ ८ ॥

उस समयके अनुरूप पूजा स्वीकार करके वे सैकड़ों, हजारों ब्रह्मर्षि भागीरथीके पावन तटपर शोकसे व्याकुलचित्त हुए राजा युधिष्ठिरको सब ओरसे घेरकर आश्वासन देते हुए यथोचितरूपसे उनके पास बैठे रहे ॥७-८॥

नारदस्त्वब्रवीत् काले धर्मपुत्रं युधिष्ठिरम् ।
सम्भाष्य मुनिभिः सार्धं कृष्णद्वैपायनादिभिः ॥ ९ ॥

उस समय श्रीकृष्णद्वैपायन आदि मुनियोंके साथ बातचीत करके सबसे पहले नारदजीने धर्मपुत्र युधिष्ठिरसे कहा—॥

भवता बाहुवीर्येण प्रसादान्माधवस्य च ।
जितेयमवनिः कृत्स्ना धर्मेण च युधिष्ठिर ॥ १० ॥

'महाराज युधिष्ठिर ! आपने अपने बाहुबल, भगवान् श्रीकृष्णकी कृपा तथा धर्मके प्रभावसे इस सम्पूर्ण पृथ्वीपर विजय पायी है ॥ १० ॥

दिष्ट्या मुक्तस्तु संग्रामादस्माल्लोकभयंकरात् ।
क्षत्रधर्मरतश्चापि कच्चिन्मोदसि पाण्डव ॥ ११ ॥

कुन्तीनन्दन ! सौभाग्यकी बात है कि आप सम्पूर्ण जगत्-को अपने अधीन करके इस संग्राममें छुटकारा पा गये । अब क्षत्रियधर्मके पालनमें तत्पर रहकर आप प्रसन्न तो हैं न ? ॥ ११ ॥

कच्चिन्न निहतामित्रः प्रीणासि सुहृदो नृप ।
कच्चिच्छ्रियमिमां प्राप्य न त्वां शोकः प्रबाधते ॥ १२ ॥

नरेश्वर ! आपके शत्रु तो मारे जा चुके। अब आप अपने सुहृदोंको तो प्रसन्न रखते हैं न ? इस राज्य-लक्ष्मीको पाकर आपको कोई शोक तो नहीं सता रहा है ?" ॥ १२ ॥

युधिष्ठिर उवाच

विजितेयं मही कृत्स्ना कृष्णबाहुबलाश्रयात् ।
ब्राह्मणानां प्रसादेन भीमार्जुनबलेन च ॥ १३ ॥

युधिष्ठिर बोले—मुने ! भगवान् श्रीकृष्णके बाहुबलका आश्रय लेनेसे, ब्राह्मणोंकी कृपा होनेसे तथा भीमसेन और अर्जुनके बलसे इस सारी पृथ्वीपर विजय प्राप्त हुई ॥ १३ ॥

इदं मम महद् दुःखं वर्तते हृदि नित्यदा ।
कृत्वा ज्ञातिक्षयमिमं महान्तं लोभकारितम् ॥ १४ ॥

परंतु ! मेरे हृदयमें निरन्तर यह महान् दुःख बना रहता है कि मैंने लोभवश अपने बन्धु-बान्धवोंका महान् संहार करा डाला ॥ १४ ॥

सौभद्रं द्रौपदेयांश्च घातयित्वा सुतान् प्रियान् ।
जयोऽयमजयाकारो भगवन् प्रतिभाति मे ॥ १५ ॥

भगवन् ! सुभद्राकुमार अभिमन्यु तथा द्रौपदीके प्यारे पुत्रोंको मरवाकर मिली हुई यह विजय भी मुझे पराजय-सी ही जान पड़ती है ॥ १५ ॥

किं नु वक्ष्यति वार्ष्णेयी वधूर्मे मधुसूदनम् ।
द्वारकावासिनी कृष्णमितः प्रतिगतं हरिम् ॥ १६ ॥

वृष्णिकुलकी कन्या मेरी बहू सुभद्रा, जो इस समय द्वारिकामें रहती है, जब मधुसूदन श्रीकृष्ण यहाँसे लौटकर द्वारिका जायँगे, तब इनसे क्या कहेगी ? ॥ १६ ॥

द्रौपदी हतपुत्रेयं कृपणा हतबान्धवा ।
अस्मत्प्रियहिते युक्ता भूयः पीडयतीव माम् ॥ १७ ॥

यह द्रुपदकुमारी कृष्णा अपने पुत्रोंके मारे जानेसे अत्यन्त दीन हो गयी है । इस बेचारीके भाई-बन्धु भी मार डाले गये । यह हमलोगोंके प्रिय और हितमें सदा लगी रहती है । मैं जब-जब इसकी ओर देखता हूँ, तब-तब मेरे मनमें अधिक-से अधिक पीड़ा होने लगती है ॥ १७ ॥

इदमन्यत् तु भगवन् यत् त्वां वक्ष्यामि नारद ।
मन्त्रसंवरणेनास्मि कुन्त्या दुःखेन योजितः ॥ १८ ॥

भगवन् नारद ! यह दूसरी बात जो मैं आपसे बता रहा हूँ और भी दुःख देनेवाली है। मेरी माता कुन्तीने कर्णके जन्मका रहस्य छिपाकर मुझे बड़े भारी दुःखमें डाल दिया है ॥ १८ ॥

यो नागायुतबलो लोकेऽप्रतिरथो रणे ।
सिंहखेलगतिर्धीमान् घृणी दाता यतव्रतः ॥ १९ ॥
आश्रयो धार्तराष्ट्राणां मानी तीक्ष्णपराक्रमः ।
अमर्षी नित्यसंरम्भी क्षेप्तास्माकं रणे रणे ॥ २० ॥
शीघ्रास्त्रश्चित्रयोधी च कृती चाद्भुतविक्रमः ।
गूढोत्पन्नः सुतः कुन्त्या भ्रातास्माकमसौ किल ॥ २१ ॥

जिनमें दस हजार हाथियोंका बल था, संसारमें जिनका सामना करनेवाला दूसरा कोई भी महारथी नहीं था, जो रण-भूमिमें सिंहके समान खेलते हुए विचरते थे, जो बुद्धिमान्, दयालु, दाता, संयमपूर्वक व्रतका पालन करनेवाले और धृतराष्ट्र-पुत्रोंके आश्रय थे; अभिमानी, तीव्रपराक्रमी, अमर्ष-शील, नित्य रोषमें भरे रहनेवाले तथा प्रत्येक युद्धमें हमलोगों-पर अस्त्रों एवं वाग्बाणोंका प्रहार करनेवाले थे, जिनमें विचित्र प्रकारसे युद्ध करनेकी कला थी, जो शीघ्रतापूर्वक अस्त्र चलाने-वाले, धनुर्वेदके विद्वान् तथा अद्भुत पराक्रम कर दिखानेवाले थे, वे कर्ण गुप्तरूपसे उत्पन्न हुए कुन्तीके पुत्र और हमलोगों-के बड़े भाई थे; यह बात हमारे सुननेमें आयी है ॥ १९—२१ ॥

तोयकर्मणि तं कुन्ती कथयामास सूर्यजम् ।
पुत्रं सर्वगुणोपेतमवकीर्णं जले पुरा ॥ २२ ॥

जलदान करते समय स्वयं माता कुन्तीने यह रहस्य बताया था कि कर्ण भगवान् सूर्यके अंशसे उत्पन्न हुआ मेरा ही सर्वगुणसम्पन्न पुत्र रहा है, जिसे मैंने पहले पानीमें बहा दिया था ॥ २२ ॥

मञ्जूषायां समाधाय गङ्गास्रोतस्यमज्जयत् ।
यं सूतपुत्रं लोकोऽयं राधेयं चाभ्यमन्यत ॥ २३ ॥
स ज्येष्ठपुत्रः कुन्त्या वै भ्रातास्माकं च मातृजः ।

नारदजी ! मेरी माता कुन्तीने कर्णको जन्मके पश्चात् एक पेटीमें रखकर गङ्गाजीकी धारामें बहाया था । जिन्हें यह सारा संसार अबतक अधिरथ सूत एवं राधाका पुत्र समझता था, वे कुन्तीके ज्येष्ठ पुत्र और हमलोगोंके सहोदर भाई थे ॥ २३½ ॥

अजानता मया भ्रात्रा राज्यलुब्धेन घातितः ॥ २४ ॥
तन्मे दहति गात्राणि तूलराशिमिवानलः ।

मैंने अनजानमें राज्यके लोभमें आकर भाईके हाथसे ही भाईका वध करा दिया । इस बातकी चिन्ता मेरे अङ्गोंको उसी प्रकार जला रही है, जैसे आग रूईके ढेरको भस्म कर देती है ॥ २४½ ॥

न हि तं वेद पार्थोऽपि भ्रातरं श्वेतवाहनः ॥ २५ ॥
नाहं न भीमो न यमौ स त्वस्मान् वेद सुव्रतः ।

कुन्तीनन्दन श्वेतवाहन अर्जुन भी उन्हें भाईके रूपमें नहीं जानते थे । मुझको, भीमसेनको तथा नकुल-सहदेवको भी इस बातका पता नहीं था; किंतु उत्तम व्रतका पालन करने-वाले कर्ण हमें अपने भाईके रूपमें जानते थे ॥ २५½ ॥

गता किल पृथा तस्य सकाशमिति नः श्रुतम् ॥ २६ ॥
अस्माकं शमकामा वै त्वं च पुत्रो ममेत्यथ ।
पृथाया न कृतः कामस्तेन चापि महात्मना ॥ २७ ॥

सुननेमें आया है कि मेरी माता कुन्ती हमलोगोंमें संधि करानेकी इच्छासे उनके पास गयी थीं और उन्हें बताया था कि 'तुम मेरे पुत्र हो। 'परंतु महामनस्वी कर्णने माता कुन्तीकी यह इच्छा पूरी नहीं की ॥ २६-२७ ॥

अपि पश्चादिदं मातर्यवोचदिति नः श्रुतम् ।
न हि शक्ष्याम्यहं त्यक्तुं नृपं दुर्योधनं रणे ॥ २८ ॥
अनार्यत्वं नृशंसत्वं कृतघ्नत्वं च मे भवेत् ।

हमने यह भी सुना है कि उन्होंने पीछे माता कुन्तीको यह जवाब दिया कि 'मैं युद्धके समय राजा दुर्योधनका साथ नहीं छोड़ सकता; क्योंकि ऐसा करनेसे मेरी नीचता, क्रूरता और कृतघ्नता सिद्ध होगी ॥ २८½ ॥

युधिष्ठिरेण संधिं हि यदि कुर्यां मते तव ॥ २९ ॥
भीतो रणे श्वेतवाहादिति मां मंस्यते जनः ।

'माताजी ! यदि तुम्हारे मतके अनुसार मैं इस समय युधिष्ठिरके साथ संधि कर लूँ तो सब लोग यही समझेंगे कि 'कर्ण युद्धमें अर्जुनसे डर गया' ॥ २९½ ॥

सोऽहं निर्जित्य समरे विजयं सहकेशवम् ॥ ३० ॥
संधास्ये धर्मपुत्रेण पश्चादिति च सोऽब्रवीत् ।

'अतः मैं पहले समराङ्गणमें श्रीकृष्णसहित अर्जुनको परास्त करके पीछे धर्मपुत्र युधिष्ठिरके साथ संधि करूँगा' ऐसी बात उन्होंने कही ॥ ३०½ ॥

तमुवाच किल पृथा पुनः पृथुलवक्षसम् ॥ ३१ ॥
चतुर्णामभयं देहि कामं युध्यस्व फाल्गुनम् ।

तब कुन्तीने चौड़ी छातीवाले कर्णसे फिर कहा– 'बेटा! तुम इच्छानुसार अर्जुनसे युद्ध करो; किंतु अन्य चार भाइयोंको अभय दे दो' ॥ ३१½ ॥

सोऽब्रवीन्मातरं धीमान् वेपमानां कृताञ्जलिः ॥ ३२ ॥
प्राप्तान् विषह्यांश्चतुरो न हनिष्यामि ते सुतान् ।
पञ्चैव हि सुता देवि भविष्यन्ति तव ध्रुवाः ॥ ३३ ॥
सार्जुना वा हते कर्णे सकर्णा वा हतेऽर्जुने ।

इतना कहकर माता कुन्ती थर्थर काँपने लगीं। तब बुद्धिमान् कर्णने हाथ जोड़कर मातासे कहा—'देवि ! तुम्हारे चार पुत्र मेरे वशमें आ जायँगे तो भी मैं उनका वध नहीं करूँगा। तुम्हारे पाँच पुत्र निश्चितरूपसे बने रहेंगे। यदि कर्ण मारा गया तो अर्जुनसहित तुम्हारे पाँच पुत्र होंगे और यदि अर्जुन मारे गये तो वे कर्णसहित पाँच होंगे' ॥३२-३३½॥

तं पुत्रगृद्धिनी भूयो माता पुत्रमथाब्रवीत् ॥ ३४ ॥
भ्रातॄणां स्वस्ति कुर्वीथा येषां स्वस्ति चिकीर्षसि ।
एवमुक्त्वा किल पृथा विसृज्योपययौ गृहान् ॥ ३५ ॥

तब पुत्रोंका हित चाहनेवाली माताने पुनः अपने ज्येष्ठ पुत्रसे कहा—'बेटा ! तुम जिन चारों भाइयोंका कल्याण करना चाहते हो, उनका अवश्य भला करना' ऐसा कहकर माता कर्णको छोड़कर घर लौट आयीं ॥ ३४-३५ ॥

सोऽर्जुनेन हतो वीरो भ्रात्रा भ्राता सहोदरः ।
न चैव विवृतो मन्त्रः पृथायास्तस्य वा विभो ॥ ३६ ॥

उस वीर सहोदर भाईको भाई अर्जुनने मार डाला। प्रभो ! इस गुप्त रहस्यको न तो माता कुन्तीने प्रकट किया और न कर्णने ही ॥ ३६ ॥

अथ शूरो महेष्वासः पार्थेनाजौ निपातितः ।
अहं त्वज्ञासिषं पश्चात् स्वसोदर्यं द्विजोत्तम ॥ ३७ ॥
पूर्वजं भ्रातरं कर्णं पृथाया वचनात् प्रभो ।
तेन मे दूयते तीव्रं हृदयं भ्रातृघातिनः ॥ ३८ ॥

द्विजश्रेष्ठ ! तदनन्तर युद्धस्थलमें महाधनुर्धर शूरवीर कर्ण अर्जुनके हाथसे मारे गये। प्रभो ! मुझे तो माता कुन्तीके ही कहनेसे बहुत पीछे यह बात मालूम हुई है कि 'कर्ण हमारे ज्येष्ठ एवं सहोदर भाई थे।' मैंने भाईकी हत्या करायी है; इसलिये मेरे हृदयको तीव्र वेदना हो रही है ॥ ३७-३८॥

कर्णार्जुनसहायोऽहं जयेयमपि वासवम् ।
सभायां क्लिश्यमानस्य धार्तराष्ट्रैर्दुरात्मभिः ॥ ३९ ॥
सहसोत्पतितः क्रोधः कर्णं दृष्ट्वा प्रशाम्यति ।

कर्ण और अर्जुनकी सहायता पाकर तो मैं देवराज इन्द्रको भी जीत सकता था। कौरवसभामें जब दुरात्मा धृतराष्ट्रपुत्रोंने मुझे बहुत क्लेश पहुँचाया, तब सहसा मेरे हृदयमें क्रोध प्रकट हो गया; परंतु कर्णको देखकर वह शान्त हो गया ॥ ३९½ ॥

यदा ह्यस्य गिरो रूक्षाः शृणोमि कटुकोदयाः ॥ ४० ॥
सभायां गदतो द्यूते दुर्योधनहितैषिणः ।
तदा नश्यति मे रोषः पादौ तस्य निरीक्ष्य ह ॥ ४१ ॥

जब द्यूतसभामें दुर्योधनके हितकी इच्छासे वे बोलने लगते और मैं उनकी कड़वी एवं रूखी बातें सुनता, उस समय उनके पैरोंको देखकर मेरा बढ़ा हुआ रोष शान्त हो जाता था ॥ ४०-४१ ॥

कुन्त्या हि सदृशौ पादौ कर्णस्येति मतिर्मम ।
सादृश्यहेतुमन्विच्छन् पृथायास्तस्य चैव ह ॥ ४२ ॥
कारणं नाधिगच्छामि कथंचिदपि चिन्तयन् ।

मेरा विश्वास है कि कर्णके दोनों पैर माता कुन्तीके चरणोंके सदृश थे। कुन्ती और कर्णके पैरोंमें इतनी समानता क्यों है ? इसका कारण ढूँढ़ता हुआ मैं बहुत सोचता-विचारता; परंतु किसी तरह कोई कारण नहीं समझ पाता था ४२½

कथं नु तस्य संग्रामे पृथिवी चक्रमग्रसत् ॥ ४३ ॥
कथं नु शप्तो भ्राता मे तत्त्वं वक्तुमिहार्हसि ।

नारदजी ! संग्राममें कर्णके पहियेको पृथ्वी क्यों निगल गयी और मेरे बड़े भाई कर्णको कैसे यह शाप प्राप्त हुआ ? इसे आप ठीक-ठीक बतानेकी कृपा करें ॥ ४३½ ॥

श्रोतुमिच्छामि भगवंस्त्वत्तः सर्वं यथातथम्।
भवान् हि सर्ववित् विद्वाँल्लोके वेद कृताकृतम्॥ ४४॥

भगवन्! मैं आपसे यह सारा वृत्तान्त यथार्थरूपसे सुनना चाहता हूँ; क्योंकि आप सर्वज्ञ विद्वान् हैं और लोकमें जो भूत और भविष्य कालकी घटनाएँ हैं, उन सबको जानते हैं॥ ४४॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि राजधर्मानुशासनपर्वणि कर्णाभिज्ञाने प्रथमोऽध्यायः॥ १॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत राजधर्मानुशासनपर्वमें कर्णकी पहचानविषयक पहला अध्याय पूरा हुआ॥ १॥

द्वितीयोऽध्यायः

नारदजीका कर्णको शाप प्राप्त होनेका प्रसङ्ग सुनाना

वैशम्पायन उवाच

स एवमुक्तस्तु मुनिर्नारदो वदतां वरः।
कथयामास तत् सर्वं यथा शप्तः स सूतजः॥ १॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन्! युधिष्ठिरके इस प्रकार पूछनेपर वक्ताओंमें श्रेष्ठ नारद मुनिने सूतपुत्र कर्णको जिस प्रकार शाप प्राप्त हुआ था, वह सब प्रसङ्ग कह सुनाया॥

नारद उवाच

एवमेतन्महाबाहो यथा वदसि भारत।
न कर्णार्जुनयोः किंचिदविषह्यं भवेद् रणे॥ २॥

नारदजीने कहा—महाबाहु भरतनन्दन! तुम जैसा कह रहे हो, ठीक ऐसी ही बात है। वास्तवमें कर्ण और अर्जुनके लिये युद्धमें कुछ भी असाध्य नहीं हो सकता था॥ २॥

गुह्यमेतत् तु देवानां कथयिष्यामि तेऽनघ।
तन्निबोध महाबाहो यथा वृत्तमिदं पुरा॥ ३॥

अनघ! यह देवताओंकी गुप्त बात है, जिसको मैं तुम्हें बता रहा हूँ। महाबाहो! पूर्वकालके इस यथावत् वृत्तान्तको तुम ध्यान देकर सुनो॥ ३॥

क्षत्रं स्वर्गं कथं गच्छेच्छस्त्रपूतमिति प्रभो।
संघर्षजननस्तस्मात् कन्यागर्भो विनिर्मितः॥ ४॥

प्रभो! एक समय देवताओंने यह विचार किया कि कौन-सा ऐसा उपाय हो, जिससे भूमण्डलका सारा क्षत्रिय-समुदाय शस्त्रोंके आघातसे पवित्र हो स्वर्गलोकमें पहुँच जाय। यह सोचकर उन्होंने सूर्यद्वारा कुमारी कुन्तीके गर्भसे एक तेजस्वी बालक उत्पन्न कराया, जो संघर्षका जनक हुआ॥ ४॥

स बालस्तेजसा युक्तः सूतपुत्रत्वमागतः।
चकाराङ्गिरसां श्रेष्ठाद् धनुर्वेदं गुरोस्तदा॥ ५॥

वही तेजस्वी बालक सूतपुत्रके रूपमें प्रसिद्ध हुआ। उसने अङ्गिरागोत्रीय ब्राह्मणोंमें श्रेष्ठ गुरु द्रोणाचार्यसे धनुर्वेदकी शिक्षा प्राप्त की॥ ५॥

स बलं भीमसेनस्य फाल्गुनस्य च लाघवम्।
बुद्धिं च तव राजेन्द्र यमयोर्विनयं तदा॥ ६॥
सख्यं च वासुदेवेन बाल्ये गाण्डीवधन्वनः।
प्रजानामनुरागं च चिन्तयानो व्यदह्यत॥ ७॥

राजेन्द्र! वह भीमसेनका बल, अर्जुनकी फुर्ती, आपकी बुद्धि, नकुल और सहदेवकी विनय, गाण्डीव-धारी अर्जुनकी श्रीकृष्णके साथ बचपनमें ही मित्रता तथा पाण्डवोंपर प्रजाका अनुराग देखकर चिन्तामग्न हो जलता रहता था॥ ६-७॥

स सख्यमकरोद् बाल्ये राज्ञा दुर्योधनेन च।
युष्माभिर्नित्यसंद्विष्टो दैवाच्चापि स्वभावतः॥ ८॥

इसीलिये उसने बाल्यावस्थामें ही राजा दुर्योधनके साथ मित्रता स्थापित कर ली और दैवकी प्रेरणासे तथा स्वभाववश भी वह आपलोगोंके साथ सदा द्वेष रखने लगा॥ ८॥

वीर्याधिकमथालक्ष्य धनुर्वेदे धनंजयम्।
द्रोणं रहस्युपागम्य कर्णो वचनमब्रवीत्॥ ९॥

एक दिन अर्जुनको धनुर्वेदमें अधिक शक्तिशाली देख कर्णने एकान्तमें द्रोणाचार्यके पास जाकर कहा—॥ ९॥

ब्रह्मास्त्रं वेत्तुमिच्छामि सरहस्यनिवर्तनम्।
अर्जुनेन समं चाहं युध्येयमिति मे मतिः॥ १०॥
समः शिष्येषु वः स्नेहः पुत्रे चैव तथा ध्रुवम्।
त्वत्प्रसादान्न मां ब्रूयुरकृतास्त्रं विचक्षणाः॥ ११॥

'गुरुदेव! मैं ब्रह्मास्त्रको उसके छोड़ने और लौटानेके रहस्यसहित जानना चाहता हूँ। मेरी इच्छा है कि मैं अर्जुनके साथ युद्ध करूँ। निश्चय ही आपका सभी शिष्यों और पुत्रपर बराबर स्नेह है। आपकी कृपासे विद्वान् पुरुष यह न कहें कि यह सभी अस्त्रोंका ज्ञाता नहीं है'॥ १०-११॥

द्रोणस्तथोक्तः कर्णेन सापेक्षः फाल्गुनं प्रति।
दौरात्म्यं चैव कर्णस्य विदित्वा तमुवाच ह॥ १२॥

कर्णके ऐसा कहनेपर अर्जुनके प्रति पक्षपात रखनेवाले द्रोणाचार्य कर्णकी दुष्टताको समझकर उससे बोले—॥ १२॥

ब्रह्मास्त्रं ब्राह्मणो विद्याद् यथावच्चरितव्रतः।
क्षत्रियो वा तपस्वी यो नान्यो विद्यात् कथंचन॥ १३॥

'वत्स! ब्रह्मास्त्रको ठीक-ठीक ब्रह्मचर्यव्रतका पालन करनेवाला ब्राह्मण जान सकता है अथवा तपस्वी क्षत्रिय। दूसरा कोई किसी तरह इसे नहीं सीख सकता'॥ १३॥

इत्युक्तोऽङ्गिरसां श्रेष्ठमामन्त्र्य प्रतिपूज्य च।
जगाम सहसा रामं महेन्द्रं पर्वतं प्रति॥ १४॥

उनके ऐसा कहनेपर अङ्गिरागोत्रीय ब्राह्मणोंमें श्रेष्ठ द्रोणाचार्यकी आज्ञा ले उनका यथोचित सम्मान करके कर्ण सहसा महेन्द्र पर्वतपर परशुरामजीके पास चला गया॥ १४॥

स तु राममुपागम्य शिरसाभिप्रणम्य च।

ब्राह्मणो भार्गवोऽस्मीति गौरवेणाभ्यगच्छत ॥ १५ ॥

परशुरामजीके पास जाकर उसने मस्तक झुकाकर उन्हें प्रणाम किया और 'मैं भृगुवंशी ब्राह्मण हूँ' ऐसा कहकर उसने गुरुभावसे उनकी शरण ली ॥ १५ ॥

रामस्तं प्रतिजग्राह पृष्ट्वा गोत्रादि सर्वशः ।
उष्यतां स्वागतं चेति प्रीतिमांश्चाभवद् भृशम् ॥ १६ ॥

परशुरामजीने गोत्र आदि सारी बातें पूछकर उसे शिष्य-भावसे स्वीकार कर लिया और कहा—'वत्स ! तुम यहाँ रहो । तुम्हारा स्वागत है ।' ऐसा कहकर वे मुनि उसपर बहुत प्रसन्न हुए ॥ १६ ॥

तत्र कर्णस्य वसतो महेन्द्रे स्वर्गसंनिभे ।
गन्धर्वै राक्षसैर्यक्षैर्देवैश्चासीत् समागमः ॥ १७ ॥

स्वर्गलोकके सदृश मनोहर उस महेन्द्र पर्वतपर रहते हुए कर्णको गन्धर्वों, राक्षसों, यक्षों तथा देवताओंसे मिलनेका अवसर प्राप्त होता रहता था ॥ १७ ॥

स तत्रेष्वस्त्रमकरोद् भृगुश्रेष्ठाद् यथाविधि ।
प्रियश्चाभवदत्यर्थं देवदानवरक्षसाम् ॥ १८ ॥

उस पर्वतपर भृगुश्रेष्ठ परशुरामजीसे विधिपूर्वक धनुर्वेद सीखकर कर्ण उसका अभ्यास करने लगा । वह देवताओं, दानवों एवं राक्षसोंका अत्यन्त प्रिय हो गया ॥ १८ ॥

स कदाचित् समुद्रान्ते विचरन्नाश्रमान्तिके ।
एकः खड्गधनुष्पाणिः परिचक्राम सूर्यजः ॥ १९ ॥

एक दिनकी बात है, सूर्यपुत्र कर्ण हाथमें धनुष बाण और तलवार ले समुद्रके तटपर आश्रमके पास ही अकेला टहल रहा था ॥ १९ ॥

सोऽग्निहोत्रप्रसक्तस्य कस्यचिद् ब्रह्मवादिनः ।
जघानाज्ञानतः पार्थ होमधेनुं यदृच्छया ॥ २० ॥

पार्थ ! उस समय अग्निहोत्रमें लगे हुए किसी वेदपाठी ब्राह्मणकी होमधेनु उधर आ निकली । उसने अनजानमें उस धेनुको (हिंस्र जीव समझकर) अकस्मात् मार डाला * ॥ २० ॥

तदज्ञानकृतं मत्वा ब्राह्मणाय न्यवेदयत् ।
कर्णः प्रसादयंश्चैनमिदमित्यब्रवीद् वचः ॥ २१ ॥

अनजानमें यह अपराध बन गया है, ऐसा समझकर कर्णने ब्राह्मणको सारा हाल बता दिया और उसे प्रसन्न करते हुए इस प्रकार कहा— ॥ २१ ॥

अबुद्धिपूर्वं भगवन् धेनुरेषा हता तव ।
मया तत्र प्रसादं च कुरुष्वेति पुनः पुनः ॥ २२ ॥

'भगवन् ! मैंने अनजानमें आपकी गाय मार डाली है, अतः आप मेरा यह अपराध क्षमा करके मुझपर कृपा कीजिये,' कर्णने इस बातको बार-बार दुहराया ॥ २२ ॥

तं स विप्रोऽब्रवीत् क्रुद्धो वाचा निर्भर्त्सयन्निव ।
दुराचार वधार्हस्त्वं फलं प्राप्नुहि दुर्मते ॥ २३ ॥
येन विस्पर्धसे नित्यं यदर्थं घटसेऽनिशम् ।
युध्यतस्तेन ते पाप भूमिश्चक्रं ग्रसिष्यति ॥ २४ ॥

ब्राह्मण उसकी बात सुनते ही कुपित हो उठा और कठोर वाणीद्वारा उसे डाँटता हुआ-सा बोला—'दुराचारी ! तू मार डालने योग्य है । दुर्मते ! तू अपने इस पापका फल प्राप्त

कर ले । पापी ! तू जिसके साथ सदा ईर्ष्या रखता है और जिसे परास्त करनेके लिये निरन्तर चेष्टा करता है, उसके साथ युद्ध करते हुए तेरे रथके पहियेको धरती निगल जायगी ॥ २३-२४ ॥

ततश्चक्रे महीग्रस्ते मूर्धानं ते विचेतसः ।
पातयिष्यति विक्रम्य शत्रुर्गच्छ नराधम ॥ २५ ॥

'नराधम ! जब पृथ्वीमें तेरा पहिया फँस जायगा और तू अचेत-सा हो रहा होगा, उस समय तेरा शत्रु पराक्रम करके तेरे मस्तकको काट गिरायेगा । अब तू चला जा ॥ २५ ॥

यथेयं गौर्हता मूढ प्रमत्तेन त्वया मम ।
प्रमत्तस्य तथारातिः शिरस्ते पातयिष्यति ॥ २६ ॥

'ओ मूढ़ ! जैसे असावधान होकर तूने इस गौका वध किया है, उसी प्रकार असावधान-अवस्थामें ही शत्रु तेरा सिर काट डालेगा' ॥ २६ ॥

शप्तः प्रसादयामास कर्णस्तं द्विजसत्तमम् ।
गोभिर्धनैश्च रत्नैश्च स चैनं पुनरब्रवीत् ॥ २७ ॥

इस प्रकार शाप प्राप्त होनेपर कर्णने उस श्रेष्ठ ब्राह्मणको बहुत-सी गौएँ, धन और रत्न देकर उसे प्रसन्न करनेकी चेष्टा की । तब उसने फिर इस प्रकार उत्तर दिया— ॥ २७ ॥

* कर्णपर्वमें भी यह प्रसङ्ग आया है, वहाँ कर्णके द्वारा बछड़ेके मारे जानेका उल्लेख है; अतः यहाँ भी होमधेनुका बछड़ा ही समझना चाहिये ।

न हि मे व्याहृतं कुर्यान् सर्वलोकोऽपि केवलम्।
गच्छ वा तिष्ठ वा यद् वा कार्यं ते तत् समाचर॥ २८॥

'सारा संसार आ जाय तो भी कोई मेरी बातको झूठी नहीं कर सकता। तू यहाँसे जा या खड़ा रह अथवा तुझे जो कुछ करना हो, वह कर ले'॥ २८॥

इत्युक्तो ब्राह्मणेनाथ कर्णो दैन्यादधोमुखः।
राममभ्यगमद् भीतस्तदेव मनसा स्मरन्॥ २९॥

ब्राह्मणके ऐसा कहनेपर कर्णको बड़ा भय हुआ। उसने दीनतावश सिर झुका लिया। वह मन-ही-मन उस बातका चिन्तन करता हुआ परशुरामजीके पास लौट आया॥ २९॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि राजधर्मानुशासनपर्वणि कर्णशापो नाम द्वितीयोऽध्यायः॥ २॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत राजधर्मानुशासनपर्वमें कर्णको ब्राह्मणका शापनामक दूसरा अध्याय पूरा हुआ॥ २॥

तृतीयोऽध्यायः

कर्णको ब्रह्मास्त्रकी प्राप्ति और परशुरामजीका शाप

नारद उवाच

कर्णस्य बाहुवीर्येण प्रणयेन दमेन च।
तुतोष भृगुशार्दूलो गुरुशुश्रूषया तथा॥ १॥

नारदजी कहते हैं—राजन्! कर्णके बाहुबल, प्रेम, इन्द्रिय-संयम तथा गुरुसेवासे भृगुश्रेष्ठ परशुरामजी बहुत संतुष्ट हुए॥

तस्मै स विधिवत् कृत्स्नं ब्रह्मास्त्रं सनिवर्तनम्।
प्रोवाचाखिलमव्यग्रं तपस्वी तत् तपस्विने॥ २॥

तदनन्तर तपस्वी परशुरामने तपस्यामें लगे हुए कर्णको शान्तभावसे प्रयोग और उपसंहार विधिसहित सम्पूर्ण ब्रह्मास्त्रकी विधिपूर्वक शिक्षा दी॥ २॥

विदितास्त्रस्ततः कर्णो रममाणोऽऽश्रमे भृगोः।
चकार वै धनुर्वेदे यत्नमद्भुतविक्रमः॥ ३॥

ब्रह्मास्त्रका ज्ञान प्राप्त करके कर्ण परशुरामजीके आश्रममें प्रसन्नतापूर्वक रहने लगा। उस अद्भुत पराक्रमी वीरने धनुर्वेदके अभ्यासके लिये बड़ा परिश्रम किया॥ ३॥

ततः कदाचिद् रामस्तु चरन्नाश्रममन्तिकात्।
कर्णेन सहितो धीमानुपवासेन कर्शितः॥ ४॥
सुष्वाप जामदग्न्यस्तु विश्रम्भोत्पन्नसौहृदः।
कर्णस्योत्सङ्ग आधाय शिरः क्लान्तमना गुरुः॥ ५॥

तत्पश्चात् एक समय बुद्धिमान् परशुरामजी कर्णके साथ अपने आश्रमके निकट ही घूम रहे थे। उपवास करनेके कारण उनका शरीर दुर्बल हो गया था। कर्णके ऊपर उनका पूरा विश्वास होनेके कारण उसके प्रति सौहार्द हो गया था। वे मन-ही-मन थकावटका अनुभव करते थे, इसलिये गुरुवर जमदग्निनन्दन परशुरामजी कर्णकी गोदमें सिर रखकर सो गये॥ ४-५॥

अथ कृमिः श्लेष्ममेदोमांसशोणितभोजनः।
दारुणो दारुणस्पर्शः कर्णस्याभ्याशमागतः॥ ६॥

इसी समय लार, मेदा, मांस और रक्तका आहार करनेवाला एक भयानक कीड़ा, जिसका स्पर्श (डंक मारना) बड़ा भयंकर था, कर्णके पास आया॥ ६॥

स तस्योरुमथासाद्य बिभेद रुधिराशनः।
न चैनमशकत् क्षेप्तुं हन्तुं वापि गुरोर्भयात्॥ ७॥

उस रक्त पीनेवाले कीड़ेने कर्णकी जाँघके पास पहुँचकर उसे छेद दिया; परंतु गुरुजीके जागनेके भयसे कर्ण न तो उसे फेंक सका और न मार ही सका॥ ७॥

संदश्यमानस्तु तथा कृमिणा तेन भारत।
गुरोः प्रबोधनाशङ्की तमुपैक्षत सूर्यजः॥ ८॥

भरतनन्दन! वह कीड़ा उसे बारंबार डँसता रहा तो भी सूर्यपुत्र कर्णने कहीं गुरुजी जाग न उठें, इस आशङ्कासे उसकी उपेक्षा कर दी॥ ८॥

कर्णस्तु वेदनां धैर्यादसह्यां विनिगृह्य ताम्।
अकम्पयन्नव्यथयन् धारयामास भार्गवम्॥ ९॥

यद्यपि कर्णको असह्य वेदना हो रही थी तो भी वह धैर्यपूर्वक उसे सहन करके कम्पित और व्यथित न होता हुआ परशुरामजीको गोदमें लिये रहा॥ ९॥

यदास्य रुधिरेणाङ्गं परिस्पृष्टं भृगूद्वहः।
तदाबुद्ध्यत तेजस्वी संत्रस्तश्चेदमब्रवीत्॥ १०॥

जब उसका रक्त परशुरामजीके शरीरमें लग गया, तब वे तेजस्वी भार्गव जाग उठे और भयभीत होकर इस प्रकार बोले—॥ १०॥

अहोऽस्म्यशुचितां प्राप्तः किमिदं क्रियते त्वया।
कथयस्व भयं त्यक्त्वा याथातथ्यमिदं मम॥ ११॥

'अरे! मैं तो अशुद्ध हो गया! तू यह क्या कर रहा है? भय छोड़कर मुझे इस विषयमें ठीक-ठीक बता'॥ ११॥

तस्य कर्णस्तदाऽऽचष्ट कृमिणा परिभक्षणम्।
ददर्श रामस्तं चापि कृमिं सूकरसंनिभम्॥ १२॥

तब कर्णने उनसे कीड़ेके काटनेकी बात बतायी। परशुरामजीने भी उस कीड़ेको देखा, वह सूअरके समान जान पड़ता था॥ १२॥

अष्टपादं तीक्ष्णदंष्ट्रं सूचीभिरिव संवृतम्।
रोमभिः संनिरुद्धाङ्गमलर्कं नाम नामतः॥ १३॥

उसके आठ पैर थे और तीखी दाढ़ें। सुई-जैसी चुभनेवाली रोमावलियोंसे उसका सारा शरीर भरा तथा रूँधा हुआ था। वह 'अलर्क' नामसे प्रसिद्ध कीड़ा था॥ १३॥

दृष्टमात्रो रामेण कृमिः प्राणानवासृजत् ।
तस्मिन्नेवासृजि क्लिन्नस्तदद्भुतमिवाभवत् ॥ १४ ॥

परशुरामजीकी दृष्टि पड़ते ही उसी रक्तसे भीगे हुए उस कीड़ेने प्राण त्याग दिये, वह एक अद्भुत-सी बात हुई ॥ १४ ॥

ततोऽन्तरिक्षे ददृशे विश्वरूपः करालवान् ।
राक्षसो लोहितग्रीवः कृष्णाङ्गो मेघवाहनः ॥ १५ ॥

तदनन्तर आकाशमें सब तरहके रूप धारण करनेमें समर्थ एक विकराल राक्षस दिखायी दिया, उसकी ग्रीवा लाल थी और शरीरका रंग काला था । वह बादलोंपर आरूढ था ॥

स रामं प्राञ्जलिर्भूत्वा बभाषे पूर्णमानसः ।
स्वस्ति ते भृगुशार्दूल गमिष्येऽहं यथागतम् ॥ १६ ॥
मोक्षितो नरकादस्माद् भवता मुनिसत्तम ।
भद्रं तवास्तु वन्दे त्वां प्रियं मे भवता कृतम् ॥ १७ ॥

उस राक्षसने पूर्णमनोरथ हो हाथ जोड़कर परशुरामजीसे कहा—'भृगुश्रेष्ठ ! आपका कल्याण हो । मैं जैसे आया था, वैसे लौट जाऊँगा । मुनिप्रवर ! आपने इस नरकसे मुझे छुटकारा दिला दिया । आपका भला हो । मैं आपको प्रणाम करता हूँ । आपने मेरा बड़ा प्रिय कार्य किया है' ॥१६-१७॥

तमुवाच महाबाहुर्जामदग्न्यः प्रतापवान् ।
कस्त्वं कस्माच्च नरकं प्रतिपन्नो ब्रवीहि तत् ॥ १८ ॥

तब महाबाहु प्रतापी जमदग्निनन्दन परशुरामने उससे पूछा—'तू कौन है ? और किस कारणसे इस नरकमें पड़ा था ? बतलाओ' ॥ १८ ॥

सोऽब्रवीदहमासं प्राग् दंशो नाम महासुरः ।

उसने उत्तर दिया—'तात ! प्राचीनकालके सत्ययुगकी बात है । मैं दंश नामसे प्रसिद्ध एक महान् असुर था । महर्षि भृगुके बराबर ही मेरी भी अवस्था रही ॥ १९ ॥

सोऽहं भृगोः सुदयितां भार्यामपहरं बलात् ।
महर्षेरभिशापेन कृमिभूतोऽपतं भुवि ॥ २० ॥

'एक दिन मैंने भृगुकी प्राणप्यारी पत्नीका बलपूर्वक अपहरण कर लिया । इससे महर्षिने शाप दे दिया और मैं कीड़ा होकर इस पृथ्वीपर गिर पड़ा ॥ २० ॥

अब्रवीद्धि स मां क्रुद्धस्तव पूर्वपितामहः ।
मूत्रश्लेष्माशनः पाप निरयं प्रतिपत्स्यसे ॥ २१ ॥

'आपके पूर्व पितामह भृगुजीने शाप देते समय कुपित होकर मुझसे इस प्रकार कहा—'ओ पापी ! तू मूत्र और लार आदि खानेवाला कीडा होकर नरकमें पड़ेगा' ॥ २१ ॥

शापस्यान्तो भवेद् ब्रह्मन्नित्येवं तमथाब्रवम् ।
भविता भार्गवाद् रामादिति मामब्रवीद् भृगुः ॥ २२ ॥

'तब मैंने उनसे कहा—'ब्रह्मन् ! इस शापका अन्त भी होना चाहिये ।' यह सुनकर भृगुजी बोले—'भृगुवंशी परशुरामसे इस शापका अन्त होगा' ॥ २२ ॥

सोऽहमेनां गतिं प्राप्तो यथा न कुशलं तथा ।
त्वया साधो समागम्य विमुक्तः पापयोनितः ॥ २३ ॥

'वही मैं इस गतिको प्राप्त हुआ था, जहाँ कभी कुशल नहीं बीता । साधो ! आपका समागम होनेसे मेरा इस पापयोनिसे उद्धार हो गया' ॥ २३ ॥

एवमुक्त्वा नमस्कृत्य ययौ रामं महासुरः ।
रामः कर्णं च सक्रोधमिदं वचनमब्रवीत् ॥ २४ ॥

परशुरामजीसे ऐसा कहकर वह महान् असुर उन्हें प्रणाम करके चला गया । इसके बाद परशुरामजीने कर्णसे क्रोधपूर्वक कहा—

अतिदुःखमिदं मूढ न जातु ब्राह्मणः सहेत् ।
क्षत्रियस्येव ते धैर्यं कामया सत्यमुच्यताम् ॥ २५ ॥

'ओ मूर्ख ! ऐसा भारी दुःख ब्राह्मण कदापि नहीं सह सकता । तेरा धैर्य तो क्षत्रियके समान है । तू स्वेच्छासे ही सत्य बता, कौन है ?' ॥ २५ ॥

तमुवाच ततः कर्णः शापाद् भीतः प्रसादयन् ।
ब्रह्मक्षत्रान्तरे जातं सूतं मां विद्धि भार्गव ॥ २६ ॥
राधेयः कर्ण इति मां प्रवदन्ति जना भुवि ।
प्रसादं कुरु मे ब्रह्मन्नस्त्रलुब्धस्य भार्गव ॥ २७ ॥

कर्ण परशुरामजीके शापके भयसे डर गया । अतः उन्हें प्रसन्न करनेकी चेष्टा करते हुए कहा—'भार्गव ! आप यह जान लें कि मैं ब्राह्मण और क्षत्रियसे भिन्न सूतजातिमें पैदा हुआ हूँ । भूमण्डलके मनुष्य मुझे राधापुत्र कर्ण कहते हैं । ब्रह्मन् ! भृगुनन्दन ! मैंने अस्त्रके लोभसे ऐसा किया है ! आप मुझपर कृपा करें ॥ २६-२७ ॥

ततो भार्गव इत्युक्तं मया गोत्रं तवान्तिके ॥ २८ ॥

'इसमें संदेह नहीं कि वेद और विद्याका दान करनेवाला गुरु पिताके ही तुल्य है; इसलिये मैंने आपके निकट अपना गोत्र भार्गव बताया है' ॥ २८ ॥

तमुवाच भृगुश्रेष्ठः सरोषः प्रदहन्निव ।
भूमौ निपतितं दीनं वेपमानं कृताञ्जलिम् ॥ २९ ॥

यह सुनकर भृगुश्रेष्ठ परशुरामजी इतने रोषमें भर गये, मानो वे उसे दग्ध कर डालेंगे । उधर कर्ण हाथ जोड़ दीन भावसे काँपता हुआ पृथ्वीपर गिर पड़ा। तब वे उससे बोले—॥

यस्मान्मिथ्योपचरितो ह्यस्त्रलोभादिह त्वया ।
तस्मादेतद्धि ते मूढ ब्रह्मास्त्रं प्रतिभास्यति ॥ ३० ॥
अन्यत्र वधकालात् ते सदृशेन समीयुषः ।

'मूढ ! तूने ब्रह्मास्त्रके लोभसे झूठ बोलकर यहाँ मेरे साथ मिथ्याचार (कपटपूर्ण व्यवहार) किया है, इसलिये जबतक तू संग्राममें अपने समान योद्धाके साथ नहीं भिड़ेगा और तेरी मृत्युका समय निकट नहीं आ जायगा, तभीतक तुझे इस ब्रह्मास्त्रका स्मरण बना रहेगा ॥ ३०½ ॥

अब्राह्मणे न हि ब्रह्म ध्रुवं तिष्ठेत् कदाचन ॥ ३१ ॥
गच्छेदानीं न ते स्थानमनृतस्येह विद्यते ।
न त्वया सदृशो युद्धे भविता क्षत्रियो भुवि ॥ ३२ ॥

'जो ब्राह्मण नहीं है, उसके हृदयमें ब्रह्मास्त्र कभी स्थिर नहीं रह सकता । अब तू यहाँसे चला जा । तुझ मिथ्यावादीके लिये यहाँ स्थान नहीं है, परंतु मेरे आशीर्वादसे इस भूतलका कोई भी क्षत्रिय युद्धमें तेरी समानता नहीं करेगा'॥३१-३२॥

एवमुक्तः स रामेण न्यायेनोपजगाम ह ।
दुर्योधनमुपागम्य कृतास्त्रोऽस्मीति चाब्रवीत् ॥ ३३ ॥

परशुरामजीके ऐसा कहनेपर कर्ण उन्हें न्यायपूर्वक प्रणाम करके वहाँसे लौट आया और दुर्योधनके पास पहुँचकर बोला—'मैंने सब अस्त्रोंका ज्ञान प्राप्त कर लिया' ॥३३॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि राजधर्मानुशासनपर्वणि कर्णास्त्रप्राप्तिर्नाम तृतीयोऽध्यायः ॥ ३ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत राजधर्मानुशासनपर्वमें कर्णको अस्त्रकी प्राप्तिनामक तीसरा अध्याय पूरा हुआ ॥ ३ ॥

चतुर्थोऽध्यायः

कर्णकी सहायतासे समागत राजाओंको पराजित करके दुर्योधनद्वारा स्वयंवरसे कलिङ्गराजकी कन्याका अपहरण

नारद उवाच

कर्णस्तु समवाप्यैवमस्त्रं भार्गवनन्दनात् ।
दुर्योधनेन सहितो मुमुदे भरतर्षभ ॥ १ ॥

नारदजी कहते हैं—भरतश्रेष्ठ ! इस प्रकार भार्गवनन्दन परशुरामसे ब्रह्मास्त्र पाकर कर्ण दुर्योधनके साथ आनन्दपूर्वक रहने लगा ॥ १ ॥

ततः कदाचिद् राजानः समाजग्मुः स्वयंवरे ।
कलिङ्गविषये राजन् राज्ञश्चित्राङ्गदस्य च ॥ २ ॥

राजन् ! तदनन्तर किसी समय कलिङ्गदेशके राजा चित्राङ्गदके यहाँ स्वयंवरमहोत्सवमें देश-देशके राजा एकत्र हुए ॥ २ ॥

श्रीमद्राजपुरं नाम नगरं तत्र भारत ।
राजानः शतशस्तत्र कन्यार्थं समुपागमन् ॥ ३ ॥

भरतनन्दन ! कलिङ्गराजकी राजधानी राजपुर नामक नगरमें थी, वह नगर बड़ा सुन्दर था । राजकुमारीको प्राप्त करनेके लिये सैकड़ों नरेश वहाँ पधारे ॥ ३ ॥

श्रुत्वा दुर्योधनस्तत्र समेतान् सर्वपार्थिवान् ।
रथेन काञ्चनाङ्गेन कर्णेन सहितो ययौ ॥ ४ ॥

दुर्योधनने जब सुना कि वहाँ सभी राजा एकत्र हो रहे हैं तो वह स्वयं भी सुवर्णमय रथपर आरूढ़ हो कर्णके साथ गया॥

ततः स्वयंवरे तस्मिन् सम्प्रवृत्ते महोत्सवे ।
समाजग्मुर्नृपतयः कन्यार्थं नृपसत्तम ॥ ५ ॥

नृपश्रेष्ठ ! वह स्वयंवरमहोत्सव आरम्भ होनेपर राजकन्याको पानेके लिये जो बहुत-से नरेश वहाँ पधारे थे, उनके नाम इस प्रकार हैं ॥ ५ ॥

शिशुपालो जरासंधो भीष्मको वक्र एव च ।
कपोतरोमा नीलश्च रुक्मी च दृढविक्रमः ॥ ६ ॥
शृगालश्च महाराजः स्त्रीराज्याधिपतिश्च यः ।
अशोकः शतधन्वा च भोजो वीरश्च नामतः ॥ ७ ॥

शिशुपाल, जरासंध, भीष्मक, वक्र, कपोतरोमा, नील, सुदृढ़ पराक्रमी रुक्मी, स्त्रीराज्यके स्वामी महाराज शृगाल, अशोक, शतधन्वा, भोज और वीर ॥ ६-७ ॥

एते चान्ये च बहवो दक्षिणां दिशमाश्रिताः ।
म्लेच्छाश्चार्याश्च राजानः प्राच्योदीच्यास्तथैव च ॥ ८ ॥

ये तथा और भी बहुत-से नरेश दक्षिण दिशाकी उस राजधानीमें गये । उनमें म्लेच्छ, आर्य, पूर्व और उत्तर सभी देशोंके राजा थे ॥ ८ ॥

काञ्चनाङ्गदिनः सर्वे शुद्धजाम्बूनदप्रभाः ।
सर्वे भास्वरदेहाश्च व्याघ्रा इव बलोत्कटाः ॥ ९ ॥

उन सबने सोनेके बाजूबंद पहन रक्खे थे । सभीकी अङ्गकान्ति शुद्ध सुवर्णके समान दमक रही थी । सबके शरीर तेजस्वी थे और सभी व्याघ्रके समान उत्कट बलशाली थे ॥ ९ ॥

ततः समुपविष्टेषु तेषु राजसु भारत ।
विवेश रङ्गं सा कन्या धात्रीवर्षवरान्विता ॥ १० ॥

भारत ! जब सब राजा स्वयंवर-सभामें बैठ गये, तब उस राजकन्याने धाय और खोजोंके साथ रङ्गभूमिमें प्रवेश किया ॥ १० ॥

ततः संश्राव्यमाणेषु राज्ञां नामसु भारत ।
अत्यक्रामद् धार्तराष्ट्रं सा कन्या वरवर्णिनी ॥ ११ ॥

भरतनन्दन ! तत्पश्चात् जब उसे राजाओंके नाम सुना-सुनाकर उनका परिचय दिया जाने लगा, उस समय वह सुन्दरी राजकुमारी धृतराष्ट्रपुत्र दुर्योधनके सामनेसे होकर आगे बढ़ने लगी ॥ ११ ॥

दुर्योधनस्तु कौरव्यो नामर्षयत लङ्घनम् ।
प्रत्यषेधच्च तां कन्यामसत्कृत्य नराधिपान् ॥ १२ ॥

कुरुवंशी दुर्योधनको यह सहन नहीं हुआ कि राजकन्या उसे लाँघकर अन्यत्र जाय । उसने समस्त नरेशोंका अपमान करके उसे वहीं रोक लिया ॥ १२ ॥

स वीर्यमदमत्तत्वाद् भीष्मद्रोणावुपाश्रितः ।
रथमारोप्य तां कन्यामाजहार नराधिपः ॥ १३ ॥

राजा दुर्योधनको भीष्म और द्रोणाचार्यका सहारा प्राप्त था; इसलिये वह बलके मदसे उन्मत्त हो रहा था । उसने उस राजकन्याको रथपर बिठाकर उसका अपहरण कर लिया ॥

तमन्वगाद् रथी खड्गी बद्धगोधाङ्गुलित्रवान् ।
कर्णः शस्त्रभृतां श्रेष्ठः पृष्ठतः पुरुषर्षभ ॥ १४ ॥

पुरुषोत्तम ! उस समय शस्त्रधारियोंमें श्रेष्ठ कर्ण रथपर आरूढ़ हो हाथमें दस्ताने बाँधे और तलवार लिये दुर्योधनके पीछे-पीछे चला ॥ १४ ॥

ततो विमर्दः सुमहान् राज्ञामासीद् युयुत्सताम् ।
संनह्यतां तनुत्राणि रथान् योजयतामपि ॥ १५ ॥

तदनन्तर युद्धकी इच्छावाले राजाओंमेंसे कुछ लोग कवच बाँधने और कुछ रथ जोतने लगे । उन सब लोगोंमें बड़ा भारी संग्राम छिड़ गया ॥ १५ ॥

तेऽभ्यधावन्त संक्रुद्धाः कर्णदुर्योधनावुभौ ।
शरवर्षाणि मुञ्चन्तो मेघाः पर्वतयोरिव ॥ १६ ॥

जैसे मेघ दो पर्वतोंपर जलकी धारा बरसा रहे हों, उसी प्रकार अत्यन्त क्रोधमें भरे हुए वे नरेश कर्ण और दुर्योधन दोनोंपर टूट पड़े तथा उनके ऊपर बाणोंकी वर्षा करने लगे ॥

कर्णस्तेषामापततामेकैकेन शरेण ह ।
धनूंषि च शरव्रातान् पातयामास भूतले ॥ १७ ॥

कर्णने एक-एक बाणसे उन सभी आक्रमणकारी नरेशोंके धनुष और बाण-समूहोंको भूतलपर काट गिराया ॥ १७ ॥

ततो विधनुषः कांश्चित् कांश्चिदुद्यतकार्मुकान् ।
कांश्चिच्चोद्वहतो बाणान् रथशक्तिगदास्तथा ॥ १८ ॥
लाघवाद् व्याकुलीकृत्य कर्णः प्रहरतां वरः ।
हतसूतांश्च भूयिष्ठानवजिग्ये नराधिपान् ॥ १९ ॥

तदनन्तर प्रहार करनेवालोंमें श्रेष्ठ कर्णने जल्दी-जल्दी बाण मारकर उन सब राजाओंको व्याकुल कर दिया, कोई धनुषसे रहित हो गये, कोई अपने धनुषको ऊपर ही उठाये रह गये, कोई बाण, कोई रथशक्ति और कोई गदा लिये रह गये । जो जिस अवस्थामें थे, उसी अवस्थामें उन्हें व्याकुल करके कर्णने उनके सारथियोंको मार डाला और उन बहुसंख्यक नरेशोंको परास्त कर दिया ॥ १८-१९ ॥

ते स्वयं वाहयन्तोऽश्वान् पाहि पाहीति वादिनः ।
व्यपेयुस्ते रणं हित्वा राजानो भग्नमानसाः ॥ २० ॥

वे पराजित भूपाल भग्नमनोरथ हो स्वयं ही घोड़े हाँकते और 'बचाओ बचाओ' की रट लगाते हुए युद्ध छोड़कर भाग गये ॥ २० ॥

दुर्योधनस्तु कर्णेन पाल्यमानोऽभ्ययात् तदा ।
हृष्टः कन्यामुपादाय नगरं नागसाह्वयम् ॥ २१ ॥

दुर्योधन कर्णसे सुरक्षित हो राजकन्याको साथ लिये राजी-खुशी हस्तिनापुर वापस आ गया ॥ २१ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि राजधर्मानुशासनपर्वणि दुर्योधनस्य स्वयंवरे कन्याहरणं नाम चतुर्थोऽध्यायः ॥ ४ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत राजधर्मानुशासनपर्वमें दुर्योधनके द्वारा स्वयंवरमें राजकन्याका अपहरण नामक चौथा अध्याय पूरा हुआ ॥ ४ ॥

पञ्चमोऽध्यायः

कर्णके बल और पराक्रमका वर्णन, उसके द्वारा जरासंधकी पराजय और जरासंधका कर्णको अंगदेशमें मालिनीनगरीका राज्य प्रदान करना

नारद उवाच

आविष्कृतबलं कर्णं श्रुत्वा राजा स मागधः ।
आह्वयद् द्वैरथेनाजौ जरासंधो महीपतिः ॥ १ ॥

नारदजी कहते हैं—राजन् ! कर्णके बलकी ख्याति सुनकर मगधदेशके राजा जरासंधने द्वैरथ युद्धके लिये उसे ललकारा ॥

तयोः समभवद् युद्धं दिव्यास्त्रविदुषोर्द्वयोः ।
युधि नानाप्रहरणैरन्योन्यमभिवर्षतोः ॥ २ ॥

वे दोनों ही दिव्यास्त्रोंके ज्ञाता थे । उन दोनोंमें युद्ध आरम्भ हो गया । वे रणभूमिमें एक दूसरेपर नाना प्रकारके अस्त्र-शस्त्रोंकी वर्षा करने लगे ॥ २ ॥

क्षीणबाणौ विधनुषौ भग्नखड्गौ महीं गतौ ।
बाहुभिः समसज्जेतामुभावपि बलान्वितौ ॥ ३ ॥

दोनोंके ही बाण क्षीण हो गये, धनुष कट गये और तलवारोंके टुकड़े-टुकड़े हो गये । तब वे दोनों बलशाली वीर

[illegible] महायुद्ध करने लगे ॥ ३ ॥

बाहुकण्टकयुद्धेन तस्य कर्णोऽथ युध्यतः ।
बिभेद संधिं देहस्य जरया श्लेषितस्य हि ॥ ४ ॥

कर्णने बाहुकण्टक युद्धके द्वारा जरा नामक राक्षसीके जोड़े हुए, युद्धस्थलमें जरासंधके शरीरकी संधिको चीरना आरम्भ किया* ॥ ४ ॥

स विकारं शरीरस्य दृष्ट्वा नृपतिरात्मनः ।
प्रीतोऽस्मीत्यब्रवीत् कर्णं वैरमुत्सृज्य दूरतः ॥ ५ ॥

राजा जरासंधने अपने शरीरके उस विकारको देखकर वैरभावको दूर हटा दिया और कर्णसे कहा—'मैं तुमपर बहुत प्रसन्न हूँ' ॥ ५ ॥

प्रीत्या ददौ स कर्णाय मालिनीं नगरीमथ ।
अङ्गेषु नरशार्दूल स राजाऽऽसीत् सपत्नजित् ॥ ६ ॥
पालयामास चम्पां च कर्णः परबलार्दनः ।
दुर्योधनस्यानुमते तवापि विदितं तथा ॥ ७ ॥

साथ ही उसने प्रसन्नतापूर्वक कर्णको अङ्गदेशकी मालिनी नगरी दे दी। नरश्रेष्ठ ! शत्रुविजयी कर्ण तभीसे अङ्गदेशका राजा हो गया था। इसके बाद दुर्योधनकी अनुमतिसे शत्रुसेनासंहारी कर्ण चम्पा नगरी—चम्पारनका भी पालन करने लगा। यह सब तो तुम्हें भी ज्ञात ही है ॥ ६-७ ॥

एवं शस्त्रप्रतापेन प्रथितः सोऽभवत् क्षितौ ।
त्वद्धितार्थं सुरेन्द्रेण भिक्षितो वर्मकुण्डले ॥ ८ ॥

इस प्रकार कर्ण अपने शस्त्रोंके प्रतापसे समस्त भूमण्डलमें विख्यात हो गया। एक दिन देवराज इन्द्रने तुमलोगोंके हितके लिये कर्णसे उसके कवच और कुण्डल माँगे ॥ ८ ॥

स दिव्ये सहजे प्रादात् कुण्डले परमार्जिते ।
सहजं कवचं चापि मोहितो देवमायया ॥ ९ ॥

देवमायासे मोहित हुए कर्णने अपने शरीरके साथ ही उत्पन्न हुए दोनों दिव्य कुण्डलों और कवचको भी इन्द्रके हाथमें दे दिया ॥ ९ ॥

विमुक्तः कुण्डलाभ्यां च सहजेन च वर्मणा ।
निहतो विजयेनाजौ वासुदेवस्य पश्यतः ॥ १० ॥

इस प्रकार जन्मके साथ ही उत्पन्न हुए कवच और कुण्डलोंसे हीन हो जानेपर कर्णको अर्जुनने भगवान् श्रीकृष्णके देखते-देखते मारा था ॥ १० ॥

ब्राह्मणस्याभिशापेन रामस्य च महात्मनः ।
कुन्त्याश्च वरदानेन मायया च शतक्रतोः ॥ ११ ॥
भीष्मावमानात् संख्यायां रथस्यार्धानुकीर्तनात् ।
शल्यात् तेजोवधाच्चापि वासुदेवनयेन च ॥ १२ ॥

एक तो उसे अग्निहोत्री ब्राह्मण तथा महात्मा परशुरामजीके शाप मिले थे। दूसरे, उसने स्वयं भी कुन्तीको अन्य चार भाइयोंकी रक्षाके लिये वरदान दिया था। तीसरे, इन्द्रने माया करके उसके कवच-कुण्डल ले लिये। चौथे, महारथियोंकी गणना करते समय भीष्मजीने अपमानपूर्वक उसे बार-बार अर्धरथी कहा था। पाँचवें, शल्यकी ओरसे उसके तेजको नष्ट करनेका प्रयास किया गया था और छठे, भगवान् श्रीकृष्णकी नीति भी कर्णके प्रतिकूल काम कर रही थी—इन सब कारणोंसे वह पराजित हुआ ॥ ११-१२ ॥

रुद्रस्य देवराजस्य यमस्य वरुणस्य च ।
कुबेरद्रोणयोश्चैव कृपस्य च महात्मनः ॥ १३ ॥
अस्त्राणि दिव्यान्यादाय युधि गाण्डीवधन्वना ।
हतो वैकर्तनः कर्णो दिवाकरसमद्युतिः ॥ १४ ॥

इधर, गाण्डीवधारी अर्जुनने रुद्र, देवराज इन्द्र, यम, वरुण, कुबेर, द्रोणाचार्य तथा महात्मा कृपके दिये हुए दिव्यास्त्र प्राप्त कर लिये थे; इसीलिये युद्धमें उन्होंने सूर्यके समान तेजस्वी वैकर्तन कर्णका वध किया ॥ १३-१४ ॥

एवं शप्तस्तव भ्राता बहुभिश्चापि वञ्चितः ।
न शोच्यः पुरुषव्याघ्र युद्धेन निधनं गतः ॥ १५ ॥

पुरुषसिंह युधिष्ठिर ! इस प्रकार तुम्हारे भाई कर्णको शाप तो मिला ही था, बहुत लोगोंने उसे ठग भी लिया था, तथापि वह युद्धमें मारा गया है, इसलिये शोक करनेके योग्य नहीं है ॥ १५ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि राजधर्मानुशासनपर्वणि कर्णवीर्यकथनं नाम पञ्चमोऽध्यायः ॥ ५ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत राजधर्मानुशासनपर्वमें कर्णके पराक्रमका कथन नामक पाँचवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ५ ॥

षष्ठोऽध्यायः

युधिष्ठिरकी चिन्ता, कुन्तीका उन्हें समझाना और स्त्रियोंको युधिष्ठिरका शाप

वैशम्पायन उवाच

एतावदुक्त्वा देवर्षिर्विरराम स नारदः ।
युधिष्ठिरस्तु राजर्षिर्दध्यौ शोकपरिप्लुतः ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन् ! इतना कहकर देवर्षि नारद तो चुप हो गये, किंतु राजर्षि युधिष्ठिर शोकमग्न हो चिन्ता करने लगे ॥ १ ॥

---

* जहाँ बलवान् योद्धा अपने प्रतिद्वन्द्वीको दुर्बल पा उसकी एक पिण्डलीको पैरसे दबाकर दूसरीको ऊपर उठा सारे शरीरको बीचसे चीर डालता है, वह बाहुकण्टक नामक युद्ध कहा गया है। जैसा कि निम्नाङ्कित वचनसे सूचित होता है—

'एकं जङ्घां नराऽऽक्रम्य परामुत्क्षिप्य पाटयेत् । केतकीपत्रवच्छत्रोर्युद्धं तद् बाहुकण्टकम् ॥' इति

तं दीनमनसं वीरं शोकोपहतमातुरम् ।
निःश्वसन्तं यथा नागं पर्यश्रुनयनं तथा ॥ २ ॥
कुन्ती शोकपरीताङ्गी दुःखोपहतचेतना ।
अब्रवीन्मधुराभाषा काले वचनमर्थवत् ॥ ३ ॥

उनका मन बहुत दुखी हो गया। वे शोकके मारे व्याकुल हो सर्पकी भाँति लंबी साँस खींचने लगे। उनकी आँखोंसे आँसू बहने लगा। वीर युधिष्ठिरकी ऐसी अवस्था देख कुन्तीके सारे अङ्गोंमें शोक व्याप्त हो गया। वे दुःखसे अचेत-सी हो गयीं और मधुर वाणीमें समयके अनुसार अर्थ-भरी बात कहने लगीं—॥ २-३ ॥

युधिष्ठिर महाबाहो नैनं शोचितुमर्हसि ।
जहि शोकं महाप्राज्ञ शृणु चेदं वचो मम ॥ ४ ॥

'महाबाहु युधिष्ठिर! तुम्हें कर्णके लिये शोक नहीं करना चाहिये। महामते! शोक छोड़ो और मेरी यह बात सुनो ॥

यातितः स मया पूर्वं भ्रात्र्यं ज्ञापयितुं तव ।
भास्करेण च देवेन पित्रा धर्मभृतां वर ॥ ५ ॥

'धर्मात्माओंमें श्रेष्ठ युधिष्ठिर! मैंने पहले कर्णको यह बतानेका प्रयत्न किया था कि पाण्डव तुम्हारे भाई हैं। उसके पिता भगवान् भास्करने भी ऐसी ही चेष्टा की ॥ ५ ॥

यद्वाच्यं हितकामेन सुहृदा हितमिच्छता ।
तथा दिवाकरेणोक्तः स्वप्नान्ते मम चाग्रतः ॥ ६ ॥

'हितकी इच्छा रखनेवाले एक हितैषी सुहृद्को जो कुछ कहना चाहिये, वही भगवान् सूर्यने उससे स्वप्नमें और मेरे सामने भी कहा ॥ ६ ॥

न चैनमशकद् भानुरहं वा स्नेहकारणैः ।
पुरा प्रत्यनुनेतुं वा नेतुं वाप्येकतां त्वया ॥ ७ ॥

'परंतु भगवान् सूर्य एवं मैं दोनों ही स्नेहके कारण दिखाकर अपने पक्षमें करने या तुमलोगोंसे एकता (मेल) करानेमें सफल न हो सके ॥ ७ ॥

ततः कालपरीतः स वैरस्योद्धरणे रतः ।
प्रतीपकारी युष्माकमिति चोपेक्षितो मया ॥ ८ ॥

'तदनन्तर वह कालके वशीभूत हो वैरका बदला लेनेमें लग गया और तुमलोगोंके विपरीत ही सारे कार्य करने लगा; यह देखकर मैंने उसकी उपेक्षा कर दी' ॥ ८ ॥

इत्युक्तो धर्मराजस्तु मात्रा बाष्पाकुलेक्षणः ।
उवाच वाक्यं धर्मात्मा शोकव्याकुलितेन्द्रियः ॥ ९ ॥
भवत्या गूढमन्त्रत्वात् पीडितोऽस्मीत्युवाच ताम् ॥ १० ॥

माताके ऐसा कहनेपर धर्मराज युधिष्ठिरके नेत्रोंमें आँसू भर आया, शोकसे उनकी इन्द्रियाँ व्याकुल हो गयीं और वे धर्मात्मा नरेश उनसे इस प्रकार बोले—'माँ! आपने इस गोपनीय बातको गुप्त रखकर मुझे बड़ा कष्ट दिया' ॥ ९-१० ॥

शशाप च महातेजाः सर्वलोकेषु योषितः ।
न गुह्यं धारयिष्यन्तीत्येवं दुःखसमन्वितः ॥ ११ ॥

फिर महातेजस्वी युधिष्ठिरने अत्यन्त दुखी होकर सारे संसारकी स्त्रियोंको यह शाप दे दिया कि 'आजसे स्त्रियाँ अपने मनमें कोई गोपनीय बात नहीं छिपा सकेंगी' ॥ ११ ॥

स राजा पुत्रपौत्राणां सम्बन्धिसुहृदां तदा ।
स्मरन्नुद्विग्नहृदयो बभूवोद्विग्नचेतनः ॥ १२ ॥

राजा युधिष्ठिरका हृदय अपने पुत्रों, पौत्रों, सम्बन्धियों तथा सुहृदोंको याद करके उद्विग्न हो उठा। उनके मनमें व्याकुलता छा गयी ॥ १२ ॥

ततः शोकपरीतात्मा सधूम इव पावकः ।
निर्वेदमगमद् धीमान् राजा संतापपीडितः ॥ १३ ॥

तत्पश्चात् शोकसे व्याकुलचित्त हुए बुद्धिमान् राजा युधिष्ठिर संतापसे पीड़ित हो धूमयुक्त अग्निके समान धीरे-धीरे जलने लगे तथा राज्य और जीवनसे विरक्त हो उठे ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि राजधर्मानुशासनपर्वणि स्त्रीशापे षष्ठोऽध्यायः ॥ ६ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत राजधर्मानुशासनपर्वमें स्त्रियोंको युधिष्ठिरका शापविषयक छठा अध्याय पूरा हुआ ॥ ६ ॥

सप्तमोऽध्यायः

युधिष्ठिरका अर्जुनसे आन्तरिक खेद प्रकट करते हुए अपने लिये राज्य छोड़कर वनमें चले जानेका प्रस्ताव करना

वैशम्पायन उवाच

युधिष्ठिरस्तु धर्मात्मा शोकव्याकुलचेतनः ।
शुशोच दुःखसंतप्तः स्मृत्वा कर्णं महारथम् ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन्! धर्मात्मा राजा युधिष्ठिरका चित्त शोकसे व्याकुल हो उठा था। वे महारथी कर्णको याद करके दुःखसे संतप्त हो शोकमें डूब गये ॥ १ ॥

आविष्टो दुःखशोकाभ्यां निःश्वसंश्च पुनः पुनः ।
दृष्ट्वार्जुनमुवाचेदं वचनं शोककर्शितः ॥ २ ॥

दुःख और शोकसे आविष्ट हो वे बारंबार लंबी साँस खींचने लगे और अर्जुनको देखकर शोकसे पीड़ित हो इस प्रकार बोले ॥ २ ॥

युधिष्ठिर उवाच

यद् भैक्ष्यमाचरिष्याम वृष्ण्यन्धकपुरे वयम् ।
ज्ञातीन् निष्पुरुषान् कृत्वा नेमां प्राप्स्याम दुर्गतिम् ॥ ३ ॥

युधिष्ठिरने कहा—अर्जुन! यदि हमलोग वृष्णिवंशी तथा अन्धकवंशी क्षत्रियोंकी नगरी द्वारिकामें जाकर भीख

माँगते हुए अपना जीवन-निर्वाह कर लेते तो आज अपने कुटुम्बका निधन करके हम इस दुर्दशाको प्राप्त नहीं होते ॥

अमित्रा नः समृद्धार्था वृत्तार्थाः कुरवः किल ।
आत्मानमात्मना हत्वा किं धर्मफलमाप्नुमः ॥ ४ ॥

हमारे शत्रुओंका मनोरथ पूर्ण हुआ (क्योंकि वे हमारे कुलका विनाश देखकर प्रसन्न होंगे)। कौरवोंका प्रयोजन तो उनके जीवनके साथ ही समाप्त हो गया। आत्मीय जनोंको मारकर स्वयं ही अपनी हत्या करके हम कौन-सा धर्मका फल प्राप्त करेंगे ? ॥ ४ ॥

धिगस्तु क्षात्रमाचारं धिगस्तु बलपौरुषम् ।
धिगस्त्वमर्षं येनेमामापदं गमिता वयम् ॥ ५ ॥

क्षत्रियोंके आचार, बल, पुरुषार्थ और अमर्षको धिक्कार है ! जिनके कारण हम ऐसी विपत्तिमें पड़ गये ॥ ५ ॥

साधु क्षमा दमः शौचं वैराग्यं चाप्यमत्सरः ।
अहिंसा सत्यवचनं नित्यानि वनचारिणाम् ॥ ६ ॥

क्षमा, मन और इन्द्रियोंका संयम, बाहर-भीतरकी शुद्धि, वैराग्य, ईर्ष्याका अभाव, अहिंसा और सत्यभाषण--ये वनवासियोंके नित्य धर्म ही श्रेष्ठ हैं ॥ ६ ॥

वयं तु लोभान्मोहाच्च दम्भं मानं च संश्रिताः ।
इमामवस्थां सम्प्राप्ता राज्यलाभबुभुत्सया ॥ ७ ॥

हमलोग तो लोभ और मोहके कारण राज्यलाभके सुखका अनुभव करनेकी इच्छासे दम्भ और अभिमानका आश्रय लेकर इस दुर्दशामें फँस गये हैं ॥ ७ ॥

त्रैलोक्यस्यापि राज्येन नास्मान् कश्चित् प्रहर्षयेत् ।
बान्धवान् निहतान् दृष्ट्वा पृथिव्यां विजयैषिणः॥ ८ ॥

जब हमने पृथ्वीपर विजयकी इच्छा रखनेवाले अपने बन्धु-बान्धवोंको मारा गया देख लिया, तब हमें इस समय तीनों लोकोंका राज्य देकर भी कोई प्रसन्न नहीं कर सकता ॥

ते वयं पृथिवीहेतोरवध्यान् पृथिवीश्वरान् ।
सम्परित्यज्य जीवामो हीनार्था हतबान्धवाः ॥ ९ ॥

हाय ! हमलोगोंने इस तुच्छ पृथ्वीके लिये अवध्य राजाओंकी भी हत्या की और अब उन्हें छोड़कर बन्धु-बान्धवोंसे हीन हो अर्थ-भ्रष्टकी भाँति जीवन व्यतीत कर रहे हैं ॥ ९ ॥

आमिषे गृध्यमानानामशुभं वै शुनामिव ।
आमिषं चैव नो हीष्टमामिषस्य विवर्जनम् ॥ १० ॥

जैसे मांसके लोभी कुत्तोंको अशुभकी प्राप्ति होती है, उसी प्रकार राज्यमें आसक्त हुए हमलोगोंको भी अनिष्ट प्राप्त हुआ है। अतः हमारे लिये मांस-तुल्य राज्यको पाना अभीष्ट नहीं है, उसका परित्याग ही अभीष्ट होना चाहिये ॥

न पृथिव्या सकलया न सुवर्णस्य राशिभिः ।
न गवाश्वेन सर्वेण ते त्याज्या य इमे हताः ॥ ११ ॥

ये जो हमारे सगे-सम्बन्धी मारे गये हैं, इनका परित्याग तो हमें समस्त पृथ्वी, राशि-राशि सुवर्ण और समूचे गाय-घोड़े पाकर भी नहीं करना चाहिये था ॥ ११ ॥

काममन्युपरीतास्ते क्रोधहर्षसमन्विताः ।
मृत्युयानं समारुह्य गता वैवस्वतक्षयम् ॥ १२ ॥

वे काम और क्रोधके वशीभूत थे, हर्ष और रोषसे भरे हुए थे, अतः मृत्युरूपी रथपर सवार हो यमलोकमें चले गये ॥

बहुकल्याणसंयुक्तानिच्छन्ति पितरः सुतान् ।
तपसा ब्रह्मचर्येण सत्येन च तितिक्षया ॥ १३ ॥

सभी पिता तपस्या, ब्रह्मचर्य-पालन, सत्यभाषण तथा तितिक्षा आदि साधनोंद्वारा अनेक कल्याणमय गुणोंसे युक्त बहुत-से पुत्र पाना चाहते हैं ॥ १३ ॥

उपवासैस्तथेज्याभिर्व्रतकौतुकमङ्गलैः ।
लभन्ते मातरो गर्भान् मासान् दश च बिभ्रति ॥ १४ ॥
यदि स्वस्ति प्रजायन्ते जाता जीवन्ति वा यदि ।
सम्भाविता जातबलास्ते दद्युर्यदि नः सुखम् ॥ १५ ॥
इह चामुत्र चैवेति कृपणाः फलहेतवः ।

इसी प्रकार सभी माताएँ उपवास, यज्ञ, व्रत, कौतुक और मङ्गलमय कृत्योंद्वारा उत्तम पुत्रकी इच्छा रखकर दस महीनोंतक अपने गर्भोंका भरण-पोषण करती हैं। उन सबका यही उद्देश्य होता है कि यदि कुशलपूर्वक बच्चे पैदा होंगे, पैदा होनेपर यदि जीवित रहेंगे तथा बलवान् होकर यदि सम्भावित गुणोंसे सम्पन्न होंगे तो हमें इहलोक और परलोकमें सुख देंगे। इस प्रकार वे दीन माताएँ फलकी आकाङ्क्षा रखती हैं ॥ १४-१५½ ॥

तासामयं समुद्योगो निर्वृत्तः केवलोऽफलः ॥ १६ ॥
यदासां निहताः पुत्रा युवानो मृष्टकुण्डलाः ।
अभुक्त्वा पार्थिवान् भोगानृणान्यनपहाय च ॥ १७ ॥
पितृभ्यो देवताभ्यश्च गता वैवस्वतक्षयम् ॥ १८ ॥

परंतु उनका यह उद्योग सर्वथा निष्फल हो गया; क्योंकि हमलोगोंने उन सब माताओंके नवयुवक पुत्रोंको, जो विशुद्ध सुवर्णमय कुण्डलोंसे अलंकृत थे, मार डाला है। वे इस भूलोकके भोगोंके उपभोगका अवसर न पाकर देवताओं और पितरोंका ऋण उतारे बिना ही यमलोकमें चले गये ॥१६-१८॥

यदैषामम्ब पितरौ जातकामावुभावपि ।
संजातधनरत्नेषु तदैव निहता नृपाः ॥ १९ ॥

माँ ! इन राजाओंके माता-पिता जब इनके द्वारा उपार्जित धन और रत्न आदिके उपभोगकी आशा करने लगे, तभी ये मारे गये ॥ १९ ॥

संयुक्ताः काममन्युभ्यां क्रोधहर्षासमञ्जसाः ।
न ते जयफलं किंचिद् भोक्तारो जातु कर्हिचित् ॥ २० ॥

जो लोग कामना और खीझसे युक्त हो क्रोध और हर्षके कारण अपना संतुलन खो बैठते हैं, वे कभी कहीं किंचिन्मात्र भी विजयका फल नहीं भोग सकते ॥ २० ॥

ञ्चालानां कुरूणां च हता एव हि ये हताः ।
चेत् सर्वानयं लोकः पश्येत् स्वेनैव कर्मणा ॥ २१ ॥

पाञ्चालों और कौरवोंके जो वीर मारे गये, वे तो मर गये; नहीं तो आज यह संसार देखता कि वे सब अपने पुरुषार्थसे कैसी ऊँची स्थितिमें पहुँच गये हैं ॥ २१ ॥

यमेवास्य लोकस्य विनाशे कारणं स्मृताः ।
तराष्ट्रस्य पुत्रेषु तत् सर्वं प्रतिपत्स्यति ॥ २२ ॥

हमलोग ही इस जगत्के विनाशमें कारण माने गये हैं; रंतु इसका सारा उत्तरदायित्व धृतराष्ट्रके पुत्रोंपर ही पड़ेगा ॥

दैव निकृतिप्रज्ञो द्वेष्टा मायोपजीवनः ।
ध्याविनीतः सततमस्मास्वनपकारिषु ॥ २३ ॥

हमलोगोंने कभी कोई बुराई नहीं की थी तो भी राजा तराष्ट्र सदा हमसे द्वेष रखते थे। उनकी बुद्धि निरन्तर में ठगनेकी ही बात सोचा करती थी। वे मायाका आश्रय नेवाले थे और झूठे ही विनय अथवा नम्रता दिखाया रते थे ॥ २३ ॥

सकामा वयं ते च न चास्माभिर्न तैर्जितम् ।
तैर्भुक्तेयमवनिर्न नार्यो गीतवादितम् ॥ २४ ॥

इस युद्धसे न तो हमारी कामना सफल हुई और न वे रव ही सफलमनोरथ हुए। न हमारी जीत हुई, न उनकी। न्होंने न तो इस पृथ्वीका उपभोग किया, न स्त्रियोंका सुख खा और न गीतवाद्यका ही आनन्द लिया ॥ २४ ॥

ामात्यसुहृदां वाक्यं न च श्रुतवतां श्रुतम् ।
रत्नानि परार्ध्यानि न भूर्न द्रविणागमः ॥ २५ ॥

मन्त्रियों, सुहृदों तथा वेद-शास्त्रोंके ज्ञाता विद्वानोंकी भी तें वे नहीं सुन सके। बहुमूल्य रत्न, पृथ्वीके राज्य तथा नकी आयका भी सुख भोगनेका उन्हें अवसर नहीं मिला ॥

ास्मद्द्वेषेण संतप्तः सुखं न स्मेह विन्दति ।
ृद्धिमस्मासु तां दृष्ट्वा विवर्णो हरिणः कृशः ॥ २६ ॥

दुर्योधन हमसे द्वेष रखनेके कारण सदा संतप्त रहकर भी यहाँ सुख नहीं पाता था। हमलोगोंके पास वैसी समृद्धि खकर उसकी कान्ति फीकी पड़ गयी थी। वह चिन्तासे ूखकर पीला और दुर्बल हो गया था ॥ २६ ॥

ृतराष्ट्रश्च नृपतिः सौबलेन निवेदितः ।
पिता पुत्रगृद्धित्वादनुमेनेऽनये स्थितः ॥ २७ ॥
नपेक्ष्यैव पितरं गाङ्गेयं विदुरं तथा ।

सुबलपुत्र शकुनिने राजा धृतराष्ट्रको दुर्योधनकी यह वस्था सूचित की। पुत्रके प्रति अधिक आसक्त होनेके ारण पिता धृतराष्ट्रने अन्यायमें स्थित हो उसकी इच्छाका नुमोदन किया। इस विषयमें उन्होंने अपने पिता (ताऊ) ङ्गानन्दन भीष्म तथा भाई विदुरसे राय लेनेकी भी इच्छा हीं की ॥ २७½ ॥

ासंशयं क्षयं राजा यथैवाहं तथा गतः ॥ २८ ॥

उनकी इसी दुर्नीतिके कारण निःसंदेह राजा धृतराष्ट्रको भी वैसा ही विनाश प्राप्त हुआ है, जैसा कि मुझे ॥ २८ ॥

अनियम्याशुचिं लुब्धं पुत्रं कामवशानुगम् ।
यशसः पतितो दीप्ताद् घातयित्वा सहोदरान् ॥ २९ ॥

वे अपने अपवित्र आचार-विचारवाले, लोभी एवं कामासक्त पुत्रको काबूमें न रखनेके कारण उसका तथा उसके सहोदर भाइयोंका वध करवाकर स्वयं भी उज्ज्वल यशसे भ्रष्ट हो गये ॥ २९ ॥

इमौ हि वृद्धौ शोकाग्नौ प्रक्षिप्य स सुयोधनः ।
अस्मत्प्रद्वेषसंयुक्तः पापबुद्धिः सदैव ह ॥ ३० ॥

हमलोगोंके प्रति सदा द्वेष रखनेवाला पापबुद्धि दुर्योधन इन दोनों वृद्धोंको शोककी आगमें झोंककर चला गया ॥ ३० ॥

को हि बन्धुः कुलीनः संस्तथा ब्रूयात् सुहृज्जने ।
यथासाववदद् वाक्यं युयुत्सुः कृष्णसंनिधौ ॥ ३१ ॥

संधिके लिये गये हुए श्रीकृष्णके समीप युद्धकी इच्छावाले दुर्योधनने जैसी बात कही थी, वैसी कौन भाई-बन्धु कुलीन होकर भी अपने सुहृदोंके लिये कह सकता है ? ॥ ३१ ॥

आत्मनो हि वयं दोषाद् विनष्टाः शाश्वतीः समाः ।
प्रदहन्तो दिशः सर्वा भास्करा इव तेजसा ॥ ३२ ॥

हमलोगोंने तेजसे प्रकाशित होनेवाली सम्पूर्ण दिशाओंमें मानो आग लगा दी और अपने ही दोषसे सदाके लिये नष्ट हो गये ॥ ३२ ॥

सोऽस्माकं वैरपुरुषो दुर्मतिः प्रग्रहं गतः ।
दुर्योधनकृते ह्येतत् कुलं नो विनिपातितम् ॥ ३३ ॥

हमारे प्रति शत्रुताका मूर्तिमान् स्वरूप वह दुर्बुद्धि दुर्योधन पूर्णतः बन्धनमें बँध गया। दुर्योधनके कारण ही हमारे इस कुलका पतन हो गया ॥ ३३ ॥

अवध्यानां वधं कृत्वा लोके प्राप्ताः स्म वाच्यताम् ।
कुलस्यास्यान्तकरणं दुर्मतिं पापपूरुषम् ॥ ३४ ॥
राजा राष्ट्रेश्वरं कृत्वा धृतराष्ट्रोऽद्य शोचति ।

हमलोग अवध्य नरेशोंका वध करके संसारमें निन्दाके पात्र हो गये। राजा धृतराष्ट्र इस कुलका विनाश करनेवाले दुर्बुद्धि एवं पापात्मा दुर्योधनको इस राष्ट्रका स्वामी बनाकर आज शोककी आगमें जल रहे हैं ॥ ३४½ ॥

हताः शूराः कृतं पापं विषयः स्वो विनाशितः ॥ ३५ ॥
हत्वा नो विगतो मन्युः शोको मां रुन्धयत्ययम् ।

हमने शूरवीरोंको मारा, पाप किया और अपने ही देशका विनाश कर डाला। शत्रुओंको मारकर हमारा क्रोध तो दूर हो गया, परंतु यह शोक मुझे निरन्तर घेरे रहता है ॥ ३५½ ॥

धनंजय कृतं पापं कल्याणेनोपहन्यते ॥ ३६ ॥
ख्यापनेनानुतापेन दानेन तपसापि वा ।

धनंजय ! किया हुआ पाप कहनेसे, शुभ कर्म करनेसे, पछतानेसे, दान करनेसे और तपस्यासे भी नष्ट होता है ॥

निवृत्त्या तीर्थगमनाच्छ्रुतिस्मृतिजपेन वा ॥ ३७ ॥
त्यागवांश्च पुनः पापं नालं कर्तुमिति श्रुतिः ।
त्यागवाञ्जन्ममरणे नाप्नोतीति श्रुतिर्यदा ॥ ३८ ॥

निवृत्तिपरायण होने, तीर्थयात्रा करने तथा वेद-शास्त्रोंका स्वाध्याय एवं जप करनेसे भी पाप दूर होता है। श्रुतिका कथन है कि त्यागी पुरुष पाप नहीं कर सकता तथा वह जन्म और मरणके बन्धनमें भी नहीं पड़ता ॥ ३७-३८ ॥

प्राप्तवर्त्मा कृतमतिर्ब्रह्म सम्पद्यते तदा ।
स धनंजय निर्द्वन्द्वो मुनिर्ज्ञानसमन्वितः ॥ ३९ ॥

धनंजय ! उसे मोक्षका मार्ग मिल जाता है और वह ज्ञानी एवं स्थिर-बुद्धि मुनि द्वन्द्वरहित होकर तत्काल ब्रह्म-साक्षात्कार कर लेता है ॥ ३९ ॥

वनमामन्त्र्य वः सर्वान् गमिष्यामि परंतप ।
न हि कृत्स्नतमो धर्मः शक्यः प्राप्तुमिति श्रुतिः ॥ ४० ॥
परिग्रहवता तन्मे प्रत्यक्षमरिसूदन ।

शत्रुओंको तपानेवाले अर्जुन ! मैं तुम सब लोगोंसे विदा लेकर वनमें चला जाऊँगा। शत्रुसूदन ! श्रुति कहती है कि 'संग्रह-परिग्रहमें फँसा हुआ मनुष्य पूर्णतम धर्म (परमात्माका दर्शन) नहीं प्राप्त कर सकता।' इसका मुझे प्रत्यक्ष अनुभव हो रहा है ॥ ४०½ ॥

मया निसृष्टं पापं हि परिग्रहमभीप्सता ॥ ४१ ॥
जन्मक्षयनिमित्तं च प्राप्तुं शक्यमिति श्रुतिः ।

मैंने परिग्रह (राज्य और धनके संग्रह) की इच्छा रखकर केवल पाप बटोरा है, जो जन्म और मृत्युका मुख्य कारण है। श्रुतिका कथन है कि 'परिग्रहसे पाप ही प्राप्त हो सकता है' ॥ ४१½ ॥

स परिग्रहमुत्सृज्य कृत्स्नं राज्यं सुखानि च ॥ ४२ ॥
गमिष्यामि विनिर्मुक्तो विशोको निर्ममः क्वचित् ।

अतः मैं परिग्रह छोड़कर सारे राज्य और इसके सुखोंको लात मारकर बन्धनमुक्त हो शोक और ममतासे ऊपर उठकर, कहीं वनमें चला जाऊँगा ॥ ४२½ ॥

प्रशाधि त्वमिमामुर्वीं क्षेमां निहतकण्टकाम् ॥ ४३ ॥
न ममार्थोऽस्ति राज्येन भोगैर्वा कुरुनन्दन ।

कुरुनन्दन ! तुम इस निष्कण्टक एवं कुशल-क्षेमसे युक्त पृथ्वीका शासन करो । मुझे राज्य और भोगोंसे कोई मतलब नहीं है ॥ ४३½ ॥

एतावदुक्त्वा वचनं कुरुराजो युधिष्ठिरः ।
उपारमत् ततः पार्थः कनीयानभ्यभाषत ॥ ४४ ॥

इतना कहकर कुरुराज युधिष्ठिर चुप हो गये । तब कुन्तीके सबसे छोटे पुत्र अर्जुनने भाषण देना आरम्भ किया॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि राजधर्मानुशासनपर्वणि युधिष्ठिरपरिदेवनं नाम सप्तमोऽध्यायः ॥ ७ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत राजधर्मानुशासनपर्वमें युधिष्ठिरका खेदपूर्ण उद्गार नामक सातवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ७ ॥

अष्टमोऽध्यायः

अर्जुनका युधिष्ठिरके मतका निराकरण करते हुए उन्हें धनकी महत्ता बताना और राजधर्मके पालनके लिये जोर देते हुए यज्ञानुष्ठानके लिये प्रेरित करना

वैशम्पायन उवाच

अथार्जुन उवाचेदमधिक्षिप्त इवाक्षमी ।
अभिनीततरं वाक्यं दृढवादपराक्रमः ॥ १ ॥
दर्शयन्नैन्द्रिरात्मानमुग्रमुग्रपराक्रमः ।
स्मयमानो महातेजाः सृक्किणी परिसंलिहन् ॥ २ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! युधिष्ठिरकी यह बात सुनकर अर्जुन इस प्रकार असहिष्णु हो उठे, मानो उनपर कोई आक्षेप किया गया हो। वे बातचीत करने या पराक्रम दिखानेमें किसीसे दबनेवाले नहीं थे। उनका पराक्रम बड़ा भयंकर था। वे महातेजस्वी इन्द्रकुमार अपने उग्ररूप-का परिचय देते और दोनों गलफरोंको चाटते हुए मुसकरा-कर इस प्रकार गर्वयुक्त वचन बोलने लगे, जैसे नाटकके रङ्ग-मञ्चपर अभिनय कर रहे हों ॥ १-२ ॥

अर्जुन उवाच

अहो दुःखमहो कृच्छ्रमहो वैक्लव्यमुत्तमम् ।
यत् कृत्वामानुषं कर्म त्यजेथाः श्रियमुत्तमाम् ॥ ३ ॥

अर्जुनने कहा—राजन् ! यह तो बड़े भारी दुःख और महान् कष्टकी बात है ! आपकी विह्वलता तो पराकाष्ठाको पहुँच गयी । आश्चर्य है कि आप अलौकिक पराक्रम करके प्राप्त की हुई इस उत्तम राजलक्ष्मीका परित्याग कर रहे हैं ॥३॥

शत्रून् हत्वा महीं लब्ध्वा स्वधर्मेणोपपादिताम् ।
एवंविधं कथं सर्वं त्यजेथा बुद्धिलाघवात् ॥ ४ ॥

आपने शत्रुओंका संहार करके इस पृथ्वीपर अधिकार प्राप्त किया है । यह राज्य-लक्ष्मी आपको अपने धर्मके अनुसार प्राप्त हुई है । इस प्रकार जो यह सब कुछ आपके हाथमें आया है, इसे आप अपनी अल्पबुद्धिके कारण क्यों छोड़ रहे हैं ? ॥ ४ ॥

क्लीबस्य हि कुतो राज्यं दीर्घसूत्रस्य वा पुनः ।
किमर्थं च महीपालानवधीः क्रोधमूर्छितः ॥ ५ ॥

किसी कायर या आलसीको कैसे राज्य प्राप्त हो सकता है ? यदि आपको यही करना था तो किस लिये क्रोधसे विकल होकर इतने राजाओंका वध किया और कराया ? ॥ ५ ॥

यो ह्याजिजीविषेद् भैक्ष्यं कर्मणा नैव कस्यचित् ।
समारम्भान् बुभूषेत हतस्वस्तिरकिंचनः ।
सर्वलोकेषु विख्यातो न पुत्रपशुसंहितः ॥ ६ ॥

जिसके कल्याणका साधन नष्ट हो गया है, जो निरा दरिद्र है, जिसकी संसारमें कोई ख्याति नहीं है, जो स्त्री-पुत्र और पशु आदिसे सम्पन्न नहीं है तथा जो असमर्थतावश अपने पराक्रमसे किसीके राज्य या धनको लेनेकी इच्छा नहीं कर सकता, उसी मनुष्यको भीख माँगकर जीवन-निर्वाह करनेकी अभिलाषा रखनी चाहिये ॥ ६ ॥

कापालीं नृप पापिष्ठां वृत्तिमासाद्य जीवतः ।
संत्यज्य राज्यमृद्धं ते लोकोऽयं किं वदिष्यति ॥ ७ ॥

नरेश्वर ! जब आप यह समृद्धिशाली राज्य छोड़कर हाथमें खपड़ा लिये घर-घर भीख माँगनेकी नीचातिनीच वृत्तिका आश्रय लेकर जीवन-निर्वाह करने लगेंगे, तब लोग आपको क्या कहेंगे ? ॥ ७ ॥

सर्वारम्भान् समुत्सृज्य हतस्वस्तिरकिंचनः ।
कस्मादाशंससे भैक्ष्यं कर्तुं प्राकृतवत् प्रभो ॥ ८ ॥

प्रभो ! आप सारे उद्योग छोड़कर कल्याणके साधनोंसे हीन और अकिंचन हुए साधारण पुरुषोंके समान भीख माँगनेकी इच्छा क्यों करते हैं ? ॥ ८ ॥

अस्मिन् राजकुले जातो जित्वा कृत्स्नां वसुंधराम् ।
धर्मार्थावखिलौ हित्वा वनं मौढ्यात् प्रतिष्ठसे ॥ ९ ॥

इस राजकुलमें जन्म लेकर सारे भूमण्डलपर विजय प्राप्त करके अब सम्पूर्ण धर्म और अर्थ दोनोंको छोड़कर आप मोहके कारण ही वनमें जानेको उद्यत हुए हैं ॥ ९ ॥

यदीमानि हवींषीह विमथिष्यन्त्यसाधवः ।
भवता विप्रहीणानि प्राप्तं त्वामेव किल्बिषम् ॥ १० ॥

यदि आपके त्याग देनेपर यज्ञकी इन संचित सामग्रियोंको दुष्ट लोग नष्ट कर देंगे तो इसका पाप आपको ही लगेगा (अर्थात् आपने यज्ञ-याग छोड़ दिये हैं, अतः आपको आदर्श मानकर दूसरे लोग भी इस कर्मसे उदासीन हो जायँगे, उस दशामें इस धर्मकृत्यका उच्छेद हो जायगा और इसका दोष आपके सिर ही लगेगा) ॥ १० ॥

आकिंचन्यं मुनीनां च इति वै नहुषोऽब्रवीत् ।
कृत्वा नृशंसं ह्यधने धिगस्त्वधनतामिह ॥ ११ ॥

राजा नहुषने निर्धनावस्थामें क्रूरतापूर्ण कर्म करके यह दुःखपूर्ण उद्गार प्रकट किया था कि 'इस जगत्‌में निर्धनताको धिक्कार है ! सर्वस्व त्यागकर निर्धन या अकिंचन हो जाना यह मुनियोंका ही धर्म है, राजाओंका नहीं' ॥ ११ ॥

अश्वस्तनमृषीणां हि विद्यते वेद तद् भवान् ।
यं त्विमं धर्ममित्याहुर्धनादेष प्रवर्तते ॥ १२ ॥

आप भी इस बातको अच्छी तरह जानते हैं कि दूसरे दिनके लिये संग्रह न करके प्रतिदिन माँगकर खाना यह ऋषि-मुनियोंका ही धर्म है । जिसे राजाओंका धर्म कहा गया है, वह तो धनसे ही सम्पन्न होता है ॥ १२ ॥

धर्मं संहरते तस्य धनं हरति यस्य सः ।
ह्रियमाणे धने राजन् वयं कस्य क्षमेमहि ॥ १३ ॥

राजन् ! जो मनुष्य जिसका धन हर लेता है, वह उसके धर्मका भी संहार कर देता है । यदि हमारे धनका अपहरण होने लगे तो हम किसको और कैसे क्षमा कर सकते हैं ? ॥

अभिशस्तं प्रपश्यन्ति दरिद्रं पार्श्वतः स्थितम् ।
दरिद्रं पातकं लोके न तच्छंसितुमर्हति ॥ १४ ॥

दरिद्र मनुष्य पासमें खड़ा हो तो लोग इस तरह उसकी ओर देखते हैं, मानो वह कोई पापी या कलङ्कित हो; अतः दरिद्रता इस जगत्‌में एक पातक है । आप मेरे आगे उसकी प्रशंसा न करें ॥ १४ ॥

पतितः शोच्यते राजन् निर्धनश्चापि शोच्यते ।
विशेषं नाधिगच्छामि पतितस्याधनस्य च ॥ १५ ॥

राजन् ! जैसे पतित मनुष्य शोचनीय होता है, वैसे ही निर्धन भी होता है; मुझे पतित और निर्धनमें कोई अन्तर नहीं जान पड़ता ॥ १५ ॥

अर्थेभ्यो हि विवृद्धेभ्यः सम्भृतेभ्यस्ततस्ततः ।
क्रियाः सर्वाः प्रवर्तन्ते पर्वतेभ्य इवापगाः ॥ १६ ॥

जैसे पर्वतोंसे बहुत-सी नदियाँ बहती रहती हैं, उसी प्रकार बढ़े हुए संचित धनसे सब प्रकारके शुभ कर्मोंका अनुष्ठान होता रहता है ॥ १६ ॥

अर्थाद् धर्मश्च कामश्च स्वर्गश्चैव नराधिप ।
प्राणयात्रापि लोकस्य विना ह्यर्थं न सिद्ध्यति ॥ १७ ॥

नरेश्वर ! धनसे ही धर्म, काम और स्वर्गकी सिद्धि होती है । लोगोंके जीवनका निर्वाह भी बिना धनके नहीं होता ॥

अर्थेन हि विहीनस्य पुरुषस्याल्पमेधसः ।
विच्छिद्यन्ते क्रियाः सर्वा ग्रीष्मे कुसरितो यथा ॥ १८ ॥

जैसे गर्मीमें छोटी-छोटी नदियाँ सूख जाती हैं, उसी प्रकार धनहीन हुए मन्दबुद्धि मनुष्यकी सारी क्रियाएँ छिन्न-भिन्न हो जाती हैं ॥ १८ ॥

यस्यार्थास्तस्य मित्राणि यस्यार्थास्तस्य बान्धवाः ।
यस्यार्थाः स पुमाँल्लोके यस्यार्थाः स च पण्डितः ॥ १९ ॥

जिसके पास धन होता है, उसीके बहुत-से मित्र होते हैं; जिसके पास धन है, उसीके भाई-बन्धु हैं; संसारमें जिसके पास धन है, वही पुरुष कहलाता है और जिसके पास धन है, वही पण्डित माना जाता है ॥ १९ ॥

अधनेनार्थकामेन नार्थः शक्यो विवित्सितुम् ।
अर्थैरर्था निबध्यन्ते गजैरिव महागजाः ॥ २० ॥

निर्धन मनुष्य यदि धन चाहता है तो उसके लिये धनकी व्यवस्था असम्भव हो जाती है (परंतु धनीका धन बढ़ता रहता है), जैसे जङ्गलमें एक हाथीके पीछे बहुत-से हाथी चले आते हैं उसी प्रकार धनसे ही धन बँधा चला आता है ॥२०॥

धर्मः कामश्च स्वर्गश्च हर्षः क्रोधः श्रुतं दमः ।
अर्थादेतानि सर्वाणि प्रवर्तन्ते नराधिप ॥ २१ ॥

नरेश्वर ! धनसे धर्मका पालन, कामनाकी पूर्ति, स्वर्गकी प्राप्ति, हर्षकी वृद्धि, क्रोधकी सफलता, शास्त्रोंका श्रवण और अध्ययन तथा शत्रुओंका दमन—ये सभी कार्य सिद्ध होते हैं ॥

धनात् कुलं प्रभवति धनाद् धर्मः प्रवर्धते ।
नाधनस्यास्त्ययं लोको न परः पुरुषोत्तम ॥ २२ ॥

धनसे कुलकी प्रतिष्ठा बढ़ती है और धनसे ही धर्मकी वृद्धि होती है । पुरुषप्रवर ! निर्धनके लिये तो न यह लोक सुखदायक होता है, न परलोक ॥ २२ ॥

नाधनो धर्मकृत्यानि यथावदनुतिष्ठति ।
धनाद्धि धर्मः स्रवति शैलादभि नदी यथा ॥ २३ ॥

निर्धन मनुष्य धार्मिक कृत्योंका अच्छी तरह अनुष्ठान नहीं कर सकता । जैसे पर्वतसे नदी झरती रहती है, उसी प्रकार धनसे ही धर्मका स्रोत बहता रहता है ॥ २३ ॥

यः कृशार्थः कृशगवः कृशभृत्यः कृशातिथिः ।
स वै राजन् कृशो नाम न शरीरकृशः कृशः ॥ २४ ॥

राजन् ! जिसके पास धनकी कमी है, गौएँ और सेवक भी कम हैं तथा जिसके यहाँ अतिथियोंका आना-जाना भी बहुत कम हो गया है, वास्तवमें वही कृश (दुर्बल) कहलाने योग्य है । जो केवल शरीरसे कृश है, उसे कृश नहीं कहा जा सकता ॥ २४ ॥

अवेक्षस्व यथान्यायं पश्य देवासुरं यथा ।
राजन् किमन्यज्ज्ञातीनां वधाद् गृध्यन्ति देवताः ॥ २५ ॥

आप न्यायके अनुसार विचार कीजिये और देवताओं तथा असुरोंके बर्तावपर दृष्टि डालिये । राजन् ! देवता अपने जाति-भाइयोंका वध करनेके सिवा और क्या चाहते हैं (एक पिताकी संतान होनेके कारण देवता और असुर परस्पर भाई-भाई ही तो हैं) ॥ २५ ॥

न चेद्धर्तव्यमन्यस्य कथं तद्धर्ममारभेत् ।
एतावानेव वेदेषु निश्चयः कविभिः कृतः ॥ २६ ॥
अध्येतव्या त्रयी नित्यं भवितव्यं विपश्चिता ।
सर्वथा धनमाहार्यं यष्टव्यं चापि यत्नतः ॥ २७ ॥

यदि राजाके लिये दूसरेके धनका अपहरण करना उचित नहीं है, तो वह धर्मका अनुष्ठान कैसे कर सकता है ? वेद-शास्त्रोंमें भी विद्वानोंने राजाके लिये यही निर्णय दिया है कि 'राजा प्रतिदिन वेदोंका स्वाध्याय करे, विद्वान् बने, सब प्रकारसे संग्रह करके धन ले आवे और यत्नपूर्वक यज्ञका अनुष्ठान करे' ॥

द्रोहाद् देवैरवाप्तानि दिवि स्थानानि सर्वशः ।
द्रोहात् किमन्यज्ज्ञातीनां गृध्यन्ते येन देवताः ॥ २८ ॥

जाति-भाइयोंसे द्रोह करके ही देवताओंने स्वर्गलोकके सभी स्थानोंपर अधिकार प्राप्त कर लिया है । देवता जिससे धन या राज्य पाना चाहते हैं, वह ज्ञातिद्रोहके सिवा और क्या है ? ॥ २८ ॥

इति देवा व्यवसिता वेदवादाश्च शाश्वताः ।
अधीयतेऽध्यापयन्ते यजन्ते याजयन्ति च ॥ २९ ॥
कृत्स्नं तदेव तच्छ्रेयो यदप्याददतेऽन्यतः ।
न पश्यामोऽनपकृतं धनं किंचित् क्वचिद् वयम् ॥ ३० ॥

यही देवताओंका निश्चय है और यही वेदोंका सनातन सिद्धान्त है । धनसे ही द्विज वेद-शास्त्रोंको पढ़ते और पढ़ाते हैं, धनके द्वारा ही यज्ञ करते और कराते हैं तथा राजा लोग दूसरोंको युद्धमें जीतकर जो उनका धन ले आते हैं, उसीसे वे सम्पूर्ण शुभ कर्मोंका अनुष्ठान करते हैं । किसी भी राजाके पास हम कोई भी ऐसा धन नहीं देखते हैं, जो दूसरोंका अपकार करके न लाया गया हो ॥ २९-३० ॥

एवमेव हि राजानो जयन्ति पृथिवीमिमाम् ।
जित्वा ममेयं ब्रुवते पुत्रा इव पितुर्धनम् ॥ ३१ ॥

इसी प्रकार सभी राजा इस पृथ्वीको जीतते हैं और जीतकर कहने लगते हैं कि 'यह मेरी है' । ठीक वैसे ही जैसे पुत्र पिताके धनको अपना बताते हैं ॥ ३१ ॥

राजर्षयोऽपि ते स्वर्ग्या धर्मो ह्येषां निरुच्यते ।
यथैव पूर्णादुदधेः स्यन्दन्त्यापो दिशो दश ॥ ३२ ॥
एवं राजकुलाद् वित्तं पृथिवीं प्रति तिष्ठति ।

प्राचीनकालमें जो राजर्षि हो गये हैं, जो कि इस समय स्वर्गमें निवास करते हैं, उनके मतमें भी राजधर्मकी ऐसी ही व्याख्या की गयी है । जैसे भरे हुए महासागरसे मेघके रूपमें उठा हुआ जल सम्पूर्ण दिशाओंमें बरस जाता है, उसी प्रकार धन राजाओंके यहाँसे निकलकर सम्पूर्ण पृथ्वीमें फैल जाता है ॥ ३२½ ॥

आसीदियं दिलीपस्य नृगस्य नहुषस्य च ॥ ३३ ॥
अम्बरीषस्य मान्धातुः पृथिवी सा त्वयि स्थिता ।
स त्वां द्रव्यमयो यज्ञः सम्प्राप्तः सर्वदक्षिणः ॥ ३४ ॥

पहले यह पृथ्वी बारी-बारीसे राजा दिलीप, नृग, नहुष, अम्बरीष और मान्धाताके अधिकारमें रही है, वही इस समय आपके अधीन हो गयी है । अतः आपके समक्ष सर्वस्व-की दक्षिणा देकर द्रव्यमय यज्ञके अनुष्ठान करनेका अवसर प्राप्त हुआ है ॥ ३३-३४ ॥

तं चेन्न यजसे राजन् प्राप्तस्त्वं राज्यकिल्बिषम् ।
येषां राजाश्वमेधेन यजते दक्षिणावता ॥ ३५ ॥
उपेत्य तस्यावभृथे पूताः सर्वे भवन्ति ते ।

राजन्! यदि आप यज्ञ नहीं करेंगे तो आपको सारे राज्यका पाप लगेगा । जिन देशोंके राजा दक्षिणायुक्त अश्वमेध यज्ञके द्वारा भगवान्‌का यजन करते हैं, उनके यज्ञकी समाप्ति-पर उन देशोंके सभी लोग वहाँ आकर अवभृथस्नान करके पवित्र होते हैं ॥ ३५½ ॥

विश्वरूपो महादेवः सर्वमेधे महामखे ।
जुहाव सर्वभूतानि तथैवात्मानमात्मना ॥ ३६ ॥

सम्पूर्ण विश्व जिनका स्वरूप है, उन महादेवजीने सर्व-मेध नामक महायज्ञमें सम्पूर्ण भूतोंकी तथा स्वयं अपनी भी आहुति दे दी थी ॥ ३६ ॥

शाश्वतोऽयं भूतिपथो नास्यान्तमनुशुश्रुम ।
महान् दाशरथः पन्था मा राजन् कुपथं गमः ॥ ३७ ॥

यह क्षत्रियोंके लिये कल्याणका सनातन मार्ग है । इसका कभी अन्त नहीं सुना गया है । राजन्! यह वह महान् मार्ग है, जिसपर दस रथ चलते हैं, आप किसी कुत्सित मार्ग-का आश्रय न लें ॥ ३७ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि राजधर्मानुशासनपर्वणि अर्जुनवाक्ये अष्टमोऽध्यायः ॥ ८ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत राजधर्मानुशासनपर्वमें अर्जुनवाक्यविषयक आठवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ८ ॥

नवमोऽध्यायः

युधिष्ठिरका वानप्रस्थ एवं संन्यासीके अनुसार जीवन व्यतीत करनेका निश्चय

युधिष्ठिर उवाच

मुहूर्तं तावदेकाग्रो मनःश्रोत्रेऽन्तरात्मनि ।
धारयन्नपि तच्छ्रुत्वा रोचेत वचनं मम ॥ १ ॥

युधिष्ठिरने कहा—अर्जुन! तुम अपने मन और कानोंको अन्तःकरणमें स्थापित करके दो घड़ीतक एकाग्र हो जाओ, तब मेरी बात सुनकर तुम इसे पसंद करोगे ॥ १ ॥

साधुगम्यमहं मार्गं न जातु त्वत्कृते पुनः ।
गच्छेयं तद् गमिष्यामि हित्वा ग्राम्यसुखान्युत ॥२॥

मैं ग्राम्य सुखोंका परित्याग करके साधु पुरुषोंके चले हुए मार्गपर तो चल सकता हूँ; परंतु तुम्हारे आग्रहके कारण कदापि राज्य नहीं स्वीकार करूँगा ॥ २ ॥

क्षेम्यश्चैकाकिना गम्यः पन्थाः कोऽस्तीति पृच्छ माम् ।
अथवा नेच्छसि प्रष्टुमपृच्छन्नपि मे शृणु ॥ ३ ॥

एकाकी पुरुषके चलनेयोग्य कल्याणकारी मार्ग कौन-सा है? यह मुझसे पूछो अथवा यदि पूछना नहीं चाहते हो तो बिना पूछे भी मुझसे सुनो ॥ ३ ॥

हित्वा ग्राम्यसुखाचारं तप्यमानो महत् तपः ।
अरण्ये फलमूलाशी चरिष्यामि मृगैः सह ॥ ४ ॥

मैं गँवारोंके सुख और आचारपर लात मारकर वनमें रहकर अत्यन्त कठोर तपस्या करूँगा, फल-मूल खाकर मृगोंके साथ विचरूँगा ॥ ४ ॥

जुह्वानोऽग्निं यथाकालमुभौ कालावुपस्पृशन् ।
कृशः परिमिताहारश्चर्मचीरजटाधरः ॥ ५ ॥

दोनों समय स्नान करके यथासमय अग्निहोत्र करूँगा और परिमित आहार करके शरीरको दुर्बल कर दूँगा । मृग-चर्म तथा वल्कल वस्त्र धारण करके सिरपर जटा रक्खूँगा ॥

शीतवातातपसहः क्षुत्पिपासाश्रमक्षमः ।
तपसा विधिदृष्टेन शरीरमुपशोषयन् ॥ ६ ॥

सर्दी, गर्मी और हवाको सहूँगा, भूख, प्यास और परिश्रमको सहनेका अभ्यास डालूँगा, शास्त्रोक्त तपस्याद्वारा इस शरीरको सुखाता रहूँगा ॥ ६ ॥

मनःकर्णसुखा नित्यं शृण्वन्नुच्चावचा गिरः ।
मुदितानामरण्येषु वसतां मृगपक्षिणाम् ॥ ७ ॥

वनमें प्रसन्नतापूर्वक निवास करनेवाले पशु-पक्षियोंकी भाँति-भाँतिकी बोली, जो मन और कानोंको सुख देनेवाली होगी, नित्य सुनता रहूँगा ॥ ७ ॥

आजिघ्रन् पेशलान् गन्धान् फुल्लानां वृक्षवीरुधाम् ।
नानारूपान् वने पश्यन् रमणीयान् वनौकसः ॥ ८ ॥

वनमें खिले हुए वृक्षों और लताओंकी मनोहर सुगन्ध सूँघता हुआ अनेक रूपवाले सुन्दर वनवासियोंको देखा करूँगा ॥ ८ ॥

वानप्रस्थजनस्यापि दर्शनं कुलवासिनाम् ।
नाप्रियाण्याचरिष्यामि किं पुनर्ग्रामवासिनाम् ॥ ९ ॥

वहाँ वानप्रस्थ महात्माओं तथा ऋषिकुलवासी ब्रह्मचारी ऋषि-मुनियोंका भी दर्शन होगा । मैं किसी वनवासीका भी अप्रिय नहीं करूँगा; फिर ग्रामवासियोंकी तो बात ही क्या है? ॥

एकान्तशीली विमृशन् पक्वापक्वेन वर्तयन् ।
पितॄन् देवांश्च वन्येन वाग्भिरद्भिश्च तर्पयन् ॥ १० ॥

एकान्तमें रहकर आध्यात्मिक तत्त्वका विचार किया करूँगा और कच्चा-पका जैसा भी फल मिल जायगा, उसीको खाकर जीवन-निर्वाह करूँगा। जंगली फल-मूल, मधुर वाणी और जलके द्वारा देवताओं तथा पितरोंको तृप्त करता रहूँगा॥

वन्यमारण्यशास्त्राणामुग्रमुग्रतरं विधिम्।
सेवमानः प्रतीक्षिष्ये देहस्यास्य समापनम्॥ ११॥

इस प्रकार वनवासी मुनियोंके लिये शास्त्रमें बताये हुए कठोर-से-कठोर नियमोंका पालन करता हुआ इस शरीरकी आयु समाप्त होनेकी बाट देखता रहूँगा॥ ११॥

अथवैकोऽहमेकाहमेकैकस्मिन् वनस्पतौ।
चरन् भैक्ष्यं मुनिर्मुण्डः क्षपयिष्ये कलेवरम्॥ १२॥

अथवा मैं मूँड़ मुड़ाकर मननशील संन्यासी हो जाऊँगा और एक-एक दिन एक-एक वृक्षसे भिक्षा माँगकर अपने शरीरको सुखाता रहूँगा॥ १२॥

पांसुभिः समभिच्छन्नः शून्यागारप्रतिश्रयः।
वृक्षमूलनिकेतो वा त्यक्तसर्वप्रियाप्रियः॥ १३॥

शरीरपर धूल पड़ी होगी और सूने घरोंमें मेरा निवास होगा अथवा किसी वृक्षके नीचे उसकी जड़में ही पड़ा रहूँगा। प्रिय और अप्रियका सारा विचार छोड़ दूँगा॥ १३॥

न शोचन्न प्रहृष्यंश्च तुल्यनिन्दात्मसंस्तुतिः।
निराशीर्निर्ममो भूत्वा निर्द्वन्द्वो निष्परिग्रहः॥ १४॥

किसीके लिये न शोक करूँगा न हर्ष। निन्दा और स्तुतिको समान समझूँगा। आशा और ममताको त्यागकर निर्द्वन्द्व हो जाऊँगा तथा कभी किसी वस्तुका संग्रह नहीं करूँगा॥ १४॥

आत्मारामः प्रसन्नात्मा जडान्धबधिराकृतिः।
अकुर्वाणः परैः काञ्चित् संविदं जातु कैरपि॥ १५॥

आत्माके चिन्तनमें ही सुखका अनुभव करूँगा, मनको सदा प्रसन्न रक्खूँगा, कभी किसी दूसरेके साथ कोई बातचीत नहीं करूँगा, गूँगों, अंधों और बहरोंके समान न किसीसे कुछ कहूँगा, न किसीको देखूँगा और न किसीकी सुनूँगा॥

जङ्गमाजङ्गमान् सर्वानविहिंसंश्चतुर्विधान्।
प्रजाः सर्वाः स्वधर्मस्थाः समः प्राणभृतः प्रति॥ १६॥

चार प्रकारके समस्त चराचर प्राणियोंमेंसे किसीकी हिंसा नहीं करूँगा। अपने-अपने धर्ममें स्थित हुई समस्त प्रजाओं तथा सम्पूर्ण प्राणियोंके प्रति समभाव रक्खूँगा॥ १६॥

न चाप्यवहसन् कञ्चिन्न कुर्वन् भ्रुकुटीः क्वचित्।
प्रसन्नवदनो नित्यं सर्वेन्द्रियसुसंयतः॥ १७॥

न तो किसीकी हँसी उड़ाऊँगा और न किसीके प्रति भौंहें ही टेढ़ी करूँगा। सदा मेरे मुखपर प्रसन्नता छायी रहेगी और मैं सम्पूर्ण इन्द्रियोंको पूर्णतः संयममें रक्खूँगा॥

अपृच्छन् कस्यचिन्मार्गं प्रव्रजन्नेव केनचित्।
न देशं न दिशं काञ्चिद् गन्तुमिच्छन् विशेषतः॥ १८॥

किसी भी मार्गसे चलता रहूँगा और कभी किसीसे रास्ता नहीं पूछूँगा। किसी खास स्थान या दिशाकी ओर जानेकी इच्छा नहीं रक्खूँगा॥ १८॥

गमने निरपेक्षश्च पश्चादनवलोकयन्।
ऋजुः प्रणिहितो गच्छंस्त्रसस्थावरवर्जकः॥ १९॥

कहीं भी मेरे जानेका कोई विशेष उद्देश्य नहीं होगा। न आगे जानेकी उत्सुकता होगी, न पीछे फिरकर देखूँगा। सरल भावसे रहूँगा। मेरी दृष्टि अन्तर्मुखी होगी। स्थावर-जङ्गम जीवोंको बचाता हुआ आगे चलता रहूँगा॥ १९॥

स्वभावस्तु प्रयात्यग्रे प्रभवन्त्यशनान्यपि।
द्वन्द्वानि च विरुद्धानि तानि सर्वाण्यचिन्तयन्॥ २०॥

स्वभाव आगे-आगे चलता है, भोजन भी अपने-आप प्रकट हो जाते हैं, सर्दी-गर्मी आदि जो परस्पर विरोधी द्वन्द्व हैं वे सब आते-जाते रहते हैं, अतः इन सबकी चिन्ता छोड़ दूँगा॥ २०॥

अल्पं वास्वादु वा भोज्यं पूर्वालाभेन जातुचित्।
अन्येष्वपि चरँल्लाभमलाभे सप्त पूरयन्॥ २१॥

भिक्षा थोड़ी मिली या स्वादहीन मिली, इसका विचार न करके उसे पा लूँगा। यदि कभी एक घरसे भिक्षा नहीं मिली तो दूसरे घरोंमें भी जाऊँगा। मिल गया तो ठीक है, न मिलनेकी दशामें क्रमशः सात घरोंमें जाऊँगा, आठवेंमें नहीं जाऊँगा॥

विधूमे न्यस्तमुसले व्यङ्गारे भुक्तवज्जने।
अतीतपात्रसंचारे काले विगतभिक्षुके॥ २२॥
एककालं चरन् भैक्ष्यं त्रीनथ द्वे च पञ्च वा।
स्नेहपाशं विमुच्याहं चरिष्यामि महीमिमाम्॥ २३॥

जब घरोंमेंसे धुआँ निकलना बंद हो गया हो, मूसल रख दिया गया हो, चूल्हेकी आग बुझ गयी हो, घरके सब लोग खा-पी चुके हों, परोसी हुई थालीको इधर-उधर ले जानेका काम समाप्त हो गया हो और भिखमंगे भिक्षा लेकर लौट गये हों, ऐसे समयमें मैं एक ही वक्त भिक्षाके लिये दो, तीन या पाँच घरोंतक जाया करूँगा। सब ओरसे स्नेहका बन्धन तोड़कर इस पृथ्वीपर विचरता रहूँगा॥ २२-२३॥

अलाभे सति वा लाभे समदर्शी महातपाः।
न जिजीविषुवत् किंचिन्न मुमूर्षुवदाचरन्॥ २४॥

कुछ मिले या न मिले, दोनों ही अवस्थामें मेरी दृष्टि समान होगी। मैं महान् तपमें संलग्न रहकर ऐसा कोई आचरण नहीं करूँगा, जिसे जीने या मरनेकी इच्छावाले लोग करते हैं॥ २४॥

जीवितं मरणं चैव नाभिनन्दन्न च द्विषन्।
वास्यैकं तक्षतो बाहुं चन्दनेनैकमुक्षतः॥ २५॥
नाकल्याणं न कल्याणं चिन्तयन्नुभयोस्तयोः।

न तो जीवनका अभिनन्दन करूँगा, न मृत्युसे द्वेष। यदि एक मनुष्य मेरी एक बाँहको बसूलेसे काटता हो और दूसरा दूसरी बाँहको चन्दनमिश्रित जलसे

सींचता हो तो न पहलेका अमङ्गल सोचूँगा और न दूसरेकी मङ्गलकामना करूँगा। उन दोनोंके प्रति समान भाव रक्खूँगा ॥ २५½ ॥

याः काश्चिज्जीवता शक्याः कर्तुमभ्युदयक्रियाः ।
सर्वास्ताः समभित्यज्य निमेषादिव्यवस्थितः ॥ २६ ॥

जीवित पुरुषके द्वारा जो कोई भी अभ्युदयकारी कर्म किये जा सकते हैं, उन सबका परित्याग करके केवल शरीर-निर्वाहके लिये पलकोंके खोलने-मींचने या खाने-पीने आदिके कार्यमें ही प्रवृत्त हो सकूँगा ॥ २६ ॥

तेषु नित्यमसक्तश्च त्यक्तसर्वेन्द्रियक्रियः ।
सुपरित्यक्तसंकल्पः सुनिर्णिक्तात्मकल्मषः ॥ २७ ॥

इन सब कार्योंमें भी आसक्त नहीं होऊँगा। सम्पूर्ण इन्द्रियोंके व्यापारोंसे उपरत होकर मनको संकल्पशून्य करके अन्तःकरणका सारा मल धो डालूँगा ॥ २७ ॥

विमुक्तः सर्वसंगेभ्यो व्यतीतः सर्ववागुराः ।
न वशे कस्यचित्तिष्ठन् सधर्मा मातरिश्वनः ॥ २८ ॥

सब प्रकारकी आसक्तियोंसे मुक्त रहकर स्नेहके सारे बन्धनोंको लाँघ जाऊँगा। किसीके अधीन न रहकर वायुके समान सर्वत्र विचरूँगा ॥ २८ ॥

वीतरागश्चरन्नेवं तुष्टिं प्राप्स्यामि शाश्वतीम् ।
तृष्णया हि महत् पापमज्ञानादस्मि कारितः ॥ २९ ॥

इस प्रकार वीतराग होकर विचरनेसे मुझे शाश्वत संतोष प्राप्त होगा। अज्ञानवश तृष्णाने मुझसे बड़े-बड़े पाप करवाये हैं ॥ २९ ॥

कुशलाकुशलान्येके कृत्वा कर्माणि मानवाः ।
कार्यकारणसंश्लिष्टं स्वजनं नाम बिभ्रति ॥ ३० ॥

कुछ मनुष्य शुभाशुभ कर्म करके कार्य-कारणसे अपने साथ जुड़े हुए स्वजनोंका भरण-पोषण करते हैं ॥ ३० ॥

आयुषोऽन्ते प्रहायेदं क्षीणप्राणं कलेवरम् ।
प्रतिगृह्णाति तत् पापं कर्तुः कर्मफलं हि तत् ॥ ३१ ॥

फिर आयुके अन्तमें जीवात्मा इस प्राणशून्य शरीरको त्यागकर पहलेके किये हुए उस पापको ग्रहण करता है; क्योंकि कर्ताको ही उसके कर्मका वह फल प्राप्त होता है ॥

एवं संसारचक्रेऽस्मिन् व्याविद्धे रथचक्रवत् ।
समेति भूतग्रामोऽयं भूतग्रामेण कार्यवान् ॥ ३२ ॥

इस प्रकार रथके पहियेके समान निरन्तर घूमते हुए इस संसारचक्रमें आकर जीवोंका यह समुदाय कार्यवश अन्य प्राणियोंसे मिलता है ॥ ३२ ॥

जन्ममृत्युजराव्याधिवेदनाभिरभिद्रुतम् ।
अपारमिव चास्वस्थं संसारं त्यजतः सुखम् ॥ ३३ ॥

इस संसारमें जन्म, मृत्यु, जरा, व्याधि और वेदनाओंका आक्रमण होता ही रहता है, जिससे यहाँका जीवन कभी स्वस्थ नहीं रहता। जो अपार-सा प्रतीत होनेवाले इस संसार-को त्याग देता है, उसीको सुख मिलता है ॥ ३३ ॥

दिवः पतत्सु देवेषु स्थानेभ्यश्च महर्षिषु ।
को हि नाम भवेनार्थी भवेत् कारणतत्त्ववित् ॥ ३४ ॥

जब देवता भी स्वर्गसे नीचे गिरते हैं और महर्षि भी अपने-अपने स्थानसे भ्रष्ट हो जाते हैं, तब कारण-तत्त्वको जाननेवाला कौन मनुष्य इस जन्म-मरणरूप संसारसे कोई प्रयोजन रक्खेगा ॥ ३४ ॥

कृत्वा हि विविधं कर्म तत्तद् विविधलक्षणम् ।
पार्थिवैर्नृपतिः स्वल्पैः कारणैरेव वध्यते ॥ ३५ ॥

भाँति-भाँतिके भिन्न-भिन्न कर्म करके विख्यात हुआ राजा भी किन्हीं छोटे-मोटे कारणोंसे ही दूसरे राजाओंद्वारा मार डाला जाता है ॥ ३५ ॥

तस्मात् प्रज्ञामृतमिदं चिरान्मां प्रत्युपस्थितम् ।
तत् प्राप्य प्रार्थये स्थानमव्ययं शाश्वतं ध्रुवम् ॥ ३६ ॥

आज दीर्घकालके पश्चात् मुझे यह विवेकरूपी अमृत प्राप्त हुआ है। इसे पाकर मैं अक्षय, अविकारी एवं सनातन पदको प्राप्त करना चाहता हूँ ॥ ३६ ॥

एतया संततं धृत्या चरन्नेवंप्रकारया ।
जन्ममृत्युजराव्याधिवेदनाभिरभिद्रुतम् ।
देहं संस्थापयिष्यामि निर्भयं मार्गमास्थितः ॥ ३७ ॥

अतः इस पूर्वोक्त धारणाके द्वारा निरन्तर विचरता हुआ मैं निर्भय मार्गका आश्रय ले जन्म, मृत्यु, जरा, व्याधि और वेदनाओंसे आक्रान्त हुए इस शरीरको अलग रख दूँगा ॥ ३७ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि राजधर्मानुशासनपर्वणि युधिष्ठिरवाक्ये नवमोऽध्यायः ॥ ९ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत राजधर्मानुशासनपर्वमें युधिष्ठिरका वाक्यविषयक नवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ९ ॥

दशमोऽध्यायः

भीमसेनका राजाके लिये संन्यासका विरोध करते हुए अपने कर्तव्यके ही पालनपर जोर देना

भीम उवाच

श्रोत्रियस्येव ते राजन् मन्दकस्याविपश्चितः ।
अनुवाकहता बुद्धिर्नैषा तत्त्वार्थदर्शिनी ॥ १ ॥

भीमसेन बोले—राजन्! जैसे मन्द और अर्थज्ञानसे शून्य श्रोत्रियकी बुद्धि केवल मन्त्रपाठद्वारा मारी जाती है, उसी प्रकार आपकी बुद्धि भी तात्त्विक अर्थको देखने या समझनेवाली नहीं है ॥ १ ॥

आलस्ये कृतचित्तस्य राजधर्मानसूयतः ।
विनाशे धार्तराष्ट्राणां किं फलं भरतर्षभ ॥ २ ॥

भरतश्रेष्ठ! यदि राजधर्मकी निन्दा करते हुए आपने

[illegible] जीवन बितानेका ही निश्चय किया था तो धृतराष्ट्रके [illegible] हमलोगोंने क्या फल मिला ? ॥ २ ॥

[illegible] कारुण्यमानृशंस्यं न विद्यते ।
[illegible] मार्गमपि यन्योस्त्वदन्तरे ॥ ३ ॥

[illegible] मार्गपर चलनेवाले पुरुषके हृदयमें अपने [illegible] भी क्षमा, दया, करुणा और कोमलताका भाव नहीं रह [illegible] आपके हृदयमें यह सब क्यों है ? ॥ ३ ॥

[illegible] भवतो बुद्धिं विद्याम वयमीदृशीम् ।
[illegible] नैव ग्रहीष्यामो न वधिष्याम कंचन ॥ ४ ॥

यदि हम पहले ही जान लेते कि आपका विचार इस [illegible] तो हम हथियार नहीं उठाते और न किसीका वध [illegible] ॥ ४ ॥

भैक्ष्यमेवाचरिष्याम शरीरस्याविमोक्षणात् ।
न चेदं दारुणं युद्धमभविष्यन्महीक्षिताम् ॥ ५ ॥

हम भी आपकी ही तरह शरीर छूटनेतक भीख माँगकर ही जीवन-निर्वाह करते । फिर तो राजाओंमें यह भयंकर युद्ध होता ही नहीं ॥ ५ ॥

प्राणस्यान्नमिदं सर्वमिति वै कवयो विदुः ।
स्थावरं जङ्गमं चैव सर्वं प्राणस्य भोजनम् ॥ ६ ॥

विद्वान् पुरुष कहते हैं कि यह सब कुछ प्राणका अन्न है, स्थावर और जङ्गम सारा जगत् प्राणका भोजन है ॥ ६ ॥

आददानस्य चेद् राज्यं ये केचित् परिपन्थिनः ।
हन्तव्यास्त इति प्राज्ञाः क्षत्रधर्मविदो विदुः ॥ ७ ॥

क्षत्रिय-धर्मके ज्ञाता विद्वान् पुरुष यह जानते और बताते हैं कि अपना राज्य ग्रहण करते समय जो कोई भी उसमें बाधक या विरोधी खड़े हों, उन्हें मार डालना चाहिये ॥

ते सदोषा हतास्माभी राज्यस्य परिपन्थिनः ।
तान् हत्वा भुङ्क्ष्व धर्मेण युधिष्ठिर महीमिमाम् ॥ ८ ॥

युधिष्ठिर ! जो लोग हमारे राज्यके बाधक या लुटेरे थे, वे सभी अपराधी ही थे; अतः हमने उन्हें मार डाला । उन्हें मारकर धर्मतः प्राप्त हुई इस पृथ्वीका आप उपभोग कीजिये ॥ ८ ॥

यथा हि पुरुषः खात्वा कूपमप्राप्य चोदकम् ।
पङ्कदिग्धो निवर्तेत कर्मेदं नस्तथोपमम् ॥ ९ ॥

जैसे कोई मनुष्य परिश्रम करके कुँआ खोदे और वहाँ [illegible] न मिलनेपर देहमें कीचड़ लपेटे हुए वहाँसे निराश लौट आवे, उसी प्रकार हमारा किया-कराया यह सारा पराक्रम व्यर्थ होना चाहता है ॥ ९ ॥

यथाऽऽरुह्य महावृक्षमपहृत्य ततो मधु ।
अप्राश्य निधनं गच्छेत् कर्मेदं नस्तथोपमम् ॥ १० ॥

जैसे कोई विशाल वृक्षपर आरूढ़ हो वहाँसे मधु उतार [illegible] मधु उसे खानेके पूर्व ही उसकी मृत्यु हो जाय; [illegible] यह प्रयत्न भी वैसा ही हो रहा है ॥ १० ॥

यथा महान्तमध्वानमाशया पुरुषः पतन् ।
स निराशो निवर्तेत कर्मैतन्नस्तथोपमम् ॥ ११ ॥

जैसे कोई मनुष्य मनमें कोई आशा लेकर बहुत बड़ा मार्ग तै करे और वहाँ पहुँचनेपर निराश लौटे, हमारा यह कार्य भी उसी तरह निष्फल हो रहा है ॥ ११ ॥

यथा शत्रून् घातयित्वा पुरुषः कुरुनन्दन ।
आत्मानं घातयेत् पश्चात् कर्मेदं नस्तथोपमम् ॥ १२ ॥

कुरुनन्दन ! जैसे कोई मनुष्य शत्रुओंका वध करनेके पश्चात् अपनी भी हत्या कर डाले, हमारा यह कर्म भी वैसा ही है ॥ १२ ॥

यथान्नं क्षुधितो लब्ध्वा न भुञ्जीयाद् यदृच्छया ।
कामीव कामिनीं लब्ध्वा कर्मेदं नस्तथोपमम् ॥ १३ ॥

जैसे भूखा मनुष्य भोजन और कामी पुरुष कामिनीको पाकर दैववश उसका उपभोग न करे, हमारा यह कर्म भी वैसा ही निष्फल हो रहा है ॥ १३ ॥

वयमेवात्र गर्ह्या हि यद् वयं मन्दचेतसम् ।
त्वां राजन्ननुगच्छामो ज्येष्ठोऽयमिति भारत ॥ १४ ॥

भरतवंशी नरेश ! हमलोग ही यहाँ निन्दाके पात्र हैं कि आप-जैसे अल्पबुद्धि पुरुषको बड़ा भाई समझकर आपके पीछे-पीछे चलते हैं ॥ १४ ॥

वयं हि बाहुबलिनः कृतविद्या मनस्विनः ।
क्लीबस्य वाक्ये तिष्ठामो यथैवाशक्तयस्तथा ॥ १५ ॥

हम बाहुबलसे सम्पन्न, अस्त्र-शस्त्रोंके विद्वान् और मनस्वी हैं तो भी असमर्थ पुरुषोंके समान एक कायर भाईकी आज्ञामें रहते हैं ॥ १५ ॥

अगतीकगतीनस्मान् नष्टार्थानर्थसिद्धये ।
कथं वै नानुपश्येयुर्जनाः पश्यत यादृशम् ॥ १६ ॥

हमलोग पहले अशरण मनुष्योंको शरण देनेवाले थे; किंतु अब हमारा ही अर्थ नष्ट हो गया है । ऐसी दशामें अर्थसिद्धिके लिये हमारा आश्रय लेनेवाले लोग हमारी इस दुर्बलतापर कैसे दृष्टि नहीं डालेंगे ? बन्धुओ ! मेरा कथन कैसा है ? इसपर विचार करो ॥ १६ ॥

आपत्काले हि संन्यासः कर्तव्य इति शिष्यते ।
जरयाभिपरीतेन शत्रुभिर्व्यंसितेन वा ॥ १७ ॥

शास्त्रका उपदेश यह है कि आपत्तिकालमें या बुढ़ापेसे जर्जर हो जानेपर अथवा शत्रुओंद्वारा धन-सम्पत्तिसे वञ्चित कर दिये जानेपर मनुष्यको संन्यास ग्रहण करना चाहिये ॥ १७ ॥

तस्मादिह कृतप्रज्ञास्त्यागं न परिचक्षते ।
धर्मव्यतिक्रमं चैव मन्यन्ते सूक्ष्मदर्शिनः ॥ १८ ॥

अतः (जब कि हमारे ऊपर पूर्वोक्त संकट नहीं आया है) विद्वान् पुरुष ऐसे अवसरमें त्याग या संन्यासकी प्रशंसा नहीं करते हैं । सूक्ष्मदर्शी पुरुष तो ऐसे समयमें क्षत्रियके लिये संन्यास लेना उलटे धर्मका उल्लङ्घन मानते हैं ॥ १८ ॥

कथं तस्मात् समुत्पन्नास्तन्निष्ठास्तदुपाश्रयाः ।
तदेव निन्दां भाषेयुर्धाता तत्र न गर्ह्यते ॥ १९ ॥

इसलिये जिनकी क्षात्रधर्मके लिये उत्पत्ति हुई है, जो क्षात्रधर्ममें ही तत्पर रहते हैं तथा क्षात्र-धर्मका ही आश्रय लेकर जीवन-निर्वाह करते हैं, वे क्षत्रिय स्वयं ही उस क्षात्र-धर्मकी निन्दा कैसे कर सकते हैं? इसके लिये उस विधाता-की ही निन्दा क्यों न की जाय, जिन्होंने क्षत्रियोंके लिये युद्ध-धर्मका विधान किया है ॥ १९ ॥

श्रिया विहीनैरधनैर्नास्तिकैः सम्प्रवर्तितम् ।
वेदवादस्य विज्ञानं सत्याभासमिवानृतम् ॥ २० ॥

श्रीहीन, निर्धन एवं नास्तिकोंने वेदके अर्थवादवाक्यों-द्वारा प्रतिपादित विज्ञानका आश्रय ले सत्य-सा प्रतीत होनेवाले मिथ्या मतका प्रचार किया है (वैसे वचनोंद्वारा क्षत्रियका संन्यासमें अधिकार नहीं सिद्ध होता है) ॥ २० ॥

शक्यं तु मौनमास्थाय बिभ्रताऽऽत्मानमात्मना ।
धर्मच्छद्म समास्थाय च्यवितुं न तु जीवितुम् ॥ २१ ॥

धर्मका बहाना लेकर अपने द्वारा केवल अपना पेट पालते हुए मौनी बाबा बनकर बैठ जानेसे कर्तव्यसे भ्रष्ट होना ही सम्भव है, जीवनको सार्थक बनाना नहीं ॥ २१ ॥

शक्यं पुनररण्येषु सुखमेकेन जीवितुम् ।
अबिभ्रता पुत्रपौत्रान् देवर्षीनतिथीन् पितॄन् ॥ २२ ॥

जो पुत्रों और पौत्रोंके पालनमें असमर्थ हो, देवताओं, ऋषियों तथा पितरोंको तृप्त न कर सकता हो और अतिथियों-को भोजन देनेकी भी शक्ति न रखता हो, ऐसा मनुष्य ही अकेला जंगलोंमें रहकर सुखसे जीवन बिता सकता है (आप-जैसे शक्तिशाली पुरुषोंका यह काम नहीं है) ॥ २२ ॥

नेमे मृगाः स्वर्गजितो न वराहा न पक्षिणः ।
अथान्येन प्रकारेण पुण्यमाहुर्न तं जनाः ॥ २३ ॥

सदा ही वनमें रहनेपर भी न तो ये मृग स्वर्गलोकपर अधिकार पा सके हैं, न सूअर और पक्षी ही। पुण्यकी प्राप्ति तो अन्य प्रकारसे ही बतलायी गयी है। श्रेष्ठ पुरुष केवल वनवासको ही पुण्यकारक नहीं मानते ॥ २३ ॥

यदि संन्यासतः सिद्धिं राजा कश्चिदवाप्नुयात् ।
पर्वताश्च द्रुमाश्चैव क्षिप्रं सिद्धिमवाप्नुयुः ॥ २४ ॥

यदि कोई राजा संन्याससे सिद्धि प्राप्त कर ले, तब तो पर्वत और वृक्ष बहुत जल्दी सिद्धि पा सकते हैं ॥ २४ ॥

एते हि नित्यसंन्यासा दृश्यन्ते निरुपद्रवाः ।
अपरिग्रहवन्तश्च सततं ब्रह्मचारिणः ॥ २५ ॥

क्योंकि ये नित्य संन्यासी, उपद्रवशून्य, परिग्रहरहित तथा निरन्तर ब्रह्मचर्यका पालन करनेवाले देखे जाते हैं ॥ २५ ॥

अथ चेदात्मभाग्येषु नान्येषां सिद्धिमश्नुते ।
तस्मात् कर्मैव कर्तव्यं नास्ति सिद्धिरकर्मणः ॥ २६ ॥

यदि अपने भाग्यमें दूसरोंके कर्मोंसे प्राप्त हुई सिद्धि नहीं आती, तब तो सभीको कर्म ही करना चाहिये। अकर्मण्य पुरुषको कभी कोई सिद्धि नहीं मिलती ॥ २६ ॥

औदकाः सृष्टयश्चैव जन्तवः सिद्धिमाप्नुयुः ।
तेषामात्मैव भर्तव्यो नान्यः कश्चन विद्यते ॥ २७ ॥

(यदि अपने शरीरमात्रका भरण-पोषण करनेसे सिद्धि मिलती हो, तब तो) जलमें रहनेवाले जीवों तथा स्थावर प्राणियोंको भी सिद्धि प्राप्त कर लेनी चाहिये; क्योंकि उन्हें केवल अपना ही भरण-पोषण करना रहता है। उनके पास दूसरा कोई ऐसा नहीं है, जिसके भरण-पोषणका भार वे उठाते हों ॥ २७ ॥

अवेक्षस्व यथा स्वैः स्वैः कर्मभिर्व्यापृतं जगत् ।
तस्मात् कर्मैव कर्तव्यं नास्ति सिद्धिरकर्मणः ॥ २८ ॥

देखिये और विचार कीजिये कि सारा संसार किस तरह अपने कर्मोंमें लगा हुआ है; अतः आपको भी क्षत्रियो-चित कर्तव्यका ही पालन करना चाहिये। जो कर्मोंको छोड़ बैठता है, उसे कभी सिद्धि नहीं मिलती ॥ २८ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि राजधर्मानुशासनपर्वणि भीमवाक्ये दशमोऽध्यायः ॥ १० ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत राजधर्मानुशासनपर्वमें भीमसेनका वचनविषयक दसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १० ॥

एकादशोऽध्यायः

अर्जुनका पक्षिरूपधारी इन्द्र और ऋषिबालकोंके संवादका उल्लेखपूर्वक गृहस्थ-धर्मके पालनपर जोर देना

अर्जुन उवाच

अत्रैवोदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम् ।
तापसैः सह संवादं शक्रस्य भरतर्षभ ॥ १ ॥

अर्जुनने कहा—भरतश्रेष्ठ! इसी विषयमें जानकार लोग तापसोंके साथ जो इन्द्रका संवाद हुआ था, उस प्राचीन इतिहासका उदाहरण दिया करते हैं ॥ १ ॥

केचिद् गृहान् परित्यज्य वनमभ्यागमन् द्विजाः ।
अजातश्मश्रवो मन्दाः कुले जाताः प्रवव्रजुः ॥ २ ॥

एक समय कुछ मन्दबुद्धि कुलीन ब्राह्मणबालक घरको छोड़कर वनमें चले आये। अभी उन्हें मूँछ-दाढ़ीतक नहीं आयी थी, उसी अवस्थामें उन्होंने घर त्याग दिया ॥ २ ॥

धर्मोऽयमिति मन्वानाः समृद्धा ब्रह्मचारिणः ।
त्यक्त्वा भ्रातॄन् पितॄंश्चैव तानिन्द्रोऽन्वकृपायत ॥ ३ ॥

यद्यपि वे सब-के-सब धनी थे, तथापि भाई-बन्धु और माता-पिताको छोड़कर इसीको धर्म मानते हुए वनमें आकर ब्रह्मचर्यका पालन करने लगे। एक दिन इन्द्रदेवने उनपर कृपा की ॥ ३ ॥

तानाबभाषे भगवान् पक्षी भूत्वा हिरण्मयः।
सुदुष्करं मनुष्यैश्च यत् कृतं विघसाशिभिः ॥ ४ ॥
पुण्यं भवति कर्मेदं प्रशस्तं चैव जीवितम्।
सिद्धार्थास्ते गतिं मुख्यां प्राप्ता धर्मपरायणाः ॥ ५ ॥

भगवान् इन्द्र सुवर्णमय पक्षीका रूप धारण करके वहाँ आये और उनसे इस प्रकार कहने लगे—'यज्ञशिष्ट अन्न भोजन करनेवाले श्रेष्ठ पुरुषोंने जो कर्म किया है, वह दूसरोंसे होना अत्यन्त कठिन है। उनका यह कर्म बड़ा पवित्र और जीवन बहुत उत्तम है। वे धर्मपरायण पुरुष सफलमनोरथ हो श्रेष्ठ गतिको प्राप्त हुए हैं' ॥ ४-५ ॥

ऋषय ऊचुः

अहो बतायं शकुनिर्विघसाशान् प्रशंसति।
अस्मान् नूनमयं शास्ति वयं च विघसाशिनः ॥ ६ ॥

ऋषि बोले—अहो ! यह पक्षी तो विघसाशी (यज्ञशेष अन्न भोजन करनेवाले) पुरुषोंकी प्रशंसा करता है। निश्चय ही यह हमलोगोंकी बड़ाई करता है; क्योंकि यहाँ हमलोग ही विघसाशी हैं ॥ ६ ॥

शकुनिरुवाच

नाहं युष्मान् प्रशंसामि पङ्कदिग्धान् रजस्वलान्।
उच्छिष्टभोजिनो मन्दानन्ये वै विघसाशिनः ॥ ७ ॥

उस पक्षीने कहा—अरे ! देहमें कीचड़ लपेटे और धूल पोते हुए जूठन खानेवाले तुम-जैसे मूर्खोंकी मैं प्रशंसा नहीं कर रहा हूँ। विघसाशी तो दूसरे ही होते हैं ॥ ७ ॥

ऋषय ऊचुः

इदं श्रेयः परमिति वयमेवाभ्युपास्महे।
शकुने ब्रूहि यच्छ्रेयो भृशं ते श्रद्दधामहे ॥ ८ ॥

ऋषि बोले—पक्षी ! यही श्रेष्ठ एवं कल्याणकारी साधन है, ऐसा समझकर ही हम इस मार्गपर चल रहे हैं। तुम्हारी दृष्टिमें जो श्रेष्ठ धर्म हो, उसे तुम्हीं बताओ। हम तुम्हारी बातपर अधिक श्रद्धा करते हैं ॥ ८ ॥

शकुनिरुवाच

यदि मां नाभिशङ्कध्वं विभज्यात्मानमात्मना।
ततोऽहं वः प्रवक्ष्यामि याथातथ्यं हितं वचः ॥ ९ ॥

पक्षीने कहा—यदि आपलोग मुझपर संदेह न करें तो मैं स्वयं ही अपने आपको वक्ताके रूपमें विभक्त करके आपलोगोंसे यथार्थरूपसे हितकी बात बताऊँगा ॥ ९ ॥

ऋषय ऊचुः

शृणुमस्ते वचस्तात पन्थानो विदितास्तव।
नियोगे चैव धर्मात्मन् स्थातुमिच्छाम शाधि नः ॥ १० ॥

ऋषि बोले—तात ! हम तुम्हारी बात सुनेंगे। तुम्हें सब मार्ग विदित हैं। धर्मात्मन् ! हम तुम्हारी आज्ञाके अधीन रहना चाहते हैं। तुम हमें उपदेश दो ॥ १० ॥

शकुनिरुवाच

चतुष्पदां गौः प्रवरा लोहानां काञ्चनं वरम्।
शब्दानां प्रवरो मन्त्रो ब्राह्मणो द्विपदां वरः ॥ ११ ॥

पक्षीने कहा—चौपायोंमें गौ श्रेष्ठ है, धातुओंमें सोना उत्तम है, शब्दोंमें मन्त्र उत्कृष्ट है और मनुष्योंमें ब्राह्मण प्रधान है ॥ ११ ॥

मन्त्रोऽयं जातकर्मादिर्ब्राह्मणस्य विधीयते।
जीवतोऽपि यथाकालं श्मशाननिधनादिभिः ॥ १२ ॥

ब्राह्मणोंके लिये मन्त्रयुक्त जातकर्म आदि संस्कारका विधान है। वह जबतक जीवित रहे, समय-समयपर उसके आवश्यक संस्कार होते रहने चाहिये, मरनेपर भी यथासमय श्मशानभूमिमें अन्त्येष्टिसंस्कार तथा घरपर श्राद्ध आदि वैदिक विधिके अनुसार सम्पन्न होने चाहिये ॥ १२ ॥

कर्माणि वैदिकान्यस्य स्वर्ग्यः पन्थास्त्वनुत्तमः।
अथ सर्वाणि कर्माणि मन्त्रसिद्धानि चक्षते ॥ १३ ॥
आम्नायदृढवादीनि तथा सिद्धिरिहेष्यते।
मासार्धमासा ऋतव आदित्यशशितारकम् ॥ १४ ॥
ईहन्ते सर्वभूतानि तदिदं कर्मसंज्ञितम्।
सिद्धिक्षेत्रमिदं पुण्यमयमेवाश्रमो महान् ॥ १५ ॥

वैदिक कर्म ही ब्राह्मणके लिये स्वर्गलोककी प्राप्ति करानेवाले उत्तम मार्ग हैं। इसके सिवा, मुनियोंने समस्त कर्मोंको वैदिक मन्त्रोंद्वारा ही सिद्ध होनेवाला बताया है। वेदमें इन कर्मोंका प्रतिपादन दृढ़तापूर्वक किया गया है; इसलिये उन कर्मोंके अनुष्ठानसे ही यहाँ अभीष्ट-सिद्धि होती है। मास, पक्ष, ऋतु, सूर्य, चन्द्रमा और तारोंसे उपलक्षित जो यज्ञ होते हैं, उन्हें यथासम्भव सम्पन्न करनेकी चेष्टा प्रायः सभी प्राणी करते हैं। यज्ञोंका सम्पादन ही कर्म कहलाता है। जहाँ ये कर्म किये जाते हैं, वह गृहस्थ-आश्रम ही सिद्धिका पुण्यमय क्षेत्र है और यही सबसे महान् आश्रम है ॥ १३—१५ ॥

अथ ये कर्म निन्दन्तो मनुष्याः कापथं गताः।
मूढानामर्थहीनानां तेषामेनस्तु विद्यते ॥ १६ ॥

जो मनुष्य कर्मकी निन्दा करते हुए कुमार्गका आश्रय लेते हैं, उन पुरुषार्थहीन मूढ़ पुरुषोंको पाप लगता है ॥ १६ ॥

देववंशान् पितृवंशान् ब्रह्मवंशांश्च शाश्वतान्।
संत्यज्य मूढा वर्तन्ते ततो यान्त्यश्रुतीपथम् ॥ १७ ॥

देवसमूह और पितृसमूहोंका यजन तथा ब्रह्मवंश (वेद-शास्त्र आदिके स्वाध्यायद्वारा ऋषि-मुनियों) की तृप्ति—ये तीन ही सनातन मार्ग हैं। जो मूर्ख इनका परित्याग करके और किसी मार्गसे चलते हैं, वे वेदविरुद्ध पथका आश्रय लेते हैं ॥ १७ ॥

सुवर्णमय पक्षीके रूपमें देवराज इन्द्रका संन्यासी बने हुए ब्राह्मण-बालकोंको उपदेश

एतद्धोऽस्तु तपोयुक्तं ददामीत्यृषिचोदितम् ।
तस्मात् तत् तद् व्यवस्थानं तपस्वितप उच्यते॥ १८ ॥

मन्त्रद्रष्टा ऋषिने एक मन्त्रमें कहा है कि 'यह यज्ञरूप कर्म तुम सब यजमानोंद्वारा सम्पादित हो, परंतु यह होना चाहिये तपस्यासे युक्त। तुम इसका अनुष्ठान करोगे तो मैं तुम्हें मनोवाञ्छित फल प्रदान करूँगा।' अतः उन-उन वैदिक कर्मोंमें पूर्णतः संलग्न हो जाना ही तपस्वीका 'तप' कहलाता है॥

देववंशान् ब्रह्मवंशान् पितृवंशांश्च शाश्वतान् ।
संविभज्य गुरोश्चर्यां तद् वै दुष्करमुच्यते ॥ १९ ॥

हवन-कर्मके द्वारा देवताओंको, स्वाध्यायद्वारा ब्रह्मर्षियोंको तथा श्राद्धद्वारा सनातन पितरोंको उनका भाग समर्पित करके गुरुकी परिचर्या करना दुष्कर व्रत कहलाता है॥ १९॥

देवा वै दुष्करं कृत्वा विभूतिं परमां गताः ।
तस्माद् गार्हस्थ्यमुद्वोढुं दुष्करं प्रब्रवीमि वः ॥ २० ॥

इस दुष्कर व्रतका अनुष्ठान करके देवताओंने उत्तम वैभव प्राप्त किया है। यह गृहस्थधर्मका पालन ही दुष्कर व्रत है। मैं तुमलोगोंसे इसी दुष्कर व्रतका भार उठानेके लिये कह रहा हूँ॥ २०॥

तपः श्रेष्ठं प्रजानां हि मूलमेतन्न संशयः ।
कुटुम्बविधिनानेन यस्मिन् सर्वं प्रतिष्ठितम् ॥ २१ ॥

तपस्या श्रेष्ठ कर्म है। इसमें संदेह नहीं कि यही प्रजावर्गका मूल कारण है। परंतु गार्हस्थ्यविधायक शास्त्रके अनुसार इस गार्हस्थ्य-धर्ममें ही सारी तपस्या प्रतिष्ठित है॥ २१॥

एतद् विदुस्तपो विप्रा द्वन्द्वातीता विमत्सराः ।
तस्माद् व्रतं मध्यमं तु लोकेषु तप उच्यते ॥ २२ ॥

जिनके मनमें किसीके प्रति ईर्ष्या नहीं है, जो सब प्रकारके द्वन्द्वोंसे रहित हैं, वे ब्राह्मण इसीको तप मानते हैं। यद्यपि लोकमें व्रतको भी तप कहा जाता है, किंतु वह पञ्चयज्ञके अनुष्ठानकी अपेक्षा मध्यम श्रेणीका है॥ २२॥

दुराधर्षं पदं चैव गच्छन्ति विघसाशिनः ।
सायंप्रातर्विभज्यान्नं स्वकुटुम्बे यथाविधि ॥ २३ ॥
दत्त्वातिथिभ्यो देवेभ्यः पितृभ्यः स्वजनाय च ।
अवशिष्टानि येऽश्नन्ति तानाहुर्विघसाशिनः ॥ २४ ॥

क्योंकि विघसाशी पुरुष प्रातः-सायंकाल विधि-विधानपूर्वक अपने कुटुम्बमें अन्नका विभाग करके दुर्जय अविनाशी पदको प्राप्त कर लेते हैं। देवताओं, पितरों, अतिथियों तथा अपने परिवारके अन्य सब लोगोंको अन्न देकर जो सबसे पीछे अवशिष्ट अन्न खाते हैं, उन्हें विघसाशी कहा गया है॥ २३-२४॥

तस्मात् स्वधर्ममास्थाय सुव्रताः सत्यवादिनः ।
लोकस्य गुरवो भूत्वा ते भवन्त्यनुपस्कृताः ॥ २५ ॥

इसलिये अपने धर्मपर आरूढ़ हो उत्तम व्रतका पालन और सत्यभाषण करते हुए वे जगद्गुरु होकर सर्वथा संदेहरहित हो जाते हैं॥ २५॥

त्रिदिवं प्राप्य शक्रस्य स्वर्गलोके विमत्सराः ।
वसन्ति शाश्वतान् वर्षाञ्जना दुष्करकारिणः ॥ २६ ॥

वे ईर्ष्यारहित दुष्कर व्रतका पालन करनेवाले पुण्यात्मा पुरुष इन्द्रके स्वर्गलोकमें पहुँचकर अनन्त वर्षोंतक वहाँ निवास करते हैं॥ २६॥

अर्जुन उवाच

ततस्ते तद् वचः श्रुत्वा धर्मार्थसहितं हितम् ।
उत्सृज्य नास्तीति गता गार्हस्थ्यं समुपाश्रिताः॥ २७ ॥

अर्जुन कहते हैं—महाराज! वे ब्राह्मणकुमार पक्षिरूपधारी इन्द्रकी धर्म और अर्थयुक्त हितकर बातें सुनकर इस निश्चयपर पहुँचे कि हमलोग जिस मार्गपर चल रहे हैं, वह हमारे लिये हितकर नहीं है; अतः वे उसे छोड़कर घर लौट गये और गृहस्थ-धर्मका पालन करते हुए वहाँ रहने लगे॥ २७॥

तस्मात् त्वमपि सर्वज्ञ धैर्यमालम्ब्य शाश्वतम् ।
प्रशाधि पृथिवीं कृत्स्नां हतामित्रां नरोत्तम ॥ २८ ॥

सर्वज्ञ नरश्रेष्ठ! अतः आप भी सदाके लिये धैर्य धारण करके शत्रुहीन हुई इस सम्पूर्ण पृथ्वीका शासन कीजिये॥२८॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि राजधर्मानुशासनपर्वणि अर्जुनवाक्ये ऋषिशकुनिसंवादकथने एकादशोऽध्यायः ॥ ११ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत राजधर्मानुशासनपर्वमें अर्जुनके वचनके प्रसंगमें ऋषियों और पक्षिरूपधारी इन्द्रके संवादका वर्णनविषयक ग्यारहवाँ अध्याय पूरा हुआ॥११॥

द्वादशोऽध्यायः

नकुलका गृहस्थ-धर्मकी प्रशंसा करते हुए राजा युधिष्ठिरको समझाना

वैशम्पायन उवाच

अर्जुनस्य वचः श्रुत्वा नकुलो वाक्यमब्रवीत् ।
राजानमभिसम्प्रेक्ष्य सर्वधर्मभृतां वरम् ॥ १ ॥
अनुरुध्य महाप्राज्ञो भ्रातुश्चित्तमरिंदम ।
व्यूढोरस्को महाबाहुस्ताम्रास्यो मितभाषिता ॥ २ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन्! अर्जुनकी बात सुनकर नकुलने भी सम्पूर्ण धर्मात्माओंमें श्रेष्ठ राजा युधिष्ठिरकी ओर देखकर कुछ कहनेको उद्यत हुए। शत्रुओंका दमन करनेवाले जनमेजय! महाबाहु नकुल बड़े बुद्धिमान् थे। उनकी छाती चौड़ी, मुख ताम्रवर्णका था। वे बड़े मितभाषी थे। उन्होंने भाईके चित्तका अनुसरण करते हुए कहा॥ १-२॥

नकुल उवाच

विशाखयूपे देवानां सर्वेषामग्नयश्चिताः ।

तस्माद् विद्धि महाराज देवाः कर्मफले स्थिताः ॥ ३ ॥

[illegible] महाराज ! विशाखयूप नामक क्षेत्रमें अनेक देवताओंद्वारा की हुई अग्निस्थापनाके चिह्न (ईंटोंकी बनी हुई वेदियाँ) मौजूद हैं। इससे आपको यह समझना चाहिये कि देवता भी वैदिक कर्मों और उनके फलोंपर निर्भर रहते हैं ॥ ३ ॥

अनास्तिकानां भूतानां प्राणदाः पितरश्च ये।
तेऽपि कर्मैव कुर्वन्ति विधिं सम्प्रेक्ष्य पार्थिव ॥ ४ ॥

राजन् ! आस्तिकताकी बुद्धिसे रहित समस्त प्राणियोंके प्राणदाता पितर भी शास्त्रके विधिवाक्योंपर दृष्टि रखकर कर्म ही करते हैं ॥ ४ ॥

वेदवादापविद्धांस्तु तान् विद्धि भृशनास्तिकान्।
न हि वेदोक्तमुत्सृज्य विप्रः सर्वेषु कर्मसु ॥ ५ ॥
देवयानेन नाकस्य पृष्ठमाप्नोति भारत।

भारत ! जो वेदोंकी आज्ञाके विरुद्ध चलते हैं, उन्हें बड़ा भारी नास्तिक समझिये। वेदकी आज्ञाका उल्लङ्घन करके सब प्रकारके कर्म करनेपर भी कोई ब्राह्मण देवयान मार्गके द्वारा स्वर्गलोककी पृष्ठभूमिमें पैर नहीं रख सकता ॥ ५½ ॥

अत्याश्रमानयं सर्वानित्याहुर्वेदनिश्चयाः ॥ ६ ॥
ब्राह्मणाः श्रुतिसम्पन्नास्तान् निबोध नराधिप।

यह गृहस्थ-आश्रम सब आश्रमोंसे ऊँचा है। यह बात वेदोंके सिद्धान्तको जाननेवाले श्रुतिसम्पन्न ब्राह्मण कहते हैं। नरेश्वर ! आप उनकी सेवामें उपस्थित होकर इस बातको समझिये ॥ ६½ ॥

वित्तानि धर्मलब्धानि क्रतुमुख्येष्ववासृजन् ॥ ७ ॥
कृतात्मा स महाराज स वै त्यागी स्मृतो नरः ॥ ८ ॥

महाराज ! जो धर्मसे प्राप्त किये हुए धनका श्रेष्ठ यज्ञोंमें उपयोग करता है और अपने मनको वशमें रखता है, वह मनुष्य त्यागी माना गया है ॥ ७-८ ॥

अनवेक्ष्य सुखादानं तथैवोर्ध्वं प्रतिष्ठितः।
आत्मत्यागी महाराज स त्यागी तामसो मतः ॥ ९ ॥

महाराज ! जिसने गृहस्थ-आश्रमके सुखभोगोंको कभी नहीं देखा, फिर भी जो ऊपरवाले वानप्रस्थ आदि आश्रमोंमें प्रतिष्ठित होकर देहत्याग करता है, उसे तामस त्यागी माना गया है ॥ ९ ॥

अनिकेतः परिपतन् वृक्षमूलाश्रयो मुनिः।
अपाचकः सदा योगी स त्यागी पार्थ भिक्षुकः ॥ १० ॥

पार्थ ! जिसका कोई घरबार नहीं, जो इधर-उधर विचरता और सुनसान किसी वृक्षके नीचे उसकी जड़पर सो जाता है, जो अपने लिये कभी रसोई नहीं बनाता और सदा योगपरायण रहता है, ऐसे त्यागीको भिक्षुक कहते हैं ॥ १० ॥

क्रोधहर्षावनादृत्य पैशुन्यं च विशेषतः।
विप्रो वेदानधीते यः स त्यागी पार्थ उच्यते ॥ ११ ॥

कुन्तीनन्दन ! जो ब्राह्मण क्रोध, हर्ष और विशेषतः चुगलीकी अवहेलना करके सदा वेदोंके स्वाध्यायमें लगा रहता है, वह त्यागी कहलाता है ॥ ११ ॥

आश्रमांस्तुलया सर्वान् धृतानाहुर्मनीषिणः।
एकतश्च त्रयो राजन् गृहस्थाश्रम एकतः ॥ १२ ॥

राजन् ! कहते हैं कि एक समय मनीषी पुरुषोंने चारों आश्रमोंको (विवेकके) तराजूपर रखकर तौला था। एक ओर तो अन्य तीनों आश्रम थे और दूसरी ओर अकेला गृहस्थ आश्रम था ॥ १२ ॥

समीक्ष्य तुलया पार्थ कामं स्वर्गं च भारत।
अयं पन्था महर्षीणामियं लोकविदां गतिः ॥ १३ ॥

भरतवंशी नरेश ! पार्थ ! इस प्रकार विवेककी तुलापर रखकर जब देखा गया तो गृहस्थ-आश्रम ही महत्त्वपूर्ण सिद्ध हुआ; क्योंकि वहाँ भोग और स्वर्ग दोनों सुलभ थे। तबसे उन्होंने निश्चय किया कि 'यही मुनियोंका मार्ग है और यही लोकवेत्ताओंकी गति है' ॥ १३ ॥

इति यः कुरुते भावं स त्यागी भरतर्षभ।
न यः परित्यज्य गृहान् वनमेति विमूढवत् ॥ १४ ॥

भरतश्रेष्ठ ! जो ऐसा भाव रखता है, वही त्यागी है। जो मूर्खकी तरह घर छोड़कर वनमें चला जाता है, वह त्यागी नहीं है ॥ १४ ॥

यदा कामान् समीक्षेत धर्मवैतंसिको नरः।
अथैनं मृत्युपाशेन कण्ठे बध्नाति मृत्युराट् ॥ १५ ॥

वनमें रहकर भी यदि धर्मध्वजी मनुष्य काम-भोगोंपर दृष्टिपात (उनका स्मरण) करता है तो यमराज उसके गलेमें मौतका फंदा डाल देते हैं ॥ १५ ॥

अभिमानकृतं कर्म नैतत् फलवदुच्यते।
त्यागयुक्तं महाराज सर्वमेव महाफलम् ॥ १६ ॥

महाराज ! यही कर्म यदि अभिमानपूर्वक किया जाय तो वह सफल नहीं होता और त्यागपूर्वक किया हुआ सारा कर्म ही महान् फलदायक होता है ॥ १६ ॥

शमो दमस्तथा धैर्यं सत्यं शौचमथार्जवम्।
यज्ञो धृतिश्च धर्मश्च नित्यमार्षो विधिः स्मृतः ॥ १७ ॥

शम, दम, धैर्य, सत्य, शौच, सरलता, यज्ञ, धृति तथा धर्म—इन सबका ऋषियोंके लिये निरन्तर पालन करनेका विधान है ॥ १७ ॥

पितृदेवातिथिकृते समारम्भोऽत्र शस्यते।
अत्रैव हि महाराज त्रिवर्गः केवलं फलम् ॥ १८ ॥

महाराज ! गृहस्थ-आश्रममें ही देवताओं, पितरों तथा अतिथियोंके लिये किये जानेवाले आयोजनकी प्रशंसा की जाती है। केवल यहीं धर्म, अर्थ और काम—ये तीनों सिद्ध होते हैं ॥ १८ ॥

एतस्मिन् वर्तमानस्य विधावप्रतिषेधिते।
त्यागिनः प्रसृतस्येह नोच्छित्तिर्विद्यते क्वचित् ॥ १९ ॥

यहाँ रहकर वेदविहित विधिका पालन करनेवाले निष्ठावान् त्यागीका कभी विनाश नहीं होता—वह पारलौकिक उन्नतिसे कभी वञ्चित नहीं रहता ॥ १९ ॥

असृजद्धि प्रजा राजन् प्रजापतिरकल्मषः।
मां यक्ष्यन्तीति धर्मात्मा यज्ञैर्विविधदक्षिणैः ॥ २० ॥

राजन्! पापरहित धर्मात्मा प्रजापतिने इस उद्देश्यसे प्रजाओंकी सृष्टि की कि 'ये नाना प्रकारकी दक्षिणावाले यज्ञोंद्वारा मेरा यजन करेंगी' ॥ २० ॥

वीरुधश्चैव वृक्षांश्च यज्ञार्थं वै तथौषधीः।
पशूंश्चैव तथा मेध्यान् यज्ञार्थानि हवींषि च ॥ २१ ॥

इसी उद्देश्यसे उन्होंने यज्ञसम्पादनके लिये नाना प्रकारकी लता-वेलों, वृक्षों, ओषधियों, मेध्य पशुओं तथा यज्ञार्थक हविष्योंकी भी सृष्टि की है ॥ २१ ॥

गृहस्थाश्रमिणस्तच्च यज्ञकर्म विरोधकम्।
तस्माद् गार्हस्थ्यमेवेह दुष्करं दुर्लभं तथा ॥ २२ ॥

वह यज्ञकर्म गृहस्थाश्रमी पुरुषको एक मर्यादाके भीतर बाँध रखनेवाला है; इसलिये गार्हस्थ्यधर्म ही इस संसारमें दुष्कर और दुर्लभ है ॥ २२ ॥

तत् सम्प्राप्य गृहस्था ये पशुधान्यधनान्विताः।
न यजन्ते महाराज शाश्वतं तेषु किल्बिषम् ॥ २३ ॥

महाराज! जो गृहस्थ उसे पाकर पशु और धन-धान्यसे सम्पन्न होते हुए भी यज्ञ नहीं करते हैं, उन्हें सदा ही पापका भागी होना पड़ता है ॥ २३ ॥

स्वाध्याययज्ञा ऋषयो ज्ञानयज्ञास्तथा परे।
अथापरे महायज्ञान् मनस्येव वितन्वते ॥ २४ ॥

कुछ ऋषि वेद-शास्त्रोंका स्वाध्यायरूप यज्ञ करनेवाले होते हैं, कुछ ज्ञानयज्ञमें तत्पर रहते हैं और कुछ लोग मनमें ही ध्यानरूपी महान् यज्ञोंका विस्तार करते हैं ॥ २४ ॥

एवं मनःसमाधानं मार्गमातिष्ठतो नृप।
द्विजातेर्ब्रह्मभूतस्य स्पृहयन्ति दिवौकसः ॥ २५ ॥

नरेश्वर! चित्तको एकाग्र करना रूप जो साधन है, उसका आश्रय लेकर ब्रह्मभूत हुए द्विजके दर्शनकी अभिलाषा देवता भी रखते हैं ॥ २५ ॥

स रत्नानि विचित्राणि संहृतानि ततस्ततः।
मखेष्वनभिसंत्यज्य नास्तिक्यमभिजल्पसि ॥ २६ ॥

इधर-उधरसे जो विचित्र रत्न संग्रह करके लाये गये हैं, उनका यज्ञोंमें वितरण न करके आप नास्तिकताकी बातें कर रहे हैं ॥ २६ ॥

कुटुम्बमास्थिते त्यागं न पश्यामि नराधिप।
राजसूयाश्वमेधेषु सर्वमेधेषु वा पुनः ॥ २७ ॥

नरेश्वर! जिसपर कुटुम्बका भार हो, उसके लिये त्यागका विधान नहीं देखनेमें आता है। उसे तो राजसूय, अश्वमेध अथवा सर्वमेध यज्ञोंमें प्रवृत्त होना चाहिये ॥ २७ ॥

ये चान्ये क्रतवस्तात ब्राह्मणैरभिपूजिताः।
तैर्यजस्व महीपाल शक्रो देवपतिर्यथा ॥ २८ ॥

भूपाल! इनके सिवा जो दूसरे भी ब्राह्मणोंद्वारा प्रशंसित यज्ञ हैं, उनके द्वारा देवराज इन्द्रके समान आप भी यज्ञपुरुषकी आराधना कीजिये ॥ २८ ॥

राज्ञः प्रमाददोषेण दस्युभिः परिमुष्यताम्।
अशरण्यः प्रजानां यः स राजा कलिरुच्यते ॥ २९ ॥

राजाके प्रमाददोषसे लुटेरे प्रबल होकर प्रजाको लूटने लगते हैं, उस अवस्थामें यदि राजाने प्रजाको शरण नहीं दी तो उसे मूर्तिमान् कलियुग कहा जाता है ॥ २९ ॥

अश्वान् गाश्चैव दासीश्च करेणूश्च स्वलंकृताः।
ग्रामाञ्जनपदांश्चैव क्षेत्राणि च गृहाणि च ॥ ३० ॥
अप्रदाय द्विजातिभ्यो मात्सर्याविष्टचेतसः।
वयं ते राजकलयो भविष्याम विशाम्पते ॥ ३१ ॥

प्रजानाथ! यदि हमलोग ईर्ष्यायुक्त मनवाले होकर ब्राह्मणोंको घोड़े, गाय, दासी, सजी-सजायी हथिनी, गाँव, जनपद, खेत और घर आदिका दान नहीं करते हैं तो राजाओंमें कलियुग समझे जायँगे ॥ ३०-३१ ॥

अदातारः शरण्याश्च राजकिल्बिषभागिनः।
दोषाणामेव भोक्तारो न सुखानां कदाचन ॥ ३२ ॥

जो दान नहीं देते, शरणागतोंकी रक्षा नहीं करते, वे राजाओंके पापके भागी होते हैं। उन्हें दुःख-ही-दुःख भोगना पड़ता है, सुख तो कभी नहीं मिलता ॥ ३२ ॥

अनिष्ट्वा च महायज्ञैरकृत्वा च पितृस्वधाम्।
तीर्थेष्वनभिसम्प्लुत्य प्रव्रजिष्यसि चेत् प्रभो ॥ ३३ ॥
छिन्नाभ्रमिव गन्तासि विलयं मारुतेरितम्।
लोकयोरुभयोर्भ्रष्टो ह्यन्तराले व्यवस्थितः ॥ ३४ ॥

प्रभो! बड़े-बड़े यज्ञोंका अनुष्ठान, पितरोंका श्राद्ध तथा तीर्थोंमें स्नान किये बिना ही आप संन्यास ले लेंगे तो हवाद्वारा छिन्न-भिन्न हुए बादलोंके समान नष्ट हो जायँगे। लोक और परलोक दोनोंसे भ्रष्ट होकर (त्रिशङ्कुके समान) बीचमें ही लटके रह जायँगे ॥ ३३-३४ ॥

अन्तर्बहिश्च यत् किंचिन्मनोव्यासङ्गकारकम्।
परित्यज्य भवेत् त्यागी न हित्वा प्रतितिष्ठति ॥ ३५ ॥

बाहर और भीतर जो कुछ भी मनको फँसानेवाली चीजें हैं, उन सबको छोड़नेसे मनुष्य त्यागी होता है। केवल घर छोड़ देनेसे त्यागकी सिद्धि नहीं होती ॥ ३५ ॥

एतस्मिन् वर्तमानस्य विधावप्रतिषेधिते।
ब्राह्मणस्य महाराज नोच्छित्तिर्विद्यते क्वचित् ॥ ३६ ॥

महाराज! इस गृहस्थ-आश्रममें ही रहकर वेदविहित कर्ममें लगे हुए ब्राह्मणका कभी उच्छेद (पतन) नहीं होता ॥ ३६ ॥

निहत्य शत्रूंस्तरसा समृद्धान्
शक्रो यथा दैत्यबलानि संख्ये ।
कः पार्थ शोचेन्नियतः स्वधर्मे
पूर्वैः स्मृते पार्थिव शिष्टजुष्टे ॥ ३७ ॥

कुन्तीनन्दन ! जैसे इन्द्र युद्धमें दैत्योंकी सेनाओंका संहार करते हैं, उसी प्रकार जो वेगपूर्वक बढ़े-चढ़े शत्रुओंका नाश करके विजय पा चुका हो और पूर्ववर्ती राजाओंद्वारा सेवित अपने धर्ममें तत्पर रहता हो, ऐसा (आपके सिवा) कौन राजा शोक करेगा ? ॥ ३७ ॥

क्षात्रेण धर्मेण पराक्रमेण
जित्वा महीं मन्त्रविद्भ्यः प्रदाय ।
नाकस्य पृष्ठेऽसि नरेन्द्र गन्ता
न शोचितव्यं भवताद्य पार्थ ॥ ३८ ॥

नरेन्द्र ! कुन्तीकुमार ! आप क्षत्रियधर्मके अनुसार पराक्रमद्वारा इस पृथ्वीपर विजय पाकर मन्त्रवेत्ता ब्राह्मणोंको यज्ञमें बहुत-सी दक्षिणाएँ देकर स्वर्गसे भी ऊपर चले जायँगे? अतः आज आपको शोक नहीं करना चाहिये ॥ ३८ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि राजधर्मानुशासनपर्वणि नकुलवाक्ये द्वादशोऽध्यायः ॥ १२ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत राजधर्मानुशासनपर्वमें नकुलवाक्यविषयक बारहवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १२ ॥

त्रयोदशोऽध्यायः

सहदेवका युधिष्ठिरको ममता और आसक्तिसे रहित होकर राज्य करनेकी सलाह देना

सहदेव उवाच

न बाह्यं द्रव्यमुत्सृज्य सिद्धिर्भवति भारत ।
शारीरं द्रव्यमुत्सृज्य सिद्धिर्भवति वा न वा ॥ १ ॥

सहदेव बोले—भरतनन्दन ! केवल बाहरी द्रव्यका त्याग कर देनेसे सिद्धि नहीं मिलती, शरीरसम्बन्धी द्रव्यका त्याग करनेसे भी सिद्धि मिलती है या नहीं, इसमें संदेह है ॥

बाह्यद्रव्यविमुक्तस्य शारीरेष्वनुगृध्यतः ।
यो धर्मो यत् सुखं वा स्याद् द्विषतां तत् तथास्तु नः ॥ २ ॥

बाहरी द्रव्योंसे दूर होकर दैहिक सुख-भोगोंमें आसक्त रहनेवालेको जो धर्म अथवा जो सुख प्राप्त होता हो, वह उस रूपमें हमारे शत्रुओंको ही मिले ॥ २ ॥

शारीरं द्रव्यमुत्सृज्य पृथिवीमनुशासतः ।
यो धर्मो यत् सुखं वा स्यात् सुहृदां तत् तथास्तु नः ॥ ३ ॥

परंतु शरीरके उपयोगमें आनेवाले द्रव्योंकी ममता त्यागकर अनासक्तभावसे पृथिवीका शासन करनेवाले राजाको जिस धर्म अथवा जिस सुखकी प्राप्ति होती हो, वह हमारे हितैषी सुहृदोंको मिले ॥ ३ ॥

द्व्यक्षरस्तु भवेन्मृत्युस्त्र्यक्षरं ब्रह्म शाश्वतम् ।
ममेति च भवेन्मृत्युर्न ममेति च शाश्वतम् ॥ ४ ॥

दो अक्षरोंका 'मम' (यह मेरा है, ऐसा भाव) मृत्यु है और तीन अक्षरोंका 'न मम' (यह मेरा नहीं है ऐसा भाव) अमृत—सनातन ब्रह्म है ॥ ४ ॥

ब्रह्ममृत्यू ततो राजन्नात्मन्येव समाश्रितौ ।
अदृश्यमानौ भूतानि योधयेतामसंशयम् ॥ ५ ॥

राजन् ! इससे सूचित होता है कि मृत्यु और अमृत ये दोनों अपने ही भीतर स्थित हैं । ये ही अदृश्यभावसे रहकर प्राणियोंको एक दूसरेसे लड़ाते हैं, इसमें संशय नहीं है ॥ ५ ॥

अविनाशोऽस्य सत्त्वस्य नियतो यदि भारत ।
हत्वा शरीरं भूतानां न हिंसा प्रतिपत्स्यते ॥ ६ ॥

भरतनन्दन ! यदि इस जीवात्माका अविनाशी होना निश्चित है, तब तो प्राणियोंके शरीरका वध करनेमात्रसे उनकी हिंसा नहीं हो सकेगी ॥ ६ ॥

अथापि च सहोत्पत्तिः सत्त्वस्य प्रलयस्तथा ।
नष्टे शरीरे नष्टः स्याद् वृथा च स्यात् क्रियापथः ॥ ७ ॥

इसके विपरीत यदि शरीरके साथ ही जीवकी उत्पत्ति तथा उसके नष्ट होनेके साथ ही जीवका नाश होना माना जाय तब तो शरीर नष्ट होनेपर जीव भी नष्ट ही हो जायगा; उस दशामें सारा वैदिक कर्ममार्ग ही व्यर्थ सिद्ध होगा ॥ ७ ॥

तस्मादेकान्तमुत्सृज्य पूर्वैः पूर्वतरैश्च यः ।
पन्था निषेवितः सद्भिः स निषेव्यो विजानता ॥ ८ ॥

इसलिये विज्ञ पुरुषको एकान्तमें रहनेका विचार छोड़कर पूर्ववर्ती तथा अत्यन्त पूर्ववर्ती श्रेष्ठ पुरुषोंने जिस मार्गका सेवन किया है, उसीका आश्रय लेना चाहिये ॥ ८ ॥

(स्वायम्भुवेन मनुना तथान्यैश्चक्रवर्तिभिः ।
यद्ययं ह्यधमः पन्थाः कस्मात् तैस्तैर्निषेवितः ॥

यदि आपकी दृष्टिमें गृहस्थ-धर्मका पालन करते हुए राज्यशासन करना अधम मार्ग है तो स्वायम्भुव मनु तथा उन-उन अन्य चक्रवर्ती नरेशोंने इसका सेवन क्यों किया था ? ॥

कृतत्रेतादियुक्तानि गुणवन्ति च भारत ।
युगानि बहुशस्तैश्च भुक्तेयमवनी नृप ॥)

भरतवंशी नरेश ! उन नरपतियोंने उत्तम गुणवाले सत्ययुग-त्रेता आदि अनेक युगोंतक इस पृथ्वीका उपभोग किया है ॥

लब्ध्वापि पृथिवीं कृत्स्नां सहस्थावरजङ्गमाम् ।
न भुङ्क्ते यो नृपः सम्यङ् निष्फलं तस्य जीवितम् ॥ ९ ॥

जो राजा चराचर प्राणियोंसे युक्त इस सारी पृथ्वीको पाकर इसका अच्छे ढंगसे उपभोग नहीं करता, उसका जीवन निष्फल है ॥ ९ ॥

अथवा वसतो राजन् वने वन्येन जीवतः ।
द्रव्येषु यस्य ममता मृत्योरास्ये स वर्तते ॥ १० ॥

अथवा राजन्! वनमें रहकर वनके ही फल-फूलोंसे जीवन-निर्वाह करते हुए भी जिस पुरुषकी द्रव्योंमें ममता बनी रहती है, वह मौतके ही मुखमें है ॥ १० ॥

बाह्यान्तरं च भूतानां स्वभावं पश्य भारत ।
ये तु पश्यन्ति तद् भूतं मुच्यन्ते ते महाभयात् ॥ ११ ॥

भरतनन्दन! प्राणियोंका बाह्य स्वभाव कुछ और होता है और आन्तरिक स्वभाव कुछ और। आप उसपर गौर कीजिये। जो सबके भीतर विराजमान परमात्माको देखते हैं, वे महान् भयसे मुक्त हो जाते हैं ॥ ११ ॥

भवान् पिता भवान् माता भवान् भ्राता भवान् गुरुः ।
दुःखप्रलापानार्तस्य तन्मे त्वं क्षन्तुमर्हसि ॥ १२ ॥

प्रभो! आप मेरे पिता, माता, भ्राता और गुरु हैं। मैंने आर्त होकर दुःखमें जो-जो प्रलाप किये हैं, उन सबको आप क्षमा करें ॥ १२ ॥

तथ्यं वा यदि वातथ्यं यन्मयैतत् प्रभाषितम् ।
तद् विद्धि पृथिवीपाल भक्त्या भरतसत्तम ॥ १३ ॥

भरतवंशभूषण भूपाल! मैंने जो कुछ भी कहा है, वह यथार्थ हो या अयथार्थ, आपके प्रति भक्ति होनेके कारण ही वे बातें मेरे मुँहसे निकली हैं, यह आप अच्छी तरह समझ लें ॥ १३ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि राजधर्मानुशासनपर्वणि सहदेववाक्ये त्रयोदशोऽध्यायः ॥ १३ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत राजधर्मानुशासनपर्वमें सहदेववाक्यविषयक तेरहवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १३ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठके २ श्लोक मिलाकर कुल १५ श्लोक हैं)

चतुर्दशोऽध्यायः

द्रौपदीका युधिष्ठिरको राजदण्डधारणपूर्वक पृथ्वीका शासन करनेके लिये प्रेरित करना

वैशम्पायन उवाच

अव्याहरति कौन्तेये धर्मराजे युधिष्ठिरे ।
भ्रातॄणां ब्रुवतां तांस्तान् विविधान् वेदनिश्चयान् ॥ १ ॥
महाभिजनसम्पन्ना श्रीमत्यायतलोचना ।
अभ्यभाषत राजेन्द्र द्रौपदी योषितां वरा ॥ २ ॥
आसीनमृषभं राज्ञां भ्रातृभिः परिवारितम् ।
सिंहशार्दूलसदृशैर्वारणैरिव यूथपम् ॥ ३ ॥
अभिमानवती नित्यं विशेषेण युधिष्ठिरे ।
लालिता सततं राज्ञा धर्मज्ञा धर्मदर्शिनी ॥ ४ ॥
आमन्त्र्य विपुलश्रोणी साम्ना परमवल्गुना ।
भर्तारमभिसम्प्रेक्ष्य ततो वचनमब्रवीत् ॥ ५ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन्! अपने भाइयोंके मुखसे नाना प्रकारके वेदोंके सिद्धान्तोंको सुनकर भी जब कुन्तीपुत्र धर्मराज युधिष्ठिर कुछ नहीं बोले, तब महान् कुलमें उत्पन्न हुई, युवतियोंमें श्रेष्ठ, स्थूल नितम्ब और विशाल नेत्रोंवाली, पतियों एवं विशेषतः राजा युधिष्ठिरके प्रति अभिमान रखनेवाली, राजाकी सदा ही लाड़िली, धर्मपर दृष्टि रखनेवाली तथा धर्मको जाननेवाली श्रीमती महारानी द्रौपदी हाथियोंसे घिरे हुए यूथपति गजराजकी भाँति सिंह-शार्दूल-सदृश पराक्रमी भाइयोंसे घिरकर बैठे हुए पतिदेव नृपश्रेष्ठ युधिष्ठिरकी ओर देखकर उन्हें सम्बोधित करके सान्त्वनापूर्ण परम मधुर वाणीमें इस प्रकार बोलीं ॥ १—५ ॥

द्रौपद्युवाच

इमे ते भ्रातरः पार्थ शुष्यन्ते स्तोकका इव ।
वावाश्यमानास्तिष्ठन्ति न चैनानभिनन्दसे ॥ ६ ॥

कुन्तीकुमार! आपके ये भाई आपका संकल्प सुनकर सूख गये हैं; पपीहोंके समान आपसे राज्य करनेकी रट लगा रहे हैं, फिर भी आप इनका अभिनन्दन नहीं करते? ॥ ६ ॥

तर्पयैतान् महाराज मत्तानिव महाद्विपान्।
उपपन्नेन वाक्येन सततं दुःखभागिनः॥ ७॥

महाराज! उन्मत्त गजराजोंके समान आपके ये बन्धु सदा आपके लिये दुःख-ही-दुःख उठाते आये हैं। अब तो इन्हें युक्तियुक्त वचनोंद्वारा आनन्दित कीजिये॥ ७॥

कथं द्वैतवने राजन् पूर्वमुक्त्वा तथा वचः।
भ्रातॄनेतान् स सहिताञ्शीतवातातपार्दितान्॥ ८॥
वयं दुर्योधनं हत्वा मृधे भोक्ष्याम मेदिनीम्।
सम्पूर्णां सर्वकामानामाहवे विजयैषिणः॥ ९॥
विरथांश्च रथान् कृत्वा निहत्य च महागजान्।
संस्तीर्य च रथैर्भूमिं ससादिभिररिंदमाः॥ १०॥
यजतां विविधैर्यज्ञैः समृद्धैराप्तदक्षिणैः।
वनवासकृतं दुःखं भविष्यति सुखाय वः॥ ११॥
इत्येतानेवमुक्त्वा त्वं स्वयं धर्मभृतां वर।
कथमद्य पुनर्वीर विनिहंसि मनांसि नः॥ १२॥

राजन्! द्वैतवनमें ये सभी भाई जब आपके साथ सर्दी-गर्मी और आँधी-पानीका कष्ट भोग रहे थे, उन दिनों आपने इन्हें धैर्य देते हुए कहा था 'शत्रुओंका दमन करनेवाले वीर बन्धुओ! विजयकी इच्छावाले हमलोग युद्धमें दुर्योधनको मारकर रथियोंको रथहीन करके बड़े-बड़े हाथियोंका वध कर डालेंगे और घुड़सवारसहित रथोंसे इस पृथ्वीको पाट देंगे। तत्पश्चात् सम्पूर्ण भोगोंसे सम्पन्न वसुधाका उपभोग करेंगे। उस समय पर्याप्त दान-दक्षिणावाले नाना प्रकारके समृद्धिशाली यज्ञोंके द्वारा भगवान्‌की आराधनामें लगे रहनेसे तुमलोगोंका यह वनवासजनित दुःख सुखरूपमें परिणत हो जायगा।' धर्मात्माओंमें श्रेष्ठ! वीर महाराज! पहले द्वैतवनमें इन भाइयोंसे स्वयं ही ऐसी बातें कहकर आज क्यों आप फिर हमलोगोंका दिल तोड़ रहे हैं॥ ८–१२॥

न क्लीबो वसुधां भुङ्क्ते न क्लीबो धनमश्नुते।
न क्लीबस्य गृहे पुत्रा मत्स्याः पङ्क इवासते॥ १३॥

जो कायर और नपुंसक है, वह पृथ्वीका उपभोग नहीं कर सकता। वह न तो धनका उपार्जन कर सकता है और न उसे भोग ही सकता है। जैसे केवल कीचड़में मछलियाँ नहीं होतीं, उसी प्रकार नपुंसकके घरमें पुत्र नहीं होते॥ १३॥

नादण्डः क्षत्रियो भाति नादण्डो भूमिमश्नुते।
नादण्डस्य प्रजा राज्ञः सुखं विन्दन्ति भारत॥ १४॥

जो दण्ड देनेकी शक्ति नहीं रखता, उस क्षत्रियकी शोभा नहीं होती; दण्ड न देनेवाला राजा इस पृथ्वीका उपभोग नहीं कर सकता। भारत! दण्डहीन राजाकी प्रजाओंको कभी सुख नहीं मिलता है॥ १४॥

मित्रता सर्वभूतेषु दानमध्ययनं तपः।
ब्राह्मणस्यैष धर्मः स्यान्न राज्ञो राजसत्तम॥ १५॥

नृपश्रेष्ठ! समस्त प्राणियोंके प्रति मैत्रीभाव, दान लेना, देना, अध्ययन और तपस्या—यह ब्राह्मणका ही धर्म है, राजाका नहीं॥ १५॥

असतां प्रतिषेधश्च सतां च परिपालनम्।
एष राज्ञां परो धर्मः समरे चापलायनम्॥ १६॥

राजाओंका परम धर्म तो यही है कि वे दुष्टोंको दण्ड दें, सत्पुरुषोंका पालन करें और युद्धमें कभी पीठ न दिखावें॥

यस्मिन् क्षमा च क्रोधश्च दानादाने भयाभये।
निग्रहानुग्रहौ चोभौ स वै धर्मविदुच्यते॥ १७॥

जिसमें समयानुसार क्षमा और क्रोध दोनों प्रकट होते हैं, जो दान देता और कर लेता है, जिसमें शत्रुओंको भय दिखाने और शरणागतोंको अभय देनेकी शक्ति है, जो दुष्टोंको दण्ड देता और दीनोंपर अनुग्रह करता है, वही धर्मज्ञ कहलाता है॥

न श्रुतेन न दानेन न सान्त्वेन न चेज्यया।
त्वयेयं पृथिवी लब्धा न संकोचेन चाप्युत॥ १८॥

आपको यह पृथिवी न तो शास्त्रोंके श्रवणसे मिली है, न दानमें प्राप्त हुई है, न किसीको समझाने-बुझानेसे उपलब्ध हुई है, न यज्ञ करानेसे और न कहीं भीख माँगनेसे ही प्राप्त हुई है॥

यत् तद् बलममित्राणां तथा वीर्यसमुद्यतम्।
हस्त्यश्वरथसम्पन्नं त्रिभिरङ्गैरनुत्तमम्॥ १९॥
रक्षितं द्रोणकर्णाभ्यामश्वत्थाम्ना कृपेण च।
तत् त्वया निहतं वीर तस्माद् भुङ्क्ष्व वसुन्धराम्॥ २०॥

वह जो शत्रुओंकी पराक्रम सम्पन्न एवं श्रेष्ठ सेना हाथी, घोड़े और रथ तीनों अङ्गोंसे सम्पन्न थी तथा द्रोण, कर्ण, अश्वत्थामा और कृपाचार्य जिसकी रक्षा करते थे, उसका आपने वध किया है, तब यह पृथ्वी आपके अधिकारमें आयी है, अतः वीर! आप इसका उपभोग करें॥ १९-२०॥

जम्बूद्वीपो महाराज नानाजनपदैर्युतः।
त्वया पुरुषशार्दूल दण्डेन मृदितः प्रभो॥ २१॥

प्रभो! महाराज! पुरुषसिंह! आपने अनेकों जनपदोंसे युक्त इस जम्बूद्वीपको अपने दण्डसे रौंद डाला है॥ २१॥

जम्बूद्वीपेन सदृशः क्रौञ्चद्वीपो नराधिप।
अपरेण महामेरोर्दण्डेन मृदितस्त्वया॥ २२॥

नरेश्वर! जम्बूद्वीपके समान ही क्रौञ्चद्वीपको जो महामेरुसे पश्चिम है, आपने दण्डसे कुचल दिया है॥ २२॥

क्रौञ्चद्वीपेन सदृशः शाकद्वीपो नराधिप।
पूर्वेण तु महामेरोर्दण्डेन मृदितस्त्वया॥ २३॥

नरेन्द्र! क्रौञ्चद्वीपके समान ही शाकद्वीपको जो महामेरुसे पूर्व है, आपने दण्ड देकर दबा दिया है॥ २३॥

उत्तरेण महामेरोः शाकद्वीपेन सम्मितः।
भद्राश्वः पुरुषव्याघ्र दण्डेन मृदितस्त्वया॥ २४॥

पुरुषसिंह! महामेरुसे उत्तर शाकद्वीपके बराबर ही जो भद्राश्व वर्ष है, उसे भी आपके दण्डसे दबना पड़ा है॥ २४॥

द्वीपाश्च सान्तरद्वीपा नानाजनपदाश्रयाः।
विगाह्य सागरं वीर दण्डेन मृदितास्त्वया ॥ २५ ॥

वीर ! इनके अतिरिक्त भी जो बहुत-से देशोंके आश्रयभूत द्वीप और अन्तर्द्वीप हैं, समुद्र लाँघकर उन्हें भी आपने दण्डद्वारा दबाकर अपने अधिकारमें कर लिया है ॥ २५ ॥

एतान्यप्रतिमेयानि कृत्वा कर्माणि भारत।
न प्रीयसे महाराज पूज्यमानो द्विजातिभिः ॥ २६ ॥

भरतनन्दन ! महाराज ! आप ऐसे-ऐसे अनुपम पराक्रम करके द्विजातियोंद्वारा सम्मानित होकर भी प्रसन्न नहीं हो रहे हैं ? ॥ २६ ॥

स त्वं भ्रातॄनिमान् दृष्ट्वा प्रतिनन्दस्व भारत।
ऋषभानिव सम्मत्तान् गजेन्द्रानूर्जितानिव ॥ २७ ॥

भारत ! मतवाले साँड़ों और बलशाली गजराजोंके समान अपने इन भाइयोंको देखकर आप इनका अभिनन्दन कीजिये ॥ २७ ॥

अमरप्रतिमाः सर्वे शत्रुसाहाः परंतपाः।
एकोऽपि हि सुखायैषां मम स्यादिति मे मतिः ॥ २८ ॥
किं पुनः पुरुषव्याघ्र पतयो मे नरर्षभाः।
समस्तानीन्द्रियाणीव शरीरस्य विचेष्टने ॥ २९ ॥

पुरुषसिंह ! शत्रुओंको संताप देनेवाले आपके ये सभी भाई शत्रु सैनिकोंका वेग सहन करनेमें समर्थ हैं, देवताओंके समान तेजस्वी हैं, मेरा विश्वास है कि इनमेंसे एक वीर भी मुझे पूर्ण सुखी बना सकता है, फिर ये मेरे पाँचों नरश्रेष्ठ पति क्या नहीं कर सकते हैं ? शरीरको चेष्टाशील बनानेमें सम्पूर्ण इन्द्रियोंका जो स्थान है, वही मेरे जीवनको सुखी बनानेमें इन सबका है ॥ २८-२९ ॥

अनृतं नाब्रवीच्छ्वश्रूः सर्वज्ञा सर्वदर्शिनी।
युधिष्ठिरस्त्वां पाञ्चालि सुखे धास्यत्यनुत्तमे ॥ ३० ॥
हत्वा राजसहस्राणि बहून्याशुपराक्रमः।
तद् व्यर्थं सम्प्रपश्यामि मोहात् तव जनाधिप ॥ ३१ ॥

महाराज ! मेरी सास कभी झूठ नहीं बोलीं। वे सर्वज्ञ हैं और सब कुछ देखनेवाली हैं। उन्होंने मुझसे कहा था— 'पाञ्चालराजकुमारि ! युधिष्ठिर शीघ्रतापूर्वक पराक्रम दिखानेवाले हैं। ये कई सहस्र राजाओंका संहार करके तुम्हें सुखके सिंहासनपर प्रतिष्ठित करेंगे।' किंतु जनेश्वर ! आज आपका यह मोह देखकर मुझे अपनी सासकी कही हुई बात भी व्यर्थ होती दिखायी देती है ॥ ३०-३१ ॥

येषामुन्मत्तको ज्येष्ठः सर्वे तेऽप्यनुसारिणः।
तवोन्मादान्महाराज सोन्मादाः सर्वपाण्डवाः ॥ ३२ ॥

जिनका जेठा भाई उन्मत्त हो जाता है, वे सभी उसीका अनुकरण करने लगते हैं। महाराज ! आपके उन्मादसे सारे पाण्डव भी उन्मत्त हो गये हैं ॥ ३२ ॥

यदि हि स्युरनुन्मत्ता भ्रातरस्ते नराधिप।
बद्ध्वा त्वां नास्तिकैः सार्धं प्रशासेयुर्वसुन्धराम् ॥ ३३ ॥

नरेश्वर ! यदि ये आपके भाई उन्मत्त नहीं हुए होते तो नास्तिकोंके साथ आपको भी बाँधकर स्वयं इस वसुधाका शासन करते ॥ ३३ ॥

कुरुते मूढ एवं हि यः श्रेयो नाधिगच्छति।
धूपैरञ्जनयोगैश्च नस्यकर्मभिरेव च ॥ ३४ ॥
भेषजैः स चिकित्स्यः स्याद् य उन्मार्गेण गच्छति।

जो मूर्ख इस प्रकारका काम करता है, वह कभी कल्याणका भागी नहीं होता। जो उन्मादग्रस्त होकर उलटे मार्गसे चलने लगता है, उसके लिये धूपकी सुगंध देकर, आँखोंमें सिद्ध अञ्जन लगाकर, नाकमें सुँघनी सुँघाकर अथवा और कोई औषध खिलाकर उसके रोगकी चिकित्सा करनी चाहिये ॥ ३४½ ॥

साहं सर्वाधमा लोके स्त्रीणां भरतसत्तम ॥ ३५ ॥
तथा विनिकृता पुत्रैर्याहमिच्छामि जीवितुम्।

भरतश्रेष्ठ ! मैं ही संसारकी सब स्त्रियोंमें अधम हूँ, जो कि पुत्रोंसे हीन हो जानेपर भी जीवित रहना चाहती हूँ ॥ ३५½ ॥

एतेषां यतमानानां न मेऽद्य वचनं मृषा ॥ ३६ ॥
त्वं तु सर्वां महीं त्यक्त्वा कुरुषे स्वयमापदम्।

ये सब लोग आपको समझानेका प्रयत्न कर रहे हैं; फिर भी आप ध्यान नहीं देते। मैं इस समय जो कुछ कह रही हूँ मेरी यह बात झूठी नहीं है। आप सारी पृथ्वीका राज्य छोड़कर अपने लिये स्वयं ही विपत्ति खड़ी कर रहे हैं ॥ ३६½ ॥

यथाऽऽस्तां सम्मतौ राज्ञां पृथिव्यां राजसत्तम ॥ ३७ ॥
मान्धाता चाम्बरीषश्च तथा राजन् विराजसे।

नृपश्रेष्ठ ! जैसे मान्धाता और अम्बरीष भूमण्डलके समस्त राजाओंमें सम्मानित थे, राजन् ! वैसे ही आप भी सुशोभित हो रहे हैं ॥ ३७½ ॥

प्रशाधि पृथिवीं देवीं प्रजा धर्मेण पालयन् ॥ ३८ ॥
सपर्वतवनद्वीपां मा राजन् विमना भव।

नरेश्वर ! धर्मपूर्वक प्रजाका पालन करते हुए पर्वत, वन और द्वीपोंसहित पृथ्वी देवीका शासन कीजिये। इस प्रकार उदासीन न होइये ॥ ३८½ ॥

यजस्व विविधैर्यज्ञैर्युध्यस्वारीन् प्रयच्छ च।
धनानि भोगान् वासांसि द्विजातिभ्यो नृपोत्तम ॥ ३९ ॥

नृपश्रेष्ठ ! नाना प्रकारके यज्ञोंका अनुष्ठान और शत्रुओंके साथ युद्ध कीजिये। ब्राह्मणोंको धन, भोगसामग्री और वस्त्रोंका दान कीजिये ॥ ३९ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि राजधर्मानुशासनपर्वणि द्रौपदीवाक्ये चतुर्दशोऽध्यायः ॥ १४ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत राजधर्मानुशासनपर्वमें द्रौपदीवाक्यविषयक चौदहवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १४ ॥

पञ्चदशोऽध्यायः

अर्जुनके द्वारा राजदण्डकी महत्ताका वर्णन

वैशम्पायन उवाच

याज्ञसेन्या वचः श्रुत्वा पुनरेवार्जुनोऽब्रवीत्।
अनुमान्य महाबाहुं ज्येष्ठं भ्रातरमच्युतम्॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन्! द्रुपदकुमारीका यह वचन सुनकर अपनी मर्यादासे कभी च्युत न होनेवाले बड़े भाई महाबाहु युधिष्ठिरका सम्मान करते हुए अर्जुनने फिर इस प्रकार कहा ॥ १ ॥

अर्जुन उवाच

दण्डः शास्ति प्रजाः सर्वा दण्ड एवाभिरक्षति।
दण्डः सुप्तेषु जागर्ति दण्डं धर्मं विदुर्बुधाः॥ २ ॥

अर्जुन बोले—राजन्! दण्ड समस्त प्रजाओंका शासन करता है; दण्ड ही उनकी सब ओरसे रक्षा करता है, सबके सो जानेपर भी दण्ड जागता रहता है; इसलिये विद्वान् पुरुषोंने दण्डको राजाका धर्म माना है ॥ २ ॥

दण्डः संरक्षते धर्मं तथैवार्थं जनाधिप।
कामं संरक्षते दण्डस्त्रिवर्गो दण्ड उच्यते॥ ३ ॥

जनेश्वर! दण्ड ही धर्म और अर्थकी रक्षा करता है, वही कामका भी रक्षक है; अतः दण्ड त्रिवर्गरूप कहा जाता है ॥ ३ ॥

दण्डेन रक्ष्यते धान्यं धनं दण्डेन रक्ष्यते।
एवं विद्वानुपाधत्स्व भावं पश्यस्व लौकिकम्॥ ४ ॥

दण्डसे धान्यकी रक्षा होती है, उसीसे धनकी भी रक्षा होती है; ऐसा जानकर आप भी दण्ड धारण कीजिये और जगत्‌के व्यवहारपर दृष्टि डालिये ॥ ४ ॥

राजदण्डभयादेके पापाः पापं न कुर्वते।
यमदण्डभयादेके परलोकभयादपि॥ ५ ॥
परस्परभयादेके पापाः पापं न कुर्वते।
एवं सांसिद्धिके लोके सर्वं दण्डे प्रतिष्ठितम्॥ ६ ॥

कितने ही पापी राजदण्डके भयसे पाप नहीं करते हैं। कुछ लोग यमदण्डके भयसे, कोई परलोकके भयसे और कितने ही पापी आपसमें एक दूसरेके भयसे पाप नहीं करते हैं। जगत्‌की ऐसी ही स्वाभाविक स्थिति है; इसलिये सब कुछ दण्डमें ही प्रतिष्ठित है ॥ ५-६ ॥

दण्डस्यैव भयादेके न खादन्ति परस्परम्।
अन्धे तमसि मज्जेयुर्यदि दण्डो न पालयेत्॥ ७ ॥

कितने ही मनुष्य दण्डके ही भयसे एक दूसरेको खा नहीं जाते हैं। यदि दण्ड रक्षा न करे तो सब लोग घोर अन्धकारमें डूब जायँ ॥ ७ ॥

यस्माददान्तान् दमयत्यशिष्टान् दण्डयत्यपि।
दमनाद् दण्डनाच्चैव तस्माद् दण्डं विदुर्बुधाः॥ ८ ॥

यह उद्दण्ड मनुष्योंका दमन करता और दुष्टोंको दण्ड देता है, अतः उस दमन और दण्डके कारण ही विद्वान् पुरुष इसे दण्ड कहते हैं ॥ ८ ॥

वाचा दण्डो ब्राह्मणानां क्षत्रियाणां भुजार्पणम्।
दानदण्डाः स्मृता वैश्या निर्दण्डः शूद्र उच्यते॥ ९ ॥

यदि ब्राह्मण अपराध करे तो वाणीसे उसको अपमानित करना ही उसका दण्ड है, क्षत्रियको भोजनमात्रके लिये वेतन देकर उससे काम लेना उसका दण्ड है, वैश्योंसे जुर्मानाके रूपमें धन वसूल करना उनका दण्ड है, परंतु शूद्र दण्डरहित कहा गया है। उससे सेवा लेनेके सिवा और कोई दण्ड उसके लिये नहीं है ॥ ९ ॥

असम्मोहाय मर्त्यानामर्थसंरक्षणाय च।
मर्यादा स्थापिता लोके दण्डसंज्ञा विशाम्पते॥ १० ॥

प्रजानाथ! मनुष्योंको प्रमादसे बचाने और उनके धनकी रक्षा करनेके लिये लोकमें जो मर्यादा स्थापित की गयी है, उसीका नाम दण्ड है ॥ १० ॥

यत्र श्यामो लोहिताक्षो दण्डश्चरति सूद्यतः।
प्रजास्तत्र न मुह्यन्ते नेता चेत् साधु पश्यति॥ ११ ॥

दण्डनीयपर ऐसी जोरकी मार पड़ती है कि उसकी आँखोंके सामने अँधेरा छा जाता है; इसलिये दण्डको काला कहा गया है, दण्ड देनेवालेकी आँखें क्रोधसे लाल रहती हैं; इसलिये उसे लोहिताक्ष कहते हैं। ऐसा दण्ड जहाँ सर्वथा शासनके लिये उद्यत होकर विचरता रहता है और नेता या शासक अच्छी तरह अपराधोंपर दृष्टि रखता है, वहाँ प्रजा प्रमाद नहीं करती ॥ ११ ॥

ब्रह्मचारी गृहस्थश्च वानप्रस्थश्च भिक्षुकः।
दण्डस्यैव भयादेते मनुष्या वर्त्मनि स्थिताः॥ १२ ॥

ब्रह्मचारी, गृहस्थ, वानप्रस्थ और संन्यासी—ये सभी मनुष्य दण्डके ही भयसे अपने-अपने मार्गपर स्थिर रहते हैं ॥ १२ ॥

नाभीतो यजते राजन् नाभीतो दातुमिच्छति।
नाभीतः पुरुषः कश्चित् समये स्थातुमिच्छति॥ १३ ॥

राजन्! बिना भयके कोई यज्ञ नहीं करता है, बिना भयके कोई दान नहीं करना चाहता है और दण्डका भय न हो तो कोई पुरुष मर्यादा या प्रतिज्ञाके पालनपर भी स्थिर नहीं रहना चाहता है ॥ १३ ॥

नाच्छित्त्वा परमर्माणि नाकृत्वा कर्म दुष्करम्।
नाहत्वा मत्स्यघातीव प्राप्नोति महतीं श्रियम्॥ १४ ॥

मछली मारनेवाले मल्लाहोंकी तरह दूसरोंके मर्मस्थानोंका उच्छेद और दुष्कर कर्म किये बिना तथा बहुसंख्यक प्राणियों-को मारे बिना कोई बड़ी भारी सम्पत्ति नहीं प्राप्त कर सकता ॥ १४ ॥

नाघ्नतः कीर्तिरस्तीह न वित्तं न पुनः प्रजाः।
इन्द्रो वृत्रवधेनैव महेन्द्रः समपद्यत॥ १५ ॥

जो दूसरोंका वध नहीं करता, उसे इस संसारमें न तो कीर्ति मिलती है, न धन प्राप्त होता है और न प्रजा ही उपलब्ध होती है। इन्द्र वृत्रासुरका वध करनेसे ही महेन्द्र हो गये ॥ १५ ॥

य एव देवा हन्तारस्ताँल्लोकोऽर्चयते भृशम्।
हन्ता रुद्रस्तथा स्कन्दः शक्रोऽग्निर्वरुणो यमः ॥ १६ ॥
हन्ता कालस्तथा वायुर्मृत्युर्वैश्रवणो रविः।
वसवो मरुतः साध्या विश्वेदेवाश्च भारत ॥ १७ ॥
एतान् देवान् नमस्यन्ति प्रतापप्रणता जनाः।

जो देवता दूसरोंका वध करनेवाले हैं, उन्हींकी संसार अधिक पूजा करता है। रुद्र, स्कन्द, इन्द्र, अग्नि, वरुण, यम, काल, वायु, मृत्यु, कुबेर, सूर्य, वसु, मरुद्गण, साध्य तथा विश्वेदेव— ये सब देवता दूसरोंका वध करते हैं; इनके प्रतापके सामने नतमस्तक होकर सब लोग इन्हें नमस्कार करते हैं ॥ १६-१७½ ॥

न ब्रह्माणं न धातारं न पूषाणं कथंचन ॥ १८ ॥
मध्यस्थान् सर्वभूतेषु दान्ताञ्शमपरायणान्।
यजन्ते मानवाः केचित् प्रशान्ताः सर्वकर्मसु ॥ १९ ॥

परंतु ब्रह्मा, धाता और पूषाकी कोई किसी तरह भी पूजा अर्चा नहीं करते हैं; क्योंकि वे सम्पूर्ण प्राणियोंके प्रति समभाव रखनेके कारण मध्यस्थ, जितेन्द्रिय एवं शान्ति-परायण हैं। जो शान्त स्वभावके मनुष्य हैं, वे ही समस्त कर्मोंमें इन धाता आदिकी पूजा करते हैं ॥ १८-१९ ॥

न हि पश्यामि जीवन्तं लोके कश्चिदहिंसया।
सत्त्वैः सत्त्वा हि जीवन्ति दुर्बलैर्बलवत्तराः ॥ २० ॥

संसारमें किसी भी ऐसे पुरुषको मैं नहीं देखता, जो अहिंसासे जीविका चलाता हो; क्योंकि प्रबल जीव दुर्बल जीवोंद्वारा जीवन-निर्वाह करते हैं ॥ २० ॥

नकुलो मूषिकानत्ति बिडालो नकुलं तथा।
बिडालमत्ति श्वा राजञ्श्वानं व्यालमृगस्तथा ॥ २१ ॥

राजन्! नेवला चूहेको खा जाता है और नेवलेको बिलाव, बिलावको कुत्ता और कुत्तेको चीता चबा जाता है ॥ २१ ॥

तानत्ति पुरुषः सर्वान् पश्य कालो यथागतः।
प्राणस्यान्नमिदं सर्वं जङ्गमं स्थावरं च यत् ॥ २२ ॥

परंतु इन सबको मनुष्य मारकर खा जाता है। देखो, कैसा काल आ गया है? यह सम्पूर्ण चराचर जगत् प्राणका अन्न है ॥ २२ ॥

विधानं दैवविहितं तत्र विद्वान् न मुह्यति।
यथा सृष्टोऽसि राजेन्द्र तथा भवितुमर्हसि ॥ २३ ॥

यह सब दैवका विधान है। इसमें विद्वान् पुरुषको मोह नहीं होता है। राजेन्द्र! आपको विधाताने जैसा बनाया है, (जिस जाति और कुलमें आपको जन्म दिया है) वैसा ही आपको होना चाहिये ॥ २३ ॥

विनीतक्रोधहर्षा हि मन्दा वनमुपाश्रिताः।
विना वधं न कुर्वन्ति तापसाः प्राणयापनम् ॥ २४ ॥

जिनमें क्रोध और हर्ष दोनों ही नहीं रह गये हैं, वे मन्दबुद्धि क्षत्रिय वनमें जाकर तपस्वी बन जाते हैं; परंतु बिना हिंसा किये वे भी जीवन-निर्वाह नहीं कर पाते हैं ॥ २४ ॥

उदके बहवः प्राणाः पृथिव्यां च फलेषु च।
न च कश्चिन्न तान् हन्ति किमन्यत् प्राणयापनात् ॥ २५ ॥

जलमें बहुतेरे जीव हैं, पृथ्वीपर तथा वृक्षके फलोंमें भी बहुत-से कीड़े होते हैं। कोई भी ऐसा मनुष्य नहीं है, जो इनमेंसे किसीको कभी न मारता हो। यह सब जीवन-निर्वाहके सिवा और क्या है? ॥ २५ ॥

सूक्ष्मयोनीनि भूतानि तर्कगम्यानि कानिचित्।
पक्ष्मणोऽपि निपातेन येषां स्यात् स्कन्धपर्ययः ॥ २६ ॥

कितने ही ऐसे सूक्ष्म योनिके जीव हैं, जो अनुमानसे ही जाने जाते हैं। मनुष्यकी पलकोंके गिरनेमात्रसे जिनके कंधे टूट जाते हैं (ऐसे जीवोंकी हिंसासे कोई कहाँ तक बच सकता है?) ॥ २६ ॥

ग्रामान् निष्क्रम्य मुनयो विगतक्रोधमत्सराः।
वने कुटुम्बधर्माणो दृश्यन्ते परिमोहिताः ॥ २७ ॥

कितने ही मुनि क्रोध और ईर्ष्यासे रहित हो गाँवसे निकलकर वनमें चले जाते हैं और वहीं मोहवश गृहस्थधर्ममें अनुरक्त दिखायी देते हैं ॥ २७ ॥

भूमिं भित्त्वौषधीश्छित्त्वा वृक्षादीनण्डजान् पशून्।
मनुष्यास्तन्वते यज्ञांस्ते स्वर्गं प्राप्नुवन्ति च ॥ २८ ॥

मनुष्य धरतीको खोदकर तथा ओषधियों, वृक्षों, लताओं, पक्षियों और पशुओंका उच्छेद करके यज्ञका अनुष्ठान करते हैं और वे स्वर्गमें भी चले जाते हैं ॥ २८ ॥

दण्डनीत्यां प्रणीतायां सर्वे सिद्ध्यन्त्युपक्रमाः।
कौन्तेय सर्वभूतानां तत्र मे नास्ति संशयः ॥ २९ ॥

कुन्तीनन्दन! दण्डनीतिका ठीक-ठीक प्रयोग होनेपर समस्त प्राणियोंके सभी कार्य अच्छी तरह सिद्ध होते हैं, इसमें मुझे संशय नहीं है ॥ २९ ॥

दण्डश्चेन्न भवेल्लोके विनश्येयुरिमाः प्रजाः।
जले मत्स्यानिवाभक्ष्यन् दुर्बलान् बलवत्तराः ॥ ३० ॥

यदि संसारमें दण्ड न रहे तो यह सारी प्रजा नष्ट हो जाय और जैसे जलमें बड़े मत्स्य छोटी मछलियोंको खा जाते हैं, उसी प्रकार प्रबल जीव दुर्बल जीवोंको अपना आहार बना लें ॥ ३० ॥

सत्यं चेदं ब्रह्मणा पूर्वमुक्तं
दण्डः प्रजा रक्षति साधु नीतः।
पश्याग्नयश्च प्रतिशाम्य भीताः
संतर्जिता दण्डभयाज्ज्वलन्ति ॥ ३१ ॥

ब्रह्माजीने पहले ही इस सत्यको बता दिया है कि अच्छी तरह प्रयोगमें लाया हुआ दण्ड प्रजाजनोंकी रक्षा करता है। देखो, जब आग बुझने लगती है, तब वह फूँककी फटकार

दबी रहती है, किंतु समय पाकर फिर क्रोधका अनुभव करती और दण्डके भयसे फिर प्रज्वलित हो उठती है ॥ ३१ ॥

अन्धं तम इवेदं स्यान्न प्राज्ञायत किंचन।
दण्डश्चेन्न भवेल्लोके विभजन् साध्वसाधुनी ॥ ३२ ॥

यदि संसारमें भले-बुरेका विभाग करनेवाला दण्ड न हो तो सब जगत् अंधेर मच जाय और किसीको कुछ सूझ न पड़े ॥ ३२ ॥

येऽपि सम्भिन्नमर्यादा नास्तिका वेदनिन्दकाः।
तेऽपि भोगाय कल्पन्ते दण्डेनाशु निपीडिताः ॥ ३३ ॥

जो धर्मकी मर्यादा नष्ट करके वेदोंकी निन्दा करनेवाले नास्तिक मनुष्य हैं, वे भी डंडे पड़नेपर उससे पीड़ित हो शीघ्र ही रास्तेपर आ जाते हैं—मर्यादा-पालनके लिये तैयार हो जाते हैं ॥ ३३ ॥

सर्वो दण्डजितो लोको दुर्लभो हि शुचिर्जनः।
दण्डस्य हि भयाद् भीतो भोगायैव प्रवर्तते ॥ ३४ ॥

सारा जगत् दण्डसे विवश होकर ही रास्तेपर रहता है; क्योंकि स्वभावतः सर्वथा शुद्ध मनुष्य मिलना कठिन है। दण्डके भयसे डरा हुआ मनुष्य ही मर्यादा-पालनमें प्रवृत्त होता है ॥ ३४ ॥

चातुर्वर्ण्यप्रमोदाय सुनीतिनयनाय च।
दण्डो विधात्रा विहितो धर्मार्थौ भुवि रक्षितुम् ॥ ३५ ॥

विधाताने दण्डका विधान इस उद्देश्यसे किया है कि चारों वर्णोंके लोग आनन्दसे रहें, सबमें अच्छी नीतिका बर्ताव हो तथा पृथ्वीपर धर्म और अर्थकी रक्षा रहे ॥ ३५ ॥

यदि दण्डान्न बिभ्येयुर्वयांसि श्वापदानि च।
अद्युः पशून् मनुष्यांश्च यज्ञार्थानि हवींषि च ॥ ३६ ॥

यदि पक्षी और हिंसक जीव दण्डके भयसे डरते न होते तो वे पशुओं, मनुष्यों और यज्ञके लिये रक्खे हुए हविष्योंको खा जाते ॥ ३६ ॥

न ब्रह्मचार्यधीयीत कल्याणी गौर्न दुह्यते।
न कन्योद्वहनं गच्छेद् यदि दण्डो न पालयेत् ॥ ३७ ॥

यदि दण्ड मर्यादाकी रक्षा न करे तो ब्रह्मचारी वेदोंके अध्ययनमें न लगे, सीधी गौ भी दूध न दुहावे और कन्या ब्याह न करे ॥ ३७ ॥

विष्वग्लोपः प्रवर्तेत भिद्येरन् सर्वसेतवः।
ममत्वं न प्रजानीयुर्यदि दण्डो न पालयेत् ॥ ३८ ॥

यदि दण्ड मर्यादाका पालन न करावे तो चारों ओरसे धर्म-कर्मका लोप हो जाय, सारी मर्यादाएँ टूट जायँ और लोग यह भी न जानें कि कौन वस्तु मेरी है और कौन नहीं ?

न संवत्सरसत्राणि तिष्ठेयुरकुतोभयाः।
विधिवद् दक्षिणावन्ति यदि दण्डो न पालयेत् ॥ ३९ ॥

यदि दण्ड धर्मका पालन न करावे तो विधिपूर्वक दक्षिणाओंसे युक्त संवत्सरयज्ञ भी बेखटके न होने पावे ॥

चरेयुर्नाश्रमे धर्मं यथोक्तं विधिमाश्रिताः।
न विद्यां प्राप्नुयात् कश्चिद् यदि दण्डो न पालयेत् ॥ ४० ॥

यदि दण्ड मर्यादाका पालन न करावे तो लोग आश्रमोंमें रहकर विधिपूर्वक शास्त्रोक्त धर्मका पालन न करें और कोई विद्या भी न पढ़ सके ॥ ४० ॥

न चोष्ट्रा न बलीवर्दा नाश्वाश्वतरगर्दभाः।
युक्ता वहेयुर्यानानि यदि दण्डो न पालयेत् ॥ ४१ ॥

यदि दण्ड कर्तव्यका पालन न करावे तो ऊँट, बैल, घोड़े, खच्चर और गदहे रथोंमें जोत दिये जानेपर भी उन्हें ढोकर ले न जायँ ॥ ४१ ॥

न प्रेष्या वचनं कुर्युर्न बाला जातु कर्हिचित्।
न तिष्ठेद् युवती धर्मे यदि दण्डो न पालयेत् ॥ ४२ ॥

यदि दण्ड धर्म और कर्तव्यका पालन न करावे तो सेवक स्वामीकी बात न माने, बालक भी कभी माँ-बापकी आज्ञाका पालन न करें और युवती स्त्री भी अपने सतीधर्ममें स्थिर न रहे ॥ ४२ ॥

दण्डे स्थिताः प्रजाः सर्वा भयं दण्डे विदुर्बुधाः।
दण्डे स्वर्गो मनुष्याणां लोकोऽयं सुप्रतिष्ठितः ॥ ४३ ॥

दण्डपर ही सारी प्रजा टिकी हुई है, दण्डसे ही भय होता है, ऐसी विद्वानोंकी मान्यता है। मनुष्योंका इहलोक और स्वर्गलोक दण्डपर ही प्रतिष्ठित है ॥ ४३ ॥

न तत्र कूटं पापं वा वञ्चना वापि दृश्यते।
यत्र दण्डः सुविहितश्चरत्यरिविनाशनः ॥ ४४ ॥

जहाँ शत्रुओंका विनाश करनेवाला दण्ड सुन्दर ढंगसे संचालित हो रहा है, वहाँ छल, पाप और ठगी भी नहीं देखनेमें आती है ॥ ४४ ॥

हविः श्वा प्रलिहेद् दृष्ट्वा दण्डश्चेन्नोद्यतो भवेत्।
हरेत् काकः पुरोडाशं यदि दण्डो न पालयेत् ॥ ४५ ॥

यदि दण्ड रक्षाके लिये सदा उद्यत न रहे तो कुत्ता हविष्यको देखते ही चाट जाय और यदि दण्ड रक्षा न करे तो कौआ पुरोडाशको उठा ले जाय ॥ ४५ ॥

यदीदं धर्मतो राज्यं विहितं यद्यधर्मतः।
कार्यस्तत्र न शोको वै भुङ्क्ष्व भोगान् यजस्व च ॥ ४६ ॥

यह राज्य धर्मसे प्राप्त हुआ हो या अधर्मसे, इसके लिये शोक नहीं करना चाहिये। आप भोग भोगिये और यज्ञ कीजिये ॥ ४६ ॥

सुखेन धर्मं श्रीमन्तश्चरन्ति शुचिवाससः।
संवर्षन्तः फलैर्दानैर्भुञ्जानाश्चान्नमुत्तमम् ॥ ४७ ॥

शुद्ध वस्त्र धारण करनेवाले धनवान् पुरुष सुखपूर्वक धर्मका आचरण करते हैं और उत्तम अन्न भोजन करते हुए फलों और दानोंकी वर्षा करते हैं ॥ ४७ ॥

अर्थे सर्वे समारम्भाः समायत्ता न संशयः।
स च दण्डे समायत्तः पश्य दण्डस्य गौरवम् ॥ ४८ ॥

इसमें संदेह नहीं कि सारे कार्य धनके अधीन हैं, परंतु धन दण्डके अधीन है। देखिये, दण्डकी कैसी महिमा है ? ॥

लोकयात्रार्थमेवेह धर्मप्रवचनं कृतम्।
अहिंसासाधुहिंसेति श्रेयान् धर्मपरिग्रहः ॥ ४९ ॥

लोकयात्राका निर्वाह करनेके लिये ही धर्मका प्रतिपादन किया गया है। सर्वथा हिंसा न की जाय अथवा दुष्टकी हिंसा की जाय, यह प्रश्न उपस्थित होनेपर जिसमें धर्मकी रक्षा हो, वही कार्य श्रेष्ठ मानना चाहिये * ॥ ४९ ॥

नात्यन्तं गुणवत् किंचिन्न चाप्यत्यन्तनिर्गुणम्।
उभयं सर्वकार्येषु दृश्यते साध्वसाधु वा ॥ ५० ॥

कोई भी वस्तु ऐसी नहीं है जिसमें सर्वथा गुण-ही-गुण हो। ऐसी भी वस्तु नहीं है जो सर्वथा गुणोंसे वञ्चित ही हो। सभी कार्योंमें अच्छाई और बुराई दोनों ही देखनेमें आती हैं॥

पशूनां वृषणं छित्त्वा ततो भिन्दन्ति मस्तकम्।
वहन्ति बहवो भारान् बध्नन्ति दमयन्ति च ॥ ५१ ॥

बहुत-से मनुष्य पशुओं (बैलों) का अण्डकोश काटकर फिर उसके मस्तकपर उगे हुए दोनों सींगोंको भी विदीर्ण कर देते हैं, जिससे वे अधिक बढ़ने न पावें। फिर उनसे भार ढुलाते हैं, उन्हें घरमें बाँधे रखते हैं और नये बच्छेको गाड़ी आदिमें जोतकर उसका दमन करते हैं—उनकी उद्दण्डता दूर करके उनसे काम करनेका अभ्यास कराते हैं॥

एवं पर्याकुले लोके वितथैर्जर्जरीकृते।
तैस्तैर्न्यायैर्महाराज पुराणं धर्ममाचर ॥ ५२ ॥

महाराज ! इस प्रकार सारा जगत् मिथ्या व्यवहारोंसे आकुल और दण्डसे जर्जर हो गया है। आप भी उन्हीं-उन्हीं न्यायोंका अनुसरण करके प्राचीन धर्मका आचरण कीजिये ॥

यज देहि प्रजां रक्ष धर्मं समनुपालय।
अमित्राञ्जहि कौन्तेय मित्राणि परिपालय ॥ ५३ ॥

यज्ञ कीजिये, दान दीजिये, प्रजाकी रक्षा कीजिये और धर्मका निरन्तर पालन करते रहिये। कुन्तीनन्दन ! आप शत्रुओंका वध और मित्रोंका पालन कीजिये ॥ ५३ ॥

मा च ते निघ्नतः शत्रून् मन्युर्भवतु पार्थिव।
न तत्र किल्बिषं किंचित् कर्तुर्भवति भारत ॥ ५४ ॥

राजन् ! शत्रुओंका वध करते समय आपके मनमें दीनता नहीं आनी चाहिये। भारत ! शत्रुओंका वध करनेसे कर्ताको कोई पाप नहीं लगता ॥ ५४ ॥

आततायी हि यो हन्यादाततायिनमागतम्।
न तेन भ्रूणहा स स्यान्मन्युस्तं मन्युमार्छति ॥ ५५ ॥

जो हाथमें हथियार लेकर मारने आया हो, उस आततायीको जो स्वयं भी आततायी बनकर मार डाले, उससे वह भ्रूण-हत्याका भागी नहीं होता; क्योंकि मारनेके लिये आये हुए उस मनुष्यका क्रोध ही उसका वध करनेवालेके मनमें भी क्रोध पैदा कर देता है ॥ ५५ ॥

अवध्यः सर्वभूतानामन्तरात्मा न संशयः।
अवध्ये चात्मनि कथं वध्यो भवति कस्यचित् ॥ ५६ ॥

समस्त प्राणियोंका अन्तरात्मा अवध्य है, इसमें संशय नहीं है। जब आत्माका वध हो ही नहीं सकता, तब वह किसीका वध्य कैसे होगा ? ॥ ५६ ॥

यथा हि पुरुषः शालां पुनः सम्प्रविशेन्नवाम्।
एवं जीवः शरीराणि तानि तानि प्रपद्यते ॥ ५७ ॥
देहान् पुराणानुत्सृज्य नवान् सम्प्रतिपद्यते।
एवं मृत्युमुखं प्राहुर्जना ये तत्त्वदर्शिनः ॥ ५८ ॥

जैसे मनुष्य बारंबार नये घरोंमें प्रवेश करता है, उसी प्रकार जीव भिन्न-भिन्न शरीरोंको ग्रहण करता है। पुराने शरीरोंको छोड़कर नये शरीरोंको अपना लेता है। इसीको तत्त्वदर्शी मनुष्य मृत्युका मुख बताते हैं ॥ ५७-५८ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि राजधर्मानुशासनपर्वणि अर्जुनवाक्ये पञ्चदशोऽध्यायः ॥ १५ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत राजधर्मानुशासनपर्वमें अर्जुनवाक्यविषयक पंद्रहवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १५ ॥

षोडशोऽध्यायः

भीमसेनका राजाको भुक्त दुःखोंकी स्मृति कराते हुए मोह छोड़कर मनको काबूमें करके राज्यशासन और यज्ञके लिये प्रेरित करना

वैशम्पायन उवाच

अर्जुनस्य वचः श्रुत्वा भीमसेनोऽत्यमर्षणः।
धैर्यमास्थाय तेजस्वी ज्येष्ठं भ्रातरमब्रवीत् ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन् ! अर्जुनकी बात सुनकर अत्यन्त अमर्षशील तेजस्वी भीमसेनने धैर्य धारण करके अपने बड़े भाईसे कहा—॥ १ ॥

राजन् विदितधर्मोऽसि न तेऽस्त्यविदितं क्वचित्।
उपशिक्षाम ते वृत्तं सदैव न च शक्नुमः ॥ २ ॥

'राजन् ! आप सब धर्मोंके ज्ञाता हैं। आपसे कुछ भी अज्ञात नहीं है। हमलोग आपसे सदा ही सदाचारकी शिक्षा पाते हैं। हम आपको शिक्षा दे नहीं सकते ॥ २ ॥

न वक्ष्यामि न वक्ष्यामीत्येवं मे मनसि स्थितम्।

* यदि गोशालामें बाघ आ जाय तो उसकी हिंसा ही उचित होगी, क्योंकि उसका वध न करनेसे कितनी ही गौओंकी हिंसा हो जायगी। अतः 'आर्त-रक्षा' रूप धर्मकी सिद्धिके लिये उस हिंसक प्राणीका वध ही वहाँ श्रेयस्कर होगा।

यद्दुःखात्तु वक्ष्यामि तन्निबोध जनाधिप ॥ ३ ॥

'जनेश्वर ! मैंने कई बार मनमें निश्चय किया कि 'अब नहीं बोलूँगा, नहीं बोलूँगा;' परंतु अधिक दुःख होनेके कारण बोलना ही पड़ता है। आप मेरी बात सुनें ॥ ३ ॥

भवतः सम्प्रमोहेन सर्वं संशयितं कृतम्।
विक्लवत्वं च नः प्राप्तमबलत्वं तथैव च ॥ ४ ॥

'आपके इस मोहसे सब कुछ संशयमें पड़ गया है। हमारे तन-मनमें व्याकुलता और निर्बलता प्राप्त हो गयी है ॥

कथं हि राजा लोकस्य सर्वशास्त्रविशारदः।
मोहमापद्यसे दैन्याद् यथा कापुरुषस्तथा ॥ ५ ॥

'आप सम्पूर्ण शास्त्रोंके ज्ञाता और इस जगत्के राजा होकर क्यों कायर मनुष्यके समान दीनतावश मोहमें पड़े हुए हैं ॥ ५ ॥

अगतिश्च गतिश्चैव लोकस्य विदिता तव।
आयत्यां च तदात्वे च न तेऽस्त्यविदितं प्रभो ॥ ६ ॥

'आपको संसारकी गति और अगति दोनोंका ज्ञान है। प्रभो ! आपसे न तो वर्तमान छिपा है और न भविष्य ही ॥ ६ ॥

एवं गते महाराज राज्यं प्रति जनाधिप।
हेतुमत्र प्रवक्ष्यामि तमिहैकमनाः शृणु ॥ ७ ॥

'महाराज ! जनेश्वर ! ऐसी स्थितिमें आपको राज्यके प्रति आकृष्ट करनेका जो कारण है, उसे ही यहाँ बता रहा हूँ। आप एकाग्रचित्त होकर सुनें ॥ ७ ॥

द्विविधो जायते व्याधिः शारीरो मानसस्तथा।
परस्परं तयोर्जन्म निर्द्वन्द्वं नोपलभ्यते ॥ ८ ॥

'मनुष्यको दो प्रकारकी व्याधियाँ होती हैं—एक शारीरिक और दूसरी मानसिक। इन दोनोंकी उत्पत्ति एक दूसरेके आश्रित है। एकके बिना दूसरीका होना सम्भव नहीं है ॥

शारीराज्जायते व्याधिर्मानसो नात्र संशयः।
मानसाज्जायते वापि शारीर इति निश्चयः ॥ ९ ॥

'कभी शारीरिक व्याधिसे मानसिक व्याधि होती है, इसमें संशय नहीं है। इसी प्रकार कभी मानसिक व्याधिसे शारीरिक व्याधिका होना भी निश्चित ही है ॥ ९ ॥

शारीरं मानसं दुःखं योऽतीतमनुशोचति।
दुःखेन लभते दुःखं द्वावनर्थौ च विन्दति ॥ १० ॥

'जो मनुष्य बीते हुए मानसिक अथवा शारीरिक दुःखके लिये बारंबार शोक करता है, वह एक दुःखसे दूसरे दुःखको प्राप्त होता है। उसे दो-दो अनर्थ भोगने पड़ते हैं ॥

शीतोष्णे चैव वायुश्च त्रयः शारीरजा गुणाः।
तेषां गुणानां साम्यं यत्तदाहुः स्वस्थलक्षणम् ॥ ११ ॥

'सर्दी, गर्मी और वायु (कफ, पित्त और वात) ये तीन शारीरिक गुण हैं। इन गुणोंका साम्यावस्थामें रहना ही स्वस्थताका लक्षण बताया गया है ॥ ११ ॥

तेषामन्यतमोद्रेके विधानमुपदिश्यते।
उष्णेन बाध्यते शीतं शीतेनोष्णं प्रबाध्यते ॥ १२ ॥

'उन तीनोंमेंसे यदि किसी एककी वृद्धि हो जाय तो उसकी चिकित्सा बतायी जाती है। उष्ण द्रव्यसे सर्दी और शीत पदार्थसे गर्मीका निवारण होता है ॥ १२ ॥

सत्त्वं रजस्तम इति मानसाः स्युस्त्रयो गुणाः।
तेषां गुणानां साम्यं यत्तदाहुः स्वस्थलक्षणम् ॥ १३ ॥

'सत्त्व, रज और तम—ये तीन मानसिक गुण हैं। इन तीनों गुणोंका सम अवस्थामें रहना मानसिक स्वास्थ्यका लक्षण बताया गया है ॥ १३ ॥

तेषामन्यतमोत्सेके विधानमुपदिश्यते।
हर्षेण बाध्यते शोको हर्षः शोकेन बाध्यते ॥ १४ ॥

'इनमेंसे किसी एककी वृद्धि होनेपर उपचार बताया जाता है। हर्ष (सत्त्व) के द्वारा शोक (रजोगुण) का निवारण होता है और शोकके द्वारा हर्षका ॥ १४ ॥

कश्चित् सुखे वर्तमानो दुःखस्य स्मर्तुमिच्छति।
कश्चिद् दुःखे वर्तमानः सुखस्य स्मर्तुमिच्छति ॥ १५ ॥

'कोई सुखमें रहकर दुःखकी बातें याद करना चाहता है और कोई दुःखमें रहकर सुखका स्मरण करना चाहता है ॥

स त्वं न दुःखी दुःखस्य न सुखी च सुखस्य वा।
न दुःखी सुखजातस्य न सुखी दुःखजस्य वा ॥ १६ ॥
स्मर्तुमिच्छसि कौरव्य दिष्टं हि बलवत्तरम्।
अथवा ते स्वभावोऽयं येन पार्थिव क्लिश्यसे ॥ १७ ॥

'कुरुनन्दन ! परंतु आप न दुखी होकर दुःखकी, न सुखी होकर सुखकी, न दुःखकी अवस्थामें सुखकी और न सुखकी अवस्थामें दुःखकी ही बातें याद करना चाहते हैं; क्योंकि भाग्य बड़ा प्रबल होता है अथवा महाराज ! आपका स्वभाव ही ऐसा है, जिससे आप क्लेश उठाकर रहते हैं ॥

दृष्ट्वा सभागतां कृष्णामेकवस्त्रां रजस्वलाम्।
मिषतां पाण्डुपुत्राणां न तस्य स्मर्तुमर्हसि ॥ १८ ॥

'कौरव-सभामें पाण्डुपुत्रोंके देखते-देखते जो एक वस्त्र-धारिणी रजस्वला कृष्णाको लाया गया था, उसे आपने अपनी आँखों देखा था। क्या आपको उस घटनाका स्मरण नहीं होना चाहिये ? ॥ १८ ॥

प्रव्राजनं च नगरादजिनैश्च विवासनम्।
महारण्यनिवासश्च न तस्य स्मर्तुमर्हसि ॥ १९ ॥

'आप नगरसे निकाले गये, आपको मृगछाला पहनाकर वनवास दे दिया गया और बड़े-बड़े जङ्गलोंमें आपको रहना पड़ा। क्या इन सब बातोंको आप याद नहीं कर सकते ? ॥

जटासुरात् परिक्लेशं चित्रसेनेन चाहवम्।
सैन्धवाच्च परिक्लेशं कथं विस्मृतवानसि ॥ २० ॥

'जटासुरसे जो कष्ट प्राप्त हुआ, चित्रसेनके साथ जो युद्ध करना पड़ा और सिंधुराज जयद्रथके कारण जो अपमानजनक दुःख भोगना पड़ा—ये सारी बातें आप कैसे भूल गये ? ॥

पुनरज्ञातचर्यायां कीचकेन पदा वधम् ।
द्रौपद्या राजपुत्र्याश्च कथं विस्मृतवानसि ॥ २१ ॥

'फिर अज्ञातवासके समय कीचकने जो आपके सामने ही राजकुमारी द्रौपदीको लात मारी थी, उस घटनाको आपने सहसा कैसे भुला दिया ? ॥ २१ ॥

(बलिनो हि वयं राजन् देवैरपि सुदुर्जयाः ।
कथं भृत्यत्वमापन्ना विराटनगरे स्मर ॥)

'राजन् ! हम बलवान् हैं, देवताओंके लिये भी हमें परास्त करना कठिन होगा तो भी विराटनगरमें हमें कैसे दासता करनी पड़ी थी, इसे याद कीजिये ॥

यच्च ते द्रोणभीष्माभ्यां युद्धमासीदरिंदम ।
मनसैकेन योद्धव्यं तत्ते युद्धमुपस्थितम् ॥ २२ ॥

'शत्रुदमन नरेश ! द्रोणाचार्य और भीष्मके साथ जो आपका युद्ध हुआ था, वैसा ही दूसरा युद्ध आपके सामने उपस्थित है, इस समय आपको एकमात्र अपने मनके साथ युद्ध करना है ॥ २२ ॥

यत्र नास्ति शरैः कार्यं न मित्रैर्न च बन्धुभिः ।
आत्मनैकेन योद्धव्यं तत्ते युद्धमुपस्थितम् ॥ २३ ॥

'इस युद्धमें न तो बाणोंका काम है, न मित्रों और बन्धुओंकी सहायताका । अकेले आपको ही लड़ना है । वह युद्ध आपके सामने उपस्थित है ॥ २३ ॥

तस्मिन्ननिर्जिते युद्धे प्राणान् यदि विमोक्ष्यसे ।
अन्यं देहं समास्थाय ततस्तैरपि योत्स्यसे ॥ २४ ॥

'इस युद्धमें विजय पाये बिना यदि आप प्राणोंका परित्याग कर देंगे तो दूसरा देह धारण करके पुनः उन्हीं शत्रुओंके साथ आपको युद्ध करना पड़ेगा ॥ २४ ॥

तस्मादद्यैव गन्तव्यं युद्धस्यास्य भरतर्षभ ।
परमव्यक्तरूपस्य व्यक्तं त्यक्त्वा स्वकर्मभिः ॥ २५ ॥

'भरतश्रेष्ठ ! इसलिये प्रत्यक्ष दिखायी देनेवाले साकार शत्रुको छोड़कर अव्यक्त (सूक्ष्म) शत्रु मनके साथ युद्ध करनेके लिये आपको अभी चल देना चाहिये; विचार आदि अपनी बौद्धिक क्रियाओंद्वारा उसके साथ आप अवश्य युद्ध करें ॥ २५ ॥

तस्मिन्ननिर्जिते युद्धे कामवस्थां गमिष्यसि ।
एतज्जित्वा महाराज कृतकृत्यो भविष्यसि ॥ २६ ॥

'महाराज ! यदि युद्धमें आपने मनको परास्त नहीं किया तो पता नहीं, आप किस अवस्थाको पहुँच जायँगे ? और यदि मनको जीत लिया तो अवश्य कृतकृत्य हो जायँगे ॥

एतां बुद्धिं विनिश्चित्य भूतानामागतिं गतिम् ।
पितृपैतामहे वृत्ते शाधि राज्यं यथोचितम् ॥ २७ ॥

'प्राणियोंके आवागमनको देखते हुए इस विचारधाराको बुद्धिमें स्थिर करके आप पिता-पितामहोंके आचारमें प्रतिष्ठित हो यथोचित रूपसे राज्यका शासन कीजिये ॥ २७ ॥

दिष्ट्या दुर्योधनः पापो निहतः सानुगो युधि ।
द्रौपद्याः केशपाशस्य दिष्ट्या त्वं पदवीं गतः ॥ २८ ॥

'सौभाग्यकी बात है कि पापी दुर्योधन सेवकोंसहित युद्धमें मारा गया और सौभाग्यसे ही आप दुःशासनके हाथसे मुक्त हुए द्रौपदीके केशपाशकी भाँति युद्धसे छुटकारा पा गये ॥ २८ ॥

यजस्व वाजिमेधेन विधिवद् दक्षिणावता ।
वयं ते किंकराः पार्थ वासुदेवश्च वीर्यवान् ॥ २९ ॥

'कुन्तीनन्दन ! आप विधिपूर्वक दक्षिणा देते हुए अश्वमेध-यज्ञका अनुष्ठान करें । हम सभी भाई और पराक्रमी श्रीकृष्ण आपके आज्ञापालक हैं' ॥ २९ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि राजधर्मानुशासनपर्वणि भीमवाक्ये षोडशोऽध्यायः ॥ १६ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत राजधर्मानुशासनपर्वमें भीमवाक्यविषयक सोलहवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १६ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठका १ श्लोक मिलाकर कुल ३० श्लोक हैं)

सप्तदशोऽध्यायः

युधिष्ठिरद्वारा भीमकी बातका विरोध करते हुए मुनिवृत्तिकी और ज्ञानी महात्माओंकी प्रशंसा

युधिष्ठिर उवाच

असंतोषः प्रमादश्च मदो रागोऽप्रशान्तता ।
बलं मोहोऽभिमानश्चाप्युद्वेगश्चैव सर्वशः ॥ १ ॥
एभिः पाप्मभिराविष्टो राज्यं त्वमभिकाङ्क्षसे ।
निरामिषो विनिर्मुक्तः प्रशान्तः सुसुखी भव ॥ २ ॥

युधिष्ठिर बोले—भीमसेन ! असंतोष, प्रमाद, मद, राग, अशान्ति, बल, मोह, अभिमान तथा उद्वेग—ये सभी पाप तुम्हारे भीतर घुस गये हैं, इसीलिये तुम्हें राज्यकी इच्छा होती है । भाई ! सकाम कर्म और बन्धनसे* रहित होकर सर्वथा मुक्त, शान्त एवं सुखी हो जाओ ॥ १-२ ॥

य इमामखिलां भूमिं शिष्यादेको महीपतिः ।
तस्याप्युदरमेकं वै किमिदं त्वं प्रशंससि ॥ ३ ॥

जो सम्राट् इस सारी पृथ्वीका अकेला ही शासन करता है, उसके पास भी एक ही पेट होता है; अतः तुम किसलिये इस राज्यकी प्रशंसा करते हो ? ॥ ३ ॥

नाह्ना पूरयितुं शक्यां न मासैर्भरतर्षभ ।
अपूर्यां पूरयन्निच्छामायुषापि न शक्नुयात् ॥ ४ ॥

भरतश्रेष्ठ ! इस इच्छाको एक दिनमें या कई महीनोंमें भी पूर्ण नहीं किया जा सकता । इतना ही नहीं, सारी आयु प्रयत्न करनेपर भी इस अपूरणीय इच्छाकी पूर्ति होनी असम्भव है ॥ ४ ॥

* आमिषं बन्धनं लोके कर्मेहोक्तं तथामिषम् ।
तास्यां विमुक्तः पापाभ्यां पदमाप्नोति तत्परम् ॥

यथैधः प्रज्वलत्यग्निरिद्धः प्रशाम्यति ।
अल्पाहारतया त्वग्निं शमयौदर्यमुत्थितम् ॥ ५ ॥

जैसे आगमें जितना ही ईंधन डालो, वह प्रज्वलित होती जाती और ईंधन न डाला जाय तो वह अपने-आप बुझ जाती है। इसी प्रकार तुम भी अपना आहार कम करके इस बढ़ी हुई जठराग्निको शान्त करो ॥ ५ ॥

आत्मोदरकृतेऽप्राज्ञः करोति विघसं बहु ।
जयोदरं पृथिव्या ते श्रेयो निर्जितया जितम् ॥ ६ ॥

अज्ञानी मनुष्य अपने पेटके लिये ही बहुत हिंसा करता है; अतः तुम पहले अपने पेटको ही जीतो। फिर ऐसा समझा जायगा कि इस जीती हुई पृथ्वीके द्वारा तुमने कल्याणपर विजय पा ली है ॥ ६ ॥

मानुषान् कामभोगांस्त्वमैश्वर्यं च प्रशंससि ।
अभोगिनोऽबलाश्चैव यान्ति स्थानमनुत्तमम् ॥ ७ ॥

भीमसेन ! तुम मनुष्योंके कामभोग और ऐश्वर्यकी बड़ी प्रशंसा करते हो; परंतु जो भोगरहित हैं और तपस्या करते-करते निर्बल हो गये हैं, वे ऋषि-मुनि ही सर्वोत्तम पदको प्राप्त करते हैं ॥ ७ ॥

योगः क्षेमश्च राष्ट्रस्य धर्माधर्मौ त्वयि स्थितौ ।
मुच्यस्व महतो भारात् त्यागमेवाभिसंश्रय ॥ ८ ॥

राष्ट्रके योग और क्षेम, धर्म तथा अधर्म सब तुममें ही स्थित हैं। तुम इस महान् भारसे मुक्त हो जाओ और त्याग-का ही आश्रय लो ॥ ८ ॥

एकोदरकृते व्याघ्रः करोति विघसं बहु ।
तमन्येऽप्युपजीवन्ति मन्दा लोभवशा मृगाः ॥ ९ ॥

बाघ एक ही पेटके लिये बहुत-से प्राणियोंकी हिंसा करता है, दूसरे लोभी और मूर्ख पशु भी उसीके सहारे जीवन-निर्वाह करते हैं ॥ ९ ॥

विषयान् प्रतिसंगृह्य संन्यासं कुरुते यतिः ।
न च तुष्यन्ति राजानः पश्य बुद्ध्यन्तरं यथा ॥ १० ॥

सत्त्वशील साधक विषयोंका परित्याग करके संन्यास ग्रहण कर लेता है, तो वह संतुष्ट हो जाता है; परंतु विषयभोगोंसे सम्पन्न समृद्धिशाली राजा कभी संतुष्ट नहीं होते। देखो, इन दोनोंके विचारोंमें कितना अन्तर है ? ॥ १० ॥

पत्राहारैरश्मकुट्टैर्दन्तोलूखलिकैस्तथा ।
अब्भक्षैर्वायुभक्षैश्च तैरयं नरको जितः ॥ ११ ॥

जो लोग पत्ते खाकर रहते हैं, जो पत्थरपर पीसकर अथवा दाँतोंसे ही चबाकर भोजन करनेवाले हैं (अर्थात् जो चक्कीका पीसा और ओखलीका कूटा नहीं खाते हैं) तथा जो पानी या हवा पीकर रह जाते हैं, उन तपस्वी पुरुषोंने ही नरक-पर विजय पायी है ॥ ११ ॥

यस्त्विमां वसुधां कृत्स्नां प्रशासेदखिलां नृपः ।
तुल्याश्मकाञ्चनो यश्च स कृतार्थो न पार्थिवः ॥ १२ ॥

जो राजा इस सम्पूर्ण पृथ्वीका शासन करता है और जो सब कुछ छोड़कर पत्थर और सोनेको समान समझनेवाला है—इन दोनोंमेंसे वह त्यागी मुनि ही कृतार्थ होता है, राजा नहीं।

संकल्पेषु निरारम्भो निराशो निर्ममो भव ।
अशोकं स्थानमातिष्ठ इह चामुत्र चाव्ययम् ॥ १३ ॥

अपने मनोरथोंके पीछे बड़े-बड़े कार्योंका आरम्भ न करो, आशा तथा ममता न रक्खो और उस शोकरहित पदका आश्रय लो, जो इहलोक और परलोकमें भी अविनाशी है ॥

निरामिषा न शोचन्ति शोचसि त्वं किमामिषम् ।
परित्यज्यामिषं सर्वं मृषावादात् प्रमोक्ष्यसे ॥ १४ ॥

जिन्होंने भोगोंका परित्याग कर दिया है, वे तो कभी शोक नहीं करते हैं; फिर तुम क्यों भोगोंकी चिन्ता करते हो ? सारे भोगोंका परित्याग कर देनेपर तुम मिथ्यावादसे छूट जाओगे॥

पन्थानौ पितृयानश्च देवयानश्च विश्रुतौ ।
ईजानाः पितृयानेन देवयानेन मोक्षिणः ॥ १५ ॥

देवयान और पितृयान—ये दो परलोकके प्रसिद्ध मार्ग हैं। जो सकाम यज्ञोंका अनुष्ठान करनेवाले हैं, वे पितृयानसे जाते हैं और मोक्षके अधिकारी देवयानमार्गसे ॥ १५ ॥

तपसा ब्रह्मचर्येण स्वाध्यायेन महर्षयः ।
विमुच्य देहांस्ते यान्ति मृत्योरविषयं गताः ॥ १६ ॥

महर्षिगण तपस्या, ब्रह्मचर्य तथा स्वाध्यायके बलसे देह-त्यागके पश्चात् ऐसे लोकमें पहुँच जाते हैं, जहाँ मृत्युका प्रवेश नहीं है ॥ १६ ॥

आमिषं बन्धनं लोके कर्मेहोक्तं तथामिषम् ।
ताभ्यां विमुक्तः पापाभ्यां पदमाप्नोति तत् परम् ॥ १७ ॥

इस जगत्में ममता और आसक्तिके बन्धनको आमिष कहा गया है। सकाम कर्म भी आमिष कहलाता है। इन दोनों आमिष-स्वरूप पापोंसे जो मुक्त हो गया है, वही परमपदको प्राप्त होता है।

अपि गाथां पुरा गीतां जनकेन वदन्त्युत ।
निर्द्वन्द्वेन विमुक्तेन मोक्षं समनुपश्यता ॥ १८ ॥

इस विषयमें पूर्वकालमें राजा जनककी कही हुई एक गाथाका लोग उल्लेख किया करते हैं। राजा जनक समस्त द्वन्द्वोंसे रहित और जीवन्मुक्त पुरुष थे। उन्होंने मोक्षस्वरूप परमात्मतत्त्वका साक्षात्कार कर लिया था ॥ १८ ॥

अनन्तं बत मे वित्तं यस्य मे नास्ति किञ्चन ।
मिथिलायां प्रदीप्तायां न मे दह्यति किञ्चन ॥ १९ ॥

(उनकी वह गाथा इस प्रकार है—) दूसरोंकी दृष्टिमें मेरे पास बहुत धन है; परंतु उसमेंसे कुछ भी मेरा नहीं है। सारी मिथिलामें आग लग जाय तो भी मेरा कुछ नहीं जलेगा ॥ १९ ॥

प्रज्ञाप्रासादमारुह्य अशोच्यञ्शोचतो जनान् ।
जगतीस्थानिवाद्रिस्थो मन्दबुद्धीनवेक्षते ॥ २० ॥

जैसे पर्वतकी चोटीपर चढ़ा हुआ मनुष्य धरतीपर खड़े

हुए प्राणियोंको केवल देखता है, उनकी परिस्थितिसे प्रभावित नहीं होता, उसी प्रकार बुद्धिकी अट्टालिकापर चढ़ा हुआ मनुष्य उन शोक करनेवाले मन्दबुद्धि लोगोंको देखता है, किंतु स्वयं उनकी भाँति दुखी नहीं होता ॥ २० ॥

दृश्यं पश्यति यः पश्यन् स चक्षुष्मान् स बुद्धिमान् ।
अज्ञातानां च विज्ञानात् सम्बोधाद् बुद्धिरुच्यते ॥ २१ ॥

जो स्वयं द्रष्टारूपसे पृथक् रहकर इस दृश्यप्रपञ्चको देखता है, वही आँखवाला है और वही बुद्धिमान् है । अज्ञात तत्त्वोंका ज्ञान एवं सम्यग् बोध करानेके कारण अन्तःकरण-की एक वृत्तिको बुद्धि कहते हैं ॥ २१ ॥

यस्तु वाचं विजानाति बहुमानमियात् स वै ।
ब्रह्मभावप्रपन्नानां वैद्यानां भावितात्मनाम् ॥ २२ ॥

जो ब्रह्मभावको प्राप्त हुए शुद्धात्मा विद्वानोंका-सा बोलना जान लेता है, उसे अपने ज्ञानपर बड़ा अभिमान हो जाता है (जैसे कि तुम हो) ॥ २२ ॥

यदा भूतपृथग्भावमेकस्थमनुपश्यति ।
तत एव च विस्तारं ब्रह्म सम्पद्यते तदा ॥ २३ ॥

जब पुरुष प्राणियोंकी पृथक्-पृथक् सत्ताको एकमात्र परमात्मामें ही स्थित देखता है और उस परमात्मासे ही सम्पूर्ण भूतोंका विस्तार हुआ मानता है, उस समय वह सच्चिदानन्दघन ब्रह्मको प्राप्त होता है ॥ २३ ॥

ते जनास्तां गतिं यान्ति नाविद्वांसोऽल्पचेतसः ।
नाबुद्धयो नातपसः सर्वं बुद्धौ प्रतिष्ठितम् ॥ २४ ॥

बुद्धिमान् और तपस्वी ही उस गतिको प्राप्त होते हैं । जो अज्ञानी, मन्दबुद्धि, शुद्धबुद्धिसे रहित और तपस्यासे शून्य हैं, वे नहीं; क्योंकि सब कुछ बुद्धिमें ही प्रतिष्ठित है ॥ २४ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि राजधर्मानुशासनपर्वणि युधिष्ठिरवाक्ये सप्तदशोऽध्यायः ॥ १७ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत राजधर्मानुशासनपर्वमें युधिष्ठिरका वाक्यविषयक सत्रहवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १७ ॥

अष्टादशोऽध्यायः

अर्जुनका राजा जनक और उनकी रानीका दृष्टान्त देते हुए युधिष्ठिरको संन्यास ग्रहण करनेसे रोकना

वैशम्पायन उवाच

तूष्णीम्भूतं तु राजानं पुनरेवार्जुनोऽब्रवीत् ।
संतप्तः शोकदुःखाभ्यां राजवाक्छल्यपीडितः ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! जब राजा युधिष्ठिर ऐसा कहकर चुप हो गये, तब राजाके वाग्बाणोंसे पीड़ित हो शोक और दुःखसे संतप्त हुए अर्जुन फिर उनसे बोले ॥ १ ॥

अर्जुन उवाच

कथयन्ति पुरावृत्तमितिहासमिमं जनाः ।
विदेहराज्ञः संवादं भार्यया सह भारत ॥ २ ॥

अर्जुनने कहा—भारत ! विज्ञ पुरुष विदेहराज जनक और उनकी रानीका संवादरूप यह प्राचीन इतिहास कहा करते हैं ॥ २ ॥

उत्सृज्य राज्यं भिक्षार्थं कृतबुद्धिं नरेश्वरम् ।
विदेहराजमहिषी दुःखिता यदभाषत ॥ ३ ॥

एक समय राजा जनकने भी राज्य छोड़कर भिक्षासे जीवन-निर्वाह कर लेनेका निश्चय कर लिया था । उस समय विदेहराजकी महारानीने दुखी होकर जो कुछ कहा था, वही आपको सुना रहा हूँ ॥ ३ ॥

धनान्यपत्यं दारांश्च रत्नानि विविधानि च ।
पन्थानं पावकं हित्वा जनको मौण्ड्यमास्थितः ॥ ४ ॥
तं ददर्श प्रिया भार्या भैक्ष्यवृत्तिमकिंचनम् ।
धानामुष्टिमुपासीनं निरीहं गतमत्सरम् ॥ ५ ॥
तमुवाच समागत्य भर्तारमकुतोभयम् ।
क्रुद्धा मनस्विनी भार्या विविक्ते हेतुमद् वचः ॥ ६ ॥

कहते हैं, एक दिन राजा जनकपर मूढ़ता छा गयी और वे धन, संतान, स्त्री, नाना प्रकारके रत्न, सनातन मार्ग और अग्निहोत्रका भी त्याग करके अकिंचन हो गये । उन्होंने भिक्षु-वृत्ति अपना ली और वे मुट्ठीभर भुना हुआ जौ खाकर रहने लगे । उन्होंने सब प्रकारकी चेष्टाएँ छोड़ दीं । उनके मनमें किसीके प्रति ईर्ष्याका भाव नहीं रह गया था । इस प्रकार निर्भय स्थितिमें पहुँचे हुए अपने स्वामीको उनकी भार्याने देखा और उनके पास आकर कुपित हुई उस मनस्विनी एवं प्रिय रानीने एकान्तमें यह युक्तियुक्त बात कही—॥ ४–६ ॥

कथमुत्सृज्य राज्यं स्वं धनधान्यसमन्वितम् ।
कापालीं वृत्तिमास्थाय धानामुष्टिर्न ते वरः ॥ ७ ॥

'राजन् ! आपने धन-धान्यसे सम्पन्न अपना राज्य छोड़कर यह खपड़ा लेकर भीख माँगनेका धंधा कैसे अपना लिया ? यह मुट्ठीभर जौ आपको शोभा नहीं दे रहा है ॥ ७ ॥

प्रतिज्ञा तेऽन्यथा राजन् विचेष्टा चान्यथा तव ।
यद् राज्यं महदुत्सृज्य स्वल्पे तुष्यसि पार्थिव ॥ ८ ॥

'नरेश्वर ! आपकी प्रतिज्ञा तो कुछ और थी और चेष्टा कुछ और ही दिखायी देती है । भूपाल ! आपने विशाल राज्य छोड़कर थोड़ी-सी वस्तुमें संतोष कर लिया ॥ ८ ॥

नैतेनातिथयो राजन् देवर्षिपितरस्तथा ।
अद्य शक्यास्त्वया भर्तुं मोघस्तेऽयं परिश्रमः ॥ ९ ॥

'राजन् ! इस मुट्ठीभर जौसे देवताओं, ऋषियों, पितरों तथा अतिथियोंका आप भरण-पोषण नहीं कर सकते, अतः आपका यह परिश्रम व्यर्थ है ॥ ९ ॥

देवतातिथिभिश्चैव पितृभिश्चैव पार्थिव ।

सर्वानेतैः परित्यक्तः परिव्रजसि निष्क्रियः ॥ १० ॥

'प्राणनाथ ! आप सम्पूर्ण देवताओं, अतिथियों और पितरोंसे वञ्चित होकर अकर्मण्य हो घर छोड़ रहे हैं ॥ १० ॥

मज्जन् त्रैविद्यवृद्धानां ब्राह्मणानां सहस्रशः।
भर्ता भूत्वा च लोकस्य सोऽद्य तैर्भृतिमिच्छसि ॥ ११ ॥

'तीनों वेदोंके ज्ञानमें बढ़े-चढ़े सहस्रों ब्राह्मणों तथा इस सम्पूर्ण जगत्‌का भरण-पोषण करनेवाले होकर भी आज आप उन्हींके द्वारा अपना भरण-पोषण चाहते हैं ॥ ११ ॥

श्रियं हित्वा प्रदीप्तां त्वं श्ववत् सम्प्रति वीक्ष्यसे।
अपुत्रा जननी तेऽद्य कौसल्या चापतिस्त्वया ॥ १२ ॥

'इस जगमगाती हुई राजलक्ष्मीको छोड़कर इस समय आप दर-दर भटकनेवाले कुत्तेके समान दिखायी देते हैं। आज आपके जीते-जी आपकी माता पुत्रहीन और यह अभागिनी कौशल्या पतिहीन हो गयी ॥ १२ ॥

अर्थी च धर्मकामास्त्वां क्षत्रियाः पर्युपासते।
त्वदाशामभिकाङ्क्षन्तः कृपणाः फलहेतुकाः ॥ १३ ॥

'ये धर्मकी इच्छा रखनेवाले क्षत्रिय जो सदा आपकी सेवामें बैठे रहते हैं, आपसे बड़ी-बड़ी आशाएँ रखते हैं, इन बेचारोंको सेवाका फल चाहिये ॥ १३ ॥

तांश्च त्वं विफलान् कुर्वन् कं नु लोकं गमिष्यसि।
राजन् संशयिते मोक्षे परतन्त्रेषु देहिषु ॥ १४ ॥

'राजन् ! मोक्षकी प्राप्ति संशयास्पद है और प्राणी प्रारब्धके अधीन हैं, ऐसी दशामें उन अर्थार्थी सेवकोंको यदि आप विफल-मनोरथ करते हैं तो पता नहीं, किस लोकमें जायँगे ?

नैव तेऽस्ति परो लोको नापरः पापकर्मणः।
धर्म्यान् दारान् परित्यज्य यस्त्वमिच्छसि जीवितुम् १५

'आप अपनी धर्मपत्नीका परित्याग करके जो अकेला जीवन बिताना चाहते हैं, इससे आप पापकर्मा बन गये हैं; अतः आपके लिये न यह लोक सुखद होगा, न परलोक ॥ १५ ॥

स्रजो गन्धानलंकारान् वासांसि विविधानि च।
किमर्थमभिसंत्यज्य परिव्रजसि निष्क्रियः ॥ १६ ॥

'बताइये तो सही, इन सुन्दर-सुन्दर मालाओं, सुगन्धित पदार्थों, आभूषणों और भाँति-भाँतिके वस्त्रोंको छोड़कर किसलिये कर्महीन होकर घरका परित्याग कर रहे हैं ? ॥ १६ ॥

निपानं सर्वभूतानां भूत्वा त्वं पावनं महत्।
आढ्यो वनस्पतिर्भूत्वा सोऽन्यांस्त्वं पर्युपाससे ॥ १७ ॥

'आप सम्पूर्ण प्राणियोंके लिये पवित्र एवं विशाल प्याऊके समान थे—सभी आपके पास अपनी प्यास बुझाने आते थे। आप फलोंसे भरे हुए वृक्षके समान थे—कितने ही प्राणियोंकी भूख मिटाते थे, परंतु वे ही आप अब (भूख-प्यास मिटानेके लिये) दूसरोंका मुँह जोह रहे हैं ॥ १७ ॥

खादन्ति हस्तिनं न्यासैः क्रव्यादा बहवोऽप्युत।
बहवः कृमयश्चैव किं पुनस्त्वामनर्थकम् ॥ १८ ॥

'यदि हाथी भी सारी चेष्टा छोड़कर एक जगह पड़ जाय तो मांसभक्षी जीव-जन्तु और कीड़े धीरे-धीरे उसे खा जाते हैं, फिर सब पुरुषार्थोंसे शून्य आप-जैसे मनुष्योंकी तो बात ही क्या है ? ॥ १८ ॥

य इमां कुण्डिकां भिन्द्यात् त्रिविष्टब्धं च यो हरेत्।
वासश्चापि हरेत् तस्मिन् कथं ते मानसं भवेत् ॥ १९ ॥

'यदि आपकी कोई यह कुण्डी फोड़ दे, त्रिदण्ड उठा ले जाय और ये वस्त्र भी चुरा ले जाय तो उस समय आपके मनकी कैसी अवस्था होगी ? ॥ १९ ॥

यस्त्वयं सर्वमुत्सृज्य धानामुष्टेरनुग्रहः।
यदानेन समं सर्वं किमिदं ह्यवसीयसे ॥ २० ॥

'यदि सब कुछ छोड़कर भी आप मुट्ठीभर जौके लिये दूसरोंकी कृपा चाहते हैं तो राज्य आदि अन्य सब वस्तुएँ भी तो इसीके समान हैं, फिर उस राज्यके त्यागकी क्या विशेषता रही ? ॥ २० ॥

धानामुष्टेरिहार्थश्चेत् प्रतिज्ञा ते विनश्यति।
का वाहं तव को मे त्वं कश्च तेमय्यनुग्रहः ॥ २१ ॥

'यदि यहाँ मुट्ठीभर जौकी आवश्यकता बनी ही रह गयी तो सब कुछ त्याग देनेकी जो आपने प्रतिज्ञा की थी, वह नष्ट हो गयी। (सर्वत्यागी हो जानेपर) मैं आपकी कौन हूँ और आप मेरे कौन हैं तथा आपका मुझपर अनुग्रह भी क्या है ? ॥ २१ ॥

प्रशाधि पृथिवीं राजन् यदि तेऽनुग्रहो भवेत्।
प्रासादं शयनं यानं वासांस्याभरणानि च ॥ २२ ॥

'राजन् ! यदि आपका मुझपर अनुग्रह हो तो इस पृथ्वीका शासन कीजिये और राजमहल, शय्या, सवारी, वस्त्र तथा आभूषणोंको भी उपयोगमें लाइये ॥ २२ ॥

श्रिया विहीनैरधनैस्त्यक्तमित्रैरकिंचनैः।
सौखिकैः सम्भृतानर्थान् यः संत्यजति किं नु तत् ॥२३॥

'श्रीहीन, निर्धन, मित्रोंद्वारा त्यागे हुए, अकिंचन एवं सुखकी अभिलाषा रखनेवाले लोगोंकी भाँति सब प्रकारसे परिपूर्ण राजलक्ष्मीका जो परित्याग करता है उससे उसे क्या लाभ ? ॥ २३ ॥

योऽत्यन्तं प्रतिगृह्णीयाद् यश्च दद्यात् सदैव हि।
तयोस्त्वमन्तरं विद्धि श्रेयांस्ताभ्यां क उच्यते ॥ २४ ॥

'जो बराबर दूसरोंसे दान लेता (भिक्षा ग्रहण करता) तथा जो निरन्तर स्वयं ही दान करता रहता है, उन दोनोंमें क्या अन्तर है और उनमेंसे किसको श्रेष्ठ कहा जाता है ? यह आप समझिये ॥ २४ ॥

सदैव याचमानेषु तथा दम्भान्वितेषु च।
एतेषु दक्षिणा दत्ता दावाग्नाविव दुर्हुतम् ॥ २५ ॥

'सदा ही याचना करनेवालेको और दम्भीको दी हुई

दक्षिणा दावानलमें दी गयी आहुतिके समान व्यर्थ है ॥ २५ ॥

जातवेदा यथा राजन् नादग्ध्वैवोपशाम्यति ।
सदैव याचमानो हि तथा शाम्यति न द्विजः ॥ २६ ॥

'राजन् ! जैसे आग लकड़ीको जलाये विना नहीं बुझती, उसी प्रकार सदा ही याचना करनेवाला ब्राह्मण (याचनाका अन्त किये बिना) कभी शान्त नहीं हो सकता ॥ २६ ॥

सतां वै ददतोऽन्नं च लोकेऽस्मिन् प्रकृतिर्ध्रुवा ।
न चेद् राजा भवेद् दाता कुतः स्युर्मोक्षकाङ्क्षिणः ॥२७॥

'इस संसारमें दाताका अन्न ही साधु-पुरुषोंकी जीविकाका निश्चित आधार है। यदि दान करनेवाला राजा न हो तो मोक्षकी अभिलाषा रखनेवाले साधु-संन्यासी कैसे जी सकते हैं ? ॥ २७ ॥

अन्नाद् गृहस्था लोकेऽस्मिन् भिक्षवस्तत एव च ।
अन्नात् प्राणः प्रभवति अन्नदः प्राणदो भवेत् ॥ २८ ॥

'इस जगत्में अन्नसे गृहस्थ और गृहस्थोंसे भिक्षुओंका निर्वाह होता है। अन्नसे प्राणशक्ति प्रकट होती है; अतः अन्नदाता प्राणदाता होता है ॥ २८ ॥

गृहस्थेभ्योऽपि निर्मुक्ता गृहस्थानेव संश्रिताः ।
प्रभवं च प्रतिष्ठां च दान्ता विन्दन्त आसते ॥ २९ ॥

'जितेन्द्रिय संन्यासी गृहस्थ-आश्रमसे अलग होकर भी गृहस्थोंके ही सहारे जीवन धारण करते हैं। वहींसे वह प्रकट होते हैं और वहीं उन्हें प्रतिष्ठा प्राप्त होती है ॥ २९ ॥

त्यागान्न भिक्षुकं विद्यान्न मौढ्यान्न च याचनात् ।
ऋजुस्तु योऽर्थं त्यजति नसुखं विद्धि भिक्षुकम् ॥ ३० ॥

'केवल त्यागसे, मूढ़तासे और याचना करनेसे किसीको भिक्षु नहीं समझना चाहिये। जो सरलभावसे स्वार्थका त्याग करता है और सुखमें आसक्त नहीं होता, उसे ही भिक्षु समझिये ॥ ३० ॥

असक्तः सक्तवद् गच्छन् निःसङ्गो मुक्तबन्धनः ।
समः शत्रौ च मित्रे च स वै मुक्तो महीपते ॥ ३१ ॥

'पृथ्वीनाथ ! जो आसक्तिरहित होकर आसक्तकी भाँति विचरता है, जो संगरहित एवं सब प्रकारके बन्धनोंको तोड़ चुका है तथा शत्रु और मित्रमें जिसका समान भाव है, वह सदा मुक्त ही है ॥ ३१ ॥

परिव्रजन्ति दानार्थं मुण्डाः काषायवाससः ।
सिता बहुविधैः पाशैः संचिन्वन्तो वृथामिषम् ॥ ३२ ॥

'बहुत-से मनुष्य दान लेने (पेट पालने) के लिये मूड़ मुड़ाकर गेरुए वस्त्र पहन लेते हैं और घरसे निकल जाते हैं। वे नाना प्रकारके बन्धनोंमें बँधे होनेके कारण व्यर्थ भोगोंकी ही खोज करते रहते हैं * ॥ ३२ ॥

त्रयीं च नाम वार्तां च त्यक्त्वा पुत्रान् व्रजन्ति ये ।
त्रिविष्टब्धं च वासश्च प्रतिगृह्णन्त्यबुद्धयः ॥ ३३ ॥

'बहुत-से मूर्ख मनुष्य तीनों वेदोंके अध्ययन, इनमें बताये गये कर्म, कृषि, गोरक्षा, वाणिज्य तथा अपने पुत्रोंका परित्याग करके चल देते हैं और त्रिदण्ड एवं भगवा वस्त्र धारण कर लेते हैं ॥ ३३ ॥

अनिष्कषाये काषायमीहार्थमिति विद्धि तम् ।
धर्मध्वजानां मुण्डानां वृत्त्यर्थमिति मे मतिः ॥ ३४ ॥

'यदि हृदयका कषाय (राग आदि दोष) दूर न हुआ हो तो काषाय (गेरुआ) वस्त्र धारण करना स्वार्थ-साधनकी चेष्टाके लिये ही समझना चाहिये। मेरा तो ऐसा विश्वास है कि धर्मका ढोंग रखनेवाले मथमुंडोंके लिये यह जीविका चलानेका एक धंधामात्र है ॥ ३४ ॥

काषायैरजिनैश्चीरैर्नग्नान् मुण्डान् जटाधरान् ।
बिभ्रत् साधून् महाराज जय लोकान् जितेन्द्रियः ॥३५॥

'महाराज ! आप तो जितेन्द्रिय होकर नंगे रहनेवाले, मूड़ मुड़ाने और जटा रखानेवाले साधुओंका गेरुआ वस्त्र, मृगचर्म एवं वल्कल वस्त्रोंके द्वारा भरण-पोषण करते हुए पुण्य-लोकोंपर विजय प्राप्त कीजिये ॥ ३५ ॥

अग्न्याधेयानि गुर्वर्थं क्रतूनपि सुदक्षिणान् ।
ददात्यहरहः पूर्वं को नु धर्मरतस्ततः ॥ ३६ ॥

'जो प्रतिदिन पहले गुरुके लिये अग्निहोत्रार्थ समिधा लाता है; फिर उत्तम दक्षिणाओंसे युक्त यज्ञ एवं दान करता रहता है, उससे बढ़कर धर्मपरायण कौन होगा ?' ॥ ३६ ॥

अर्जुन उवाच

तत्त्वज्ञो जनको राजा लोकेऽस्मिन्निति गीयते ।
सोऽप्यासीन्मोहसम्पन्नो मा मोहवशमन्वगाः ॥ ३७ ॥

अर्जुन कहते हैं—महाराज ! राजा जनकको इस जगत्में 'तत्त्वज्ञ' कहा जाता है; किंतु वे भी मोहमें पड़ गये थे। (रानीके इस तरह समझानेपर राजाने संन्यासका विचार छोड़ दिया। अतः) आप भी मोहके वशीभूत न होइये ॥ ३७ ॥

एवं धर्ममनुक्रान्ताः सदा दानतपःपराः ।
आनृशंस्यगुणोपेताः कामक्रोधविवर्जिताः ॥ ३८ ॥
प्रजानां पालने युक्ता दानमुत्तममास्थिताः ।
इष्टाँल्लोकानवाप्स्यामो गुरुवृद्धोपचायिनः ॥ ३९ ॥

यदि हमलोग सदा दान और तपस्यामें तत्पर हो इसी प्रकार धर्मका अनुसरण करेंगे, दया आदि गुणोंसे सम्पन्न रहेंगे, काम-क्रोध आदि दोषोंको त्याग देंगे, उत्तम दान-धर्मका आश्रय ले प्रजापालनमें लगे रहेंगे तथा गुरुजनों और वृद्ध पुरुषोंकी सेवा करते रहेंगे तो हम अपने अभीष्ट लोक प्राप्त कर लेंगे ॥ ३८-३९ ॥

देवतातिथिभूतानां निर्वपन्तो यथाविधि ।
स्थानमिष्टमवाप्स्यामो ब्रह्मण्याः सत्यवादिनः ॥ ४० ॥

* इसी पर्वमें अध्याय १७ श्लोक १७ देखना चाहिये।

इसी प्रकार देवता, अतिथि और समस्त प्राणियोंको विधिपूर्वक उनका भाग अर्पण करते हुए यदि हम ब्राह्मणभक्त और सत्यवादी बने रहेंगे तो हमें अभीष्ट स्थानकी प्राप्ति अवश्य होगी ॥ ४० ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि राजधर्मानुशासनपर्वणि अर्जुनवाक्ये अष्टादशोऽध्यायः ॥ १८ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत राजधर्मानुशासनपर्वमें अर्जुनका वाक्यविषयक अठारहवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १८ ॥

एकोनविंशोऽध्यायः

युधिष्ठिरद्वारा अपने मतकी यथार्थताका प्रतिपादन

युधिष्ठिर उवाच

वेदाहं तात शास्त्राणि अपराणि पराणि च।
उभयं वेदवचनं कुरु कर्म त्यजेति च ॥ १ ॥

युधिष्ठिर बोले—तात! मैं धर्म और ब्रह्मका प्रतिपादन करनेवाले अपर तथा पर दोनों प्रकारके शास्त्रोंको जानता हूँ। वेदमें दोनों प्रकारके वचन उपलब्ध होते हैं—'कर्म करो और कर्म छोड़ो'—इन दोनोंका ही मुझे ज्ञान है ॥ १ ॥

आकुलानि च शास्त्राणि हेतुभिश्चिन्तितानि च।
निश्चयश्चैव यो मन्त्रे वेदाहं तं यथाविधि ॥ २ ॥

परस्परविरोधी भावोंसे युक्त जो शास्त्र-वाक्य हैं, उनपर भी मैंने युक्तिपूर्वक विचार किया है। वेदमें उन दोनों प्रकारके वाक्योंका जो सुनिश्चित सिद्धान्त है, उसे भी मैं विधिपूर्वक जानता हूँ ॥ २ ॥

त्वं तु केवलमस्त्रज्ञो वीरव्रतसमन्वितः।
शास्त्रार्थं तत्त्वतो गन्तुं न समर्थः कथंचन ॥ ३ ॥

तुम तो केवल अस्त्रविद्याके पण्डित हो और वीरव्रतका पालन करनेवाले हो। शास्त्रोंके तात्पर्यको यथार्थरूपसे जाननेकी शक्ति तुममें किसी प्रकार नहीं है ॥ ३ ॥

शास्त्रार्थसूक्ष्मदर्शी यो धर्मनिश्चयकोविदः।
तेनाप्येवं न वाच्योऽहं यदि धर्मं प्रपश्यसि ॥ ४ ॥

जो लोग शास्त्रोंके सूक्ष्म रहस्यको समझनेवाले हैं और धर्मका निर्णय करनेमें कुशल हैं, वे भी मुझे इस प्रकार उपदेश नहीं दे सकते। यदि तुम धर्मपर दृष्टि रखते हो तो मेरे इस कथनकी यथार्थताका अनुभव करोगे ॥ ४ ॥

भ्रातृसौहृदमास्थाय यदुक्तं वचनं त्वया।
न्याय्यं युक्तं च कौन्तेय प्रीतोऽहं तेन तेऽर्जुन ॥ ५ ॥

अर्जुन! कुन्तीनन्दन! तुमने भ्रातृस्नेहवश जो बात कही है, वह न्यायसंगत और उचित है। मैं उससे तुमपर प्रसन्न ही हुआ हूँ ॥ ५ ॥

युद्धधर्मेषु सर्वेषु क्रियाणां नैपुणेषु च।
न त्वया सदृशः कश्चित् त्रिषु लोकेषु विद्यते ॥ ६ ॥

सम्पूर्ण युद्धधर्मोंमें और संग्राम करनेकी कुशलतामें तुम्हारी समानता करनेवाला तीनों लोकोंमें कोई नहीं है ॥ ६ ॥

धर्मं सूक्ष्मतरं वाच्यं तत्र दुष्प्रतरं त्वया।
धनंजय न मे बुद्धिमभिशङ्कितुमर्हसि ॥ ७ ॥

धनंजय! धर्मका स्वरूप अत्यन्त सूक्ष्म एवं दुर्बोध कहा गया है। उसमें तुम्हारा प्रवेश होना अत्यन्त कठिन है। मेरी बुद्धि भी उसे समझती है या नहीं, यह आशङ्का तुम्हें नहीं करनी चाहिये ॥ ७ ॥

युद्धशास्त्रविदेव त्वं न वृद्धाः सेवितास्त्वया।
संक्षिप्तविस्तरविदां न तेषां वेत्सि निश्चयम् ॥ ८ ॥

तुम युद्धशास्त्रके ही विद्वान् हो, तुमने कभी वृद्ध पुरुषोंका सेवन नहीं किया है, अतः संक्षेप और विस्तारके साथ धर्मको जाननेवाले उन महापुरुषोंका क्या सिद्धान्त है, इसका तुम्हें पता नहीं है ॥ ८ ॥

तपस्त्यागोऽविधिरिति निश्चयस्त्वेष धीमताम्।
परं परं ज्याय एषां येषां नैःश्रेयसी मतिः ॥ ९ ॥

जिन महानुभावोंकी बुद्धि परम कल्याणमें लगी हुई है, उन बुद्धिमानोंका निर्णय इस प्रकार है। तपस्या, त्याग और विधिविधानसे अतीत (ब्रह्मज्ञान) इनमेंसे पूर्व-पूर्वकी अपेक्षा उत्तरोत्तर श्रेष्ठ है ॥ ९ ॥

यस्त्वेतन्मन्यसे पार्थ न ज्यायोऽस्ति धनादिति।
तत्र ते वर्तयिष्यामि यथा नैतत् प्रधानतः ॥ १० ॥

कुन्तीनन्दन! तुम जो यह मानते हो कि धनसे बढ़कर दूसरी कोई वस्तु नहीं है, उसके विषयमें मैं तुम्हें ऐसी बात बता रहा हूँ, जिससे तुम्हारी समझमें आ जायगा कि धन प्रधान नहीं है ॥ १० ॥

तपःस्वाध्यायशीला हि दृश्यन्ते धार्मिका जनाः।
ऋषयस्तपसा युक्ता येषां लोकाः सनातनाः ॥ ११ ॥

इस जगत्में बहुत-से तपस्या और स्वाध्यायमें लगे हुए धर्मात्मा पुरुष देखे जाते हैं तथा ऋषि तो तपस्वी होते ही हैं। इन सबको सनातन लोकोंकी प्राप्ति होती है ॥ ११ ॥

अजातशत्रवो धीरास्तथान्ये वनवासिनः।
अरण्ये बहवश्चैव स्वाध्यायेन दिवं गताः ॥ १२ ॥

कितने ही ऐसे धीर पुरुष हैं, जिनके शत्रु पैदा ही नहीं हुए। ये तथा और भी बहुत-से वनवासी हैं, जो वनमें स्वाध्याय करके स्वर्गलोकमें चले गये हैं ॥ १२ ॥

उत्तरेण तु पन्थानमार्या विषयनिग्रहात्।
अबुद्धिजं तमस्त्यक्त्वा लोकांस्त्यागवतां गताः ॥ १३ ॥

बहुत-से आर्य पुरुष इन्द्रियोंको उनके विषयोंसे रोककर

अविवेकजनित अज्ञानका त्याग करके उत्तरमार्ग (देवयान) के द्वारा त्यागी पुरुषोंके लोकोंमें चले गये ॥ १३ ॥

दक्षिणेन तु पन्थानं यं भास्वन्तं प्रचक्षते ।
एते क्रियावतां लोका ये श्मशानानि भेजिरे ॥ १४ ॥

इसके सिवा जो दक्षिण मार्ग है, जिसे प्रकाशपूर्ण बताया गया है, वहाँ जो लोक हैं, वे सकाम कर्म करनेवाले उन गृहस्थों-के लिये हैं, जो श्मशानभूमिका सेवन करते हैं (जन्म-मरणके चक्करमें पड़े रहते हैं) ॥ १४ ॥

अनिर्देश्या गतिः सा तु यां प्रपश्यन्ति मोक्षिणः ।
तस्माद् योगः प्रधानेष्टः स तु दुःखं प्रवेदितुम् ॥ १५ ॥

परंतु मोक्ष-मार्गसे चलनेवाले पुरुष जिस गतिका साक्षात्-कार करते हैं, वह अनिर्देश्य है; अतः ज्ञानयोग ही सब साधनों-में प्रधान एवं अभीष्ट है, किंतु उसके स्वरूपको समझना बहुत कठिन है ॥ १५ ॥

अनुस्मृत्य तु शास्त्राणि कवयः समवस्थिताः ।
अपीह स्यादपीह स्यात् सारासारदिदृक्षया ॥ १६ ॥

कहते हैं, किसी समय विद्वान् पुरुषोंने सार और असार वस्तुका निर्णय करनेकी इच्छासे इकट्ठे होकर समस्त शास्त्रोंका बार-बार स्मरण करते हुए यह विचार आरम्भ किया कि क्या इस गार्हस्थ्य-जीवनमें कुछ सार है या इसके त्यागमें सार है ? ॥ १६ ॥

वेदवादानतिक्रम्य शास्त्राण्यारण्यकानि च ।
विपाट्य कदलीस्तम्भं सारं ददृशिरे न ते ॥ १७ ॥

उन्होंने वेदोंके सम्पूर्ण वाक्यों तथा शास्त्रों और बृहदा-रण्यक आदि वेदान्तग्रन्थोंको भी पढ़ लिया, परंतु जैसे केले-के खम्भेको फाड़नेसे कुछ सार नहीं दिखायी देता, उसी प्रकार उन्हें इस जगत्‌में सार वस्तु नहीं दिखायी दी ॥ १७ ॥

अथैकान्तव्युदासेन शरीरे पाञ्चभौतिके ।
इच्छाद्वेषसमासक्तमात्मानं प्राहुरिङ्गितैः ॥ १८ ॥

कुछ लोग एकान्तभावका परित्याग करके इस पाञ्च-भौतिक शरीरमें विभिन्न संकेतोंद्वारा इच्छा, द्वेष आदिमें आसक्त आत्माकी स्थिति बताते हैं ॥ १८ ॥

अग्राह्यं चक्षुषा सूक्ष्ममनिर्देश्यं च तद्गिरा ।
कर्महेतुपुरस्कारं भूतेषु परिवर्तते ॥ १९ ॥

परंतु आत्माका स्वरूप तो अत्यन्त सूक्ष्म है। उसे नेत्रोंद्वारा देखा नहीं जा सकता, वाणीद्वारा उसका कोई लक्षण नहीं बताया जा सकता। वह समस्त प्राणियोंमें कर्मकी हेतुभूत अविद्याको आगे रखकर—उसीके द्वारा अपने स्वरूपको छिपाकर विद्यमान है ॥ १९ ॥

कल्याणगोचरं कृत्वा मनस्तृष्णां निगृह्य च ।
कर्मसंततिमुत्सृज्य स्यान्निरालम्बनः सुखी ॥ २० ॥

अतः (मनुष्यको चाहिये कि) मनको कल्याणके मार्गमें लगाकर तृष्णाको रोके और कर्मोंकी परम्पराका परित्याग करके धन-जन आदिके अवलम्बसे दूर हो सुखी हो जाय ॥

अस्मिन्नेवं सूक्ष्मगम्ये मार्गे सद्भिर्निषेविते ।
कथमर्थमनर्थाढ्यमर्जुन त्वं प्रशंससि ॥ २१ ॥

अर्जुन ! इस प्रकार सूक्ष्म बुद्धिसे जाननेयोग्य एवं साधु पुरुषोंसे सेवित इस उत्तम मार्गके रहते हुए तुम अनर्थोंसे भरे हुए अर्थ (धन) की प्रशंसा कैसे करते हो ? ॥ २१ ॥

पूर्वशास्त्रविदोऽप्येवं जनाः पश्यन्ति भारत ।
क्रियासु निरता नित्यं दाने यज्ञे च कर्मणि ॥ २२ ॥

भरतनन्दन ! दान, यज्ञ तथा अतिथिसेवा आदि अन्य कर्मोंमें नित्य लगे रहनेवाले प्राचीन शास्त्रज्ञ भी इस विषयमें ऐसी ही दृष्टि रखते हैं ॥ २२ ॥

भवन्ति सुदुरावर्ता हेतुमन्तोऽपि पण्डिताः ।
दृढपूर्वे स्मृता मूढा नैतदस्तीतिवादिनः ॥ २३ ॥

कुछ तर्कवादी पण्डित भी अपने पूर्वजन्मके दृढ़ संस्कारों-से प्रभावित होकर ऐसे मूढ़ हो जाते हैं कि उन्हें शास्त्रके सिद्धान्तको ग्रहण कराना अत्यन्त कठिन हो जाता है। वे आग्रहपूर्वक यही कहते रहते हैं कि 'यह (आत्मा, धर्म, पर-लोक, मर्यादा आदि) कुछ नहीं है' ॥ २३ ॥

अनृतस्यावमन्तारो वक्तारो जनसंसदि ।
चरन्ति वसुधां कृत्स्नां वावदूका बहुश्रुताः ॥ २४ ॥

किंतु बहुत-से ऐसे बहुश्रुत, बोलनेमें चतुर और विद्वान् भी हैं, जो जनताकी सभामें व्याख्यान देते और उपर्युक्त असत्य मतका खण्डन करते हुए सारी पृथ्वीपर विचरते रहते हैं ॥ २४ ॥

पार्थ यान्न विजानीमः कस्ताञ्ज्ञातुमिहार्हति ।
एवं प्राज्ञाः श्रुताश्चापि महान्तः शास्त्रवित्तमाः ॥ २५ ॥

पार्थ ! जिन विद्वानोंको हम नहीं जान पाते हैं, उन्हें कोई साधारण मनुष्य कैसे जान सकता है ? इस प्रकार शास्त्रोंके अच्छे-अच्छे ज्ञाता एवं महान् विद्वान् सुननेमें आये हैं (जिनको पहचानना बड़ा कठिन है) ॥ २५ ॥

तपसा महदाप्नोति बुद्ध्या वै विन्दते महत् ।
त्यागेन सुखमाप्नोति सदा कौन्तेय तत्त्ववित् ॥ २६ ॥

कुन्तीनन्दन ! तत्त्ववेत्ता पुरुष तपस्याद्वारा महान् पद-को प्राप्त कर लेता है, ज्ञानयोगसे उस परमतत्त्वको उपलब्ध कर लेता है और स्वार्थत्यागके द्वारा सदा नित्य सुखका अनु-भव करता रहता है ॥ २६ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि राजधर्मानुशासनपर्वणि युधिष्ठिरवाक्ये एकोनविंशोऽध्यायः ॥ १९ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत राजधर्मानुशासनपर्वमें युधिष्ठिरका वाक्यविषयक उन्नीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १९ ॥

विंशोऽध्यायः

मुनिवर देवस्थानका राजा युधिष्ठिरको यज्ञानुष्ठानके लिये प्रेरित करना

वैशम्पायन उवाच

अस्मिन् वाक्यान्तरे वक्ता देवस्थानो महातपाः ।
अभिनीततरं वाक्यमित्युवाच युधिष्ठिरम् ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन्! युधिष्ठिरकी यह बात समाप्त होनेपर प्रवचनकुशल महातपस्वी देवस्थानने युक्तियुक्त वाणीमें राजा युधिष्ठिरसे कहा ॥ १ ॥

देवस्थान उवाच

यद् वचः फाल्गुनेनोक्तं न ज्यायोऽस्ति धनादिति।
अत्र ते वर्तयिष्यामि तदेकान्तमनाः शृणु ॥ २ ॥

देवस्थान बोले—राजन्! अर्जुनने जो यह बात कही है कि 'धनसे बढ़कर कोई वस्तु नहीं है।' इसके विषयमें मैं भी तुमसे कुछ कहूँगा। तुम एकाग्रचित्त होकर सुनो ॥ २ ॥

अजातशत्रो धर्मेण कृत्स्ना ते वसुधा जिता ।
तां जित्वा न वृथा राजन् न परित्यक्तुमर्हसि ॥ ३ ॥

नरेश्वर! अजातशत्रो! तुमने धर्मके अनुसार यह सारी पृथ्वी जीती है। इसे जीतकर व्यर्थ ही त्याग देना तुम्हारे लिये उचित नहीं है ॥ ३ ॥

चतुष्पदी हि निःश्रेणी ब्रह्मण्येव प्रतिष्ठिता।
तां क्रमेण महाबाहो यथावज्जय पार्थिव ॥ ४ ॥

महाबाहु भूपाल! ब्रह्मचर्य, गार्हस्थ्य, वानप्रस्थ और संन्यास—ये चारों आश्रम ब्रह्मको प्राप्त करानेकी चार सीढ़ियाँ हैं, जो वेदमें ही प्रतिष्ठित हैं। इन्हें क्रमशः यथोचितरूपसे पार करो ॥ ४ ॥

तस्मात् पार्थ महायज्ञैर्यजस्व बहुदक्षिणैः ।
स्वाध्याययज्ञा ऋषयो ज्ञानयज्ञास्तथापरे ॥ ५ ॥

कुन्तीनन्दन! अतः तुम बहुत-सी दक्षिणावाले बड़े-बड़े यज्ञोंका अनुष्ठान करो। स्वाध्याययज्ञ और ज्ञानयज्ञ तो ऋषिलोग किया करते हैं ॥ ५ ॥

कर्मनिष्ठांश्च बुद्ध्येथास्तपोनिष्ठांश्च पार्थिव ।
वैखानसानां कौन्तेय वचनं श्रूयते यथा ॥ ६ ॥

राजन्! तुम्हें मालूम होना चाहिये कि ऋषियोंमें कुछ लोग कर्मनिष्ठ और तपोनिष्ठ भी होते हैं। कुन्तीनन्दन! वैखानस महात्माओंका वचन इस प्रकार सुननेमें आता है—॥

ईहेत धनहेतोर्यस्तस्यानीहा गरीयसी ।
भूयान् दोषो हि वर्धेत यस्तं धनमुपाश्रयेत् ॥ ७ ॥

'जो धनके लिये विशेष चेष्टा करता है, वह वैसी चेष्टा न करे—यही सबसे अच्छा है; क्योंकि जो उस धनकी उपासना करने लगता है, उसके महान् दोषकी वृद्धि होती है ॥ ७ ॥

कृच्छ्राच्च द्रव्यसंहारं कुर्वन्ति धनकारणात्।
धनेन तृषितोऽबुद्ध्या भ्रूणहत्यां न बुध्यते ॥ ८ ॥

'लोग धनके लिये बड़े कष्टसे नाना प्रकारके द्रव्योंका संग्रह करते हैं। परंतु धनके लिये प्यासा हुआ मनुष्य अज्ञानवश भ्रूणहत्या-जैसे पापका भागी हो जाता है, इस बातको वह नहीं समझता ॥ ८ ॥

अनर्हते यद् ददाति न ददाति यदर्हते ।
अर्हानर्हापरिज्ञानाद् दानधर्मोऽपि दुष्करः ॥ ९ ॥

'बहुधा मनुष्य अनधिकारीको धन दे देता है और योग्य अधिकारीको नहीं देता। योग्य-अयोग्य पात्रकी पहचान न होनेसे (भ्रूणहत्याके समान दोष लगता है, अतः) दानधर्म भी दुष्कर ही है ॥ ९ ॥

यज्ञाय सृष्टानि धनानि धात्रा
यज्ञोद्दिष्टः पुरुषो रक्षिता च ।
तस्मात् सर्वं यज्ञ एवोपयोज्यं
धनं ततोऽनन्तर एव कामः ॥ १० ॥

'ब्रह्माने यज्ञके लिये ही धनकी सृष्टि की है तथा यज्ञके उद्देश्यसे ही उसकी रक्षा करनेवाले पुरुषको उत्पन्न किया है, इसलिये यज्ञमें ही सम्पूर्ण धनका उपयोग कर देना चाहिये। फिर शीघ्र ही (उस यज्ञसे ही) यजमानके सम्पूर्ण कामनाओंकी सिद्धि हो जाती है ॥ १० ॥

यज्ञैरिन्द्रो विविधैरन्नवद्भि-
र्देवान् सर्वानभ्ययाद् भूरितेजाः ।
तेनेन्द्रत्वं प्राप्य विभ्राजतेऽसौ
तस्माद् यज्ञे सर्वमेवोपयोज्यम् ॥ ११ ॥

'महातेजस्वी इन्द्र धनरत्नोंसे सम्पन्न नाना प्रकारके यज्ञोंद्वारा यज्ञपुरुषका यजन करके सम्पूर्ण देवताओंसे अधिक उत्कर्षशाली हो गये; इसलिये इन्द्रका पद पाकर वे स्वर्गलोकमें प्रकाशित हो रहे हैं, अतः यज्ञमें ही सम्पूर्ण धनका उपयोग करना चाहिये ॥ ११ ॥

महादेवः सर्वयज्ञे महात्मा
हुत्वाऽऽत्मानं देवदेवो बभूव ।
विश्वाँल्लोकान् व्याप्य विष्टभ्य कीर्त्या
विराजते द्युतिमान् कृत्तिवासाः ॥ १२ ॥

'गजासुरके चर्मको वस्त्रकी भाँति धारण करनेवाले महात्मा महादेवजी सर्वस्वसमर्पणरूप यज्ञमें अपने आपको होमकर देवताओंके भी देवता हो गये। वे अपने उत्तम कीर्तिसे सम्पूर्ण विश्वको व्याप्त करके तेजस्वी रूपसे प्रकाशित हो रहे हैं ॥ १२ ॥

आविक्षितः पार्थिवोऽसौ मरुत्तो
वृद्ध्या शक्रं योऽजयद् देवराजम्।
यज्ञे यस्य श्रीः स्वयं संनिविष्टा
यस्मिन् भाण्डं काञ्चनं सर्वमासीत् ॥ १३ ॥

'अविक्षित्‌के पुत्र सुप्रसिद्ध महाराज मरुत्तने अपनी समृद्धिके द्वारा देवराज इन्द्रको भी पराजित कर दिया था, उनके यज्ञमें लक्ष्मी देवी स्वयं ही पधारी थीं। उस यज्ञके उपयोगमें आये हुए सारे पात्र सोनेके बने हुए थे ॥ १३ ॥

हरिश्चन्द्रः पार्थिवेन्द्रः श्रुतस्ते
यज्ञैरिष्ट्वा पुण्यभाग् वीतशोकः।
ऋद्ध्या शक्रं योऽजयन्मानुषः सं-
स्तस्माद् यज्ञे सर्वमेवोपयोज्यम् ॥ १४ ॥

'राजाधिराज हरिश्चन्द्रका नाम तुमने सुना होगा, जिन्होंने मनुष्य होकर भी अपनी धन-सम्पत्तिके द्वारा इन्द्रको भी परास्त कर दिया था, वे भी अनेक प्रकारके यज्ञोंका अनुष्ठान करके पुण्यके भागी एवं शोकशून्य हो गये थे; अतः यज्ञमें ही सारा धन लगा देना चाहिये' ॥ १४ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि राजधर्मानुशासनपर्वणि देवस्थानवाक्ये विंशोऽध्यायः ॥ २० ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत राजधर्मानुशासनपर्वमें देवस्थानवाक्यविषयक बीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २० ॥

एकविंशोऽध्यायः

देवस्थान मुनिके द्वारा युधिष्ठिरके प्रति उत्तम धर्मका और यज्ञादि करनेका उपदेश

देवस्थान उवाच

अत्रैवोदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम्।
इन्द्रेण समये पृष्टो यदुवाच बृहस्पतिः ॥ १ ॥

देवस्थान कहते हैं—राजन्! इस विषयमें लोग इस प्राचीन इतिहासका उदाहरण दिया करते हैं। किसी समय इन्द्रके पूछनेपर बृहस्पतिने इस प्रकार कहा था— ॥ १ ॥

संतोषो वै स्वर्गतमः संतोषः परमं सुखम्।
तुष्टेर्न किंचित् परतः सा सम्यक् प्रतितिष्ठति ॥ २ ॥

'राजन्! मनुष्यके मनमें संतोष होना स्वर्गकी प्राप्तिसे भी बढ़कर है। संतोष ही सबसे बड़ा सुख है। संतोष यदि मनमें भलीभाँति प्रतिष्ठित हो जाय तो उससे बढ़कर संसारमें कुछ भी नहीं है ॥ २ ॥

यदा संहरते कामान् कूर्मोऽङ्गानीव सर्वशः।
तदाऽऽत्मज्योतिरचिरात् स्वात्मन्येव प्रसीदति ॥ ३ ॥

'जैसे कछुआ अपने अङ्गोंको सब ओरसे सिकोड़ लेता है, उसी प्रकार जब मनुष्य अपनी सब कामनाओंको सब ओरसे समेट लेता है, उस समय तुरंत ही ज्योतिःस्वरूप आत्मा अपने अन्तःकरणमें प्रकाशित हो जाता है ॥ ३ ॥

न बिभेति यदा चायं यदा चास्मान्न बिभ्यति।
कामद्वेषौ च जयति तदाऽऽत्मानं च पश्यति ॥ ४ ॥

'जब मनुष्य किसीसे भय नहीं मानता और जब उससे भी दूसरे प्राणी भय नहीं मानते तथा जब वह काम (राग) और द्वेषको जीत लेता है, तब अपने आत्मस्वरूपका साक्षात्कार कर लेता है ॥ ४ ॥

यदासौ सर्वभूतानां न द्रुह्यति न काङ्क्षति।
कर्मणा मनसा वाचा ब्रह्म सम्पद्यते तदा ॥ ५ ॥

'जब वह मन, वाणी और क्रियाद्वारा सम्पूर्ण प्राणियोंमेंसे किसीके साथ न तो द्रोह करता है और न किसीकी अभिलाषा ही रखता है, तब परब्रह्म परमात्माको प्राप्त हो जाता है' ॥ ५ ॥

एवं कौन्तेय भूतानि तं तं धर्मं तथा तथा।
तदाऽऽत्मना प्रपश्यन्ति तस्माद् बुद्ध्यस्व भारत ॥ ६ ॥

कुन्तीनन्दन! इस प्रकार सम्पूर्ण जीव उस-उस धर्मका उसी-उसी प्रकारसे जब ठीक-ठीक पालन करते हैं, तब स्वयं आत्मासे परमात्माका साक्षात्कार कर लेते हैं; अतः भरतनन्दन! इस समय तुम अपना कर्तव्य समझो ॥ ६ ॥

अन्ये साम प्रशंसन्ति व्यायाममपरे जनाः।
नैकं न चापरं केचिदुभयं च तथापरे ॥ ७ ॥

कुछ लोग साम (प्रेमपूर्ण बर्ताव) की प्रशंसा करते हैं और कोई व्यायाम (यत्न और परिश्रम) के गुण गाते हैं। कोई इन दोनोंमेंसे एक (साम) की प्रशंसा नहीं करते हैं तो कोई दूसरे (व्यायाम) की तथा कुछ लोग दोनोंकी ही बड़ी प्रशंसा करते हैं ॥ ७ ॥

यज्ञमेव प्रशंसन्ति संन्यासमपरे जनाः।
दानमेके प्रशंसन्ति केचिच्चैव प्रतिग्रहम् ॥ ८ ॥

कोई यज्ञको ही अच्छा बताते हैं तो दूसरे लोग संन्यासकी ही सराहना करते हैं। कोई दान देनेके प्रशंसक हैं तो कोई दान लेनेके ॥ ८ ॥

केचित् सर्वं परित्यज्य तूष्णीं ध्यायन्त आसते।
राज्यमेके प्रशंसन्ति प्रजानां परिपालनम् ॥ ९ ॥
हत्वा छित्त्वा च भित्त्वा च केचिदेकान्तशीलिनः।

कोई सब छोड़कर चुपचाप भगवान्‌के ध्यानमें लगे रहते हैं और कुछ लोग मार-काट मचाकर शत्रुओंकी सेनाको विदीर्ण करके राज्य पानेके अनन्तर प्रजापालनरूपी धर्मकी प्रशंसा करते हैं तथा दूसरे लोग एकान्तमें रहकर आत्मचिन्तन करना अच्छा समझते हैं ॥ ९½ ॥

एतत् सर्वं समालोक्य बुधानामेष निश्चयः ॥ १० ॥
अद्रोहेणैव भूतानां यो धर्मः स सतां मतः।

इन सब बातोंपर विचार करके विद्वानोंने ऐसा निश्चय किया है कि किसी भी प्राणीसे द्रोह न करके जिस धर्मका पालन होता है, वही साधु पुरुषोंकी रायमें उत्तम धर्म है ॥ १०½ ॥

अद्रोहः सत्यवचनं संविभागो दया दमः ॥ ११ ॥

प्रजनं स्वेषु दारेषु मार्दवं ह्रीरचापलम्।
एवं धर्मं प्रधानेष्टं मनुः स्वायम्भुवोऽब्रवीत्॥ १२॥

किसीसे द्रोह न करना, सत्य बोलना, (बलिवैश्वदेव कर्मद्वारा) समस्त प्राणियोंको यथायोग्य उनका भाग समर्पित करना, सबके प्रति दयाभाव बनाये रखना, मन और इन्द्रियोंका संयम करना, अपनी ही पत्नीसे संतान उत्पन्न करना तथा मृदुता, लज्जा एवं अचञ्चलता आदि गुणोंको अपनाना—ये श्रेष्ठ एवं अभीष्ट धर्म हैं, ऐसा स्वायम्भुव मनुका कथन है॥ ११-१२॥

तस्मादेतत् प्रयत्नेन कौन्तेय प्रतिपालय।
यो हि राज्ये स्थितः शश्वद् वशी तुल्यप्रियाप्रियः॥ १३॥
क्षत्रियो यज्ञशिष्टाशी राजा शास्त्रार्थतत्त्ववित्।
असाधुनिग्रहरतः साधूनां प्रग्रहे रतः॥ १४॥
धर्मवर्त्मनि संस्थाप्य प्रजा वर्तेत धर्मतः।
पुत्रसंक्रामितश्रीश्च वने वन्येन वर्तयन्॥ १५॥
विधिना श्रावणेनैव कुर्यात् कर्माण्यतन्द्रितः।
य एवं वर्तते राजन् स राजा धर्मनिश्चितः॥ १६॥

कुन्तीनन्दन! अतः तुम भी प्रयत्नपूर्वक इस धर्मका पालन करो। जो क्षत्रियनरेश राज्यसिंहासनपर स्थित हो अपनी सम्पूर्ण इन्द्रियोंको सदा अपने अधीन रखता है, प्रिय और अप्रियको समानदृष्टिसे देखता है, यज्ञसे बचे हुए अन्नका भोजन करता है, शास्त्रोंके यथार्थ रहस्यको जानता है, दुष्टोंका दमन और साधु पुरुषोंका पालन करता है, समस्त प्रजाको धर्मके मार्गमें स्थापित करके स्वयं भी धर्मानुकूल बर्ताव करता है, वृद्धावस्थामें राजलक्ष्मीको पुत्रके अधीन करके वनमें जाकर जंगली फल-मूलोंका आहार करते हुए जीवन बिताता है तथा वहाँ भी शास्त्र-श्रवणसे ज्ञात हुए शास्त्रविहित कर्मोंका आलस्य छोड़कर पालन करता है, ऐसा बर्ताव करनेवाला वह राजा ही धर्मको निश्चितरूपसे जानने और माननेवाला है॥

तस्यायं च परश्चैव लोकः स्यात् सफलोदयः।
निर्वाणं हि सुदुष्प्राप्यं बहुविघ्नं च मे मतम्॥ १७॥

उसका यह लोक और परलोक दोनों सफल हो जाते हैं, मेरा यह विश्वास है कि संन्यासके द्वारा निर्वाण प्राप्त करना अत्यन्त दुष्कर एवं दुर्लभ है; क्योंकि उसमें बहुत-से विघ्न आते हैं॥ १७॥

एवं धर्ममनुक्रान्ताः सत्यदानतपःपराः।
आनृशंस्यगुणैर्युक्ताः कामक्रोधविवर्जिताः॥ १८॥
प्रजानां पालने युक्ता धर्ममुत्तममास्थिताः।
गोब्राह्मणार्थे युध्यन्तः प्राप्ता गतिमनुत्तमाम्॥ १९॥

इस प्रकार धर्मका अनुसरण करनेवाले, सत्य, दान और तपमें संलग्न रहनेवाले, दया आदि गुणोंसे युक्त, काम-क्रोध आदि दोषोंसे रहित, प्रजापालनपरायण, उत्तम धर्मसेवी तथा गौओं और ब्राह्मणोंकी रक्षाके लिये युद्ध करनेवाले नरेशोंने परम उत्तम गति प्राप्त की है॥ १८-१९॥

एवं रुद्राः सवसवस्तथाऽऽदित्याः परंतप।
साध्या राजर्षिसंघाश्च धर्ममेतं समाश्रिताः।
अप्रमत्तास्ततः स्वर्गं प्राप्ताः पुण्यैः स्वकर्मभिः॥ २०॥

शत्रुओंको संताप देनेवाले युधिष्ठिर! इसी प्रकार रुद्र, वसु, आदित्य, साध्यगण तथा राजर्षिसमूहोंने सावधान होकर इस धर्मका आश्रय लिया है। फिर उन्होंने अपने पुण्यकर्मोंद्वारा स्वर्गलोक प्राप्त किया है॥ २०॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि राजधर्मानुशासनपर्वणि देवस्थानवाक्ये एकविंशोऽध्यायः॥ २१॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत राजधर्मानुशासनपर्वमें देवस्थानवाक्यविषयक इक्कीसवाँ अध्याय पूरा हुआ॥ २१॥

द्वाविंशोऽध्यायः

क्षत्रियधर्मकी प्रशंसा करते हुए अर्जुनका पुनः राजा युधिष्ठिरको समझाना

वैशम्पायन उवाच

अस्मिन्नेवान्तरे वाक्यं पुनरेवार्जुनोऽब्रवीत्।
निर्विण्णमनसं ज्येष्ठमिदं भ्रातरमच्युतम्॥ १॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! इसी बीचमें देवस्थानका भाषण समाप्त होते ही अर्जुनने खिन्नचित्त होकर बैठे हुए तथा कभी धर्मसे च्युत न होनेवाले अपने बड़े भाई युधिष्ठिरसे इस प्रकार कहा—॥ १॥

क्षत्रधर्मेण धर्मज्ञ प्राप्य राज्यं सुदुर्लभम्।
जित्वा चारीन् नरश्रेष्ठ तप्यते किं भृशं भवान्॥ २॥

धर्मके ज्ञाता नरश्रेष्ठ! आप क्षत्रियधर्मके अनुसार इस परम दुर्लभ राज्यको पाकर और शत्रुओंको जीतकर इतने अधिक संतप्त क्यों हो रहे हैं?॥ २॥

क्षत्रियाणां महाराज संग्रामे निधनं मतम्।
विशिष्टं बहुभिर्यज्ञैः क्षत्रधर्ममनुस्मर॥ ३॥

'महाराज! आप क्षत्रियधर्मको स्मरण तो कीजिये, क्षत्रियोंके लिये संग्राममें मर जाना तो बहुसंख्यक यज्ञोंसे भी बढ़कर माना गया है॥ ३॥

ब्राह्मणानां तपस्त्यागः प्रेत्य धर्मविधिः स्मृतः।
क्षत्रियाणां च निधनं संग्रामे विहितं प्रभो॥ ४॥

'प्रभो! तप और त्याग ब्राह्मणोंके धर्म हैं, जो मृत्युके पश्चात् परलोकमें धर्मजनित फल देनेवाले हैं; क्षत्रियोंके लिये संग्राममें प्राप्त हुई मृत्यु ही पारलौकिक पुण्यफलकी प्राप्ति करानेवाली है॥ ४॥

क्षात्रधर्मो महारौद्रः शस्त्रनित्य इति स्मृतः।
वधश्च भरतश्रेष्ठ काले शस्त्रेण संयुगे॥ ५॥

'भरतश्रेष्ठ! क्षत्रियोंका धर्म बड़ा भयंकर है। उसमें

सदा शस्त्रसे ही काम पड़ता है और समय आनेपर युद्धमें शस्त्रद्वारा उनका वध भी हो जाता है (अतः उनके लिये शोक करनेका कोई कारण नहीं है) ॥ ५ ॥

ब्राह्मणस्यापि चेद् राजन् क्षत्रधर्मेण वर्ततः ।
प्रशस्तं जीवितं लोके क्षत्रं हि ब्रह्मसम्भवम् ॥ ६ ॥

'राजन् ! ब्राह्मण भी यदि क्षत्रियधर्मके अनुसार जीवन-निर्वाह करता हो तो लोकमें उसका जीवन उत्तम ही माना गया है; क्योंकि क्षत्रियकी उत्पत्ति ब्राह्मणसे ही हुई है ॥ ६ ॥

न त्यागो न पुनर्यज्ञो न तपो मनुजेश्वर ।
क्षत्रियस्य विधीयन्ते न परस्वोपजीवनम् ॥ ७ ॥

'नरेश्वर ! क्षत्रियके लिये त्याग, यज्ञ, तप और दूसरेके धनसे जीवन-निर्वाहका विधान नहीं है ॥ ७ ॥

स भवान् सर्वधर्मज्ञो धर्मात्मा भरतर्षभ ।
राजा मनीषी निपुणो लोके दृष्टपरावरः ॥ ८ ॥

'भरतश्रेष्ठ ! आप तो सम्पूर्ण धर्मोंके ज्ञाता, धर्मात्मा, राजा, मनीषी, कर्मकुशल और संसारमें आगे-पीछेकी सब बातोंपर दृष्टि रखनेवाले हैं ॥ ८ ॥

त्यक्त्वा संतापजं शोकं दंशितो भव कर्मणि ।
क्षत्रियस्य विशेषेण हृदयं वज्रसंनिभम् ॥ ९ ॥

'आप यह शोक-संताप छोड़कर क्षत्रियोचित कर्म करनेके लिये तैयार हो जाइये । क्षत्रियका हृदय तो विशेषरूपसे वज्रके तुल्य कठोर होता है ॥ ९ ॥

जित्वारीन् क्षत्रधर्मेण प्राप्य राज्यमकण्टकम् ।
विजितात्मा मनुष्येन्द्र यज्ञदानपरो भव ॥ १० ॥

'नरेन्द्र ! आपने क्षत्रियधर्मके अनुसार शत्रुओंको जीतकर निष्कण्टक राज्य प्राप्त किया है । अब अपने मनको वशमें करके यज्ञ और दानमें संलग्न हो जाइये ॥ १० ॥

इन्द्रो वै ब्रह्मणः पुत्रः क्षत्रियः कर्मणाभवत् ।
ज्ञातीनां पापवृत्तीनां जघान नवतीर्नव ॥ ११ ॥

'देखिये, इन्द्र ब्राह्मणके पुत्र हैं, किंतु कर्मसे क्षत्रिय हो गये हैं । उन्होंने पापमें प्रवृत्त हुए अपने ही भाई-बन्धुओं (दैत्यों) मेंसे आठ सौ दस व्यक्तियोंको मार डाला ॥ ११ ॥

तच्चास्य कर्म पूज्यं च प्रशस्यं च विशाम्पते ।
तेनेन्द्रत्वं समापेदे देवानामिति नः श्रुतम् ॥ १२ ॥

'प्रजानाथ ! उनका वह कर्म पूजनीय एवं प्रशंसाके योग्य माना गया । उन्होंने उसी कर्मसे देवेन्द्रपद प्राप्त कर लिया, ऐसा हमने सुना है ॥ १२ ॥

स त्वं यज्ञैर्महाराज यजस्व बहुदक्षिणैः ।
यथैवेन्द्रो मनुष्येन्द्र चिराय विगतज्वरः ॥ १३ ॥

'महाराज ! नरेन्द्र ! आप भी इन्द्रके समान ही चिन्ता और शोकसे रहित हो दीर्घ कालतक बहुत-सी दक्षिणावाले यज्ञोंका अनुष्ठान करते रहिये ॥ १३ ॥

मा त्वमेवं गते किंचिच्छोचेथाः क्षत्रियर्षभ ।
गतास्ते क्षत्रधर्मेण शस्त्रपूताः परां गतिम् ॥ १४ ॥

'क्षत्रियशिरोमणे ! ऐसी अवस्थामें आप तनिक भी शोक न कीजिये । युद्धमें मारे गये वे सभी वीर क्षत्रियधर्मके अनुसार शस्त्रोंसे पवित्र होकर परम गतिको प्राप्त हो गये हैं ॥ १४ ॥

भवितव्यं तथा तच्च यद् वृत्तं भरतर्षभ ।
दिष्टं हि राजशार्दूल न शक्यमतिवर्तितुम् ॥ १५ ॥

'भरतश्रेष्ठ ! जो कुछ हुआ है, वह उसी रूपमें होनेवाला था । राजसिंह ! दैवके विधानका उल्लङ्घन नहीं किया जा सकता' ॥ १५ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि राजधर्मानुशासनपर्वणि अर्जुनवाक्ये द्वाविंशोऽध्यायः ॥ २२ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत राजधर्मानुशासनपर्वमें अर्जुनवाक्यविषयक बाईसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २२ ॥

त्रयोविंशोऽध्यायः

व्यासजीका शङ्ख और लिखितकी कथा सुनाते हुए राजा सुद्युम्नके दण्डधर्मपालनका महत्त्व सुनाकर युधिष्ठिरको राजधर्ममें ही दृढ़ रहनेकी आज्ञा देना

वैशम्पायन उवाच

एवमुक्तस्तु कौन्तेयो गुडाकेशेन पाण्डवः ।
नोवाच किंचित् कौरव्यस्ततो द्वैपायनोऽब्रवीत् ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन् ! निद्राविजयी अर्जुनके ऐसा कहनेपर भी कुरुकुलनन्दन पाण्डुपुत्र कुन्तीकुमार युधिष्ठिर जब कुछ न बोले, तब द्वैपायन व्यासजीने इस प्रकार कहा ॥ १ ॥

व्यास उवाच

बीभत्सोर्वचनं सौम्य सत्यमेतद् युधिष्ठिर ।
शास्त्रदृष्टः परो धर्मः स्थितो गार्हस्थ्यमाश्रितः ॥ २ ॥

व्यासजी बोले—सौम्य युधिष्ठिर ! अर्जुनने जो बात कही है, वह ठीक है । शास्त्रोक्त परम धर्म गृहस्थ-आश्रमका ही आश्रय लेकर टिका हुआ है ॥ २ ॥

स्वधर्मं चर धर्मज्ञ यथाशास्त्रं यथाविधि ।
न हि गार्हस्थ्यमुत्सृज्य तवारण्यं विधीयते ॥ ३ ॥

धर्मज्ञ युधिष्ठिर ! तुम शास्त्रके कथनानुसार विधिपूर्वक स्वधर्मका ही आचरण करो । तुम्हारे लिये गृहस्थ-आश्रमको छोड़कर वनमें जानेका विधान नहीं है ॥ ३ ॥

गृहस्थं हि सदा देवाः पितरोऽतिथयस्तथा ।

भृत्याश्चैवोपजीवन्ति तान् भरस्व महीपते ॥ ४ ॥

पृथ्वीनाथ ! देवता, पितर, अतिथि और भृत्यगण सदा गृहस्थका ही आश्रय लेकर जीवन-निर्वाह करते हैं; अतः तुम उनका भरण-पोषण करो ॥ ४ ॥

वयांसि पशवश्चैव भूतानि च जनाधिप ।
गृहस्थैरेव धार्यन्ते तस्माच्छ्रेष्ठो गृहाश्रमी ॥ ५ ॥

जनेश्वर ! पशु, पक्षी तथा अन्य प्राणी भी गृहस्थोंसे ही पालित होते हैं; अतः गृहस्थ ही सबसे श्रेष्ठ है ॥ ५ ॥

सोऽयं चतुर्णामेतेषामाश्रमाणां दुराचरः ।
तं चराद्य विधिं पार्थ दुश्चरं दुर्बलेन्द्रियैः ॥ ६ ॥

युधिष्ठिर ! चारों आश्रमोंमें यह गृहस्थाश्रम ही ऐसा है, जिसका ठीक-ठीक पालन करना बहुत कठिन है । जिनकी इन्द्रियाँ दुर्बल हैं, उनके द्वारा गृहस्थ-धर्मका आचरण दुष्कर है । तुम अब उसी दुष्कर धर्मका पालन करो ॥ ६ ॥

वेदज्ञानं च ते कृत्स्नं तपश्चाचरितं महत् ।
पितृपैतामहं राज्यं धुर्यवद् वोढुमर्हसि ॥ ७ ॥

तुम्हें वेदका पूरा-पूरा ज्ञान है, तुमने बड़ी भारी तपस्या की है । इसलिये अपने पिता-पितामहोंके इस राज्यका भार तुम्हें एक धुरन्धर पुरुषकी भाँति वहन करना चाहिये ॥ ७ ॥

तपो यज्ञस्तथा विद्या भैक्ष्यमिन्द्रियसंयमः ।
ध्यानमेकान्तशीलत्वं तुष्टिर्ज्ञानं च शक्तितः ॥ ८ ॥
ब्राह्मणानां महाराज चेष्टा संसिद्धिकारिका ।

महाराज ! तप, यज्ञ, विद्या, भिक्षा, इन्द्रियसंयम, ध्यान, एकान्तवासका स्वभाव, संतोष और यथाशक्ति शास्त्रज्ञान—ये सब गुण तथा चेष्टाएँ ब्राह्मणोंके लिये सिद्धि प्रदान करनेवाली हैं ॥ ८½ ॥

क्षत्रियाणां तु वक्ष्यामि तवापि विदितं पुनः ॥ ९ ॥
यज्ञो विद्या समुत्थानमसंतोषः श्रियं प्रति ।
दण्डधारणमुग्रत्वं प्रजानां परिपालनम् ॥ १० ॥
वेदज्ञानं तथा कृत्स्नं तपः सुचरितं तथा ।
द्रविणोपार्जनं भूरि पात्रे च प्रतिपादनम् ॥ ११ ॥
एतानि राज्ञां कर्माणि सुकृतानि विशाम्पते ।
इमं लोकममुं चैव साधयन्तीति नः श्रुतम् ॥ १२ ॥

प्रजानाथ ! अब मैं पुनः क्षत्रियोंके धर्म बता रहा हूँ, यद्यपि वह तुम्हें भी ज्ञात है । यज्ञ, विद्याभ्यास, शत्रुओंपर चढ़ाई करना, राजलक्ष्मीकी प्राप्तिसे कभी संतुष्ट न होना, दुष्टोंको दण्ड देनेके लिये उद्यत रहना, क्षत्रियतेजसे सम्पन्न रहना, प्रजाकी सब ओरसे रक्षा करना, समस्त वेदोंका ज्ञान प्राप्त करना, तप, सदाचार, अधिक द्रव्योपार्जन और सत्पात्रको दान करना—ये सब राजाओंके कर्म हैं, जो सुन्दर ढंगसे किये जानेपर इहलोक और परलोक दोनोंको सफल बनाते हैं, ऐसा हमने सुना है ॥ ९—१२ ॥

एषां ज्यायस्तु कौन्तेय दण्डधारणमुच्यते ।
बलं हि क्षत्रिये नित्यं बले दण्डः समाहितः ॥ १३ ॥

कुन्तीनन्दन ! इनमें भी दण्ड धारण करना राजाका प्रधान धर्म बताया जाता है; क्योंकि क्षत्रियमें बलकी नित्य स्थिति है और बलमें ही दण्ड प्रतिष्ठित होता है ॥ १३ ॥

एता विद्याः क्षत्रियाणां राजन् संसिद्धिकारिकाः ।
अपि गाथामिमां चापि बृहस्पतिरगायत ॥ १४ ॥

राजन् ! ये विद्याएँ (धार्मिक क्रियाएँ) क्षत्रियोंको सदा सिद्धि प्रदान करनेवाली हैं । इस विषयमें बृहस्पतिजीने इस गाथाका भी गान किया है ॥ १४ ॥

भूमिरेतौ निगिरति सर्पो बिलशयानिव ।
राजानं चाविरोद्धारं ब्राह्मणं चाप्रवासिनम् ॥ १५ ॥

जैसे साँप बिलमें रहनेवाले चूहे आदि जीवोंको निगल जाता है, उसी प्रकार विरोध न करनेवाले राजा और परदेशमें न जानेवाले ब्राह्मण—इन दो व्यक्तियोंको भूमि निगल जाती है ॥

सुद्युम्नश्चापि राजर्षिः श्रूयते दण्डधारणात् ।
प्राप्तवान् परमां सिद्धिं दक्षः प्राचेतसो यथा ॥ १६ ॥

सुना जाता है कि राजर्षि सुद्युम्नने दण्डधारणके द्वारा ही प्रचेताकुमार दक्षके समान परम सिद्धि प्राप्त कर ली ॥

युधिष्ठिर उवाच

भगवन् कर्मणा केन सुद्युम्नो वसुधाधिपः ।
संसिद्धिं परमां प्राप्तः श्रोतुमिच्छामि तं नृपम् ॥ १७ ॥

युधिष्ठिरने पूछा—भगवन् ! पृथिवीपति सुद्युम्नने किस कर्मसे परम सिद्धि प्राप्त कर ली थी । मैं उन नरेशका चरित्र सुनना चाहता हूँ ॥ १७ ॥

व्यास उवाच

अत्राप्युदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम् ।
शङ्खश्च लिखितश्चास्तां भ्रातरौ संशितव्रतौ ॥ १८ ॥

व्यासजीने कहा—युधिष्ठिर ! इस विषयमें लोग इस प्राचीन इतिहासका उदाहरण दिया करते हैं—शङ्ख और लिखित नामवाले दो भाई थे । दोनों ही कठोर व्रतका पालन करनेवाले तपस्वी थे ॥ १८ ॥

तयोरावसथावास्तां रमणीयौ पृथक् पृथक् ।
नित्यपुष्पफलैर्वृक्षैरुपेतौ बाहुदामनु ॥ १९ ॥

बाहुदा नदीके तटपर उन दोनोंके अलग-अलग परम सुन्दर आश्रम थे, जो सदा फल-फूलोंसे लदे रहनेवाले वृक्षोंसे सुशोभित थे ॥ १९ ॥

ततः कदाचिल्लिखितः शङ्खस्याश्रममागतः ।
यदृच्छयाथ शङ्खोऽपि निष्क्रान्तोऽभवदाश्रमात् ॥ २० ॥

एक दिन लिखित शङ्खके आश्रमपर आये । दैवेच्छासे शङ्ख भी उसी समय आश्रमसे बाहर निकल गये थे ॥ २० ॥

सोऽभिगम्याश्रमं भ्रातुः शङ्खस्य लिखितस्तदा ।
फलानि पातयामास सम्यक्परिणतान्युत ॥ २१ ॥
तान्युपादाय विस्रब्धो भक्षयामास स द्विजः ।

भाई शङ्खके आश्रममें जाकर लिखितने खूब पके हुए बहुत-से फल तोड़कर गिराये और उन सबको लेकर वे ब्रह्मर्षि बड़ी निश्चिन्तताके साथ खाने लगे ॥ २१½ ॥

तस्मिंश्च भक्षयत्येव शङ्खोऽप्याश्रममागतः ॥ २२ ॥
भक्षयन्तं तु तं दृष्ट्वा शङ्खो भ्रातरमब्रवीत्।
कुतः फलान्यवाप्तानि हेतुना केन खादसि ॥ २३ ॥

वे खा ही रहे थे कि शङ्ख भी आश्रमपर लौट आये। भाईको फल खाते देख शङ्खने उनसे पूछा—'तुमने ये फल कहाँसे प्राप्त किये हैं और किस लिये तुम इन्हें खा रहे हो ?'॥

सोऽब्रवीद् भ्रातरं ज्येष्ठमुपसृत्याभिवाद्य च।
इत एव गृहीतानि मयेति प्रहसन्निव ॥ २४ ॥

लिखितने निकट जाकर बड़े भाईको प्रणाम किया और हँसते हुए-से इस प्रकार कहा—'भैया ! मैंने ये फल यहींसे लिये हैं' ॥ २४ ॥

तमब्रवीत् तथा शङ्खस्तीव्ररोषसमन्वितः।
स्तेयं त्वया कृतमिदं फलान्याददता स्वयम् ॥ २५ ॥

तब शङ्खने तीव्र रोषमें भरकर कहा—'तुमने मुझसे पूछे बिना स्वयं ही फल लेकर यह चोरी की है ॥ २५ ॥

गच्छ राजानमासाद्य स्वकर्म कथयस्व वै।
अदत्तादानमेवं हि कृतं पार्थिवसत्तम ॥ २६ ॥
स्तेनं मां त्वं विदित्वा च स्वधर्ममनुपालय।
शीघ्रं धारय चौरस्य मम दण्डं नराधिप ॥ २७ ॥

'अतः तुम राजाके पास जाओ और अपनी करतूत उन्हें कह सुनाओ। उनसे कहना—"नृपश्रेष्ठ ! मैंने इस प्रकार बिना दिये हुए फल ले लिये हैं, अतः मुझे चोर समझकर अपने धर्मका पालन कीजिये। नरेश्वर ! चोरके लिये जो नियत दण्ड हो, वह शीघ्र मुझे प्रदान कीजिये" ॥ २६-२७ ॥

इत्युक्तस्तस्य वचनात् सुद्युम्नं स नराधिपम्।
अभ्यगच्छन्महाबाहो लिखितः संशितव्रतः ॥ २८ ॥

महाबाहो ! बड़े भाईके ऐसा कहनेपर उनकी आज्ञासे कठोर व्रतका पालन करनेवाले लिखित मुनि राजा सुद्युम्नके पास गये ॥ २८ ॥

सुद्युम्नस्त्वन्तपालेभ्यः श्रुत्वा लिखितमागतम्।
अभ्यगच्छत् सहामात्यः पद्भ्यामेव जनेश्वरः ॥ २९ ॥

सुद्युम्नने द्वारपालोंसे जब यह सुना कि लिखित मुनि आये हैं तो वे नरेश अपने मन्त्रियोंके साथ पैदल ही उनके निकट गये ॥ २९ ॥

तमब्रवीत् समागम्य स राजा धर्मवित्तमम्।
किमागमनमाचक्ष्व भगवन् कृतमेव तत् ॥ ३० ॥

राजाने उन धर्मज्ञ मुनिसे मिलकर पूछा—'भगवन् ! आपका शुभागमन किस उद्देश्यसे हुआ है ? यह बताइये और उसे पूरा हुआ ही समझिये' ॥ ३० ॥

एवमुक्तः स विप्रर्षिः सुद्युम्नमिदमब्रवीत्।
प्रतिश्रुत्य करिष्येति श्रुत्वा तत् कर्तुमर्हसि ॥ ३१ ॥

उनके इस तरह कहनेपर विप्रर्षि लिखितने सुद्युम्नसे यों कहा—'राजन् ! पहले यह प्रतिज्ञा कर लो कि "हम करेंगे" उसके बाद मेरा उद्देश्य सुनो और सुनकर उसे तत्काल पूरा करो ॥ ३१ ॥

अनिसृष्टानि गुरुणा फलानि मनुजर्षभ।
भक्षितानि महाराज तत्र मां शाधि मा चिरम् ॥ ३२ ॥

'नरश्रेष्ठ ! मैंने बड़े भाईके दिये बिना ही उनके बगीचेसे फल लेकर खा लिये हैं; महाराज ! इसके लिये मुझे शीघ्र दण्ड दीजिये' ॥ ३२ ॥

सुद्युम्न उवाच

प्रमाणं चेन्मतो राजा भवतो दण्डधारणे।
अनुज्ञायामपि तथा हेतुः स्याद् ब्राह्मणर्षभ ॥ ३३ ॥

सुद्युम्नने कहा—ब्राह्मणशिरोमणे ! यदि आप दण्ड देनेमें राजाको प्रमाण मानते हैं तो वह क्षमा करके आपको लौट जानेकी आज्ञा दे दे, इसका भी उसे अधिकार है ॥ ३३ ॥

स भवानभ्यनुज्ञातः शुचिकर्मा महाव्रतः।
ब्रूहि कामानतोऽन्यांस्त्वं करिष्यामि हि ते वचः ॥ ३४ ॥

आप पवित्र कर्म करनेवाले और महान् व्रतधारी हैं। मैंने अपराधको क्षमा करके आपको जानेकी आज्ञा दे दी। इसके सिवा, यदि दूसरी कामनाएँ आपके मनमें हों तो उन्हें बताइये, मैं आपकी आज्ञाका पालन करूँगा ॥ ३४ ॥

व्यास उवाच

संछन्द्यमानो ब्रह्मर्षिः पार्थिवेन महात्मना।
नान्यं स वरयामास तस्माद् दण्डादृते वरम् ॥ ३५ ॥

व्यासजीने कहा—महामना राजा सुद्युम्नके बारंबार आग्रह करनेपर भी ब्रह्मर्षि लिखितने उस दण्डके सिवा दूसरा कोई वर नहीं माँगा ॥ ३५ ॥

ततः स पृथिवीपालो लिखितस्य महात्मनः।
करौ प्रच्छेदयामास धृतदण्डो जगाम सः ॥ ३६ ॥

तब उन भूपालने महामना लिखितके दोनों हाथ कटवा दिये। दण्ड पाकर लिखित वहाँसे चले गये ॥ ३६ ॥

स गत्वा भ्रातरं शङ्खमार्तरूपोऽब्रवीदिदम्।
धृतदण्डस्य दुर्बुद्धेर्भवांस्तत् क्षन्तुमर्हति ॥ ३७ ॥

अपने भाई शङ्खके पास जाकर लिखितने आर्त होकर कहा—'भैया ! मैंने दण्ड पा लिया। मुझ दुर्बुद्धिके उस अपराधको आप क्षमा कर दें' ॥ ३७ ॥

शङ्ख उवाच

न कुप्ये तव धर्मज्ञ न त्वं दूषयसे मम।
सुनिर्मलं कुलं ब्रह्मन्नस्मिञ्जगति विश्रुतम्।
धर्मस्तु ते व्यतिक्रान्तस्ततस्ते निष्कृतिः कृता ॥ ३८ ॥

शङ्ख बोले—धर्मज्ञ ! मैं तुमपर कुपित नहीं हूँ। तुम मेरा कोई अपराध नहीं करते हो। ब्रह्मन् ! हम दोनोंका कुल इस जगत्में अत्यन्त निर्मल एवं निष्कलङ्क रूपमें विख्यात

है। तुमने धर्मका उल्लङ्घन किया था, अतः उसीका प्रायश्चित्त किया है ॥ ३८ ॥

त्वं गत्वा बाहुदां शीघ्रं तर्पयस्व यथाविधि ।
देवानृषीन् पितृंश्चैव मा चाधर्मे मनः कृथाः ॥ ३९ ॥

अब तुम शीघ्र ही बाहुदा नदीके तटपर जाकर विधिपूर्वक देवताओं, ऋषियों और पितरोंका तर्पण करो। भविष्यमें फिर कभी अधर्मकी ओर मन न ले जाना ॥ ३९ ॥

तस्य तद् वचनं श्रुत्वा शङ्खस्य लिखितस्तदा ।
अवगाह्यापगां पुण्यामुदकार्थं प्रचक्रमे ॥ ४० ॥
प्रादुरास्तां ततस्तस्य करौ जलजसंनिभौ ।

शङ्खकी यह बात सुनकर लिखितने उस समय पवित्र नदी बाहुदामें स्नान किया और पितरोंका तर्पण करनेके लिये चेष्टा आरम्भ की। इतनेहीमें उनके कमल-सदृश सुन्दर दो हाथ प्रकट हो गये ॥ ४०½ ॥

ततः स विस्मितो भ्रातुर्दर्शयामास तौ करौ ॥ ४१ ॥
ततस्तमब्रवीच्छङ्खस्तपसेदं कृतं मया ।
मा च तेऽत्र विशङ्काभूद् दैवमत्र विधीयते ॥ ४२ ॥

तदनन्तर लिखितने चकित होकर अपने भाईको वे दोनों हाथ दिखाये। तब शङ्खने उनसे कहा—'भाई! इस विषयमें तुम्हें शङ्का नहीं होनी चाहिये। मैंने तपस्यासे तुम्हारे हाथ उत्पन्न किये हैं। यहाँ दैवका विधान ही सफल हुआ है'॥

लिखित उवाच

किं तु नाहं त्वया पूतः पूर्वमेव महाद्युते ।
यस्य ते तपसो वीर्यमीदृशं द्विजसत्तम ॥ ४३ ॥

तब लिखितने पूछा—महातेजस्वी द्विजश्रेष्ठ! जब आपकी तपस्याका ऐसा बल है तो आपने पहले ही मुझे पवित्र क्यों नहीं कर दिया ? ॥ ४३ ॥

शङ्ख उवाच

एवमेतन्मया कार्यं नाहं दण्डधरस्तव ।
स च पूतो नरपतिस्त्वं चापि पितृभिः सह ॥ ४४ ॥

शङ्ख बोले—भाई! यह ठीक है, मैं ऐसा कर सकता था; परंतु मुझे तुम्हें दण्ड देनेका अधिकार नहीं है। दण्ड देनेका कार्य तो राजाका ही है। इस प्रकार दण्ड देकर राजा सुद्युम्न और उस दण्डको स्वीकार करके तुम पितरोंसहित पवित्र हो गये ॥ ४४ ॥

व्यास उवाच

स राजा पाण्डवश्रेष्ठ श्रेयान् वै तेन कर्मणा ।
प्राप्तवान् परमां सिद्धिं दक्षः प्राचेतसो यथा ॥ ४५ ॥

व्यासजी कहते हैं—पाण्डवश्रेष्ठ युधिष्ठिर! उस दण्ड-प्रदानरूपी कर्मसे राजा सुद्युम्न उच्चतम पदको प्राप्त हुए। उन्होंने प्रचेताओंके पुत्र दक्षकी भाँति परम सिद्धि प्राप्त की थी ॥ ४५ ॥

एष धर्मः क्षत्रियाणां प्रजानां परिपालनम् ।
उत्पथोऽन्यो महाराज मा स्म शोके मनः कृथाः ॥ ४६ ॥

महाराज! प्रजाजनोंका पूर्णरूपसे पालन करना ही क्षत्रियोंका मुख्य धर्म है। दूसरा काम उसके लिये कुमार्गके तुल्य है; अतः तुम मनको शोकमें न डुबाओ ॥ ४६ ॥

भ्रातुरस्य हितं वाक्यं शृणु धर्मज्ञ सत्तम ।
दण्ड एव हि राजेन्द्र क्षत्रधर्मो न मुण्डनम् ॥ ४७ ॥

धर्मके ज्ञाता सत्पुरुष! तुम अपने भाईकी हितकर बात सुनो। राजेन्द्र! दण्ड-धारण ही क्षत्रिय-धर्मके अन्तर्गत है, मूँड़ मुड़ाकर संन्यासी बनना नहीं ॥ ४७ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि राजधर्मानुशासनपर्वणि व्यासवाक्ये त्रयोविंशोऽध्यायः ॥ २३ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत राजधर्मानुशासनपर्वमें व्यासवाक्यविषयक तेईसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २३ ॥

चतुर्विंशोऽध्यायः

व्यासजीका युधिष्ठिरको राजा हयग्रीवका चरित्र सुनाकर उन्हें राजोचित कर्तव्यका पालन करनेके लिये जोर देना

वैशम्पायन उवाच

पुनरेव महर्षिस्तं कृष्णद्वैपायनो मुनिः ।
अजातशत्रुं कौन्तेयमिदं वचनमब्रवीत् ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! श्रीकृष्णद्वैपायन महर्षि व्यासजीने अजातशत्रु कुन्तीकुमार युधिष्ठिरसे पुनः इस प्रकार कहा—॥ १ ॥

अरण्ये वसतां तात भ्रातॄणां ते मनस्विनाम् ।
मनोरथा महाराज ये तत्रासन् युधिष्ठिर ॥ २ ॥
तानिमे भरतश्रेष्ठ प्राप्नुवन्तु महारथाः ।

तात! महाराज युधिष्ठिर! वनमें रहते समय तुम्हारे मनस्वी भाइयोंके मनमें जो-जो मनोरथ उत्पन्न हुए थे, भरतश्रेष्ठ! उन्हें ये महारथी वीर प्राप्त करें ॥ २½ ॥

प्रशाधि पृथिवीं पार्थ ययातिरिव नाहुषः ॥ ३ ॥
अरण्ये दुःखवसतिरनुभूता तपस्विभिः ।
दुःखस्यान्ते नरव्याघ्र सुखान्यनुभवन्तु वै ॥ ४ ॥

'कुन्तीनन्दन! तुम नहुषपुत्र ययातिके समान इस पृथिवीका पालन करो। तुम्हारे इन तपस्वी भाइयोंने वनवासके समय बड़े दुःख उठाये हैं। नरव्याघ्र! अब ये उस दुःखके बाद सुखका अनुभव करें ॥ ३-४ ॥

धर्ममर्थं च कामं च भ्रातृभिः सह भारत ।
अनुभूय ततः पश्चात् प्रस्थातासि विशाम्पते ॥ ५ ॥

'भरतनन्दन ! प्रजानाथ ! इस समय भाइयोंके साथ तुम धर्म, अर्थ और कामका उपभोग करो। पीछे वनमें चले जाना ॥ ५ ॥

अर्थिनां च पितृणां च देवतानां च भारत।
आनृण्यं गच्छ कौन्तेय तत् सर्वं च करिष्यसि ॥ ६ ॥

'भरतनन्दन ! कुन्तीकुमार ! पहले याचकों, पितरों और देवताओंके ऋणसे उऋण हो लो, फिर वह सब करना ॥ ६ ॥

सर्वमेधाश्वमेधाभ्यां यजस्व कुरुनन्दन।
ततः पश्चान्महाराज गमिष्यसि परां गतिम् ॥ ७ ॥

'कुरुनन्दन ! महाराज ! पहले सर्वमेध और अश्वमेध यज्ञोंका अनुष्ठान करो। उससे परम गतिको प्राप्त करोगे ॥ ७ ॥

भ्रातॄंश्च सर्वान् क्रतुभिः संयोज्य बहुदक्षिणैः।
सम्प्राप्तः कीर्तिमतुलां पाण्डवेय भविष्यसि ॥ ८ ॥

'पाण्डुपुत्र ! अपने समस्त भाइयोंको बहुत-सी दक्षिणावाले यज्ञोंमें लगाकर तुम अनुपम कीर्ति प्राप्त कर लोगे ॥ ८ ॥

विद्मस्ते पुरुषव्याघ्र वचनं कुरुसत्तम।
शृणुष्वेवं यथा कुर्वन् न धर्माच्च्यवसे नृप ॥ ९ ॥

'कुरुश्रेष्ठ ! पुरुषसिंह नरेश्वर ! मैं तो तुम्हारी बात समझता हूँ। अब तुम मेरा यह वचन सुनो, जिसके अनुसार कार्य करनेपर धर्मसे च्युत नहीं होओगे ॥ ९ ॥

आददानस्य विजयं विग्रहं च युधिष्ठिर।
समानधर्मकुशलाः स्थापयन्ति नरेश्वर ॥ १० ॥

'राजा युधिष्ठिर ! विषम भावसे रहित धर्ममें कुशल पुरुष विजय पानेकी इच्छावाले राजाके लिये संग्रामकी ही स्थापना करते हैं ॥ १० ॥

(प्रत्यक्षमनुमानं च उपमानं तथाऽऽगमः।
अर्थापत्तिस्तथैतिह्यं संशयो निर्णयस्तथा ॥
आकारो ह्यङ्गितश्चैव गतिश्चेष्टा च भारत।
प्रतिज्ञा चैव हेतुश्च दृष्टान्तोपनयौ तथा ॥
उक्तं निगमनं तेषां प्रमेयं च प्रयोजनम्।
एतानि साधनान्याहुर्बहुवर्गप्रसिद्धये ॥

'भरतनन्दन ! प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान, आगम, अर्थापत्ति, ऐतिह्य, संशय, निर्णय, आकृति, संकेत, गति, चेष्टा, प्रतिज्ञा, हेतु, उदाहरण, उपनय और निगमन—इन सबका प्रयोजन है प्रमेयकी सिद्धि। बहुत-से वर्गोंकी प्रसिद्धिके लिये इन सबको साधन बताया गया है ॥

प्रत्यक्षमनुमानं च सर्वेषां योनिरिष्यते।
प्रमाणज्ञो हि शक्नोति दण्डनीतौ विचक्षणः ॥
अप्रमाणवतां नीतो दण्डो हन्यान्महीपतिम्।)

'इनमेंसे प्रत्यक्ष और अनुमान ये दो सभीके लिये निर्णयके आधार माने गये हैं। प्रत्यक्ष आदि प्रमाणोंको जाननेवाला पुरुष दण्डनीतिमें कुशल हो सकता है। जो प्रमाणशून्य हैं, उनके द्वारा प्रयोगमें लाया हुआ दण्ड राजाका विनाश कर सकता है।)

देशकालप्रतीक्षी यो दस्यून् मर्षयते नृपः।
शास्त्रजां बुद्धिमास्थाय युज्यते नैनसा हि सः ॥ ११ ॥

'देश और कालकी प्रतीक्षा करनेवाला जो राजा शास्त्रीय बुद्धिका आश्रय ले लुटेरोंके अपराधको धैर्यपूर्वक सहन करता है अर्थात् उनको दण्ड देनेमें जल्दी नहीं करता, समयकी प्रतीक्षा करता है, वह पापसे लिप्त नहीं होता ॥ ११ ॥

आदाय बलिषड्भागं यो राष्ट्रं नाभिरक्षति।
प्रतिगृह्णाति तत् पापं चतुर्थांशेन भूमिपः ॥ १२ ॥

'जो प्रजाकी आयका छठा भाग करके रूपमें लेकर भी राष्ट्रकी रक्षा नहीं करता है, वह राजा उसके चौथाई पापको मानो ग्रहण कर लेता है ॥ १२ ॥

निबोध च यथाऽऽतिष्ठन् धर्मान्न च्यवते नृपः।
निग्रहाद् धर्मशास्त्राणामनुरुद्ध्यन्नपेतभीः ॥ १३ ॥

'मेरी वह बात सुनो, जिसके अनुसार चलनेवाला राजा धर्मसे नीचे नहीं गिरता। धर्मशास्त्रोंकी आज्ञाका उल्लङ्घन करनेसे राजाका पतन हो जाता है और यदि धर्मशास्त्रका अनुसरण करता है तो वह निर्भय होता है ॥ १३ ॥

कामक्रोधावनादृत्य पितेव समदर्शनः।
शास्त्रजां बुद्धिमास्थाय युज्यते नैनसा हि सः ॥ १४ ॥

'जो काम और क्रोधकी अवहेलना करके शास्त्रीय विधिका आश्रय ले सर्वत्र पिताके समान समदृष्टि रखता है, वह कभी पापसे लिप्त नहीं होता ॥ १४ ॥

दैवेनाभ्याहतो राजा कर्मकाले महाद्युते।
न साधयति यत् कर्म न तत्राहुरतिक्रमम् ॥ १५ ॥

'महातेजस्वी युधिष्ठिर ! दैवका मारा हुआ राजा कार्य करनेके समय जिस कार्यको नहीं सिद्ध कर पाता, उसमें उसका कोई दोष या अपराध नहीं बताया जाता है ॥ १५ ॥

तरसा बुद्धिपूर्वं वा निग्राह्या एव शत्रवः।
पापैः सह न संदध्याद् राज्यं पण्यं न कारयेत् ॥ १६ ॥

'शत्रुओंको अपने बल और बुद्धिसे काबूमें कर ही लेना चाहिये। पापियोंके साथ कभी मेल नहीं करना चाहिये। अपने राज्यको बाजारका सौदा नहीं बनाना चाहिये ॥ १६ ॥

शूराश्चार्याश्च सत्कार्या विद्वांसश्च युधिष्ठिर।
गोमिनो धनिनश्चैव परिपाल्या विशेषतः ॥ १७ ॥

'युधिष्ठिर ! शूरवीरों, श्रेष्ठ पुरुषों तथा विद्वानोंका सत्कार करना बहुत आवश्यक है। अधिक-से-अधिक गौएँ रखनेवाले धनी वैश्योंकी विशेषरूपसे रक्षा करनी चाहिये ॥ १७ ॥

व्यवहारेषु धर्मेषु योक्तव्याश्च बहुश्रुताः।
(प्रमाणज्ञा महीपाल न्यायशास्त्रावलम्बिनः।
वेदार्थतत्त्वविद् राजंस्तर्कशास्त्रबहुश्रुताः ॥
मन्त्रे च व्यवहारे च नियोक्तव्या विजानता।

'जो चतुर विद्वान् हों, उन्हींको धर्म तथा शासन-कार्योंमें लगाना चाहिये। भूपाल! जो प्रमाणोंके ज्ञाता, न्यायशास्त्रका अनुसरण करनेवाले, वेदोंके तत्त्वज्ञ तथा तर्कशास्त्रके सुयोग्य विद्वान् हों, उन्हींको विज्ञ पुरुष मन्त्रणा तथा शासन-कार्योंमें लगावे ॥

तर्कशास्त्रकृता बुद्धिर्धर्मशास्त्रकृता च या ॥
दण्डनीतिकृता चैव त्रैलोक्यमपि साधयेत् ।

'तर्कशास्त्र, धर्मशास्त्र तथा दण्डनीतिसे प्रभावित हुई बुद्धि तीनों लोकोंकी भी सिद्धि कर सकती है ॥

नियोज्या वेदतत्त्वज्ञा यज्ञकर्मसु पार्थिव ॥
वेदज्ञा ये च शास्त्रज्ञास्ते च राजन् सुबुद्धयः ।

'राजन्! भूपाल! जो वेदोंके तत्त्वज्ञ, वेदज्ञ, शास्त्रज्ञ तथा उत्तम बुद्धिसे सम्पन्न हों, उन्हें यज्ञकर्मोंमें नियुक्त करना चाहिये ॥

आन्वीक्षिकीत्रयीवार्तादण्डनीतिषु पारगाः ।
ते तु सर्वत्र योक्तव्यास्ते च बुद्धेः परं गताः ॥)
गुणयुक्तेऽपि नैकस्मिन् विश्वसेत विचक्षणः ॥ १८ ॥

'आन्वीक्षिकी (वेदान्त), वेदत्रयी, वार्ता तथा दण्डनीतिके जो पारंगत विद्वान् हों, उन्हें सभी कार्योंमें नियुक्त करना चाहिये; क्योंकि वे बुद्धिकी पराकाष्ठाको पहुँचे हुए होते हैं। एक व्यक्ति कितना ही गुणवान् क्यों न हो, विद्वान् पुरुषको उसपर विश्वास नहीं करना चाहिये ॥ १८ ॥

अरक्षिता दुर्विनीतो मानी स्तब्धोऽभ्यसूयकः ।
एनसा युज्यते राजा दुर्दान्त इति चोच्यते ॥ १९ ॥

'जो राजा प्रजाकी रक्षा नहीं करता, जो उद्दण्ड, मानी, अकड़ रखनेवाला और दूसरोंके दोष देखनेवाला है, वह पापसे संयुक्त होता है और लोग उसे दुर्दान्त कहते हैं ॥ १९ ॥

येऽरक्ष्यमाणा हीयन्ते दैवेनाभ्याहता नृप ।
तस्करैश्चापि हीयन्ते सर्वं तद् राजकिल्बिषम् ॥ २० ॥

'नरेश्वर! जो लोग राजाकी ओरसे सुरक्षित न होनेके कारण अनावृष्टि आदि दैवी आपत्तियोंसे तथा चोरोंके उपद्रवसे नष्ट हो जाते हैं, उनके इस विनाशका सारा पाप राजाको ही लगता है ॥ २० ॥

सुमन्त्रिते सुनीते च सर्वतश्चोपपादिते ।
पौरुषे कर्मणि कृते नास्त्यधर्मो युधिष्ठिर ॥ २१ ॥

'युधिष्ठिर! अच्छी तरह मन्त्रणा की गयी हो, सुन्दर नीतिसे काम लिया गया हो और सब ओरसे पुरुषार्थपूर्वक प्रयत्न किये गये हों (उस अवस्थामें यदि प्रजाको कोई कष्ट हो जाय) तो राजाको उसका पाप नहीं लगता ॥ २१ ॥

विच्छिद्यन्ते समारम्भाः सिद्ध्यन्ते चापि दैवतः ।
कृते पुरुषकारे तु नैनः स्पृशति पार्थिवम् ॥ २२ ॥

'आरम्भ किये हुए कार्य दैवकी प्रतिकूलतासे नष्ट हो जाते हैं और उसके अनुकूल होनेपर सिद्ध भी हो जाते हैं; परंतु अपनी ओरसे (यथोचित) पुरुषार्थ कर देनेपर (यदि कार्यकी सिद्धि नहीं भी हुई तो) राजाको पापका स्पर्श नहीं प्राप्त होता है ॥ २२ ॥

अत्र ते राजशार्दूल वर्तयिष्ये कथामिमाम् ।
यद् वृत्तं पूर्वराजर्षेर्हयग्रीवस्य पाण्डव ॥ २३ ॥

'राजसिंह पाण्डुकुमार! इस विषयमें मैं तुम्हें एक कथा सुना रहा हूँ, जो पूर्वकालवर्ती राजर्षि हयग्रीवके जीवनका वृत्तान्त है ॥ २३ ॥

शत्रून् हत्वा हतस्याजौ शूरस्याक्लिष्टकर्मणः ।
असहायस्य संग्रामे निर्जितस्य युधिष्ठिर ॥ २४ ॥

'हयग्रीव बड़े शूरवीर और अनायास ही महान् कर्म करनेवाले थे। युधिष्ठिर! उन्होंने युद्धमें शत्रुओंको मार गिराया था; परंतु पीछे असहाय हो जानेपर वे संग्राममें परास्त हुए और शत्रुओंके हाथसे मारे गये ॥ २४ ॥

यत् कर्म वै निग्रहे शात्रवाणां
योगश्चाग्र्यः पालने मानवानाम् ।
कृत्वा कर्म प्राप्य कीर्तिं स युद्धाद्
वाजिग्रीवो मोदते स्वर्गलोके ॥ २५ ॥

'उन्होंने शत्रुओंको परास्त करनेमें जो पराक्रम दिखाया था, मानवीय प्रजाके पालनमें जिस श्रेष्ठ उद्योग एवं एकाग्रताका परिचय दिया था, वह अद्भुत था। उन्होंने पुरुषार्थ करके युद्धसे उत्तम कीर्ति पायी और इस समय वे राजा हयग्रीव स्वर्गलोकमें आनन्द भोग रहे हैं ॥ २५ ॥

संयुक्तात्मा समरेष्वाततायी
शस्त्रैश्छिन्नो दस्युभिर्वध्यमानः ।
अश्वग्रीवः कर्मशीलो महात्मा
संसिद्धार्थो मोदते स्वर्गलोके ॥ २६ ॥

'वे अपने मनको वशमें करके समराङ्गणमें हथियार लेकर शत्रुओंका वध कर रहे थे; परंतु डाकुओंने उन्हें अस्त्र-शस्त्रोंसे छिन्न-भिन्न करके मार डाला। इस समय कर्मपरायण महामनस्वी हयग्रीव पूर्णमनोरथ होकर स्वर्गलोकमें आनन्द कर रहे हैं ॥ २६ ॥

धनुर्यूपो रशना ज्या शरः स्रुक्
स्रुवः खड्गो रुधिरं यत्र चाज्यम् ।
रथो वेदी कामगो युद्धमग्नि-
श्चातुर्होत्रं चतुरो वाजिमुख्याः ॥ २७ ॥

हुत्वा तस्मिन् यज्ञवह्नावथारीन्
पापान्मुक्तो राजसिंहस्तरस्वी ।
प्राणान् हुत्वा चावभृथे रणे स
वाजिग्रीवो मोदते देवलोके ॥ २८ ॥

'उनका धनुष ही यूप था, करधनी प्रत्यञ्चाके समान थी, बाण स्रुक् और तलवार स्रुवाका काम दे रही थी, रक्त ही घृतके तुल्य था, इच्छानुसार विचरनेवाला रथ ही वेदी था,

युद्ध अग्नि था और चारों प्रधान घोड़े ही ब्रह्मा आदि चारों ऋत्विज थे । इस प्रकार वे वेगशाली राजसिंह हयग्रीव उस यज्ञरूपी अग्निमें शत्रुओंकी आहुति देकर पापसे मुक्त हो गये तथा अपने प्राणोंको होमकर युद्धकी समाप्तिरूपी अवभृथस्नान करके वे इस समय देवलोकमें आनन्दित हो रहे हैं ॥ २७-२८ ॥

राष्ट्रं रक्षन् बुद्धिपूर्वं नयेन
संत्यक्तात्मा यज्ञशीलो महात्मा ।
सर्वाँल्लोकान् व्याप्य कीर्त्या मनस्वी
वाजिग्रीवो मोदते देवलोके ॥ २९ ॥

'यज्ञ करना उन महामना नरेशका स्वभाव बन गया था। वे नीतिके द्वारा बुद्धिपूर्वक राष्ट्रकी रक्षा करते हुए शरीरका परित्याग करके मनस्वी हयग्रीव सम्पूर्ण जगत्में अपनी कीर्ति फैलाकर इस समय देवलोकमें आनन्दित हो रहे हैं ॥ २९ ॥

दैवीं सिद्धिं मानुषीं दण्डनीतिं
योगन्यासैः पालयित्वा महीं च ।
तस्माद् राजा धर्मशीलो महात्मा
वाजिग्रीवो मोदते देवलोके ॥ ३० ॥

'योग (कर्मविषयक उत्साह) और न्यास (अहंकार आदिके त्याग) सहित दैवी सिद्धि, मानुषी सिद्धि, दण्डनीति तथा पृथ्वीका पालन करके धर्मशील महात्मा राजा हयग्रीव उसीके पुण्यसे इस समय देवलोकमें सुख भोगते हैं ॥ ३० ॥

विद्वांस्त्यागी श्रद्दधानः कृतज्ञ-
स्त्यक्त्वा लोकं मानुषं कर्म कृत्वा ।
मेधाविनां विदुषां सम्मतानां
तनुत्यजां लोकमाक्रम्य राजा ॥ ३१ ॥

'वे विद्वान्, त्यागी, श्रद्धालु और कृतज्ञ राजा हयग्रीव अपने कर्तव्यका पालन करके मनुष्यलोकको त्यागकर मेधावी, सर्वसम्मानित, ज्ञानी एवं पुण्य-तीर्थोंमें शरीरका त्याग करनेवाले पुण्यात्माओंके लोकमें जाकर स्थित हुए हैं ॥ ३१ ॥

सम्यग् वेदान् प्राप्य शास्त्राण्यधीत्य
सम्यग् राज्यं पालयित्वा महात्मा।
चातुर्वर्ण्यं स्थापयित्वा स्वधर्मे
वाजिग्रीवो मोदते देवलोके ॥ ३२ ॥

'वेदोंका ज्ञान पाकर, शास्त्रोंका अध्ययन करके, राज्यका अच्छी तरह पालन करते हुए महामना राजा हयग्रीव चारों वर्णोंके लोगोंको अपने-अपने धर्ममें स्थापित करके इस समय देवलोकमें आनन्द भोग रहे हैं ॥ ३२ ॥

जित्वा संग्रामान् पालयित्वा प्रजाश्च
सोमं पीत्वा तर्पयित्वा द्विजाग्र्यान् ।
युक्त्या दण्डं धारयित्वा प्रजानां
युद्धे क्षीणो मोदते देवलोके ॥ ३३ ॥

'राजा हयग्रीव अनेकों युद्ध जीतकर, प्रजाका पालन करके, यज्ञोंमें सोमरस पीकर, श्रेष्ठ ब्राह्मणोंको दक्षिणा आदिसे तृप्त करके युक्तिसे प्रजाजनोंकी रक्षाके लिये दण्ड धारण करते हुए युद्धमें मारे गये और अब देवलोकमें सुख भोगते हैं ३३

वृत्तं यस्य श्लाघनीयं मनुष्याः
सन्तो विद्वांसोऽर्हयन्त्यर्हणीयम्।
स्वर्गं जित्वा वीरलोकानवाप्य
सिद्धिं प्राप्तः पुण्यकीर्तिर्महात्मा॥ ३४ ॥

'साधु एवं विद्वान् पुरुष उनके स्पृहणीय एवं आदरणीय चरित्रकी सदा भूरि-भूरि प्रशंसा करते हैं। पुण्यकीर्ति महामना हयग्रीवने स्वर्गलोक जीतकर वीरोंको मिलनेवाले लोकोंमें पहुँचकर उत्तम सिद्धि प्राप्त कर ली' ॥ ३४ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि राजधर्मानुशासनपर्वणि व्यासवाक्ये चतुर्विंशतितमोऽध्यायः ॥ २४ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत राजधर्मानुशासनपर्वमें व्यासवाक्यविषयक चौबीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २४ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठके ९ श्लोक मिलाकर कुल ४३ श्लोक हैं)

पञ्चविंशोऽध्यायः

सेनजित्के उपदेशयुक्त उद्गारोंका उल्लेख करके व्यासजीका युधिष्ठिरको समझाना

वैशम्पायन उवाच

द्वैपायनवचः श्रुत्वा कुपिते च धनंजये ।
व्यासमामन्त्र्य कौन्तेयः प्रत्युवाच युधिष्ठिरः ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! व्यासजीकी बात सुनकर और अर्जुनके कुपित हो जानेपर कुन्तीनन्दन युधिष्ठिरने व्यासजीको आमन्त्रित करके उत्तर देना आरम्भ किया ॥ १ ॥

युधिष्ठिर उवाच

न पार्थिवमिदं राज्यं न भोगाश्च पृथग्विधाः ।
प्रीणयन्ति मनो मेऽद्य शोको मां रुन्धयत्ययम् ॥ २ ॥

युधिष्ठिर बोले—मुने ! यह भूतलका राज्य और ये भिन्न-भिन्न प्रकारके भोग आज मेरे मनको प्रसन्न नहीं कर रहे हैं । यह शोक मुझे चारों ओरसे घेरे हुए है ॥ २ ॥

श्रुत्वा वीरविहीनानामपुत्राणां च योषिताम् ।
परिदेवयमानानां शान्तिं नोपलभे मुने ॥ ३ ॥

महर्षे ! पति और पुत्रोंसे हीन हुई युवतियोंका करुण विलाप सुनकर मुझे शान्ति नहीं मिल रही है ॥ ३ ॥

इत्युक्तः प्रत्युवाचेदं व्यासो योगविदां वरः ।
युधिष्ठिरं महाप्राज्ञो धर्मज्ञो वेदपारगः ॥ ४ ॥

युधिष्ठिरके ऐसा कहनेपर योगवेत्ताओंमें श्रेष्ठ और वेदोंके

[illegible] धर्मके महाज्ञानी व्यासने उनसे फिर इस प्रकार कहा ॥ ४ ॥

व्यास उवाच

न कर्मणा लभ्यते चिन्तया वा
नाप्यस्ति दाता पुरुषस्य कश्चित्।
पर्याययोगाद् विहितं विधात्रा
कालेन सर्वं लभते मनुष्यः ॥ ५ ॥

व्यासजी बोले—राजन्! न तो कोई कर्म करनेसे नष्ट हुई वस्तु मिल सकती है, न चिन्तासे ही। कोई ऐसा दाता भी नहीं है, जो मनुष्यको उसकी विनष्ट वस्तु दे दे। बारी-बारीसे विधाताके विधानानुसार मनुष्य समयपर सब कुछ पा लेता है ॥

न बुद्धिशास्त्राध्ययनेन शक्यं
प्राप्तुं विशेषं मनुजैरकाले।
मूर्खोऽपि चाप्नोति कदाचिदर्थान्
कालो हि कार्यं प्रति निर्विशेषः ॥ ६ ॥

बुद्धि अथवा शास्त्राध्ययनसे भी मनुष्य असमयमें किसी विशेष वस्तुको नहीं पा सकता और समय आनेपर कभी-कभी मूर्ख भी अभीष्ट पदार्थोंको प्राप्त कर लेता है; अतः काल ही कार्य-की सिद्धिमें सामान्य कारण है ॥ ६ ॥

नाभूतिकालेषु फलं ददन्ति
शिल्पानि मन्त्राश्च तथौषधानि।
तान्येव कालेन समाहितानि
सिद्ध्यन्ति वर्धन्ति च भूतिकाले ॥ ७ ॥

अवनतिके समय शिल्पकलाएँ, मन्त्र तथा औषध भी कोई फल नहीं देते हैं। वे ही जब उन्नतिके समय उपयोगमें लाये जाते हैं, तब कालकी प्रेरणासे सफल होते और वृद्धिमें सहायक बनते हैं ॥ ७ ॥

कालेन शीघ्राः प्रवहन्ति वाताः
कालेन वृष्टिर्जलदानुपैति।
कालेन पद्मोत्पलवज्जलं च
कालेन पुष्यन्ति वनेषु वृक्षाः ॥ ८ ॥

समयसे ही तेज हवा चलती है, समयसे ही मेघ जल बरसाते हैं, समयसे ही पानीमें कमल तथा उत्पल उत्पन्न हो जाते हैं और समयसे ही वनमें वृक्ष पुष्ट होते हैं ॥ ८ ॥

कालेन कृष्णाश्च सिताश्च रात्र्यः
कालेन चन्द्रः परिपूर्णबिम्बः।
नाकालतः पुष्पफलं द्रुमाणां
नाकालवेगाः सरितो वहन्ति ॥ ९ ॥

समयसे ही अँधेरी और उजेली रातें होती हैं, समयसे ही चन्द्रमाका मण्डल परिपूर्ण होता है, असमयमें वृक्षोंमें फल और फूल भी नहीं लगते हैं और न असमयमें नदियाँ ही वेगसे बहती हैं ॥ ९ ॥

नाकालमत्ताः खगपन्नगाश्च
मृगद्विपाः शैलमृगाश्च लोके।
नाकालतः स्त्रीषु भवन्ति गर्भा
नायान्त्यकाले शिशिरोष्णवर्षाः ॥ १० ॥

लोकमें पक्षी, सर्प, जंगली मृग, हाथी और पहाड़ी मृग भी समय आये बिना मतवाले नहीं होते हैं। असमयमें स्त्रियोंके गर्भ नहीं रहते और बिना समयके सर्दी, गर्मी तथा वर्षा भी नहीं होती है ॥ १० ॥

नाकालतो म्रियते जायते वा
नाकालतो व्याहरते च बालः।
नाकालतो यौवनमभ्युपैति
नाकालतो रोहति बीजमुप्तम् ॥ ११ ॥

बालक समय आये बिना न जन्म लेता है, न मरता है और न असमयमें बोलता ही है। बिना समयके जवानी नहीं आती और बिना समयके बोया हुआ बीज भी नहीं उगता है ॥ ११ ॥

नाकालतो भानुरुपैति योगं
नाकालतोऽस्तङ्गिरिमभ्युपैति।
नाकालतो वर्धते हीयते च
चन्द्रः समुद्रोऽपि महोर्मिमाली ॥ १२ ॥

असमयमें सूर्य उदयाचलसे संयुक्त नहीं होते हैं, समय आये बिना वे अस्ताचलपर भी नहीं जाते हैं, असमयमें न तो चन्द्रमा घटते-बढ़ते हैं और न समुद्रमें ही ऊँची-ऊँची तरंगें उठती हैं ॥ १२ ॥

अत्राप्युदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम्।
गीतं राज्ञा सेनजिता दुःखार्तेन युधिष्ठिर ॥ १३ ॥

युधिष्ठिर! इस विषयमें लोग एक प्राचीन इतिहासका उदाहरण दिया करते हैं। एक समय शोकसे आतुर हुए राजा सेनजित्‌ने जो उद्गार प्रकट किया था, वही तुम्हें सुना रहा हूँ ॥ १३ ॥

सर्वानेवैष पर्यायो मर्त्यान् स्पृशति दुःसहः।
कालेन परिपक्वा हि म्रियन्ते सर्वपार्थिवाः ॥ १४ ॥

(राजा सेनजित्‌ने मन-ही-मन कहा कि) 'यह दुःसह कालचक्र सभी मनुष्योंपर अपना प्रभाव डालता है। एक दिन सभी भूपाल कालसे परिपक्व होकर मृत्युके अधीन हो जाते हैं ॥ १४ ॥

घ्नन्ति चान्यान् नरा राजंस्तानप्यन्ये तथा नराः।
संज्ञैषा लौकिकी राजन् न हिनस्ति न हन्यते ॥ १५ ॥

'राजन्! मनुष्य दूसरोंको मारते हैं, फिर उन्हें भी दूसरे लोग मार देते हैं। नरेश्वर! यह मरना-मारना लौकिक संज्ञा मात्र है। वास्तवमें न कोई मारता है और न मारा ही जाता है ॥ १५ ॥

हन्तीति मन्यते कश्चिन्न हन्तीत्यपि चापरः।
स्वभावतस्तु नियतौ भूतानां प्रभवाप्ययौ ॥ १६ ॥

'एक मानता है कि 'आत्मा मारता है।' दूसरा ऐसा

मानता है कि 'नहीं मारता है।' पाञ्चभौतिक शरीरोंके जन्म और मरण स्वभावतः नियत हैं ॥ १६ ॥

नष्टे धने वा दारे वा पुत्रे पितरि वा मृते।
अहो दुःखमिति ध्यायन् दुःखस्यापचितिं चरेत्॥ १७॥

'धनके नष्ट होनेपर अथवा स्त्री, पुत्र या पिताकी मृत्यु होनेपर मनुष्य 'हाय! मुझपर बड़ा भारी दुःख आ पड़ा' इस प्रकार चिन्ता करते हुए उस दुःखकी निवृत्तिकी चेष्टा करता है ॥ १७ ॥

स किं शोचसि मूढः सञ्शोच्यान् किमनुशोचसि।
पश्य दुःखेषु दुःखानि भयेषु च भयान्यपि ॥ १८॥

'तुम मूढ़ बनकर शोक क्यों कर रहे हो? उन मरे हुए शोचनीय व्यक्तियोंका बारंबार स्मरण ही क्यों करते हो? देखो, शोक करनेसे दुःखमें दुःख तथा भयमें भयकी वृद्धि होगी ॥ १८ ॥

आत्मापि चायं न मम सर्वापि पृथिवी मम।
यथा मम तथान्येषामिति पश्यन् न मुह्यति ॥ १९॥

'यह शरीर भी अपना नहीं है और सारी पृथ्वी भी अपनी नहीं है। यह जिस तरहसे मेरी है, उसी तरह दूसरोंकी भी है। ऐसी दृष्टि रखनेवाला पुरुष कभी मोहमें नहीं फँसता है ।१९।

शोकस्थानसहस्राणि हर्षस्थानशतानि च।
दिवसे दिवसे मूढमाविशन्ति न पण्डितम् ॥ २०॥

'शोकके सहस्रों स्थान हैं, हर्षके भी सैकड़ों अवसर हैं। वे प्रतिदिन मूढ़ मनुष्यपर ही प्रभाव डालते हैं, विद्वान्-पर नहीं ॥ २० ॥

एवमेतानि कालेन प्रियद्वेष्याणि भागशः।
जीवेषु परिवर्तन्ते दुःखानि च सुखानि च ॥ २१॥

'इस प्रकार ये प्रिय और अप्रिय भाव ही दुःख और सुख बनकर अलग-अलग सभी जीवोंको प्राप्त होते रहते हैं ॥२१॥

दुःखमेवास्ति न सुखं तस्मात् तदुपलभ्यते।
तृष्णार्तिप्रभवं दुःखं दुःखार्तिप्रभवं सुखम् ॥ २२॥

'संसारमें केवल दुःख ही है, सुख नहीं, अतः दुःख ही उपलब्ध होता है। तृष्णाजनित पीड़ासे दुःख और दुःखकी पीड़ासे सुख होता है अर्थात् दुःखसे आर्त हुए मनुष्यको ही उसके न रहनेपर सुखकी प्रतीति होती है ॥ २२ ॥

सुखस्यानन्तरं दुःखं दुःखस्यानन्तरं सुखम्।
न नित्यं लभते दुःखं न नित्यं लभते सुखम् ॥ २३॥

'सुखके बाद दुःख और दुःखके बाद सुख आता है। कोई भी न तो सदा दुःख पाता है और न निरन्तर सुख ही प्राप्त करता है ॥ २३ ॥

सुखमेव हि दुःखान्तं कदाचिद् दुःखतः सुखम्।
तस्मादेतद् द्वयं जह्याद् य इच्छेच्छाश्वतं सुखम्॥२४॥
सुखान्तप्रभवं दुःखं दुःखान्तप्रभवं सुखम्।

'कभी दुःखके अन्तमें सुख और कभी सुखके अन्तमें दुःख भी आता है; अतः जो नित्य सुखकी इच्छा रखता हो, वह इन दोनोंका परित्याग कर दे; क्योंकि दुःख सुखके अन्तमें अवश्यम्भावी है, वैसे ही सुख भी दुःखके अन्तमें अवश्यम्भावी है ॥ २४½ ॥

यन्निमित्तो भवेच्छोकस्तापो वा भृशदारुणः ॥ २५॥
आयासो वापि यन्मूलस्तदेकाङ्गमपि त्यजेत्।

'जिसके कारण शोक और बढ़ा हुआ ताप होता हो अथवा जो आयासका भी मूल कारण हो, वह अपने शरीरका एक अङ्ग भी हो तो भी उसको त्याग देना चाहिये ॥ २५½॥

सुखं वा यदि वा दुःखं प्रियं वा यदि वाप्रियम्।
प्राप्तं प्राप्तमुपासीत हृदयेनापराजितः ॥ २६॥

'सुख हो या दुःख, प्रिय हो अथवा अप्रिय, जब जो कुछ प्राप्त हो, उस समय उसे सहर्ष अपनावे। अपने हृदयसे उसके सामने पराजय न स्वीकार करे (हिम्मत न हारे) ॥ २६ ॥

ईषदप्यङ्ग दाराणां पुत्राणां वा चराप्रियम्।
ततो ज्ञास्यसि कः कस्य केन वा कथमेव च ॥ २७॥

'प्रिय मित्र! स्त्री अथवा पुत्रोंका थोड़ा-सा भी अप्रिय कर दो, फिर स्वयं समझ जाओगे कि कौन किस हेतुसे किस तरह किसके साथ कितना सम्बन्ध रखता है? ॥ २७॥

ये च मूढतमा लोके ये च बुद्धेः परं गताः।
त एव सुखमेधन्ते मध्यमः क्लिश्यते जनः ॥ २८॥

'संसारमें जो अत्यन्त मूर्ख हैं, अथवा जो बुद्धिसे परे पहुँच गये हैं, वे ही सुखी होते हैं; बीचवाले लोग कष्ट ही उठाते हैं' ॥

इत्यब्रवीन्महाप्राज्ञो युधिष्ठिर स सेनजित्।
परावरज्ञो लोकस्य धर्मवित् सुखदुःखवित् ॥ २९॥

युधिष्ठिर! लोकके भूत और भविष्य तथा सुख एवं दुःखको जाननेवाले धर्मवेत्ता महाज्ञानी सेनजित्‌ने ऐसा ही कहा है ॥२९॥

येन दुःखेन यो दुःखी न स जातु सुखी भवेत्।
दुःखानां हि क्षयो नास्ति जायते ह्यपरात् परम् ॥ ३०॥

जिस किसी भी दुःखसे जो दुखी है, वह कभी सुखी नहीं हो सकता; क्योंकि दुःखोंका अन्त नहीं है। एक दुःखसे दूसरा दुःख होता ही रहता है ॥ ३० ॥

सुखं च दुःखं च भवाभवौ च
लाभालाभौ मरणं जीवितं च।
पर्यायतः सर्वमवाप्नुवन्ति
तस्माद् धीरो नैव हृष्येन्न शोचेत्॥ ३१॥

सुख-दुःख, उत्पत्ति-विनाश, लाभ-हानि और जीवन-मरण—ये समय-समयपर क्रमसे सबको प्राप्त होते हैं; इसलिये धीर पुरुष इनके लिये हर्ष और शोक न करे ॥ ३१ ॥

दीक्षां राज्ञः संयुगे युद्धमाहु-
र्योगं राज्ये दण्डनीत्यां च सम्यक्।

त्रिस्त्यागो दक्षिणानां च यज्ञे
सम्यग् दानं पावनानीति विद्यात् ॥ ३२ ॥

राजाके लिये संग्राममें जूझना ही यज्ञकी दीक्षा लेना बताया गया है। राज्यकी रक्षा करते हुए दण्डनीतिमें भलीभाँति प्रतिष्ठित होना ही उसके लिये योगसाधन है तथा यज्ञमें दक्षिणारूपसे धनका त्याग एवं उत्तम रीतिसे दान ही राजाके लिये त्याग है। ये तीनों कर्म राजाको पवित्र करनेवाले हैं, ऐसा समझे ॥ ३२ ॥

रक्षन् राज्यं बुद्धिपूर्वं नयेन
संत्यक्तात्मा यज्ञशीलो महात्मा।
सर्वाँल्लोकान् धर्मदृष्ट्या चरंश्चा-
प्यूर्ध्वं देहान्मोदते देवलोके ॥ ३३ ॥

जो राजा अहंकार छोड़कर बुद्धिमानीसे नीतिके अनुसार राज्यकी रक्षा करता है, स्वभावसे ही यज्ञके अनुष्ठानमें लगा रहता है और धर्मकी रक्षाको दृष्टिमें रखकर सम्पूर्ण लोकोंमें विचरता है, वह महामनस्वी नरेश देहत्यागके पश्चात् देवलोकमें आनन्द भोगता है ॥ ३३ ॥

जित्वा संग्रामान् पालयित्वा च राष्ट्रं
सोमं पीत्वा वर्धयित्वा प्रजाश्च।
युक्त्या दण्डं धारयित्वा प्रजानां
युद्धे क्षीणो मोदते देवलोके ॥ ३४ ॥

जो संग्राममें विजय, राष्ट्रका पालन, यज्ञमें सोमरसका पान, प्रजाओंकी उन्नति तथा प्रजावर्गके हितके लिये युक्तिपूर्वक दण्डधारण करते हुए युद्धमें मृत्युको प्राप्त होता है, वह देवलोकमें आनन्दका भागी होता है ॥ ३४ ॥

सम्यग् वेदान् प्राप्य शास्त्राण्यधीत्य
सम्यग् राज्यं पालयित्वा च राजा।
चातुर्वर्ण्यं स्थापयित्वा स्वधर्मे
पूतात्मा वै मोदते देवलोके ॥ ३५ ॥

सम्यक् प्रकारसे वेदोंका ज्ञान, शास्त्रोंका अध्ययन, राज्यका ठीक-ठीक पालन तथा चारों वर्णोंका अपने-अपने धर्ममें स्थापन करके जो अपने मनको पवित्र कर चुका है, वह राजा देवलोकमें सुखी होता है ॥ ३५ ॥

यस्य वृत्तं नमस्यन्ति स्वर्गस्थस्यापि मानवाः।
पौरजानपदामात्याः स राजा राजसत्तमः ॥ ३६ ॥

स्वर्गलोकमें रहनेपर भी जिसके चरित्रको नगर और जनपदके मनुष्य एवं मन्त्री मस्तक झुकाते हैं, वही राजा समस्त नरपतियोंमें सबसे श्रेष्ठ है ॥ ३६ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि राजधर्मानुशासनपर्वणि सेनजिदुपाख्याने पञ्चविंशोऽध्यायः ॥ २५ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत राजधर्मानुशासनपर्वमें सेनजित्का उपाख्यानविषयक पचीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥२५॥

षड्विंशोऽध्यायः

युधिष्ठिरके द्वारा धनके त्यागकी ही महत्ताका प्रतिपादन

वैशम्पायन उवाच

अस्मिन्नेव प्रकरणे धनंजयमुदारधीः।
अभिनीततरं वाक्यमित्युवाच युधिष्ठिरः ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! इसी प्रसंगमें उदारबुद्धि राजा युधिष्ठिरने अर्जुनसे यह युक्तियुक्त बात कही—॥१॥

यदेतन्मन्यसे पार्थ न ज्यायोऽस्ति धनादिति।
न स्वर्गो न सुखं नार्थो निर्धनस्येति तन्मृषा ॥ २ ॥

'पार्थ! तुम जो यह समझते हो कि धनसे बढ़कर कोई वस्तु नहीं है तथा निर्धनको स्वर्ग, सुख और अर्थकी भी प्राप्ति नहीं हो सकती, यह ठीक नहीं है ॥ २ ॥

स्वाध्याययज्ञसंसिद्धा दृश्यन्ते बहवो जनाः।
तपोरताश्च मुनयो येषां लोकाः सनातनाः ॥ ३ ॥

बहुतसे मनुष्य केवल स्वाध्याययज्ञ करके सिद्धिको प्राप्त हुए देखे जाते हैं। तपस्यामें लगे हुए बहुतेरे मुनि ऐसे देखे गये हैं, जिन्हें सनातन लोकोंकी प्राप्ति हुई है ॥ ३ ॥

ऋषीणां समयं शश्वद् ये रक्षन्ति धनंजय।
आश्रिताः सर्वधर्मज्ञा देवास्तान् ब्राह्मणान् विदुः ॥ ४ ॥

'धनंजय! सम्पूर्ण धर्मोंको जाननेवाले जो लोग ब्रह्मचर्य-आश्रममें स्थित हो ऋषियोंकी स्वाध्याय-परम्पराकी सदैव रक्षा करते हैं, देवता उन्हें ही ब्राह्मण मानते हैं ॥ ४ ॥

स्वाध्यायनिष्ठान् हि ऋषीन् ज्ञाननिष्ठांस्तथापरान्।
बुद्ध्येथाः संततं चापि धर्मनिष्ठान् धनंजय ॥ ५ ॥

'अर्जुन! तुम्हें सदा यह समझना चाहिये कि ऋषियोंमेंसे कुछ लोग वेद-शास्त्रोंके स्वाध्यायमें ही तत्पर रहते हैं, कुछ ज्ञानोपार्जनमें संलग्न होते हैं और कुछ लोग धर्म-पालनमें ही निष्ठा रखते हैं ॥ ५ ॥

ज्ञाननिष्ठेषु कार्याणि प्रतिष्ठाप्यानि पाण्डव।
वैखानसानां वचनं यथा नो विदितं प्रभो ॥ ६ ॥

'पाण्डुनन्दन! प्रभो! वानप्रस्थोंके वचनको जैसा हमने समझा है, उसके अनुसार ज्ञाननिष्ठ महात्माओंको ही राज्यके सारे कार्य सौंपने चाहिये ॥ ६ ॥

अजाश्च पृश्नयश्चैव सिकताश्चैव भारत।
अरुणाः केतवश्चैव स्वाध्यायेन दिवं गताः ॥ ७ ॥

'भारत! अज, पृश्नि, सिकत, अरुण और केतु नामवाले ऋषिगणोंने तो स्वाध्यायके द्वारा ही स्वर्ग प्राप्त कर लिया था ॥

अवाप्यैतानि कर्माणि वेदोक्तानि धनंजय।
दानमध्ययनं यज्ञो निग्रहश्चैव दुर्ग्रहः॥ ८॥
दक्षिणेन च पन्थानमर्यम्णो ये दिवं गताः।
एतान् क्रियावतां लोकानुक्तवान् पूर्वमप्यहम्॥ ९॥

'धनंजय! दान, अध्ययन, यज्ञ और निग्रह—ये सभी कर्म बहुत कठिन हैं। इन वेदोक्त कर्मोंका (सकामभावसे) आश्रय लेकर लोग सूर्यके दक्षिण मार्गसे स्वर्गमें जाते हैं। इन कर्ममार्गी पुरुषोंके लोकोंकी चर्चा मैं पहले भी कर चुका हूँ॥ ८-९॥

उत्तरेण तु पन्थानं नियमाद् यं प्रपश्यसि।
एते योगवतां लोका भान्ति पार्थ सनातनाः॥ १०॥

'कुन्तीनन्दन! सूर्यके उत्तरमें स्थित जो मार्ग है, जिसे तुम नियमके प्रभावसे देख रहे हो, वहाँ जो ये सनातन लोक प्रकाशित होते हैं, वे निष्काम यज्ञ करनेवालोंको प्राप्त होते हैं॥ १०॥

तत्रोत्तरां गतिं पार्थ प्रशंसन्ति पुराविदः।
संतोषो वै स्वर्गतमः संतोषः परमं सुखम्॥ ११॥

'पार्थ! प्राचीन इतिहासको जाननेवाले लोग इन दोनों मार्गोंमेंसे उत्तर मार्गकी प्रशंसा करते हैं। वास्तवमें संतोष ही सबसे बढ़कर स्वर्ग है और संतोष ही सबसे बड़ा सुख है॥ ११॥

तुष्टेर्न किञ्चित् परमं सा सम्यक् प्रतितिष्ठति।
विनीतक्रोधहर्षस्य सततं सिद्धिरुत्तमा॥ १२॥

'संतोषसे बढ़कर कुछ नहीं है। जिसने क्रोध और हर्षको जीत लिया है, उसीके हृदयमें उस परम वैराग्यरूप संतोषकी सम्यक् प्रतिष्ठा होती है और उसे ही सदा उत्तम सिद्धि प्राप्त होती है॥ १२॥

अत्राप्युदाहरन्तीमा गाथा गीता ययातिना।
याभिः प्रत्याहरेत् कामान् कूर्मोऽङ्गानीव सर्वशः॥ १३॥

'इस प्रसङ्गमें लोग राजा ययातिकी गायी हुई इन गाथाओंको उदाहरणके तौरपर कहा करते हैं। जिनके द्वारा मनुष्य सम्पूर्ण कामनाओंको उसी प्रकार समेट लेता है, जैसे कछुआ अपने अङ्गोंको सब ओरसे सिकोड़ लिया करता है॥ १३॥

यदा चायं न बिभेति यदा चास्मान्न बिभ्यति।
यदा नेच्छति न द्वेष्टि ब्रह्म सम्पद्यते तदा॥ १४॥

'राजा ययातिने कहा था—'जब यह पुरुष किसीसे नहीं डरता, जब इससे भी किसीको भय नहीं रहता तथा जब यह न तो किसीको चाहता है और न उससे द्वेष ही रखता है, तब ब्रह्मभावको प्राप्त हो जाता है॥ १४॥

यदा न भावं कुरुते सर्वभूतेषु पापकम्।
कर्मणा मनसा वाचा ब्रह्म सम्पद्यते तदा॥ १५॥

''जब यह मन, वाणी और क्रियाद्वारा सम्पूर्ण भूतोंके प्रति पाप-बुद्धिका परित्याग कर देता है, तब परब्रह्म परमात्माको प्राप्त कर लेता है॥ १५॥

विनीतमानमोहश्च बहुसङ्गविवर्जितः।
तदाऽऽत्मज्योतिषः साधोर्निर्वाणमुपपद्यते॥ १६॥

''जिसके मान और मोह दूर हो गये हैं, जो नाना प्रकारकी आसक्तियोंसे रहित है तथा जिसे आत्माका ज्ञान प्राप्त हो गया है, उस साधु पुरुषको मोक्षकी प्राप्ति हो जाती है'॥ १६॥

इदं तु शृणु मे पार्थ ब्रुवतः संयतेन्द्रियः।
धर्ममन्ये वृत्तमन्ये धनमीहन्ति चापरे॥ १७॥

'कुन्तीनन्दन! मैं जो बात कह रहा हूँ, उसे अपनी सम्पूर्ण इन्द्रियोंको संयममें रखकर सुनो! कुछ लोग धर्मकी, कोई सदाचारकी और दूसरे कितने ही मनुष्य धनकी प्राप्तिके लिये सचेष्ट रहते हैं॥ १७॥

धनहेतोर्य ईहेत तस्यानीहा गरीयसी।
भूयान् दोषो हि वित्तस्य यश्च धर्मस्तदाश्रयः॥ १८॥

'जो धनके लिये चेष्टा करता है, उसका निश्चेष्ट होकर बैठ रहना ही ठीक है, क्योंकि धन और उसके आश्रित धर्ममें महान् दोष दिखायी देता है॥ १८॥

प्रत्यक्षमनुपश्यामि त्वमपि द्रष्टुमर्हसि।
वर्जनं वर्जनीयानामीहमानेन दुष्करम्॥ १९॥

'मैं प्रत्यक्ष देख रहा हूँ और तुम भी देख सकते हो, जो लोग धनोपार्जनके प्रयत्नमें लगे हुए हैं, उनके लिये त्याज्य कर्मोंको छोड़ना अत्यन्त कठिन हो रहा है॥ १९॥

ये वित्तमभिपद्यन्ते सम्यक्त्वं तेषु दुर्लभम्।
द्रुह्यतः प्रैति तत् प्राहुः प्रतिकूलं यथातथम्॥ २०॥

'जो धनके पीछे पड़े हुए हैं, उनमें साधुता दुर्लभ है; क्योंकि जो लोग दूसरोंसे द्रोह करते हैं, उन्हींको धन प्राप्त होता है, ऐसा कहा जाता है तथा वह मिला हुआ धन प्रकारान्तरसे प्रतिकूल ही होता है॥ २०॥

यस्तु सम्भिन्नवृत्तः स्याद् वीतशोकभयो नरः।
अल्पेन तृषितो द्रुह्यन् भ्रूणहत्यां न बुध्यते॥ २१॥

'शोक और भयसे रहित होनेपर भी जो मनुष्य सदाचारसे भ्रष्ट है, उसे यदि धनकी थोड़ी-सी भी तृष्णा हो तो वह दूसरोंसे ऐसा द्रोह करता है कि भ्रूण-हत्या-जैसे पापका भी ध्यान नहीं रखता॥ २१॥

दुष्यन्त्याददतो भृत्या नित्यं दस्युभयादिव।
दुर्लभं च धनं प्राप्य भृशं दत्त्वानुतप्यते॥ २२॥

'अपना वेतन यथासमय पाते हुए भी जब भृत्योंको संतोष नहीं होता, तब वे स्वामीसे अप्रसन्न रहते हैं और वह धनी दुर्लभ धनको पाकर यदि सेवकोंको अधिक देता है तो उसे उतना ही अधिक संताप होता है, जितना चोर-डाकुओंसे भयके कारण हुआ करता है॥ २२॥

अधनः कस्य किं वाच्यो विमुक्तः सर्वशः सुखी।
देवस्वमुपगृह्यैव धनेन न सुखी भवेत्॥ २३॥

'निर्धनको कौन क्या कह सकता है? वह सब प्रकारके

सन्तोषसे ही सुखी रहता है । देवताओंकी सम्पत्ति लेकर भी कोई धनसे सुखी नहीं हो सकता ॥ २३ ॥

अत्र गाथां यज्ञगीतां कीर्तयन्ति पुराविदः ।
त्रय्यामुपाश्रितां लोके यज्ञसंस्तरकारिकाम् ॥ २४ ॥

इस विषयमें यज्ञमें ऋत्विजोंद्वारा गायी हुई एक गाथा है जो तीनों वेदोंके आश्रित है, वह गाथा लोकमें यज्ञकी प्रतिष्ठा करनेवाली है । पुरानी बातोंको जाननेवाले लोग उसे ऐसे अवसरोंपर दुहराया करते हैं ॥ २४ ॥

यज्ञाय सृष्टानि धनानि धात्रा
यज्ञाय सृष्टः पुरुषो रक्षिता च ।
तस्मात् सर्वं यज्ञ एवोपयोज्यं
धनं न कामाय हितं प्रशस्तम् ॥ २५ ॥

'विधाताने यज्ञके लिये ही धनकी सृष्टि की है और यज्ञके लिये उसकी रक्षा करनेके निमित्त पुरुषको उत्पन्न किया है; इसलिये सारे धनका यज्ञ-कार्यमें ही उपयोग करना चाहिये । भोगके लिये धनका उपयोग न तो हितकर है और न उत्तम ही ॥ २५ ॥

एतत् स्वार्थे च कौन्तेय धनं धनवतां वर ।
धाता ददाति मर्त्येभ्यो यज्ञार्थमिति विद्धि तत् ॥ २६ ॥

'धनवानोंमें श्रेष्ठ कुन्तीकुमार धनंजय ! विधाता मनुष्योंको स्वार्थके लिये भी जो धन देते हैं उसे यज्ञार्थ ही समझो ॥

तस्माद् बुद्ध्यन्ति पुरुषा न हि तत् कस्यचिद् ध्रुवम् ।
श्रद्दधानस्ततो लोको दद्याच्चैव यजेत च ॥ २७ ॥

'इसीलिये बुद्धिमान् पुरुष यह समझते हैं कि धन कभी किसी एकके पास स्थिर होकर नहीं रहता; अतः श्रद्धालु मनुष्यको चाहिये कि वह उस धनका दान करे और उसे यज्ञमें लगावे ॥ २७ ॥

लब्धस्य त्यागमित्याहुर्न भोगं न च संचयम् ।
तस्य किं संचयेनार्थः कार्ये ज्यायसि तिष्ठति ॥ २८ ॥

'प्राप्त किये हुए धनका दान करना ही उचित बताया गया है । उसे भोगमें लगाना या संग्रह करके रखना ठीक नहीं है । जिसके सामने बहुत बड़ा कार्य यज्ञ आदि मौजूद है, उसे धनको संग्रह करके रखनेकी क्या आवश्यकता है ? ॥

ये स्वधर्मादपेतेभ्यः प्रयच्छन्त्यल्पबुद्धयः ।
शतं वर्षाणि ते प्रेत्य पुरीषं भुञ्जते जनाः ॥ २९ ॥

'जो मन्दबुद्धि मानव अपने धर्मसे गिरे हुए मनुष्योंको धन देते हैं, वे मरनेके बाद सौ वर्षोंतक विष्ठा भोजन करते हैं ॥ २९ ॥

अनर्हते यद् ददाति न ददाति यदर्हते ।
अर्हानर्हापरिज्ञानाद् दानधर्मोऽपि दुष्करः ॥ ३० ॥

'लोग अधिकारीको धन नहीं देते और अनधिकारीको दे डालते हैं; योग्य-अयोग्य पात्रका ज्ञान न होनेसे दानधर्मका सम्पादन भी बहुत कठिन है ॥ ३० ॥

लब्धानामपि वित्तानां बोद्धव्यौ द्वावतिक्रमौ ॥
अपात्रे प्रतिपत्तिश्च पात्रे चाप्रतिपादनम् ॥ ३१ ॥

'प्राप्त हुए धनका उपयोग करनेमें दो प्रकारकी भूलें हुआ करती हैं, जिन्हें ध्यानमें रखना चाहिये । पहली भूल है अपात्रको धन देना और दूसरी है सुपात्रको धन न देना' ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि राजधर्मानुशासनपर्वणि युधिष्ठिरवाक्ये षड्विंशोऽध्यायः ॥ २६ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत राजधर्मानुशासनपर्वमें युधिष्ठिरका वाक्यविषयक छब्बीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २६ ॥

सप्तविंशोऽध्यायः

युधिष्ठिरको शोकवश शरीर त्याग देनेके लिये उद्यत देख व्यासजीका उन्हें उससे निवारण करके समझाना

युधिष्ठिर उवाच

अभिमन्यौ हते बाले द्रौपद्यास्तनयेषु च ।
धृष्टद्युम्ने विराटे च द्रुपदे च महीपतौ ॥ १ ॥
वृषसेने च धर्मज्ञे धृष्टकेतौ तु पार्थिवे ।
तथान्येषु नरेन्द्रेषु नानादेश्येषु संयुगे ॥ २ ॥
न च मुञ्चति मां शोको ज्ञातिघातिनमातुरम् ।
राज्यकामुकमत्युग्रं स्ववंशोच्छेदकारिणम् ॥ ३ ॥

युधिष्ठिरने व्यासजीसे कहा—मुनिश्रेष्ठ ! इस युद्धमें बालक अभिमन्यु, द्रौपदीके पाँचों पुत्र, धृष्टद्युम्न, विराट, राजा द्रुपद, धर्मज्ञ वृषसेन, चेदिराज धृष्टकेतु तथा नाना देशोंके निवासी अन्यान्य नरेश भी वीरगतिको प्राप्त हुए हैं । मैं जाति-भाइयोंका घातक, राज्यका लोभी, अत्यन्त क्रूर और अपने वंशका विनाश करनेवाला निकला, यही सब सोचकर मुझे शोक नहीं छोड़ रहा है और मैं अत्यन्त आतुर हो रहा हूँ ॥ १–३ ॥

यस्याङ्के क्रीडमानेन मया वै परिवर्तितम् ।
स मया राज्यलुब्धेन गाङ्गेयो युधि पातितः ॥ ४ ॥

जिनकी गोदीमें खेलता हुआ मैं लोटपोट हो जाता था, उन्हीं पितामह गङ्गानन्दन भीष्मजीको मैंने राज्यके लोभसे मरवा डाला ॥ ४ ॥

यदा ह्येनं विघूर्णन्तमपश्यं पार्थसायकैः ।
कम्पमानं यथा वज्रैः प्रेक्ष्यमाणं शिखण्डिना ॥ ५ ॥
जीर्णसिंहमिव प्रांशुं नरसिंहं पितामहम् ।
कीर्यमाणं शरैर्दृष्ट्वा भृशं मे व्यथितं मनः ॥ ६ ॥

जब मैंने देखा कि अर्जुनके वज्रोपम बाणोंसे आहत हो बूढ़े सिंहके समान मेरे उन्नतकाय पुरुषसिंह पितामह

कम्पित हो रहे हैं और उन्हें चक्कर-सा आने लगा है, शिखण्डी उनकी ओर देख रहा है और उनका सारा शरीर बाणोंसे खचाखच भर गया है तो यह सब देखकर मेरे मनमें बड़ी व्यथा हुई ॥ ५-६ ॥

प्राङ्मुखं सीदमानं च रथे पररथारुजम्।
घूर्णमानं यथा शैलं तदा मे कश्मलोऽभवत् ॥ ७ ॥

जो शत्रुदलके रथियोंको पीड़ा देनेमें समर्थ थे, वे पूर्वकी ओर मुँह करके चुपचाप बैठे हुए बाणोंका आघात सह रहे थे और जैसे पर्वत हिल रहा हो, उसी प्रकार झूम रहे थे। उस समय उनकी यह अवस्था देखकर मुझे मूर्छा-सी आ गयी थी॥

यः स बाणधनुष्पाणिर्योधयामास भार्गवम्।
बहून्यहानि कौरव्यः कुरुक्षेत्रे महामृधे ॥ ८ ॥
समेतं पार्थिवं क्षत्रं वाराणस्यां नदीसुतः।
कन्यार्थमाह्वयद् वीरो रथेनैकेन संयुगे ॥ ९ ॥
येन चोग्रायुधो राजा चक्रवर्ती दुरासदः।
दग्धश्चास्त्रप्रतापेन स मया युधि घातितः ॥ १० ॥

जिन कुरुकुलशिरोमणि वीरने कुरुक्षेत्रमें महायुद्ध ठानकर हाथमें धनुष-बाण लिये बहुत दिनोंतक परशुरामजीके साथ युद्ध किया था, जिन वीर गङ्गानन्दन भीष्मने वाराणसी पुरीमें काशिराजकी कन्याओंके लिये युद्धका अवसर उपस्थित होनेपर एकमात्र रथके द्वारा वहाँ एकत्र हुए समस्त क्षत्रिय-नरेशोंको ललकारा था तथा जिन्होंने दुर्जय चक्रवर्ती राजा उग्रायुधको अपने अस्त्रोंके प्रतापसे दग्ध कर दिया था, उन्हींको मैंने युद्धमें मरवा डाला ॥ ८—१० ॥

स्वयं मृत्युं रक्षमाणः पाञ्चाल्यं यः शिखण्डिनम्।
न बाणैः पातयामास सोऽर्जुनेन निपातितः ॥ ११ ॥

जिन्होंने अपने लिये मृत्यु बनकर आये हुए पाञ्चालराजकुमार शिखण्डीकी स्वयं ही रक्षा की और उसे बाणोंसे धराशायी नहीं किया, उन्हीं पितामहको अर्जुनने मार गिराया॥

यदैनं पतितं भूमावपश्यं रुधिरोक्षितम्।
तदैवाविशदत्युग्रो ज्वरो मां मुनिसत्तम ॥ १२ ॥

मुनिश्रेष्ठ ! जब मैंने पितामहको खूनसे लथपथ होकर पृथ्वीपर पड़ा देखा, उसी समय मुझपर अत्यन्त भयंकर शोक-ज्वरका आवेश हो गया ॥ १२ ॥

येन संवर्धिता बाला येन स परिरक्षिताः।
स मया राज्यलुब्धेन पापेन गुरुघातिना ॥ १३ ॥
अल्पकालस्य राज्यस्य कृते मूढेन घातितः।

जिन्होंने हमें बचपनसे पाल-पोसकर बड़ा किया और सब प्रकारसे हमारी रक्षा की, उन्हींको मुझ पापी, राज्य-लोभी, गुरुघाती एवं मूर्खने थोड़े समयतक रहनेवाले राज्यके लिये मरवा डाला ॥ १३½ ॥

आचार्यश्च महेष्वासः सर्वपार्थिवपूजितः ॥ १४ ॥
अभिगम्य रणे मिथ्या पापेनोक्तः सुतं प्रति।

सम्पूर्ण राजाओंसे पूजित, महाधनुर्धर आचार्यके पास जाकर मुझ पापीने उनके पुत्रके सम्बन्धमें झूठी बात कही॥

तन्मे दहति गात्राणि यन्मां गुरुरभाषत ॥ १५ ॥
सत्यमाख्याहि राजंस्त्वं यदि जीवति मे सुतः।
सत्यमामर्षयन् विप्रो मयि तत् परिपृष्टवान् ॥ १६ ॥

उस समय गुरुने मुझसे पूछा था—'राजन् ! सच बताओ, क्या मेरा पुत्र जीवित है ?' उन ब्राह्मणने सत्यका निर्णय करनेके लिये ही मुझसे यह बात पूछी थी। उनकी वह बात जब याद आती है तो मेरा सारा शरीर शोकाग्निसे दग्ध होने लगता है ॥ १५-१६ ॥

कुञ्जरं चान्तरं कृत्वा मिथ्योपचरितं मया।
सुभृशं राज्यलुब्धेन पापेन गुरुघातिना ॥ १७ ॥

परंतु राज्यके लोभमें अत्यन्त फँसे हुए मुझ पापी गुरु-हत्यारेने मरे हुए हाथीकी आड़ लेकर उनसे झूठ बोल दिया और उनके साथ धोखा किया ॥ १७ ॥

सत्यकञ्चुकमुन्मुच्य मया स गुरुराहवे।
अश्वत्थामा हत इति निरुक्तः कुञ्जरे हते ॥ १८ ॥

मैंने सत्यका चोला उतार फेंका और युद्धमें अश्वत्थामा नामक हाथीके मारे जानेपर गुरुदेवसे कह दिया कि 'अश्वत्थामा मारा गया।' (इससे उन्हें अपने पुत्रके मारे जानेका विश्वास हो गया) ॥ १८ ॥

काँल्लोकांस्तु गमिष्यामि कृत्वा कर्म सुदुष्करम्।
अघातयं च यत् कर्णं समरेष्वपलायिनम् ॥ १९ ॥
ज्येष्ठभ्रातरमत्युग्रं को मत्तः पापकृत्तमः।

यह अत्यन्त दुष्कर पापकर्म करके मैं किन लोकोंमें जाऊँगा ? युद्धमें कभी पीठ न दिखानेवाले अत्यन्त उग्र पराक्रमी अपने बड़े भाई कर्णको भी मैंने मरवा दिया—मुझसे बढ़कर महान् पापाचारी दूसरा कौन होगा ? ॥१९½॥

अभिमन्युं च यद् बालं जातं सिंहमिवाद्रिषु ॥ २० ॥
प्रावेशयमहं लुब्धो वाहिनीं द्रोणपालिताम्।
तदाप्रभृति बीभत्सुं न शक्नोमि निरीक्षितुम् ॥ २१ ॥
कृष्णं च पुण्डरीकाक्षं किल्बिषी भ्रूणहा यथा।

मैंने राज्यके लोभमें पड़कर जब पर्वतोंपर उत्पन्न हुए सिंहके समान पराक्रमी अभिमन्युको द्रोणाचार्यद्वारा सुरक्षित कौरवसेनामें झोंक दिया, तभीसे भ्रूण-हत्या करनेवाले पापीके समान मैं अर्जुन तथा कमलनयन श्रीकृष्णकी ओर आँख उठाकर देख नहीं पाता हूँ ॥ २०-२१½ ॥

द्रौपदीं चापि दुःखार्तां पञ्चपुत्रैर्विनाकृताम् ॥ २२ ॥
शोचामि पृथिवीं हीनां पञ्चभिः पर्वतैरिव।

जैसे पृथ्वी पाँच पर्वतोंसे हीन हो जाय, उसी प्रकार अपने पाँचो पुत्रोंसे हीन होकर दुःखसे आतुर हुई द्रौपदीके लिये भी मुझे निरन्तर शोक बना रहता है ॥ २२½ ॥

सोऽहमागस्करः पापः पृथिवीनाशकारकः ॥ २३ ॥

प्रायेणानशनेनेह शोषयिष्ये कलेवरम्।

अतः मैं पापी, अपराधी तथा सम्पूर्ण भूमण्डलका विनाश करनेवाला हूँ; इसलिये यहीं इसी रूपमें बैठा हुआ अपने इस शरीरको सुखा डालूँगा ॥ २३½ ॥

प्रायोपविष्टं जानीध्वमथ मां गुरुघातिनम् ॥ २४ ॥
जातिष्वन्यास्वपि यथा न भवेयं कुलान्तकृत्।

आपलोग मुझ गुरुघातीको आमरण अनशनके लिये बैठा हुआ समझें, जिससे दूसरे जन्मोंमें मैं फिर अपने कुलका विनाश करनेवाला न होऊँ ॥ २४½ ॥

न भोक्ष्ये न च पानीयमुपभोक्ष्ये कथञ्चन ॥ २५ ॥
शोषयिष्ये प्रियान् प्राणानिहस्थोऽहं तपोधनाः।

तपोधनो! अब मैं किसी तरह न तो अन्न खाऊँगा और न पानी ही पीऊँगा। यहीं रहकर अपने प्यारे प्राणोंको सुखा दूँगा ॥ २५½ ॥

यथेष्टं गम्यतां काममनुजाने प्रसाद्य वः ॥ २६ ॥
सर्वे मामनुजानीत त्यक्ष्यामीदं कलेवरम्।

मैं आपलोगोंको प्रसन्न करके अपनी ओरसे चले जानेकी अनुमति देता हूँ। जिसकी जहाँ इच्छा हो वहाँ अपनी रुचिके अनुसार चला जाय। आप सब लोग मुझे आज्ञा दें कि मैं इस शरीरको अनशन करके त्याग दूँ ॥ २६½ ॥

वैशम्पायन उवाच

तमेवंवादिनं पार्थं बन्धुशोकेन विह्वलम् ॥ २७ ॥
मैवमित्यब्रवीद् व्यासो निगृह्य मुनिसत्तमः।

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! अपने बन्धुजनोंके शोकसे विह्वल होकर युधिष्ठिरको ऐसी बातें करते देख मुनिवर व्यासजीने उन्हें रोककर कहा—'नहीं, ऐसा नहीं हो सकता' ॥ २७½ ॥

व्यास उवाच

अतिवेलं महाराज न शोकं कर्तुमर्हसि ॥ २८ ॥
पुनरुक्तं तु वक्ष्यामि दिष्टमेतदिति प्रभो।

व्यासजी बोले—महाराज! तुम बहुत शोक न करो। प्रभो! मैं पहलेकी कही हुई बात ही फिर दुहरा रहा हूँ। यह सब प्रारब्धका ही खेल है ॥ २८½ ॥

संयोगा विप्रयोगान्ता जातानां प्राणिनां ध्रुवम् ॥ २९ ॥
बुद्बुदा इव तोयेषु भवन्ति न भवन्ति च।

जैसे पानीमें बुलबुले होते और मिट जाते हैं, उसी प्रकार संसारमें उत्पन्न हुए प्राणियोंके जो आपसमें संयोग होते हैं, उनका अन्त निश्चय ही वियोगमें होता है ॥ २९½ ॥

सर्वे क्षयान्ता निचयाः पतनान्ताः समुच्छ्रयाः ॥ ३० ॥
संयोगा विप्रयोगान्ता मरणान्तं हि जीवितम्।

सम्पूर्ण संग्रहोंका अन्त विनाश है, सारी उन्नतियोंका अन्त पतन है, संयोगोंका अन्त वियोग है और जीवनका अन्त मरण है ॥ ३०½ ॥

सुखं दुःखान्तमालस्यं दाक्ष्यं दुःखं सुखोदयम्।
भूतिः श्रीर्ह्रीर्धृतिः कीर्तिर्दक्षे वसति नालसे ॥ ३१ ॥

आलस्य सुखरूप प्रतीत होता है, परंतु उसका अन्त दुःख है तथा कार्यदक्षता दुःखरूप प्रतीत होती है, परंतु उससे सुखका उदय होता है। इसके सिवा ऐश्वर्य, लक्ष्मी, लज्जा, धृति और कीर्ति—ये कार्यदक्ष पुरुषमें ही निवास करती हैं, आलसीमें नहीं ॥ ३१ ॥

नालं सुखाय सुहृदो नालं दुःखाय शत्रवः।
न च प्रज्ञालमर्थेभ्यो न सुखेभ्योऽप्यलं धनम् ॥ ३२ ॥

न तो सुहृद् सुख देनेमें समर्थ हैं, न शत्रु दुःख देनेमें। इसी प्रकार न तो प्रज्ञा धन दे सकती है और न धन सुख दे सकता है ॥ ३२ ॥

यथा सृष्टोऽसि कौन्तेय धात्रा कर्मसु तत् कुरु।
अत एव हि सिद्धिस्ते नेशस्त्वं कर्मणां नृप ॥ ३३ ॥

कुन्तीनन्दन! नरेश्वर! विधाताने जैसे कर्मोंके लिये तुम्हारी सृष्टि की है, तुम उन्हींका अनुष्ठान करो। उन्हींसे तुम्हें सिद्धि प्राप्त होगी। तुम कर्मोंके (फलके) स्वामी या नियन्ता नहीं हो ॥ ३३ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि राजधर्मानुशासनपर्वणि व्यासवाक्ये सप्तविंशोऽध्यायः ॥ २७ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत राजधर्मानुशासनपर्वमें व्यासवाक्यविषयक सत्ताईसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २७ ॥

अष्टाविंशोऽध्यायः

अश्मा ऋषि और जनकके संवादद्वारा प्रारब्धकी प्रबलता बतलाते हुए व्यासजीका युधिष्ठिरको समझाना

वैशम्पायन उवाच

ज्ञातिशोकाभितप्तस्य प्राणानभ्युत्सिसृक्षतः।
ज्येष्ठस्य पाण्डुपुत्रस्य व्यासः शोकमपानुदत् ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! भाई-बन्धुओंके शोकसे संतप्त हो अपने प्राणोंको त्याग देनेकी इच्छावाले ज्येष्ठ पाण्डव युधिष्ठिरके शोकको महर्षि व्यासने इस प्रकार दूर किया ॥ १ ॥

व्यास उवाच

अत्राप्युदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम्।
अश्मगीतं नरव्याघ्र तन्निबोध युधिष्ठिर ॥ २ ॥

व्यासजी बोले—पुरुषसिंह युधिष्ठिर! इस प्रसङ्गमें जानकार लोग अश्मा ब्राह्मणके गीतसम्बन्धी इस प्राचीन इतिहासका उदाहरण दिया करते हैं, इसे सुनो ॥ २ ॥

अश्मानं ब्राह्मणं प्राज्ञं वैदेहो जनको नृपः।
संशयं परिपप्रच्छ दुःखशोकसमन्वितः ॥ ३ ॥

एक समयकी बात है, दुःख-शोकमें डूबे हुए विदेहराज जनकने ज्ञानी ब्राह्मण अश्मासे अपने मनका संदेह इस प्रकार पूछा ॥ ३ ॥

जनक उवाच

आगमे यदि वापाये ज्ञातीनां द्रविणस्य च।
नरेण प्रतिपत्तव्यं कल्याणं कथमिच्छता ॥ ४ ॥

जनक बोले—ब्रह्मन्! कुटुम्बीजन और धनकी उत्पत्ति या विनाश होनेपर कल्याण चाहनेवाले पुरुषको कैसा निश्चय करना चाहिये? ॥ ४ ॥

अश्मोवाच

उत्पन्नमिममात्मानं नरस्यानन्तरं ततः।
तानि तान्यनुवर्तन्ते दुःखानि च सुखानि च ॥ ५ ॥

अश्माने कहा—राजन्! मनुष्यका यह शरीर जब जन्म ग्रहण करता है, तब उसके साथ ही सुख और दुःख भी उसके पीछे लग जाते हैं ॥ ५ ॥

तेषामन्यतरापत्तौ यद् यदेवोपपद्यते।
तदस्य चेतनामाशु हरत्यभ्रमिवानिलः ॥ ६ ॥

इन दोनोंमेंसे एक-न-एककी प्राप्ति तो होती ही है; अतः जो भी सुख या दुःख उपस्थित होता है, वही मनुष्यके ज्ञानको उसी प्रकार हर लेता है, जैसे हवा बादलको उड़ा ले जाती है ॥ ६ ॥

अभिजातोऽस्मि सिद्धोऽस्मि नास्मि केवलमानुषः।
इत्येभिर्हेतुभिस्तस्य त्रिभिश्चित्तं प्रसिच्यते ॥ ७ ॥

इसीसे 'मैं कुलीन हूँ, सिद्ध हूँ और कोई साधारण मनुष्य नहीं हूँ' ये अहंकारकी तीन धाराएँ मनुष्यके चित्तको सींचने लगती हैं ॥ ७ ॥

सम्प्रसक्तमना भोगान् विसृज्य पितृसंचितान्।
परिक्षीणः परस्वानामादानं साधु मन्यते ॥ ८ ॥

फिर वह मनुष्य भोगोंमें आसक्तचित्त होकर क्रमशः बाप-दादोंकी रक्खी हुई कमाईको उड़ाकर कंगाल हो जाता है और दूसरोंके धनको हड़प लेना अच्छा मानने लगता है ॥ ८ ॥

तमतिक्रान्तमर्यादमाददानमसाम्प्रतम्।
प्रतिषेधन्ति राजानो लुब्धा मृगमिवेषुभिः ॥ ९ ॥

जैसे व्याधे अपने बाणोंद्वारा मृगोंको आगे बढ़नेसे रोकते हैं, उसी प्रकार मर्यादा लाँघकर अनुचितरूपसे दूसरोंके धनका अपहरण करनेवाले उस मनुष्यको राजालोग दण्डद्वारा वैसे कुमार्गपर चलनेसे रोकते हैं ॥ ९ ॥

ये च विंशतिवर्षा वा त्रिंशद्वर्षाश्च मानवाः।
परेण ते वर्षशतान्न भविष्यन्ति पार्थिव ॥ १० ॥

राजन्! जो बीस या तीस वर्षकी उम्रवाले मनुष्य चोरी आदि कुकर्मोंमें लग जाते हैं, वे सौ वर्षतक जीवित नहीं रह पाते ॥ १० ॥

तेषां परमदुःखानां बुद्ध्या भैषज्यमाचरेत्।
सर्वप्राणभृतां वृत्तं प्रेक्षमाणस्ततस्ततः ॥ ११ ॥

जहाँ-तहाँ समस्त प्राणियोंके दुःखद बर्तावसे उनपर जो कुछ बीतता है, उसे देखता हुआ मनुष्य दरिद्रतासे प्राप्त होनेवाले उन महान् दुःखोंका निवारण करनेके लिये बुद्धिके द्वारा औषध करे (अर्थात् विचारद्वारा अपने आपको कुमार्गपर जानेसे रोके) ॥ ११ ॥

मानसानां पुनर्योनिर्दुःखानां चित्तविभ्रमः।
अनिष्टोपनिपातो वा तृतीयं नोपपद्यते ॥ १२ ॥

मनुष्योंको बार-बार मानसिक दुःखोंकी प्राप्तिके कारण दो ही हैं—चित्तका भ्रम और अनिष्टकी प्राप्ति। तीसरा कोई कारण सम्भव नहीं है ॥ १२ ॥

एवमेतानि दुःखानि तानि तानीह मानवम्।
विविधान्युपवर्तन्ते तथा संस्पर्शजान्यपि ॥ १३ ॥

इस प्रकार मनुष्यको इन्हीं दो कारणोंसे ये भिन्न-भिन्न प्रकारके दुःख प्राप्त होते हैं। विषयोंकी आसक्तिसे भी ये दुःख प्राप्त होते हैं ॥ १३ ॥

जरामृत्यू हि भूतानां खादितारौ वृकाविव।
बलिनां दुर्बलानां च ह्रस्वानां महतामपि ॥ १४ ॥

बुढ़ापा और मृत्यु—ये दोनों दो भेड़ियोंके समान हैं, जो बलवान्, दुर्बल, छोटे और बड़े सभी प्राणियोंको खा जाते हैं॥

न कश्चिज्जात्वतिक्रामेज्जरामृत्यू हि मानवः।
अपि सागरपर्यन्तां विजित्येमां वसुन्धराम् ॥ १५ ॥

कोई भी मनुष्य कभी बुढ़ापे और मौतको लाँघ नहीं सकता। भले ही वह समुद्रपर्यन्त इस सारी पृथ्वीपर विजय पा चुका हो ॥ १५ ॥

सुखं वा यदि वा दुःखं भूतानां पर्युपस्थितम्।
प्राप्तव्यमवशैः सर्वं परिहारो न विद्यते ॥ १६ ॥

प्राणियोंके निकट जो सुख या दुःख उपस्थित होता है, वह सब उन्हें विवश होकर सहना ही पड़ता है, क्योंकि उसके टालनेका कोई उपाय नहीं है ॥ १६ ॥

पूर्वे वयसि मध्ये वाप्युत्तरे वा नराधिप।
अवर्जनीयास्तेऽर्था वै कांक्षिता ये ततोऽन्यथा ॥ १७ ॥

नरेश्वर! पूर्वावस्था, मध्यावस्था अथवा उत्तरावस्थामें कभी-न-कभी वे क्लेश अनिवार्यरूपसे प्राप्त होते ही हैं, जिन्हें मनुष्य उनके विपरीतरूपमें चाहता है (अर्थात् सुख-ही सुखकी इच्छा करता है; परंतु उसे कष्ट भी प्राप्त होते ही हैं) ॥

अप्रियैः सह संयोगो विप्रयोगश्च सुप्रियैः।
अर्थानर्थौ सुखं दुःखं विधानमनुवर्तते ॥ १८ ॥

अप्रिय वस्तुओंके साथ संयोग, अत्यन्त प्रिय वस्तुओंका वियोग, अर्थ, अनर्थ, सुख और दुःख—इन सबकी प्राप्ति प्रारब्धके विधानके अनुसार होती है ॥ १८ ॥

प्रादुर्भावश्च भूतानां देहत्यागस्तथैव च।
प्राप्तिर्व्यायामयोगश्च सर्वमेतत् प्रतिष्ठितम् ॥ १९ ॥

प्राणियोंकी उत्पत्ति, देहावसान, लाभ[1] और हानि—ये सब प्रारब्धके ही आधारपर स्थित हैं ॥ १९ ॥

गन्धवर्णरसस्पर्शा निवर्तन्ते स्वभावतः।
तथैव सुखदुःखानि विधानमनुवर्तते ॥ २० ॥

जैसे शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध स्वभावतः आते-जाते रहते हैं, उसी प्रकार मनुष्य सुख और दुःखोंको प्रारब्धानुसार पाता रहता है ॥ २० ॥

आसनं शयनं यानमुत्थानं पानभोजनम्।
नियतं सर्वभूतानां कालेनैव भवत्युत ॥ २१ ॥

सभी प्राणियोंके लिये बैठना, सोना, चलना-फिरना, उठना और खाना-पीना—ये सभी कार्य समयके अनुसार ही नियत रूपसे होते रहते हैं ॥ २१ ॥

वैद्याश्चाप्यातुराः सन्ति बलवन्तश्च दुर्बलाः।
श्रीमन्तश्चापरे षण्ढा विचित्रः कालपर्ययः ॥ २२ ॥

कभी-कभी वैद्य भी रोगी, बलवान् भी दुर्बल और श्रीमान् भी असमर्थ हो जाते हैं, यह समयका उलटफेर बड़ा अद्भुत है ॥

कुले जन्म तथा वीर्यमारोग्यं रूपमेव च।
सौभाग्यमुपभोगश्च भवितव्येन लभ्यते ॥ २३ ॥

उत्तम कुलमें जन्म, बल-पराक्रम, आरोग्य, रूप, सौभाग्य और उपभोग-सामग्री—ये सब होनहारके अनुसार ही प्राप्त होते हैं ॥ २३ ॥

सन्ति पुत्राः सुबहवो दरिद्राणामनिच्छताम्।
नास्ति पुत्रः समृद्धानां विचित्रं विधिचेष्टितम् ॥ २४ ॥

जो दरिद्र हैं और संतानकी इच्छा नहीं रखते हैं, उनके तो बहुत-से पुत्र हो जाते हैं और जो धनवान् हैं, उनमेंसे किसी-किसीको एक पुत्र भी नहीं प्राप्त होता। विधाताकी चेष्टा बड़ी विचित्र है ॥ २४ ॥

व्याधिरग्निर्जलं शस्त्रं बुभुक्षाश्वापदो विषम्।
ज्वरश्च मरणं जन्तोरुच्चाच्च पतनं तथा ॥ २५ ॥
निर्माणे यस्य यद् दिष्टं तेन गच्छति सेतुना।

रोग, अग्नि, जल, शस्त्र, भूख प्यास, विपत्ति, विष, ज्वर और ऊँचे स्थानसे गिरना—ये सब जीवकी मृत्युके निमित्त हैं। जन्मके समय जिसके लिये प्रारब्धवश जो निमित्त नियत कर दिया गया है, वही उसका सेतु है, अतः उसीके द्वारा वह जाता है अर्थात् परलोकमें गमन करता है ॥ २५½ ॥

दृश्यते नाप्यतिक्रामन् निष्क्रान्तोऽथवा पुनः ॥ २६ ॥
दृश्यते चाप्यतिक्रामन्ननिग्राह्योऽथवा पुनः।

कोई इस सेतुका उल्लङ्घन करता दिखायी नहीं देता अथवा पहले भी किसीने इसका उल्लङ्घन किया हो, ऐसा देखनेमें नहीं आया। कोई-कोई पुरुष जो (तपस्या आदि प्रबल पुरुषार्थके द्वारा) दैवके नियन्त्रणमें रहने योग्य नहीं है, वह पूर्वोक्त सेतुका उल्लङ्घन करता भी दिखायी देता है ॥

दृश्यते हि युवैवेह विनश्यन् वसुमान् नरः।
दरिद्रश्च परिक्लिष्टः शतवर्षो जरान्वितः ॥ २७ ॥

इस जगत्में धनवान् मनुष्य भी जवानीमें ही नष्ट होता दिखायी देता है और क्लेशमें पड़ा हुआ दरिद्र भी सौ वर्षों तक जीवित रहकर अत्यन्त वृद्धावस्थामें मरता देखा जाता है ॥

अकिञ्चनाश्च दृश्यन्ते पुरुषाश्चिरजीविनः।
समृद्धे च कुले जाता विनश्यन्ति पतङ्गवत् ॥ २८ ॥

जिनके पास कुछ नहीं है, ऐसे दरिद्र भी दीर्घजीवी देखे जाते हैं और धनवान् कुलमें उत्पन्न हुए मनुष्य भी कीट-पतङ्गोंके समान नष्ट होते रहते हैं ॥ २८ ॥

प्रायेण श्रीमतां लोके भोक्तुं शक्तिर्न विद्यते।
काष्ठान्यपि हि जीर्यन्ते दरिद्राणां च सर्वशः ॥ २९ ॥

जगत्में प्रायः धनवानोंको खाने और पचानेकी शक्ति ही नहीं रहती है और दरिद्रोंके पेटमें काठ भी पच जाते हैं ॥ २९ ॥

अहमेतत् करोमीति मन्यते कालनोदितः।
यद् यदिष्टमसंतोषाद् दुरात्मा पापमाचरेत् ॥ ३० ॥

दुरात्मा मनुष्य कालसे प्रेरित होकर यह अभिमान करने लगता है कि मैं यह करूँगा। तत्पश्चात् असंतोषवश उसे जो-जो अभीष्ट होता है, उस पापपूर्ण कृत्यको भी वह करने लगता है ॥ ३० ॥

मृगयाक्षाः स्त्रियः पानं प्रसङ्गा निन्दिता बुधैः।
दृश्यन्ते पुरुषाश्चात्र सम्प्रयुक्ता बहुश्रुताः ॥ ३१ ॥

विद्वान् पुरुष शिकार करने, जूआ खेलने, स्त्रियोंके संसर्गमें रहने और मदिरा पीनेके प्रसङ्गोंकी बड़ी निन्दा करते हैं, परंतु इन पाप-कर्मोंमें अनेक शास्त्रोंके श्रवण और अध्ययनसे सम्पन्न पुरुष भी संलग्न देखे जाते हैं ॥ ३१ ॥

इति कालेन सर्वार्थानीप्सितानीप्सितानिह।
स्पृशन्ति सर्वभूतानि निमित्तं नोपलभ्यते ॥ ३२ ॥

इस प्रकार कालके प्रभावसे समस्त प्राणी इष्ट और अनिष्ट पदार्थोंको प्राप्त करते रहते हैं, इस इष्ट और अनिष्टकी प्राप्तिका अदृष्टके सिवा दूसरा कोई कारण नहीं दिखायी देता ॥ ३२ ॥

वायुमाकाशमग्निं च चन्द्रादित्यावहःक्षपे।
ज्योतींषि सरितः शैलान् कः करोति बिभर्ति च ॥ ३३ ॥

वायु, आकाश, अग्नि, चन्द्रमा, सूर्य, दिन, रात, नक्षत्र, नदी और पर्वतोंको कालके सिवा कौन बनाता और धारण करता है ? ॥ ३३ ॥

---

1. नीलकण्ठने 'प्राप्ति' का अर्थ 'लाभ' और 'व्यायाम' का अर्थ उसके विपरीत 'अलाभ' किया है।

शीतमुष्णं तथा वर्षं कालेन परिवर्तते ।
एवमेव मनुष्याणां सुखदुःखे नरर्षभ ॥ ३४ ॥

सर्दी, गर्मी और वर्षाका चक्र भी कालसे ही चलता है। नरश्रेष्ठ ! इसी प्रकार मनुष्योंके सुख-दुःख भी कालसे ही प्राप्त होते हैं ॥ ३४ ॥

नौषधानि न मन्त्राश्च न होमा न पुनर्जपाः ।
त्रायन्ते मृत्युनोपेतं जरया चापि मानवम् ॥ ३५ ॥

वृद्धावस्था और मृत्युके वशमें पड़े हुए मनुष्यको औषध, मन्त्र, होम और जप भी नहीं बचा पाते हैं ॥ ३५ ॥

यथा काष्ठं च काष्ठं च समेयातां महोदधौ ।
समेत्य च व्यपेयातां तद्वद् भूतसमागमः ॥ ३६ ॥

जैसे महासागरमें एक काठ एक ओरसे और दूसरा दूसरी ओरसे आकर दोनों थोड़ी देरके लिये मिल जाते हैं तथा मिलकर फिर बिछुड़ भी जाते हैं, इसी प्रकार यहाँ प्राणियोंके संयोग-वियोग होते रहते हैं ॥ ३६ ॥

ये चैव पुरुषाः स्त्रीभिर्गीतवाद्यैरुपस्थिताः ।
ये चानाथाः परान्नादाः कालस्तेषु समक्रियः ॥ ३७ ॥

जगत्‌में जिन धनवान् पुरुषोंकी सेवामें बहुत-सी सुन्दरियाँ गीत और वाद्योंके साथ उपस्थित हुआ करती हैं और जो अनाथ मनुष्य दूसरोंके अन्नपर जीवन-निर्वाह करते हैं, उन सबके प्रति कालकी समान चेष्टा होती है ॥ ३७ ॥

मातापितृसहस्राणि पुत्रदारशतानि च ।
संसारेष्वनुभूतानि कस्य ते कस्य वा वयम् ॥ ३८ ॥

हमने संसारमें अनेक बार जन्म लेकर सहस्रों माता-पिता और सैकड़ों स्त्री-पुत्रोंके सुखका अनुभव किया है; परंतु अब वे किसके हैं अथवा हम उनमेंसे किसके हैं ? ॥ ३८ ॥

नैवास्य कश्चिद् भविता नायं भवति कस्यचित् ।
पथि सङ्गतमेवेदं दारबन्धुसुहृज्जनैः ॥ ३९ ॥

इस जीवका न तो कोई सम्बन्धी होगा और न यह किसीका सम्बन्धी है। जैसे मार्गमें चलनेवालोंको दूसरे राहगीरोंका साथ मिल जाता है, उसी प्रकार यहाँ भाई-बन्धु, स्त्री-पुत्र और सुहृदोंका समागम होता है ॥ ३९ ॥

क्वासे क्व च गमिष्यामि को न्वहं किमिहास्थितः ।
कस्मात् किमनुशोचेयमित्येवं स्थापयेन्मनः ॥ ४० ॥

अतः विवेकी पुरुषको अपने मनमें यह विचार करना चाहिये कि 'मैं कहाँ हूँ, कहाँ जाऊँगा, कौन हूँ, यहाँ किसलिये आया हूँ और किस लिये किसका शोक करूँ ?' ॥ ४० ॥

अनित्ये प्रियसंवासे संसारे चक्रवद्गतौ ।
पथि सङ्गतमेवैतद् भ्राता माता पिता सखा ॥ ४१ ॥

यह संसार चक्रके समान घूमता रहता है। इसमें प्रियजनोंका सहवास अनित्य है। यहाँ भ्राता, मित्र, पिता और माता आदिका साथ रास्तेमें मिले हुए बटोहियोंके समान ही है ॥ ४१ ॥

न दृष्टपूर्वं प्रत्यक्षं परलोकं विदुर्बुधाः ।
आगमांस्त्वनतिक्रम्य श्रद्धातव्यं बुभूषता ॥ ४२ ॥

यद्यपि विद्वान् पुरुष कहते हैं कि परलोक न तो आँखोंके सामने है और न पहलेका ही देखा हुआ है, तथापि अपने कल्याणकी इच्छा रखनेवाले पुरुषको शास्त्रोंकी आज्ञाका उल्लङ्घन न करके उसकी बातोंपर विश्वास करना चाहिये ॥

कुर्वीत पितृदैवत्यं धर्माणि च समाचरेत् ।
यजेच्च विद्वान् विधिवत् त्रिवर्गं चाप्युपाचरेत् ॥ ४३ ॥

विज्ञ पुरुष पितरोंका श्राद्ध और देवताओंका यजन करे। धर्मानुकूल कार्योंका अनुष्ठान और यज्ञ करे तथा विधिपूर्वक धर्म, अर्थ और कामका भी सेवन करे ॥ ४३ ॥

संनिमज्जेज्जगदिदं गम्भीरे कालसागरे ।
जरामृत्युमहाग्राहे न कश्चिदवबुध्यते ॥ ४४ ॥

जिसमें जरा और मृत्युरूपी बड़े-बड़े ग्राह पड़े हुए हैं, उस गम्भीर कालसमुद्रमें यह सारा संसार डूब रहा है, किंतु कोई इस बातको समझ नहीं पाता है ॥ ४४ ॥

आयुर्वेदमधीयानाः केवलं सपरिग्रहाः ।
दृश्यन्ते बहवो वैद्या व्याधिभिः समभिप्लुताः ॥ ४५ ॥

केवल आयुर्वेदका अध्ययन करनेवाले बहुत-से वैद्य भी परिवारसहित रोगोंके शिकार हुए देखे जाते हैं ॥ ४५ ॥

ते पिबन्तः कषायांश्च सर्पींषि विविधानि च ।
न मृत्युमतिवर्तन्ते वेलामिव महोदधिः ॥ ४६ ॥

वे कड़वे-कड़वे काढ़े और नाना प्रकारके घृत पीते रहते हैं तो भी जैसे महासागर अपनी तट-भूमिसे आगे नहीं बढ़ता, उसी प्रकार वे मौतको लाँघ नहीं पाते हैं ॥ ४६ ॥

रसायनविदश्चैव सुप्रयुक्तरसायनाः ।
दृश्यन्ते जरया भग्ना नगा नागैरिवोत्तमैः ॥ ४७ ॥

रसायन जाननेवाले वैद्य अपने लिये रसायनोंका अच्छी तरह प्रयोग करके भी वृद्धावस्थाद्वारा वैसे ही जर्जर हुए दिखायी देते हैं, जैसे श्रेष्ठ हाथियोंके आघातसे टूटे हुए वृक्ष दृष्टिगोचर होते हैं ॥ ४७ ॥

तथैव तपसोपेताः स्वाध्यायाभ्यसने रताः ।
दातारो यज्ञशीलाश्च न तरन्ति जरान्तकौ ॥ ४८ ॥

इसी प्रकार शास्त्रोंके स्वाध्याय और अभ्यासमें लगे हुए विद्वान्, तपस्वी, दानी और यज्ञशील पुरुष भी जरा और मृत्युको पार नहीं कर पाते हैं ॥ ४८ ॥

न ह्यहानि निवर्तन्ते न मासा न पुनः समाः ।
जातानां सर्वभूतानां न पक्षा न पुनः क्षपाः ॥ ४९ ॥

संसारमें जन्म लेनेवाले सभी प्राणियोंके दिन-रात, वर्ष, मास और पक्ष एक बार बीतकर फिर वापस नहीं लौटते हैं ॥

सोऽयं विपुलमध्वानं कालेन ध्रुवमध्रुवः ।
नरोऽवशः समभ्येति सर्वभूतनिषेवितम् ॥ ५० ॥

मृत्युके इस विशाल मार्गका सेवन सभी प्राणियोंको करना पड़ता है। इस अनित्य मानवको भी कालसे विवश होकर कभी

...मृत्युके मुखमें आना ही पड़ता है ॥ ५० ॥

देहो वा जीवतोऽभ्येति जीवो वाभ्येति देहतः।
पथि संगतमभ्येति दारैरन्यैश्च बन्धुभिः ॥ ५१ ॥

(आस्तिक मतके अनुसार) जीव (चेतन) से शरीरकी उत्पत्ति हो या (नास्तिकोंकी मान्यताके अनुसार) शरीरसे जीवकी ; सर्वथा स्त्री-पुत्र आदि या अन्य बन्धुओंके साथ जो समागम होता है, वह रास्तेमें मिलनेवाले राहगीरोंके समान ही है ॥ ५१ ॥

नायमत्यन्तसंवासो लभ्यते जातु केनचित्।
अपि स्वेन शरीरेण किमुतान्येन केनचित् ॥ ५२ ॥

किसी भी पुरुषको कभी किसीके साथ भी सदा एक स्थानमें रहनेका सुयोग नहीं मिलता। जब अपने शरीरके साथ भी बहुत दिनोंतक सम्बन्ध नहीं रहता, तब दूसरे किसीके साथ कैसे रह सकता है ? ॥ ५२ ॥

क नु तेऽद्य पिता राजन् क नु तेऽद्य पितामहाः।
न त्वं पश्यसि तानद्य न त्वां पश्यन्ति तेऽनघ ॥ ५३ ॥

राजन्! आज तुम्हारे पिता कहाँ हैं? आज तुम्हारे पितामह कहाँ गये ? निष्पाप नरेश! आज न तो तुम उन्हें देख रहे हो और न वे तुम्हें देखते हैं ॥ ५३ ॥

न चैव पुरुषो द्रष्टा स्वर्गस्य नरकस्य च।
आगमस्तु सतां चक्षुर्नृपते तमिहाचर ॥ ५४ ॥

कोई भी मनुष्य यहींसे इन स्थूल नेत्रोंद्वारा स्वर्ग और नरकको नहीं देख सकता। उन्हें देखनेके लिये सत्पुरुषोंके पास शास्त्र ही एकमात्र नेत्र हैं, अतः नरेश्वर! तुम यहाँ उस शास्त्रके अनुसार ही आचरण करो ॥ ५४ ॥

चरितब्रह्मचर्यो हि प्रजायेत यजेत च।
पितृदेवमनुष्याणामानृण्यायानसूयकः ॥ ५५ ॥

मनुष्य पहले ब्रह्मचर्यका पूर्णरूपसे पालन करके गृहस्थ-आश्रम स्वीकार करे और पितरों, देवताओं तथा मनुष्यों (अतिथियों) के ऋणसे मुक्त होनेके लिये संतानोत्पादन तथा यज्ञ करे, किसीके प्रति दोषदृष्टि न रक्खे ॥ ५५ ॥

स यज्ञशीलः प्रजने निविष्टः
प्राग् ब्रह्मचारी प्रविविक्तचक्षुः।
आराधयेत् स्वर्गमिमं च लोकं
परं च मुक्त्वा हृदयव्यलीकम् ॥ ५६ ॥

मनुष्य पहले ब्रह्मचर्यका पालन करके संतानोत्पादनके लिये विवाह करे, नेत्र आदि इन्द्रियोंको पवित्र रक्खे और स्वर्गलोक तथा इहलोकके सुखकी आशा छोड़कर हृदयके शोक-संतापको दूर करके यज्ञ-परायण हो परमात्माकी आराधना करता रहे ॥ ५६ ॥

सम्यं हि धर्मं चरतो नृपस्य
द्रव्याणि चाप्याहरतो यथावत्।
प्रवृत्तधर्मस्य यशोऽभिवर्धते
सर्वेषु लोकेषु चराचरेषु ॥ ५७ ॥

राजा यदि नियमपूर्वक प्रजाके निकटसे करके रूपमें द्रव्य ग्रहण करे और राग-द्वेषसे रहित हो राजधर्मका पालन करता रहे तो उस धर्मपरायण नरेशका सुयश सम्पूर्ण चराचर लोकोंमें फैल जाता है ॥ ५७ ॥

इत्येवमाज्ञाय विदेहराजो
वाक्यं समग्रं परिपूर्णहेतुः।
अश्मानमामन्त्र्य विशुद्धबुद्धि-
र्ययौ गृहं स्वं प्रति शान्तशोकः ॥ ५८ ॥

निर्मल बुद्धिवाले विदेहराज जनक अश्माका यह युक्तिपूर्ण सम्पूर्ण उपदेश सुनकर शोकरहित हो गये और उनकी आज्ञा ले अपने घरको लौट गये ॥ ५८ ॥

तथा त्वमप्यच्युत मुञ्च शोक-
मुत्तिष्ठ शक्रोपम हर्षमेहि।
क्षात्रेण धर्मेण मही जिता ते
तां भुङ्क्ष्व कुन्तीसुत मावमंस्थाः ॥ ५९ ॥

अपने धर्मसे कभी च्युत न होनेवाले इन्द्रतुल्य पराक्रमी कुन्तीकुमार युधिष्ठिर! तुम भी शोक छोड़कर उठो और हृदयमें हर्ष धारण करो। तुमने क्षत्रियधर्मके अनुसार इस पृथ्वीपर विजय पायी है; अतः इसे भोगो। इसकी अवहेलना न करो ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि राजधर्मानुशासनपर्वणि व्यासवाक्येऽष्टाविंशोऽध्यायः ॥ २८ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत राजधर्मानुशासनपर्वमें व्यासवाक्यविषयक अट्ठाईसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २८ ॥

एकोनत्रिंशोऽध्यायः

श्रीकृष्णके द्वारा नारद-सृंजय-संवादके रूपमें सोलह राजाओंका उपाख्यान संक्षेपमें सुनाकर युधिष्ठिरके शोकनिवारणका प्रयत्न

वैशम्पायन उवाच

अव्याहरति राजेन्द्रे धर्मपुत्रे युधिष्ठिरे।
गुडाकेशो हृषीकेशमभ्यभाषत पाण्डवः ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! सबके समझाने-बुझानेपर भी जब धर्मपुत्र महाराज युधिष्ठिर मौन ही रह गये, तब पाण्डुपुत्र अर्जुनने भगवान् श्रीकृष्णसे कहा ॥ १ ॥

अर्जुन उवाच

ज्ञातिशोकाभिसंतप्तो धर्मपुत्रः परंतपः।

स्वयं श्रीकृष्ण शोकमग्न युधिष्ठिरको समझा रहे हैं

एष शोकार्णवे मग्नस्तमाश्वासय माधव ॥ २ ॥

अर्जुन बोले—माधव ! शत्रुओंको संताप देनेवाले ये धर्मपुत्र युधिष्ठिर स्वयं भाई-बन्धुओंके शोकसे संतप्त हो शोकके समुद्रमें डूब गये हैं, आप इन्हें धीरज बँधाइये ॥ २ ॥

सर्वे स्म ते संशयिताः पुनरेव जनार्दन ।
अस्य शोकं महाबाहो प्रणाशयितुमर्हसि ॥ ३ ॥

महाबाहु जनार्दन ! हम सब लोग पुनः महान् संशयमें पड़ गये हैं। आप इनके शोकका नाश कीजिये ॥ ३ ॥

वैशम्पायन उवाच

एवमुक्तस्तु गोविन्दो विजयेन महात्मना ।
पर्यवर्तत राजानं पुण्डरीकेक्षणोऽच्युतः ॥ ४ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन् ! महामना अर्जुनके ऐसा कहनेपर अपनी महिमासे कभी च्युत न होनेवाले कमलनयन भगवान् गोविन्द राजा युधिष्ठिरकी ओर घूमे—उनके सम्मुख हुए ॥

अनतिक्रमणीयो हि धर्मराजस्य केशवः ।
बाल्यात् प्रभृति गोविन्दः प्रीत्या चाभ्यधिकोऽर्जुनात् ॥५॥

धर्मराज युधिष्ठिर भगवान् श्रीकृष्णकी आज्ञाका कभी उल्लङ्घन नहीं कर सकते थे; क्योंकि श्रीकृष्ण बाल्यावस्थासे ही उन्हें अर्जुनसे भी अधिक प्रिय थे ॥ ५ ॥

सम्प्रगृह्य महाबाहुर्भुजं चन्दनभूषितम् ।
शैलस्तम्भोपमं शौरिरुवाचाभिविनोदयन् ॥ ६ ॥

महाबाहु गोविन्दने युधिष्ठिरकी पत्थरके बने हुए खम्भे-जैसी चन्दनचर्चित भुजाको हाथमें लेकर उनका मनोरञ्जन करते हुए इस प्रकार बोलना आरम्भ किया ॥ ६ ॥

शुशुभे वदनं तस्य सुदंष्ट्रं चारुलोचनम् ।
व्याकोशमिव विस्पष्टं पद्मं सूर्य इवोदिते ॥ ७ ॥

उस समय सुन्दर दाँतों और मनोहर नेत्रोंसे युक्त उनका मुखारविन्द सूर्योदयके समय पूर्णतः विकसित हुए कमलके समान शोभा पा रहा था ॥ ७ ॥

वासुदेव उवाच

मा कृथाः पुरुषव्याघ्र शोकं त्वं गात्रशोषणम् ।
न हि ते सुलभा भूयो ये हतास्मिन् रणाजिरे ॥ ८ ॥

भगवान् श्रीकृष्ण बोले—पुरुषसिंह ! तुम शोक न करो। शोक तो शरीरको सुखा देनेवाला होता है। इस समराङ्गणमें जो वीर मारे गये हैं, वे फिर सहज ही मिल सकें, यह सम्भव नहीं है ॥ ८ ॥

स्वप्नलब्धा यथा लाभा वितथाः प्रतिबोधने ।
एवं ते क्षत्रिया राजन् ये व्यतीता महारणे ॥ ९ ॥

राजन् ! जैसे सपनेमें मिले हुए धन जगनेपर मिथ्या हो जाते हैं, उसी प्रकार जो क्षत्रिय महासमरमें नष्ट हो गये हैं, उनका दर्शन अब दुर्लभ है ॥ ९ ॥

सर्वेऽप्यभिमुखाः शूरा विजिता रणशोभिनः ।
नैषां कश्चित् पृष्ठतो वा पलायन् वापि पातितः ॥ १० ॥

संग्राममें शोभा पानेवाले वे सभी शूरवीर शत्रुका सामना करते हुए पराजित हुए हैं। उनमेंसे कोई भी पीठपर चोट खाकर या भागता हुआ नहीं मारा गया है ॥ १० ॥

सर्वे त्यक्त्वाऽऽत्मनः प्राणान् युद्ध्वा वीरा महामृधे ।
शस्त्रपूता दिवं प्राप्ता न ताञ्छोचितुमर्हसि ॥ ११ ॥

सभी वीर महायुद्धमें जूझते हुए अपने प्राणोंका परित्याग करके अस्त्र-शस्त्रोंसे पवित्र हो स्वर्गलोकमें गये हैं; अतः तुम्हें उनके लिये शोक नहीं करना चाहिये ॥ ११ ॥

क्षत्रधर्मरताः शूरा वेदवेदाङ्गपारगाः ।
प्राप्ता वीरगतिं पुण्यां तान् न शोचितुमर्हसि ॥ १२ ॥
मृतान् महानुभावांस्त्वं श्रुत्वैव पृथिवीपतीन् ।

क्षत्रिय-धर्ममें तत्पर रहनेवाले, वेद-वेदाङ्गोंके पारङ्गत वे शूरवीर नरेश पुण्यमयी वीर-गतिको प्राप्त हुए हैं। पहलेके मरे हुए महानुभाव भूपतियोंका चरित्र सुनकर तुम्हें अपने उन बन्धुओंके लिये भी शोक नहीं करना चाहिये ॥ १२½ ॥

अत्रैवोदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम् ॥ १३ ॥
सृंजयं पुत्रशोकार्तं यथायं नारदोऽब्रवीत् ।

इस विषयमें एक प्राचीन इतिहासका उदाहरण दिया जाता है, जैसा कि इन देवर्षि नारदजीने पुत्र-शोकसे पीड़ित हुए राजा सृंजयसे कहा था ॥ १३½ ॥

सुखदुःखैरहं त्वं च प्रजाः सर्वाश्च सृंजय ॥ १४ ॥
अविमुक्ता मरिष्यामस्तत्र का परिदेवना ।

'सृंजय ! मैं, तुम और ये समस्त प्रजावर्गके लोग कोई भी सुख और दुःखोंके बन्धनसे मुक्त नहीं हुए हैं तथा एक दिन हम सब लोग मरेंगे भी। फिर इसके लिये शोक क्या करना है ? ॥ १४½ ॥

महाभाग्यं पुरा राज्ञां कीर्त्यमानं मया शृणु ॥ १५ ॥
गच्छावधानं नृपते ततो दुःखं प्रहास्यसि ।

'नरेश्वर ! मैं पूर्ववर्ती राजाओंके महान् सौभाग्यका वर्णन करता हूँ। सुनो और सावधान हो जाओ। इससे तुम्हारा दुःख दूर हो जायगा ॥ १५½ ॥

मृतान् महानुभावांस्त्वं श्रुत्वैव पृथिवीपतीन् ॥ १६ ॥
शममानय संतापं शृणु विस्तरशश्च मे ।

'मरे हुए महानुभाव भूपतियोंका नाम सुनकर ही तुम अपने मानसिक संतापको शान्त कर लो और मुझसे विस्तार-पूर्वक उन सबका परिचय सुनो ॥ १६½ ॥

क्रूरग्रहाभिशमनमायुर्वर्धनमुत्तमम् ॥ १७ ॥
अग्रिमाणां क्षितिभुजामुपाख्यानं मनोहरम् ।

'उन पूर्ववर्ती राजाओंका श्रवण करने योग्य मनोहर वृत्तान्त बहुत ही उत्तम, क्रूर ग्रहोंको शान्त करनेवाला और आयुको बढ़ानेवाला है ॥ १७½ ॥

आविक्षितं मरुत्तं च मृतं सृञ्जय शुश्रुम ॥ १८ ॥

यस्य सेन्द्राः समरुतो बृहस्पतिपुरोगमाः ।
देवा विश्वसृजो राज्ञो यज्ञमीयुर्महात्मनः ॥ १९ ॥

'सृंजय ! हमने सुना है कि अविक्षित्के पुत्र वे राजा मरुत्त भी मर गये, जिन महात्मा नरेशके यज्ञमें इन्द्र तथा वरुणसहित सम्पूर्ण देवता और प्रजापतिगण बृहस्पतिको आगे करके पधारे थे ॥ १८-१९ ॥

यः स्पर्धयाजयच्छक्रं देवराजं पुरंदरम् ।
शक्रप्रियैषी यं विद्वान् प्रत्याचष्ट बृहस्पतिः ॥ २० ॥
संवर्तो याजयामास यवीयान् स बृहस्पतेः ।

'उन्होंने देवराज इन्द्रसे स्पर्धा रखनेके कारण अपने यज्ञ-वैभवद्वारा उन्हें पराजित कर दिया था। इन्द्रका प्रिय चाहनेवाले बृहस्पतिजीने जब उनका यज्ञ करानेसे इन्कार कर दिया, तब उन्हींके छोटे भाई संवर्तने मरुत्तका यज्ञ कराया था ॥ २०½ ॥

यस्मिन् प्रशासति महीं नृपतौ राजसत्तम ।
अकृष्टपच्या पृथिवी विबभौ चैत्यमालिनी ॥ २१ ॥

'नृपश्रेष्ठ ! राजा मरुत्त जब इस पृथ्वीका शासन करते थे, उस समय यह बिना जोते-बोये ही अन्न पैदा करती थी और समस्त भूमण्डलमें देवालयोंकी माला-सी दृष्टिगोचर होती थी, जिससे इस पृथ्वीकी बड़ी शोभा होती थी ॥ २१ ॥

आविक्षितस्य वै सत्रे विश्वेदेवाः सभासदः ।
मरुतः परिवेष्टारः साध्याश्चासन् महात्मनः ॥ २२ ॥

'महामना मरुत्तके यज्ञमें विश्वेदेवगण सभासद थे और मरुद्गण तथा साध्यगण रसोई परोसनेका काम करते थे॥२२॥

मरुद्गणा मरुत्तस्य यत् सोममपिबंस्ततः ।
देवान् मनुष्यान् गन्धर्वानत्यरिच्यन्त दक्षिणाः ॥ २३ ॥

'मरुद्गणोंने मरुत्तके यज्ञमें उस समय खूब सोमरसका पान किया था। राजाने जो दक्षिणाएँ दी थीं, वे देवताओं, मनुष्यों और गन्धर्वोंके सभी यज्ञोंसे बढ़कर थीं ॥ २३ ॥

स चेन्ममार सृंजय चतुर्भद्रतरस्त्वया ।
पुत्रात् पुण्यतरश्चैव मा पुत्रमनुतप्यथाः ॥ २४ ॥

'सृंजय ! धर्म, ज्ञान, वैराग्य तथा ऐश्वर्य—इन चारों बातोंमें राजा मरुत्त तुमसे बढ़-चढ़कर थे और तुम्हारे पुत्रसे भी अधिक पुण्यात्मा थे। जब वे भी मर गये, तब औरोंकी क्या बात है ? अतः तुम अपने पुत्रके लिये शोक न करो ॥

सुहोत्रं चैवातिथिनं मृतं सृंजय शुश्रुम ।
यस्मिन् हिरण्यं ववृषे मघवा परिवत्सरम् ॥ २५ ॥

'सृंजय ! अतिथिसत्कारके प्रेमी राजा सुहोत्र भी जीवित नहीं रहे, ऐसा सुननेमें आया है। उनके राज्यमें इन्द्रने एक वर्षतक सोनेकी वर्षा की थी ॥ २५ ॥

सत्यनामा वसुमती यं प्राप्यासीज्जनाधिपम् ।
हिरण्यमवहन् नद्यस्तस्मिञ्जनपदेश्वरे ॥ २६ ॥

'राजा सुहोत्रको पाकर पृथ्वीका वसुमती नाम सार्थक हो गया था। जिस समय वे जनपदके स्वामी थे, उन दिनों वहाँकी नदियाँ अपने जलके साथ-साथ सुवर्ण बहाया करती थीं॥

कूर्मान् कर्कटकान् नक्रान् मकराञ्छिशुकानपि ।
नदीष्वपातयद् राजन् मघवा लोकपूजितः ॥ २७ ॥

'राजन् ! लोकपूजित इन्द्रने सोनेके बने हुए बहुत से कछुए, केकड़े, नाके, मगर, सूँस और मत्स्य उन नदियोंमें गिराये थे ॥ २७ ॥

हिरण्यान् पातितान् दृष्ट्वा मत्स्यान् मकरकच्छपान् ।
सहस्रशोऽथ शतशस्ततोऽस्मयदथोऽतिथिः ॥ २८ ॥

'उन नदियोंमें सैकड़ों और हजारोंकी संख्यामें सुवर्णमय मत्स्यों, ग्राहों और कछुओंको गिराया गया देख अतिथिप्रिय राजा सुहोत्र आश्चर्यचकित हो उठे थे ॥ २८ ॥

तद्धिरण्यमपर्यन्तमावृतं कुरुजाङ्गले ।
ईजानो वितते यज्ञे ब्राह्मणेभ्यः समार्पयत् ॥ २९ ॥

'वह अनन्त सुवर्णराशि कुरुजाङ्गल देशमें छा गयी थी। राजा सुहोत्रने वहाँ यज्ञ किया और उसमें वह सारी धनराशि ब्राह्मणोंमें बाँट दी ॥ २९ ॥

स चेन्ममार सृंजय चतुर्भद्रतरस्त्वया ।
पुत्रात् पुण्यतरश्चैव मा पुत्रमनुतप्यथाः ॥ ३० ॥
अदक्षिणमयज्वानं श्वैत्य संशाम्य मा शुचः ।

'श्वेतपुत्र सृंजय ! वे धर्म, ज्ञान, वैराग्य और ऐश्वर्य—इन चारों कल्याणकारी गुणोंमें तुमसे बढ़-चढ़कर थे और तुम्हारे पुत्रसे भी अधिक पुण्यात्मा थे। जब वे भी मर गये, तब दूसरोंकी क्या बात है ? अतः तुम अपने पुत्रके लिये शोक न करो। उसने न तो कोई यज्ञ किया था और न दक्षिणा ही बाँटी थी, अतः उसके लिये शोक न करो, शान्त हो जाओ ॥

अङ्गं बृहद्रथं चैव मृतं सृंजय शुश्रुम ॥ ३१ ॥
यः सहस्रं सहस्राणां श्वेतानश्वानवासृजत् ।
सहस्रं च सहस्राणां कन्या हेमपरिष्कृताः ॥ ३२ ॥
ईजानो वितते यज्ञे दक्षिणामत्यकालयत् ।

'सृंजय ! अङ्गदेशके राजा बृहद्रथकी भी मृत्यु हुई थी, ऐसा हमने सुना है। उन्होंने यज्ञ करते समय अपने विशाल यज्ञमें दस लाख श्वेत घोड़े और सोनेके आभूषणोंसे भूषित दस लाख कन्याएँ दक्षिणारूपमें बाँटी थीं ॥ ३१-३२½ ॥

यः सहस्रं सहस्राणां गजानां पद्ममालिनाम् ॥ ३३ ॥
ईजानो वितते यज्ञे दक्षिणामत्यकालयत् ।

'इसी प्रकार यजमान बृहद्रथने उस विस्तृत यज्ञमें सुवर्णमय कमलोंकी मालाओंसे अलङ्कृत दस लाख हाथी भी दक्षिणामें बाँटे थे ॥ ३३½ ॥

शतं शतसहस्राणि वृषाणां हेममालिनाम् ॥ ३४ ॥
गवां सहस्रानुचरं दक्षिणामत्यकालयत् ।

'उन्होंने उस यज्ञमें एक करोड़ सुवर्णमालाधारी गाय, बैल और उनके सहस्रों सेवक दक्षिणारूपमें दिये थे ॥३४½॥

अङ्गस्य यजमानस्य तदा विष्णुपदे गिरौ ॥ ३५ ॥
अमाद्यदिन्द्रः सोमेन दक्षिणाभिर्द्विजातयः ।

'यजमान अङ्ग जब विष्णुपद पर्वतपर यज्ञ कर रहे थे, उस समय इन्द्र वहाँ सोमरस पीकर मतवाले हो उठे थे और दक्षिणाओंसे ब्राह्मणोंपर भी आनन्दोन्माद छा गया था॥३५½॥

यस्य यज्ञेषु राजेन्द्र शतसंख्येषु वै पुरा ॥ ३६ ॥
देवान् मनुष्यान् गन्धर्वानत्यरिच्यन्त दक्षिणाः ।

'राजेन्द्र ! प्राचीन कालमें अङ्गराजने ऐसे-ऐसे सौ यज्ञ किये थे और उन सबमें जो दक्षिणाएँ दी गयी थीं, वे देवताओं, गन्धर्वों और मनुष्योंके यज्ञोंसे बढ़ गयी थीं ॥

न जातो जनिता नान्यः पुमान् यः सम्प्रदास्यति ॥३७॥
यदङ्गः प्रददौ वित्तं सोमसंस्थासु सप्तसु ।

'अङ्गराजने सातों सोम-संस्थाओंमें[1] जो धन दिया था, उतना जो दे सके, ऐसा दूसरा न तो कोई मनुष्य पैदा हुआ है और न पैदा होगा ॥ ३७½ ॥

स चेन्ममार सृंजय चतुर्भद्रतरस्त्वया ॥ ३८ ॥
पुत्रात् पुण्यतरश्चैव मा पुत्रमनुतप्यथाः ।

'सृंजय ! पूर्वोक्त चारों कल्याणकारी गुणोंमें वे बृहद्रथ तुमसे बहुत बढ़े-चढ़े थे और तुम्हारे पुत्रसे भी अधिक पुण्यात्मा थे । जब वे भी मर गये तो दूसरोंकी क्या बात है ? अतः तुम अपने पुत्रके लिये संतप्त न होओ ॥ ३८½ ॥

शिबिमौशीनरं चैव मृतं सृंजय शुश्रुम ॥ ३९ ॥
य इमां पृथिवीं सर्वां चर्मवत्समवेष्टयत् ।

'सृंजय ! जिन्होंने इस सम्पूर्ण पृथ्वीको चमड़ेकी भाँति लपेट लिया था (सर्वथा अपने अधीन कर लिया था), वे उशीनरपुत्र राजा शिबि भी मरे थे, यह हमने सुना है॥३९½॥

महता रथघोषेण पृथिवीमनुनादयन् ॥ ४० ॥
एकच्छत्रां महीं चक्रे जैत्रेणैकरथेन यः ।

'वे अपने रथकी गम्भीर ध्वनिसे पृथ्वीको प्रतिध्वनित करते हुए एकमात्र विजयशील रथके द्वारा इस भूमण्डलका एकछत्र शासन करते थे ॥ ४०½ ॥

यावदद्य गवाश्वं स्यादारण्यैः पशुभिः सह ॥ ४१ ॥
तावतीः प्रददौ गाः स शिबिरौशीनरोऽध्वरे ।

'आज संसारमें जंगली पशुओंसहित जितने गाय-बैल और घोड़े हैं, उतनी संख्यामें उशीनरपुत्र शिबिने अपने यज्ञमें केवल गौओंका दान किया ॥ ४१½ ॥

न वोढारं धुरं तस्य कश्चिन्मेने प्रजापतिः ॥ ४२ ॥
न भूतं न भविष्यं च सर्वराजसु सृंजय ।
अन्यत्रौशीनराच्छैब्याद् राजर्षेरिन्द्रविक्रमात् ॥ ४३ ॥

'सृंजय ! प्रजापति ब्रह्माने इन्द्रके तुल्य पराक्रमी उशीनरपुत्र राजा शिबिके सिवा सम्पूर्ण राजाओंमें भूत या भविष्यकालके दूसरे किसी राजाको ऐसा नहीं माना, जो शिबिका कार्यभार वहन कर सकता हो ॥ ४२-४३ ॥

अदक्षिणमयज्वानं मा पुत्रमनुतप्यथाः ।
स चेन्ममार सृंजय चतुर्भद्रतरस्त्वया ।
पुत्रात् पुण्यतरश्चैव मा पुत्रमनुतप्यथाः ॥ ४४ ॥

'सृंजय ! राजा शिबि पूर्वोक्त चारों कल्याणकारी बातोंमें तुमसे बहुत बढ़े-चढ़े थे । तुम्हारे पुत्रसे भी अधिक पुण्यात्मा थे । जब वे भी मर गये, तब दूसरेकी क्या बात है, अतः तुम अपने पुत्रके लिये शोक मत करो । उसने न तो कोई यज्ञ किया था, न दक्षिणा ही दी थी; अतः उस पुत्रके लिये शोक नहीं करना चाहिये ॥ ४४ ॥

भरतं चैव दौष्यन्तिं मृतं सृंजय शुश्रुम ।
शाकुन्तलं महात्मानं भूरिद्रविणसंचयम् ॥ ४५ ॥

'सृंजय ! दुष्यन्त और शकुन्तलाके पुत्र महाधनी महामनस्वी भरत भी मृत्युके अधीन हो गये, यह हमने सुना था॥

यो बद्ध्वा त्रिशतं चाश्वान् देवेभ्यो यमुनामनु ।
सरस्वतीं विंशतिं च गङ्गामनु चतुर्दश ॥ ४६ ॥
अश्वमेधसहस्रेण राजसूयशतेन च ।
इष्टवान् स महातेजा दौष्यन्तिर्भरतः पुरा ॥ ४७ ॥

'उन महातेजस्वी दुष्यन्त-कुमार भरतने पूर्वकालमें देवताओंकी प्रसन्नताके लिये यमुनाके तटपर तीन सौ, सरस्वतीके तटपर बीस और गङ्गाके तटपर चौदह घोड़े बाँधकर उतने-उतने अश्वमेध यज्ञ किये थे ।* उन्होंने अपने जीवनमें एक सहस्र अश्वमेध और सौ राजसूय यज्ञ सम्पन्न किये थे ॥

भरतस्य महत् कर्म सर्वराजसु पार्थिवाः ।
खं मर्त्या इव बाहुभ्यां नानुगन्तुमशक्नुवन्॥ ४८ ॥

'जैसे मनुष्य दोनों भुजाओंसे आकाशको तैर नहीं सकते, उसी प्रकार सम्पूर्ण राजाओंमें भरतका जो महान् कर्म है, उसका दूसरे राजा अनुकरण न कर सके ॥ ४८ ॥

परं सहस्राद् यो बद्धान् हयान् वेदीर्वितत्य च ।
सहस्रं यत्र पद्मानां कण्वाय भरतो ददौ ॥ ४९ ॥

'उन्होंने सहस्रसे भी अधिक घोड़े बाँधे और यज्ञ-वेदियोंका विस्तार करके अश्वमेध यज्ञ किये । उसमें भरतने आचार्य कण्वको एक हजार सुवर्णके बने हुए कमल भेंट किये॥

स चेन्ममार सृंजय चतुर्भद्रतरस्त्वया ।
पुत्रात् पुण्यतरश्चैव मा पुत्रमनुतप्यथाः ॥ ५० ॥

'सृंजय ! वे साम, दान, दण्ड और भेद—इन चार कल्याणमयी नीतियों अथवा धर्म, ज्ञान, वैराग्य और ऐश्वर्य—

१. अग्निष्टोम, अत्यग्निष्टोम, उक्थ्य, षोडशी, वाजपेय, अतिरात्र और आप्तोर्याम—ये सात सोमसंस्थाएँ हैं ।

* पहले द्रोणपर्वमें जो सोलह राजाओंके प्रसङ्ग आये हैं, उनमें और यहाँके प्रसङ्गमें पाठभेदोंके कारण बहुत अन्तर देखा जाता है । वहाँ भरतके द्वारा यमुनातटपर सौ, सरस्वतीतटपर तीन सौ और गङ्गातटपर चार सौ अश्वमेध यज्ञ किये गये थे—यह उल्लेख है ।

वे चार कल्याणकारी गुणोंमें तुमसे बहुत बढ़े हुए थे। तुम्हारे पुत्रसे भी अधिक पुण्यात्मा थे। जब वे भी मर गये, तब दूसरा कौन जीवित रह सकता है। अतः तुम्हें अपने मरे हुए पुत्रके लिये शोक नहीं करना चाहिये ॥५०॥

रामं दाशरथिं चैव मृतं सृंजय शुश्रुम।
योऽन्वकम्पत वै नित्यं प्रजाः पुत्रानिवौरसान् ॥ ५१ ॥

'सृंजय! सुननेमें आया है कि दशरथनन्दन भगवान् श्रीरामजी भी यहाँसे परम धामको चले गये थे, जो सदा अपनी प्रजापर वैसी ही कृपा रखते थे, जैसे—पिता अपने औरस पुत्रोंपर रखता है ॥ ५१ ॥

विधवा यस्य विषये नानाथाः काश्चनाभवन्।
सदैवासीत् पितृसमो रामो राज्यं यदन्वशात् ॥ ५२ ॥

'उनके राज्यमें कोई भी स्त्री अनाथ-विधवा नहीं हुई। श्रीरामचन्द्रजीने जबतक राज्यका शासन किया, तबतक वे अपनी प्रजाके लिये सदा ही पिताके समान कृपालु बने रहे ॥

कालवर्षी च पर्जन्यः सस्यानि समपादयत्।
नित्यं सुभिक्षमेवासीद् रामे राज्यं प्रशासति ॥ ५३ ॥

'मेघ समयपर वर्षा करके खेतीको अच्छे ढंगसे सम्पन्न करता था—उसे बढ़ने और फूलने-फलनेका अवसर देता था। रामके राज्य-शासन-कालमें सदा सुकाल ही रहता था (कभी अकाल नहीं पड़ता था) ॥ ५३ ॥

प्राणिनो नाप्सु मज्जन्ति नान्यथा पावकोऽदहत्।
रुजाभयं न तत्रासीद् रामे राज्यं प्रशासति ॥ ५४ ॥

'रामके राज्यका शासन करते समय कभी कोई प्राणी जलमें नहीं डूबते थे, आग अनुचितरूपसे कभी किसीको नहीं जलाती थी तथा किसीको रोगका भय नहीं होता था ॥

आसन् वर्षसहस्रिण्यस्तथा वर्षसहस्रकाः।
अरोगाः सर्वसिद्धार्था रामे राज्यं प्रशासति ॥ ५५ ॥

'श्रीरामचन्द्रजी जब राज्यका शासन करते थे' उन दिनों हजार वर्षतक जीनेवाली स्त्रियाँ और सहस्रों वर्षतक जीवित रहनेवाले पुरुष थे। किसीको कोई रोग नहीं सताता था, सभीके सारे मनोरथ सिद्ध होते थे ॥ ५५ ॥

नान्योऽन्येन विवादोऽभूत् स्त्रीणामपि कुतो नृणाम्।
धर्मनित्याः प्रजाश्चासन् रामे राज्यं प्रशासति ॥ ५६ ॥

'स्त्रियोंमें भी परस्पर विवाद नहीं होता था; फिर पुरुषोंकी तो बात ही क्या है? श्रीरामके राज्य-शासनकालमें समस्त प्रजा सदा धर्ममें तत्पर रहती थी ॥ ५६ ॥

संतुष्टाः सर्वसिद्धार्था निर्भयाः स्वैरचारिणः।
नराः सत्यव्रताश्चासन् रामे राज्यं प्रशासति ॥ ५७ ॥

'श्रीरामचन्द्रजी जब राज्य करते थे, उस समय सभी मनुष्य संतुष्ट, पूर्णकाम, निर्भय, स्वाधीन और सत्यव्रती थे॥

नित्यपुष्पफलाश्चैव पादपा निरुपद्रवाः।
सर्वा द्रोणदुघा गावो रामे राज्यं प्रशासति ॥ ५८ ॥

'श्रीरामके राज्यशासनकालमें सभी वृक्ष बिना किसी विघ्न-बाधाके सदा फले-फूले रहते थे और समस्त गौएँ एक-एक दोन दूध देती थीं ॥ ५८ ॥

स चतुर्दशवर्षाणि वने प्रोष्य महातपाः।
दशाश्वमेधान् जारूथ्यानाजहार निरर्गलान् ॥ ५९ ॥

'महातपस्वी श्रीरामने चौदह वर्षोंतक वनमें निवास करके राज्य पानेके अनन्तर दस ऐसे अश्वमेध यज्ञ किये, जो सर्वथा स्तुतिके योग्य थे तथा जहाँ किसी भी याचकके लिये दरवाजा बंद नहीं होता था ॥ ५९ ॥

युवा श्यामो लोहिताक्षो मातङ्ग इव यूथपः।
आजानुबाहुः सुमुखः सिंहस्कन्धो महाभुजः ॥ ६० ॥

'श्रीरामचन्द्रजी नवयुवक और श्याम वर्णवाले थे। उनकी आँखोंमें कुछ-कुछ लालिमा शोभा देती थी। वे यूथपति गजराजके समान शक्तिशाली थे। उनकी बड़ी-बड़ी भुजाएँ घुटनोंतक लंबी थीं। उनका मुख सुन्दर और कंधे सिंहके समान थे ॥ ६० ॥

दशवर्षसहस्राणि दशवर्षशतानि च।
अयोध्याधिपतिर्भूत्वा रामो राज्यमकारयत् ॥ ६१ ॥

'श्रीरामने अयोध्याके अधिपति होकर ग्यारह हजार वर्षोंतक राज्य किया था ॥ ६१ ॥

स चेन्ममार सृंजय चतुर्भद्रतरस्त्वया।
पुत्रात् पुण्यतरश्चैव मा पुत्रमनुतप्यथाः ॥ ६२ ॥

'सृंजय! वे चारों कल्याणकारी गुणोंमें तुमसे बढ़े-चढ़े थे और तुम्हारे पुत्रसे भी अधिक पुण्यात्मा थे। जब वे भी यहाँ रह न सके, तब दूसरोंकी क्या बात है? अतः तुम्हें अपने पुत्रके लिये शोक नहीं करना चाहिये ॥ ६२ ॥

भगीरथं च राजानं मृतं सृंजय शुश्रुम।
यस्येन्द्रो वितते यज्ञे सोमं पीत्वा मदोत्कटः ॥ ६३ ॥
असुराणां सहस्राणि बहूनि सुरसत्तमः।
अजयद् बाहुवीर्येण भगवान् पाकशासनः ॥ ६४ ॥

'सृंजय! राजा भगीरथ भी कालके गालमें चले गये, ऐसा हमने सुना है। जिनके विस्तृत यज्ञमें सोम पीकर मदोन्मत्त हुए सुरश्रेष्ठ भगवान् पाकशासन इन्द्रने अपने बाहुबलसे कई सहस्र असुरोंको पराजित किया ॥ ६३-६४ ॥

यः सहस्रं सहस्राणां कन्या हेमविभूषिताः।
ईजानो वितते यज्ञे दक्षिणामत्यकालयत् ॥ ६५ ॥

'जिन्होंने यज्ञ करते समय अपने विशाल यज्ञमें सोनेके आभूषणोंसे विभूषित दस लाख कन्याओंका दक्षिणारूपमें दान किया था ॥ ६५ ॥

सर्वा रथगताः कन्या रथाः सर्वे चतुर्युजः।
शतं शतं रथे नागाः पद्मिनो हेममालिनः ॥ ६६ ॥

'वे सभी कन्याएँ अलग-अलग रथमें बैठी हुई थीं। प्रत्येक रथमें चार-चार घोड़े जुते हुए थे। हर एक रथके

पीछे सोनेकी मालाओंसे विभूषित तथा मस्तकपर कमलके चिह्नोंसे अलंकृत सौ-सौ हाथी थे ॥ ६६ ॥

सहस्रमश्वा एकैकं हस्तिनं पृष्ठतोऽन्वयुः।
गवां सहस्रमश्वेऽश्वे सहस्रं गव्यजाविकम् ॥ ६७ ॥

'प्रत्येक हाथीके पीछे एक-एक हजार घोड़े, हर एक घोड़ेके पीछे हजार-हजार गायें और एक-एक गायके साथ हजार-हजार भेड़-बकरियाँ चल रही थीं ॥ ६७ ॥

उपह्वरे निवसतो यस्याङ्के निषसाद ह।
गङ्गा भागीरथी तस्मादुर्वशी चाभवत् पुरा ॥ ६८ ॥

'तटके निकट निवास करते समय गङ्गाजी राजा भगीरथकी गोदमें आ बैठी थीं। इसलिये वे पूर्वकालमें भागीरथी और उर्वशी नामसे प्रसिद्ध हुईं ॥ ६८ ॥

भूरिदक्षिणमिक्ष्वाकुं यजमानं भगीरथम्।
त्रिलोकपथगा गङ्गा दुहितृत्वमुपेयुषी ॥ ६९ ॥

'त्रिपथगामिनी गङ्गाने पुत्रीभावको प्राप्त होकर पर्याप्त दक्षिणा देनेवाले इक्ष्वाकुवंशी यजमान भगीरथको अपना पिता माना ॥ ६९ ॥

स चेन्ममार सृंजय चतुर्भद्रतरस्त्वया।
पुत्रात् पुण्यतरश्चैव मा पुत्रमनुतप्यथाः ॥ ७० ॥

सृंजय ! वे पूर्वोक्त चारों बातोंमें तुमसे बहुत बढ़े-चढ़े थे और तुम्हारे पुत्रसे अधिक पुण्यात्मा थे, जब वे भी कालसे न बच सके तो दूसरोंके लिये क्या कहा जा सकता है ? अतः तुम अपने पुत्रके लिये शोक न करो ॥ ७० ॥

दिलीपं च महात्मानं मृतं सृंजय शुश्रुम।
यस्य कर्माणि भूरीणि कथयन्ति द्विजातयः ॥ ७१ ॥

'सृंजय ! महामना राजा दिलीप भी मरे थे, यह सुननेमें आया है। उनके महान् कर्मोंका आज भी ब्राह्मणलोग वर्णन करते हैं ॥ ७१ ॥

य इमां वसुसम्पूर्णां वसुधां वसुधाधिपः।
ददौ तस्मिन् महायज्ञे ब्राह्मणेभ्यः समाहितः ॥ ७२ ॥

'एकाग्रचित्त हुए उन नरेशने अपने उस महायज्ञमें रत्न और धनसे परिपूर्ण इस सारी पृथ्वीका ब्राह्मणोंके लिये दान कर दिया था ॥ ७२ ॥

यस्येह यजमानस्य यज्ञे यज्ञे पुरोहितः।
सहस्रं वारणान् हैमान् दक्षिणामत्यकालयत् ॥ ७३ ॥

'यजमान दिलीपके प्रत्येक यज्ञमें पुरोहितजी सोनेके बने हुए एक हजार हाथी दक्षिणारूपमें पाकर उन्हें अपने घर ले जाते थे ॥ ७३ ॥

यस्य यज्ञे महानासीद् यूपः श्रीमान् हिरण्मयः।
तं देवाः कर्म कुर्वाणाः शक्रज्येष्ठा उपाश्रयन् ॥ ७४ ॥

'उनके यज्ञमें सोनेका बना हुआ कान्तियुक्त बहुत बड़ा यूप शोभा पाता था। यज्ञकर्म करते हुए इन्द्र आदि देवता सदा उसी यूपका आश्रय लेकर रहते थे ॥ ७४ ॥

चषाले यस्य सौवर्णे तस्मिन् यूपे हिरण्मये।
ननृतुर्देवगन्धर्वाः षट् सहस्राणि सप्तधा ॥ ७५ ॥
अवादयत् तत्र वीणां मध्ये विश्वावसुः स्वयम्।
सर्वभूतान्यमन्यन्त मम वादयतीत्ययम् ॥ ७६ ॥

'उनके उस सुवर्णमय यूपमें जो सोनेका चषाल (घेरा) बना था, उसके ऊपर छः हजार देवगन्धर्व नृत्य किया करते थे। वहाँ साक्षात् विश्वावसु बीचमें बैठकर सात स्वरोंके अनुसार वीणा बजाया करते थे। उस समय सब प्राणी यही समझते थे कि ये मेरे ही आगे बाजा बजा रहे हैं ॥७५-७६॥

एतद् राज्ञो दिलीपस्य राजानो नानुचक्रिरे।
यस्येभा हेमसंछन्नाः पथि मत्ताः स्म शेरते ॥ ७७ ॥
राजानं शतधन्वानं दिलीपं सत्यवादिनम्।
येऽपश्यन् सुमहात्मानं तेऽपि स्वर्गजितो नराः ॥ ७८ ॥

'राजा दिलीपके इस महान् कर्मका अनुसरण दूसरे राजा नहीं कर सके। उनके सुनहरे साज-बाज और सोनेके आभूषणोंसे सजे हुए मतवाले हाथी रास्तेपर सोये रहते थे। सत्यवादी शतधन्वा महामनस्वी राजा दिलीपका जिन लोगोंने दर्शन किया था, उन्होंने भी स्वर्गलोकको जीत लिया ॥

त्रयः शब्दा न जीर्यन्ते दिलीपस्य निवेशने।
स्वाध्यायघोषो ज्याघोषो दीयतामिति वै त्रयः ॥ ७९ ॥

'महाराज दिलीपके भवनमें वेदोंके स्वाध्यायका गम्भीर घोष, शूरवीरोंके धनुषकी टंकार तथा 'दान दो' की पुकार—ये तीन प्रकारके शब्द कभी बंद नहीं होते थे ॥ ७९ ॥

स चेन्ममार सृंजय चतुर्भद्रतरस्त्वया।
पुत्रात् पुण्यतरश्चैव मा पुत्रमनुतप्यथाः ॥ ८० ॥

'सृंजय ! वे राजा दिलीप चारों कल्याणकारी गुणोंमें तुमसे बढ़कर थे। तुम्हारे पुत्रसे भी अधिक पुण्यात्मा थे। जब वे भी मर गये तो दूसरोंकी क्या बात है ? अतः तुम्हें अपने मरे हुए पुत्रके लिये शोक नहीं करना चाहिये ॥८०॥

मान्धातारं यौवनाश्वं मृतं सृंजय शुश्रुम।
यं देवा मरुतो गर्भं पितुः पार्श्वादपाहरन् ॥ ८१ ॥

'सृंजय ! जिन्हें मरुत् नामक देवताओंने गर्भावस्थामें पिताके पार्श्वभागको फाड़कर निकाला था, वे युवनाश्वके पुत्र मान्धाता भी मृत्युके अधीन हो गये, यह हमारे सुननेमें आया है ॥ ८१ ॥

समृद्धो युवनाश्वस्य जठरे यो महात्मनः।
पृषदाज्योद्भवः श्रीमांस्त्रिलोकविजयी नृपः ॥ ८२ ॥

'त्रिलोकविजयी श्रीमान् राजा मान्धाता पृषदाज्य (दधिमिश्रित घी जो पुत्रोत्पत्तिके लिये तैयार करके रक्खा गया था) से उत्पन्न हुए थे। वे अपने पिता महामना युवनाश्वके पेटमें ही पले थे ॥ ८२ ॥

यं दृष्ट्वा पितुरुत्सङ्गे शयानं देवरूपिणम्।
अन्योन्यमब्रुवन् देवाः कमयं धास्यतीति वै ॥ ८३ ॥

'जब वे शिशु-अवस्थामें पिताके पेटसे पैदा हो उनकी कोखमें पड़े थे, उस समय उनका रूप देवताओंके बालकोंके समान दिखायी देता था। उस अवस्थामें उन्हें देखकर देवता आपसमें बात करने लगे 'यह मातृहीन बालक किसका दूध पीयेगा'॥

मामयं धास्यतीत्येवमिन्द्रोऽथाभ्युपपद्यत।
मान्धातेति ततस्तस्य नाम चक्रे शतक्रतुः॥ ८४॥

'यह सुनकर इन्द्र बोल उठे 'मां धाता—मेरा दूध पीयेगा।' जब इन्द्रने इस प्रकार उसे पिलाना स्वीकार कर लिया, तभी उन्होंने ही उस बालकका नाम 'मान्धाता' रख दिया॥ ८४॥

ततस्तु पयसो धारां पुष्टिहेतोर्महात्मनः।
तस्यास्ये यौवनाश्वस्य पाणिरिन्द्रस्य चास्रवत्॥ ८५॥

'तदनन्तर उस महामनस्वी बालक युवनाश्वकुमारकी पुष्टिके लिये उसके मुखमें इन्द्रके हाथसे दूधकी धारा झरने लगी॥ ८५॥

तं पिबन् पाणिमिन्द्रस्य शतमह्ना व्यवर्धत।
स आसीद् द्वादशसमो द्वादशाहेन पार्थिवः॥ ८६॥

'इन्द्रके उस हाथको पीता हुआ वह बालक एक ही दिनमें सौ दिनके बराबर बढ़ गया। बारह दिनोंमें राजकुमार मान्धाता बारह वर्षकी अवस्थावाले बालकके समान हो गये॥

तमिमं पृथिवी सर्वा एकाह्ना समपद्यत।
धर्मात्मानं महात्मानं शूरमिन्द्रसमं युधि॥ ८७॥

'राजा मान्धाता बड़े धर्मात्मा और महामनस्वी थे। युद्धमें इन्द्रके समान शौर्य प्रकट करते थे। यह सारी पृथ्वी एक ही दिनमें उनके अधिकारमें आ गयी थी॥ ८७॥

यद्याङ्गारं तु नृपतिं मरुत्तमसितं गयम्।
अङ्गं बृहद्रथं चैव मान्धाता समरेऽजयत्॥ ८८॥

'मान्धाताने समराङ्गणमें राजा अङ्गार, मरुत्त, असित, गय तथा अङ्गराज बृहद्रथको भी पराजित कर दिया था॥

यौवनाश्वो यदाङ्गारं समरे प्रत्ययुध्यत।
विस्फारैर्धनुषो देवा द्यौरभेदीति मेनिरे॥ ८९॥

'जिस समय युवनाश्वपुत्र मान्धाताने रणभूमिमें राजा अङ्गारके साथ युद्ध किया था, उस समय देवताओंने ऐसा समझा कि 'उनके धनुषकी टंकारसे सारा आकाश ही फट गया है'॥ ८९॥

यत्र सूर्य उदेति स्म यत्र च प्रतितिष्ठति।
सर्वं तद् यौवनाश्वस्य मान्धातुः क्षेत्रमुच्यते॥ ९०॥

'जहाँ सूर्य उदय होते हैं वहाँसे लेकर जहाँ अस्त होते हैं वहाँतकका सारा देश युवनाश्वपुत्र मान्धाताका ही राज्य कहलाता था॥ ९०॥

अश्वमेधशतेनेष्ट्वा राजसूयशतेन च।
अददाद् रोहितान् मत्स्यान् ब्राह्मणेभ्यो विशाम्पते ९१
हैरण्यान् योजनोत्सेधानायतान् दशयोजनम्।
अतिरिक्तान् द्विजातिभ्यो व्यभजंस्त्वितरे जनाः॥ ९२॥

'प्रजानाथ! उन्होंने सौ अश्वमेध तथा सौ राजसूय यज्ञ करके दस योजन लंबे तथा एक योजन ऊँचे बहुत-से सोनेके रोहित नामक मत्स्य बनवाकर ब्राह्मणोंको दान किये थे। ब्राह्मणोंके ले जानेसे जो बच गये, उन्हें दूसरे लोगोंने बाँट लिया॥ ९१-९२॥

स चेन्ममार सृंजय चतुर्भद्रतरस्त्वया।
पुत्रात् पुण्यतरश्चैव मा पुत्रमनुतप्यथाः॥ ९३॥

'सृंजय! राजा मान्धाता चारों कल्याणमय गुणोंमें तुमसे बढ़े-चढ़े थे और तुम्हारे पुत्रसे भी अधिक पुण्यात्मा थे। जब वे भी मारे गये, तब तुम्हारे पुत्रकी क्या बिसात है? अतः तुम उसके लिये शोक न करो॥ ९३॥

ययातिं नाहुषं चैव मृतं सृंजय शुश्रुम।
य इमां पृथिवीं कृत्स्नां विजित्य सहसागराम्॥ ९४॥
शम्यापातेनाभ्यतीयाद् वेदीभिश्चित्रयन् महीम्।
ईजानः क्रतुभिर्मुख्यैः पर्यगच्छद् वसुन्धराम्॥ ९५॥

'सृंजय! नहुषपुत्र राजा ययाति भी जीवित न रह सके—यह हमने सुना है। उन्होंने समुद्रोंसहित इस सारी पृथ्वीको जीतकर शम्यापातके[1] द्वारा पृथ्वीको नाप-नापकर यज्ञकी वेदियाँ बनायीं, जिनसे भूतलकी विचित्र शोभा होने लगी। उन्हीं वेदियोंपर मुख्य-मुख्य यज्ञोंका अनुष्ठान करते हुए उन्होंने सारी भारतभूमिकी परिक्रमा कर डाली॥ ९४-९५॥

इष्ट्वा क्रतुसहस्रेण वाजपेयशतेन च।
तर्पयामास विप्रेन्द्रांस्त्रिभिः काञ्चनपर्वतैः॥ ९६॥

'उन्होंने एक हजार श्रौतयज्ञों और सौ वाजपेय यज्ञोंका अनुष्ठान किया तथा श्रेष्ठ ब्राह्मणोंको सोनेके तीन पर्वत दान करके पूर्णतः संतुष्ट किया॥ ९६॥

व्यूढेनासुरयुद्धेन हत्वा दैतेयदानवान्।
व्यभजत् पृथिवीं कृत्स्नां ययातिर्नहुषात्मजः॥ ९७॥

'नहुषपुत्र ययातिने व्यूह-रचनायुक्त आसुर युद्धके द्वारा दैत्यों और दानवोंका संहार करके यह सारी पृथ्वी अपने पुत्रोंको बाँट दी थी॥ ९७॥

अन्त्येषु पुत्रान् निक्षिप्य यदुद्रुह्युपुरोगमान्।
पूरुं राज्येऽभिषिच्याथ सदारः प्राविशद् वनम्॥ ९८॥

'उन्होंने किनारेके प्रदेशोंपर अपने तीन पुत्र यदु, द्रुह्यु तथा अनुको स्थापित करके मध्य भारतके राज्यपर पूरुको अभिषिक्त किया; फिर अपनी स्त्रियोंके साथ वे वनमें चले गये॥ ९८॥

१. 'शम्या' एक ऐसे काठके डंडेको कहते हैं, जिसका निचला भाग मोटा होता है। उसे जब कोई बलवान् पुरुष उठाकर जोरसे फेंके, तब जितनी दूरीपर जाकर वह गिरे, उतने भूभागको एक 'शम्यापात' कहते हैं। इस तरह एक-एक शम्यापातमें एक-एक यज्ञवेदी बनाते और यज्ञ करते हुए राजा ययाति आगे बढ़ते गये। इस प्रकार चलकर उन्होंने भारतभूमिकी परिक्रमा की थी।

स चेन्ममार सृंजय चतुर्भद्रतरस्त्वया।
पुत्रात् पुण्यतरश्चैव मा पुत्रमनुतप्यथाः ॥ ९९ ॥

'सृंजय ! वे तुम्हारी अपेक्षा चारों कल्याणमय गुणोंमें बढ़े हुए थे और तुम्हारे पुत्रसे भी अधिक पुण्यात्मा थे। जब वे भी मर गये तो तुम्हारा पुत्र किस गिनतीमें है ? अतः तुम उसके लिये शोक न करो ॥ ९९ ॥

अम्बरीषं च नाभागं मृतं सृंजय शुश्रुम।
यं प्रजा वव्रिरे पुण्यं गोप्तारं नृपसत्तमम् ॥१००॥

'सृंजय ! हमने सुना है कि नाभागके पुत्र अम्बरीष भी मृत्युके अधीन हो गये थे। उन नृपश्रेष्ठ अम्बरीषको सारी प्रजाने अपना पुण्यमय रक्षक माना था ॥ १०० ॥

यः सहस्रं सहस्राणां राज्ञामयुतयाजिनाम्।
ईजानो वितते यज्ञे ब्राह्मणेभ्यः सुसंहितः ॥१०१॥

'ब्राह्मणोंके प्रति अनुराग रखनेवाले राजा अम्बरीषने यज्ञ करते समय अपने विशाल यज्ञमण्डपमें दस लाख ऐसे राजाओंको उन ब्राह्मणोंकी सेवामें नियुक्त किया था, जो स्वयं भी दस-दस हजार यज्ञ कर चुके थे ॥१०१॥

नैतत् पूर्वे जनाश्चक्रुर्न करिष्यन्ति चापरे।
इत्यम्बरीषं नाभागिमन्वमोदन्त दक्षिणाः ॥१०२॥

'उन यज्ञकुशल ब्राह्मणोंने नाभागपुत्र अम्बरीषकी सराहना करते हुए कहा था कि 'ऐसा यज्ञ न तो पहलेके राजाओंने किया है और न भविष्यमें होनेवाले ही करेंगे' ॥

शतं राजसहस्राणि शतं राजशतानि च।
सर्वेऽश्वमेधैरीजानास्तेऽन्वयुर्दक्षिणायनम् ॥१०३॥

'उनके यज्ञमें एक लाख दस हजार राजा सेवाकार्य करते थे। वे सभी अश्वमेधयज्ञका फल पाकर दक्षिणायनके पश्चात् आनेवाले उत्तरायणमार्गसे ब्रह्मलोकमें चले गये थे ॥ १०३ ॥

स चेन्ममार सृंजय चतुर्भद्रतरस्त्वया।
पुत्रात् पुण्यतरश्चैव मा पुत्रमनुतप्यथाः ॥१०४॥

'सृंजय ! राजा अम्बरीष चारों कल्याणकारी गुणोंमें तुमसे बढ़कर थे और तुम्हारे पुत्रसे बहुत अधिक पुण्यात्मा भी थे। जब वे भी जीवित न रह सके तो दूसरेके लिये क्या कहा जा सकता है ? अतः तुम अपने मरे हुए पुत्रके लिये शोक न करो ॥ १०४ ॥

शशबिन्दुं चैत्ररथं मृतं शुश्रुम सृंजय।
यस्य भार्यासहस्राणां शतमासीन्महात्मनः ॥१०५॥
सहस्रं तु सहस्राणां यस्यासञ्छाशबिन्दवाः।

'सृंजय ! हम सुनते हैं कि चित्ररथके पुत्र शशबिन्दु भी मृत्युसे अपनी रक्षा न कर सके। उन महामना नरेशके एक लाख रानियाँ थीं और उनके गर्भसे राजाके दस लाख पुत्र उत्पन्न हुए थे ॥ १०५½ ॥

हिरण्यकवचाः सर्वे सर्वे चोत्तमधन्विनः ॥१०६॥
शतं कन्या राजपुत्रमेकैकं पृथगन्वयुः।
कन्यां कन्यां शतं नागा नागं नागं शतं रथाः॥१०७॥

'वे सभी राजकुमार सुवर्णमय कवच धारण करनेवाले और उत्तम धनुर्धर थे। एक-एक राजकुमारको अलग-अलग सौ-सौ कन्याएँ ब्याही गयी थीं। प्रत्येक कन्याके साथ सौ-सौ हाथी प्राप्त हुए थे। हर एक हाथीके पीछे सौ-सौ रथ मिले थे ॥ १०६-१०७ ॥

रथे रथे शतं चाश्वा देशजा हेममालिनः।
अश्वे अश्वे शतं गावो गवां तद्वदजाविकम् ॥ १०८॥

'प्रत्येक रथके साथ सुवर्णमालाधारी सौ-सौ देशीय घोड़े थे। हर एक अश्वके साथ सौ गायें और एक-एक गायके साथ सौ-सौ भेड़-बकरियाँ प्राप्त हुई थीं ॥ १०८ ॥

एतद् धनमपर्यन्तमश्वमेधे महामखे।
शशबिन्दुर्महाराज ब्राह्मणेभ्यः समार्पयत् ॥१०९॥

'महाराज ! राजा शशबिन्दुने यह अनन्त धनराशि अश्वमेध नामक महायज्ञमें ब्राह्मणोंको दान कर दी थी ॥१०९॥

स चेन्ममार सृंजय चतुर्भद्रतरस्त्वया।
पुत्रात् पुण्यतरश्चैव मा पुत्रमनुतप्यथाः ॥११०॥

'सृंजय ! वे चारों कल्याणकारी गुणोंमें तुमसे बढ़े-चढ़े थे और तुम्हारे पुत्रसे बहुत अधिक पुण्यात्मा भी थे। जब वे भी मृत्युसे बच न सके, तब तुम्हारे पुत्रके लिये क्या कहा जाय ? अतः तुम्हें अपने मरे हुए पुत्रके लिये शोक नहीं करना चाहिये ॥ ११० ॥

गयं चामूर्तरयसं मृतं शुश्रुम सृंजय।
यः स वर्षशतं राजा हुतशिष्टाशनोऽभवत् ॥१११॥

'सृंजय ! सुननेमें आया है कि अमूर्तरयाके पुत्र राजा गयकी भी मृत्यु हुई थी। उन्होंने सौ वर्षोंतक होमसे अवशिष्ट अन्नका ही भोजन किया ॥ १११ ॥

यस्मै वह्निर्वरं प्रादात् ततो वव्रे वरान् गयः।
ददतो मेऽक्षयं वित्तं धर्मे श्रद्धा च वर्धताम् ॥११२॥
मनो मे रमतां सत्ये त्वत्प्रसादाद्धुताशन।

'एक समय अग्निदेवने उन्हें वर माँगनेके लिये कहा, तब राजा गयने ये वर माँगे, 'अग्निदेव ! आपकी कृपासे दान करते हुए मेरे पास अक्षय धनका भंडार भरा रहे। धर्ममें मेरी श्रद्धा बढ़ती रहे और मेरा मन सदा सत्यमें ही अनुरक्त रहे'॥

लेभे च कामांस्तान् सर्वान् पावकादिति नः श्रुतम् ॥११३॥
दर्शैश्च पूर्णमासैश्च चातुर्मास्यैः पुनः पुनः।
अयजद्धयमेधेन सहस्रं परिवत्सरान् ॥११४॥

'सुना है कि उन्हें अग्निदेवसे वे सभी मनोवाञ्छित फल प्राप्त हो गये थे। उन्होंने एक हजार वर्षोंतक बारंबार दर्श, पौर्णमास, चातुर्मास्य तथा अश्वमेध यज्ञोंका अनुष्ठान किया था॥

शतं गवां सहस्राणि शतमश्वतराणि च।
उत्थायोत्थाय वै प्रादात् सहस्रं परिवत्सरान् ॥११५॥

'वे हजार वर्षोंतक प्रतिदिन सबेरे उठ-उठकर एक-एक लाख गौओं और सौ-सौ खच्चरोंका दान करते थे ॥ ११५ ॥

गर्भाधानस्य सोमेन देवान् वित्तैर्द्विजानपि।
पितॄन् स्वधाभिः कामैश्च स्त्रियः स पुरुषर्षभ ॥११६॥

'पुरुषप्रवर ! इन्होंने सोमरसके द्वारा देवताओंको, धनके द्वारा ब्राह्मणोंको, श्राद्धकर्मसे पितरोंको और कामभोगद्वारा स्त्रियोंको तृप्त किया था ॥ ११६ ॥

सौवर्णीं पृथिवीं कृत्वा दशव्यामां द्विरायताम्।
दक्षिणामददद् राजा वाजिमेधे महाक्रतौ ॥ ११७॥

'राजा गयने महायज्ञ अश्वमेधमें दस व्याम (पचास हाथ) चौड़ी और इससे दूनी लंबी सोनेकी पृथ्वी बनवाकर दक्षिणा-रूपसे दान की थी ॥ ११७ ॥

यावत्यः सिकता राजन् गङ्गायां पुरुषर्षभ।
तावतीरेव गाः प्रादादामूर्तरयसो गयः ॥११८॥

'पुरुषप्रवर नरेश ! गङ्गाजीमें जितने बालूके कण हैं, अमूर्तरयाके पुत्र गयने उतनी ही गौओंका दान किया था॥

स चेन्ममार सृंजय चतुर्भद्रतरस्त्वया।
पुत्रात् पुण्यतरश्चैव मा पुत्रमनुतप्यथाः ॥११९॥

'सृंजय ! वे चारों कल्याणकारी गुणोंमें तुमसे बढ़े-चढ़े थे और तुम्हारे पुत्रसे बहुत अधिक पुण्यात्मा भी थे। जब वे भी मर गये तो तुम्हारे पुत्रकी क्या बात है ! अतः तुम उसके लिये शोक न करो ॥ ११९ ॥

रन्तिदेवं च सांकृत्यं मृतं संजय शुश्रुम।
सम्यगाराध्य यः शक्राद् वरं लेभे महातपाः ॥१२०॥
अन्नं च नो बहु भवेदतिथींश्च लभेमहि।
श्रद्धा च नो मा व्यगमन्मा च याचिष्म कंचन ॥१२१॥

'सृंजय ! संकृतिके पुत्र राजा रन्तिदेव भी कालके गालमें चले गये, यह हमारे सुननेमें आया है। उन महातपस्वी नरेशने इन्द्रकी अच्छी तरह आराधना करके उनसे यह वर माँगा कि 'हमारे पास अन्न बहुत हो, हम सदा अतिथियोंकी सेवाका अवसर प्राप्त करें, हमारी श्रद्धा दूर न हो और हम किसीसे कुछ भी न माँगें' ॥ १२०-१२१ ॥

उपातिष्ठन्त पशवः स्वयं तं संशितव्रतम्।
ग्राम्यारण्या महात्मानं रन्तिदेवं यशस्विनम् ॥१२२॥

'कठोर व्रतका पालन करनेवाले, यशस्वी महात्मा राजा रन्तिदेवके पास गाँवों और जंगलोंके पशु अपने-आप यज्ञके लिये उपस्थित हो जाते थे ॥ १२२ ॥

महानदी चर्मराशेरुत्क्लेदात् ससृजे यतः।
ततश्चर्मण्वतीत्येवं विख्याता सा महानदी ॥१२३॥

'वहाँ भीगी चर्मराशिसे जो जल बहता था, उससे एक विशाल नदी प्रकट हो गयी, जो चर्मण्वती (चम्बल) के नामसे विख्यात हुई ॥ १२३ ॥

ब्राह्मणेभ्यो ददौ निष्कान् सदसि प्रतते नृपः।
तुभ्यं निष्कं तुभ्यं निष्कमिति क्रोशन्ति वै द्विजाः॥१२४॥
सहस्रं तुभ्यमित्युक्त्वा ब्राह्मणान् सम्प्रपद्यते।

'राजा अपने विशाल यज्ञमें ब्राह्मणोंको सोनेके निष्क दिया करते थे। वहाँ द्विजलोग पुकार-पुकारकर कहते कि 'ब्राह्मणो! यह तुम्हारे लिये निष्क है, यह तुम्हारे लिये निष्क है' परंतु कोई लेनेवाला आगे नहीं बढ़ता था। फिर वे यह कहकर कि 'तुम्हारे लिये एक सहस्र निष्क है', लेनेवाले ब्राह्मणोंको उपलब्ध कर पाते थे ॥ १२४½ ॥

अन्वाहार्योपकरणं द्रव्योपकरणं च यत् ॥१२५॥
घटाः पात्र्यः कटाहानि स्थाल्यश्च पिठराणि च।
नासीत् किंचिदसौवर्णं रन्तिदेवस्य धीमतः ॥१२६॥

'बुद्धिमान् राजा रन्तिदेवके उस यज्ञमें अन्वाहार्य अग्निमें आहुति देनेके लिये जो उपकरण थे तथा द्रव्य-संग्रहके लिये जो उपकरण—घड़े, पात्र, कड़ाहे, बटलोई और कठौते आदि सामान थे, उनमेंसे कोई भी ऐसा नहीं था, जो सोनेका बना हुआ न हो ॥ १२५-१२६ ॥

सांकृते रन्तिदेवस्य यां रात्रिमवसन् गृहे।
आलभ्यन्त शतं गावः सहस्राणि च विंशतिः॥१२७॥

'संकृतिके पुत्र राजा रन्तिदेवके घरमें जिस रातको अतिथियोंका समुदाय निवास करता था, उस समय उन्हें बीस हजार एक सौ गौएँ छूकर दी जाती थीं ॥ १२७ ॥

तत्र स्म सूदाः क्रोशन्ति सुमृष्टमणिकुण्डलाः।
सूपं भूयिष्ठमश्नीध्वं नाद्य भोज्यं यथा पुरा ॥१२८॥

'वहाँ विशुद्ध मणिमय कुण्डल धारण किये रसोइये पुकार-पुकारकर कहते थे कि 'आपलोग खूब दाल-भात खाइये। आजका भोजन पहले-जैसा नहीं है, अर्थात् पहलेकी अपेक्षा बहुत अच्छा है' ॥ १२८ ॥

स चेन्ममार सृंजय चतुर्भद्रतरस्त्वया।
पुत्रात् पुण्यतरश्चैव मा पुत्रमनुतप्यथाः ॥१२९॥

'सृंजय ! रन्तिदेव तुमसे पूर्वोक्त चारों गुणोंमें बढ़े-चढ़े थे और तुम्हारे पुत्रसे बहुत अधिक पुण्यात्मा थे। जब वे भी मर गये तो तुम्हारे पुत्रकी क्या बात है ? अतः तुम उसके लिये शोक न करो ॥ १२९ ॥

सगरं च महात्मानं मृतं शुश्रुम सृंजय।
ऐक्ष्वाकं पुरुषव्याघ्रमतिमानुषविक्रमम् ॥१३०॥

'सृंजय ! इक्ष्वाकुवंशी पुरुषसिंह महामना सगर भी मरे थे, ऐसा सुननेमें आया है। उनका पराक्रम अलौकिक था ॥

षष्टिः पुत्रसहस्राणि यं यान्तमनुजग्मिरे।
नक्षत्रराजं वर्षान्ते व्यभ्रे ज्योतिर्गणा इव ॥१३१॥

'जैसे वर्षाके अन्त (शरद्) में बादलोंसे रहित आकाशके भीतर तारे नक्षत्रराज चन्द्रमाका अनुसरण करते हैं, उसी प्रकार राजा सगर जब युद्ध आदिके लिये कहीं यात्रा करते थे, तब उनके साठ हजार पुत्र उन नरेशके पीछे-पीछे चलते थे ॥ १३१ ॥

एकच्छत्रा मही यस्य प्रतापादभवत् पुरा।

योऽश्वमेधसहस्रेण तर्पयामास देवताः ॥१३२॥

'पूर्वकालमें राजाके प्रतापसे एकछत्र पृथ्वी उनके अधिकार-में आ गयी थी। उन्होंने एक सहस्र अश्वमेध यज्ञ करके देवताओंको तृप्त किया था ॥ १३२ ॥

यः प्रादात् कनकस्तम्भं प्रासादं सर्वकाञ्चनम्।
पूर्णं पद्मदलाक्षीणां स्त्रीणां शयनसंकुलम् ॥१३३॥
द्विजातिभ्योऽनुरूपेभ्यः कामांश्च विविधान् बहून्।
यस्यादेशेन तद् वित्तं व्यभजन्त द्विजातयः ॥१३४॥

'राजाने सोनेके खंभोंसे युक्त पूर्णतः सोनेका बना हुआ महल, जो कमलके समान नेत्रोंवाली सुन्दरी स्त्रियोंकी शय्याओं-से सुशोभित था, तैयार कराकर योग्य ब्राह्मणोंको दान किया। साथ ही नाना प्रकारकी भोगसामग्रियाँ भी प्रचुरमात्रामें उन्हें दी थीं। उनके आदेशसे ब्राह्मणोंने उनका सारा धन आपसमें बाँट लिया था ॥ १३३-१३४ ॥

खानयामास यः कोपात् पृथिवीं सागराङ्किताम्।
यस्य नाम्ना समुद्रश्च सागरत्वमुपागतः ॥१३५॥

'एक समय क्रोधमें आकर उन्होंने समुद्रसे चिह्नित सारी पृथ्वी खुदवा डाली थी। उन्हींके नामपर समुद्रकी 'सागर' संज्ञा हो गयी ॥ १३५ ॥

स चेन्ममार सृंजय चतुर्भद्रतरस्त्वया।
पुत्रात् पुण्यतरश्चैव मा पुत्रमनुतप्यथाः ॥१३६॥

'सृंजय ! वे चारों कल्याणकारी गुणोंमें तुमसे बढ़े हुए थे। तुम्हारे पुत्रसे बहुत अधिक पुण्यात्मा थे। जब वे भी मर गये, तब तुम्हारे पुत्रकी क्या बात है ? अतः तुम उसके लिये शोक न करो ॥ १३६ ॥

राजानं च पृथुं वैन्यं मृतं शुश्रुम सृंजय।
यमभ्यषिञ्चन् सम्भूय महारण्ये महर्षयः ॥१३७॥

'सृंजय ! वेनके पुत्र महाराज पृथुको भी अपने शरीरका त्याग करना पड़ा था, ऐसा हमने सुना है। महर्षियोंने महान् वनमें एकत्र होकर उनका राज्याभिषेक किया था ॥ १३७ ॥

प्रथयिष्यति वै लोकान् पृथुरित्येव शब्दितः।
क्षताद् यो वै त्रायतीति स तस्मात् क्षत्रियः स्मृतः॥१३८॥

'ऋषियोंने यह सोचकर कि सब लोकोंमें धर्मकी मर्यादा प्रथित (स्थापित) करेंगे, उनका नाम पृथु रक्खा था। वे क्षत अर्थात् दुःखसे सबका त्राण करते थे, इसलिये क्षत्रिय कहलाये ॥ १३८ ॥

पृथुं वैन्यं प्रजा दृष्ट्वा रक्ताः स्मेति यदब्रुवन्।
ततो राजेति नामास्य अनुरागादजायत ॥१३९॥

'वेननन्दन पृथुको देखकर समस्त प्रजाओंने एक साथ कहा कि-'हम-इनमें अनुरक्त हैं' इस प्रकार प्रजाका रञ्जन करनेके कारण ही उनका नाम 'राजा' हुआ ॥ १३९ ॥

अकृष्टपच्या पृथिवी पुटके पुटके मधु।
सर्वा द्रोणदुघा गावो वैन्यस्यासन् प्रशासतः॥१४०॥

'पृथुके शासनकालमें पृथ्वी बिना जोते ही धान्य उत्पन्न करती थी, वृक्षोंके पुट-पुटमें मधु (रस) भरा था और सारी गौएँ एक-एक दोन दूध देती थीं ॥ १४० ॥

अरोगाः सर्वसिद्धार्था मनुष्या अकुतोभयाः।
यथाभिकाममवसन् क्षेत्रेषु च गृहेषु च ॥१४१॥

'मनुष्य नीरोग थे। उनकी सारी कामनाएँ सर्वथा परिपूर्ण थीं और उन्हें कभी किसी चीजसे भय नहीं होता था। सब लोग इच्छानुसार घरों या खेतोंमें रह लेते थे ॥ १४१ ॥

आपस्तस्तम्भिरे चास्य समुद्रमभियास्यतः।
सरितश्चानुदीर्यन्त ध्वजभङ्गश्च नाभवत् ॥१४२॥

'जब वे समुद्रकी ओर यात्रा करते, उस समय उसका जल स्थिर हो जाता था। नदियोंकी बाढ़ शान्त हो जाती थी। उनके रथकी ध्वजा कभी भग्न नहीं होती थी ॥१४२॥

हैरण्यांस्त्रिनलोत्सेधान् पर्वतानेकविंशतिम्।
ब्राह्मणेभ्यो ददौ राजा योऽश्वमेधे महामखे ॥१४३॥

'राजा पृथुने अश्वमेधनामक महायज्ञमें चार सौ हाथ ऊँचे इक्कीस सुवर्णमय पर्वत ब्राह्मणोंको दान किये थे॥

स चेन्ममार सृंजय चतुर्भद्रतरस्त्वया।
पुत्रात् पुण्यतरश्चैव मा पुत्रमनुतप्यथाः ॥१४४॥

'सृंजय ! वे चारों कल्याणकारी गुणोंमें तुमसे बढ़े-चढ़े थे और तुम्हारे पुत्रकी अपेक्षा बहुत अधिक पुण्यात्मा भी थे। जब वे भी मर गये तो तुम्हारे पुत्रकी क्या बात है ? अतः तुम अपने मरे हुए पुत्रके लिये शोक न करो ॥ १४४ ॥

किं वा तूष्णीं ध्यायसे सृंजय त्वं
न मे राजन् वाचमिमां शृणोषि।
न चेन्मोघं विप्रलप्तं ममेदं
पथ्यं मुमूर्षोरिव सुप्रयुक्तम् ॥१४५॥

'सृंजय ! तुम चुपचाप क्या सोच रहे हो ! राजन् ! मेरी इस बातको क्यों नहीं सुनते हो ? जैसे मरणासन्न पुरुषके ऊपर अच्छी तरह प्रयोगमें लायी हुई ओषधि व्यर्थ जाती है, उसी प्रकार मेरा यह सारा प्रवचन निष्फल तो नहीं हो गया ?'॥

सृंजय उवाच

शृणोमि ते नारद वाचमेनां
विचित्रार्थां स्रजमिव पुण्यगन्धाम्।
राजर्षीणां पुण्यकृतां महात्मनां
कीर्त्या युक्तानां शोकनिर्णाशनार्थाम्॥१४६॥

सृंजयने कहा—नारद ! पवित्र गन्धवाली मालाके समान विचित्र अर्थसे भरी हुई आपकी इस वाणीको मैं सुन रहा हूँ। पुण्यात्मा महामनस्वी और कीर्तिशाली राजर्षियोंके चरित्रसे युक्त आपका यह वचन सम्पूर्ण शोकोंका विनाश करनेवाला है ॥ १४६ ॥

न ते मोघं विप्रलप्तं महर्षे
दृष्ट्वैवाहं नारद त्वां विशोकः।

तृप्ये ने वचनं ब्रह्मवादिन्
न मे तृप्याम्यमृतस्येव पानात् ॥१४७॥

महर्षि नारद! आपने जो कुछ कहा है, आपका वह प्रवचन व्यर्थ नहीं गया है। आपका दर्शन करके ही मैं शोकरहित हो गया हूँ। ब्रह्मवादी मुने! मैं आपका यह प्रवचन सुनना चाहता हूँ और अमृतपानके समान उससे तृप्त नहीं हो रहा हूँ॥ १४७॥

अमोघदर्शिन् मम चेत् प्रसादं
संतापदग्धस्य विभो प्रकुर्याः।
सुतस्य सञ्जीवनमद्य मे स्यात्
तव प्रसादात् सुतसङ्गमश्च ॥१४८॥

प्रभो! आपका दर्शन अमोघ है। मैं पुत्रशोकके संतापसे दग्ध हो रहा हूँ। यदि आप मुझपर कृपा करें तो मेरा पुत्र फिर जीवित हो सकता है और आपके प्रसादसे मुझे पुनः पुत्र-मिलनका सुख सुलभ हो जायगा॥ १४८॥

नारद उवाच

यस्ते पुत्रो गमितोऽयं विजातः
स्वर्णष्ठीवी यमदात् पर्वतस्ते।
पुनस्तु ते पुत्रमहं ददामि
हिरण्यनाभं वर्षसहस्रिणं च ॥१४९॥

नारदजी कहते हैं—राजन्! तुम्हारे यहाँ जो यह सुवर्णष्ठीवी नामक पुत्र उत्पन्न हुआ था और जिसे पर्वत मुनिने तुम्हें दिया था, वह तो चला गया। अब मैं पुनः हिरण्यनाभ नामक एक पुत्र दे रहा हूँ, जिसकी आयु एक हजार वर्षोंकी होगी॥ १४९॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि राजधर्मानुशासनपर्वणि षोडशराजोपाख्याने एकोनत्रिंशोऽध्यायः॥ २९॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत राजधर्मानुशासनपर्वमें सोलह राजाओंका उपाख्यानविषयक* उन्तीसवाँ अध्याय पूरा हुआ॥

त्रिंशोऽध्यायः

महर्षि नारद और पर्वतका उपाख्यान

युधिष्ठिर उवाच

स कथं काञ्चनष्ठीवी सृंजयस्य सुतोऽभवत्।
पर्वतेन किमर्थं वा दत्तस्तेन ममार च॥ १॥

युधिष्ठिरने पूछा—भगवन्! पर्वत मुनिने राजा सृंजयको सुवर्णष्ठीवी नामक पुत्र किस लिये दिया और वह क्यों मर गया?॥ १॥

यदा वर्षसहस्रायुस्तदा भवति मानवः।
कथमप्राप्तकौमारः सृंजयस्य सुतो मृतः॥ २॥

जब उस समय मनुष्यकी एक हजार वर्षकी आयु होती थी, तब सृंजयका पुत्र कुमारावस्था आनेसे पहले ही क्यों मर गया?॥ २॥

उताहो नाममात्रं वै सुवर्णष्ठीविनोऽभवत्।
कथं वा काञ्चनष्ठीवीत्येतदिच्छामि वेदितुम्॥ ३॥

उस बालकका नाममात्र ही सुवर्णष्ठीवी था या उसमें वैसा ही गुण भी था। सुवर्णष्ठीवी नाम पड़नेका कारण क्या था? यह सब मैं जानना चाहता हूँ॥ ३॥

श्रीकृष्ण उवाच

अत्र ते वर्णयिष्यामि यथावृत्तं जनेश्वर।
नारदः पर्वतश्चैव द्वावृषी लोकसत्तमौ॥ ४॥

श्रीकृष्ण बोले—जनेश्वर! इस विषयमें जो बात है, वह यथार्थरूपसे बता रहा हूँ, सुनिये। नारद और पर्वत—ये दोनों ऋषि सम्पूर्ण लोकोंमें श्रेष्ठ हैं॥ ४॥

मातुलो भागिनेयश्च देवलोकादिहागतौ।
विहर्तुकामौ सम्प्रीत्या मानुषेषु पुरा विभो॥ ५॥

ये दोनों परस्पर मामा और भानजे लगते हैं। प्रभो! पहलेकी बात है ये दोनों महर्षि मनुष्यलोकमें भ्रमण करनेके लिये प्रेमपूर्वक देवलोकसे यहाँ आये थे॥ ५॥

हविःपवित्रभोज्येन देवभोज्येन चैव हि।
नारदो मातुलश्चैव भागिनेयश्च पर्वतः॥ ६॥

वे यहाँ पवित्र हविष्य तथा देवताओंके भोजन करने योग्य पदार्थ खाकर रहते थे। नारदजी मामा हैं और पर्वत इनके भानजे हैं॥ ६॥

तावुभौ तपसोपेताववनीतलचारिणौ।
भुञ्जानौ मानुषान् भोगान् यथावत् पर्यधावताम्॥ ७॥

वे दोनों तपस्वी पृथ्वीतलपर विचरते और मानवीय भोगोंका उपभोग करते हुए यहाँ यथावत्‌रूपसे परिभ्रमण करने लगे॥ ७॥

प्रीतिमन्तौ मुदा युक्तौ समयं चैव चक्रतुः।
यो भवेद्धृदि संकल्पः शुभो वा यदि वाशुभः॥ ८॥
अन्योन्यस्य स आख्येयो मृषा शापोऽन्यथा भवेत्।

उन दोनोंने बड़ी प्रसन्नताके साथ प्रेमपूर्वक यह शर्त कर रक्खी थी कि हमलोगोंके मनमें शुभ या अशुभ जो भी संकल्प प्रकट हो, उसे हम एक दूसरेसे कह दें; अन्यथा झूठे ही शापका भागी होना पड़ेगा॥ ८½॥

* यह षोडश राजाओंका उपाख्यान द्रोणपर्वके पचपनवें अध्यायसे लेकर इकहत्तरवें अध्यायतक पहले आ चुका है। उसीको कुछ संक्षिप्त करके पुनः यहाँ दिया गया है। पहलेका परशुरामचरित्र इसमें संगृहीत नहीं हुआ है और पहले जो राजा पौरवका वर्णन आया था, उसके स्थानमें यहाँ अङ्गराज बृहद्रथके चरित्रका वर्णन है। कथाओंके क्रममें भी उलटा-पलटी हो गयी है। श्लोकोंके पाठमें भी बहुत भेद दिखायी देता है।

तौ तथेति प्रतिज्ञाय महर्षी लोकपूजितौ ॥ ९ ॥
सृंजयं श्वैत्यमभ्येत्य राजानमिदमूचतुः ।

वे दोनों लोकपूजित महर्षि 'तथास्तु' कहकर पूर्वोक्त प्रतिज्ञा करनेके पश्चात् श्वेतपुत्र राजा सृंजयके पास जाकर इस प्रकार बोले—॥ ९½ ॥

आवां भवति वत्स्यावः कञ्चित् कालं हिताय ते ॥ १० ॥
यथावत् पृथिवीपाल आवयोः प्रगुणीभव ।

'भूपाल ! हम दोनों तुम्हारे हितके लिये कुछ कालतक तुम्हारे पास ठहरेंगे । तुम हमारे अनुकूल होकर रहो' ।१०½।

तथेति कृत्वा राजा तौ सत्कृत्योपचचार ह ॥ ११ ॥
ततः कदाचित्तौ राजा महात्मानौ तपोधनौ ।
अब्रवीत् परमप्रीतः सुतेयं वरवर्णिनी ॥ १२ ॥
एकैव मम कन्यैषा युवां परिचरिष्यसि ।
दर्शनीयानवद्याङ्गी शीलवृत्तसमाहिता ॥ १३ ॥
सुकुमारी कुमारी च पद्मकिञ्जल्कसुप्रभा ।

तब 'बहुत अच्छा' कहकर राजाने उन दोनोंका सत्कार-पूर्वक पूजन किया । तदनन्तर एक दिन राजा सृंजयने अत्यन्त प्रसन्न होकर उन दोनों तपस्वी महात्माओंसे कहा—'महर्षियो ! यह मेरी एक ही कन्या है, जो परम सुन्दरी, दर्शनीय, निर्दोष अङ्गों-वाली तथा शील और सदाचारसे सम्पन्न है । कमल-केसरके समान कान्तिवाली यह सुकुमारी कुमारी आजसे आप दोनोंकी सेवा करेगी' ॥ ११–१३½ ॥

परमं सौम्यमित्युक्तं ताभ्यां राजा शशास ताम् ॥ १४ ॥
कन्ये विप्रावुपचर देववत् पितृवच्च ह ।

तब उन दोनोंने कहा—'बहुत अच्छा ।' इसके बाद राजाने उस कन्याको आदेश दिया—'बेटी ! तुम इन दोनों महर्षियोंकी देवता और पितरोंके समान सेवा किया करो' १४½

सा तु कन्या तथेत्युक्त्वा पितरं धर्मचारिणी ॥ १५ ॥
यथानिदेशं राज्ञस्तौ सत्कृत्योपचचार ह ।

धर्माचरणमें तत्पर रहनेवाली उस कन्याने पितासे 'ऐसा ही होगा' यों कहकर राजाकी आज्ञाके अनुसार उन दोनोंकी सत्कारपूर्वक सेवा आरम्भ कर दी ॥ १५½ ॥

तस्यास्तेनोपचारेण रूपेणाप्रतिमेन च ॥ १६ ॥
नारदं हृच्छयस्तूर्णं सहसैवाभ्यपद्यत ।

उसकी उस सेवा तथा अनुपम रूप-सौन्दर्यसे नारदके हृदयमें सहसा कामभावका संचार हो गया ॥ १६½ ॥

ववृधे हि ततस्तस्य हृदि कामो महात्मनः ॥ १७ ॥
यथा शुक्लस्य पक्षस्य प्रवृत्तौ चन्द्रमाः शनैः ।

उन महामनस्वी नारदके हृदयमें काम उसी प्रकार धीरे-धीरे बढ़ने लगा, जैसे शुक्लपक्ष आरम्भ होनेपर शनैः-शनैः चन्द्रमाकी वृद्धि होती है ॥ १७½ ॥

न च तं भागिनेयाय पर्वताय महात्मने ॥ १८ ॥
शशंस हृच्छयं तीव्रं व्रीडमानः स धर्मवित् ।

धर्मज्ञ नारदने लज्जावश भानजे महात्मा पर्वतको अपने बढ़े हुए दुःसह कामकी बात नहीं बतायी ॥ १८½ ॥

तपसा चेङ्गितैश्चैव पर्वतोऽथ बुबोध तम् ॥ १९ ॥
कामार्तं नारदं क्रुद्धः शशापैनं ततो भृशम् ।

परंतु पर्वतने अपनी तपस्या और नारदजीकी चेष्टाओंसे जान लिया कि नारद कामवेदनासे पीड़ित हैं; फिर तो उन्होंने अत्यन्त कुपित हो उन्हें शाप देते हुए कहा—॥ १९½ ॥

कृत्वा समयमव्यग्रो भवान् वै सहितो मया ॥ २० ॥
यो भवेद्धृदि संकल्पः शुभो वा यदि वाशुभः ।
अन्योन्यस्य स आख्येय इति तद् वै मृषा कृतम् ॥ २१ ॥
भवता वचनं ब्रह्मंस्तस्मादेष शपाम्यहम् ।

'आपने मेरे साथ स्वस्थचित्तसे यह शर्त की थी कि 'हम दोनोंके हृदयमें जो भी शुभ या अशुभ संकल्प हो, उसे हम दोनों एक दूसरेसे कह दें ।' परंतु ब्रह्मन् ! आपने अपने उस वचनको मिथ्या कर दिया; इसलिये मैं शाप देनेको उद्यत हुआ हूँ ॥ २०-२१½ ॥

न हि कामं प्रवर्तन्तं भवानाचष्ट मे पुरा ॥ २२ ॥
सुकुमार्यां कुमार्यां ते तस्मादेष शपाम्यहम् ।

'जब आपके मनमें पहले इस सुकुमारी कुमारीके प्रति कामभावका उदय हुआ तो आपने मुझे नहीं बताया; इसलिये यह मैं आपको शाप दे रहा हूँ ॥ २२½ ॥

ब्रह्मचारी गुरुर्यस्मात् तपस्वी ब्राह्मणश्च सन् ॥ २३ ॥
अकार्षीः समयभ्रंशमावाभ्यां यः कृतो मिथः ।
शप्स्ये तस्मात् सुसंक्रुद्धो भवन्तं तं निबोध मे ॥ २४ ॥

'आप ब्रह्मचारी, मेरे गुरुजन, तपस्वी और ब्राह्मण हैं तो भी आपने हमलोगोंमें जो शर्त हुई थी, उसे तोड़ दिया है; इसलिये मैं अत्यन्त कुपित होकर आपको जो शाप दे रहा हूँ उसे सुनिये— ॥ २३-२४ ॥

सुकुमारी च ते भार्या भविष्यति न संशयः ।
वानरं चैव ते रूपं विवाहात् प्रभृति प्रभो ॥ २५ ॥
संद्रक्ष्यन्ति नराश्चान्ये स्वरूपेण विनाकृतम् ।

'प्रभो ! यह सुकुमारी आपकी भार्या होगी, इसमें संशय नहीं है, परंतु विवाहके बादसे ही कन्या तथा अन्य सब लोग आपका रूप (मुख) वानरके समान देखने लगेंगे । बंदर जैसा मुँह आपके स्वरूपको छिपा देगा' ॥ २५½ ॥

स तद् वाक्यं तु विज्ञाय नारदः पर्वतं तथा ॥ २६ ॥
अशपत्तमपि क्रोधाद् भागिनेयं स मातुलः ।
तपसा ब्रह्मचर्येण सत्येन च दमेन च ॥ २७ ॥
युक्तोऽपि नित्यधर्मश्च न वै स्वर्गमवाप्स्यसि ।

उस बातको समझकर मामा नारदजी भी कुपित हो उठे और उन्होंने अपने भानजे पर्वतको शाप देते हुए कहा—'अरे ! तू तपस्या, ब्रह्मचर्य, सत्य और इन्द्रिय-संयमसे युक्त एवं नित्य धर्मपरायण होनेपर भी स्वर्गलोकमें नहीं जा सकेगा' ॥ २६-२७½ ॥

तौ तु शप्त्वा भृशं क्रुद्धौ परस्परममर्षणौ ॥ २८ ॥
प्रतिजग्मतुरन्योन्यं क्रुद्धाविव गजोत्तमौ ।

इस प्रकार अत्यन्त कुपित हो एक दूसरेको शाप दे वे दोनों क्रोधमें भरे हुए दो हाथियोंके समान अमर्षपूर्वक प्रतिकूल दिशाओंमें चल दिये ॥ २८½ ॥

पर्वतः पृथिवीं कृत्स्नां विचचार महामतिः ॥ २९ ॥
पूज्यमानो यथान्यायं तेजसा स्वेन भारत ।

भारत ! परम बुद्धिमान् पर्वत अपने तेजसे यथोचित सम्मान पाते हुए सारी पृथ्वीपर विचरने लगे ॥ २९½ ॥

अथ तामलभत् कन्यां नारदः सृंजयात्मजाम् ॥ ३० ॥
धर्मेण विप्रप्रवरः सुकुमारीमनिन्दिताम् ।

इधर विप्रवर नारदजीने उस अनिन्द्य सुन्दरी सृंजय-कुमारी सुकुमारीको धर्मके अनुसार पत्नीरूपमें प्राप्त किया ३०½

सा तु कन्या यथाशापं नारदं तं ददर्श ह ॥ ३१ ॥
पाणिग्रहणमन्त्राणां नियोगादेव नारदम् ।

वैवाहिक मन्त्रोंका प्रयोग होते ही वह राजकन्या शापके अनुसार नारद मुनिको वानराकार मुखसे युक्त देखने लगी ॥ ३१½ ॥

सुकुमारी च देवर्षिं वानरप्रतिमाननम् ॥ ३२ ॥
नैवावामन्यत तदा प्रीतिमत्येव चाभवत् ।

देवर्षिका मुँह वानरके समान देखकर भी सुकुमारीने उनकी अवहेलना नहीं की । वह उनके प्रति अपना प्रेम बढ़ाती ही गयी ॥ ३२½ ॥

उपतस्थे च भर्तारं न चान्यं मनसाप्यगात् ॥ ३३ ॥
देवं मुनिं वा यक्षं वा पतित्वे पतिवत्सला ।

पतिपर स्नेह रखनेवाली सुकुमारी अपने स्वामीकी सेवामें सदा उपस्थित रहती और दूसरे किसी पुरुषका, वह यक्ष, मुनि अथवा देवता ही क्यों न हो, मनके द्वारा भी पतिरूपसे चिन्तन नहीं करती थी ॥ ३३½ ॥

ततः कदाचिद् भगवान् पर्वतोऽनुचचार ह ॥ ३४ ॥
वनं विरहितं किंचित् तत्रापश्यत् स नारदम् ।

तदनन्तर किसी समय भगवान् पर्वत घूमते हुए किसी एकान्त वनमें आ गये । वहाँ उन्होंने नारदजीको देखा ३४½

ततोऽभिवाद्य प्रोवाच नारदं पर्वतस्तदा ॥ ३५ ॥
भवान् प्रसादं कुरुतात् स्वर्गादेशाय मे प्रभो ।

तब पर्वतने नारदजीको प्रणाम करके कहा—'प्रभो ! आप मुझे स्वर्गमें जानेके लिये आज्ञा देनेकी कृपा करें' ।३५½।

तमुवाच ततो दृष्ट्वा पर्वतं नारदस्तथा ॥ ३६ ॥
कृताञ्जलिमुपासीनं दीनं दीनतरः स्वयम् ।

नारदजीने देखा, पर्वत दीनभावसे हाथ जोड़कर मेरे पास खड़ा है; फिर तो वे स्वयं भी अत्यन्त दीन होकर उनसे बोले—॥ ३६½ ॥

त्वयाहं प्रथमं शप्तो वानरस्त्वं भविष्यसि ॥ ३७ ॥
इत्युक्तेन मया पश्चाच्छप्तस्त्वमपि मत्सरात् ।
अद्यप्रभृति वै वासं स्वर्गे नावाप्स्यसीति ह ॥ ३८ ॥
तव नैतद्धि सदृशं पुत्रस्थाने हि मे भवान् ।

'वत्स ! पहले तुमने मुझे यह शाप दिया था कि 'तुम वानर हो जाओ ।' तुम्हारे ऐसा कहनेके बाद मैंने भी मत्सरता-वश तुम्हें शाप दे दिया, जिससे आजतक तुम स्वर्गमें नहीं जा सके । यह तुम्हारे योग्य कार्य नहीं था; क्योंकि तुम मेरे पुत्र-की जगहपर हो' ॥ ३७-३८½ ॥

न्यवर्तयेतां तौ शापावन्योन्येन तदा मुनी ॥ ३९ ॥
श्रीसमृद्धं तदा दृष्ट्वा नारदं देवरूपिणम् ।
सुकुमारी प्रदुद्राव परपत्यभिशङ्कया ॥ ४० ॥

इस प्रकार बातचीत करके उन दोनों ऋषियोंने एक दूसरेके शापको निवृत्त कर दिया । तब नारदजीको देवताके समान तेजस्वी रूपमें देखकर सुकुमारी पराये पतिकी आशङ्का-से भाग चली ॥ ३९-४० ॥

तां पर्वतस्ततो दृष्ट्वा प्रद्रवन्तीमनिन्दिताम् ।
अब्रवीत् तव भर्तैष नात्र कार्या विचारणा ॥ ४१ ॥

उस सती साध्वी राजकन्याको भागती देख पर्वतने इससे कहा—'देवि ! ये तुम्हारे पति ही हैं । इसमें अन्यथा विचार करनेकी आवश्यकता नहीं है ॥ ४१ ॥

ऋषिः परमधर्मात्मा नारदो भगवान् प्रभुः ।
तवैवाभेद्यहृदयो मा तेऽभूदत्र संशयः ॥ ४२ ॥

'ये तुम्हारे पति अभेद्य हृदयवाले परम धर्मात्मा प्रभु भगवान् नारद मुनि ही हैं । इस विषयमें तुम्हें संदेह नहीं होना चाहिये' ॥ ४२ ॥

सानुनीता बहुविधं पर्वतेन महात्मना ।
शापदोषं च तं भर्तुः श्रुत्वा प्रकृतिमागता ॥ ४३ ॥
पर्वतोऽथ ययौ स्वर्गं नारदोऽभ्यगमद् गृहान् ।

महात्मा पर्वतके बहुत समझाने-बुझानेपर पतिके शाप-दोषकी बात सुनकर सुकुमारीका मन स्वस्थ हुआ । तत्पश्चात् पर्वतमुनि स्वर्गमें लौट गये और नारदजी सुकुमारीके घर आये ॥ ४३½ ॥

वासुदेव उवाच

प्रत्यक्षकर्ता सर्वस्य नारदो भगवानृषिः ।
एष वक्ष्यति ते पृष्टो यथावृत्तं नरोत्तम ॥ ४४ ॥

श्रीकृष्ण कहते हैं—नरश्रेष्ठ ! भगवान् नारद ऋषि इन सब घटनाओंके प्रत्यक्षदर्शी हैं । तुम्हारे पूछनेपर ये सारी बातें बता देंगे ॥ ४४ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि राजधर्मानुशासनपर्वणि नारदपर्वतोपाख्याने त्रिंशोऽध्यायः ॥ ३० ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत राजधर्मानुशासनपर्वमें नारद और पर्वतका उपाख्यानविषयक तीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ३० ॥

एकत्रिंशोऽध्यायः

सुवर्णष्ठीवीके जन्म, मृत्यु और पुनर्जीवनका वृत्तान्त

वैशम्पायन उवाच

ततो राजा पाण्डुसुतो नारदं प्रत्यभाषत।
भगवञ्छ्रोतुमिच्छामि सुवर्णष्ठीविसम्भवम्॥ १॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! तदनन्तर पाण्डुपुत्र राजा युधिष्ठिरने नारदजीसे कहा—'भगवन्! मैं सुवर्णष्ठीवीके जन्मका वृत्तान्त सुनना चाहता हूँ'॥ १॥

एवमुक्तस्तु स मुनिर्धर्मराजेन नारदः।
आचचक्षे यथावृत्तं सुवर्णष्ठीविनं प्रति॥ २॥

धर्मराजके ऐसा कहनेपर नारदमुनिने सुवर्णष्ठीवीके जन्मका यथावत् वृत्तान्त कहना आरम्भ किया॥ २॥

नारद उवाच

एवमेतन्महाबाहो यथायं केशवोऽब्रवीत्।
कार्यस्यास्य तु यच्छेषं तत् ते वक्ष्यामि पृच्छतः॥ ३॥

नारदजी बोले—महाबाहो! भगवान् श्रीकृष्णने इस विषयमें जैसा कहा है, वह सब सत्य है। इस प्रसङ्गमें जो कुछ शेष है, वह तुम्हारे प्रश्नके अनुसार मैं बता रहा हूँ॥ ३॥

अहं च पर्वतश्चैव स्वस्रीयो मे महामुनिः।
वस्तुकामावभिगतौ सृंजयं जयतां वरम्॥ ४॥

मैं और मेरे भानजे महामुनि पर्वत दोनों विजयी वीरोंमें श्रेष्ठ राजा सृंजयके यहाँ निवास करनेके लिये गये॥ ४॥

तत्रावां पूजितौ तेन विधिदृष्टेन कर्मणा।
सर्वकामैः सुविहितौ निवसावोऽस्य वेश्मनि॥ ५॥

वहाँ राजाने हम दोनोंका शास्त्रीय विधिके अनुसार पूजन किया और हमारे लिये सभी मनोवाञ्छित वस्तुओंके प्राप्त होनेकी सुव्यवस्था कर दी। हम दोनों उनके महलमें रहने लगे॥ ५॥

व्यतिक्रान्तासु वर्षासु समये गमनस्य च।
पर्वतो मामुवाचेदं काले वचनमर्थवत्॥ ६॥

जब वर्षाके चार महीने बीत गये और हमलोगोंके वहाँसे चलनेका समय आया, तब पर्वतने मुझसे समयोचित एवं सार्थक वचन कहा—॥ ६॥

आवामस्य नरेन्द्रस्य गृहे परमपूजितौ।
उषितौ समये ब्रह्मंस्तद् विचिन्तय साम्प्रतम्॥ ७॥

'मामा! हमलोग राजा सृंजयके घरमें बड़े आदर-सत्कारके साथ रहे हैं, अतः ब्रह्मन्! इस समय इनका कुछ उपकार करनेकी बात सोचिये'॥ ७॥

ततोऽहमब्रवं राजन् पर्वतं शुभदर्शनम्।
सर्वमेतत् त्वयि विभो भागिनेयोपपद्यते॥ ८॥

राजन्! तब मैंने शुभदर्शी पर्वतमुनिसे कहा—'भगिनीपुत्र! यह सब तुम्हें ही शोभा देता है॥ ८॥

वरेण च्छन्द्यतां राजा लभतां यद् यदिच्छति।
आवयोस्तपसा सिद्धिं प्राप्नोतु यदि मन्यसे॥ ९॥

'राजाको मनोवाञ्छित वर देकर संतुष्ट करो। वे जो-जो चाहते हों, वह सब उन्हें मिले। तुम्हारी राय हो तो हम दोनोंकी तपस्यासे उनके मनोरथकी सिद्धि हो'॥ ९॥

तत आहूय राजानं सृंजयं जयतां वरम्।
पर्वतोऽनुमतो वाक्यमुवाच कुरुपुङ्गव॥ १०॥

कुरुश्रेष्ठ! तब मेरी अनुमति ले पर्वतने विजयी वीरोंमें श्रेष्ठ राजा सृंजयको बुलाकर कहा—॥ १०॥

प्रीतौ स्वो नृप सत्कारैर्भवदार्जवसम्भृतैः।
आवाभ्यामभ्यनुज्ञातो वरं नृवर चिन्तय॥ ११॥

'नरेश्वर! हम दोनों तुम्हारे द्वारा सरलतापूर्वक किये गये सत्कारसे बहुत प्रसन्न हैं। हम तुम्हें आज्ञा देते हैं कि तुम इच्छानुसार कोई वर सोचकर माँग लो॥ ११॥

देवानामविहिंसायां न भवेन्मानुषक्षयम्।
तद् गृहाण महाराज पूजार्हो नौ मतो भवान्॥ १२॥

महाराज! कोई ऐसा वर माँग लो, जिससे न तो देवताओंकी हिंसा हो और न मनुष्योंका संहार ही हो सके। तुम हमारी दृष्टिमें आदरके योग्य हो'॥ १२॥

सृंजय उवाच

प्रीतौ भवन्तौ यदि मे कृतमेतावता मम।
एष एव परो लाभो निर्वृत्तो मे महाफलः॥ १३॥

सृंजयने कहा—ब्रह्मन्! यदि आप दोनों प्रसन्न हैं तो मैं इतनेसे ही कृतकृत्य हो गया। यही हमारे लिये महान् फलदायक परम लाभ सिद्ध हो गया॥ १३॥

तमेवंवादिनं भूयः पर्वतः प्रत्यभाषत।
वृणीष्व राजन् संकल्पं यत् ते हृदि चिरं स्थितम्॥ १४॥

राजन्! ऐसी बात कहनेवाले राजा सृंजयसे पर्वतमुनिने फिर कहा—'राजन्! तुम्हारे हृदयमें जो चिरकालसे संकल्प हो, वही माँग लो'॥ १४॥

सृंजय उवाच

अभीप्सामि सुतं वीरं वीर्यवन्तं दृढव्रतम्।
आयुष्मन्तं महाभागं देवराजसमद्युतिम्॥ १५॥

सृंजय बोले—भगवन्! मैं एक ऐसा पुत्र पाना चाहता हूँ, जो वीर, बलवान्, दृढ़तापूर्वक उत्तम व्रतका पालन करनेवाला, आयुष्मान्, परम सौभाग्यशाली और देवराज इन्द्रके समान तेजस्वी हो॥ १५॥

पर्वत उवाच

भविष्यत्येष ते कामो न त्वायुष्मान् भविष्यति।
देवराजाभिभूत्यर्थं संकल्पो ह्येष ते हृदि॥ १६॥

पर्वतने कहा—राजन्! तुम्हारा यह मनोरथ पूर्ण होगा, परंतु वह पुत्र दीर्घायु नहीं हो सकेगा; क्योंकि देवराज इन्द्रको पराजित करनेके लिये तुम्हारे हृदयमें यह संकल्प उठा है ॥ १६ ॥

ख्यातः सुवर्णष्ठीवीति पुत्रस्तव भविष्यति ।
रक्ष्यश्च देवराजात् स देवराजसमद्युतिः ॥ १७ ॥

तुम्हारा वह पुत्र सुवर्णष्ठीवीके नामसे विख्यात तथा देवराज इन्द्रके समान तेजस्वी होगा । तुम्हें देवराजसे सदा उसकी रक्षा करनी चाहिये ॥ १७ ॥

तच्छ्रुत्वा सृंजयो वाक्यं पर्वतस्य महात्मनः ।
प्रसादयामास तदा नैतदेवं भवेदिति ॥ १८ ॥
आयुष्मान् मे भवेत् पुत्रो भवतस्तपसा मुने ।
न च तं पर्वतः किंचिदुवाचेन्द्रव्यपेक्षया ॥ १९ ॥

महात्मा पर्वतका यह वचन सुनकर सृंजयने उन्हें प्रसन्न करनेकी चेष्टा करते हुए कहा— 'ऐसा न हो। मुने! आपकी तपस्यासे मेरा पुत्र दीर्घजीवी होना चाहिये।' परंतु इन्द्रका ख्याल करके पर्वत मुनि कुछ नहीं बोले ॥ १८-१९ ॥

तमहं नृपतिं दीनमब्रवं पुनरेव च ।
स्मर्तव्योऽस्मि महाराज दर्शयिष्यामि ते सुतम् ॥ २० ॥
अहं ते दयितं पुत्रं प्रेतराजवशं गतम् ।
पुनर्दास्यामि तद्रूपं मा शुचः पृथिवीपते ॥ २१ ॥

तब मैंने दीन हुए उस नरेशसे कहा—'महाराज! संकटके समय मुझे याद करना । मैं तुम्हारे पुत्रको तुमसे मिला दूँगा । पृथ्वीनाथ ! चिन्ता न करो । यमराजके वशमें पड़े हुए तुम्हारे उस प्रिय पुत्रको मैं पुनः उस रूपमें लाकर तुम्हें दे दूँगा' ॥ २०-२१ ॥

एवमुक्त्वा तु नृपतिं प्रयातौ स्वो यथेप्सितम् ।
सृंजयश्च यथाकामं प्रविवेश स्वमन्दिरम् ॥ २२ ॥

राजासे ऐसा कहकर हम दोनों अपने अभीष्ट स्थानको चल दिये और राजा सृंजयने अपने इच्छानुसार महलमें प्रवेश किया ॥ २२ ॥

सृंजयस्याथ राजर्षेः कस्मिंश्चित् कालपर्यये ।
जज्ञे पुत्रो महावीर्यस्तेजसा प्रज्वलन्निव ॥ २३ ॥

तदनन्तर किसी समय राजर्षि सृंजयके एक पुत्र हुआ, जो अपने तेजसे प्रज्वलित-सा हो रहा था। वह महान् बलशाली था ॥ २३ ॥

ववृधे स यथाकालं सरसीव महोत्पलम् ।
बभूव काञ्चनष्ठीवी यथार्थं नाम तस्य तत् ॥ २४ ॥

जैसे सरोवरमें कमल बढ़ता है, उसी प्रकार वह राजकुमार यथासमय बढ़ने लगा । वह मुखसे स्वर्ण उगलनेके कारण सुवर्णष्ठीवी नामसे प्रसिद्ध हुआ । उसका वह नाम यथार्थ था ॥ २४ ॥

तदद्भुततमं लोके पप्रथे कुरुसत्तम ।
बुबुधे तच्च देवेन्द्रो वरदानं महर्षितः ॥ २५ ॥

कुरुश्रेष्ठ ! उसका वह अत्यन्त अद्भुत वृत्तान्त सारे जगत्में फैल गया । देवराज इन्द्रको भी यह मालूम हो गया कि वह बालक महर्षि पर्वतके वरदानका फल है ॥ २५ ॥

ततः स्वाभिभवाद् भीतो बृहस्पतिमते स्थितः ।
कुमारस्यान्तरप्रेक्षी बभूव बलवृत्रहा ॥ २६ ॥

तदनन्तर अपनी पराजयसे डरकर बृहस्पतिकी सम्मतिके अनुसार चलते हुए बल और वृत्रासुरका वध करनेवाले इन्द्र उस राजकुमारके वधका अवसर देखने लगे ॥ २६ ॥

चोदयामास तद् वज्रं दिव्यास्त्रं मूर्तिमत् स्थितम् ।
व्याघ्रो भूत्वा जहीमं त्वं राजपुत्रमिति प्रभो॥ २७ ॥
प्रवृद्धः किल वीर्येण मामेषोऽभिभविष्यति ।
सृंजयस्य सुतो वज्र यथैनं पर्वतोऽब्रवीत् ॥ २८ ॥

प्रभो ! इन्द्रने मूर्तिमान् होकर सामने खड़े हुए अपने दिव्य अस्त्र वज्रसे कहा—'वज्र ! तुम बाघ बनकर इस राजकुमारको मार डालो । जैसा कि इसके विषयमें पर्वतने बताया है, बड़ा होनेपर सृंजयका यह पुत्र अपने पराक्रमसे मुझे परास्त कर देगा' ॥ २७-२८ ॥

एवमुक्तस्तु शक्रेण वज्रः परपुरंजयः ।
कुमारमन्तरप्रेक्षी नित्यमेवान्वपद्यत ॥ २९ ॥

इन्द्रके ऐसा कहनेपर शत्रुओंकी नगरीपर विजय पानेवाला वज्र मौका देखता हुआ सदा उस राजकुमारके आसपास ही रहने लगा ॥ २९ ॥

सृंजयोऽपि सुतं प्राप्य देवराजसमद्युतिम् ।
हृष्टः सान्तःपुरो राजा वननित्यो बभूव ह ॥ ३० ॥

सृंजय भी देवराजके समान पराक्रमी पुत्र पाकर रानीसहित बड़े प्रसन्न हुए और निरन्तर वनमें ही रहने लगे ३०

ततो भागीरथीतीरे कदाचिन्निर्जने वने ।
धात्रीद्वितीयो बालः स क्रीडार्थं पर्यधावत ॥ ३१ ॥

तदनन्तर एक दिन निर्जन वनमें गङ्गाजीके तटपर वह बालक धायको साथ लेकर खेलनेके लिये गया और इधर-उधर दौड़ने लगा ॥ ३१ ॥

पञ्चवर्षकदेशीयो बालो नागेन्द्रविक्रमः ।
सहसोत्पतितं व्याघ्रमाससाद महाबलम् ॥ ३२ ॥

उस बालककी अवस्था अभी पाँच वर्षकी थी तो भी वह गजराजके समान पराक्रमी था । वह सहसा उछलकर आये हुए एक महाबली बाघके पास जा पहुँचा ॥ ३२ ॥

स बालस्तेन निष्पिष्टो वेपमानो नृपात्मजः ।
व्यसुः पपात मेदिन्यां ततो धात्री विचुक्रुशे ॥ ३३ ॥

उस बाघने वहाँ काँपते हुए राजकुमारको गिराकर पीस डाला । वह प्राणशून्य होकर पृथ्वीपर गिर पड़ा । यह देखकर धाय चिल्ला उठी ॥ ३३ ॥

हत्वा तु राजपुत्रं स तत्रैवान्तरधीयत ।
शार्दूलो देवराजस्य माययान्तर्हितस्तदा ॥ ३४ ॥

राजकुमारकी हत्या करके देवराज इन्द्रका भेजा हुआ वह वज्ररूपी बाघ मायासे वहीं अदृश्य हो गया॥ ३४ ॥

धात्र्यास्तु निनदं श्रुत्वा रुदत्याः परमार्तवत्।
अभ्यधावत तं देशं स्वयमेव महीपतिः ॥ ३५ ॥

रोती हुई धायका वह आर्तनाद सुनकर राजा सृंजय स्वयं ही उस स्थानपर दौड़े हुए आये ॥ ३५ ॥

स ददर्श शयानं तं गतासुं पीतशोणितम्।
कुमारं विगतानन्दं निशाकरमिव च्युतम् ॥ ३६ ॥

उन्होंने देखा, राजकुमार प्राणशून्य होकर आकाशसे गिरे हुए चन्द्रमाकी भाँति पड़ा है। उसका सारा रक्त बाघके द्वारा पी लिया गया है और वह आनन्दहीन हो गया है ॥

स तमुत्सङ्गमारोप्य परिपीडितमानसः।
पुत्रं रुधिरसंसिक्तं पर्यदेवयदातुरः ॥ ३७ ॥

खूनसे लथपथ हुए उस बालकको गोदमें लेकर व्यथित-चित्त हुए राजा सृंजय व्याकुल होकर विलाप करने लगे ॥

ततस्ता मातरस्तस्य रुदत्यः शोककर्शिताः।
अभ्यधावन्त तं देशं यत्र राजा स सृंजयः ॥ ३८ ॥

तदनन्तर शोकसे पड़ित हो उसकी माताएँ रोती हुई उस स्थानकी ओर दौड़ीं, जहाँ राजा सृंजय विलाप करते थे ॥

ततः स राजा सस्मार मामेव गतमानसः।
तदाहं चिन्तनं ज्ञात्वा गतवांस्तस्य दर्शनम् ॥ ३९ ॥

उस समय अचेत-से होकर राजाने मेरा ही स्मरण किया। तब मैंने उनका चिन्तन जानकर उन्हें दर्शन दिया ॥

मयैतानि च वाक्यानि श्रावितः शोकलालसः।
यानि ते यदुवीरेण कथितानि महीपते ॥ ४० ॥

पृथ्वीनाथ ! यदुवीर श्रीकृष्णने जो बातें तुम्हारे सामने कही हैं, उन्हींको मैंने उस शोकाकुल राजाको सुनाया ॥४०॥

संजीवितश्चापि पुनर्वासवानुमते तदा।
भवितव्यं तथा तच्च न तच्छक्यमतोऽन्यथा ॥ ४१ ॥

फिर इन्द्रकी अनुमतिसे उस बालकको जीवित भी कर दिया। उसकी वैसी ही होनहार थी। उसे कोई पलट नहीं सकता था ॥ ४१ ॥

तत ऊर्ध्वं कुमारस्तु स्वर्णष्ठीवी महायशाः।
चित्तं प्रसादयामास पितुर्मातुश्च वीर्यवान् ॥ ४२ ॥

तदनन्तर महायशस्वी और शक्तिशाली कुमार सुवर्णष्ठीवी-ने जीवित होकर पिता और माताके चित्तको प्रसन्न किया ॥

कारयामास राज्यं च पितरि स्वर्गते नृप।
वर्षाणां शतमेकं च सहस्रं भीमविक्रमः ॥ ४३ ॥

नरेश्वर ! उस भयानक पराक्रमी कुमारने पिताके स्वर्ग-वासी हो जानेपर ग्यारह सौ वर्षोंतक राज्य किया ॥ ४३ ॥

तत ईजे महायज्ञैर्बहुभिर्भूरिदक्षिणैः।
तर्पयामास देवांश्च पितॄंश्चैव महाद्युतिः ॥ ४४ ॥

तदनन्तर उस महातेजस्वी राजकुमारने बहुत-सी दक्षिणा-वाले अनेक महायज्ञोंका अनुष्ठान किया और उनके द्वारा देवताओं तथा पितरोंकी तृप्ति की ॥ ४४ ॥

उत्पाद्य च बहून् पुत्रान् कुलसंतानकारिणः।
कालेन महता राजन् कालधर्ममुपेयिवान् ॥ ४५ ॥

राजन् ! इसके बाद उसने बहुत-से वंशप्रवर्तक पुत्र उत्पन्न किये और दीर्घकालके पश्चात् वह काल-धर्मको प्राप्त हुआ ॥ ४५ ॥

स त्वं राजेन्द्र संजातं शोकमेनं निवर्तय।
यथा त्वां केशवः प्राह व्यासश्च सुमहातपाः ॥ ४६ ॥
पितृपैतामहं राज्यमास्थाय धुरमुद्वह।
इष्ट्वा पुण्यैर्महायज्ञैरिष्टं लोकमवाप्स्यसि ॥ ४७ ॥

राजेन्द्र ! तुम भी अपने हृदयमें उत्पन्न हुए इस शोक-को दूर करो तथा भगवान् श्रीकृष्ण और महातपस्वी व्यास-जी जैसा कह रहे हैं, उसके अनुसार अपने बाप-दादोंके राज्य-पर आरूढ़ हो इसका भार वहन करो; फिर पुण्यदायक महायज्ञोंका अनुष्ठान करके तुम अभीष्ट लोकमें चले जाओगे ॥ ४६-४७ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि राजधर्मानुशासनपर्वणि स्वर्णष्ठीविसम्भवोपाख्याने एकत्रिंशोऽध्यायः ॥ ३१ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत राजधर्मानुशासनपर्वमें स्वर्णष्ठीवीके जन्मका उपाख्यानविषयक इकतीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ३१ ॥

द्वात्रिंशोऽध्यायः

व्यासजीका अनेक युक्तियोंसे राजा युधिष्ठिरको समझाना

वैशम्पायन उवाच

तूष्णींभूतं तु राजानं शोचमानं युधिष्ठिरम्।
तपस्वी धर्मतत्त्वज्ञः कृष्णद्वैपायनोऽब्रवीत्॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! राजा युधिष्ठिर-[illegible] शोकमें डूबा हुआ देख धर्मके तत्त्वको जाननेवाले [illegible] श्रीकृष्णद्वैपायनने कहा॥ १॥

व्यास उवाच

प्रजानां पालनं धर्मो राज्ञां राजीवलोचन।
धर्मः प्रमाणं लोकस्य नित्यं धर्मानुवर्तिनः॥ २ ॥

व्यासजी बोले—कमलनयन युधिष्ठिर! राजाओंका धर्म प्रजाजनोंका पालन करना ही है। धर्मका अनुसरण करनेवाले लोगोंके लिये सदा धर्म ही प्रमाण है॥ २॥

अनुतिष्ठस्व तद् राजन् पितृपैतामहं पदम्।
ब्राह्मणेषु तपो धर्मः स नित्यो वेदनिश्चितः॥ ३ ॥

अतः राजन्! तुम अपने बाप-दादोंके राज्यको ग्रहण करके उसका धर्मानुसार पालन करो। तपस्या तो ब्राह्मणोंका नित्य धर्म है। यही वेदका निश्चय है॥ ३॥

तत् प्रमाणं ब्राह्मणानां शाश्वतं भरतर्षभ।
तस्य धर्मस्य कृत्स्नस्य क्षत्रियः परिरक्षिता॥ ४ ॥

भरतश्रेष्ठ! वह सनातन तप ब्राह्मणोंके लिये प्रमाणभूत धर्म है। क्षत्रिय तो उस सम्पूर्ण ब्राह्मण-धर्मकी रक्षा करनेवाला [illegible]॥ ४॥

यः स्वयं प्रतिहन्ति स्म शासनं विषये रतः।
स बाहुभ्यां विनिग्राह्यो लोकयात्राविघातकः॥ ५ ॥

जो मनुष्य विषयासक्त होकर स्वयं शासन-धर्मका उल्लङ्घन करता है, वह लोकमर्यादाका नाश करनेवाला है। क्षत्रियको चाहिये कि अपनी दोनों भुजाओंके बलसे उस धर्म-[illegible] दमन करे॥ ५॥

प्रमाणमप्रमाणं यः कुर्यान्मोहवशं गतः।
भृत्यो वा यदि वा पुत्रस्तपस्वी वाथ कश्चन॥ ६ ॥
पापान् सर्वैरुपायैस्तान् नियच्छेच्छातयीत वा।

जो मोहके वशीभूत हो प्रमाणभूत धर्म और उसका [illegible] करनेवाले शास्त्रको अमान्य कर दें, वह सेवक हो [illegible] तपस्वी हो या और कोई; सभी उपायोंसे उन पापियोंका [illegible] अथवा उन्हें नष्ट कर डाले॥ ६½॥

[illegible] वर्तमानो राजा प्राप्नोति किल्बिषम्॥७॥
धर्मं विनश्यमानं हि यो न रक्षेत् स धर्महा।

[illegible] विपरीत आचरण करनेवाला राजा पापका भागी [illegible] नष्ट होते हुए धर्मकी रक्षा नहीं करता, वह राजा [illegible] है॥ ७½॥

ते त्वया धर्महन्तारो निहताः सपदानुगाः॥ ८ ॥
स्वधर्मे वर्तमानस्त्वं किं नु शोचसि पाण्डव।
राजा हि हन्याद् दद्याच्च प्रजा रक्षेच्च धर्मतः॥ ९ ॥

पाण्डुनन्दन! तुमने तो उन्हीं लोगोंका सेवकोंसहित वध किया है, जो धर्मका नाश करनेवाले थे। अपने धर्ममें स्थित रहते हुए भी तुम शोक क्यों कर रहे हो? क्योंकि राजाका यह कर्तव्य ही है कि वह धर्मद्रोहियोंका वध करे, सुपात्रोंको दान दे और धर्मके अनुसार प्रजाकी रक्षा करे॥ ८-९॥

युधिष्ठिर उवाच

न तेऽभिशंके वचनं यद् ब्रवीषि तपोधन।
अपरोक्षो हि ते धर्मः सर्वधर्मविदां वर॥ १० ॥

युधिष्ठिर बोले—सम्पूर्ण धर्मज्ञोंमें श्रेष्ठ तपोधन! आपको धर्मके स्वरूपका प्रत्यक्ष ज्ञान है। आप जो बात कह रहे हैं, उसपर मुझे तनिक भी संदेह नहीं है॥ १०॥

मया त्ववध्या बहवो घातिता राज्यकारणात्।
तानि कर्माणि मे ब्रह्मन् दहन्ति च पचन्ति च॥ ११ ॥

परंतु ब्रह्मन्! मैंने तो इस राज्यके लिये अनेक अवध्य पुरुषोंका भी वध करा डाला है। मेरे वे ही कर्म मुझे जलाते और पकाते हैं॥ ११॥

व्यास उवाच

ईश्वरो वा भवेत् कर्ता पुरुषो वापि भारत।
हठो वा वर्तते लोके कर्मजं वा फलं स्मृतम्॥ १२ ॥

व्यासजीने कहा—भरतनन्दन! जो लोग मारे गये हैं, उनके वधका उत्तरदायित्व किसपर है? इस प्रश्नको लेकर चार विकल्प हो सकते हैं। (१) सबका प्रेरक ईश्वर कर्ता है? या (२) वध करनेवाला पुरुष कर्ता है? अथवा (३) मारे जानेवाले पुरुषका हठ (बिना विचारे किसी कामको कर डालनेका दुराग्रही स्वभाव) कर्ता है? अथवा (४) उसके प्रारब्ध कर्मका फल इस रूपमें प्राप्त होनेके कारण प्रारब्ध ही कर्ता है?॥ १२॥

ईश्वरेण नियुक्तो हि साध्वसाधु च भारत।
कुरुते पुरुषः कर्म फलमीश्वरगामि तत्॥ १३ ॥

(१) भारत! यदि प्रेरक ईश्वरको कर्ता माना जाय तब तो यही कहना पड़ेगा कि ईश्वरसे प्रेरित होकर ही मनुष्य शुभ या अशुभ कर्म करता है; अतः उसका फल भी ईश्वरको ही मिलना चाहिये॥ १३॥

यथा हि पुरुषश्छिन्द्याद् वृक्षं परशुना वने।
छेत्तुरेव भवेत् पापं परशोर्न कथञ्चन॥ १४ ॥

जैसे कोई पुरुष वनमें कुल्हाड़ीद्वारा जब किसी वृक्षको काटता है, तब उसका पाप कुल्हाड़ी चलानेवाले पुरुषको ही लगता है। कुल्हाड़ीको किसी प्रकार नहीं लगता॥ १४॥

अथवा तदुपादानात् प्राप्नुयात् कर्मणः फलम् ।
दण्डशस्त्रकृतं पापं पुरुषे तन्न विद्यते ॥ १५ ॥

अथवा यदि कहें कि 'उस कुल्हाड़ीको ग्रहण करनेके कारण चेतन पुरुषको ही उस हिंसाकर्मका फल प्राप्त होगा (जड होनेके कारण कुल्हाड़ीको नहीं),' तब तो जिसने उस शस्त्रको बनाया और जिसने उसमें डंडा लगाया, वह पुरुष ही प्रधान प्रयोजक होनेके कारण उसीको उस कर्मका फल मिलना चाहिये। चलानेवाले पुरुषपर उसका कोई उत्तरदायित्व नहीं है ॥ १५ ॥

न चैतदिष्टं कौन्तेय यदन्येन कृतं फलम् ।
प्राप्नुयादिति यस्माच्च ईश्वरे तन्निवेशय ॥ १६ ॥

परंतु कुन्तीनन्दन ! यह अभीष्ट नहीं है कि दूसरेके द्वारा किये हुए कर्मका फल दूसरेको मिले (काटनेवालेका अपराध हथियार बनानेवालेपर थोपा जाय); इसलिये सर्वप्रेरक ईश्वरको ही सारे शुभाशुभ कर्मोंका कर्तृत्व और फल सौंप दो ॥

अथापि पुरुषः कर्ता कर्मणोः शुभपापयोः ।
न परो विद्यते तस्मादेवमेतच्छुभं कृतम् ॥ १७ ॥

(२) यदि कहो पुण्य और पापकर्मोंका कर्ता उसे करनेवाला पुरुष ही है, दूसरा कोई (ईश्वर) नहीं तो ऐसा माननेपर भी तुमने यह शुभ कर्म ही किया है; क्योंकि तुम्हारे द्वारा पापियों और उनके समर्थकोंका ही वध हुआ है, इसके सिवा, उनके प्रारब्धका फल ही उन्हें इस रूपमें मिला है तुम तो निमित्तमात्र हो ॥ १७ ॥

न हि कश्चित् क्वचिद् राजन् दिष्टं प्रतिनिवर्तते ।
दण्डशस्त्रकृतं पापं पुरुषे तन्न विद्यते ॥ १८ ॥

राजन् ! कोई कहीं भी दैवके विधानका उल्लङ्घन नहीं कर सकता। अतः दण्ड अथवा शस्त्रद्वारा किया हुआ पाप किसी पुरुषको लागू नहीं हो सकता (क्योंकि वे दैवाधीन होकर ही दण्ड या शस्त्रद्वारा मारे गये हैं) ॥ १८ ॥

यदि वा मन्यसे राजन् हतमेकं प्रतिष्ठितम् ।
एवमप्यशुभं कर्म न भूतं न भविष्यति ॥ १९ ॥

(३) नरेश्वर ! यदि ऐसा मानते हो कि युद्ध करनेवाले दो व्यक्तियोंमेंसे एकका मरना निश्चित ही है अर्थात् वह स्वभाववश हठात् मारा गया है, तब तो स्वभाववादीके अनुसार भूत या भविष्य कालमें किसी अशुभ कर्मसे न तो तुम्हारा सम्पर्क था और न होगा ही ॥ १९ ॥

अथाभिपत्तिर्लोकस्य कर्तव्या पुण्यपापयोः ।
अभिपन्नमिदं लोके राज्ञामुद्यतदण्डनम् ॥ २० ॥

(४) यदि कहो, लोगोंको जो पुण्यफल (सुख) और पापफल (दुःख) प्राप्त होते हैं, उनकी संगति लगानी चाहिये; क्योंकि बिना कारणके तो कोई कार्य हो नहीं सकता; अतः प्रारब्ध ही कर्ता है तो उस कारणभूत प्रारब्धको धर्माधर्म रूप ही मानना होगा, धर्माधर्मका निर्णय शास्त्रसे होता है और शास्त्रके अनुसार जगत्में उद्दण्ड मनुष्योंको दण्ड देना राजाओंके लिये सर्वथा युक्तिसंगत है; अतः किसी भी दृष्टिसे तुम्हें शोक नहीं करना चाहिये ॥ २० ॥

तथापि लोके कर्माणि समावर्तन्ति भारत ।
शुभाशुभफलं चैते प्राप्नुवन्तीति मे मतिः ॥ २१ ॥
एवमप्यशुभं कर्म कर्मणस्तत्फलात्मकम् ।
त्यज त्वं राजशार्दूल मैवं शोके मनः कृथाः ॥ २२ ॥

भारत ! नृपश्रेष्ठ ! यदि कहो कि यह सब माननेपर भी लोकमें कर्मोंकी आवृत्ति होती ही है—लोग कर्म करते और उनके शुभाशुभ फलोंको पाते ही हैं, ऐसा मेरा मत है; तो इसके उत्तरमें निवेदन है कि इस दशामें भी जिस कर्मके कारण उसके फल रूपसे अशुभकी प्राप्ति होती है, उस पापमूलक कर्मको ही तुम त्याग दो। अपने मनको शोकमें न डुबाओ ॥ २१-२२ ॥

स्वधर्मे वर्तमानस्य सापवादेऽपि भारत ।
एवमात्मपरित्यागस्तव राजन् न शोभनः ॥ २३ ॥

राजन् ! भरतनन्दन ! अपना धर्म दोषयुक्त हो तो भी उसमें स्थित रहनेवाले तुम-जैसे धर्मात्मा नरेशके लिये अपने शरीरका परित्याग करना शोभाकी बात नहीं है ॥ २३ ॥

विहितानि हि कौन्तेय प्रायश्चित्तानि कर्मणाम् ।
शरीरवांस्तानि कुर्यादशरीरः पराभवेत् ॥ २४ ॥

कुन्तीनन्दन ! यदि युद्ध आदिमें राग-द्वेषके कारण निन्द्यकर्म बन गये हों तो शास्त्रोंमें उन कर्मोंके लिये प्रायश्चित्तका भी विधान है। जो अपने शरीरको सुरक्षित रखता है, वह तो पापनिवारणके लिये प्रायश्चित्त कर सकता है; परंतु जिसका शरीर ही नहीं रहेगा, उसे तो प्रायश्चित्त न कर सकनेके कारण उन पापकर्मोंके फलस्वरूप पराभव (दुःख) ही प्राप्त होगा ॥ २४ ॥

तद् राजञ्जीवमानस्त्वं प्रायश्चित्तं करिष्यसि ।
प्रायश्चित्तमकृत्वा तु प्रेत्य तप्तासि भारत ॥ २५ ॥

भरतवंशी नरेश ! यदि जीवित रहोगे तो उन कर्मोंका प्रायश्चित्त कर लोगे और यदि प्रायश्चित्तके बिना ही मर गये तो परलोकमें तुम्हें संतप्त होना पड़ेगा ॥ २५ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि राजधर्मानुशासनपर्वणि प्रायश्चित्तविधौ द्वात्रिंशोऽध्यायः ॥ ३२ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत राजधर्मानुशासनपर्वमें प्रायश्चित्तविधिविषयक बत्तीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ३२ ॥

त्रयस्त्रिंशोऽध्यायः

व्यासजीका युधिष्ठिरको समझाते हुए कालकी प्रबलता बताकर देवासुरसंग्रामके उदाहरणसे धर्म-द्रोहियोंके दमनका औचित्य सिद्ध करना और प्रायश्चित्त करनेकी आवश्यकता बताना

युधिष्ठिर उवाच

हताः पुत्राश्च पौत्राश्च भ्रातरः पितरस्तथा।
श्वशुरा गुरवश्चैव मातुलाश्च पितामहाः ॥ १ ॥
क्षत्रियाश्च महात्मानः सम्बन्धिसुहृदस्तथा।
वयस्या भागिनेयाश्च ज्ञातयश्च पितामह ॥ २ ॥
बहवश्च मनुष्येन्द्रा नानादेशसमागताः।
घातिता राज्यलुब्धेन मयैकेन पितामह ॥ ३ ॥

युधिष्ठिर बोले—पितामह ! अकेले मैंने ही राज्यके लोभमें आकर पुत्र, पौत्र, भाई, चाचा, ताऊ, श्वशुर, गुरु, मामा, नाना, भानजे, सगे-सम्बन्धी, सुहृद्, मित्र तथा भाई-बन्धु आदि नाना देशोंसे आये हुए बहुसंख्यक क्षत्रिय-नरेशोंको मरवा डाला ॥ १–३ ॥

तांस्तादृशानहं हत्वा धर्मनित्यान् महीक्षितः।
असकृत् सोमपान् वीरान् किं प्राप्स्यामि तपोधन ॥ ४ ॥

तपोधन ! जो अनेक बार सोमरसका पान कर चुके थे और सदा धर्ममें ही तत्पर रहते थे, वैसे वीर भूपालोंका वध करके मैं कौन-सा फल पाऊँगा ? ॥ ४ ॥

दह्याम्यनिशमद्यापि चिन्तयानः पुनः पुनः।
हीनां पार्थिवसिंहैस्तैः श्रीमद्भिः पृथिवीमिमाम् ॥ ५ ॥
दृष्ट्वा ज्ञातिवधं घोरं हतांश्च शतशः परान्।
कोटिशश्च नरानन्यान् परितप्ये पितामह ॥ ६ ॥

पितामह ! बारंबार इसी चिन्तासे मैं आज भी निरन्तर जल रहा हूँ। उन श्रीसम्पन्न राजसिंहोंसे हीन हुई इस पृथ्वीको, भाई-बन्धुओंके भयंकर वधको तथा सैकड़ों अन्य लोगोंके विनाशको एवं करोड़ों अन्य मानवोंके संहारको देखकर मैं सर्वथा संतप्त हो रहा हूँ ॥ ५-६ ॥

का नु तासां वरस्त्रीणामवस्थाद्य भविष्यति।
विहीनानां तु तनयैः पतिभिर्भ्रातृभिस्तथा ॥ ७ ॥

जो अपने पुत्रों, पतियों तथा भाइयोंसे सदाके लिये बिछुड़ गयी हैं, उन सुन्दरी स्त्रियोंकी आज क्या दशा होगी ? ॥

अस्मानन्तकरान् घोरान् पाण्डवान् वृष्णिसंहतान्।
आक्रोशन्त्यः कृशा दीनाः प्रपतिष्यन्ति भूतले ॥ ८ ॥

हम घोर विनाशकारी पाण्डवों और वृष्णिवंशियोंको कोसती हुई वे दीन-दुर्बल अबलाएँ पृथ्वीपर पछाड़ खा-खाकर गिरेंगी ॥ ८ ॥

अपश्यन्त्यः पितॄन् भ्रातॄन् पतीन् पुत्रांश्च योषितः।
त्यक्त्वा प्राणान् प्रियान् सर्वा गमिष्यन्ति यमक्षयम् ॥ ९ ॥

अपने पिता, भाई, पति और पुत्रोंको न देखकर वे सारी युवती स्त्रियाँ प्राण त्याग देंगी और यमलोकमें चली जायँगी ॥ ९ ॥

वत्सलत्वाद् द्विजश्रेष्ठ तत्र मे नास्ति संशयः।
व्यक्तं सौक्ष्म्याच्च धर्मस्य प्राप्स्यामः स्त्रीवधं वयम् ॥ १० ॥

द्विजश्रेष्ठ ! वे अपने सगे-सम्बन्धियोंके प्रति वात्सल्य रखनेके कारण अवश्य ऐसा ही करेंगी, इसमें मुझे संशय नहीं है। धर्मकी गति सूक्ष्म होनेके कारण निश्चय ही हमें नारीहत्याके पापका भागी होना पड़ेगा ॥ १० ॥

यद् वयं सुहृदो हत्वा कृत्वा पापमनन्तकम्।
नरके निपतिष्यामो ह्यधःशिरस एव ह ॥ ११ ॥

हमने सुहृदोंका वध करके ऐसा पाप कर लिया है, जिसका प्रायश्चित्तसे अन्त नहीं हो सकता; अतः हमें नीचे सिर करके निस्संदेह नरकमें ही गिरना पड़ेगा ॥ ११ ॥

शरीराणि विमोक्ष्यामस्तपसोग्रेण सत्तम।
आश्रमाणां विशेषं त्वमथाचक्ष्व पितामह ॥ १२ ॥

संतोंमें श्रेष्ठ पितामह ! हम घोर तपस्या करके अपने शरीरका परित्याग कर देंगे। आप इसके लिये कोई विशेष आश्रम हो तो बताइये ॥ १२ ॥

वैशम्पायन उवाच

युधिष्ठिरस्य तद् वाक्यं श्रुत्वा द्वैपायनस्तदा।
निरीक्ष्य निपुणं बुद्ध्या ऋषिः प्रोवाच पाण्डवम् ॥ १३ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! उस समय युधिष्ठिरका यह वचन सुनकर श्रीकृष्णद्वैपायन महर्षि व्यासने इस विषयमें अपनी बुद्धिद्वारा अच्छी तरह विचार करनेके पश्चात् उन पाण्डुकुमारसे कहा ॥ १३ ॥

व्यास उवाच

मा विषादं कृथा राजन् क्षत्रधर्ममनुस्मरन्।
स्वधर्मेण हता ह्येते क्षत्रियाः क्षत्रियर्षभ ॥ १४ ॥

व्यासजी बोले—राजन् ! क्षत्रियशिरोमणे ! तुम क्षत्रियधर्मका बारंबार स्मरण करते हुए विषाद न करो; क्योंकि ये सभी क्षत्रिय अपने धर्मके अनुसार मारे गये हैं ॥ १४ ॥

काङ्क्षमाणाः श्रियं कृत्स्नां पृथिव्यां च महद् यशः।
कृतान्तविधिसंयुक्ताः कालेन निधनं गताः ॥ १५ ॥

वे सम्पूर्ण राजलक्ष्मी और भूमण्डलव्यापी महान् यशको प्राप्त करना चाहते थे; परंतु यमराजके विधानसे प्रेरित हो कालके गालमें चले गये हैं ॥ १५ ॥

न त्वं हन्ता न भीमोऽयं नार्जुनो न यमावपि।
कालः पर्यायधर्मेण प्राणानादत्त देहिनाम् ॥ १६ ॥

न तुम, न भीमसेन, न अर्जुन और न नकुल-सहदेव ही उनका वध करनेवाले हैं। कालने बारी-बारीसे आकर अपने नियमके अनुसार उन सभी देहधारियोंके प्राण लिये हैं ॥ १६ ॥

न तस्य मातापितरौ नानुग्राह्यो हि कश्चन।
कर्मसाक्षी प्रजानां यस्तेन कालेन संहृताः ॥ १७ ॥

कालके माता-पिता नहीं हैं। उसका किसीपर भी अनुग्रह नहीं होता। जो प्रजावर्गके कर्मका साक्षी है, उसी कालने तुम्हारे शत्रुओंका संहार किया है ॥ १७ ॥

हेतुमात्रमिदं तस्य विहितं भरतर्षभ।
यद्धन्ति भूतैर्भूतानि तदस्मै रूपमैश्वरम् ॥ १८ ॥

भरतश्रेष्ठ ! कालने इस युद्धको निमित्तमात्र बनाया है। वह जो प्राणियोंद्वारा ही प्राणियोंका वध करता है, वही उसका ईश्वरीय रूप है ॥ १८ ॥

कर्मसूत्रात्मकं विद्धि साक्षिणं शुभपापयोः।
सुखदुःखगुणोदर्कं कालं कालफलप्रदम् ॥ १९ ॥

राजन् ! तुम्हें ज्ञात होना चाहिये कि काल जीवके पाप और पुण्यकर्मोंका साक्षी है। वह कर्मकी डोरीका सहारा ले भविष्यमें होनेवाले सुख और दुःखका उत्पादक होता है। वही समयानुसार कर्मोंका फल देता है ॥ १९ ॥

तेषामपि महाबाहो कर्माणि परिचिन्तय।
विनाशहेतुकानि त्वं यैस्ते कालवशं गताः ॥ २० ॥

महाबाहो ! तुम युद्धमें मारे गये उन क्षत्रियोंके भी ऐसे कर्मोंका चिन्तन करो, जो उनके विनाशके कारण थे और जिनके होनेसे ही उन्हें कालके अधीन होना पड़ा ॥ २० ॥

आत्मनश्च विजानीहि नियतव्रतशासनम्।
यदा त्वमीदृशं कर्म विधिनाऽऽक्रम्य कारितः ॥ २१ ॥

तुम अपने आचार-व्यवहारपर भी ध्यान दो कि 'तुम सदा ही नियमपूर्वक उत्तम व्रतके पालनमें लगे रहते थे तो भी विधाताने बलपूर्वक तुम्हें अपने अधीन करके तुम्हारे द्वारा ऐसा निष्ठुर कर्म करवा लिया' ॥ २१ ॥

त्वष्ट्रेव विहितं यन्त्रं यथा चेष्टयितुर्वशे।
कर्मणा कालयुक्तेन तथेदं चेष्टते जगत् ॥ २२ ॥

जैसे लोहार या बढ़ईका बनाया हुआ यन्त्र सदा उसके चालकके अधीन रहता है, उसी प्रकार यह सारा जगत् कालयुक्त कर्मकी प्रेरणासे ही सचेष्ट हो रहा है ॥ २२ ॥

पुरुषस्य हि दृष्ट्वेमामुत्पत्तिमनिमित्ततः।
यदृच्छया विनाशं च शोकहर्षावनर्थकौ ॥ २३ ॥

प्राणी किसी व्यक्त कारणके बिना ही दैवात् उत्पन्न होता है और दैवेच्छासे ही अकस्मात् उसका विनाश हो जाता है। यह सब देखकर शोक और हर्ष करना व्यर्थ है ॥ २३ ॥

व्यलीकमपि यत् त्वत्र चित्तवैतंसिकं तव।
तदर्थमिष्यते राजन् प्रायश्चित्तं तदाचर ॥ २४ ॥

राजन् ! तथापि तुम्हारे चित्तमें जो यहाँ उन सबको मरवानेके कारण झूठे ही चिन्ता और पीड़ा हो रही है, इसकी निवृत्तिके लिये प्रायश्चित्त कर देना उचित है, अतः तुम अवश्य प्रायश्चित्त करो ॥ २४ ॥

इदं तु श्रूयते पार्थ युद्धे देवासुरे पुरा।
असुरा भ्रातरो ज्येष्ठा देवाश्चापि यवीयसः ॥ २५ ॥
तेषामपि श्रीनिमित्तं महानासीत् समुच्छ्रयः।
युद्धं वर्षसहस्राणि द्वात्रिंशदभवत् किल ॥ २६ ॥

पार्थ ! यह बात सुनी जाती है कि पूर्वकालमें देवासुर-संग्रामके अवसरपर बड़े भाई असुर और छोटे भाई देवता आपसमें लड़ गये थे। उनमें भी राजलक्ष्मीके लिये ही बत्तीस हजार वर्षोंतक बड़ा भारी संग्राम हुआ था ॥ २५-२६ ॥

एकार्णवां महीं कृत्वा रुधिरेण परिप्लुताम्।
जघ्नुर्दैत्यांस्तथा देवास्त्रिदिवं चाभिलेभिरे ॥ २७ ॥

देवताओंने खूनसे भीगी हुई इस पृथ्वीको एकार्णवमें निमग्न करके दैत्योंका संहार कर डाला और स्वर्गलोकपर अधिकार कर लिया ॥ २७ ॥

तथैव पृथिवीं लब्ध्वा ब्राह्मणा वेदपारगाः।
संश्रिता दानवानां वै साह्यार्थं दर्पमोहिताः ॥ २८ ॥
शालावृका इति ख्यातास्त्रिषु लोकेषु भारत।
अष्टाशीतिसहस्राणि ते चापि विबुधैर्हताः ॥ २९ ॥

भारत ! इसी प्रकार पृथ्वीको भी अपने अधीन करके देवताओंने तीनों लोकोंमें शालावृक नामसे विख्यात उन अठासी हजार ब्राह्मणोंका भी वध कर डाला, जो वेदोंके पारङ्गत विद्वान् थे और अभिमानसे मोहित होकर दानवोंकी सहायताके लिये उनके पक्षमें जा मिले थे ॥ २८-२९ ॥

धर्मव्युच्छित्तिमिच्छन्तो येऽधर्मस्य प्रवर्तकाः।
हन्तव्यास्ते दुरात्मानो देवैर्दैत्या इवोल्बणाः ॥ ३० ॥

जो धर्मका विनाश चाहते हुए अधर्मके प्रवर्तक हो रहे हों, उन दुरात्माओंका वध करना ही उचित है। जैसे देवताओंने उद्दण्ड दैत्योंका विनाश कर डाला था ॥ ३० ॥

एकं हत्वा यदि कुले शिष्टानां स्यादनामयम्।
कुलं हत्वा च राष्ट्रं च न तद् वृत्तोपघातकम् ॥ ३१ ॥

यदि एक पुरुषको मार देनेसे कुटुम्बके शेष व्यक्तियोंका कष्ट दूर हो जाय और एक कुटुम्बका नाश कर देनेसे सारे राष्ट्रमें सुख और शान्ति छा जाय तो वैसा करना सदाचार या धर्मका नाशक नहीं है ॥ ३१ ॥

अधर्मरूपो धर्मो हि कश्चिदस्ति नराधिप।
धर्मश्चाधर्मरूपोऽस्ति तच्च ज्ञेयं विपश्चिता ॥ ३२ ॥

नरेश्वर ! किसी समय धर्म ही अधर्मरूप हो जाता है और कहीं अधर्मरूप दीखनेवाला कर्म ही धर्म बन जाता है; इसलिये विद्वान् पुरुषको धर्म और अधर्मका रहस्य अच्छी तरह समझ लेना चाहिये ॥ ३२ ॥

तस्मात् संस्तम्भयात्मानं श्रुतवानसि पाण्डव।

देवैः पूर्वगतं मार्गमनुयातोऽसि भारत ॥ ३३ ॥

भरतनन्दन ! तुम वेद-शास्त्रोंके ज्ञाता हो, तुमने श्रेष्ठ पुरुषोंके उपदेश सुने हैं; इसलिये अपने हृदयको स्थिर करो। शोकसे विचलित न होने दो। भारत ! तुमने तो उसी मार्गका अनुसरण किया है, जिसपर देवतालोग पहलेसे चल चुके हैं ॥ ३३ ॥

न त्वादृशा गमिष्यन्ति नरकं पाण्डवर्षभ।
भ्रातॄनाश्वासयैनांस्त्वं सुहृदश्च परंतप ॥ ३४ ॥

पाण्डवशिरोमणे ! तुम्हारे-जैसे लोग नरकमें नहीं गिरेंगे। शत्रुसंतापी नरेश ! तुम इन भाइयों और सुहृदोंको आश्वासन दो ॥ ३४ ॥

यो हि पापसमारम्भे कार्ये तद्भावभावितः।
कुर्वन्नपि तथैव स्यात् कृत्वा च निरपत्रपः ॥ ३५ ॥
तस्मिंस्तत् कलुषं सर्वं समाप्तमिति शब्दितम्।
प्रायश्चित्तं न तस्यास्ति ह्रासो वा पापकर्मणः ॥ ३६ ॥

जो पुरुष हृदयमें पापकी भावना रखकर किसी पाप कर्ममें प्रवृत्त होता है, उसे करते हुए भी उसी भावनासे भावित रहता है तथा पापकर्म करनेके पश्चात् भी लज्जित नहीं होता, उसमें वह सारा पाप पूर्णरूपसे प्रतिष्ठित हो जाता है, ऐसा शास्त्रका कथन है। उसके लिये कोई प्रायश्चित्त नहीं है तथा प्रायश्चित्तसे भी उसके पापकर्मका नाश नहीं होता है ॥ ३५-३६ ॥

त्वं तु शुक्लाभिजातीयः परदोषेण कारितः।
अनिच्छमानः कर्मेदं कृत्वा च परितप्यसे ॥ ३७ ॥

तुम तो जन्मसे ही शुद्ध स्वभावके हो। तुम्हारे मनमें युद्धकी इच्छा बिल्कुल नहीं थी। शत्रुओंके अपराधसे ही तुम्हें इस कार्यमें प्रवृत्त होना पड़ा। तुम यह युद्धकर्म करके भी निरन्तर पश्चात्ताप ही कर रहे हो ॥ ३७ ॥

अश्वमेधो महायज्ञः प्रायश्चित्तमुदाहृतम्।
तमाहर महाराज विपाप्मैवं भविष्यसि ॥ ३८ ॥

इसके लिये महान् यज्ञ अश्वमेध ही प्रायश्चित्त बताया गया है। महाराज ! तुम इस यज्ञका अनुष्ठान करो। ऐसा करनेसे तुम पापरहित हो जाओगे ॥ ३८ ॥

मरुद्भिः सह जित्वारीन् भगवान् पाकशासनः।
एकैकं क्रतुमाहृत्य शतकृत्वः शतक्रतुः ॥ ३९ ॥

मरुद्गणोंसहित भगवान् पाकशासन इन्द्रने शत्रुओंको जीतकर एक-एक करके सौ बार अश्वमेध यज्ञका अनुष्ठान किया। इससे वे 'शतक्रतु' नामसे विख्यात हो गये ॥ ३९ ॥

पूतपाप्मा जितस्वर्गो लोकान् प्राप्य सुखोदयान्।
मरुद्गणैर्वृतः शक्रः शुशुभे भासयन् दिशः ॥ ४० ॥

उनके सारे पाप धुल गये। उन्होंने स्वर्गपर विजय पायी और सुखदायक लोकोंमें पहुँचकर वे इन्द्र सम्पूर्ण दिशाओंको प्रकाशित करते हुए मरुद्गणोंके साथ शोभा पाने लगे ॥

स्वर्गे लोके महीयन्तमप्सरोभिः शचीपतिम्।
ऋषयः पर्युपासन्ते देवाश्च विबुधेश्वरम् ॥ ४१ ॥

स्वर्गलोकमें अप्सराओंद्वारा पूजित होनेवाले शचीपति देवराज इन्द्रकी सम्पूर्ण देवता और महर्षि भी उपासना करते हैं ॥ ४१ ॥

सेयं त्वामनुसम्प्राप्ता विक्रमेण वसुन्धरा।
निर्जिताश्च महीपाला विक्रमेण त्वयानघ ॥ ४२ ॥

अनघ ! तुमने भी इस वसुन्धराको अपने पराक्रमसे प्राप्त किया है और भुजाओंके बलसे समस्त राजाओंको परास्त किया है ॥ ४२ ॥

तेषां पुराणि राष्ट्राणि गत्वा राजन् सुहृद्वृतः।
भ्रातॄन् पुत्रांश्च पौत्रांश्च स्वे स्वे राज्येऽभिषेचय ॥ ४३ ॥

राजन् ! अब तुम अपने सुहृदोंके साथ उनके देश और नगरोंमें जाकर उनके भाइयों, पुत्रों अथवा पौत्रोंको अपने-अपने राज्यपर अभिषिक्त करो ॥ ४३ ॥

बालानपि च गर्भस्थान् सान्त्वेन समुदाचरन्।
रञ्जयन् प्रकृतीः सर्वाः परिपाहि वसुन्धराम् ॥ ४४ ॥

जिनके उत्तराधिकारी अभी बालक हों या गर्भमें हों, उनकी प्रजाको समझा-बुझाकर सान्त्वनाद्वारा शान्त करो और सारी प्रजाका मनोरञ्जन करते हुए इस पृथ्वीका पालन करो ॥

कुमारो नास्ति येषां च कन्यास्तत्राभिषेचय।
कामाशयो हि स्त्रीवर्गः शोकमेवं प्रहास्यसि ॥ ४५ ॥

जिन राजाओंके कोई पुत्र नहीं हो, उनकी कन्याओंको ही राज्यपर अभिषिक्त कर दो। ऐसा करनेसे उनकी स्त्रियोंकी मनःकामना पूर्ण होगी और वे शोक त्याग देंगी ॥ ४५ ॥

एवमाश्वासनं कृत्वा सर्वराष्ट्रेषु भारत।
यजस्व वाजिमेधेन यथेन्द्रो विजयी पुरा ॥ ४६ ॥

भारत ! इस प्रकार सारे राज्यमें शान्ति स्थापित करके तुम उसी प्रकार अश्वमेध यज्ञका अनुष्ठान करो, जैसे पूर्वकालमें विजयी इन्द्रने किया था ॥ ४६ ॥

अशोच्यास्ते महात्मानः क्षत्रियाः क्षत्रियर्षभ।
स्वकर्मभिर्गता नाशं कृतान्तबलमोहिताः ॥ ४७ ॥

क्षत्रियशिरोमणे ! वे महामनस्वी क्षत्रिय, जो युद्धमें मारे गये हैं, शोक करनेके योग्य नहीं हैं; क्योंकि वे कालकी शक्तिसे मोहित होकर अपने ही कर्मोंसे नष्ट हुए हैं ॥ ४७ ॥

अवाप्तः क्षत्रधर्मस्ते राज्यं प्राप्तमकण्टकम्।
रक्षस्व धर्मं कौन्तेय श्रेयान् यः प्रेत्य भारत ॥ ४८ ॥

कुन्तीकुमार ! भरतनन्दन ! तुमने क्षत्रियधर्मका पालन किया है और इस समय तुम्हें यह निष्कण्टक राज्य मिला है; अतः अब तुम उस धर्मकी ही रक्षा करो, जो मृत्युके पश्चात् सबका कल्याण करनेवाला है ॥ ४८ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि राजधर्मानुशासनपर्वणि प्रायश्चित्तीयोपाख्याने त्रयस्त्रिंशोऽध्यायः ॥ ३३ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत राजधर्मानुशासनपर्वमें प्रायश्चित्तीयोपाख्यानविषयक तैंतीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ३३ ॥

चतुस्त्रिंशोऽध्यायः

जिन कर्मोंके करने और न करनेसे कर्ता प्रायश्चित्तका भागी होता और नहीं होता—उनका विवेचन

युधिष्ठिर उवाच

कानि कृत्वेह कर्माणि प्रायश्चित्तीयते नरः।
किं कृत्वा मुच्यते तत्र तन्मे ब्रूहि पितामह ॥ १ ॥

युधिष्ठिरने पूछा—पितामह ! किन-किन कर्मोंको करनेसे मनुष्य प्रायश्चित्तका अधिकारी होता है और उनके लिये कौन-सा प्रायश्चित्त करके वह पापसे मुक्त होता है ? इस विषयमें यह मुझे बतानेकी कृपा करें ॥ १ ॥

व्यास उवाच

अकुर्वन् विहितं कर्म प्रतिषिद्धानि चाचरन्।
प्रायश्चित्तीयते ह्येवं नरो मिथ्यानुवर्तयन् ॥ २ ॥

व्यासजी बोले—राजन् ! जो मनुष्य शास्त्रविहित कर्मोंका आचरण न करके निषिद्ध कर्म कर बैठता है, वह उस विपरीत आचरणके कारण प्रायश्चित्तका भागी होता है ॥ २ ॥

सूर्येणाभ्युदितो यश्च ब्रह्मचारी भवत्युत।
तथा सूर्याभिनिर्मुक्तः कुनखी श्यावदन्नपि ॥ ३ ॥

जो ब्रह्मचारी सूर्योदय अथवा सूर्यास्तके समयतक सोता रहे तथा जिसके नख और दाँत काले हों,* उन सबको प्रायश्चित्त करना चाहिये ॥ ३ ॥

परिवित्तिः परिवेत्ता ब्रह्मघ्नो यश्च कुत्सकः।
दिधिषूपपतिर्यः स्यादग्रेदिधिषुरेव च ॥ ४ ॥
अवकीर्णी भवेद् यश्च द्विजातिवधकस्तथा।
अतीर्थे ब्राह्मणस्त्यागी तीर्थे चाप्रतिपादकः ॥ ५ ॥
ग्रामघाती च कौन्तेय मांसस्य परिविक्रयी।
यश्चाग्नीनपविध्येत तथैव ब्रह्मविक्रयी ॥ ६ ॥
स्त्रीशूद्रवधको यश्च पूर्वः पूर्वस्तु गर्हितः।
यथा पशुसमालम्भी गृहदाहस्य कारकः ॥ ७ ॥
अनृतेनोपवर्ती च प्रतिरोद्धा गुरोस्तथा।
एतान्येनांसि सर्वाणि व्युत्क्रान्तसमयश्च यः ॥ ८ ॥

कुन्तीनन्दन ! इसके सिवा परिवेत्ता (बड़े भाईके अविवाहित रहते हुए विवाह करनेवाला छोटा भाई), परिवित्ति (परिवेत्ताका बड़ा भाई), ब्रह्महत्यारा और जो दूसरोंकी निन्दा करनेवाला है वह तथा छोटी बहिनके विवाहके बाद उसीकी बड़ी बहिनसे ब्याह करनेवाला, जेठी बहिनके अविवाहित रहते हुए ही उसकी छोटी बहिनसे विवाह करनेवाला, जिसका व्रत नष्ट हो गया हो वह ब्रह्मचारी, द्विजकी हत्या करनेवाला, अपात्रको दान देनेवाला, सुपात्र ब्राह्मणको दान न देनेवाला, ग्रामका नाश करनेवाला, मांस बेचनेवाला तथा जो आग लगानेवाला है, जो वेतन लेकर वेद पढ़ानेवाला एवं स्त्री और शूद्रका वध करनेवाला है, इनमें पीछेवालोंसे पहलेवाले अधिक पापी हैं तथा पशु-वध करनेवाला, दूसरोंके घरमें आग लगानेवाला, झूठ बोलकर पेट पालनेवाला, गुरुका अपमान और सदाचारकी मर्यादाका उल्लङ्घन करनेवाला—ये सभी पापी माने गये हैं। इन्हें प्रायश्चित्त करना चाहिये ॥ ४–८

अकार्याणि तु वक्ष्यामि यानि तानि निबोध मे।
लोकवेदविरुद्धानि तान्येकाग्रमनाः शृणु ॥ ९ ॥

इनके सिवा, जो लोक और वेदसे विरुद्ध न करने योग्य कर्म हैं, उन्हें भी बताता हूँ। तुम एकाग्रचित्त होकर सुनो और समझो ॥ ९ ॥

स्वधर्मस्य परित्यागः परधर्मस्य च क्रिया।
अयाज्ययाजनं चैव तथाभक्ष्यस्य भक्षणम् ॥ १० ॥
शरणागतसंत्यागो भृत्यस्याभरणं तथा।
रसानां विक्रयश्चापि तिर्यग्योनिवधस्तथा ॥ ११ ॥
आधानादीनि कर्माणि शक्तिमान्न करोति यः।
अप्रयच्छंश्च सर्वाणि नित्यदेयानि भारत ॥ १२ ॥
दक्षिणानामदानं च ब्राह्मणस्वाभिमर्शनम्।
सर्वाण्येतान्यकार्याणि प्राहुर्धर्मविदो जनाः ॥ १३ ॥

भारत ! अपने धर्मको त्याग देना और दूसरेके धर्मका आचरण करना, यज्ञके अनधिकारीको यज्ञ कराना तथा अभक्ष्य भक्षण करना, शरणागतका त्याग करना और भरण करने योग्य व्यक्तियोंका भरण-पोषण न करना, एवं रसोंको बेचना, पशु-पक्षियोंको मारना और शक्ति रहते हुए भी अग्न्याधान आदि कर्मोंको न करना, नित्य देने योग्य गोग्रास आदिको न देना, ब्राह्मणोंको दक्षिणा न देना और उनका सर्वस्व छीन लेना, धर्मतत्त्वके जाननेवालोंने ये सभी कर्म न करने योग्य बताये हैं ॥ १०–१३ ॥

पित्रा विवदते पुत्रो यश्च स्याद् गुरुतल्पगः।
अप्रजायन् नरव्याघ्र भवत्यधार्मिको नरः ॥ १४ ॥

राजन् ! जो पुरुष पिताके साथ झगड़ा करता है, गुरुकी शय्यापर सोता है, ऋतुकालमें भी अपनी पत्नीके साथ समागम नहीं करता है, वह मनुष्य अधार्मिक होता है ॥ १४ ॥

उक्तान्येतानि कर्माणि विस्तरेणेतरेण च।
यानि कुर्वन्नकुर्वंश्च प्रायश्चित्तीयते नरः ॥ १५ ॥

इस प्रकार संक्षेप और विस्तारसे जो ये कर्म बताये गये हैं, उनमेंसे कुछको करनेसे और कुछको न करनेसे मनुष्य प्रायश्चित्तका भागी होता है ॥ १५ ॥

एतान्येव तु कर्माणि क्रियमाणानि मानवाः।
येषु येषु निमित्तेषु न लिप्यन्तेऽथ ताञ्शृणु ॥ १६ ॥

* क्योंकि 'स्वर्णहारी तु कुनखी सुरापः श्यावदन्तकः' (कर्मविपाक) इस स्मृतिके अनुसार वे पूर्व जन्ममें क्रमशः सुवर्णकी चोरी करनेवाले और शराबी होते हैं।

अब जिन-जिन कारणोंके होनेपर इन कर्मोंको करते रहनेपर भी मनुष्य पापसे लिप्त नहीं होते, उनका वर्णन सुनो॥

प्रगृह्य शस्त्रमायान्तमपि वेदान्तगं रणे।
जिघांसन्तं जिघांसीयान्न तेन ब्रह्महा भवेत्॥ १७॥

यदि युद्धस्थलमें वेदवेदान्तोंका पारगामी विद्वान् ब्राह्मण भी हाथमें हथियार लेकर मारनेके लिये आवे तो स्वयं भी उसको मार डालनेकी चेष्टा करे। इससे ब्रह्महत्याका पाप नहीं लगता है॥ १७॥

इति चाप्यत्र कौन्तेय मन्त्रो वेदेषु पठ्यते।
वेदप्रमाणविहितं धर्मं च प्रब्रवीमि ते॥ १८॥

कुन्तीनन्दन! इस विषयमें वेदका एक मन्त्र भी पढ़ा जाता है। मैं तुमसे उसी धर्मकी बात कहता हूँ, जो वैदिक प्रमाणसे विहित है॥ १८॥

अपेतं ब्राह्मणं वृत्ताद् यो हन्यादाततायिनम्।
न तेन ब्रह्महा स स्यान्मन्युस्तन्मन्युमृच्छति॥१९॥

जो ब्राह्मणोचित आचारसे भ्रष्ट होकर आततायी बन गया हो—हाथमें हथियार लेकर मारने आ रहा हो, ऐसे ब्राह्मणको मारनेसे ब्रह्महत्याका पाप नहीं लगता। क्रोध ही उसके क्रोधका सामना करता है॥ १९॥

प्राणात्यये तथाज्ञानादाचरन्मदिरामपि।
आदेशितो धर्मपरैः पुनः संस्कारमर्हति॥ २०॥

अनजानमें अथवा प्राणसंकटके समय भी यदि मदिरापान कर ले तो बादमें धर्मात्मा पुरुषोंकी आज्ञाके अनुसार उसका पुनः संस्कार होना चाहिये॥ २०॥

एतत् ते सर्वमाख्यातं कौन्तेयाभक्ष्यभक्षणम्।
प्रायश्चित्तविधानेन सर्वमेतेन शुद्ध्यति॥ २१॥

कुन्तीनन्दन! यही बात अन्य सब अभक्ष्यभक्षणोंके विषयमें भी कही गयी है। प्रायश्चित्त कर लेनेसे सब शुद्ध हो जाता है॥ २१॥

गुरुतल्पं हि गुर्वर्थं न दूषयति मानवम्।
उद्दालकः श्वेतकेतुं जनयामास शिष्यतः॥ २२॥

गुरुकी आज्ञासे उन्हींके प्रयोजनकी सिद्धिके लिये गुरुकी शय्यापर शयन करना मनुष्यको दूषित नहीं करता है। उद्दालकने अपने पुत्र श्वेतकेतुको शिष्यद्वारा उत्पन्न कराया था॥

स्तेयं कुर्वंश्च गुर्वर्थमापत्सु न निषिध्यते।
बहुशः कामकारेण न चेद् यः सम्प्रवर्तते॥ २३॥
अन्यत्र ब्राह्मणस्वेभ्य आददानो न दुष्यति।
स्वयमप्राशिता यश्च न स पापेन लिप्यते॥२४॥

(चोरी सर्वथा निषिद्ध है) किंतु आपत्तिकालमें कभी गुरुके लिये चोरी करनेवाला पुरुष दोषका भागी नहीं होता है। यदि मनमें कामना रखकर बारंबार उस चौर्य-कर्ममें वह प्रवृत्त न होता हो तो आपत्तिके समय ब्राह्मणके सिवा किसी दूसरेका धन लेनेवाला मनुष्य पापका भागी नहीं होता है। जो स्वयं उस चोरीका अन्न नहीं खाता, वह भी चौर्यदोषसे लिप्त नहीं होता है॥ २३-२४॥

प्राणत्राणेऽनृतं वाच्यमात्मनो वा परस्य च।
गुर्वर्थे स्त्रीषु चैव स्याद् विवाहकरणेषु च॥ २५॥

अपने या दूसरेके प्राण बचानेके लिये, गुरुके लिये, एकान्तमें अपनी स्त्रीके पास विनोद करते समय अथवा विवाहके प्रसङ्गमें झूठ बोल दिया जाय तो पाप नहीं लगता है॥

नावर्तते व्रतं स्वप्ने शुक्रमोक्षे कथंचन।
आज्यहोमः समिद्धेऽग्नौ प्रायश्चित्तं विधीयते॥ २६॥

यदि किसी कारणसे स्वप्नमें वीर्य स्खलित हो जाय तो इससे ब्रह्मचारीके लिये दुबारा व्रत लेने—उपनयन-संस्कार करानेकी आवश्यकता नहीं है। इसके लिये प्रज्वलित अग्निमें घीका हवन करना प्रायश्चित्त बताया गया है॥ २६॥

पारिवित्त्यं तु पतिते नास्ति प्रव्रजिते तथा।
भिक्षिते पारदार्यं च तद् धर्मस्य न दूषकम्॥ २७॥

यदि बड़ा भाई पतित हो जाय या संन्यास ले ले तो उसके अविवाहित रहते हुए भी छोटे भाईका विवाह कर लेना दोषकी बात नहीं है। संतान-प्राप्तिके लिये स्त्रीद्वारा प्रार्थना करनेपर यदि कभी परस्त्रीसंगम किया जाय तो वह धर्मका लोप करनेवाला नहीं होता है॥ २७॥

वृथा पशुसमालम्भं नैव कुर्यान्न कारयेत्।
अनुग्रहः पशूनां हि संस्कारो विधिनोदितः॥ २८॥

मनुष्यको चाहिये कि वह व्यर्थ ही पशुओंका वध न तो करे और न करावे। विधिपूर्वक किया हुआ पशुओंका संस्कार उनपर अनुग्रह है॥ २८॥

अनर्हे ब्राह्मणे दत्तमज्ञानात् तन्न दूषकम्।
सत्काराणां तथा तीर्थे नित्यं वाप्रतिपादनम्॥ २९॥

यदि अनजानमें किसी अयोग्य ब्राह्मणको दान दे दिया जाय अथवा योग्य ब्राह्मणको सत्कारपूर्वक दान न दिया जा सके तो वह दोषकारक नहीं होता॥ २९॥

स्त्रियास्तथापचारिण्या निष्कृतिः स्याददूषिका।
अपि सा पूयते तेन न तु भर्ता प्रदुष्यति॥ ३०॥

यदि व्यभिचारिणी स्त्रीका तिरस्कार किया जाय तो वह दोषकी बात नहीं है। उस तिरस्कारसे स्त्रीकी तो शुद्धि होती है और पति भी दोषका भागी नहीं होता॥ ३०॥

तत्त्वं ज्ञात्वा तु सोमस्य विक्रयः स्याददोषवान्।
असमर्थस्य भृत्यस्य विसर्गः स्याददोषवान्।
वनदाहो गवामर्थे क्रियमाणो न दूषकः॥ ३१॥

सोमरसके तत्त्वको जानकर यदि उसका विक्रय किया जाय तो बेचनेवाला दोषका भागी नहीं होता। जो सेवक काम करनेमें असमर्थ हो जाय, उसे छोड़ देनेसे भी दोष नहीं लगता। गौओंकी सुविधाके लिये यदि जंगलमें आग लगायी जाय तो उससे पाप नहीं होता है॥ ३१॥

उक्तान्येतानि कर्माणि यानि कुर्वन्न दुष्यति।

प्रायश्चित्तानि वक्ष्यामि विस्तरेणैव भारत ॥ ३२ ॥

भरतनन्दन ! ये सब तो मैंने वे कर्म बताये हैं, जिन्हें करनेवाला दोषका भागी नहीं होता है। अब मैं विस्तारपूर्वक प्रायश्चित्तोंका वर्णन करूँगा ॥ ३२ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि राजधर्मानुशासनपर्वणि प्रायश्चित्तीये चतुस्त्रिंशोऽध्यायः ॥ ३४ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत राजधर्मानुशासनपर्वमें प्रायश्चित्तके प्रकरणमें चौंतीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥३४॥

पञ्चत्रिंशोऽध्यायः

पापकर्मके प्रायश्चित्तोंका वर्णन

व्यास उवाच

तपसा कर्मणा चैव प्रदानेन च भारत।
पुनाति पापं पुरुषः पुनश्चेन्न प्रवर्तते ॥ १ ॥

व्यासजी बोले—भरतनन्दन ! मनुष्य तपसे, यज्ञ आदि सत्कर्मोंसे तथा दानके द्वारा पापको धो-बहाकर अपने आपको पवित्र कर लेता है, परंतु यह तभी सम्भव होता है, जब वह फिर पापमें प्रवृत्त न हो ॥ १ ॥

एककालं तु भुञ्जीत चरन् भैक्ष्यं स्वकर्मकृत्।
कपालपाणिः खट्वाङ्गी ब्रह्मचारी सदोत्थितः ॥ २ ॥
अनसूयुरधःशायी कर्म लोके प्रकाशयन्।
पूर्णैर्द्वादशभिर्वर्षैर्ब्रह्महा विप्रमुच्यते ॥ ३ ॥

यदि किसीने ब्रह्महत्या की हो, तो वह भिक्षा माँगकर एक समय भोजन करे, अपना सब काम स्वयं ही करे, हाथमें खप्पर और खाटका पाया लिये रहे, सदा ब्रह्मचर्यव्रतका पालन करे, उद्यमशील बना रहे, किसीके दोष न देखे, जमीनपर सोये और लोकमें अपना पापकर्म प्रकट करता रहे। इस प्रकार बारह वर्षतक करनेसे ब्रह्महत्यारा पापमुक्त हो जाता है ॥ २-३ ॥

लक्ष्यः शस्त्रभृतां वा स्याद् विदुषामिच्छयाऽऽत्मनः।
प्रास्येदात्मानमग्नौ वा समिद्धे त्रिरवाक्छिराः ॥ ४ ॥
जपन् वान्यतमं वेदं योजनानां शतं व्रजेत्।
सर्वस्वं वा वेदविदे ब्राह्मणायोपपादयेत् ॥ ५ ॥
धनं वा जीवनायालं गृहं वा सपरिच्छदम्।
मुच्यते ब्रह्महत्याया गोप्ता गोब्राह्मणस्य च ॥ ६ ॥

अथवा प्रायश्चित्त बतानेवाले विद्वानोंकी या अपनी इच्छासे शस्त्रधारी पुरुषोंके अस्त्र-शस्त्रोंका निशाना बन जाय अथवा अपनेको प्रज्वलित आगमें झोंक दे अथवा नीचे सिर किये किसी भी एक वेदका पाठ करते हुए तीन बार सौ-सौ योजनकी यात्रा करे अथवा किसी वेदवेत्ता ब्राह्मणको अपना सर्वस्व समर्पण कर दे या जीवन-निर्वाहके लिये पर्याप्त धन अथवा सब सामानोंसे भरा हुआ घर ब्राह्मणको दान कर दे—इस प्रकार गौओं और ब्राह्मणोंकी रक्षा करनेवाला पुरुष ब्रह्महत्यासे मुक्त हो जाता है ॥ ४-६ ॥

षड्भिर्वर्षैः कृच्छ्रभोजी ब्रह्महा पूयते नरः।
मासे मासे समश्नंस्तु त्रिभिर्वर्षैः प्रमुच्यते ॥ ७ ॥

यदि ब्रह्महत्या करनेवाला पुरुष कृच्छ्रव्रतके अनुसार भोजन करे तो छः वर्षोंमें वह शुद्ध हो जाता है और एक-एक मासमें एक-एक कृच्छ्रव्रतका निर्वाह करते हुए भोजन करे तो वह तीन ही वर्षोंमें पापमुक्त हो जाता है ॥ ७ ॥

संवत्सरेण मासाशी पूयते नात्र संशयः।
तथैवोपवसन् राजन् स्वल्पेनापि प्रपूयते ॥ ८ ॥

यदि एक-एक मासपर भोजनक्रम बदलते हुए अत्यन्त तीव्र कृच्छ्रव्रतके अनुसार अन्न ग्रहण करे तो एक वर्षमें ही ब्रह्महत्यासे छुटकारा मिल सकता है* इसमें संशय नहीं है। राजन् ! इसी प्रकार यदि केवल उपवास करनेवाला मनुष्य हो तो उसकी स्वल्प समयमें ही शुद्धि हो जाती है ॥ ८ ॥

क्रतुना चाश्वमेधेन पूयते नात्र संशयः।
ये चाप्यवभृथस्नाताः केचिदेवंविधा नराः ॥ ९ ॥
ते सर्वे धूतपाप्मानो भवन्तीति परा श्रुतिः।

अश्वमेध यज्ञ करनेसे भी ब्रह्महत्याका पाप शुद्ध हो जाता है, इसमें संशय नहीं है। जो इस प्रकारके लोग महायज्ञोंमें अवभृथ-स्नान करते हैं, वे सभी पापमुक्त हो जाते हैं—ऐसा श्रुतिका† कथन है ॥ ९½ ॥

ब्राह्मणार्थे हतो युद्धे मुच्यते ब्रह्महत्यया ॥ १० ॥
गवां शतसहस्रं तु पात्रेभ्यः प्रतिपादयेत्।
ब्रह्महा विप्रमुच्येत सर्वपापेभ्य एव च ॥ ११ ॥

जो पुरुष ब्राह्मणके लिये युद्धमें प्राण दे देता है, वह भी ब्रह्महत्यासे छूट जाता है। ब्रह्महत्यारा होनेपर भी जो सुपात्र

---

* तीन दिन प्रातःकाल, तीन दिन सायंकाल और तीन दिन बिना माँगे जो मिल जाय वह खा लेना तथा तीन दिन उपवास करना—इस प्रकार बारह दिनका कृच्छ्रव्रत होता है। इसी क्रमसे छः वर्षतक रहनेसे ब्रह्महत्या छूट सकती है। यही क्रम यदि तीन-तीन दिनमें परिवर्तित न होकर सम मासोंमें एक-एक सप्ताहमें और विषम मासोंमें आठ-आठ दिनोंमें बदलते हुए एक-एक मासके कृच्छ्रव्रतके अनुसार चले तो तीन वर्षोंमें शुद्धि हो जायगी और यदि एक मास प्रातःकाल, एक मास सायंकाल और एक मास अयाचित भोजन तथा एक मास उपवास—इस प्रकार चार-चार मासके कृच्छ्रव्रतके अनुसार चले तो एक ही वर्षमें ब्रह्महत्याका पाप छूट सकता है।

† श्रुति इस प्रकार है 'सर्वं पाप्मानं तरति तरति ब्रह्महत्यां योऽश्वमेधेन यजते' इति श्रुतिः।

[illegible] एक हजार गौओंका दान करता है, वह सम्पूर्ण पापोंसे मुक्त हो जाता है ॥ १०-११ ॥

कपिलानां सहस्राणि यो दद्यात् पञ्चविंशतिम् ।
दोग्ध्रीणां स च पापेभ्यः सर्वेभ्यो विप्रमुच्यते ॥ १२ ॥

जो दूध देनेवाली पचीस हजार कपिला गौओंका दान करता है, वह समस्त पापोंसे छुटकारा पा जाता है ॥ १२ ॥

गोसहस्रं सवत्सानां दोग्ध्रीणां प्राणसंशये ।
साधुभ्यो वै दरिद्रेभ्यो दत्त्वा मुच्येत किल्बिषात् ॥ १३ ॥

जब मृत्युकाल निकट हो, उस समय सदाचारी दरिद्र ब्राह्मणोंको दूध देनेवाली एक हजार सवत्सा गौओंका दान करके भी मनुष्य सब पापोंसे मुक्त हो सकता है ॥ १३ ॥

शतं वै यस्तु काम्बोजान् ब्राह्मणेभ्यः प्रयच्छति ।
नियतेभ्यो महीपाल स च पापात् प्रमुच्यते ॥ १४ ॥

भूपाल ! जो संयम-नियमसे रहनेवाले ब्राह्मणोंको सौ काबुली घोड़ोंका दान करता है, उसे भी पापसे छुटकारा मिल जाता है ॥ १४ ॥

मनोरथं तु यो दद्यादेकस्मा अपि भारत ।
न कीर्तयेत दत्त्वा यः स च पापात् प्रमुच्यते ॥ १५ ॥

भरतनन्दन ! जो एक ब्राह्मणको भी उसकी मनोवाञ्छित वस्तु दे देता है और देकर फिर उसकी कहीं चर्चा नहीं करता, वह भी पापसे मुक्त हो जाता है ॥ १५ ॥

सुरापानं सकृत् कृत्वा योऽग्निवर्णां सुरां पिबेत् ।
स पावयत्यथात्मानमिह लोके परत्र च ॥ १६ ॥

जो एक बार मदिरा-पान करके फिर आगके समान गर्म की हुई मदिरा पी लेता है, वह इहलोक और परलोकमें भी अपनेको पवित्र कर लेता है ॥ १६ ॥

मरुप्रपातं प्रपतन् ज्वलनं वा समाविशन् ।
महाप्रस्थानमातिष्ठन् मुच्यते सर्वकिल्बिषैः ॥ १७ ॥

जलहीन देशमें पर्वतसे गिरकर अथवा अग्निमें प्रवेश करके या महाप्रस्थानकी विधिसे हिमालयमें गलकर प्राण दे देनेसे मनुष्य सब पापोंसे छुटकारा पा जाता है ॥ १७ ॥

बृहस्पतिसवेनेष्ट्वा सुरापो ब्राह्मणः पुनः ।
समितिं ब्राह्मणो गच्छेदिति वै ब्रह्मणः श्रुतिः ॥ १८ ॥

मदिरा पीनेवाला ब्राह्मण 'बृहस्पति-सव' नामक यज्ञ करके शुद्ध होनेपर ब्रह्माजीकी सभामें जा सकता है, ऐसा श्रुतिका कथन है ॥ १८ ॥

भूमिप्रदानं कुर्याद् यः सुरां पीत्वा विमत्सरः ।
पुनर्न च पिबेद् राजन् संस्कृतः स च शुद्ध्यति ॥ १९ ॥

राजन् ! जो मदिरा पी लेनेपर ईर्ष्या-द्वेषसे रहित हो भूमिदान करे और फिर कभी उसे न पीये, वह संस्कार करनेके पश्चात् शुद्ध होता है ॥ १९ ॥

गुरुतल्पी शिलां तप्तामायसीमभिसंविशेत् ।
अवकृत्यात्मनः शेफं प्रव्रजेदूर्ध्वदर्शनः ॥ २० ॥

शरीरस्य विमोक्षेण मुच्यते कर्मणोऽशुभात् ।

गुरुपत्नीगमन करनेवाला मनुष्य तपायी हुई लोहेकी शिलापर सो जाय अथवा अपनी मूत्रेन्द्रिय काटकर ऊपरकी ओर देखता हुआ आगे बढ़ता चला जाय । इस प्रकार शरीर छूट जानेपर वह उस पापकर्मसे मुक्त हो जाता है ॥ २०½ ॥

कर्मभ्यो विप्रमुच्यन्ते यत्ताः संवत्सरं स्त्रियः ॥ २१ ॥
महाव्रतं चरेद् यस्तु दद्यात् सर्वस्वमेव तु ।
गुर्वर्थे वा हतो युद्धे स मुच्येत् कर्मणोऽशुभात् ॥ २२ ॥

स्त्रियाँ भी एक वर्षतक मिताहार एवं संयमपूर्वक रहनेपर उक्त पापकर्मोंसे मुक्त हो जाती हैं । जो महाव्रतका (एक महीनेतक जल न पीनेके नियमका) पालन करता है, ब्राह्मणोंको अपना सर्वस्व समर्पित कर देता है अथवा गुरुके लिये युद्धमें मारा जाता है, वह अशुभ कर्मके बन्धनसे मुक्त हो जाता है ॥ २१-२२ ॥

अनृतेनोपजीवी चेत् प्रतिरोद्धा गुरोस्तथा ।
उपाहृत्य प्रियं तस्मै तस्मात् पापात् प्रमुच्यते ॥ २३ ॥

झूठ बोलकर जीविका चलानेवाला तथा गुरुका अपमान करनेवाला पुरुष गुरुजीको मनचाही वस्तु देकर प्रसन्न कर ले तो उस पापसे मुक्त हो जाता है ॥ २३ ॥

अवकीर्णिनिमित्तं तु ब्रह्महत्याव्रतं चरेत् ।
गोचर्मवासाः षण्मासांस्तथा मुच्येत किल्बिषात् ॥ २४ ॥

जिसका ब्रह्मचर्यव्रत खण्डित हो गया हो, वह ब्रह्मचारी उस दोषकी निवृत्तिके उद्देश्यसे ब्रह्महत्याके लिये बताये हुए व्रतका आचरण करे तथा छः महीनोंतक गोचर्म ओढ़कर रहे; ऐसा करनेपर वह पापसे मुक्त हो सकता है ॥ २४ ॥

परदारापहारी तु परस्यापहरन् वसु ।
संवत्सरं व्रती भूत्वा तथा मुच्येत किल्बिषात् ॥ २५ ॥

परायी स्त्री तथा पराये धनका अपहरण करनेवाला पुरुष एक वर्षतक कठोर व्रतका पालन करनेपर उस पापसे मुक्त होता है ॥ २५ ॥

धनं तु यस्यापहरेत् तस्मै दद्यात् समं वसु ।
विविधेनाभ्युपायेन तदा मुच्येत किल्बिषात् ॥ २६ ॥

जिसके धनका अपहरण करे, उसे अनेक उपाय करके उतना ही धन लौटा दे तो उस पापसे छुटकारा मिल सकता है ॥ २६ ॥

कृच्छ्राद् द्वादशरात्रेण संयतात्मा व्रते स्थितः ।
परिवेत्ता भवेत् पूतः परिवित्तिस्तथैव च ॥ २७ ॥

बड़े भाईके अविवाहित रहते हुए विवाह करनेवाला छोटा भाई और उसका वह बड़ा भाई—ये दोनों मनको संयममें रखते हुए बारह राततक कृच्छ्रव्रतका अनुष्ठान करनेसे शुद्ध हो जाते हैं ॥ २७ ॥

निवेश्यं तु पुनस्तेन सदा तारयता पितॄन् ।
न तु स्त्रिया भवेद् दोषो न तु सा तेन लिप्यते ॥ २८ ॥

इसके सिवा, बड़े भाईका विवाह होनेके बाद पहलेका व्याहा हुआ छोटा भाई पितरोंके उद्धारके निमित्त पुनः विवाह-संस्कार करे; ऐसा करनेसे उस स्त्रीके कारण उसे दोष नहीं प्राप्त होता और न वह स्त्री ही उसके दोषसे लिप्त होती है ॥ २८ ॥

भोजनं ह्यन्तराशुद्धं चातुर्मास्ये विधीयते।
स्त्रियस्तेन प्रशुध्यन्ति इति धर्मविदो विदुः ॥ २९ ॥

चौमासेमें एक दिनका अन्तर देकर भोजन करनेका विधान है। उसके पालनसे स्त्रियाँ शुद्ध हो जाती हैं, ऐसा धर्मज्ञ पुरुषोंका कथन है ॥ २९ ॥

स्त्रियस्त्वाशङ्किताः पापा नोपगम्या विजानता।
रजसा ता विशुध्यन्ते भस्मना भाजनं यथा ॥ ३० ॥

यदि अपनी स्त्रीके विषयमें पापाचारकी आशङ्का हो तो विज्ञपुरुषको रजस्वला होनेतक उनके साथ समागम नहीं करना चाहिये। रजस्वला होनेपर वे उसी प्रकार शुद्ध हो जाती हैं, जैसे राखसे माँजा हुआ बर्तन ॥ ३० ॥

पादजोच्छिष्टकांस्यं यद् गवा घ्रातमथापि वा।
गण्डूषोच्छिष्टमपिवा विशुध्येद् दशभिस्तु तत् ॥ ३१ ॥

यदि काँसेका बर्तन शूद्रके द्वारा जूठा कर दिया जाय अथवा उसे गाय सूँघ ले अथवा किसीके भी कुल्ला करनेसे वह जूठा हो जाय तो वह दस वस्तुओंसे शोधन करनेपर शुद्ध होता है ॥ ३१ ॥

चतुष्पात् सकलो धर्मो ब्राह्मणस्य विधीयते।
पादावकृष्टो राजन्ये तथा धर्मो विधीयते ॥ ३२ ॥
तथा वैश्ये च शूद्रे च पादः पादो विधीयते।

ब्राह्मणके लिये चारों पादोंसे युक्त सम्पूर्ण धर्मके पालनका विधान है। तात्पर्य यह कि वह शौचाचार या आत्मशुद्धिके लिये किये जानेवाले प्रायश्चित्तका पूरा-पूरा पालन करे। क्षत्रियके लिये एक पाद कमका विधान है। इसी तरह वैश्यके लिये उसके दो पाद और शूद्रके लिये एक पादके पालनकी विधि है। (उदाहरणके तौरपर जहाँ ब्राह्मणके लिये चार दिन उपवासका विधान हो, वहाँ क्षत्रियके लिये तीन दिन, वैश्यके लिये दो दिन और शूद्रके लिये एक दिनके उपवासका विधान समझना चाहिये) ॥ ३२½ ॥

विद्याद्देवंविधेनैषां गुरुलाघवनिश्चयम् ॥ ३३ ॥
तिर्यग्योनिवधं कृत्वा द्रुमांश्छित्त्वेतरान् बहून्।
त्रिरात्रं वायुभक्षः स्यात् कर्म च प्रथयन्नरः ॥ ३४ ॥

इसी प्रकार इन पापोंके गौरव और लाघवका निश्चय करना चाहिये। पशु-पक्षियोंका वध और दूसरे-दूसरे बहुत-से वृक्षोंका उच्छेद करके पापयुक्त हुआ पुरुष अपनी शुद्धिके लिये तीन दिन, तीन रात केवल हवा पीकर रहे और अपना पापकर्म लोगोंपर प्रकट करता रहे ॥ ३३-३४ ॥

अगम्यागमने राजन् प्रायश्चित्तं विधीयते।
आर्द्रवस्त्रेण षण्मासान् विहार्यं भस्मशायिना ॥ ३५ ॥

राजन्! जो स्त्री समागम करनेके योग्य नहीं है, उसके साथ समागम कर लेनेपर प्रायश्चित्तका विधान है। उसे छः महीनेतक गीला वस्त्र पहनकर घूमना और राखके ढेरपर सोना चाहिये ॥ ३५ ॥

एष एव तु सर्वेषामकार्याणां विधिर्भवेत्।
ब्राह्मणोक्तेन विधिना दृष्टान्तागमहेतुभिः ॥ ३६ ॥

जितने न करने योग्य पापकर्म हैं, उन सबके लिये यही विधि हो। ब्राह्मणग्रन्थोंमें बतायी हुई विधिसे दृष्टान्त बतानेवाले शास्त्रोंकी युक्तियोंसे इसी तरह पापशुद्धिके लिये प्रायश्चित्त करना चाहिये ॥ ३६ ॥

सावित्रीमप्यधीयीत शुचौ देशे मिताशनः।
अहिंस्रो मन्दकोऽजल्पो मुच्यते सर्वकिल्बिषैः ॥ ३७ ॥

जो पवित्र स्थानमें मिताहारी हो हिंसाका सर्वथा त्याग करके राग-द्वेष, मान-अपमान आदिसे शून्य हो मौनभावसे गायत्रीमन्त्रका जप करता है, वह सब पापोंसे मुक्त हो जाता है ॥ ३७ ॥

अहःसु सततं तिष्ठेदभ्याकाशं निशां स्वपन्।
त्रिरह्नि त्रिर्निशायां च सवासा जलमाविशेत् ॥ ३८ ॥
स्त्रीशूद्रं पतितं चापि नाभिभाषेद् व्रतान्वितः।
पापान्यज्ञानतः कृत्वा मुच्येदेवंव्रतो द्विजः ॥ ३९ ॥

मनुष्यको चाहिये कि वह दिनमें खड़ा रहे, रातमें खुले मैदानमें सोये, तीन बार दिनमें और तीन बार रातमें वस्त्रोंसहित जलमें घुसकर स्नान करे और इस व्रतका पालन करते समय स्त्री-शूद्र और पतितसे बातचीत न करे, ऐसा नियम लेनेवाला द्विज अज्ञानवश किये हुए सब पापोंसे मुक्त हो जाता है ॥ ३८-३९ ॥

शुभाशुभफलं प्रेत्य लभते भूतसाक्षिकम्।
अतिरिच्येत यो यत्र तत्कर्ता लभते फलम् ॥ ४० ॥

मनुष्य शुभ और अशुभ जो कर्म करता है, उसके पाँच महाभूत साक्षी होते हैं। उन शुभ और अशुभ कर्मोंका फल मृत्युके पश्चात् उसे प्राप्त होता है। उन दोनों प्रकारके कर्मोंमें जो अधिक होता है। उसीका फल कर्ताको प्राप्त होता है ॥ ४० ॥

तस्माद् दानेन तपसा कर्मणा च फलं शुभम्।
वर्धयेदशुभं कृत्वा यथा स्यादतिरेकवान् ॥ ४१ ॥

इसलिये यदि मनुष्यसे अशुभ कर्म बन जाय तो वह दान, तपस्या और सत्कर्मके द्वारा शुभ फलकी वृद्धि करे, जिससे उसके पास अशुभको दबाकर शुभका ही संग्रह अधिक हो जाय ॥ ४१ ॥

१. गायके दूध, दही, घी, मूत्र और गोबर—इन पाँच गव्य पदार्थोंसे तथा मिट्टी, जल, राख, खटाई और आग—इन पाँच वस्तुओंसे पात्रको शुद्ध किया जाता है—यही उसका दस वस्तुओंसे शोधन है।

कुर्याच्छुभानि कर्माणि निवर्तेत् पापकर्मणः ।
दद्याच्च नित्यं वित्तानि तथा मुच्येत किल्बिषात् ॥ ४२ ॥

मनुष्यको चाहिये कि वह शुभ कर्मोंका ही अनुष्ठान करे, पापकर्मसे सर्वथा दूर रहे तथा प्रतिदिन (निष्कामभावसे) धनका दान करे; ऐसा करनेसे वह पापोंसे मुक्त हो जाता है ॥

अनुरूपं हि पापस्य प्रायश्चित्तमुदाहृतम् ।
महापातकवर्जं तु प्रायश्चित्तं विधीयते ॥ ४३ ॥

मैंने तुम्हारे सामने पापके अनुरूप प्रायश्चित्त बतलाया है, परंतु महापातकोंसे भिन्न पापोंके लिये ही ऐसा प्रायश्चित्त किया जाता है ॥ ४३ ॥

भक्ष्याभक्ष्येषु चान्येषु वाच्यावाच्ये तथैव च ।
अज्ञानज्ञानयो राजन् विहितान्यनुजानतः ॥ ४४ ॥

राजन्! भक्ष्य, अभक्ष्य, वाच्य और अवाच्य तथा जान-बूझकर और बिना जाने किये हुए पापोंके लिये ये प्रायश्चित्त कहे गये हैं। विज्ञ पुरुषको समझकर इनका अनुष्ठान करना चाहिये ॥ ४४ ॥

जानता तु कृतं पापं गुरु सर्वं भवत्युत ।
अज्ञानात् स्वल्पको दोषः प्रायश्चित्तं विधीयते ॥ ४५ ॥

जान-बूझकर किया हुआ सारा पाप भारी होता है और अनजानमें वैसा पाप बन जानेपर कम दोष लगता है। इस प्रकार भारी और हल्के पापके अनुसार ही उसके प्रायश्चित्त-का विधान है ॥ ४५ ॥

शक्यते विधिना पापं यथोक्तेन व्यपोहितुम् ।
आस्तिके श्रद्दधाने च विधिरेष विधीयते ॥ ४६ ॥

शास्त्रोक्त विधिसे प्रायश्चित्त करके सारा पाप दूर किया जा सकता है। परंतु यह विधि आस्तिक और श्रद्धालु पुरुषके लिये ही कही गयी है ॥ ४६ ॥

नास्तिकाश्रद्दधानेषु पुरुषेषु कदाचन ।
दम्भद्वेषप्रधानेषु विधिरेष न दृश्यते ॥ ४७ ॥

जिनमें दम्भ और द्वेषकी प्रधानता है, उन नास्तिक और श्रद्धाहीन पुरुषोंके लिये कभी ऐसे प्रायश्चित्तका विधान नहीं देखा जाता है ॥ ४७ ॥

शिष्टाचारश्च शिष्टश्च धर्मो धर्मभृतां वर ।
सेवितव्यो नरव्याघ्र प्रेत्येह च सुखेप्सुना ॥ ४८ ॥

धर्मात्माओंमें श्रेष्ठ पुरुषसिंह! जो इहलोक और परलोक-में सुख चाहता हो, उसे श्रेष्ठ पुरुषोंके आचार तथा उनके उपदेश किये हुए धर्मका सदा ही सेवन करना चाहिये ॥ ४८ ॥

स राजन् मोक्ष्यसे पापात् तेन पूर्वेण हेतुना ।
प्राणार्थे वा धनेनैषामथवा नृपकर्मणा ॥ ४९ ॥

नरेश्वर! तुमने तो अपने प्राणोंकी रक्षा, धनकी प्राप्ति अथवा राजोचित कर्तव्यका पालन करनेके लिये ही शत्रुओंका वध किया है; अतः इतना ही पर्याप्त कारण है, जिससे तुम पापमुक्त हो जाओगे ॥ ४९ ॥

अथवा ते घृणा काचित् प्रायश्चित्तं चरिष्यसि ।
मा त्वेवानार्यजुष्टेन मन्युना निधनं गमः ॥ ५० ॥

अथवा यदि तुम्हारे मनमें उन अतीत घटनाओंके कारण कोई घृणा या ग्लानि हो तो उनके लिये प्रायश्चित्त कर लेना। परंतु इस प्रकार अनार्य पुरुषोंद्वारा सेवित खेद या रोषके वशीभूत होकर आत्महत्या न करो ॥ ५० ॥

वैशम्पायन उवाच

एवमुक्तो भगवता धर्मराजो युधिष्ठिरः ।
चिन्तयित्वा मुहूर्तेन प्रत्युवाच तपोधनम् ॥ ५१ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! भगवान् व्यासके ऐसा कहनेपर धर्मराज युधिष्ठिरने दो घड़ीतक कुछ सोच-विचार करके तपोधन व्यासजीसे इस प्रकार कहा ॥ ५१ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि राजधर्मानुशासनपर्वणि प्रायश्चित्तीये पञ्चत्रिंशोऽध्यायः ॥ ३५ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत राजधर्मानुशासनपर्वमें प्रायश्चित्तवर्णनके प्रसङ्गमें पैंतीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ३५ ॥

षट्त्रिंशोऽध्यायः

स्वायम्भुव मनुके कथनानुसार धर्मका स्वरूप, पापसे शुद्धिके लिये प्रायश्चित्त, अभक्ष्य वस्तुओंका वर्णन तथा दानके अधिकारी एवं अनधिकारीका विवेचन

युधिष्ठिर उवाच

किं भक्ष्यं चाप्यभक्ष्यं च किं च देयं प्रशस्यते ।
किं च पात्रमपात्रं वा तन्मे ब्रूहि पितामह ॥ १ ॥

युधिष्ठिरने पूछा—पितामह! क्या भक्ष्य है और क्या अभक्ष्य! किस वस्तुका दान उत्तम माना जाता है? कौन दानका पात्र है अथवा कौन अपात्र? यह सब मुझे बताइये ॥

व्यास उवाच

अत्राप्युदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम् ।
सिद्धानां चैव संवादं मनोश्चैव प्रजापतेः ॥ २ ॥

व्यासजी बोले—राजन्! इस विषयमें लोग प्रजापति मनु और सिद्ध पुरुषोंके संवादरूप इस प्राचीन इतिहासका उदाहरण दिया करते हैं ॥ २ ॥

ऋषयस्तु व्रतपराः समागम्य पुरा विभुम् ।
धर्मं पप्रच्छुरासीनमादिकाले प्रजापतिम् ॥ ३ ॥

पहलेकी बात है एक समय बहुत-से व्रतपरायण तपस्वी ऋषि एकत्र हो प्रजापति राजा मनुके पास गये और उन बैठे हुए नरेशसे धर्मकी बात पूछते हुए बोले— ॥ ३ ॥

कथमन्नं कथं पात्रं दानमध्ययनं तपः ।

कार्याकार्यं च यत् सर्वं शंस वै त्वं प्रजापते ॥ ४ ॥

'प्रजापते ! अन्न क्या है ? पात्र कैसा होना चाहिये ? दान, अध्ययन और तपका क्या स्वरूप है ? क्या कर्तव्य है और क्या अकर्तव्य ? यह सब हमें बताइये' ॥ ४ ॥

तैरेवमुक्तो भगवान् मनुः स्वायम्भुवोऽब्रवीत् ।
शुश्रूषध्वं यथावृत्तं धर्मं व्याससमासतः ॥ ५ ॥

उनके इस प्रकार पूछनेपर भगवान् स्वायम्भुव मनुने कहा—'महर्षियो ! मैं संक्षेप और विस्तारके साथ धर्मका यथार्थ स्वरूप बताता हूँ, आपलोग सुनें ॥ ५ ॥

अनादेशे जपो होम उपवासस्तथैव च ।
आत्मज्ञानं पुण्यनद्यो यत्र प्रायश्च तत्पराः ॥ ६ ॥
अनादिष्टं तथैतानि पुण्यानि धरणीभृतः ।
सुवर्णप्राशनमपि रत्नादिस्नानमेव च ॥ ७ ॥
देवस्थानाभिगमनमाज्यप्राशनमेव च ।
एतानि मेध्यं पुरुषं कुर्वन्त्याशु न संशयः ॥ ८ ॥

'जिनके दोषोंका विशेषरूपसे उल्लेख नहीं हुआ है, ऐसे कर्म बन जानेपर उनके दोषके निवारणके लिये जप, होम, उपवास, आत्मज्ञान, पवित्र नदियोंमें स्नान तथा जहाँ जप-होम आदिमें तत्पर रहनेवाले बहुत-से पुण्यात्मा पुरुष रहते हों, उस स्थानका सेवन—ये सामान्य प्रायश्चित्त हैं। ये सारे कर्म पुण्यदायक हैं । पर्वत, सुवर्णप्राशन (सोनेसे स्पर्श कराये हुए जलका पान), रत्न आदिसे मिश्रित जलमें स्नान, देव-स्थानोंकी यात्रा और घृतपान—ये सब मनुष्यको शीघ्र ही पवित्र कर देते हैं, इसमें संशय नहीं है ॥ ६–८ ॥

न गर्वेण भवेत् प्राज्ञः कदाचिदपि मानवः ।
दीर्घमायुरथेच्छन् हि त्रिरात्रं चोष्णपो भवेत् ॥ ९ ॥

'विद्वान् पुरुष कभी गर्व न करे और यदि दीर्घायुकी इच्छा हो तो तीन रात तप्तकृच्छ्रव्रतकी विधिसे गरम-गरम दूध, घृत और जल पीये ॥ ९ ॥

अदत्तस्यानुपादानं दानमध्ययनं तपः ।
अहिंसा सत्यमक्रोध इज्या धर्मस्य लक्षणम् ॥ १० ॥

'बिना दी हुई वस्तुको न लेना, दान, अध्ययन और तपमें तत्पर रहना, किसी भी प्राणीकी हिंसा न करना, सत्य बोलना, क्रोध त्याग देना और यज्ञ करना—ये सब धर्मके लक्षण हैं ॥ १० ॥

स एव धर्मः सोऽधर्मो देशकाले प्रतिष्ठितः ।
आदानमनृतं हिंसा धर्मो ह्यावस्थिकः स्मृतः ॥ ११ ॥

'एक ही क्रिया देश और कालके भेदसे धर्म या अधर्म हो जाती है ! चोरी करना, झूठ बोलना एवं हिंसा करना आदि अधर्म भी अवस्थाविशेषमें धर्म माने गये हैं ॥ ११ ॥

द्विविधौ चाप्युभावेतौ धर्माधर्मौ विजानताम् ।
अप्रवृत्तिः प्रवृत्तिश्च द्वैविध्यं लोकवेदयोः ॥ १२ ॥

'इस प्रकार विज्ञ पुरुषोंकी दृष्टिमें धर्म और अधर्म दोनों ही देश-कालके भेदसे दो-दो प्रकारके हैं । धर्माधर्ममें जो अप्रवृत्ति और प्रवृत्ति होती हैं, ये भी लोक और वेदके भेदसे दो प्रकारकी हैं (अर्थात् लौकिकी अप्रवृत्ति और लौकिकी प्रवृत्ति, वैदिकी अप्रवृत्ति और वैदिकी प्रवृत्ति) ॥ १२ ॥

अप्रवृत्तेरमर्त्यत्वं मर्त्यत्वं कर्मणः फलम् ।
अशुभस्याशुभं विद्याच्छुभस्य शुभमेव च ।
एतयोश्चोभयोः स्यातां शुभाशुभतया तथा ॥ १३ ॥

'वैदिकी अप्रवृत्ति (निवृत्ति-धर्म) का फल है अमृतत्व (मोक्ष) और वैदिकी प्रवृत्ति अर्थात् सकाम कर्मका फल है जन्म-मरणरूप संसार । लौकिकी अप्रवृत्ति और प्रवृत्ति—ये दोनों यदि अशुभ हों तो उनका फल भी अशुभ समझे तथा शुभ हों तो उनका फल भी शुभ जानना चाहिये; क्योंकि ये दोनों ही शुभ और अशुभरूप होती हैं ॥ १३ ॥

दैवं च दैवसंयुक्तं प्राणश्च प्राणदश्च ह ।
अपेक्षापूर्वकरणादशुभानां शुभं फलम् ॥ १४ ॥

'देवताओंके निमित्त, दैवयुक्त (शास्त्रीय कर्म), प्राण और प्राणदाता—इन चारोंकी अपेक्षापूर्वक जो कुछ किया जाता है, उससे अशुभका भी शुभ ही फल होता है ॥ १४ ॥

ऊर्ध्वं भवति संदेहादिह दृष्टार्थमेव च ।
अपेक्षापूर्वकरणात् प्रायश्चित्तं विधीयते ॥ १५ ॥

'प्राणोंपर संशय न होनेकी स्थितिमें अथवा किसी प्रत्यक्ष लाभके लिये जो यहाँ अशुभ कर्म बन जाता है, उसे इच्छापूर्वक करनेके कारण उसके दोषकी निवृत्तिके लिये प्रायश्चित्तका विधान है ॥ १५ ॥

क्रोधमोहकृते चैव दृष्टान्तागमहेतुभिः ।
शरीराणामुपक्लेशो मनसश्च प्रियाप्रिये ।
तदौषधैश्च मन्त्रैश्च प्रायश्चित्तैश्च शाम्यति ॥ १६ ॥

'यदि क्रोध और मोहके वशीभूत होकर मनको प्रिय या अप्रिय लगनेवाले अशुभ कार्य हो जाते हैं तो उनके निवारणके लिये दृष्टान्तप्रतिपादक शास्त्रकी दृष्टियोंसे उपवास आदिके द्वारा शरीरको सुखाना ही करने योग्य प्रायश्चित्त माना गया है । इसके सिवा, हविष्यान्न-भोजन, मन्त्रोंके जप तथा अन्यान्य प्रायश्चित्तोंसे भी क्रोध आदिके कारण किये गये पापकी शान्ति होती है ॥ १६ ॥

उपवासमेकरात्रं दण्डोत्सर्गे नराधिपः ।
विशुद्ध्येदात्मशुद्ध्यर्थं त्रिरात्रं तु पुरोहितः ॥ १७ ॥

'यदि राजा दण्डनीय पुरुषको दण्ड न दे तो उसे अपनी शुद्धिके लिये एक दिन रातका उपवास करना चाहिये । यदि पुरोहित राजाको ऐसे अवसरपर कर्तव्यका उपदेश न दे तो उसे तीन रात उपवास करना चाहिये ॥ १७ ॥

क्षयं शोकं प्रकुर्वाणो न म्रियेत यदा नरः ।
शस्त्रादिभिरुपाविष्टस्त्रिरात्रं तत्र निर्दिशेत् ॥ १८ ॥

'यदि पुत्र आदिकी मृत्युके कारण शोक करनेवाला

पुरुष आमरण उपवास करनेके लिये बैठ जाय अथवा शस्त्र आदिसे आत्मघातकी चेष्टा करे; परंतु उसकी मृत्यु न हो; उस दशामें भी उस निन्द्यकर्मके लिये जो चेष्टा की गयी थी, उसके दोषकी निवृत्तिके लिये उसे तीन रातका उपवास बताना चाहिये ॥ १८ ॥

जातिश्रेण्यधिवासानां कुलधर्मांश्च सर्वतः ।
वर्जयन्ति च ये धर्मं तेषां धर्मो न विद्यते ॥ १९ ॥

'परंतु जो पुरुष अपनी जाति, आश्रम तथा कुलके धर्मोंका सर्वथा परित्याग कर देते हैं और जो लोग धर्ममात्रको छोड़ बैठते हैं, उनके लिये कोई धर्म (प्रायश्चित्त) नहीं है अर्थात् किसी भी प्रायश्चित्तसे उनकी शुद्धि नहीं हो सकती है ॥ १९ ॥

दश वा वेदशास्त्रज्ञास्त्रयो वा धर्मपाठकाः ।
यद् ब्रूयुः कार्य उत्पन्ने स धर्मो धर्मसंशये ॥ २० ॥

'यदि प्रायश्चित्तकी आवश्यकता पड़ जाय और धर्मके निर्णयमें संदेह उपस्थित हो जाय तो वेद और धर्म-शास्त्रको जाननेवाले दस अथवा निरन्तर धर्मका विचार करनेवाले तीन ब्राह्मण उस प्रश्नपर विचार करके जो कुछ कहें, उसे ही धर्म मानना चाहिये ॥ २० ॥

अनड्वान् मृत्तिका चैव तथा क्षुद्रपिपीलिकाः ।
श्लेष्मातकस्तथा विप्रैरभक्ष्यं विषमेव च ॥ २१ ॥

'बैल, मिट्टी, छोटी-छोटी चींटियाँ, श्लेष्मातक (लसोड़ा) और विष—ये सब ब्राह्मणोंके लिये अभक्ष्य हैं[1] ॥ २१ ॥

अभक्ष्या ब्राह्मणैर्मत्स्याः शल्कैर्ये वै विवर्जिताः ।
चतुष्पात् कच्छपादन्यो मण्डूका जलजाश्च ये ॥ २२ ॥

'काँटोंसे रहित जो मत्स्य हैं, वे भी ब्राह्मणोंके लिये अभक्ष्य हैं। कच्छप और उसके सिवा अन्य चार पैरवाले सभी जीव अभक्ष्य हैं। मेढक और जलमें उत्पन्न होनेवाले अन्य जीव भी अभक्ष्य ही हैं॥ २२ ॥

भासा हंसाः सुपर्णाश्च चक्रवाकाः प्लवा बकाः ।
काको मद्गुश्च गृध्रश्च श्येनोलूकस्तथैव च ॥ २३ ॥
क्रव्यादा दंष्ट्रिणः सर्वे चतुष्पात् पक्षिणश्च ये ।
येषां चोभयतो दन्ताश्चतुर्दंष्ट्राश्च सर्वशः ॥ २४ ॥

'भास, हंस, गरुड़, चकवाक, बतख, बगुले, कौए, मद्गु[2], गीध, बाज, उल्लू, कच्चे मांस खानेवाले दाढ़ोंसे युक्त सभी हिंसक पशु, चार पैरवाले जीव और पक्षी तथा दोनों ओर दाँत और चार दाढ़ोंवाले सभी जीव अभक्ष्य हैं २३-२४

एडकाश्वखरोष्ट्रीणां सूतिकानां गवामपि ।
मानुषीणां मृगीणां च न पिबेद् ब्राह्मणः पयः ॥ २५ ॥

'भेड़, घोड़ी, गदही, ऊँटनी, दस दिनके भीतरकी ब्यायी हुई गाय, मानवी स्त्री और हिरनियोंका दूध ब्राह्मण न पीये ॥ २५ ॥

प्रेतान्नं सूतिकान्नं च यच्च किंचिदनिर्दशम् ।
अभोज्यं चाप्यपेयं च धेनोर्दुग्धमनिर्दशम् ॥ २६ ॥

'यदि किसीके यहाँ मरणाशौच या जननाशौच हो गया हो तो उसके यहाँ दस दिनोंतक कोई अन्न नहीं ग्रहण करना चाहिये, इसी प्रकार ब्यायी हुई गायका दूध भी यदि दस दिनके भीतरका हो तो उसे नहीं पीना चाहिये ॥ २६ ॥

राजान्नं तेज आदत्ते शूद्रान्नं ब्रह्मवर्चसम् ।
आयुः सुवर्णकारान्नमवीरायाश्च योषितः ॥ २७ ॥

'राजाका अन्न तेज हर लेता है, शूद्रका अन्न ब्रह्मतेजको नष्ट कर देता है, सुनारका तथा पति और पुत्रसे हीन युवतीका अन्न आयुका नाश करता है ॥ २७ ॥

विष्ठा वार्धुषिकस्यान्नं गणिकान्नमथेन्द्रियम् ।
मृष्यन्ति ये चोपपतिं स्त्रीजितान्नं च सर्वशः ॥ २८ ॥

'ब्याजखोरका अन्न विष्ठाके समान है और वेश्याका अन्न वीर्यके समान। जो अपनी स्त्रीके पास किसी उपपतिका आना सह लेते हैं, उन कायरोंका तथा सदा स्त्रीके वशीभूत रहनेवाले पुरुषोंका अन्न भी वीर्यके ही तुल्य है ॥ २८ ॥

दीक्षितस्य कदर्यस्य क्रतुविक्रयिकस्य च ।
तक्ष्णश्चर्मावकर्तुश्च पुंश्चल्या रजकस्य च ॥ २९ ॥
चिकित्सकस्य यच्चान्नमभोज्यं रक्षिणस्तथा ।

'जिसने यज्ञकी दीक्षा ली हो, उसका अन्न अग्निषोमीय होमविशेषके पहले अग्राह्य है। कंजूस, यज्ञ बेचनेवाले, बढ़ई, चमार या मोची, व्यभिचारिणी स्त्री, धोबी, वैद्य तथा चौकीदारका अन्न भी खाने योग्य नहीं है ॥ २९½ ॥

गणग्रामाभिशस्तानां रङ्गस्त्रीजीविनां तथा ॥ ३० ॥
परिवित्तीनां पुंसां च वन्दिद्यूतविदां तथा ।

'जिन्हें किसी समाज या गाँवने दोषी ठहराया हो, जो नर्तकीके द्वारा अपनी जीविका चलाते हों, छोटे भाईका ब्याह हो जानेपर भी कुँवारे रह गये हों, बंदी (चारण या भाट) का काम करते हों या जुआरी हों, ऐसे लोगोंका अन्न भी ग्रहण करने योग्य नहीं है ॥ ३०½ ॥

वामहस्ताहृतं चान्नं भक्तं पर्युषितं च यत् ॥ ३१ ॥
सुरानुगतमुच्छिष्टमभोज्यं शेषितं च यत् ।

'बायें हाथसे लाया अथवा परोसा गया अन्न, बासी भात, शराब मिला हुआ, जूठा और घरवालोंको न देकर अपने लिये बचाया हुआ अन्न भी अखाद्य ही है ॥ ३१½ ॥

पिष्टस्य चेक्षुशाकानां विकाराः पयसस्तथा ॥ ३२ ॥
सक्तुधानाकरम्भाणां नोपभोग्याश्चिरस्थिताः ।

'इसी प्रकार जो पदार्थ आटे, ईखके रस, साग या दूधको बिगाड़कर या सड़ाकर बनाये गये हों, सत्तू, भूने हुए

---

१. श्लेष्मातकके वैद्यकमें अनेक नाम आये हैं, उनमेंसे एक नाम 'द्विजकुत्सित' भी है। इससे सिद्ध होता है कि वह द्विजाति मात्रके लिये अभक्ष्य है।

२. मद्गु एक प्रकारके जलचर पक्षीका नाम है।

जौ और दहीमिश्रित सत्तू इन्हें विकृत करके बनाये हुए पदार्थ यदि बहुत देरके बने हों तो उन्हें नहीं खाना चाहिये॥

पायसं कृसरं मांसमपूपाश्च वृथाकृताः ॥ ३३ ॥
अपेयाश्चाप्यभक्ष्याश्च ब्राह्मणैर्गृहमेधिभिः ।

'खीर, खिचड़ी, फलका गूदा और पूए यदि देवताके उद्देश्यसे न बनाये गये हों तो गृहस्थ ब्राह्मणोंके लिये खाने-पीने योग्य नहीं हैं ॥ ३३½ ॥

देवानृषीन् मनुष्यांश्च पितॄन् गृह्याश्च देवताः ॥ ३४ ॥
पूजयित्वा ततः पश्चाद् गृहस्थो भोक्तुमर्हति ।

'गृहस्थको चाहिये कि वह पहले देवताओं, ऋषियों, मनुष्यों (अतिथियों), पितरों और घरके देवताओंका पूजन करके पीछे अपने भोजन करे ॥ ३४½ ॥

यथा प्रव्रजितो भिक्षुस्तथैव स्वे गृहे वसेत् ॥ ३५ ॥
एवंवृत्तः प्रियैर्दारैः संवसन् धर्ममाप्नुयात् ।

'जैसे गृहत्यागी संन्यासी घरके प्रति अनासक्त होता है, उसी प्रकार गृहस्थको भी ममता और आसक्ति छोड़कर ही घरमें रहना चाहिये । जो इस प्रकार सदाचारका पालन करते हुए अपनी प्रिय पत्नीके साथ घरमें निवास करता है, वह धर्मका पूरा-पूरा फल प्राप्त कर लेता है ॥ ३५½ ॥

न दद्याद् यशसे दानं न भयान्नोपकारिणे ॥ ३६ ॥
न नृत्यगीतशीलेषु हासकेषु च धार्मिकः ।
न मत्ते चैव नोन्मत्ते न स्तेने न च कुत्सके ॥ ३७ ॥
न वाग्घीने विवर्णे वा नाङ्गहीने न वामने ।
न दुर्जने दौष्कुले वा व्रतैर्यो वा न संस्कृतः ।
न श्रोत्रियमृते दानं ब्राह्मणे ब्रह्मवर्जिते ॥ ३८ ॥

'धर्मात्मा पुरुषको चाहिये कि वह यशके लोभसे, भयके कारण अथवा अपना उपकार करनेवालेको दान न दे अर्थात् उसे जो दिया जाय वह दान नहीं है, ऐसा समझना चाहिये । जो नाचने-गानेवाले, हँसी-मजाक करनेवाले (भाँड़ आदि), मदमत्त, उन्मत्त, चोर, निन्दक, गूँगे, कान्तिहीन, अङ्गहीन, बौने, दुष्ट, दूषित कुलमें उत्पन्न तथा व्रत एवं संस्कारसे शून्य हों, उन्हें भी दान न दे । श्रोत्रियके सिवा वेदज्ञानशून्य ब्राह्मणको दान नहीं देना चाहिये ॥ ३६—३८ ॥

असम्यक् चैव यद् दत्तमसम्यक् च प्रतिग्रहः ।
उभयं स्यादनर्थाय दातुरादातुरेव च ॥ ३९ ॥

'जो उत्तम विधिसे दिया न गया हो तथा जिसे उत्तम विधिके साथ ग्रहण न किया गया हो, वे देना और लेना दोनों ही देने और लेनेवालेके लिये अनर्थकारी होते हैं ॥ ३९ ॥

यथा खदिरमालम्ब्य शिलां वाप्यर्णवं तरन् ।
मज्जेत मज्जतस्तद्वद् दाता यश्च प्रतिग्रही ॥ ४० ॥

'जैसे खैरकी लकड़ी या पत्थरकी शिलाका सहारा लेकर समुद्र पार करनेवाला मनुष्य बीचमें ही डूब जाता है, उसी प्रकार अविधिपूर्वक दान देने और लेनेवाले यजमान और पुरोहित दोनों डूब जाते हैं ॥ ४० ॥

काष्ठैरार्द्रैर्यथा वह्निरुपस्तीर्णो न दीप्यते ।
तपःस्वाध्यायचारित्रैरेवं हीनः प्रतिग्रही ॥ ४१ ॥

'जैसे गीली लकड़ीसे ढकी हुई आग प्रज्वलित नहीं होती, उसी प्रकार तपस्या, स्वाध्याय तथा सदाचारसे हीन ब्राह्मण यदि दान ग्रहण कर ले तो वह उसे पचा नहीं सकता ॥

कपाले यद्वदापः स्युः श्वदृतौ च यथा पयः ।
आश्रयस्थानदोषेण वृत्तहीने तथा श्रुतम् ॥ ४२ ॥

'जैसे मनुष्यकी खोंपड़ीमें भरा हुआ जल और कुत्तेकी खालमें रक्खा हुआ दूध आश्रयदोषसे अपवित्र होता है, उसी प्रकार सदाचारहीन ब्राह्मणका शास्त्रज्ञान भी आश्रय-स्थानके दोषसे दूषित हो जाता है ॥ ४२ ॥

निर्मन्त्रो निर्वृतो यः स्यादशास्त्रज्ञोऽनसूयकः ।
अनुक्रोशात् प्रदातव्यं हीनेष्वव्रतिकेषु च ॥ ४३ ॥

'जो ब्राह्मण वेदज्ञानसे शून्य और शास्त्रज्ञानसे रहित होता हुआ भी दूसरोंमें दोष नहीं देखता तथा संतुष्ट रहता है, उसे तथा व्रतशून्य दीन-हीनको भी दया करके दान देना चाहिये ॥ ४३ ॥

न वै देयमनुक्रोशाद् दीनायाप्यपकारिणे ।
आप्ताचरित इत्येव धर्म इत्येव वा पुनः ॥ ४४ ॥

'पर जो दूसरोंका बुरा करनेवाला हो वह यदि दीन हो तो भी उसे दया करके नहीं देना चाहिये । यह शिष्टोंका आचार है और यही धर्म है ॥ ४४ ॥

निष्कारणं स्मृतं दत्तं ब्राह्मणे ब्रह्मवर्जिते ।
भवेदपात्रदोषेण न चात्रास्ति विचारणा ॥ ४५ ॥

'वेदविहीन ब्राह्मणको दिया हुआ दान अपात्रदोषसे निरर्थक हो जाता है, इसमें कोई विचार करनेकी बात नहीं है॥

यथा दारुमयो हस्ती यथा चर्ममयो मृगः ।
ब्राह्मणश्चानधीयानस्त्रयस्ते नाम बिभ्रति ॥ ४६ ॥

'जैसे लकड़ीका हाथी और चामका बना हुआ मृग हो, उसी प्रकार वेदशास्त्रोंके अध्ययनसे शून्य ब्राह्मण है । ये तीनों नाममात्र धारण करते हैं (परंतु नामके अनुसार काम नहीं देते) ॥ ४६ ॥

यथा षण्ढोऽफलः स्त्रीषु यथा गौर्गवि चाफला ।
शकुनिर्वाप्यपक्षः स्यान्निर्मन्त्रो ब्राह्मणस्तथा ॥ ४७ ॥

'जैसे नपुंसक मनुष्य स्त्रियोंके पास जाकर निष्फल होता है, गाय गायसे ही संयुक्त होनेपर कोई फल नहीं दे सकती और जैसे बिना पंखका पक्षी उड़ नहीं सकता, उसी प्रकार वेदमन्त्रोंके ज्ञानसे शून्य ब्राह्मण भी व्यर्थ ही होता है ॥ ४७ ॥

ग्रामो धान्यैर्यथा शून्यो यथा कूपश्च निर्जलः ।
यथा हुतमनग्नौ च तथैव स्यान्निराकृतौ ॥ ४८ ॥

'जिस प्रकार अन्नहीन ग्राम, जलरहित कुँआ और राखमें की हुई आहुति व्यर्थ होती है, उसी प्रकार मूर्ख

ब्राह्मणको दिया हुआ दान भी व्यर्थ ही है ॥ ४८ ॥

देवतानां पितॄणां च हव्यकव्यविनाशकः ।
शत्रुर्धर्महरो मूर्खो न लोकान् प्राप्तुमर्हति ॥ ४९ ॥

'मूर्ख ब्राह्मण देवताओंके यज्ञ और पितरोंके श्राद्धका नाश करनेवाला होता है। वह धनका अपहरण करनेवाला शत्रु है। वह दान देनेवालोंको उत्तम लोकमें नहीं पहुँचा सकता' ॥ ४९ ॥

एतत् ते कथितं सर्वं यथावृत्तं युधिष्ठिर ।
समासेन महद्ध्येतच्छ्रोतव्यं भरतर्षभ ॥ ५० ॥

भरतभूषण युधिष्ठिर ! यह सब वृत्तान्त तुम्हें यथावत् रूपसे थोड़ेमें बताया गया। यह महत्त्वपूर्ण प्रसङ्ग सबको सुनना चाहिये ॥ ५० ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि राजधर्मानुशासनपर्वणि व्यासवाक्ये षट्त्रिंशोऽध्यायः ॥ ३६ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत राजधर्मानुशासनपर्वमें व्यासवाक्यविषयक छत्तीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ३६ ॥

सप्तत्रिंशोऽध्यायः

व्यासजी तथा भगवान् श्रीकृष्णकी आज्ञासे महाराज युधिष्ठिरका नगरमें प्रवेश

युधिष्ठिर उवाच

श्रोतुमिच्छामि भगवन् विस्तरेण महामुने ।
राजधर्मान् द्विजश्रेष्ठ चातुर्वर्ण्यस्य चाखिलान् ॥ १ ॥

युधिष्ठिर बोले—भगवन् ! महामुने ! द्विजश्रेष्ठ ! मैं चारों वर्णोंके सम्पूर्ण धर्मोंका तथा राजधर्मका भी विस्तारपूर्वक वर्णन सुनना चाहता हूँ ॥ १ ॥

आपत्सु च यथा नीतिः प्रणेतव्या द्विजोत्तम ।
धर्म्यमालक्ष्य पन्थानं विजयेयं कथं महीम् ॥ २ ॥

द्विजश्रेष्ठ ! आपत्तिकालमें मुझे कैसी नीतिसे काम लेना चाहिये ? धर्मके अनुकूल मार्गपर दृष्टि रखते हुए मैं किस प्रकार इस पृथ्वीपर विजय पा सकता हूँ ? ॥ २ ॥

प्रायश्चित्तकथा ह्येषा भक्ष्याभक्ष्यविवर्जिता ।
कौतूहलानुप्रवणा हर्षं जनयतीव मे ॥ ३ ॥

भक्ष्य और अभक्ष्यसे रहित, उपवासस्वरूप प्रायश्चित्तकी यह चर्चा बड़ी उत्सुकता पैदा करनेवाली है। यह मेरे हृदयमें हर्ष-सा उत्पन्न कर रही है ॥ ३ ॥

धर्मचर्या च राज्यं च नित्यमेव विरुध्यते ।
एवं मुह्यति मे चेतश्चिन्तयानस्य नित्यशः ॥ ४ ॥

एक ओर धर्मका आचरण और दूसरी ओर राज्यका पालन—ये दोनों सदा एक दूसरेके विरुद्ध हैं। यह सोचकर मुझे निरन्तर चिन्ता बनी रहती है और मेरे चित्तपर मोह छा रहा है ॥ ४ ॥

वैशम्पायन उवाच

तमुवाच महाराज व्यासो वेदविदां वरः ।
नारदं समभिप्रेक्ष्य सर्वज्ञानां पुरातनम् ॥ ५ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—महाराज ! तब वेदवेत्ताओंमें श्रेष्ठ व्यासजीने सर्वज्ञ महात्माओंमें सबसे प्राचीन नारदजीकी ओर देखकर युधिष्ठिरसे कहा—॥ ५ ॥

श्रोतुमिच्छसि चेद् धर्मं निखिलेन नराधिप ।
प्रैहि भीष्मं महाबाहो वृद्धं कुरुपितामहम् ॥ ६ ॥

'महाबाहु नरेश्वर ! यदि तुम धर्मका पूर्णरूपसे विवेचन सुनना चाहते हो तो कुरुकुलके वृद्ध पितामह भीष्मके पास जाओ ॥ ६ ॥

स ते धर्मरहस्येषु संशयान् मनसि स्थितान् ।
छेत्ता भागीरथीपुत्रः सर्वज्ञः सर्वधर्मवित् ॥ ७ ॥

'गङ्गापुत्र भीष्म सम्पूर्ण धर्मोंके ज्ञाता और सर्वज्ञ हैं। वे धर्म-रहस्यके विषयमें तुम्हारे मनमें स्थित हुए सम्पूर्ण संदेहोंका निवारण करेंगे ॥ ७ ॥

जनयामास यं देवी दिव्या त्रिपथगा नदी ।
साक्षाद् ददर्श यो देवान् सर्वानिन्द्रपुरोगमान् ॥ ८ ॥

बृहस्पतिपुरोगांस्तु देवर्षीनसकृत् प्रभुः ।
तोषयित्वोपचारेण राजनीतिमधीतवान् ॥ ९ ॥

'जिन्हें दिव्य नदी त्रिपथगा गङ्गादेवीने जन्म दिया है, जिन्होंने इन्द्र आदि सम्पूर्ण देवताओंका साक्षात् दर्शन किया है तथा जिन शक्तिशाली भीष्मने बृहस्पति आदि देवर्षियोंको बारंबार अपनी सेवाद्वारा संतुष्ट करके राजनीतिका अध्ययन किया है, उनके पास चलो ॥ ८-९ ॥

उशना वेद यच्छास्त्रं यच्च देवगुरुर्द्विजः ।
तच्च सर्वं सवैयाख्यं प्राप्तवान् कुरुसत्तमः ॥ १० ॥

'शुक्राचार्य जिस शास्त्रको जानते हैं तथा देवगुरु विप्रवर बृहस्पतिको जिस शास्त्रका ज्ञान है, वह सम्पूर्ण शास्त्र कुरुश्रेष्ठ भीष्मने व्याख्यासहित प्राप्त किया है ॥ १० ॥

भार्गवाच्च्यवनाच्चापि वेदानङ्गोपबृंहितान् ।
प्रतिपेदे महाबाहुर्वसिष्ठाच्चरितव्रतः ॥ ११ ॥

'ब्रह्मचर्यव्रतका पालन करके महाबाहु भीष्मने भृगुवंशी च्यवन तथा महर्षि वसिष्ठसे वेदाङ्गोंसहित वेदोंका अध्ययन किया है ॥ ११ ॥

पितामहसुतं ज्येष्ठं कुमारं दीप्ततेजसम् ।
अध्यात्मगतितत्त्वज्ञमुपाशिक्षत यः पुरा ॥ १२ ॥

'इन्होंने पूर्वकालमें ब्रह्माजीके ज्येष्ठ पुत्र उद्दीप्त तेजस्वी सनत्कुमारजीसे, जो अध्यात्मगतिके तत्त्वको जाननेवाले हैं, अध्यात्मज्ञानकी शिक्षा पायी थी ॥ १२ ॥

मार्कण्डेयमुखात् कृत्स्नं यतिधर्ममवाप्तवान् ।
रामादस्त्राणि शक्राच्च प्राप्तवान् पुरुषर्षभः ॥ १३ ॥

'पुरुषप्रवर भीष्मने मार्कण्डेयजीके मुखसे सम्पूर्ण यतिधर्म-

का ज्ञान प्राप्त किया है और परशुराम तथा इन्द्रसे अस्त्र-शस्त्रोंकी शिक्षा पायी है ॥ १३ ॥

मृत्युरात्मेच्छया यस्य जातस्य मनुजेष्वपि ।
तथानपत्यस्य सतः पुण्यलोका दिवि श्रुताः ॥ १४ ॥

'मनुष्योंमें उत्पन्न होकर भी इन्होंने मृत्युको अपनी इच्छाके अधीन कर लिया है । संतानहीन होनेपर भी उनको प्राप्त होनेवाले पुण्य लोक देवलोकमें विख्यात हैं ॥ १४ ॥

यस्य ब्रह्मर्षयः पुण्या नित्यमासन् सभासदः ।
यस्य नाविदितं किंचिज्ज्ञानयज्ञेषु विद्यते ॥ १५ ॥

'पुण्यात्मा ब्रह्मर्षि सदा उनके सभासद रहे हैं । ज्ञानयज्ञमें कोई भी ऐसी बात नहीं है, जिसका उन्हें ज्ञान न हो ॥ १५ ॥

स ते वक्ष्यति धर्मज्ञः सूक्ष्मधर्मार्थतत्त्ववित् ।
तमभ्येहि पुरा प्राणान् स विमुञ्चति धर्मवित् ॥ १६ ॥

'सूक्ष्म धर्म और अर्थके तत्त्वको जाननेवाले वे धर्मवेत्ता भीष्म तुम्हें धर्मका उपदेश देंगे । वे धर्मज्ञ महात्मा अपने प्राणोंका परित्याग करें, इसके पहले ही तुम इनके पास चलो' ॥

एवमुक्तस्तु कौन्तेयो दीर्घप्रज्ञो महामतिः ।
उवाच वदतां श्रेष्ठं व्यासं सत्यवतीसुतम् ॥ १७ ॥

उनके ऐसा कहनेपर परम बुद्धिमान् दूरदर्शी कुन्तीकुमार युधिष्ठिरने वक्ताओंमें श्रेष्ठ सत्यवतीनन्दन व्यासजीसे कहा ॥

युधिष्ठिर उवाच

वैशसं सुमहत् कृत्वा ज्ञातीनां रोमहर्षणम् ।
आगस्कृत् सर्वलोकस्य पृथिवीनाशकारकः ॥ १८ ॥
घातयित्वा तमेवाजौ छलेनाजिह्मयोधिनम् ।
उपसम्प्रष्टुमर्हामि तमहं केन हेतुना ॥ १९ ॥

युधिष्ठिर बोले—मुने ! मैं अपने भाई-बन्धुओंका यह महान् एवं रोमाञ्चकारी संहार करके सम्पूर्ण लोकोंका अपराधी बन गया हूँ । मैंने इस सम्पूर्ण भूमण्डलका विनाश किया है । भीष्मजी सरलतापूर्वक युद्ध करनेवाले थे तो भी मैंने युद्धमें उन्हें छलसे मरवा डाला । अब फिर उन्हींसे मैं अपनी शङ्काओंको पूछूँ, क्या इसके योग्य मैं रह गया हूँ ? अब मैं किस हेतुसे उन्हें मुँह दिखा सकता हूँ ? ॥ १८-१९ ॥

वैशम्पायन उवाच

ततस्तं नृपतिश्रेष्ठं चातुर्वर्ण्यहितेप्सया ।
पुनराह महाबाहुर्यदुश्रेष्ठो महामतिः ॥ २० ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! तब परम बुद्धिमान् महाबाहु यदुश्रेष्ठ श्रीकृष्णने चारों वर्णोंके हितकी इच्छासे नृपतिशिरोमणि युधिष्ठिरसे इस प्रकार कहा ॥

वासुदेव उवाच

नेदानीमतिनिर्बन्धं शोके त्वं कर्तुमर्हसि ।
यदाह भगवान् व्यासस्तत् कुरुष्व नृपोत्तम ॥ २१ ॥

भगवान् श्रीकृष्ण बोले—नृपश्रेष्ठ ! अब आप अत्यन्त हठपूर्वक शोकको ही पकड़े न रहें । भगवान् व्यास जो आज्ञा देते हैं, वही करें ॥ २१ ॥

ब्राह्मणास्त्वां महाबाहो भ्रातरश्च महौजसः ।
पर्जन्यमिव घर्मान्ते नाथमाना उपासते ॥ २२ ॥

महाबाहो ! जैसे वर्षाकालमें लोग मेघकी ओर टकटकी लगाये देखते हैं—उससे जलकी याचना करते हैं, उसी प्रकार ये सारे ब्राह्मण और आपके ये महातेजस्वी भाई आपसे धैर्य धारण करनेकी प्रार्थना करते हुए आपके पास बैठे हैं ॥ २२ ॥

हतशिष्टाश्च राजानः कृत्स्नं चैव समागतम् ।
चातुर्वर्ण्यं महाराज राष्ट्रं ते कुरुजाङ्गलम् ॥ २३ ॥

महाराज ! मरनेसे बचे हुए राजालोग और चारों वर्णोंकी प्रजाओंसे युक्त यह सारा कुरुजाङ्गल देश इस समय आपकी सेवामें उपस्थित है ॥ २३ ॥

प्रियार्थमपि चैतेषां ब्राह्मणानां महात्मनाम् ।
नियोगादस्य च गुरोर्व्यासस्यामिततेजसः ॥ २४ ॥
सुहृदामस्मदादीनां द्रौपद्याश्च परंतप ।
कुरु प्रियममित्रघ्न लोकस्य च हितं कुरु ॥ २५ ॥

शत्रुओंको मारने और संताप देनेवाले नरेश ! इन महामना ब्राह्मणोंका प्रिय करनेके लिये भी आपको इनकी बात मान लेनी चाहिये । आप अमित तेजस्वी गुरुदेव व्यासकी आज्ञासे हम सुहृदोंका और द्रौपदीका प्रिय कीजिये तथा सम्पूर्ण जगत्के हितसाधनमें लग जाइये ॥ २४-२५ ॥

वैशम्पायन उवाच

एवमुक्तः स कृष्णेन राजा राजीवलोचनः ।
हितार्थं सर्वलोकस्य समुत्तस्थौ महामनाः ॥ २६ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! श्रीकृष्णके ऐसा कहनेपर कमलनयन महामनस्वी राजा युधिष्ठिर सम्पूर्ण जगत्के हितके लिये उठ खड़े हुए ॥ २६ ॥

सोऽनुनीतो नरव्याघ्र विष्टरश्रवसा स्वयम् ।
द्वैपायनेन च तथा देवस्थानेन जिष्णुना ॥ २७ ॥
एतैश्चान्यैश्च बहुभिरनुनीतो युधिष्ठिरः ।
व्यजहान्मानसं दुःखं संतापं च महायशाः ॥ २८ ॥

पुरुषसिंह ! साक्षात् भगवान् श्रीकृष्ण, द्वैपायन व्यास, देवस्थान, अर्जुन तथा अन्य बहुत-से लोगोंके समझाने-बुझानेपर महायशस्वी युधिष्ठिरने मानसिक दुःख और संतापको त्याग दिया ॥ २७-२८ ॥

श्रुतवाक्यः श्रुतनिधिः श्रुतश्रव्यविशारदः ।
व्यवस्य मनसः शान्तिमगच्छत् पाण्डुनन्दनः ॥ २९ ॥

पाण्डुनन्दन युधिष्ठिरने श्रेष्ठ पुरुषोंके उपदेशको सुना था । वेद-शास्त्रोंके ज्ञानकी तो वे निधि ही थे । सुने हुए शास्त्रों तथा सुनने योग्य नीतिग्रन्थोंके विचारमें भी वे कुशल थे । उन्होंने अपने कर्तव्यका निश्चय करके मनमें पूर्ण शान्ति पा ली थी ॥ २९ ॥

नरैः परिवृतो राजा नक्षत्रैरिव चन्द्रमाः।
धृतराष्ट्रं पुरस्कृत्य स्वपुरं प्रविवेश ह ॥ ३० ॥

नक्षत्रोंसे घिरे हुए चन्द्रमाके समान राजा युधिष्ठिर वहाँ आये हुए सब लोगोंसे घिरकर धृतराष्ट्रको आगे करके अपनी राजधानी हस्तिनापुरको चल दिये ॥ ३० ॥

प्रविविक्षुः स धर्मज्ञः कुन्तीपुत्रो युधिष्ठिरः।
अर्चयामास देवांश्च ब्राह्मणांश्च सहस्रशः ॥ ३१ ॥

ततो नवं रथं शुभ्रं कम्बलाजिनसंवृतम्।
युक्तं षोडशभिर्गोभिः पाण्डुरैः शुभलक्षणैः ॥ ३२ ॥
मन्त्रैरभ्यर्चितं पुण्यैः स्तूयमानश्च वन्दिभिः।
आरुरोह यथा देवः सोमोऽमृतमयं रथम् ॥ ३३ ॥

नगरमें प्रवेश करते समय धर्मज्ञ कुन्तीपुत्र युधिष्ठिरने देवताओं तथा सहस्रों ब्राह्मणोंका पूजन किया। तदनन्तर कम्बल और मृगचर्मसे ढके हुए एक नूतन उज्ज्वल रथपर जिसकी पवित्र मन्त्रोंद्वारा पूजा की गयी थी तथा जिसमें शुभ लक्षणसम्पन्न सोलह सफेद बैल जुते हुए थे, वे वन्दीजनोंके मुखसे अपनी स्तुति सुनते हुए उसी प्रकार सवार हुए, जैसे चन्द्रदेव अपने अमृतमय रथपर आरूढ़ होते हैं ॥ ३१–३३ ॥

जग्राह रश्मीन् कौन्तेयो भीमो भीमपराक्रमः।
अर्जुनः पाण्डुरं छत्रं धारयामास भानुमत् ॥ ३४ ॥

भयानक पराक्रमी कुन्तीपुत्र भीमसेनने उन बैलोंकी रास सँभाली। अर्जुनने तेजस्वी श्वेत छत्र धारण किया ॥ ३४ ॥

ध्रियमाणं च तच्छत्रं पाण्डुरं रथमूर्धनि।
शुशुभे तारकाकीर्णं सितमभ्रमिवाम्बरे ॥ ३५ ॥

रथके ऊपर तना हुआ वह श्वेत छत्र आकाशमें तारिकाओंसे व्याप्त श्वेत बादलके समान शोभा पाता था ॥

चामरव्यजने त्वस्य वीरौ जगृहतुस्तदा।
चन्द्ररश्मिप्रभे शुभ्रे माद्रीपुत्रावलंकृते ॥ ३६ ॥

उस समय माद्रीके वीर पुत्र नकुल और सहदेवने चन्द्रमाकी किरणोंके समान चमकीले रत्नभूषित श्वेत चँवर और व्यजन हाथोंमें ले लिये ॥ ३६ ॥

ते पञ्च रथमास्थाय भ्रातरः समलंकृताः।
भूतानीव समस्तानि राजन् ददृशिरे तदा ॥ ३७ ॥

राजन्! वस्त्राभूषणोंसे विभूषित हुए वे पाँचों भाई रथपर बैठकर मूर्तिमान् पाँच महाभूतोंके समान दिखायी देते थे ॥ ३७ ॥

आस्थाय तु रथं शुभ्रं युक्तमश्वैर्मनोजवैः।
अन्वयात् पृष्ठतो राजन् युयुत्सुः पाण्डवाग्रजम् ॥ ३८ ॥

नरेश्वर! मनके समान वेगशाली घोड़ोंसे जुते हुए शुभ्र

शैब्य और सुग्री
मय रथपर आरूढ़ हो
पीछे-पीछे गये ॥ ३९
नरयानेन तु ज्येष्ठ
अग्रतो धर्मराजस्
भरतनन्दन! कु
(ताऊ) गान्धारीस
जा रहे थे ॥ ४० ॥
कुरुस्त्रियश्च ताः स
यानैरुच्चावचैर्जग्मु
इन सबके पीछे
सभी स्त्रियाँ यथायोग्य
रही थीं। इनके पीछे
करते थे ॥ ४१ ॥
ततो रथाश्च बहु
पादाताश्च हयाश्च
तदनन्तर इन स
बहुत-से रथी, पैदल
ततो वैतालिकैः
स्तूयमानो ययौ र
इस प्रकार वैत
वाणीमें अपनी स्तुति
नगरमें प्रवेश किया
तत् प्रयाणं म
आकुलाकुलमुत्कृष्
महाबाहु युधि
इस भूतलपर अनुपम
थे। भीड़-पर-भीड़ क
जयघोष एवं कोलाहल
अभियाने तु प
नगरं राजमार्गा
राजा युधिष्ठिरके
ने समूचे नगर तथा
दिया था ॥ ४५ ॥
पाण्डुरेण च मा
संस्कृतो राजम
सफेद मालाओं
शोभा हो रही थी।
किया गया था और
अथ चूर्णैश्च गन्

महाभारतकी समाप्तिपर महाराज युधिष्ठिरका हस्तिनापुरमें प्रवेश
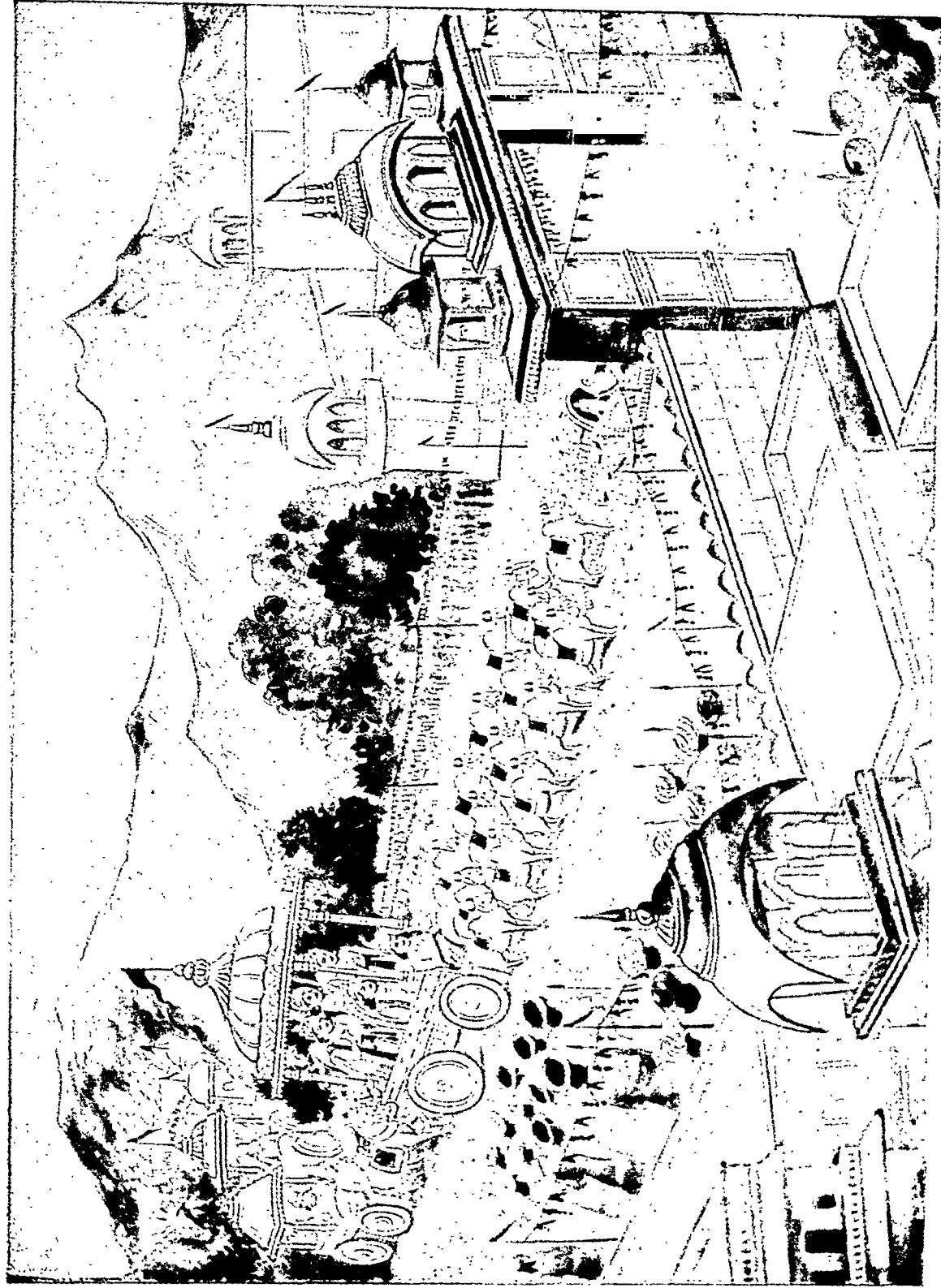
कुम्भाश्च नगरद्वारि वारिपूर्णा नवा दृढाः।
सिताः सुमनसो गौराः स्थापितास्तत्र तत्र ह ॥ ४८ ॥

नगरके द्वारपर जलसे भरे हुए नूतन एवं सुदृढ़ कलश रक्खे गये थे और जगह-जगह सफेद फूलोंके गुच्छे रख दिये गये थे ॥ ४८ ॥

तथा स्वलंकृतद्वारं नगरं पाण्डुनन्दनः।
स्तूयमानः शुभैर्वाक्यैः प्रविवेश सुहृद्वृतः ॥ ४९ ॥

अपने सुहृदोंसे घिरे हुए पाण्डुनन्दन युधिष्ठिरने इस प्रकार सजे सजाये द्वारवाले नगर-हस्तिनापुरमें प्रवेश किया। उस समय सुन्दर वचनोंद्वारा उनकी स्तुति की जा रही थी ॥४९॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि राजधर्मानुशासनपर्वणि युधिष्ठिरप्रवेशे सप्तत्रिंशोऽध्यायः ॥ ३७ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत राजधर्मानुशासन पर्वमें युधिष्ठिरका नगरप्रवेशविषयक सैंतीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ३७ ॥

अष्टात्रिंशोऽध्यायः

नगर-प्रवेशके समय पुरवासियों तथा ब्राह्मणोंद्वारा राजा युधिष्ठिरका सत्कार और उनपर आक्षेप करनेवाले चार्वाकका ब्राह्मणोंद्वारा वध

वैशम्पायन उवाच

प्रवेशने तु पार्थानां जनानां पुरवासिनाम्।
दिदृक्षूणां सहस्राणि समाजग्मुः सहस्रशः ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! कुन्तीपुत्रोंके हस्तिनापुरमें प्रवेश करते समय उन्हें देखनेके लिये दस लाख नगरनिवासी सड़कोंपर एकत्र हो गये ॥ १ ॥

स राजमार्गः शुशुभे समलंकृतचत्वरः।
यथा चन्द्रोदये राजन् वर्धमानो महोदधिः ॥ २ ॥

राजन् ! जैसे चन्द्रोदय होनेपर महासागर उमड़ने लगता है, उसी प्रकार जिसके चौराहे खूब सजाये गये थे, वह राजमार्ग मनुष्योंकी उमड़ती हुई भीड़से बड़ी शोभा पा रहा था ॥ २ ॥

गृहाणि राजमार्गेषु रत्नवन्ति महान्ति च।
प्राकम्पन्तेव भारेण स्त्रीणां पूर्णानि भारत ॥ ३ ॥

भरतनन्दन ! सड़कोंके आस-पास जो रत्नविभूषित विशाल भवन थे, वे स्त्रियोंसे भरे होनेके कारण उनके भारी भारसे काँपते हुए-से जान पड़ते थे ॥ ३ ॥

ताः शनैरिव सव्रीडं प्रशशंसुर्युधिष्ठिरम्।
भीमसेनार्जुनौ चैव माद्रीपुत्रौ च पाण्डवौ ॥ ४ ॥

वे नारियाँ लजाती हुई-सी धीरे-धीरे युधिष्ठिर, भीमसेन, अर्जुन तथा पाण्डुपुत्र माद्रीकुमार नकुल-सहदेवकी प्रशंसा करने लगीं ॥ ४ ॥

धन्या त्वमसि पाञ्चालि या त्वं पुरुषसत्तमान्।
उपतिष्ठसि कल्याणि महर्षीनिव गौतमी ॥ ५ ॥
तव कर्माण्यमोघानि व्रतचर्या च भाविनि।

वे बोलीं—'कल्याणि ! पाञ्चालराजकुमारी ! तुम धन्य हो, जो इन पाँच महान् पुरुषोंकी सेवामें उसी प्रकार उपस्थित रहती हो, जैसे गौतमवंशमें उत्पन्न हुई जटिला अनेक महर्षियोंकी सेवा करती हैं। भाविनि ! तुम्हारे सभी पुण्यकर्म अमोघ हैं और समस्त व्रतचर्या सफल है' ॥ ५½ ॥

इति कृष्णां महाराज प्रशशंसुस्तदा स्त्रियः ॥ ६ ॥
प्रशंसावचनैस्तासां मिथःशब्दैश्च भारत।
प्रीतिजैश्च तदा शब्दैः पुरमासीत् समाकुलम् ॥ ७ ॥

महाराज ! इस प्रकार उस समय सारी स्त्रियाँ द्रुपदकुमारी कृष्णाकी प्रशंसा करती थीं। भारत ! एक दूसरीके प्रति कहे जानेवाले उनके प्रशंसा-वचनों और प्रीतिजनित शब्दोंसे उस समय सारा नगर व्याप्त हो रहा था ॥ ६-७ ॥

तमतीत्य यथायुक्तं राजमार्गं युधिष्ठिरः।
अलंकृतं शोभमानमुपायाद् राजवेश्म ह ॥ ८ ॥

राजन् ! उस सजे-सजाये शोभासम्पन्न राजमार्गको यथोचित रूपसे लाँघकर राजा युधिष्ठिर राजभवनके समीप जा पहुँचे ॥ ८ ॥

ततः प्रकृतयः सर्वाः पौरा जानपदास्तदा।
ऊचुः कर्णसुखा वाचः समुपेत्य ततस्ततः ॥ ९ ॥

तदनन्तर मन्त्री-सेनापति आदि प्रकृतिवर्गके सभी लोग, नगरवासी और जनपदनिवासी मनुष्य इधर-उधरसे आकर कानोंको सुख देनेवाली बातें कहने लगे— ॥ ९ ॥

दिष्ट्या जयसि राजेन्द्र शत्रूञ्छत्रुनिषूदन।
दिष्ट्या राज्यं पुनः प्राप्तं धर्मेण च बलेन च ॥ १० ॥

'शत्रुओंका संहार करनेवाले राजेन्द्र ! बड़े सौभाग्यकी बात है कि आप विजयी हो रहे हैं, आपने धर्मके प्रभाव तथा बलसे अपना राज्य पुनः प्राप्त कर लिया—यह बड़े हर्षका विषय है ॥ १० ॥

भव नस्त्वं महाराज राजेह शरदां शतम्।
प्रजाः पालय धर्मेण यथेन्द्रस्त्रिदिवं तथा ॥ ११ ॥

'महाराज ! आप सैकड़ों वर्षोंतक हमारे राजा बने रहें। जैसे इन्द्र स्वर्गलोकका पालन करते हैं, उसी प्रकार आप भी धर्मपूर्वक अपनी प्रजाकी रक्षा करें' ॥ ११ ॥

एवं राजकुलद्वारि मङ्गलैरभिपूजितः।
आशीर्वादान् द्विजैरुक्तान् प्रतिगृह्य समन्ततः ॥ १२ ॥
प्रविश्य भवनं राजा देवराजगृहोपमम्।
श्रुत्वा विजयसंयुक्तं रथात् पश्चादवातरत् ॥ १३ ॥

इस प्रकार राजकुलके द्वारपर माङ्[illegible]ओंद्वारा पूजित हो ब्राह्मणोंके दिये हुए आशीर्वाद सब [illegible] करके

राजा युधिष्ठिर देवराज इन्द्रके महलके समान राजभवनमें प्रविष्ट हुए, जो श्रद्धा और विजयसे सम्पन्न था। वहाँ पहुँचकर वे रथसे नीचे उतरे ॥ १२-१३ ॥

प्रविश्याभ्यन्तरं श्रीमान् दैवतान्यभिगम्य च।
पूजयामास रत्नैश्च गन्धमाल्यैश्च सर्वशः ॥ १४ ॥

राजमहलके भीतर प्रवेश करके श्रीमान् नरेशने कुल-देवताओंका दर्शन किया और रत्न, चन्दन तथा माला आदिसे सर्वथा उनकी पूजा की ॥ १४ ॥

निश्चक्राम ततः श्रीमान् पुनरेव महायशाः।
ददर्श ब्राह्मणांश्चैव सोऽभिरूपानवस्थितान् ॥ १५ ॥

इसके बाद महायशस्वी श्रीमान् राजा युधिष्ठिर महलसे बाहर निकले। वहाँ उन्हें बहुत-से ब्राह्मण खड़े दिखायी दिये, जो हाथमें मङ्गलद्रव्य लिये खड़े थे ॥ १५ ॥

स संवृतस्तदा विप्रैराशीर्वादविवक्षुभिः।
शुशुभे विमलश्चन्द्रस्तारागणवृतो यथा ॥ १६ ॥

जैसे तारोंसे घिरे हुए निर्मल चन्द्रमाकी शोभा होती है, उसी प्रकार आशीर्वाद देनेकी इच्छावाले ब्राह्मणोंसे घिरे हुए राजा युधिष्ठिरकी उस समय बड़ी शोभा हो रही थी ॥ १६ ॥

तांस्तु वै पूजयामास कौन्तेयो विधिवद् द्विजान्।
धौम्यं गुरुं पुरस्कृत्य ज्येष्ठं पितरमेव च ॥ १७ ॥

कुन्तीकुमार युधिष्ठिरने गुरु धौम्य तथा ताऊ धृतराष्ट्रको आगे करके उन सभी ब्राह्मणोंका विधिपूर्वक पूजन किया ॥

सुमनोमोदकै रत्नैर्हिरण्येन च भूरिणा।
गोभिर्वस्त्रैश्च राजेन्द्र विविधैश्च किमिच्छकैः ॥ १८ ॥

राजेन्द्र! इन्होंने फूल, मिठाई, रत्न, बहुत-से सुवर्ण, गौओं, वस्त्रों तथा उनकी इच्छा पूछ-पूछ कर मँगाये हुए नाना प्रकारके मनोवाञ्छित पदार्थोंद्वारा उन सबका यथोचित सत्कार किया ॥ १८ ॥

ततः पुण्याहघोषोऽभूद् दिवं स्तब्ध्वेव भारत।
सुहृदां प्रीतिजननः पुण्यः श्रुतिसुखावहः ॥ १९ ॥

भारत! इसके बाद पुण्याहवाचनका गम्भीर घोष होने लगा, जो आकाशको स्तब्ध-सा किये देता था। वह पवित्र शब्द कानोंको सुख देनेवाला तथा सुहृदोंको प्रसन्नता प्रदान करनेवाला था ॥ १९ ॥

हंसवद् विदुषां राजन् द्विजानां तत्र भारती।
शुश्रुवे वेदविदुषां पुष्कलार्थपदाक्षरा ॥ २० ॥

राजन्! उस समय वेदवेत्ता विद्वान् ब्राह्मणोंने हंसके समान हर्ष-गद्गद स्वरसे जो प्रचुर अर्थ, पद एवं अक्षरोंसे युक्त वाणी कही थी, वह वहाँ सबको स्पष्ट सुनायी दे रही थी ॥ २० ॥

ततो दुन्दुभिनिर्घोषः शङ्खानां च मनोरमः।
जयं प्रवदतां तत्र स्वनः प्रादुरभून्नृप ॥ २१ ॥

नरेश्वर! तदनन्तर दुन्दुभियों और शङ्खोंकी मनोरम ध्वनि होने लगी, जय-जयकार करनेवालोंका गम्भीर घोष वहाँ प्रकट होने लगा ॥ २१ ॥

निःशब्दे च स्थिते तत्र ततो विप्रजने पुनः।
राजानं ब्राह्मणच्छद्मा चार्वाको राक्षसोऽब्रवीत् ॥ २२ ॥

जब सब ब्राह्मण चुपचाप खड़े हो गये, तब ब्राह्मणका वेष बनाकर आया हुआ चार्वाक नामक राक्षस राजा युधिष्ठिरसे कुछ कहनेको उद्यत हुआ ॥ २२ ॥

तत्र दुर्योधनसखा भिक्षुरूपेण संवृतः।
साक्षः शिखी त्रिदण्डी च धृष्टो विगतसाध्वसः ॥ २३ ॥

वह दुर्योधनका मित्र था। उसने संन्यासी ब्राह्मणके वेषमें अपने असली रूपको छिपा रक्खा था। उसके हाथमें अक्षमाला थी और मस्तकपर शिखा। उसने त्रिदण्ड धारण कर रक्खा था। वह बड़ा ढीठ और निर्भय था ॥ २३ ॥

वृतः सर्वैस्तथा विप्रैराशीर्वादविवक्षुभिः।
परःसहस्रै राजेन्द्र तपोनियमसंवृतैः ॥ २४ ॥
स दुष्टः पापमाशंसुः पाण्डवानां महात्मनाम्।
अनामन्त्र्यैव तान् विप्रांस्तमुवाच महीपतिम् ॥ २५ ॥

राजेन्द्र! तपस्या और नियममें लगे रहनेवाले और आशीर्वाद देनेके इच्छुक उन समस्त ब्राह्मणोंसे, जिनकी संख्या हजारसे भी अधिक थी, घिरा हुआ वह दुष्ट राक्षस महात्मा पाण्डवोंका विनाश चाहता था। उसने उन सब ब्राह्मणोंसे अनुमति लिये बिना ही राजा युधिष्ठिरसे कहा ॥ २४-२५ ॥

चार्वाक उवाच

इमे प्राहुर्द्विजाः सर्वे समारोप्य वचो मयि।
धिग् भवन्तं कुनृपतिं ज्ञातिघातिनमस्तु वै ॥ २६ ॥
किं तेन स्याद्धि कौन्तेय कृत्वेमं ज्ञातिसंक्षयम्।
घातयित्वा गुरूंश्चैव मृतं श्रेयो न जीवितम् ॥ २७ ॥

चार्वाक बोला—राजन्! ये सब ब्राह्मण मुझपर अपनी बात कहनेका भार रखकर मेरेद्वारा ही तुमसे कह रहे हैं—'कुन्तीनन्दन! तुम अपने भाई-बन्धुओंका वध करनेवाले एक दुष्ट राजा हो। तुम्हें धिक्कार है! ऐसे पुरुषके जीवनसे क्या लाभ? इस प्रकार यह बन्धु-बान्धवोंका विनाश करके गुरु-जनोंकी हत्या करवाकर तो तुम्हारा मर जाना ही अच्छा है, जीवित रहना नहीं' ॥ २६-२७ ॥

इति ते वै द्विजाः श्रुत्वा तस्य दुष्टस्य रक्षसः।
विव्यथुश्चुक्रुशुश्चैव तस्य वाक्यप्रधर्षिताः ॥ २८ ॥

वे ब्राह्मण उस दुष्ट राक्षसकी यह बात सुनकर उसके वचनोंसे तिरस्कृत हो व्यथित हो उठे और मन-ही-मन उसके कथनकी निन्दा करने लगे ॥ २८ ॥

ततस्ते ब्राह्मणाः सर्वे स च राजा युधिष्ठिरः।
व्रीडिताः परमोद्विग्नास्तूष्णीमासन् विशाम्पते ॥ २९ ॥

प्रजानाथ! इसके बाद वे सभी ब्राह्मण तथा राजा युधिष्ठिर

अत्यन्त उद्विग्न और लज्जित हो गये। प्रतिवादके रूपमें उनके मुँहसे एक शब्द भी नहीं निकला। वे सभी कुछ देरतक चुप रहे ॥ २९ ॥

युधिष्ठिर उवाच

प्रसीदन्तु भवन्तो मे प्रणतस्याभियाचतः।
प्रत्यासन्नव्यसनिनं न मां धिक्कर्तुमर्हथ ॥ ३० ॥

तत्पश्चात् राजा युधिष्ठिरने कहा—ब्राह्मणो! मैं आपके चरणोंमें प्रणाम करके विनीतभावसे यह प्रार्थना करता हूँ कि आपलोग मुझपर प्रसन्न हों। इस समय मुझपर सब ओरसे बड़ी भारी विपत्ति आ गयी है; अतः आपलोग मुझे धिक्कार न दें ॥ ३० ॥

वैशम्पायन उवाच

ततो राजन् ब्राह्मणास्ते सर्व एव विशाम्पते।
ऊचुर्नैतद् वचोऽस्माकं श्रीरस्तु तव पार्थिव ॥ ३१ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन्! प्रजानाथ! उनकी यह बात सुनकर सब ब्राह्मण बोल उठे—'महाराज! यह हमारी बात नहीं कह रहा है। हम तो यह आशीर्वाद देते हैं कि 'आपकी राजलक्ष्मी सदा बनी रहे'' ॥ ३१ ॥

जज्ञुश्चैव महात्मानस्ततस्तं ज्ञानचक्षुषा।
ब्राह्मणा वेदविद्वांसस्तपोभिर्विमलीकृताः ॥ ३२ ॥

उन वेदवेत्ता ब्राह्मणोंका अन्तःकरण तपस्यासे निर्मल हो गया था। उन महात्माओंने ज्ञानदृष्टिसे उस राक्षसको पहचान लिया ॥ ३२ ॥

ब्राह्मणा ऊचुः

एष दुर्योधनसखा चार्वाको नाम राक्षसः।
परिव्राजकरूपेण हितं तस्य चिकीर्षति ॥ ३३ ॥
वयं ब्रूमो न धर्मात्मन् व्येतु ते भयमीदृशम्।
उपतिष्ठतु कल्याणं भवन्तं भ्रातृभिः सह ॥ ३४ ॥

ब्राह्मण बोले—धर्मात्मन्! यह दुर्योधनका मित्र चार्वाक नामक राक्षस है, जो संन्यासीके रूपमें यहाँ आकर उसका हित करना चाहता है। हमलोग आपसे कुछ नहीं कहते हैं। आपका इस तरहका भय दूर हो जाना चाहिये। हम आशीर्वाद देते हैं कि 'भाइयोंसहित आपको कल्याणकी प्राप्ति हो' ॥ ३३-३४ ॥

वैशम्पायन उवाच

ततस्ते ब्राह्मणाः सर्वे हुंकारैः क्रोधमूर्छिताः।
निर्भर्त्सयन्तः शुचयो निजघ्नुः पापराक्षसम् ॥ ३५ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! तदनन्तर क्रोधसे आतुर हुए उन सभी शुद्धात्मा ब्राह्मणोंने उस पापात्मा राक्षसको बहुत फटकारा और अपने हुङ्कारोंसे उसे नष्ट कर दिया ॥ ३५ ॥

स पपात विनिर्दग्धस्तेजसा ब्रह्मवादिनाम्।
महेन्द्राशनिनिर्दग्धः पादपोऽङ्कुरवानिव ॥ ३६ ॥

ब्रह्मवादी महात्माओंके तेजसे दग्ध होकर वह राक्षस गिर पड़ा, मानो इन्द्रके वज्रसे जलकर कोई अङ्कुरयुक्त वृक्ष धराशायी हो गया हो ॥ ३६ ॥

पूजिताश्च ययुर्विप्रा राजानमभिनन्द्य तम्।
राजा च हर्षमापेदे पाण्डवः ससुहृज्जनः ॥ ३७ ॥

तत्पश्चात् राजाद्वारा पूजित हुए वे ब्राह्मण उनका अभिनन्दन करके चले गये और पाण्डुपुत्र राजा युधिष्ठिर अपने सुहृदोंसहित बड़े हर्षको प्राप्त हुए ॥ ३७ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि राजधर्मानुशासनपर्वणि चार्वाकवधेऽष्टात्रिंशोऽध्यायः ॥ ३८ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत राजधर्मानुशासनपर्वमें चार्वाकका वधविषयक अड़तीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ३८ ॥

एकोनचत्वारिंशोऽध्यायः

चार्वाकको प्राप्त हुए वर आदिका श्रीकृष्णद्वारा वर्णन

वैशम्पायन उवाच

ततस्तत्र तु राजानं तिष्ठन्तं भ्रातृभिः सह।
उवाच देवकीपुत्रः सर्वदर्शी जनार्दनः ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! तदनन्तर सर्वदर्शी देवकीनन्दन भगवान् श्रीकृष्णने वहाँ भाइयोंसहित खड़े हुए राजा युधिष्ठिरसे कहा ॥ १ ॥

वासुदेव उवाच

ब्राह्मणास्तात लोकेऽस्मिन्नर्चनीयाः सदा मम।
एते भूमिचरा देवा वाग्विषाः सुप्रसादकाः ॥ २ ॥

श्रीकृष्ण बोले—तात! इस संसारमें ब्राह्मण मेरे लिये सदा ही पूजनीय हैं। ये पृथ्वीपर विचरनेवाले देवता हैं। कुपित होनेपर इनकी वाणीमें विषका-सा प्रभाव होता है। ये सहज ही प्रसन्न होते और दूसरोंको भी प्रसन्न करते हैं ॥ २ ॥

पुरा कृतयुगे राजंश्चार्वाको नाम राक्षसः।
तपस्तेपे महाबाहो बदर्यां बहुवार्षिकम् ॥ ३ ॥

राजन्! महाबाहो! पहले सत्ययुगकी बात है, चार्वाक राक्षसने बहुत वर्षोंतक बदरिकाश्रममें तपस्या की ॥ ३ ॥

वरेण च्छन्द्यमानश्च ब्रह्मणा च पुनः पुनः।
अभयं सर्वभूतेभ्यो वरयामास भारत ॥ ४ ॥

भरतनन्दन! जब ब्रह्माजीने उससे बारंबार वर माँगनेका अनुरोध किया, तब उसने यही वर माँगा कि मुझे किसी भी प्राणीसे भय न हो ॥ ४ ॥

द्विजावमानादन्यत्र प्रादाद् वरमनुत्तमम्।
अभयं सर्वभूतेभ्यो ददौ तस्मै जगत्पतिः ॥ ५ ॥

ब्रह्माजीने उसे यह परम उत्तम वर देते हुए कहा कि 'तुम्हें ब्राह्मणका अपमान करनेके सिवा और कहींसे भय नहीं है।' इस तरह उन्होंने उसे सम्पूर्ण प्राणियोंकी ओरसे अभयदान दे दिया ॥ ५ ॥

स तु लब्धवरः पापो देवानमितविक्रमः ।
राक्षसस्तापयामास तीव्रकर्मा महाबलः ॥ ६ ॥

वर पाकर वह अमित पराक्रमी महाबली और दुःसह कर्म करनेवाला पापात्मा राक्षस देवताओंको संताप देने लगा ॥

ततो देवाः समेताश्च ब्रह्माणमिदमब्रुवन् ।
वधाय रक्षसस्तस्य बलविप्रकृतास्तदा ॥ ७ ॥

तब उसके बलसे तिरस्कृत हुए सब देवताओंने एकत्र हो ब्रह्माजीसे उसके वधके लिये प्रार्थना की ॥ ७ ॥

तानुवाच ततो देवो विहितस्तत्र वै मया ।
यथास्य भविता मृत्युरचिरेणेति भारत ॥ ८ ॥

भरतनन्दन ! तब ब्रह्माजीने देवताओंसे कहा—'मैंने ऐसा विधान कर दिया है, जिससे शीघ्र ही उस राक्षसकी मृत्यु हो जायगी ॥ ८ ॥

राजा दुर्योधनो नाम सखास्य भविता नृषु ।
तस्य स्नेहावबद्धोऽसौ ब्राह्मणानवमंस्यते ॥ ९ ॥

'मनुष्योंमें राजा दुर्योधन उसका मित्र होगा और उसीके स्नेहसे बँधकर वह राक्षस ब्राह्मणोंका अपमान कर बैठेगा ॥

तत्रैनं रुषिता विप्रा विप्रकारप्रधर्षिताः ।
धक्ष्यन्ति वाग्बलाः पापं ततो नाशं गमिष्यति ॥ १० ॥

'उसके विरुद्धाचरणसे तिरस्कृत हो रोषमें भरे हुए वाक्शक्तिसे सम्पन्न ब्राह्मण वहीं उस पापीको जला देंगे, इससे उसका नाश हो जायगा' ॥ १० ॥

स एष निहतः शेते ब्रह्मदण्डेन राक्षसः ।
चार्वाको नृपतिश्रेष्ठ मा शुचो भरतर्षभ ॥ ११ ॥

नृपश्रेष्ठ ! भरतभूषण ! अब आप शोक न करें। यह वही राक्षस चार्वाक ब्रह्मदण्डसे मारा जाकर पृथ्वीपर पड़ा है ॥

हतास्ते क्षत्रधर्मेण ज्ञातयस्तव पार्थिव ।
स्वर्गताश्च महात्मानो वीराः क्षत्रियपुङ्गवाः ॥ १२ ॥

राजन् ! आपने क्षत्रियधर्मके अनुसार भाई-बन्धुओंका वध किया है। वे महामनस्वी क्षत्रियशिरोमणि वीर स्वर्गलोकमें चले गये हैं ॥ १२ ॥

स त्वमातिष्ठ कार्याणि मा तेऽभूद् ग्लानिरच्युत ।
शत्रून् जहि प्रजा रक्ष द्विजांश्च परिपूजय ॥ १३ ॥

अच्युत ! अब आप अपने कर्तव्यका पालन करें। आपके मनमें ग्लानि न हो। आप शत्रुओंको मारिये, प्रजाकी रक्षा कीजिये और ब्राह्मणोंका आदर-सत्कार करते रहिये ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि राजधर्मानुशासनपर्वणि चार्वाकवरदानादिकथने एकोनचत्वारिंशोऽध्यायः ॥ ३९ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत राजधर्मानुशासनपर्वमें चार्वाकको प्राप्त हुए वरदान आदिका वर्णनविषयक उनतालीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ३९ ॥

चत्वारिंशोऽध्यायः

युधिष्ठिरका राज्याभिषेक

वैशम्पायन उवाच

ततः कुन्तीसुतो राजा गतमन्युर्गतज्वरः ।
काञ्चने प्राङ्मुखो हृष्टो न्यषीदत् परमासने ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! तदनन्तर कुन्तीपुत्र राजा युधिष्ठिर खेद और चिन्तासे रहित हो पूर्वकी ओर मुँह करके प्रसन्नतापूर्वक सुवर्णके सुन्दर सिंहासनपर विराजमान हुए ॥ १ ॥

तमेवाभिमुखौ पीठे प्रदीप्ते काञ्चने शुभे ।
सात्यकिर्वासुदेवश्च निषीदतुररिंदमौ ॥ २ ॥

तत्पश्चात् शत्रुओंका दमन करनेवाले सात्यकि और भगवान् श्रीकृष्ण सोनेके जगमगाते हुए सुन्दर आसनपर उन्हींकी ओर मुँह करके बैठे ॥ २ ॥

मध्ये कृत्वा तु राजानं भीमसेनार्जुनावुभौ ।
निषीदतुर्महात्मानौ श्लक्ष्णयोर्मणिपीठयोः ॥ ३ ॥

राजा युधिष्ठिरको बीचमें करके महामनस्वी भीमसेन और अर्जुन दो चिकने मनोहर पीठोंपर विराजमान हुए ॥ ३ ॥

दान्ते सिंहासने शुभ्रे जाम्बूनदविभूषिते ।
पृथापि सहदेवेन सहास्ते नकुलेन च ॥ ४ ॥

एक ओर हाथी दाँतके बने हुए स्वर्णविभूषित शुभ्र सिंहासनपर नकुल और सहदेवके साथ माता कुन्ती भी बैठ गयीं ॥ ४ ॥

सुधर्मा विदुरो धौम्यो धृतराष्ट्रश्च कौरवः ।
निषेदुर्ज्वलनाकारेष्वासनेषु पृथक् पृथक् ॥ ५ ॥

इसी प्रकार सुधर्मा, विदुर, धौम्य और कुरुराज धृतराष्ट्र अग्निके समान तेजस्वी पृथक्-पृथक् सिंहासनोंपर विराजमान हुए ॥ ५ ॥

युयुत्सुः संजयश्चैव गान्धारी च यशस्विनी ।
धृतराष्ट्रो यतो राजा ततः सर्वे समाविशन् ॥ ६ ॥

युयुत्सु, संजय और यशस्विनी गान्धारी—ये सब लोग उधर ही बैठे, जिस ओर राजा धृतराष्ट्र थे ॥ ६ ॥

तत्रोपविष्टो धर्मात्मा श्वेताः सुमनसोऽस्पृशत् ।
स्वस्तिकानक्षतान् भूमिं सुवर्णं रजतं मणिम् ॥ ७ ॥

धर्मात्मा राजा युधिष्ठिरने सिंहासनपर बैठकर श्वेत पुष्प, स्वस्तिक, अक्षत, भूमि, सुवर्ण, रजत एवं मणिका स्पर्श किया ॥

ततः प्रकृतयः सर्वाः पुरस्कृत्य पुरोहितम् ।
ददृशुर्धर्मराजानमादाय बहुमङ्गलम् ॥ ८ ॥

इसके बाद मन्त्री, सेनापति आदि सभी प्रकृतियोंने पुरोहितको आगे करके बहुत-सी माङ्गलिक सामग्री साथ लिये धर्मराज युधिष्ठिरका दर्शन किया ॥ ८ ॥

पृथिवीं च सुवर्णं च रत्नानि विविधानि च ।
आभिषेचनिकं भाण्डं सर्वसम्भारसम्भृतम् ॥ ९ ॥
काञ्चनोदुम्बरास्तत्र राजताः पृथिवीमयाः ।
पूर्णकुम्भाः सुमनसो लाजा बर्हींषि गोरसम् ॥ १० ॥
शमीपिप्पलपालाशसमिधो मधुसर्पिषी ।
स्रुव औदुम्बरः शङ्खस्तथा हेमविभूषितः ॥ ११ ॥

मिट्टी, सुवर्ण, तरह-तरहके रत्न, राज्याभिषेककी सामग्री, सब प्रकारके आवश्यक सामान, सोने, चाँदी, ताँबे और मिट्टी-के बने हुए जलपूर्ण कलश, फूल, लाजा (खील), कुशा, गोरस, शमी, पीपल और पलाशकी समिधाएँ, मधु, घृत, गूलरकी लकड़ीका स्रुवा तथा स्वर्णजटित शङ्ख—ये सब वस्तुएँ वे संग्रह करके लाये थे ॥ ९–११ ॥

दाशार्हेणाभ्यनुज्ञातस्तत्र धौम्यः पुरोहितः ।
प्रागुदक्प्रवणां वेदीं लक्षणेनोपलिख्य च ॥ १२ ॥
व्याघ्रचर्मोत्तरे शुक्ले सर्वतोभद्र आसने ।
दृढपादप्रतिष्ठाने हुताशनसमत्विषि ॥ १३ ॥
उपवेश्य महात्मानं कृष्णां च द्रुपदात्मजाम् ।
जुहाव पावकं धीमान् विधिमन्त्रपुरस्कृतम् ॥ १४ ॥

भगवान् श्रीकृष्णकी आज्ञासे पुरोहित धौम्यजीने एक वेदी बनायी जो पूर्व और उत्तर दिशाकी ओर नीची थी। उसे गोबरसे लीपकर कुशके द्वारा उसपर रेखा की। इस प्रकार वेदीका संस्कार करके सर्वतोभद्र नामक एक चौकी-पर बाघम्बर एवं श्वेत वस्त्र बिछाकर उसके ऊपर महात्मा युधिष्ठिर तथा द्रुपदकुमारी कृष्णाको बिठाया। उस चौकीके पाये और बैठनेके आधार बहुत मजबूत थे। सुवर्णजटित होनेके कारण वह आसन प्रज्वलित अग्निके समान प्रकाशित हो रहा था। बुद्धिमान् पुरोहितने वेदीपर अग्निको स्थापित करके उसमें विधि और मन्त्रके साथ आहुति दी ॥ १२–१४॥

तत उत्थाय दाशार्हः शङ्खमादाय पूजितम् ।
अभ्यषिञ्चत् पतिं पृथ्व्याः कुन्तीपुत्रं युधिष्ठिरम् ॥ १५ ॥
धृतराष्ट्रश्च राजर्षिः सर्वाः प्रकृतयस्तथा ।

तत्पश्चात् दशार्हवंशी श्रीकृष्णने उठकर जिसकी पूजा की गयी थी, वह पाञ्चजन्य शङ्ख हाथमें ले उसके जलसे पृथ्वीपति कुन्तीपुत्र युधिष्ठिरका अभिषेक किया। फिर राजा धृतराष्ट्र तथा प्रकृतिवर्गके अन्य सब लोगोंने भी अभिषेकका कार्य सम्पन्न किया ॥ १५½ ॥

अनुज्ञातोऽथ कृष्णेन भ्रातृभिः सह पाण्डवः ॥ १६ ॥
पाञ्चजन्याभिषिक्तश्च राजामृतमुखोऽभवत् ।

श्रीकृष्णकी आज्ञासे पाञ्चजन्य शङ्खद्वारा अभिषेक हो जानेपर भाइयोंसहित राजा युधिष्ठिरका मुख इतना सुन्दर दिखायी देने लगा, मानो नेत्रोंसे अमृतकी वर्षा कर रहा हो ॥ १६½ ॥

ततोऽनुवादयामासुः पणवानकदुन्दुभीन् ॥ १७ ॥
धर्मराजोऽपि तत् सर्वं प्रतिजग्राह धर्मतः ।

तदनन्तर वहाँ बाजा बजानेवाले लोग पणव, आनक तथा दुन्दुभिकी ध्वनि करने लगे। धर्मराज युधिष्ठिरने भी धर्मा-नुसार वह सारा स्वागत-सत्कार स्वीकार किया ॥ १७½ ॥

पूजयामास तांश्चापि विधिवद् भूरिदक्षिणः ॥ १८ ॥
ततो निष्कसहस्रेण ब्राह्मणान्स्वस्ति वाचयन् ।
वेदाध्ययनसम्पन्नान् धृतिशीलसमन्वितान् ॥ १९ ॥

बहुत दक्षिणा देनेवाले राजा युधिष्ठिरने वेदाध्ययनसे सम्पन्न तथा धैर्य और शीलसे संयुक्त ब्राह्मणोंद्वारा स्वस्ति-वाचन कराकर उनका विधिपूर्वक पूजन किया और उन्हें एक हजार अशर्फियाँ दान कीं ॥ १८-१९ ॥

ते प्रीता ब्राह्मणा राजन् स्वस्त्यूचुर्जयमेव च ।
हंसा इव च नर्दन्तः प्रशशंसुर्युधिष्ठिरम् ॥ २० ॥

राजन् ! इससे प्रसन्न होकर उन ब्राह्मणोंने उनके कल्याणका आशीर्वाद दिया और जय-जयकार की। वे सभी ब्राह्मण हंसके समान गम्भीर स्वरमें बोलते हुए राजा युधिष्ठिर-की इस प्रकार प्रशंसा करने लगे—॥ २० ॥

युधिष्ठिर महाबाहो दिष्ट्या जयसि पाण्डव ।
दिष्ट्या स्वधर्मं प्राप्तोऽसि विक्रमेण महाद्युते ॥ २१ ॥

'पाण्डुनन्दन महाबाहु युधिष्ठिर ! तुम्हारी विजय हुई, यह बड़े भाग्यकी बात है। महातेजस्वी नरेश ! तुमने पराक्रमसे अपना धर्मानुकूल राज्य प्राप्त कर लिया, यह भी सौभाग्यका ही सूचक है ॥ २१ ॥

दिष्ट्या गाण्डीवधन्वा च भीमसेनश्च पाण्डवः ।
त्वं चापि कुशली राजन् माद्रीपुत्रौ च पाण्डवौ ॥ २२ ॥
मुक्ता वीरक्षयात् तस्मात् संग्रामाद् विजितद्विषः ।
क्षिप्रमुत्तरकार्याणि कुरु सर्वाणि भारत ॥ २३ ॥

'गाण्डीवधारी अर्जुन, पाण्डुपुत्र भीमसेन, तुम और माद्रीपुत्र पाण्डुकुमार नकुल-सहदेव—ये सभी शत्रुओंपर विजय पाकर इस वीरविनाशक संग्राममें कुशलपूर्वक बच गये, इसे भी महान् सौभाग्यकी ही बात समझनी चाहिये। भारत! अब आगे जो कार्य करने हैं, उन सबको शीघ्र पूर्ण कीजिये' ॥ २२-२३ ॥

ततः प्रत्यर्चितः सद्भिर्धर्मराजो युधिष्ठिरः ।

प्रतिपेदे महद् राज्यं सुहृद्भिः सह भारत ॥ २४ ॥

भरतनन्दन ! तत्पश्चात् समागत सज्जनोंने धर्मराज युधिष्ठिरका पुनः सत्कार किया । फिर उन्होंने सुहृदोंके साथ अपने विशाल राज्यका भार हाथोंमें ले लिया ॥ २४ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि राजधर्मानुशासनपर्वणि युधिष्ठिराभिषेके चत्वारिंशोऽध्यायः ॥ ४० ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत राजधर्मानुशासनपर्वमें युधिष्ठिरका राज्याभिषेकविषयक चालीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ४० ॥

एकचत्वारिंशोऽध्यायः

राजा युधिष्ठिरका धृतराष्ट्रके अधीन रहकर राज्यकी व्यवस्थाके लिये भाइयों तथा अन्य लोगोंको विभिन्न कार्योंपर नियुक्त करना

वैशम्पायन उवाच

प्रकृतीनां च तद् वाक्यं देशकालोपबृंहितम् ।
श्रुत्वा युधिष्ठिरो राजा चोत्तरं प्रत्यभाषत ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! मन्त्री, प्रजा आदिके उस देशकालोचित वचनको सुनकर राजा युधिष्ठिरने उसका उत्तर देते हुए कहा—॥ १ ॥

धन्याः पाण्डुसुता नूनं येषां ब्राह्मणपुङ्गवाः ।
तथ्यान् वाप्यथवातथ्यान् गुणानाहुः समागताः ॥ २ ॥

'निश्चय ही हम सभी पाण्डव धन्य हैं, जिनके गुणोंका बखान यहाँ पधारे हुए सभी ब्राह्मण कर रहे हैं । हममें वास्तवमें वे गुण हों या न हों, आपलोग हमें गुणवान् बता रहे हैं ॥ २ ॥

अनुग्राह्या वयं नूनं भवतामिति मे मतिः ।
यदेवं गुणसम्पन्नानस्मान् ब्रूथ विमत्सराः ॥ ३ ॥

'हमारा विश्वास है कि आपलोग निश्चय ही हमें अपने अनुग्रहका पात्र समझते हैं, तभी तो ईर्ष्या और द्वेष छोड़कर हमें इस प्रकार गुणसम्पन्न बता रहे हैं ॥ ३ ॥

धृतराष्ट्रो महाराजः पिता मे दैवतं परम् ।
शासनेऽस्य प्रिये चैव स्थेयं मत्प्रियकाङ्क्षिभिः ॥ ४ ॥

'महाराज धृतराष्ट्र मेरे पिता (ताऊ) और श्रेष्ठ देवता हैं । जो लोग मेरा प्रिय करना चाहते हों, उन्हें सदा उनकी आज्ञाके पालन तथा हित-साधनमें लगे रहना चाहिये ॥ ४ ॥

एतदर्थं हि जीवामि कृत्वा ज्ञातिवधं महत् ।
अस्य शुश्रूषणं कार्यं मया नित्यमतन्द्रिणा ॥ ५ ॥

'अपने भाई-बन्धुओंका इतना बड़ा संहार करके मैं इन्हीं महाराजके लिये जी रहा हूँ । मुझे नित्य-निरन्तर आलस्य छोड़कर इनकी सेवा-शुश्रूषामें संलग्न रहना है ॥ ५ ॥

यदि चाहमनुग्राह्यो भवतां सुहृदां तथा ।
धृतराष्ट्रे यथापूर्वं वृत्तिं वर्तितुमर्हथ ॥ ६ ॥

'यदि आप सब सुहृदोंका मुझपर अनुग्रह हो तो आपलोग महाराज धृतराष्ट्रके प्रति वैसा ही भाव और बर्ताव बनाये रखें, जैसा पहले रखते थे ॥ ६ ॥

एष नाथो हि जगतो भवतां च मया सह ।
अस्यैव पृथिवी कृत्स्ना पाण्डवाः सर्व एव च ॥ ७ ॥
एतन्मनसि कर्तव्यं भवद्भिर्वचनं मम ।

'ये ही सम्पूर्ण जगत्के, आपलोगोंके और मेरे भी स्वामी हैं । यह सारी पृथ्वी और ये समस्त पाण्डव इन्हींके अधिकारमें हैं । आप सब लोग मेरी इस प्रार्थनाको अपने हृदयमें स्थान दें' ॥ ७½ ॥

अनुज्ञाप्याथ तान् राजा यथेष्टं गम्यतामिति ॥ ८ ॥
पौरजानपदान् सर्वान् विसृज्य कुरुनन्दनः ।
यौवराज्येन कौन्तेयं भीमसेनमयोजयत् ॥ ९ ॥

इसके बाद राजा युधिष्ठिरने नगर और जनपदके निवासियोंको यह आज्ञा दी कि आपलोग इच्छानुसार अपने-अपने स्थानको पधारें । इस प्रकार उन सबको विदा करके कुरुनन्दन युधिष्ठिरने कुन्तीकुमार भीमसेनको युवराजके पदपर प्रतिष्ठित किया ॥ ८-९ ॥

मन्त्रे च निश्चये चैव षाड्गुण्यस्य च चिन्तने ।
विदुरं बुद्धिसम्पन्नं प्रीतिमान् स समादिशत् ॥ १० ॥

फिर उन्होंने बड़ी प्रसन्नताके साथ बुद्धिमान् विदुरजीको मन्त्रणा[1], कर्तव्यनिश्चय तथा छहों[2] गुणोंके चिन्तनके कार्यमें नियुक्त किया ॥ १० ॥

कृताकृतपरिज्ञाने तथाऽऽयव्ययचिन्तने ।
संजयं योजयामास वृद्धं सर्वगुणैर्युतम् ॥ ११ ॥

कौन-सा कार्य हुआ और कौन-सा नहीं हुआ, इसकी जाँच करने तथा आय और व्ययपर विचार करनेके कार्यमें उन्होंने सर्वगुणसम्पन्न वयोवृद्ध संजयको लगाया ॥ ११ ॥

बलस्य परिमाणे च भक्तवेतनयोस्तथा ।
नकुलं व्यादिशद् राजा कर्मणां चान्ववेक्षणे ॥ १२ ॥

सेनाकी गणना करना, उसे भोजन और वेतन देना तथा उसके कामकी देखभाल करना—इन सब कार्योंका भार राजा युधिष्ठिरने नकुलको सौंप दिया ॥ १२ ॥

परचक्रोपरोधे च दुष्टानां चावमर्दने ।
युधिष्ठिरो महाराज फाल्गुनं व्यादिदेश ह ॥ १३ ॥

महाराज ! शत्रुओंके देशपर चढ़ाई करने और दुष्टोंका दमन करनेके कार्यमें युधिष्ठिरने अर्जुनको नियुक्त किया ॥ १३ ॥

---

१. राज-काजके सम्बन्धमें गुप्त सलाह देना—'मन्त्रणा' है।

२. सन्धि, विग्रह, यान, आसन, द्वैधीभाव तथा समाश्रय—ये छः राजाके नीतिसम्बन्धी गुण हैं।

द्विजानां देवकार्येषु कार्येष्वन्येषु चैव ह ।
धौम्यं पुरोधसां श्रेष्ठं नित्यमेव समादिशत् ॥ १४ ॥

ब्राह्मणों और देवताओंसे सम्बन्ध रखनेवाले कार्योंपर तथा अन्यान्य ब्राह्मणोचित कर्तव्योंपर सदाके लिये पुरोहितोंमें श्रेष्ठ धौम्यजीकी नियुक्ति की गयी ॥ १४ ॥

सहदेवं समीपस्थं नित्यमेव समादिशत् ।
तेन गोप्यो हि नृपतिः सर्वावस्थो विशाम्पते ॥ १५ ॥

प्रजानाथ ! सहदेवको राजा युधिष्ठिरने सदा ही अपने पास रहनेका आदेश दिया । उन्हें सभी अवस्थाओंमें राजाकी रक्षाका काम सौंपा गया था ॥ १५ ॥

यान् यानमन्यद् योग्यांश्च येषु येष्विह कर्मसु ।
तांस्तांस्तेष्वेव युयुजे प्रीयमाणो महीपतिः ॥ १६ ॥

प्रसन्न हुए महाराज युधिष्ठिरने जिन-जिन लोगोंको जिन-जिन कार्योंके योग्य समझा, उन-उनको उन्हीं-उन्हीं कार्यों-पर नियुक्त किया ॥ १६ ॥

विदुरं संजयं चैव युयुत्सुं च महामतिम् ।
अब्रवीत् परवीरघ्नो धर्मात्मा धर्मवत्सलः ॥ १७ ॥
उत्थायोत्थाय तत् कार्यमस्य राज्ञः पितुर्मम ।
सर्वं भवद्भिः कर्तव्यमप्रमत्तैर्यथायथम् ॥ १८ ॥

तत्पश्चात् शत्रुवीरोंका संहार करनेवाले धर्मवत्सल धर्मात्मा युधिष्ठिरने विदुर, संजय तथा परम बुद्धिमान् युयुत्सुसे कहा—'आपलोगोंको सदा सावधान रहकर प्रतिदिन उठ-उठकर मेरे ताऊ महाराज धृतराष्ट्रकी सेवाका सारा आवश्यक कार्य यथोचितरूपसे सम्पन्न करना चाहिये ॥ १७-१८ ॥

पौरजानपदानां च यानि कार्याणि सर्वशः ।
राजानं समनुज्ञाप्य तानि कर्माणि भागशः ॥ १९ ॥

'पुरवासियों और जनपदनिवासियोंके भी जो-जो कार्य हों, उन्हें इन्हीं महाराजकी आज्ञा लेकर पृथक्-पृथक् पूर्ण करना चाहिये' ॥ १९ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि राजधर्मानुशासनपर्वणि भीमादिकर्मनियोगे एकचत्वारिंशोऽध्यायः ॥ ४१ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत राजधर्मानुशासनपर्वमें भीमसेन आदिकी भिन्न-भिन्न कार्योंमें नियुक्तिविषयक इकतालीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ४१ ॥

द्विचत्वारिंशोऽध्यायः

राजा युधिष्ठिर तथा धृतराष्ट्रका युद्धमें मारे गये सगे-सम्बन्धियों तथा अन्य राजाओंके लिये श्राद्धकर्म करना

वैशम्पायन उवाच

ततो युधिष्ठिरो राजा ज्ञातीनां ये हता युधि ।
श्राद्धानि कारयामास तेषां पृथगुदारधीः ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन् ! तदनन्तर उदारबुद्धि राजा युधिष्ठिरने जाति, भाई और कुटुम्बीजनोंमेंसे जो लोग युद्धमें मारे गये थे, उन सबके अलग-अलग श्राद्ध करवाये ॥

धृतराष्ट्रो ददौ राजा पुत्राणामौर्ध्वदेहिकम् ।
सर्वकामगुणोपेतमन्नं गाश्च धनानि च ॥ २ ॥
रत्नानि च विचित्राणि महार्हाणि महायशाः ।

महायशस्वी राजा धृतराष्ट्रने अपने पुत्रोंके श्राद्धमें समस्त कमनीय गुणोंसे युक्त अन्न, गो, धन और बहुमूल्य विचित्र रत्न प्रदान किये ॥ २½ ॥

युधिष्ठिरस्तु द्रोणस्य कर्णस्य च महात्मनः ॥ ३ ॥
धृष्टद्युम्नाभिमन्युभ्यां हैडिम्बस्य च रक्षसः ।
विराटप्रभृतीनां च सुहृदामुपकारिणाम् ॥ ४ ॥
द्रुपदद्रौपदेयानां द्रौपद्या सहितो ददौ ।

युधिष्ठिरने द्रौपदीको साथ लेकर आचार्य द्रोण, महामना कर्ण, धृष्टद्युम्न, अभिमन्यु, राक्षस घटोत्कच, विराट आदि उपकारी सुहृद्, द्रुपद तथा द्रौपदीकुमारोंका श्राद्ध किया ३-४½

ब्राह्मणानां सहस्राणि पृथगेकैकमुद्दिशन् ॥ ५ ॥
धनै रत्नैश्च गोभिश्च वस्त्रैश्च समतर्पयत् ।

उन्होंने प्रत्येकके उद्देश्यसे हजारों ब्राह्मणोंको अलग-अलग धन, रत्न, गौ और वस्त्र देकर संतुष्ट किया ॥ ५½ ॥

ये चान्ये पृथिवीपाला येषां नास्ति सुहृज्जनः ॥ ६ ॥
उद्दिश्योद्दिश्य तेषां च चक्रे राजौर्ध्वदेहिकम् ।

इनके सिवा जो दूसरे भूपाल थे, जिनके सुहृद् या सम्बन्धी जीवित नहीं थे, उन सबके उद्देश्यसे राजा युधिष्ठिरने श्राद्ध-कर्म किया ॥ ६½ ॥

सभाः प्रपाश्च विविधास्तटाकानि च पाण्डवः ॥ ७ ॥
सुहृदां कारयामास सर्वेषामौर्ध्वदेहिकम् ।

साथ ही उनके निमित्त पाण्डुपुत्र युधिष्ठिरने धर्मशालाएँ, प्याऊ-घर और पोखरे बनवाये । इस प्रकार उन्होंने सभी सुहृदोंके श्राद्ध-कर्म सम्पन्न कराये ॥ ७½ ॥

स तेषामनृणो भूत्वा गत्वा लोकेष्ववाच्यताम् ॥ ८ ॥
कृतकृत्योऽभवद् राजा प्रजा धर्मेण पालयन् ।

उन सबके ऋणसे मुक्त हो वे लोकमें किसीकी निन्दा या आक्षेपके पात्र नहीं रह गये । राजा युधिष्ठिर धर्मपूर्वक प्रजाका पालन करते हुए कृतकृत्यताका अनुभव करने लगे ॥ ८½ ॥

धृतराष्ट्रं यथापूर्वं गान्धारीं विदुरं तथा ॥ ९ ॥
सर्वांश्च कौरवान् मान्यान् भृत्यांश्च समपूजयत् ।

धृतराष्ट्र, गान्धारी, विदुर तथा अन्य आदरणीय कौरवोंकी वे पहलेकी ही भाँति सेवा करते और भृत्यजनोंका भी आदर-सत्कार करते थे ॥ ९½ ॥

यास्तत्र स्त्रियः काश्चिद्धतवीरा हतात्मजाः ॥ १० ॥
सर्वास्ताः कौरवो राजा सम्पूज्यापालयद् घृणी ।

वहाँ जो कोई भी स्त्रियाँ थीं, जिनके पति और पुत्र मारे गये थे, उन सबका कृपालु कुरुवंशी राजा युधिष्ठिर बड़े आदर-के साथ पालन-पोषण करते थे ॥ १०½ ॥

दीनान्धकृपणानां च गृहाच्छादनभोजनैः ॥ ११ ॥
आनृशंस्यपरो राजा चकारानुग्रहं प्रभुः ।

दीन, दुखियों और अन्धोंके लिये घर एवं भोजन-वस्त्रकी व्यवस्था करके सबके प्रति कोमलताका बर्ताव करनेवाले सामर्थ्यशाली राजा युधिष्ठिर उनपर बड़ी कृपा रखते थे ॥ ११½ ॥

स विजित्य महीं कृत्स्नामानृण्यं प्राप्य वैरिषु ।
निःसपत्नः सुखी राजा विजहार युधिष्ठिरः ॥ १२ ॥

इस सारी पृथ्वीको जीतकर शत्रुओंसे उऋण हो शत्रुहीन राजा युधिष्ठिर सुखपूर्वक विहार करने लगे ॥ १२ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि राजधर्मानुशासनपर्वणि श्राद्धक्रियायां द्विचत्वारिंशोऽध्यायः ॥ ४२ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत राजधर्मानुशासनपर्वमें श्राद्धकर्मविषयक बयालीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ४२ ॥

त्रिचत्वारिंशोऽध्यायः

युधिष्ठिरद्वारा भगवान् श्रीकृष्णकी स्तुति

वैशम्पायन उवाच

अभिषिक्तो महाप्राज्ञो राज्यं प्राप्य युधिष्ठिरः ।
दाशार्हं पुण्डरीकाक्षमुवाच प्राञ्जलिः शुचिः ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन्! राज्याभिषेकके पश्चात् राज्य पाकर परम बुद्धिमान् युधिष्ठिरने पवित्रभावसे हाथ जोड़कर कमलनयन दशार्हवंशी श्रीकृष्णसे कहा—॥ १ ॥

तव कृष्ण प्रसादेन नयेन च बलेन च ।
बुद्ध्या च यदुशार्दूल तथा विक्रमणेन च ॥ २ ॥
पुनः प्राप्तमिदं राज्यं पितृपैतामहं मया ।
नमस्ते पुण्डरीकाक्ष पुनः पुनररिंदम ॥ ३ ॥

'यदुसिंह श्रीकृष्ण! आपकी ही कृपा, नीति, बल, बुद्धि और पराक्रमसे मुझे पुनः अपने बाप-दादोंका यह राज्य प्राप्त हुआ है। शत्रुओंका दमन करनेवाले कमलनयन! आपको बारंबार नमस्कार है ॥ २-३ ॥

त्वामेकमाहुः पुरुषं त्वामाहुः सात्वतां पतिम् ।
नामभिस्त्वां बहुविधैः स्तुवन्ति प्रयता द्विजाः ॥ ४ ॥

'अपने मन और इन्द्रियोंको संयममें रखनेवाले द्विज एकमात्र आपको ही अन्तर्यामी पुरुष एवं उपासना करनेवाले भक्तोंका प्रतिपालक बताते हैं। साथ ही वे नाना प्रकारके नामोंद्वारा आपकी स्तुति करते हैं ॥ ४ ॥

विश्वकर्मन् नमस्तेऽस्तु विश्वात्मन् विश्वसम्भव ।
विष्णो जिष्णो हरे कृष्ण वैकुण्ठ पुरुषोत्तम ॥ ५ ॥

'यह सम्पूर्ण विश्व आपकी लीलामयी सृष्टि है। आप इस विश्वके आत्मा हैं। आपहीसे इस जगत्की उत्पत्ति हुई है। आप ही व्यापक होनेके कारण 'विष्णु', विजयी होनेसे 'जिष्णु', दुःख और पाप हर लेनेसे 'हरि', अपनी ओर आकृष्ट करनेके कारण 'कृष्ण', विकुण्ठ धामके अधिपति होनेसे 'वैकुण्ठ' तथा क्षर-अक्षर पुरुषसे उत्तम होनेके कारण 'पुरुषोत्तम' कहलाते हैं। आपको नमस्कार है ॥ ५ ॥

अदित्याः सप्तधा त्वं तु पुराणो गर्भतां गतः ।
पृश्निगर्भस्त्वमेवैकस्त्रियुगं त्वां वदन्त्यपि ॥ ६ ॥

'आप पुराणपुरुष परमात्माने ही सात प्रकारसे अदितिके गर्भमें अवतार लिया है। आप ही पृश्निगर्भके नामसे प्रसिद्ध हैं। विद्वान्लोग तीनों युगोंमें प्रकट होनेके कारण आपको 'त्रियुग' कहते हैं ॥ ६ ॥

शुचिश्रवा हृषीकेशो घृतार्चिर्हंस उच्यते ।
त्रिचक्षुः शम्भुरेकस्त्वं विभुर्दामोदरोऽपि च ॥ ७ ॥

'आपकी कीर्ति परम पवित्र है। आप सम्पूर्ण इन्द्रियोंके प्रेरक हैं। घृत ही जिसकी ज्वाला है, वह यज्ञपुरुष आप ही हैं। आप ही हंस (विशुद्ध परमात्मा) कहे जाते हैं। त्रिनेत्रधारी भगवान् शङ्कर और आप एक ही हैं। आप सर्वव्यापी होनेके साथ ही दामोदर (यशोदा मैयाके द्वारा बँध जानेवाले नटवरनागर) भी हैं ॥ ७ ॥

वराहोऽग्निर्बृहद्भानुर्वृषभस्तार्क्ष्यलक्षणः ।
अनीकसाहः पुरुषः शिपिविष्ट उरुक्रमः ॥ ८ ॥

'वराह, अग्नि, बृहद्भानु (सूर्य), वृषभ (धर्म), गरुडध्वज, अनीकसाह (शत्रुसेनाका वेग सह सकनेवाले), पुरुष (अन्तर्यामी), शिपिविष्ट (सबके शरीरमें आत्मारूपसे प्रविष्ट) और उरुक्रम (वामन)—ये सभी आपके ही नाम और रूप हैं ॥ ८ ॥

वरिष्ठ उग्रसेनानीः सत्यो वाजसनिर्गुहः ।
अच्युतश्च्यावनोऽरीणां संस्कृतो विकृतिर्वृषः ॥ ९ ॥

'सबसे श्रेष्ठ, भयंकर सेनापति, सत्यस्वरूप, अन्नदाता तथा स्वामी कार्तिकेय भी आप ही हैं। आप स्वयं कभी युद्धसे विचलित न होकर शत्रुओंको पीछे हटा देते हैं। संस्कार-सम्पन्न द्विज और संस्कारशून्य वर्णसंकर भी आपके ही स्वरूप हैं। आप कामनाओंकी वर्षा करनेवाले वृष (धर्म) हैं ॥ ९ ॥

कृष्णधर्मस्त्वमेवादिर्वृषदर्भो वृषाकपिः ।
सिन्धुर्विधर्मस्त्रिककुप् त्रिधामा त्रिदिवाच्युतः ॥ १० ॥

'कृष्णधर्म (यज्ञस्वरूप) और सबके आदिकारण आप ही हैं। वृषदर्भ (इन्द्रके दर्पका दलन करनेवाले) और वृषाकपि (हरिहर) भी आप ही हैं। आप ही सिन्धु (समुद्र),

विधर्म (निर्गुण परमात्मा), त्रिककुप् (ऊपर-नीचे और मध्य—ये तीन दिशाएँ), त्रिधामा (सूर्य, चन्द्र और अग्नि—ये त्रिविध तेज) तथा वैकुण्ठधामसे नीचे अवतीर्ण होनेवाले भी हैं ॥ १० ॥

सम्राड् विराट् स्वराट् चैव सुरराजो भवोद्भवः।
विभुर्भूरतिभूः कृष्णः कृष्णवर्त्मा त्वमेव च ॥ ११ ॥

'आप सम्राट्, विराट्, स्वराट् और देवराज इन्द्र हैं। यह संसार आपहीसे प्रकट हुआ है। आप सर्वत्र व्यापक, नित्य सत्तारूप और निराकार परमात्मा हैं। आप ही कृष्ण (सबको अपनी ओर खींचनेवाले) और कृष्णवर्त्मा (अग्नि) हैं ॥ ११ ॥

स्विष्टकृद् भिषगावर्तः कपिलस्त्वं च वामनः।
यज्ञो ध्रुवः पतङ्गश्च यज्ञसेनस्त्वमुच्यसे ॥ १२ ॥

'आपहीको लोग अभीष्टसाधक, अश्विनीकुमारोंके पिता सूर्य, कपिल मुनि, वामन, यज्ञ, ध्रुव, गरुड़ तथा यज्ञसेन कहते हैं ॥ १२ ॥

शिखण्डी नहुषो बभ्रुर्दिवःस्पृक् त्वं पुनर्वसुः।
सुबभ्रू रुक्मयज्ञश्च सुषेणो दुन्दुभिस्तथा ॥ १३ ॥

'आप अपने मस्तकपर मोरका पङ्ख धारण करते हैं। आप ही पूर्वकालमें राजा नहुष होकर प्रकट हुए थे। आप सम्पूर्ण आकाशको व्याप्त करनेवाले महेश्वर तथा एक ही पैर-में आकाशको नाप लेनेवाले विराट् हैं। आप ही पुनर्वसु नक्षत्रके रूपमें प्रकाशित हो रहे हैं। सुबभ्रु (अत्यन्त पिङ्गल वर्ण), रुक्मयज्ञ (सुवर्णकी दक्षिणासे भरपूर यज्ञ), सुषेण (सुन्दर सेनासे सम्पन्न) तथा दुन्दुभिस्वरूप हैं ॥ १३ ॥

गभस्तिनेमिः श्रीपद्मः पुष्करः पुष्पधारणः।
ऋभुर्विभुः सर्वसूक्ष्मश्चारित्रं चैव पठ्यसे ॥ १४ ॥

'आप ही गभस्तिनेमि (कालचक्र), श्रीपद्म, पुष्कर, पुष्पधारी, ऋभु, विभु, सर्वथा सूक्ष्म और सदाचार-स्वरूप कहलाते हैं ॥ १४ ॥

अम्भोनिधिस्त्वं ब्रह्मा त्वं पवित्रं धाम धामवित्।
हिरण्यगर्भं त्वामाहुः स्वधा स्वाहा च केशव ॥

'आप ही जलनिधि समुद्र, आप ही ब्रह्मा तथा आप पवित्र धाम एवं धामके ज्ञाता हैं। केशव ! विद्वान् आपको ही हिरण्यगर्भ, स्वधा और स्वाहा आदि पुकारते हैं ॥ १५ ॥

योनिस्त्वमस्य प्रलयश्च कृष्ण
त्वमेवेदं सृजसे विश्वमग्रे।
विश्वं चेदं त्वद्वशे विश्वयोने
नमोऽस्तु ते शार्ङ्गचक्रासिपाणे ॥

'श्रीकृष्ण ! आप ही इस जगत्के आदि कारण आप ही इसके प्रलयस्थान। कल्पके आरम्भमें आप विश्वकी सृष्टि करते हैं। विश्वके कारण ! यह सम्पूर्ण आपके ही अधीन है। हाथोंमें धनुष, चक्र और खड्ग करनेवाले परमात्मन् ! आपको नमस्कार है' ॥ १६ ॥

एवं स्तुतो धर्मराजेन कृष्णः
सभामध्ये प्रीतिमान् पुष्कराक्षः।
तमभ्यनन्दद् भारतं पुष्कलाभि-
र्वाग्भिर्ज्येष्ठं पाण्डवं यादवाग्र्यः ॥

इस प्रकार जब धर्मराज युधिष्ठिरने सभामें यदुकुलशि कमलनयन भगवान् श्रीकृष्णकी स्तुति की, तब उन्होंने प्रसन्न होकर भरतभूषण ज्येष्ठ पाण्डव युधिष्ठिरका वचनोंद्वारा अभिनन्दन किया ॥ १७ ॥

(एतन्नामशतं विष्णोर्धर्मराजेन कीर्तितम्।
यः पठेच्छृणुयाद् वापि सर्वपापैः प्रमुच्यते ॥

जो धर्मराज युधिष्ठिरद्वारा वर्णित भगवान् श्री इन सौ नामोंका पाठ या श्रवण करता है, वह सब मुक्त हो जाता है ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि राजधर्मानुशासनपर्वणि वासुदेवस्तुतौ त्रिचत्वारिंशोऽध्यायः ॥ ४३ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत राजधर्मानुशासनपर्वमें भगवान् श्रीकृष्णकी स्तुतिविषयक तैंतालीसवाँ अध्याय पूरा हुआ।

(दाक्षिणात्य अधिक पाठका १ श्लोक मिलाकर कुल १८ श्लोक हैं)

चतुश्चत्वारिंशोऽध्यायः

महाराज युधिष्ठिरके दिये हुए विभिन्न भवनोंमें भीमसेन आदि सब भाइयोंका प्रवेश और विश्र

वैशम्पायन उवाच

ततो विसर्जयामास सर्वाः प्रकृतयो नृपः।
विविशुश्चाभ्यनुज्ञाता यथास्वानि गृहाणि ते ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन् ! तदनन्तर राजा युधिष्ठिरने मन्त्री, प्रजा आदि सारी प्रकृतियोंको विदा किया। राजाकी आज्ञा पाकर सब लोग अपने-अपने घरको चले गये॥

ततो युधिष्ठिरो राजा भीमं भीमपराक्रमम्।
सान्त्वयन्नब्रवीच्छ्रीमानर्जुनं यमजौ तथा ॥ २ ॥

इसके बाद श्रीमान् महाराज युधिष्ठिरने भयानक पराक्रमी भीमसेन, अर्जुन तथा नकुल-सहदेवको सान्त्वन हुए कहा—॥ २ ॥

शत्रुभिर्विविधैः शस्त्रैः क्षतदेहा महारणे।
श्रान्ता भवन्तः सुभृशं तापिताः शोकमन्युभिः ।

'बन्धुओ ! इस महासमरमें शत्रुओंने नाना शस्त्रोंद्वारा तुम्हारे शरीरको घायल कर दिया है। लोग अत्यन्त थक गये हो और शोक तथा क्रोधने तुम् कर दिया है ॥ ३ ॥

अरण्ये दुःखवसतीर्मत्कृते भरतर्षभाः।

भवद्भिरनुभूता हि यथा कुपुरुषैस्तथा ॥ ४ ॥

'भरतश्रेष्ठ वीरो ! तुमने मेरे लिये वनमें रहकर जैसे कोई भाग्यहीन मनुष्य दुःख भोगता है, उसी प्रकार दुःख और कष्ट भोगे हैं ॥ ४ ॥

यथासुखं यथाजोषं जयोऽयमनुभूयताम् ।
विश्रान्ताँल्लब्धविज्ञानाञ्श्वः समेतास्मि वः पुनः ॥५॥

'अब इस समय तुमलोग सुखपूर्वक जी भरकर इस विजयजनित आनन्दका अनुभव करो । अच्छी तरह विश्राम करके जब तुम्हारा चित्त स्वस्थ हो जाय, तब फिर कल तुम लोगोंसे मिलूँगा' ॥ ५ ॥

ततो दुर्योधनगृहं प्रासादैरुपशोभितम् ।
बहुरत्नसमाकीर्णं दासीदाससमाकुलम् ॥ ६ ॥
धृतराष्ट्राभ्यनुज्ञातं भ्रात्रा दत्तं वृकोदरः ।
प्रतिपेदे महाबाहुर्मन्दिरं मघवानिव ॥ ७ ॥

तदनन्तर धृतराष्ट्रकी आज्ञासे भाई युधिष्ठिरने दुर्योधनका महल भीमसेनको अर्पित किया । वह बहुत-सी अट्टालिकाओंसे सुशोभित था । वहाँ अनेक प्रकारके रत्नोंका भण्डार पड़ा था और बहुत-सी दास-दासियाँ सेवाके लिये प्रस्तुत थीं । जैसे इन्द्र अपने भवनमें प्रवेश करते हैं, उसी प्रकार महाबाहु भीमसेन उस महलमें चले गये ॥ ६-७ ॥

यथा दुर्योधनगृहं तथा दुःशासनस्य तु ।
प्रासादमालासंयुक्तं हेमतोरणभूषितम् ॥ ८ ॥
दासीदाससुसम्पूर्णं प्रभूतधनधान्यवत् ।
प्रतिपेदे महाबाहुरर्जुनो राजशासनात् ॥ ९ ॥

जैसा दुर्योधनका भवन सजा हुआ था, वैसा ही दुःशासनका भी था । उसमें भी प्रासादमालाएँ शोभा दे रही थीं । वह सोनेकी बंदनवारोंसे सजाया गया था । प्रचुर धन-धान्य तथा दास-दासियोंसे भरा-पूरा था । राजाकी आज्ञासे वह भवन महाबाहु अर्जुनको मिला ॥ ८-९ ॥

दुर्मर्षणस्य भवनं दुःशासनगृहाद् वरम् ।
कुबेरभवनप्रख्यं मणिहेमविभूषितम् ॥ १० ॥

दुर्मर्षणका महल तो दुःशासनके घरसे भी सुन्दर था । उसे सोने और मणियोंसे सजाया गया था; अतः वह कुबेरके राजभवनकी भाँति प्रकाशित होता था ॥ १० ॥

नकुलाय वरार्हाय कर्शिताय महावने ।
ददौ प्रीतो महाराज धर्मपुत्रो युधिष्ठिरः ॥ ११ ॥

महाराज ! धर्मपुत्र युधिष्ठिरने अत्यन्त प्रसन्न होकर महान् वनमें कष्ट उठाये हुए, वर पानेके अधिकारी नकुलको दुर्मर्षणका वह सुन्दर भवन प्रदान किया ॥ ११ ॥

दुर्मुखस्य च वेश्माग्र्यं श्रीमत् कनकभूषणम् ।
पूर्णपद्मदलाक्षीणां स्त्रीणां शयनसंकुलम् ॥ १२ ॥
प्रददौ सहदेवाय संततं प्रियकारिणे ।
मुमुदे तच्च लब्ध्वासौ कैलासं धनदो यथा ॥ १३ ॥

दुर्मुखका श्रेष्ठ भवन तो और भी सुन्दर था । उसे सुवर्णसे सुसज्जित किया गया था । खिले हुए कमलदलके समान नेत्रोंवाली सुन्दर स्त्रियोंकी शय्याओंसे भरा हुआ वह भवन युधिष्ठिरने सदा अपना प्रिय करनेवाले सहदेवको दिया । जैसे कुबेर कैलासको पाकर संतुष्ट हुए थे, उसी प्रकार उस सुन्दर महलको पाकर सहदेवको बड़ी प्रसन्नता हुई ॥ १२-१३ ॥

युयुत्सुर्विदुरश्चैव संजयश्च विशाम्पते ।
सुधर्मा चैव धौम्यश्च यथास्वान् जग्मुरालयान् ॥ १४ ॥

'प्रजानाथ ! युयुत्सु, विदुर, संजय, सुधर्मा और धौम्य मुनि भी अपने-अपने पहलेके ही घरोंमें गये ॥ १४ ॥

सह सात्यकिना शौरिरर्जुनस्य निवेशनम् ।
विवेश पुरुषव्याघ्रो व्याघ्रो गिरिगुहामिव ॥ १५ ॥

जैसे व्याघ्र पर्वतकी कन्दरामें प्रवेश करता है, उसी प्रकार सात्यकिसहित पुरुषसिंह श्रीकृष्णने अर्जुनके महलमें पदार्पण किया ॥ १५ ॥

तत्र भक्ष्यान्नपानैस्ते मुदिताः सुसुखोषिताः ।
सुखप्रबुद्धा राजानमुपतस्थुर्युधिष्ठिरम् ॥ १६ ॥

वहाँ अपने-अपने स्थानोंपर खान-पानसे संतुष्ट हो वे सब लोग रातभर बड़े सुखसे सोये और सबेरे उठकर राजा युधिष्ठिरकी सेवामें उपस्थित हो गये ॥ १६ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि राजधर्मानुशासनपर्वणि गृहविभागे चतुश्चत्वारिंशोऽध्यायः ॥ ४४ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत राजधर्मानुशासनपर्वमें गृहोंका विभाजनविषयक चौवालीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ४४ ॥

पञ्चचत्वारिंशोऽध्यायः

युधिष्ठिरके द्वारा ब्राह्मणों तथा आश्रितोंका सत्कार एवं दान और श्रीकृष्णके पास जाकर उनकी स्तुति करते हुए कृतज्ञता-प्रकाशन

जनमेजय उवाच

प्राप्य राज्यं महाबाहुर्धर्मपुत्रो युधिष्ठिरः ।
यदन्यदकरोद् विप्र तन्मे वक्तुमिहार्हसि ॥ १ ॥

जनमेजयने पूछा—विप्रवर ! राज्य पानेके पश्चात् धर्मपुत्र महाबाहु युधिष्ठिरने और कौन-कौन-सा कार्य किया था ? यह मुझे बतानेकी कृपा करें ॥ १ ॥

भगवान् वा हृषीकेशस्त्रैलोक्यस्य परो गुरुः ।
ऋषे यदकरोद्वीरस्तच्च व्याख्यातुमर्हसि ॥ २ ॥

महर्षे ! तीनों लोकोंके परम गुरु वीरवर भगवान् श्रीकृष्णने भी क्या-क्या किया था ? यह भी विस्तारपूर्वक बतावें ॥ २ ॥

वैशम्पायन उवाच

शृणु तत्त्वेन राजेन्द्र कीर्त्यमानं मयानघ।
वासुदेवं पुरस्कृत्य यदकुर्वत पाण्डवाः॥ ३॥

वैशम्पायनजीने कहा—निष्पाप नरेश ! भगवान् श्रीकृष्णको आगे करके पाण्डवोंने जो कुछ किया था, उसे ठीक-ठीक बताता हूँ; ध्यान देकर सुनो॥ ३॥

प्राप्य राज्यं महाराज कुन्तीपुत्रो युधिष्ठिरः।
चातुर्वर्ण्यं यथायोग्यं स्वे स्वे स्थाने न्यवेशयत्॥ ४॥

महाराज ! कुन्तीपुत्र युधिष्ठिरने राज्य प्राप्त करनेके बाद सबसे पहले चारों वर्णोंको योग्यतानुसार अपने-अपने स्थान (कर्तव्यपालन) में स्थिर किया॥ ४॥

ब्राह्मणानां सहस्रं च स्नातकानां महात्मनाम्।
सहस्रं निष्कमेकैकं दापयामास पाण्डवः॥ ५॥

तत्पश्चात् सहस्रों महामना स्नातक ब्राह्मणोंमेंसे प्रत्येकको पाण्डुपुत्र युधिष्ठिरने एक-एक हजार स्वर्णमुद्राएँ दिलवायीं॥

तथाऽनुजीविनो भृत्यान् संश्रितानतिथीनपि।
कामैः संतर्पयामास कृपणांस्तर्ककानपि॥ ६॥

इसी तरह जिनकी जीविकाका भार उन्हींके ऊपर था, उन भृत्यों, शरणागतों तथा अतिथियोंको उन्होंने इच्छानुसार भोग्यपदार्थ देकर संतुष्ट किया। दीन-दुखियों तथा पूछे हुए प्रश्नोंका उत्तर देनेवाले ज्योतिषियोंको भी संतुष्ट किया॥६॥

पुरोहिताय धौम्याय प्रादादयुतशः स गाः।
धनं सुवर्णं रजतं वासांसि विविधान्यपि॥ ७॥

अपने पुरोहित धौम्यजीको उन्होंने दस हजार गौएँ, धन, सोना, चाँदी तथा नाना प्रकारके वस्त्र दिये॥ ७॥

कृपाय च महाराज गुरुवृत्तिमवर्तत।
विदुराय च राजासौ पूजां चक्रे यतव्रतः॥ ८॥

महाराज ! राजाने कृपाचार्यके साथ वही बर्ताव किया, जो एक शिष्यको अपने गुरुके साथ करना चाहिये। नियमपूर्वक व्रतका पालन करनेवाले युधिष्ठिरजीने विदुरजीका भी पूजनीय पुरुषकी भाँति सम्मान किया॥ ८॥

भक्ष्यान्नपानैर्विविधैर्वासोभिः शयनासनैः।
सर्वान् संतोषयामास संश्रितान् ददतां वरः॥ ९॥

दाताओंमें श्रेष्ठ युधिष्ठिरने समस्त आश्रित जनोंको खाने-पीनेकी वस्तुएँ, भाँति-भाँतिके कपड़े, शय्या तथा आसन देकर संतुष्ट किया॥ ९॥

लब्धप्रशमनं कृत्वा स राजा राजसत्तम।
युयुत्सोर्धार्तराष्ट्रस्य पूजां चक्रे महायशाः॥ १०॥
धृतराष्ट्राय तद् राज्यं गान्धार्यै विदुराय च।
निवेद्य सुस्थवद् राजा सुखमास्ते युधिष्ठिरः॥ ११॥

नृपश्रेष्ठ ! महायशस्वी राजा युधिष्ठिरने इस प्रकार प्राप्त हुए धनका यथोचित विभाग करके उसकी शान्ति की तथा युयुत्सु एवं धृतराष्ट्रका विशेष सत्कार किया। धृतराष्ट्र, गान्धारी तथा विदुरजीकी सेवामें अपना सारा राज्य स[मर्पित] करके राजा युधिष्ठिर स्वस्थ एवं सुखी हो गये॥ १०-१[१]॥

तथा सर्वं स नगरं प्रसाद्य भरतर्षभ।
वासुदेवं महात्मानमभ्यगच्छत् कृताञ्जलिः॥ १[२]॥

भरतश्रेष्ठ ! इस प्रकार सम्पूर्ण नगरकी प्रजाको [प्रसन्न] करके वे हाथ जोड़कर महात्मा वसुदेवनन्दन श्रीकृ[ष्णके] पास गये॥ १२॥

ततो महति पर्यङ्के मणिकाञ्चनभूषिते।
ददर्श कृष्णमासीनं नीलमेघसमद्युतिम्॥ १[३]॥
जाज्वल्यमानं वपुषा दिव्याभरणभूषितम्।
पीतकौशेयवसनं हेम्नेवोपगतं मणिम्॥ १[४]॥

उन्होंने देखा, भगवान् श्रीकृष्ण मणियों तथा सु[वर्णसे] भूषित एक बड़े पलंगपर बैठे हैं, उनकी श्याम सुन्दर [छवि] नील मेघके समान सुशोभित हो रही है। उनका श्री[विग्रह] दिव्य तेजसे उद्भासित हो रहा है। एक-एक अङ्ग [दिव्य] आभूषणोंसे विभूषित है। श्याम शरीरपर रेशमी पीताम्बर [धारण] किये भगवान् सुवर्णजटित नीलमके समान जान पड़ते हैं।

कौस्तुभेनोरसिस्थेन मणिनाभिविराजितम्।
उद्यतेवोदयं शैलं सूर्येणाभिविराजितम्॥ १[५]॥

उनके वक्षःस्थलपर स्थित हुई कौस्तुभ मणि [अपना] प्रकाश बिखेरती हुई उसी प्रकार उनकी शोभा बढ़ा[ती थी] मानो उगते हुए सूर्य उदयाचलको प्रकाशित कर रहे हैं।

नौपम्यं विद्यते तस्य त्रिषु लोकेषु किंचन।
सोऽभिगम्य महात्मानं विष्णुं पुरुषविग्रहम्॥ १[६]॥
उवाच मधुरं राजा स्मितपूर्वमिदं तदा।

भगवान्‌की उस दिव्य झाँकीकी तीनों लोकोंमें कहीं [उपमा] नहीं थी। राजा युधिष्ठिर मानवविग्रहधारी उन पर[मात्मा] विष्णुके समीप जाकर मुस्कराते हुए मधुर वाणीमें इस [प्रकार] बोले—॥ १६½॥

सुखेन ते निशा कच्चिद् व्युष्टा बुद्धिमतां वर॥ १[७]॥
कच्चिज्ज्ञानानि सर्वाणि प्रसन्नानि तवाच्युत।

'बुद्धिमानोंमें श्रेष्ठ अच्युत ! आपकी रात सुखसे बी[ती] न ? सारी ज्ञानेन्द्रियाँ प्रसन्न तो हैं न ?॥ १७½॥

तथैवोपश्रिता देवी बुद्धिर्बुद्धिमतां वर॥ १[८]॥
वयं राज्यमनुप्राप्ताः पृथिवी च वशे स्थिता।
तव प्रसादाद् भगवंस्त्रिलोकगतिविक्रम॥ १[९]॥
जयं प्राप्ता यशश्चाग्र्यं न च धर्मच्युता वयम्।

'बुद्धिमानोंमें श्रेष्ठ श्रीकृष्ण ! बुद्धिदेवीने आपका [आश्रय] लिया है न ? प्रभो ! हमने आपकी ही कृपासे राज्य प[ाया है] और यह पृथ्वी हमारे अधिकारमें आयी है। भगवन् ! [आप] ही तीनों लोकोंके आश्रय और पराक्रम हैं। आप[की] दयासे हमने विजय तथा उत्तम यश प्राप्त किये हैं।

धर्मसे भ्रष्ट नहीं हुए हैं' ॥ १८-१९½ ॥

तं तथा भाषमाणं तु धर्मराजमरिंदमम् ।
नोवाच भगवान् किंचिद् ध्यानमेवान्वपद्यत ॥ २० ॥

शत्रुओंका दमन करनेवाले धर्मराज युधिष्ठिर इस प्रकार कहते चले जा रहे थे; परंतु भगवान्ने उन्हें कोई उत्तर नहीं दिया। वे उस समय ध्यानमें मग्न थे ॥ २० ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि राजधर्मानुशासनपर्वणि कृष्णं प्रति युधिष्ठिरवाक्ये पञ्चचत्वारिंशोऽध्यायः ॥ ४५ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत राजधर्मानुशासनपर्वमें श्रीकृष्णके प्रति युधिष्ठिरका वचनविषयक पैंतालीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ४५ ॥

षट्चत्वारिंशोऽध्यायः

युधिष्ठिर और श्रीकृष्णका संवाद, श्रीकृष्णद्वारा भीष्मकी प्रशंसा और युधिष्ठिरको उनके पास चलनेका आदेश

युधिष्ठिर उवाच

किमिदं परमाश्चर्यं ध्यायस्यमितविक्रम ।
कच्चिल्लोकत्रयस्यास्य स्वस्ति लोकपरायण ॥ १ ॥
चतुर्थं ध्यानमार्गं त्वमालम्ब्य पुरुषर्षभ ।
अपक्रान्तो यतो देवस्तेन मे विस्मितं मनः ॥ २ ॥

युधिष्ठिरने पूछा—अमितपराक्रमी, जगत्के आश्रयदाता पुरुषोत्तम ! आप यह किसका ध्यान कर रहे हैं ? यह तो बड़े आश्चर्यकी बात है ! इस त्रिलोकीका कुशल तो है न ? आप तो जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति—तीनों अवस्थाओंसे परे तुरीय ध्यानमार्गका आश्रय लेकर स्थूल, सूक्ष्म और कारण तीनों शरीरोंसे ऊपर उठ गये हैं। इससे मेरे मनको बड़ा आश्चर्य हो रहा है ॥ १-२ ॥

निगृहीतो हि वायुस्ते पञ्चकर्मा शरीरगः ।
इन्द्रियाणि प्रसन्नानि मनसि स्थापितानि ते ॥ ३ ॥

आपके शरीरमें रहनेवाली और श्वास-प्रश्वास आदि पाँच कर्म करनेवाली प्राणवायु अवरुद्ध हो गयी है। आपने अपनी प्रसन्न इन्द्रियोंको मनमें स्थापित कर दिया है ॥ ३ ॥

वाक् च सत्त्वं च गोविन्द बुद्धौ संवेशितानि ते ।
सर्वे चैव गुणा देवाः क्षेत्रज्ञे ते निवेशिताः ॥ ४ ॥

गोविन्द ! मन तथा वाक् आदि सम्पूर्ण इन्द्रियाँ आपके द्वारा बुद्धिमें लीन कर दी गयी हैं। समस्त गुणोंको और इन्द्रियोंके अनुग्राहक देवताओंको आपने क्षेत्रज्ञ आत्मामें स्थापित कर दिया है ॥ ४ ॥

नेङ्गन्ति तव रोमाणि स्थिरा बुद्धिस्तथा मनः ।
काष्ठकुड्यशिलाभूतो निरीहश्चासि माधव ॥ ५ ॥

आपके रोंगटे खड़े हो गये हैं। जरा भी हिलते नहीं हैं। बुद्धि तथा मन भी स्थिर हैं। माधव ! आप काठ, दीवार और पत्थरकी तरह निश्चेष्ट हो गये हैं ॥ ५ ॥

यथा दीपो निवातस्थो निरिङ्गो ज्वलते पुनः ।
तथासि भगवन् देव पाषाण इव निश्चलः ॥ ६ ॥

भगवन् ! देवदेव ! जैसे वायुशून्य स्थानमें रक्खे हुए दीपककी लौ काँपती नहीं, एकतार जलती रहती है, उसी तरह आप भी स्थिर हैं मानो पाषाणकी मूर्ति हों ॥ ६ ॥

यदि श्रोतुमिहार्हामि न रहस्यं च ते यदि ।
छिन्धि मे संशयं देव प्रपन्नायाभियाचते ॥ ७ ॥

देव ! यदि मैं सुननेका अधिकारी होऊँ और यदि आपका कोई गोपनीय रहस्य न हो तो मेरे इस संशयका निवारण कीजिये; इसके लिये मैं आपकी शरणमें आकर बारंबार याचना करता हूँ ॥ ७ ॥

त्वं हि कर्ता विकर्ता च क्षरं चैवाक्षरं च हि ।
अनादिनिधनश्चाद्यस्त्वमेव पुरुषोत्तम ॥ ८ ॥

पुरुषोत्तम ! आप ही इस जगत्को बनाने और बिगाड़नेवाले हैं। आप ही क्षर और अक्षर पुरुष हैं। आपका न आदि है और न अन्त। आप ही सबके आदि कारण हैं ॥ ८ ॥

त्वत्प्रपन्नाय भक्ताय शिरसा प्रणताय च ।
ध्यानस्यास्य यथा तत्त्वं ब्रूहि धर्मभृतां वर ॥ ९ ॥

मैं आपकी शरणमें आया हुआ भक्त हूँ और मस्तक टेककर आपके चरणोंमें प्रणाम करता हूँ। धर्मात्माओंमें श्रेष्ठ प्रभो ! इस ध्यानका यथार्थ तत्त्व मुझे बता दीजिये ॥ ९ ॥

ततः स्वे गोचरे न्यस्य मनोबुद्धीन्द्रियाणि सः ।
स्मितपूर्वमुवाचेदं भगवान् वासवानुजः ॥ १० ॥

युधिष्ठिरकी यह प्रार्थना सुनकर मन, बुद्धि तथा इन्द्रियोंको अपने स्थानमें स्थापित करके इन्द्रके छोटे भाई भगवान् श्रीकृष्ण मुस्कराते हुए इस प्रकार बोले ॥ १० ॥

वासुदेव उवाच

शरतल्पगतो भीष्मः शाम्यन्निव हुताशनः ।
मां ध्याति पुरुषव्याघ्रस्ततो मे तद्गतं मनः ॥ ११ ॥

श्रीकृष्णने कहा—राजन् ! बाण-शय्यापर पड़े हुए पुरुषसिंह भीष्म, जो इस समय बुझती हुई आगके समान हो रहे हैं, मेरा ध्यान कर रहे हैं; इसलिये मेरा मन भी उन्हीं में लगा हुआ है ॥ ११ ॥

यस्य ज्यातलनिर्घोषं विस्फूर्जितमिवाशनेः ।
न सेहे देवराजोऽपि तमस्मि मनसा गतः ॥ १२ ॥

ध्यानमग्न श्रीकृष्णसे युधिष्ठिर प्रश्न कर रहे हैं

बिजलीकी गड़गड़ाहटके समान जिनके धनुषकी टंकार-को देवराज इन्द्र भी नहीं सह सके थे, उन्हीं भीष्मके चिन्तन-में मेरा मन लगा हुआ है ॥ १२ ॥

येनाभिजित्य तरसा समस्तं राजमण्डलम् ।
ऊढास्तिस्रस्तु ताः कन्यास्तमस्मि मनसा गतः ॥ १३॥

जिन्होंने काशीपुरीमें समस्त राजाओंके समुदायको वेग-पूर्वक परास्त करके काशिराजकी तीनों कन्याओंका अपहरण किया था, उन्हीं भीष्मके पास मेरा मन चला गया है ॥१३॥

त्रयोविंशतिरात्रं यो योधयामास भार्गवम् ।
न च रामेण निस्तीर्णस्तमस्मि मनसा गतः ॥ १४ ॥

जो लगातार तेईस दिनोंतक भृगुनन्दन परशुरामजीके साथ युद्ध करते रहे, तो भी परशुरामजी जिन्हें परास्त न कर सके, उन्हीं भीष्मके पास मैं मनके द्वारा पहुँच गया था॥

एकीकृत्येन्द्रियग्रामं मनः संयम्य मेधया ।
शरणं मामुपागच्छत् ततो मे तद्गतं मनः ॥ १५ ॥

वे भीष्मजी अपनी सम्पूर्ण इन्द्रियोंकी वृत्तियोंको एकाग्र-कर बुद्धिके द्वारा मनका संयम करके मेरी शरणमें आ गये थे; इसीलिये मेरा मन भी उन्हींमें जा लगा था ॥ १५ ॥

यं गङ्गा गर्भविधिना धारयामास पार्थिव ।
वसिष्ठशिक्षितं तात तमस्मि मनसा गतः ॥ १६ ॥

तात ! भूपाल ! जिन्हें गङ्गादेवीने विधिपूर्वक अपने गर्भमें धारण किया था और जिन्हें महर्षि वसिष्ठके द्वारा वेदों-की शिक्षा प्राप्त हुई थी, उन्हीं भीष्मजीके पास मैं मन-ही-मन पहुँच गया था ॥ १६ ॥

दिव्यास्त्राणि महातेजा यो धारयति बुद्धिमान् ।
साङ्गांश्च चतुरो वेदांस्तमस्मि मनसा गतः ॥ १७ ॥

जो महातेजस्वी बुद्धिमान् भीष्म दिव्यास्त्रों तथा अङ्गों-सहित चारों वेदोंको धारण करते हैं, उन्हींके चिन्तनमें मेरा मन लगा हुआ था ॥ १७ ॥

रामस्य दयितं शिष्यं जामदग्न्यस्य पाण्डव ।
आधारं सर्वविद्यानां तमस्मि मनसा गतः ॥ १८ ॥

पाण्डुकुमार ! जो जमदग्निनन्दन परशुरामजीके प्रिय शिष्य तथा सम्पूर्ण विद्याओंके आधार हैं, उन्हीं भीष्मजीका मैं मन-ही-मन चिन्तन करता था ॥ १८ ॥

स हि भूतं भविष्यच्च भवच्च भरतर्षभ ।
वेत्ति धर्मविदां श्रेष्ठस्तमस्मि मनसा गतः ॥ १९ ॥

भरतश्रेष्ठ ! वे भूत, भविष्य और वर्तमान तीनों कालों-की बातें जानते हैं । धर्मज्ञोंमें श्रेष्ठ उन्हीं भीष्मका मैं मन-ही-मन चिन्तन करने लगा था ॥ १९ ॥

तस्मिन् हि पुरुषव्याघ्रे कर्मभिः स्वैर्दिवं गते ।
भविष्यति मही पार्थ नष्टचन्द्रेव शर्वरी ॥ २० ॥

पार्थ ! जब पुरुषसिंह भीष्म अपने कर्मोंके अनुसार स्वर्गलोकमें चले जायँगे, उस समय यह पृथ्वी अमावास्याकी रात्रिके समान श्रीहीन हो जायगी ॥ २० ॥

तद् युधिष्ठिर गाङ्गेयं भीष्मं भीमपराक्रमम् ।
अभिगम्योपसंगृह्य पृच्छ यत् ते मनोगतम् ॥ २१ ॥

अतः महाराज युधिष्ठिर ! आप भयानक पराक्रमी गङ्गानन्दन भीष्मके पास चलकर उनके चरणोंमें प्रणाम कीजिये और आपके मनमें जो संदेह हो उसे पूछिये ॥ २१ ॥

चातुर्विद्यं चातुर्होत्रं चातुराश्रम्यमेव च ।
राजधर्मांश्च निखिलान् पृच्छैनं पृथिवीपते ॥ २२ ॥

पृथ्वीनाथ ! धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष—इन चारों विद्याओंको; होता, उद्गाता, ब्रह्मा और अध्वर्युसे सम्बन्ध रखनेवाले यज्ञादि कर्मोंको; चारों आश्रमोंके धर्मोंको तथा सम्पूर्ण राजधर्मोंको उनसे पूछिये ॥ २२ ॥

तस्मिन्नस्तमिते भीष्मे कौरवाणां धुरंधरे ।
ज्ञानान्यस्तं गमिष्यन्ति तस्मात् त्वां चोदयाम्यहम्॥२३॥

कौरववंशका भार सँभालनेवाले भीष्मरूपी सूर्य जब अस्त हो जायँगे, उस समय सब प्रकारके ज्ञानोंका प्रकाश नष्ट हो जायगा; इसलिये मैं आपको वहाँ चलनेके लिये कहता हूँ ॥

तच्छ्रुत्वा वासुदेवस्य तथ्यं वचनमुत्तमम् ।
साश्रुकण्ठः स धर्मज्ञो जनार्दनमुवाच ह ॥ २४ ॥

भगवान् श्रीकृष्णका वह उत्तम और यथार्थ वचन सुनकर धर्मज्ञ युधिष्ठिरका गला भर आया और वे आँसू बहाते हुए वहाँ श्रीकृष्णसे कहने लगे— ॥ २४ ॥

यद् भवानाह भीष्मस्य प्रभावं प्रति माधव ।
तथा तन्नात्र संदेहो विद्यते मम माधव ॥ २५ ॥

'माधव ! भीष्मजीके प्रभावके विषयमें आप जैसा कहते हैं, वह सब ठीक है । उसमें मुझे भी संदेह नहीं है ॥ २५ ॥

महाभाग्यं च भीष्मस्य प्रभावश्च महाद्युते ।
श्रुतं मया कथयतां ब्राह्मणानां महात्मनाम् ॥ २६ ॥

'महातेजस्वी केशव ! मैंने महात्मा ब्राह्मणोंके मुखसे भी भीष्मजीके महान् सौभाग्य और प्रभावका वर्णन सुना है ॥

भवांश्च कर्ता लोकानां यद् ब्रवीत्यरिसूदन ।
तथा तदनभिध्येयं वाक्यं यादवनन्दन ॥ २७ ॥

'शत्रुसूदन ! यादवनन्दन ! आप सम्पूर्ण जगत्के विधाता हैं । आप जो कुछ कह रहे हैं, उसमें भी सोचने-विचारनेकी आवश्यकता नहीं है ॥ २७ ॥

यदि त्वनुग्रहवती बुद्धिस्ते मयि माधव ।
त्वामग्रतः पुरस्कृत्य भीष्मं यास्यामहे वयम् ॥ २८ ॥

'माधव ! यदि आपका विचार मेरे ऊपर अनुग्रह करनेका है तो हमलोग आपको ही आगे करके भीष्मजीके पास चलेंगे ॥ २८ ॥

आवृत्ते भगवत्यर्के स हि लोकान् गमिष्यति ।
त्वद्दर्शनं महाबाहो तस्मादर्हति कौरवः ॥ २९ ॥

'महाबाहो ! सूर्यके उत्तरायण होते ही कुरुकुलभूषण

...देहत्यागके ... करेंगे; अतः उन्हें आपका दर्शन अवश्य प्राप्त होना चाहिये ॥ २९ ॥

तत आगम्य देवस्य क्षरस्यैवाक्षरस्य च ।
दर्शनं तस्य लाभः स्यात् त्वं हि ब्रह्ममयो निधिः ॥३०॥

आप क्षर तथा अक्षर पुरुष हैं। आपका दर्शन उनके लिये महान् लाभकारी होगा; क्योंकि आप ब्रह्ममयी निधि हैं ॥ ३० ॥

वैशम्पायन उवाच

श्रुत्वैवं धर्मराजस्य वचनं मधुसूदनः ।
पार्श्वस्थं सात्यकिं प्राह रथो मे युज्यतामिति ॥ ३१ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन् ! धर्मराजका यह वचन सुनकर मधुसूदन श्रीकृष्णने पास ही खड़े हुए सात्यकिसे कहा—'मेरा रथ जोतकर तैयार किया जाय' ॥ ३१ ॥

सात्यकिस्त्वाशु निष्क्रम्य केशवस्य समीपतः।
दारुकं प्राह कृष्णस्य युज्यतां रथ इत्युत ॥ ३२ ॥

आज्ञा पाते ही सात्यकि श्रीकृष्णके पाससे तुरंत बाहर निकल गये और दारुकसे बोले—'भगवान् श्रीकृष्णका रथ तैयार करो' ॥

स सात्यकेराशु वचो निशम्य
रथोत्तमं काञ्चनभूषिताङ्गम् ।
मसारगल्वर्कमयैर्विभङ्गै-
र्विभूषितं हेमनिबद्धचक्रम् ॥ ३३ ॥

दिवाकरांशुप्रभमाशुगामिनं
विचित्रनानामणिभूषितान्तरम् ।
नवोदितं सूर्यमिव प्रतापिनं
विचित्रतार्क्ष्यध्वजिनं पताकिनम् ॥ ३४ ॥

सुग्रीवशैव्यप्रमुखैर्वराश्वै-
र्मनोजवैः काञ्चनभूषिताङ्गैः ।
संयुक्तमावेदयदच्युताय
कृताञ्जलिर्दारुको राजसिंह ॥ ३५ ॥

राजसिंह ! सात्यकिका यह वचन सुनकर दारुकने मरकत, चन्द्रकान्त तथा सूर्यकान्त मणियोंकी ज्योतिर्मयी तरङ्गोंसे विभूषित उस उत्तम रथको, जिसका एक-एक अङ्ग सुनहरे साजोंसे सजाया गया था तथा जिसके पहियोंपर सोनेके पत्र जड़े गये थे, जोतकर तैयार किया और हाथ जोड़कर भगवान् श्रीकृष्णको इसकी सूचना दी। वह शीघ्रगामी रथ सूर्यकी किरणोंके पड़नेसे उद्भासित हो तुरंतके उगे हुए सूर्यके समान प्रकाशित होता था, उसके भीतरी भागको नाना प्रकारकी विचित्र मणियोंसे विभूषित किया गया था। वह प्रतापी रथ विचित्र गरुड़चिह्नित ध्वजा और पताकासे सुशोभित था। उसमें सोनेके साजबाजसे सजे हुए अङ्गोंवाले, मनके समान वेगशाली, सुग्रीव और शैव्य आदि सुन्दर घोड़े जुते हुए थे॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि राजधर्मानुशासनपर्वणि महापुरुषस्तवे षट्चत्वारिंशोऽध्यायः ॥ ४६ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत राजधर्मानुशासनपर्वमें महापुरुषस्तुतिविषयक छियालीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ४६ ॥

सप्तचत्वारिंशोऽध्यायः

भीष्मद्वारा भगवान् श्रीकृष्णकी स्तुति—भीष्मस्तवराज

जनमेजय उवाच

शरतल्पे शयानस्तु भरतानां पितामहः ।
कथमुत्सृष्टवान् देहं कं च योगमधारयत् ॥ १ ॥

जनमेजयने पूछा—बाणशय्यापर सोये हुए भरतवंशियोंके पितामह भीष्मजीने किस प्रकार अपने शरीरका त्याग किया और उस समय उन्होंने किस योगकी धारणा की ? ॥

वैशम्पायन उवाच

शृणुष्वावहितो राजञ्शुचिर्भूत्वा समाहितः ।
भीष्मस्य कुरुशार्दूल देहोत्सर्गं महात्मनः ॥ २ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन् ! कुरुश्रेष्ठ ! तुम सावधान, पवित्र और एकाग्रचित्त होकर महात्मा भीष्मके देहत्यागका वृत्तान्त सुनो ॥ २ ॥

(शुक्लपक्षस्य चाष्टम्यां माघमासस्य पार्थिव ।
प्राजापत्ये च नक्षत्रे मध्यं प्राप्ते दिवाकरे ॥)
निवृत्तमात्रे त्वयन उत्तरे वै दिवाकरे ।
समावेशयदात्मानमात्मन्येव समाहितः ॥ ३ ॥

राजन् ! जब दक्षिणायन समाप्त हुआ और सूर्य उत्तरायणमें आ गये, तब माघमासके शुक्लपक्षकी अष्टमी तिथिको रोहिणीनक्षत्रमें मध्याह्नके समय भीष्मजीने ध्यानमग्न होकर अपने मनको परमात्मामें लगा दिया ॥ ३ ॥

विकीर्णांशुरिवादित्यो भीष्मः शरशतैश्चितः ।
शुशुभे परया लक्ष्म्या वृतो ब्राह्मणसत्तमैः ॥ ४ ॥

चारों ओर अपनी किरणें बिखेरनेवाले सूर्यके समान सैकड़ों बाणोंसे छिदे हुए भीष्म उत्तम शोभासे सुशोभित होने लगे, अनेकानेक श्रेष्ठ ब्राह्मण उन्हें घेरकर बैठे थे ॥ ४ ॥

व्यासेन वेदविदुषा नारदेन सुरर्षिणा ।
देवस्थानेन वात्स्येन तथाश्मकसुमन्तुना ॥ ५ ॥
तथा जैमिनिना चैव पैलेन च महात्मना ।
शाण्डिल्यदेवलाभ्यां च मैत्रेयेण च धीमता ॥ ६ ॥
असितेन वसिष्ठेन कौशिकेन महात्मना ।
हारीतलोमशाभ्यां च तथाऽऽत्रेयेण धीमता ॥ ७ ॥
बृहस्पतिश्च शुक्रश्च च्यवनश्च महामुनिः ।
सनत्कुमारः कपिलो वाल्मीकिस्तुम्बुरुः कुरुः ॥ ८ ॥
मौद्गल्यो भार्गवो रामस्तृणबिन्दुर्महामुनिः ।

पिप्पलादोऽथ वायुश्च संवर्तः पुलहः कचः ॥ ९ ॥
काश्यपश्च पुलस्त्यश्च क्रतुर्दक्षः पराशरः ।
मरीचिरङ्गिराः काश्यो गौतमो गालवो मुनिः ॥ १० ॥
धौम्यो विभाण्डो माण्डव्यो धौम्रः कृष्णानुभौतिकः ।
उलूकः परमो विप्रो मार्कण्डेयो महामुनिः ॥ ११ ॥
भास्करिः पूरणः कृष्णः सूतः परमधार्मिकः ।
एतैश्चान्यैर्मुनिगणैर्महाभागैर्महात्मभिः ॥ १२ ॥
श्रद्धादमशमोपेतैर्वृतश्चन्द्र इव ग्रहैः ।

वेदोंके ज्ञाता व्यास, देवर्षि नारद, देवस्थान, वात्स्य, अश्मक, सुमन्तु, जैमिनि, महात्मा पैल, शाण्डिल्य, देवल, बुद्धिमान् मैत्रेय, असित, वसिष्ठ, महात्मा कौशिक (विश्वामित्र), हारीत, लोमश, बुद्धिमान् दत्तात्रेय, बृहस्पति, शुक्र, महामुनि च्यवन, सनत्कुमार, कपिल, वाल्मीकि, तुम्बुरु, कुरु, मौद्गल्य, भृगुवंशी परशुराम, महामुनि तृणविन्दु, पिप्पलाद, वायु, संवर्त, पुलह, कच, कश्यप, पुलस्त्य, क्रतु, दक्ष, पराशर, मरीचि, अङ्गिरा, काश्य, गौतम, गालव मुनि, धौम्य, विभाण्ड, माण्डव्य, धौम्र, कृष्णानुभौतिक, श्रेष्ठ ब्राह्मण उलूक, महामुनि मार्कण्डेय, भास्करि, पूरण, कृष्ण और परम-धार्मिक सूत—ये तथा और भी बहुत-से सौभाग्यशाली महात्मा मुनि, जो श्रद्धा, शम, दम आदि गुणोंसे सम्पन्न थे, भीष्म-जीको घेरे हुए थे । इन ऋषियोंके बीचमें भीष्मजी ग्रहोंसे घिरे हुए चन्द्रमाके समान शोभा पा रहे थे ॥ ५—१२½ ॥

भीष्मस्तु पुरुषव्याघ्रः कर्मणा मनसा गिरा ॥ १३ ॥
शरतल्पगतः कृष्णं प्रदध्यौ प्राञ्जलिः शुचिः ।

पुरुषसिंह भीष्म शरशय्यापर ही पड़े-पड़े हाथ जोड़ पवित्र भावसे मन, वाणी और क्रियाद्वारा भगवान् श्रीकृष्णका ध्यान करने लगे ॥ १३½ ॥

स्वरेण हृष्टपुष्टेन तुष्टाव मधुसूदनम् ॥ १४ ॥
योगेश्वरं पद्मनाभं विष्णुं जिष्णुं जगत्पतिम् ।
कृताञ्जलिपुटो भूत्वा वाग्विदां प्रवरः प्रभुः ॥ १५ ॥
भीष्मः परमधर्मात्मा वासुदेवमथास्तुवत् ।

ध्यान करते-करते वे हृष्ट-पुष्ट स्वरसे भगवान् मधुसूदनकी स्तुति करने लगे । वाग्वेत्ताओंमें श्रेष्ठ, शक्तिशाली, परम धर्मात्मा भीष्मने हाथ जोड़कर योगेश्वर, पद्मनाभ, सर्वव्यापी, विजयशील जगदीश्वर वासुदेवकी इस प्रकार स्तुति आरम्भ की ॥

भीष्म उवाच

आरिराधयिषुः कृष्णं वाचं जिगदिषामि याम् ॥ १६ ॥
तया व्याससमासिन्या प्रीयतां पुरुषोत्तमः ।

भीष्मजी बोले—मैं श्रीकृष्णके आराधनकी इच्छा मनमें लेकर जिस वाणीका प्रयोग करना चाहता हूँ, वह विस्तृत हो या संक्षिप्त, उसके द्वारा वे पुरुषोत्तम भगवान् श्रीकृष्ण मुझपर प्रसन्न हों ॥ १६½ ॥

शुचिं शुचिपदं हंसं तत्पदं परमेष्ठिनम् ॥ १७ ॥
युक्त्वा सर्वात्मनाऽऽत्मानं तं प्रपद्ये प्रजापतिम् ।

जो स्वयं शुद्ध हैं, जिनकी प्राप्तिका मार्ग भी शुद्ध है, जो हंसस्वरूप, तत् पदके लक्ष्यार्थ परमात्मा और प्रजापालक परमेष्ठी हैं, मैं सब ओरसे सम्बन्ध तोड़ केवल उन्हींसे नाता जोड़कर सब प्रकारसे उन्हीं सर्वात्मा श्रीकृष्णकी शरण लेता हूँ ॥ १७½ ॥

अनाद्यन्तं परं ब्रह्म न देवा नर्षयो विदुः ॥ १८ ॥
एको यं वेद भगवान् धाता नारायणो हरिः ।

उनका न आदि है न अन्त । वे ही परब्रह्म परमात्मा हैं । उनको न देवता जानते हैं न ऋषि । एकमात्र सबका धारण-पोषण करनेवाले ये भगवान् श्रीनारायण हरि ही उन्हें जानते हैं ॥ १८½ ॥

नारायणादृषिगणास्तथा सिद्धमहोरगाः ॥ १९ ॥
देवा देवर्षयश्चैव यं विदुः परमव्ययम् ।

नारायणसे ही ऋषिगण, सिद्ध, बड़े-बड़े नाग, देवता तथा देवर्षि भी उन्हें अविनाशी परमात्माके रूपमें जानने लगे हैं ॥ १९½ ॥

देवदानवगन्धर्वा यक्षराक्षसपन्नगाः ॥ २० ॥
यं न जानन्ति को ह्येष कुतो वा भगवानिति ।

देवता, दानव, गन्धर्व, यक्ष, राक्षस और नाग भी जिनके विषयमें यह नहीं जानते हैं कि 'ये भगवान् कौन हैं ? तथा कहाँसे आये हैं ?' ॥ २०½ ॥

यस्मिन् विश्वानि भूतानि तिष्ठन्ति च विशन्ति च ॥ २१ ॥
गुणभूतानि भूतेशे सूत्रे मणिगणा इव ।

उन्हींमें सम्पूर्ण प्राणी स्थित हैं और उन्हींमें उनका लय होता है । जैसे डोरेमें मनके पिरोये होते हैं, उसी प्रकार उन भूतेश्वर परमात्मामें समस्त त्रिगुणात्मक भूत पिरोये हुए हैं ॥

यस्मिन् नित्ये तते तन्तौ दृढे स्रगिव तिष्ठति ॥ २२ ॥
सदसद्ग्रथितं विश्वं विश्वाङ्गे विश्वकर्मणि ।

भगवान् सदा नित्य विद्यमान (कभी नष्ट न होनेवाले) और तने हुए एक सुदृढ सूतके समान हैं । उनमें यह कार्य-कारणरूप जगत् उसी प्रकार गुँथा हुआ है, जैसे सूतमें फूलकी माला । यह सम्पूर्ण विश्व उनके ही श्रीअङ्गमें स्थित है; उन्होंने ही इस विश्वकी सृष्टि की है ॥ २२½ ॥

हरिं सहस्रशिरसं सहस्रचरणेक्षणम् ॥ २३ ॥
सहस्रबाहुमुकुटं सहस्रवदनोज्ज्वलम् ।

उन श्रीहरिके सहस्रों सिर, सहस्रों चरण और सहस्रों नेत्र हैं, वे सहस्रों भुजाओं, सहस्रों मुकुटों तथा सहस्रों मुखोंसे देदीप्यमान रहते हैं ॥ २३½ ॥

प्राहुर्नारायणं देवं यं विश्वस्य परायणम् ॥ २४ ॥
अणीयसामणीयांसं स्थविष्ठं च स्थवीयसाम् ।
गरीयसां गरिष्ठं च श्रेष्ठं च श्रेयसामपि ॥ २५ ॥

वे ही इस विश्वके परम आधार हैं । इन्हींको नारायणदेव कहते हैं । वे सूक्ष्मसे भी सूक्ष्म और स्थूलसे भी स्थूल हैं । वे

[illegible] और [illegible] भी उत्तम हैं ॥ २४-२५ ॥

यं वाकेष्वनुवाकेषु निषत्सूपनिषत्सु च ।
गृणन्ति सत्यकर्माणं सत्यं सत्येषु सामसु ॥ २६ ॥

वाकों और अनुवाकोंमें, निषदों और उपनिषदोंमें तथा [illegible] सामगानोंमें उन्हींको सत्य और सत्यकर्मा कहते हैं ॥ २६ ॥

चतुर्भिश्चतुरात्मानं सत्त्वस्थं सात्वतां पतिम् ।
यं दिव्यैर्देवमर्चन्ति गुह्यैः परमनामभिः ॥ २७ ॥

वासुदेव, संकर्षण, प्रद्युम्न और अनिरुद्ध—इन चार दिव्य गोपनीय और उत्तम नामोंद्वारा ब्रह्म, जीव, मन और अहङ्कार—इन चार स्वरूपोंमें प्रकट हुए उन्हीं भक्तप्रतिपालक भगवान् श्रीकृष्णकी पूजा की जाती है, जो सबके अन्तःकरणमें विराजमान हैं ॥ २७ ॥

यस्मिन् नित्यं तपस्तप्तं यदङ्गेष्वनुतिष्ठति ।
सर्वात्मा सर्ववित् सर्वः सर्वज्ञः सर्वभावनः ॥ २८ ॥

भगवान् वासुदेवकी प्रसन्नताके लिये ही नित्य तपका अनुष्ठान किया जाता है; क्योंकि वे सबके हृदयोंमें विराजमान हैं। वे सबके आत्मा, सबको जाननेवाले, सर्वस्वरूप, सर्वज्ञ और सबको उत्पन्न करनेवाले हैं ॥ २८ ॥

यं देवं देवकी देवी वसुदेवादजीजनत् ।
भौमस्य ब्रह्मणो गुप्त्यै दीप्तमग्निमिवारणिः ॥ २९ ॥

जैसे अरणि प्रज्वलित अग्निको प्रकट करती है, उसी प्रकार देवकीदेवीने इस भूतलपर रहनेवाले ब्राह्मणों, वेदों और यज्ञोंकी रक्षाके लिये उन भगवान्‌को वसुदेवजीके तेजसे प्रकट किया था ॥ २९ ॥

यमनन्यो व्यपेताशीरात्मानं वीतकल्मषम् ।
दृष्ट्वानन्त्याय गोविन्दं पश्यत्यात्मानमात्मनि ॥ ३० ॥
अतिवाय्विन्द्रकर्माणमतिसूर्यातितेजसम् ।
अतिबुद्धीन्द्रियात्मानं तं प्रपद्ये प्रजापतिम् ॥ ३१ ॥

सम्पूर्ण कामनाओंका त्याग करके अनन्यभावसे स्थित रहनेवाला साधक मोक्षके उद्देश्यसे अपने विशुद्ध अन्तःकरणमें जिन पापरहित शुद्ध बुद्ध परमात्मा गोविन्दका ज्ञानदृष्टिसे साक्षात्कार करता है, जिनका पराक्रम वायु और इन्द्रसे बहुत बढ़कर है, जो अपने तेजसे सूर्यको भी तिरस्कृत कर देते हैं तथा जिनके स्वरूपतक इन्द्रिय, मन और बुद्धिकी भी पहुँच नहीं हो पाती, उन प्रजापालक परमेश्वरकी मैं शरण लेता हूँ ॥ ३०-३१ ॥

पुराणे पुरुषं प्रोक्तं ब्रह्म प्रोक्तं युगादिषु ।
क्षये संकर्षणं प्रोक्तं तमुपास्यमुपास्महे ॥ ३२ ॥

पुराणोंमें जिनका 'पुरुष' नामसे वर्णन किया गया है, जो युगोंके आरम्भमें 'ब्रह्म' और युगान्तमें 'सङ्कर्षण' कहे गये हैं, उन उपास्य परमेश्वरकी हम उपासना करते हैं ॥ ३२ ॥

यमेकं बहुधाऽऽत्मानं प्रादुर्भूतमधोक्षजम् ।
नान्यभक्ताः क्रियावन्तो यजन्ते सर्वकामदम् ॥ ३३ ॥
यमाहुर्जगतः कोशं यस्मिन् संनिहिताः प्रजाः ।
यस्मिँल्लोकाः स्फुरन्तीमे जले शकुनयो यथा ॥ ३४ ॥
ऋतमेकाक्षरं ब्रह्म यत् तत् सदसतोः परम् ।
अनादिमध्यपर्यन्तं न देवा नर्षयो विदुः ॥ ३५ ॥
यं सुरासुरगन्धर्वाः सिद्धा ऋषिमहोरगाः ।
प्रयता नित्यमर्चन्ति परमं दुःखभेषजम् ॥ ३६ ॥
अनादिनिधनं देवमात्मयोनिं सनातनम् ।
अप्रेक्ष्यमनभिज्ञेयं हरिं नारायणं प्रभुम् ॥ ३७ ॥

जो एक होकर भी अनेक रूपोंमें प्रकट हुए हैं, जो इन्द्रियों और उनके विषयोंसे ऊपर उठे होनेके कारण 'अधोक्षज' कहलाते हैं, उपासकोंके समस्त कामनाओंको पूर्ण करनेवाले हैं, यज्ञादि कर्म और पूजनमें लगे हुए अनन्य भक्त जिनका यजन करते हैं, जिन्हें जगत्‌का कोषागार कहा जाता है, जिनमें सम्पूर्ण प्रजाएँ स्थित हैं, पानीके ऊपर तैरनेवाले जलपक्षियोंकी तरह जिनके ही ऊपर इस सम्पूर्ण जगत्‌की चेष्टाएँ हो रही हैं, जो परमार्थ सत्यस्वरूप और एकाक्षर ब्रह्म (प्रणव) हैं, सत् और असत्‌से विलक्षण हैं, जिनका आदि, मध्य और अन्त नहीं है, जिन्हें न देवता ठीक-ठीक जानते हैं और न ऋषि, अपने मन और इन्द्रियोंको संयममें रखते हुए सम्पूर्ण देवता, असुर, गन्धर्व, सिद्ध, ऋषि, बड़े-बड़े नागगण जिनकी सदा पूजा किया करते हैं, जो दुःखरूपी रोगकी सबसे बड़ी ओषधि हैं, जन्म-मरणसे रहित, स्वयम्भू एवं सनातन देवता हैं, जिन्हें इन चर्म-चक्षुओंसे देखना और बुद्धिके द्वारा सम्पूर्णरूपसे जानना असम्भव है, उन भगवान् श्रीहरि नारायण देवकी मैं शरण लेता हूँ ॥ ३३—३७ ॥

यं वै विश्वस्य कर्तारं जगतस्तस्थुषां पतिम् ।
वदन्ति जगतोऽध्यक्षमक्षरं परमं पदम् ॥ ३८ ॥

जो इस विश्वके विधाता और चराचर जगत्‌के स्वामी हैं, जिन्हें संसारका साक्षी और अविनाशी परमपद कहते हैं, उन परमात्माकी मैं शरण ग्रहण करता हूँ ॥ ३८ ॥

हिरण्यवर्णं यं गर्भमदितेर्दैत्यनाशनम् ।
एकं द्वादशधा जज्ञे तस्मै सूर्यात्मने नमः ॥ ३९ ॥

जो सुवर्णके समान कान्तिमान्, अदितिके गर्भसे उत्पन्न,

१. [illegible] कर्मकाण्डको प्रकाशित करनेवाले मन्त्रोंको 'वाक' कहते हैं।

२. मन्त्रोंके अर्थको खोलकर बतानेवाले ब्राह्मणग्रन्थोंके जो वचन हैं, उनका नाम 'अनुवाक' है।

३. कर्मके अङ्ग आदिसे सम्बन्ध रखनेवाले देवता आदिका [illegible] वचन 'निषद्' कहलाते हैं।

४. विशुद्ध आत्मा एवं परमात्माका ज्ञान करानेवाले वचनोंको 'उपनिषद्' कहते हैं।

दैत्योंके नाशक तथा एक होकर भी बारह रूपोंमें प्रकट हुए हैं, उन सूर्यस्वरूप परमेश्वरको नमस्कार है ॥ ३९ ॥

शुक्ले देवान् पितॄन् कृष्णे तर्पयत्यमृतेन यः ।
यश्च राजा द्विजातीनां तस्मै सोमात्मने नमः ॥ ४० ॥

जो अपनी अमृतमयी कलाओंसे शुक्लपक्षमें देवताओंको और कृष्णपक्षमें पितरोंको तृप्त करते हैं तथा जो सम्पूर्ण द्विजोंके राजा हैं, उन सोमस्वरूप परमात्माको नमस्कार है ॥

(हुताशनमुखैर्देवैर्धार्यते सकलं जगत् ।
हविःप्रथमभोक्ता यस्तस्मै होत्रात्मने नमः ॥)

अग्नि जिनके मुख हैं, वे देवता सम्पूर्ण जगत्को धारण करते हैं, जो हविष्यके सबसे पहले भोक्ता हैं, उन अग्निहोत्र-स्वरूप परमेश्वरको नमस्कार है ॥

महतस्तमसः पारे पुरुषं ह्यतितेजसम् ।
यं ज्ञात्वा मृत्युमत्येति तस्मै ज्ञेयात्मने नमः ॥ ४१ ॥

जो अज्ञानमय महान् अन्धकारसे परे और ज्ञानालोकसे अत्यन्त प्रकाशित होनेवाले आत्मा हैं, जिन्हें जान लेनेपर मनुष्य मृत्युसे सदाके लिये छूट जाता है, उन ज्ञेयरूप परमेश्वरको नमस्कार है ॥ ४१ ॥

यं बृहन्तं बृहत्युक्थे यमग्नौ यं महाध्वरे ।
यं विप्रसंघा गायन्ति तस्मै वेदात्मने नमः ॥ ४२ ॥

उक्थनामक बृहत् यज्ञके समय, अग्न्याधानकालमें तथा महायागमें ब्राह्मणवृन्द जिनका ब्रह्मके रूपमें स्तवन करते हैं, उन वेदस्वरूप भगवान्को नमस्कार है ॥ ४२ ॥

ऋग्यजुःसामधामानं दशार्धहविरात्मकम् ।
यं सप्ततन्तुं तन्वन्ति तस्मै यज्ञात्मने नमः ॥ ४३ ॥

ऋग्वेद, यजुर्वेद तथा सामवेद जिसके आश्रय हैं, पाँच प्रकारका हविष्य जिसका स्वरूप है, गायत्री आदि सात छन्द ही जिसके सात तन्तु हैं, उस यज्ञके रूपमें प्रकट हुए परमात्माको प्रणाम है ॥ ४३ ॥

चतुर्भिश्च चतुर्भिश्च द्वाभ्यां पञ्चभिरेव च ।
हूयते च पुनर्द्वाभ्यां तस्मै होमात्मने नमः ॥ ४४ ॥

चार[1], चार[2], दो[3], पाँच[4] और दो[5]—इन सत्रह अक्षरोंवाले मन्त्रोंसे जिन्हें हविष्य अर्पण किया जाता है, उन होमस्वरूप परमेश्वरको नमस्कार है ॥ ४४ ॥

यः सुपर्णो यजुर्नाम च्छन्दोगात्रस्त्रिवृच्छिराः ।
रथन्तरं बृहत् साम तस्मै स्तोत्रात्मने नमः ॥ ४५ ॥

जो 'यजुः' नाम धारण करनेवाले वेदरूपी पुरुष हैं, गायत्री आदि छन्द जिनके हाथ-पैर आदि अवयव हैं, यज्ञ ही जिनका मस्तक है तथा 'रथन्तर' और 'बृहत्' नामक साम ही जिनकी सान्त्वनाभरी वाणी है, उन स्तोत्ररूपी भगवान्को प्रणाम है ॥ ४५ ॥

१. आश्रावय । २. अस्तु श्रौषट् । ३. यज । ४. ये यजामहे । ५. वषट् ।

यः सहस्रसमे सत्रे जज्ञे विश्वसृजामृषिः ।
हिरण्यपक्षः शकुनिस्तस्मै हंसात्मने नमः ॥ ४६ ॥

जो ऋषि हजार वर्षोंमें पूर्ण होनेवाले प्रजापतियोंके यज्ञमें सोनेकी पाँखवाले पक्षीके रूपमें प्रकट हुए थे, उन हंसरूप-धारी परमेश्वरको प्रणाम है ॥ ४६ ॥

पादाङ्गं संधिपर्वाणं स्वरव्यञ्जनभूषणम् ।
यमाहुरक्षरं दिव्यं तस्मै वागात्मने नमः ॥ ४७ ॥

पदोंके समूह जिनके अङ्ग हैं, सन्धि जिनके शरीरकी जोड़ है, स्वर और व्यञ्जन जिनके लिये आभूषणका काम देते हैं तथा जिन्हें दिव्य अक्षर कहते हैं, उन परमेश्वरको वाणीके रूपमें नमस्कार है ॥ ४७ ॥

यज्ञाङ्गो यो वराहो वै भूत्वा गामुज्जहार ह ।
लोकत्रयहितार्थाय तस्मै वीर्यात्मने नमः ॥ ४८ ॥

जिन्होंने तीनों लोकोंका हित करनेके लिये यज्ञमय वराहका स्वरूप धारण करके इस पृथ्वीको रसातलसे ऊपर उठाया था, उन वीर्यस्वरूप भगवान्को प्रणाम है ॥ ४८ ॥

यः शेते योगमास्थाय पर्यङ्के नागभूषिते ।
फणासहस्ररचिते तस्मै निद्रात्मने नमः ॥ ४९ ॥

जो अपनी योगमायाका आश्रय लेकर शेषनागके हजार फनोंसे बने हुए पलंगपर शयन करते हैं, उन निद्रास्वरूप परमात्माको नमस्कार है ॥ ४९ ॥

(विश्वे च मरुतश्चैव रुद्रादित्याश्विनावपि ।
वसवः सिद्धसाध्याश्च तस्मै देवात्मने नमः ॥

विश्वेदेव, मरुद्गण, रुद्र, आदित्य, अश्विनीकुमार, वसु, सिद्ध और साध्य—ये सब जिनकी विभूतियाँ हैं, उन देवस्वरूप परमात्माको नमस्कार है ॥

अव्यक्तबुद्ध्यहंकारमनोबुद्धीन्द्रियाणि च ।
तन्मात्राणि विशेषाश्च तस्मै तत्त्वात्मने नमः ॥

अव्यक्त प्रकृति, बुद्धि (महत्तत्त्व), अहंकार, मन, ज्ञानेन्द्रियाँ, तन्मात्राएँ और उनका कार्य—वे सब जिनके ही स्वरूप हैं, उन तत्त्वमय परमात्माको नमस्कार है ॥

भूतं भव्यं भविष्यच्च भूतादिप्रभवाप्ययः ।
योऽग्रजः सर्वभूतानां तस्मै भूतात्मने नमः ॥

जो भूत, वर्तमान और भविष्य—कालरूप हैं, जो भूत आदिकी उत्पत्ति और प्रलयके कारण हैं, जिन्हें सम्पूर्ण प्राणियोंका अग्रज बताया गया है, उन भूतात्मा परमेश्वरको नमस्कार है ॥

यं हि सूक्ष्मं विचिन्वन्ति परं सूक्ष्मविदो जनाः ।
सूक्ष्मात् सूक्ष्मं च यद् ब्रह्म तस्मै सूक्ष्मात्मने नमः ॥

सूक्ष्म तत्त्वको जाननेवाले ज्ञानी पुरुष जिस परम सूक्ष्म तत्त्वका अनुसंधान करते रहते हैं, जो सूक्ष्मसे भी सूक्ष्म है, वह ब्रह्म जिनका स्वरूप है, उन सूक्ष्मात्माको नमस्कार है ॥

[illegible] येन वेदाः समाहृताः ।
[illegible] शीघ्रं तस्मै मत्स्यात्मने नमः ॥

जिन्होंने [illegible] रसातलमें जाकर नष्ट [illegible] लिये शीघ्र ला दिया था, उन [illegible] भगवान् श्रीकृष्णको नमस्कार है ॥

[illegible] येन प्राप्ते ह्यमृतमन्थने ।
[illegible] तस्मै कूर्मात्मने नमः ॥

जिन्होंने अमृतके लिये समुद्रमन्थनके समय अपनी पीठपर [illegible] पर्वतको धारण किया था, उन अत्यन्त कठोर देह-[illegible] भगवान् श्रीकृष्णको नमस्कार है ॥

वाराहं रूपमास्थाय महीं सवनपर्वताम् ।
उद्धरत्येकदंष्ट्रेण तस्मै क्रोडात्मने नमः ॥

जिन्होंने वाराहरूप धारण करके अपने एक दाँतसे वन और पर्वतोंसहित समूची पृथ्वीका उद्धार किया था, उन वाराहरूपधारी भगवान्को नमस्कार है ॥

नारसिंहवपुः कृत्वा सर्वलोकभयंकरम् ।
हिरण्यकशिपुं जघ्ने तस्मै सिंहात्मने नमः ॥

जिन्होंने नृसिंहरूप धारण करके सम्पूर्ण जगत्के लिये भयंकर हिरण्यकशिपु नामक राक्षसका वध किया था, उन नृसिंहस्वरूप श्रीहरिको नमस्कार है ॥

वामनं रूपमास्थाय बलिं संयम्य मायया ।
त्रैलोक्यं क्रान्तवान् यस्तु तस्मै क्रान्तात्मने नमः॥

जिन्होंने वामनरूप धारण करके मायाद्वारा बलिको बाँधकर सारी त्रिलोकीको अपने पैरोंसे नाप लिया था, उन क्रान्तिकारी वामनरूपधारी भगवान् श्रीकृष्णको प्रणाम है ॥

जमदग्निसुतो भूत्वा रामः शस्त्रभृतां वरः ।
महीं निःक्षत्रियां चक्रे तस्मै रामात्मने नमः ॥

जिन्होंने शस्त्रधारियोंमें श्रेष्ठ जमदग्निकुमार परशुरामका रूप धारण करके इस पृथ्वीको क्षत्रियोंसे हीन कर दिया, उन परशुरामस्वरूप श्रीहरिको नमस्कार है ॥

त्रिःसप्तकृत्वो यश्चैको धर्मे व्युत्क्रान्तगौरवान् ।
जघान क्षत्रियान् संख्ये तस्मै क्रोधात्मने नमः ॥

जिन्होंने अकेले ही धर्मके प्रति गौरवका उल्लङ्घन करनेवाले क्षत्रियोंका युद्धमें इक्कीस बार संहार किया, उन क्रोधात्मा परशुरामको नमस्कार है ॥

रामो दाशरथिर्भूत्वा पुलस्त्यकुलनन्दनम् ।
जघान रावणं संख्ये तस्मै क्षत्रात्मने नमः ॥

जिन्होंने दशरथनन्दन श्रीरामका रूप धारण करके युद्धमें पुलस्त्यकुलनन्दन रावणका वध किया था, उन क्षत्रियात्मा श्रीरामस्वरूप श्रीहरिको नमस्कार है ॥

यो हली मुसली श्रीमान् नीलाम्बरधरः स्थितः ।
रामाय रौहिणेयाय तस्मै भोगात्मने नमः ॥

जो सदा हल, मूसल धारण किये अद्भुत शोभासे सम्पन्न हो रहे हैं, जिनके श्रीअङ्गोंपर नील वस्त्र शोभा पाता है, उन शेषावतार रोहिणीनन्दन रामको नमस्कार है ॥

शङ्खिने चक्रिणे नित्यं शार्ङ्गिणे पीतवाससे ।
वनमालाधरायैव तस्मै कृष्णात्मने नमः ॥

जो शङ्ख, चक्र, शार्ङ्ग धनुष, पीताम्बर और वनमाला धारण करते हैं, उन श्रीकृष्णस्वरूप श्रीहरिको नमस्कार है ॥

वसुदेवसुतः श्रीमान् क्रीडितो नन्दगोकुले ।
कंसस्य निधनार्थाय तस्मै क्रीडात्मने नमः ॥

जो कंसवधके लिये वसुदेवके शोभाशाली पुत्रके रूपमें प्रकट हुए और नन्दके गोकुलमें भाँति-भाँतिकी लीलाएँ करते रहे, उन लीलामय श्रीकृष्णको नमस्कार है ॥

वासुदेवत्वमागम्य यदोर्वंशसमुद्भवः ।
भूभारहरणं चक्रे तस्मै कृष्णात्मने नमः ॥

जिन्होंने यदुवंशमें प्रकट हो वासुदेवके रूपमें आकर पृथ्वीका भार उतारा है, उन श्रीकृष्णात्मा श्रीहरिको नमस्कार है ॥

सारथ्यमर्जुनस्याजौ कुर्वन् गीतामृतं ददौ ।
लोकत्रयोपकाराय तस्मै ब्रह्मात्मने नमः ॥

जिन्होंने अर्जुनका सारथित्व करते समय तीनों लोकोंके उपकारके लिये गीता-ज्ञानमय अमृत प्रदान किया था, उन ब्रह्मात्मा श्रीकृष्णको नमस्कार है ॥

दानवांस्तु वशे कृत्वा पुनर्बुद्धत्वमागतः ।
सर्गस्य रक्षणार्थाय तस्मै बुद्धात्मने नमः ॥

जो सृष्टिकी रक्षाके लिये दानवोंको अपने अधीन करके पुनः बुद्धभावको प्राप्त हो गये, उन बुद्धस्वरूप श्रीहरिको नमस्कार है ॥

हनिष्यति कलौ प्राप्ते म्लेच्छांस्तुरगवाहनः ।
धर्मसंस्थापको यस्तु तस्मै कल्क्यात्मने नमः ॥

जो कलियुग आनेपर घोड़ेपर सवार हो धर्मकी स्थापनाके लिये म्लेच्छोंका वध करेंगे, उन कल्किरूप श्रीहरिको नमस्कार है ॥

तारामये कालनेमिं हत्वा दानवपुङ्गवम् ।
ददौ राज्यं महेन्द्राय तस्मै मुख्यात्मने नमः ॥

जिन्होंने तारामय संग्राममें दानवराज कालनेमिका वध करके देवराज इन्द्रको सारा राज्य दे दिया था, उन मुख्यात्मा श्रीहरिको नमस्कार है ॥

यः सर्वप्राणिनां देहे साक्षिभूतो ह्यवस्थितः ।
अक्षरः क्षरमाणानां तस्मै साक्ष्यात्मने नमः ॥

जो समस्त प्राणियोंके शरीरमें साक्षीरूपसे स्थित हैं तथा सम्पूर्ण क्षर (नाशवान्) भूतोंमें अक्षर (अविनाशी) स्वरूपसे विराजमान हैं, उन साक्षी परमात्माको नमस्कार है ॥

नमोऽस्तु ते महादेव नमस्ते भक्तवत्सल।
सुब्रह्मण्य नमस्तेऽस्तु प्रसीद परमेश्वर॥
अव्यक्तव्यक्तरूपेण व्याप्तं सर्वं त्वया विभो।

महादेव! आपको नमस्कार है। भक्तवत्सल! आपको नमस्कार है। सुब्रह्मण्य (विष्णु)! आपको नमस्कार है। परमेश्वर! आप मुझपर प्रसन्न हों। प्रभो! आपने अव्यक्त और व्यक्तरूपसे सम्पूर्ण विश्वको व्याप्त कर रक्खा है ॥

नारायणं सहस्राक्षं सर्वलोकमहेश्वरम्॥
हिरण्यनाभं यज्ञाङ्गममृतं विश्वतोमुखम्।
प्रपद्ये पुण्डरीकाक्षं प्रपद्ये पुरुषोत्तमम्॥

मैं सहस्रों नेत्र धारण करनेवाले, सर्वलोकमहेश्वर, हिरण्यनाभ, यज्ञाङ्गस्वरूप, अमृतमय, सब ओर मुखवाले और कमलनयन पुरुषोत्तम श्रीनारायणदेवकी शरण लेता हूँ ॥

सर्वदा सर्वकार्येषु नास्ति तेषाममङ्गलम्।
येषां हृदिस्थो देवेशो मङ्गलायतनं हरिः॥

जिनके हृदयमें मङ्गलभवन देवेश्वर श्रीहरि विराजमान हैं, उनका सभी कार्योंमें सदा मङ्गल ही होता है—कभी किसी भी कार्यमें अमङ्गल नहीं होता ॥

मङ्गलं भगवान् विष्णुर्मङ्गलं मधुसूदनः।
मङ्गलं पुण्डरीकाक्षो मङ्गलं गरुडध्वजः॥

भगवान् विष्णु मङ्गलमय हैं, मधुसूदन मङ्गलमय हैं, कमलनयन मङ्गलमय हैं और गरुडध्वज मङ्गलमय हैं ॥

यस्तनोति सतां सेतुमृतेनामृतयोनिना।
धर्मार्थव्यवहाराङ्गैस्तस्मै सत्यात्मने नमः॥ ५०॥

जिनका सारा व्यवहार केवल धर्मके ही लिये है, उन वशमें की हुई इन्द्रियोंके द्वारा जो मोक्षके साधनभूत वैदिक उपायोंसे काम लेकर संतोंकी धर्ममर्यादाका प्रसार करते हैं, उन सत्यस्वरूप परमात्माको नमस्कार है ॥ ५० ॥

यं पृथग्धर्मचरणाः पृथग्धर्मफलैषिणः।
पृथग्धर्मैः समर्चन्ति तस्मै धर्मात्मने नमः॥ ५१॥

जो भिन्न-भिन्न धर्मोंका आचरण करके अलग-अलग उनके फलोंकी इच्छा रखते हैं, ऐसे पुरुष पृथक् धर्मोंके द्वारा जिनकी पूजा करते हैं, उन धर्मस्वरूप भगवान्को प्रणाम है ॥

यतः सर्वे प्रसूयन्ते ह्यनङ्गात्माङ्गदेहिनः।
उन्मादः सर्वभूतानां तस्मै कामात्मने नमः॥ ५२॥

जिस अनङ्गकी प्रेरणासे सम्पूर्ण अङ्गधारी प्राणियोंका जन्म होता है, जिससे समस्त जीव उन्मत्त हो उठते हैं, उस कामके रूपमें प्रकट हुए परमेश्वरको नमस्कार है ॥ ५२ ॥

यं च व्यक्तस्थमव्यक्तं विचिन्वन्ति महर्षयः।
क्षेत्रे क्षेत्रज्ञमासीनं तस्मै क्षेत्रात्मने नमः॥ ५३॥

जो स्थूल जगत्में अव्यक्त रूपसे विराजमान है, बड़े-बड़े महर्षि जिसके तत्त्वका अनुसंधान करते रहते हैं, जो सम्पूर्ण क्षेत्रोंमें क्षेत्रज्ञके रूपमें बैठा हुआ है, उस क्षेत्ररूपी परमात्माको प्रणाम है ॥ ५३ ॥

यं त्रिधाऽऽत्मानमात्मस्थं वृतं षोडशभिर्गुणैः।
प्राहुः सप्तदशं सांख्यास्तस्मै सांख्यात्मने नमः॥ ५४॥

जो सत्, रज और तम—इन तीन गुणोंके भेदसे त्रिविध प्रतीत होते हैं, गुणोंके कार्यभूत सोलह विकारोंसे आवृत होनेपर भी अपने स्वरूपमें ही स्थित हैं, सांख्यमतके अनुयायी जिन्हें सत्रहवाँ तत्त्व (पुरुष) मानते हैं, उन सांख्यरूप परमात्माको नमस्कार है ॥ ५४ ॥

यं विनिद्रा जितश्वासाः सत्त्वस्थाः संयतेन्द्रियाः।
ज्योतिः पश्यन्ति युञ्जानास्तस्मै योगात्मने नमः॥ ५५॥

जो नींदको जीतकर प्राणोंपर विजय पा चुके हैं और इन्द्रियोंको अपने वशमें करके शुद्ध सत्त्वमें स्थित हो गये हैं, वे निरन्तर योगाभ्यासमें लगे हुए योगिजन जिनके ज्योतिर्मय स्वरूपका साक्षात्कार करते हैं, उन योगरूप परमात्माको प्रणाम है ॥

अपुण्यपुण्योपरमे यं पुनर्भवनिर्भयाः।
शान्ताः संन्यासिनो यान्ति तस्मै मोक्षात्मने नमः॥ ५६॥

पाप और पुण्यका क्षय हो जानेपर पुनर्जन्मके भयसे मुक्त हुए शान्तचित्त संन्यासी जिन्हें प्राप्त करते हैं, उन मोक्षरूप परमेश्वरको नमस्कार है ॥ ५६ ॥

योऽसौ युगसहस्रान्ते प्रदीप्तार्चिर्विभावसुः।
सम्भक्षयति भूतानि तस्मै घोरात्मने नमः॥ ५७॥

सृष्टिके एक हजार युग बीतनेपर प्रचण्ड ज्वालाओंसे युक्त प्रलयकालीन अग्निका रूप धारण कर जो सम्पूर्ण प्राणियोंका संहार करते हैं, उन घोररूपधारी परमात्माको प्रणाम है ॥ ५७ ॥

सम्भक्ष्य सर्वभूतानि कृत्वा चैकार्णवं जगत्।
बालः स्वपिति यश्चैकस्तस्मै मायात्मने नमः॥ ५८॥

इस प्रकार सम्पूर्ण भूतोंका भक्षण करके जो इस जगत्को जलमय कर देते हैं और स्वयं बालकका रूप धारण कर अक्षयवटके पत्तेपर शयन करते हैं, उन मायामय बालमुकुन्दको नमस्कार है ॥ ५८ ॥

तद् यस्य नाभ्यां सम्भूतं यस्मिन् विश्वं प्रतिष्ठितम्।
पुष्करे पुष्कराक्षस्य तस्मै पद्मात्मने नमः॥ ५९॥

जिसपर यह विश्व टिका हुआ है, वह ब्रह्माण्ड-कमल जिन पुण्डरीकाक्ष भगवान्की नाभिसे प्रकट हुआ है, उन कमलरूपधारी परमेश्वरको प्रणाम है ॥ ५९ ॥

सहस्रशिरसे चैव पुरुषायामितात्मने।
चतुःसमुद्रपर्याययोगनिद्रात्मने नमः॥ ६०॥

जिनके हजारों मस्तक हैं, जो अन्तर्यामीरूपसे सबके भीतर विराजमान हैं, जिनका स्वरूप किसी सीमामें आबद्ध

सोते हैं, जो चारों समुद्रोंके मिलनेसे एकार्णव हो जानेपर योग-निद्राका आश्रय लेकर शयन करते हैं, उन योगनिद्रारूप भगवान्को नमस्कार है ॥ ६० ॥

यस्य केशेषु जीमूता नद्यः सर्वाङ्गसंधिषु ।
कुक्षौ समुद्राश्चत्वारस्तस्मै तोयात्मने नमः ॥ ६१ ॥

जिनके मस्तकके बालोंकी जगह मेघ हैं, शरीरकी सन्धियोंमें नदियाँ हैं और उदरमें चारों समुद्र हैं, उन जलरूपी परमात्मा-को प्रणाम है ॥ ६१ ॥

यस्मात् सर्वाः प्रसूयन्ते सर्गप्रलयविक्रियाः ।
यस्मिंश्चैव प्रलीयन्ते तस्मै हेत्वात्मने नमः ॥ ६२॥

सृष्टि और प्रलयरूप समस्त विकार जिनसे उत्पन्न होते हैं और जिनमें ही सबका लय होता है, उन कारणरूप परमेश्वर-को नमस्कार है ॥ ६२ ॥

यो निषण्णो भवेद् रात्रौ दिवा भवति विष्ठितः ।
इष्टानिष्टस्य च द्रष्टा तस्मै द्रष्ट्रात्मने नमः ॥ ६३ ॥

जो रातमें भी जागते रहते हैं और दिनके समय साक्षी-रूपमें स्थित रहते हैं तथा जो सदा ही सबके भले-बुरेको देखते रहते हैं, उन द्रष्टारूपी परमात्माको प्रणाम है ॥ ६३ ॥

अकुण्ठं सर्वकार्येषु धर्मकार्यार्थमुद्यतम् ।
वैकुण्ठस्य च तद् रूपं तस्मै कार्यात्मने नमः ॥ ६४ ॥

जिन्हें कोई भी काम करनेमें रुकावट नहीं होती, जो धर्मका काम करनेको सर्वदा उद्यत रहते हैं तथा जो वैकुण्ठ-धामके स्वरूप हैं, उन कार्यरूप भगवान्को नमस्कार है ॥

त्रिःसप्तकृत्वो यः क्षत्रं धर्मव्युत्क्रान्तगौरवम् ।
क्रुद्धो निजघ्ने समरे तस्मै क्रौर्यात्मने नमः ॥ ६५ ॥

जिन्होंने धर्मात्मा होकर भी क्रोधमें भरकर धर्मके गौरव-का उल्लङ्घन करनेवाले क्षत्रिय-समाजका युद्धमें इक्कीस बार संहार किया, कठोरताका अभिनय करनेवाले उन भगवान् परशुरामको प्रणाम है ॥ ६५ ॥

विभज्य पञ्चधाऽऽत्मानं वायुर्भूत्वा शरीरगः ।
यश्चेष्टयति भूतानि तस्मै वाय्वात्मने नमः ॥ ६६ ॥

जो प्रत्येक शरीरके भीतर वायुरूपमें स्थित हो अपनेको प्राण-अपान आदि पाँच स्वरूपोंमें विभक्त करके सम्पूर्ण प्राणियोंको क्रियाशील बनाते हैं, उन वायुरूप परमेश्वरको नमस्कार है ॥ ६६ ॥

युगेष्वावर्तते योगैर्मासर्त्वयनहायनैः ।
सर्गप्रलययोः कर्ता तस्मै कालात्मने नमः ॥ ६७ ॥

जो प्रत्येक युगमें योगमायाके बलसे अवतार धारण करते हैं और मास, ऋतु, अयन तथा वर्षोंके द्वारा सृष्टि और प्रलय करते रहते हैं, उन कालरूप परमात्माको प्रणाम है ॥

ब्रह्म वक्त्रं भुजौ क्षत्रं कृत्स्नमूरूदरं विशः ।
पादौ यस्याश्रिताः शूद्रास्तस्मै वर्णात्मने नमः ॥ ६८ ॥

ब्राह्मण जिनके मुख हैं, सम्पूर्ण क्षत्रिय-जाति भुजा है, वैश्य जङ्घा एवं उदर हैं और शूद्र जिनके चरणोंके आश्रित हैं, उन चातुर्वर्ण्यरूप परमेश्वरको नमस्कार है ॥ ६८ ॥

यस्याग्निरास्यं द्यौर्मूर्धा खं नाभिश्चरणौ क्षितिः ।
सूर्यश्चक्षुर्दिशः श्रोत्रे तस्मै लोकात्मने नमः ॥ ६९ ॥

अग्नि जिनका मुख है, स्वर्ग मस्तक है, आकाश नाभि है, पृथ्वी पैर है, सूर्य नेत्र हैं और दिशाएँ कान हैं, उन लोकरूप परमात्माको प्रणाम है ॥ ६९ ॥

परः कालात् परो यज्ञात् परात् परतरश्च यः ।
अनादिरादिर्विश्वस्य तस्मै विश्वात्मने नमः ॥ ७० ॥

जो कालसे परे हैं, यज्ञसे भी परे हैं और परेसे भी अत्यन्त परे हैं, जो सम्पूर्ण विश्वके आदि हैं; किंतु जिनका आदि कोई भी नहीं है, उन विश्वात्मा परमेश्वरको नमस्कार है ॥

(वैद्युतो जाठरश्चैव पावकः शुचिरेव च ।
दहनः सर्वभक्षाणां तस्मै वह्न्यात्मने नमः ॥)

जो मेघमें विद्युत् और उदरमें जठरानलके रूपमें स्थित हैं, जो सबको पवित्र करनेके कारण पावक तथा स्वरूपतः शुद्ध होनेसे 'शुचि' कहलाते हैं, समस्त भक्ष्य पदार्थोंको दग्ध करनेवाले वे अग्निदेव जिनके ही स्वरूप हैं, उन अग्नि-मय परमात्माको नमस्कार है ॥

विषये वर्तमानानां यं ते वैशेषिकैर्गुणैः ।
प्राहुर्विषयगोप्तारं तस्मै गोप्त्रात्मने नमः ॥ ७१ ॥

वैशेषिक दर्शनमें बताये हुए रूप, रस आदि गुणोंके द्वारा आकृष्ट हो जो लोग विषयोंके सेवनमें प्रवृत्त हो रहे हैं, उनकी उन विषयोंकी आसक्तिसे जो रक्षा करनेवाले हैं, उन रक्षकरूप परमात्माको प्रणाम है ॥ ७१ ॥

अन्नपानेन्धनमयो रसप्राणविवर्धनः ।
यो धारयति भूतानि तस्मै प्राणात्मने नमः ॥ ७२ ॥

जो अन्न-जलरूपी ईंधनको पाकर शरीरके भीतर रस और प्राणशक्तिको बढ़ाते तथा सम्पूर्ण प्राणियोंको धारण करते हैं, उन प्राणात्मा परमेश्वरको नमस्कार है ॥ ७२ ॥

प्राणानां धारणार्थाय योऽन्नं भुङ्क्ते चतुर्विधम् ।
अन्तर्भूतः पचत्यग्निस्तस्मै पाकात्मने नमः ॥ ७३ ॥

प्राणोंकी रक्षाके लिये जो भक्ष्य, भोज्य, चोष्य, लेह्य—चार प्रकारके अन्नोंका भोग लगाते हैं और स्वयं ही पेटके भीतर अग्निरूपमें स्थित भोजनको पचाते हैं, उन पाकरूप परमेश्वरको प्रणाम है ॥ ७३ ॥

पिङ्गेक्षणसटं यस्य रूपं दंष्ट्रानखायुधम् ।
दानवेन्द्रान्तकरणं तस्मै दृप्तात्मने नमः ॥ ७४ ॥

जिनका नरसिंहरूप दानवराज हिरण्यकशिपुका अन्त करनेवाला था, उस समय जिनके नेत्र और कंधेके बाल पीले दिखायी पड़ते थे, बड़ी-बड़ी दाढ़ें और नख ही जिनके आयुध थे, उन दर्परूपधारी भगवान् नरसिंहको प्रणाम है ॥

यं न देवा न गन्धर्वा न दैत्या न च दानवाः ।

तत्त्वतो हि विजानन्ति तस्मै सूक्ष्मात्मने नमः॥ ७५ ॥

जिन्हें न देवता, न गन्धर्व, न दैत्य और न दानव ही ठीक-ठीक जान पाते हैं, उन सूक्ष्मस्वरूप परमात्माको नमस्कार है ॥ ७५ ॥

रसातलगतः श्रीमाननन्तो भगवान् विभुः ।
जगद् धारयते कृत्स्नं तस्मै वीर्यात्मने नमः ॥ ७६ ॥

जो सर्वव्यापक भगवान् श्रीमान् अनन्त नामक शेषनागके रूपमें रसातलमें रहकर सम्पूर्ण जगत्को अपने मस्तकपर धारण करते हैं, उन वीर्यरूप-परमेश्वरको प्रणाम है ॥ ७६ ॥

यो मोहयति भूतानि स्नेहपाशानुबन्धनैः ।
सर्गस्य रक्षणार्थाय तस्मै मोहात्मने नमः ॥ ७७ ॥

जो इस सृष्टि-परम्पराकी रक्षाके लिये सम्पूर्ण प्राणियोंको स्नेहपाशमें बाँधकर मोहमें डाले रखते हैं, उन मोहरूप भगवान्को नमस्कार है ॥ ७७ ॥

आत्मज्ञानमिदं ज्ञानं ज्ञात्वा पञ्चस्ववस्थितम् ।
यं ज्ञानेनाभिगच्छन्ति तस्मै ज्ञानात्मने नमः ॥ ७८ ॥

अन्नमयादि पाँच कोशोंमें स्थित आन्तरतम आत्माका ज्ञान होनेके पश्चात् विशुद्ध बोधके द्वारा विद्वान् पुरुष जिन्हें प्राप्त करते हैं, उन ज्ञानस्वरूप परब्रह्मको प्रणाम है ॥ ७८ ॥

अप्रमेयशरीराय सर्वतोबुद्धिचक्षुषे ।
अनन्तपरिमेयाय तस्मै दिव्यात्मने नमः ॥ ७९ ॥

जिनका स्वरूप किसी प्रमाणका विषय नहीं है, जिनके बुद्धिरूपी नेत्र सब ओर व्याप्त हो रहे हैं तथा जिनके भीतर अनन्त विषयोंका समावेश है, उन दिव्यात्मा परमेश्वरको नमस्कार है ॥ ७९ ॥

जटिने दण्डिने नित्यं लम्बोदरशरीरिणे ।
कमण्डलुनिषङ्गाय तस्मै ब्रह्मात्मने नमः ॥ ८० ॥

जो जटा और दण्ड धारण करते हैं, लम्बोदर शरीरवाले हैं तथा जिनका कमण्डलु ही तूणीरका काम देता है, उन ब्रह्माजीके रूपमें भगवान्को प्रणाम है ॥ ८० ॥

शूलिने त्रिदशेशाय त्र्यम्बकाय महात्मने ।
भस्मदिग्धाङ्गलिङ्गाय तस्मै रुद्रात्मने नमः ॥ ८१ ॥

जो त्रिशूल धारण करनेवाले और देवताओंके स्वामी हैं, जिनके तीन नेत्र हैं, जो महात्मा हैं तथा जिन्होंने अपने शरीरपर विभूति रमा रक्खी है, उन रुद्ररूप परमेश्वरको नमस्कार है ॥ ८१ ॥

चन्द्रार्धकृतशीर्षाय व्यालयज्ञोपवीतिने ।
पिनाकशूलहस्ताय तस्मा उग्रात्मने नमः ॥ ८२ ॥

जिनके मस्तकपर अर्धचन्द्रका मुकुट और शरीरपर सर्पका यज्ञोपवीत शोभा दे रहा है, जो अपने हाथमें पिनाक और त्रिशूल धारण करते हैं, उन उग्ररूपधारी भगवान् शङ्करको प्रणाम है ॥ ८२ ॥

सर्वभूतात्मभूताय भूतादिनिधनाय च ।
अक्रोधद्रोहमोहाय तस्मै शान्तात्मने नमः ॥ ८३ ॥

जो सम्पूर्ण प्राणियोंके आत्मा और उनकी जन्म-मृत्युके कारण हैं, जिनमें क्रोध, द्रोह और मोहका सर्वथा अभाव है, उन शान्तात्मा परमेश्वरको नमस्कार है ॥ ८३ ॥

यस्मिन् सर्वं यतः सर्वं यः सर्वं सर्वतश्च यः ।
यश्च सर्वमयो नित्यं तस्मै सर्वात्मने नमः ॥ ८४ ॥

जिनके भीतर सब कुछ रहता है, जिनसे सब उत्पन्न होता है, जो स्वयं ही सर्वस्वरूप हैं, सदा ही सब ओर व्यापक हो रहे हैं और सर्वमय हैं, उन सर्वात्माको प्रणाम है ॥८४॥

विश्वकर्मन् नमस्तेऽस्तु विश्वात्मन् विश्वसम्भव ।
अपवर्गोऽसि भूतानां पञ्चानां परतः स्थितः ॥ ८५ ॥

इस विश्वकी रचना करनेवाले परमेश्वर ! आपको प्रणाम है । विश्वके आत्मा और विश्वकी उत्पत्तिके स्थानभूत जगदीश्वर ! आपको नमस्कार है । आप पाँचों भूतोंसे परे हैं और सम्पूर्ण प्राणियोंके मोक्षस्वरूप ब्रह्म हैं ॥ ८५ ॥

नमस्ते त्रिषु लोकेषु नमस्ते परतस्त्रिषु ।
नमस्ते दिक्षु सर्वासु त्वं हि सर्वमयो निधिः ॥ ८६ ॥

तीनों लोकोंमें व्याप्त हुए आपको नमस्कार है, त्रिभुवनसे परे रहनेवाले आपको प्रणाम है, सम्पूर्ण दिशाओंमें व्यापक आप प्रभुको नमस्कार है; क्योंकि आप सब पदार्थोंसे पूर्ण भण्डार हैं ॥ ८६ ॥

नमस्ते भगवन् विष्णो लोकानां प्रभवाप्यय ।
त्वं हि कर्ता हृषीकेश संहर्ता चापराजितः ॥ ८७ ॥

संसारकी उत्पत्ति करनेवाले अविनाशी भगवान् विष्णु ! आपको नमस्कार है । हृषीकेश ! आप सबके जन्मदाता और संहारकर्ता हैं । आप किसीसे पराजित नहीं होते ॥८७॥

न हि पश्यामि ते भावं दिव्यं हि त्रिषु वर्त्मसु ।
त्वां तु पश्यामि तत्त्वेन यत् ते रूपं सनातनम्॥ ८८ ॥

मैं तीनों लोकोंमें आपके दिव्य जन्म-कर्मका रहस्य नहीं जान पाता; मैं तो तत्त्वदृष्टिसे आपका जो सनातन रूप है, उसीकी ओर लक्ष्य रखता हूँ ॥ ८८ ॥

दिवं ते शिरसा व्याप्तं पद्भ्यां देवी वसुन्धरा ।
विक्रमेण त्रयो लोकाः पुरुषोऽसि सनातनः ॥ ८९ ॥

स्वर्गलोक आपके मस्तकसे, पृथ्वीदेवी आपके पैरोंसे और तीनों लोक आपके तीन पगोंसे व्याप्त हैं, आप सनातन पुरुष हैं ॥ ८९ ॥

दिशो भुजा रविश्चक्षुर्वीर्ये शुक्रः प्रतिष्ठितः ।
सप्त मार्गा निरुद्धास्ते वायोरमिततेजसः ॥ ९० ॥

दिशाएँ आपकी भुजाएँ, सूर्य आपके नेत्र और प्रजापति शुक्राचार्य आपके वीर्य हैं । आपने ही अत्यन्त तेजस्वी वायुके रूपमें ऊपरके सातों मार्गोंको रोक रक्खा है ॥ ९० ॥

अतसीपुष्पसंकाशं पीतवाससमच्युतम् ।
ये नमस्यन्ति गोविन्दं न तेषां विद्यते भयम् ॥ ९१ ॥

जिनकी शक्ति अलसीके फूलकी तरह साँवली है, शरीर-पर पीताम्बर शोभा देता है, जो अपने स्वरूपसे कभी च्युत नहीं होते, उन भगवान् गोविन्दको जो लोग नमस्कार करते हैं, उन्हें कभी भय नहीं होता ॥ ९१ ॥

एकोऽपि कृष्णस्य कृतः प्रणामो
दशाश्वमेधावभृथेन तुल्यः।
दशाश्वमेधी पुनरेति जन्म
कृष्णप्रणामी न पुनर्भवाय ॥ ९२ ॥

भगवान् श्रीकृष्णको एक बार भी प्रणाम किया जाय तो वह दस अश्वमेध यज्ञोंके अन्तमें किये गये स्नानके समान फल देनेवाला होता है। इसके सिवा प्रणाममें एक विशेषता है—दस अश्वमेध करनेवालेका तो पुनः इस संसारमें जन्म होता है, किंतु श्रीकृष्णको प्रणाम करनेवाला मनुष्य फिर भव-बन्धनमें नहीं पड़ता ॥ ९२ ॥

कृष्णव्रताः कृष्णमनुस्मरन्तो
रात्रौ च कृष्णं पुनरुत्थिता ये।
ते कृष्णदेहाः प्रविशन्ति कृष्ण-
माज्यं यथा मन्त्रहुतं हुताशे ॥ ९३ ॥

जिन्होंने श्रीकृष्ण-भजनका ही व्रत ले रक्खा है, जो श्रीकृष्णका निरन्तर स्मरण करते हुए ही रातको सोते हैं और उन्हींका स्मरण करते हुए सवेरे उठते हैं, वे श्रीकृष्णस्वरूप होकर उनमें इस तरह मिल जाते हैं, जैसे मन्त्र पढ़कर हवन किया हुआ घी अग्निमें मिल जाता है ॥ ९३ ॥

नमो नरकसंत्रासरक्षामण्डलकारिणे।
संसारनिम्नगावर्ततरिकाष्ठाय विष्णवे ॥ ९४ ॥

जो नरकके भयसे बचानेके लिये रक्षामण्डलका निर्माण करनेवाले और संसाररूपी सरिताकी भँवरसे पार उतारनेके लिये काठकी नावके समान हैं, उन भगवान् विष्णुको नमस्कार है ॥ ९४ ॥

नमो ब्रह्मण्यदेवाय गोब्राह्मणहिताय च।
जगद्धिताय कृष्णाय गोविन्दाय नमो नमः ॥ ९५ ॥

जो ब्राह्मणोंके प्रेमी तथा गौ और ब्राह्मणोंके हितकारी हैं, जिनसे समस्त विश्वका कल्याण होता है, उन सच्चिदानन्द-स्वरूप भगवान् गोविन्दको प्रणाम है ॥ ९५ ॥

प्राणकान्तारपाथेयं संसारोच्छेदभेषजम्।
दुःखशोकपरित्राणं हरिरित्यक्षरद्वयम् ॥ ९६ ॥

'हरि' ये दो अक्षर दुर्गम पथमें संकटके समय प्राणोंके लिये राह-खर्चके समान हैं, संसाररूपी रोगसे छुटकारा दिलानेके लिये औषधके तुल्य हैं तथा सब प्रकारके दुःख-शोकोंसे उद्धार करनेवाले हैं ॥ ९६ ॥

यथा विष्णुमयं सत्यं यथा विष्णुमयं जगत्।
यथा विष्णुमयं सर्वं पाप्मा मे नश्यतां तथा ॥ ९७ ॥

जैसे सत्य विष्णुमय है, जैसे सारा संसार विष्णुमय है, जिस प्रकार सब कुछ विष्णुमय है, उस प्रकार इस सत्यके प्रभावसे मेरे सारे पाप नष्ट हो जायँ ॥ ९७ ॥

त्वां प्रपन्नाय भक्ताय गतिमिष्टां जिगीषवे।
यच्छ्रेयः पुण्डरीकाक्ष तद् ध्यायस्व सुरोत्तम ॥ ९८ ॥

देवताओंमें श्रेष्ठ कमलनयन भगवान् श्रीकृष्ण! मैं आपका शरणागत भक्त हूँ और अभीष्ट गतिको प्राप्त करना चाहता हूँ; जिसमें मेरा कल्याण हो, वह आप ही सोचिये ॥

इति विद्यातपोयोनिरयोनिर्विष्णुरीडितः।
वाग्यज्ञेनार्चितो देवः प्रीयतां मे जनार्दनः ॥ ९९ ॥

जो विद्या और तपके जन्मस्थान हैं, जिनको दूसरा कोई जन्म देनेवाला नहीं है, उन भगवान् विष्णुका मैंने इस प्रकार वाणीरूप यज्ञसे पूजन किया है। इससे वे भगवान् जनार्दन मुझपर प्रसन्न हों ॥ ९९ ॥

नारायणः परं ब्रह्म नारायणपरं तपः।
नारायणः परो देवः सर्वं नारायणः सदा ॥ १०० ॥

नारायण ही परब्रह्म हैं, नारायण ही परम तप हैं। नारायण ही सबसे बड़े देवता हैं और भगवान् नारायण ही सदा सब कुछ हैं ॥ १०० ॥

वैशम्पायन उवाच

एतावदुक्त्वा वचनं भीष्मस्तद्गतमानसः।
नम इत्येव कृष्णाय प्रणाममकरोत् तदा ॥ १०१ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! उस समय भीष्मजीका मन भगवान् श्रीकृष्णमें लगा हुआ था, उन्होंने ऊपर बतायी हुई स्तुति करनेके पश्चात् 'नमः श्रीकृष्णाय' कहकर उन्हें प्रणाम किया ॥ १०१ ॥

अभिगम्य तु योगेन भक्तिं भीष्मस्य माधवः।
त्रैलोक्यदर्शनं ज्ञानं दिव्यं दत्त्वा ययौ हरिः ॥ १०२ ॥

भगवान् भी अपने योगबलसे भीष्मजीकी भक्तिको जान-कर उनके निकट गये और उन्हें तीनों लोकोंकी बातोंका बोध करानेवाला दिव्य ज्ञान देकर लौट आये ॥ १०२ ॥

(यं योगिनः प्राणवियोगकाले
यत्नेन चित्ते विनिवेशयन्ति।
स तं पुरस्ताद्धरिमीक्षमाणः
प्राणाञ्जहौ प्राप्तफलो हि भीष्मः ॥)

योगी पुरुष प्राणत्यागके समय जिन्हें बड़े यत्नसे अपने हृदयमें स्थापित करते हैं, उन्हीं श्रीहरिको अपने सामने देखते हुए भीष्मजीने जीवनका फल प्राप्त करके अपने प्राणोंका परित्याग किया था ॥

तस्मिन्नुपरते शब्दे ततस्ते ब्रह्मवादिनः।
भीष्मं वाग्भिर्बाष्पकण्ठास्तमानर्चुर्महामतिम् ॥ १०३ ॥

जब भीष्मजीका बोलना बंद हो गया, तब वहाँ बैठे हुए ब्रह्मवादी महर्षियोंने आँखोंमें आँसू भरकर गद्गद कण्ठसे परम बुद्धिमान् भीष्मजीकी भूरि-भूरि प्रशंसा की ॥ १०३ ॥

ते स्तुवन्तश्च विप्राग्र्याः केशवं पुरुषोत्तमम् ।
भीष्मं च शनकैः सर्वे प्रशशंसुः पुनः पुनः ॥१०४॥

वे ब्राह्मणशिरोमणि सभी महर्षि पुरुषोत्तम भगवान् केशवकी स्तुति करते हुए धीरे-धीरे भीष्मजीकी बारंबार सराहना करने लगे ॥ १०४ ॥

विदित्वा भक्तियोगं तु भीष्मस्य पुरुषोत्तमः ।
सहसोत्थाय संहृष्टो यानमेवान्वपद्यत ॥१०५॥

इधर पुरुषोत्तम श्रीकृष्ण भीष्मजीके भक्तियोगको जानकर सहसा उठे और बड़े हर्षके साथ रथपर जा बैठे ॥ १०५ ॥

केशवः सात्यकिश्चापि रथेनैकेन जग्मतुः ।
अपरेण महात्मानौ युधिष्ठिरधनंजयौ ॥१०६॥

एक रथसे सात्यकि और श्रीकृष्ण चले तथा दूसरे रथसे महामना युधिष्ठिर और अर्जुन ॥ १०६ ॥

भीमसेनो यमौ चोभौ रथमेकं समाश्रिताः ।
कृपो युयुत्सुः सूतश्च संजयश्च परंतपः ॥१०७॥

भीमसेन और नकुल-सहदेव तीसरे रथपर सवार हुए । चौथे रथसे कृपाचार्य, युयुत्सु और शत्रुओंको तपानेवाला सारथि संजय—ये तीनों चल दिये ॥ १०७ ॥

ते रथैर्नगराकारैः प्रयाताः पुरुषर्षभाः ।
नेमिघोषेण महता कम्पयन्तो वसुन्धराम् ॥१०८॥

वे पुरुषप्रवर पाण्डव और श्रीकृष्ण नगराकार रथोंद्वारा उनके पहियोंके गम्भीर घोषसे पृथ्वीको कँपाते हुए बड़े वेगसे गये ॥ १०८ ॥

ततो गिरः पुरुषवरस्तवान्विता
द्विजेरिताः पथि सुमनाः स शुश्रुवे ।
कृताञ्जलिं प्रणतमथापरं जनं
स केशिहा मुदितमनाभ्यनन्दत॥१०९॥

उस समय बहुत-से ब्राह्मण मार्गमें पुरुषोत्तम श्रीकृष्ण-की स्तुति करते और भगवान् श्रीकृष्ण प्रसन्नमनसे उसे सुनते थे । दूसरे बहुत-से लोग हाथ जोड़कर उनके चरणोंमें प्रणाम करते और केशिहन्ता केशव मन-ही-मन आनन्दित हो उन लोगोंका अभिनन्दन करते थे ॥ १०९ ॥

(इति स्मरन् पठति च शार्ङ्गधन्वनः
शृणोति वा यदुकुलनन्दनस्तवम् ।
स चक्रभृत्प्रतिहतसर्वकिल्बिषो
जनार्दनं प्रविशति देहसंक्षये ॥

जो मनुष्य शार्ङ्ग धनुष धारण करनेवाले यदुकुलनन्दन श्रीकृष्णकी इस स्तुतिको याद करते, पढ़ते अथवा सुनते हैं, वे इस शरीरका अन्त होनेपर भगवान् श्रीकृष्णमें प्रवेश कर जाते हैं । चक्रधारी श्रीहरि उनके सारे पापोंका नाश कर डालते हैं ॥

स्तवराजः समाप्तोऽयं विष्णोरद्भुतकर्मणः ।
गाङ्गेयेन पुरा गीतो महापातकनाशनः ॥

गङ्गानन्दन भीष्मने पूर्वकालमें जिसका गान किया था, अद्भुतकर्मा विष्णुका वही यह स्तवराज पूरा हुआ है, यह बड़े-बड़े पातकोंका नाश करनेवाला है ॥

इमं नरः स्तवराजं मुमुक्षुः
पठञ्शुचिः कलुषितकल्मषापहम् ।
अतीत्य लोकानमलान् सनातनान्
पदं स गच्छत्यमृतं महात्मनः ॥)

यह स्तोत्रराज पापियोंके समस्त पापोंका नाश करनेवाला है, संसार-बन्धनसे छूटनेकी इच्छावाला जो मनुष्य इसका पवित्रभावसे पाठ करता है, वह निर्मल सनातन लोकोंको भी लाँघकर परमात्मा श्रीकृष्णके अमृतमय धामको चला जाता है ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि राजधर्मानुशासनपर्वणि भीष्मस्तवराजे सप्तचत्वारिंशोऽध्यायः ॥ ४७ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत राजधर्मानुशासनपर्वमें भीष्मस्तवराजविषयक सैंतालीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ४७ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठके ३३ श्लोक मिलाकर कुल १४२ श्लोक हैं)

अष्टचत्वारिंशोऽध्यायः

परशुरामजीद्वारा होनेवाले क्षत्रियसंहारके विषयमें राजा युधिष्ठिरका प्रश्न

वैशम्पायन उवाच

ततः स च हृषीकेशः स च राजा युधिष्ठिरः ।
कृपादयश्च ते सर्वे चत्वारः पाण्डवाश्च ते ॥ १ ॥
रथैस्तैर्नगरप्रख्यैः पताकाध्वजशोभितैः ।
ययुराशु कुरुक्षेत्रं वाजिभिः शीघ्रगामिभिः ॥ २ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन् ! तदनन्तर भगवान् श्रीकृष्ण, राजा युधिष्ठिर, कृपाचार्य आदि सब लोग तथा शेष चारों पाण्डव ध्वजा-पताकाओंसे सुशोभित एवं शीघ्रगामी घोड़ोंद्वारा संचालित नगराकार विशाल रथोंसे शीघ्रतापूर्वक कुरुक्षेत्रकी ओर बढ़े ॥ १-२ ॥

तेऽवतीर्य कुरुक्षेत्रं केशमज्जास्थिसंकुलम् ।
देहन्यासः कृतो यत्र क्षत्रियैस्तैर्महात्मभिः ॥ ३ ॥

वे सब लोग केश, मज्जा और हड्डियोंसे भरे हुए कुरुक्षेत्रमें उतरे, जहाँ महामनस्वी क्षत्रियवीरोंने अपने शरीरका त्याग किया था ॥ ३ ॥

गजाश्वदेहास्थिचयैः पर्वतैरिव संचितम् ।
नरशीर्षकपालैश्च शङ्खैरिव च सर्वशः ॥ ४ ॥

वहाँ हाथियों और घोड़ोंके शरीरों तथा हड्डियोंके अनेकानेक पहाड़ों-जैसे ढेर लगे हुए थे । सब ओर शङ्खके समान सफेद नरमुण्डोंकी खोपड़ियाँ फैली हुई थीं ॥ ४ ॥

[illegible] वर्मशस्त्रसमाकुलम्।
[illegible]भूमिं कालस्य तथा भुक्तोज्झितामिव॥५॥

[illegible] भूमिमें [illegible] चिताएँ जली थीं, कवच और अस्त्र-शस्त्रोंसे वह स्थान भरा हुआ था। देखनेपर ऐसा जान पड़ता था, मानो यह कालके खान-पानकी भूमि हो और [illegible] खान-पान करके उसे उच्छिष्ट करके छोड़ दिया हो॥

भूतसंघानुचरितं रक्षोगणनिषेवितम्।
पश्यन्तस्ते कुरुक्षेत्रं ययुराशु महारथाः॥६॥

वहाँ झुंड-के-झुंड भूत विचर रहे थे और राक्षसगण निवास करते थे, उस कुरुक्षेत्रको देखते हुए वे सभी महारथी शीघ्रतापूर्वक आगे बढ़ रहे थे॥६॥

गच्छन्नेव महाबाहुः स वै यादवनन्दनः।
युधिष्ठिराय प्रोवाच जामदग्न्यस्य विक्रमम्॥७॥

रास्तेमें चलते-चलते ही महाबाहु भगवान् यादवनन्दन श्रीकृष्ण युधिष्ठिरको जमदग्निकुमार परशुरामजीका पराक्रम सुनाने लगे—॥७॥

अमी रामह्रदाः पञ्च दृश्यन्ते पार्थ दूरतः।
तेषु संतर्पयामास पितॄन् क्षत्रियशोणितैः॥८॥

'कुन्तीनन्दन! ये जो पाँच सरोवर कुछ दूरसे दिखायी देते हैं, 'राम-ह्रद' के नामसे प्रसिद्ध हैं। इन्हींमें उन्होंने क्षत्रियोंके रक्तसे अपने पितरोंका तर्पण किया था॥८॥

त्रिःसप्तकृत्वो वसुधां कृत्वा निःक्षत्रियां प्रभुः।
इहेदानीं ततो रामः कर्मणो विरराम ह॥९॥

'शक्तिशाली परशुरामजी इक्कीस बार इस पृथ्वीको क्षत्रियोंसे शून्य करके यहीं आनेके पश्चात् अब उस कर्मसे विरत हो गये हैं'॥९॥

युधिष्ठिर उवाच

त्रिःसप्तकृत्वः पृथिवी कृता निःक्षत्रिया पुरा।
रामेणेति यथाऽऽत्थ त्वमत्र मे संशयो महान्॥१०॥

युधिष्ठिरने पूछा—प्रभो! आपने यह बताया है कि पहले परशुरामजीने इक्कीस बार यह पृथ्वी क्षत्रियोंसे सूनी कर दी थी; इस विषयमें मुझे बहुत बड़ा संदेह हो गया है॥१०॥

क्षत्रबीजं यथा दग्धं रामेण यदुपुङ्गव।
कथं भूयः समुत्पत्तिः क्षत्रस्यामितविक्रम॥११॥

अमित पराक्रमी यदुनाथ! जब परशुरामजीने क्षत्रियोंका बीजतक दग्ध कर दिया, तब फिर क्षत्रिय-जातिकी उत्पत्ति कैसे हुई?॥११॥

महात्मना भगवता रामेण यदुपुङ्गव।
कथमुत्सादितं क्षत्रं कथं वृद्धिमुपागतम्॥१२॥

यदुपुङ्गव! महात्मा भगवान् परशुरामने क्षत्रियोंका संहार किस लिये किया और उसके बाद इस जातिकी वृद्धि कैसे हुई?॥१२॥

महता रथयुद्धेन कोटिशः क्षत्रिया हताः।
तथाभूच्च मही कीर्णा क्षत्रियैर्वदतां वर॥१३॥

वक्ताओंमें श्रेष्ठ श्रीकृष्ण! महारथयुद्धके द्वारा जब करोड़ों क्षत्रिय मारे गये होंगे, उस समय उनकी लाशोंसे यह सारी पृथ्वी ढक गयी होगी॥१३॥

किमर्थं भार्गवेणेदं क्षत्रमुत्सादितं पुरा।
रामेण यदुशार्दूल कुरुक्षेत्रे महात्मना॥१४॥

यदुसिंह! भृगुवंशी महात्मा परशुरामने पूर्वकालमें कुरुक्षेत्रमें यह क्षत्रियोंका संहार किस लिये किया?॥१४॥

एतन्मे छिन्धि वार्ष्णेय संशयं तार्क्ष्यकेतन।
आगमो हि परः कृष्ण त्वत्तो नो वासवानुज॥१५॥

गरुडध्वज श्रीकृष्ण! इन्द्रके छोटे भाई उपेन्द्र! आप मेरे संदेहका निवारण कीजिये; क्योंकि कोई भी शास्त्र आपसे बढ़कर नहीं है॥१५॥

वैशम्पायन उवाच

ततो यथावत् स गदाग्रजः प्रभुः
शशंस तस्मै निखिलेन तत्त्वतः।
युधिष्ठिरायाप्रतिमौजसे तदा
यथाभवत् क्षत्रियसंकुला मही॥१६॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! राजा युधिष्ठिरके इस प्रकार पूछनेपर गदाग्रज भगवान् श्रीकृष्णने अप्रतिम तेजस्वी युधिष्ठिरसे वह सारा वृत्तान्त यथार्थरूपसे कह सुनाया कि किस प्रकार यह सारी पृथ्वी क्षत्रियोंकी लाशोंसे ढक गयी थी॥१६॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि राजधर्मानुशासनपर्वणि रामोपाख्यानेऽष्टचत्वारिंशोऽध्यायः॥४८॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत राजधर्मानुशासनपर्वमें परशुरामके उपाख्यानका आरम्भविषयक अड़तालीसवाँ अध्याय पूरा हुआ॥४८॥

एकोनपञ्चाशत्तमोऽध्यायः

परशुरामजीके उपाख्यानमें क्षत्रियोंके विनाश और पुनः उत्पन्न होनेकी कथा

वासुदेव उवाच

शृणु कौन्तेय रामस्य प्रभावो यो मया श्रुतः।
महर्षीणां कथयतां विक्रमं तस्य जन्म च॥१॥

भगवान् श्रीकृष्ण बोले—कुन्तीनन्दन! मैंने महर्षियोंके मुखसे परशुरामजीके प्रभाव, पराक्रम तथा जन्मकी कथा जिस प्रकार सुनी है, वह सब आपको बताता हूँ, सुनिये॥

यथा च जामदग्न्येन कोटिशः क्षत्रिया हताः।
उद्भूता राजवंशेषु ये भूयो भारते हताः॥२॥

जिस प्रकार जमदग्निनन्दन परशुरामने करोड़ों क्षत्रियोंका संहार किया था; पुनः जो क्षत्रिय राजवंशोंमें उत्पन्न हुए, वे अब फिर भारतयुद्धमें मारे गये ॥ २ ॥

जह्नोरजस्तु तनयो बलाकाश्वस्तु तत्सुतः।
कुशिको नाम धर्मज्ञस्तस्य पुत्रो महीपते ॥ ३ ॥

प्राचीनकालमें जह्नुनामक एक राजा हो गये हैं, उनके पुत्रका नाम था अज। पृथ्वीनाथ! अजसे बलाकाश्व नामक पुत्रका जन्म हुआ। बलाकाश्वके कुशिक नामक पुत्र हुआ। कुशिक बड़े धर्मज्ञ थे ॥ ३ ॥

उग्रं तपः समातिष्ठत् सहस्राक्षसमो भुवि।
पुत्रं लभेयमजितं त्रिलोकेश्वरमित्युत ॥ ४ ॥

वे इस भूतलपर सहस्रनेत्रधारी इन्द्रके समान पराक्रमी थे। उन्होंने यह सोचकर कि मैं एक ऐसा पुत्र प्राप्त करूँ, जो तीनों लोकोंका शासक होनेके साथ ही किसीसे पराजित न हो, उत्तम तपस्या आरम्भ की ॥ ४ ॥

तमुग्रतपसं दृष्ट्वा सहस्राक्षः पुरंदरः।
समर्थं पुत्रजनने स्वयमेवान्वपद्यत ॥ ५ ॥
पुत्रत्वमगमद् राजंस्तस्य लोकेश्वरेश्वरः।
गाधिर्नामाभवत् पुत्रः कौशिकः पाकशासनः॥ ६ ॥

उनकी भयंकर तपस्या देखकर और उन्हें शक्तिशाली पुत्र उत्पन्न करनेमें समर्थ जानकर लोकपालोंके स्वामी सहस्र नेत्रोंवाले पाकशासन इन्द्र स्वयं ही उनके पुत्ररूपमें अवतीर्ण हुए। राजन्! कुशिकका वह पुत्र गाधिनामसे प्रसिद्ध हुआ ॥ ५-६ ॥

तस्य कन्याभवद् राजन् नाम्ना सत्यवती प्रभो।
तां गाधिर्भृगुपुत्राय ऋचीकाय ददौ प्रभुः ॥ ७ ॥

प्रभो! गाधिके एक कन्या थी, जिसका नाम था सत्यवती। राजा गाधिने अपनी इस कन्याका विवाह भृगुपुत्र ऋचीकके साथ कर दिया ॥ ७ ॥

तस्याः प्रीतः स शौचेन भार्गवः कुरुनन्दन।
पुत्रार्थं श्रपयामास चरुं गाधेस्तथैव च ॥ ८ ॥

कुरुनन्दन! सत्यवती बड़े शुद्ध आचार-विचारसे रहती थी। उसकी शुद्धतासे प्रसन्न हो ऋचीक मुनिने उसे तथा राजा गाधिको भी पुत्र देनेके लिये चरु तैयार किया ॥ ८ ॥

आहूयोवाच तां भार्यां ऋचीको भार्गवस्तदा।
उपयोज्यश्चरुरयं त्वया मात्राप्ययं तव ॥ ९ ॥

भृगुवंशी ऋचीकने उस समय अपनी पत्नी सत्यवतीको बुलाकर कहा—'यह चरु तो तुम खा लेना और यह दूसरा अपनी माँको खिला देना ॥ ९ ॥

तस्या जनिष्यते पुत्रो दीप्तिमान् क्षत्रियर्षभः।
अजय्यः क्षत्रियैर्लोके क्षत्रियर्षभसूदनः ॥ १० ॥

'तुम्हारी माताके जो पुत्र होगा, वह अत्यन्त तेजस्वी एवं क्षत्रियशिरोमणि होगा। इस जगत्के क्षत्रिय उसे जीत नहीं सकेंगे। वह बड़े-बड़े क्षत्रियोंका संहार करनेवाला होगा ॥ १० ॥

तवापि पुत्रं कल्याणि धृतिमन्तं शमात्मकम्।
तपोऽन्वितं द्विजश्रेष्ठं चरुरेष विधास्यति ॥ ११ ॥

'कल्याणि! तुम्हारे लिये जो यह चरु तैयार किया है, यह तुम्हें धैर्यवान्, शान्त एवं तपस्यापरायण श्रेष्ठ ब्राह्मण पुत्र प्रदान करेगा' ॥ ११ ॥

इत्येवमुक्त्वा तां भार्यां ऋचीको भृगुनन्दनः।
तपस्यभिरतः श्रीमाञ्जगामारण्यमेव हि ॥ १२ ॥

अपनी पत्नीसे ऐसा कहकर भृगुनन्दन श्रीमान् ऋचीक मुनि तपस्यामें तत्पर हो जंगलमें चले गये ॥ १२ ॥

एतस्मिन्नेव काले तु तीर्थयात्रापरो नृपः।
गाधिः सदारः सम्प्राप्तः ऋचीकस्याश्रमं प्रति ॥ १३ ॥

इसी समय तीर्थयात्रा करते हुए राजा गाधि अपनी पत्नीके साथ ऋचीक मुनिके आश्रमपर आये ॥ १३ ॥

चरुद्वयं गृहीत्वा च राजन् सत्यवती तदा।
भर्तुर्वाक्यं तदाव्यग्रा मात्रे हृष्टा न्यवेदयत् ॥ १४ ॥

राजन्! उस समय सत्यवती वह दोनों चरु लेकर शान्त-भावसे माताके पास गयी और बड़े हर्षके साथ पतिकी कही हुई बातको उससे निवेदित किया ॥ १४ ॥

माता तु तस्याः कौन्तेय दुहित्रे स्वं चरुं ददौ।
तस्याश्चरुमथाज्ञानादात्मसंस्थं चकार ह ॥ १५ ॥

कुन्तीकुमार! सत्यवतीकी माताने अज्ञानवश अपना चरु तो पुत्रीको दे दिया और उसका चरु लेकर भोजनद्वारा अपनेमें स्थित कर लिया ॥ १५ ॥

अथ सत्यवती गर्भं क्षत्रियान्तकरं तदा।
धारयामास दीप्तेन वपुषा घोरदर्शनम् ॥ १६ ॥

तदनन्तर सत्यवतीने अपने तेजस्वी शरीरसे एक ऐसा गर्भ धारण किया, जो क्षत्रियोंका विनाश करनेवाला था और देखनेमें बड़ा भयंकर जान पड़ता था ॥ १६ ॥

तामृचीकस्तदा दृष्ट्वा तस्या गर्भगतं द्विजम्।
अब्रवीद् भृगुशार्दूलः स्वां भार्यां देवरूपिणीम्॥ १७ ॥
मात्रासि व्यंसिता भद्रे चरुव्यत्यासहेतुना।
भविष्यति हि ते पुत्रः क्रूरकर्मात्यमर्षणः ॥ १८ ॥

सत्यवतीके गर्भगत बालकको देखकर भृगुश्रेष्ठ ऋचीकने अपनी उस देवरूपिणी पत्नीसे कहा—'भद्रे! तुम्हारी माताने चरु बदलकर तुम्हें ठग लिया। तुम्हारा पुत्र अत्यन्त क्रोधी और क्रूरकर्म करनेवाला होगा ॥ १७-१८ ॥

उत्पत्स्यति च ते भ्राता ब्रह्मभूतस्तपोरतः।
विश्वं हि ब्रह्म सुमहच्चरौ तव समाहितम् ॥ १९ ॥
क्षत्रवीर्यं च सकलं तव मात्रे समर्पितम्।
विपर्ययेण ते भद्रे नैतदेवं भविष्यति ॥ २० ॥

[illegible]नुजो ब्राह्मणो भूयान्‌ तव च क्षत्रियः सुतः।

[illegible] और तपस्यापरायण होगा। तुम्हारे चरुमें मैंने सम्पूर्ण महान् तेज ब्राह्मणकी प्रतिष्ठा की थी और तुम्हारी माताके लिये जो चरु था, उसमें सम्पूर्ण क्षत्रियोचित तेजका समावेश किया गया था, परंतु कल्याणि! चरुके बदल देनेसे अब ऐसा नहीं होगा। तुम्हारी माताका पुत्र तो ब्राह्मण होगा और तुम्हारा क्षत्रिय' ॥ १९-२०½ ॥

एवमुक्ता महाभागा भर्त्रा सत्यवती तदा ॥ २१ ॥
पपात शिरसा तस्मै वेपन्ती चाब्रवीदिदम्।
नार्होऽसि भगवन्नद्य वक्तुमेवंविधं वचः।
ब्राह्मणापसदं पुत्रं प्राप्स्यसीति हि मां प्रभो ॥ २२ ॥

पतिके ऐसा कहनेपर महाभागा सत्यवती उनके चरणोंमें सिर रखकर गिर पड़ी और काँपती हुई बोली—'प्रभो! भगवन्! आज आप मुझसे ऐसी बात न कहें कि तुम ब्राह्मणाधम पुत्र उत्पन्न करोगी' ॥ २१-२२ ॥

ऋचीक उवाच

नैष संकल्पितः कामो मया भद्रे तथा त्वयि।
उग्रकर्मा समुत्पन्नश्चरुव्यत्यासहेतुना ॥ २३ ॥

ऋचीक बोले—कल्याणि! मैंने यह संकल्प नहीं किया था कि तुम्हारे गर्भसे ऐसा पुत्र उत्पन्न हो। परंतु चरु बदल जानेके कारण तुम्हें भयंकर कर्म करनेवाले पुत्रको जन्म देना पड़ रहा है ॥ २३ ॥

सत्यवत्युवाच

इच्छँल्लोकानपि मुने सृजेथाः किं पुनः सुतम्।
शमात्मकमृजुं पुत्रं दातुमर्हसि मे प्रभो ॥ २४ ॥

सत्यवती बोली—मुने! आप चाहें तो सम्पूर्ण लोकोंकी नयी सृष्टि कर सकते हैं; फिर इच्छानुसार पुत्र उत्पन्न करनेकी तो बात ही क्या है? अतः प्रभो! मुझे तो शान्त एवं सरल स्वभाववाला पुत्र ही प्रदान कीजिये ॥ २४ ॥

ऋचीक उवाच

नोक्तपूर्वानृतं भद्रे स्वैरेष्वपि कदाचन।
किमुताग्निं समाधाय मन्त्रवच्चरुसाधने ॥ २५ ॥

ऋचीक बोले—भद्रे! मैंने कभी हास-परिहासमें भी झूठी बात नहीं कही है; फिर अग्निकी स्थापना करके मन्त्रयुक्त चरु तैयार करते समय मैंने जो संकल्प किया है, वह मिथ्या कैसे हो सकता है? ॥ २५ ॥

दृष्टमेतत् पुरा भद्रे ज्ञातं च तपसा मया।
ब्रह्मभूतं हि सकलं पितुस्तव कुलं भवेत् ॥ २६ ॥

कल्याणि! मैंने तपस्याद्वारा पहले ही यह बात देख और जान ली है कि तुम्हारे पिताका समस्त कुल ब्राह्मण होगा ॥

सत्यवत्युवाच

काममेवं भवेत् पौत्रो ममेह तव च प्रभो।
शमात्मकमहं पुत्रं लभेयं जपतां वर ॥ २७ ॥

सत्यवती बोली—प्रभो! आप जप करनेवाले ब्राह्मणोंमें सबसे श्रेष्ठ हैं, आपका और मेरा पौत्र भले ही उग्र स्वभावका हो जाय; परंतु पुत्र तो मुझे शान्तस्वभावका ही मिलना चाहिये ॥ २७ ॥

ऋचीक उवाच

पुत्रे नास्ति विशेषो मे पौत्रे च वरवर्णिनि।
यथा त्वयोक्तं वचनं तथा भद्रे भविष्यति ॥ २८ ॥

ऋचीक बोले—सुन्दरी! मेरे लिये पुत्र और पौत्रमें कोई अन्तर नहीं है। भद्रे! तुमने जैसा कहा है, वैसा ही होगा ॥ २८ ॥

वासुदेव उवाच

ततः सत्यवती पुत्रं जनयामास भार्गवम्।
तपस्यभिरतं शान्तं जमदग्निं यतव्रतम् ॥ २९ ॥

श्रीकृष्ण बोले—राजन्! तदनन्तर सत्यवतीने शान्त, संयमपरायण और तपस्वी भृगुवंशी जमदग्निको पुत्रके रूपमें उत्पन्न किया ॥ २९ ॥

विश्वामित्रं च दायादं गाधिः कुशिकनन्दनः।
यः प्राप ब्रह्मसमितं विश्वैर्ब्रह्मगुणैर्युतम् ॥ ३० ॥

कुशिकनन्दन गाधिने विश्वामित्र नामक पुत्र प्राप्त किया, जो सम्पूर्ण ब्राह्मणोचित गुणोंसे सम्पन्न थे और ब्रह्मर्षि पदवीको प्राप्त हुए ॥ ३० ॥

ऋचीको जनयामास जमदग्निं तपोनिधिम्।
सोऽपि पुत्रं ह्यजनयज्जमदग्निः सुदारुणम् ॥ ३१ ॥
सर्वविद्यान्तगं श्रेष्ठं धनुर्वेदस्य पारगम्।
रामं क्षत्रियहन्तारं प्रदीप्तमिव पावकम् ॥ ३२ ॥

ऋचीकने तपस्याके भंडार जमदग्निको जन्म दिया और जमदग्निने अत्यन्त उग्र स्वभाववाले जिस पुत्रको उत्पन्न किया, वही ये सम्पूर्ण विद्याओं तथा धनुर्वेदके पारङ्गत विद्वान् प्रज्वलित अग्निके समान तेजस्वी क्षत्रियहन्ता परशुरामजी हैं ॥ ३१-३२ ॥

तोषयित्वा महादेवं पर्वते गन्धमादने।
अस्त्राणि वरयामास परशुं चातितेजसम् ॥ ३३ ॥

परशुरामजीने गन्धमादन पर्वतपर महादेवजीको संतुष्ट करके उनसे अनेक प्रकारके अस्त्र और अत्यन्त तेजस्वी कुठार प्राप्त किये ॥ ३३ ॥

स तेनाकुण्ठधारेण ज्वलितानलवर्चसा।
कुठारेणाप्रमेयेण लोकेष्वप्रतिमोऽभवत् ॥ ३४ ॥

उस कुठारकी धार कभी कुण्ठित नहीं होती थी। वह जलती हुई आगके समान उद्दीप्त दिखायी देता था। उस अप्रमेय शक्तिशाली कुठारके कारण परशुरामजी सम्पूर्ण लोकोंमें अप्रतिम वीर हो गये ॥ ३४ ॥

एतस्मिन्नेव काले तु कृतवीर्यात्मजो बली।
अर्जुनो नाम तेजस्वी क्षत्रियो हैहयाधिपः ॥ ३५ ॥

इसी समय राजा कृतवीर्यका बलवान् पुत्र अर्जुन हैहय-वंशका राजा हुआ, जो एक तेजस्वी क्षत्रिय था ॥ ३५ ॥

दत्तात्रेयप्रसादेन राजा बाहुसहस्रवान् ।
चक्रवर्ती महातेजा विप्राणामाश्वमेधिके ॥ ३६ ॥
ददौ स पृथिवीं सर्वां सप्तद्वीपां सपर्वताम् ।
स्वबाहृस्त्रबलेनाजौ जित्वा परमधर्मवित् ॥ ३७ ॥

दत्तात्रेयजीकी कृपासे राजा अर्जुनने एक हजार भुजाएँ प्राप्त की थीं । वह महातेजस्वी चक्रवर्ती नरेश था । उस परम धर्मज्ञ नरेशने अपने बाहुबलसे पर्वतों और द्वीपोंसहित इस सम्पूर्ण पृथ्वीको युद्धमें जीतकर अश्वमेध यज्ञमें ब्राह्मणोंको दान कर दिया था ॥ ३६-३७ ॥

तृषितेन च कौन्तेय भिक्षितश्चित्रभानुना ।
सहस्रबाहुर्विक्रान्तः प्रादाद् भिक्षामथाग्नये ॥ ३८ ॥

कुन्तीनन्दन ! एक समय भूखे-प्यासे हुए अग्निदेवने पराक्रमी सहस्रबाहु अर्जुनसे भिक्षा माँगी और अर्जुनने अग्निको वह भिक्षा दे दी ॥ ३८ ॥

ग्रामान् पुराणि राष्ट्राणि घोषांश्चैव तु वीर्यवान् ।
जज्वाल तस्य बाणाग्राच्चित्रभानुर्दिधक्षया ॥ ३९ ॥

तत्पश्चात् बलशाली अग्निदेव कार्तवीर्य अर्जुनके बाणोंके अग्रभागसे गाँवों, गोष्ठों, नगरों और राष्ट्रोंको भस्म कर डालनेकी इच्छासे प्रज्वलित हो उठे ॥ ३९ ॥

स तस्य पुरुषेन्द्रस्य प्रभावेण महौजसः ।
ददाह कार्तवीर्यस्य शैलानथ वनस्पतीन् ॥ ४० ॥

उन्होंने उस महापराक्रमी नरेश कार्तवीर्यके प्रभावसे पर्वतों और वनस्पतियोंको जलाना आरम्भ किया ॥ ४० ॥

स शून्यमाश्रमं रम्यमापवस्य महात्मनः ।
ददाह पवनेनेद्धश्चित्रभानुः सहैहयः ॥ ४१ ॥

हवाका सहारा पाकर उत्तरोत्तर प्रज्वलित होते हुए अग्निदेवने हैहयराजको साथ लेकर महात्मा आपवके सूने एवं सुरम्य आश्रमको जलाकर भस्म कर दिया ॥ ४१ ॥

आपवस्तु ततो रोषाच्छशापार्जुनमच्युत ।
दग्धेऽऽश्रमे महाबाहो कार्तवीर्येण वीर्यवान् ॥ ४२ ॥

महाबाहु अच्युत ! कार्तवीर्यके द्वारा अपने आश्रमके जला दिये जानेपर शक्तिशाली आपव मुनिको बड़ा रोष हुआ । उन्होंने कृतवीर्यपुत्र अर्जुनको शाप देते हुए कहा—॥

त्वया न वर्जितं यस्मान्ममेदं हि महद् वनम् ।
दग्धं तस्माद् रणे रामो बाहूंस्ते छेत्स्यतेऽर्जुन॥ ४३ ॥

'अर्जुन ! तुमने मेरे इस विशाल वनको भी जलाये बिना नहीं छोड़ा, इसलिये संग्राममें तुम्हारी इन भुजाओंको परशुरामजी काट डालेंगे' ॥ ४३ ॥

अर्जुनस्तु महातेजा बली नित्यं शमात्मकः ।
ब्रह्मण्यश्च शरण्यश्च दाता शूरश्च भारत ॥ ४४ ॥

भारत ! अर्जुन महातेजस्वी, बलवान्, नित्य शान्तिपरायण, ब्राह्मण-भक्त शरणागतोंको शरण देनेवाला, दानी और शूरवीर था ॥ ४४ ॥

नाचिन्तयत् तदा शापं तेन दत्तं महात्मना ।
तस्य पुत्रास्तु बलिनः शापेनासन् पितुर्वधे ॥ ४५ ॥

अतः उसने उस समय उन महात्माके दिये हुए शापपर कोई ध्यान नहीं दिया । शापवश उसके बलवान् पुत्र ही पिताके वधमें कारण बन गये ॥ ४५ ॥

निमित्तादवलिप्ता वै नृशंसाश्चैव सर्वदा ।
जमदग्निधेन्वास्ते वत्समानिन्युर्भरतर्षभ ॥ ४६ ॥

भरतश्रेष्ठ ! उस शापके ही कारण सदा क्रूरकर्म करनेवाले वे घमंडी राजकुमार एक दिन जमदग्नि मुनिकी होमधेनुके बछड़ेको चुरा ले आये ॥ ४६ ॥

अज्ञातं कार्तवीर्येण हैहयेन्द्रेण धीमता ।
तन्निमित्तमभूद् युद्धं जामदग्नेर्महात्मनः ॥ ४७ ॥

उस बछड़ेके लाये जानेकी बात बुद्धिमान् हैहयराज कार्तवीर्यको मालूम नहीं थी, तथापि उसीके लिये महात्मा परशुरामका उसके साथ घोर युद्ध छिड़ गया ॥ ४७ ॥

ततोऽर्जुनस्य बाहूंस्तांश्छित्त्वा रामो रुषान्वितः ।
तं भ्रमन्तं ततो वत्सं जामदग्न्यः स्वमाश्रमम् ॥ ४८ ॥
प्रत्यानयत राजेन्द्र तेषामन्तःपुरात् प्रभुः ।

राजेन्द्र ! तब रोषमें भरे हुए प्रभावशाली जमदग्निनन्दन परशुरामने अर्जुनकी उन भुजाओंको काट डाला और इधर-उधर घूमते हुए उस बछड़ेको वे हैहयोंके अन्तःपुरसे निकालकर अपने आश्रममें ले आये ॥ ४८½ ॥

अर्जुनस्य सुतास्ते तु सम्भूयाबुद्धयस्तदा ॥ ४९ ॥
गत्वाऽऽश्रममसम्बुद्धा जमदग्नेर्महात्मनः ।
अपातयन्त भल्लाग्रैः शिरः कायान्नराधिप ॥ ५० ॥
समित्कुशार्थं रामस्य निर्यातस्य यशस्विनः ।

नरेश्वर ! अर्जुनके पुत्र बुद्धिहीन और मूर्ख थे । उन्होंने संगठित हो महात्मा जमदग्निके आश्रमपर जाकर भल्लोंके अग्रभागसे उनके मस्तकको धड़से काट गिराया । उस समय यशस्वी परशुरामजी समिधा और कुशा लानेके लिये आश्रमसे दूर चले गये थे ॥ ४९-५०½ ॥

ततः पितृवधामर्षाद् रामः परममन्युमान् ॥ ५१ ॥
निःक्षत्रियां प्रतिश्रुत्य महीं शस्त्रमगृह्णत ।

पिताके इस प्रकार मारे जानेसे परशुरामके क्रोधकी सीमा न रही । उन्होंने इस पृथ्वीको क्षत्रियोंसे सूनी कर देनेकी भीषण प्रतिज्ञा करके हथियार उठाया ॥ ५१½ ॥

ततः स भृगुशार्दूलः कार्तवीर्यस्य वीर्यवान् ॥ ५२ ॥
विक्रम्य निजघानाशु पुत्रान् पौत्रांश्च सर्वशः ।

भृगुकुलके सिंह पराक्रमी परशुरामने पराक्रम प्रकट करके कार्तवीर्यके सभी पुत्रों तथा पौत्रोंका शीघ्र ही संहार कर डाला ॥ ५३½ ॥

स हैहयसहस्राणि हत्वा परममन्युमान्॥ ५३॥
चकार भार्गवो राजन् महीं शोणितकर्दमाम्।

राजन्! परम क्रोधी परशुरामने सहस्रों हैहयोंका वध करके इस पृथ्वीपर रक्तकी कीच मचा दी॥ ५३½॥

स तथाऽऽशु महातेजाः कृत्वा निःक्षत्रियां महीम्॥
कृपया परयाऽऽविष्टो वनमेव जगाम ह।

इस प्रकार शीघ्र ही पृथ्वीको क्षत्रियोंसे हीन करके महातेजस्वी परशुराम अत्यन्त दयासे द्रवित हो वनमें ही चले गये॥ ५४½॥

ततो वर्षसहस्रेषु समतीतेषु केषुचित्॥ ५५॥
क्षेपं सम्प्राप्तवांस्तत्र प्रकृत्या कोपनः प्रभुः।

तदनन्तर कई हजार वर्ष बीत जानेपर एक दिन वहाँ स्वभावतः क्रोधी परशुरामपर आक्षेप किया गया॥ ५५½॥

विश्वामित्रस्य पौत्रस्तु रैभ्यपुत्रो महातपाः॥ ५६॥
परावसुर्महाराज क्षिप्त्वाऽऽह जनसंसदि।
ये ते ययातिपतने यज्ञे सन्तः समागताः॥ ५७॥
प्रतर्दनप्रभृतयो राम किं क्षत्रिया न ते।
मिथ्याप्रतिज्ञो राम त्वं कत्थसे जनसंसदि॥ ५८॥
भयात् क्षत्रियवीराणां पर्वतं समुपाश्रितः।
सा पुनः क्षत्रियशतैः पृथिवी सर्वतः स्तृता॥ ५९॥

महाराज! विश्वामित्रके पौत्र तथा रैभ्यके पुत्र महातेजस्वी परावसुने भरी सभामें आक्षेप करते हुए कहा—'राम! राजा ययातिके स्वर्गसे गिरनेके समय जो प्रतर्दन आदि सज्जन पुरुष यज्ञमें एकत्र हुए थे, क्या वे क्षत्रिय नहीं थे? तुम्हारी प्रतिज्ञा झूठी है। तुम व्यर्थ ही जनताकी सभामें डींग हाँका करते हो कि मैंने क्षत्रियोंका अन्त कर दिया। मैं तो समझता हूँ कि तुमने क्षत्रिय वीरोंके भयसे ही पर्वतकी शरण ली है। इस समय पृथ्वीपर सब ओर पुनः सैकड़ों क्षत्रिय भर गये हैं'॥ ५६—५९॥

परावसोर्वचः श्रुत्वा शस्त्रं जग्राह भार्गवः।
ततो ये क्षत्रिया राजन् शतशस्तेन वर्जिताः॥ ६०॥
ते विवृद्धा महावीर्याः पृथिवीपतयोऽभवन्।

राजन्! परावसुकी बात सुनकर भृगुवंशी परशुरामने पुनः शस्त्र उठा लिया। पहले उन्होंने जिन सैकड़ों क्षत्रियोंको छोड़ दिया था, वे ही बढ़कर महापराक्रमी भूपाल बन बैठे थे॥ ६०½॥

स पुनस्तान् जघानाशु बालानपि नराधिप॥ ६१॥
गर्भस्थैस्तु मही व्याप्ता पुनरेवाभवत् तदा।
जातं जातं स गर्भं तु पुनरेव जघान ह॥ ६२॥
अरक्षंश्च सुतान् कांश्चित् तदा क्षत्रिययोषितः।

नरेश्वर! उन्होंने पुनः उन सबके छोटे-छोटे बच्चोंतकको शीघ्र ही मार डाला। जो बच्चे गर्भमें रह गये थे, उन्हींसे पुनः यह सारी पृथ्वी व्याप्त हो गयी। परशुरामजी एक-एक गर्भके उत्पन्न होनेपर पुनः उसका वध कर डालते थे। उस समय क्षत्राणियाँ कुछ ही पुत्रोंको बचा सकी थीं॥ ६१-६२½॥

त्रिःसप्तकृत्वः पृथिवीं कृत्वा निःक्षत्रियां प्रभुः॥ ६३॥
दक्षिणामश्वमेधान्ते कश्यपायाददत् ततः।

इस प्रकार शक्तिशाली परशुरामजीने इस पृथ्वीको इक्कीस बार क्षत्रियोंसे हीन करके अश्वमेध यज्ञ किया और उसकी समाप्ति होनेपर दक्षिणाके रूपमें यह सारी पृथ्वी उन्होंने कश्यपजीको दे दी॥ ६३½॥

स क्षत्रियाणां शेषार्थं करेणोद्दिश्य कश्यपः॥ ६४॥
स्रुक्प्रग्रहवता राजंस्ततो वाक्यमथाब्रवीत्।
गच्छ तीरं समुद्रस्य दक्षिणस्य महामुने॥ ६५॥
न ते मद् विषये राम वस्तव्यमिह कर्हिचित्।

राजन्! तदनन्तर कुछ क्षत्रियोंको बचाये रखनेकी इच्छासे कश्यपजीने स्रुक् लिये हुए हाथसे संकेत करते हुए यह बात कही—'महामुने! अब तुम दक्षिण समुद्रके तटपर चले जाओ। अब कभी मेरे राज्यमें निवास न करना' ६४-६५½

ततः शूर्पारकं देशं सागरस्तस्य निर्ममे॥ ६६॥
सहसा जामदग्न्यस्य सोऽपरान्तमहीतलम्।

(यह सुनकर परशुरामजी चले गये) समुद्रने सहसा जमदग्निकुमार परशुरामजीके लिये जगह खाली करके शूर्पारक देशका निर्माण किया; जिसे अपरान्तभूमि भी कहते हैं॥

कश्यपस्तां महाराज प्रतिगृह्य वसुन्धराम्॥ ६७॥
कृत्वा ब्राह्मणसंस्थां वै प्रविष्टः सुमहद् वनम्।

महाराज! कश्यपने पृथ्वीको दानमें लेकर उसे ब्राह्मणोंके अधीन कर दिया और वे स्वयं विशाल वनके भीतर चले गये॥

ततः शूद्राश्च वैश्याश्च यथा स्वैरप्रचारिणः॥ ६८॥
अवर्तन्त द्विजाग्र्याणां दारेषु भरतर्षभ।

भरतश्रेष्ठ! फिर तो स्वेच्छाचारी वैश्य और शूद्र श्रेष्ठ द्विजोंकी स्त्रियोंके साथ अनाचार करने लगे॥ ६८½॥

अराजके जीवलोके दुर्बला बलवत्तरैः॥ ६९॥
पीड्यन्ते न हि विप्रेषु प्रभुत्वं कस्यचित् तदा।

सारे जीवजगत्‌में अराजकता फैल गयी। बलवान् मनुष्य दुर्बलोंको पीड़ा देने लगे। उस समय ब्राह्मणोंमेंसे किसीकी प्रभुता कायम न रही॥ ६९½॥

ततः कालेन पृथिवी पीड्यमाना दुरात्मभिः॥ ७०॥
विपर्ययेण तेनाशु प्रविवेश रसातलम्।
अरक्ष्यमाणा विधिवत् क्षत्रियैर्धर्मरक्षिभिः॥ ७१॥

कालक्रमसे दुरात्मा मनुष्य अपने अत्याचारोंसे पृथ्वीको पीड़ित करने लगे। इस उलट-फेरसे पृथ्वी शीघ्र ही रसातलमें प्रवेश करने लगी; क्योंकि उस समय धर्मरक्षक क्षत्रियोंद्वारा विधिपूर्वक पृथिवीकी रक्षा नहीं की जा रही थी॥७०-७१॥

तां दृष्ट्वा द्रवतीं तत्र संत्रासात् स महामनाः।
ऊरुणा धारयामास कश्यपः पृथिवीं ततः॥ ७२॥

भयके मारे पृथ्वीको रसातलकी ओर भागती देख महामनस्वी कश्यपने अपने ऊरुओंका सहारा देकर उसे रोक दिया ॥ ७२ ॥

धृता तेनोरुणा येन तेनोर्वीति मही स्मृता ।
रक्षणार्थं समुद्दिश्य ययाचे पृथिवी तदा ॥ ७३ ॥
प्रसाद्य कश्यपं देवी वरयामास भूमिपम् ।

कश्यपजीने ऊरुसे इस पृथ्वीको धारण किया था; इसलिये यह उर्वी नामसे प्रसिद्ध हुई। उस समय पृथ्वीदेवीने कश्यपजीको प्रसन्न करके अपनी रक्षाके लिये यह वर माँगा कि मुझे भूपाल दीजिये ॥

पृथिव्युवाच

सन्ति ब्रह्मन् मया गुप्ताः स्त्रीषु क्षत्रियपुङ्गवाः ॥ ७४ ॥
हैहयानां कुले जातास्ते संरक्षन्तु मां मुने ।

पृथ्वी बोली—ब्रह्मन्! मैंने स्त्रियोंमें कई क्षत्रिय-शिरोमणियोंको छिपा रक्खा है। मुने! वे सब हैहयकुलमें उत्पन्न हुए हैं, जो मेरी रक्षा कर सकते हैं ॥ ७४½ ॥

अस्ति पौरवदायादो विदूरथसुतः प्रभो ॥ ७५ ॥
ऋक्षैः संवर्धितो विप्र ऋक्षवत्यथ पर्वते ।

प्रभो! उनके सिवा पुरुवंशी विदूरथका भी एक पुत्र जीवित है, जिसे ऋक्षवान् पर्वतपर रीछोंने पालकर बड़ा किया है ॥ ७५½ ॥

तथानुकम्पमानेन यज्वनाथामितौजसा ॥ ७६ ॥
पराशरेण दायादः सौदासस्याभिरक्षितः ।
सर्वकर्माणि कुरुते शूद्रवत् तस्य स द्विजः ॥ ७७ ॥
सर्वकर्मेत्यभिख्यातः स मां रक्षतु पार्थिवः ।

इसी प्रकार अमित शक्तिशाली यज्ञपरायण महर्षि पराशरने दयावश सौदासके पुत्रकी जान बचायी है; वह राजकुमार द्विज होकर भी शूद्रोंके समान सब कर्म करता है; इसलिये 'सर्वकर्मा' नामसे विख्यात है। वह राजा होकर मेरी रक्षा करे ॥ ७६-७७½ ॥

शिबिपुत्रो महातेजा गोपतिर्नाम नामतः ॥ ७८ ॥
वने संवर्धितो गोभिः सोऽभिरक्षतु मां मुने ।

राजा शिबिका एक महातेजस्वी पुत्र बचा हुआ है, जिसका नाम है गोपति। उसे वनमें गौओंने पाल-पोसकर बड़ा किया है। मुने! आपकी आज्ञा हो तो वही मेरी रक्षा करे॥

प्रतर्दनस्य पुत्रस्तु वत्सो नाम महाबलः ॥ ७९ ॥
वत्सैः संवर्धितो गोष्ठे स मां रक्षतु पार्थिवः ।

प्रतर्दनका महाबली पुत्र वत्स भी राजा होकर मेरी रक्षा कर सकता है। उसे गोशालामें बछड़ोंने पाला था, इसलिये उसका नाम 'वत्स' हुआ है ॥ ७९½ ॥

दधिवाहनपौत्रस्तु पुत्रो दिविरथस्य च ॥ ८० ॥
गुप्तः स गौतमेनासीद् गङ्गाकूलेऽभिरक्षितः ।

दधिवाहनका पौत्र और दिविरथका पुत्र भी गङ्गातटपर महर्षि गौतमके द्वारा सुरक्षित है ॥ ८०½ ॥

बृहद्रथो महातेजा भूरिभूतिपरिष्कृतः ॥ ८१ ॥
गोलाङ्गूलैर्महाभागो गृध्रकूटेऽभिरक्षितः ।

महातेजस्वी महाभाग बृहद्रथ महान् ऐश्वर्यसे सम्पन्न है। उसे गृध्रकूट पर्वतपर लङ्गूरोंने बचाया था ॥ ८१½ ॥

मरुत्तस्यान्ववाये च रक्षिताः क्षत्रियात्मजाः ॥ ८२ ॥
मरुत्पतिसमा वीर्ये समुद्रेणाभिरक्षिताः ।

राजा मरुत्तके वंशमें भी कई क्षत्रिय बालक सुरक्षित हैं, जिनकी रक्षा समुद्रने की है। उन सबका पराक्रम देवराज इन्द्रके तुल्य है ॥ ८२½ ॥

एते क्षत्रियदायादास्तत्र तत्र परिश्रुताः ॥ ८३ ॥
द्योकारहेमकारादिजातिं नित्यं समाश्रिताः ।

ये सभी क्षत्रिय बालक जहाँ-तहाँ विख्यात हैं। वे सदा शिल्पी और सुनार आदि जातियोंके आश्रित होकर रहते हैं॥

यदि मामभिरक्षन्ति ततः स्थास्यामि निश्चला ॥ ८४ ॥
एतेषां पितरश्चैव तथैव च पितामहाः ।
मदर्थं निहता युद्धे रामेणाक्लिष्टकर्मणा ॥ ८५ ॥

यदि वे क्षत्रिय मेरी रक्षा करें तो मैं अविचल भावसे स्थिर हो सकूँगी। इन बेचारोंके बाप-दादे मेरे ही लिये युद्धमें अनायास ही महान् कर्म करनेवाले परशुरामजीके द्वारा मारे गये हैं ॥ ८४-८५ ॥

तेषामपचितिश्चैव मया कार्या महामुने ।
न ह्यहं कामये नित्यमतिक्रान्तेन रक्षणम् ।
वर्तमानेन वर्तेयं तत् क्षिप्रं संविधीयताम् ॥ ८६ ॥

महामुने! मुझे उन राजाओंसे उऋण होनेके लिये उनके इन वंशजोंका सत्कार करना चाहिये। मैं धर्मकी मर्यादाको लाँघनेवाले क्षत्रियके द्वारा कदापि अपनी रक्षा नहीं चाहती। जो अपने धर्ममें स्थित हो, उसीके संरक्षणमें रहूँ, यही मेरी इच्छा है; अतः आप इसकी शीघ्र व्यवस्था करें ॥ ८६ ॥

वासुदेव उवाच

ततः पृथिव्या निर्दिष्टांस्तान् समानीय कश्यपः ।
अभ्यषिञ्चन्महीपालान् क्षत्रियान् वीर्यसम्मतान् ॥ ८७ ॥

श्रीकृष्ण कहते हैं—राजन्! तदनन्तर पृथ्वीके बताये हुए उन सब पराक्रमी क्षत्रिय भूपालोंको बुलाकर कश्यपजीने उनका भिन्न-भिन्न राज्योंपर अभिषेक कर दिया ॥ ८७ ॥

तेषां पुत्राश्च पौत्राश्च येषां वंशाः प्रतिष्ठिताः ।
एवमेतत् पुरावृत्तं यन्मां पृच्छसि पाण्डव ॥ ८८ ॥

उन्हींके पुत्र-पौत्र बढ़े, जिनके वंश इस समय प्रतिष्ठित हैं। पाण्डुनन्दन! तुमने जिसके विषयमें मुझसे पूछा था, वह पुरातन वृत्तान्त ऐसा ही है ॥ ८८ ॥

वैशम्पायन उवाच

एवं ब्रुवंस्तं च यदुप्रवीरो
युधिष्ठिरं धर्मभृतां वरिष्ठम् ।
रथेन तेनाशु ययौ महात्मा
दिशः प्रकाशन् भगवानिवार्कः ॥ ८९ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन्! धर्मात्माओंमें श्रेष्ठ युधिष्ठिरसे इस प्रकार वार्तालाप करते हुए यदुकुलतिलक महात्मा श्रीकृष्ण उस रथके द्वारा भगवान् सूर्यके समान सम्पूर्ण दिशाओंमें प्रकाश फैलाते हुए शीघ्रतापूर्वक आगे बढ़ते चले गये॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि राजधर्मानुशासनपर्वणि रामोपाख्याने एकोनपञ्चाशत्तमोऽध्यायः ॥ ४९ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत राजधर्मानुशासनपर्वमें परशुरामोपाख्यानविषयक उनचासवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ४९ ॥

पञ्चाशत्तमोऽध्यायः

श्रीकृष्णद्वारा भीष्मजीके गुण-प्रभावका सविस्तर वर्णन

वैशम्पायन उवाच

ततो रामस्य तत् कर्म श्रुत्वा राजा युधिष्ठिरः।
विस्मयं परमं गत्वा प्रत्युवाच जनार्दनम् ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन्! परशुरामजीका यह अलौकिक कर्म सुनकर राजा युधिष्ठिरको बड़ा आश्चर्य हुआ। वे भगवान् श्रीकृष्णसे बोले—॥ १ ॥

अहो रामस्य वार्ष्णेय शक्रस्येव महात्मनः।
विक्रमो वसुधा येन क्रोधान्निःक्षत्रिया कृता ॥ २ ॥

'वृष्णिनन्दन! महात्मा परशुरामका पराक्रम तो इन्द्रके समान अत्यन्त अद्भुत है, जिन्होंने क्रोध करके यह सारी पृथ्वी क्षत्रियोंसे सूनी कर दी ॥ २ ॥

गोभिः समुद्रेण तथा गोलाङ्गूलर्क्षवानरैः।
गुप्ता रामभयोद्विग्नाः क्षत्रियाणां कुलोद्वहाः ॥ ३ ॥

'क्षत्रियोंके कुलका भार वहन करनेवाले श्रेष्ठ पुरुष परशुरामजीके भयसे उद्विग्न हो छिपे हुए थे और गाय, समुद्र, लंगूर, रीछ तथा वानरोंद्वारा उनकी रक्षा हुई थी ॥ ३ ॥

अहो धन्यो नृलोकोऽयं सभाग्याश्च नरा भुवि।
यत्र कर्मेदृशं धर्म्यं द्विजेन कृतमित्युत ॥ ४ ॥

'अहो! यह मनुष्यलोक धन्य है और इस भूतलके मनुष्य बड़े भाग्यवान् हैं, जहाँ द्विजवर परशुरामजीने ऐसा धर्मसङ्गत कार्य किया' ॥ ४ ॥

तथावृत्तौ कथां तात तावच्युतयुधिष्ठिरौ।
जग्मतुर्यत्र गाङ्गेयः शरतल्पगतः प्रभुः ॥ ५ ॥

तात! युधिष्ठिर और श्रीकृष्ण इस प्रकार बातचीत करते हुए उस स्थानपर जा पहुँचे, जहाँ प्रभावशाली गङ्गानन्दन भीष्म बाणशय्यापर सोये हुए थे ॥ ५ ॥

ततस्ते ददृशुर्भीष्मं शरप्रस्तरशायिनम्।
स्वरश्मिजालसंवीतं सायंसूर्यसमप्रभम् ॥ ६ ॥

उन्होंने देखा कि भीष्मजी शरशय्यापर सो रहे हैं और अपनी किरणोंसे घिरे हुए सायंकालिक सूर्यके समान प्रकाशित होते हैं ॥ ६ ॥

उपास्यमानं मुनिभिर्देवैरिव शतक्रतुम्।
देशे परमधर्मिष्ठे नदीमोघवतीमनु ॥ ७ ॥

जैसे देवता इन्द्रकी उपासना करते हैं, उसी प्रकार बहुत-से महर्षि ओघवती नदीके तटपर परम धर्ममय स्थानमें उनके पास बैठे हुए थे ॥ ७ ॥

दूरादेव तमालोक्य कृष्णो राजा च धर्मजः।
चत्वारः पाण्डवाश्चैव ते च शारद्वतादयः ॥ ८ ॥
अवस्कन्द्याथ वाहेभ्यः संयम्य प्रचलं मनः।
एकीकृत्येन्द्रियग्राममुपतस्थुर्महामुनीन् ॥ ९ ॥

श्रीकृष्ण, धर्मपुत्र राजा युधिष्ठिर, अन्य चारों पाण्डव तथा कृपाचार्य आदि सब लोग दूरसे ही उन्हें देखकर अपने-अपने रथसे उतर गये और चञ्चल मनको काबूमें करके सम्पूर्ण इन्द्रियोंको एकाग्र कर वहाँ बैठे हुए महामुनियोंकी सेवामें उपस्थित हुए ॥ ८-९ ॥

अभिवाद्य तु गोविन्दः सात्यकिस्ते च पार्थिवाः।
व्यासादीनृषिमुख्यांश्च गाङ्गेयमुपतस्थिरे ॥ १० ॥

श्रीकृष्ण, सात्यकि तथा अन्य राजाओंने व्यास आदि महर्षियोंको प्रणाम करके गङ्गानन्दन भीष्मको मस्तक झुकाया ॥ १० ॥

ततो वृद्धं तथा दृष्ट्वा गाङ्गेयं यदुकौरवाः।
परिवार्य ततः सर्वे निषेदुः पुरुषर्षभाः ॥ ११ ॥

तदनन्तर वे सभी यदुवंशी और कौरव नरश्रेष्ठ बूढ़े गङ्गानन्दन भीष्मजीका दर्शन करके उन्हें चारों ओरसे घेरकर बैठ गये ॥ ११ ॥

ततो निशाम्य गाङ्गेयं शाम्यमानमिवानलम्।
किंचिद् दीनमना भीष्ममिति होवाच केशवः ॥ १२ ॥

इसके बाद भगवान् श्रीकृष्णने मन-ही-मन कुछ दुखी हो बुझती हुई आगके समान दिखायी देनेवाले गङ्गानन्दन भीष्मको सुनाकर इस प्रकार कहा—॥ १२ ॥

कच्चिज्ज्ञानानि सर्वाणि प्रसन्नानि यथा पुरा।
कच्चिन्न व्याकुला चैव बुद्धिस्ते वदतां वर ॥ १३ ॥

'वक्ताओंमें श्रेष्ठ भीष्मजी! क्या आपकी सारी ज्ञानेन्द्रियाँ पहलेकी ही भाँति प्रसन्न हैं? आपकी बुद्धि व्याकुल तो नहीं हुई है? ॥ १३ ॥

शराभिघातदुःखात् ते कच्चिद् गात्रं न दूयते।
मानसादपि दुःखाद्धि शारीरं बलवत्तरम् ॥ १४ ॥

'आपको बाणोंकी चोट सहनेका जो कष्ट उठाना पड़ा है उससे आपके शरीरमें विशेष पीड़ा तो नहीं हो रही है? क्योंकि मानसिक दुःखसे शारीरिक दुःख अधिक प्रबल होता है—उसे सहना कठिन हो जाता है ॥ १४ ॥

वरदानात् पितुः कामं छन्दमृत्युरसि प्रभो ।
शान्तनोर्धर्मनित्यस्य न त्वेतन्मम कारणम् ॥ १५ ॥

'प्रभो ! आपने निरन्तर धर्ममें तत्पर रहनेवाले पिता शान्तनुके वरदानसे मृत्युको अपने अधीन कर लिया है। जब आपकी इच्छा हो तभी मृत्यु हो सकती है अन्यथा नहीं। यह आपके पिताके वरदानका ही प्रभाव है, मेरा नहीं॥१५॥

सुसूक्ष्मोऽपि तु देहे वै शल्यो जनयते रुजम् ।
किं पुनः शरसंघातैश्चितस्य तव पार्थिव ॥ १६ ॥

'राजन् ! यदि शरीरमें कोई महीन-से-महीन भी काँटा गड़ जाय तो वह भारी वेदना पैदा करता है। फिर जो बाणोंके समूहसे चुन दिया गया है, उस आपके शरीरकी पीड़ाके विषयमें तो कहना ही क्या है ? ॥ १६ ॥

कामं नैतत् तवाख्येयं प्राणिनां प्रभवाप्ययौ ।
उपदेष्टुं भवाञ्शक्तो देवानामपि भारत ॥ १७ ॥

'भरतनन्दन ! अवश्य ही आपके सामने यह कहना उचित न होगा कि 'सभी प्राणियोंके जन्म और मरण प्रारब्धके अनुसार नियत हैं। अतः आपको दैवका विधान समझकर अपने मनमें कोई दुःख नहीं मानना चाहिये।' आपको कोई क्या उपदेश देगा ? आप तो देवताओंको भी उपदेश देनेमें समर्थ हैं ॥ १७ ॥

यच्च भूतं भविष्यं च भवच्च पुरुषर्षभ ।
सर्वं तज्ज्ञानवृद्धस्य तव भीष्म प्रतिष्ठितम् ॥ १८ ॥

'पुरुषप्रवर भीष्म ! आप ज्ञानमें सबसे बढ़े-चढ़े हैं। आपकी बुद्धिमें भूत, भविष्य और वर्तमान सब कुछ प्रतिष्ठित है ॥ १८ ॥

संहारश्चैव भूतानां धर्मस्य च फलोदयः ।
विदितस्ते महाप्राज्ञ त्वं हि धर्ममयो निधिः ॥ १९ ॥

'महामते ! प्राणियोंका संहार कब होता है ? धर्मका क्या फल है ? और उसका उदय कब होता है ? ये सारी बातें आपको ज्ञात हैं; क्योंकि आप धर्मके प्रचुर भण्डार हैं ॥

त्वां हि राज्ये स्थितं स्फीते समग्राङ्गमरोगिणम् ।
स्त्रीसहस्रैः परिवृतं पश्यामीवोर्ध्वरेतसम् ॥ २० ॥

'आप एक समृद्धिशाली राज्यके अधिकारी थे, आपके सपूर्ण अङ्ग ठीक थे, किसी अङ्गमें कोई न्यूनता नहीं थी; आपको कोई रोग भी नहीं था और आप हजारों स्त्रियोंके बीचमें रहते थे, तो भी मैं आपको ऊर्ध्वरेता (अखण्ड ब्रह्मचर्यसे सम्पन्न) ही देखता हूँ ॥ २० ॥

ऋते शान्तनवाद् भीष्मात् त्रिषु लोकेषु पार्थिव।
सत्यधर्मान्महावीर्याच्छूराद् धर्मैकतत्परात् ॥ २१ ॥
मृत्युमावार्य तपसा शरसंस्तरशायिनः ।
निसर्गप्रभवं किंचिन्न च तातानुशुश्रुम ॥ २२ ॥

'तात ! पृथ्वीनाथ ! मैंने तीनों लोकोंमें सत्यवादी, एकमात्र धर्ममें तत्पर, शूरवीर, महापराक्रमी तथा बाणशय्यापर शयन करनेवाले आप शान्तनुनन्दन भीष्मके सिवा दूसरे किसी ऐसे प्राणीको ऐसा नहीं सुना है, जिसने शरीरके लिये स्वभावसिद्ध मृत्युको अपनी तपस्यासे रोक दिया हो ॥२१-२२॥

सत्ये तपसि दाने च यज्ञाधिकरणे तथा ।
धनुर्वेदे च वेदे च नीत्यां चैवानुरक्षणे ॥ २३ ॥
अनृशंसं शुचिं दान्तं सर्वभूतहिते रतम् ।
महारथं त्वत्सदृशं न कंचिदनुशुश्रुम ॥ २४ ॥

'सत्य, तप, दान और यज्ञके अनुष्ठानमें, वेद, धनुर्वेद तथा नीतिशास्त्रके ज्ञानमें, प्रजाके पालनमें, कोमलतापूर्ण बर्ताव, बाहर-भीतरकी शुद्धि, मन और इन्द्रियोंके संयम तथा सम्पूर्ण प्राणियोंके हितसाधनमें आपके समान मैंने दूसरे किसी महारथीको नहीं सुना है ॥ २३-२४ ॥

त्वं हि देवान् सगन्धर्वानसुरान् यक्षराक्षसान् ।
शक्तस्त्वेकरथेनैव विजेतुं नात्र संशयः ॥ २५ ॥

आप सम्पूर्ण देवता, गन्धर्व, असुर, यक्ष और राक्षसोंको एकमात्र रथके द्वारा ही जीत सकते थे, इसमें संशय नहीं है॥

स त्वं भीष्म महाबाहो वसूनां वासवोपमः ।
नित्यं विप्रैः समाख्यातो नवमोऽनवमो गुणैः ॥ २६ ॥

'महाबाहो भीष्म ! आप वसुओंमें वासव (इन्द्र) के समान हैं। ब्राह्मणोंने सदा आपको आठ वसुओंके अंशसे उत्पन्न नवाँ वसु बताया है। आपके समान गुणोंमें कोई नहीं है ॥ २६ ॥

अहं च त्वाभिजानामि यस्त्वं पुरुषसत्तम ।
त्रिदशेष्वपि विख्यातस्त्वं शक्त्या पुरुषोत्तमः॥ २७ ॥

पुरुषप्रवर ! आप कैसे हैं और क्या हैं, यह मैं जानता हूँ। आप पुरुषोंमें उत्तम और अपनी शक्तिके लिये देवताओंमें भी विख्यात हैं ॥ २७ ॥

मनुष्येषु मनुष्येन्द्र न दृष्टो न च मे श्रुतः ।
भवतो वा गुणैर्युक्तः पृथिव्यां पुरुषः क्वचित् ॥ २८ ॥

'नरेन्द्र ! मनुष्योंमें आपके समान गुणोंसे युक्त पुरुष इस पृथ्वीपर न तो मैंने कहीं देखा है और न सुना ही है ॥२८॥

त्वं हि सर्वगुणै राजन् देवानप्यतिरिच्यसे ।
तपसा हि भवाञ्शक्तः स्रष्टुं लोकांश्चराचरान्॥ २९ ॥

'राजन् ! आप अपने सम्पूर्ण गुणोंके द्वारा तो देवताओंसे भी बढ़कर हैं तथा तपस्याके द्वारा चराचर लोकोंकी भी सृष्टि कर सकते हैं ॥ २९ ॥

किं पुनश्चात्मनो लोकानुत्तमानुत्तमैर्गुणैः ।
तदस्य तप्यमानस्य ज्ञातीनां संक्षयेन वै ॥ ३० ॥
ज्येष्ठस्य पाण्डुपुत्रस्य शोकं भीष्म व्यपानुद ।

'फिर अपने लिये उत्तम गुणसम्पन्न लोकोंकी सृष्टि करना आपके लिये कौन बड़ी बात है ? अतः भीष्म ! आपसे यह निवेदन है कि ये ज्येष्ठ पाण्डव अपने कुटुम्बीजनोंके वधसे बहुत संतप्त हो रहे हैं। आप इनका शोक दूर करें ॥३०३॥

ये हि धर्माः समाख्याताश्चातुर्वर्ण्यस्य भारत ॥ ३१ ॥
चातुराश्रम्यसंयुक्ताः सर्वे ते विदितास्तव ।
चातुर्वेद्ये च ये प्रोक्ताश्चातुर्होत्रे च भारत ॥ ३२ ॥

भारत ! शास्त्रोंमें चारों वर्णों और आश्रमोंके लिये जो-जो धर्म बताये गये हैं, वे सब आपको विदित हैं । चारों वेदोंमें जिन धर्मोंका प्रतिपादन किया गया है तथा चारों होताओंके जो कर्तव्य बताये गये हैं, वे भी आपको ज्ञात हैं ॥

योगे सांख्ये च नियता ये च धर्माः सनातनाः ।
चातुर्वर्ण्यस्य यश्चोक्तो धर्मो न स्म विरुध्यते ॥ ३३ ॥
सेव्यमानः सवैयाख्यो गाङ्गेय विदितस्तव ।

गङ्गानन्दन ! योग और सांख्यमें जो सनातन धर्म नियत है तथा चारों वर्णोंके लिये जो अविरोधी धर्म बताया गया है, जिसका सभी लोग सेवन करते हैं, वह सब आपको व्याख्यासहित ज्ञात है ॥ ३३½ ॥

प्रतिलोमप्रसूतानां वर्णानां चैव यः स्मृतः ॥ ३४ ॥
देशजातिकुलानां च जानीषे धर्मलक्षणम् ।
वेदोक्तो यश्च शिष्टोक्तः सदैव विदितस्तव ॥ ३५ ॥

प्रतिलोम क्रमसे उत्पन्न हुए वर्णसङ्करोंका जो धर्म है, उससे भी आप अपरिचित नहीं हैं । देश, जाति और कुलके धर्मोंका क्या लक्षण है, उसे आप अच्छी तरह जानते हैं । वेदोंमें प्रतिपादित तथा शिष्ट पुरुषोंद्वारा कथित धर्मोंको भी आप सदासे ही जानते हैं ॥ ३४-३५ ॥

इतिहासपुराणार्थाः कार्त्स्न्येन विदितास्तव ।
धर्मशास्त्रं च सकलं नित्यं मनसि ते स्थितम् ॥ ३६ ॥

'इतिहास और पुराणोंके अर्थ आपको पूर्णरूपसे ज्ञात हैं । सारा धर्मशास्त्र सदा आपके मनमें स्थित है ॥ ३६ ॥

ये च केचन लोकेऽस्मिन्नर्थाः संशयकारकाः ।
तेषां छेत्ता नास्ति लोके त्वदन्यः पुरुषर्षभ ॥ ३७ ॥

'पुरुषप्रवर ! संसारमें जो कोई संदेहग्रस्त विषय हैं, उनका समाधान करनेवाला आपके सिवा दूसरा कोई नहीं है ॥

स पाण्डवेयस्य मनःसमुत्थितं
नरेन्द्र शोकं व्यपकर्ष मेधया ।
भवद्विधा ह्युत्तमबुद्धिविस्तरा
विमुह्यमानस्य नरस्य शान्तये ॥ ३८ ॥

'नरेन्द्र ! पाण्डुनन्दन युधिष्ठिरके हृदयमें जो शोक उमड़ आया है, उसे आप अपनी बुद्धिके द्वारा दूर कीजिये । आप-जैसे उत्तम बुद्धिके विस्तारवाले पुरुष ही मोहग्रस्त मनुष्यके शोक-संतापको दूर करके उसे शान्ति दे सकते हैं' ॥ ३८ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि राजधर्मानुशासनपर्वणि कृष्णवाक्ये पञ्चाशत्तमोऽध्यायः ॥ ५० ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत राजधर्मानुशासनपर्वमें श्रीकृष्णवाक्यविषयक पचासवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ५० ॥

एकपञ्चाशत्तमोऽध्यायः

भीष्मके द्वारा श्रीकृष्णकी स्तुति तथा श्रीकृष्णका भीष्मकी प्रशंसा करते हुए उन्हें युधिष्ठिरके लिये धर्मोपदेश करनेका आदेश

वैशम्पायन उवाच

श्रुत्वा तु वचनं भीष्मो वासुदेवस्य धीमतः ।
किंचिदुन्नाम्य वदनं प्राञ्जलिर्वाक्यमब्रवीत् ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन् ! परम बुद्धिमान् वसुदेवनन्दन भगवान् श्रीकृष्णका वचन सुनकर भीष्मजीने अपना मुँह कुछ ऊपर उठाया और हाथ जोड़कर कहा ॥

भीष्म उवाच

नमस्ते भगवन् कृष्ण लोकानां प्रभवाप्यय ।
त्वं हि कर्ता हृषीकेश संहर्ता चापराजितः ॥ २ ॥

भीष्मजी बोले—सम्पूर्ण लोकोंकी उत्पत्ति और प्रलयके अधिष्ठान भगवान् श्रीकृष्ण ! आपको नमस्कार है । हृषीकेश ! आप ही इस जगत्‌की सृष्टि और संहार करनेवाले हैं । आपकी कभी पराजय नहीं होती ॥ २ ॥

विश्वकर्मन् नमस्तेऽस्तु विश्वात्मन् विश्वसम्भव ।
अपवर्गोऽसि भूतानां पञ्चानां परतः स्थितः ॥ ३ ॥

इस विश्वकी रचना करनेवाले परमेश्वर ! आपको नमस्कार है । विश्वके आत्मा और विश्वकी उत्पत्तिके स्थानभूत जगदीश्वर ! आपको नमस्कार है । आप पाँचों भूतोंसे परे और सम्पूर्ण प्राणियोंके लिये मोक्षस्वरूप हैं ॥ ३ ॥

नमस्ते त्रिषु लोकेषु नमस्ते परतस्त्रिषु ।
योगेश्वर नमस्तेऽस्तु त्वं हि सर्वपरायणः ॥ ४ ॥

तीनों लोकोंमें व्याप्त हुए आपको नमस्कार है । तीनों गुणोंसे अतीत आपको प्रणाम है । योगेश्वर ! आपको नमस्कार है । आप ही सबके परम आधार हैं ॥ ४ ॥

मत्संश्रितं यदाऽऽत्थ त्वं वचः पुरुषसत्तम ।
तेन पश्यामि ते दिव्यान् भावान् हि त्रिषु वर्त्मसु ॥ ५ ॥

पुरुषप्रवर ! आपने मेरे सम्बन्धमें जो बात कही है, उससे मैं तीनों लोकोंमें व्याप्त हुए आपके दिव्य भावोंका साक्षात्कार कर रहा हूँ ॥ ५ ॥

तच्च पश्यामि गोविन्द यत् ते रूपं सनातनम् ।
सप्त मार्गा निरुद्धास्ते वायोरमिततेजसः ॥ ६ ॥

गोविन्द ! आपका जो सनातन रूप है, उसे भी मैं देख रहा हूँ । आपने ही अत्यन्त तेजस्वी वायुका रूप धारण करके ऊपरके सातों लोकोंको व्याप्त कर रक्खा है ॥ ६ ॥

दिवं ते शिरसा व्याप्तं पद्भ्यां देवी वसुन्धरा ।
दिशो भुजा रविश्चक्षुर्वीर्ये शुक्रः प्रतिष्ठितः ॥ ७ ॥

स्वर्गलोक आपके मस्तकसे और वसुन्धरा देवी आपके पैरोंसे व्याप्त हैं । दिशाएँ आपकी भुजाएँ हैं । सूर्य नेत्र हैं और शुक्राचार्य आपके वीर्यमें प्रतिष्ठित हैं ॥ ७ ॥

अतसीपुष्पसंकाशं पीतवाससमच्युतम् ।
वपुर्ह्यनुमिमीमस्ते मेघस्येव सविद्युतः ॥ ८ ॥

आपका श्रीविग्रह तीसीके फूलकी भाँति श्याम है । उसपर पीताम्बर शोभा दे रहा है, वह कभी अपनी महिमासे च्युत नहीं होता । उसे देखकर हम अनुमान करते हैं कि बिजलीसहित मेघ शोभा पा रहा है ॥ ८ ॥

त्वत्प्रपन्नाय भक्ताय गतिमिष्टां जिगीषवे ।
यच्छ्रेयः पुण्डरीकाक्ष तद् ध्यायस्व सुरोत्तम ॥ ९ ॥

मैं आपकी शरणमें आया हुआ आपका भक्त हूँ और अभीष्ट गतिको प्राप्त करना चाहता हूँ । कमलनयन ! सुरश्रेष्ठ ! मेरे लिये जो कल्याणकारी उपाय हो उसीका संकल्प कीजिये ॥ ९ ॥

वासुदेव उवाच

यतः खलु परा भक्तिर्मयि ते पुरुषर्षभ ।
ततो मया वपुर्दिव्यं त्वयि राजन् प्रदर्शितम् ॥ १० ॥

श्रीकृष्ण बोले—राजन् ! पुरुषप्रवर ! मुझमें आपकी पराभक्ति है । इसीलिये मैंने आपको अपने दिव्य स्वरूपका दर्शन कराया है ॥ १० ॥

न ह्यभक्ताय राजेन्द्र भक्तायानृजवे न च ।
दर्शयाम्यहमात्मानं न चाशान्ताय भारत ॥ ११ ॥

भारत ! राजेन्द्र ! जो मेरा भक्त नहीं है अथवा भक्त होनेपर भी सरल स्वभावका नहीं है । जिसके मनमें शान्ति नहीं है, उसे मैं अपने स्वरूपका दर्शन नहीं कराता ॥ ११ ॥

भवांस्तु मम भक्तश्च नित्यं चार्जवमास्थितः ।
दमे तपसि सत्ये च दाने च निरतः शुचिः ॥ १२ ॥

आप मेरे भक्त तो हैं ही । आपका स्वभाव भी सरल है । आप इन्द्रिय-संयम, तपस्या, सत्य और दानमें तत्पर रहनेवाले तथा परम पवित्र हैं ॥ १२ ॥

अर्हस्त्वं भीष्म मां द्रष्टुं तपसा स्वेन पार्थिव ।
तव ह्युपस्थिता लोका येभ्यो नावर्तते पुनः ॥ १३ ॥

भूपाल ! आप अपने तपोबलसे ही मेरा दर्शन करनेके योग्य हैं । आपके लिये वे दिव्य लोक प्रस्तुत हैं, जहाँसे फिर इस लोकमें नहीं आना पड़ता ॥ १३ ॥

पञ्चाशतं षट् च कुरुप्रवीर
शेषं दिनानां तव जीवितस्य ।
ततः शुभैः कर्मफलोदयैस्त्वं
समेष्यसे भीष्म विमुच्य देहम् ॥ १४ ॥

कुरुवीर भीष्म ! अब आपके जीवनके कुल छप्पन दिन शेष हैं । तदनन्तर आप इस शरीरका त्याग करके अपने शुभ कर्मोंके फलस्वरूप उत्तम लोकोंमें जायँगे ॥ १४ ॥

एते हि देवा वसवो विमाना-
न्यास्थाय सर्वे ज्वलिताग्निकल्पाः ।
अन्तर्हितास्त्वां प्रतिपालयन्ति
काष्ठां प्रपद्यन्तमुदक्पतङ्गम् ॥ १५ ॥

देखिये, ये प्रज्वलित अग्निके समान तेजस्वी देवता और वसु विमानोंमें बैठकर आकाशमें अदृश्यरूपसे रहते हुए सूर्य उत्तरायण होने और आपके आनेकी बाट जोहते हैं ॥ १५ ॥

व्यावर्तमाने भगवत्युदीचीं
सूर्ये दिशं कालवशात् प्रपन्ने ।
गन्तासि लोकान् पुरुषप्रवीर
नावर्तते यानुपलभ्य विद्वान् ॥ १६ ॥

पुरुषोंमें प्रमुख वीर ! जब भगवान् सूर्य कालवश दक्षिणायनसे लौटते हुए उत्तर दिशाके मार्गपर लौटेंगे, उस समय आप उन्हीं लोकोंमें जाइयेगा, जहाँ जाकर ज्ञानी पुरुष फिर इस संसारमें नहीं लौटते हैं ॥ १६ ॥

अमुं च लोकं त्वयि भीष्म याते
ज्ञानानि नङ्क्ष्यन्त्यखिलेन वीर ।
अतस्तु सर्वे त्वयि संनिकर्षं
समागता धर्मविवेचनाय ॥ १७ ॥

वीर भीष्म ! जब आप परलोकमें चले जाइयेगा, उस समय सारे ज्ञान लुप्त हो जायँगे; अतः ये सब लोग आपके पास धर्मका विवेचन करानेके लिये आये हैं ॥ १७ ॥

तज्ज्ञातिशोकोपहतश्रुताय
सत्याभिसंधाय युधिष्ठिराय ।
प्रब्रूहि धर्मार्थसमाधियुक्तं
सत्यं वचोऽस्यापनुदाशु शोकम् ॥ १८ ॥

ये सत्यपरायण युधिष्ठिर बन्धुजनोंके शोकसे अपना सारा शास्त्रज्ञान खो बैठे हैं; अतः आप इन्हें धर्म, अर्थ और योगसे युक्त यथार्थ बातें सुनाकर शीघ्र ही इनका शोक दूर कीजिये ॥ १८ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि राजधर्मानुशासनपर्वणि कृष्णवाक्ये एकपञ्चाशत्तमोऽध्यायः ॥ ५१ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत राजधर्मानुशासनपर्वमें श्रीकृष्णवाक्यविषयक इक्यावनवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ५१ ॥

द्विपञ्चाशत्तमोऽध्यायः

भीष्मका अपनी असमर्थता प्रकट करना, भगवान्‌का उन्हें वर देना तथा ऋषियों एवं पाण्डवोंका दूसरे दिन आनेका संकेत करके वहाँसे विदा होकर अपने-अपने स्थानोंको जाना

वैशम्पायन उवाच

ततः कृष्णस्य तद् वाक्यं धर्मार्थसहितं हितम्।
श्रुत्वा शान्तनवो भीष्मः प्रत्युवाच कृताञ्जलिः॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन्! श्रीकृष्णका यह धर्म और अर्थसे युक्त हितकर वचन सुनकर शान्तनुनन्दन भीष्मने दोनों हाथ जोड़कर कहा—॥ १ ॥

लोकनाथ महाबाहो शिव नारायणाच्युत।
तव वाक्यमुपश्रुत्य हर्षेणास्मि परिप्लुतः॥ २ ॥

'लोकनाथ! महाबाहो! शिव! नारायण! अच्युत! आपका यह वचन सुनकर मैं आनन्दके समुद्रमें निमग्न हो गया हूँ॥ २ ॥

किं चाहमभिधास्यामि वाक्यं ते तव संनिधौ।
यदा वाचोगतं सर्वं तव वाचि समाहितम्॥ ३ ॥

'भला मैं आपके समीप क्या कह सकूँगा? जब कि वाणीका सारा विषय आपकी वेदमयी वाणीमें प्रतिष्ठित है॥ ३ ॥

यच्च किंचित् क्वचिल्लोके कर्तव्यं क्रियते च यत्।
त्वत्तस्तन्निःसृतं देव लोके बुद्धिमतो हि ते॥ ४ ॥

'देव! लोकमें कहीं भी जो कुछ कर्तव्य किया जाता है, वह सब आप बुद्धिमान् परमेश्वरसे ही प्रकट हुआ है॥ ४ ॥

कथयेद् देवलोकं यो देवराजसमीपतः।
धर्मकामार्थमोक्षाणां सोऽर्थं ब्रूयात् तवाग्रतः॥ ५ ॥

'जो मनुष्य देवराज इन्द्रके निकट देवलोकका वृत्तान्त सुनानेका साहस कर सके, वही आपके सामने धर्म, अर्थ, काम और मोक्षकी बात कह सकता है॥ ५ ॥

शराभितापाद् व्यथितं मनो मे मधुसूदन।
गात्राणि चावसीदन्ति न च बुद्धिः प्रसीदति॥ ६ ॥

'मधुसूदन! इन बाणोंके गड़नेसे जो जलन हो रही है, उसके कारण मेरे मनमें बड़ी व्यथा है। सारा शरीर पीड़ाके मारे शिथिल हो गया है और बुद्धि कुछ काम नहीं दे रही है॥

न च मे प्रतिभा काचिदस्ति किंचित् प्रभाषितुम्।
पीड्यमानस्य गोविन्द विषानलसमैः शरैः॥ ७ ॥

'गोविन्द! ये बाण विष और अग्निके समान मुझे निरन्तर पीड़ा दे रहे हैं; अतः मुझमें कुछ भी कहनेकी शक्ति नहीं रह गयी है॥ ७ ॥

बलं मे प्रजहातीव प्राणाः संत्वरयन्ति च।
मर्माणि परितप्यन्ति भ्रान्तचित्तस्तथा ह्यहम्॥ ८ ॥

'मेरा बल मुझे छोड़ता-सा जान पड़ता है। ये प्राण निकलनेके लिये उतावले हो रहे हैं। मेरे मर्मस्थानोंमें बड़ी पीड़ा हो रही है; अतः मेरा चित्त भ्रान्त हो गया है॥ ८ ॥

दौर्बल्यात् सज्जते वाङ् मे स कथं वक्तुमुत्सहे।
साधु मे त्वं प्रसीदस्व दाशार्हकुलवर्धन॥ ९ ॥

'दुर्बलताके कारण मेरी जीभ तालूमें सट जाती है, ऐसी दशामें मैं कैसे बोल सकता हूँ? दशार्हकुलकी वृद्धि करनेवाले प्रभो! आप मुझपर पूर्णरूपसे प्रसन्न हो जाइये॥ ९ ॥

तत् क्षमस्व महाबाहो न ब्रूयां किंचिदच्युत।
त्वत्संनिधौ च सीदेद्धि वाचस्पतिरपि ब्रुवन्॥ १० ॥

'महाबाहो! क्षमा कीजिये। मैं बोल नहीं सकता। आपके निकट प्रवचन करनेमें बृहस्पतिजी भी शिथिल हो सकते हैं; फिर मेरी क्या बिसात है?॥ १० ॥

न दिशः सम्प्रजानामि नाकाशं न च मेदिनीम्।
केवलं तव वीर्येण तिष्ठामि मधुसूदन॥ ११ ॥

'मधुसूदन! मुझे न तो दिशाओंका ज्ञान है और न आकाश एवं पृथ्वीका ही भान हो रहा है। केवल आपके प्रभावसे ही जी रहा हूँ॥ ११ ॥

स्वयमेव भवांस्तस्माद् धर्मराजस्य यद्धितम्।
तद् ब्रवीत्वाशु सर्वेषामागमानां त्वमागमः॥ १२ ॥

'इसलिये आप स्वयं ही जिसमें धर्मराजका हित हो, वह बात शीघ्र बताइये; क्योंकि आप शास्त्रोंके भी शास्त्र हैं॥

कथं त्वयि स्थिते कृष्णे शाश्वते लोककर्तरि।
प्रब्रूयान्मद्विधः कश्चिद् गुरौ शिष्य इव स्थिते॥ १३ ॥

'श्रीकृष्ण! आप जगत्‌के कर्ता और सनातन पुरुष हैं। आपके रहते हुए मेरे-जैसा कोई भी मनुष्य कैसे उपदेश कर सकता है? क्या गुरुके रहते हुए शिष्य उपदेश देनेका अधिकारी है?'॥ १३ ॥

वासुदेव उवाच

उपपन्नमिदं वाक्यं कौरवाणां धुरन्धरे।
महावीर्ये महासत्त्वे स्थिरे सर्वार्थदर्शिनि॥ १४ ॥

भगवान् श्रीकृष्ण बोले—भीष्मजी! आप कुरुकुलका भार वहन करनेवाले, महापराक्रमी, परम धैर्यवान्, स्थिर तथा सर्वार्थदर्शी हैं; आपका यह कथन सर्वथा युक्तिसंगत है॥

यच्च मामात्थ गाङ्गेय बाणघातरुजं प्रति।
गृहाणात्र वरं भीष्म मत्प्रसादकृतं प्रभो॥ १५ ॥

गङ्गानन्दन भीष्म! प्रभो! बाणोंके आघातसे होनेवाली पीड़ाके विषयमें जो आपने कहा है, उसके लिये आप मेरी प्रसन्नतासे दिये हुए इस 'वर' को ग्रहण करें॥ १५ ॥

न ते ग्लानिर्न ते मूर्छा न दाहो न च ते रुजा।
प्रभविष्यन्ति गाङ्गेय क्षुत्पिपासे न चाप्युत॥ १६ ॥

गङ्गाकुमार! अब आपको न ग्लानि होगी न मूर्छा; न

दाह होगा न रोग, भूख और प्यासका कष्ट भी नहीं रहेगा ॥

ज्ञानानि च समग्राणि प्रतिभास्यन्ति तेऽनघ।
न च ते क्वचिदासक्तिर्बुद्धेः प्रादुर्भविष्यति ॥ १७ ॥

अनघ ! आपके अन्तःकरणमें सम्पूर्ण ज्ञान प्रकाशित हो उठेंगे। आपकी बुद्धि किसी भी विषयमें कुण्ठित नहीं होगी ॥ १७ ॥

सत्त्वस्थं च मनो नित्यं तव भीष्म भविष्यति।
रजस्तमोभ्यां रहितं घनैर्मुक्त इवोडुराट् ॥ १८ ॥

भीष्म ! आपका मन मेघके आवरणसे मुक्त हुए चन्द्रमाकी भाँति रजोगुण और तमोगुणसे रहित होकर सदा सत्त्वगुणमें स्थित रहेगा ॥१८ ॥

यद् यच्च धर्मसंयुक्तमर्थयुक्तमथापि च।
चिन्तयिष्यसि तत्राग्र्या बुद्धिस्तव भविष्यति ॥ १९ ॥

आप जिस-जिस धर्मयुक्त या अर्थयुक्त विषयका चिन्तन करेंगे, उसमें आपकी बुद्धि सफलतापूर्वक आगे बढ़ती जायगी ॥ १९ ॥

इमं च राजशार्दूल भूतग्रामं चतुर्विधम्।
चक्षुर्दिव्यं समाश्रित्य द्रक्ष्यस्यमितविक्रम ॥ २० ॥

अमितपराक्रमी नृपश्रेष्ठ ! आप दिव्य दृष्टि पाकर स्वेदज, अण्डज, उद्भिज्ज और जरायुज—इन चारों प्रकारके प्राणियोंको देख सकेंगे ॥ २०॥

संसरन्तं प्रजाजालं संयुक्तो ज्ञानचक्षुषा।
भीष्म द्रक्ष्यसि तत्त्वेन जले मीन इवामले ॥ २१ ॥

भीष्म ! ज्ञानदृष्टिसे सम्पन्न होकर आप संसारबन्धनमें पड़नेवाले सम्पूर्ण जीवसमुदायको उसी तरह यथार्थ रूपसे देख सकेंगे, जैसे मत्स्य निर्मल जलमें सब कुछ देखता रहता है ॥ २१ ॥

वैशम्पायन उवाच

ततस्ते व्याससहिताः सर्व एव महर्षयः।
ऋग्यजुःसामसहितैर्वचोभिः कृष्णमार्चयन् ॥ २२ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन् ! तदनन्तर व्याससहित सम्पूर्ण महर्षियोंने ऋक्, यजु तथा सामवेदके मन्त्रोंसे भगवान् श्रीकृष्णका पूजन किया ॥ २२ ॥

ततः सर्वार्तवं दिव्यं पुष्पवर्षं नभस्तलात्।
पपात यत्र वार्ष्णेयः सगाङ्गेयः सपाण्डवः ॥ २३ ॥

तत्पश्चात् जहाँ गङ्गापुत्र भीष्म और पाण्डुनन्दन युधिष्ठिरके साथ वृष्णिवंशी भगवान् श्रीकृष्ण विराजमान थे, वहाँ आकाशसे सभी ऋतुओंमें खिलनेवाले दिव्य पुष्पोंकी वर्षा होने लगी ॥ २३ ॥

वादित्राणि च सर्वाणि जगुश्चाप्सरसां गणाः।
न चाहितमनिष्टं च किञ्चित्तत्र प्रदृश्यते ॥ २४ ॥

सब प्रकारके बाजे बजने लगे, अप्सराओंके समुदाय गीत गाने लगे। वहाँ कुछ भी ऐसा नहीं देखा जाता था, जो अहितकर और अनिष्टकारक हो ॥ २४ ॥

ववौ शिवः सुखो वायुः सर्वगन्धवहः शुचिः।
शान्तायां दिशि शान्ताश्च प्रावदन् मृगपक्षिणः ॥ २५ ॥

शीतल, सुखद, मन्द, पवित्र एवं सर्वथा सुगन्धयुक्त वायु चल रही थी, सम्पूर्ण दिशाएँ शान्त थीं और उनमें रहनेवाले पशु एवं पक्षी शान्तभावसे मनोहर वचन बोल रहे थे ॥ २५ ॥

ततो मुहूर्ताद् भगवान् सहस्रांशुर्दिवाकरः।
दहन् वनमिवैकान्ते प्रतीच्यां प्रत्यदृश्यत ॥ २६ ॥

इसी समय दो ही घड़ीमें भगवान् सहस्रकिरणमाली दिवाकर पश्चिम दिशाके एकान्त प्रदेशमें वहाँके वनप्रान्तको दग्ध करते हुए-से दिखायी दिये ॥ २६ ॥

ततो महर्षयः सर्वे समुत्थाय जनार्दनम्।
भीष्ममामन्त्रयाञ्चक्रू राजानं च युधिष्ठिरम् ॥ २७ ॥

तब सभी महर्षियोंने उठकर भगवान् श्रीकृष्ण, भीष्म तथा राजा युधिष्ठिरसे विदा माँगी ॥ २७ ॥

ततः प्रणाममकरोत् केशवः सहपाण्डवः।
सात्यकिः संजयश्चैव स च शारद्वतः कृपः ॥ २८ ॥

इसके बाद पाण्डवोंसहित श्रीकृष्ण, सात्यकि, संजय तथा शरद्वान्‌के पुत्र कृपाचार्यने उन सबको प्रणाम किया ॥२८ ॥

ततस्ते धर्मनिरताः सम्यक् तैरभिपूजिताः।
श्वः समेष्याम इत्युक्त्वा यथेष्टं त्वरिता ययुः ॥ २९ ॥

उनके द्वारा भलीभाँति पूजित हुए वे धर्मपरायण महर्षि, 'हमलोग फिर कल सबेरे यहाँ आयँगे' ऐसा कहकर तुरंत ही अपने-अपने अभीष्ट स्थानको चले गये ॥ २९ ॥

तथैवामन्त्र्य गाङ्गेयं केशवः पाण्डवास्तथा।
प्रदक्षिणमुपावृत्य रथानारुरुहुः शुभान् ॥ ३० ॥

इसी प्रकार श्रीकृष्ण और पाण्डव भी गङ्गानन्दन भीष्मजीसे जानेकी आज्ञा ले उनकी परिक्रमा करके अपने मङ्गलमय रथोंपर जा बैठे ॥ ३० ॥

ततो रथैः काञ्चनचित्रकूबरै-
र्महीधराभैः समदैश्च दन्तिभिः।
हयैः सुपर्णैरिव चाशुगामिभिः
पदातिभिश्चात्तशरासनादिभिः ॥ ३१ ॥
ययौ रथानां पुरतो हि सा चमू-
स्तथैव पश्चादतिमात्रसारिणी।
पुरश्च पश्चाच्च यथा महानदी
तमृक्षवन्तं गिरिमेत्य नर्मदा ॥ ३२ ॥

सुवर्णनिर्मित विचित्र कूबरोंवाले रथों, पर्वताकार मतवाले हाथियों, गरुड़के समान तीव्रगतिसे चलनेवाले घोड़ों तथा हाथमें धनुष-बाण आदि लिये हुए पैदल सैनिकोंसे युक्त वह विशाल सेना रथोंके आगे और पीछे भी बहुत दूरतक फैलकर

[illegible] जैसे श्रीमान् पर्वतके पास पहुँचकर पूर्व और पश्चिम दिशामें भी प्रवाहित होनेवाली महानदी [illegible] सुशोभित होती है ॥ ३१-३२ ॥

ततः पुरस्ताद् भगवान् निशाकरः
समुत्थितस्तामभिहर्षयंश्चमूम् ।
दिवाकरापीतरसा महौषधीः
पुनः स्वकेनैव गुणेन योजयन् ॥ ३३ ॥

इसके बाद पूर्व दिशाके आकाशमें भगवान् चन्द्रदेवका उदय हुआ, जो उस सेनाका हर्ष बढ़ा रहे थे और सूर्यने जिन बड़ी-बड़ी ओषधियोंका रस पी लिया था, उन सबको अपनी सुधावर्षी किरणोंद्वारा पुनः उनके स्वाभाविक गुणोंसे सम्पन्न कर रहे थे ॥ ३३ ॥

ततः पुरं सुरपुरसम्मितद्युति
प्रविश्य ते यदुवृषपाण्डवास्तदा ।
यथोचितान् भवनवरान् समाविशन्
श्रमान्विता मृगपतयो गुहा इव ॥ ३४ ॥

तदनन्तर वे यदुकुलके श्रेष्ठ वीर तथा पाण्डव सुरपुरके समान शोभा पानेवाले हस्तिनापुरमें प्रवेश करके यथायोग्य श्रेष्ठ महलोंके भीतर चले गये। ठीक उसी तरह, जैसे थके-मादे सिंह विश्रामके लिये पर्वतकी कन्दराओंमें प्रवेश करते हैं ॥ ३४ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि राजधर्मानुशासनपर्वणि युधिष्ठिराद्यागमने द्विपञ्चाशत्तमोऽध्यायः ॥ ५२ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत राजधर्मानुशासनपर्वमें युधिष्ठिर आदिका आगमनविषयक बावनवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ५२ ॥

त्रिपञ्चाशत्तमोऽध्यायः

भगवान् श्रीकृष्णकी प्रातश्चर्या, सात्यकिद्वारा उनका संदेश पाकर भाइयोंसहित युधिष्ठिरका उन्हींके साथ कुरुक्षेत्रमें पधारना

वैशम्पायन उवाच

ततः शयनमाविश्य प्रसुप्तो मधुसूदनः ।
याममात्रार्धशेषायां यामिन्यां प्रत्यबुद्ध्यत ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! तदनन्तर मधुसूदन भगवान् श्रीकृष्ण एक सुन्दर शय्याका आश्रय लेकर सो गये। जब आधा पहर रात बीतनेको बाकी रह गयी, तब वे जागकर उठ बैठे ॥ १ ॥

स ध्यानपथमाविश्य सर्वज्ञानानि माधवः ।
अवलोक्य ततः पश्चाद् दध्यौ ब्रह्म सनातनम् ॥ २ ॥

तत्पश्चात् ध्यानमार्गमें स्थित हो माधव सम्पूर्ण ज्ञानोंको प्रत्यक्ष करके अपने सनातन ब्रह्मस्वरूपका चिन्तन करने लगे ॥

ततः स्तुतिपुराणज्ञा रक्तकण्ठाः सुशिक्षिताः ।
अस्तुवन् विश्वकर्माणं वासुदेवं प्रजापतिम् ॥ ३ ॥

इसी समय स्तुति और पुराणोंके ज्ञाता, मधुरकण्ठवाले, सुशिक्षित सूत-मागध और वन्दीजन विश्वनिर्माता, प्रजापालक उन भगवान् वासुदेवकी स्तुति करने लगे ॥ ३ ॥

पठन्ति पाणिस्वनिकास्तथा गायन्ति गायनाः ।
शङ्खानथ मृदङ्गांश्च प्रवाद्यन्ति सहस्रशः ॥ ४ ॥

हाथसे वीणा आदि बजानेवाले पुरुष स्तुतिपाठ करने लगे, गायक गीत गाने लगे और सहस्रों मनुष्य शङ्ख एवं मृदङ्ग बजाने लगे ॥ ४ ॥

वीणापणववेणूनां स्वनश्चातिमनोरमः ।
प्रहास इव विस्तीर्णः शुश्रुवे तस्य वेश्मनः ॥ ५ ॥

वीणा, पणव तथा मुरलीका अत्यन्त मनोरम स्वर इस प्रकार सुनायी देने लगा, मानो उस महलका अट्टहास सब ओर फैल रहा हो ॥ ५ ॥

ततो युधिष्ठिरस्यापि राज्ञो मङ्गलसंहिताः ।
उच्चेरुर्मधुरा वाचो गीतवादित्रनिःस्वनाः ॥ ६ ॥

तत्पश्चात् राजा युधिष्ठिरके भवनसे भी मधुर, मङ्गलमयी वाणी तथा गीत-वाद्यकी ध्वनि प्रकट होने लगी ॥ ६ ॥

तत उत्थाय दाशार्हः स्नातः प्राञ्जलिरच्युतः ।
जप्त्वा गुह्यं महाबाहुरग्नीनाश्रित्य तस्थिवान् ॥ ७ ॥

तत्पश्चात् अपनी मर्यादासे कभी च्युत न होनेवाले महाबाहु ! भगवान् श्रीकृष्णने शय्यासे उठकर स्नान किया, फिर गूढ़ गायत्री-मन्त्रका जप करके हाथ जोड़े हुए अग्निके समीप जा बैठे ॥ ७ ॥

ततः सहस्रं विप्राणां चतुर्वेदविदां तथा ।
गवां सहस्रेणैकैकं वाचयामास माधवः ॥ ८ ॥

वहाँ अग्निहोत्र करनेके अनन्तर भगवान् माधवने चारों वेदोंके विद्वान् एक हजार ब्राह्मणोंको बुलाकर प्रत्येकको एक-एक हजार गौएँ दान कीं और उनसे वेदमन्त्रोंका पाठ एवं स्वस्तिवाचन कराया ॥ ८ ॥

मङ्गलालम्भनं कृत्वा आत्मानमवलोक्य च ।
आदर्शे विमले कृष्णस्ततः सात्यकिमब्रवीत् ॥ ९ ॥

इसके बाद माङ्गलिक वस्तुओंका स्पर्श करके भगवान्ने स्वच्छ दर्पणमें अपने स्वरूपका दर्शन किया और सात्यकिसे कहा— ॥ ९ ॥

गच्छ शैनेय जानीहि गत्वा राजनिवेशनम् ।
अपि सज्जो महातेजा भीष्मं द्रष्टुं युधिष्ठिरः ॥ १० ॥

'शिनिनन्दन ! जाओ, राजमहलमें जाकर पता लगाओ कि महातेजस्वी राजा युधिष्ठिर भीष्मजीके दर्शनार्थ चलनेके लिये तैयार हो गये क्या ?' ॥ १० ॥

ततः कृष्णस्य वचनात् सात्यकिस्त्वरितो ययौ ।
उपगम्य च राजानं युधिष्ठिरमभाषत ॥ ११ ॥

श्रीकृष्णकी आज्ञा पाकर सात्यकि तुरंत वहाँसे चल दिये और राजा युधिष्ठिरके पास जाकर बोले—॥ ११॥

युक्तो रथवरो राजन् वासुदेवस्य धीमतः ।
समीपमापगेयस्य प्रयास्यति जनार्दनः ॥ १२ ॥

'राजन् ! परम बुद्धिमान् भगवान् वासुदेवका श्रेष्ठ रथ जुतकर तैयार हो गया है । श्रीजनार्दन शीघ्र ही गङ्गानन्दन भीष्मके समीप जानेवाले हैं ॥ १२ ॥

भवत्प्रतीक्षः कृष्णोऽसौ धर्मराज महाद्युते ।
यदत्रानन्तरं कृत्यं तद् भवान् कर्तुमर्हति ॥ १३ ॥

'महातेजस्वी धर्मराज ! भगवान् श्रीकृष्ण आपकी ही प्रतीक्षा कर रहे हैं । अब आप जो उचित समझें, वह कार्य कर सकते हैं' ॥ १३ ॥

एवमुक्तः प्रत्युवाच धर्मपुत्रो युधिष्ठिरः ।

सात्यकिके इस प्रकार कहनेपर धर्मपुत्र युधिष्ठिरने अर्जुनको यह आदेश दिया ॥ १३½ ॥

युधिष्ठिर उवाच

युज्यतां मे रथवरः फाल्गुनाप्रतिमद्युते ॥ १४ ॥
न सैनिकैश्च यातव्यं यास्यामो वयमेव हि ।
न च पीडयितव्यो मे भीष्मो धर्मभृतां वरः ॥ १५ ॥
अतः पुरःसराश्चापि निवर्तन्तु धनंजय ।

युधिष्ठिर बोले—अनुपम तेजस्वी अर्जुन ! मेरा श्रेष्ठ रथ जोतकर तैयार कराओ । आज सैनिकोंको हमारे साथ नहीं जाना चाहिये । केवल हमलोगोंको ही चलना है । धनंजय ! धर्मात्माओंमें श्रेष्ठ भीष्मजीको अधिक भीड़ बढ़ाकर कष्ट देना उचित नहीं है । अतः आगे चलनेवाले सैनिकोंको भी जानेके लिये मना कर देना चाहिये ॥ १४-१५½ ॥

अद्यप्रभृति गाङ्गेयः परं गुह्यं प्रवक्ष्यति ॥ १६ ॥
अतो नेच्छामि कौन्तेय पृथग्जनसमागमम् ।

कुन्तीनन्दन ! आजसे गङ्गाकुमार भीष्मजी धर्मके अत्यन्त गूढ़ रहस्यका उपदेश करेंगे । अतः मैं भिन्न-भिन्न रुचि रखनेवाले साधारण जनसमाजको वहाँ नहीं जुटाना चाहता॥

वैशम्पायन उवाच

स तद्वाक्यमथाज्ञाय कुन्तीपुत्रो धनंजयः ॥ १७ ॥
युक्तं रथवरं तस्मा आचचक्षे नरर्षभः ।

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! युधिष्ठिरकी आज्ञा शिरोधार्य करके कुन्तीकुमार नरश्रेष्ठ अर्जुनने वैसा ही किया । फिर आकर उन्हें सूचना दी कि महाराजका श्रेष्ठ रथ तैयार है ॥ १७½ ॥

ततो युधिष्ठिरो राजा यमौ भीमार्जुनावपि ॥ १८ ॥
भूतानीव समस्तानि ययुः कृष्णनिवेशनम् ।

तदनन्तर राजा युधिष्ठिर, भीमसेन, अर्जुन, नकुल और सहदेव सब एक रथपर आरूढ हो श्रीकृष्णके निवासस्थानपर गये, मानो समस्त महाभूत मूर्तिमान् होकर पधारे हों ॥ १८½॥

आगच्छत्स्वथ कृष्णोऽपि पाण्डवेषु महात्मसु ॥ १९ ॥
शैनेयसहितो धीमान् रथमेवान्वपद्यत ।

महात्मा पाण्डवोंके पदार्पण करनेपर सात्यकिसहित बुद्धिमान् भगवान् श्रीकृष्ण भी एक ही रथपर आरूढ़ हो गये॥

रथस्थाः संविदं कृत्वा सुखां पृष्ट्वा च शर्वरीम् ॥ २०॥
मेघघोषै रथवरैः प्रययुस्ते नरर्षभाः ।

रथपर बैठे-बैठे ही उन सबने बातचीत की और एक दूसरेसे रात्रिके सुखपूर्वक व्यतीत होनेका कुशल-समाचार पूछा । फिर वे नरश्रेष्ठ मेघगर्जनाके समान गम्भीर घोष करनेवाले श्रेष्ठ रथोंद्वारा वहाँसे चल पड़े ॥ २०½ ॥

बलाहकं मेघपुष्पं शैब्यं सुग्रीवमेव च ॥ २१ ॥
दारुकश्चोदयामास वासुदेवस्य वाजिनः ।

दारुकने वसुदेवनन्दन भगवान् श्रीकृष्णके बलाहक, मेघपुष्प, शैब्य और सुग्रीव नामक घोड़ोंको हाँका ॥२१½॥

ते हया वासुदेवस्य दारुकेण प्रचोदिताः ॥ २२ ॥
गां खुराग्रैस्तथा राजल्लिँखन्तः प्रययुस्तदा ।

राजन् ! उस समय दारुकद्वारा हाँके गये श्रीकृष्णके वे घोड़े अपनी टापोंके अग्रभागसे पृथ्वीपर चिह्न बनाते हुए बड़े वेगसे दौड़े ॥ २२½ ॥

ते ग्रसन्त इवाकाशं वेगवन्तो महाबलाः ॥ २३ ॥
क्षेत्रं धर्मस्य कृत्स्नस्य कुरुक्षेत्रमवातरन् ।

उन अश्वोंका बल और वेग महान् था । वे आकाशको पीते हुए-से उड़ चले और बात-की-बातमें सम्पूर्ण धर्मके क्षेत्रभूत कुरुक्षेत्रमें जा पहुँचे ॥ २३½ ॥

ततो ययुर्यत्र भीष्मः शरतल्पगतः प्रभुः ॥ २४ ॥
आस्ते महर्षिभिः सार्धं ब्रह्मा देवगणैर्यथा ।

तदनन्तर वे सब लोग उस स्थानपर गये, जहाँपर प्रभावशाली भीष्मजी बाणशय्यापर सो रहे थे । जैसे देवताओंसे घिरे हुए ब्रह्माजी शोभा पाते हैं, उसी प्रकार महर्षियोंके साथ भीष्मजी सुशोभित हो रहे थे ॥ २४½ ॥

ततोऽवतीर्य गोविन्दो रथात् स च युधिष्ठिरः ॥ २५ ॥
भीमो गाण्डीवधन्वा च यमौ सात्यकिरेव च ।
ऋषीनभ्यर्चयामासुः करानुद्यम्य दक्षिणान् ॥ २६ ॥

तत्पश्चात् रथसे उतरकर भगवान् श्रीकृष्ण, युधिष्ठिर, भीमसेन, गाण्डीवधारी अर्जुन, नकुल, सहदेव तथा सात्यकिने अपने-अपने दाहिने हाथोंको उठाकर ऋषियोंके प्रति सम्मानका भाव प्रदर्शित किया ॥ २५-२६ ॥

स तैः परिवृतो राजा नक्षत्रैरिव चन्द्रमाः ।
अभ्याजगाम गाङ्गेयं ब्रह्माणमिव वासवः ॥ २७ ॥

नक्षत्रोंसे घिरे हुए चन्द्रमाकी भाँति भाइयोंसे घिरे हुए

तब युधिष्ठिर आदि गङ्गानन्दन भीष्मके समीप गये, मानो देवराज इन्द्र ब्रह्माजीके निकट जाते हों ॥ २७ ॥

शरतल्पे शयानं तमादित्यं पतितं यथा ।
स ददर्श महाबाहुं भयाच्चागतसाध्वसः ॥ २८ ॥

शर-शय्यापर सोये हुए महाबाहु भीष्मजी वैसे ही दिखायी दे रहे थे, मानो सूर्यदेव आकाशसे पृथ्वीपर गिर पड़े हों। युधिष्ठिरने उसी अवस्थामें उनका दर्शन किया। उस समय वे भयसे काँप उठे थे ॥ २८ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि राजधर्मानुशासनपर्वणि भीष्माभिगमने त्रिपञ्चाशत्तमोऽध्यायः ॥ ५३ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत राजधर्मानुशासनपर्वमें युधिष्ठिर आदिका भीष्मके समीप गमनविषयक तिरपनवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ५३ ॥

चतुःपञ्चाशत्तमोऽध्यायः

भगवान् श्रीकृष्ण और भीष्मजीकी बातचीत

जनमेजय उवाच

धर्मात्मनि महावीर्ये सत्यसंधे जितात्मनि ।
देवव्रते महाभागे शरतल्पगतेऽच्युते ॥ १ ॥
शयाने वीरशयने भीष्मे शान्तनुनन्दने ।
गाङ्गेये पुरुषव्याघ्रे पाण्डवैः पर्युपासिते ॥ २ ॥
काः कथाः समवर्तन्त तस्मिन् वीरसमागमे ।
हतेषु सर्वसैन्येषु तन्मे शंस महामुने ॥ ३ ॥

जनमेजयने पूछा—महामुने ! धर्मात्मा, महापराक्रमी, सत्यप्रतिज्ञ, जितात्मा, धर्मसे कभी च्युत न होनेवाले महाभाग शान्तनुनन्दन गङ्गाकुमार पुरुषसिंह देवव्रत भीष्म जब वीर-शय्यापर सो रहे थे और पाण्डव उनकी सेवामें आकर उपस्थित हो गये थे, उस समय वीर पुरुषोंके उस समागमके अनन्तर, जब कि उभयपक्षकी सम्पूर्ण सेनाएँ मारी जा चुकी थीं, कौन-कौन-सी बातें हुईं ? यह मुझे बतानेकी कृपा करें ॥ १–३ ॥

वैशम्पायन उवाच

शरतल्पगते भीष्मे कौरवाणां धुरन्धरे ।
आजग्मुर्ऋषयः सिद्धा नारदप्रमुखा नृप ॥ ४ ॥

वैशम्पायनजीने कहा—नरेश्वर ! कौरवकुलका भार वहन करनेवाले भीष्मजी जब बाणशय्यापर सो रहे थे, उस समय वहाँ नारद आदि सिद्ध महर्षि भी पधारे थे ॥४॥

हतशिष्टाश्च राजानो युधिष्ठिरपुरोगमाः ।
धृतराष्ट्रश्च कृष्णश्च भीमार्जुनयमास्तथा ॥ ५ ॥
तेऽभिगम्य महात्मानो भरतानां पितामहम् ।
अन्वशोचन्त गाङ्गेयमादित्यं पतितं यथा ॥ ६ ॥

महाभारत-युद्धमें जो लोग मरनेसे बच गये थे, वे युधिष्ठिर आदि राजा तथा धृतराष्ट्र, श्रीकृष्ण, भीमसेन, अर्जुन, नकुल और सहदेव—ये सभी महामनस्वी पुरुष पृथ्वीपर गिरे हुए सूर्यके समान प्रतीत होनेवाले, भरतवंशियोंके पितामह गङ्गानन्दन भीष्मजीके पास जाकर बारंबार शोक प्रकट करने लगे ॥ ५-६ ॥

मुहूर्तमिव च ध्यात्वा नारदो देवदर्शनः ।
उवाच पाण्डवान् सर्वान् हतशिष्टांश्च पार्थिवान्॥ ७ ॥

तब दिव्य दृष्टि रखनेवाले देवर्षि नारदने दो घड़ीतक कुछ सोच-विचारकर समस्त पाण्डवों तथा मरनेसे बचे हुए अन्य नरेशोंको सम्बोधित करके कहा—॥ ७ ॥

प्राप्तकालं समाचक्षे भीष्मोऽयमनुयुज्यताम् ।
अस्तमेति हि गाङ्गेयो भानुमानिव भारत ॥ ८ ॥

'भरतनन्दन युधिष्ठिर तथा अन्य भूपालगण ! मैं आपलोगोंको समयोचित कर्तव्य बता रहा हूँ। आपलोग गङ्गानन्दन भीष्मजीसे धर्म और ब्रह्मके विषयमें प्रश्न कीजिये, क्योंकि अब ये भगवान् सूर्यके समान अस्त होनेवाले हैं ॥८॥

अयं प्राणानुत्सिसृक्षुस्तं सर्वेऽभ्यनुपृच्छत ।
कृत्स्नान् हि विविधान् धर्मांश्चातुर्वर्ण्यस्य वेत्त्ययम्॥९॥

'भीष्मजी अपने प्राणोंका परित्याग करना चाहते हैं, अतः आप सब लोग इनसे अपने मनकी बातें पूछ लें; क्योंकि ये चारों वर्णोंके सम्पूर्ण एवं विभिन्न धर्मोंको जानते हैं॥

एष वृद्धः परांल्लोकान् सम्प्राप्नोति तनुं त्यजन्।
तं शीघ्रमनुयुञ्जीध्वं संशयान् मनसि स्थितान् ॥ १० ॥

'भीष्मजी अत्यन्त वृद्ध हो गये हैं और अपने शरीरका त्याग करके उत्तम लोकोंमें पदार्पण करनेवाले हैं; अतः आपलोग शीघ्र ही इनसे अपने मनके संदेह पूछ लें' ॥ १० ॥

वैशम्पायन उवाच

एवमुक्ते नारदेन भीष्ममीयुर्नराधिपाः ।
प्रष्टुं चाशक्नुवन्तस्ते वीक्षांचक्रुः परस्परम् ॥ ११ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन् ! नारदजीके ऐसा कहनेपर सब नरेश भीष्मजीके निकट आ गये; परंतु उन्हें उनसे कुछ पूछनेका साहस नहीं हुआ। वे सभी एक दूसरेका मुँह ताकने लगे ॥ ११ ॥

अथोवाच हृषीकेशं पाण्डुपुत्रो युधिष्ठिरः ।
नान्यस्तु देवकीपुत्राच्छक्तः प्रष्टुं पितामहम् ॥ १२ ॥

तब पाण्डुपुत्र युधिष्ठिरने हृषीकेशकी ओर लक्ष्य करके कहा—'दिव्यज्ञानसम्पन्न देवकीनन्दन भगवान् श्रीकृष्णको छोड़कर दूसरा कोई ऐसा नहीं है, जो पितामहसे प्रश्न कर सके' ॥ १२ ॥
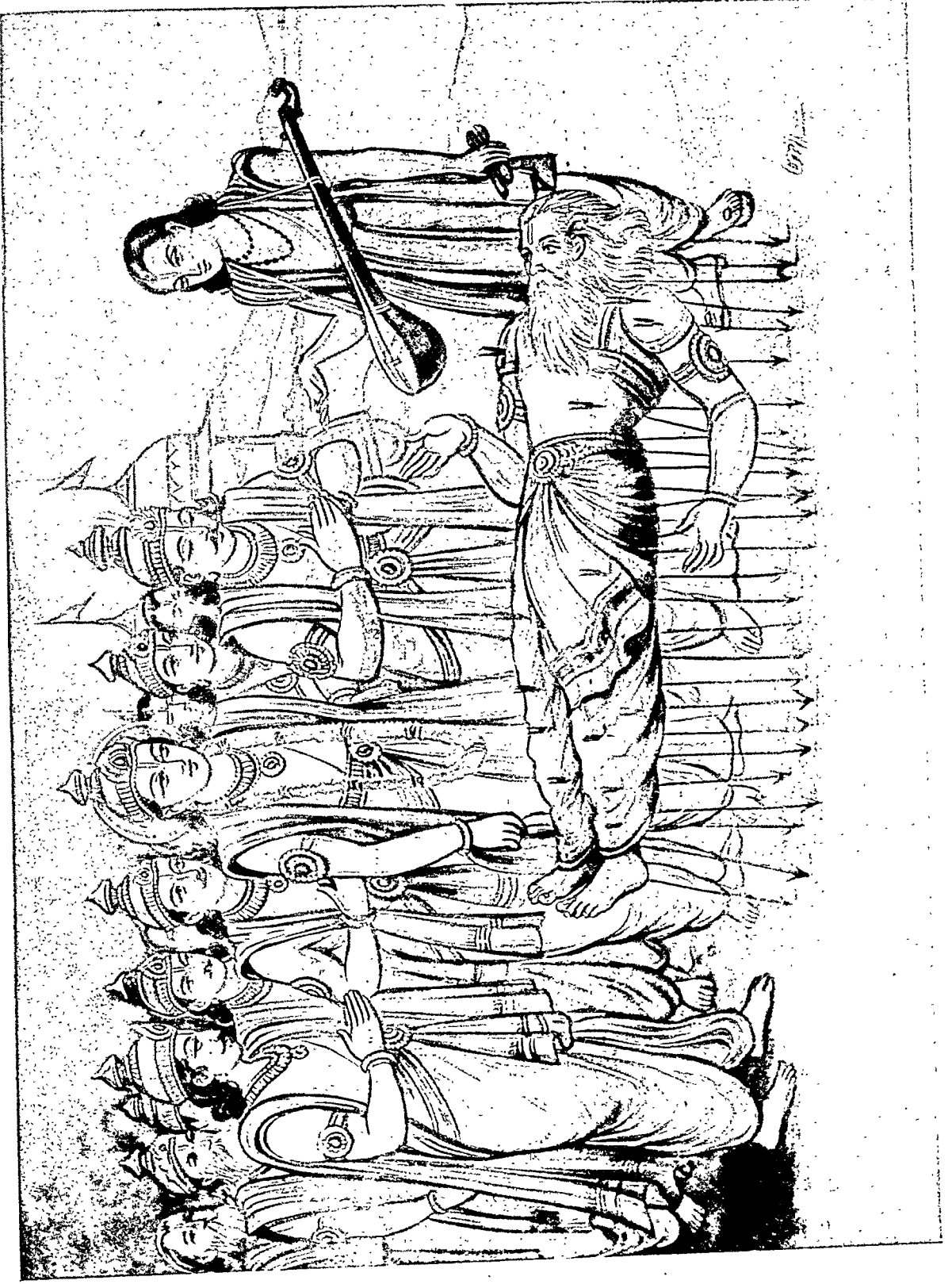
भगवान् श्रीकृष्णका देवर्षि नारद एवं पाण्डवोंको लेकर शरशय्यास्थित भीष्मके निकट गमन

प्रव्याहर यदुश्रेष्ठ त्वमग्रे मधुसूदन ।
त्वं हि नस्तात सर्वेषां सर्वधर्मविदुत्तमः ॥ १३ ॥

(फिर श्रीकृष्णसे कहने लगे—) 'मधुसूदन ! यदुश्रेष्ठ ! आप ही पहले वार्तालाप आरम्भ कीजिये । तात ! आप ही हम सब लोगोंमें सम्पूर्ण धर्मोंके श्रेष्ठ ज्ञाता हैं' ॥ १३ ॥

एवमुक्तः पाण्डवेन भगवान् केशवस्तदा ।
अभिगम्य दुराधर्षं प्रव्याहारयदच्युतः ॥ १४ ॥

पाण्डुनन्दन युधिष्ठिरके ऐसा कहनेपर अपनी मर्यादासे कभी च्युत न होनेवाले भगवान् श्रीकृष्णने दुर्जय भीष्मजीके निकट जाकर इस प्रकार बातचीत की ॥ १४ ॥

वासुदेव उवाच

कच्चित् सुखेन रजनी व्युष्टा ते राजसत्तम ।
विस्पष्टलक्षणा बुद्धिः कच्चिच्चोपस्थिता तव ॥ १५ ॥

भगवान् श्रीकृष्ण बोले—नृपश्रेष्ठ भीष्मजी ! आपकी रात सुखसे बीती है न ? क्या आपको सभी ज्ञातव्य विषयोंका सुस्पष्टरूपसे दर्शन करानेवाली निर्मल बुद्धि प्राप्त हो गयी ? ॥ १५ ॥

कच्चिज्ज्ञानानि सर्वाणि प्रतिभान्ति च तेऽनघ ।
न ग्लायते च हृदयं न च ते व्याकुलं मनः ॥ १६ ॥

निष्पाप भीष्म ! क्या आपके अन्तःकरणमें सब प्रकारके ज्ञान प्रकाशित हो रहे हैं ? आपके हृदयमें ग्लानि तो नहीं है ? आपका मन व्याकुल तो नहीं हो रहा है ? ॥ १६ ॥

भीष्म उवाच

दाहो मोहः श्रमश्चैव क्लमो ग्लानिस्तथा रुजा ।
तव प्रसादाद् वार्ष्णेय सद्यः प्रतिगतानि मे ॥ १७ ॥

भीष्मजी बोले—वृष्णिनन्दन ! आपकी कृपासे मेरे शरीरकी जलन, मनका मोह, थकावट, विकलता, ग्लानि तथा रोग—ये सब तत्काल दूर हो गये थे ॥ १७ ॥

यच्च भूतं भविष्यच्च भवच्च परमद्युते ।
तत् सर्वमनुपश्यामि पाणौ फलमिवार्पितम् ॥ १८ ॥

परम तेजस्वी पुरुषोत्तम ! अब मैं हाथपर रक्खे हुए फलकी भाँति भूत, भविष्य और वर्तमान तीनों कालोंकी सभी बातें सुस्पष्टरूपसे देख रहा हूँ ॥ १८ ॥

वेदोक्ताश्चैव ये धर्मा वेदान्ताधिगताश्च ये ।
तान् सर्वान् सम्प्रपश्यामि वरदानात् तवाच्युत ॥ १९ ॥

अच्युत ! वेदोंमें जो धर्म बताये गये हैं तथा वेदान्तों (उपनिषदों) द्वारा जिनको जाना गया है, उन सब धर्मोंको मैं आपके वरदानके प्रभावसे प्रत्यक्ष देख रहा हूँ ॥ १९ ॥

शिष्टैश्च धर्मो यः प्रोक्तः स च मे हृदि वर्तते ।
देशजातिकुलानां च धर्मज्ञोऽस्मि जनार्दन ॥ २० ॥

जनार्दन ! शिष्ट पुरुषोंने जिस धर्मका उपदेश किया है, वह भी मेरे हृदयमें स्फुरित हो रहा है । देश, जाति और कुलके धर्मोंका भी इस समय मुझे पूर्ण ज्ञान है ॥ २० ॥

चतुर्ष्वाश्रमधर्मेषु योऽर्थः स च हृदि स्थितः ।
राजधर्मांश्च सकलानवगच्छामि केशव ॥ २१ ॥

चारों आश्रमोंके धर्मोंमें जो सारभूत तत्त्व है, वह भी मेरे हृदयमें प्रकाशित हो रहा है । केशव ! इस समय मैं सम्पूर्ण राजधर्मोंको भी भलीभाँति जानता हूँ ॥ २१ ॥

यच्च यत्र च वक्तव्यं तद् वक्ष्यामि जनार्दन ।
तव प्रसादाद्धि शुभा मनो मे बुद्धिराविशत् ॥ २२ ॥

जनार्दन ! जिस विषयमें जो कुछ भी कहने योग्य बात है, वह सब मैं कहूँगा । आपकी कृपासे मेरे हृदयमें निर्मल मन और कल्याणमयी बुद्धिका आवेश हुआ है ॥ २२ ॥

युवेवास्मि समावृत्तस्त्वदनुध्यानबृंहितः ।
वक्तुं श्रेयः समर्थोऽस्मि त्वत्प्रसादाज्जनार्दन ॥ २३ ॥

जनार्दन ! आपके निरन्तर चिन्तनसे मेरी शक्ति इतनी बढ़ गयी है कि मैं जवान-सा हो गया हूँ । आपके प्रसादसे अब मैं कल्याणकारी उपदेश देनेमें समर्थ हूँ ॥ २३ ॥

स्वयं किमर्थं तु भवाञ्छ्रेयो न प्राह पाण्डवम् ।
किं ते विवक्षितं चात्र तदाशु वद माधव ॥ २४ ॥

माधव ! तो भी मैं यह जानना चाहता हूँ कि आप स्वयं ही पाण्डुपुत्र युधिष्ठिरको कल्याणकारी उपदेश क्यों नहीं देते हैं ? इस विषयमें आप क्या कहना चाहते हैं ? यह शीघ्र बताइये ॥ २४ ॥

वासुदेव उवाच

यशसः श्रेयसश्चैव मूलं मां विद्धि कौरव ।
मत्तः सर्वेऽभिनिर्वृत्ता भावाः सदसदात्मकाः ॥ २५ ॥

भगवान् श्रीकृष्णने कहा—कुरुनन्दन ! आप मुझे ही यश और श्रेयका मूल समझें । संसारमें जो भी सत् और असत् पदार्थ हैं, वे सब मुझसे ही उत्पन्न हुए हैं ॥ २५ ॥

शीतांशुश्चन्द्र इत्युक्ते लोके को विस्मयिष्यति ।
तथैव यशसा पूर्णे मयि को विस्मयिष्यति ॥ २६ ॥

'चन्द्रमा शीतल किरणोंसे सम्पन्न हैं' यह बात कहनेपर जगत्में किसको आश्चर्य होगा ? अर्थात् किसीको नहीं होगा । उसी प्रकार सम्पूर्ण यशसे सम्पन्न मुझ परमेश्वरके द्वारा कोई उत्तम उपदेश प्राप्त हो तो उसे सुनकर कौन आश्चर्य करेगा ? ॥ २६ ॥

आधेयं तु मया भूयो यशस्तव महाद्युते ।
ततो मे विपुला बुद्धिस्त्वयि भीष्म समर्पिता ॥ २७ ॥

महातेजस्वी भीष्म ! मुझे इस जगत्में आपके महान् यशकी प्रतिष्ठा करनी है, अतः मैंने अपनी विशाल बुद्धि तुझे समर्पित की है ॥ २७ ॥

यावद्धि पृथिवीपाल पृथ्वीयं स्थास्यति ध्रुवा ।
तावत् तवाक्षया कीर्तिर्लोकाननुचरिष्यति ॥ २८ ॥

भूपाल ! जबतक यह अचला पृथ्वी स्थिर रहेगी, तबतक सम्पूर्ण जगत्में आपकी अक्षय कीर्ति विख्यात होती रहेगी॥

[illegible] भीष्म पाण्डवायानुपृच्छते ।
[illegible] इव मे [illegible] वसुधातले ॥ २९ ॥

[illegible] युधिष्ठिरके प्रश्न करनेपर उनके [illegible], यह वेदके सिद्धान्तकी भाँति इस [illegible] ॥ २९ ॥

[illegible] प्रमाणेन योऽक्ष्यन्यात्मानमात्मना ।
[illegible] मनुष्याणां प्रेत्य चानुभविष्यति ॥ ३० ॥

[illegible] इस उपदेशको प्रमाण मानकर उसे [illegible] उतरेगा, वह मृत्युके बाद सब प्रकारके पुण्यों- [illegible] ॥ ३० ॥

[illegible] कारणाद् भीष्म मतिर्दिव्या मया हि ते ।
[illegible] यशो विप्रथयेत् कथं भूयस्तवेति ह ॥ ३१ ॥

भीष्म ! इसीलिये मैंने आपको दिव्य बुद्धि प्रदान की है कि किसी प्रकारसे भी आपके महान् यशका इस भूतल- पर विस्तार हो ॥ ३१ ॥

यावद्धि प्रथते लोके पुरुषस्य यशो भुवि ।
तावत् तस्याक्षयं स्थानं भवतीति विनिश्चिता ॥ ३२ ॥

जगत्में जबतक भूतलपर मनुष्यके यशका विस्तार होता रहता है, तबतक उसकी परलोकमें अचल स्थिति बनी रहती है, यह निश्चय है ॥ ३२ ॥

राजानो हतशिष्टास्त्वां राजन्नभित आसते ।
धर्माननुयुयुक्षन्तस्तेभ्यः प्रब्रूहि भारत ॥ ३३ ॥

भारत ! नरेश्वर ! मरनेसे बचे हुए ये भूपाल आपके पास धर्मकी जिज्ञासासे बैठे हैं । आप इन सबको धर्मका उपदेश करें ॥ ३३ ॥

भवान् हि वयसा वृद्धः श्रुताचारसमन्वितः ।
कुशलो राजधर्माणां सर्वेषामपराश्च ये ॥ ३४ ॥

आपकी अवस्था सबसे बड़ी है । आप शास्त्रज्ञान तथा सदाचारसे सम्पन्न हैं । साथ ही समस्त राजधर्मों तथा अन्य धर्मोंके ज्ञानमें भी आप कुशल हैं ॥ ३४ ॥

जन्मप्रभृति ते कश्चिद् वृजिनं न ददर्श ह ।
ज्ञातारं सर्वधर्माणां त्वां विदुः सर्वपार्थिवाः ॥ ३५ ॥

जन्मसे लेकर आजतक किसीने भी आपमें कोई भी दोष (पाप) नहीं देखा है । सब राजा इस बातको स्वीकार करते हैं कि आप सम्पूर्ण धर्मोंके ज्ञाता हैं ॥ ३५ ॥

तेभ्यः पितेव पुत्रेभ्यो राजन् ब्रूहि परं नयम् ।
ऋषयश्चैव देवाश्च त्वया नित्यमुपासिताः ॥ ३६ ॥
तस्माद् वक्तव्यमेवेदं त्वयावश्यमशेषतः ।

राजन् ! आप इन राजाओंको उसी प्रकार उत्तम नीति- का उपदेश करें, जैसे पिता अपने पुत्रको सद्धर्मकी शिक्षा देता है । आपने देवताओं और ऋषियोंकी सदा उपासना की है; इसलिये आपको अवश्य ही सम्पूर्ण धर्मोंका उपदेश करना चाहिये ॥ ३६½ ॥

धर्मं शुश्रूषमाणेभ्यः पृष्टेन च सता पुनः ॥ ३७ ॥
वक्तव्यं विदुषा चेति धर्ममाहुर्मनीषिणः ।

मनीषी पुरुषोंने यह धर्म बताया है कि 'श्रेष्ठ विद्वान् पुरुषसे जब कुछ पूछा जाय तो उसे उचित है कि वह सुनने- की इच्छावाले लोगोंको धर्मका उपदेश दे' ॥ ३७½ ॥

अप्रतिब्रुवतः कष्टो दोषो हि भविता प्रभो ॥ ३८ ॥
तस्मात् पुत्रैश्च पौत्रैश्च धर्मान् पृष्टान् सनातनान् ।
विद्वाञ्जिज्ञासमानैस्त्वं प्रब्रूहि भरतर्षभ ॥ ३९ ॥

प्रभो ! जो मनुष्य जानते हुए भी श्रद्धापूर्वक प्रश्न करनेवालेको उपदेश नहीं देता, उसे अत्यन्त दुःखदायक दोषकी प्राप्ति होती है; अतः भरतश्रेष्ठ ! धर्मको जाननेकी इच्छावाले अपने पुत्रों और पौत्रोंके पूछनेपर उन्हें सनातन धर्मका उपदेश करें; क्योंकि आप धर्मशास्त्रोंके विद्वान् हैं ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि राजधर्मानुशासनपर्वणि कृष्णवाक्ये चतुःपञ्चाशत्तमोऽध्यायः ॥ ५४ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत राजधर्मानुशासनपर्वमें श्रीकृष्ण-वाक्यविषयक चौवनवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ५४ ॥

पञ्चपञ्चाशत्तमोऽध्यायः

भीष्मका युधिष्ठिरके गुणकथनपूर्वक उनको प्रश्न करनेका आदेश देना, श्रीकृष्णका उनके लज्जित और भयभीत होनेका कारण बताना और भीष्मका आश्वासन पाकर युधिष्ठिरका उनके समीप जाना

वैशम्पायन उवाच

[illegible] महातेजा वाक्यं कौरवनन्दनः ।
हन्त धर्मान् प्रवक्ष्यामि दृढे वाङ्मनसी मम ॥ १ ॥
तव प्रसादाद् गोविन्द भूतात्मा ह्यसि शाश्वतः ।

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन् ! श्रीकृष्णकी बात [illegible] आनन्द बढ़ानेवाले महातेजस्वी भीष्मजीने [illegible]—गोविन्द ! आप सम्पूर्ण भूतोंके सनातन आत्मा हैं । [illegible] मेरी वाक्शक्ति सुदृढ़ है और मन भी स्थिर हो गया है; अतः मैं समस्त धर्मोंका प्रवचन करूँगा ॥ १½ ॥

युधिष्ठिरस्तु धर्मात्मा मां धर्माननुपृच्छतु ।
एवं प्रीतो भविष्यामि धर्मान् वक्ष्यामि चाखिलान् ॥ २ ॥

'धर्मात्मा युधिष्ठिर मुझसे एक-एक करके धर्मोंके विषय- में प्रश्न करें, इससे मुझे प्रसन्नता होगी और मैं सम्पूर्ण धर्मों- का उपदेश कर सकूँगा ॥ २ ॥

यस्मिन् राजर्षभे जाते धर्मात्मनि महात्मनि ।
अहृष्यन्नृषयः सर्वे स मां पृच्छतु पाण्डवः ॥ ३ ॥

'जिन राजर्षिशिरोमणि धर्मपरायण महात्मा युधिष्ठिरका जन्म होनेपर सभी महर्षि हर्षसे खिल उठे थे, वे ही पाण्डुपुत्र मुझसे प्रश्न करें ॥ ३ ॥

सर्वेषां दीप्तयशसां कुरूणां धर्मचारिणाम्।
यस्य नास्ति समः कश्चित् स मां पृच्छतु पाण्डवः॥ ४ ॥

'जिनके यशका प्रताप सर्वत्र छा रहा है, उन समस्त धर्माचारी कौरवोंमें जिनकी समानता करनेवाला कोई नहीं है, वे पाण्डुपुत्र युधिष्ठिर मुझसे प्रश्न करें ॥ ४ ॥

धृतिर्दमो ब्रह्मचर्यं क्षमा धर्मश्च नित्यदा।
यस्मिन्नोजश्च तेजश्च स मां पृच्छतु पाण्डवः ॥ ५ ॥

'जिनमें धैर्य, इन्द्रियसंयम, ब्रह्मचर्य, क्षमा, धर्म, ओज और तेज सदा विद्यमान रहते हैं, वे पाण्डुपुत्र युधिष्ठिर मुझसे प्रश्न करें ॥ ५ ॥

सम्बन्धिनोऽतिथीन् भृत्यान् संश्रितांश्चैव यो भृशम्।
सम्मानयति सत्कृत्य स मां पृच्छतु पाण्डवः ॥ ६ ॥

'जो सम्बन्धियों, अतिथियों, भृत्यों तथा शरणागतोंका सदा सत्कारपूर्वक विशेष सम्मान करते हैं, वे पाण्डुपुत्र युधिष्ठिर मुझसे प्रश्न करें ॥ ६ ॥

सत्यं दानं तपः शौर्यं शान्तिर्दाक्ष्यमसम्भ्रमः।
यस्मिन्नेतानि सर्वाणि स मां पृच्छतु पाण्डवः ॥ ७ ॥

'जिनमें सत्य, दान, तप, शूरता, शान्ति, दक्षता तथा असम्भ्रम (स्थिरचित्तता)—ये समस्त सद्गुण सदा मौजूद रहते हैं, वे पाण्डुपुत्र युधिष्ठिर मुझसे प्रश्न करें ॥ ७ ॥

यो न कामान्न संरम्भान्न भयान्नार्थकारणात्।
कुर्यादधर्मं धर्मात्मा स मां पृच्छतु पाण्डवः ॥ ८ ॥

'जो न तो कामनासे, न क्रोधसे, न भयसे और न किसी स्वार्थके ही लोभसे अधर्म करते हैं, वे धर्मात्मा पाण्डुपुत्र युधिष्ठिर मुझसे प्रश्न करें ॥ ८ ॥

सत्यनित्यः क्षमानित्यो ज्ञाननित्योऽतिथिप्रियः।
यो ददाति सतां नित्यं स मां पृच्छतु पाण्डवः ॥ ९ ॥

'जिनमें सदा ही सत्य, सदा ही क्षमा और सदा ही ज्ञानकी स्थिति है, जो निरन्तर अतिथिसत्कारके प्रेमी हैं और सत्पुरुषोंको सदा दान देते रहते हैं, वे पाण्डुपुत्र युधिष्ठिर मुझसे प्रश्न करें ॥ ९ ॥

इज्याध्ययननित्यस्य धर्मे च निरतः सदा।
क्षान्तः श्रुतरहस्यश्च स मां पृच्छतु पाण्डवः ॥ १० ॥

'जिन्होंने शास्त्रोंके रहस्यका श्रवण किया है, जो सदा ही यज्ञ, स्वाध्याय और धर्ममें लगे रहनेवाले तथा क्षमाशील हैं, वे पाण्डुनन्दन युधिष्ठिर मुझसे प्रश्न करें' ॥ १० ॥

वासुदेव उवाच

लज्जया परयोपेतो धर्मराजो युधिष्ठिरः।
अभिशापभयाद् भीतो भवन्तं नोपसर्पति ॥ ११ ॥

भगवान् श्रीकृष्ण बोले—प्रजानाथ! धर्मराज युधिष्ठिर बहुत लज्जित हैं, वे शापके भयसे डरे होनेके कारण आपके निकट नहीं आ रहे हैं ॥ ११ ॥

लोकस्य कदनं कृत्वा लोकनाथो विशाम्पते।
अभिशापभयाद् भीतो भवन्तं नोपसर्पति ॥ १२ ॥

प्रजापालक भीष्म! ये लोकनाथ युधिष्ठिर जगत्का संहार करके शापके भयसे त्रस्त हो उठे हैं; इसीलिये आपके निकट नहीं आते हैं ॥ १२ ॥

पूज्यान् मान्यांश्च भक्तांश्च गुरून् सम्बन्धिबान्धवान्।
अर्घार्हानिषुभिर्भित्त्वा भवन्तं नोपसर्पति ॥ १३ ॥

पूजनीय, माननीय गुरुजनों, भक्तों तथा अर्घ्य आदिके द्वारा सत्कार करने योग्य सम्बन्धियों एवं बन्धु-बान्धवोंका बाणोंद्वारा भेदन करके भयके मारे ये आपके पास नहीं आ रहे हैं ॥ १३ ॥

भीष्म उवाच

ब्राह्मणानां यथा धर्मो दानमध्ययनं तपः।
क्षत्रियाणां तथा कृष्ण समरे देहपातनम् ॥ १४ ॥

भीष्मजीने कहा—श्रीकृष्ण! जैसे दान, अध्ययन और तप ब्राह्मणोंका धर्म है, उसी प्रकार समरभूमिमें शत्रुओंके शरीरको मार गिराना क्षत्रियोंका धर्म है ॥ १४ ॥

पितॄन् पितामहान् भ्रातॄन् गुरून् सम्बन्धिबान्धवान्।
मिथ्याप्रवृत्तान् यः संख्ये निहन्याद् धर्म एव सः ॥ १५ ॥

जो असत्यके मार्गपर चलनेवाले पिता (ताऊ-चाचा), बाबा, भाई, गुरुजन, सम्बन्धी तथा बन्धु-बान्धवोंको संग्राममें मार डालता है, उसका वह कार्य धर्म ही है ॥ १५ ॥

समयत्यागिनो लुब्धान् गुरूनपि च केशव।
निहन्ति समरे पापान् क्षत्रियो यः स धर्मवित् ॥ १६ ॥

केशव! जो क्षत्रिय लोभवश धर्ममर्यादाका उल्लङ्घन करनेवाले पापाचारी गुरुजनोंका भी समराङ्गणमें वध कर डालता है, वह अवश्य ही धर्मका ज्ञाता है ॥ १६ ॥

यो लोभान्न समीक्षेत धर्मसेतुं सनातनम्।
निहन्ति यस्तं समरे क्षत्रियो वै स धर्मवित् ॥ १७ ॥

जो लोभवश सनातन धर्ममर्यादाकी ओर दृष्टिपात नहीं करता, उसे जो क्षत्रिय समरभूमिमें मार गिराता है, वह निश्चय ही धर्मज्ञ है ॥ १७ ॥

लोहितोदां केशतृणां गजशैलां ध्वजद्रुमाम्।
महीं करोति युद्धेषु क्षत्रियो यः स धर्मवित् ॥ १८ ॥

जो क्षत्रिय युद्धभूमिमें रक्तरूपी जल, केशरूपी तृण, हाथीरूपी पर्वत और ध्वजरूपी वृक्षोंसे युक्त खूनकी नदी बहा देता है, वह धर्मका ज्ञाता है ॥ १८ ॥

आहूतेन रणे नित्यं योद्धव्यं क्षत्रबन्धुना।
धर्म्यं स्वर्ग्यं च लोक्यं च युद्धं हि मनुरब्रवीत् ॥ १९ ॥

संग्राममें शत्रुके ललकारनेपर क्षत्रिय-बन्धुको सदा ही युद्धके लिये उद्यत रहना चाहिये। मनुजीने कहा है कि युद्ध

[illegible] स्वर्गकी प्राप्ति करानेवाला और [illegible] देनेवाला है ॥ १९ ॥

वैशम्पायन उवाच

एवमुक्तस्तु भीष्मेण धर्मपुत्रो युधिष्ठिरः ।
विनीतवदुपागम्य तस्थौ संदर्शनेऽग्रतः ॥ २० ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन्! भीष्मजीके ऐसा कहनेपर धर्मपुत्र युधिष्ठिर उनके पास जाकर एक विनीत पुरुषके समान उनकी दृष्टिके सामने खड़े हो गये ॥ २० ॥

अथास्य पादौ जग्राह भीष्मश्चापि ननन्द तम् ।
मूर्ध्नि चैनमुपाघ्राय निषीदेत्यब्रवीत् तदा ॥ २१ ॥

फिर उन्होंने भीष्मजीके दोनों चरण पकड़ लिये। तब भीष्मजीने उन्हें आश्वासन देकर प्रसन्न किया और उनका मस्तक सूँघकर कहा—'बेटा! बैठ जाओ' ॥ २१ ॥

तमुवाचाथ गाङ्गेयो वृषभः सर्वधन्विनाम् ।
मां पृच्छ तात विश्रब्धं मा भैस्त्वं कुरुसत्तम ॥ २२ ॥

तत्पश्चात् सम्पूर्ण धनुर्धरोंमें श्रेष्ठ गङ्गानन्दन भीष्मजीने उनसे कहा—'तात! मैं इस समय स्वस्थ हूँ, तुम मुझसे निर्भय होकर प्रश्न करो। कुरुश्रेष्ठ! तुम भय न मानो' ॥ २२ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि राजधर्मानुशासनपर्वणि युधिष्ठिराश्वासने पञ्चपञ्चाशत्तमोऽध्यायः ॥ ५५ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत राजधर्मानुशासनपर्वमें युधिष्ठिरको आश्वासनविषयक पचपनवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ५५ ॥

षट्पञ्चाशत्तमोऽध्यायः

युधिष्ठिरके पूछनेपर भीष्मके द्वारा राजधर्मका वर्णन, राजाके लिये पुरुषार्थ और सत्यकी आवश्यकता, ब्राह्मणोंकी अदण्डनीयता तथा राजाकी परिहासशीलता और मृदुतासे प्रकट होनेवाले दोष

वैशम्पायन उवाच

प्रणिपत्य हृषीकेशमभिवाद्य पितामहम् ।
अनुमान्य गुरून् सर्वान् पर्यपृच्छद् युधिष्ठिरः ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन्! तदनन्तर भगवान् श्रीकृष्ण और भीष्मको प्रणाम करके युधिष्ठिरने समस्त गुरुजनोंकी अनुमति ले इस प्रकार प्रश्न किया ॥ १ ॥

युधिष्ठिर उवाच

राज्ञां वै परमो धर्म इति धर्मविदो विदुः ।
महान्तमेतं भारं च मन्ये तद् ब्रूहि पार्थिव ॥ २ ॥

युधिष्ठिर बोले—पितामह! धर्मज्ञ विद्वानोंकी यह मान्यता है कि राजाओंका धर्म श्रेष्ठ है। मैं इसे बहुत बड़ा भार मानता हूँ, अतः भूपाल! आप मुझे राजधर्मका उपदेश कीजिये ॥ २ ॥

राजधर्मान् विशेषेण कथयस्व पितामह ।
सर्वस्य जीवलोकस्य राजधर्मः परायणम् ॥ ३ ॥

पितामह! राजधर्म सम्पूर्ण जीवजगत्का परम आश्रय है; अतः आप राजधर्मोंका ही विशेषरूपसे वर्णन कीजिये ॥ ३ ॥

त्रिवर्गो हि समासक्तो राजधर्मेषु कौरव ।
मोक्षधर्मश्च विस्पष्टः सकलोऽत्र समाहितः ॥ ४ ॥

कुरुनन्दन! राजाके धर्मोंमें धर्म, अर्थ और काम तीनोंका समावेश है और यह स्पष्ट है कि सम्पूर्ण मोक्षधर्म भी राजधर्ममें निहित है ॥ ४ ॥

यथा हि रश्मयोऽश्वस्य द्विरदस्याङ्कुशो यथा ।
नरेन्द्रधर्मो लोकस्य तथा प्रग्रहणं स्मृतम् ॥ ५ ॥

जैसे घोड़ोंको काबूमें रखनेके लिये लगाम और हाथीको वशमें करनेके लिये अङ्कुश है, उसी प्रकार समस्त संसारको मर्यादाके भीतर रखनेके लिये राजधर्म आवश्यक है; वह उसके लिये प्रग्रह अर्थात् उसको नियन्त्रित करनेमें समर्थ माना गया है ॥ ५ ॥

तत्र चेत् सम्प्रमुह्येत धर्मे राजर्षिसेविते ।
लोकस्य संस्था न भवेत् सर्वं च व्याकुलीभवेत् ॥ ६ ॥

प्राचीन राजर्षियोंद्वारा सेवित उस राजधर्ममें यदि राजा मोहवश प्रमाद कर बैठे तो संसारकी व्यवस्था ही बिगड़ जाय और सब लोग दुखी हो जायँ ॥ ६ ॥

उदयन् हि यथा सूर्यो नाशयत्यशुभं तमः ।
राजधर्मास्तथालोक्यां निक्षिपन्त्यशुभां गतिम् ॥ ७ ॥

जैसे सूर्यदेव उदय होते ही घोर अन्धकारका नाश कर देते हैं, उसी प्रकार राजधर्म मनुष्योंके अशुभ आचरणोंका, जो उन्हें पुण्य लोकोंसे वञ्चित कर देते हैं, निवारण करता है ॥ ७ ॥

तदग्रे राजधर्मान् हि मदर्थे त्वं पितामह ।
प्रब्रूहि भरतश्रेष्ठ त्वं हि धर्मभृतां वरः ॥ ८ ॥

अतः भरतश्रेष्ठ पितामह! आप सबसे पहले मेरे लिये राजधर्मोंका ही वर्णन कीजिये; क्योंकि आप धर्मात्माओंमें श्रेष्ठ हैं ॥ ८ ॥

आगमश्च परस्त्वत्तः सर्वेषां नः परंतप ।
भवन्तं हि परं बुद्धौ वासुदेवोऽभिमन्यते ॥ ९ ॥

परंतप पितामह! हम सब लोगोंको आपसे ही शास्त्रोंके उत्तम सिद्धान्तका ज्ञान हो सकता है। भगवान् श्रीकृष्ण भी आपको ही बुद्धिमें सर्वश्रेष्ठ मानते हैं ॥ ९ ॥

भीष्म उवाच

नमो धर्माय महते नमः कृष्णाय वेधसे ।
ब्राह्मणेभ्यो नमस्कृत्य धर्मान् वक्ष्यामि शाश्वतान् ॥ १० ॥

भीष्मजीने कहा—महान् धर्मको नमस्कार है। विश्वविधाता भगवान् श्रीकृष्णको नमस्कार है। अब मैं ब्राह्मणोंको नमस्कार करके सनातन धर्मोंका वर्णन आरम्भ करूँगा ॥ १० ॥

शृणु कार्त्स्न्येन मत्तस्त्वं राजधर्मान् युधिष्ठिर।
निरुच्यमानान् नियतो यच्चान्यदपि वाञ्छसि ॥ ११ ॥

युधिष्ठिर ! अब तुम नियमपूर्वक एकाग्र हो मुझसे सम्पूर्णरूपसे राजधर्मोंका वर्णन सुनो तथा और भी जो कुछ सुनना चाहते हो, उसका श्रवण करो ॥ ११ ॥

आदावेव कुरुश्रेष्ठ राज्ञा रञ्जनकाम्यया ।
देवतानां द्विजानां च वर्तितव्यं यथाविधि ॥ १२ ॥

कुरुश्रेष्ठ ! राजाको सबसे पहले प्रजाका रञ्जन अर्थात् उसे प्रसन्न रखनेकी इच्छासे देवताओं और ब्राह्मणोंके प्रति शास्त्रोक्त विधिके अनुसार बर्ताव करना चाहिये (अर्थात् वह देवताओंका विधिपूर्वक पूजन तथा ब्राह्मणोंका आदर-सत्कार करे)॥

दैवतान्यर्चयित्वा हि ब्राह्मणांश्च कुरूद्वह ।
आनृण्यं याति धर्मस्य लोकेन च समर्च्यते ॥ १३ ॥

कुरुकुलभूषण ! देवताओं और ब्राह्मणोंका पूजन करके राजा धर्मके ऋणसे मुक्त होता है और सारा जगत् उसका सम्मान करता है ॥ १३ ॥

उत्थानेन सदा पुत्र प्रयतेथा युधिष्ठिर ।
न ह्युत्थानमृते दैवं राज्ञामर्थं प्रसादयेत् ॥ १४ ॥

बेटा युधिष्ठिर ! तुम सदा पुरुषार्थके लिये प्रयत्नशील रहना। पुरुषार्थके बिना केवल प्रारब्ध राजाओंका प्रयोजन नहीं सिद्ध कर सकता ॥ १४ ॥

साधारणं द्वयं ह्येतद् दैवमुत्थानमेव च ।
पौरुषं हि परं मन्ये दैवं निश्चितमुच्यते ॥ १५ ॥

यद्यपि कार्यकी सिद्धिमें प्रारब्ध और पुरुषार्थ—ये दोनों साधारण कारण माने गये हैं, तथापि मैं पुरुषार्थको ही प्रधान मानता हूँ । प्रारब्ध तो पहलेसे ही निश्चित बताया गया है ॥ १५ ॥

विपन्ने च समारम्भे संतापं मा स्म वै कृथाः ।
घटस्वैव सदाऽऽत्मानं राज्ञामेष परो नयः ॥ १६ ॥

अतः यदि आरम्भ किया हुआ कार्य पूरा न हो सके अथवा उसमें बाधा पड़ जाय तो इसके लिये तुम्हें अपने मनमें दुःख नहीं मानना चाहिये । तुम सदा अपने आपको पुरुषार्थमें ही लगाये रक्खो । यही राजाओंकी सर्वोत्तम नीति है ॥ १६ ॥

न हि सत्यादृते किंचिद् राज्ञां वै सिद्धिकारकम्।
सत्ये हि राजा निरतः प्रेत्य चेह च नन्दति ॥ १७ ॥

सत्यके सिवा दूसरी कोई वस्तु राजाओंके लिये सिद्धिकारक नहीं है । सत्यपरायण राजा इहलोक और परलोकमें भी सुख पाता है ॥ १७ ॥

ऋषीणामपि राजेन्द्र सत्यमेव परं धनम् ।
तथा राज्ञां परं सत्यान्नान्यद् विश्वासकारणम्॥ १८ ॥

राजेन्द्र ! ऋषियोंके लिये भी सत्य ही परम धन है। इसी प्रकार राजाओंके लिये सत्यसे बढ़कर दूसरा कोई ऐसा साधन नहीं है, जो प्रजावर्गमें उसके प्रति विश्वास उत्पन्न करा सके॥

गुणवाञ्शीलवान् दान्तो मृदुर्धर्म्यो जितेन्द्रियः ।
सुदर्शः स्थूललक्ष्यश्च न भ्रश्येत सदा श्रियः ॥ १९ ॥

जो राजा गुणवान्, शीलवान्, मन और इन्द्रियोंको संयममें रखनेवाला, कोमलस्वभाव, धर्मपरायण, जितेन्द्रिय, देखनेमें प्रसन्नमुख और बहुत देनेवाला उदारचित्त है, वह कभी राजलक्ष्मीसे भ्रष्ट नहीं होता ॥ १९ ॥

आर्जवं सर्वकार्येषु श्रयेथाः कुरुनन्दन ।
पुनर्नयविचारेण त्रयीसंवरणेन च ॥ २० ॥

कुरुनन्दन ! तुम सभी कार्योंमें सरलता एवं कोमलताका अवलम्बन करना, परंतु नीतिशास्त्रकी आलोचनासे यह ज्ञात होता है कि अपने छिद्र, अपनी मन्त्रणा तथा अपने कार्य-कौशल—इन तीन बातोंको गुप्त रखनेमें सरलताका अवलम्बन करना उचित नहीं है ॥ २० ॥

मृदुर्हि राजा सततं लङ्घ्यो भवति सर्वशः ।
तीक्ष्णाच्चोद्विजते लोकस्तस्मादुभयमाश्रय ॥ २१ ॥

जो राजा सदा सब प्रकारसे कोमलतापूर्ण बर्ताव करनेवाला ही होता है, उसकी आज्ञाका लोग उल्लङ्घन कर जाते हैं और केवल कठोर बर्ताव करनेसे भी सब लोग उद्विग्न हो उठते हैं; अतः तुम आवश्यकतानुसार कठोरता और कोमलता दोनोंका अवलम्बन करो ॥ २१ ॥

अदण्ड्याश्चैव ते पुत्र विप्राश्च ददतां वर ।
भूतमेतत् परं लोके ब्राह्मणो नाम पाण्डव ॥ २२ ॥

दाताओंमें श्रेष्ठ बेटा पाण्डुकुमार युधिष्ठिर ! तुम्हें ब्राह्मणोंको कभी दण्ड नहीं देना चाहिये; क्योंकि संसारमें ब्राह्मण सर्वश्रेष्ठ प्राणी है ॥ २२ ॥

मनुना चैव राजेन्द्र गीतौ श्लोकौ महात्मना ।
धर्मेषु स्वेषु कौरव्य हृदि तौ कर्तुमर्हसि ॥ २३ ॥

राजेन्द्र ! कुरुनन्दन ! महात्मा मनुने अपने धर्मशास्त्रोंमें दो श्लोकोंका गान किया है, तुम उन दोनोंको अपने हृदयमें धारण करो॥

अद्भ्योऽग्निर्ब्रह्मतः क्षत्रमश्मनो लोहमुत्थितम् ।
तेषां सर्वत्रगं तेजः स्वासु योनिषु शाम्यति ॥ २४ ॥

'अग्नि जलसे, क्षत्रिय ब्राह्मणसे और लोहा पत्थरसे प्रकट हुआ है । इनका तेज अन्य सब स्थानोंपर तो अपना प्रभाव दिखाता है; परंतु अपनेको उत्पन्न करनेवाले कारणसे टक्कर लेनेपर स्वयं ही शान्त हो जाता है ॥ २४ ॥

अयो हन्ति यदाश्मानमग्निना वारि हन्यते ।
ब्रह्म च क्षत्रियो द्वेष्टि तदा सीदन्ति ते त्रयः ॥ २५ ॥

'जब लोहा पत्थरपर चोट करता है, आग जलको नष्ट करने लगती है और क्षत्रिय ब्राह्मणसे द्वेष करने लगता है, तब ये तीनों ही दुःख उठाते हैं अर्थात् ये दुर्बल हो जाते हैं ॥ २५ ॥

एवं कृत्वा महाराज नमस्या एव ते द्विजाः ।
भौमं ब्रह्म द्विजश्रेष्ठा धारयन्ति समर्चिताः ॥ २६ ॥

महाराज ! ऐसा सोचकर तुम्हें ब्राह्मणोंको सदा नमस्कार ही करना चाहिये; क्योंकि वे श्रेष्ठ ब्राह्मण पूजित होनेपर भूतलके अग्नि अर्थात् तेजको धारण करते हैं ॥ २६ ॥

एवं चैव नरव्याघ्र लोकत्रयविघातकाः ।
निग्राह्या एव सततं बाहुभ्यां ये स्युरीदृशाः ॥ २७ ॥

पुरुषसिंह ! यद्यपि ऐसी बात है, तथापि यदि ब्राह्मण भी तीनों लोकोंका विनाश करनेके लिये उद्यत हो जायँ तो ऐसे लोगोंको अपने बाहु-बलसे परास्त करके सदा नियन्त्रणमें ही रखना चाहिये ॥ २७ ॥

श्लोकौ चोशनसा गीतौ पुरा तात महर्षिणा ।
तौ निबोध महाराज त्वमेकाग्रमना नृप ॥ २८ ॥

तात ! नरेश्वर ! इस विषयमें दो श्लोक प्रसिद्ध हैं, जिन्हें पूर्वकालमें महर्षि शुक्राचार्यने गाया था । महाराज ! तुम एकाग्रचित्त होकर उन दोनों श्लोकोंको सुनो ॥ २८ ॥

उद्यम्य शस्त्रमायान्तमपि वेदान्तगं रणे ।
निगृह्णीयात् स्वधर्मेण धर्मापेक्षी नराधिपः ॥ २९ ॥

'वेदान्तका पारङ्गत विद्वान् ब्राह्मण ही क्यों न हो ? यदि वह शस्त्र उठाकर युद्धमें सामना करनेके लिये आ रहा हो तो धर्मपालनकी इच्छा रखनेवाले राजाको अपने धर्मके अनुसार ही युद्ध करके उसे कैद कर लेना चाहिये ॥ २९ ॥

विनश्यमानं धर्मं हि योऽभिरक्षेत् स धर्मवित् ।
न तेन धर्महा स स्यान्मन्युस्तन्मन्युमृच्छति ॥ ३० ॥

'जो राजा उसके द्वारा नष्ट होते हुए धर्मकी रक्षा करता है, वह धर्मज्ञ है । अतः उसे मारनेसे वह धर्मका नाशक नहीं माना जाता । वास्तवमें क्रोध ही उनके क्रोधसे टक्कर लेता है' ॥

एवं चैव नरश्रेष्ठ रक्ष्या एव द्विजातयः ।
सापराधानपि हि तान् विषयान्ते समुत्सृजेत् ॥ ३१ ॥

नरश्रेष्ठ ! यह सब होनेपर भी ब्राह्मणोंकी तो सदा रक्षा ही करनी चाहिये; यदि उनके द्वारा अपराध बन गये हों तो उन्हें प्राणदण्ड न देकर अपने राज्यकी सीमासे बाहर करके छोड़ देना चाहिये ॥ ३१ ॥

अभिशस्तमपि ह्येषां कृपायीत विशाम्पते ।
ब्रह्मघ्ने गुरुतल्पे च भ्रूणहत्ये तथैव च ॥ ३२ ॥
राजद्विष्टे च विप्रस्य विषयान्ते विसर्जनम् ।
विधीयते न शारीरं दण्डमेषां कदाचन ॥ ३३ ॥

प्रजानाथ ! इनमें कोई कलङ्कित हो तो उसपर भी कृपा ही करनी चाहिये । ब्रह्महत्या, गुरुस्त्रीगमन, भ्रूणहत्या तथा राजद्रोहका अपराध होनेपर भी ब्राह्मणको देशसे निकाल देनेका ही विधान है—उसे शारीरिक दण्ड कभी नहीं देना चाहिये ॥ ३२-३३ ॥

दयिताश्च नरास्ते स्युर्भक्तिमन्तो द्विजेषु ये ।
न कोशः परमोऽन्योऽस्ति राज्ञां पुरुषसंचयात् ॥ ३४ ॥

जो मनुष्य ब्राह्मणोंके प्रति भक्ति रखते हैं, वे सबके प्रिय होते हैं । राजाओंके लिये ब्राह्मणके भक्तोंका संग्रह करनेसे बढ़कर दूसरा कोई कोश नहीं है ॥ ३४ ॥

दुर्गेषु च महाराज षट्सु ये शास्त्रनिश्चिताः ।
सर्वदुर्गेषु मन्यन्ते नरदुर्गं सुदुस्तरम् ॥ ३५ ॥

महाराज ! मरु (जलरहित भूमि), जल, पृथ्वी, वन, पर्वत और मनुष्य—इन छः प्रकारके दुर्गोंमें मानवदुर्ग ही प्रधान है । शास्त्रोंके सिद्धान्तको जाननेवाले विद्वान् उक्त सभी दुर्गोंमें मानव दुर्गको ही अत्यन्त दुर्लङ्घ्य मानते हैं ॥ ३५ ॥

तस्मान्नित्यं दया कार्या चातुर्वर्ण्ये विपश्चिता ।
धर्मात्मा सत्यवाक् चैव राजा रञ्जयति प्रजाः ॥ ३६ ॥

अतः विद्वान् राजाको चारों वर्णोंपर सदा दया करनी चाहिये, धर्मात्मा और सत्यवादी नरेश ही प्रजाको प्रसन्न रख पाता है ॥ ३६ ॥

न च क्षान्तेन ते नित्यं भाव्यं पुत्र समन्ततः ।
अधर्मो हि मृदू राजा क्षमावानिव कुञ्जरः ॥ ३७ ॥

बेटा ! तुम्हें सदा और सब ओर क्षमाशील ही नहीं बने रहना चाहिये; क्योंकि क्षमाशील हाथीके समान कोमल स्वभाववाला राजा दूसरोंको भयभीत न कर सकनेके कारण अधर्मके प्रसारमें ही सहायक होता है ॥ ३७ ॥

बार्हस्पत्ये च शास्त्रे च श्लोको निगदितः पुरा ।
अस्मिन्नर्थे महाराज तन्मे निगदतः शृणु ॥ ३८ ॥

महाराज ! इसी बातके समर्थनमें बार्हस्पत्यशास्त्रका एक प्राचीन श्लोक पढ़ा जाता है । मैं उसे बता रहा हूँ, सुनो ॥

क्षममाणं नृपं नित्यं नीचः परिभवेज्जनः ।
हस्तियन्ता गजस्यैव शिर एवारुरुक्षति ॥ ३९ ॥

'नीच मनुष्य क्षमाशील राजाका सदा उसी प्रकार तिरस्कार करते रहते हैं, जैसे हाथीका महावत उसके सिरपर ही चढ़े रहना चाहता है' ॥ ३९ ॥

तस्मान्नैव मृदुर्नित्यं तीक्ष्णो नैव भवेन्नृपः ।
वासन्तार्क इव श्रीमान् न शीतो न च घर्मदः ॥ ४० ॥

जैसे वसन्त ऋतुका तेजस्वी सूर्य न तो अधिक ठंडक पहुँचाता है और न कड़ी धूप ही करता है, उसी प्रकार राजाको भी न तो बहुत कोमल होना चाहिये और न अधिक कठोर ही ॥ ४० ॥

प्रत्यक्षेणानुमानेन तथौपम्यागमैरपि ।
परीक्ष्यास्ते महाराज स्वे परे चैव नित्यशः ॥ ४१ ॥

महाराज ! प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान और आगम—इन चारों प्रमाणोंके द्वारा सदा अपने-परायेकी पहचान करते रहना चाहिये ॥ ४१ ॥

व्यसनानि च सर्वाणि त्यजेथा भूरिदक्षिण ।
न चैव न प्रयुञ्जीत सङ्गं तु परिवर्जयेत् ॥ ४२ ॥

प्रचुर दक्षिणा देनेवाले नरेश्वर ! तुम्हें सभी प्रकारके

व्यसनोंको त्याग देना चाहिये; परंतु साहस आदिका भी सर्वथा प्रयोग न किया जाय, ऐसी बात नहीं है (क्योंकि शत्रुविजय आदिके लिये उसकी आवश्यकता है); अतः सभी प्रकारके व्यसनोंकी आसक्तिका परित्याग करना चाहिये ॥ ४२ ॥

लोकस्य व्यसनी नित्यं परिभूतो भवत्युत ।
उद्वेजयति लोकं च योऽतिद्वेषी महीपतिः ॥ ४३ ॥

व्यसनोंमें आसक्त हुआ राजा सदा सब लोगोंके अनादरका पात्र होता है और जो भूपाल सबके प्रति अत्यन्त द्वेष रखता है, वह सब लोगोंको उद्वेगयुक्त कर देता है ॥ ४३ ॥

भवितव्यं सदा राज्ञा गर्भिणीसहधर्मिणा ।
कारणं च महाराज शृणु येनेदमिष्यते ॥ ४४ ॥

महाराज ! राजाका प्रजाके साथ गर्भिणी स्त्रीका-सा बर्ताव होना चाहिये । किस कारणसे ऐसा होना उचित है, यह बताता हूँ, सुनो ॥ ४४ ॥

यथा हि गर्भिणी हित्वा स्वं प्रियं मनसोऽनुगम् ।
गर्भस्य हितमाधत्ते तथा राज्ञाप्यसंशयम् ॥ ४५ ॥
वर्तितव्यं कुरुश्रेष्ठ सदा धर्मानुवर्तिना ।
स्वं प्रियं तु परित्यज्य यद् यल्लोकहितं भवेत् ॥ ४६ ॥

जैसे गर्भवती स्त्री अपने मनको अच्छे लगनेवाले प्रिय भोजन आदिका भी परित्याग करके केवल गर्भस्थ बालकके हितका ध्यान रखती है, उसी प्रकार धर्मात्मा राजाको भी चाहिये कि निःसंदेह वैसा ही बर्ताव करे । कुरुश्रेष्ठ ! राजा अपनेको प्रिय लगनेवाले विषयका परित्याग करके जिसमें सब लोगोंका हित हो वही कार्य करे ॥ ४५-४६ ॥

न संत्याज्यं च ते धैर्यं कदाचिदपि पाण्डव ।
धीरस्य स्पष्टदण्डस्य न भयं विद्यते क्वचित् ॥ ४७ ॥

पाण्डुनन्दन ! तुम्हें कभी भी धैर्यका त्याग नहीं करना चाहिये । जो अपराधियोंको दण्ड देनेमें संकोच नहीं करता और सदा धैर्य रखता है, उस राजाको कभी भय नहीं होता ॥

परिहासश्च भृत्यैस्ते नात्यर्थं वदतां वर ।
कर्तव्यो राजशार्दूल दोषमत्र हि मे शृणु ॥ ४८ ॥

वक्ताओंमें श्रेष्ठ राजसिंह ! तुम्हें सेवकोंके साथ अधिक हँसी-मजाक नहीं करना चाहिये; इसमें जो दोष है, वह मुझसे सुनो ॥ ४८ ॥

अवमन्यन्ति भर्तारं संघर्षादुपजीविनः ।
स्वे स्थाने न च तिष्ठन्ति लङ्घयन्ति च तद्वचः ॥ ४९ ॥

राजासे जीविका चलानेवाले सेवक अधिक मुँहलगे हो जानेपर मालिकका अपमान कर बैठते हैं । वे अपनी मर्यादामें स्थिर नहीं रहते और स्वामीकी आज्ञाका उल्लङ्घन करने लगते हैं ॥ ४९ ॥

प्रेष्यमाणा विकल्पन्ते गुह्यं चाप्यनुयुञ्जते ।
अयाच्यं चैव याचन्ते भोज्यान्याहारयन्ति च ॥ ५० ॥

वे जब किसी कार्यके लिये भेजे जाते हैं तो उसकी सिद्धिमें संदेह उत्पन्न कर देते हैं । राजाकी गोपनीय त्रुटियोंको भी सबके सामने ला देते हैं । जो वस्तु नहीं माँगनी चाहिये, उसे भी माँग बैठते हैं तथा राजाके लिये रक्खे हुए भोज्य पदार्थोंको स्वयं खा लेते हैं ॥ ५० ॥

क्रुध्यन्ति परिदीप्यन्ति भूमिपायाधितिष्ठते ।
उत्कोचैर्वञ्चनाभिश्च कार्याण्यनुविहन्ति च ॥ ५१ ॥

राज्यके अधिपति भूपालको कोसते हैं, उनके प्रति क्रोधसे तमतमा उठते हैं; घूस लेकर और धोखा देकर राजाके कार्योंमें विघ्न डालते हैं ॥ ५१ ॥

जर्जरं चास्य विषयं कुर्वन्ति प्रतिरूपकैः ।
स्त्रीरक्षिभिश्च सज्जन्ते तुल्यवेषा भवन्ति च ॥ ५२ ॥

वे जाली आज्ञापत्र जारी करके राजाके राज्यको जर्जर कर देते हैं । रनवासके रक्षकोंसे मिल जाते हैं अथवा उनके समान ही वेशभूषा धारण करके वहाँ घूमते फिरते हैं ॥ ५२ ॥

वान्तं निष्ठीवनं चैव कुर्वते चास्य संनिधौ ।
निर्लज्जा राजशार्दूल व्याहरन्ति च तद्वचः ॥ ५३ ॥

राजाके पास ही मुँह बाकर जँभाई लेते और थूकते हैं, नृपश्रेष्ठ ! वे मुँहलगे नौकर लाज छोड़कर मनमानी बातें बोलते हैं ॥ ५३ ॥

हयं वा दन्तिनं वापि रथं वा नृपसत्तम ।
अभिरोहन्त्यनादृत्य हर्षुले पार्थिवे मृदौ ॥ ५४ ॥

नृपशिरोमणे ! परिहासशील कोमलस्वभाववाले राजाको पाकर सेवकगण उसकी अवहेलना करते हुए उसके घोड़े, हाथी अथवा रथको अपनी सवारीके काममें लाते हैं ॥

इदं ते दुष्करं राजन्निदं ते दुष्टचेष्टितम् ।
इत्येवं सुहृदो वाचं वदन्ते परिषद्गताः ॥ ५५ ॥

आम दरबारमें बैठकर दोस्तोंकी तरह बराबरीका बर्ताव करते हुए कहते हैं कि 'राजन् ! आपसे इस कामका होना कठिन है, आपका यह बर्ताव बहुत बुरा है' ॥ ५५ ॥

क्रुद्धे चास्मिन् हसन्त्येव न च हृष्यन्ति पूजिताः ।
संघर्षशीलाश्च तदा भवन्त्यन्योन्यकारणात् ॥ ५६ ॥

इस बातसे यदि राजा कुपित हुए तो वे उन्हें देखकर हँस देते हैं और उनके द्वारा सम्मानित होनेपर भी वे धृष्ट सेवक प्रसन्न नहीं होते । इतना ही नहीं, वे सेवक परस्पर स्वार्थ-साधनके निमित्त राजसभामें ही राजाके साथ विवाद करने लगते हैं ॥ ५६ ॥

---

१. व्यसन अठारह प्रकारके बताये गये हैं । इनमें दस तो कामज है और आठ क्रोधज । शिकार, जूआ, दिनमें सोना, परनिन्दा, स्त्रीसेवन, मद, वाद्य, गीत, नृत्य और मदिरापान—ये दस कामज व्यसन बताये गये हैं, चुगली, साहस, द्रोह, ईर्ष्या, असूया, अर्थदूषण, वाणीकी कठोरता और दण्डकी कठोरता—ये आठ क्रोधज व्यसन कहे गये हैं ।

प्रकाशयन्ति मन्त्रं च विवृण्वन्ति च दुष्कृतम्।
हेलया चैव कुर्वन्ति ह्यवज्ञातस्य शासनम्॥ ५७॥

वे राजाकी गुप्त बातों तथा राजाके दोषोंको भी दूसरोंपर प्रकट कर देते हैं। राजाके आदेशकी अवहेलना करके खिलवाड़ करते हुए उसका पालन करते हैं॥ ५७॥

अलंकारे च भोज्ये च तथा स्नानानुलेपने।
हेलमाना नरव्याघ्र स्वस्थास्तस्योपश्रृण्वतः॥ ५८॥

पुरुषसिंह! राजा पास ही खड़ा-खड़ा सुनता रहता है फिर भी निर्भय होकर उसके आभूषण पहनने, खाने, नहाने और चन्दन लगाने आदिका मजाक उड़ाया करते हैं॥ ५८॥

निन्दन्ते स्वानधीकारान् संत्यजन्ते च भारत।
न वृत्त्या परितुष्यन्ति राजदेयं हरन्ति च॥ ५९॥

भारत! उनके अधिकारमें जो काम सौंपा जाता है, उसको वे बुरा बताते और छोड़ देते हैं। उन्हें जो वेतन दिया जाता है, उससे वे संतुष्ट नहीं होते हैं और राजकीय धनको हड़पते रहते हैं॥ ५९॥

क्रीडितुं तेन चेच्छन्ति ससूत्रेणेव पक्षिणा।
असत्प्रणेयो राजेति लोकांश्चैव वदन्त्युत॥ ६०॥

जैसे लोग डोरेमें बँधी हुई चिड़ियाके साथ खेलते हैं, उसी प्रकार वे भी राजाके साथ खेलना चाहते हैं और साधारण लोगोंसे कहा करते हैं कि 'राजा तो हमारा गुलाम है'॥ ६०॥

एते चैवापरे चैव दोषाः प्रादुर्भवन्त्युत।
नृपतौ मार्दवोपेते हर्षुले च युधिष्ठिर॥ ६१॥

युधिष्ठिर! राजा जब परिहासशील और कोमलस्वभावका हो जाता है, तब ये ऊपर बताये हुए तथा दूसरे दोष भी प्रकट होते हैं॥ ६१॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि राजधर्मानुशासनपर्वणि षट्पञ्चाशत्तमोऽध्यायः॥ ५६॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत राजधर्मानुशासनपर्वमें छप्पनवाँ अध्याय पूरा हुआ॥ ५६॥

सप्तपञ्चाशत्तमोऽध्यायः

राजाके धर्मानुकूल नीतिपूर्ण बर्तावका वर्णन

भीष्म उवाच

नित्योद्युक्तेन वै राज्ञा भवितव्यं युधिष्ठिर।
प्रशस्यते न राजा हि नारीवोद्यमवर्जितः॥ १॥

भीष्मजी कहते हैं—युधिष्ठिर! राजाको सदा ही उद्योगशील होना चाहिये। जो उद्योग छोड़कर स्त्रीकी भाँति बेकार बैठा रहता है, उस राजाकी प्रशंसा नहीं होती है॥ १॥

भगवानुशना चाह श्लोकमत्र विशाम्पते।
तदिहैकमना राजन् गदतस्तं निबोध मे॥ २॥

प्रजानाथ! इस विषयमें भगवान् शुक्राचार्यने एक श्लोक कहा है, उसे मैं बता रहा हूँ। तुम यहाँ एकाग्रचित्त होकर मुझसे उस श्लोकको सुनो॥ २॥

द्वाविमौ ग्रसते भूमिः सर्पो बिलशयानिव।
राजानं चाविरोद्धारं ब्राह्मणं चाप्रवासिनम्॥ ३॥

'जैसे साँप बिलमें रहनेवाले चूहोंको निगल जाता है, उसी प्रकार दूसरोंसे लड़ाई न करनेवाले राजा तथा विद्याध्ययन आदिके लिये घर छोड़कर अन्यत्र न जानेवाले ब्राह्मणको पृथ्वी निगल जाती है (अर्थात् वे पुरुषार्थ-साधन किये बिना ही मर जाते हैं)'॥ ३॥

तदेतन्नरशार्दूल हृदि त्वं कर्तुमर्हसि।
संधेयानभिसंधत्स्व विरोध्यांश्च विरोधय॥ ४॥

अतः नरश्रेष्ठ! तुम इस बातको अपने हृदयमें धारण करो और जो संधि करनेके योग्य हों, उनसे संधि करो और जो विरोधके पात्र हों, उनका डटकर विरोध करो॥ ४॥

सप्ताङ्गस्य च राज्यस्य विपरीतं य आचरेत्।
गुरुर्वा यदि वा मित्रं प्रतिहन्तव्य एव सः॥ ५॥

राज्यके सात अङ्ग हैं—राजा, मन्त्री, मित्र, खजाना, देश, दुर्ग और सेना। जो इन सात अङ्गोंसे युक्त राज्यके विपरीत आचरण करे, वह गुरु हो या मित्र, मार डालनेके ही योग्य है॥ ५॥

मरुत्तेन हि राज्ञा वै गीतः श्लोकः पुरातनः।
राजाधिकारे राजेन्द्र बृहस्पतिमते पुरा॥ ६॥

राजेन्द्र! पूर्वकालमें राजा मरुत्तने एक प्राचीन श्लोकका गान किया था, जो बृहस्पतिके मतानुसार राजाके अधिकारके विषयमें प्रकाश डालता है॥ ६॥

गुरोरप्यवलिप्तस्य कार्याकार्यमजानतः।
उत्पथप्रतिपन्नस्य दण्डो भवति शाश्वतः॥ ७॥

'घमंडमें भरकर कर्तव्य और अकर्तव्यका ज्ञान न रखनेवाला तथा कुमार्गपर चलनेवाला मनुष्य यदि अपना गुरु हो तो उसे भी दण्ड देनेका सनातन विधान है'॥ ७॥

बाहोः पुत्रेण राज्ञा च सगरेण च धीमता।
असमञ्जाः सुतो ज्येष्ठस्त्यक्तः पौरहितैषिणा॥ ८॥

बाहुके पुत्र बुद्धिमान् राजा सगरने तो पुरवासियोंके हितकी इच्छासे अपने ज्येष्ठ पुत्र असमंजाका भी त्याग कर दिया था॥

असमंजाः सरय्वां स पौराणां बालकान् नृप।
न्यमज्जयदतः पित्रा निर्भर्त्स्य स विवासितः॥ ९॥

नरेश्वर! असमंजा पुरवासियोंके बालकोंको पकड़कर

सरयूनदीमें डुबा दिया करता था; अतः उसके पिताने उसे दुत्कारकर घरसे बाहर निकाल दिया ॥ ९ ॥

ऋषिणोद्दालकेनापि श्वेतकेतुर्महातपाः ।
मिथ्या विप्राननुपचरन् संत्यक्तो दयितः सुतः ॥ १० ॥

उद्दालक ऋषिने अपने प्रिय पुत्र महातपस्वी श्वेतकेतुको केवल इस अपराधसे त्याग दिया कि वह ब्राह्मणोंके साथ मिथ्या एवं कपटपूर्ण व्यवहार करता था ॥ १० ॥

लोकरञ्जनमेवात्र राज्ञां धर्मः सनातनः ।
सत्यस्य रक्षणं चैव व्यवहारस्य चार्जवम् ॥ ११ ॥

अतः इस लोकमें प्रजावर्गको प्रसन्न रखना ही राजाओंका सनातन धर्म है, सत्यकी रक्षा और व्यवहारकी सरलता ही राजोचित कर्तव्य हैं ॥ ११ ॥

न हिंस्यात् परवित्तानि देयं काले च दापयेत् ।
विक्रान्तः सत्यवाक् क्षान्तो नृपो न चलते पथः ॥ १२ ॥

दूसरोंके धनका नाश न करे । जिसको जो कुछ देना हो, उसे वह समयपर दिलानेकी व्यवस्था करे। पराक्रमी, सत्यवादी और क्षमाशील बना रहे—ऐसा करनेवाला राजा कभी पथभ्रष्ट नहीं होता ॥ १२ ॥

आत्मवांश्च जितक्रोधः शास्त्रार्थकृतनिश्चयः ।
धर्मे चार्थे च कामे च मोक्षे च सततं रतः ॥ १३ ॥
त्रय्यां संवृतमन्त्रश्च राजा भवितुमर्हति ।
वृजिनं च नरेन्द्राणां नान्यच्चारक्षणात् परम् ॥ १४ ॥

जिसने अपने मनको वशमें कर लिया है, क्रोधको जीत लिया है तथा शास्त्रोंके सिद्धान्तका निश्चयात्मक ज्ञान प्राप्त कर लिया है, जो धर्म, अर्थ, काम और मोक्षके प्रयत्नमें निरन्तर लगा रहता है, जिसे तीनों वेदोंका ज्ञान है तथा जो अपने गुप्त विचारोंको दूसरोंपर प्रकट नहीं होने देता है, वही राजा होने योग्य है, प्रजाकी रक्षा न करनेसे बढ़कर राजाओंके लिये दूसरा कोई पाप नहीं है ॥ १३-१४ ॥

चातुर्वर्ण्यस्य धर्माश्च रक्षितव्या महीक्षिता ।
धर्मसंकररक्षा च राज्ञां धर्मः सनातनः ॥ १५ ॥

राजाको चारों वर्णोंके धर्मोंकी रक्षा करनी चाहिये, प्रजाको धर्मसंकरतासे बचाना राजाओंका सनातन धर्म है ॥ १५ ॥

न विश्वसेच्च नृपतिर्न चात्यर्थं च विश्वसेत् ।
षाड्गुण्यगुणदोषांश्च नित्यं बुद्ध्यावलोकयेत् ॥ १६ ॥

राजा किसीपर भी विश्वास न करे । विश्वसनीय व्यक्तिका भी अत्यन्त विश्वास न करे । राजनीतिके छः गुण होते हैं— सन्धि, विग्रह, यान, आसन, द्वैधीभाव और समाश्रय * । इन सबके गुण-दोषोंका अपनी बुद्धिद्वारा सदा निरीक्षण करे ॥

द्विट्छिद्रदर्शी नृपतिर्नित्यमेव प्रशस्यते ।
त्रिवर्गे विदितार्थश्च युक्तचारोपधिश्च यः ॥ १७ ॥

शत्रुओंके छिद्र देखनेवाले राजाकी सदा ही प्रशंसा की जाती है । जिसे धर्म, अर्थ और कामके तत्त्वका ज्ञान है तथा जिसने शत्रुओंकी गुप्त बातोंको जानने और उनके मन्त्री आदिको फोड़नेके लिये गुप्तचर लगा रखा है, वह भी प्रशंसाके ही योग्य है ॥ १७ ॥

कोशस्योपार्जनरतिर्यमवैश्रवणोपमः ।
वेत्ता च दशवर्गस्य स्थानवृद्धिक्षयात्मनः ॥ १८ ॥

राजाको उचित है कि वह सदा अपने कोषागारको भरा-पूरा रखनेका प्रयत्न करता रहे, उसे न्याय करनेमें यमराज और धन-संग्रह करनेमें कुबेरके समान होना चाहिये । वह स्थान, वृद्धि तथा क्षयके हेतुभूत दस¹ वर्गोंका सदा ज्ञान रक्खे ॥ १८ ॥

अभृतानां भवेद् भर्ता भृतानामन्ववेक्षकः ।
नृपतिः सुमुखश्च स्यात् स्मितपूर्वाभिभाषिता ॥ १९ ॥

जिनके भरण-पोषणका प्रबन्ध न हो, उनका पोषण राजा स्वयं करे और उसके द्वारा जिनका भरण-पोषण चल रहा हो, उन सबकी देखभाल रखे । राजाको सदा प्रसन्नमुख रहना और मुस्कराते हुए वार्तालाप करना चाहिये ॥ १९ ॥

उपासिता च वृद्धानां जिततन्द्रिरलोलुपः ।
सतां वृत्ते स्थितमतिः संतोष्यश्चारुदर्शनः ॥ २० ॥

राजाको वृद्ध पुरुषोंकी उपासना (सेवा या सङ्ग) करनी चाहिये, वह आलस्यको जीते और लोलुपताका परित्याग करे। सत्पुरुषोंके व्यवहारमें मन लगावे । संतुष्ट होने योग्य स्वभाव

---

* यदि शत्रुपर चढ़ाई की जाय और वह अपनेसे बलवान् सिद्ध हो तो उससे मेल कर लेना 'सन्धि' नामक गुण है । यदि दोनोंमें समान बल हो तो लड़ाई जारी रखना 'विग्रह' है । यदि शत्रु दुर्बल हो तो उस अवस्थामें उसके दुर्ग आदिपर जो आक्रमण किया जाता है, उसे 'यान' कहते हैं। यदि अपने ऊपर शत्रुकी ओरसे आक्रमण हो और शत्रुका पक्ष प्रबल जान पड़े तो उस समय अपनेको दुर्ग आदिमें छिपाये रखकर जो आत्मरक्षा की जाती है, वह 'आसन' कहलाता है । यदि चढ़ाई करनेवाला शत्रु मध्यम श्रेणीका हो तो 'द्वैधीभाव' का सहारा लिया जाता है । उसमें ऊपरसे दूसरा भाव दिखाया जाता है और भीतर दूसरा ही भाव रक्खा जाता है । जैसे आधी सेना दुर्गमें रखकर आत्मरक्षा करना और आधीको भेजकर शत्रुओंके अन्न आदि सामग्रीपर कब्जा करना आदि कार्य 'द्वैधीभाव' नीतिके अन्तर्गत हैं । आक्रमणकारीसे पीड़ित होनेपर किसी मित्र राजाका सहारा लेकर उसके साथ लड़ाई छेड़ना 'समाश्रय' कहलाता है ।

१. मन्त्री, राष्ट्र, दुर्ग (किला), खजाना और दण्ड—ये पाँच 'प्रकृति' कहे गये हैं । ये ही अपने और शत्रुपक्षके मिलाकर 'दशवर्ग' कहलाते हैं, यदि दोनोंके मन्त्री आदि समान हों तो ये स्थानके हेतु होते हैं अर्थात् दोनों पक्षकी स्थिति कायम रहती है, अगर अपने पक्षमें इनकी अधिकता हो तो ये वृद्धिके साधक होते हैं और कमी हो तो क्षयके कारण बनते हैं ।

बनाये रक्खे। वेश-भूषा ऐसी रक्खे, जिससे वह देखनेमें अत्यन्त मनोहर जान पड़े ॥ २० ॥

न चाददीत वित्तानि सतां हस्तात् कदाचन।
असद्भ्यश्च समादद्यात् सद्भ्यस्तु प्रतिपादयेत् ॥२१॥

साधुपुरुषोंके हाथसे कभी धन न छीने। असाधु पुरुषोंसे दण्डके रूपमें धन लेना चाहिये; साधु पुरुषोंको तो धन देना चाहिये ॥ २१ ॥

स्वयं प्रहर्ता दाता च वश्यात्मा रम्यसाधनः।
काले दाता च भोक्ता च शुद्धाचारस्तथैव च ॥ २२ ॥

स्वयं दुष्टोंपर प्रहार करे, दानशील बने, मनको वशमें रक्खे, सुरम्य साधनसे युक्त रहे, समय-समयपर धनका दान और उपभोग भी करे तथा निरन्तर शुद्ध एवं सदाचारी बना रहे ॥ २२ ॥

शूरान् भक्तानसंहार्यान् कुले जातानरोगिणः।
शिष्टाञ्शिष्टाभिसम्बन्धान्मानिनोऽनवमानिनः॥ २३ ॥
विद्याविदो लोकविदः परलोकान्ववेक्षकान्।
धर्मे च निरतान् साधूनचलानचलानिव ॥ २४ ॥
सहायान् सततं कुर्याद् राजा भूतिपुरस्कृतः।
तैश्च तुल्यो भवेद् भोगैश्छत्रमात्राज्ञयाधिकः ॥ २५ ॥

जो शूरवीर एवं भक्त हों, जिन्हें विपक्षी फोड़ न सकें, जो कुलीन, नीरोग एवं शिष्ट हों तथा शिष्ट पुरुषोंसे सम्बन्ध रखते हों, जो आत्मसम्मानकी रक्षा करते हुए दूसरोंका कभी अपमान न करते हों, धर्मपरायण, विद्वान्, लोकव्यवहारके ज्ञाता और शत्रुओंकी गतिविधिपर दृष्टि रखनेवाले हों, जिनमें साधुता भरी हो तथा जो पर्वतोंके समान अटल रहनेवाले हों, ऐसे लोगोंको ही राजा सदा अपना सहायक बनावे और उन्हें ऐश्वर्यका पुरस्कार दे। उन्हें अपने समान ही सुखभोगकी सुविधा प्रदान करे, केवल राजोचित छत्र धारण करना और सबको आज्ञा प्रदान करना—इन दो बातोंमें ही वह उन सहायकोंकी अपेक्षा अधिक रहे ॥ २३—२५ ॥

प्रत्यक्षा च परोक्षा च वृत्तिश्चास्य भवेत् समा।
एवं कुर्वन् नरेन्द्रोऽपि न खेदमिह विन्दति ॥ २६ ॥

प्रत्यक्ष और परोक्षमें भी उनके साथ राजाका एक-सा ही बर्ताव होना चाहिये। ऐसा करनेवाला नरेश इस जगत्में कभी कष्ट नहीं उठाता ॥ २६ ॥

सर्वाभिशङ्की नृपतिर्यश्च सर्वहरो भवेत्।
न क्षिप्रमनृजुर्लुब्धः स्वजनेनैव बध्यते ॥ २७ ॥

जो राजा सबपर संदेह करता और सबका सर्वस्व हर लेता है, वह लोभी और कुटिल राजा एक दिन अपने ही लोगोंके हाथसे शीघ्र मारा जाता है ॥ २७ ॥

शुचिस्तु पृथिवीपालो लोकचित्तग्रहे रतः।
न पतत्यरिभिर्ग्रस्तः पतितश्चावतिष्ठते ॥ २८ ॥

जो भूपाल बाहर-भीतरसे शुद्ध रहकर प्रजाके हृदयको अपनानेका प्रयत्न करता है, वह शत्रुओंका आक्रमण होनेपर भी उनके वशमें नहीं पड़ता, यदि उसका पतन हुआ भी तो वह सहायकोंको पाकर शीघ्र ही उठ खड़ा होता है ॥ २८ ॥

अक्रोधनो ह्यव्यसनी मृदुदण्डो जितेन्द्रियः।
राजा भवति भूतानां विश्वास्यो हिमवानिव ॥ २९ ॥

जिसमें क्रोधका अभाव होता है, जो दुर्व्यसनोंसे दूर रहता है, जिसका दण्ड भी कठोर नहीं होता तथा जो अपनी इन्द्रियोंपर विजय पा लेता है, वह राजा हिमालयके समान सम्पूर्ण प्राणियोंका विश्वासपात्र बन जाता है ॥ २९ ॥

प्राज्ञस्त्यागगुणोपेतः पररन्ध्रेषु तत्परः।
सुदर्शः सर्ववर्णानां नयापनयवित् तथा ॥ ३० ॥
क्षिप्रकारी जितक्रोधः सुप्रसादो महामनाः।
अरोषप्रकृतिर्युक्तः क्रियावानविकत्थनः ॥ ३१ ॥
आरब्धान्येव कार्याणि सुपर्यवसितानि च।
यस्य राज्ञः प्रदृश्यन्ति स राजा राजसत्तमः ॥ ३२ ॥

जो बुद्धिमान्, त्यागी, शत्रुओंकी दुर्बलता जाननेके प्रयत्नमें तत्पर, देखनेमें सुन्दर, सभी वर्णोंके न्याय और अन्यायको समझनेवाला, शीघ्र कार्य करनेमें समर्थ, क्रोधपर विजय पानेवाला, आश्रितोंपर कृपा करनेवाला, महामनस्वी, कोमल स्वभावसे युक्त, उद्योगी, कर्मठ तथा आत्मप्रशंसासे दूर रहनेवाला है, जिस राजाके आरम्भ किये हुए सभी कार्य सुन्दर रूपसे समाप्त होते दिखायी देते हैं, वह समस्त राजाओंमें श्रेष्ठ है ॥ ३०—३२ ॥

पुत्रा इव पितुर्गेहे विषये यस्य मानवाः।
निर्भया विचरिष्यन्ति स राजा राजसत्तमः ॥ ३३ ॥

जैसे पुत्र अपने पिताके घरमें निर्भीक होकर रहते हैं, उसी प्रकार जिस राजाके राज्यमें मनुष्य निर्भय होकर विचरते हैं, वह सब राजाओंमें श्रेष्ठ है ॥ ३३ ॥

अगूढविभवा यस्य पौरा राष्ट्रनिवासिनः।
नयापनयवेत्तारः स राजा राजसत्तमः ॥ ३४ ॥

जिसके राज्य अथवा नगरमें निवास करनेवाले लोग (चोरोंसे भय न होनेके कारण) अपने धनको छिपाकर न रखते हों तथा न्याय और अन्यायको समझते हों, वह राजा समस्त राजाओंमें श्रेष्ठ है ॥ ३४ ॥

स्वकर्मनिरता यस्य जना विषयवासिनः।
असंघातरता दान्ताः पाल्यमाना यथाविधि ॥ ३५ ॥
वश्या नेया विधेयाश्च न च संघर्षशीलिनः।
विषये दानरुचयो नरा यस्य स पार्थिवः ॥ ३६ ॥

जिसके राज्यमें निवास करनेवाले लोग विधिपूर्वक सुरक्षित एवं पालित होकर अपने-अपने कर्ममें संलग्न, शरीरमें आसक्ति न रखनेवाले और जितेन्द्रिय हों, अपने वशमें रहते हों, शिक्षा देने और ग्रहण करने योग्य हों, आज्ञा पालन करते हों,

कलह और विवादसे दूर रहते हों और दान देनेकी रुचि रखते हों, वह राजा श्रेष्ठ है ॥ ३५-३६ ॥

न यस्य कूटं कपटं न माया न च मत्सरः ।
विषये भूमिपालस्य तस्य धर्मः सनातनः ॥ ३७ ॥

जिस भूपालके राज्यमें कूटनीति, कपट, माया तथा ईर्ष्याका सर्वथा अभाव हो उसीके द्वारा सनातन धर्मका पालन होता है ॥ ३७ ॥

यः सत्करोति ज्ञानानि ज्ञेये परहिते रतः ।
सतां वर्त्मानुगस्त्यागी स राजा राज्यमर्हति ॥ ३८ ॥

जो ज्ञान एवं ज्ञानियोंका सत्कार करता है, शास्त्रके ज्ञातव्य विषयको समझने तथा परहित-साधन करनेमें संलग्न रहता है, सत्पुरुषोंके मार्गपर चलनेवाला और स्वार्थत्यागी है, वही राजा राज्य चलानेके योग्य समझा जाता है ॥ ३८ ॥

यस्य चाराश्च मन्त्राश्च नित्यं चैव कृताकृताः ।
न ज्ञायन्ते हि रिपुभिः स राजा राज्यमर्हति ॥ ३९ ॥

जिसके गुप्तचर, गुप्त विचार, निश्चय किए हुए करने योग्य कर्म और किये हुए कर्म शत्रुओंद्वारा कभी जाने न जा सकें, वही राजा राज्य पानेका अधिकारी है ॥ ३९ ॥

श्लोकश्चायं पुरा गीतो भार्गवेण महात्मना ।
आख्याते राजचरिते नृपतिं प्रति भारत ॥ ४० ॥

भारत ! महात्मा भार्गवने पूर्वकालमें किसी राजाके प्रति राजोचित कर्तव्यका वर्णन करते समय इस श्लोकका गान किया था ॥ ४० ॥

राजानं प्रथमं विन्देत् ततो भार्यां ततो धनम् ।
राजन्यसति लोकस्य कुतो भार्या कुतो धनम् ॥ ४१ ॥

'मनुष्य पहले राजाको प्राप्त करे । उसके बाद पत्नीका परिग्रह और धनका संग्रह करे । लोकरक्षक राजाके न होनेपर कैसे भार्या सुरक्षित रहेगी और किस तरह धनकी रक्षा हो सकेगी ?' ॥ ४१ ॥

तद्राज्ये राज्यकामानां नान्यो धर्मः सनातनः ।
ऋते रक्षां तु विस्पष्टां रक्षा लोकस्य धारिणी ॥ ४२ ॥

राज्य चाहनेवाले राजाओंके लिये राज्यमें प्रजाओंकी भलीभाँति रक्षाको छोड़कर और कोई सनातन धर्म नहीं है, रक्षा ही जगत्को धारण करनेवाली है ॥ ४२ ॥

प्राचेतसेन मनुना श्लोकौ चेमावुदाहृतौ ।
राजधर्मेषु राजेन्द्र ताविहैकमनाः शृणु ॥ ४३ ॥

राजेन्द्र ! प्राचेतस मनुने राजधर्मके विषयमें ये दो श्लोक कहे हैं । तुम एकचित्त होकर उन दोनों श्लोकोंको यहाँ सुनो ॥

षडेतान् पुरुषो जह्याद् भिन्नां नावमिवार्णवे ।
अप्रवक्तारमाचार्यमनधीयानमृत्विजम् ॥ ४४ ॥
अरक्षितारं राजानं भार्यां चाप्रियवादिनीम् ।
ग्रामकामं च गोपालं वनकामं च नापितम् ॥ ४५ ॥

'जैसे समुद्रकी यात्रामें टूटी हुई नौकाका त्याग कर दिया जाता है, उसी प्रकार प्रत्येक मनुष्यको चाहिये कि वह उपदेश न देनेवाले आचार्य, वेदमन्त्रोंका उच्चारण न करनेवाले ऋत्विज, रक्षा न कर सकनेवाले राजा, कटु वचन बोलनेवाली स्त्री, गाँवमें रहनेकी इच्छा रखनेवाले ग्वाले और जंगलमें रहनेकी कामना करनेवाले नाई—इन छः व्यक्तियोंका त्याग कर दे' ॥ ४४-४५ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि राजधर्मानुशासनपर्वणि सप्तपञ्चाशत्तमोऽध्यायः ॥ ५७ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत राजधर्मानुशासनपर्वमें सत्तावनवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ५७ ॥

अष्टपञ्चाशत्तमोऽध्यायः

भीष्मद्वारा राज्यरक्षाके साधनोंका वर्णन तथा संध्याके समय युधिष्ठिर आदिका विदा होना और रास्तेमें स्नान-संध्यादि नित्यकर्मसे निवृत्त होकर हस्तिनापुरमें प्रवेश

भीष्म उवाच

एतत् ते राजधर्माणां नवनीतं युधिष्ठिर ।
बृहस्पतिर्हि भगवान् न्याय्यं धर्मं प्रशंसति ॥ १ ॥

भीष्मजी कहते हैं—युधिष्ठिर ! यह मैंने तुमसे जो कुछ कहा है, राजधर्मरूपी दूधका माखन है । भगवान् बृहस्पति इस न्यायानुकूल धर्मकी ही प्रशंसा करते हैं ॥ १ ॥

विशालाक्षश्च भगवान् काव्यश्चैव महातपाः ।
सहस्राक्षो महेन्द्रश्च तथा प्राचेतसो मनुः ॥ २ ॥
भरद्वाजश्च भगवांस्तथा गौरशिरा मुनिः ।
राजशास्त्रप्रणेतारो ब्रह्मण्या ब्रह्मवादिनः ॥ ३ ॥
रक्षामेव प्रशंसन्ति धर्मं धर्मभृतां वर ।
राज्ञां राजीवताम्राक्ष साधनं चात्र मे शृणु ॥ ४ ॥

इनके सिवा भगवान् विशालाक्ष, महातपस्वी शुक्राचार्य, सहस्र नेत्रोंवाले इन्द्र, प्राचेतस मनु, भगवान् भरद्वाज और मुनिवर गौरशिरा—ये सभी ब्राह्मणभक्त और ब्रह्मवादी लोग राजशास्त्रके प्रणेता हैं, ये सब राजाके लिये प्रजापालनरूप धर्मकी ही प्रशंसा करते हैं । धर्मात्माओंमें श्रेष्ठ कमलनयन युधिष्ठिर ! इस रक्षात्मक धर्मके साधनोंका वर्णन करता हूँ, सुनो ॥ २-४ ॥

चारश्च प्रणिधिश्चैव काले दानममत्सरात् ।
युक्त्यादानं न चादानमयोगेन युधिष्ठिर ॥ ५ ॥
सतां संग्रहणं शौर्यं दाक्ष्यं सत्यं प्रजाहितम् ।
अनार्जवैरार्जवैश्च शत्रुपक्षस्य भेदनम् ॥ ६ ॥

केतनानां च जीर्णानामवेक्षा चैव सीदताम्।
द्विविधस्य च दण्डस्य प्रयोगः कालचोदितः ॥ ७ ॥
साधूनामपरित्यागः कुलीनानां च धारणम्।
निचयश्च निचेयानां सेवा बुद्धिमतामपि ॥ ८ ॥
बलानां हर्षणं नित्यं प्रजानामन्ववेक्षणम्।
कार्येष्वखेदः कोशस्य तथैव च विवर्धनम् ॥ ९ ॥
पुरगुप्तिरविश्वासः पौरसंघातभेदनम्।
अरिमध्यस्थमित्राणां यथावच्चान्ववेक्षणम् ॥ १० ॥
उपजापश्च भृत्यानामात्मनः पुरदर्शनम्।
अविश्वासः स्वयं चैव परस्याश्वासनं तथा ॥ ११ ॥
नीतिधर्मानुसरणं नित्यमुत्थानमेव च।
रिपूणामनवज्ञानं नित्यं चानार्यवर्जनम् ॥ १२ ॥

युधिष्ठिर ! गुप्तचर (जासूस) रखना, दूसरे राष्ट्रोंमें अपना प्रतिनिधि (राजदूत) नियुक्त करना, सेवकोंको उनके प्रति ईर्ष्या न रखते हुए समयपर वेतन और भत्ता देना, युक्तिसे कर लेना, अन्यायसे प्रजाके धनको न हड़पना, सत्पुरुषोंका संग्रह करना, शूरता, कार्यदक्षता, सत्यभाषण, प्रजाका हित-चिन्तन, सरल या कुटिल उपायोंसे भी शत्रुपक्षमें फूट डालना, पुराने घरोंकी मरम्मत एवं मन्दिरोंका जीर्णोद्धार कराना, दीन-दुखियोंकी देखभाल करना, समयानुसार शारीरिक और आर्थिक दोनों प्रकारके दण्डका प्रयोग करना, साधु पुरुषोंका त्याग न करना, कुलीन मनुष्योंको अपने पास रखना, संग्रह-योग्य वस्तुओंका संग्रह करना, बुद्धिमान् पुरुषोंका सेवन करना, पुरस्कार आदिके द्वारा सेनाका हर्ष और उत्साह बढ़ाना, नित्य-निरन्तर प्रजाकी देख-भाल करना, कार्य करनेमें कष्टका अनुभव न करना, कोषको बढ़ाना, नगरकी रक्षाका पूरा प्रबन्ध करना, इस विषयमें दूसरोंके विश्वासपर न रहना, पुरवासियोंने अपने विरुद्ध कोई गुटबंदी की हो तो उसमें फूट डलवा देना, शत्रु, मित्र और मध्यस्थोंपर यथोचित दृष्टि रखना, दूसरोंके द्वारा अपने सेवकोंमें भी गुटबंदी न होने देना, स्वयं ही अपने नगरका निरीक्षण करना, स्वयं किसीपर भी पूरा विश्वास न करना, दूसरोंको आश्वासन देना, नीतिधर्मका अनुसरण करना, सदा ही उद्योगशील बने रहना, शत्रुओंकी ओरसे सावधान रहना और नीच कर्मों तथा दुष्ट पुरुषोंको सदाके लिये त्याग देना—ये सभी राज्यकी रक्षाके साधन हैं ॥ ५—१२ ॥

उत्थानं हि नरेन्द्राणां बृहस्पतिरभाषत।
राजधर्मस्य तन्मूलं श्लोकांश्चात्र निबोध मे ॥ १३ ॥

बृहस्पतिने राजाओंके लिये उद्योगके महत्त्वका प्रतिपादन किया है। उद्योग ही राजधर्मका मूल है। इस विषयमें जो श्लोक हैं, उन्हें बताता हूँ; सुनो ॥ १३ ॥

उत्थानेनामृतं लब्धमुत्थानेनासुरा हताः।
उत्थानेन महेन्द्रेण श्रैष्ठ्यं प्राप्तं दिवीह च ॥ १४ ॥

'देवराज इन्द्रने उद्योगसे ही अमृत प्राप्त किया, उद्योगसे ही असुरोंका संहार किया तथा उद्योगसे ही देवलोक और इहलोकमें श्रेष्ठता प्राप्त की ॥ १४ ॥

उत्थानवीरः पुरुषो वाग्वीरानधितिष्ठति।
उत्थानवीरान् वाग्वीरा रमयन्त उपासते ॥ १५ ॥

'जो उद्योगमें वीर है, वह पुरुष केवल वाग्वीर पुरुषोंपर अपना आधिपत्य जमा लेता है। वाग्वीर विद्वान् उद्योगवीर पुरुषोंका मनोरञ्जन करते हुए उनकी उपासना करते हैं ॥ १५ ॥

उत्थानहीनो राजा हि बुद्धिमानपि नित्यशः।
प्रधर्षणीयः शत्रूणां भुजङ्ग इव निर्विषः ॥ १६ ॥

'जो राजा उद्योगहीन होता है, वह बुद्धिमान् होनेपर भी विषहीन सर्पके समान सदैव शत्रुओंके द्वारा परास्त होता रहता है ॥ १६ ॥

न च शत्रुरवज्ञेयो दुर्बलोऽपि बलीयसा।
अल्पोऽपि हि दहत्यग्निर्विषमल्पं हिनस्ति च ॥ १७॥

'बलवान् पुरुष कभी दुर्बल शत्रुकी भी अवहेलना न करे अर्थात् उसे छोटा समझकर उसकी ओरसे लापरवाही न दिखावे; क्योंकि आग थोड़ी-सी हो तो भी जला डालती है और विष कम मात्रामें हो तो भी मार डालता है ॥ १७ ॥

एकाङ्गेनापि सम्भूतः शत्रुर्दुर्गमुपाश्रितः।
सर्वं तापयते देशमपि राज्ञः समृद्धिनः ॥ १८ ॥

'चतुरङ्गिणी सेनाके एक अङ्गसे भी सम्पन्न हुआ शत्रु दुर्गका आश्रय लेकर समृद्धिशाली राजाके समूचे देशको भी संतप्त कर डालता है' ॥ १८ ॥

राज्ञो रहस्यं यद् वाक्यं जयार्थं लोकसंग्रहः।
हृदि यच्चास्य जिह्मं स्यात्कारणेन च यद् भवेत् ॥ १९ ॥
यच्चास्य कार्यं वृजिनमार्जवेनैव धारयेत्।
दम्भनार्थं च लोकस्य धर्मिष्ठामाचरेत् क्रियाम् ॥ २० ॥

राजाके लिये जो गोपनीय रहस्यकी बात हो, शत्रुओंपर विजय पानेके लिये वह जो लोगोंका संग्रह करता हो, विजयके ही उद्देश्यसे उसके हृदयमें जो कार्य छिपा हो अथवा उसे जो न करने योग्य असत्कार्य करना हो, वह सब कुछ उसे सरलभावसे ही छिपाये रखना चाहिये। वह लोगोंमें अपनी प्रतिष्ठा बनाये रखनेके लिये सदा धार्मिक कर्मोंका अनुष्ठान करे ॥ १९-२० ॥

राज्यं हि सुमहत् तन्त्रं धार्यते नाकृतात्मभिः।
न शक्यं मृदुना वोढुमायासस्थानमुत्तमम् ॥ २१ ॥

राज्य एक बहुत बड़ा तन्त्र है। जिन्होंने अपने मनको वशमें नहीं किया है, ऐसे क्रूर-स्वभाववाले राजा उस विशाल तन्त्रको सँभाल नहीं सकते। इसी प्रकार जो बहुत कोमल प्रकृतिके होते हैं, वे भी इसका भार वहन नहीं कर सकते। उनके लिये राज्य बड़ा भारी जंजाल हो जाता है ॥ २१ ॥

राज्यं सर्वामिषं नित्यमार्जवेनेह धार्यते ।
तस्मान्मिश्रेण सततं वर्तितव्यं युधिष्ठिर ॥ २२ ॥

युधिष्ठिर ! राज्य सबके उपभोगकी वस्तु है; अतः सदा सरल भावसे ही उसकी सँभाल की जा सकती है। इसलिये राजामें क्रूरता और कोमलता दोनों भावोंका सम्मिश्रण होना चाहिये ॥ २२ ॥

यद्यप्यस्य विपत्तिः स्याद् रक्षमाणस्य वै प्रजाः ।
सोऽप्यस्य विपुलो धर्म एवंवृत्ता हि भूमिपाः ॥ २३ ॥

प्रजाकी रक्षा करते हुए राजाके प्राण चले जायँ तो भी वह उसके लिये महान् धर्म है। राजाओंके व्यवहार और वर्ताव ऐसे ही होने चाहिये ॥ २३ ॥

एष ते राजधर्माणां लेशः समनुवर्णितः ।
भूयस्ते यत्र संदेहस्तद् ब्रूहि कुरुसत्तम ॥ २४ ॥

कुरुश्रेष्ठ ! यह मैंने तुम्हारे सामने राजधर्मोंका लेशमात्र वर्णन किया है। अब तुम्हें जिस बातमें संदेह हो, वह पूछो ॥ २४ ॥

वैशम्पायन उवाच

ततो व्यासश्च भगवान् देवस्थानोऽश्म एव च।
वासुदेवः कृपश्चैव सात्यकिः संजयस्तथा ॥ २५ ॥
साधु साध्विति संहृष्टाः पुष्प्यमाणैरिवाननैः ।
अस्तुवंश्च नरव्याघ्रं भीष्मं धर्मभृतां वरम् ॥ २६ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं— जनमेजय ! भीष्मजीका यह वक्तव्य सुनकर भगवान् व्यास, देवस्थान, अश्म, वसुदेवनन्दन श्रीकृष्ण, कृपाचार्य, सात्यकि और संजय बड़े प्रसन्न हुए और हर्षसे खिले हुए मुखोंद्वारा साधुवाद देते हुए धर्मात्माओंमें श्रेष्ठ पुरुषसिंह भीष्मजीकी भूरि-भूरि प्रशंसा करने लगे ॥ २५-२६ ॥

ततो दीनमना भीष्ममुवाच कुरुसत्तमः ।
नेत्राभ्यामश्रुपूर्णाभ्यां पादौ तस्य शनैः स्पृशन् ॥ २७ ॥
श्व इदानीं स्वसन्देहं प्रक्ष्यामि त्वां पितामह ।
उपैति सविता ह्यस्तं रसमापीय पार्थिवम् ॥ २८ ॥

तत्पश्चात् कुरुश्रेष्ठ युधिष्ठिरने मन-ही-मन दुखी हो दोनों नेत्रोंमें आँसू भरकर धीरेसे भीष्मजीके चरण छूए और कहा— 'पितामह ! इस समय भगवान् सूर्य अपनी किरणोंद्वारा पृथ्वीके रसका शोषण करके अस्ताचलको जा रहे हैं; इसलिये अब मैं कल आपसे अपना संदेह पूछूँगा' ॥ २७-२८ ॥

ततो द्विजातीनभिवाद्य केशवः
कृपश्च ते चैव युधिष्ठिरादयः ।
प्रदक्षिणीकृत्य महानदीसुतं
ततो रथानारुरुहुर्मुदान्विताः ॥ २९ ॥

तदनन्तर ब्राह्मणोंको प्रणाम करके भगवान् श्रीकृष्ण, कृपाचार्य तथा युधिष्ठिर आदिने महानदी गङ्गाके पुत्र भीष्मजीकी परिक्रमा की। फिर वे प्रसन्नतापूर्वक अपने रथोंपर आरूढ़ हो गये ॥ २९ ॥

दृषद्वतीं चाप्यवगाह्य सुव्रताः
कृतोदकार्थाः कृतजप्यमङ्गलाः ।
उपास्य संध्यां विधिवत् परंतपा-
स्ततः पुरं ते विविशुर्गजाह्वयम् ॥ ३० ॥

फिर दृषद्वती नदीमें स्नान करके उत्तम व्रतका पालन करनेवाले वे शत्रुसंतापी वीर विधिपूर्वक संध्या, तर्पण और जप आदि मङ्गलकारी कर्मोंका अनुष्ठान करके वहाँसे हस्तिनापुरमें चले आये ॥ ३० ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि राजधर्मानुशानपर्वणि युधिष्ठिरादिस्वस्थानगमनेऽष्टपञ्चाशत्तमोऽध्यायः ॥ ५८ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत राजधर्मानुशासनपर्वमें युधिष्ठिर आदिका अपने निवास-स्थानको प्रस्थानविषयक अट्ठावनवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ५८ ॥

एकोनषष्टितमोऽध्यायः

ब्रह्माजीके नीतिशास्त्रका तथा राजा पृथुके चरित्रका वर्णन

वैशम्पायन उवाच

ततः कल्यं समुत्थाय कृतपूर्वाह्णिकक्रियाः ।
ययुस्ते नगराकारै रथैः पाण्डवयादवाः ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! तदनन्तर दूसरे दिन सबेरे उठकर पाण्डव और यदुवंशी वीर पूर्वाह्णकालके नित्य-कर्म पूर्ण करनेके अनन्तर नगराकार विशाल रथोंपर सवार हो हस्तिनापुरसे चल दिये ॥ १ ॥

प्रतिपद्य कुरुक्षेत्रं भीष्ममासाद्य चानघ ।
सुखां च रजनीं पृष्ट्वा गाङ्गेयं रथिनां वरम् ॥ २ ॥
व्यासादीनभिवाद्यर्षीन् सर्वैस्तैश्चाभिनन्दिताः ।
निषेदुरभितो भीष्मं परिवार्य समन्ततः ॥ ३ ॥

निष्पाप नरेश ! कुरुक्षेत्रमें जा रथियोंमें श्रेष्ठ गङ्गानन्दन भीष्मजीके पास पहुँचकर उनसे सुखपूर्वक रात बीतनेका समाचार पूछकर व्यास आदि महर्षियोंको प्रणाम करके उन सबके द्वारा अभिनन्दित हो वे पाण्डव और श्रीकृष्ण भीष्मजीको सब ओरसे घेरकर उनके पास ही बैठ गये ॥ २-३ ॥

ततो राजा महातेजा धर्मराजो युधिष्ठिरः ।
अब्रवीत् प्राञ्जलिर्भीष्मं प्रतिपूज्य यथाविधि ॥ ४ ॥

तब महातेजस्वी राजा धर्मराज युधिष्ठिरने भीष्मजीका विधिपूर्वक पूजन करके उनसे दोनों हाथ जोड़कर कहा ॥४॥

युधिष्ठिर उवाच

य एष राजन् राजेति शब्दश्चरति भारत।
कथमेष समुत्पन्नस्तन्मे ब्रूहि परंतप॥ ५॥

युधिष्ठिर बोले—शत्रुओंको संताप देनेवाले भरतवंशी नरेश! लोकमें जो यह राजा शब्द चल रहा है, इसकी उत्पत्ति कैसे हुई है? यह मुझे बतानेकी कृपा करें॥ ५॥

तुल्यपाणिभुजग्रीवस्तुल्यबुद्धीन्द्रियात्मकः।
तुल्यदुःखसुखात्मा च तुल्यपृष्ठमुखोदरः॥ ६॥
तुल्यशुक्रास्थिमज्जा च तुल्यमांसासृगेव च।
निःश्वासोच्छ्वासतुल्यश्च तुल्यप्राणशरीरवान्॥ ७॥
समानजन्ममरणः समः सर्वैर्गुणैर्नृणाम्।
विशिष्टबुद्धीन् शूरांश्च कथमेकोऽधितिष्ठति॥ ८॥

जिसे हम राजा कहते हैं, वह सभी गुणोंमें दूसरोंके समान ही है। उसके हाथ, बाँह और गर्दन भी औरोंकी ही भाँति हैं। बुद्धि और इन्द्रियाँ भी दूसरे लोगोंके ही तुल्य हैं। उसके मनमें भी दूसरे मनुष्योंके समान ही सुख-दुःखका अनुभव होता है। मुँह, पेट, पीठ, वीर्य, हड्डी, मज्जा, मांस, रक्त, उच्छ्वास, निःश्वास, प्राण, शरीर, जन्म और मरण आदि सभी बातें राजामें भी दूसरोंके समान ही हैं। फिर वह विशिष्ट बुद्धि रखनेवाले अनेक शूरवीरोंपर अकेला ही कैसे अपना प्रभुत्व स्थापित कर लेता है?॥ ६–८॥

कथमेको महीं कृत्स्नां शूरवीरार्यसंकुलाम्।
रक्षत्यपि च लोकस्य प्रसादमभिवाञ्छति॥ ९॥

अकेला होनेपर भी वह शूरवीर एवं सत्पुरुषोंसे भरी हुई इस सारी पृथ्वीका कैसे पालन करता है और कैसे सम्पूर्ण जगत्‌की प्रसन्नता चाहता है?॥ ९॥

एकस्य तु प्रसादेन कृत्स्नो लोकः प्रसीदति।
व्याकुले चाकुलः सर्वो भवतीति विनिश्चयः॥ १०॥

यह निश्चित रूपसे देखा जाता है कि एकमात्र राजाकी प्रसन्नतामें ही सारा जगत् प्रसन्न होता है और उस एकके ही व्याकुल होनेपर सब लोग व्याकुल हो जाते हैं॥ १०॥

एतदिच्छाम्यहं श्रोतुं तत्त्वेन भरतर्षभ।
कृत्स्नं तन्मे यथातत्त्वं प्रब्रूहि वदतां वर॥ ११॥

भरतश्रेष्ठ! इसका क्या कारण है? यह मैं यथार्थरूपसे सुनना चाहता हूँ। वक्ताओंमें श्रेष्ठ पितामह! यह सारा रहस्य मुझे यथावत् रूपसे बताइये॥ ११॥

नैतत् कारणमल्पं हि भविष्यति विशाम्पते।
यदेकस्मिन् जगत् सर्वं देववद् याति संनतिम्॥ १२॥

प्रजानाथ! यह सारा जगत् जो एक ही व्यक्तिको देवताके समान मानकर उसके सामने नतमस्तक हो जाता है, इसका कोई स्वल्प कारण नहीं हो सकता॥ १२॥

भीष्म उवाच

नियतस्त्वं नरव्याघ्र शृणु सर्वमशेषतः।
यथा राज्यं समुत्पन्नमादौ कृतयुगेऽभवत्॥ १३॥

भीष्मजीने कहा—पुरुषसिंह! आदि सत्ययुगमें जिस प्रकार राजा और राज्यकी उत्पत्ति हुई, वह सारा वृत्तान्त तुम एकाग्र होकर सुनो॥ १३॥

न वै राज्यं न राजाऽऽसीन्न च दण्डो न दाण्डिकः।
धर्मेणैव प्रजाः सर्वा रक्षन्ति स्म परस्परम्॥ १४॥

पहले न कोई राज्य था, न राजा, न दण्ड था और न दण्ड देनेवाला, समस्त प्रजा धर्मके द्वारा ही एक दूसरेकी रक्षा करती थी॥ १४॥

पाल्यमानास्तथान्योन्यं नरा धर्मेण भारत।
खेदं परमुपाजग्मुस्ततस्तान् मोह आविशत्॥ १५॥

भारत! सब मनुष्य धर्मके द्वारा परस्पर पालित और पोषित होते थे। कुछ दिनोंके बाद सब लोग पारस्परिक संरक्षणके कार्यमें महान् कष्टका अनुभव करने लगे; फिर उन सबपर मोह छा गया॥ १५॥

ते मोहवशमापन्ना मनुजा मनुजर्षभ।
प्रतिपत्तिविमोहाच्च धर्मस्तेषामनीनशत्॥ १६॥

नरश्रेष्ठ! जब सारे मनुष्य मोहके वशीभूत हो गये, तब कर्तव्याकर्त्तव्यके ज्ञानसे शून्य होनेके कारण उनके धर्मका नाश हो गया॥ १६॥

नष्टायां प्रतिपत्तौ च मोहवश्या नरास्तदा।
लोभस्य वशमापन्नाः सर्वे भरतसत्तम॥ १७॥

भरतभूषण! कर्तव्याकर्तव्यका ज्ञान नष्ट हो जानेपर मोहके वशीभूत हुए सब मनुष्य लोभके अधीन हो गये॥ १७॥

अप्राप्तस्याभिमर्शं तु कुर्वन्तो मनुजास्ततः।
कामो नामापरस्तत्र प्रत्यपद्यत वै प्रभो॥ १८॥

फिर जो वस्तु उन्हें प्राप्त नहीं थी, उसे पानेका वे प्रयत्न करने लगे। प्रभो! इतनेहीमें वहाँ काम नामक दूसरे दोषने उन्हें घेर लिया॥ १८॥

तांस्तु कामवशं प्राप्तान् रागो नाम समस्पृशत्।
रक्ताश्च नाभ्यजानन्त कार्याकार्ये युधिष्ठिर॥ १९॥

युधिष्ठिर! कामके अधीन हुए उन मनुष्योंपर राग नामक शत्रुने आक्रमण किया। रागके वशीभूत होकर वे यह न जान सके कि क्या कर्तव्य है और क्या अकर्तव्य?॥

अगम्यागमनं चैव वाच्यावाच्यं तथैव च।
भक्ष्याभक्ष्यं च राजेन्द्र दोषादोषं च नात्यजन्॥ २०॥

राजेन्द्र! उन्होंने अगम्यागमन, वाच्य-अवाच्य, भक्ष्य-अभक्ष्य तथा दोष-अदोष कुछ भी नहीं छोड़ा॥ २०॥

विप्लुते नरलोकेऽस्मिंस्ततो ब्रह्म ननाश ह।
नाशाच्च ब्रह्मणो राजन् धर्मो नाशमथागमत्॥ २१॥

इस प्रकार मनुष्यलोकमें धर्मका विप्लव हो जानेपर वेदोंके स्वाध्यायका भी लोप हो गया। राजन्! वैदिक ज्ञानका लोप होनेसे यज्ञ आदि कर्मोंका भी नाश हो गया॥ २१॥

राजासे हीन प्रजाकी ब्रह्माजीसे राजाके लिये प्रार्थना

नष्टे ब्रह्मणि धर्मे च देवांस्त्रासः समाविशत्।
ते त्रस्ता नरशार्दूल ब्रह्माणं शरणं ययुः ॥ २२ ॥

इस प्रकार जब वेद और धर्मका नाश होने लगा, तब देवताओंके मनमें भय समा गया। पुरुषसिंह ! वे भयभीत होकर ब्रह्माजीकी शरणमें गये ॥ २२ ॥

प्रसाद्य भगवन्तं ते देवं लोकपितामहम्।
ऊचुः प्राञ्जलयः सर्वे दुःखवेगसमाहताः ॥ २३ ॥

लोकपितामह भगवान् ब्रह्माको प्रसन्न करके दुःखके वेगसे पीड़ित हुए समस्त देवता उनसे हाथ जोड़कर बोले—॥

भगवन् नरलोकस्थं ग्रस्तं ब्रह्म सनातनम्।
लोभमोहादिभिर्भावैस्ततो नो भयमाविशत् ॥ २४ ॥

'भगवन् ! मनुष्यलोकमें लोभ, मोह आदि दूषित भावोंने सनातन वैदिक ज्ञानको विलुप्त कर डाला है; इसलिये हमें बड़ा भय हो रहा है ॥ २४ ॥

ब्रह्मणश्च प्रणाशेन धर्मो व्यनशदीश्वर।
ततः स्म समतां याता मर्त्यैस्त्रिभुवनेश्वर ॥२५॥

'ईश्वर ! तीनों लोकोंके स्वामी परमेश्वर ! वैदिक ज्ञानका लोप होनेसे यज्ञ-धर्म नष्ट हो गया। इससे हम सब देवता मनुष्योंके समान हो गये हैं ॥ २५ ॥

अधो हि वर्षमस्माकं नरास्तूर्ध्वप्रवर्षिणः।
क्रियाव्युपरमात् तेषां ततो गच्छाम संशयम् ॥२६॥

'मनुष्य यज्ञ आदिमें घीकी आहुति देकर हमारे लिये ऊपरकी ओर वर्षा करते थे और हम उनके लिये नीचेकी ओर पानी बरसाते थे; परंतु अब उनके यज्ञकर्मका लोप हो जानेसे हमारा जीवन संशयमें पड़ गया है ॥ २६ ॥

अत्र निःश्रेयसं यन्नस्तद् ध्यायस्व पितामह।
त्वत्प्रभावसमुत्थोऽसौ स्वभावो नो विनश्यति ॥ २७॥

'पितामह ! अब जिस उपायसे हमारा कल्याण हो सके, वह सोचिये। आपके प्रभावसे हमें जो दैवस्वभाव प्राप्त हुआ था, वह नष्ट हो रहा है' ॥ २७ ॥

तानुवाच सुरान् सर्वान् स्वयम्भूर्भगवांस्ततः।
श्रेयोऽहं चिन्तयिष्यामि व्येतु वो भीः सुरर्षभाः ॥ २८ ॥

तब भगवान् ब्रह्माने उन सब देवताओंसे कहा—'सुरश्रेष्ठगण ! तुम्हारा भय दूर हो जाना चाहिये। मैं तुम्हारे कल्याणका उपाय सोचूँगा' ॥ २८ ॥

ततोऽध्यायसहस्राणां शतं चक्रे स्वबुद्धिजम्।
यत्र धर्मस्तथैवार्थः कामश्चैवाभिवर्णितः ॥ २९ ॥
त्रिवर्ग इति विख्यातो गण एष स्वयम्भुवा।

तदनन्तर ब्रह्माजीने अपनी बुद्धिसे एक लाख अध्यायोंका एक ऐसा नीति-शास्त्र रचा, जिसमें धर्म, अर्थ और कामका विस्तारपूर्वक वर्णन है। जिसमें इन वर्गोंका वर्णन हुआ है, वह प्रकरण 'त्रिवर्ग'नामसे विख्यात है ॥ २९½ ॥

चतुर्थो मोक्ष इत्येव पृथगर्थः पृथग्गुणः ॥ ३० ॥

चौथा वर्ग मोक्ष है; उसके प्रयोजन और गुण इन तीनों वर्गोंसे भिन्न हैं ॥ ३० ॥

मोक्षस्यास्ति त्रिवर्गोऽन्यः प्रोक्तः सत्त्वं रजस्तमः।
स्थानं वृद्धिः क्षयश्चैव त्रिवर्गश्चैव दण्डजः ॥ ३१ ॥

मोक्षका त्रिवर्ग दूसरा बताया गया है। उसमें सत्त्व, रज और तमकी गणना है। दण्डजनित त्रिवर्ग उससे भिन्न है। स्थान, वृद्धि और क्षय—ये ही उसके भेद हैं (अर्थात् दण्डसे धनियोंकी स्थिति, धर्मात्माओंकी वृद्धि और दुष्टोंका विनाश होता है) ॥ ३१ ॥

आत्मा देशश्च कालश्चाप्युपायाः कृत्यमेव च।
सहायाः कारणं चैव षड्वर्गो नीतिजः स्मृतः ॥ ३२ ॥

ब्रह्माजीके नीति-शास्त्रमें आत्मा, देश, काल, उपाय, कार्य और सहायक—इन छः वर्गोंका वर्णन है। ये छहों नीतिद्वारा संचालित होनेपर उन्नतिके कारण होते हैं ॥३२॥

त्रयी चान्वीक्षिकी चैव वार्ता च भरतर्षभ।
दण्डनीतिश्च विपुला विद्यास्तत्र निदर्शिताः ॥ ३३ ॥

भरतश्रेष्ठ ! उस ग्रन्थमें वेदत्रयी (कर्मकाण्ड), आन्वीक्षिकी (ज्ञानकाण्ड), वार्ता (कृषि, गोरक्षा और वाणिज्य) और दण्डनीति—इन विपुल विद्याओंका निरूपण किया गया है ॥ ३३ ॥

अमात्यरक्षा प्रणिधी राजपुत्रस्य लक्षणम्।
चारश्च विविधोपायः प्रणिधेयः पृथग्विधः ॥ ३४ ॥
साम भेदः प्रदानं च ततो दण्डश्च पार्थिव।
उपेक्षा पञ्चमी चात्र कार्त्स्न्येन समुदाहृता ॥ ३५ ॥

ब्रह्माजीके उस नीतिशास्त्रमें मन्त्रियोंकी रक्षा (उन्हें कोई फोड़ न ले, इसके लिये सतर्कता), प्रणिधि (राजदूत), राजपुत्रके लक्षण, गुप्तचरोंके विचरणके विविध उपाय, विभिन्न स्थानोंमें विभिन्न प्रकारके गुप्तचरोंकी नियुक्ति, साम, दान, भेद, दण्ड और उपेक्षा—इन पाँचों उपायोंका पूर्णरूपसे प्रतिपादन किया गया है ॥ ३४-३५ ॥

मन्त्रश्च वर्णितः कृत्स्नस्तथा भेदार्थ एव च।
विभ्रमश्चैव मन्त्रस्य सिद्ध्यसिद्ध्योश्च यत् फलम् ॥३६॥

सब प्रकारकी मन्त्रणा, भेद-नीतिके प्रयोगके प्रयोजन, मन्त्रणामें होनेवाले भ्रम या उसके फूटनेके भय तथा मन्त्रणाकी सिद्धि और असिद्धिके फलका भी इस शास्त्रमें वर्णन है ॥ ३६ ॥

संधिश्च त्रिविधाभिख्यो हीनो मध्यस्तथोत्तमः।
भयसत्कारवित्ताख्यं कार्त्स्न्येन परिवर्णितम् ॥ ३७ ॥

संधिके तीन भेद हैं—उत्तम, मध्यम और अधम इनकी क्रमशः वित्तसंधि, सत्कारसंधि और भयसंधि—ये तीन संज्ञाएँ हैं। धन लेकर जो संधि की जाती है, वह वित्तसंधि उत्तम है। सत्कार पाकर की हुई दूसरी संधि मध्यम

[illegible] और [illegible] [illegible] [illegible] तीसरी संधि अवम [illegible] । इन सबका उस ग्रन्थमें विस्तारपूर्वक वर्णन है ॥

[illegible] न्यायात्त्रिवर्गस्य च विस्तरः ।
[illegible] धर्मयुक्तश्च तथार्थविजयश्च ह ॥ ३८ ॥
[illegible]श्चैव विजयस्तथा कात्स्न्येन वर्णितः ।
[illegible] पञ्चवर्गस्य त्रिविधं चात्र वर्णितम् ॥ ३९ ॥

[illegible] लड़ाई करनेके चार अवसर, त्रिवर्गके [illegible], धर्मविजय, अर्थविजय तथा आसुर विजयका भी उस ग्रन्थमें पूर्णरूपसे वर्णन किया गया है । मन्त्री, राष्ट्र, दुर्ग, सेना और कोष—इन पाँच वर्गोंके उत्तम, मध्यम और अधम भेदसे तीन प्रकारके लक्षणोंका भी प्रतिपादन किया गया है ॥

प्रकाशश्चाप्रकाशश्च दण्डोऽथ परिशब्दितः ।
प्रकाशोऽष्टविधस्तत्र गुह्यश्च बहुविस्तरः ॥ ४० ॥

प्रकट और गुप्त दो प्रकारकी सेनाओंका भी वर्णन किया गया है । उनमें प्रकट सेना आठ प्रकारकी बतायी गयी है और गुप्त सेनाका विस्तार बहुत अधिक कहा गया है ॥ ४० ॥

रथा नागा हयाश्चैव पादाताश्चैव पाण्डव ।
विष्टिर्नावश्चराश्चैव देशिका इति चाष्टमम् ॥ ४१ ॥
अङ्गान्येतानि कौरव्य प्रकाशानि बलस्य तु ।

कुरुवंशी पाण्डुनन्दन ! हाथी, घोड़े, रथ, पैदल, बेगारमें पकड़े गये बोझ ढोनेवाले लोग, नौकारोही, गुप्तचर तथा [illegible] उपदेश करनेवाले गुरु—ये सेनाके प्रकट आठ अङ्ग हैं ॥ ४१ ॥

जङ्गमाजङ्गमाश्चोक्ताश्चूर्णयोगा विषादयः ॥ ४२ ॥

सेनाके गुप्त अङ्ग हैं जङ्गम (सर्पादिजनित) और अजङ्गम ([illegible] उत्पन्न) विष आदि चूर्णयोग अर्थात् विनाशकारक ओषधियाँ ॥ ४२ ॥

स्पर्शे चाभ्यवहार्ये चाप्युपांशुर्विविधः स्मृतः ।
अरिर्मित्र उदासीन इत्येतेऽप्यनुवर्णिताः ॥ ४३ ॥

[illegible] गोपनीय दण्डसाधन (विष आदि) शत्रुपक्षके लोगोंके वस्त्र आदिके साथ स्पर्श कराने अथवा उनके भोजनमें मिला देनेके उपयोगमें आता है । विभिन्न मन्त्रोंके जपका प्रयोग भी पूर्वोक्त नीतिशास्त्रमें बताया गया है । इसके सिवा इस ग्रन्थमें शत्रु, मित्र और उदासीनका भी बारंबार वर्णन किया गया है ॥ ४३ ॥

[illegible] मार्गगुणाश्चैव तथा भूमिगुणाश्च ह ।
[illegible] सर्वाणां चान्ववेक्षणम् ॥ ४४ ॥

[illegible] सारे [illegible] गुण, भूमिके गुण, आत्मरक्षाके उपाय, आश्वासन तथा रथ आदिके निर्माण और निरीक्षण आदिका भी वर्णन है ॥ ४४ ॥

कल्पना विविधाश्चापि नृनागरथवाजिनाम् ।
व्यूहाश्च विविधाभिख्या विचित्रं युद्धकौशलम् ॥ ४५ ॥
उत्पाताश्च निपाताश्च सुयुद्धं सुपलायितम् ।
शस्त्राणां पालनं ज्ञानं तथैव भरतर्षभ ॥ ४६ ॥

सेनाको पुष्ट करनेवाले अनेक प्रकारके योग, हाथी, घोड़ा रथ और मनुष्य-सेनाकी भाँति-भाँतिकी व्यूह-रचना, नाना प्रकारके युद्धकौशल, जैसे ऊपर उछल जाना, नीचे झुककर अपनेको बचा लेना, सावधान होकर भलीभाँति युद्ध करना, कुशलतापूर्वक वहाँसे निकल भागना—इन सब उपायोंका भी इस ग्रन्थमें वर्णन है । भरतश्रेष्ठ ! शस्त्रोंके संरक्षण और प्रयोगके ज्ञानका भी उसमें उल्लेख है ॥ ४५-४६ ॥

बलव्यसनमुक्तं च तथैव बलहर्षणम् ।
पीडा चापदकालश्च पत्तिज्ञानं च पाण्डव ॥ ४७ ॥

पाण्डुकुमार ! विपत्तिसे सेनाओंका उद्धार करना, सैनिकोंका हर्ष और उत्साह बढ़ाना, पीड़ा और आपत्तिके समय पैदल सैनिकोंकी स्वामिभक्तिकी परीक्षा करना—इन सब बातोंका उस शास्त्रमें वर्णन किया गया है ॥ ४७ ॥

तथा खातविधानं च योगः संचार एव च ।
चौरैराटविकैश्चोग्रैः परराष्ट्रस्य पीडनम् ॥ ४८ ॥
अग्निदैर्गरदैश्चैव प्रतिरूपककारकैः ।
श्रेणिमुख्योपजापेन वीरुधश्छेदनेन च ॥ ४९ ॥
दूषणेन च नागानामातङ्कजननेन च ।
आराधनेन भक्तस्य प्रत्ययोपार्जनेन च ॥ ५० ॥

दुर्गके चारों ओर खाईं खुदवाना, सेनाका युद्धके लिये सुसज्जित होना तथा रणयात्रा करना, चोरों और भयानक जंगली लुटेरोंद्वारा शत्रुके राष्ट्रको पीड़ा देना, आग लगानेवाले, जहर देनेवाले, छद्मवेशधारी लोगोंद्वारा भी शत्रुको हानि पहुँचाना तथा एक-एक शत्रुदलके प्रधान-प्रधान लोगोंमें भेद उत्पन्न करना, फसल और पौधोंको काट लेना, हाथियोंको भड़काना, लोगोंमें आतङ्क उत्पन्न करना, शत्रुओंमें अनुरक्त पुरुषको अनुनय आदिके द्वारा फोड़ लेना और शत्रुपक्षके लोगोंमें अपने प्रति विश्वास उत्पन्न कराना आदि उपायोंसे शत्रुके राष्ट्रको पीड़ा देनेकी कलाका भी ब्रह्माजीके उक्त ग्रन्थमें वर्णन किया गया है ॥ ४८—५० ॥

सप्ताङ्गस्य च राज्यस्य ह्रासवृद्धिसमञ्जसम् ।
दूतसामर्थ्यसंयोगात् सराष्ट्रस्य विवर्धनम् ॥ ५१ ॥
अरिमध्यस्थमित्राणां सम्यक् चोक्तं प्रपञ्चनम् ।
अवमर्दः प्रतीघातस्तथैव च बलीयसाम् ॥ ५२ ॥

सात अङ्गोंसे युक्त राज्यके ह्रास, वृद्धि और समान भावसे स्थिति, दूतके सामर्थ्यसे होनेवाली अपनी और अपने राष्ट्रकी वृद्धि, शत्रु, मित्र और मध्यस्थोंका विस्तारपूर्वक सम्यक्

---

१. [illegible] लड़ाई करनेके चार अवसर ये हैं—(१) अपने [illegible] (२) [illegible] (३) शत्रुके मित्रोंका [illegible] (४) शत्रुके सैनिकोंकी हानि ।

विवेचन, बलवान् शत्रुओंको कुचल डालने तथा उनसे टक्कर लेनेकी विधि आदिका उक्त ग्रन्थमें वर्णन किया गया है ॥

व्यवहारः सुसूक्ष्मश्च तथा कण्टकशोधनम् ।
श्रमो व्यायामयोगश्च त्यागो द्रव्यस्य संग्रहः ॥ ५३ ॥

शासनसम्बन्धी अत्यन्त सूक्ष्म व्यवहार, कण्टक-शोधन (राज्यकार्यमें विघ्न डालनेवालेको उखाड़ फेंकना), परिश्रम, व्यायाम-योग तथा धनके त्याग और संग्रहका भी उसमें प्रतिपादन किया गया है ॥ ५३ ॥

अभृतानां च भरणं भृतानां चान्ववेक्षणम् ।
अर्थस्य काले दानं च व्यसने चाप्रसङ्गिता ॥ ५४ ॥

जिनके भरण-पोषणका कोई उपाय न हो, उनके जीवन-निर्वाहका प्रबन्ध करना, जिनके भरण-पोषणकी व्यवस्था राज्यकी ओरसे की गयी हो उनकी देखभाल करना, समय-पर धनका दान करना, दुर्व्यसनमें आसक्त न होना आदि विविध विषयोंका उस ग्रन्थमें उल्लेख है ॥ ५४ ॥

तथा राजगुणाश्चैव सेनापतिगुणाश्च ह ।
कारणं च त्रिवर्गस्य गुणदोषास्तथैव च ॥ ५५ ॥

राजाके गुण, सेनापतिके गुण, अर्थ, धर्म और कामके साधन तथा उनके गुण-दोषका भी उसमें निरूपण किया गया है ॥ ५५ ॥

दुश्चेष्टितं च विविधं वृत्तिश्चैवानुवर्तिनाम् ।
शङ्कितत्वं च सर्वस्य प्रमादस्य च वर्जनम् ॥ ५६ ॥
अलब्धलाभो लब्धस्य तथैव च विवर्धनम् ।
प्रदानं च विवृद्धस्य पात्रेभ्यो विधिवत्ततः ॥ ५७ ॥
विसर्गोऽर्थस्य धर्मार्थं कामहेतुकमुच्यते ।
चतुर्थं व्यसनाघाते तथैवात्रानुवर्णितम् ॥ ५८ ॥

भाँति-भाँतिकी दुश्चेष्टा, अपने सेवकोंकी जीविकाका विचार, सबके प्रति सशङ्क रहना, प्रमादका परित्याग करना, अप्राप्त वस्तुको प्राप्त करना, प्राप्त हुई वस्तुको सुरक्षित रखते हुए उसे बढ़ाना और बढ़ी हुई वस्तुका सुपात्रोंको विधिपूर्वक दान देना—यह धनका पहला उपयोग है । धर्मके लिये धनका त्याग उसका दूसरा उपयोग है, कामभोगके लिये उसका व्यय करना तीसरा और संकट-निवारणके लिये उसे खर्च करना उसका चौथा उपयोग है। इन सब बातोंका उस ग्रन्थमें भलीभाँति वर्णन किया गया है ॥ ५६—५८ ॥

क्रोधजानि तथोग्राणि कामजानि तथैव च ।
दशोक्तानि कुरुश्रेष्ठ व्यसनान्यत्र चैव ह ॥ ५९ ॥

कुरुश्रेष्ठ ! क्रोध और कामसे उत्पन्न होनेवाले जो यहाँ दस प्रकारके भयंकर व्यसन हैं, उनका भी इस ग्रन्थमें उल्लेख है ॥ ५९ ॥

मृगयाक्षास्तथा पानं स्त्रियश्च भरतर्षभ ।
कामजान्याहुराचार्याः प्रोक्तानीह स्वयम्भुवा ॥ ६० ॥

भरतश्रेष्ठ ! नीतिशास्त्रके आचार्योंने जो मृगया, द्यूत, मद्यपान और स्त्रीप्रसङ्ग—ये चार प्रकारके कामजनित व्यसन बताये हैं, उन सबका इस ग्रन्थमें ब्रह्माजीने प्रतिपादन किया है ॥ ६० ॥

वाक्पारुष्यं तथोग्रत्वं दण्डपारुष्यमेव च ।
आत्मनो निग्रहस्त्यागो ह्यर्थदूषणमेव च ॥ ६१ ॥

वाणीकी कटुता, उग्रता, दण्डकी कठोरता, शरीरको कैद कर लेना, किसीको सदाके लिये त्याग देना और आर्थिक हानि पहुँचाना—ये छः प्रकारके क्रोधजनित व्यसन उक्त ग्रन्थमें बताये गये हैं ॥ ६१ ॥

यन्त्राणि विविधान्येव क्रियास्तेषां च वर्णिताः ।
अवमर्दः प्रतीघातः केतनानां च भञ्जनम् ॥ ६२ ॥

नाना प्रकारके यन्त्रों और उनकी क्रियाओंका भी वर्णन किया गया है । शत्रुके राष्ट्रको कुचल देना, उसकी सेनाओंपर चोट करना और उनके निवास-स्थानोंको नष्ट-भ्रष्ट कर देना—इन सब बातोंका भी इस ग्रन्थमें उल्लेख है ॥ ६२ ॥

चैत्यद्रुमावमर्दश्च रोधः कर्मानुशासनम् ।
अपस्करोऽथ वसनं तथोपायाश्च वर्णिताः ॥ ६३ ॥

शत्रुकी राजधानीके चैत्य वृक्षोंका विध्वंस करा देना, उसके निवास-स्थान और नगरपर चारों ओरसे घेरा डालना आदि उपायोंका तथा कृषि एवं शिल्प आदि कर्मोंका उपदेश, रथके विभिन्न अवयवोंका निर्माण, ग्राम और नगर आदिमें निवास करनेकी विधि तथा जीवननिर्वाहके अनेक उपायोंका भी उक्त ग्रन्थमें वर्णन है ॥ ६३ ॥

पणवानकशङ्खानां भेरीणां च युधिष्ठिर ।
उपार्जनं च द्रव्याणां परिमर्दश्च तानि षट् ॥ ६४ ॥

युधिष्ठिर ! ढोल, नगारे, शङ्ख, भेरी आदि रणवाद्योंको बजाने, मणि, पशु, पृथ्वी, वस्त्र, दास-दासी तथा सुवर्ण—इन छः प्रकारके द्रव्योंका अपने लिये उपार्जन करने तथा शत्रु-पक्षकी इन वस्तुओंका विनाश कर देनेका भी इस शास्त्रमें उल्लेख है ॥ ६४ ॥

लब्धस्य च प्रशमनं सतां चैवाभिपूजनम् ।
विद्वद्भिरेकीभावश्च दानहोमविधिज्ञता ॥ ६५ ॥
मङ्गलालम्भनं चैव शरीरस्य प्रतिक्रिया ।
आहारयोजनं चैव नित्यमास्तिक्यमेव च ॥ ६६ ॥

अपने अधिकारमें आये हुए देशोंमें शान्ति स्थापित करना, सत्पुरुषोंका सत्कार करना, विद्वानोंके साथ एकता (मेल-जोल) बढ़ाना, दान और होमकी विधिको जानना, माङ्गलिक वस्तुओंका स्पर्श करना, शरीरको वस्त्र और आभूषणोंसे सजाना, भोजनकी व्यवस्था करना और सर्वदा आस्तिक बुद्धि रखना—इन सब बातोंका भी उस ग्रन्थमें वर्णन है ॥ ६५-६६ ॥

एकेन च यथोत्थेयं सत्यत्वं मधुरा गिरः ।
उत्सवानां समाजानां क्रियाः केतनजास्तथा ॥ ६७ ॥

मनुष्य अकेला होकर भी किस प्रकार उत्थान (उन्नति) करे ! इसका विचार, सत्यता, उत्सवों और समाजोंमें मधुर वाणीका प्रयोग तथा गृहसम्बन्धी क्रियाएँ—इन सबका वर्णन किया गया है ॥ ६७ ॥

प्रत्यक्षाश्च परोक्षाश्च सर्वाधिकरणेष्वथ ।
वृत्तेर्भरतशार्दूल नित्यं चैवान्ववेक्षणम् ॥ ६८ ॥

भरतवंशके सिंह युधिष्ठिर ! समस्त न्यायालयोंमें जो प्रत्यक्ष और परोक्ष विचार होते हैं तथा वहाँ जो राजकीय पुरुषोंके व्यवहार होते हैं, उन सबका प्रतिदिन निरीक्षण करना चाहिये। इसका भी उक्त शास्त्रमें उल्लेख है ॥ ६८ ॥

अदण्ड्यत्वं च विप्राणां युक्त्या दण्डनिपातनम् ।
अनुजीविस्वजातिभ्यो गुणेभ्यश्च समुद्भवः ॥ ६९ ॥

ब्राह्मणोंको दण्ड न देनेका, अपराधियोंको युक्तिपूर्वक दण्ड देनेका, अपने पीछे जिनकी जीविका चलती हो उनकी, अपने जाति-भाइयोंकी तथा गुणवान् पुरुषोंकी भी उन्नति करनेका उस ग्रन्थमें उल्लेख है ॥ ६९ ॥

रक्षणं चैव पौराणां राष्ट्रस्य च विवर्धनम् ।
मण्डलस्था च या चिन्ता राजन् द्वादशराजिका॥ ७० ॥

राजन् ! पुरवासियोंकी रक्षा, राज्यकी वृद्धि तथा द्वादश[1] राजमण्डलोंके विषयमें जो चिन्तन किया जाता है, उसका भी इस ग्रन्थमें उल्लेख हुआ है ॥ ७० ॥

द्वासप्ततिविधा चैव शरीरस्य प्रतिक्रिया ।
देशजातिकुलानां च धर्माः समनुवर्णिताः ॥ ७१ ॥

वैद्यक शास्त्रके अनुसार बहत्तर प्रकारकी शारीरिक चिकित्सा तथा देश, जाति और कुलके धर्मोंका भी भलीभाँति वर्णन किया गया है ॥ ७१ ॥

धर्मश्चार्थश्च कामश्च मोक्षश्चात्रानुवर्णिताः ।
उपायाश्चार्थलिप्सा च विविधा भूरिदक्षिण ॥ ७२ ॥

प्रचुर दक्षिणा देनेवाले युधिष्ठिर! इस ग्रन्थमें धर्म, अर्थ, काम और मोक्षका, इनकी प्राप्तिके उपायोंका तथा नाना प्रकारकी धन-लिप्साका भी वर्णन है ॥ ७२ ॥

मूलकर्मक्रिया चात्र मायायोगश्च वर्णितः ।
दूषणं स्रोतसां चैव वर्णितं चास्थिराम्भसाम् ॥ ७३ ॥

इस ग्रन्थमें कोशकी वृद्धि करनेवाले जो कृषि, वाणिज्य आदि मूल कर्म हैं, उनके करनेका प्रकार बताया गया है । मायाके प्रयोगकी विधि समझायी गयी है । स्रोतजल और अस्थिरजलके दोषोंका वर्णन किया गया है ॥ ७३ ॥

यैर्यैरुपायैर्लोकस्तु न चलेदार्यवर्त्मनः ।
तत् सर्वं राजशार्दूल नीतिशास्त्रेऽभिवर्णितम् ॥ ७४ ॥

राजसिंह ! जिन-जिन उपायोंद्वारा यह जगत् सन्मार्गसे विचलित न हो, उन सबका इस नीति-शास्त्रमें प्रतिपादन किया गया है ॥ ७४ ॥

एतत् कृत्वा शुभं शास्त्रं ततः स भगवान् प्रभुः ।
देवानुवाच संहृष्टः सर्वाञ्छक्रपुरोगमान् ॥ ७५ ॥

इस शुभ शास्त्रका निर्माण करके जगत्के स्वामी भगवान् ब्रह्मा बड़े प्रसन्न हुए और इन्द्र आदि सम्पूर्ण देवताओंसे इस प्रकार बोले—॥ ७५ ॥

उपकाराय लोकस्य त्रिवर्गस्थापनाय च ।
नवनीतं सरस्वत्या बुद्धिरेषा प्रभाविता ॥ ७६ ॥

'देवगण ! सम्पूर्ण जगत्के उपकार तथा धर्म, अर्थ एवं कामकी स्थापनाके लिये वाणीका सारभूत यह विचार यहाँ प्रकट किया गया ॥ ७६ ॥

दण्डेन सहिता ह्येषा लोकरक्षणकारिका ।
निग्रहानुग्रहरता लोकाननुचरिष्यति ॥ ७७ ॥

'दण्ड-विधानके साथ रहनेवाली यह नीति सम्पूर्ण जगत्की रक्षा करनेवाली है । यह दुष्टोंके निग्रह और साधु पुरुषोंके प्रति अनुग्रहमें तत्पर रहकर सम्पूर्ण जगत्में प्रचलित होगी॥ ७७॥

दण्डेन नीयते चेदं दण्डं नयति वा पुनः ।
दण्डनीतिरिति ख्याता त्रीँल्लोकानभिवर्तते ॥ ७८ ॥

'इस शास्त्रके अनुसार दण्डके द्वारा जगत्का सन्मार्गपर स्थापन किया जाता है अथवा राजा इसके अनुसार प्रजावर्गमें दण्डकी स्थापना करता है; इसलिये यह विद्या दण्डनीतिके नामसे विख्यात है । इसका तीनों लोकोंमें विस्तार होगा ॥ ७८ ॥

षाड्गुण्यगुणसारैषा स्थास्यत्यग्रे महात्मसु ।
धर्मार्थकाममोक्षाश्च सकला ह्यत्र शब्दिताः ॥ ७९ ॥

'यह विद्या संधि-विग्रह आदि छहों गुणोंका सारभूत है । महात्माओंमें इसका स्थान सबसे आगे होगा । इस शास्त्रमें धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष—इन चारों पुरुषार्थोंका निरूपण किया गया है' ॥ ७९ ॥

ततस्तां भगवान् नीतिं पूर्वं जग्राह शङ्करः ।
बहुरूपो विशालाक्षः शिवः स्थाणुरुमापतिः ॥ ८० ॥

तदनन्तर सबसे पहले भगवान् शङ्करने इस नीतिशास्त्रको ग्रहण किया । वे बहुरूप, विशालाक्ष, शिव, स्थाणु, उमापति आदि नामोंसे प्रसिद्ध हैं ॥ ८० ॥

प्रजानामायुषो ह्रासं विज्ञाय भगवाञ्छिवः ।
संचिक्षेप ततः शास्त्रं महार्थं ब्रह्मणा कृतम् ॥ ८१ ॥

---

१. पहला शत्रु राजा, दूसरा मित्र राजा, तीसरा शत्रुका मित्र राजा, चौथा मित्रका मित्र राजा, पाँचवाँ शत्रुके मित्रका मित्र राजा, छठा अपने पृष्ठभागकी रक्षाके लिये स्वयं उपस्थित हुआ राजा, सातवाँ शत्रुकी सहायता एवं पृष्ठपोषणके लिये स्वयं उपस्थित राजा, आठवाँ अपने पक्षमें युद्धनिरत आया हुआ राजा, नवाँ शत्रुपक्षमें युद्धनिरत आया हुआ राजा, दसवाँ स्वयं विजयाभिलाषी नरेश, ग्यारहवाँ अपने और शत्रु दोनोंकी ओरसे मध्यस्थ राजा, बारहवाँ सबसे अधिक शक्तिशाली एवं उदासीन राजा—ये द्वादश राजमण्डल कहे गये हैं ।

वैशालाक्षमिति प्रोक्तं तदिन्द्रः प्रत्यपद्यत।

विशालाक्ष भगवान् शिवने प्रजावर्गकी आयुका ह्रास होता जानकर ब्रह्माजीके रचे हुए इस महान् अर्थसे भरे हुए शास्त्रको संक्षिप्त किया था; इसलिये इसका नाम 'वैशालाक्ष' हो गया। फिर इसे इन्द्रने ग्रहण किया ॥ ८१½ ॥

दशाध्यायसहस्राणि सुब्रह्मण्यो महातपाः ॥ ८२ ॥
भगवानपि तच्छास्त्रं संचिक्षेप पुरंदरः।
सहस्रैः पञ्चभिस्तात यदुक्तं बाहुदन्तकम् ॥ ८३ ॥

महातपस्वी सुब्रह्मण्य भगवान् पुरन्दरने जब इसका अध्ययन किया, उस समय इसमें दस हजार अध्याय थे। फिर उन्होंने भी इसका संक्षेप किया, जिससे यह पाँच हजार अध्यायोंका ग्रन्थ हो गया। तात! वही ग्रन्थ 'बाहुदन्तक'-नामक नीतिशास्त्रके रूपमें विख्यात हुआ ॥ ८२-८३ ॥

अध्यायानां सहस्रैस्तु त्रिभिरेव बृहस्पतिः।
संचिक्षेपेश्वरो बुद्ध्या बार्हस्पत्यं तदुच्यते ॥ ८४ ॥

इसके बाद सामर्थ्यशाली बृहस्पतिने अपनी बुद्धिसे इसका संक्षेप किया, तबसे इसमें तीन हजार अध्याय रह गये। यही 'बार्हस्पत्य' नामक नीतिशास्त्र कहलाता है ॥ ८४ ॥

अध्यायानां सहस्रेण काव्यः संक्षेपमब्रवीत्।
तच्छास्त्रममितप्रज्ञो योगाचार्यो महायशाः ॥ ८५ ॥

फिर महायशस्वी, योगशास्त्रके आचार्य तथा अमित बुद्धिमान् शुक्राचार्यने एक हजार अध्यायोंमें उस शास्त्रका संक्षेप किया ॥ ८५ ॥

एवं लोकानुरोधेन शास्त्रमेतन्महर्षिभिः।
संक्षिप्तमायुर्विज्ञाय मर्त्यानां ह्रासमेव च ॥ ८६ ॥

इस प्रकार मनुष्योंकी आयुका ह्रास होता जानकर जगत्के हितके लिये महर्षियोंने इस शास्त्रका संक्षेप किया है ॥ ८६ ॥

अथ देवाः समागम्य विष्णुमूचुः प्रजापतिम्।
एको योऽर्हति मर्त्येभ्यः श्रैष्ठ्यं वै तं समादिश ॥ ८७ ॥

तदनन्तर देवताओंने प्रजापति भगवान् विष्णुके पास जाकर कहा—'भगवन्! मनुष्योंमें जो एक पुरुष सबसे श्रेष्ठ पद प्राप्त करनेका अधिकारी हो, उसका नाम बताइये' ॥ ८७ ॥

ततः संचिन्त्य भगवान् देवो नारायणः प्रभुः।
तैजसं वै विरजसं सोऽसृजन्मानसं सुतम् ॥ ८८ ॥

तब प्रभावशाली भगवान् नारायणदेवने भलीभाँति सोच-विचारकर अपने तेजसे एक मानस पुत्रकी सृष्टि की, जो विरजाके नामसे विख्यात हुआ ॥ ८८ ॥

विरजास्तु महाभागः प्रभुत्वं भुवि नैच्छत।
न्यासायैवाभवद् बुद्धिः प्रणीता तस्य पाण्डव ॥ ८९ ॥

पाण्डुनन्दन! महाभाग विरजाने पृथ्वीपर राजा होनेकी इच्छा नहीं की। उनकी बुद्धिने संन्यास लेनेका ही निश्चय किया ॥ ८९ ॥

कीर्तिमांस्तस्य पुत्रोऽभूत् सोऽपि पञ्चातिगोऽभवत्।
कर्दमस्तस्य तु सुतः सोऽप्यतप्यन्महत् तपः ॥ ९० ॥

विरजाके कीर्तिमान् नामक एक पुत्र हुआ। वह भी पाँचों विषयोंसे ऊपर उठकर मोक्षमार्गका ही अवलम्बन करने लगा। कीर्तिमान्के पुत्र हुए कर्दम। वे भी बड़ी भारी तपस्यामें लग गये ॥ ९० ॥

प्रजापतेः कर्दमस्य त्वनङ्गो नाम वै सुतः।
प्रजा रक्षयिता साधुर्दण्डनीतिविशारदः ॥ ९१ ॥

प्रजापति कर्दमके पुत्रका नाम अनङ्ग था, जो कालक्रमसे प्रजाका संरक्षण करनेमें समर्थ, साधु तथा दण्डनीतिविद्यामें निपुण हुआ ॥ ९१ ॥

अनङ्गपुत्रोऽतिबलो नीतिमानभिगम्य वै।
प्रतिपेदे महाराज्यमथेन्द्रियवशोऽभवत् ॥ ९२ ॥

अनङ्गके पुत्रका नाम था अतिबल। वह भी नीतिशास्त्र-का ज्ञाता था, उसने विशाल राज्य प्राप्त किया। राज्य पाकर वह इन्द्रियोंका गुलाम हो गया ॥ ९२ ॥

मृत्योस्तु दुहिता राजन् सुनीथा नाम मानसी।
प्रख्याता त्रिषु लोकेषु यासौ वेनमजीजनत् ॥ ९३ ॥

राजन्! मृत्युकी एक मानसिक कन्या थी, जिसका नाम था सुनीथा। जो अपने रूप और गुणके लिये तीनों लोकोंमें विख्यात थी। उसीने वेनको जन्म दिया था ॥ ९३ ॥

तं प्रजासु विधर्माणं रागद्वेषवशानुगम्।
मन्त्रपूतैः कुशैर्जघ्नुर्ऋषयो ब्रह्मवादिनः ॥ ९४ ॥

वेन राग-द्वेषके वशीभूत हो प्रजाओंपर अत्याचार करने लगा। तब वेदवादी ऋषियोंने मन्त्रपूत कुशोंद्वारा उसे मार डाला ॥ ९४ ॥

ममन्थुर्दक्षिणं चोरुमृषयस्तस्य मन्त्रतः।
ततोऽस्य विकृतो जज्ञे ह्रस्वाङ्गः पुरुषो भुवि ॥ ९५ ॥

फिर वे ही ऋषि मन्त्रोच्चारणपूर्वक वेनकी दाहिनी जङ्घाका मन्थन करने लगे। उससे इस पृथ्वीपर एक नाटे कदका मनुष्य उत्पन्न हुआ, जिसकी आकृति बेडौल थी ॥ ९५ ॥

दग्धस्थूणाप्रतीकाशो रक्ताक्षः कृष्णमूर्धजः।
निषीदेत्येवमूचुस्तमृषयो ब्रह्मवादिनः ॥ ९६ ॥

वह जले हुए खम्भेके समान जान पड़ता था। उसकी आँखें लाल और काले बाल थे। वेदवादी महर्षियोंने उसे देखकर कहा—'निषीद' बैठ जाओ ॥ ९६ ॥

तस्मान्निषादाः सम्भूताः क्रूराः शैलवनाश्रयाः।
ये चान्ये विन्ध्यनिलया म्लेच्छाः शतसहस्रशः ॥ ९७ ॥

उसीसे पर्वतों और वनोंमें रहनेवाले क्रूर निषादोंकी उत्पत्ति हुई तथा दूसरे जो विन्ध्यगिरिके निवासी लाखों म्लेच्छ थे, उनका भी प्रादुर्भाव हुआ ॥ ९७ ॥

भूयोऽस्य दक्षिणं पाणिं ममन्थुस्ते महर्षयः।
ततः पुरुष उत्पन्नो रूपेणेन्द्र इवापरः ॥ ९८ ॥

इसके बाद फिर महर्षियोंने वेनके दाहिने हाथका मन्थन

किया। उससे एक दूसरे पुरुषका प्राकट्य हुआ, जो रूपमें देवराज इन्द्रके समान थे ॥ ९८ ॥

कवची बद्धनिस्त्रिंशः सशरः सशरासनः।
वेदवेदाङ्गविच्चैव धनुर्वेदे च पारगः ॥ ९९ ॥

वे कवच धारण किये, कमरमें तलवार बाँधे तथा धनुष और बाण लिये प्रकट हुए थे। उन्हें वेदों और वेदान्तोंका पूर्ण ज्ञान था। वे धनुर्वेदके भी पारङ्गत विद्वान् थे ॥ ९९ ॥

तं दण्डनीतिः सकला श्रिता राजन् नरोत्तमम्।
ततस्तु प्राञ्जलिर्वैन्यो महर्षींस्तानुवाच ह ॥१००॥

राजन्! नरश्रेष्ठ वेनकुमारको सारी दण्डनीतिका स्वतः ज्ञान हो गया। तब उन्होंने हाथ जोड़कर उन महर्षियोंसे कहा— ॥ १०० ॥

सुसूक्ष्मा मे समुत्पन्ना बुद्धिर्धर्मार्थदर्शिनी।
अनया किं मया कार्यं तन्मे तत्त्वेन शंसत ॥१०१॥

'महात्माओ! धर्म और अर्थका दर्शन करानेवाली अत्यन्त सूक्ष्म बुद्धि मुझे स्वतः प्राप्त हो गयी है। मुझे इस बुद्धिके द्वारा आपलोगोंकी कौन-सी सेवा करनी है, यह मुझे यथार्थ रूपसे बताइये ॥ १०१ ॥

यन्मां भवन्तो वक्ष्यन्ति कार्यमर्थसमन्वितम्।
तदहं वै करिष्यामि नात्र कार्या विचारणा ॥१०२॥

'आपलोग मुझे जिस किसी भी प्रयोजनपूर्ण कार्यके लिये आज्ञा देंगे, उसे मैं अवश्य पूरा करूँगा। इसमें कोई अन्यथा विचार नहीं करना चाहिये' ॥ १०२ ॥

तमूचुस्तत्र देवास्ते ते चैव परमर्षयः।
नियतो यत्र धर्मो वै तमशङ्कः समाचर ॥१०३॥

तब वहाँ देवताओं और उन महर्षियोंने उनसे कहा—'वेननन्दन! जिस कार्यमें नियमपूर्वक धर्मकी सिद्धि होती हो, उसे निर्भय होकर करो ॥ १०३ ॥

प्रियाप्रिये परित्यज्य समः सर्वेषु जन्तुषु।
कामं क्रोधं च लोभं च मानं चोत्सृज्य दूरतः॥१०४॥

'प्रिय और अप्रियका विचार छोड़कर काम, क्रोध, लोभ और मानको दूर हटाकर समस्त प्राणियोंके प्रति समभाव रक्खो ॥ १०४ ॥

यश्च धर्मात् प्रविचलेल्लोके कश्चन मानवः।
निग्राह्यस्ते स्वबाहुभ्यां शश्वद् धर्ममवेक्षता ॥१०५॥

'लोकमें जो कोई भी मनुष्य धर्मसे विचलित हो, उसे सनातन धर्मपर दृष्टि रखते हुए अपने बाहुबलसे परास्त करके दण्ड दो ॥ १०५ ॥

प्रतिज्ञां चाधिरोहस्व मनसा कर्मणा गिरा।
पालयिष्याम्यहं भौमं ब्रह्म इत्येव चासकृत् ॥१०६॥

'साथ ही यह प्रतिज्ञा करो कि 'मैं मन, वाणी और क्रिया-द्वारा भूतलवर्ती ब्रह्म (वेद) का निरन्तर पालन करूँगा ॥१०६॥

यश्चात्र धर्मो नित्योक्तो दण्डनीतिव्यपाश्रयः।
तमशङ्कः करिष्यामि स्ववशो न कदाचन ॥१०७॥

''वेदमें दण्डनीतिसे सम्बन्ध रखनेवाला जो नित्य धर्म बताया गया है, उसका मैं निःशङ्क होकर पालन करूँगा कभी स्वच्छन्द नहीं होऊँगा' ॥ १०७ ॥

अदण्ड्या मे द्विजाश्चेति प्रतिजानीहि हे विभो।
लोकं च संकरात्कृत्स्नं त्रातास्मीति परंतप ॥१०८॥

''परंतप प्रभो! साथ ही यह प्रतिज्ञा करो कि 'ब्राह्मण मेरे लिये अदण्डनीय होंगे तथा मैं सम्पूर्ण जगत्को वर्णसंकरता और धर्मसंकरतासे बचाऊँगा'' ॥ १०८ ॥

वैन्यस्ततस्तानुवाच देवानृषिपुरोगमान्।
ब्राह्मणा मे महाभागा नमस्याः पुरुषर्षभाः ॥ १०९॥

तब वेनकुमारने उन देवताओं तथा उन अग्रवर्ती ऋषियोंसे कहा—'नरश्रेष्ठ महात्माओ! महाभाग ब्राह्मण मेरे लिये सदा वन्दनीय होंगे' ॥ १०९ ॥

एवमस्त्विति वैन्यस्तु तैरुक्तो ब्रह्मवादिभिः।
पुरोधाश्चाभवत् तस्य शुक्रो ब्रह्ममयो निधिः ॥११०॥

उनके ऐसा कहनेपर उन वेदवादी महर्षियोंने उनसे इस प्रकार कहा 'एवमस्तु'। फिर शुक्राचार्य उनके पुरोहित हुए, जो वैदिक ज्ञानके भण्डार हैं ॥ ११० ॥

मन्त्रिणो वालखिल्याश्च सारस्वत्यो गणस्तथा।
महर्षिर्भगवान् गर्गस्तस्य सांवत्सरोऽभवत् ॥१११॥

वालखिल्यगण तथा सरस्वतीतटवर्ती महर्षियोंके समुदायने उनके मन्त्रीका कार्य सँभाला। महर्षि भगवान् गर्ग उनके दरबारके ज्योतिषी हुए ॥ १११ ॥

आत्मनाष्टम इत्येव श्रुतिरेषा परा नृषु।
उत्पन्नौ वन्दिनौ चास्य तत्पूर्वौ सूतमागधौ ॥११२॥

मनुष्योंमें यह लोकोक्ति प्रसिद्ध है कि स्वयं राजा पृथु भगवान् विष्णुसे आठवीं पीढ़ीमें थे *। उनके जन्मसे पहले ही सूत और मागध नामक दो वन्दी (स्तुतिपाठक) उत्पन्न हुए थे ॥ ११२ ॥

तयोः प्रीतो ददौ राजा पृथुर्वैन्यः प्रतापवान्।
अनूपदेशं सूताय मगधं मागधाय च ॥११३॥

वेनके पुत्र प्रतापी राजा पृथुने उन दोनोंको प्रसन्न होकर पुरस्कार दिया। सूतको अनूप देश (सागरतटवर्ती प्रान्त) और मागधको मगध देश प्रदान किया ॥ ११३ ॥

समतां वसुधायाश्च स सम्यगुदपादयत्।
वैषम्यं हि परं भूमेरासीदिति च नः श्रुतम् ॥११४॥

सुना जाता है कि पृथुके समय यह पृथ्वी बहुत ऊँची-नीची थी। उन्होंने ही इसे भलीभाँति समतल बनाया था॥ ११४॥

* १ विष्णु २ विरजा ३ कीर्तिमान् ४ कर्दम ५ अनङ्ग ६ अतिबल ७ वेन ८ पृथु। इस प्रकार गणना करनेपर राजा पृथु भगवान् विष्णुसे आठवीं पीढ़ीमें ज्ञात होते हैं।
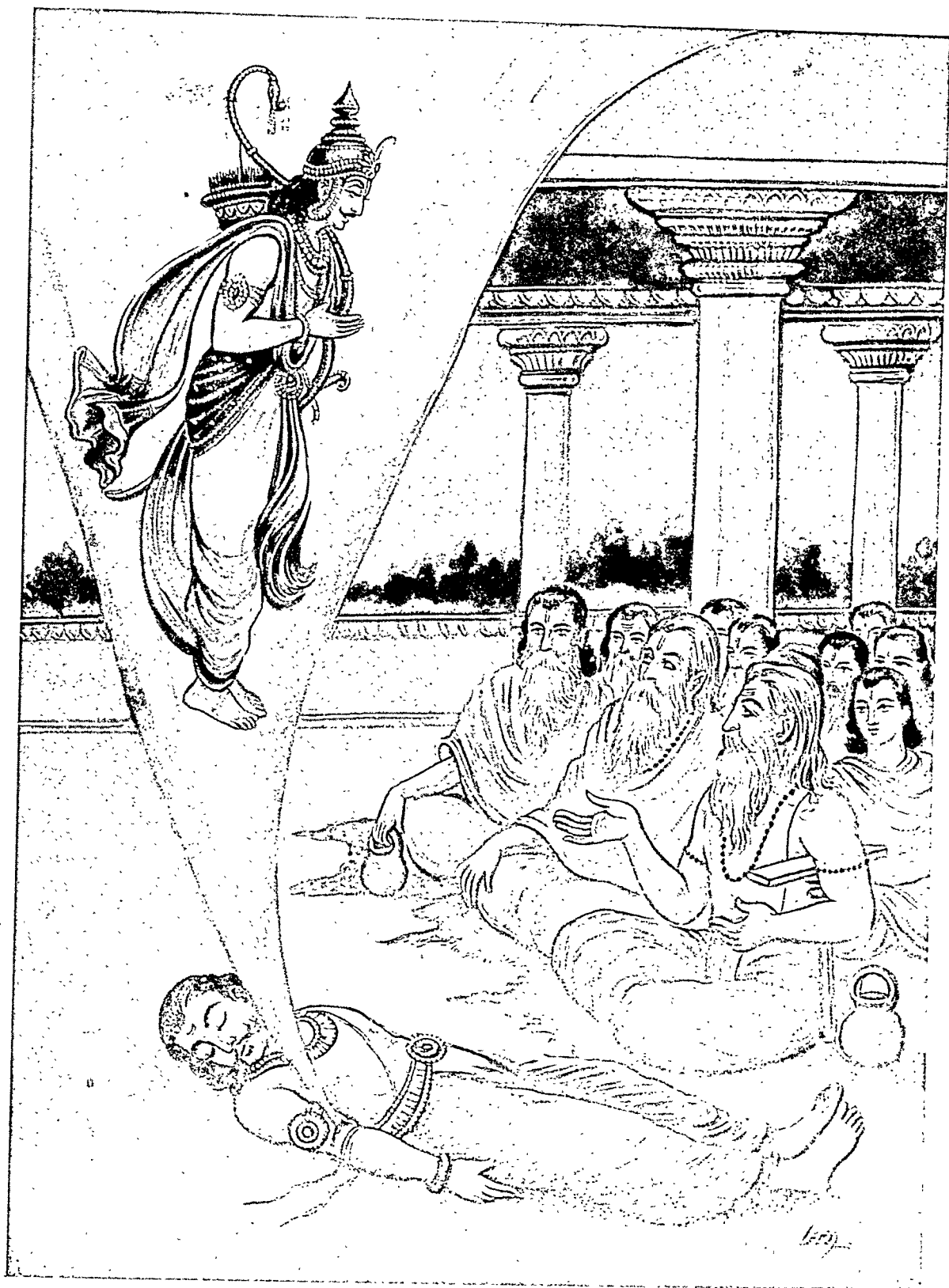
राजा वेनके बाहु-मन्थनसे महाराज पृथुका प्राकट्य

मन्वन्तरेषु सर्वेषु विषमा जायते मही।
उज्जहार ततो वैन्यः शिलाजालान् समन्ततः॥११५॥
धनुष्कोट्या महाराज तेन शैला विवर्धिताः।

महाराज! सभी मन्वन्तरोंमें यह पृथ्वी ऊँची-नीची हो जाती है; उस समय वेनकुमार पृथुने धनुषकी कोटिद्वारा चारों ओरसे शिलासमूहोंको उखाड़ डाला और उन्हें एक स्थानपर संचित कर दिया; इसीलिये पर्वतोंकी लम्बाई, चौड़ाई और ऊँचाई बढ़ गयी ॥ ११५½ ॥

स विष्णुना च देवेन शक्रेण विबुधैः सह ॥११६॥
ऋषिभिश्च प्रजापालैर्ब्राह्मणैश्चाभिषेचितः।

भगवान् विष्णु, देवताओंसहित इन्द्र, ऋषिसमूह, प्रजापतिगण तथा ब्राह्मणोंने पृथुका राजाके पदपर अभिषेक किया ॥ ११६½ ॥

तं साक्षात् पृथिवी भेजे रत्नान्यादाय पाण्डव॥११७॥
सागरः सरितां भर्ता हिमवांश्चाचलोत्तमः।
शक्रश्च धनमक्षय्यं प्रादात् तस्मै युधिष्ठिर ॥११८॥

पाण्डुनन्दन युधिष्ठिर! उस समय साक्षात् पृथ्वी देवी रत्नोंकी भेंट लेकर उनकी सेवामें उपस्थित हुई थी। सरिताओंके स्वामी समुद्र, पर्वतोंमें श्रेष्ठ हिमवान् तथा देवराज इन्द्रने अक्षय धन समर्पित किया ॥ ११७-११८ ॥

रुक्मं चापि महामेरुः स्वयं कनकपर्वतः।
यक्षराक्षसभर्ता च भगवान् नरवाहनः॥११९॥
धर्मे चार्थे च कामे च समर्थं प्रददौ धनम्।

सुवर्णमय पर्वत महामेरुने स्वयं आकर उन्हें सुवर्णकी राशि भेंट की। मनुष्योंपर सवारी करनेवाले यक्षराक्षसराज भगवान् कुबेरने भी उन्हें इतना धन दिया, जो उनके धर्म, अर्थ और कामका निर्वाह करनेके लिये पर्याप्त हो ॥११९½॥

हया रथाश्च नागाश्च कोटिशः पुरुषास्तथा॥१२०॥
प्रादुर्बभूवुर्वैन्यस्य चिन्तनादेव पाण्डव।

पाण्डुनन्दन! वेनपुत्र पृथुके चिन्तन करते ही उनकी सेवामें घोड़े, रथ, हाथी और करोड़ों मनुष्य प्रकट हो गये ॥

न जरा न च दुर्भिक्षं नाधयो व्याधयस्तथा ॥१२१॥
सरीसृपेभ्यः स्तेनेभ्यो न चान्योन्यात् कदाचन।
भयमुत्पद्यते तत्र तस्य राज्ञोऽभिरक्षणात् ॥१२२॥

उनके राज्यमें किसीको बुढ़ापा, दुर्भिक्ष तथा आधि-व्याधिका कष्ट नहीं था। राजाकी ओरसे रक्षाकी समुचित व्यवस्था होनेके कारण वहाँ कभी किसीको सर्पों, चोरों तथा आपसके लोगोंसे भय नहीं प्राप्त होता था ॥ १२१-१२२ ॥

आपस्तस्तम्भिरे चास्य समुद्रमभियास्यतः।
पर्वताश्च ददुर्मार्गं ध्वजभङ्गश्च नाभवत् ॥१२३॥

जिस समय वे समुद्रमें होकर चलते थे, उस समय उसका जल स्थिर हो जाता था। पर्वत उन्हें रास्ता दे देते थे, उनके रथकी ध्वजा कभी टूटी नहीं ॥ १२३ ॥

तेनेयं पृथिवी दुग्धा सस्यानि दश सप्त च।
यक्षराक्षसनागैश्चापीप्सितं यस्य यस्य यत् ॥१२४॥

उन्होंने इस पृथ्वीसे सत्रह प्रकारके धान्योंका दोहन किया था; यक्षों, राक्षसों और नागोंमेंसे जिसको जो वस्तु अभीष्ट थी, वह उन्होंने पृथ्वीसे दुह ली थी ॥ १२४ ॥

तेन धर्मोत्तरश्चायं कृतो लोको महात्मना।
रंजिताश्च प्रजाः सर्वास्तेन राजेति शब्द्यते ॥१२५॥

उन महात्माने सम्पूर्ण जगत्में धर्मकी प्रधानता स्थापित कर दी थी। उन्होंने समस्त प्रजाओंका रंजन किया था; इसलिये वे 'राजा' कहलाते थे ॥ १२५ ॥

ब्राह्मणानां क्षतत्राणात् ततः क्षत्रिय उच्यते।
प्रथिता धर्मतश्चेयं पृथिवी बहुभिः स्मृता ॥१२६॥

ब्राह्मणोंको क्षतिसे बचानेके कारण वे क्षत्रिय कहे जाने लगे। उन्होंने धर्मके द्वारा इस भूमिको प्रथित किया—इसकी ख्याति बढ़ायी; इसलिये बहुसंख्यक मनुष्योंद्वारा यह 'पृथ्वी' कहलायी ॥ १२६ ॥

स्थापनं चाकरोद् विष्णुः स्वयमेव सनातनः।
नातिवर्तिष्यते कश्चिद् राजंस्त्वामिति भारत ॥१२७॥

भरतनन्दन! स्वयं सनातन भगवान् विष्णुने उनके लिये यह मर्यादा स्थापित की कि 'राजन्! कोई भी तुम्हारी आज्ञाका उल्लङ्घन नहीं कर सकेगा' ॥ १२७ ॥

तपसा भगवान् विष्णुराविवेश च भूमिपम्।
देववन्नरदेवानां नमते यं जगन्नृपम् ॥१२८॥

राजा पृथुकी तपस्यासे प्रसन्न हो भगवान् विष्णुने स्वयं उनके भीतर प्रवेश किया था। समस्त नरेशोंमेंसे राजा पृथुको ही यह सारा जगत् देवताके समान मस्तक झुकाता था ॥

दण्डनीत्या च सततं रक्षितव्यं नरेश्वर।
नाधर्षयेत् तथा कश्चिच्चारनिष्पन्ददर्शनात् ॥१२९॥

नरेश्वर! इसलिये तुम्हें गुप्तचर नियुक्त करके राज्यकी अवस्थापर दृष्टिपात करते हुए सदा दण्डनीतिके द्वारा सम्पूर्ण राष्ट्रकी रक्षा करनी चाहिये, जिससे कोई इसपर आक्रमण करनेका साहस न कर सके ॥ १२९ ॥

शुभं हि कर्म राजेन्द्र शुभत्वायोपकल्पते।
आत्मना कारणैश्चैव समस्येह महीक्षितः ॥१३०॥
को हेतुर्यद् वशे तिष्ठेल्लोको दैवादृते गुणात्।

राजेन्द्र! चित्त और क्रियाद्वारा समभाव रखनेवाले राजाका किया हुआ शुभ कर्म प्रजाके भलेके लिये ही होता है। उसके दैवी गुणके सिवा और क्या कारण हो सकता है, जिससे सारा देश उस एक ही व्यक्तिके अधीन रहे? ॥ १३०½ ॥

विष्णोर्ललाटात् कमलं सौवर्णमभवत् तदा ॥१३१॥
श्रीः सम्भूता यतो देवी पत्नी धर्मस्य धीमतः।

उस समय भगवान् विष्णुके ललाटसे एक सुवर्णमय कमल प्रकट हुआ, जिससे बुद्धिमान् धर्मकी पत्नी श्रीदेवीका प्रादुर्भाव हुआ ॥ १३१½ ॥

श्रियः सकाशादर्थश्च जातो धर्मेण पाण्डव ॥१३२॥
अथ धर्मस्तथैवार्थः श्रीश्च राज्ये प्रतिष्ठिता।

पाण्डुनन्दन! धर्मके द्वारा श्रीदेवीसे अर्थकी उत्पत्ति हुई। तदनन्तर धर्म, अर्थ और श्री—तीनों ही राज्यमें प्रतिष्ठित हुए॥

सुकृतस्य क्षयाच्चैव स्वर्लोकादेत्य मेदिनीम् ॥१३३॥
पार्थिवो जायते तात दण्डनीतिविशारदः।

तात ! पुण्यका क्षय होनेपर मनुष्य स्वर्गलोकसे पृथिवीपर आता और दण्डनीतिविशारद राजाके रूपमें जन्म लेता है ॥

महत्त्वेन च संयुक्तो वैष्णवेन नरो भुवि ॥१३४॥
बुद्ध्या भवति संयुक्तो माहात्म्यं चाधिगच्छति।

वह मनुष्य इस भूतलपर भगवान् विष्णुकी महत्तासे युक्त तथा बुद्धिसम्पन्न हो विशेष माहात्म्य प्राप्त कर लेता है ॥ १३४½ ॥

स्थापितं च ततो देवैर्न कश्चिदतिवर्तते।
तिष्ठत्येकस्य च वशे तं चेदं न विधीयते ॥१३५॥

तदनन्तर उसे देवताओंद्वारा राजाके पदपर स्थापित हुआ मानकर कोई भी उसकी आज्ञाका उल्लङ्घन नहीं करता। यह सारा जगत् उस एक ही व्यक्तिके वशमें स्थित रहता है; उसके ऊपर यह जगत् अपना शासन नहीं चला सकता ॥

शुभं हि कर्म राजेन्द्र शुभत्वायोपकल्पते।
तुल्यस्यैकस्य यस्यायं लोको वचसि तिष्ठते ॥१३६॥

राजेन्द्र ! शुभ कर्मका परिणाम शुभ ही होता है, कभी तो अन्य मनुष्योंके समान होनेपर भी एकमात्र राजाकी आज्ञामें यह सारा जगत् स्थित रहता है ॥ १३६ ॥

योऽस्य वै मुखमद्राक्षीत् सौम्यं सोऽस्य वशानुगः।
सुभगं चार्थवन्तं च रूपवन्तं च पश्यति ॥१३७॥

जिसने राजाका सौम्य मुख देख लिया, वह उसके अधीन हो गया। प्रत्येक मनुष्य राजाको सौभाग्यशाली, धनवान् और रूपवान् देखता है ॥ १३७ ॥

महत्त्वात् तस्य दण्डस्य नीतिर्विस्पष्टलक्षणा।
नयचारश्च विपुलो येन सर्वमिदं ततम् ॥१३८॥

पूर्वोक्त दण्डकी महत्तासे ही स्पष्ट लक्षणोंवाली नीति तथा न्यायोचित आचारका अधिक प्रचार होता है, जिससे यह सारा जगत् व्याप्त है ॥ १३८ ॥

आगमश्च पुराणानां महर्षीणां च सम्भवः।
तीर्थवंशश्च वंशश्च नक्षत्राणां युधिष्ठिर ॥१३९॥
सकलं चातुराश्रम्यं चातुर्होत्रं तथैव च।
चातुर्वर्ण्यं तथैवात्र चातुर्विद्यं च कीर्तितम् ॥१४०॥

युधिष्ठिर ! पुराणशास्त्र, महर्षियोंकी उत्पत्ति, तीर्थसमूह, नक्षत्रसमुदाय, ब्रह्मचर्य आदि चार आश्रम, होता आदि चार प्रकारके ऋत्विजोंसे सम्पन्न होनेवाले यज्ञकर्म, चारों वर्ण और चारों विद्याओंका पूर्वोक्त नीतिशास्त्रमें प्रतिपादन किया गया है ॥ १३९-१४० ॥

इतिहासाश्च वेदाश्च न्यायः कृत्स्नश्च वर्णितः।
तपो ज्ञानमहिंसा च सत्यासत्येन यः परः ॥१४१॥
वृद्धोपसेवा दानं च शौचमुत्थानमेव च।
सर्वभूतानुकम्पा च सर्वमत्रोपवर्णितम् ॥१४२॥

इतिहास, वेद, न्याय—इन सबका उसमें पूरा-पूरा वर्णन है। तप, ज्ञान, अहिंसाका तथा जो सत्य, असत्यसे परे है उसका और वृद्धजनोंकी सेवा, दान, शौच, उत्थान तथा समस्त प्राणियोंपर दया आदि सभी विषयोंका उस ग्रन्थमें वर्णन है ॥

भुवि चाधोगतं यच्च तच्च सर्वं समर्पितम्।
तस्मिन् पैतामहे शास्त्रे पाण्डवैतन्न संशयः ॥१४३॥

पाण्डुनन्दन ! अधिक क्या कहा जाय ? जो कुछ इस पृथ्वीपर है और जो इसके नीचे है, उस सबका ब्रह्माजीके पूर्वोक्त शास्त्रमें समावेश किया गया है, इसमें संशय नहीं है ॥

ततो जगति राजेन्द्र सततं शब्दितं बुधैः।
देवाश्च नरदेवाश्च तुल्या इति विशाम्पते ॥१४४॥

राजेन्द्र ! प्रजानाथ ! तबसे जगत्‌में विद्वानोंने सदाके लिये यह घोषणा कर दी है कि 'देव और नरदेव (राजा) दोनों समान हैं' ॥ १४४ ॥

एतत् ते सर्वमाख्यातं महत्त्वं प्रति राजसु।
कार्त्स्न्येन भरतश्रेष्ठ किमन्यदिह वर्तते ॥१४५॥

भरतश्रेष्ठ ! इस प्रकार राजाओंका जो कुछ महत्त्व है, वह सब मैंने सम्पूर्ण रूपसे तुम्हें बता दिया ! अब इस विषयमें तुम्हारे लिये और क्या जानना शेष रह गया है ? ॥ १४५ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि राजधर्मानुशासनपर्वणि सूत्राध्याये एकोनषष्टितमोऽध्यायः ॥ ५९ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत राजधर्मानुशासनपर्वमें सूत्राध्यायविषयक उनसठवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ५९ ॥

षष्टितमोऽध्यायः

वर्णधर्मका वर्णन

वैशम्पायन उवाच

ततः पुनः स गाङ्गेयमभिवाद्य पितामहम्।
प्राञ्जलिर्नियतो भूत्वा पर्यपृच्छद् युधिष्ठिरः ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! तब राजा युधिष्ठिरने मनको वशमें करके गङ्गानन्दन पितामह भीष्मको प्रणाम किया और हाथ जोड़कर पूछा—॥ १ ॥

के धर्माः सर्ववर्णानां चातुर्वर्ण्यस्य के पृथक्।
चातुर्वर्ण्याश्रमाणां च राजधर्माश्च के मताः ॥ २ ॥

पितामह ! कौन-से ऐसे धर्म हैं, जो सभी वर्णोंके लिये उपयोगी हो सकते हैं। चारों वर्णोंके पृथक्-पृथक् धर्म कौन-से हैं ? चारों वर्णोंके साथ ही चारों आश्रमोंके भी धर्म कौन हैं तथा राजाके द्वारा पालन करने योग्य कौन-कौनसे धर्म माने गये हैं ? ॥ २ ॥

केन वै वर्धते राष्ट्रं राजा केन विवर्धते।
केन पौराश्च भृत्याश्च वर्धन्ते भरतर्षभ ॥ ३ ॥

'राष्ट्रकी वृद्धि कैसे होती है, राजाका अभ्युदय किस उपायसे होता है ? भरतश्रेष्ठ ! पुरवासियों और भरण-पोषण करने योग्य सेवकोंकी उन्नति भी किस उपायसे होती है ? ॥

कोशं दण्डं च दुर्गं च सहायान् मन्त्रिणस्तथा।
ऋत्विक्पुरोहिताचार्यान् कीदृशान् वर्जयेन्नृपः॥ ४ ॥

'राजाको किस प्रकारके कोश, दण्ड, दुर्ग, सहायक, मन्त्री, ऋत्विक्, पुरोहित और आचार्योंका त्याग कर देना चाहिये? ॥ ४ ॥

केषु विश्वसितव्यं स्याद् राज्ञा कस्यांश्चिदापदि।
कुतो वाऽऽत्मा दृढं रक्ष्यस्तन्मे ब्रूहि पितामह ॥ ५ ॥

'पितामह ! किसी आपत्तिके आनेपर राजाको किन लोगोंपर विश्वास करना चाहिये और किन लोगोंसे अपने शरीरकी दृढ़तापूर्वक रक्षा करनी चाहिये ? यह मुझे बताइये' ॥ ५ ॥

भीष्म उवाच

नमो धर्माय महते नमः कृष्णाय वेधसे।
ब्राह्मणेभ्यो नमस्कृत्य धर्मान् वक्ष्यामि शाश्वतान्॥ ६ ॥

भीष्मजीने कहा—महान् धर्मको नमस्कार है, विश्वविधाता श्रीकृष्णको नमस्कार है। अब मैं उपस्थित ब्राह्मणोंको नमस्कार करके सनातन धर्मका वर्णन आरम्भ करता हूँ ॥ ६ ॥

अक्रोधः सत्यवचनं संविभागः क्षमा तथा।
प्रजनः स्वेषु दारेषु शौचमद्रोह एव च ॥ ७ ॥
आर्जवं भृत्यभरणं नवैते सार्ववर्णिकाः।
ब्राह्मणस्य तु यो धर्मस्तं ते वक्ष्यामि केवलम् ॥ ८ ॥

किसीपर क्रोध न करना, सत्य बोलना, धनको बाँटकर भोगना, क्षमाभाव रखना, अपनी ही पत्नीके गर्भसे संतान पैदा करना, बाहर-भीतरसे पवित्र रहना, किसीसे द्रोह न करना, सरलभाव रखना और भरण-पोषणके योग्य व्यक्तियोंका पालन करना—ये नौ सभी वर्णोंके लिये उपयोगी धर्म हैं। अब मैं केवल ब्राह्मणका जो धर्म है, उसे बता रहा हूँ ॥ ७-८ ॥

दममेव महाराज धर्ममाहुः पुरातनम्।
स्वाध्यायाभ्यसनं चैव तत्र कर्म समाप्यते ॥ ९ ॥

महाराज ! इन्द्रिय-संयमको ब्राह्मणोंका प्राचीन धर्म बताया गया है। इसके सिवा, उन्हें सदा वेद-शास्त्रोंका स्वाध्याय करना चाहिये; क्योंकि इसीसे उनके सब कर्मोंकी पूर्ति हो जाती है ॥ ९ ॥

तं चेद् द्विजमुपागच्छेद् वर्तमानं स्वकर्मणि।
अकुर्वाणं विकर्माणि शान्तं प्रज्ञानतर्पितम् ॥ १० ॥
कुर्वीतापत्यसंतानमथो दद्याद् यजेत च।
संविभज्य च भोक्तव्यं धनं सद्भिरितीर्यते ॥ ११ ॥

यदि अपने वर्णोचित कर्ममें स्थित, शान्त और ज्ञान-विज्ञानसे तृप्त ब्राह्मणको किसी प्रकारके असत् कर्मका आश्रय लिये बिना ही धन प्राप्त हो जाय तो वह उस धनसे विवाह करके संतानकी उत्पत्ति करे अथवा उस धनको दान और यज्ञमें लगा दे। धनको बाँटकर ही भोगना चाहिये, ऐसा सत्पुरुषोंका कथन है ॥ १०-११ ॥

परिनिष्ठितकार्यस्तु स्वाध्यायेनैव ब्राह्मणः।
कुर्यादन्यन्न वा कुर्यान्मैत्रो ब्राह्मण उच्यते ॥ १२ ॥

ब्राह्मण केवल वेदोंके स्वाध्यायसे ही कृतकृत्य हो जाता है। वह दूसरा कर्म करे या न करे। सब जीवोंके प्रति मैत्री-भाव रखनेके कारण वह मैत्र कहलाता है ॥ १२ ॥

क्षत्रियस्यापि यो धर्मस्तं ते वक्ष्यामि भारत।
दद्याद् राजन् न याचेत यजेत न च याजयेत् ॥ १३ ॥

भरतनन्दन ! क्षत्रियका भी जो धर्म है, वह तुम्हें बता रहा हूँ। राजन् ! क्षत्रिय दान तो करे, किंतु किसीसे याचना न करे; स्वयं यज्ञ करे, किंतु पुरोहित बनकर दूसरोंका यज्ञ न करावे ॥ १३ ॥

नाध्यापयेदधीयीत प्रजाश्च परिपालयेत्।
नित्योद्युक्तो दस्युवधे रणे कुर्यात् पराक्रमम् ॥ १४ ॥

वह अध्ययन करे, किंतु अध्यापक न बने, प्रजाजनोंका सब प्रकारसे पालन करता रहे। लुटेरों और डाकुओंका वध करनेके लिये सदा तैयार रहे। रणभूमिमें पराक्रम प्रकट करे ॥ १४ ॥

ये तु क्रतुभिरीजानाः श्रुतवन्तश्च भूमिपाः।
य एवाहवजेतारस्त एषां लोकजित्तमाः ॥ १५ ॥

इन राजाओंमें जो भूपाल बड़े-बड़े यज्ञ करनेवाले तथा वेदशास्त्रोंके ज्ञानसे सम्पन्न हैं और जो युद्धमें विजय प्राप्त करनेवाले हैं, वे ही पुण्यलोकोंपर विजय प्राप्त करनेवालोंमें उत्तम हैं ॥ १५ ॥

अविक्षतेन देहेन समराद् यो निवर्तते।
क्षत्रियो नास्य तद् कर्म प्रशंसन्ति पुराविदः ॥ १६ ॥

जो क्षत्रिय शरीरपर घाव हुए बिना ही समरभूमिसे लौट आता है, उसके इस कर्मकी पुरातन धर्मको जाननेवाले विद्वान् प्रशंसा नहीं करते हैं ॥ १६ ॥

एवं हि क्षत्रबन्धूनां मार्गमाहुः प्रधानतः।
नास्य कृत्यतमं किंचिदन्यद् दस्युनिबर्हणात् ॥ १७ ॥
दानमध्ययनं यज्ञो राज्ञां क्षेमो विधीयते।
तस्माद् राज्ञा विशेषेण योद्धव्यं धर्ममीप्सता ॥ १८ ॥

इस प्रकार युद्धको ही क्षत्रियोंके लिये प्रधान मार्ग बताया गया है, उसके लिये लुटेरोंके संहारसे बढ़कर दूसरा कोई श्रेष्ठतम कर्म नहीं है। यद्यपि दान, अध्ययन और यज्ञ—इनके अनुष्ठानसे भी राजाओंका कल्याण होता है, तथापि युद्ध उनके लिये सबसे बढ़कर है; अतः विशेषरूपसे धर्मकी इच्छा रखनेवाले राजाको सदा ही युद्धके लिये उद्यत रहना चाहिये ॥ १७-१८ ॥

स्वेषु धर्मेष्ववस्थाप्य प्रजाः सर्वा महीपतिः।
धर्मेण सर्वकृत्यानि शमनिष्ठानि कारयेत् ॥ १९ ॥

राजा समस्त प्रजाओंको अपने-अपने धर्मोंमें स्थापित करके उनके द्वारा शान्तिपूर्ण समस्त कर्मोंका धर्मके अनुसार अनुष्ठान करावे ॥ १९ ॥

परिनिष्ठितकार्यस्तु नृपतिः परिपालनात्।
कुर्यादन्यन्न वा कुर्यादैन्द्रो राजन्य उच्यते ॥ २० ॥

राजा दूसरा कर्म करे या न करे, प्रजाकी रक्षा करनेमात्रसे वह कृतकृत्य हो जाता है। उसमें इन्द्र देवतासम्बन्धी बलकी प्रधानता होनेसे राजा 'ऐन्द्र' कहलाता है ॥ २० ॥

वैश्यस्यापि हि यो धर्मस्तं ते वक्ष्यामि शाश्वतम्।
दानमध्ययनं यज्ञः शौचेन धनसंचयः ॥ २१ ॥

अब वैश्यका जो सनातन धर्म है, वह तुम्हें बता रहा हूँ। दान, अध्ययन, यज्ञ और पवित्रतापूर्वक धनका संग्रह— ये वैश्यके कर्म हैं ॥ २१ ॥

पितृवत् पालयेद् वैश्यो युक्तः सर्वान् पशूनिह।
विकर्म तद् भवेदन्यत् कर्म यत् स समाचरेत् ॥ २२॥

वैश्य सदा उद्योगशील रहकर पुत्रोंकी रक्षा करनेवाले पिताके समान सब प्रकारके पशुओंका पालन करे। इन कर्मोंके सिवा वह और जो कुछ भी करेगा, वह उसके लिये विपरीत कर्म होगा ॥ २२ ॥

रक्षया स हि तेषां वै महत् सुखमवाप्नुयात्।
प्रजापतिर्हि वैश्याय सृष्ट्वा परिददौ पशून् ॥ २३ ॥

पशुओंके पालनसे वैश्यको महान् सुखकी प्राप्ति हो सकती है। प्रजापतिने पशुओंकी सृष्टि करके उनके पालनका भार वैश्यको सौंप दिया था ॥ २३ ॥

ब्राह्मणाय च राज्ञे च सर्वाः परिददे प्रजाः।
तस्य वृत्तिं प्रवक्ष्यामि यच्च तस्योपजीवनम् ॥ २४ ॥

ब्राह्मण और राजाको उन्होंने सारी प्रजाके पोषणका भार सौंपा था। अब मैं वैश्यकी उस वृत्तिका वर्णन करूँगा, जिससे उसका जीवन-निर्वाह हो ॥ २४ ॥

षण्णामेकां पिबेद् धेनुं शताच्च मिथुनं हरेत्।
लब्धाच्च सप्तमं भागं तथा शृङ्गे कलां खुरे ॥ २५ ॥

वैश्य यदि राजा या किसी दूसरेकी छः दुधारू गौओंका एक वर्षतक पालन करे तो उनमेंसे एक गौका दूध वह स्वयं पीये (यही उसके लिये वेतन है)। यदि दूसरेकी एक सौ गौओंका वह पालन करे तो सालभरमें एक गाय और एक बैल मालिकसे वेतनके रूपमें ले ले। यदि उन पशुओंके दूध आदि बेचनेसे धन प्राप्त हो तो उसमें सातवाँ भाग वह अपने वेतनके रूपमें ग्रहण करे। सींग बेचनेसे जो धन मिले, उसमेंसे भी वह सातवाँ भाग ही ले; परंतु पशुविशेषका बहुमूल्य खुर बेचनेसे जो धन प्राप्त हो, उसका सोलहवाँ भाग ही उसे ग्रहण करना चाहिये ॥ २५ ॥

सस्यानां सर्वबीजानामेषा सांवत्सरी भृतिः।
न च वैश्यस्य कामः स्यान्न रक्षेयं पशूनिति ॥ २६ ॥

दूसरेके अनाजकी फसलों तथा सब प्रकारके बीजोंकी रक्षा करनेपर वैश्यको उनका सातवाँ भाग वेतनके रूपमें ग्रहण करना चाहिये। यह उसके लिये वार्षिक वेतन है। वैश्यके मनमें कभी यह संकल्प नहीं उठना चाहिये कि 'मैं पशुओंका पालन नहीं करूँगा' ॥ २६ ॥

वैश्ये चेच्छति नान्येन रक्षितव्याः कथंचन।
शूद्रस्यापि हि यो धर्मस्तं ते वक्ष्यामि भारत ॥ २७ ॥

जबतक वैश्य पशुपालनका कार्य करना चाहे, तबतक दूसरे किसीके द्वारा किसी तरह भी यह कार्य नहीं कराना चाहिये। भारत! अब मैं शूद्रका भी धर्म तुम्हें बता रहा हूँ ॥

प्रजापतिर्हि वर्णानां दासं शूद्रमकल्पयत्।
तस्माच्छूद्रस्य वर्णानां परिचर्या विधीयते ॥ २८ ॥

प्रजापतिने अन्य तीनों वर्णोंके सेवकके रूपमें शूद्रकी सृष्टि की है; अतः शूद्रके लिये तीनों वर्णोंकी सेवा ही शास्त्रविहित कर्म है ॥ २८ ॥

तेषां शुश्रूषणाच्चैव महत् सुखमवाप्नुयात्।
शूद्र एतान् परिचरेत् त्रीन् वर्णाननुपूर्वशः ॥ २९ ॥

वह उन तीनों वर्णोंकी सेवासे ही महान् सुखका भागी हो सकता है। अतः शूद्र इन तीनों वर्णोंकी क्रमशः सेवा करे ॥

संचयांश्च न कुर्वीत जातु शूद्रः कथंचन।
पापीयान् हि धनं लब्ध्वा वशे कुर्याद् गरीयसः ॥३०॥

शूद्रको कभी किसी प्रकार भी धनका संग्रह नहीं करना चाहिये; क्योंकि धन पाकर वह महान् पापमें प्रवृत्त हो जाता है और अपनेसे श्रेष्ठतम पुरुषोंको भी अपने अधीन रखने लगता है ॥ ३० ॥

राज्ञा वा समनुज्ञातः कामं कुर्वीत धार्मिकः।
तस्य वृत्तिं प्रवक्ष्यामि यच्च तस्योपजीवनम् ॥ ३१ ॥

धर्मात्मा शूद्र राजाकी आज्ञा लेकर अपनी इच्छाके अनुसार कोई धार्मिक कृत्य कर सकता है। अब मैं उसकी वृत्तिका वर्णन करूँगा, जिससे उसकी आजीविका चल सकती है ॥ ३१ ॥

अवश्यं भरणीयो हि वर्णानां शूद्र उच्यते।
छत्रं वेष्टनमौशीरमुपानद् व्यजनानि च ॥ ३२ ॥
यातयामानि देयानि शूद्राय परिचारिणे।

तीनों वर्णोंको शूद्रका भरण-पोषण अवश्य करना चाहिये; क्योंकि वह भरण-पोषण करने योग्य कहा गया है। अपनी सेवामें रहनेवाले शूद्रको उपभोगमें लाये हुए छाते, पगड़ी, अनुलेपन, जूते और पंखे देने चाहिये ॥

अधार्याणि विशीर्णानि वसनानि द्विजातिभिः ॥ ३३ ॥
शूद्रायैव प्रदेयानि तस्य धर्मधनं हि तत्।

फटे-पुराने कपड़े, जो अपने धारण करने योग्य न रहें, वे द्विजातियोंद्वारा शूद्रको ही दे देने योग्य हैं; क्योंकि धर्मतः वे सब वस्तुएँ शूद्रकी ही सम्पत्ति हैं ॥ ३३½ ॥

यं च कश्चिद् द्विजातीनां शूद्रः शुश्रूषुराव्रजेत् ॥ ३४ ॥
कल्प्यां तेन तु ते प्राहुर्वृत्तिं धर्मविदो जनाः।

द्विजातियोंमेंसे जिस किसीकी सेवा करनेके लिये कोई शूद्र आवे, उसीको उसकी जीविकाकी व्यवस्था करनी चाहिये; ऐसा धर्मज्ञ पुरुषोंका कथन है ॥ ३४½ ॥

देयः पिण्डोऽनपत्याय भर्तव्यौ वृद्धदुर्बलौ ॥ ३५ ॥
शूद्रेण तु न हातव्यो भर्ता कस्यांचिदापदि।
अतिरेकेण भर्तव्यो भर्ता द्रव्यपरिक्षये ॥ ३६ ॥

यदि स्वामी संतानहीन हो तो सेवा करनेवाले शूद्रको ही उसके लिये पिण्डदान करना चाहिये। यदि स्वामी बूढ़ा या दुर्बल हो तो उसका सब प्रकारसे भरण-पोषण करना चाहिये। किसी आपत्तिमें भी शूद्रको अपने स्वामीका परित्याग

नहीं करना चाहिये। यदि स्वामीके धनका नाश हो जाय तो शूद्रको अपने कुटुम्बके पालनसे बचे हुए धनके द्वारा उसका भरण-पोषण करना चाहिये ॥ ३५-३६ ॥

न हि स्वमस्ति शूद्रस्य भर्तृहार्यधनो हि सः।
उक्तस्त्रयाणां वर्णानां यज्ञस्तस्य च भारत।
स्वाहाकारवषट्कारौ मन्त्रः शूद्रे न विद्यते ॥ ३७ ॥

शूद्रका अपना कोई धन नहीं होता। उसके सारे धनपर उसके स्वामीका ही अधिकार होता है। भरतनन्दन! यज्ञका अनुष्ठान तीनों वर्णों तथा शूद्रके लिये भी आवश्यक बताया गया है। शूद्रके यज्ञमें स्वाहाकार, वषट्कार तथा वैदिक मन्त्रोंका प्रयोग नहीं होता है ॥ ३७ ॥

तस्माच्छूद्रः पाकयज्ञैर्यजेताव्रतवान् स्वयम्।
पूर्णपात्रमयीमाहुः पाकयज्ञस्य दक्षिणाम् ॥ ३८ ॥

अतः शूद्र स्वयं वैदिक व्रतोंकी दीक्षा न लेकर पाकयज्ञों (बलिवैश्वदेव आदि) द्वारा यजन करे। पाकयज्ञकी दक्षिणा पूर्णपात्रमयी[1] बतायी गयी है ॥ ३८ ॥

शूद्रः पैजवनो नाम सहस्राणां शतं ददौ।
ऐन्द्राग्नेन विधानेन दक्षिणामिति नः श्रुतम् ॥ ३९ ॥

हमने सुना है कि पैजवन नामक शूद्रने ऐन्द्राग्न यज्ञकी विधिसे मन्त्रहीन यज्ञका अनुष्ठान करके उसकी दक्षिणाके रूपमें एक लाख पूर्णपात्र दान किये थे ॥ ३९ ॥

यतो हि सर्ववर्णानां यज्ञस्तस्यैव भारत।
अग्रे सर्वेषु यज्ञेषु श्रद्धायज्ञो विधीयते ॥ ४० ॥

भरतनन्दन! ब्राह्मण आदि तीनों वर्णोंका जो यज्ञ है, वह सब सेवाकार्य करनेके कारण शूद्रका भी है ही (उसे भी उसका फल मिलता ही है; अतः उसे पृथक् यज्ञ करनेकी आवश्यकता नहीं है)। सम्पूर्ण यज्ञोंमें पहले श्रद्धारूप यज्ञका ही विधान है ॥ ४० ॥

दैवतं हि महच्छ्रद्धा पवित्रं यजतां च यत्।
दैवतं हि परं विप्राः स्वेन स्वेन परस्परम् ॥ ४१ ॥

क्योंकि श्रद्धा सबसे बड़ा देवता है। वही यज्ञ करनेवालोंको पवित्र करती है। ब्राह्मण साक्षात् यज्ञ करानेके कारण परम देवता माने गये हैं। सभी वर्णोंके लोग अपने-अपने कर्मद्वारा एक-दूसरेके यज्ञोंमें सहायक होते हैं ॥ ४१ ॥

अयजन्निह सत्रैस्ते तैस्तैः कामैः समाहिताः।
संसृष्टा ब्राह्मणैरेव त्रिषु वर्णेषु सृष्टयः ॥ ४२ ॥

सभी वर्णके लोगोंने यहाँ यज्ञोंका अनुष्ठान किया है और उनके द्वारा वे मनोवाञ्छित फलोंसे सम्पन्न हुए हैं। ब्राह्मणोंने ही तीनों वर्णोंकी संतानोंकी सृष्टि की है ॥ ४२ ॥

देवानामपि ये देवा यद् ब्रूयुस्ते परं हितम्।
तस्माद् वर्णैः सर्वयज्ञाः संसृज्यन्ते न काम्यया ॥ ४३ ॥

जो देवताओंके भी देवता हैं, वे ब्राह्मण जो कुछ कहें, वही सबके लिये परम हितकारक है; अतः अन्य वर्णोंके लोग ब्राह्मणोंके बताये अनुसार ही सब यज्ञोंका अनुष्ठान करें, अपनी इच्छासे न करें ॥ ४३ ॥

ऋग्यजुःसामवित् पूज्यो नित्यं स्याद् देववद् द्विजः।
अनृग्यजुरसामा च प्राजापत्य उपद्रवः।
यज्ञो मनीषया तात सर्ववर्णेषु भारत ॥ ४४ ॥

ऋक्, साम और यजुर्वेदका ज्ञाता ब्राह्मण सदा देवताके समान पूजनीय है। दास या शूद्र ऋक्, यजु और सामके ज्ञानसे शून्य होता है; तो भी वह 'प्राजापत्य' (प्रजापतिका भक्त) कहा गया है। तात! भरतनन्दन! मानसिक संकल्पद्वारा जो भावनात्मक यज्ञ होता है, उसमें सभी वर्णोंका अधिकार है ॥ ४४ ॥

नास्य यज्ञकृतो देवा ईहन्ते नेतरे जनाः।
ततः सर्वेषु वर्णेषु श्रद्धायज्ञो विधीयते ॥ ४५ ॥

इस मानसिक यज्ञ करनेवाले यजमानके यज्ञमें देवता और मनुष्य सभी भाग ग्रहण करनेकी अभिलाषा रखते हैं; क्योंकि उसका यज्ञ श्रद्धाके कारण परम पवित्र होता है; अतः श्रद्धाप्रधान यज्ञ करनेका अधिकार सभी वर्णोंको प्राप्त है ॥

स्वं दैवतं ब्राह्मणः स्वेन नित्यं
परान् वर्णानयजन्नैवमासीत्।
अधरो वितानः संसृष्टो वैश्यो
ब्राह्मणस्त्रिषु वर्णेषु यज्ञसृष्टः ॥ ४६ ॥

ब्राह्मण अपने कर्मोंद्वारा ही सदा दूसरे वर्णोंके लिये अपने-अपने देवताके समान है; अतः वह दूसरे वर्णोंका यज्ञ न करता हो, ऐसी बात नहीं है। जिस यज्ञमें वैश्य आचार्य आदिके रूपमें कार्य कर रहा हो, वह निकृष्ट माना गया है। विधाताने केवल ब्राह्मणको ही तीनों वर्णोंका यज्ञ करानेके लिये उत्पन्न किया है ॥ ४६ ॥

तस्माद् वर्णा ऋजवो ज्ञातिवर्णाः
संसृज्यन्ते तस्य विकार एव।
एकं साम यजुरेकमृगेका
विप्रश्चैको निश्चये तेषु सृष्टः ॥ ४७ ॥

विधाता एकमात्र ब्राह्मणसे ही अन्य तीन वर्णोंकी सृष्टि करते हैं, अतः शेष तीन वर्ण भी ब्राह्मणके समान ही सरल तथा उनके जाति-भाई या कुटुम्बी हैं। क्षत्रिय आदि तीनों वर्ण ब्राह्मणकी संतान ही हैं। जैसे ऋक्, यजुः और साम एकमात्र अकारसे ही प्रकट होनेके कारण परस्पर अभिन्न हैं, उसी प्रकार उन सभी वर्णोंमें तत्त्वका निश्चय किया जाय तो एकमात्र ब्राह्मण ही उन सबके रूपमें प्रकट हुआ है, अतः ब्राह्मणके साथ सबकी अभिन्नता है ॥ ४७ ॥

अत्र गाथा यज्ञगीताः कीर्तयन्ति पुराविदः।
वैखानसानां राजेन्द्र मुनीनां यष्टुमिच्छताम् ॥ ४८ ॥

राजेन्द्र! प्राचीन बातोंको जाननेवाले विद्वान् इस विषयमें यज्ञकी अभिलाषा रखनेवाले वैखानस मुनियोंकी कही हुई

---

1. पूर्णपात्रका परिमाण इस प्रकार है—आठ मुट्ठी अन्नको 'किञ्चित्' कहते हैं, आठ किञ्चित्का एक 'पुष्कल' होता है और चार पुष्कलका एक 'पूर्णपात्र' होता है। इस प्रकार दो सौ छप्पन मुट्ठीका एक पूर्णपात्र होता है।

[illegible] उल्लेख किया करते हैं, जो यज्ञके सम्बन्धमें [illegible] ॥ ४८ ॥

उदितेऽनुदिते वापि श्रद्दधानो जितेन्द्रियः ।
वह्निं जुहोति धर्मेण श्रद्धा वै कारणं महत् ॥४९॥

सूर्यके उदय होनेपर अथवा सूर्योदयसे पहले ही श्रद्धालु एवं जितेन्द्रिय मनुष्य जो धर्मके अनुसार अग्निमें आहुति देता है, उसमें श्रद्धा ही प्रधान हेतु है ॥ ४९ ॥

यत् स्कन्नमस्य तत् पूर्वं यदस्कन्नं तदुत्तरम् ।
बहूनि यज्ञरूपाणि नानाकर्मफलानि च ॥ ५० ॥

(बह्वृच ब्राह्मणमें सोलह प्रकारके अग्निहोत्र बताये गये हैं) होताका किया हुआ जो हवन वायुदेवताके उद्देश्यसे होता है, वह स्कन्नसंज्ञक होम प्रथम है और उससे भिन्न जो स्कन्नसंज्ञक होम हैं, वह अन्तिम या सबसे उत्कृष्ट है । इसी प्रकार रौद्र आदि बहुतसे यज्ञ हैं, जो नाना प्रकारके कर्मफल देनेवाले हैं ॥ ५० ॥

तानि यः सम्प्रजानाति ज्ञाननिश्चयनिश्चितः ।
द्विजातिः श्रद्धयोपेतः स यष्टुं पुरुषोऽर्हति ॥ ५१ ॥

उन षोडश प्रकारके अग्निहोत्रोंको जो जानता है, वही यज्ञ-सम्बन्धी निश्चयात्मक ज्ञानसे सम्पन्न है । ऐसा ज्ञानी एवं श्रद्धालु द्विज ही यज्ञ करनेका अधिकारी है ॥ ५१ ॥

स्तेनो वा यदि वा पापो यदि वा पापकृत्तमः ।
यष्टुमिच्छति यज्ञं यः साधुमेव वदन्ति तम् ॥ ५२ ॥

यदि कोई चोर हो, पापी हो अथवा पापाचारियोंमें भी सबसे महान् हो तो भी जो यज्ञ करना चाहता है, उसे सभी लोग 'साधु' ही कहते हैं ॥ ५२ ॥

ऋषयस्तं प्रशंसन्ति साधु चैतदसंशयम् ।
सर्वथा सर्वदा वर्णैर्यष्टव्यमिति निर्णयः ॥ ५३ ॥

ऋषि भी उसकी प्रशंसा करते हैं । यह यज्ञकर्म श्रेष्ठ है, इसमें कोई संदेह नहीं है; अतः सभी वर्णके लोगोंको सदा सब प्रकारसे यज्ञ करना चाहिये, यही शास्त्रोंका निर्णय है ॥ ५३ ॥

न हि यज्ञसमं किञ्चित् त्रिषु लोकेषु विद्यते ।
तस्माद् यष्टव्यमित्याहुः पुरुषेणानसूयता ।
श्रद्धापवित्रमाश्रित्य यथाशक्ति यथेच्छया ॥ ५४ ॥

तीनों लोकोंमें यज्ञके समान कुछ भी नहीं है; इसलिये मनुष्यको दोषदृष्टिका परित्याग करके शास्त्रीय विधिका आश्रय ले अपनी शक्ति और इच्छाके अनुसार उत्तम श्रद्धापूर्वक *यज्ञका अनुष्ठान करना चाहिये, ऐसा मनीषी पुरुषोंका* कथन है ॥ ५४ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि राजधर्मानुशासनपर्वणि वर्णाश्रमधर्मकथने षष्टितमोऽध्यायः ॥ ६० ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत राजधर्मानुशासनपर्वमें वर्णाश्रमधर्मका वर्णनविषयक साठवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ६० ॥

एकषष्टितमोऽध्यायः

आश्रमधर्मका वर्णन

भीष्म उवाच

आश्रमाणां महाबाहो शृणु सत्यपराक्रम ।
चतुर्णामपि नामानि कर्माणि च युधिष्ठिर ॥ १ ॥

भीष्मजी कहते हैं—सत्यपराक्रमी महाबाहु युधिष्ठिर! अब तुम चारों आश्रमोंके नाम और कर्म सुनो ॥ १ ॥

वानप्रस्थं भैक्ष्यचर्यं गार्हस्थ्यं च महाश्रमम् ।
ब्रह्मचर्याश्रमं प्राहुश्चतुर्थं ब्राह्मणैर्वृतम् ॥ २ ॥

ब्रह्मचर्य, महान् आश्रम गार्हस्थ्य, वानप्रस्थ और भैक्ष्यचर्य (संन्यास)—ये चार आश्रम हैं । चौथे आश्रम संन्यासका अवलम्बन केवल ब्राह्मणोंने किया है ॥ २ ॥

जटाधारणसंस्कारं द्विजातित्वमवाप्य च ।
आधानादीनि कर्माणि प्राप्य वेदमधीत्य च ॥ ३ ॥
सदारो वाप्यदारो वा आत्मवान् संयतेन्द्रियः ।
वानप्रस्थाश्रमं गच्छेत् कृतकृत्यो गृहाश्रमात् ॥ ४ ॥

(ब्रह्मचर्य-आश्रममें) चूड़ाकरणसंस्कार और उपनयनके अनन्तर द्विजत्वको प्राप्त हो वेदाध्ययन पूर्ण करके (समावर्तनके पश्चात् विवाह करे, फिर) गार्हस्थ्य-आश्रममें अग्निहोत्र आदि कर्म सम्पन्न करके इन्द्रियोंको संयममें रखते हुए मनस्वी पुरुष स्त्रीको साथ लेकर अथवा बिना स्त्रीके ही गृहस्थाश्रमसे कृतकृत्य हो वानप्रस्थाश्रममें प्रवेश करे ॥ ३-४ ॥

तत्रारण्यकशास्त्राणि समधीत्य स धर्मवित् ।
ऊर्ध्वरेताः प्रव्रजित्वा गच्छत्यक्षरसात्मताम् ॥ ५ ॥

वहाँ धर्मज्ञ पुरुष आरण्यकशास्त्रोंका अध्ययन करके वानप्रस्थ-धर्मका पालन करे । तत्पश्चात् ब्रह्मचर्य-पालनपूर्वक उस आश्रमसे निकल जाय और विधिपूर्वक संन्यास ग्रहण कर ले । इस प्रकार संन्यास लेनेवाला पुरुष अविनाशी ब्रह्मभावको प्राप्त हो जाता है ॥ ५ ॥

एतान्येव निमित्तानि मुनीनामूर्ध्वरेतसाम् ।
कर्तव्यानीह विप्रेण राजन्नादौ विपश्चिता ॥ ६ ॥

राजन् ! विद्वान् ब्राह्मणको ऊर्ध्वरेता मुनियोंद्वारा आचरणमें लाये हुए इन्हीं साधनोंका सर्वप्रथम आश्रय लेना चाहिये ॥ ६ ॥

चरितब्रह्मचर्यस्य ब्राह्मणस्य विशाम्पते ।
भैक्षचर्यास्वधीकारः प्रशस्त इह मोक्षिणः ॥ ७ ॥

प्रजानाथ ! जिसने ब्रह्मचर्यका पालन किया है, उस ब्रह्मचारी ब्राह्मणके मनमें यदि मोक्षकी अभिलाषा जाग उठे तो उसे ब्रह्मचर्य-आश्रमसे ही संन्यास ग्रहण करनेका उत्तम अधिकार प्राप्त हो जाता है ॥ ७ ॥

यत्रास्तमितशायी स्यान्निरग्निरनिकेतनः ।
यथोपलब्धजीवी स्यान्मुनिर्दान्तो जितेन्द्रियः ॥ ८ ॥

संन्यासीको चाहिये कि वह मन और इन्द्रियोंको संयममें रखते हुए मुनिवृत्तिसे रहे । किसी वस्तुकी कामना न करे ।

अपने लिये मठ या कुटी न बनवावे। निरन्तर घूमता रहे और जहाँ सूर्यास्त हो वहीं ठहर जाय। प्रारब्धवश जो कुछ मिल जाय, उसीसे जीवन-निर्वाह करे ॥ ८ ॥

निराशीः स्यात् सर्वसमो निर्भोगो निर्विकारवान्।
विप्रः क्षेमाश्रमं प्राप्तो गच्छत्यक्षरसात्मताम् ॥ ९ ॥

आशा-तृष्णाका सर्वथा त्याग करके सबके प्रति समान भाव रक्खे। भोगोंसे दूर रहे और हृदयमें किसी प्रकारका विकार न आने दे। इन्हीं सब धर्मोंके कारण इस आश्रमको 'क्षेमाश्रम' (कल्याणप्राप्तिका स्थान) कहते हैं। इस आश्रममें आया हुआ ब्राह्मण अविनाशी ब्रह्मके साथ एकता प्राप्त कर लेता है ॥ ९ ॥

अधीत्य वेदान् कृतसर्वकृत्यः
संतानमुत्पाद्य सुखानि भुक्त्वा।
समाहितः प्रचरेद् दुश्चरं यो
गार्हस्थ्यधर्मं मुनिधर्मजुष्टम् ॥ १० ॥

अब गृहस्थाश्रमके धर्म सुनो—जो वेदोंका अध्ययन पूर्ण करके समस्त वेदोक्त शुभ कर्मोंका अनुष्ठान करनेके पश्चात् अपनी विवाहिता पत्नीके गर्भसे संतान उत्पन्न कर उस आश्रमके न्यायोचित भोगोंको भोगता और एकाग्रचित्त हो मुनिजनोचित धर्मसे युक्त दुष्कर गार्हस्थ्यधर्मका पालन करता है, वह उत्तम है ॥ १० ॥

स्वदारतुष्टस्त्वृतुकालगामी
नियोगसेवी न शठो न जिह्मः।
मिताशनो देवरतः कृतज्ञः
सत्यो मृदुश्चानृशंसः क्षमावान् ॥ ११ ॥

गृहस्थको चाहिये कि वह अपनी ही स्त्रीमें अनुराग रखते हुए संतुष्ट रहे। ऋतुकालमें ही पत्नीके साथ समागम करे। शास्त्रोंकी आज्ञाका पालन करता रहे। शठता और कुटिलतासे दूर रहे। परिमित आहार ग्रहण करे। देवताओंकी आराधनामें तत्पर रहे। उपकार करनेवालोंके प्रति कृतज्ञता प्रकट करे। सत्य बोले। सबके प्रति मृदुभाव रक्खे। किसीके प्रति क्रूर न बने और सदा क्षमाभाव रक्खे ॥ ११ ॥

दान्तो विधेयो हव्यकव्येऽप्रमत्तो
ह्यन्नस्य दाता सततं द्विजेभ्यः।
अमत्सरी सर्वलिङ्गप्रदाता
वैतानिनित्यश्च गृहाश्रमी स्यात् ॥ १२ ॥

गृहस्थाश्रमी पुरुष इन्द्रियोंका संयम करे, गुरुजनों एवं शास्त्रोंकी आज्ञा माने, देवताओं और पितरोंकी तृप्तिके लिये हव्य और कव्य समर्पित करनेमें कभी भूल न होने दे, ब्राह्मणोंको निरन्तर अन्नदान करे, ईर्ष्या-द्वेषसे दूर रहे, अन्य सब आश्रमोंको भोजन देकर उनका पालन-पोषण करता रहे और सदा यज्ञ-यागादिमें लगा रहे ॥ १२ ॥

अथात्र नारायणगीतमाहु-
र्महर्षयस्तात महानुभावाः।
महार्थमत्यन्ततपःप्रयुक्तं
तदुच्यमानं हि मया निबोध ॥ १३ ॥

तात! इस विषयमें महानुभाव महर्षिगण नारायणगीतका उल्लेख किया करते हैं जो महान् अर्थसे युक्त और अत्यन्त तपस्याद्वारा प्रेरित होकर कहा गया है। मैं उसका वर्णन करता हूँ, तुम सुनो ॥ १३ ॥

सत्यार्जवं चातिथिपूजनं च
धर्मस्तथार्थश्च रतिः स्वदारैः।
निषेवितव्यानि सुखानि लोके
ह्यस्मिन् परे चैव मतं ममैतत् ॥ १४ ॥

'गृहस्थ पुरुष इस लोकमें सत्य, सरलता, अतिथिसत्कार, धर्म, अर्थ, अपनी पत्नीके प्रति अनुराग तथा सुखका सेवन करे। ऐसा होनेपर ही उसे परलोकमें भी सुख प्राप्त होते हैं, यह मेरा मत है' ॥ १४ ॥

भरणं पुत्रदाराणां वेदानां धारणं तथा।
वसतामाश्रमं श्रेष्ठं वदन्ति परमर्षयः ॥ १५ ॥

श्रेष्ठ आश्रम गार्हस्थ्यमें निवास करनेवाले द्विजोंके लिये महर्षिगण यह कर्तव्य बताते हैं कि वह स्त्री और पुत्रोंका भरण-पोषण तथा वेदशास्त्रोंका स्वाध्याय करे ॥ १५ ॥

एवं हि यो ब्राह्मणो यज्ञशीलो
गार्हस्थ्यमध्यावसते यथावत्।
गृहस्थवृत्तिं प्रविशोध्य सम्यक्
स्वर्गे विशुद्धं फलमाप्नुते सः ॥ १६ ॥

जो ब्राह्मण इस प्रकार स्वभावतः यज्ञपरायण हो, गृहस्थ-धर्मका यथावत् रूपसे पालन करता है, वह गृहस्थ-वृत्तिका अच्छी तरह शोधन करके स्वर्गलोकमें विशुद्ध फलका भागी होता है ॥ १६ ॥

तस्य देहपरित्यागादिष्टाः कामाक्षया मताः।
आनन्त्यायोपतिष्ठन्ति सर्वतोऽक्षिशिरोमुखाः ॥ १७ ॥

उस गृहस्थको देह-त्यागके पश्चात् उसके अभीष्ट मनोरथ अक्षयरूपसे प्राप्त होते हैं। वे उस पुरुषका संकल्प जानकर इस प्रकार अनन्तकालतकके लिये उसकी सेवामें उपस्थित हो जाते हैं, मानो उनके नेत्र, मस्तक और मुख सभी दिशाओंकी ओर हों ॥ १७ ॥

स्मरन्नेको जपन्नेकः सर्वानेको युधिष्ठिर।
एकस्मिन्नेव चाचार्ये शुश्रूषुर्मलपङ्कवान् ॥ १८ ॥

युधिष्ठिर! ब्रह्मचारीको चाहिये कि वह अकेला ही वेदमन्त्रोंका चिन्तन और अभीष्ट मन्त्रोंका जप करते हुए सारे कार्य सम्पन्न करे, अपने शरीरमें मैल और कीचड़ लगी हो तो भी वह सेवाके लिये उद्यत हो एकमात्र आचार्यकी ही परिचर्यामें संलग्न रहे ॥ १८ ॥

ब्रह्मचारी व्रती नित्यं नित्यं दीक्षापरो वशी।
परिचार्य तथा वेदं कृत्यं कुर्वन् वसेत् सदा ॥ १९ ॥

ब्रह्मचारी नित्य निरन्तर मन और इन्द्रियोंको वशमें रखते हुए व्रत एवं दीक्षाके पालनमें तत्पर रहे। वेदोंका स्वाध्याय करते हुए सदा कर्तव्य कर्मोंके पालनपूर्वक गुरुगृहमें निवास करे ॥ १९ ॥

शुश्रूषां सततं कुर्वन् गुरोः सम्प्रणमेत च ।
षट्कर्मसु निवृत्तश्च न प्रवृत्तश्च सर्वशः ॥ २० ॥

निरन्तर गुरुकी सेवामें संलग्न रहकर उन्हें प्रणाम करे । जीविका-निर्वाहके उद्देश्यसे किये जानेवाले यजन-याजन, अध्ययन-अध्यापन तथा दान और प्रतिग्रह—इन छः कर्मोंसे अलग रहे और किसी भी असत् कर्ममें वह कभी प्रवृत्त न हो ॥ २० ॥

न चरत्यधिकारेण सेवेत द्विषतो न च ।
एषोऽऽश्रमपदस्तात ब्रह्मचारिण इष्यते ॥ २१ ॥

अपने अधिकारका प्रदर्शन करते हुए व्यवहार न करे; द्वेष रखनेवालोंका सङ्ग न करे । वत्स युधिष्ठिर ! ब्रह्मचारीके लिये यही आश्रम-धर्म अभीष्ट है ॥ २१ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि राजधर्मानुशासनपर्वणि चतुराश्रमधर्मकथने एकषष्टितमोऽध्यायः ॥ ६१ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत राजधर्मानुशासनपर्वमें चारों आश्रमोंके धर्मोंका वर्णनविषयक एकसठवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ६१ ॥

द्विषष्टितमोऽध्यायः

ब्राह्मणधर्म और कर्तव्यपालनका महत्त्व

युधिष्ठिर उवाच

शिवान् सुखान् महोदर्कानहिंस्राल्लोँकसम्मतान् ।
ब्रूहि धर्मान् सुखोपायान् मद्विधानां सुखावहान् ॥ १ ॥

युधिष्ठिर बोले—पितामह ! अब आप ऐसे धर्मोंका वर्णन कीजिये, जो कल्याणमय, सुखमय, भविष्यमें अभ्युदयकारी, हिंसारहित, लोकसम्मानित, सुखसाधक तथा मुझ-जैसे लोगोंके लिये सुखपूर्वक आचरणमें लाये जा सकते हों ॥ १ ॥

भीष्म उवाच

ब्राह्मणस्य तु चत्वारस्त्वाश्रमा विहिताः प्रभो ।
वर्णास्तान् नानुवर्तन्ते त्रयो भारतसत्तम ॥ २ ॥

भीष्मजीने कहा—प्रभो ! भरतवंशावतंस युधिष्ठिर ! चारों आश्रम ब्राह्मणोंके लिये ही विहित हैं । अन्य तीनों वर्णोंके लोग उन सभी आश्रमोंका अनुसरण नहीं करते हैं ॥ २ ॥

उक्तानि कर्माणि बहूनि राजन्
स्वर्ग्याणि राजन्यपरायणानि ।
नेमानि दृष्टान्तविधौ स्मृतानि
क्षात्रे हि सर्वं विहितं यथावत् ॥ ३ ॥

राजन् ! क्षत्रियके लिये शास्त्रमें बहुत-से ऐसे स्वर्गसाधक कर्म बताये गये हैं, जो हिंसाप्रधान हैं, जैसे युद्ध ! परंतु ये कर्म ब्राह्मणके लिये आदर्श नहीं हो सकते; क्योंकि क्षत्रियके लिये सभी प्रकारके कर्मोंका यथोचित विधान है ॥ ३ ॥

क्षात्राणि वैश्यानि च सेवमानः
शौद्राणि कर्माणि च ब्राह्मणः सन् ।
अस्मिँल्लोके निन्दितो मन्दचेताः
परे च लोके निरयं प्रयाति ॥ ४ ॥

जो ब्राह्मण होकर क्षत्रिय, वैश्य और शूद्रोंके कर्मोंका सेवन करता है, वह मन्दबुद्धि पुरुष इस लोकमें निन्दित और परलोकमें नरकगामी होता है ॥ ४ ॥

या संज्ञा विहिता लोके दासे शुनि वृके पशौ ।
विकर्मणि स्थिते विप्रे सैव संज्ञा च पाण्डव ॥ ५ ॥

पाण्डुनन्दन ! लोकमें दास, कुत्ते, भेड़िये तथा अन्य पशुओंके लिये जो निन्दासूचक संज्ञा दी गयी है, अपने वर्णधर्मके विपरीत कर्ममें लगे हुए ब्राह्मणके लिये भी वही संज्ञा दी जाती है ॥ ५ ॥

षट्कर्मसम्प्रवृत्तस्य आश्रमेषु चतुर्ष्वपि ।
सर्वधर्मोपपन्नस्य संवृतस्य कृतात्मनः ॥ ६ ॥
ब्राह्मणस्य विशुद्धस्य तपस्यभिरतस्य च ।
निराशिषो वदान्यस्य लोका ह्यक्षरसम्मिताः ॥ ७ ॥

जो ब्राह्मण यज्ञ करना-कराना, विद्या पढ़ना-पढ़ाना तथा दान लेना और देना—इन छः कर्मोंमें ही प्रवृत्त होता है, चारों आश्रमोंमें स्थित हो उनके सम्पूर्ण धर्मोंका पालन करता है, धर्ममय कवचसे सुरक्षित होता है और मनको वशमें किये रहता है, जिसके मनमें कोई कामना नहीं होती, जो बाहर-भीतरसे शुद्ध, तपस्यापरायण और उदार होता है, उसे अविनाशी लोक प्राप्त होते हैं ॥ ६-७ ॥

यो यस्मिन् कुरुते कर्म यादृशं येन यत्र च ।
तादृशं तादृशेनैव स गुणं प्रतिपद्यते ॥ ८ ॥

जो पुरुष जिस अवस्थामें, जिस देश अथवा कालमें, जिस उद्देश्यसे जैसा कर्म करता है, वह (उसी अवस्थामें वैसे ही देश अथवा कालमें) वैसे भावसे उस कर्मका वैसा ही फल पाता है ॥ ८ ॥

वृद्ध्या कृषिवणिक्त्वेन जीवसंजीवनेन च ।
वेत्तुमर्हसि राजेन्द्र स्वाध्यायगणितं महत् ॥ ९ ॥

राजेन्द्र ! वैश्यकी व्याज लेनेवाली वृत्ति, खेती और वाणिज्यके समान तथा क्षत्रियके प्रजापालनरूप कर्मके समान ब्राह्मणोंके लिये वेदाभ्यासरूपी कर्म ही महान् है—ऐसा तुम्हें समझना चाहिये ॥ ९ ॥

कालसंचोदितो लोकः कालपर्यायनिश्चितः ।
उत्तमाधममध्यानि कर्माणि कुरुतेऽवशः ॥ १० ॥

कालके उलट-फेरसे प्रभावित तथा स्वभावसे प्रेरित हुआ मनुष्य विवश-सा होकर उत्तम, मध्यम और अधम कर्म करता है ॥ १० ॥

अन्तवन्ति प्रधानानि पुरा श्रेयस्कराणि च ।
स्वकर्मनिरतो लोके ह्यक्षरः सर्वतोमुखः ॥ ११ ॥

पहलेके जो कल्याणकारी और अमङ्गलकारी शुभाशुभ

कर्म हैं, वे ही प्रधान होकर इस शरीरका निर्माण करते हैं। इस शरीरके साथ ही उनका भी अन्त हो जाता है; परंतु जगत्‌में अपने वर्णाश्रमोचित कर्मके पालनमें तत्पर रहनेवाला पुरुष तो हर अवस्थामें सर्वव्यापी और अविनाशी ही है ॥१

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि राजधर्मानुशासनपर्वणि वर्णाश्रमधर्मकथने द्विषष्टितमोऽध्यायः ॥ ६२ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत राजधर्मानुशासनपर्वमें वर्णाश्रमधर्मका वर्णनविषयक बासठवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ६२ ॥

त्रिषष्टितमोऽध्यायः

वर्णाश्रमधर्मका वर्णन तथा राजधर्मकी श्रेष्ठता

भीष्म उवाच

ज्याकर्षणं शत्रुनिवर्हणं च
कृषिर्वणिज्या पशुपालनं च।
शुश्रूषणं चापि तथार्थहेतो-
रकार्यमेतत् परमं द्विजस्य ॥ १ ॥

भीष्मजी कहते हैं—राजन्! धनुषकी डोरी खींचना, शत्रुओंको उखाड़ फेंकना, खेती, व्यापार और पशुपालन करना अथवा धनके उद्देश्यसे दूसरोंकी सेवा करना—ये ब्राह्मणके लिये अत्यन्त निषिद्ध कर्म हैं ॥ १ ॥

सेव्यं तु ब्रह्म षट्कर्म गृहस्थेन मनीषिणा।
कृतकृत्यस्य चारण्ये वासो विप्रस्य शस्यते ॥ २ ॥

मनीषी ब्राह्मण यदि गृहस्थ हो तो उसके लिये वेदोंका अभ्यास और यजन-याजन आदि छः कर्म ही सेवन करने योग्य हैं। गृहस्थ-आश्रमका उद्देश्य पूर्ण कर लेनेपर ब्राह्मणके लिये (वानप्रस्थी होकर) वनमें निवास करना उत्तम माना गया है ॥२॥

राजप्रेष्यं कृषिधनं जीवनं च वणिक्पथा।
कौटिल्यं कौलटेयं च कुसीदं च विवर्जयेत् ॥ ३ ॥

गृहस्थ ब्राह्मण राजाकी दासता, खेतीके द्वारा धनका उपार्जन, व्यापारसे जीवन-निर्वाह, कुटिलता, व्यभिचारिणी स्त्रियोंके साथ व्यभिचारकर्म तथा सूदखोरी छोड़ दे ॥ ३ ॥

शूद्रो राजन् भवति ब्रह्मबन्धु-
र्दुश्चारित्रो यश्च धर्मादपेतः।
वृषलीपतिः पिशुनो नर्तनश्च
राजप्रेष्यो यश्च भवेद् विकर्मा ॥ ४ ॥

राजन्! जो ब्राह्मण दुश्चरित्र, धर्महीन, शूद्रजातीय कुलटा स्त्रीसे सम्बन्ध रखनेवाला, चुगलखोर, नाचनेवाला, राजसेवक तथा दूसरे-दूसरे विपरीत कर्म करनेवाला होता है, वह ब्राह्मणत्वसे गिरकर शूद्र हो जाता है ॥ ४ ॥

जपन् वेदानजपंश्चापि राजन्
समः शूद्रैर्दासवच्चापि भोज्यः।
एते सर्वे शूद्रसमा भवन्ति
राजन्नेतान् वर्जयेद् देवकृत्ये ॥ ५ ॥

नरेश्वर! उपर्युक्त दुर्गुणोंसे युक्त ब्राह्मण वेदोंका स्वाध्याय करता हो या न करता हो, शूद्रोंके ही समान है। उसे दासकी भाँति पंक्तिसे बाहर भोजन कराना चाहिये। ये राज-सेवक आदि सभी अधम ब्राह्मण शूद्रोंके ही तुल्य हैं। राजन्! देवकार्यमें इनका परित्याग कर देना चाहिये ॥ ५ ॥

निर्मर्यादे चाशुचौ क्रूरवृत्तौ
हिंसात्मके त्यक्तधर्मस्ववृत्ते।
हव्यं कव्यं यानि चान्यानि राजन्
देयान्यदेयानि भवन्ति चास्मै ॥ ६ ॥

राजन्! जो ब्राह्मण मर्यादाशून्य, अपवित्र, क्रूर स्वभाववाला, हिंसापरायण तथा अपने धर्म और सदाचारका परित्याग करनेवाला है, उसे हव्य-कव्य तथा दूसरे दान देना न देनेके बराबर है ॥ ६ ॥

तस्माद् धर्मो विहितो ब्राह्मणस्य
दमः शौचमार्जवं चापि राजन्।
तथा विप्रस्याश्रमाः सर्व एव
पुरा राजन् ब्राह्मणा वै निसृष्टाः ॥ ७ ॥

अतः नरेश्वर! ब्राह्मणके लिये इन्द्रियसंयम, बाहर-भीतरकी शुद्धि और सरलताके साथ-साथ धर्माचरणका ही विधान है। राजन्! सभी आश्रम ब्राह्मणोंके लिये ही हैं क्योंकि सबसे पहले ब्राह्मणोंकी ही सृष्टि हुई है ॥ ७ ॥

यः स्याद् दान्तः सोमपश्चार्यशीलः
सानुक्रोशः सर्वसहो निराशीः।
ऋजुर्मृदुरनृशंसः क्षमावान्
स वै विप्रो नेतरः पापकर्मा ॥ ८ ॥

जो मन और इन्द्रियोंको संयममें रखनेवाला, सोमयाग करके सोमरस पीनेवाला, सदाचारी, दयालु, सब कुछ सहन करनेवाला, निष्काम, सरल, मृदु, क्रूरतारहित और क्षमाशील हो, वही ब्राह्मण कहलाने योग्य है। उससे भिन्न जो पापाचारी है, उसे ब्राह्मण नहीं समझना चाहिये ॥ ८ ॥

शूद्रं वैश्यं राजपुत्रं च राज-
ल्लोकाः सर्वे संश्रिता धर्मकामाः।
तस्माद् वर्णाञ्शान्तिधर्मेष्वसक्तान्
मत्वा विष्णुर्नेच्छति पाण्डुपुत्र ॥ ९ ॥

राजन्! पाण्डुनन्दन! धर्मपालनकी इच्छा रखनेवाले सभी लोग, सहायताके लिये शूद्र, वैश्य तथा क्षत्रियकी शरण लेते हैं। अतः जो वर्ण शान्तिधर्म (मोक्ष-साधन) में असमर्थ माने गये हैं, उनको भगवान् विष्णु शान्तिपरकधर्मका उपदेश करना नहीं चाहते ॥ ९ ॥

लोके चेदं सर्वलोकस्य न स्या-
च्चातुर्वर्ण्यं वेदवादाश्च न स्युः।
सर्वाश्चेज्याः सर्वलोकक्रियाश्च
सद्यः सर्वे चाश्रमस्था न वै स्युः ॥ १

यदि भगवान् विष्णु यथायोग्य विधान न करें तो लोकमें जो सब लोगोंको यह सुख आदि उपलब्ध है, वह न रह

[illegible] निवारित किये न सकें। सम्पूर्ण यश तथा [illegible] हो जायँ तथा आश्रमोंमें रहनेवाले [illegible] तत्काल निवृत्त हो जायँ ॥ १० ॥

यथा त्रयाणां वर्णानामिच्छेदाश्रमसेवनम्।
चातुराश्रम्यदृष्टांश्च धर्मांस्ताञ्शृणु पाण्डव ॥ ११ ॥

पाण्डुनन्दन ! जो राजा अपने राज्यमें तीनों वर्णों (ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य) के द्वारा शास्त्रोक्त रूपसे आश्रमधर्मका सेवन कराना चाहता हो, उसके लिये जानने योग्य जो चारों आश्रमोंके लिये उपयोगी धर्म हैं, उनका वर्णन करता हूँ, सुनो ॥ ११ ॥

शुश्रूषाकृतकार्यस्य कृतसंतानकर्मणः।
अभ्यनुज्ञातराजस्य शूद्रस्य जगतीपते ॥ १२ ॥
अल्पान्तरगतस्यापि दशधर्मगतस्य वा।
आश्रमा विहिताः सर्वे वर्जयित्वा निराशिषम् ॥ १३ ॥

पृथ्वीनाथ ! जो शूद्र तीनों वर्णोंकी सेवा करके कृतार्थ हो गया है, जिसने पुत्र उत्पन्न कर लिया है, शौच और सदाचारकी दृष्टिसे जिसमें अन्य त्रैवर्णिकोंकी अपेक्षा बहुत कम अन्तर रह गया है अथवा जो मनुप्रोक्त दस धर्मोंके पालनमें तत्पर रहा है*, वह शूद्र यदि राजाकी अनुमति प्राप्त कर ले तो उसके लिये संन्यासको छोड़कर शेष सभी आश्रम विहित हैं ॥ १२-१३ ॥

भैक्ष्यचर्यां ततः प्राहुस्तस्य तद्धर्मचारिणः।
तथा वैश्यस्य राजेन्द्र राजपुत्रस्य चैव हि ॥ १४ ॥

राजेन्द्र ! पूर्वोक्त धर्मोंका आचरण करनेवाले शूद्रके लिये तथा वैश्य और क्षत्रियके लिये भी भिक्षा माँगकर निर्वाह करनेका विधान है ॥ १४ ॥

कृतकृत्यो वयोऽतीतो राज्ञः कृतपरिश्रमः।
वैश्यो गच्छेदनुज्ञातो नृपेणाश्रमसंश्रयम् ॥ १५ ॥

अपने वर्णधर्मका परिश्रमपूर्वक पालन करके कृतकृत्य हुआ वैश्य अधिक अवस्था व्यतीत हो जानेपर राजाकी आज्ञा लेकर क्षत्रियोचित वानप्रस्थ आश्रमोंका ग्रहण करे ॥ १५ ॥

वेदानधीत्य धर्मेण राजशास्त्राणि चानघ।
संतानादीनि कर्माणि कृत्वा सोमं निषेव्य च ॥ १६ ॥
पालयित्वा प्रजाः सर्वा धर्मेण वदतां वर।
राजसूयाश्वमेधादीन् मखानन्यांस्तथैव च ॥ १७ ॥
आनयित्वा यथापाठं विप्रेभ्यो दत्तदक्षिणः।
संग्रामे विजयं प्राप्य तथाल्पं यदि वा बहु ॥ १८ ॥
स्थापयित्वा प्रजापालं पुत्रं राज्ये च पाण्डव।
अन्यगोत्रं प्रशस्तं वा क्षत्रियं क्षत्रियर्षभ ॥ १९ ॥
अर्चयित्वा पितॄन् सम्यक् पितृयज्ञैर्यथाविधि।
देवान् यज्ञैर्ऋषीन् वेदैरर्चयित्वा तु यत्नतः ॥ २० ॥
अन्तकाले च सम्प्राप्ते य इच्छेदाश्रमान्तरम्।
सोऽनुपूर्व्याश्रमान् राजन् गत्वा सिद्धिमवाप्नुयात् ॥ २१ ॥

निष्पाप नरेश ! राजाको चाहिये कि पहले धर्माचरणपूर्वक वेदों तथा राजशास्त्रोंका अध्ययन करे। फिर संतानोत्पादन आदि कर्म करके यज्ञमें सोमरसका सेवन करे। समस्त प्रजाओंका धर्मके अनुसार पालन करके राजसूय, अश्वमेध तथा दूसरे-दूसरे यज्ञोंका अनुष्ठान करे। शास्त्रोंकी आज्ञाके अनुसार सब सामग्री एकत्र करके ब्राह्मणोंको दक्षिणा दे। संग्राममें अल्प या महान् विजय पाकर राज्यपर प्रजाकी रक्षाके लिये अपने पुत्रको स्थापित कर दे। पुत्र न हो तो दूसरे गोत्रके किसी श्रेष्ठ क्षत्रियको राज्यसिंहासनपर अभिषिक्त कर दे। वक्ताओंमें श्रेष्ठ क्षत्रिय-शिरोमणि पाण्डुनन्दन ! पितृयज्ञोंद्वारा विधिपूर्वक पितरोंका, देवयज्ञोंद्वारा देवताओंका तथा वेदोंके स्वाध्यायद्वारा ऋषियोंका यत्नपूर्वक भलीभाँति पूजन करके अन्तकाल आनेपर जो क्षत्रिय दूसरे आश्रमोंको ग्रहण करनेकी इच्छा करता है, वह क्रमशः आश्रमोंको अपनाकर परम सिद्धिको प्राप्त होता है ॥ १६-२१ ॥

राजर्षित्वेन राजेन्द्र भैक्ष्यचर्या न सेवया।
अपेतगृहधर्मोऽपि चरेज्जीवितकाम्यया ॥ २२ ॥

गृहस्थ-धर्मोंका त्याग कर देनेपर भी क्षत्रियको ऋषि-भावसे वेदान्तश्रवण आदि संन्यासधर्मका पालन करते हुए जीवन-रक्षाके लिये ही भिक्षाका आश्रय लेना चाहिये, सेवा करानेके लिये नहीं ॥ २२ ॥

न चैतन्नैष्ठिकं कर्म त्रयाणां भूरिदक्षिण।
चतुर्णां राजशार्दूल प्राहुराश्रमवासिनाम् ॥ २३ ॥

पर्याप्त दक्षिणा देनेवाले राजसिंह ! यह भैक्ष्यचर्या क्षत्रिय आदि तीन वर्णोंके लिये नित्य या अनिवार्य कर्म नहीं है। चारों आश्रमवासियोंका कर्म उनके लिये ऐच्छिक ही बताया गया है ॥ २३ ॥

बाह्वायत्तं क्षत्रियैर्मानवानां
लोकश्रेष्ठं धर्ममासेवमानैः।
सर्वे धर्माः सोपधर्मास्त्रयाणां
राज्ञो धर्मादिति वेदाच्छृणोमि ॥ २४ ॥

राजन् ! राजधर्म बाहुबलके अधीन होता है। वह क्षत्रियके लिये जगत्‌का श्रेष्ठतम धर्म है, उसका सेवन करनेवाले क्षत्रिय मानवमात्रकी रक्षा करते हैं। अतः तीनों वर्णोंके उपधर्मों-सहित जो अन्यान्य समस्त धर्म हैं। वे राजधर्मसे ही सुरक्षित रह सकते हैं, यह मैंने वेद-शास्त्रसे सुना है ॥ २४ ॥

यथा राजन् हस्तिपदे पदानि
संलीयन्ते सर्वसत्त्वोद्भवानि।
एवं धर्मान् राजधर्मेषु सर्वान्
सर्वावस्थान् सम्प्रलीनान् निबोध ॥ २५ ॥

नरेश्वर ! जैसे हाथीके पदचिह्नमें सभी प्राणियोंके पदचिह्न विलीन हो जाते हैं, उसी प्रकार सब धर्मोंको सभी अवस्थाओंमें राजधर्मके भीतर ही समाविष्ट हुआ समझो ॥ २५ ॥

अल्पाश्रयानल्पफलान् वदन्ति
धर्मानन्यान् धर्मविदो मनुष्याः।
महाश्रयं बहुकल्याणरूपं
क्षात्रं धर्मं नेतरं प्राहुरार्याः ॥ २६ ॥

* धृति, क्षमा, मनका निग्रह, चोरीका त्याग, बाहर-भीतरकी पवित्रता, इन्द्रियोंका निग्रह, सात्त्विक बुद्धि, सात्त्विक ज्ञान, सत्यभाषण और क्रोधका अभाव—ये दस धर्मके लक्षण हैं।

धर्मके ज्ञाता आर्य पुरुषोंका कथन है कि अन्य समस्त धर्मोंका आश्रय तो अल्प है ही, फल भी अल्प ही है। परंतु क्षात्रधर्मका आश्रय भी महान् है और उसके फल भी बहुसंख्यक एवं परमकल्याणरूप हैं; अतः इसके समान दूसरा कोई धर्म नहीं है॥

सर्वे धर्मा राजधर्मप्रधानाः
सर्वे वर्णाः पाल्यमाना भवन्ति।
सर्वस्त्यागो राजधर्मेषु राजं-
स्त्यागं धर्मं चाहुरग्र्यं पुराणम्॥ २७॥

सभी धर्मोंमें राजधर्म ही प्रधान है; क्योंकि उसके द्वारा सभी वर्णोंका पालन होता है। राजन्! राजधर्ममें सभी प्रकारके त्यागका समावेश है और ऋषिगण त्यागको सर्वश्रेष्ठ एवं प्राचीन धर्म बताते हैं॥ २७॥

मज्जेत् त्रयी दण्डनीतौ हतायां
सर्वे धर्माः प्रक्षयेयुर्विबुद्धाः।
सर्वे धर्माश्चाश्रमाणां हताः स्युः
क्षात्रे त्यक्ते राजधर्मे पुराणे॥ २८॥

यदि दण्डनीति नष्ट हो जाय तो तीनों वेद रसातलको चले जायँ और वेदोंके नष्ट होनेसे समाजमें प्रचलित हुए सारे धर्मोंका नाश हो जाय। पुरातन राजधर्म जिसे क्षात्रधर्म भी कहते हैं, यदि लुप्त हो जाय तो आश्रमोंके सम्पूर्ण धर्मोंका ही लोप हो जायगा॥ २८॥

सर्वे त्यागा राजधर्मेषु दृष्टाः
सर्वा दीक्षा राजधर्मेषु चोक्ताः।
सर्वा विद्या राजधर्मेषु युक्ताः
सर्वे लोका राजधर्मे प्रविष्टाः॥ २९॥

राजाके धर्ममें सारे त्यागोंका दर्शन होता है, राजधर्ममें सारी दीक्षाओंका प्रतिपादन हो जाता है, राजधर्ममें सम्पूर्ण विद्याओंका संयोग सुलभ है तथा राजधर्ममें सम्पूर्ण लोकोंका समावेश हो जाता है॥ २९॥

यथा जीवाः प्राकृतैर्वध्यमाना
धर्मश्रुतानामुपपीडनाय।
एवं धर्मा राजधर्मैर्वियुक्ताः
संचिन्वन्तो नाद्रियन्ते स्वधर्मम्॥ ३०॥

व्याध आदि नीच प्रकृतिके मनुष्योंद्वारा मारे जाते हुए पशु-पक्षी आदि जीव जिस प्रकार घातकके धर्मका विनाश करनेवाले होते हैं, उसी प्रकार धर्मात्मा पुरुष यदि राजधर्मसे रहित हो जायँ तो धर्मका अनुसंधान करते हुए भी वे चोर-डाकुओंके उत्पातसे स्वधर्मके प्रति आदरका भाव नहीं रख पाते हैं और इस प्रकार जगत्‌की हानिमें कारण बन जाते हैं (अतः राजधर्म सबसे श्रेष्ठ है)॥ ३०॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि राजधर्मानुशासनपर्वणि वर्णाश्रमधर्मकथने त्रिषष्टितमोऽध्यायः॥ ६३॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत राजधर्मानुशासनपर्वमें वर्णाश्रमधर्मका वर्णनविषयक तिरसठवाँ अध्याय पूरा हुआ॥६३॥

चतुःषष्टितमोऽध्यायः

राजधर्मकी श्रेष्ठताका वर्णन और इस विषयमें इन्द्ररूपधारी विष्णु और मान्धाताका संवाद

वैशम्पायन उवाच

चातुराश्रम्यधर्माश्च यतिधर्माश्च पाण्डव।
लोकवेदोत्तराश्चैव क्षात्रधर्मे समाहिताः॥ १॥

भीष्मजी कहते हैं—पाण्डुनन्दन! चारों आश्रमोंके धर्म, यतिधर्म तथा लौकिक और वैदिक उत्कृष्ट धर्म सभी क्षात्रधर्ममें प्रतिष्ठित हैं॥ १॥

सर्वाण्येतानि कर्माणि क्षात्रे भरतसत्तम।
निराशिषो जीवलोकाः क्षत्रधर्मेऽव्यवस्थिते॥ २॥

भरतश्रेष्ठ! ये सारे कर्म क्षात्रधर्मपर अवलम्बित हैं। यदि क्षात्रधर्म प्रतिष्ठित न हो तो जगत्‌के सभी जीव अपनी मनोवाञ्छित वस्तु पानेसे निराश हो जायँ॥ २॥

अप्रत्यक्षं बहुद्वारं धर्ममाश्रमवासिनाम्।
प्ररूपयन्ति तद्भावमागमैरेव शाश्वतम्॥ ३॥

आश्रमवासियोंका सनातन धर्म अनेक द्वारवाला और अप्रत्यक्ष है, विद्वान् पुरुष शास्त्रोंद्वारा ही उसके स्वरूपका निर्णय करते हैं॥ ३॥

अपरे वचनैः पुण्यैर्वादिनो लोकनिश्चयम्।
अनिश्चयज्ञा धर्माणामदृष्टान्ते परे हताः॥ ४॥

अतः दूसरे वक्तालोग जो धर्मके तत्त्वको नहीं जानते, वे सुन्दर युक्तियुक्त वचनोंद्वारा लोगोंके विश्वासको नष्ट कर तब वे श्रोतागण प्रत्यक्ष उदाहरण न पाकर परलोकमें नष्ट-भ्रष्ट हो जाते हैं॥ ४॥

प्रत्यक्षं सुखभूयिष्ठमात्मसाक्षिकमच्छलम्।
सर्वलोकहितं धर्मं क्षत्रियेषु प्रतिष्ठितम्॥ ५॥

जो धर्म प्रत्यक्ष है, अधिक सुखमय है आत्माके साक्षित्वसे युक्त है, छलरहित है तथा सर्वलोकहितकारी है, वह धर्म क्षत्रियोंमें प्रतिष्ठित है॥ ५॥

धर्माश्रमेऽध्यवसिनां ब्राह्मणानां युधिष्ठिर।
यथा त्रयाणां वर्णानां संख्यातोपश्रुतिः पुरा॥ ६॥

युधिष्ठिर! जैसे तीनों वर्णोंके धर्मोंका पहले क्षत्रियधर्ममें अन्तर्भाव बताया गया है, उसी प्रकार नैष्ठिक ब्रह्मचारी, वानप्रस्थ और यति—इन तीनों आश्रमोंमें स्थित ब्राह्मणोंके धर्मोंका गार्हस्थ्याश्रममें समावेश होता है॥ ६॥

राजधर्मेष्वनुमता लोकाः सुचरितैः सह।
उदाहृतं ते राजेन्द्र यथा विष्णुं महौजसम्॥ ७॥
सर्वभूतेश्वरं देवं प्रभुं नारायणं पुरा।
जग्मुः सुबहुशः शूरा राजानो दण्डनीतये॥ ८॥

राजेन्द्र! उत्तम चरित्रों (धर्मों) सहित सम्पूर्ण लोक राजधर्ममें अन्तर्भूत हैं। यह बात मैं तुमसे कह चुका हूँ। किसी समय बहुतसे शूरवीर नरेश दण्डनीतिकी प्राप्तिके लिये सम्पूर्ण

भूलोकके स्वामी महातेजस्वी सर्वव्यापी भगवान् नारायण देवकी उपासना करते थे ॥ ७-८ ॥

एकैकमात्मनः कर्म तुलयित्वाऽऽश्रमं पुरा।
राजानः पर्युपासन्त दृष्टान्तवचने स्थिताः ॥ ९ ॥

वे पूर्वकालमें आश्रमसम्बन्धी एक-एक कर्मकी दण्डनीतिके साथ तुलना करके संशयमें पड़ गये कि इनमें कौन श्रेष्ठ है? अतः निर्णय जाननेके लिये उन राजाओंने भगवान्‌की उपासना की थी ॥ ९ ॥

साध्या देवा वसवश्चाश्विनौ च
रुद्राश्च विश्वे मरुतां गणाश्च।
सृष्टाः पुरा ह्यादिदेवेन देवाः
क्षात्रे धर्मे वर्तयन्ते च सिद्धाः ॥ १० ॥

साध्यदेव, वसुगण, अश्विनीकुमार, रुद्रगण, विश्वेदेवगण और मरुद्गण—ये देवता और सिद्धगण पूर्वकालमें आदिदेव भगवान् विष्णुके द्वारा रचे गये हैं, जो क्षात्रधर्ममें ही स्थित रहते हैं ॥ १० ॥

अत्र ते वर्तयिष्यामि धर्ममर्थविनिश्चयम्।
निर्मर्यादे वर्तमाने दानवैकार्णवे पुरा ॥ ११ ॥

मैं इस विषयमें तात्त्विक अर्थका निश्चय करनेवाला एक धर्ममय इतिहास सुनाऊँगा। पहलेकी बात है, यह सारा जगत् दानवताके समुद्रमें निमग्न होकर उच्छृङ्खल हो चला था ॥ ११ ॥

बभूव राजा राजेन्द्र मान्धाता नाम वीर्यवान्।
पुरा वसुमतीपालो यज्ञं चक्रे दिदृक्षया ॥ १२ ॥
अनादिमध्यनिधनं देवं नारायणं प्रभुम्।

राजेन्द्र! उन्हीं दिनों मान्धाता नामसे प्रसिद्ध एक पराक्रमी पृथ्वीपालक नरेश हुए थे, जिन्होंने आदि, मध्य और अन्तसे रहित भगवान् नारायणदेवका दर्शन पानेकी इच्छासे एक यज्ञका अनुष्ठान किया ॥ १२½ ॥

स राजा राजशार्दूल मान्धाता परमेश्वरम् ॥ १३ ॥
जगाम शिरसा पादौ यज्ञे विष्णोर्महात्मनः।
दर्शयामास तं विष्णू रूपमास्थाय वासवम् ॥ १४ ॥

राजसिंह! राजा मान्धाताने उस यज्ञमें परमात्मा भगवान् विष्णुके चरणोंकी भावनासे पृथ्वीपर मस्तक रखकर उन्हें प्रणाम किया। उस समय श्रीहरिने देवराज इन्द्रका रूप धारण करके उन्हें दर्शन दिया ॥ १३-१४ ॥

स पार्थिवैर्वृतः सद्भिरर्चयामास तं प्रभुम्।
तस्य पार्थिवसिंहस्य तस्य चैव महात्मनः।
संवादोऽयं महानासीद् विष्णुं प्रति महाद्युतिम् ॥ १५ ॥

श्रेष्ठ भूपालोंसे घिरे हुए मान्धाताने उन इन्द्ररूपधारी भगवान्‌का पूजन किया। फिर उन राजसिंह और महात्मा इन्द्रमें महातेजस्वी भगवान् विष्णुके विषयमें यह महान् संवाद हुआ ॥ १५ ॥

इन्द्र उवाच

किमिष्यते धर्मभृतां वरिष्ठ
यद् द्रष्टुकामोऽसि तमप्रमेयम्।
अनन्तमायामितसत्त्ववीर्यं
नारायणं ह्यादिदेवं पुराणम् ॥ १६ ॥

इन्द्र बोले—धर्मात्माओंमें श्रेष्ठ नरेश! आदिदेव पुराण-

पुरुष भगवान् नारायण अप्रमेय हैं। वे अपनी अनन्त माया-शक्ति, असीम धैर्य तथा अमित बल-पराक्रमसे सम्पन्न हैं, तुम जो उनका दर्शन करना चाहते हो, उसका क्या कारण है? तुम्हें उनसे कौन-सी वस्तु प्राप्त करनेकी इच्छा है? ॥ १६ ॥

नासौ देवो विश्वरूपो मयापि
शक्यो द्रष्टुं ब्रह्मणा वापि साक्षात्।
येऽन्ये कामास्तव राजन् हृदिस्था
दास्ये चैतांस्त्वं हि मर्त्येषु राजा ॥ १७ ॥

उन विश्वरूप भगवान्‌को मैं और साक्षात् ब्रह्माजी भी नहीं देख सकते। राजन्! तुम्हारे हृदयमें जो दूसरी कामनाएँ हों, उन्हें मैं पूर्ण कर दूँगा; क्योंकि तुम मनुष्योंके राजा हो ॥ १७ ॥

सत्ये स्थितो धर्मपरो जितेन्द्रियः
शूरो दृढप्रीतिरतः सुराणाम्।
बुद्ध्या भक्त्या चोत्तमश्रद्धया च
ततस्तेऽहं दद्मि वरान् यथेष्टम् ॥ १८ ॥

नरेश्वर! तुम सत्यनिष्ठ, धर्मपरायण, जितेन्द्रिय और शूरवीर हो, देवताओंके प्रति अविचल प्रेमभाव रखते हो, तुम्हारी बुद्धि, भक्ति और उत्तम श्रद्धासे संतुष्ट होकर मैं तुम्हें इच्छानुसार वर दे रहा हूँ ॥ १८ ॥

मान्धातोवाच

असंशयं भगवन्नादिदेवं
द्रक्ष्यामित्वाहं शिरसा सम्प्रसाद्य।
त्यक्त्वा कामान् धर्मकामो ह्यरण्य-
मिच्छे गन्तुं सत्पथं लोकदृष्टम् ॥ १९ ॥

मान्धाताने कहा—भगवन्! मैं आपके चरणोंमें मस्तक झुकाकर आपको प्रसन्न करके आपकी ही दयासे आदि-

देव भगवान् विष्णुका दर्शन प्राप्त कर लूँगा, इसमें संशय नहीं है। इस समय मैं समस्त कामनाओंका परित्याग करके केवल धर्मसम्पादनकी इच्छा रखकर वनमें जाना चाहता हूँ; क्योंकि लोकमें सभी सत्पुरुष अन्तमें इसी सन्मार्गका दिग्दर्शन करा गये हैं ॥ १९ ॥

क्षात्राद् धर्माद् विपुलादप्रमेया-
ल्लोकाः प्राप्ताः स्थापितं स्वं यशश्च ।
धर्मो योऽसावादिदेवात् प्रवृत्तो
लोकश्रेष्ठं तं न जानामि कर्तुम् ॥ २० ॥

विशाल एवं अप्रमेय क्षात्रधर्मके प्रभावसे मैंने उत्तम लोक प्राप्त किये और सर्वत्र अपने यशका प्रचार एवं प्रसार कर दिया; परंतु आदिदेव भगवान् विष्णुसे जिस धर्मकी प्रवृत्ति हुई है, उस लोकश्रेष्ठ धर्मका आचरण करना मैं नहीं जानता ॥ २० ॥

इन्द्र उवाच

असैनिका धर्मपराश्च धर्मे
परां गतिं न नयन्ते ह्ययुक्तम् ।
क्षात्रो धर्मो ह्यादिदेवात् प्रवृत्तः
पश्चादन्ये शेषभूताश्च धर्माः ॥ २१ ॥

इन्द्र बोले—राजन्! आदिदेव भगवान् विष्णुसे तो पहले राजधर्म ही प्रवृत्त हुआ है। अन्य सभी धर्म उसीके अङ्ग हैं और उसके बाद प्रकट हुए हैं। जो सैनिक शक्तिसे सम्पन्न राजा नहीं हैं, वे धर्मपरायण होनेपर भी दूसरोंको अनायास ही धर्मविषयक परम गतिकी प्राप्ति नहीं करा सकते ॥

शेषाः सृष्टा ह्यन्तवन्तो ह्यनन्ताः
सप्रस्थानाः क्षात्रधर्मा विशिष्टाः ।
अस्मिन् धर्मे सर्वधर्माः प्रविष्टा-
स्तस्माद् धर्मं श्रेष्ठमिमं वदन्ति ॥ २२ ॥

क्षात्र-धर्म ही सबसे श्रेष्ठ है। शेष धर्म असंख्य हैं और उनका फल भी विनाशशील है। इस क्षात्रधर्ममें सभी धर्मोंका समावेश हो जाता है, इसलिये इसी धर्मको श्रेष्ठ कहते हैं ॥

कर्मणा वै पुरा देवा ऋषयश्चामितौजसः ।
त्राताः सर्वे प्रसह्यारीन् क्षत्रधर्मेण विष्णुना ॥ २३ ॥

पूर्वकालमें भगवान् विष्णुने क्षात्रधर्मके द्वारा ही शत्रुओंका दमन करके देवताओं तथा अमिततेजस्वी समस्त ऋषियोंकी रक्षा की थी ॥ २३ ॥

यदि ह्यसौ भगवान् नाहनिष्यद्
रिपून् सर्वानसुरानप्रमेयः ।
न ब्राह्मणा न च लोकादिकर्ता
नायं धर्मो नादिधर्मोऽभविष्यत् ॥ २४ ॥

यदि वे अप्रमेय भगवान् श्रीहरि समस्त शत्रुरूप असुरोंका संहार नहीं करते तो न कहीं ब्राह्मणोंका पता लगता, न जगत्के आदिस्रष्टा ब्रह्माजी ही दिखायी देते। न यह धर्म रहता और न आदि धर्मका ही पता लग सकता था ॥ २४ ॥

इमामुर्वीं नाजयद् विक्रमेण
देवश्रेष्ठः सासुरामादिदेवः ।
चातुर्वर्ण्यं चातुराश्रम्यधर्माः
सर्वे न स्युर्ब्राह्मणानां विनाशात् ॥ २५ ॥

देवताओंमें सर्वश्रेष्ठ आदिदेव भगवान् विष्णु असुरों-सहित इस पृथ्वीको अपने बल और पराक्रमसे जीत नहीं लेते तो ब्राह्मणोंका नाश हो जानेसे चारों वर्ण और चारों आश्रमोंके सभी धर्मोंका लोप हो जाता ॥ २५ ॥

नष्टा धर्माः शतधा शाश्वतास्ते
क्षात्रेण धर्मेण पुनः प्रवृद्धाः ।
युगे युगे ह्यादिधर्माः प्रवृत्ता
लोकज्येष्ठं क्षात्रधर्मं वदन्ति ॥ २६ ॥

वे सदासे चले आनेवाले धर्म सैकड़ों बार नष्ट हो चुके हैं, परंतु क्षात्रधर्मने उनका पुनः उद्धार एवं प्रसार किया है। युग-युगमें आदिधर्म (क्षात्रधर्म) की प्रवृत्ति हुई है; इसलिये इस क्षात्रधर्मको लोकमें सबसे श्रेष्ठ बताते हैं ॥ २६ ॥

आत्मत्यागः सर्वभूतानुकम्पा
लोकज्ञानं पालनं मोक्षणं च ।
विषण्णानां मोक्षणं पीडितानां
क्षात्रे धर्मे विद्यते पार्थिवानाम् ॥ २७ ॥

युद्धमें अपने शरीरकी आहुति देना, समस्त प्राणियोंपर दया करना, लोकव्यवहारका ज्ञान प्राप्त करना, प्रजाकी रक्षा करना, विषादग्रस्त एवं पीड़ित मनुष्योंको दुःख और कष्टसे छुड़ाना—ये सब बातें राजाओंके क्षात्रधर्ममें ही विद्यमान हैं ॥

निर्मर्यादाः काममन्युप्रवृत्ता
भीता राज्ञो नाधिगच्छन्ति पापम् ।
शिष्टाश्चान्ये सर्वधर्मोपपन्नाः
साध्वाचाराः साधु धर्मं वदन्ति ॥ २८ ॥

जो लोग काम, क्रोधमें फँसकर उच्छृङ्खल हो गये हैं, वे भी राजाके भयसे ही पाप नहीं कर पाते हैं तथा जो सब प्रकारके धर्मोंका पालन करनेवाले श्रेष्ठ पुरुष हैं, वे राजासे सुरक्षित हो सदाचारका सेवन करते हुए धर्मका सदुपदेश करते हैं ॥

पुत्रवत् पाल्यमानानि राजधर्मेण पार्थिवैः ।
लोके भूतानि सर्वाणि चरन्ते नात्र संशयः ॥ २९ ॥

राजाओंसे राजधर्मके द्वारा पुत्रकी भाँति पालित होनेवाले जगत्के सम्पूर्ण प्राणी निर्भय विचरते हैं, इसमें संशय नहीं है ॥

सर्वधर्मपरं क्षात्रं लोकश्रेष्ठं सनातनम् ।
शश्वदक्षरपर्यन्तमक्षरं सर्वतोमुखम् ॥ ३० ॥

इस प्रकार संसारमें क्षात्रधर्म ही सब धर्मोंसे श्रेष्ठ, सनातन, नित्य, अविनाशी, मोक्षतक पहुँचानेवाला सर्वतोमुखी है ॥ ३० ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि राजधर्मानुशासनपर्वणि वर्णाश्रमधर्मकथने चतुःषष्टितमोऽध्यायः ॥ ६४ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत राजधर्मानुशासनपर्वमें वर्णाश्रमधर्मका वर्णनविषयक चौसठवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ६४ ॥

पञ्चषष्टितमोऽध्यायः

इन्द्ररूपधारी विष्णु और मान्धाताका संवाद

इन्द्र उवाच

एवंवीर्यः सर्वधर्मोपपन्नः
क्षात्रः श्रेष्ठः सर्वधर्मेषु धर्मः।
पाल्यो युष्माभिर्लोकहितैरुदारै-
र्विपर्यये स्यादभवः प्रजानाम्॥ १ ॥

इन्द्र कहते हैं—राजन्! इस प्रकार क्षात्रधर्म सब धर्मोंमें श्रेष्ठ और शक्तिशाली है। यह सभी धर्मोंसे सम्पन्न बताया गया है। तुम-जैसे लोकहितैषी उदार पुरुषोंको सदा इस क्षात्रधर्मका ही पालन करना चाहिये। यदि इसका पालन नहीं किया जायगा तो प्रजाका नाश हो जायगा॥ १ ॥

भूसंस्कारं राजसंस्कारयोग-
मभैक्ष्यचर्यां पालनं च प्रजानाम्।
विद्याद् राजा सर्वभूतानुकम्पी
देहत्यागं चाहवे धर्ममग्र्यम्॥ २ ॥

समस्त प्राणियोंपर दया करनेवाले राजाको उचित है कि वह नीचे लिखे हुए कार्योंको ही श्रेष्ठ धर्म समझे। वह पृथ्वीका संस्कार करावे, राजसूय-अश्वमेधादि यज्ञोंमें अवभृथस्नान करे, भिक्षाका आश्रय न ले, प्रजाका पालन करे और संग्रामभूमिमें शरीरको त्याग दे॥ २ ॥

त्यागं श्रेष्ठं मुनयो वै वदन्ति
सर्वश्रेष्ठं यच्छरीरं त्यजन्तः।
नित्यं युक्ता राजधर्मेषु सर्वे
प्रत्यक्षं ते भूमिपाला यथैव॥ ३ ॥

ऋषि-मुनि त्यागको ही श्रेष्ठ बताते हैं। उसमें भी युद्धमें राजालोग जो अपने शरीरका त्याग करते हैं, वह सबसे श्रेष्ठ त्याग है। सदा राजधर्ममें संलग्न रहनेवाले समस्त भूमिपालोंने जिस प्रकार युद्धमें प्राण-त्याग किया है, वह सब तुम्हारी आँखोंके सामने है॥ ३ ॥

बहुश्रुत्या गुरुशुश्रूषया च
परस्परं संहननाद् वदन्ति।
नित्यं धर्मं क्षत्रियो ब्रह्मचारी
चरेदेको ह्याश्रमं धर्मकामः॥ ४ ॥

क्षत्रिय ब्रह्मचारी धर्मपालनकी इच्छा रखकर अनेक शास्त्रोंके ज्ञानका उपार्जन तथा गुरुशुश्रूषा करते हुए अकेला ही नित्य ब्रह्मचर्य-आश्रमके धर्मका आचरण करे। यह बात ऋषिलोग परस्पर मिलकर कहते हैं॥ ४ ॥

सामान्यार्थे व्यवहारे प्रवृत्ते
प्रियाप्रिये वर्जयन्नेव यत्नात्।
चातुर्वर्ण्यस्थापनात् पालनाच्च
तैस्तैर्योगैर्नियमैरौरसैश्च ॥ ५ ॥
सर्वोद्योगैराश्रमं धर्ममाहुः
क्षात्रं श्रेष्ठं सर्वधर्मोपपन्नम्।
स्वं स्वं धर्मं येन चरन्ति वर्णा-
स्तांस्तान् धर्मानन्यथार्थान् वदन्ति॥ ६॥

जनसाधारणके लिये व्यवहार आरम्भ होनेपर राजा प्रिय और अप्रियकी भावनाका प्रयत्नपूर्वक परित्याग करे। भिन्न-भिन्न उपायों, नियमों, पुरुषार्थों तथा सम्पूर्ण उद्योगोंके द्वारा चारों वर्णोंकी स्थापना एवं रक्षा करनेके कारण क्षात्र-धर्म एवं गृहस्थ-आश्रमको ही सबसे श्रेष्ठ तथा सम्पूर्ण धर्मोंसे सम्पन्न बताया गया है; क्योंकि सभी वर्णोंके लोग उस क्षात्र-धर्मके सहयोगसे ही अपने-अपने धर्मका पालन करते हैं। क्षत्रियधर्मके न होनेसे उन सब धर्मोंका प्रयोजन विपरीत होता है; ऐसा कहते हैं॥ ५-६ ॥

निर्मर्यादान् नित्यमर्थे निविष्टा-
नाहुस्तांस्तान् वै पशुभूतान् मनुष्यान्।
यथा नीतिं गमयत्यर्थयोगा-
च्छ्रेयस्तस्मादाश्रमात् क्षत्रधर्मः॥ ७ ॥

जो लोग सदा अर्थसाधनमें ही आसक्त होकर मर्यादा छोड़ बैठते हैं, उन मनुष्योंको पशु कहा गया है। क्षत्रिय-धर्म अर्थकी प्राप्ति करानेके साथ-साथ उत्तम नीतिका ज्ञान प्रदान करता है; इसलिये वह आश्रम-धर्मोंसे भी श्रेष्ठ है॥ ७ ॥

त्रैविद्यानां या गतिर्ब्राह्मणानां
ये चैवोक्ताश्चाश्रमा ब्राह्मणानाम्।
एतत् कर्म ब्राह्मणस्याहुरग्र्य-
मन्यत् कुर्वञ्छूद्रवच्छस्त्रवध्यः॥ ८ ॥

तीनों वेदोंके विद्वान् ब्राह्मणोंके लिये जो यज्ञादि कार्य विहित हैं तथा उनके लिये जो चारों आश्रम बताये गये हैं—उन्हींको ब्राह्मणका सर्वश्रेष्ठ धर्म कहा गया है। इसके विपरीत आचरण करनेवाला ब्राह्मण शूद्रके समान ही शस्त्रोंद्वारा वधके योग्य है॥ ८ ॥

चातुराश्रम्यधर्माश्च वेदधर्माश्च पार्थिव।
ब्राह्मणेनानुगन्तव्या नान्यो विद्यात् कदाचन॥ ९ ॥

राजन्! चारों आश्रमोंके जो धर्म हैं तथा वेदोंमें जो धर्म बताये गये हैं, उन सबका अनुसरण ब्राह्मणको ही करना चाहिये। दूसरा कोई शूद्र आदि कभी किसी तरह भी उन धर्मोंको नहीं जान सकता॥ ९ ॥

अन्यथा वर्तमानस्य नासौ वृत्तिः प्रकल्प्यते।
कर्मणा वर्धते धर्मो यथाधर्मस्तथैव सः॥ १० ॥

जो ब्राह्मण इसके विपरीत आचरण करता है, उसके लिये ब्राह्मणोचित वृत्तिकी व्यवस्था नहीं की जाती। कर्मसे ही धर्मकी वृद्धि होती है। जो जिस प्रकारके धर्मको अपनाता है, वह वैसा ही हो जाता है॥ १० ॥

यो विकर्मस्थितो विप्रो न स सम्मानमर्हति।
कर्म स्वं नोपयुञ्जानमविश्वास्यं हि तं विदुः॥ ११ ॥

जो ब्राह्मण विपरीत कर्ममें स्थित होता है, वह सम्मान पाने-

का अधिकारी नहीं है। अपने कर्मका आचरण न करनेवाले ब्राह्मणको विश्वास न करने योग्य माना गया है ॥ ११ ॥

एते धर्माः सर्ववर्णेषु लीना
उत्क्रष्टव्याः क्षत्रियैरेष धर्मः।
तस्माज्ज्येष्ठा राजधर्मा न चान्ये
वीर्यज्येष्ठा वीरधर्मा मता मे ॥ १२ ॥

समस्त वर्णोंमें स्थित हुए जो ये धर्म हैं, उन्हें क्षत्रियोंको उन्नतिके शिखरपर पहुँचाना चाहिये। यही क्षत्रियधर्म है, इसीलिये राजधर्म श्रेष्ठ हैं। दूसरे धर्म इस प्रकार श्रेष्ठ नहीं हैं। मेरे मतमें वीर क्षत्रियोंके धर्मोंमें बल और पराक्रमकी प्रधानता है ॥

मान्धातोवाच

यवनाः किराता गान्धाराश्चीनाः शबरबर्बराः।
शकास्तुषाराः कङ्काश्च पह्लवाश्चान्ध्रमद्रकाः ॥ १३ ॥
पौण्ड्राः पुलिन्दा रमठाः काम्बोजाश्चैव सर्वशः।
ब्रह्मक्षत्रप्रसूताश्च वैश्याः शूद्राश्च मानवाः ॥ १४ ॥
कथं धर्मांश्चरिष्यन्ति सर्वे विषयवासिनः।
मद्विधैश्च कथं स्थाप्याः सर्वे वै दस्युजीविनः ॥ १५ ॥

मान्धाता बोले—भगवन्! मेरे राज्यमें यवन, किरात, गान्धार, चीन, शबर, बर्बर, शक, तुषार, कङ्क, पह्लव, आन्ध्र, मद्रक, पौंड्र, पुलिन्द, रमठ और काम्बोज देशोंके निवासी म्लेच्छगण सब ओर निवास करते हैं, कुछ ब्राह्मणों और क्षत्रियोंकी भी संतानें हैं; कुछ वैश्य और शूद्र भी हैं, जो धर्मसे गिर गये हैं। ये सब-के-सब चोरी और डकैतीसे जीविका चलाते हैं। ऐसे लोग किस प्रकार धर्मोंका आचरण करेंगे? मेरे-जैसे राजाओंको इन्हें किस तरह मर्यादाके भीतर स्थापित करना चाहिये? ॥ १३-१५ ॥

एतदिच्छाम्यहं श्रोतुं भगवंस्तद् ब्रवीहि मे।
त्वं बन्धुभूतो ह्यस्माकं क्षत्रियाणां सुरेश्वर ॥ १६ ॥

भगवन्! सुरेश्वर! यह मैं सुनना चाहता हूँ। आप मुझे यह सब बताइये; क्योंकि आप ही हम क्षत्रियोंके बन्धु हैं ॥ १६ ॥

इन्द्र उवाच

मातापित्रोर्हि शुश्रूषा कर्तव्या सर्वदस्युभिः।
आचार्यगुरुशुश्रूषा तथैवाश्रमवासिनाम् ॥ १७ ॥

इन्द्रने कहा—राजन्! जो लोग दस्यु-वृत्तिसे जीवन निर्वाह करते हैं, उन सबको अपने माता-पिता, आचार्य, गुरु तथा आश्रमवासी मुनियोंकी सेवा करनी चाहिये ॥ १७ ॥

भूमिपानां च शुश्रूषा कर्तव्या सर्वदस्युभिः।
वेदधर्मक्रियाश्चैव तेषां धर्मो विधीयते ॥ १८ ॥

भूमिपालोंकी सेवा करना भी समस्त दस्युओंका कर्त्तव्य है। वेदोक्त धर्म-कर्मोंका अनुष्ठान भी उनके लिये शास्त्रविहित धर्म है ॥ १८ ॥

पितृयज्ञास्तथा कूपाः प्रपाश्च शयनानि च।
दानानि च यथाकालं द्विजेभ्यो विसृजेत् सदा ॥ १९ ॥

पितरोंका श्राद्ध करना, कुआँ खुदवाना, जलक्षेत्र चलाना और लोगोंके ठहरनेके लिये धर्मशालाएँ बनवाना भी उनका कर्तव्य है। उन्हें यथासमय ब्राह्मणोंको दान देते रहना चाहिये ॥

अहिंसा सत्यमक्रोधो वृत्तिदायानुपालनम्।
भरणं पुत्रदाराणां शौचमद्रोह एव च ॥ २० ॥

अहिंसा, सत्यभाषण, क्रोधशून्य बर्ताव, दूसरोंकी आजीविका तथा बँटवारेमें मिली हुई पैतृक सम्पत्तिकी रक्षा, स्त्री-पुत्रोंका भरण-पोषण, बाहर भीतरकी शुद्धि रखना तथा द्रोहभावका त्याग करना— यह उन सबका धर्म है ॥ २० ॥

दक्षिणा सर्वयज्ञानां दातव्या भूतिमिच्छता।
पाकयज्ञा महार्हाश्च दातव्याः सर्वदस्युभिः ॥ २१ ॥

कल्याणकी इच्छा रखनेवाले पुरुषको सब प्रकारके यज्ञोंका अनुष्ठान करके ब्राह्मणोंको भरपूर दक्षिणा देनी चाहिये। सभी दस्युओंको अधिक खर्चवाला पाकयज्ञ करना और उसके लिये धन देना चाहिये ॥ २१ ॥

एतान्येवंप्रकाराणि विहितानि पुरानघ।
सर्वलोकस्य कर्माणि कर्तव्यानीह पार्थिव ॥ २२ ॥

निष्पाप नरेश! इस प्रकार प्रजापति ब्रह्माने सब मनुष्योंके कर्तव्य पहले ही निर्दिष्ट कर दिये हैं। उन दस्युओंको भी इनका यथावत् रूपसे पालन करना चाहिये ॥ २२ ॥

मान्धातोवाच

दृश्यन्ते मानुषे लोके सर्ववर्णेषु दस्यवः।
लिङ्गान्तरे वर्तमाना आश्रमेषु चतुर्ष्वपि ॥ २३ ॥

मान्धाता बोले—भगवन्! मनुष्य-लोकमें सभी वर्णों तथा चारों आश्रमोंमें भी डाकू और लुटेरे देखे जाते हैं, जो विभिन्न वेशभूषाओंमें अपनेको छिपाये रखते हैं ॥ २३ ॥

इन्द्र उवाच

विनष्टायां दण्डनीत्यां राजधर्मे निराकृते।
सम्प्रमुह्यन्ति भूतानि राजदौरात्म्यतोऽनघ ॥ २४ ॥

इन्द्र बोले—निष्पाप नरेश! जब राजाकी दुष्टताके कारण दण्डनीति नष्ट हो जाती है और राजधर्म तिरस्कृत हो जाता है, तब सभी प्राणी मोहवश कर्तव्य और अकर्तव्यका विवेक खो बैठते हैं ॥ २४ ॥

असंख्याता भविष्यन्ति भिक्षवो लिङ्गिनस्तथा।
आश्रमाणां विकल्पाश्च निवृत्तेऽस्मिन् कृते युगे ॥ २५ ॥

इस सत्ययुगके समाप्त हो जानेपर नानावेषधारी असंख्य भिक्षुक प्रकट हो जायँगे और लोग आश्रमोंके स्वरूपकी विभिन्न मनमानी कल्पना करने लगेंगे ॥ २५ ॥

अशृण्वानाः पुराणानां धर्माणां परमा गतीः।
उत्पथं प्रतिपत्स्यन्ते काममन्युसमीरिताः ॥ २६ ॥

लोग काम और क्रोधसे प्रेरित होकर कुमार्गपर चलने लगेंगे। वे पुराणप्रोक्त प्राचीन धर्मोंके पालनका जो उत्तम फल है, उस विषयकी बात नहीं सुनेंगे ॥ २६ ॥

यदा निवर्त्यते पापो दण्डनीत्या महात्मभिः।
तदा धर्मो न चलते सद्भूतः शाश्वतः परः ॥ २७ ॥

जब महामनस्वी राजालोग दण्डनीतिके द्वारा पापीको पाप करनेसे रोकते रहते हैं, तब सत्स्वरूप परमोत्कृष्ट सनातन धर्मका ह्रास नहीं होता है ॥ २७ ॥

सर्वलोकगुरुं चैव राजानं योऽवमन्यते।
न तस्य दत्तं न हुतं न श्राद्धं फलते क्वचित् ॥ २८ ॥

जो मनुष्य सम्पूर्ण लोकोंके गुरुस्वरूप राजाका अपमान करता है, उसके किये दान, होम और श्राद्ध कभी सफल नहीं होते हैं ॥ २८ ॥

मानुषाणामधिपतिं देवभूतं सनातनम्।
देवापि नावमन्यन्ते धर्मकामं नरेश्वरम् ॥ २९ ॥

राजा मनुष्योंका अधिपति, सनातन देवस्वरूप तथा धर्मकी इच्छा रखनेवाला होता है। देवता भी उसका अपमान नहीं करते हैं ॥ २९ ॥

प्रजापतिर्हि भगवान् सर्वं चैवासृजज्जगत्।
स प्रवृत्तिनिवृत्त्यर्थं धर्माणां क्षत्रमिच्छति ॥ ३० ॥

भगवान् प्रजापतिने जब इस सम्पूर्ण जगत्‌की सृष्टि की थी, उस समय लोगोंको सत्कर्ममें लगाने और दुष्कर्मसे निवृत्त करनेके लिये उन्होंने धर्मरक्षाके हेतु क्षात्रबलको प्रतिष्ठित करनेकी अभिलाषा की थी ॥ ३० ॥

प्रवृत्तस्य हि धर्मस्य बुद्ध्या यः स्मरते गतिम्।
स मे मान्यश्च पूज्यश्च तत्र क्षत्रं प्रतिष्ठितम् ॥ ३१ ॥

जो पुरुष प्रवृत्त धर्मकी गतिका अपनी बुद्धिसे विचार करता है, वही मेरे लिये माननीय और पूजनीय है; क्योंकि उसीमें क्षात्र-धर्म प्रतिष्ठित है ॥ ३१ ॥

भीष्म उवाच

एवमुक्त्वा स भगवान् मरुद्गणवृतः प्रभुः।
जगाम भवनं विष्णोरक्षरं शाश्वतं पदम् ॥ ३२ ॥

भीष्मजी कहते हैं—राजन्! मान्धाताको इस प्रकार उपदेश देकर इन्द्ररूपधारी भगवान् विष्णु मरुद्गणोंके साथ अविनाशी एवं सनातन परमपद विष्णुधामको चले गये ॥ ३२ ॥

एवं प्रवर्तिते धर्मे पुरा सुचरितेऽनघ।
कः क्षत्रमवमन्येत चेतनावान् बहुश्रुतः ॥ ३३ ॥

निष्पाप नरेश्वर! इस प्रकार प्राचीन कालमें भगवान् विष्णुने ही राजधर्मको प्रचलित किया और सत्पुरुषोंद्वारा वह भलीभाँति आचरणमें लाया गया। ऐसी दशामें कौन ऐसा सचेत और बहुश्रुत विद्वान् होगा, जो क्षात्रधर्मकी अवहेलना करेगा? ॥ ३३ ॥

अन्यायेन प्रवृत्तानि निवृत्तानि तथैव च।
अन्तरा विलयं यान्ति यथा पथि विचक्षुषः ॥ ३४ ॥

अन्यायपूर्वक क्षत्रिय-धर्मकी अवहेलना करनेसे प्रवृत्ति और निवृत्ति धर्म भी उसी प्रकार बीचमें ही नष्ट हो जाते हैं, जैसे अन्धा मनुष्य रास्तेमें नष्ट हो जाता है ॥ ३४ ॥

आदौ प्रवर्तिते चक्रे तथैवादिपरायणे।
वर्तस्व पुरुषव्याघ्र संविजानामि तेऽनघ ॥ ३५ ॥

पुरुषसिंह! निष्पाप युधिष्ठिर! विधाताका यह आज्ञा-चक्र (राजधर्म) आदि कालमें प्रचलित हुआ और पूर्ववर्ती महापुरुषोंका परम आश्रय बना रहा। तुम भी उसीपर चलो। मैं अच्छी तरह जानता हूँ कि तुम इस क्षात्रधर्मके मार्गपर चलनेमें पूर्णतः समर्थ हो ॥ ३५ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि राजधर्मानुशासनपर्वणि इन्द्रमान्धातृसंवादे पञ्चषष्टितमोऽध्यायः ॥ ६५ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत राजधर्मानुशासनपर्वमें इन्द्र और मान्धाताका संवादविषयक पैंसठवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ६५ ॥

षट्षष्टितमोऽध्यायः

राजधर्मके पालनसे चारों आश्रमोंके धर्मका फल मिलनेका कथन

युधिष्ठिर उवाच

श्रुता मे कथिताः पूर्वं चत्वारो मानवाश्रमाः।
व्याख्यानयित्वा व्याख्यानमेषामाचक्ष्व पृच्छतः ॥ १ ॥

युधिष्ठिर बोले—पितामह! आपने मानवमात्रके लिये जो चार आश्रम पहले बताये थे, वे सब मैंने सुन लिये। अब विस्तारपूर्वक इनकी व्याख्या कीजिये। मेरे प्रश्नके अनुसार इनका स्पष्टीकरण कीजिये ॥ १ ॥

भीष्म उवाच

विदिताः सर्व एवेह धर्मास्तव युधिष्ठिर।
यथा मम महाबाहो विदिताः साधुसम्मताः ॥ २ ॥

भीष्मजी बोले—महाबाहु युधिष्ठिर! साधु पुरुषोंद्वारा सम्मानित समस्त धर्मोंका जैसा मुझे ज्ञान है, वैसा ही तुमको भी है ॥ २ ॥

यत्तु लिङ्गान्तरगतं पृच्छसे मां युधिष्ठिर।
धर्मं धर्मभृतां श्रेष्ठ तन्निबोध नराधिप ॥ ३ ॥

धर्मात्माओंमें श्रेष्ठ राजा युधिष्ठिर! तथापि जो तुम विभिन्न लिङ्गों (हेतुओं) से रूपान्तरको प्राप्त हुए सूक्ष्म धर्मके विषयमें मुझसे पूछ रहे हो, उसके विषयमें कुछ निवेदन कर रहा हूँ, सुनो ॥ ३ ॥

सर्वाण्येतानि कौन्तेय विद्यन्ते मनुजर्षभ।
साध्वाचारप्रवृत्तानां चातुराश्रम्यकारिणाम् ॥ ४ ॥
अकामद्वेषयुक्तस्य दण्डनीत्या युधिष्ठिर।
समदर्शिनश्च भूतेषु भैक्ष्याश्रमपदं भवेत् ॥ ५ ॥

कुन्तीनन्दन! नरश्रेष्ठ! चारों आश्रमोंके धर्मोंका पालन करनेवाले सदाचारपरायण पुरुषोंको जिन फलोंकी प्राप्ति होती है, वे ही सब राग-द्वेष छोड़कर दण्डनीतिके अनुसार वर्ताव करनेवाले राजाको भी प्राप्त होते हैं। युधिष्ठिर! यदि राजा सब प्राणियोंपर समान दृष्टि रखनेवाला है तो उसे संन्यासियोंको प्राप्त होनेवाली गति प्राप्त होती है ॥ ४-५ ॥

वेत्ति ज्ञानविसर्गं च निग्रहानुग्रहं तथा।
यथोक्तवृत्तेर्धीरस्य क्षेमाश्रमपदं भवेत् ॥ ६ ॥

जो तत्त्वज्ञान, सर्वत्याग, इन्द्रियसंयम तथा प्राणियोंपर अनुग्रह करना जानता है तथा जिसका पहले कहे अनुसार उत्तम आचार-विचार है, उस धीर पुरुषको कल्याणमय गृहस्थाश्रमसे

मिलनेवाले फलकी प्राप्ति होती है ॥ ६ ॥

अर्हान् पूजयतो नित्यं संविभागेन पाण्डव ।
सर्वतस्तस्य कौन्तेय भैक्ष्याश्रमपदं भवेत् ॥ ७ ॥

पाण्डुनन्दन ! इसी प्रकार जो पूजनीय पुरुषोंको उनकी अभीष्ट वस्तुएँ देकर सदा सम्मानित करता है, उसे ब्रह्मचारियोंको प्राप्त होनेवाली गति मिलती है ॥ ७ ॥

ज्ञातिसम्बन्धिमित्राणि व्यापन्नानि युधिष्ठिर ।
समभ्युद्धरमाणस्य दीक्षाश्रमपदं भवेत् ॥ ८ ॥

युधिष्ठिर ! जो संकटमें पड़े हुए अपने सजातियों, सम्बन्धियों और सुहृदोंका उद्धार करता है, उसे वानप्रस्थ आश्रममें मिलनेवाले पदकी प्राप्ति होती है ॥ ८ ॥

लोकमुख्येषु सत्कारं लिङ्गिमुख्येषु चासकृत् ।
कुर्वतस्तस्य कौन्तेय वन्याश्रमपदं भवेत् ॥ ९ ॥

कुन्तीनन्दन ! जो जगत्के श्रेष्ठ पुरुषों और आश्रमियोंका निरन्तर सत्कार करता है, उसे भी वानप्रस्थ-आश्रमद्वारा मिलनेवाले फलोंकी प्राप्ति होती है ॥ ९ ॥

आह्निकं पितृयज्ञांश्च भूतयज्ञान् समानुषान् ।
कुर्वतः पार्थ विपुलान् वन्याश्रमपदं भवेत् ॥ १० ॥

कुन्तीनन्दन ! जो नित्यप्रति संध्या-वन्दन आदि नित्य-कर्म, पितृ श्राद्ध, भूतयज्ञ, मनुष्य-यज्ञ (अतिथि-सेवा)—इन सबका अनुष्ठान प्रचुर मात्रामें करता रहता है, उसे वानप्रस्थाश्रमके सेवनसे मिलनेवाले पुण्यफलकी प्राप्ति होती है ॥ १० ॥

संविभागेन भूतानामतिथीनां तथार्चनात् ।
देवयज्ञैश्च राजेन्द्र वन्याश्रमपदं भवेत् ॥ ११ ॥

राजेन्द्र ! बलिवैश्वदेवके द्वारा प्राणियोंको उनका भाग समर्पित करनेसे, अतिथियोंके पूजनसे तथा देवयज्ञोंके अनुष्ठानसे भी वानप्रस्थ-सेवनका फल प्राप्त होता है ॥ ११ ॥

मर्दनं परराष्ट्राणां शिष्टार्थे सत्यविक्रम ।
कुर्वतः पुरुषव्याघ्र वन्याश्रमपदं भवेत् ॥ १२ ॥

सत्यपराक्रमी पुरुषसिंह युधिष्ठिर ! शिष्टपुरुषोंकी रक्षाके लिये अपने शत्रुके राष्ट्रोंको कुचल डालनेवाले राजाको भी वानप्रस्थ-सेवनका फल प्राप्त होता है ॥ १२ ॥

पालनात् सर्वभूतानां स्वराष्ट्रपरिपालनात् ।
दीक्षा बहुविधा राजन् सत्याश्रमपदं भवेत् ॥ १३ ॥

समस्त प्राणियोंके पालन तथा अपने राष्ट्रकी रक्षा करनेसे राजाको नाना प्रकारके यज्ञोंकी दीक्षा लेनेका पुण्य प्राप्त होता है। राजन् ! इससे वह संन्यासाश्रमके सेवनका फल प्राप्त करता है ॥ १३ ॥

वेदाध्ययननित्यत्वं क्षमाथाचार्यपूजनम् ।
अथोपाध्यायशुश्रूषा ब्रह्माश्रमपदं भवेत् ॥ १४ ॥

जो प्रतिदिन वेदोंका स्वाध्याय करता है, क्षमाभाव रखता है, आचार्यकी पूजा करता है और गुरुकी सेवामें संलग्न रहता है, उसे ब्रह्माश्रम (संन्यास) द्वारा मिलनेवाला फल प्राप्त होता है ॥ १४ ॥

आह्निकं जपमानस्य देवान् पूजयतः सदा ।
धर्मेण पुरुषव्याघ्र धर्माश्रमपदं भवेत् ॥ १५ ॥

पुरुषसिंह ! जो प्रतिदिन इष्टमन्त्रका जप और देवताओंका सदा पूजन करता है, उसे उस धर्मके प्रभावसे धर्माश्रमके पालनका अर्थात् गार्हस्थ्य धर्मके पालनका पुण्यफल प्राप्त होता है ॥ १५ ॥

मृत्युर्वा रक्षणं वेति यस्य राज्ञो विनिश्चयः ।
प्राणद्यूते ततस्तस्य ब्रह्माश्रमपदं भवेत् ॥ १६ ॥

जो राजा युद्धमें प्राणोंकी बाजी लगाकर इस निश्चयके साथ शत्रुओंका सामना करता है कि 'या तो मैं मर जाऊँगा या देशकी रक्षा करके ही रहूँगा' उसे भी ब्रह्माश्रम अर्थात् संन्यास-आश्रमके पालनका ही फल प्राप्त होता है ॥ १६ ॥

अजिह्ममशठं मार्गं वर्तमानस्य भारत ।
सर्वदा सर्वभूतेषु ब्रह्माश्रमपदं भवेत् ॥ १७ ॥

भरतनन्दन ! जो सदा समस्त प्राणियोंके प्रति माया और कुटिलतासे रहित यथार्थ व्यवहार करता है, उसे भी ब्रह्माश्रम-सेवनका ही फल प्राप्त होता है ॥ १७ ॥

वानप्रस्थेषु विप्रेषु त्रैविद्येषु च भारत ।
प्रयच्छतोऽर्थान् विपुलान् वन्याश्रमपदं भवेत् ॥ १८ ॥

भारत ! जो वानप्रस्थ, ब्राह्मणों तथा तीनों वेदके विद्वानोंको प्रचुर धन-दान करता है, उसे वानप्रस्थ-आश्रमके सेवनका फल मिलता है ॥ १८ ॥

सर्वभूतेष्वनुक्रोशं कुर्वतस्तस्य भारत ।
आनृशंस्यप्रवृत्तस्य सर्वावस्थं पदं भवेत् ॥ १९ ॥

भरतनन्दन ! जो समस्त प्राणियोंपर दया करता है और क्रूरतारहित कर्मोंमें ही प्रवृत्त होता है, उसे सभी आश्रमोंके सेवनका फल प्राप्त होता है ॥ १९ ॥

बालवृद्धेषु कौन्तेय सर्वावस्थं युधिष्ठिर ।
अनुक्रोशक्रिया पार्थ सर्वावस्थं पदं भवेत् ॥ २० ॥

कुन्तीकुमार युधिष्ठिर ! जो बालकों और बूढ़ोंके प्रति दयापूर्ण बर्ताव करता है, उसे भी सभी आश्रमोंके सेवनका फल प्राप्त होता है ॥ २० ॥

बलात्कृतेषु भूतेषु परित्राणं कुरूद्वह ।
शरणागतेषु कौरव्य कुर्वन् गार्हस्थ्यमावसेत् ॥ २१ ॥

कुरुनन्दन ! जिन प्राणियोंपर बलात्कार हुआ हो और वे शरणमें आये हों, उनका संकटसे उद्धार करनेवाला पुरुष गार्हस्थ्य-धर्मके पालनसे मिलनेवाले पुण्यफलका भागी होता है ॥

चराचराणां भूतानां रक्षणं चापि सर्वशः ।
यथार्हपूजां च तथा कुर्वन् गार्हस्थ्यमावसेत् ॥ २२ ॥

चराचर प्राणियोंकी सब प्रकारसे रक्षा तथा उनकी यथायोग्य पूजा करनेवाले पुरुषको गार्हस्थ्य-सेवनका फल प्राप्त होता है ॥ २२ ॥

ज्येष्ठानुज्येष्ठपत्नीनां भ्रातॄणां पुत्रनप्तृणाम् ।
निग्रहानुग्रहौ पार्थ गार्हस्थ्यमिति तत् तपः ॥ २३ ॥

कुन्तीनन्दन ! बड़ी-छोटी पत्नियों, भाइयों, पुत्रों और नातियोंको भी जो राजा अपराध करनेपर दण्ड और अच्छे कार्य करनेपर अनुग्रहरूप पुरस्कार देता है, यही उसके द्वारा

[illegible] है और नहीं उसकी तपस्या है ॥ २३ ॥

[illegible]र्चनीयानां पूजा सुविदितात्मनाम् ।
[illegible]नं पुरुषव्याघ्र गृहाश्रमपदं भवेत् ॥ २४ ॥

पुरुषसिंह ! इनके योग्य सुप्रसिद्ध आत्मज्ञानी साधुओं-की पूजा तथा [illegible] गृहस्थाश्रमके पुण्यफलकी प्राप्ति करानेवाली है ॥ २४ ॥

आश्रमस्थानि भूतानि यस्तु वेश्मनि भारत ।
[illegible]ति भोज्येन तद् गार्हस्थ्यं युधिष्ठिर ॥ २५ ॥

भरतनन्दन युधिष्ठिर ! जो किसी भी आश्रममें रहनेवाले प्राणियोंको अपने घरमें ठहराकर उनका भोजन आदिसे सत्कार करता है, उस राजाके लिये वही गार्हस्थ्य-धर्मका पालन है ॥

यः स्थितः पुरुषो धर्मे धात्रा सृष्टे यथार्थवत् ।
आश्रमाणां हि सर्वेषां फलं प्राप्नोत्यनामयम् ॥ २६ ॥

जो पुरुष विधाताद्वारा विहित धर्ममें स्थित होकर यथार्थ रूपसे उसका पालन करता है, वह सभी आश्रमोंके निर्दोष फलको प्राप्त कर लेता है ॥ २६ ॥

यस्मिन्न नश्यन्ति गुणाः कौन्तेय पुरुषे सदा ।
आश्रमस्थं तमप्याहुर्नरश्रेष्ठं युधिष्ठिर ॥ २७ ॥

कुन्तीनन्दन युधिष्ठिर ! जिस पुरुषमें स्थित हुए सद्गुणोंका कभी नाश नहीं होता, उस नरश्रेष्ठको सभी आश्रमोंके पालनमें स्थित बताया गया है ॥ २७ ॥

स्थानमानं कुले मानं वयोमानं तथैव च ।
कुर्वन् वसति सर्वेषु ह्याश्रमेषु युधिष्ठिर ॥ २८ ॥

युधिष्ठिर ! जो राजा स्थान, कुल और अवस्थाका मान रखते हुए कार्य करता है, वह सभी आश्रमोंमें निवास करनेका फल पाता है ॥ २८ ॥

देशधर्मांश्च कौन्तेय कुलधर्मांस्तथैव च ।
पालयन् पुरुषव्याघ्र राजा सर्वाश्रमी भवेत् ॥ २९ ॥

कुन्तीकुमार ! पुरुषसिंह ! देश-धर्म और कुलधर्मका पालन करनेवाला राजा सभी आश्रमोंके पुण्यफलका भागी होता है ॥ २९ ॥

काले विभूतिं भूतानामुपहारांस्तथैव च ।
अर्हयन् पुरुषव्याघ्र साधूनामाश्रमे वसेत् ॥ ३० ॥

नरव्याघ्र नरेश ! जो समय-समयपर सम्पत्ति और उपहार देकर समस्त प्राणियोंका सम्मान करता रहता है, वह साधु पुरुषोंके आश्रममें निवासका पुण्यफल पा लेता है ॥ ३० ॥

दशधर्मगतश्चापि यो धर्मं प्रत्यवेक्षते ।
सर्वलोकस्य कौन्तेय राजा भवति सोऽऽश्रमी ॥ ३१ ॥

कुन्तीनन्दन ! जो राजा मनुप्रोक्त दस धर्मोंमें स्थित होकर भी सम्पूर्ण जगत्के धर्मपर दृष्टि रखता है, वह सभी आश्रमोंके पुण्यफलका भागी होता है ॥ ३१ ॥

ये धर्मकुशला लोके धर्मं कुर्वन्ति भारत ।
पालिता यस्य विषये धर्मांशस्तस्य भूपतेः ॥ ३२ ॥

भरतनन्दन ! जो धर्मकुशल मनुष्य लोकमें धर्मका अनुष्ठान करते हैं, वे जिस राजाके राज्यमें पालित होते हैं, उस राजाको उनके धर्मका छठा अंश प्राप्त होता है ॥ ३२ ॥

धर्मारामान् धर्मपरान् ये न रक्षन्ति मानवान् ।
पार्थिवाः पुरुषव्याघ्र तेषां पापं हरन्ति ते ॥ ३३ ॥

पुरुषसिंह ! जो राजा धर्ममें ही रमण करनेवाले धर्मपरायण मानवोंकी रक्षा नहीं करते हैं, वे उनके पाप बटोर लेते हैं ॥ ३३ ॥

ये चाप्यत्र सहायाः स्युः पार्थिवानां युधिष्ठिर ।
ते चैवांशहराः सर्वे धर्मे परकृतेऽनघ ॥ ३४ ॥

निष्पाप युधिष्ठिर ! जो लोग इस जगत्में राजाओंके सहायक होते हैं, वे सभी उस राज्यमें दूसरोंद्वारा किये गये धर्मका अंश प्राप्त कर लेते हैं ॥ ३४ ॥

सर्वाश्रमपदेऽप्याहुर्गार्हस्थ्यं दीप्तनिर्णयम् ।
पावनं पुरुषव्याघ्र यं धर्मं पर्युपास्महे ॥ ३५ ॥

पुरुषसिंह ! शास्त्रज्ञ विद्वान् कहते हैं कि हमलोग जिस गार्हस्थ्य-धर्मका सेवन कर रहे हैं, वह सभी आश्रमोंमें श्रेष्ठ एवं पावन है। उसके विषयमें शास्त्रोंका यह निर्णय सबको विदित है ॥ ३५ ॥

आत्मोपमस्तु भूतेषु यो वै भवति मानवः ।
न्यस्तदण्डो जितक्रोधः प्रेत्येह लभते सुखम् ॥ ३६ ॥

जो मानव समस्त प्राणियोंके प्रति अपने समान ही भाव रखता है, दण्डका त्याग कर देता है, क्रोधको जीत लेता है, वह इस लोकमें और मृत्युके पश्चात् परलोकमें भी सुख पाता है ॥

धर्मे स्थिता सत्त्ववीर्या धर्मसेतुवटारका ।
त्यागवाताध्वगा शीघ्रा नौस्तं संतारयिष्यति ॥ ३७ ॥

राजधर्म एक नौकाके समान है। वह नौका धर्मरूपी समुद्रमें स्थित है। सत्त्वगुण ही उस नौकाका संचालन करनेवाला बल (कर्णधार) है, धर्मशास्त्र ही उसे बाँधनेवाली रस्सी है, त्यागरूपी वायुका सहारा पाकर वह मार्गपर शीघ्रतापूर्वक चलती है, वह नाव ही राजाको संसारसमुद्रसे पार कर देगी ॥ ३७ ॥

यदा निवृत्तः सर्वस्मात् कामो योऽस्य हृदि स्थितः ।
तदा भवति सत्त्वस्थस्ततो ब्रह्म समश्नुते ॥ ३८ ॥

मनुष्यके हृदयमें जो-जो कामनाएँ स्थित हैं, उन सबसे जब वह निवृत्त हो जाता है, तब उसकी विशुद्ध सत्त्वगुणमें स्थिति होती है और इसी समय उसे परब्रह्म परमात्माके स्वरूपका साक्षात्कार होता है ॥ ३८ ॥

सुप्रसन्नस्तु भावेन योगेन च नराधिप ।
धर्मं पुरुषशार्दूल प्राप्स्यते पालने रतः ॥ ३९ ॥

नरेश्वर ! पुरुषसिंह ! चित्तवृत्तियोंके निरोधरूप योगसे और समभावसे जब अन्तःकरण अत्यन्त शुद्ध एवं प्रसन्न हो जाता है, तब प्रजापालनपरायण राजा उत्तम धर्मके फलका भागी होता है ॥ ३९ ॥

वेदाध्ययनशीलानां विप्राणां साधुकर्मणाम् ।
पालने यत्नमातिष्ठ सर्वलोकस्य चैव ह ॥ ४० ॥

युधिष्ठिर ! तुम वेदाध्ययनमें संलग्न रहनेवाले, सत्कर्म-

परायण ब्राह्मणों तथा अन्य सब लोगोंके पालन-पोषणका प्रयत्न करो ॥ ४० ॥

वने चरन्ति ये धर्ममाश्रमेषु च भारत।
रक्षणात् तच्छतगुणं धर्मं प्राप्नोति पार्थिवः ॥ ४१ ॥

भरतनन्दन! वनमें और विभिन्न आश्रमोंमें रहकर जो लोग जितना धर्म करते हैं, उनकी रक्षा करनेसे राजा उनसे सौगुने धर्मका भागी होता है ॥ ४१ ॥

एष ते विविधो धर्मः पाण्डवश्रेष्ठ कीर्तितः।
अनुतिष्ठ त्वमेनं वै पूर्वदृष्टं सनातनम् ॥ ४२ ॥

पाण्डवश्रेष्ठ! यह तुम्हारे लिये नाना प्रकारका धर्म बताया गया है। पूर्वजोंद्वारा आचरित इस सनातनधर्मका तुम पालन करो ॥ ४२ ॥

चातुराश्रम्यमैकाग्र्यं चातुर्वर्ण्यं च पाण्डव।
धर्मं पुरुषशार्दूल प्राप्स्यसे पालने रतः ॥ ४३ ॥

पुरुषसिंह पाण्डुनन्दन! यदि तुम प्रजाके पालनमें तत्पर रहोगे तो चारों आश्रमोंके, चारों वर्णोंके तथा एकाग्रताके धर्मको प्राप्त कर लोगे ॥ ४३ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि राजधर्मानुशासनपर्वणि चातुराश्रम्यविधौ षट्षष्टितमोऽध्यायः ॥ ६६ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत राजधर्मानुशासनपर्वमें चारों आश्रमोंके धर्मका वर्णनविषयक छाछठवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ६६ ॥

सप्तषष्टितमोऽध्यायः

राष्ट्रकी रक्षा और उन्नतिके लिये राजाकी आवश्यकताका प्रतिपादन

युधिष्ठिर उवाच

चातुराश्रम्यमुक्तं ते चातुर्वर्ण्यं तथैव च।
राष्ट्रस्य यत् कृत्यतमं ततो ब्रूहि पितामह ॥ १ ॥

राजा युधिष्ठिरने कहा—पितामह! आपने चारों आश्रमों और चारों वर्णोंके धर्म बतलाये। अब आप मुझे यह बताइये कि समूचे राष्ट्रका—उस राष्ट्रमें निवास करनेवाले प्रत्येक नागरिकका मुख्य कार्य क्या है? ॥ १ ॥

भीष्म उवाच

राष्ट्रस्यैतत् कृत्यतमं राज्ञ एवाभिषेचनम्।
अनिन्द्रमबलं राष्ट्रं दस्यवोऽभिभवन्त्युत ॥ २ ॥

भीष्मजी बोले—युधिष्ठिर! राष्ट्र अथवा राष्ट्रवासी प्रजावर्गका सबसे प्रधान कार्य यह है कि वह किसी योग्य राजाका अभिषेक करे, क्योंकि बिना राजाका राष्ट्र निर्बल होता है। उसे डाकू और लुटेरे लूटते तथा सताते हैं ॥ २ ॥

अराजकेषु राष्ट्रेषु धर्मो न व्यवतिष्ठते।
परस्परं च खादन्ति सर्वथा धिगराजकम् ॥ ३ ॥

जिन देशोंमें कोई राजा नहीं होता, वहाँ धर्मकी भी स्थिति नहीं रहती है; अतः वहाँके लोग एक दूसरेको हड़पने लगते हैं; इसलिये जहाँ अराजकता हो, उस देशको सर्वथा धिक्कार है! ॥ ३ ॥

इन्द्रमेव प्रवृणुते यद्राजानमिति श्रुतिः।
यथैवेन्द्रस्तथा राजा सम्पूज्यो भूतिमिच्छता ॥ ४ ॥

श्रुति कहती है, 'प्रजा जो राजाका वरण करती है, वह मानो इन्द्रका ही वरण करती है।' अतः लोकका कल्याण चाहनेवाले पुरुषको इन्द्रके समान ही राजाका पूजन करना चाहिये ॥ ४ ॥

नाराजकेषु राष्ट्रेषु वस्तव्यमिति रोचये।
नाराजकेषु राष्ट्रेषु हव्यमग्निर्वहत्युत ॥ ५ ॥

मेरी रुचि तो यह है कि जहाँ कोई राजा न हो, उन देशोंमें निवास ही नहीं करना चाहिये। बिना राजाके राज्यमें दिये हुए हविष्यको अग्निदेव वहन नहीं करते ॥ ५ ॥

अथ चेदाभिवर्तेत राज्यार्थी बलवत्तरः।
अराजकाणि राष्ट्राणि हतवीर्याणि वा पुनः ॥ ६ ॥
प्रत्युद्गम्याभिपूज्यः स्यादेतदत्र सुमन्त्रितम्।
न हि पापात् परतरमस्ति किञ्चिदराजकात् ॥ ७ ॥

यदि कोई प्रबल राजा राज्यके लोभसे उन बिना राजाके दुर्बल देशोंपर आक्रमण करे तो वहाँके निवासियोंको चाहिये कि वे आगे बढ़कर उसका स्वागत-सत्कार करें। यही वहाँके लिये सबसे अच्छी सलाह हो सकती है; क्योंकि पापपूर्ण अराजकतासे बढ़कर दूसरा कोई पाप नहीं है ॥ ६-७ ॥

स चेत् समनुपश्येत समग्रं कुशलं भवेत्।
बलवान् हि प्रकुपितः कुर्यान्निःशेषतामपि ॥ ८ ॥

वह बलवान् आक्रमणकारी नरेश यदि शान्त दृष्टिसे देखे तो राज्यकी पूर्णतः भलाई होती है और यदि वह कुपित हो गया तो उस राज्यका सर्वनाश कर सकता है ॥ ८ ॥

भूयांसं लभते क्लेशं या गौर्भवति दुर्दुहा।
अथ या सुदुहा राजन् नैव तां वितुदन्त्यपि ॥ ९ ॥

राजन्! जो गाय कठिनाईसे दुही जाती है, उसे बड़े-बड़े क्लेश उठाने पड़ते हैं, परंतु जो सुगमतापूर्वक दूध दुह लेने देती है, उसे लोग पीड़ा नहीं देते हैं, आरामसे रखते हैं ॥ ९ ॥

यदतप्तं प्रणमते नैतत् संतापमर्हति।
यत् स्वयं नमते दारु न तत् संनामयन्त्यपि ॥ १० ॥

जो राष्ट्र बिना कष्ट पाये ही नतमस्तक हो जाता है, वह अधिक संतापका भागी नहीं होता। जो लकड़ी स्वयं ही झुक जाती है, उसे लोग झुकानेका प्रयत्न नहीं करते हैं ॥ १० ॥

एतयोपमया वीर संनमेत बलीयसे।
इन्द्राय स प्रणमते नमते यो बलीयसे ॥ ११ ॥

वीर! इस उपमाको ध्यानमें रखते हुए दुर्बलको बलवान्के सामने नतमस्तक हो जाना चाहिये। जो बलवान्को प्रणाम करता है, वह मानो इन्द्रको ही नमस्कार करता है ॥ ११ ॥

तस्माद् राजैव कर्तव्यः सततं भूतिमिच्छता।
न धनार्थो न दारार्थस्तेषां येषामराजकम् ॥ १२ ॥

अतः सदा उन्नतिकी इच्छा रखनेवाले देशको अपनी

इसके लिये किसीको राजा अवश्य बना लेना चाहिये। जिनके देशमें अराजकता है, उनके धन और स्त्रियोंपर उन्हींका अधिकार बना रहे, यह सम्भव नहीं है ॥ १२ ॥

प्रीयते हि हरन् पापः परवित्तमराजके।
यदास्य उद्धरन्त्यन्ये तदा राजानमिच्छति ॥ १३ ॥

अराजकताकी स्थितिमें दूसरोंके धनका अपहरण करनेवाला पापाचारी मनुष्य बड़ा प्रसन्न होता है, परंतु जब दूसरे लुटेरे उसका भी सारा धन हड़प लेते हैं, तब वह राजाकी आवश्यकताका अनुभव करता है ॥ १३ ॥

पापा ह्यपि तदा क्षेमं न लभन्ते कदाचन।
एकस्य हि द्वौ हरतो द्वयोश्च बहवोऽपरे ॥ १४ ॥

अराजक देशमें पापी मनुष्य भी कभी कुशलपूर्वक नहीं रह सकते। एकका धन दो मिलकर उठा ले जाते हैं और उन दोनोंका धन दूसरे बहुसंख्यक लुटेरे लूट लेते हैं ॥ १४ ॥

अदासः क्रियते दासो ह्रियन्ते च बलात् स्त्रियः।
एतस्मात् कारणाद् देवाः प्रजापालान् प्रचक्रिरे ॥ १५ ॥

अराजकताकी स्थितिमें जो दास नहीं है, उसे दास बना लिया जाता है और स्त्रियोंका बलपूर्वक अपहरण किया जाता है। इसी कारणसे देवताओंने प्रजापालक नरेशोंकी सृष्टि की है ॥

राजा चेन्न भवेल्लोके पृथिव्यां दण्डधारकः।
जले मत्स्यानिवाभक्ष्यन् दुर्बलं बलवत्तराः ॥ १६ ॥

यदि इस जगत्‌में भूतलपर दण्डधारी राजा न हो तो जैसे जलमें बड़ी मछलियाँ छोटी मछलियोंको खा जाती हैं, उसी प्रकार प्रबल मनुष्य दुर्बलोंको लूट खायँ ॥ १६ ॥

अराजकाः प्रजाः पूर्वं विनेशुरिति नः श्रुतम्।
परस्परं भक्षयन्तो मत्स्या इव जले कृशान् ॥ १७ ॥

हमने सुन रखा है कि जैसे पानीमें बलवान् मत्स्य दुर्बल मत्स्योंको अपना आहार बना लेते हैं, उसी प्रकार पूर्वकालमें राजाके न रहनेपर प्रजावर्गके लोग परस्पर एक दूसरेको लूटते हुए नष्ट हो गये थे ॥ १७ ॥

समेत्य तास्ततश्चक्रुः समयानिति नः श्रुतम्।
वाक्शूरो दण्डपरुषो यश्च स्यात् पारजायिकः ॥ १८ ॥
यः परस्वमथादद्यात् त्याज्या नस्तादृशा इति।
विश्वासार्थं च सर्वेषां वर्णानामविशेषतः।
तास्तथा समयं कृत्वा समयेनावतस्थिरे ॥ १९ ॥

तब उन सबने मिलकर आपसमें नियम बनाया—यह बात हमारे सुननेमें आयी है। वह नियम इस प्रकार है—'हम लोगोंमेंसे जो भी निष्ठुर बोलनेवाला, भयानक दण्ड देनेवाला, परस्त्रीगामी तथा पराये धनका अपहरण करनेवाला हो, ऐसे सब लोगोंको हमें समाजसे बहिष्कृत कर देना चाहिये।' सभी वर्णके लोगोंमें विश्वास उत्पन्न करनेके लिये सामान्यतः ऐसा नियम बनाकर उसका पालन करते हुए वे सब लोग सुखसे रहने लगे ॥ १८-१९ ॥

संहितास्तास्तदा जग्मुरसुखार्ताः पितामहम्।
अनीश्वरा विनश्यामो भगवन्नीश्वरं दिश ॥ २० ॥
यं पूजयेम सम्भूय यश्च नः प्रतिपालयेत्।

(कुछ समयतक इस प्रकार काम चलता रहा; किंतु आगे चलकर पुनः दुर्व्यवस्था फैल गयी) तब दुःखसे पीड़ित हुई सारी प्रजाएँ एक साथ मिलकर ब्रह्माजीके पास गयीं और उनसे कहने लगीं—'भगवन्! राजाके बिना तो हमलोग नष्ट हो रहे हैं। आप हमें कोई ऐसा राजा दीजिये, जो शासन करनेमें समर्थ हो, हम सब लोग मिलकर जिसकी पूजा करें और जो निरन्तर हमारा पालन करता रहे' ॥ २०½ ॥

ततो मनुं व्यादिदेश मनुर्नाभिननन्द ताः ॥ २१ ॥

तब ब्रह्माजीने मनुको राजा होनेकी आज्ञा दी; परंतु मनुने उन प्रजाओंको स्वीकार नहीं किया' ॥ २१ ॥

मनुरुवाच

बिभेमि कर्मणः पापाद् राज्यं हि भृशदुस्तरम्।
विशेषतो मनुष्येषु मिथ्यावृत्तेषु नित्यदा ॥ २२ ॥

मनु बोले—भगवन्! मैं पापकर्मसे बहुत डरता हूँ। राज्य करना बड़ा कठिन काम है—विशेषतः सदा मिथ्याचारमें प्रवृत्त रहनेवाले मनुष्योंपर शासन करना तो और भी दुष्कर है ॥ २२ ॥

भीष्म उवाच

तमब्रुवन् प्रजा मा भैः कर्तॄनेनो गमिष्यति।
पशूनामधिपञ्चाशद्धिरण्यस्य तथैव च ॥ २३ ॥
धान्यस्य दशमं भागं दास्यामः कोशवर्धनम्।
कन्यां शुल्के चारुरूपां विवाहेषूद्यतासु च ॥ २४ ॥

भीष्मजी कहते हैं—राजन्! तब समस्त प्रजाओंने मनुसे कहा—'महाराज! आप डरें मत। पाप तो उन्हींको लगेगा, जो उसे करेंगे। हमलोग आपके कोशकी वृद्धिके लिये प्रति पचास पशुओंपर एक पशु आपको दिया करेंगे। इसी प्रकार सुवर्णका भी पचासवाँ भाग देते रहेंगे। अनाजकी उपजका दसवाँ भाग करके रूपमें देंगे। जब हमारी बहुत-सी कन्याएँ विवाहके लिये उद्यत होंगी, उस समय उनमें जो सबसे सुन्दरी कन्या होगी, उसे हम शुल्कके रूपमें आपको भेंट कर देंगे ॥ २३-२४ ॥

मुखेन शस्त्रपत्रेण ये मनुष्याः प्रधानतः।
भवन्तं तेऽनुयास्यन्ति महेन्द्रमिव देवताः ॥ २५ ॥

'जैसे देवता देवराज इन्द्रका अनुसरण करते हैं, उसी प्रकार प्रधान-प्रधान मनुष्य अपने प्रमुख शस्त्रों और वाहनोंके साथ आपके पीछे-पीछे चलेंगे ॥ २५ ॥

स त्वं जातबलो राजा दुष्प्रधर्षः प्रतापवान्।
सुखे धास्यसि नः सर्वान् कुबेर इव नैर्ऋतान् ॥ २६ ॥

'प्रजाका सहयोग पाकर आप एक प्रबल, दुर्जय और प्रतापी राजा होंगे। जैसे कुबेर यक्षों तथा राक्षसोंकी रक्षा करके उन्हें सुखी बनाते हैं, उसी प्रकार आप हमें सुरक्षित एवं सुखसे रक्खेंगे ॥ २६ ॥

यं च धर्मं चरिष्यन्ति प्रजा राज्ञा सुरक्षिताः।
चतुर्थं तस्य धर्मस्य त्वत्संस्थं वै भविष्यति ॥ २७ ॥

'आप-जैसे राजाके द्वारा सुरक्षित हुई प्रजाएँ जो-जो धर्म

करेंगी, उसका चतुर्थ भाग आपको मिलता रहेगा ॥ २७ ॥

तेन धर्मेण महता सुखं लब्धेन भावितः।
पाह्यस्मान् सर्वतो राजन् देवानिव शतक्रतुः ॥ २८ ॥

'राजन्! सुखपूर्वक प्राप्त हुए उस महान् धर्मसे सम्पन्न हो आप उसी प्रकार सब ओरसे हमारी रक्षा कीजिये, जैसे इन्द्र देवताओंकी रक्षा करते हैं ॥ २८ ॥

विजयाय हि निर्याहि प्रतपन् रश्मिवानिव।
मानं विधम शत्रूणां जयोऽस्तु तव सर्वदा ॥ २९ ॥

'महाराज! आप तपते हुए अंशुमाली सूर्यके समान विजयके लिये यात्रा कीजिये, शत्रुओंका घमंड धूलमें मिला दीजिये और सर्वदा आपकी जय हो' ॥ २९ ॥

स निर्ययौ महातेजा बलेन महता वृतः।
महाभिजनसम्पन्नस्तेजसा प्रज्वलन्निव ॥ ३० ॥

तब महान् सैन्यबलसे घिरे हुए महाकुलीन, महातेजस्वी राजा मनु अपने तेजसे प्रकाशित होते हुए-से निकले॥ ३० ॥

तस्य दृष्ट्वा महत्त्वं ते महेन्द्रस्येव देवताः।
अपतत्रसिरे सर्वे स्वधर्मे च दधुर्मनः ॥ ३१ ॥

जैसे देवता देवराज इन्द्रका प्रभाव देखकर प्रभावित हो जाते हैं, उसी प्रकार सब लोग महाराज मनुका महत्त्व देखकर आतङ्कित हो उठे और अपने-अपने धर्ममें मन लगाने लगे ॥ ३१॥

ततो महीं परिययौ पर्जन्य इव वृष्टिमान्।
शमयन् सर्वतः पापान् स्वकर्मसु च योजयन्॥ ३२ ॥

तदनन्तर वर्षा करनेवाले मेघके समान मनु पापाचारियोंको शान्त करते और उन्हें अपने वर्णाश्रमोचित कर्मोंमें लगाते हुए भूमण्डलपर चारों ओर घूमने लगे ॥ ३२ ॥

एवं ये भूतिमिच्छेयुः पृथिव्यां मानवाः क्वचित्।
कुर्यू राजानमेवाग्रे प्रजानुग्रहकारणात् ॥ ३३ ॥

इस प्रकार जो मनुष्य वैभव-वृद्धिकी कामना रखते हों, उन्हें सबसे पहले इस भूमण्डलमें प्रजाजनोंपर अनुग्रह करनेके लिये कोई राजा अवश्य बना लेना चाहिये ॥ ३३ ॥

नमस्येरंश्च तं भक्त्या शिष्या इव गुरुं सदा।
देवा इव च देवेन्द्रं तत्र राजानमन्तिके ॥ ३४ ॥

फिर जैसे शिष्य भक्तिभावसे गुरुको नमस्कार करते हैं तथा जैसे देवता देवराज इन्द्रको प्रणाम करते हैं, उसी प्रकार समस्त प्रजाजनोंको अपने राजाके निकट नमस्कार करना चाहिये ॥ ३४ ॥

सत्कृतं स्वजनेनेह परोऽपि बहु मन्यते।
स्वजनेन त्ववज्ञातं परे परिभवन्त्युत ॥ ३५ ॥

इस लोकमें आत्मीय जन जिसका आदर करते हैं, उसे दूसरे लोग भी बहुत मानते हैं और जो स्वजनोंद्वारा तिरस्कृत होता है, उसका दूसरे भी अनादर करते हैं ॥ ३५ ॥

राज्ञः परैः परिभवः सर्वेषामसुखावहः।
तस्माच्छत्रं च पत्रं च वासांस्याभरणानि च ॥ ३६ ॥
भोजनान्यथ पानानि राज्ञे दद्युर्गृहाणि च।
आसनानि च शय्याश्च सर्वोपकरणानि च ॥ ३७ ॥

राजाका यदि दूसरोंके द्वारा पराभव हुआ तो वह समस्त प्रजाके लिये दुःखदायी होता है; इसलिये प्रजाको चाहिये कि वह राजाके लिये छत्र, वाहन, वस्त्र, आभूषण, भोजन, पान, गृह, आसन और शय्या आदि सभी प्रकारकी सामग्री भेंट करे ॥ ३६-३७ ॥

गोप्ता तस्माद् दुराधर्षः स्मितपूर्वाभिभाषिता।
आभाषितश्च मधुरं प्रत्याभाषेत मानवान् ॥ ३८ ॥

इस प्रकार प्रजाकी सहायता पाकर राजा दुर्धर्ष एवं प्रजाकी रक्षा करनेमें समर्थ हो जाता है। राजाको चाहिये कि वह मुस्कराकर बात-चीत करे। यदि प्रजावर्गके लोग उससे कोई बात पूछें तो वह मधुर वाणीमें उन्हें उत्तर दे ॥ ३८ ॥

कृतज्ञो दृढभक्तिः स्यात् संविभागी जितेन्द्रियः।
ईक्षितः प्रतिवीक्षेत मृदु वल्गु च सुष्ठु च ॥ ३९ ॥

राजा उपकार करनेवालोंके प्रति कृतज्ञ और अपने भक्तोंपर सुदृढ़ स्नेह रखनेवाला हो। उपभोगमें आनेवाली वस्तुओंको यथायोग्य विभाजन करके उन्हें काममें ले। इन्द्रियोंको वशमें रक्खे। जो उसकी ओर देखे, उसे वह भी देखे एवं स्वभावसे ही मृदु, मधुर और सरल हो ॥ ३९ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि राजधर्मानुशासनपर्वणि राष्ट्रे राजकरणावश्यकत्वकथने सप्तषष्टितमोऽध्यायः ॥६७॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत राजधर्मानुशासनपर्वमें राष्ट्रके लिये राजाको नियुक्त करनेकी आवश्यकताका कथनविषयक सरसठवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ६७ ॥

अष्टषष्टितमोऽध्यायः

वसुमना और बृहस्पतिके संवादमें राजाके न होनेसे प्रजाकी हानि और होनेसे लाभका वर्णन

युधिष्ठिर उवाच

किमाहुर्दैवतं विप्रा राजानं भरतर्षभ।
मनुष्याणामधिपतिं तन्मे ब्रूहि पितामह ॥ १ ॥

युधिष्ठिरने पूछा—भरतश्रेष्ठ पितामह! जो मनुष्योंका अधिपति है, उस राजाको ब्राह्मणलोग देवस्वरूप क्यों बताते हैं? यह मुझे बतानेकी कृपा करें ॥ १ ॥

भीष्म उवाच

अत्राप्युदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम्।
बृहस्पतिं वसुमना यथा पप्रच्छ भारत ॥ २ ॥

भीष्मजीने कहा—भारत! इस विषयमें जानकार लोग उस प्राचीन इतिहासका उदाहरण दिया करते हैं, जिसके अनुसार राजा वसुमनाने बृहस्पतिजीसे यही बात पूछी थी॥२॥

राजा वसुमना नाम कौसल्यो धीमतां वरः ।
महर्षिं किल पप्रच्छ कृतप्रज्ञं बृहस्पतिम् ॥ २ ॥

कहते हैं, प्राचीन कालमें बुद्धिमानोंमें श्रेष्ठ कोसलनरेश राजा वसुमनाने शुद्ध बुद्धिवाले महर्षि बृहस्पतिसे कुछ प्रश्न किया ॥ २ ॥

सर्वं वैनयिकं कृत्वा विनयज्ञो बृहस्पतिम् ।
दक्षिणानन्तरो भूत्वा प्रणम्य विधिपूर्वकम् ॥ ४ ॥
विधिं पप्रच्छ राज्यस्य सर्वलोकहिते रतः ।
प्रजानां सुखमन्विच्छन् धर्मशीलं बृहस्पतिम् ॥ ५ ॥

राजा वसुमना सम्पूर्ण लोकोंके हितमें तत्पर रहनेवाले थे। वे विनय प्रकट करनेकी कलाको जानते थे। बृहस्पतिजीके आनेपर उन्होंने उठकर उनका अभिवादन किया और चरण-प्रक्षालन आदि सारा विनयसम्बन्धी बर्ताव पूर्ण करके महर्षिकी परिक्रमा करनेके अनन्तर उन्होंने विधिपूर्वक उनके चरणोंमें मस्तक झुकाया। फिर प्रजाके सुखकी इच्छा रखते हुए राजाने धर्मशील बृहस्पतिसे राज्यसंचालनकी विधिके विषयमें इस प्रकार प्रश्न उपस्थित किया ॥ ४-५ ॥

वसुमना उवाच

केन भूतानि वर्धन्ते क्षयं गच्छन्ति केन वा ।
कमर्चन्तो महाप्राज्ञ सुखमव्ययमाप्नुयुः ॥ ६ ॥

वसुमना बोले—महामते! राज्यमें रहनेवाले प्राणियोंकी वृद्धि कैसे होती है? उनका ह्रास कैसे हो सकता है? किस देवताकी पूजा करनेवाले लोगोंको अक्षय सुखकी प्राप्ति हो सकती है? ॥ ६ ॥

एवं पृष्टो महाप्राज्ञः कौसल्येनामितौजसा ।
राजसत्कारमव्यग्रं शशंसास्मै बृहस्पतिः ॥ ७ ॥

अमित तेजस्वी कोसलनरेशके इस प्रकार प्रश्न करनेपर महाज्ञानी बृहस्पतिजीने शान्तभावसे राजाके सत्कारकी आवश्यकता बताते हुए इस प्रकार उत्तर देना आरम्भ किया ॥ ७ ॥

बृहस्पतिरुवाच

राजमूलो महाप्राज्ञ धर्मो लोकस्य लक्ष्यते ।
प्रजा राजभयादेव न खादन्ति परस्परम् ॥ ८ ॥

बृहस्पतिजीने कहा—महाप्राज्ञ! लोकमें जो धर्म देखा जाता है, उसका मूल कारण राजा ही है। राजाके भयसे ही प्रजा एक दूसरेको हड़प नहीं लेती है ॥ ८ ॥

राजा ह्येवाखिलं लोकं समुदीर्णं समुत्सुकम् ।
प्रसादयति धर्मेण प्रसाद्य च विराजते ॥ ९ ॥

राजा ही मर्यादाका उल्लङ्घन करनेवाले तथा अनुचित भोगोंमें आसक्त हो उनकी प्राप्तिके लिये उत्कण्ठित रहनेवाले सारे जगत्‌के लोगोंको धर्मानुकूल शासनद्वारा प्रसन्न रखता है और स्वयं भी प्रसन्नतापूर्वक रहकर अपने तेजसे प्रकाशित होता है ॥ ९ ॥

यथा ह्यनुदये राजन् भूतानि शशिसूर्ययोः ।
अन्धे तमसि मज्जेयुरपश्यन्तः परस्परम् ॥ १० ॥
यथा ह्यनुदके मत्स्या निराक्रन्दे विहङ्गमाः ।
विहरेयुर्यथाकामं विहिंसन्तः पुनः पुनः ॥ ११ ॥
विमथ्यातिक्रमेरंश्च विषह्यापि परस्परम् ।
अभावमचिरेणैव गच्छेयुर्नात्र संशयः ॥ १२ ॥
एवमेव विना राज्ञा विनश्येयुरिमाः प्रजाः ।
अन्धे तमसि मज्जेयुरगोपाः पशवो यथा ॥ १३ ॥

राजन्! जैसे सूर्य और चन्द्रमाका उदय न होनेपर समस्त प्राणी घोर अन्धकारमें डूब जाते हैं और एक दूसरेको देख नहीं पाते हैं, जैसे थोड़े जलवाले तालाबमें मत्स्यगण तथा रक्षकरहित उपवनमें पक्षियोंके झुंड परस्पर एक दूसरेपर बारंबार चोट करते हुए इच्छानुसार विचरण करते हैं, वे कभी तो अपने प्रहारसे दूसरोंको कुचलते और मथते हुए आगे बढ़ जाते हैं और कभी स्वयं दूसरेकी चोट खाकर व्याकुल हो उठते हैं। इस प्रकार आपसमें लड़ते हुए वे थोड़े ही दिनोंमें नष्टप्राय हो जाते हैं, इसमें संदेह नहीं है। इसी तरह राजाके बिना वे सारी प्रजाएँ आपसमें लड़-झगड़कर बात-की-बातमें नष्ट हो जायँगी और बिना चरवाहेके पशुओंकी भाँति दुःखके घोर अन्धकारमें डूब जायँगी ॥ १०—१३ ॥

हरेयुर्बलवन्तोऽपि दुर्बलानां परिग्रहान् ।
हन्युर्व्यायच्छमानांश्च यदि राजा न पालयेत् ॥ १४ ॥

यदि राजा प्रजाकी रक्षा न करे तो बलवान् मनुष्य दुर्बलोंकी बहू-बेटियोंको हर ले जायँ और अपने घर-बारकी रक्षाके लिये प्रयत्न करनेवालोंको मार डालें ॥ १४ ॥

ममेदमिति लोकेऽस्मिन् न भवेत् सम्परिग्रहः ।
न दारा न च पुत्रः स्यान्न धनं न परिग्रहः ।
विष्वग्लोपः प्रवर्तेत यदि राजा न पालयेत् ॥ १५ ॥

यदि राजा रक्षा न करे तो इस जगत्‌में स्त्री, पुत्र, धन अथवा घरबार कोई भी ऐसा संग्रह सम्भव नहीं हो सकता, जिसके लिये कोई कह सके कि यह मेरा है, सब ओर सबकी सारी सम्पत्तिका लोप हो जाय ॥ १५ ॥

यानं वस्त्रमलङ्कारान् रत्नानि विविधानि च ।
हरेयुः सहसा पापा यदि राजा न पालयेत् ॥ १६ ॥

यदि राजा प्रजाका पालन न करे तो पापाचारी लुटेरे सहसा आक्रमण करके वाहन, वस्त्र, आभूषण और नाना प्रकारके रत्न लूट ले जायँ ॥ १६ ॥

पतेद् बहुविधं शस्त्रं बहुधा धर्मचारिषु ।
अधर्मः प्रगृहीतः स्याद् यदि राजा न पालयेत् ॥ १७ ॥

यदि राजा रक्षा न करे तो धर्मात्मा पुरुषोंपर बारंबार नाना प्रकारके अस्त्र-शस्त्रोंकी मार पड़े और विवश होकर लोगोंको अधर्मका मार्ग ग्रहण करना पड़े ॥ १७ ॥

मातरं पितरं वृद्धमाचार्यमतिथिं गुरुम् ।
क्लिश्नीयुरपि हिंस्युर्वा यदि राजा न पालयेत् ॥ १८ ॥

यदि राजा पालन न करे तो दुराचारी मनुष्य माता, पिता, वृद्ध, आचार्य, अतिथि और गुरुको क्लेश पहुँचावें अथवा मार डालें ॥ १८ ॥

वधबन्धपरिक्लेशो नित्यमर्थवतां भवेत्।
ममत्वं च न विन्देयुर्यदि राजा न पालयेत् ॥ १९ ॥

यदि राजा रक्षा न करे तो धनवानोंको प्रतिदिन वध या बन्धनका क्लेश उठाना पड़े और किसी भी वस्तुको वे अपनी न कह सकें ॥ १९ ॥

अन्ताश्चाकाल एव स्युर्लोकोऽयं दस्युसाद् भवेत्।
पतेयुर्नरकं घोरं यदि राजा न पालयेत् ॥ २० ॥

यदि राजा प्रजाका पालन न करे तो अकालमें ही लोगोंकी मृत्यु होने लगे, यह समस्त जगत् डाकुओंके अधीन हो जाय और (पापके कारण) घोर नरकमें गिर जाय ॥ २० ॥

न योनिदोषो वर्तेत न कृषिर्न वणिक्पथः।
मज्जेद् धर्मस्त्रयी न स्याद् यदि राजा न पालयेत्॥ २१ ॥

यदि राजा पालन न करे तो व्यभिचारसे किसीको घृणा न हो, खेती नष्ट हो जाय, व्यापार चौपट हो जाय, धर्म डूब जाय और तीनों वेदोंका कहीं पता न चले ॥ २१ ॥

न यज्ञाः सम्प्रवर्तेयुर्विधिवत् स्वाप्तदक्षिणाः।
न विवाहाः समाजो वा यदि राजा न पालयेत् ॥२२॥

यदि राजा जगत्‌की रक्षा न करे तो विधिवत् पर्याप्त दक्षिणाओंसे युक्त यज्ञोंका अनुष्ठान बंद हो जाय, विवाह न हो और सामाजिक कार्य रुक जायँ ॥ २२ ॥

न वृषाः सम्प्रवर्तेरन् न मथ्येरंश्च गर्गराः।
घोषाः प्रणाशं गच्छेयुर्यदि राजा न पालयेत् ॥ २३ ॥

यदि राजा पशुओंका पालन न करे तो साँड गायोंमें गर्भाधान न करें, दूध-दहीसे भरे हुए घड़े या मटके कभी महे न जायँ और गोशाले नष्ट हो जायँ ॥ २३ ॥

त्रस्तमुद्विग्नहृदयं हाहाभूतमचेतनम्।
क्षणेन विनशेत् सर्वं यदि राजा न पालयेत् ॥ २४ ॥

यदि राजा रक्षा न करे तो सारा जगत् भयभीत, उद्विग्न-चित्त, हाहाकारपरायण तथा अचेत हो क्षणभरमें नष्ट हो जाय ॥ २४ ॥

न संवत्सरसत्राणि तिष्ठेयुरकुतोभयाः।
विधिवद् दक्षिणावन्ति यदि राजा न पालयेत् ॥ २५ ॥

यदि राजा पालन न करे तो उनमें विधिपूर्वक दक्षिणाओंसे युक्त वार्षिक यज्ञ बेखटके न चल सकें ॥ २५ ॥

ब्राह्मणाश्चतुरो वेदान् नाधीयीरंस्तपस्विनः।
विद्यास्नाता व्रतस्नाता यदि राजा न पालयेत्॥ २६ ॥

यदि राजा पालन न करे तो विद्या पढ़कर स्नातक हुए ब्रह्मचर्य-व्रतका पालन करनेवाले और तपस्वी तथा ब्राह्मण लोग चारों वेदोंका अध्ययन छोड़ दें ॥ २६ ॥

न लभेद् धर्मसंश्लेषं हतविप्रहतो जनः।
हर्ता स्वस्थेन्द्रियो गच्छेद् यदि राजा न पालयेत् ॥२७॥

यदि राजा पालन न करे तो मनुष्य हताहत होकर धर्मका सम्पर्क छोड़ दें और चोर घरका मालमता लेकर अपने शरीर और इन्द्रियोंपर आँच आये बिना ही सकुशल लौट जायँ ॥ २७ ॥

हस्ताद्धस्तं परिमुषेद् भिद्येरन् सर्वसेतवः।
भयार्तं विद्रवेत् सर्वं यदि राजा न पालयेत् ॥ २८ ॥

यदि राजा पालन न करे तो चोर और लुटेरे हाथमें रक्खी हुई वस्तुको भी हाथसे छीन ले जायँ, सारी मर्यादाएँ टूट जायँ और सब लोग भयसे पीड़ित हो चारों ओर भागते फिरें ॥ २८ ॥

अनयाः सम्प्रवर्तेरन् भवेद् वै वर्णसंकरः।
दुर्भिक्षमाविशेद् राष्ट्रं यदि राजा न पालयेत् ॥ २९ ॥

यदि राजा पालन न करे तो सब ओर अन्याय एवं अत्याचार फैल जाय, वर्णसंकर संतानें पैदा होने लगें और समूचे देशमें अकाल पड़ जाय ॥ २९ ॥

विवृत्य हि यथाकामं गृहद्वाराणि शेरते।
मनुष्या रक्षिता राज्ञा समन्तादकुतोभयाः ॥ ३० ॥

राजासे रक्षित हुए मनुष्य सब ओरसे निर्भय हो जाते हैं और अपनी इच्छाके अनुसार घरके दरवाजे खोलकर सोते हैं ॥

नाक्रुष्टं सहते कश्चित् कुतो वा हस्तलाघवम्।
यदि राजा न सम्यग् गां रक्षयत्यपि धार्मिकः ॥ ३१ ॥

यदि धर्मात्मा राजा भलीभाँति पृथ्वीकी रक्षा न करे तो कोई भी मनुष्य गाली-गलौज अथवा हाथसे पीटे जानेका अपमान कैसे सहन करे ॥ ३१ ॥

स्त्रियश्चापुरुषा मार्गं सर्वालङ्कारभूषिताः।
निर्भयाः प्रतिपद्यन्ते यदि रक्षति भूमिपः ॥ ३२ ॥

यदि पृथ्वीका पालन करनेवाला राजा अपने राज्यकी रक्षा करता है तो समस्त आभूषणोंसे विभूषित हुई सुन्दरी स्त्रियाँ किसी पुरुषको साथ लिये बिना भी निर्भय होकर मार्गसे आती-जाती हैं ॥ ३२ ॥

धर्ममेव प्रपद्यन्ते न हिंसन्ति परस्परम्।
अनुगृह्णन्ति चान्योन्यं यदा रक्षति भूमिपः ॥ ३३ ॥

जब राजा रक्षा करता है, तब सब लोग धर्मका ही पालन करते हैं, कोई किसीकी हिंसा नहीं करते और सभी एक दूसरेपर अनुग्रह रखते हैं ॥ ३३ ॥

यजन्ते च महायज्ञैस्त्रयो वर्णाः पृथग्विधैः।
युक्ताश्चाधीयते विद्यां यदा रक्षति भूमिपः ॥ ३४ ॥

जब राजा रक्षा करता है, तब तीनों वर्णोंके लोग नाना प्रकारके बड़े-बड़े यज्ञोंका अनुष्ठान करते हैं और मनोयोगपूर्वक विद्याध्ययनमें लगे रहते हैं ॥ ३४ ॥

वार्तामूलो ह्ययं लोकस्त्रय्या वै धार्यते सदा।
तत् सर्वं वर्तते सम्यग् यदा रक्षति भूमिपः ॥ ३५ ॥

खेती आदि समुचित जीविकाकी व्यवस्था ही इस जगत्‌के जीवनका मूल है तथा वृष्टि आदिकी हेतुभूत त्रयी विद्यासे ही सदा जगत्‌का धारण-पोषण होता है। जब राजा प्रजाकी रक्षा करता है, तभी वह सब कुछ ठीक ढंगसे चलता रहता है॥

यदा राजा धुरं श्रेष्ठामादाय वहति प्रजाः।
महता बलयोगेन तदा लोकः प्रसीदति ॥ ३६ ॥

जब राजा विशाल सैनिक-शक्तिके सहयोगसे भारी भार

उत्तम रूपसे प्रजाकी रक्षाका भार वहन करता है, तब यह सम्पूर्ण जगत् प्रसन्न होता है ॥ ३६ ॥

यस्याभावेन भूतानामभावः स्यात् समन्ततः ।
भावे च भावो नित्यं स्यात् कस्तं न प्रतिपूजयेत् ।३७।

जिसके न रहनेपर सब ओरसे समस्त प्राणियोंका अभाव होने लगता है और जिसके रहनेपर सदा सबका अस्तित्व बना रहता है, उस राजाका पूजन (आदर-सत्कार) कौन नहीं करेगा ? ॥ ३७ ॥

तस्य यो वहते भारं सर्वलोकभयावहम् ।
तिष्ठन् प्रियहिते राज्ञ उभौ लोकाविमौ जयेत् ॥ ३८ ॥

जो उस राजाके प्रिय एवं हितसाधनमें संलग्न रहकर उसके सर्वलोकभयंकर शासन-भारको वहन करता है, वह इस लोक और परलोक दोनोंपर विजय पाता है ॥ ३८ ॥

यस्तस्य पुरुषः पापं मनसाप्यनुचिन्तयेत् ।
असंशयमिह क्लिष्टः प्रेत्यापि नरकं व्रजेत् ॥ ३९ ॥

जो पुरुष मनसे भी राजाके अनिष्टका चिन्तन करता है, वह निश्चय ही इस लोकमें कष्ट भोगता है और मरनेके बाद भी नरकमें पड़ता है ॥ ३९ ॥

न हि जात्ववमन्तव्यो मनुष्य इति भूमिपः ।
महती देवता ह्येषा नररूपेण तिष्ठति ॥ ४० ॥

'यह भी एक मनुष्य है' ऐसा समझकर कभी भी पृथ्वी-पालक नरेशकी अवहेलना नहीं करनी चाहिये; क्योंकि राजा मनुष्यरूपमें एक महान् देवता है ॥ ४० ॥

कुरुते पञ्चरूपाणि कालयुक्तानि यः सदा ।
भवत्यग्निस्तथाऽऽदित्यो मृत्युर्वैश्रवणो यमः ॥ ४१ ॥

राजा ही सदा समयानुसार पाँच रूप धारण करता है। वह कभी अग्नि, कभी सूर्य, कभी मृत्यु, कभी कुबेर और कभी यमराज बन जाता है ॥ ४१ ॥

यदा ह्यासीदतः पापान् दहत्युग्रेण तेजसा ।
मिथ्योपचरितो राजा तदा भवति पावकः ॥ ४२ ॥

जब पापात्मा मनुष्य राजाके साथ मिथ्या बर्ताव करके उसे ठगते हैं, तब वह अग्निस्वरूप हो जाता है और अपने उग्र तेजसे समीप आये हुए उन पापियोंको जलाकर भस्म कर देता है ।४२।

यदा पश्यति चारेण सर्वभूतानि भूमिपः ।
क्षेमं च कृत्वा व्रजति तदा भवति भास्करः ॥ ४३ ॥

जब राजा गुप्तचरोंद्वारा समस्त प्रजाओंकी देख-भाल करता है और उन सबकी रक्षा करता हुआ चलता है, तब वह सूर्यरूप होता है ॥ ४३ ॥

अशुचींश्च यदा क्रुद्धः क्षिणोति शतशो नरान् ।
सपुत्रपौत्रान् सामात्यांस्तदा भवति सोऽन्तकः॥ ४४ ॥

जब राजा कुपित होकर अशुद्धाचारी सैकड़ों मनुष्योंका उनके पुत्र, पौत्र और मन्त्रियोंसहित संहार कर डालता है, तब वह मृत्युरूप होता है ॥ ४४ ॥

यदा त्वधार्मिकान् सर्वांस्तीक्ष्णैर्दण्डैर्नियच्छति ।
धार्मिकांश्चानुगृह्णाति भवत्यथ यमस्तदा ॥ ४५ ॥

जब वह कठोर दण्डके द्वारा समस्त अधार्मिक पुरुषोंको काबूमें करके सन्मार्गपर लाता है और धर्मात्माओंपर अनुग्रह करता है, उस समय वह यमराज माना जाता है ॥ ४५ ॥

यदा तु धनधाराभिस्तर्पयत्युपकारिणः ।
आच्छिनत्ति च रत्नानि विविधान्यपकारिणाम् ॥ ४६ ॥
श्रियं ददाति कस्मैचित् कस्माच्चिदपकर्षति ।
तदा वैश्रवणो राजा लोके भवति भूमिपः ॥ ४७ ॥

जब राजा उपकारी पुरुषोंको धनरूपी जलकी धाराओंसे तृप्त करता है और अपकार करनेवाले दुष्टोंके नाना प्रकारके रत्नोंको छीन लेता है, किसी राज्यहितैषीको धन देता है तो किसी (राज्यविद्रोही) के धनका अपहरण कर लेता है, उस समय वह पृथ्वीपालक नरेश इस संसारमें कुबेर समझा जाता है ॥

नास्यापवादे स्थातव्यं दक्षेणाक्लिष्टकर्मणा ।
धर्म्यमाकाङ्क्षता लोकमीश्वरस्यानसूयता ॥ ४८ ॥

जो समस्त कार्योंमें निपुण, अनायास ही कार्य-साधन करनेमें समर्थ, धर्ममय लोकोंमें जानेकी इच्छा रखनेवाला तथा दोषदृष्टिसे रहित हो, उस पुरुषको अपने देशके शासक नरेशकी निन्दाके काममें नहीं पड़ना चाहिये ॥ ४८ ॥

न हि राज्ञः प्रतीपानि कुर्वन् सुखमवाप्नुयात् ।
पुत्रो भ्राता वयस्यो वा यद्यप्यात्मसमो भवेत् ॥ ४९ ॥

राजाके विपरीत आचरण करनेवाला मनुष्य उसका पुत्र, भाई, मित्र अथवा आत्माके तुल्य ही क्यों न हो, कभी सुख नहीं पा सकता ॥ ४९ ॥

कुर्यात् कृष्णगतिः शेषं ज्वलितोऽनिलसारथिः ।
न तु राजाभिपन्नस्य शेषं क्वचन विद्यते ॥ ५० ॥

वायुकी सहायतासे प्रज्वलित हुई आग जब किसी गाँव या जंगलको जलाने लगे तो सम्भव है कि वहाँका कुछ भाग जलाये बिना शेष छोड़ दे; परंतु राजा जिसपर आक्रमण करता है, उसकी कहीं कोई वस्तु शेष नहीं रह जाती ॥५०॥

तस्य सर्वाणि रक्ष्याणि दूरतः परिवर्जयेत् ।
मृत्योरिव जुगुप्सेत राजस्वहरणान्नरः ॥ ५१ ॥

मनुष्यको चाहिये कि राजाकी सारी रक्षणीय वस्तुओंको दूरसे ही त्याग दे और मृत्युकी ही भाँति राजधनके अपहरणसे घृणा करके उससे अपनेको बचानेका प्रयत्न करे ॥ ५१ ॥

नश्येदभिमृशन् सद्यो मृगः कूटमिव स्पृशन् ।
आत्मस्वमिव रक्षेत राजस्वमिह बुद्धिमान् ॥ ५२ ॥

जैसे मृग मारण-मन्त्रका स्पर्श करते ही अपने प्राणोंसे हाथ धो बैठता है, उसी प्रकार राजाके धनपर हाथ लगानेवाला मनुष्य तत्काल मारा जाता है; अतः बुद्धिमान् पुरुषको चाहिये कि वह अपने ही धनके समान इस जगत्में राजाके धनकी भी रक्षा करे ॥ ५२ ॥

महान्तं नरकं घोरमप्रतिष्ठमचेतनम् ।
पतन्ति चिररात्राय राजवित्तापहारिणः ॥ ५३ ॥

राजाके धनका अपहरण करनेवाले मनुष्य दीर्घकालके लिये विशाल, भयंकर, अस्थिर और चेतनाशक्तिको लुप्त कर देनेवाले नरकमें गिरते हैं ॥ ५३ ॥

राजा भोजो विराट् सम्राट् क्षत्रियो भूपतिर्नृपः ।
य एभिः स्तूयते शब्दैः कस्तं नार्चितुमर्हति ॥ ५४ ॥

भोज, विराट्, सम्राट्, क्षत्रिय, भूपति और नृप—इन शब्दोंद्वारा जिस राजाकी स्तुति की जाती है, उस प्रजापालक नरेशकी पूजा कौन नहीं करेगा ? ॥ ५४ ॥

तस्माद् बुभूषुर्नियतो जितात्मा नियतेन्द्रियः ।
मेधावी स्मृतिमान् दक्षः संश्रयेत महीपतिम् ॥५५॥

इसलिये अपनी उन्नतिकी इच्छा रखनेवाला, मेधावी, स्मरण-शक्तिसे सम्पन्न एवं कार्यदक्ष मनुष्य नियमपूर्वक रहकर मन और इन्द्रियोंको संयममें रखते हुए राजाका आश्रय ग्रहण करे ॥ ५५ ॥

कृतज्ञं प्राज्ञमक्षुद्रं दृढभक्तिं जितेन्द्रियम् ।
धर्मनित्यं स्थितं नीत्यं मन्त्रिणं पूजयेन्नृपः ॥ ५६ ॥

राजाको उचित है कि वह कृतज्ञ, विद्वान्, महामना, राजाके प्रति दृढ़ भक्ति रखनेवाले, जितेन्द्रिय, नित्य धर्म-परायण और नीतिज्ञ मन्त्रीका आदर करे ॥ ५६ ॥

दृढभक्तिं कृतप्रज्ञं धर्मज्ञं संयतेन्द्रियम् ।
शूरमक्षुद्रकर्माणं निषिद्धजनमाश्रयेत् ॥ ५७ ॥

इसी प्रकार राजा अपने प्रति दृढ़ भक्तिसे सम्पन्न, युद्धकी शिक्षा पाये हुए, बुद्धिमान्, धर्मज्ञ, जितेन्द्रिय, शूरवीर और श्रेष्ठ कर्म करनेवाले ऐसे वीर पुरुषको सेनापति बनावे, जो अपनी सहायताके लिये दूसरोंका आश्रय लेनेवाला न हो ॥

राजा प्रगल्भं कुरुते मनुष्यं
राजा कृशं वै कुरुते मनुष्यम् ।
राजाभिपन्नस्य कुतः सुखानि
राजाभ्युपेतं सुखिनं करोति ॥ ५८ ॥

राजा मनुष्यको धृष्ट एवं सबल बनाता है और राजा ही उसे दुर्बल कर देता है । राजाके रोषका शिकार बने हुए मनुष्यको कैसे सुख मिल सकता है ? राजा अपने शरणागतको सुखी बना देता है ॥ ५८ ॥

(राजा प्रजानां प्रथमं शरीरं
प्रजाश्च राज्ञोऽप्रतिमं शरीरम् ।
राज्ञा विहीना न भवन्ति देशा
देशैर्विहीना न नृपा भवन्ति ॥)

राजा प्रजाओंका प्रथम अथवा प्रधान शरीर है । प्रजा भी राजाका अनुपम शरीर है । राजाके बिना देश और वहाँके निवासी नहीं रह सकते और देशों तथा देशवासियोंके बिना राजा भी नहीं रह सकते हैं ॥

राजा प्रजानां हृदयं गरीयो
गतिः प्रतिष्ठा सुखमुत्तमं च ।
समाश्रिता लोकमिमं परं च
जयन्ति सम्यक् पुरुषा नरेन्द्र ॥ ५९ ॥

राजा प्रजाका गुरुतर हृदय, गति, प्रतिष्ठा और उत्तम सुख है । नरेन्द्र ! राजाका आश्रय लेनेवाले मनुष्य इस लोक और परलोकपर भी पूर्णतः विजय पा लेते हैं ॥ ५९ ॥

नराधिपश्चाप्यनुशिष्य मेदिनीं
दमेन सत्येन च सौहृदेन ।
महद्भिरिष्ट्वा क्रतुभिर्महायशा-
स्त्रिविष्टपे स्थानमुपैति शाश्वतम्॥ ६० ॥

राजा भी इन्द्रिय-संयम, सत्य और सौहार्दके साथ इस पृथ्वीका भलीभाँति शासन करके बड़े-बड़े यज्ञोंके अनुष्ठान-द्वारा महान् यशका भागी हो स्वर्गलोकमें सनातन स्थान प्राप्त कर लेता है ॥ ६० ॥

स एवमुक्तोऽङ्गिरसा कौसल्यो राजसत्तमः ।
प्रयत्नात् कृतवान् वीरः प्रजानां परिपालनम् ॥ ६१ ॥

राजन् ! बृहस्पतिजीके ऐसा कहनेपर राजाओंमें श्रेष्ठ कोसलनरेश वीर वसुमना अपनी प्रजाओंका प्रयत्नपूर्वक पालन करने लगे ॥ ६१ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि राजधर्मानुशासनपर्वणि आङ्गिरसवाक्येऽष्टषष्टितमोऽध्यायः ॥ ६८ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत राजधर्मानुशासनपर्वमें बृहस्पतिजीका उपदेशविषयक अड़सठवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ६८ ॥
(दाक्षिणात्य अधिक पाठका १ श्लोक मिलाकर कुल ६२ श्लोक हैं)

एकोनसप्ततितमोऽध्यायः

राजाके प्रधान कर्तव्योंका तथा दण्डनीतिके द्वारा युगोंके निर्माणका वर्णन

युधिष्ठिर उवाच

पार्थिवेन विशेषेण किं कार्यमवशिष्यते ।
कथं रक्ष्यो जनपदः कथं जेयाश्च शत्रवः ॥ १ ॥

युधिष्ठिरने पूछा—पितामह ! राजाके द्वारा विशेष-रूपसे पालन करने योग्य और कौन-सा कार्य शेष है ? उसे गाँवोंकी रक्षा कैसे करनी चाहिये और शत्रुओंको किस प्रकार जीतना चाहिये ? ॥ १ ॥

कथं चारं प्रयुञ्जीत वर्णान् विश्वासयेत् कथम् ।
कथं भृत्यान् कथं दारान् कथं पुत्रांश्च भारत ॥ २ ॥

राजा गुप्तचरकी नियुक्ति कैसे करे ? सब वर्णोंके मनमें किस प्रकार विश्वास उत्पन्न करे ? भारत ! वह भृत्यों, स्त्रियों और पुत्रोंको भी कैसे कार्यमें लगावे ? तथा उनके मनमें भी किस तरह विश्वास पैदा करे ? ॥ २ ॥

भीष्म उवाच

राजवृत्तं महाराज शृणुष्वावहितोऽखिलम् ।
यत् कार्यं पार्थिवेनादौ पार्थिवप्रकृतेन वा ॥ ३ ॥

भीष्मजीने कहा—महाराज ! क्षत्रिय राजा अथवा राज-कार्य करनेवाले अन्य पुरुषको सबसे पहले जो कार्य करना चाहिये, वह सारा राजकीय आचार-व्यवहार सावधान होकर सुनो ॥ ३ ॥

आत्मा जेयः सदा राज्ञा ततो जेयाश्च शत्रवः ।
अजितात्मा नरपतिर्विजयेत कथं रिपून् ॥ ४ ॥

राजाको सबसे पहले सदा अपने मनपर विजय प्राप्त करनी चाहिये, उसके बाद शत्रुओंको जीतनेकी चेष्टा करनी चाहिये। जिस राजाने अपने मनको नहीं जीता, वह शत्रुपर विजय कैसे पा सकता है? ॥ ४ ॥

एतावानात्मविजयः पञ्चवर्गविनिग्रहः।
जितेन्द्रियो नरपतिर्बाधितुं शक्नुयादरीन् ॥ ५ ॥

श्रोत्र आदि पाँचों इन्द्रियोंको वशमें रखना यही मनपर विजय पाना है। जितेन्द्रिय नरेश ही अपने शत्रुओंका दमन कर सकता है ॥ ५ ॥

न्यसेत गुल्मान् दुर्गेषु सन्धौ च कुरुनन्दन।
नगरोपवने चैव पुरोद्यानेषु चैव ह ॥ ६ ॥

कुरुनन्दन! राजाको किलोंमें, राज्यकी सीमापर तथा नगर और गाँवके बगीचोंमें सेना रखनी चाहिये ॥ ६ ॥

संस्थानेषु च सर्वेषु पुरेषु नगरेषु च।
मध्ये च नरशार्दूल तथा राजनिवेशने ॥ ७ ॥

नरसिंह! इसी प्रकार सभी पड़ावोंपर, बड़े-बड़े गाँवों और नगरोंमें, अन्तःपुरमें तथा राजमहलके आसपास भी रक्षक सैनिकोंकी नियुक्ति करनी चाहिये ॥ ७ ॥

प्रणिधींश्च ततः कुर्याज्जडान्धबधिराकृतीन्।
पुंसः परीक्षितान् प्राज्ञान् क्षुत्पिपासाश्रमक्षमान् ॥ ८ ॥

तदनन्तर जिन लोगोंकी अच्छी तरह परीक्षा कर ली गयी हो, जो बुद्धिमान् होनेपर भी देखनेमें गूँगे, अंधे और बहरे-से जान पड़ते हों तथा जो भूख-प्यास और परिश्रम सहनेकी शक्ति रखते हों, ऐसे लोगोंको ही गुप्तचर बनाकर आवश्यक कार्योंमें नियुक्त करना चाहिये ॥ ८ ॥

अमात्येषु च सर्वेषु मित्रेषु विविधेषु च।
पुत्रेषु च महाराज प्रणिदध्यात् समाहितः ॥ ९ ॥

महाराज! राजा एकाग्रचित्त हो सब मन्त्रियों, नाना प्रकारके मित्रों तथा पुत्रोंपर भी गुप्तचर नियुक्त करे ॥ ९ ॥

पुरे जनपदे चैव तथा सामन्तराजसु।
यथा न विद्युरन्योन्यं प्रणिधेयास्तथा हि ते ॥ १० ॥

नगर, जनपद तथा मल्ललोग जहाँ व्यायाम करते हों उन स्थानोंमें ऐसी युक्तिसे गुप्तचर नियुक्त करने चाहिये, जिससे वे आपसमें भी एक दूसरेको पहचान न सकें ॥ १० ॥

चारांश्च विद्यात् प्रहितान् परेण भरतर्षभ।
आपणेषु विहारेषु समाजेषु च भिक्षुषु ॥ ११ ॥
आरामेषु तथोद्याने पण्डितानां समागमे।
देशेषु चत्वरे चैव सभास्वावसथेषु च ॥ १२ ॥

भरतश्रेष्ठ! राजाको अपने गुप्तचरोंद्वारा बाजारों, लोगोंके घूमने-फिरनेके स्थानों, सामाजिक उत्सवों, भिक्षुकोंके समुदायों, बगीचों, उद्यानों, विद्वानोंकी सभाओं, विभिन्न प्रान्तों, चौराहों, सभाओं और धर्मशालाओंमें शत्रुओंके भेजे हुए गुप्तचरोंका पता लगाते रहना चाहिये ॥ ११-१२ ॥

एवं विचिनुयाद् राजा परचारं विचक्षणः।
चारे हि विदिते पूर्वं हितं भवति पाण्डव ॥ १३ ॥

पाण्डुनन्दन! इस प्रकार बुद्धिमान् राजा शत्रुके गुप्तचरका टोह लेता रहे। यदि उसने शत्रुके जासूसका पहले ही पता लगा लिया तो इससे उसका बड़ा हित होता है ॥ १३ ॥

यदा तु हीनं नृपतिर्विद्यादात्मानमात्मना।
अमात्यैः सह सम्मन्त्र्य कुर्यात् संधिं बलीयसा ॥ १४ ॥

यदि राजाको अपना पक्ष स्वयं ही निर्बल जान पड़े तो मन्त्रियोंसे सलाह लेकर बलवान् शत्रुके साथ संधि कर ले ॥ १४ ॥

(विद्वांसः क्षत्रिया वैश्या ब्राह्मणाश्च बहुश्रुताः।
दण्डनीतौ तु निष्पन्ना मन्त्रिणः पृथिवीपते ॥
प्रष्टव्यो ब्राह्मणः पूर्वं नीतिशास्त्रस्य तत्त्ववित्।
पश्चात् पृच्छेत भूपालः क्षत्रियं नीतिकोविदम् ॥
वैश्यशूद्रौ तथा भूयः शास्त्रज्ञौ हितकारिणौ।)

पृथ्वीपते! विद्वान् क्षत्रिय, वैश्य तथा अनेक शास्त्रोंके ज्ञाता ब्राह्मण यदि दण्डनीतिके ज्ञानमें निपुण हों तो इन्हें मन्त्री बनाना चाहिये। पहले नीतिशास्त्रका तत्त्व जाननेवाले विद्वान् ब्राह्मणसे किसी कार्यके लिये सलाह पूछनी चाहिये। इसके बाद पृथ्वीपालक नरेशको चाहिये कि वह नीतिज्ञ क्षत्रियसे अभीष्ट कार्यके विषयमें पूछे। तदनन्तर अपने हितमें लगे रहनेवाले शास्त्रज्ञ वैश्य और शूद्रोंसे सलाह ले ॥

अज्ञायमाने हीनत्वे संधिं कुर्यात् परेण वै।
लिप्सुर्वा कंचिदेवार्थं त्वरमाणो विचक्षणः ॥ १५ ॥

अपनी हीनता या निर्बलताका पता शत्रुको लगनेसे पहले ही शत्रुके साथ संधि कर लेनी चाहिये। यदि इस संधिके द्वारा कोई प्रयोजन सिद्ध करनेकी इच्छा हो तो विद्वान् एवं बुद्धिमान् राजाको इस कार्यमें विलम्ब नहीं करना चाहिये ॥ १५ ॥

गुणवन्तो महोत्साहा धर्मज्ञाः साधवश्च ये।
संदधीत नृपस्तैश्च राष्ट्रं धर्मेण पालयन् ॥ १६ ॥

जो गुणवान्, महान् उत्साही, धर्मज्ञ और साधु पुरुष हों, उन्हें सहयोगी बनाकर धर्मपूर्वक राष्ट्रकी रक्षा करनेवाला नरेश बलवान् राजाओंके साथ संधि स्थापित करे ॥ १६ ॥

उच्छिद्यमानमात्मानं ज्ञात्वा राजा महामतिः।
पूर्वापकारिणो हन्याल्लोकद्विष्टांश्च सर्वशः ॥ १७ ॥

यदि यह पता लग जाय कि कोई हमारा उच्छेद कर रहा है, तो परम बुद्धिमान् राजा पहलेके अपकारियोंको तथा जनताके साथ द्वेष रखनेवालोंको भी सर्वथा नष्ट कर दे ॥ १७ ॥

यो नोपकर्तुं शक्नोति नापकर्तुं महीपतिः।
न शक्यरूपश्चोद्धर्तुमुपेक्ष्यस्तादृशो भवेत् ॥ १८ ॥

जो राजा न तो उपकार कर सकता हो और न अपकार कर सकता हो तथा जिसका सर्वथा उच्छेद कर डालना भी उचित नहीं प्रतीत होता हो, उस राजाकी उपेक्षा कर देनी चाहिये ॥ १८ ॥

यात्रायां यदि विज्ञातमनाक्रन्दमनन्तरम्।
व्यासक्तं च प्रमत्तं च दुर्बलं च विचक्षणः ॥ १९ ॥
यात्रामाज्ञापयेद् वीरः कल्यः पुष्टबलः सुखी।
पूर्वं कृत्वा विधानं च यात्रायां नगरे तथा ॥ २० ॥

यदि शत्रुपर चढ़ाई करनेकी इच्छा हो तो पहले उसके बलाबलके बारेमें अच्छी तरह पता लगा लेना चाहिये । यदि वह मित्रहीन, सहायकों और बन्धुओंसे रहित, दूसरोंके साथ युद्धमें लगा हुआ, प्रमादमें पड़ा हुआ तथा दुर्बल जान पड़े और इधर अपनी सैनिक शक्ति प्रबल हो तो युद्धनिपुण, सुखके साधनोंसे सम्पन्न एवं वीर राजाको उचित है कि अपनी सेनाको यात्राके लिये आज्ञा दे दे। पहले अपनी राजधानीकी रक्षाका प्रबन्ध करके शत्रुपर आक्रमण करना चाहिये ॥ १९-२० ॥

न च वश्यो भवेदस्य नृपो यश्चातिवीर्यवान् ।
हीनश्च बलवीर्याभ्यां कर्षयंस्तत्परो वसेत् ॥ २१ ॥

बल और पराक्रमसे हीन राजा भी जो अपनेसे अत्यन्त शक्तिशाली नरेश हो उसके अधीन न रहे । उसे चाहिये कि गुप्तरूपसे प्रबल शत्रुको क्षीण करनेका प्रयत्न करता रहे ॥ २१ ॥

राष्ट्रं च पीडयेत् तस्य शस्त्राग्निविषमूर्छनैः ।
अमात्यवल्लभानां च विवादांस्तस्य कारयेत् ॥ २२ ॥

वह शस्त्रोंके प्रहारसे घायल करके, आग लगाकर तथा विषके प्रयोगद्वारा मूर्छित करके शत्रुके राष्ट्रमें रहनेवाले लोगोंको पीड़ा दे । मन्त्रियों तथा राजाके प्रिय व्यक्तियोंमें कलह प्रारम्भ करा दे ॥ २२ ॥

वर्जनीयं सदा युद्धं राज्यकामेन धीमता ।
उपायैस्त्रिभिरादानमर्थस्याह बृहस्पतिः ॥ २३ ॥
सान्त्वेन तु प्रदानेन भेदेन च नराधिप ।
यदर्थं शक्नुयात् प्राप्तुं तेन तुष्येत पण्डितः ॥ २४ ॥

जो बुद्धिमान् राजा राज्यका हित चाहे, उसे सदा युद्धको टालनेका ही प्रयत्न करना चाहिये । नरेश्वर ! बृहस्पतिजीने साम, दान और भेद—इन तीन उपायोंसे ही राजाके लिये धनकी आय बतायी है । इन उपायोंसे जो धन प्राप्त किया जा सके, उसीसे विद्वान् राजाको संतुष्ट होना चाहिये ॥ २३-२४ ॥

आददीत बलिं चापि प्रजाभ्यः कुरुनन्दन ।
स षड्भागमपि प्राज्ञस्तासामेवाभिगुप्तये ॥ २५ ॥

कुरुनन्दन ! बुद्धिमान् नरेश प्रजाजनोंसे उन्हींकी रक्षाके लिये उनकी आयका छठा भाग करके रूपमें ग्रहण करे ॥ २५ ॥

दशधर्मगतेभ्यो यद् वसु बह्वल्पमेव च ।
तदाददीत सहसा पौराणां रक्षणाय वै ॥ २६ ॥

मत्त, उन्मत्त आदि जो दस प्रकारके[1] दण्डनीय मनुष्य हैं, उनसे थोड़ा या बहुत जो धन दण्डके रूपमें प्राप्त हो, उसे पुरवासियोंकी रक्षाके लिये ही सहसा ग्रहण कर ले ॥ २६ ॥

यथा पुत्रास्तथा पौरा द्रष्टव्यास्ते न संशयः ।
भक्तिश्चैषां न कर्तव्या व्यवहारे प्रदर्शिते ॥ २७ ॥

निःसंदेह राजाको चाहिये कि वह अपनी प्रजाको पुत्रों और पौत्रोंकी भाँति स्नेहदृष्टिसे देखे; परंतु जब न्याय करनेका अवसर प्राप्त हो, तब उसे स्नेहवश पक्षपात नहीं करना चाहिये ॥

श्रोतुं चैव न्यसेद् राजा प्राज्ञान् सर्वार्थदर्शिनः ।
व्यवहारेषु सततं तत्र राज्यं प्रतिष्ठितम् ॥ २८ ॥

राजा न्याय करते समय सदा वादी-प्रतिवादीकी बातोंको सुननेके लिये अपने पास सर्वार्थदर्शी विद्वान् पुरुषोंको बिठाये रक्खे; क्योंकि विशुद्ध न्यायपर ही राज्य प्रतिष्ठित होता है ॥

आकरे लवणे शुल्के तरे नागबले तथा ।
न्यसेदमात्यान् नृपतिः स्वाप्तान् वा पुरुषान् हितान् ॥ २९ ॥

सोने आदिकी खान, नमक, अनाज आदिकी मंडी, नावके घाट तथा हाथियोंके यूथ—इन सब स्थानोंपर होनेवाली आयके निरीक्षणके लिये मन्त्रियोंको अथवा अपना हित चाहनेवाले विश्वसनीय पुरुषोंको राजा नियुक्त करे ॥ २९ ॥

सम्यग्दण्डधरो नित्यं राजा धर्ममवाप्नुयात् ।
नृपस्य सततं दण्डः सम्यग् धर्मः प्रशस्यते ॥ ३० ॥

भलीभाँति दण्ड धारण करनेवाला राजा सदा धर्मका भागी होता है । निरन्तर दण्ड धारण किये रहना राजाके लिये उत्तम धर्म मानकर उसकी प्रशंसा की जाती है ॥ ३० ॥

वेदवेदाङ्गवित् प्राज्ञः सुतपस्वी नृपो भवेत् ।
दानशीलश्च सततं यज्ञशीलश्च भारत ॥ ३१ ॥

भरतनन्दन ! राजाको वेदों और वेदाङ्गोंका विद्वान्, बुद्धिमान्, तपस्वी, सदा दानशील और यज्ञपरायण होना चाहिये ॥ ३१ ॥

एते गुणाः समस्ताः स्युर्नृपस्य सततं स्थिराः ।
व्यवहारलोपे नृपतेः कुतः स्वर्गः कुतो यशः ॥ ३२ ॥

ये सारे गुण राजामें सदा स्थिरभावसे रहने चाहिये । यदि राजाका न्यायोचित व्यवहार ही लुप्त हो गया, तो उसे कैसे स्वर्ग प्राप्त हो सकता है और कैसे यश ? ॥ ३२ ॥

यदा तु पीडितो राजा भवेद् राज्ञा बलीयसा ।
तदाभिसंश्रयेद् दुर्गं बुद्धिमान् पृथिवीपतिः ॥ ३३ ॥

बुद्धिमान् पृथिवीपालक नरेश जब किसी अत्यन्त बलवान् राजासे पीड़ित होने लगे, तब उसे दुर्गका आश्रय लेना चाहिये ॥ ३३ ॥

विधायाक्रम्य मित्राणि विधानमुपकल्पयेत् ।
सामभेदान् विरोधार्थं विधानमुपकल्पयेत् ॥ ३४ ॥

उस समय प्राप्त कर्तव्यपर विचार करनेके लिये मित्रोंका आश्रय लेकर उनकी सलाहसे पहले तो अपनी रक्षाके लिये उचित व्यवस्था करे; फिर साम, भेद अथवा युद्धमेंसे क्या करना है ? इसपर विचार करके उसके उपयुक्त कार्य करे ॥ ३४ ॥

घोषान् न्यसेत मार्गेषु ग्रामानुत्थापयेदपि ।
प्रवेशयेच्च तान् सर्वान् शाखानगरकेष्वपि ॥ ३५ ॥

यदि युद्धका ही निश्चय हो तो पशुशालाओंको वनमेंसे उठाकर सड़कोंपर ले आवे, छोटे-छोटे गाँवोंको उठा दे और उन सबको शाखानगरों (कस्बों) में मिला दे ॥ ३५ ॥

ये गुप्ताश्चैव दुर्गाश्च देशास्तेषु प्रवेशयेत् ।
धनिनो बलमुख्यांश्च सान्त्वयित्वा पुनः पुनः ॥ ३६ ॥

[1] १. मत्त, उन्मत्त आदि दस प्रकारके अपराधियोंके नाम इस प्रकार हैं—१ मत्त, २ उन्मत्त, ३ दस्यु, ४ तस्कर, ५ प्रतारक, ६ शठ, ७ लम्पट, ८ जुआरी, ९ कृत्रिम लेखक (जालिया), और १० घूसखोर।

राज्यमें जो धनी और सेनाके प्रधान-प्रधान अधिकारी हों अथवा जो मुख्य-मुख्य सेनाएँ हों, उन सबको बारंबार सान्त्वना देकर ऐसे स्थानोंमें रख दे, जो अत्यन्त गुप्त और दुर्गम हों ॥ ३६ ॥

शस्याभिहारं कुर्याच्च स्वयमेव नराधिपः।
असम्भवे प्रवेशस्य दहेद् दावाग्निना भृशम् ॥ ३७ ॥

राजा स्वयं ही ध्यान देकर खेतोंमें तैयार हुई अनाजकी फसलको कटवाकर किलेके भीतर रखवा ले। यदि किलेमें लाना सम्भव न हो तो उन फसलोंको आग लगाकर जला दे ॥ ३७ ॥

क्षेत्रस्थेषु च सस्येषु शत्रोरुपजपेन्नरान्।
विनाशयेद् वा तत् सर्वं बलेनाथ स्वकेन वा ॥ ३८ ॥

शत्रुके खेतोंमें जो अनाज हों, उन्हें नष्ट करनेके लिये वहींके लोगोंमें फूट डाले अथवा अपनी ही सेनाके द्वारा वह सब नष्ट करा दे, जिससे शत्रुके पास खाद्यसामग्रीका अभाव हो जाय ॥ ३८ ॥

नदीमार्गेषु च तथा संक्रमानवसादयेत्।
जलं विस्रावयेत् सर्वमविस्राव्यं च दूषयेत् ॥ ३९ ॥

नदीके मार्गोंपर जो पुल पड़ते हों उन सबको तुड़वा दे। शत्रुके मार्गमें जो जलाशय हों, उनका सारा जल इधर-उधर बहा दे। जो जल बहाया न जा सके, उसे दूषित कर दे, जिससे वह पीने योग्य न रह जाय ॥ ३९ ॥

तदात्वेनायतीभिश्च निवसेद् भूम्यनन्तरम्।
प्रतीघातं परस्याजौ मित्रकार्येऽप्युपस्थिते ॥ ४० ॥

वर्तमान अथवा भविष्यमें सदा किसी मित्रका कार्य उपस्थित हो तो उसे भी छोड़कर अपने शत्रुके उस शत्रुका आश्रय लेकर रहे जो राज्यकी भूमिके निकटका निवासी हो तथा युद्धमें शत्रुपर आघात करनेके लिये तैयार रहता हो ॥ ४० ॥

दुर्गाणां चाभितो राजा मूलच्छेदं प्रकारयेत्।
सर्वेषां क्षुद्रवृक्षाणां चैत्यवृक्षान् विवर्जयेत् ॥ ४१ ॥

जो छोटे-छोटे दुर्ग हों (जिनमें शत्रुओंके छिपनेकी सम्भावना हो), उन सबका राजा मूलोच्छेद करा डाले और चैत्य (देवालय-सम्बन्धी) वृक्षोंको छोड़कर अन्य सभी छोटे-छोटे वृक्षोंको कटवा दे ॥ ४१ ॥

प्रवृद्धानां च वृक्षाणां शाखां प्रच्छेदयेत् तथा।
चैत्यानां सर्वथा त्याज्यमपि पत्रस्य पातनम् ॥ ४२ ॥

जो वृक्ष बढ़कर बहुत फैल गये हों, उनकी डालियाँ कटवा दे; परंतु देवसम्बन्धी वृक्षोंको सर्वथा सुरक्षित रहने दे। उनका एक पत्ता भी न गिरावे ॥ ४२ ॥

प्रगण्डीः कारयेत् सम्यगाकाशजननीस्तदा।
आपूरयेच्च परिखां स्थाणुनक्रझषाकुलाम् ॥ ४३ ॥

नगर एवं दुर्गके परकोटोंपर शूरवीर रक्षा-सैनिकोंके बैठनेके लिये स्थान बनावे, ऐसे स्थानोंको 'प्रगण्डी' कहते हैं, इन्हीं प्रगण्डियोंकी एक पाखवाली दीवारोंमें बाहरकी वस्तुओंको देखनेके लिये छोटे-छोटे छिद्र बनवावे, इन छिद्रोंको 'आकाशजननी' कहते हैं (इनके द्वारा तोपोंसे गोलियाँ छोड़ी जाती हैं), इन सबका अच्छी तरहसे निर्माण करावे। परकोटोंके बाहर बनी हुई खाईमें जल भरवा दे और उसमें त्रिशूलयुक्त खंभे गड़वा दे तथा मगरमच्छ और बड़े-बड़े मत्स्य भी डलवा दे ॥ ४३ ॥

संकटद्वारकाणि स्युरुच्छ्वासार्थं पुरस्य च।
तेषां च द्वारवद् गुप्तिः कार्या सर्वात्मना भवेत् ॥ ४४ ॥

नगरमें हवा आने-जानेके लिये परकोटोंमें सँकरे दरवाजे बनावे और बड़े दरवाजोंकी भाँति उनकी भी सब प्रकारसे रक्षा करे ॥ ४४ ॥

द्वारेषु च गुरूण्येव यन्त्राणि स्थापयेत् सदा।
आरोपयेच्छतघ्नीश्च स्वाधीनानि च कारयेत् ॥ ४५ ॥

सभी दरवाजोंपर भारी-भारी यन्त्र और तोप सदा लगाये रक्खे और उन सबको अपने अधिकारमें रक्खे ॥ ४५ ॥

काष्ठानि चाभिहार्याणि तथा कूपांश्च खानयेत्।
संशोधयेत् तथा कूपान् कृतपूर्वान् पयोऽर्थिभिः ॥ ४६ ॥

किलेके भीतर बहुत-सा ईंधन इकट्ठा कर ले और कुएँ खुदवाये। जल पीनेकी इच्छावाले लोगोंने पहले जो कुएँ बना रक्खे हों, उनको भी झरवाकर शुद्ध करा दे ॥ ४६ ॥

तृणच्छन्नानि वेश्मानि पङ्केनाथ प्रलेपयेत्।
निर्हरेच्च तृणं मासि चैत्रे वह्निभयात् तथा ॥ ४७ ॥

घास-फूँससे छाये हुए घरोंको गीली मिट्टीसे लिपवा दे और चैतका महीना आते ही आग लगनेके भयसे नगरके भीतरसे घास-फूँस हटवा दे। खेतोंसे भी तृण आदिको हटा दे ॥ ४७ ॥

नक्तमेव च भक्तानि पाचयेत नराधिपः।
न दिवा ज्वालयेदग्निं वर्जयित्वाऽऽग्निहोत्रिकम् ॥ ४८ ॥

राजाको चाहिये कि वह युद्धके अवसरोंपर नगरके लोगोंको रातमें ही भोजन बनानेकी आज्ञा दे। दिनमें अग्निहोत्रको छोड़कर और किसी कामके लिये कोई आग न जलावे ॥ ४८ ॥

कर्मारारिष्टशालासु ज्वलेदग्निः सुरक्षितः।
गृहाणि च प्रवेश्यान्तर्विधेयः स्याद्धुताशनः ॥ ४९ ॥

लोहार आदिकी भट्ठियोंमें और सूतिकागृहोंमें भी अत्यन्त सुरक्षित रूपसे आग जलानी चाहिये, आगको घरके भीतर ले जाकर ढककर रखना चाहिये ॥ ४९ ॥

महादण्डश्च तस्य स्याद् यस्याग्निर्वै दिवा भवेत्।
प्रघोषयेदथैवं च रक्षणार्थं पुरस्य च ॥ ५० ॥

नगरकी रक्षाके लिये यह घोषणा करा दे कि 'जिसके यहाँ दिनमें आग जलायी जाती होगी उसे बड़ा भारी दण्ड दिया जायगा' ॥ ५० ॥

भिक्षुकांश्चाक्रिकांश्चैव क्लीबोन्मत्तान् कुशीलवान्।
बाह्यान् कुर्यान्नरश्रेष्ठ दोषाय स्युर्हि तेऽन्यथा ॥ ५१ ॥

नरश्रेष्ठ ! जब युद्ध छिड़ा हो, तब राजाको चाहिये कि वह नगरसे भिखमंगों, गाड़ीवानों, हीजड़ों, पागलों और नाटक करनेवालोंको बाहर निकाल दे; अन्यथा वे बड़ी भारी विपत्ति ला सकते हैं ॥ ५१ ॥

चत्वरेष्वथ तीर्थेषु सभास्वावसथेषु च ।
यथार्थवर्णं प्रणिधिं कुर्यात् सर्वस्य पार्थिवः ॥ ५२ ॥

राजाको चाहिये कि वह चौराहोंपर, तीर्थोंमें, सभाओंमें और धर्मशालाओंमें सबकी मनोवृत्तिको जाननेके लिये किसी शुद्ध वर्णवाले पुरुषको (जो वर्णसंकर न हो) गुप्तचर नियुक्त करे ॥ ५२ ॥

विशालान् राजमार्गांश्च कारयीत नराधिपः ।
प्रपाश्च विपणांश्चैव यथोद्देशं समाविशेत् ॥ ५३ ॥

प्रत्येक नरेशको बड़ी-बड़ी सड़कें बनवानी चाहिये और जहाँ जैसी आवश्यकता हो उसके अनुसार जलक्षेत्र और बाजारोंकी व्यवस्था करनी चाहिये ॥ ५३ ॥

भाण्डागारायुधागारान् योधागारांश्च सर्वशः ।
अश्वागारान् गजागारान् बलाधिकरणानि च ॥ ५४ ॥
परिखाश्चैव कौरव्य प्रतोलीर्निष्कुटानि च ।
न जात्वन्यः प्रपश्येत गुह्यमेतद् युधिष्ठिर ॥ ५५ ॥

कुरुनन्दन युधिष्ठिर ! अन्नके भण्डार, शस्त्रागार, योद्धाओंके निवासस्थान, अश्वशालाएँ, गजशालाएँ, सैनिक शिविर, खाई, गलियाँ तथा राजमहलके उद्यान—इन सब स्थानोंको गुप्तरीतिसे बनवाना चाहिये, जिससे कभी दूसरा कोई देख न सके ॥५४-५५॥

अर्थसंनिचयं कुर्याद् राजा परबलार्दितः ।
तैलं वसा मधु घृतमौषधानि च सर्वशः ॥ ५६ ॥
अङ्गारकुशमुञ्जानां पलाशशरवर्णिनाम् ।
यवसेन्धनदिग्धानां कारयीत च संचयान् ॥ ५७ ॥

शत्रुओंकी सेनासे पीड़ित हुआ राजा धन-संचय तथा आवश्यक वस्तुओंका संग्रह करके रखे । घायलोंकी चिकित्साके लिये तेल, चर्बी, मधु, घी, सब प्रकारके औषध, अङ्गारे, कुश, मूँज, ढाक, बाण, लेखक, घास और विषमें बुझाये हुए बाणोंका भी संग्रह करावे ॥ ५६-५७ ॥

आयुधानां च सर्वेषां शक्त्यृष्टिप्रासवर्मणाम् ।
संचयानेवमादीनां कारयीत नराधिपः ॥ ५८ ॥

इसी प्रकार राजाको चाहिये कि शक्ति, ऋष्टि और प्रास आदि सब प्रकारके आयुधों, कवचों तथा ऐसी ही अन्य आवश्यक वस्तुओंका संग्रह करावे ॥ ५८ ॥

औषधानि च सर्वाणि मूलानि च फलानि च ।
चतुर्विधांश्च वैद्यान् वै संगृह्णीयाद् विशेषतः ॥ ५९ ॥

सब प्रकारके औषध, मूल, फूल तथा विषका नाश करनेवाले, घावपर पट्टी करनेवाले, रोगोंको निवारण करनेवाले और कृत्याका नाश करनेवाले—इन चार प्रकारके वैद्योंका विशेष रूपसे संग्रह करे ॥ ५९ ॥

नटांश्च नर्तकांश्चैव मल्लान् मायाविनस्तथा ।
शोभयेयुः पुरवरं मोदयेयुश्च सर्वशः ॥ ६० ॥

साधारण स्थितिमें राजाको नटों, नर्तकों, पहलवानों तथा इन्द्रजाल दिखानेवालोंको भी अपने यहाँ आश्रय देना चाहिये; क्योंकि ये राजधानीकी शोभा बढ़ाते हैं और सबको अपने खेलोंसे आनन्द प्रदान करते हैं ॥ ६० ॥

यतः शङ्का भवेच्चापि भृत्यतोऽथापि मन्त्रितः ।
पौरेभ्यो नृपतेर्वापि स्वाधीनान् कारयीत तान् ॥ ६१ ॥

यदि राजाको अपने किसी नौकरसे, मन्त्रीसे, पुरवासियोंसे अथवा किसी पड़ोसी राजासे भी कोई संदेह हो जाय तो समयोचित उपायोंद्वारा उन सबको अपने वशमें कर ले ॥

कृते कर्मणि राजेन्द्र पूजयेद् धनसंचयैः ।
दानेन च यथार्हेण सान्त्वेन विविधेन च ॥ ६२ ॥

राजेन्द्र ! जब कोई अभीष्ट कार्य पूरा हो जाय तो उसमें सहयोग करनेवालोंका बहुत-से धन, यथायोग्य पुरस्कार तथा नाना प्रकारके सान्त्वनापूर्ण मधुर वचनके द्वारा सत्कार करना चाहिये ॥ ६२ ॥

निर्वेदयित्वा तु परं हत्वा वा कुरुनन्दन ।
ततोऽनृणो भवेद् राजा यथा शास्त्रे निदर्शितम् ॥ ६३ ॥

कुरुनन्दन ! राजा शत्रुको ताड़ना आदिके द्वारा खिन्न करके अथवा उसका वध करके फिर उसवंशमें हुए राजाका जैसा शास्त्रोंमें बताया गया है, उसके अनुसार दान-मानादिद्वारा सत्कार करके उससे उऋण हो जाय ॥ ६३ ॥

राज्ञा सप्तैव रक्ष्याणि तानि चैव निबोध मे ।
आत्मामात्याश्च कोशाश्च दण्डो मित्राणि चैव हि ॥६४॥
तथा जनपदाश्चैव पुरं च कुरुनन्दन ।
एतत् सप्तात्मकं राज्यं परिपाल्यं प्रयत्नतः ॥ ६५ ॥

कुरुनन्दन ! राजाको उचित है कि सात वस्तुओंकी अवश्य रक्षा करे । वे सात कौन हैं ? यह मुझसे सुनो । राजाका अपना शरीर, मन्त्री, कोश, दण्ड (सेना), मित्र, राष्ट्र और नगर—ये राज्यके सात अङ्ग हैं, राजाको इन सबका प्रयत्नपूर्वक पालन करना चाहिये ॥ ६४-६५ ॥

षाड्गुण्यं च त्रिवर्गं च त्रिवर्गपरमं तथा ।
यो वेत्ति पुरुषव्याघ्र स भुङ्क्ते पृथिवीमिमाम् ॥६६॥

पुरुषसिंह ! जो राजा छः गुण, तीन वर्ग और तीन परम वर्ग—इन सबको अच्छी तरह जानता है, वही इस पृथ्वीका उपभोग कर सकता है ॥ ६६ ॥

षाड्गुण्यमिति यत् प्रोक्तं तन्निबोध युधिष्ठिर ।
संधानासनमित्येव यात्रासंधानमेव च ॥ ६७ ॥
विगृह्यासनमित्येव यात्रां सम्परिगृह्य च ।
द्वैधीभावस्तथान्येषां संश्रयोऽथ परस्य च ॥ ६८ ॥

युधिष्ठिर ! इनमेंसे जो छः गुण कहे गये हैं, उनका परिचय सुनो, शत्रुसे संधि करके शान्तिसे बैठ जाना, शत्रुपर चढ़ाई करना, वैर करके बैठ रहना, शत्रुको डरानेके लिये आक्रमणका प्रदर्शनमात्र करके बैठ जाना, शत्रुओंमें भेद डलवा देना तथा किसी दुर्ग या दुर्जय राजाका आश्रय लेना॥

त्रिवर्गश्चापि यः प्रोक्तस्तमिहैकमनाः शृणु ।
क्षयः स्थानं च वृद्धिश्च त्रिवर्गः परमस्तथा ॥ ६९ ॥
धर्मश्चार्थश्च कामश्च सेवितव्योऽथ कालतः ।
धर्मेण च महीपालश्चिरं पालयते महीम् ॥ ७० ॥

जिन वस्तुओंको त्रिवर्गके अन्तर्गत बताया गया है, उनको

भी वहाँ एकचित्त होकर सुनो। क्षय, स्थान और वृद्धि—ये ही त्रिवर्ग हैं तथा धर्म, अर्थ और काम—इनको परम त्रिवर्ग कहा गया है। इन सबका समयानुसार सेवन करना चाहिये। राजा धर्मके अनुसार चले तो वह पृथ्वीका दीर्घकालतक पालन कर सकता है ॥ ६९-७० ॥

अस्मिन्नर्थे च श्लोकौ द्वौ गीतावङ्गिरसा स्वयम्।
याज्ञसेनीपुत्र भद्रं ते तावपि श्रोतुमर्हसि ॥ ७१ ॥

पृथापुत्र युधिष्ठिर! तुम्हारा कल्याण हो। इस विषयमें साक्षात् बृहस्पतिजीने जो दो श्लोक कहे हैं, उन्हें भी तुम सुनो ॥

कृत्वा सर्वाणि कार्याणि सम्यक् सम्पाल्य मेदिनीम्।
पालयित्वा तथा पौरान् परत्र सुखमेधते ॥ ७२ ॥

'सारे कर्तव्योंको पूरा करके पृथ्वीका अच्छी तरह पालन तथा नगर एवं राष्ट्रकी प्रजाका संरक्षण करनेसे राजा परलोकमें सुख पाता है ॥ ७२ ॥

किं तस्य तपसा राज्ञः किं च तस्याध्वरैरपि।
सुपालितप्रजो यः स्यात् सर्वधर्मविदेव सः ॥ ७३ ॥

'जिस राजाने अपनी प्रजाका अच्छी तरह पालन किया है, उसे तपस्यासे क्या लेना है? उसे यज्ञोंका भी अनुष्ठान करनेकी क्या आवश्यकता है? वह तो स्वयं ही सम्पूर्ण धर्मोंका ज्ञाता है'॥

(श्लोकाश्चोशनसा गीतास्तान् निबोध युधिष्ठिर।
दण्डनीतेश्च यन्मूलं त्रिवर्गस्य च भूपते ॥
भार्गवाङ्गिरसं कर्म षोडशाङ्गं च यद् बलम्।
विषं माया च दैवं च पौरुषं चार्थसिद्धये ॥
प्रागुदक्प्रवणं दुर्गं समासाद्य महीपतिः।
त्रिवर्गत्रयसम्पूर्णमुपादाय तमुद्वहेत् ॥

युधिष्ठिर! इस विषयमें शुक्राचार्यके कहे हुए कुछ श्लोक हैं, उन्हें सुनो। राजन्! उन श्लोकोंमें जो भाव है, वह दण्डनीति तथा त्रिवर्गका मूल है। भार्गवाङ्गिरस-कर्म, षोडशाङ्ग बल, विष, माया, दैव और पुरुषार्थ—ये सभी वस्तुएँ राजाकी अर्थसिद्धिके कारण हैं। राजाको चाहिये, जिसमें पूर्व और उत्तर दिशाकी भूमि नीची हो तथा जो तीनों प्रकारके त्रिवर्गोंसे परिपूर्ण हो उस दुर्गका आश्रय ले राज्यकार्यका भार वहन करे॥

षट् पञ्च च विनिर्जित्य दश चाष्टौ च भूपतिः।
त्रिवर्गैर्दशभिर्युक्तः सुरैरपि न जीयते ॥

षडवर्ग[1] पञ्चवर्ग,[2] दस[3] दोष और आठ दोष[4]—इन सबको जीतकर त्रिवर्गयुक्त[5] एवं दस[6] वर्गोंके ज्ञानसे सम्पन्न हुआ राजा देवताओंद्वारा भी जीता नहीं जा सकता॥

न बुद्धिं परिगृह्णीत स्त्रीणां मूर्खजनस्य च।
दैवोपहतबुद्धीनां ये च वेदैर्विवर्जिताः ॥
न तेषां शृणुयाद् राजा बुद्धिस्तेषां पराङ्मुखी।

राजा कभी स्त्रियों और मूर्खोंसे सलाह न ले। जिनकी बुद्धि दैवसे मारी गयी है तथा जो वेदोंके ज्ञानसे शून्य हैं, उनकी बात राजा कभी न सुने; क्योंकि उन लोगोंकी बुद्धि नीतिसे विमुख होती है ॥

स्त्रीप्रधानानि राज्यानि विद्वद्भिर्वर्जितानि च ॥
मूर्खामात्यप्रतप्तानि शुष्यन्ते जलबिन्दुवत्।

जिन राज्योंमें स्त्रियोंकी प्रधानता हो और जिन्हें विद्वानोंने छोड़ रक्खा हो; वे राज्य मूर्ख मन्त्रियोंसे संतप्त होकर पानीकी बूँदके समान सूख जाते हैं ॥

विद्वांसः प्रथिता ये च ये चाप्ताः सर्वकर्मसु ॥
युद्धेषु दृष्टकर्माणस्तेषां च शृणुयान्नृपः।

जो अपनी विद्वत्ताके लिये विख्यात हों, सभी कार्योंमें विश्वासके योग्य हों तथा युद्धके अवसरोंपर जिनके कार्य देखे गये हों, ऐसे मन्त्रियोंकी ही बात राजाको सुननी चाहिये ॥

दैवं पुरुषकारं च त्रिवर्गं च समाश्रितः ॥
दैवतानि च विप्रांश्च प्रणम्य विजयी भवेत्।)

दैव, पुरुषार्थ और त्रिवर्गका आश्रय ले देवताओं तथा ब्राह्मणोंको प्रणाम करके युद्धकी यात्रा करनेवाला राजा विजयी होता है॥

युधिष्ठिर उवाच

दण्डनीतिश्च राजा च समस्तौ तावुभावपि।
कस्य किं कुर्वतः सिद्ध्येत् तन्मे ब्रूहि पितामह ॥७४॥

युधिष्ठिरने पूछा—पितामह! दण्डनीति तथा राजा दोनों मिलकर ही कार्य करते हैं। इनमेंसे किसके क्या करनेसे कार्य-सिद्धि होती है? यह मुझे बताइये ॥ ७४ ॥

भीष्म उवाच

महाभाग्यं दण्डनीत्याः सिद्धैः शब्दैः सहेतुकैः।
शृणु मे शंसतो राजन् यथावदिह भारत ॥ ७५ ॥

भीष्मजी बोले—राजन्! भरतनन्दन! दण्डनीतिसे राजा और प्रजाके जिस महान् सौभाग्यका उदय होता है, उसका

---

1. काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद और मात्सर्य—इन छः आन्तरिक शत्रुओंके समुदायको षड्वर्ग कहते हैं, इनको पूर्णरूपसे जीत लेनेवाला नरेश ही सर्वत्र विजयी होता है।

2. श्रोत्र, त्वचा, नेत्र, रसना और घ्राण—इन पाँच इन्द्रियोंके समूहको ही पञ्चवर्ग कहते हैं। इन सबको क्रमशः शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध—इन विषयोंमें आसक्त न होने देना ही इनपर विजय पाना है।

3. आखेट, जूआ, दिनमें सोना, दूसरोंकी निन्दा करना, स्त्रियोंमें आसक्त होना, मद्य पीना, नाचना, गाना, बाजा बजाना और व्यर्थ घूमना—ये कामजनित दस दोष हैं, जिनपर राजाको विजय पाना चाहिये। इनको सर्वथा त्याग देना ही इनपर विजय पाना है।

4. चुगली, साहस, द्रोह, ईर्ष्या, दोषदर्शन, अर्थदूषण, वाणीकी कठोरता और दण्डकी कठोरता—ये क्रोधसे उत्पन्न होनेवाले आठ दोष राजाके लिये त्याज्य हैं।

5. धर्म, अर्थ और कामको अथवा उत्साह-शक्ति, प्रभुशक्ति और मन्त्रशक्तिको त्रिवर्ग कहते हैं।

6. मन्त्री, राष्ट्र, दुर्ग, कोष और दण्ड-ये पाँच ही अपने और शत्रुवर्गके मिलाकर दस वर्ग कहलाते हैं। इनकी पूरी जानकारी रखनेपर राजाको अपने और शत्रुपक्षके बलाबलका पूर्ण ज्ञान होता है।

मैं लोकप्रसिद्ध एवं युक्तियुक्त शब्दोंद्वारा वर्णन करता हूँ, तुम यथावत् रूपसे यहाँ उसे सुनो ॥ ७५ ॥

दण्डनीतिः स्वधर्मेभ्यश्चातुर्वर्ण्यं नियच्छति ।
प्रयुक्ता स्वामिना सम्यगधर्मेभ्यो नियच्छति ॥ ७६ ॥

यदि राजा दण्डनीतिका उत्तम रीतिसे प्रयोग करे तो वह चारों वर्णोंको अपने-अपने धर्ममें बलपूर्वक लगाती है और उन्हें अधर्मकी ओर जानेसे रोक देती है ॥ ७६ ॥

चातुर्वर्ण्ये स्वकर्मस्थे मर्यादानामसंकरे ।
दण्डनीतिकृते क्षेमे प्रजानामकुतोभये ॥ ७७ ॥
साम्ये प्रयत्नं कुर्वन्ति त्रयो वर्णा यथाविधि ।
तस्मादेव मनुष्याणां सुखं विद्धि समाहितम् ॥ ७८ ॥

इस प्रकार दण्डनीतिके प्रभावसे जब चारों वर्णोंके लोग अपने-अपने कर्मोंमें संलग्न रहते हैं, धर्ममर्यादामें संकीर्णता नहीं आने पाती और प्रजा सब ओरसे निर्भय एवं कुशलपूर्वक रहने लगती है, तब तीनों वर्णोंके लोग विधिपूर्वक स्वास्थ्य-रक्षाका प्रयत्न करते हैं । युधिष्ठिर ! इसीमें मनुष्योंका सुख निहित है, यह तुम्हें ज्ञात होना चाहिये ॥ ७७-७८ ॥

कालो वा कारणं राज्ञो राजा वा कालकारणम् ।
इति ते संशयो मा भूद् राजा कालस्य कारणम् ॥ ७९ ॥

काल राजाका कारण है अथवा राजा कालका, ऐसा संशय तुम्हें नहीं होना चाहिये । यह निश्चित है कि राजा ही कालका कारण होता है ॥ ७९ ॥

दण्डनीत्यां यदा राजा सम्यक् कात्स्न्र्येन वर्तते ।
तदा कृतयुगं नाम कालसृष्टं प्रवर्तते ॥ ८० ॥

जिस समय राजा दण्डनीतिका पूरा-पूरा एवं ठीक प्रयोग करता है, उस समय पृथ्वीपर पूर्णरूपसे सत्ययुगका आरम्भ हो जाता है । राजासे प्रभावित हुआ समय ही सत्ययुगकी सृष्टि कर देता है ॥ ८० ॥

ततः कृतयुगे धर्मो नाधर्मो विद्यते क्वचित् ।
सर्वेषामेव वर्णानां नाधर्मे रमते मनः ॥ ८१ ॥

उस सत्ययुगमें धर्म-ही-धर्म रहता है, अधर्मका कहीं नाम-निशान भी नहीं दिखायी देता तथा किसी भी वर्णकी अधर्ममें रुचि नहीं होती ॥ ८१ ॥

योगक्षेमाः प्रवर्तन्ते प्रजानां नात्र संशयः ।
वैदिकानि च सर्वाणि भवन्त्यपि गुणान्युत ॥ ८२ ॥

उस समय प्रजाके योगक्षेम स्वतः सिद्ध होते रहते हैं तथा सर्वत्र वैदिक गुणोंका विस्तार हो जाता है, इसमें संदेह नहीं है ॥ ८२ ॥

ऋतवश्च सुखाः सर्वे भवन्त्युत निरामयाः ।
प्रसीदन्ति नराणां च स्वरवर्णमनांसि च ॥ ८३ ॥

सभी ऋतुएँ सुखदायिनी और आरोग्य बढ़ानेवाली होती हैं । मनुष्योंके स्वर, वर्ण और मन स्वच्छ एवं प्रसन्न होते हैं ॥ ८३ ॥

व्याधयो न भवन्त्यत्र नाल्पायुर्दृश्यते नरः ।
विधवा न भवन्त्यत्र कृपणो न तु जायते ॥ ८४ ॥

इस जगत्में उस समय रोग नहीं होते, कोई भी मनुष्य अल्पायु नहीं दिखायी देता, स्त्रियाँ विधवा नहीं होती हैं तथा कोई भी मनुष्य दीन-दुखी नहीं होता है ॥ ८४ ॥

अकृष्टपच्या पृथिवी भवन्त्योषधयस्तथा ।
त्वक्पत्रफलमूलानि वीर्यवन्ति भवन्ति च ॥ ८५ ॥

पृथ्वीपर बिना जोते-बोये ही अन्न पैदा होता है, ओषधियाँ भी स्वतः उत्पन्न होती हैं; उनकी छाल, पत्ते, फल और मूल सभी शक्तिशाली होते हैं ॥ ८५ ॥

नाधर्मो विद्यते तत्र धर्म एव तु केवलम् ।
इति कार्तयुगानेतान् धर्मान् विद्धि युधिष्ठिर ॥ ८६॥

सत्ययुगमें अधर्मका सर्वथा अभाव हो जाता है । उस समय केवल धर्म-ही-धर्म रहता है। युधिष्ठिर ! इन सबको सत्य-युगके धर्म समझो ॥ ८६ ॥

दण्डनीत्यां यदा राजा त्रीनंशाननुवर्तते ।
चतुर्थमंशमुत्सृज्य तदा त्रेता प्रवर्तते ॥ ८७ ॥
अशुभस्य चतुर्थांशस्त्रीनंशाननुवर्तते ।
कृष्टपच्यैव पृथिवी भवन्त्योषधयस्तथा ॥ ८८ ॥

जब राजा दण्डनीतिके एक चौथाई अंशको छोड़कर केवल तीन अंशोंका अनुसरण करता है, तब त्रेतायुग प्रारम्भ हो जाता है । उस समय अशुभका चौथा अंश पुण्यके तीन अंशोंके पीछे लगा रहता है । उस अवस्थामें पृथ्वीपर जोतने-बोनेसे ही अन्न पैदा होता है । ओषधियाँ भी उसी तरह पैदा होती हैं ॥ ८७-८८ ॥

अर्धं त्यक्त्वा यदा राजा नीत्यर्धमनुवर्तते ।
ततस्तु द्वापरं नाम स कालः सम्प्रवर्तते ॥ ८९ ॥

जब राजा दण्डनीतिके आधे भागको त्यागकर आधेका अनुसरण करता है, तब द्वापर नामक युगका आरम्भ हो जाता है ॥ ८९ ॥

अशुभस्य यदा त्वर्धे द्वावंशावनुवर्तते ।
कृष्टपच्यैव पृथिवी भवत्यर्धफला तथा ॥ ९० ॥

उस समय पापके दो भाग, पुण्यके दो भागोंका अनुसरण करते हैं। पृथ्वीपर जोतने-बोनेसे ही अनाज पैदा होता है; परंतु आधी फसलमें ही फल लगते हैं, आधी मारी जाती है ॥ ९० ॥

दण्डनीतिं परित्यज्य यदा कात्स्न्र्येन भूमिपः ।
प्रजाः क्लिश्नात्ययोगेन प्रवर्तेत तदा कलिः ॥ ९१ ॥

जब राजा समूची दण्डनीतिका परित्याग करके अयोग्य उपायोंद्वारा प्रजाको कष्ट देने लगता है, तब कलियुगका आरम्भ हो जाता है ॥ ९१ ॥

कलावधर्मो भूयिष्ठं धर्मो भवति न क्वचित् ।
सर्वेषामेव वर्णानां स्वधर्माच्च्यवते मनः ॥ ९२ ॥

कलियुगमें अधर्म तो अधिक होता है; परंतु धर्मका पालन कहीं नहीं देखा जाता । सभी वर्णोंका मन अपने धर्मसे च्युत हो जाता है ॥ ९२ ॥

शूद्रा भैक्षेण जीवन्ति ब्राह्मणाः परिचर्यया ।
योगक्षेमस्य नाशश्च वर्तते वर्णसंकरः ॥ ९३ ॥

शूद्र भिक्षा माँगकर जीवन निर्वाह करते हैं और ब्राह्मण सेवा

नृत्तिसे। प्रजाके योगक्षेमका नाश हो जाता है और सब ओर वर्णसंकरता फैल जाती है ॥ ९३ ॥

वैदिकानि च कर्माणि भवन्ति विगुणान्युत।
ऋतवो न सुखाः सर्वे भवन्त्यामयिनस्तथा ॥ ९४ ॥

वैदिक कर्म विधिपूर्वक सम्पन्न न होनेके कारण गुणहीन हो जाते हैं। प्रायः सभी ऋतुएँ सुखरहित तथा रोग प्रदान करनेवाली हो जाती हैं ॥ ९४ ॥

ह्रसन्ति च मनुष्याणां स्वरवर्णमनांस्युत।
व्याधयश्च भवन्त्यत्र म्रियन्ते च गतायुषः ॥९५॥

मनुष्योंके स्वर, वर्ण और मन मलिन हो जाते हैं। सबको रोग-व्याधि सताने लगती है और लोग अल्पायु होकर छोटी अवस्थामें ही मरने लगते हैं ॥ ९५ ॥

विधवाश्च भवन्त्यत्र नृशंसा जायते प्रजा।
क्वचिद् वर्षति पर्जन्यः क्वचित् सस्यं प्ररोहति ॥ ९६ ॥

इस युगमें स्त्रियाँ प्रायः विधवा होती हैं, प्रजा क्रूर हो जाती है, बादल कहीं-कहीं पानी बरसाते हैं और कहीं-कहीं ही धान उत्पन्न होता है ॥ ९६ ॥

रसाः सर्वे क्षयं यान्ति यदा नेच्छति भूमिपः।
प्रजाः संरक्षितुं सम्यग् दण्डनीतिसमाहितः ॥ ९७ ॥

जब राजा दण्डनीतिमें प्रतिष्ठित होकर प्रजाकी भली-भाँति रक्षा करना नहीं चाहता है, उस समय इस पृथ्वीके सारे रस ही नष्ट हो जाते हैं ॥ ९७ ॥

राजा कृतयुगस्रष्टा त्रेतायाः द्वापरस्य च।
युगस्य च चतुर्थस्य राजा भवति कारणम् ॥ ९८ ॥

राजा ही सत्ययुगकी सृष्टि करनेवाला होता है और राजा ही त्रेता, द्वापर तथा चौथे युग कलिकी भी सृष्टिका कारण है ॥९८॥

कृतस्य करणाद् राजा स्वर्गमत्यन्तमश्नुते।
त्रेतायाः करणाद् राजा स्वर्गं नात्यन्तमश्नुते॥ ९९ ॥

सत्ययुगकी सृष्टि करनेसे राजाको अक्षय स्वर्गकी प्राप्ति होती है। त्रेताकी सृष्टि करनेसे राजाको स्वर्ग तो मिलता है; परंतु वह अक्षय नहीं होता ॥ ९९ ॥

प्रवर्तनाद् द्वापरस्य यथाभागमुपाश्नुते।
कलेः प्रवर्तनाद् राजा पापमत्यन्तमश्नुते ॥१००॥

द्वापरका प्रसार करनेसे वह अपने पुण्यके अनुसार कुछ कालतक स्वर्गका सुख भोगता है; परंतु कलियुगकी सृष्टि करनेसे राजाको अत्यन्त पापका भागी होना पड़ता है॥१००॥

ततो वसति दुष्कर्मा नरके शाश्वतीः समाः।
प्रजानां कल्मषे मग्नोऽकीर्तिं पापं च विन्दति ॥१०१॥

तदनन्तर वह दुराचारी राजा उस पापके कारण बहुत वर्षोंतक नरकमें निवास करता है। प्रजाके पापमें डूबकर वह अपयश और पापके फलस्वरूप दुःखका ही भागी होता है१०१

दण्डनीतिं पुरस्कृत्य विजानन् क्षत्रियः सदा।
अनवाप्तं च लिप्सेत लब्धं च परिपालयेत् ॥१०२॥

अतः विज्ञ क्षत्रियनरेशको चाहिये कि वह सदा दण्डनीतिको सामने रखकर उसके द्वारा अप्राप्त वस्तुको पानेकी इच्छा करे और प्राप्त हुई वस्तुकी रक्षा करे। इसके द्वारा प्रजाके योगक्षेम सिद्ध होते हैं, इसमें संशय नहीं है ॥ १०२ ॥

(योगक्षेमाः प्रवर्तन्ते प्रजानां नात्र संशयः।)

लोकस्य सीमन्तकरी मर्यादा लोकभाविनी।
सम्यङ्नीता दण्डनीतिर्यथा माता यथा पिता ॥१०३॥

यदि दण्डनीतिका ठीक-ठीक प्रयोग किया जाय तो वह बालककी रक्षा करनेवाले माता-पिताके समान लोककी सुन्दर व्यवस्था करनेवाली और धर्ममर्यादा तथा जगत्की रक्षामें समर्थ होती है ॥ १०३ ॥

यस्यां भवन्ति भूतानि तद् विद्धि मनुजर्षभ।
एष एव परो धर्मो यद् राजा दण्डनीतिमान् ॥१०४॥

नरश्रेष्ठ! तुम्हें यह ज्ञात होना चाहिये कि समस्त प्राणी दण्डनीतिके आधारपर ही टिके हुए हैं। राजा दण्डनीतिसे युक्त हो उसीके अनुसार चले—यही उसका सबसे बड़ा धर्म है॥१०४॥

तस्मात् कौरव्य धर्मेण प्रजाः पालय नीतिमान्।
एवंवृत्तः प्रजा रक्षन् स्वर्गं जेतासि दुर्जयम् ॥१०५॥

अतः कुरुनन्दन! तुम दण्डनीतिका आश्रय ले धर्मपूर्वक प्रजाका पालन करो। यदि नीतियुक्त व्यवहारसे रहकर प्रजाकी रक्षा करोगे तो दुर्जय स्वर्गको जीत लोगे ॥ १०५॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि राजधर्मानुशासनपर्वणि एकोनसप्ततितमोऽध्यायः ॥ ६९ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत राजधर्मानुशासनपर्वमें उनहत्तरवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ६९ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठके ११½ श्लोक मिलाकर कुल ११६½ श्लोक हैं)

सप्ततितमोऽध्यायः

राजाको इहलोक और परलोकमें सुखकी प्राप्ति करानेवाले छत्तीस गुणोंका वर्णन

युधिष्ठिर उवाच

केन वृत्तेन वृत्तज्ञ वर्तमानो महीपतिः।
सुखेनार्थान् सुखोदर्कानिह च प्रेत्य चाप्नुयात्॥ १ ॥

युधिष्ठिरने पूछा—आचारके ज्ञाता पितामह! किस प्रकारका आचरण करनेसे राजा इहलोक और परलोकमें भी भविष्यमें सुख देनेवाले पदार्थोंको सुगमतापूर्वक प्राप्त कर सकता है? ॥ १ ॥

भीष्म उवाच

अयं गुणानां षट्त्रिंशत्षट्त्रिंशद्गुणसंयुतः।
यान् गुणांस्तु गुणोपेतः कुर्वन् गुणमवाप्नुयात् ॥ २ ॥

भीष्मजीने कहा—राजन्! दया और उदारता आदि गुणोंसे युक्त राजा जिन गुणोंको आचरणमें लाकर उत्कर्ष लाभ कर सकता है, वे छत्तीस प्रकारके गुण हैं। राजाको चाहिये कि वह इन छत्तीस गुणोंसे सम्पन्न होनेकी चेष्टा करे ॥ २ ॥

चरेद् धर्मानकटुको मुञ्चेत् स्नेहं न चास्तिकः।
अनृशंसश्चरेदर्थं चरेत् काममनुद्धतः ॥ ३ ॥

(अब मैं क्रमशः उन गुणोंका वर्णन करता हूँ) १—धर्मका आचरण करे, किंतु कटुता न आने दे । २–आस्तिक रहते हुए दूसरोंके साथ प्रेमका बर्ताव न छोड़े । ३–क्रूरताका आश्रय लिये बिना ही अर्थ-संग्रह करे। ४–मर्यादाका अतिक्रमण न करते हुए ही विषयोंको भोगे ॥ ३ ॥

प्रियं ब्रूयादकृपणः शूरः स्यादविकत्थनः।
दाता नापात्रवर्षी स्यात् प्रगल्भः स्यादनिष्ठुरः ॥ ४ ॥

५–दीनता न लाते हुए ही प्रिय भाषण करे । ६–शूर-वीर बने, किंतु बढ़-बढ़कर बातें न बनावे । ७–दान दे, परंतु अपात्रको नहीं । ८—साहसी हो, किंतु निष्ठुर न हो ॥ ४ ॥

संदधीत न चानार्यैर्विगृह्णीयान्न बन्धुभिः।
नाभक्तं चारयेच्चारं कुर्यात् कार्यमपीडया ॥ ५ ॥

९–दुष्टोंके साथ मेल न करे । १०-बन्धुओंके साथ लड़ाई-झगड़ा न ठाने। ११–जो राजभक्त न हो,ऐसे गुप्तचरसे काम न ले। १२–किसीको कष्ट पहुँचाये बिना ही अपना कार्य करे॥५॥

अर्थं ब्रूयान्न चासत्सु गुणान् ब्रूयान्न चात्मनः।
आदद्यान्न च साधुभ्यो नासत्पुरुषमाश्रयेत् ॥ ६ ॥

१३– दुष्टोंसे अपना अभीष्ट कार्य न कहे । १४–अपने गुणोंका स्वयं ही वर्णन न करे । १५–श्रेष्ठ पुरुषोंसे उनका धन न छीने । १६–नीच पुरुषोंका आश्रय न ले ॥ ६ ॥

नापरीक्ष्य नयेद् दण्डं न च मन्त्रं प्रकाशयेत्।
विसृजेन्न च लुब्धेभ्यो विश्वसेन्नापकारिषु ॥ ७ ॥

१७–अपराधकी अच्छी तरह जाँच-पड़ताल किये बिना ही किसीको दण्ड न दे । १८–गुप्त मन्त्रणाको प्रकट न करे। १९–लोभियोंको धन न दे । २०–जिन्होंने कभी अपकार किया हो, उनपर विश्वास न करे ॥ ७ ॥

अनीर्षुर्गुप्तदारः स्याच्चोक्षः स्यादघृणी नृपः।
स्त्रियः सेवेत नात्यर्थं मृष्टं भुञ्जीत नाहितम् ॥ ८ ॥

२१–ईर्ष्यारहित होकर अपनी स्त्रीकी रक्षा करे । २२-राजा शुद्ध रहे; किंतु किसीसे घृणा न करे । २३-स्त्रियोंका अधिक सेवन न करे । २४–शुद्ध और स्वादिष्ट भोजन करे, परंतु अहितकर भोजन न करे ॥ ८ ॥

अस्तब्धः पूजयेन्मान्यान् गुरून् सेवेदमायया।
अर्चेद् देवानदम्भेन श्रियमिच्छेदकुत्सिताम् ॥ ९ ॥

२५–उद्दण्डता छोड़कर विनीतभावसे माननीय पुरुषोंका आदर-सत्कार करे । २६-निष्कपटभावसे गुरुजनोंकी सेवा करे। २७-दम्भहीन होकर देवताओंकी पूजा करे । २८–अनिन्दित उपायसे धन-सम्पत्ति पानेकी इच्छा करे ॥ ९ ॥

सेवेत प्रणयं हित्वा दक्षः स्यान्न त्वकालवित्।
सान्त्वयेन्न च मोक्षाय अनुगृह्णन्न चाक्षिपेत् ॥ १० ॥

२९–हठ छोड़कर प्रीतिका पालन करे । ३०–कार्य-कुशल हो, किंतु अवसरके ज्ञानसे शून्य न हो । ३१–केवल पिण्ड छुड़ानेके लिये किसीको सान्त्वना या भरोसा न दे । ३२–किसीपर कृपा करते समय आक्षेप न करे ॥ १० ॥

प्रहरेन्न त्वविज्ञाय हत्वा शत्रून् न शोचयेत्।
क्रोधं कुर्यान्न चाकस्मान्मृदुः स्यान्नापकारिषु ॥ ११ ॥

३३–बिना जाने किसीपर प्रहार न करे । ३४–शत्रुओंको मारकर शोक न करे । ३५–अकस्मात् किसीपर क्रोध न करे तथा ३६–कोमल हो, परंतु अपकार करनेवालोंके लिये नहीं ॥ ११ ॥

एवं चरस्व राज्यस्थो यदि श्रेय इहेच्छसि।
अतोऽन्यथा नरपतिर्भयमृच्छत्यनुत्तमम् ॥ १२ ॥

युधिष्ठिर ! यदि इस लोकमें कल्याण चाहते हो तो राज्यपर स्थित रहकर ऐसा ही बर्ताव करो; क्योंकि इसके विपरीत आचरण करनेवाला राजा बड़ी भारी विपत्ति या भयमें पड़ जाता है ॥ १२ ॥

इति सर्वान् गुणानेतान् यथोक्तान् योऽनुवर्तते।
अनुभूयेह भद्राणि प्रेत्य स्वर्गे महीयते ॥ १३ ॥

जो राजा यथार्थरूपसे बताये गये इन सभी गुणोंका अनुवर्तन करता है, वह इस जगत्में कल्याणका अनुभव करके मृत्युके पश्चात् स्वर्गलोकमें प्रतिष्ठित होता है ॥ १३ ॥

वैशम्पायन उवाच

इदं वचः शान्तनवस्य शुश्रुवान्
युधिष्ठिरः पाण्डवमुख्यसंवृतः।
तदा ववन्दे च पितामहं नृपो
यथोक्तमेतच्च चकार बुद्धिमान् ॥ १४ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! पितामह शान्तनुनन्दन भीष्मका यह उपदेश सुनकर पाण्डवोंसे और प्रधान राजाओंसे घिरे हुए बुद्धिमान् राजा युधिष्ठिरने उन्हें प्रणाम किया और उन्होंने जैसा बताया था, वैसा ही किया ॥ १४ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि राजधर्मानुशासनपर्वणि सप्ततितमोऽध्यायः ॥ ७० ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत राजधर्मानुशासनपर्वमें सत्तरवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ७० ॥

एकसप्ततितमोऽध्यायः

धर्मपूर्वक प्रजाका पालन ही राजाका महान् धर्म है, इसका प्रतिपादन

युधिष्ठिर उवाच

कथं राजा प्रजा रक्षन्नाधिबन्धेन युज्यते।
धर्मे नापराध्नोति तन्मे ब्रूहि पितामह ॥ १ ॥

युधिष्ठिरने पूछा—पितामह ! किस प्रकार प्रजाका पालन करनेवाला राजा चिन्तामें नहीं पड़ता और धर्मके विषयमें अपराधी नहीं होता, यह मुझे बताइये ॥ १ ॥

भीष्म उवाच

समासेनैव ते राजन् धर्मान् वक्ष्यामि शाश्वतान् ।
विस्तरेणैव धर्माणां न जात्वन्तमवाप्नुयात् ॥ २ ॥

भीष्मजीने कहा—राजन्! मैं संक्षेपसे ही तुम्हारे लिये सनातन राजधर्मोंका वर्णन करूँगा। विस्तारसे वर्णन आरम्भ करूँ तो उन धर्मोंका कभी अन्त ही नहीं हो सकता ॥ २ ॥

धर्मनिष्ठाञ्श्रुतवतो वेदव्रतसमाहितान् ।
अर्चयित्वा यजेथास्त्वं गृहे गुणवतो द्विजान् ॥ ३ ॥
प्रत्युत्थायोपसंगृह्य चरणावभिवाद्य च ।
अथ सर्वाणि कुर्वीथाः कार्याणि सपुरोहितः ॥ ४ ॥

जब घरपर वेदव्रतपरायण, शास्त्रज्ञ एवं धर्मिष्ठ गुणवान् ब्राह्मण पधारें, उस समय उन्हें देखते ही खड़े हो उनका स्वागत करो। उनके चरण पकड़कर प्रणाम करो और उनकी विधि-पूर्वक अर्चन करके पूजा करो। तदनन्तर पुरोहितको साथ लेकर समस्त आवश्यक कार्य सम्पन्न करो ॥ ३-४ ॥

धर्मकार्याणि निर्वर्त्य मङ्गलानि प्रयुज्य च ।
ब्राह्मणान् वाचयेथास्त्वमर्थसिद्धिजयाशिषः ॥ ५ ॥

पहले संध्या-वन्दन आदि धार्मिक कृत्य पूर्ण करके माङ्गलिक वस्तुओंका दर्शन करनेके पश्चात् ब्राह्मणोंद्वारा स्वस्तिवाचन कराओ और अर्थसिद्धि एवं विजयके लिये उनके आशीर्वाद ग्रहण करो ॥ ५ ॥

आर्जवेन च सम्पन्नो धृत्या बुद्ध्या च भारत ।
यथार्थं प्रतिगृह्णीयात् कामक्रोधौ च वर्जयेत् ॥ ६ ॥

भरतनन्दन! राजाको चाहिये कि वह सरल स्वभावसे सम्पन्न हो, धैर्य तथा बुद्धिके बलसे सत्यको ही ग्रहण करे और काम-क्रोधका परित्याग कर दे ॥ ६ ॥

कामक्रोधौ पुरस्कृत्य योऽर्थं राजानुतिष्ठति ।
न स धर्मं न चाप्यर्थं प्रतिगृह्णाति बालिशः ॥ ७ ॥

जो राजा काम और क्रोधका आश्रय लेकर धन पैदा करना चाहता है, वह मूर्ख न तो धर्मको पाता है और न धन ही उसके हाथ लगता है ॥ ७ ॥

मा स्म लुब्धांश्च मूर्खांश्च कामार्थे च प्रयूयुजः ।
अलुब्धान् बुद्धिसम्पन्नान् सर्वकर्मसु योजयेत् ॥ ८ ॥

तुम लोभी और मूर्ख मनुष्योंको काम और अर्थके साधनमें न लगाओ। जो लोभरहित और बुद्धिमान् हों, उन्हींको समस्त कार्योंमें नियुक्त करना चाहिये ॥ ८ ॥

मूर्खो ह्यधिकृतोऽर्थेषु कार्याणामविशारदः ।
प्रजाः क्लिश्नात्ययोगेन कामक्रोधसमन्वितः ॥ ९ ॥

जो कार्यसाधनमें कुशल नहीं है और काम तथा क्रोधके वशमें पड़ा हुआ है, ऐसे मूर्ख मनुष्यको यदि अर्थसंग्रहका अधिकारी बना दिया जाय तो वह अनुचित उपायसे प्रजाओंको क्लेश पहुँचाता है ॥ ९ ॥

बलिषष्ठेन शुल्केन दण्डेनाथापराधिनाम् ।
शास्त्रानीतेन लिप्सेथा वेतनेन धनागमम् ॥ १० ॥

प्रजाकी आयका छठा भाग करके रूपमें ग्रहण करके, उचित शुल्क या टैक्स लेकर, अपराधियोंको आर्थिक दण्ड देकर तथा शास्त्रके अनुसार व्यापारियोंकी रक्षा आदि करनेके कारण उनके दिये हुए वेतन लेकर इन्हीं उपायों तथा मार्गोंसे राजाको धन-संग्रहकी इच्छा रखनी चाहिये ॥ १० ॥

दापयित्वा करं धर्म्यं राष्ट्रं नीत्या यथाविधि ।
तथैतं कल्पयेद् राजा योगक्षेममतन्द्रितः ॥ ११ ॥

प्रजासे धर्मानुकूल कर ग्रहण करके राज्यका नीतिके अनुसार विधिपूर्वक पालन करते हुए राजाको आलस्य छोड़कर प्रजावर्गके योगक्षेमकी व्यवस्था करनी चाहिये ॥ ११ ॥

गोपायितारं दातारं धर्मनित्यमतन्द्रितम् ।
अकामद्वेषसंयुक्तमनुरज्यन्ति मानवाः ॥ १२ ॥

जो राजा आलस्य छोड़कर राग-द्वेषसे रहित हो सदा प्रजाकी रक्षा करता है, दान देता है तथा निरन्तर धर्म एवं न्यायमें तत्पर रहता है, उसके प्रति प्रजावर्गके सभी लोग अनुरक्त होते हैं ॥ १२ ॥

मा स्माधर्मेण लोभेन लिप्सेथास्त्वं धनागमम् ।
धर्मार्थावध्रुवौ तस्य यो न शास्त्रपरो भवेत् ॥ १३ ॥

राजन्! तुम लोभवश अधर्ममार्गसे धन पानेकी कभी इच्छा न करना; क्योंकि जो लोग शास्त्रके अनुसार नहीं चलते हैं, उनके धर्म और अर्थ दोनों ही अस्थिर एवं अनिश्चित होते हैं ॥ १३ ॥

अपशास्त्रपरो राजा धर्मार्थान्नाधिगच्छति ।
अस्थाने चास्य तद् वित्तं सर्वमेव विनश्यति ॥ १४ ॥

शास्त्रसे विपरीत चलनेवाला राजा न तो धर्मकी सिद्धि कर पाता है और न अर्थकी ही। यदि उसे धन मिल भी जाय तो वह सारा ही बुरे कामोंमें नष्ट हो जाता है ॥ १४ ॥

अर्थमूलोऽपि हिंसां च कुरुते स्वयमात्मनः ।
करैरशास्त्रदृष्टैर्हि मोहात् सम्पीडयन् प्रजाः ॥ १५ ॥

जो धनका लोभी राजा मोहवश प्रजासे शास्त्रविरुद्ध अधिक कर लेकर उसे कष्ट पहुँचाता है, वह अपने ही हाथों अपना विनाश करता है ॥ १५ ॥

ऊधश्छिन्द्यात् तु यो धेन्वाः क्षीरार्थी न लभेत् पयः ।
एवं राष्ट्रमयोगेन पीडितं न विवर्धते ॥ १६ ॥

जैसे दूध चाहनेवाला मनुष्य यदि गायका थन काट ले तो इससे वह दूध नहीं पा सकता, उसी प्रकार राज्यमें रहनेवाली प्रजाका अनुचित उपायसे शोषण किया जाय तो उससे राष्ट्रकी उन्नति नहीं होती ॥ १६ ॥

यो हि दोग्ध्रीमुपास्ते च स नित्यं विन्दते पयः ।
एवं राष्ट्रमुपायेन भुञ्जानो लभते फलम् ॥ १७ ॥

जो दूध देनेवाली गायकी प्रतिदिन सेवा करता है, वही दूध पाता है; इसी प्रकार उचित उपायसे राष्ट्रकी रक्षा करनेवाला राजा ही उससे लाभ उठाता है ॥ १७ ॥

अथ राष्ट्रमुपायेन भुज्यमानं सुरक्षितम् ।
जनयत्यतुलां नित्यं कोशवृद्धिं युधिष्ठिर ॥ १८ ॥

युधिष्ठिर! न्यायसङ्गत उपायसे राष्ट्रको सुरक्षित रखते हुए

उसका उपभोग किया जाय अर्थात् करके रूपमें उससे धन लिया जाय तो वह सदा राजाके कोशकी अनुपम वृद्धि करता है ॥ १८ ॥

दोग्ध्री धान्यं हिरण्यं च मही राज्ञा सुरक्षिता ।
नित्यं स्वेभ्यः परेभ्यश्च तृप्ता माता यथा पयः ॥ १९ ॥

जैसे माता स्वयं तृप्त रहनेपर ही बालकको यथेष्ट दूध पिलाती है, उसी प्रकार राजासे सुरक्षित होनेपर ही यह दुधारू गायके समान पृथ्वी राजाके स्वजनों तथा दूसरे लोगोंको सदा अन्न एवं सुवर्ण देती है ॥ १९ ॥

मालाकारोपमो राजन् भव माऽऽङ्गारिकोपमः ।
तथायुक्तश्चिरं राज्यं भोक्तुं शक्ष्यसि पालयन् ॥ २० ॥

युधिष्ठिर ! तुम मालीके समान बनो। कोयला बनानेवालेके समान न बनो (माली वृक्षकी जड़को सींचता और उसकी रक्षा करता है, तब उससे फल और फूल ग्रहण करता है, परंतु कोयला बनानेवाला वृक्षको समूल नष्ट कर देता है; उसी प्रकार तुम भी माली बनकर राज्यरूपी उद्यानको सींचकर सुरक्षित रक्खो और फल-फूलकी तरह प्रजासे न्यायोचित कर लेते रहो, कोयला बनानेवालेकी तरह सारे राज्यको जलाकर भस्म न करो), ऐसा करके प्रजापालनमें तत्पर रहकर तुम दीर्घकालतक राज्यका उपभोग कर सकोगे ॥ २० ॥

परचक्राभियानेन यदि ते स्याद् धनक्षयः ।
अथ साम्नैव लिप्सेथा धनमब्राह्मणेषु यत् ॥ २१ ॥

यदि शत्रुओंके आक्रमणसे तुम्हारे धनका नाश हो जाय तो भी सान्त्वनापूर्ण मधुर वाणीद्वारा ही ब्राह्मणेतर प्रजासे धन लेनेकी इच्छा रक्खो ॥ २१ ॥

मा स्म ते ब्राह्मणं दृष्ट्वा धनस्थं प्रचलेन्मनः ।
अन्त्यायामप्यवस्थायां किमु स्फीतस्य भारत ॥ २२ ॥

भरतनन्दन ! धनसम्पन्न अवस्थाकी तो बात ही क्या है ? तुम अत्यन्त निर्धन अवस्थामें पड़ जाओ तो भी ब्राह्मणको धनी देखकर उसका धन लेनेके लिये तुम्हारा मन चञ्चल नहीं होना चाहिये ॥२२॥

धनानि तेभ्यो दद्यास्त्वं यथाशक्ति यथार्हतः ।
सान्त्वयन् परिरक्षंश्च स्वर्गमाप्स्यसि दुर्जयम् ॥ २३ ॥

राजन् ! तुम ब्राह्मणोंको सान्त्वना देते और उनकी रक्षा करते हुए उन्हें यथाशक्ति यथायोग्य धन देते रहना, इससे तुम्हें दुर्जय स्वर्गलोककी प्राप्ति होगी ॥ २३ ॥

एवं धर्मेण वृत्तेन प्रजास्त्वं परिपालय ।
स्वन्तं पुण्यं यशो नित्यं प्राप्स्यसे कुरुनन्दन ॥ २४ ॥

कुरुनन्दन ! इस प्रकार तुम धर्मानुकूल बर्ताव करते हुए प्रजाजनोंका पालन करो । इससे परिणाममें सुखद पुण्य तथा चिरस्थायी यश प्राप्त कर लोगे ॥ २४ ॥

धर्मेण व्यवहारेण प्रजाः पालय पाण्डव ।
युधिष्ठिर यथा युक्तो नाधिबन्धेन योक्ष्यसे ॥ २५ ॥

पाण्डुनन्दन युधिष्ठिर ! तुम धर्मानुकूल बर्ताव करते हुए प्रजाका पालन करते रहो, जिससे युक्त रहकर तुम्हें कभी भी चिन्ता या पश्चात्ताप न हो ॥ २५ ॥

एष एव परो धर्मो यद् राजा रक्षति प्रजाः ।
भूतानां हि यथा धर्मो रक्षणं परमा दया ॥ २६ ॥

राजा जो प्रजाकी रक्षा करता है, यही उसका सबसे बड़ा धर्म है । समस्त प्राणियोंकी रक्षा तथा उनके प्रति परम दया ही महान् धर्म है ॥ २६ ॥

तस्मादेवं परं धर्मं मन्यन्ते धर्मकोविदाः ।
यो राजा रक्षणे युक्तो भूतेषु कुरुते दयाम् ॥ २७ ॥

इसलिये जो राजा प्रजापालनमें तत्पर रहकर प्राणियोंपर दया करता है, उसके इस बर्तावको धर्मज्ञ पुरुष परम धर्म मानते हैं ॥ २७ ॥

यदह्ना कुरुते पापमरक्षन् भयतः प्रजाः ।
राजा वर्षसहस्रेण तस्यान्तमधिगच्छति ॥ २८ ॥

राजा प्रजाकी भयसे रक्षा न करनेके कारण एक दिनमें जिस पापका भागी होता है, उसका परिणाम उसे एक हजार वर्षोंतक भोगना पड़ता है ॥ २८ ॥

यदह्ना कुरुते धर्मं प्रजा धर्मेण पालयन् ।
दशवर्षसहस्राणि तस्य भुङ्क्ते फलं दिवि ॥ २९ ॥

और प्रजाका धर्मपूर्वक पालन करनेके कारण राजा एक दिनमें जिस धर्मका भागी होता है, उसका फल वह दस हजार वर्षोंतक स्वर्गलोकमें रहकर भोगता है ॥ २९ ॥

स्विष्टिः स्वधीतिः सुतपा लोकाञ्जयति यावतः ।
क्षणेन तानवाप्नोति प्रजा धर्मेण पालयन् ॥ ३० ॥

उत्तम यज्ञके द्वारा गृहस्थ-धर्मका, उत्तम स्वाध्यायके द्वारा ब्रह्मचर्यका तथा श्रेष्ठ तपके द्वारा वानप्रस्थ-धर्मका पालन करनेवाला पुरुष जितने पुण्यलोकोंपर अधिकार प्राप्त करता है, धर्मपूर्वक प्रजाका पालन करनेवाला राजा उन्हें क्षणभरमें पा लेता है ॥ ३० ॥

एवं धर्मं प्रयत्नेन कौन्तेय परिपालय ।
ततः पुण्यफलं लब्ध्वा नाधिबन्धेन योक्ष्यसे ॥ ३१ ॥

कुन्तीनन्दन ! इस प्रकार प्रयत्नपूर्वक धर्मका पालन करो। इससे पुण्यका फल पाकर तुम कभी चिन्तामें नहीं पड़ोगे ॥

स्वर्गलोके सुमहतीं श्रियं प्राप्स्यसि पाण्डव ।
असम्भवश्च धर्माणामीदृशानामराजसु ॥ ३२ ॥

पाण्डुनन्दन ! धर्म-पालन करनेसे स्वर्गलोकमें तुम्हें बड़ी भारी सुख-सम्पत्ति प्राप्त होगी । जो राजा नहीं हैं, उन्हें ऐसे धर्मोंका लाभ मिलना असम्भव है ॥ ३२ ॥

तस्माद् राजैव नान्योऽस्ति यो धर्मफलमाप्नुयात् ।
स राज्यं धृतिमान् प्राप्य धर्मेण परिपालय ।
इन्द्रं तर्पय सोमेन कामैश्च सुहृदो जनान् ॥ ३३ ॥

इसलिये धर्मात्मा राजा ही ऐसे धर्मका फल पाता है,

दूसरा नहीं। तुम धैर्यवान् तो हो ही। यह राज्य पाकर धर्मपूर्वक प्रजाका पालन करो। यज्ञमें सोमरसद्वारा इन्द्रको तृप्त करो और मनोवाञ्छित वस्तु प्रदान करके सुहृदोंको संतुष्ट करो ॥ ३३ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि राजधर्मानुशासनपर्वणि एकसप्ततितमोऽध्यायः ॥ ७१ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत राजधर्मानुशासनपर्वमें इकहत्तरवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ७१ ॥

द्विसप्ततितमोऽध्यायः

राजाके लिये सदाचारी विद्वान् पुरोहितकी आवश्यकता तथा प्रजापालनका महत्त्व

भीष्म उवाच

य एव तु सतो रक्षेदसतश्च निवर्तयेत्।
स एव राज्ञः कर्तव्यो राजन् राजपुरोहितः॥ १ ॥

भीष्मजीने कहा—राजन्! राजाको चाहिये कि वह एक ऐसे विद्वान् ब्राह्मणको अपना पुरोहित बनावे, जो उसके सत्कर्मोंकी रक्षा करे और उसे असत् कर्मसे दूर रक्खे (तथा जो उसके शुभकी रक्षा और अशुभका निवारण करे)॥ १ ॥

अत्राप्युदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम्।
पुरूरवस ऐलस्य संवादं मातरिश्वनः॥ २ ॥

इस विषयमें विद्वान् लोग इलाकुमार पुरूरवा तथा वायुके संवादरूप प्राचीन इतिहासका उदाहरण दिया करते हैं॥ २ ॥

पुरूरवा उवाच

कुतःस्विद् ब्राह्मणो जातो वर्णाश्चापि कुतस्त्रयः।
कस्माच्च भवति श्रेष्ठस्तन्मे व्याख्यातुमर्हसि॥ ३ ॥

पुरूरवाने पूछा—वायुदेव! ब्राह्मणकी उत्पत्ति किससे हुई है? अन्य तीनों वर्ण भी किससे उत्पन्न हुए हैं तथा ब्राह्मण उन सबसे श्रेष्ठ क्यों है? यह मुझे स्पष्टरूपसे बतानेकी कृपा करें॥ ३ ॥

मातरिश्वोवाच

ब्राह्मणो मुखतः सृष्टो ब्रह्मणो राजसत्तम।
बाहुभ्यां क्षत्रियः सृष्ट ऊरुभ्यां वैश्य एव च॥ ४ ॥

वायुने कहा—नृपश्रेष्ठ! ब्रह्माजीके मुखसे ब्राह्मणकी, दोनों भुजाओंसे क्षत्रियकी तथा दोनों ऊरुओंसे वैश्यकी सृष्टि हुई है॥ ४ ॥

वर्णानां परिचर्यार्थं त्रयाणां भरतर्षभ।
वर्णश्चतुर्थः पश्चात् तु पद्भ्यां शूद्रो विनिर्मितः॥ ५ ॥

भरतश्रेष्ठ! इसके बाद इन तीनों वर्णोंकी सेवाके लिये ब्रह्माजीके दोनों पैरोंसे चौथे वर्ण शूद्रकी रचना हुई॥ ५ ॥

ब्राह्मणो जायमानो हि पृथिव्यामनुजायते।
ईश्वरः सर्वभूतानां धर्मकोशस्य गुप्तये॥ ६ ॥

ब्राह्मण जन्मकालसे ही भूतलपर धर्मकोषकी रक्षाके लिये अन्य सब वर्णोंका नियन्ता होता है॥ ६ ॥

अतः पृथिव्या यन्तारं क्षत्रियं दण्डधारिणम्।
द्वितीयं वर्णमकरोत् प्रजानामनुगुप्तये॥ ७ ॥

तदनन्तर ब्रह्माजीने पृथ्वीपर शासन करनेवाले और दण्ड-धारणमें समर्थ दूसरे वर्ण क्षत्रियको प्रजाजनोंकी रक्षाके लिये नियुक्त किया॥ ७ ॥

वैश्यस्तु धनधान्येन त्रीन् वर्णान् बिभृयादिमान्।
शूद्रो ह्येतान् परिचरेदिति ब्रह्मानुशासनम्॥ ८ ॥

वैश्य धन-धान्यके द्वारा इन तीनों वर्णोंका पोषण करे और शूद्र शेष तीनों वर्णोंकी सेवामें संलग्न रहे, यह ब्रह्माजीका आदेश है॥ ८ ॥

ऐल उवाच

द्विजस्य क्षत्रबन्धोर्वा कस्येयं पृथिवी भवेत्।
धर्मतः सह वित्तेन सम्यग् वायो प्रचक्ष्व मे॥ ९ ॥

पुरूरवाने पूछा—वायुदेव! धन-धान्यसहित यह पृथ्वी धर्मतः किसकी है? ब्राह्मणकी या क्षत्रियकी? यह मुझे ठीक-ठीक बताइये॥ ९ ॥

वायुरुवाच

विप्रस्य सर्वमेवैतद् यत् किञ्चिज्जगतीगतम्।
ज्येष्ठेनाभिजनेनेह तद्धर्मकुशला विदुः॥ १० ॥

वायुदेवने कहा—राजन्! धर्मनिपुण विद्वान् ऐसा मानते हैं कि उत्तम स्थानसे उत्पन्न और ज्येष्ठ होनेके कारण इस पृथ्वीपर जो कुछ है, वह सब ब्राह्मणका ही है॥ १० ॥

स्वमेव ब्राह्मणो भुङ्क्ते स्वं वस्ते स्वं ददाति च।
गुरुर्हि सर्ववर्णानां ज्येष्ठः श्रेष्ठश्च वै द्विजः॥ ११ ॥

ब्राह्मण अपना ही खाता, अपना ही पहनता और अपना ही देता है। निश्चय ही ब्राह्मण सब वर्णोंका गुरु, ज्येष्ठ और श्रेष्ठ है॥ ११ ॥

पत्यभावे यथैव स्त्री देवरं कुरुते पतिम्।
आनन्तर्यात् तथा क्षत्रं पृथिवी कुरुते पतिम्।
एष ते प्रथमः कल्प आपद्यन्यो भवेत् ततः॥ १२ ॥

जैसे वाग्दानके अनन्तर पतिके मर जानेपर स्त्री देवरको पति बनाती है*, उसी प्रकार पृथ्वी ब्राह्मणके बाद ही क्षत्रियका पतिरूपमें वरण करती है, यह तुम्हें मैंने अनादि कालसे प्रचलित प्रथम श्रेणीका नियम बताया है। आपत्तिकालमें इसमें फेर-फार भी हो सकता है॥ १२ ॥

यदि स्वर्गे परं स्थानं स्वधर्मं परिमार्गसि।
यत् किञ्चिज्जयसे भूमिं ब्राह्मणाय निवेदय॥ १३ ॥
श्रुतवृत्तोपपन्नाय धर्मज्ञाय तपस्विने।
स्वधर्मपरितृप्ताय यो न वित्तपरो भवेत्॥ १४ ॥

यदि तुम स्वधर्म-पालनके फलस्वरूप स्वर्गलोकमें उत्तम स्थानकी खोज कर रहे हो (चाहते हो) तो जितनी

---

* यस्या म्रियेत कन्याया वाचा सत्ये कृते पतिः।
तामनेन विधानेन निजो विन्देत देवरः॥
(मनु० ९। ६९)

भूमिपर तुम विजय प्राप्त करो, वह सब शास्त्र और सदाचारसे सम्पन्न, धर्मज्ञ, तपस्वी तथा स्वधर्मसे संतुष्ट ब्राह्मणको पुरोहित बनाकर सौंप दो, जो कि धनोपार्जनमें आसक्त न हो ॥ १३-१४ ॥

यो राजानं नयेद् बुद्ध्या सर्वतः परिपूर्णया ।
ब्राह्मणो हि कुले जातः कृतप्रज्ञो विनीतवान् ॥ १५ ॥
श्रेयो नयति राजानं ब्रुवंश्चित्रां सरस्वतीम् ।
राजा चरति यद् धर्मं ब्राह्मणेन निदर्शितम् ॥ १६ ॥

तथा जो सर्वतोभावसे परिपूर्ण अपनी बुद्धिके द्वारा राजाको सन्मार्गपर ले जा सके; क्योंकि जो ब्राह्मण उत्तम कुलमें उत्पन्न, विशुद्ध बुद्धिसे युक्त और विनयशील होता है, वह विचित्र वाणी बोलकर राजाको कल्याणके पथपर ले जाता है । जो ब्राह्मणका बताया हुआ धर्म है, उसीको राजा आचरणमें लाता है ॥ १५-१६ ॥

शुश्रूषुरनहंवादी क्षत्रधर्मव्रते स्थितः ।
तावता सत्कृतः प्राज्ञश्चिरं यशसि तिष्ठति ॥ १७ ॥
तस्य धर्मस्य सर्वस्य भागी राजपुरोहितः ।

क्षत्रियधर्ममें तत्पर रहनेवाला, अहंकारशून्य तथा पुरोहितकी बात सुननेके लिये उत्सुक उतनेसे ही सम्मानको प्राप्त हुआ विद्वान् नरेश चिरकालतक यशस्वी बना रहता है तथा राजपुरोहित उसके सम्पूर्ण धर्मका भागीदार होता है ॥ १७½ ॥

एवमेव प्रजाः सर्वा राजानमभिसंश्रिताः ॥ १८ ॥
सम्यग्वृत्ताः स्वधर्मस्था न कुतश्चिद् भयान्विताः ।

इस प्रकार राजाके आश्रयमें रहकर सारी प्रजा सदाचार-परायण, अपने-अपने धर्ममें तत्पर और सब ओरसे निर्भय हो जाती है ॥ १८½ ॥

राष्ट्रे चरन्ति यं धर्मं राज्ञा साध्वभिरक्षिताः ॥ १९ ॥
चतुर्थं तस्य धर्मस्य राजा भागं तु विन्दति ।

राजाके द्वारा भलीभाँति सुरक्षित हुए मनुष्य राज्यमें जिस धर्मका आचरण करते हैं, उसका एक चौथाई भाग राजा भी प्राप्त कर लेता है ॥ १९½ ॥

देवा मनुष्याः पितरो गन्धर्वोरगराक्षसाः ॥ २० ॥
यज्ञमेवोपजीवन्ति नास्ति चेष्टमराजके ।

देवता, मनुष्य, पितर, गन्धर्व, नाग और राक्षस—ये सबके सब यज्ञका आश्रय लेकर जीवन-निर्वाह करते हैं; परंतु जहाँ कोई राजा नहीं है, उस राज्यमें यज्ञ नहीं होता है ॥ २०½ ॥

इतो दत्तेन जीवन्ति देवताः पितरस्तथा ॥ २१ ॥
राजन्येवास्य धर्मस्य योगक्षेमः प्रतिष्ठितः ।

देवता और पितर भी इस मर्त्यलोकसे ही दिये गये यज्ञ और श्राद्धसे जीवन यापन करते हैं । अतः इस धर्मका योगक्षेम राजापर ही अवलम्बित है ॥ २१½ ॥

छायायामप्सु वायौ च सुखमुष्णेऽधिगच्छति ॥ २२ ॥
अग्नौ वाससि सूर्ये च सुखं शीतेऽधिगच्छति ।

जब गर्मी पड़ती है, उस समय मनुष्य छायामें, जलमें और वायुमें सुखका अनुभव करता है । इसी प्रकार सर्दी पड़नेपर अग्नि और सूर्यके तापसे तथा कपड़ा ओढ़नेसे उसे सुख मिलता है (परंतु अराजकताका भय उपस्थित होनेपर मनुष्यको कहीं किसी वस्तुसे भी सुख प्राप्त नहीं होता है) ॥ २२½ ॥

शब्दे स्पर्शे रसे रूपे गन्धे च रमते मनः ॥ २३ ॥
तेषु भोगेषु सर्वेषु न भीतो लभते सुखम् ।
अभयस्य हि यो दाता तस्यैव सुमहत् फलम् ।
न हि प्राणसमं दानं त्रिषु लोकेषु विद्यते ॥ २४ ॥

साधारण अवस्थामें प्रत्येक मनुष्यका मन शब्द, स्पर्श रूप, रस और गन्धमें आनन्दका अनुभव करता है; परंतु भयभीत मनुष्यको उन सभी भोगोंमें कोई सुख नहीं मिलता है, इसलिये जो अभयदान करनेवाला है, उसीको महान् फलकी प्राप्ति होती है; क्योंकि तीनों लोकोंमें प्राण-दानके समान दूसरा कोई दान नहीं है ॥ २३-२४ ॥

इन्द्रो राजा यमो राजा धर्मो राजा तथैव च ।
राजा बिभर्ति रूपाणि राज्ञा सर्वमिदं धृतम् ॥ २५ ॥

राजा इन्द्र है, राजा यमराज है तथा राजा ही धर्मराज है । राजा अनेक रूप धारण करता है और राजाने ही इस सम्पूर्ण जगत्‌को धारण कर रक्खा है ॥ २५ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि राजधर्मानुशासनपर्वणि द्विसप्ततितमोऽध्यायः ॥ ७२ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत राजधर्मानुशासनपर्वमें बहत्तरवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ७२ ॥

त्रिसप्ततितमोऽध्यायः

विद्वान् सदाचारी पुरोहितकी आवश्यकता तथा ब्राह्मण और क्षत्रियमें मेल रहनेसे लाभविषयक राजा पुरूरवाका उपाख्यान

भीष्म उवाच

राज्ञा पुरोहितः कार्यो भवेद् विद्वान् बहुश्रुतः ।
उभौ समीक्ष्य धर्मार्थावप्रमेयावनन्तरम् ॥ १ ॥

भीष्मजी बोले—राजन् ! राजाको चाहिये कि धर्म और अर्थकी गतिको अत्यन्त गहन समझकर अविलम्ब किसी ऐसे ब्राह्मणको पुरोहित बना ले, जो विद्वान् और बहुश्रुत हो ॥ १ ॥

धर्मात्मा मन्त्रविद् येषां राज्ञां राजन् पुरोहितः ।
राजा चैवंगुणो येषां कुशलं तेषु सर्वशः ॥ २ ॥

राजन् ! जिन राजाओंका पुरोहित धर्मात्मा एवं सलाह देनेमें कुशल होता है और जिनका राजा भी ऐसे ही गुणोंसे सम्पन्न (धर्मपरायण एवं गुप्त बातोंका जाननेवाला) होता है, उन राजा और प्रजाओंका सब प्रकारसे भला होता है ॥ २ ॥

(तेषामर्थश्च कामश्च धर्मश्चेति विनिश्चयः ।
श्लोकांश्चोशनसा गीतांस्तान् निबोध युधिष्ठिर ॥

उच्छिष्टः स भवेद् राजा यस्य नास्ति पुरोहितः ।

उनके धर्म, अर्थ और काम तीनोंकी निश्चय ही सिद्धि होती है। युधिष्ठिर ! इस विषयमें शुक्राचार्यके गाये हुए कुछ श्लोक हैं, उन्हें तुम सुनो । जिस राजाके पास पुरोहित नहीं है, वह उच्छिष्ट (अपवित्र) हो जाता है ॥

रक्षसामसुराणां च पिशाचोरगपक्षिणाम् ।
शत्रूणां च भवेद् वध्यो यस्य नास्ति पुरोहितः॥

जिसके पास पुरोहित नहीं है, वह राजा राक्षसों, असुरों, पिशाचों, नागों, पक्षियोंका तथा शत्रुओंका वध्य होता है ॥

ब्रूयात् कार्याणि सततं महोत्पातानि यानि च ।
इष्टमङ्गलयुक्तानि तथाऽऽन्तःपुरिकाणि च ॥

पुरोहितको चाहिये कि राजाके लिये जो सदा आवश्यक कर्तव्य हों, जो-जो बड़े-बड़े उत्पात होनेवाले हों, जो अभीष्ट तथा माङ्गलिक कृत्य हों तथा जो अन्तःपुरसे सम्बन्ध रखनेवाले वृत्तान्त हों, वे सब राजाको बतावे ॥

गीतनृत्ताधिकारेषु सम्मतेषु महीपतेः ।
कर्तव्यं करणीयं वै वैश्वदेवबलिस्तथा ॥

राजाको प्रिय लगनेवाले जो गीत और नृत्यसम्बन्धी कार्य हों, उनमें करने-योग्य कर्तव्यका पुरोहित निर्देश करे, बलिवैश्वदेवकर्मका सम्पादन करे ॥

नक्षत्रस्यानुकूल्येन यः संजातो नरेश्वरः ।
राजशास्त्रविनीतश्च श्रेयान् राज्ञः पुरोहितः ॥

जो राजा अनुकूल नक्षत्रमें उत्पन्न हुआ है तथा राजशास्त्रकी पूर्ण शिक्षा प्राप्त कर चुका है, उससे भी श्रेष्ठ उसका पुरोहित होना चाहिये ॥

अथान्यानां निमित्तानामुत्पातानामथार्थवित् ॥
शत्रुपक्षक्षयज्ञश्च श्रेयान् राज्ञः पुरोहितः ।)

जो भिन्न-भिन्न प्रकारके निमित्तों और उत्पातोंका रहस्य जानता हो तथा शत्रुपक्षके विनाशकी प्रणालीका भी जानकार हो, ऐसा श्रेष्ठतम पुरुष राजाका पुरोहित होना चाहिये ॥

उभौ प्रजा वर्धयतो देवान् सर्वान् सुतान् पितॄन् ।
भवेयातां स्थितौ धर्मे श्रद्धेयौ सुतपस्विनौ ॥ ३ ॥
परस्परस्य सुहृदौ विहितौ समचेतसौ ।
ब्रह्मक्षत्रस्य सम्मानात् प्रजा सुखमवाप्नुयात् ॥ ४ ॥

यदि राजा और पुरोहित धर्मनिष्ठ, श्रद्धेय तथा तपस्वी हों, एक दूसरेके प्रति सौहार्द रखते हों और समान हृदयवाले हों तो वे दोनों मिलकर प्रजाकी वृद्धि करते हैं तथा सम्पूर्ण देवताओं एवं पितरोंको तृप्त करके पुत्र और प्रजावर्गको भी अभ्युदयशील बनाते हैं । ऐसे ब्राह्मण (पुरोहित) और क्षत्रिय (राजा) का सम्मान करनेमें प्रजाको सुखकी प्राप्ति होती है ॥ ३-४ ॥

विमाननात् तयोरेव प्रजा नश्येयुरेव हि ।
ब्रह्मक्षत्रं हि सर्वेषां वर्णानां मूलमुच्यते ॥ ५ ॥

उन दोनोंका अनादर करनेसे प्रजाका विनाश ही होता है, क्योंकि ब्राह्मण और क्षत्रिय सभी वर्णोंके मूल कहे जाते हैं ॥ ५ ॥

अत्राप्युदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम् ।
ऐलकश्यपसंवादं तन्निबोध युधिष्ठिर ॥ ६ ॥

इस विषयमें राजा पुरूरवा और महर्षि कश्यपके संवाद-रूप प्राचीन इतिहासका उदाहरण दिया करते हैं । युधिष्ठिर ! तुम उसे सुनो ॥ ६ ॥

ऐल उवाच

यदा हि ब्रह्म प्रजहाति क्षत्रं
क्षत्रं यदा वा प्रजहाति ब्रह्म ।
अन्वग्बलं कतमेऽस्मिन् भजन्ते
तथा वर्णाः कतमेऽस्मिन् ध्रियन्ते ॥७॥

पुरूरवाने पूछा—महर्षे ! ब्राह्मण और क्षत्रिय दोनों साथ रहकर ही सबल होते हैं; परंतु जब ब्राह्मण (पुरोहित) किसी कारणसे क्षत्रियको छोड़ देता है अथवा जब राजा ब्राह्मणका परित्याग कर देता है, तब अन्य वर्णके लोग इन दोनोंमेंसे किसका आश्रय ग्रहण करते हैं ? तथा दोनोंमेंसे कौन सबको आश्रय देता है ? ॥ ७ ॥

कश्यप उवाच

विद्धं राष्ट्रं क्षत्रियस्य भवति
ब्रह्म क्षत्रं यत्र विरुद्ध्यतीह ।
अन्वग्बलं दस्यवस्तद् भजन्ते
तथा वर्णं तत्र विदन्ति सन्तः ॥ ८ ॥

कश्यपने कहा—राजन् ! श्रेष्ठ पुरुष इस बातको जानते हैं कि संसारमें जहाँ ब्राह्मण क्षत्रियसे विरोध करता है, वहाँ क्षत्रियका राज्य छिन्न-भिन्न हो जाता है और लुटेरे दल-बलके साथ आकर उसपर अधिकार जमा लेते हैं तथा वहाँ निवास करनेवाले सभी वर्णके लोगोंको अपने अधीन कर लेते हैं॥८॥

नैषां ब्रह्म च वर्धते नोत पुत्रा
न गर्गरो मथ्यते नो यजन्ते ।
नैषां पुत्रा वेदमधीयते च
यदा ब्रह्म क्षत्रियाः संत्यजन्ति ॥ ९ ॥

जब क्षत्रिय ब्राह्मणको त्याग देते हैं, तब उनका वेदाध्ययन आगे नहीं बढ़ता, उनके पुत्रोंकी भी वृद्धि नहीं होती, उनके यहाँ दही-दूधका मटका नहीं महा जाता और न वे यज्ञ ही कर पाते हैं । इतना ही नहीं, उन ब्राह्मणोंके पुत्रोंका वेदाध्ययन भी नहीं हो पाता ॥ ९ ॥

नैषामर्थो वर्धते जातु गेहे
नाधीयते सुप्रजा नो यजन्ते ।
अपध्वस्ता दस्युभूता भवन्ति
ये ब्राह्मणान् क्षत्रियाः संत्यजन्ति ॥ १० ॥

जो क्षत्रिय ब्राह्मणोंको त्याग देते हैं, उनके घरमें कभी धनकी वृद्धि नहीं होती । उनकी संतानें न तो पढ़ती हैं और न यज्ञ ही करती हैं । वे पदभ्रष्ट होकर डाकुओंकी भाँति लूटपाट करने लगते हैं ॥१० ॥

एतौ हि नित्यं संयुक्तावितरेतरधारणे ।
क्षत्रं वै ब्रह्मणो योनिर्योनिः क्षत्रस्य वै द्विजाः ॥ ११ ॥

वे दोनों ब्राह्मण और क्षत्रिय सदा एक दूसरेसे मिलकर रहें, तभी वे एक दूसरेकी रक्षा करनेमें समर्थ होते हैं। ब्राह्मणकी उन्नतिका आधार क्षत्रिय होता है और क्षत्रियकी उन्नतिका आधार ब्राह्मण ॥ ११ ॥

उभावेतौ नित्यमभिप्रपन्नौ
सम्प्रापतुर्महतीं सम्प्रतिष्ठाम् ।
तयोः संधिर्भिद्यते चेत् पुराण-
स्ततः सर्वं भवति हि सम्प्रमूढम् ॥ १२ ॥

ये दोनों जातियाँ जब सदा एक दूसरेके आश्रित होकर रहती हैं, तब बड़ी भारी प्रतिष्ठा प्राप्त करती हैं और यदि इनकी प्राचीन कालसे चली आती हुई मैत्री टूट जाती है, तो सारा जगत् मोहग्रस्त एवं किंकर्तव्यविमूढ़ हो जाता है। १२।

नात्र पारं लभते पारगामी
महागाधे नौरिव सम्प्रपन्ना ।
चातुर्वर्ण्यं भवति हि सम्प्रमूढं
प्रजास्ततः क्षयसंस्था भवन्ति ॥ १३ ॥

जैसे महान् एवं अगाध समुद्रमें टूटी हुई नौका पार नहीं पहुँच पाती, उसी प्रकार उस अवस्थामें मनुष्य अपनी जीवनयात्राको कुशलपूर्वक पूर्ण नहीं कर पाते हैं। चारों वर्णोंकी प्रजापर मोह छा जाता है और वह नष्ट होने लगती है ॥ १३ ॥

ब्रह्मवृक्षो रक्ष्यमाणो मधु हेम च वर्षति ।
अरक्ष्यमाणः सततमश्रु पापं च वर्षति ॥ १४ ॥

ब्राह्मणरूपी वृक्षकी यदि रक्षा की जाती है तो वह मधुर सुख और सुवर्णकी वर्षा करता है और यदि उसकी रक्षा नहीं की गयी तो उससे निरन्तर दुःखके आँसुओं और पापकी वृष्टि होती है ॥ १४ ॥

न ब्रह्मचारी चरणादपेतो
यदा ब्रह्म ब्रह्मणि त्राणमिच्छेत् ।
आश्चर्यतो वर्षति तत्र देव-
स्तत्राभीक्ष्णं दुःसहाश्चाविशन्ति ॥ १५ ॥

जहाँ ब्रह्मचारी ब्राह्मण लुटेरोंके उपद्रवसे विवश हो वेदकी शाखाके स्वाध्यायसे वञ्चित होता है और उसके लिये अपनी रक्षा चाहता है, वहाँ इन्द्रदेव यदि पानी बरसावें तो आश्चर्यकी ही बात है (वहाँ प्रायः वर्षा नहीं होती है) तथा महामारी और दुर्भिक्ष आदि दुःसह उपद्रव आ पहुँचते हैं ॥ १५ ॥

स्त्रियं हत्वा ब्राह्मणं वापि पापः
सभायां यत्र लभतेऽनुवादम् ।
राज्ञः सकाशे न बिभेति चापि
ततो भयं विद्यते क्षत्रियस्य ॥ १६ ॥

जब पापात्मा मनुष्य किसी स्त्री अथवा ब्राह्मणकी हत्या करके लोगोंकी सभामें साधुवाद या प्रशंसा पाता है तथा राजाके निकट भी पापसे भय नहीं मानता, उस समय क्षत्रिय राजाके लिये बड़ा भारी भय उपस्थित होता है ॥ १६ ॥

पापैः पापे क्रियमाणे हि चैल
ततो रुद्रो जायते देव एषः ।
पापैः पापाः संजनयन्ति रुद्रं
ततः सर्वान् साध्वसाधून् हिनस्ति ॥ १७ ॥

इलानन्दन ! जब बहुत-से पापी पापाचार करने लगते हैं, तब ये संहारकारी रुद्रदेव प्रकट हो जाते हैं। पापात्मा पुरुष अपने पापोंद्वारा ही रुद्रको प्रकट करते हैं; फिर वे रुद्रदेव साधु और असाधु सब लोगोंका संहार कर डालते हैं ॥ १७ ॥

ऐल उवाच

कुतो रुद्रः कीदृशो वापि रुद्रः
सत्त्वैः सत्त्वं दृश्यते वध्यमानम् ।
एतत् सर्वं कश्यप मे प्रचक्ष्व
कुतो रुद्रो जायते देव एषः ॥ १८ ॥

पुरूरवाने पूछा—कश्यपजी ! ये रुद्रदेव कहाँसे आते हैं और कैसे हैं ? इस जगत्‌में तो प्राणियोंद्वारा ही प्राणियोंका वध होता देखा जाता है; फिर ये रुद्रदेव किससे उत्पन्न होते हैं ? ये सब बातें मुझे बताइये ॥ १८ ॥

कश्यप उवाच

आत्मा रुद्रो हृदये मानवानां
स्वं स्वं देहं परदेहं च हन्ति ।
वातोत्पातैः सदृशं रुद्रमाहु-
र्दैवैर्जीमूतैः सदृशं रूपमस्य ॥ १९ ॥

कश्यपने कहा—राजन् ! ये रुद्रदेव मनुष्योंके हृदयमें आत्मारूपसे निवास करते हैं और समय आनेपर अपने तथा दूसरेके शरीरोंका नाश करते हैं। विद्वान् पुरुष रुद्रको उत्पात-वायु (तूफानी हवा) के समान वेगवान् कहते हैं और उनका रूप बादलोंके समान बताते हैं ॥ १९ ॥

ऐल उवाच

न वै वातः परिवृणोति कश्चि-
न्न जीमूतो वर्षति नापि देवः ।
तथायुक्तो दृश्यते मानुषेषु
कामद्वेषाद् वध्यते मुह्यते च ॥ २० ॥

पुरूरवाने कहा—कोई भी हवा किसीको आवृत नहीं करती है, न अकेले मेघ ही पानी बरसाता है, रुद्रदेव भी वर्षा नहीं करते हैं। जैसे वायु और बादलको आकाशमें संयुक्त देखा जाता है, उसी प्रकार मनुष्योंमें आत्मा मन, इन्द्रिय आदिसे संयुक्त ही देखा जाता है और वह राग-द्वेषके कारण मोहग्रस्त होता है तथा मारा जाता है ॥ २० ॥

कश्यप उवाच

यथैकगेहे जातवेदाः प्रदीप्तः
कृत्स्नं ग्रामं दहते चत्वरं वा ।
विमोहनं कुरुते देव एष
ततः सर्वं स्पृश्यते पुण्यपापैः ॥ २१ ॥

कश्यपने कहा—जैसे एक घरमें लगी हुई आग प्रज्वलित हो आँगन तथा सारे गाँवको जला देती है, उसी प्रकार वे रुद्रदेव किसी एक प्राणीके भीतर विशेषरूपसे प्रकट हो दूसरोंके मनमें भी मोह उत्पन्न करते हैं; फिर सारे जगत्‌का पुण्य और पापसे सम्बन्ध हो जाता है ॥ २१ ॥

ऐल उवाच

यदि दण्डः स्पृशतेऽपुण्यपापं
पापैः पापे क्रियमाणे विशेषात्।
कस्य हेतोः सुकृतं नाम कुर्याद्
दुष्कृतं वा कस्य हेतोर्न कुर्यात्॥ २२ ॥

पुरूरवाने पूछा—यदि पापियोंद्वारा विशेषरूपसे पाप और पुण्यात्माओंद्वारा विशेषरूपसे पुण्य किये जानेपर पुण्य-पापसे रहित आत्माको भी दण्ड भोगना पड़ता है, तब किस लिये कोई पुण्य करे और किस लिये पाप न करे? ॥२२॥

कश्यप उवाच

असंत्यागात् पापकृतामपापां-
स्तुल्यो दण्डः स्पृशते मिश्रभावात्।
शुष्केणार्द्रं दह्यते मिश्रभावा-
न्न मिश्रः स्यात् पापकृद्भिः कथंचित्॥२३॥

कश्यपने कहा—पापाचारियोंके संसर्गका त्याग न करनेसे पापहीन–धर्मात्मा पुरुषोंको भी उनसे मेल-जोल रखनेके कारण उनके समान ही दण्ड भोगना पड़ता है। ठीक उसी तरह, जैसे सूखी लकड़ियोंके साथ मिली होनेसे गीली लकड़ी भी जल जाती है। अतः विवेकी पुरुषको चाहिये कि वह पापियोंके साथ किसी तरह भी सम्पर्क न स्थापित करे ॥२३॥

ऐल उवाच

साध्वसाधून् धारयतीह भूमिः
साध्वसाधूंस्तापयतीह सूर्यः।
साध्वसाधूंश्चापि वातीह वायु-
रापस्तथा साध्वसाधून् पुनन्ति ॥२४॥

पुरूरवा बोले—इस जगत्‌में पृथ्वी तो पापियों और पुण्यात्माओंको समान रूपसे धारण करती है। सूर्य भी भले-बुरोंको एक-सा ही संताप देते हैं। वायु साधु और दुष्ट दोनोंका स्पर्श करती है और जल पापी एवं पुण्यात्मा दोनोंको पवित्र करता है ॥ २४ ॥

कश्यप उवाच

एवमस्मिन् वर्तते लोक एव
नामुत्रैवं वर्तते राजपुत्र।
प्रेत्यैतयोरन्तरवान् विशेषो
यो वै पुण्यं चरते यश्च पापम्॥ २५ ॥

कश्यपने कहा—राजकुमार! इस लोकमें ही ऐसी बात देखी जाती है, परलोकमें इस प्रकारका बर्ताव नहीं है। जो पुण्य करता है वह और जो पाप करता है वह–दोनों जब मृत्युके पश्चात् परलोकमें जाते हैं तो वहाँ उन दोनोंकी स्थितिमें बड़ा भारी अन्तर हो जाता है ॥ २५ ॥

पुण्यस्य लोको मधुमान् घृतार्चि-
र्हिरण्यज्योतिरमृतस्य नाभिः।
तत्र प्रेत्य मोदते ब्रह्मचारी
न तत्र मृत्युर्न जरा नोत दुःखम्॥ २६॥

पुण्यात्माका लोक मधुरतम सुखसे भरा होता है। वहाँ घीके चिराग जलते हैं। उसमें सुवर्णके समान प्रकाश फैला रहता है। वहाँ अमृतका केन्द्र होता है। उस लोकमें न तो मृत्यु है, न बुढ़ापा है और न दूसरा ही कोई दुःख है। ब्रह्मचारी पुरुष मृत्युके पश्चात् उसी स्वर्गादि लोकमें जाकर आनन्दका अनुभव करता है ॥ २६ ॥

पापस्य लोको निरयोऽप्रकाशो
नित्यं दुःखं शोकभूयिष्ठमेव।
तत्रात्मानं शोचति पापकर्मा
बह्वीः समाः प्रतपन्नप्रतिष्ठः॥ २७॥

पापीका लोक नरक है, जहाँ सदा अँधेरा छाया रहता है। वहाँ प्रतिदिन दुःख तथा अधिक-से-अधिक शोक होता है। पापात्मा पुरुष वहाँ बहुत वर्षोंतक कष्ट भोगता हुआ कभी एक स्थानपर स्थिर नहीं रहता और निरन्तर अपने लिये शोक करता रहता है ॥ २७ ॥

मिथोभेदाद् ब्राह्मणक्षत्रियाणां
प्रजा दुःखं दुःसहं चाविशन्ति।
एवं ज्ञात्वा कार्य एवेह नित्यं
पुरोहितो नैकविद्यो नृपेण ॥ २८ ॥

ब्राह्मण और क्षत्रियोंमें परस्पर फूट होनेसे प्रजाको दुःसह दुःख उठाना पड़ता है। इन सब बातोंको समझ-बूझकर राजाको चाहिये कि वह सदाके लिये एक सदाचारी बहुज्ञ पुरोहित बना ही ले ॥ २८ ॥

तं चैवान्वभिषिच्येत तथा धर्मो विधीयते।
अग्र्यो हि ब्राह्मणः प्रोक्तः सर्वस्यैवेह धर्मतः॥ २९॥

राजा पहले पुरोहितका वरण कर ले। उसके बाद अपना अभिषेक करावे। ऐसा करनेसे ही धर्मका पालन होता है; क्योंकि धर्मके अनुसार ब्राह्मण यहाँ सबसे श्रेष्ठ बताया गया है॥

पूर्वं हि ब्रह्मणः सृष्टिरिति ब्रह्मविदो विदुः।
ज्येष्ठेनाभिजनेनास्य प्राप्तं पूर्वं यदुत्तरम्॥ ३०॥

वेदवेत्ता विद्वानोंका यह मत है कि सबसे पहले ब्राह्मणकी ही सृष्टि हुई है; अतः ज्येष्ठ तथा उत्तम कुलमें उत्पन्न होनेके कारण प्रत्येक उत्कृष्ट वस्तुपर सबसे पहले ब्राह्मणका ही अधिकार होता है ॥ ३० ॥

तस्मान्मान्यश्च पूज्यश्च ब्राह्मणः प्रसृताग्रभुक्।
सर्वं श्रेष्ठं विशिष्टं च निवेद्यं तस्य धर्मतः॥ ३१॥
अवश्यमेव कर्तव्यं राज्ञा बलवतापि हि।

इसलिये ब्राह्मण सब वर्णोंका सम्माननीय और पूजनीय है। वही भोजनके लिये प्रस्तुत की हुई सब वस्तुओंको सबसे पहले भोगनेका अधिकारी है। सभी श्रेष्ठ और उत्तम पदार्थोंको धर्मके अनुसार पहले ब्राह्मणकी सेवामें ही

निवेदित करना चाहिये। बलवान् राजाको भी अवश्य ऐसा ही करना चाहिये ॥ ३१½ ॥

ब्रह्म वर्धयति क्षत्रं क्षत्रतो ब्रह्म वर्धते।
एवं राज्ञा विशेषेण पूज्या वै ब्राह्मणाः सदा ॥ ३२ ॥

(राज्ञः सर्वस्य चान्यस्य स्वामी राजपुरोहितः।)

ब्राह्मण क्षत्रियको बढ़ाता है और क्षत्रियसे ब्राह्मणकी उन्नति होती है। अतः राजाको विशेषरूपसे सदा ही ब्राह्मणोंकी पूजा करनी चाहिये; क्योंकि राजपुरोहित राजाका तथा अन्य सब लोगोंका भी स्वामी है ॥ ३२ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि राजधर्मानुशासनपर्वणि ऐलकश्यपसंवादे त्रिसप्ततितमोऽध्यायः ॥ ७३ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत राजधर्मानुशासनपर्वमें पुरूरवा और कश्यपका संवादविषयक तिहत्तरवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ७३ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठके ७½ श्लोक मिलाकर कुल ३९½ श्लोक हैं)

चतुःसप्ततितमोऽध्यायः

ब्राह्मण और क्षत्रियके मेलसे लाभका प्रतिपादन करनेवाला मुचुकुन्दका उपाख्यान

भीष्म उवाच

योगक्षेमो हि राष्ट्रस्य राजन्यायत्त उच्यते।
योगक्षेमो हि राज्ञो हि समायत्तः पुरोहिते ॥ १ ॥

भीष्मजी कहते हैं—राजन्! राष्ट्रका योगक्षेम राजाके अधीन बताया जाता है; परंतु राजाका योगक्षेम पुरोहितके अधीन है ॥ १ ॥

यत्रादृष्टं भयं ब्रह्म प्रजानां शमयत्युत।
दृष्टं च राजा बाहुभ्यां तद् राज्यं सुखमेधते ॥ २ ॥

जहाँ ब्राह्मण अपने तेजसे प्रजाके अदृष्ट भयका निवारण करता है और राजा अपने बाहुबलसे दृष्ट भयको दूर करता है, वह राज्य सुखसे उत्तरोत्तर उन्नति करता है ॥ २ ॥

अत्राप्युदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम्।
मुचुकुन्दस्य संवादं राज्ञो वैश्रवणस्य च ॥ ३ ॥

इस विषयमें विज्ञ पुरुष मुचुकुन्द और राजा कुबेरके संवादरूप एक प्राचीन इतिहासका उदाहरण दिया करते हैं ॥ ३ ॥

मुचुकुन्दो विजित्येमां पृथिवीं पृथिवीपतिः।
जिज्ञासमानः स्वबलमभ्ययादलकाधिपम् ॥ ४ ॥

कहते हैं, पृथ्वीपति राजा मुचुकुन्दने इस पृथ्वीको जीतकर अपने बलकी परीक्षा लेनेके लिये अलकापति कुबेरपर चढ़ाई की ॥ ४ ॥

ततो वैश्रवणो राजा राक्षसानसृजत् तदा।
ते बलान्यवमृद्नन्त मुचुकुन्दस्य नैर्ऋताः ॥ ५ ॥

तब राजा कुबेरने उनका सामना करनेके लिये राक्षसोंकी सेना भेजी। उन राक्षसोंने मुचुकुन्दकी सेनाओंको कुचलना आरम्भ किया ॥ ५ ॥

स हन्यमाने सैन्ये स्वे मुचुकुन्दो नराधिपः।
गर्हयामास विद्वांसं पुरोहितमरिंदमः ॥ ६ ॥

इस प्रकार अपनी सेनाको मारी जाती देखकर शत्रुदमन राजा मुचुकुन्दने अपने विद्वान् पुरोहित वसिष्ठजीको इसके लिये उलाहना दिया ॥ ६ ॥

तत उग्रं तपस्तप्त्वा वसिष्ठो धर्मवित्तमः।
रक्षांस्युपावधीत् तस्य पन्थानं चाप्यविन्दत ॥ ७ ॥

तब धर्मात्माओंमें श्रेष्ठ महर्षि वसिष्ठजीने घोर तपस्या करके उन राक्षसोंका विनाश कर डाला और राजाके लिये विजय पानेका मार्ग प्राप्त कर लिया ॥ ७ ॥

ततो वैश्रवणो राजा मुचुकुन्दमदर्शयत्।
वध्यमानेषु सैन्येषु वचनं चेदमब्रवीत् ॥ ८ ॥

इसके बाद राजा कुबेरने, अपनी सेनाको मरते देखकर राजा मुचुकुन्दको दर्शन दिया और इस प्रकार कहा ॥ ८ ॥

धनद उवाच

बलवन्तस्त्वया पूर्वे राजानः सपुरोहिताः।
न चैवं समवर्तन्त यथा त्वमिह वर्तसे ॥ ९ ॥

कुबेर बोले—राजन्! पहले भी तुम्हारे समान बलवान् राजा हो चुके हैं और उन्हें भी पुरोहितोंकी सहायता प्राप्त थी, परंतु मेरे साथ यहाँ तुम जैसा बर्ताव कर रहे हो, वैसा किसीने नहीं किया था ॥ ९ ॥

ते खल्वपि कृतास्त्राश्च बलवन्तश्च भूमिपाः।
आगम्य पर्युपासन्ते मामीशं सुखदुःखयोः ॥ १० ॥

वे भूपाल भी अस्त्रविद्याके ज्ञाता तथा बलवान् थे और मुझे सुख एवं दुःख देनेमें समर्थ ईश्वर मानकर मेरे पास आते और मेरी उपासना करते थे ॥ १० ॥

यद्यस्ति बाहुवीर्यं ते तद् दर्शयितुमर्हसि।
किं ब्राह्मणबलेन त्वमतिमात्रं प्रवर्तसे ॥ ११ ॥

महाराज! यदि तुम्हारी भुजाओंमें कुछ बल है तो उसे दिखाओ। ब्राह्मणके बलपर इतना घमंड क्यों कर रहे हो? ॥ ११ ॥

मुचुकुन्दस्ततः क्रुद्धः प्रत्युवाच धनेश्वरम्।
न्यायपूर्वमसंरब्धमसम्भ्रान्तमिदं वचः ॥ १२ ॥

यह सुनकर मुचुकुन्द कुपित हो उठे और धनाध्यक्ष कुबेरसे यह न्याययुक्त, रोषरहित तथा सम्भ्रमशून्य वचन बोले— ॥ १२ ॥

ब्रह्मक्षत्रमिदं सृष्टमेकयोनि स्वयम्भुवा।
पृथग्बलविधानं तन्न लोकं परिपालयेत् ॥ १३ ॥

'राजराज! ब्राह्मण और क्षत्रिय दोनोंकी उत्पत्तिका स्थान एक ही है। दोनोंको स्वयम्भू ब्रह्माजीने ही पैदा किया है। यदि उनका बल और प्रयत्न अलग-अलग हो जाय तो वे संसारकी रक्षा नहीं कर सकते ॥ १३ ॥

तपो मन्त्रबलं नित्यं ब्राह्मणेषु प्रतिष्ठितम्।
अस्त्रबाहुबलं नित्यं क्षत्रियेषु प्रतिष्ठितम् ॥ १४ ॥

'ब्राह्मणोंमें सदा तप और मन्त्रका बल उपस्थित होता

है और क्षत्रियोंमें अस्त्र तथा भुजाओंका ॥ १४ ॥

ताभ्यां सम्भूय कर्तव्यं प्रजानां परिपालनम् ।
तथा च मां प्रवर्तन्तं किं गर्हस्यलकाधिप ॥ १५ ॥

अलकापते ! अतः ब्राह्मण और क्षत्रिय दोनोंको एकसाथ मिलकर ही प्रजाका पालन करना चाहिये । मैं भी इसी नीतिके अनुसार कार्य कर रहा हूँ; फिर आप मेरी निन्दा क्यों करते हैं ?' ॥ १५ ॥

ततोऽब्रवीद् वैश्रवणो राजानं सपुरोहितम् ।
नाहं राज्यमनिर्दिष्टं कस्मैचिद् विदधाम्युत ॥ १६ ॥
नाच्छिन्दे चाप्यनिर्दिष्टमिति जानीहि पार्थिव ।
प्रशाधि पृथिवीं कृत्स्नां मद्दत्तामखिलामिमाम् ।
एवमुक्तः प्रत्युवाच मुचुकुन्दो महीपतिः ॥ १७ ॥

तब कुबेरने पुरोहितसहित राजा मुचुकुन्दसे कहा—'पृथ्वीपते ! मैं ईश्वरकी आज्ञाके बिना न तो किसीको राज्य देता हूँ और न भगवान्‌की अनुमतिके बिना दूसरेका राज्य छीनता ही हूँ । इस बातको तुम अच्छी तरह समझ लो । यद्यपि ऐसी ही बात है तो भी आज मैं तुम्हें इस सारी पृथ्वीका राज्य दे रहा हूँ । तुम मेरी दी हुई इस सम्पूर्ण पृथ्वीका शासन करो' । उनके ऐसा कहनेपर राजा मुचुकुन्दने इस प्रकार उत्तर दिया ॥ १६-१७ ॥

मुचुकुन्द उवाच

नाहं राज्यं भवद्दत्तं भोक्तुमिच्छामि पार्थिव ।
बाहुवीर्यार्जितं राज्यमश्नीयामिति कामये ॥ १८ ॥

मुचुकुन्द बोले—राजाधिराज ! मैं आपके दिये हुए राज्यको नहीं भोगना चाहता । मेरी तो यही इच्छा है कि मैं अपने बाहुबलसे उपार्जित राज्यका उपभोग करूँ ॥ १८ ॥

भीष्म उवाच

ततो वैश्रवणो राजा विस्मयं परमं ययौ ।
क्षत्रधर्मे स्थितं दृष्ट्वा मुचुकुन्दमसम्भ्रमम् ॥ १९ ॥

भीष्मजी कहते हैं—युधिष्ठिर ! राजा मुचुकुन्दको बिना किसी घबराहटके इस प्रकार क्षत्रियधर्ममें स्थित हुआ देख कुबेरको बड़ा विस्मय हुआ ॥ १९ ॥

ततो राजा मुचुकुन्दः सोऽन्वशासद् वसुन्धराम् ।
बाहुवीर्यार्जितां सम्यक्क्षत्रधर्ममनुव्रतः ॥ २० ॥

तदनन्तर क्षत्रियधर्मका ठीक-ठीक पालन करनेवाले राजा मुचुकुन्दने अपने बाहुबलसे प्राप्त की हुई इस वसुधाका शासन किया ॥ २० ॥

एवं यो धर्मविद् राजा ब्रह्मपूर्वं प्रवर्तते ।
जयत्यविजितामुर्वीं यशश्च महदश्नुते ॥ २१ ॥

इस प्रकार जो धर्मज्ञ राजा पहले ब्राह्मणका आश्रय लेकर उसकी सहायतासे राज्यकार्यमें प्रवृत्त होता है, वह बिना जीती हुई पृथ्वीको भी जीतकर महान् यशका भागी होता है ॥ २१ ॥

नित्योदकी ब्राह्मणःस्यान्नित्यशस्त्रश्च क्षत्रियः ।
तयोर्हि सर्वमायत्तं यत् किञ्चिज्जगतीगतम् ॥ २२ ॥

ब्राह्मणको प्रतिदिन स्नान करके जलसम्बन्धी कृत्य—संध्या-वन्दन, तर्पण आदि कर्म करने चाहिये और क्षत्रियको सदा अस्त्रविद्याका अभ्यास बढ़ाना चाहिये । इस भूतलपर जो कोई भी वस्तु है, वह सब इन्हीं दोनोंके अधीन है ॥ २२ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि राजधर्मानुशासनपर्वणि मुचुकुन्दोपाख्याने चतुःसप्ततितमोऽध्यायः ॥ ७४ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत राजधर्मानुशासनपर्वमें मुचुकुन्दका उपाख्यानविषयक चौहत्तरवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ७४ ॥

पञ्चसप्ततितमोऽध्यायः

राजाके कर्तव्यका वर्णन, युधिष्ठिरका राज्यसे विरक्त होना एवं भीष्मजीका पुनः राज्यकी महिमा सुनाना

युधिष्ठिर उवाच

यया वृत्त्या महीपालो विवर्धयति मानवान् ।
पुण्यांश्च लोकान् जयति तन्मे ब्रूहि पितामह ॥ १ ॥

युधिष्ठिरने पूछा—पितामह ! राजा जिस वृत्तिसे रहनेपर अपने प्रजाजनोंकी उन्नति करता है और स्वयं भी विशुद्ध लोकोंपर विजय प्राप्त कर लेता है, वह मुझे बताइये ॥ १ ॥

भीष्म उवाच

दानशीलो भवेद् राजा यज्ञशीलश्च भारत ।
उपवासतपःशीलः प्रजानां पालने रतः ॥ २ ॥

भीष्मजीने कहा—भरतनन्दन ! राजाको सदा ही दानशील, यज्ञशील, उपवास और तपस्यामें तत्पर एवं प्रजापालनमें संलग्न रहना चाहिये ॥ २ ॥

सर्वाश्चैव प्रजा नित्यं राजा धर्मेण पालयन् ।
उत्थानेन प्रदानेन पूजयेच्चापि धार्मिकान् ॥ ३ ॥

समस्त प्रजाओंका सदा धर्मपूर्वक पालन करनेवाले राजाको घरपर आये हुए धर्मात्मा पुरुषोंका खड़ा होकर स्वागत करना चाहिये और उत्तम वस्तुएँ देकर उनका आदर-सत्कार करना चाहिये ॥ ३ ॥

राज्ञा हि पूजितो धर्मस्ततः सर्वत्र पूज्यते ।
यद् यदाचरते राजा तत् प्रजानां स रोचते ॥ ४ ॥

राजाद्वारा जब जिस धर्मका आदर किया जाता है उसका फिर सर्वत्र आदर होने लगता है; क्योंकि राजा जो-जो कार्य करता है, प्रजावर्गको वही करना अच्छा लगता है ॥ ४ ॥

नित्यमुद्यतदण्डश्च भवेन्मृत्युरिवारिषु ।
निहन्यात् सर्वतो दस्यून् न कामात् कस्यचित् क्षमेत् ॥

राजाको चाहिये कि वह शत्रुओंको यमराजकी भाँति सदा दण्ड देनेके लिये उद्यत रहे । वह डाकुओं और लुटेरोंको सब ओरसे पकड़कर मार डाले । स्वार्थवश किसी दुष्टके अपराधको क्षमा न करे ॥ ५ ॥

यं हि धर्मं चरन्तीह प्रजा राज्ञा सुरक्षिताः ।
चतुर्थं तस्य धर्मस्य राजा भारत विन्दति ॥ ६ ॥

भारत ! राजाद्वारा सुरक्षित हुई प्रजा यहाँ जिस धर्मका

आचरण करती है, उसका चौथा भाग राजाको भी मिल जाता है ॥ ६ ॥

यदधीते यद् ददाति यज्जुहोति यदर्चति ।
राजा चतुर्थभाक् तस्य प्रजा धर्मेण पालयन् ॥ ७ ॥

प्रजा जो स्वाध्याय, जो दान, जो होम और जो पूजन करती है, उन पुण्य कर्मोंका एक चौथाई भाग उस प्रजाका धर्मपूर्वक पालन करनेवाला नरेश प्राप्त कर लेता है ॥ ७ ॥

यद् राष्ट्रेऽकुशलं किञ्चिद् राज्ञोऽरक्षयतः प्रजाः ।
चतुर्थं तस्य पापस्य राजा भारत विन्दति ॥ ८ ॥

भरतनन्दन ! यदि राजा प्रजाकी रक्षा नहीं करता तो उसके राज्यमें प्रजा जो कुछ भी अशुभ कार्य करती है, उस पापकर्मका एक चौथाई भाग राजाको भोगना पड़ता है ॥ ८ ॥

अप्याहुः सर्वमेवेति भूयोऽर्धमिति निश्चयः ।
कर्मणः पृथिवीपाल नृशंसोऽनृतवागपि ॥ ९ ॥

पृथ्वीपते ! कुछ लोगोंका मत है कि उपर्युक्त अवस्थामें राजाको पूरे पापका भागी होना पड़ता है और कुछ लोगोंका यह निश्चय है कि उसको आधा पाप लगता है। ऐसा राजा क्रूर और मिथ्यावादी समझा जाता है ॥ ९ ॥

तादृशात् किल्बिषाद् राजा शृणु येन प्रमुच्यते ।
प्रत्याहर्तुमशक्यं स्याद् धनं चोरैर्हृतं यदि ।
तत् स्वकोशात् प्रदेयं स्यादशक्तेनोपजीवतः ॥ १० ॥

ऐसे पापसे राजाको किस उपायसे छुटकारा मिलता है, वह बताता हूँ, सुनो। चोरों या लुटेरोंने यदि किसीके धनका अपहरण कर लिया हो और राजा पता लगाकर उस धनको लौटा न सके तो उस असमर्थ नरेशको चाहिये कि वह अपने आश्रयमें रहनेवाले उस मनुष्यको उतना ही धन राजकीय खजानेसे दे दे ॥ १० ॥

सर्ववर्णैः सदा रक्ष्यं ब्रह्मस्वं ब्राह्मणा यथा ।
न स्थेयं विषये तेन योऽपकुर्याद् द्विजातिषु ॥ ११ ॥

सभी वर्णके लोगोंको ब्राह्मणोंके धनकी भी रक्षा उसी प्रकार करनी चाहिये जिस प्रकार स्वयं ब्राह्मणोंकी। जो ब्राह्मणोंको कष्ट पहुँचाता हो, उसे राजाको अपने राज्यमें नहीं रहने देना चाहिये ॥ ११ ॥

ब्रह्मस्वे रक्ष्यमाणे तु सर्वं भवति रक्षितम् ।
तस्मात् तेषां प्रसादेन कृतकृत्यो भवेन्नृपः ॥ १२ ॥

ब्राह्मणके धनकी रक्षा की जानेपर ही सब कुछ रक्षित हो जाता है; क्योंकि उन ब्राह्मणोंकी कृपासे राजा कृतार्थ हो जाता है ॥ १२ ॥

पर्जन्यमिव भूतानि महाद्रुममिव द्विजाः ।
नरास्तमुपजीवन्ति नृपं सर्वार्थसाधकम् ॥ १३ ॥

जैसे सब प्राणी मेघोंके और पक्षी वृक्षोंके सहारे जीवन-निर्वाह करते हैं, उसी प्रकार सब मनुष्य सम्पूर्ण मनोरथोंकी सिद्धि करनेवाले राजाके आश्रित होकर जीवन-यापन करते हैं ॥ १३ ॥

न हि कामात्मना राज्ञा सततं कामबुद्धिना ।
नृशंसेनातिलुब्धेन शक्यं पालयितुं प्रजाः ॥ १४ ॥

जो राजा कामासक्त हो सदा कामका ही चिन्तन करनेवाला, क्रूर और अत्यन्त लोभी होता है, वह प्रजाका पालन नहीं कर सकता ॥ १४ ॥

युधिष्ठिर उवाच

नाहं राज्यसुखान्वेषी राज्यमिच्छाम्यपि क्षणम् ।
धर्मार्थं रोचये राज्यं धर्मश्चात्र न विद्यते ॥ १५ ॥

युधिष्ठिरने कहा—पितामह ! मैं राज्यसे सुख मिलनेकी आशा रखकर कभी एक क्षणके लिये भी राज्य करनेकी इच्छा नहीं करता। मैं तो धर्मके लिये ही राज्यको पसंद करता था; परंतु मालूम होता है कि इसमें धर्म नहीं है ॥ १५ ॥

तदलं मम राज्येन यत्र धर्मो न विद्यते ।
वनमेव गमिष्यामि तस्माद् धर्मचिकीर्षया ॥ १६ ॥

जिसमें धर्म ही नहीं है, उस राज्यसे मुझे क्या लेना है ? अतः अब मैं धर्म करनेकी इच्छासे वनमें ही चला जाऊँगा ॥ १६ ॥

तत्र मेध्येष्वरण्येषु न्यस्तदण्डो जितेन्द्रियः ।
धर्ममाराधयिष्यामि मुनिर्मूलफलाशनः ॥ १७ ॥

वहाँ वनके पावन प्रदेशोंमें हिंसाका सर्वथा त्याग कर दूँगा और जितेन्द्रिय हो मुनिवृत्तिसे रहकर फल-मूलका आहार करते हुए धर्मकी आराधना करूँगा ॥ १७ ॥

भीष्म उवाच

वेदाहं तव या बुद्धिरानृशंस्यगुणैव सा ।
न च शुद्धानृशंस्येन शक्यं राज्यमुपासितुम् ॥ १८ ॥

भीष्मजीने कहा—राजन् ! मैं जानता हूँ कि तुम्हारी बुद्धिमें दया और कोमलतारूपी गुण ही भरा है; परंतु केवल दया एवं कोमलतासे ही राज्यका शासन नहीं किया जा सकता ॥ १८ ॥

अपि तु त्वां मृदुप्रज्ञमत्यार्यमतिधार्मिकम् ।
क्लीबं धर्मघृणायुक्तं न लोको बहु मन्यते ॥ १९ ॥

तुम्हारी बुद्धि अत्यन्त कोमल है। तुम बड़े सज्जन और बड़े धर्मात्मा हो। धर्मके प्रति तुम्हारा महान् अनुग्रह है। यह सब होनेपर भी संसारके लोग तुम्हें कायर समझकर अधिक आदर नहीं देंगे ॥ १९ ॥

वृत्तं तु स्वमपेक्षस्व पितृपैतामहोचितम् ।
नैव राज्ञां तथा वृत्तं यथा त्वं स्थातुमिच्छसि ॥ २० ॥

तुम्हारे बाप-दादोंने जिस आचार-व्यवहारको अपनाया था, उसे ही प्राप्त करनेकी तुम भी इच्छा रक्खो। तुम जिस तरह रहना चाहते हो, वह राजाओंका आचरण नहीं है ॥ २० ॥

न हि वैक्लव्यसंसृष्टमानृशंस्यमिहास्थितः ।
प्रजापालनसम्भूतमाप्ता धर्मफलं ह्यसि ॥ २१ ॥

इस प्रकार व्याकुलताजनित कोमलताका आश्रय लेकर तुम यहाँ प्रजापालनसे सुलभ होनेवाले धर्मके फलको नहीं पा सकोगे ॥ २१ ॥

न ह्येतामाशिषं पाण्डुर्न च कुन्ती त्वयाचत ।
तथैतत् प्रज्ञया तात यथाऽऽचरसि मेधया ॥ २२ ॥

तात ! तुम अपनी बुद्धि और विचारसे जैसा आचरण

क्यों थी, तुम्हारे विषयमें ऐसी आशा न तो पाण्डुने की थी और न कुन्तीने ही ऐसी आशा की थी ॥ २२ ॥

शौर्यं बलं च सत्यं च पिता तव सदाब्रवीत् ।
माहात्म्यं च महौदार्यं भवतः कुन्त्ययाचत ॥ २३ ॥

तुम्हारे पिता पाण्डु तुम्हारे लिये सदा कहा करते थे कि मेरे पुत्रमें शूरता, बल और सत्यकी वृद्धि हो । तुम्हारी माता कुन्ती भी यही इच्छा किया करती थी कि तुम्हारी महत्ता और उदारता बढ़े ॥ २३ ॥

नित्यं स्वाहा स्वधा नित्यं चोभे मानुषदैवते ।
पुत्रेष्वाशासते नित्यं पितरो दैवतानि च ॥ २४ ॥

प्रतिदिन यज्ञ और श्राद्ध—ये दोनों कर्म क्रमशः देवताओं तथा मानव-पितरोंको आनन्दित करनेवाले हैं । देवता और पितर अपनी संतानोंसे सदा इन्हीं कर्मोंकी आशा रखते हैं ॥

दानमध्ययनं यज्ञः प्रजानां परिपालनम् ।
धर्ममेतदधर्मं वा जन्मनैवाभ्यजायथाः ॥ २५ ॥

दान, वेदाध्ययन, यज्ञ तथा प्रजाका पालन—ये धर्मरूप हों या अधर्मरूप । तुम्हारा जन्म इन्हीं कर्मोंको करनेके लिये हुआ है ॥ २५ ॥

काले धुरि च युक्तानां वहतां भारमाहितम् ।
सीदतामपि कौन्तेय न कीर्तिरवसीदति ॥ २६ ॥

कुन्तीनन्दन ! यथासमय भार वहन करनेमें लगाये गये पुरुषोंपर जो राज्य आदिका भार रख दिया जाता है, उसे वहन करते समय यद्यपि कष्ट उठाना पड़ता है तथापि उससे उन पुरुषोंकी कीर्ति चिरस्थायी होती है, उसका कभी क्षय नहीं होता ॥ २६ ॥

समन्ततो विनियतो वहत्यस्खलितो हि यः ।
निर्दोषः कर्मवचनात् सिद्धिः कर्मण एव सा ॥ २७ ॥

जो मनुष्य सब ओरसे मन और इन्द्रियोंको संयममें रखकर अपने ऊपर रक्खे हुए कार्यभारको पूर्णरूपसे वहन करता है और कभी लड़खड़ाता नहीं है, उसे कोई दोष नहीं प्राप्त होता; क्योंकि शास्त्रमें कर्म करनेका कथन है; अतः राजाको कर्म करनेसे ही वह सिद्धि प्राप्त हो जाती है (जिसे तुम वनवास और तपस्यासे पाना चाहते हो) ॥ २७ ॥

नैकान्तविनिपातेन विचचारेह कश्चन ।
धर्मी गृही वा राजा वा ब्रह्मचारी यथा पुनः ॥ २८ ॥

कोई धर्मनिष्ठ हो, गृहस्थ हो, ब्रह्मचारी हो या राजा हो, पूर्णतया धर्मका आचरण नहीं कर सकता (कुछ-न-कुछ अधर्मका मिश्रण हो ही जाता है) ॥ २८ ॥

अल्पं हि सारभूयिष्ठं यत् कर्मोदारमेव तत् ।
कृतमेवाकृताच्छ्रेयो न पापीयोऽस्त्यकर्मणः ॥ २९ ॥

कोई काम देखनेमें छोटा होनेपर भी यदि उसमें सार अधिक हो तो वह महान् ही है । न करनेकी अपेक्षा कुछ करना ही अच्छा है; क्योंकि कर्तव्य कर्म न करनेवालेसे बढ़कर दूसरा कोई पापी नहीं है ॥ २९ ॥

यदा कुलीनो धर्मज्ञः प्राप्नोत्यैश्वर्यमुत्तमम् ।
योगक्षेमस्तदा राज्ञः कुशलायैव कल्प्यते ॥ ३० ॥

जब धर्मज्ञ एवं कुलीन मनुष्य राजाके यहाँ उत्तम ईश्वरभावको अर्थात् मन्त्री आदिके उच्च अधिकारको पाता है, तभी राजाका योग और क्षेम सिद्ध होता है, जो उसके कुशल-मङ्गलका साधक है ॥ ३० ॥

दानेनान्यं बलेनान्यमन्यं सूनृतया गिरा ।
सर्वतः प्रतिगृह्णीयाद् राज्यं प्राप्येह धार्मिकः ॥ ३१ ॥

धर्मात्मा राजा राज्य पानेके अनन्तर किसीको दानसे, किसीको बलसे और किसीको मधुर वाणीद्वारा सब ओरसे अपने वशमें कर ले ॥ ३१ ॥

यं हि वैद्याः कुले जाता ह्यवृत्तिभयपीडिताः ।
प्राप्य तृप्ताः प्रतिष्ठन्ति धर्मः कोऽभ्यधिकस्ततः ॥ ३२ ॥

जीवननिर्वाहका कोई उपाय न होनेके कारण जो भयसे पीड़ित रहते हैं, ऐसे कुलीन एवं विद्वान् पुरुष जिस राजाका आश्रय लेकर संतुष्ट हो प्रतिष्ठापूर्वक रहने लगते हैं, उस राजाके लिये इससे बढ़कर धर्मकी बात और क्या होगी ? ॥

युधिष्ठिर उवाच

किं तात परमं स्वर्ग्यं का ततः प्रीतिरुत्तमा ।
किं ततः परमैश्वर्यं ब्रूहि मे यदि पश्यसि ॥ ३३ ॥

युधिष्ठिरने पूछा—तात ! स्वर्ग-प्राप्तिका उत्तम साधन क्या है ? उससे कौन-सी उत्तम प्रसन्नता प्राप्त होती है ? तथा उसकी अपेक्षा महान् ऐश्वर्य क्या है ? यदि आप इन बातोंको जानते हैं तो मुझे बताइये ॥ ३३ ॥

भीष्म उवाच

यस्मिन् भयार्दितः सम्यक् क्षेमं विन्दत्यपि क्षणम् ।
स स्वर्गजित्तमोऽस्माकं सत्यमेतद् ब्रवीमि ते ॥ ३४ ॥

भीष्मजीने कहा—राजन् ! भयसे डरा हुआ मनुष्य जिसके पास जाकर एक क्षणके लिये भी भलीभाँति शान्ति पा लेता है, वही हमलोगोंमें स्वर्गलोककी प्राप्तिका सबसे बड़ा अधिकारी है, यह मैं तुमसे सच्ची बात कहता हूँ ॥ ३४ ॥

त्वमेव प्रीतिमांस्तस्मात् कुरूणां कुरुसत्तम ।
भव राजा जय स्वर्गं सतो रक्षासतो जहि ॥ ३५ ॥

इसलिये कुरुश्रेष्ठ ! तुम्हीं प्रसन्नतापूर्वक कुरुदेशकी प्रजाके राजा बनो । सत्पुरुषोंकी रक्षा तथा दुष्टोंका संहार करो और इस प्रकार अपने कर्तव्यका पालन करके स्वर्गलोकपर विजय प्राप्त कर लो ॥ ३५ ॥

अनु त्वां तात जीवन्तु सुहृदः साधुभिः सह ।
पर्जन्यमिव भूतानि स्वादुद्रुममिव द्विजाः ॥ ३६ ॥

तात ! जैसे सब प्राणी मेघके और पक्षी स्वादिष्ट फलवाले वृक्षके सहारे जीवन-निर्वाह करते हैं, उसी प्रकार साधु पुरुषों-सहित समस्त सुहृद्गण तुम्हारे आश्रयमें रहकर अपनी जीविका चलावें ॥ ३६ ॥

धृष्टं शूरं प्रहर्तारमनृशंसं जितेन्द्रियम् ।

वत्सलं संविभक्तारमुपजीवन्ति तं नराः ॥ ३७ ॥

जो राजा निर्भय, शूरवीर, प्रहार करनेमें कुशल, दयालु, जितेन्द्रिय, प्रजावत्सल और दानी होता है, उसीका आश्रय लेकर मनुष्य जीवन-निर्वाह करते हैं ॥ ३७ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि राजधर्मानुशासनपर्वणि पञ्चसप्ततितमोऽध्यायः ॥ ७५ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत राजधर्मानुशासनपर्वमें पचहत्तरवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ७५ ॥

षट्सप्ततितमोऽध्यायः

उत्तम-अधम ब्राह्मणोंके साथ राजाका बर्ताव

युधिष्ठिर उवाच

स्वकर्मण्यपरे युक्तास्तथैवान्ये विकर्मणि ।
तेषां विशेषमाचक्ष्व ब्राह्मणानां पितामह ॥ १ ॥

युधिष्ठिरने पूछा—पितामह ! कुछ ब्राह्मण अपने वर्णोचित कर्मोंमें लगे रहते हैं तथा दूसरे बहुत-से ब्राह्मण अपने वर्णके विपरीत कर्ममें प्रवृत्त हो जाते हैं । उन सभी ब्राह्मणोंमें क्या अन्तर है ? यह मुझे बताइये ॥ १ ॥

भीष्म उवाच

विद्यालक्षणसम्पन्नाः सर्वत्र समदर्शिनः ।
एते ब्रह्मसमा राजन् ब्राह्मणाः परिकीर्तिताः ॥ २ ॥

भीष्मजीने कहा—राजन् ! जो विद्वान् उत्तम लक्षणोंसे सम्पन्न तथा सर्वत्र समान दृष्टि रखनेवाले हैं, ऐसे ब्राह्मण ब्रह्माजीके समान कहे गये हैं ॥ २ ॥

ऋग्यजुःसामसम्पन्नाः स्वेषु कर्मस्ववस्थिताः ।
एते देवसमा राजन् ब्राह्मणानां भवन्त्युत ॥ ३ ॥

नरेश्वर ! जो ऋग्, यजुः और सामवेदका अध्ययन करके अपने वर्णोचित कर्मोंमें लगे हुए हैं, वे ब्राह्मणोंमें देवताके समान समझे जाते हैं ॥ ३ ॥

जन्मकर्मविहीना ये कदर्या ब्रह्मबन्धवः ।
एते शूद्रसमा राजन् ब्राह्मणानां भवन्त्युत ॥ ४ ॥

राजन् ! जो अपने जातीय कर्मसे हीन हो कुत्सित कर्मोंमें लगकर ब्राह्मणत्वसे भ्रष्ट हो चुके हैं, ऐसे लोग ब्राह्मणोंमें शूद्रके तुल्य होते हैं ॥ ४ ॥

अश्रोत्रियाः सर्व एव सर्वे चानाहिताग्नयः ।
तान् सर्वान् धार्मिको राजा बलिं विष्टिं च कारयेत् ॥५॥

जो ब्राह्मण वेदशास्त्रोंके ज्ञानसे शून्य हैं तथा जो अग्निहोत्र नहीं करते हैं, वे सभी शूद्रतुल्य हैं । धर्मात्मा राजाको चाहिये कि इन सब लोगोंसे कर ले और बेगार करावे ॥५॥

आह्वायका देवलका नाक्षत्रा ग्रामयाजकाः ।
एते ब्राह्मणचाण्डाला महापथिकपञ्चमाः ॥ ६ ॥

न्यायालयमें या कहीं भी लोगोंको बुलाकर लानेका काम करनेवाले, वेतन लेकर देवमन्दिरमें पूजा करनेवाले, नक्षत्र-विद्याद्वारा जीविका चलानेवाले, ग्रामपुरोहित तथा पाँचवें महापथिक (दूर देशके यात्री या समुद्र—यात्रा करनेवाले) ब्राह्मण चाण्डालके तुल्य माने जाते हैं ॥ ६ ॥

(म्लेच्छदेशास्तु ये केचित् पापैरध्युषिता नरैः ।
गत्वा तु ब्राह्मणस्तांश्च चाण्डालः प्रेत्य चेह च ॥

जो कोई म्लेच्छ देश हैं और जहाँ पापी मनुष्य निवास करते हैं, वहाँ जाकर ब्राह्मण इहलोकमें चाण्डालके तुल्य हो जाता है और मृत्युके बाद अधोगतिको प्राप्त होता है ॥

व्रात्यान् म्लेच्छांश्च शूद्रांश्च याजयित्वा द्विजाधमः ।
अकीर्तिमिह सम्प्राप्य नरकं प्रतिपद्यते ॥

संस्कारभ्रष्ट, म्लेच्छ तथा शूद्रोंका यज्ञ कराकर पतित हुआ अधम ब्राह्मण इस संसारमें अपयश पाता और मरनेके बाद नरकमें गिरता है ॥

ब्राह्मणो ऋग्यजुःसाम्नां मूढः कृत्वा तु विप्लवम् ।
कल्पमेकं कृमिः सोऽथ नानाविष्ठासु जायते) ॥

जो मूर्ख ब्राह्मण ऋग्वेद, यजुर्वेद और सामवेदके मन्त्रोंका विप्लव करता है, वह एक कल्पतक नाना प्राणियोंकी विष्ठाओंका कीड़ा होता है ॥

ऋत्विक् पुरोहितो मन्त्री दूतो वार्तानुकर्षकः ।
एते क्षत्रसमा राजन् ब्राह्मणानां भवन्त्युत ॥ ७ ॥

राजन् ! ब्राह्मणोंमेंसे जो ऋत्विज्, राजपुरोहित, मन्त्री, राजदूत अथवा संदेशवाहक हों, वे क्षत्रियके समान माने जाते हैं ॥ ७ ॥

अश्वारोहा गजारोहा रथिनोऽथ पदातयः ।
एते वैश्यसमा राजन् ब्राह्मणानां भवन्त्युत ॥ ८ ॥

नरेश्वर ! घुड़सवार, हाथीसवार, रथी और पैदल सिपाहीका काम करनेवाले ब्राह्मणोंको वैश्यके समान समझा जाता है ॥ ८ ॥

एतेभ्यो बलिमादद्याद्धीनकोशो महीपतिः ।
ऋते ब्रह्मसमेभ्यश्च देवकल्पेभ्य एव च ॥ ९ ॥

यदि राजाके खजानेमें कमी हो तो वह इन ब्राह्मणोंसे कर ले सकता है । केवल उन ब्राह्मणोंसे, जो ब्रह्माजी तथा देवताओंके समान बताये गये हैं, कर नहीं लेना चाहिये ॥९॥

अब्राह्मणानां वित्तस्य स्वामी राजेति वैदिकम् ।
ब्राह्मणानां च ये केचिद् विकर्मस्था भवन्त्युत ॥ १० ॥

राजा ब्राह्मणके सिवा अन्य सब वर्णोंके धनका स्वामी होता है, यही वैदिक सिद्धान्त है । ब्राह्मणोंमेंसे जो कोई अपने वर्णके विपरीत कर्म करनेवाले हैं, उनके धनपर भी राजाका ही अधिकार है ॥ १० ॥

विकर्मस्थाश्च नोपेक्ष्या विप्रा राज्ञा कथंचन ।
नियम्याः संविभज्याश्च धर्मानुग्रहकारणात् ॥ ११ ॥

राजाको कर्मभ्रष्ट ब्राह्मणोंकी किसी प्रकार उपेक्षा नहीं करनी चाहिये । बल्कि धर्मपर अनुग्रह करनेके लिये उन्हें दण्ड देना और श्रेष्ठ ब्राह्मणोंकी श्रेणीसे अलग कर देना चाहिये ॥

यस्य स्म विषये राजन् स्तेनो भवति वै द्विजः ।
राज्ञ एवापराधं तं मन्यन्ते तद्विदो जनाः ॥ १२ ॥

राजन्! जिस किसी भी राजाके राज्यमें यदि ब्राह्मण चोर बन जाता है तो उसकी इस परिस्थितिके लिये जानकार लोग उस राजाका ही अपराध ठहराते हैं ॥ १२ ॥

अवृत्त्या यो भवेत् स्तेनो वेदवित् स्नातकस्तथा ।
राजन् स राज्ञा भर्तव्य इति वेदविदो विदुः ॥ १३ ॥

नरेश्वर ! यदि कोई वेदवेत्ता अथवा स्नातक ब्राह्मण जीविकाके अभावमें चोरी करता हो तो राजाको उचित है कि उसके भरण-पोषणकी व्यवस्था करे; यह वेदवेत्ताओंका मत है ॥

स चेन्नो परिवर्तेत कृतवृत्तिः परंतप ।
ततो निर्वासनीयः स्यात् तस्माद् देशात् सबान्धवः ॥

परंतप ! यदि जीविकाका प्रबन्ध कर देनेपर भी उस ब्राह्मणमें कोई परिवर्तन न हो—वह पूर्ववत् चोरी करता ही रह जाय तो उसे बन्धु-बान्धवोंसहित उस देशसे निर्वासित कर देना चाहिये ॥ १४ ॥

(यज्ञः श्रुतमपैशुन्यमहिंसातिथिपूजनम् ।
दमः सत्यं तपो दानमेतद् ब्राह्मणलक्षणम् ॥)

यज्ञ, वेदोंका अध्ययन, किसीकी चुगली न करना, किसी भी प्राणीको मन, वाणी और क्रियाद्वारा क्लेश न पहुँचाना, अतिथियोंका पूजन करना, इन्द्रियोंको संयममें रखना, सच बोलना, तप करना और दान देना, यह सब ब्राह्मणका लक्षण है ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि राजधर्मानुशासनपर्वणि षट्सप्ततितमोऽध्यायः ॥ ७६ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत राजधर्मानुशासनपर्वमें छिहत्तरवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ७६ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठके ४ श्लोक मिलाकर कुल १८ श्लोक हैं)

सप्तसप्ततितमोऽध्यायः

केकयराज तथा राक्षसका उपाख्यान और केकयराज्यकी श्रेष्ठताका विस्तृत वर्णन

युधिष्ठिर उवाच

केषां प्रभवते राजा वित्तस्य भरतर्षभ ।
कया च वृत्त्या वर्तेत तन्मे ब्रूहि पितामह ॥ १ ॥

युधिष्ठिरने पूछा—भरतकुलभूषण पितामह ! किन-किन मनुष्योंके धनपर राजाका अधिकार होता है ? तथा राजाको कैसा बर्ताव करना चाहिये ? यह मुझे बताइये ॥ १ ॥

भीष्म उवाच

अब्राह्मणानां वित्तस्य स्वामी राजेति वैदिकम् ।
ब्राह्मणानां च ये केचिद् विकर्मस्था भवन्त्युत ॥ २ ॥

भीष्मजीने कहा—राजन् ! ब्राह्मणके सिवा अन्य सभी वर्णोंके धनका स्वामी राजा होता है, यह वैदिक मत है । ब्राह्मणोंमें भी जो कोई अपने वर्णके विपरीत कर्म करते हों, उनके धनपर भी राजाका ही अधिकार है ॥ २ ॥

विकर्मस्थाश्च नोपेक्ष्या विप्रा राज्ञा कथञ्चन ।
इति राज्ञां पुरावृत्तमभिजल्पन्ति साधवः ॥ ३ ॥

अपने वर्णके विपरीत कर्मोंमें लगे हुए ब्राह्मणोंकी राजाको किसी प्रकार उपेक्षा नहीं करनी चाहिये (क्योंकि उन्हें दण्ड देकर भी राहपर लाना राजाका कर्तव्य है) । साधुपुरुष इसीको राजाओंका प्राचीनकालसे चला आता हुआ बर्ताव या धर्म कहते हैं ॥ ३ ॥

यस्य स्म विषये राज्ञः स्तेनो भवति वै द्विजः ।
राज्ञ एवापराधं तं मन्यन्ते किल्बिषं नृप ॥ ४ ॥

नरेश्वर ! जिस राजाके राज्यमें कोई ब्राह्मण चोरी करने लग जाता है, वह राजा अपराधी माना जाता है । विचारवान् पुरुष इसे राजाका ही अपराध और पाप समझते हैं ॥ ४ ॥

अभिशस्तमिवात्मानं मन्यन्ते येन कर्मणा ।
तस्माद् राजर्षयः सर्वे ब्राह्मणानन्वपालयन् ॥ ५ ॥

ब्राह्मणमें उक्त दोष आ जाय तो उससे राजा अपने-आपको कलङ्कित मानते हैं; इसीलिये सभी राजर्षियोंने ब्राह्मणोंकी सदा ही रक्षा की है ॥ ५ ॥

अत्राप्युदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम् ।
गीतं कैकेयराजेन ह्रियमाणेन रक्षसा ॥ ६ ॥

इस विषयमें जानकार लोग एक प्राचीन इतिहासका उदाहरण दिया करते हैं । जिसमें राक्षसके द्वारा अपहृत होते समय केकयराजके प्रकट किये हुए उद्गारका वर्णन है ॥ ६ ॥

केकयानामधिपतिं रक्षो जग्राह दारुणम् ।
स्वाध्यायेनान्वितं राजन्नरण्ये संशितव्रतम् ॥ ७ ॥

राजन् ! एक समयकी बात है, केकयराज वनमें रहकर कठोर व्रतका पालन (तप) और स्वाध्याय किया करते थे । एक दिन उन्हें एक भयंकर राक्षसने पकड़ लिया ॥ ७ ॥

राजोवाच

न मे स्तेनो जनपदे न कदर्यो न मद्यपः ।
नानाहिताग्निर्नायज्वा मामकान्तरमाविशः ॥ ८ ॥

यह देख राजाने उस राक्षससे कहा—मेरे राज्यमें एक भी चोर, कंजूस, शराबी अथवा अग्निहोत्र और यज्ञका त्याग करनेवाला नहीं है तो भी तुम्हारा मेरे शरीरमें प्रवेश कैसे हो गया ? ॥ ८ ॥

न च मे ब्राह्मणोऽविद्वान्नाव्रती नाप्यसोमपः ।
नानाहिताग्निर्नायज्वा मामकान्तरमाविशः ॥ ९ ॥

मेरे राज्यमें एक भी ब्राह्मण ऐसा नहीं है जो विद्वान्, उत्तम व्रतका पालन करनेवाला, यज्ञमें सोमरस पीनेवाला, अग्निहोत्री और यज्ञकर्ता न हो तो भी तुमने मेरे भीतर कैसे प्रवेश किया ? ॥ ९ ॥

नानाप्रदक्षिणैर्यज्ञैर्यजन्ते विषये मम ।
नाधीते नाव्रती कश्चिन्मामकान्तरमाविशः ॥ १० ॥

मेरे राज्यमें समस्त द्विज नाना प्रकारकी उत्तम दक्षिणाओंसे युक्त यज्ञोंका अनुष्ठान करते हैं । कोई भी ब्रह्मचर्य-व्रतका पालन किये बिना वेदोंका अध्ययन नहीं

करता। फिर भी मेरे शरीरके भीतर तुम्हारा प्रवेश कैसे हुआ ?॥

अधीयतेऽध्यापयन्ति यजन्ते याजयन्ति च।
ददति प्रतिगृह्णन्ति षट्सु कर्मस्ववस्थिताः ॥ ११ ॥

मेरे राज्यके ब्राह्मण पढ़ते-पढ़ाते, यज्ञ करते-कराते, दान देते और लेते हैं। इस प्रकार वे ब्राह्मणोचित छः कर्मोंमें ही संलग्न रहते हैं ॥ ११ ॥

पूजिताः संविभक्ताश्च मृदवः सत्यवादिनः।
ब्राह्मणा मे स्वकर्मस्था मामकान्तरमाविशः ॥ १२ ॥

मेरे राज्यके सभी ब्राह्मण अपने-अपने कर्ममें तत्पर रहनेवाले हैं। कोमल स्वभाववाले तथा सत्यवादी हैं। उन सबको मेरे राज्यसे वृत्ति मिलती है तथा वे मेरे द्वारा पूजित होते रहते हैं तो भी तुम्हारा मेरे शरीरके भीतर प्रवेश कैसे सम्भव हुआ ? ॥ १२ ॥

न याचन्ते प्रयच्छन्ति सत्यधर्मविशारदाः।
नाध्यापयन्त्यधीयन्ते यजन्ते याजयन्ति न ॥ १३ ॥
ब्राह्मणान् परिरक्षन्ति संग्रामेष्वपलायिनः।
क्षत्रिया मे स्वकर्मस्था मामकान्तरमाविशः ॥ १४ ॥

मेरे राज्यमें जो क्षत्रिय हैं, वे अपने वर्णोचित कर्मोंमें लगे रहते हैं, वे वेदोंका अध्ययन तो करते हैं, परंतु अध्यापन नहीं करते; यज्ञ करते हैं, परंतु कराते नहीं हैं तथा दान देते हैं, किंतु स्वयं लेते नहीं हैं। मेरे राज्यके क्षत्रिय याचना नहीं करते; स्वयं ही याचकोंको मुँहमाँगी वस्तुएँ देते हैं। सत्यभाषी तथा धर्मसम्पादनमें कुशल हैं। वे ब्राह्मणोंकी रक्षा करते हैं और युद्धमें कभी पीठ नहीं दिखाते हैं तो भी तुम मेरे शरीरके भीतर कैसे प्रविष्ट हो गये ? ॥ १३-१४ ॥

कृषिगोरक्षवाणिज्यमुपजीवन्त्यमायया।
अप्रमत्ताः क्रियावन्तः सुव्रताः सत्यवादिनः ॥ १५ ॥
संविभागं दमं शौचं सौहृदं च व्यपाश्रिताः।
मम वैश्याः स्वकर्मस्था मामकान्तरमाविशः ॥ १६ ॥

मेरे राज्यके वैश्य भी अपने कर्मोंमें ही लगे रहते हैं। वे छल-कपट छोड़कर खेती, गोरक्षा और व्यापारसे जीविका चलाते हैं। प्रमादमें न पड़कर सदा सत्कर्मोंमें संलग्न रहते हैं। उत्तम व्रतोंका पालन करनेवाले और सत्यवादी हैं। अतिथियोंको देकर खाते हैं, इन्द्रियोंको संयममें रखते हैं, शौचाचारका पालन करते और सबके प्रति सौहार्द बनाये रखते हैं तो भी मेरे भीतर तुम कैसे घुस आये ? ॥१५-१६॥

त्रीन् वर्णाननुपजीवन्ति यथावदनसूयकाः।
मम शूद्राः स्वकर्मस्था मामकान्तरमाविशः ॥ १७ ॥

मेरे यहाँके शूद्र भी तीनों वर्णोंकी यथावत् सेवासे जीवन-निर्वाह करते हैं तथा परदोषदर्शनसे दूर ही रहते हैं। इस प्रकार वे भी अपने कर्मोंमें ही स्थित हैं, तथापि तुम मेरे भीतर कैसे घुस आये ? ॥ १७ ॥

कृपणानाथवृद्धानां दुर्बलातुरयोषिताम्।
संविभक्तास्मि सर्वेषां मामकान्तरमाविशः ॥ १८ ॥

दीन, अनाथ, वृद्ध, दुर्बल, रोगी तथा स्त्री—इन सबको मैं अन्न-वस्त्र तथा औषध आदि आवश्यक वस्तुएँ देता रहता हूँ, तथापि तुम मेरे शरीरमें कैसे प्रविष्ट हो गये ?॥

कुलदेशादिधर्माणां प्रथितानां यथाविधि।
अव्युच्छेत्तास्मि सर्वेषां मामकान्तरमाविशः ॥ १९ ॥

मैं अपने सुविख्यात कुल-धर्म, देश-धर्म तथा जाति-धर्मकी परम्पराका विधिपूर्वक पालन करता हुआ इन सब धर्मोंमेंसे किसीका भी लोप नहीं होने देता, तो भी तुम मेरे भीतर कैसे घुस आये ?॥

तपस्विनो मे विषये पूजिताः परिपालिताः।
संविभक्ताश्च सत्कृत्य मामकान्तरमाविशः ॥ २० ॥

अपने राज्यके तपस्वी मुनियोंकी मैंने सदा ही पूजा और रक्षा की है तथा उन्हें सत्कारपूर्वक आवश्यक वस्तुएँ दी हैं। इतनेपर भी मेरे शरीरके भीतर तुम्हारा प्रवेश कैसे सम्भव हुआ है ? ॥ २० ॥

नासंविभज्य भोक्तास्मि नाविशामि परस्त्रियम्।
स्वतन्त्रो जातु न क्रीडे मामकान्तरमाविशः ॥ २१ ॥

मैं देवता, पितर तथा अतिथि आदिको उनका भाग अर्पण किये बिना कभी नहीं भोजन करता। परायी स्त्रीसे कभी सम्पर्क नहीं रखता तथा कभी स्वच्छन्द होकर क्रीडा नहीं करता तो भी तुमने मेरे शरीरमें कैसे प्रवेश किया ! ॥ २१ ॥

नाब्रह्मचारी भिक्षावान्भिक्षुर्वाऽब्रह्मचर्यवान्।
अनृत्विजा हुतं नास्ति मामकान्तरमाविशः ॥ २२ ॥

मेरे राज्यमें कोई भी ब्रह्मचर्यका पालन न करनेवाला भिक्षा नहीं माँगता अथवा भिक्षु या संन्यासी ब्रह्मचर्यका पालन किये बिना नहीं रहता। बिना ऋत्विजके मेरे यहाँ होम नहीं होता; फिर तुम कैसे मेरे भीतर घुस आये ? ॥ २२ ॥

(कृतं राज्यं मया सर्वं राज्यस्थेनापि कार्यवत्।
नाहं व्युत्क्रामितः सत्यान्मामकान्तरमाविशः ॥)

राज्यसिंहासनपर स्थित होकर भी मैंने सारा राज्यकार्य कर्तव्य-पालनकी दृष्टिसे किया है और कभी सत्यसे मैं विचलित नहीं हुआ हूँ तो भी मेरे शरीरके भीतर तुम्हारा प्रवेश कैसे हुआ है ?॥

नावजानाम्यहं वैद्यान्न वृद्धान्न तपस्विनः।
राष्ट्रे स्वपति जागर्मि मामकान्तरमाविशः ॥ २३ ॥

मैं विद्वानों, वृद्धों तथा तपस्वी जनोंका कभी तिरस्कार नहीं करता हूँ। जब सारा राष्ट्र सोता है, उस समय भी मैं उसकी रक्षाके लिये जागता रहता हूँ, तथापि तुम मेरे शरीरके भीतर कैसे चले आये ? ॥ २३ ॥

(शुक्लकर्मास्मि सर्वत्र न दुर्गतिभयं मम।
धर्मचारी गृहस्थश्च मामकान्तरमाविशः ॥)
आत्मविज्ञानसम्पन्नस्तपस्वी सर्वधर्मवित्।
स्वामी सर्वस्य राष्ट्रस्य धीमान् मम पुरोहितः ॥ २४ ॥

मैं सब जगह निर्दोष एवं विशुद्ध कर्म करनेवाला हूँ, मुझे कहीं भी दुर्गतिका भय नहीं है। मैं धर्मका आचरण करनेवाला गृहस्थ हूँ। तुम मेरे शरीरके भीतर कैसे आ गये ?

और बुद्धिमान् पुरोहित आत्मज्ञानी, तपस्वी तथा सब धर्मोंके ज्ञाता हैं। वे सम्पूर्ण राष्ट्रके स्वामी हैं ॥ २४ ॥

दानेन विद्यामभिवाञ्छयामि
सत्येनार्थं ब्राह्मणानां च गुप्त्या।
शुश्रूषया चापि गुरूनुपैमि
न मे भयं विद्यते राक्षसेभ्यः ॥ २५ ॥

मैं धन देकर विद्या पानेकी इच्छा रखता हूँ। सत्यके पालन तथा ब्राह्मणोंके संरक्षणद्वारा अभीष्ट अर्थ (पुण्यलोकोंपर अधिकार) पाना चाहता हूँ तथा सेवा-शुश्रूषाद्वारा गुरुजनों-को संतुष्ट करनेके लिये उनके पास जाता हूँ; अतः मुझे राक्षसोंसे कभी भय नहीं है ॥ २५ ॥

न मे राष्ट्रे विधवा ब्रह्मबन्धु-
र्न ब्राह्मणः कितवो नोत चोरः।
अयाज्ययाजी न च पापकर्मा
न मे भयं विद्यते राक्षसेभ्यः ॥ २६ ॥

मेरे राज्यमें कोई स्त्री विधवा नहीं है तथा कोई भी ब्राह्मण अधम, धूर्त, चोर, अनधिकारियोंका यज्ञ करानेवाला और पापाचारी नहीं है; इसलिये मुझे राक्षसोंसे तनिक भी भय नहीं है ॥ २६ ॥

न मे शस्त्रैरनिर्भिन्नं गात्रे द्व्यङ्गुलमन्तरम्।
धर्मार्थं युध्यमानस्य मामकान्तरमाविशः ॥ २७ ॥

मेरे शरीरमें दो अंगुल भी ऐसा स्थान नहीं है, जो धर्म-के लिये युद्ध करते समय अस्त्र-शस्त्रोंसे घायल न हुआ हो, तथापि तुम मेरे भीतर कैसे घुस आये ? ॥ २७ ॥

गोब्राह्मणेभ्यो यज्ञेभ्यो नित्यं स्वस्त्ययनं मम।
आशासते जना राष्ट्रे मामकान्तरमाविशः ॥ २८ ॥

मेरे राज्यमें रहनेवाले लोग गौओं, ब्राह्मणों तथा यज्ञोंके लिये सदा मङ्गल-कामना करते रहते हैं तो भी तुम मेरे शरीरके भीतर कैसे घुस आये ? ॥ २८ ॥

राक्षस उवाच

(नारीणां व्यभिचाराच्च अन्यायाच्च महीक्षिताम्।
विप्राणां कर्मदोषाच्च प्रजानां जायते भयम् ॥

राक्षसने कहा—स्त्रियोंके व्यभिचारसे, राजाओंके अन्यायसे तथा ब्राह्मणोंके कर्मदोषसे प्रजाको भय प्राप्त होता है।

अवृष्टिर्मारको रोगः सततं क्षुद्भयानि च।
विग्रहश्च सदा तस्मिन् देशे भवति दारुणः ॥

जिस देशमें उक्त दोष होते हैं, वहाँ वर्षा नहीं होती, महामारी फैल जाती है, सदा भूखका भय बना रहता है और बड़ा भयानक स

यक्षरक्षःपिशाचेभ्यो
भयमुत्पद्यते तत्र यत्र

जहाँ ब्राह्मण संयमपूर्ण
राक्षस, पिशाच तथा अ
प्राप्त होता ॥

यस्मात् सर्वास्ववस्थासु
तस्मात् प्राप्नुहि कैकेय गृ

केकयनरेश ! तुम स
रखते हो, इसलिये कुश
कल्याण हो। मैं अब जाता

येषां गोब्राह्मणं रक्ष्यं
न रक्षोभ्यो भयं तेषां कु

केकयराज ! जो राजा
हैं और प्रजाका पालन करन
राक्षसोंसे भय नहीं है; फिर

येषां पुरोगमा विप्रा
अतिथिप्रियास्तथा पौरा

जिनके आगे-आगे ब्राह
बल ब्राह्मण ही हैं तथा जि
सत्कारके प्रेमी हैं, वे नरेश
प्राप्त कर लेते हैं ॥ ३१ ॥

भीष्म

तस्माद् द्विजातीन् रक्षेत
आशीरेषां भवेद् राजन् रा

भीष्मजी कहते हैं-
सदा रक्षा करनी चाहिये।
रक्षा करते हैं। ठीक-ठीक व
का आशीर्वाद प्राप्त होता है

तस्माद् राज्ञा विशेषेण
नियम्याः संविभज्याश्च

अतः राजाओंको चाहिये
ब्राह्मणोंको उनपर अनुग्रह क
और उनकी आवश्यकताकी

एवं यो वर्तते राजा
अनुभूयेह भद्राणि प्राप

जो राजा अपने नगर
धर्मपूर्ण बर्ताव करता है, वह
इन्द्रलोक प्राप्त कर लेता है।

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि राजधर्मानुशासनपर्वणि कैकेयोपाख्याने सप्तसप्तति

रजि० नं० ए० ८५४

॥ श्रीहरिः ॥

प्रेमी ग्राहकों और पाठकोंसे सादर निवेदन

१–'महाभारत' का यह दूसरे वर्षका ग्यारहवाँ अङ्क है। बारहवाँ अङ्क प्रकाशित हो जानेपर यह वर्ष भी पूरा हो जायगा। इसके पश्चात् तीसरा वर्ष प्रारम्भ होगा।

२–विविध प्रकारकी उलझनोंमें पड़े हुए आजके व्यग्र जगत्को—आसक्ति-कामना, द्वेष-द्रोह, असंतोष-अशान्ति आदिकी भीषण आगमें झुलसते हुए मानव-प्राणीको 'महाभारत' में प्रकाशित छोटी-बड़ी सच्ची प्रेरणाप्रद घटनाओंके द्वारा वह विचित्र समाधान प्राप्त होता है, जिससे उसकी सारी उलझनें सुलझ जाती हैं और त्याग-वैराग्य, समता-संतोष तथा आत्मीयता-अनुरागका वह मधुर शीतल सुधा-सलिल-रस-प्रवाह मिलता है, जिससे कामना-वासना तथा असंतोष-अशान्तिकी प्रचण्ड अग्नि सदाके लिये सहज ही शान्त हो जाती है। इसमें एक-एक कथा ऐसी प्रेरणाप्रद होती है कि ध्यानपूर्वक पढ़नेपर जीवनमें सहज ही सुन्दर परिवर्तन हो सकता है।

३–तीसरे वर्षमें भी प्रतिमास कम-से-कम दो सौ पृष्ठ तथा २ रंगीन और ६ सादे चित्र देनेकी बात है। लाइन-चित्र भी प्रसङ्गानुसार दिये जा सकते हैं।

४–वार्षिक मूल्य डाकखर्चसहित २०) है। यदि किसी कारणवश डाकखर्च बढ़ गया तो वार्षिक मूल्य कुछ बढ़ाया जा सकता है।

५–जिन ग्राहकोंके चंदेके रुपये अङ्क निकलनेतक नहीं मिलेंगे, उनको वी० पी० द्वारा प्रथम अङ्क भेज दिया जायगा।

६–सभी पुराने ग्राहकोंको अगले वर्ष भी ग्राहक रहना ही चाहिये, अन्यथा उनकी फाइल अधूरी रहेगी। यदि किसी विशेष कारणवश किसीको ग्राहक न रहना हो तो कृपापूर्वक एक कार्ड लिखकर सूचना दे दें ताकि डाकखर्चकी हानि न सहनी पड़े।

७–जिन नये ग्राहकोंको प्रथम और द्वितीय वर्षके भी अङ्क लेने हों, वे तीन सालका चंदा ६०) भेजनेकी कृपा करेंगे।

व्यवस्थापक—'मासिक महाभारत', पो० गीताप्रेस (गोरखपुर)

महाभारत

संस्कृत मूल

हिन्दी अनुवाद

संस्कृत मूल

हिन्दी अनुवाद

वर्ष २

गीताप्रेस, गोरखपुर

संख्या १२

ॐ श्रीपरमात्मने नमः

नारायणं नमस्कृत्य नरं चैव नरोत्तमम् । देवीं सरस्वतीं व्यासं ततो जयमुदीरयेत् ॥
व्यासाय विष्णुरूपाय व्यासरूपाय विष्णवे । नमो वै ब्रह्महृदये वासिष्ठाय नमो नमः ॥

वर्ष २ } गोरखपुर, आश्विन २०१४, अक्टूबर १९५७ { संख्या १२ पूर्ण संख्या २४

विश्वभगवान्‌का लीलाक्षेत्र

सर्वात्मनो भगवतः परमेश्वरस्य
कृष्णस्य सर्वमिदमागमजालसिद्धम् ।
लीलास्पदं न च ततो व्यतिरिक्तमस्ति
व्यासो जगाद भगवानखिलज्ञ एवम् ॥

सर्वज्ञ भगवान् वेदव्यासने ऐसा कहा है कि 'यह सम्पूर्ण जगत् सर्वात्मा परमेश्वर भगवान् श्रीकृष्णका लीला-निकेतन है । यह बात सम्पूर्ण शास्त्रसमुदायोंसे सिद्ध है; अतः यह उन भगवान्‌से भिन्न नहीं है—भगवान् ही इस समस्त विश्वके रूपमें प्रकट होकर नाना प्रकारकी लीलाएँ कर रहे हैं ।'

* श्रीहरिः *

विषय-सूची (शान्तिपर्व)

(आपद्धर्मपर्व)

चित्र-सूची

इन्द्रकी ब्राह्मणवेषमें दैत्यराज प्रह्लादसे भेंट

अष्टसप्ततितमोऽध्यायः

आपत्तिकालमें ब्राह्मणके लिये वैश्यवृत्तिसे निर्वाह करनेकी छूट तथा लुटेरोंसे अपनी और दूसरोंकी रक्षा करनेके लिये सभी जातियोंको शस्त्र धारण करनेका अधिकार एवं रक्षकको सम्मानका पात्र स्वीकार करना

युधिष्ठिर उवाच

व्याख्याता राजधर्मेण वृत्तिरापत्सु भारत।
कथं स्विद् वैश्यधर्मेण संजीवेद् ब्राह्मणो न वा॥ १॥

युधिष्ठिरने पूछा—भरतनन्दन! आपने ब्राह्मणके लिये आपत्तिकालमें क्षत्रियधर्मसे जीविका चलानेकी बात पहले बतायी है। अब मैं यह जानना चाहता हूँ कि ब्राह्मण किसी तरह वैश्य-धर्मसे भी जीवननिर्वाह कर सकता है या नहीं?॥ १॥

भीष्म उवाच

अशक्तः क्षत्रधर्मेण वैश्यधर्मेण वर्तयेत्।
कृषिगोरक्ष्यमास्थाय व्यसने वृत्तिसंक्षये॥ २॥

भीष्मजीने कहा—राजन्! यदि ब्राह्मण अपनी जीविका नष्ट होनेपर आपत्तिकालमें क्षत्रियधर्मसे भी जीवननिर्वाह न कर सके तो वैश्यधर्मके अनुसार खेती और गोरक्षाका आश्रय लेकर वह अपनी जीविका चलावे॥ २॥

युधिष्ठिर उवाच

कानि पण्यानि विक्रीय स्वर्गलोकान्न हीयते।
ब्राह्मणो वैश्यधर्मेण वर्तयन् भरतर्षभ॥ ३॥

युधिष्ठिरने पूछा—भरतश्रेष्ठ! यह तो बताइये कि यदि ब्राह्मण वैश्यधर्मसे जीविका चलाते समय व्यापार भी करे तो किन-किन वस्तुओंका क्रय-विक्रय करनेसे वह स्वर्गलोककी प्राप्तिके अधिकारसे वञ्चित नहीं होगा॥ ३॥

भीष्म उवाच

सुरा लवणमित्येव तिलान् केसरिणः पशून्।
वृषभान् मधुमांसं च कृतान्नं च युधिष्ठिर॥ ४॥
सर्वास्ववस्थास्वेतानि ब्राह्मणः परिवर्जयेत्।
एतेषां विक्रयात् तात ब्राह्मणो नरकं व्रजेत्॥ ५॥

भीष्मजीने कहा—तात युधिष्ठिर! ब्राह्मणको मांस, मदिरा, शहद, नमक, तिल, बनायी हुई रसोई, घोड़ा तथा बैल, गाय, बकरा, मेड़ और भैंस आदि पशु—इन वस्तुओंका विक्रय तो सभी अवस्थाओंमें त्याग देना चाहिये; क्योंकि इनको बेचनेसे ब्राह्मण नरकमें पड़ता है॥ ४-५॥

अजोऽग्निर्वरुणो मेषः सूर्योऽश्वः पृथिवी विराट्।
धेनुर्यज्ञश्च सोमश्च न विक्रेयाः कथंचन॥ ६॥
पक्वेनामस्य निमयं न प्रशंसन्ति साधवः।
निमयेत् पक्कमामेन भोजनार्थाय भारत॥ ७॥

बकरा अग्निस्वरूप, मेड़ वरुणस्वरूप, घोड़ा सूर्यस्वरूप पृथ्वी विराट्स्वरूप तथा गौ यज्ञ और सोमका स्वरूप है; अतः इनका विक्रय कभी किसी तरह नहीं करना चाहिये। भरतनन्दन! ब्राह्मणके लिये बनी-बनायी रसोई देकर बदलेमें कच्चा अन्न लेनेकी साधु पुरुष प्रशसा नहीं करते हैं; किंतु केवल भोजनके लिये कच्चा अन्न देकर उसके बदले पकापकाया अन्न ले सकते हैं॥ ६-७॥

वयं सिद्धमशिष्यामो भवान् साधयतामिदम्।
एवं संवीक्ष्य निमयेन्नाधर्मोऽस्ति कथंचन॥ ८॥

'हमलोग बनी-बनायी रसोई पाकर भोजन कर लेंगे। आप यह कच्चा अन्न लेकर इसे पकाइये' इस भावसे अच्छी तरह विचार करके यदि कच्चे अन्नसे पके-पकाये अन्नको बदल लिया जाय तो इसमें किसी प्रकार भी अधर्म नहीं होता॥ ८॥

अत्र ते वर्तयिष्यामि यथा धर्मः सनातनः।
व्यवहारप्रवृत्तानां तन्निबोध युधिष्ठिर॥ ९॥

युधिष्ठिर! इस विषयमें व्यवहारपरायण मनुष्योंके लिये सनातन कालसे चला आता हुआ धर्म जैसा है, वैसा मैं तुम्हें बतला रहा हूँ, सुनो॥ ९॥

भवतेऽहं ददानीदं भवानेतत् प्रयच्छतु।
रुचितो वर्तते धर्मो न बलात् सम्प्रवर्तते॥ १०॥

मैं आपको यह वस्तु देता हूँ, इसके बदलेमें आप मुझे वह वस्तु दे दीजिये, ऐसा कहकर दोनोंकी रुचिसे जो वस्तुओंकी अदला-बदली की जाती है, उसे धर्म माना जाता है। यदि बलात्कारपूर्वक अदला-बदली की जाय तो वह धर्म नहीं है॥

इत्येवं सम्प्रवर्तन्ते व्यवहाराः पुरातनाः।
ऋषीणामितरेषां च साधु चैतदसंशयम्॥ ११॥

प्राचीन कालसे ऋषियों तथा अन्य सत्पुरुषोंके सारे व्यवहार ऐसे ही चले आ रहे हैं। यह सब ठीक है, इसमें संशय नहीं है॥ ११॥

युधिष्ठिर उवाच

अथ तात यदा सर्वाः शस्त्रमाददते प्रजाः।
व्युत्क्रामन्ति स्वधर्मेभ्यः क्षत्रस्य क्षीयते बलम्॥ १२॥
राजा त्राता तु लोकस्य कथं च स्यात् परायणम्।
एतन्मे संशयं ब्रूहि विस्तरेण नराधिप॥ १३॥

युधिष्ठिरने पूछा—तात! नरेश्वर! यदि सारी प्रजा शस्त्र धारण कर ले और अपने धर्मसे गिर जाय, उस समय क्षत्रियकी शक्ति तो क्षीण हो जायगी। फिर राजा राष्ट्रकी रक्षा कैसे कर सकता है और वह सब लोगोंको किस तरह शरण

...महता है। मेरे इस संदेहका आप विस्तारपूर्वक समाधान ...रें ॥ १२-१३ ॥

भीष्म उवाच

...नेन तपसा यज्ञैरद्रोहेण दमेन च।
...ब्राह्मणप्रमुखा वर्णाः क्षेममिच्छेयुरात्मनः ॥ १४ ॥

भीष्मजीने कहा—राजन्! ब्राह्मण आदि सभी वर्णोंको ...न, तप, यज्ञ, प्राणियोंके प्रति द्रोहका अभाव तथा इन्द्रिय-...दमनके द्वारा अपने कल्याणकी इच्छा रखनी चाहिये ॥१४॥

...षां ये वेदबलिनस्तेऽभ्युत्थाय समन्ततः।
...ज्ञो बलं वर्धयेयुर्महेन्द्रस्येव देवताः ॥ १५ ॥

उनमेंसे जिन ब्राह्मणोंमें वेद-शास्त्रोंका बल हो, वे सब ...रसे उठकर राजाका उसी प्रकार बल बढ़ावें, जैसे देवता ...न्द्रका बल बढ़ाते हैं ॥ १५ ॥

...ज्ञोऽपि क्षीयमाणस्य ब्रह्मैवाहुः परायणम्।
...स्माद् ब्रह्मबलेनैव समुत्थेयं विजानता ॥ १६ ॥

जिसकी शक्ति क्षीण हो रही हो, उस राजाके लिये ब्राह्मणको सबसे बड़ा सहायक बताया गया है; अतः बुद्धिमान् नरेशको ...ह्मणके बलका आश्रय लेकर ही अपनी उन्नति करनी ...हिये ॥ १६ ॥

...दा भुवि जयी राजा क्षेमं राष्ट्रेऽभिसंदधेत्।
...दा वर्णा यथाधर्मं निविशेयुः कथंचन ॥ १७ ॥

जब भूतलपर विजयी राजा अपने राष्ट्रमें कल्याणमय शासन ...पित करना चाहता हो, तब उसे चाहिये कि जिस किसी ...कारसे सभी वर्णके लोगोंको अपने-अपने धर्मका पालन करनेमें ...गाये रखे ॥ १७ ॥

...मर्यादे प्रवृत्ते तु दस्युभिः संकरे कृते।
...र्वे वर्णा न दुष्येयुः शस्त्रवन्तो युधिष्ठिर ॥ १८ ॥

युधिष्ठिर! जब डाकू और लुटेरे धर्ममर्यादाका उल्लङ्घन ...के स्वेच्छाचारमें प्रवृत्त हुए हों और प्रजामें वर्णसंकरता ...ा रहे हों, उस समय इस अत्याचारको रोकनेके लिये यदि ...ी वर्णोंके लोग हथियार उठा लें तो उन्हें कोई दोष नहीं ...ता ॥ १८ ॥

युधिष्ठिर उवाच

...थ चेत् सर्वतः क्षत्रं प्रदुष्येद् ब्राह्मणं प्रति।
...स्तस्य ब्राह्मणस्त्राता को धर्मः किं परायणम् ॥ १९ ॥

युधिष्ठिरने पूछा—पितामह! यदि क्षत्रिय जाति ही ...ओरसे ब्राह्मणोंके साथ दुर्व्यवहार करने लगे, उस समय ...ब्राह्मणकुलकी रक्षा कौन ब्राह्मण कर सकता है? उनके ...ये कौन-सा धर्म (कर्तव्य) है तथा कौन-सा महान् ...श्रय है? ॥ १९ ॥

भीष्म उवाच

...पसा ब्रह्मचर्येण शस्त्रेण च बलेन च।
...मायया मायया च नियन्तव्यं तदा भवेत् ॥ २० ॥

भीष्मजीने कहा—राजन्! उस समय ब्राह्मण अपने तपसे, ब्रह्मचर्यसे, शस्त्रसे, बलसे, निष्कपट व्यवहारसे अथवा भेदनीतिसे—जैसे भी सम्भव हो, उसी तरह क्षत्रिय जातिको दबानेका प्रयत्न करे ॥ २० ॥

क्षत्रियस्यातिवृत्तस्य ब्राह्मणेषु विशेषतः।
ब्रह्मैव संनियन्तृ स्यात् क्षत्रं हि ब्रह्मसम्भवम् ॥ २१ ॥

जब क्षत्रिय ही प्रजाके ऊपर, उसमें भी विशेषतः ब्राह्मणों-पर अत्याचार करने लगे तो उस समय उसे ब्राह्मण ही दबा सकता है; क्योंकि क्षत्रियकी उत्पत्ति ब्राह्मणसे ही हुई है ॥२१॥

अद्भ्योऽग्निर्ब्रह्मतः क्षत्रमश्मनो लोहमुत्थितम्।
तेषां सर्वत्रगं तेजः स्वासु योनिषु शाम्यति ॥ २२ ॥

अग्नि जलसे, क्षत्रिय ब्राह्मणसे और लोहा पत्थरसे पैदा हुआ है। इनका तेज या प्रभाव सर्वत्र काम करता है; परंतु अपनी उत्पत्तिके मूल कारणोंसे मुकाबला पड़नेपर शान्त हो जाता है ॥ २२ ॥

यदा छिनत्त्ययोऽश्मानमग्निश्चापोऽभिगच्छति।
क्षत्रं च ब्राह्मणं द्वेष्टि तदा नश्यन्ति ते त्रयः ॥ २३ ॥

जब लोहा पत्थर काटता है, अग्नि जलके पास जाती है और क्षत्रिय ब्राह्मणसे द्वेष करने लगता है, तब ये तीनों नष्ट हो जाते हैं ॥ २३ ॥

तस्माद् ब्रह्मणि शाम्यन्ति क्षत्रियाणां युधिष्ठिर।
समुदीर्णान्यजेयानि तेजांसि च बलानि च ॥ २४ ॥

युधिष्ठिर! यद्यपि क्षत्रियोंके तेज और बल प्रचण्ड और अजेय होते हैं, तथापि ब्राह्मणसे टक्कर लेनेपर शान्त हो जाते हैं ॥ २४ ॥

ब्रह्मवीर्ये मृदुभूते क्षत्रवीर्ये च दुर्बले।
दुष्टेषु सर्ववर्णेषु ब्राह्मणान् प्रति सर्वशः ॥ २५ ॥
ये तत्र युद्धं कुर्वन्ति त्यक्त्वा जीवितमात्मनः।
ब्राह्मणान् परिरक्षन्तो धर्ममात्मानमेव च ॥ २६ ॥
मनस्विनो मन्युमन्तः पुण्यश्लोका भवन्ति ते।
ब्राह्मणार्थं हि सर्वेषां शस्त्रग्रहणमिष्यते ॥ २७ ॥

जब ब्राह्मणकी शक्ति मन्द पड़ जाय, क्षत्रियका पराक्रम भी दुर्बल हो जाय और सभी वर्णोंके लोग सर्वथा ब्राह्मणोंसे दुर्भाव रखने लगें, उस समय जो लोग ब्राह्मणोंकी, धर्मकी तथा अपने आपकी रक्षाके लिये प्राणोंकी परवा न करके दुष्टोंके साथ क्रोध-पूर्वक युद्ध करते हैं, उन मनस्वी पुरुषोंका पवित्र यश सब ओर फैल जाता है; क्योंकि ब्राह्मणोंकी रक्षाके लिये सबको शस्त्र ग्रहण करनेका अधिकार है ॥ २५—२७ ॥

अतिस्विष्टमधीतानां लोकानतितपस्विनाम्।
अनाशकाग्न्योर्विशतां शूरा यान्ति परां गतिम् ॥ २८ ॥

अतिमात्रामें यज्ञ, वेदाध्ययन, तपस्या और उपवासव्रत करनेवालोंको तथा आत्मशुद्धिके लिये अग्निप्रवेश करनेवाले लोगोंको जिन लोकोंकी प्राप्ति होती है, उनसे भी उत्तम लोक ब्राह्मणके लिये प्राण देनेवाले शूरवीरोंको प्राप्त होते हैं ॥२८॥

ब्राह्मणस्त्रिषु वर्णेषु शस्त्रं गृह्णन्न दुष्यति ।
एवमेवात्मनस्त्यागान्नान्यं धर्मं विदुर्जनाः ॥ २९ ॥

ब्राह्मण भी यदि तीनों वर्णोंकी रक्षाके लिये शस्त्र ग्रहण करे तो उसे दोष नहीं लगता। विद्वान् पुरुष इस प्रकार युद्धमें अपने शरीरके त्यागसे बढ़कर दूसरा कोई धर्म नहीं मानते हैं ॥ २९ ॥

तेभ्यो नमश्च भद्रं च ये शरीराणि जुह्वते ।
ब्रह्मद्विषो नियच्छन्तस्तेषां नोऽस्तु सलोकता ।
ब्रह्मलोकजितः स्वर्ग्यान् वीरांस्तान् मनुरब्रवीत् ॥३०॥

जो लोग ब्राह्मणोंसे द्वेष करनेवाले दुराचारियोंको दबानेके लिये युद्धकी ज्वालामें अपने शरीरकी आहुति दे डालते हैं, उन वीरोंको नमस्कार है, उनका कल्याण हो। हमलोगोंको उन्हींके समान लोक प्राप्त हो। मनुजीने कहा है कि 'वे स्वर्गीय शूरवीर ब्रह्मलोकपर विजय पा जाते हैं' ॥ ३० ॥

यथाश्वमेधावभृथे स्नाताः पूता भवन्त्युत ।
दुष्कृतस्य प्रणाशेन ततः शस्त्रहता रणे ॥ ३१ ॥

जैसे अश्वमेध यज्ञके अन्तमें अवभृथस्नान करनेवाले मनुष्य पापरहित एवं पवित्र हो जाते हैं, उसी प्रकार युद्धमें शस्त्रोंद्वारा मारे गये वीर अपने पाप नष्ट हो जानेके कारण पवित्र हो जाते हैं ॥ ३१ ॥

भवत्यधर्मो धर्मो हि धर्माधर्मावुभावपि ।
कारणाद् देशकालस्य देशकालः स तादृशः ॥ ३२ ॥

देश-कालकी परिस्थितिके कारण कभी अधर्म तो धर्म हो जाता है और धर्म अधर्मरूपमें परिणत हो जाता है; क्योंकि वह वैसा ही देश-काल है ॥ ३२ ॥

मैत्राः क्रूराणि कुर्वन्तो जयन्ति स्वर्गमुत्तमम् ।
धर्म्याः पापानि कुर्वाणा गच्छन्ति परमां गतिम् ॥३३॥

सबके प्रति मैत्रीका भाव रखनेवाले मनुष्य भी (दूसरोंकी रक्षाके लिये किसी दुष्टके प्रति) क्रूरतापूर्ण बर्ताव करके उत्तम स्वर्गलोकपर अधिकार प्राप्त कर लेते हैं तथा धर्मात्मा पुरुष किसीकी रक्षाके लिये पाप (हिंसा आदि) करते हुए भी परम गतिको प्राप्त हो जाते हैं ॥ ३३ ॥

ब्राह्मणस्त्रिषु कालेषु शस्त्रं गृह्णन्न दुष्यति ।
आत्मत्राणे वर्णदोषे दुर्दम्यनियमेषु च ॥ ३४ ॥

अपनी रक्षाके लिये, अन्य वर्णोंमें यदि कोई बुराई आ रही हो तो उसे रोकनेके लिये तथा दुर्दान्त दुष्टोंका दमन करनेके लिये—इन तीन अवसरोंपर ब्राह्मण भी शस्त्र ग्रहण करे तो उसे दोष नहीं लगता ॥ ३४ ॥

युधिष्ठिर उवाच

अभ्युत्थिते दस्युबले क्षत्रार्थे वर्णसंकरे ।
सम्प्रमूढेषु वर्णेषु यद्यन्योऽभिभवेद् बली ॥ ३५ ॥
ब्राह्मणो यदि वा वैश्यः शूद्रो वा राजसत्तम ।
दस्युभ्योऽथ प्रजा रक्षेद् दण्डं धर्मेण धारयन् ॥३६॥
कार्यं कुर्यान्न वा कुर्यात् संवार्यो वा भवेन्न वा ।
तस्माच्छस्त्रं ग्रहीतव्यमन्यत्र क्षत्रबन्धुतः ॥ ३७ ॥

युधिष्ठिरने पूछा—पितामह ! नृपश्रेष्ठ ! यदि डाकुओंका दल उत्तरोत्तर बढ़ रहा हो, समाजमें वर्णसंकरता फैल रही हो और क्षत्रियके प्रजापालनरूपी कार्यके लिये समस्त वर्णोंके लोग कोई उपाय न ढूँढ़ पाते हों, उस अवस्थामें यदि कोई बलवान् ब्राह्मण, वैश्य अथवा शूद्र धर्मकी रक्षाके निमित्त दण्ड धारण करके लुटेरोंके हाथसे प्रजाको बचा ले तो वह राजशासनका कार्य कर सकता है या नहीं अथवा उसे इस कार्यसे रोकना चाहिये या नहीं ? मेरा तो मत है कि क्षत्रियसे भिन्न वर्णके लोगोंको भी ऐसे अवसरोंपर अवश्य शस्त्र उठाना चाहिये ॥ ३५–३७ ॥

भीष्म उवाच

अपारे यो भवेत् पारमप्लवे यः प्लवो भवेत् ।
शूद्रो वा यदि वाप्यन्यः सर्वथा मानमर्हति ॥ ३८ ॥

भीष्मजीने कहा—बेटा ! जो अपार संकटसे पार लगा दे, नौकाके अभावमें डूबते हुएको जो नाव बनकर सहारा दे, वह शूद्र हो या कोई अन्य, सर्वथा सम्मानके योग्य है ॥३८॥

यमाश्रित्य नरा राजन् वर्तयेयुर्यथासुखम् ।
अनाथास्तप्यमानाश्च दस्युभिः परिपीडिताः ॥ ३९ ॥
तमेव पूजयेयुस्ते प्रीत्या स्वमिव बान्धवम् ।
अभीरभीक्ष्णं कौरव्य कर्ता सन्मानमर्हति ॥ ४० ॥

डाकुओंसे पीड़ित होकर कष्ट पाते हुए अनाथ मनुष्यगण जिसकी शरणमें जाकर सुखपूर्वक रह सकें, उसीको अपने बन्धु-बान्धवके समान मानकर बड़ी प्रसन्नताके साथ उसका आदर-सत्कार करना उनके लिये उचित है; क्योंकि कुरुनन्दन ! जो निर्भय होकर बारंबार दूसरोंका संकट निवारण कर सके, वही राजोचित सम्मान पानेके योग्य है ॥ ३९-४० ॥

किं तैर्येऽनडुहो नोह्याः किं धेन्वा वाप्यदुग्धया ।
वन्ध्यया भार्यया कोऽर्थः कोऽर्थो राज्ञाप्यरक्षता ॥ ४१ ॥

जो बोझ न ढो सकें, ऐसे बैलोंसे क्या लाभ ? जो दूध न दे, ऐसी गाय किस कामकी ? जो बाँझ हो, ऐसी स्त्रीसे क्या प्रयोजन है ? और जो रक्षा न कर सके, ऐसे राजासे क्या लाभ है ? ॥ ४१ ॥

यथा दारुमयो हस्ती यथा चर्ममयो मृगः ।
यथा ह्यनर्थः षण्ढो वा पार्थ क्षेत्रं यथोषरम् ॥ ४२ ॥
एवं विप्रोऽनधीयानो राजा यश्च न रक्षिता ।
मेघो न वर्षते यश्च सर्वथा ते निरर्थकाः ॥ ४३ ॥

कुन्तीनन्दन ! जैसे काठका हाथी, चमड़ेका हिरन, हिजड़ा मनुष्य, ऊसर खेत तथा वर्षा न करनेवाला बादल—ये सब-के-सब व्यर्थ हैं, उसी प्रकार अपढ़ ब्राह्मण तथा रक्षा न करनेवाला राजा भी सर्वथा निरर्थक हैं ॥ ४२-४३ ॥

नित्यं यस्तु सतो रक्षेदसतश्च निवर्तयेत् ।

स एव राजा कर्तव्यस्तेन सर्वमिदं धृतम् ॥ ४४ ॥

जो सदा सत्पुरुषोंकी रक्षा करे तथा दुष्टोंको दण्ड देकर दुष्कर्म करनेसे रोके, उसे ही राजा बनाना चाहिये; क्योंकि उसीके द्वारा यह सम्पूर्ण जगत् सुरक्षित होता है ॥ ४४ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि राजधर्मानुशासनपर्वणि अष्टसप्ततितमोऽध्यायः ॥ ७८ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत राजधर्मानुशासनपर्वमें अठहत्तरवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ७८ ॥

एकोनाशीतितमोऽध्यायः

ऋत्विजोंके लक्षण, यज्ञ और दक्षिणाका महत्त्व तथा तपकी श्रेष्ठता

युधिष्ठिर उवाच

किंसमुत्थाः कथंशीला ऋत्विजः स्युः पितामह ।
कथंविधाश्च राजेन्द्र तद् ब्रूहि वदतां वर ॥ १ ॥

युधिष्ठिरने पूछा—राजेन्द्र! वक्ताओंमें श्रेष्ठ पितामह! ऋत्विजोंकी उत्पत्ति किस निमित्तसे हुई है? उनके स्वभाव कैसे होने चाहिये? तथा वे किस-किस प्रकारके होते हैं? मुझे ये सब बातें बताइये ॥ १ ॥

भीष्म उवाच

प्रतिकर्म पराचार ऋत्विजां स्म विधीयते ।
छन्दः सामादि विज्ञाय द्विजानां श्रुतमेव च ॥ २ ॥

भीष्मजीने कहा—राजन्! जो ब्राह्मण छन्दःशास्त्र, 'ऋक्', 'साम' और 'यजुः' नामक तीनों वेद तथा ऋषियोंके रचे हुए स्मृति और दर्शनशास्त्रोंका ज्ञान प्राप्त कर चुके हैं, वे ही 'ऋत्विज' होने योग्य हैं, उन ऋत्विजोंका मुख्य आचार है—राजाके लिये 'शान्ति' 'पौष्टिक' आदि कर्मोंका अनुष्ठान ॥

ये त्वेकरतयो नित्यं धीराश्च प्रियवादिनः ।
परस्परस्य सुहृदः समन्तात् समदर्शिनः ॥ ३ ॥

जो सदा एकमात्र यजमानके ही हित-साधनमें तत्पर रहनेवाले, धीर, प्रियवादी, एक दूसरेके सुहृद् तथा सब ओर समान दृष्टि रखनेवाले हैं, वे ही ऋत्विज होनेके योग्य हैं॥३॥

अनृशंसाः सत्यवाक्या अकुसीदा अथर्जवः ।
अद्रोहोऽनभिमानश्च ह्रीस्तितिक्षा दमः शमः ॥ ४ ॥
यस्मिन्नेतानि दृश्यन्ते स पुरोहित उच्यते ।

जिनमें क्रूरताका सर्वथा अभाव है, जो सत्यभाषण करनेवाले और सरल हैं, जो ब्याज नहीं लेते तथा जिनमें द्रोह और अभिमानका अभाव है, जिनमें लज्जा, सहनशीलता, इन्द्रिय-संयम और मनोनिग्रह आदि गुण देखे जाते हैं, वे ही पुरोहित कहलाते हैं ॥ ४½ ॥

धीमान् सत्यधृतिर्दान्तो भूतानामविहिंसकः ।
अकामद्वेषसंयुक्तस्त्रिभिः शुक्लैः समन्वितः ॥ ५ ॥
अहिंसको ज्ञानतृप्तः स ब्रह्मासनमर्हति ।
एते महर्त्विजस्तात सर्वे मान्या यथार्हतः ॥ ६ ॥

इसी तरह जो बुद्धिमान्, सत्यको धारण करनेवाला, इन्द्रिय संयमी, किसी भी प्राणीकी हिंसा न करनेवाला तथा राग-द्वेष आदि दोषोंसे दूर रहनेवाला है, जिसके शास्त्रज्ञान; सदाचार और कुल—ये तीनों अत्यन्त शुद्ध एवं निर्दोष हैं; जो अहिंसक और ज्ञान-विज्ञानसे तृप्त है, वही ब्रह्माके आसनपर बैठनेका अधिकारी है। तात! ये सभी महान् ऋत्विज यथायोग्य सम्मानके पात्र हैं ॥ ५-६॥

युधिष्ठिर उवाच

यदिदं वेदवचनं दक्षिणासु विधीयते ।
इदं देयमिदं देयं न क्वचिद् व्यवतिष्ठते ॥ ७ ॥

युधिष्ठिरने पूछा—भारत! यह जो यज्ञसम्बन्धी दक्षिणाके विषयमें वेदवाक्य उपलब्ध होता है कि 'यह भी देना चाहिये, यह भी देना चाहिये' यह वाक्य किसी सीमित वस्तुपर अवलम्बित नहीं है ॥ ७ ॥

नेदं प्रतिधनं शास्त्रमापद्धर्मानुशास्त्रतः ।
आज्ञा शास्त्रस्य घोरेयं न शक्तिं समवेक्षते ॥ ८ ॥

अतः दक्षिणामें दिये जानेवाले धनके विषयमें जो यह शास्त्र-वचन है, यह आपत्कालिक धर्मशास्त्रके अनुसार नहीं है। मेरी समझमें तो यह शास्त्रकी आज्ञा भयंकर है; क्योंकि यह इस बातकी ओर नहीं देखती कि दातामें कितने दानकी शक्ति है ॥ ८ ॥

श्रद्धावता च यष्टव्यमित्येषा वैदिकी श्रुतिः ।
मिथ्योपेतस्य यज्ञस्य किमु श्रद्धा करिष्यति ॥ ९ ॥

दूसरी ओर वेदकी यह आज्ञा भी सुनी जाती है कि प्रत्येक श्रद्धालु पुरुषको यज्ञ करना चाहिये। यदि दरिद्र श्रद्धाके बलपर यज्ञमें प्रवृत्त हो और उचित दक्षिणा न दे सके तो वह यज्ञ मिथ्या भावसे युक्त होगा; उस दशामें उसकी न्यूनताकी पूर्ति श्रद्धा कैसे कर सकेगी? ॥ ९ ॥

भीष्म उवाच

न वेदानां परिभवान्न शाठ्येन न मायया ।
कश्चिन्महदवाप्नोति मा तेऽभूद् बुद्धिरीदृशी ॥ १० ॥

भीष्मजीने कहा—युधिष्ठिर! वेदोंकी निन्दा करनेसे, शठतापूर्ण बर्तावसे तथा छल-कपटसे कोई भी महान् पद नहीं पाता है; अतः तुम्हारी बुद्धि ऐसी न हो ॥ १० ॥

यज्ञाङ्गं दक्षिणा तात वेदानां परिबृंहणम् ।
न यज्ञा दक्षिणाहीनास्तारयन्ति कथंचन ॥ ११ ॥

तात! दक्षिणा यज्ञोंका अङ्ग है। वही वेदोक्त यज्ञोंका विस्तार एवं उनमें न्यूनताकी पूर्ति करनेवाली है। दक्षिणाहीन यज्ञ किसी प्रकार भी यजमानका उद्धार नहीं कर सकते ॥ ११ ॥

शक्तिस्तु पूर्णपात्रेण सम्मिता न समाभवत्।
अवश्यं तात यष्टव्यं त्रिभिर्वर्णैर्यथाविधि ॥ १२ ॥

जहाँ धनी और दरिद्रकी शक्तिका प्रश्न है, उधर भी शास्त्रकी दृष्टि है ही। दोनोंके लिये समान दक्षिणा नहीं रक्खी गयी है। (दरिद्रकी) शक्तिको पूर्णपात्रसे मापा गया है अर्थात् जहाँ धनीके लिये बहुत धन देनेका विधान है, वहाँ दरिद्रके लिये एक पूर्णपात्र ही दक्षिणामें देनेका विधान कर दिया है; अतः तात! ब्राह्मण आदि तीनों वर्णोंके लोगोंको अवश्य ही विधिपूर्वक यज्ञोंका अनुष्ठान करना चाहिये ॥ १२ ॥

सोमो राजा ब्राह्मणानामित्येषा वैदिकी स्थितिः।
तं च विक्रेतुमिच्छन्ति न वृथा वृत्तिरिष्यते ॥ १३ ॥

वेदोंका यह सिद्धान्त है कि सोम ब्राह्मणोंका राजा है; परंतु यज्ञके लिये ब्राह्मणलोग उसे भी बेच देनेकी इच्छा रखते हैं। जहाँ यज्ञ आदि कोई अनिवार्य कारण उपस्थित न हो, वहाँ व्यर्थ ही उदरपूर्तिके लिये सोमरसका विक्रय अभीष्ट नहीं है ॥ १३ ॥

तेन क्रीतेन यज्ञेन ततो यज्ञः प्रतायते।
इत्येवं धर्मतो ध्यातमृषिभिर्धर्मचारिभिः ॥ १४ ॥

दक्षिणाद्वारा उस सोमरसके साथ खरीद किये हुए यज्ञ-साधनोंसे यजमानके यज्ञका विस्तार होता है। धर्मका आचरण करनेवाले ऋषियोंने इस विषयमें धर्मके अनुसार ऐसा ही विचार व्यक्त किया है ॥ १४ ॥

पुमान् यज्ञश्च सोमश्च न्यायवृत्तो यदा भवेत्।
अन्यायवृत्तः पुरुषो न परस्य न चात्मनः ॥ १५ ॥

यज्ञकर्ता पुरुष, यज्ञ और सोमरस—ये तीनों जब न्याय-सम्पन्न होते हैं, तब यज्ञका यथार्थरूपसे सम्पादन होता है। अन्यायपरायण पुरुष न दूसरेका भला कर सकता है, न अपना ही ॥ १५ ॥

शरीरवृत्तमास्थाय इत्येषा श्रूयते श्रुतिः।
नातिसम्यक् प्रणीतानि ब्राह्मणानां महात्मनाम् ॥ १६ ॥

शरीर-निर्वाहमात्रके लिये धन प्राप्त करके यज्ञमें प्रवृत्त हुए महामनस्वी ब्राह्मणोंद्वारा जो यज्ञ सम्पादित होते हैं, वे भी हिंसा आदि दोषोंसे युक्त होनेपर उत्तम फल नहीं देते हैं, ऐसा श्रुतिका सिद्धान्त सुननेमें आता है ॥ १६ ॥

तपो यज्ञादपि श्रेष्ठमित्येषा परमा श्रुतिः।
तत् ते तपः प्रवक्ष्यामि विद्वंस्तदपि मे शृणु ॥ १७ ॥

अतः यज्ञकी अपेक्षा भी तप श्रेष्ठ है, यह वेदका परम उत्तम वचन है। विद्वान् युधिष्ठिर! मैं तुम्हें तपका स्वरूप बताता हूँ, तुम मुझसे उसके विषयमें सुनो ॥ १७ ॥

अहिंसा सत्यवचनमानृशंस्यं दमो घृणा।
एतत् तपो विदुर्धीरा न शरीरस्य शोषणम् ॥ १८ ॥

किसी भी प्राणीकी हिंसा न करना, सत्य बोलना, क्रूरताको त्याग देना, मन और इन्द्रियोंको संयममें रखना तथा सबके प्रति दयाभाव बनाये रखना—इन्हींको धीर पुरुषोंने तप माना है। केवल शरीरको सुखाना ही तप नहीं है ॥ १८ ॥

अप्रामाण्यं च वेदानां शास्त्राणां चाभिलङ्घनम्।
अव्यवस्था च सर्वत्र तद् वै नाशनमात्मनः ॥ १९ ॥

वेदको अप्रामाणिक बताना, शास्त्रोंकी आज्ञाका उल्लङ्घन करना तथा सर्वत्र अव्यवस्था पैदा करना—ये सब दुर्गुण अपना ही नाश करनेवाले हैं ॥ १९ ॥

निबोध देवहोतॄणां विधानं पार्थ यादृशम्।
चित्तिः स्रुक् चित्तमाज्यं च पवित्रं ज्ञानमुत्तमम् ॥ २० ॥

कुन्तीनन्दन! दैवी सम्पदायुक्त होताओंके यज्ञसम्बन्धी उपकरण जिस प्रकारके होते हैं, उन्हें सुनो। उनके सहायक चित्ति ही स्रुक् है, चित्त ही आज्य (घी) है और उत्तम ज्ञान ही पवित्री है ॥ २० ॥

सर्वं जिह्मं मृत्युपदमार्जवं ब्रह्मणः पदम्।
एतावाञ्ज्ञानविषयः किं प्रलापः करिष्यति ॥ २१ ॥

सारी कुटिलता मृत्युका स्थान है और सरलता परब्रह्मकी प्राप्तिका स्थान है। इतना ही ज्ञानका विषय है और सब प्रलापमात्र है, वह किस काम आयेगा? ॥ २१ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि राजधर्मानुशासनपर्वणि एकोनाशीतितमोऽध्यायः ॥ ७९ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत राजधर्मानुशासनपर्वमें उन्यासीवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ७९ ॥

अशीतितमोऽध्यायः

राजाके लिये मित्र और अमित्रकी पहचान तथा उन सबके साथ नीतिपूर्ण बर्तावका और मन्त्रीके लक्षणोंका वर्णन

युधिष्ठिर उवाच

यदप्यल्पतरं कर्म तदप्येकेन दुष्करम्।
पुरुषेणासहायेन किमु राज्ञा पितामह ॥ १ ॥

युधिष्ठिरने पूछा—पितामह! जो छोटे-से-छोटा काम है, उसे भी बिना किसीकी सहायताके अकेले मनुष्यके द्वारा किया जाना कठिन हो जाता है। फिर राजा दूसरेकी सहायताके बिना महान् राज्यका संचालन कैसे कर सकता है? ॥ १ ॥

किंशीलः किंसमाचारो राज्ञोऽथ सचिवो भवेत्।
कीदृशे विश्वसेद् राजा कीदृशे न च विश्वसेत् ॥ २ ॥

अतः राजाकी सहायताके लिये जो सचिव (मन्त्री) हो, उसका स्वभाव और आचरण कैसा होना चाहिये? राजा कैसे मन्त्रीपर विश्वास करे और कैसेपर न करे? ॥ २ ॥

भीष्म उवाच

चतुर्विधानि मित्राणि राज्ञां राजन् भवन्त्युत।

सहार्थो भजमानश्च सहजः कृत्रिमस्तथा ॥ ३ ॥

भीष्मजीने कहा—राजन्! राजाके सहायक या मित्र चार प्रकारके होते हैं—१-सहार्थ, २-भजमान, ३-सहज और ४-कृत्रिम * ॥ ३ ॥

धर्मात्मा पञ्चमश्चापि मित्रं नैकस्य न द्वयोः ।
यतो धर्मस्ततो वा स्याद् धर्मस्थो वा ततो भवेत् ॥ ४ ॥
यस्तस्यार्थो न रोचेत न तं तस्य प्रकाशयेत् ।
धर्माधर्मेण राजानश्चरन्ति विजिगीषवः ॥ ५ ॥

इनके सिवा, राजाका एक पाँचवाँ मित्र धर्मात्मा पुरुष होता है, वह किसी एकका पक्षपाती नहीं होता और न दोनों पक्षोंसे वेतन लेकर कपटपूर्वक दोनोंका ही मित्र बना रहता है। जिस पक्षमें धर्म होता है, उसी ओर वह भी हो जाता है अथवा जो धर्मपरायण राजा है, वही उसका आश्रय ग्रहण कर लेता है। ऐसे धर्मात्मा पुरुषको जो कार्य न रुचे, वह उसके सामने नहीं प्रकाशित करना चाहिये; क्योंकि विजयकी इच्छा रखनेवाले राजा कभी धर्ममार्गसे चलते हैं और कभी अधर्ममार्गसे ॥ ४-५ ॥

चतुर्णां मध्यमौ श्रेष्ठौ नित्यं शङ्क्यौ तथापरौ ।
सर्वे नित्यं शङ्कितव्याः प्रत्यक्षं कार्यमात्मनः ॥ ६ ॥

उपर्युक्त चार प्रकारके मित्रोंमेंसे भजमान और सहज—ये बीचवाले दो मित्र श्रेष्ठ समझे जाते हैं, किंतु शेष दोकी ओरसे सदा सशङ्क रहना चाहिये। वास्तवमें तो अपने कार्यको ही दृष्टिमें रखकर सभी प्रकारके मित्रोंसे सदा सतर्क रहना चाहिये ॥ ६ ॥

न हि राज्ञा प्रमादो वै कर्तव्यो मित्ररक्षणे ।
प्रमादिनं हि राजानं लोकाः परिभवन्त्युत ॥ ७ ॥

राजाको अपने मित्रोंकी रक्षामें कभी असावधानी नहीं करनी चाहिये; क्योंकि असावधान राजाका सभी लोग तिरस्कार करते हैं ॥ ७ ॥

असाधुः साधुतामेति साधुर्भवति दारुणः ।
अरिश्च मित्रं भवति मित्रं चापि प्रदुष्यति ॥ ८ ॥
अनित्यचित्तः पुरुषस्तस्मिन् को जातु विश्वसेत् ।
तस्मात्प्रधानं यत् कार्यं प्रत्यक्षं तत् समाचरेत् ॥ ९ ॥

बुरा मनुष्य भला और भला मनुष्य बुरा हो जाया करता है। शत्रु भी मित्र बन जाता है और मित्र भी बिगड़ जाता है; क्योंकि मनुष्यका चित्त सदैव एक-सा नहीं रहता। अतः उसपर किसी भी समय कोई कैसे विश्वास करेगा? इसलिये जो प्रधान कार्य हो, उसे अपनी आँखोंके सामने पूरा कर देना चाहिये ॥ ८-९ ॥

एकान्तेन हि विश्वासः कृत्स्नो धर्मार्थनाशकः ।
अविश्वासश्च सर्वत्र मृत्युना च विशिष्यते ॥ १० ॥

किसीपर भी किया हुआ अत्यन्त विश्वास धर्म और अर्थ दोनोंका नाश करनेवाला होता है और सर्वत्र अविश्वास करना भी मृत्युसे बढ़कर है ॥ १० ॥

अकालमृत्युर्विश्वासो विश्वसन् हि विपद्यते ।
यस्मिन् करोति विश्वासमिच्छतस्तस्य जीवति ॥ ११ ॥

दूसरोंपर किया हुआ पूरा-पूरा विश्वास अकालमृत्युके समान है; क्योंकि अधिक विश्वास करनेवाला मनुष्य भारी विपत्तिमें पड़ जाता है। वह जिसपर विश्वास करता है, उसीकी इच्छापर उसका जीवन निर्भर होता है ॥ ११ ॥

तस्माद् विश्वसितव्यं च शङ्कितव्यं च केषुचित् ।
एषा नीतिगतिस्तात लक्ष्या चैव सनातनी ॥ १२ ॥

इसलिये राजाको कुछ चुने हुए लोगोंपर विश्वास तो करना चाहिये, पर उनकी ओरसे सशङ्क भी रहना चाहिये। तात! यही सनातन नीतिकी गति है। इसे सदा दृष्टिमें रखना चाहिये ॥

यं मन्येत ममाभावादिममर्थागमं स्पृशेत् ।
नित्यं तस्माच्छङ्कितव्यममित्रं तद् विदुर्बुधाः ॥ १३ ॥

'अमुक व्यक्ति मेरे मरनेके बाद राजा हो सकता है और धनकी यह सारी आय अपने हाथमें ले सकता है' ऐसी मान्यता जिसके विषयमें हो (वह भाई, पड़ोसी या पुत्र ही क्यों न हो) उससे सदा सतर्क ही रहना चाहिये; क्योंकि विद्वान् पुरुष उसे शत्रु ही समझते हैं ॥ १३ ॥

यस्य क्षेत्रादप्युदकं क्षेत्रमन्यस्य गच्छति ।
न तत्रानिच्छतस्तस्य भिद्येरन् सर्वसेतवः ॥ १४ ॥

वर्षा आदिका जल जिसके खेतसे होकर दूसरेके खेतमें जाता है, उसकी इच्छाके बिना उसके खेतकी आड़ या मेड़को नहीं तोड़ना चाहिये ॥ १४ ॥

तथैवात्युदकाद् भीतस्तस्य भेदनमिच्छति ।
यमेवंलक्षणं विद्यात् तममित्रं विनिर्दिशेत् ॥ १५ ॥

इसी प्रकार आड़ न टूटनेसे जिसके खेतमें अधिक जल भर जाता है, वह भयभीत हो उस जलको निकालनेके लिये खेतकी आड़को तोड़ डालना चाहता है। जिसमें ऐसे लक्षण जान पड़ें, उसीको शत्रु समझो, अर्थात् जो अपने राज्यकी सीमाका रक्षक है, वह यदि सीमा तोड़ दे तो अपने राज्यपर भय आ सकता है; अतः उसे भी शत्रु ही समझना चाहिये ॥

यस्तु वृद्ध्या न तृप्येत क्षये दीनतरो भवेत् ।
एतदुत्तममित्रस्य निमित्तमिति चक्षते ॥ १६ ॥

जो राजाकी उन्नतिसे कभी तृप्त न हो, उत्तरोत्तर उसकी अधिक उन्नति ही चाहता रहे और अवनति होनेपर बहुत

---

* सहार्थ मित्र उनको कहते हैं, जो किसी शर्तपर एक दूसरेकी सहायताके लिये मित्रता करते हैं। 'अमुक शत्रुपर हम दोनों मिलकर चढ़ाई करें, विजय होनेपर दोनों उसके राज्यको आधा-आधा बाँट लेंगे'—इत्यादि शर्तें सहार्थ मित्रोंमें होती हैं। जिनके साथ परम्परागत वंशसम्बन्धसे मित्रता हो, वे 'भजमान' कहलाते हैं। जन्मसे ही साथ रहनेसे अथवा घनिष्ठ सम्बन्ध होनेके कारण जिनमें परस्पर स्वाभाविक मैत्री हो जाती है वे 'सहज' मित्र कहे गये हैं; और धन आदि देकर अपनाये हुए लोग 'कृत्रिम' मित्र कहलाते हैं।

दुखी हो जाय, यही उत्तम मित्रकी पहचान बतायी गयी है॥

यन्मन्येत ममाभावादस्याभावो भवेदिति ।
तस्मिन् कुर्वीत विश्वासं यथा पितरि वै तथा ॥ १७ ॥

जिसके विषयमें ऐसी मान्यता हो कि मेरे न रहनेपर यह भी नहीं रहेगा, उसपर पिताके समान विश्वास करना चाहिये ॥ १७ ॥

तं शक्त्या वर्धमानश्च सर्वतः परिबृंहयेत् ।
नित्यं क्षताद् वारयति यो धर्मेष्वपि कर्मसु ॥ १८ ॥
क्षताद् भीतं विजानीयादुत्तमं मित्रलक्षणम् ।
ये तस्य क्षतमिच्छन्ति ते तस्य रिपवः स्मृताः ॥ १९ ॥

और जब अपनी वृद्धि हो तो यथाशक्ति उसे भी सब ओरसे समृद्धिशाली बनावे । जो धर्मके कार्योंमें भी राजाको सदा हानिसे बचानेका प्रयत्न करता है तथा उसकी हानिसे भयभीत हो उठता है, उसके इस स्वभावको ही उत्तम मित्रका लक्षण समझना चाहिये । जो राजाकी हानि और विनाशकी इच्छा रखते हैं, वे उसके शत्रु माने गये हैं ॥ १८-१९ ॥

व्यसनान्नित्यभीतो यः समृद्ध्या यो न दुष्यति ।
यत् स्यादेवंविधं मित्रं तदात्मसममुच्यते ॥ २० ॥

जो मित्रपर विपत्ति आनेकी सम्भावनासे सदा डरता रहता है और उसकी उन्नति देखकर मन-ही-मन ईर्ष्या नहीं करता है, ऐसे मित्रको अपने आत्माके समान बताया गया है॥

रूपवर्णस्वरोपेतस्तितिक्षुरनसूयकः ।
कुलीनः शीलसम्पन्नः स ते स्यात् प्रत्यनन्तरः ॥ २१ ॥

जिसका रूप-रंग सुन्दर और स्वर मीठा हो, जो क्षमाशील हो, निन्दक न हो तथा कुलीन और शीलवान् हो, वह तुम्हारा प्रधान सचिव होना चाहिये ॥ २१ ॥

मेधावी स्मृतिमान् दक्षः प्रकृत्या चानृशंस्यवान् ।
यो मानितोऽमानितो वा न च दुष्येत् कदाचन॥२२॥
ऋत्विग्वा यदि वाऽऽचार्यः सखा वात्यन्तसंस्तुतः ।
गृहे वसेदमात्यस्ते स स्यात् परमपूजितः ॥ २३ ॥

जिसकी बुद्धि अच्छी और स्मरणशक्ति तीव्र हो, जो कार्य-साधनमें कुशल और स्वभावतः दयालु हो तथा कभी मान या अपमान हो जानेपर जिसके हृदयमें द्वेष या दुर्भाव नहीं पैदा होता हो, ऐसा मनुष्य यदि ऋत्विज, आचार्य अथवा अत्यन्त प्रशंसित मित्र हो तो वह मन्त्री बनकर तुम्हारे घरमें रहे तथा तुम्हें उसका विशेष आदर-सम्मान करना चाहिये॥

स ते विद्यात् परं मन्त्रं प्रकृतिं चार्थधर्मयोः ।
विश्वासस्ते भवेत् तत्र यथा पितरि वै तथा ॥ २४ ॥

वह तुम्हारे उत्तम-से-उत्तम गोपनीय मन्त्र तथा धर्म और अर्थकी प्रकृति* को भी जाननेका अधिकारी है । उसपर तुम्हारा वैसा ही विश्वास होना चाहिये, जैसा कि एक पुत्रका पितापर होता है ॥ २४ ॥

नैव द्वौ न त्रयः कार्या न मृष्येरन् परस्परम् ।
एकार्थे ह्येव भूतानां भेदो भवति सर्वदा ॥ २५ ॥

एक कामपर एक ही व्यक्तिको नियुक्त करना चाहिये, दो या तीनको नहीं; क्योंकि वे आपसमें एक दूसरेको सहन नहीं कर पाते; एक कार्यपर नियुक्त हुए अनेक व्यक्तियोंमें प्रायः सदा मतभेद हो ही जाता है ॥ २५ ॥

कीर्तिप्रधानो यस्तु स्याद् यश्च स्यात् समये स्थितः ।
समर्थान् यश्च न द्वेष्टि नानर्थान् कुरुते च यः॥ २६ ॥
यो न कामाद् भयाल्लोभात् क्रोधाद् वा धर्ममुत्सृजेत् ।
दक्षः पर्याप्तवचनः स ते स्यात् प्रत्यनन्तरः ॥ २७ ॥

जो कीर्तिको प्रधानता देता है और मर्यादाके भीतर स्थित रहता है, जो सामर्थ्यशाली पुरुषोंसे द्वेष और अनर्थ नहीं करता है, जो कामनासे, भयसे, लोभसे अथवा क्रोधसे भी धर्मका त्याग नहीं करता, जिसमें कार्यकुशलता तथा आवश्यकताके अनुरूप बातचीत करनेकी पूरी योग्यता हो, वही पुरुष तुम्हारा प्रधान मन्त्री होना चाहिये ॥ २६-२७ ॥

कुलीनः शीलसम्पन्नस्तितिक्षुरविकत्थनः ।
शूरश्चार्यश्च विद्वांश्च प्रतिपत्तिविशारदः ॥ २८ ॥
एते ह्यमात्याः कर्तव्याः सर्वकर्मस्ववस्थिताः ।
पूजिताः संविभक्ताश्च सुसहायाः स्वनुष्ठिताः ॥ २९ ॥

जो कुलीन, शीलसम्पन्न, सहनशील, झूठी आत्मप्रशंसा न करनेवाले, शूरवीर, श्रेष्ठ, विद्वान् तथा कर्तव्य-अकर्तव्यको समझनेमें कुशल हों, उन्हें तुम्हें मन्त्रिपदपर प्रतिष्ठित करना चाहिये । वे तुम्हारे सभी कार्योंमें नियुक्त होने योग्य हैं । उन्हें तुम सत्कारपूर्वक सुख और सुविधाकी वस्तुएँ देना । इस प्रकार आदरपूर्वक अपनाये जानेपर वे तुम्हारे अच्छे सहायक सिद्ध होंगे ॥ २८-२९ ॥

कृत्स्नमेते विनिक्षिप्ताः प्रतिरूपेषु कर्मसु ।
युक्ता महत्सु कार्येषु श्रेयांस्युत्थापयन्त्युत ॥ ३० ॥

इन्हें इनकी योग्यताके अनुरूप कर्मोंमें पूरा अधिकार देकर लगा दिया जाय तो ये बड़े-बड़े कार्योंके साधनमें तत्पर हो राजाके लिये कल्याणकी वृद्धि कर सकते हैं ॥ ३० ॥

एते कर्माणि कुर्वन्ति स्पर्धमाना मिथः सदा ।
अनुतिष्ठन्ति चैवार्थमाचक्षाणाः परस्परम् ॥ ३१ ॥

क्योंकि ये सदा परस्पर होड़ लगाकर कार्य करते हैं और एक दूसरेसे सलाह लेकर अर्थकी सिद्धिके विषयमें विचार करते रहते हैं ॥ ३१ ॥

* प्रकृतियाँ तीन प्रकारकी बतायी गयी हैं—अर्थप्रकृति, धर्मप्रकृति तथा अर्थ-धर्मप्रकृति । इनमें अर्थ-प्रकृतिके अन्तर्गत आठ वस्तुएँ हैं—खेती, वाणिज्य, दुर्ग, सेतु (पुल), जंगलमें हाथी बाँधनेके स्थान, सोने-चाँदी आदि धातुओंकी खान, कर-ग्रहण और सूने स्थानोंको बसाना । इनके अतिरिक्त जो दुर्गाध्यक्ष, बलाध्यक्ष, धर्माध्यक्ष, सेनापति, पुरोहित, वैद्य और ज्यौतिषी—ये सात प्रकृतियाँ हैं, इनमेंसे 'धर्माध्यक्ष' तो धर्मप्रकृति हैं और शेष छः 'अर्थ-धर्मप्रकृति'के अन्तर्गत हैं ।

ज्ञातिभ्यश्चैव बुद्ध्येथा मृत्योरिव भयं सदा ।
उपराजेव राजर्धिं ज्ञातिर्न सहते सदा ॥ ३२ ॥

युधिष्ठिर ! तुम अपने कुटुम्बीजनोंसे सदा उसी प्रकार भय मानना, जैसे लोग मृत्युसे डरते रहते हैं । जिस प्रकार पड़ोसी राजा अपने पासके राजाकी उन्नति देख नहीं सकता, उसी प्रकार एक कुटुम्बी दूसरे कुटुम्बीका अभ्युदय कभी नहीं सह सकता ॥ ३२ ॥

ऋजोर्मृदोर्वदान्यस्य ह्रीमतः सत्यवादिनः ।
नान्यो ज्ञातेर्महाबाहो विनाशमभिनन्दति ॥ ३३ ॥

महाबाहो ! जो सरल, कोमल स्वभाववाला, उदार, लज्जाशील और सत्यवादी है ऐसे राजाके विनाशका समर्थन कुटुम्बीके सिवा दूसरा नहीं कर सकता ॥ ३३ ॥

अज्ञातिनोऽपि न सुखा नावज्ञेयास्ततः परम् ।
अज्ञातिमन्तं पुरुषं परे चाभिभवन्त्युत ॥ ३४ ॥

जिसके कुटुम्बी या सगे-सम्बन्धी नहीं हैं, वह भी सुखी नहीं होता; इसलिये कुटुम्बी जनोंकी अवहेलना नहीं करनी चाहिये । भाई-बन्धु या कुटुम्बी जनोंसे रहित पुरुषको दूसरे लोग दबाते रहते हैं ॥ ३४ ॥

निकृतस्य नरैरन्यैर्ज्ञातिरेव परायणम् ।
नान्यैर्निकारं सहते ज्ञातिर्ज्ञातेः कथञ्चन ॥ ३५ ॥

दूसरोंके दबानेपर उस मनुष्यको उसके सगे भाई-बन्धु ही सहारा देते हैं । दूसरे लोग किसी सजातीय बन्धुका अपमान करें तो जाति-भाई उसको किसी तरह सहन नहीं कर सकते हैं ॥ ३५ ॥

आत्मानमेव जानाति निकृतं बान्धवैरपि ।
तेषु सन्ति गुणाश्चैव नैर्गुण्यं चैव लक्ष्यते ॥ ३६ ॥

यदि सगे-सम्बन्धी भी किसी पुरुषका अपमान करें तो उसकी जातिके लोग उसे अपना ही अपमान समझते हैं । इस प्रकार कुटुम्बीजनोंमें गुण भी हैं और अवगुण भी दिखायी देते हैं ॥ ३६ ॥

नाज्ञातिरनुगृह्णाति न चाज्ञातिर्नमस्यति ।
उभयं ज्ञातिवर्गेषु दृश्यते साध्वसाधु च ॥ ३७ ॥

दूसरी जातिका मनुष्य न अनुग्रह करता है, न नमस्कार । इस प्रकार जाति-भाइयोंमें भलाई और बुराई दोनों देखनेमें आती हैं ॥

सम्मानयेत् पूजयेच्च वाचा नित्यं च कर्मणा ।
कुर्याच्च प्रियमेतेभ्यो नाप्रियं किञ्चिदाचरेत् ॥ ३८ ॥

राजाका कर्तव्य है कि वह सदा अपने जातीय बन्धुओंका वाणी और क्रियाद्वारा आदर-सत्कार करे । वह प्रतिदिन उनका प्रिय ही करता रहे । कभी कोई अप्रिय कार्य न करे ॥

विश्वस्तवदविश्वस्तस्तेषु वर्तेत सर्वदा ।
न हि दोषो गुणो वेति निरूप्यस्तेषु दृश्यते ॥ ३९ ॥

उनपर विश्वास तो न करे; परंतु विश्वास करनेवालेकी ही भाँति सदा उनके साथ बर्ताव करे । उनमें दोष है या गुण—इसका निर्णय करनेकी आवश्यकता नहीं दिखायी देती है ॥

अस्यैवं वर्तमानस्य पुरुषस्याप्रमादिनः ।
अमित्राः संप्रसीदन्ति तथा मित्रीभवन्त्यपि ॥ ४० ॥

जो पुरुष सदा सावधान रहकर ऐसा बर्ताव करता है, उसके शत्रु भी प्रसन्न हो जाते हैं और उसके साथ मित्रताका बर्ताव करने लगते हैं ॥ ४० ॥

य एवं वर्तते नित्यं ज्ञातिसम्बन्धिमण्डले ।
मित्रेष्वमित्रे मध्यस्थे चिरं यशसि तिष्ठति ॥ ४१ ॥

जो कुटुम्बी, सगे-सम्बन्धी, मित्र, शत्रु तथा मध्यस्थ व्यक्तियोंकी मण्डलीमें सदा इसी नीतिसे व्यवहार करता है, वह चिरकालतक यशस्वी बना रहता है ॥ ४१ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि राजधर्मानुशासनपर्वणि अशीतितमोऽध्यायः ॥ ८० ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत राजधर्मानुशासनपर्वमें अस्सीवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ८० ॥

एकाशीतितमोऽध्यायः

कुटुम्बीजनोंमें दलबंदी होनेपर उस कुलके प्रधान पुरुषको क्या करना चाहिये ? इसके विषयमें श्रीकृष्ण और नारदजीका संवाद

युधिष्ठिर उवाच

एवमग्राह्यके तस्मिञ्ज्ञातिसम्बन्धिमण्डले ।
मित्रेष्वमित्रेष्वपि च कथं भावो विभाव्यते ॥ १ ॥

युधिष्ठिरने पूछा—पितामह ! यदि सजातीय बन्धुओं और सगे-सम्बन्धियोंके समुदायको पारस्परिक स्पर्धाके कारण वशमें करना असम्भव हो जाय, कुटुम्बीजनोंमें ही यदि दो दल हों तो एकका आदर करनेसे दूसरा दल रुष्ट हो ही जाता है । ऐसी परिस्थितिके कारण यदि मित्र भी शत्रु बन जायँ, तब उन सबके चित्तको किस प्रकार वशमें किया जा सकता है ? ॥

भीष्म उवाच

अत्राप्युदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम् ।
संवादं वासुदेवस्य सुरर्षेर्नारदस्य च ॥ २ ॥

भीष्मजीने कहा—युधिष्ठिर ! इस विषयमें मनीषी पुरुष देवर्षि नारद और भगवान् श्रीकृष्णके भूतपूर्व संवादरूप इतिहासका उदाहरण दिया करते हैं ॥ २ ॥

वासुदेव उवाच

नासुहृत् परमं मन्त्रं नारदार्हति वेदितुम् ।
अपण्डितो वापि सुहृत् पण्डितो वाप्यनात्मवान् ॥ ३ ॥

एक समय भगवान् श्रीकृष्णने कहा—देवर्षे ! जो व्यक्ति सुहृद् न हो, जो सुहृद् तो हो किंतु पण्डित न हो तथा जो सुहृद् और पण्डित तो हो किंतु अपने मनको वशमें न कर सका हो—ये तीनों ही परम गोपनीय मन्त्रणाको सुनने या जाननेके अधिकारी नहीं हैं ॥ ३ ॥

स ते सौहृदमास्थाय किञ्चिद् वक्ष्यामि नारद ।
कृत्स्नं बुद्धिबलं प्रेक्ष्य सम्पृच्छेस्त्रिदिवंगम ॥ ४ ॥

स्वर्गमें विचरनेवाले नारदजी ! मैं आपके सौहार्दपर भरोसा रखकर आपसे कुछ निवेदन करूँगा । मनुष्य किसी व्यक्तिमें बुद्धि-बलकी पूर्णता देखकर ही उससे कुछ पूछता या जिज्ञासा प्रकट करता है ॥ ४ ॥

दास्यमैश्वर्यवादेन ज्ञातीनां न करोम्यहम् ।
अर्धं भोक्तास्मि भोगानां वाग्दुरुक्तानि च क्षमे ॥५॥

मैं अपनी प्रभुता प्रकाशित करके जाति-भाइयों, कुटुम्बीजनोंको अपना दास बनाना नहीं चाहता । मुझे जो भोग प्राप्त होते हैं, उनका आधा भाग ही अपने उपभोगमें लाता हूँ, शेष आधा भाग कुटुम्बीजनोंके लिये ही छोड़ देता हूँ और उनकी कड़वी बातोंको सुनकर भी क्षमा कर देता हूँ ॥ ५ ॥

अरणीमग्निकामो वा मथ्नाति हृदयं मम ।
वाचा दुरुक्तं देवर्षे तन्मे दहति नित्यदा ॥ ६ ॥

देवर्षे ! जैसे अग्निको प्रकट करनेकी इच्छावाला पुरुष अरणीकाष्ठका मन्थन करता है, उसी प्रकार इन कुटुम्बीजनोंका कटुवचन मेरे हृदयको सदा मथता और जलाता रहता है ॥ ६ ॥

बलं संकर्षणे नित्यं सौकुमार्यं पुनर्गदे ।
रूपेण मत्तः प्रद्युम्नः सोऽसहायोऽस्मि नारद ॥ ७ ॥

नारदजी ! बड़े भाई बलराममें सदा ही असीम बल है; वे उसीमें मस्त रहते हैं । छोटे भाई गदमें अत्यन्त सुकुमारता है (अतः वह परिश्रमसे दूर भागता है); रह गया बेटा प्रद्युम्न, सो वह अपने रूप-सौन्दर्यके अभिमानसे ही मतवाला बना रहता है । इस प्रकार इन सहायकोंके होते हुए भी मैं असहाय हूँ ॥ ७ ॥

अन्ये हि सुमहाभागा बलवन्तो दुरुत्सहाः ।
नित्योत्थानेन सम्पन्ना नारदान्धकवृष्णयः ॥ ८ ॥

नारदजी ! अन्धक तथा वृष्णिवंशमें और भी बहुत-से वीर पुरुष हैं, जो महान् सौभाग्यशाली, बलवान् एवं दुःसह पराक्रमी हैं, वे सब-के-सब सदा उद्योगशील बने रहते हैं ॥ ८ ॥

यस्य न स्युर्न वै स स्याद् यस्य स्युः कृत्स्नमेव तत् ।
द्वाभ्यां निवारितो नित्यं वृणोम्येकतरं न च ॥ ९ ॥

ये वीर जिसके पक्षमें न हों, उसका जीवित रहना असम्भव है और जिसके पक्षमें ये चले जायँ, वह सारा-का-सारा समुदाय ही विजयी हो जाय । परंतु आहुक और अक्रूरने आपसमें वैमनस्य रखकर मुझे इस तरह अवरुद्ध कर दिया है कि मैं इनमेंसे किसी एकका पक्ष नहीं ले सकता ॥ ९ ॥

स्यातां यस्याहुकाक्रूरौ किं नु दुःखतरं ततः ।
यस्य चापि न तौ स्यातां किं नु दुःखतरं ततः ॥ १० ॥

आपसमें लड़नेवाले आहुक और अक्रूर दोनों ही जिसके स्वजन हों, उसके लिये इससे बढ़कर दुःखकी बात और क्या होगी ? और वे दोनों ही जिसके सुहृद् न हों, उसके लिये भी इससे बढ़कर और दुःख क्या हो सकता है ? (क्योंकि ऐसे मित्रोंका न रहना भी महान् दुःखदायी होता है) ॥ १० ॥

सोऽहं कितवमातेव द्वयोरपि महामते ।
एकस्य जयमाशंसे द्वितीयस्यापराजयम् ॥ ११ ॥

महामते ! जैसे दो जुआरियोंकी एक ही माता एककी जीत चाहती है तो दूसरेकी भी पराजय नहीं चाहती, उसी प्रकार मैं भी इन दोनों सुहृदोंमेंसे एककी विजयकामना करता हूँ तो दूसरेकी भी पराजय नहीं चाहता ॥ ११ ॥

ममैवं क्लिश्यमानस्य नारदोभयतः सदा ।
वक्तुमर्हसि यच्छ्रेयो ज्ञातीनामात्मनस्तथा ॥ १२ ॥

नारदजी ! इस प्रकार मैं सदा उभय-पक्षका हित चाहनेके कारण दोनों ओरसे कष्ट पाता रहता हूँ । ऐसी दशामें मेरा अपना तथा इन जाति-भाइयोंका भी जिस प्रकार भला हो, वह उपाय आप बतानेकी कृपा करें ॥ १२ ॥

नारद उवाच

आपदो द्विविधाः कृष्ण बाह्याश्चाभ्यन्तराश्च ह ।
प्रादुर्भवन्ति वार्ष्णेय स्वकृता यदि वान्यतः ॥ १३ ॥

नारदजीने कहा—वृष्णिनन्दन श्रीकृष्ण ! आपत्तियाँ दो प्रकारकी होती हैं—एक बाह्य और दूसरी आभ्यन्तर । वे दोनों ही स्वकृत[1] और परकृत[2]-भेदसे दो-दो प्रकारकी होती हैं ॥ १३ ॥

सेयमाभ्यन्तरा तुभ्यमापत् कृच्छ्रा स्वकर्मजा ।
अक्रूरभोजप्रभवा सर्वे ह्येते त्वदन्वयाः ॥ १४ ॥

अक्रूर और आहुकसे उत्पन्न हुई यह कष्टदायिनी आपत्ति जो आपको प्राप्त हुई है, आभ्यन्तर है और अपनी ही करतूतोंसे प्रकट हुई है । ये सभी जिनके नाम आपने गिनाये हैं, आपके ही वंशके हैं ॥ १४ ॥

अर्थहेतोर्हि कामाद् वा वाचा वीभत्सयापि वा ।
आत्मना प्राप्तमैश्वर्यमन्यत्र प्रतिपादितम् ॥ १५ ॥

आपने स्वयं जिस ऐश्वर्यको प्राप्त किया था, उसे किसी प्रयोजनवश या स्वेच्छासे अथवा कटुवचनसे डरकर दूसरेको दे दिया ॥ १५ ॥

कृतमूलमिदानीं तज्ज्ञातिवृन्दं सहायवन् ।
न शक्यं पुनरादातुं वान्तमन्नमिव त्वया ॥ १६ ॥

सहायशाली श्रीकृष्ण ! इस समय उग्रसेनको दिया हुआ वह ऐश्वर्य दृढमूल हो चुका है । उग्रसेनके साथ जातिके लोग भी सहायक हैं; अतः उगले हुए अन्नकी भाँति आप उस दिये हुए ऐश्वर्यको वापस नहीं ले सकते ॥ १६ ॥

---

१. जो आपत्तियाँ स्वतः अपना ही करतूतोंसे आती हैं, उन्हें स्वकृत कहते हैं ।

२. जिन्हें लानेमें दूसरे लोग निमित्त बनते हैं, वे विपत्तियाँ परकृत कहलाती हैं ।

[illegible]नर्थो राज्यं नाप्तुं शक्यं कथंचन।
शान्तिभेदभयात् कृष्ण त्वया चापि विशेषतः॥ १७॥

श्रीकृष्ण ! आहुक और उग्रसेनके अधिकारमें गये हुए राज्यको भाई-बन्धुओंमें फूट पड़नेके भयसे अन्यकी तो कौन कहे, इतने शक्तिशाली होकर स्वयं भी आप किसी तरह वापस नहीं ले सकते ॥ १७ ॥

तच्च लिप्सेन् प्रयत्नेन कृत्वा कर्म सुदुष्करम्।
महाक्षयं व्ययं वा स्याद् विनाशो वा पुनर्भवेत्॥ १८॥

यदि प्रयत्नसे अत्यन्त दुष्कर कर्म महान् संहाररूप युद्ध करनेपर राज्यको वापस लेनेका कार्य सिद्ध हो सकता है, परंतु इसमें धनका बहुत व्यय और असंख्य मनुष्योंका पुनः विनाश होगा ॥ १८ ॥

अनायसेन शस्त्रेण मृदुना हृदयच्छिदा।
जिह्वामुद्धर सर्वेषां परिमृज्यानुमृज्य च॥ १९॥

अतः श्रीकृष्ण ! आप एक ऐसे कोमल शस्त्रसे, जो लोहेका बना हुआ न होनेपर भी हृदयको छेद डालनेमें समर्थ है, परिमार्जन और अनुमार्जन करके उन सबकी जीभ उखाड़ लें—उन्हें मूक बना दें (जिससे फिर कलहका आरम्भ न हो) ॥ १९ ॥

वासुदेव उवाच

अनायसं मुने शस्त्रं मृदु विद्यामहं कथम्।
येनैषामुद्धरे जिह्वां परिमृज्यानुमृज्य च॥ २०॥

भगवान् श्रीकृष्णने कहा—मुने ! बिना लोहेके बने हुए उस कोमल शस्त्रको मैं कैसे जानूँ, जिसके द्वारा परिमार्जन और अनुमार्जन करके इन सबकी जिह्वाको उखाड़ दूँ ॥ २० ॥

नारद उवाच

शक्त्यान्नदानं सततं तितिक्षार्जवमार्दवम्।
यथार्हप्रतिपूजा च शस्त्रमेतदनायसम्॥ २१॥

नारदजीने कहा—श्रीकृष्ण ! अपनी शक्तिके अनुसार सदा अन्नदान करना, सहनशीलता, सरलता, कोमलता तथा यथायोग्य पूजन (आदर-सत्कार) करना—यही बिना लोहेका बना हुआ शस्त्र है ॥ २१ ॥

ज्ञातीनां वक्तुकामानां कटुकानि लघूनि च।
गिरा त्वं हृदयं वाचं शमयस्व मनांसि च॥ २२॥

जब सजातीय बन्धु आपके प्रति कड़वी तथा ओछी बातें कहना चाहें, उस समय आप मधुर वचन बोलकर उनके हृदय, वाणी तथा मनको शान्त कर दें ॥ २२ ॥

नामहापुरुषः कश्चिन्नानात्मा नासहायवान्।
महतीं धुरमाधत्ते तामुद्यम्योरसा वह॥ २३॥

जो महापुरुष नहीं है, जिसने अपने मनको वशमें नहीं किया है तथा जो सहायकोंसे सम्पन्न नहीं है, वह कोई भारी भार नहीं उठा सकता। अतः आप ही इस गुरुतर भारको हृदयसे उठाकर वहन करें ॥ २३ ॥

सर्व एव गुरुं भारमनड्वान् वहते समे।
दुर्गे प्रतीतः सुगवो भारं वहति दुर्वहम्॥ २४॥

समतल भूमिपर सभी बैल भारी भार वहन कर लेते हैं; परंतु दुर्गम भूमिपर कठिनाईसे वहन करने योग्य गुरुतर भारको अच्छे बैल ही ढोते हैं ॥ २४ ॥

भेदाद् विनाशः संघानां संघमुख्योऽसि केशव।
यथा त्वां प्राप्य नोत्सीदेदयं संघस्तथा कुरु॥ २५॥

केशव ! आप इस यादवसंघके मुखिया हैं। यदि इसमें फूट हो गयी तो इस समूचे संघका विनाश हो जायगा; अतः आप ऐसा करें जिससे आपको पाकर इस संघका—इस यादवगणतन्त्र राज्यका मूलोच्छेद न हो जाय ॥ २५ ॥

नान्यत्र बुद्धिक्षान्तिभ्यां नान्यत्रेन्द्रियनिग्रहात्।
नान्यत्र धनसंत्यागाद् गणः प्राज्ञेऽवतिष्ठते॥ २६॥

बुद्धि, क्षमा और इन्द्रिय-निग्रहके बिना तथा धन-वैभवका त्याग किये बिना कोई गण अथवा संघ किसी बुद्धिमान् पुरुषकी आज्ञाके अधीन नहीं रहता है ॥ २६ ॥

धन्यं यशस्यमायुष्यं स्वपक्षोद्भावनं सदा।
ज्ञातीनामविनाशः स्याद् यथा कृष्ण तथा कुरु॥ २७॥

श्रीकृष्ण ! सदा अपने पक्षकी ऐसी उन्नति होनी चाहिये जो धन, यश तथा आयुकी वृद्धि करनेवाली हो और कुटुम्बीजनोंमेंसे किसीका विनाश न हो। यह सब जैसे भी सम्भव हो, वैसा ही कीजिये ॥ २७ ॥

आयत्यां च तदात्वे च न तेऽस्त्यविदितं प्रभो।
षाड्गुण्यस्य विधानेन यात्रायानविधौ तथा॥ २८॥

प्रभो ! संधि, विग्रह, यान, आसन, द्वैधीभाव और समाश्रय—इन छहों गुणोंके यथासमय प्रयोगसे तथा शत्रुपर चढ़ाई करनेके लिये यात्रा करनेपर वर्तमान या भविष्यमें क्या परिणाम निकलेगा ? यह सब आपसे छिपा नहीं है ॥ २८ ॥

यादवाः कुकुरा भोजाः सर्वे चान्धकवृष्णयः।
त्वय्यासक्ता महाबाहो लोका लोकेश्वराश्च ये॥ २९॥
उपासते हि त्वद्बुद्धिमृषयश्चापि माधव।

महाबाहु माधव ! कुकुर, भोज, अन्धक और वृष्णिवंशके सभी यादव आपमें प्रेम रखते हैं। दूसरे लोग और लोकेश्वर भी आपमें अनुराग रखते हैं। औरोंकी तो बात ही क्या है ? बड़े-बड़े ऋषि-मुनि भी आपकी बुद्धिका आश्रय लेते हैं ॥ २९½ ॥

त्वं गुरुः सर्वभूतानां जानीषे त्वं गतागतम्।
त्वामासाद्य यदुश्रेष्ठमेधन्ते यादवाः सुखम्॥ ३०॥

१. क्षमा, सरलता और कोमलताके द्वारा दोषोंको दूर करना 'परिमार्जन' कहलाता है।

२. यथायोग्य सेवा-सत्कारके द्वारा हृदयमें प्रीति उत्पन्न करना 'अनुमार्जन' कहा गया है।

आप समस्त प्राणियोंके गुरु हैं। भूत, वर्तमान और भविष्यको जानते हैं। आप-जैसे यदुकुलतिलक महापुरुषका आश्रय लेकर ही समस्त यादव सुखपूर्वक अपनी उन्नति करते हैं ॥ ३० ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि राजधर्मानुशासनपर्वणि वासुदेवनारदसंवादो नामैकाशीतितमोऽध्यायः ॥ ८१ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत राजधर्मानुशासनपर्वमें श्रीकृष्ण-नारदसंवाद नामक इक्यासीवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ८१ ॥

द्व्यशीतितमोऽध्यायः

मन्त्रियोंकी परीक्षाके विषयमें तथा राजा और राजकीय मनुष्योंसे सतर्क रहनेके विषयमें कालकवृक्षीय मुनिका उपाख्यान

भीष्म उवाच

एषा प्रथमतो वृत्तिर्द्वितीयां शृणु भारत।
यः कश्चिज्जनयेदर्थं राज्ञा रक्ष्यः सदा नरः ॥ १ ॥

भीष्मजी कहते हैं—भरतनन्दन! यह राजा अथवा राजनीतिकी पहली वृत्ति है, अब दूसरी सुनो। जो कोई मनुष्य राजाके धनकी वृद्धि करे, उसकी राजाको सदा रक्षा करनी चाहिये ॥ १ ॥

ह्रियमाणममात्येन भृत्यो वा यदि वा भृतः।
यो राजकोशं नश्यन्तमाचक्षीत युधिष्ठिर ॥ २ ॥
श्रोतव्यमस्य च रहो रक्ष्यश्चामात्यतो भवेत्।
अमात्या ह्यपहर्तारो भूयिष्ठं घ्नन्ति भारत ॥ ३ ॥

भरतवंशी युधिष्ठिर! यदि मन्त्री राजाके खजानेसे धनका अपहरण करता हो और कोई सेवक अथवा राजाके द्वारा पालित हुआ दूसरा कोई मनुष्य राजकीय कोषके नष्ट होनेका समाचार राजाको बतावे, तब राजाको उसकी बात एकान्तमें सुननी चाहिये और मन्त्रीसे उसके जीवनकी रक्षा करनी चाहिये; क्योंकि चोरी करनेवाले मन्त्री अपना भंडाफोड़ करनेवाले मनुष्यको प्रायः मार डाला करते हैं ॥ २-३ ॥

राजकोशस्य गोप्तारं राजकोशविलोपकाः।
समेत्य सर्वे बाधन्ते स विनश्यत्यरक्षितः ॥ ४ ॥

जो राजाके खजानेकी रक्षा करनेवाला है, उस पुरुषको राजकीय कोष लूटनेवाले सब लोग एकमत होकर सताने लगते हैं। यदि राजाके द्वारा उसकी रक्षा नहीं की जाय तो वह बेचारा बेमौत मारा जाता है ॥ ४ ॥

अत्राप्युदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम्।
मुनिः कालकवृक्षीयः कौसल्यं यदुवाच ह ॥ ५ ॥

इस विषयमें जानकार लोग, कालकवृक्षीय मुनिने कोसलराजको जो उपदेश दिया था, उसी प्राचीन इतिहासका उदाहरण दिया करते हैं ॥ ५ ॥

कोसलानामाधिपत्यं सम्प्राप्तं क्षेमदर्शिनम्।
मुनिः कालकवृक्षीय आजगामेति नः श्रुतम् ॥ ६ ॥

हमने सुना है कि राजा क्षेमदर्शी जब कोसल प्रदेशके राजसिंहासनपर आसीन थे, उन्हीं दिनों कालकवृक्षीय मुनि उस राज्यमें पधारे थे ॥ ६ ॥

स काकं पञ्जरे बद्ध्वा विषयं क्षेमदर्शिनः।
सर्वं पर्यचरद् युक्तः प्रवृत्त्यर्थी पुनः पुनः ॥ ७ ॥

उन्होंने क्षेमदर्शीके सारे देशमें, उस राज्यका समाचार जाननेके लिये एक कौएको पिंजड़ेमें बाँधकर साथ ले बड़ी सावधानीके साथ बारंबार चक्कर लगाया ॥ ७ ॥

अधीध्वं वायसीं विद्यां शंसन्ति मम वायसाः।
अनागतमतीतं च यच्च सम्प्रति वर्तते ॥ ८ ॥

घूमते समय वे लोगोंसे कहते थे, 'सज्जनो! तुमलोग मुझसे वायसी विद्या (कौओंकी बोली समझनेकी कला) सीखो। मैंने सीखी है, इसलिये कौए मुझसे भूत, भविष्य तथा इस समय जो वर्तमान है, वह सब बता देते हैं' ॥ ८ ॥

इति राष्ट्रे परिपतन् बहुभिः पुरुषैः सह।
सर्वेषां राजयुक्तानां दुष्कृतं परिदृष्टवान् ॥ ९ ॥

यही कहते हुए वे बहुतेरे मनुष्योंके साथ उस राष्ट्रमें सब ओर घूमते फिरे। उन्होंने राजकार्यमें लगे हुए समस्त कर्मचारियोंका दुष्कर्म अपनी आँखों देखा ॥ ९ ॥

स बुद्ध्वा तस्य राष्ट्रस्य व्यवसायं हि सर्वशः।
राजयुक्तापहारांश्च सर्वान् बुद्ध्वा ततस्ततः ॥ १० ॥
ततः स काकमादाय राजानं द्रष्टुमागमत्।
सर्वज्ञोऽस्मीति वचनं ब्रुवाणः संशितव्रतः ॥ ११ ॥

उस राष्ट्रके सारे व्यवसायोंको जानकर तथा राजकीय कर्मचारियोंद्वारा राजाकी सम्पत्तिके अपहरण होनेकी सारी घटनाओंका जहाँ-तहाँसे पता लगाकर वे उत्तम व्रतका पालन करनेवाले महर्षि अपनेको सर्वज्ञ घोषित करते हुए उस कौएको साथ ले राजासे मिलनेके लिये आये ॥ १०-११ ॥

स स्म कौसल्यमागम्य राजामात्यमलंकृतम्।
प्राह काकस्य वचनादमुत्रेदं त्वया कृतम् ॥ १२ ॥
असौ चासौ च जानीते राजकोशस्त्वया हृतः।
एवमाख्याति काकोऽयं तच्छीघ्रमनुगम्यताम् ॥ १३ ॥

कोसलनरेशके निकट उपस्थित हो मुनिने सज-धजकर बैठे हुए राजमन्त्रीसे कौएके कथनका हवाला देते हुए कहा—'तुमने अमुक स्थानपर राजाके अमुक धनकी चोरी की है। अमुक-अमुक व्यक्ति इस बातको जानते हैं, जो इसके साक्षी हैं'। हमारा यह कौआ कहता है कि 'तुमने राजकीय कोषका अपहरण किया है; अतः तुम अपने इस अपराधको शीघ्र स्वीकार करो' ॥ १२-१३ ॥

तथान्यानपि स प्राह राजकोशहरांस्तदा।
न चास्य वचनं किंचिदनृतं श्रूयते क्वचित् ॥ १४ ॥

इसी प्रकार मुनिने राजाके खजानेसे चोरी करनेवाले अन्य कर्मचारियोंसे भी कहा—'तुमने चोरी की है। मेरे इस कौएकी कही हुई कोई भी बात कभी और कहीं भी झूठी नहीं सुनी गयी है' ॥ १४ ॥

तेन विप्रकृताः सर्वे राजयुक्ताः कुरूद्वह।
तमन्वभिप्रसुप्तस्य निशि काकमवेधयन्॥ १५॥

कुरुश्रेष्ठ ! इस प्रकार मुनिके द्वारा तिरस्कृत हुए सभी राजकर्मचारियोंने अँधेरी रातमें सोये हुए मुनिके उस कौएको बाणसे बींधकर मार डाला ॥ १५ ॥

वायसं तु विनिर्भिन्नं दृष्ट्वा बाणेन पञ्जरे।
पूर्वाह्णे ब्राह्मणो वाक्यं क्षेमदर्शिनमब्रवीत्॥ १६॥

अपने कौएको पिंजड़ेमें बाणसे विदीर्ण हुआ देखकर ब्राह्मणने पूर्वाह्नमें राजा क्षेमदर्शीसे इस प्रकार कहा—॥ १६ ॥

राजंस्त्वामभयं याचे प्रभुं प्राणधनेश्वरम्।
अनुज्ञातस्त्वया ब्रूयां वचनं भवतो हितम्॥ १७॥

'राजन् ! आप प्रजाके प्राण और धनके स्वामी हैं। मैं आपसे अभयकी याचना करता हूँ। यदि आज्ञा हो तो मैं आपके हितकी बात कहूँ ॥ १७ ॥

मित्रार्थमभिसंतप्तो भक्त्या सर्वात्मनाऽऽगतः।

'आप मेरे मित्र हैं। मैं आपके ही हितके लिये आपके प्रति सम्पूर्ण हृदयसे भक्तिभाव रखकर यहाँ आया हूँ। आपकी जो हानि हो रही है, उसे देखकर मैं बहुत संतप्त हूँ ॥ १७½ ॥

अयं तवार्थो ह्रियते यो ब्रूयादक्षमान्वितः॥ १८॥
सम्बुबोधयिषुर्मित्रं सदश्वमिव सारथिः।
अतिमन्युप्रसक्तो हि प्रसह्य हितकारणात्॥ १९॥
तथाविधस्य सुहृदा क्षन्तव्यं स्वं विजानता।
ऐश्वर्यमिच्छता नित्यं पुरुषेण बुभूषता॥ २०॥

'जैसे सारथि अच्छे घोड़ेको सचेत करता है, उसी प्रकार यदि कोई मित्र मित्रको समझानेके लिये आया हो, मित्रकी हानि देखकर जो अत्यन्त दुखी हो और उसे सहन न कर सकनेके कारण जो हठपूर्वक अपने सुहृद् राजाका हित-साधन करनेके लिये उसके पास आकर कहे कि 'राजन् ! तुम्हारे इस धनका अपहरण हो रहा है' तो सदा ऐश्वर्य और उन्नतिकी इच्छा रखनेवाले विज्ञ एवं सुहृद् पुरुषको अपने उस हितकारी मित्रकी बात सुननी चाहिये और उसके अपराध-को क्षमा कर देना चाहिये' ॥ १८—२० ॥

तं राजा प्रत्युवाचेदं यत् किंचिन्मां भवान् वदेत्।
कस्मादहं न क्षमेयमाकाङ्क्षन्नात्मनो हितम्॥ २१॥
ब्राह्मण प्रतिजाने ते प्रब्रूहि यदिहेच्छसि।
करिष्यामि हि ते वाक्यं यदस्मान्विप्र वक्ष्यसि॥ २२॥

तब राजाने मुनिको इस प्रकार उत्तर दिया—'ब्राह्मण ! आप जो कुछ कहना चाहें, मुझसे निर्भय होकर कहें। अपने हितकी इच्छा रखनेवाला मैं आपको क्षमा क्यों नहीं करूँगा ? विप्रवर ! आप जो चाहें, कहिये। मैं प्रतिज्ञा करता हूँ कि आप मुझसे जो कोई भी बात कहेंगे, आपकी उस आज्ञाका मैं पालन करूँगा' ॥ २१-२२ ॥

मुनिरुवाच

ज्ञात्वा पापानपापांश्च भृत्यतस्ते भयानि च।
भक्त्या वृत्तिं समाख्यातुं भवतोऽन्तिकमागमम्॥ २३॥

मुनि बोले—महाराज ! आपके कर्मचारियोंमेंसे कौन अपराधी है और कौन निरपराध ? इस बातका पता लगाकर तथा आपपर आपके सेवकोंकी ओरसे ही अनेक भय आनेवाले हैं, यह जानकर प्रेमपूर्वक राज्यका सारा समाचार बतानेके लिये मैं आपके पास आया था ॥ २३ ॥

प्रागेवोक्तस्तु दोषोऽयमाचार्यैर्नृपसेविनाम्।
अगतीकगतिर्ह्येषा पापा राजोपसेविनाम्॥ २४॥

नीतिशास्त्रके आचार्योंने राजसेवकोंके इस दोषका पहलेसे ही वर्णन कर रक्खा है कि जो राजाकी सेवा करनेवाले लोग हैं, उनके लिये यह पापमयी जीविका अगतिक गति है अर्थात् जिन्हें कहीं भी सहारा नहीं मिलता, वे राजाके सेवक होते हैं ॥ २४ ॥

आशीविषैश्च तस्याहुः संगतं यस्य राजभिः।
बहुमित्राश्च राजानो बह्वमित्रास्तथैव च॥ २५॥
तेभ्यः सर्वेभ्य एवाहुर्भयं राजोपजीविनाम्।
तथैषां राजतो राजन् मुहूर्तादेव भीर्भवेत्॥ २६॥

जिसका राजाओंके साथ मेल-जोल हो गया, उसकी विषधर सर्पोंके साथ सङ्गति हो गयी, ऐसा नीतिज्ञोंका कथन है। राजाके जहाँ बहुत-से मित्र होते हैं, वहीं उनके अनेक शत्रु भी हुआ करते हैं। राजाके आश्रित होकर जीविका चलानेवालोंको उन सभीसे भय बताया गया है। राजन् ! स्वयं राजासे भी उन्हें घड़ी-घड़ीमें खतरा रहता है ॥ २५-२६ ॥

नैकान्तेन प्रमादो हि शक्यः कर्तुं महीपतौ।
न तु प्रमादः कर्तव्यः कथंचिद् भूतिमिच्छता॥ २७॥

राजाके पास रहनेवालोंसे कभी कोई प्रमाद हो ही नहीं, यह तो असम्भव है, परंतु जो अपना भला चाहता हो उसे किसी तरह उसके पास जान-बूझकर प्रमाद नहीं करना चाहिये ॥ २७ ॥

प्रमादाद्धि स्खलेद् राजा स्खलिते नास्ति जीवितम्।
अग्निं दीप्तमिवासीदेद् राजानमुपशिक्षितः॥ २८॥

यदि सेवकके द्वारा असावधानीके कारण कोई अपराध बन गया तो राजा पहलेके उपकारको भुलाकर कुपित हो उससे द्वेष करने लगता है और जब राजा अपनी मर्यादासे भ्रष्ट हो जाय तो उस सेवकके जीवनकी आशा नहीं रह जाती। जैसे जलती हुई आगके पास मनुष्य सचेत होकर जाता है, उसी प्रकार शिक्षित पुरुषको राजाके पास सावधानीसे रहना चाहिये ॥ २८ ॥

राजा क्षेमदर्शी और कालकवृक्षीय मुनि

आशीविषमिव क्रुद्धं प्रभुं प्राणधनेश्वरम्।
यत्नेनोपचरेन्नित्यं नाहमस्मीति मानवः ॥ २९ ॥

राजा प्राण और धन दोनोंका स्वामी है। जब वह कुपित होता है तो विषधर सर्पके समान भयंकर हो जाता है; अतः मनुष्यको चाहिये कि 'मैं जीवित नहीं हूँ' ऐसा मानकर अर्थात् अपनी जानको हथेलीपर लेकर सदा बड़े यत्नसे राजाकी सेवा करे ॥ २९ ॥

दुर्व्याहृताच्छङ्कमानो दुष्कृताद् दुरधिष्ठितात्।
दुरासिताद् दुर्व्रजिताद्दिङ्गिताद्दङ्गचेष्टितात् ॥ ३० ॥

मुँहसे कोई बुरी बात न निकल जाय, कोई बुरा काम न बन जाय, खड़ा होते, किसी आसनपर बैठते, चलते, संकेत करते तथा किसी अङ्गके द्वारा कोई चेष्टा करते समय असभ्यता अथवा बेअदबी, न हो जाय, इसके लिये सदा सतर्क रहना चाहिये ॥ ३० ॥

देवतेव हि सर्वार्थान् कुर्याद् राजा प्रसादितः।
वैश्वानर इव क्रुद्धः समूलमपि निर्दहेत् ॥ ३१ ॥

यदि राजाको प्रसन्न कर लिया जाय तो वह देवताकी भाँति सम्पूर्ण मनोरथ सिद्ध कर देता है और यदि कुपित हो जाय तो जलती हुई आगकी भाँति जड़मूलसहित भस्म कर डालता है ॥ ३१ ॥

इति राजन् यमः प्राह वर्तते च तथैव तत्।
अथ भूयांसमेवार्थं करिष्यामि पुनः पुनः ॥ ३२ ॥

राजन्! यमराजने जो यह बात कही है, वह ज्यों-की-त्यों ठीक है; फिर भी मैं तो बारंबार आपके महान् अर्थका साधन करूँगा ही ॥ ३२ ॥

ददात्यस्मद्विधोऽमात्यो बुद्धिसाहाय्यमापदि।
वायसस्त्वेष मे राजन् ननु कार्याभिसंहितः ॥ ३३ ॥

मेरे-जैसा मन्त्री आपत्तिकालमें बुद्धिद्वारा सहायता देता है। राजन्! मेरा यह कौआ भी आपके कार्यसाधनमें संलग्न था; किंतु मारा गया (सम्भव है मेरी भी वही दशा हो) ॥

न च मेऽत्र भवान् गर्ह्यो न च येषां भवान् प्रियः।
हिताहितांस्तु बुद्ध्येथा मा परोक्षमतिर्भवेः ॥ ३४ ॥

परंतु इसके लिये मैं आपकी और आपके प्रेमियोंकी निन्दा नहीं करता। मेरा कहना तो इतना ही है कि आप स्वयं अपने हित और अनहितको पहचानिये। प्रत्येक कार्यको अपनी आँखोंसे देखिये। दूसरोंकी देख-भालपर विश्वास न कीजिये ॥ ३४ ॥

ये त्वादानपरा एव वसन्ति भवतो गृहे।
अभूतिकामा भूतानां तादृशैर्मेऽभिसंहितम् ॥ ३५ ॥

जो लोग आपका खजाना लूट रहे हैं और आपके ही घरमें रहते हैं, वे प्रजाकी भलाई चाहनेवाले नहीं है। वैसे लोगोंने मेरे साथ वैर बाँध लिया है ॥ ३५ ॥

यो वा भवद्विनाशेन राज्यमिच्छत्यनन्तरम्।
आन्तरैरभिसंधाय राजन् सिद्ध्यति नान्यथा ॥ ३६ ॥

राजन्! जो आपका विनाश करके आपके बाद इस राज्यको अपने हाथमें लेना चाहता है, उसका वह कर्म अन्तःपुरके सेवकोंसे मिलकर कोई षड्यन्त्र करनेसे ही सफल हो सकता है; अन्यथा नहीं (अतः आपको सावधान हो जाना चाहिये) ॥ ३६ ॥

तेषामहं भयाद् राजन् गमिष्याम्यन्यमाश्रमम्।
तैर्हि मे संधितो बाणः काके निपतितः प्रभो ॥ ३७ ॥

नरेश्वर! मैं उन विरोधियोंके भयसे दूसरे आश्रममें चला जाऊँगा। प्रभो! उन्होंने मेरे लिये ही बाणका संधान किया था; किंतु वह उस कौएपर जा गिरा ॥ ३७ ॥

छद्मकामैरकामस्य गमितो यमसादनम्।
दृष्टं ह्येतन्मया राजंस्तपोदीर्घेण चक्षुषा ॥ ३८ ॥

मैं कोई कामना लेकर यहाँ नहीं आया था तो भी छल-कपटकी इच्छा रखनेवाले षड्यन्त्रकारियोंने मेरे कौएको मारकर यमलोक पहुँचा दिया। राजन्! तपस्याके द्वारा प्राप्त हुई दूरदर्शिनी दृष्टिसे मैंने यह सब देखा है ॥ ३८ ॥

बहुनक्रझषग्राहां तिमिङ्गिलगणैर्युताम्।
काकेन बालिशेनेमां यामतार्षमहं नदीम् ॥ ३९ ॥

यह राजनीति एक नदीके समान है। राजकीय पुरुष उसमें मगर, मत्स्य, तिमिङ्गल-समूहों और ग्राहोंके समान हैं। बेचारे कौएके द्वारा मैं किसी तरह इस नदीसे पार हो सका हूँ ॥ ३९ ॥

स्थाण्वश्मकण्टकवतीं सिंहव्याघ्रसमाकुलाम्।
दुरासदां दुष्प्रसहां गुहां हैमवतीमिव ॥ ४० ॥

जैसे हिमालयकी कन्दरामें ठूँठ, पत्थर और काँटे होते हैं, उसके भीतर सिंह और व्याघ्रोंका भी निवास होता है तथा इन्हीं सब कारणोंसे उसमें प्रवेश पाना या रहना अत्यन्त कठिन एवं दुःसह हो जाता है, उसी प्रकार दुष्ट अधिकारियोंके कारण इस राज्यमें किसी भले मनुष्यका रहना मुश्किल है ॥ ४० ॥

अग्निना तामसं दुर्गं नौभिराप्यं च गम्यते।
राजदुर्गावतरणे नोपायं पण्डिता विदुः ॥ ४१ ॥

अन्धकारमय दुर्गको अग्निके प्रकाशसे तथा जल-दुर्गको नौकाओंद्वारा पार किया जा सकता है; परंतु राजारूपी दुर्गसे पार होनेके लिये विद्वान् पुरुष भी कोई उपाय नहीं जानते हैं ॥

गहनं भवतो राज्यमन्धकारं तमोऽन्वितम्।
नेह विश्वसितुं शक्यं भवतापि कुतो मया ॥ ४२ ॥

आपका यह राज्य गहन अन्धकारसे आच्छन्न और दुःखसे परिपूर्ण है। आप स्वयं भी इस राज्यपर विश्वास नहीं कर सकते; फिर मैं कैसे करूँगा? ॥ ४२ ॥

अतो नायं शुभो वासस्तुल्ये सदसती इह।
वधो ह्येवात्र सुकृते दुष्कृते न च संशयः ॥ ४३ ॥

अतः यहाँ रहनेमें किसीका कल्याण नहीं है। यहाँ भले-बुरे सब एक समान हैं। इस राज्यमें बुराई करनेवाले और

अन्यथा [illegible] भी नष्ट हो सकता है, इसमें संशय नहीं है ॥ ४३ ॥

न्यायतो दुष्कृते घातः सुकृते न कथंचन ।
नेह युक्तं चिरं स्थातुं जवेनैवाव्रजेद् बुधः ॥४४॥

न्यायकी बात तो यह है कि बुराई करनेवालेको ही मारा जाय और पुण्य—श्रेष्ठ कर्म करनेवालेको किसी तरह भी कोई कष्ट न होने पावे; परंतु यहाँ ऐसा नहीं होता; अतः इस स्थानमें [illegible] निवास करना किसीके लिये भी उचित नहीं है । विद्वान् पुरुषको यहाँसे अति शीघ्र हट जाना चाहिये ॥ ४४ ॥

सीता नाम नदी राजन् प्लवो यस्यां निमज्जति ।
तथोपमामिमां मन्ये वागुरां सर्वघातिनीम् ॥ ४५ ॥

राजन् ! सीता नामसे प्रसिद्ध एक नदी है, जिसमें नाव भी डूब जाती है, वैसी ही यहाँकी राजनीति भी है (इसमें मेरे-जैसे सहायकोंके भी डूब जानेकी आशङ्का है) । मैं तो इसे समस्त प्राणियोंका विनाश करनेवाली फाँसी ही समझता हूँ ॥ ४५ ॥

मधुप्रपातो हि भवान् भोजनं विषसंयुतम् ।
असतामिव ते भावो वर्तते न सतामिव ॥ ४६ ॥

आप शहदके छत्तेसे युक्त पेड़की उस ऊँची डालीके समान हैं, जहाँसे नीचे गिरनेका ही भय है । आप विष मिलाये हुए भोजनके तुल्य हैं, आपका भाव असज्जनोंके समान है, सज्जनोंके तुल्य नहीं है ॥ ४६ ॥

आशीविषैः परिवृतः कूपस्त्वमसि पार्थिव ।
दुर्गतीर्था बृहत्कूला कारीरा वेत्रसंयुता ॥ ४७ ॥
नदी मधुरपानीया यथा राजंस्तथा भवान् ।

भूपाल ! आप विषैले सर्पोंसे घिरे हुए कुएँके समान हैं, राजन् ! आपकी अवस्था उस मीठे जलवाली नदीके समान हो गयी है, जिसके घाटतक पहुँचना कठिन है, जिसके दोनों किनारे बहुत ऊँचे हों और वहाँ करीलके झाड़ तथा बेंतकी वल्लरियाँ सब ओर छा रही हों ॥ ४७½ ॥

श्वगृध्रगोमायुयुतो राजहंससमो ह्यसि ॥ ४८ ॥
यथाऽऽश्रित्य महावृक्षं कक्षः संवर्धते महान् ।
ततस्तं संवृणोत्येव तमतीत्य च वर्धते ॥ ४९ ॥
तेनैवोग्रेन्धनेनैनं दावो दहति दारुणः ।
तथोपमा ह्यमात्यास्ते राजंस्तान् परिशोधय ॥ ५० ॥

जैसे कुत्तों, गीधों और गीदड़ोंसे घिरा हुआ राजहंस बैठा हो, उसी तरह दुष्ट कर्मचारियोंसे आप घिरे हुए हैं । जैसे लताओंका विशाल समूह किसी महान् वृक्षका आश्रय लेकर बढ़ता है, फिर धीरे-धीरे उस वृक्षको लपेट लेता है और उसका अतिक्रमण करके उससे भी ऊँचेतक फैल जाता है, फिर वही सूखकर भयानक ईंधन बन जाता है, तब दारुण दावानल उसी ईंधनके सहारे उस विशाल वृक्षको भी जला डालता है, राजन् ! आपके मन्त्री भी उन्हीं सूखी लताओंके समान हो गये हैं अर्थात् आपके ही आश्रयसे बढ़कर आपहीके विनाशका कारण बन रहे हैं । अतः आप उनका शोधन कीजिये ॥ ४८—५० ॥

त्वया चैव कृता राजन् भवता परिपालिताः ।
भवन्तमभिसंधाय जिघांसन्ति भवत्प्रियम् ॥ ५१ ॥

नरेश्वर ! आपने ही जिन्हें मन्त्री बनाया और आपने जिनका पालन किया, वे आपसे ही कपटभाव रखकर आपके ही हितका विनाश करना चाहते हैं ॥ ५१ ॥

उषितं शङ्कमानेन प्रमादं परिरक्षता ।
अन्तःसर्प इवागारे वीरपत्न्या इवालये ॥ ५२ ॥
शीलं जिज्ञासमानेन राज्ञश्च सहजीविनः ।

मैं राजाके साथ रहनेवाले अधिकारियोंका शील-स्वभाव जानना चाहता था, इसलिये सदा सशङ्क रहकर बड़ी सावधानीके साथ यहाँ रहा हूँ । ठीक उसी तरह, जैसे कोई साँपवाले मकानमें रहता हो अथवा किसी शूर-वीरकी पत्नीके घरमें घुस गया हो ॥ ५२½ ॥

कच्चिज्जितेन्द्रियो राजा कच्चिदस्यान्तरा जिताः ॥ ५३ ॥
कच्चिदेषां प्रियो राजा कच्चिद् राज्ञः प्रियाः प्रजाः ।
विजिज्ञासुरिह प्राप्तस्तवाहं राजसत्तम ॥ ५४ ॥

क्या इस देशके राजा जितेन्द्रिय हैं ? क्या इनके अंदर रहनेवाले सेवक इनके वशमें हैं ? क्या यहाँकी प्रजाओंका राजापर प्रेम है ? और राजा भी क्या अपनी प्रजाओंपर प्रेम रखते हैं ? नृपश्रेष्ठ ! इन्हीं सब बातोंको जाननेकी इच्छासे मैं आपके यहाँ आया था ॥ ५३-५४ ॥

तस्य मे रोचते राजन् क्षुधितस्येव भोजनम् ।
अमात्या मे न रोचन्ते वितृष्णस्य यथोदकम् ॥ ५५ ॥

जैसे भूखेको भोजन अच्छा लगता है, उसी प्रकार आपका दर्शन मुझे बड़ा प्रिय लगता है; परंतु जैसे प्यास न रहनेपर पानी अच्छा नहीं लगता, उसी प्रकार आपके ये मन्त्री मुझे अच्छे नहीं जान पड़ते हैं ॥ ५५ ॥

भवतोऽर्थकृदित्येवं मयि दोषो हि तैः कृतः ।
विद्यते कारणं नान्यदिति मे नात्र संशयः ॥ ५६ ॥

मैं आपकी भलाई करनेवाला हूँ, यही इन मन्त्रियोंने मुझमें बड़ा भारी दोष पाया है और इसीलिये ये मुझसे द्वेष रखने लगे हैं । इसके सिवा दूसरा कोई इनके रोषका कारण नहीं है । मुझे अपने इस कथनकी सत्यतामें कोई संदेह नहीं है ॥ ५६ ॥

न हि तेषामहं द्रुग्धस्तत्तेषां दोषदर्शनम् ।
अरेर्हि दुर्हृदाद् भेयं भग्नपुच्छादिवोरगात् ॥ ५७ ॥

यद्यपि मैं इन लोगोंसे द्रोह नहीं करता तो भी मेरे प्रति इन लोगोंकी दोष-दृष्टि हो गयी है । जिसकी पूँछ दबा दी गयी हो, उस सर्पके समान दुष्ट हृदयवाले शत्रुसे सदा डरते रहना चाहिये (इसलिये अब मैं यहाँ रहना नहीं चाहता) ॥ ५७ ॥

राजोवाच

भूयसा परिहारेण सत्कारेण च भूयसा ।
पूजितो ब्राह्मणश्रेष्ठ भूयो वस गृहे मम ॥ ५८ ॥

राजाने कहा—विप्रवर ! आपपर आनेवाले भय अथवा संकटका विशेषरूपसे निवारण करते हुए मैं आपको बड़े आदर-सत्कारके साथ अपने यहाँ रक्खूँगा । आप मेरेद्वारा सम्मानित हो बहुत कालतक मेरे महलमें निवास कीजिये ॥ ५८ ॥

ये त्वां ब्राह्मण नेच्छन्ति ते न वत्स्यन्ति मे गृहे ।
भवतैव हि तज्ज्ञेयं यत्तदेषामनन्तरम् ॥ ५९ ॥

ब्रह्मन् ! जो आपको मेरे यहाँ नहीं रहने देना चाहते हैं, वे स्वयं ही मेरे घरमें नहीं रहने पायेंगे अब इन विरोधियोंका दमन करनेके लिये जो आवश्यक कर्त्तव्य हो, उसे आप स्वयं ही सोचिये और समझिये ॥ ५९ ॥

यथा स्यात् सुधृतो दण्डो यथा च सुकृतं कृतम् ।
तथा समीक्ष्य भगवञ्छ्रेयसे विनियुङ्क्ष्व माम् ॥ ६० ॥

भगवन् ! जिस तरह राजदण्डको मैं अच्छी तरह धारण कर सकूँ और मेरेद्वारा अच्छे ही कार्य होते रहें, वह सब सोचकर आप मुझे कल्याणके मार्गपर लगाइये ॥ ६० ॥

मुनिरुवाच

अदर्शयन्निमं दोषमेकैकं दुर्बलीकुरु ।
ततः कारणमाज्ञाय पुरुषं पुरुषं जहि ॥ ६१ ॥

मुनिने कहा—राजन् ! पहले तो कौएको मारनेका जो अपराध है, इसे प्रकट किये बिना ही एक-एक मन्त्रीको उसका अधिकार छीनकर दुर्बल कर दीजिये । उसके बाद अपराधके कारणका पूरा-पूरा पता लगाकर क्रमशः एक-एक व्यक्तिका वध कर डालिये ॥ ६१ ॥

एकदोषा हि बहवो मृद्नीयुरपि कण्टकान् ।
मन्त्रभेदभयाद् राजंस्तस्मादेतद् ब्रवीमि ते ॥ ६२ ॥

नरेश्वर ! जब बहुत-से लोगोंपर एक ही तरहका दोष लगाया जाता है तो वे सब मिलकर एक हो जाते हैं और उस दशामें वे बड़े-बड़े कण्टकोंको भी मसल डालते हैं, अतः यह गुप्त विचार दूसरोंपर प्रकट न हो जाय, इसी भयसे मैं तुम्हें इस प्रकार एक-एक करके विरोधियोंके वधकी सलाह दे रहा हूँ ॥ ६२ ॥

वयं तु ब्राह्मणा नाम मृदुदण्डाः कृपालवः ।
स्वस्ति चेच्छाम भवतः परेषां च यथाऽऽत्मनः ॥ ६३ ॥

महाराज ! हमलोग ब्राह्मण हैं । हमारा दण्ड भी बहुत कोमल होता है । हम स्वभावसे ही दयालु होते हैं; अतः अपने ही समान आपका और दूसरोंका भी भला चाहते हैं ॥ ६३ ॥

राजन्नात्मानमाचक्षे सम्बन्धी भवतो ह्यहम् ।
मुनिः कालकवृक्षीय इत्येवमभिसंज्ञितः ॥ ६४ ॥

राजन् ! अब मैं आपको अपना परिचय देता हूँ । मैं आपका सम्बन्धी हूँ । मेरा नाम है कालकवृक्षीय मुनि ॥ ६४ ॥

पितुः सखा च भवतः सम्मतः सत्यसङ्गरः ।
व्यापन्ने भवतो राज्ये राजन् पितरि संस्थिते ॥ ६५ ॥
सर्वकामान् परित्यज्य तपस्तप्तं तदा मया ।
स्नेहात् त्वां तु ब्रवीम्येतन्मा भूयो विभ्रमेदिति ॥ ६६ ॥

मैं आपके पिताका आदरणीय एवं सत्यप्रतिज्ञ मित्र हूँ । नरेश्वर ! आपके पिताके स्वर्गवास हो जानेके पश्चात् जब आपके राज्यपर भारी संकट आ गया था, तब अपनी समस्त कामनाओंका परित्याग करके मैंने (आपके हितके लिये) तपस्या की थी । आपके प्रति स्नेह होनेके कारण मैं फिर यहाँ आया हूँ और आपको ये सब बातें इसलिये बता रहा हूँ कि आप फिर किसीके चक्करमें न पड़ जायँ ॥ ६५-६६ ॥

उभे दृष्ट्वा दुःखसुखे राज्यं प्राप्य यदृच्छया ।
राज्येनामात्यसंस्थेन कथं राजन् प्रमाद्यसि ॥ ६७ ॥

महाराज ! आपने सुख और दुःख दोनों देखे हैं । यह राज्य आपको दैवेच्छासे प्राप्त हुआ है तो भी आप इसे केवल मन्त्रियोंपर छोड़कर क्यों भूल कर रहे हैं ? ॥ ६७ ॥

ततो राजकुले नान्दी संजज्ञे भूयसा पुनः ।
पुरोहितकुले चैव सम्प्राप्ते ब्राह्मणर्षभे ॥ ६८ ॥

तदनन्तर पुरोहितके कुलमें उत्पन्न विप्रवर कालकवृक्षीय मुनिके पुनः आ जानेसे राजपरिवारमें मङ्गलपाठ एवं आनन्दोत्सव होने लगा ॥ ६८ ॥

एकच्छत्रां महीं कृत्वा कौसल्याय यशस्विने ।
मुनिः कालकवृक्षीय ईजे क्रतुभिरुत्तमैः ॥ ६९ ॥

कालकवृक्षीय मुनिने अपने बुद्धिबलसे यशस्वी कोसल-नरेशको भूमण्डलका एकच्छत्र सम्राट् बनाकर अनेक उत्तम यज्ञोंद्वारा यजन किया ॥ ६९ ॥

हितं तद्वचनं श्रुत्वा कौसल्योऽप्यजयन्महीम् ।
तथा च कृतवान् राजा यथोक्तं तेन भारत ॥ ७० ॥

भारत ! कोसलराजने भी पुरोहितका हितकारी वचन सुना और उन्होंने जैसा कहा, वैसा ही किया । इससे उन्होंने समस्त भूमण्डलपर विजय प्राप्त कर ली ॥ ७० ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि राजधर्मानुशासनपर्वणि अमात्यपरीक्षायां कालकवृक्षीयोपाख्याने द्व्यशीतितमोऽध्यायः ॥ ८२ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत राजधर्मानुशासनपर्वमें मन्त्रियोंकी परीक्षाके प्रसङ्गमें कालकवृक्षीय मुनिका उपाख्यानविषयक बयासीवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ८२ ॥

त्र्यशीतितमोऽध्यायः

सभासद् आदिके लक्षण, गुप्त सलाह सुननेके अधिकारी और अनधिकारी तथा गुप्त-मन्त्रणाकी विधि एवं स्थानका निर्देश

युधिष्ठिर उवाच

सभासदः सहायाश्च सुहृदश्च विशाम्पते ।
परिच्छदास्तथामात्याः कीदृशाः स्युः पितामह ॥ १ ॥

युधिष्ठिरने पूछा—प्रजापालक पितामह ! राजाके सभासद्, सहायक, सुहृद्, परिच्छद (सेनापति आदि) तथा मन्त्री कैसे होने चाहिये ? ॥ १ ॥

भीष्म उवाच

ह्रीनिषेवास्तथा दान्ताः सत्यार्जवसमन्विताः ।
शक्ताः कथयितुं सम्यक् ते तव स्युः सभासदः ॥ २ ॥

भीष्मजीने कहा—बेटा ! जो लज्जाशील, जितेन्द्रिय, सत्यवादी, सरल और किसी विषयपर अच्छी तरह प्रवचन करनेमें समर्थ हों, ऐसे ही लोग तुम्हारे सभासद् होने चाहिये ॥

अमात्यांश्चातिशूरांश्च ब्राह्मणांश्च परिश्रुतान् ।
सुसंतुष्टांश्च कौन्तेय महोत्साहांश्च कर्मसु ॥ ३ ॥
एतान् सहायाँल्लिप्सेथाः सर्वास्वापत्सु भारत ।

भरतनन्दन युधिष्ठिर ! मन्त्रियोंको, अत्यन्त शूरवीर पुरुषोंको, विद्वान् ब्राह्मणोंको, पूर्णतया संतुष्ट रहनेवालोंको और सभी कार्योंके लिये उत्साह रखनेवालोंको—इन सब लोगोंको तुम सभी आपत्तियोंके समय सहायक बनानेकी इच्छा करना ॥ ३½ ॥

कुलीनः पूजितो नित्यं न हि शक्तिं निगूहति ॥ ४ ॥
प्रसन्नमप्रसन्नं वा पीडितं हतमेव वा ।
आवर्तयति भूयिष्ठं तदेव ह्यनुपालितम् ॥ ५ ॥

जो कुलीन हो, जिसका सदा सम्मान किया जाय, जो अपनी शक्तिको छिपावे नहीं तथा राजा प्रसन्न हो या अप्रसन्न हो, पीडित हो अथवा हताहत हो, प्रत्येक अवस्थामें जो बारंबार उसका अनुसरण करता हो, वही सुहृद् होने योग्य है ॥ ४-५ ॥

कुलीना देशजाः प्राज्ञा रूपवन्तो बहुश्रुताः ।
प्रगल्भाश्चानुरक्ताश्च ते तव स्युः परिच्छदाः ॥ ६ ॥

जो उत्तम कुल और अपने ही देशमें उत्पन्न हुए हों, बुद्धिमान्, रूपवान्, बहुज्ञ, निर्भय और अनुरक्त हों, वे ही तुम्हारे परिच्छद (सेनापति आदि) होने चाहिये ॥ ६ ॥

दौष्कुलेयाश्च लुब्धाश्च नृशंसा निरपत्रपाः ।
ते त्वां तात निषेवेयुर्यावदार्द्रकपाणयः ॥ ७ ॥

तात ! जो निन्दित कुलमें उत्पन्न, लोभी, क्रूर और निर्लज्ज हैं, वे तभीतक तुम्हारी सेवा करेंगे, जबतक उनके हाथ गीले रहेंगे ॥ ७ ॥

कुलीनाञ्शीलसम्पन्नानिङ्गितज्ञाननिष्ठुरान् ।
देशकालविधानज्ञान् भर्तृकार्यहितैषिणः ॥ ८ ॥
नित्यमर्थेषु सर्वेषु राजा कुर्वीत मन्त्रिणः ।

अच्छे कुलमें उत्पन्न, शीलवान्, इशारे समझनेवाले, निष्ठुरतारहित (दयालु), देश-कालके विधानको समझनेवाले और स्वामीके अभीष्ट कार्यकी सिद्धि तथा हित चाहनेवाले मनुष्योंको राजा सदा सभी कार्योंके लिये अपना मन्त्री बनावे ॥ ८½ ॥

अर्थमानार्घ्यसत्कारैर्भोगैरुच्चावचैः प्रियान् ॥ ९ ॥
यानर्थभाजो मन्येथास्ते ते स्युः सुखभागिनः ।

तुम जिन्हें अपना प्रिय मानते हो, उन्हें धन, सम्मान, अर्घ्य, सत्कार तथा भिन्न-भिन्न प्रकारके भोगोंद्वारा संतुष्ट करो, जिससे वे तुम्हारे प्रियजन धन और सुखके भागी हों ॥

अभिन्नवृत्ता विद्वांसः सद्वृत्ताश्चरितव्रताः ।
न त्वां नित्यार्थिनो जह्युरक्षुद्राः सत्यवादिनः ॥ १० ॥

जिनका सदाचार नष्ट नहीं हुआ है, जो विद्वान्, सदाचारी और उत्तम व्रतका पालन करनेवाले हैं; जिन्हें सदा तुमसे अभीष्ट वस्तुके लिये प्रार्थना करनेकी आवश्यकता पड़ती है तथा जो श्रेष्ठ और सत्यवादी हैं, वे कभी तुम्हारा साथ नहीं छोड़ सकते ॥ १० ॥

अनार्या ये न जानन्ति समयं मन्दचेतसः ।
तेभ्यः परिजुगुप्सेथा ये चापि समयच्युताः ॥ ११ ॥

जो अनार्य और मन्दबुद्धि हैं, जिन्हें की हुई प्रतिज्ञाके पालनका ध्यान नहीं रहता तथा जो कई बार अपनी प्रतिज्ञासे गिर चुके हैं, उनसे अपनेको सुरक्षित रखनेके लिये तुम्हें सदा सावधान रहना चाहिये ॥ ११ ॥

नैकमिच्छेद् गणं हित्वा स्याच्चेदन्यतरग्रहः ।
यस्त्वेको बहुभिः श्रेयान् कामं तेन गणं त्यजेत् ॥ १२॥

एक ओर एक व्यक्ति हो और दूसरी ओर एक समूह हो तो समूहको छोड़कर एक व्यक्तिको ग्रहण करनेकी इच्छा न करे । परंतु जो एक मनुष्य बहुत मनुष्योंकी अपेक्षा गुणोंमें श्रेष्ठ हो और इन दोनोंमेंसे एकको ही ग्रहण करना पड़े तो ऐसी परिस्थितिमें कल्याण चाहनेवाले पुरुषको उस एकके लिये समूहको त्याग देना चाहिये ॥ १२ ॥

श्रेयसो लक्षणं चैतद् विक्रमो यस्य दृश्यते ।
कीर्तिप्रधानो यश्च स्यात् समये यश्च तिष्ठति ॥ १३ ॥
समर्थान् पूजयेद् यश्च नास्पर्धैः स्पर्धते च यः ।
न च कामाद् भयात् क्रोधाल्लोभाद् वा धर्ममुत्सृजेत् १४
अमानी सत्यवान् क्षान्तो जितात्मा मानसंयुतः ।
स ते मन्त्रसहायः स्यात् सर्वावस्थापरीक्षितः ॥ १५ ॥

श्रेष्ठ पुरुषका लक्षण इस प्रकार है—जिसका पराक्रम देखा जाता हो, जिसके जीवनमें कीर्तिकी प्रधानता हो, जो अपनी प्रतिज्ञापर स्थिर रहता हो, सामर्थ्यशाली पुरुषोंका सम्मान करता हो, जो स्पर्धाके अयोग्य पुरुषोंसे ईर्ष्या न रखता हो, कामना, भय, क्रोध अथवा लोभसे भी धर्मका

उल्लङ्घन न करता हो, जिसमें अभिमानका अभाव हो, जो सत्यवान्, क्षमाशील, जितात्मा तथा सम्मानित हो और जिसकी सभी अवस्थाओंमें परीक्षा कर ली गयी हो, ऐसा पुरुष ही तुम्हारी गुप्त मन्त्रणामें सहायक होना चाहिये ॥

कुलीनः कुलसम्पन्नस्तितिक्षुर्दक्ष आत्मवान्।
शूरः कृतज्ञः सत्यश्च श्रेयसः पार्थ लक्षणम् ॥ १६ ॥

कुन्तीनन्दन ! उत्तम कुलमें जन्म होना, सदा श्रेष्ठ कुलके सम्पर्कमें रहना, सहनशीलता, कार्यदक्षता, मनस्विता, शूरता, कृतज्ञता और सत्यभाषण—ये ही श्रेष्ठ पुरुषके लक्षण हैं ॥ १६ ॥

तस्यैवं वर्तमानस्य पुरुषस्य विजानतः।
अमित्राः सम्प्रसीदन्ति तथा मित्रीभवन्त्यपि ॥ १७ ॥

ऐसा बर्ताव करनेवाले विज्ञ पुरुषके शत्रु भी प्रसन्न हो जाते हैं और उसके साथ मैत्री स्थापित कर लेते हैं ॥ १७ ॥

अत ऊर्ध्वममात्यानां परीक्षेत गुणागुणम्।
संयतात्मा कृतप्रज्ञो भूतिकामश्च भूमिपः ॥ १८ ॥

इसके बाद मनको वशमें रखनेवाला शुद्धबुद्धि और ऐश्वर्यकामी भूपाल अपने मन्त्रियोंके गुण और अवगुणकी परीक्षा करे ॥ १८ ॥

सम्बन्धिपुरुषैराप्तैरभिजातैः स्वदेशजैः।
अहार्यैरव्यभीचारैः सर्वशः सुपरीक्षितैः ॥ १९ ॥
यौनाः श्रौतास्तथा मौलास्तथैवाप्यनहंकृताः।
कर्तव्या भूतिकामेन पुरुषेण बुभूषता ॥ २० ॥

जिनके साथ कोई-न-कोई सम्बन्ध हो, जो अच्छे कुलमें उत्पन्न, विश्वासपात्र, स्वदेशीय, घूस न खानेवाले तथा व्यभिचार दोषसे रहित हों, जिनकी सब प्रकारसे भलीभाँति परीक्षा ले ली गयी हो, जो उत्तम जातिवाले, वेदके मार्गपर चलनेवाले, कई पीढ़ियोंसे राजकीय सेवा करनेवाले तथा अहङ्कारशून्य हों, ऐसे ही लोगोंको अपनी उन्नति चाहनेवाला ऐश्वर्यकामी पुरुष मन्त्री बनावे ॥ १९-२० ॥

येषां वैनयिकी बुद्धिः प्रकृतिश्चैव शोभना।
तेजो धैर्यं क्षमा शौचमनुरागः स्थितिर्धृतिः ॥ २१ ॥
परीक्ष्य च गुणान् नित्यं प्रौढभावान् धुरंधरान्।
पञ्चोपधाव्यतीतांश्च कुर्याद् राजार्थकारिणः ॥ २२ ॥

जिनमें विनययुक्त बुद्धि, सुन्दर स्वभाव, तेज, वीरता, क्षमा, पवित्रता, प्रेम, धृति और स्थिरता हो, उनके इन गुणोंकी परीक्षा करके यदि वे राजकीय कार्य-भारको सँभालनेमें प्रौढ़ तथा निष्कपट सिद्ध हों तो राजा उनमेंसे पाँच व्यक्तियोंको चुनकर अर्थमन्त्री बनावे ॥ २१-२२ ॥

पर्याप्तवचनान् वीरान् प्रतिपत्तिविशारदान्।
कुलीनान् सत्त्वसम्पन्नानिङ्गितज्ञाननिष्ठुरान् ॥ २३ ॥
देशकालविधानज्ञान् भर्तृकार्यहितैषिणः।
नित्यमर्थेषु सर्वेषु राजन् कुर्वीत मन्त्रिणः ॥ २४ ॥

राजन् ! जो बोलनेमें कुशल, शौर्यसम्पन्न, प्रत्येक बातको ठीक-ठीक समझनेमें निपुण, कुलीन, सत्त्वयुक्त, संकेत समझनेवाले, निष्ठुरतासे रहित (दयालु), देश और कालके विधानको जाननेवाले तथा स्वामीके कार्य एवं हितकी सिद्धि चाहनेवाले हों, ऐसे पुरुषोंको सदा सभी प्रयोजनोंकी सिद्धिके लिये मन्त्री बनाना चाहिये ॥ २३-२४ ॥

हीनतेजोऽभिसंसृष्टो नैव जातु व्यवस्यति।
अवश्यं जनयत्येव सर्वकर्मसु संशयम् ॥ २५ ॥

तेजोहीन मन्त्रीके सम्पर्कमें रहनेवाला राजा कभी कर्तव्य और अकर्तव्यका निर्णय नहीं कर सकता। वैसा मन्त्री सभी कार्योंमें अवश्य ही संशय उत्पन्न कर देता है ॥ २५ ॥

एवमल्पश्रुतो मन्त्री कल्याणाभिजनोऽप्युत।
धर्मार्थकामसंयुक्तो नालं मन्त्रं परीक्षितुम् ॥ २६॥

इसी प्रकार जो मन्त्री उत्तम कुलमें उत्पन्न होनेपर भी शास्त्रोंका बहुत कम ज्ञान रखता हो, वह धर्म, अर्थ और कामसे संयुक्त होकर भी गुप्त मन्त्रणाकी परीक्षा नहीं कर सकता ॥ २६ ॥

तथैवानभिजातोऽपि काममस्तु बहुश्रुतः।
अनायक इवाचक्षुर्मुह्यत्यणुषु कर्मसु ॥ २७ ॥

वैसे ही जो अच्छे कुलमें उत्पन्न नहीं है, वह भले ही अनेक शास्त्रोंका विद्वान् हो, किंतु नायकरहित सैनिक तथा नेत्रहीन मनुष्यकी भाँति वह छोटे-छोटे कार्योंमें भी मोहित हो जाता है—कर्तव्याकर्तव्यका विवेक नहीं कर पाता ॥ २७ ॥

यो वाप्यस्थिरसंकल्पो बुद्धिमानागतागमः।
उपायज्ञोऽपि नालं स कर्म प्रापयितुं चिरम् ॥ २८ ॥

जिसका संकल्प स्थिर नहीं है, वह बुद्धिमान्, शास्त्रज्ञ और उपायोंका जानकार होनेपर भी किसी कार्यको दीर्घकालमें भी पूरा नहीं कर सकता ॥ २८ ॥

केवलात् पुनरादानात् कर्मणो नोपपद्यते।
परामर्शो विशेषाणामश्रुतस्येह दुर्मतेः ॥२९॥

जिसकी बुद्धि खोटी है तथा जिसे शास्त्रोंका बिल्कुल ज्ञान नहीं है, वह केवल मन्त्रीका कार्य हाथमें ले लेनेमात्रसे सफल नहीं हो सकता। विशेष कार्योंके विषयमें उसका दिया हुआ परामर्श युक्तिसंगत नहीं होता है ॥ २९ ॥

मन्त्रिण्यननुरक्ते तु विश्वासो नोपपद्यते।
तस्मादननुरक्ताय नैव मन्त्रं प्रकाशयेत् ॥ ३० ॥

जिस मन्त्रीका राजाके प्रति अनुराग न हो, उसका विश्वास करना ठीक नहीं है; अतः अनुरागरहित मन्त्रीके सामने अपने गुप्त विचारको प्रकट न करे ॥ ३० ॥

व्यथयेद्धि स राजानं मन्त्रिभिः सहितोऽनृजुः।
मारुतोपहितच्छिद्रैः प्रविश्याग्निरिव द्रुमम् ॥ ३१ ॥

वह कपटी मन्त्री यदि गुप्त विचारोंको जान ले तो अन्य मन्त्रियोंके साथ मिलकर राजाको उसी प्रकार पीड़ा देता है, जैसे आग हवासे भरे हुए छेदोंमें घुसकर समूचे वृक्षको भस्म कर डालती है ॥ ३१ ॥

संक्रुद्धश्चैकदा स्वामी स्थानाच्चैवापकर्षति।

[illegible] संरब्धः पुनः पश्चात् प्रसीदति ॥ ३२ ॥

राजा [illegible] कुपित होकर मन्त्रीको उसके स्थानसे हटा देता है और रोषमें भरकर वाणीद्वारा उसपर आक्षेप भी करता है; परंतु फिर उसपर प्रसन्न हो जाता है ॥ ३२ ॥

तानि तान्यनुरक्तेन शक्यानि हि तितिक्षितुम् ।
मन्त्रिणां न भवेत् क्रोधो विस्फूर्जितमिवाशनेः ॥ ३३ ॥

राजाके इन सब बर्तावोंको वही मन्त्री सह सकता है, जिसका उसके प्रति अनुराग हो । अनुरागशून्य मन्त्रियोंका क्रोध वज्रपातके समान भयंकर होता है ॥ ३३ ॥

यस्तु संसहते तानि भर्तुः प्रियचिकीर्षया ।
समानसुखदुःखं तं पृच्छेदर्थेषु मानवम् ॥ ३४॥

जो मन्त्री स्वामीका प्रिय करनेकी इच्छासे उसके उन सभी बर्तावोंको सह लेता है, वही अनुरक्त है । वह राजाके सुख-दुःखको अपना ही सुख-दुःख मानता है । ऐसे ही मनुष्यसे राजाको सभी कार्योंमें सलाह पूछनी चाहिये ॥३४॥

अनृजुस्त्वनुरक्तोऽपि सम्पन्नश्चेतरैर्गुणैः ।
राज्ञः प्रज्ञानयुक्तोऽपि न मन्त्रं श्रोतुमर्हति ॥ ३५ ॥

जो अनुरक्त हो, अन्यान्य गुणोंसे सम्पन्न हो और बुद्धिमान् हो, वह भी यदि सरल स्वभावका न हो तो राजाकी गुप्त सलाहको सुननेका अधिकारी नहीं है ॥ ३५ ॥

योऽमित्रैः सह सम्बद्धो न पौरान् बहु मन्यते ।
असुहृत् तादृशो ज्ञेयो न मन्त्रं श्रोतुमर्हति ॥ ३६ ॥

जिसका शत्रुओंके साथ सम्बन्ध हो तथा अपने राज्यके नागरिकोंके प्रति जिसकी अधिक आदरबुद्धि न हो, ऐसे मनुष्यको सुहृद् नहीं मानना चाहिये । वह भी गुप्त सलाह सुननेका अधिकारी नहीं है ॥ ३६ ॥

अविद्वानशुचिः स्तब्धः शत्रुसेवी विकत्थनः ।
असुहृत् क्रोधनो लुब्धो न मन्त्रं श्रोतुमर्हति ॥ ३७ ॥

जो मूर्ख, अपवित्र, जड, शत्रुसेवी, बढ़-बढ़कर बातें बनानेवाला, क्रोधी और लोभी है तथा सुहृद् नहीं है, उसको भी गुप्त मन्त्रणा सुननेका अधिकार नहीं है ॥ ३७ ॥

आगन्तुश्चानुरक्तोऽपि काममस्तु बहुश्रुतः ।
सत्कृतः संविभक्तो वा न मन्त्रं श्रोतुमर्हति ॥ ३८ ॥

जो कोई अनुरक्त, अनेक शास्त्रोंका विद्वान् और सबके द्वारा सम्मानित हो तथा जिसको भलीभाँति भेंट दी गयी हो, वह भी यदि नया आया हुआ हो तो गुप्त मन्त्रणा सुननेके योग्य नहीं है ॥

विधर्मतो विप्रकृतः पिता यस्याभवत् पुरा ।
सत्कृतः स्थापितः सोऽपि न मन्त्रं श्रोतुमर्हति ॥ ३९ ॥

जिसके पिताको अधर्माचरणके कारण पहले अपमानपूर्वक निकाल दिया गया हो और उसका वह पुत्र सम्मानपूर्वक पिताके पदपर प्रतिष्ठित कर दिया गया हो तो वह भी गुप्त सलाह सुननेका अधिकारी नहीं है ॥ ३९ ॥

यः स्वल्पेनापि कार्येण सुहृदाक्षारितो भवेत् ।
पुनरन्यैर्गुणैर्युक्तो न मन्त्रं श्रोतुमर्हति ॥ ४० ॥

जो थोड़े-से भी अनुचित कार्यके कारण दण्डित करके निर्धन कर दिया गया हो, वह सुहृद् एवं अन्यान्य गुणोंसे सम्पन्न होनेपर भी गुप्त मन्त्रणा सुननेके योग्य नहीं है ॥४०॥

कृतप्रज्ञश्च मेधावी बुधो जानपदः शुचिः ।
सर्वकर्मसु यः शुद्धः स मन्त्रं श्रोतुमर्हति ॥ ४१ ॥

जिसकी बुद्धि तीव्र और धारणाशक्ति प्रबल हो, जो अपने ही देशमें उत्पन्न, शुद्ध आचरणवाला और विद्वान् हो तथा सब तरहके कार्योंमें परीक्षा करनेपर निर्दोष सिद्ध हुआ हो, वह गुप्त सलाह सुननेका अधिकारी है ॥ ४१ ॥

ज्ञानविज्ञानसम्पन्नः प्रकृतिज्ञः परात्मनोः ।
सुहृदात्मसमो राज्ञः स मन्त्रं श्रोतुमर्हति ॥ ४२ ॥

जो ज्ञान-विज्ञानसे सम्पन्न, अपने और शत्रुओंके पक्षके लोगोंकी प्रकृतिको परखनेवाला तथा राजाका अपने आत्माके समान अभिन्न सुहृद् हो, वह गुप्त मन्त्रणा सुननेका अधिकारी है॥

सत्यवाक् शीलसम्पन्नो गम्भीरः सत्रपो मृदुः ।
पितृपैतामहो यः स्यात् स मन्त्रं श्रोतुमर्हति ॥ ४३ ॥

जो सत्यवादी, शीलवान्, गम्भीर, लज्जाशील, कोमल स्वभाववाला तथा बाप-दादोंके समयसे ही राजाकी सेवा करता आया है, वह भी गुप्त मन्त्रणा सुननेका अधिकारी है ॥

संतुष्टः सम्मतः सत्यः शौटीरो द्वेष्यपापकः ।
मन्त्रवित् कालविच्छूरः स मन्त्रं श्रोतुमर्हति ॥ ४४ ॥

जो संतोषी, सत्पुरुषोंद्वारा सम्मानित, सत्यपरायण, शूरवीर, पापसे घृणा करनेवाला, राजकीय मन्त्रणाको समझनेवाला, समयकी पहचान रखनेवाला तथा शौर्यसम्पन्न है, वह भी गुप्त मन्त्रणाको सुननेकी योग्यता रखता है ॥ ४४ ॥

सर्वलोकमिमं शक्तः सान्त्वेन कुरुते वशे ।
तस्मै मन्त्रः प्रयोक्तव्यो दण्डमाधित्सता नृप ॥ ४५ ॥

नरेश्वर ! जो राजा चिरकालतक दण्ड धारण करनेकी इच्छा रखता हो, उसे अपनी गुप्त सलाह उसी व्यक्तिको बतानी चाहिये, जो शक्तिशाली हो और सारे जगत्को समझा-बुझाकर अपने वशमें कर सकता हो ॥ ४५ ॥

पौरजानपदा यस्मिन् विश्वासं धर्मतो गताः ।
योद्धा नयविपश्चिच्च स मन्त्रं श्रोतुमर्हति ॥ ४६ ॥

नगर और जनपदके लोग जिसपर धर्मतः विश्वास करते हों तथा जो कुशल योद्धा और नीतिशास्त्रका विद्वान् हो, वही गुप्त सलाह सुननेका अधिकारी है ॥ ४६ ॥

तस्मात् सर्वैर्गुणैरेतैरुपपन्नाः सुपूजिताः ।
मन्त्रिणः प्रकृतिज्ञाः स्युस्त्र्यवरा महदीप्सवः ॥ ४७ ॥

इसलिये जो उपर्युक्त सभी गुणोंसे सम्पन्न, सबके द्वारा सम्मानित, प्रकृतिको परखनेवाले तथा महान् पदकी इच्छा रखनेवाले हों, ऐसे पुरुषोंको ही मन्त्रीके पदपर नियुक्त करना चाहिये । राजाके मन्त्रियोंकी संख्या कम-से-कम तीन होनी चाहिये ॥ ४७ ॥

स्वासु प्रकृतिषुच्छिद्रं लक्षयेरन् परस्य च।
मन्त्रिणां मन्त्रमूलं हि राज्ञो राष्ट्रं विवर्धते ॥ ४८ ॥

अपनी तथा शत्रुकी प्रकृतियोंमें जो दोष या दुर्बलता हो, उनपर मन्त्रियोंको दृष्टि रखनी चाहिये; क्योंकि मन्त्रियोंकी मन्त्रणा (उनकी दी हुई नेक सलाह) ही राजाके राष्ट्रकी जड़ है। उसीके आधारपर राज्यकी उन्नति होती है ॥ ४८ ॥

नास्य च्छिद्रं परः पश्येच्छिद्रेषु परमन्वियात्।
गूहेत् कूर्म इवाङ्गानि रक्षेद् विवरमात्मनः ॥ ४९ ॥

राजा ऐसा प्रयत्न करे कि उसका छिद्र शत्रु न देख सके; परंतु वह शत्रुकी सारी दुर्बलताओंको जान ले। जैसे कछुआ अपने सब अङ्गोंको समेटे रहता है, उसी तरह राजाको भी अपने गुप्त विचारों तथा छिद्रोंको छिपाये रखना चाहिये ॥

मन्त्रगूढा हि राज्यस्य मन्त्रिणो ये मनीषिणः।
मन्त्रसंहननो राजा मन्त्राङ्गानीतरे जनाः ॥ ५० ॥

जो बुद्धिमान् मन्त्री हैं, वे राज्यके गुप्त मन्त्रको छिपाये रखते हैं; क्योंकि मन्त्र ही राजाका कवच है और सदस्य आदि दूसरे लोग मन्त्रणाके अङ्ग हैं ॥ ५० ॥

राज्यं प्रणिधिमूलं हि मन्त्रसारं प्रचक्षते।
स्वामिनं त्वनुवर्तन्ते वृत्त्यर्थमिह मन्त्रिणः ॥ ५१ ॥

विद्वान् पुरुष कहते हैं कि राज्यका मूल है गुप्तचर और उसका सार है गुप्त मन्त्रणा। मन्त्रीलोग तो यहाँ अपनी जीविकाके लिये ही राजाका अनुसरण करते हैं ॥ ५१ ॥

संविनीय मदक्रोधौ मानमीर्ष्यां च निर्वृताः।
नित्यं पञ्चोपधातीतैर्मन्त्रयेत् सह मन्त्रिभिः ॥ ५२ ॥

जो मद और क्रोधको जीतकर मान और ईर्ष्यासे रहित हो गये हैं तथा जो कायिक, वाचिक, मानसिक, कर्मकृत और संकेतजनित—इन पाँचों प्रकारके छलोंको लाँघकर ऊपर उठे हुए हैं, ऐसे मन्त्रियोंके साथ ही राजाको सदा गुप्त मन्त्रणा करनी चाहिये ॥ ५२ ॥

तेषां त्रयाणां विविधं विमर्शं
विबुद्ध्य चित्तं विनिवेश्य तत्र।
स्वनिश्चयं तं परनिश्चयं च
निवेदयेदुत्तरमन्त्रकाले ॥ ५३ ॥

राजा पहले सदा तीनों मन्त्रियोंकी पृथक्-पृथक् सलाह जानकर उसपर मनोयोगपूर्वक विचार करे। तत्पश्चात् बादमें होनेवाली मन्त्रणाके समय अपने तथा दूसरोंके निश्चयको राजगुरुकी सेवामें निवेदन करे ॥ ५३ ॥

धर्मार्थकामज्ञमुपेत्य पृच्छेद्
युक्तो गुरुं ब्राह्मणमुत्तरार्थम्।
निष्ठा कृता तेन यदा सहः स्यात्
तं मन्त्रमार्गं प्रणयेदसक्तः ॥ ५४ ॥

राजा सावधान होकर धर्म, अर्थ और कामके ज्ञाता ब्राह्मणगुरुके समीप जा उनका उत्तर जाननेके लिये उनकी राय पूछे। जब वे कोई निर्णय दे दें और वह सब लोगोंको एक मतसे स्वीकार हो जाय, तब राजा दूसरे किसी विचारमें न पड़कर उसी मन्त्रमार्ग (विचारपद्धति) को कार्यरूपमें परिणत करे ॥ ५४ ॥

एवं सदा मन्त्रयितव्यमाहु-
र्ये मन्त्रतत्त्वार्थविनिश्चयज्ञाः।
तस्मात् तमेवं प्रणयेत् सदैव
मन्त्रं प्रजासंग्रहणे समर्थम् ॥ ५५ ॥

मन्त्रतत्त्वके अर्थका निश्चयात्मक ज्ञान रखनेवाले विद्वान् कहते हैं कि सदा इसी तरह मन्त्रणा करे और जो विचार प्रजाको अपने अनुकूल बनानेमें अधिक प्रबल जान पड़े, सर्वदा उसे ही काममें ले ॥ ५५ ॥

न वामनाः कुब्जकृशा न खञ्जा
नान्धो जडः स्त्री च नपुंसकं च।
न चात्र तिर्यक् च पुरो न पश्चा-
न्नोर्ध्वं न चाधः प्रचरेत् कथंचित् ॥ ५६ ॥

जहाँ गुप्त विचार किया जाता हो, वहाँ या उसके अगल-बगल, आगे-पीछे और ऊपर-नीचे भी किसी तरह बौने, कुबड़े, दुबले, लँगड़े, अन्धे, गूँगे, स्त्री और हीजड़े—ये न आने पावें ॥ ५६ ॥

आरुह्य वा वेश्म तथैव शून्यं
स्थलं प्रकाशं कुशकाशहीनम्।
वागङ्गदोषान् परिहृत्य सर्वान्
सम्मन्त्रयेत् कार्यमहीनकालम् ॥ ५७ ॥

महलके ऊपरी मंजिलपर चढ़कर अथवा सूने एवं खुले हुए समतल मैदानमें जहाँ कुश-कास—घास-पात बढ़े हुए न हों, ऐसी जगह बैठकर वाणी और शरीरके सारे दोषोंका परित्याग करके उपयुक्त समयमें भावी कार्यके सम्बन्धमें गुप्त विचार करना चाहिये ॥ ५७ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि राजधर्मानुशासनपर्वणि सभ्यादिलक्षणकथने त्र्यशीतितमोऽध्यायः ॥ ८३ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत राजधर्मानुशासनपर्वमें सभासद् आदिके लक्षणोंका कथनविषयक तिरासीवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ८३ ॥

चतुरशीतितमोऽध्यायः

इन्द्र और बृहस्पतिके संवादमें सान्त्वनापूर्ण मधुर वचन बोलनेका महत्त्व

भीष्म उवाच

अत्राप्युदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम्।
बृहस्पतेश्च संवादं शक्रस्य च युधिष्ठिर ॥ १ ॥

भीष्मजी कहते हैं—युधिष्ठिर! इस विषयमें मनस्वी पुरुष इन्द्र और बृहस्पतिके संवादरूप एक प्राचीन इतिहासका उदाहरण दिया करते हैं, वह सुनो ॥ १ ॥

शक्र उवाच

किमेकपदं ब्रह्मन् पुरुषः सम्यगाचरन्।
प्रमाणं सर्वभूतानां यशश्चैवाप्नुयान्महत्॥ २॥

इन्द्रने पूछा—ब्रह्मन्! वह कौन-सी ऐसी एक वस्तु है, जिसका नाम एक ही पदका है और जिसका भलीभाँति आचरण करनेवाला पुरुष समस्त प्राणियोंका प्रिय होकर महान् यश प्राप्त कर लेता है॥ २॥

बृहस्पतिरुवाच

सान्त्वमेकपदं शक्र पुरुषः सम्यगाचरन्।
प्रमाणं सर्वभूतानां यशश्चैवाप्नुयान्महत्॥ ३॥

बृहस्पतिजीने कहा—इन्द्र! जिसका नाम एक ही पदका है, वह एकमात्र वस्तु है सान्त्वना (मधुर वचन बोलना)। उसका भलीभाँति आचरण करनेवाला पुरुष समस्त प्राणियोंका प्रिय होकर महान् यश प्राप्त कर लेता है॥ ३॥

एतदेकपदं शक्र सर्वलोकसुखावहम्।
आचरन् सर्वभूतेषु प्रियो भवति सर्वदा॥ ४॥

शक्र! यही एक वस्तु सम्पूर्ण जगत्के लिये सुखदायक है। इसको आचरणमें लानेवाला मनुष्य सदा समस्त प्राणियोंका प्रिय होता है॥ ४॥

यो हि नाभाषते किंचित् सर्वदा भ्रुकुटीमुखः।
द्वेष्यो भवति भूतानां स सान्त्वमिह नाचरन्॥ ५॥

जो मनुष्य सदा भौंहें टेढ़ी किये रहता है, किसीसे कुछ बातचीत नहीं करता, वह शान्त भाव (मृदुभाषी होनेके गुण) को न अपनानेके कारण सब लोगोंके द्वेषका पात्र हो जाता है॥ ५॥

यस्तु सर्वमभिप्रेक्ष्य पूर्वमेवाभिभाषते।
स्मितपूर्वाभिभाषी च तस्य लोकः प्रसीदति॥ ६॥

जो सबको देखकर पहले ही बात करता है और सबसे मुसकराकर ही बोलता है, उसपर सब लोग प्रसन्न रहते हैं॥ ६॥

दानमेव हि सर्वत्र सान्त्वेनानभिजल्पितम्।
न प्रीणयति भूतानि निर्व्यञ्जनमिवाशनम्॥ ७॥

जैसे बिना व्यञ्जन (साग-दाल आदि) का भोजन मनुष्यको संतुष्ट नहीं कर सकता, उसी प्रकार मधुर वचन बोले बिना दिया हुआ दान भी प्राणियोंको प्रसन्न नहीं कर पाता है॥ ७॥

आदानादपि भूतानां मधुरामीरयन् गिरम्।
सर्वलोकमिमं शक्र सान्त्वेन कुरुते वशे॥ ८॥

शक्र! मधुर वचन बोलनेवाला मनुष्य लोगोंकी कोई वस्तु लेकर भी अपनी मधुर वाणीद्वारा इस सम्पूर्ण जगत्को वशमें कर लेता है॥ ८॥

तस्मात् सान्त्वं प्रयोक्तव्यं दण्डमाधित्सतोऽपि हि।
फलं च जनयत्येवं न चास्योद्विजते जनः॥ ९॥

अतः किसीको दण्ड देनेकी इच्छा रखनेवाले राजाको भी उससे सान्त्वनापूर्ण मधुर वचन ही बोलना चाहिये। ऐसा करके वह अपना प्रयोजन तो सिद्ध कर ही लेता है और उससे कोई मनुष्य उद्विग्न भी नहीं होता है॥ ९॥

सुकृतस्य हि सान्त्वस्य श्लक्ष्णस्य मधुरस्य च।
सम्यगासेव्यमानस्य तुल्यं जातु न विद्यते॥ १०॥

यदि अच्छी तरहसे सान्त्वनापूर्ण, मधुर एवं स्नेहयुक्त वचन बोला जाय और सदा सब प्रकारसे उसीका सेवन किया जाय तो उसके समान वशीकरणका साधन इस जगत्में निःसंदेह दूसरा कोई नहीं है॥ १०॥

भीष्म उवाच

इत्युक्तः कृतवान् सर्वं यथा शक्रः पुरोधसा।
तथा त्वमपि कौन्तेय सम्यगेतत् समाचर॥ ११॥

भीष्मजी कहते हैं—कुन्तीनन्दन! अपने पुरोहित बृहस्पतिके ऐसा कहनेपर इन्द्रने सब कुछ उसी तरह किया। इसी प्रकार तुम भी इस सान्त्वनापूर्ण वचनको भलीभाँति आचरणमें लाओ॥ ११॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि राजधर्मानुशासनपर्वणि इन्द्रबृहस्पतिसंवादे चतुरशीतितमोऽध्यायः॥ ८४॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत राजधर्मानुशासनपर्वमें इन्द्र और बृहस्पतिका संवादविषयक चौरासीवाँ अध्याय पूरा हुआ॥ ८४॥

पञ्चाशीतितमोऽध्यायः

राजाकी व्यावहारिक नीति, मन्त्रिमण्डलका संघटन, दण्डका औचित्य तथा दूत, द्वारपाल, शिरोरक्षक, मन्त्री और सेनापतिके गुण

युधिष्ठिर उवाच

कथं स्विदिह राजेन्द्र पालयन् पार्थिवः प्रजाः।
प्रीतिं धर्मविशेषेण कीर्तिमाप्नोति शाश्वतीम्॥ १॥

युधिष्ठिरने पूछा—राजेन्द्र! इस जगत्में राजा किस प्रकार धर्मविशेषके द्वारा प्रजाका पालन करे, जिससे वह विशेष प्रेम और अक्षय कीर्ति प्राप्त कर सके?॥ १॥

भीष्म उवाच

व्यवहारेण शुद्धेन प्रजापालनतत्परः।
प्राप्य धर्मं च कीर्तिं च लोकानाप्नोत्युभौ शुचिः॥ २॥

भीष्मजीने कहा—राजन्! जो राजा बाहर-भीतरसे पवित्र रहकर शुद्ध व्यवहारसे प्रजापालनमें तत्पर रहता है, वह धर्म और कीर्ति प्राप्त करके इहलोक और परलोक दोनोंको

सुधार लेता है ॥ २ ॥

युधिष्ठिर उवाच

कीदृशैर्व्यवहारैस्तु कैश्च व्यवहरेन्नृपः ।
एतत्पृष्टो महाप्राज्ञ यथावद् वक्तुमर्हसि ॥ ३ ॥

युधिष्ठिरने पूछा—महामते ! राजाको किस-किस प्रकारके लोगोंसे किस-किस प्रकारका बर्ताव काममें लाना चाहिये ? मेरे इस प्रश्नका आप यथावत्‌रूपसे समाधान करें॥

ये चैव पूर्वं कथिता गुणास्ते पुरुषं प्रति ।
नैकस्मिन् पुरुषे ह्येते विद्यन्त इति मे मतिः ॥ ४ ॥

मेरी तो ऐसी मान्यता है कि पहले आपने पुरुषके लिये जिन गुणोंका वर्णन किया है, वे सब किसी एक पुरुषमें नहीं मिल सकते ॥ ४ ॥

भीष्म उवाच

एवमेतन्महाप्राज्ञ यथा वदसि बुद्धिमन् ।
दुर्लभः पुरुषः कश्चिदेभिर्युक्तो गुणैः शुभैः ॥ ५ ॥

भीष्मजीने कहा—महाप्राज्ञ ! परम बुद्धिमान् युधिष्ठिर ! तुम जैसा कहते हो, वह ठीक ऐसा ही है । वस्तुतः इन सभी शुभ गुणोंसे सम्पन्न किसी एक पुरुषका मिलना कठिन है ॥ ५ ॥

किंतु संक्षेपतः शीलं प्रयत्नेनेह दुर्लभम् ।
वक्ष्यामि तु यथामात्यान् यादृशांश्च करिष्यसि ॥ ६ ॥

इसलिये तुम जिस भावसे जैसे मन्त्रियोंको संगठित करोगे अर्थात् करना चाहते हो, उनका दुर्लभ शील-स्वभाव जैसा होना चाहिये—इस बातको मैं प्रयत्नपूर्वक संक्षेपसे बताऊँगा॥६॥

चतुरो ब्राह्मणान् वैद्यान् प्रगल्भान् स्नातकाञ्शुचीन् ।
क्षत्रियांश्च तथा चाष्टौ बलिनः शस्त्रपाणिनः ॥ ७ ॥
वैश्यान् वित्तेन सम्पन्नानेकविंशतिसंख्यया ।
त्रींश्च शूद्रान् विनीतांश्च शुचीन् कर्मणि पूर्वके॥ ८ ॥
अष्टाभिश्च गुणैर्युक्तं सूतं पौराणिकं तथा ।
पञ्चाशद्वर्षवयसं प्रगल्भमनसूयकम् ॥ ९ ॥
श्रुतिस्मृतिसमायुक्तं विनीतं समदर्शिनम् ।
कार्ये विवदमानानां शक्तमर्थेष्वलोलुपम् ॥ १० ॥
वर्जितं चैव व्यसनैः सुघोरैः सप्तभिर्भृशम् ।
अष्टानां मन्त्रिणां मध्ये मन्त्रं राजोपधारयेत् ॥ ११ ॥

राजाको चाहिये कि जो वेदविद्याके विद्वान्, निर्भीक, बाहर-भीतरसे शुद्ध एवं स्नातक हों, ऐसे चार ब्राह्मण, शरीरसे बलवान् तथा शस्त्रधारी आठ क्षत्रिय, धन-धान्यसे सम्पन्न इक्कीस वैश्य, पवित्र आचार-विचारवाले तीन विनयशील शूद्र तथा आठ गुणोंसे युक्त एवं पुराणविद्याको जाननेवाला एक सूत जातिका मनुष्य—इन सब लोगोंका एक मन्त्रिमण्डल बनावे । उस सूतकी अवस्था लगभग पचास वर्षकी हो और वह निर्भीक, दोषदृष्टिसे रहित, श्रुतियों और स्मृतियोंके ज्ञानसे सम्पन्न, विनयशील, समदर्शी, वादी-प्रतिवादीके मामलोंका निपटारा करनेमें समर्थ, लोभरहित और अत्यन्त भयंकर सात प्रकारके दुर्व्यसनोंसे बहुत दूर रहनेवाला हो । ऐसे आठ मन्त्रियोंके बीचमें राजा गुप्त मन्त्रणा करे ॥ ७–११ ॥

ततः सम्प्रेषयेद् राष्ट्रे राष्ट्रियाय च दर्शयेत् ।
अनेन व्यवहारेण द्रष्टव्यास्ते प्रजाः सदा ॥ १२ ॥

इन सबकी रायसे जो बात निश्चित हो, उसको देशमें प्रचारित करे और राष्ट्रके प्रत्येक नागरिकको इसका ज्ञान करा दे । युधिष्ठिर ! इस प्रकारके व्यवहारसे तुम्हें सदा प्रजावर्गकी देख-रेख करनी चाहिये ॥ १२ ॥

न चापि गूढं द्रव्यं ते ग्राह्यं कार्योपघातकम् ।
कार्ये खलु विपन्ने त्वां सोऽधर्मस्तांश्च पीडयेत् ॥ १३ ॥

राजन् ! तुमको किसीका कोई गुप्त धन ग्रहण नहीं करना चाहिये; क्योंकि वह तुम्हारे कर्तव्य—न्यायधर्मका नाश करनेवाला होगा । यदि कहीं वास्तवमें तुम्हारे न्यायधर्मका नाश हुआ तो वह अधर्म तुम्हें और तुम्हारे मन्त्रियोंको बड़े कष्टमें डाल देगा ॥ १३ ॥

विद्रवेच्चैव राष्ट्रं ते श्येनात् पक्षिगणा इव ।
परिस्रवेच्च सततं नौर्विशीर्णेव सागरे ॥ १४ ॥

फिर तो तुम्हें अन्यायी मानकर राष्ट्रकी सारी प्रजा तुमसे उसी प्रकार दूर भागेगी, जैसे बाज पक्षीके डरसे दूसरे पक्षी भागते हैं तथा जैसे टूटी हुई नाव समुद्रमें कहाँकी कहाँ बह जाती है, उसी प्रकार प्रजा धीरे-धीरे तुम्हारा राज्य छोड़कर अन्यत्र चली जायगी ॥ १४ ॥

प्रजाः पालयतोऽसम्यगधर्मेणेह भूपतेः ।
हार्दं भयं सम्भवति स्वर्गश्चास्य विरुद्ध्यते ॥ १५ ॥

जो राजा अन्याय एवं अधर्मपूर्वक प्रजाका पालन करता है, उसके हृदयमें भय बना रहता है तथा उसका परलोक भी बिगड़ जाता है ॥ १५ ॥

अथ योऽधर्मतः पाति राजामात्योऽथ वाऽऽत्मजः ।
धर्मासने संनियुक्तो धर्ममूले नरर्षभ ॥ १६ ॥
कार्येष्वधिकृताः सम्यगकुर्वन्तो नृपानुगाः ।
आत्मानं पुरतः कृत्वा यान्त्यधः सहपार्थिवाः ॥ १७ ॥

नरश्रेष्ठ ! धर्म ही जिसकी जड़ है, उस धर्मासन अथवा न्यायासनपर बैठकर जो राजा, मन्त्री अथवा राजकुमार धर्मपूर्वक प्रजाकी रक्षा नहीं करता तथा राजाका अनुसरण

---

१. सेवा करनेको सदा तैयार रहना, कही हुई बातको ध्यानसे सुनना, उसे ठीक-ठीक समझना, याद रखना, किस कार्यका कैसा परिणाम होगा—इसपर तर्क करना, यदि अमुक प्रकारसे कार्य सिद्ध न हुआ तो क्या करना चाहिये ?—इस तरह वितर्क करना, शिल्प और व्यवहारकी जानकारी रखना और तत्त्वका बोध होना—ये आठ गुण पौराणिक सूतमें होने चाहिये ।

२. शिकार, जूआ, परस्त्रीप्रसंग और मदिरापान—ये चार कामजनित दोष और मारना, गाली बकना तथा दूसरेकी चीज खराब कर देना—ये तीन क्रोधजनित दोष मिलकर सात दुर्व्यसन माने गये हैं ।

...राजाके दूसरे अधिकारी भी यदि अपनेको सामने ... उचित बर्ताव नहीं करते हैं तो वे ... भी नरकमें गिर जाते हैं ॥ १६-१७ ॥

बलात्कृतानां बलिभिः कृपणं बहु जल्पताम् ।
नाथो वै भूमिपो नित्यमनाथानां नृणां भवेत् ॥ १८ ॥

बलवानोंके बलात्कार (अत्याचार) से पीड़ित हो अत्यन्त दीनतापूर्ण पुकार मचाते हुए अनाथ मनुष्योंको आश्रय देनेवाला उनका संरक्षक या स्वामी राजा ही होता है ॥१८॥

ततः साक्षिबलं साधु द्वैधवादकृतं भवेत् ।
असाक्षिकमनाथं वा परीक्ष्यं तद् विशेषतः ॥ १९ ॥

जब कोई अभियोग उपस्थित हो और उसमें उभय पक्षद्वारा दो प्रकारकी बातें कही जायँ, तब उसमें यथार्थताका निर्णय करनेके लिये साक्षीका बल श्रेष्ठ माना गया है (अर्थात् गवाहोंको बुलाकर उससे सच्ची बात जाननेका प्रयत्न करना चाहिये)। यदि कोई गवाह न हो तथा उस मामलेकी पैरवी करनेवाला कोई मालिक-मुख्तार न दिखायी दे तो राजाको स्वयं ही विशेष प्रयत्न करके उसकी छानबीन करनी चाहिये ॥ १९ ॥

अपराधानुरूपं च दण्डं पापेषु धारयेत् ।
वियोजयेद् धनैर्ऋद्धानधनानथ बन्धनैः ॥ २० ॥

तत्पश्चात् अपराधियोंको अपराधके अनुरूप दण्ड देना चाहिये । अपराधी धनी हो तो उसको उसकी सम्पत्तिसे वञ्चित कर दे और निर्धन हो तो उसे बन्दी बनाकर कारागारमें डाल दे ॥ २० ॥

विनयेच्चापि दुर्वृत्तान् प्रहारैरपि पार्थिवः ।
सान्त्वेनोपप्रदानेन शिष्टांश्च परिपालयेत् ॥ २१ ॥

जो अत्यन्त दुराचारी हों, उन्हें मार-पीटकर भी राजा राहपर लानेका प्रयत्न करे तथा जो श्रेष्ठ पुरुष हों, उन्हें मीठी वाणीसे सान्त्वना देते हुए सुख-सुविधाकी वस्तुएँ अर्पित करके उनका पालन करे ॥ २१ ॥

राज्ञो वधं चिकीर्षेद् यस्तस्य चित्रो वधो भवेत् ।
आदीपकस्य स्तेनस्य वर्णसंकरिकस्य च ॥ २२ ॥

जो राजाका वध करनेकी इच्छा करे, जो गाँव या घरमें आग लगावे, चोरी करे अथवा व्यभिचारद्वारा वर्णसंकरता फैलानेका प्रयत्न करे, ऐसे अपराधीका वध अनेक प्रकारसे करना चाहिये ॥ २२ ॥

सम्यक् प्रणयतो दण्डं भूमिपस्य विशाम्पते ।
युक्तस्य वा नास्त्यधर्मो धर्म एव हि शाश्वतः ॥ २३ ॥

प्रजानाथ ! जो भलीभाँति विचार करके अपराधीको उचित दण्ड देता है और अपने कर्तव्यपालनके लिये सदा उद्यत रहता है, उस राजाको वध और बन्धनका पाप नहीं लगता, अपितु उसे सनातन धर्मकी ही प्राप्ति होती है॥२३॥

कामकारेण दण्डं तु यः कुर्यादविचक्षणः ।
स इहाकीर्तिसंयुक्तो मृतो नरकमृच्छति ॥ २४ ॥

जो अज्ञानी नरेश बिना विचारे स्वेच्छापूर्वक दण्ड देता है, वह इस लोकमें तो अपयशका भागी होता है और मरनेपर नरकमें पड़ता है ॥ २४ ॥

न परस्य प्रवादेन परेषां दण्डमर्पयेत् ।
आगमानुगमं कृत्वा बध्नीयान्मोक्षयीत वा ॥ २५ ॥

राजा दूसरेके अपराधपर दूसरोंको दण्ड न दे, बल्कि शास्त्रके अनुसार विचार करके अपराध सिद्ध होता हो तो अपराधीको कैद करे और सिद्ध न होता हो तो उसे मुक्त कर दे ॥ २५ ॥

न तु हन्यान्नृपो जातु दूतं कस्याञ्चिदापदि ।
दूतस्य हन्ता निरयमाविशेत् सचिवैः सह ॥ २६ ॥

राजा कभी किसी आपत्तिमें भी किसीके दूतकी हत्या न करे । दूतका वध करनेवाला नरेश अपने मन्त्रियोंसहित नरकमें गिरता है ॥ २६ ॥

यथोक्तवादिनं दूतं क्षत्रधर्मरतो नृपः ।
यो हन्यात् पितरस्तस्य भ्रूणहत्यामवाप्नुयुः ॥ २७ ॥

क्षत्रियधर्ममें तत्पर रहनेवाला जो राजा अपने स्वामीके कथनानुसार यथार्थ बातें कहनेवाले दूतको मार डालता है, उसके पितरोंको भ्रूणहत्याके फलका भोग करना पड़ता है ॥ २७ ॥

कुलीनः शीलसम्पन्नो वाग्मी दक्षः प्रियंवदः ।
यथोक्तवादी स्मृतिमान् दूतः स्यात् सप्तभिर्गुणैः ॥ २८ ॥

राजाके दूतको कुलीन, शीलवान्, वाचाल, चतुर, प्रिय वचन बोलनेवाला, संदेशको ज्यों-का-त्यों कह देनेवाला तथा स्मरणशक्तिसे सम्पन्न—इस प्रकार सात गुणोंसे युक्त होना चाहिये ॥ २८ ॥

एतैरेव गुणैर्युक्तः प्रतिहारोऽस्य रक्षिता ।
शिरोरक्षश्च भवति गुणैरेतैः समन्वितः ॥ २९ ॥

राजाके द्वारकी रक्षा करनेवाले प्रतीहारी (द्वारपाल) में भी ये ही गुण होने चाहिये । उसका शिरोरक्षक (अथवा अङ्गरक्षक) भी इन्हीं गुणोंसे सम्पन्न हो ॥ २९ ॥

धर्मशास्त्रार्थतत्त्वज्ञः सांधिविग्रहिको भवेत् ।
मतिमान् धृतिमान् ह्रीमान् रहस्यविनिगूहिता ॥ ३० ॥
कुलीनः सत्त्वसम्पन्नः शुक्लोऽमात्यः प्रशस्यते ।
एतैरेव गुणैर्युक्तस्तथा सेनापतिर्भवेत् ॥ ३१ ॥

सन्धि-विग्रहके अवसरको जाननेवाला, धर्मशास्त्रका तत्त्वज्ञ, बुद्धिमान्, धीर, लज्जावान्, रहस्यको गुप्त रखनेवाला, कुलीन, साहसी तथा शुद्ध हृदयवाला मन्त्री ही उत्तम माना जाता है । सेनापति भी इन्हीं गुणोंसे युक्त होना चाहिये ॥ ३०-३१ ॥

व्यूहयन्त्रायुधानां च तत्त्वज्ञो विक्रमान्वितः ।
वर्षशीतोष्णवातानां सहिष्णुः पररन्ध्रवित् ॥ ३२ ॥

इनके सिवा वह व्यूहरचना (मोर्चाबंदी), यन्त्रोंके प्रयोग तथा नाना प्रकारके अन्यान्य अस्त्र-शस्त्रोंको चलानेकी कलाका तत्त्वज्ञ—विशेष जानकार हो, पराक्रमी हो, सर्दी,

गर्मी, आँधी और वर्षाके कष्टको धैर्यपूर्वक सहनेवाला तथा शत्रुओंके छिद्रको समझनेवाला हो ॥ ३२ ॥

विश्वासयेत् परांश्चैव विश्वसेच्च न कस्यचित्।
पुत्रेष्वपि हि राजेन्द्र विश्वासो न प्रशस्यते ॥ ३३ ॥

राजा दूसरोंके मनमें अपने ऊपर विश्वास पैदा करे; परंतु स्वयं किसीका भी विश्वास न करे। राजेन्द्र! अपने पुत्रोंपर भी पूरा-पूरा विश्वास करना अच्छा नहीं माना गया है ॥ ३३ ॥

एतच्छास्त्रार्थतत्त्वं तु मयाऽऽख्यातं तवानघ।
अविश्वासो नरेन्द्राणां गुह्यं परममुच्यते ॥ ३४ ॥

निष्पाप युधिष्ठिर! यह नीतिशास्त्रका तत्त्व है, जिसे मैंने तुम्हें बताया है। किसीपर भी पूरा विश्वास न करना नरेशोंका परम गोपनीय गुण बताया जाता है ॥ ३४ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि राजधर्मानुशासनपर्वणि अमात्यविभागे पञ्चाशीतितमोऽध्यायः ॥ ८५ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत राजधर्मानुशासनपर्वमें मन्त्रीविभागविषयक पचासीवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ८५ ॥

षडशीतितमोऽध्यायः

राजाके निवासयोग्य नगर एवं दुर्गका वर्णन, उसके लिये प्रजापालनसम्बन्धी व्यवहार तथा तपस्वीजनोंके समादरका निर्देश

युधिष्ठिर उवाच

कथंविधं पुरं राजा स्वयमावस्तुमर्हति।
कृतं वा कारयित्वा वा तन्मे ब्रूहि पितामह ॥ १ ॥

युधिष्ठिरने पूछा—पितामह! राजाको स्वयं कैसे नगरमें निवास करना चाहिये? वह पहलेसे बनी हुई राजधानीमें रहे या नये नगरका निर्माण कराकर उसमें निवास करे, यह मुझे बताइये? ॥ १ ॥

भीष्म उवाच

वस्तव्यं यत्र कौन्तेय सपुत्रज्ञातिबन्धुना।
न्याय्यं तत्र परिप्रष्टुं वृत्तिं गुप्तिं च भारत ॥ २ ॥

भीष्मजीने कहा—भारत! कुन्तीनन्दन! पुत्र, कुटुम्बीजन तथा बन्धुवर्गके साथ राजा जिस नगरमें निवास करे, उसमें जीवन-निर्वाह तथा रक्षाकी व्यवस्थाके सम्बन्धमें तुम्हारा प्रश्न करना न्यायसङ्गत है ॥ २ ॥

तस्मात् ते वर्तयिष्यामि दुर्गकर्म विशेषतः।
श्रुत्वा तथा विधातव्यमनुष्ठेयं च यत्नतः ॥ ३ ॥

इसलिये मैं तुम्हारे समक्ष दुर्गनिर्माणकी क्रियाका विशेषरूपसे वर्णन करूँगा। तुम इस विषयको सुनकर वैसा ही करना और प्रयत्नपूर्वक दुर्गका निर्माण कराना ॥ ३ ॥

षड्विधं दुर्गमास्थाय पुराण्यथ निवेशयेत्।
सर्वसम्पत्प्रधानं यद् बाहुल्यं चापि सम्भवेत् ॥ ४ ॥

जहाँ सब प्रकारकी सम्पत्ति प्रचुरमात्रामें भरी हुई हो तथा जो स्थान बहुत विस्तृत हो, वहाँ छः प्रकारके दुर्गोंका आश्रय लेकर राजाको नये नगर बसाने चाहिये ॥ ४ ॥

धन्वदुर्गं महीदुर्गं गिरिदुर्गं तथैव च।
मनुष्यदुर्गमब्दुर्गं वनदुर्गं च तानि षट् ॥ ५ ॥

उन छहों दुर्गोंके नाम इस प्रकार हैं—धन्वदुर्ग[1], महीदुर्ग[2], गिरिदुर्ग[3], मनुष्यदुर्ग[4], जलदुर्ग[5] तथा वनदुर्ग[6] ॥ ५ ॥

यत्पुरं दुर्गसम्पन्नं धान्यायुधसमन्वितम्।
दृढप्राकारपरिखं हस्त्यश्वरथसंकुलम् ॥ ६ ॥
विद्वांसः शिल्पिनो यत्र निचयाश्च सुसंचिताः।
धार्मिकश्च जनो यत्र दाक्ष्यमुत्तममास्थितः ॥ ७ ॥
ऊर्जस्विनरनागाश्वं चत्वरापणशोभितम्।
प्रसिद्धव्यवहारं च प्रशान्तमकुतोभयम् ॥ ८ ॥
सुप्रभं सानुनादं च सुप्रशस्तनिवेशनम्।
शूराढ्यजनसम्पन्नं ब्रह्मघोषानुनादितम् ॥ ९ ॥
समाजोत्सवसम्पन्नं सदा पूजितदैवतम्।
वश्यामात्यबलो राजा तत्पुरं स्वयमाविशेत् ॥ १० ॥

जिस नगरमें इनमेंसे कोई-न-कोई दुर्ग हो, जहाँ अन्न और अस्त्र-शस्त्रोंकी अधिकता हो, जिसके चारों ओर मजबूत चहारदीवारी और गहरी एवं चौड़ी खाई बनी हो, जहाँ हाथी, घोड़े और रथोंकी बहुतायत हो, जहाँ विद्वान् और कारीगर बसे हों, जिस नगरमें आवश्यक वस्तुओंके संग्रहसे भरे हुए कई भंडार हों, जहाँ धार्मिक तथा कार्यकुशल मनुष्योंका निवास हो, जो बलवान् मनुष्य, हाथी और घोड़ोंसे सम्पन्न हो, चौराहे तथा बाजार जिसकी शोभा बढ़ा रहे हों, जहाँका न्याय-विचार एवं न्यायालय सुप्रसिद्ध हो,

---

१. धन्वदुर्गका दूसरा नाम मरुदुर्ग भी है। जिसके चारों ओर बालूका घेरा हो, उस किलेको धन्वदुर्ग कहते हैं।

२. समतल जमीनके अंदर बना हुआ किला या तहखाना महीदुर्ग कहलाता है।

३. पर्वतशिखरपर बना हुआ वह किला जो चारों ओरसे उत्तुंग पर्वतमालाओंद्वारा घिरा हुआ हो, गिरिदुर्ग कहलाता है।

४. फौजी किलेका ही नाम मनुष्यदुर्ग है।

५. जिसके चारों ओर जलका घेरा हो, वह जल-दुर्ग कहलाता है।

६. जो स्थान कटबाँसी आदिके घने जंगलोंसे घिरा हुआ हो, उसे वनदुर्ग कहा गया है।

[illegible] परिपूर्ण हो, जहाँ कहींसे कोई भय या [illegible] न हो, जिसमें गोधनका अच्छा प्रबन्ध हो, संगीत और [illegible] ध्वनि होती रहती हो, जहाँका प्रत्येक घर सुन्दर और सुप्रसन्न हो, जिसमें बड़े-बड़े शूरवीर और [illegible] लोग निवास करते हों, वेदमन्त्रोंकी ध्वनि [illegible] होती हो तथा जहाँ सदा ही सामाजिक उत्सव और देवपूजनका क्रम चलता रहता हो, ऐसे नगरके भीतर अपने वशमें रहनेवाले मन्त्रियों तथा सेनाके साथ राजाको स्वयं निवास करना चाहिये ॥ ६–१० ॥

तत्र कोशं बलं मित्रं व्यवहारं च वर्धयेत्।
पुरे जनपदे चैव सर्वदोषान् निवर्तयेत् ॥ ११ ॥

राजाको चाहिये कि वह उस नगरमें कोष, सेना, मित्रोंकी संख्या तथा व्यवहारको बढ़ावे। नगर तथा बाहरके ग्रामोंमें सभी प्रकारके दोषोंको दूर करे ॥ ११ ॥

भाण्डागारायुधागारं प्रयत्नेनाभिवर्धयेत्।
निचयान् वर्धयेत् सर्वांस्तथा यन्त्रायुधालयान् ॥ १२ ॥

अन्नभण्डार तथा अस्त्र-शस्त्रोंके संग्रहालयको प्रयत्नपूर्वक बढ़ावे, सब प्रकारकी वस्तुओंके संग्रहालयोंकी भी वृद्धि करे, यन्त्रों तथा अस्त्र-शस्त्रोंके कारखानोंकी उन्नति करे ॥ १२ ॥

काष्ठलोहतुषाङ्गारदारुशृङ्गास्थिवैणवान्।
मज्जा स्नेहवसा क्षौद्रमौषधग्राममेव च ॥ १३ ॥
शणं सर्जरसं धान्यमायुधानि शरांस्तथा।
चर्म स्नायुं तथा वेत्रं मुञ्जबल्वजबन्धनान् ॥ १४ ॥

काठ, लोहा, धानकी भूसी, कोयला, बाँस, लकड़ी, सींग, हड्डी, मज्जा, तेल, घी, चरबी, शहद, औषधसमूह, सन, राल, धान्य, अस्त्र-शस्त्र, बाण, चमड़ा, ताँत, बेंत, तथा मूँज और बल्वजकी रस्सी आदि सामग्रियोंका संग्रह रक्खे ॥ १३–१४ ॥

आशयाश्चोदपानाश्च प्रभूतसलिलाकराः।
निरोद्धव्याः सदा राज्ञा क्षीरिणश्च महीरुहाः ॥ १५ ॥

जलाशय (तालाब, पोखरे आदि), उदपान (कुँए बावड़ी आदि), प्रचुर जलराशिसे भरे हुए बड़े-बड़े तालाब तथा दूधवाले वृक्ष—इन सबकी राजाको सदा रक्षा करनी चाहिये ॥ १५ ॥

सत्कृताश्च प्रयत्नेन आचार्यर्त्विक्पुरोहिताः।
महेष्वासाः स्थपतयः सांवत्सरचिकित्सकाः ॥ १६ ॥

आचार्य, ऋत्विज, पुरोहित और महान् धनुर्धरोंका तथा घर बनानेवालोंका, वर्षफल बतानेवाले ज्योतिषियोंका और वैद्योंका यत्नपूर्वक सत्कार करे ॥ १६ ॥

प्राज्ञा मेधाविनो दान्ता दक्षाः शूरा बहुश्रुताः।
कुलीनाः सत्त्वसम्पन्ना युक्ताः सर्वेषु कर्मसु ॥ १७ ॥

विद्वान्, बुद्धिमान्, जितेन्द्रिय, कार्यकुशल, शूर, बहुज्ञ, कुलीन तथा साहस और धैर्यसे सम्पन्न पुरुषोंको यथायोग्य समस्त कर्मोंमें लगावे ॥ १७ ॥

पूजयेद् धार्मिकान् राजा निगृह्णीयादधार्मिकान्।
नियुञ्ज्याच्च प्रयत्नेन सर्ववर्णान् स्वकर्मसु ॥ १८ ॥

राजाको चाहिये कि धार्मिक पुरुषोंका सत्कार करे और पापियोंको दण्ड दे। वह सभी वर्णोंको प्रयत्नपूर्वक अपने-अपने कर्मोंमें लगावे ॥ १८ ॥

बाह्यमाभ्यन्तरं चैव पौरजानपदं तथा।
चारैः सुविदितं कृत्वा ततः कर्म प्रयोजयेत् ॥ १९ ॥

गुप्तचरोंद्वारा नगर तथा छोटे ग्रामोंके बाहरी और भीतरी समाचारोंको अच्छी तरह जानकर फिर उसके अनुसार कार्य करे ॥ १९ ॥

चरान्मन्त्रं च कोशं च दण्डं चैव विशेषतः।
अनुतिष्ठेत् स्वयं राजा सर्वं ह्यत्र प्रतिष्ठितम् ॥ २० ॥

गुप्तचरोंसे मिलने, गुप्त सलाह करने, खजानेकी जाँच-पड़ताल करने तथा विशेषतः अपराधियोंको दण्ड देनेका कार्य राजा स्वयं करे; क्योंकि इन्हींपर सारा राज्य प्रतिष्ठित है ॥ २० ॥

उदासीनारिमित्राणां सर्वमेव चिकीर्षितम्।
पुरे जनपदे चैव ज्ञातव्यं चारचक्षुषा ॥ २१ ॥

राजाको गुप्तचररूपी नेत्रोंके द्वारा देखकर सदा इस बातकी जानकारी रखनी चाहिये कि मेरे शत्रु, मित्र तथा तटस्थ व्यक्ति नगर और छोटे ग्रामोंमें कब क्या करना चाहते हैं ? ॥ २१ ॥

ततस्तेषां विधातव्यं सर्वमेवाप्रमादतः।
भक्तान् पूजयता नित्यं द्विषतश्च निगृह्णता ॥ २२ ॥

उनकी चेष्टाएँ जान लेनेके पश्चात् उनके प्रतीकारके लिये सारा कार्य बड़ी सावधानीके साथ करना चाहिये। राजाको उचित है कि वह अपने भक्तोंका सदा आदर करे और द्वेष रखनेवालोंको कैद कर ले ॥ २२ ॥

यष्टव्यं क्रतुभिर्नित्यं दातव्यं चाप्यपीडया।
प्रजानां रक्षणं कार्यं न कार्यं धर्मबाधकम् ॥ २३ ॥

उसे प्रतिदिन नाना प्रकारके यज्ञ करना तथा दूसरोंको कष्ट न पहुँचाते हुए दान देना चाहिये। वह प्रजाजनोंकी रक्षा करे और कोई भी कार्य ऐसा न करे, जिससे धर्ममें बाधा आती हो ॥ २३ ॥

कृपणानाथवृद्धानां विधवानां च योषिताम्।
योगक्षेमं च वृत्तिं च नित्यमेव प्रकल्पयेत् ॥ २४ ॥

दीन, अनाथ, वृद्ध तथा विधवा स्त्रियोंके योगक्षेम एवं जीविकाका सदा ही प्रबन्ध करे ॥ २४ ॥

आश्रमेषु यथाकालं चैलभाजनभोजनम्।
सदैवोपहरेद् राजा सत्कृत्याभ्यर्च्य मान्य च ॥ २५ ॥

राजा आश्रमोंमें यथासमय वस्त्र, बर्तन और भोजन आदि सामग्री सदा ही भेजा करे तथा सबको सत्कार, पूजन एवं सम्मानपूर्वक वे वस्तुएँ अर्पित करे ॥ २५ ॥

आत्मानं सर्वकार्याणि तापसे राष्ट्रमेव च ।
निवेदयेत् प्रयत्नेन तिष्ठेत् प्रह्वश्च सर्वदा ॥ २६ ॥

अपने राज्यमें जो तपस्वी हों, उन्हें अपने शरीरसम्बन्धी, सम्पूर्ण कार्यसम्बन्धी तथा राष्ट्रसम्बन्धी समाचार प्रयत्नपूर्वक बताया करे और उनके सामने सदा विनीतभावसे रहे ॥ २६ ॥

सर्वार्थत्यागिनं राजा कुले जातं बहुश्रुतम् ।
पूजयेत् तादृशं दृष्ट्वा शयनासनभोजनैः ॥ २७ ॥

जिसने सम्पूर्ण स्वार्थोंका परित्याग कर दिया है, ऐसे कुलीन एवं बहुश्रुत विद्वान् तपस्वीको देखकर राजा शय्या, आसन और भोजन देकर उसका सम्मान करे ॥ २७ ॥

तस्मिन् कुर्वीत विश्वासं राजा कस्याञ्चिदापदि ।
तापसेषु हि विश्वासमपि कुर्वन्ति दस्यवः ॥ २८ ॥

कैसी भी आपत्तिका समय क्यों न हो ? राजाको तो तपस्वीपर विश्वास करना ही चाहिये; क्योंकि चोर और डाकू भी तपस्वी महात्माओंपर विश्वास करते हैं ॥ २८ ॥

तस्मिन् निधीनादधीत प्रज्ञां पर्याददीत च ।
न चाप्यभीक्ष्णं सेवेत भृशं वा प्रतिपूजयेत् ॥ २९ ॥

राजा उस तपस्वीके निकट अपने धनकी निधियोंको रखे और उससे सलाह भी लिया करे; परंतु बार-बार उसके पास जाना-आना और उसका सङ्ग न करे तथा उसका अधिक सम्मान भी न करे (अर्थात् गुप्तरूपसे ही उसकी सेवा और सम्मान करे । लोगोंपर इस बातको प्रकट न होने दे) ॥ २९ ॥

अन्यः कार्यः स्वराष्ट्रेषु परराष्ट्रेषु चापरः ।
अटवीषु परः कार्यः सामन्तनगरेष्वपि ॥ ३० ॥

राजा अपने राज्यमें, दूसरोंके राज्योंमें, जंगलोंमें तथा अपने अधीन राजाओंके नगरोंमें भी एक-एक भिन्न-भिन्न तपस्वीको अपना सुहृद् बनाये रखे ॥ ३० ॥

तेषु सत्कारमानाभ्यां संविभागांश्च कारयेत् ।
परराष्ट्राटवीस्थेषु यथा स्वविषये तथा ॥ ३१ ॥

उन सबको सत्कार और सम्मानके साथ आवश्यक वस्तुएँ प्रदान करे । जैसे अपने राज्यके तपस्वीका आदर करे, वैसे ही दूसरे राज्यों तथा जंगलोंमें रहनेवाले तापसोंका भी सम्मान करना चाहिये ॥ ३१ ॥

ते कस्याञ्चिदवस्थायां शरणं शरणार्थिने ।
राज्ञे दद्युर्यथाकामं तापसाः संशितव्रताः ॥ ३२ ॥

वे उत्तम व्रतका पालन करनेवाले तपस्वी शरणार्थी राजाको किसी भी अवस्थामें इच्छानुसार शरण दे सकते हैं ॥ ३२ ॥

एष ते लक्षणोद्देशः संक्षेपेण प्रकीर्तितः ।
यादृशे नगरे राजा स्वयमावस्तुमर्हति ॥ ३३ ॥

युधिष्ठिर ! तुम्हारे प्रश्नके अनुसार राजाको स्वयं जैसे नगरमें निवास करना चाहिये, उसका लक्षण मैंने यहाँ संक्षेपसे बताया है ॥ ३३ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि राजधर्मानुशासनपर्वणि दुर्गपरीक्षायां षडशीतितमोऽध्यायः ॥ ८६ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत राजधर्मानुशासनपर्वमें दुर्गपरीक्षाविषयक छियासीवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ८६ ॥

सप्ताशीतितमोऽध्यायः

राष्ट्रकी रक्षा तथा वृद्धिके उपाय

युधिष्ठिर उवाच

राष्ट्रगुप्तिं च मे राजन् राष्ट्रस्यैव तु संग्रहम् ।
सम्यग्जिज्ञासमानाय प्रब्रूहि भरतर्षभ ॥ १ ॥

युधिष्ठिरने पूछा—भरतश्रेष्ठ नरेश्वर ! अब मैं यह अच्छी तरह जानना चाहता हूँ कि राष्ट्रकी रक्षा तथा उसकी वृद्धि किस प्रकार हो सकती है, अतः आप इसी विषयका वर्णन करें ॥ १ ॥

भीष्म उवाच

राष्ट्रगुप्तिं च ते सम्यग् राष्ट्रस्यैव तु संग्रहम् ।
हन्त सर्वं प्रवक्ष्यामि तत्त्वमेकमनाः शृणु ॥ २ ॥

भीष्मजीने कहा—राजन् ! अब मैं बड़े हर्षके साथ तुम्हें राष्ट्रकी रक्षा तथा वृद्धिका सारा रहस्य बता रहा हूँ । तुम एकाग्रचित्त होकर सुनो ॥ २ ॥

ग्रामस्याधिपतिः कार्यो दशग्राम्यास्तथा परः ।
द्विगुणायाः शतस्यैवं सहस्रस्य च कारयेत् ॥ ३ ॥

एक गाँवका, दस गाँवोंका, बीस गाँवोंका, सौ गाँवोंका तथा हजार गाँवोंका अलग-अलग एक-एक अधिपति बनाना चाहिये ॥ ३ ॥

ग्रामीयान् ग्रामदोषांश्च ग्रामिकः प्रतिभावयेत् ।
तान् ब्रूयाद् दशपायासौ स तु विंशतिपाय वै ॥ ४ ॥
सोऽपि विंशत्यधिपतिर्वृत्तं जानपदे जने ।
ग्रामाणां शतपालाय सर्वमेव निवेदयेत् ॥ ५ ॥

गाँवके स्वामीका यह कर्त्तव्य है कि वह गाँववालोंके मामलोंका तथा गाँवमें जो-जो अपराध होते हों, उन सबका वहीं रहकर पता लगावे और उनका पूरा विवरण दस गाँवके अधिपतिके पास भेजे । इसी तरह दस गाँवोंवाला बीस गाँववालेके पास और बीस गाँवोंवाला अपने अधीनस्थ जनपदके लोगोंका सारा वृत्तान्त सौ गाँववाले अधिकारीको सूचित करे । (फिर सौ गाँवोंका अधिकारी हजार गाँवोंके अधिपतिको अपने अधिकृत क्षेत्रोंकी सूचना भेजे । इसके बाद हजार

गाँवोंका अधिपति स्वयं राजाके पास जाकर अपने यहाँ आये हुए सभी विवरणोंको उसके सामने प्रस्तुत करे)॥ ४-५ ॥

यानि ग्राम्याणि भोज्यानि ग्रामिकस्तान्युपाश्रियात्।
दशपस्तेन भर्तव्यस्तेनापि द्विगुणाधिपः॥ ६ ॥

गाँवोंमें जो आय अथवा उपज हो, वह सब गाँवका अधिपति अपने ही पास रखे (तथा उसमेंसे नियत अंशका वेतनके रूपमें उपभोग करे)। उसीमेंसे नियत वेतन देकर उसे दस गाँवोंके अधिपतिका भी भरण पोषण करना चाहिये, इसी तरह दस गाँवके अधिपतिको भी बीस गाँवोंके पालकका भरण-पोषण करना उचित है ॥ ६ ॥

ग्रामं ग्रामशताध्यक्षो भोक्तुमर्हति सत्कृतः।
महान्तं भरतश्रेष्ठ सुस्फीतं जनसंकुलम्॥ ७ ॥
तत्र ह्यनेकपायत्तं राज्ञो भवति भारत।

जो सत्कारप्राप्त व्यक्ति सौ गाँवोंका अध्यक्ष हो, वह एक गाँवकी आमदनीको उपभोगमें ला सकता है। भरतश्रेष्ठ! वह गाँव बहुत बड़ी बस्तीवाला, मनुष्योंसे भरपूर और धन-धान्यसे सम्पन्न हो। भरतनन्दन! उसका प्रबन्ध राजाके अधीनस्थ अनेक अधिपतियोंके अधिकारमें रहना चाहिये ॥ ७½ ॥

शाखानगरमर्हस्तु सहस्रपतिरुत्तमः॥ ८ ॥
धान्यहैरण्यभोगेन भोक्तुं राष्ट्रियसङ्गतः।

सहस्र गाँवका श्रेष्ठ अधिपति एक शाखानगर (कस्बे) की आय पानेका अधिकारी है। उस कस्बेमें जो अन्न और सुवर्णकी आय हो, उसके द्वारा वह इच्छानुसार उपभोग कर सकता है। उसे राष्ट्रवासियोंके साथ मिलकर रहना चाहिये ॥ ८½ ॥

तेषां संग्रामकृत्यं स्याद् ग्रामकृत्यं च तेषु यत्॥ ९ ॥
धर्मज्ञः सचिवः कश्चित् तत् तत्पश्येदतन्द्रितः।

इन अधिपतियोंके अधिकारमें जो युद्धसम्बन्धी तथा गाँवोंके प्रबन्धसम्बन्धी कार्य सौंपे गये हों, उनकी देखभाल कोई आलस्यरहित धर्मज्ञ मन्त्री किया करे ॥ ९½ ॥

नगरे नगरे वा स्यादेकः सर्वार्थचिन्तकः॥ १० ॥
उच्चैः स्थाने घोररूपो नक्षत्राणामिव ग्रहः।
भवेत् स तान् परिक्रामेत् सर्वानेव सभासदः॥ ११ ॥

अथवा प्रत्येक नगरमें एक ऐसा अधिकारी होना चाहिये, जो सभी कार्योंका चिन्तन और निरीक्षण कर सके। जैसे कोई भयंकर ग्रह आकाशमें नक्षत्रोंके ऊपर स्थित हो परिभ्रमण करता है, उसी प्रकार वह अधिकारी उच्चतम स्थानपर प्रतिष्ठित होकर उन सभी सभासद् आदिके निकट परिभ्रमण करे और उनके कार्योंकी जाँच-पड़ताल करता रहे ॥ १०-११ ॥

तेषां वृत्तिं परिणयेत् कश्चिद् राष्ट्रेषु तच्चरः।
जिघांसवः पापकामाः परस्वादायिनः शठाः॥ १२ ॥
रक्षाभ्यधिकृता नाम तेभ्यो रक्षेदिमाः प्रजाः।

उस निरीक्षकका कोई गुप्तचर राष्ट्रमें घूमता रहे और सभासद् आदिके कार्य एवं मनोभावको जानकर उसके पास सारा समाचार पहुँचाता रहे। रक्षाके कार्यमें नियुक्त हुए अधिकारी लोग प्रायः हिंसक स्वभावके हो जाते हैं। वे दूसरोंकी बुराई चाहने लगते हैं और शठतापूर्वक पराये धनका अपहरण कर लेते हैं। ऐसे लोगोंसे वह सर्वार्थचिन्तक अधिकारी इस सारी प्रजाकी रक्षा करे ॥ १२½ ॥

विक्रयं क्रयमध्वानं भक्तं च सपरिच्छदम्॥ १३ ॥
योगक्षेमं च सम्प्रेक्ष्य वणिजां कारयेत् करान्।

राजाको मालकी खरीद—बिक्री, उसके मँगानेका खर्च, उसमें काम करनेवाले नौकरोंके वेतन, बचत और योग-क्षेमके निर्वाहकी ओर दृष्टि रखकर ही व्यापारियोंपर कर लगाना चाहिये ॥ १३½ ॥

उत्पत्तिं दानवृत्तिं च शिल्पं सम्प्रेक्ष्य चासकृत्॥ १४ ॥
शिल्पं प्रति करानेवं शिल्पिनः प्रति कारयेत्।

इसी तरह मालकी तैयारी, उसकी खपत तथा शिल्पकी उत्तम-मध्यम आदि श्रेणियोंका बार-बार निरीक्षण करके शिल्प एवं शिल्पकारोंपर कर लगावे ॥ १४½ ॥

उच्चावचकरा दाप्या महाराज्ञा युधिष्ठिर॥ १५ ॥
यथा यथा न सीदेरंस्तथा कुर्यान्महीपतिः।
फलं कर्म च सम्प्रेक्ष्य ततः सर्वं प्रकल्पयेत्॥ १६ ॥

युधिष्ठिर! महाराजको चाहिये कि वह लोगोंकी हैसियत्के अनुसार भारी और हलका कर लगावे। भूपालको उतना ही कर लेना चाहिये, जितनेसे प्रजा संकटमें न पड़ जाय। उनका कार्य और लाभ देखकर ही सब कुछ करना चाहिये ॥ १५-१६ ॥

फलं कर्म च निर्हेतु न कश्चित् सम्प्रवर्तते।
यथा राजा च कर्ता च स्यातां कर्मणि भागिनौ॥ १७ ॥
संवेक्ष्य तु तथा राज्ञा प्रणेयाः सततं कराः।

लाभ और कर्म दोनों ही यदि निष्प्रयोजन हुए तो कोई भी काम करनेमें प्रवृत्त नहीं होगा। अतः जिस उपायसे राजा और कार्यकर्ता दोनोंको कृषि, वाणिज्य आदि कर्मके लाभका भाग प्राप्त हो, उसपर विचार करके राजाको सदैव करोंका निर्णय करना चाहिये ॥ १७½ ॥

नोच्छिन्द्यादात्मनो मूलं परेषां चापि तृष्णया॥ १८ ॥
ईहाद्वाराणि संरुध्य राजा सम्प्रीतदर्शनः।
प्रद्विषन्ति परिख्यातं राजानमतिखादिनम्॥ १९ ॥

अधिक तृष्णाके कारण अपने जीवनके मूल आधार प्रजाओंके जीवनभूत खेती-बारी आदिका उच्छेद न कर डाले। राजा लोभके दरवाजोंको बंद करके ऐसा बने कि उसका दर्शन प्रजामात्रको प्रिय लगे। यदि राजा अधिक शोषण करनेवाला विख्यात हो जाय तो सारी प्रजा उससे द्वेष करने लगती है ॥ १८-१९ ॥

प्रद्विष्टस्य कुतः श्रेयो नाप्रियो लभते फलम्।
वत्सौपम्येन दोग्धव्यं राष्ट्रमक्षीणबुद्धिना॥ २० ॥

जिससे सब लोग द्वेष करते हों, उसका कल्याण कैसे

हो सकता है ? जो प्रजावर्गका प्रिय नहीं होता, उसे कोई लाभ नहीं मिलता। जिसकी बुद्धि नष्ट नहीं हुई है, उस राजाको चाहिये कि वह गायसे बछड़ेकी तरह राष्ट्रसे धीरे-धीरे अपने उदरकी पूर्ति करे ॥ २० ॥

भृतो वत्सो जातबलः पीडां सहति भारत।
न कर्म कुरुते वत्सो भृशं दुग्धो युधिष्ठिर ॥ २१ ॥

भरतनन्दन युधिष्ठिर ! जिस गायका दूध अधिक नहीं दुहा जाता, उसका बछड़ा अधिक कालतक उसके दूधसे पुष्ट एवं बलवान् हो भारी भार ढोनेका कष्ट सहन कर लेता है; परंतु जिसका दूध अधिक दुह लिया गया हो, उसका बछड़ा कमजोर होनेके कारण वैसा काम नहीं कर पाता ॥

राष्ट्रमप्यतिदुग्धं हि न कर्म कुरुते महत्।
यो राष्ट्रमनुगृह्णाति परिरक्षन् स्वयं नृपः ॥ २२ ॥
संजातमुपजीवन् स लभते सुमहत् फलम्।

इसी प्रकार राष्ट्रका भी अधिक दोहन करनेसे वह दरिद्र हो जाता है; इस कारण वह कोई महान् कर्म नहीं कर पाता। जो राजा स्वयं रक्षामें तत्पर होकर समूचे राष्ट्रपर अनुग्रह करता है और उसको प्राप्त हुई आयसे अपनी जीविका चलाता है, वह महान् फलका भागी होता है ॥ २२½ ॥

आपदर्थं च निर्यातं धनं त्विह विवर्धयेत् ॥ २३ ॥
राष्ट्रं च कोशभूतं स्यात् कोशो वेश्मगतस्तथा।

राजाको चाहिये कि वह अपने देशमें लोगोंके पास इकट्ठे हुए धनको आपत्तिके समय काम आनेके लिये बढ़ावे और अपने राष्ट्रको घरमें रक्खा हुआ खजाना समझे ॥ २३½ ॥

पौरजानपदान् सर्वान् संश्रितोपाश्रितांस्तथा।
यथाशक्त्यनुकम्पेत सर्वान् स्वल्पधनानपि ॥ २४ ॥

नगर और ग्रामके लोग यदि साक्षात् शरणमें आये हों या किसीको मध्यस्थ बनाकर उसके द्वारा शरणागत हुए हों, राजा उन सब स्वल्प धनवालोंपर भी अपनी शक्तिके अनुसार कृपा करे ॥ २४ ॥

बाह्यं जनं भेदयित्वा भोक्तव्यो मध्यमः सुखम्।
एवं नास्य प्रकुप्यन्ति जनाः सुखितदुःखिताः ॥ २५ ॥

जंगली लुटेरोंको बाह्यजन कहते हैं, उनमें भेद डालकर राजा मध्यमवर्गके ग्रामीण मनुष्योंका सुखपूर्वक उपभोग करे—उनसे राष्ट्रके हितके लिये धन ले, ऐसा करनेसे सुखी और दुःखी दोनों प्रकारके मनुष्य उसपर क्रोध नहीं करते ॥

प्रागेव तु धनादानमनुभाष्य ततः पुनः।
संनिपत्य स्वविषये भयं राष्ट्रे प्रदर्शयेत् ॥ २६ ॥

राजा पहले ही धन लेनेकी आवश्यकता बताकर फिर अपने राज्यमें सर्वत्र दौरा करे और राष्ट्रपर आनेवाले भयकी ओर सबका ध्यान आकर्षित करे ॥ २६ ॥

इयमापत्समुत्पन्ना परचक्रभयं महत्।
अपि चान्ताय कल्पन्ते वेणोरिव फलागमाः ॥ २७ ॥
अरयो मे समुत्थाय बहुभिर्दस्युभिः सह।
इदमात्मवधायैव राष्ट्रमिच्छन्ति बाधितुम् ॥ २८ ॥

वह लोगोंसे कहे—'सज्जनो ! अपने देशपर यह बहुत बड़ी आपत्ति आ पहुँची है। शत्रुदलके आक्रमणका महान् भय उपस्थित है। जैसे बाँसमें फलका लगना बाँसके विनाशका ही कारण होता है, उसी प्रकार मेरे शत्रु बहुत-से लुटेरोंको साथ लेकर अपने ही विनाशके लिये उठकर मेरे इस राष्ट्रको सताना चाहते हैं ॥ २७-२८ ॥

अस्यामापदि घोरायां सम्प्राप्ते दारुणे भये।
परित्राणाय भवतः प्रार्थयिष्ये धनानि वः ॥ २९ ॥

'इस घोर आपत्ति और दारुण भयके समय मैं आपलोगोंकी रक्षाके लिये (ऋणके रूपमें) धन माँग रहा हूँ ॥ २९ ॥

प्रतिदास्ये च भवतां सर्वं चाहं भयक्षये।
नारयः प्रतिदास्यन्ति यद्धरेयुर्बलादितः ॥ ३० ॥

'जब यह भय दूर हो जायगा, उस समय सारा धन मैं आपलोगोंको लौटा दूँगा। शत्रु आकर यहाँसे बलपूर्वक जो धन लूट ले जायँगे, उसे वे कभी वापस नहीं करेंगे ॥ ३० ॥

कलत्रमादितः कृत्वा सर्वं वो विनशेदिति।
अपि चेत् पुत्रदारार्थमर्थसंचय इष्यते ॥ ३१ ॥

'शत्रुओंका आक्रमण होनेपर आपकी स्त्रियोंपर पहले संकट आयगा। उनके साथ ही आपका सारा धन नष्ट हो जायगा। स्त्री और पुत्रोंकी रक्षाके लिये ही धनसंग्रहकी आवश्यकता होती है ॥ ३१ ॥

नन्दामि वः प्रभावेण पुत्राणामिव चोदये।
यथाशक्त्युपगृह्णामि राष्ट्रस्यापीडया च वः ॥ ३२ ॥

'जैसे पुत्रोंके अभ्युदयसे पिताको प्रसन्नता होती है, उसी प्रकार मैं आपके प्रभावसे—आपलोगोंकी बढ़ती हुई समृद्धि-शक्तिसे आनन्दित होता हूँ। इस समय राष्ट्रपर आये हुए संकटको टालनेके लिये मैं आपलोगोंसे आपकी शक्तिके अनुसार ही धन ग्रहण करूँगा, जिससे राष्ट्रवासियोंको किसी प्रकारका कष्ट न हो ॥ ३२ ॥

आपत्स्वेव च वोढव्यं भवद्भिः पुङ्गवैरिव।
न च प्रियतरं कार्यं धनं कस्याञ्चिदापदि ॥ ३३ ॥

'जैसे बलवान् बैल दुर्गम स्थानोंमें भी बोझ ढोकर पहुँचाते हैं, उसी प्रकार आपलोगोंको भी देशपर आयी हुई इस आपत्तिके समय कुछ भार उठाना ही चाहिये। किसी विपत्तिके समय धनको अधिक प्रिय मानकर छिपाये रखना आपके लिये उचित न होगा' ॥ ३३ ॥

इति वाचा मधुरया श्लक्ष्णया सोपचारया।
स्वरश्मीनभ्यवसृजेद् योगमाधाय कालवित् ॥ ३४ ॥

समयकी गति-विधिको पहचाननेवाले राजाको चाहिये कि वह इसी प्रकार स्नेहयुक्त और अनुनयपूर्ण मधुर वचनोंद्वारा समझा-बुझाकर उपयुक्त उपायका आश्रय ले अपने पैदल सैनिकों या सेवकोंको प्रजाजनोंके घरपर धनसंग्रहके लिये भेजे ॥ ३४ ॥

प्राकारं भृत्यभरणं व्ययं संग्रामतो भयम्।
योगक्षेमं च सम्प्रेक्ष्य गोमिनः कारयेत् करम् ॥ ३५ ॥

नगरकी रक्षाके लिये चहारदिवारी बनवानी है, सेवकों और सैनिकोंका भरण-पोषण करना है, अन्य आवश्यक व्यय करने हैं, युद्धके भयको टालना है तथा सबके योग-क्षेमकी चिन्ता करनी है; इन सब बातोंकी आवश्यकता दिखाकर राजा धनवान् वैश्योंसे कर वसूल करे ॥ ३५ ॥

उपेक्षिता हि नश्येयुर्गोमिनोऽरण्यवासिनः।
तस्मात् तेषु विशेषेण मृदुपूर्वं समाचरेत् ॥ ३६ ॥

यदि राजा वैश्योंके हानि-लाभकी परवा न करके उन्हें करभारसे विशेष कष्ट पहुँचाता है तो वे राज्य छोड़कर भाग जाते और वनमें जाकर रहने लगते हैं; अतः उनके प्रति विशेष कोमलताका वर्ताव करना चाहिये ॥ ३६ ॥

सान्त्वनं रक्षणं दानमवस्था चाप्यभीक्ष्णशः।
गोमिनां पार्थ कर्तव्यः संविभागः प्रियाणि च ॥ ३७ ॥

कुन्तीनन्दन ! वैश्योंको सान्त्वना दे, उनकी रक्षा करे, उन्हें धनकी सहायता दे, उनकी स्थितिको सुदृढ़ रखनेका बारंबार प्रयत्न करे, उन्हें आवश्यक वस्तुएँ अर्पित करे और सदा उनके प्रिय कार्य करता रहे ॥ ३७ ॥

अजस्रमुपयोक्तव्यं फलं गोमिषु भारत।
प्रभावयन्ति राष्ट्रं च व्यवहारं कृषिं तथा ॥ ३८ ॥

भारत ! व्यापारियोंको उनके परिश्रमका फल सदा देते रहना चाहिये; क्योंकि वे ही राष्ट्रके वाणिज्य, व्यवसाय तथा खेतीकी उन्नति करते हैं ॥ ३८ ॥

तस्माद् गोमिषु यत्नेन प्रीतिं कुर्याद् विचक्षणः।
दयावानप्रमत्तश्च करान् सम्प्रणयन् मृदून् ॥ ३९ ॥

अतः बुद्धिमान् राजा सदा उन वैश्योंपर—यत्नपूर्वक प्रेम-भाव बनाये रखे। सावधानी रखकर उनके साथ दयालुताका बर्ताव करे और उनपर हलके कर लगावे ॥ ३९ ॥

सर्वत्र क्षेमचरणं सुलभं नाम गोमिषु।
न ह्यतः सदृशं किंचिद् वरमस्ति युधिष्ठिर ॥ ४० ॥

युधिष्ठिर ! राजाको वैश्योंके लिये ऐसा प्रबन्ध करना चाहिये, जिससे वे देशमें सब ओर कुशलपूर्वक विचरण कर सकें। राजाके लिये इससे बढ़कर हितकर काम दूसरा नहीं है ॥ ४० ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि राजधर्मानुशासनपर्वणि राष्ट्रगुप्त्यादिकथने सप्ताशीतितमोऽध्यायः ॥ ८७ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत राजधर्मानुशासनपर्वमें राष्ट्रकी रक्षा आदिका वर्णनविषयक सत्तासीवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ८७ ॥

अष्टाशीतितमोऽध्यायः

प्रजासे कर लेने तथा कोश संग्रह करनेका प्रकार

युधिष्ठिर उवाच

यदा राजा समर्थोऽपि कोशार्थी स्यान्महामते।
कथं प्रवर्तेत तदा तन्मे ब्रूहि पितामह ॥ १ ॥

युधिष्ठिरने पूछा—परम बुद्धिमान् पितामह ! जब राजा पूर्णतः समर्थ हो—उसपर कोई संकट न आया हो, तो भी यदि वह अपना कोष बढ़ाना चाहे तो उसे किस तरहका उपाय काममें लाना चाहिये, यह मुझे बताइये ॥ १ ॥

भीष्म उवाच

यथादेशं यथाकालं यथाबुद्धि यथाबलम्।
अनुशिष्यात् प्रजा राजा धर्मार्थी तद्धिते रतः ॥ २ ॥

भीष्मजीने कहा—राजन् ! धर्मकी इच्छा रखनेवाले राजाको देश और कालकी परिस्थितिका ध्यान रखते हुए अपनी बुद्धि और बलके अनुसार प्रजाके हितसाधनमें संलग्न रहकर उसे अपने अनुशासनमें रखना चाहिये ॥ २ ॥

यथा तासां च मन्येत श्रेय आत्मन एव च।
तथा कर्माणि सर्वाणि राजा राष्ट्रेषु वर्तयेत् ॥ ३ ॥

जिस प्रकारसे काम करनेपर प्रजाओंकी तथा अपनी भी भलाई समझमें आवे, वैसे ही समस्त कार्योंका राजा अपने राष्ट्रमें प्रचार करे ॥ ३ ॥

मधुदोहं दुहेद् राष्ट्रं भ्रमरा इव पादपम्।
वत्सापेक्षी दुहेच्चैव स्तनांश्च न विकुट्टयेत् ॥ ४ ॥

जैसे भौंरा धीरे-धीरे फूल एवं वृक्षका रस लेता है, वृक्षको काटता नहीं है, जैसे मनुष्य बछड़ेको कष्ट न देकर धीरे-धीरे गायको दुहता है, उसके थनोंको कुचल नहीं डालता है, उसी प्रकार राजा कोमलताके साथ ही राष्ट्ररूपी गौका दोहन करे, उसे कुचले नहीं ॥ ४ ॥

जलौकावत् पिबेद् राष्ट्रं मृदुनैव नराधिपः।
व्याघ्रीव च हरेत् पुत्रान् संदशेन्न च पीडयेत् ॥ ५ ॥

जैसे जोंक धीरे-धीरे शरीरका रक्त चूसती है, उसी प्रकार राजा भी कोमलताके साथ ही राष्ट्रसे कर वसूल करे। जैसे बाघिन अपने बच्चेको दाँतसे पकड़कर इधर-उधर ले जाती है; परंतु न तो उसे काटती है और न उसके शरीरमें पीड़ा ही पहुँचने देती है, उसी तरह राजा कोमल उपायोंसे ही राष्ट्रका दोहन करे ॥ ५ ॥

यथा शल्यकवानाखुः पदं धूनयते सदा।
अतीक्ष्णेनाभ्युपायेन तथा राष्ट्रं समापिबेत् ॥ ६ ॥

जैसे तीखे दाँतोंवाला चूहा सोये हुए मनुष्यके पैरके मांसको ऐसी कोमलतासे काटता है कि वह मनुष्य केवल पैरको कम्पित करता है, उसे पीड़ाका ज्ञान नहीं हो पाता। उसी प्रकार राजा कोमल उपायोंसे ही राष्ट्रसे कर ले, जिससे प्रजा दुखी न हो ॥ ६ ॥

अल्पेनाल्पेन देयेन वर्धमानं प्रदापयेत्।
ततो भूयस्ततो भूयः क्रमवृद्धिं समाचरेत् ॥ ७ ॥

वह पहले थोड़ा-थोड़ा कर लेकर फिर धीरे-धीरे उसे बढ़ावे और उस बढ़े हुए करको वसूल करे। उसके बाद

समयानुसार फिर उसमें थोड़ी-थोड़ी वृद्धि करते हुए क्रमशः बढ़ाता रहे (ताकि किसीको विशेष भार न जान पड़े) ॥७॥

दमयन्निव दम्यानि शश्वद् भारं विवर्धयेत् ।
मृदुपूर्वं प्रयत्नेन पाशानभ्यवहारयेत् ॥ ८ ॥

जैसे बछड़ोंको पहले-पहल बोझ ढोनेका अभ्यास करानेवाला पुरुष उन्हें प्रयत्नपूर्वक नाथता है और धीरे-धीरे उनपर अधिक भार लादता ही रहता है, उसी प्रकार प्रजापर भी करका भार पहले कम रक्खे; फिर उसे धीरे-धीरे बढ़ावे ॥८॥

सकृत्पाशावकीर्णास्ते न भविष्यन्ति दुर्दमाः ।
उचितेनैव भोक्तव्यास्ते भविष्यन्ति यत्नतः ॥ ९ ॥

यदि उनको एक साथ नाथकर उनपर भारी भार लादना चाहे तो उन्हें काबूमें लाना कठिन हो जायगा; अतः उचित ढंगसे प्रयत्नपूर्वक एक-एकको नाथकर उन्हें भार ढोनेके उपयोगमें लाना चाहिये। ऐसा करनेसे वे पूरा भार वहन करनेके योग्य हो जायँगे ॥ ९ ॥

तस्मात् सर्वसमारम्भो दुर्लभः पुरुषं प्रति ।
यथामुख्यान् सान्त्वयित्वा भोक्तव्य इतरो जनः ॥१०॥

अतः राजाके लिये भी सभी पुरुषोंको एक साथ वशमें करनेका प्रयत्न दुष्कर है, इसलिये उसे चाहिये कि प्रधान-प्रधान मनुष्योंको मधुर वचनोंद्वारा सान्त्वना देकर वशमें कर ले; फिर अन्य साधारण मनुष्योंको यथेष्ट उपयोगमें लाता रहे ॥

ततस्तान् भेदयित्वा तु परस्परविवक्षितान् ।
भुञ्जीत सान्त्वयंश्चैव यथासुखमयत्नतः ॥ ११ ॥

तदनन्तर उन परस्पर विचार करनेवाले मनुष्योंमें भेद डलवाकर राजा सबको सान्त्वना प्रदान करता हुआ बिना किसी प्रयत्नके सुखपूर्वक सबका उपभोग करे ॥ ११ ॥

न चास्थाने न चाकाले करांस्तेभ्यो निपातयेत् ।
आनुपूर्व्येण सान्त्वेन यथाकालं यथाविधि ॥ १२ ॥

राजाको चाहिये कि परिस्थिति और समयके प्रतिकूल प्रजापर करका बोझ न डाले। समयके अनुसार प्रजाको समझा-बुझाकर उचित रीतिसे क्रमशः कर वसूल करे ॥ १२ ॥

उपायान् प्रब्रवीम्येतान् न मे माया विवक्षिता ।
अनुपायेन दमयन् प्रकोपयति वाजिनः ॥१३॥

राजन्! मैं ये उत्तम उपाय बतला रहा हूँ। मुझे छल-कपट या कूटनीतिकी बात बताना यहाँ अभीष्ट नहीं है। जो लोग उचित उपायका आश्रय न लेकर मनमाने तौरपर घोड़ोंका दमन करना चाहते हैं, वे उन्हें कुपित कर देते हैं (इसी तरह जो अयोग्य उपायसे प्रजाको दबाते हैं, वे उनके मनमें रोष उत्पन्न कर देते हैं) ॥ १३ ॥

पानागारनिवेशाश्च वेश्याः प्रापणिकास्तथा ।
कुशीलवाः सकितवा ये चान्ये केचिदीदृशाः ॥१४॥
नियम्याः सर्व एवैते ये राष्ट्रस्योपघातकाः ।
एते राष्ट्रेऽभितिष्ठन्तो बाधन्ते भद्रिकाः प्रजाः ॥१५॥

शराबखाना खोलनेवाले, वेश्याएँ, कुट्टनियाँ, वेश्याओंके दलाल, जुआरी तथा ऐसे ही बुरे पेशे करनेवाले और भी जितने लोग हों, वे समूचे राष्ट्रको हानि पहुँचानेवाले हैं; अतः इन सबको दण्ड देकर दबाये रखना चाहिये। यदि ये राज्यमें टिके रहते हैं तो कल्याणमार्गपर चलनेवाली प्रजाको बड़ी बाधाएँ पहुँचाते हैं ॥ १४-१५ ॥

न केनचिद् याचितव्यः कश्चित्किञ्चिदनापदि ।
इति व्यवस्था भूतानां पुरस्तान्मनुना कृता ॥ १६ ॥

मनुजीने बहुत पहलेसे समस्त प्राणियोंके लिये यह नियम बना दिया है कि आपत्तिकालको छोड़कर अन्य समयमें कोई किसीसे कुछ न माँगे ॥ १६ ॥

सर्वे तथानुजीवेयुर्न कुर्युः कर्म चेदिह ।
सर्व एव इमे लोका न भवेयुरसंशयम् ॥ १७ ॥

यदि ऐसी व्यवस्था न होती तो सब लोग भीख माँगकर ही गुजारा करते, कोई भी यहाँ कर्म नहीं करता। ऐसी दशामें ये सम्पूर्ण जगत्के लोग निःसंदेह नष्ट हो जाते ॥१७॥

प्रभुर्नियमने राजा य एतान् न नियच्छति ।
भुङ्क्ते स तस्य पापस्य चतुर्भागमिति श्रुतिः ॥ १८ ॥

जो राजा इन सबको नियमके अंदर रखनेमें समर्थ होकर भी इन्हें काबूमें नहीं रखता, वह इनके किये हुए पापका चौथाई भाग स्वयं भोगता है, ऐसा श्रुतिका कथन है॥१८॥

भोक्ता तस्य तु पापस्य सुकृतस्य यथा तथा ।
नियन्तव्याः सदा राज्ञा पापा ये स्युर्नराधिप ॥ १९ ॥

नरेश्वर! राजा जैसे प्रजाके पापका चतुर्थांश भोगता है उसी प्रकार पुण्यका भी चतुर्थांश उसे प्राप्त होता है; अतः राजाको चाहिये कि वह सदा पापियोंको दण्ड देकर उन्हें दबाये रक्खे ॥ १९ ॥

कृतपापस्त्वसौ राजा य एतान् न नियच्छति ।
तथा कृतस्य धर्मस्य चतुर्भागमुपाश्नुते ॥ २० ॥

जो राजा इन पापियोंको नियन्त्रणमें नहीं रखता, वह स्वयं भी पापाचारी माना जाता है तथा जो पापियोंका दमन करता है, वह प्रजाके किये हुए धर्मका चौथाई भाग स्वयं प्राप्त कर लेता है ॥ २० ॥

स्थानान्येतानि संयम्य प्रसंगो भूतिनाशनः ।
कामे प्रसक्तः पुरुषः किमकार्यं विवर्जयेत् ॥ २१ ॥

ऊपर जो मदिरालय तथा वेश्यालय आदि स्थान बताये गये हैं, उनपर रोक लगा देनी चाहिये; क्योंकि इससे काम-विषयक आसक्ति बढ़ती है। जो धन-वैभव तथा कल्याणका नाश करनेवाली है। काममें आसक्त हुआ पुरुष कौन-सा ऐसा न करनेयोग्य काम है, जिसे छोड़ दे? ॥ २१ ॥

मद्यमांसपरस्वानि तथा दारा धनानि च ।
आहरेद् रागवशगस्तथा शास्त्रं प्रदर्शयेत् ॥ २२ ॥

आसक्तिके वशीभूत हुआ मानव मांस खाता, मदिरा पीता और परधन तथा परस्त्रीका अपहरण करता है। साथ ही दूसरोंको भी यही सब करनेका उपदेश देता है ॥ २२ ॥

आपद्येव तु याचन्ते येषां नास्ति परिग्रहः।
दातव्यं धर्मतस्तेभ्यस्त्वनुक्रोशाद् भयान्न तु ॥ २३ ॥

जिन लोगोंके पास कुछ भी संग्रह नहीं है, वे यदि आपत्तिके समय ही याचना करें तो उन्हें धर्म समझकर और दया करके ही देना चाहिये; किसी भय या दबावमें पड़कर नहीं ॥ २३ ॥

मा ते राष्ट्रे याचनका भूवन्मा चापि दस्यवः।
एषां दातार एवैते नैते भूतस्य भावकाः ॥ २४ ॥

तुम्हारे राज्यमें भिखमंगे और लुटेरे न हों; क्योंकि ये प्रजाके धनको केवल छीननेवाले हैं, उनके ऐश्वर्यको बढ़ानेवाले नहीं हैं ॥ २४ ॥

ये भूतान्यनुगृह्णन्ति वर्धयन्ति च ये प्रजाः।
ते ते राष्ट्रेषु वर्तन्तां मा भूतानामभावकाः ॥ २५ ॥

जो सब प्राणियोंपर दया करते और प्रजाकी उन्नतिमें योग देते हैं, वे तुम्हारे राष्ट्रमें निवास करें। जो लोग प्राणियोंका विनाश करनेवाले हैं, वे न रहें ॥ २५ ॥

दण्ड्यास्ते च महाराज धनादानप्रयोजकाः।
प्रयोगं कारयेयुस्तान् यथाबलिकरांस्तथा ॥ २६ ॥

महाराज! जो राजकर्मचारी उचितसे अधिक कर वसूल करते या कराते हों, वे तुम्हारे हाथसे दण्ड पानेके योग्य हैं। दूसरे अधिकारी आकर उन्हें ठीक-ठीक भेंट या कर लेनेका अभ्यास करावें ॥ २६ ॥

कृषिगोरक्ष्यवाणिज्यं यच्चान्यत् किंचिदीदृशम्।
पुरुषैः कारयेत् कर्म बहुभिः कर्मभेदतः ॥ २७ ॥

खेती, गोरक्षा, वाणिज्य तथा इस तरहके अन्य व्यवसायोंको जो जिस कर्मको करनेमें कुशल हो, तदनुसार अधिक आदमियोंके द्वारा सम्पन्न कराना चाहिये ॥ २७ ॥

नरश्चेत्कृषिगोरक्ष्यवाणिज्यं चाप्यनुष्ठितः।
संशयं लभते किंचित् तेन राजा विगर्ह्यते ॥ २८ ॥

मनुष्य यदि कृषि, गोरक्षा और वाणिज्य आरम्भ कर दे तथा चोरों और लुटेरोंके आक्रमणसे कुछ-कुछ प्राण-संशयकी-सी स्थितिमें पहुँच जाय तो इससे राजाकी बड़ी निन्दा होती है ॥ २८ ॥

धनिनः पूजयेन्नित्यं पानाच्छादनभोजनैः।
वक्तव्याश्चानुगृह्णीध्वं प्रजाः सह मयेति वै ॥ २९ ॥

राजाको चाहिये कि वह देशके धनी व्यक्तियोंका सदा भोजन-वस्त्र और अन्नपान आदिके द्वारा आदर-सत्कार करे और उनसे विनयपूर्वक कहे, 'आपलोग मेरे सहित मेरी इन प्रजाओंपर कृपादृष्टि रक्खें' ॥ २९ ॥

अङ्गमेतन्महद् राज्ये धनिनो नाम भारत।
ककुदं सर्वभूतानां धनस्थो नात्र संशयः ॥ ३० ॥

भरतनन्दन! धनी लोग राष्ट्रके मुख्य अङ्ग हैं। धनवान् पुरुष समस्त प्राणियोंमें प्रधान होता है, इसमें संशय नहीं है ॥ ३० ॥

प्राज्ञः शूरो धनस्थश्च स्वामी धार्मिक एव च।
तपस्वी सत्यवादी च बुद्धिमांश्चापि रक्षति ॥ ३१ ॥

विद्वान्, शूरवीर, धनी, धर्मनिष्ठ, स्वामी, तपस्वी, सत्यवादी तथा बुद्धिमान् मनुष्य ही प्रजाकी रक्षा करते हैं ॥ ३१ ॥

तस्मात् सर्वेषु भूतेषु प्रीतिमान् भव पार्थिव।
सत्यमार्जवमक्रोधमानृशंस्यं च पालय ॥ ३२ ॥

अतः भूपाल! तुम समस्त प्राणियोंसे प्रेम रक्खो तथा सत्य, सरलता, क्रोधहीनता और दयालुता आदि सद्धर्मोंका पालन करो ॥ ३२ ॥

एवं दण्डं च कोशं च मित्रं भूमिं च लप्स्यसि।
सत्यार्जवपरो राजन् मित्रकोशबलान्वितः ॥ ३३ ॥

नरेश्वर! ऐसा करनेसे तुम्हें दण्डधारणकी शक्ति, खजाना, मित्र तथा राज्यकी भी प्राप्ति होगी। तुम सत्य और सरलतामें तत्पर रहकर मित्र, कोष और बलसे सम्पन्न हो जाओगे ॥ ३३ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि राजधर्मानुशासनपर्वणि कोशसंचयप्रकारकथने अष्टाशीतितमोऽध्यायः ॥ ८८ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत राजधर्मानुशासनपर्वमें कोशसंग्रहके प्रकारका वर्णनविषयक अट्ठासीवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ८८ ॥

एकोननवतितमोऽध्यायः

राजाके कर्तव्यका वर्णन

भीष्म उवाच

वनस्पतीन् भक्ष्यफलान् न च्छिन्द्युर्विषये तव।
ब्राह्मणानां मूलफलं धर्म्यमाहुर्मनीषिणः ॥ १ ॥

भीष्मजी कहते हैं—युधिष्ठिर! जिन वृक्षोंके फल खानेके काम आते हैं, उनको तुम्हारे राज्यमें कोई काटने न पावे, इसका ध्यान रखना चाहिये। मनीषी पुरुष मूल और फलको धर्मतः ब्राह्मणोंका धन बताते हैं। इसलिये भी उनको काटना ठीक नहीं है ॥ १ ॥

ब्राह्मणेभ्योऽतिरिक्तं च भुञ्जीरन्नितरे जनाः।
न ब्राह्मणापराधेन हरेदन्यः कथंचन ॥ २ ॥

ब्राह्मणोंसे जो बच जाय, उसीको दूसरे लोग अपने उपभोगमें लावें। ब्राह्मणका अपराध करके अर्थात् उसे भोग्य वस्तु न देकर दूसरा कोई किसी प्रकार भी उसका अपहरण न करे ॥ २ ॥

विप्रश्चेत् त्यागमातिष्ठेदात्मार्थे वृत्तिकर्शितः।
परिकल्प्यास्य वृत्तिः स्यात् सदारस्य नराधिप ॥ ३ ॥

राजन्! यदि ब्राह्मण अपने लिये जीविकाका प्रबन्ध न होनेसे दुर्बल हो जाय और उस राज्यको छोड़कर अन्यत्र जाने लगे तो राजाका कर्तव्य है कि परिवारसहित उस ब्राह्मणके लिये जीविकाकी व्यवस्था करे ॥ ३ ॥

स चेन्नोपनिवर्तेत वाच्यो ब्राह्मणसंसदि।
कस्मिन्निदानीं मर्यादामयं लोकः करिष्यति ॥ ४ ॥

इतनेपर भी यदि वह ब्राह्मण न लौटे तो ब्राह्मणोंके समाजमें जाकर राजा उससे यों कहे—'ब्रह्मन्! यदि आप यहाँसे चले जायँगे तो ये प्रजावर्गके लोग किसके आश्रयमें रहकर धर्ममर्यादाका पालन करेंगे ?' ॥ ४ ॥

असंशयं निवर्तेत न चेद् वक्ष्यत्यतः परम्।
पूर्वं परोक्षं कर्तव्यमेतत् कौन्तेय शाश्वतम् ॥ ५ ॥

इतना सुनकर वह निश्चय ही लौट आयेगा । यदि इतनेपर भी वह कुछ न बोले तो राजाको इस प्रकार कहना चाहिये—'भगवन्! मेरे द्वारा जो पहले अपराध बन गये हों, उन्हें आप भूल जायँ' कुन्तीनन्दन! इस प्रकार विनयपूर्वक ब्राह्मणको प्रसन्न करना राजाका सनातन कर्तव्य है ॥ ५ ॥

आहुरेतज्जना नित्यं न चैतच्छ्रद्दधाम्यहम्।
निमन्त्र्यश्च भवेद् भोगैरवृत्त्या च तदाचरेत् ॥ ६ ॥

लोग कहते हैं कि ब्राह्मणको भोग-सामग्रीका अभाव हो तो उसे भोग अर्पित करनेके लिये निमन्त्रित करे और यदि उसके पास जीविकाका अभाव हो तो उसके लिये जीविकाकी व्यवस्था करे, परंतु मैं इस बातपर विश्वास नहीं करता; (क्योंकि ब्राह्मणमें भोगेच्छाका होना सम्भव नहीं है) ॥ ६ ॥

कृषिगोरक्ष्यवाणिज्यं लोकानामिह जीवनम्।
ऊर्ध्वं चैव त्रयी विद्या सा भूतान् भावयत्युत ॥ ७ ॥

खेती, पशुपालन और वाणिज्य—ये तो इसी लोकमें लोगोंकी जीविकाके साधन हैं; परंतु तीनों वेद ऊपरके लोकोंमें भी रक्षा करते हैं। वे ही यज्ञोंद्वारा समस्त प्राणियोंकी उत्पत्ति और वृद्धिमें हेतु हैं ॥ ७ ॥

तस्यां प्रवर्तमानायां ये स्युस्तत्परिपन्थिनः।
दस्यवस्तद्वधायेह ब्रह्मा क्षत्रमथासृजत् ॥ ८ ॥

जो लोग उस वेदविद्याके अध्ययनाध्यापनमें अथवा वेदोक्त यज्ञ-यागादि कर्मोंमें बाधा पहुँचाते हैं, वे डकैत हैं। उन डाकुओंका वध करनेके लिये ही ब्रह्माजीने क्षत्रिय-जातिकी सृष्टि की है ॥ ८ ॥

शत्रून् जय प्रजा रक्ष यजस्व क्रतुभिर्नृप।
युध्यस्व समरे वीरो भूत्वा कौरवनन्दन ॥ ९ ॥

नरेश्वर! कौरवनन्दन! तुम शत्रुओंको जीतो, प्रजाकी रक्षा करो, नाना प्रकारके यज्ञ करते रहो और समरभूमिमें वीरतापूर्वक लड़ो ॥ ९ ॥

संरक्ष्यान् पालयेद् राजा स राजा राजसत्तमः।
ये केचित् तान् न रक्षन्ति तैरर्थो नास्ति कश्चन ॥ १० ॥

जो रक्षा करनेके योग्य पुरुषोंकी रक्षा करता है, वही राजा समस्त राजाओंमें शिरोमणि है । जो रक्षाके पात्र मनुष्योंकी रक्षा नहीं करते, उन राजाओंकी जगत्‌को कोई आवश्यकता नहीं है ॥ १० ॥

सदैव राज्ञा योद्धव्यं सर्वलोकाद् युधिष्ठिर।
तस्माद्धेतोर्हि युञ्जीत मनुष्यानेव मानवः ॥ ११ ॥

युधिष्ठिर! राजाको सब लोगोंकी भलाईके लिये सदा ही युद्ध करना अथवा उसके लिये उद्यत रहना चाहिये। अतः वह मानवशिरोमणि नरेश शत्रुओंकी गतिविधिको जाननेके लिये मनुष्योंको ही गुप्तचर नियत कर दे ॥ ११ ॥

आन्तरेभ्यः परान् रक्षन् परेभ्यः पुनरान्तरान्।
परान् परेभ्यः स्वान् स्वेभ्यः सर्वान् पालय नित्यदा १२

युधिष्ठिर! जो लोग अपने अन्तरङ्ग हों, उनसे बाहरी लोगोंकी रक्षा करो और बाहरी लोगोंसे सदा अन्तरङ्ग व्यक्तियोंको बचाओ। इसी प्रकार बाहरी व्यक्तियोंकी बाहरके लोगोंसे और समस्त आत्मीयजनोंकी आत्मीयोंसे सदा रक्षा करते रहो ॥ १२ ॥

आत्मानं सर्वतो रक्षन् राजन् रक्षस्व मेदिनीम्।
आत्ममूलमिदं सर्वमाहुर्वै विदुषो जनाः ॥ १३ ॥

राजन्! तुम सब ओरसे अपनी रक्षा करते हुए ही इस सारी पृथ्वीकी रक्षा करो; क्योंकि विद्वान् पुरुषोंका कहना है कि इन सबका मूल अपना सुरक्षित शरीर ही है ॥ १३ ॥

किं छिद्रं को नु सङ्गो मे किं वास्त्यविनिपातितम्।
कुतो मामाश्रयेद् दोष इति नित्यं विचिन्तयेत् ॥ १४ ॥

मुझमें कौन-सी दुर्बलता है, किस तरहकी आसक्ति है और कौन-सी ऐसी बुराई है, जो अबतक दूर नहीं हुई है और किस कारणसे मुझपर दोष आता है ? इन सब बातोंका राजाको सदा विचार करते रहना चाहिये ॥ १४ ॥

अतीतदिवसे वृत्तं प्रशंसन्ति न वा पुनः।
गुप्तैश्चारैरनुमतैः पृथिवीमनुसारयेत् ॥ १५ ॥

कलतक मेरा जैसा बर्ताव रहा है, उसकी लोग प्रशंसा करते हैं या नहीं ? इस बातका पता लगानेके लिये अपने विश्वासपात्र गुप्तचरोंको पृथ्वीपर सब ओर घुमाते रहना चाहिये ॥ १५ ॥

जानीयुर्यदि ते वृत्तं प्रशंसन्ति न वा पुनः।
कच्चिद् रोचेज्जनपदे कच्चिद् राष्ट्रे च मे यशः ॥ १६ ॥

उनके द्वारा यह भी पता लगाना चाहिये कि यदि अबसे लोग मेरे बर्तावको जान लें तो उसकी प्रशंसा करेंगे या नहीं। क्या बाहरके गाँवोंमें और समूचे राष्ट्रमें मेरा यश लोगोंको अच्छा लगता है ? ॥ १६ ॥

धर्मज्ञानां धृतिमतां संग्रामेष्वपलायिनाम्।
राष्ट्रे तु येऽनुजीवन्ति ये तु राज्ञोऽनुजीविनः ॥ १७ ॥
अमात्यानां च सर्वेषां मध्यस्थानां च सर्वशः।
ये च त्वाभिप्रशंसेयुर्निन्देयुरथवा पुनः ॥ १८ ॥
सर्वान् सुपरिणीतांस्तान् कारयेथा युधिष्ठिर।

युधिष्ठिर! जो धर्मज्ञ, धैर्यवान् और संग्राममें कभी पीठ न दिखानेवाले शूरवीर हैं, जो राज्यमें रहकर जीविका चलाते हैं अथवा राजाके आश्रित रहकर जीते हैं तथा जो मन्त्रिगण और तटस्थवर्गके लोग हैं, वे सब तुम्हारी प्रशंसा करें या

मित्र, इन सबका सत्कार ही करना चाहिये ॥ १७-१८½ ॥

एकान्तेन हि सर्वेषां न शक्यं तात रोचितुम्।
मित्रामित्रमथो मध्यं सर्वभूतेषु भारत ॥ १९ ॥

तात ! किसीका कोई भी काम सबको सर्वथा अच्छा ही लगे, ऐसा सम्भव नहीं है। भरतनन्दन ! सभी-प्राणियोंके शत्रु, मित्र और मध्यस्थ होते हैं ॥ १९ ॥

युधिष्ठिर उवाच

तुल्यबाहुबलानां च तुल्यानां च गुणैरपि।
कथं स्यादधिकः कश्चित् स च भुञ्जीत मानवान्॥२०॥

युधिष्ठिरने पूछा—पितामह ! जो बाहुबलमें एक समान हैं और गुणोंमें भी एक समान हैं, उनमेंसे कोई एक मनुष्य सबसे अधिक कैसे हो जाता है, जो अन्य सब मनुष्योंपर शासन करने लगता है ? ॥ २० ॥

भीष्म उवाच

यच्चरा ह्यचरानद्युरदंष्ट्रान् दंष्ट्रिणस्तथा।
आशीविषा इव क्रुद्धा भुजङ्गान् भुजगा इव ॥ २१ ॥

भीष्मजीने कहा—राजन् ! जैसे क्रोधमें भरे हुए बड़े-बड़े विषधर सर्प दूसरे छोटे सर्पोंको खा जाते हैं, जिस प्रकार पैरोंसे चलनेवाले प्राणी न चलनेवाले प्राणियोंको अपने उपभोगमें लाते हैं और दाढ़वाले जन्तु बिना दाढ़वाले जीवोंको अपना आहार बना लेते हैं (उसी प्राकृतिक नियमके अनुसार बहुसंख्यक दुर्बल मनुष्योंपर एक सबल मनुष्य शासन करने लगता है) ॥ २१ ॥

एतेभ्यश्चाप्रमत्तः स्यात् सदा शत्रोर्युधिष्ठिर।
भारुण्डसदृशा ह्येते निपतन्ति प्रमादतः ॥ २२ ॥

युधिष्ठिर ! इन सभी हिंसक जन्तुओं तथा शत्रुकी ओरसे राजाको सदा सावधान रहना चाहिये; क्योंकि असावधान होनेपर ये गिद्ध पक्षियोंके समान सहसा टूट पड़ते हैं ॥ २२ ॥

कच्चित् ते वणिजो राष्ट्रे नोद्विजन्ति करार्दिताः।
क्रीणन्तो बहुनाल्पेन कान्तारकृतविश्रमाः ॥ २३ ॥

ऊँचे या नीचे भावसे माल खरीदनेवाले और व्यापारके लिये दुर्गम प्रदेशोंमें विचरनेवाले वैश्य तुम्हारे राज्यमें करके भारी भारसे पीड़ित हो उद्विग्न तो नहीं होते हैं ? ॥ २३ ॥

कच्चित् कृषिकरा राष्ट्रं न जहत्यतिपीडिताः।
ये वहन्ति धुरं राज्ञां ते भरन्तीतरानपि ॥ २४ ॥

किसानलोग अधिक लगान लिये जानेके कारण अत्यन्त कष्ट पाकर तुम्हारा राज्य छोड़कर तो नहीं जा रहे हैं। क्योंकि किसान ही राजाओंका भार ढोते हैं और वे ही दूसरे लोगोंका भी भरण-पोषण करते हैं ॥ २४ ॥

इतो दत्तेन जीवन्ति देवाः पितृगणास्तथा।
मानुषोरगरक्षांसि वयांसि पशवस्तथा ॥ २५ ॥

इन्हींके दिये हुए अन्नसे देवता, पितर, मनुष्य, सर्प, राक्षस और पशु-पक्षी-सबकी जीविका चलती है ॥ २५ ॥

एषा ते राष्ट्रवृत्तिश्च राज्ञां गुप्तिश्च भारत।
एतमेवार्थमाश्रित्य भूयो वक्ष्यामि पाण्डव ॥ २६ ॥

भरतनन्दन ! यह मैंने राजाके राष्ट्रके साथ किये जानेवाले बर्तावका वर्णन किया। इसीसे राजाओंकी रक्षा होती है। पाण्डुकुमार ! इसी विषयको लेकर मैं आगेकी भी बात कहूँगा ॥ २६ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि राजधर्मानुशासनपर्वणि राष्ट्रगुप्तौ एकोननवतितमोऽध्यायः ॥ ८९ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत राजधर्मानुशासनपर्वमें राष्ट्रकी रक्षाविषयक नवासीवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ८९ ॥

नवतितमोऽध्यायः

उतथ्यका मान्धाताको उपदेश—राजाके लिये धर्मपालनकी आवश्यकता

भीष्म उवाच

यानङ्गिराः क्षत्रधर्मानुतथ्यो ब्रह्मवित्तमः।
मान्धात्रे यौवनाश्वाय प्रीतिमानभ्यभाषत ॥ १ ॥

भीष्मजी कहते हैं—राजन् ! ब्रह्मवेत्ताओंमें श्रेष्ठ अङ्गिरापुत्र उतथ्यने युवनाश्वके पुत्र मान्धातासे प्रसन्नतापूर्वक जिन क्षत्रिय-धर्मोंका वर्णन किया था, उन्हें सुनो ॥ १ ॥

स यथानुशशासैनमुतथ्यो ब्रह्मवित्तमः।
तत् ते सर्वं प्रवक्ष्यामि निखिलेन युधिष्ठिर॥ २ ॥

युधिष्ठिर ! ब्रह्मज्ञानियोंमें शिरोमणि उतथ्यने जिस प्रकार उन्हें उपदेश दिया था, वह सब प्रसङ्ग पूरा-पूरा तुम्हें बता रहा हूँ, श्रवण करो ॥ २ ॥

उतथ्य उवाच

धर्माय राजा भवति न कामकरणाय तु।
मान्धातरिति जानीहि राजा लोकस्य रक्षिता ॥ ३ ॥

उतथ्य बोले—मान्धाता ! राजा धर्मका पालन और प्रचार करनेके लिये ही होता है, विषय-सुखोंका उपभोग करनेके लिये नहीं। तुम्हें यह जानना चाहिये कि राजा सम्पूर्ण जगत्का रक्षक है ॥ ३ ॥

राजा चरति चेद् धर्मं देवत्वायैव कल्पते।
स चेदधर्मं चरति नरकायैव गच्छति ॥ ४ ॥

यदि राजा धर्माचरण करता है तो देवता बन जाता है, और यदि वह अधर्माचरण करता है तो नरकमें ही गिरता है ॥ ४ ॥

धर्मे तिष्ठन्ति भूतानि धर्मो राजनि तिष्ठति।
तं राजा साधु यः शास्ति स राजा पृथिवीपतिः ॥५॥

सम्पूर्ण प्राणी धर्मके ही आधारपर स्थित हैं और धर्म राजाके ऊपर प्रतिष्ठित है। जो राजा अच्छी तरह धर्मका पालन और उसके अनुकूल शासन करता है, वही दीर्घकालतक इस पृथ्वीका स्वामी बना रहता है ॥ ५ ॥

राजा परमधर्मात्मा लक्ष्मीवान् धर्म उच्यते ।
देवाश्च गर्हां गच्छन्ति धर्मो नास्तीति चोच्यते ॥६॥

परम धर्मात्मा और श्रीसम्पन्न राजा धर्मका साक्षात् स्वरूप कहलाता है । यदि वह धर्मका पालन नहीं करता तो लोग देवताओंकी भी निन्दा करते हैं और वह धर्मात्मा नहीं, पापात्मा कहलाता है ॥ ६ ॥

स्वधर्मे वर्तमानानामर्थसिद्धिः प्रदृश्यते ।
तदेव मङ्गलं लोकः सर्वः समनुवर्तते ॥ ७ ॥

जो अपने धर्मके पालनमें तत्पर रहते हैं, उन्हींसे अभीष्ट मनोरथकी सिद्धि होती देखी जाती है । सारा संसार उसी मङ्गलमय धर्मका अनुसरण करता है ॥ ७ ॥

उच्छिद्यते धर्मवृत्तमधर्मो वर्तते महान् ।
भयमाहुर्दिवारात्रं यदा पापो न वार्यते ॥ ८ ॥

जब पापको रोका नहीं जाता है, तब जगत्में धार्मिक बर्तावका उच्छेद हो जाता है और सब ओर महान् अधर्म फैल जाता है, जिससे प्रजाको दिन-रात भय बना रहता है ॥८॥

ममेदमिति नैवैतत् साधूनां तात धर्मतः ।
न वै व्यवस्था भवति यदा पापो न वार्यते ॥ ९ ॥

तात ! यदि पापकी प्रवृत्तिका निवारण न किया जाय तो यह मेरी वस्तु है, ऐसा कहना श्रेष्ठ पुरुषोंके लिये असम्भव हो जाता है और उस समय कोई भी धार्मिक व्यवस्था टिकने नहीं पाती है ॥९॥

नैव भार्या न पशवो न क्षेत्रं न निवेशनम् ।
संदृश्येत मनुष्याणां यदा पापबलं भवेत् ॥ १० ॥

जब जगत्में पापका बल बढ़ जाता है, तब मनुष्योंके लिये अपनी स्त्री, अपने पशु और अपने खेत या घरका भी कुछ ठिकाना दिखायी नहीं देता ॥ १० ॥

देवाः पूजां न जानन्ति न स्वधां पितरस्तदा ।
न पूज्यन्ते ह्यतिथयो यदा पापो न वार्यते ॥ ११ ॥

जब पापको रोका नहीं जाता है, तब देवता पूजाको नहीं जानते हैं, पितरोंको स्वधा (श्राद्ध) का अनुभव नहीं होता है तथा अतिथियोंकी कहीं पूजा नहीं होती है ॥ ११ ॥

न वेदानधिगच्छन्ति व्रतवन्तो द्विजातयः ।
न यज्ञांस्तन्वते विप्रा यदा पापो न वार्यते ॥ १२ ॥

जब पापका निवारण नहीं किया जाता है, तब ब्रह्मचर्य-व्रतका पालन करनेवाले द्विज वेदोंका अध्ययन छोड़ देते हैं और ब्राह्मण यज्ञोंका अनुष्ठान नहीं कर पाते हैं ॥ १२ ॥

वृद्धानामिव सत्त्वानां मनो भवति विह्वलम् ।
मनुष्याणां महाराज यदा पापो न वार्यते ॥ १३ ॥

महाराज ! जब पापका निवारण नहीं किया जाता है, तब बूढ़े जन्तुओंकी भाँति मनुष्योंका मन घबराहटमें पड़ा रहता है ॥ १३ ॥

उभौ लोकावभिप्रेक्ष्य राजानमृषयः स्वयम् ।
असृजन् सुमहद् भूतमयं धर्मो भविष्यति ॥ १४ ॥

लोक और परलोक दोनोंको दृष्टिमें रखकर महर्षियोंने स्वयं ही राजा नामक महान् शक्तिशाली मनुष्यकी सृष्टि की । उन्होंने सोचा था कि 'यह साक्षात् धर्मस्वरूप होगा' ॥१४॥

यस्मिन् धर्मो विराजेत तं राजानं प्रचक्षते ।
यस्मिन् विलीयते धर्मस्तं देवा वृषलं विदुः ॥ १५ ॥

अतः जिसमें धर्म विराज रहा हो, उसीको राजा कहते हैं और जिसमें धर्म (वृष) का लय हो गया हो, उसे देवतालोग 'वृषल' मानते हैं ॥ १५ ॥

वृषो हि भगवान् धर्मो यस्तस्य कुरुते ह्यलम् ।
वृषलं तं विदुर्देवास्तस्माद्धर्मं विवर्धयेत् ॥ १६ ॥

वृष नाम है भगवान् धर्मका । जो धर्मके विषयमें 'अलम्' (बस) कह देता है, उसे देवता 'वृषल' समझते हैं; अतः धर्मकी सदा ही वृद्धि करनी चाहिये ॥ १६ ॥

धर्मे वर्धति वर्धन्ति सर्वभूतानि सर्वदा ।
तस्मिन् ह्रसति हीयन्ते तस्माद् धर्मं न लोपयेत् ॥१७॥

धर्मकी वृद्धि होनेपर सदा समस्त प्राणियोंका अभ्युदय होता है और उसका ह्रास होनेपर सबका ह्रास हो जाता है; अतः धर्मका कभी लोप नहीं होने देना चाहिये ॥ १७ ॥

धनात् स्रवति धर्मो हि धारणाद् वेति निश्चयः ।
अकार्याणां मनुष्येन्द्र स सीमान्तकरः स्मृतः॥ १८ ॥

नरेन्द्र ! धनसे धर्मकी उत्पत्ति होती है सबको धारण करनेके कारण वह निश्चितरूपसे धर्म कहा गया है । वह धर्म अकर्तव्य (पाप) की सीमाका अन्त करनेवाला माना गया है ॥१८॥

प्रभवार्थं हि भूतानां धर्मः सृष्टः स्वयम्भुवा ।
तस्मात् प्रवर्तयेद् धर्मं प्रजानुग्रहकारणात् ॥ १९ ॥

ब्रह्माजीने प्राणियोंके कल्याणार्थ ही धर्मकी सृष्टि की है, इसलिये राजाको चाहिये कि अपने देशमें प्रजाजनोंपर अनुग्रह करनेके लिये धर्मका प्रचार करे ॥ १९ ॥

तस्माद्धि राजशार्दूल धर्मः श्रेष्ठतरः स्मृतः ।
स राजा यः प्रजाः शास्ति साधुकृत् पुरुषर्षभ ॥ २० ॥

राजसिंह ! इसी कारणसे धर्मको सबसे श्रेष्ठ माना गया है । पुरुषप्रवर ! जो सद्धर्मके पालनपूर्वक प्रजाका शासन करता है, वही राजा है ॥ २० ॥

कामक्रोधावनादृत्य धर्ममेवानुपालय ।
धर्मः श्रेयस्करतमो राज्ञां भरतसत्तम ॥ २१ ॥

भरतभूषण ! तुम भी काम और क्रोधकी अवहेलना करके निरन्तर धर्मका ही पालन करो । धर्म ही राजाओंके लिये सबसे बढ़कर कल्याण करनेवाला है ॥ २१ ॥

धर्मस्य ब्राह्मणो योनिस्तस्मात् तान् पूजयेत् सदा ।
ब्राह्मणानां च मान्धातः कुर्यात् कामानमत्सरी ॥ २२ ॥

मान्धाता ! धर्मका मूल है ब्राह्मण; इसलिये ब्राह्मणोंका सदा सम्मान करना चाहिये, ब्राह्मणोंकी प्रत्येक कामनाको ईर्ष्यारहित होकर पूर्ण करना उचित है ॥ २२ ॥

तेषां ह्यकामकरणाद् राज्ञः संजायते भयम् ।
मित्राणि न च वर्धन्ते तथामित्रीभवन्त्यपि ॥ २३ ॥

इनकी इच्छा पूर्ण न करनेसे राजाओंके ऊपर भय आता है। राष्ट्रके निवासियोंकी वृद्धि नहीं होती, उलटे शत्रु बनते रहते हैं ॥ २३ ॥

ब्राह्मणानामभ्यसूयाद् बाल्याद् वैरोचनो बलिः ।
अथास्माच्छ्रीरपाक्रामद् यास्मिन्नासीत् प्रतापिनी ॥२४॥

विरोचनकुमार बलि बाल्यकालसे ही सदा ब्राह्मणोंपर दोषारोपण करते थे; इसलिये उनकी राजलक्ष्मी, जो शत्रुओंको संताप देनेवाली थी, उनके पाससे हट गयी ॥ २४ ॥

ततस्तस्मादपाक्रम्य सागच्छत् पाकशासनम्।
अथ सोऽन्वतपत् पश्चाच्छ्रियं दृष्ट्वा पुरन्दरे ॥ २५ ॥

बलिसे हटकर वह राजलक्ष्मी देवराज इन्द्रके पास चली गयी। फिर इन्द्रके पास उस लक्ष्मीको देखकर राजा बलिको बड़ा पश्चात्ताप होने लगा ॥ २५ ॥

एतत् फलमसूयाया अभिमानस्य वा विभो ।
तस्माद् बुध्यस्व मान्धातर्मा त्वां जह्यात् प्रतापिनी ॥२६॥

प्रभो ! यह अभिमान और असूयाका फल है, अतः मान्धाता ! तुम सचेत हो जाओ, कहीं तुम्हारी भी शत्रुतापिनी लक्ष्मी तुमको छोड़ न दे ॥ २६ ॥

दर्पो नाम श्रियः पुत्रो जज्ञेऽधर्मादिति श्रुतिः ।
तेन देवासुरा राजन् नीताः सुबहवो व्ययम् ॥ २७ ॥
राजर्षयश्च बहवस्तथा बुध्यस्व पार्थिव ।
राजा भवति तं जित्वा दासस्तेन पराजितः ॥ २८ ॥

राजन् ! सम्पत्तिका पुत्र है दर्प, जो अधर्मके अंशसे उत्पन्न हुआ है, यह श्रुतिका कथन है । उस दर्पने बहुत-से देवताओं, असुरों और राजर्षियोंका विनाश कर डाला है। अतः भूपाल ! अब भी चेतो । जो दर्पको जीत लेता है, वह राजा होता है और जो उससे पराजित हो जाता है, वह दास बन जाता है ॥ २७-२८ ॥

स यथा दर्पसहितमधर्मं नानुसेवते ।
तथा वर्तस्व मान्धातश्चिरं चेत् स्थातुमिच्छसि ॥ २९ ॥

मान्धाता ! यदि तुम चिरकालतक राजसिंहासनपर विराजमान रहना चाहते हो तो ऐसा बर्ताव करो, जिससे तुम्हारे द्वारा दर्प और अधर्मका सेवन न हो ॥ २९ ॥

मत्तात्प्रमत्तात् पौगण्डादुन्मत्ताच्च विशेषतः ।
तदभ्यासादुपावर्त संहितानां च सेवनात् ॥ ३० ॥

मतवाले, प्रमादी, बालक तथा विशेषतः पागलोंसे बचो। उनके निकट सम्पर्कसे भी दूर रहो और यदि वे एक साथ रहकर सेवा करना चाहें तो उनकी उस सेवासे भी सर्वथा बचे रहो ॥ ३० ॥

निगृहीतादमात्याच्च स्त्रीभ्यश्चैव विशेषतः ।
पर्वताद् विषमाद् दुर्गाद्धस्तिनोऽश्वात् सरीसृपात् ॥३१॥
एतेभ्यो नित्ययत्तः स्यान्नक्तंचर्यां च वर्जयेत् ।
अत्यागं चाभिमानं च दम्भं क्रोधं च वर्जयेत् ॥ ३२ ॥

इसी तरह जिसको एक बार कैद किया हो उस मन्त्रीसे, विशेषतः परायी स्त्रियोंसे, ऊँचे-नीचे और दुर्गम पर्वतसे तथा हाथी, घोड़े और सर्पोंसे राजाको बचकर रहना चाहिये । इनकी ओरसे सदा सावधान रहे और रातमें घूमना-फिरना छोड़ दे । कृपणता, अभिमान, दम्भ और क्रोधका भी सर्वथा परित्याग कर दे ॥

अविज्ञातासु च स्त्रीषु क्लीबासु स्वैरिणीषु च ।
परभार्यासु कन्यासु नाचरेन्मैथुनं नृपः ॥ ३३ ॥

अपरिचित स्त्रियों, बाँझ स्त्रियों, वेश्याओं, परायी स्त्रियों तथा कुमारी कन्याओंके साथ राजा मैथुन न करे ॥ ३३ ॥

कुलेषु पापरक्षांसि जायन्ते वर्णसंकरात् ।
अपुमांसोऽङ्गहीनाश्च स्थूलजिह्वा विचेतसः ॥ ३४ ॥
एते चान्ये च जायन्ते यदा राजा प्रमाद्यति ।
तस्माद् राज्ञा विशेषेण वर्तितव्यं प्रजाहिते ॥ ३५ ॥

जब राजा धर्मकी ओरसे प्रमाद करता है, तब वर्णसंकरताके कारण उत्तम कुलोंमें पापी और राक्षस जन्म लेते हैं । नपुंसक, काने, लँगड़े, लूले, गूँगे तथा बुद्धिहीन बालकोंकी उत्पत्ति होती है । ये तथा और भी बहुत-सी कुत्सित संतानें जन्म लेती हैं । इसलिये राजाको विशेषरूपसे धर्मपरायण एवं सावधान होकर प्रजाके हितसाधनमें तत्पर रहना चाहिये ॥

क्षत्रियस्य प्रमत्तस्य दोषः संजायते महान् ।
अधर्माः सम्प्रवर्धन्ते प्रजासंकरकारकाः ॥ ३६ ॥

क्षत्रियके प्रमादसे बड़े-बड़े दोष प्रकट होते हैं । वर्णसंकरोंको जन्म देनेवाले पापकर्मोंकी वृद्धि होती है ॥ ३६ ॥

अशीते विद्यते शीतं शीते शीतं न विद्यते ।
अवृष्टिरतिवृष्टिश्च व्याधिश्चाप्याविशेत् प्रजाः ॥ ३७ ॥

गर्मीके मौसममें सर्दी और सर्दीके मौसममें गर्मी पड़ने लगती है । कभी सूखा पड़ जाता है, कभी अधिक वर्षा होती है तथा प्रजामें नाना प्रकारके रोग फैल जाते हैं ॥ ३७ ॥

नक्षत्राण्युपतिष्ठन्ति ग्रहा घोरास्तथागते ।
उत्पाताश्चात्र दृश्यन्ते बहवो राजनाशनाः ॥ ३८ ॥

आकाशमें भयानक ग्रह और धूमकेतु आदि तारे उगते हैं तथा राष्ट्रके विनाशकी सूचना देनेवाले बहुत-से उत्पात दिखायी देने लगते हैं ॥ ३८ ॥

अरक्षितात्मा यो राजा प्रजाश्चापि न रक्षति ।
प्रजाश्च तस्य क्षीयन्ते ततः सोऽनुविनश्यति ॥ ३९ ॥

जो राजा अपनी रक्षा नहीं करता, वह प्रजाकी भी रक्षा नहीं कर सकता । पहले उसकी प्रजाएँ क्षीण होती हैं; फिर वह स्वयं भी नष्ट हो जाता है ॥ ३९ ॥

द्वावाददाते ह्येकस्य द्वयोः सुबहवोऽपरे ।
कुमार्यः सम्प्रलुप्यन्ते तदाहुर्नृपदूषणम् ॥ ४० ॥

जब दो मनुष्य मिलकर एककी वस्तु छीन लेते हैं, बहुत-से मिलकर दोको लूटते हैं तथा कुमारी कन्याओंपर बलात्कार होने लगता है, उस समय इन सारे अपराधोंका कारण राजाको ही बताया जाता है ॥ ४० ॥

ममेदमिति नैकस्य मनुष्येष्ववतिष्ठति ।

त्यक्त्वा धर्मं यदा राजा प्रमादमनुतिष्ठति ॥ ४१ ॥

जब राजा धर्म छोड़कर प्रमादमें पड़ जाता है, तब मनुष्योंमेंसे एक भी अपने धनको 'यह मेरा है' ऐसा समझकर स्थिर नहीं रह सकता ॥ ४१ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि राजधर्मानुशासनपर्वणि उतथ्यगीतासु नवतितमोऽध्यायः ॥ ९० ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत राजधर्मानुशासनपर्वमें उतथ्यगीताविषयक नब्बेवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ९० ॥

एकनवतितमोऽध्यायः

उतथ्यके उपदेशमें धर्माचरणका महत्त्व और राजाके धर्मका वर्णन

उतथ्य उवाच

कालवर्षी च पर्जन्यो धर्मचारी च पार्थिवः ।
सम्पद् यदैषा भवति सा बिभर्ति सुखं प्रजाः ॥ १ ॥

उतथ्य कहते हैं—राजन् ! राजा धर्मका आचरण करे और मेघ समयपर वर्षा करता रहे । इस प्रकार जो सम्पत्ति बढ़ती है, वह प्रजावर्गका सुखपूर्वक भरण-पोषण करती है ॥ १ ॥

यो न जानाति हर्तुं वा वस्त्राणां रजको मलम् ।
रक्तानां वा शोधयितुं यथा नास्ति तथैव सः ॥ २ ॥

यदि धोबी कपड़ोंकी मैल उतारना नहीं जानता अथवा रँगे हुए वस्त्रोंको धोकर शुद्ध एवं उज्ज्वल बनानेकी कला उसे नहीं ज्ञात है तो उसका होना न होना बराबर है ॥ २ ॥

एवमेतद् द्विजेन्द्राणां क्षत्रियाणां विशां तथा ।
शूद्रश्चतुर्थो वर्णानां नानाकर्मस्ववस्थितः ॥ ३ ॥

इसी प्रकार श्रेष्ठ ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा चौथे शूद्र वर्णके मनुष्य यदि अपने-अपने पृथक्-पृथक् कर्मोंको जानकर उनमें संलग्न नहीं रहते हैं तो उनका होना न होना एक-सा ही है ॥ ३ ॥

कर्म शूद्रे कृषिर्वैश्ये दण्डनीतिश्च राजनि ।
ब्रह्मचर्यं तपो मन्त्राः सत्यं चापि द्विजातिषु ॥ ४ ॥

शूद्रमें द्विजोंकी सेवा, वैश्यमें कृषि, राजा या क्षत्रियमें दण्डनीति तथा ब्राह्मणोंमें ब्रह्मचर्य, तपस्या, वेदमन्त्र और सत्यकी प्रधानता है ॥ ४ ॥

तेषां यः क्षत्रियो वेद वस्त्राणामिव शोधनम् ।
शीलदोषान् विनिर्हर्तुं स पिता स प्रजापतिः ॥ ५ ॥

इनमें जो क्षत्रिय वस्त्रोंकी मैल दूर करनेवाले धोबीके समान चरित्रदोषको दूर करना जानता है, वही प्रजावर्गका पिता और वही प्रजाका अधिपति है ॥ ५ ॥

कृतं त्रेता द्वापरं च कलिश्च भरतर्षभ ।
राजवृत्तानि सर्वाणि राजैव युगमुच्यते ॥ ६ ॥

भरतश्रेष्ठ ! सत्ययुग, त्रेता, द्वापर और कलियुग—ये सबके सब राजाके आचरणोंमें स्थित हैं । राजा ही युगोंका प्रवर्तक होनेके कारण युग कहलाता है ॥ ६ ॥

चातुर्वर्ण्यं तथा वेदाश्चातुराश्रम्यमेव च ।
सर्वं प्रमुह्यते ह्येतद् यदा राजा प्रमाद्यति ॥ ७ ॥

जब राजा प्रमाद करता है, तब चारों वर्ण, चारों वेद और चारों आश्रम सभी मोहमें पड़ जाते हैं ॥ ७ ॥

अग्नित्रेता त्रयी विद्या यज्ञाश्च सहदक्षिणाः ।
सर्व एव प्रमाद्यन्ति यदा राजा प्रमाद्यति ॥ ८ ॥

जब राजा प्रमादी हो जाता है, तब गार्हपत्य, आहवनीय और दक्षिणाग्नि—ये तीन अग्नि; ऋक्, साम और यजु—ये तीन वेद एवं दक्षिणाओंके साथ सम्पूर्ण यज्ञ भी विकृत हो जाते हैं ॥ ८ ॥

राजैव कर्ता भूतानां राजैव च विनाशकः ।
धर्मात्मा यः स कर्ता स्यादधर्मात्मा विनाशकः ॥ ९ ॥

राजा ही प्राणियोंका कर्ता (जीवनदाता) और राजा ही उनका विनाश करनेवाला है । जो धर्मात्मा है, वह प्रजा-का जीवनदाता है और जो पापात्मा है, वह उसका विनाश करनेवाला है ॥ ९ ॥

राज्ञो भार्याश्च पुत्राश्च बान्धवाः सुहृदस्तथा ।
समेत्य सर्वे शोचन्ति यदा राजा प्रमाद्यति ॥ १० ॥

जब राजा प्रमाद करने लगता है, तब उसकी स्त्री, पुत्र, बान्धव तथा सुहृद् सब मिलकर शोक करते हैं ॥ १० ॥

हस्तिनोऽश्वाश्च गावश्चाप्युष्ट्राश्वतरगर्दभाः ।
अधर्मभूते नृपतौ सर्वे सीदन्ति जन्तवः ॥ ११ ॥

राजाके पापपरायण हो जानेपर उसके हाथी, घोड़े, गौ, ऊँट, खच्चर और गदहे आदि सभी पशु दुःख पाते हैं ॥ ११ ॥

दुर्बलार्थं बलं सृष्टं धात्रा मान्धातरुच्यते ।
अबलं तु महद्भूतं यस्मिन् सर्वं प्रतिष्ठितम् ॥ १२ ॥

मान्धाता ! कहते हैं कि विधाताने दुर्बल प्राणियोंकी रक्षाके लिये ही बलसम्पन्न राजाकी सृष्टि की है । निर्बल प्राणियोंका महान् समुदाय राजाके बलपर टिका हुआ है ॥ १२ ॥

यच्च भूतं सम्भजते ये च भूतास्तदन्वयाः ।
अधर्मस्थे हि नृपतौ सर्वे शोचन्ति पार्थिव ॥ १३ ॥

भूपाल ! राजा जिन प्राणियोंको अन्न आदि देकर उनकी सेवा करता है और जो प्राणी राजासे सम्बन्ध रखते हैं, वे सबके सब उस राजाके अधर्मपरायण होनेपर शोक प्रकट करने लगते हैं ॥ १३ ॥

दुर्बलस्य च यच्चक्षुर्मुनेराशीविषस्य च ।
अविषह्यतमं मन्ये मा स्म दुर्बलमासदः ॥ १४ ॥

दुर्बल मनुष्य, मुनि और विषधर सर्प—इन सबकी दृष्टिको मैं अत्यन्त दुःसह मानता हूँ; इसलिये तुम किसी दुर्बल प्राणीको न सताना ॥ १४ ॥

दुर्बलांस्तात बुध्येथा नित्यमेवाविमानितान् ।

मा त्वां दुर्बलचक्षूंषि प्रदहेयुः सबान्धवम् ॥ १५ ॥

तात ! तुम दुर्बल मनुष्योंको सदा ही अपमानका पात्र न समझना, दुर्बलोंकी आँखें तुम्हें बन्धु-बान्धवोंसहित जला-कर भस्म न कर डालें, इसके लिये सदा सावधान रहना ॥

न हि दुर्बलदग्धस्य कुले किंचित् प्ररोहति ।
आमूलं निर्दहन्त्येव मा स्म दुर्बलमासदः ॥ १६ ॥

दुर्बल मनुष्य जिसको अपनी क्रोधाग्निसे जला डालते हैं, उसके कुलमें फिर कोई अङ्कुर नहीं जमता । वे जड़मूल-सहित दग्ध कर देते हैं; अतः तुम दुर्बलोंको कभी न सताना॥

अबलं वै बलाच्छ्रेयो यच्चातिबलवद्बलम् ।
बलस्याबलदग्धस्य न किंचिदवशिष्यते ॥ १७ ॥

निर्बल प्राणी बलवान्से श्रेष्ठ है, क्योंकि जो अत्यन्त बलवान् है, उसके बलसे भी निर्बलका बल अधिक है। निर्बल-के द्वारा दग्ध किये गये बलवान्का कुछ भी शेष नहीं रह जाता ॥ १७ ॥

विमानितो हतः क्रुष्टस्त्रातारं चेन्न विन्दति ।
अमानुषकृतस्तत्र दण्डो हन्ति नराधिपम् ॥ १८ ॥

यदि अपमानित, हताहत तथा गाली-गलौज जैसे तिरस्कृत होनेवाला दुर्बल मनुष्य राजाको अपने रक्षकके रूपमें नहीं उपलब्ध कर पाता तो वहाँ दैवका दिया हुआ दण्ड राजाको मार डालता है ॥ १८ ॥

मा स्म तात रणे स्थित्वा भुञ्जीथा दुर्बलं जनम् ।
मा त्वां दुर्बलचक्षूंषि दहन्त्वग्निरिवाश्रयम् ॥ १९ ॥

तात ! तुम युद्धमें संलग्न होकर दुर्बल मनुष्यको कर लेनेके द्वारा अपने उपभोगका विषय न बनाना । जैसे आग अपने आश्रयभूत काष्ठको जला देती है, उसी प्रकार दुर्बलोंकी दृष्टि तुम्हें दग्ध न कर डाले ॥ १९ ॥

यानि मिथ्याभिशस्तानां पतन्त्यश्रूणि रोदताम् ।
तानि पुत्रान् पशून् घ्नन्ति तेषां मिथ्याभिशंसनात् ।२०।

झूठे अपराध लगाये जानेपर रोते हुए दीन-दुर्बल मनुष्योंके नेत्रोंसे जो आँसू गिरते हैं, वे मिथ्या कलङ्क लगाने-के कारण उन अपराधियोंके पुत्रों और पशुओंका नाश कर डालते हैं ॥ २० ॥

यदि नात्मनि पुत्रेषु न चेत् पौत्रेषु नप्तृषु ।
न हि पापं कृतं कर्म सद्यः फलति गौरिव ॥ २१ ॥

यदि पापका फल अपनेको नहीं मिला तो वह पुत्रों तथा नाती-पोतोंको अवश्य मिलता है । जैसे पृथ्वीमें बोया हुआ बीज तुरंत फल नहीं देता, उसी प्रकार किया हुआ पाप भी तत्काल फल नहीं देता (समय आनेपर ही उसका फल मिलता है) ॥ २१ ॥

यत्राबलो वध्यमानस्त्रातारं नाधिगच्छति ।
महान् दैवकृतस्तत्र दण्डः पतति दारुणः ॥ २२ ॥

सताया जानेवाला दुर्बल मनुष्य जहाँ अपने लिये कोई रक्षक नहीं पाता है, वहाँ सतानेवाले पापीको दैवकी ओरसे भयंकर दण्ड प्राप्त होता है ॥ २२ ॥

युक्ता यदा जानपदा भिक्षन्ते ब्राह्मणा इव ।
अभीक्ष्णं भिक्षुरूपेण राजानं घ्नन्ति तादृशाः ॥ २३ ॥

जब बाहर गाँवोंके लोग एक समूह बनाकर भिक्षुकरूपसे ब्राह्मणोंके समान भिक्षा माँगने लगते हैं, तब वैसे लोग एक दिन राजाका विनाश कर डालते हैं ॥ २३ ॥

राज्ञो यदा जनपदे बहवो राजपूरुषाः ।
अनयेनोपवर्तन्ते तद् राज्ञः किल्बिषं महत् ॥ २४ ॥

जब राजाके बहुत-से कर्मचारी देशमें अन्यायपूर्ण बर्ताव करने लगते हैं, तब वह महान् पाप राजाको ही लगता है॥२४॥

यदा युक्त्या नयेदर्थान् कामादर्थवशेन वा ।
कृपणं याचमानानां तद् राज्ञो वैशसं महत् ॥ २५ ॥

यदि कोई राजा या राजकीय कर्मचारी दीनतापूर्ण याचना करती हुई प्रजाओंकी उस प्रार्थनाको ठुकराकर स्वेच्छासे अथवा धनके लोभवश कोई-न-कोई युक्ति करके उनके धनका अपहरण कर ले तो वह राजाके महान् विनाशका सूचक है ॥ २५ ॥

महान् वृक्षो जायते वर्धते च
तं चैव भूतानि समाश्रयन्ति ।
यदा वृक्षश्छिद्यते दह्यते च
तदाश्रया अनिकेता भवन्ति ॥ २६ ॥

जब कोई महान् वृक्ष पैदा होता और क्रमशः बढ़ता है, तब बहुत-से प्राणी (पक्षी) आकर उसपर बसेरे लेते हैं और जब उस वृक्षको काटा या जला दिया जाता है, तब उसपर रहनेवाले सभी जीव निराश्रय हो जाते हैं ॥ २६ ॥

यदा राष्ट्रे धर्ममग्र्यं चरन्ति
संस्कारं वा राजगुणं ब्रुवाणाः ।
तैरेवाधर्मश्चरितो धर्ममोहात्
तूर्णं जह्यात् सुकृतं दुष्कृतं च ॥ २७ ॥

जब राज्यमें रहनेवाले लोग राजाके गुणोंका बखान करते हुए वैदिक संस्कारोंके साथ उत्तम धर्मका आचरण करते हैं, उस समय राजा पापमुक्त हो जाता है तथा जब वे ही लोग धर्मके विषयमें मोहित हो जानेके कारण अधर्माचरण करने लगते हैं, उस समय राजा शीघ्र ही पुण्यसे हीन हो जाता है॥

यत्र पापा ज्ञायमानाश्चरन्ति
सतां कलिर्विन्दते तत्र राज्ञः ।
यदा राजा शास्ति नरानशिष्टां-
स्तदा राज्यं वर्धते भूमिपस्य ॥ २८ ॥

जहाँ पापी मनुष्य प्रकटरूपसे निर्भय विचरते हैं, वहाँ सत्पुरुषोंकी दृष्टिमें समझा जाता है कि राजाको कलियुगने घेर लिया है; किंतु जब राजा दुष्ट मनुष्योंको दण्ड देता है, तब उसका राज्य सब ओरसे उन्नत होने लगता है ॥ २८ ॥

यश्चामात्यान् मानयित्वा यथार्थं
मन्त्रे च युद्धे च नृपो नियुञ्ज्यात् ।
विवर्धते तस्य राष्ट्रं नृपस्य
भुङ्क्ते महीं चाप्यखिलां चिराय ॥ २९ ॥

जो राजा अपने मन्त्रियोंका यथार्थरूपसे सम्मान करके उन्हें मन्त्रणा अथवा युद्धके काममें नियुक्त करता है, उसका राज्य दिनोंदिन बढ़ता है, और वह चिरकालतक समूची पृथ्वीका राज्य भोगता है ॥ २९ ॥

यच्चापि सुकृतं कर्म वाच्यं चैव सुभाषितम्।
समीक्ष्य पूजयन् राजा धर्मं प्राप्नोत्यनुत्तमम् ॥ ३० ॥

जो राजा अपने कर्मचारी अथवा प्रजाका पुण्यकर्म देखकर तथा उनकी सुन्दर वाणी सुनकर उन सबका यथायोग्य सम्मान करता है, वह परम उत्तम धर्मको प्राप्त कर लेता है ॥ ३० ॥

संविभज्य यदा भुङ्क्ते नामात्यानवमन्यते।
निहन्ति बलिनं दृप्तं स राज्ञो धर्म उच्यते ॥ ३१ ॥

राजा जब सबको यथायोग्य विभाग देकर स्वयं उपभोग करता है, मन्त्रियोंका अनादर नहीं करता है और बलके घमंडमें चूर रहनेवाले दुष्ट पुरुष या शत्रुको मार डालता है, तब उसका यह सब कार्य राजधर्म कहलाता है ॥ ३१ ॥

त्रायते हि यदा सर्वं वाचा कायेन कर्मणा।
पुत्रस्यापि न मृष्येच्च स राज्ञो धर्म उच्यते ॥ ३२ ॥

जब वह मन, वाणी और शरीरके द्वारा सबकी रक्षा करता है और पुत्रके भी अपराधको क्षमा नहीं करता, तब उसका वह बर्ताव भी राजाका धर्म कहा जाता है ॥ ३२ ॥

संविभज्य यदा भुङ्क्ते नृपतिर्दुर्बलान् नरान्।
तदा भवन्ति बलिनः स राज्ञो धर्म उच्यते ॥ ३३ ॥

जब राजा दुर्बल मनुष्योंको यथावश्यक वस्तुएँ देकर पीछे स्वयं भोजन करता है, तब वे दुर्बल मनुष्य बलवान् हो जाते हैं। वह त्याग राजाका धर्म कहा गया है ॥ ३३ ॥

यदा रक्षति राष्ट्राणि यदा दस्यूनपोहति।
यदा जयति संग्रामे स राज्ञो धर्म उच्यते ॥ ३४ ॥

जब राजा समूचे राष्ट्रकी रक्षा करता है, डाकू और लुटेरोंको मार भगाता है तथा संग्राममें विजयी होता है, तब वह सब राजाका धर्म कहा जाता है ॥ ३४ ॥

पापमाचरतो यत्र कर्मणा व्याहृतेन वा।
प्रियस्यापि न मृष्येत स राज्ञो धर्म उच्यते ॥ ३५ ॥

प्रिय-से-प्रिय व्यक्ति भी यदि क्रिया अथवा वाणीद्वारा पाप करे तो राजाको चाहिये कि उसे भी क्षमा न करे अर्थात् उसे भी यथायोग्य दण्ड दे। जो ऐसा बर्ताव है, वह राजाका धर्म कहलाता है ॥ ३५ ॥

यदा शारणिकान् राजा पुत्रवत् परिरक्षति।
भिनत्ति च न मर्यादां स राज्ञो धर्म उच्यते ॥ ३६ ॥

जब राजा व्यापारियोंकी पुत्रके समान रक्षा करता है और धर्मकी मर्यादाको भङ्ग नहीं करता, तब वह भी राजाका धर्म कहलाता है ॥ ३६ ॥

यदाऽऽप्तदक्षिणैर्यज्ञैर्यजते श्रद्धयान्वितः।
कामद्वेषावनादृत्य स राज्ञो धर्म उच्यते ॥ ३७ ॥

जब वह राग और द्वेषका अनादर करके पर्याप्त दक्षिणावाले यज्ञोंद्वारा श्रद्धापूर्वक यजन करता है, तब वह राजाका धर्म कहा जाता है ॥ ३७ ॥

कृपणानाथवृद्धानां यदाश्रु परिमार्जति।
हर्षं संजनयन् नृणां स राज्ञो धर्म उच्यते ॥ ३८ ॥

जब वह दीन, अनाथ और वृद्धोंके आँसू पोंछता है और इस बर्तावद्वारा सब लोगोंके हृदयमें हर्ष उत्पन्न करता है, तब उसका वह सद्भाव राजाका धर्म कहलाता है ॥ ३८ ॥

विवर्धयति मित्राणि तथारींश्चापि कर्षति।
सम्पूजयति साधूंश्च स राज्ञो धर्म उच्यते ॥ ३९ ॥

वह जो मित्रोंकी वृद्धि, शत्रुओंका नाश और साधु पुरुषोंका समादर करता है, उसे राजाका धर्म कहते हैं ॥ ३९ ॥

सत्यं पालयति प्रीत्या नित्यं भूमिं प्रयच्छति।
पूजयेदतिथीन् भृत्यान् स राज्ञो धर्म उच्यते ॥ ४० ॥

राजा जो प्रेमपूर्वक सत्यका पालन करता है, प्रतिदिन भूदान देता है और अतिथियों तथा भरण-पोषणके योग्य व्यक्तियोंका सत्कार करता है, वह राजाका धर्म कहलाता है ॥

निग्रहानुग्रहौ चोभौ यत्र स्यातां प्रतिष्ठितौ।
अस्मिँल्लोके परे चैव राजा स प्राप्नुते फलम् ॥ ४१ ॥

जिसमें निग्रह[1] और अनुग्रह[2] दोनों प्रतिष्ठित हों, वह राजा इहलोक और परलोकमें मनोवाञ्छित फल पाता है ॥

यमो राजा धार्मिकाणां मान्धातः परमेश्वरः।
संयच्छन् भवति प्राणानसंयच्छंस्तु पातुकः ॥ ४२ ॥

मान्धाता! राजा दुष्टोंको दण्ड देनेके कारण यम तथा धार्मिकोंपर अनुग्रह करनेके कारण उनके लिये परमेश्वरके समान है। जब वह अपनी इन्द्रियोंको संयममें रखता है, तब शासनमें समर्थ होता है और जब संयममें नहीं रखता, तब मर्यादासे नीचे गिर जाता है ॥ ४२ ॥

ऋत्विक्पुरोहिताचार्यान् सत्कृत्यानवमन्य च।
यदा सम्यक् प्रगृह्णाति स राज्ञो धर्म उच्यते ॥ ४३ ॥

जब राजा ऋत्विक्, पुरोहित और आचार्यका बिना अवहेलनाके सत्कार करके उनको उचित बर्तावके साथ अपनाता है, तब वह राजाका धर्म कहलाता है ॥ ४३ ॥

यमो यच्छति भूतानि सर्वाण्येवाविशेषतः।
तथा राज्ञानुकर्तव्यं यन्तव्या विधिवत् प्रजाः ॥ ४४ ॥

जैसे यमराज सभी प्राणियोंपर समानरूपसे शासन करते हैं, उसी प्रकार राजाको भी बिना किसी भेदभावके समस्त प्रजाओंपर विधिपूर्वक नियन्त्रण रखना चाहिये ॥ ४४ ॥

सहस्राक्षेण राजा हि सर्वथैवोपमीयते।
स पश्यति च यं धर्मं स धर्मः पुरुषर्षभ ॥ ४५ ॥

पुरुषप्रवर! राजाकी उपमा सब प्रकारसे हजार नेत्रों-

---

1. दुष्टोंको दण्ड देनेका स्वभाव। 2. दीन-दुखियों तथा साधु पुरुषोंके प्रति दया एवं सहानुभूति।

[illegible] जाती है; अतः राजा जिस धर्मको भलीभाँति [illegible] कर देता है वही श्रेष्ठ धर्म माना गया है॥

अप्रमादेन शिक्षेथाः क्षमां बुद्धिं धृतिं मतिम्।
भूतानां चैव जिज्ञासा साध्वसाधु च सर्वदा ॥ ४६ ॥

राजन्! तुम सावधान होकर क्षमा, विवेक, धृति और बुद्धिकी शिक्षा ग्रहण करो। समस्त प्राणियोंकी शक्ति तथा भलाई-बुराईको भी सदा जाननेकी इच्छा करो ॥ ४६ ॥

संग्रहः सर्वभूतानां दानं च मधुरं वचः।
पौरजानपदाश्चैव गोप्तव्यास्ते यथासुखम् ॥ ४७ ॥

समस्त प्राणियोंको अपने अनुकूल बनाये रखना, दान देना और मीठे वचन बोलना सीखो। नगर और बाहर गाँवके लोगोंकी तुम्हें इस प्रकार रक्षा करनी चाहिये, जिससे उन्हें सुख मिले ॥ ४७ ॥

न जात्वदक्षो नृपतिः प्रजाः शक्नोति रक्षितुम्।
भारो हि सुमहांस्तात राज्यं नाम सुदुष्करम् ॥ ४८ ॥

तात! जो दक्ष नहीं है, वह राजा कभी प्रजाकी रक्षा नहीं कर सकता; क्योंकि यह राज्यका संचालनरूप अत्यन्त दुष्कर कार्य बहुत बड़ा भार है ॥ ४८ ॥

तद्दण्डविन्नृपः प्राज्ञः शूरः शक्नोति रक्षितुम्।
न हि शक्यमदण्डेन क्लीबेनाबुद्धिनापि वा ॥ ४९ ॥

राज्यकी रक्षा तो वही राजा कर सकता है, जो बुद्धिमान् और शूरवीर होनेके साथ ही दण्ड देनेकी नीतिको भी जानता हो। जो दण्ड देनेसे हिचकता है, वह नपुंसक और बुद्धिहीन नरेश कदापि राज्यकी रक्षा नहीं कर सकता॥४९॥

अभिरूपैः कुले जातैर्दक्षैर्भक्तैर्बहुश्रुतैः ।
सर्वा बुद्धीः परीक्षेथास्तापसाश्रमिणामपि ॥ ५० ॥

तुम्हें रूपवान्, कुलीन, कार्यदक्ष, राजभक्त एवं बहुश्रुत मन्त्रियोंके साथ रहकर तापसों और आश्रम-वासियोंकी भी सम्पूर्ण बुद्धियों (सारे विचारों) की परीक्षा करनी चाहिये ॥ ५० ॥

अतस्त्वं सर्वभूतानां धर्मं वेत्स्यसि वै परम्।
स्वदेशे परदेशे वा न ते धर्मो विनङ्क्ष्यति ॥ ५१ ॥

ऐसा करनेसे तुमको सम्पूर्ण भूतोंके परम धर्मका ज्ञान हो जायगा; फिर स्वदेशमें रहो या परदेशमें, कहीं भी तुम्हारा धर्म नष्ट नहीं होगा ॥ ५१ ॥

तस्मादर्थाच्च कामाच्च धर्म एवोत्तरो भवेत्।
अस्मिँल्लोके परे चैव धर्मात्मा सुखमेधते ॥ ५२ ॥

इस तरह विचार करनेसे अर्थ और कामकी अपेक्षा धर्म ही श्रेष्ठ सिद्ध होता है। धर्मात्मा पुरुष इहलोकमें और परलोकमें भी सुख भोगता है ॥ ५२ ॥

त्यजन्ति दारान् प्राणांश्च मनुष्याः परिपूजिताः।
संग्रहश्चैव भूतानां दानं च मधुरा च वाक् ॥ ५३ ॥
अप्रमादश्च शौचं च राज्ञो भूतिकरं महत्।
एतेभ्यश्चैव मान्धातः सततं मा प्रमादिथाः ॥ ५४ ॥

यदि मनुष्योंका सम्मान किया जाय तो वे सम्मानदाताके हितके लिये अपने पुत्रों और स्त्रियोंको भी छोड़ देते हैं। समस्त प्राणियोंको अपने पक्षमें मिलाये रखना, दान देना, मीठे वचन बोलना, प्रमादका त्याग करना तथा बाहर और भीतरसे पवित्र रहना—ये राजाका ऐश्वर्य बढ़ानेवाले बहुत बड़े साधन हैं। मान्धाता! तुम इन सब बातोंकी ओरसे कभी प्रमाद न करना ॥ ५३-५४ ॥

अप्रमत्तो भवेद् राजा छिद्रदर्शी परात्मनोः।
नास्यच्छिद्रं परः पश्येच्छिद्रेषु परमन्वियात् ॥ ५५ ॥

राजाको सदा सावधान रहना चाहिये। वह शत्रुका तथा अपना भी छिद्र देखे और यह प्रयत्न करे कि शत्रु मेरा छिद्र अच्छी तरह न देखने पाये; परंतु यदि शत्रुके छिद्रों (दुर्बलताओं) का पता लग जाय तो वह उसपर चढ़ाई कर दे ॥ ५५ ॥

एतद् वृत्तं वासवस्य यमस्य वरुणस्य च।
राजर्षीणां च सर्वेषां तत् त्वमप्यनुपालय ॥ ५६ ॥

इन्द्र, यम, वरुण तथा सम्पूर्ण राजर्षियोंका यही बर्ताव है, तुम भी इसका निरन्तर पालन करो ॥ ५६ ॥

तत् कुरुष्व महाराज वृत्तं राजर्षिसेवितम्।
आतिष्ठ दिव्यं पन्थानमह्नाय पुरुषर्षभ ॥ ५७ ॥

पुरुषप्रवर महाराज! राजर्षियोंद्वारा सेवित उस आचारका तुम पालन करो और शीघ्र ही प्रकाशयुक्त दिव्य मार्गका आश्रय लो ॥ ५७ ॥

धर्मवृत्तं हि राजानं प्रेत्य चेह च भारत।
देवर्षिपितृगन्धर्वाः कीर्तयन्ति महौजसः ॥ ५८ ॥

भारत! * महातेजस्वी देवता, ऋषि, पितर और गन्धर्व इहलोक और परलोकमें भी धर्मपरायण राजाके यशका गान करते रहते हैं ॥ ५८ ॥

भीष्म उवाच

स एवमुक्तो मान्धाता तेनोतथ्येन भारत।
कृतवानविशङ्कश्च एकः प्राप च मेदिनीम् ॥ ५९ ॥

भीष्मजी कहते हैं—भरतनन्दन! उतथ्यके इस प्रकार उपदेश देनेपर मान्धाताने निःशङ्क होकर उनकी आज्ञाका पालन किया और सारी पृथ्वीका एकछत्र राज्य पा लिया ॥ ५९ ॥

भवानपि तथा सम्यङ्मान्धातेव महीपते।

* उतथ्यने राजा मान्धाताको उपदेश दिया है और मान्धाता सूर्यवंशी नरेश थे, इसलिये उनके उद्देश्यसे 'भारत' सम्बोधन पद यद्यपि उचित नहीं है तथापि यह प्रसंग भीष्मजी युधिष्ठिरको सुनाते हैं; अतः यह समझना चाहिये कि युधिष्ठिरके उद्देश्यसे उन्होंने यहाँ 'भारत' विशेषणका प्रयोग किया है।

धर्मं कृत्वा महीं रक्ष स्वर्गे स्थानमवाप्स्यसि ॥ ६० ॥

पृथ्वीनाथ ! मान्धाताकी ही भाँति तुम भी अच्छी तरह धर्मका पालन करते हुए इस पृथ्वीकी रक्षा करो; फिर तुम भी स्वर्गलोकमें स्थान प्राप्त कर लोगे ॥ ६० ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि राजधर्मानुशासनपर्वणि उतथ्यगीतासु एकनवतितमोऽध्यायः ॥ ९१ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत राजधर्मानुशासनपर्वमें उतथ्यगीताविषयक इक्यानबेवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ९१ ॥

द्विनवतितमोऽध्यायः

राजाके धर्मपूर्वक आचारके विषयमें वामदेवजीका वसुमनाको उपदेश

युधिष्ठिर उवाच

कथं धर्मे स्थातुमिच्छन् राजा वर्तेत धार्मिकः ।
पृच्छामि त्वां कुरुश्रेष्ठ तन्मे ब्रूहि पितामह ॥ १ ॥

युधिष्ठिरने पूछा—कुरुश्रेष्ठ पितामह ! धर्मात्मा राजा यदि धर्ममें स्थित रहना चाहे तो उसे किस प्रकार बर्ताव करना चाहिये ? यह मैं आपसे पूछता हूँ; आप मुझे बताइये ॥ १ ॥

भीष्म उवाच

अत्राप्युदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम् ।
गीतं दृष्टार्थतत्त्वेन वामदेवेन धीमता ॥ २ ॥

भीष्मजीने कहा—राजन् ! इस विषयमें लोग तत्त्वज्ञानी महात्मा वामदेवजीद्वारा दिये हुए उपदेशरूप एक प्राचीन इतिहासका उदाहरण दिया करते हैं ॥ २ ॥

राजा वसुमना नाम ज्ञानवान् धृतिमाञ्शुचिः ।
महर्षिं परिपप्रच्छ वामदेवं तपस्विनम् ॥ ३ ॥

वसुमना नामक एक प्रसिद्ध राजा हो गये हैं, जो ज्ञानवान्, धैर्यवान् और पवित्र आचार-विचारवाले थे । उन्होंने एक दिन तपस्वी महर्षि वामदेवजीसे पूछा—॥ ३ ॥

धर्मार्थसहितैर्वाक्यैर्भगवन्ननुशाधि माम् ।
येन वृत्तेन वै तिष्ठन् न हीयेयं स्वधर्मतः ॥ ४ ॥

'भगवन् ! मैं किस बर्तावका पालन करता रहूँ, जिससे अपने धर्मसे कभी न गिरूँ । आप अपने अर्थ और धर्मयुक्त वचनोंद्वारा मुझे इसी बातका उपदेश दीजिये' ॥ ४ ॥

तमब्रवीद् वामदेवस्तेजस्वी तपतां वरः ।
हेमवर्णं सुखासीनं ययातिमिव नाहुषम् ॥ ५ ॥

तब तपस्वी पुरुषोंमें श्रेष्ठ तेजस्वी महर्षि वामदेवने नहुषपुत्र ययातिके समान सुखपूर्वक बैठे हुए सुवर्णकी-सी कान्तिवाले राजा वसुमनासे कहा ॥ ५ ॥

वामदेव उवाच

धर्ममेवानुवर्तस्व न धर्माद् विद्यते परम् ।
धर्मे स्थिता हि राजानो जयन्ति पृथिवीमिमाम् ॥ ६ ॥

वामदेवजी बोले—राजन् ! तुम धर्मका ही अनुसरण करो । धर्मसे बढ़कर दूसरी कोई वस्तु नहीं है; क्योंकि धर्ममें स्थित रहनेवाले राजा इस सारी पृथ्वीको जीत लेते हैं ॥ ६ ॥

अर्थसिद्धेः परं धर्मं मन्यते यो महीपतिः ।
वृद्ध्यां च कुरुते बुद्धिं स धर्मेण विराजते ॥ ७ ॥

जो भूपाल धर्मको अर्थ-सिद्धिकी अपेक्षा भी बड़ा मानता है और उसीको बढ़ानेमें अपने मन और बुद्धिका उपयोग करता है, वह धर्मके कारण बड़ी शोभा पाता है ॥ ७ ॥

अधर्मदर्शी यो राजा बलादेव प्रवर्तते ।
क्षिप्रमेवापयातोऽस्मादुभौ प्रथममध्यमौ ॥ ८ ॥

इसके विपरीत जो राजा अधर्मपर ही दृष्टि रखकर बलपूर्वक उसमें प्रवृत्त होता है, उसे धर्म और अर्थ दोनों पुरुषार्थ शीघ्र छोड़कर चल देते हैं ॥ ८ ॥

असत्पापिष्ठसचिवो वध्यो लोकस्य धर्महा ।
सहैव परिवारेण क्षिप्रमेवावसीदति ॥ ९ ॥

जो दुष्ट एवं पापिष्ठ मन्त्रियोंकी सहायतासे धर्मको हानि पहुँचाता है, वह सब लोगोंका वध्य हो जाता है और अपने परिवारके साथ ही शीघ्र संकटमें पड़ जाता है ॥ ९ ॥

अर्थानामननुष्ठाता कामचारी विकत्थनः ।
अपि सर्वां महीं लब्ध्वा क्षिप्रमेव विनश्यति ॥ १० ॥

जो राजा अर्थ-सिद्धिकी चेष्टा नहीं करता और स्वेच्छाचारी हो बढ़-बढ़कर बातें बनाता है, वह सारी पृथ्वीका राज्य पाकर भी शीघ्र ही नष्ट हो जाता है ॥ १० ॥

अथाददानः कल्याणमनसूयुर्जितेन्द्रियः ।
वर्धते मतिमान् राजा स्रोतोभिरिव सागरः ॥ ११ ॥

परंतु जो कल्याणकारी गुणोंको ग्रहण करनेवाला, अनिन्दक, जितेन्द्रिय और बुद्धिमान् होता है, वह राजा उसी प्रकार वृद्धिको प्राप्त होता है, जैसे नदियोंके प्रवाहसे समुद्र ॥ ११ ॥

न पूर्णोऽस्मीति मन्येत धर्मतः कामतोऽर्थतः ।
बुद्धितो मित्रतश्चापि सततं वसुधाधिपः ॥ १२ ॥

राजाको चाहिये कि वह सदा धर्म, अर्थ, काम, बुद्धि और मित्रोंसे सम्पन्न होनेपर भी कभी अपनेको पूर्ण न माने—सदा उन सबके संग्रहको बढ़ानेकी ही चेष्टा करे ॥ १२ ॥

एतेष्वेव हि सर्वेषु लोकयात्रा प्रतिष्ठिता ।
एतानि शृण्वँल्लभते यशः कीर्तिं श्रियं प्रजाः ॥ १३ ॥

राजाकी जीवनयात्रा इन्हीं सबोंपर अवलम्बित है । इन सबको सुनने और ग्रहण करनेसे राजाको यश, कीर्ति, लक्ष्मी और प्रजाकी प्राप्ति होती है ॥ १३ ॥

एवं यो धर्मसंरम्भी धर्मार्थपरिचिन्तकः ।
अर्थान् समीक्ष्य भजते स ध्रुवं महदश्नुते ॥ १४ ॥

जो इस प्रकार धर्मके प्रति आग्रह रखनेवाला एवं धर्म और अर्थका चिन्तन करनेवाला है तथा अर्थपर भलीभाँति विचार करके उसका सेवन करता है, वह निश्चय ही महान् फलका भागी होता है ॥ १४ ॥

अदाता ह्यनतिस्नेहो दण्डेनावर्तयन् प्रजाः ।
साहसप्रकृती राजा क्षिप्रमेव विनश्यति ॥ १५ ॥

जो दुःसाहसी, दान न देनेवाला और स्नेहशून्य तथा दण्डके द्वारा प्रजाको बारम्बार सताता है, वह राजा शीघ्र ही नष्ट हो जाता है ॥ १५ ॥

अथ पापकृतं बुद्ध्या न च पश्यत्यबुद्धिमान् ।
अकीर्त्याभिसमायुक्तो भूयो नरकमश्नुते ॥ १६ ॥

जो बुद्धिहीन राजा पाप करके भी अपनी बुद्धिके द्वारा अपनेको पापी नहीं समझता, वह इस लोकमें अपकीर्तिसे कलङ्कित हो परलोकमें नरकका भागी होता है ॥ १६ ॥

अथ मानयितुर्दातुः श्लक्ष्णस्य वशवर्तिनः ।
व्यसनं स्वमिवोत्पन्नं विजिघांसन्ति मानवाः ॥ १७ ॥

जो सबका मान करनेवाला, दानी, स्नेहयुक्त तथा दूसरोंके वशवर्ती होकर रहता है, उसपर यदि कोई संकट आ जाय तो सब लोग उसे अपना ही संकट मानकर उसको मिटानेकी चेष्टा करते हैं ॥ १७ ॥

यस्य नास्ति गुरुर्धर्मे न चान्यानपि पृच्छति ।
सुखतन्त्रोऽर्थलाभेषु न चिरं सुखमश्नुते ॥ १८ ॥

जिसको धर्मके विषयमें शिक्षा देनेवाला कोई गुरु नहीं है और जो दूसरोंसे भी कुछ नहीं पूछता है तथा धन मिल जानेपर सुखभोगमें आसक्त हो जाता है, वह दीर्घकालतक सुख नहीं भोग पाता है ॥ १८ ॥

गुरुप्रधानो धर्मेषु स्वयमर्थान्वेक्षिता ।
धर्मप्रधानो लाभेषु स चिरं सुखमश्नुते ॥ १९ ॥

जो धर्मके विषयमें गुरुको प्रधान मानकर उनके उपदेशके अनुसार चलता है, जो स्वयं ही अर्थ-सम्बन्धी सारे कार्योंको देखता है तथा सब प्रकारके लाभोंमें धर्मको ही प्रधान लाभ समझता है, वह चिरकालतक सुखका उपभोग करता है ॥ १९ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि राजधर्मानुशासनपर्वणि वामदेवगीतासु द्विनवतितमोऽध्यायः ॥ ९२ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत राजधर्मानुशासनपर्वमें वामदेवजीकी गीताविषयक बानबेवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ९२ ॥

त्रिनवतितमोऽध्यायः

वामदेवजीके द्वारा राजोचित बर्तावका वर्णन

वामदेव उवाच

यत्राधर्मं प्रणयते दुर्बले बलवत्तरः ।
तां वृत्तिमुपजीवन्ति ये भवन्ति तदन्वयाः ॥ १ ॥

वामदेवजी कहते हैं—राजन् ! जिस राज्यमें अत्यन्त बलवान् राजा दुर्बल प्रजापर अधर्म या अत्याचार करने लगता है, वहाँ उसके अनुचर भी उसी बर्तावको अपनी जीविकाका साधन बना लेते हैं ॥ १ ॥

राजानमनुवर्तन्ते तं पापाभिप्रवर्तकम् ।
अविनीतमनुष्यं तत् क्षिप्रं राष्ट्रं विनश्यति ॥ २ ॥

वे उस पापप्रवर्तक राजाका ही अनुसरण करते हैं; अतः उद्दण्ड मनुष्योंसे भरा हुआ वह राष्ट्र शीघ्र ही नष्ट हो जाता है ॥ २ ॥

यद् वृत्तमुपजीवन्ति प्रकृतिस्थस्य मानवाः ।
तदेव विषमस्थस्य स्वजनोऽपि न मृष्यते ॥ ३ ॥

अच्छी अवस्थामें रहनेपर मनुष्यके जिस बर्तावका दूसरे लोग भी आश्रय लेते हैं, संकटमें पड़ जानेपर उसी मनुष्यके उसी बर्तावको उसके स्वजन भी नहीं सहन करते हैं ॥ ३ ॥

साहसप्रकृतिर्यत्र किंचिदुल्बणमाचरेत् ।
अशास्त्रलक्षणो राजा क्षिप्रमेव विनश्यति ॥ ४ ॥

दुःसाहसी प्रकृतिवाला जो राजा जहाँ कुछ उद्दण्डतापूर्ण बर्ताव करता है, वहाँ शास्त्रोक्त मर्यादाका उल्लङ्घन करनेवाला वह राजा शीघ्र ही नष्ट हो जाता है ॥ ४ ॥

योऽत्यन्ताचरितां वृत्तिं क्षत्रियो नानुवर्तते ।
जितानामजितानां च क्षत्रधर्मादपैति सः ॥ ५ ॥

जो क्षत्रिय राज्यमें रहनेवाले विजित या अविजित मनुष्योंकी अत्यन्त आचरणमें लायी हुई वृत्तिका अनुवर्तन नहीं करता (अर्थात् उनलोगोंको अपने परम्परागत आचार-विचारका पालन नहीं करने देता) वह क्षत्रिय-धर्मसे गिर जाता है ॥ ५ ॥

द्विषन्तं कृतकल्याणं गृहीत्वा नृपतिं रणे ।
यो न मानयते द्वेषात् क्षत्रधर्मादपैति सः ॥ ६ ॥

यदि कोई राजा पहलेका उपकारी हो और किसी कारणवश वर्तमानकालमें द्वेष करने लगा हो तो उस समय जो भूपाल उसे युद्धमें बंदी बनाकर द्वेषवश उसका सम्मान नहीं करता, वह भी क्षत्रियधर्मसे गिर जाता है ॥ ६ ॥

शक्तः स्यात् सुसुखो राजा कुर्यात् कारणमापदि ।
प्रियो भवति भूतानां न च विभ्रश्यते श्रियः ॥ ७ ॥

राजा यदि समर्थ हो तो उत्तम सुखका अनुभव करे और करावे तथा आपत्तिमें पड़ जाय तो उसके निवारणका प्रयत्न करे । ऐसा करनेसे वह सब प्राणियोंका प्रिय होता है और कभी राजलक्ष्मीसे भ्रष्ट नहीं होता ॥ ७ ॥

अप्रियं यस्य कुर्वीत भूयस्तस्य प्रियं चरेत् ।
नचिरेण प्रियः स स्याद् योऽप्रियः प्रियमाचरेत् ॥ ८ ॥

राजाको चाहिये कि यदि किसीका अप्रिय किया हो तो फिर उसका प्रिय भी करे । इस प्रकार यदि अप्रिय पुरुष भी प्रिय करने लगता है तो थोड़े ही समयमें वह प्रिय हो जाता है ॥ ८ ॥

मृषावादं परिहरेत् कुर्यात् प्रियमयाचितः ।
न कामान्न च संरम्भान्न द्वेषाद् धर्ममुत्सृजेत् ॥ ९ ॥

मिथ्या भाषण करना छोड़ दे, बिना याचना या प्रार्थना किये ही दूसरोंका प्रिय करे। किसी कामनासे, क्रोधसे तथा द्वेषसे भी धर्मका त्याग न करे ॥ ९ ॥

(अमाययैव वर्तेत न च सत्यं त्यजेद् बुधः ॥
दमं धर्मं च शीलं च क्षत्रधर्मं प्रजाहितम् ॥)
नापत्रपेत प्रश्नेषु नाविभाव्यां गिरं सृजेत् ।
न त्वरेत न चासूयेत् तथा संगृह्यते परः ॥ १० ॥

विद्वान् राजा छल-कपट छोड़कर ही बर्ताव करे। सत्यको कभी न छोड़े। इन्द्रिय-संयम, धर्माचरण, सुशीलता, क्षत्रिय-धर्म तथा प्रजाके हितका कभी परित्याग न करे। यदि कोई कुछ पूछे तो उसका उत्तर देनेमें संकोच न करे, बिना विचारे कोई बात मुँहसे न निकाले, किसी काममें जल्दबाजी न करे और किसीकी निन्दा न करे, ऐसा बर्ताव करनेसे शत्रु भी अपने वशमें हो जाता है ॥ १० ॥

प्रिये नातिभृशं हृष्येदप्रिये न च संज्वरेत् ।
न तप्येदर्थकृच्छ्रेषु प्रजाहितमनुस्मरन् ॥ ११ ॥

यदि अपना प्रिय हो जाय तो बहुत प्रसन्न न हो और अप्रिय हो जाय तो अत्यन्त चिन्ता न करे। यदि आर्थिक संकट आ पड़े तो प्रजाके हितका चिन्तन करते हुए तनिक भी संतप्त न हो ॥ ११ ॥

यः प्रियं कुरुते नित्यं गुणतो वसुधाधिपः ।
तस्य कर्माणि सिद्ध्यन्ति न च संत्यज्यते श्रिया॥ १२ ॥

जो भूपाल अपने गुणोंसे सदा सबका प्रिय करता है, उसके सभी कर्म सफल होते हैं और सम्पत्ति कभी उसका साथ नहीं छोड़ती ॥ १२ ॥

निवृत्तं प्रतिकूलेषु वर्तमानमनुप्रिये ।
भक्तं भजेत नृपतिः सदैव सुसमाहितः ॥ १३ ॥

राजा सदा सावधान रहकर अपने उस सेवकको हर तरहसे अपनावे, जो प्रतिकूल कार्योंसे अलग रहता हो और राजाका निरन्तर प्रिय करनेमें ही संलग्न हो ॥ १३ ॥

अप्रकीर्णेन्द्रियग्राममत्यन्तानुगतं शुचिम् ।
शक्तं चैवानुरक्तं च युञ्ज्यान्महति कर्मणि ॥ १४ ॥

जो बड़े-बड़े काम हों, उनपर जितेन्द्रिय, अत्यन्त अनुगत, पवित्र आचार-विचारवाले, शक्तिशाली और अनुरक्त पुरुषको नियुक्त करे ॥ १४ ॥

एवमेतैर्गुणैर्युक्तो योऽनुरज्यति भूमिपम् ।
भर्तुरर्थेष्वप्रमत्तं नियुज्यादर्थकर्मणि ॥ १५ ॥

इसी प्रकार जिसमें वे सब गुण मौजूद हों, जो राजाको प्रसन्न भी रख सकता हो तथा स्वामीका कार्य सिद्ध करनेके लिये सतत सावधान रहता हो, उसको धनकी व्यवस्थाके कार्यमें लगावे ॥ १५ ॥

मूढमैन्द्रियकं लुब्धमनार्यचरितं शठम् ।
अनतीतोपधं हिंस्रं दुर्बुद्धिमबहुश्रुतम् ॥ १६ ॥
त्यक्तोदात्तं मद्यरतं द्यूतस्त्रीमृगयापरम् ।
कार्ये महति युञ्जानो हीयते नृपतिः श्रिया ॥ १७ ॥

मूर्ख, इन्द्रियलोलुप, लोभी, दुराचारी, शठ, कपटी, हिंसक, दुर्बुद्धि, अनेक शास्त्रोंके ज्ञानसे शून्य, उच्चभावनासे रहित, शराबी, जुआरी, स्त्रीलम्पट और मृगयासक्त पुरुषको जो राजा महत्त्वपूर्ण कार्योंपर नियुक्त करता है, वह लक्ष्मीसे हीन हो जाता है ॥ १६-१७ ॥

रक्षितात्मा च यो राजा रक्ष्यान् यश्चानुरक्षति ।
प्रजाश्च तस्य वर्धन्ते ध्रुवं च महदश्नुते ॥ १८ ॥

जो नरेश अपने शरीरकी रक्षा करके रक्षणीय पुरुषोंकी भी सदा रक्षा करता है, उसकी प्रजा अभ्युदयशील होती है और वह राजा भी निश्चय ही महान् फलका भागी होता है ॥

ये केचिद् भूमिपतयः सर्वांस्तानन्ववेक्षयेत् ।
सुहृद्भिरनभिख्यातैस्तेन राजातिरिच्यते ॥ १९ ॥

जो राजा अपने अप्रसिद्ध सुहृदोंके द्वारा गुप्तरूपसे समस्त भूपतियोंकी अवस्थाका निरीक्षण कराता है, वह अपने इस बर्तावके द्वारा सर्वश्रेष्ठ हो जाता है ॥ १९ ॥

अपकृत्य बलस्थस्य दूरस्थोऽस्मीति नाश्वसेत् ।
श्येनाभिपतनैरेते निपतन्ति प्रमाद्यतः ॥ २० ॥

किसी बलवान् शत्रुका अपकार करके हम दूर जाकर रहेंगे, ऐसा समझकर निश्चिन्त नहीं होना चाहिये; क्योंकि जैसे बाज पक्षी झपट्टा मारता है, उसी प्रकार ये दूरस्थ शत्रु भी असावधानीकी अवस्थामें टूट पड़ते हैं ॥ २० ॥

दृढमूलस्त्वदुष्टात्मा विदित्वा बलमात्मनः ।
अबलानभियुञ्जीत न तु ये बलवत्तराः ॥ २१ ॥

राजा अपनेको दृढमूल (अपनी राजधानीको सुरक्षित) करके विरोधी लोगोंको दूर रखकर अपनी शक्तिको समझ ले; फिर अपनेसे दुर्बल शत्रुपर ही आक्रमण करे। जो अपनेसे प्रबल हों, उनपर आक्रमण न करे ॥ २१ ॥

विक्रमेण महीं लब्ध्वा प्रजा धर्मेण पालयेत् ।
आहवे निधनं कुर्याद् राजा धर्मपरायणः ॥ २२ ॥

पराक्रमसे इस पृथ्वीको प्राप्त करके धर्मपरायण राजा अपनी प्रजाका धर्मपूर्वक पालन करे तथा युद्धमें शत्रुओंका संहार कर डाले ॥ २२ ॥

मरणान्तमिदं सर्वं नेह किञ्चिदनामयम् ।
तस्माद् धर्मे स्थितो राजा प्रजा धर्मेण पालयेत् ॥ २३ ॥

राजन्! इस जगत्के सभी पदार्थ अन्तमें नष्ट होनेवाले हैं; यहाँ कोई भी वस्तु नीरोग या अविनाशी नहीं है। इसलिये राजाको धर्मपर स्थित रहकर प्रजाका धर्मके अनुसार ही पालन करना चाहिये ॥ २३ ॥

रक्षाधिकरणं युद्धं तथा धर्मानुशासनम् ।
मन्त्रचिन्ता सुखं काले पञ्चभिर्वर्धते मही ॥ २४ ॥

रक्षाके स्थान दुर्ग आदि, युद्ध, धर्मके अनुसार राज्यका शासन, मन्त्र-चिन्तन तथा यथासमय सबको सुख प्रदान

... द्वारा राज्यकी वृद्धि होती है ॥ २४ ॥

एतानि यस्य गुप्तानि स राजा राजसत्तमः ।
सततं वर्तमानोऽत्र राजा धत्ते महीमिमाम् ॥ २५ ॥

जिसकी ये सब बातें गुप्त या सुरक्षित रहती हैं, वह राजा समस्त राजाओंमें श्रेष्ठ माना जाता है। इनके पालनमें सदा संलग्न रहनेवाला नरेश ही इस पृथ्वीकी रक्षा कर सकता है ॥

नैतान्येकेन शक्यानि सातत्येनानुवीक्षितुम् ।
तेषु सर्वं प्रतिष्ठाप्य राजा भुङ्क्ते चिरं महीम् ॥ २६ ॥

एक ही पुरुष इन सभी बातोंपर सदा ध्यान नहीं रख सकता; इसलिये इन सबका भार सुयोग्य अधिकारियोंको सौंपकर राजा चिरकालतक इस भूतलका राज्य भोग सकता है ॥

दातारं संविभक्तारं मार्दवोपगतं शुचिम् ।
असंत्यक्तमनुष्यं च तं जनाः कुर्वते नृपम् ॥ २७ ॥

जो पुरुष दानशील, सबके लिये सम्यक् विभागपूर्वक आवश्यक वस्तुओंका वितरण करनेवाला, मृदुलस्वभाव, शुद्ध आचार-विचारवाला तथा मनुष्योंका त्याग न करनेवाला होता है, उसीको लोग राजा बनाते हैं ॥ २७ ॥

यस्तु निःश्रेयसं श्रुत्वा ज्ञानं तत् प्रतिपद्यते ।
आत्मनो मतमुत्सृज्य तं लोकोऽनुविधीयते ॥ २८ ॥

जो कल्याणकारी उपदेश सुनकर अपने मतका आग्रह छोड़ उस ज्ञानको ग्रहण कर लेता है, उसके पीछे यह सारा जगत् चलता है ॥ २८ ॥

योऽर्थकामस्य वचनं प्रातिकूल्यान्न मृष्यते ।
शृणोति प्रतिकूलानि सर्वदा विमना इव ॥ २९ ॥
अग्राम्यचरितां वृत्तिं यो न सेवेत नित्यदा ।
जितानामजितानां च क्षत्रधर्मादपैति सः ॥ ३० ॥

जो मनके प्रतिकूल होनेके कारण अपने ही प्रयोजनकी सिद्धि चाहनेवाले सुहृद्की बात नहीं सहन करता और अपनी अर्थसिद्धिके विरोधी वचनोंको भी सुनता है, सदा अनमना-सा रहता है; जो बुद्धिमान् शिष्ट पुरुषोंद्वारा आचरणमें लाये हुए बर्तावका सदा सेवन नहीं करता एवं पराजित या अपराजित व्यक्तियोंको उनके परम्परागत आचारका पालन नहीं करने देता, वह क्षत्रिय-धर्मसे गिर जाता है ॥ २९-३० ॥

निगृहीतादमात्याच्च स्त्रीभ्यश्चैव विशेषतः ।
पर्वताद् विषमाद् दुर्गाद्धस्तिनोऽश्वात् सरीसृपात् ।
एतेभ्यो नित्ययुक्तः सन् रक्षेदात्मानमेव तु ॥ ३१ ॥

जिसको कभी कैद किया गया हो ऐसे मन्त्रीसे, विशेषतः स्त्रियोंसे, विषम पर्वतसे, दुर्गम स्थानसे तथा हाथी, घोड़े और सर्पोंसे सदा सावधान रहकर राजा अपनी रक्षा करे ॥ ३१ ॥

मुख्यानमात्यान् यो हित्वा निहीनान् कुरुते प्रियान् ।
स वै व्यसनमासाद्य गाधमार्तो न विन्दति ॥ ३२ ॥

जो प्रधान मन्त्रियोंका त्याग करके निम्न श्रेणीके मनुष्योंको अपना प्रिय बनाता है, वह संकटके घोर समुद्रमें पड़कर पीड़ित हो कहीं आश्रय नहीं पाता है ॥ ३२ ॥

यः कल्याणगुणाञ्ज्ञातीन् प्रद्वेषान्नो बुभूषति ।
अदृढात्मा दृढक्रोधः स मृत्योर्वसतेऽन्तिके ॥ ३३ ॥

जो द्वेषवश कल्याणकारी गुणोंवाले अपने सजातीय बन्धुओं एवं कुटुम्बीजनोंका सम्मान नहीं करता, जिसका चित्त चञ्चल है तथा जो क्रोधको दृढ़तापूर्वक पकड़े रहनेवाला है, वह सदा मृत्युके समीप निवास करता है ॥ ३३ ॥

अथ यो गुणसम्पन्नान् हृदयस्याप्रियानपि ।
प्रियेण कुरुते वश्यांश्चिरं यशसि तिष्ठति ॥ ३४ ॥

जो राजा हृदयको प्रिय लगनेवाले न होनेपर भी गुणवान् पुरुषोंको प्रीतिजनक बर्तावद्वारा अपने वशमें कर लेता है, वह दीर्घकालतक यशस्वी बना रहता है ॥ ३४ ॥

नाकाले प्रणयेदर्थान्नाप्रिये जातु संज्वरेत् ।
प्रिये नातिभृशं तुष्येद् युज्येतारोग्यकर्मणि ॥ ३५ ॥

राजाको चाहिये कि वह असमयमें कर लगाकर धन-संग्रहकी चेष्टा न करे। कोई अप्रिय कार्य हो जानेपर कभी चिन्ताकी आगमें न जले और प्रिय कार्य बन जानेपर अत्यन्त हर्षसे फूल न उठे और अपने शरीरको नीरोग बनाये रखनेके कार्यमें तत्पर रहे ॥ ३५ ॥

के मानुरक्ता राजानः के भयात् समुपाश्रिताः ।
मध्यस्थदोषाः के चैषामिति नित्यं विचिन्तयेत् ॥ ३६ ॥

इस बातका ध्यान रक्खे कि कौन राजा मुझसे प्रेम रखते हैं? कौन भयके कारण मेरा आश्रय लिये हुए हैं? इनमेंसे कौन मध्यस्थ हैं और कौन-कौन नरेश मेरे शत्रु बने हुए हैं? ॥ ३६ ॥

न जातु बलवान् भूत्वा दुर्बले विश्वसेत् क्वचित् ।
भारुण्डसदृशा ह्येते निपतन्ति प्रमाद्यतः ॥ ३७ ॥

राजा स्वयं बलवान् होकर भी कभी अपने दुर्बल शत्रुका विश्वास न करे; क्योंकि ये असावधानीकी दशामें बाज पक्षीकी तरह झपट्टा मारते हैं ॥ ३७ ॥

अपि सर्वगुणैर्युक्तं भर्तारं प्रियवादिनम् ।
अभिद्रुह्यति पापात्मा न तस्माद् विश्वसेज्जनात् ॥ ३८ ॥

जो पापात्मा मनुष्य अपने सर्वगुणसम्पन्न और सर्वदा प्रिय वचन बोलनेवाले स्वामीसे भी अकारण द्रोह करता है, उसपर कभी विश्वास नहीं करना चाहिये ॥ ३८ ॥

एवं राजोपनिषदं ययातिः स्माह नाहुषः ।
मनुष्यविषये युक्तो हन्ति शत्रूननुत्तमान् ॥ ३९ ॥

नहुषपुत्र राजा ययातिने मानवमात्रके हितमें तत्पर हो इस राजोपनिषद्का वर्णन किया है। जो इसमें निष्ठा रखकर इसके अनुसार चलता है, वह बड़े-बड़े शत्रुओंका विनाश कर डालता है ॥ ३९ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि राजधर्मानुशासनपर्वणि वामदेवगीतासु त्रिनवतितमोऽध्यायः ॥ ९३ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत राजधर्मानुशासनपर्वमें वामदेवगीताविषयक तिरानबेवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ९३ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठका १ श्लोक मिलाकर कुल ४० श्लोक हैं)

चतुर्नवतितमोऽध्यायः

वामदेवके उपदेशमें राजा और राज्यके लिये हितकर वर्ताव

वामदेव उवाच

अयुद्धेनैव विजयं वर्धयेद् वसुधाधिपः।
जघन्यमाहुर्विजयं युद्धेन च नराधिप ॥ १ ॥

वामदेवजी कहते हैं—नरेश्वर! राजा युद्धके सिवा किसी और ही उपायसे पहले अपनी विजय-वृद्धिकी चेष्टा करे; युद्धसे जो विजय प्राप्त होती है, उसे निम्न श्रेणीकी बताया गया है ॥ १ ॥

न चाप्यलब्धं लिप्सेत मूले नातिदृढे सति।
न हि दुर्बलमूलस्य राज्ञो लाभो विधीयते ॥ २ ॥

यदि राज्यकी जड़ मजबूत न हो तो राजाको अप्राप्त वस्तुकी प्राप्ति—अनधिकृत देशोंपर अधिकारकी इच्छा नहीं करनी चाहिये; क्योंकि जिसके मूलमें ही दुर्बलता है, उस राजाको वैसा लाभ होना सम्भव नहीं है ॥ २ ॥

यस्य स्फीतो जनपदः सम्पन्नः प्रियराजकः।
संतुष्टपुष्टसचिवो दृढमूलः स पार्थिवः ॥ ३ ॥

जिस राजाका देश समृद्धिशाली, धनधान्यसे सम्पन्न, राजाको प्रिय माननेवाले मनुष्योंसे परिपूर्ण और हृष्ट-पुष्ट मन्त्रियोंसे सुशोभित है, उसीकी जड़ मजबूत समझनी चाहिये ॥

यस्य योधाः सुसंतुष्टाः सान्त्विताः सूपधास्थिताः।
अल्पेनापि स दण्डेन महीं जयति पार्थिवः ॥ ४ ॥

जिसके सैनिक संतुष्ट, राजाके द्वारा सान्त्वनाप्राप्त और शत्रुओंको धोखा देनेमें चतुर हों, वह भूपाल थोड़ी-सी सेनाके द्वारा भी पृथ्वीपर विजय पा लेता है ॥ ४ ॥

(दण्डो हि बलवान् यत्र तत्र साम प्रयुज्यते।
प्रदानं सामपूर्वं च भेदमूलं प्रशस्यते ॥

जिस स्थानपर शत्रुपक्षकी सेना अधिक प्रबल हो, वहाँ पहले सामनीतिका ही प्रयोग करना उचित है। यदि उससे काम न चले तो धन या उपहार देनेकी नीतिको अपनाना चाहिये। इस दाननीतिके मूलमें भी यदि भेदनीतिका समावेश हो अर्थात् शत्रुओंमें फूट डालनेकी चेष्टा की जा रही हो तो उसे उत्तम माना गया है ॥

त्रयाणां विफलं कर्म यदा पश्येत भूमिपः।
रन्ध्रं ज्ञात्वा ततो दण्डं प्रयुञ्जीताविचारयन् ॥)

जब राजा साम, दान और भेद—तीनोंका प्रयोग निष्फल देखे, तब शत्रुकी दुर्बलताका पता लगाकर दूसरा कोई विचार मनमें न लाते हुए दण्डनीतिका ही प्रयोग करे—शत्रुके साथ युद्ध छेड़ दे ॥

पौरजानपदा यस्य भूतेषु च दयालवः।
सधना धान्यवन्तश्च दृढमूलः स पार्थिवः ॥ ५ ॥

जिसके नगर और जनपदमें रहनेवाले लोग समस्त प्राणियोंपर दया करनेवाले और धन-धान्यसे सम्पन्न होते हैं, उस राजाकी जड़ मजबूत समझी जाती है ॥ ५ ॥

(राष्ट्रकर्मकरा ह्येते राष्ट्रस्य च विरोधिनः।
दुर्विनीता विनीताश्च सर्वे साध्याः प्रयत्नतः ॥

ये नगर और जनपदके लोग राष्ट्रके कार्यकी सिद्धि करनेवाले और उसके विरोधी भी होते हैं। उद्दण्ड और विनयशील भी होते हैं। उन सबको प्रयत्नपूर्वक अपने वशमें करना चाहिये ॥

चाण्डालम्लेच्छजात्याश्च पाषण्डाश्च विकर्मिणः।
बलिनश्चाश्रमाश्चैव तथा गायकनर्तकाः ॥
यस्य राष्ट्रे वसन्त्येते धान्योपचयकारिणः।
आयवृद्धौ सहायाश्च दृढमूलः स पार्थिवः ॥)

चाण्डाल, म्लेच्छ, पाखण्डी, शास्त्र-विरुद्ध कर्म करनेवाले, बलवान्, सभी आश्रमोंके निवासी तथा गायक और नर्तक—इन सबको प्रयत्नपूर्वक वशमें करना चाहिये। जिसके राज्यमें ये सब लोग धन-धान्यकी वृद्धि करनेवाले और आय बढ़नेमें सहायक होकर रहते हैं, उस राजाकी जड़ मजबूत समझी जाती है ॥

प्रतापकालमधिकं यदा मन्येत चात्मनः।
तदा लिप्सेत मेधावी परभूमिधनान्युत ॥ ६ ॥

बुद्धिमान् राजा जब अपने प्रतापको प्रकाशित करनेका उपयुक्त अवसर समझे, तभी दूसरेका राज्य और धन लेनेकी चेष्टा करे ॥ ६ ॥

भोगेषूदयमानस्य भूतेषु च दयावतः।
वर्धते त्वरमाणस्य विषयो रक्षितात्मनः ॥ ७ ॥

जिसके वैभव-भोग दिनोंदिन बढ़ रहे हों, जो सब प्राणियोंपर दया रखता हो, काम करनेमें फुर्तीला हो और अपने शरीरकी रक्षाका ध्यान रखता हो, उस राजाकी उत्तरोत्तर वृद्धि होती है ॥ ७ ॥

तक्षेदात्मानमेवं स वनं परशुना यथा।
यः सम्यग् वर्तमानेषु स्वेषु मिथ्या प्रवर्तते ॥ ८ ॥

जो अच्छा बर्ताव करनेवाले स्वजनोंके प्रति मिथ्या व्यवहार करता है, वह इस बर्तावद्वारा कुल्हाड़ीसे जंगलकी भाँति अपने आपका ही उच्छेद कर डालता है ॥ ८ ॥

नैव द्विषन्तो हीयन्ते राज्ञो नित्यमनिघ्नतः।
क्रोधं निहन्तुं यो वेद तस्य द्वेष्टा न विद्यते ॥ ९ ॥

यदि राजा कभी किसी द्वेष करनेवालेको दण्ड न दे तो उससे द्वेष करनेवालोंकी कमी नहीं होती है; परंतु जो क्रोधको मारनेकी कला जानता है, उसका कोई द्वेषी नहीं रहता है ॥ ९ ॥

यदार्यजनविद्विष्टं कर्म तन्नाचरेद् बुधः।
यत् कल्याणमभिध्यायेत् तत्रात्मानं नियोजयेत् ॥ १० ॥

जिसे श्रेष्ठ पुरुष बुरा समझते हों, बुद्धिमान् राजा वैसा कर्म कभी न करे। जिस कार्यको सबके लिये कल्याणकारी समझे, उसीमें अपने आपको लगावे ॥ १० ॥

नैनमन्येऽवजानन्ति नात्मना परितप्यते ।
कृत्यशेषेण यो राजा सुखान्यनुबुभूषति ॥ ११ ॥

जो राजा अपना कर्तव्य पूर्ण करके ही सुखका अनुभव करना चाहता है, उसका न तो दूसरे लोग अनादर करते हैं और न वह स्वयं ही संतप्त होता है ॥ ११ ॥

इदं वृत्तं मनुष्येषु वर्तते यो महीपतिः ।
उभौ लोकौ विनिर्जित्य विजये सम्प्रतिष्ठते ॥ १२ ॥

जो राजा प्रजाके प्रति ऐसा बर्ताव करता है, वह इहलोक और परलोक दोनोंको जीतकर विजयमें प्रतिष्ठित होता है ॥ १२ ॥

भीष्म उवाच

इत्युक्तो वामदेवेन सर्वं तत् कृतवान् नृपः ।
तथा कुर्वंस्त्वमप्येतौ लोकौ जेता न संशयः ॥ १३ ॥

भीष्मजी कहते हैं—राजन् ! वामदेवजीके इस प्रकार उपदेश देनेपर राजा वसुमना सब कार्य उसी प्रकार करने लगे । यदि तुम भी ऐसा ही आचरण करोगे तो निःसंदेह लोक और परलोक दोनों सुधार लोगे ॥ १३ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि राजधर्मानुशासनपर्वणि वामदेवगीतासु चतुर्नवतितमोऽध्यायः ॥ ९४ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत राजधर्मानुशासनपर्वमें वामदेवगीताविषयक चौरानबेवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ९४ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठके ५ श्लोक मिलाकर कुल १८ श्लोक हैं)

पञ्चनवतितमोऽध्यायः

विजयाभिलाषी राजाके धर्मानुकूल बर्ताव तथा युद्धनीतिका वर्णन

युधिष्ठिर उवाच

अथ यो विजिगीषेत क्षत्रियः क्षत्रियं युधि ।
कस्तस्य विजये धर्मो ह्येतं पृष्टो वदस्व मे ॥ १ ॥

युधिष्ठिरने पूछा—पितामह ! यदि कोई क्षत्रिय राजा दूसरे क्षत्रिय नरेशपर युद्धमें विजय पाना चाहे तो उसे अपनी जीतके लिये किस धर्मका पालन करना चाहिये ? इस समय यही मेरा आपसे प्रश्न है, आप मुझे इसका उत्तर दीजिये ॥

भीष्म उवाच

ससहायोऽसहायो वा राष्ट्रमागम्य भूमिपः ।
ब्रूयादहं वो राजेति रक्षिष्यामि च वः सदा ॥ २ ॥
मम धर्म्यं बलिं दत्त किं वा मां प्रतिपत्स्यथ ।
ते चेत् तमागतं तत्र वृणुयुः कुशलं भवेत् ॥ ३ ॥

भीष्मजीने कहा—राजन् ! पहले राजा सहायकोंके साथ अथवा बिना सहायकोंके ही जिसपर विजय पाना चाहता हो, उस राज्यमें जाकर वहाँके लोगोंसे कहे कि मैं तुम्हारा राजा हूँ और सदा तुमलोगोंकी रक्षा करूँगा, मुझे धर्मके अनुसार कर दो अथवा मेरे साथ युद्ध करो । उसके ऐसा कहनेपर यदि वे उस समागत नरेशका अपने राजाके रूपमें वरण कर लें तो सबकी कुशल हो ॥ २-३ ॥

ते चेदक्षत्रियाः सन्तो विरुध्येरन् कथंचन ।
सर्वोपायैर्नियन्तव्या विकर्मस्था नराधिप ॥ ४ ॥

नरेश्वर ! यदि वे क्षत्रिय न होकर भी किसी प्रकार विरोध करें तो वर्ण-विपरीत कर्ममें लगे हुए उन सब मनुष्योंका सभी उपायोंसे दमन करना चाहिये ॥ ४ ॥

अशक्तं क्षत्रियं मत्वा शस्त्रं गृह्णाद् यथापरः ।
त्राणायाप्यसमर्थं तं मन्यमानमतीव च ॥ ५ ॥

यदि उस देशका क्षत्रिय शस्त्रहीन हो और अपनी रक्षा करनेमें भी अपनेको अत्यन्त असमर्थ मानता हो तो वहाँका क्षत्रियेतर मनुष्य भी देशकी रक्षाके लिये शस्त्र ग्रहण कर सकता है ॥ ५ ॥

युधिष्ठिर उवाच

अथ यः क्षत्रियो राजा क्षत्रियं प्रत्युपाव्रजेत् ।
कथं सम्प्रति योद्धव्यस्तन्मे ब्रूहि पितामह ॥ ६ ॥

युधिष्ठिरने पूछा—पितामह ! यदि कोई क्षत्रिय राजा दूसरे क्षत्रिय राजापर चढ़ाई कर दे तो उस समय उसे उसके साथ किस प्रकार युद्ध करना चाहिये यह मुझे बताइये ॥ ६ ॥

भीष्म उवाच

नैवासंनद्धकवचो योद्धव्यः क्षत्रियो रणे ।
एक एकेन वाच्यश्च विसृजेति क्षिपामि च ॥ ७ ॥

भीष्मजीने कहा—राजन् ! जो कवच बाँधे हुए न हो, उस क्षत्रियके साथ रणभूमिमें युद्ध नहीं करना चाहिये । एक योद्धा दूसरे एकाकी योद्धासे कहे 'तुम मुझपर शस्त्र छोड़ो । मैं भी तुमपर प्रहार करता हूँ' ॥ ७ ॥

स चेत् संनद्ध आगच्छेत् संनद्धव्यं ततो भवेत् ।
स चेत् ससैन्य आगच्छेत् ससैन्यस्तमथाह्वयेत् ॥ ८ ॥

यदि वह कवच बाँधकर सामने आ जाय तो स्वयं भी कवच धारण कर ले । यदि विपक्षी सेनाके साथ आवे तो स्वयं भी सेनाके साथ आकर शत्रुको ललकारे ॥ ८ ॥

स चेन्निकृत्या युद्ध्येत निकृत्या प्रतियोधयेत् ।
अथ चेद् धर्मतो युद्ध्येद् धर्मेणैव निवारयेत् ॥ ९ ॥

यदि वह छलसे युद्ध करे तो स्वयं भी उसी रीतिसे उसका सामना करे और यदि वह धर्मसे युद्ध आरम्भ करे तो धर्मसे ही उसका सामना करना चाहिये ॥ ९ ॥

नाश्वेन रथिनं यायादुदियाद् रथिनं रथी ।
व्यसने न प्रहर्तव्यं न भीताय जिताय च ॥ १० ॥

घोड़ेके द्वारा रथीपर आक्रमण न करे । रथीका सामना रथीको ही करना चाहिये । यदि शत्रु किसी संकटमें पड़ जाय तो उसपर प्रहार न करे । डरे और पराजित हुए शत्रुपर भी कभी प्रहार नहीं करना चाहिये ॥ १० ॥

इषुर्लिप्तो न कर्णी स्यादसतामेतदायुधम् ।
यथार्थमेव योद्धव्यं न क्रुद्ध्येत जिघांसतः ॥ ११ ॥

युद्धमें विषलिप्त और कर्णी बाणका प्रयोग नहीं करना चाहिये। ये दुष्टोंके अस्त्र हैं। यथार्थ रीतिसे ही युद्ध करना चाहिये। यदि कोई व्यक्ति युद्धमें किसीका वध करना चाहता हो तो उसपर क्रोध नहीं करना चाहिये (किंतु यथायोग्य प्रतीकार करना चाहिये) ॥ ११ ॥

साधूनां तु मिथो भेदात् साधुश्चेद् व्यसनी भवेत्।
निष्प्राणो नाभिहन्तव्यो नानपत्यः कथंचन ॥ १२ ॥

जब श्रेष्ठ पुरुषोंमें परस्पर भेद होनेसे कोई श्रेष्ठ पुरुष संकटमें पड़ जाय, तब उसपर प्रहार नहीं करना चाहिये। जो बलहीन और संतानहीन हो, उसपर तो किसी प्रकार भी आघात न करे ॥ १२ ॥

भग्नशस्त्रो विपन्नश्च कृत्तज्यो हतवाहनः।
चिकित्स्यः स्यात् स्वविषये प्राप्यो वा स्वगृहे भवेत् १३

जिसके शस्त्र टूट गये हों, जो विपत्तिमें पड़ गया हो, जिसके धनुषकी डोरी कट गयी हो तथा जिसके वाहन मार डाले गये हों, ऐसे मनुष्यपर भी प्रहार न करे। ऐसा पुरुष यदि अपने राज्यमें या अधिकारमें आ जाय तो उसके घावोंकी चिकित्सा करानी चाहिये अथवा उसे उसके घर पहुँचा देना चाहिये ॥ १३ ॥

निर्व्रणश्च स मोक्तव्य एष धर्मः सनातनः।
तस्माद् धर्मेण योद्धव्यमिति स्वायम्भुवोऽब्रवीत् ॥ १४॥

किंतु जिसके कोई घाव न हो, उसे न छोड़े। यह सनातनधर्म है। अतः धर्मके अनुसार युद्ध करना चाहिये, यह स्वायम्भुव मनुका कथन है ॥ १४ ॥

सत्सु नित्यः सतां धर्मस्तमास्थाय न नाशयेत्।
यो वै जयत्यधर्मेण क्षत्रियो धर्मसंगरः ॥ १५ ॥
आत्मानमात्मना हन्ति पापो निकृतिजीवनः।

सज्जनोंका धर्म सदा सत्पुरुषोंमें ही रहा है। अतः उसका आश्रय लेकर उसे नष्ट न करे। धर्मयुद्धमें तत्पर हुआ जो क्षत्रिय अधर्मसे विजय पाता है, छल-कपटको जीविकाका साधन बनानेवाला वह पापी स्वयं ही अपना नाश करता है ॥

कर्म चैतदसाधूनामसाधून् साधुना जयेत् ॥ १६ ॥
धर्मेण निधनं श्रेयो न जयः पापकर्मणा।

यह तो दुष्टोंका काम है। श्रेष्ठ पुरुषको तो दुष्टोंपर भी धर्मसे ही विजय पानी चाहिये। धर्मपूर्वक युद्ध करते हुए मर जाना भी अच्छा है; परंतु पापकर्मके द्वारा विजय पाना अच्छा नहीं है ॥ १६½ ॥

नाधर्मश्चरितो राजन् सद्यः फलति गौरिव ॥ १७ ॥
मूलानि च प्रशाखाश्च दहन् समधिगच्छति।

राजन्! जैसे पृथ्वीमें बोये हुए बीजका फल तत्काल नहीं मिलता, उसी प्रकार किये हुए पापका भी फल तुरंत नहीं मिलता है; परंतु जब वह फल प्राप्त होता है, तब मूल और शाखा दोनोंको जलाकर भस्म कर देता है ॥ १७½ ॥

पापेन कर्मणा वित्तं लब्ध्वा पापः प्रहृष्यति ॥ १८ ॥
स वर्धमानः स्तेयेन पापः पापे प्रसज्जति।
न धर्मोऽस्तीति मन्वानः शुचीनवहसन्निव ॥ १९ ॥
अश्रद्दधानश्च भवेद् विनाशमुपगच्छति।
सम्बद्धो वारुणैः पाशैरमर्त्य इव मन्यते ॥ २० ॥

पापी मनुष्य पापकर्मके द्वारा धन पाकर हर्षसे खिल उठता है। वह पापी चोरीसे ही बढ़ता हुआ पापमें आसक्त हो जाता है और यह समझकर कि धर्म है ही नहीं, पवित्रात्मा पुरुषोंकी हँसी उड़ाता है। धर्ममें उसकी तनिक भी श्रद्धा नहीं रह जाती और पापके ही द्वारा वह विनाशके मुखमें जा पड़ता है। वह अपनेको देवताओं-सा अजर-अमर मानता है; परंतु उसे वरुणके पाशोंमें बँधना पड़ता है ॥ १८–२० ॥

महादृतिरिवाध्मातः सुकृते नैव वर्तते।
ततः समूलो ह्रियते नदीकूलादिव द्रुमः ॥ २१ ॥

जैसे चमड़ेकी थैली हवा भरनेसे फूल जाती है, वैसे ही पापी भी पापसे फूल उठता है। वह पुण्यकर्ममें कभी प्रवृत्त ही नहीं होता है, तदनन्तर जैसे नदीके तटपर खड़ा हुआ वृक्ष वहाँसे जड़सहित उखड़कर नदीमें बह जाता है, उसी प्रकार वह पापी भी समूल नष्ट हो जाता है ॥ २१ ॥

अथैनमभिनिन्दन्ति भिन्नं कुम्भमिवाश्मनि।
तस्माद् धर्मेण विजयं कोशं लिप्सेत भूमिपः ॥ २२ ॥

पत्थरपर पटके हुए घड़ेके समान उसके टूक-टूक हो जाते हैं और सभी लोग उसकी निन्दा करते हैं; अतः राजाको चाहिये कि वह धर्मपूर्वक ही धन और विजय प्राप्त करनेकी इच्छा करे ॥ २२ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि राजधर्मानुशासनपर्वणि विजिगीषमाणवृत्ते पञ्चनवतितमोऽध्यायः ॥ ९५ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत राजधर्मानुशासनपर्वमें विजयाभिलाषी राजाका वर्तावविषयक पंचानबेवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ९५ ॥

षण्णवतितमोऽध्यायः

राजाके छलरहित धर्मयुक्त वर्तावकी प्रशंसा

भीष्म उवाच

नाधर्मेण महीं जेतुं लिप्सेत जगतीपतिः।
अधर्मविजयं लब्ध्वा को नु मन्येत भूमिपः ॥ १ ॥

भीष्मजी कहते हैं—युधिष्ठिर! किसी भी भूपालको अधर्मके द्वारा पृथ्वीपर विजय प्राप्त करनेकी इच्छा कभी नहीं करनी चाहिये। अधर्मसे विजय पाकर कौन राजा सम्मानित हो सकता है? ॥ १ ॥

अधर्मयुक्तो विजयो ह्यध्रुवोऽस्वर्ग्य एव च।

सादयत्येष राजानं महीं च भरतर्षभ ॥ २ ॥

अधर्मसे पायी हुई विजय स्वर्गसे गिरानेवाली और अस्थायी होती है। भरतश्रेष्ठ ! ऐसी विजय राजा और राज्य दोनोंका नाश कर देती है ॥ २ ॥

विशीर्णकवचं चैव तवास्मीति च वादिनम् ।
कृताञ्जलिं न्यस्तशस्त्रं गृहीत्वा न हि हिंसयेत् ॥ ३ ॥

जिसका कवच छिन्न-भिन्न हो गया हो, जो 'मैं आपका ही हूँ' ऐसा कह रहा हो और हाथ जोड़े खड़ा हो अथवा जिसने हथियार रख दिये हों, ऐसे विपक्षी योद्धाको कैद करके मारे नहीं ॥ ३ ॥

बलेन विजितो यश्च न तं युध्येत भूमिपः ।
संवत्सरं विप्रणयेत् तस्माज्जातः पुनर्भवेत् ॥ ४ ॥

जो बलके द्वारा पराजित कर दिया गया हो, उसके साथ राजा कदापि युद्ध न करे । उसे कैद करके एक सालतक अनुकूल रहनेकी शिक्षा दे; फिर उसका नया जन्म होता है । वह विजयी राजाके लिये पुत्रके समान हो जाता है (इसलिये एक साल बाद उसे छोड़ देना चाहिये) ॥ ४ ॥

नार्वाक्संवत्सरात् कन्या प्रष्टव्या विक्रमाहृता ।
एवमेव धनं सर्वं यच्चान्यत्सहसाऽऽहृतम् ॥ ५ ॥

यदि राजा किसी कन्याको अपने पराक्रमसे हरकर ले आवे तो एक सालतक उससे कोई प्रश्न न करे (एक सालके बाद पूछनेपर यदि वह कन्या किसी दूसरेको वरण करना चाहे तो उसे लौटा देना चाहिये) । इसी प्रकार सहसा छलसे अपहरण करके लाये हुए सम्पूर्ण धनके विषयमें भी समझना चाहिये (उसे भी एक सालके बाद उसके स्वामीको लौटा देना चाहिये) ॥ ५ ॥

न तु वध्यधनं तिष्ठेत् पिबेयुर्ब्राह्मणाः पयः ।
युञ्जीरन्वाप्यनडुहः क्षन्तव्यं वा तदा भवेत् ॥ ६ ॥

चोर आदि अपराधियोंका धन लाया गया हो तो उसे अपने पास न रक्खे (सार्वजनिक कार्योंमें लगा दे) और यदि गौ छीनकर लायी गयी हो तो उसका दूध स्वयं न पीकर ब्राह्मणोंको पिलावे । बैल हों तो उन्हें ब्राह्मणलोग ही गाड़ी आदिमें जोतें अथवा उन सब अपहृत वस्तुओं या धनका स्वामी आकर क्षमा-प्रार्थना करे तो उसे क्षमा करके उसका धन उसे लौटा देना चाहिये ॥ ६ ॥

राजा राजैव योद्धव्यस्तथा धर्मो विधीयते ।
नान्यो राजानमभ्यस्येदराजन्यः कथञ्चन ॥ ७ ॥

राजाको राजाके साथ ही युद्ध करना चाहिये । उसके लिये यही धर्म विहित है । जो राजा या राजकुमार नहीं है, उसे किसी प्रकार भी राजापर अस्त्र-शस्त्रोंका प्रहार नहीं करना चाहिये ॥ ७ ॥

अनीकयोः संहतयोर्यदीयाद् ब्राह्मणोऽन्तरा ।
शान्तिमिच्छन्नुभयतो न योद्धव्यं तदा भवेत् ॥ ८ ॥

दोनों ओरकी सेनाओंके भिड़ जानेपर यदि उनके बीचमें संधि करानेकी इच्छासे ब्राह्मण आ जाय तो दोनों पक्षवालोंको तत्काल युद्ध बंद कर देना चाहिये ॥ ८ ॥

मर्यादां शाश्वतीं भिन्द्याद् ब्राह्मणं योऽभिलङ्घयेत् ।
अथ चेल्लङ्घयेदेव मर्यादां क्षत्रियब्रुवः ॥ ९ ॥
असंख्येयस्तदूर्ध्वं स्यादनादेयश्च संसदि ।

इन दोनोंमेंसे जो कोई भी पक्ष ब्राह्मणका तिरस्कार करता है, वह सनातनकालसे चली आयी हुई मर्यादाको तोड़ता है । यदि अपनेको क्षत्रिय कहनेवाला अधम योद्धा उस मर्यादाका उल्लङ्घन कर ही डाले तो उसके बादसे उसे क्षत्रियजातिके अंदर नहीं गिनना चाहिये और क्षत्रियोंकी सभामें उसे स्थान भी नहीं देना चाहिये ॥ ९½ ॥

यस्तु धर्मविलोपेन मर्यादाभेदनेन च ॥ १० ॥
तां वृत्तिं नानुवर्तेत विजिगीषुर्महीपतिः ।
धर्मलब्धाद्धि विजयाल्लाभः कोऽभ्यधिको भवेत् ॥ ११ ॥

जो कोई धर्मका लोप और मर्यादाको भङ्ग करके विजय पाता है, उसके इस बर्तावका विजयाभिलाषी नरेशको अनुसरण नहीं करना चाहिये । धर्मके द्वारा प्राप्त हुई विजयसे बढ़कर दूसरा कौन-सा लाभ हो सकता है ? ॥ १०-११ ॥

सहसानार्यभूतानि क्षिप्रमेव प्रसादयेत् ।
सान्त्वेन भोगदानेन स राज्ञां परमो नयः ॥ १२ ॥

विजयी राजाको चाहिये कि वह मधुर वचन बोलकर और उपभोगकी वस्तुएँ देकर अनार्य (म्लेच्छ आदि) प्रजाको शीघ्रतापूर्वक प्रसन्न कर ले । यही राजाओंकी सर्वोत्तम नीति है ॥ १२ ॥

भुज्यमाना ह्ययोगेन स्वराष्ट्रादभितापिताः ।
अमित्रास्तमुपासीरन् व्यसनौघप्रतीक्षिणः ॥ १३ ॥

यदि ऐसा न करके अनुचित कठोरताके द्वारा उनपर शासन किया जाता है तो वे दुखी होकर अपने देशसे चले जाते हैं और शत्रु बनकर विजयी राजाकी विपत्तिके समयकी बाट देखते हुए कहीं पड़े रहते हैं ॥ १३ ॥

अमित्रोपग्रहं चास्य ते कुर्युः क्षिप्रमापदि ।
संतुष्टाः सर्वतो राजन् राजव्यसनकाङ्क्षिणः ॥ १४ ॥

राजन् ! जब विजयी राजापर कोई विपत्ति आ जाती है, तब वे राजापर संकट पड़नेकी इच्छा रखनेवाले लोग विपक्षियोंद्वारा सब प्रकारसे संतुष्ट हो राजाके शत्रुओंका पक्ष ग्रहण कर लेते हैं ॥ १४ ॥

नामित्रो विनिकर्तव्यो नातिच्छेद्यः कथञ्चन ।
जीवितं ह्यप्यतिच्छिन्नः संत्यजेच्च कदाचन ॥ १५ ॥

शत्रुके साथ छल नहीं करना चाहिये । उसे किसी प्रकार भी अत्यन्त उच्छिन्न करना उचित नहीं है । अत्यन्त क्षत-विक्षत कर देनेपर वह कभी अपने जीवनका त्याग भी कर सकता है ॥ १५ ॥

अल्पेनापि च संयुक्तस्तुष्यत्येव नराधिपः ।
शुद्धं जीवितमेवापि तादृशो बहु मन्यते ॥ १६ ॥

राजा थोड़े-से लाभसे भी संयुक्त होनेपर संतुष्ट हो जाता है। वैसा नरेश निर्दोष जीवनको ही बहुत अधिक महत्त्व देता है ॥ १६ ॥

यस्य स्फीतो जनपदः सम्पन्नः प्रियराजकः।
संतुष्टभृत्यसचिवो दृढमूलः स पार्थिवः ॥ १७ ॥

जिस राजाका देश समृद्धिशाली, धन-धान्यसे सम्पन्न तथा राजभक्त होता है और जिसके सेवक एवं मन्त्री संतुष्ट रहते हैं, उसीकी जड़ मजबूत मानी जाती है ॥ १७ ॥

ऋत्विक्पुरोहिताचार्या ये चान्ये श्रुतसत्तमाः।
पूजार्हाः पूजिता यस्य स वै लोकविदुच्यते ॥ १८ ॥

जो राजा ऋत्विज, पुरोहित, आचार्य तथा अन्यान्य पूजाके पात्र शास्त्रज्ञोंका सत्कार करता है, वही लोकगतिको जाननेवाला कहा जाता है ॥ १८ ॥

एतेनैव च वृत्तेन महीं प्राप सुरोत्तमः।
अनेन चेन्द्रविषयं विजिगीषन्ति पार्थिवाः ॥ १९ ॥

इसी बर्तावसे देवराज इन्द्रने राज्य पाया था और इसी बर्तावके द्वारा भूपालगण स्वर्गलोकपर विजय पाना चाहते हैं ॥

भूमिवर्जं धनं राजा जित्वा राजन् महाहवे।
अपि चान्नौषधीः शश्वदाजहार प्रतर्दनः ॥ २० ॥

राजन्! पूर्वकालमें राजा प्रतर्दन महासमरमें विजय प्राप्त करके पराजित राजाकी भूमिको छोड़कर शेष सारा धन, अन्न एवं औषध अपनी राजधानीमें ले आये ॥ २० ॥

अग्निहोत्राग्निशेषं च हविर्भोजनमेव च।
आजहार दिवोदासस्ततो विप्रकृतोऽभवत् ॥ २१ ॥

राजा दिवोदास अग्निहोत्र, यज्ञका अङ्गभूत हविष्य तथा भोजन भी हर लाये थे। इसीसे वे तिरस्कृत हुए ॥ २१ ॥

सराजकानि राष्ट्राणि नाभागो दक्षिणां ददौ।
अन्यत्र श्रोत्रियस्वाच्च तापसार्थाच्च भारत ॥ २२ ॥

भरतनन्दन! राजा नाभागने श्रोत्रिय और तापसके धनको छोड़कर शेष सारा राष्ट्र दक्षिणारूपमें ब्राह्मणोंको दे दिया ॥ २२ ॥

उच्चावचानि वित्तानि धर्मज्ञानां युधिष्ठिर।
आसन् राज्ञां पुराणानां सर्वं तन्मम रोचते ॥ २३ ॥

युधिष्ठिर! प्राचीन धर्मज्ञ राजाओंके पास जो नाना प्रकारके धन थे, वे सब मुझे भी अच्छे लगते हैं ॥ २३ ॥

सर्वविद्यातिरेकेण जयमिच्छेन्महीपतिः।
न मायया न दम्भेन य इच्छेद् भूतिमात्मनः ॥ २४ ॥

जिस राजाको अपना वैभव बढ़ानेकी इच्छा हो, वह सम्पूर्ण विद्याओंके उत्कर्षद्वारा विजय पानेकी इच्छा करे; दम्भ या पाखण्डद्वारा नहीं ॥ २४ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि राजधर्मानुशासनपर्वणि विजिगीषमाणवृत्ते षण्णवतितमोऽध्यायः ॥ ९६ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत राजधर्मानुशासनपर्वमें विजयाभिलाषी राजाका बर्तावविषयक छियानवेवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ९६ ॥

सप्तनवतितमोऽध्यायः

शूरवीर क्षत्रियोंके कर्तव्यका तथा उनकी आत्मशुद्धि और सद्गतिका वर्णन

युधिष्ठिर उवाच

क्षत्रधर्मान्न पापीयान् धर्मोऽस्ति नराधिप।
अपयाने च युद्धे च राजा हन्ति महाजनम् ॥ १ ॥

युधिष्ठिरने पूछा—नरेश्वर! क्षत्रियधर्मसे बढ़कर पापपूर्ण दूसरा कोई धर्म नहीं है; क्योंकि राजा किसी देशपर चढ़ाई करने और युद्ध छेड़नेके द्वारा महान् जन-संहार कर डालता है ॥ १ ॥

अथ स्म कर्मणा केन लोकान् जयति पार्थिवः।
विद्वन् जिज्ञासमानाय प्रब्रूहि भरतर्षभ ॥ २ ॥

विद्वन्! भरतश्रेष्ठ! अब मैं यह जानना चाहता हूँ कि राजाको किस कर्मसे पुण्यलोकोंकी प्राप्ति होती है; अतः यही मुझे बताइये ॥ २ ॥

भीष्म उवाच

निग्रहेण च पापानां साधूनां संग्रहेण च।
यज्ञैर्दानैश्च राजानो भवन्ति शुचयोऽमलाः ॥ ३ ॥

भीष्मजीने कहा—राजन्! पापियोंको दण्ड देने और सत्पुरुषोंको आदरपूर्वक अपनानेसे तथा यज्ञोंका अनुष्ठान और दान करनेसे राजालोग सब प्रकारके दोषोंसे छूटकर निर्मल एवं शुद्ध हो जाते हैं ॥ ३ ॥

उपरुन्धन्ति राजानो भूतानि विजयार्थिनः।
त एव विजयं प्राप्य वर्धयन्ति पुनः प्रजाः ॥ ४ ॥

जो राजा विजयकी कामना रखकर युद्धके समय प्राणियोंको कष्ट पहुँचाते हैं, वे ही विजय प्राप्त कर लेनेके बाद पुनः सारी प्रजाकी उन्नति करते हैं ॥ ४ ॥

अपविध्यन्ति पापानि दानयज्ञतपोबलैः।
अनुग्रहाय भूतानां पुण्यमेषां विवर्धते ॥ ५ ॥

वे दान, यज्ञ और तपके प्रभावसे अपने सारे पाप नष्ट कर डालते हैं; फिर तो प्राणियोंपर अनुग्रह करनेके लिये उनके पुण्यकी वृद्धि होती है ॥ ५ ॥

यथैव क्षेत्रनिर्याता निर्यातं क्षेत्रमेव च।
हिनस्ति धान्यं कक्षं च न च धान्यं विनश्यति ॥ ६ ॥
एवं शस्त्राणि मुञ्चन्तो घ्नन्ति वध्याननेकधा।
तस्यैषा निष्कृतिः कृत्स्ना भूतानां भावनं पुनः ॥ ७ ॥

जैसे खेतको निरानेवाला किसान जिस खेतकी निराई करता है, उसकी घास आदिके साथ-साथ कितने ही धानके

जैसे खेती भी नष्ट हो जाती है तो भी धान नष्ट नहीं होता है (बल्कि निराई करनेके पश्चात् उसकी उपज और बढ़ती है)। इसी प्रकार जो युद्धमें नाना प्रकारके अस्त्र-शस्त्रोंका प्रहार करके शास्त्रीय विधिसे वध करने योग्य शत्रुओंका अनेक प्रकारसे वध करते हैं, राजाके उस कर्मका यही पूरा-पूरा प्रायश्चित्त है कि उस युद्धके पश्चात् उस राज्यके प्राणियोंकी पुनः सब प्रकारसे उन्नति करे ॥ ६-७ ॥

यो भूतानि धनाक्रान्त्या वधात् क्लेशाच्च रक्षति।
दस्युभ्यः प्राणदानात् स धनदः सुखदो विराट् ॥८॥

जो राजा समस्त प्रजाको धनक्षय, प्राणनाश और दुःखोंसे बचाता है, लुटेरोंसे रक्षा करके जीवन-दान देता है, वह प्रजाके लिये धन और सुख देनेवाला परमेश्वर माना गया है ॥

स सर्वयज्ञैरीजानो राजाथाभयदक्षिणैः।
अनुभूयेह भद्राणि प्राप्नोतीन्द्रसलोकताम् ॥ ९ ॥

वह राजा सम्पूर्ण यज्ञोंद्वारा भगवान्‌की आराधना करके प्राणियोंको अभय-दान देकर इहलोकमें सुख भोगता है और परलोकमें भी इन्द्रके समान स्वर्गलोकका अधिकारी होता है ॥

ब्राह्मणार्थे समुत्पन्ने योऽरिभिः सह युध्यति।
आत्मानं यूपमुत्सृज्य स यज्ञोऽनन्तदक्षिणः ॥ १० ॥

ब्राह्मणकी रक्षाका अवसर आनेपर जो आगे बढ़कर शत्रुओंके साथ युद्ध छेड़ देता है और अपने शरीरको यूपकी भाँति निछावर कर देता है, उसका वह त्याग अनन्त दक्षिणाओंसे युक्त यज्ञके ही तुल्य है ॥ १० ॥

अभीतो विकिरञ्शत्रून् प्रतिगृह्य शरांस्तथा।
न तस्मात्त्रिदशाः श्रेयो भुवि पश्यन्ति किञ्चन ॥ ११ ॥

जो निर्भय हो शत्रुओंपर बाणोंकी वर्षा करता और स्वयं भी बाणोंका आघात सहता है, उस क्षत्रियके लिये उस कर्मसे बढ़कर देवतालोग इस भूतलपर दूसरा कोई कल्याणकारी कार्य नहीं देखते हैं ॥ ११ ॥

तस्य शस्त्राणि यावन्ति त्वचं भिन्दन्ति संयुगे।
तावतः सोऽश्नुते लोकान् सर्वकामदुहोऽक्षयान् ॥ १२ ॥

युद्धस्थलमें उस वीर योद्धाकी त्वचाको जितने शस्त्र विदीर्ण करते हैं, उतने ही सर्वकामनापूरक अक्षय लोक उसे प्राप्त होते हैं ॥ १२ ॥

यदस्य रुधिरं गात्रादाहवे सम्प्रवर्तते।
सह तेनैव रक्तेन सर्वपापैः प्रमुच्यते ॥ १३ ॥

समरभूमिमें उसके शरीरसे जो रक्त बहता है, उस रक्तके साथ ही वह सम्पूर्ण पापोंसे मुक्त हो जाता है ॥ १३ ॥

यानि दुःखानि सहते क्षत्रियो युधि तापितः।
तेन तेन तपो भूय इति धर्मविदो विदुः ॥ १४ ॥

युद्धमें बाणोंसे पीड़ित हुआ क्षत्रिय जो-जो दुःख सहता है, उस-उस कष्टके द्वारा उसके तपकी ही उत्तरोत्तर वृद्धि होती है; ऐसी धर्मज्ञ पुरुषोंकी मान्यता है ॥ १४ ॥

पृष्ठतो भीरवः संख्ये वर्तन्तेऽधर्मपूरुषाः।
शूराच्छरणमिच्छन्तः पर्जन्यादिव जीवनम् ॥ १५ ॥

जैसे समस्त प्राणी बादलसे जीवनदायक जलकी इच्छा रखते हैं, उसी प्रकार शूरवीरसे अपनी रक्षा चाहते हुए डरपोक एवं नीच श्रेणीके मनुष्य युद्धमें वीर योद्धाओंके पीछे खड़े रहते हैं ॥ १५ ॥

यदि शूरस्तथा क्षेमं प्रतिरक्षेद् यथाभये।
प्रतिरूपं जनं कुर्यान्न चेत् तद्वर्तते तथा ॥ १६ ॥

अभयकालके समान ही उस भयके समय भी यदि कोई शूरवीर उस भीरु पुरुषकी सकुशल रक्षा कर लेता है तो उसके प्रति वह अपने अनुरूप उपकार एवं पुण्य करता है। यदि पृष्ठवर्ती पुरुषको वह अपने-जैसा न बना सके तो भी पूर्वकथित पुण्यका भागी तो होता ही है ॥ १६ ॥

यदि ते कृतमाज्ञाय नमस्कुर्युः सदैवतम्।
युक्तं न्याय्यं च कुर्युस्ते न च तद् वर्तते तथा ॥ १७ ॥

यदि वे रक्षा पाये हुए मनुष्य कृतज्ञ होकर सदैव उस शूरवीरके सामने नतमस्तक होते रहें, तभी उसके प्रति उचित एवं न्यायसङ्गत कर्तव्यका पालन कर पाते हैं; अन्यथा उनकी स्थिति इसके विपरीत होती है ॥ १७ ॥

पुरुषाणां समानानां दृश्यते महदन्तरम्।
संग्रामेऽनीकवेलायामुत्क्रुष्टेऽभिपतत्स्युत ॥ १८ ॥

सभी पुरुष देखनेमें समान होते हैं; परंतु युद्धस्थलमें जब सैनिकोंके परस्पर भिड़नेका समय आता है और चारों ओरसे वीरोंकी पुकार होने लगती है, उस समय उनमें महान् अन्तर दृष्टिगोचर होता है। एक श्रेणीके वीर तो निर्भय होकर शत्रुओंपर टूट पड़ते हैं और दूसरी श्रेणीके लोग प्राण बचानेकी चिन्तामें पड़ जाते हैं ॥ १८ ॥

पतत्यभिमुखः शूरः परान् भीरुः पलायते।
आस्थाय स्वर्ग्यमध्वानं सहायान् विषमे त्यजेत् ॥ १९ ॥

शूरवीर शत्रुके सम्मुख वेगसे आगे बढ़ता है और भीरु पुरुष पीठ दिखाकर भागने लगता है। वह स्वर्गलोकके मार्गपर पहुँचकर भी अपने सहायकोंको उस संकटके समय अकेला छोड़ देता है ॥ १९ ॥

मा स्म तांस्तादृशांस्तात जनिष्ठाः पुरुषाधमान्।
ये सहायान् रणे हित्वा स्वस्तिमन्तो गृहान् ययुः ॥ २० ॥

तात! जो लोग रणभूमिमें अपने सहायकोंको छोड़कर कुशलपूर्वक अपने घर लौट जाते हैं, वैसे नराधमोंको तुम कभी पैदा मत करना ॥ २० ॥

अस्वस्ति तेभ्यः कुर्वन्ति देवा इन्द्रपुरोगमाः।
त्यागेन यः सहायानां स्वान् प्राणांस्त्रातुमिच्छति ॥ २१ ॥
तं हन्युः काष्ठलोष्टैर्वा दहेयुर्वा कटाग्निना।
पशुवन्मारयेयुर्वा क्षत्रिया ये स्युरीदृशाः ॥ २२ ॥

उनके लिये इन्द्र आदि देवता अमङ्गल मनाते हैं। जो सहायकोंको छोड़कर अपने प्राण बचानेकी इच्छा रखता है, ऐसे कायरको उसके साथी क्षत्रिय लाठी या ढेलोंसे पीटें अथवा घासके ढेरकी आगमें जला दें या उसे पशुकी भाँति गला घोटकर मार डालें ॥ २१-२२ ॥

अधर्मः क्षत्रियस्यैष यच्छय्यामरणं भवेत् ।
विसृजञ्श्लेष्ममूत्राणि कृपणं परिदेवयन् ॥ २३ ॥
अविक्षतेन देहेन प्रलयं योऽधिगच्छति ।
क्षत्रियो नास्य तत् कर्म प्रशंसन्ति पुराविदः ॥ २४ ॥

खाटपर सोकर मरना क्षत्रियके लिये अधर्म है। जो क्षत्रिय कफ और मल-मूत्र छोड़ता तथा दुखी होकर विलाप करता हुआ बिना घायल हुए शरीरसे मृत्युको प्राप्त हो जाता है, उसके इस कर्मकी प्राचीन धर्मको जाननेवाले विद्वान् पुरुष प्रशंसा नहीं करते हैं ॥ २३-२४ ॥

न गृहे मरणं तात क्षत्रियाणां प्रशस्यते ।
शौटीराणामशौटीर्यमधर्मं कृपणं च तत् ॥ २५ ॥

क्योंकि तात ! वीर क्षत्रियोंका घरमें मरण हो, यह उनके लिये प्रशंसाकी बात नहीं है । वीरोंके लिये यह कायरता और दीनता अधर्मकी बात है ॥ २५ ॥

इदं दुःखं महत् कष्टं पापीय इति निष्टनन् ।
प्रतिध्वस्तमुखः पूतिरमात्याननुशोचयन् ॥ २६ ॥
अरोगाणां स्पृहयते मुहुर्मृत्युमपीच्छति ।
वीरो दृप्तोऽभिमानी च नेदृशं मृत्युमर्हति ॥ २७ ॥

'यह बड़ा दुःख है। बड़ी पीड़ा हो रही है ! यह मेरे किसी महान् पापका सूचक है ।' इस प्रकार आर्तनाद करना, विकृत-मुख हो जाना, दुर्गन्धित शरीरसे मन्त्रियोंके लिये निरन्तर शोक करना, नीरोग मनुष्योंकी-सी स्थिति प्राप्त करनेकी कामना करना और वर्तमान रुग्णावस्थामें बारंबार मृत्युकी इच्छा रखना—ऐसी मौत किसी स्वाभिमानी वीरके योग्य नहीं है ॥

रणेषु कदनं कृत्वा ज्ञातिभिः परिवारितः ।
तीक्ष्णैः शस्त्रैरभिक्लिष्टः क्षत्रियो मृत्युमर्हति ॥ २८ ॥

क्षत्रियको तो चाहिये कि अपने सजातीय बन्धुओंसे घिरकर समराङ्गणमें महान् संहार मचाता हुआ तीखे शस्त्रोंसे अत्यन्त पीड़ित होकर प्राणोंका परित्याग करे—वह ऐसी ही मृत्युके योग्य है ॥ २८ ॥

शूरो हि काममन्युभ्यामाविष्टो युध्यते भृशम् ।
हन्यमानानि गात्राणि परैर्नैवावबुध्यते ॥ २९ ॥

शूरवीर क्षत्रिय विजयकी कामना और शत्रुके प्रति रोषसे युक्त हो बड़े वेगसे युद्ध करता है । शत्रुओंद्वारा क्षत-विक्षत किये जानेवाले अपने अङ्गोंकी उसे सुध-बुध नहीं रहती है ॥ २९ ॥

स संख्ये निधनं प्राप्य प्रशस्तं लोकपूजितम् ।
स्वधर्मं विपुलं प्राप्य शक्रस्येति सलोकताम् ॥ ३० ॥

वह युद्धमें लोकपूजित सर्वश्रेष्ठ मृत्यु एवं महान् धर्मको पाकर इन्द्रलोकमें चला जाता है ॥ ३० ॥

सर्वोपायै रणमुखमातिष्ठंस्त्यक्तजीवितः ।
प्राप्नोतीन्द्रस्य सालोक्यं शूरः पृष्ठमदर्शयन् ॥ ३१ ॥

शूरवीर प्राणोंका मोह छोड़कर युद्धके मुहानेपर खड़ा होकर सभी उपायोंसे जूझता है और शत्रुको कभी पीठ नहीं दिखाता है; ऐसा शूरवीर इन्द्रके समान लोकका अधिकारी होता है ॥ ३१ ॥

यत्र यत्र हतः शूरः शत्रुभिः परिवारितः ।
अक्षयाँल्लभते लोकान् यदि दैन्यं न सेवते ॥ ३२ ॥

शत्रुओंसे घिरा हुआ शूरवीर यदि मनमें दीनता न लावे तो वह जहाँ कहीं भी मारा जाय, अक्षय लोकोंको प्राप्त कर लेता है ॥ ३२ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि राजधर्मानुशासनपर्वणि सप्तनवतितमोऽध्यायः ॥ ९७ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत राजधर्मानुशासनपर्वमें सत्तानबेवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ९७ ॥

अष्टनवतितमोऽध्यायः

इन्द्र और अम्बरीषके संवादमें नदी और यज्ञके रूपकोंका वर्णन तथा समरभूमिमें जूझते हुए मारे जानेवाले शूरवीरोंको उत्तम लोकोंकी प्राप्तिका कथन

युधिष्ठिर उवाच

के लोका युध्यमानानां शूराणामनिवर्तिनाम् ।
भवन्ति निधनं प्राप्य तन्मे ब्रूहि पितामह ॥ १ ॥

युधिष्ठिरने पूछा—पितामह ! जो शूरवीर शत्रुके साथ डटकर युद्ध करते हैं और कभी पीठ नहीं दिखाते, वे समराङ्गणमें मृत्युको प्राप्त होकर किन लोकोंमें जाते हैं, यह मुझे बताइये ॥ १ ॥

भीष्म उवाच

अत्राप्युदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम् ।
अम्बरीषस्य संवादमिन्द्रस्य च युधिष्ठिर ॥ २ ॥

भीष्मजीने कहा—युधिष्ठिर ! इस विषयमें अम्बरीष और इन्द्रके संवादरूप एक प्राचीन इतिहासका उदाहरण दिया जाता है ॥ २ ॥

अम्बरीषो हि नाभागिः स्वर्गं गत्वा सुदुर्लभम् ।
ददर्श सुरलोकस्थं शक्रेण सचिवं सह ॥ ३ ॥

नाभागपुत्र अम्बरीषने अत्यन्त दुर्लभ स्वर्गलोकमें जाकर देखा कि उनका सेनापति देवलोकमें इन्द्रके साथ विराजमान है ॥

सर्वतेजोमयं दिव्यं विमानवरमास्थितम् ।
उपर्युपरि गच्छन्तं स्वं वै सेनापतिं प्रभुम् ॥ ४ ॥
स दृष्ट्वोपरि गच्छन्तं सेनापतिमुदारधीः ।
ऋद्धिं दृष्ट्वा सुदेवस्य विस्मितः प्राह वासवम् ॥ ५ ॥

वह सम्पूर्णतः तेजस्वी, दिव्य एवं श्रेष्ठ विमानपर बैठकर ऊपर-ऊपर चला जा रहा था । अपने शक्तिशाली सेनापतिको अपनेसे भी ऊपर होकर जाते देख सुदेवकी उस समृद्धिका

[illegible] दर्शन करके उदारबुद्धि राजा अम्बरीष आश्चर्यमें चकित हो उठे और इन्द्रदेवसे बोले ॥ ४-५ ॥

अम्बरीष उवाच

सागरान्तां महीं कृत्स्नामनुशास्य यथाविधि ।
चातुर्वर्ण्यं यथाशास्त्रं प्रवृत्तो धर्मकाम्यया ॥ ६ ॥

अम्बरीषने पूछा – देवराज ! मैं समुद्रपर्यन्त सारी पृथ्वीका विधिपूर्वक शासन और संरक्षण करता था । शास्त्रकी आज्ञाके अनुसार धर्मकी कामनासे चारों वर्णोंके पालनमें तत्पर रहता था ॥ ६ ॥

ब्रह्मचर्येण घोरेण गुर्वाचारेण सेवया ।
वेदानधीत्य धर्मेण राजशास्त्रं च केवलम् ॥ ७ ॥

मैंने घोर ब्रह्मचर्यका पालन करके गुरुके बताये हुए आचार और गुरुकी सेवाके द्वारा धर्मपूर्वक वेदोंका अध्ययन किया तथा राजशास्त्रकी विशेष शिक्षा प्राप्त की ॥ ७ ॥

अतिथीनन्नपानेन पितॄंश्च स्वधया तथा ।
ऋषीन् स्वाध्यायदीक्षाभिर्देवान् यज्ञैरनुत्तमैः ॥ ८ ॥

सदा ही अन्न-पान देकर अतिथियोंका, श्राद्धकर्म करके पितरोंका, स्वाध्यायकी दीक्षा लेकर ऋषियोंका तथा उत्तमोत्तम यज्ञोंका अनुष्ठान करके देवताओंका पूजन किया ॥ ८ ॥

क्षत्रधर्मे स्थितो भूत्वा यथाशास्त्रं यथाविधि ।
उदीक्षमाणः पृतनां जयामि युधि वासव ॥ ९ ॥

देवेन्द्र ! मैं शास्त्रोक्त विधिके अनुसार क्षत्रिय-धर्ममें स्थित होकर सेनाकी देख-भाल करता और युद्धमें शत्रुओंपर विजय पाता था ॥ ९ ॥

देवराज सुदेवोऽयं मम सेनापतिः पुरा ।
आसीद् योधः प्रशान्तात्मा सोऽयं कस्मादतीव माम् ॥ १० ॥

देवराज ! यह सुदेव पहले मेरा सेनापति था । शान्त-स्वभावका एक सैनिक था; फिर यह मुझे लाँघकर कैसे जा रहा है ? ॥ १० ॥

अनेन क्रतुभिर्मुख्यैर्नेष्टं नापि द्विजातयः ।
तर्पिता विधिवच्छक्र सोऽयं कस्मादतीव माम् ॥ ११ ॥
(ऐश्वर्यमीदृशं प्राप्तः सर्वदेवैः सुदुर्लभम् ।

इन्द्रदेव ! इसने न तो बड़े-बड़े यज्ञ किये और न विधिपूर्वक ब्राह्मणोंको ही तृप्त किया । वही यह सुदेव आज मुझको लाँघकर ऊपर-ऊपरसे कैसे जा रहा है ? इसे ऐसा ऐश्वर्य कहाँसे प्राप्त हो गया, जो सम्पूर्ण देवताओंके लिये भी अत्यन्त दुर्लभ है ? ॥ ११ ॥

शक्र उवाच

यदनेन कृतं कर्म प्रत्यक्षं ते महीपते ॥
पुरा पालयतः सम्यक् पृथिवीं धर्मतो नृप ।

इन्द्रने कहा—पृथ्वीनाथ ! नरेश्वर ! पूर्वकालमें जब आप धर्मके अनुसार भलीभाँति इस पृथ्वीका पालन कर रहे थे, उस समय सुदेवने जो पराक्रम किया था, उसे आपने प्रत्यक्ष देखा था ॥

शत्रवो निर्जिताः सर्वे ये तवाहितकारिणः ॥
संयमो वियमश्चैव सुयमश्च महाबलः ।
राक्षसा दुर्जया लोके त्रयस्ते युद्धदुर्मदाः ॥
पुत्रास्ते शतशृङ्गस्य राक्षसस्य महीपते ॥

महीपाल ! उन दिनों आपके तीन शत्रु थे–संयम, वियम और महाबली सुयम । वे सब-के-सब आपका अहित करनेवाले थे । वे शतशृङ्ग नामक राक्षसके पुत्र थे । लोकमें किसीके लिये भी उन तीनों रणदुर्मद राक्षसोंपर विजय पाना कठिन था । सुदेवने उन सबको परास्त कर दिया था ॥

अथ तस्मिञ्छुभे काले तव यज्ञं वितन्वतः ।
अश्वमेधं महायागं देवानां हितकाम्यया ।
तस्य ते खलु विघ्नार्थं आगता राक्षसास्त्रयः ।

एक समय जब आप देवताओंके हितकी इच्छासे शुभ मुहूर्तमें अश्वमेध नामक महायज्ञका अनुष्ठान कर रहे थे, उन्हीं दिनों आपके उस यज्ञमें विघ्न डालनेके लिये वे तीनों राक्षस वहाँ आ पहुँचे ॥

कोटीशतपरीवारां राक्षसानां महाचमूम् ।
परिगृह्य ततः सर्वाः प्रजा वन्दीकृतास्तव ॥
विह्वलाश्च प्रजाः सर्वाः सर्वे च तव सैनिकाः ।

उन्होंने सौ करोड़ राक्षसोंकी विशाल सेना साथ लेकर आक्रमण किया और आपकी समस्त प्रजाओंको पकड़कर बंदी बना लिया । उस समय आपकी समस्त प्रजा और सारे सैनिक व्याकुल हो उठे थे ॥

निराकृतस्त्वया चासीत् सुदेवः सैन्यनायकः ॥
तत्रामात्यवचः श्रुत्वा निरस्तः सर्वकर्मसु ॥

उन दिनों सेनापतिके विरुद्ध मन्त्रीकी बात सुनकर आपने सेनापति सुदेवको अधिकारसे वञ्चित करके सब कार्योंसे अलग कर दिया था ॥

श्रुत्वा तेषां वचो भूयः सोपधं वसुधाधिप ।
सर्वसैन्यसमायुक्तः सुदेवः प्रेरितस्त्वया ॥
राक्षसानां वधार्थाय दुर्जयानां नराधिप ।

पृथ्वीनाथ ! नरेश्वर ! फिर उन्हीं मन्त्रियोंकी कपटपूर्ण बात सुनकर आपने उन दुर्जय राक्षसोंके वधके लिये सेनासहित सुदेवको युद्धमें जानेकी आज्ञा दे दी ॥

नाजित्वा राक्षसीं सेनां पुनरागमनं तव ॥
वन्दीमोक्षमकृत्वा च न चागमनमिष्यते ।

और जाते समय यह कहा—'राक्षसोंकी सेनाको पराजित करके उनके कैदमें पड़ी हुई प्रजा और सैनिकोंका उद्धार किये बिना तुम यहाँ लौटकर मत आना' ॥

सुदेवस्तद्वचः श्रुत्वा प्रस्थानमकरोन्नृप ॥
सम्प्राप्तश्च स तं देशं यत्र वन्दीकृताः प्रजाः ।
पश्यति स्म महाघोरां राक्षसानां महाचमूम् ॥

नरेश्वर ! आपकी वह बात सुनकर सुदेवने तुरंत ही प्रस्थान

किया और वह उस स्थानपर गया, जहाँ आपकी प्रजा बंदी बना ली गयी थी। उसने वहाँ राक्षसोंकी महाभयंकर विशाल सेना देखी ॥

दृष्ट्वा संचिन्तयामास सुदेवो वाहिनीपतिः।
नेयं शक्या चमूर्जेतुमपि सेन्द्रैः सुरासुरैः ॥
नाम्बरीषः कलामेकामेषां क्षपयितुं क्षमः।
दिव्यास्त्रबलभूयिष्ठः किमहं पुनरीदृशः ॥

उसे देखकर सेनापति सुदेवने सोचा कि यह विशाल वाहिनी तो इन्द्र आदि देवताओं तथा असुरोंसे भी नहीं जीती जा सकती। महाराज अम्बरीष दिव्य अस्त्र एवं दिव्य बलसे सम्पन्न हैं, परंतु वे इस सेनाके सोलहवें भागका भी संहार करनेमें समर्थ नहीं हैं। जब उनकी यह दशा है, तब मेरे-जैसा साधारण सैनिक इस सेनापर कैसे विजय पा सकता है ? ॥

ततः सेनां पुनः सर्वां प्रेषयामास पार्थिव।
यत्र त्वं सहितः सर्वैर्मन्त्रिभिः सोपधैर्नृप ॥

राजन् ! यह सोचकर सुदेवने फिर सारी सेनाको वहीं वापस भेज दिया, जहाँ आप उन समस्त कपटी मन्त्रियोंके साथ विराजमान थे ॥

ततो रुद्रं महादेवं प्रपन्नो जगतः पतिम्।
श्मशाननिलयं देवं तुष्टाव वृषभध्वजम् ॥

तदनन्तर सुदेवने श्मशानवासी महादेव जगदीश्वर रुद्रदेवकी शरण ली और उन भगवान् वृषभध्वजका स्तवन किया ॥

स्तुत्वा शस्त्रं समादाय स्वशिरश्छेत्तुमुद्यतः।
कारुण्याद् देवदेवेन गृहीतस्तस्य दक्षिणः ॥
सपाणिः सह शस्त्रेण दृष्ट्वा चेदमुवाच ह।

स्तुति करके वह खड्ग हाथमें लेकर अपना सिर काटनेको उद्यत हो गया। तब देवाधिदेव महादेवने करुणावश सुदेवका वह खड्गसहित दाहिना हाथ पकड़ लिया और उसकी ओर स्नेहपूर्वक देखकर इस प्रकार कहा ॥

रुद्र उवाच

किमिदं साहसं पुत्र कर्तुकामो वदस्व मे।

रुद्र बोले—पुत्र ! तुम ऐसा साहस क्यों करना चाहते हो ? मुझसे कहो ॥

इन्द्र उवाच

स उवाच महादेवं शिरसा त्ववनीं गतः ॥
भगवन् वाहिनीमेनां राक्षसानां सुरेश्वर।
अशक्तोऽहं रणे जेतुं तस्मात् त्यक्ष्यामि जीवितम् ॥
गतिर्भव महादेव ममार्तस्य जगत्पते।
नागन्तव्यमजित्वा च मामाह जगतीपतिः ॥
अम्बरीषो महादेव क्षारितः सचिवैः सह।
तमुवाच महादेवः सुदेवं पतितं क्षितौ।
अधोमुखं महात्मानं सत्त्वानां हितकाम्यया ॥
धनुर्वेदं समाहूय सगुणं सहविग्रहम्।
रथनागाश्वकलिलं दिव्यास्त्रसमलंकृतम् ॥
रथं च सुमहाभागं येन तत् त्रिपुरं हतम्।
धनुः पिनाकं खड्गं च रौद्रमस्त्रं च शङ्करः ॥
निजघानासुरान् सर्वान् येन देवस्त्र्यम्बकः।
उवाच च महादेवः सुदेवं वाहिनीपतिम् ॥

इन्द्र कहते हैं—राजन् ! तब सुदेवने महादेवजीको पृथ्वीपर मस्तक रखकर प्रणाम किया और इस प्रकार कहा—'भगवन् ! सुरेश्वर ! मैं इस राक्षससेनाको युद्धमें नहीं जीत सकता; इसलिये इस जीवनको त्याग देना चाहता हूँ। महादेव ! जगत्पते ! आप मुझ आर्तको शरण दें। मन्त्रियोंसहित महाराज अम्बरीष मुझपर कुपित हुए बैठे हैं। उन्होंने स्पष्टरूपसे आज्ञा दी है कि इस सेनाको पराजित किये बिना तुम लौटकर न आना।' तब महादेवजीने पृथ्वीपर नीचे मुख किये पड़े हुए महामना सुदेवसे समस्त प्राणियोंके हितकी कामनासे कुछ कहनेकी इच्छा की। पहले उन्होंने गुण और शरीरसहित धनुर्वेदको बुलाकर रथ, हाथी और घोड़ोंसे भरी हुई सेनाका आवाहन किया, जो दिव्य अस्त्र-शस्त्रोंसे विभूषित थी। इसके बाद उन्होंने उस महान् भाग्यशाली रथको भी वहाँ उपस्थित कर दिया, जिससे उन्होंने त्रिपुरका नाश किया था। फिर पिनाकनामक धनुष, अपना खड्ग तथा अस्त्र भी भगवान् शंकरने दे दिया, जिसके द्वारा उन भगवान् त्रिलोचनने समस्त असुरोंका संहार किया था। तदनन्तर महादेवजीने सेनापति सुदेवसे इस प्रकार कहा ॥

रुद्र उवाच

रथादस्मात् सुदेव त्वं दुर्जयस्तु सुरासुरैः।
मायया मोहितो भूमौ न पदं कर्तुमर्हसि ॥
अत्रस्थस्त्रिदशान् सर्वाञ्जेष्यसे सर्वदानवान्।
राक्षसाश्च पिशाचाश्च न शक्ता द्रष्टुमीदृशम् ॥
रथं सूर्यसहस्राभं किमु योद्धुं त्वया सह।

रुद्र बोले—सुदेव ! तुम इस रथके कारण देवताओं और असुरोंके लिये भी दुर्जय हो गये हो, परंतु किसी मायासे मोहित होकर अपना पैर पृथ्वीपर न रख देना। इसपर बैठे रहोगे, तो समस्त देवताओं और दानवोंको जीत लोगे। यह रथ सहस्रों सूर्योंके समान तेजस्वी है। राक्षस और पिशाच ऐसे तेजस्वी रथकी ओर देख भी नहीं सकते; फिर तुम्हारे साथ युद्ध करनेकी तो बात ही क्या है ? ॥

इन्द्र उवाच

स जित्वा राक्षसान् सर्वान् कृत्वा वन्दीविमोक्षणम्।
घातयित्वा च तान् सर्वान् बाहुयुद्धे त्वयं हतः ॥
वियमं प्राप्य भूपाल वियमश्च निपातितः ॥)

इन्द्र कहते हैं—राजन् ! तत्पश्चात् सुदेवने उस रथके द्वारा समस्त राक्षसोंको जीतकर बंदी प्रजाओंको बन्धनसे छुड़ा दिया और समस्त शत्रुओंका संहार करके वियमके साथ बाहुयुद्ध करते समय स्वयं भी मारा गया, साथ ही इसने उस युद्धमें वियमको भी मार डाला ॥

इन्द्र उवाच

एतस्य विस्तरस्तात सुदेवस्य बभूव ह।
संग्रामयज्ञः सुमहान् यश्चान्यो युध्यते नरः॥ १२॥

इन्द्र बोले—तात! इस सुदेवने बड़े विस्तारके साथ महान् संग्राम-यज्ञ किया था। दूसरा भी जो मनुष्य युद्ध करता है, उसके द्वारा इसी तरह संग्राम-यज्ञ सम्पादित होता है॥ १२॥

संनद्धो दीक्षितः सर्वो योधः प्राप्य चमूमुखम्।
युद्धयज्ञाधिकारस्थो भवतीति विनिश्चयः॥ १३॥

कवच धारण करके युद्धकी दीक्षा लेनेवाला प्रत्येक योद्धा सेनाके मुहानेपर जाकर इसी प्रकार संग्रामयज्ञका अधिकारी होता है। यह मेरा निश्चित मत है॥ १३॥

अम्बरीष उवाच

कानि यज्ञे हवींष्यस्मिन् किमाज्यं का च दक्षिणा।
ऋत्विजश्चात्र के प्रोक्तास्तन्मे ब्रूहि शतक्रतो॥ १४॥

अम्बरीषने पूछा—शतक्रतो! इस रणयज्ञमें कौन-सा हविष्य है? क्या घृत है? कौन-सी दक्षिणा है और इसमें कौन-कौन-से ऋत्विज बताये गये हैं? यह मुझसे कहिये॥

इन्द्र उवाच

ऋत्विजः कुञ्जरास्तत्र वाजिनोऽध्वर्यवस्तथा।
हवींषि परमांसानि रुधिरं त्वाज्यमुच्यते॥ १५॥

इन्द्रने कहा—राजन्! इस युद्धयज्ञमें हाथी ही ऋत्विज हैं, घोड़े अध्वर्यु हैं, शत्रुओंका मांस ही हविष्य है और उनके रक्तको ही घृत कहा जाता है॥ १५॥

शृगालगृध्रकाकोलाः सदस्यास्तत्र सत्रिणः।
आज्यशेषं पिबन्त्येते हविः प्राश्नन्ति चाध्वरे॥ १६॥

सियार, गीध, कौए तथा अन्य मांसभक्षी पक्षी उस यज्ञशालाके सदस्य हैं, जो यज्ञावशिष्ट घृत (रक्त) को पीते और उस यज्ञमें अर्पित हविष्य (मांस) को खाते हैं॥ १६॥

प्रासतोमरसंघाताः खड्गशक्तिपरश्वधाः।
ज्वलन्तो निशिताः पीताः स्रुचस्तस्याथ सत्रिणः॥ १७॥

प्रास, तोमरसमूह, खड्ग, शक्ति, फरसे आदि चमचमाते हुए तीखे और पानीदार शस्त्र यज्ञकर्ताके लिये स्रुक्‌का काम देते हैं॥ १७॥

चापवेगायतस्तीक्ष्णः परकायावभेदनः।
ऋजुः सुनिशितः पीतः सायकश्च स्रुवो महान्॥ १८॥

धनुषके वेगसे दूरतक जानेके कारण जो विशाल आकार धारण करता है, वह शत्रुके शरीरको विदीर्ण करनेवाला, तीखा, सीधा, पैना और पानीदार बाण ही यजमानके हाथमें स्थित महान् स्रुव है॥ १८॥

द्वैपिचर्मावनद्धश्च नागदन्तकृतत्सरुः।
हस्तिहस्तहरः खड्गः स्फ्यो भवेत् तस्य संयुगे॥ १९॥

जो व्याघ्रचर्मकी म्यानमें बँधा रहता है, जिसकी मूँठ हाथीके दाँतकी बनी होती है तथा जो गजराजोंके शुण्डदण्डको काट लेता है, वह खड्ग उस युद्धमें स्फ्यका काम देता है॥

ज्वलितैर्निशितैः प्रासशक्त्यृष्टिसपरश्वधैः।
शैक्यायसमयैस्तीक्ष्णैरभिघातो भवेद् वसु॥ २०॥
संख्यासमयविस्तीर्णमभिजातोद्भवं बहु।

उज्ज्वल और तेज धारवाले, सम्पूर्णतः लोहेके बने हुए तथा तीखे प्रास, शक्ति, ऋष्टि और परशु आदि अस्त्र-शस्त्रोंद्वारा जो आघात किया जाता है, वही उस युद्धयज्ञका बहुसंख्यक, अधिक समयसाध्य और कुलीन पुरुषद्वारा संगृहीत नाना प्रकारका द्रव्य है॥ २०½॥

आवेगाद् यच्च रुधिरं संग्रामे स्रवते भुवि॥ २१॥
सास्य पूर्णाहुतिर्होमे समृद्धा सर्वकामधुक्।

वीरोंके शरीरसे संग्रामभूमिमें बड़े वेगसे जो रक्तकी धारा बहती है, वही उस युद्धयज्ञके होममें समस्त कामनाओंको पूर्ण करनेवाली समृद्धिशालिनी पूर्णाहुति है॥ २१½॥

छिन्धि भिन्धीति यः शब्दः श्रूयते वाहिनीमुखे॥ २२॥
सामानि सामगास्तस्य गायन्ति यमसादने।
हविर्धानं तु तस्याहुः परेषां वाहिनीमुखम्॥ २३॥

सेनाके मुहानेपर जो 'काट डालो, फाड़ डालो' आदिका भयंकर शब्द सुना जाता है, वही सामगान है। सैनिकरूपी सामगायक शत्रुओंको यमलोकमें भेजनेके लिये मानो सामगान करते हैं। शत्रुओंकी सेनाका प्रमुख भाग उस वीर यजमानके लिये हविर्धान (हविष्य रखनेका पात्र) बताया गया है॥ २२-२३॥

कुञ्जराणां हयानां च वर्मिणां च समुच्चयः।
अग्निः श्येनचितो नाम स च यज्ञे विधीयते॥ २४॥

हाथी, घोड़े और कवचधारी वीर पुरुषोंके समूह ही उस युद्धयज्ञके श्येनचित नामक अग्नि हैं॥ २४॥

उत्तिष्ठते कबन्धोऽत्र सहस्रे निहते तु यः।
स यूपस्तस्य शूरस्य खादिरोऽष्टास्रिरुच्यते॥ २५॥

सहस्रों वीरोंके मारे जानेपर जो कबन्ध खड़े दिखायी देते हैं, वे ही मानो उस शूरवीरके यज्ञमें खदिरकाष्ठके बने हुए आठ कोणवाले यूप कहे गये हैं॥ २५॥

इडोपहूताः क्रोशन्ति कुञ्जरास्त्वंकुशेरिताः।
व्याघुष्टतलनादेन वषट्कारेण पार्थिव॥ २६॥
उद्गाता तत्र संग्रामे त्रिसामा दुन्दुभिर्नृप।

राजन्! वाणीद्वारा ललकारने और महावतोंके अंकुशोंकी मार खानेपर हाथी जो चिग्घाड़ते हैं, कोलाहल और करतलध्वनिके साथ होनेवाली वह चिग्घाड़नेकी आवाज उस यज्ञमें वषट्कार है। नरेश्वर! संग्राममें जिस दुन्दुभिकी गम्भीर ध्वनि होती है, वही सामवेदके तीन मन्त्रोंका पाठ करनेवाला उद्गाता है॥ २६½॥

ब्रह्मस्वे ह्रियमाणे तु त्यक्त्वा युद्धे प्रियां तनुम्॥ २७॥
आत्मानं यूपमुत्सृज्य स यज्ञोऽनन्तदक्षिणः।

जब लुटेरे ब्राह्मणके धनका अपहरण करते हों, उस

समय वीर पुरुष उनके साथ किये जानेवाले युद्धमें अपने प्रिय शरीरके त्यागके लिये जो उद्यम करता है अथवा जो देहरूपी यूपका उत्सर्ग करके प्रहार ही कर बैठता है, उसका वह युद्ध ही अनन्त दक्षिणाओंसे युक्त यज्ञ कहलाता है ॥

भर्तुरर्थे च यः शूरो विक्रमेद् वाहिनीमुखे ॥ २८ ॥
न भयाद् विनिवर्तेत तस्य लोका यथा मम ।

जो शूरवीर अपने स्वामीके लिये सेनाके मुहानेपर खड़ा होकर पराक्रम प्रकट करता है और भयसे कभी पीठ नहीं दिखाता, उसको मेरे समान लोकोंकी प्राप्ति होती है ॥२८½॥

नीलचर्मावृतैः खड्गैर्बाहुभिः परिघोपमैः ॥ २९ ॥
यस्य वेदिरुपस्तीर्णा तस्य लोका यथा मम ।

जिसके युद्ध-यज्ञकी वेदी नीले चमड़ेकी बनी हुई म्यानके भीतर रखी जानेवाली तलवारों तथा परिघके समान मोटी-मोटी भुजाओंसे बिछ जाती है, उसे वैसे ही लोक प्राप्त होते हैं, जैसे मुझे मिले हैं ॥ २९½ ॥

यस्तु नापेक्षते कंचित् सहायं विजये स्थितः ॥ ३० ॥
विगाह्य वाहिनीमध्यं तस्य लोका यथा मम ।

जो विजयके लिये युद्धमें डटा रहकर शत्रुकी सेनामें घुस जाता है और दूसरे किसी भी सहायककी अपेक्षा नहीं रखता, उसे मेरे समान ही लोक प्राप्त होते हैं ॥ ३०½ ॥

यस्य शोणितसंघाता भेरीमण्डूककच्छपा ॥ ३१ ॥
वीरास्थिशर्करा दुर्गा मांसशोणितकर्दमा ।
असिचर्मप्लवा घोरा केशशैवलशाद्वला ॥ ३२ ॥
अश्वनागरथैश्चैव संछिन्नैः कृतसंक्रमा ।
पताकाध्वजवानीरा हतवारणवाहिनी ॥ ३३ ॥
शोणितोदा सुसम्पूर्णा दुस्तरा पारगैर्नरैः ।
हतनागमहानक्रा परलोकवहाशिवा ॥ ३४ ॥
ऋष्टिखड्गमहानौका गृध्रकङ्कवलप्लवा ।
पुरुषादानुचरिता भीरूणां कश्मलावहा ॥ ३५ ॥
नदी योधस्य संग्रामे तदस्यावभृथं स्मृतम् ।

जिस योद्धाके युद्धरूपी यज्ञमें रक्तकी नदी प्रवाहित होती है, उसके लिये वह अवभृथस्नानके समान पुण्यजनक है। रक्त ही उस नदीकी जलराशि है, नगाड़े ही मेढक और कछुओंके समान हैं; वीरोंकी हड्डियाँ ही छोटे-छोटे कंकड़ और बालूके समान हैं, उसमें प्रवेश पाना अत्यन्त कठिन है, मांस और रक्त ही उस नदीकी कीच हैं, ढाल और तलवार ही उसमें नौकाके समान हैं, वह भयानक नदी केशरूपी सेवार और घाससे ढकी हुई है। कटे हुए घोड़े, हाथी और रथ ही उसमें उतरनेके लिये सीढ़ी हैं, ध्वजा-पताका तटवर्ती बेंतकी लताके समान हैं, मारे गये हाथियोंको भी वह बहा ले जानेवाली है, रक्तरूपी जलसे वह लबालब भरी है, पार जानेकी इच्छावाले मनुष्योंके लिये वह अत्यन्त दुस्तर है, मरे हुए हाथी बड़े-बड़े मगरमच्छके समान हैं, वह परलोककी ओर प्रवाहित होनेवाली नदी अमङ्गलमयी प्रतीत होती है, ऋष्टि और खड्ग—ये उससे पार होनेके लिये विशाल नौकाके समान हैं। गीध, कङ्क और काक छोटी-छोटी नौकाओंके समान हैं, उसके आस-पास राक्षस विचरते हैं तथा वह भीरु पुरुषोंको मोहमें डालनेवाली है ॥ ३१—३५½ ॥

वेदिर्यस्य त्वमित्राणां शिरोभ्यश्च प्रकीर्यते ॥ ३६ ॥
अश्वस्कन्धैर्गजस्कन्धैस्तस्य लोका यथा मम ।

जिसके युद्ध-यज्ञकी वेदी शत्रुओंके मस्तकों, घोड़ोंकी गर्दनों और हाथियोंके कंधोंसे बिछ जाती है, उस वीरको मेरे-जैसे ही लोक प्राप्त होते हैं ॥ ३६½ ॥

पत्नीशाला कृता यस्य परेषां वाहिनीमुखम् ॥ ३७ ॥
हविर्धानं स्ववाहिन्यास्तदस्याहुर्मनीषिणः ।

जो वीर शत्रुसेनाके मुहानेको पत्नीशाला बना लेता है, मनीषी पुरुष उसके लिये अपनी सेनाके प्रमुख भागको युद्ध-यज्ञके हवनीय पदार्थोंके रखनेका पात्र बताते हैं ॥ ३७½ ॥

सदस्या दक्षिणा योधा आग्नीध्रश्चोत्तरां दिशम् ॥३८॥
शत्रुसेनाकलत्रस्य सर्वलोका न दूरतः ।

जिस वीरके लिये दक्षिणदिशामें स्थित योद्धा सदस्य हैं, उत्तरदिशावर्ती योद्धा आग्नीध्र (ऋत्विक्) हैं एवं शत्रुसेना पत्नीस्वरूप है, उसके लिये समस्त पुण्यलोक दूर नहीं हैं॥

यदा तूभयतो व्यूहे भवत्याकाशमग्रतः ॥ ३९ ॥
सास्य वेदिस्तदा यज्ञैर्नित्यं वेदास्त्रयोऽग्नयः ।

जब अपनी सेना तथा शत्रुसेना एक दूसरेके सामने व्यूह बनाकर उपस्थित होती है, उस समय दोनोंमेंसे जिसके सम्मुख केवल जनशून्य आकाश रह जाता है, वह निर्जन आकाश ही उस वीरके लिये युद्ध-यज्ञकी वेदी है। उस स्थानपर मानो सदा यज्ञ होता है तथा तीनों वेद और त्रिविध अग्नि सदा ही प्रतिष्ठित रहते हैं ॥ ३९½ ॥

यस्तु योधः परावृत्तः संत्रस्तो हन्यते परैः ॥ ४० ॥
अप्रतिष्ठः स नरकं याति नास्त्यत्र संशयः ।

जो योद्धा भयभीत हो पीठ दिखाकर भागता है और उसी अवस्थामें शत्रुओंद्वारा मारा जाता है, वह कहीं भी न ठहरकर सीधा नरकमें गिरता है, इसमें संशय नहीं है ॥४०½॥

यस्य शोणितवेगेन वेदिः स्यात् सम्परिप्लुता ॥ ४१ ॥
केशमांसास्थिसम्पूर्णा स गच्छेत् परमां गतिम्।

जिसके रक्तके वेगसे केश, मांस और हड्डियोंसे भरी हुई रणयज्ञकी वेदी आप्लावित हो उठती है, वह वीर योद्धा परम गतिको प्राप्त होता है ॥ ४१½ ॥

यस्तु सेनापतिं हत्वा तद्यानमधिरोहति ॥ ४२ ॥
स विष्णुविक्रमक्रामी बृहस्पतिसमः प्रभुः ।

जो योद्धा शत्रुके सेनापतिका वध करके उसके रथपर आरूढ़ हो जाता है, वह भगवान् विष्णुके समान पराक्रमशाली, बृहस्पतिके समान बुद्धिमान् तथा शक्तिशाली वीर समझा जाता है ॥ ४२½ ॥

नायकं तत्कुमारं वा यो वा स्याद् यत्र पूजितः ॥ ४३ ॥
जीवग्राहं प्रगृह्णाति तस्य लोका यथा मम ।

[illegible] उसके पुत्र अथवा उस पक्षके [illegible] पकड़ लेता है, उसको [illegible] प्राप्त होते हैं ॥ ४३½ ॥

आत्मानं तु हतं शूरं न शोचेत कथंचन ॥ ४४ ॥
अशोच्यो हि हतः शूरः स्वर्गलोके महीयते ।

युद्धमें मारे गये शूरवीरके लिये किसी प्रकार भी शोक नहीं करना चाहिये । वह मारा गया शूरवीर स्वर्गलोकमें प्रतिष्ठित होता है, अतः कदापि शोचनीय नहीं है ॥ ४४½ ॥

न ह्यन्नं नोदकं तस्य न स्नानं नाप्यशौचकम् ॥ ४५ ॥
हतस्य कर्तुमिच्छन्ति तस्य लोकाञ्छृणुष्व मे ।

युद्धमें मारे गये वीरके लिये उसके आत्मीयजन न तो स्नान करना चाहते हैं, न अशौचसम्बन्धी कृत्यका पालन, न अन्नदान (श्राद्ध) करनेकी इच्छा करते हैं, और न जलदान (तर्पण) करनेकी । उसे जो लोक प्राप्त होते हैं, उन्हें मुझसे सुनो ॥ ४५½ ॥

वराप्सरःसहस्राणि शूरमायोधने हतम् ॥ ४६ ॥
त्वरमाणाभिधावन्ति मम भर्ता भवेदिति ।

युद्धस्थलमें मारे गये शूरवीरकी ओर सहस्रों सुन्दरी अप्सराएँ यह आशा लेकर बड़ी उतावलीके साथ दौड़ी जाती हैं कि यह मेरा पति हो जाय ॥ ४६½ ॥

एतत् तपश्च पुण्यं च धर्मश्चैव सनातनः ॥ ४७ ॥
चत्वारश्चाश्रमास्तस्य यो युद्धमनुपालयेत् ।

जो युद्धधर्मका निरन्तर पालन करता है, उसके लिये यही तपस्या, पुण्य, सनातनधर्म तथा चारों आश्रमोंके नियमोंका पालन है ॥ ४७½ ॥

वृद्धबालौ न हन्तव्यौ न च स्त्री नैव पृष्ठतः ॥ ४८ ॥
तृणपूर्णमुखश्चैव तवास्मीति च यो वदेत् ।

युद्धमें वृद्ध, बालक और स्त्रियोंका वध नहीं करना चाहिये, किसी भागते हुएकी पीठमें आघात नहीं करना चाहिये, जो मुँहमें तिनका लिये शरणमें आ जाय और कहने लगे कि मैं आपका ही हूँ, उसका भी वध नहीं करना चाहिये ॥

जम्भं वृत्रं बलं पाकं शतमायं विरोचनम् ॥ ४९ ॥
दुर्वार्यं चैव नमुचिं नैकमायं च शम्बरम् ।
विप्रचित्तिं च दैतेयं दनोः पुत्रांश्च सर्वशः ।
प्रह्लादं च निहत्याजौ ततो देवाधिपोऽभवम् ॥ ५० ॥

जम्भ, वृत्रासुर, बलासुर, पाकासुर, सैकड़ों माया जानने वाले विरोचन, दुर्जय वीर नमुचि, विविधमायाविशारद शम्बरासुर, दैत्यवंशी विप्रचित्ति, सम्पूर्ण दानवदल तथा प्रह्लाद-को भी युद्धमें मारकर मैं देवराजके पदपर प्रतिष्ठित हुआ हूँ ॥

भीष्म उवाच

इत्येतच्छक्रवचनं निशम्य प्रतिगृह्य च ।
योधानामात्मनः सिद्धिमम्बरीषोऽभिपन्नवान् ॥ ५१ ॥

भीष्मजी कहते हैं—युधिष्ठिर ! इन्द्रका यह वचन सुनकर राजा अम्बरीषने मन-ही-मन इसे स्वीकार किया और वे यह मान गये कि योद्धाओंको स्वतः सिद्धि प्राप्त होती है ॥ ५१ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि राजधर्मानुशासनपर्वणि इन्द्राम्बरीषसंवादे अष्टनवतितमोऽध्यायः ॥ ९८ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत राजधर्मानुशासनपर्वमें इन्द्र और अम्बरीषका संवादविषयक अट्ठानबेवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ९८ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठके २३½ श्लोक मिलाकर कुल ७४½ श्लोक हैं)

नवनवतितमोऽध्यायः

शूरवीरोंको स्वर्ग और कायरोंको नरककी प्राप्तिके विषयमें मिथिलेश्वर जनकका इतिहास

भीष्म उवाच

अत्राप्युदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम् ।
प्रतर्दनो मैथिलश्च संग्रामं यत्र चक्रतुः ॥ १ ॥

भीष्मजी कहते हैं—राजन् ! इसी विषयमें विज्ञ पुरुष उस प्राचीन इतिहासका उदाहरण दिया करते हैं, जिससे यह पता चलता है कि किसी समय राजा प्रतर्दन तथा मिथिलेश्वर जनकने परस्पर संग्राम किया था ॥ १ ॥

यज्ञोपवीती संग्रामे जनको मैथिलो यथा ।
योधानुत्तर्पयामास तन्निबोध युधिष्ठिर ॥ २ ॥

युधिष्ठिर ! यज्ञोपवीतधारी मिथिलापति जनकने रणभूमिमें अपने योद्धाओंको जिस प्रकार उत्साहित किया था, वह सुनो ॥ २ ॥

जनको मैथिलो राजा महात्मा सर्वतत्त्ववित् ।
योधान् स्वान् दर्शयामास स्वर्गं नरकमेव च ॥ ३ ॥

मिथिलाके राजा जनक बड़े महात्मा और सम्पूर्ण तत्त्वोंके ज्ञाता थे । उन्होंने अपने योद्धाओंको योगबलसे स्वर्ग और नरकका प्रत्यक्ष दर्शन कराया और इस प्रकार कहा— ॥ ३ ॥

अभीरूणामिमे लोका भास्वन्तो हन्त पश्यत ।
पूर्णा गन्धर्वकन्याभिः सर्वकामदुहोऽक्षयाः ॥ ४ ॥

'वीरो ! देखो, ये जो तेजस्वी लोक दृष्टिगोचर हो रहे हैं, ये निर्भय होकर युद्ध करनेवाले वीरोंको प्राप्त होते हैं । ये अविनाशी लोक असंख्य गन्धर्वकन्याओं (अप्सराओं) से भरे हुए हैं और सम्पूर्ण कामनाओंकी पूर्ति करनेवाले हैं ॥

इमे पलायमानानां नरकाः प्रत्युपस्थिताः ।
अकीर्तिः शाश्वती चैव पतितव्यमनन्तरम् ॥ ५ ॥

'और देखो, ये जो तुम्हारे सामने नरक उपस्थित हुए हैं, युद्धमें पीठ दिखाकर भागनेवालोंको मिलते हैं । साथ ही इस जगत्में उनकी सदा रहनेवाली अपकीर्ति फैल जाती है; अतः अब तुमलोगोंको विजयके लिये प्रयत्न करना चाहिये ॥

तान् दृष्ट्वारीन् विजयत भूत्वा संत्यागबुद्धयः ।
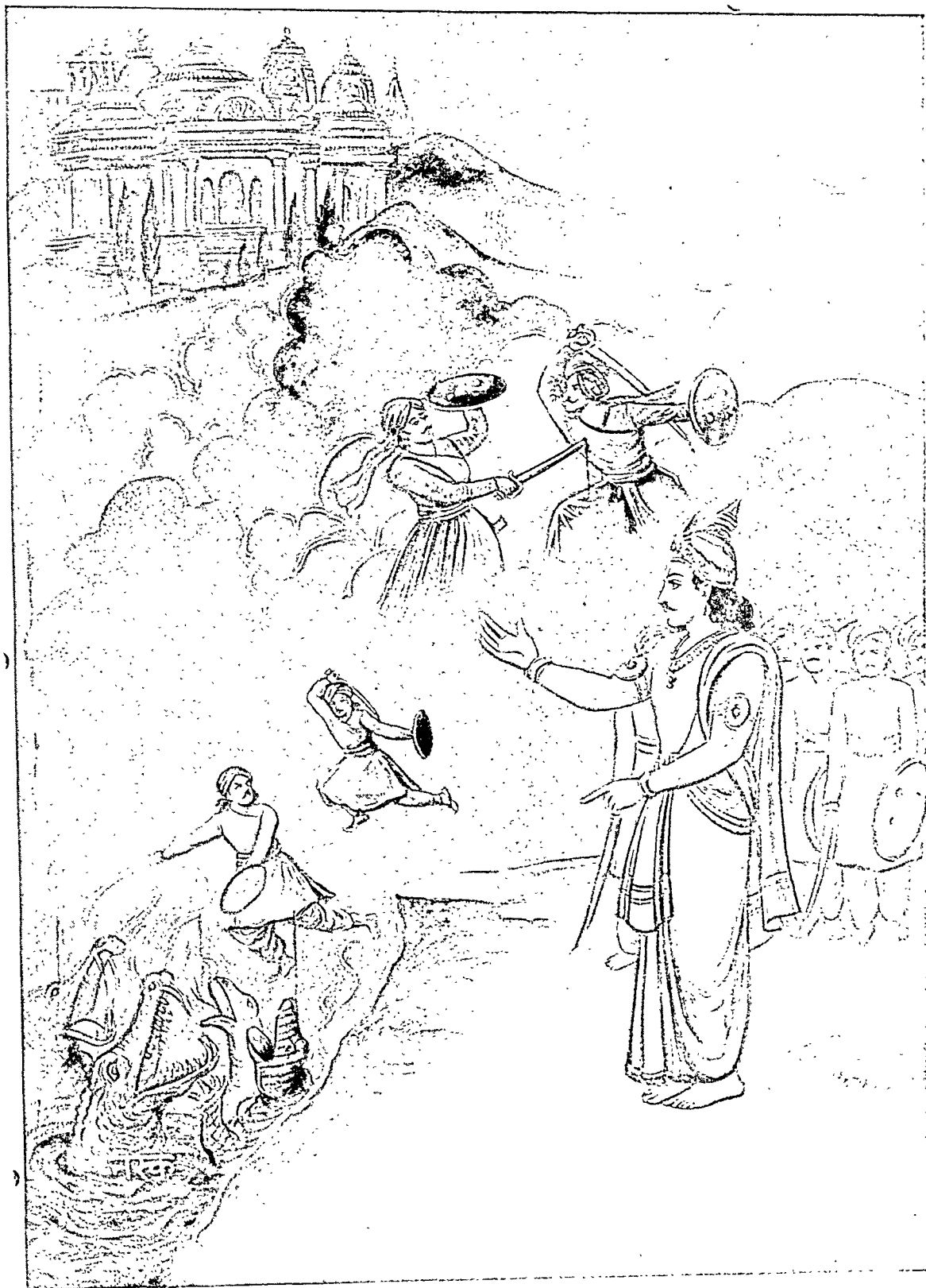
राजर्षि जनक अपने सैनिकोंको स्वर्ग और नरककी बात कह रहे हैं

भीष्म उवाच

सत्येन हि स्थितो धर्म उपपत्त्या तथा परे ।
साध्वाचारतया केचित् तथैवौपयिकादपि ॥ २ ॥

भीष्मजीने कहा—राजन् ! किन्हींका मत है कि धर्म सत्यसे ही स्थिर रहता है। दूसरे लोग युक्तिवादसे ही धर्मकी स्थिति मानते हैं। किन्हीं किन्हींके मतमें श्रेष्ठ आचरणसे ही धर्मकी स्थिति है और कितने ही लोग यथासम्भव साम-दान आदि उपायोंके प्रयोगसे भी धर्मकी प्रतिष्ठा स्वीकार करते हैं ॥

उपायधर्मान् वक्ष्यामि सिद्धार्थानर्थधर्मयोः ।
निर्मर्यादा दस्यवस्तु भवन्ति परिपन्थिनः ॥ ३ ॥
तेषां प्रतिविघातार्थं प्रवक्ष्याम्यथ नैगमम् ।
कार्याणां सर्वसिद्ध्यर्थं तानुपायान् निबोध मे ॥ ४ ॥

युधिष्ठिर ! अब मैं अर्थसिद्धिके साधनभूत धर्मोंका वर्णन करूँगा । यदि डाकू और लुटेरे अर्थ और धर्मकी मर्यादा तोड़ने लगें, तब उनके विनाशके लिये वेदोंमें जो साधन बताया गया है, उसका वर्णन आरम्भ करता हूँ। तुम समस्त कार्योंकी सिद्धिके लिये उन उपायोंको मुझसे सुनो ॥ ३-४ ॥

उभे प्रज्ञे वेदितव्ये ऋज्वी वक्रा च भारत ।
जानन् वक्रां न सेवेत प्रतिबाधेत चागताम् ॥ ५ ॥

भरतनन्दन ! बुद्धि दो प्रकारकी होती है। एक सरल, दूसरी कुटिल। राजाको उन दोनोंका ही ज्ञान प्राप्त करना चाहिये। जहाँ तक सम्भव हो, जान-बूझकर कुटिल बुद्धिका सेवन न करे। यदि वैसी बुद्धि स्वतः आ जाय तो भी उसे हटानेका ही प्रयत्न करे ॥ ५ ॥

अमित्रा एव राजानं भेदेनोपचरन्त्युत ।
तां राजा निकृतिं जानन् यथामित्रान् प्रबाधते ॥ ६ ॥

जो वास्तवमें मित्र नहीं हैं, वे ही भीतरसे राजाके अन्तरङ्ग व्यक्तियोंमें फूट डालनेका प्रयत्न करते हुए ऊपरसे उसकी सेवामें लगे रहते हैं। राजा उनकी इस शठताको समझे और शत्रुओंकी भाँति उनको भी मिटानेका प्रयत्न करे ॥ ६ ॥

गजानां पार्श्ववर्माणि गोवृषाजगराणि च ।
शल्यकण्टकलोहानि तनुत्रचमराणि च ॥ ७ ॥
सितपीतानि शस्त्राणि संनाहाः पीतलोहिताः ।
नानारञ्जनरक्ताः स्युः पताकाः केतवश्च ह ॥ ८ ॥
ऋष्टयस्तोमराः खड्गा निशिताश्च परश्वधाः ।
फलकान्यथ चर्माणि प्रतिकल्प्यान्यनेकशः ॥ ९ ॥

कुन्तीनन्दन ! राजाको चाहिये कि वह गाय, बैल तथा अजगरके चमड़ोंसे हाथियोंकी रक्षाके लिये कवच बनवावे। इसके सिवा लोहेकी कीलें, लोहेके कवच, चँवर, चमकीले और पानीदार शस्त्र, पीले और लाल रंगके कवच, बहुरंगी ध्वजा-पताकाएँ, ऋष्टि, तोमर, खड्ग, तीखे फरसे, फलक और ढाल—इन्हें भारी संख्यामें तैयार कराकर सदा अपने पास रखे ॥ ७-९ ॥

अभिनीतानि शस्त्राणि योधाश्च कृतनिश्चयाः ।
चैत्र्यां वा मार्गशीर्ष्यां वा सेनायोगः प्रशस्यते ॥ १० ॥

यदि शस्त्र तैयार हों और योद्धा भी शत्रुओंसे भिड़नेका दृढ़ निश्चय कर चुके हों, तो चैत्र या मार्गशीर्ष मासकी पूर्णिमाको सेनाका युद्धके लिये उद्यत होकर प्रस्थान करना उत्तम माना गया है ॥ १० ॥

पक्वसस्या हि पृथिवी भवत्यम्बुमती तदा ।
नैवातिशीतो नात्युष्णः कालो भवति भारत ॥ ११ ॥

क्योंकि उस समय खेती पक जाती है और भूतलपर जलकी प्रचुरता रहती है। भरतनन्दन ! उस समय मौसम भी न तो अधिक ठंढ रहती है और न अधिक गरम ॥ ११ ॥

तस्मात् तदा योजयेत परेषां व्यसनेऽथवा ।
एते हि योगाः सेनायाः प्रशस्ताः परबाधने ॥ १२ ॥

इसलिये उसी समय चढ़ाई करे अथवा जिस समय शत्रु संकटमें हो, उसी अवसरपर उसपर आक्रमण कर दे। शत्रुओंको सेनाद्वारा बाधा पहुँचानेके लिये ये ही अवसर अच्छे माने गये हैं ॥ १२ ॥

जलवांस्तृणवान् मार्गः समो गम्यः प्रशस्यते ।
चारैः सुविदिताभ्यासः कुशलैर्वनगोचरैः ॥ १३ ॥

युद्धके लिये यात्रा करते समय मार्ग समतल और सुगम हो तथा वहाँ जल और घास आदि सुलभ हों तो अच्छा समझा जाता है। वनमें विचरनेवाले कुशल गुप्तचरोंको मार्गके विषयमें विशेष जानकारी रहा करती है ॥ १३ ॥

न ह्यरण्येन शक्येत गन्तुं मृगगणैरिव ।
तस्मात् सेनासु तानेव योजयन्ति जयार्थिनः ॥ १४ ॥

वन्य पशुओंकी भाँति मनुष्य जङ्गलमें आसानीसे नहीं चल सकते; इसलिये विजयाभिलाषी राजा सेनाओंमें मार्ग-दर्शन करानेके लिये उन्हीं गुप्तचरोंको नियुक्त करते हैं ॥ १४ ॥

अग्रतः पुरुषानीकं शक्तं चापि कुलोद्भवम् ।
आवासस्तोयवान् दुर्गः पर्याकाशः प्रशस्यते ॥ १५ ॥

सेनामें सबसे आगे कुलीन एवं शक्तिशाली पैदल सिपाहियोंको रखना चाहिये। शत्रुसे बचावके लिये सैनिकोंके रहनेका स्थान या किला ऐसा होना चाहिये, जहाँ पहुँचना कठिन हो, जिसके चारों ओर जलसे भरी हुई खाईं और ऊँचा परकोटा हो। साथ ही उसके चारों ओर खुला आकाश होना चाहिये ॥ १५ ॥

परेषामुपसर्पाणां प्रतिषेधस्तथा भवेत् ।
आकाशात् तु वनाभ्याशं मन्यन्ते गुणवत्तरम् ॥ १६ ॥
बहुभिर्गुणजातैश्च ये युद्धकुशला जनाः ।
उपन्यासो भवेत् तत्र बलानां नातिदूरतः ॥ १७ ॥

उस स्थानपर शत्रुओंके आक्रमणको रोकनेके लिये सुविधा होनी चाहिये। युद्धकुशल पुरुष सेनाकी छावनी डालनेके लिये खुले मैदानकी अपेक्षा अनेक गुणोंके कारण जंगलके

निकटवर्ती स्थानको अधिक लाभदायक मानते हैं। उस वनके समीप ही सेनाका पड़ाव डालना चाहिये ॥ १६-१७॥

उपन्यासावतरणं पदातीनां च गूहनम्।
अथ शत्रुप्रतीघातमापदर्थे परायणम् ॥ १८ ॥

वहाँ व्यूह निर्माण करनेके लिये रथ और वाहनोंसे उतरना तथा पैदल सैनिकोंको छिपाकर रखना सम्भव है। वहाँ रहकर शत्रुओंके प्रहारका जवाब दिया जा सकता है और आपत्तिके समय छिप जानेका भी सुभीता रहता है ॥ १८॥

सप्तर्षीन् पृष्ठतः कृत्वा युध्येयुरचला इव।
अनेन विधिना शत्रून् जिगीषेतापि दुर्जयान् ॥ १९ ॥

योद्धाओंको चाहिये कि वे सप्तर्षियोंको पीछे रखकर पर्वतकी तरह अविचलभावसे युद्ध करें। इस विधिसे आक्रमण करनेवाला राजा दुर्जय शत्रुओंको भी जीतनेकी आशा कर सकता है ॥ १९ ॥

यतो वायुर्यतः सूर्यो यतः शुक्रस्ततो जयः।
पूर्वं पूर्वं ज्याय एषां संनिपाते युधिष्ठिर ॥ २० ॥

जिस ओर वायु, जिस ओर सूर्य और जिस ओर शुक्र हों, उसी ओर पृष्ठभाग रखकर युद्ध करनेसे विजय प्राप्त होती है। युधिष्ठिर ! यदि ये तीनों भिन्न-भिन्न दिशाओंमें हों तो इनमें पहला-पहला श्रेष्ठ है अर्थात् वायुको पीछे रखकर शेष दोको सामने रखते हुए भी युद्ध किया जा सकता है ॥

अकर्दमामनुदकाममर्यादामलोष्टकाम् ।
अश्वभूमिं प्रशंसन्ति ये युद्धकुशला जनाः ॥ २१ ॥

घुड़सवार सेनाके लिये युद्धकुशल पुरुष उसी भूमिकी प्रशंसा करते हैं, जिसमें कीचड़, पानी, बाँध और ढेले न हों ॥ २१ ॥

अपङ्का गर्तरहिता रथभूमिः प्रशस्यते।
नीचद्रुमा महाकक्षा सोदका हस्तियोधिनाम् ॥ २२ ॥

रथसेनाके लिये वह भूमि अच्छी मानी गयी है, जहाँ कीचड़ और गड्ढे न हों। जिस भूमिमें नाटे वृक्ष, बहुत-से घास-फूस और जलाशय हों, वह गजारोही योद्धाओंके लिये अच्छी मानी गयी है ॥ २२ ॥

बहुदुर्गा महाकक्षा वेणुवेत्रसमाकुला।
पदातीनां क्षमा भूमिः पर्वतोपवनानि च ॥ २३ ॥

जो भूमि अत्यन्त दुर्गम, अधिक घास-फूसवाली, बाँस और बेंतोंसे भरी हुई तथा पर्वत एवं उपवनोंसे युक्त हो, वह पैदल सेनाओंके योग्य होती है ॥ २३ ॥

पदातिबहुला सेना दृढा भवति भारत।
रथाश्वबहुला सेना सुदिनेषु प्रशस्यते ॥ २४ ॥

भरतनन्दन ! जिस सेनामें पैदलोंकी संख्या बहुत अधिक हो, वह मजबूत होती है। जिसमें रथों और घोड़ोंकी संख्या बढ़ी हुई हो, वह सेना अच्छे दिनोंमें (जब कि वर्षा न होती हो) अच्छी मानी जाती है ॥ २४ ॥

पदातिनागबहुला प्रावृट्काले प्रशस्यते।
गुणानेतान् प्रसंख्याय देशकालौ प्रयोजयेत् ॥ २५ ॥

बरसातमें वही सेना श्रेष्ठ समझी जाती है, जिसमें पैदलों और हाथीसवारोंकी संख्या अधिक हो। इन गुणोंका विचार करके देश और कालको दृष्टिमें रखते हुए सेनाका संचालन करना चाहिये ॥ २५ ॥

एवं संचिन्त्य यो याति तिथिनक्षत्रपूजितः।
विजयं लभते नित्यं सेनां सम्यक् प्रयोजयन्।
प्रसुप्तांस्तृषितान्श्रान्तान् प्रकीर्णान् नाभिघातयेत्॥२६॥

जो इन सब बातोंपर विचार करके शुभ तिथि और श्रेष्ठ नक्षत्रसे युक्त होकर शत्रुपर चढ़ाई करता है, वह सेनाका ठीक ढंगसे संचालन करके सदा ही विजयलाभ करता है। जो लोग सो रहे हों, प्यासे हों, थक गये हों अथवा इधर-उधर भाग रहे हों, उनपर आघात न करे ॥ २६ ॥

मोक्षे प्रयाणे चलने पानभोजनकालयोः।
अतिक्षिप्तान् व्यतिक्षिप्तान् निहतान् प्रतनूकृतान्॥२७॥
सुविश्रब्धान् कृतारम्भानुपन्यासान् प्रतापितान्।
बहिश्चरानुपन्यासान् कृतवेश्मानुसारिणः ॥ २८ ॥

शस्त्र और कवच उतार देनेके बाद, युद्धस्थलसे प्रस्थान करते समय, घूमते-फिरते समय और खाने-पीनेके अवसरपर किसीको न मारे। इसी प्रकार जो बहुत घबराये हुए हों, पागल हो गये हों, घायल हों, दुर्बल हो गये हों, निश्चिन्त होकर बैठे हों, दूसरे किसी काममें लगे हों, लेखनका कार्य करते हों, पीड़ासे संतप्त हों, बाहर घूम रहे हों, दूरसे सामान लाकर लोगोंके निकट पहुँचानेका काम करते हों अथवा छावनीकी ओर भागे जा रहे हों, उनपर भी प्रहार न करे ॥ २७-२८॥

पारम्पर्यागते द्वारे ये केचिदनुवर्तिनः।
परिचर्यावतो द्वारे ये च केचन वर्गिणः ॥ २९ ॥

जो परम्परासे प्राप्त हुए राजद्वारपर रक्षा आदि सेवाका कार्य करते हों अथवा जो राजसेवक मन्त्री आदिके द्वारपर पहरा देते हों तथा किसी यूथके अधिपति हों, उनको भी नहीं मारना चाहिये ॥ २९ ॥

अनीकं ये विभिन्दन्ति भिन्नं संस्थापयन्ति च।
समानाशनपानास्ते कार्या द्विगुणवेतनाः ॥ ३० ॥

जो शत्रुकी सेनाको छिन्न-भिन्न कर डालते हैं और अपनी तितर-बितर हुई सेनाको संगठित करके दृढ़तापूर्वक स्थापित करनेकी शक्ति रखते हैं, ऐसे लोगोंको राजा अपने समान ही भोजन-पानकी सुविधा देकर सम्मानित करे और उन्हें दुगुना वेतन दे ॥ ३० ॥

दशाधिपतयः कार्याः शताधिपतयस्तथा।
ततः सहस्राधिपतिं कुर्याच्छूरमतन्द्रितम् ॥ ३१ ॥

सेनामें कुछ लोगोंको दस-दस सैनिकोंका नायक बनावे,

[illegible] प्रमुख और आलस्यरहित वीरको [illegible] नियुक्त करे ॥ ३१ ॥

[illegible] संनिपात्य वक्तव्याः संशपामहे ।
[illegible] हि संग्रामे न त्यक्ष्यामः परस्परम् ॥ ३२ ॥

[illegible] मुख्य-मुख्य वीरोंको एकत्र करके यह प्रतिज्ञा करायें कि हम संग्राममें विजय प्राप्त करनेके लिये प्राण रहते एक दूसरेका साथ नहीं छोड़ेंगे ॥ ३२ ॥

इहैव ते निवर्तन्तां ये च केचन भीरवः ।
ये घातयेयुः प्रवरं कुर्वाणास्तुमुलं प्रति ॥ ३३ ॥

जो लोग डरपोक हों, वे यहींसे लौट जायँ और जो लोग भयानक संग्राम करते हुए शत्रुपक्षके प्रधान वीरका वध कर सकें, वे ही यहाँ ठहरें ॥ ३३ ॥

न संनिपाते प्रदरं वधं वा कुर्युरीदृशाः ।
आत्मानं च स्वपक्षं च पालयन् हन्ति संयुगे ॥ ३४ ॥

क्योंकि ऐसे डरपोक मनुष्य घमासान युद्धमें शत्रुओंको न तो तितर-बितर करके भगा सकते हैं और न उनका वध ही कर सकते हैं। शूरवीर पुरुष ही युद्धमें अपनी और अपने पक्षके सैनिकोंकी रक्षा करता हुआ शत्रुओंका संहार कर सकता है ॥ ३४ ॥

अर्थनाशो वधोऽकीर्तिरयशश्च पलायने ।
अमनोज्ञासुखा वाचः पुरुषस्य पलायने ॥ ३५ ॥

सैनिकोंको यह भी समझा देना चाहिये कि युद्धके मैदानसे भागनेमें कई प्रकारके दोष हैं, एक तो अपने प्रयोजन और धनका नाश होता है। दूसरे भागते समय शत्रुके हाथसे मारे जानेका भय रहता है, तीसरे भागनेवालेकी निन्दा होती है और सब ओर उसका अपयश फैल जाता है। इसके सिवा युद्धसे भागनेपर लोगोंके मुखसे मनुष्यको तरह-तरहकी अप्रिय और दुःखदायिनी बातें भी सुननी पड़ती हैं ॥ ३५ ॥

प्रतिध्वस्तोष्ठदन्तस्य न्यस्तसर्वायुधस्य च ।
अमित्रैरवरुद्धस्य द्विषतामस्तु नः सदा ॥ ३६ ॥

जिसके ओठ और दाँत टूट गये हों, जिसने सारे अस्त्र-शस्त्रोंको नीचे डाल दिया हो तथा जिसे शत्रुगण सब ओरसे घेरकर खड़े हों, ऐसा योद्धा सदा हमारे शत्रुओंकी सेनामें ही रहे ॥ ३६ ॥

मनुष्यापसदा ह्येते ये भवन्ति पराङ्मुखाः ।
राशिवर्धनमात्रास्ते नैव ते प्रेत्य नो इह ॥ ३७ ॥

जो लोग युद्धमें पीठ दिखाते हैं, वे मनुष्योंमें अधम हैं; केवल योद्धाओंकी संख्या बढ़ानेवाले हैं। उन्हें इहलोक या परलोकमें कहीं भी सुख नहीं मिलता ॥ ३७ ॥

अमित्रा हृष्टमनसः प्रत्युद्यान्ति पलायिनम् ।
जयिनस्तु नरास्तात चन्दनैर्मण्डनेन च ॥ ३८ ॥

शत्रु प्रसन्नचित्त होकर भागनेवाले योद्धाका पीछा करते हैं तथा तात ! विजयी मनुष्य चन्दन और आभूषणोंद्वारा पूजित होते हैं ॥ ३८ ॥

यस्य स्म संग्रामगता यशो वै घ्नन्ति शत्रवः ।
तदसह्यतरं दुःखमहं मन्ये वधादपि ॥ ३९ ॥

संग्रामभूमिमें आये हुए शत्रु जिसके यशका नाश कर देते हैं, उसके लिये उस दुःखको मैं मरणसे भी बढ़कर असह्य मानता हूँ ॥ ३९ ॥

जयं जानीत धर्मस्य मूलं सर्वसुखस्य च ।
या भीरूणां परा ग्लानिः शूरस्तामधिगच्छति ॥ ४० ॥

वीरो ! तुमलोग युद्धमें विजयको ही धर्म एवं सम्पूर्ण सुखोंका मूल समझो। कायरों या डरपोक मनुष्योंको जिससे भारी ग्लानि होती है, वीर पुरुष उसी प्रहार और मृत्युको सहर्ष स्वीकार करता है ॥ ४० ॥

ते वयं स्वर्गमिच्छन्तः संग्रामे त्यक्तजीविताः ।
जयन्तो वध्यमाना वा प्राप्नुयाम च सद्गतिम् ॥ ४१ ॥

अतः तुमलोग यह निश्चय कर लो कि हम स्वर्गकी इच्छा रखकर संग्राममें अपने प्राणोंका मोह छोड़कर लड़ेंगे। या तो विजय प्राप्त करेंगे या युद्धमें मारे जाकर सद्गति पायेंगे ॥

एवं संशप्तशपथाः समभित्यक्तजीविताः ।
अमित्रवाहिनीं वीराः प्रतिगाहन्त्यभीरवः ॥ ४२ ॥

जो इस प्रकार शपथ लेकर जीवनका मोह छोड़ देते हैं, वे वीर पुरुष निर्भय होकर शत्रुओंकी सेनामें घुस जाते हैं ॥

अग्रतः पुरुषानीकमसिचर्मवतां भवेत् ।
पृष्ठतः शकटानीकं कलत्रं मध्यतस्तथा ॥ ४३ ॥

सेनाके कूच करते समय सबसे आगे ढाल-तलवार धारण करनेवाले पुरुषोंकी टुकड़ी रक्खे। पीछेकी ओर रथियोंकी सेना खड़ी करे और बीचमें राज-स्त्रियोंको रखे ॥ ४३ ॥

परेषां प्रतिघातार्थं पदातीनां च बृंहणम् ।
अपि तस्मिन् पुरे वृद्धा भवेयुर्ये पुरोगमाः ॥ ४४ ॥

उस नगरमें जो वृद्ध पुरुष अगुआ हों, वे शत्रुओंका सामना और विनाश करनेके लिये पैदल सैनिकोंको प्रोत्साहन एवं बढ़ावा दें ॥ ४४ ॥

ये पुरस्तादभिमताः सत्त्ववन्तो मनस्विनः ।
ते पूर्वमभिवर्तेरंश्चैतानेवेतरे जनाः ॥ ४५ ॥

जो पहलेसे ही अपने शौर्यके लिये सम्मानित, धैर्यवान् और मनस्वी हैं, वे आगे रहें और दूसरे लोग उन्हींके पीछे-पीछे चलें ॥ ४५ ॥

अपि चोद्धर्षणं कार्यं भीरूणामपि यत्नतः ।
स्कन्धदर्शनमात्रात्तु तिष्ठेयुर्वा समीपतः ॥ ४६ ॥

जो डरनेवाले सैनिक हों, उनका भी प्रयत्नपूर्वक उत्साह बढ़ाना चाहिये अथवा वे सेनाका विशेष समुदाय दिखानेके लिये ही आसपास खड़े रहें ॥ ४६ ॥

संहतान् योधयेदल्पान् कामं विस्तारयेद् बहून् ।
सूचीमुखमनीकं स्यादल्पानां बहुभिः सह ॥ ४७ ॥

यदि अपने पास थोड़े-से सैनिक हों तो उन्हें एक साथ

संघबद्ध रखकर युद्ध करनेका आदेश देना चाहिये और यदि बहुत-से योद्धा हों तो उन्हें बहुत दूरतक इच्छानुसार फैलाकर रखना चाहिये। थोड़े-से सैनिकोंको बहुतोंके साथ युद्ध करना हो तो उनके लिये सूचीमुख नामक व्यूह उपयोगी होता है॥

सम्प्रयुक्ते निकृष्टे वा सत्यं वा यदि वानृतम्।
प्रगृह्य बाहून् क्रोशेत भग्ना भग्नाः परे इति॥ ४८॥
आगतं मे मित्रबलं प्रहरध्वमभीतवत्।

अपनी सेना उत्कृष्ट अवस्थामें हो या निकृष्ट अवस्थामें, बात सच्ची हो या झूठी, हाथ ऊपर उठाकर हल्ला मचाते हुए कहे, 'वह देखो, शत्रु भाग रहे हैं, भाग रहे हैं, हमारी मित्रसेना आ गयी। अब निर्भय होकर प्रहार करो'॥ ४८½॥

सत्त्ववन्तोऽभिधावेयुः कुर्वन्तो भैरवान् रवान्॥ ४९॥

इतनी बात सुनते ही धैर्यवान् और शक्तिशाली वीर भयंकर सिंहनाद करते हुए शत्रुओंपर टूट पड़ें॥ ४९॥

क्ष्वेडाः किलकिलाशब्दाः क्रकचा गोविषाणिकाः।
भेरीमृदङ्गपणवान् नादयेयुः पुरश्चरान्॥ ५०॥

जो लोग सेनाके आगे हों, उन्हें गर्जन-तर्जन करते और किलकारियाँ भरते हुए क्रकच, नरसिंहे, भेरी, मृदङ्ग और ढोल आदि बाजे बजाने चाहिये॥ ५०॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि राजधर्मानुशासनपर्वणि सेनानीतिकथने शततमोऽध्यायः॥ १००॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत राजधर्मानुशासनपर्वमें सेनानीतिका वर्णनविषयक सौवाँ अध्याय पूरा हुआ॥ १००॥

एकाधिकशततमोऽध्यायः

भिन्न-भिन्न देशके योद्धाओंके स्वभाव, रूप, बल, आचरण और लक्षणोंका वर्णन

युधिष्ठिर उवाच

किंशीलाः किंसमाचाराः कथंरूपाश्च भारत।
किंसंनाहाः कथंशस्त्रा जनाः स्युः संगरे क्षमाः॥ १॥

युधिष्ठिरने पूछा—भरतनन्दन! युद्धस्थलमें कैसे स्वभाव, किस तरहके आचरण और कैसे रूपवाले योद्धा ठीक समझे जाते हैं? उनके कवच और अस्त्र-शस्त्र भी कैसे होने चाहिये?॥ १॥

भीष्म उवाच

यथाऽऽचरितमेवात्र शस्त्रं पत्रं विधीयते।
आचाराद् वीरपुरुषस्तथा कर्मसु वर्तते॥ २॥

भीष्मजी बोले—राजन्! अस्त्र-शस्त्र और वाहन तो योद्धाओंके देश और कुलके आचारके अनुरूप ही होने चाहिये। वीर पुरुष अपने परम्परागत आचारके अनुसार ही सभी कार्योंमें प्रवृत्त होता है॥ २॥

गान्धाराः सिन्धुसौवीरा नखरप्रासयोधिनः।
अभीरवः सुबलिनस्तद्बलं सर्वपारगम्॥ ३॥

गान्धार, सिन्धु और सौवीर देशके योद्धा नखर (बघनखे) और प्राससे युद्ध करनेवाले हैं। वे बड़े बलवान् और निडर होते हैं। उनकी सेना सबको लाँघ जानेवाली होती है॥

सर्वशस्त्रेषु कुशलाः सत्त्ववन्तो ह्युशीनराः।
प्राच्या मातङ्गयुद्धेषु कुशलाः कूटयोधिनः॥ ४॥

उशीनरदेशके वीर सब प्रकारके अस्त्र-शस्त्रोंमें कुशल और बड़े बलशाली होते हैं। पूर्वदेशके योद्धा हाथीपर सवार होकर युद्ध करनेकी कलामें कुशल हैं। वे कपटयुद्धके भी ज्ञाता हैं॥ ४॥

तथा यवनकाम्बोजा मथुरामभितश्च ये।
एते नियुद्धकुशला दाक्षिणात्यासिपाणयः॥ ५॥

यवन, काम्बोज और मथुराके आसपासके रहनेवाले योद्धा मल्लयुद्धमें निपुण होते हैं तथा दक्षिण देशोंके निवासी हाथोंमें तलवार लिये रहते हैं। (वे तलवार चलाना अच्छा जानते हैं)॥ ५॥

सर्वत्र शूरा जायन्ते महासत्त्वा महाबलाः।
प्राय एव समुद्दिष्टा लक्षणानि तु मे शृणु॥ ६॥

प्रायः सभी देशोंमें महान् धैर्यशाली, महाबली एवं शूरवीर पैदा होते हैं। उन सबका उल्लेख अधिकतर किया जा चुका है। अब तुम मुझसे उनके लक्षण सुनो॥ ६॥

सिंहशार्दूलवाङ्नेत्राः सिंहशार्दूलगामिनः।
पारावतकुलिङ्गाक्षाः सर्वे शूराः प्रमाथिनः॥ ७॥

जिनकी वाणी, नेत्र तथा चाल-ढाल सिंहों या बाघोंके समान होती है और जिनकी आँखें कबूतर या गौरैयेके समान होती हैं, वे सभी शूरवीर एवं शत्रुसेनाको मथ डालनेवाले होते हैं॥ ७॥

मृगस्वरा द्वीपिनेत्रा ऋषभाक्षास्तरस्विनः।
प्रमादिनश्च मन्दाश्च क्रोधनाः किङ्किणीस्वनाः॥ ८॥

जिनका कण्ठस्वर मृगोंके समान और नेत्र बाघ एवं बैलोंके तुल्य होते हैं, वे वीर वेगशाली, असावधान और मूर्ख हुआ करते हैं। जिनका कण्ठनाद किङ्किणीके समान मधुर हो, वे स्वभावके बड़े क्रोधी होते हैं॥ ८॥

मेघस्वनाः क्रोधमुखाः केचित् करभसंनिभाः।
जिह्मनासाग्रजिह्वाश्च दूरगा दूरपातिनः॥ ९॥

जिनकी गर्जना मेघके समान, मुख क्रोधयुक्त, शरीर ऊँटकी तरह तथा नाक और जीभ टेढ़ी हो, वे बहुत दूरतक दौड़नेवाले तथा सुदूरवर्ती लक्ष्यको भी मार गिरानेवाले होते हैं॥

बिडालकुब्जतनवस्तनुकेशास्तनुत्वचः।
शीघ्राश्चपलवृत्ताश्च ते भवन्ति दुरासदाः॥ १०॥

जिनका शरीर बिलावके समान कुबड़ा तथा सिरके बाल

[illegible] होते हैं, वे धीरतापूर्वक अङ्ग चलाने-वाले, [illegible] और दुर्जय होते हैं ॥ १० ॥

[illegible] फेनिनश्च मृदुप्रकृतयस्तथा ।
[illegible] नराः पारयिष्णवः ॥ ११ ॥

जो गोहके समान आँखें बंद किये रहते हैं, जिनका स्वभाव कोमल होता है तथा जिनके चलनेपर घोड़ेकी टाप जैसी आवाज होती है, वे मनुष्य युद्धके पार पहुँच जाते हैं ॥ ११ ॥

सुसंहताः सुतनवो व्यूढोरस्काः सुसंस्थिताः ।
प्रवादितेषु कुप्यन्ति हृष्यन्ति कलहेषु च ॥ १२ ॥

जिनके शरीर गठीले, छाती चौड़ी और अङ्ग-प्रत्यङ्ग सुडौल होते हैं, जो युद्धमें डटकर खड़े होनेवाले हैं, वे वीर पुरुष युद्धका बाजा सुनते ही कुपित हो उठते हैं। उन्हें कलह-लड़नेमें ही आनन्द आता है ॥ १२ ॥

गम्भीराक्षा निःसृताक्षाः पिङ्गाक्षा भ्रुकुटीमुखाः ।
नकुलाक्षास्तथा चैव सर्वे शूरास्तनुत्यजः ॥ १३ ॥

जिनकी आँखें गहरी हैं अथवा बड़ी होनेके कारण निकली हुई-सी प्रतीत होती हैं या जिनके नेत्र पिङ्गलवर्णके हैं अथवा जिनकी आँखें नेवलेके समान भूरी-भूरी हैं और जिनके मुखपर भौंहें तनी रहती हैं, ऐसे लक्षणोंवाले सभी मनुष्य शूरवीर तथा रणभूमिमें शरीरका त्याग करनेवाले होते हैं ॥

जिह्माक्षाः प्रललाटाश्च निर्मांसहनवोऽपि च ।
वज्रबाह्वङ्गुलीचक्राः कृशा धमनिसंतताः ॥ १४ ॥
प्रविशन्ति च वेगेन साम्पराये ह्युपस्थिते ।
वारणा इव सम्मत्तास्ते भवन्ति दुरासदाः ॥ १५ ॥

जिनकी आँखें तिरछी, ललाट ऊँचे और ठोड़ी मांस-हीन एवं दुबली-पतली है, जिनकी भुजाओंपर वज्रका और अंगु-लियोंपर चक्रका चिह्न होता है तथा जिनके शरीरकी नस-नाड़ियाँ दिखायी देती हैं, वे युद्ध उपस्थित होते ही बड़े वेगसे शत्रुओंकी सेनामें घुस जाते हैं और मतवाले हाथियोंके समान शत्रुओंके लिये दुर्जय होते हैं ॥ १४-१५ ॥

दीप्तस्फुटितकेशान्ताः स्थूलपार्श्वहनूमुखाः ।
उन्नतांसाः पृथुग्रीवा विकटाः स्थूलपिण्डिकाः ॥ १६ ॥
उद्धता इव सुग्रीवा विनताविहगा इव ॥
पिण्डशीर्षाहिवक्त्राश्च वृषदंशमुखास्तथा ॥ १७ ॥
उग्रस्वरा मन्युमन्तो युद्धेष्वारावसारिणः ।
अधर्मज्ञावलिप्ताश्च घोरा रौद्रप्रदर्शनाः ॥ १८ ॥

जिनके केशोंके अग्रभाग पीले और छितराये हुए हैं, पसलियाँ, ठोड़ी और मुँह लंबे एवं मोटे हैं, कंधे ऊँचे, गर्दन मोटी और पिण्डली भारी हैं, जो देखनेमें विकट जान पड़ते हैं, सुग्रीव जातिवाले अश्वोंके समान तथा गरुड़ पक्षीकी भाँति उद्धत स्वभावके हैं, जिनके सिर गोल और मुख विशाल हैं, जो बिलाव-जैसा मुख धारण करते हैं तथा जिनके स्वरमें कठोरता है, वे बड़े क्रोधी होते हैं और युद्धमें गर्जना करते हुए विचरते हैं। उन्हें धर्मका ज्ञान नहीं होता। वे घमंडमें भरे हुए घोर आकृतिवाले दिखायी देते हैं। उनका दर्शन ही बड़ा भयंकर है ॥ १६–१८ ॥

त्यक्तात्मानः सर्व एते अन्त्यजा ह्यनिवर्तिनः।
पुरस्कार्याः सदा सैन्ये हन्यन्ते घ्नन्ति चापि ये॥ १९ ॥

ये सबके सब अन्त्यज (कोल-भील आदि) हैं, जो युद्ध-से कभी पीछे नहीं हटते और शरीरका मोह छोड़कर लड़ते हैं। सेनामें ऐसे लोगोंको सदा पुरस्कार देना चाहिये और इन्हें सदा आगे-आगे रखना चाहिये। ये धैर्यपूर्वक शत्रुओंकी मार सहते और उन्हें भी मारते हैं ॥ १९ ॥

अधार्मिका भिन्नवृत्ताः सान्त्वेनैषां पराभवः ।
एवमेव प्रकुप्यन्ति राज्ञोऽप्येते ह्यभीक्ष्णशः ॥ २० ॥

ये अधर्मी होते हैं, धर्मकी मर्यादा भङ्ग कर देते हैं। इसी तरह ये बारंबार राजापर भी कुपित हो उठते हैं; अतः इन्हें मीठी-मीठी बातोंसे समझा-बुझाकर ही काबूमें करना चाहिये ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि राजधर्मानुशासनपर्वणि विजिगीषमाणवृत्ते एकाधिकशततमोऽध्यायः ॥ १०१ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत राजधर्मानुशासनपर्वमें विजयाभिलाषी राजाका बर्तावविषयक एक सौ एकवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १०१ ॥

द्व्यधिकशततमोऽध्यायः

विजयसूचक शुभाशुभ लक्षणोंका तथा उत्साही और बलवान् सैनिकोंका वर्णन एवं राजाको युद्धसम्बन्धी नीतिका निर्देश

युधिष्ठिर उवाच

जयित्र्याः कानि रूपाणि भवन्ति भरतर्षभ ।
पृतनायाः प्रशस्तानि तानि चेच्छामि वेदितुम् ॥ १ ॥

युधिष्ठिरने पूछा—भरतश्रेष्ठ ! विजय पानेवाली सेना-के कौन-कौन-से शुभ लक्षण होते हैं ? यह मैं जानना चाहता हूँ॥

भीष्म उवाच

जयित्र्या यानि रूपाणि भवन्ति भरतर्षभ ।
पृतनायाः प्रशस्तानि तानि वक्ष्यामि सर्वशः ॥ २ ॥

भीष्मजीने कहा—भरतभूषण ! विजय पानेवाली सेनाके समक्ष जो-जो शुभ लक्षण प्रकट होते हैं, उन सबका वर्णन करता हूँ, सुनो ॥ २ ॥

दैवे पूर्वं प्रकुपिते मानुषे कालचोदिते ।
तद्विद्वांसोऽनुपश्यन्ति ज्ञानदिव्येन चक्षुषा ॥ ३ ॥
प्रायश्चित्तविधिं चात्र जपहोमांश्च तद्विदः ।

मङ्गलानि च कुर्वन्ति शमयन्त्यहितानि च ॥ ४ ॥

कालसे प्रेरित हुए मनुष्यपर पहले दैवका कोप होता है। उसे विद्वान् पुरुष जब ज्ञानमयी दिव्यदृष्टिसे देख लेते हैं, तब उसके प्रतीकारको जाननेवाले वे पुरुष उसके प्रायश्चित्तका विधान—जप, होम आदि माङ्गलिक कृत्य करते हैं और उस अहितकारक दैवी उपद्रवको शान्त कर देते हैं ॥ ३-४ ॥

उदीर्णमनसो योधा वाहनानि च भारत।
यस्यां भवन्ति सेनायां ध्रुवं तस्यां परो जयः ॥ ५ ॥

भरतनन्दन ! जिस सेनाके योद्धा और वाहन मनमें प्रसन्न एवं उत्साहयुक्त होते हैं, उसकी उत्तम विजय अवश्य होती है॥

अन्वेतान् वायवो यान्ति तथैवेन्द्रधनूंषि च।
अनुप्लवन्तो मेघाश्च तथाऽऽदित्यस्य रश्मयः ॥ ६ ॥
गोमायवश्चानुकूला वलगृध्राश्च सर्वशः।
अर्हयेयुर्यदा सेनां तदा सिद्धिरनुत्तमा ॥ ७ ॥

यदि सेनाकी रणयात्राके समय सैनिकोंके पीछेसे मन्द-मन्द वायु प्रवाहित हो, सामने इन्द्रधनुषका उदय हो, बार-बार बादलोंकी छाया होती रहे और सूर्यकी किरणोंका भी प्रकाश फैलता रहे तथा गीदड़, गीध और कौए भी अनुकूल दिशामें आ जायँ तो निश्चय ही उस सेनाको परम उत्तम सिद्धि प्राप्त होती है ॥ ६-७ ॥

प्रसन्नभाः पावकश्चोर्ध्वरश्मिः
प्रदक्षिणावर्तशिखो विधूमः।
पुण्या गन्धाश्चाहुतीनां भवन्ति
जयस्यैतद् भाविनो रूपमाहुः ॥ ८ ॥

यदि बिना धुएँकी आग प्रज्वलित हो, उसकी ज्वाला निर्मल हो और लपटें ऊपरकी ओर उठ रही हों अथवा उस अग्निकी शिखाएँ दाहिनी ओर जाती दिखायी देती हों तथा आहुतियोंकी पवित्र गन्ध प्रकट हो रही हो तो इन सबको भावी विजयका शुभ चिह्न बताया गया है ॥ ८ ॥

गम्भीरशब्दाश्च महास्वनाश्च
शङ्खाश्च भेर्यश्च नदन्ति यत्र।
युयुत्सवश्चाप्रतीपा भवन्ति
जयस्यैतद् भाविनो रूपमाहुः ॥ ९ ॥

जहाँ शङ्खोंकी गम्भीर ध्वनि और रणभेरीकी ऊँची आवाज फैल रही हो, युद्धकी इच्छा रखनेवाले सैनिक सर्वथा अनुकूल हों तो वहाँके लिये इसे भी भावी विजयका सूचक शुभ लक्षण कहा गया है ॥ ९ ॥

इष्टा मृगाः पृष्ठतो वामतश्च
सम्प्रस्थितानां च गमिष्यतां च।
जिघांसतां दक्षिणाः सिद्धिमाहु-
र्ये त्वग्रतस्ते प्रतिषेधयन्ति ॥ १० ॥

सेनाके प्रस्थान करते समय अथवा जानेके लिये तैयारी करते समय यदि इष्ट मृग पीछे और बायें आ जायँ तो इच्छित फल प्रदान करते हैं। तथा युद्ध करते समय दाहिने हो जायँ तो वे सिद्धिकी सूचना देते हैं; किंतु यदि सामने आ जायँ तो उस युद्धकी यात्राका निषेध करते हैं ॥ १० ॥

माङ्गल्यशब्दाञ्शकुना वदन्ति
हंसाः क्रौञ्चाः शतपत्राश्च चाषाः।
हृष्टा योधाः सत्त्ववन्तो भवन्ति
जयस्यैतद् भाविनो रूपमाहुः ॥ ११ ॥

जब हंस, क्रौञ्च, शतपत्र और नीलकण्ठ आदि पक्षी मङ्गल-सूचक शब्द करते हों और सैनिक हर्ष तथा उत्साहसे सम्पन्न दिखायी देते हों तो यह भी भावी विजयका शुभ लक्षण बताया गया है ॥ ११ ॥

शस्त्रैर्यन्त्रैः कवचैः केतुभिश्च
सुभानुभिर्मुखवर्णैश्च यूनाम्।
भ्राजिष्मती दुष्प्रतिवीक्षणीया
येषां चमूस्तेऽभिभवन्ति शत्रून् ॥१२॥

जिनकी सेना भाँति-भाँतिके शस्त्र, कवच, यन्त्र तथा ध्वजाओंसे सुशोभित हो, जिनके नौजवान सैनिकोंके मुखकी सुन्दर प्रभामयी कान्तिसे प्रकाशित होती हुई सेनाकी ओर शत्रुओंको देखनेका भी साहस न होता हो, वे निश्चय ही शत्रुदलको परास्त कर सकते हैं ॥ १२ ॥

शुश्रूषवश्चानभिमानिनश्च
परस्परं सौहृदमास्थिताश्च।
येषां योधाः शौचमनुष्ठिताश्च
जयस्यैतद् भाविनो रूपमाहुः ॥ १३ ॥

जिनके योद्धा स्वामीकी सेवामें उत्साह रखनेवाले, अहंकाररहित, आपसमें एक दूसरेका हित चाहनेवाले तथा शौचाचारका पालन करनेवाले हों, उनकी होनेवाली विजयका यही शुभ लक्षण बताया गया है ॥ १३ ॥

शब्दाः स्पर्शास्तथा गन्धा विचरन्ति मनःप्रियाः।
धैर्यं चाविशते योधान् विजयस्य मुखं च तत् ॥१४॥

जब योद्धाओंके मनको प्रिय लगनेवाले शब्द, स्पर्श और गन्ध सब ओर फैल रहे हों तथा उनके भीतर धैर्यका संचार हो रहा हो तो वह विजयका द्वार माना जाता है ॥ १४ ॥

इष्टो वामः प्रविष्टस्य दक्षिणः प्रविविक्षतः।
पश्चात्संसाधयत्यर्थं पुरस्ताच्च निषेधति ॥ १५ ॥

यदि कौआ युद्धमें प्रवेश करते समय दाहिने भागमें और प्रविष्ट हो जानेके बाद बायें भागमें आ जाय तो शुभ है। पीछेकी ओर होनेसे भी वह कार्यकी सिद्धि करता है; परंतु सामने होनेपर विजयमें बाधा डालता है ॥ १५ ॥

सम्भृत्य महतीं सेनां चतुरङ्गां युधिष्ठिर।
साम्नैव वर्तयेः पूर्वं प्रयतेथास्ततो युधि ॥ १६ ॥

युधिष्ठिर ! विशाल चतुरङ्गिणी सेना एकत्र कर लेनेके बाद भी तुम्हें पहले सामनीतिके द्वारा शत्रुसे सन्धि करनेका ही प्रयास करना चाहिये। यदि वह सफल न हो तो युद्धके लिये प्रयत्न करना उचित है ॥ १६ ॥

जघन्य एष विजयो यद् युद्धं नाम भारत ।
यादृच्छिको युधि जयो दैवो वेति विचारणम् ॥ १७ ॥

भरतनन्दन ! युद्ध करके जो विजय प्राप्त होती है, उसे निकृष्ट ही माना गया है । युद्धजनित विजय अचानक प्राप्त होती है या दैववश; यह बात विचारणीय ही होती है । इसके बारेमें कोई निश्चय नहीं रहता ॥ १७ ॥

अपामिव महावेगास्त्रस्ता इव महामृगाः ।
दुर्निवार्यतमा चैव प्रभग्ना महती चमूः ॥ १८ ॥

यदि विशाल सेनामें भगदड़ मच जाती है तो उसे जलके महान् वेगके समान तथा भयभीत हुए महामृगोंके समान रोकना अत्यन्त कठिन हो जाता है ॥ १८ ॥

भग्ना इत्येव भज्यन्ते विद्वांसोऽपि न कारणम् ।
उदारसारा महती रुरुसंघोपमा चमूः ॥ १९ ॥

विशाल सेना मृगोंके झुंडके समान होती है । उसमें कितने ही बलवान् वीर क्यों न भरे हों, कुछ लोग भाग रहे हैं—इतना ही देखकर सब भागने लगते हैं, यद्यपि उन्हें भागनेका कारण नहीं मालूम रहता है ॥ १९ ॥

परस्परज्ञाः संहृष्टास्त्यक्तप्राणाः सुनिश्चिताः ।
अपि पञ्चाशतं शूरा निघ्नन्ति परवाहिनीम् ॥ २० ॥

एक दूसरेको जाननेवाले, हर्ष और उत्साहसे परिपूर्ण, प्राणोंका मोह छोड़ देनेवाले तथा मरने-मारनेके दृढ़ निश्चयसे युक्त पचास शूरवीर भी सारी शत्रु-सेनाका संहार कर सकते हैं ॥

अपि वा पञ्च षट् सप्त संहताः कृतनिश्चयाः ।
कुलीनाः पूजिताः सम्यग् विजयन्तीह शात्रवान् ॥ २१ ॥

अच्छे कुलमें उत्पन्न, परस्पर संगठित तथा राजाद्वारा सम्मानित पाँच, छः या सात वीर भी यदि दृढ़ निश्चयके साथ युद्धस्थलमें डटे रहें तो युद्धमें शत्रुओंपर भलीभाँति विजय पा सकते हैं ॥ २१ ॥

संनिपातो न मन्तव्यः शक्ये सति कथंचन ।
सान्त्वभेदप्रदानानां युद्धमुत्तरमुच्यते ॥ २२ ॥

जबतक किसी तरह सन्धि हो सकती हो, तबतक युद्धको स्वीकार नहीं करना चाहिये । पहले सामनीतिसे समझावे । इससे काम न चले तो भेदनीतिके अनुसार शत्रुओंमें फूट डाले । इसमें भी सफलता न मिले तो दाननीतिका प्रयोग करे—धन देकर शत्रुके सहायकोंको वशमें करनेकी चेष्टा करे । इन तीनों उपायोंके सफल न होनेपर अन्तमें युद्धका आश्रय लेना उचित बताया गया है ॥ २२ ॥

संदर्शनेन सेनाया भयं भीरून् प्रबाधते ।
वज्रादिव प्रज्वलितादियं क्व नु पतिष्यति ॥ २३ ॥

शत्रुकी सेनाको देखते ही कायरोंको भय सताने लगता है, मानो उनके ऊपर प्रज्वलित वज्र गिरनेवाला हो । वे सोचते हैं, न जाने यह सेना किसके ऊपर पड़ेगी ? ॥ २३ ॥

अभिप्रयातां समितिं ज्ञात्वा ये प्रतियान्त्यथ ।
तेषां स्यन्दन्ति गात्राणि योधानां विजयस्य च ॥ २४ ॥

जो युद्धको उपस्थित हुआ जानकर उसकी ओर दौड़ पड़ते हैं, उन वीरोंके शरीरमें विजयकी आशासे आनन्द-जनित पसीनेके विन्दु प्रकट हो जाते हैं ॥ २४ ॥

विषयो व्यथते राजन् सर्वः सस्थाणुजङ्गमः ।
अस्य प्रतापतप्तानां मज्जा सीदति देहिनाम् ॥ २५ ॥

राजन् ! युद्ध उपस्थित होनेपर स्थावर-जङ्गम प्राणियों-सहित समस्त देश ही व्यथित हो उठता है और अस्त्रोंके प्रताप-से संतप्त हुए देहधारियोंकी मज्जा भी सूखने लगती है ॥ २५ ॥

तेषां सान्त्वं क्रूरमिश्रं प्रणेतव्यं पुनः पुनः ।
सम्पीड्यमाना हि परैर्योगमायान्ति सर्वतः ॥ २६ ॥

उन देशवासियोंके प्रति कठोरताके साथ-साथ सान्त्वना-पूर्ण मधुर वचनोंका बारंबार प्रयोग करना चाहिये; अन्यथा केवल कठोर वचनोंसे पीड़ित हो वे सब ओरसे जाकर शत्रुओंके साथ मिल जाते हैं ॥ २६ ॥

आन्तराणां च भेदार्थं चरानभ्यवचारयेत् ।
यश्च तस्मात् परो राजा तेन सन्धिः प्रशस्यते ॥ २७ ॥

शत्रुके मित्रोंमें फूट डालनेके लिये गुप्तचरोंको भेजना चाहिये और जो शत्रुसे भी बलवान् राजा हो, उसके साथ सन्धि करना श्रेष्ठ है ॥ २७ ॥

न हि तस्यान्यथा पीडा शक्या कर्तुं तथाविधा ।
यथा सार्धममित्रेण सर्वतः प्रतिबाधनम् ॥ २८ ॥

अन्यथा उसको वैसी पीड़ा नहीं दी जा सकती, जैसी कि उसके शत्रुके साथ सन्धि करके दी जा सकती है । युद्ध इस प्रकार करना चाहिये, जिससे शत्रुपक्ष सब ओरसे संकटमें पड़ जाय ॥ २८ ॥

क्षमा वै साधुमायाति न ह्यसाधून्क्षमा सदा ।
क्षमायाश्चाक्षमायाश्च पार्थ विद्धि प्रयोजनम् ॥ २९ ॥

कुन्तीनन्दन ! सत्पुरुषोंको ही सदा क्षमा करना आता है, दुष्टोंको नहीं । क्षमा करने और न करनेका प्रयोजन बताता हूँ; इसे सुनो और समझो ॥ २९ ॥

विजित्य क्षममाणस्य यशो राज्ञो विवर्धते ।
महापराधे ह्यप्यस्मिन् विश्वसन्त्यपि शत्रवः ॥ ३० ॥

जो राजा शत्रुओंको जीत लेनेके बाद उनके अपराध क्षमा कर देता है, उसका यश बढ़ता है । उसके प्रति महान् अपराध करनेपर भी शत्रु उसपर विश्वास करते हैं ॥ ३० ॥

मन्यते कर्शयित्वा तु क्षमा साध्वीति शम्बरः ।
असंतप्तं तु यद् दारु प्रत्येति प्रकृतिं पुनः ॥ ३१ ॥

शम्बरासुरका मत है कि पहले शत्रुको पीड़ाद्वारा अत्यन्त दुर्बल करके फिर उसके प्रति क्षमाका प्रयोग करना ठीक है; क्योंकि यदि टेढ़ी लकड़ीको बिना गर्म किये ही सीधी किया जाय तो वह फिर ज्यों-की-त्यों हो जाती है ॥ ३१ ॥

नैतत् प्रशंसन्त्याचार्या न च साधुनिदर्शनम् ।
अक्रोधेनाविनाशेन नियन्तव्याः स्वपुत्रवत् ॥ ३२ ॥

परंतु आचार्यगण इस बातकी प्रशंसा नहीं करते हैं; क्योंकि यह साधु पुरुषोंका दृष्टान्त नहीं है। राजाको चाहिये कि वह पुत्रकी ही भाँति अपने शत्रुको भी बिना क्रोध किये ही वशमें करे; उसका विनाश न करे ॥ ३२ ॥

द्वेष्यो भवति भूतानामुग्रो राजा युधिष्ठिर।
मृदुमप्यवमन्यन्ते तस्मादुभयमाचरेत् ॥ ३३ ॥

युधिष्ठिर ! राजा यदि उग्रस्वभावका हो जाय तो वह समस्त प्राणियोंके द्वेषका पात्र बन जाता है और यदि सर्वथा कोमल हो जाय तो सभी उसकी अवहेलना करने लगते हैं; इसलिये उसे आवश्यकतानुसार उग्रता और कोमलता दोनोंसे काम लेना चाहिये ॥ ३३ ॥

प्रहरिष्यन् प्रियं ब्रूयात् प्रहरन्नपि भारत।
प्रहृत्य च कृपायीत शोचन्निव रुदन्निव ॥ ३४ ॥

भरतनन्दन ! राजा शत्रुपर प्रहार करनेसे पहले और प्रहार करते समय भी उससे प्रिय वचन ही बोले। प्रहारके बाद भी शोक प्रकट करते और रोते हुए-से उसके प्रति दया दिखावे ॥ ३४ ॥

न मे प्रियं यन्निहताः संग्रामे मामकैर्नरैः।
न च कुर्वन्ति मे वाक्यमुच्यमानाः पुनः पुनः ॥ ३५ ॥

वह शत्रुको सुनाकर इस प्रकार कहे—'ओह ! इस युद्धमें मेरे सिपाहियोंने जो इतने वीरोंको मार डाला है, यह मुझे अच्छा नहीं लगा है; परंतु क्या करूँ ? बारंबार कहनेपर भी ये मेरी बात नहीं मानते हैं ॥ ३५ ॥

अहो जीवितमाकाङ्क्षेन्नेदृशो वधमर्हति।
सुदुर्लभाः सुपुरुषाः संग्रामेष्वपलायिनः ॥ ३६ ॥
कृतं ममाप्रियं तेन येनायं निहतो मृधे।
इति वाचा वदन् हन्तॄन् पूजयेत रहोगतः ॥ ३७ ॥

'अहो ! सभी लोग अपने प्राणोंकी रक्षा करना चाहते हैं; अतः ऐसे पुरुषका वध करना उचित नहीं है। संग्राममें पीठ न दिखानेवाले सत्पुरुष इस संसारमें अत्यन्त दुर्लभ हैं। मेरे जिन सैनिकोंने युद्धमें इस श्रेष्ठ वीरका वध किया है, उनके द्वारा मेरा बड़ा अप्रिय कार्य हुआ है। शत्रुपक्षके सामने वाणीद्वारा इस प्रकार खेद प्रकट करके राजा एकान्तमें जानेपर अपने उन बहादुर सिपाहियोंकी प्रशंसा करे, जिन्होंने शत्रुपक्षके प्रमुख वीरोंका वध किया हो ॥ ३६-३७ ॥

हन्तॄणामाहतानां च यत् कुर्युरपराधिनः।
क्रोशेद् बाहुं प्रगृह्यापि चिकीर्षन् जनसंग्रहम् ॥ ३८ ॥

इसी तरह शत्रुओंको मारनेवाले अपने पक्षके वीरोंमेंसे जो हताहत हुए हों, उनकी हानिके लिये इस प्रकार दुःख प्रकट करे, जैसे अपराधी किया करते हैं। जनमतको अपने अनुकूल करनेकी इच्छासे जिसकी हानि हुई हो, उसकी बाँह पकड़कर सहानुभूति प्रकट करते हुए जोर-जोरसे रोवे और विलाप करे ॥ ३८ ॥

एवं सर्वास्ववस्थासु सान्त्वपूर्वं समाचरेत्।
प्रियो भवति भूतानां धर्मज्ञो वीतभीर्नृपः ॥ ३९ ॥

इस प्रकार सब अवस्थाओंमें जो सान्त्वनापूर्ण बर्ताव करता है, वह धर्मज्ञ राजा सब लोगोंका प्रिय एवं निर्भय हो जाता है ॥ ३९ ॥

विश्वासं चात्र गच्छन्ति सर्वभूतानि भारत।
विश्वस्तः शक्यते भोक्तुं यथाकाममुपस्थितः ॥ ४० ॥

भरतनन्दन ! उसके ऊपर सब प्राणी विश्वास करने लगते हैं। विश्वासपात्र हो जानेपर वह सबके निकट रहकर इच्छानुसार सारे राष्ट्रका उपभोग कर सकता है ॥ ४० ॥

तस्माद् विश्वासयेद् राजा सर्वभूतान्यमायया।
सर्वतः परिरक्षेच्च यो महीं भोक्तुमिच्छति ॥ ४१ ॥

अतः जो राजा इस पृथ्वीका राज्य भोगना चाहता है, उसे चाहिये कि छल-कपट छोड़कर अपने ऊपर समस्त प्राणियोंका विश्वास उत्पन्न करे और इस भूमण्डलकी सब ओरसे पूर्णरूपसे रक्षा करे ॥ ४१ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि राजधर्मानुशासनपर्वणि सेनानीतिकथने द्व्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १०२ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत राजधर्मानुशासनपर्वमें सेनानीतिका वर्णनविषयक एक सौ दोवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १०२ ॥

त्र्यधिकशततमोऽध्यायः

शत्रुको वशमें करनेके लिये राजाको किस नीतिसे काम लेना चाहिये और दुष्टोंको कैसे पहचानना चाहिये—इसके विषयमें इन्द्र और बृहस्पतिका संवाद

युधिष्ठिर उवाच

कथं मृदौ कथं तीक्ष्णे महापक्षे च पार्थिव।
आदौ वर्तेत नृपतिस्तन्मे ब्रूहि पितामह ॥ १ ॥

युधिष्ठिरने पूछा—पितामह ! पृथ्वीपते ! जिसका पक्ष प्रबल और महान् हो, वह शत्रु यदि कोमल स्वभावका हो तो उसके साथ कैसा बर्ताव करना चाहिये और यदि वह तीक्ष्ण स्वभावका हो तो उसके साथ पहले किस तरहका बर्ताव करना राजाके लिये उचित है, यह मुझे बताइये ॥ १ ॥

भीष्म उवाच

अत्राप्युदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम्।
बृहस्पतेश्च संवादमिन्द्रस्य च युधिष्ठिर ॥ २ ॥

भीष्मजीने कहा—युधिष्ठिर ! इस विषयमें विद्वान्

विद्वान् पुरुष बृहस्पति और इन्द्रके संवादरूप एक प्राचीन इतिहास-का उदाहरण दिया करते हैं ॥ २ ॥

बृहस्पतिं देवपतिरभिवाद्य कृताञ्जलिः ।
उपसंगम्य पप्रच्छ वासवः परवीरहा ॥ ३ ॥

कहते हैं, एक समय शत्रुवीरोंका संहार करनेवाले देव-राज इन्द्रने बृहस्पतिजीके पास जा उन्हें हाथ जोड़कर प्रणाम किया और इस प्रकार पूछा ॥ ३ ॥

इन्द्र उवाच

अहितेषु कथं ब्रह्मन् प्रवर्तेयमतन्द्रितः ।
असमुच्छिद्य चैवैतान् नियच्छेयमुपायतः ॥ ४ ॥

इन्द्र बोले—ब्रह्मन् ! मैं आलस्यरहित हो अपने शत्रुओंके प्रति कैसा बर्ताव करूँ ? उन सबका समूलोच्छेद किये बिना ही उन्हें किस उपायसे वशमें करूँ ? ॥ ४ ॥

सेनयोर्व्यतिषङ्गेण जयः साधारणो भवेत् ।
किं कुर्वाणं न मां जह्याज्ज्वलिता श्रीःप्रतापिनी ॥ ५ ॥

दो सेनाओंमें परस्पर भिड़न्त हो जानेपर विजय दोनों पक्षोंके लिये साधारण-सी वस्तु हो जाती है (अमुक पक्षकी ही जीत होगी, यह नियम नहीं रह जाता)। अतः मुझे क्या करना चाहिये, जिससे शत्रुओंको संताप देनेवाली यह समुज्ज्वल राजलक्ष्मी मुझे कभी न छोड़े ॥ ५ ॥

ततो धर्मार्थकामानां कुशलः प्रतिभानवान् ।
राजधर्मविधानज्ञः प्रत्युवाच पुरंदरम् ॥ ६ ॥

उनके इस प्रकार पूछनेपर धर्म, अर्थ और कामके प्रतिपादनमें कुशल, प्रतिभाशाली तथा राजधर्मके विधानको जाननेवाले बृहस्पतिने इन्द्रको इस प्रकार उत्तर दिया॥ ६ ॥

बृहस्पतिरुवाच

न जातु कलहेनेच्छेन्नियन्तुमपकारिणः ।
बालैरासेवितं ह्येतद् यदमर्षो यदक्षमा ॥ ७ ॥

बृहस्पतिजी बोले—राजन् !–कोई-भी राजा कभी कलह या युद्धके द्वारा शत्रुओंको वशमें करनेकी इच्छा न करे। असहनशीलता अथवा क्षमाको छोड़ना, यह बालकों या मूर्खोंद्वारा सेवित मार्ग है ॥ ७ ॥

न शत्रुर्विवृतः कार्यो वधमस्याभिकाङ्क्षता ।
क्रोधं भयं च हर्षं च नियम्य स्वयमात्मनि ॥ ८ ॥

शत्रुके वधकी इच्छा रखनेवाले राजाको चाहिये कि वह क्रोध, भय और हर्षको अपने मनमें ही रोक ले तथा शत्रुको सावधान न करे ॥ ८॥

अमित्रमुपसेवेत विश्वस्तवदविश्वसन् ।
प्रियमेव वदेन्नित्यं नाप्रियं किंचिदाचरेत् ॥ ९ ॥

भीतरसे विश्वास न करते हुए भी बाहरसे विश्वस्त पुरुषकी भाँति अपना भाव प्रदर्शित करते हुए शत्रुकी सेवा करे। सदा उससे प्रिय वचन ही बोले, कभी कोई अप्रिय बर्ताव न करे ॥ ९ ॥

विरमेच्छुष्कवैरेभ्यः कण्ठायासांश्च वर्जयेत् ।
यथा वैतंसिको युक्तो द्विजानां सदृशस्वनः ॥ १० ॥
तान् द्विजान् कुरुते वश्यांस्तथा युक्तो महीपतिः ।
वशं चोपनयेच्छत्रून् निहन्याच्च पुरंदर ॥ ११ ॥

पुरंदर ! सूखे वैरसे अलग रहे, कण्ठको पीड़ा देनेवाले वादविवादको त्याग दे। जैसे व्याध अपने कार्यमें सावधानीके साथ संलग्न हो पक्षियोंको फँसानेके लिये उन्हींके समान बोली बोलता है और मौका पाकर उन पक्षियोंको वशमें कर लेता है, उसी प्रकार उद्योगशील राजा धीरे-धीरे शत्रुओंको वशमें कर ले। तत्पश्चात् उन्हें मार डाले ॥ १०-११ ॥

न नित्यं परिभूयारीन् सुखं स्वपिति वासव ।
जागर्त्येव हि दुष्टात्मा संकरेऽग्निरिवोत्थितः ॥ १२ ॥

इन्द्र ! जो सदा शत्रुओंका तिरस्कार ही करता है, वह सुखसे सोने नहीं पाता। वह दुष्टात्मा नरेश बाँस और घास-फूसमें प्रज्वलित हो चटचट शब्द करनेवाली आगके समान सदा जागता ही रहता है ॥ १२ ॥

न संनिपातः कर्तव्यः सामान्ये विजये सति ।
विश्वास्यैवोपसन्नार्थो वशे कृत्वा रिपुः प्रभो ॥ १३ ॥

प्रभो ! जब युद्धमें विजय एक सामान्य वस्तु है (किसीको भी वह मिल सकती है), तब उसके लिये पहले ही युद्ध नहीं करना चाहिये, अपितु शत्रुको अच्छी तरह विश्वास दिलाकर वशमें कर लेनेके पश्चात् अवसर देखकर उसके सारे मनसूबेको नष्ट कर देना चाहिये ॥ १३ ॥

सम्प्रधार्य सहामात्यैर्मन्त्रविद्भिर्महात्मभिः ।
उपेक्ष्यमाणोऽवज्ञातो हृदयेनापराजितः ॥ १४ ॥
अथास्य प्रहरेत् काले किंचिद्विचलिते पदे ।
दण्डं च दूषयेदस्य पुरुषैराप्तकारिभिः ॥ १५ ॥

शत्रुके द्वारा उपेक्षा अथवा अवहेलना की जानेपर भी राजा अपने मनमें हिम्मत न हारे। वह मन्त्रियोंसहित मन्त्रवेत्ता महापुरुषोंके साथ कर्त्तव्यका निश्चय करके समय आनेपर जब शत्रुकी स्थिति कुछ डाँवाडोल हो जाय, तब उसपर प्रहार करे और विश्वासपात्र पुरुषोंको भेजकर उनके द्वारा शत्रुकी सेनामें फूट डलवा दे ॥ १४-१५ ॥

आदिमध्यावसानज्ञः प्रच्छन्नं च विधारयेत् ।
बलानि दूषयेदस्य जानन्नेव प्रमाणतः ॥ १६ ॥

राजा शत्रुके राज्यकी आदि, मध्य और अन्तिम सीमाको जानकर गुप्तरूपसे मन्त्रियोंके साथ बैठकर अपने कर्त्तव्यका निश्चय कर तथा शत्रुकी सेनाकी संख्या कितनी है, इसको अच्छी तरह जानते हुए ही उसमें फूट डलवानेकी चेष्टा करे ॥ १६ ॥

भेदेनोपप्रदानेन संसृजेदौषधैस्तथा ।
न त्वेवं खलु संसर्गं रोचयेदरिभिः सह ॥ १७ ॥

राजाको चाहिये कि वह दूर रहकर गुप्तचरोंद्वारा शत्रुकी सेनामें मतभेद पैदा करे। घूस देकर लोगोंको अपने पक्षमें

करनेकी चेष्टा करे अथवा उनके ऊपर विभिन्न औषधोंका प्रयोग करे; परंतु किसी तरह भी शत्रुओंके साथ प्रकटरूपसे साक्षात् सम्बन्ध स्थापित करनेकी इच्छा न करे ॥ १७ ॥

दीर्घकालमपीक्षेत निहन्यादेव शात्रवान्।
कालाकाङ्क्षी हि क्षपयेद् यथा विश्रम्भमाप्नुयुः॥ १८॥

अनुकूल अवसर पानेके लिये कालक्षेप ही करता रहे। उसके लिये दीर्घ कालतक भी प्रतीक्षा करनी पड़े तो करे, जिससे शत्रुओंको भलीभाँति विश्वास हो जाय। तदनन्तर मौका पाकर उन्हें मार ही डाले ॥ १८ ॥

न सद्योऽरीन् विहन्याच्च द्रष्टव्यो विजयो ध्रुवः।
न शल्यं वा घटयति न वाचा कुरुते व्रणम् ॥ १९ ॥

राजा शत्रुओंपर तत्काल आक्रमण न करे। अवश्यम्भावी विजयके उपायपर विचार करे। न तो उसपर विषका प्रयोग करे और न उसे कठोर वचनोंद्वारा ही घायल करे ॥ १९ ॥

प्राप्ते च प्रहरेत् काले न च संवर्तते पुनः।
हन्तुकामस्य देवेन्द्र पुरुषस्य रिपून् प्रति ॥ २० ॥

देवेन्द्र ! जो शत्रुको मारना चाहता है, उस पुरुषके लिये बारंबार मौका हाथमें नहीं लगता; अतः जब कभी अवसर मिल जाय, उस समय उसपर अवश्य प्रहार करे ॥

यो हि कालो व्यतिक्रामेत् पुरुषं कालकाङ्क्षिणम्।
दुर्लभः स पुनस्तेन कालः कर्मचिकीर्षुणा ॥ २१ ॥

समयकी प्रतीक्षा करनेवाले पुरुषके लिये जो उपयुक्त अवसर आकर भी चला जाता है, वह अभीष्ट कार्य करनेकी इच्छावाले उस पुरुषके लिये फिर दुर्लभ हो जाता है ॥२१॥

ओजश्च जनयेदेव संगृह्णन् साधुसम्मतम्।
अकाले साधयेन्मित्रं न च प्राप्ते प्रपीडयेत् ॥ २२ ॥

श्रेष्ठ पुरुषोंकी सम्मति लेकर अपने बलको सदा बढ़ाता रहे। जबतक अनुकूल अवसर न आये, तबतक अपने मित्रोंकी संख्या बढ़ावे और शत्रुको भी पीड़ा न दे; परंतु अवसर आ जाय तो शत्रुपर प्रहार करनेसे न चूके ॥

विहाय कामं क्रोधं च तथाहंकारमेव च।
युक्तो विवरमन्विच्छेदहितानां पुनः पुनः ॥ २३ ॥

काम, क्रोध तथा अहंकारको त्यागकर सावधानीके साथ बारंबार शत्रुओंके छिद्रोंको देखता रहे ॥ २३ ॥

मार्दवं दण्ड आलस्यं प्रमादश्च सुरोत्तम।
मायाः सुविहिताः शक्र सादयन्त्यविचक्षणम् ॥ २४ ॥

सुरश्रेष्ठ इन्द्र ! कोमलता, दण्ड, आलस्य, असावधानी और शत्रुओंद्वारा अच्छी तरह प्रयोग की हुई माया—ये अनभिज्ञ राजाको बड़े कष्टमें डाल देते हैं ॥ २४ ॥

निहत्यैतानि चत्वारि मायां प्रति विधाय च।
ततः शक्नोति शत्रूणां प्रहर्तुमविचारयन् ॥ २५ ॥

कोमलता, दण्ड, आलस्य और प्रमाद—इन चारोंको नष्ट करके शत्रुकी मायाका भी प्रतीकार करे। तत्पश्चात् वह बिना विचारे शत्रुओंपर प्रहार कर सकता है ॥ २५ ॥

यदेवैकेन शक्येत गुह्यं कर्तुं तदाचरेत्।
यच्छन्ति सचिवा गुह्यं मिथो विश्रावयन्त्यपि॥ २६ ॥

राजा अकेला ही जिस गुप्त कार्यको कर सके, उसे अवश्य कर डाले; क्योंकि मन्त्रीलोग कभी-कभी गुप्त विषयको प्रकाशित कर देते हैं और नहीं तो आपसमें ही एक दूसरेको सुना देते हैं ॥ २६ ॥

अशक्यमिति कृत्वा वा ततोऽन्यैः संविदं चरेत्।
ब्रह्मदण्डमदृष्टेषु दृष्टेषु चतुरङ्गिणीम् ॥ २७ ॥

जो कार्य अकेले करना असम्भव हो जाय, उसीके लिये दूसरोंके साथ बैठकर विचार-विमर्श करे। यदि शत्रु दूरस्थ होनेके कारण दृष्टिगोचर न हो तो उसपर ब्रह्मदण्डका प्रयोग करे और यदि शत्रु निकटवर्ती होनेके कारण दृष्टिगोचर हो तो उसपर चतुरङ्गिणी सेना भेजकर आक्रमण करे ॥ २७ ॥

भेदं च प्रथमं युञ्ज्यात् तूष्णीं दण्डं तथैव च।
काले प्रयोजयेद् राजा तस्मिंस्तस्मिंस्तदा तदा ॥ २८ ॥

राजा शत्रुके प्रति पहले भेदनीतिका प्रयोग करे। तत्पश्चात् वह उपयुक्त अवसर आनेपर भिन्न-भिन्न शत्रुके प्रति भिन्न-भिन्न समयमें चुपचाप दण्डनीतिका प्रयोग करे ॥ २८॥

प्रणिपातं च गच्छेत काले शत्रोर्बलीयसः।
युक्तोऽस्य वधमन्विच्छेदप्रमत्तः प्रमाद्यतः ॥ २९ ॥

यदि बलवान् शत्रुसे पाला पड़ जाय और समय उसीके अनुकूल हो तो राजा उसके सामने नतमस्तक हो जाय और जब वह शत्रु असावधान हो, तब स्वयं सावधान और उद्योगशील होकर उसके वधके उपायका अन्वेषण करे ॥ २९ ॥

प्रणिपातेन दानेन वाचा मधुरया ब्रुवन्।
अमित्रमपि सेवेत न च जातु विशङ्कयेत् ॥ ३० ॥

राजाको चाहिये कि वह मस्तक झुकाकर, दान देकर तथा मीठे वचन बोलकर शत्रुका भी मित्रके समान ही सेवन करे। उसके मनमें कभी संदेह न उत्पन्न होने दे ॥ ३० ॥

स्थानानि शङ्कितानां च नित्यमेव विवर्जयेत्।
न च तेष्वाश्वसेद् राजा जाग्रतीह निराकृताः ॥ ३१ ॥

जिन शत्रुओंके मनमें संदेह उत्पन्न हो गया हो, उनके निकटवर्ती स्थानोंमें रहना या आना-जाना सदाके लिये त्याग दे। राजा उनपर कभी विश्वास न करे; क्योंकि इस जगत्में उसके द्वारा तिरस्कृत या क्षतिग्रस्त हुए शत्रुगण सदा बदला लेनेके लिये सजग रहते हैं ॥ ३१ ॥

न ह्यतो दुष्करं कर्म किंचिदस्ति सुरोत्तम।
यथा विविधवृत्तानामैश्वर्यममराधिप ॥ ३२ ॥

देवेश्वर ! सुरश्रेष्ठ ! नाना प्रकारके व्यवहारचतुर लोगोंके ऐश्वर्यपर शासन करना जितना कठिन काम है, उससे बढ़कर दुष्कर कर्म दूसरा कोई नहीं है ॥ ३२ ॥

[illegible] [illegible]नि मन्त्र उच्यते ।
[illegible] मित्रामित्रं विचारयेत् ॥ ३३ ॥

[illegible] लोगोंके ऐश्वर्यपर भी [illegible] लगाया गया है; जब कि राजा [illegible] सदा इसके लिये प्रयत्नशील रहे और [illegible] इसका विचार करता रहे ॥ ३३ ॥

मृदुमप्यवमन्यन्ते तीक्ष्णादुद्विजते जनः ।
मा तीक्ष्णो मा मृदुर्भूस्त्वं तीक्ष्णो भव मृदुर्भव ॥ ३४ ॥

मनुष्य कोमल स्वभाववाले राजाका अपमान करते हैं और अत्यन्त कठोर स्वभाववालेसे भी उद्विग्न हो उठते हैं; अतः तुम न कठोर बनो, न कोमल । समय-समयपर कठोरता भी धारण करो और कोमल भी हो जाओ ॥ ३४ ॥

यथा वप्रे वेगवति सर्वतः सम्प्लुतोदके ।
नित्यं विवरणाद् बाधस्तथा राज्यं प्रमाद्यतः ॥ ३५ ॥

जैसे जलका प्रवाह बड़े वेगसे बह रहा हो और सब ओर जल-ही-जल फैल रहा हो, उस समय नदीतटके विदीर्ण होकर गिर जानेका सदा ही भय रहता है । उसी प्रकार यदि राजा सावधान न रहे तो उसके राज्यके नष्ट होनेका खतरा बना रहता है ॥ ३५ ॥

न बहूनभियुञ्जीत यौगपद्येन शात्रवान् ।
साम्ना दानेन भेदेन दण्डेन च पुरंदर ॥ ३६ ॥
एकैकमेषां निष्पिष्य शिष्टेषु निपुणं चरेत् ।
न तु शक्तोऽपि मेधावी सर्वानेवारभेन्नृपः ॥ ३७ ॥

पुरंदर ! बहुत-से शत्रुओंपर एक ही साथ आक्रमण नहीं करना चाहिये । साम, दान, भेद और दण्डके द्वारा इन शत्रुओंमेंसे एक-एकको बारी-बारीसे कुचलकर शेष बचे हुए शत्रुको पीस डालनेके लिये कुशलतापूर्वक प्रयत्न आरम्भ करे । बुद्धिमान् राजा शक्तिशाली होनेपर भी सब शत्रुओंको कुचलनेका कार्य एक ही साथ आरम्भ न करे ॥ ३६-३७ ॥

यदा स्यान्महती सेना हयनागरथाकुला ।
पदातियन्त्रबहुला अनुरक्ता षडङ्गिनी ॥ ३८ ॥
यदा बहुविधां वृद्धिं मन्येत प्रतिलोमतः ।
तदा विवृत्य प्रहरेद् दस्यूनामविचारयन् ॥ ३९ ॥

जब हाथी, घोड़े और रथोंसे भरी हुई और बहुत-से पैदलों तथा यन्त्रोंसे सम्पन्न, छः अङ्गोंवाली[1] विशाल सेना स्वामीके प्रति अनुरक्त हो, जब शत्रुकी अपेक्षा अपनी अनेक प्रकारसे उन्नति होती जान पड़े, उस समय राजा दूसरा कोई विचार मनमें न लाकर प्रकटरूपसे डाकू और लुटेरोंपर प्रहार आरम्भ कर दे ॥ ३८-३९ ॥

न सामदण्डोपनिषत् प्रशस्यते
न मार्दवं शत्रुषु यात्रिकं सदा ।
न सस्यघातो न च संकरक्रिया
न चापि भूयः प्रकृतेर्विचारणा ॥ ४० ॥

शत्रुके प्रति सामनीतिका प्रयोग अच्छा नहीं माना जाता, बल्कि गुप्तरूपसे दण्डनीतिका प्रयोग ही श्रेष्ठ समझा जाता है । शत्रुओंके प्रति न तो कोमलता और न उनपर आक्रमण करना ही सदा ठीक माना जाता है । उनकी खेतीको चौपट करना तथा वहाँके जल आदिमें विष मिला देना भी अच्छा नहीं है । इसके सिवा, सात प्रकृतियोंपर विचार करना भी उपयोगी नहीं है (उसके लिये तो गुप्त दण्डका प्रयोग ही श्रेष्ठ है) ॥ ४० ॥

मायाविभेदानुपसर्जनानि
तथैव पापं न यशःप्रयोगात् ।
आप्तैर्मनुष्यैरुपचारयेत
पुरेषु राष्ट्रेषु च सम्प्रयुक्तान् ॥ ४१ ॥

राजा विश्वस्त मनुष्योंद्वारा शत्रुके नगर और राज्यमें नाना प्रकारके छल और परस्पर वैर-विरोधकी सृष्टि कर दे । इसी तरह छद्मवेषमें वहाँ अपने गुप्तचर नियुक्त कर दे; परंतु अपने यशकी रक्षाके लिये वहाँ अपनी ओरसे चोरी या गुप्त हत्या आदि कोई पापकर्म न होने दे ॥ ४१ ॥

पुरापि चैषामनुसृत्य भूमिपाः
पुरेषु भोगानखिलान् जयन्ति ।
पुरेषु नीतिं विहितां यथाविधि
प्रयोजयन्तो बलवृत्रसूदन ॥ ४२ ॥

बल और वृत्रासुरको मारनेवाले इन्द्र ! पृथ्वीका पालन करनेवाले राजालोग पहले इन शत्रुओंके नगरोंमें विधिपूर्वक व्यवहारमें लायी हुई नीतिका प्रयोग करके दिखावें । इस प्रकार उनके अनुकूल व्यवहार करके वे उनकी राजधानीमें सारे भोगोंपर अधिकार प्राप्त कर लेते हैं ॥ ४२ ॥

प्रदाय गूढानि वसूनि राजन्
प्रच्छिद्य भोगानवधाय च स्वान् ।
दुष्टान् स्वदोषैरिति कीर्तयित्वा
पुरेषु राष्ट्रेषु च योजयन्ति ॥ ४३ ॥

देवराज ! राजा अपने ही आदमियोंके विषयमें यह प्रचार कर देते हैं कि 'ये लोग दोषसे दूषित हो गये हैं; अतः मैंने इन दुष्टोंको राज्यसे बाहर निकाल दिया है । ये दूसरे देशमें चले गये हैं । ऐसा करके उन्हें वह शत्रुओंके राज्यों और नगरोंका भेद लेनेके कार्यमें नियुक्त कर देते हैं । ऊपरसे तो वे उनकी सारी भोग-सामग्री छीन लेते हैं; परंतु गुप्तरूपसे उन्हें प्रचुर धन अर्पित करके उनके साथ कुछ अन्य आत्मीय जनोंको भी लगा देते हैं ॥ ४३ ॥

तथैव चान्यैरपि शास्त्रवेदिभिः
स्वलंकृतैः शास्त्रविधानदृष्टिभिः ।
सुशिक्षितैर्भाष्यकथाविशारदैः
परेषु कृत्यामुपधारयेच्च ॥ ४४ ॥

---

१. [illegible], घोड़े, रथ, पैदल, कोष और धनी वैश्य—ये [illegible] हैं ।

इसी तरह अन्यान्य शास्त्रज्ञ शास्त्रीय विधिके ज्ञाता सुशिक्षित तथा भाष्यकथाविशारद विद्वानोंको वस्त्राभूषणोंसे अलंकृत करके उनके द्वारा शत्रुओंपर कृत्याका प्रयोग करावे ॥ ४४ ॥

इन्द्र उवाच

कानि लिङ्गानि दुष्टस्य भवन्ति द्विजसत्तम ।
कथं दुष्टं विजानीयामेतत् पृष्टो वदस्व मे ॥ ४५ ॥

इन्द्रने पूछा—द्विजश्रेष्ठ ! दुष्टके कौन-कौन-से लक्षण हैं ? मैं दुष्टको कैसे पहचानूँ ? मेरे इस प्रश्नका मुझे उत्तर दीजिये ॥ ४५ ॥

बृहस्पतिरुवाच

परोक्षमगुणानाह सद्गुणानभ्यसूयते ।
परैर्वा कीर्त्यमानेषु तूष्णीमास्ते पराङ्मुखः ॥ ४६ ॥

बृहस्पतिजीने कहा—देवराज ! जो परोक्षमें किसी व्यक्तिके दोष-ही-दोष बताता है, उसके सद्गुणोंमें भी दोषारोपण करता रहता है और यदि दूसरे लोग उसके गुणोंका वर्णन करते हैं तो जो मुँह फेरकर चुप बैठ जाता है, वही दुष्ट माना जाता है ॥ ४६ ॥

तूष्णींभावेऽपि विज्ञेयं न चेद् भवति कारणम् ।
निःश्वासं चोष्ठसंदंशं शिरसश्च प्रकम्पनम् ॥ ४७ ॥

चुप बैठनेपर भी उस व्यक्तिकी दुष्टताको इस प्रकार जाना जा सकता है । निःश्वास छोड़नेका कोई कारण न होनेपर भी जो किसीके गुणोंका वर्णन होते समय लंबी-लंबी साँस छोड़े, ओठ चबाये और सिर हिलाये, वह दुष्ट है ॥

करोत्यभीक्ष्णं संसृष्टमसंसृष्टश्च भाषते ।
अदृष्टितो न कुरुते दृष्टो नैवाभिभाषते ॥ ४८ ॥

जो बारंबार आकर संसर्ग स्थापित करता है, दूर जानेपर दोष बताता है, कोई कार्य करनेकी प्रतिज्ञा करके भी आँखसे ओझल होनेपर उस कार्यको नहीं करता है और आँखके सामने होनेपर भी कोई बातचीत नहीं करता, उसके मनमें भी दुष्टता भरी है, ऐसा जानना चाहिये ॥ ४८ ॥

पृथगेत्य समश्नाति नेदमद्य यथाविधि ।
आसने शयने याने भावा लक्ष्या विशेषतः ॥ ४९ ॥

जो कहींसे आकर साथ नहीं, अलग बैठकर खाता है और कहता है, आजका जैसा भोजन चाहिये, वैसा नहीं बना है (वह भी दुष्ट है) । इस प्रकार बैठने, सोने और चलने-फिरने आदिमें दुष्ट व्यक्तिके दुष्टतापूर्ण भाव विशेषरूपसे देखे जाते हैं ॥ ४९ ॥

आर्तिरार्ते प्रिये प्रीतिरेतावन्मित्रलक्षणम् ।
विपरीतं तु बोद्धव्यमरिलक्षणमेव तत् ॥ ५० ॥

यदि मित्रके पीड़ित होनेपर किसीको स्वयं भी पीड़ा होती हो और मित्रके प्रसन्न रहनेपर उसके मनमें भी प्रसन्नता छायी रहती हो तो यही मित्रके लक्षण हैं । इसके विपरीत जो किसीको पीड़ित देखकर प्रसन्न होता और प्रसन्न देखकर पीड़ाका अनुभव करता है तो समझना चाहिये कि यह शत्रुके लक्षण हैं ॥ ५० ॥

एतान्येव यथोक्तानि बुध्येथास्त्रिदशाधिप ।
पुरुषाणां प्रदुष्टानां स्वभावो बलवत्तरः ॥ ५१ ॥

देवेश्वर ! इस प्रकार जो मनुष्योंके लक्षण बताये गये हैं, उनको समझना चाहिये । दुष्ट पुरुषोंका स्वभाव अत्यन्त प्रबल होता है ॥ ५१ ॥

इति दुष्टस्य विज्ञानमुक्तं ते सुरसत्तम ।
निशम्य शास्त्रतत्त्वार्थं यथावदमरेश्वर ॥ ५२ ॥

सुरश्रेष्ठ ! देवेश्वर ! शास्त्रके सिद्धान्तका यथावत् रूपसे विचार करके ये मैंने तुमसे दुष्ट पुरुषकी पहचान करानेवाले लक्षण बताये हैं ॥ ५२ ॥

भीष्म उवाच

स तद्वचः शत्रुनिबर्हणे रत-
स्तथा चकारावितथं बृहस्पतेः ।
चचार काले विजयाय चारिहा
वशं च शत्रूननयत् पुरंदरः ॥ ५३ ॥

भीष्मजी कहते हैं—युधिष्ठिर ! शत्रुओंके संहारमें तत्पर रहनेवाले शत्रुनाशक इन्द्रने बृहस्पतिजीका वह यथार्थ वचन सुनकर वैसा ही किया । उन्होंने उपयुक्त समयपर विजयके लिये यात्रा की और समस्त शत्रुओंको अपने अधीन कर लिया ॥ ५३ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि राजधर्मानुशासनपर्वणि इन्द्रबृहस्पतिसंवादे त्र्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १०३ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत राजधर्मानुशासनपर्वमें इन्द्र और बृहस्पतिका संवादविषयक एक सौ तीनवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १०३ ॥

चतुरधिकशततमोऽध्यायः

राज्य, खजाना और सेना आदिसे वञ्चित हुए असहाय क्षेमदर्शी राजाके प्रति कालकवृक्षीय मुनिका वैराग्यपूर्ण उपदेश

युधिष्ठिर उवाच

धार्मिकोऽर्थानसम्प्राप्य राजामात्यैः प्रबाधितः ।
च्युतः कोशाच्च दण्डाच्च सुखमिच्छन् कथं चरेत् ॥ १ ॥

युधिष्ठिरने पूछा—पितामह ! यदि राजा धर्मात्मा हो और उद्योग करते रहनेपर भी धन न पा सके, उस अवस्थामें यदि मन्त्री उसे कष्ट देने लगें और उसके पास खजाना तथा

[illegible] उस राजाको कैसे [illegible] करना चाहिये ? ॥ १ ॥

भीष्म उवाच

अत्रायं क्षेमदर्शीय इतिहासोऽनुगीयते ।
तत् तेऽहं सम्प्रवक्ष्यामि तन्निबोध युधिष्ठिर ॥ २ ॥

भीष्मजीने कहा—युधिष्ठिर ! इस विषयमें यह क्षेमदर्शीका इतिहास जगत्में बारंबार कहा जाता है । उसीको मैं तुमसे कहूँगा । तुम ध्यान देकर सुनो ॥ २ ॥

क्षेमदर्शी नृपसुतो यत्र क्षीणबलः पुरा ।
मुनिं कालकवृक्षीयमाजगामेति नः श्रुतम् ।
तं पप्रच्छानुसंगृह्य कृच्छ्रामापदमास्थितः ॥ ३ ॥

हमने सुना है कि प्राचीनकालमें एक बार कोसलराजकुमार क्षेमदर्शीको बड़ी कठिन विपत्तिका सामना करना पड़ा । उसकी सारी सैनिक-शक्ति नष्ट हो गयी । उस समय वह कालकवृक्षीय मुनिके पास गया और उनके चरणोंमें प्रणाम करके उसने उस विपत्तिसे छुटकारा पानेका उपाय पूछा ॥३॥

राजोवाच

अर्थेषु भागी पुरुष ईहमानः पुनः पुनः ।
अलब्ध्वा मद्विधो राज्यं ब्रह्मन् किं कर्तुमर्हति ॥ ४ ॥

राजाने इस प्रकार प्रश्न किया—ब्रह्मन् ! मनुष्य धनका भागीदार समझा जाता है; किंतु मेरे-जैसा पुरुष बार-बार उद्योग करनेपर भी यदि राज्य न पा सके तो उसे क्या करना चाहिये ? ॥ ४ ॥

अन्यत्र मरणाद् दैन्यादन्यत्र परसंश्रयात् ।
क्षुद्रादन्यत्र चाचारात् तन्ममाचक्ष्व सत्तम ॥ ५ ॥

साधुशिरोमणे ! आत्मघात करने, दीनता दिखाने, दूसरोंकी शरणमें जाने तथा इसी तरहके और भी नीच कर्म करनेकी बात छोड़कर दूसरा कोई उपाय हो तो वह मुझे बताइये ॥

व्याधिना चाभिपन्नस्य मानसेनेतरेण वा ।
धर्मज्ञश्च कृतज्ञश्च त्वद्विधः शरणं भवेत् ॥ ६ ॥

जो मानसिक अथवा शारीरिक रोगसे पीड़ित है, ऐसे मनुष्यको आप-जैसे धर्मज्ञ और कृतज्ञ महात्मा ही शरण देनेवाले होते हैं ॥ ६ ॥

निर्विद्यते नरः कामान्निर्विद्य सुखमेधते ।
त्यक्त्वा प्रीतिं च शोकं च लब्ध्वा बुद्धिमयं वसु ॥ ७ ॥

मनुष्यको जब कभी विषय-भोगोंसे वैराग्य होता है, तब विरक्त होनेपर वह हर्ष और शोकको त्याग देता तथा ज्ञानमय धन पाकर नित्य सुखका अनुभव करने लगता है ॥ ७ ॥

सुखमर्थाश्रयं येषामनुशोचामि तानहम् ।
मम ह्यर्थाः सुबहवो नष्टाः स्वप्न इवागताः ॥ ८ ॥

जिनके सुखका आधार धन है अर्थात् जो धनसे ही सुख मानते हैं, उन मनुष्योंके लिये मैं निरन्तर शोक करता हूँ; क्योंकि मेरे पास धन बहुत था, परंतु वह सब सपनेमें मिली हुई सम्पत्तिकी तरह नष्ट हो गया ॥ ८ ॥

दुष्करं बत कुर्वन्ति महतोऽर्थांस्त्यजन्ति ये ।
वयं त्वेतान् परित्यक्तुमसतोऽपि न शक्नुमः ॥ ९ ॥

मेरी समझमें जो अपनी विशाल सम्पत्तिको त्याग देते हैं, वे अत्यन्त दुष्कर कार्य करते हैं । मेरे पास तो अब धनके नामपर कुछ नहीं है, तो भी मैं उसका मोह नहीं छोड़ पाता हूँ ॥

इमामवस्थां सम्प्राप्तं दीनमार्तं श्रिया च्युतम् ।
यदन्यत् सुखमस्तीह तद् ब्रह्मन्ननुशाधि माम् ॥ १० ॥

ब्रह्मन् ! मैं राज्यलक्ष्मीसे भ्रष्ट, दीन और आर्त होकर इस शोचनीय अवस्थामें आ पड़ा हूँ । इस जगत्में धनके अतिरिक्त जो सुख हो, उसीका मुझे उपदेश कीजिये ॥१०॥

कौसल्येनैवमुक्तस्तु राजपुत्रेण धीमता ।
मुनिः कालकवृक्षीयः प्रत्युवाच महाद्युतिः ॥ ११ ॥

बुद्धिमान् कोसलराजकुमारके इस प्रकार पूछनेपर महातेजस्वी कालकवृक्षीय मुनिने इस तरह उत्तर दिया ॥ ११ ॥

मुनिरुवाच

पुरस्तादेव ते बुद्धिरियं कार्या विजानता ।
अनित्यं सर्वमेवैतदहं च मम चास्ति यत् ॥ १२ ॥

मुनि बोले—राजकुमार ! तुम समझदार हो; अतः तुम्हें पहलेसे ही अपनी बुद्धिके द्वारा ऐसा ही निश्चय कर लेना उचित था । इस जगत्में 'मैं' और 'मेरा' कहकर जो कुछ भी समझा या ग्रहण किया जाता है, वह सब अनित्य ही है ॥ १२ ॥

यत् किंचिन्मन्यसेऽस्तीति सर्वं नास्तीति विद्धि तत् ।
एवं न व्यथते प्राज्ञः कृच्छ्रामप्यापदं गतः ॥ १३ ॥

तुम जिस किसी वस्तुको ऐसा मानते हो कि 'यह है' वह सब पहलेसे ही समझ लो कि 'नहीं है' ऐसा समझनेवाला विद्वान् पुरुष कठिन-से-कठिन विपत्तिमें पड़नेपर भी व्यथित नहीं होता ॥ १३ ॥

यद्धि भूतं भविष्यं च सर्वं तन्न भविष्यति ।
एवं विदितवेद्यस्त्वमधर्मेभ्यः प्रमोक्ष्यसे ॥ १४ ॥

जो वस्तु पहले थी और होगी, वह सब न तो थी और न होगी ही । इस प्रकार जानने योग्य तत्त्वको जान लेनेपर तुम सम्पूर्ण अधर्मोंसे छुटकारा पा जाओगे ॥ १४ ॥

यच्च पूर्वे समाहारे यच्च पूर्वे परे परे ।
सर्वं तन्नास्ति ते चैव तज्ज्ञात्वा कोऽनुसंज्वरेत् ॥१५॥

जो वस्तु पहले बहुत बड़े समुदायके अधीन (गणतन्त्र) रह चुकी है तथा जो एकके बाद दूसरेकी होती आयी है, वह सबकी सब तुम्हारी भी नहीं है; इस बातको भलीभाँति समझ लेनेपर किसको बारंबार चिन्ता होगी ॥ १५ ॥

भूत्वा च न भवत्येतदभूत्वा च भविष्यति ।
शोके न ह्यस्ति सामर्थ्यं शोकं कुर्यात् कथंचन ॥१६॥

यह राजलक्ष्मी होकर भी नहीं रहती और जिनके पास नहीं होती, उनके पास आ जाती है; परंतु शोककी सामर्थ्य

नहीं है कि वह गयी हुई सम्पत्तिको लौटा लावे; अतः किसी तरह भी शोक नहीं करना चाहिये ॥ १६ ॥

क्व नु तेऽद्य पिता राजन् क्व नु तेऽद्य पितामहः।
न त्वं पश्यसि तानद्य न त्वां पश्यन्ति तेऽपि च ।१७।

राजन्! बताओ तो सही, तुम्हारे पिता आज कहाँ हैं? तुम्हारे पितामह अब कहाँ चले गये? आज न तो तुम उन्हें देखते हो और न वे तुम्हें देख पाते हैं ॥ १७ ॥

आत्मनोऽध्रुवतां पश्यंस्तांस्त्वं किमनुशोचसि।
बुद्ध्या चैवानुबुद्ध्यस्व ध्रुवं हि न भविष्यसि ॥ १८ ॥

यह शरीर अनित्य है, इस बातको तुम देखते और समझते हो, फिर उन पूर्वजोंके लिये क्यों निरन्तर शोक करते हो? जरा बुद्धि लगाकर विचार तो करो, निश्चय ही एक दिन तुम भी नहीं रहोगे ॥ १८ ॥

अहं च त्वं च नृपते सुहृदः शत्रवश्च ते।
अवश्यं न भविष्यामः सर्वं च न भविष्यति ॥ १९ ॥

नरेश्वर! मैं, तुम, तुम्हारे मित्र और शत्रु—ये हम सब लोग एक दिन नहीं रहेंगे। यह सब कुछ नष्ट हो जायगा ॥ १९ ॥

ये तु विंशतिवर्षा वै त्रिंशद्वर्षाश्च मानवाः।
अर्वागेव हि ते सर्वे मरिष्यन्ति शरच्छतात् ॥ २० ॥

इस समय जो बीस या तीस वर्षकी अवस्थावाले मनुष्य हैं, ये सभी सौ वर्षके पहले ही मर जायँगे ॥ २० ॥

अपि चेन्महतो वित्तान्न प्रमुच्येत पूरुषः।
नैतन्ममेति तन्मत्वा कुर्वीत प्रियमात्मनः ॥ २१ ॥

ऐसी दशामें यदि मनुष्य बहुत बड़ी सम्पत्तिसे न बिछुड़ जाय तो भी उसे 'यह मेरा नहीं है' ऐसा समझकर अपना कल्याण अवश्य करना चाहिये ॥ २१ ॥

अनागतं यन्न ममेति विद्या-
दतिक्रान्तं यन्न ममेति विद्यात्।
दिष्टं बलीय इति मन्यमाना-
स्ते पण्डितास्तत्सतां स्थानमाहुः ॥ २२ ॥

जो वस्तु भविष्यमें मिलनेवाली है, उसे यही माने कि 'वह मेरी नहीं है' तथा जो मिलकर नष्ट हो चुकी हो, उसके विषयमें भी यही भाव रखे कि 'वह मेरी नहीं थी।' जो ऐसा मानते हैं कि 'प्रारब्ध ही सबसे प्रबल है,' वे ही विद्वान् हैं और उन्हें सत्पुरुषोंका आश्रय कहा गया है ॥ २२ ॥

अनाढ्याश्चापि जीवन्ति राज्यं चाप्यनुशासति।
बुद्धिपौरुषसम्पन्नास्त्वया तुल्याधिका जनाः ॥ २३ ॥
न च त्वमिव शोचन्ति तस्मात् त्वमपि मा शुचः।
किं न त्वं तैर्नरैः श्रेयांस्तुल्यो वा बुद्धिपौरुषैः ॥ २४ ॥

जो धनाढ्य नहीं हैं, वे भी जीते हैं और कोई राज्यका शासन भी करते हैं, उनमेंसे कुछ तुम्हारे समान ही बुद्धि और पौरुषसे सम्पन्न हैं तथा कुछ तुमसे बढ़कर भी हो सकते हैं। परंतु वे भी तुम्हारी तरह शोक नहीं करते; अतः तुम भी शोक न करो। क्या तुम बुद्धि और पुरुषार्थमें उन मनुष्योंसे श्रेष्ठ या उनके समान नहीं हो? ॥ २३-२४ ॥

राजोवाच

यादृच्छिकं सर्वमासीत् तद् राज्यमिति चिन्तये।
ह्रियते सर्वमेवेदं कालेन महता द्विज ॥ २५ ॥

राजाने कहा—ब्रह्मन्! मैं तो यही समझता हूँ कि वह सारा राज्य मुझे स्वतः अनायास ही प्राप्त हो गया था और अब महान् शक्तिशाली कालने यह सब कुछ छीन लिया है ॥ २५ ॥

तस्यैव ह्रियमाणस्य स्रोतसेव तपोधन।
फलमेतत् प्रपश्यामि यथालब्धेन वर्तयन् ॥ २६ ॥

तपोधन! जैसे जलका प्रवाह किसी वस्तुको बहा ले जाता है, उसी प्रकार कालके वेगसे मेरे राज्यका अपहरण हो गया। उसीके फलस्वरूप मैं इस शोकका अनुभव करता हूँ और जैसे तैसे जो कुछ मिल जाता है, उसीसे जीवन-निर्वाह करता हूँ ॥ २६ ॥

मुनिरुवाच

अनागतमतीतं च याथातथ्यविनिश्चयात्।
नानुशोचेत कौसल्य सर्वार्थेषु तथा भव ॥ २७ ॥

मुनिने कहा—कोसलराजकुमार! यथार्थ तत्त्वका निश्चय हो जानेपर मनुष्य भविष्य और भूतकालकी किसी भी वस्तुके लिये शोक नहीं करता। इसलिये तुम भी सभी पदार्थोंके विषयमें उसी तरह शोकरहित हो जाओ ॥ २७ ॥

अवाप्यान् कामयन्नर्थान् नानवाप्यान् कदाचन।
प्रत्युत्पन्नाननुभवन् मा शुचस्त्वमनागतान् ॥ २८ ॥

मनुष्य पाने योग्य पदार्थोंकी ही कामना करता है। अप्राप्य वस्तुओंकी कदापि नहीं। अतः तुम्हें भी जो कुछ प्राप्त है, उसीका उपभोग करते हुए अप्राप्त वस्तुके लिये कभी चिन्तन नहीं करना चाहिये ॥ २८ ॥

यथालब्धोपपन्नार्थैस्तथा कौसल्य रंस्यसे।
कच्चिच्छुद्धस्वभावेन श्रिया हीनो न शोचसि ॥ २९ ॥

कोसलनरेश! क्या तुम दैववश जो कुछ मिल जाय, उसीसे उतने ही आनन्दके साथ रह सकोगे, जैसे पहले रहते थे। आज राजलक्ष्मीसे वञ्चित होनेपर भी क्या तुम शुद्ध हृदयसे शोकको छोड़ चुके हो? ॥ २९ ॥

पुरस्ताद् भूतपूर्वत्वाद्धीनभाग्यो हि दुर्मतिः।
धातारं गर्हते नित्यं लब्धार्थैश्च न मृष्यते ॥ ३० ॥

जब पहले सम्पत्ति प्राप्त होकर नष्ट हो जाती है, तब उसीके कारण अपनेको भाग्यहीन माननेवाला दुर्बुद्धि मनुष्य सदा विधाताकी निन्दा करता है और प्रारब्धवश प्राप्त हुए पदार्थोंसे उसे संतोष नहीं होता है ॥ ३० ॥

अनर्हानपि चैवान्यान्मन्यते श्रीमतो जनान्।
एतस्मात् कारणादेतद् दुःखं भूयोऽनुवर्तते ॥ ३१ ॥

[illegible] अनर्थ मानता है। इसी कारण [illegible] ईर्ष्यावश दुःख सदा उसके पीछे लगा रहता है ॥ ३१ ॥

ईर्ष्याभिमानसम्पन्ना राजन् पुरुषमानिनः।
कच्चित् त्वं न तथा राजन् मत्सरी कोसलाधिप॥ ३२ ॥

राजन्! अपनेको पुरुष माननेवाले बहुत-से मनुष्य ईर्ष्या और अभिमानसे भरे होते हैं। कोसलनरेश! क्या तुम ऐसे ईर्ष्यालु तो नहीं हो? ॥ ३२ ॥

[illegible] श्रियमन्येषां यद्यपि त्वयि नास्ति सा।
अन्यत्रापि सतीं लक्ष्मीं कुशला भुञ्जते सदा ॥ ३३ ॥
अभिनिष्पद्यते श्रीर्हि सत्यपि द्विषतो जनम्।

यद्यपि तुम्हारे पास लक्ष्मी नहीं है तो भी तुम दूसरोंकी सम्पत्ति देखकर सहन करो; क्योंकि चतुर मनुष्य दूसरोंके यहाँ रहनेवाली सम्पत्तिका भी सदा उपभोग करते हैं और जो लोगोंसे द्वेष रखता है, उसके पास सम्पत्ति हो तो भी वह शीघ्र ही नष्ट हो जाती है ॥ ३३½ ॥

श्रियं च पुत्रपौत्रं च मनुष्या धर्मचारिणः।
योगधर्मविदो धीराः स्वयमेव त्यजन्त्युत ॥ ३४ ॥

योगधर्मको जाननेवाले धर्मात्मा धीर मनुष्य अपनी सम्पत्ति तथा पुत्र-पौत्रोंका भी स्वयं ही त्याग कर देते हैं ॥३४॥

(त्यक्तं स्वायम्भुवे वंशे शुभेन भरतेन च।
नानारत्नसमाकीर्णं राज्यं स्फीतमिति श्रुतम् ॥
तथान्यैर्भूमिपालैश्च त्यक्तं राज्यं महोदयम्।
त्यक्त्वा राज्यानि सर्वे च वने वन्यफलाशनाः॥
गताश्च तपसः पारं दुःखस्यान्तं च भूमिपाः।)
बहुसंकुसुकं दृष्ट्वा विधित्सासाधनेन च।
तथान्ये संत्यजन्त्येव मत्वा परमदुर्लभम् ॥ ३५ ॥

स्वायम्भुव मनुके वंशमें उत्पन्न हुए शुभ आचार-विचारवाले राजा भरतने नाना प्रकारके रत्नोंसे सम्पन्न अपने समृद्धिशाली राज्यको त्याग दिया था, यह बात मेरे सुननेमें आयी है इसी प्रकार अन्य भूमिपालोंने भी महान् अभ्युदयशाली राज्यका परित्याग किया है। राज्य छोड़कर वे सब-के-सब भूपाल वनमें जंगली फल-मूल खाकर रहते थे। वहीं वे तपस्या और दुःखके पार पहुँच गये। धनकी प्राप्ति निरन्तर प्रयत्नमें लगे रहनेसे होती है, फिर भी वह अत्यन्त अस्थिर है, यह देखकर तथा इसे परम दुर्लभ मानकर भी दूसरे लोग उसका परित्याग कर देते हैं ॥ ३५ ॥

त्वं पुनः प्राज्ञरूपः सन् कृपणं परितप्यसे।
अकाम्यान् कामयानोऽर्थान् पराधीनानुपद्रवान् ॥३६॥

परंतु तुम तो समझदार हो, तुम्हें मालूम है, भोग प्रारब्धके अधीन और अस्थिर हैं, तो भी नहीं चाहनेयोग्य विषयों-को चाहते हो और उनके लिये दीनता दिखाते हुए शोक कर रहे हो ॥ ३६ ॥

तां बुद्धिमुपजिज्ञासुस्त्वमेवैतान् परित्यज।
अनर्थांश्चार्थरूपेण ह्यर्थांश्चानर्थरूपिणः ॥ ३७ ॥

तुम पूर्वोक्त बुद्धिको समझनेकी चेष्टा करो और इन भोगों-को छोड़ो, जो तुम्हें अर्थके रूपमें प्रतीत होनेवाले अनर्थ हैं; क्योंकि वास्तवमें समस्त भोग अनर्थस्वरूप ही हैं ॥ ३७ ॥

अर्थायैव हि केषांचिद् धननाशो भवत्युत।
आनन्त्यं तत्सुखं मत्वा श्रियमन्यः परीप्सति ॥ ३८ ॥

इस अर्थ या भोगके लिये ही कितने ही लोगोंके धनका नाश हो जाता है। दूसरे लोग सम्पत्तिको अक्षय सुख मानकर उसे पानेकी इच्छा करते हैं ॥ ३८ ॥

रममाणः श्रिया कश्चिन्नान्यच्छ्रेयोऽभिमन्यते।
तथा तस्येहमानस्य समारम्भो विनश्यति ॥ ३९ ॥

कोई-कोई मनुष्य तो धन-सम्पत्तिमें इस तरह रम जाता है कि उसे उससे बढ़कर सुखका साधन और कुछ जान ही नहीं पड़ता है। अतः वह धनोपार्जनकी ही चेष्टामें लगा रहता है। परंतु दैववश उस मनुष्यका वह सारा उद्योग सहसा नष्ट हो जाता है ॥ ३९ ॥

कृच्छ्राल्लब्धमभिप्रेतं यदि कौसल्य नश्यति।
तदा निर्विद्यते सोऽर्थात् परिभग्नक्रमो नरः ॥ ४० ॥
(अनित्यां तां श्रियं मत्वा श्रियं वा कः परीप्सति।)

कोसलनरेश! बड़े कष्टसे प्राप्त किया हुआ वह अभीष्ट धन यदि नष्ट हो जाता है तो उसके उद्योगका सिलसिला टूट जाता है और वह धनसे विरक्त हो जाता है। इस प्रकार उस सम्पत्तिको अनित्य समझकर भी भला कौन उसे प्राप्त करनेकी इच्छा करेगा? ॥ ४० ॥

धर्ममेकेऽभिपद्यन्ते कल्याणाभिजना नराः।
परत्र सुखमिच्छन्तो निर्विद्येयुश्च लौकिकात् ॥ ४१ ॥

उत्तम कुलमें उत्पन्न हुए कुछ ही मनुष्य ऐसे हैं, जो धर्मकी शरण लेते हैं और परलोकमें सुखकी इच्छा रखकर समस्त लौकिक व्यापारसे उपरत हो जाते हैं ॥ ४१ ॥

जीवितं संत्यजन्त्येके धनलोभपरा जनाः।
न जीवितार्थं मन्यन्ते पुरुषा हि धनादृते ॥ ४२ ॥

कुछ लोग तो ऐसे हैं, जो धनके लोभमें पड़कर अपने प्राणतक गँवा देते हैं। ऐसे मनुष्य धनके सिवा जीवनका दूसरा कोई प्रयोजन ही नहीं समझते हैं ॥ ४२ ॥

पश्य तेषां कृपणतां पश्य तेषामबुद्धिताम्।
अध्रुवे जीविते मोहादर्थदृष्टिमुपाश्रिताः ॥ ४३ ॥

देखो, उनकी दीनता और देख लो उनकी मूर्खता, जो इस अनित्य जीवनके लिये मोहवश धनमें ही दृष्टि गड़ाये रहते हैं ॥ ४३ ॥

संचये च विनाशान्ते मरणान्ते च जीविते।
संयोगे च वियोगान्ते को नु विप्रणयेन्मनः ॥ ४४ ॥

जब संग्रहका अन्त विनाश ही है, जब जीवनका अन्त

मृत्यु ही है और जब संयोगका अन्त वियोग ही है, तब इनकी ओर कौन अपना मन लगायेगा ? ॥ ४४ ॥

धनं वा पुरुषो राजन् पुरुषं वा पुनर्धनम् ।
अवश्यं प्रजहात्येव तद् विद्वान् कोऽनुसंज्वरेत् ॥४५॥

राजन् ! चाहे मनुष्य धनको छोड़ता है, चाहे धन ही मनुष्यको छोड़ देता है । एक दिन अवश्य ऐसा होता है । इस बातको जाननेवाला कौन मनुष्य धनके लिये चिन्ता करेगा ? ॥

(अन्यत्रोपनता ह्यापत् पुरुषं तोषयत्युत ।
तेन शान्तिं न लभते नाहमेवेति कारणात् ॥)

दूसरोंपर पड़ी हुई आपत्ति मूर्ख मनुष्यको संतोष प्रदान करती है । वह समझता है कि मैं उस संकटमें नहीं पड़ा हूँ । इस भेददृष्टिके कारण ही उसे कभी शान्ति नहीं मिलती ॥

अन्येषामपि नश्यन्ति सुहृदश्च धनानि च ।
पश्य बुद्ध्या मनुष्याणां राजन्नापदमात्मनः ॥ ४६ ॥

राजन् ! दूसरोंके भी धन और सुहृद् नष्ट होते हैं; अतः तुम बुद्धिसे विचारकर देखो कि दूसरे मनुष्योंके समान ही तुम्हारी अपनी आपत्ति भी है ॥ ४६ ॥

नियच्छ यच्छ संयच्छ इन्द्रियाणि मनो गिरम् ।
प्रतिषेद्धा न चाप्येषु दुर्बलेष्वहितेष्वपि ॥ ४७ ॥

इन्द्रियोंको संयममें रक्खो, मनको वशमें करो और वाणीका संयम करके मौन रहा करो । ये मन, वाणी और इन्द्रियाँ दुर्बल हों या अहितकारक, इन्हें विषयोंकी ओर जानेसे रोकनेवाला अपने सिवा दूसरा कोई नहीं है ॥ ४७ ॥

प्राप्तिसृष्टेषु भावेषु व्यपकृष्टेष्वसम्भवे ।
प्रज्ञानतृप्तो विक्रान्तस्त्वद्विधो नानुशोचति ॥ ४८ ॥

सारे पदार्थ जब संसर्गमें आते हैं, तभी दृष्टिगोचर होते हैं । दूर हो जानेपर उनका दर्शन सम्भव नहीं हो पाता । ऐसी स्थितिमें ज्ञान और विज्ञानसे तृप्त तथा पराक्रमसे सम्पन्न तुम्हारे-जैसा पुरुष शोक नहीं करता है ॥ ४८ ॥

अल्पमिच्छन्नचपलो मृदुर्दान्तः सुनिश्चितः ।
ब्रह्मचर्योपपन्नश्च त्वद्विधो नैव शोचति ॥ ४९ ॥

तुम्हारी इच्छा तो बहुत थोड़ी है । तुममें चपलताका दोष भी नहीं है । तुम्हारा हृदय कोमल और बुद्धि एक निश्चयपर डटी रहनेवाली है तथा तुम जितेन्द्रिय होनेके साथ ही ब्रह्मचर्यसे सम्पन्न भी हो; अतः तुम्हारे-जैसे पुरुषको शोक नहीं करना चाहिये ॥ ४९ ॥

न त्वेव जाल्मीं कापालीं वृत्तिमेषितुमर्हसि ।
नृशंसवृत्तिं पापिष्ठां दुष्टां कापुरुषोचिताम् ॥ ५० ॥

तुमको हाथमें कपाल लेकर भीख माँगनेवालोंकी तथा निर्दय पुरुषोंकी उस कपटभरी वृत्तिकी इच्छा नहीं करनी चाहिये, जो अत्यन्त पापपूर्ण, अनेक दोषोंसे दूषित तथा कायरोंके ही योग्य है ॥ ५० ॥

अपि मूलफलाजीवो रमस्वैको महावने ।
वाग्यतः संगृहीतात्मा सर्वभूतदयान्वितः ॥ ५१ ॥

तुम मूल-फलसे जीवन-निर्वाह करते हुए विशाल वनमें अकेले ही विचरण करो । वाणीको संयममें रखकर मन और इन्द्रियोंको काबूमें करो और सम्पूर्ण प्राणियोंके प्रति दयाभाव बनाये रक्खो ॥ ५१ ॥

सदृशं पण्डितस्यैतदीषादन्तेन दन्तिना ।
यदेको रमतेऽरण्येष्वारण्ये नैव तुष्यति ॥ ५२ ॥

तुम-जैसे विद्वान् पुरुषके योग्य कार्य तो यह है कि वनमें ईषाके समान बड़े-बड़े दाँतवाले जंगली हाथीके साथ अकेला विचरे और जंगलके ही पत्र, पुष्प तथा फल मूल खाकर संतुष्ट रहे ॥ ५२ ॥

महाह्रदः संक्षुभित आत्मनैव प्रसीदति ।
(इत्थं नरोऽप्यात्मनैव कृतप्रज्ञः प्रसीदति ।)
एतदेवंगतस्याहं सुखं पश्यामि जीवितुम् ॥ ५३ ॥

जैसे क्षुब्ध हुआ महान् सरोवर निर्मल हो जाता है, उसी प्रकार विशुद्ध बुद्धिवाला मनुष्य क्षुब्ध होनेपर भी निर्मल हो जाता है । अतः राजकुमार ! इस अवस्थामें तुम्हारा इस रूपमें आ जाना अर्थात् तुम्हारे मनमें ऐसे विशुद्ध भावका उदय होना शुभ है । इस प्रकारके जीवनको ही मैं सुखमय समझता हूँ ॥

असम्भवे श्रियो राजन् हीनस्य सचिवादिभिः ।
दैवे प्रतिनिविष्टे च किं श्रेयो मन्यते भवान् ॥ ५४ ॥

राजन् ! तुम्हारे लिये अब धन-सम्पत्तिकी कोई सम्भावना नहीं है । तुम मन्त्री आदिसे भी रहित हो गये हो तथा दैव भी तुम्हारे प्रतिकूल ही है, ऐसी अवस्थामें तुम अपने लिये किस मार्गका अवलम्बन अच्छा समझते हो ? ॥ ५४ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि राजधर्मानुशासनपर्वणि कालकवृक्षीये चतुरधिकशततमोऽध्यायः ॥ १०४ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत राजधर्मानुशासनपर्वमें कालकवृक्षीय मुनिका उपदेशविषयक एक सौ चारवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १०४ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठके ४½ श्लोक मिलाकर कुल ५८½ श्लोक हैं)

पञ्चाधिकशततमोऽध्यायः

कालकवृक्षीय मुनिके द्वारा गये हुए राज्यकी प्राप्तिके लिये विभिन्न उपायोंका वर्णन

मुनिरुवाच

अथ चेत् पौरुषं किंचित् क्षत्रियात्मनि पश्यसि ।
ब्रवीमि तां तु ते नीतिं राज्यस्य प्रतिपत्तये ॥ १ ॥

मुनिने कहा—राजकुमार ! यदि तुम अपनेमें कुछ पुरुषार्थ देखते हो तो मैं तुम्हें राज्यकी प्राप्तिके लिये एक नीति बता रहा हूँ ॥ १ ॥

[illegible] निर्मातुं कर्म नैव करिष्यसि ।
[illegible] त्वां वक्ष्यामि तत्त्वतः ॥ २ ॥

[illegible] परिणत कर सको, उसके [illegible] तो मैं उस नीतिका यथार्थरूपसे [illegible] हूँ । तुम [illegible] पूर्णरूपसे सुनो ॥ २ ॥

[illegible] कर्म महतोऽर्थानवाप्स्यसि ।
[illegible] वा महतीं वा पुनः श्रियम् ॥३ ॥
[illegible] राजन पुनर्ब्रूहि ब्रवीमि ते ।

[illegible] नीतिके अनुसार कार्य करोगे [illegible] पुनः महान् [illegible], राज्य, राज्यकी मन्त्रणा और विशाल [illegible] प्राप्ति होगी । राजन् ! यदि मेरी यह बात तुम्हें [illegible] कहो, क्या मैं तुमसे इस विषयका वर्णन [illegible] ? ॥ ३½ ॥

राजोवाच

ब्रवीतु भगवान्नीतिमुपपन्नोऽस्म्यहं प्रभो ॥ ४ ॥
अमोघोऽयं भवत्वद्य त्वया सह समागमः ।

राजाने कहा—प्रभो ! आप अवश्य उस नीतिका वर्णन करें । मैं आपकी शरणमें आया हूँ । आपके साथ जो समागम प्राप्त हुआ है, वह आज व्यर्थ न हो ॥ ४½ ॥

मुनिरुवाच

हित्वा दम्भं च कामं च क्रोधं हर्षं भयं तथा ॥ ५ ॥
अप्यमित्राणि सेवस्व प्रणिपत्य कृताञ्जलिः ।

मुनिने कहा—राजन् ! तुम दम्भ, काम, क्रोध, हर्ष और भयको त्यागकर हाथ जोड़, मस्तक झुकाकर शत्रुओंकी भी सेवा करो ॥ ५½ ॥

तमुत्तमेन शौचेन कर्मणा चाभिधारय ॥ ६ ॥
दातुमर्हति ते वित्तं वैदेहः सत्यसंगरः ।
प्रमाणं सर्वभूतेषु प्रग्रहं च भविष्यसि ॥ ७ ॥

तुम पवित्र व्यवहार और उत्तम कर्मद्वारा अपने प्रति विदेहराजका विश्वास उत्पन्न करो । विदेहराज सत्यप्रतिज्ञ हैं; अतः वे तुम्हें अवश्य धन प्रदान करेंगे । यदि ऐसा हुआ तो तुम समस्त प्राणियोंके लिये प्रमाणभूत (विश्वासपात्र) तथा [illegible] दाहिनी बाँह हो जाओगे ॥ ६-७ ॥

ततः सहायान् सोत्साहाँल्लप्स्यसेऽव्यसनाञ्शुचीन् ।
वर्तमानः स्वशास्त्रेण संयतात्मा जितेन्द्रियः ॥ ८ ॥
अभ्युद्धरति चात्मानं प्रसादयति च प्रजाः ।

फिर तो तुम्हें बहुत से शुद्ध हृदयवाले, दुर्व्यसनोंसे रहित [illegible] उत्साही सहायक मिल जायँगे । जो मनुष्य शास्त्रके अनुकूल आचरण करता हुआ अपने मन और इन्द्रियोंको [illegible] रखता है, वह अपना तो उद्धार करता ही है, प्रजाको भी प्रसन्न कर लेता है ॥ ८½ ॥

तेनैव त्वं धृतिमता श्रीमता चाभिसत्कृतः ॥ ९ ॥
प्रमाणं सर्वभूतेषु गत्वा च ग्रहणं महत् ।
ततः सुहृद्बलं लब्ध्वा मन्त्रयित्वा सुमन्त्रिभिः ॥ १० ॥
आन्तरैर्भेदयित्वारीन् बिल्वं बिल्वेन भेदय ।

राजा जनक बड़े धीर और श्रीसम्पन्न हैं। जब वे तुम्हारा सत्कार करेंगे, तब सभी लोगोंके विश्वासपात्र होकर तुम अत्यन्त गौरवान्वित हो जाओगे । उस अवस्थामें तुम मित्रोंकी सेना इकट्ठी करके अच्छे मन्त्रियोंके साथ सलाह लेकर अन्तरङ्ग व्यक्तियोंद्वारा शत्रुदलमें फूट डलवाकर बेलको बेलसे ही फोड़ो (शत्रुके सहयोगसे ही शत्रुका विध्वंस कर डालना) ॥ ९-१०½ ॥

परैर्वा संविदं कृत्वा बलमप्यस्य घातय ॥ ११ ॥
अलभ्या ये शुभा भावाः स्त्रियश्चाच्छादनानि च ।
शय्यासनानि यानानि महार्हाणि गृहाणि च ॥ १२ ॥
पक्षिणो मृगजातानि रसगन्धाः फलानि च ।
तेष्वेव सज्जयेथास्त्वं यथा नश्यत्वयं परः ॥ १३ ॥

अथवा दूसरोंसे मेल करके उन्हींके द्वारा शत्रुके बलका भी नाश कराओ । राजकुमार ! जो शुभ पदार्थ अलभ्य हैं, उनमें तथा स्त्री, ओढ़ने-बिछानेके सुन्दर वस्त्र, अच्छे-अच्छे पलंग, आसन, वाहन, बहुमूल्य गृह, तरह-तरहके रस, गन्ध और फल—इन्हीं वस्तुओंमें शत्रुको आसक्त करो । भाँति-भाँतिके पक्षियों और विभिन्न जातिके पशुओंके पालनकी भी आसक्ति शत्रुके मनमें पैदा करो, जिससे यह शत्रु धीरे-धीरे धनहीन होकर स्वतः नष्ट हो जाय ॥ ११—१३ ॥

यद्येवं प्रतिषेद्धव्यो यद्युपेक्षणमर्हति ।
न जातु विवृतः कार्यः शत्रुः सुनयमिच्छता ॥ १४ ॥

यदि ऐसा करते समय कभी शत्रुको उस व्यसनकी ओर जानेसे रोकने या मना करनेकी आवश्यकता पड़े तो वह भी करना चाहिये अथवा वह उपेक्षाके योग्य हो तो उपेक्षा ही कर देनी चाहिये; किंतु उत्तम नीतिका फल चाहनेवाले राजाको चाहिये कि वह किसी भी दशामें शत्रुपर अपना गुप्त मनोभाव प्रकट न होने दे ॥ १४ ॥

रमस्व परमामित्रे विषये प्राज्ञसम्मतः ।
भजस्व श्वेतकाकीयैर्मित्रधर्ममनर्थकैः ॥ १५ ॥

तुम बुद्धिमानोंके विश्वासभाजन बनकर अपने महाशत्रुके राज्यमें सानन्द विचरण करो और कुत्ते, हिरन तथा कौओंकी तरह* चौकन्ने रहकर निरर्थक बर्तावोंद्वारा विदेहराजके प्रति

* जैसे कुत्ते बहुत जागते हैं, उसी तरह शत्रुकी गति-विधिको देखनेके लिये बराबर जागता रहे । जिस प्रकार हिरन बहुत चौकन्ने होते हैं, जरा भी भयकी आशङ्का होते ही भाग जाते हैं, उसी तरह हर समय सावधान रहे । भय आनेके पहले ही वहाँसे खिसक जाय । जैसे कौए प्रत्येक मनुष्यकी चेष्टा देखते रहते हैं, किसीको हाथ उठाते देख तुरंत उड़ जाते हैं; इसी प्रकार शत्रुकी चेष्टापर सदा दृष्टि रक्खे ।

मित्रधर्मका पालन करो ॥ १५ ॥

आरम्भांश्चास्य महतो दुश्चरांश्च प्रयोजय ।
नदीवच्च विरोधांश्च बलवद्भिर्विरुध्यताम् ॥ १६ ॥

शत्रुको इतने बड़े-बड़े कार्य करनेकी प्रेरणा दो, जिनका पूरा होना अत्यन्त कठिन हो और बलवान् राजाओंके साथ शत्रुका ऐसा विरोध करा दो, जो किसी विशाल नदीके समान अत्यन्त दुस्तर हो ॥ १६ ॥

उद्यानानि महार्हाणि शयनान्यासनानि च ।
प्रतिभोगसुखेनैव कोशमस्य विरेचय ॥ १७ ॥

बड़े-बड़े बगीचे लगवाकर, बहुमूल्य पलंग-बिछौने तथा भोग-विलासके अन्य साधनोंमें खर्च कराकर उसका सारा खजाना खाली करा दो ॥ १७ ॥

यज्ञदाने प्रशाध्यस्मै ब्राह्मणाननुवर्ण्य तान् ।
ते त्वां प्रतिकरिष्यन्ति तं भोक्ष्यन्ति वृका इव ॥ १८ ॥

तुम मिथिलाके प्रसिद्ध ब्राह्मणोंकी प्रशंसा करके उनके द्वारा विदेहराजको बड़े-बड़े यज्ञ और दान करनेका उपदेश दिलाओ । नित्य ही वे ब्राह्मण तुम्हारा उपकार करेंगे और विदेहराजको भेड़ियोंके समान नोच खायेंगे ॥ १८ ॥

असंशयं पुण्यशीलः प्राप्नोति परमां गतिम् ।
त्रिविष्टपे पुण्यतमं स्थानं प्राप्नोति मानवः ॥ १९ ॥

इसमें संदेह नहीं कि पुण्यशील मानव परम गतिको प्राप्त होता है । उसे स्वर्गलोकमें परम पवित्र स्थानकी प्राप्ति होती है ॥ १९ ॥

कोशक्षये त्वमित्राणां वशं कौसल्य गच्छति ।
उभयत्र प्रयुक्तस्य धर्मेणाधर्म एव च ॥ २० ॥

कोसलराज ! धर्म अथवा अधर्म या उन दोनोंमें ही प्रवृत्त रहनेवाले राजाका कोष निश्चय ही खाली हो जाता है । खजाना खाली होते ही राजा अपने शत्रुओंके वशमें आ जाता है ॥ २० ॥

फलार्थमूलं व्युच्छिद्येत् तेन नन्दन्ति शत्रवः ।
न चास्मै मानुषं कर्म दैवमस्योपवर्णय ॥ २१ ॥

शत्रुके राज्यमें जो फल-मूल और खेती आदि हो, उसे गुप्तरूपसे नष्ट करा दे । इससे उसके शत्रु प्रसन्न होते हैं । यह कार्य किसी मनुष्यका किया हुआ न बतावे । दैवी घटना कहकर इसका वर्णन करे ॥ २१ ॥

असंशयं दैवपरः क्षिप्रमेव विनश्यति ।
याजयैनं विश्वजिता सर्वस्वेन वियुज्य तम् ॥ २२ ॥

इसमें संदेह नहीं कि दैवका मारा हुआ मनुष्य शीघ्र ही नष्ट हो जाता है । हो सके तो शत्रुको विश्वजित् नामक यज्ञमें लगा दो, और उसके द्वारा दक्षिणारूपमें सर्वस्वदान कराकर उसे निर्धन बना दो ॥ २२ ॥

ततो गच्छसि सिद्धार्थः पीड्यमानं महाजनम् ।
योगधर्मविदं पुण्यं कंचिदस्योपवर्णयेत् ॥ २३ ॥
अपि त्यागं बुभूषेत कच्चिद् गच्छेदनामयम् ।
सिद्धेनौषधियोगेन सर्वशत्रुविनाशिना ।
नागानश्वान् मनुष्यांश्च कृतकैरुपघातयेत् ॥ २४ ॥

इससे तुम्हारा मनोरथ सिद्ध होगा । तदनन्तर तुम्हें कष्ट पाते हुए किसी श्रेष्ठपुरुषकी दुरवस्थाका और किसी योगधर्मके ज्ञाता पुण्यात्मा पुरुषकी महिमाका राजाके सामने वर्णन करना चाहिये, जिससे शत्रु राजा अपने राज्यको त्याग देनेकी इच्छा करने लगे । यदि कदाचित् वह प्रकृतिस्थ ही रह जाय, उसके ऊपर वैराग्यका प्रभाव न पड़े, तब अपने नियुक्त किये हुए पुरुषोंद्वारा सर्वशत्रुविनाशक सिद्ध औषधके प्रयोगसे शत्रुके हाथी, घोड़े और मनुष्योंको मरवा डालना चाहिये ॥ २३-२४ ॥

एते चान्ये च बहवो दम्भयोगाः सुचिन्तिताः ।
शक्या विषहता कर्तुं पुरुषेण कृतात्मना ॥ २५ ॥

राजकुमार ! अपने मनको वशमें रखनेवाला पुरुष यदि धर्म-विरुद्ध आचरण करना सह सके तो ये तथा और भी बहुत-से भलीभाँति सोचे हुए कपटपूर्ण प्रयोग हैं, जो उसके द्वारा किये जा सकते हैं ॥ २५ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि राजधर्मानुशासनपर्वणि कालकवृक्षीये पञ्चाधिकशततमोऽध्यायः ॥ १०५ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत राजधर्मानुशासनपर्वमें कालकवृक्षीय मुनिका उपदेशविषयक एक सौ पाँचवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १०५ ॥

षडधिकशततमोऽध्यायः

कालकवृक्षीय मुनिका विदेहराज तथा कोसलराजकुमारमें मेल कराना और विदेहराजका कोसलराजको अपना जामाता बना लेना

राजोवाच

न निकृत्या न दम्भेन ब्रह्मन्निच्छामि जीवितुम् ।
नाधर्मयुक्तानिच्छेयमर्थान् सुमहतोऽप्यहम् ॥ १ ॥

राजाने कहा—ब्रह्मन् ! मैं कपट और दम्भका आश्रय लेकर जीवित रहना नहीं चाहता । अधर्मके सहयोगसे मुझे बहुत बड़ी सम्पत्ति मिलती हो तो भी मैं उसकी इच्छा नहीं करता ॥ १ ॥

पुरस्तादेव भगवन् मयैतदपवर्जितम् ।
येन मां नाभिशङ्केत येन कृत्स्नं हितं भवेत् ॥ २ ॥

[illegible] इन सब दुर्गुणोंका परित्याग [illegible] संदेह न हो और सबका [illegible] ॥ २ ॥

आनृशंस्येन धर्मेण लोके ह्यस्मिन् जिजीविषुः ।
नाहमेतदलं कर्तुं नैतन्मय्युपपद्यते ॥ ३ ॥

[illegible] आश्रय लेकर ही इस जगत्में जीना [illegible] । मुझसे यह [illegible] कदापि नहीं हो सकता और ऐसा उपदेश देना आपको भी शोभा नहीं देता ॥ ३ ॥

मुनिरुवाच

उपपन्नस्त्वमेतेन यथा क्षत्रिय भाषसे ।
प्रकृत्या ह्युपपन्नोऽसि बुद्ध्या वा बहुदर्शनः ॥ ४ ॥

मुनिने कहा—राजकुमार ! तुम जैसा कहते हो, वैसे ही गुणोंसे सम्पन्न भी हो । तुम धार्मिक स्वभावसे युक्त हो और अपनी बुद्धिके द्वारा बहुत कुछ देखने तथा समझनेकी शक्ति रखते हो ॥ ४ ॥

उभयोरेव सामर्थ्ये यतिष्ये तव तस्य च ।
संश्लेषं वा करिष्यामि शाश्वतं ह्यनपायिनम् ॥ ५ ॥

मैं तुम्हारे और राजा जनक—दोनोंके ही हितके लिये अब स्वयं ही प्रयत्न करूँगा और तुम दोनोंमें ऐसा घनिष्ठ सम्बन्ध स्थापित करा दूँगा, जो अमिट और चिरस्थायी हो ॥

त्वादृशं हि कुले जातमनृशंसं बहुश्रुतम् ।
अमात्यं को न कुर्वीत राज्यप्रणयकोविदम् ॥ ६ ॥

तुम्हारा जन्म उच्चकुलमें हुआ है । तुम दयालु, अनेक शास्त्रोंके ज्ञाता तथा राज्यसंचालनकी कलामें कुशल हो । तुम्हारे-जैसे योग्य पुरुषको कौन अपना मन्त्री नहीं बनावेगा ? ॥ ६ ॥

यस्त्वं प्रच्यावितो राज्याद् व्यसनं चोत्तमं गतः ।
आनृशंस्येन वृत्तेन क्षत्रियेच्छसि जीवितुम् ॥ ७ ॥

राजकुमार ! तुम्हें राज्यसे भ्रष्ट कर दिया गया है । तुम बड़ी भारी विपत्तिमें पड़ गये हो तथापि तुमने क्रूरताको नहीं अपनाया, तुम दयायुक्त बर्तावसे ही जीवन बिताना चाहते हो ॥ ७ ॥

आगन्ता मद्गृहं तात वैदेहः सत्यसंगरः ।
अथाहं तं नियोक्ष्यामि तत् करिष्यत्यसंशयम् ॥ ८ ॥

तात ! सत्यप्रतिज्ञ विदेहराज जनक जब मेरे आश्रमपर पधारेंगे, उस समय मैं उन्हें जो भी आज्ञा दूँगा, उसे वे निःसंदेह पूर्ण करेंगे ॥ ८ ॥

तत आहूय वैदेहं मुनिर्वचनमब्रवीत् ।
अयं राजकुले जातो विदिताभ्यन्तरो मम ॥ ९ ॥

तदनन्तर मुनिने विदेहराज जनकको बुलाकर उनसे इस प्रकार कहा—राजन् ! यह राजकुमार राजवंशमें उत्पन्न हुआ है, इसकी आन्तरिक बातोंको भी मैं जानता हूँ ॥ ९ ॥

आदर्श इव शुद्धात्मा शारदश्चन्द्रमा यथा ।
नास्मिन् पश्यामि वृजिनं सर्वतो मे परीक्षितः ॥ १० ॥

'इसका हृदय दर्पणके समान शुद्ध और शरत्कालके चन्द्रमाकी भाँति उज्ज्वल है । मैंने इसकी सब प्रकारसे परीक्षा कर ली है । इसमें मैं कोई पाप या दोष नहीं देख रहा हूँ ॥

तेन ते संधिरेवास्तु विश्वसास्मिन् यथा मयि ।
न राज्यमनमात्येन शक्यं शास्तुमपि त्र्यहम् ॥ ११ ॥

'अतः इसके साथ अवश्य ही तुम्हारी संधि हो जानी चाहिये । तुम जैसा मुझपर विश्वास करते हो, वैसा ही इसपर भी करो । कोई भी राज्य बिना मन्त्रीके तीन दिन भी नहीं चलाया जा सकता ॥ ११ ॥

अमात्यः शूर एव स्याद् बुद्धिसम्पन्न एव वा ।
ताभ्यां चैवोभयं राजन् पश्य राज्यप्रयोजनम् ॥ १२ ॥

'मन्त्री वही हो सकता है, जो शूरवीर अथवा बुद्धिमान् हो । शौर्य और बुद्धिसे ही लोक और परलोक दोनोंका सुधार होता है । राजन् ! उभयलोककी सिद्धि ही राज्यका प्रयोजन है । इसे अच्छी तरह देखो और समझो ॥ १२ ॥

धर्मात्मनां क्वचिल्लोके नान्यास्ति गतिरीदृशी ।
महात्मा राजपुत्रोऽयं सतां मार्गमनुष्ठितः ॥ १३ ॥

'जगत्में धर्मात्मा राजाओंके लिये अच्छे मन्त्रीके समान दूसरी कोई गति नहीं है । यह राजकुमार महामना है । इसने सत्पुरुषोंके मार्गका आश्रय लिया है ॥ १३ ॥

सुसंगृहीतस्त्वेवैष त्वया धर्मपुरोगमः ।
संसेव्यमानः शत्रूंस्ते गृह्णीयान्महतो गणान् ॥ १४ ॥

'यदि तुमने धर्मको सामने रखकर इसे सम्मानपूर्वक अपनाया तो तुमसे सेवित होकर यह तुम्हारे शत्रुओंके भारी-से भारी समुदायोंको काबूमें कर सकता है ॥ १४ ॥

यद्ययं प्रतियुद्ध्येत् त्वां स्वकर्म क्षत्रियस्य तत् ।
जिगीषमाणस्त्वां युद्धे पितृपैतामहे पदे ॥ १५ ॥

'यदि यह अपने बाप-दादोंके राज्यके लिये युद्धमें तुम्हें जीतनेकी इच्छा रखकर तुम्हारे साथ संग्राम छेड़ दे तो क्षत्रियके लिये यह स्वधर्मका पालन ही होगा ॥ १५ ॥

त्वं चापि प्रतियुद्ध्येथा विजिगीषुव्रते स्थितः ।
अयुध्वैव नियोगान्मे वशे कुरु हिते स्थितः ॥ १६ ॥

उस समय तुम भी विजयाभिलाषी राजाके व्रतमें स्थित हो इसके साथ युद्ध करोगे ही । अतः मेरी आज्ञा मानकर इसके हित-साधनमें तत्पर हो जाओ और युद्ध किये बिना ही इसे वशमें कर लो ॥ १६ ॥

स त्वं धर्ममवेक्षस्व हित्वा लोभमसाम्प्रतम् ।
न च कामान्न च द्रोहात् स्वधर्मं हातुमर्हसि ॥ १७ ॥

'अनुचित लोभका परित्याग करके तुम धर्मपर ही दृष्टि रक्खो, कामना अथवा द्रोहसे भी अपने धर्मका परित्याग न करो ॥ १७ ॥

कालकवृक्षीय मुनि राजा जनकका राजकुमार क्षेमदर्शीके साथ मेल करा रहे हैं

नैव नित्यं जयस्तात नैव नित्यं पराजयः।
तस्माद् भोजयितव्यश्च भोक्तव्यश्च परो जनः ॥ १८ ॥

'तात ! किसीकी भी न तो सदा जय होती है और न नित्य पराजय ही होती है। जैसे राजा दूसरे मनुष्योंको जीतकर उसका तथा उसकी सम्पत्तिका उपभोग करता है, वैसे ही दूसरोंको भी उसे अपनी सम्पत्ति भोगनेका अवसर देना चाहिये ॥ १८ ॥

आत्मन्यपि च संदृश्यावुभौ जयपराजयौ ।
निःशेषकारिणां तात निःशेषकरणाद् भयम् ॥ १९ ॥

'वत्स ! अपनेमें भी जय और पराजय दोनोंको देखना चाहिये। जो दूसरोंकी सम्पत्ति छीनकर उसके पास कुछ भी शेष नहीं रहने देते, उन्हें उस सर्वस्वापहरणरूपी पापसे अपने लिये भी सदा भय बना रहता है' ॥ १९ ॥

इत्युक्तः प्रत्युवाचेदं वचनं ब्राह्मणर्षभम् ।
प्रतिपूज्याभिसत्कृत्य पूजार्हमनुमान्य च ॥ २० ॥

मुनिके इस प्रकार कहनेपर राजाने उन पूजनीय ब्राह्मण-शिरोमणि महर्षिका पूजन और आदर-सत्कार करके उनकी बातका अनुमोदन करते हुए इस तरह उत्तर दिया—॥ २० ॥

यथा ब्रूयान्महाप्राज्ञो यथा ब्रूयान्महाश्रुतः ।
श्रेयस्कामो यथा ब्रूयादुभयोरेव तत् क्षमम् ॥ २१ ॥

'कोई महाबुद्धिमान् जैसी बात कह सकता है, कोई महाविद्वान् जैसी वाणी बोल सकता है तथा दूसरोंका कल्याण चाहनेवाला महापुरुष जैसा उपदेश दे सकता है, वैसी ही बात आपने कही है। यह हम दोनोंके लिये ही शिरोधार्य करने योग्य है ॥ २१ ॥

यद् यद् वचनमुक्तोऽस्मि करिष्यामि च तत् तथा।
एतद्धि परमं श्रेयो न मेऽत्रास्ति विचारणा ॥ २२ ॥

'भगवन् ! आपने मेरे लिये जो-जो आदेश दिया है, उसका मैं उसी रूपमें पालन करूँगा। यह मेरे लिये परम कल्याणकी बात है। इसके सम्बन्धमें मुझे दूसरा कोई विचार नहीं करना है' ॥ २२ ॥

ततः कौसल्यमाहूय मैथिलो वाक्यमब्रवीत् ।
धर्मतो नीतितश्चैव लोकश्च विजितो मया ॥ २३ ॥
अहं त्वया चात्मगुणैर्जितः पार्थिवसत्तम ।
आत्मानमनवज्ञाय जितवद् वर्ततां भवान् ॥ २४ ॥

तदनन्तर मिथिलानरेशने कोसल-राजकुमारको अपने निकट बुलाकर कहा—'नृपश्रेष्ठ ! मैंने धर्म और नीतिका सहारा लेकर सम्पूर्ण जगत्पर विजय पायी है, परंतु आज तुमने अपने गुणोंसे मुझे भी जीत लिया। अतः तुम अपनी अवज्ञा न करके एक विजयी वीरके समान बर्ताव करो ॥ २३-२४ ॥

नावमन्यामि ते बुद्धिं नावमन्ये च पौरुषम् ।
नावमन्ये जयामीति जितवद् वर्ततां भवान् ॥ २५ ॥

'मैं तुम्हारी बुद्धिका अनादर नहीं करता, तुम्हारे पुरुषार्थकी अवहेलना नहीं करता और विजयी हूँ, यह सोचकर तुम्हारा तिरस्कार भी नहीं करता; अतः तुम विजयी वीरके समान बर्ताव करो ॥ २५ ॥

यथावत् पूजितो राजन् गृहं गन्तासि मे भृशम्।
ततः सम्पूज्य तौ विप्रं विश्वस्तौ जग्मतुर्गृहान् ॥ २६ ॥

'राजन् ! तुम मेरेद्वारा भलीभाँति सम्मानित होकर मेरे घर पधारो।' इतना कहकर वे दोनों परस्पर विश्वस्त हो उन ब्रह्मर्षिकी पूजा करके घरकी ओर चल दिये ॥ २६ ॥

वैदेहस्त्वथ कौसल्यं प्रवेश्य गृहमञ्जसा ।
पाद्यार्घ्यमधुपर्कैस्तं पूजार्हं प्रत्यपूजयत् ॥ २७ ॥

विदेहराजने कोसलराजकुमारको आदरपूर्वक अपने महलके भीतर ले जाकर अपने उस पूजनीय अतिथिका पाद्य, अर्घ्य, आचमनीय तथा मधुपर्कके द्वारा पूजन किया ॥ २७ ॥

ददौ दुहितरं चास्मै रत्नानि विविधानि च ।
एष राज्ञां परो धर्मोऽनित्यौ जयपराजयौ ॥ २८ ॥

तत्पश्चात् उनके साथ अपनी पुत्रीका विवाह कर दिया और दहेजमें नाना प्रकारके रत्न भेंट किये। यही राजाओंका परम धर्म है, जय और पराजय तो अनित्य हैं ॥ २८ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि राजधर्मानुशासनपर्वणि कालकवृक्षीये षडधिकशततमोऽध्यायः ॥ १०६ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत राजधर्मानुशासनपर्वमें कालकवृक्षीय मुनिका उपदेशविषयक एक सौ छठा अध्याय पूरा हुआ ॥ १०६ ॥

सप्ताधिकशततमोऽध्यायः

गणतन्त्र राज्यका वर्णन और उसकी नीति

युधिष्ठिर उवाच

ब्राह्मणक्षत्रियविशां शूद्राणां च परंतप ।
धर्मवृत्तं च वित्तं च वृत्त्युपायाः फलानि च ॥ १ ॥
राज्ञां वित्तं च कोशं च कोशसंचयनं जयः ।
अमात्यगुणवृत्तिश्च प्रकृतीनां च वर्धनम् ॥ २ ॥
षाड्गुण्यगुणकल्पश्च सेनावृत्तिस्तथैव च ।
परिज्ञानं च दुष्टस्य लक्षणं च सतामपि ॥ ३ ॥
समहीनाधिकानां च यथावल्लक्षणं च यत् ।
मध्यमस्य च तुष्ट्यर्थं यथा स्थेयं विवर्धता ॥ ४ ॥
क्षीणग्रहणवृत्तिश्च यथाधर्मं प्रकीर्तितम् ।

[illegible] भेदाभेदौ [illegible] भारत ॥ ५ ॥

युधिष्ठिरने कहा—परंतप भरतनन्दन ! आपने ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्रोंके धर्ममय आचार, धन, [illegible] उत्तम तथा धर्म आदिके फल बताये हैं । राजाओं-के खजाने, कोष, कोषसंग्रह, शत्रुविजय, मन्त्रीके गुण और आचरण, प्रजावर्गकी उन्नति, संधि-विग्रह आदि छः गुणोंके प्रयोग, सेनाके वर्ताव, दुष्टोंकी पहचान, सत्पुरुषोंके लक्षण, जो अपने समान, अपनेसे हीन तथा अपनेसे उत्कृष्ट हैं—उन सबोंके यथावत् लक्षण, मध्यम वर्गको संतुष्ट रखनेके लिये उन्नतिशील राजाको कैसे रहना चाहिये—इसका निर्देश, दुर्बल पुरुषको अपनाने और उसके लिये जीविकाकी व्यवस्था करनेकी आवश्यकता—इन सब विषयोंका आपने देशाचार और शास्त्रके अनुसार संक्षेपसे धर्मके अनुकूल प्रतिपादन किया है ॥ १–५ ॥

विजिगीषोस्तथा वृत्तमुक्तं चैव तथैव ते ।
गणानां वृत्तिमिच्छामि श्रोतुं मतिमतां वर ॥ ६ ॥

बुद्धिमानोंमें श्रेष्ठ पितामह ! आपने विजयाभिलाषी राजाके वर्तावका भी वर्णन कर दिया है । अब मैं गणों (गणतन्त्र राज्यों)का बर्ताव एवं वृत्तान्त सुनना चाहता हूँ॥

यथा गणाः प्रवर्धन्ते न भिद्यन्ते च भारत ।
अरींश्च विजिगीषन्ते सुहृदः प्राप्नुवन्ति च ॥ ७ ॥

भारत ! गणतन्त्र-राज्योंकी जनता जिस प्रकार अपनी उन्नति करती है, जिस प्रकार आपसमें मतभेद या फूट नहीं होने देती, जिस तरह शत्रुओंपर विजय पाना चाहती है और जिस उपायसे उसे सुहृदोंकी प्राप्ति होती है—ये सारी बातें सुननेके लिये मेरी बड़ी इच्छा है ॥ ७ ॥

भेदमूलो विनाशो हि गणानामुपलक्षये ।
मन्त्रसंवरणं दुःखं बहूनामिति मे मतिः ॥ ८ ॥

मैं देखता हूँ, संघबद्ध राज्योंके विनाशका मूल कारण है आपसकी फूट । मेरा विश्वास है कि बहुत-से मनुष्योंके जो समुदाय हैं, उनके लिये किसी गुप्त मन्त्रणा या विचारको छिपाये रखना बहुत ही कठिन है ॥ ८ ॥

एतदिच्छाम्यहं श्रोतुं निखिलेन परंतप ।
यथा च ते न भिद्येरंस्तच्च मे वद पार्थिव ॥ ९ ॥

परंतप राजन् ! इन सारी बातोंको मैं पूर्णरूपसे सुनना चाहता हूँ । जिस प्रकार वे सङ्घ या गण आपसमें फूटते नहीं हैं, वह मुझे बताइये ॥ ९ ॥

भीष्म उवाच

गणानां च कुलानां च राज्ञां भरतसत्तम ।
वैरसंदीपनावेतौ लोभामर्षौ नराधिप ॥ १० ॥

भीष्मजीने कहा—भरतश्रेष्ठ ! नरेश्वर ! गणोंमें, कुलोंमें तथा राजाओंमें वैरकी आग प्रज्वलित करनेवाले ये दो ही दोष हैं—लोभ और अमर्ष ॥ १० ॥

लोभमेको हि वृणुते ततोऽमर्षमनन्तरम् ।
तौ क्षयव्ययसंयुक्तावन्योन्यं च विनाशिनौ ॥ ११ ॥

पहले एक मनुष्य लोभका वरण करता है (लोभवश दूसरेका धन लेना चाहता है), तदनन्तर दूसरेके मनमें अमर्ष पैदा होता है; फिर वे दोनों लोभ और अमर्षसे प्रभावित हुए व्यक्ति समुदाय, धन और जनकी बड़ी भारी हानि उठाकर एक दूसरेके विनाशक बन जाते हैं ॥ ११ ॥

चारमन्त्रबलादानैः सामदानविभेदनैः ।
क्षयव्ययभयोपायैः प्रकर्षन्तीतरेतरम् ॥ १२ ॥

वे भेद लेनेके लिये गुप्तचरोंको भेजते, गुप्त मन्त्रणाएँ करते तथा सेना एकत्र करनेमें लग जाते हैं । साम, दान और भेदनीतिके प्रयोग करते हैं तथा जनसंहार, अपार धन-राशिके व्यय एवं अनेक प्रकारके भय उपस्थित करनेवाले विविध उपायोंद्वारा एक दूसरेको दुर्बल कर देते हैं ॥ १२ ॥

तत्रादानेन भिद्यन्ते गणाः संघातवृत्तयः ।
भिन्ना विमनसः सर्वे गच्छन्त्यरिवशं भयात् ॥ १३ ॥

सङ्घबद्ध होकर जीवन-निर्वाह करनेवाले गणराज्यके सैनिकोंको भी यदि समयपर भोजन और वेतन न मिले तो भी वे फूट जाते हैं । फूट जानेपर सबके मन एक दूसरेके विपरीत हो जाते हैं और वे सबके सब भयके कारण शत्रुओंके अधीन हो जाते हैं ॥ १३ ॥

भेदे गणा विनेशुर्हि भिन्नास्तु सुजयाः परैः ।
तस्मात् संघातयोगेन प्रयतेरन् गणाः सदा ॥ १४ ॥

आपसमें फूट होनेसे ही सङ्घ या गणराज्य नष्ट हुए हैं । फूट होनेपर शत्रु उन्हें अनायास ही जीत लेते हैं; अतः गणोंको चाहिये कि वे सदा सङ्घबद्ध—एकमत होकर ही विजयके लिये प्रयत्न करें ॥ १४ ॥

अर्थाश्चैवाधिगम्यन्ते संघातबलपौरुषैः ।
बाह्याश्च मैत्रीं कुर्वन्ति तेषु संघातवृत्तिषु ॥ १५ ॥

जो सामूहिक बल और पुरुषार्थसे सम्पन्न हैं, उन्हें अनायास ही सब प्रकारके अभीष्ट पदार्थोंकी प्राप्ति हो जाती है । सङ्घबद्ध होकर जीवन-निर्वाह करनेवाले लोगोंके साथ सङ्घसे बाहरके लोग भी मैत्री स्थापित करते हैं ॥ १५ ॥

ज्ञानवृद्धाः प्रशंसन्ति शुश्रूषन्तः परस्परम् ।
विनिवृत्ताभिसंधानाः सुखमेधन्ति सर्वशः ॥ १६ ॥

ज्ञानवृद्ध पुरुष गणराज्यके नागरिकोंकी प्रशंसा करते हैं । सङ्घबद्ध लोगोंके मनमें आपसमें एक दूसरेको ठगनेकी दुर्भावना नहीं होती । वे सभी एक दूसरेकी सेवा करते हुए सुखपूर्वक उन्नति करते हैं ॥ १६ ॥

धर्मिष्ठान् व्यवहारांश्च स्थापयन्तश्च शास्त्रतः ।
यथावत् प्रतिपश्यन्तो विवर्धन्ते गणोत्तमाः ॥ १७ ॥

गणराज्यके श्रेष्ठ नागरिक शास्त्रके अनुसार धर्मानुकूल व्यवहारोंकी स्थापना करते हैं । वे यथोचित दृष्टिसे सबको देखते हुए उन्नतिकी दिशामें आगे बढ़ते जाते हैं ॥ १७ ॥

पुत्रान् भ्रातृन् निगृह्णन्तो विनयन्तश्च तान् सदा ।
विनीतांश्च प्रगृह्णन्तो विवर्धन्ते गणोत्तमाः ॥ १८ ॥

गणराज्यके श्रेष्ठ पुरुष पुत्रों और भाइयोंको भी यदि वे कुमार्गपर चलें तो दण्ड देते हैं । सदा उन्हें उत्तम शिक्षा प्रदान करते हैं और शिक्षित हो जानेपर उन सबको बड़े आदरसे अपनाते हैं । इसलिये वे विशेष उन्नति करते हैं ॥

चारमन्त्रविधानेषु कोशसंनिचयेषु च ।
नित्ययुक्ता महाबाहो वर्धन्ते सर्वतो गणाः ॥ १९ ॥

महाबाहु युधिष्ठिर ! गणराज्यके नागरिक गुप्तचर या दूतका काम करने, राज्यके हितके लिये गुप्त मन्त्रणा करने, विधान बनाने तथा राज्यके लिये कोश-संग्रह करने आदिके लिये सदा उद्यत रहते हैं, इसीलिये सब ओरसे उनकी उन्नति होती है ॥ १९ ॥

प्राज्ञाञ्शूरान् महोत्साहान् कर्मसु स्थिरपौरुषान् ।
मानयन्तः सदा युक्ता विवर्धन्ते गणा नृप ॥ २० ॥

नरेश्वर ! सङ्घराज्यके सदस्य सदा बुद्धिमान, शूरवीर, महान् उत्साही और सभी कार्योंमें दृढ़ पुरुषार्थका परिचय देनेवाले लोगोंका सदा सम्मान करते हुए राज्यकी उन्नतिके लिये उद्योगशील बने रहते हैं । इसीलिये वे शीघ्र आगे बढ़ जाते हैं ॥ २० ॥

द्रव्यवन्तश्च शूराश्च शस्त्रज्ञाः शास्त्रपारगाः ।
कृच्छ्रास्वापत्सु सम्मूढान् गणाः संतारयन्ति ते ॥ २१ ॥

गणराज्यके सभी नागरिक धनवान्, शूरवीर, अस्त्र-शस्त्रोंके ज्ञाता तथा शास्त्रोंके पारङ्गत विद्वान् होते हैं । वे कठिन विपत्तिमें पड़कर मोहित हुए लोगोंका उद्धार करते रहते हैं ॥

क्रोधो भेदो भयं दण्डः कर्षणं निग्रहो वधः ।
नयत्यरिवशं सद्यो गणान् भरतसत्तम ॥ २२ ॥

भरतश्रेष्ठ ! सङ्घराज्यके लोगोंमें यदि क्रोध, भेद (फूट), भय, दण्डप्रहार, दूसरोंको दुर्बल बनाने, बन्धनमें डालने या मार डालनेकी प्रवृत्ति पैदा हो जाय तो वह उन्हें तत्काल शत्रुओंके वशमें डाल देती है ॥ २२ ॥

तस्मान्मानयितव्यास्ते गणमुख्याः प्रधानतः ।
लोकयात्रा समायत्ता भूयसी तेषु पार्थिव ॥ २३ ॥

राजन् ! इसलिये तुम्हें गणराज्यके जो प्रधान-प्रधान अधिकारी हैं, उन सबका सम्मान करना चाहिये; क्योंकि लोकयात्राका महान् भार उनके ऊपर अवलम्बित है ॥ २३ ॥

मन्त्रगुप्तिः प्रधानेषु चारश्चामित्रकर्षण ।
न गणाः कृत्स्नशो मन्त्रं श्रोतुमर्हन्ति भारत ॥ २४ ॥

शत्रुसूदन ! भारत ! गण या सङ्घके सभी लोग गुप्त मन्त्रणा सुननेके अधिकारी नहीं हैं । मन्त्रणाको गुप्त रखने तथा गुप्तचरोंकी नियुक्तिका कार्य प्रधान-प्रधान व्यक्तियोंके ही अधीन होता है ॥ २४ ॥

गणमुख्यैस्तु सम्भूय कार्यं गणहितं मिथः ।
पृथग्गणस्य भिन्नस्य विततस्य ततोऽन्यथा ॥ २५ ॥
अर्थाः प्रत्यवसीदन्ति तथानर्था भवन्ति च ।

गणके मुख्य-मुख्य व्यक्तियोंको परस्पर मिलकर समस्त गणराज्यके हितका साधन करना चाहिये अन्यथा यदि सङ्घमें फूट होकर पृथक्-पृथक् कई दलोंका विस्तार हो जाय तो उसके सभी कार्य बिगड़ जाते और बहुत-से अनर्थ पैदा हो जाते हैं ॥ २५½ ॥

तेषामन्योन्यभिन्नानां स्वशक्तिमनुतिष्ठताम् ॥ २६ ॥
निग्रहः पण्डितैः कार्यः क्षिप्रमेव प्रधानतः ।

परस्पर फूटकर पृथक्-पृथक् अपनी शक्तिका प्रयोग करनेवाले लोगोंमें जो मुख्य-मुख्य नेता हों, उनका सङ्घराज्यके विद्वान् अधिकारियोंको शीघ्र ही दमन करना चाहिये ॥ २६½ ॥

कुलेषु कलहा जाताः कुलवृद्धैरुपेक्षिताः ॥ २७ ॥
गोत्रस्य नाशं कुर्वन्ति गणभेदस्य कारकम् ।

कुलोंमें जो कलह होते हैं, उनकी यदि कुलके वृद्ध पुरुषोंने उपेक्षा कर दी तो वे कलह गणोंमें फूट डालकर समस्त कुलका नाश कर डालते हैं ॥ २७½ ॥

आभ्यन्तरं भयं रक्ष्यमसारं बाह्यतो भयम् ॥ २८ ॥
आभ्यन्तरं भयं राजन् सद्यो मूलानि कृन्तति ।

भीतरी भय दूर करके सङ्घकी रक्षा करनी चाहिये । यदि सङ्घमें एकता बनी रहे तो बाहरका भय उसके लिये निःसार है (वह उसका कुछ भी बिगाड़ नहीं सकता) । राजन् ! भीतरका भय तत्काल ही सङ्घराज्यकी जड़ काट डालता है ॥

अकस्मात् क्रोधमोहाभ्यां लोभाद् वापि स्वभावजात् ॥ २९ ॥
अन्योन्यं नाभिभाषन्ते तत्पराभवलक्षणम् ।

अकस्मात् पैदा हुए क्रोध और मोहसे अथवा स्वाभाविक लोभसे भी जब सङ्घके लोग आपसमें बातचीत करना बंद कर दें, तब यह उनकी पराजयका लक्षण है ॥ २९½ ॥

जात्या च सदृशाः सर्वे कुलेन सदृशास्तथा ॥ ३० ॥
न चोद्योगेन बुद्ध्या वा रूपद्रव्येण वा पुनः ।
भेदाच्चैव प्रदानाच्च भिद्यन्ते रिपुभिर्गणाः ॥ ३१ ॥
तस्मात् संघातमेवाहुर्गणानां शरणं महत् ॥ ३२ ॥

जाति और कुलमें सभी एक समान हो सकते हैं; परंतु उद्योग, बुद्धि और रूप-सम्पत्तिमें सबका एक-सा होना सम्भव नहीं है । शत्रुलोग गणराज्यके लोगोंमें भेदबुद्धि पैदा करके तथा उनमेंसे कुछ लोगोंको धन देकर भी समूचे सङ्घमें फूट डाल देते हैं; अतः सङ्घबद्ध रहना ही गणराज्यके नागरिकोंका महान् आश्रय है ॥ ३०—३२ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि राजधर्मानुशासनपर्वणि गणवृत्ते सप्ताधिकशततमोऽध्यायः ॥ १०७ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत राजधर्मानुशासनपर्वमें गणराज्यका बर्तावविषयक एक सौ सातवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १०७ ॥

अष्टाधिकशततमोऽध्यायः

माता-पिता तथा गुरुकी सेवाका महत्त्व

युधिष्ठिर उवाच

महानयं धर्मपथो बहुशाखश्च भारत ।
किंस्विदेवेह धर्माणामनुष्ठेयतमं मतम् ॥ १ ॥

युधिष्ठिरने पूछा—भारत ! धर्मका यह मार्ग बहुत बड़ा है तथा इसकी बहुत-सी शाखाएँ हैं। इन धर्मोंमेंसे किसको आप विशेषरूपसे आचरणमें लाने योग्य समझते हैं ? ॥ १ ॥

किं कार्यं सर्वधर्माणां गरीयो भवतो मतम् ।
यथाहं परमं धर्ममिह च प्रेत्य चाप्नुयाम् ॥ २ ॥

सब धर्मोंमें कौन-सा कार्य आपको श्रेष्ठ जान पड़ता है, जिसका अनुष्ठान करके मैं इहलोक और परलोकमें भी परम धर्मका फल प्राप्त कर सकूँ ? ॥ २ ॥

भीष्म उवाच

मातापित्रोर्गुरूणां च पूजा बहुमता मम ।
इह युक्तो नरो लोकान् यशश्च महदश्नुते ॥ ३ ॥

भीष्मजीने कहा—राजन् ! मुझे तो माता-पिता तथा गुरुजनोंकी पूजा ही अधिक महत्त्वकी वस्तु जान पड़ती है। इस लोकमें इस पुण्य कार्यमें संलग्न होकर मनुष्य महान् यश और श्रेष्ठ लोक पाता है ॥ ३ ॥

यदा तेऽभ्यनुजानीयुः कर्म तात सुपूजिताः ।
धर्माधर्मविरुद्धं वा तत् कर्तव्यं युधिष्ठिर ॥ ४ ॥

तात युधिष्ठिर ! भलीभाँति पूजित हुए वे माता-पिता और गुरुजन जिस कामके लिये आज्ञा दें, वह धर्मके अनुकूल हो या विरुद्ध, उसका पालन करना ही चाहिये ॥ ४ ॥

न च तैरभ्यनुज्ञातो धर्ममन्यं समाचरेत् ।
यं च तेऽभ्यनुजानीयुः स धर्म इति निश्चयः ॥ ५ ॥

जो इनकी आज्ञाके पालनमें संलग्न है, उसके लिये दूसरे किसी धर्मके आचरणकी आवश्यकता नहीं है। जिस कार्यके लिये ये आज्ञा दें, वही धर्म है, ऐसा धर्मात्माओंका निश्चय है ॥

एत एव त्रयो लोका एत एवाश्रमास्त्रयः ।
एत एव त्रयो वेदा एत एव त्रयोऽग्नयः ॥ ६ ॥

ये माता-पिता और गुरुजन ही तीनों लोक हैं, ये ही तीनों आश्रम हैं, ये ही तीनों वेद हैं तथा ये ही तीनों अग्नियाँ हैं ॥ ६ ॥

पिता वै गार्हपत्योऽग्निर्माताग्निर्दक्षिणः स्मृतः ।
गुरुराहवनीयस्तु साग्नित्रेता गरीयसी ॥ ७ ॥

पिता गार्हपत्य अग्नि हैं, माता दक्षिणाग्नि मानी गयी है और गुरु आहवनीय अग्निका स्वरूप है। लौकिक अग्नियोंसे माता-पिता आदि त्रिविध अग्नियोंका गौरव अधिक है ॥ ७ ॥

त्रिष्वप्रमाद्यन्नेतेषु त्रींल्लोकांश्च विजेष्यसि ।
पितृवृत्त्या त्विमं लोकं मातृवृत्त्या तथा परम् ॥ ८ ॥
ब्रह्मलोकं गुरोर्वृत्त्या नियमेन तरिष्यसि ।

यदि तुम इन तीनोंकी सेवामें कोई भूल नहीं करोगे तो तीनों लोकोंको जीत लोगे। पिताकी सेवासे इस लोकको, माताकी सेवासे परलोकको तथा नियमपूर्वक गुरुकी सेवासे ब्रह्मलोकको भी लाँघ जाओगे ॥ ८½ ॥

सम्यगेतेषु वर्तस्व त्रिषु लोकेषु भारत ॥ ९ ॥
यशः प्राप्स्यसि भद्रं ते धर्मं च सुमहत्फलम् ।

भरतनन्दन ! इसलिये तुम त्रिविध लोकस्वरूप इन तीनोंके प्रति उत्तम बर्ताव करो। तुम्हारा कल्याण हो। ऐसा करनेसे तुम्हें यश और महान् फल देनेवाले धर्मकी प्राप्ति होगी ॥

नैतानतिशयेज्जातु नात्यश्नीयान्न दूषयेत् ॥ १० ॥
नित्यं परिचरेच्चैव तद् वै सुकृतमुत्तमम् ।
कीर्तिं पुण्यं यशो लोकान् प्राप्स्यसे राजसत्तम ॥ ११ ॥

इन तीनोंकी आज्ञाका कभी उल्लङ्घन न करे, इनको भोजन करानेके पहले स्वयं भोजन न करे, इनपर कोई दोषारोपण न करे और सदा इनकी सेवामें संलग्न रहे। यही सबसे उत्तम पुण्यकर्म है। नृपश्रेष्ठ ! इनकी सेवासे तुम कीर्ति, पवित्र यश और उत्तम लोक सब कुछ प्राप्त कर लोगे ॥ १०-११ ॥

सर्वे तस्यादृता लोका यस्यैते त्रय आदृताः ।
अनादृतास्तु यस्यैते सर्वास्तस्याफलाः क्रियाः ॥ १२ ॥

जिसने इन तीनोंका आदर कर लिया, उसके द्वारा सम्पूर्ण लोकोंका आदर हो गया और जिसने इनका अनादर कर दिया, उसके सम्पूर्ण शुभ कर्म निष्फल हो जाते हैं ॥ १२ ॥

न चायं न परो लोकस्तस्य चैव परंतप ।
अमानिता नित्यमेव यस्यैते गुरवस्त्रयः ॥ १३ ॥

शत्रुओंको संताप देनेवाले नरेश ! जिसने इन तीनों गुरुजनोंका सदा अपमान ही किया है, उसके लिये न तो यह लोक सुखद है और न परलोक ॥ १३ ॥

न चास्मिन्न परे लोके यशस्तस्य प्रकाशते ।
न चान्यदपि कल्याणं परत्र समुदाहृतम् ॥ १४ ॥

न इस लोकमें और न परलोकमें ही उसका यश प्रकाशित होता है। परलोकमें जो अन्य कल्याणमय सुखकी प्राप्ति बतायी गयी है, वह भी उसे सुलभ नहीं होती है ॥ १४ ॥

तेभ्य एव हि यत् सर्वं कृत्वा च विसृजाम्यहम् ।
तदासीन्मे शतगुणं सहस्रगुणमेव च ॥ १५ ॥
तस्मान्मे सम्प्रकाशन्ते त्रयो लोका युधिष्ठिर ।

मैं तो सारा शुभ कर्म करके इन तीनों गुरुजनोंको ही समर्पित कर देता था। इससे मेरे उन सभी शुभ कर्मोंका पुण्य सौगुना और हजारगुना बढ़ गया है। युधिष्ठिर ! इसीसे तीनों लोक मेरी दृष्टिके सामने प्रकाशित हो रहे हैं ॥ १५½ ॥

दशैव तु सदाऽऽचार्यः श्रोत्रियानतिरिच्यते ॥ १६ ॥
दशाचार्यानुपाध्याय उपाध्यायान् पिता दश ।
पितॄन् दश तु माता का स्त्रर्वा वा पृथिवीमपि ॥ १७ ॥

गुरुत्वेनाभिभवति नास्ति मातृसमो गुरुः ।

आचार्य सदा दस श्रोत्रियोंसे बढ़कर है । उपाध्याय (विद्यागुरु) दस आचार्योंसे अधिक महत्त्व रखता है, पिता दस उपाध्यायोंसे बढ़कर है और माताका महत्त्व दस पिताओंसे भी अधिक है । वह अकेली ही अपने गौरवके द्वारा सारी पृथ्वीको भी तिरस्कृत कर देती है । अतः माताके समान दूसरा कोई गुरु नहीं है ॥ १६-१७½ ॥

गुरुर्गरीयान् पितृतो मातृतश्चेति मे मतिः ॥ १८ ॥
उभौ हि मातापितरौ जन्मन्येवोपयुज्यतः ।

परंतु मेरा विश्वास यह है कि गुरुका पद पिता और मातासे भी बढ़कर है; क्योंकि माता-पिता तो केवल इस शरीरको जन्म देनेके ही उपयोगमें आते हैं ॥ १८½ ॥

शरीरमेव सृजतः पिता माता च भारत ॥ १९ ॥
आचार्यशिष्टा या जातिः सा दिव्या साजरामरा ।

भारत ! पिता और माता केवल शरीरको ही जन्म देते हैं; परंतु आचार्यका उपदेश प्राप्त करके जो द्वितीय जन्म उपलब्ध होता है, वह दिव्य है, अजर-अमर है ॥ १९½ ॥

अवध्या हि सदा माता पिता चाप्यपकारिणौ ॥ २० ॥

न संदुष्यति तत् कृत्वा न च ते दूषयन्ति तम् ।
धर्माय यतमानानां विदुर्देवा महर्षिभिः ॥ २१ ॥

पिता-माता यदि कोई अपराध करें तो भी वे सदा अवध्य ही हैं; क्योंकि पुत्र या शिष्य पिता-माता और गुरुका अपराध करके भी उनकी दृष्टिमें दूषित नहीं होते हैं । वे गुरुजन, पुत्र या शिष्यपर स्नेहवश दोषारोपण नहीं करते हैं; बल्कि सदा उसे धर्मके मार्गपर ही ले जानेका प्रयत्न करते हैं । ऐसे पिता-माता आदि गुरुजनोंका महत्त्व महर्षियोंसहित देवता ही जानते हैं ॥ २०-२१ ॥

यश्चावृणोत्यवितथेन कर्मणा
ऋतं ब्रुवन्ननृतं सम्प्रयच्छन् ।
तं वै मन्येत पितरं मातरं च
तस्मै न द्रुह्येत् कृतमस्य जानन् ॥ २२ ॥

जो सत्य कर्म(के द्वारा और यथार्थ उपदेश)के द्वारा पुत्र या शिष्यको कवचकी भाँति ढक लेता है, सत्यस्वरूप वेदका उपदेश देता और असत्यकी रोक-थाम करता है, उस गुरुको ही पिता और माता समझे और उसके उपकारको जानकर कभी उससे द्रोह न करे ॥ २२ ॥

विद्यां श्रुत्वा ये गुरुं नाद्रियन्ते
प्रत्यासन्ना मनसा कर्मणा वा ।
तेषां पापं भ्रूणहत्याविशिष्टं
नान्यस्तेभ्यः पापकृदस्ति लोके ।
यथैव ते गुरुभिर्भावनीया-
स्तथा तेषां गुरवोऽभ्यर्चनीयाः ॥ २३ ॥

जो लोग विद्या पढ़कर गुरुका आदर नहीं करते, निकट रहकर मन, वाणी और क्रियाद्वारा गुरुकी सेवा नहीं करते हैं, उन्हें गर्भके बालककी हत्यासे भी बढ़कर पाप लगता है । संसारमें उनसे बड़ा पापी दूसरा कोई नहीं है । जैसे गुरुओंका कर्तव्य है, शिष्यको आत्मोन्नतिके पथपर पहुँचाना, उसी तरह शिष्योंका धर्म है गुरुओंका पूजन करना ॥ २३ ॥

तस्मात् पूजयितव्याश्च संविभज्याश्च यत्नतः ।
गुरवोऽर्चयितव्याश्च पुराणं धर्ममिच्छता ॥ २४ ॥

अतः जो पुरातन धर्मका फल पाना चाहते हैं, उन्हें चाहिये कि वे गुरुओंकी पूजा-अर्चा करें और प्रयत्नपूर्वक उन्हें आवश्यक वस्तुएँ लाकर दें ॥ २४ ॥

येन प्रीणाति पितरं तेन प्रीतः प्रजापतिः ।
प्रीणाति मातरं येन पृथिवी तेन पूजिता ॥ २५ ॥

मनुष्य जिस कर्मसे पिताको प्रसन्न करता है, उसीके द्वारा प्रजापति ब्रह्माजी भी प्रसन्न होते हैं तथा जिस बर्तावसे वह माताको प्रसन्न कर लेता है, उसीके द्वारा समूची पृथ्वीकी भी पूजा हो जाती है ॥ २५ ॥

येन प्रीणात्युपाध्यायं तेन स्याद् ब्रह्म पूजितम् ।
मातृतः पितृतश्चैव तस्मात् पूज्यतमो गुरुः ॥ २६ ॥

जिस कर्मसे शिष्य उपाध्याय (विद्यागुरु) को प्रसन्न करता है, उसीके द्वारा परब्रह्म परमात्माकी पूजा सम्पन्न हो जाती है; अतः गुरु माता पितासे भी अधिक पूजनीय है ॥

ऋषयश्च हि देवाश्च प्रीयन्ते पितृभिः सह ।
पूज्यमानेषु गुरुषु तस्मात् पूज्यतमो गुरुः ॥ २७ ॥

गुरुओंके पूजित होनेपर पितरोंसहित देवता और ऋषि भी प्रसन्न होते हैं; इसलिये गुरु परम पूजनीय है ॥ २७ ॥

केनचिन्न च वृत्तेन ह्यवज्ञेयो गुरुर्भवेत् ।
न च माता न च पिता मन्यते यादृशो गुरुः ॥ २८ ॥

किसी भी बर्तावके कारण गुरु अपमानके योग्य नहीं होता । इसी तरह माता और पिता भी अनादरके योग्य नहीं हैं । जैसे गुरु माननीय हैं, वैसे ही माता-पिता भी हैं ॥२८॥

न तेऽवमानमर्हन्ति न तेषां दूषयेत् कृतम् ।
गुरूणामेव सत्कारं विदुर्देवा महर्षिभिः ॥ २९ ॥

वे तीनों कदापि अपमानके योग्य नहीं हैं । उनके किये हुए किसी भी कार्यकी निन्दा नहीं करनी चाहिये । गुरुजनोंके इस सत्कारको देवता और महर्षि भी अपना सत्कार मानते हैं ॥

उपाध्यायं पितरं मातरं च
येऽभिद्रुह्यन्ते मनसा कर्मणा वा ।
तेषां पापं भ्रूणहत्याविशिष्टं
तस्मान्नान्यः पापकृदस्ति लोके ॥ ३० ॥

अध्यापक, पिता और माताके प्रति जो मन, वाणी और क्रियाद्वारा द्रोह करते हैं, उन्हें भ्रूणहत्यासे भी महान् पाप लगता है । संसारमें उससे बढ़कर दूसरा कोई पापाचारी नहीं है ॥ ३० ॥

भर्ता गुरुर्यो न बिभर्ति पुत्रः
स्वयोनिजः पितरं मातरं च।
तद् वै पापं भ्रूणहत्याविशिष्टं
तस्मान्नान्यः पापकृदस्ति लोके ॥ २१ ॥

जो पिता-माताका औरस पुत्र है और पाल-पोसकर बड़ा किया गया है, वह यदि अपने माता-पिताका भरण-पोषण नहीं करता है तो उसे भ्रूणहत्यासे भी बढ़कर पाप लगता है और जगत्में उससे बड़ा पापात्मा दूसरा कोई नहीं है ॥२१॥

मित्रद्रुहः कृतघ्नस्य स्त्रीघ्नस्य गुरुघातिनः।
चतुर्णां वयमेतेषां निष्कृतिं नानुशुश्रुम ॥ २२ ॥

मित्रद्रोही, कृतघ्न, स्त्रीहत्यारे और गुरुघाती—इन चारोंके पापका प्रायश्चित्त हमारे सुननेमें नहीं आया है ॥ २२ ॥

एतत्सर्वमनिर्देशेनैवमुक्तं
यत् कर्तव्यं पुरुषेणेह लोके।
एतच्छ्रेयो नान्यदस्माद् विशिष्टं
सर्वान् धर्माननुसृत्यैतदुक्तम् ॥ २३ ॥

ये सारी बातें जो इस जगत्में पुरुषके द्वारा पालनीय हैं, यहाँ विस्तारके साथ बतायी गयी हैं। यही कल्याणकारी मार्ग है। इससे बढ़कर दूसरा कोई कर्तव्य नहीं है। सम्पूर्ण धर्मोंका अनुसरण करके यहाँ सबका सार बताया गया है ॥ २३ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि राजधर्मानुशासनपर्वणि मातृपितृगुरुमाहात्म्ये अष्टाधिकशततमोऽध्यायः ॥ १०८ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत राजधर्मानुशासनपर्वमें माता-पिता और गुरुका माहात्म्यविषयक एक सौ आठवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १०८ ॥

नवाधिकशततमोऽध्यायः

सत्य-असत्यका विवेचन, धर्मका लक्षण तथा व्यावहारिक नीतिका वर्णन

युधिष्ठिर उवाच

कथं धर्मे स्थातुमिच्छन् नरो वर्तेत भारत।
विद्वन् जिज्ञासमानाय प्रब्रूहि भरतर्षभ ॥ १ ॥

युधिष्ठिरने पूछा—भरतनन्दन! धर्ममें स्थित रहनेकी इच्छावाला मनुष्य कैसा बर्ताव करे? विद्वन्! मैं इस बातको जानना चाहता हूँ। भरतश्रेष्ठ! आप मुझसे इसका वर्णन कीजिये ॥ १ ॥

सत्यं चैवानृतं चोभे लोकानावृत्य तिष्ठतः।
तयोः किमाचरेद् राजन् पुरुषो धर्मनिश्चितः ॥ २ ॥

राजन्! सत्य और असत्य—ये दोनों सम्पूर्ण जगत्को व्याप्त करके स्थित हैं; किंतु धर्मपर विश्वास करनेवाला मनुष्य इन दोनोंमेंसे किसका आचरण करे? ॥ २ ॥

किंस्वित् सत्यं किमनृतं किंस्विद् धर्म्यं सनातनम्।
कस्मिन् काले वदेत् सत्यं कस्मिन् कालेऽनृतं वदेत् ॥ ३ ॥

क्या सत्य है और क्या झूठ? तथा कौन-सा कार्य सनातन धर्मके अनुकूल है? किस समय सत्य बोलना चाहिये और किस समय झूठ? ॥ ३ ॥

भीष्म उवाच

सत्यस्य वचनं साधु न सत्याद् विद्यते परम्।
यत्तु लोकेषु दुर्ज्ञानं तत् प्रवक्ष्यामि भारत ॥ ४ ॥

भीष्मजीने कहा—भारत! सत्य बोलना अच्छा है। सत्यसे बढ़कर दूसरा कोई धर्म नहीं है; परंतु लोकमें जिसे जानना अत्यन्त कठिन है, उसीको मैं बता रहा हूँ ॥ ४ ॥

भवेत् सत्यं न वक्तव्यं वक्तव्यमनृतं भवेत्।
यत्रानृतं भवेत् सत्यं सत्यं वाप्यनृतं भवेत् ॥ ५ ॥

जहाँ झूठ ही सत्यका काम करे (किसी प्राणीको संकटसे बचावे) अथवा सत्य ही झूठ बन जाय (किसीके जीवनको संकटमें डाल दे); ऐसे अवसरोंपर सत्य नहीं बोलना चाहिये। वहाँ झूठ बोलना ही उचित है ॥ ५ ॥

तादृशो बध्यते बालो यत्र सत्यमनिष्ठितम्।
सत्यानृते विनिश्चित्य ततो भवति धर्मवित् ॥ ६ ॥

जिसमें सत्य स्थिर न हो, ऐसा मूर्ख मनुष्य ही मारा जाता है। सत्य और असत्यका निर्णय करके सत्यका पालन करनेवाला पुरुष ही धर्मज्ञ माना जाता है ॥ ६ ॥

अप्यनार्योऽकृतप्रज्ञः पुरुषोऽप्यतिदारुणः।
सुमहत् प्राप्नुयात् पुण्यं बलाकोऽन्धवधादिव ॥ ७ ॥

जो नीच है, जिसकी बुद्धि शुद्ध नहीं है तथा जो अत्यन्त कठोर स्वभावका है, वह मनुष्य भी कभी अंधे पशुको मारनेवाले बलाक नामक व्याधकी भाँति महान् पुण्य प्राप्त कर लेता है* ॥ ७ ॥

किमाश्चर्यं च यन्मूढो धर्मकामोऽप्यधर्मवित्।
सुमहत् प्राप्नुयात् पुण्यं गङ्गायामिव कौशिकः ॥ ८ ॥

---

* देखिये कर्णपर्व अध्याय ६९ श्लोक ३८ से ४५ तक।

१. गङ्गाके तटपर किसी सर्पिणीने सहस्रों अंडे देकर रख दिये थे। उन अंडोंको एक उल्लूने रातमें फोड़-फोड़कर नष्ट कर दिया। इससे वह महान् पुण्यका भागी हुआ; अन्यथा उन अंडोंसे हजारों विषैले सर्प पैदा होकर कितने ही लोगोंका विनाश कर डालते।

कैसा आश्चर्य है कि धर्मकी इच्छा रखनेवाला मूर्ख (तपस्वी) (सत्य बोलकर भी) अधर्मके फलको प्राप्त हो जाता है (कर्णपर्व अध्याय ६९) और गङ्गाके तटपर रहनेवाले एक उल्लूकी भाँति कोई (हिंसा करके भी) महान् पुण्य प्राप्त कर लेता है ॥ ८ ॥

तादृशोऽयमनुप्रश्नो यत्र धर्मः सुदुर्लभः।
दुष्करः प्रतिसंख्यातुं तत् केनात्र व्यवस्यति ॥ ९ ॥

युधिष्ठिर ! तुम्हारा यह पिछला प्रश्न भी ऐसा ही है। इसके अनुसार धर्मके स्वरूपका विवेचन करना या समझना बहुत कठिन है; इसीलिये उसका प्रतिपादन करना भी दुष्कर ही है; अतः धर्मके विषयमें कोई किस प्रकार निश्चय करे ? ॥

प्रभवार्थाय भूतानां धर्मप्रवचनं कृतम्।
यः स्यात् प्रभवसंयुक्तः स धर्म इति निश्चयः ॥ १० ॥

प्राणियोंके अभ्युदय और कल्याणके लिये ही धर्मका प्रवचन किया गया है; अतः जो इस उद्देश्यसे युक्त हो अर्थात् जिससे अभ्युदय और निःश्रेयस सिद्ध होते हों, वही धर्म है, ऐसा शास्त्रवेत्ताओंका निश्चय है ॥ १० ॥

धारणाद् धर्ममित्याहुर्धर्मेण विधृताः प्रजाः।
यः स्याद् धारणसंयुक्तः स धर्म इति निश्चयः ॥ ११ ॥

धर्मका नाम 'धर्म' इसलिये पड़ा है कि वह सबको धारण करता है—अधोगतिमें जानेसे बचाता और जीवनकी रक्षा करता है। धर्मने ही सारी प्रजाको धारण कर रक्खा है; अतः जिससे धारण और पोषण सिद्ध होता हो, वही धर्म है; ऐसा धर्मवेत्ताओंका निश्चय है ॥ ११ ॥

अहिंसार्थाय भूतानां धर्मप्रवचनं कृतम्।
यः स्यादहिंसासम्पृक्तः स धर्म इति निश्चयः ॥ १२ ॥

प्राणियोंकी हिंसा न हो, इसके लिये धर्मका उपदेश किया गया है; अतः जो अहिंसासे युक्त हो, वही धर्म है, ऐसा धर्मात्माओंका निश्चय है ॥ १२ ॥

(अहिंसा सत्यमक्रोधस्तपो दानं दमो मतिः।
अनसूयाप्यमात्सर्यमनीर्ष्या शीलमेव च ॥
एष धर्मः कुरुश्रेष्ठ कथितः परमेष्ठिना।
ब्रह्मणा देवदेवेन अयं चैव सनातनः ॥
अस्मिन् धर्मे स्थितो राजन् नरो भद्राणि पश्यति।)

राजन् ! कुरुश्रेष्ठ ! अहिंसा, सत्य, अक्रोध, तपस्या, दान, मन और इन्द्रियोंका संयम, विशुद्ध बुद्धि, किसीके दोष न देखना, किसीसे डाह और जलन न रखना तथा उत्तम शीलस्वभावका परिचय देना—ये धर्म हैं, देवाधिदेव परमेष्ठी ब्रह्माजीने इन्हींको सनातन धर्म बताया है। जो मनुष्य इस सनातन धर्ममें स्थित है, उसे ही कल्याणका दर्शन होता है ॥

श्रुतिधर्म इति ह्येके नेत्याहुरपरे जनाः।
न च तत्प्रत्यसूयामो न हि सर्वं विधीयते ॥ १३ ॥

वेदमें जिसका प्रतिपादन किया गया है, वही धर्म है, यह एक श्रेणीके विद्वानोंका मत है; किंतु दूसरे लोग धर्मका यह लक्षण नहीं स्वीकार करते हैं। हम किसी भी मतपर दोषारोपण नहीं करते। इतना अवश्य है कि वेदमें सभी बातोंका विधान नहीं है ॥ १३ ॥

येऽन्यायेन जिहीर्षन्तो धनमिच्छन्ति कस्यचित्।
तेभ्यस्तु न तदाख्येयं स धर्म इति निश्चयः ॥ १४ ॥

जो अन्यायसे अपहरण करनेकी इच्छा रखकर किसी धनीके धनका पता लगाना चाहते हों, उन लुटेरोंसे उसका पता न बतावे और यही धर्म है, ऐसा निश्चय रक्खे ॥ १४ ॥

अकूजनेन चेन्मोक्षो नावकूजेत् कथंचन।
अवश्यं कूजितव्ये वा शङ्केरन् वाप्यकूजनात् ॥ १५ ॥
श्रेयस्तत्रानृतं वक्तुं सत्यादिति विचारितम्।

यदि न बतानेसे उस धनीका बचाव हो जाता हो तो किसी तरह वहाँ कुछ बोले ही नहीं; परंतु यदि बोलना अनिवार्य हो जाय और न बोलनेसे लुटेरोंके मनमें संदेह पैदा होने लगे तो वहाँ सत्य बोलनेकी अपेक्षा झूठ बोलनेमें ही कल्याण है; यही इस विषयमें विचारपूर्वक निर्णय किया गया है ॥ १५½ ॥

यः पापैः सह सम्बन्धान्मुच्यते शपथादपि ॥ १६ ॥
न तेभ्योऽपि धनं देयं शक्ये सति कथंचन।
पापेभ्यो हि धनं दत्तं दातारमपि पीडयेत् ॥ १७ ॥

यदि शपथ खा लेनेसे भी पापियोंके हाथसे छुटकारा मिल जाय तो वैसा ही करे। जहाँतक वश चले, किसी तरह भी पापियोंके हाथमें धन न जाने दे; क्योंकि पापाचारियोंको दिया हुआ धन दाताको भी पीड़ित कर देता है ॥ १६-१७ ॥

स्वशरीरोपरोधेन धनमादातुमिच्छतः।
सत्यसम्प्रतिपत्त्यर्थं यद् ब्रूयुः साक्षिणः क्वचित् ॥ १८ ॥
अनुक्त्वा तत्र तद्वाच्यं सर्वे तेऽनृतवादिनः।

जो कर्जदारको अपने अधीन करके उससे शारीरिक सेवा कराकर धन वसूल करना चाहता है, उसके दावेको सही साबित करनेके लिये यदि कुछ लोगोंको गवाही देनी पड़े और वे गवाह अपनी गवाहीमें कहने योग्य सत्य बातको न कहें तो वे सब-के-सब मिथ्यावादी होते हैं ॥ १८½ ॥

प्राणात्यये विवाहे च वक्तव्यमनृतं भवेत् ॥ १९ ॥
अर्थस्य रक्षणार्थाय परेषां धर्मकारणात्।

परंतु प्राण-संकटके समय, विवाहके अवसरपर, दूसरेके धनकी रक्षाके लिये तथा धर्मकी रक्षाके लिये असत्य बोला जा सकता है ॥ १९½ ॥

परेषां सिद्धिमाकाङ्क्षन् नीचः स्याद् धर्मभिक्षुकः ॥ २० ॥
प्रतिश्रुत्य प्रदातव्यः स्वकार्यस्तु बलात्कृतः।

कोई नीच मनुष्य भी यदि दूसरोंकी कार्यसिद्धिकी इच्छासे धर्मके लिये भीख माँगने आवे तो उसे देनेकी प्रतिज्ञा कर लेनेपर अवश्य ही धनका दान देना चाहिये। इस प्रकार धनोपार्जन करनेवाला यदि कपटपूर्ण व्यवहार करता है तो वह दण्डका पात्र होता है ॥ २०½ ॥

[illegible] प्रच्युतो धर्मसाधनः ॥ २१ ॥
[illegible] पन्थानं समाश्रितः ।

जो कोई [illegible] मनुष्य धार्मिक आचारसे भ्रष्ट हो [illegible] है, उसे अवश्य दण्डके द्वारा मारना चाहिये ॥ २१½ ॥

[illegible] धर्मेभ्योऽमानयं धर्ममास्थितः ॥ २२ ॥
[illegible] तमिच्छेदुपजीवितुम् ।
[illegible] पापो निकृतिजीवनः ॥ २३ ॥
[illegible] पापानां सर्वेषामिह निश्चयः ।

[illegible] धर्ममार्गसे भ्रष्ट होकर आसुरी प्रवृत्तिमें लगा [illegible] है और [illegible] का परित्याग करके पापसे जीविका चलाना [illegible] है, कपटसे जीवन-निर्वाह करनेवाले उस पापात्माको सभी उपायोंसे मार डालना चाहिये; क्योंकि सभी पापात्माओं-का यही विचार रहता है कि जैसे बने, वैसे धनको लूट-खसोट-कर [illegible] लिया जाय ॥ २२-२३½ ॥

[illegible] निकृत्या पतनं गताः ॥ २४ ॥
च्युता देवमनुष्येभ्यो यथा प्रेतास्तथैव ते ।
निर्यज्ञास्तपसा हीना मा स्म तैः सह सङ्गमः ॥ २५ ॥

ऐसे लोग दूसरोंके लिये असह्य हो उठते हैं। इनका अन्न न तो स्वयं भोजन करे और न इन्हें ही अपना अन्न दे; क्योंकि वे छल-कपटके द्वारा पतनके गर्तमें गिर चुके हैं और देवलोक तथा मनुष्यलोक दोनोंसे वञ्चित हो प्रेतोंके समान अवस्थाको पहुँच गये हैं। इतना ही नहीं, वे यज्ञ और तपस्यासे भी हीन हैं; अतः तुम कभी उनका संग न करो ॥ २४-२५ ॥

धननाशाद् दुःखतरं जीविताद् विप्रयोजनम् ।
अयं ते रोचतां धर्म इति वाच्यः प्रयत्नतः ॥ २६ ॥

किसीके धनका नाश करनेसे भी अधिक दुःखदायक कर्म है जीवनका नाश; अतः तुम्हें धर्मकी ही रुचि रखनी चाहिये' यह बात तुम्हें दुष्टोंको यत्नपूर्वक बतानी और समझानी चाहिये ॥ २६ ॥

न कश्चिदस्ति पापानां धर्म इत्येष निश्चयः ।
तथागतं च यो हन्यान्नासौ पापेन लिप्यते ॥ २७ ॥

पापियोंका तो यही निश्चय होता है कि धर्म कोई वस्तु नहीं है; ऐसे लोगोंको जो मार डाले, उसे पाप नहीं लगता ॥

स्वकर्मणा हतं हन्ति हत एव स हन्यते ।
तेषु यः समयं कश्चित् कुर्वीत हतबुद्धिषु ॥ २८ ॥

पापी मनुष्य अपने कर्मसे ही मरा हुआ है; अतः उसको जो मारता है, वह मरे हुएको ही मारता है। उसके मारनेका पाप नहीं लगता; अतः जो कोई भी मनुष्य इन हतबुद्धि पापियोंके वधका नियम ले सकता है ॥ २८ ॥

यथा काकाश्च गृध्राश्च तथैवोपधिजीविनः ।
ऊर्ध्वं देहविमोक्षात् ते भवन्त्येतासु योनिषु ॥ २९ ॥

जैसे कौए और गीध होते हैं, वैसे ही कपटसे जीविका चलानेवाले लोग भी होते हैं। वे मरनेके बाद इन्हीं योनियोंमें जन्म लेते हैं ॥ २९ ॥

यस्मिन् यथा वर्तते यो मनुष्य-
स्तस्मिंस्तथा वर्तितव्यं स धर्मः ।
मायाचारो मायया बाधितव्यः
साध्वाचारः साधुना प्रत्युपेयः ॥ ३० ॥

जो मनुष्य जिसके साथ जैसा बर्ताव करे, उसके साथ भी उसे वैसा ही बर्ताव करना चाहिये; यह धर्म (न्याय) है। कपटपूर्ण आचरण करनेवालेको वैसे ही आचरणके द्वारा दबाना उचित है और सदाचारीको सद्व्यवहारके द्वारा ही अपनाना चाहिये ॥ ३० ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि राजधर्मानुशासनपर्वणि सत्यानृतकविभागे नवाधिकशततमोऽध्यायः ॥ १०९ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत राजधर्मानुशासनपर्वमें सत्यासत्यविभागविषयक एक सौ नवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १०९ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठके २½ श्लोक मिलाकर कुल ३२½ श्लोक हैं)

दशाधिकशततमोऽध्यायः

सदाचार और ईश्वरभक्ति आदिको दुःखोंसे छूटनेका उपाय बताना

युधिष्ठिर उवाच

क्लिश्यमानेषु भूतेषु तैस्तैर्भावैस्ततस्ततः ।
दुर्गाण्यतितरेद् येन तन्मे ब्रूहि पितामह ॥ १ ॥

युधिष्ठिरने पूछा—पितामह! जगत्के जीव भिन्न-भिन्न भावोंके द्वारा जहाँ-तहाँ नाना प्रकारके कष्ट उठा रहे हैं। अतः जिस उपायसे मनुष्य इन दुःखोंसे छुटकारा पा सके, वह मुझे बताइये ॥ १ ॥

भीष्म उवाच

आश्रमेषु यथोक्तेषु यथोक्तं ये द्विजातयः ।
वर्तन्ते संयतात्मानो दुर्गाण्यतितरन्ति ते ॥ २ ॥

भीष्मजीने कहा—राजन्! जो द्विज अपने मनको वशमें करके शास्त्रोक्त चारों आश्रमोंमें रहते हुए उनके अनुसार ठीक-ठीक बर्ताव करते हैं, वे दुःखोंके पार हो जाते हैं ॥

ये दम्भान्नाचरन्ति स्म येषां वृत्तिश्च संयता ।
विषयांश्च निगृह्णन्ति दुर्गाण्यतितरन्ति ते ॥ ३ ॥

जो दम्भयुक्त आचरण नहीं करते, जिनकी जीविका नियमानुकूल चलती है और जो विषयोंके लिये बढ़ती हुई इच्छाको रोकते हैं, वे दुःखोंको लाँघ जाते हैं ॥ ३ ॥

प्रत्याहुर्नोच्यमाना ये न हिंसन्ति च हिंसिताः।
प्रयच्छन्ति न याचन्ते दुर्गाण्यतितरन्ति ते ॥ ४ ॥

जो दूसरोंके कटु वचन सुनाने या निन्दा करनेपर भी स्वयं उन्हें उत्तर नहीं देते, मार खाकर भी किसीको मारते नहीं तथा स्वयं देते हैं, परंतु दूसरोंसे माँगते नहीं; वे भी दुर्गम संकटसे पार हो जाते हैं ॥ ४ ॥

वासयन्त्यतिथीन् नित्यं नित्यं ये चानसूयकाः।
नित्यं स्वाध्यायशीलाश्च दुर्गाण्यतितरन्ति ते ॥ ५ ॥

जो प्रतिदिन अतिथियोंको अपने घरमें सत्कारपूर्वक ठहराते हैं, कभी किसीके दोष नहीं देखते हैं तथा नित्य नियमपूर्वक वेदादि सद्ग्रन्थोंका स्वाध्याय करते रहते हैं, वे दुर्गम संकटोंसे पार हो जाते हैं ॥ ५ ॥

मातापित्रोश्च ये वृत्तिं वर्तन्ते धर्मकोविदाः।
वर्जयन्ति दिवा स्वप्नं दुर्गाण्यतितरन्ति ते ॥ ६ ॥

जो धर्मज्ञ पुरुष सदा माता-पिताकी सेवामें लगे रहते हैं और दिनमें कभी सोते नहीं हैं, वे सभी दुःखोंसे छूट जाते हैं ॥

ये वा पापं न कुर्वन्ति कर्मणा मनसा गिरा।
निक्षिप्तदण्डा भूतेषु दुर्गाण्यतितरन्ति ते ॥ ७ ॥

जो मन, वाणी और क्रियाद्वारा कभी पाप नहीं करते हैं और किसी भी प्राणीको कष्ट नहीं पहुँचाते हैं, वे भी संकटसे पार हो जाते हैं ॥ ७ ॥

ये न लोभान्नयन्त्यर्थान् राजानो रजसान्विताः।
विषयान् परिरक्षन्ति दुर्गाण्यतितरन्ति ते ॥ ८ ॥

जो रजोगुणसम्पन्न राजा लोभवश प्रजाके धनका अपहरण नहीं करते हैं और अपने राज्यकी सब ओरसे रक्षा करते हैं, वे भी दुर्गम दुःखोंको लाँघ जाते हैं ॥ ८ ॥

स्वेषु दारेषु वर्तन्ते न्यायवृत्तिमृतावृतौ।
अग्निहोत्रपराः सन्तो दुर्गाण्यतितरन्ति ते ॥ ९ ॥

जो गृहस्थ प्रतिदिन अग्निहोत्र करते और ऋतुकालमें अपनी ही स्त्रीके साथ धर्मानुकूल समागम करते हैं, वे दुःखोंसे छूट जाते हैं ॥ ९ ॥

आहवेषु च ये शूरास्त्यक्त्वा मरणजं भयम्।
धर्मेण जयमिच्छन्ति दुर्गाण्यतितरन्ति ते ॥ १० ॥

जो शूरवीर युद्धस्थलमें मृत्युका भय छोड़कर धर्मपूर्वक विजय पाना चाहते हैं, वे सभी दुःखोंसे पार हो जाते हैं १०

ये वदन्तीह सत्यानि प्राणत्यागेऽप्युपस्थिते।
प्रमाणभूता भूतानां दुर्गाण्यतितरन्ति ते ॥ ११ ॥

जो लोग प्राण जानेका अवसर उपस्थित होनेपर भी सत्य बोलना नहीं छोड़ते, वे सम्पूर्ण प्राणियोंके विश्वासपात्र बने रहकर सभी दुःखोंसे पार हो जाते हैं ॥ ११ ॥

कर्माण्यकुहकार्थानि येषां वाचश्च सूनृताः।
येषामर्थाश्च सम्बद्धा दुर्गाण्यतितरन्ति ते ॥ १२ ॥

जिनके शुभ कर्म दिखावेके लिये नहीं होते, जो सदा मीठे वचन बोलते और जिनका धन सत्कर्मोंके लिये बँधा हुआ है, वे दुर्गम संकटोंसे पार हो जाते हैं ॥ १२ ॥

अनध्यायेषु ये विप्राः स्वाध्यायं नेह कुर्वते।
तपोनिष्ठाः सुतपसो दुर्गाण्यतितरन्ति ते ॥ १३ ॥

जो अनध्यायके अवसरोंपर वेदोंका स्वाध्याय नहीं करते और तपस्यामें ही लगे रहते हैं, वे उत्तम तपस्वी ब्राह्मण दुस्तर विपत्तिसे छुटकारा पा जाते हैं ॥ १३ ॥

ये तपश्च तपस्यन्ति कौमारब्रह्मचारिणः।
विद्यावेदव्रतस्नाता दुर्गाण्यतितरन्ति ते ॥ १४ ॥

जो तपस्या करते, कुमारावस्थासे ही ब्रह्मचर्यके पालनमें तत्पर रहते और विद्या एवं वेदोंके अध्ययनसम्बन्धी व्रतको पूर्ण करके स्नातक हो चुके हैं, वे दुस्तर दुःखोंको तर जाते हैं ॥

ये च संशान्तरजसः संशान्ततमसश्च ये।
सत्त्वे स्थिता महात्मानो दुर्गाण्यतितरन्ति ते ॥ १५ ॥

जिनके रजोगुण और तमोगुण शान्त हो गये हैं तथा जो विशुद्ध सत्त्वगुणमें स्थित हैं, वे महात्मा दुर्लङ्घ्य संकटोंको भी लाँघ जाते हैं ॥ १५ ॥

येषां न कश्चित् त्रसति न त्रसन्ति हि कस्यचित्।
येषामात्मसमो लोको दुर्गाण्यतितरन्ति ते ॥ १६ ॥

जिनसे कोई भयभीत नहीं होता, जो स्वयं भी किसीसे भय नहीं मानते तथा जिनकी दृष्टिमें यह सारा जगत् अपने आत्माके ही तुल्य है, वे दुस्तर संकटोंसे तर जाते हैं ॥ १६ ॥

परश्रिया न तप्यन्ति ये सन्तः पुरुषर्षभाः।
ग्राम्यादर्थान्निवृत्ताश्च दुर्गाण्यतितरन्ति ते ॥ १७ ॥

जो दूसरोंकी सम्पत्तिसे ईर्ष्यावश जलते नहीं हैं और ग्राम्य विषय-भोगसे निवृत्त हो गये हैं, वे मनुष्योंमें श्रेष्ठ साधु पुरुष दुस्तर विपत्तिसे छुटकारा पा जाते हैं ॥ १७ ॥

सर्वान् देवान् नमस्यन्ति सर्वधर्मांश्च शृण्वते।
ये श्रद्दधानाः शान्ताश्च दुर्गाण्यतितरन्ति ते ॥ १८ ॥

जो सब देवताओंको प्रणाम करते और सभी धर्मोंको सुनते हैं, जिनमें श्रद्धा और शान्ति विद्यमान है, वे सम्पूर्ण दुःखोंसे पार हो जाते हैं ॥ १८ ॥

ये न मानित्वमिच्छन्ति मानयन्ति च ये परान्।
मान्यमानान् नमस्यन्ति दुर्गाण्यतितरन्ति ते ॥ १९ ॥

जो दूसरोंसे सम्मान नहीं चाहते, जो स्वयं ही दूसरोंको सम्मान देते हैं और सम्माननीय पुरुषोंको नमस्कार करते हैं, वे दुर्लङ्घ्य संकटोंसे पार हो जाते हैं ॥ १९ ॥

ये च श्राद्धानि कुर्वन्ति तिथ्यां तिथ्यां प्रजार्थिनः।
सुविशुद्धेन मनसा दुर्गाण्यतितरन्ति ते ॥ २० ॥

जो संतानकी इच्छा रखकर प्रत्येक तिथिपर विशुद्ध हृदयसे पितरोंका श्राद्ध करते हैं, वे दुर्गम विपत्तिसे छुटकारा पा जाते हैं ॥ २० ॥

ये क्रोधं संनियच्छन्ति क्रुद्धान् संशमयन्ति च ।
न च कुप्यन्ति भूतानां दुर्गाण्यतितरन्ति ते ॥ २१ ॥

[illegible] मनुष्योंको शान्त करते [illegible] पर कुपित नहीं होते हैं, वे दुर्लङ्घ्य [illegible] ॥ २१ ॥

मधु मांसं च ये नित्यं वर्जयन्तीह मानवाः ।
जन्मप्रभृति मद्यं च दुर्गाण्यतितरन्ति ते ॥ २२ ॥

[illegible] जन्मसे ही सदाके लिये मधु, मांस और [illegible] कर देते हैं, वे भी दुस्तर दुःखोंसे छूट [illegible] ॥ २२ ॥

यात्रार्थं भोजनं येषां संतानार्थं च मैथुनम् ।
वाक् सत्यवचनार्थाय दुर्गाण्यतितरन्ति ते ॥ २३ ॥

[illegible] भोजन स्वादके लिये नहीं, जीवनयात्राका [illegible] लिये होता है, जो विषयवासनाकी तृप्तिके लिये नहीं, [illegible] मैथुनमें प्रवृत्त होते हैं तथा [illegible] सत्य बोलनेके लिये है, वे समस्त संकटोंसे [illegible] ॥ २३ ॥

ईश्वरं सर्वभूतानां जगतः प्रभवाप्ययम् ।
भक्ता नारायणं देवं दुर्गाण्यतितरन्ति ते ॥ २४ ॥

[illegible] प्राणियोंके स्वामी तथा जगत्की उत्पत्ति और [illegible] भगवान् नारायणमें भक्तिभाव रखते हैं, वे [illegible] तर जाते हैं ॥ २४ ॥

य एष पद्मरक्ताक्षः पीतवासा महाभुजः ।
सुहृद् भ्राता च मित्रं च सम्बन्धी च तवाच्युतः ॥ २५ ॥

युधिष्ठिर ! ये जो कमलपुष्पके समान कुछ-कुछ लाल [illegible] सुशोभित पीताम्बरधारी महाबाहु श्रीकृष्ण हैं, [illegible] सुहृद्, भाई, मित्र और सम्बन्धी भी हैं, यही [illegible] ॥ २५ ॥

य इमान् सकलाँल्लोकांश्चर्मवत् परिवेष्टयेत् ।
इच्छन् प्रभुरचिन्त्यात्मा गोविन्दः पुरुषोत्तमः ॥ २६ ॥

[illegible] अचिन्त्य है। ये पुरुषोत्तम भगवान् [illegible] सम्पूर्ण लोकोंको इच्छापूर्वक चमड़ेकी भाँति [illegible] किये हुए हैं ॥ २६ ॥

स्थितः प्रियहिते जिष्णोः स एष पुरुषोत्तमः ।
राजंस्तव च दुर्धर्षो वैकुण्ठः पुरुषर्षभ ॥ २७ ॥

[illegible] युधिष्ठिर ! ये ही वे दुर्धर्ष वीर पुरुषोत्तम [illegible] भगवान् वैकुण्ठधामके निवासी श्रीविष्णु हैं। राजन् ! वे इस समय तुम्हारे और अर्जुनके प्रिय तथा हित-साधनमें संलग्न हैं ॥ २७ ॥

य एनं संश्रयन्तीह भक्त्या नारायणं हरिम् ।
ते तरन्तीह दुर्गाणि न चात्रास्ति विचारणा ॥ २८ ॥

जो भक्त पुरुष यहाँ इन भगवान् श्रीहरि—नारायणदेवकी शरण लेते हैं, वे दुस्तर संकटोंसे तर जाते हैं। इस विषयमें कोई संशय नहीं है ॥ २८ ॥

(अस्मिन्नर्पितकर्माणः सर्वभावेन भारत ।
कृष्णे कमलपत्राक्षे दुर्गाण्यतितरन्ति ते ॥

भारत ! जो इन कमलनयन श्रीकृष्णको सम्पूर्ण भक्ति-भावसे अपने सारे कर्म समर्पित कर देते हैं, वे दुर्गम संकटोंको लाँघ जाते हैं ॥

ब्रह्माणं लोककर्तारं ये नमस्यन्ति सत्पतिम् ।
यष्टव्यं क्रतुभिर्देवं दुर्गाण्यतितरन्ति ते ॥

जो यज्ञोंद्वारा आराधनाके योग्य हैं, उन साधुप्रतिपालक विश्वविधाता भगवान् ब्रह्माको जो नमस्कार करते हैं, वे समस्त दुःखोंसे छुटकारा पा जाते हैं ॥

यं विष्णुरिन्द्रः शम्भुश्च ब्रह्मा लोकपितामहः ।
स्तुवन्ति विविधैः स्तोत्रैर्देवदेवं महेश्वरम् ॥
तमर्चयन्ति ये शश्वद् दुर्गाण्यतितरन्ति ते ॥)

विष्णु, इन्द्र, शिव तथा लोकपितामह ब्रह्मा नाना प्रकारके स्तोत्रोंद्वारा जिनकी स्तुति करते हैं, उन देवाधिदेव परमेश्वरकी जो सदा आराधना करते हैं, वे दुर्गम संकटोंसे पार हो जाते हैं ॥

दुर्गातितरणं ये च पठन्ति श्रावयन्ति च ।
कथयन्ति च विप्रेभ्यो दुर्गाण्यतितरन्ति ते ॥ २९ ॥

जो लोग इस दुर्गातितरण नामक अध्यायको पढ़ते और सुनते हैं तथा ब्राह्मणोंके सामने इसकी चर्चा करते हैं, वे दुर्गम संकटोंसे पार हो जाते हैं ॥ २९ ॥

इति कृत्यसमुद्देशः कीर्तितस्ते मयानघ ।
तरन्ते येन दुर्गाणि परत्रेह च मानवाः ॥ ३० ॥

निष्पाप युधिष्ठिर ! इस प्रकार मैंने यहाँ संक्षेपसे उस कर्तव्यका प्रतिपादन किया है, जिसका पालन करनेसे मनुष्य इहलोक और परलोकमें समस्त दुःखोंसे छुटकारा पा जाते हैं ॥ ३० ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि राजधर्मानुशासनपर्वणि दुर्गातितरणं नाम दशाधिकशततमोऽध्यायः ॥ ११० ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत राजधर्मानुशासनपर्वमें दुर्गातितरण नामक एक सौ दसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ११० ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठके ३½ श्लोक मिलाकर कुल ३३½ श्लोक हैं)

एकादशाधिकशततमोऽध्यायः

मनुष्यके स्वभावकी पहचान बतानेवाली बाघ और सियारकी कथा

युधिष्ठिर उवाच

असौम्याः सौम्यरूपेण सौम्याश्चासौम्यदर्शनाः।
ईदृशान् पुरुषांस्तात कथं विद्यामहे वयम्‌ ॥ १ ॥

युधिष्ठिरने पूछा—तात ! बहुत-से कठोर स्वभाववाले मनुष्य ऊपरसे कोमल और शान्त बने रहते हैं तथा कोमल स्वभावके लोग कठोर दिखायी देते हैं, ऐसे मनुष्योंकी मुझे ठीक-ठीक पहचान कैसे हो ? ॥ १ ॥

भीष्म उवाच

अत्राप्युदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम्‌ ।
व्याघ्रगोमायुसंवादं तं निबोध युधिष्ठिर ॥ २ ॥

भीष्मजी बोले—युधिष्ठिर ! इस विषयमें जानकार लोग एक बाघ और सियारके संवादरूप प्राचीन आख्यानका उदाहरण दिया करते हैं, उसे ध्यान देकर सुनो ॥ २ ॥

पुरिकायां पुरि पुरा श्रीमत्यां पौरिको नृपः ।
परहिंसारतिः क्रूरो बभूव पुरुषाधमः ॥ ३ ॥

पूर्वकालकी बात है, प्रचुर धन-धान्यसे सम्पन्न पुरिका नामकी नगरीमें पौरिक नामसे प्रसिद्ध एक राजा राज्य करता था। वह बड़ा ही क्रूर और नराधम था, दूसरे प्राणियोंकी हिंसामें ही उसका मन लगता था ॥ ३ ॥

स त्वायुषि परिक्षीणे जगामानीप्सितां गतिम्‌ ।
गोमायुत्वं च सम्प्राप्तो दूषितः पूर्वकर्मणा ॥ ४ ॥

धीरे-धीरे उसकी आयु समाप्त हो गयी और वह ऐसी गतिको प्राप्त हुआ, जो किसी भी प्राणीको अभीष्ट नहीं है। वह अपने पूर्वकर्मसे दूषित होकर दूसरे जन्ममें गीदड़ हो गया ॥ ४ ॥

संस्मृत्य पूर्वभूतिं च निर्वेदं परमं गतः ।
न भक्षयति मांसानि परैरुपहृतान्यपि ॥ ५ ॥

उस समय अपने पूर्वजन्मके वैभवका स्मरण करके उस सियारको बड़ा खेद और वैराग्य हुआ। अतः वह दूसरोंके द्वारा दिये हुए मांसको भी नहीं खाता था ॥ ५ ॥

अहिंस्रः सर्वभूतेषु सत्यवाक् सुदृढव्रतः ।
स चकार यथाकालमाहारं पतितैः फलैः ॥ ६ ॥

अब उसने जीवोंकी हिंसा करनी छोड़ दी, सत्य बोलनेका नियम ले लिया और दृढ़तापूर्वक अपने व्रतका पालन करने लगा। वह नियत समयपर वृक्षोंसे अपने आप गिरे हुए फलोंका आहार करता था ॥ ६ ॥

(पर्णाहारः कदाचिच्च नियमव्रतवानपि ।
कदाचिदुदकेनापि वर्तयन्ननुयन्त्रितः ॥)

व्रत और नियमोंके पालनमें तत्पर हो कभी पत्ता चबा लेता और कभी पानी पीकर ही रह जाता था। उसका जीवन संयममें बँध गया था ॥

श्मशाने तस्य चावासो गोमायोः सम्मतोऽभवत्‌ ।
जन्मभूम्यनुरोधाच्च नान्यवासमरोचयत्‌ ॥ ७ ॥

वह श्मशानभूमिमें ही रहता था। वहीं उसका जन्म हुआ था, इसलिये वही स्थान उसे पसंद था। उसे और कहीं जाकर रहनेकी रुचि नहीं होती थी ॥ ७ ॥

तस्य शौचममृष्यन्तस्ते सर्वे सहजातयः ।
चालयन्ति स्म तां बुद्धिं वचनैः प्रश्रयोत्तरैः ॥ ८ ॥

सियारका इस तरह पवित्र आचार-विचारसे रहना उसके सभी जाति-भाइयोंको अच्छा न लगा। यह सब उनके लिये असह्य हो उठा; इसलिये वे प्रेम और विनयभरी बातें कहकर उसकी बुद्धिको विचलित करने लगे ॥ ८ ॥

वसन् पितृवने रौद्रे शौचे वर्तितुमिच्छसि ।
इयं विप्रतिपत्तिस्ते यदा त्वं पिशिताशनः ॥ ९ ॥

उन्होंने कहा—'भाई सियार ! तू तो मांसाहारी जीव है और भयंकर श्मशानभूमिमें निवास करता है, फिर भी पवित्र आचार-विचारसे रहना चाहता है—यह विपरीत निश्चय है ॥ ९ ॥

तत्समानो भवास्माभिर्भोज्यं दास्यामहे वयम्‌ ।
भुङ्क्ष्व शौचं परित्यज्य यद्धि भुक्तं सदास्तु ते ॥ १० ॥

'भैया ! अतः तू हमारे ही समान होकर रह। तेरेलिये भोजन तो हमलोग ला दिया करेंगे। तू इस शौचाचारका नियम छोड़कर चुपचाप खा लिया करना। तेरी जातिका जो सदासे भोजन रहा है, वही तेरा भी होना चाहिये' ॥ १० ॥

इति तेषां वचः श्रुत्वा प्रत्युवाच समाहितः ।
मधुरैः प्रसृतैर्वाक्यैर्हेतुमद्भिरनिष्ठुरैः ॥ ११ ॥

उनकी ऐसी बात सुनकर सियार एकाग्रचित्त हो मधुर, विस्तृत, युक्तियुक्त तथा कोमल वचनोंद्वारा इस प्रकार बोला—॥ ११ ॥

अप्रमाणा प्रसूतिर्मे शीलतः क्रियते कुलम्‌ ।
प्रार्थयामि च तत्कर्म येन विस्तीर्यते यशः ॥ १२ ॥

'बन्धुओ ! अपने बुरे आचरणोंसे ही हमारी जातिका कोई विश्वास नहीं करता। अच्छे स्वभाव और आचरणसे ही कुलकी प्रतिष्ठा होती है; अतः मैं भी वही कर्म करना चाहता हूँ, जिससे अपने वंशका यश बढ़े ॥ १२ ॥

श्मशाने यदि मे वासः समाधिर्मे निशाम्यताम्‌ ।
आत्मा फलति कर्माणि नाश्रमो धर्मकारणम्‌ ॥ १३ ॥

'यदि मेरा निवास श्मशानभूमिमें है तो इसके लिये मैं जो समाधान देता हूँ, उसको सुनो। आत्मा ही शुभ कर्मोंके

किं तु स्वेनास्मि संतुष्टो दुःखवृत्तिरनुष्ठिता ।
सेवायां चापि नाभिज्ञः स्वच्छन्देन वनेचरः ॥ २९ ॥

इधर मैं अपने आपमें ही संतुष्ट रहनेवाला हूँ । मैंने ऐसी जीविका अपनायी है, जो अत्यन्त दुःखमयी है । मैं राजसेवाके कार्यसे अनभिज्ञ और वनमें स्वच्छन्दतापूर्वक घूमनेवाला हूँ ॥ २९ ॥

राजोपक्रोशदोषाश्च सर्वे संश्रयवासिनाम् ।
व्रतचर्या तु निःसंगा निर्भया वनवासिनाम् ॥ ३० ॥

जो राजाके आश्रयमें रहते हैं, उन्हें राजाकी निन्दासे सम्बन्ध रखनेवाले सभी दोष प्राप्त होते हैं । इधर मेरे-जैसे वनवासियोंकी व्रतचर्या सर्वथा असङ्ग और भयसे रहित होती है ॥ ३० ॥

नृपेणाहूयमानस्य यत् तिष्ठति भयं हृदि ।
न तत् तिष्ठति तुष्टानां वने मूलफलाशिनाम् ॥ ३१ ॥

राजा जिसे अपने सामने बुलाता है, उसके हृदयमें जो भय खड़ा होता है, वह वनमें फल-मूल खाकर संतुष्ट रहनेवाले लोगोंके मनमें नहीं होता ॥ ३१ ॥

पानीयं वा निरायासं स्वाद्वन्नं वा भयोत्तरम् ।
विचार्य खलु पश्यामि तत्सुखं यत्र निर्वृतिः ॥ ३२ ॥

एक जगह बिना किसी भयके केवल जल मिलता है और दूसरी जगह अन्तमें भय देनेवाला स्वादिष्ट अन्न प्राप्त होता है—इन दोनोंको यदि विचार करके मैं देखता हूँ तो मुझे वहाँ ही सुख जान पड़ता है, जहाँ कोई भय नहीं है ॥ ३२ ॥

अपराधैर्न तावन्तो भृत्याः शिष्टा नराधिपैः ।
उपघातैर्यथा भृत्या दूषिता निधनं गताः ॥ ३३ ॥

राजाओंने किन्हीं वास्तविक अपराधोंके कारण उतने सेवकोंको दण्ड नहीं दिया होगा, जितने कि लोगोंके झूठे लगाये गये दोषोंसे कलङ्कित होकर राजाके हाथसे मारे गये हैं ॥ ३३ ॥

यदि त्वेतन्मया कार्यं मृगेन्द्र यदि मन्यसे ।
समयं कृतमिच्छामि वर्तितव्यं यथा मयि ॥ ३४ ॥

मृगराज ! यदि आप मुझसे मन्त्रित्वका कार्य लेना ही ठीक समझते हैं तो मैं आपसे एक शर्त कराना चाहता हूँ, उसीके अनुसार आपको मेरे साथ बर्ताव करना उचित होगा ॥ ३४ ॥

मदीया माननीयास्ते श्रोतव्यं च हितं वचः ।
कल्पिता या च मे वृत्तिः सा भवेत् त्वयि सुस्थिरा ॥ ३५ ॥

मेरे आत्मीयजनोंका आपको सम्मान करना होगा । मेरी कही हुई हितकर बातें आपको सुननी होंगी । मेरे लिये जो जीविकाकी व्यवस्था आपने की है, वह आपहीके पास सुस्थिर एवं सुरक्षित रहे ॥ ३५ ॥

न मन्त्रयेयमन्यैस्ते सचिवैः सह कर्हिचित् ।
नीतिमन्तः परीप्सन्तो वृथा ब्रूयुः परे मयि ॥ ३६ ॥

मैं आपके दूसरे मन्त्रियोंके साथ बैठकर कभी कोई परामर्श नहीं करूँगा; क्योंकि दूसरे नीतिज्ञ मन्त्री मुझसे ईर्ष्या करते हुए मेरे प्रति व्यर्थकी बातें कहने लगेंगे ॥ ३६ ॥

एक एकेन संगम्य रहो ब्रूयां हितं वचः ।
न च ते ज्ञातिकार्येषु प्रष्टव्योऽहं हिताहिते ॥ ३७ ॥

मैं अकेला एकान्तमें अकेले आपसे मिलकर आपको हितकी बातें बताया करूँगा । आप भी अपने जाति-भाइयोंके कार्योंमें मुझसे हिताहितकी बात न पूछियेगा ॥ ३७ ॥

मया सम्मन्त्र्य पश्चाच्च न हिंस्याः सचिवास्त्वया ।
मदीयानां च कुपितो मा त्वं दण्डं निपातयेः ॥ ३८ ॥

मुझसे सलाह लेनेके बाद यदि आपके पहलेके मन्त्रियोंकी भूल प्रमाणित हो तो भी उन्हें प्राणदण्ड न दीजियेगा तथा कभी क्रोधमें आकर मेरे आत्मीयजनोंपर भी प्रहार न कीजियेगा ॥ ३८ ॥

एवमस्त्विति तेनासौ मृगेन्द्रेणाभिपूजितः ।
प्राप्तवान् मतिसाचिव्यं गोमायुर्व्याघ्रयोनितः ॥ ३९ ॥

'अच्छा, ऐसा ही होगा' यह कहकर शेरने उसका बड़ा सम्मान किया । सियार बाघराजाके बुद्धिदायक सचिवके पदपर प्रतिष्ठित हो गया ॥ ३९ ॥

तं तथा सुकृतं दृष्ट्वा पूज्यमानं स्वकर्मसु ।
प्राद्विषन् कृतसंघाताः पूर्वभृत्या मुहुर्मुहुः ॥ ४० ॥

सियार बहुत अच्छा कार्य करने लगा और उसको अपने सभी कार्योंमें बड़ी प्रशंसा प्राप्त होने लगी । इस प्रकार उसे सम्मानित होता देख पहलेके राजसेवक संगठित हो बारंबार उससे द्वेष करने लगे ॥ ४० ॥

मित्रबुद्ध्या च गोमायुं सान्त्वयित्वा प्रसाद्य च ।
दोषैस्तु समतां नेतुमैच्छन्नशुभबुद्धयः ॥ ४१ ॥

उनके मनमें दुष्टता भरी थी । वे सियारके पास मित्रभावसे आते और उसे समझा-बुझाकर प्रसन्न करके अपने ही समान दोषके पथपर चलानेकी चेष्टा करते थे ॥ ४१ ॥

अन्यथा ह्युषिताः पूर्वं परद्रव्याभिहारिणः ।
अशक्ताः किंचिदादातुं द्रव्यं गोमायुयन्त्रिताः ॥ ४२ ॥

उसके आनेके पहले वे और ही प्रकारसे रहा करते थे । दूसरोंका धन हड़प लिया करते थे, परंतु अब वैसा नहीं कर सकते थे । सियारने उन सबपर ऐसी कड़ी पाबंदी लगा दी थी कि वे किसीकी कोई भी वस्तु लेनेमें असमर्थ हो गये थे ॥ ४२ ॥

व्युत्थानं च विकाङ्क्षद्भिः कथाभिः प्रतिलोभ्यते ।
धनेन महता चैव बुद्धिरस्य विलोभ्यते ॥ ४३ ॥

उनकी यही इच्छा थी कि सियार भी डिग जाय; इसलिये वे तरह-तरहकी बातोंमें उसे फुसलाते और बहुत-सा धन देनेका लोभ देकर उसकी बुद्धिको प्रलोभनमें फँसाना चाहते थे ॥ ४३ ॥

न चापि स महाप्राज्ञस्तस्माद् धैर्याच्चचाल ह ।
अथास्य समयं कृत्वा विनाशाय तथा परे ॥ ४४ ॥

[illegible] उनके प्रयोजनमें [illegible] हुआ। तब दूसरे-दूसरे सभी [illegible] और तदनुसार [illegible] ॥ ४४ ॥

[illegible] संस्कृतम् ।
[illegible] वेश्मनि ॥४५॥

[illegible] लिये जो मांस [illegible] उसे वहाँसे हटाकर सियारके [illegible] ॥ ४५ ॥

[illegible] मन्त्रितम् ।
[illegible] च मर्षितम् ॥ ४६ ॥

[illegible] उस मांसको चुराया और जिसने [illegible] यह सब कुछ सियारको मालूम [illegible] उसने चुपचाप सह लिया ॥४६॥

[illegible] सान्निध्यमुपगच्छता ।
[illegible] राजन् मैत्रीमिहेच्छता॥ ४७ ॥

[illegible] समय सियारने यह शर्त करा ली थी कि [illegible]! यदि आप मुझसे मैत्री चाहते हैं तो किसीके बहकावे- [illegible] न कर डालियेगा ॥ ४७ ॥

[illegible] उवाच

[illegible] भोक्तुमभ्युत्थितस्य च ।
[illegible] तन्मांसं नोपदृश्यते ॥ ४८ ॥

[illegible] कहते हैं—राजन् ! उधर शेरको जब भूख [illegible] भोजनके लिये उठा, तब उसके खानेके लिये जो [illegible] वह मांस उसे नहीं दिखायी दिया ॥ ४८ ॥

[illegible] दृश्यतां चोर इत्युत ।
[illegible] तन्मांसं मृगेन्द्रायोपवर्णितम् ॥ ४९ ॥
[illegible] ते विदुषा प्राज्ञमानिना ।

[illegible] आज्ञा दी कि चोरका पता लगाओ। [illegible] उन्हीं लोगोंने उस मांसके बारेमें [illegible] ! अपनेको अत्यन्त बुद्धिमान् और [illegible] आपके मन्त्री महोदयने ही इस मांसका [illegible] ॥ ४९½ ॥

[illegible] श्रुत्वा गोमायुचापलम् ॥ ५० ॥
[illegible] राजा वधं चास्य व्यरोचयत् ।

[illegible] सुनकर शेर गुस्सेसे भर गया । [illegible] अतः मृगराजने उसका वध [illegible] ॥ ५०½ ॥

[illegible] पूर्वमन्त्रिणः ॥ ५१ ॥
[illegible] वृत्तिभङ्गे प्रवर्तते ।
[illegible] कर्माण्यपि वर्णयन् ॥ ५२ ॥

[illegible] मन्त्री आपसमें कहने [illegible] नष्ट करनेपर तुला हुआ है; अतः हम भी उससे बदला लें, ऐसा निश्चय करके वे उसके अपराधोंका वर्णन करने लगे—॥ ५१-५२ ॥

इदं तस्येदृशं कर्म किं तेन न कृतं भवेत् ।
श्रुतश्च स्वामिना पूर्वं यादृशो नैव तादृशः ॥ ५३ ॥

'महाराज ! जब उसके द्वारा ऐसा कर्म किया जा सकता है, तब वह और क्या नहीं कर सकता ? स्वामीने पहले उसके बारेमें जैसा सुन रक्खा है, वह वैसा नहीं है ॥ ५३ ॥

वाङ्मात्रेणैव धर्मिष्ठः स्वभावेन तु दारुणः ।
धर्मच्छद्मा ह्ययं पापो वृथाचारपरिग्रहः ॥ ५४ ॥

'वह बातोंसे ही धर्मात्मा बना हुआ है। स्वभावसे तो बड़ा क्रूर है । भीतरसे यह बड़ा पापी है; परंतु ऊपरसे धर्मात्मापनका ढोंग बनाये हुए है । उसका सारा आचार-विचार व्यर्थ दिखावेके लिये है ॥ ५४ ॥

कार्यार्थं भोजनार्थेषु व्रतेषु कृतवाञ्श्रमम् ।
यदि विप्रत्ययो ह्येष तदिदं दर्शयाम ते ॥ ५५ ॥

'उसने तो अपना काम बनाने और पेट भरनेके लिये ही व्रत करनेमें परिश्रम किया है । यदि आपको विश्वास न हो तो यह लीजिये, हम अभी उसके यहाँसे मांस ले आकर दिखाते हैं' ॥ ५५ ॥

तन्मांसं चैव गोमायोस्तैः क्षणादाशु ढौकितम् ।
मांसापनयनं ज्ञात्वा व्याघ्रः श्रुत्वा च तद्वचः ॥ ५६ ॥
आज्ञापयामास तदा गोमायुर्वध्यतामिति ।

ऐसा कहकर वे क्षणभरमें ही सियारके घरसे उस मांसको उठा लाये । मांसके अपहरणकी बात जानकर और उन सेवकोंकी बातें सुनकर शेरने उस समय यह आज्ञा दे दी कि सियारको प्राणदण्ड दे दिया जाय ॥ ५६½ ॥

शार्दूलस्य वचः श्रुत्वा शार्दूलजननी ततः ॥ ५७ ॥
मृगराजं हितैर्वाक्यैः सम्बोधयितुमागमत् ।
पुत्र नैतत् त्वया ग्राह्यं कपटारम्भसंयुतम् ॥ ५८ ॥

शेरकी यह बात सुनकर उसकी माता हितकर वचनों-द्वारा उसे समझानेके लिये वहाँ आयी और बोली—'बेटा ! इसमें कुछ कपटपूर्ण षड्यन्त्र हुआ मालूम पड़ता है; अतः तुम्हें इसपर विश्वास नहीं करना चाहिये ॥ ५७-५८ ॥

कर्मसंघर्षजैर्दोषैर्दुष्यत्यशुचिभिः शुचिः ।
नोच्छ्रितं सहते कश्चित् प्रक्रिया वैरकारिका ॥ ५९ ॥

'काममें लाग-डाँट हो जानेसे जिनके मनमें शुद्धभाव नहीं है, वे लोग निर्दोषपर ही दोषारोपण करते हैं । किसीको अपनेसे ऊँची अवस्थामें देखकर कोई-कोई ईर्ष्यावश सहन नहीं कर पाते हैं । यही वैरभाव उत्पन्न करनेवाली प्रक्रिया है ॥ ५९ ॥

शुचेरपि हि युक्तस्य दोष एव निपात्यते ।
मुनेरपि वनस्थस्य स्वानि कर्माणि कुर्वतः ॥ ६० ॥
उत्पाद्यन्ते त्रयः पक्षा मित्रोदासीनशत्रवः ।

'कोई कितना ही शुद्ध और उद्योगी क्यों न हो, लोग उसपर दोषारोपण कर ही देते हैं। अपने धार्मिक कर्मोंमें लगे हुए वनवासी मुनिके भी शत्रु, मित्र और उदासीन—ये तीन पक्ष पैदा हो जाते हैं ॥ ६०½ ॥

लुब्धानां शुचयो द्वेष्याः कातराणां तरस्विनः ॥ ६१ ॥
मूर्खाणां पण्डिता द्वेष्या दरिद्राणां महाधनाः ।
अधार्मिकाणां धर्मिष्ठा विरूपाणां सुरूपिणः ॥ ६२ ॥

'लोभी लोग निर्लोभीसे, कायर बलवानोंसे, मूर्ख विद्वानोंसे, दरिद्र बड़े-बड़े धनियोंसे, पापाचारी धर्मात्माओंसे और कुरूप सुन्दर रूपवालोंसे द्वेष करते हैं ॥ ६१-६२ ॥

बहवः पण्डिता मूर्खा लुब्धा मायोपजीविनः ।
कुर्युर्दोषमदोषस्य बृहस्पतिमतेरपि ॥ ६३ ॥

'विद्वानोंमें भी बहुत-से ऐसे अविवेकी, लोभी और कपटी होते हैं, जो बृहस्पतिके समान बुद्धि रखनेवाले निर्दोष व्यक्तिमें भी दोष ढूँढ निकालते हैं ॥ ६३ ॥

शून्यात् तच्च गृहान्मांसं यद्यप्यपहृतं तव ।
नेच्छते दीयमानं च साधु तावद् विमृश्यताम् ॥ ६४ ॥

'एक ओर तो तुम्हारे सूने घरसे मांसकी चोरी हुई है और दूसरी ओर एक व्यक्ति ऐसा है, जो देनेपर भी मांस लेना नहीं चाहता—इन दोनों बातोंपर पहले अच्छी तरह विचार करो ॥ ६४ ॥

असभ्याः सभ्यसंकाशाः सभ्याश्चासभ्यदर्शनाः ।
दृश्यन्ते विविधा भावास्तेषु युक्तं परीक्षणम् ॥ ६५ ॥

'संसारमें बहुत-से असभ्य प्राणी सभ्यकी तरह और सभ्य-लोग असभ्यके समान देखे जाते हैं। इस तरह अनेक प्रकारके भाव दृष्टिगोचर होते हैं; अतः उनकी परीक्षा कर लेनी उचित है ॥ ६५ ॥

तलवद् दृश्यते व्योम खद्योतो हव्यवाडिव ।
न चैवास्ति तलं व्योम्नि खद्योते न हुताशनः ॥ ६६ ॥

'आकाश औंधी की हुई कड़ाहीके तले (भीतरी भागों) के समान दिखायी देता है और जुगनू अग्निके सदृश दृष्टिगोचर होता है; परंतु न तो आकाशमें तल है और न जुगनूमें अग्नि ही है ॥ ६६ ॥

तस्मात् प्रत्यक्षदृष्टोऽपि युक्तो ह्यर्थः परीक्षितुम् ।
परीक्ष्य ज्ञापयन्नर्थान्न पश्चात् परितप्यते ॥ ६७ ॥

'इसलिये प्रत्यक्ष दिखायी देनेवाली वस्तुकी भी परीक्षा करनी उचित है। जो परीक्षा लेकर भले-बुरेकी जाँच करके किसी कार्यके लिये आज्ञा देता है, उसे पीछे पछताना नहीं पड़ता ॥ ६७ ॥

न दुष्करमिदं पुत्र यत् प्रभुर्घातयेत् परम् ।
श्लाघनीया यशस्या च लोके प्रभवतां क्षमा ॥ ६८ ॥

'बेटा ! यदि शक्तिशाली राजा दूसरेको मरवा डाले तो यह उसके लिये कोई कठिन काम नहीं है; परंतु शक्तिशाली पुरुषोंमें यदि क्षमाका भाव हो तो संसारमें उसीकी बड़ाई की जाती है और उसीसे राजाओंका यश बढ़ता है ॥ ६८ ॥

स्थापितोऽयं त्वया पुत्र सामन्तेष्वपि विश्रुतः ।
दुःखेनासाद्यते पात्रं धार्यतामेष ते सुहृत् ॥ ६९ ॥

'बेटा ! तुमने ही इस सियारको मन्त्रीके पदपर बिठाया है और तुम्हारे सामन्तोंमें भी इसकी ख्याति बढ़ गयी है। कोई सुपात्र व्यक्ति बड़ी कठिनाईसे प्राप्त होता है। यह सियार तुम्हारा हितैषी सुहृद् है; इसलिये तुम इसकी रक्षा करो ॥ ६९ ॥

दूषितं परदोषैर्हि गृह्णीते योऽन्यथा शुचिम् ।
स्वयं संदूषितामात्यः क्षिप्रमेव विनश्यति ॥ ७० ॥

'जो दूसरोंके मिथ्या कलंक लगानेपर किसी निर्दोषको भी दण्ड देता है, वह दुष्ट मन्त्रियोंवाला राजा शीघ्र ही नष्ट हो जाता है' ॥ ७० ॥

तस्मादप्यरिसंघाताद् गोमायोः कश्चिदागतः ।
धर्मात्मा तेन चाख्यातं यथैतत् कपटं कृतम् ॥ ७१ ॥

तदनन्तर उन्हीं शत्रुओंके समूहमेंसे किसी धर्मात्मा सियारने (जो शेरका गुप्तचर बना था,) आकर गीदड़के साथ जो यह छल-कपट किया गया था, वह सब सिंहको कह सुनाया ॥ ७१ ॥

ततो विज्ञातचरितः सत्कृत्य स विमोक्षितः ।
परिष्वक्तश्च सस्नेहं मृगेन्द्रेण पुनः पुनः ॥ ७२ ॥

इससे शेरको सियारकी सच्चरित्रताका पता चल गया और उसने उसका सत्कार करके उसे इस अभियोगसे मुक्त कर दिया। इतना ही नहीं, मृगराजने स्नेहपूर्वक बारंबार अपने सचिवको गलेसे लगाया ॥ ७२ ॥

अनुज्ञाप्य मृगेन्द्रं तु गोमायुर्नीतिशास्त्रवित् ।
तेनामर्षेण संतप्तः प्रायमासितुमैच्छत ॥ ७३ ॥

तत्पश्चात् नीतिशास्त्रके ज्ञाता सियारने मृगराजकी आज्ञा लेकर अमर्षसे संतप्त हो उपवास करके प्राण त्याग देनेका विचार किया ॥ ७३ ॥

शार्दूलस्तं तु गोमायुं स्नेहात् प्रोत्फुल्ललोचनः ।
अवारयत् स धर्मिष्ठं पूजया प्रतिपूजयन् ॥ ७४ ॥

शेरने धर्मात्मा गीदड़का भलीभाँति आदर-सत्कार करके उसे उपवाससे रोक दिया। उस समय उसके नेत्र स्नेहसे खिल उठे थे ॥ ७४ ॥

तं स गोमायुरालोक्य स्नेहादागतसम्भ्रमम् ।
उवाच प्रणतो वाक्यं बाष्पगद्गदया गिरा ॥ ७५ ॥

सियारने देखा, मालिकका हृदय स्नेहसे आकुल हो रहा है, तब उसने उसे प्रणाम करके अश्रुगद्गद वाणीसे इस प्रकार कहना आरम्भ किया—॥ ७५ ॥

पूजितोऽहं त्वया पूर्वं पश्चाच्चैव विमानितः ।
परेषामास्पदं नीतो वस्तुं नार्हाम्यहं त्वयि ॥ ७६ ॥

[illegible] मुझे सम्मान दिया और पीछे [illegible] अपमानमें डाल दिया; [illegible] मैं [illegible] योग्य नहीं हूँ ॥ ७६ ॥

[illegible] प्रत्यवरोपिताः ।
[illegible] नानुपतिताः परैः ॥ ७७ ॥
[illegible] क्षुब्धा भीताः प्रतारिताः ।
[illegible] मे न त्यक्तादाना महेप्सवः ॥ ७८ ॥
[illegible] मे [illegible] व्यसनौघप्रतीक्षिणः ।
[illegible] सर्वे परसाधनाः ॥ ७९ ॥

[illegible] भिन्न किये जानेके कारण असंतुष्ट हों, [illegible] हों, जो स्वयं राजासे पुरस्कृत होकर दूसरोंके [illegible] जानेके कारण उस आदरसे वञ्चित कर [illegible] हों, जो क्षीण, लोभी, क्रोधी, भयभीत और धोखेमें [illegible] हों, जिनका सर्वस्व छीन लिया गया हो, जो मानी हों, [illegible] गयी हो, जो महत्त्वपूर्ण पद पाना चाहते हों, [illegible] गया हो, जो किसी राजापर आनेवाले संकट-[illegible] प्रतीक्षा कर रहे हों, छिपे रहते हों और मनमें [illegible] रखते हों, वे सभी सेवक शत्रुओंका काम बनानेवाले होते हैं ॥ ७७—७९ ॥

[illegible]मानेन [illegible] स्थानभ्रष्टस्य वा पुनः ।
[illegible] विश्वासमहं तिष्ठामि वा कथम् ॥ ८० ॥

[illegible] मैं एक बार अपने पदसे भ्रष्ट और अपमानित हो गया, तब पुनः आप मुझपर कैसे विश्वास कर सकेंगे? अथवा मैं ही कैसे आपके पास रह सकूँगा? ॥ ८० ॥

समर्थ इति संगृह्य स्थापयित्वा परीक्षितः ।
[illegible] च समयं भित्त्वा त्वयाहमवमानितः ॥ ८१ ॥

'आपने योग्य समझकर मुझे अपनाया और मन्त्रीके पदपर [illegible] मेरी परीक्षा ली। इसके बाद अपनी की हुई प्रतिज्ञाको तोड़कर मेरा अपमान किया ॥ ८१ ॥

प्रथमं यः समाख्यातः शीलवानिति संसदि ।
न वाच्यं तस्य वैगुण्यं प्रतिज्ञां परिरक्षता ॥ ८२ ॥

'पहले भरी सभामें शीलवान् कहकर जिसका परिचय दिया गया हो, प्रतिज्ञाकी रक्षा करनेवाले पुरुषको उसका दोष नहीं बताना चाहिये ॥ ८२ ॥

एवं चावमतस्येह विश्वासं मे न यास्यसि ।
त्वयि चापि [illegible] ममोद्वेगो भविष्यति ॥ ८३ ॥

'जब मैं इस प्रकार यहाँ अपमानित हो गया तो अब [illegible] मेरा विश्वास न होगा और आप भी मुझपर विश्वास नहीं कर सकेंगे। ऐसी दशामें आपसे मुझे सदा भय बना रहेगा ॥ ८३ ॥

शङ्कितस्त्वमहं भीतः परच्छिद्रानुदर्शिनः ।
अस्निग्धाश्चैव दुस्तोषाः कर्म चैतद् बहुच्छलम् ॥ ८४ ॥

'आप मुझपर संदेह करेंगे और मैं आपसे डरता रहूँगा, इधर पराये दोष ढूँढ़नेवाले आपके भृत्यलोग मौजूद ही हैं। इनका मुझपर तनिक भी स्नेह नहीं है तथा इन्हें संतुष्ट रखना भी मेरे लिये अत्यन्त कठिन है। साथ ही यह मन्त्रीका कर्म भी अनेक प्रकारके छल-कपटसे भरा हुआ है॥

दुःखेन श्लिष्यते भिन्नं श्लिष्टं दुःखेन भिद्यते ।
भिन्ना श्लिष्टा तु या प्रीतिर्न सा स्नेहेन वर्तते ॥ ८५ ॥

'प्रेमका बन्धन बड़ी कठिनाईसे टूटता है, पर जब वह एक बार टूट जाता है, तब बड़ी कठिनाईसे जुट पाता है। जो प्रेम बारंबार टूटता और जुड़ता रहता है, उसमें स्नेह नहीं होता ॥ ८५ ॥

कश्चिदेव हिते भर्तुर्दृश्यते न परात्मनोः ।
कार्यापेक्षा हि वर्तन्ते भावस्निग्धाः सुदुर्लभाः ॥ ८६ ॥

'ऐसा मनुष्य कोई एक ही होता है, जो अपने या दूसरेके हितमें रत न रहकर स्वामीके ही हितमें संलग्न दिखायी देता हो; क्योंकि अपने कार्यकी अपेक्षा रखकर स्वार्थसाधनका उद्देश्य लेकर प्रेम करनेवाले तो बहुत होते हैं, परंतु शुद्धभावसे स्नेह रखनेवाले मनुष्य अत्यन्त दुर्लभ हैं ॥ ८६ ॥

सुदुःखं पुरुषज्ञानं चित्तं ह्येषां चलाचलम् ।
समर्थो वाप्यशक्तो वा शतेष्वेकोऽधिगम्यते ॥ ८७ ॥

'योग्य मनुष्यको पहचानना राजाओंके लिये अत्यन्त दुष्कर है; क्योंकि उनका चित्त चञ्चल होता है। सैकड़ोंमेंसे कोई एक ही ऐसा मिलता है, जो सब प्रकारसे सुयोग्य होता हुआ भी संदेहसे परे हो ॥ ८७ ॥

अकस्मात् प्रक्रिया नृणामकस्माच्चापकर्षणम् ।
शुभाशुभे महत्त्वं च प्रकर्तुं बुद्धिलाघवम् ॥ ८८ ॥

'मनुष्यके उत्कर्ष और अपकर्ष (उन्नति और अवनति) अकस्मात् होते हैं, किसीका भला करके बुरा करना और उसे महत्त्व देकर नीचे गिराना, यह सब ओछी बुद्धिका परिणाम है' ॥ ८८ ॥

एवंविधं सान्त्वमुक्त्वा धर्मकामार्थहेतुमत् ।
प्रसादयित्वा राजानं गोमायुर्वनमभ्यगात् ॥ ८९ ॥

इस प्रकार धर्म, अर्थ, काम और युक्तियोंसे युक्त सान्त्वनापूर्ण वचन कहकर सियारने बाघराजाको प्रसन्न कर लिया और उसकी अनुमति लेकर वह वनमें चला गया ॥ ८९ ॥

अगृह्यानुनयं तस्य मृगेन्द्रस्य च बुद्धिमान् ।
गोमायुः प्रायमास्थाय त्यक्त्वा देहं दिवं ययौ ॥ ९० ॥

वह बड़ा बुद्धिमान् था; अतः शेरकी अनुनय-विनय न मानकर मृत्युपर्यन्त निराहार रहनेका व्रत ले एक स्थानपर बैठ गया और अन्तमें शरीर त्यागकर स्वर्गधाममें जा पहुँचा ॥ ९० ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि राजधर्मानुशासनपर्वणि व्याघ्रगोमायुसंवादे एकादशाधिकशततमोऽध्यायः ॥ १११ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत राजधर्मानुशासनपर्वमें व्याघ्र और गीदड़का संवादविषयक एक सौ ग्यारहवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १११ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठका १ श्लोक मिलाकर कुल ९१ श्लोक हैं)

द्वादशाधिकशततमोऽध्यायः

एक तपस्वी ऊँटके आलस्यका कुपरिणाम और राजाका कर्तव्य

युधिष्ठिर उवाच

किं पार्थिवेन कर्तव्यं किंच कृत्वा सुखी भवेत्।
एतदाचक्ष्व तत्त्वेन सर्वधर्मभृतां वर ॥ १ ॥

युधिष्ठिरने पूछा—समस्त धर्मात्माओंमें श्रेष्ठ पितामह! राजाको क्या करना चाहिये? क्या करनेसे वह सुखी हो सकता है? यह मुझे यथार्थरूपसे बताइये? ॥ १ ॥

भीष्म उवाच

हन्त तेऽहं प्रवक्ष्यामि शृणु कार्यैकनिश्चयम्।
यथा राज्ञेह कर्तव्यं यच्च कृत्वा सुखी भवेत्॥ २ ॥

भीष्मजीने कहा—नरेश्वर! राजाका जो कर्तव्य है और जो कुछ करके वह सुखी हो सकता है, उस कार्यका निश्चय करके अब मैं तुम्हें बतलाता हूँ उसे सुनो ॥ २ ॥

न चैवं वर्तितव्यं स्म यथेदमनुशुश्रुम।
उष्ट्रस्य तु महद् वृत्तं तन्निबोध युधिष्ठिर ॥ ३ ॥

युधिष्ठिर! हमने एक ऊँटका जो महान् वृत्तान्त सुन रखा है, उसे तुम सुनो। राजाको वैसा बर्ताव नहीं करना चाहिये॥ ३ ॥

जातिस्मरो महानुष्ट्रः प्राजापत्ये युगेऽभवत्।
तपः सुमहदातिष्ठदरण्ये संशितव्रतः ॥ ४ ॥

प्राजापत्ययुग (सत्ययुग) में एक महान् ऊँट था। उसको पूर्वजन्मकी बातोंका स्मरण था। उसने कठोर व्रतके पालनका नियम लेकर वनमें बड़ी भारी तपस्या आरम्भ की॥

तपसस्तस्य चान्तेऽथ प्रीतिमानभवद् विभुः।
वरेण च्छन्दयामास ततश्चैनं पितामहः ॥ ५ ॥

उस तपस्याके अन्तमें पितामह भगवान् ब्रह्मा बड़े प्रसन्न हुए। उन्होंने उससे वर माँगनेके लिये कहा ॥ ५ ॥

उष्ट्र उवाच

भगवंस्त्वत्प्रसादान्मे दीर्घा ग्रीवा भवेदियम्।
योजनानां शतं साग्रं गच्छामि चरितुं विभो॥ ६ ॥

ऊँट बोला—भगवन्! आपकी कृपासे मेरी यह गर्दन बहुत बड़ी हो जाय, जिससे जब मैं चरनेके लिये जाऊँ तो सौ योजनसे अधिक दूरतककी खाद्य वस्तुएँ ग्रहण कर सकूँ ॥ ६ ॥

एवमस्त्विति चोक्तः स वरदेन महात्मना।
प्रतिलभ्य वरं श्रेष्ठं ययावुष्ट्रः स्वकं वनम् ॥ ७ ॥

वरदायक महात्मा ब्रह्माजीने 'एवमस्तु' कहकर उसे मुँहमाँगा वर दे दिया। वह उत्तम वर पाकर ऊँट अपने वनमें चला गया ॥ ७ ॥

स चकार तदाऽऽलस्यं वरदानात् सुदुर्मतिः।
न चैच्छच्चरितुं गन्तुं दुरात्मा कालमोहितः ॥ ८ ॥

उस खोटी बुद्धिवाले ऊँटने वरदान पाकर कहीं आने-जानेमें आलस्य कर लिया। वह दुरात्मा कालसे मोहित होकर चरनेके लिये कहीं जाना ही नहीं चाहता था ॥ ८ ॥

स कदाचित् प्रसार्यैव तां ग्रीवां शतयोजनाम्।
चचाराश्रान्तहृदयो वातश्चागात् ततो महान् ॥ ९ ॥

एक समयकी बात है, वह अपनी सौ योजन लंबी गर्दन फैलाकर चर रहा था, उसका मन चरनेसे कभी थकता ही नहीं था। इतनेमें ही बड़े जोरसे हवा चलने लगी ॥ ९ ॥

स गुहायां शिरो ग्रीवां निधाय पशुरात्मनः।
आस्ते तु वर्षमभ्यागात् सुमहत् प्लावयज्जगत् ॥ १० ॥

वह पशु किसी गुफामें अपनी गर्दन डालकर चर रहा था, इसी समय सारे जगत्‌को जलसे आप्लावित करती हुई बड़ी भारी वर्षा होने लगी ॥ १० ॥

अथ शीतपरीताङ्गो जम्बुकः क्षुच्छ्रमान्वितः।
सदारस्तां गुहामाशु प्रविवेश जलार्दितः ॥ ११ ॥

वर्षा आरम्भ होनेपर भूख और थकावटसे कष्ट पाता हुआ एक गीदड़ अपनी स्त्रीके साथ शीघ्र ही उस गुहामें आ घुसा। वह जलसे पीडित था, सर्दीसे उसके सारे अङ्ग अकड़ गये थे ॥ ११ ॥

स दृष्ट्वा मांसजीवी तु सुभृशं क्षुच्छ्रमान्वितः।
अभक्षयत् ततो ग्रीवामुष्ट्रस्य भरतर्षभ ॥ १२ ॥

भरतश्रेष्ठ! वह मांसजीवी गीदड़ अत्यन्त भूखके कारण कष्ट पा रहा था, अतः उसने ऊँटकी गर्दनका मांस काट-काटकर खाना आरम्भ कर दिया ॥ १२ ॥

यदा त्ववुध्यतात्मानं भक्ष्यमाणं स वै पशुः।
तदा संकोचने यत्नमकरोद् भृशदुःखितः ॥ १३ ॥

जब उस पशुको यह मालूम हुआ कि उसकी गर्दन खायी जा रही है, तब वह अत्यन्त दुखी हो उसे समेटनेका प्रयत्न करने लगा ॥ १३ ॥

यावदूर्ध्वमधश्चैव ग्रीवां संक्षिपते पशुः।
तावत् तेन सदारेण जम्बुकेन स भक्षितः ॥ १४ ॥

वह पशु जबतक अपनी गर्दनको ऊपर-नीचे समेटनेका यत्न करता रहा, तबतक ही स्त्रीसहित सियारने उसे काट-कर खा लिया ॥ १४ ॥

स हत्वा भक्षयित्वा च तमुष्ट्रं जम्बुकस्तदा।
विगते वातवर्षे तु निश्चक्राम गुहामुखात् ॥ १५ ॥

इस प्रकार ऊँटको मारकर खा जानेके पश्चात् जब आँधी और वर्षा बंद हो गयी, तब वह गीदड़ गुफाके मुहानेसे निकल गया ॥ १५ ॥

एवं दुर्बुद्धिना प्राप्तमुष्ट्रेण निधनं तदा।
आलस्यस्य क्रमात् पश्य महान्तं दोषमागतम् ॥ १६ ॥

[illegible] मृत्यु हो गयी। देखो, उसके [illegible] नष्ट हो गया ॥ १६ ॥

[illegible] जितेन्द्रियः ।
[illegible] विजयं मनुरब्रवीत् ॥ १७ ॥

[illegible] त्याग करके इन्द्रियों- [illegible] उचित है। मनुजी- [illegible] बुद्धि ही है ॥ १७ ॥

[illegible] बाहुमध्यानि भारत ।
[illegible] भाग्यमध्यवराणि च ॥ १८ ॥

[illegible] कार्य श्रेष्ठ हैं। बाहुबलसे किये [illegible]। और अर्थात् पैरके बलसे किये [illegible] ([illegible] कोटिके) हैं तथा मस्तकसे भार [illegible] श्रेणीका है ॥ १८ ॥

[illegible] संगृहीतेन्द्रियस्य च ।
[illegible] बुद्धिमूलं हि विजयं मनुरब्रवीत् ॥ १९ ॥

[illegible] और कार्यदक्ष है, उसीका राज्य स्थिर रहता [illegible] है कि संकटमें पड़े हुए राजाकी विजयका मूल बुद्धिबल ही है ॥ १९ ॥

गुप्तं मन्त्रं श्रुतवतः सुसहायस्य चानघ ।
परीक्ष्यकारिणो ह्यर्थास्तिष्ठन्तीह युधिष्ठिर ।
सहाययुक्तेन मही कृत्स्ना शक्या प्रशासितुम् ॥ २

निष्पाप युधिष्ठिर ! जो गुप्त मन्त्रणा सुनता है, जि सहायक अच्छे हैं तथा जो भलीभाँति जाँच-बूझकर कार्य करता है, उसके पास ही धन स्थिर रहता है। सहाय सम्पन्न नरेश ही समूची पृथ्वीका शासन कर सकता है ॥

इदं हि सद्भिः कथितं विधिज्ञैः
पुरा महेन्द्रप्रतिमप्रभाव ।
मयापि चोक्तं तव शास्त्रदृष्ट्या
यथैव बुद्ध्वा प्रचरस्व राजन् ॥ २१

महेन्द्रके समान प्रभावशाली नरेश ! पूर्वकालमें रा संचालनकी विधिको जाननेवाले सत्पुरुषोंने यह बात थी। मैंने भी शास्त्रीय दृष्टिके अनुसार तुम्हें यह बात ब है। राजन् ! इसे अच्छी तरह समझकर इसीके अ चलो ॥ २१ ॥

इति [illegible] शान्तिपर्वणि राजधर्मानुशासनपर्वणि उष्ट्रग्रीवोपाख्याने द्वादशाधिकशततमोऽध्यायः ॥ ११२ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत राजधर्मानुशासनपर्वमें ऊँटकी गर्दनकी कथाविषयक एक सौ बारहवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ११२ ॥

त्रयोदशाधिकशततमोऽध्यायः

शक्तिशाली शत्रुके सामने बेंतकी भाँति नतमस्तक होनेका उपदेश—सरिताओं और समुद्रका संवा

युधिष्ठिर उवाच

राजा राज्यमनुप्राप्य दुर्लभं भरतर्षभ ।
[illegible] कथं तिष्ठेदसाधनः ॥ १ ॥

युधिष्ठिरने पूछा—भरतश्रेष्ठ ! राजा एक दुर्लभ [illegible] सेना और खजाना आदि साधनोंसे रहित [illegible] अत्यन्त बढ़े-चढ़े हुए शत्रुके सामने कैसे [illegible] ? ॥ १ ॥

भीष्म उवाच

[illegible]मितिहासं पुरातनम् ।
[illegible] संवादं सागरस्य च भारत ॥ २ ॥

भीष्मजीने कहा—भारत ! इस विषयमें विज्ञ पुरुष [illegible] समुद्रके संवादरूप एक प्राचीन उपाख्यानका [illegible] किया करते हैं ॥ २ ॥

[illegible] सरितांपतिः ।
[illegible] सर्वाः संशयं जातमात्मनः ॥ ३ ॥

[illegible] बात है, दैत्योंके निवासस्थान और सरि- [illegible] समुद्रने सम्पूर्ण नदियोंसे अपने मनका एक [illegible] ॥ ३ ॥

सागर उवाच

समूलशाखान् पश्यामि निहतान् कायिनो द्रुमान्
युष्माभिरिह पूर्णाभिर्नद्यस्तत्र न वेतसम् ॥

समुद्रने कहा—नदियो ! मैं देखता हूँ कि जब आनेके कारण तुमलोग लबालब भर जाती हो, तब वि काय वृक्षोंको जड़-मूल और शाखाओंसहित उखा अपने प्रवाहमें बहा लाती हो; परंतु उनमें बेंतका कोई नहीं दिखायी देता ॥ ४ ॥

अकायश्चाल्पसारश्च वेतसः कूलजश्च वः ।
अवज्ञया वा नानीतः किं च वा तेन वः कृतम् ॥

बेंतका शरीर तो नदीके बराबर बहुत पतला है। कुछ दम नहीं होता है और वह तुम्हारे खास किन जमता है; फिर भी तुम उसे न ला सकी, क्या कारण क्या तुम अवहेलनावश उसे कभी नहीं लायीं अथवा तुम्हारा कोई उपकार किया है ? ॥ ५ ॥

तदहं श्रोतुमिच्छामि सर्वासामेव वो मतम् ।
यथा चेमानि कूलानि हित्वा नायाति वेतसः ॥

इस विषयमें तुम सब लोगोंका विचार मैं सुनना च हूँ, क्या कारण है कि बेंतका वृक्ष तुम्हारे इन तटोंको छो नहीं आता है ? ॥ ६ ॥
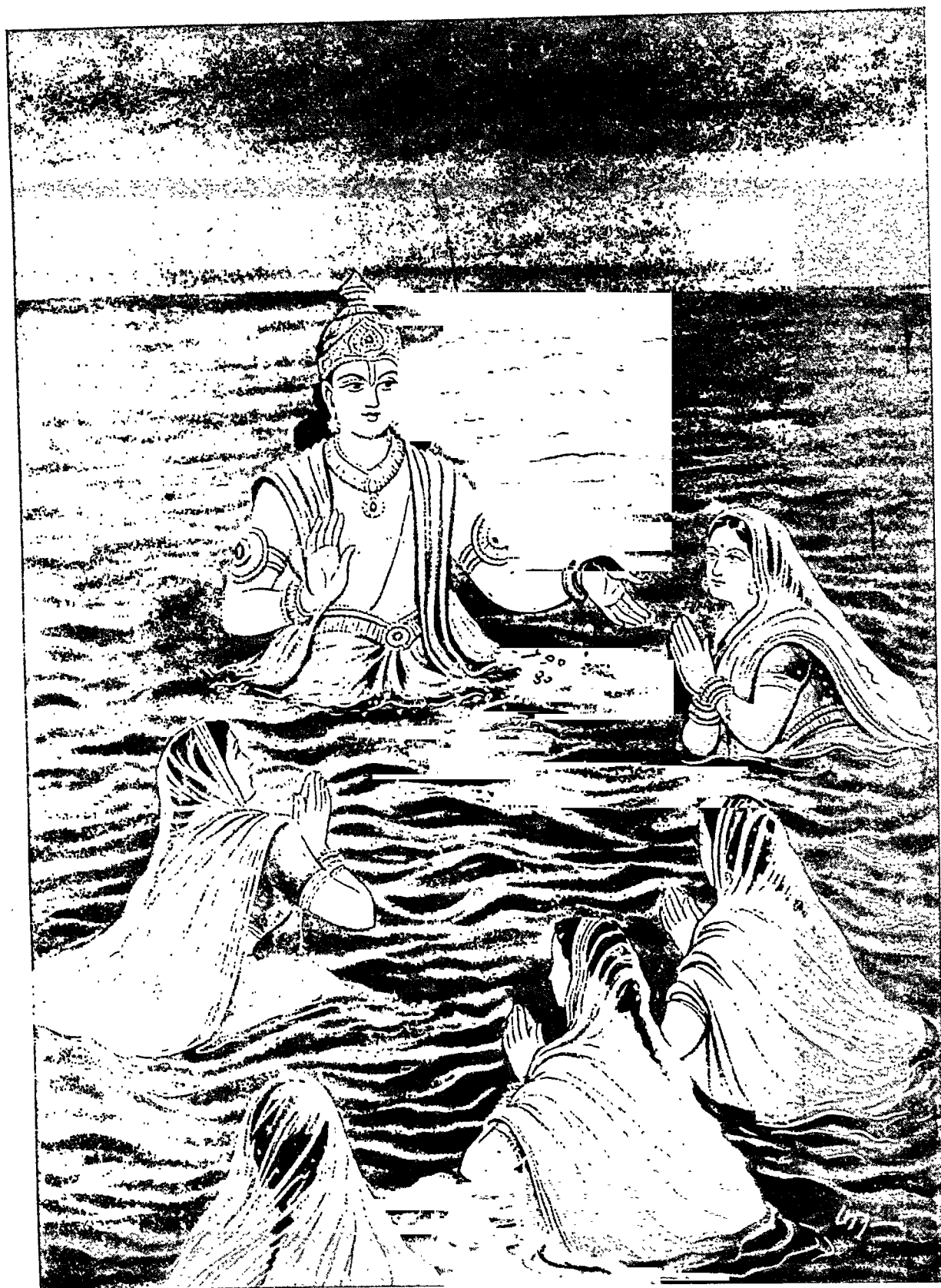
समुद्र देवताका मूर्तिमती नदियोंके साथ संवाद

॥
हता
ड़कर

तत्र प्राह नदी गङ्गा वाक्यमुत्तममर्थवत्।
हेतुमद् ग्राहकं चैव सागरं सरितांपतिम्॥ ७॥

इस प्रकार प्रश्न होनेपर गङ्गानदीने सरिताओंके स्वामी समुद्रसे यह उत्तम अर्थपूर्ण, युक्तियुक्त तथा मनको ग्रहण करनेवाली बात कही॥ ७॥

गङ्गोवाच

तिष्ठन्त्येते यथास्थानं नगा ह्येकनिकेतनाः।
ते त्यजन्ति ततः स्थानं प्रातिलोम्यान्न वेतसः॥ ८॥

गङ्गा बोली—नदीश्वर! ये वृक्ष अपने-अपने स्थानपर अकड़कर खड़े रहते हैं, हमारे प्रवाहके सामने मस्तक नहीं झुकाते। इस प्रतिकूल बर्तावके कारण ही उन्हें नष्ट होकर अपना स्थान छोड़ना पड़ता है; परंतु बेंत ऐसा नहीं है॥ ८॥

वेतसो वेगमायातं दृष्ट्वा नमति नापरे।
सरिद्वेगेऽव्यतिक्रान्ते स्थानमासाद्य तिष्ठति॥ ९॥

बेंत नदीके वेगको आते देख झुक जाता है, पर दूसरे वृक्ष ऐसा नहीं करते; अतः वह सरिताओंका वेग शान्त होनेपर पुनः अपने स्थानमें ही स्थित हो जाता है॥ ९॥

कालज्ञः समयज्ञश्च सदा वश्यश्च नोद्धतः।
अनुलोमस्तथास्तब्धस्तेन नाभ्येति वेतसः॥ १०॥

बेंत समयको पहचानता है, उसके अनुसार बर्ताव करना जानता है, सदा हमारे वशमें रहता है, कभी उद्दण्डता नहीं दिखाता और अनुकूल बना रहता है। उसमें कभी अकड़ नहीं आती है; इसीलिये उसे स्थान छोड़कर यहाँ नहीं आना पड़ता है॥ १०॥

मारुतोदकवेगेन ये नमन्त्युन्नमन्ति च।
ओषध्यः पादपा गुल्मा न ते यान्ति पराभवम्॥ ११॥

जो पौधे, वृक्ष या लता-गुल्म हवा और पानीके वेगसे झुक जाते तथा वेग शान्त होनेपर सिर उठाते हैं, उनका कभी पराभव नहीं होता॥ ११॥

भीष्म उवाच

यो हि शत्रोर्विवृद्धस्य प्रभोर्बन्धविनाशने।
पूर्वं न सहते वेगं क्षिप्रमेव विनश्यति॥ १२॥

भीष्मजी कहते हैं—युधिष्ठिर! इसी प्रकार जो राजा बलमें बढ़े-चढ़े तथा बन्धनमें डालने और विनाश करनेमें समर्थ शत्रुके प्रथम वेगको सिर झुकाकर नहीं सह लेता है, वह शीघ्र ही नष्ट हो जाता है॥ १२॥

सारासारं बलं वीर्यमात्मनो द्विषतश्च यः।
जानन् विचरति प्राज्ञो न स याति पराभवम्॥ १३॥

जो बुद्धिमान् राजा अपने तथा शत्रुके सार-असार, बल तथा पराक्रमको जानकर उसके अनुसार बर्ताव करता है, उसकी कभी पराजय नहीं होती है॥ १३॥

एवमेव यदा विद्वान् मन्यतेऽतिबलं रिपुम्।
संश्रयेद् वैतसीं वृत्तिमेतत् प्रज्ञानलक्षणम्॥ १४॥

इस प्रकार विद्वान् राजा जब शत्रुके बलको अपनेसे अधिक समझे, तब बेंतका ही ढंग अपना ले अर्थात् उसके सामने नतमस्तक हो जाय। यही बुद्धिमानीका लक्षण है॥ १४॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि राजधर्मानुशासनपर्वणि सरित्सागरसंवादे त्रयोदशाधिकशततमोऽध्यायः॥ ११३॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत राजधर्मानुशासनपर्वमें सरिताओं और समुद्रका संवादविषयक एक सौ तेरहवाँ अध्याय पूरा हुआ॥ ११३॥

चतुर्दशाधिकशततमोऽध्यायः

दुष्ट मनुष्यद्वारा की हुई निन्दाको सह लेनेसे लाभ

युधिष्ठिर उवाच

विद्वान् मूर्खप्रगल्भेन मृदुतीक्ष्णेन भारत।
आक्रुश्यमानः सदसि कथं कुर्यादरिंदम॥ १॥

युधिष्ठिरने पूछा—शत्रुदमन भारत! यदि कोई ढीठ मूर्ख मधुर या तीखे शब्दोंमें भरी सभाके बीच किसी विद्वान् पुरुषकी निन्दा करने लगे, तो वह उसके साथ कैसा बर्ताव करे?॥ १॥

भीष्म उवाच

श्रूयतां पृथिवीपाल यथैषोऽर्थोऽनुगीयते।
सदा सुचेताः सहते नरस्येहाल्पमेधसः॥ २॥

भीष्मजीने कहा—भूपाल! सुनो, इस विषयमें सदासे जैसी बात कही जाती है, उसे बता रहा हूँ। विशुद्ध चित्तवाला पुरुष इस जगत्में सदा ही मूर्ख मनुष्यके कठोर वचनोंको सहन करता है॥ २॥

अरुष्यन् क्रुश्यमानस्य सुकृतं नाम विन्दति।
दुष्कृतं चात्मनो मर्षी रुष्यत्येवापमार्ष्टि वै॥ ३॥

जो निन्दा करनेवाले पुरुषके ऊपर क्रोध नहीं करता, वह उसके पुण्यको प्राप्त कर लेता है। वह सहनशील मनुष्य अपना सारा पाप उस क्रोधी पुरुषपर ही धो डालता है॥ ३॥

टिट्टिभं तमुपेक्षेत वाशमानमिवातुरम्।
लोकविद्वेषमापन्नो निष्फलं प्रतिपद्यते॥ ४॥

अच्छे पुरुषको चाहिये कि वह टिटिहरी या रोगीकी तरह टाँय-टाँय करते हुए उस निन्दाकारी पुरुषकी उपेक्षा कर दे। इससे वह सब लोगोंके द्वेषका पात्र बन जायगा और उसके सारे सत्कर्म निष्फल हो जायँगे॥ ४॥

[illegible] कर्मणा ।
[illegible] जनसंसदि ॥ ५ ॥
[illegible] ऽवतिष्ठते ।
[illegible] कर्मणा निरपत्रपः ॥ ६ ॥

[illegible] द्वारा सदा अपनी प्रशंसा [illegible] अमुक सम्मानित पुरुषको भरी [illegible] सुनायी कि वह लाजसे गड़ गया, [illegible] हो गया, इस [illegible] अपनी प्रशंसा करता है और [illegible] ॥ ५-६ ॥

[illegible] पुरुषाधमः ।
[illegible] सहृद्बुधः ॥ ७ ॥

[illegible] उपेक्षा कर देनी चाहिये । मूर्ख [illegible] पुरुषको वह सब सह [illegible] ॥ ७ ॥

[illegible] प्रशंसन् वा निन्दन् वा किं करिष्यति ।
[illegible] निरर्थकम् ॥ ८ ॥

[illegible] व्यर्थ ही काँव-काँव किया करता है, [illegible] मूर्ख मनुष्य भी अकारण ही निन्दा करता है । [illegible] या निन्दा, किसीका क्या भला या बुरा करेगा? [illegible] कुछ भी नहीं कर सकेगा ॥ ८ ॥

[illegible] प्रयोगः स्यात् प्रयोगे पापकर्मणः ।
[illegible] भवेत् तस्य न ह्येवार्थो जिघांसतः ॥ ९ ॥

[illegible] पापाचारी पुरुषके कटुवचन बोलनेपर बदलेमें वैसे ही [illegible] प्रयोग किया जाय तो उससे केवल वाणीद्वारा [illegible] होगा । जो हिंसा करना चाहता है, उसका गाली [illegible] प्रयोजन सिद्ध नहीं होगा ॥ ९ ॥

[illegible] विवर्णानि स आचष्टे वृत्तचेष्टया ।
[illegible] कौपीनं नृत्यं संदर्शयन्निव ॥ १० ॥

[illegible] नाच दिखाता है, उस समय वह अपने गुप्त [illegible] देता है । इसी प्रकार जो मूर्ख अनुचित [illegible] वह उस कुचेष्टाद्वारा अपने छिपे हुए [illegible] है ॥ १० ॥

[illegible] न लोकेऽस्मि नाकार्यं चापि किंचन ।
[illegible] न संवदेच्छुचिः संक्लिष्टकर्मणा ॥ ११ ॥

[illegible] कुछ भी कह देना या कर डालना [illegible] मनुष्यसे उस भले मनुष्यको बात भी [illegible] अपने सत्कर्मोंके द्वारा विशुद्ध समझा [illegible] ॥ ११ ॥

[illegible] मुखवादी यः परोक्षे चापि निन्दकः ।
[illegible] नष्टलोकपरायणः ॥ १२ ॥

[illegible] और परोक्षमें निन्दा [illegible] समान है । उसके लोक [illegible] ॥ १२ ॥

तादृग्जनशतस्यापि यद्ददाति जुहोति च ।
परोक्षेणापवादी यस्तं नाशयति तत्क्षणात् ॥ १३ ॥

परोक्षमें परनिन्दा करनेवाला मनुष्य सैकड़ों मनुष्योंको जो कुछ दान देता है और होम करता है, उन सब अपने कर्मोंको तत्काल नष्ट कर देता है ॥ १३ ॥

तस्मात् प्राज्ञो नरः सद्यस्तादृशं पापचेतसम् ।
वर्जयेत् साधुभिर्वर्ज्यं सारमेयामिषं यथा ॥ १४ ॥

इसलिये बुद्धिमान् मनुष्यको चाहिये कि वह वैसे पापपूर्ण विचारवाले पुरुषको तत्काल त्याग दे । वह कुत्तेके मांसके समान साधु पुरुषोंके लिये सदा ही त्याज्य है ॥ १४ ॥

परिवादं ब्रुवाणो हि दुरात्मा वै महाजने ।
प्रकाशयति दोषांस्तु सर्पः फणमिवोच्छ्रितम् ॥ १५ ॥

जैसे साँप अपने फनको ऊँचा उठाकर प्रकाशित करता है, उसी प्रकार जनसमुदायमें किसी महापुरुषकी निन्दा करनेवाला दुरात्मा अपने ही दोषोंको प्रकट करता है ॥ १५ ॥

तं स्वकर्माणि कुर्वाणं प्रतिकर्तुं य इच्छति ।
भस्मकूट इवाबुद्धिः खरो रजसि सज्जति ॥ १६ ॥

जो परनिन्दारूप अपना कार्य करनेवाले दुष्ट पुरुषसे बदला लेना चाहता है, वह राखमें लोटनेवाले मूर्ख गदहेके समान केवल दुःखमें निमग्न होता है ॥ १६ ॥

मनुष्यशालावृकमप्रशान्तं
जनापवादे सततं निविष्टम् ।
मातङ्गमुन्मत्तमिवोन्नदन्तं
त्यजेत तं श्वानमिवातिरौद्रम् ॥ १७ ॥

जो सदा लोगोंकी निन्दामें ही तत्पर रहता है, वह मनुष्यके शरीररूप घरमें रहनेवाला भेड़िया है । वह सदा अशान्त बना रहता है । मतवाले हाथीके समान चीत्कार करता है और अत्यन्त भयंकर कुत्तेके समान काटनेको दौड़ता है । श्रेष्ठ पुरुषको चाहिये कि उसे सदाके लिये त्याग दें ॥ १७ ॥

अधीरजुष्टे पथि वर्तमानं
दमादपेतं विनयाच्च पापम् ।
अरिव्रतं नित्यमभूतिकामं
धिगस्तु तं पापमतिं मनुष्यम् ॥ १८ ॥

वह मूर्खोंद्वारा सेवित पथपर चलनेवाला है । इन्द्रिय-संयम और विनयसे कोसों दूर है । उसने शत्रुताका व्रत ले रक्खा है । वह सदा सबकी अवनति चाहता है । उस पापात्मा एवं पापबुद्धि मनुष्यको धिक्कार है ॥ १८ ॥

प्रत्युच्यमानस्त्वभिभूय एभि-
र्निशाम्य मा भूस्त्वमथार्तरूपः ।
उच्चस्य नीचेन हि सम्प्रयोगं
विगर्हयन्ति स्थिरबुद्धयो ये ॥ १९ ॥

यदि ऐसे दुष्ट मनुष्य किसीपर आक्रमण करके उसकी निन्दा करने लगें और उसे सुनकर भला मनुष्य उसका उत्तर

देनेके लिये उद्यत हो तो उसे रोककर कहे कि तुम दुखी न होओ; क्योंकि स्थिर बुद्धिवाले मनुष्य उच्च पुरुषका नीच-के साथ होनेवाले संयोगकी अर्थात् बराबरीकी निन्दा करते हैं ॥

क्रुद्धो दशार्धेन हि ताडयेद् वा
स पांसुभिर्वा विकिरेत् तुषैर्वा ।
विवृत्य दन्तांश्च विभीषयेद् वा
सिद्धं हि मूढे कुपिते नृशंसे ॥ २० ॥

यदि क्रूर स्वभावका मूर्ख मनुष्य कुपित हो जाय तो वह थप्पड़ मार सकता है, मुँहपर धूल अथवा भूसी झोंक सकता है और दाँत निकालकर डरा सकता है। उसके द्वारा सारी कुचेष्टाएँ सम्भव हैं ॥ २० ॥

विगर्हणां परमदुरात्मना कृतां
सहेत यः संसदि दुर्जनान्नरः ।
पठेदिदं चापि निदर्शनं सदा
न वाङ्मयं स लभति किंचिदप्रियम् ॥ २१ ॥

जो इस दृष्टान्तको सदा पढ़ता या सुनता रहता है और जो मनुष्य सभामें किसी अत्यन्त दुष्टात्माद्वारा की हुई निन्दा-को सह लेता है, वह दुर्जन मनुष्यसे कभी वाणीद्वारा होने-वाले निन्दाजनित किंचिन्मात्र दुःखका भी भागी नहीं होता ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि राजधर्मानुशासनपर्वणि (टिट्टिभकं नाम) चतुर्दशाधिकशततमोऽध्यायः ॥ ११४ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत राजधर्मानुशासनपर्वमें एक सौ चौदहवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ११४ ॥

पञ्चदशाधिकशततमोऽध्यायः

राजा तथा राजसेवकोंके आवश्यक गुण

युधिष्ठिर उवाच

पितामह महाप्राज्ञ संशयो मे महानयम् ।
संछेत्तव्यस्त्वया राजन् भवान् कुलकरो हि नः ॥ १ ॥

युधिष्ठिर बोले—परमबुद्धिमान् पितामह ! मेरे मनमें यह एक महान् संशय बना हुआ है। राजन् ! आप मेरे उस संदेहका निवारण करें; क्योंकि आप हमारे वंशके प्रवर्तक हैं ॥

पुरुषाणामयं तात दुर्वृत्तानां दुरात्मनाम् ।
कथितो वाक्यसंचारस्ततो विज्ञापयामि ते ॥ २ ॥

तात ! आपने दुरात्मा और दुराचारी पुरुषोंके बोल-चालकी चर्चा की है; इसीलिये मैं आपसे कुछ निवेदन कर रहा हूँ ॥ २ ॥

यद्धितं राज्यतन्त्रस्य कुलस्य च सुखोदयम् ।
आयत्यां च तदात्वे च क्षेमवृद्धिकरं च यत् ॥ ३ ॥
पुत्रपौत्राभिरामं च राष्ट्रवृद्धिकरं च यत् ।
अन्नपाने शरीरे च हितं यत्तद् ब्रवीहि मे ॥ ४ ॥

आप मुझे ऐसा कोई उपाय बताइये, जो हमारे इस राज्य-तन्त्रके लिये हितकारक, कुलके लिये सुखदायक, वर्तमान और भविष्यमें भी कल्याणकी वृद्धि करनेवाला, पुत्र और पौत्रोंकी परम्पराके लिये हितकर, राष्ट्रकी उन्नति करनेवाला तथा अन्न, जल और शरीरके लिये भी लाभकारी हो ॥ ३-४ ॥

अभिषिक्तो हि यो राजा राष्ट्रस्थो मित्रसंवृतः ।
ससुहृत्समुपेतो वा स कथं रञ्जयेत् प्रजाः ॥ ५ ॥

जो राजा अपने राज्यपर अभिषिक्त हो देशमें मित्रोंसे घिरा हुआ रहता है तथा जो हितैषी सुहृदोंसे भी सम्पन्न है, वह किस प्रकार अपनी प्रजाको प्रसन्न रक्खे ? ॥ ५ ॥

यो ह्यसत्प्रग्रहरतिः स्नेहरागबलात्कृतः ।
इन्द्रियाणामनीशत्वादसज्जनबुभूषकः ॥ ६ ॥
तस्य भृत्या विगुणतां यान्ति सर्वे कुलोद्गताः ।
न च भृत्यफलैरर्थैः स राजा सम्प्रयुज्यते ॥ ७ ॥

जो असद् वस्तुओंके संग्रहमें अनुरक्त है, स्नेह और रागके वशीभूत हो गया है और इन्द्रियोंपर वश न चलनेके कारण सज्जन बननेकी चेष्टा नहीं करता, उस राजाके उत्तम कुलमें उत्पन्न हुए समस्त सेवक भी विपरीत गुणवाले हो जाते हैं। ऐसी दशामें सेवकोंके रखनेका जो फल धनकी वृद्धि आदि है, उससे वह राजा सर्वथा वञ्चित रह जाता है ॥

एतन्मे संशयस्यास्य राजधर्मान् सुदुर्विदान् ।
बृहस्पतिसमो बुद्ध्या भवान् शंसितुमर्हति ॥ ८ ॥

मेरे इस संशयका निवारण करके आप दुर्बोध राजधर्मों-का वर्णन कीजिये; क्योंकि आप बुद्धिमें साक्षात् बृहस्पतिके समान हैं ॥ ८ ॥

शंसिता पुरुषव्याघ्र त्वन्नः कुलहिते रतः ।
क्षत्ता चैको महाप्राज्ञो यो नः शंसति सर्वदा ॥ ९ ॥

पुरुषसिंह ! हमारे कुलके हितमें तत्पर रहनेवाले आप ही हमें ऐसा उपदेश दे सकते हैं। दूसरे हमारे हितैषी महा-ज्ञानी विदुरजी हैं, जो हमें सर्वदा सदुपदेश दिया करते हैं ॥

त्वत्तः कुलहितं वाक्यं श्रुत्वा राज्यहितोदयम् ।
अमृतस्याव्ययस्येव तृप्तः स्वप्स्याम्यहं सुखम् ॥ १० ॥

आपके मुखसे कुलके लिये हितकारी तथा राज्यके लिये कल्याणकारी उपदेश सुनकर मैं अक्षय अमृतसे तृप्त होनेके समान सुखसे सोऊँगा ॥ १० ॥

कीदृशाः संनिकर्षस्था भृत्याः सर्वगुणान्विताः ।
कीदृशैः किं कुलीनैर्वा सह यात्रा विधीयते ॥ ११ ॥

कैसे सर्वगुणसम्पन्न सेवक राजाके निकट रहने चाहिये और किस कुलमें उत्पन्न हुए कैसे सैनिकोंके साथ राजाको युद्धकी यात्रा करनी चाहिये ? ॥ ११ ॥

[illegible] ॥ १२ ॥

[illegible] राज्यकी रक्षा नहीं कर [illegible] ॥ १२ ॥

भीष्म उवाच

न हि शक्यं महाराज राज्यमेकेन भारत ।
असहायवता तात नैवार्थाः केचिदप्युत ॥ १३ ॥
लब्धुं लब्ध्वापि सदा रक्षितुं भरतर्षभ ।
यस्य भृत्यजनः सर्वो ज्ञानविज्ञानकोविदः ॥ १४ ॥
हितैषी कुलजः स्निग्धः स राज्यफलमश्नुते ॥ १५ ॥

भीष्मजीने कहा—तात भरतनन्दन ! कोई भी सहायकोंके बिना अकेले राज्य नहीं चला सकता । राज्य ही क्या ? सहायकोंके बिना किसी भी अर्थकी प्राप्ति नहीं होती । यदि प्राप्ति हो भी गयी तो सदा उसकी रक्षा असम्भव हो जाती है (अतः मन्त्रियों या सहायकोंका होना आवश्यक है) । जिसके सभी सेवक ज्ञान-विज्ञानमें कुशल, हितैषी, कुलीन और स्नेही हों, वही राजा राज्यका फल भोग सकता है ॥

मन्त्रिणो यस्य कुलजा असंहार्याः सहोषिताः ।
नृपतेर्मतिदाः सन्तः सम्बन्धज्ञानकोविदाः ॥ १६ ॥
अनागतविधातारः कालज्ञानविशारदाः ।
अतिक्रान्तमशोचन्तः स राज्यफलमश्नुते ॥ १७ ॥

जिसके मन्त्री कुलीन, धनके लोभसे फोड़े न जा सकनेवाले, सदा राजाके साथ रहनेवाले, उन्हें अच्छी बुद्धि देनेवाले, सत्पुरुष, सम्बन्ध-ज्ञानकुशल, भविष्यका भलीभाँति प्रबन्ध करनेवाले, समयके ज्ञानमें निपुण तथा बीती हुई बातोंके लिये शोक न करनेवाले हों, वही राजा राज्यके फलका भागी होता है ॥ १६-१७ ॥

समदुःखसुखा यस्य सहायाः प्रियकारिणः ।
अर्थचिन्तापराः सत्याः स राज्यफलमश्नुते ॥ १८ ॥

जिसके सहायक राजाके सुखमें सुख और दुःखमें दुःख मानते हों, सदा उसका प्रिय करनेवाले हों और राजकीय धन कैसे बढ़े—इसकी चिन्तामें तत्पर तथा सत्यवादी हों, वह राजा राज्यका फल पाता है ॥ १८ ॥

यस्य नार्तो जनपदः संनिकर्षगतः सदा ।
अक्षुद्रः सत्पथालम्बी स राजा राज्यभाग्भवेत् ॥ १९ ॥

जिसका देश दुखी न हो तथा सदा समीपवर्ती बना रहे, जो स्वयं भी छोटे विचारका न होकर सदा सन्मार्गका अवलम्बन करनेवाला हो, वही राजा राज्यका भागी होता है ॥

कोशाख्यपटलं यस्य कोशवृद्धिकरैर्नरैः ।
आप्तैस्तुष्टैश्च सततं चीयते स नृपोत्तमः ॥ २० ॥

विश्वासपात्र, संतोषी तथा खजाना बढ़ानेका सतत प्रयत्न करनेवाले, खजांचियोंके द्वारा जिसके कोषकी सदा वृद्धि हो रही हो, वही राजाओंमें श्रेष्ठ है ॥ २० ॥

कोष्ठागारमसंहार्यैराप्तैः संचयतत्परैः ।
पात्रभूतैरलुब्धैश्च पाल्यमानं गुणी भवेत् ॥ २१ ॥

यदि लोभवश फूट न सकनेवाले, विश्वासपात्र, संग्रही, सुपात्र एवं निर्लोभ मनुष्य अन्नादि भण्डारकी रक्षामें तत्पर हों तो उसकी विशेष उन्नति होती है ॥ २१ ॥

व्यवहारश्च नगरे यस्य कर्मफलोदयः ।
दृश्यते शंखलिखितः स धर्मफलभाङ् नृपः ॥ २२ ॥

जिसके नगरमें कर्मके अनुसार फलकी प्राप्तिका प्रतिपादन करनेवाले शङ्खलिखित मुनिके बनाये हुए न्याय-व्यवहारका पालन होता देखा जाता है, वह राजा धर्मके फलका भागी होता है ॥ २२ ॥

संगृहीतमनुष्यश्च यो राजा राजधर्मवित् ।
षड्वर्गं प्रतिगृह्णाति स धर्मफलमश्नुते ॥ २३ ॥

जो राजा राजधर्मको जानता और अपने यहाँ अच्छे लोगोंको जुटाकर रखता है तथा अवसरके अनुसार संधि, विग्रह, यान, आसन, द्वैधीभाव एवं समाश्रय नामक छः गुणोंका उपयोग करता है, वह धर्मके फलका भागी होता है ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि राजधर्मानुशासनपर्वणि पञ्चदशाधिकशततमोऽध्यायः ॥ ११५ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत राजधर्मानुशासनपर्वमें एक सौ पंद्रहवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ११५ ॥

षोडशाधिकशततमोऽध्यायः

सज्जनोंके चरित्रके विषयमें दृष्टान्तरूपसे एक महर्षि और कुत्तेकी कथा

युधिष्ठिर उवाच

(न सन्ति कुलजा यत्र सहायाः पार्थिवस्य तु ।
अकुलीनास्तु कर्तव्या न वा भरतसत्तम ॥)

युधिष्ठिरने पूछा—भरतश्रेष्ठ ! जहाँ राजाके पास कोई कुलीन मनुष्य सहायक नहीं है, वहाँ वह नीच कुलके मनुष्योंको सहायक बना सकता है या नहीं ? ॥

भीष्म उवाच

अत्राप्युदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम् ।
निदर्शनं परं लोके सज्जनाचरिते सदा ॥ १ ॥

भीष्मजीने कहा—युधिष्ठिर ! इस विषयमें जानकार

लोग एक प्राचीन इतिहासका उदाहरण दिया करते हैं, जो लोकमें सत्पुरुषोंके आचरणके सम्बन्धमें सदा उत्तम आदर्श माना जाता है ॥ १ ॥

अस्यैवार्थस्य सदृशं यच्छ्रुतं मे तपोवने ।
जामदग्न्यस्य रामस्य यदुक्तमृषिसत्तमैः ॥ २ ॥

मैंने तपोवनमें इस विषयके अनुरूप बातें सुनी हैं, जिन्हें श्रेष्ठ महर्षियोंने जमदग्निनन्दन परशुरामजीसे कहा था ॥ २ ॥

वने महति कस्मिंश्चिदमनुष्यनिषेविते ।
ऋषिर्मूलफलाहारो नियतो नियतेन्द्रियः ॥ ३ ॥

किसी महान् निर्जन वनमें फल-मूलका आहार करके रहनेवाले एक नियमपरायण जितेन्द्रिय महर्षि रहते थे ॥ ३ ॥

दीक्षादमपरः शान्तः स्वाध्यायपरमः शुचिः ।
उपवासविशुद्धात्मा सततं सत्त्वमास्थितः ॥ ४ ॥

वे उत्तम व्रतकी दीक्षा लेकर इन्द्रियसंयम और मनोनिग्रह करते हुए प्रतिदिन पवित्रभावसे वेद-शास्त्रोंके स्वाध्यायमें लगे रहते थे । उपवाससे उनका अन्तःकरण शुद्ध हो गया था । वे सदा सत्त्वगुणमें स्थित थे ॥ ४ ॥

तस्य संदृश्य सद्भावमुपविष्टस्य धीमतः ।
सर्वे सत्त्वाः समीपस्था भवन्ति वनचारिणः ॥ ५ ॥

एक जगह बैठे हुए उन बुद्धिमान् महर्षिके सद्भावको देखकर सभी वनचारी जीव-जन्तु उनके निकट आया करते थे ॥ ५ ॥

सिंहव्याघ्रगणाः क्रूरा मत्ताश्चैव महागजाः ।
द्वीपिनः खड्गभल्लूका ये चान्ये भीमदर्शनाः ॥ ६ ॥

क्रूर स्वभाववाले सिंह और व्याघ्र, बड़े-बड़े मतवाले हाथी, चीते, गैंड़े, भालू तथा और भी जो भयानक दिखायी देनेवाले जानवर थे, वे सब उनके पास आते थे ॥ ६ ॥

ते सुखप्रश्नदाः सर्वे भवन्ति क्षतजाशनाः ।
तस्यर्षेः शिष्यवच्चैव न्यग्भूताः प्रियकारिणः ॥ ७ ॥

यद्यपि वे सारेके सारे मांसाहारी हिंसक जानवर थे, तो भी उस ऋषिके शिष्यकी भाँति नीचे सिर किये उनके पास बैठते थे, उनके सुख और स्वास्थ्यकी बात पूछते थे और सदा उनका प्रिय करते थे ॥ ७ ॥

दत्त्वा च ते सुखप्रश्नं सर्वे यान्ति यथागतम् ।
ग्राम्यस्त्वेकः पशुस्तत्र नाजहात् स महामुनिम् ॥ ८ ॥

वे सब जानवर ऋषिसे उनका कुशल-समाचार पूछकर जैसे आते, वैसे लौट जाते थे; परंतु एक ग्रामीण कुत्ता वहाँ उन महामुनिको छोड़कर कहीं नहीं जाता था ॥ ८ ॥

भक्तोऽनुरक्तः सततमुपवासकृशोऽबलः ।
फलमूलोदकाहारः शान्तः शिष्टाकृतिर्यथा ॥ ९ ॥

वह उन महामुनिका भक्त और उनमें अनुरक्त था; उपवास करनेके कारण दुर्बल एवं निर्बल हो गया था । वह भी फल-मूल और जलका आहार करके रहता, मनको वशमें रखता और साधु-पुरुषोंके समान जीवन बिताता था ॥ ९ ॥

तस्यर्षेरुपविष्टस्य पादमूले महामते ।
मनुष्यवद्गतो भावो स्नेहबद्धोऽभवद् भृशम् ॥ १० ॥

महामते ! उन महर्षिके चरणप्रान्तमें बैठे हुए उस कुत्तेके मनमें मनुष्यके समान भाव (स्नेह) हो गया । वह उनके प्रति अत्यन्त स्नेहसे बँध गया ॥ १० ॥

ततोऽभ्ययान्महावीर्यो द्वीपी क्षतजभोजनः ।
स्वार्थमत्यन्तसंतुष्टः क्रूरकाल इवान्तकः ॥ ११ ॥

तदनन्तर एक दिन कोई महाबली रक्तभोजी चीता अत्यन्त प्रसन्न होकर उस कुत्तेको पकड़नेके लिये क्रूर काल एवं यमराजके समान उधर आ निकला ॥ ११ ॥

लेलिह्यमानस्तृषितः पुच्छास्फोटनतत्परः ।
व्यादितास्यः क्षुधाभुग्नः प्रार्थयानस्तदामिषम् ॥ १२ ॥

वह बारंबार अपने दोनों जबड़े चाटता और पूँछ फटकारता था, उसे प्यास सता रही थी। उसने मुँह फैला रक्खा था । भूखसे उसकी व्याकुलता बढ़ गयी थी और वह उस कुत्तेका मांस प्राप्त करना चाहता था ॥ १२ ॥

दृष्ट्वा तं क्रूरमायान्तं जीवितार्थी नराधिप ।
प्रोवाच श्वा मुनिं तत्र तच्छृणुष्व विशाम्पते ॥ १३ ॥

प्रजानाथ ! नरेश्वर ! उस क्रूर चीतेको आते देख अपनी प्राणरक्षा चाहते हुए वहाँ कुत्तेने मुनिसे जो कुछ कहा, वह सुनो— ॥ १३ ॥

श्वशत्रुर्भगवन्नेष द्वीपी मां हन्तुमिच्छति ।
त्वत्प्रसादाद् भयं न स्यादस्मान्मम महामुने ॥ १४ ॥
तथा कुरु महाबाहो सर्वज्ञस्त्वं न संशयः ।

'भगवन् ! यह चीता कुत्तोंका शत्रु है और मुझे मार डालना चाहता है । महामुने ! महाबाहो ! आप ऐसा करें, जिससे आपकी कृपासे मुझे इस चीतेसे भय न हो। आप सर्वज्ञ हैं, इसमें संशय नहीं है।(अतः मेरी प्रार्थना सुनकर उसको अवश्य पूर्ण करें)' ॥ १४½ ॥

स मुनिस्तस्य विज्ञाय भावज्ञो भयकारणम् ।
रुतज्ञः सर्वसत्त्वानां तमैश्वर्यसमन्वितः ॥ १५ ॥

वे सिद्धिके ऐश्वर्यसे सम्पन्न मुनि सबके मनोभावको जाननेवाले और समस्त प्राणियोंकी बोली समझनेवाले थे । उन्होंने उस कुत्तेके भयका कारण जानकर उससे कहा ॥ १५ ॥

मुनिरुवाच

न भयं द्वीपिनः कार्यं मृत्युतस्ते कथंचन ।
एष श्वरूपरहितो द्वीपी भवसि पुत्रक ॥ १६ ॥

मुनिने कहा—बेटा ! अपने लिये मृत्युस्वरूप इस चीतेसे तुम्हें किसी प्रकार भय नहीं करना चाहिये । यह लो, तुम अभी कुत्तेके रूपसे रहित चीता हुए जाते हो ॥ १६ ॥

ततः श्वा द्वीपितां नीतो जाम्बूनदनिभाकृतिः ।
चित्राङ्गो विस्फुरद्दंष्ट्रो वने वसति निर्भयः ॥ १७ ॥

तदनन्तर मुनिने कुत्तेको चीता बना दिया । उसकी आकृति सुवर्णके समान चमकने लगी । उसका सारा शरीर

[illegible]संवासजं परं स्नेहमृषिणा कुर्वता तदा ।
स द्वीपी व्याघ्रतां नीतो रिपूणां बलवत्तरः ॥ २१ ॥

तब सहवासजनित उत्तम स्नेहका निर्वाह करते हुए महर्षिने चीतेको बाघ बना दिया । अब वह अपने शत्रुओंके लिये अत्यन्त प्रबल हो उठा ॥ २१ ॥

ततो दृष्ट्वा स शार्दूलो नाहनत् तं विशाम्पते ।
स तु श्वा व्याघ्रतां प्राप्य बलवान् पिशिताशनः ॥ २२ ॥

प्रजानाथ ! तदनन्तर वह बाघ उसे अपने समान रूपमें देखकर मार न सका । उधर वह कुत्ता बलवान् बाघ होकर मांसका आहार करने लगा ॥ २२ ॥

न मूलफलभोगेषु स्पृहामप्यकरोत् तदा ।
यथा मृगपतिर्नित्यं प्रकाङ्क्षति वनौकसः ।
तथैव स महाराज व्याघ्रः समभवत् तदा ॥ २३ ॥

महाराज ! अब तो उसे फल-मूल खानेकी कभी इच्छा ही नहीं होती थी । जैसे वनराज सिंह प्रतिदिन जन्तुओंका मांस खाना चाहता है, उसी प्रकार वह बाघ भी उस समय मांसभोजी हो गया ॥ २३ ॥

[illegible] ऋषिसंवादे षोडशाधिकशततमोऽध्यायः ॥ ११६ ॥

[illegible]धर्मानुशासनपर्वमें कुत्ता और ऋषिका संवादविषयक [illegible]ध्याय पूरा हुआ ॥ ११६ ॥

[illegible]श्लोक मिलाकर कुल २४ श्लोक हैं)

सप्तदशाधिकशततमोऽध्यायः

कुत्तेका शरभकी योनिमें जाकर महर्षिके शापसे पुनः कुत्ता हो जाना

भीष्म उवाच

[illegible] सुप्तो हतैर्मृगैः ।
[illegible] तमुद्देशं मत्तो मेघ इवोत्थितः ॥ १ ॥

भीष्मजी कहते हैं—राजन् ! वह बाघ अपने मारे हुए [illegible] कुटीके पास ही सो रहा था । [illegible] उठे हुए मेघके समान काला एक [illegible] आ पहुँचा ॥ १ ॥

[illegible] प्रांशुः पद्मी विततकुम्भकः ।
[illegible] महाकायो मेघगम्भीरनिःस्वनः ॥ २ ॥

[illegible] धारा चू रही थी । उसका [illegible] विस्तृत था । उसके ऊपर कमलका चिह्न [illegible] उसके दाँत बड़े सुन्दर थे । वह विशालकाय [illegible] गम्भीर गर्जना करता था ॥ २ ॥

[illegible] मदोत्कटं बलगर्वितम् ।
[illegible] भयान्त्ऋषिं शरणं ययौ ॥ ३ ॥

[illegible] मदोन्मत्त गजराजको आते देख वह [illegible] पुनः ऋषिकी शरणमें गया ॥ ३ ॥

[illegible] कुञ्जरत्वं व्याघ्रं तमृषिसत्तमः ।
[illegible] दृष्ट्वा स भीतो ह्यभवद् गजः ॥ ४ ॥

तब उन मुनिश्रेष्ठने उस बाघको हाथी बना दिया । उस महामेघके समान हाथीको देखकर वह जंगली हाथी भयभीत होकर भाग गया ॥ ४ ॥

ततः कमलषण्डानि शल्लकीगहनानि च ।
व्यचरत् स मुदायुक्तः पद्मरेणुविभूषितः ॥ ५ ॥

तदनन्तर वह हाथी कमलोंके परागसे विभूषित और आनन्दित हो कमलसमूहों तथा शल्लकी लताकी झाड़ियोंमें विचरने लगा ॥ ५ ॥

कदाचिद् भ्रममाणस्य हस्तिनः सम्मुखं तदा ।
ऋषेस्तस्योटजस्थस्य कालोऽगच्छन्निशानिशम् ॥ ६ ॥

कभी-कभी वह हाथी आश्रमवासी ऋषिके सामने भी घूमा करता था । इस तरह उसका कितनी ही रातोंका समय व्यतीत हो गया ॥ ६ ॥

अथाजगाम तं देशं केसरी केसरारुणः ।
गिरिकन्दरजो भीमः सिंहो नागकुलान्तकः ॥ ७ ॥

तदनन्तर उस प्रदेशमें एक केसरी सिंह आया, जो अपनी केसरके कारण कुछ लाल-सा जान पड़ता था । पर्वतकी कन्दरामें पैदा हुआ वह भयानक सिंह गजवंशका विनाश करनेवाला काल था ॥ ७ ॥

तं दृष्ट्वा सिंहमायान्तं नागः सिंहभयार्दितः ।
ऋषिं शरणमापेदे वेपमानो भयातुरः ॥ ८ ॥

उस सिंहको आते देख वह हाथी उसके भयसे पीड़ित एवं आतुर हो थरथर काँपने लगा और ऋषिकी शरणमें गया ॥ ८ ॥

स ततः सिंहतां नीतो नागेन्द्रो मुनिना तदा ।
वन्यं नागणयत् सिंहं तुल्यजातिसमन्वयात् ॥ ९ ॥

तब मुनिने उस गजराजको सिंह बना दिया । अब वह समान जातिके सम्बन्धसे जंगली सिंहको कुछ भी नहीं गिनता था ॥ ९ ॥

दृष्ट्वा च सोऽभवत् सिंहो वन्यो भयसमन्वितः ।
स चाश्रमेऽवसत् सिंहस्तस्मिन्नेव महावने ॥ १० ॥

उसे देखकर जंगली सिंह स्वयं ही डर गया । वह सिंह बना हुआ कुत्ता महावनमें उसी आश्रममें रहने लगा ॥ १० ॥

तद्भयात् पशवो नान्ये तपोवनसमीपतः ।
व्यदृश्यन्त तदा त्रस्ता जीविताकाङ्क्षिणस्तथा ॥ ११ ॥

उसके भयसे जंगलके दूसरे पशु डर गये और अपनी जान बचानेकी इच्छासे तपोवनके समीप कभी नहीं दिखायी दिये ॥ ११ ॥

कदाचित् कालयोगेन सर्वप्राणिविहिंसकः ।
बलवान् क्षतजाहारो नानासत्त्वभयंकरः ॥ १२ ॥
अष्टपादूर्ध्वनयनः शरभो वनगोचरः ।
तं सिंहं हन्तुमागच्छन्मुनेस्तस्य निवेशनम् ॥ १३ ॥

तदनन्तर कालयोगसे वहाँ एक बलवान् वनवासी समस्त प्राणियोंका हिंसक शरभ आ पहुँचा, जिसके आठ पैर और ऊपरकी ओर नेत्र थे । वह रक्त पीनेवाला जानवर नाना प्रकारके वन-जन्तुओंके मनमें भय उत्पन्न कर रहा था । वह उस सिंहको मारनेके लिये मुनिके आश्रमपर आया ॥ १२-१३ ॥

(तं दृष्ट्वा शरभं यान्तं सिंहः परभयातुरः ।
ऋषिं शरणमापेदे वेपमानः कृताञ्जलिः ॥)

शरभको आते देख सिंह अत्यन्त भयसे व्याकुल हो काँपता हुआ हाथ जोड़कर मुनिकी शरणमें आया ॥

तं मुनिः शरभं चक्रे बलोत्कटमरिंदम ।
ततः स शरभो वन्यो मुनेः शरभमग्रतः ॥ १४ ॥
दृष्ट्वा बलिनमत्युग्रं द्रुतं सम्प्राद्रवद् वनात् ।

शत्रुदमन युधिष्ठिर ! तब मुनिने उसे बलोन्मत्त शरभ बना दिया । जंगली शरभ उस मुनिनिर्मित अत्यन्त भयंकर एवं बलवान् शरभको सामने देखकर भयभीत हो तुरंत ही उस वनसे भाग गया ॥ १४½ ॥

स एवं शरभस्थाने संन्यस्तो मुनिना तदा ॥ १५ ॥
मुनेः पार्श्वगतो नित्यं शरभः सुखमाप्तवान् ।

इस प्रकार मुनिने उस कुत्तेको उस समय शरभके स्थानमें प्रतिष्ठित कर दिया । वह शरभ प्रतिदिन मुनिके पास सुखसे रहने लगा ॥ १५½ ॥

ततः शरभसंत्रस्ताः सर्वे मृगगणास्तदा ॥ १६ ॥
दिशः सम्प्राद्रवन् राजन् भयाज्जीवितकाङ्क्षिणः ।

राजन् ! उस शरभसे भयभीत हो जंगलके सभी पशु अपनी जान बचानेके लिये डरके मारे सम्पूर्ण दिशाओंमें भाग गये ॥ १६½ ॥

शरभोऽप्यतिसंहृष्टो नित्यं प्राणिवधे रतः ॥ १७ ॥
फलमूलाशनं कर्तुं नैच्छत् स पिशिताशनः ।

शरभ भी अत्यन्त प्रसन्न हो सदा प्राणियोंके वधमें तत्पर रहता था । वह मांसभोजी जीव फल-मूल खानेकी कभी इच्छा नहीं करता था ॥ १७½ ॥

ततो रुधिरतर्षेण बलिना शरभोऽन्वितः ॥ १८ ॥
इयेष तं मुनिं हन्तुमकृतज्ञः श्वयोनिजः ।

तदनन्तर एक दिन रक्तकी प्रबल प्याससे पीड़ित वह शरभ, जो कुत्तेकी जातिसे पैदा होनेके कारण कृतघ्न बन गया था, मुनिको ही मार डालनेकी इच्छा करने लगा ॥ १८½ ॥

(चिन्तयामास च तदा शरभः श्वानपूर्वकः ।
अस्य प्रभावात् सम्प्राप्तो वाङ्मात्रेण तु केवलम् ॥
शरभत्वं सुदुष्प्रापं सर्वभूतभयङ्करम् ।

उस पहलेके कुत्ते और वर्तमानकालके शरभने सोचा कि इन महर्षिके प्रभावसे—इनके वाणीद्वारा केवल कह देनेमात्रसे मैंने परम दुर्लभ शरभका शरीर पा लिया, जो समस्त प्राणियोंके लिये भयंकर है ॥

अन्येऽप्यत्र भयत्रस्ताः सन्ति हस्तिभयार्दिताः ॥
मुनिमाश्रित्य जीवन्तो मृगाः पक्षिगणास्तथा ।
तेषामपि कदाचिच्च शरभत्वं प्रयच्छति ॥
सर्वसत्त्वोत्तमं लोके बलं यत्र प्रतिष्ठितम् ।

इन मुनीश्वरकी शरण लेकर जीवन धारण करनेवाले दूसरे भी बहुत-से मृग और पक्षी हैं, जो हाथी तथा दूसरे भयानक जन्तुओंसे भयभीत रहते हैं । सम्भव है, ये उन्हें भी कदाचित् शरभका शरीर प्रदान कर दें, जहाँ संसारके सभी प्राणियोंसे श्रेष्ठ बल प्रतिष्ठित है ॥

पक्षिणामप्ययं दद्यात् कदाचिद् गारुडं बलम् ॥
यावदन्यस्य सम्प्रीतः कारुण्यं च समाश्रितः ।
न ददाति बलं तुष्टः सत्त्वस्यान्यस्य कस्यचित् ॥
तावदेनमहं विप्रं वधिष्यामि च शीघ्रतः ।
स्थातुं मया शक्यमिह मुनिघातान्न संशयः ॥)

ये चाहें तो कभी पक्षियोंको भी गरुड़का बल दे सकते हैं । अतः दयाके वशीभूत हो जबतक किसी दूसरे जीवपर संतुष्ट या प्रसन्न हो ये उसे ऐसा ही बल नहीं दे देते, तबतक ही इन ब्रह्मर्षिका मैं शीघ्र वध कर डालूँगा । मुनिका वध हो जानेके पश्चात् मैं यहाँ बेखटके रह सकूँगा, इसमें संशय नहीं है ॥

ततस्तेन तपःशक्त्या विदितो ज्ञानचक्षुषा ॥ १९ ॥

[illegible] मुनिः [illegible] ।
[illegible] तदनन्तर इस महा- [illegible] ॥ १९ ॥'

[illegible] ॥ २० ॥
[illegible] सिंहत्वमागतः ।
[illegible] शरभतां गतः ॥ २१ ॥

[illegible] फिर चीता बना, चीतेसे [illegible] मदोन्मत्त हाथी हुआ, हाथीसे [illegible] सिंह रहकर फिर शरभका [illegible] ॥ २०-२१ ॥

मया स्नेहपरीतेन विसृष्टो न कुलान्वयः ।
यस्मादेवमपापं मां पाप हिंसितुमिच्छसि ।
तस्मात् स्वयोनिमापन्नः श्वैव त्वं हि भविष्यसि ॥ २२ ॥

'यद्यपि तू नीच कुलमें पैदा हुआ था, तो भी मैंने स्नेहवश तेरा परित्याग नहीं किया । पापी ! तेरे प्रति मेरे मनमें कभी पापभाव नहीं हुआ था, तो भी इस प्रकार तू मेरी हत्या करना चाहता है; अतः तू फिर अपनी पूर्वयोनिमें ही आकर कुत्ता हो जा' ॥ २२ ॥

ततो मुनिजनद्वेष्टा दुष्टात्मा प्राकृतोऽबुधः ।
ऋषिणा शरभः शप्तस्तद्रूपं पुनरासवान् ॥ २३ ॥

महर्षिके इस प्रकार शाप देते ही वह मुनिजनद्रोही दुष्टात्मा नीच और मूर्ख शरभ फिर कुत्तेके रूपमें परिणत हो गया ॥ २३ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि राजधर्मानुशासनपर्वणि श्वर्षिसंवादे सप्तदशाधिकशततमोऽध्यायः ॥ ११७ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत राजधर्मानुशासनपर्वमें कुत्ता तथा ऋषिका संवादविषयक एक सौ सत्रहवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ११७ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठके ७ श्लोक मिलाकर कुल ३० श्लोक हैं)

अष्टादशाधिकशततमोऽध्यायः

राजाके सेवक, सचिव तथा सेनापति आदि और राजाके उत्तम गुणोंका वर्णन एवं उनसे लाभ

भीष्म उवाच

[illegible] स्वयोनिमापन्नः परं दैन्यमुपागतः ।
[illegible] पापस्तपोवनबहिष्कृतः ॥ १ ॥

भीष्मजी कहते हैं—राजन् ! इस प्रकार अपनी योनिमें [illegible] दीनदशाको पहुँच गया । ऋषिने [illegible] तपोवनसे बाहर निकाल दिया ॥ १ ॥

[illegible] मतिमता विदित्वा सत्यशौचताम् ।
[illegible] प्रकृतिं सत्त्वं श्रुतं वृत्तं कुलं दमम् ॥ २ ॥
[illegible] बलं वीर्यं प्रभावं प्रश्रयं क्षमाम् ।
[illegible] योग्याः स्युस्तत्र स्थाप्याः सुरक्षिताः ॥ ३ ॥

[illegible] बुद्धिमान् राजाको चाहिये कि वह पहले [illegible] सचाई, शुद्धता, सरलता, स्वभाव, शास्त्रज्ञान, [illegible] कुलीनता, जितेन्द्रियता, दया, बल, पराक्रम, [illegible] तथा क्षमा आदिका पता लगाकर जो सेवक [illegible] हों, उन्हें उसीमें लगावे और उनकी [illegible] ॥ २-३ ॥

[illegible] सचिवं कर्तुमर्हति ।
[illegible] न राजा सुखमेधते ॥ ४ ॥

[illegible] भी अपना मन्त्री न बनावे; [illegible] राजाको न तो [illegible] और न उसकी उन्नति ही होती है ॥ ४ ॥

कुलजः प्राकृतो राज्ञा स्वकुलीनतया सदा ।
न पापे कुरुते बुद्धिं भिद्यमानोऽप्यनागसि ॥ ५ ॥

कुलीन पुरुष यदि कभी राजाके द्वारा विना अपराधके ही तिरस्कृत हो जाय और लोग उसे फोड़ें या उभाड़ें तो भी वह अपनी कुलीनताके कारण राजाका अनिष्ट करनेकी बात कभी मनमें नहीं लाता है ॥ ५ ॥

अकुलीनस्तु पुरुषः प्राकृतः साधुसंश्रयात् ।
दुर्लभैश्वर्यतां प्राप्तो निन्दितः शत्रुतां व्रजेत् ॥ ६ ॥

किंतु नीच कुलका मनुष्य साधुस्वभावके राजाका आश्रय पाकर यद्यपि दुर्लभ ऐश्वर्यका भोग करता है तथापि यदि राजाने एक बार भी उसकी निन्दा कर दी तो वह उसका शत्रु बन जाता है ॥ ६ ॥

कुलीनं शिक्षितं प्राज्ञं ज्ञानविज्ञानपारगम् ।
सर्वशास्त्रार्थतत्त्वज्ञं सहिष्णुं देशजं तथा ॥ ७ ॥
कृतज्ञं बलवन्तं च क्षान्तं दान्तं जितेन्द्रियम् ।
अलुब्धं लब्धसंतुष्टं स्वामिमित्रबुभूषकम् ॥ ८ ॥
सचिवं देशकालज्ञं सत्त्वसंग्रहणे रतम् ।
सततं युक्तमनसं हितैषिणमतन्द्रितम् ॥ ९ ॥
युक्तचारं स्वविषये संधिविग्रहकोविदम् ।
राज्ञस्त्रिवर्गवेत्तारं पौरजानपदप्रियम् ॥ १० ॥

खातकव्यूहतत्त्वज्ञं बलहर्षणकोविदम्।
इङ्गिताकारतत्त्वज्ञं यात्राज्ञानविशारदम्॥ ११॥
हस्तिशिक्षासु तत्त्वज्ञमहंकारविवर्जितम्।
प्रगल्भं दक्षिणं दान्तं बलिनं युक्तकारिणम्॥ १२॥
चौक्षं चौक्षजनाकीर्णं सुमुखं सुखदर्शनम्।
नायकं नीतिकुशलं गुणचेष्टासमन्वितम्॥ १३॥
अस्तब्धं प्रश्रितं श्लक्ष्णं मृदुवादिनमेव च।
धीरं शूरं महर्द्धिं च देशकालोपपादकम्॥ १४॥

अतः राजा उसीको मन्त्री बनावे, जो कुलीन, सुशिक्षित, विद्वान्, ज्ञान-विज्ञानमें पारङ्गत, सब शास्त्रोंका तत्त्व जाननेवाला, सहनशील, अपने देशका निवासी, कृतज्ञ, बलवान्, क्षमाशील, मनका दमन करनेवाला, जितेन्द्रिय, निर्लोभ, जो मिल जाय उसीसे संतोष करनेवाला, स्वामी और उसके मित्रकी उन्नति चाहनेवाला देश-कालका ज्ञाता, आवश्यक वस्तुओंके संग्रहमें तत्पर, सदा मनको वशमें रखनेवाला, स्वामीका हितैषी, आलस्यरहित, अपने राज्यमें गुप्तचर लगाये रखनेवाला, संधि और विग्रहके अवसरको समझनेमें कुशल, राजाके धर्म, अर्थ और कामकी उन्नतिका उपाय जाननेवाला, नगर और ग्रामवासी लोगोंका प्रिय, खाई और सुरंग खुदवाने तथा व्यूह निर्माण करानेकी कलामें कुशल, अपनी सेनाका उत्साह बढ़ानेमें प्रवीण, शकल-सूरत और चेष्टा देखकर ही मनके यथार्थ भावको समझ लेनेवाला, शत्रुओंपर चढ़ाई करनेके अवसरको समझनेमें विशेष चतुर, हाथीकी शिक्षाके यथार्थ तत्त्वको जाननेवाला, अहंकाररहित, निर्भीक, उदार, संयमी, बलवान्, उचित कार्य करनेवाला, शुद्ध, शुद्ध पुरुषोंसे युक्त, प्रसन्नमुख, प्रियदर्शन, नेता, नीतिकुशल, श्रेष्ठ गुण और उत्तम चेष्टाओंसे सम्पन्न, उद्दण्डतारहित, विनयशील, स्नेही, मृदुभाषी, धीर, शूरवीर, महान् ऐश्वर्यसे सम्पन्न तथा देश और कालके अनुसार कार्य करनेवाला हो॥ ७—१४॥

सचिवं यः प्रकुरुते न चैनमवमन्यते।
तस्य विस्तीर्यते राज्यं ज्योत्स्ना ग्रहपतेरिव॥ १५॥

जो राजा ऐसे योग्य पुरुषको सचिव (मन्त्री) बनाता है और उसका कभी अनादर नहीं करता है, उसका राज्य चन्द्रमाकी चाँदनीके समान चारों ओर फैल जाता है॥ १५॥

एतैरेव गुणैर्युक्तो राजा शास्त्रविशारदः।
एष्टव्यो धर्मपरमः प्रजापालनतत्परः॥ १६॥

राजाको भी ऐसे ही गुणोंसे युक्त होना चाहिये। साथ ही उसमें शास्त्रज्ञान, धर्मपरायणता तथा प्रजापालनकी लगन भी होनी चाहिये; ऐसा ही राजा प्रजाजनोंके लिये वाञ्छनीय होता है॥ १६॥

धीरो मर्षी शुचिस्तीक्ष्णः काले पुरुषकारवित्।
शुश्रूषुः श्रुतवाञ्श्रोता ऊहापोहविशारदः॥ १७॥

राजा धीर, क्षमाशील, पवित्र, समय-समयपर तीक्ष्ण, पुरुषार्थको जाननेवाला, सुननेके लिये उत्सुक, वेदज्ञ, श्रवण-परायण तथा तर्क-वितर्कमें कुशल हो॥ १७॥

मेधावी धारणायुक्तो यथान्यायोपपादकः।
दान्तः सदा प्रियाभाषी क्षमावांश्च विपर्यये॥ १८॥

मेधावी, धारणाशक्तिसे सम्पन्न, यथोचित कार्य करनेवाला, इन्द्रियसंयमी, प्रिय वचन बोलनेवाला तथा शत्रुको भी क्षमा प्रदान करनेवाला हो॥ १८॥

दानाच्छेदे स्वयंकारी श्रद्धालुः सुखदर्शनः।
आर्तहस्तप्रदो नित्यमाप्तामात्यो नये रतः॥ १९॥

राजाको दानकी परम्पराका कभी उच्छेद न करनेवाला, श्रद्धालु, दर्शनमात्रसे सुख देनेवाला, दीन-दुखियोंको सदा हाथका सहारा देनेवाला, विश्वसनीय मन्त्रियोंसे युक्त तथा नीतिपरायण होना चाहिये॥ १९॥

नाहंवादी न निर्द्वन्द्वो न यत्किंचनकारकः।
कृते कर्मण्यमात्यानां कर्ता भृत्यजनप्रियः॥ २०॥

वह अहङ्कार छोड़ दे, द्वन्द्वोंसे प्रभावित न हो, जो ही मनमें आवे वही न करने लगे, मन्त्रियोंके किये हुए कर्मका अनुमोदन करे और सेवकोंपर प्रेम रक्खे॥ २०॥

संगृहीतजनोऽस्तब्धः प्रसन्नवदनः सदा।
सदा भृत्यजनापेक्षी न क्रोधी सुमहामनाः॥ २१॥

अच्छे मनुष्योंका संग्रह करे, जडताको त्याग दे, सदा प्रसन्नमुख रहे, सेवकोंका सदा ख्याल रक्खे, किसीपर क्रोध न करे, अपना हृदय विशाल बनाये रक्खे॥ २१॥

युक्तदण्डो न निर्दण्डो धर्मकार्यानुशासनः।
चारनेत्रः प्रजावेक्षी धर्मार्थकुशलः सदा॥ २२॥

न्यायोचित दण्ड दे, दण्डका कभी त्याग न करे, धर्मकार्यका उपदेश दे, गुप्तचररूपी नेत्रोंद्वारा राज्यकी देखभाल करे, प्रजापर कृपादृष्टि रक्खे तथा सदा ही धर्म और अर्थके उपार्जनमें कुशलतापूर्वक लगा रहे॥ २२॥

राजा गुणशताकीर्ण एष्टव्यस्तादृशो भवेत्।
योधाश्चैव मनुष्येन्द्र सर्वे गुणगणैर्वृताः॥ २३॥
अन्वेष्टव्याः सुपुरुषाः सहाया राज्यधारणे।
न विमानयितव्यास्ते राज्ञा वृद्धिमभीप्सता॥ २४॥

ऐसे सैकड़ों गुणोंसे सम्पन्न राजा ही प्रजाके लिये वाञ्छनीय होता है। नरेन्द्र! राज्यकी रक्षामें सहायता देनेवाले समस्त सैनिक भी इसी प्रकार श्रेष्ठ गुण-समूहोंसे सम्पन्न होने चाहिये, इस कार्यके लिये अच्छे पुरुषोंकी ही खोज करनी चाहिये तथा अपनी उन्नतिकी इच्छा रखनेवाले राजाको कभी अपने सैनिकोंका अपमान नहीं करना चाहिये॥

योधाः समरशौटीराः कृतज्ञाः शस्त्रकोविदाः।
धर्मशास्त्रसमायुक्ताः पदातिजनसंवृताः॥ २५॥
अभया गजपृष्ठस्था रथचर्याविशारदाः।
इष्वस्त्रकुशला यस्य तस्येयं नृपतेर्मही॥ २६॥

[illegible] दिव्यलोकों [illegible]
[illegible] उसके समान, दैवत
[illegible] पीड़ित दैठकर गुप्त
[illegible] किया, तथा मनुष्योंमें
[illegible] इस भूमण्डलका
[illegible]

[illegible] सदा ।
[illegible] तस्य सा मही ॥

[illegible] तथा सेवकोंके प्रति शठता [illegible] कुशल है, उसी राजाके [illegible] ॥

[illegible] निद्रा च व्यसनान्यतिहास्यता ।
[illegible] तस्यैव सुचिरं मही ॥

[illegible] निद्रा, दुर्व्यसन तथा अत्यन्त [illegible] नहीं है, उसीके अधिकारमें यह [illegible] ॥

[illegible] वर्णानां चैव रक्षिता ।
[illegible] सदा यस्य तस्येयं सुचिरं मही ॥

[illegible] महान् उत्साही, चारों [illegible] तत्पर रहता है, उसीके [illegible] स्थिर रहती है ॥

[illegible]मार्गानुसरणं नित्यमुत्थानमेव च ।
[illegible] तस्येयं सुचिरं मही ॥

[illegible] मार्गका अनुसरण करता, सदा ही उद्योगमें तत्पर रहता और शत्रुओंकी अवहेलना नहीं करता, उसके अधिकारमें दीर्घकालतक इस पृथ्वीका राज्य बना रहता है ॥

उत्थानं चैव दैवं च तयोर्नानात्वमेव च ।
मनुना वर्णितं पूर्वं वक्ष्ये शृणु तदेव हि ॥

पूर्वकालमें मनुजीने पुरुषार्थ, दैव तथा उन दोनोंके अनेक भेदोंका वर्णन किया था । वह बताता हूँ, सुनो ॥

उत्थानं हि नरेन्द्राणां बृहस्पतिरभाषत ।
नयानयविधानज्ञः सदा भव कुरूद्वह ॥

कुरुश्रेष्ठ ! बृहस्पतिजीने नरेशोंके लिये सदा ही उद्योगशील बने रहनेका उपदेश दिया है । तुम सदा नीति और अनीतिके विधानको जानो ॥

दुर्हृदां छिद्रदर्शी यः सुहृदामुपकारवान् ।
विशेषविच्च भृत्यानां स राज्यफलमश्नुते ॥)

जो शत्रुओंके छिद्र देखे, सुहृदोंका उपकार करे और सेवकोंकी विशेषताको समझे, वह राज्यके फलका भागी होता है॥

सर्वसंग्रहणे युक्तो नृपो भवति यः सदा ।
उत्थानशीलो मित्राढ्यः स राजा राजसत्तमः ॥ २७ ॥

जो राजा सदा सबके संग्रहमें संलग्न, उद्योगशील और मित्रोंसे सम्पन्न होता है, वही सब राजाओंमें श्रेष्ठ है ॥ २७ ॥

शक्या चाश्वसहस्रेण वीरारोहेण भारत ।
संगृहीतमनुष्येण कृत्स्ना जेतुं वसुन्धरा ॥ ॥ २८ ॥

भारत ! जो उपर्युक्त मनुष्योंका संग्रह करता है, वह केवल एक सहस्र-अश्वारोही वीरोंके द्वारा सारी पृथ्वीको जीत सकता है ॥ २८ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि राजधर्मानुशासनपर्वणि ऋषिसंवादे अष्टादशाधिकशततमोऽध्यायः ॥ ११८ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत राजधर्मानुशासन पर्वमें कुत्ते और ऋषिका संवादविषयक एक सौ अठारहवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ११८ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठके ७ श्लोक मिलाकर कुल ३५ श्लोक हैं)

एकोनविंशत्यधिकशततमोऽध्यायः

सेवकोंको उनके योग्य स्थानपर नियुक्त करने, कुलीन और सत्पुरुषोंका संग्रह करने, कोष बढ़ाने तथा सबकी देखभाल करनेके लिये राजाको प्रेरणा

भीष्म उवाच

[illegible] भृत्यान् स्वे स्वे स्थाने नराधिपः ।
[illegible] स राज्यफलमश्नुते ॥ १ ॥

भीष्मजी कहते हैं—युधिष्ठिर ! इस प्रकार जो राजा [illegible] स्थानपर रखते हुए कार्योंमें [illegible] फलका भागी होता है ॥ १ ॥

[illegible] प्रमाणमभिलङ्घनः ।
[illegible] प्रमाद्यति ॥२॥

[illegible] सिद्ध होता है कि कुत्ता [illegible] न वह निश्चयके योग्य रह जाता है और न कभी उसका सत्कार ही होता है । कुत्तेको उसकी जगहसे उठाकर ऊँचे कदापि न बिठावे; क्योंकि वह दूसरे किसी ऊँचे स्थानपर चढ़कर प्रमाद करने लगता है (इसी प्रकार किसी हीन कुलके मनुष्यको उसकी योग्यता और मर्यादासे ऊँचा स्थान मिल जाय तो वह अहंकार-वश उच्छृङ्खल हो जाता है) ॥ २ ॥

स्वजातिगुणसम्पन्नाः स्वेषु कर्मसु संस्थिताः ।
प्रकर्तव्या ह्यमात्यास्तु नास्थाने प्रक्रिया क्षमा ॥ ३ ॥

जो अपनी जातिके गुणसे सम्पन्न हों अपने वर्णोचित कर्मोंमें ही लगे रहते हों, उन्हें मन्त्री बनाना चाहिये; किंतु

किसीको भी उसकी योग्यतासे बाहरके कार्यमें नियुक्त करना उचित नहीं है ॥ ३ ॥

अनुरूपाणि कर्माणि भृत्येभ्यो यः प्रयच्छति ।
स भृत्यगुणसम्पन्नो राजा फलमुपाश्नुते ॥ ४ ॥

जो राजा अपने सेवकोंको उनकी योग्यताके अनुरूप कार्य सौंपता है, वह भृत्यके गुणोंसे सम्पन्न हो उत्तम फलका भागी होता है ॥ ४ ॥

शरभः शरभस्थाने सिंहः सिंह इवोर्जितः ।
व्याघ्रो व्याघ्र इव स्थाप्यो द्वीपी द्वीपी यथा तथा ॥ ५ ॥

शरभको शरभकी जगह, बलवान् सिंहको सिंहके स्थानमें, बाघको बाघकी जगह तथा चीतेको चीतेके स्थानपर नियुक्त करना चाहिये (तात्पर्य यह कि चारों वर्णोंके लोगोंको उनकी मर्यादाके अनुसार कार्य देना उचित है) ॥ ५ ॥

कर्मस्विहानुरूपेषु न्यस्या भृत्या यथाविधि ।
प्रतिलोमं न भृत्यास्ते स्थाप्याः कर्मफलैषिणा ॥ ६ ॥

सब सेवकोंको उनके योग्य कार्यमें ही लगाना चाहिये । कर्मफलकी इच्छा करनेवाले राजाको चाहिये कि वह अपने सेवकोंको ऐसे कार्योंमें न नियुक्त करे, जो उनकी योग्यता और मर्यादाके प्रतिकूल पड़ते हों ॥ ६ ॥

यः प्रमाणमतिक्रम्य प्रतिलोमं नराधिपः ।
भृत्यान् स्थापयतेऽबुद्धिर्न स रञ्जयते प्रजाः ॥ ७ ॥

जो बुद्धिहीन नरेश मर्यादाका उल्लङ्घन करके अपने भृत्योंको प्रतिकूल कार्योंमें लगाता है, वह प्रजाको प्रसन्न नहीं रख सकता ॥ ७ ॥

न बालिशा न च क्षुद्रा नाप्राज्ञा नाजितेन्द्रियाः ।
नाकुलीना नराः सर्वे स्थाप्या गुणगणैषिणा॥ ८ ॥

उत्तम गुणोंकी इच्छा रखनेवाले नरेशको चाहिये कि वह उन सभी मनुष्योंको काममें न लगावे, जो मूर्ख, नीच, बुद्धिहीन, अजितेन्द्रिय और निन्दित कुलमें उत्पन्न हुए हों॥

साधवः कुलजाः शूरा ज्ञानवन्तोऽनसूयकाः ।
अक्षुद्राः शुचयो दक्षाः स्युर्नराः पारिपार्श्वकाः ॥ ९ ॥

साधु, कुलीन, शूरवीर, ज्ञानवान्, अदोषदर्शी, अच्छे स्वभाववाले, पवित्र और कार्यदक्ष मनुष्योंको ही राजा अपना पार्श्ववर्ती सेवक बनावे ॥ ९ ॥

न्यग्भूतास्तत्पराः शान्ताश्चौक्षाः प्रकृतिजैः शुभाः ।
स्वस्थानानपकृष्टा ये ते स्यू राज्ञां बहिश्चराः ॥ १० ॥

जो विनीत, कार्यपरायण, शान्तस्वभाव, चतुर, स्वाभाविक शुभ गुणोंसे सम्पन्न तथा अपने-अपने पदपर निन्दासे रहित हों, वे ही राजाओंके बाह्य सेवक होने योग्य हैं ॥ १० ॥

सिंहस्य सततं पार्श्वे सिंह एवानुगो भवेत् ।
असिंहः सिंहसहितः सिंहवल्लभते फलम् ॥ ११ ॥

सिंहके पास सदा सिंह ही सेवक रहे । यदि सिंहके साथ सिंहसे भिन्न प्राणी रहने लगता है तो वह सिंहके तुल्य ही फल भोगने लगता है ॥ ११ ॥

यस्तु सिंहः श्वभिः कीर्णः सिंहकर्मफले रतः ।
न स सिंहफलं भोक्तुं शक्तः श्वभिरुपासितः ॥ १२ ॥

किंतु जो सिंह कुत्तोंसे घिरा रहकर सिंहोचित कर्म एवं फलमें अनुरक्त रहता है, वह कुत्तोंसे उपासित होनेके कारण सिंहोचित कर्मफलका उपभोग नहीं कर सकता ॥ १२ ॥

एवमेतन्मनुष्येन्द्र शूरैः प्राज्ञैर्बहुश्रुतैः ।
कुलीनैः सह शक्येत कृत्स्ना जेतुं वसुन्धरा ॥ १३ ॥

नरेन्द्र ! इसी प्रकार शूरवीर, विद्वान्, बहुश्रुत और कुलीन पुरुषोंके साथ रहकर ही सारी पृथ्वीपर विजय पायी जा सकती है ॥ १३ ॥

नाविद्यो नानृजुः पार्श्वे नाप्राज्ञो नामहाधनः ।
संग्राह्यो वसुधापालैर्भृत्यो भृत्यवतां वर ॥ १४ ॥

भृत्यवानोंमें श्रेष्ठ युधिष्ठिर ! भूपालोंको चाहिये कि अपने पास ऐसे किसी भृत्यका संग्रह न करें, जो विद्याहीन, सरलता-से रहित, मूर्ख और दरिद्र हो ॥ १४ ॥

बाणवद्विसृता यान्ति स्वामिकार्यपरा नराः ।
ये भृत्याः पार्थिवहितास्तेषां सान्त्वं प्रयोजयेत् ॥ १५ ॥

जो मनुष्य स्वामीके कार्यमें तत्पर रहनेवाले हैं, वे धनुषसे छूटे हुए बाणके समान लक्ष्यसिद्धिके लिये आगे बढ़ते हैं । जो सेवक राजाके हित-साधनमें संलग्न रहते हों, राजा मधुर वचन बोलकर उन्हें प्रोत्साहन देता रहे ॥ १५ ॥

कोशश्च सततं रक्ष्यो यत्नमास्थाय राजभिः ।
कोशमूला हि राजानः कोशो वृद्धिकरो भवेत् ॥ १६ ॥

राजाओंको पूरा प्रयत्न करके निरन्तर अपने कोषकी रक्षा करनी चाहिये; क्योंकि कोष ही उनकी जड़ है, कोष ही उन्हें आगे बढ़ानेवाला होता है ॥ १६ ॥

कोष्ठागारं च ते नित्यं स्फीतैर्धान्यैः सुसंवृतम् ।
सदास्तु सत्सु संन्यस्तं धनधान्यपरो भव ॥ १७ ॥

युधिष्ठिर ! तुम्हारा अन्न-भण्डार सदा पुष्टिकारक अनाजोंसे भरा रहना चाहिये और उसकी रक्षाका भार श्रेष्ठ पुरुषोंको सौंप देना चाहिये । तुम सदा धन-धान्यकी वृद्धि करनेवाले बनो ॥ १७ ॥

नित्ययुक्ताश्च ते भृत्या भवन्तु रणकोविदाः ।
वाजिनां च प्रयोगेषु वैशारद्यमिहेष्यते ॥ १८ ॥

तुम्हारे सभी सेवक सदा उद्योगशील तथा युद्धकी कलामें कुशल हों । घोड़ोंकी सवारी करने अथवा उन्हें हाँकनेमें भी उनको विशेष चतुर होना चाहिये ॥ १८ ॥

ज्ञातिबन्धुजनावेक्षी मित्रसम्बन्धिसंवृतः ।
पौरकार्यहितान्वेषी भव कौरवनन्दन ॥ १९ ॥

कौरवनन्दन ! तुम जातिभाइयोंपर ख्याल रक्खो,

[illegible] कार्य और [illegible] ॥ १९ ॥

[illegible] मया ।
[illegible] श्रोतुमिच्छसि ॥ २० ॥

तात ! यह मैंने तुम्हारे निकट प्रजापालनविषयक स्थिर बुद्धिका प्रतिपादन किया है और कुत्तेका दृष्टान्त सामने रक्खा है, अब और क्या सुनना चाहते हो ? ॥ २० ॥

[illegible] राजधर्मानुशासनपर्वणि श्वर्षिसंवादे एकोनविंशत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ ११९ ॥

[illegible] राजधर्मानुशासनपर्वमें कुत्ता और ऋषिका संवादविषयक एक सौ [illegible] अध्याय पूरा हुआ ॥ ११९ ॥

विंशत्यधिकशततमोऽध्यायः

राजधर्मका साररूपमें वर्णन

[illegible] उवाच

[illegible] त्वया प्रोक्तानि भारत ।
[illegible] राजधर्मार्थवेदिभिः ॥ १ ॥

[illegible] राजधर्मके तत्त्वको जानने- [illegible] जिनका अनुष्ठान किया है, [illegible] वर्तावोंका आपने वर्णन [illegible] ॥ १ ॥

[illegible] पूर्वदृष्टं सतां मतम् ।
[illegible] प्रब्रूहि भरतर्षभ ॥ २ ॥

[illegible] पूर्वपुरुषोंद्वारा आचरित तथा सज्जन- [illegible] विस्तारपूर्वक वर्णन किया है, [illegible] संक्षिप्त करके बताइये, जिससे उनका [illegible] ॥ २ ॥

भीष्म उवाच

[illegible] परं मतम् ।
[illegible] कुर्यात् तथा शृणु महीपते ॥ ३ ॥

[illegible] क्षत्रियके लिये सबसे श्रेष्ठ [illegible] रक्षा करना; परंतु यह [illegible] उसको बता रहा हूँ, सुनो ॥ ३ ॥

[illegible] विचित्राणि बिभर्ति भुजगाशनः ।
[illegible] रूपं कुर्वीत धर्मवित् ॥ ४ ॥

[illegible] विचित्र पंख धारण करता है, [illegible] अपना अनेक [illegible] चाहिये ॥ ४ ॥

[illegible] सत्यमार्जवमेव च ।
[illegible] सुखमृच्छति ॥ ५ ॥

[illegible] तीक्ष्णता, कुटिल नीति, [illegible] अवलम्बन करे । [illegible] ॥ ५ ॥

[illegible] समादिशेत् ।
[illegible] सूक्ष्मोऽप्यर्थो न सीदति ॥ ६ ॥

[illegible] उसमें वैसा ही रूप प्रकट करे (उदाहरणके लिये अपराधीको दण्ड देते समय उग्र रूप और दीनोंपर अनुग्रह करते समय शान्त एवं दयालु रूप प्रकट करे) । इस प्रकार अनेक रूप धारण करनेवाले राजाका छोटा-सा कार्य भी बिगड़ने नहीं पाता है ॥ ६ ॥

नित्यं रक्षितमन्त्रः स्याद् यथा मूकः शरच्छिखी ।
श्लक्ष्णाक्षरतनुः श्रीमान् भवेच्छास्त्रविशारदः ॥ ७ ॥

जैसे शरद्‌ऋतुका मोर बोलता नहीं, उसी प्रकार राजाको भी मौन रहकर सदा राजकीय गुप्त विचारोंको सुरक्षित रखना चाहिये । वह मधुर वचन बोले, सौम्य-स्वरूपसे रहे, शोभा-सम्पन्न होवे और शास्त्रोंका विशेष ज्ञान प्राप्त करे ॥ ७ ॥

आपद्द्वारेषु युक्तः स्याज्जलप्रस्रवणेष्विव ।
शैलवर्षोदकानीव द्विजान् सिद्धान् समाश्रयेत् ।
अर्थकामः शिखां राजा कुर्याद्धर्मध्वजोपमाम् ॥ ८ ॥

बाढ़के समय जिस ओरसे जल बहकर गाँवोंको डुबा देनेका संकट उपस्थित कर दे, उस स्थानपर जैसे लोग मजबूत बाँध बाँध देते हैं, उसी प्रकार जिन द्वारोंसे संकट आनेकी सम्भावना हो, उन्हें सुदृढ़ बनाने और बंद करनेके लिये राजाको सतत सावधान रहना चाहिये । जैसे पर्वतोंपर वर्षा होनेसे जो पानी एकत्र होकर नदी या तालाबके रूपमें रहता है, उसका उपयोग करनेके लिये लोग उसका आश्रय लेते हैं, उसी प्रकार राजाको सिद्ध ब्राह्मणोंका आश्रय लेना चाहिये तथा जिस प्रकार धर्मका ढोंगी सिरपर जटा धारण करता है, उसी तरह राजाको भी अपना स्वार्थ सिद्ध करनेकी इच्छासे उच्च लक्षणोंको धारण करना चाहिये ॥ ८ ॥

नित्यमुद्यतदण्डः स्यादाचरेदप्रमादतः ।
लोके चायव्ययौ दृष्ट्वा बृहद्वृक्षमिवास्रवत् ॥ ९ ॥

वह सदा अपराधियोंको दण्ड देनेके लिये उद्यत रहे, प्रत्येक कार्य सावधानीके साथ करे, लोगोंके आय-व्यय देखकर ताड़के वृक्षसे रस निकालनेकी भाँति उनसे धनरूपी रस ले (अर्थात् जैसे उस रसके लिये पेड़को काट नहीं दिया जाता, उसी प्रकार प्रजाका उच्छेद न करे) ॥ ९ ॥

मृजावान् स्यात् स्वयूथ्येषु भौमानि चरणैः क्षिपेत् ।
जातपक्षः परिस्पन्देत् प्रेक्षेद् वैकल्यमात्मनः ॥ १० ॥

राजा अपने दलके लोगोंके प्रति विशुद्ध व्यवहार करे। शत्रुके राज्यमें जो खेतीकी फसल हो, उसे अपने दलके घोड़ों और बैलोंके पैरोंसे कुचलवा दे। अपना पक्ष बलवान् होनेपर ही शत्रुओंपर आक्रमण करे और अपनेमें कहाँ कैसी दुर्बलता है, इसका भलीभाँति निरीक्षण करता रहे ॥ १० ॥

दोषान् विवृणुयाच्छत्रोः परपक्षान् विधूनयेत्।
काननेष्विव पुष्पाणि बहिरर्थान् समाचरन् ॥ ११ ॥

शत्रुके दोषोंको प्रकाशित करे और उसके पक्षके लोगोंको अपने पक्षमें आनेके लिये विचलित कर दे। जैसे लोग जंगलसे फूल चुनते हैं, उसी प्रकार राजा बाहरसे धनका संग्रह करे ॥ ११ ॥

उच्छ्रितान् नाशयेत् स्फीतान् नरेन्द्रानचलोपमान्।
श्रयेच्छायामविज्ञातां गुप्तं रणमुपाश्रयेत् ॥ १२ ॥

पर्वतके समान ऊँचा सिर करके अविचलभावसे बैठे हुए धनी नरेशोंको नष्ट करे। उनको जताये बिना ही उनकी छायाका आश्रय ले अर्थात् उनके सरदारोंसे मिलकर उनमें फूट डाल दे और गुप्तरूपसे अवसर देखकर उनके साथ युद्ध छेड़ दे ॥ १२ ॥

प्रावृषीवासितग्रीवो मज्जेत निशि निर्जने।
मायूरेण गुणेनैव स्त्रीभिश्चालक्षितश्चरेत् ॥ १३ ॥

जैसे मोर आधी रातके समय एकान्त स्थानमें छिपा रहता है, उसी प्रकार राजा वर्षाकालमें शत्रुओंपर चढ़ाई न करके अदृश्यभावसे ही महलमें रहे। मोरके ही गुणको अपनाकर स्त्रियोंसे अलक्षित रहकर विचरे ॥ १३ ॥

न जह्याच्च तनुत्राणं रक्षेदात्मानमात्मना।
चारभूमिष्वभिगतान् पाशांश्च परिवर्जयेत् ॥ १४ ॥

अपने कवचको कभी न उतारे। स्वयं ही शरीरकी रक्षा करे। घूमने-फिरनेके स्थानोंपर शत्रुओंद्वारा जो जाल बिछाये गये हों, उनका निवारण करे ॥ १४ ॥

प्रणयेद् वापि तां भूमिं प्रणश्येद् गहने पुनः।
हन्यात्क्रुद्धानतिविषांस्तान् जिह्मगतयोऽहितान् ॥ १५ ॥

राजा सुयोग समझे तो जहाँ शत्रुओंका जाल बिछा हो, वहाँ भी अपने आपको ले जाय। यदि संकटकी सम्भावना हो तो गहन वनमें छिप जाय तथा जो कुटिल चाल चलनेवाले हों उन क्रोधमें भरे हुए शत्रुओंको अत्यन्त विषैले सर्पोंके समान समझकर मार डाले ॥ १५ ॥

नाशयेद् बलबर्हाणि संनिवासान् निवासयेत्।
सदा बर्हिनिभः कामं प्रशस्तं कृतमाचरेत्।
सर्वतश्चाददेत् प्रज्ञां पतङ्गं गहनेष्विव ॥ १६ ॥

शत्रुकी सेनाकी पाँख काट डाले—उसे दुर्बल कर दे, श्रेष्ठ पुरुषोंको अपने निकट बसावे। मोरके समान स्वेच्छानुसार उत्तम कार्य करे—जैसे मोर अपने पंख फैलाता है, उसी प्रकार अपने पक्ष (सेना और सहायकों) का विस्तार करे। सबसे बुद्धि—सद्विचार ग्रहण करे और जैसे टिड्डियोंका दल जंगलमें जहाँ गिरता है, वहाँ वृक्षोंपर पत्तेतक नहीं छोड़ता, उसी प्रकार शत्रुओंपर आक्रमण करके उनका सर्वस्व नष्ट कर दे ॥ १६ ॥

एवं मयूरवद् राजा स्वराज्यं परिपालयेत्।
आत्मवृद्धिकरीं नीतिं विदधीत विचक्षणः ॥ १७ ॥

इसी प्रकार बुद्धिमान् राजा अपने स्थानकी रक्षा करनेवाले मोरके समान अपने राज्यका भलीभाँति पालन करे तथा उसी नीतिका आश्रय ले, जो अपनी उन्नतिमें सहायक हो ॥ १७ ॥

आत्मसंयमनं बुद्ध्या परबुद्ध्यावधारणम्।
बुद्ध्या चात्मगुणप्राप्तिरेतच्छास्त्रनिदर्शनम् ॥ १८ ॥

केवल अपनी बुद्धिसे मनको वशमें किया जाता है। मन्त्री आदि दूसरोंकी बुद्धिके सहयोगसे कर्तव्यका निश्चय किया जाता है और शास्त्रीय बुद्धिसे आत्मगुणकी प्राप्ति होती है। यही शास्त्रका प्रयोजन है ॥ १८ ॥

परं विश्वासयेत् साम्ना स्वशक्तिं चोपलक्षयेत्।
आत्मनः परिमर्शेन बुद्धिं बुद्ध्या विचारयेत् ॥ १९ ॥

राजा मधुर वाणीद्वारा समझा-बुझाकर अपने प्रति दूसरेका विश्वास उत्पन्न करे। अपनी शक्तिका भी प्रदर्शन करे तथा अपने विचार और बुद्धिसे कर्तव्यका निश्चय करे ॥ १९ ॥

सान्त्वयोगमतिः प्राज्ञः कार्याकार्यप्रयोजकः।
निगूढबुद्धेर्धीरस्य वक्तव्ये वा कृतं तथा ॥ २० ॥

राजामें सबको समझा-बुझाकर युक्तिसे काम निकालनेकी बुद्धि होनी चाहिये। वह विद्वान् होनेके साथ ही लोगोंको कर्तव्यकी प्रेरणा दे और अकर्तव्यकी ओर जानेसे रोके अथवा जिसकी बुद्धि गूढ़ या गम्भीर है, उस धीर पुरुषको उपदेश देनेकी आवश्यकता ही क्या है ? ॥ २० ॥

स निकृष्टां कथां प्राज्ञो यदि बुद्ध्या बृहस्पतिः।
स्वभावमेष्यते तप्तं कृष्णायसमिवोदके ॥ २१ ॥

वह बुद्धिमान् राजा बुद्धिमें बृहस्पतिके समान होकर भी किसी कारणवश यदि निम्न श्रेणीकी बात कह डाले तो उसे चाहिये कि जैसे तपाया हुआ लोहा पानीमें डालनेसे शान्त हो जाता है, उसी तरह अपने शान्त स्वभावको स्वीकार कर ले ॥ २१ ॥

अनुयुञ्जीत कृत्यानि सर्वाण्येव महीपतिः।
आगमैरुपदिष्टानि स्वस्य चैव परस्य च ॥ २२ ॥

राजा अपने तथा दूसरेको भी शास्त्रमें बताये हुए समस्त कर्मोंमें ही लगावे ॥ २२ ॥

मृदुशीलं तथा प्राज्ञं शूरं चार्थविधानवित्।
स्वकर्मणि नियुञ्जीत ये चान्ये च बलाधिकाः ॥ २३ ॥

कार्य-साधनके उपायको जाननेवाला राजा अपने कार्योंमें कोमल-स्वभाव, विद्वान् तथा शूरवीर मनुष्यको तथा अन्य जो अधिक बलशाली व्यक्ति हों, उनको नियुक्त करे ॥ २३ ॥

अथ दृष्ट्वा नियुक्तानि स्वानुरूपेषु कर्मसु।
सर्वांस्ताननुवर्तेत स्वरांस्तन्त्रीरिवायता ॥ २४ ॥

जैसे वीणाके विस्तृत तार सातों स्वरोंका अनुसरण करते

बालोऽप्यबालः स्थविरो रिपुर्यः
सदा प्रमत्तं पुरुषं निहन्यात् ।
कालेनान्यस्तस्य मूलं हरेत
कालज्ञाता पार्थिवानां वरिष्ठः ॥ ३९ ॥

शत्रु बालक, जवान अथवा बूढ़ा ही क्यों न हो, सदा सावधान न रहनेवाले मनुष्यका नाश कर डालता है। दूसरा कोई धनसम्पन्न शत्रु अनुकूल समयका सहयोग पाकर राजाकी जड़ उखाड़ सकता है। इसलिये जो समयको जानता है, वही समस्त राजाओंमें श्रेष्ठ है ॥ ३९ ॥

हरेत् कीर्तिं धर्ममस्योपरुन्ध्या-
दर्थे दीर्घं वीर्यमस्योपहन्यात् ।
रिपुर्द्वेष्टा दुर्बलो वा बली वा
तस्माच्छत्रोर्नैव हीयेद् यतात्मा ॥ ४० ॥

द्वेष रखनेवाला शत्रु दुर्बल हो या बलवान्, राजाकी कीर्ति नष्ट कर देता है, उसके धर्ममें बाधा पहुँचाता है तथा अर्थोपार्जनमें उसकी बढ़ी हुई शक्तिका विनाश कर डालता है; इसलिये मनको वशमें रखनेवाला राजा शत्रुकी ओरसे लापरवाह न रहे ॥ ४० ॥

क्षयं वृद्धिं पालनं संचयं वा
बुद्ध्वाप्युभौ संहतौ सर्वकामौ ।
ततश्चान्यन्मतिमान् संदधीत
तस्माद् राजा बुद्धिमत्तां श्रयेत ॥ ४१ ॥

हानि, लाभ, रक्षा और संग्रहको जानकर तथा सदा परस्पर सम्बन्धित ऐश्वर्य और भोगको भी भलीभाँति समझकर बुद्धिमान् राजाको शत्रुके साथ संधि या विग्रह करना चाहिये; इस विषयपर विचार करनेके लिये बुद्धिमानोंका सहारा लेना चाहिये ॥ ४१ ॥

बुद्धिर्दीप्ता बलवन्तं हिनस्ति
बलं बुद्ध्या पाल्यते वर्धमानम् ।
शत्रुर्बुद्ध्या सीदते वर्धमानो
बुद्धेः पश्चात् कर्म यत्तत् प्रशस्तम् ॥ ४२ ॥

प्रतिभाशालिनी बुद्धि बलवान्को भी पछाड़ देती है। बुद्धिके द्वारा नष्ट होते हुए बलकी भी रक्षा होती है। बढ़ता हुआ शत्रु भी बुद्धिके द्वारा परास्त होकर कष्ट उठाने लगता है। बुद्धिसे सोचकर पीछे जो कर्म किया जाता है, वह सर्वोत्तम होता है ॥ ४२ ॥

सर्वान् कामान् कामयानो हि धीरः
सत्त्वेनाल्पेनाप्नुते हीनदोषः ।
यश्चात्मानं प्रार्थयतेऽर्थमानैः
श्रेयःपात्रं पूरयते च नाल्पम् ॥ ४३ ॥

जिसने सब प्रकारके दोषोंका त्याग कर दिया है, वह धीर राजा यदि किसी वस्तुकी कामना करे तो वह थोड़ा-सा बल लगानेपर भी अपने सम्पूर्ण कामनाओंको प्राप्त कर लेता है। जो आवश्यक वस्तुओंसे सम्पन्न होनेपर भी अपने लिये कुछ चाहता है अर्थात् दूसरोंसे अपनी इच्छा पूरी करानेकी आशा रखता है, वह लोभी और अहङ्कारी नरेश अपने श्रेयका छोटा-सा पात्र भी नहीं भर सकता ॥ ४३ ॥

तस्माद् राजा प्रगृहीतः प्रजासु
मूलं लक्ष्म्याः सर्वशो ह्याददीत ।
दीर्घं कालं ह्यपि सम्पीड्यमानो
विद्युत्सम्पातमपि वा नोर्जितः स्यात् ॥ ४४ ॥

इसलिये राजाको चाहिये कि वह सारी प्रजापर अनुग्रह करते हुए ही उससे कर (धन) वसूल करे। वह दीर्घकालतक प्रजाको सताकर उसपर बिजलीके समान गिरकर अपना प्रभाव न दिखाये ॥ ४४ ॥

विद्या तपो वा विपुलं धनं वा
सर्वं ह्येतद् व्यवसायेन शक्यम् ।
बुद्ध्यायत्तं तन्निवसेद् देहवत्सु
तस्माद् विद्याद् व्यवसायं प्रभूतम् ॥ ४५ ॥

विद्या, तप तथा प्रचुर धन—ये सब उद्योगसे प्राप्त हो सकते हैं। वह उद्योग प्राणियोंमें बुद्धिके अधीन होकर रहता है; अतः उद्योगको ही समस्त कार्योंकी सिद्धिका पर्याप्त साधन समझे ॥ ४५ ॥

यत्रासते मतिमन्तो मनस्विनः
शक्रो विष्णुर्यत्र सरस्वती च ।
वसन्ति भूतानि च यत्र नित्यं
तस्माद् विद्वान् नावमन्येत देहम् ॥ ४६ ॥

अतः जहाँ ज्ञानेन्द्रियोंमें बुद्धिमान् एवं मनस्वी महर्षि निवास करते हैं,* जिसमें इन्द्रियोंके अधिष्ठातृदेवताके रूपमें इन्द्र, विष्णु एवं सरस्वतीका निवास है तथा जिसके भीतर सदा सम्पूर्ण प्राणी वास करते हैं अर्थात् जो शरीर समस्त प्राणियोंके जीवन-निर्वाहका आधार है, विद्वान् पुरुषको चाहिये कि उस मानव-देहकी अवहेलना न करे ॥ ४६ ॥

लुब्धं हन्यात् सम्प्रदानेन नित्यं
लुब्धस्तृप्तिं परवित्तस्य नैति ।
सर्वो लुब्धः कर्मगुणोपभोगे
योऽर्थैर्हीनो धर्मकामौ जहाति ॥ ४७ ॥

राजा लोभी मनुष्यको सदा ही कुछ देकर दबाये रक्खे; क्योंकि लोभी पुरुष दूसरेके धनसे कभी तृप्त नहीं होता। सत्कर्मोंके फलस्वरूप सुखका उपभोग करनेके लिये तो सभी लालायित रहते हैं; परंतु जो लोभी धनहीन है, वह धर्म और काम दोनोंको त्याग देता है ॥ ४७ ॥

धनं भोगं पुत्रदारं समृद्धिं
सर्वं लुब्धः प्रार्थयते परेषाम् ।

* 'इमावेव गौतमभरद्वाजौ' इत्यादि श्रुतिके अनुसार सम्पूर्ण ज्ञानेन्द्रियोंका गौतम, भरद्वाज, वसिष्ठ और विश्वामित्र आदि महर्षियोंसे सम्बन्ध सूचित होता है।

देवतानामृषीणां च पितॄणां च महात्मनाम्।
यक्षरक्षःपिशाचानां साध्यानां च विशेषतः॥ २॥
सर्वेषां प्राणिनां लोके तिर्यग्योनिनिवासिनाम्।
सर्वव्यापी महातेजा दण्डः श्रेयानिति प्रभो॥ ३॥

प्रभो! देवता, ऋषि, पितर, महात्मा, यक्ष, राक्षस, पिशाच तथा साध्यगण एवं पशु-पक्षियोंकी योनिमें निवास करनेवाले जगत्के समस्त प्राणियोंके लिये भी सर्वव्यापी महातेजस्वी दण्ड ही कल्याणका साधन है॥ २-३॥

इत्येवमुक्तं भवता दण्डे वै सचराचरम्।
पश्यता लोकमासक्तं ससुरासुरमानुषम्।
एतदिच्छाम्यहं ज्ञातुं तत्त्वेन भरतर्षभ॥ ४॥

देवता, असुर और मनुष्योंसहित इस सम्पूर्ण विश्वको अपने समीप देखते हुए आपने कहा है कि दण्डपर ही चराचर जगत् प्रतिष्ठित है। भरतश्रेष्ठ! मैं यथार्थरूपसे यह सब जानना चाहता हूँ॥ ४॥

को दण्डः कीदृशो दण्डः किंरूपः किंपरायणः।
किमात्मकः कथंभूतः कथंमूर्तिः कथं प्रभो॥ ५॥

दण्ड क्या है? कैसा है? उसका स्वरूप किस तरहका है? और किसके आधारपर उसकी स्थिति है? प्रभो! उसका उपादान क्या है? उसकी उत्पत्ति कैसे हुई है? उसका आकार कैसा है?॥ ५॥

जागर्ति च कथं दण्डः प्रजास्ववहितात्मकः।
कश्च पूर्वापरमिदं जागर्ति प्रतिपालयन्॥ ६॥

वह किस प्रकार सावधान रहकर सम्पूर्ण प्राणियोंपर शासन करनेके लिये जागता रहता है? कौन इस पूर्वापर जगत्का प्रतिपालन करता हुआ जागता है?॥ ६॥

कश्च विज्ञायते पूर्वं को वरो दण्डसंज्ञितः।
किंसंस्थश्च भवेद् दण्डः का चास्य गतिरुच्यते॥ ७॥

पहले इसे किस नामसे जाना जाता था? कौन दण्ड प्रसिद्ध है? दण्डका आधार क्या है? तथा उसकी गति क्या बतायी गयी है?॥ ७॥

भीष्म उवाच

शृणु कौरव्य यो दण्डो व्यवहारो यथा च सः।
यस्मिन् हि सर्वमायत्तं स दण्ड इह केवलः॥ ८॥

भीष्मजीने कहा—कुरुनन्दन! दण्डका जो स्वरूप है तथा जिस प्रकार उसको 'व्यवहार' कहा जाता है, वह सब तुम्हें बताता हूँ; सुनो। इस संसारमें सब कुछ जिसके अधीन है, वही अद्वितीय पदार्थ यहाँ 'दण्ड' कहलाता है॥ ८॥

धर्मस्याख्या महाराज व्यवहार इतीष्यते।
तस्य लोपः कथं न स्याल्लोकेष्ववहितात्मनः॥ ९॥
इत्येवं व्यवहारस्य व्यवहारत्वमिष्यते।

महाराज! धर्मका ही दूसरा नाम व्यवहार है। लोकमें सतत सावधान रहनेवाले पुरुषके धर्मका किसी तरह लोप न हो, इसीलिये दण्डकी आवश्यकता है और यही उस व्यवहार-का व्यवहारत्व[1] है॥ ९½॥

अपि चैतत् पुरा राजन् मनुना प्रोक्तमादितः॥ १०॥
सुप्रणीतेन दण्डेन प्रियाप्रियसमात्मना।
प्रजा रक्षति यः सम्यग्धर्म एव स केवलः॥ ११॥

राजन्! पूर्वकालमें मनुने यह उपदेश दिया है कि जो राजा प्रिय और अप्रियके प्रति समान भाव रखकर—किसीके प्रति पक्षपात न करके दण्डका ठीक-ठीक उपयोग करते हुए प्रजाकी भलीभाँति रक्षा करता है, उसका वह कार्य केवल धर्म है॥

यथोक्तमेतद् वचनं प्रागेव मनुना पुरा।
यन्मयोक्तं मनुष्येन्द्र ब्रह्मणो वचनं महत्॥ १२॥
प्रागिदं वचनं प्रोक्तमतः प्राग्वचनं विदुः।
व्यवहारस्य चाख्यानाद् व्यवहार इहोच्यते॥ १३॥

नरेन्द्र! उपर्युक्त सारी बातें मनुजीने पहले ही कह दी हैं और मैंने जो बात कही है, वह ब्रह्माजीका महान् वचन है। यही वचन मनुजीके द्वारा पहले कहा गया है; इसलिये इसको 'प्राग्वचन' के नामसे भी जानते हैं। इसमें व्यवहारका प्रतिपादन होनेसे यहाँ व्यवहार नाम दिया गया है॥ १२-१३॥

दण्डे त्रिवर्गः सततं सुप्रणीते प्रवर्तते।
दैवं हि परमो दण्डो रूपतोऽग्निरिवोत्थितः॥ १४॥

दण्डका ठीक-ठीक उपयोग होनेपर राजाके धर्म, अर्थ और कामकी सिद्धि सदा होती रहती है। इसलिये दण्ड महान् देवता है, यह अग्निके समान तेजस्वी रूपसे प्रकट हुआ है॥

नीलोत्पलदलश्यामश्चतुर्दंष्ट्रश्चतुर्भुजः।
अष्टपान्नैकनयनः शंकुकर्णोर्ध्वरोमवान्॥ १५॥

इसके शरीरकी कान्ति नील कमलदलके समान श्याम है, इसके चार दाढ़ें और चार भुजाएँ हैं। आठ पैर और अनेक नेत्र हैं। इसके कान खूँटेके समान हैं और रोएँ ऊपरकी ओर उठे हुए हैं॥ १५॥

जटी द्विजिह्वस्ताम्रास्यो मृगराजतनुच्छदः।
एतद् रूपं बिभर्त्युग्रं दण्डो नित्यं दुराधरः॥ १६॥

इसके सिरपर जटा है, मुखमें दो जिह्वाएँ हैं, मुखका रंग ताँबेके समान है, शरीरको ढकनेके लिये उसने व्याघ्रचर्म धारण कर रक्खा है, इस प्रकार दुर्धर्ष दण्ड सदा यह भयंकर रूप धारण किये रहता है*॥ १६॥

असिर्धनुर्गदा शक्तिस्त्रिशूलं मुद्गरः शरः।
मुसलं परशुश्चक्रं पाशो दण्डर्ष्टितोमराः॥ १७॥

---

१. विगतः अवहारः धर्मस्य येन सः व्यवहारः। दूर हो गया है धर्मका अवहार (लोप) जिसके द्वारा, वह व्यवहार है। इस व्युत्पत्तिके अनुसार धर्मको लुप्त होनेसे बचाना ही व्यवहारका व्यवहारत्व है।

* यहाँ पंद्रहवें और सोलहवें श्लोकमें आये हुए पदोंकी नीलकण्ठने व्यावहारिक दण्डके विशेषणरूपसे भी सङ्गति लगायी है। इन विशेषणोंको रूपक मानकर अर्थ किया है।

[illegible] कर्मणि [illegible]।
[illegible] लोके चरति मूर्तिमान् ॥ १८ ॥

[illegible] दूसरे दूसरे जो [illegible] हैं, उन सबके नामसे [illegible] मूर्तिमान् [illegible] जगत्में विचरता है ॥ १८ ॥

[illegible] दारयन् पाटयंस्तथा।
[illegible] दण्ड एव चरत्युत ॥ १९ ॥

[illegible] भेदता, छेदता, पीड़ा देता, काटता, [illegible] है। इस प्रकार दण्ड ही सब [illegible] है ॥ १९ ॥

असिर्विशसनो धर्मस्तीक्ष्णवर्मा दुराधरः।
श्रीगर्भो विजयः शास्ता व्यवहारः सनातनः ॥ २० ॥
शास्त्रं ब्राह्मणमन्त्राश्च शास्ता प्राग्वदतां वरः।
धर्मपालोऽक्षरो देवः सत्यगो नित्यगोऽग्रजः ॥ २१ ॥
असङ्गो रुद्रतनयो मनुर्ज्येष्ठः शिवंकरः।
नामान्येतानि दण्डस्य कीर्तितानि युधिष्ठिर ॥ २२ ॥

युधिष्ठिर ! असि, विशसन, धर्म, तीक्ष्णवर्मा, दुराधर, श्रीगर्भ, विजय, शास्ता, व्यवहार, सनातन, शास्त्र, ब्राह्मण, मन्त्र, शास्ता, प्राग्वदतांवर, धर्मपाल, अक्षर, देव, सत्यग, नित्यग, अग्रज, असङ्ग, रुद्रतनय, मनु, ज्येष्ठ और शिवंकर—ये दण्डके नाम कहे गये हैं ॥ २०-२२ ॥

दण्डो हि भगवान् विष्णुर्दण्डो नारायणः प्रभुः।
शश्वद् रूपं महद् बिभ्रन्महान् पुरुष उच्यते ॥ २३ ॥

दण्ड सर्वत्र व्यापक होनेके कारण भगवान् विष्णु है और नरों (मनुष्यों) का अयन (आश्रय) होनेसे नारायण [illegible] है। [illegible] प्रभावशाली होनेसे प्रभु और सदा महत् [illegible] करता है, इसलिये महान् पुरुष कहलाता है॥२३॥

तथोक्ता ब्रह्मकन्येति लक्ष्मीर्वृत्तिः सरस्वती।
दण्डनीतिर्जगद्धात्री दण्डो हि बहुविग्रहः ॥ २४ ॥

इसी प्रकार दण्डनीति भी ब्रह्माजीकी कन्या कही गयी है। लक्ष्मी, वृत्ति, सरस्वती तथा जगद्धात्री भी उसीके नाम हैं। इस प्रकार दण्डके बहुत-से रूप हैं ॥ २४ ॥

अर्थानर्थौ सुखं दुःखं धर्माधर्मौ बलाबले।
दौर्भाग्यं भागधेयं च पुण्यापुण्ये गुणागुणौ ॥ २५ ॥
कामाकामावृतुर्मासः शर्वरी दिवसः क्षणः।
अप्रमादः प्रमादश्च हर्षक्रोधौ शमो दमः ॥ २६ ॥
दैवं पुरुषकारश्च मोक्षामोक्षौ भयाभये।
हिंसाहिंसे तपो यज्ञः संयमोऽथ विषाविषम् ॥ २७ ॥
अन्तश्चादिश्च मध्यं च कृत्यानां च प्रपञ्चनम्।
मदः प्रमादो दर्पश्च दम्भो धैर्यं नयानयौ ॥ २८ ॥
अशक्तिः शक्तिरित्येवं मानस्तम्भौ व्ययाव्ययौ।
विनयश्च विसर्गश्च कालाकालौ च भारत ॥ २९ ॥
अनृतं ज्ञानिता सत्यं श्रद्धाश्रद्धे तथैव च।
क्लीवता व्यवसायश्च लाभालाभौ जयाजयौ ॥ ३० ॥
तीक्ष्णता मृदुता मृत्युरागमानागमौ तथा।
विरोधश्चाविरोधश्च कार्याकार्ये बलाबले ॥ ३१ ॥
असूया चानसूया च धर्माधर्मौ तथैव च।
अपत्रपानपत्रपे ह्रीश्च सम्पद्विपत्पदम् ॥ ३२ ॥
तेजः कर्माणि पाण्डित्यं वाक्शक्तिस्तत्त्वबुद्धिता।
एवं दण्डस्य कौरव्य लोकेऽस्मिन् बहुरूपता ॥ ३३ ॥

अर्थ-अनर्थ, सुख-दुःख, धर्म-अधर्म, बल-अबल, दौर्भाग्य-सौभाग्य, पुण्य-पाप, गुण-अवगुण, काम-अकाम, ऋतु-मास, दिन-रात, क्षण, प्रमाद-अप्रमाद, हर्ष-क्रोध, शम-दम, दैव-पुरुषार्थ, बन्ध-मोक्ष, भय-अभय, हिंसा-अहिंसा, तप-यज्ञ, संयम, विष-अविष, आदि, अन्त, मध्य, कार्यविस्तार, मद, असावधानता, दर्प, दम्भ, धैर्य, नीति-अनीति, शक्ति-अशक्ति, मान, स्तब्धता, व्यय-अव्यय, विनय, दान, काल-अकाल, सत्य-असत्य, ज्ञान, श्रद्धा-अश्रद्धा, अकर्मण्यता, उद्योग, लाभ-हानि, जय-पराजय, तीक्ष्णता-मृदुता, मृत्यु, आना-जाना, विरोध-अविरोध, कर्तव्य-अकर्तव्य, सबलता-निर्बलता, असूया-अनसूया, धर्म-अधर्म, लज्जा-अलज्जा, सम्पत्ति-विपत्ति, स्थान, तेज, कर्म, पाण्डित्य, वाक्शक्ति तथा तत्त्व-बोध—ये सब दण्डके ही अनेक नाम और रूप हैं। कुरुनन्दन ! इस प्रकार इस जगत्में दण्डके बहुत-से रूप हैं ॥२५–३३॥

न स्याद् यदीह दण्डो वै प्रमथेयुः परस्परम्।
भयाद् दण्डस्य नान्योन्यं घ्नन्ति चैव युधिष्ठिर ॥ ३४ ॥

युधिष्ठिर ! यदि संसारमें दण्डकी व्यवस्था न होती तो सब लोग एक दूसरेको नष्टकर डालते। दण्डके ही भयसे मनुष्य आपसमें मार-काट नहीं मचाते हैं ॥ ३४ ॥

दण्डेन रक्ष्यमाणा हि राजन्नहरहः प्रजाः।
राजानं वर्धयन्तीह तस्माद् दण्डः परायणम् ॥ ३५ ॥

राजन् ! दण्डसे सुरक्षित रहती हुई प्रजा ही इस जगत्में अपने राजाको प्रतिदिन धन-धान्यसे सम्पन्न करती रहती है। इसलिये दण्ड ही सबको आश्रय देनेवाला है ॥ ३५ ॥

व्यवस्थापयति क्षिप्रमिमं लोकं नरेश्वर।
सत्ये व्यवस्थितो धर्मो ब्राह्मणेष्ववतिष्ठते ॥ ३६ ॥

नरेश्वर ! दण्ड ही इस लोकको शीघ्र ही सत्यमें स्थापित करता है। सत्यमें ही धर्मकी स्थिति है और धर्म ब्राह्मणोंमें स्थित है ॥ ३६ ॥

धर्मयुक्ता द्विजश्रेष्ठा वेदयुक्ता भवन्ति च।
बभूव यज्ञो वेदेभ्यो यज्ञः प्रीणाति देवताः ॥ ३७ ॥
प्रीताश्च देवता नित्यमिन्द्रे परिवदन्त्यपि।
अन्नं ददाति शक्रश्चाप्यनुगृह्णन्निमाः प्रजाः ॥ ३८ ॥
प्राणाश्च सर्वभूतानां नित्यमन्ने प्रतिष्ठिताः।
तस्मात् प्रजाः प्रतिष्ठन्ते दण्डो जागर्ति तासु च ॥३९॥

धर्मयुक्त श्रेष्ठ ब्राह्मण वेदोंका स्वाध्याय करते हैं। वेदोंसे ही यज्ञ प्रकट हुआ है। यज्ञ देवताओंको तृप्त करता है। तृप्त हुए देवता इन्द्रसे प्रजाके लिये प्रतिदिन प्रार्थना करते हैं, इससे इन्द्र प्रजाजनोंपर अनुग्रह करके (समयपर वर्षाके द्वारा खेती उपजाकर) उन्हें अन्न देता है, समस्त प्राणियोंके प्राण सदा अन्नपर ही टिके हुए हैं; इसलिये दण्डसे ही प्रजाओंकी स्थिति बनी हुई है। वही उनकी रक्षाके लिये सदा जाग्रत् रहता है॥

एवंप्रयोजनश्चैव दण्डः क्षत्रियतां गतः।
रक्षन् प्रजाः स जागर्ति नित्यं स्ववहितोऽक्षरः ॥४०॥

इस प्रकार रक्षारूपी प्रयोजन सिद्ध करनेवाला दण्ड क्षत्रियभावको प्राप्त हुआ है। वह अविनाशी होनेके कारण सदा सावधान होकर प्रजाकी रक्षाके लिये जागता रहता है॥

ईश्वरः पुरुषः प्राणः सत्त्वं चित्तं प्रजापतिः।
भूतात्मा जीव इत्येवं नामभिः प्रोच्यतेऽष्टभिः ॥ ४१ ॥

ईश्वर, पुरुष, प्राण, सत्त्व, चित्त, प्रजापति, भूतात्मा तथा जीव—इन आठ नामोंसे दण्डका ही प्रतिपादन किया जाता है ॥ ४१ ॥

अददद् दण्डमेवास्मै धृतमैश्वर्यमेव च।
बलेन यश्च संयुक्तः सदा पञ्चविधात्मकः ॥ ४२ ॥

जो सर्वदा सैनिक-बलसे सम्पन्न है तथा जो धर्म, व्यवहार, दण्ड, ईश्वर और जीवरूपसे पाँच[1] प्रकारके स्वरूप धारण करता है, उस राजाको ईश्वरने ही दण्डनीति तथा अपना ऐश्वर्य प्रदान किया है ॥ ४२ ॥

कुलं बहुधनामात्याः प्रज्ञा प्रोक्ता बलानि तु।
आहार्यमष्टकैर्द्रव्यैर्बलमन्यद् युधिष्ठिर ॥ ४३ ॥

युधिष्ठिर! राजाका बल दो तरहका होता है—एक प्राकृत और दूसरा आहार्य। उनमेंसे कुल, प्रचुर धन, मन्त्री तथा बुद्धि—ये चार प्राकृतिक बल कहे गये हैं, आहार्य बल उससे भिन्न है। वह निम्नाङ्कित आठ वस्तुओंके द्वारा आठ प्रकारका माना गया है ॥ ४३ ॥

हस्तिनोऽश्वा रथाः पत्तिर्नावो विष्टिस्तथैव च।
दैशिकाश्चाविकाश्चैव तदष्टाङ्गं बलं स्मृतम् ॥ ४४ ॥

हाथी, घोड़े, रथ, पैदल, नौका, बेगार, देशकी प्रजा तथा भेड़ आदि पशु—ये आठ अङ्गोंवाला बल आहार्य माना गया है ॥ ४४ ॥

अथवाङ्गस्य युक्तस्य रथिनो हस्तियायिनः।
अश्वारोहाः पदाताश्च मन्त्रिणो रसदाश्च ये ॥ ४५ ॥
भिक्षुकाः प्राड्विवाकाश्च मौहूर्ता दैवचिन्तकाः।
कोशो मित्राणि धान्यं च सर्वोपकरणानि च ॥ ४६ ॥

[1] किन्हीं-किन्हींके मतमें प्रजाके जीवन, धन, मान, स्वास्थ्य और न्यायकी रक्षा करनेके कारण राजाका स्वरूप पाँच प्रकारका बताया गया है।

सप्तप्रकृति चाष्टाङ्गं शरीरमिह यद् विदुः।
राज्यस्य दण्डमेवाङ्गं दण्डः प्रभव एव च ॥ ४७ ॥

अथवा संयुक्त अङ्गके रथी, हाथीसवार, घुड़सवार, पैदल, मन्त्री, वैद्य, भिक्षुक, वकील, ज्यौतिषी, दैवज्ञ, कोश, मित्र, धान्य तथा अन्य सब सामग्री, राज्यकी सात प्रकृतियाँ (स्वामी, अमात्य, सुहृद्, कोश, राष्ट्र, दुर्ग और सेना) और उपर्युक्त आठ अङ्गोंसे युक्त बल—इन सबको राज्यका शरीर माना गया है। इन सबमें दण्ड ही प्रधान अङ्ग है, क्योंकि दण्ड ही सबकी उत्पत्तिका कारण है ॥ ४५—४७ ॥

ईश्वरेण प्रयत्नेन कारणात् क्षत्रियस्य च।
दण्डो दत्तः समानात्मा दण्डो हीदं सनातनम् ॥ ४८ ॥

ईश्वरने यत्नपूर्वक धर्मरक्षाके लिये क्षत्रियके हाथमें उसके समान जातिवाला दण्ड समर्पित किया है; इसलिये दण्ड ही इस सनातन व्यवहारका कारण है ॥ ४८ ॥

राज्ञां पूज्यतमो नान्यो यथा धर्मः प्रदर्शितः।
ब्रह्मणा लोकरक्षार्थं स्वधर्मस्थापनाय च ॥ ४९ ॥

ब्रह्माजीने लोकरक्षा तथा स्वधर्मकी स्थापनाके निमित्त जिस धर्मका प्रदर्शन (उपदेश) किया था, वह दण्ड ही है। राजाओंके लिये उससे बढ़कर परम पूजनीय दूसरा धर्म नहीं है ॥ ४९ ॥

भर्तृप्रत्यय उत्पन्नो व्यवहारस्तथापरः।
तस्माद् यः स हितो दृष्टो भर्तृप्रत्ययलक्षणः ॥ ५० ॥

स्वामी अथवा विचारकके विश्वासके अनुसार जो व्यवहार उत्पन्न होता है, वह (वादी-प्रतिवादीद्वारा उठाये हुए विवाद-से उत्पन्न व्यवहारकी अपेक्षा) भिन्न है। उससे जो दण्ड दिया जाता है, उसका नाम है 'भर्तृप्रत्ययलक्षण' वह सम्पूर्ण जगत्‌के लिये हितकर देखा गया है (यह पहला भेद है) ॥ ५० ॥

व्यवहारस्तु वेदात्मा वेदप्रत्यय उच्यते।
मौलश्च नरशार्दूल शास्त्रोक्तश्च तथा परः ॥ ५१ ॥

नरश्रेष्ठ! वेदप्रतिपादित दोषोंका आचरण करनेवाले अपराधीके लिये जो व्यवहार या विचार होता है, वह वेदप्रत्यय कहलाता है (यह दूसरा भेद है) और कुलाचार भङ्ग करनेके अपराधपर किये जानेवाले विचार या व्यवहारको मौल कहते हैं (यह तीसरा भेद है)। इसमें भी शास्त्रोक्त दण्डका ही विधान किया जाता है ॥ ५१ ॥

उक्तो यश्चापि दण्डोऽसौ भर्तृप्रत्ययलक्षणः।
ज्ञेयो नः स नरेन्द्रस्थो दण्डः प्रत्यय एव च ॥ ५२ ॥

पहले जो भर्तृप्रत्ययलक्षण दण्ड बताया गया है, वह हमें राजामें ही स्थित जानना चाहिये; क्योंकि वह विश्वास और दण्ड राजापर ही अवलम्बित है ॥ ५२ ॥

दण्डः प्रत्ययदृष्टोऽपि व्यवहारात्मकः स्मृतः।
व्यवहारः स्मृतो यश्च स वेदविषयात्मकः ॥ ५३ ॥

[illegible] ही यह दण्ड देखा [illegible] ही माना गया है। [illegible] है, वह भी वेदोक्त विषयमें भिन्न [illegible]

[illegible] स धर्मो गुणदर्शनः।
[illegible] उद्दिष्टो यथाधर्मं कृतात्मभिः ॥ ५४ ॥

[illegible] प्रकट हुआ है, वह धर्म ही है। [illegible] वह अपना गुण (लाभ) दिखाता ही है। [illegible] धर्मके अनुसार ही धर्मविश्वासमूलक दण्डका [illegible] किया है ॥ ५४ ॥

[illegible] प्रजानां [illegible] युधिष्ठिर।
[illegible] लोकान् वै सत्यात्मा भूतिवर्धनः ॥५५॥

[illegible] ! ब्रह्माजीका बताया हुआ जो प्रजा- [illegible] है, वह सत्यस्वरूप होनेके साथ ही ऐश्वर्यकी [illegible] है, वही तीनों लोकोंको धारण करता है ॥

[illegible] स दृष्टो नो व्यवहारः सनातनः।
[illegible] दृष्टो यः स वेद इति निश्चितम् ॥ ५६ ॥

[illegible] है, वही हमारी दृष्टिमें सनातन व्यवहार है। [illegible] देखा गया है, वही वेद है, यह निश्चितरूपसे [illegible] जा सकता है ॥ ५६ ॥

यश्च वेदः स वै धर्मो यश्च धर्मः स सत्पथः।
ब्रह्मा पितामहः पूर्वं बभूवाथ प्रजापतिः ॥ ५७ ॥

जो वेद है, वही धर्म है और जो धर्म है, वही सत्पुरुषोंका सन्मार्ग है। सत्पुरुष हैं लोकपितामह प्रजापति ब्रह्माजी, जो सबसे पहले प्रकट हुए थे ॥ ५७ ॥

लोकानां स हि सर्वेषां ससुरासुररक्षसाम्।
समनुष्योरगवतां कर्ता चैव स भूतकृत् ॥ ५८ ॥

वे ही देवता, मनुष्य, नाग, असुर तथा राक्षसोंसहित सम्पूर्ण लोकोंके कर्ता तथा समस्त प्राणियोंके स्रष्टा हैं ॥ ५८ ॥

ततोऽन्यो व्यवहारोऽयं भर्तृप्रत्ययलक्षणः।
तस्मादिदमथोवाच व्यवहारनिदर्शनम् ॥ ५९ ॥

उन्हींसे भर्तृप्रत्यय नामक इस अन्य प्रकारके दण्डकी प्रवृत्ति हुई; फिर उन्होंने ही इस व्यवहारके लिये यह आदर्श वाक्य कहा—॥ ५९ ॥

माता पिता च भ्राता च भार्या चैव पुरोहितः।
नादण्ड्यो विद्यते राज्ञो यः स्वधर्मे न तिष्ठति ॥ ६० ॥

'माता, पिता, भाई, स्त्री तथा पुरोहित कोई भी क्यों न हो, जो अपने धर्ममें स्थिर नहीं रहता, उसे राजा अवश्य दण्ड दे, राजाके लिये कोई भी अदण्डनीय नहीं है' ॥६०॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि राजधर्मानुशासनपर्वणि दण्डस्वरूपाधिकथने एकविंशत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १२१ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत राजधर्मानुशासनपर्वमें दण्डके स्वरूपका वर्णनविषयक एक सौ इक्कीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १२१ ॥

द्वाविंशत्यधिकशततमोऽध्यायः

दण्डकी उत्पत्ति तथा उसके क्षत्रियोंके हाथमें आनेकी परम्पराका वर्णन

भीष्म उवाच

अत्राप्युदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम्।
[illegible] राजा द्युतिमान् वसुहोम इति श्रुतः ॥ १ ॥

भीष्मजी कहते हैं—युधिष्ठिर ! इस दण्डकी उत्पत्तिके [illegible] जानकार लोग एक प्राचीन इतिहासका उदाहरण [illegible] करते हैं। उसे भी तुम सुन लो। अङ्गदेशमें वसुहोम [illegible] प्रसिद्ध एक तेजस्वी राजा राज्य करते थे ॥ १ ॥

स राजा धर्मविन्नित्यं सह पत्न्या महातपाः।
मुञ्जपृष्ठं जगामाथ पितृदेवर्षिपूजितम् ॥ २ ॥

'एक समयकी बात है, वे महातपस्वी धर्मज्ञ नरेश अपनी [illegible] साथ देवताओं, ऋषियों तथा पितरोंसे पूजित मुञ्जपृष्ठ- [illegible] तीर्थस्थानमें आये ॥ २ ॥

तत्र शृङ्गे हिमवतो मेरौ कनकपर्वते।
यत्र मुञ्जावटे रामो जटाहरणमादिशत् ॥ ३ ॥
तदाप्रभृति राजेन्द्र ऋषिभिः संशितव्रतैः।
मुञ्जपृष्ठ इति प्रोक्तः स देशो रुद्रसेवितः ॥ ४ ॥

राजेन्द्र ! वह स्थान सुवर्णमय पर्वत सुमेरुके समीपवर्ती हिमालयके शिखरपर है, जहाँ मुञ्जावटमें परशुरामजीने अपनी जटाएँ बाँधनेका आदेश दिया था। तभीसे कठोर व्रतका पालन करनेवाले ऋषियोंने उस रुद्रसेवित प्रदेशको मुञ्जपृष्ठ नाम दे दिया ॥ ३-४ ॥

स तत्र बहुभिर्युक्तस्तदा श्रुतिमयैर्गुणैः।
ब्राह्मणानामनुमतो देवर्षिसदृशोऽभवत् ॥ ५ ॥

वे वहाँ बहुतेरे वेदोक्त गुणोंसे सम्पन्न हो तपस्या करने लगे। उस तपके प्रभावसे वे देवर्षियोंके तुल्य हो गये। ब्राह्मणोंमें उनका बड़ा सम्मान होने लगा ॥ ५ ॥

तं कदाचिददीनात्मा सखा शक्रस्य मानितः।
अभ्यगच्छन्महीपालो मान्धाता शत्रुकर्शनः ॥ ६ ॥

एक दिन इन्द्रके सम्मानित सखा उदारचेता शत्रुसूदन राजा मान्धाता उनके दर्शनके लिये आये ॥ ६ ॥

सोपसृत्य तु मान्धाता वसुहोमं नराधिपम्।
दृष्ट्वा प्रकृष्टतपसं विनतोऽग्रेऽभ्यतिष्ठत ॥ ७ ॥

राजा मान्धाता उत्तम तपस्वी अङ्गनरेश वसुहोमके पास पहुँचकर दर्शन करके उनके सामने विनीतभावसे खड़े हो गये ॥ ७ ॥

वसुहोमोऽपि राज्ञो वै पाद्यमर्घ्यं न्यवेदयत् ।
सप्ताङ्गस्य तु राज्यस्य पप्रच्छ कुशलाव्यये ॥ ८ ॥

वसुहोमने भी राजाको पाद्य और अर्घ्य निवेदन किया तथा सातों अङ्गोंसे युक्त उनके राज्यका कुशल-समाचार पूछा ॥ ८ ॥

सद्भिराचरितं पूर्वं यथावदनुयायिनम् ।
अपृच्छद् वसुहोमस्तं राजन् किं करवाणि ते ॥ ९ ॥

पूर्वकालमें साधु पुरुषोंने जिस पथका अनुसरण किया था, उसीपर यथावत् रूपसे निरन्तर चलनेवाले मान्धातासे वसुहोमने पूछा—'राजन् ! मैं आपकी क्या सेवा करूँ ?' ॥

सोऽब्रवीत्परमप्रीतो मान्धाता राजसत्तमम् ।
वसुहोमं महाप्राज्ञमासीनं कुरुनन्दन ॥ १० ॥

कुरुनन्दन ! तब परम प्रसन्न हुए मान्धाताने वहाँ बैठे हुए महाज्ञानी नृपश्रेष्ठ वसुहोमसे पूछा ॥ १० ॥

मान्धातोवाच

बृहस्पतेर्मतं राजन्नधीतं सकलं त्वया ।
तथैवौशनसं शास्त्रं विज्ञातं ते नरोत्तम ॥ ११ ॥

मान्धाता बोले—राजन् ! नरश्रेष्ठ ! आपने बृहस्पतिके सम्पूर्ण मतका अध्ययन किया है। साथ ही शुक्राचार्यके नीति-शास्त्रका भी आपको पूर्ण ज्ञान है ॥ ११ ॥

तदहं ज्ञातुमिच्छामि दण्ड उत्पद्यते कथम् ।
किं चास्य पूर्वं जागर्ति किं वा परममुच्यते ॥ १२ ॥

अतः मैं आपसे यह जानना चाहता हूँ कि दण्डकी उत्पत्ति कैसे हुई ? इसके पहले कौन-सी वस्तु जागरूक थी ? तथा इस दण्डको सबसे उत्कृष्ट क्यों कहा जाता है ? ॥ १२ ॥

कथं क्षत्रियसंस्थश्च दण्डः सम्प्रत्यवस्थितः ।
ब्रूहि मे सुमहाप्राज्ञ ददाम्याचार्यवेतनम् ॥ १३ ॥

इस समय यह दण्ड क्षत्रियोंके हाथमें कैसे आया है ? महामते ! यह सब मुझे बताइये। मैं आपको गुरुदक्षिणा प्रदान करूँगा ॥ १३ ॥

वसुहोम उवाच

शृणु राजन् यथा दण्डः सम्भूतो लोकसंग्रहः ।
प्रजाविनयरक्षार्थं धर्मस्यात्मा सनातनः ॥ १४ ॥

वसुहोम बोले—राजन् ! दण्ड सम्पूर्ण जगत्‌को नियमके अंदर रखनेवाला है। यह धर्मका सनातन स्वरूप है। इसका उद्देश्य है प्रजाको उद्दण्डतासे बचाना। इसकी उत्पत्ति जिस तरह हुई है, सो बता रहा हूँ; सुनो ॥ १४ ॥

ब्रह्मा यियक्षुर्भगवान् सर्वलोकपितामहः ।
ऋत्विजं नात्मनस्तुल्यं ददर्शेति हि नः श्रुतम् ॥ १५ ॥

हमारे सुननेमें आया है कि सर्वलोकपितामह भगवान् ब्रह्मा किसी समय यज्ञ करना चाहते थे; किंतु उन्हें अपने योग्य कोई ऋत्विज नहीं दिखायी दिया ॥ १५ ॥

स गर्भं शिरसा देवो बहुवर्षाण्यधारयत् ।
पूर्णे वर्षसहस्रे तु स गर्भः क्षुवतोऽपतत् ॥ १६ ॥

तब उन्होंने बहुत वर्षोंतक अपने मस्तकपर एक गर्भ धारण किया। जब एक हजार वर्ष बीत गये, तब ब्रह्माजीको छींक आयी और वह गर्भ नीचे गिर पड़ा ॥ १६ ॥

स क्षुपो नाम सम्भूतः प्रजापतिररिंदम ।
ऋत्विगासीन्महाराज यज्ञे तस्य महात्मनः ॥ १७ ॥

शत्रुदमन नरेश ! उससे जो बालक प्रकट हुआ, उसका नाम 'क्षुप' रक्खा गया। महाराज ! महात्मा ब्रह्माजीके उस यज्ञमें प्रजापति क्षुप ही ऋत्विज हुए ॥ १७ ॥

तस्मिन् प्रवृत्ते सत्रे तु ब्रह्मणः पार्थिवर्षभ ।
हृष्टरूपप्रधानत्वाद् दण्डः सोऽन्तर्हितोऽभवत् ॥ १८ ॥

नृपश्रेष्ठ ! ब्रह्माजीका वह यज्ञ आरम्भ होते ही वहाँ प्रत्यक्ष दीखनेवाले यज्ञकी प्रधानता होनेसे ब्रह्माका वह दण्ड अन्तर्धान हो गया ॥ १८ ॥

तस्मिन्नन्तर्हिते चापि प्रजानां संकरोऽभवत् ।
नैव कार्यं न वाकार्यं भोज्याभोज्यं न विद्यते ॥ १९ ॥

दण्ड लुप्त होते ही प्रजामें वर्णसंकरता फैलने लगी। कर्तव्याकर्तव्य तथा भक्ष्याभक्ष्यका विचार सर्वथा उठ गया ॥ १९ ॥

पेयापेये कुतः सिद्धिर्हिंसन्ति च परस्परम् ।
गम्यागम्यं तदा नासीत् स्वं परस्वं च वै समम् ॥ २० ॥

फिर पेयापेयका ही विचार कैसे रह सकता था ! सब लोग एक दूसरेकी हिंसा करने लगे। उस समय गम्यागम्यका विचार भी नहीं रह गया था। अपना और पराया धन एक-सा समझा जाने लगा ॥ २० ॥

परस्परं विलुम्पन्ति सारमेया यथामिषम् ।
अबलान् बलिनो घ्नन्ति निर्मर्यादमवर्तत ॥ २१ ॥

जैसे कुत्ते मांसके टुकड़ेके लिये आपसमें छीना-झपटी और नोच-खसोट करते हैं, उसी तरह मनुष्य भी परस्पर लूट-पाट करने लगे। बलवान् पुरुष दुर्बलोंकी हत्या करने लगे। सर्वत्र उच्छृङ्खलता फैल गयी ॥ २१ ॥

ततः पितामहो विष्णुं भगवन्तं सनातनम् ।
सम्पूज्य वरदं देवं महादेवमथाब्रवीत् ॥ २२ ॥
अत्र त्वमनुकम्पां वै कर्तुमर्हसि शंकर ।
संकरो न भवेदत्र यथा तद् वै विधीयताम् ॥ २३ ॥

ऐसी अवस्था हो जानेपर पितामह ब्रह्माने सनातन भगवान् विष्णुका पूजन करके वरदायक देवता महादेवजीसे कहा 'शंकर ! इस परिस्थितिमें आपको कृपा करनी चाहिये। जिस प्रकार संसारमें वर्णसंकरता न फैले, वह उपाय आप करें' ॥ २२-२३ ॥

ततः स भगवान् ध्यात्वा चिरं शूलवरायुधः ।
आत्मानमात्मना दण्डं ससृजे देवसत्तमः ॥ २४ ॥

इन्द्रो जागर्ति भगवानिन्द्रादग्निर्विभावसुः।
अग्नेर्जागर्ति वरुणो वरुणाच्च प्रजापतिः॥ ४३॥

भगवान् इन्द्र दण्ड-विधान करनेमें सदा जागरूक रहते हैं। इन्द्रसे प्रकाशमान अग्नि, अग्निसे वरुण और वरुणसे प्रजापति उस दण्डको प्राप्त करके उसके यथोचित प्रयोगके लिये सदा जाग्रत् रहते हैं॥ ४३॥

प्रजापतेस्ततो धर्मो जागर्ति विनयात्मकः।
धर्माच्च ब्रह्मणः पुत्रो व्यवसायः सनातनः॥ ४४॥

जो सम्पूर्ण जगत्को शिक्षा देनेवाले हैं, वे धर्म प्रजापतिसे दण्डको ग्रहण करके प्रजाकी रक्षाके लिये सदा जागरूक रहते हैं। ब्रह्मपुत्र सनातन व्यवसाय वह दण्ड धर्मसे लेकर लोक-रक्षाके लिये जागते रहते हैं॥ ४४॥

व्यवसायात् ततस्तेजो जागर्ति परिपालयत्।
ओषध्यस्तेजसस्तस्मादोषधीभ्यश्च पर्वताः॥ ४५॥
पर्वतेभ्यश्च जागर्ति रसो रसगुणात् तथा।
जागर्ति निर्ऋतिर्देवी ज्योतींषि निर्ऋतेरपि॥ ४६॥

व्यवसायसे दण्ड लेकर तेज जगत्की रक्षा करता हुआ सजग रहता है। तेजसे ओषधियाँ, ओषधियोंसे पर्वत, पर्वतोंसे रस, रससे निर्ऋति और निर्ऋतिसे ज्योतियाँ क्रमशः उस दण्डको हस्तगत करके लोक-रक्षाके लिये जागरूक बनी रहती हैं॥ ४५-४६॥

वेदाः प्रतिष्ठा ज्योतिर्भ्यस्ततो हयशिराः प्रभुः।
ब्रह्मा पितामहस्तस्माज्जागर्ति प्रभुरव्ययः॥ ४७॥

ज्योतियोंसे दण्ड ग्रहण करके वेद प्रतिष्ठित हुए हैं। वेदोंसे भगवान् हयग्रीव और हयग्रीवसे अविनाशी प्रभु ब्रह्मा वह दण्ड पाकर लोक-रक्षाके लिये जागते रहते हैं॥ ४७॥

पितामहान्महादेवो जागर्ति भगवाञ्छिवः।
विश्वेदेवाः शिवाच्चापि विश्वेभ्यश्च तथर्षयः॥ ४८॥
ऋषिभ्यो भगवान् सोमः सोमाद् देवाः सनातनाः।
देवेभ्यो ब्राह्मणा लोके जाग्रतीत्युपधारय॥ ४९॥

पितामह ब्रह्मासे दण्ड और रक्षाका अधिकार पाकर महान् देव भगवान् शिव जागते हैं। शिवसे विश्वेदेव, विश्वेदेवोंसे ऋषि, ऋषियोंसे भगवान् सोम, सोमसे सनातन देवगण और देवताओंसे ब्राह्मण वह अधिकार लेकर लोक-रक्षाके लिये सदा जाग्रत् रहते हैं। इस बातको तुम अच्छी तरह समझ लो॥ ४८-४९॥

ब्राह्मणेभ्यश्च राजन्या लोकान् रक्षन्ति धर्मतः।
स्थावरं जङ्गमं चैव क्षत्रियेभ्यः सनातनम्॥ ५०॥

तदनन्तर ब्राह्मणोंसे दण्डधारणका अधिकार पाकर क्षत्रिय धर्मानुसार सम्पूर्ण लोकोंकी रक्षा करते हैं। क्षत्रियोंसे ही यह सनातन चराचर जगत् सुरक्षित होता रहा है॥ ५०॥

प्रजा जागर्ति लोकेऽस्मिन् दण्डो जागर्ति तासु च।
सर्वं संक्षिपते दण्डः पितामहसमप्रभः॥ ५१॥

इस लोकमें प्रजा जागती है और प्रजाओंमें दण्ड जागता है। वह ब्रह्माजीके समान तेजस्वी दण्ड सबको मर्यादाके भीतर रखता है॥ ५१॥

जागर्ति कालः पूर्वं च मध्ये चान्ते च भारत।
ईश्वरः सर्वलोकस्य महादेवः प्रजापतिः॥ ५२॥

भारत! यह कालरूप दण्ड सृष्टिके आदिमें, मध्यमें और अन्तमें भी जागता रहता है। यह सर्वलोकेश्वर महादेवका स्वरूप है। यही समस्त प्रजाओंका पालक है॥ ५२॥

देवदेवः शिवः शर्वो जागर्ति सततं प्रभुः।
कपर्दी शङ्करो रुद्रः शिवः स्थाणुरुमापतिः॥ ५३॥

इस दण्डके रूपमें देवाधिदेव कल्याणस्वरूप सर्वात्मा प्रभु जटाजूटधारी उमावल्लभ दुःखहारी स्थाणुस्वरूप एवं लोक-मङ्गलकारी भगवान् शिव ही सदा जाग्रत् रहते हैं॥ ५३॥

इत्येष दण्डो विख्यात आदौ मध्ये तथावरे।
भूमिपालो यथान्यायं वर्ततानेन धर्मवित्॥ ५४॥

इस तरह यह दण्ड आदि, मध्य और अन्तमें विख्यात है। धर्मज्ञ राजाको चाहिये कि इसके द्वारा न्यायोचित बर्ताव करे॥ ५४॥

भीष्म उवाच

इतीदं वसुहोमस्य शृणुयाद् यो मतं नरः।
श्रुत्वा सम्यक् प्रवर्तेत सर्वान् कामानवाप्नुयात्॥ ५५॥

भीष्मजी कहते हैं—युधिष्ठिर! जो नरेश इस प्रकार बताये हुए वसुहोमके इस मतको सुनता और सुनकर यथोचित बर्ताव करता है, वह सम्पूर्ण कामनाओंको प्राप्त कर लेता है॥ ५५॥

इति ते सर्वमाख्यातं यो दण्डो मनुजर्षभ।
नियन्ता सर्वलोकस्य धर्माक्रान्तस्य भारत॥ ५६॥

नरश्रेष्ठ! भरतनन्दन! जो दण्ड सम्पूर्ण धार्मिक जगत्को नियमके भीतर रखनेवाला है, उसके सम्बन्धमें जितनी बातें हैं, उन्हें मैंने तुम्हें बता दीं॥ ५६॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि राजधर्मानुशासनपर्वणि दण्डोत्पत्त्युपाख्याने द्वाविंशत्यधिकशततमोऽध्यायः॥ १२२॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत राजधर्मानुशासनपर्वमें दण्डकी उत्पत्तिकी कथाविषयक एक सौ बाईसवाँ अध्याय पूरा हुआ॥ १२२॥

त्रयोविंशत्यधिकशततमोऽध्यायः

त्रिवर्गका विचार तथा पापके कारण पदच्युत हुए राजाके पुनरुत्थानके विषयमें आङ्गरिष्ठ और कामन्दकका संवाद

युधिष्ठिर उवाच

तात धर्मार्थकामानां श्रोतुमिच्छामि निश्चयम्।
लोकयात्रा हि कार्त्स्न्येन तिष्ठेत् केषु प्रतिष्ठिता॥ १॥

युधिष्ठिरने पूछा—तात! मैं धर्म, अर्थ और कामके सम्बन्धमें आपका निश्चित मत सुनना चाहता हूँ। किनपर अवलम्बित होनेपर लोकयात्राका पूर्णरूपसे निर्वाह होता है?॥ १॥

[illegible] ॥ २ ॥

[illegible] मनुष्योंका [illegible] किसी अर्थकी प्राप्तिका [illegible] उचित काल, कारण [illegible] अर्थ और काम तीनों एक साथ [illegible] ॥ ३ ॥

[illegible] कामोऽर्थफलमुच्यते ।
[illegible] सर्वे संकल्पो विषयात्मकः ॥ ४ ॥

[illegible] अर्थकी प्राप्तिका कारण है और काम [illegible] परंतु इन तीनोंका मूल कारण है [illegible] ॥ ४ ॥

[illegible] सर्वे आहारसिद्धये ।
[illegible] निवृत्तिर्मोक्ष उच्यते ॥ ५ ॥

[illegible] इन्द्रियोंके उपभोगमें आनेके लिये [illegible] धर्म, अर्थ और कामका मूल है, इनसे निवृत्त होना [illegible] ॥ ५ ॥

[illegible] चार्थ उच्यते ।
[illegible] सर्वे ते च रजस्वलाः ॥ ६ ॥

[illegible] धर्मका उपार्जन करनेके [illegible] आवश्यकता बतायी जाती है तथा कामका [illegible] ॥ ६ ॥

[illegible] न चैतान् मनसा त्यजेत् ।
[illegible] धर्मादीन् कामनैष्टिकान्॥ ७ ॥

[illegible] प्रकार संनिकृष्ट अर्थात् अपना [illegible] उसी रूपमें इनका सेवन करे अर्थात्- [illegible] ही उपयोगमें लावे । मनद्वारा [illegible] न करे, फिर मनसे शरीरद्वारा त्याग [illegible] अथवा विचारके द्वारा [illegible] अर्थात् आसक्ति और फलका [illegible] धर्म, अर्थ और कामका सेवन [illegible] ॥ ७ ॥

[illegible] प्राप्नुयान्नरः ।
[illegible] न वा पुनः ॥ ८ ॥

[illegible] और [illegible] त्रिवर्गका सेवन [illegible] ही होता है । यदि [illegible] बात है ।

[illegible] समझ-बूझकर धर्मानुष्ठान करनेपर भी कभी अर्थकी सिद्धि होती है, कभी नहीं होती है ॥ ८ ॥

अर्थार्थमन्यद् भवति विपरीतमथापरम् ।
अनर्थार्थमवाप्यार्थमन्यत्राद्योपकारकम् ।
बुद्ध्याबुद्धिरिहार्थे न तदज्ञाननिकृष्टया ॥ ९ ॥

इसके सिवा, कभी दूसरे-दूसरे उपाय भी अर्थके साधक हो जाते हैं और कभी अर्थसाधक कर्म भी विपरीत फल देनेवाला हो जाता है । कभी धन पाकर भी मनुष्य अनर्थकारी कर्मोंमें प्रवृत्त हो जाता है और धनसे भिन्न जो दूसरे-दूसरे साधन हैं, वे धर्ममें सहायक हो जाते हैं । अतः धर्मसे धन होता है और धनसे धर्म, इस मान्यताके विषयमें अज्ञानमयी निकृष्ट बुद्धिसे मोहित हुआ मूढ मानव विश्वास नहीं रखता, इसलिये उसे दोनोंका फल सुलभ नहीं होता ॥ ९ ॥

अपध्यानमलो धर्मो मलोऽर्थस्य निगूहनम् ।
सम्प्रमोदमलः कामो भूयः स्वगुणवर्जितः ॥ १० ॥

फलकी इच्छा धर्मका मल है, संगृहीत करके रखना अर्थका मल है और आमोद-प्रमोद कामका मल है, परंतु यह त्रिवर्ग यदि अपने दोषोंसे रहित हो तो कल्याणकारक होता है ॥

अत्राप्युदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम् ।
कामन्दकस्य संवादमाङ्गरिष्ठस्य चोभयोः ॥ ११ ॥

इस विषयमें जानकार लोग राजा आङ्गरिष्ठ और कामन्दक मुनिका संवादरूप प्राचीन इतिहास सुनाया करते हैं ॥ ११ ॥

कामन्दमृषिमासीनमभिवाद्य नराधिपः ।
आङ्गरिष्ठोऽथ पप्रच्छ कृत्वा समयपर्ययम् ॥ १२ ॥

एक समयकी बात है, कामन्दक ऋषि अपने आश्रममें बैठे थे । उन्हें प्रणाम करके राजा आङ्गरिष्ठने प्रश्नके उपयुक्त समय देखकर पूछा—॥ १२ ॥

यः पापं कुरुते राजा काममोहबलात्कृतः ।
प्रत्यासन्नस्य तस्यर्षे किं स्यात् पापप्रणाशनम् ॥ १३ ॥

'महर्षे ! यदि कोई राजा काम और मोहके वशीभूत होकर पाप कर बैठे, किंतु फिर उसे पश्चात्ताप होने लगे तो उसके उस पापको दूर करनेके लिये कौन-सा प्रायश्चित्त है ? ॥

अधर्मं धर्म इति च योऽज्ञानादाचरेन्नरः ।
तं चापि प्रथितं लोके कथं राजा निवर्तयेत् ॥ १४ ॥

'जो अज्ञानवश अधर्मको ही धर्म मानकर उसका आचरण कर रहा हो, उस लोकविख्यात सम्मानित पुरुषको राजा किस प्रकार उस अधर्मसे दूर हटावे ?' ॥ १४ ॥

कामन्दक उवाच

यो धर्मार्थौ परित्यज्य काममेवानुवर्तते ।
स धर्मार्थपरित्यागात् प्रज्ञानाशमिहार्च्छति ॥ १५ ॥

कामन्दकने कहा—राजन् ! जो धर्म और अर्थका परित्याग करके केवल कामका ही सेवन करता है, उन दोनोंके त्यागसे उसकी बुद्धि नष्ट हो जाती है ॥ १५ ॥

प्रज्ञानाशात्मको मोहस्तथा धर्मार्थनाशकः ।
तस्मान्नास्तिकता चैव दुराचारश्च जायते ॥ १६ ॥

बुद्धिका-नाश ही मोह है । वह धर्म और अर्थ दोनोंका विनाश करनेवाला है । इससे मनुष्यमें नास्तिकता आती है और वह दुराचारी हो जाता है ॥ १६ ॥

दुराचारान् यदा राजा प्रदुष्टान् न नियच्छति ।
तस्मादुद्विजते लोकः सर्पाद् वेश्मगतादिव ॥ १७ ॥

जब राजा दुष्टों और दुराचारियोंको दण्ड देकर काबूमें नहीं करता है, तब सारी प्रजा घरमें रहनेवाले सर्पकी भाँति उस राजासे उद्विग्न हो उठती है ॥ १७ ॥

तं प्रजा नानुवर्तन्ते ब्राह्मणा न च साधवः ।
ततः संशयमाप्नोति तथा वध्यत्वमेति च ॥ १८ ॥

उस दशामें प्रजा उसका साथ नहीं देती । साधु और ब्राह्मण भी उसका अनुसरण नहीं करते हैं । फिर तो उसका जीवन खतरेमें पड़ जाता है और अन्ततोगत्वा वह प्रजाके ही हाथसे मारा भी जाता है ॥ १८ ॥

अपध्वस्तस्त्ववमतो दुःखं जीवितमृच्छति ।
जीवेच्च यदपध्वस्तस्तच्छुद्धं मरणं भवेत् ॥ १९ ॥

वह अपने पदसे भ्रष्ट और अपमानित होकर दुःखमय जीवन बिताता है । यदि पदभ्रष्ट होकर भी वह जीता है तो वह जीवन भी स्पष्टरूपमें मरण ही है ॥ १९ ॥

अत्रैतदाहुराचार्याः पापस्य परिगर्हणम् ।
सेवितव्या त्रयी विद्या सत्कारो ब्राह्मणेषु च ॥ २० ॥

इस अवस्थामें आचार्यगण उसके लिये यह कर्तव्य बतलाते हैं कि वह अपने पापोंकी निन्दा करे, वेदोंका निरन्तर स्वाध्याय करे और ब्राह्मणोंका सत्कार करे ॥ २० ॥

महामना भवेद् धर्मे विवहेच्च महाकुले ।
ब्राह्मणांश्चापि सेवेत क्षमायुक्तान् मनस्विनः ॥ २१ ॥

धर्माचरणमें विशेष मन लगावे । उत्तम कुलमें विवाह करे । उदार एवं क्षमाशील ब्राह्मणोंकी सेवामें रहे ॥ २१ ॥

जपेदुदकशीलः स्यात् सततं सुखमास्थितः ।
धर्मान्वितान् सम्प्रविशेद् बहिः कृत्वेह दुष्कृतीन् ॥ २२ ॥

वह जलमें खड़ा होकर गायत्रीका जप करे । सदा प्रसन्न रहे । पापियोंको राज्यसे बाहर निकालकर धर्मात्मा पुरुषोंका संग करे ॥ २२ ॥

प्रसादयेन्मधुरया वाचा वाप्यथ कर्मणा ।
तवास्मीति वदेन्नित्यं परेषां कीर्तयन् गुणान् ॥ २३ ॥

मीठी वाणी तथा उत्तम कर्मके द्वारा सबको प्रसन्न रखे; दूसरोंके गुणोंका बखान करे और सबसे यही कहे—मैं आपका ही हूँ—आप मुझे अपना ही समझें ॥ २३ ॥

अपापो ह्येवमाचारः क्षिप्रं बहुमतो भवेत् ।
पापान्यपि हि कृच्छ्राणि शमयेन्नात्र संशयः ॥ २४ ॥

जो राजा इस प्रकार अपना आचरण बना लेता है, वह शीघ्र ही निष्पाप होकर सबके सम्मानका पात्र बन जाता है । वह अपने कठिन-से-कठिन पापोंको भी शान्त (नष्ट) कर देता है—इसमें संशय नहीं है ॥ २४ ॥

गुरवो हि परं धर्मं यं ब्रूयुस्तं तथा कुरु ।
गुरूणां हि प्रसादाद् वै श्रेयः परमवाप्स्यसि ॥ २५ ॥

राजन् ! गुरुजन तुम्हारे लिये जिस उत्तम धर्मका उपदेश करें, उसका उसी रूपमें पालन करो । गुरुजनोंकी कृपासे तुम परम कल्याणके भागी होओगे ॥ २५ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि राजधर्मानुशासनपर्वणि कामन्दकाङ्गरिष्ठसंवादे त्रयोविंशत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १२३ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत राजधर्मानुशासनपर्वमें कामन्दक और आङ्गरिष्ठका संवादविषयक एक सौ तेईसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १२३ ॥

चतुर्विंशत्यधिकशततमोऽध्यायः

इन्द्र और प्रह्लादकी कथा—शीलका प्रभाव, शीलके अभावमें धर्म, सत्य, सदाचार, बल और लक्ष्मीके न रहनेका वर्णन

युधिष्ठिर उवाच

इमे जना नरश्रेष्ठ प्रशंसन्ति सदा भुवि ।
धर्मस्य शीलमेवादौ ततो मे संशयो महान् ॥ १ ॥

युधिष्ठिरने पूछा—नरश्रेष्ठ ! पितामह ! भूमण्डलके ये सभी मनुष्य सर्वप्रथम धर्मके अनुरूप शीलकी ही अधिक प्रशंसा करते हैं; अतः इस विषयमें मुझे बड़ा भारी संदेह हो गया है ॥ १ ॥

यदि तच्छक्यमस्माभिर्ज्ञातुं धर्मभृतां वर ।
श्रोतुमिच्छामि तत् सर्वं यथैतदुपलभ्यते ॥ २ ॥

धर्मात्माओंमें श्रेष्ठ ! यदि मैं उसे जान सकूँ तो जिस प्रकार शीलकी उपलब्धि होती है, वह सब सुनना चाहता हूँ ॥

कथं तत् प्राप्यते शीलं श्रोतुमिच्छामि भारत ।
किंलक्षणं च तत् प्रोक्तं ब्रूहि मे वदतां वर ॥ ३ ॥

भारत ! वह शील कैसे प्राप्त होता है ? यह सुननेकी मेरी बड़ी इच्छा है । वक्ताओंमें श्रेष्ठ पितामह ! उसका क्या लक्षण बताया गया है ? यह मुझसे कहिये ॥ ३ ॥

भीष्म उवाच

पुरा दुर्योधनेनेह धृतराष्ट्राय मानद ।

ततो बृहस्पतिं शक्रः प्राञ्जलिः समुपस्थितः।
तमुवाच महाप्राज्ञः श्रेय इच्छामि वेदितुम् ॥ २१ ॥

तब महाबुद्धिमान् इन्द्र हाथ जोड़कर बृहस्पतिजीकी सेवामें उपस्थित हुए और उनसे बोले—'भगवन्! मैं अपने कल्याणका उपाय जानना चाहता हूँ' ॥ २१ ॥

ततो बृहस्पतिस्तस्मै ज्ञानं नैःश्रेयसं परम्।
कथयामास भगवान् देवेन्द्राय कुरूद्वह ॥ २२ ॥

कुरुश्रेष्ठ! तब भगवान् बृहस्पतिने उन देवेन्द्रको कल्याणकारी परम ज्ञानका उपदेश दिया ॥ २२ ॥

एतावच्छ्रेय इत्येव बृहस्पतिरभाषत।
इन्द्रस्तु भूयः पप्रच्छ को विशेषो भवेदिति ॥ २३ ॥

तत्पश्चात् इतना ही श्रेय (कल्याणका उपाय) है, ऐसा बृहस्पतिने कहा। तब इन्द्रने फिर पूछा—'इससे विशेष वस्तु क्या है?' ॥ २३ ॥

बृहस्पतिरुवाच

विशेषोऽस्ति महांस्तात भार्गवस्य महात्मनः।
अत्रागमय भद्रं ते भूय एव सुरर्षभ ॥ २४ ॥

बृहस्पतिने कहा—तात! सुरश्रेष्ठ! इससे भी विशेष महत्त्वपूर्ण वस्तुका ज्ञान महात्मा शुक्राचार्यको है। तुम्हारा कल्याण हो। तुम उन्हींके पास जाकर पुनः उस वस्तुका ज्ञान प्राप्त करो ॥ २४ ॥

आत्मनस्तु ततः श्रेयो भार्गवात् सुमहातपाः।
ज्ञानमागमयत् प्रीत्या पुनः स परमद्युतिः ॥ २५ ॥

तब परम तेजस्वी महातपस्वी इन्द्रने प्रसन्नतापूर्वक शुक्राचार्यसे पुनः अपने लिये श्रेयका ज्ञान प्राप्त किया ॥ २५ ॥

तेनापि समनुज्ञातो भार्गवेण महात्मना।
श्रेयोऽस्तीति पुनर्भूयः शुक्रमाह शतक्रतुः ॥ २६ ॥

महात्मा भार्गवने जब उन्हें उपदेश दे दिया, तब इन्द्रने पुनः शुक्राचार्यसे पूछा—'क्या इससे भी विशेष श्रेय है'? ॥

भार्गवस्त्वाह सर्वज्ञः प्रह्लादस्य महात्मनः।
ज्ञानमस्ति विशेषेणेत्युक्तो हृष्टश्च सोऽभवत् ॥ २७ ॥

तब सर्वज्ञ शुक्राचार्यने कहा—'महात्मा प्रह्लादको इससे विशेष श्रेयका ज्ञान है।' यह सुनकर इन्द्र बड़े प्रसन्न हुए ॥

स ततो ब्राह्मणो भूत्वा प्रह्लादं पाकशासनः।
गत्वा प्रोवाच मेधावी श्रेय इच्छामि वेदितुम् ॥ २८ ॥

तदनन्तर बुद्धिमान् इन्द्र ब्राह्मणका रूप धारण करके प्रह्लादके पास गये और बोले—'राजन्! मैं श्रेय जानना चाहता हूँ' ॥ २८ ॥

प्रह्लादस्त्वब्रवीद् विप्रं क्षणो नास्ति द्विजर्षभ।
त्रैलोक्यराज्यसक्तस्य ततो नोपदिशामि ते ॥ २९ ॥

प्रह्लादने ब्राह्मणसे कहा—'द्विजश्रेष्ठ! त्रिलोकीके राज्यकी व्यवस्थामें व्यस्त रहनेके कारण मेरे पास समय नहीं है, अतः मैं आपको उपदेश नहीं दे सकूँगा' ॥ २९ ॥

ब्राह्मणस्त्वब्रवीद् राजन् यस्मिन् काले क्षणो भवेत्।
तदोपादेष्टुमिच्छामि यदाचर्यमनुत्तमम् ॥ ३० ॥

यह सुनकर ब्राह्मणने कहा—'राजन्! जब आपको अवसर मिले, उसी समय मैं आपसे सर्वोत्तम आचरणीय धर्मका उपदेश ग्रहण करना चाहता हूँ' ॥ ३० ॥

ततः प्रीतोऽभवद् राजा प्रह्लादो ब्रह्मवादिनः।
तथेत्युक्त्वा शुभे काले ज्ञानतत्त्वं ददौ तदा ॥ ३१ ॥

ब्राह्मणकी इस बातसे राजा प्रह्लादको बड़ी प्रसन्नता हुई। उन्होंने 'तथास्तु' कहकर उसकी बात मान ली और शुभ समयमें उसे ज्ञानका तत्त्व प्रदान किया ॥ ३१ ॥

ब्राह्मणोऽपि यथान्यायं गुरुवृत्तिमनुत्तमाम्।
चकार सर्वभावेन यदस्य मनसेप्सितम् ॥ ३२ ॥

ब्राह्मणने भी उनके प्रति यथायोग्य परम उत्तम गुरुभक्तिपूर्ण बर्ताव किया और उनके मनकी रुचिके अनुसार सब प्रकारसे उनकी सेवा की ॥ ३२ ॥

पृष्टश्च तेन बहुशः प्राप्तं कथमनुत्तमम्।
त्रैलोक्यराज्यं धर्मज्ञ कारणं तद् ब्रवीहि मे।
प्रह्लादोऽपि महाराज ब्राह्मणं वाक्यमब्रवीत् ॥ ३३ ॥

ब्राह्मणने प्रह्लादसे बारंबार पूछा—'धर्मज्ञ! आपको यह त्रिलोकीका उत्तम राज्य कैसे प्राप्त हुआ? इसका कारण मुझे बताइये। महाराज! तब प्रह्लाद भी ब्राह्मणसे इस प्रकार बोले— ॥

प्रह्लाद उवाच

नासूयामि द्विजान् विप्र राजास्मीति कदाचन।
काव्यानि वदतां तेषां संयच्छामि वहामि च ॥ ३४ ॥

प्रह्लादने कहा—विप्रवर! 'मैं राजा हूँ' इस अभिमानमें आकर कभी ब्राह्मणोंकी निन्दा नहीं करता; बल्कि जब वे मुझे शुक्रनीतिका उपदेश करते हैं, तब मैं संयमपूर्वक उनकी बातें सुनता हूँ और उनकी आज्ञा शिरोधार्य करता हूँ ॥

ते विश्रब्धाः प्रभाषन्ते संयच्छन्ति च मां सदा।
ते मां काव्यपथे युक्तं शुश्रूषुमनसूयकम् ॥ ३५ ॥
धर्मात्मानं जितक्रोधं नियतं संयतेन्द्रियम्।
समासिञ्चन्ति शास्तारः क्षौद्रं मध्विव मक्षिकाः ॥ ३६ ॥

वे ब्राह्मण विश्वस्त होकर मुझे नीतिका उपदेश देते और सदा संयममें रखते हैं। मैं सदा ही यथाशक्ति शुक्राचार्यके बताये हुए नीतिमार्गपर चलता, ब्राह्मणोंकी सेवा करता, किसीके दोष नहीं देखता और धर्ममें मन लगाता हूँ। क्रोधको जीतकर मन और इन्द्रियोंको काबूमें किये रहता हूँ। अतः जैसे मधुकी मक्खियाँ शहदके छत्तेको फूलोंके रससे सींचती रहती हैं, उसी प्रकार उपदेश देनेवाले ब्राह्मण मुझे शास्त्रके अमृतमय वचनोंसे सींचा करते हैं ॥ ३५-३६ ॥

सोऽहं वागग्रविद्यानां रसानामवलेहिता।
स्वजात्यानधितिष्ठामि नक्षत्राणीव चन्द्रमाः ॥ ३७ ॥

मैं उनकी नीति-विद्याओंके रसका आस्वादन करता हूँ

[illegible] करते हैं, इसी प्रकार [illegible] हैं ॥ ३७ ॥

[illegible] नुत्तमम् ।
[illegible] प्रवर्तते ॥ ३८ ॥

[illegible] ही नीतिवाक्य है, यही [illegible] यही परिणाम मेरा है। राजा इसी [illegible] हैं ॥ ३८ ॥

ततस्तु प्रीतिमान् राजन् प्रह्लादो ब्रह्मवादिनम् ।
गुरुवृत्त्या यथान्यायं दैत्येन्द्रो वाक्यमब्रवीत् ॥ ३९ ॥

[illegible] प्रह्लादने उस ब्रह्मवादी [illegible]। इसके बाद भी उसकी सेवा-शुश्रूषा करनेपर [illegible]—॥ ३९ ॥

यथावद् गुरुवृत्त्या ते प्रीतोऽस्मि द्विजसत्तम ।
वरं वृणीष्व भद्रं ते प्रदातास्मि न संशयः ॥ ४० ॥

[illegible]! मैं तुम्हारे द्वारा की हुई यथोचित गुरुसेवासे [illegible]। तुम्हारा कल्याण हो। तुम कोई वर माँगो। मैं [illegible] दूँगा। इसमें संशय नहीं है' ॥ ४० ॥

कृतमित्येव दैत्येन्द्रमुवाच स च वै द्विजः ।
प्रह्लादस्त्वब्रवीत् प्रीतो गृह्यतां वर इत्युत ॥ ४१ ॥

[illegible] उस ब्राह्मणने दैत्यराजसे कहा—'आपने मेरी सारी [illegible] पूर्ण कर दी'। यह सुनकर प्रह्लाद और भी प्रसन्न [illegible]—'कोई वर अवश्य माँगो' ॥ ४१ ॥

ब्राह्मण उवाच

यदि राजन् प्रसन्नस्त्वं मम चेदिच्छसि प्रियम् ।
भवतः शीलमिच्छामि प्राप्तुमेष वरो मम ॥ ४२ ॥

ब्राह्मण बोला—राजन् ! यदि आप प्रसन्न हैं और [illegible] तो मुझे आपका ही शील प्राप्त [illegible] यही मेरा वर है ॥ ४२ ॥

ततः प्रीतस्तु दैत्येन्द्रो भयमस्याभवन्महत् ।
वरे प्रदिष्टे विप्रेण नाल्पतेजायमित्युत ॥ ४३ ॥

[illegible] दैत्यराज प्रह्लाद प्रसन्न तो हुए; परंतु उनके [illegible] भारी भय समा गया। ब्राह्मणके वर माँगनेपर वे [illegible] कि यह कोई साधारण तेजवाला पुरुष नहीं है ॥

एवमस्त्विति तं प्राह प्रह्लादो विस्मितस्तदा ।
उपाकृत्य तु विप्राय वरं दुःखान्वितोऽभवत् ॥ ४४ ॥

[illegible] 'एवमस्तु' कहकर प्रह्लादने वह वर दे दिया। [illegible] उन्हें बड़ा विस्मय हो रहा था। ब्राह्मणको वह [illegible] बहुत दुःखी हो गये ॥ ४४ ॥

दत्ते वरे गते विप्रे चिन्ताऽऽसीन्महती तदा ।
प्रह्लादस्य महाराज निश्चयं न च जग्मिवान् ॥ ४५ ॥

[illegible]! वर देनेके पश्चात् जब ब्राह्मण चला गया, [illegible] प्रह्लादको बड़ी भारी चिन्ता हुई। वे सोचने लगे—क्या करना चाहिये ? परंतु किसी निश्चयपर पहुँच न सके ॥ ४५ ॥

तस्य चिन्तयतस्तावच्छायाभूतं महाद्युति ।
तेजो विग्रहवत् तात शरीरमजहात् तदा ॥ ४६ ॥

तात ! वे चिन्ता कर ही रहे थे कि उनके शरीरसे परम कान्तिमान् छायामय तेज मूर्तिमान् होकर प्रकट हुआ। उसने उनके शरीरको त्याग दिया था ॥ ४६ ॥

तमपृच्छन्महाकायं प्रह्लादः को भवानिति ।
प्रत्याहतं तु शीलोऽस्मि त्यक्तो गच्छाम्यहं त्वया ॥ ४७ ॥

प्रह्लादने उस विशालकाय पुरुषसे पूछा—'आप कौन हैं ?' उसने उत्तर दिया—'मैं शील हूँ। तुमने मुझे त्याग दिया है, इसलिये मैं जा रहा हूँ' ॥ ४७ ॥

तस्मिन् द्विजोत्तमे राजन् वत्स्याम्यहमनिन्दिते ।
योऽसौ शिष्यत्वमागम्य त्वयि नित्यं समाहितः ॥ ४८ ॥

'राजन् ! अब मैं उस अनिन्दित श्रेष्ठ ब्राह्मणके शरीरमें निवास करूँगा, जो प्रतिदिन तुम्हारा शिष्य बनकर यहाँ बड़ी सावधानीके साथ रहता था' ॥ ४८ ॥

इत्युक्त्वान्तर्हितं तद् वै शक्रं चान्वाविशत् प्रभो ।
तस्मिंस्तेजसि याते तु तादृग्रूपस्ततोऽपरः ॥ ४९ ॥
शरीरान्निःसृतस्तस्य को भवानिति चाब्रवीत् ।
धर्मं प्रह्लाद मां विद्धि यत्रासौ द्विजसत्तमः ॥ ५० ॥
तत्र यास्यामि दैत्येन्द्र यतः शीलं ततो ह्यहम् ।

प्रभो ! ऐसा कहकर शील अदृश्य हो गया और इन्द्रके शरीरमें समा गया। उस तेजके चले जानेपर प्रह्लादके शरीरसे दूसरा वैसा ही तेज प्रकट हुआ। प्रह्लादने पूछा—'आप कौन हैं ?' उसने उत्तर दिया—'प्रह्लाद ! मुझे धर्म समझो। जहाँ वह श्रेष्ठ ब्राह्मण है, वहीं जाऊँगा। दैत्यराज ! जहाँ शील होता है, वहीं मैं भी रहता हूँ' ॥ ४९-५०½ ॥

ततोऽपरो महाराज प्रज्वलन्निव तेजसा ॥ ५१ ॥
शरीरान्निःसृतस्तस्य प्रह्लादस्य महात्मनः ।

महाराज ! तदनन्तर महात्मा प्रह्लादके शरीरसे एक तीसरा पुरुष प्रकट हुआ, जो अपने तेजसे प्रज्वलित-सा हो रहा था ॥ ५१½ ॥

को भवानिति पृष्टश्च तमाह स महाद्युतिः ॥ ५२ ॥
सत्यं विद्ध्यसुरेन्द्राद्य प्रयास्ये धर्ममन्वहम् ।

'आप कौन हैं ?' यह प्रश्न होनेपर उस महातेजस्वीने उन्हें उत्तर दिया—'असुरेन्द्र ! मुझे सत्य समझो। मैं अब धर्मके पीछे-पीछे जाऊँगा' ॥ ५२½ ॥

तस्मिन्ननुगते सत्ये महान् वै पुरुषोऽपरः ॥ ५३ ॥
निश्चक्राम ततस्तस्मात् पृष्टश्चाह महाबलः ।
वृत्तं प्रह्लाद मां विद्धि यतः सत्यं ततो ह्यहम् ॥ ५४ ॥

सत्यके चले जानेपर प्रह्लादके शरीरसे दूसरा महापुरुष प्रकट हुआ। परिचय पूछनेपर उस महाबलीने उत्तर दिया—

द ! मुझे सदाचार समझो । जहाँ सत्य होता है, वहीं मैं रहता हूँ ॥ ५३-५४ ॥

मन् गते महाशब्दः शरीरात् तस्य निर्ययौ ।
श्चाह बलं विद्धि यतो वृत्तमहं ततः ॥ ५५ ॥

उसके चले जानेपर प्रह्लादके शरीरसे महान् शब्द करता पुनः एक पुरुष प्रकट हुआ । उसने पूछनेपर बताया– बल समझो । जहाँ सदाचार होता है, वहीं मेरा स्थान है' ॥ ५५ ॥

मुक्त्वा प्रययौ तत्र यतो वृत्तं नराधिप ।
: प्रभामयी देवी शरीरात् तस्य निर्ययौ ॥ ५६ ॥
पृच्छत् स दैत्येन्द्रः सा श्रीरित्येनमब्रवीत् ।
तास्मि स्वयं वीर त्वयि सत्यपराक्रम ॥ ५७ ॥
ा त्यक्ता गमिष्यामि बलं ह्यनुगता ह्यहम् ।

नरेश्वर ! ऐसा कहकर बल सदाचारके पीछे चला गया । श्चात् प्रह्लादके शरीरसे एक प्रभामयी देवी प्रकट हुई । राजने उससे पूछा–'आप कौन हैं ?' वह बोली–'मैं लक्ष्मी सत्यपराक्रमी वीर ! मैं स्वयं ही आकर तुम्हारे शरीरमें स करती थी, परंतु अब तुमने मुझे त्याग दिया; इसलिये जाऊँगी; क्योंकि मैं बलकी अनुगामिनी हूँ' ॥५६-५७½॥

ा भयं प्रादुरासीत् प्रह्लादस्य महात्मनः ॥ ५८ ॥
च्छत् स ततो भूयः क यासि कमलालये ।
हि सत्यव्रता देवी लोकस्य परमेश्वरी ।
ासौ ब्राह्मणश्रेष्ठस्तत्त्वमिच्छामि वेदितुम् ॥ ५९ ॥

तब महात्मा प्रह्लादको बड़ा भय हुआ । उन्होंने पुनः –'कमलालये ! तुम कहाँ जा रही हो, तुम तो सत्यव्रता देवी सम्पूर्ण जगत्‌की परमेश्वरी हो । वह श्रेष्ठ ब्राह्मण कौन ? यह मैं ठीक-ठीक जानना चाहता हूँ' ॥ ५८-५९ ॥

श्रीरुवाच

शक्रो ब्रह्मचारी यस्त्वत्तश्चैवोपशिक्षितः ।
ोक्ये ते यदैश्वर्यं तत् तेनापहृतं प्रभो ॥ ६० ॥

लक्ष्मीने कहा—प्रभो ! तुमने जिसे उपदेश दिया उस ब्रह्मचारी ब्राह्मणके रूपमें साक्षात् इन्द्र थे । तीनों कोंमें जो तुम्हारा ऐश्वर्य फैला हुआ था, वह उन्होंने लिया ॥ ६० ॥

लेन हि त्रयो लोकास्त्वया धर्मज्ञ निर्जिताः ।
द्विज्ञाय सुरेन्द्रेण तव शीलं हृतं प्रभो ॥ ६१ ॥

धर्मज्ञ ! तुमने शीलके द्वारा ही तीनों लोकोंपर विजय ी थी । प्रभो ! यह जानकर ही सुरेन्द्रने तुम्हारे शीलका हरण कर लिया है ॥ ६१ ॥

र्मः सत्यं तथा वृत्तं बलं चैव तथाप्यहम् ।
ीलमूला महाप्राज्ञ सदा नास्त्यत्र संशयः ॥ ६२ ॥

महाप्राज्ञ ! धर्म, सत्य, सदाचार, बल और मैं (लक्ष्मी)– सब सदा शीलके ही आधारपर रहते हैं—शील ही इन की जड़ है । इसमें संशय नहीं है ॥ ६२ ॥

भीष्म उवाच

एवमुक्त्वा गता श्रीस्तु ते च सर्वे युधिष्ठिर ।
दुर्योधनस्तु पितरं भूय एवाब्रवीद् वचः ॥ ६३ ॥
शीलस्य तत्त्वमिच्छामि वेत्तुं कौरवनन्दन ।
प्राप्यते च यथा शीलं तं चोपायं वदस्व मे ॥ ६४ ॥

भीष्मजी कहते हैं—युधिष्ठिर ! यों कहकर लक्ष्मी तथा वे शील आदि समस्त सद्गुण इन्द्रके पास चले गये । इस कथाको सुनकर दुर्योधनने पुनः अपने पितासे कहा–'कौरवनन्दन ! मैं शीलका तत्त्व जानना चाहता हूँ । शील जिस तरह प्राप्त हो सके, वह उपाय भी मुझे बताइये' ॥६३-६४॥

धृतराष्ट्र उवाच

सोपायं पूर्वमुद्दिष्टं प्रह्लादेन महात्मना ।
संक्षेपेण तु शीलस्य शृणु प्राप्तिं नरेश्वर ॥ ६५ ॥

धृतराष्ट्रने कहा—नरेश्वर ! शीलका स्वरूप और उसे पानेका उपाय–ये दोनों बातें महात्मा प्रह्लादने पहले ही बतायी हैं । मैं संक्षेपसे शीलकी प्राप्तिका उपायमात्र बता रहा हूँ, ध्यान देकर सुनो ॥ ६५ ॥

अद्रोहः सर्वभूतेषु कर्मणा मनसा गिरा ।
अनुग्रहश्च दानं च शीलमेतत् प्रशस्यते ॥ ६६ ॥

मन, वाणी और क्रियाद्वारा किसी भी प्राणीसे द्रोह न करना, सबपर दया करना और यथाशक्ति दान देना—यह शील कहलाता है, जिसकी सब लोग प्रशंसा करते हैं ॥ ६६ ॥

यदन्येषां हितं न स्यादात्मनः कर्म पौरुषम् ।
अपत्रपेत वा येन न तत् कुर्यात् कथंचन ॥ ६७ ॥

अपना जो भी पुरुषार्थ और कर्म दूसरोंके लिये हितकर न हो अथवा जिसे करनेमें संकोचका अनुभव होता हो, उसे किसी तरह नहीं करना चाहिये ॥ ६७ ॥

तत्तु कर्म तथा कुर्याद् येन श्लाघ्येत संसदि ।
शीलं समासेनैतत् ते कथितं कुरुसत्तम ॥ ६८ ॥

जो कर्म जिस प्रकार करनेसे भरी सभामें मनुष्यकी प्रशंसा हो, उसे उसी प्रकार करना चाहिये । कुरुश्रेष्ठ ! यह तुम्हें थोड़ेमें शीलका स्वरूप बताया गया है ॥ ६८ ॥

यद्यप्यशीला नृपते प्राप्नुवन्ति श्रियं क्वचित् ।
न भुञ्जते चिरं तात समूलाश्च न सन्ति ते ॥ ६९ ॥

तात ! नरेश्वर ! यद्यपि कहीं-कहीं शीलहीन मनुष्य भी राजलक्ष्मीको प्राप्त कर लेते हैं, तथापि वे चिरकालतक उसका उपभोग नहीं कर पाते और जड़मूलसहित नष्ट हो जाते हैं ॥

एतद् विदित्वा तत्त्वेन शीलवान् भव पुत्रक ।
यदीच्छसि श्रियं तात सुविशिष्टां युधिष्ठिरात् ॥ ७० ॥

बेटा ! यदि तुम युधिष्ठिरसे भी अच्छी सम्पत्ति प्राप्त करना चाहो तो इस उपदेशको यथार्थरूपसे समझकर शीलवान् बनो ॥ ७० ॥

[illegible] ॥ ७२ ॥

भीष्मजी कहते हैं—कुन्तीनन्दन ! राजा धृतराष्ट्रने अपने पुत्रको यह उपदेश दिया था। तुम भी इसका आचरण करो, इससे तुम्हें भी वही फल प्राप्त होगा ॥ ७१ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि राजधर्मानुशासनपर्वणि शीलवर्णनं नाम चतुर्विंशत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १२४ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत राजधर्मानुशासनपर्वमें शीलवर्णनविषयक एक सौ चौबीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥१२४॥

पञ्चविंशत्यधिकशततमोऽध्यायः

युधिष्ठिरका आशाविषयक प्रश्न—उत्तरमें राजा सुमित्र और ऋषभ नामक ऋषिके इतिहासका आरम्भ, उसमें राजा सुमित्रका एक मृगके पीछे दौड़ना

युधिष्ठिर उवाच

शीलं प्रधानं पुरुषे कथितं ते पितामह।
कथमाशा समुत्पन्ना या चाशा तद् वदस्व मे ॥ १ ॥

युधिष्ठिरने पूछा—पितामह ! आपने पुरुषमें शीलको [illegible] है। अब मैं यह जानना चाहता हूँ कि [illegible] हुई ! आशा क्या है ? यह भी मुझे बताइये ॥ १ ॥

संशयो मे महानेष समुत्पन्नः पितामह।
छेत्ता च तस्य नान्योऽस्ति त्वत्तः परपुरंजय ॥ २ ॥

[illegible] पितामह ! मेरे मनमें यह [illegible] उत्पन्न हुआ है। इसका निवारण करनेवाला [illegible] दूसरा कोई नहीं है ॥ २ ॥

पितामहाशा महती ममासीद्धि सुयोधने।
प्राप्ते युद्धे तु यद् युक्तं तत् कर्तायमिति प्रभो ॥ ३ ॥

पितामह ! दुर्योधनपर मेरी बड़ी भारी आशा थी कि युद्धका अवसर उपस्थित होनेपर वह उचित कार्य करेगा। प्रभो ! मैं [illegible] था कि वह युद्ध किये बिना ही मुझे आधा [illegible] ॥ ३ ॥

सर्वस्याशा सुमहती पुरुषस्योपजायते।
तस्यां विहन्यमानायां दुःखो मृत्युर्न संशयः ॥ ४ ॥

[illegible] सभी मनुष्योंके हृदयमें कोई-न-कोई बड़ी आशा [illegible] है। उसके भङ्ग होनेपर महान् दुःख होता है। [illegible] मृत्यु हो जाती है, इसमें संशय नहीं है ॥

सोऽहं हताशो दुर्बुद्धिः कृतस्तेन दुरात्मना।
धार्तराष्ट्रेण राजेन्द्र पश्य मन्दात्मतां मम ॥ ५ ॥

राजेन्द्र ! उस दुरात्मा धृतराष्ट्रपुत्रने मुझ दुर्बुद्धिको हताश कर दिया। देखिये, मैं कैसा मन्दभाग्य हूँ ॥ ५ ॥

आशां महत्तरां मन्ये पर्वतादपि सद्रुमात्।
आकाशादपि वा राजन्नप्रमेयैव वा पुनः ॥ ६ ॥

राजन् ! मैं आशाको वृक्षोंसहित पर्वतोंसे भी बहुत बड़ी [illegible] अथवा वह आकाशसे भी बढ़कर अप्रमेय है ॥६॥

एषा चैव कुरुश्रेष्ठ दुर्विचिन्त्या सुदुर्लभा।
दुर्लभत्वाच्च पश्यामि किमन्यद् दुर्लभं ततः ॥ ७ ॥

कुरुश्रेष्ठ ! वह अचिन्त्य और परम दुर्लभ है—उसे जीतना कठिन है। उसके दुर्लभ या दुर्जय होनेके कारण ही मैं उसे इतनी बड़ी देखता और समझता हूँ। भला, आशासे बढ़कर दुर्लभ और क्या है ? ॥ ७ ॥

भीष्म उवाच

अत्र ते वर्तयिष्यामि युधिष्ठिर निबोध तत्।
इतिहासं सुमित्रस्य निर्वृत्तमृषभस्य च ॥ ८ ॥

भीष्मजीने कहा—युधिष्ठिर ! इस विषयमें मैं राजा सुमित्र तथा ऋषभ मुनिका पूर्वघटित इतिहास तुम्हें बताऊँगा। उसे ध्यान देकर सुनो ॥ ८ ॥

सुमित्रो नाम राजर्षिर्हैहयो मृगयां गतः।
ससार स मृगं विद्ध्वा बाणेनानतपर्वणा ॥ ९ ॥

राजर्षि सुमित्र हैहयवंशी राजा थे। एक दिन वे शिकार खेलनेके लिये वनमें गये। वहाँ उन्होंने झुकी हुई गाँठवाले बाणसे एक मृगको घायल करके उसका पीछा करना आरम्भ किया ॥ ९ ॥

स मृगो बाणमादाय ययावमितविक्रमः।
स च राजा बलात् तूर्णं ससार मृगयूथपम् ॥ १० ॥

वह मृग बहुत तेज दौड़नेवाला था। वह राजाका बाण लिये-दिये भाग निकला। राजाने भी बलपूर्वक मृगोंके उस यूथपतिका तुरंत पीछा किया ॥ १० ॥

ततो निम्नं स्थलं चैव स मृगोऽद्रवदाशुगः।
मुहूर्तमिव राजेन्द्र समेन स पथागमत् ॥ ११ ॥

राजेन्द्र ! शीघ्रतापूर्वक भागनेवाला वह मृग वहाँसे नीची भूमिकी ओर दौड़ा। फिर दो ही घड़ीमें वह समतल मार्गसे भागने लगा ॥ ११ ॥

ततः स राजा तारुण्यादौरसेन बलेन च।
ससार बाणासनभृत् सखड्गोऽसौ तनुत्रवान् ॥ १२ ॥

राजा भी नौजवान और हार्दिक बलसे सम्पन्न थे, उन्होंने कवच बाँध रक्खा था। वे धनुष-बाण और तलवार लिये उसका पीछा करने लगे ॥ १२ ॥

ततो नदान् नदीश्चैव पल्वलानि वनानि च।
अतिक्रम्याभ्यतिक्रम्य ससारैको वनेचरः ॥ १३ ॥

उधर वह वनमें विचरनेवाला मृग अकेला ही अनेकों नदों, नदियों, गड्ढों और जङ्गलोंको बारंबार लाँघता हुआ आगे-आगे भागता जा रहा था ॥ १३ ॥

स तु कामान्मृगो राजन्नासाद्यासाद्य तं नृपम्।
पुनरभ्येति जवनो जवेन महता ततः ॥ १४ ॥

राजन् ! वह वेगशाली मृग अपनी इच्छासे ही राजाके निकट आ-आकर पुनः बड़े वेगसे आगे भागता था ॥ १४ ॥

स तस्य बाणैर्बहुभिः समभ्यस्तो वनेचरः।
प्रक्रीडन्निव राजेन्द्र पुनरभ्येति चान्तिकम् ॥ १५ ॥

राजेन्द्र ! यद्यपि राजाके बहुत-से बाण उसके शरीरमें धँस गये थे, तथापि वह वनचारी मृग खेल करता हुआ-सा बारंबार उनके निकट आ जाता था ॥ १५ ॥

पुनश्च जवमास्थाय जवनो मृगयूथपः।
अतीत्यातीत्य राजेन्द्र पुनरभ्येति चान्तिकम् ॥ १६ ॥

राजेन्द्र ! वह मृग-समूहोंका सरदार था ।उसका वेग बड़ा तीव्र था । वह बारंबार बड़े वेगसे छलाँग मारता और दूरतककी भूमि लाँघ-लाँघकर पुनः निकट आ जाता था ॥ १६ ॥

तस्य मर्मच्छिदं घोरं तीक्ष्णं चामित्रकर्शनः।
समादाय शरं श्रेष्ठं कार्मुके तु तथासृजत् ॥ १७ ॥

तब शत्रुसूदन नरेशने एक बड़ा भयंकर तीखा बाण हाथमें लिया, जो मर्मस्थलोंको विदीर्ण कर देनेवाला था। उस श्रेष्ठ बाणको उन्होंने धनुषपर रक्खा ॥ १७ ॥

ततो गव्यूतिमात्रेण मृगयूथपयूथपः।
तस्य बाणपथं मुक्त्वा तस्थिवान् प्रहसन्निव ॥ १८ ॥

यह देख मृगोंका वह यूथपति राजाके बाणका मार्ग छोड़कर दो कोस दूर जा पहुँचा और हँसता हुआ-सा खड़ा हो गया ॥ १८ ॥

तस्मिन् निपतिते बाणे भूमौ ज्वलिततेजसि।
प्रविवेश महारण्यं मृगो राजाप्यथाद्रवत् ॥ १९ ॥

जब राजाका वह तेजस्वी बाण पृथ्वीपर गिर पड़ा, तब मृग एक महान् वनमें घुस गया, राजाने उस समय भी उसका पीछा नहीं छोड़ा ॥ १९ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि राजधर्मानुशासनपर्वणि ऋषभगीतासु पञ्चविंशत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १२५ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत राजधर्मानुशासनपर्वमें ऋषभगीताविषयक एक सौ पचीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥१२५॥

षड्विंशत्यधिकशततमोऽध्यायः

राजा सुमित्रका मृगकी खोज करते हुए तपस्वी मुनियोंके आश्रमपर पहुँचना और उनसे आशाके विषयमें प्रश्न करना

भीष्म उवाच

प्रविश्य स महारण्यं तापसानामथाश्रमम्।
आससाद ततो राजा श्रान्तश्चोपाविशत् तदा ॥ १ ॥

भीष्मजी कहते हैं—युधिष्ठिर ! उस महान् वनमें प्रवेश करके राजा सुमित्र तापसोंके आश्रमपर जा पहुँचे और वहाँ थककर बैठ गये ॥ १ ॥

तं कार्मुकधरं दृष्ट्वा श्रमार्तं क्षुधितं तदा।
समेत्य ऋषयस्तस्मिन् पूजां चक्रुर्यथाविधि ॥ २ ॥

वे परिश्रमसे पीड़ित और भूखसे व्याकुल हो रहे थे। उस अवस्थामें धनुष धारण किये राजा सुमित्रको देखकर बहुत-से ऋषि उनके पास आये और सबने मिलकर उनका विधिपूर्वक स्वागत-सत्कार किया ॥ २ ॥

स पूजामृषिभिर्दत्तां सम्प्रगृह्य नराधिपः।
अपृच्छत् तापसान् सर्वांस्तपसो वृद्धिमुत्तमाम् ॥ ३ ॥

ऋषियोंद्वारा किये गये उस स्वागत-सत्कारको ग्रहण करके राजाने भी उन सब तापसोंसे उनकी तपस्याकी भलीभाँति वृद्धि होनेका समाचार पूछा ॥ ३ ॥

ते तस्य राज्ञो वचनं सम्प्रगृह्य तपोधनाः।
ऋषयो राजशार्दूलं तमपृच्छन् प्रयोजनम् ॥ ४ ॥

उन तपस्याके धनी महर्षियोंने राजाके वचनोंको सादर ग्रहण करके उन नृपश्रेष्ठसे वहाँ आनेका प्रयोजन पूछा ॥४॥

केन भद्र सुखार्थेन सम्प्राप्तोऽसि तपोवनम्।
पदातिर्बद्धनिस्त्रिंशो धन्वी बाणी नरेश्वर ॥ ५ ॥

'कल्याणस्वरूप नरेश्वर ! किस सुखके लिये आप इस तपोवनमें तलवार बाँधे धनुष और बाण लिये पैदल ही चले आये हैं ? ॥५॥

एतदिच्छामहे श्रोतुं कुतः प्राप्तोऽसि मानद।
कस्मिन् कुले तु जातस्त्वं किंनामा चासि ब्रूहि नः॥ ६ ॥

'मानद ! हम यह सब सुनना चाहते हैं, आप कहाँसे पधारे हैं ? किस कुलमें आपका जन्म हुआ है ? तथा आपका नाम क्या है ? ये सारी बातें हमें बताइये' ॥ ६॥

ततः स राजा सर्वेभ्यो द्विजेभ्यः पुरुषर्षभ।
आचचक्षे यथान्यायं परिचर्यां च भारत ॥ ७ ॥

पुरुषप्रवर भरतनन्दन ! तदनन्तर राजा सुमित्रने उन समस्त ब्राह्मणोंसे यथोचित बात कही और अपना कार्यक्रम बताया—॥ ७॥

हैहयानां कुले जातः सुमित्रो मित्रनन्दनः।
चरामि मृगयूथानि निघ्नन् बाणैः सहस्रशः ॥ ८ ॥

'तपोधनो ! मेरा जन्म हैहय-कुलमें हुआ है। मैं मित्रोंका आनन्द बढ़ानेवाला राजा सुमित्र हूँ और सहस्रों बाणोंके

[illegible] हुआ [illegible] गया हूँ ॥

[illegible] मार्गोऽथवा ।

[illegible] नान्वपद्यत ॥ ९ ॥

[illegible] उसके द्वारा दुखित [illegible] परंतु मेरे बाणोंसे [illegible] इस ही भाग निकला ॥

[illegible] वनमेतद् यदृच्छया ।

[illegible] श्रमकर्शितः ॥ १० ॥

[illegible] मैं अकस्मात् इस वनमें [illegible] रहा हूँ । मेरी सारी शोभा नष्ट [illegible] भारी परिश्रमसे कष्ट पा [illegible] ॥ १० ॥

किं नु [illegible] यदहं श्रमकर्शितः ।

[illegible] अप्रहृष्टमनाः ॥ ११ ॥

[illegible] कष्ट पाया है और अपने [illegible] भाँति आपके आश्रममें [illegible] और क्या हो सकता है ? ॥

न [illegible] न पुरस्य तपोधनाः ।

[illegible] यथाऽऽशा विहता मम ॥ १२ ॥

[illegible] ! नगर तथा [illegible] परित्याग मुझे वैसा [illegible] जैसा कि मेरी भग्न हुई आशा दे [illegible] ॥ १२ ॥

[illegible] वा महीध्रः समुद्रो वा महोदधिः ।

[illegible] नभसो वान्तरं तथा ॥ १३ ॥

[illegible] नान्तमहं गतः ।

[illegible] तपोधनाः ॥ १४ ॥

[illegible] हिमालय अथवा अगाध जलराशि समुद्र [illegible] आशाकी समानता नहीं कर सकते । [illegible] ! जैसे आकाशका कहीं अन्त नहीं है, उसी प्रकार मैं आशाका अन्त नहीं पा सका हूँ । आपको तो सब कुछ मालूम ही है; क्योंकि तपोधन मुनि सर्वज्ञ होते हैं ॥

भवन्तः सुमहाभागास्तस्मात् पृच्छामि संशयम् ।

आशावान् पुरुषो यः स्यादन्तरिक्षमथापि वा ॥ १५ ॥

किं नु ज्यायस्तरं लोके महत्त्वात् प्रतिभाति वः ।

एतदिच्छामि तत्त्वेन श्रोतुं किमिह दुर्लभम् ॥ १६ ॥

'आप महान् सौभाग्यशाली तपस्वी हैं; इसलिये मैं आपसे अपने मनका संदेह पूछता हूँ । एक ओर आशावान् पुरुष हो और दूसरी ओर अनन्त आकाश हो तो जगत्में महत्ताकी दृष्टिसे आपलोगोंको कौन बड़ा जान पड़ता है ? मैं इस बातको तत्त्वसे सुनना चाहता हूँ । भला, यहाँ आकर कौन-सी वस्तु दुर्लभ रहेगी ?' ॥ १५-१६ ॥

यदि गुह्यं न वो नित्यं तदा प्रब्रूत मा चिरम् ।

न गुह्यं श्रोतुमिच्छामि युष्मद्भ्यो द्विजसत्तमाः ॥ १७ ॥

'यदि आपके लिये सदा यह कोई गोपनीय रहस्य न हो तो शीघ्र इसका वर्णन कीजिये । विप्रवरो ! मैं आपलोगोंसे ऐसी कोई बात नहीं सुनना चाहता, जो गोपनीय रहस्य हो ॥

भवत् तपोविघातो वा यदि स्याद् विरमे ततः ।

यदि वास्ति कथायोगो योऽयं प्रश्नो मयेरितः ॥ १८ ॥

एतत् कारणसामर्थ्यं श्रोतुमिच्छामि तत्त्वतः ।

भवन्तोऽपि तपोनित्या ब्रूयुरेतत् समन्विताः ॥ १९ ॥

'यदि मेरे इस प्रश्नसे आपलोगोंकी तपस्यामें विघ्न पड़ रहा हो तो मैं इससे विराम लेता हूँ और यदि आपके पास बातचीतका समय हो तो जो प्रश्न मैंने उपस्थित किया है, इसका आप समाधान करें । मैं इस आशाके कारण और सामर्थ्यके विषयमें ठीक-ठीक सुनना चाहता हूँ । आपलोग भी सदा तपमें संलग्न रहनेवाले हैं; अतः एकत्र होकर इस प्रश्नका विवेचन करें' ॥ १८-१९ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि राजधर्मानुशासनपर्वणि ऋषभगीतासु षड्विंशत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १२६ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत राजधर्मानुशासनपर्वमें ऋषभगीताविषयक एक सौ छब्बीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १२६ ॥

सप्तविंशत्यधिकशततमोऽध्यायः

ऋषभका राजा सुमित्रको वीरद्युम्न और तनु मुनिका वृत्तान्त सुनाना

भीष्म उवाच

[illegible] समस्तानामृषीणामृषिसत्तमः ।

ऋषभो नाम विप्रर्षिर्विस्मयन्निदमब्रवीत् ॥ १ ॥

भीष्मजी कहते हैं—युधिष्ठिर ! तदनन्तर उन समस्त [illegible] ऋषभने विस्मित होकर इस [illegible] ॥

[illegible] तीर्थान्यनुचरन् प्रभो ।

[illegible] दिव्यं नरनारायणाश्रमम् ॥ २ ॥

[illegible] ! [illegible] मैं सब तीर्थोंमें विचरण करता हुआ भगवान् नरनारायणके दिव्य आश्रममें जा पहुँचा ॥ २ ॥

यत्र सा बदरी रम्या ह्रदो वैहायसस्तथा ।

यत्र चाश्वशिरा राजन् वेदान् पठति शाश्वतान् ॥ ३ ॥

'राजन् ! जहाँ वह रमणीय बदरीका वृक्ष है, जहाँ वैहायस[1] कुण्ड है तथा जहाँ अश्वशिरा (हयग्रीव) सनातन वेदोंका

[1] विहायसा गच्छन्त्या मन्दाकिन्या वैहायस्या अयं वैहायसः अर्थात् आकाशमार्गसे गमन करनेवाली मन्दाकिनी या आकाश गङ्गाका नाम वैहायसी है । वहींके जलसे भरा होनेके कारण वह कुण्ड वैहायस कहलाता है। बदरिकाश्रममें गङ्गाका नाम अलकनन्दा है ।

पाठ करते हैं (वहीं नरनारायणाश्रम है) ॥ ३ ॥

तस्मिन् सरसि कृत्वाहं विधिवत् तर्पणं पुरा ।
पितॄणां देवतानां च ततोऽऽश्रममियां तदा ॥ ४ ॥
रेमाते यत्र तौ नित्यं नरनारायणावृषी ।

उस वैहायस कुण्डमें स्नान करके मैंने विधिपूर्वक देवताओं और पितरोंका तर्पण किया । उसके बाद उस आश्रममें प्रवेश किया, जहाँ मुनिवर नर और नारायण नित्य सानन्द निवास करते हैं ॥ ४½ ॥

अदूरादाश्रमं कञ्चिद् वासार्थमगमं तदा ॥ ५ ॥
तत्र चीराजिनधरं कृशमुच्चमतीव च ।
अद्राक्षमृषिमायान्तं तनुं नाम तपोधनम् ॥ ६ ॥

उसके बाद वहाँसे निकट ही एक दूसरे आश्रममें मैं ठहरनेके लिये गया । वहाँ मुझे तनु नामवाले एक तपोधन ऋषि आते दिखायी दिये, जो चीर और मृगचर्म धारण किये हुए थे । उनका शरीर बहुत ऊँचा और अत्यन्त दुर्बल था ॥

अन्यैर्नरैर्महाबाहो वपुषाष्टगुणान्वितम् ।
कृशता चापि राजर्षे न दृष्टा तादृशी क्वचित् ॥ ७ ॥

महाबाहो ! उन महर्षिका शरीर दूसरे मनुष्योंसे आठ गुना लंबा था । राजर्षे ! मैंने उनकी-जैसी दुर्बलता कहीं भी नहीं देखी है ॥ ७ ॥

शरीरमपि राजेन्द्र तस्य कानिष्ठिकासमम् ।
ग्रीवा बाहू तथा पादौ केशाश्चाद्भुतदर्शनाः ॥ ८ ॥

राजेन्द्र ! उनका शरीर भी कनिष्ठिका अङ्गुलीके समान पतला था । उनकी गर्दन, दोनों भुजाएँ, दोनों पैर और सिरके बाल भी अद्भुत दिखायी देते थे ॥ ८ ॥

शिरः कायानुरूपं च कर्णौ नेत्रे तथैव च ।
तस्य वाक्चैव चेष्टा च सामान्ये राजसत्तम ॥ ९ ॥

शरीरके अनुरूप ही उनके मस्तक, कान और नेत्र भी थे । नृपश्रेष्ठ ! उनकी वाणी और चेष्टा साधारण थी ॥ ९ ॥

दृष्ट्वाहं तं कृशं विप्रं भीतः परमदुर्मनाः ।
पादौ तस्याभिवाद्याथ स्थितः प्राञ्जलिरग्रतः ॥ १० ॥

मैं उन दुबले-पतले ब्राह्मणको देखकर डर गया और मन-ही-मन बहुत दुखी हो गया; फिर उनके चरणोंमें प्रणाम करके दोनों हाथ जोड़कर उनके आगे खड़ा हो गया ॥ १० ॥

निवेद्य नामगोत्रे च पितरं च नरर्षभ ।
प्रदिष्टे चासने तेन शनैरहमुपाविशम् ॥ ११ ॥

नरश्रेष्ठ ! उनके सामने नाम, गोत्र और पिताका परिचय देकर उन्हींके दिये हुए आसनपर धीरेसे बैठ गया ॥ ११ ॥

ततः स कथयामास कथां धर्मार्थसंहिताम् ।
ऋषिमध्ये महाराज तनुर्धर्मभृतां वरः ॥ १२ ॥

महाराज ! तदनन्तर धर्मात्माओंमें श्रेष्ठ तनु ऋषियोंके बीचमें बैठकर धर्म और अर्थसे युक्त कथा कहने लगे ॥ १२ ॥

तस्मिंस्तु कथयत्येव राजा राजीवलोचनः ।
उपायाज्जवनैरश्वैः सबलः सावरोधनः ॥ १३ ॥

उनके कथा कहते समय ही कमलके समान नेत्रोंवाले एक नरेश वेगशाली घोड़ोंद्वारा अपनी सेना और अन्तःपुरके साथ वहाँ आ पहुँचे ॥ १३ ॥

स्मरन् पुत्रमरण्ये वै नष्टं परमदुर्मनाः ।
भूरिद्युम्नपिता श्रीमान् वीरद्युम्नो महायशाः ॥ १४ ॥

उनका पुत्र जंगलमें खो गया था । उसकी याद करके वे बहुत दुखी हो रहे थे । उनके पुत्रका नाम था भूरिद्युम्न और वे उसके महायशस्वी पिता श्रीमान् वीरद्युम्न थे ॥ १४ ॥

इह द्रक्ष्यामि तं पुत्रं द्रक्ष्यामीहेति पार्थिवः ।
एवमाशाहतो राजा चरन् वनमिदं पुरा ॥ १५ ॥

यहाँ उस पुत्रको अवश्य देखूँगा । यहाँ वह निश्चय ही दिखायी देगा । इसी आशासे बँधे हुए पृथ्वीपति राजा वीरद्युम्न उन दिनों उस वनमें विचर रहे थे ॥ १५ ॥

दुर्लभः स मया द्रष्टुं नूनं परमधार्मिकः ।
एकः पुत्रो महारण्ये नष्ट इत्यसकृत् तदा ॥ १६ ॥

'वह बड़ा धर्मात्मा था । अब उसका दर्शन होना अवश्य ही मेरे लिये दुर्लभ है । एक ही बेटा था, वह भी इस विशाल वनमें खो गया' इन्हीं बातोंको वे बार-बार दुहराते थे ॥ १६ ॥

दुर्लभः स मया द्रष्टुमाशा च महती मम ।
तया परीतगात्रोऽहं मुमूर्षुर्नात्र संशयः ॥ १७ ॥

'मेरे लिये उसका दर्शन दुर्लभ है तो भी मेरे मनमें उसके मिलनेकी बड़ी भारी आशा लगी हुई है । उस आशाने मेरे सम्पूर्ण शरीरपर अधिकार कर लिया है । इसमें संदेह नहीं कि मैं उसके लिये मौतको भी स्वीकार कर लेना चाहता हूँ' ॥

एतच्छ्रुत्वा तु भगवांस्तनुर्मुनिवरोत्तमः ।
अवाक्शिरा ध्यानपरो मुहूर्तमिव तस्थिवान् ॥ १८ ॥

राजाकी यह बात सुनकर मुनियोंमें श्रेष्ठ भगवान् तनु नीचे सिर किये ध्यानमग्न हो दो घड़ीतक चुपचाप बैठे रह गये ॥ १८ ॥

तमनुध्यान्तमालक्ष्य राजा परमदुर्मनाः ।
उवाच वाक्यं दीनात्मा मन्दं मन्दमिवासकृत् ॥ १९ ॥

उनको चिन्तन करते देख परम दुखी हुए नरेश दीनहृदय हो मन्द-मन्द वाणीमें बारंबार इस प्रकार कहने लगे—॥ १९ ॥

दुर्लभं किं नु देवर्षे आशायाश्चैव किं महत् ।
ब्रवीतु भगवानेतद् यदि गुह्यं न ते मयि ॥ २० ॥

'देवर्षे ! कौन वस्तु दुर्लभ है ? और आशासे भी बड़ा क्या है ? यदि आपकी दृष्टिमें यह बात मुझसे छिपाने योग्य न हो तो आप इसे अवश्य बतावें' ॥ २० ॥

मुनिरुवाच

महर्षिर्भगवांस्तेन पूर्वमासीद् विमानितः ।

तब उन दुर्बल शरीरवाले पूज्यपाद ऋषिने पहलेकी सारी बातोंको याद करके राजाको भी उनका स्मरण दिलाते हुए-से इस प्रकार कहा ॥ ८ ॥

ऋषिरुवाच

कृशत्वेन समं राजन्नाशाया विद्यते नृप ।
तस्या वै दुर्लभत्वाच्च प्रार्थिताः पार्थिवा मया ॥ ९ ॥

ऋषि बोले—नरेश्वर! आशा या आशावान्‌की दुर्बलताके समान और किसीकी दुर्बलता नहीं है। जिस वस्तुकी आशा की जाती है, उसकी दुर्लभताके कारण ही मैंने बहुत-से राजाओंके यहाँ याचना की है ॥ ९ ॥

राजोवाच

कृशाकृशे मया ब्रह्मन् गृहीते वचनात् तव ।
दुर्लभत्वं च तस्यैव वेदवाक्यमिव द्विज ॥ १० ॥

राजाने कहा—ब्रह्मन्! मैंने आपके कहनेसे यह अच्छी तरह समझ लिया कि जो आशासे बँधा हुआ है, वह दुर्बल है और जिसने आशाको जीत लिया है, वह पुष्ट है। द्विजश्रेष्ठ! आपकी इस बातको भी मैंने वेदवाक्यकी भाँति ग्रहण किया कि जिस वस्तुकी आशा की जाती है, वह अत्यन्त दुर्लभ होती है ॥ १० ॥

संशयस्तु महाप्राज्ञ संजातो हृदये मम ।
तन्मुने मम तत्त्वेन वक्तुमर्हसि पृच्छतः ॥ ११ ॥

महाप्राज्ञ! मुने! किंतु मेरे मनमें एक संशय है, जिसे पूछ रहा हूँ। आप उसे यथार्थरूपसे बतानेकी कृपा करें ॥ ११ ॥

त्वत्तः कृशतरं किं नु ब्रवीतु भगवानिदम् ।
यदि गुह्यं न ते किञ्चिद् विद्यते मुनिसत्तम ॥ १२ ॥

मुनिश्रेष्ठ! यदि कोई वस्तु आपके लिये गोपनीय या छिपाने योग्य न हो तो आप यह बतावें कि आपसे भी बढ़कर अत्यन्त दुर्बल वस्तु क्या है? ॥ १२ ॥

कृश उवाच

दुर्लभोऽप्यथवा नास्ति योऽर्थी धृतिमवाप्नुयात् ।
स दुर्लभतरस्तात योऽर्थिनं नावमन्यते ॥ १३ ॥

दुर्बल शरीरवाले मुनिने कहा—तात! जो याचक धैर्य धारण कर सके अर्थात् किसी वस्तुकी आवश्यकता होनेपर भी उसके लिये किसीसे याचना न करे, वह दुर्लभ है एवं जो याचना करनेवाले याचककी अवहेलना न करे—आदरपूर्वक उसकी इच्छा पूर्ण करे, ऐसा पुरुष संसारमें अत्यन्त दुर्लभ है ॥ १३ ॥

सत्कृत्य नोपकुरुते परं शक्त्या यथार्हतः ।
या सक्ता सर्वभूतेषु साऽऽशा कृशतरी मया ॥ १४ ॥

जब मनुष्य सत्कार करके याचकको आशा दिलाकर भी उसका शक्तिके अनुसार यथायोग्य उपकार नहीं करता, उस स्थितिमें सम्पूर्ण भूतोंके मनमें जो आशा होती है, वह मुझसे भी अत्यन्त कृश होती है ॥ १४ ॥

कृतघ्नेषु च या सक्ता नृशंसेष्वलसेषु च ।
अपकारिषु चासक्ता साऽऽशा कृशतरी मया ॥ १५ ॥

कृतघ्न, नृशंस, आलसी तथा दूसरोंका अपकार करनेवाले पुरुषोंमें जो आशा होती है, वह (कभी पूर्ण न होनेके कारण चिन्तासे दुर्बल बना देती है; इसलिये वह) मुझसे भी अत्यन्त कृश है ॥ १५ ॥

एकपुत्रः पिता पुत्रे नष्टे वा प्रोषितेऽपि वा ।
प्रवृत्तिं यो न जानाति साऽऽशा कृशतरी मया ॥ १६ ॥

इकलौते बेटेका बाप जब अपने पुत्रके खो जाने या परदेशमें चले जानेपर उसका कोई समाचार नहीं जान पाता, तब उसके मनमें जो आशा रहती है, वह मुझसे भी अत्यन्त कृश होती है ॥ १६ ॥

प्रसवे चैव नारीणां वृद्धानां पुत्रकारिता ।
तथा नरेन्द्र धनिनां साऽऽशा कृशतरी मया ॥ १७ ॥

नरेन्द्र! वृद्ध अवस्थावाली नारियोंके हृदयमें जो पुत्र पैदा होनेके लिये आशा बनी रहती है तथा धनियोंके मनमें जो अधिकाधिक धन-लाभकी आशा रहती है, वह मुझसे अत्यन्त कृश है ॥ १७ ॥

प्रदानकाङ्क्षिणीनां च कन्यानां वयसि स्थिते ।
श्रुत्वा कथास्तथायुक्ताः साऽऽशा कृशतरी मया ॥ १८ ॥

तरुण अवस्था आनेपर विवाहकी चर्चा सुनकर ब्याहकी इच्छा रखनेवाली कन्याओंके हृदयमें जो आशा होती है, वह मुझसे भी अत्यन्त कृश होती है* ॥ १८ ॥

एतच्छ्रुत्वा ततो राजन् स राजा सावरोधनः ।
संस्पृश्य पादौ शिरसा निपपात द्विजर्षभम् ॥ १९ ॥

राजन्! ब्राह्मणश्रेष्ठ उस ऋषिकी वह बात सुनकर राजा अपनी रानीके साथ उनके चरणोंका मस्तकसे स्पर्श करके वहीं गिर पड़े ॥ १९ ॥

राजोवाच

प्रसादये त्वां भगवन् पुत्रेणेच्छामि संगमम् ।
यदेतदुक्तं भवता सम्प्रति द्विजसत्तम ॥ २० ॥
सत्यमेतन्न संदेहो यदेतद् व्याहृतं त्वया ।

राजा बोले—भगवन्! मैं आपको प्रसन्न करना चाहता हूँ। मुझे अपने पुत्रसे मिलनेकी बड़ी इच्छा है। द्विजश्रेष्ठ! आपने मुझसे इस समय जो कुछ कहा है, आपका यह सारा कथन सत्य है, इसमें संदेह नहीं ॥ २०½ ॥

ततः प्रहस्य भगवांस्तनुर्धर्मभृतां वरः ॥ २१ ॥
पुत्रमस्यानयत् क्षिप्रं तपसा च श्रुतेन च ।

तब धर्मात्माओंमें श्रेष्ठ भगवान् तनुने हँसकर अपनी तपस्या और शास्त्रज्ञानके प्रभावसे राजकुमारको शीघ्र वहाँ बुला दिया ॥ २१½ ॥

स समानीय तत्पुत्रं तमुपालभ्य पार्थिवम् ॥ २२ ॥
आत्मानं दर्शयामास धर्मं धर्मभृतां वरः ।

इस प्रकार उनके पुत्रको वहाँ बुलाकर तथा राजाको

* आशाको अत्यन्त कृश कहनेका तात्पर्य यह है कि वह मनुष्यको अत्यन्त कृश बना देती है।

[illegible] दूनी उसे उनकी [illegible] ॥ २२ ॥

[illegible] त्यक्त्वा [illegible] ॥
[illegible] धनमन्तिकात् ॥ २३ ॥

[illegible] देखकर उनकी [illegible] आशा [illegible] मुनि निकट- [illegible] ॥ २३ ॥

[illegible] न मया श्रुतम् ।
[illegible] कृशतरीमिमाम् ॥ २४ ॥

[illegible] राजन् ! मैंने यह सब कुछ [illegible] और [illegible] यह वचन भी अपने कानों [illegible] अत्यन्त कृश बना देनेवाली [illegible] शीघ्र ही त्याग दो ॥ २४ ॥

[illegible] उवाच

[illegible] राजन् ऋषभेण महात्मना ।
सुमित्रोऽपनयत् क्षिप्रमाशां कृशतरीं ततः ॥ २५ ॥

भीष्मजी कहते हैं—राजन् ! महात्मा ऋषभके ऐसा कहनेपर सुमित्रने शरीरको अत्यन्त दुर्बल बनानेवाली वह आशा तुरंत ही त्याग दी ॥ २५ ॥

एवं त्वमपि कौन्तेय श्रुत्वा वाणीमिमां मम ।
स्थिरो भव महाराज हिमवानिव पर्वतः ॥ २६ ॥

महाराज ! कुन्तीकुमार ! तुम भी मेरा यह कथन सुनकर आशाको त्याग दो और हिमालय पर्वतके समान स्थिर हो जाओ ॥

त्वं हि प्रष्टा च श्रोता च कृच्छ्रेष्वनुगतेष्विह ।
श्रुत्वा मम महाराज न संतप्तुमिहार्हसि ॥ २७ ॥

महाराज ! ऐसे सङ्कट उपस्थित होनेपर भी तुम यहाँ उपयुक्त प्रश्न करते और उनका योग्य उत्तर सुनते हो; इसलिये दुर्योधनके साथ जो संधि न हो सकी, उसको लेकर तुम्हें संतप्त नहीं होना चाहिये ॥ २७ ॥

[illegible] श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि राजधर्मानुशासनपर्वणि ऋषभगीतासु अष्टाविंशत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १२८ ॥

[illegible] राजधर्मानुशासनपर्वमें ऋषभगीताविषयक एक सौ अट्ठाईसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १२८ ॥

एकोनत्रिंशदधिकशततमोऽध्यायः

यम और गौतमका संवाद

युधिष्ठिर उवाच

[illegible] पर्याप्तिर्मनास्ति ब्रुवति त्वयि ।
[illegible] तृप्तिर्यथा तृप्तोऽस्मि भारत ॥ १ ॥

युधिष्ठिरने कहा—भरतनन्दन ! जैसे अमृतको पीनेसे [illegible] और भी पीनेकी इच्छा बढ़ती जाती है, [illegible] करने लगते हैं, उस समय उसे [illegible] है । जैसे परमात्माके ध्यानमें [illegible] तृप्त हो जाता है, उसी प्रकार [illegible] अनुभव करता हूँ ॥ १ ॥

[illegible] भूयस्त्वं धर्ममेव पितामह ।
[illegible] पिबन् धर्मामृतं हि ते ॥ २ ॥

[illegible] ! आप पुनः धर्मकी ही बात बताइये । [illegible] बात करते समय मुझे यह [illegible] अब पूरा हो गया, बल्कि सुननेकी [illegible] ॥ २ ॥

भीष्म उवाच

[illegible] पुरातनम् ।
[illegible] महात्मनः ॥ ३ ॥

[illegible] युधिष्ठिर ! इस धर्मके विषयमें भी [illegible] एक प्राचीन [illegible] ॥ ३ ॥

[illegible] गिरिं प्राप्य गौतमस्याश्रमो महान् ।
[illegible] तमपि मे शृणु ॥ ४ ॥

पारियात्रनामक पर्वतपर महर्षि गौतमका महान् आश्रम है । उसमें गौतम जितने समयतक रहे, वह भी मुझसे सुनो ॥ ४ ॥

षष्टिं वर्षसहस्राणि सोऽतप्यद् गौतमस्तपः ।
तमुग्रतपसा युक्तं भावितं सुमहामुनिम् ॥ ५ ॥
उपयातो नरव्याघ्र लोकपालो यमस्तदा ।
तमपश्यत् सुतपसमृषिं वै गौतमं तदा ॥ ६ ॥

गौतमने उस आश्रममें साठ हजार वर्षोंतक तपस्या की । नरश्रेष्ठ ! एक दिन उग्र तपस्यामें लगे हुए पवित्र महात्मा महामुनि गौतमके पास लोकपाल यम स्वयं आये । उन्होंने वहाँ आकर उत्तम तपस्वी गौतम ऋषिको देखा ॥ ५-६ ॥

स तं विदित्वा ब्रह्मर्षिर्यममागतमोजसा ।
प्राञ्जलिः प्रयतो भूत्वा उपविष्टस्तपोधनः ॥ ७ ॥

ब्रह्मर्षि गौतमने वहाँ आये हुए यमराजको उनके तेजसे ही जान लिया । फिर वे तपोधन मुनि हाथ जोड़ संयतचित्त हो उनके पास जा बैठे ॥ ७ ॥

तं धर्मराजो दृष्ट्वैव सत्कृत्यैव द्विजर्षभम् ।
न्यमन्त्रयत धर्मेण क्रियतां किमिति ब्रुवन् ॥ ८ ॥

धर्मराजने विप्रवर गौतमको देखते ही उनका सत्कार किया और मैं आपकी क्या सेवा करूँ ? ऐसा कहते हुए उन्हें धर्मचर्चा सुननेके लिये सम्मति प्रदान की ॥ ८ ॥

गौतम उवाच

मातापितृभ्यामानृण्यं किं कृत्वा समवाप्नुयात् ।
कथं च लोकानाप्नोति पुरुषो दुर्लभाञ्छुचीन् ॥ ९ ॥

तब गौतमने कहा—भगवन्! मनुष्य कौन-सा कर्म करके माता-पिताके ऋणसे उऋण हो सकता है? और किस प्रकार उसे दुर्लभ एवं पवित्र लोकोंकी प्राप्ति होती है? ॥९॥

यम उवाच

तपःशौचवता नित्यं सत्यधर्मरतेन च।
मातापित्रोरहरहः पूजनं कार्यमञ्जसा ॥ १० ॥

यमराजने कहा—ब्रह्मन्! मनुष्य तप करे, बाहर-भीतरसे पवित्र रहे और सदा सत्यभाषणरूप धर्मके पालनमें तत्पर रहे। यह सब करते हुए ही उसे नित्यप्रति मा... सेवा-पूजा करनी चाहिये ॥ १० ॥

अश्वमेधैश्च यष्टव्यं बहुभिः स्वाप्तदक्षिणै...
तेन लोकानवाप्नोति पुरुषोऽद्भुतदर्शनान...

राजाको तो पर्याप्त दक्षिणाओंसे युक्त अनेक... यज्ञोंका अनुष्ठान भी करना चाहिये। ऐसा कर... अद्भुत दृश्योंसे सम्पन्न पुण्यलोकोंको प्राप्त कर लेत...

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि राजधर्मानुशासनपर्वणि यमगौतमसंवादे एकोनत्रिंशदधिकशततमोऽध्यायः ॥ ...

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत राजधर्मानुशासनपर्वमें यम और गौतमका संवादविषयक एक सौ उन्तीसवाँ अध्याय पूरा ...

त्रिंशदधिकशततमोऽध्यायः

आपत्तिके समय राजाका धर्म

युधिष्ठिर उवाच

मित्रैः प्रहीयमाणस्य बह्वमित्रस्य का गतिः।
राज्ञः संक्षीणकोशस्य बलहीनस्य भारत ॥ १ ॥

युधिष्ठिरने पूछा—भारत! यदि राजाके शत्रु अधिक हो जायँ, मित्र उसका साथ छोड़ने लगें और सेना तथा खजाना भी नष्ट हो जाय तो उसके लिये कौन-सा मार्ग हितकर है? ॥ १॥

दुष्टामात्यसहायस्य च्युतमन्त्रस्य सर्वतः।
राज्यात् प्रच्यवमानस्य गतिमग्र्यामपश्यतः ॥ २ ॥

दुष्ट मन्त्री ही जिसका सहायक हो, इसीलिये जो श्रेष्ठ परामर्शसे भ्रष्ट हो गया हो एवं राज्यसे जिसके भ्रष्ट हो जानेकी सम्भावना हो और जिसे अपनी उन्नतिका कोई श्रेष्ठ उपाय न दिखायी देता हो, उसके लिये क्या कर्तव्य है? ॥ २ ॥

परचक्राभियातस्य परराष्ट्राणि मृद्नतः।
विग्रहे वर्तमानस्य दुर्बलस्य बलीयसा ॥ ३ ॥

जो शत्रुसेनापर आक्रमण करके शत्रुके राज्यको रौंद रहा हो; इतनेहीमें कोई बलवान् राजा उसपर भी चढ़ाई कर दे तो उसके साथ युद्धमें लगे हुए उस दुर्बल राजाके लिये क्या आश्रय है? ॥ ३ ॥

असंविहितराष्ट्रस्य देशकालावजानतः।
अप्राप्यं च भवेत् सान्त्वं भेदो वाप्यतिपीडनात्।
जीवितं त्वर्थहेतुर्वा तत्र किं सुकृतं भवेत् ॥ ४ ॥

जिसने अपने राज्यकी रक्षा नहीं की हो, जिसे देश और कालका ज्ञान नहीं हो, अत्यन्त पीड़ा देनेके कारण जिसके लिये साम अथवा भेदनीतिका प्रयोग असम्भव हो जाय, उसके लिये क्या करना उचित है? वह जीवनकी रक्षा करे या धनके साधनकी? उसके लिये क्या करनेमें भलाई है? ॥ ४ ॥

भीष्म उवाच

गुह्यं धर्मज्ञ मा प्राक्षीरतीव भरतर्षभ।
अपृष्टो नोत्सहे वक्तुं धर्ममेतं युधिष्ठिर ॥ ५ ॥

भीष्मजीने कहा—धर्मनन्दन! भरतश्रेष्ठ युधिष्ठिर! यह तो तुमने मुझसे बड़ा गोपनीय विषय पूछा है। ... द्वारा प्रश्न न किया गया होता तो मैं इस समय इस ... धर्मके विषयमें कुछ भी नहीं कह सकता था ॥ ५ ...

धर्मो ह्यणीयान् वचनाद् बुद्धिश्च भरतर्ष...
श्रुत्वोपास्य सदाचारैः साधुर्भवति स कश्चि...

भरतभूषण! धर्मका विषय बड़ा सूक्ष्म है, ... अनुशीलनसे उसका बोध होता है। शास्त्रश्र... पश्चात् अपने सदाचरणोंद्वारा उसका सेवन करके ... व्यतीत करनेवाला पुरुष कहीं कोई विरला ही हो...

कर्मणा बुद्धिपूर्वेण भवत्याढ्यो न वा पुन...
तादृशोऽयमनुप्रश्नः संव्यवस्यः स्वया धिय...

बुद्धिपूर्वक किये हुए कर्म (प्रयत्न) से मनु... हो भी सकता है और नहीं भी हो सकता है। तु... पर स्वयं अपनी ही बुद्धिसे विचार करके किसी ... पहुँचना चाहिये ॥ ७ ॥

उपायं धर्मबहुलं यात्रार्थं शृणु भार...
नाहमेतादृशं धर्मं बुभूषे धर्मकारणा...

भारत! उपर्युक्त संकटके समय राजाओंके ... रक्षाके लिये मैं ऐसा उपाय बताता हूँ, जिसमें धर्म ... है। उसे ध्यान देकर सुनो। परंतु मैं धर्माचरण ... ऐसे धर्मको नहीं अपनाना चाहता ॥ ८ ॥

दुःखादान इह ह्येष स्यात् तु पश्चात् क्षयोपम...
अभिगम्यमतीनां हि सर्वासामेव निश्चय...

आपत्तिके समय भी यदि प्रजाको दुःख दे... किया जाता है तो पीछे वह राजाके लिये विन... सिद्ध होता है। आश्रय लेने योग्य जितनी बुद्धियाँ ... यही निश्चय है ॥ ९ ॥

यथा यथा हि पुरुषो नित्यं शास्त्रमवेक्ष...
तथा तथा विजानाति विज्ञानमथ रोच...

पुरुष प्रतिदिन जैसे-जैसे शास्त्रका स्वाध्याय ...

लम्बन करके जीवन-निर्वाह न कर सके, तब उसके लिये स्वधर्मसे विपरीत वृत्ति भी बतायी गयी है; क्योंकि आपत्ति-कालमें प्रथम कल्प अर्थात् स्वधर्मानुकूल वृत्तिका त्याग करने-वाले पुरुषके लिये अपनेसे नीचे वर्णकी वृत्तिसे जीविका चलानेका विधान है ॥ २४ ॥

आपद्गतेन धर्माणामन्यायेनोपजीवनम् ।
अपि ह्येतद् ब्राह्मणेषु दृष्टं वृत्तिपरिक्षये ॥ २५ ॥

जो आपत्तिमें पड़ा हो, वह धर्मके विपरीत आचरणद्वारा जीवन-निर्वाह कर सकता है । जीविका क्षीण होनेपर ब्राह्मणों-में ऐसा व्यवहार देखा गया है ॥ २५ ॥

क्षत्रिये संशयः कस्मादित्येवं निश्चितं सदा ।
आददीत विशिष्टेभ्यो नावसीदेत् कथंचन ॥ २६ ॥

फिर क्षत्रियके लिये कैसे संदेह किया जा सकता है ? उसके लिये भी सदा यही निश्चित है कि वह आपत्तिकालमें विशिष्ट अर्थात् धनवान् पुरुषोंसे बलपूर्वक धन ग्रहण करे । धनके अभावमें वह किसी तरह कष्ट न भोगे ॥ २६ ॥

हन्तारं रक्षितारं च प्रजानां क्षत्रियं विदुः ।
तस्मात् संरक्षता कार्यमादानं क्षत्रबन्धुना ॥ २७ ॥

विद्वान् पुरुष क्षत्रियको प्रजाका रक्षक और विनाशक भी मानते हैं । अतः क्षत्रियबन्धुको प्रजाकी रक्षा करते हुए ही धन ग्रहण करना चाहिये ॥ २७ ॥

अन्यत्र राजन् हिंसाया वृत्तिर्नेहास्ति कस्यचित् ।
अप्यरण्यसमुत्थस्य एकस्य चरतो मुनेः ॥ २८ ॥

राजन् ! इस संसारमें किसीकी भी ऐसी वृत्ति नहीं है, जो हिंसासे शून्य हो । औरोंकी तो बात ही क्या है, वनमें रहकर एकाकी विचरनेवाले तपस्वी मुनिकी भी वृत्ति सर्वथा हिंसारहित नहीं है ॥ २८ ॥

न शङ्खलिखितां वृत्तिं शक्यमास्थाय जीवितुम् ।
विशेषतः कुरुश्रेष्ठ प्रजापालनमीप्सया ॥ २९ ॥

कुरुश्रेष्ठ ! कोई भी ललाटमें लिखी हुई वृत्तिका ही भरोसा करके जीवननिर्वाह नहीं कर सकता; अतः प्रजा-पालनकी इच्छा रखनेवाले राजाका भाग्यके भरोसे निर्वाह चलाना तो सर्वथा अशक्य है ॥ २९ ॥

परस्परं हि संरक्षा राज्ञा राष्ट्रेण चापदि ।
नित्यमेव हि कर्तव्या एष धर्मः सनातनः ॥ ३० ॥

इसलिये आपत्तिकालमें राजा और राज्यकी प्रजा दोनोंको निरन्तर एक दूसरेकी रक्षा करनी चाहिये, यही सदाका धर्म है ॥

राजा राष्ट्रं यथाऽऽपत्सु द्रव्यौघैरपि रक्षति ।
राष्ट्रेण राजा व्यसने रक्षितव्यस्तथा भवेत् ॥ ३१ ॥

जैसे राजा प्रजापर संकट आ जाय तो राशि-राशि धन लुटाकर भी उसकी रक्षा करता है, उसी तरह राजाके ऊपर संकट पड़नेपर राष्ट्रकी प्रजाको भी उसकी रक्षा करनी चाहिये ॥ ३१ ॥

कोशं दण्डं बलं मित्रं यदन्यदपि संचितम् ।
न कुर्वीतान्तरं राष्ट्रे राजा परिगतः क्षुधा ॥ ३२ ॥

राजा भूखसे पीड़ित होने—जीविकाके लिये कष्ट पानेपर भी खजाना, राजदण्ड, सेना, मित्र तथा अन्य संचित साधनों-को कभी राज्यसे दूर न करे ॥ ३२ ॥

बीजं भक्तेन सम्पाद्यमिति धर्मविदो विदुः ।
अत्रैतच्छम्बरस्याहुर्महामायस्य दर्शनम् ॥ ३३ ॥

धर्मज्ञ पुरुषोंका कहना है कि मनुष्यको अपने भोजनके लिये संचित अन्नमेंसे भी बीजको बचाकर रखना चाहिये । इस विषयमें महामायावी शम्बरासुरका विचार भी ऐसा ही बताया गया है ॥ ३३ ॥

धिक् तस्य जीवितं राज्ञो राष्ट्रं यस्यावसीदति ।
अवृत्त्यान्यमनुष्योऽपि यो वैदेशिक इत्यपि ॥ ३४ ॥

जिसके राज्यकी प्रजा तथा वहाँ आये हुए परदेशी मनुष्य भी जीविकाके बिना कष्ट पा रहे हों, उस राजाके जीवनको धिक्कार है ॥ ३४ ॥

राज्ञः कोशबलं मूलं कोशमूलं पुनर्बलम् ।
तन्मूलं सर्वधर्माणां धर्ममूलाः पुनः प्रजाः ॥ ३५ ॥

राजाकी जड़ है सेना और खजाना । इनमें भी खजाना ही सेनाकी जड़ है । सेना सम्पूर्ण धर्मोंकी रक्षाका मूल कारण है और धर्म प्रजाकी जड़ है ॥ ३५ ॥

नान्यानपीडयित्वेह कोशः शक्यः कुतो बलम् ।
तदर्थं पीडयित्वा च दोषं प्राप्तुं न सोऽर्हति ॥ ३६ ॥

दूसरोंको पीड़ा दिये बिना धनका संग्रह नहीं किया जा सकता और धन-संग्रहके बिना सेनाका संग्रह कैसे हो सकता है ? अतः आपत्तिकालमें कोश या धन-संग्रहके लिये प्रजाको पीड़ा देकर भी राजा दोषका भागी नहीं हो सकता ॥ ३६ ॥

अकार्यमपि यज्ञार्थं क्रियते यज्ञकर्मसु ।
एतस्मात् कारणाद् राजा न दोषं प्राप्तुमर्हति ॥ ३७ ॥

जैसे यज्ञकर्मोंमें यज्ञके लिये वह कार्य भी किया जाता है, जो करने योग्य नहीं है (किंतु वह दोषयुक्त नहीं माना जाता), उसी प्रकार आपत्तिकालमें प्रजापीडनसे राजाको दोष नहीं लगता है ॥ ३७ ॥

अर्थार्थमन्यद् भवति विपरीतमथापरम् ।
अनर्थार्थमथाप्यन्यत् तत् सर्वं ह्यर्थकारणम् ।
एवं बुद्ध्या सम्प्रपश्येन्मेधावी कार्यनिश्चयम् ॥ ३८ ॥

आपत्तिकालमें प्रजापीडन अर्थसंग्रहरूप प्रयोजनका साधक होनेके कारण अर्थकारक होता है, इसके विपरीत उसे पीडा न देना ही अनर्थकारक हो जाता है । इसी प्रकार जो दूसरे अनर्थकारी (व्यय बढ़ानेवाले सैन्य-संग्रह आदि) कार्य हैं, वे भी युद्धका संकट उपस्थित होनेपर अर्थकारी (विजय-साधक) सिद्ध होते हैं । बुद्धिमान् पुरुष इस प्रकार बुद्धिसे विचार करके कर्तव्यका निश्चय करे ॥ ३८ ॥

यज्ञार्थमन्यद् भवति यज्ञोऽन्यार्थस्तथा परः ।
यज्ञस्यार्थार्थमेवान्यत् तत् सर्वं यज्ञसाधनम् ॥ ३९ ॥

जैसे अन्यान्य सामग्रियाँ यज्ञकी सिद्धिके लिये होती हैं, उत्तम मन किसी और ही प्रयोजनके लिये होता है, यज्ञ-सम्बन्धी अन्यान्य बातें भी किसी-न-किसी विशेष उद्देश्यकी सिद्धिके लिये ही होती हैं तथा यह सब कुछ यज्ञका साधन ही है ॥

उपमामत्र वक्ष्यामि धर्मतत्त्वप्रकाशिनीम् ।
यूपं छिन्दन्ति यज्ञार्थं तत्र ये परिपन्थिनः ॥ ४० ॥
द्रुमाः केचन सामन्ता ध्रुवं छिन्दन्ति तानपि ।
ते चापि निपतन्तोऽन्यान् निघ्नन्त्येव वनस्पतीन् ॥ ४१ ॥

अब मैं यहाँ धर्मके तत्त्वको प्रकाशित करनेवाली एक उपमा बता रहा हूँ। ब्राह्मणलोग यज्ञके लिये यूप निर्माण करनेके उद्देश्यसे वृक्षका छेदन करते हैं। उस वृक्षको काटकर बाहर निकालनेमें जो-जो पार्श्ववर्ती वृक्ष बाधक होते हैं, उन्हें भी निश्चय ही वे काट डालते हैं। वे वृक्ष भी गिरते समय दूसरे-दूसरे वनस्पतियोंको भी प्रायः तोड़ ही डालते हैं ॥ ४०-४१ ॥

एवं कोशस्य महतो ये नराः परिपन्थिनः ।
तानहत्वा न पश्यामि सिद्धिमत्र परंतप ॥ ४२ ॥

परंतप ! इस प्रकार जो मनुष्य (प्रजारक्षाके लिये किये जानेवाले) महान् कोशके संग्रहमें बाधा उपस्थित करते हैं, उनका वध किये बिना इस कार्यमें मुझे सफलता होती नहीं दिखायी देती ॥ ४२ ॥

धनेन जयते लोकावुभौ परमिमं तथा ।
सत्यं च धर्मवचनं यथा नास्त्यधनस्तथा ॥ ४३ ॥

धनसे मनुष्य इहलोक और परलोक दोनोंपर विजय पाता है तथा सत्य और धर्मका भी सम्पादन कर लेता है, परंतु निर्धनको इस कार्यमें वैसी सफलता नहीं मिलती। उसका अस्तित्व नहींके बराबर होता है ॥ ४३ ॥

सर्वोपायैराददीत धनं यज्ञप्रयोजनम् ।
न तुल्यदोषः स्यादेवं कार्याकार्येषु भारत ॥ ४४ ॥

भरतनन्दन ! यज्ञ करनेके उद्देश्यको लेकर सभी उपायोंसे धनका संग्रह करे; इस प्रकार करने और न करने योग्य कर्म बन जानेपर भी कर्ताको अन्य अवसरोंके समान दोष नहीं लगता ॥ ४४ ॥

नैतौ सम्भवतो राजन् कथंचिदपि पार्थिव ।
न ह्यरण्येषु पश्यामि धनवृद्धानहं क्वचित् ॥ ४५ ॥

राजन् ! पृथ्वीनाथ ! धनका संग्रह और उसका त्याग—ये दोनों एक व्यक्तिमें एक ही साथ किसी तरह नहीं रह सकते; क्योंकि मैं वनमें रहनेवाले त्यागी महात्माओंको कहीं भी धनमें बढ़ा-चढ़ा नहीं देखता ॥ ४५ ॥

यदिदं दृश्यते वित्तं पृथिव्यामिह किंचन ।
ममेदं स्यान्ममेदं स्यादित्येवं काङ्क्षते जनः ॥ ४६ ॥

यहाँ इस पृथ्वीपर यह जो कुछ भी धन देखा जाता है, 'यह मेरा हो जाय, यह मेरा हो जाय' ऐसी ही अभिलाषा सभी लोगोंको रहती है ॥ ४६ ॥

न च राज्यसमो धर्मः कश्चिदस्ति परंतप ।
धर्मः संशब्दितो राज्ञामापदर्थमतोऽन्यथा ॥ ४७ ॥

परंतप ! राजाके लिये राज्यकी रक्षाके समान दूसरा कोई धर्म नहीं है। अभी जिस धर्मकी चर्चा की गयी है, वह केवल राजाओंके लिये आपत्तिकालमें ही आचरणमें लाने योग्य है, अन्यथा नहीं ॥ ४७ ॥

दानेन कर्मणा चान्ये तपसान्ये तपस्विनः ।
बुद्ध्या दाक्ष्येण चैवान्ये विन्दन्ति धनसंचयान् ॥ ४८ ॥

कुछ लोग दानसे, कुछ लोग यज्ञकर्म करनेसे, कुछ तपस्वी तपस्या करनेसे, कुछ लोग बुद्धिसे और अन्य बहुत-से मनुष्य कार्य-कौशलसे धनराशि प्राप्त कर लेते हैं ॥ ४८ ॥

अधनं दुर्बलं प्राहुर्धनेन बलवान् भवेत् ।
सर्वं धनवता प्राप्यं सर्वं तरति कोशवान् ॥ ४९ ॥

निर्धनको दुर्बल कहा जाता है। धनसे मनुष्य बलवान् होता है। धनवान्‌को सब कुछ सुलभ है। जिसके पास खजाना है, वह सारे संकटोंसे पार हो जाता है ॥ ४९ ॥

कोशेन धर्मः कामश्च परलोकस्तथा ह्ययम् ।
तं च धर्मेण लिप्सेत नाधर्मेण कदाचन ॥ ५० ॥

धन-संचयसे ही धर्म, काम, लोक तथा परलोककी सिद्धि होती है। उस धनको धर्मसे ही पानेकी इच्छा करे, अधर्मसे कभी नहीं ॥ ५० ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि राजधर्मानुशासनपर्वणि त्रिंशदधिकशततमोऽध्यायः ॥ १३० ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत राजधर्मानुशासनपर्वमें एक सौ तीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १३० ॥

(आपद्धर्मपर्व)

एकत्रिंशदधिकशततमोऽध्यायः

आपत्तिग्रस्त राजाके कर्त्तव्यका वर्णन

युधिष्ठिर उवाच

क्षीणस्य दीर्घसूत्रस्य सानुक्रोशस्य बन्धुषु ।
परिशङ्कितवृत्तस्य श्रुतमन्त्रस्य भारत ॥ १ ॥
विभक्तपुरराष्ट्रस्य निर्द्रव्यनिचयस्य च ।
असम्भावितमित्रस्य भिन्नामात्यस्य सर्वशः ॥ २ ॥
परचक्राभियातस्य दुर्बलस्य बलीयसा ।
आपन्नचेतसो ब्रूहि किं कार्यमवशिष्यते ॥ ३ ॥

युधिष्ठिरने पूछा—भरतनन्दन ! जिसकी सेना और धन-सम्पत्ति क्षीण हो गयी है, जो आलसी है, बन्धु-बान्धवोंपर अधिक दया रखनेके कारण उनके नाशकी आशङ्कासे जो उन्हें साथ लेकर शत्रुके साथ युद्ध नहीं कर सकता, जो मन्त्री आदिके चरित्रपर संदेह रखता है अथवा जिसका चरित्र स्वयं भी शङ्कास्पद है, जिसकी मन्त्रणा गुप्त नहीं रह सकी है, उसे दूसरे लोगोंने सुन लिया है, जिसके नगर और राष्ट्रको कई भागोंमें बाँटकर शत्रुओंने अपने अधीन कर लिया है, इसीलिये जिसके पास द्रव्यका भी संग्रह नहीं रह गया है, द्रव्याभावके कारण ही समादर न पानेसे जिसके मित्र साथ छोड़ चुके हैं, मन्त्री भी शत्रुओंद्वारा फोड़ लिये गये हैं, जिसपर शत्रुदलका आक्रमण हो गया हो, जो दुर्बल होकर बलवान् शत्रुके द्वारा पीड़ित हो और विपत्तिमें पड़कर जिसका चित्त घबरा उठा हो, उसके लिये कौन-सा कार्य शेष रह जाता है ?—उसे इस संकटसे मुक्त होनेके लिये क्या करना चाहिये ? ॥ १—३ ॥

भीष्म उवाच

बाह्यश्चेद् विजिगीषुः स्याद् धर्मार्थकुशलः शुचिः ।
जवेन संधिं कुर्वीत पूर्वभुक्तान् विमोचयेत् ॥ ४ ॥

भीष्मजीने कहा—राजन् ! यदि विजयकी इच्छासे आक्रमण करनेवाला राजा बाहरका हो, उसका आचार-विचार शुद्ध हो तथा वह धर्म और अर्थके साधनमें कुशल हो तो शीघ्रतापूर्वक उसके साथ संधि कर लेनी चाहिये और जो ग्राम तथा नगर अपने पूर्वजोंके अधिकारमें रहे हों, वे यदि आक्रमणकारीके हाथमें चले गये हों तो उसे मधुर वचनोंद्वारा समझा-बुझाकर उसके हाथसे छुड़ानेकी चेष्टा करे ॥ ४ ॥

योऽधर्मविजिगीषुः स्याद् बलवान् पापनिश्चयः ।
आत्मनः संनिरोधेन संधिं तेनापि रोचयेत् ॥ ५ ॥

जो विजय चाहनेवाला शत्रु अधर्मपरायण हो तथा बलवान् होनेके साथ ही पापपूर्ण विचार रखता हो, उसके साथ अपना कुछ खोकर भी संधि कर लेनेकी ही इच्छा रक्खे ॥ ५ ॥

अपास्य राजधानीं वा तरेद् द्रव्येण चापदम् ।
तद्भावयुक्तो द्रव्याणि जीवन् पुनरुपार्जयेत् ॥ ६ ॥

अथवा आवश्यकता हो तो अपनी राजधानीको भी छोड़कर बहुत-सा द्रव्य देकर उस विपत्तिसे पार हो जाय। यदि वह जीवित रहे तो राजोचित गुणसे युक्त होनेपर पुनः धनका उपार्जन कर सकता है ॥ ६ ॥

यास्तु कोशबलत्यागाच्छक्यास्तरितुमापदः ।
कस्तत्राधिकमात्मानं संत्यजेदर्थधर्मवित् ॥ ७ ॥

खजाना और सेनाका त्याग कर देनेसे ही जहाँ विपत्तियोंको पार किया जा सके, ऐसी परिस्थितिमें कौन अर्थ और धर्मका ज्ञाता पुरुष अपनी सबसे अधिक मूल्यवान् वस्तु शरीरका त्याग करेगा ? ॥ ७ ॥

अवरोधान् जुगुप्सेत का सपत्नधने दया ।
न त्वेवात्मा प्रदातव्यः शक्ये सति कथंचन ॥ ८ ॥

शत्रुका आक्रमण हो जानेपर राजाको सबसे पहले अपने अन्तःपुरकी रक्षाका प्रयत्न करना चाहिये। यदि वहाँ शत्रुका अधिकार हो जाय, तब उधरसे अपनी मोह-ममता हटा लेनी चाहिये; क्योंकि शत्रुके अधिकारमें गये हुए धन और परिवारपर दया दिखाना किस कामका ? जहाँतक सम्भव हो, अपने आपको किसी तरह भी शत्रुके हाथमें नहीं फँसने देना चाहिये ॥ ८ ॥

युधिष्ठिर उवाच

आभ्यन्तरे प्रकुपिते बाह्ये चोपनिपीडिते ।
क्षीणे कोशे श्रुते मन्त्रे किं कार्यमवशिष्यते ॥ ९ ॥

युधिष्ठिरने पूछा—पितामह ! यदि बाहर राष्ट्र और दुर्ग आदिपर आक्रमण करके शत्रु उसे पीड़ा दे रहे हों और भीतर मन्त्री आदि भी कुपित हों, खजाना खाली हो गया हो और राजाका गुप्त रहस्य सबके कानोंमें पड़ गया हो, तब उसे क्या करना चाहिये ? ॥ ९ ॥

भीष्म उवाच

क्षिप्रं वा संधिकामः स्यात् क्षिप्रं वा तीक्ष्णविक्रमः ।
तदापनयनं क्षिप्रमेतावत् साम्परायिकम् ॥ १० ॥

भीष्मजीने कहा—राजन् ! उस अवस्थामें राजा या तो शीघ्र ही संधिका विचार कर ले अथवा जल्दी-से-जल्दी दुःसह पराक्रम प्रकट करके शत्रुको राज्यसे निकाल बाहर करे, ऐसा उद्योग करते समय यदि कदाचित् मृत्यु भी हो जाय तो वह परलोकमें मङ्गलकारी होती है ॥ १० ॥

अनुरक्तेन चेष्टेन हृष्टेन जगतीपतिः ।
अल्पेनापि हि सैन्येन महीं जयति भूमिपः ॥ ११ ॥

यदि सेना स्वामीके प्रति अनुराग रखनेवाली, प्रिय और हृष्ट-पुष्ट हो तो उस थोड़ी-सी सेनाके द्वारा भी राजा पृथ्वीपर विजय पा सकता है ॥ ११ ॥

हतो वा दिवमारोहेद्धत्वा वा क्षितिमावसेत् ।
युद्धे हि संत्यजन् प्राणान् शक्रस्यैति सलोकताम् ॥ १२ ॥

यदि वह युद्धमें मारा जाय तो स्वर्गलोकके शिखरपर आरूढ़ हो सकता है अथवा यदि उसीने शत्रुको मार लिया तो वह पृथ्वीका राज्य भोग सकता है। जो युद्धमें प्राणोंका परित्याग करता है, वह इन्द्रलोकमें जाता है ॥ १२ ॥

सर्वलोकागमं कृत्वा मृदुत्वं गन्तुमेव च ।
विश्वासाद् विनयं कुर्याद् व्यवस्येद्वाप्युपायतः ॥ १३ ॥

अथवा दुर्बल राजा शत्रुमें कोमलता लानेके लिये विपक्ष-

[illegible] उनके मनमें विश्वास जमाकर [illegible] लिये अनुनय-विनय करे और स्वयं [illegible] निवास करे ॥ १३ ॥

[illegible]पुः क्षिप्रं साम्ना वा परिसान्त्वयन् ।
[illegible] मन्त्रेण ततः स्वयमुपक्रमेत् ॥ १४ ॥

अथवा वह मधुर वचनोंद्वारा विरोधी दलके मन्त्री आदिको प्रसन्न करके दुर्गसे पलायन करनेका प्रयत्न करे। तदनन्तर कुछ काल व्यतीत करके श्रेष्ठ पुरुषोंकी सम्मति ले अपनी खोयी हुई सम्पत्ति अथवा राज्यको पुनः प्राप्त करनेका प्रयत्न आरम्भ करे ॥ १४ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि आपद्धर्मपर्वणि एकत्रिंशदधिकशततमोऽध्यायः ॥ १३१ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत आपद्धर्मपर्वमें एक सौ इकतीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १३१ ॥

द्वात्रिंशदधिकशततमोऽध्यायः

ब्राह्मणों और श्रेष्ठ राजाओंके धर्मका वर्णन तथा धर्मकी गतिको सूक्ष्म बताना

युधिष्ठिर उवाच

हीने परमके धर्मे सर्वलोकाभिसंहिते ।
सर्वस्मिन् दस्युसाद्भूते पृथिव्यामुपजीवने ॥ १ ॥
केन स्विद् ब्राह्मणो जीवेज्जघन्ये काल आगते ।
असंत्यजन् पुत्रपौत्राननुक्रोशात् पितामह ॥ २ ॥

युधिष्ठिरने पूछा—पितामह ! यदि राजाका सम्पूर्ण लोकोंकी रक्षापर अवलम्बित परम धर्म न निभ सके और भूमण्डलमें आजीविकाके सारे साधनोंपर लुटेरोंका अधिकार हो जाय, तब ऐसा जघन्य संकटकाल उपस्थित होनेपर यदि ब्राह्मण दयावश अपने पुत्रों तथा पौत्रोंका परित्याग न कर सके तो वह किस वृत्तिसे जीवन-निर्वाह करे ? ॥ १-२ ॥

भीष्म उवाच

विज्ञानबलमास्थाय जीवितव्यं तथागते ।
सर्वं साध्वर्थमेवेदमसाध्वर्थं न किंचन ॥ ३ ॥

भीष्मजीने कहा—युधिष्ठिर ! ऐसी परिस्थितिमें ब्राह्मणको तो अपने विज्ञान-बलका आश्रय लेकर जीवन-निर्वाह करना चाहिये। इस जगत्में यह जो कुछ भी धन आदि दिखायी देता है, वह सब कुछ श्रेष्ठ पुरुषोंके लिये ही है, दुष्टोंके लिये कुछ भी नहीं है ॥ ३ ॥

असाधुभ्योऽर्थमादाय साधुभ्यो यः प्रयच्छति ।
आत्मानं संक्रमं कृत्वा कृच्छ्रधर्मविदेव सः ॥ ४ ॥

जो अपनेको सेतु बनाकर दुष्ट पुरुषोंसे धन लेकर श्रेष्ठ पुरुषोंको देता है, वह आपद्धर्मका ज्ञाता है ॥ ४ ॥

आकाङ्क्षन्नात्मनो राज्यं राज्ये स्थितिमकोपयन् ।
अदत्तमेवाददीत दातुर्वित्तं ममेति च ॥ ५ ॥

जो अपने राज्यको बनाये रखना चाहे, उस राजाको उचित है कि वह राज्यकी व्यवस्थाका बिगाड़ न करते हुए ब्राह्मण आदि प्रजाकी रक्षाके उद्देश्यसे ही राज्यके धनियोंका धन मेरा ही है, ऐसा समझकर उनके दिये बिना भी बलपूर्वक ले ले ॥ ५ ॥

विज्ञानबलपूतो यो वर्तते निन्दितेष्वपि ।
वृत्तविज्ञानवान् धीरः कस्तं वा वक्तुमर्हति ॥ ६ ॥

जो विज्ञानके प्रभावसे पवित्र है और किस वृत्तिसे किसका निर्वाह हो सकता है, इस बातको अच्छी तरह समझता है, वह धीर नरेश यदि राज्यको संकटसे बचानेके लिये निन्दित कर्मोंमें भी प्रवृत्त होता है ? तो कौन उसकी निन्दा कर सकता है ? ॥ ६ ॥

येषां बलकृता वृत्तिस्तेषामन्या न रोचते ।
तेजसाभिप्रवर्तन्ते बलवन्तो युधिष्ठिर ॥ ७ ॥

युधिष्ठिर ! जो बल और पराक्रमसे ही जीविका चलानेवाले हैं, उन्हें दूसरी वृत्ति अच्छी नहीं लगती। बलवान् पुरुष अपने तेजसे ही कर्मोंमें प्रवृत्त होते हैं ॥ ७ ॥

यदैव प्राकृतं शास्त्रमविशेषेण वर्तते ।
तदैवमभ्यसेदेवं मेधावी वाप्यथोत्तरम् ॥ ८ ॥

जब आपद्धर्मोपयोगी प्राकृत शास्त्र ही सामान्यरूपसे चल रहा हो, उस आपत्तिकालमें 'अपने या दूसरेके राज्यसे जैसे भी सम्भव हो, धन लेकर अपना खजाना भरना चाहिये' इत्यादि वचनोंके अनुसार राजा जीवन-निर्वाह करे। परंतु जो मेधावी हो, वह इससे भी आगे बढ़कर 'जो दो राज्योंमें रहनेवाले धनीलोग कंजूसी अथवा असदाचरणके द्वारा दण्ड पाने योग्य हों, उनसे ही धन लेना चाहिये।' इत्यादि विशेष शास्त्रोंका अवलम्बन करे ॥ ८ ॥

ऋत्विक्पुरोहिताचार्यान् सत्कृतानभिसत्कृतान् ।
न ब्राह्मणान् घातयीत दोषान् प्राप्नोति घातयन् ॥ ९ ॥

कितनी ही आपत्ति क्यों न हो, ऋत्विक्, पुरोहित, आचार्य तथा सत्कृत या असत्कृत ब्राह्मणोंसे, वे धनी हों तो भी धन लेकर उन्हें पीड़ा न दे। यदि राजा उन्हें धनापहरणके द्वारा कष्ट देता है तो पापका भागी होता है ॥ ९ ॥

एतत् प्रमाणं लोकस्य चक्षुरेतत् सनातनम् ।
तत् प्रमाणोऽवगाहेत तेन तत् साध्वसाधु वा ॥ १० ॥

यह मैंने तुम्हें सब लोगोंके लिये प्रमाणभूत बात बतायी है। यही सनातन दृष्टि है। राजा इसीको प्रमाण मानकर व्यवहारक्षेत्रमें प्रवेश करे तथा इसीके अनुसार आपत्तिकालमें उसे भले या बुरे कार्यका निर्णय करना चाहिये ॥ १० ॥

बहवो ग्रामवास्तव्या रोषाद् ब्रूयुः परस्परम् ।
न तेषां वचनाद् राजा सत्कुर्याद् घातयीत वा ॥ ११ ॥

यदि बहुत-से ग्रामवासी मनुष्य परस्पर रोषवश राजाके

पास आकर एक दूसरेकी निन्दा-स्तुति करें तो राजा केवल उनके कहनेसे ही किसीको न तो दण्ड दे और न किसीका सत्कार ही करे ॥ ११ ॥

न वाच्यः परिवादोऽयं न श्रोतव्यः कथञ्चन ।
कर्णावथ पिधातव्यौ प्रस्थेयं चान्यतो भवेत् ॥ १२ ॥

किसीकी भी निन्दा नहीं करनी चाहिये और न उसे किसी प्रकार सुनना ही चाहिये । यदि कोई दूसरेकी निन्दा करता हो तो वहाँ अपने कान बंद कर ले अथवा वहाँसे उठकर अन्यत्र चला जाय ॥ १२ ॥

असतां शीलमेतद् वै परिवादोऽथ पैशुनम् ।
गुणानामेव वक्तारः सन्तः सत्सु नराधिप ॥ १३ ॥

नरेश्वर ! दूसरोंकी निन्दा करना या चुगली खाना यह दुष्टोंका स्वभाव ही होता है । श्रेष्ठ पुरुष तो सज्जनोंके समीप दूसरोंके गुण ही गाया करते हैं ॥ १३ ॥

यथा सुमधुरौ दम्यौ सुदान्तौ साधुवाहिनौ ।
धुरमुद्यम्य वहतस्तथा वर्तेत वै नृपः ॥ १४ ॥

जैसे मनोहर आकृतिवाले, सुशिक्षित तथा अच्छी तरहसे बोझ ढोनेमें समर्थ नयी अवस्थाके दो बैल कंधोंपर भार उठाकर उसे सुन्दर ढंगसे ढोते हैं, उसी प्रकार राजाको भी अपने राज्यका भार अच्छी तरह सँभालना चाहिये ॥ १४ ॥

यथा यथास्य वहवः सहायाः स्युस्तथा परे ।
आचारमेव मन्यन्ते गरीयो धर्मलक्षणम् ॥ १५ ॥

जैसे-जैसे आचरणोंसे राजाके बहुत-से दूसरे लोग सहायक हों, वैसे ही आचरण उसे अपनाने चाहिये । धर्मज्ञ पुरुष आचारको ही धर्मका प्रधान लक्षण मानते हैं ॥ १५ ॥

अपरे नैवमिच्छन्ति ये शङ्खलिखितप्रियाः ।
मात्सर्यादथवा लोभान्न ब्रूयुर्वाक्यमीदृशम् ॥ १६ ॥

किंतु जो शङ्ख और लिखित मुनिके प्रेमी हैं—उन्हींके मतका अनुसरण करनेवाले हैं, वे दूसरे-दूसरे लोग इस उपर्युक्त मत (ऋत्विक् आदिको दण्ड न देने आदि)को नहीं स्वीकार करते हैं । वे लोग ईर्ष्या अथवा लोभसे ऐसी बात नहीं कहते हैं (धर्म मानकर ही कहते हैं) ॥ १६ ॥

आर्षमप्यत्र पश्यन्ति विकर्मस्थस्य पातनम् ।
न तादृक्सदृशं किञ्चित् प्रमाणं दृश्यते क्वचित् ॥ १७ ॥

शास्त्र-विपरीत कर्म करनेवालेको दण्ड देनेकी जो बात आती है, उसमें वे आर्षप्रमाण भी देखते हैं* । ऋषियोंके वचनोंके समान दूसरा कोई प्रमाण कहीं भी दिखायी नहीं देता ॥ १७ ॥

देवताश्च विकर्मस्थं पातयन्ति नराधमम् ।
व्याजेन विन्दन् वित्तं हि धर्मात् स परिहीयते ॥ १८ ॥

देवता भी विपरीत कर्ममें लगे हुए अधम मनुष्यको नरकोंमें गिराते हैं; अतः जो छलसे धन प्राप्त करता है, वह धर्मसे भ्रष्ट हो जाता है ॥ १८ ॥

सर्वतः सत्कृतः सद्भिर्भूतिप्रवरकारणैः ।
हृदयेनाभ्यनुज्ञातो यो धर्मस्तं व्यवस्यति ॥ १९ ॥

ऐश्वर्यकी प्राप्तिके जो प्रधान कारण हैं, ऐसे श्रेष्ठ पुरुष जिसका सब प्रकारसे सत्कार करते हैं तथा हृदयसे भी जिसका अनुमोदन होता है, राजा उसी धर्मका अनुष्ठान करे ॥ १९ ॥

यश्चतुर्गुणसम्पन्नं धर्मं ब्रूयात् स धर्मवित् ।
अहेरिव हि धर्मस्य पदं दुःखं गवेषितुम् ॥ २० ॥

जो वेदविहित, स्मृतिद्वारा अनुमोदित, सज्जनोंद्वारा सेवित तथा अपनेको प्रिय लगनेवाला धर्म है, उसे चतुर्गुणसम्पन्न माना गया है । जो वैसे धर्मका उपदेश करता है, वही धर्मज्ञ है । सर्पके पदचिह्नकी भाँति धर्मके यथार्थ स्वरूपको ढूँढ़ निकालना बहुत कठिन है ॥ २० ॥

यथा मृगस्य विद्धस्य पदमेकं पदं नयेत् ।
लक्षेद् रुधिरलेपेन तथा धर्मपदं नयेत् ॥ २१ ॥

जैसे बाणसे बिंधे हुए मृगका एक पैर पृथ्वीपर रक्तका लेप कर देनेके कारण व्याधको उस मृगके रहनेके स्थानको लक्षित कराकर वहाँ पहुँचा देता है, उसी प्रकार उक्त चतुर्गुणसम्पन्न धर्म भी धर्मके यथार्थ स्वरूपकी प्राप्ति करा देता है ॥

एवं सद्भिर्विनीतेन पथा गन्तव्यमित्युत ।
राजर्षीणां वृत्तमेतदवगच्छ युधिष्ठिर ॥ २२ ॥

युधिष्ठिर ! इस प्रकार श्रेष्ठ पुरुष जिस मार्गसे गये हैं, उसीपर तुम्हें भी चलना चाहिये । इसीको तुम राजर्षियोंका सदाचार समझो ॥ २२ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि आपद्धर्मपर्वणि राजर्षिवृत्तं नाम द्वात्रिंशदधिकशततमोऽध्यायः ॥ १३२ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत आपद्धर्मपर्वमें राजर्षियोंका चरित्रनामक एक सौ बत्तीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १३२ ॥

त्रयस्त्रिंशदधिकशततमोऽध्यायः

राजाके लिये कोशसंग्रहकी आवश्यकता, मर्यादाकी स्थापना और अमर्यादित दस्युवृत्तिकी निन्दा

भीष्म उवाच

स्वराष्ट्रात् परराष्ट्राच्च कोशं संजनयेन्नृपः ।
कोशाद्धि धर्मः कौन्तेय राज्यमूलं च वर्धते ॥ १ ॥

भीष्मजी कहते हैं—युधिष्ठिर ! राजाको चाहिये कि वह अपने तथा शत्रुके राज्यसे धन लेकर खजानेको भरे । कोशसे ही धर्मकी वृद्धि होती है और राज्यकी जड़ें बढ़ती

* यथा—गुरोरप्यवलिप्तस्य कार्याकार्यमजानतः । उत्पथं प्रतिपन्नस्य कार्यं भवति शासनम् ॥

अर्थात् घमंडमें आकर कर्तव्य और अकर्तव्यका विचार न करते हुए कुमार्गपर चलनेवाले गुरुको भी दण्ड देना आवश्यक है ।

र्गान् सुहृद् होती हैं ॥ १ ॥

तस्मात् संजनयेत् कोशं सत्कृत्य परिपालयेत् ।
परिपाल्यानुतनुयादेष धर्मः सनातनः ॥ २ ॥

इसलिये राजा कोशका संग्रह करे, संग्रह करके आदर उसकी रक्षा करे और रक्षा करके निरन्तर उसको बढ़ाता रहे; यही राजाका सदासे चला आनेवाला धर्म है ॥ २ ॥

न कोशः शुद्धशौचेन न नृशंसेन जातुचित् ।
मध्यमं पदमास्थाय कोशसंग्रहणं चरेत् ॥ ३ ॥

जो विशुद्ध आचार-विचारसे रहनेवाला है, उसके द्वारा कभी कोशका संग्रह नहीं हो सकता। जो अत्यन्त क्रूर है, वह भी कदापि इसमें सफल नहीं हो सकता; अतः मध्यम मार्गका आश्रय लेकर कोश-संग्रह करना चाहिये ॥ ३ ॥

अबलस्य कुतः कोशो ह्यकोशस्य कुतो बलम् ।
अबलस्य कुतो राज्यमराज्ञः श्रीर्भवेत् कुतः ॥ ४ ॥

यदि राजा बलहीन हो तो उसके पास कोश कैसे रह सकता है ? कोशहीनके पास सेना कैसे रह सकती है ? जिसके पास सेना ही नहीं है, उसका राज्य कैसे टिक सकता है और राज्यहीनके पास लक्ष्मी कैसे रह सकती है ? ॥ ४ ॥

उच्चैर्वृत्तेः श्रियो हानिर्यथैव मरणं तथा ।
तस्मात् कोशं बलं मित्रमथ राजा विवर्धयेत् ॥ ५ ॥

जो धनके कारण ऊँचे तथा महत्त्वपूर्ण पदपर पहुँचा हुआ है, उसके धनकी हानि हो जाय तो उसे मृत्युके तुल्य कष्ट होता है, अतः राजाको कोश, सेना तथा मित्रकी संख्या बढ़ानी चाहिये ॥ ५ ॥

हीनकोशं हि राजानमवजानन्ति मानवाः ।
न चास्याल्पेन तुष्यन्ति कार्यमप्युत्सहन्ति च ॥ ६ ॥

जिस राजाके पास धनका भण्डार नहीं है, उसकी साधारण मनुष्य भी अवहेलना करते हैं। उससे थोड़ा लेकर लोग संतुष्ट नहीं होते हैं और न उसका कार्य करनेमें ही उत्साह दिखाते हैं ॥ ६ ॥

श्रियो हि कारणाद् राजा सत्क्रियां लभते पराम् ।
सास्य गूहति पापानि वासो गुह्यमिव स्त्रियाः ॥ ७ ॥

लक्ष्मीके कारण ही राजा सर्वत्र बड़ा भारी आदर-सत्कार पाता है। जैसे कपड़ा नारीके गुप्त अङ्गोंको छिपाये रखता है, उसी प्रकार लक्ष्मी राजाके सारे दोषोंको ढक लेती है ॥ ७ ॥

ऋद्धिमस्यानुतप्यन्ते पुरा विप्रकृता नराः ।
शालावृका इवाजस्रं जिघांसुमेव विन्दति ॥ ८ ॥

पहलेके तिरस्कृत हुए मनुष्य इस राजाकी बढ़ती हुई समृद्धिको देखकर जलते रहते हैं और अपने वधकी इच्छा रखनेवाले उस राजाका ही कपटपूर्वक आश्रय ले उसी तरह उसकी सेवा करते हैं, जैसे कुत्ते अपने मालिक चाण्डालकी सेवामें रहते हैं ॥ ८ ॥

ईदृशस्य कुतो राज्ञः सुखं भवति भारत ।
उद्यच्छेदेव न नमेदुद्यमो ह्येव पौरुषम् ॥ ९ ॥
अप्यपर्वणि भज्येत न नमेतेह कस्यचित् ।

भारत ! ऐसे नरेशको कैसे सुख मिलेगा ? अतः राजाको सदा उद्यम ही करना चाहिये, किसीके सामने झुकना नहीं चाहिये; क्योंकि उद्यम ही पुरुषत्व है। जैसे सूखी लकड़ी बिना गाँठके ही टूट जाती है, परंतु झुकती नहीं है, उसी प्रकार राजा नष्ट भले ही हो जाय, परंतु उसे कभी दबना नहीं चाहिये ॥ ९½ ॥

अप्यरण्यं समाश्रित्य चरेन्मृगगणैः सह ॥ १० ॥
न त्वेवोज्झितमर्यादैर्दस्युभिः सहितश्चरेत् ।

वह वनकी शरण लेकर मृगोंके साथ भले ही विचरे, किंतु मर्यादा भंग करनेवाले डाकुओंके साथ कदापि न रहे ॥

दस्यूनां सुलभा सेना रौद्रकर्मसु भारत ॥ ११ ॥
एकान्ततो ह्यमर्यादात् सर्वोऽप्युद्विजते जनः ।
दस्यवोऽप्यभिशङ्कन्ते निरनुक्रोशकारिणः ॥ १२ ॥

भारत ! डाकुओंको लूट-पाट या हिंसा आदि भयानक कर्मोंके लिये अनायास ही सेना सुलभ हो जाती है। सर्वथा मर्यादाशून्य मनुष्यसे सब लोग उद्विग्न हो उठते हैं। केवल निर्दयतापूर्ण कर्म करनेवाले पुरुषकी ओरसे डाकू भी शङ्कित रहते हैं ॥ ११-१२ ॥

स्थापयेदेव मर्यादां जनचित्तप्रसादिनीम् ।
अल्पेऽप्यर्थे च मर्यादा लोके भवति पूजिता ॥ १३ ॥

राजाको ऐसी ही मर्यादा स्थापित करनी चाहिये, जो सब लोगोंके चित्तको प्रसन्न करनेवाली हो। लोकमें छोटे-से काममें भी मर्यादाका ही मान होता है ॥ १३ ॥

नायं लोकोऽस्ति न पर इति व्यवसितो जनः ।
नालं गन्तुं हि विश्वासं नास्तिके भयशङ्किते ॥ १४ ॥

संसारमें ऐसे भी मनुष्य हैं, जो यह निश्चय किये बैठे हैं कि 'यह लोक और परलोक हैं ही नहीं।' ऐसा नास्तिक मानव भयकी शङ्काका स्थान है, उसपर कभी विश्वास नहीं करना चाहिये ॥ १४ ॥

यथा सद्भिः परादानमहिंसा दस्युभिः कृता ।
अनुरज्यन्ति भूतानि समर्यादेषु दस्युषु ॥ १५ ॥

दस्युओंमें भी मर्यादा होती है, जैसे अच्छे डाकू दूसरोंका धन तो लूटते हैं, परंतु हिंसा नहीं करते (किसीकी इज्जत नहीं लेते)। जो मर्यादाका ध्यान रखते हैं, उन लुटेरोंमें बहुत-से प्राणी स्नेह भी करते हैं (क्योंकि उनके द्वारा बहुतोंकी रक्षा भी होती है) ॥ १५ ॥

अयुद्ध्यमानस्य वधो दारामर्षः कृतघ्नता ।
ब्रह्मवित्तस्य चादानं निःशेषकरणं तथा ॥ १६ ॥
स्त्रिया मोषः पतिस्थानं दस्युष्वेतद् विगर्हितम् ।
संश्लेषं च परस्त्रीभिर्दस्युरेतानि वर्जयेत् ॥ १७ ॥

युद्ध न करनेवालेको मारना, परायी स्त्रीपर बलात्कार करना, कृतघ्नता, ब्राह्मणके धनका अपहरण, किसीका सर्वस्व छीन लेना, कुमारी कन्याका अपहरण करना तथा किसी ग्राम आदिपर आक्रमण करके स्वयं उसका स्वामी बन बैठना—ये सब बातें डाकुओंमें भी निन्दित मानी गयी

हैं। दस्युको भी परस्त्रीका स्पर्श और उपर्युक्त सभी पाप त्याग देने चाहिये ॥ १६-१७ ॥

अभिसंदधते ये च विश्वासायास्य मानवाः।
अशेषमेवोपलभ्य कुर्वन्तीति विनिश्चयः ॥ १८ ॥

जिनका सर्वस्व लूट लिया जाता है, वे मनुष्य उन डाकुओंके साथ मेलजोल और विश्वास बढ़ानेकी चेष्टा करते हैं और उनके स्थान आदिका पता लगाकर फिर उनका सर्वस्व नष्ट कर देते हैं, यह निश्चित बात है ॥ १८ ॥

तस्मात् सशेषं कर्तव्यं स्वाधीनमपि दस्युभिः।
न बलस्थोऽहमस्मीति नृशंसानि समाचरेत् ॥ १९ ॥

इसलिये दस्युओंको उचित है कि वे दूसरोंके धनको अपने अधिकारमें पाकर भी कुछ शेष छोड़ दें, साराका सारा न लूट लें। 'मैं बलवान् हूँ' ऐसा समझकर क्रूरतापूर्ण बर्ताव न करे ॥ १९ ॥

स शेषकारिणस्तत्र शेषं पश्यन्ति सर्वशः।
निःशेषकारिणो नित्यं निःशेषकरणाद् भयम् ॥ २० ॥

जो डाकू दूसरोंके धनको शेष छोड़ देते हैं, वे सब ओर अपने धनका भी अवशेष देख पाते हैं तथा जो दूसरोंके धनमेंसे कुछ भी शेष नहीं छोड़ते, उन्हें सदा अपने धनके भी निःशेष हो जानेका भय बना रहता है ॥ २० ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि आपद्धर्मपर्वणि त्रयस्त्रिंशदधिकशततमोऽध्यायः ॥ १३३ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत आपद्धर्मपर्वमें एक सौ तैंतीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १३३ ॥

चतुस्त्रिंशदधिकशततमोऽध्यायः

बलकी महत्ता और पापसे छूटनेका प्रायश्चित्त

भीष्म उवाच

अत्र धर्मानुवचनं कीर्तयन्ति पुराविदः।
प्रत्यक्षावेव धर्मार्थौ क्षत्रियस्य विजानतः ॥ १ ॥

भीष्मजी कहते हैं—राजन्! प्राचीनकालकी बातोंको जाननेवाले विद्वान् इस विषयमें जो धर्मका प्रवचन करते हैं, वह इस प्रकार है—विज्ञ क्षत्रियके लिये धर्म और अर्थ—ये दो ही प्रत्यक्ष हैं ॥ १ ॥

तत्र न व्यवधातव्यं परोक्षा धर्मयापना।
अधर्मो धर्म इत्येतद् यथा वृकपदं तथा ॥ २ ॥

धर्म और अधर्मकी समस्या रखकर किसीके कर्तव्यमें व्यवधान नहीं डालना चाहिये; क्योंकि धर्मका फल प्रत्यक्ष नहीं है। जैसे भेड़ियेका पदचिह्न देखकर किसीको यह निश्चय नहीं होता कि यह व्याघ्रका पदचिह्न है या कुत्तेका? उसी प्रकार धर्म और अधर्मके विषयमें निर्णय करना कठिन है ॥ २ ॥

धर्माधर्मफले जातु ददर्शेह न कश्चन।
बुभूषेद् बलमेवैतत् सर्वं बलवतो वशे ॥ ३ ॥

धर्म और अधर्मका फल किसीने कभी यहाँ प्रत्यक्ष नहीं देखा है। अतः राजा बलप्राप्तिके लिये प्रयत्न करे; क्योंकि यह सब जगत् बलवान्के वशमें होता है ॥ ३ ॥

श्रियो बलममात्यांश्च बलवानिह विन्दति।
यो ह्यनाढ्यः स पतितस्तदुच्छिष्टं यदल्पकम् ॥ ४ ॥

बलवान् पुरुष इस जगत्में सम्पत्ति, सेना और मन्त्री सब कुछ पा लेता है। जो दरिद्र है, वह पतित समझा जाता है और किसीके पास जो बहुत थोड़ा धन है, वह उच्छिष्ट या जूठन समझा जाता है ॥ ४ ॥

बह्वपथ्यं बलवति न किंचित् क्रियते भयात्।
उभौ सत्याधिकारस्थौ त्रायेते महतो भयात् ॥ ५ ॥

बलवान् पुरुषमें बहुत-सी बुराई होती है तो भी भयके मारे उसके विषयमें कोई मुँहसे कुछ बात नहीं निकालता है। यदि बल और धर्म दोनों सत्यके ऊपर प्रतिष्ठित हों तो वे मनुष्यकी महान् भयसे रक्षा करते हैं ॥ ५ ॥

अतिधर्माद् बलं मन्ये बलाद् धर्मः प्रवर्तते।
बले प्रतिष्ठितो धर्मो धरण्यामिव जङ्गमम् ॥ ६ ॥

मैं अधिक धर्मसे भी बलको ही श्रेष्ठ मानता हूँ; क्योंकि बलसे धर्मकी प्रवृत्ति होती है। जैसे चलने-फिरनेवाले सभी प्राणी पृथ्वीपर ही स्थित हैं, उसी प्रकार धर्म बलपर ही प्रतिष्ठित है ॥

धूमो वायोरिव वशे बलं धर्मोऽनुवर्तते।
अनीश्वरो बले धर्मो द्रुमे वल्लीव संश्रिता ॥ ७ ॥

जैसे धूआँ वायुके अधीन होकर चलता है, उसी प्रकार धर्म भी बलका अनुसरण करता है; अतः जैसे लता किसी वृक्षके सहारे फैलती है, उसी प्रकार निर्बल धर्म बलके ही आधारपर सदा स्थिर रहता है ॥ ७ ॥

वशे बलवतां धर्मः सुखं भोगवतामिव।
नास्त्यसाध्यं बलवतां सर्वं बलवतां शुचि ॥ ८ ॥

जैसे भोग-सामग्रीसे सम्पन्न पुरुषोंके अधीन सुख-भोग होता है, उसी प्रकार धर्म बलवानोंके वशमें रहता है। बलवानोंके लिये कुछ भी असाध्य नहीं है। बलवानोंकी सारी वस्तु ही शुद्ध एवं निर्दोष होती है ॥ ८ ॥

दुराचारः क्षीणबलः परित्राणं न गच्छति।
अथ तस्मादुद्विजते सर्वो लोको वृकादिव ॥ ९ ॥

जिसका बल नष्ट हो गया है, जो दुराचारी है, उसको भय उपस्थित होनेपर कोई रक्षक नहीं मिलता है। दुर्बलसे सब लोग उसी प्रकार उद्विग्न हो उठते हैं, जैसे भेड़ियेसे ॥ ९ ॥

अपध्वस्तो ह्यवमतो दुःखं जीवति जीवितम्।

[illegible] मरणं तथा ॥ १० ॥

[illegible] है, सबके [illegible] तथा दुःखमय जीवन [illegible] है। [illegible] निन्दित हो जाता है, वह [illegible] ॥ १० ॥

[illegible] पापेन [illegible] विवर्जितः ।
[illegible] तेन वाक्शल्येन परिक्षतः ॥ ११ ॥

[illegible] लोग इस प्रकार कहने लगते —'अरे ! [illegible] अपने [illegible] कारण बन्धु-बान्धवों- [illegible] दिया गया है।' उनके उस वाग्बाणसे घायल [illegible] हो उठता है ॥ ११ ॥

[illegible]तदाहुराचार्याः पापस्य परिमोक्षणे ।
[illegible]यीं विद्यामवेक्षेत तथोपासीत वै द्विजान् ॥ १२ ॥
[illegible]सादयेन्मधुरया वाचा चाप्यथ कर्मणा ।
[illegible]मनाश्चापि भवेद् विवहेच्च महाकुले ॥ १३ ॥
[illegible]स्मीति वदेदेवं परेषां कीर्तयेद् गुणान् ।
[illegible]पेदुदकशीलः स्यात् पेशलो नातिजल्पकः ॥ १४ ॥
[illegible]क्षत्रं सम्प्रविशेद् बहु कृत्वा सुदुष्करम् ।
[illegible]च्यमानो हि लोकेन बहुशस्तद्चिन्तयन् ॥ १५ ॥

यहाँ अधर्मपूर्वक धनका उपार्जन करनेपर जो पाप होता है, उससे छूटनेके लिये आचार्योंने यह उपाय बताया है— उक्त पापसे लिप्त हुआ राजा तीनों वेदोंका स्वाध्याय करे, ब्राह्मणोंकी सेवामें उपस्थित रहे, मधुर वाणी तथा सत्कर्मोंद्वारा उन्हें प्रसन्न करे, अपने मनको उदार बनावे और उच्चकुलमें विवाह करे। मैं अमुक नामवाला आपका सेवक हूँ, इस प्रकार अपना परिचय दे, दूसरोंके गुणोंका बखान करे, प्रतिदिन स्नान करके इष्ट-मन्त्रका जप करे, अच्छे स्वभावका बने, अधिक न बोले, लोग उसे बहुत पापाचारी बताकर उसकी निन्दा करें तो भी उसकी परवा न करे और अत्यन्त दुष्कर तथा बहुत-से पुण्यकर्मोंका अनुष्ठान करके ब्राह्मणों तथा क्षत्रियोंके समाजमें प्रवेश करे ॥ १२—१५ ॥

अपापो ह्येवमाचारः क्षिप्रं बहुमतो भवेत् ।
सुखं च चित्रं भुञ्जीत कृतेनैकेन गोपयेत् ॥ १६ ॥
लोके च लभते पूजां परत्रेह महत् फलम् ॥ १७ ॥

ऐसे आचरणवाला पुरुष पापहीन हो शीघ्र ही बहुसंख्यक मनुष्योंके आदरका पात्र हो जाता है, नाना प्रकारके सुखोंका उपभोग करता है और अपने किये हुए एक सत्कर्म-के प्रभावसे अपनी रक्षा कर लेता है। लोकमें सर्वत्र उसका आदर होने लगता है तथा वह इहलोक और परलोकमें भी महान् फलका भागी होता है ॥ १६-१७ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि आपद्धर्मपर्वणि चतुस्त्रिंशदधिकशततमोऽध्यायः ॥ १३४ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत आपद्धर्मपर्वमें एक सौ चौंतीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १३४ ॥

पञ्चत्रिंशदधिकशततमोऽध्यायः

मर्यादाका पालन करने-करानेवाले कायव्यनामक दस्युकी सद्गतिका वर्णन

भीष्म उवाच

[illegible]प्युदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम् ।
[illegible]था दस्युः समर्यादः प्रेत्यभावे न नश्यति ॥ १ ॥

भीष्मजी कहते हैं—युधिष्ठिर ! जो दस्यु (डाकू) [illegible]र्यादाका पालन करता है, वह मरनेके बाद दुर्गतिमें नहीं [illegible]ता। इस विषयमें विद्वान् पुरुष एक प्राचीन इतिहासका [illegible]दाहरण दिया करते हैं ॥ १ ॥

[illegible]र्ता मतिमाञ्शूरः श्रुतवाननृशंसवान् ।
[illegible]क्षन्नाश्रमिणां धर्मं ब्रह्मण्यो गुरुपूजकः ॥ २ ॥
[illegible]षायां क्षत्रियाज्जातः क्षत्रधर्मानुपालकः ।
[illegible]कायव्यो नाम नैषादिर्दस्युत्वात् सिद्धिमाप्तवान् ॥ ३ ॥

[illegible]कायव्यनामसे प्रसिद्ध एक निषादपुत्रने दस्यु होनेपर भी [illegible]द्धि प्राप्त कर ली थी। वह प्रहारकुशल, शूरवीर, बुद्धिमान्, [illegible], क्रूरतारहित, आश्रमवासियोंके धर्मकी रक्षा करनेवाला, [illegible] और गुरुपूजक था। वह क्षत्रिय पितासे एक [illegible] स्त्रीके गर्भसे उत्पन्न हुआ था; अतः क्षत्रिय-[illegible] निरन्तर पालन करता था ॥ २-३ ॥

अरण्ये सायं पूर्वाह्णे मृगयूथप्रकोपिता ।
विधिज्ञो मृगजातीनां नैषादानां च कोविदः ॥ ४ ॥

कायव्य प्रतिदिन प्रातःकाल और सायङ्कालके समय वनमें जाकर मृगोंकी टोलियोंको उत्तेजित कर देता था। वह मृगोंकी विभिन्न जातियोंके स्वभावसे परिचित तथा उन्हें काबूमें करनेकी कलाको जाननेवाला था। निषादोंमें वह सबसे निपुण था ॥ ४ ॥

सर्वकाननदेशज्ञः पारियात्रचरः सदा ।
धर्मज्ञः सर्वभूतानाममोघेषुर्दृढायुधः ॥ ५ ॥

उसे वनके सम्पूर्ण प्रदेशोंका ज्ञान था। वह सदा पारियात्र पर्वतपर विचरनेवाला तथा समस्त प्राणियोंके धर्मोंका ज्ञाता था। उसका बाण लक्ष्य वेधनेमें अचूक था। उसके सारे अस्त्र-शस्त्र सुदृढ़ थे ॥ ५ ॥

अप्यनेकशतां सेनामेक एव जिगाय सः ।
स वृद्धावन्धबधिरौ महारण्येऽभ्यपूजयत् ॥ ६ ॥

वह सैकड़ों मनुष्योंकी सेनाको अकेले ही जीत लेता था और उस महान् वनमें रहकर अपने अन्धे और बहरे माता-पिताकी सेवा-पूजा किया करता था ॥ ६ ॥

मधुमांसैर्मूलफलैरन्नैरुच्चावचैरपि ।
सत्कृत्य भोजयामास मान्यान् परिचचार च ॥ ७ ॥

वह निषाद मधु, मांस, फल, मूल तथा नाना प्रकारके अन्नोंद्वारा माता-पिताको सत्कारपूर्वक भोजन कराता था तथा दूसरे-दूसरे माननीय पुरुषोंकी भी सेवा-पूजा किया करता था ॥ ७ ॥

आरण्यकान् प्रव्रजितान् ब्राह्मणान् परिपूजयन् ।
अपि तेभ्यो गृहान् गत्वा निनाय सततं वने ॥ ८ ॥

वह वनमें रहनेवाले वानप्रस्थ और संन्यासी ब्राह्मणोंकी पूजा करता और प्रतिदिन उनके घरमें जाकर उनके लिये अन्न आदि वस्तुएँ पहुँचा देता था ॥ ८ ॥

येऽस्मान्न प्रतिगृह्णन्ति दस्युभोजनशङ्कया ।
तेषामासज्य गेहेषु कल्य एव स गच्छति ॥ ९ ॥

जो लोग लुटेरेके घरका भोजन होनेकी आशङ्कासे उसके हाथसे अन्न नहीं ग्रहण करते थे, उनके घरोंमें वह बड़े सवेरे ही अन्न और फल-मूल आदि भोजनसामग्री रख जाता था ॥९॥

बहूनि च सहस्राणि ग्रामणित्वेऽभिवव्रिरे ।
निर्मर्यादानि दस्यूनां निरनुक्रोशवर्तिनाम् ॥ १० ॥

एक दिन मर्यादाका अतिक्रमण और भाँति-भाँतिके क्रूरतापूर्ण कर्म करनेवाले कई हजार डाकुओंने उससे अपना सरदार बननेके लिये प्रार्थना की ॥ १० ॥

दस्यव ऊचुः

मुहूर्तदेशकालज्ञः प्राज्ञः शूरो दृढव्रतः ।
ग्रामणीर्भव नो मुख्यः सर्वेषामेव सम्मतः ॥ ११ ॥

डाकू बोले—तुम देश, काल और मुहूर्तके ज्ञाता, विद्वान्, शूरवीर और दृढ़प्रतिज्ञ हो; इसलिये हम सब लोगोंकी सम्मतिसे तुम हमारे सरदार हो जाओ ॥ ११ ॥

यथा यथा वक्ष्यसि नः करिष्यामस्तथा तथा ।
पालयास्मान् यथान्यायं यथा माता यथा पिता ॥ १२ ॥

तुम हमें जैसी-जैसी आज्ञा दोगे, वैसा-ही-वैसा हम करेंगे। तुम माता-पिताके समान हमारी यथोचित रीतिसे रक्षा करो ॥१२॥

कायव्य उवाच

मा वधीस्त्वं स्त्रियं भीरुं मा शिशुं मा तपस्विनम् ।
नायुद्ध्यमानो हन्तव्यो न च ग्राह्या बलात् स्त्रियः ॥१३॥

कायव्यने कहा—प्रिय बन्धुओ ! तुम कभी स्त्री, डरपोक, बालक और तपस्वीकी हत्या न करना। जो तुमसे युद्ध न कर रहा हो, उसका भी वध न करना। स्त्रियोंको कभी बलपूर्वक न पकड़ना ॥ १३ ॥

सर्वथा स्त्री न हन्तव्या सर्वसत्त्वेषु केनचित् ।
नित्यं तु ब्राह्मणे स्वस्ति योद्धव्यं च तदर्थतः ॥ १४ ॥

तुममेंसे कोई भी सभी प्राणियोंके स्त्रीवर्गकी किसी तरह भी हत्या न करे। ब्राह्मणोंके हितका सदा ध्यान रखना। आवश्यकता हो तो उनकी रक्षाके लिये युद्ध भी करना ॥ १४ ॥

शस्यं च नापि हर्तव्यं सारविघ्नं च मा कृथाः ।
पूज्यन्ते यत्र देवाश्च पितरोऽतिथयस्तथा ॥ १५ ॥

खेतकी फसल न उखाड़ लाना, विवाह आदि उत्सवोंमें विघ्न न डालना, जहाँ देवता, पितर और अतिथियोंकी पूजा होती हो, वहाँ कोई उपद्रव न खड़ा करना ॥ १५ ॥

सर्वभूतेष्वपि च वै ब्राह्मणो मोक्षमर्हति ।
कार्या चोपचितिस्तेषां सर्वस्वेनापि या भवेत् ॥ १६ ॥

समस्त प्राणियोंमें ब्राह्मण विशेषरूपसे डाकुओंके हाथसे छुटकारा पानेका अधिकारी है। अपना सर्वस्व लगाकर भी तुम्हें उनकी सेवा-पूजा करनी चाहिये ॥ १६ ॥

यस्य ह्येते सम्प्ररुष्टा मन्त्रयन्ति पराभवम् ।
न तस्य त्रिषु लोकेषु त्राता भवति कश्चन ॥ १७ ॥

देखो, ब्राह्मणलोग कुपित होकर जिसके पराभवका चिन्तन करने लगते हैं, उसका तीनों लोकोंमें कोई रक्षक नहीं होता ॥ १७ ॥

यो ब्राह्मणान् परिवदेद् विनाशं चापि रोचयेत् ।
सूर्योदय इव ध्वान्ते ध्रुवं तस्य पराभवः ॥ १८ ॥

जो ब्राह्मणोंकी निन्दा करता और उनका विनाश चाहता है, उसका जैसे सूर्योदय होनेपर अन्धकारका नाश हो जाता है, उसी प्रकार अवश्य ही पतन हो जाता है ॥ १८ ॥

इहैव फलमासीनः प्रत्याकाङ्क्षेत सर्वशः ।
ये ये नो न प्रदास्यन्ति तांस्तांस्तेनाभियास्यसि ॥ १९ ॥

तुमलोग यहीं बैठे-बैठे लुटेरेपनका जो फल है, उसे पानेकी अभिलाषा रक्खो। जो-जो व्यापारी हमें स्वेच्छासे धन नहीं देंगे, उन्हीं-उन्हींपर तुम दल बाँधकर आक्रमण करोगे ॥१९॥

शिष्ट्यर्थं विहितो दण्डो न वृद्ध्यर्थं विनिश्चयः ।
ये च शिष्टान् प्रबाधन्ते दण्डस्तेषां वधः स्मृतः॥ २० ॥

दण्डका विधान दुष्टोंके दमनके लिये है, अपना धन बढ़ानेके लिये नहीं। जो शिष्ट पुरुषोंको सताते हैं, उनका वध ही उनके लिये दण्ड माना गया है ॥ २० ॥

ये च राष्ट्रोपरोधेन वृद्धिं कुर्वन्ति केचन ।
तदैव तेऽनुमार्यन्ते कुणपे कृमयो यथा ॥ २१ ॥

जो लोग राष्ट्रको हानि पहुँचाकर अपनी उन्नतिके लिये प्रयत्न करते हैं, वे मुर्दोंमें पड़े हुए कीड़ोंके समान उसी क्षण नष्ट हो जाते हैं ॥ २१ ॥

ये पुनर्धर्मशास्त्रेण वर्तेरन्निह दस्यवः ।
अपि ते दस्यवो भूत्वा क्षिप्रं सिद्धिमवाप्नुयुः ॥ २२ ॥

जो दस्यु-जातिमें उत्पन्न होकर भी धर्मशास्त्रके अनुसार आचरण करते हैं, वे लुटेरे होनेपर भी शीघ्र ही सिद्धि प्राप्त कर लेते हैं (ये सब बातें तुम्हें स्वीकार हों तो मैं तुम्हारा सरदार बन सकता हूँ) ॥ २२ ॥

भीष्म उवाच

ते सर्वमेवानुचक्रुः कायव्यस्यानुशासनम् ।
वृद्धिं च लेभिरे सर्वे पापेभ्यश्चाप्युपारमन् ॥ २३ ॥

भीष्मजी कहते हैं—राजन्! यह सुनकर उन दस्युओंने काय

[illegible] अनुसरण किया। [illegible] दस्यु-कर्मसे हट गये॥ २३॥

[illegible] कर्मणा तेन महतीं सिद्धिमाप्तवान्।
[illegible] दस्यून् पापान्निवर्तयन्॥ २४॥

[illegible] कर्मसे बड़ी भारी सिद्धि प्राप्त कर [illegible] लुटेरोंका [illegible] करते हुए डाकुओं- [illegible]॥ २४॥

इदं कायव्यचरितं यो नित्यमनुचिन्तयेत्।
नारण्येभ्यो हि भूतेभ्यो भयं प्राप्नोति किंचन॥ २५॥

जो प्रतिदिन कायव्यके इस चरित्रका चिन्तन करता है, उसे वनवासी प्राणियोंसे किञ्चिन्मात्र भी भय नहीं प्राप्त होता॥ २५॥

न भयं तस्य भूतेभ्यः सर्वेभ्यश्चैव भारत।
नासतो विद्यते राजन् स ह्यरण्येषु गोपतिः॥ २६॥

भारत! उसे सम्पूर्ण भूतोंसे भी भय नहीं होता। राजन्! किसी दुष्टात्मासे भी उसको डर नहीं लगता। वह तो वनका अधिपति हो जाता है॥ २६॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि आपद्धर्मपर्वणि कायव्यचरिते पञ्चत्रिंशदधिकशततमोऽध्यायः॥ १३५॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत आपद्धर्मपर्वमें कायव्यका चरित्रविषयक एक सौ पैंतीसवाँ अध्याय पूरा हुआ॥ १३५॥

षट्त्रिंशदधिकशततमोऽध्यायः

राजा किसका धन ले और किसका न ले तथा किसके साथ कैसा बर्ताव करे—इसका विचार

भीष्म उवाच

अत्र गाथा ब्रह्मगीताः कीर्तयन्ति पुराविदः।
येन मार्गेण राजा वै कोशं संजनयत्युत॥ १॥

भीष्मजी कहते हैं—युधिष्ठिर! जिस मार्ग या उपायसे राजा अपना खजाना भरता है, उसके विषयमें प्राचीन इतिहासके जानकारलोग ब्रह्माजीकी कही हुई कुछ गाथाएँ कहा करते हैं॥ १॥

न धनं यज्ञशीलानां हार्यं देवस्वमेव च।
दस्यूनां निष्क्रियाणां च क्षत्रियो हर्तुमर्हति॥ २॥

राजाको यज्ञानुष्ठान करनेवाले द्विजोंका धन नहीं लेना चाहिये। इसी प्रकार उसे देवसम्पत्तिमें भी हाथ नहीं लगाना चाहिये। वह लुटेरों तथा अकर्मण्य मनुष्योंके धनका अपहरण कर सकता है॥ २॥

इमाः प्रजाः क्षत्रियाणां राज्यभोगाश्च भारत।
धनं हि क्षत्रियस्यैव द्वितीयस्य न विद्यते॥ ३॥
तदस्य स्याद् बलार्थं वा धनं यज्ञार्थमेव च।

भरतनन्दन! ये समस्त प्रजाएँ क्षत्रियोंकी हैं। राज्यभोग भी क्षत्रियोंके ही हैं और सारा धन भी उन्हींका है, दूसरेका नहीं है; किंतु यह धन उसकी सेनाके लिये है या यज्ञानुष्ठानके लिये॥ ३ ॥

अभोग्या ओषधीश्छित्त्वा भोग्या एव पचन्त्युत॥ ४॥
यो वै न देवान् न पितॄन् न मर्त्यान् हविषार्चति।
अनर्थकं धनं तत्र प्राहुर्धर्मविदो जनाः॥ ५॥
हरेत् तद् द्रविणं राजन् धार्मिकः पृथिवीपतिः।
ततः प्रीणयते लोकं न कोशं तद्विधं नृपः॥ ६॥

राजन्! जो खाने योग्य नहीं हैं, उन ओषधियों या वृक्षोंको काटकर मनुष्य उनके द्वारा खाने योग्य ओषधियोंको पकाते हैं। इसी प्रकार जो देवताओं, पितरों और मनुष्योंका हविष्यके द्वारा पूजन नहीं करता है, उसके धनको धर्मज्ञ पुरुषोंने व्यर्थ बताया है। अतः धर्मात्मा राजा ऐसे धनको छीन ले और उसके द्वारा प्रजाका पालन करे, किंतु वैसे धनसे राजा अपना कोश न भरे॥ ४—६॥

असाधुभ्योऽर्थमादाय साधुभ्यो यः प्रयच्छति।
आत्मानं संक्रमं कृत्वा कृत्स्नधर्मविदेव सः॥ ७॥

जो राजा दुष्टोंसे धन छीनकर उसे श्रेष्ठ पुरुषोंको बाँट देता है, वह अपने आपको सेतु बनाकर उन सबको पार कर देता है। उसे सम्पूर्ण धर्मोंका ज्ञाता ही मानना चाहिये॥ ७॥

तथा तथा जयेल्लोकाञ्शक्त्या चैव यथा यथा।
उद्भिज्जा जन्तवो यद्वच्छुक्लजीवा यथा यथा॥ ८॥
अनिमित्तात् सम्भवन्ति तथायज्ञः प्रजायते॥ ९॥
यथैव दंशमशकं यथा चाण्डपिपीलिकम्।
सैव वृत्तिरयज्ञेषु यथा धर्मो विधीयते॥ १०॥

धर्मज्ञ राजा अपनी शक्तिके अनुसार उसी-उसी तरह लोकोंपर विजय प्राप्त करे, जैसे उद्भिज्ज जन्तु (वृक्ष आदि) अपनी शक्तिके अनुसार आगे बढ़ते हैं तथा जैसे वज्रकीट आदि क्षुद्र जीव बिना ही निमित्तके उत्पन्न हो जाते हैं, वैसे ही बिना ही कारणके यज्ञहीन कर्तव्यविरोधी मनुष्य भी राज्यमें उत्पन्न हो जाते हैं। अतः राजाको चाहिये कि मच्छर, डाँस और चींटी आदि कीटोंके साथ जैसा बर्ताव किया जाता है, वही बर्ताव उन सत्कर्मविरोधियोंके साथ करे, जिससे धर्मका प्रचार हो॥ ८—१०॥

यथा ह्यकस्माद् भवति भूमौ पांसुर्विलोलितः।
तथैवेह भवेद् धर्मः सूक्ष्मः सूक्ष्मतरस्तथा॥ ११॥

जिस प्रकार अकस्मात् पृथ्वीकी धूलको लेकर सिलपर पीसा जाय तो वह और भी महीन ही होती है, उसी प्रकार विचार करनेसे धर्मका स्वरूप उत्तरोत्तर सूक्ष्म जान पड़ता है॥ ११॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि आपद्धर्मपर्वणि षट्त्रिंशदधिकशततमोऽध्यायः॥ १३६॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत आपद्धर्मपर्वमें एक सौ छत्तीसवाँ अध्याय पूरा हुआ॥ १३६॥

सप्तत्रिंशदधिकशततमोऽध्यायः

आनेवाले संकटसे सावधान रहनेके लिये दूरदर्शी, तत्कालज्ञ और दीर्घसूत्री—इन तीन मत्स्योंका दृष्टान्त

भीष्म उवाच

अनागतविधाता च प्रत्युत्पन्नमतिश्च यः।
द्वावेव सुखमेधेते दीर्घसूत्री विनश्यति ॥ १ ॥

भीष्मजी कहते हैं—युधिष्ठिर! जो संकट आनेसे पहले ही अपने बचावका उपाय कर लेता है, उसे अनागतविधाता कहते हैं तथा जिसे ठीक समयपर ही आत्मरक्षाका उपाय सूझ जाता है, वह 'प्रत्युत्पन्नमति' कहलाता है। ये दो ही प्रकारके लोग सुखसे अपनी उन्नति करते हैं; परंतु जो प्रत्येक कार्यमें अनावश्यक विलम्ब करनेवाला होता है, वह दीर्घसूत्री मनुष्य नष्ट हो जाता है ॥ १ ॥

अत्रैव चेदमव्यग्रं शृणुष्वाख्यानमुत्तमम्।
दीर्घसूत्रमुपाश्रित्य कार्याकार्यविनिश्चये ॥ २ ॥

कर्तव्य और अकर्तव्यका निश्चय करनेमें जो दीर्घसूत्री होता है, उसको लेकर मैं एक सुन्दर उपाख्यान सुना रहा हूँ। तुम स्वस्थचित्त होकर सुनो ॥ २ ॥

नातिगाधे जलाधारे सुहृदः कुशलास्त्रयः।
प्रभूतमत्स्ये कौन्तेय बभूवुः सहचारिणः ॥ ३ ॥

कुन्तीनन्दन! कहते हैं, एक तालाबमें जो अधिक गहरा नहीं था, बहुत-सी मछलियाँ रहती थीं, उसी जलाशयमें तीन कार्यकुशल मत्स्य भी रहते थे, जो सदा साथ-साथ विचरनेवाले और एक दूसरेके सुहृद् थे ॥ ३ ॥

तत्रैको दीर्घकालज्ञ उत्पन्नप्रतिभोऽपरः।
दीर्घसूत्रश्च तत्रैकस्त्रयाणां सहचारिणाम् ॥ ४ ॥

वहाँ उन तीनों सहचारियोंमेंसे एक तो (अनागतविधाता था, जो) आनेवाले दीर्घकालतककी बात सोच लेता था। दूसरा प्रत्युत्पन्नमति था, जिसकी प्रतिभा ठीक समयपर ही काम दे देती थी और तीसरा दीर्घसूत्री था (जो प्रत्येक कार्यमें अनावश्यक विलम्ब करता था) ॥ ४ ॥

कदाचित् तं जलस्थायं मत्स्यबन्धाः समन्ततः।
निस्रावयामासुरथो निम्नेषु विविधैर्मुखैः ॥ ५ ॥

एक दिन कुछ मछलीमारोंने उस जलाशयमें चारों ओरसे नालियाँ बनाकर अनेक द्वारोंसे उसका पानी आसपासकी नीची भूमिमें निकालना आरम्भ कर दिया ॥ ५ ॥

प्रक्षीयमाणं तं दृष्ट्वा जलस्थायं भयागमे।
अब्रवीद् दीर्घदर्शी तु तावुभौ सुहृदौ तदा ॥ ६ ॥

जलाशयका पानी घटता देख भय आनेकी सम्भावना समझकर दूरतककी बातें सोचनेवाले उस मत्स्यने अपने उन दोनों सुहृदोंसे कहा— ॥ ६ ॥

इयमापत् समुत्पन्ना सर्वेषां सलिलौकसाम्।
शीघ्रमन्यत्र गच्छामः पन्था यावन्न दुष्यति ॥ ७ ॥

'बन्धुओ! जान पड़ता है कि इस जलाशयमें रहनेवाले सभी मत्स्योंपर संकट आ पहुँचा है; इसलिये जबतक हमारे निकलनेका मार्ग दूषित न हो जाय, तबतक शीघ्र ही हमें यहाँसे अन्यत्र चले जाना चाहिये ॥ ७ ॥

अनागतमनर्थं हि सुनयैर्यः प्रबाधयेत्।
स न संशयमाप्नोति रोचतां भो व्रजामहे ॥ ८ ॥

'जो आनेवाले संकटको उसके आनेसे पहले ही अपनी अच्छी नीतिद्वारा मिटा देता है, वह कभी प्राण जानेके संशयमें नहीं पड़ता। यदि आपलोगोंको मेरी बात ठीक जान पड़े, तो चलिये, दूसरे जलाशयको चलें' ॥ ८ ॥

दीर्घसूत्रस्तु यस्तत्र सोऽब्रवीत् सम्यगुच्यते।
न तु कार्या त्वरा तावदिति मे निश्चिता मतिः ॥ ९ ॥

इसपर वहाँ जो दीर्घसूत्री था, उसने कहा—'मित्र! तुम बात तो ठीक कहते हो; परंतु मेरा यह दृढ़ विचार है कि अभी हमें जल्दी नहीं करनी चाहिये' ॥ ९ ॥

अथ सम्प्रतिपत्तिज्ञः प्राब्रवीद् दीर्घदर्शिनम्।
प्राप्ते काले न मे किंचिन्न्यायतः परिहास्यते ॥ १० ॥

तदनन्तर प्रत्युत्पन्नमतिने दूरदर्शीसे कहा 'मित्र! जब समय आ जाता है, तब मेरी बुद्धि न्यायतः कोई युक्ति ढूँढ़ निकालनेमें कभी नहीं चूकती है' ॥ १० ॥

एवं श्रुत्वा निराक्रम्य दीर्घदर्शी महामतिः।
जगाम स्रोतसा तेन गम्भीरं सलिलाशयम् ॥ ११ ॥

यह सुनकर परम बुद्धिमान् दीर्घदर्शी (अनागतविधाता) वहाँसे निकलकर एक नालीके रास्तेसे दूसरे गहरे जलाशयमें चला गया ॥ ११ ॥

ततः प्रस्रुततोयं तं प्रसमीक्ष्य जलाशयम्।
बबन्धुर्विविधैर्योगैर्मत्स्यान् मत्स्योपजीविनः ॥ १२ ॥

तदनन्तर मछलियोंसे ही जीविका चलानेवाले मछलीमारोंने जब यह देखा कि जलाशयका जल प्रायः बाहर निकल चुका है, तब उन्होंने अनेक उपायोंद्वारा वहाँकी सब मछलियोंको फँसा लिया ॥ १२ ॥

विलोड्यमाने तस्मिंस्तु स्रुततोये जलाशये।
अगच्छद् बन्धनं तत्र दीर्घसूत्रः सहापरैः ॥ १३ ॥

जिसका पानी बाहर निकल चुका था, वह जलाशय जब मथा जाने लगा, तब दीर्घसूत्री भी दूसरे मत्स्योंके साथ जालमें फँस गया ॥ १३ ॥

उद्दाने क्रियमाणे तु मत्स्यानां तत्र रज्जुभिः।
प्रविश्यान्तरमेतेषां स्थितः सम्प्रतिपत्तिमान् ॥ १४ ॥

जब मछलीमार रस्सी खींचकर मछलियोंसे भरे हुए उस जालको उठाने लगे, तब प्रत्युत्पन्नमति मत्स्य भी उन्हीं मत्स्योंके भीतर घुसकर जालमें बँध-सा गया ॥ १४ ॥

गृह्यमेव तदुद्दानं गृहीत्वा तं तथैव सः।

[illegible] निर्मुक्तविनाशिनि ॥ १५ ॥

[illegible] अतः उसकी संतको [illegible] तरह [illegible] हुआ [illegible] उन सब मछलियोंको वहाँ [illegible] ॥ १५ ॥

[illegible] मत्स्येषु विपुले जले ।
[illegible] प्रमुक्तोऽसौ नीत्वं सम्प्रतिपत्तिमान् ॥

[illegible] मछलीमार जब दूसरे [illegible] के समीप गये और उन मछलियोंको [illegible] प्रत्युत्पन्नमति मुखमें ली हुई जालकी [illegible] बन्धनसे मुक्त हो गया और जलमें [illegible] ॥ १६ ॥

दीर्घसूत्रस्तु मन्दात्मा हीनबुद्धिरचेतनः ।
मरणं प्राप्तवान् मूढो यथैवोपहतेन्द्रियः ॥ १७ ॥

[illegible] बुद्धिहीन और आलसी मूर्ख दीर्घसूत्री अचेत होकर [illegible] हुआ, जैसे कोई इन्द्रियोंके नष्ट होनेसे [illegible] है ॥ १७ ॥

एवं प्राप्ततमं कालं यो मोहान्नावबुद्ध्यते ।
स विनश्यति वै क्षिप्रं दीर्घसूत्रो यथा झषः ॥ १८ ॥

इसी प्रकार जो पुरुष मोहवश अपने सिरपर आये हुए [illegible] नहीं समझ पाता, वह उस दीर्घसूत्री मत्स्यके समान [illegible] ही नष्ट हो जाता है ॥ १८ ॥

आदौ न कुरुते श्रेयः कुशलोऽस्मीति यः पुमान् ।
स संशयमवाप्नोति यथा सम्प्रतिपत्तिमान् ॥ १९ ॥

जो पुरुष यह समझकर कि मैं बड़ा कार्यकुशल हूँ, पहलेसे ही अपने कल्याणका उपाय नहीं करता, वह प्रत्युत्पन्नमति मत्स्यके समान प्राणसंशयकी स्थितिमें पड़ जाता है ॥

अनागतविधाता च प्रत्युत्पन्नमतिश्च यः ।
द्वावेव सुखमेधेते दीर्घसूत्रो विनश्यति ॥ २० ॥

जो संकट आनेसे पहले ही अपने बचावका उपाय कर लेता है, वह 'अनागतविधाता' और जिसे ठीक समयपर ही आत्मरक्षाका कोई उपाय सूझ जाता है, वह 'प्रत्युत्पन्नमति'—ये दो ही सुखपूर्वक अपनी उन्नति करते हैं; परंतु प्रत्येक कार्यमें अनावश्यक विलम्ब करनेवाला 'दीर्घसूत्री' नष्ट हो जाता है ॥ २० ॥

काष्ठाः कला मुहूर्ताश्च दिवा रात्रिस्तथा लवाः ।
मासाः पक्षाः षड् ऋतवः कल्पः संवत्सरास्तथा ॥ २१ ॥
पृथिवी देश इत्युक्तः कालः स च न दृश्यते ।
अभिप्रेतार्थसिद्ध्यर्थं ध्यायते यच्च तत्तथा ॥ २२ ॥

काष्ठा, कला, मुहूर्त, दिन, रात, लव, मास, पक्ष, छः ऋतु, संवत्सर और कल्प—इन्हें 'काल' कहते हैं तथा पृथ्वीको 'देश' कहा जाता है। इनमेंसे देशका तो दर्शन होता है, किंतु काल दिखायी नहीं देता है। अभीष्ट मनोरथकी सिद्धिके लिये जिस देश और कालको उपयोगी मानकर उसका विचार किया जाता है, उसको ठीक-ठीक ग्रहण करना चाहिये ॥ २१-२२ ॥

एतौ धर्मार्थशास्त्रेषु मोक्षशास्त्रेषु चर्षिभिः ।
प्रधानाविति निर्दिष्टौ कामे चाभिमतौ नृणाम् ॥ २३ ॥

ऋषियोंने धर्मशास्त्र, अर्थशास्त्र तथा मोक्षशास्त्रमें इन देश और कालको ही कार्य-सिद्धिका प्रधान उपाय बताया है। मनुष्योंकी कामना-सिद्धिमें भी ये देश और काल ही प्रधान माने गये हैं ॥ २३ ॥

परीक्ष्यकारी युक्तश्च स सम्यगुपपादयेत् ।
देशकालावभिप्रेतौ ताभ्यां फलमवाप्नुयात् ॥ २४ ॥

जो पुरुष सोच-समझकर या जान-बूझकर काम करनेवाला तथा सतत सावधान रहनेवाला है, वह अभीष्ट देश और कालका ठीक-ठीक उपयोग करता और उनके सहयोगसे इच्छानुसार फल प्राप्त कर लेता है ॥ २४ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि आपद्धर्मपर्वणि शाकुलोपाख्याने सप्तत्रिंशदधिकशततमोऽध्यायः ॥ १३७ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत आपद्धर्मपर्वमें शाकुलोपाख्यानविषयक एक सौ सैंतीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १३७ ॥

अष्टात्रिंशदधिकशततमोऽध्यायः

शत्रुओंसे घिरे हुए राजाके कर्त्तव्यके विषयमें बिडाल और चूहेका आख्यान

युधिष्ठिर उवाच

सर्वत्र बुद्धिः कथिता श्रेष्ठा ते भरतर्षभ ।
अनागता तथोत्पन्ना दीर्घसूत्रा विनाशिनी ॥ १ ॥

युधिष्ठिर बोले—भरतश्रेष्ठ ! आपने सर्वत्र अनागत ([illegible] आनेसे पहले ही आत्मरक्षाकी व्यवस्था करनेवाली) [illegible] (समयपर बचावका उपाय सोच लेनेवाली) [illegible] ही श्रेष्ठ बताया है और प्रत्येक कार्यमें आलस्यके कारण [illegible] करनेवाली बुद्धिको विनाशकारी बताया है ॥ १ ॥

[illegible]च्छामि परां श्रोतुं बुद्धिं ते भरतर्षभ ।
यथा राजा न मुह्येत शत्रुभिः परिवारितः ॥ २ ॥
धर्मार्थकुशलो राजा धर्मशास्त्रविशारदः ।
पृच्छामि त्वां कुरुश्रेष्ठ तन्मे व्याख्यातुमर्हसि ॥ ३ ॥

भरतभूषण ! अतः अब मैं उस श्रेष्ठ बुद्धिके विषयमें आपसे सुनना चाहता हूँ, जिसका आश्रय लेनेसे धर्म और अर्थमें कुशल तथा धर्मशास्त्रविशारद राजा शत्रुओंद्वारा घिरा रहनेपर भी मोहमें नहीं पड़ता। कुरुश्रेष्ठ ! उसी बुद्धिके विषयमें मैं आपसे प्रश्न करता हूँ; अतः आप मेरे लिये उसकी व्याख्या करें ॥ २-३ ॥

शत्रुभिर्बहुभिर्ग्रस्तो यथा वर्तेत पार्थिवः।
एतदिच्छाम्यहं श्रोतुं सर्वमेव यथाविधि॥ ४॥

बहुत-से शत्रुओंका आक्रमण हो जानेपर राजाको कैसा बर्ताव करना चाहिये? यह सब कुछ मैं विधिपूर्वक सुनना चाहता हूँ॥ ४॥

विषमस्थं हि राजानं शत्रवः परिपन्थिनः।
बहवोऽप्येकमुद्धर्तुं यतन्ते पूर्वतापिताः॥ ५॥

पहलेके सताये हुए डाकू आदि शत्रु जब राजाको संकटमें पड़ा हुआ देखते हैं, तब वे बहुत-से मिलकर उस असहाय राजाको उखाड़ फेंकनेका प्रयत्न करते हैं॥ ५॥

सर्वत्र प्रार्थ्यमानेन दुर्बलेन महाबलैः।
एकेनैवासहायेन शक्यं स्थातुं भवेत् कथम्॥ ६॥

जब अनेक महाबली शत्रु किसी दुर्बल राजाको सब ओरसे हड़प जानेके लिये तैयार हो जायँ, तब उस एकमात्र असहाय नरेशके द्वारा उस परिस्थितिका कैसे सामना किया जा सकता है?॥ ६॥

कथं मित्रमरिं चापि विन्दते भरतर्षभ।
चेष्टितव्यं कथं चात्र शत्रोर्मित्रस्य चान्तरे॥ ७॥

राजा किस प्रकार मित्र और शत्रुको अपने वशमें करता है तथा उसे शत्रु और मित्रके बीचमें रहकर कैसी चेष्टा करनी चाहिये?॥ ७॥

प्रज्ञातलक्षणे मित्रे तथैवामित्रतां गते।
कथं तु पुरुषः कुर्यात् कृत्वा किं वा सुखी भवेत्॥ ८॥

पहले लक्षणोंद्वारा जिसे मित्र समझा गया है, वही मनुष्य यदि शत्रु हो जाय, तब उसके साथ कोई पुरुष कैसा बर्ताव करे? अथवा क्या करके वह सुखी हो?॥ ८॥

विग्रहं केन वा कुर्यात् संधिं वा केन योजयेत्।
कथं वा शत्रुमध्यस्थो वर्तेत बलवानपि॥ ९॥

किसके साथ विग्रह करे? अथवा किसके साथ संधि जोड़े और बलवान् पुरुष भी यदि शत्रुओंके बीचमें मिल जाय तो उसके साथ कैसा बर्ताव करे?॥ ९॥

एतद् वै सर्वकृत्यानां परं कृत्यं परंतप।
नैतस्य कश्चिद् वक्तास्ति श्रोता वापि सुदुर्लभः॥ १०॥
ऋते शान्तनवाद् भीष्मात् सत्यसंधाज्जितेन्द्रियात्।
तदन्विष्य महाभाग सर्वमेतद् वदस्व मे॥ ११॥

परंतप पितामह! यह कार्य समस्त कार्योंमें श्रेष्ठ है। सत्यप्रतिज्ञ जितेन्द्रिय शान्तनुनन्दन भीष्मके सिवा, दूसरा कोई इस विषयको बतानेवाला नहीं है। इसको सुननेवाला भी दुर्लभ ही है। अतः महाभाग! आप उसका अनुसंधान करके यह सारा विषय मुझसे कहिये॥ १०-११॥

भीष्म उवाच

त्वद्युक्तोऽयमनुप्रश्नो युधिष्ठिर सुखोदयः।
शृणु मे पुत्र कार्त्स्न्येन गुह्यमापत्सु भारत॥ १२॥

भीष्मजीने कहा—भरतनन्दन बेटा युधिष्ठिर! तुम्हारा यह विस्तारपूर्वक पूछना बहुत ठीक है। यह सुखकी प्राप्ति करानेवाला है। आपत्तिके समय क्या करना चाहिये? यह विषय गोपनीय होनेसे सबको मालूम नहीं है। तुम यह सब रहस्य मुझसे सुनो॥ १२॥

अमित्रो मित्रतां याति मित्रं चापि प्रदुष्यति।
सामर्थ्ययोगात् कार्याणामनित्या वै सदा गतिः॥ १३॥

भिन्न-भिन्न कार्योंका ऐसा प्रभाव पड़ता है, जिसके कारण कभी शत्रु भी मित्र बन जाता है और कभी मित्रका मन भी द्वेषभावसे दूषित हो जाता है। वास्तवमें शत्रु-मित्रकी परिस्थिति सदा एक-सी नहीं रहती है॥ १३॥

तस्माद् विश्वसितव्यं च विग्रहं च समाचरेत्।
देशं कालं च विज्ञाय कार्याकार्यविनिश्चये॥ १४॥

अतः देश-कालको समझकर कर्तव्य-अकर्तव्यका निश्चय करके किसीपर विश्वास और किसीके साथ युद्ध करना चाहिये॥ १४॥

संधातव्यं बुधैर्नित्यं व्यवस्य च हितार्थिभिः।
अमित्रैरपि संधेयं प्राणा रक्ष्या हि भारत॥ १५॥

भारत! कर्तव्यका विचार करके सदा हित चाहनेवाले विद्वान् मित्रोंके साथ संधि करनी चाहिये और आवश्यकता पड़नेपर शत्रुओंसे भी संधि कर लेनी चाहिये; क्योंकि प्राणोंकी रक्षा सदा ही कर्तव्य है॥ १५॥

यो ह्यमित्रैर्नरो नित्यं न संदध्यादपण्डितः।
न सोऽर्थं प्राप्नुयात् किंचित् फलान्यपि च भारत॥ १६॥

भारत! जो मूर्ख मानव शत्रुओंके साथ कभी किसी भी दशामें संधि ही नहीं करता, वह अपने किसी भी उद्देश्यको सिद्ध नहीं कर सकता और न कोई फल ही पा सकता है॥

यस्त्वमित्रेण संदध्यान्मित्रेण च विरुद्ध्यते।
अर्थयुक्तिं समालोक्य सुमहद् विन्दते फलम्॥ १७॥

जो स्वार्थसिद्धिका अवसर देखकर शत्रुसे तो संधि कर लेता है और मित्रोंके साथ विरोध बढ़ा लेता है, वह महान् फल प्राप्त कर लेता है॥ १७॥

अत्राप्युदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम्।
मार्जारस्य च संवादं न्यग्रोधे मूषिकस्य च॥ १८॥

इस विषयमें विद्वान् पुरुष वटवृक्षके आश्रयमें रहनेवाले एक बिलाव और चूहेके संवादरूप एक प्राचीन कथानकका दृष्टान्त दिया करते हैं॥ १८॥

वने महति कस्मिंश्चिन्न्यग्रोधः सुमहानभूत्।
लताजालपरिच्छिन्नो नानाद्विजगणान्वितः॥ १९॥

किसी महान् वनमें एक विशाल बरगदका वृक्ष था, जो लतासमूहोंसे आच्छादित तथा भाँति-भाँतिके पक्षियोंसे सुशोभित था॥ १९॥

स्कन्धवान् मेघसङ्काशः शीतच्छायो मनोरमः।
अरण्यमभितो जातः स तु व्यालमृगाकुलः॥ २०॥

वह अपनी मोटी-मोटी डालियोंसे हरा-भरा होनेके

[illegible] दिखायी देता था। उसकी छाया शीतल थी। [illegible] होनेके कारण बहुत-से [illegible] भरा रहता था॥ २० ॥

तस्य मूलं समाश्रित्य कृत्वा शतमुखं बिलम्।
वसति स्म महाप्राज्ञः पलितो नाम मूषिकः॥ २१ ॥

उसी वृक्षकी जड़में सौ दरवाजोंका बिल बनाकर पलित नामक एक परम बुद्धिमान् चूहा निवास करता था। ॥ २१ ॥

शाखां तस्य समाश्रित्य वसति स्म सुखं पुरा।
लोमशो नाम मार्जारः पक्षिसंघातसादकः॥ २२ ॥

उसी वृक्षकी शाखापर पहले लोमश नामका एक बिलाव भी बड़े सुखसे रहता था। पक्षियोंका समूह ही उसका आहार था॥ २२ ॥

तत्र चागत्य चाण्डालो ह्यरण्ये कृतकेतनः।
प्रयोजयति चोन्माथं नित्यमस्तंगते रवौ॥ २३॥
तत्र स्नायुमयान् पाशान् यथावत् संविधाय सः।
गृहं गत्वा सुखं शेते प्रभातामिति शर्वरीम्॥ २४॥

उसी वनमें एक चाण्डाल भी घर बनाकर रहता था। वह प्रतिदिन सायंकाल सूर्यास्त हो जानेपर वहाँ आकर जाल फैला देता और उसकी ताँतकी डोरियोंको यथास्थान लगा घर जाकर मौजसे सोता था; फिर सवेरा होनेपर वहाँ आया करता था॥ २३-२४॥

तत्र स्म नित्यं बध्यन्ते नक्तं बहुविधा मृगाः।
कदाचिदत्र मार्जारस्त्वप्रमत्तो व्यबध्यत॥ २५॥

रातको उस जालमें प्रतिदिन नाना प्रकारके पशु फँस जाते थे (उन्हींको लेनेके लिये वह सबेरे आता था)। एक दिन अपनी असावधानीके कारण पूर्वोक्त बिलाव भी उस जालमें फँस गया॥ २५॥

तस्मिन् बद्धे महाप्राणे शत्रौ नित्याततायिनि।
तं कालं पलितो ज्ञात्वा प्रचचार सुनिर्भयः॥ २६॥

उस महान् शक्तिशाली और नित्य आततायी शत्रुके फँस जानेपर जब पलितको यह समाचार मालूम हुआ, तब वह उस समय बिलसे बाहर निकलकर सब ओर निर्भय विचरने लगा॥ २६॥

तेनानुचरता तस्मिन् वने विश्वस्तचारिणा।
भक्ष्यं मृगयमाणेन चिराद् दृष्टं तदामिषम्॥ २७॥
स तमुन्माथमारुह्य तदामिषमभक्षयत्॥ २८॥

उस वनमें विश्वस्त होकर विचरते तथा आहारकी खोज करते हुए उस चूहेने बहुत देरके बाद वह मांस देखा, जो जालपर बिखेरा गया था। चूहा उस जालपर चढ़कर उस मांसको खाने लगा॥ २७-२८॥

तस्योपरि सपत्नस्य बद्धस्य मनसा हसन्।
आमिषे तु प्रसक्तः स कदाचिदवलोकयन्॥ २९॥

जालके ऊपर मांस खानेमें लगा हुआ वह चूहा अपने शत्रुके ऊपर मन-ही-मन हँस रहा था। इतनेहीमें कभी उसकी दृष्टि दूसरी ओर घूम गयी॥ २९॥

अपश्यदपरं घोरमात्मनः शत्रुमागतम्।
शरप्रसूनसङ्काशं महीविवरशायिनम्॥ ३०॥

फिर तो उसने एक दूसरे भयंकर शत्रुको वहाँ आया हुआ देखा, जो सरकण्डेके फूलके समान भूरे रङ्गका था। वह धरतीमें विवर बनाकर उसके भीतर सोया करता था॥

नकुलं हरिणं नाम चपलं ताम्रलोचनम्।
तेन मूषिकगन्धेन त्वरमाणमुपागतम्॥ ३१॥

वह जातिका न्यौला था। उसकी आँखें ताँबेके समान दिखायी देती थीं। वह चपल नेवला हरिणके नामसे प्रसिद्ध था और उसी चूहेकी गन्ध पाकर बड़ी उतावलीके साथ वहाँ आ पहुँचा था॥ ३१॥

भक्ष्यार्थं संलिहानं तं भूमावूर्ध्वमुखं स्थितम्।
शाखागतमरिं चान्यमपश्यत् कोटरालयम्॥ ३२॥
उलूकं चन्द्रकं नाम तीक्ष्णतुण्डं क्षपाचरम्।

इधर तो वह नेवला अपना आहार ग्रहण करनेके लिये जीभ लपलपाता हुआ ऊपर मुँह किये पृथ्वीपर खड़ा था और दूसरी ओर बरगदकी शाखापर बैठा हुआ दूसरा ही शत्रु दिखायी दिया, जो वृक्षके खोखलेमें निवास करता था। वह चन्द्रक नामसे प्रसिद्ध उल्लू था। उसकी चोंच बड़ी तीखी थी। वह रातमें विचरनेवाला पक्षी था॥ ३२½॥

गतस्य विषयं तत्र नकुलोलूकयोस्तथा॥ ३३॥
अथास्यासीदियं चिन्ता तत् प्राप्य सुमहद् भयम्।

न्यौले और उल्लू-दोनोंका लक्ष्य बने हुए उस चूहेको बड़ा भय हुआ। अब उसे इस प्रकार चिन्ता होने लगी—॥)

आपद्यस्यां सुकष्टायां मरणे प्रत्युपस्थिते॥ ३४॥
समन्ताद् भय उत्पन्ने कथं कार्यं हितैषिणा।

'अहो! इस कष्टदायिनी विपत्तिमें मृत्यु निकट आकर खड़ी है। चारों ओरसे भय उत्पन्न हो गया है। ऐसी अवस्थामें अपना हित चाहनेवाले प्राणीको किस उपायका अवलम्बन करना चाहिये?' ॥ ३४½॥

स तथा सर्वतो रुद्धः सर्वत्र भयदर्शनः॥ ३५॥
अभवद् भयसंतप्तश्चक्रे च परमां मतिम्।

इस प्रकार सब ओरसे उसका मार्ग अवरुद्ध हो गया था। सर्वत्र उसे भय-ही-भय दिखायी देता था। उस भयसे वह संतप्त हो उठा। इसके बाद उसने पुनः श्रेष्ठ बुद्धिका आश्रय ले सोचना आरम्भ किया—॥ ३५½॥

आपद्विनाशभूयिष्ठं गतैः कार्यं हि जीवितम्॥ ३६॥
समन्तात् संशयात् सैषा तस्मादापदुपस्थिता।

'आपत्तिमें पड़कर विनाशके समीप पहुँचे हुए प्राणियोंको भी अपने प्राणोंकी रक्षाके लिये प्रयत्न तो करना ही चाहिये। आज सब ओरसे प्राणोंका संशय उपस्थित है; अतः यह मुझपर बड़ी भारी आपत्ति आ गयी है॥ ३६½॥

गतं मां सहसा भूमिं नकुलो भक्षयिष्यति॥ ३७॥

उलूकश्चेह तिष्ठन्तं मार्जारः पाशसंक्षयात्।

'यदि मैं पृथ्वीपर उतरकर भागता हूँ तो सहसा नेवला मुझे पकड़कर खा जायगा। यदि यहीं ठहर जाता हूँ तो उल्लू मुझे चोंचसे मार डालेगा और यदि जाल काटकर भीतर घुसता हूँ तो बिलाव जीवित नहीं छोड़ेगा ॥ ३७½ ॥

न त्वेवास्मद्विधः प्राज्ञः सम्मोहं गन्तुमर्हति ॥ ३८ ॥
करिष्ये जीविते यत्नं यावद् युक्त्या प्रतिग्रहात्।

'तथापि मुझ-जैसे बुद्धिमान्‌को घबराना नहीं चाहिये। अतः जहाँतक युक्ति काम देगी, परस्पर सहयोगका आदान-प्रदान करके मैं जीवन-रक्षाके लिये प्रयत्न करूँगा ॥ ३८½ ॥

न हि बुद्ध्यान्वितः प्राज्ञो नीतिशास्त्रविशारदः ॥ ३९ ॥
निमज्जत्यापदं प्राप्य महतीं दारुणामपि ॥ ४० ॥

'बुद्धिमान्, विद्वान् और नीतिशास्त्रमें निपुण पुरुष भारी और भयंकर विपत्तिमें पड़नेपर भी उसमें डूब नहीं जाता है—उससे छूटनेकी चेष्टा करता है ॥ ३९-४० ॥

न त्वन्यामिह मार्जाराद् गतिं पश्यामि साम्प्रतम्।
विषमस्थो ह्ययं शत्रुः कृत्यं चास्य महन्मया ॥ ४१ ॥

'मैं इस समय इस बिलावका सहारा लेनेके सिवा, अपने लिये दूसरा कोई मार्ग नहीं देखता। यद्यपि यह मेरा कट्टर शत्रु है, तथापि इस समय स्वयं ही भारी संकटमें पड़ा हुआ है। मेरेद्वारा इसका भी बड़ा भारी काम निकल सकता है ॥

जीवितार्थी कथं त्वद्य शत्रुभिः प्रार्थितस्त्रिभिः।
तस्मादेनमहं शत्रुं मार्जारं संश्रयामि वै ॥ ४२ ॥

'इधर, मैं भी जीवनकी रक्षा चाहता हूँ, तीन-तीन शत्रु मुझपर घात लगाये बैठे हैं; अतः क्यों न आज मैं अपने शत्रु इस बिलावका ही आश्रय लूँ? ॥ ४२ ॥

नीतिशास्त्रं समाश्रित्य हितमस्योपवर्णये।
येनेमं शत्रुसंघातं मतिपूर्वेण वञ्चये ॥ ४३ ॥

'आज नीतिशास्त्रका सहारा लेकर इसके हितका वर्णन करूँगा; जिससे बुद्धिके द्वारा इस शत्रुसमुदायको धोखा देकर बच जाऊँगा ॥ ४३ ॥

अयमत्यन्तशत्रुर्मे वैषम्यं परमं गतः।
मूढो ग्राहयितुं स्वार्थं सङ्गत्या यदि शक्यते ॥ ४४ ॥

'इसमें संदेह नहीं कि बिलाव मेरा महान् दुश्मन है; तथापि इस समय महान् संकटमें है। यदि सम्भव हो तो इस मूर्खको संगतिके द्वारा स्वार्थ सिद्ध करनेकी बातपर राजी करूँ॥

कदाचिद् व्यसनं प्राप्य संधिं कुर्यान्मया सह।
बलिना संनिकृष्टस्य शत्रोरपि परिग्रहः ॥ ४५ ॥
कार्य इत्याहुराचार्या विषमे जीवितार्थिना।

'हो सकता है कि विपत्तिमें पड़ा होनेके कारण यह मेरे साथ संधि कर ले। आचार्योंका कथन है कि संकट आ पड़नेपर जीवनकी रक्षा चाहनेवाले बलवान् पुरुषको भी अपने निकटवर्ती शत्रुसे मेल कर लेना चाहिये ॥ ४५½ ॥

श्रेष्ठो हि पण्डितः शत्रुर्न च मित्रमपण्डितः ॥ ४६ ॥
मम त्वमित्रे मार्जारे जीवितं सम्प्रतिष्ठितम्।

'विद्वान् शत्रु भी अच्छा होता है, किंतु मूर्ख मित्र भी अच्छा नहीं है। मेरा जीवन तो आज मेरे शत्रु बिलावके ही अधीन है॥

हन्तास्मै सम्प्रवक्ष्यामि हेतुमात्माभिरक्षणे ॥ ४७ ॥
अपीदानीमयं शत्रुः सङ्गत्या पण्डितो भवेत्।

'अच्छा, अब मैं इसे आत्मरक्षाके लिये एक युक्ति बता रहा हूँ। सम्भव है, यह शत्रु इस समय मेरी संगतिसे विद्वान् हो जाय—विवेकसे काम ले' ॥ ४७½ ॥

एवं विचिन्तयामास मूषिकः शत्रुचेष्टितम् ॥ ४८ ॥
ततोऽर्थगतितत्त्वज्ञः संधिविग्रहकालवित्।
सान्त्वपूर्वमिदं वाक्यं मार्जारं मूषिकोऽब्रवीत् ॥ ४९ ॥

इस प्रकार चूहेने शत्रुकी चेष्टापर विचार किया। वह अर्थसिद्धिके उपायको यथार्थरूपसे जाननेवाला तथा संधि और विग्रहके अवसरको समझनेवाला था। उसने बिलावको सान्त्वना देते हुए मधुर वाणीमें कहा—॥ ४८-४९ ॥

सौहृदेनाभिभाषे त्वां कच्चिन्मार्जार जीवसि।
जीवितं हि तवेच्छामि श्रेयः साधारणं हि नौ ॥ ५० ॥

'भैया बिलाव! मैं तुम्हारे प्रति मैत्रीका भाव रखकर बातचीत कर रहा हूँ। तुम अभी जीवित तो हो न? मैं चाहता हूँ कि तुम्हारा जीवन सुरक्षित रहे; क्योंकि इसमें मेरी और तुम्हारी दोनोंकी एक-सी भलाई है ॥ ५० ॥

न ते सौम्य भयं कार्यं जीविष्यसि यथासुखम्।
अहं त्वामुद्धरिष्यामि यदि मां न जिघांससि ॥ ५१ ॥

'सौम्य! तुम्हें डरना नहीं चाहिये। तुम आनन्दपूर्वक जीवित रह सकोगे। यदि मुझे मार डालनेकी इच्छा त्याग दो तो मैं इस संकटसे तुम्हारा उद्धार कर दूँगा ॥ ५१ ॥

अस्ति कश्चिदुपायोऽत्र दुष्करः प्रतिभाति मे।
येन शक्यस्त्वया मोक्षः प्राप्तुं श्रेयस्तथा मया ॥ ५२ ॥

'एक उपाय है जिससे तुम इस संकटसे छुटकारा पा सकते हो और मैं भी कल्याणका भागी हो सकता हूँ। यद्यपि वह उपाय मुझे दुष्कर प्रतीत होता है ॥ ५२ ॥

मयाप्युपायो दृष्टोऽयं विचार्य मतिमात्मनः।
आत्मार्थं च त्वदर्थं च श्रेयः साधारणं हि नौ ॥ ५३ ॥

'मैंने अपनी बुद्धिसे अच्छी तरह सोच-विचार करके अपने और तुम्हारे लिये एक उपाय ढूँढ़ निकाला है, जिससे हम दोनोंकी समानरूपसे भलाई होगी ॥ ५३ ॥

इदं हि नकुलोलूकं पापबुद्ध्याभिसंस्थितम्।
न धर्षयति मार्जार तेन मे स्वस्ति साम्प्रतम् ॥ ५४ ॥

'मार्जार! देखो, ये नेवला और उल्लू दोनों पापबुद्धिसे यहाँ ठहरे हुए हैं। मेरी ओर घात लगाये बैठे हैं। जबतक वे मुझपर आक्रमण नहीं करते, तभीतक मैं कुशलसे हूँ ॥ ५४ ॥

कूजंश्चपलनेत्रोऽयं कौशिको मां निरीक्षते।
नगशाखाग्रगः पापस्तस्याहं भृशमुद्विजे ॥ ५५ ॥

[illegible] उसने मुझे [illegible] ॥ ५५ ॥

[illegible] पण्डितः ।
[illegible] नास्ति ते भयमद्य वै ॥ ५६ ॥

[illegible] चलनेमें ही [illegible] हम और तुम तो यहाँ सदासे ही साथ रहते हैं अतः तुम मेरे विद्वान् मित्र हो। मैं इतने दिन साथ रहनेका अपना मित्रोचित धर्म अवश्य निभाऊँगा, इसलिये यहाँ तुम्हें कोई भय नहीं है ॥ ५६ ॥

न हि शक्तोऽसि मार्जार पाशं छेत्तुं मया विना ।
अहं छेत्स्यामि पाशांस्ते यदि मां त्वं न हिंससि ॥ ५७ ॥

मार्जार ! तुम मेरी सहायताके बिना अपना यह बन्धन नहीं काट सकते। यदि तुम मेरी हिंसा न करो तो मैं तुम्हारे ये सारे बन्धन काट डालूँगा ॥ ५७ ॥

त्वमाश्रितो द्रुमस्याग्रं मूलं त्वहमुपाश्रितः ।
चिरोषितावुभावावां वृक्षेऽस्मिन् विदितं च ते ॥ ५८ ॥

तुम इस पेड़के ऊपर रहते हो और मैं इसकी जड़में रहता हूँ। इस प्रकार हम दोनों चिरकालसे इस वृक्षका आश्रय लेकर रहते हैं, यह बात तो तुम्हें ज्ञात ही है ॥ ५८॥

यस्मिन्नाश्वसते कश्चिद् यश्च नाश्वसिति क्वचित् ।
न तौ धीराः प्रशंसन्ति नित्यमुद्विग्नमानसौ ॥ ५९ ॥

जिसपर कोई भरोसा नहीं करता तथा जो दूसरे किसीपर स्वयं भी भरोसा नहीं करता, उन दोनोंकी धीर पुरुष कोई प्रशंसा नहीं करते हैं; क्योंकि उनके मनमें सदा उद्वेग भरा रहता है ॥ ५९ ॥

तस्माद् विवर्धतां प्रीतिर्नित्यं संगतमस्तु नौ ।
कालातीतमिहार्थं तु न प्रशंसन्ति पण्डिताः ॥ ६० ॥

अतः हमलोगोंमें सदा प्रेम बढ़े तथा नित्य प्रति हमारी संगति बनी रहे। जब कार्यका समय बीत जाता है, उसके बाद विद्वान् पुरुष उसकी प्रशंसा नहीं करते हैं ॥ ६० ॥

अर्थयुक्तिमिमां तत्र यथाभूतां निशामय ।
तव जीवितमिच्छामि त्वं ममेच्छसि जीवितम् ॥ ६१ ॥

[illegible] ! हम दोनोंके प्रयोजनका जो यह संयोग आ बना है, उसे यथार्थरूपसे सुनो। मैं तुम्हारे जीवनकी रक्षा चाहता हूँ और तुम मेरे जीवनकी रक्षा चाहते हो ॥ ६१ ॥

कश्चित् तरति काष्ठेन सुगम्भीरां महानदीम् ।
स तारयति तत् काष्ठं स च काष्ठेन तार्यते ॥ ६२ ॥

कोई पुरुष जब लकड़ीके सहारे किसी गहरी एवं विशाल नदीको पार करता है, तब उस लकड़ीको भी किनारे लगा देता है तथा वह लकड़ी भी उसे तारनेमें सहायक होती है ॥ ६२ ॥

ईदृशो नौ समायोगो भविष्यति सुविस्तरः ।
अहं त्वां तारयिष्यामि मां च त्वं तारयिष्यसि ॥ ६३ ॥

'इसी प्रकार हम दोनोंका यह संयोग चिरस्थायी होगा। मैं तुम्हें विपत्तिसे पार कर दूँगा और तुम मुझे आपत्तिसे बचा लोगे' ॥ ६३ ॥

एवमुक्त्वा तु पलितस्तमर्थमुभयोर्हितम् ।
हेतुमद् ग्रहणीयं च कालापेक्षी न्यवेक्ष्य च ॥ ६४ ॥

इस प्रकार पलित दोनोंके लिये हितकर, युक्तियुक्त और मानने योग्य बात कहकर उत्तर मिलनेके अवसरकी प्रतीक्षा करता हुआ बिलावकी ओर देखने लगा ॥ ६४ ॥

अथ सुव्याहृतं श्रुत्वा तस्य शत्रोर्विचक्षणः ।
हेतुमद् ग्रहणीयार्थं मार्जारो वाक्यमब्रवीत् ॥ ६५ ॥

अपने उस शत्रुका यह युक्तियुक्त और मान लेने योग्य सुन्दर भाषण सुनकर बुद्धिमान् बिलाव कुछ बोलनेको उद्यत हुआ ॥ ६५ ॥

बुद्धिमान् वाक्यसम्पन्नस्तद्वाक्यमनुवर्णयन् ।
स्वामवस्थां समीक्ष्याथ साम्नैव प्रत्यपूजयत् ॥ ६६ ॥

उसकी बुद्धि अच्छी थी। वह बोलनेकी कलामें कुशल था। पहले तो उसने चूहेकी बातको मन-ही-मन दुहराया; फिर अपनी दशापर दृष्टिपात करके उसने सामनीतिसे ही उस चूहेकी भूरि-भूरि प्रशंसा की ॥ ६६ ॥

ततस्तीक्ष्णाग्रदशनो मणिवैदूर्यलोचनः ।
मूषिकं मन्दमुद्वीक्ष्य मार्जारो लोमशोऽब्रवीत् ॥ ६७ ॥

तदनन्तर जिसके आगेके दाँत बड़े तीखे थे और दोनों नेत्र नीलमके समान चमक रहे थे, उस लोमश नामक बिलावने चूहेकी ओर किञ्चिद् दृष्टिपात करके इस प्रकार कहा—॥ ६७ ॥

नन्दामि सौम्य भद्रं ते यो मां जीवितुमिच्छसि ।
श्रेयश्च यदि जानीषे क्रियतां मा विचारय ॥ ६८ ॥

'सौम्य ! मैं तुम्हारा अभिनन्दन करता हूँ। तुम्हारा कल्याण हो, जो कि तुम मुझे जीवन प्रदान करना चाहते हो। यदि हमारे कल्याणका उपाय जानते हो तो इसे अवश्य करो, कोई अन्यथा विचार मनमें न लाओ ॥ ६८ ॥

अहं हि भृशमापन्नस्त्वमापन्नतरो मम ।
द्वयोरापन्नयोः संधिः क्रियतां मा चिराय च ॥ ६९ ॥

'मैं भारी विपत्तिमें फँसा हूँ और तुम भी महान् संकटमें पड़े हुए हो। इस प्रकार आपत्तिमें पड़े हुए हम दोनोंको संधि कर लेनी चाहिये। इसमें विलम्ब न हो ॥ ६९ ॥

विधास्ये प्राप्तकालं यत् कार्यं सिद्धिकरं विभो ।
मयि कृच्छ्राद् विनिर्मुक्ते न विनङ्क्ष्यति ते कृतम् ॥ ७० ॥

'प्रभो ! समय आनेपर तुम्हारे अभीष्टकी सिद्धि करनेवाला जो भी कार्य होगा, उसे अवश्य करूँगा। इस संकटसे मेरे मुक्त हो जानेपर तुम्हारा किया हुआ उपकार नष्ट नहीं होगा। मैं इसका बदला अवश्य चुकाऊँगा ॥ ७० ॥

न्यस्तमानोऽस्मि भक्तोऽस्मि शिष्यस्त्वद्धितकृत् तथा ।
निदेशवशवर्ती च भवन्तं शरणं गतः ॥ ७१ ॥

'इस समय मेरा मान भंग हो चुका है। मैं तुम्हारा भक्त और शिष्य हो गया हूँ। तुम्हारे हितका साधन करूँगा और सदा तुम्हारी आज्ञाके अधीन रहूँगा। मैं सब प्रकारसे तुम्हारी शरणमें आ गया हूँ' ॥ ७१ ॥

इत्येवमुक्तः पलितो मार्जारं वशमागतम्।
वाक्यं हितमुवाचेदमभिनीतार्थमर्थवित् ॥ ७२ ॥

बिलावके ऐसा कहनेपर अपने प्रयोजनको समझनेवाले पलितने वशमें आये हुए उस बिलावसे यह अभिप्रायपूर्ण हितकर बात कही— ॥ ७२ ॥

उदारं यद् भवानाह नैतच्चित्रं भवद्विधे।
विहितो यस्तु मार्गो मे हितार्थं शृणु तं मम ॥ ७३ ॥

'भैया बिलाव! आपने जो उदारतापूर्ण वचन कहा है, यह आप-जैसे बुद्धिमान्के लिये आश्चर्यकी बात नहीं है। मैंने दोनोंके हितके लिये जो बात निर्धारित की है, वह मुझसे सुनो ॥ ७३ ॥

अहं त्वानुप्रवेक्ष्यामि नकुलान्मे महद् भयम्।
त्रायस्व भो मा वधीस्त्वं शक्तोऽस्मि तव रक्षणे ॥ ७४ ॥

'भैया! इस नेवलेसे मुझे बड़ा डर लग रहा है। इसलिये मैं तुम्हारे पीछे इस जालमें प्रवेश कर जाऊँगा; परंतु दादा! तुम मुझे मार न डालना, बचा लेना; क्योंकि जीवित रहनेपर ही मैं तुम्हारी रक्षा करनेमें समर्थ हूँ ॥ ७४ ॥

उलूकाच्चैव मां रक्ष क्षुद्रः प्रार्थयते हि माम्।
अहं छेत्स्यामि ते पाशान् सखे सत्येन ते शपे ॥ ७५ ॥

'इधर यह नीच उल्लू भी मेरे प्राणका ग्राहक बना हुआ है। इससे भी तुम मुझे बचा लो। सखे! मैं तुमसे सत्यकी शपथ खाकर कहता हूँ, मैं तुम्हारे बन्धन काट दूँगा' ॥ ७५ ॥

तद्वचः संगतं श्रुत्वा लोमशो युक्तमर्थवत्।
हर्षादुद्वीक्ष्य पलितं स्वागतेनाभ्यपूजयत् ॥ ७६ ॥

चूहेकी यह युक्तियुक्त, सुसंगत और अभिप्रायपूर्ण बात सुनकर लोमशने उसकी ओर हर्षभरी दृष्टिसे देखा तथा स्वागतपूर्वक उसकी भूरि-भूरि प्रशंसा की ॥ ७६ ॥

तं सम्पूज्याथ पलितं मार्जारः सौहृदे स्थितः।
स विचिन्त्याब्रवीद् धीरः प्रीतस्त्वरित एव च ॥ ७७ ॥

इस प्रकार पलितकी प्रशंसा एवं पूजा करके सौहार्दमें प्रतिष्ठित हुए धीरबुद्धि मार्जारने भलीभाँति सोच-विचारकर तुरंत ही प्रसन्नतापूर्वक कहा— ॥ ७७ ॥

शीघ्रमागच्छ भद्रं ते त्वं मे प्राणसमः सखा।
तव प्राज्ञ प्रसादाद्धि प्रायः प्राप्स्यामि जीवितम् ॥ ७८ ॥

'भैया! शीघ्र आओ! तुम्हारा कल्याण हो। तुम तो हमारे प्राणोंके समान प्रिय सखा हो। विद्वन्! इस समय मुझे प्रायः तुम्हारी ही कृपासे जीवन प्राप्त होगा ॥ ७८ ॥

यद् यदेवंगतेनाद्य शक्यं कर्तुं मया तव।
तदाज्ञापय कर्तास्मि संधिरेवास्तु नौ सखे ॥ ७९ ॥

'सखे! इस दशामें पड़े हुए मुझ सेवकके द्वारा तुम्हारा जो-जो कार्य किया जा सकता हो, उसके लिये मुझे आज्ञा दो, मैं अवश्य करूँगा। हम दोनोंमें संधि रहनी चाहिये ॥ ७९ ॥

अस्मात् तु संकटान्मुक्तः समित्रगणबान्धवः।
सर्वकार्याणि कर्ताहं प्रियाणि च हितानि च ॥ ८० ॥

'इस संकटसे मुक्त होनेपर मैं अपने सभी मित्रों और बन्धु-बान्धवोंके साथ तुम्हारे सभी प्रिय एवं हितकर कार्य करता रहूँगा ॥ ८० ॥

मुक्तश्च व्यसनादस्मात् सौम्याहमपि नाम ते।
प्रीतिमुत्पादयेयं च प्रीतिकर्तुश्च सत्क्रियाम् ॥ ८१ ॥

'सौम्य! इस विपत्तिसे छुटकारा पानेपर मैं भी तुम्हारे हृदयमें प्रीति उत्पन्न करूँगा। तुम मेरा प्रिय करनेवाले हो, अतः तुम्हारा भलीभाँति आदर-सत्कार करूँगा ॥ ८१ ॥

प्रत्युपकुर्वन् बह्वपि न भाति
पूर्वोपकारिणा तुल्यः।
एकः करोति हि कृते
निष्कारणमेव कुरुतेऽन्यः ॥ ८२ ॥

'कोई किसीके उपकारका कितना ही अधिक बदला क्यों न चुका दे, वह प्रथम उपकार करनेवालेके समान नहीं शोभा पाता है; क्योंकि एक तो किसीके उपकार करनेपर बदलेमें उसका उपकार करता है; परंतु दूसरेने बिना किसी कारणके ही उसकी भलाई की है' ॥ ८२ ॥

भीष्म उवाच

ग्राहयित्वा तु तं स्वार्थं मार्जारं मूषिकस्तथा।
प्रविवेश तु विश्रभ्य क्रोडमस्य कृतागसः ॥ ८३ ॥

भीष्मजी कहते हैं—युधिष्ठिर! इस प्रकार चूहेने बिलावसे अपने मतलबकी बात स्वीकार कराकर और स्वयं भी उसका विश्वास करके उस अपराधी शत्रुकी भी गोदमें जा बैठा ॥ ८३ ॥

एवमाश्वासितो विद्वान् मार्जारेण स मूषिकः।
मार्जारोरसि विस्रब्धः सुष्वाप पितृमातृवत् ॥ ८४ ॥

बिलावने जब उस विद्वान् चूहेको पूर्वोक्तरूपसे आश्वासन दिया, तब वह माता-पिताकी गोदके समान उस बिलावकी छातीपर निर्भय होकर सो गया ॥ ८४ ॥

लीनं तु तस्य गात्रेषु मार्जारस्य च मूषिकम्।
दृष्ट्वा तौ नकुलोलूकौ निराशौ प्रत्यपद्यताम् ॥ ८५ ॥

चूहेको बिलावके अङ्गोंमें छिपा हुआ देख नेवला और उल्लू दोनों निराश हो गये ॥ ८५ ॥

तथैव तौ सुसंत्रस्तौ दृढमागततन्द्रितौ।
दृष्ट्वा तयोः परां प्रीतिं विस्मयं परमं गतौ ॥ ८६ ॥

उन दोनोंको बड़े जोरसे औंघाई आ रही थी और वे अत्यन्त भयभीत भी हो गये थे। उस समय चूहे और बिलावका वह विशेष प्रेम देखकर नेवला और उल्लू दोनोंको बड़ा आश्चर्य हुआ ॥ ८६ ॥

बलिनौ मतिमन्तौ च सुवृत्तौ चाप्युपासितौ।
अशक्तौ तु नयात् तस्मात् सम्प्रधर्षयितुं बलात् ॥ ८७ ॥

यद्यपि वे बड़े बलवान्, बुद्धिमान्, सुन्दर बर्ताव करने-

[illegible] उस संधिको [illegible] ॥ ८७ ॥

[illegible] तौ दृष्ट्वा मार्जारमूषिकौ।
[illegible] तूर्णं जग्मतुस्तौ स्वमालयम्॥ ८८ ॥

[illegible] देखकर उल्लू और नेवला [illegible] निवासस्थानको लौट गये ॥ ८८ ॥

लीनः स तस्य गात्रेषु पलितो देशकालवित्।
चिच्छेद पाशान् नृपते कालापेक्षी शनैः शनैः ॥ ८९ ॥

राजन्! चूहा देश-कालकी गतिको अच्छी तरह जानता था; इसलिये वह बिलावके अङ्गोंमें ही छिपा रहकर चाण्डालके आनेकी प्रतीक्षा करता हुआ धीरे-धीरे जालको काटने लगा ॥ ८९ ॥

अथ बन्धपरिक्लिष्टो मार्जारो वीक्ष्य मूषिकम्।
छिन्दन्तं वै तदा पाशानत्वरन्तं त्वरान्वितः ॥ ९० ॥
तमत्वरन्तं पलितं पाशानां छेदने तथा।
संचोदयितुमारेभे मार्जारो मूषिकं तदा ॥ ९१ ॥

बिलाव उस बन्धनसे तंग आ गया था। उसने देखा, चूहा जाल तो काट रहा है; किंतु इस कार्यमें फुर्ती नहीं दिखा रहा है; तब वह उतावला होकर बन्धन काटनेमें जल्दी न करनेवाले पलित नामक चूहेको उकसाता हुआ बोला— ॥ ९०-९१ ॥

किं सौम्य नातित्वरसे किं कृतार्थोऽवमन्यसे।
छिन्धि पाशानमित्रघ्न पुरा श्वपच एति च ॥ ९२ ॥

'सौम्य! तुम जल्दी क्यों नहीं करते हो? क्या तुम्हारा काम बन गया, इसलिये मेरी अवहेलना करते हो? शत्रुसूदन! देखो, अब चाण्डाल आ रहा होगा। उसके आनेसे पहले ही मेरे बन्धनोंको काट दो' ॥ ९२ ॥

इत्युक्तस्त्वरता तेन मतिमान् पलितोऽब्रवीत्।
मार्जारमकृतप्रज्ञं पथ्यमात्महितं वचः ॥ ९३ ॥

उतावले हुए बिलावके ऐसा कहनेपर बुद्धिमान् पलितने [illegible] विचार रखनेवाले उस मार्जारसे अपने लिये हितकर और लाभदायक बात कही— ॥ ९३ ॥

तूष्णीं भव न ते सौम्य त्वरा कार्या न सम्भ्रमः।
वयमेवात्र कालज्ञा न कालः परिहास्यते ॥ ९४ ॥

'सौम्य! चुप रहो। तुम्हें जल्दी नहीं करनी चाहिये, घबराहटकी कोई आवश्यकता नहीं है। मैं समयको खूब पहचानता हूँ। ठीक अवसर आनेपर मैं कभी नहीं चूकूँगा ॥ ९४ ॥

अकाले कृत्यमारब्धं कर्तुर्नार्थाय कल्पते।
तदेव काल आरब्धं महतेऽर्थाय कल्पते ॥ ९५ ॥

बेमौके शुरू किया हुआ काम करनेवालेके लिये लाभदायक नहीं होता है और वही उपयुक्त समयपर आरम्भ किया जाय तो महान् अर्थका साधक हो जाता है ॥ ९५ ॥

अकाले विप्रमुक्तान्मे त्वत्त एव भयं भवेत्।
तस्मात् कालं प्रतीक्षस्व किमिति त्वरसे सखे ॥ ९६ ॥

'यदि असमयमें ही तुम छूट गये तो मुझे तुम्हींसे भय प्राप्त हो सकता है, इसलिये मेरे मित्र! थोड़ी देर और प्रतीक्षा करो; क्यों इतनी जल्दी मचा रहे हो? ॥ ९६ ॥

यदा पश्यामि चाण्डालमायान्तं शस्त्रपाणिनम्।
ततश्छेत्स्यामि ते पाशान् प्राप्ते साधारणे भये ॥ ९७ ॥

'जब मैं देख लूँगा कि चाण्डाल हाथमें हथियार लिये आ रहा है, तब तुम्हारे ऊपर साधारण-सा भय उपस्थित होनेपर मैं शीघ्र ही तुम्हारे बन्धन काट डालूँगा ॥ ९७ ॥

तस्मिन् काले प्रमुक्तस्त्वं तरुमेवाधिरोक्ष्यसे।
न हि ते जीवितादन्यत् किंचित् कृत्यं भविष्यति ॥ ९८ ॥

'उस समय छूटते ही तुम पहले पेड़पर ही चढ़ोगे। अपने जीवनकी रक्षाके सिवा दूसरा कोई कार्य तुम्हें आवश्यक नहीं प्रतीत होगा ॥ ९८ ॥

ततो भवत्यपक्रान्ते त्रस्ते भीते च लोमश।
अहं बिलं प्रवेक्ष्यामि भवान् शाखां भजिष्यति ॥ ९९ ॥

'लोमशजी! जब आप त्रास और भयसे आक्रान्त हो भाग खड़े होंगे, उस समय मैं बिलमें घुस जाऊँगा और आप वृक्षकी शाखापर जा बैठेंगे' ॥ ९९ ॥

एवमुक्तस्तु मार्जारो मूषिकेणात्मनो हितम्।
वचनं वाक्यतत्त्वज्ञो जीवितार्थी महामतिः ॥ १०० ॥

चूहेके ऐसा कहनेपर वाणीके मर्मको समझनेवाला और अपने जीवनकी रक्षा चाहनेवाला परम बुद्धिमान् बिलाव अपने हितकी बात बताता हुआ बोला ॥ १०० ॥

अथात्मकृत्ये त्वरितः सम्यक् प्रश्रितमाचरन्।
उवाच लोमशो वाक्यं मूषिकं चिरकारिणम् ॥ १०१ ॥

लोमशको अपना काम बनानेकी जल्दी लगी हुई थी; अतः वह भलीभाँति विनयपूर्ण बर्ताव करता हुआ विलम्ब करनेवाले चूहेसे इस प्रकार कहने लगा— ॥ १०१ ॥

न ह्येवं मित्रकार्याणि प्रीत्या कुर्वन्ति साधवः।
यथा त्वं मोक्षितः कृच्छ्रात् त्वरमाणेन वै मया ॥ १०२ ॥

'श्रेष्ठ पुरुष मित्रोंके कार्य बड़े प्रेम और प्रसन्नताके साथ किया करते हैं; तुम्हारी तरह नहीं। जैसे मैंने तुरंत ही तुम्हें संकटसे छुड़ा लिया था ॥ १०२ ॥

तथा हि त्वरमाणेन त्वया कार्यं हितं मम।
यत्नं कुरु महाप्राज्ञ यथा रक्षाऽऽवयोर्भवेत् ॥ १०३ ॥

'इसी प्रकार तुम्हें भी जल्दी ही मेरे हितका कार्य करना चाहिये। महाप्राज्ञ! तुम ऐसा प्रयत्न करो, जिससे हम दोनोंकी रक्षा हो सके ॥ १०३ ॥

अथवा पूर्ववैरं त्वं स्मरन् कालं जिहीर्षसि।
पश्य दुष्कृतकर्मंस्त्वं व्यक्तमायुःक्षयं तव ॥ १०४ ॥

'अथवा यदि पहलेके वैरका स्मरण करके तुम यहाँ व्यर्थ समय काटना चाहते हो तो पापी! देख लेना, इसका

क्या फल होगा ? निश्चय ही तुम्हारी आयु क्षीण हो चली है ॥ १०४ ॥

यदि किंचिन्मयाज्ञानात् पुरस्ताद् दुष्कृतं कृतम्।
न तन्मनसि कर्तव्यं क्षामये त्वां प्रसीद मे ॥१०५॥

'यदि मैंने अज्ञानवश पहले कभी तुम्हारा कोई अपराध किया हो तो तुम्हें उसको मनमें नहीं लाना चाहिये, मैं क्षमा माँगता हूँ। तुम मुझपर प्रसन्न हो जाओ' ॥ १०५ ॥

तमेवंवादिनं प्राज्ञः शास्त्रबुद्धिसमन्वितः।
उवाचेदं वचः श्रेष्ठं मार्जारं मूषिकस्तदा ॥१०६॥

चूहा बड़ा विद्वान् तथा नीतिशास्त्रको जाननेवाली बुद्धिसे सम्पन्न था। उसने उस समय इस प्रकार कहनेवाले बिलावसे यह उत्तम बात कही—॥ १०६ ॥

श्रुतं मे तव मार्जार स्वमर्थं परिगृह्णतः।
ममापि त्वं विजानासि स्वमर्थं परिगृह्णतः ॥१०७॥

'भैया बिलाव ! तुमने अपनी स्वार्थसिद्धिपर ही ध्यान रखकर जो कुछ कहा है, वह सब मैंने सुन लिया तथा मैंने भी अपने प्रयोजनको सामने रखते हुए जो कुछ कहा है, उसे तुम भी अच्छी तरह समझते हो ॥ १०७ ॥

यन्मित्रं भीतवत्साध्यं यन्मित्रं भयसंहितम्।
सुरक्षितव्यं तत् कार्यं पाणिः सर्पमुखादिव ॥१०८॥

'जो किसी डरे हुए प्राणीद्वारा मित्र बनाया गया हो तथा जो स्वयं भी भयभीत होकर ही उसका मित्र बना हो—इन दोनों प्रकारके मित्रोंकी ही रक्षा होनी चाहिये और जैसे बाजीगर सर्पके मुखसे हाथ बचाकर ही उसे खेलाता है, उसी प्रकार अपनी रक्षा करते हुए ही उन्हें एक दूसरेका कार्य करना चाहिये ॥ १०८ ॥

कृत्वा बलवता संधिमात्मानं यो न रक्षति।
अपथ्यमिव तद् भुक्तं तस्य नार्थाय कल्पते ॥१०९॥

'जो व्यक्ति बलवान्‌से संधि करके अपनी रक्षाका ध्यान नहीं रखता, उसका वह मेल-जोल खाये हुए अपथ्य अन्नके समान हितकर नहीं होता ॥ १०९ ॥

न कश्चित् कस्यचिन्मित्रं न कश्चित् कस्यचिद् रिपुः।
अर्थतस्तु निबद्ध्यन्ते मित्राणि रिपवस्तथा ॥११०॥
अर्थैरर्था निबद्ध्यन्ते गजैर्वनगजा इव।

'न तो कोई किसीका मित्र है और न कोई किसीका शत्रु। स्वार्थको ही लेकर मित्र और शत्रु एक दूसरेसे बँधे हुए हैं। जैसे पालतू हाथियोंद्वारा जङ्गली हाथी बाँध लिये जाते हैं, उसी प्रकार अर्थोंद्वारा ही अर्थ बँधते हैं ॥ ११०½ ॥

न च कश्चित् कृते कार्ये कर्तारं समवेक्षते ॥ १११ ॥
तस्मात् सर्वाणि कार्याणि सावशेषाणि कारयेत्।

'काम पूरा हो जानेपर कोई भी उसके करनेवालेको नहीं देखता—उसके हितपर नहीं ध्यान देता; अतः सभी कार्योंको अधूरे ही रखना चाहिये ॥ १११½ ॥

तस्मिन् कालेऽपि च भवान् दिवाकीर्तिभयार्दितः ॥११२॥
मम न ग्रहणे शक्तः पलायनपरायणः।

'जब चाण्डाल आ जायगा, उस समय तुम उसीके भयसे पीड़ित हो भागने लग जाओगे; फिर मुझे पकड़ न सकोगे ॥ ११२½ ॥

छिन्नं तु तन्तुबाहुल्यं तन्तुरेकोऽवशेषितः ॥ ११३ ॥
छेत्स्याम्यहं तमप्याशु निर्वृतो भव लोमश।

'मैंने बहुत-से तंतु काट डाले हैं, केवल एक ही डोरी बाकी रख छोड़ी है। उसे भी मैं शीघ्र ही काट डालूँगा; अतः लोमश ! तुम शान्त रहो, घबराओ न' ॥ ११३½ ॥

तयोः संवदतोरेवं तथैवापन्नयोर्द्वयोः ॥ ११४ ॥
क्षयं जगाम सा रात्रिर्लोमशं त्वाविशद् भयम्।

इस प्रकार संकटमें पड़े हुए उन दोनोंके वार्तालाप करते-करते ही वह रात बीत गयी। अब लोमशके मनमें बड़ा भारी भय समा गया ॥ ११४½ ॥

ततः प्रभातसमये विकृतः कृष्णपिङ्गलः ॥ ११५ ॥
स्थूलस्फिग् विकृतो रूक्षः श्वयूथपरिवारितः।
शंकुकर्णो महावक्त्रो मलिनो घोरदर्शनः ॥११६॥
परिघो नाम चाण्डालः शस्त्रपाणिरदृश्यत।

तदनन्तर प्रातःकाल परिघ नामक चाण्डाल हाथमें हथियार लेकर आता दिखायी दिया। उसकी आकृति बड़ी विकराल थी। शरीरका रंग काला और पीला था। उसका नितम्बभाग बहुत स्थूल था। कितने ही अङ्ग विकृत हो गये थे। वह स्वभावका रूखा जान पड़ता था। कुत्तोंसे घिरा हुआ वह मलिनवेषधारी चाण्डाल बड़ा भयंकर दिखायी दे रहा था, उसका मुँह विशाल था और कान दीवारमें गड़ी हुई खूँटियोंके समान जान पड़ते थे ॥ ११५-११६½ ॥

तं दृष्ट्वा यमदूताभं मार्जारस्त्रस्तचेतनः ॥११७॥
उवाच वचनं भीतः किमिदानीं करिष्यसि।

यमदूतके समान चाण्डालको आते देख बिलावका चित्त भयसे व्याकुल हो गया। उसने डरते-डरते यही कहा—'भैया चूहा ! अब क्या करोगे ?' ॥ ११७½ ॥

अथ तावपि संत्रस्तौ तं दृष्ट्वा घोरसंकुलम् ॥११८॥
क्षणेन नकुलोलूकौ नैराश्यमुपजग्मतुः।

एक ओर वे दोनों भयभीत थे। दूसरी ओर भयानक प्राणियोंसे घिरा हुआ चाण्डाल आ रहा था। उन सबको देखकर नेवला और उल्लू क्षणभरमें ही निराश हो गये ॥ ११८½ ॥

बलिनौ मतिमन्तौ च संघाते चाप्युपागतौ ॥११९॥
अशक्तौ सुनयात् तस्मात् सम्प्रधर्षयितुं बलात्।

वे दोनों बलवान् और बुद्धिमान् तो थे ही। चूहेके घातमें पासहीमें बैठे हुए थे; परंतु अच्छी नीतिसे संगठित हो जानेके कारण चूहे और बिलावपर वे बलपूर्वक आक्रमण न कर सके ॥ ११९½ ॥

कार्यार्थे कृतसंधानौ दृष्ट्वा मार्जारमूषिकौ ॥१२०॥
उलूकनकुलौ तत्र जग्मतुः स्वं स्वमालयम्।

चूहे और बिल्लीको कार्यवश संधिसूत्रमें बँधे देख उल्लू

[illegible] ॥१२०½॥

[illegible] पाशे मार्जारस्य च मूषिकः ॥१२१॥
[illegible] मार्जारस्तेनैवाभ्यपतद् द्रुमम् ।
स तस्मात् [illegible]मावर्तान्मुक्तो घोरेण शत्रुणा ॥१२२॥
[illegible] पलितः शाखां लेभे स लोमशः ।

[illegible] चूहेने बिलावका बन्धन काट दिया । जालसे छूटते ही बिलाव उसी पेड़पर चढ़ गया । उस घोर शत्रु तथा [illegible] छुटकारा पाकर पलित अपने बिलमें घुस गया और लोमश वृक्षकी शाखापर जा बैठा । १२१-१२२½ ।

[illegible] चाण्डालो वीक्ष्य सर्वशः ॥१२३॥
[illegible] क्षणेनास्ते तस्माद् देशादपाक्रमत् ।
जगाम स स्वभवनं चाण्डालो भरतर्षभ ॥१२४॥

[illegible] ! चाण्डालने उस जालको लेकर उसे सब ओरसे [illegible] देखा और निराश होकर क्षणभरमें उस स्थानसे [illegible] और अन्तमें अपने घरको चला गया ॥ १२३-१२४॥

[illegible] भयान्मुक्तो दुर्लभं प्राप्य जीवितम् ।
बिलस्थं पादपाग्रस्थः पलितं लोमशोऽब्रवीत् ॥१२५॥

उस भारी भयसे मुक्त हो दुर्लभ जीवन पाकर वृक्षकी शाखापर बैठे हुए लोमशने बिलके भीतर बैठे हुए चूहेसे कहा —॥ १२५ ॥

अकृत्वा संविदं काञ्चित् सहसा समवप्लुतः ।
कृतज्ञं कृतकर्माणं कच्चिन्मां नाभिशंकसे ॥१२६॥

'भैया ! तुम मुझसे कोई बातचीत किये बिना ही इस प्रकार सहसा बिलमें क्यों घुस गये ? मैं तो तुम्हारा बड़ा ही कृतज्ञ हूँ । मैंने तुम्हारे प्राणोंकी रक्षा करके तुम्हारा भी बड़ा भारी काम किया है । तुम्हें मेरी ओरसे कुछ शङ्का तो नहीं है ?॥

गत्वा च मम विश्वासं दत्त्वा च मम जीवितम् ।
मित्रोपभोगसमये किं मां त्वं नोपसर्पसि ॥१२७॥

'मित्र ! तुमने विपत्तिके समय मेरा विश्वास किया और मुझे जीवनदान दिया । अब तो मैत्रीके सुखका उपभोग करनेका समय है, ऐसे समय तुम मेरे पास क्यों नहीं आते हो ? ॥ १२७ ॥

कृत्वा हि पूर्वं मित्राणि यः पश्चान्नानुतिष्ठति ।
न स मित्राणि लभते कृच्छ्रास्वापत्सु दुर्मतिः ॥१२८॥

'जो खोटी बुद्धिवाला मनुष्य पहले बहुत-से मित्र बनाकर पीछे उस मित्रभावमें स्थिर नहीं रहता है, वह कष्टदायिनी विपत्तिमें पड़नेपर उन मित्रोंको नहीं पाता है अर्थात् उनसे उसको सहायता नहीं मिलती ॥ १२८ ॥

सत्कृतोऽहं त्वया मित्र सामर्थ्यादात्मनः सखे ।
स मां मित्रत्वमापन्नमुपभोक्तुं त्वमर्हसि ॥१२९॥

'सखे ! मित्र ! तुमने अपनी शक्तिके अनुसार मेरा पूरा सत्कार किया है और मैं भी तुम्हारा मित्र हो गया हूँ; अतः [illegible] रहकर इस मित्रताका सुख भोगना चाहिये॥१२९॥

यानि मे सन्ति मित्राणि ये च सम्बन्धिबान्धवाः ।
सर्वे त्वां पूजयिष्यन्ति शिष्या गुरुमिव प्रियम् ॥१३०॥

'मेरे जो भी मित्र, सम्बन्धी और बन्धु-बान्धव हैं, वे सब तुम्हारी उसी प्रकार सेवा-पूजा करेंगे, जैसे शिष्य अपने श्रद्धेय गुरुकी करते हैं ॥ १३० ॥

अहं च पूजयिष्ये त्वां समित्रगणबान्धवम् ।
जीवितस्य प्रदातारं कृतज्ञः को न पूजयेत् ॥१३१॥

'मैं भी मित्रों और बन्धु-बान्धवोंसहित तुम्हारा सदा ही आदर-सत्कार करूँगा । संसारमें ऐसा कौन पुरुष होगा, जो अपने जीवनदाताकी पूजा न करे ? ॥ १३१ ॥

ईश्वरो मे भवानस्तु स्वशरीरगृहस्य च ।
अर्थानां चैव सर्वेषामनुशास्ता च मे भव ॥१३२॥

'तुम मेरे शरीरके और मेरे घरके भी स्वामी हो जाओ । मेरी जो कुछ भी सम्पत्ति है, वह सारीकी सारी तुम्हारी है । तुम उसके शासक और व्यवस्थापक बनो ॥ १३२ ॥

अमात्यो मे भव प्राज्ञ पितेवेह प्रशाधि माम् ।
न तेऽस्ति भयमस्मत्तो जीवितेनात्मनः शपे ॥१३३॥

'विद्वन् ! तुम मेरे मन्त्री हो जाओ और पिताकी भाँति मुझे कर्तव्यका उपदेश दो । मैं अपने जीवनकी शपथ खाकर कहता हूँ कि तुम्हें हमलोगोंकी ओरसे कोई भय नहीं है ॥ १३३॥

बुद्ध्या त्वमुशना साक्षाद् बलेनाधिकृता वयम् ।
त्वं मन्त्रबलयुक्तो हि दत्त्वा जीवितमद्य मे ॥१३४॥

'तुम साक्षात् शुक्राचार्यके समान बुद्धिमान् हो । तुममें मन्त्रणाका बल है । आज तुमने मुझे जीवनदान देकर अपने मन्त्रणाबलसे हम सब लोगोंके हृदयपर अधिकार प्राप्त कर लिया है' ॥ १३४ ॥

एवमुक्तः परां शान्तिं मार्जारेण स मूषिकः ।
उवाच परमन्त्रज्ञः श्लक्ष्णमात्महितं वचः ॥१३५॥

बिलावकी ऐसी परम शान्तिपूर्ण बातें सुनकर उत्तम मन्त्रणाके ज्ञाता चूहेने मधुर वाणीमें अपने लिये हितकर वचन कहा—॥ १३५ ॥

यद् भवानाह तत् सर्वं मया ते लोमश श्रुतम् ।
ममापि तावद् ब्रुवतः शृणु यत् प्रतिभाति मे ॥ १३६॥

'लोमश ! तुमने जो कुछ कहा है, वह सब मैंने ध्यान देकर सुना । अब मेरी बुद्धिमें जो विचार स्फुरित हो रहा है उसे बतलाता हूँ, अतः मेरे इस कथनको भी सुन लो ॥१३६॥

वेदितव्यानि मित्राणि विज्ञेयाश्चापि शत्रवः ।
एतत् सुसूक्ष्मं लोकेऽस्मिन् दृश्यते प्राज्ञसम्मतम् ॥१३७॥

'मित्रोंको जानना चाहिये, शत्रुओंको भी अच्छी तरह समझ लेना चाहिये—इस जगत्में मित्र और शत्रुकी यह पहचान अत्यन्त सूक्ष्म तथा विज्ञजनोंको अभिमत है ॥ १३७ ॥

शत्रुरूपा हि सुहृदो मित्ररूपाश्च शत्रवः ।
संधितास्ते न बुद्ध्यन्ते कामक्रोधवशं गताः ॥१३८॥

'अवसर आनेपर कितने ही मित्र शत्रुरूप हो जाते हैं और कितने ही शत्रु मित्र बन जाते हैं । परस्पर संधि कर

चूहेकी सहायताके फलस्वरूप चाण्डालके जालसे विलावकी मुक्ति

लेनेके पश्चात् जब वे काम और क्रोधके अधीन हो जाते हैं, तब यह समझना असम्भव हो जाता है कि वे मित्रभावसे युक्त हैं या शत्रुभावसे ? ॥ १३८ ॥

नास्ति जातु रिपुर्नाम मित्रं नाम न विद्यते ।
सामर्थ्ययोगाज्जायन्ते मित्राणि रिपवस्तथा ॥१३९॥

'न कभी कोई शत्रु होता है और न मित्र होता है । आवश्यक शक्तिके सम्बन्धसे लोग एक दूसरेके मित्र और शत्रु हुआ करते हैं ॥ १३९ ॥

यो यस्मिन् जीवति स्वार्थं पश्येत् पीडां न जीवति ।
स तस्य मित्रं तावत् स्याद् यावन्न स्याद् विपर्ययः ॥१४०॥

'जो जिसके जीते-जी अपना स्वार्थ सधता देखता है और जिसके मर जानेपर अपनी हानि मानता है, वह तबतक उसका मित्र बना रहता है, जबतक कि इस स्थितिमें कोई उलट-फेर नहीं होता ॥ १४० ॥

नास्ति मैत्री स्थिरा नाम न च ध्रुवमसौहृदम् ।
अर्थयुक्त्यानुजायन्ते मित्राणि रिपवस्तथा ॥१४१॥

'मैत्री कोई स्थिर वस्तु नहीं है और शत्रुता भी सदा स्थिर रहनेवाली चीज नहीं है । स्वार्थके सम्बन्धसे मित्र और शत्रु होते रहते हैं ॥ १४१ ॥

मित्रं च शत्रुतामेति कस्मिंश्चित् कालपर्यये ।
शत्रुश्च मित्रतामेति स्वार्थो हि बलवत्तरः ॥१४२॥

'कभी-कभी समयके फेरसे मित्र शत्रु बन जाता है और शत्रु भी मित्र हो जाता है; क्योंकि स्वार्थ बड़ा बलवान् होता है ॥ १४२ ॥

यो विश्वसिति मित्रेषु न विश्वसिति शत्रुषु ।
अर्थयुक्तिमविज्ञाय यः प्रीतौ कुरुते मनः ॥१४३॥
मित्रे वा यदि वा शत्रौ तस्यापि चलिता मतिः ।

'जो मनुष्य स्वार्थके सम्बन्धका विचार किये बिना ही मित्रोंपर केवल विश्वास और शत्रुओंपर केवल अविश्वास करता जाता है तथा जो शत्रु हो या मित्र, जो सबके प्रति प्रेमभाव ही स्थापित करने लगता है, उसकी बुद्धि भी चञ्चल ही समझनी चाहिये ॥ १४३½ ॥

न विश्वसेदविश्वस्ते विश्वस्ते नातिविश्वसेत् ॥१४४॥
विश्वासाद् भयमुत्पन्नमपि मूलानि कृन्तति ।

'जो विश्वासपात्र न हो, उसपर कभी विश्वास न करे और जो विश्वासपात्र हो, उसपर भी अधिक विश्वास न करे; क्योंकि विश्वाससे उत्पन्न हुआ भय मनुष्यका मूलोच्छेद कर डालता है ॥ १४४½ ॥

अर्थयुक्त्या हि जायन्ते पिता माता सुतस्तथा ॥१४५॥
मातुला भागिनेयाश्च तथा सम्बन्धिबान्धवाः ।

'माता-पिता, पुत्र, मामा, भांजे, सम्बन्धी तथा बन्धु-बान्धव—इन सबमें स्वार्थके सम्बन्धसे ही स्नेह होता है ॥ १४५½ ॥

पुत्रं हि मातापितरौ त्यजतः पतितं प्रियम् ॥१४६॥
लोको रक्षति चात्मानं पश्य स्वार्थस्य सारताम् ।

'अपना प्यारा पुत्र भी यदि पतित हो जाता है तो माँ-बाप उसे त्याग देते हैं और सब लोग सदा अपनी ही रक्षा करना चाहते हैं । अतः देख लो, इस जगत्में स्वार्थ ही सार है ॥ १४६½ ॥

सामान्या निष्कृतिः प्राज्ञ यो मोक्षात् प्रत्यनन्तरम् ॥१४७
कृते मृगयसे शत्रुं सुखोपायमसंशयम् ।

'बुद्धिमान् लोमश ! जो तुम आज जालके बन्धनसे छूटनेके बाद ही कृतज्ञतावश मुझ अपने शत्रुको सुख पहुँचानेका असंदिग्ध उपाय ढूँढ़ने लगे हो, इसका क्या कारण है ? जहाँ-तक उपकारका बदला चुकानेका प्रश्न है, वहाँतक तो हमारी-तुम्हारी समान स्थिति है । यदि मैंने तुम्हें संकटसे छुड़ाया है, तो तुमने भी तो मुझे वैसी ही विपत्तिसे बचाया है; फिर मैं तो कुछ करता नहीं, तुम्हीं क्यों उपकारका बदला देनेके लिये उतावले हो उठे हो ? ॥ १४७½ ॥

अस्मिन् निलय एव त्वं न्यग्रोधादवतारितः ॥१४८॥
पूर्वं निविष्टमुन्माथं चपलत्वान्न बुद्धवान् ।

'तुम इसी स्थानपर बरगदसे उतरे थे और पहलेसे ही यहाँ जाल बिछा हुआ था; परंतु तुमने चपलताके कारण उधर ध्यान नहीं दिया और फँस गये ॥ १४८½ ॥

आत्मनश्चपलो नास्ति कुतोऽन्येषां भविष्यति ॥१४९॥
तस्मात् सर्वाणि कार्याणि चपलो हन्त्यसंशयम् ।

'चपल प्राणी जब अपने ही लिये कल्याणकारी नहीं होता तो वह दूसरेकी भलाई क्या करेगा ? अतः यह निश्चित है कि चपल पुरुष सब काम चौपट कर देता है ॥ १४९½ ॥

ब्रवीषि मधुरं यच्च प्रियो मेऽद्य भवानिति ॥१५०॥
तन्मित्र कारणं सर्वं विस्तरेणापि मे शृणु ।
कारणात् प्रियतामेति द्वेष्यो भवति कारणात् ॥१५१॥

'इसके सिवा तुम जो यह मीठी-मीठी बात कह रहे हो कि 'आज तुम मुझे बड़े प्रिय लगते हो' इसका भी कारण है, मेरे मित्र ! वह सब मैं विस्तारके साथ बताता हूँ, सुनो । मनुष्य कारणसे ही प्रेमपात्र और कारणसे ही द्वेषका पात्र बनता है ॥ १५०-१५१ ॥

अर्थार्थी जीवलोकोऽयं न कश्चित् कस्यचित् प्रियः ।
सख्यं सोदर्ययोर्भ्रात्रोर्दम्पत्योर्वा परस्परम् ॥१५२॥
कस्यचिन्नाभिजानामि प्रीतिं निष्कारणामिह ।

'यह जीव-जगत् स्वार्थका ही साथी है । कोई किसीका प्रिय नहीं है । दो सगे भाइयों तथा पति और पत्नीमें भी जो परस्पर प्रेम होता है, वह भी स्वार्थवश ही है । इस जगत्में किसीके भी प्रेमको मैं निष्कारण (स्वार्थरहित) नहीं समझता ॥ १५२½ ॥

यद्यपि भ्रातरः क्रुद्धा भार्या वा कारणान्तरे ॥१५३॥
स्वभावतस्ते प्रीयन्ते नेतरः प्रीयते जनः ।

'कभी-कभी किसी स्वार्थको लेकर भाई भी कुपित हो जाते हैं अथवा पत्नी भी रूठ जाती है । यद्यपि वे स्वभावतः एक

[illegible] हैं। ऐसा प्रेम दूसरे लोग [illegible]

[illegible] भयेन मित्रवादेन नापरः ॥१५४॥
[illegible] स्वार्थे प्रीयते जनः।

[illegible] मित्र होता है, कोई प्रियवचन बोलनेसे [illegible] कोई कार्यसिद्धिके लिये मन्त्र, होम [illegible] प्रेमका भाजन बन जाता है ॥ १५४½ ॥

[illegible] कारणे प्रीतिस्तावत् कारणान्तरे ॥१५५॥
प्रध्वस्ते कारणस्थाने सा प्रीतिर्विनिवर्तते।

[illegible] (स्वार्थ) को लेकर उत्पन्न होनेवाली [illegible] वह कारण रहता है, तबतक बनी रहती है। उस [illegible] नष्ट हो जानेपर उसको लेकर की हुई प्रीति [illegible] निवृत्त हो जाती है ॥ १५५½ ॥

किं नु तत् कारणं मन्ये येनाहं भवतः प्रियः ॥१५६॥
अन्यत्राभ्यवहारार्थं तत्रापि च बुधा वयम्।

[illegible] मेरे शरीरको खा जानेके सिवा दूसरा कौन-सा ऐसा [illegible] रह गया है, जिससे मैं यह मान लूँ कि वास्तवमें तुम्हारा मुझपर प्रेम है। इस समय जो तुम्हारा स्वार्थ है, उसे मैं अच्छी तरह समझता हूँ ॥१५६½ ॥

कालो हेतुं विकुरुते स्वार्थस्तमनुवर्तते ॥१५७॥
स्वार्थं प्राज्ञोऽभिजानाति प्राज्ञं लोकोऽनुवर्तते।
न त्वीदृशं त्वया वाच्यं विदुषि स्वार्थपण्डिते ॥१५८॥

'समय कारणके स्वरूपको बदल देता है; और स्वार्थ उस [illegible] अनुसरण करता रहता है। विद्वान् पुरुष उस स्वार्थको समझता है और साधारण लोग विद्वान् पुरुषके ही पीछे चलते हैं। तात्पर्य यह है कि मैं विद्वान् हूँ; इसलिये तुम्हारे स्वार्थको अच्छी तरह समझता हूँ; अतः तुम्हें मुझसे ऐसी बात नहीं कहनी चाहिये ॥ १५७-१५८ ॥

अकाले हि समर्थस्य स्नेहहेतुरयं तव।
तस्मान्नाहं चले स्वार्थात् सुस्थिरः संधिविग्रहे ॥१५९॥

'तुम शक्तिशाली हो तो भी जो बेसमय मुझपर इतना स्नेह दिखा रहे हो, इसका यह स्वार्थ ही कारण है; अतः मैं भी अपने स्वार्थसे विचलित नहीं हो सकता। संधि और विग्रहके विषयमें मेरा विचार सुनिश्चित है ॥१५९॥

[illegible]णामिव रूपाणि विकुर्वन्ति क्षणे क्षणे।
[illegible] हि रिपुर्भूत्वा पुनरद्यैव मे सुहृत् ॥१६०॥
पुनश्च रिपुरद्यैव युक्तानां पश्य चापलम्।

'मित्रता और शत्रुताके रूप तो बादलोंके समान क्षण-क्षणमें बदलते रहते हैं। आज ही तुम मेरे शत्रु होकर फिर आज ही मेरे मित्र हो सकते हो और उसके बाद आज ही पुनः शत्रु भी बन सकते हो। देखो, यह स्वार्थका सम्बन्ध [illegible] है ॥ १६०½ ॥

आसीन्मैत्री तु तावन्नौ यावद्धेतुरभूत् पुरा ॥१६१॥
सा गता सह तेनैव कालयुक्तेन हेतुना।

[illegible] उपयुक्त कारण था, तब हम दोनोंमें मैत्री हो गयी थी; किंतु कालने जिसे उपस्थित कर दिया था उस कारणके निवृत्त होनेके साथ ही वह मैत्री भी चली गयी ॥

त्वं हि मे जातितः शत्रुः सामर्थ्यान्मित्रतां गतः ॥१६२॥
तत् कृत्यमभिनिर्वर्त्य प्रकृतिः शत्रुतां गता।

'तुम जातिसे ही मेरे शत्रु हो; किंतु विशेष प्रयोजनसे मित्र बन गये थे। वह प्रयोजन सिद्ध कर लेनेके पश्चात् तुम्हारी प्रकृति फिर सहज शत्रुभावको प्राप्त हो गयी ॥ १६२½ ॥

सोऽहमेवं प्रणीतानि ज्ञात्वा शास्त्राणि तत्त्वतः ॥१६३॥
प्रविशेयं कथं पाशं त्वत्कृते तद् वदस्व मे।

'मैं इस प्रकार शुक्र आदि आचार्योंके बनाये हुए नीति-शास्त्रकी बातोंको ठीक-ठीक जानकर भी तुम्हारे लिये उस जालके भीतर कैसे प्रवेश कर सकता था ? यह तुम्हीं मुझे बताओ ॥ १६३½ ॥

त्वद्वीर्येण प्रमुक्तोऽहं मद्वीर्येण तथा भवान् ॥१६४॥
अन्योन्यानुग्रहे वृत्ते नास्ति भूयः समागमः।

'तुम्हारे पराक्रमसे मैं प्राण-संकटसे मुक्त हुआ और मेरी शक्तिसे तुम। जब एक दूसरेपर अनुग्रह करनेका काम पूरा हो गया, तब फिर हमें परस्पर मिलनेकी आवश्यकता नहीं ॥

त्वं हि सौम्य कृतार्थोऽद्य निर्वृत्तार्थास्तथा वयम् ॥१६५॥
न तेऽस्त्यद्य मया कृत्यं किंचिदन्यत्र भक्षणात्।

'सौम्य ! अब तुम्हारा काम बन गया और मेरा प्रयोजन भी सिद्ध हो गया; अतः अब मुझे खा लेनेके सिवा मेरेद्वारा तुम्हारा दूसरा कोई प्रयोजन सिद्ध होनेवाला नहीं है ॥१६५½॥

अहमन्नं भवान् भोक्ता दुर्बलोऽहं भवान् बली ॥१६६॥
नावयोर्विद्यते संधिर्वियुक्ते विषमे बले।

'मैं अन्न हूँ और तुम मुझे खानेवाले हो। मैं दुर्बल हूँ और तुम बलवान् हो। इस प्रकार मेरे और तुम्हारे बलमें कोई समानता नहीं है। दोनोंमें बहुत अन्तर है। अतः हम दोनोंमें संधि नहीं हो सकती ॥ १६६½ ॥

स मन्येऽहं तव प्रज्ञां यन्मोक्षात् प्रत्यनन्तरम् ॥१६७॥
भक्ष्यं मृगयसे नूनं सुखोपायेन कर्मणा।

'मैं तुम्हारा विचार जान गया हूँ, निश्चय ही तुम जालसे छूटनेके बादसे ही सहज उपाय तथा प्रयत्नद्वारा आहार ढूँढ़ रहे हो ॥ १६७½ ॥

भक्ष्यार्थं ह्यवबद्धस्त्वं स मुक्तः पीडितः क्षुधा ॥१६८॥
शास्त्रजां मतिमास्थाय नूनं भक्षयिताद्य माम्।
जानामि क्षुधितं तु त्वामाहारसमयश्च ते ॥१६९॥
स त्वं मामभिसंधाय भक्ष्यं मृगयसे पुनः।

'आहारकी खोजके लिये ही निकलनेपर तुम इस जालमें फँसे थे और अब इससे छूटकर भूखसे पीड़ित हो रहे हो। निश्चय ही शास्त्रीय बुद्धिका सहारा लेकर अब तुम मुझे खा जाओगे। मैं जानता हूँ कि तुम भूखे हो और यह तुम्हारे भोजनका समय है; अतः तुम पुनः मुझसे संधि करके अपने

लिये भोजनकी तलाश करते हो ॥ १६८-१६९½ ॥

त्वं चापि पुत्रदारस्थो यत् संधिं सृजसे मयि ॥१७०॥
शुश्रूषां यतसे कर्तुं सखे मम न तत् क्षमम् ।

'सखे ! तुम जो बाल-बच्चोंके बीचमें बैठकर मुझपर संधि-का भाव दिखा रहे हो तथा मेरी सेवा करनेका यत्न करते हो, वह सब मेरे योग्य नहीं है ॥ १७०½ ॥

त्वया मां सहितं दृष्ट्वा प्रिया भार्या सुताश्च ते ॥१७१॥
कस्मात् ते मां न खादेयुर्हृष्टाः प्रणयिनस्त्वयि ।

'तुम्हारे साथ मुझे देखकर तुम्हारी प्यारी पत्नी और पुत्र जो तुमसे बड़ा प्रेम रखते हैं, हर्षसे उल्लसित हो मुझे कैसे नहीं खा जायँगे ? ॥ १७१½ ॥

नाहं त्वया समेष्यामि वृत्तो हेतुः समागमे ॥१७२॥
शिवं ध्यायस्व मे स्वस्थः सुकृतं स्मरसे यदि ।

'अब मैं तुमसे नहीं मिलूँगा । हम दोनोंके मिलनका जो उद्देश्य था, वह पूरा हो गया । यदि तुम्हें मेरे शुभ कर्म (उपकार) का स्मरण है तो स्वयं स्वस्थ रहकर मेरे भी कल्याणका चिन्तन करो ॥ १७२½ ॥

शत्रोरनार्यभूतस्य क्लिष्टस्य क्षुधितस्य च ॥१७३॥
भक्ष्यं मृगयमाणस्य कः प्राज्ञो विषयं व्रजेत् ।

'जो अपना शत्रु हो, दुष्ट हो, कष्टमें पड़ा हुआ हो, भूखा हो और अपने लिये भोजनकी तलाश कर रहा हो, उसके सामने कोई भी बुद्धिमान् (जो उसका भोज्य है) कैसे जा सकता है ? ॥ १७३½ ॥

स्वस्ति तेऽस्तु गमिष्यामि दूरादपि तवोद्विजे ॥१७४॥
विश्वस्तं वा प्रमत्तं वा एतदेव कृतं भवेत् ।
बलवत्संनिकर्षो हि न कदाचित् प्रशस्यते ॥१७५॥

'तुम्हारा कल्याण हो । अब मैं चला जाऊँगा । मुझे दूरसे भी तुमसे डर लगता है । मेरा यह पलायन विश्वासपूर्वक हो रहा हो या प्रमादके कारण; इस समय यही मेरा कर्तव्य है । बलवानोंके निकट रहना दुर्बल प्राणीके लिये कभी अच्छा नहीं माना जाता ॥ १७४-१७५ ॥

नाहं त्वया समेष्यामि निवृत्तो भव लोमश ।
यदि त्वं सुकृतं वेत्सि तत् सख्यमनुसारय ॥१७६॥

'लोमश ! अब मैं तुमसे कभी नहीं मिलूँगा । तुम लौट जाओ । यदि तुम समझते हो कि मैंने तुम्हारा कोई उपकार किया है तो तुम मेरे प्रति सदा मैत्रीभाव बनाये रखना ॥१७६॥

प्रशान्तादपि मे पापाद् भेतव्यं बलिनः सदा ।
यदि स्वार्थं न ते कार्यं ब्रूहि किं करवाणि ते ॥१७७॥

'जो बलवान् और पापी हो, वह शान्तभावसे रहता हो तो भी मुझे सदा उससे डरना चाहिये । यदि तुम्हें मुझसे कोई स्वार्थ सिद्ध नहीं करना है तो बताओ मैं तुम्हारा (इसके अतिरिक्त) कौन-सा कार्य करूँ ? ॥ १७७ ॥

कामं सर्वं प्रदास्यामि न त्वाऽऽत्मानं कदाचन ।
आत्मार्थे संततिस्त्याज्या राज्यं रत्नं धनानि च ॥१७८॥
अपि सर्वस्वमुत्सृज्य रक्षेदात्मानमात्मना ।

'मैं तुम्हें इच्छानुसार सब कुछ दे सकता हूँ; परंतु अपने आपको कभी नहीं दूँगा । अपनी रक्षा करनेके लिये तो संतति, राज्य, रत्न और धन—सबका त्याग किया जा सकता है । अपना सर्वस्व त्यागकर भी स्वयं ही अपनी रक्षा करनी चाहिये ॥

ऐश्वर्यधनरत्नानां प्रत्यमित्रे निवर्तताम् ॥१७९॥
दृष्टा हि पुनरावृत्तिर्जीवतामिति नः श्रुतम् ।

'हमने सुना है कि यदि प्राणी जीवित रहे तो वह शत्रुओं-द्वारा अपने अधिकारमें किये हुए ऐश्वर्य, धन और रत्नोंको पुनः वापस ला सकता है । यह बात प्रत्यक्ष देखी भी गयी है ॥

न त्वात्मनः सम्प्रदानं धनरत्नवदिष्यते ॥१८०॥
आत्मा हि सर्वदा रक्ष्यो दारैरपि धनैरपि ।

'धन और रत्नोंकी भाँति अपने आपको शत्रुके हाथमें दे देना अभीष्ट नहीं है । धन और स्त्रीके द्वारा अर्थात् उनका त्याग करके भी सर्वदा अपनी रक्षा करनी चाहिये ॥ १८०½ ॥

आत्मरक्षणतन्त्राणां सुपरीक्षितकारिणाम् ॥१८१॥
आपदो नोपपद्यन्ते पुरुषाणां स्वदोषजाः ।

'जो आत्मरक्षामें तत्पर हैं और भलीभाँति परीक्षापूर्वक निर्णय करके काम करते हैं, ऐसे पुरुषोंको अपने ही दोषसे उत्पन्न होनेवाली आपत्तियाँ नहीं प्राप्त होती हैं ॥ १८१½ ॥

शत्रून् सम्यग् विजानन्ति दुर्बला ये बलीयसः ॥१८२॥
न तेषां चाल्यते बुद्धिः शास्त्रार्थकृतनिश्चया ।

'जो दुर्बल प्राणी अपने बलवान् शत्रुओंको अच्छी तरह जानते हैं, उनकी शास्त्रके अर्थज्ञानद्वारा स्थिर हुई बुद्धि कभी विचलित नहीं होती' ॥ १८२½ ॥

इत्यभिव्यक्तमेवं स पलितेनाभिभर्त्सितः ॥१८३॥
मार्जारो व्रीडितो भूत्वा मूषिकं वाक्यमब्रवीत् ॥१८४॥

पलितने जब इस प्रकार स्पष्टरूपसे कड़ी फटकार सुनायी, तब बिलावने लज्जित होकर पुनः उस चूहेसे इस प्रकार कहा ॥

लोमश उवाच

सत्यं शपे त्वयाहं वै मित्रद्रोहो विगर्हितः ।
तन्मन्येऽहं तव प्रज्ञां यस्त्वं मम हिते रतः ॥१८५॥

लोमश बोला—भाई ! मैं तुमसे सत्यकी शपथ खाकर कहता हूँ, मित्रसे द्रोह करना तो बड़ी घृणित बात है । तुम जो सदा मेरे हितमें तत्पर रहते हो, इसे मैं तुम्हारी उत्तम बुद्धिका ही परिणाम समझता हूँ ॥ १८५ ॥

उक्तवानर्थतत्त्वेन मयासम्भिन्नदर्शनः ।
न तु मामन्यथा साधो त्वं ग्रहीतुमिहार्हसि ॥१८६॥

श्रेष्ठ पुरुष ! तुमने तो यथार्थरूपसे नीति-शास्त्रका सार ही बता दिया । मुझसे तुम्हारा विचार पूरा-पूरा मिलता है । मित्रवर ! किंतु तुम मुझे गलत न समझो । मेरा भाव तुमसे विपरीत नहीं है ॥ १८६ ॥

प्राणप्रदानजं त्वत्तो मयि सौहृदमागतम् ।
धर्मज्ञोऽसि गुणज्ञोऽसि कृतज्ञोऽसि विशेषतः ॥१८७॥

[illegible] विशेषतः ।
[illegible] सम्यगन्वेक्षितुमर्हसि ॥१८८॥

[illegible] किया है । तुम्हें मुझपर तुम्हारे [illegible] । मैं धर्मको जानता हूँ, गुणोंका मूल्य [illegible] मित्रवत्सल हूँ [illegible] कि मैं तुम्हारा भक्त हो गया हूँ; [illegible] ! तुम्हें मेरे साथ ऐसा ही बर्ताव [illegible] मेरे साथ पूर्ववत् किये ॥ १८७-१८८ ॥

[illegible] प्राणान् सबान्धवः ।
[illegible] हि कुर्वन्ति मद्विधेषु मनस्विषु ॥१८९॥

[illegible] तो मैं बन्धु-बान्धवोंसहित तुम्हारे लिये [illegible] भी त्याग दे सकता हूँ । विद्वानोंने मुझ-जैसे [illegible] सदा विश्वास ही किया और देखा है ॥१८९॥

[illegible] न त्वं शङ्कितुमर्हसि ।

[illegible] तत्त्वको जाननेवाले पलित ! तुम्हें मुझपर [illegible] नहीं करना चाहिये ॥ १८९½ ॥

इति संस्तूयमानोऽपि मार्जारेण स मूषिकः ॥१९०॥
[illegible] मार्जारं वाक्यमब्रवीत् ।

[illegible] द्वारा इस प्रकार स्तुति की जानेपर भी चूहा [illegible] गम्भीर भाव ही धारण किये रहा । उसने मार्जार- [illegible] इस प्रकार कहा— ॥ १९०½ ॥

[illegible]ऽसि प्रीये च न च विश्वसे ॥१९१॥
[illegible] धनौघैर्वा नाहं शक्यः पुनस्त्वया ।
न [illegible] यान्ति प्राज्ञा निष्कारणं सखे ॥१९२॥

[illegible] ! तुम वास्तवमें बड़े साधु हो । यह बात मैंने [illegible] सुन रक्खी है । उससे मुझे प्रसन्नता भी है; [illegible] मैं तुमपर विश्वास नहीं कर सकता । तुम मेरी कितनी ही [illegible] न करो । मेरे लिये कितनी ही धनराशि क्यों न [illegible]; परंतु अब मैं तुम्हारे साथ मिल नहीं सकता । [illegible] ! बुद्धिमान् एवं विद्वान् पुरुष बिना किसी विशेष कारण- [illegible] शत्रुके वशमें नहीं जाते हैं ॥ १९१-१९२ ॥

[illegible] च गाथे द्वे निबोधोशनसा कृते ।
[illegible] कृत्ये कृत्वा संधिं बलीयसा ॥१९३॥
[illegible] युक्त्या कृतार्थश्च न विश्वसेत् ।

[illegible] शुक्राचार्यने दो गाथाएँ कही हैं । उन्हें [illegible] सुनो । जब अपने और शत्रुपर एक-सी विपत्ति आयी [illegible] शत्रुके साथ मेल करके बड़ी सावधानी [illegible] अपना काम निकालना चाहिये और जब काम [illegible] उस शत्रुपर विश्वास नहीं करना चाहिये ([illegible]) ॥ १९३½ ॥

न [illegible] विश्वस्ते नातिविश्वसेत् ॥१९४॥
[illegible] परेषां तु न विश्वसेत् ।

([illegible]) जो विश्वासपात्र न हो, उसपर [illegible] तथा जो विश्वासपात्र हो, उसपर भी अधिक विश्वास न करे । अपने प्रति सदा दूसरोंका विश्वास उत्पन्न करे; किंतु स्वयं दूसरोंका विश्वास न करे ॥ १९४½ ॥

तस्मात् सर्वास्ववस्थासु रक्षेज्जीवितमात्मनः ॥१९५॥
द्रव्याणि संततिश्चैव सर्वं भवति जीवितः ।

'इसलिये सभी अवस्थाओंमें अपने जीवनकी रक्षा करे; क्योंकि जीवित रहनेपर पुरुषको धन और संतान—सभी मिल जाते हैं ॥ १९५½ ॥

संक्षेपो नीतिशास्त्राणामविश्वासः परो मतः ॥१९६॥
नृषु तस्मादविश्वासः पुष्कलं हितमात्मनः ।

'संक्षेपमें नीतिशास्त्रका सार यह है कि किसीका भी विश्वास न करना ही उत्तम माना गया है; इसलिये दूसरे लोगोंपर विश्वास न करनेमें ही अपना विशेष हित है ॥१९६½॥

वध्यन्ते न ह्यविश्वस्ताः शत्रुभिर्दुर्बला अपि ॥१९७॥
विश्वस्तास्तेषु वध्यन्ते बलवन्तोऽपि दुर्बलैः ।

'जो विश्वास न करके सावधान रहते हैं, वे दुर्बल होनेपर भी शत्रुओंद्वारा मारे नहीं जाते । परंतु जो उनपर विश्वास करते हैं, वे बलवान् होनेपर भी दुर्बल शत्रुओंद्वारा मार डाले जाते हैं ॥ १९७½ ॥

त्वद्विधेभ्यो मया ह्यात्मा रक्ष्यो मार्जार सर्वदा ॥१९८॥
रक्ष त्वमपि चात्मानं चाण्डालाज्जातिकिल्बिषात् ।

'बिलाव ! तुम-जैसे लोगोंसे मुझे सदा अपनी रक्षा करनी चाहिये और तुम भी अपने जन्मजात शत्रु चाण्डालसे अपने-को बचाये रक्खो' ॥ १९८½ ॥

स तस्य ब्रुवतस्त्वेवं संत्रासाज्जातसाध्वसः ॥१९९॥
शाखां हित्वा जवेनाशु मार्जारः प्रययौ ततः ।

चूहेके इस प्रकार कहते समय चाण्डालका नाम सुनते ही बिलाव बहुत डर गया और वह डाली छोड़कर बड़े वेगसे तुरंत दूसरी ओर चला गया ॥ १९९½ ॥

ततः शास्त्रार्थतत्त्वज्ञो बुद्धिसामर्थ्यमात्मनः ॥२००॥
विश्राव्य पलितः प्राज्ञो बिलमन्यज्जगाम ह ।

तदनन्तर नीतिशास्त्रके अर्थ और तत्त्वको जाननेवाला बुद्धिमान् पलित अपने बौद्धिक शक्तिका परिचय दे दूसरे बिलमें चला गया ॥ २००½ ॥

एवं प्रज्ञावता बुद्ध्या दुर्बलेन महाबलाः ॥२०१॥
एकेन बहवोऽमित्राः पलितेनाभिसंधिताः ।
अरिणापि समर्थेन संधिं कुर्वीत पण्डितः ॥२०२॥
मूषिकश्च बिडालश्च मुक्तावन्योन्यसंश्रयात् ।

इस प्रकार दुर्बल और अकेला होनेपर भी बुद्धिमान् पलित चूहेने अपने बुद्धि-बलसे बहुतेरे प्रबल शत्रुओंको परास्त कर दिया; अतः आपत्तिके समय विद्वान् पुरुष बलवान् शत्रुके साथ भी संधि कर ले । देखो, चूहे और बिलाव दोनों एक दूसरेका आश्रय लेकर विपत्तिसे छुटकारा पा गये थे ॥

इत्येवं क्षत्रधर्मस्य मया मार्गो निदर्शितः ॥२०३॥
विस्तरेण महाराज संक्षेपमपि मे शृणु ।

महाराज ! इस दृष्टान्तसे मैंने तुम्हें विस्तारपूर्वक क्षात्र-धर्मका मार्ग दिखाया है। अब संक्षेपसे कुछ मेरी बात सुनो ॥

अन्योन्यकृतवैरौ तु चक्रतुः प्रीतिमुत्तमाम् ॥२०४॥
अन्योन्यमभिसंधातुं सम्बभूव तयोर्मतिः ।

चूहे और बिलाव एक दूसरेसे वैर रखनेवाले प्राणी हैं तो भी उन्होंने संकटके समय एक दूसरेसे उत्तम प्रीति कर ली। उनमें परस्पर संधि कर लेनेका विचार पैदा हो गया ॥

तत्र प्राज्ञोऽभिसंधत्ते सम्यग् बुद्धिसमाश्रयात् ॥२०५॥
अभिसंधीयते प्राज्ञः प्रमादादपि वा बुधैः ।

ऐसे अवसरोंपर बुद्धिमान् पुरुष उत्तम बुद्धिका आश्रय ले संधि करके शत्रुको परास्त कर देता है। इसी तरह विद्वान् पुरुष भी यदि असावधान रहे तो उसे दूसरे बुद्धिमान् पुरुष परास्त कर देते हैं ॥ २०५½ ॥

तस्मादभीतवद् भीतो विश्वस्तवदविश्वसन् ॥२०६॥
न ह्यप्रमत्तश्चलति चलितो वा विनश्यति ।

इसलिये मनुष्य भयभीत होकर भी निडरके समान और किसीपर विश्वास न करते हुए भी विश्वास करनेवालेके समान बर्ताव करे, उसे कभी असावधान होकर नहीं चलना चाहिये। यदि चलता है तो नष्ट हो जाता है ॥ २०६½ ॥

कालेन रिपुणा संधिः काले मित्रेण विग्रहः ॥२०७॥
कार्य इत्येव संधिज्ञाः प्राहुर्नित्यं नराधिप ।

नरेश्वर ! समयानुसार शत्रुके साथ भी संधि और मित्रके साथ भी युद्ध करना उचित है। संधिके तत्त्वको जाननेवाले विद्वान् पुरुष इसी बातको सदा कहते हैं ॥ २०७½ ॥

एतज्ज्ञात्वा महाराज शास्त्रार्थमभिगम्य च ॥२०८॥
अभियुक्तोऽप्रमत्तश्च प्राग्भयाद् भीतवच्चरेत् ।

महाराज ! ऐसा जानकर नीति-शास्त्रके तात्पर्यको हृदयङ्गम करके उद्योगशील एवं सावधान रहकर भय आनेसे पहले भयभीतके समान आचरण करना चाहिये ॥ २०८½ ॥

भीतवत् संनिधिः कार्यः प्रतिसंधिस्तथैव च ॥२०९॥
भयादुत्पद्यते बुद्धिरप्रमत्ताभियोगजा ।

बलवान् शत्रुके समीप डरे हुएके समान उपस्थित होना चाहिये। उसी तरह उसके साथ संधि भी कर लेनी चाहिये। सावधान पुरुषके उद्योगशील बने रहनेसे स्वयं ही संकटसे बचानेवाली बुद्धि उत्पन्न होती है ॥ २०९½ ॥

न भयं विद्यते राजन् भीतस्यानागते भये ॥२१०॥
अभीतस्य च विश्रम्भात् सुमहज्जायते भयम् ।

राजन् ! जो पुरुष भय आनेके पहलेसे ही उसकी ओरसे सशङ्क रहता है, उसके सामने प्रायः भयका अवसर ही नहीं आता है; परंतु जो निःशङ्क होकर दूसरोंपर विश्वास कर लेता है, उसे सहसा बड़े भारी भयका सामना करना पड़ता है ॥

अभीश्चरति यो नित्यं मन्त्रोऽदेयः कथंचन ॥२११॥
अविज्ञानाद्धि विज्ञातो गच्छेदास्पददर्शिषु ।

जो मनुष्य अपनेको बुद्धिमान् मानकर निर्भय विचरता है, उसे कभी कोई सलाह नहीं देनी चाहिये; क्योंकि वह दूसरेकी सलाह सुनता ही नहीं है। भयको न जाननेकी अपेक्षा उसे जाननेवाला ठीक है; क्योंकि वह उससे बचनेके लिये उपाय जाननेकी इच्छासे परिणामदर्शी पुरुषोंके पास जाता है ॥

तस्मादभीतवद् भीतो विश्वस्तवदविश्वसन् ॥२१२॥
कार्याणां गुरुतां प्राप्य नानृतं किंचिदाचरेत् ।

इसलिये बुद्धिमान् पुरुषको डरते हुए भी निर्भयके समान रहना चाहिये तथा भीतरसे विश्वास न करते हुए भी ऊपरसे विश्वासी पुरुषकी भाँति बर्ताव करना चाहिये। कार्योंकी कठिनता देखकर कभी कोई मिथ्या आचरण नहीं करना चाहिये ॥ २१२½ ॥

एवमेतन्मया प्रोक्तमितिहासं युधिष्ठिर ॥२१३॥
श्रुत्वा त्वं सुहृदां मध्ये यथावत् समुपाचर ।

युधिष्ठिर ! इस प्रकार यह मैंने तुम्हारे सामने नीतिकी बात बतानेके लिये चूहे तथा बिलावके इस प्राचीन इतिहासका वर्णन किया है। इसे सुनकर तुम अपने सुहृदोंके बीचमें यथायोग्य बर्ताव करो ॥ २१३½ ॥

उपलभ्य मतिं चाग्र्यामरिमित्रान्तरं तथा ॥२१४॥
संधिविग्रहकालौ च मोक्षोपायस्तथैव च ।

श्रेष्ठ बुद्धिका आश्रय लेकर शत्रु और मित्रके भेद, संधि और विग्रहके अवसरका तथा विपत्तिसे छूटनेके उपायका ज्ञान प्राप्त करना चाहिये ॥ २१४½ ॥

शत्रुसाधारणे कृत्ये कृत्वा संधिं बलीयसा ॥२१५॥
समागतश्चरेद् युक्त्या कृतार्थो न च विश्वसेत् ।

अपने और शत्रुके प्रयोजन यदि समान हों तो बलवान् शत्रुके साथ संधि करके उससे मिलकर युक्तिपूर्वक अपना काम बनावे और कार्य पूरा हो जानेपर फिर कभी उसका विश्वास न करे ॥ २१५½ ॥

अविरुद्धां त्रिवर्गेण नीतिमेतां महीपते ॥२१६॥
अभ्युत्तिष्ठ श्रुतादस्माद् भूयः संरक्षयन् प्रजाः ।

पृथ्वीनाथ ! यह नीति धर्म, अर्थ और कामके अनुकूल है। तुम इसका आश्रय लो। मुझसे सुने हुए इस उपदेशके अनुसार कर्तव्यपालनमें तत्पर हो सम्पूर्ण प्रजाकी रक्षा करते हुए अपनी उन्नतिके लिये उठकर खड़े हो जाओ ॥ २१६½ ॥

ब्राह्मणैश्चापि ते सार्धं यात्रा भवतु पाण्डव ॥२१७॥
ब्राह्मणा वै परं श्रेयो दिवि चेह च भारत ।

पाण्डुनन्दन ! तुम्हारी जीवनयात्रा ब्राह्मणोंके साथ होनी चाहिये। भरतनन्दन ! ब्राह्मणलोग इहलोक और परलोकमें भी परम कल्याणकारी होते हैं ॥ २१७½ ॥

एते धर्मस्य वेत्तारः कृतज्ञाः सततं प्रभो ॥२१८॥
पूजिताः शुभकर्तारः पूजयेत् तान् नराधिप ।

प्रभो ! नरेश्वर ! ये ब्राह्मण धर्मज्ञ होनेके साथ ही सदा कृतज्ञ होते हैं। सम्मानित होनेपर शुभकारक एवं शुभचिन्तक होते हैं; अतः इनका सदा आदर-सम्मान करना चाहिये ॥

शान्तं श्रेयः परं राजन् यशः कीर्तिं च लप्स्यसे ॥२१९॥
कुर्वन् संगतिं चैव यथान्यायं यथाक्रमम् ॥२२०॥

राजन् ! तुम शत्रुओंके यथोचित सम्पर्कसे क्रमशः राज्य, धन, ऐश्वर्य, यश, कीर्ति तथा कल्याणको बनाये रखने- वाली नीतिसे सब कुछ प्राप्त कर लोगे ॥ २१९-२२० ॥

तथेरितं भारत संधिविग्रहे
सुभाषितं बुद्धिविशेषकारकम् ।
यथा त्ववेक्ष्य क्षितिपेन सर्वदा
निषेवितव्यं नृप शत्रुमण्डले ॥२२१॥

भरतनन्दन ! नरेश्वर ! चूहे और बिलावका जो यह सुन्दर उपाख्यान कहा गया है, यह संधि और विग्रहका ज्ञान तथा विशेष बुद्धि उत्पन्न करनेवाला है । भूपालको सदा इसीके अनुसार दृष्टि रखकर शत्रुमण्डलके साथ यथोचित व्यवहार करना चाहिये ॥ २२१ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि आपद्धर्मपर्वणि मार्जारमूषिकसंवादे अष्टात्रिंशदधिकशततमोऽध्यायः ॥ १३८ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत आपद्धर्मपर्वमें चूहे और बिलावका संवादविषयक एक सौ अड़तीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १३८ ॥

एकोनचत्वारिंशदधिकशततमोऽध्यायः

शत्रुसे सदा सावधान रहनेके विषयमें राजा ब्रह्मदत्त और पूजनी चिड़ियाका संवाद

युधिष्ठिर उवाच

उक्तो मन्त्रो महाबाहो विश्वासो नास्ति शत्रुषु ।
कथं हि राजा वर्तेत यदि सर्वत्र नाश्वसेत् ॥ १ ॥

युधिष्ठिरने पूछा—महाबाहो ! आपने यह सलाह दी है कि शत्रुओंपर विश्वास नहीं करना चाहिये । साथ ही यह कहा है कि कहीं भी विश्वास करना उचित नहीं है, परंतु यदि राजा सर्वत्र अविश्वास ही करे तो किस प्रकार वह राज्य-सम्बन्धी व्यवहार चला सकता है ? ॥ १ ॥

विश्वासाद्धि परं राजन् राज्ञामुत्पद्यते भयम् ।
कथं हि नाश्वसन् राजा शत्रून् जयति पार्थिवः॥ २ ॥

राजन् ! यदि विश्वाससे राजाओंपर महान् भय आता है तो सर्वत्र अविश्वास करनेवाला भूपाल अपने शत्रुओंपर विजय कैसे पा सकता है ? ॥ २ ॥

एतन्मे संशयं छिन्धि मतिर्मे सम्प्रमुह्यति ।
अविश्वासकथामेतामुपश्रुत्य पितामह ॥ ३ ॥

पितामह ! आपकी यह अविश्वास-कथा सुनकर तो मेरी बुद्धिपर मोह छा गया । कृपया आप मेरे इस संशयका निवारण कीजिये ॥ ३ ॥

भीष्म उवाच

शृणुष्व राजन् यद् वृत्तं ब्रह्मदत्तनिवेशने ।
पूजन्या सह संवादं ब्रह्मदत्तस्य भूपतेः ॥ ४ ॥

भीष्मने कहा—राजन् ! राजा ब्रह्मदत्तके घरमें पूजनी चिड़ियाके साथ जो उनका संवाद हुआ था, उसे ही तुम्हारे प्रश्नके लिये उपस्थित करता हूँ, सुनो ॥ ४ ॥

काम्पिल्ये ब्रह्मदत्तस्य त्वन्तःपुरनिवासिनी ।
पूजनी नाम शकुनिर्दीर्घकालं सहोषिता ॥ ५ ॥

काम्पिल्य नगरमें ब्रह्मदत्त नामके एक राजा राज्य करते थे । उनके अन्तःपुरमें पूजनी नामसे प्रसिद्ध एक चिड़िया निवास करती थी । वह दीर्घकालतक उनके साथ रही थी ॥ ५ ॥

रुतज्ञा सर्वभूतानां यथा वै जीवजीवकः ।
सर्वज्ञा सर्वतत्त्वज्ञा तिर्यग्योनिं गतापि सा ॥ ६ ॥

वह चिड़िया 'जीवजीवक' नामक विशेष पक्षीके समान समस्त प्राणियोंकी बोली समझती थी तथा तिर्यग्योनिमें उत्पन्न होनेपर भी सर्वज्ञ एवं सम्पूर्ण तत्त्वोंको जाननेवाली थी ॥

अभिप्रजाता सा तत्र पुत्रमेकं सुवर्चसम् ।
समकालं च राज्ञोऽपि देव्यां पुत्रो व्यजायत ॥ ७ ॥

एक दिन उसने रनिवासमें ही एक बच्चा दिया, जो बड़ा तेजस्वी था; उसी दिन उसके साथ ही राजाकी रानीके गर्भसे भी एक बालक उत्पन्न हुआ ॥ ७ ॥

तयोरर्थे कृतज्ञा सा खेचरी पूजनी सदा ।
समुद्रतीरं सा गत्वा आजहार फलद्वयम् ॥ ८ ॥

आकाशमें विचरनेवाली वह कृतज्ञ पूजनी चिड़िया प्रति- दिन समुद्रतटपर जाकर वहाँसे उन दोनों बच्चोंके लिये दो फल ले आया करती थी ॥ ८ ॥

पुष्ट्यर्थं च स्वपुत्रस्य राजपुत्रस्य चैव ह ।
फलमेकं सुतायादाद् राजपुत्राय चापरम् ॥ ९ ॥

वह अपने बच्चेकी पुष्टिके लिये एक फल उसे देती तथा राजाके बेटेकी पुष्टिके लिये दूसरा फल उस राजकुमारको अर्पित कर देती थी ॥ ९ ॥

अमृतास्वादसदृशं बलतेजोऽभिवर्धनम् ।
आदायादाय सैवाशु तयोः प्रादात् पुनः पुनः ॥ १० ॥

पूजनीका लाया हुआ वह फल अमृतके समान स्वादिष्ट और बल तथा तेजकी वृद्धि करनेवाला होता था । वह बारंबार उस फलको ला-लाकर शीघ्रतापूर्वक उन दोनोंको दिया करती थी ॥ १० ॥

ततोऽगच्छत् परां वृद्धिं राजपुत्रः फलाशनात् ।
ततः स धात्र्या कक्षेण उह्यमानो नृपात्मजः ॥ ११ ॥
ददर्श तं पक्षिसुतं बाल्यादागत्य बालकः ।
ततो बाल्याच्च यत्नेन तेनाक्रीडत पक्षिणा ॥ १२ ॥

राजकुमार उस फलको खा-खाकर बड़ा हृष्ट-पुष्ट हो गया । एक दिन धाय उस राजपुत्रको गोदमें लिये घूम रही थी । वह बालक ही तो ठहरा, बाल-स्वभाववश आकर उसने उस चिड़ियाके बच्चेको देखा और उसके साथ यत्नपूर्वक वह खेलने लगा ॥ ११-१२ ॥

शून्ये च तमुपादाय पक्षिणं समजातकम् ।
हत्वा ततः स राजेन्द्र धात्र्या हस्तमुपागतः ॥ १३ ॥

राजेन्द्र ! अपने साथ ही पैदा हुए उस पक्षीको सूने स्थानमें ले जाकर राजकुमारने मार डाला और मारकर वह धायकी गोदमें जा बैठा ॥ १३ ॥

अथ सा पूजनी राजन्नागमत् फलहारिणी ।
अपश्यन्निहतं पुत्रं तेन बालेन भूतले ॥ १४ ॥

राजन् ! तदनन्तर जब पूजनी फल लेकर लौटी तो उसने देखा कि राजकुमारने उसके बच्चेको मार डाला है और वह धरतीपर पड़ा है ॥ १४ ॥

बाष्पपूर्णमुखी दीना दृष्ट्वा तं रुदती सुतम् ।
पूजनी दुःखसंतप्ता रुदती वाक्यमब्रवीत् ॥ १५ ॥

अपने बच्चेकी ऐसी दुर्गति देखकर पूजनीके मुखपर आँसुओंकी धारा बह चली और वह दुःखसे संतप्त हो रोती हुई इस प्रकार कहने लगी—॥ १५ ॥

क्षत्रिये संगतं नास्ति न प्रीतिर्न च सौहृदम् ।
कारणात् सान्त्वयन्त्येते कृतार्थाः संत्यजन्ति च ॥ १६ ॥

'क्षत्रियमें संगति निभानेकी भावना नहीं होती । उसमें न प्रेम होता है, न सौहार्द । ये किसी हेतु या स्वार्थसे ही दूसरोंको सान्त्वना देते हैं । जब इनका काम निकल जाता है, तब ये आश्रित व्यक्तिको त्याग देते हैं ॥ १६ ॥

क्षत्रियेषु न विश्वासः कार्यः सर्वापकारिषु ।
अपकृत्यापि सततं सान्त्वयन्ति निरर्थकम् ॥ १७ ॥

'क्षत्रिय सबकी बुराई ही करते हैं । इनपर कभी विश्वास नहीं करना चाहिये । ये दूसरोंका अपकार करके भी सदा उसे व्यर्थ सान्त्वना दिया करते हैं ॥ १७ ॥

अहमस्य करोम्यद्य सदृशीं वैरयातनाम् ।
कृतघ्नस्य नृशंसस्य भृशं विश्वासघातिनः ॥ १८ ॥

'देखो तो सही, यह राजकुमार कैसा कृतघ्न, अत्यन्त क्रूर और विश्वासघाती है ! अच्छा, आज मैं इससे इस वैरका बदला लेकर ही रहूँगी ॥ १८ ॥

सहसंजातवृद्धस्य तथैव सहभोजिनः ।
शरणागतस्य च वधस्त्रिविधं ह्येव पातकम् ॥ १९ ॥

'जो साथ ही पैदा हुआ और पाला-पोसा गया हो, साथ ही भोजन करता हो और शरणमें आकर रहता हो, ऐसे व्यक्तिका वध करनेसे उपर्युक्त तीन प्रकारका पातक लगता है' ॥ १९ ॥

इत्युक्त्वा चरणाभ्यां तु नेत्रे नृपसुतस्य सा ।
भित्त्वा स्वस्था तत इदं पूजनी वाक्यमब्रवीत् ॥ २० ॥

ऐसा कहकर पूजनीने अपने दोनों पञ्जोंसे राजकुमारकी दोनों आँखें फोड़ डालीं । फोड़कर वह आकाशमें स्थिर हो गयी और इस प्रकार बोली—॥ २० ॥

इच्छयेह कृतं पापं सद्यस्तं चोपसर्पति ।
कृतं प्रतिकृतं येषां न नश्यति शुभाशुभम् ॥ २१ ॥

'इस जगत्में स्वेच्छासे जो पाप किया जाता है, उसका फल तत्काल ही कर्ताको मिल जाता है । जिनके पापका बदला मिल जाता है, उनके पूर्वकृत शुभाशुभ कर्म नष्ट नहीं होते हैं ॥

पापं कर्म कृतं किंचिद् यदि तस्मिन् न दृश्यते ।
नृपते तस्य पुत्रेषु पौत्रेष्वपि च नप्तृषु ॥ २२ ॥

'राजन् ! यदि यहाँ किये हुए पापकर्मका कोई फल कर्ताको मिलता न दिखायी दे तो यह समझना चाहिये कि उसके पुत्रों, पोतों और नातियोंको उसका फल भोगना पड़ेगा' ॥

ब्रह्मदत्तः सुतं दृष्ट्वा पूजन्याहृतलोचनम् ।
कृते प्रतिकृतं मत्वा पूजनीमिदमब्रवीत् ॥ २३ ॥

राजा ब्रह्मदत्तने देखा कि पूजनीने मेरे पुत्रकी आँखें ले लीं, तब उन्होंने यह समझ लिया कि राजकुमारको उसके कुकर्मका ही बदला मिला है । यह सोचकर राजाने रोष त्याग दिया और पूजनीसे इस प्रकार कहा ॥ २३ ॥

ब्रह्मदत्त उवाच

अस्ति वै कृतमस्माभिरस्ति प्रतिकृतं त्वया ।
उभयं तत् समीभूतं वस पूजनि मा गमः ॥ २४ ॥

ब्रह्मदत्त बोले—पूजनी ! हमने तेरा अपराध किया

था और तूने उसका बदला चुका लिया । अब हम दोनोंका कार्य बराबर हो गया । इसलिये अब यहीं रह । किसी दूसरी जगह न जा ॥ २४ ॥

पूजन्युवाच

सकृत् कृतापराधस्य तत्रैव परिलम्बतः ।

[illegible] पुनः प्रवर्तन्ते [illegible]म् ॥ २५ ॥

पूजनी बोली—राजन्! [illegible] अपराध [illegible] नहीं [illegible] विद्वान् पुरुष उनके [illegible] नहीं करते हैं। क्योंकि भाग जानेमें ही [illegible] है ॥ २५ ॥

सान्त्वे प्रयुक्ते सततं कृतवैरे न विश्वसेत्।
क्षिप्रं स बध्यते मूढो न हि वैरं प्रशाम्यति ॥ २६ ॥

[illegible] उनकी चिकनी-चुपड़ी [illegible] विश्वास नहीं करना चाहिये; क्योंकि [illegible] नहीं, वह विश्वास करने- [illegible] ही मारा जाता है ॥ २६ ॥

अन्योन्यकृतवैराणां पुत्रपौत्रं नियच्छति।
पुत्रपौत्रविनाशे च परलोकं नियच्छति ॥ २७ ॥

[illegible] वैर [illegible] हैं, उनका वह वैरभाव [illegible] और पौत्रोंतक [illegible] देता है। पुत्र-पौत्रोंका विनाश [illegible] परलोकमें भी वह साथ नहीं छोड़ता है ॥ २७ ॥

सर्वेषां कृतवैराणामविश्वासः सुखोदयः।
एकान्ततो न विश्वासः कार्यो विश्वासघातकैः ॥ २८ ॥

[illegible] वैर रखनेवाले हैं, उन सबके लिये [illegible] उपाय यही है कि परस्पर विश्वास न करे। [illegible] सर्वथा विश्वास तो करना ही नहीं चाहिये ॥

न विश्वसेदविश्वस्ते विश्वस्ते नातिविश्वसेत्।
विश्वासाद् भयमुत्पन्नमपि मूलं निकृन्तति।
कामं विश्वासयेदन्यान् परेषां च न विश्वसेत् ॥ २९ ॥

[illegible] न हो, उसपर विश्वास न करे। जो [illegible] पात्र हो, उसपर भी अधिक विश्वास न करे; क्योंकि [illegible] उत्पन्न होनेवाला भय विश्वास करनेवालेका [illegible] कर [illegible] है। अपने प्रति दूसरोंका विश्वास [illegible] उत्पन्न कर दे; किंतु स्वयं दूसरोंका विश्वास न करे ॥

माता पिता बान्धवानां वरिष्ठौ
भार्या जरा बीजमात्रं तु पुत्रः।
भ्राता शत्रुः क्लिन्नपाणिर्वयस्य
आत्मा ह्येकः सुखदुःखस्य भोक्ता ॥ ३० ॥

[illegible] और पिता स्वाभाविक स्नेह होनेके कारण बान्धव-[illegible] श्रेष्ठ हैं, पत्नी वीर्यकी नाशक (होनेसे) वृद्धा-[illegible] है, पुत्र अपना ही अंश है, भाई ([illegible] कारण) शत्रु समझा जाता है और [illegible] है, जबतक उसका हाथ गीला रहता है। [illegible] स्वार्थ सिद्ध होता रहता है; केवल [illegible] सुख और दुःखका भोग करनेवाला कहा गया है ॥

अन्योन्यकृतवैराणां न संधिरुपपद्यते।
स स हेतुरतिक्रान्तो यदर्थमहमावसम् ॥ ३१ ॥

[illegible] संधि करना ठीक नहीं [illegible] उद्देश्यसे यहाँ रही हूँ, वह तो [illegible] ॥ ३१ ॥

पूजितस्यार्थमानाभ्यां जन्तोः पूर्वापकारिणः।
मनो भवत्यविश्वस्तं कर्म त्रासयतेऽबलान् ॥ ३२ ॥

जो पहलेका अपकार करनेवाला प्राणी है, वह दान और मानसे पूजित हो तो भी उसका मन विश्वस्त नहीं होता। अपना किया हुआ अनुचित कर्म ही दुर्बल प्राणियोंको डराता रहता है ॥ ३२ ॥

पूर्वं सम्मानना यत्र पश्चाच्चैव विमानना।
जह्यात् तत् सत्त्ववान् स्थानं शत्रोः सम्मानितोऽपि सन्॥

जहाँ पहले सम्मान मिला हो, वहीं पीछे अपमान होने लगे तो प्रत्येक शक्तिशाली पुरुषको पुनः सम्मान मिलनेपर भी उस स्थानका परित्याग कर देना चाहिये ॥ ३३ ॥

उषितास्मि तवागारे दीर्घकालं समर्चिता।
तदिदं वैरमुत्पन्नं सुखमाशु व्रजाम्यहम् ॥ ३४ ॥

राजन्! मैं आपके घरमें बहुत दिनोंतक बड़े आदरके साथ रही हूँ; परंतु अब यह वैर उत्पन्न हो गया; इसलिये मैं बहुत जल्दी यहाँसे सुखपूर्वक चली जाऊँगी ॥ ३४ ॥

ब्रह्मदत्त उवाच

यः कृते प्रतिकुर्याद् वै न स तत्रापराध्नुयात्।
अनृणस्तेन भवति वस पूजनि मा गमः ॥ ३५ ॥

ब्रह्मदत्तने कहा—पूजनी! जो एक व्यक्तिके अपराध करनेपर बदलेमें स्वयं भी कुछ करे, वह कोई अपराध नहीं करता—अपराधी नहीं माना जाता। इससे तो पहलेका अपराधी ऋणमुक्त हो जाता है; इसलिये तू यहीं रह। कहीं मत जा ॥ ३५ ॥

पूजन्युवाच

न कृतस्य तु कर्तुश्च सख्यं संधीयते पुनः।
हृदयं तत्र जानाति कर्तुश्चैव कृतस्य च ॥ ३६ ॥

पूजनी बोली—राजन्! जिसका अपकार किया जाता है और जो अपकार करता है, उन दोनोंमें फिर मेल नहीं हो सकता। जो अपराध करता है और जिसपर किया जाता है, उन दोनोंके ही हृदयोंमें वह बात खटकती रहती है ॥ [illegible]

ब्रह्मदत्त उवाच

कृतस्य चैव कर्तुश्च सख्यं संधीयते पुनः।
वैरस्योपशमो दृष्टः पापं नोपाश्नुते पुनः ॥ ३७ ॥

ब्रह्मदत्तने कहा—पूजनी! बदला ले लेनेपर तो वैर शान्त हो जाता है और अपकार करनेवालेको उस पापका फल भी नहीं भोगना पड़ता; अतः अपराध करने और सहनेवाले-का मेल पुनः हो सकता है ॥ ३७ ॥

पूजन्युवाच

नास्ति वैरमतिक्रान्तं सान्त्वितोऽस्मीति नाश्वसेत्।
विश्वासाद् बध्यते लोके तस्माच्छ्रेयोऽप्यदर्शनम् ॥

पूजनी बोली—राजन्! इस प्रकार कभी वैर शान्त नहीं होता है। 'शत्रुने मुझे सान्त्वना दी है' ऐसा समझकर उसपर कभी विश्वास नहीं करना चाहिये। ऐसी अवस्थामें

विश्वास करनेसे जगत्‌में अपने प्राणोंसे भी (कभी-न-कभी) हाथ धोना पड़ता है, इसलिये वहाँ मुँह न दिखाना ही अच्छा है ॥

तरसा ये न शक्यन्ते शस्त्रैः सुनिशितैरपि ।
साम्ना तेऽपि निगृह्यन्ते गजा इव करेणुभिः ॥ ३९ ॥

जो लोग बलपूर्वक तीखे शस्त्रोंसे भी वशमें नहीं किये जा सकते, उन्हें भी मीठी वाणीद्वारा बंदी बना लिया जाता है। जैसे हथिनियोंकी सहायतासे हाथी कैद कर लिये जाते हैं ॥

ब्रह्मदत्त उवाच

संवासाज्जायते स्नेहो जीवितान्तकरेष्वपि ।
अन्योन्यस्य च विश्वासः श्वपचेन शुनो यथा ॥ ४० ॥

ब्रह्मदत्तने कहा—पूजनी ! प्राणोंका नाश करनेवाले भी यदि एक साथ रहने लगें तो उनमें परस्पर स्नेह उत्पन्न हो जाता है और वे एक-दूसरेका विश्वास भी करने लगते हैं; जैसे श्वपच (चाण्डाल) के साथ रहनेसे कुत्तेका उसके प्रति स्नेह और विश्वास हो जाता है ॥ ४० ॥

अन्योन्यकृतवैराणां संवासान्मृदुतां गतम् ।
नैव तिष्ठति तद् वैरं पुष्करस्थमिवोदकम् ॥ ४१ ॥

आपसमें जिनका वैर हो गया है, उनका वह वैर भी एक साथ रहनेसे मृदु हो जाता है, अतः कमलके पत्तेपर जैसे जल नहीं ठहरता है, उसी प्रकार वह वैर भी टिक नहीं पाता है ॥ ४१ ॥

पूजन्युवाच

वैरं पञ्चसमुत्थानं तच्च बुध्यन्ति पण्डिताः ।
स्त्रीकृतं वास्तुजं वाग्जं ससापत्नापराधजम् ॥ ४२ ॥

पूजनी बोली—राजन् ! वैर पाँच कारणोंसे हुआ करता है; इस बातको विद्वान् पुरुष अच्छी तरह जानते हैं । १. स्त्रीके लिये, २. घर और जमीनके लिये, ३. कठोर वाणीके कारण, ४. जातिगत द्वेषके कारण और ५. किसी समय किये हुए अपराधके कारण ॥ ४२ ॥

तत्र दाता न हन्तव्यः क्षत्रियेण विशेषतः ।
प्रकाशं वाप्रकाशं वा बुद्ध्वा दोषबलाबलम् ॥ ४३ ॥

इन कारणोंसे भी ऐसे व्यक्तिका वध नहीं करना चाहिये जो दाता हो अर्थात् परोपकारी हो, विशेषतः क्षत्रियनरेशको छिपकर या प्रकटरूपमें ऐसे व्यक्तिपर हाथ नहीं उठाना चाहिये । पहले यह विचार कर लेना चाहिये कि उसका दोष हल्का है या भारी । उसके बाद कोई कदम उठाना चाहिये ॥

कृतवैरे न विश्वासः कार्यस्त्विह सुहृद्यपि ।
छन्नं संतिष्ठते वैरं गूढोऽग्निरिव दारुषु ॥ ४४ ॥

जिसने वैर बाँध लिया हो, ऐसे सुहृद्‌पर भी इस जगत्‌में विश्वास नहीं करना चाहिये; क्योंकि जैसे लकड़ीके भीतर आग छिपी रहती है, उसी प्रकार उसके हृदयमें वैरभाव छिपा रहता है ॥ ४४ ॥

न वित्तेन न पारुष्यैर्न सान्त्वेन न च श्रुतैः ।
कोपाग्निः शाम्यते राजंस्तोयाग्निरिव सागरे ॥ ४५ ॥

राजन् ! जिस प्रकार बडवानल समुद्रमें किसी तरह शान्त नहीं होता, उसी प्रकार क्रोधाग्नि भी न धनसे, न कठोरता दिखानेसे, न मीठे वचनोंद्वारा समझाने-बुझानेसे और न शास्त्रज्ञानसे ही शान्त होती है ॥ ४५ ॥

न हि वैराग्निरुद्भूतः कर्म चाप्यपराधजम् ।
शाम्यत्यदग्ध्वा नृपते विना ह्येकतरक्षयात् ॥ ४६ ॥

नरेश्वर ! प्रज्वलित हुई वैरकी आग एक पक्षको दग्ध किये बिना नहीं बुझती है और अपराधजनित कर्म भी एक पक्षका संहार किये बिना नहीं शान्त होता है ॥ ४६ ॥

सत्कृतस्यार्थमानाभ्यां तत्र पूर्वापकारिणः ।
नादेयोऽमित्रविश्वासः कर्म त्रासयतेऽबलान् ॥ ४७ ॥

जिसने पहले अपकार किया है, उसका यदि अपकृत व्यक्तिके द्वारा धन और मानसे सत्कार किया जाय तो भी उसे उस शत्रुका विश्वास नहीं करना चाहिये; क्योंकि अपना किया हुआ पापकर्म ही दुर्बलोंको डराता रहता है ॥ ४७ ॥

नैवापकारे कस्मिंश्चिदहं त्वयि तथा भवान् ।
उषितास्मि गृहेऽहं ते नेदानीं विश्वसाम्यहम् ॥ ४८ ॥

अबतक तो न मैंने कोई आपका अपकार किया था और न आपने ही मेरी कोई हानि की थी; इसलिये मैं आपके महलमें रहती थी, किंतु अब मैं आपका विश्वास नहीं कर सकती ॥

ब्रह्मदत्त उवाच

कालेन क्रियते कार्यं तथैव विविधाः क्रियाः ।
कालेनैते प्रवर्तन्ते कः कस्येहापराध्यति ॥ ४९ ॥

ब्रह्मदत्तने कहा—पूजनी ! काल ही समस्त कार्य करता है तथा कालके ही प्रभावसे भाँति-भाँतिकी क्रियाएँ आरम्भ होती हैं । इसमें कौन किसका अपराध करता है ?

तुल्यं चोभे प्रवर्तेते मरणं जन्म चैव ह ।
कार्यते चैव कालेन तन्निमित्तं न जीवति ॥ ५० ॥

जन्म और मृत्यु—ये दोनों क्रियाएँ समानरूपसे चलती रहती हैं और काल ही इन्हें कराता है । इसीलिये प्राणी जीवित नहीं रह पाता ॥ ५० ॥

वध्यन्ते युगपत् केचिदेकैकस्य न चापरे ।
कालो दहति भूतानि सम्प्राप्याग्निरिवेन्धनम् ॥ ५१ ॥

कुछ लोग एक साथ ही मारे जाते हैं; कुछ एक-एक करके मरते हैं और बहुत-से लोग दीर्घकालतक मरते ही नहीं हैं । जैसे आग ईंधनको पाकर उसे जला देती है, उसी प्रकार काल ही समस्त प्राणियोंको दग्ध कर देता है ॥ ५१ ॥

नाहं प्रमाणं नैव त्वमन्योन्यं कारणं शुभे ।
कालो नित्यमुपादत्ते सुखं दुःखं च देहिनाम् ॥ ५२ ॥

शुभे ! एक दूसरेके प्रति किये गये अपराधमें न तो तुम यथार्थ कारण हो और न मैं ही वास्तविक हेतु हूँ । काल ही सदा समस्त देहधारियोंके सुख-दुःखको ग्रहण या उत्पन्न करता है ॥ ५२ ॥

एवं वसेह सस्नेहा यथाकाममहिंसिता ।

यत् कृतं तत् तु मे क्षान्तं त्वं च वै क्षम पूजनि॥ ५३ ॥

पूजनी ! मैं तेरी किसी प्रकार हिंसा नहीं करूँगा। तू यहीं अपनी इच्छाके अनुसार स्नेहपूर्वक निवास कर। तूने जो कुछ किया है, उसे मैंने क्षमा कर दिया और मैंने जो कुछ किया है, उसे तू भी क्षमा कर दे ॥ ५३ ॥

पूजन्युवाच

यदि कालः प्रमाणं ते न वैरं कस्यचिद् भवेत्।
कस्मान्न्यपचितिं यान्ति बान्धवा बान्धवैर्हतैः॥ ५४ ॥

पूजनी बोली—राजन्! यदि आप कालको ही सब क्रियाओंका कारण मानते हैं, तब तो किसीका किसीके साथ वैर नहीं होना चाहिये; फिर अपने भाई-बन्धुओंके मारे जानेपर उनके सगे-सम्बन्धी बदला क्यों लेते हैं? ॥ ५४ ॥

कस्माद् देवासुराः पूर्वमन्योन्यमभिजघ्निरे।
यदि कालेन निर्याणं सुखं दुःखं भवाभवौ ॥ ५५ ॥

यदि कालसे ही मृत्यु, दुःख-सुख और उन्नति-अवनति आदिका सम्पादन होता है, तब पूर्वकालमें देवताओं और असुरोंने क्यों आपसमें युद्ध करके एक दूसरेका वध किया? ॥

भिषजो भैषजं कर्तुं कस्मादिच्छन्ति रोगिणः।
यदि कालेन पच्यन्ते भेषजैः किं प्रयोजनम् ॥ ५६ ॥

वैद्यलोग रोगियोंकी दवा करनेकी अभिलाषा क्यों करते हैं? यदि काल ही सबको पका रहा है तो दवाओंका क्या प्रयोजन है? ॥ ५६ ॥

प्रलापः सुमहान् कस्मात् क्रियते शोकमूर्च्छितैः।
यदि कालः प्रमाणं ते कस्माद् धर्मोऽस्ति कर्तृषु॥ ५७ ॥

यदि आप कालको ही प्रमाण मानते हैं तो शोकसे मूर्छित हुए प्राणी क्यों महान् प्रलाप एवं हाहाकार करते हैं? फिर कर्म करनेवालोंके लिये विधि-निषेधरूपी धर्मके पालनका नियम क्यों रखा गया है? ॥ ५७ ॥

तव पुत्रो ममापत्यं हतवान् स हतो मया।
अनन्तरं त्वयाहं च हन्तव्या हि नराधिप ॥ ५८ ॥

नरेश्वर! आपके बेटेने मेरे बच्चेको मार डाला और मैंने भी उसकी आँखोंको नष्ट कर दिया। इसके बाद अब आप मेरा वध कर डालेंगे ॥ ५८ ॥

अहं हि पुत्रशोकेन कृतपापा तवात्मजे।
यथा त्वया प्रहर्तव्यं तथा तत्त्वं च मे शृणु॥ ५९ ॥

जैसे मैं पुत्रशोकसे संतप्त होकर आपके पुत्रके प्रति पापपूर्ण बर्ताव कर बैठी, उसी प्रकार आप भी मुझपर प्रहार कर सकते हैं। यहाँ जो यथार्थ बात है, वह मुझसे सुनिये ॥

भक्ष्यार्थं क्रीडनार्थं च नरा वाञ्छन्ति पक्षिणः।
तृतीयो नास्ति संयोगो वधबन्धादृते क्षमः ॥ ६० ॥

मनुष्य खाने और खेलनेके लिये ही पक्षियोंकी कामना करते हैं। वध करने या बन्धनमें डालनेके सिवा तीसरे प्रकारका कोई सम्पर्क पक्षियोंके साथ उनका नहीं देखा जाता है ॥

वधबन्धभयादेते मोक्षतन्त्रमुपाश्रिताः।
जनीमरणजं दुःखं प्राहुर्वेदविदो जनाः ॥ ६१ ॥

इस वध और बन्धनके भयसे ही मुमुक्षुलोग मोक्षशास्त्रका आश्रय लेकर रहते हैं; क्योंकि वेदवेत्ता पुरुषोंका कहना है कि जन्म और मरणका दुःख असह्य होता है॥

सर्वस्य दयिताः प्राणाः सर्वस्य दयिताः सुताः।
दुःखादुद्विजते सर्वः सर्वस्य सुखमीप्सितम् ॥ ६२ ॥

सबको अपने प्राण प्रिय होते हैं, सभीको अपने पुत्र प्यारे लगते हैं; सब लोग दुःखसे उद्विग्न हो उठते हैं और सभीको सुखकी प्राप्ति अभीष्ट होती है ॥ ६२ ॥

दुःखं जरा ब्रह्मदत्त दुःखमर्थविपर्ययः।
दुःखं चानिष्टसंवासो दुःखमिष्टवियोजनम् ॥ ६३ ॥

महाराज ब्रह्मदत्त! दुःखके अनेक रूप हैं। बुढ़ापा दुःख है, धनका नाश दुःख है, अप्रियजनोंके साथ रहना दुःख है और प्रियजनोंसे बिछुड़ना दुःख है ॥ ६३ ॥

वधबन्धकृतं दुःखं स्त्रीकृतं सहजं तथा।
दुःखं सुतेन सततं जनान् विपरिवर्तते ॥ ६४ ॥

वध और बन्धनसे भी सबको दुःख होता है। स्त्रीके कारण और स्वाभाविक रूपसे भी दुःख हुआ करता है तथा पुत्र यदि नष्ट हो जाय या दुष्ट निकल जाय तो उससे भी लोगोंको सदा दुःख प्राप्त होता रहता है ॥ ६४ ॥

न दुःखं परदुःखे वै केचिदाहुरबुद्धयः।
यो दुःखं नाभिजानाति स जल्पति महाजने ॥ ६५ ॥

कुछ मूढ़ मनुष्य कहा करते हैं कि पराये दुःखमें दुःख नहीं होता; परंतु वही ऐसी बात श्रेष्ठ पुरुषोंके निकट कहा करता है, जो दुःखके तत्त्वको नहीं जानता ॥ ६५ ॥

यस्तु शोचति दुःखार्तः स कथं वक्तुमुत्सहेत्।
रसज्ञः सर्वदुःखस्य यथाऽऽत्मनि तथा परे ॥ ६६ ॥

जो दुःखसे पीड़ित होकर शोक करता है तथा जो अपने और पराये सभीके दुःखका रस जानता है, वह ऐसी बात कैसे कह सकता है? ॥ ६६ ॥

यत् कृतं ते मया राजंस्त्वया च मम यत् कृतम्।
न तद् वर्षशतैः शक्यं व्यपोहितुमरिंदम ॥ ६७ ॥

शत्रुदमन नरेश! आपने जो मेरा अपकार किया है तथा मैंने बदलेमें जो कुछ किया है, उसे सैकड़ों वर्षोंमें भी भुलाया नहीं जा सकता ॥ ६७ ॥

आवयोः कृतमन्योन्यं पुनः संधिर्न विद्यते।
स्मृत्वा स्मृत्वा हि ते पुत्रं नवं वैरं भविष्यति ॥ ६८ ॥

इस प्रकार आपसमें एक दूसरेका अपकार करनेके कारण अब हमारा फिर मेल नहीं हो सकता। अपने पुत्रको याद कर-करके आपका वैर ताजा होता रहेगा ॥ ६८ ॥

वैरमन्तिकमासाद्य यः प्रीतिं कर्तुमिच्छति।
मृन्मयस्येव भग्नस्य यथा संधिर्न विद्यते ॥ ६९ ॥

इस प्रकार मरणान्त वैर ठन जानेपर जो प्रेम करना चाहता है, उसका वह प्रेम उसी प्रकार असम्भव है, जैसे

मिट्टीका बर्तन एक बार फूट जानेपर फिर नहीं जुटता है ॥

निश्चयः स्वार्थशास्त्रेषु विश्वासश्चासुखोदयः ।
उशना चैव गाथे द्वे प्रह्लादायाब्रवीत् पुरा ॥ ७० ॥

विश्वास दुःख देनेवाला है, यही नीतिशास्त्रोंका निश्चय है। प्राचीनकालमें शुक्राचार्यने भी प्रह्लादसे दो गाथाएँ कही थीं, जो इस प्रकार हैं ॥ ७० ॥

ये वैरिणः श्रद्दधते सत्ये सत्येतरेऽपि वा ।
वध्यन्ते श्रद्दधानास्तु मधु शुष्कतृणैर्यथा ॥ ७१ ॥

जैसे सूखे तिनकोंसे ढके हुए गड्ढेके ऊपर रक्खे हुए मधुको लेने जानेवाले मनुष्य मारे जाते हैं, उसी प्रकार जो लोग वैरीकी झूठी या सच्ची बातपर विश्वास करते हैं, वे भी बेमौत मरते हैं ॥ ७१ ॥

न हि वैराणि शाम्यन्ति कुले दुःखगतानि च ।
आख्यातारश्च विद्यन्ते कुले वै म्रियते पुमान् ॥ ७२ ॥

जब किसी कुलमें दुःखदायी वैर बँध जाता है, तब वह शान्त नहीं होता । उसे याद दिलानेवाले बने ही रहते हैं, इसलिये जबतक कुलमें एक भी पुरुष जीवित रहता है, तबतक वह वैर नहीं मिटता है ॥ ७२ ॥

उपगृह्य तु वैराणि सान्त्वयन्ति नराधिप ।
अथैनं प्रतिपिंषन्ति पूर्णं घटमिवाश्मनि ॥ ७३ ॥

नरेश्वर ! दुष्ट प्रकृतिके लोग मनमें वैर रखकर ऊपरसे शत्रुको मधुर वचनोंद्वारा सान्त्वना देते रहते हैं । तदनन्तर अवसर पाकर उसे उसी प्रकार पीस डालते हैं, जैसे कोई पानीसे भरे हुए घड़ेको पत्थरपर पटककर चूर-चूर कर दे ॥ ७३ ॥

सदा न विश्वसेद् राजन् पापं कृत्वेह कस्यचित् ।
अपकृत्य परेषां हि विश्वासाद् दुःखमश्नुते ॥ ७४ ॥

राजन् ! किसीका अपराध करके फिर उसपर कभी विश्वास नहीं करना चाहिये । जो दूसरोंका अपकार करके भी उनपर विश्वास करता है, उसे दुःख भोगना पड़ता है ॥ ७४ ॥

ब्रह्मदत्त उवाच

नाविश्वासाद् विन्दतेऽर्थानीहते चापि किंचन ।
भयात् त्वेकतरान्नित्यं मृतकल्पा भवन्ति च ॥ ७५ ॥

ब्रह्मदत्तने कहा—पूजनी ! अविश्वास करनेसे तो मनुष्य संसारमें अपने अभीष्ट पदार्थोंको कभी नहीं प्राप्त कर सकता और न किसी कार्यके लिये कोई चेष्टा ही कर सकता है, यदि मनमें एक पक्षसे सदा भय बना रहे तो मनुष्य मृतकतुल्य हो जायँगे—उनका जीवन ही मिट्टी हो जायगा ॥ ७५ ॥

पूजन्युवाच

यस्येह व्रणिनौ पादौ पद्भ्यां च परिसर्पति ।
खन्येते तस्य तौ पादौ सुगुप्तमिह धावतः ॥ ७६ ॥

पूजनीने कहा—राजन् ! जिसके दोनों पैरोंमें घाव हो गया हो; फिर भी वह उन पैरोंसे ही चलता रहे तो कितना ही बचा-बचाकर क्यों न चले, यहाँ दौड़ते हुए उन पैरोंमें पुनः घाव होते ही रहेंगे ॥ ७६ ॥

नेत्राभ्यां सरुजाभ्यां यः प्रतिवातमुदीक्षते ।
तस्य वायुरुजात्यर्थं नेत्रयोर्भवति ध्रुवम् ॥ ७७ ॥

जो मनुष्य अपने रोगी नेत्रोंसे हवाकी ओर रुख करके देखता है, उसके उन नेत्रोंमें वायुके कारण अवश्य ही पीड़ा बढ़ जाती है ॥ ७७ ॥

दुष्टं पन्थानमासाद्य यो मोहादुपपद्यते ।
आत्मनो बलमज्ञाय तदन्तं तस्य जीवितम् ॥ ७८ ॥

जो अपनी शक्तिको न समझकर मोहवश दुर्गम मार्गपर चल देता है, उसका जीवन वहीं समाप्त हो जाता है ॥ ७८ ॥

यस्तु वर्षमविज्ञाय क्षेत्रं कर्षति कर्षकः ।
हीनः पुरुषकारेण सस्यं नैवाश्नुते ततः ॥ ७९ ॥

जो किसान वर्षाके समयका विचार न करके खेत जोतता है, उसका पुरुषार्थ व्यर्थ जाता है और उस जुताईसे उसे अनाज नहीं मिल पाता ॥ ७९ ॥

यस्तु तिक्तं कषायं वा स्वादु वा मधुरं हितम् ।
आहारं कुरुते नित्यं सोऽमृतत्वाय कल्पते ॥ ८० ॥

जो प्रतिदिन तीता, कसैला, स्वादिष्ट अथवा मधुर भी हो, हितकर भोजन करता है, वही अन्न उसकेलिये अमृतके समान लाभकारी होता है ॥ ८० ॥

पथ्यं मुक्त्वा तु यो मोहाद् दुष्टमश्नाति भोजनम् ।
परिणाममविज्ञाय तदन्तं तस्य जीवितम् ॥ ८१ ॥

परंतु जो परिणामके विचार किये बिना ही मोहवश पथ्य छोड़कर अपथ्य भोजन करता है, उसके जीवनका वहीं अन्त हो जाता है ॥ ८१ ॥

दैवं पुरुषकारश्च स्थितावन्योन्यसंश्रयात् ।
उदाराणां तु सत्कर्म दैवं क्लीवा उपासते ॥ ८२ ॥

दैव और पुरुषार्थ दोनों एक दूसरेके सहारे रहते हैं, परंतु उदार विचारवाले पुरुष सर्वदा शुभ कर्म करते हैं और नपुंसक दैवके भरोसे पड़े रहते हैं ॥ ८२ ॥

कर्म चात्महितं कार्यं तीक्ष्णं वा यदि वा मृदु ।
ग्रस्यतेऽकर्मशीलस्तु सदानर्थैरकिंचनः ॥ ८३ ॥

कठोर अथवा कोमल, जो अपने लिये हितकर हो, वह कर्म करते रहना चाहिये । जो कर्मको छोड़ बैठता है, वह निर्धन होकर सदा अनर्थोंका शिकार बना रहता है ॥ ८३ ॥

तस्मात् सर्वं व्यपोह्यार्थं कार्यं एव पराक्रमः ।
सर्वस्वमपि संत्यज्य कार्यमात्महितं नरैः ॥ ८४ ॥

अतः काल, दैव और स्वभाव आदि सारे पदार्थोंका भरोसा छोड़कर पराक्रम ही करना चाहिये । मनुष्यको सर्वस्वकी बाजी लगाकर भी अपने हितका साधन ही करना चाहिये ॥ ८४ ॥

विद्या शौर्यं च दाक्ष्यं च बलं धैर्यं च पञ्चमम् ।
मित्राणि सहजान्याहुर्वर्तयन्तीह तैर्बुधाः ॥ ८५ ॥

विद्या, शूरवीरता, दक्षता, बल और पाँचवाँ धैर्य—ये पाँच मनुष्यके स्वाभाविक मित्र बताये गये हैं । विद्वा

निवेशनं न कुल्यं न क्षेत्रं भार्या सुहृज्जनः ।
[illegible] सर्वत्र लभते पुमान् ॥ ८६ ॥

[illegible] और सुहृज्जन—ये [illegible] । इन्हें मनुष्य सर्वत्र पा सकता है ॥

सर्वत्र रमते प्राज्ञः सर्वत्र च विराजते ।
न विभीषयते कश्चिद् भीषितो न बिभेति च ॥ ८७ ॥

विद्वान् पुरुष सर्वत्र आनन्दमें रहता है और सर्वत्र उसकी शोभा होती है । उसे कोई डराता नहीं है और किसीके डराने-पर भी वह डरता नहीं है ॥ ८७ ॥

नित्यं बुद्धिमतोऽप्यर्थः स्वल्पकोऽपि विवर्धते ।
दाक्ष्येण कुर्वतः कर्म संयमात् प्रतितिष्ठति ॥ ८८ ॥

बुद्धिमान्‌के पास थोड़ा-सा धन हो तो वह भी सदा बढ़ता रहता है । वह दक्षतापूर्वक काम करते हुए संयमके द्वारा प्रतिष्ठित होता है ॥ ८८ ॥

गृहस्नेहावबद्धानां नराणामल्पमेधसाम् ।
कुस्त्री खादति मांसानि माघमांसे गवा इव ॥ ८९ ॥

घरकी आसक्तिमें बँधे हुए मन्दबुद्धि मनुष्योंके मांसोंको कुटिल स्त्री खा जाती है अर्थात् उसे सुखा डालती है, जैसे केंकड़ेकी मादाको उसकी संतानें ही नष्ट कर देती हैं ॥

गृहं क्षेत्राणि मित्राणि स्वदेश इति चापरे ।
इत्येवमवसीदन्ति नरा बुद्धिविपर्यये ॥ ९० ॥

बुद्धि विपरीत हो जानेसे दूसरे-दूसरे बहुतेरे मनुष्य घर, खेत, मित्र और अपने देश आदिकी चिन्तासे ग्रस्त होकर सदा दुःखी बने रहते हैं ॥ ९० ॥

उत्पतेत् सहजाद् देशाद् व्याधिदुर्भिक्षपीडितात् ।
अन्यत्र वस्तुं गच्छेद् वा वसेद् वा नित्यमानितः ॥९१॥

अपना जन्मस्थान भी यदि रोग और दुर्भिक्षसे पीड़ित हो तो आत्मरक्षाके लिये वहाँसे हट जाना या अन्यत्र निवासके लिये चले जाना चाहिये । यदि वहाँ रहना ही हो तो सदा सम्मानित होकर रहे ॥ ९१ ॥

तस्मादन्यत्र यास्यामि वस्तुं नाहमिहोत्सहे ।
कृतमेतदनार्यं मे तव पुत्रे च पार्थिव ॥ ९२ ॥

भूपाल ! मैंने तुम्हारे पुत्रके साथ दुष्टतापूर्ण बर्ताव किया है, इसलिये मैं अब यहाँ रहनेका साहस नहीं कर सकती, दूसरी जगह चली जाऊँगी ॥ ९२ ॥

कुभार्यां च कुपुत्रं च कुराजानं कुसौहृदम् ।
कुसम्बन्धं कुदेशं च दूरतः परिवर्जयेत् ॥ ९३ ॥

दुष्टा भार्या, दुष्ट पुत्र, कुटिल राजा, दुष्ट मित्र, दूषित सम्बन्ध और दुष्ट देशको दूरसे ही त्याग देना चाहिये ॥९३॥

कुपुत्रे नास्ति विश्वासः कुभार्यायां कुतो रतिः ।
कुराज्ये निर्वृतिर्नास्ति कुदेशे नास्ति जीविका ॥ ९४ ॥

कुपुत्रपर कभी विश्वास नहीं हो सकता । दुष्टा भार्यापर प्रेम कैसे हो सकता है ? कुटिल राजाके राज्यमें कभी शान्ति नहीं मिल सकती और दुष्ट देशमें जीवन-निर्वाह नहीं हो सकता ॥ ९४ ॥

कुमित्रे संगतिर्नास्ति नित्यमस्थिरसौहृदे ।
अवमानः कुसम्बन्धे भवत्यर्थविपर्यये ॥ ९५ ॥

कुमित्रका स्नेह कभी स्थिर नहीं रह सकता, इसलिये उसके साथ सदा मेल बना रहे—यह असम्भव है और जहाँ दूषित सम्बन्ध हो, वहाँ स्वार्थमें अन्तर आनेपर अपमान होने लगता है ॥ ९५ ॥

सा भार्या या प्रियं ब्रूते स पुत्रो यत्र निर्वृतिः ।
तन्मित्रं यत्र विश्वासः स देशो यत्र जीव्यते ॥ ९६ ॥

पत्नी वही अच्छी है, जो प्रिय वचन बोले । पुत्र वही अच्छा है, जिससे सुख मिले । मित्र वही श्रेष्ठ है, जिसपर विश्वास बना रहे और देश भी वही उत्तम है, जहाँ जीविका चल सके ॥९६॥

यत्र नास्ति बलात्कारः स राजा तीव्रशासनः ।
भीरेव नास्ति सम्बन्धो दरिद्रं यो बुभूषते ॥ ९७ ॥

उग्र शासनवाला राजा वही श्रेष्ठ है, जिसके राज्यमें बलात्कार न हो, किसी प्रकारका भय न रहे, जो दरिद्रका पालन करना चाहता हो तथा प्रजाके साथ जिसका पाल्य-पालक सम्बन्ध सदा बना रहे ॥ ९७ ॥

भार्या देशोऽथ मित्राणि पुत्रसम्बन्धिबान्धवाः ।
एते सर्वे गुणवति धर्मनेत्रे महीपतौ ॥ ९८ ॥

जिस देशका राजा गुणवान् और धर्मपरायण होता है, वहाँ स्त्री, पुत्र, मित्र, सम्बन्धी तथा देश सभी उत्तम गुणसे सम्पन्न होते हैं ॥ ९८ ॥

अधर्मज्ञस्य विलयं प्रजा गच्छन्ति निग्रहात् ।
राजा मूलं त्रिवर्गस्य स्वप्रमत्तोऽनुपालयेत् ॥ ९९ ॥

जो राजा धर्मको नहीं जानता, उसके अत्याचारसे प्रजाका नाश हो जाता है । राजा ही धर्म, अर्थ और काम—इन तीनोंका मूल है । अतः उसे पूर्ण सावधान रहकर निरन्तर अपनी प्रजाका पालन करना चाहिये ॥ ९९ ॥

बलिषड्भागमुद्धृत्य बलिं समुपयोजयेत् ।
न रक्षति प्रजाः सम्यग् यः स पार्थिवतस्करः ॥१००॥

जो प्रजाकी आयका छठा भाग कररूपसे ग्रहण करके उसका उपभोग करता है और प्रजाका भलीभाँति पालन नहीं करता, वह तो राजाओंमें चोर है ॥ १०० ॥

दत्त्वाभयं यः स्वयमेव राजा
न तत्प्रमाणं कुरुतेऽर्थलोभात् ।
स सर्वलोकादुपलभ्य पापं
सोऽधर्मबुद्धिर्निरयं प्रयाति ॥१०१॥

जो प्रजाको अभयदान देकर धनके लोभसे स्वयं ही उसका पालन नहीं करता, वह पापबुद्धि राजा सारे जगत्‌का पाप बटोरकर नरकमें जाता है ॥ १०१ ॥

दत्त्वाभयं स्वयं राजा प्रमाणं कुरुते यदि ।
स सर्वसुखकृज्ज्ञेयः प्रजा धर्मेण पालयन् ॥१०२॥

जो अभयदान देकर प्रजाका धर्मपूर्वक पालन करते हुए

स्वयं ही अपनी प्रतिज्ञाको सत्य प्रमाणित कर देता है, वह राजा सबको सुख देनेवाला समझा जाता है ॥ १०२ ॥

माता पिता गुरुर्गोप्ता वह्निर्वैश्रवणो यमः।
सप्त राज्ञो गुणानेतान् मनुराह प्रजापतिः ॥१०३॥

प्रजापति मनुने राजाके सात गुण बताये हैं और उन्हींके अनुसार उसे माता, पिता, गुरु, रक्षक, अग्नि, कुबेर और यमकी उपमा दी है ॥ १०३ ॥

पिता हि राजा राष्ट्रस्य प्रजानां योऽनुकम्पनः।
तस्मिन् मिथ्याविनीतो हि तिर्यग् गच्छति मानवः॥१०४॥

जो राजा प्रजापर सदा कृपा रखता है, वह अपने राष्ट्रके लिये पिताके समान है। उसके प्रति जो मिथ्याभाव प्रदर्शित करता है, वह मनुष्य दूसरे जन्ममें पशु-पक्षीकी योनिमें जाता है ॥ १०४ ॥

सम्भावयति मातेव दीनमप्युपपद्यते।
दहत्यग्निरिवानिष्टान् यमयन्नसतो यमः॥१०५॥

राजा दीन-दुखियोंकी भी सुधि लेता और सबका पालन करता है, इसलिये वह माताके समान है। अपने और प्रजाके अप्रियजनोंको वह जलाता रहता है; अतः अग्निके समान है और दुष्टोंका दमन करके उन्हें संयममें रखता है; इसलिये यम कहा गया है ॥ १०५ ॥

इष्टेषु विसृजन्नर्थान् कुबेर इव कामदः।
गुरुर्धर्मोपदेशेन गोप्ता च परिपालयन् ॥१०६॥

प्रियजनोंको खुले हाथ धन लुटाता है और उनकी कामना पूरी करता है, इसलिये कुबेरके समान है। धर्मका उपदेश करनेके कारण गुरु और सबका संरक्षण करनेके कारण रक्षक है ॥ १०६ ॥

यस्तु रञ्जयते राजा पौरजानपदान् गुणैः।
न तस्य भ्रमते राज्यं स्वयं धर्मानुपालनात् ॥१०७॥

जो राजा अपने गुणोंसे नगर और जनपदके लोगोंको प्रसन्न रखता है, उसका राज्य कभी डावाँडोल नहीं होता; क्योंकि वह स्वयं धर्मका निरन्तर पालन करता रहता है ॥

स्वयं समुपजानन् हि पौरजानपदार्चनम्।
स सुखं प्रेक्षते राजा इह लोके परत्र च ॥१०८॥

जो स्वयं नगर और गाँवोंके लोगोंका सम्मान करना जानता है, वह राजा इहलोक और परलोकमें सर्वत्र सुख-ही-सुख देखता है ॥ १०८ ॥

नित्योद्विग्नाः प्रजा यस्य करभारप्रपीडिताः।
अनर्थैर्विप्रलुप्यन्ते स गच्छति पराभवम् ॥१०९॥

जिसकी प्रजा सर्वदा करके भारसे पीड़ित हो नित्य उद्विग्न रहती है और नाना प्रकारके अनर्थ उसे सताते रहते हैं, वह राजा पराभवको प्राप्त होता है ॥ १०९ ॥

प्रजा यस्य विवर्धन्ते सरसीव महोत्पलम्।
स सर्वफलभाग् राजा स्वर्गलोके महीयते ॥११०॥

इसके विपरीत जिसकी प्रजा सरोवरमें कमलोंके समान विकास एवं वृद्धिको प्राप्त होती रहती है, वह सब प्रकारके पुण्यफलोंका भागी होता है और स्वर्गलोकमें भी सम्मान पाता है॥

बलिना विग्रहो राजन् न कदाचित् प्रशस्यते।
बलिना विग्रहो यस्य कुतो राज्यं कुतः सुखम्॥१११॥

राजन्! बलवान्के साथ युद्ध छेड़ना कभी अच्छा नहीं माना जाता। जिसने बलवान्के साथ झगड़ा मोल ले लिया, उसके लिये कहाँ राज्य है और कहाँ सुख? ॥ १११ ॥

भीष्म उवाच

सैवमुक्त्वा शकुनिका ब्रह्मदत्तं नराधिप।
राजानं समनुज्ञाप्य जगामाभीप्सितां दिशम् ॥११२॥

भीष्मजी कहते हैं—नरेश्वर! राजा ब्रह्मदत्तसे ऐसा कहकर वह पूजनी चिड़िया उनसे विदा ले अभीष्ट दिशाको चली गयी ॥ ११२ ॥

एतत् ते ब्रह्मदत्तस्य पूजन्या सह भाषितम्।
मयोक्तं नृपतिश्रेष्ठ किमन्यच्छ्रोतुमिच्छसि ॥११३॥

नृपश्रेष्ठ! राजा ब्रह्मदत्तका पूजनी चिड़ियाके साथ जो संवाद हुआ था, यह मैंने तुम्हें सुना दिया। अब और क्या सुनना चाहते हो? ॥ ११३ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि आपद्धर्मपर्वणि ब्रह्मदत्तपूजन्योः संवादे एकोनचत्वारिंशदधिकशततमोऽध्यायः॥१३९॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत आपद्धर्मपर्वमें ब्रह्मदत्त और पूजनीका संवादविषयक एक सौ उनतालीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १३९ ॥

चत्वारिंशदधिकशततमोऽध्यायः

भारद्वाज कणिकका सौराष्ट्रदेशके राजाको कूटनीतिका उपदेश

युधिष्ठिर उवाच

युगक्षयात् परिक्षीणे धर्मे लोके च भारत।
दस्युभिः पीड्यमाने च कथं स्थेयं पितामह ॥ १ ॥

युधिष्ठिरने पूछा—भरतनन्दन! पितामह! सत्ययुग, त्रेता और द्वापर—ये तीनों युग प्रायः समाप्त हो रहे हैं, इसलिये जगत्में धर्मका क्षय हो चला है। डाकू और लुटेरे इस धर्ममें और भी बाधा डाल रहे हैं; ऐसे समयमें किस तरह रहना चाहिये? ॥ १ ॥

भीष्म उवाच

अत्र ते वर्तयिष्यामि नीतिमापत्सु भारत।
उत्सृज्यापि घृणां काले यथा वर्तेत भूमिपः ॥ २ ॥

भीष्मजीने कहा—भरतनन्दन! ऐसे समयमें मैं

आपत्तिकालकी यह नीति बता रहा हूँ, जिसके अनुसार बुद्धिमान् राजा [illegible] करके भी समयोचित बर्ताव करना चाहिये ॥ २ ॥

अत्राप्युदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम्।
भारद्वाजस्य संवादं राज्ञः शत्रुंजयस्य च ॥ ३ ॥

इस विषयमें भारद्वाज कणिक तथा राजा शत्रुंजयके संवादरूप एक प्राचीन इतिहासका उदाहरण दिया जाता है ॥

राजा शत्रुंजयो नाम सौवीरेषु महारथः।
भारद्वाजमुपागम्य पप्रच्छार्थविनिश्चयम् ॥ ४ ॥

सौवीरदेशमें शत्रुंजय नामसे प्रसिद्ध एक महारथी राजा थे। उन्होंने भारद्वाज कणिकके पास जाकर अपने कर्तव्यका निश्चय करनेके लिये उनसे इस प्रकार प्रश्न किया—॥

अलब्धस्य कथं लिप्सा लब्धं केन विवर्धते।
वर्धितं पाल्यते केन पालितं प्रणयेत् कथम् ॥ ५ ॥

'अप्राप्त वस्तुकी प्राप्ति कैसे होती है? प्राप्त द्रव्यकी वृद्धि किस तरह हो सकती है? बढ़े हुए द्रव्यकी रक्षा किससे की जाती है? और उस सुरक्षित द्रव्यका सदुपयोग कैसे किया जाना चाहिये?' ॥ ५ ॥

तस्मै विनिश्चितार्थाय परिपृष्टोऽर्थनिश्चयम्।
उवाच ब्राह्मणो वाक्यमिदं हेतुमदुत्तमम् ॥ ६ ॥

राजा शत्रुंजयको शास्त्रका तात्पर्य निश्चितरूपसे ज्ञात था। उन्होंने जब कर्तव्य-निश्चयके लिये प्रश्न उपस्थित किया, तब ब्राह्मण भारद्वाज कणिकने यह युक्तियुक्त उत्तम वचन बोलना आरम्भ किया—॥ ६ ॥

नित्यमुद्यतदण्डः स्यान्नित्यं विवृतपौरुषः।
अच्छिद्रश्छिद्रदर्शी च परेषां विवरानुगः ॥ ७ ॥

'राजाको सर्वदा दण्ड देनेके लिये उद्यत रहना चाहिये और सदा ही पुरुषार्थ प्रकट करना चाहिये। राजा अपनेमें छिद्र अर्थात् दुर्बलता न रहने दे। शत्रुपक्षके छिद्र या दुर्बलता-पर सदा ही दृष्टि रखे और यदि शत्रुओंकी दुर्बलताका पता चल जाय तो उनपर आक्रमण कर दे ॥ ७ ॥

नित्यमुद्यतदण्डस्य भृशमुद्विजते नरः।
तस्मात् सर्वाणि भूतानि दण्डेनैव प्रसाधयेत् ॥ ८ ॥

'जो सदा दण्ड देनेके लिये उद्यत रहता है, उससे प्रजाजन बहुत डरते हैं, इसलिये समस्त प्राणियोंको दण्डके द्वारा ही काबूमें करे ॥ ८ ॥

परं दण्डं प्रशंसन्ति पण्डितास्तत्त्वदर्शिनः।
तस्माच्चतुष्टये तस्मिन् प्रधानो दण्ड उच्यते ॥ ९ ॥

'इस प्रकार तत्त्वदर्शी विद्वान् दण्डकी प्रशंसा करते हैं; अतः साम, दान आदि चारों उपायोंमें दण्डको ही प्रधान बताया जाता है ॥ ९ ॥

छिन्नमूले त्वधिष्ठाने सर्वेषां जीवनं हृतम्।
कथं हि शाखास्तिष्ठेयुश्छिन्नमूले वनस्पतौ ॥ १० ॥

'यदि मूल आधार नष्ट हो जाय तो उसके आश्रयसे जीवन-निर्वाह करनेवाले सभी शत्रुओंका जीवन नष्ट हो जाता है। यदि वृक्षकी जड़ काट दी जाय तो उसकी शाखाएँ कैसे रह सकती हैं? ॥ १० ॥

मूलमेवादितश्छिन्द्यात् परपक्षस्य पण्डितः।
ततः सहायान् पक्षं च मूलमेवानुसाधयेत् ॥ ११ ॥

'विद्वान् पुरुष पहले शत्रुपक्षके मूलका ही उच्छेद कर डाले। तत्पश्चात् उसके सहायकों और पक्षपातियोंको भी उस मूलके पथका ही अनुसरण करावे ॥ ११ ॥

सुमन्त्रितं सुविक्रान्तं सुयुद्धं सुपलायितम्।
आपदास्पदकाले तु कुर्वीत न विचारयेत् ॥ १२ ॥

'संकटकाल उपस्थित होनेपर राजा सुन्दर मन्त्रणा, उत्तम पराक्रम एवं उत्साहपूर्वक युद्ध करे तथा अवसर आ जाय तो सुन्दर ढंगसे पलायन भी करे। आपत्कालके समय आवश्यक कर्म ही करना चाहिये, पर सोच-विचार नहीं करना चाहिये ॥ १२ ॥

वाङ्मात्रेण विनीतः स्याद्धृदयेन यथा क्षुरः।
श्लक्ष्णपूर्वाभिभाषी च कामक्रोधौ विवर्जयेत् ॥ १३ ॥

'राजा केवल बातचीतमें ही अत्यन्त विनयशील हो, हृदयको छुरेके समान तीखा बनाये रखे; पहले मुसकराकर मीठे वचन बोले तथा काम-क्रोधको त्याग दे ॥ १३ ॥

सपत्नसहिते कार्ये कृत्वा सन्धिं न विश्वसेत्।
अपक्रामेत् ततः शीघ्रं कृतकार्यो विचक्षणः ॥ १४ ॥

'शत्रुके साथ किये जानेवाले समझौते आदि कार्यमें संधि करके भी उसपर विश्वास न करे। अपना काम बना लेनेपर बुद्धिमान् पुरुष शीघ्र ही वहाँसे हट जाय ॥ १४ ॥

शत्रुं च मित्ररूपेण सान्त्वेनैवाभिसान्त्वयेत्।
नित्यशश्चोद्विजेत् तस्माद् गृहात् सर्पयुतादिव ॥ १५ ॥

'शत्रुको उसका मित्र बनकर मीठे वचनोंसे ही सान्त्वना देता रहे; परंतु जैसे सर्पयुक्त गृहसे मनुष्य डरता है, उसी प्रकार उस शत्रुसे भी सदा उद्विग्न रहे ॥ १५ ॥

यस्य बुद्धिः परिभवेत् तमतीतेन सान्त्वयेत्।
अनागतेन दुष्प्रज्ञं प्रत्युत्पन्नेन पण्डितम् ॥ १६ ॥

'जिसकी बुद्धि संकटमें पड़कर शोकाभिभूत हो जाय, उसे भूतकालकी बातें (राजा नल तथा भगवान् श्रीराम आदिके जीवन-वृत्तान्त) सुनाकर सान्त्वना दे, जिसकी बुद्धि अच्छी नहीं है, उसे भविष्यमें लाभकी आशा दिलाकर तथा विद्वान् पुरुषको तत्काल ही धन आदि देकर शान्त करे ॥ १६ ॥

अञ्जलिं शपथं सान्त्वं प्रणम्य शिरसा वदेत्।
अश्रुप्रमार्जनं चैव कर्तव्यं भूतिमिच्छता ॥ १७ ॥

'ऐश्वर्य चाहनेवाले राजाको चाहिये कि वह अवसर देखकर शत्रुके सामने हाथ जोड़े, शपथ खाय, आश्वासन दे और चरणोंमें सिर झुकाकर बातचीत करे। इतना ही नहीं, वह धीरज देकर उसके आँसूतक पोंछे ॥ १७ ॥

वहेदमित्रं स्कन्धेन यावत्कालस्य पर्ययः।

प्राप्तकालं तु विज्ञाय भिन्द्याद् घटमिवाश्मनि ॥ १८ ॥

'जबतक समय बदलकर अपने अनुकूल न हो जाय, तबतक शत्रुको कंधेपर बिठाकर ढोना पड़े तो वह भी करे; परंतु जब अनुकूल समय आ जाय, तब उसे उसी प्रकार नष्ट कर दे, जैसे घड़ेको पत्थरपर पटककर फोड़ दिया जाता है ॥१८॥

मुहूर्तमपि राजेन्द्र तिन्दुकालातवज्ज्वलेत् ।
न तुषाग्निरिवानर्चिर्धूमायेत चिरं नरः ॥ १९ ॥

'राजेन्द्र ! दो ही घड़ी सही, मनुष्य तिन्दुककी लकड़ीकी मशालके समान जोर-जोरसे प्रज्वलित हो उठे (शत्रुके सामने घोर पराक्रम प्रकट करे), दीर्घकालतक भूसीकी आगके समान विना ज्वालाके ही धूआँ न उठावे (मन्द पराक्रमका परिचय न दे) ॥ १९ ॥

नानार्थिकोऽर्थसम्बन्धं कृतघ्नेन समाचरेत् ।
अर्थी तु शक्यते भोक्तुं कृतकार्योऽवमन्यते ।
तस्मात् सर्वाणि कार्याणि सावशेषाणि कारयेत् ॥ २० ॥

'अनेक प्रकारके प्रयोजन रखनेवाला मनुष्य कृतघ्नके साथ आर्थिक सम्बन्ध न जोड़े, किसीका भी काम पूरा न करे, क्योंकि जो अर्थी (प्रयोजन-सिद्धिकी इच्छावाला) होता है, उससे तो बारंबार काम लिया जा सकता है; परंतु जिसका प्रयोजन सिद्ध हो जाता है, वह अपने उपकारी पुरुषकी उपेक्षा कर देता है; इसलिये दूसरोंके सारे कार्य (जो अपने द्वारा होनेवाले हों) अधूरे ही रखने चाहिये ॥ २० ॥

कोकिलस्य वराहस्य मेरोः शून्यस्य वेश्मनः ।
नटस्य भक्तिमित्रस्य यच्छ्रेयस्तत् समाचरेत् ॥ २१ ॥

'कोयल, सूअर, सुमेरु पर्वत, शून्यगृह, नट तथा अनुरक्त सुहृद्—इनमें जो श्रेष्ठ गुण या विशेषताएँ हैं, उन्हें राजा काममें लावे* ॥ २१ ॥

उत्थायोत्थाय गच्छेत नित्ययुक्तो रिपोर्गृहान् ।
कुशलं चास्य पृच्छेत यद्यप्यकुशलं भवेत् ॥ २२ ॥

'राजाको चाहिये कि वह प्रतिदिन उठ-उठकर पूर्ण सावधान हो शत्रुके घर जाय और उसका अमङ्गल ही क्यों न हो रहा हो, सदा उसकी कुशल पूछे और मङ्गल-कामना करे ॥२२॥

नालसाः प्राप्नुवन्त्यर्थान् न क्लीबा नाभिमानिनः।
न च लोकरवाद् भीता न वै शश्वत् प्रतीक्षिणः॥ २३ ॥

'जो आलसी हैं, कायर हैं, अभिमानी हैं, लोकचर्चासे डरनेवाले और सदा समयकी प्रतीक्षामें बैठे रहनेवाले हैं, ऐसे लोग अपने अभीष्ट अर्थको नहीं पा सकते ॥ २३ ॥

नात्मच्छिद्रं रिपुर्विद्याद् विद्याच्छिद्रं परस्य तु ।
गूहेत् कूर्म इवाङ्गानि रक्षेद् विवरमात्मनः ॥ २४ ॥

'राजा इस तरह सतर्क रहे कि उसके छिद्रका शत्रुको पता न चले, परंतु वह शत्रुके छिद्रको जान ले । जैसे कछुआ अपने सब अङ्गोंको समेटकर छिपा लेता है, उसी प्रकार राजा अपने छिद्रोंको छिपाये रखे ॥ २४ ॥

बकवच्चिन्तयेदर्थान् सिंहवच्च पराक्रमेत् ।
वृकवच्चावलुम्पेत शरवच्च विनिष्पतेत् ॥ २५ ॥

'राजा बगुलेके समान एकाग्रचित्त होकर कर्तव्यविषयका चिन्तन करे । सिंहके समान पराक्रम प्रकट करे । भेड़ियेकी भाँति सहसा आक्रमण करके शत्रुका धन लूट ले तथा बाणकी भाँति शत्रुओंपर टूट पड़े ॥ २५ ॥

पानमक्षास्तथा नार्यो मृगया गीतवादितम् ।
एतानि युक्त्या सेवेत प्रसंगो ह्यत्र दोषवान् ॥ २६ ॥

'पान, जूआ, स्त्री, शिकार तथा गाना-बजाना—इन सबका संयमपूर्वक अनासक्तभावसे सेवन करे; क्योंकि इनमें आसक्ति होना अनिष्टकारक है ॥ २६ ॥

कुर्यात् तृणमयं चापं शयीत मृगशायिकाम् ।
अन्धः स्यादन्धवेलायां बाधिर्यमपि संश्रयेत् ॥ २७ ॥

'राजा बाँसका धनुष बनावे, हिरनके समान चौकन्ना होकर सोये, अंधा बने रहनेयोग्य समय हो तो अंधेका भाव किये रहे और अवसरके अनुसार बहरेका भाव भी स्वीकार कर ले ॥ २७ ॥

देशकालौ समासाद्य विक्रमेत विचक्षणः ।
देशकालव्यतीतो हि विक्रमो निष्फलो भवेत् ॥ २८ ॥

'बुद्धिमान् पुरुष देश और कालको अपने अनुकूल पाकर पराक्रम प्रकट करे । देश-कालकी अनुकूलता न होनेपर किया गया पराक्रम निष्फल होता है ॥ २८ ॥

कालाकालौ सम्प्रधार्य बलाबलमथात्मनः ।
परस्य च बलं ज्ञात्वा तत्रात्मानं नियोजयेत् ॥ २९ ॥

'अपने लिये समय अच्छा है या खराब ? अपना पक्ष प्रबल है या निर्बल ? इन सब बातोंका निश्चय करके तथा शत्रुके भी बलको समझकर युद्ध या संधिके कार्यमें अपने आपको लगावे ॥ २९ ॥

दण्डेनोपनतं शत्रुं यो राजा न नियच्छति ।
स मृत्युमुपगृह्णाति गर्भमश्वतरी यथा ॥ ३० ॥

'जो राजा दण्डसे नतमस्तक हुए शत्रुको पाकर भी उसे नष्ट नहीं कर देता, वह अपनी मृत्युको आमन्त्रित करता है । ठीक उसी तरह, जैसे खच्चरी मौतके लिये ही गर्भ धारण करती है ॥ ३० ॥

सुपुष्पितः स्यादफलः फलवान् स्याद् दुरारुहः ।
आमः स्यात् पक्वसंकाशो न च शीर्येत कस्यचित्॥ ३१ ॥

'नीतिज्ञ राजा ऐसे वृक्षके समान रहे, जिसमें फूल तो खूब लगे हों, परंतु फल न हो । फल लगनेपर भी उसपर चढ़ना अत्यन्त कठिन हो, वह रहे तो कच्चा, पर दीखे पकेके

* कोयलका श्रेष्ठ गुण है कण्ठकी मधुरता, सूअरके आक्रमणको रोकना कठिन है; यही उसकी विशेषता है; मेरुका गुण है सबसे अधिक उन्नत होना, सूने घरकी विशेषता है अनेकको आश्रय देना, नटका गुण है, दूसरोंको अपने क्रिया-कौशलद्वारा संतुष्ट करना तथा अनुरक्त सुहृद्की विशेषता है हितपरायणता । ये सारे गुण राजाको अपनाने चाहिये ।

[illegible] न हो ॥ ३१ ॥

[illegible] न चित्तेन योजयेत्।
[illegible] चापि हेतुतः ॥ ३२ ॥

[illegible] पैदा करे, उसमें [illegible] कारण बता दे और उस [illegible] ॥ ३२ ॥

[illegible] यावद् भयमनागतम्।
[illegible] तु भयं दृष्ट्वा प्रहर्तव्यमभीतवत् ॥ ३३ ॥

[illegible] ऊपर भय न आया हो, तबतक डरे [illegible] उसे टालनेका प्रयत्न करना चाहिये; परंतु जब [illegible] आया हुआ देखे तो निडर होकर शत्रुपर प्रहार [illegible] ॥ ३३ ॥

न संशयमनारुह्य नरो भद्राणि पश्यति।
संशयं पुनरारुह्य यदि जीवति पश्यति ॥ ३४ ॥

[illegible] प्राणोंका संशय हो, ऐसे कष्टको स्वीकार किये बिना [illegible] दर्शन नहीं कर पाता। प्राण-संकटमें पड़- [illegible] पुनः जीवित रह जाता है तो अपना भला [illegible] ॥ ३४ ॥

अनागतं विजानीयाद् यच्छेद् भयमुपस्थितम्।
पुनर्वृद्धिभयात् किंचिदनिवृत्तं निशामयेत् ॥ ३५ ॥

भविष्यमें जो संकट आनेवाले हों, उन्हें पहलेसे ही जाननेका [illegible] करे और जो भय सामने उपस्थित हो जाय, उसे [illegible] चेष्टा करे। दबा हुआ भय भी पुनः बढ़ सकता है, [illegible] यही समझे कि अभी वह निवृत्त ही नहीं हुआ है (और ऐसा समझकर सतत सावधान रहे) ॥ ३५ ॥

प्रत्युपस्थितकालस्य सुखस्य परिवर्जनम्।
अनागतसुखाशा च नैव बुद्धिमतां नयः ॥ ३६ ॥

[illegible] सुलभ होनेका समय आ गया हो, उस सुखको त्याग देना और भविष्यमें मिलनेवाले सुखकी आशा करना— यह बुद्धिमानोंकी नीति नहीं है ॥ ३६ ॥

योऽरिणा सह संधाय सुखं स्वपिति विश्वसन्।
स वृक्षाग्रे प्रसुप्तो वा पतितः प्रतिबुध्यते ॥ ३७ ॥

जो शत्रुके साथ संधि करके विश्वासपूर्वक सुखसे सोता है, वह उसी मनुष्यके समान है, जो वृक्षकी शाखापर गाढ़ी नींदमें सो गया हो। ऐसा पुरुष नीचे गिरने (शत्रुद्वारा संकट- में पड़ने) पर ही सजग या सचेत होता है ॥ ३७ ॥

कर्मणा येन तेनैव मृदुना दारुणेन च।
उद्धरेद् दीनमात्मानं समर्थो धर्ममाचरेत् ॥ ३८ ॥

[illegible] कोमल या कठोर, जिस किसी भी उपायसे सम्भव [illegible] दीनदशासे अपना उद्धार करे। इसके बाद शक्तिशाली [illegible] धर्माचरण करे ॥ ३८ ॥

ये सपत्नाः सपत्नानां सर्वांस्तानुपसेवयेत्।
आत्मनश्चापि बोद्धव्याश्चारा विनिहिताः परैः ॥ ३९ ॥

[illegible] शत्रुके शत्रु हों, उन सबका सेवन करना चाहिये। अपने ऊपर शत्रुओंद्वारा जो गुप्तचर नियुक्त किये गये हों, उनको भी पहचाननेका प्रयत्न करे ॥ ३९ ॥

चारस्त्वविदितः कार्य आत्मनोऽथ परस्य च।
पाषण्डांस्तापसादींश्च परराष्ट्रे प्रवेशयेत् ॥ ४० ॥

'अपने तथा शत्रुके राज्यमें ऐसे गुप्तचर नियुक्त करे, जिसको कोई जानता-पहचानता न हो। शत्रुके राज्योंमें पाखण्डवेषधारी और तपस्वी आदिको ही गुप्तचर बनाकर भेजना चाहिये ॥ ४० ॥

उद्यानेषु विहारेषु प्रपास्वावसथेषु च।
पानागारे प्रवेशेषु तीर्थेषु च सभासु च ॥ ४१ ॥

'वे गुप्तचर बगीचा, घूमने-फिरनेके स्थान, पौंसला, धर्मशाला, मदविक्रीके स्थान, नगरके प्रवेशद्वार, तीर्थस्थान और सभाभवन—इन सब स्थलोंमें विचरें ॥ ४१ ॥

धर्माभिचारिणः पापाश्चौरा लोकस्य कण्टकाः।
समागच्छन्ति तान् बुद्ध्वा नियच्छेच्छमयीत च ॥ ४२ ॥

'कपटपूर्ण धर्मका आचरण करनेवाले, पापात्मा, चोर तथा जगत्के लिये कण्टकरूप मनुष्य वहाँ छद्मवेष धारण करके आते रहते हैं, उन सबका पता लगाकर उन्हें कैद कर ले अथवा भय दिखाकर उनकी पापवृत्ति शान्त कर दे ॥ ४२ ॥

न विश्वसेदविश्वस्ते विश्वस्ते नातिविश्वसेत्।
विश्वासाद् भयमभ्येति नापरीक्ष्य च विश्वसेत् ॥ ४३ ॥

'जो विश्वासपात्र नहीं है, उसपर कभी विश्वास न करे, परंतु जो विश्वासपात्र है, उसपर भी अधिक विश्वास न करे; क्योंकि अधिक विश्वाससे भय उत्पन्न होता है, अतः बिना जाँचे-बूझे किसीपर भी विश्वास न करे ॥ ४३ ॥

विश्वासयित्वा तु परं तत्त्वभूतेन हेतुना।
अथास्य प्रहरेत् काले किंचिद् विचलिते पदे ॥ ४४ ॥

'किसी यथार्थ कारणसे शत्रुके मनमें विश्वास उत्पन्न करके जब कभी उसका पैर लड़खड़ाता देखे अर्थात् उसे कमजोर समझे तभी उसपर प्रहार कर दे ॥ ४४ ॥

अशङ्क्यमपि शङ्केत नित्यं शङ्केत शङ्कितात्।
भयं ह्यशङ्किताज्जातं समूलमपि कृन्तति ॥ ४५ ॥

'जो संदेह करने योग्य न हो, ऐसे व्यक्तिपर भी संदेह करे—उसकी ओरसे चौकन्ना रहे और जिससे भयकी आशङ्का हो, उसकी ओरसे तो सदा सब प्रकारसे सावधान रहे ही; क्योंकि जिसकी ओरसे भयकी आशङ्का नहीं है, उसकी ओर- से यदि भय उत्पन्न होता है तो वह जड़मूलसहित नष्ट कर देता है ॥ ४५ ॥

अवधानेन मौनेन काषायेण जटाजिनैः।
विश्वासयित्वा द्वेष्टारमवलुम्पेद् यथा वृकः ॥ ४६ ॥

'शत्रुके हितके प्रति मनोयोग दिखाकर, मौनव्रत लेकर, गेरुआ वस्त्र पहनकर तथा जटा और मृगचर्म धारण करके अपने प्रति विश्वास उत्पन्न करे और जब विश्वास हो जाय तो मौका देखकर भूखे भेड़ियेकी तरह शत्रुपर टूट पड़े ॥ ४६ ॥

पुत्रो वा यदि वा भ्राता पिता वा यदि वा सुहृत्।
अर्थस्य विघ्नं कुर्वाणा हन्तव्या भूतिमिच्छता ॥ ४७ ॥

'पुत्र, भाई, पिता अथवा मित्र जो भी अर्थप्राप्तिमें विघ्न डालनेवाले हों, उन्हें ऐश्वर्य चाहनेवाला राजा अवश्य मार डाले ॥ ४७ ॥

गुरोरप्यवलिप्तस्य कार्याकार्यमजानतः।
उत्पथं प्रतिपन्नस्य दण्डो भवति शासनम् ॥ ४८ ॥

'यदि गुरु भी घमंडमें भरकर कर्तव्य और अकर्तव्यको नहीं समझ रहा हो और बुरे मार्गपर चलता हो तो उसके लिये भी दण्ड देना उचित है; दण्ड उसे राहपर लाता है ॥ ४८ ॥

अभ्युत्थानाभिवादाभ्यां सम्प्रदानेन केनचित्।
प्रतिपुष्पफलाघाती तीक्ष्णतुण्ड इव द्विजः ॥ ४९ ॥

'शत्रुके आनेपर उठकर उसका स्वागत करे, उसे प्रणाम करे और कोई अपूर्व उपहार दे। इन सब बर्तावोंके द्वारा पहले उसे वशमें करे। इसके बाद ठीक वैसे ही जैसे तीखी चोंचवाला पक्षी वृक्षके प्रत्येक फूल और फलपर चोंच मारता है, उसी प्रकार उसके साधन और साध्यपर आघात करे ॥

नाच्छित्त्वा परमर्माणि नाकृत्वा कर्म दारुणम्।
नाहत्वा मत्स्यघातीव प्राप्नोति महतीं श्रियम् ॥ ५० ॥

'राजा मछलीमारोंकी भाँति दूसरोंके मर्म विदीर्ण किये बिना, अत्यन्त क्रूर कर्म किये बिना तथा बहुतोंके प्राण लिये बिना बड़ी भारी सम्पत्ति नहीं पा सकता है ॥ ५० ॥

नास्ति जात्या रिपुर्नाम मित्रं वापि न विद्यते।
सामर्थ्ययोगाज्जायन्ते मित्राणि रिपवस्तथा ॥ ५१ ॥

'कोई जन्मसे ही मित्र अथवा शत्रु नहीं होता है। सामर्थ्य-योगसे ही शत्रु और मित्र उत्पन्न होते रहते हैं ॥ ५१ ॥

अमित्रं नैव मुञ्चेत वदन्तं करुणान्यपि।
दुःखं तत्र न कर्तव्यं हन्यात् पूर्वापकारिणम् ॥ ५२ ॥

'शत्रु करुणाजनक वचन बोल रहा हो तो भी उसे मारे बिना न छोड़े। जिसने पहले अपना अपकार किया हो, उसको अवश्य मार डाले और उसमें दुःख न माने ॥ ५२ ॥

संग्रहानुग्रहे यत्नः सदा कार्योऽनसूयता।
निग्रहश्चापि यत्नेन कर्तव्यो भूतिमिच्छता ॥ ५३ ॥

'ऐश्वर्यकी इच्छा रखनेवाला राजा दोषदृष्टिका परित्याग करके सदा लोगोंको अपने पक्षमें मिलाये रखने तथा दूसरोंपर अनुग्रह करनेके लिये यत्नशील बना रहे और शत्रुओंका दमन भी प्रयत्नपूर्वक करे ॥ ५३ ॥

प्रहरिष्यन् प्रियं ब्रूयात् प्रहृत्यैव प्रियोत्तरम्।
असिनापि शिरश्छित्त्वा शोचेत च रुदेत च ॥ ५४ ॥

'प्रहार करनेके लिये उद्यत होकर भी प्रिय वचन बोले, प्रहार करनेके पश्चात् भी प्रिय वाणी ही बोले, तलवारसे शत्रुका मस्तक काटकर भी उसके लिये शोक करे और रोये ॥ ५४ ॥

निमन्त्रयीत सान्त्वेन सम्मानेन तितिक्षया।
लोकाराधनमित्येतत् कर्तव्यं भूतिमिच्छता ॥ ५५ ॥

'ऐश्वर्यकी इच्छा रखनेवाले राजाको मधुर वचन बोलकर दूसरोंका सम्मान करके और सहनशील होकर लोगोंको अपने पास आनेके लिये निमन्त्रित करना चाहिये, यही लोककी आराधना अथवा साधारण जनताका सम्मान है। इसे अवश्य करना चाहिये ॥ ५५ ॥

न शुष्कवैरं कुर्वीत बाहुभ्यां न नदीं तरेत्।
अनर्थकमनायुष्यं गोविषाणस्य भक्षणम्।
दन्ताश्च परिमृज्यन्ते रसश्चापि न लभ्यते ॥ ५६ ॥

'सूखा वैर न करे तथा दोनों बाँहोंसे तैरकर नदीके पार न जाय। यह निरर्थक और आयुनाशक कर्म है। यह कुत्तेके द्वारा गायका सींग चबाने-जैसा कार्य है, जिससे उसके दाँत भी रगड़ उठते हैं और रस भी नहीं मिलता है ॥ ५६ ॥

त्रिवर्गे त्रिविधा पीडानुबन्धास्त्रय एव च।
अनुबन्धाः शुभा ज्ञेयाः पीडाश्च परिवर्जयेत् ॥ ५७ ॥

'धर्म, अर्थ और काम—इन त्रिविध पुरुषार्थोंके सेवनमें लोभ, मूर्खता और दुर्बलता—यह तीन प्रकारकी बाधा—अड़चन उपस्थित होती है। उसी प्रकार उनके शान्ति, सर्वहित-कारी कर्म और उपभोग—ये तीन ही प्रकारके फल होते हैं। इन (तीनों प्रकारके) फलोंको शुभ जानना चाहिये; परंतु (उक्त तीनों प्रकारकी) बाधाओंसे यत्नपूर्वक बचना चाहिये॥

ऋणशेषमग्निशेषं शत्रुशेषं तथैव च।
पुनः पुनः प्रवर्धन्ते तस्माच्छेषं न धारयेत् ॥ ५८ ॥

'ऋण, अग्नि और शत्रुमेंसे कुछ बाकी रह जाय तो वह बारंबार बढ़ता रहता है; इसलिये इनमेंसे किसीको शेष नहीं छोड़ना चाहिये ॥ ५८ ॥

वर्धमानमृणं तिष्ठेत् परिभूताश्च शत्रवः।
जनयन्ति भयं तीव्रं व्याधयश्चाप्युपेक्षिताः ॥ ५९ ॥

'यदि बढ़ता हुआ ऋण रह जाय, तिरस्कृत शत्रु जीवित रहें और उपेक्षित रोग शेष रह जायँ तो ये सब तीव्र भय उत्पन्न करते हैं ॥ ५९ ॥

नासम्यक्कृतकारी स्यादप्रमत्तः सदा भवेत्।
कण्टकोऽपि हि दुश्छिन्नो विकारं कुरुते चिरम् ॥ ६० ॥

'किसी कार्यको अच्छी तरह सम्पन्न किये बिना न छोड़े और सदा सावधान रहे। शरीरमें गड़ा हुआ काँटा भी यदि पूर्णरूपसे निकाल न दिया जाय—उसका कुछ भाग शरीरमें ही टूटकर रह जाय तो वह चिरकालतक विकार उत्पन्न करता है ॥ ६० ॥

वधेन च मनुष्याणां मार्गाणां दूषणेन च।
अगाराणां विनाशैश्च परराष्ट्रं विनाशयेत् ॥ ६१ ॥

'मनुष्योंका वध करके, सड़कें तोड़-फोड़कर और घरोंको नष्ट-भ्रष्ट करके शत्रुके राष्ट्रका विध्वंस करना चाहिये ॥ ६१ ॥

गृध्रदृष्टिर्बकालीनः श्वचेष्टः सिंहविक्रमः।

अनुद्विग्नः काकशङ्की भुजङ्गचरितं चरेत् ॥ ६२ ॥

राजा गीधके समान दूरतक दृष्टि डाले, बगुलेके समान लक्ष्यपर दृष्टि जमाये, कुत्तेके समान चौकन्ना रहे और सिंह-के समान पराक्रम प्रकट करे, मनमें उद्वेगको स्थान न दे, कौएकी भाँति सशङ्क रहकर दूसरोंकी चेष्टापर ध्यान रक्खे और भूमिके बिलमें प्रवेश करनेवाले सर्पके समान शत्रुका छिद्र देखकर उसपर आक्रमण करे ॥ ६२ ॥

शूरमञ्जलिपातेन भीरुं भेदेन भेदयेत् ।
लुब्धमर्थप्रदानेन समं तुल्येन विग्रहः ॥ ६३ ॥

जो राजा शूरवीर हो, उसे हाथ जोड़कर वशमें करे, जो डरपोक हो, उसे भय दिखाकर फोड़ ले, लोभीको धन देकर काबूमें कर ले तथा जो बराबर हो उसके साथ युद्ध छेड़ दे ॥ ६३ ॥

श्रेणीमुख्योपजापेषु वल्लभानुनयेषु च ।
अमात्यान् परिरक्षेत भेदसंघातयोरपि ॥ ६४ ॥

अनेक जातिके लोग जो एक कार्यके लिये संगठित होकर अपना दल बना लेते हैं, उस दलको श्रेणी कहते हैं। ऐसी श्रेणियोंके जो प्रधान हैं, उनमें जब भेद डाला जा रहा हो और अपने मित्रोंको अनुनय-विनयके द्वारा जब दूसरे लोग अपनी ओर खींच रहे हों तथा जब सब ओर भेदनीति और दलबंदीके जाल बिछाये जा रहे हों, ऐसे अवसरोंपर अपने मन्त्रियोंकी पूर्णरूपसे रक्षा करनी चाहिये (न तो वे फूटने पावें और न स्वयं ही कोई दल बनाकर अपने विरुद्ध कार्य करने पावें। इसके लिये सतत सावधान रहना चाहिये) ॥

मृदुरित्यवजानन्ति तीक्ष्ण इत्युद्विजन्ति च ।
तीक्ष्णकाले भवेत् तीक्ष्णो मृदुकाले मृदुर्भवेत् ॥ ६५ ॥

'राजा सदा कोमल रहे तो लोग उसकी अवहेलना करते हैं और सदा कठोर बना रहे तो उससे उद्विग्न हो उठते हैं, अतः जब वह कठोरता दिखानेका समय हो तो कठोर बने और जब कोमलतापूर्ण बर्ताव करनेका अवसर हो तो कोमल बन जाय ॥ ६५ ॥

मृदुनैव मृदुं हन्ति मृदुना हन्ति दारुणम् ।
नासाध्यं मृदुना किंचित् तस्मात् तीक्ष्णतरो मृदुः ॥ ६६ ॥

'बुद्धिमान् राजा कोमल उपायसे कोमल शत्रुका नाश करता है और कोमल उपायसे ही दारुण शत्रुका भी संहार कर डालता है। कोमल उपायसे कुछ भी असाध्य नहीं है; अतः कोमल ही अत्यन्त तीक्ष्ण है ॥ ६६ ॥

काले मृदुर्यो भवति काले भवति दारुणः ।
प्रसाधयति कृत्यानि शत्रुं चाप्यधितिष्ठति ॥ ६७ ॥

'जो समयपर कोमल होता है और समयपर कठोर बन जाता है, वह अपने सारे कार्य सिद्ध कर लेता है और शत्रु-पर भी उसका अधिकार हो जाता है ॥ ६७ ॥

पण्डितेन विरुद्धः सन् दूरस्थोऽस्मीति नाश्वसेत् ।
दीर्घौ बुद्धिमतो बाहू याभ्यां हिंसति हिंसितः ॥ ६८ ॥

'विद्वान् पुरुषसे विरोध करके 'मैं दूर हूँ' ऐसा समझ-कर निश्चिन्त नहीं होना चाहिये; क्योंकि बुद्धिमान्की बाँहें बहुत बड़ी होती हैं (उसके द्वारा किये गये प्रतीकारके उपाय दूरतक प्रभाव डालते हैं); अतः यदि बुद्धिमान् पुरुषपर चोट की गयी तो वह अपनी उन विशाल भुजाओंद्वारा दूरसे भी शत्रुका विनाश कर सकता है ॥ ६८ ॥

न तत् तरेद् यस्य न पारमुत्तरे-
न्न तद्धरेद् यत् पुनराहरेत् परः ।
न तत् खनेद् यस्य न मूलमुद्धरे-
न्न तं हन्याद् यस्य शिरो न पातयेत् ॥ ६९ ॥

'जिसके पार न उतर सके, उस नदीको तैरनेका साहस न करे। जिसको शत्रु पुनः बलपूर्वक वापस ले सके ऐसे धन-का अपहरण ही न करे। ऐसे वृक्ष या शत्रुको खोदने या नष्ट करनेकी चेष्टा न करे जिसकी जड़को उखाड़ फेंकना सम्भव न हो सके तथा उस वीरपर आघात न करे, जिसका मस्तक काटकर धरतीपर गिरा न सके ॥ ६९ ॥

इतीदमुक्तं वृजिनाभिसंहितं
न चैतदेवं पुरुषः समाचरेत् ।
परप्रयुक्ते न कथं विभावये-
दतो मयोक्तं भवतो हितार्थिना ॥ ७० ॥

'यह जो मैंने शत्रुके प्रति पापपूर्ण बर्तावका उपदेश किया है, इसे समर्थ पुरुष सम्पत्तिके समय कदापि आचरणमें न लावे। परंतु जब शत्रु ऐसे ही बर्तावोंद्वारा अपने ऊपर संकट उपस्थित कर दे, तब उसके प्रतीकारके लिये वह इन्हीं उपायोंको काममें लानेका विचार क्यों न करे, इसीलिये तुम्हारे हितकी इच्छासे मैंने यह सब कुछ बताया है' ॥ ७० ॥

यथावदुक्तं वचनं हितार्थिना
निशम्य विप्रेण सुवीरराष्ट्रपः ।
तथाकरोद् वाक्यमदीनचेतनः
श्रियं च दीप्तां बुभुजे सबान्धवः ॥ ७१ ॥

हितार्थी ब्राह्मण भारद्वाज कणिककी कही हुई उन यथार्थ बातोंको सुनकर सौवीरदेशके राजाने उनका यथोचितरूपसे पालन किया, जिससे वे बन्धु-बान्धवोंसहित समुज्ज्वल राज-लक्ष्मीका उपभोग करने लगे ॥ ७१ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि आपद्धर्मपर्वणि कणिकोपदेशे चत्वारिंशदधिकशततमोऽध्यायः ॥ १४० ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत आपद्धर्मपर्वमें कणिकका उपदेशविषयक एक सौ चालीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १४० ॥

एकचत्वारिंशदधिकशततमोऽध्यायः

'ब्राह्मण भयंकर संकटकालमें किस तरह जीवन निर्वाह करे' इस विषयमें विश्वामित्र मुनि और चाण्डालका संवाद

युधिष्ठिर उवाच

हीने परमके धर्मे सर्वलोकाभिलङ्घिते ।
अधर्मे धर्मतां नीते धर्मे चाधर्मतां गते ॥ १ ॥
मर्यादासु विनष्टासु क्षुभिते धर्मनिश्चये ।
राजभिः पीडिते लोके परैर्वापि विशाम्पते ॥ २ ॥
सर्वाश्रमेषु मूढेषु कर्मसूपहतेषु च ।
कामाल्लोभाच्च मोहाच्च भयं पश्यत्सु भारत ॥ ३ ॥
अविश्वस्तेषु सर्वेषु नित्यं भीतेषु पार्थिव ।
निकृत्या हन्यमानेषु वञ्चयत्सु परस्परम् ॥ ४ ॥
सम्प्रदीप्तेषु देशेषु ब्राह्मणे चातिपीडिते ।
अवर्षति च पर्जन्ये मिथो भेदे समुत्थिते ॥ ५ ॥
सर्वस्मिन् दस्युसाद् भूते पृथिव्यामुपजीवने ।
केनस्विद् ब्राह्मणो जीवेज्जघन्ये काल आगते ॥ ६ ॥

युधिष्ठिरने पूछा—प्रजानाथ ! भरतनन्दन ! भूपालशिरोमणे ! जब सब लोगोंके द्वारा धर्मका उल्लङ्घन होनेके कारण श्रेष्ठ धर्म क्षीण हो चले, अधर्मको धर्म मान लिया जाय और धर्मको अधर्म समझा जाने लगे, सारी मार्यादाएँ नष्ट हो जायँ, धर्मका निश्चय डावाँडोल हो जाय, राजा अथवा शत्रु प्रजाको पीड़ा देने लगें, सभी आश्रम किंकर्तव्यविमूढ़ हो जायँ, धर्म कर्म नष्ट हो जायँ, काम, लोभ तथा मोहके कारण सबको सर्वत्र भय दिखायी देने लगे, किसीका किसीपर विश्वास न रह जाय, सभी सदा डरते रहें, लोग धोखेसे एक दूसरेको मारने लगें, सभी आपसमें ठगी करने लगें, देशमें सब ओर आग लगायी जाने लगे, ब्राह्मण अत्यन्त पीडित हो जायँ, वृष्टि न हो, परस्पर वैर-विरोध और फूट बढ़ जाय और पृथ्वीपर जीविकाके सारे साधन लुटेरोंके अधीन हो जायँ, तब ऐसा अधम समय उपस्थित होनेपर ब्राह्मण किस उपायसे जीवन-निर्वाह करे ? ॥ १–६ ॥

अतितिक्षुः पुत्रपौत्राननुक्रोशान्नराधिप ।
कथमापत्सु वर्तेत तन्मे ब्रूहि पितामह ॥ ७ ॥

नरेश्वर ! पितामह ! यदि ब्राह्मण ऐसी आपत्तिके समय दयावश अपने पुत्र-पौत्रोंका परित्याग करना न चाहे तो वह कैसे जीविका चलावे, यह मुझे बतानेकी कृपा करें ॥ ७ ॥

कथं च राजा वर्तेत लोके कलुषतां गते ।
कथमर्थाच्च धर्माच्च न हीयेत परंतप ॥ ८ ॥

परंतप ! जब लोग पापपरायण हो जायँ, उस अवस्थामें राजा कैसा बर्ताव करे, जिससे वह धर्म और अर्थसे भी भ्रष्ट न हो ? ॥ ८ ॥

भीष्म उवाच

राजमूला महाबाहो योगक्षेमसुवृष्टयः ।
प्रजासु व्याधयश्चैव मरणं च भयानि च ॥ ९ ॥

भीष्मजीने कहा—महाबाहो ! प्रजाके योग, क्षेम, उत्तम वृष्टि, व्याधि, मृत्यु और भय—इन सबका मूल कारण राजा ही है ॥ ९ ॥

कृतं त्रेतां द्वापरं च कलिश्च भरतर्षभ ।
राजमूला इति मतिर्मम नास्त्यत्र संशयः ॥ १० ॥

भरतश्रेष्ठ ! सत्ययुग, त्रेता, द्वापर और कलियुग—इन सबका मूल कारण राजा ही है, ऐसा मेरा विचार है । इसकी सत्यतामें मुझे तनिक भी संदेह नहीं है ॥ १० ॥

तस्मिंस्त्वभ्यागते काले प्रजानां दोषकारके ।
विज्ञानबलमास्थाय जीवितव्यं भवेत् तदा ॥ ११ ॥

प्रजाओंके लिये दोष उत्पन्न करनेवाले ऐसे भयानक समयके आनेपर ब्राह्मणको विज्ञान-बलका आश्रय लेकर जीवन-निर्वाह करना चाहिये ॥ ११ ॥

अत्राप्युदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम् ।
विश्वामित्रस्य संवादं चाण्डालस्य च पक्कणे ॥ १२ ॥

इस विषयमें चाण्डालके घरमें चाण्डाल और विश्वामित्रका जो संवाद हुआ था, उस प्राचीन इतिहासका उदाहरण लोग दिया करते हैं ॥ १२ ॥

त्रेताद्वापरयोः संधौ तदा दैवविधिक्रमात् ।
अनावृष्टिरभूद् घोरा लोके द्वादशवार्षिकी ॥ १३ ॥

त्रेता और द्वापरके संधिकी बात है, दैववश संसारमें बारह वर्षोंतक भयंकर अनावृष्टि हो गयी (वर्षा हुई ही नहीं) ॥

प्रजानामतिवृद्धानां युगान्ते समुपस्थिते ।
त्रेताविमोक्षसमये द्वापरप्रतिपादने ॥ १४ ॥

त्रेतायुग प्रायः बीत गया था, द्वापरका आरम्भ हो रहा था, प्रजाएँ बहुत बढ़ गयी थीं, जिनके लिये वर्षा बंद हो जानेसे प्रलयकाल-सा उपस्थित हो गया ॥ १४ ॥

न ववर्ष सहस्राक्षः प्रतिलोमोऽभवद् गुरुः ।
जगाम दक्षिणं मार्गं सोमो व्यावृत्तलक्षणः ॥ १५ ॥

इन्द्रने वर्षा बंद कर दी थी, बृहस्पति प्रतिलोम (वक्री) हो गया था, चन्द्रमा विकृत हो गया था और वह दक्षिण मार्गपर चला गया था ॥ १५ ॥

नावश्यायोऽपि तत्राभूत् कुत एवाभ्रजातयः ।
नद्यः संक्षिप्ततोयौघाः किंचिदन्तर्गतास्ततः ॥ १६ ॥

उन दिनों कुहासा भी नहीं होता था, फिर बादल कहाँसे उत्पन्न होते । नदियोंका जलप्रवाह अत्यन्त क्षीण हो गया और कितनी ही नदियाँ अदृश्य हो गयीं ॥ १६ ॥

सरांसि सरितश्चैव कूपाः प्रस्रवणानि च ।
हतत्विषो न लक्ष्यन्ते निसर्गाद् दैवकारितात् ॥ १७ ॥

[illegible] हुए और सबने भी उन [illegible] पीड़ित होकर [illegible] ॥ १७ ॥

[illegible] विनिवृत्तसभाप्रपा ।
[illegible] निर्वषट्कारमङ्गला ॥ १८ ॥
[illegible] निवृत्तविपणापणा ।
[illegible] विप्रणष्टमहोत्सवा ॥ १९ ॥

[illegible] भाग गये । जलाभावके [illegible] गये । भूमण्डल यज्ञ और स्वाध्यायका [illegible] । वषट्कार और माङ्गलिक उत्सवोंका कहीं [illegible] । खेती और गोरक्षा चौपट हो गयी, [illegible] । यूप और यज्ञोंका आयोजन समाप्त [illegible] उत्सव नष्ट हो गये ॥ १८-१९ ॥

[illegible]संचयसंकीर्णा महाभूतरवाकुला ।
शून्यभूयिष्ठनगरा दग्धग्रामनिवेशना ॥ २० ॥

[illegible] हड्डियोंके ढेर लग गये । प्राणियोंके महान् आर्तनाद सब ओर व्याप्त हो रहे थे । नगरके अधिकांश भाग उजाड़ हो गये थे तथा गाँव और घर जल गये थे ॥ २० ॥

क्वचिच्चोरैः क्वचिच्छस्त्रैः क्वचिद् राजभिरातुरैः ।
परस्परभयाच्चैव शून्यभूयिष्ठनिर्जना ॥ २१ ॥

कहीं चोरोंसे, कहीं अस्त्र-शस्त्रोंसे, कहीं राजाओंसे और कहीं क्षुधातुर मनुष्योंद्वारा उपद्रव खड़ा होनेके कारण तथा पारस्परिक भयसे भी वसुधाका बहुत बड़ा भाग उजाड़ होकर निर्जन वन गया था ॥ २१ ॥

गतदैवतसंस्थाना वृद्धबालविनाकृता ।
गोजाविमहिषीहीना परस्परपराहता ॥ २२ ॥

देवालय तथा मठ-मन्दिर आदि संस्थाएँ उठ गयी थीं, बालक और बूढ़े मर गये थे, गाय, भेड़, बकरी और भैंसें प्रायः समाप्त हो गयी थीं, क्षुधातुर प्राणी एक दूसरेपर आघात करते थे ॥ २२ ॥

हतविप्रा हतारक्षा प्रणष्टौषधिसंचया ।
सर्वभूतकृशप्राया बभूव वसुधा तदा ॥ २३ ॥

ब्राह्मण नष्ट हो गये थे, रक्षकवृन्दका भी विनाश हो गया था, ओषधियोंके समूह (अनाज और फल आदि) भी नष्ट हो गये थे, वसुधापर सब ओर समस्त प्राणियोंका हाहाकार व्याप्त हो रहा था ॥ २३ ॥

तस्मिन् प्रतिभये काले क्षते धर्मे युधिष्ठिर ।
बभूवुः क्षुधिता मर्त्याः खादमानाः परस्परम् ॥ २४ ॥

युधिष्ठिर ! ऐसे भयंकर समयमें धर्मका नाश हो जानेके कारण भूखसे पीड़ित हुए मनुष्य एक दूसरेको खाने लगे ॥२४॥

ऋषयो नियमांस्त्यक्त्वा परित्यज्याग्निदेवताः ।
आश्रमान् सन्त्यज्य पर्यधावन्नितस्ततः ॥ २५ ॥

[illegible] नियम और अग्निहोत्र त्यागकर अपने आश्रमोंको भी छोड़कर भोजनके लिये इधर-उधर दौड़ रहे थे ॥ २५ ॥

विश्वामित्रोऽथ भगवान् महर्षिरनिकेतनः ।
क्षुधापरिगतो धीमान् समन्तात् पर्यधावत ॥ २६ ॥

इन्हीं दिनों बुद्धिमान् महर्षि भगवान् विश्वामित्र भूखसे पीड़ित हो घर छोड़कर चारों ओर दौड़ लगा रहे थे ॥२६॥

त्यक्त्वा दारांश्च पुत्रांश्च कस्मिंश्च जनसंसदि ।
भक्ष्याभक्ष्यसमो भूत्वा निरग्निरनिकेतनः ॥ २७ ॥

उन्होंने अपनी पत्नी और पुत्रोंको किसी जनसमुदायमें छोड़ दिया और स्वयं अग्निहोत्र तथा आश्रम त्यागकर भक्ष्य और अभक्ष्यमें समान भाव रखते हुए विचरने लगे ॥ २७ ॥

स कदाचित् परिपतञ्श्वपचानां निवेशनम् ।
हिंस्राणां प्राणिघातानामाससाद वने क्वचित् ॥ २८ ॥

एक दिन वे किसी वनके भीतर प्राणियोंका वध करनेवाले हिंसक चाण्डालोंकी बस्तीमें गिरते-पड़ते जा पहुँचे ॥२८॥

विभिन्नकलशाकीर्णं श्वचर्मच्छेदनायुतम् ।
वराहखरभग्नास्थिकपालघटसंकुलम् ॥ २९ ॥

वहाँ चारों ओर टूटे-फूटे घरोंके खपरे और ठीकरे बिखरे पड़े थे, कुत्तोंके चमड़े छेदनेवाले हथियार रक्खे हुए थे, सूअरों और गदहोंकी टूटी हड्डियाँ, खपड़े और घड़े वहाँ सब ओर भरे दिखायी दे रहे थे ॥ २९ ॥

मृतचैलपरिस्तीर्णं निर्माल्यकृतभूषणम् ।
सर्पनिर्मोकमालाभिः कृतचिह्नकुटीमठम् ॥ ३० ॥

मुर्दोंके ऊपरसे उतारे गये कपड़े चारों ओर फैलाये गये थे और वहींसे उतारे हुए फूलकी मालाओंसे उन चाण्डालोंके घर सजे हुए थे । चाण्डालोंकी कुटियों और मठोंको सर्पकी केंचुलोंकी मालाओंसे विभूषित एवं चिह्नित किया गया था ॥

कुक्कुटारावबहुलं गर्दभध्वनिनादितम् ।
उद्घोषद्भिः खरैर्वाक्यैः कलहद्भिः परस्परम् ॥ ३१ ॥

उस पल्लीमें सब ओर मुर्गोंकी 'कुकुहूकू' की आवाज गूँज रही थी । गदहोंके रेंकनेकी ध्वनि भी प्रतिध्वनित हो रही थी । वे चाण्डाल आपसमें झगड़ा-फसाद करके कठोर वचनोंद्वारा एक दूसरेको कोसते हुए कोलाहल मचा रहे थे ॥३१॥

उलूकपक्षिध्वनिभिर्देवतायतनैर्वृतम् ।
लोहघण्टापरिष्कारं श्वयूथपरिवारितम् ॥ ३२ ॥

वहाँ कई देवालय थे, जिनके भीतर उल्लू पक्षीकी आवाज गूँजती रहती थी । वहाँके घरोंको लोहेकी घंटियोंसे सजाया गया था और झुंड-के-झुंड कुत्ते उन घरोंको घेरे हुए थे ॥ ३२ ॥

तत् प्रविश्य क्षुधाविष्टो विश्वामित्रो महानृषिः ।
आहारान्वेषणे युक्तः परं यत्नं समास्थितः ॥ ३३ ॥

उस बस्तीमें घुसकर भूखसे पीड़ित हुए महर्षि विश्वामित्र आहारकी खोजमें लगकर उसके लिये महान् प्रयत्न करने लगे ॥

न च क्वचिदविन्दत् स भिक्षमाणोऽपि कौशिकः ।
मांसमन्नं फलं मूलमन्यद् वा तत्र किञ्चन ॥ ३४ ॥

विश्वामित्र वहाँ घर-घर घूम-घूमकर भीख माँगते फिरे, परंतु कहीं भी उन्हें मांस, अन्न, फल, मूल या दूसरी कोई वस्तु प्राप्त न हो सकी ॥ ३४ ॥

अहो कृच्छ्रं मया प्राप्तमिति निश्चित्य कौशिकः ।
पपात भूमौ दौर्बल्यात् तस्मिश्चाण्डालपक्कणे ॥ ३५ ॥

'अहो ! यह तो मुझपर बड़ा भारी संकट आ गया ।' ऐसा सोचते-सोचते विश्वामित्र अत्यन्त दुर्बलताके कारण वहीं एक चाण्डालके घरमें पृथ्वीपर गिर पड़े ॥ ३५ ॥

स चिन्तयामास मुनिः किं नु मे सुकृतं भवेत् ।
कथं वृथा न मृत्युः स्यादिति पार्थिवसत्तम ॥ ३६ ॥

नृपश्रेष्ठ ! अब वे मुनि यह विचार करने लगे कि किस तरह मेरा भला होगा ? क्या उपाय किया जाय, जिससे अन्नके बिना मेरी व्यर्थ मृत्यु न हो सके ? ॥ ३६ ॥

स ददर्श श्वमांसस्य कुतन्त्रीं विततां मुनिः ।
चाण्डालस्य गृहे राजन् सद्यः शस्त्रहतस्य वै ॥ ३७ ॥

राजन् ! इतनेहीमें उन्होंने देखा कि चाण्डालके घरमें तुरंतके शस्त्रद्वारा मारे हुए कुत्तेकी जाँघके मांसका एक बड़ा-सा टुकड़ा पड़ा है ॥ ३७ ॥

स चिन्तयामास तदा स्तैन्यं कार्यमितो मया ।
न हीदानीमुपायो मे विद्यते प्राणधारणे ॥ ३८ ॥

तब मुनिने सोचा कि 'मुझे यहाँसे इस मांसकी चोरी करनी चाहिये; क्योंकि इस समय मेरे लिये अपने प्राणोंकी रक्षाका दूसरा कोई उपाय नहीं है ॥ ३८ ॥

आपत्सु विहितं स्तैन्यं विशिष्टसमहीनतः ।
विप्रेण प्राणरक्षार्थं कर्तव्यमिति निश्चयः ॥ ३९ ॥

'आपत्तिकालमें प्राणरक्षाके लिये ब्राह्मणको श्रेष्ठ, समान तथा हीन मनुष्यके घरसे चोरी कर लेना उचित है, यह शास्त्रका निश्चित विधान है ॥ ३९ ॥

हीनादादेयमादौ स्यात् समानात् तदनन्तरम् ।
असम्भवे वाऽऽददीत विशिष्टादपि धार्मिकात् ॥ ४० ॥

'पहले हीनपुरुषके घरसे उसे भक्ष्य पदार्थकी चोरी करना चाहिये । वहाँ काम न चले तो अपने समान व्यक्तिके घरसे खानेकी वस्तु लेनी चाहिये, यदि वहाँ भी अभीष्टसिद्धि न हो सके तो अपनेसे विशिष्ट धर्मात्मा पुरुषके यहाँसे वह खाद्य वस्तुका अपहरण कर ले ॥ ४० ॥

सोऽहमन्त्यावसायानां हराम्येनां प्रतिग्रहात् ।
न स्तैन्यदोषं पश्यामि हरिष्यामि श्वजाघनीम् ॥ ४१ ॥

'अतः इन चाण्डालोंके घरसे मैं यह कुत्तेकी जाँघ चुराये लेता हूँ । किसीके यहाँ दान लेनेसे अधिक दोष मुझे इस चोरीमें नहीं दिखायी देता है; अतः अवश्य इसका अपहरण करूँगा' ॥ ४१ ॥

एतां बुद्धिं समास्थाय विश्वामित्रो महामुनिः ।
तस्मिन् देशे स सुष्वाप श्वपचो यत्र भारत ॥ ४२ ॥

भरतनन्दन ! ऐसा निश्चय करके महामुनि विश्वामित्र उसी स्थानपर सो गये, जहाँ चाण्डाल रहा करते थे ॥ ४२ ॥

स विगाढां निशां दृष्ट्वा सुप्ते चाण्डालपक्कणे ।
शनैरुत्थाय भगवान् प्रविवेश कुटीमठम् ॥ ४३ ॥

जब प्रगाढ़ अन्धकारसे युक्त आधी रात हो गयी और चाण्डालके घरके सभी लोग सो गये, तब भगवान् विश्वामित्र धीरेसे उठकर उस चाण्डालकी कुटियामें घुस गये ॥ ४३ ॥

स सुप्त इव चाण्डालः श्लेष्मापिहितलोचनः ।
परिभिन्नस्वरो रूक्षः प्रोवाचाप्रियदर्शनः ॥ ४४ ॥

वह चाण्डाल सोया हुआ जान पड़ता था । उसकी आँखें कीचड़से बंद-सी हो गयी थीं; परंतु वह जागता था । वह देखनेमें बड़ा भयानक था । स्वभावका रूखा भी प्रतीत होता था । मुनिको आया देख वह फटे हुए स्वरमें बोल उठा ॥

श्वपच उवाच

कः कुतन्त्रीं घट्टयति सुप्ते चाण्डालपक्कणे ।
जागर्मि नात्र सुप्तोऽस्मि हतोऽसीति च दारुणः ॥ ४५ ॥
विश्वामित्रस्ततो भीतः सहसा तमुवाच ह ।
तत्र व्रीडाकुलमुखः सोद्वेगस्तेन कर्मणा ॥ ४६ ॥

चाण्डालने कहा—अरे ! चाण्डालोंके घरोंमें तो सब लोग सो गये हैं । फिर कौन यहाँ आकर कुत्तेकी जाँघ लेनेकी चेष्टा कर रहा है ? मैं जागता हूँ, सोया नहीं हूँ । मैं देखता हूँ, तू मारा गया । उस क्रूर स्वभाववाले चाण्डालने जब ऐसी बात कही, तब विश्वामित्र उससे डर गये । उनके मुखपर लज्जा घिर आयी । वे उस नीच कर्मसे उद्विग्न हो सहसा बोल उठे—॥ ४५-४६ ॥

विश्वामित्रोऽहमायुष्मन्नागतोऽहं बुभुक्षितः ।
मा वधीर्मम सद्बुद्धे यदि सम्यक् प्रपश्यसि ॥ ४७ ॥

'आयुष्मन् ! मैं विश्वामित्र हूँ । भूखसे पीड़ित होकर यहाँ आया हूँ । उत्तम बुद्धिवाले चाण्डाल ! यदि तू ठीक-ठीक देखता और समझता है तो मेरा वध न कर' ॥ ४७ ॥

चाण्डालस्तद् वचः श्रुत्वा महर्षेर्भावितात्मनः ।
शयनादुपसम्भ्रान्त उद्ययौ प्रति तं ततः ॥ ४८ ॥

पवित्र अन्तःकरणवाले उस महर्षिका वह वचन सुनकर चाण्डाल घबराकर अपनी शय्यासे उठा और उनके पास चला गया ॥ ४८ ॥

स विसृज्याश्रु नेत्राभ्यां बहुमानात् कृताञ्जलिः ।
उवाच कौशिकं रात्रौ ब्रह्मन् किं ते चिकीर्षितम् ॥ ४९ ॥

उसने बड़े आदरके साथ हाथ जोड़कर नेत्रोंसे आँसू बहाते हुए वहाँ विश्वामित्रजीसे कहा—'ब्रह्मन् ! इस रातके समय आपकी यह कैसी चेष्टा है ?—आप क्या करना चाहते हैं ?' ॥ ४९ ॥

[illegible] परिसान्त्वयन् ।
[illegible] हरिष्यामि श्वजाघनीम् ॥ ५० ॥

[illegible] देते हुए कहा—'भाई! [illegible] हूँ। [illegible] हैं; अतः मैं यह कुत्तेकी [illegible] ॥ ५० ॥

क्षुधितः कलुषं यातो नास्ति ह्रीरशनार्थिनः ।
क्षुन्मां दूषयत्यत्र हरिष्यामि श्वजाघनीम् ॥ ५१ ॥

'भूखके मारे यह पापकर्म करनेपर उतर आया हूँ। भोजनकी इच्छावाले भूखे मनुष्यको कुछ भी करनेमें लज्जा नहीं लगती। भूख ही मुझे कलुषित कर रही है, अतः मैं यह कुत्तेकी जाँघ ले जाऊँगा ॥ ५१ ॥

अवसीदन्ति मे प्राणाः श्रुतिर्मे नश्यति क्षुधा ।
दुर्बलो नष्टसंज्ञश्च भक्ष्याभक्ष्यविवर्जितः ॥ ५२ ॥

'मेरे प्राण शिथिल हो रहे हैं। क्षुधासे मेरी श्रवणशक्ति नष्ट होती जा रही है। मैं दुबला हो गया हूँ। मेरी चेतना लुप्त-सी हो रही है; अतः अब मुझमें भक्ष्य और अभक्ष्यका विचार नहीं रह गया है ॥ ५२ ॥

सोऽधर्मं बुद्ध्यमानोऽपि हरिष्यामि श्वजाघनीम् ।
अटन् भैक्ष्यं न विन्दामि यदा युष्माकमालये ॥ ५३ ॥
तदा बुद्धिः कृता पापे हरिष्यामि श्वजाघनीम् ।

'मैं जानता हूँ कि यह अधर्म है तो भी यह कुत्तेकी जाँघ ले जाऊँगा। मैं तुमलोगोंके घरोंपर घूम-घूमकर माँगनेपर भी जब भीख नहीं पा सका हूँ, तब मैंने यह पापकर्म करनेका विचार किया है; अतः कुत्तेकी जाँघ ले जाऊँगा ॥ ५३½ ॥

अग्निर्मुखं पुरोधाश्च देवानां शुचिपाड् विभुः ॥ ५४ ॥
यथावत् सर्वभुग् ब्रह्मा तथा मां विद्धि धर्मतः ।

'अग्निदेव देवताओंके मुख हैं, पुरोहित हैं, पवित्र द्रव्य ही ग्रहण करते हैं और महान् प्रभावशाली हैं तथापि वे जैसे अवस्थाके अनुसार सर्वभक्षी हो गये हैं, उसी प्रकार मैं ब्राह्मण होकर भी सर्वभक्षी बनूँगा; अतः तुम धर्मतः मुझे ब्राह्मण ही समझो' ॥ ५४½ ॥

तमुवाच स चाण्डालो महर्षे शृणु मे वचः ॥ ५५ ॥
श्रुत्वा तत् त्वं तथाऽऽतिष्ठ यथा धर्मो न हीयते ।

तब चाण्डालने उनसे कहा—'महर्षे! मेरी बात सुनिये और उसे सुनकर ऐसा काम कीजिये, जिससे आपका धर्म नष्ट न हो ॥ ५५½ ॥

धर्मं चापि विप्रर्षे शृणु यत् ते ब्रवीम्यहम् ॥ ५६ ॥
मृगाणामधमं श्वानं प्रवदन्ति मनीषिणः ।
तस्याप्यधम उद्देशः शरीरस्य श्वजाघनी ॥ ५७ ॥

'महर्षे! मैं आपके लिये भी जो धर्मकी ही बात बता रहा हूँ, उसे सुनिये। मनीषी पुरुष कहते हैं कि कुत्ता सियारसे भी अधम होता है। कुत्तेके शरीरमें भी उसकी जाँघका भाग सबसे अधम होता है ॥ ५६-५७ ॥

नेदं सम्यग् व्यवसितं महर्षे धर्मगर्हितम् ।
चाण्डालस्वस्य हरणमभक्ष्यस्य विशेषतः ॥ ५८ ॥

'महर्षे! आपने जो निश्चय किया है, यह ठीक नहीं है, चाण्डालके धनका, उसमें भी विशेषरूपसे अभक्ष्य पदार्थका अपहरण धर्मकी दृष्टिसे अत्यन्त निन्दित है ॥ ५८ ॥

साध्वन्यमनुपश्य त्वमुपायं प्राणधारणे ।
न मांसलोभात् तपसो नाशस्ते स्यान्महामुने ॥ ५९ ॥

'महामुने! अपने प्राणोंकी रक्षाके लिये कोई दूसरा अच्छा-सा उपाय सोचिये। मांसके लोभसे आपकी तपस्याका नाश नहीं होना चाहिये ॥ ५९ ॥

जानता विहितं धर्मं न कार्यो धर्मसंकरः ।
मा स्म धर्मं परित्याक्षीस्त्वं हि धर्मभृतां वरः ॥ ६० ॥

'आप शास्त्रविहित धर्मको जानते हैं, अतः आपके द्वारा धर्मसंकरताका प्रचार नहीं होना चाहिये। धर्मका त्याग न कीजिये; क्योंकि आप धर्मात्माओंमें श्रेष्ठ समझे जाते हैं' ॥ ६० ॥

विश्वामित्रस्ततो राजन्नित्युक्तो भरतर्षभ ।
क्षुधार्तः प्रत्युवाचेदं पुनरेव महामुनिः ॥ ६१ ॥

भरतश्रेष्ठ! नरेश्वर! चाण्डालके ऐसा कहनेपर क्षुधासे पीड़ित हुए महामुनि विश्वामित्रने उसे इस प्रकार उत्तर दिया— ॥ ६१ ॥

निराहारस्य सुमहान् मम कालोऽभिधावतः ।
न विद्यतेऽप्युपायश्च कश्चिन्मे प्राणधारणे ॥ ६२ ॥

'मैं भोजन न मिलनेके कारण उसकी प्राप्तिके लिये इधर-उधर दौड़ रहा हूँ। इसी प्रयत्नमें एक लंबा समय व्यतीत हो गया, किंतु मेरे प्राणोंकी रक्षाके लिये अबतक कोई उपाय हाथ नहीं आया ॥ ६२ ॥

येन येन विशेषेण कर्मणा येन केनचित् ।
अभ्युज्जीवेत् साद्यमानः समर्थो धर्ममाचरेत् ॥ ६३ ॥

'जो भूखों मर रहा हो, वह जिस-जिस उपायसे अथवा जिस किसी भी कर्मसे सम्भव हो, अपने जीवनकी रक्षा करे, फिर समर्थ होनेपर वह धर्मका आचरण कर सकता है ॥ ६३ ॥

ऐन्द्रो धर्मः क्षत्रियाणां ब्राह्मणानामथाग्निकः ।
ब्रह्मवह्निर्मम बलं भक्ष्यामि शमयन् क्षुधाम् ॥ ६४ ॥

'इन्द्रदेवताका जो पालनरूप धर्म है, वही क्षत्रियोंका भी है और अग्निदेवका जो सर्वभक्षित्व नामक गुण है, वह ब्राह्मणोंका है। मेरा बल वेदरूपी अग्नि है; अतः मैं क्षुधाकी शान्तिके लिये सब कुछ भक्षण करूँगा ॥ ६४ ॥

यथा यथैव जीवेद्धि तत् कर्तव्यमहेलया ।
जीवितं मरणाच्छ्रेयो जीवन् धर्ममवाप्नुयात् ॥ ६५ ॥

'जैसे-जैसे ही जीवन सुरक्षित रहे, उसे बिना अवहेलनाके करना चाहिये। मरनेसे जीवित रहना श्रेष्ठ है, क्योंकि जीवित पुरुष पुनः धर्मका आचरण कर सकता है ॥ ६५ ॥

सोऽहं जीवितमाकाङ्क्षन्नभक्ष्यस्यापि भक्षणम् ।

व्यवस्ये बुद्धिपूर्वं वै तद् भवाननुमन्यताम् ॥ ६६ ॥

'इसलिये मैंने जीवनकी आकाङ्क्षा रखकर इस अभक्ष्य पदार्थका भी भक्षण कर लेनेका बुद्धिपूर्वक निश्चय किया है। इसका तुम अनुमोदन करो ॥ ६६ ॥

बलवन्तं करिष्यामि प्रणोत्स्याम्यशुभानि तु ।
तपोभिर्विद्यया चैव ज्योतींषीव महत्तमः ॥ ६७ ॥

'जैसे सूर्य आदि ज्योतिर्मय ग्रह महान् अन्धकारका नाश कर देते हैं, उसी प्रकार मैं पुनः तप और विद्याद्वारा जब अपने आपको सबल कर लूँगा, तब सारे अशुभ कर्मोंका नाश कर डालूँगा' ॥ ६७ ॥

श्वपच उवाच

नैतत् खादन् प्राप्नुते दीर्घमायु-
र्नैव प्राणान्नामृतस्येव तृप्तिः ।
भिक्षामन्यां भिक्ष मा ते मनोऽस्तु
श्वभक्षणे श्वा ह्यभक्ष्यो द्विजानाम् ॥ ६८ ॥

चाण्डालने कहा—मुने ! इसे खाकर कोई बहुत बड़ी आयु नहीं प्राप्त कर सकता । न तो इससे प्राणशक्ति प्राप्त होती है और न अमृतके समान तृप्ति ही होती है; अतः आप कोई दूसरी भिक्षा माँगिये । कुत्तेका मांस खानेकी ओर आपका मन नहीं जाना चाहिये । कुत्ता द्विजोंके लिये अभक्ष्य है॥

विश्वामित्र उवाच

न दुर्भिक्षे सुलभं मांसमन्य-
च्छ्वपाक मन्ये न च मेऽस्ति वित्तम् ।
क्षुधार्तश्चाहमगतिर्निराशः
श्वमांसे चास्मिन् षड्रसान् साधु मन्ये ॥

विश्वामित्र बोले—श्वपाक ! सारे देशमें अकाल पड़ा है; अतः दूसरा कोई मांस सुलभ नहीं होगा, यह मेरी दृढ़ मान्यता है । मेरे पास धन नहीं है कि मैं भोज्य पदार्थ खरीद सकूँ, इधर भूखसे मेरा बुरा हाल है । मैं निराश्रय तथा निराश हूँ । मैं समझता हूँ कि मुझे इस कुत्तेके मांसमें ही षड्रस भोजनका आनन्द भलीभाँति प्राप्त होगा ॥ ६९ ॥

श्वपच उवाच

पञ्च पञ्चनखा भक्ष्या ब्रह्मक्षत्रस्य वै विशः ।
यथा शास्त्रं प्रमाणं ते माभक्ष्ये मानसं कृथाः ॥ ७० ॥

चाण्डालने कहा—ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्यके लिये पाँच नखोंवाले पाँच प्रकारके प्राणी आपत्कालमें भक्ष्य बताये गये है । यदि आप शास्त्रको प्रमाण मानते हैं तो अभक्ष्य पदार्थकी ओर मन न ले जाइये ॥ ७० ॥

विश्वामित्र उवाच

अगस्त्येनासुरो जग्धो वातापिः क्षुधितेन वै ।
अहमापद्गतः क्षुत्तो भक्षयिष्ये श्वजाघनीम् ॥ ७१ ॥

विश्वामित्र बोले—भूखे हुए महर्षि अगस्त्यने वातापि नामक असुरको खा लिया था । मैं तो क्षुधाके कारण भारी आपत्तिमें पड़ गया हूँ; अतः यह कुत्तेकी जाँघ अवश्य खाऊँगा ॥ ७१ ॥

श्वपच उवाच

भिक्षामन्यामाहरेति न च कर्तुमिहार्हसि ।
न नूनं कार्यमेतद् वै हर कामं श्वजाघनीम् ॥ ७२ ॥

चाण्डालने कहा—मुने ! आप दूसरी भिक्षा ले आइये । इसे ग्रहण करना आपके लिये उचित नहीं है । आपकी इच्छा हो तो यह कुत्तेकी जाँघ ले जाइये; परंतु मैं निश्चितरूपसे कहता हूँ कि आपको इसका भक्षण नहीं करना चाहिये ॥ ७२ ॥

विश्वामित्र उवाच

शिष्टा वै कारणं धर्मे तद्वृत्तमनुवर्तये ।
परां मेध्याशनामेनां भक्ष्यां मन्ये श्वजाघनीम् ॥ ७३ ॥

विश्वामित्र बोले—शिष्टपुरुष ही धर्मकी प्रवृत्तिके कारण हैं । मैं उन्हींके आचारका अनुसरण करता हूँ; अतः इस कुत्तेकी जाँघको मैं पवित्र भोजनके समान ही भक्षणीय मानता हूँ ॥ ७३ ॥

श्वपच उवाच

असता यत् समाचीर्णं न च धर्मः सनातनः ।
नाकार्यमिह कार्यं वै मा छलेनाशुभं कृथाः ॥ ७४ ॥

चाण्डालने कहा—किसी असाधु पुरुषने यदि कोई अनुचित कार्य किया हो तो वह सनातन धर्म नहीं माना जायगा; अतः आप यहाँ न करने योग्य कर्म न कीजिये । कोई बहाना लेकर पाप करनेपर उतारू न हो जाइये ॥ ७४ ॥

विश्वामित्र उवाच

न पातकं नावमतमृषिः सन् कर्तुमर्हति ।
समौ च श्वमृगौ मन्ये तस्माद् भोक्ष्ये श्वजाघनीम् ॥ ७५ ॥

विश्वामित्र बोले—कोई श्रेष्ठ ऋषि ऐसा कर्म नहीं कर सकता, जो पातक हो अथवा जिसकी निन्दा की गयी हो। कुत्ते और मृग दोनों ही पशु होनेके कारण मेरे मतमें समान हैं, अतः मैं यह कुत्तेकी जाँघ अवश्य खाऊँगा ॥ ७५ ॥

श्वपच उवाच

यद् ब्राह्मणार्थे कृतमर्थितेन
तेनर्षिणा तदवस्थाधिकारे ।
स वै धर्मो यत्र न पापमस्ति
सर्वैरुपायैर्गुरवो हि रक्ष्याः ॥ ७६ ॥

चाण्डालने कहा—महर्षि अगस्त्यने ब्राह्मणोंकी रक्षाके लिये प्रार्थना की जानेपर वैसी अवस्थामें वातापिका भक्षणरूप कार्य किया था (उनके वैसा करनेसे बहुत-से ब्राह्मणोंकी रक्षा हो गयी; अन्यथा वह राक्षस उन सबको खा जाता; अतः महर्षिका वह कार्य धर्म ही था) । धर्म वही है, जिसमें लेशमात्र भी पाप न हो । ब्राह्मण गुरुजन हैं; अतः सभी उपायोंसे उनकी एवं उनके धर्मकी रक्षा करनी चाहिये ॥ ७६ ॥

विश्वामित्र उवाच

[illegible] मे प्राण[illegible]
[illegible] मे पुण्यतमश्च लोके।
[illegible] भर्तुकामोऽहमिमां जिहीर्षे
[illegible]नामभिध्यानो न बिभ्ये ॥ ७७ ॥

विश्वामित्र बोले—(यदि अपने प्राणोंकी रक्षा-के लिये यह कार्य किया गया तो मैं भी मित्रकी रक्षाके लिये [illegible] शरीर मेरा मित्र ही है। यही जगत्-[illegible] परम प्रिय और आदरणीय है। इसीको जीवित रखनेके लिये मैं यह कुत्तेकी जाँघ ले जाना चाहता हूँ, अतः [illegible] मुझे तनिक भी भय नहीं होता है ॥७७॥

श्वपच उवाच

कामं नरा जीवितं संत्यजन्ति
न चाभक्ष्ये क्वचित् कुर्वन्ति बुद्धिम्।
सर्वान् कामान् प्राप्नुवन्तीह विद्वन्
प्रियस्व कामं सहितः क्षुधैव ॥ ७८ ॥

चाण्डालने कहा—विद्वन्! अच्छे पुरुष अपने प्राणों-का परित्याग भले ही कर दें, परंतु वे कभी अभक्ष्य-भक्षण-का विचार नहीं करते हैं। इसीसे वे अपनी सम्पूर्ण कामनाओं-को प्राप्त कर लेते हैं; अतः आप भी भूखके साथ ही—उपवास-द्वारा ही अपनी मनःकामनाकी पूर्ति कीजिये ॥ ७८ ॥

विश्वामित्र उवाच

स्थाने भवेत् संशयः प्रेत्यभावे
निःसंशयः कर्मणां वै विनाशः।
अहं पुनर्व्रतनित्यः शमात्मा
मूलं रक्ष्यं भक्षयिष्याम्यभक्ष्यम्॥ ७९ ॥

विश्वामित्र बोले—यदि उपवास करके प्राण दे दिया जाय तो मरनेके बाद क्या होगा? यह संशययुक्त बात है; परंतु ऐसा करनेसे पुण्यकर्मोंका विनाश होगा, इसमें संशय नहीं है, (क्योंकि शरीर ही धर्माचरणका मूल है) अतः मैं जीवनरक्षाके पश्चात् फिर प्रतिदिन व्रत एवं शम, दम आदि-में तत्पर रहकर पापकर्मोंका प्रायश्चित्त कर लूँगा। इस समय तो धर्मके मूलभूत शरीरकी ही रक्षा करना आवश्यक है; अतः मैं इस अभक्ष्य पदार्थका भक्षण करूँगा ॥ ७९ ॥

बुद्ध्यात्मके व्यक्तमस्तीति पुण्यं
मोहात्मके यत्र यथा श्वभक्ष्ये।
यद्यप्येतत् संशयात्मा चरामि
नाहं भविष्यामि यथा त्वमेव ॥ ८० ॥

यह कुत्तेका मांस-भक्षण दो प्रकारसे हो सकता है—एक बुद्धि और विचारपूर्वक तथा दूसरा अज्ञान एवं आसक्ति-पूर्वक। बुद्धि एवं विचारद्वारा सोचकर धर्मके मूल तथा ज्ञान-प्राप्तिके साधनभूत शरीरकी रक्षामें पुण्य है, यह बात स्वतः स्पष्ट हो जाती है। इसी तरह मोह एवं आसक्तिपूर्वक उस कार्यमें प्रवृत्त होनेसे दोषका होना भी स्पष्ट ही है। यद्यपि मैं मनमें संशय लेकर यह कार्य करने जा रहा हूँ तथापि मेरा विश्वास है कि मैं इस मांसको खाकर तुम्हारे-जैसा चाण्डाल नहीं बन जाऊँगा (तपस्याद्वारा इसके दोषका मार्जन कर दूँगा) ॥ ८० ॥

श्वपच उवाच

गोपनीयमिदं दुःखमिति मे निश्चिता मतिः।
दुष्कृतोऽब्राह्मणः सन्तं यस्त्वामहमुपालभे ॥ ८१ ॥

चाण्डालने कहा—यह कुत्तेका मांस खाना आपके लिये अत्यन्त दुःखदायक पाप है। इससे आपको बचना चाहिये। यह मेरा निश्चित विचार है, इसीलिये मैं महान् पापी और ब्राह्मणेतर होनेपर भी आपको बारंबार उलाहना दे रहा हूँ। अवश्य ही यह धर्मका उपदेश करना मेरे लिये धूर्ततापूर्ण चेष्टा ही है ॥ ८१ ॥

विश्वामित्र उवाच

पिबन्त्येवोदकं गावो मण्डूकेषु रुवत्स्वपि।
न तेऽधिकारो धर्मेऽस्ति मा भूरात्मप्रशंसकः॥ ८२ ॥

विश्वामित्र बोले—मेढकोंके टर्र-टर्र करते रहनेपर भी गौएँ जलाशयोंमें जल पीती ही हैं (वैसे ही तुम्हारे मना करने-पर भी मैं तो यह अभक्ष्य-भक्षण करूँगा ही)। तुम्हें धर्मोपदेश देनेका कोई अधिकार नहीं है; अतः तुम अपनी प्रशंसा करनेवाले न बनो ॥ ८२ ॥

श्वपच उवाच

सुहृद् भूत्वानुशासे त्वां कृपा हि त्वयि मे द्विज।
यदिदं श्रेय आधत्स्व मा लोभात् पातकं कृथाः॥ ८३ ॥

चाण्डालने कहा—ब्रह्मन्! मैं तो आपका हितैषी सुहृद् बनकर ही यह धर्माचरणकी सलाह दे रहा हूँ; क्योंकि आपपर मुझे दया आ रही है। यह जो कल्याणकी बात बता रहा हूँ, इसे आप ग्रहण करें। लोभवश पाप न करें ॥ ८३ ॥

विश्वामित्र उवाच

सुहृन्मे त्वं सुखेप्सुश्चेदापदो मां समुद्धर।
जानेऽहं धर्मतोऽऽत्मानं शौनीमुत्सृज जाघनीम् ॥८४॥

विश्वामित्र बोले—भैया! यदि तुम मेरे हितैषी सुहृद् हो और मुझे सुख देना चाहते हो तो इस विपत्तिसे मेरा उद्धार करो। मैं अपने धर्मको जानता हूँ। तुम तो यह कुत्ते-की जाँघ मुझे दे दो ॥ ८४ ॥

श्वपच उवाच

नैवोत्सहे भवतो दातुमेतां
नोपेक्षितुं ह्रियमाणं स्वमन्नम्।
उभौ स्यावः पापलोकावलिप्तौ
दाता चाहं ब्राह्मणस्त्वं प्रतीच्छन्॥ ८५ ॥

चाण्डालने कहा—ब्रह्मन्! मैं यह अभक्ष्य वस्तु आपको नहीं दे सकता और मेरे इस अन्नका आपके द्वारा

अपहरण हो, इसकी उपेक्षा भी नहीं कर सकता। इसे देनेवाला मैं और लेनेवाले आप ब्राह्मण दोनों ही पापलिप्त होकर नरकमें पड़ेंगे ॥ ८५ ॥

विश्वामित्र उवाच

अद्याहमेतद् वृजिनं कर्म कृत्वा
जीवंश्चरिष्यामि महापवित्रम्।
स पूतात्मा धर्ममेवाभिपत्स्ये
यदेतयोर्गुरु तद् वै ब्रवीहि ॥ ८६ ॥

विश्वामित्र बोले—आज यह पापकर्म करके भी यदि मैं जीवित रहा तो परम पवित्र धर्मका अनुष्ठान करूँगा। इससे मेरे तन, मन पवित्र हो जायँगे और मैं धर्मका ही फल प्राप्त करूँगा। जीवित रहकर धर्माचरण करना और उपवास करके प्राण देना—इन दोनोंमें कौन बड़ा है, यह मुझे बताओ ॥ ८६ ॥

श्वपच उवाच

आत्मैव साक्षी कुलधर्मकृत्ये
त्वमेव जानासि यदत्र दुष्कृतम्।
यो ह्याद्रियाद् भक्ष्यमिति श्वमांसं
मन्ये न तस्यास्ति विवर्जनीयम् ॥ ८७ ॥

चाण्डालने कहा—किस कुलके लिये कौन-सा कार्य धर्म है, इस विषयमें यह आत्मा ही साक्षी है। इस अभक्ष्य-भक्षणमें जो पाप है, उसे आप भी जानते हैं। मेरी समझमें जो कुत्तेके मांसको भक्षणीय बताकर उसका आदर करे, उसके लिये इस संसारमें कुछ भी त्याज्य नहीं है ॥ ८७ ॥

विश्वामित्र उवाच

उपादाने खादने चास्ति दोषः
कार्यात्यये नित्यमत्रापवादः।
यस्मिन् हिंसा नानृतं वाच्यलेशो-
ऽभक्ष्यक्रिया यत्र न तद्गरीयः ॥ ८८ ॥

विश्वामित्र बोले—चाण्डाल! मैं इसे मानता हूँ कि तुमसे दान लेने और इस अभक्ष्य वस्तुको खानेमें दोष है, फिर भी जहाँ न खानेसे प्राण जानेकी सम्भावना हो, वहाँके लिये शास्त्रोंमें सदा ही अपवाद वचन मिलते हैं। जिसमें हिंसा और असत्यका तो दोष है ही नहीं, लेशमात्र निन्दारूप दोष है। प्राण जानेके अवसरोंपर भी जो अभक्ष्य-भक्षणका निषेध ही करनेवाले वचन हैं, वे गुरुतर अथवा आदरणीय नहीं हैं ॥ ८८ ॥

श्वपच उवाच

यद्येष हेतुस्तव खादने स्या-
न्न ते वेदः कारणं नार्यधर्मः।
तस्माद् भक्ष्येऽभक्षणे वा द्विजेन्द्र
दोषं न पश्यामि यथेदमत्र ॥ ८९ ॥

चाण्डालने कहा—द्विजेन्द्र! यदि इस अभक्ष्य वस्तुको खानेमें आपके लिये यह प्राणरक्षारूपी हेतु ही प्रधान है तब तो आपके मतमें न वेद प्रमाण है और न श्रेष्ठ पुरुषोंका आचार-धर्म ही। अतः मैं आपके लिये भक्ष्य वस्तुके अभक्षणमें अथवा अभक्ष्य वस्तुके भक्षणमें कोई दोष नहीं देख रहा हूँ, जैसा कि यहाँ आपका इस मांसके लिये यह महान् आग्रह देखा जाता है ॥ ८९ ॥

विश्वामित्र उवाच

नैवातिपापं भक्ष्यमाणस्य दृष्टं
सुरां तु पीत्वा पततीति शब्दः।
अन्योन्यकार्याणि यथा तथैव
न पापमात्रेण कृतं हिनस्ति ॥ ९० ॥

विश्वामित्र बोले—अखाद्य वस्तु खानेवालेको ब्रह्महत्या आदिके समान महान् पातक लगता हो, ऐसा कोई शास्त्रीय वचन देखनेमें नहीं आता। हाँ, शराब पीकर ब्राह्मण पतित हो जाता है, ऐसा शास्त्रवाक्य स्पष्टरूपसे उपलब्ध होता है; अतः वह सुरापान अवश्य त्याज्य है। जैसे दूसरे-दूसरे कर्म निषिद्ध हैं, वैसा ही अभक्ष्य-भक्षण भी है। आपत्तिके समय एक बार किये हुए किसी सामान्य पापसे किसीके आजीवन किये हुए पुण्यकर्मका नाश नहीं होता ॥ ९० ॥

श्वपच उवाच

अस्थानतो हीनतः कुत्सिताद् वा
तद् विद्वांसं बाधते साधुवृत्तम्।
श्वानं पुनर्यो लभतेऽभिषङ्गात्
तेनापि दण्डः सहितव्य एव ॥ ९१ ॥

चाण्डालने कहा—जो अयोग्य स्थानसे, अनुचित कर्मसे तथा निन्दित पुरुषसे कोई निषिद्ध वस्तु लेना चाहता है, उस विद्वान्‌को उसका सदाचार ही वैसा करनेसे रोकता है (अतः आपको तो ज्ञानी और धर्मात्मा होनेके कारण स्वयं ही ऐसे निन्द्य कर्मसे दूर रहना चाहिये); परंतु जो बारंबार अत्यन्त आग्रह करके कुत्तेका मांस ग्रहण कर रहा है, उसीको इसका दण्ड भी सहन करना चाहिये (मेरा इसमें कोई दोष नहीं है) ॥ ९१ ॥

भीष्म उवाच

एवमुक्त्वा निववृते मातङ्गः कौशिकं तदा।
विश्वामित्रो जहारैव कृतबुद्धिः श्वजाघनीम् ॥ ९२ ॥

भीष्मजी कहते हैं—युधिष्ठिर! ऐसा कहकर चाण्डाल मुनिको मना करनेके कार्यसे निवृत्त हो गया। विश्वामित्र तो उसे लेनेका निश्चय कर चुके थे; अतः कुत्तेकी जाँघ ले ही गये ॥ ९२ ॥

ततो जग्राह स श्वाङ्गं जीवितार्थी महामुनिः।
सदारस्तामुपाहृत्य वने भोक्तुमियेष सः ॥ ९३ ॥

जीवित रहनेकी इच्छावाले उन महामुनिने कुत्तेके शरीरके उस एक भागको ग्रहण कर लिया और उसे वनमें ले

[illegible] निवास किया ॥ ९३ ॥

अथास्य बुद्धिरभवद् विधिनाहं श्वजाघनीम् ।
श्रपयामि यथाकामं पूर्वं संतर्प्य देवताः ॥ ९४ ॥

तदनन्तर उनके मनमें यह विचार उठा कि मैं कुत्तेकी [illegible] पहले देवताओंको अर्पण करूँगा और [illegible] फिर अपनी इच्छाके अनुसार उसे [illegible] ॥ ९४ ॥

ततोऽग्निमुपसंहृत्य ब्राह्मेण विधिना मुनिः ।
ऐन्द्राग्नेयेन विधिना चरुं श्रपयत स्वयम् ॥ ९५ ॥

ऐसा सोचकर मुनिने वेदोक्त विधिसे अग्निकी स्थापना करके इन्द्र और अग्नि देवताके उद्देश्यसे स्वयं ही चरु पकाकर तैयार किया ॥ ९५ ॥

ततः समारभत् कर्म दैवं पित्र्यं च भारत ।
आहूय देवानिन्द्रादीन् भागं भागं विधिक्रमात् ॥ ९६ ॥

भरतनन्दन ! फिर उन्होंने देवकर्म और पितृकर्म आरम्भ किया। इन्द्र आदि देवताओंका आवाहन करके उनके लिये क्रमशः विधिपूर्वक पृथक्-पृथक् भाग अर्पित किया ॥ ९६ ॥

एतस्मिन्नेव काले तु प्रववर्ष स वासवः ।
संजीवयन् प्रजाः सर्वा जनयामास चौषधीः ॥ ९७ ॥

इसी समय इन्द्रने समस्त प्रजाको जीवनदान देते हुए बड़ी भारी वर्षा की और अन्न आदि ओषधियोंको उत्पन्न किया ॥ ९७ ॥

विश्वामित्रोऽपि भगवांस्तपसा दग्धकिल्बिषः ।
कालेन महता सिद्धिमवाप परमाद्भुताम् ॥ ९८ ॥

भगवान् विश्वामित्र भी दीर्घकालतक निराहार व्रत एवं तपस्या करके अपने सारे पाप दग्ध कर चुके थे; अतः उन्हें अत्यन्त अद्भुत सिद्धि प्राप्त हुई ॥ ९८ ॥

स संहृत्य च तत् कर्म अनास्वाद्य च तद्धविः ।
तोषयामास देवांश्च पितॄंश्च द्विजसत्तमः ॥ ९९ ॥

उन द्विजश्रेष्ठ मुनिने वह कर्म समाप्त करके उस हविष्य-का आस्वादन किये बिना ही देवताओं और पितरोंको संतुष्ट कर दिया और उन्हींकी कृपासे पवित्र भोजन प्राप्त करके उसके द्वारा जीवनकी रक्षा की ॥ ९९ ॥

एवं विद्वानदीनात्मा व्यसनस्थो जिजीविषुः ।
सर्वोपायैरुपायज्ञो दीनमात्मानमुद्धरेत् ॥ १०० ॥

राजन् ! इस प्रकार संकटमें पड़कर जीवनकी रक्षा चाहनेवाले विद्वान् पुरुषको दीनचित्त न होकर कोई उपाय ढूँढ़ निकालनी चाहिये और सभी उपायोंसे अपने आपका आपत्कालमें परिस्थितिसे उद्धार करना चाहिये ॥ १०० ॥

एतां बुद्धिं समास्थाय जीवितव्यं सदा भवेत् ।
जीवन् पुण्यमवाप्नोति पुरुषो भद्रमश्नुते ॥ १०१ ॥

इस बुद्धिका सहारा लेकर सदा जीवित रहनेका प्रयत्न करना चाहिये; क्योंकि जीवित रहनेवाला पुरुष पुण्य करनेका अवसर पाता और कल्याणका भागी होता है ॥ १०१ ॥

तस्मात् कौन्तेय विदुषा धर्माधर्मविनिश्चये ।
बुद्धिमास्थाय लोकेऽस्मिन् वर्तितव्यं कृतात्मना ॥ १०२ ॥

अतः कुन्तीनन्दन ! अपने मनको वशमें रखनेवाले विद्वान् पुरुषको चाहिये कि वह इस जगत्में धर्म और अधर्म-का निर्णय करनेके लिये अपनी ही विशुद्ध बुद्धिका आश्रय लेकर यथायोग्य बर्ताव करे ॥ १०२ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि आपद्धर्मपर्वणि विश्वामित्रश्वपचसंवादे एकचत्वारिंशदधिकशततमोऽध्यायः ॥ १४१ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत आपद्धर्मपर्वमें विश्वामित्र और चाण्डालका संवादविषयक एक सौ इकतालीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १४१ ॥

द्विचत्वारिंशदधिकशततमोऽध्यायः

आपत्कालमें राजाके धर्मका निश्चय तथा उत्तम ब्राह्मणोंके सेवनका आदेश

युधिष्ठिर उवाच

यदि घोरं समुद्दिष्टमश्रद्धेयमिवानृतम् ।
अस्ति स्विद् दस्युमर्यादा यामहं परिवर्जये ॥ १ ॥

युधिष्ठिरने पूछा—यदि महापुरुषोंके लिये भी ऐसा भयंकर कर्म (संकटकालमें) कर्तव्यरूपसे बता दिया गया तो दुराचारी डाकुओं और लुटेरोंके दुष्कर्मोंकी कौन-सी ऐसी सीमा रह गयी है, जिसका मुझे सदा ही परित्याग करना चाहिये ? (इससे अधिक घोर कर्म तो दस्यु भी नहीं कर सकते) ॥ १ ॥

सम्मुह्यामि विषीदामि धर्मो मे शिथिलीकृतः ।
उद्यमं नाधिगच्छामि कदाचित् परिसान्त्वयन् ॥ २ ॥

आपके मुँहसे यह उपाख्यान सुनकर मैं मोहित एवं विषादग्रस्त हो रहा हूँ । आपने मेरा धर्मविषयक उत्साह शिथिल कर दिया । मैं अपने मनको बारंबार समझा रहा हूँ तो भी अब कदापि इसमें धर्मविषयक उद्यमके लिये उत्साह नहीं पाता हूँ ॥ २ ॥

भीष्म उवाच

नैतच्छ्रुत्वाऽऽगमादेव तव धर्मानुशासनम् ।
प्रज्ञासमवहारोऽयं कविभिः सम्भृतं मधु ॥ ३ ॥

भीष्मजीने कहा—वत्स ! मैंने केवल शास्त्रसे ही सुनकर तुम्हारे लिये यह धर्मोपदेश नहीं किया है । जैसे अनेक स्थानसे अनेक प्रकारके फूलोंका रस लाकर मक्खियाँ

मधुका संचय करती हैं, उसी प्रकार विद्वानोंने यह नाना प्रकारकी बुद्धियों (विचारों) का संकलन किया है (ऐसी बुद्धियोंका कदाचित् संकटकालमें उपयोग किया जा सकता है। ये सदा काममें लेनेके लिये नहीं कही गयी हैं; अतः तुम्हारे मनमें मोह या विषाद नहीं होना चाहिये) ॥ ३ ॥

वह्व्यः प्रतिविधातव्याः प्रज्ञा राज्ञा ततस्ततः ।
नैकशाखेन धर्मेण यत्रैषा सम्प्रवर्तते ॥ ४ ॥

युधिष्ठिर ! राजाको इधर-उधरसे नाना प्रकारके मनुष्योंके निकटसे भिन्न-भिन्न प्रकारकी बुद्धियाँ सीखनी चाहिये। उसे एक ही शाखावाले धर्मको लेकर नहीं बैठे रहना चाहिये। जिस राजामें संकटके समय यह बुद्धि स्फुरित होती है, वह आत्मरक्षाका कोई उपाय निकाल लेता है ॥ ४ ॥

बुद्धिसंजननो धर्म आचारश्च सतां सदा ।
ज्ञेयो भवति कौरव्य सदा तद् विद्धि मे वचः ॥ ५ ॥

कुरुनन्दन ! धर्म और सत्पुरुषोंका आचार—ये बुद्धिसे ही प्रकट होते हैं और सदा उसीके द्वारा जाने जाते हैं। तुम मेरी इस बातको अच्छी तरह समझ लो ॥ ५ ॥

बुद्धिश्रेष्ठा हि राजानश्चरन्ति विजयैषिणः ।
धर्मः प्रतिविधातव्यो बुद्ध्या राज्ञा ततस्ततः ॥ ६ ॥

विजयकी अभिलाषा रखनेवाले एवं बुद्धिमें श्रेष्ठ सभी राजा धर्मका आचरण करते हैं। अतः राजाको इधर-उधरसे बुद्धिके द्वारा शिक्षा लेकर धर्मका भलीभाँति आचरण करना चाहिये ॥ ६ ॥

नैकशाखेन धर्मेण राज्ञो धर्मो विधीयते ।
दुर्बलस्य कुतः प्रज्ञा पुरस्तादनुपाहृता ॥ ७ ॥

एक शाखावाले (एकदेशीय) धर्मसे राजाका धर्म-निर्वाह नहीं होता। जिसने पहले अध्ययनकालमें एकदेशीय धर्मविषयक बुद्धिकी शिक्षा ली, उस दुर्बल राजाको पूर्ण प्रज्ञा कहाँसे प्राप्त हो सकती है? ॥ ७ ॥

अद्वैधज्ञः पथि द्वैधे संशयं प्राप्तुमर्हति ।
बुद्धिद्वैधं वेदितव्यं पुरस्तादेव भारत ॥ ८ ॥

एक ही धर्म या कर्म किसी समय धर्म माना जाता है और किसी समय अधर्म। उसकी जो यह दो प्रकारकी स्थिति है, उसीका नाम द्वैध है। जो इस द्विविधतत्त्वको नहीं जानता, वह द्वैधमार्गपर पहुँचकर संशयमें पड़ जाता है। भरतनन्दन ! बुद्धिके द्वैधको पहले ही अच्छी तरह समझ लेना चाहिये ॥

पार्श्वतः करणं प्राज्ञो विष्टम्भित्वा प्रकारयेत् ।
जनस्तच्चरितं धर्मं विजानात्यन्यथान्यथा ॥ ९ ॥

बुद्धिमान् पुरुष विचार करते समय पहले अपने प्रत्येक कार्यको गुप्त रखकर उसे प्रारम्भ करे; फिर उसे सर्वत्र प्रकाशित करे; अन्यथा उसके द्वारा आचरणमें लाये हुए धर्मको लोग किसी और ही रूपमें समझने लगते हैं ॥ ९ ॥

अमिथ्याज्ञानिनः केचिन्मिथ्याविज्ञानिनः परे ।
तद्वै यथायथं बुद्ध्वा ज्ञानमाददते सताम् ॥ १० ॥

कुछ लोग यथार्थ ज्ञानी होते हैं और कुछ लोग मिथ्या ज्ञानी, इस बातको ठीक-ठीक समझकर राजा सत्यज्ञानसम्पन्न सत्पुरुषोंके ही ज्ञानको ग्रहण करते हैं ॥ १० ॥

परिमुष्णन्ति शास्त्राणि धर्मस्य परिपन्थिनः ।
वैषम्यमर्थविद्यानां निरर्थाः ख्यापयन्ति ते ॥ ११ ॥

धर्मद्रोही मनुष्य शास्त्रोंकी प्रामाणिकतापर डाका डालते हैं, उन्हें अग्राह्य और अमान्य बताते हैं। वे अर्थज्ञानसे शून्य मनुष्य अर्थशास्त्रकी विषमताका मिथ्या प्रचार करते हैं ।११।

आजिजीविषवो विद्यां यशःकामौ समन्ततः ।
ते सर्वे नृप पापिष्ठा धर्मस्य परिपन्थिनः ॥ १२ ॥

नरेश्वर ! जो जीविकाकी इच्छासे विद्याका उपार्जन करते हैं, सम्पूर्ण दिशाओंमें उसी विद्याके बलसे यश पानेकी इच्छा और मनोवाञ्छित पदार्थोंको प्राप्त करनेकी अभिलाषा रखते हैं, वे सभी पापात्मा और धर्मद्रोही हैं ॥ १२ ॥

अपक्वमतयो मन्दा न जानन्ति यथातथम् ।
यथा ह्यशास्त्रकुशलाः सर्वत्रायुक्तिनिष्ठिताः ॥ १३ ॥

जिनकी बुद्धि परिपक्व नहीं हुई है, वे मन्दमति मानव यथार्थ तत्त्वको नहीं जानते हैं। शास्त्रज्ञानमें निपुण न होकर सर्वत्र असंगत युक्तिपर ही अवलम्बित रहते हैं ॥ १३ ॥

परिमुष्णन्ति शास्त्राणि शास्त्रदोषानुदर्शिनः ।
विज्ञानमर्थविद्यानां न सम्यगिति वर्तते ॥ १४ ॥

निरन्तर शास्त्रके दोष देखनेवाले लोग शास्त्रोंकी मर्यादा लूटते हैं और यह कहा करते हैं कि अर्थशास्त्रका ज्ञान समीचीन नहीं है ॥ १४ ॥

निन्दया परविद्यानां स्वविद्यां ख्यापयन्ति च ।
वागस्त्रा वाक्छुरीभूता दुग्धविद्याफला इव ॥ १५ ॥

वाणी ही जिनका अस्त्र है तथा जिनकी बोली ही बाणके समान लगती है, वे मानो विद्याके फल तत्त्वज्ञानसे ही विद्रोह करते हैं। ऐसे लोग दूसरोंकी विद्याकी निन्दा करके अपनी विद्याकी अच्छाईका मिथ्या प्रचार करते हैं ॥ १५ ॥

तान् विद्यावणिजो विद्धि राक्षसानिव भारत ।
व्याजेन सद्भिर्विहितो धर्मस्ते परिहास्यति ॥ १६ ॥

भरतनन्दन ! ऐसे लोगोंको तुम विद्याका व्यापार करनेवाले तथा राक्षसोंके समान परद्रोही समझो। उनकी बहानेबाजीसे तुम्हारा सत्पुरुषोंद्वारा प्रतिपादित एवं आचरित धर्म नष्ट हो जायगा ॥ १६ ॥

न धर्मवचनं वाचा नैव बुद्ध्येति नः श्रुतम् ।
इति बार्हस्पतं ज्ञानं प्रोवाच मघवा स्वयम् ॥ १७ ॥

हमने सुना है कि केवल वचनद्वारा अथवा केवल बुद्धि (तर्क)के द्वारा ही धर्मका निश्चय नहीं होता है, अपितु शास्त्र-वचन और तर्क दोनोंके समुच्चयद्वारा उसका निर्णय होता है—यही बृहस्पतिका मत है, जिसे स्वयं इन्द्रने बताया है ॥

किसीका भी परित्याग नहीं करना चाहिये। इसलिये तुम पहले उग्र होकर फिर मृदु होओ ॥ ३२ ॥

कष्टः क्षत्रियधर्मोऽयं सौहृदं त्वयि मे स्थितम्।
उग्रकर्मणि सृष्टोऽसि तस्माद् राज्यं प्रशाधि वै ॥ ३३ ॥

वत्स! यह क्षत्रियधर्म कष्टसाध्य है। तुम्हारे ऊपर मेरा स्नेह है, इसलिये कहता हूँ। विधाताने तुम्हें उग्र कर्मके लिये ही उत्पन्न किया है; इसलिये तुम अपने धर्ममें स्थित होकर राज्यका शासन करो ॥ ३३ ॥

अशिष्टनिग्रहो नित्यं शिष्टस्य परिपालनम्।
एवं शुक्रोऽब्रवीद् धीमानापत्सु भरतर्षभ ॥ ३४ ॥

भरतश्रेष्ठ! आपत्तिकालमें भी सदा दुष्टोंका दमन और शिष्ट पुरुषोंका पालन करना चाहिये, ऐसा बुद्धिमान् शुक्राचार्य-का कथन है ॥ ३४ ॥

युधिष्ठिर उवाच

अस्ति चेदिह मर्यादा यामन्यो नाभिलङ्घयेत्।
पृच्छामि त्वां सतां श्रेष्ठ तन्मे ब्रूहि पितामह ॥ ३५ ॥

युधिष्ठिरने पूछा—सत्पुरुषोंमें श्रेष्ठ पितामह! इस जगत्में यदि कोई ऐसी मर्यादा है, जिसका दूसरा कोई उल्लङ्घन नहीं कर सकता तो मैं उसके विषयमें आपसे पूछता हूँ। आप वही मुझे बताइये ॥ ३५ ॥

भीष्म उवाच

ब्राह्मणानेव सेवेत विद्यावृद्धांस्तपस्विनः।
श्रुतचारित्रवृत्ताढ्यान् पवित्रं ह्येतदुत्तमम् ॥ ३६ ॥

भीष्मजीने कहा—राजन्! विद्यामें बढ़े-चढ़े तपस्वी तथा शास्त्रज्ञान, उत्तम चरित्र एवं सदाचारसे सम्पन्न ब्राह्मणोंका ही सेवन करे, यह परम उत्तम एवं पवित्र कार्य है ॥ ३६ ॥

या देवतासु वृत्तिस्ते सास्तु विप्रेषु नित्यदा।
क्रुद्धैर्हि विप्रैः कर्माणि कृतानि बहुधा नृप ॥ ३७ ॥

नरेश्वर! देवताओंके प्रति जो तुम्हारा बर्ताव है, वही भाव और बर्ताव ब्राह्मणोंके प्रति भी सदैव होना चाहिये; क्योंकि क्रोधमें भरे हुए ब्राह्मणोंने अनेक प्रकारके अद्भुत कर्म कर डाले हैं ॥ ३७ ॥

प्रीत्या यशो भवेन्मुख्यमप्रीत्या परमं भयम्।
प्रीत्या ह्यमृतवद् विप्राः क्रुद्धाश्चैव विषं यथा ॥ ३८ ॥

ब्राह्मणोंकी प्रसन्नतासे श्रेष्ठ यशका विस्तार होता है। उनकी अप्रसन्नतासे महान् भयकी प्राप्ति होती है। प्रसन्न होनेपर ब्राह्मण अमृतके समान जीवनदायक होते हैं और कुपित होनेपर विषके तुल्य भयंकर हो उठते हैं ॥ ३८ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि आपद्धर्मपर्वणि द्विचत्वारिंशदधिकशततमोऽध्यायः ॥ १४२ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत आपद्धर्मपर्वमें एक सौ बयालीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १४२ ॥

त्रिचत्वारिंशदधिकशततमोऽध्यायः

शरणागतकी रक्षा करनेके विषयमें एक बहेलिये और कपोत-कपोतीका प्रसङ्ग, सर्दीसे पीड़ित हुए बहेलियेका एक वृक्षके नीचे जाकर सोना

युधिष्ठिर उवाच

पितामह महाप्राज्ञ सर्वशास्त्रविशारद।
शरणं पालयानस्य यो धर्मस्तं वदस्व मे ॥ १ ॥

युधिष्ठिरने पूछा—परम बुद्धिमान् पितामह! आप सम्पूर्ण शास्त्रोंके विशेषज्ञ हैं; अतः मुझे यह बताइये कि शरणागतकी रक्षा करनेवाले प्राणीको किस धर्मकी प्राप्ति होती है? ॥ १ ॥

भीष्म उवाच

महान् धर्मो महाराज शरणागतपालने।
अर्हः प्रष्टुं भवांश्चैव प्रश्नं भरतसत्तम ॥ २ ॥

भीष्मजीने कहा—महाराज! शरणागतकी रक्षा करनेमें महान् धर्म है। भरतश्रेष्ठ! तुम्हीं ऐसा प्रश्न पूछनेके अधिकारी हो ॥ २ ॥

शिबिप्रभृतयो राजन् राजानः शरणागतान्।
परिपाल्य महात्मानः संसिद्धिं परमां गताः ॥ ३ ॥

राजन्! शिबि आदि महात्मा राजाओंने तो शरणागतोंकी रक्षा करके ही परम सिद्धि प्राप्त कर ली थी ॥ ३ ॥

श्रूयते च कपोतेन शत्रुः शरणमागतः।
पूजितश्च यथान्यायं स्वैश्च मांसैर्निमन्त्रितः ॥ ४ ॥

यह भी सुना जाता है कि एक कबूतरने शरणमें आये हुए शत्रुका यथायोग्य सत्कार किया था और अपना मांस खानेके लिये उसको निमन्त्रित किया था ॥ ४ ॥

युधिष्ठिर उवाच

कथं कपोतेन पुरा शत्रुः शरणमागतः।
स्वमांसं भोजितः कां च गतिं लेभे स भारत ॥ ५ ॥

युधिष्ठिरने पूछा—भरतनन्दन! प्राचीनकालमें कबूतरने शरणागत शत्रुको किस प्रकार अपना मांस खिलाया और ऐसा करनेसे उसे कौन-सी सद्गति प्राप्त हुई ॥ ५ ॥

भीष्म उवाच

शृणु राजन् कथां दिव्यां सर्वपापप्रणाशिनीम्।
नृपतेर्मुचुकुन्दस्य कथितां भार्गवेण वै ॥ ६ ॥

भीष्मजीने कहा—राजन्! वह दिव्य कथा सुनो, जो सब पापोंका नाश करनेवाली है। परशुरामजीने राजा मुचुकुन्दको यह कथा सुनायी थी ॥ ६ ॥

इममर्थं पुरा पार्थ मुचुकुन्दो नराधिपः।
भार्गवं परिपप्रच्छ प्रणतः पुरुषर्षभ ॥ ७ ॥

पुरुषप्रवर कुन्तीनन्दन! पहिलेकी बात है, राजा मुचुकुन्दने परशुरामजीको प्रणाम करके उनसे यही प्रश्न किया था ॥

[illegible] भार्गवेणानुवर्णितान् कथाम् ।
[illegible] सिद्धिः प्राप्ता नराधिप ॥ ८ ॥

[illegible] सिद्धि प्राप्त की थी, वह [illegible] ॥ ८ ॥

मुनिरुवाच

धर्मनिश्चयसंयुक्तां कामार्थसहितां कथाम् ।
शृणुष्वावहितो राजन् गदतो मे महाभुज ॥ ९ ॥

मुनि कहते हैं—महाबाहो ! यह कथा धर्मके निर्णयसे युक्त [illegible] और कामको सम्पन्न है । राजन् ! तुम सावधान होकर मेरे मुखसे इस कथाको सुनो ॥ ९ ॥

कश्चित् क्षुद्रसमाचारः पृथिव्यां कालसम्मितः ।
विचचार महारण्ये घोरः शकुनिलुब्धकः ॥ १० ॥

[illegible] है किसी महान् वनमें कोई भयंकर बहेलिया चारों ओर विचर रहा था । वह बड़े खोटे आचार-विचारका था । पृथ्वीपर वह कालके समान जान पड़ता था ॥

काकोल इव कृष्णाङ्गो रक्ताक्षः कालसम्मितः ।
दीर्घजङ्घो ह्रस्वपादो महावक्त्रो महाहनुः ॥ ११ ॥

उसका सारा शरीर 'काकोल' जातिके कौओंके समान काला था । आँखें लाल-लाल थीं । वह देखनेपर काल-सा प्रतीत होता था । लंबी-लंबी पिंडलियाँ, छोटे-छोटे पैर, विशाल मुख और बड़ी-सी ठोढ़ी—यही उसकी हुलिया थी ॥ ११ ॥

नैव तस्य सुहृत् कश्चिन्न सम्बन्धी न बान्धवाः ।
स हि तैः सम्परित्यक्तस्तेन रौद्रेण कर्मणा ॥ १२ ॥

उसके न कोई सुहृद्, न सम्बन्धी और न भाई-बन्धु ही थे । उसके भयानक क्रूर-कर्मके कारण सबने उसे त्याग दिया था ॥

नरः पापसमाचारस्त्यक्तव्यो दूरतो बुधैः ।
आत्मानं योऽभिसंधत्ते सोऽन्यस्य स्यात् कथं हितः ॥

वास्तवमें जो पापाचारी हो, उसे विज्ञ पुरुषोंको दूरसे ही त्याग देना चाहिये । जो अपने आपको धोखा देता है, वह दूसरोंका हितैषी कैसे हो सकता है ? ॥ १३ ॥

ये नृशंसा दुरात्मानः प्राणिप्राणहरा नराः ।
उद्वेजनीया भूतानां व्याला इव भवन्ति ते ॥ १४ ॥

जो मनुष्य क्रूर, दुरात्मा तथा दूसरे प्राणियोंके प्राणोंका अपहरण करनेवाले होते हैं, उन्हें सर्पोंके समान सभी जीवोंकी ओरसे उद्वेग प्राप्त होता है ॥ १४ ॥

स वै जालकमादाय द्विजान् हत्वा वने सदा ।
चकार विक्रयं तेषां पतङ्गानां जनाधिप ॥ १५ ॥

नरेश्वर ! वह प्रतिदिन जाल लेकर वनमें जाता और बहुत-से पक्षियोंको मारकर उन्हें बाजारमें बेच दिया करता था ॥

एवं तु वर्तमानस्य तस्य वृत्तिं दुरात्मनः ।
अगमत् सुमहान् कालो न चाधर्ममबुध्यत ॥ १६ ॥

यही उसका नित्यका काम था । इसी वृत्तिसे रहते हुए उस दुरात्माका बहुत दीर्घ काल व्यतीत हो गया, किंतु उसे कभी इस अधर्मका बोध नहीं हुआ ॥ १६ ॥

तस्य भार्यासहायस्य रममाणस्य शाश्वतम् ।
दैवयोगविमूढस्य नान्या वृत्तिररोचत ॥ १७ ॥

सदा अपनी स्त्रीके साथ विहार करता हुआ वह बहेलिया दैवयोगसे ऐसा मूढ़ हो गया था कि उसे दूसरी कोई वृत्ति अच्छी ही नहीं लगती थी ॥ १७ ॥

ततः कदाचित् तस्याथ वनस्थस्य समन्ततः ।
पातयन्निव वृक्षांस्तान् सुमहान् वातसम्भ्रमः ॥ १८ ॥

तदनन्तर एक दिन वह वनमें ही घूम रहा था कि चारों ओरसे बड़े जोरकी आँधी उठी । वायुका प्रचण्ड वेग वहाँके समस्त वृक्षोंको धराशायी करता हुआ-सा जान पड़ा ॥

मेघसंकुलमाकाशं विद्युन्मण्डलमण्डितम् ।
संछन्नस्तु मुहूर्तेन नौसार्थैरिव सागरः ॥ १९ ॥
वारिधारासमूहेन सम्प्रविष्टः शतक्रतुः ।
क्षणेन पूरयामास सलिलेन वसुन्धराम् ॥ २० ॥

आकाशमें मेघोंकी घटाएँ घिर आयीं, विद्युन्मण्डलसे उसकी अपूर्व शोभा होने लगी । जैसे समुद्र नौकारोहियोंके समुदायसे ढक जाता है, उसी प्रकार दो ही घड़ीमें जल-धाराओंके समूहसे आच्छादित हुए इन्द्रदेवने व्योममण्डलमें प्रवेश किया और क्षणभरमें इस पृथ्वीको जलराशिसे भर दिया ॥ १९–२० ॥

ततो धाराकुले काले सम्भ्रमन् नष्टचेतनः ।
शीतार्तस्तद् वनं सर्वमाकुलेनान्तरात्मना ॥ २१ ॥

उस समय मूसलाधार पानी बरस रहा था । बहेलिया शीतसे पीड़ित हो अचेत-सा हो गया और व्याकुल हृदयसे सारे वनमें भटकने लगा ॥ २१ ॥

नैव निम्नं स्थलं वापि सोऽविन्दत विहङ्गहा ।
पूरितो हि जलौघेन तस्य मार्गो वनस्य च ॥ २२ ॥

वनका मार्ग जिसपर वह चलता था, जलके प्रवाहमें डूब गया था । उस बहेलियेको नीची-ऊँची भूमिका कुछ पता नहीं चलता था ॥ २२ ॥

पक्षिणो वर्षवेगेन हता लीनास्तदाभवन् ।
मृगसिंहवराहाश्च स्थलमाश्रित्य शेरते ॥ २३ ॥

वर्षाके वेगसे बहुतेरे पक्षी मरकर धरतीपर लोट गये थे । कितने ही अपने घोंसलोंमें छिपे बैठे थे । मृग, सिंह और सूअर स्थल-भूमिका आश्रय लेकर सो रहे थे ॥ २३ ॥

महता वातवर्षेण त्रासितास्ते वनौकसः ।
भयार्ताश्च क्षुधार्ताश्च बभ्रमुः सहिता वने ॥ २४ ॥

भारी आँधी और वर्षासे आतङ्कित हुए वनवासी जीव-जन्तु भय और भूखसे पीड़ित हो झुंड-के-झुंड एक साथ घूम रहे थे ॥ २४ ॥

स तु शीतहतैर्गात्रैर्न जगाम न तस्थिवान् ।
ददर्श पतितां भूमौ कपोतीं शीतविह्वलाम् ॥ २५ ॥

बहेलियेके सारे अङ्ग सर्दीसे ठिठुर गये थे । इसलिये न तो वह चल पाता था और न खड़ा ही हो पाता था । इसी अवस्थामें उसने धरतीपर गिरी हुई एक कबूतरी देखी, जो सर्दीके कष्टसे व्याकुल हो रही थी ॥ २५ ॥

दृष्ट्वाऽऽर्तोऽपि हि पापात्मा स तां पञ्जरकेऽक्षिपत्।
स्वयं दुःखाभिभूतोऽपि दुःखमेवाकरोत् परे ॥ २६ ॥
पापात्मा पापकारित्वात् पापमेव चकार सः।

वह पापात्मा व्याध यद्यपि स्वयं भी बड़े कष्टमें था तो भी उसने उस कबूतरीको उठाकर पिंजड़ेमें डाल लिया। स्वयं दुःखसे पीड़ित होनेपर भी उसने दूसरे प्राणीको दुःख ही पहुँचाया। सदा पापमें ही प्रवृत्त रहनेके कारण उस पापात्माने उस समय भी पाप ही किया ॥ २६½ ॥

सोऽपश्यत् तरुखण्डेषु मेघनीलवनस्पतिम् ॥ २७ ॥
सेव्यमानं विहङ्गौघैश्छायावासफलार्थिभिः।
धात्रा परोपकाराय स साधुरिव निर्मितः ॥ २८ ॥

इतनेहीमें उसे वृक्षोंके समूहमें एक मेघके समान सघन एवं नील विशाल वनस्पति दिखायी दिया, जिसपर बहुत-से विहंगम छाया, निवास और फलकी इच्छासे बसेरे लेते थे, मानो विधाताने परोपकारके लिये ही उस साधुतुल्य महान् वृक्षका निर्माण किया था ॥ २७-२८ ॥

अथाभवत् क्षणेनैव वियद् विमलतारकम्।
महत्सर इवोत्फुल्लं कुमुदच्छुरितोदकम् ॥ २९ ॥

तदनन्तर एक ही क्षणमें आकाशके बादल फट गये, निर्मल तारे चमक उठे, मानो खिले हुए कुमुद-पुष्पोंसे सुशोभित जलवाला कोई विशाल सरोवर प्रकाशित हो रहा हो ॥

ताराढ्यं कुमुदाकारमाकाशं निर्मलं बहु।
घनैर्मुक्तं नभो दृष्ट्वा लुब्धकः शीतविह्वलः ॥ ३० ॥
दिशो विलोकयामास विगाढां प्रेक्ष्य शर्वरीम्।
दूरतो मे निवेशश्च अस्माद् देशादिति प्रभो ॥ ३१ ॥

प्रभो! ताराओंसे भरा हुआ अत्यन्त निर्मल आकाश विकसित कुमुद-कुसुमोंसे सुशोभित सरोवर-सा प्रतीत होता था। आकाशको मेघोंसे मुक्त हुआ देख सर्दीसे काँपते हुए उस व्याधने सम्पूर्ण दिशाओंकी ओर दृष्टिपात किया और गाढ़े अन्धकारसे भरी हुई रात्रि देखकर मन-ही-मन विचार किया कि मेरा निवासस्थान तो यहाँसे बहुत दूर है ॥ ३०-३१ ॥

कृतबुद्धिर्द्रुमे तस्मिन् वस्तुं तां रजनीं ततः।
साञ्जलिः प्रणतिं कृत्वा वाक्यमाह वनस्पतिम्॥ ३२ ॥
शरणं यामि यान्यस्मिन् दैवतानि वनस्पतौ।

इसके बाद उसने उस वृक्षके नीचे ही रातभर रहनेका निश्चय किया। फिर हाथ जोड़ प्रणाम करके उस वनस्पतिसे कहा—'इस वृक्षपर जो-जो देवता हों, उन सबकी मैं शरण लेता हूँ'॥

स शिलायां शिरः कृत्वा पर्णान्यास्तीर्य भूतले।
दुःखेन महताऽऽविष्टस्ततः सुष्वाप पक्षिहा ॥ ३३ ॥

ऐसा कहकर उसने पृथ्वीपर पत्ते बिछा दिये और एक शिलापर सिर रखकर महान् दुःखसे घिरा हुआ वह बहेलिया वहाँ सो गया ॥ ३३ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि आपद्धर्मपर्वणि कपोतलुब्धकसंवादोपक्रमे त्रिचत्वारिंशदधिकशततमोऽध्यायः ॥ १४३ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत आपद्धर्मपर्वमें कपोत और व्याधके संवादका उपक्रमविषयक एक सौ तैंतालीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १४३ ॥

चतुश्चत्वारिंशदधिकशततमोऽध्यायः

कबूतरद्वारा अपनी भार्याका गुणगान तथा पतिव्रता स्त्रीकी प्रशंसा

भीष्म उवाच

अथ वृक्षस्य शाखायां विहङ्गः ससुहृज्जनः।
दीर्घकालोषितो राजंस्तत्र चित्रतनूरुहः ॥ १ ॥

भीष्मजी कहते हैं—राजन्! उस वृक्षकी शाखापर बहुत दिनोंसे एक कबूतर अपने सुहृदोंके साथ निवास करता था। उसके शरीरके रोएँ चितकबरे थे ॥ १ ॥

तस्य कल्यगता भार्या चरितुं नाभ्यवर्तत।
प्राप्तां च रजनीं दृष्ट्वा स पक्षी पर्यतप्यत ॥ २ ॥

उसकी पत्नी सबेरेसे ही चारा चुगनेके लिये गयी थी, जो लौटकर नहीं आयी। अब रात हुई देख वह कबूतर उसके लिये बहुत संतप्त होने लगा ॥ २ ॥

वातवर्षं महच्चासीन्न चागच्छति मे प्रिया।
किं नु तत् कारणं येन साद्यापि न निवर्तते ॥ ३ ॥

कबूतर दुखी होकर इस प्रकार विलाप करने लगा—'अहो! आज बड़ी भारी आँधी और वर्षा हुई है; किंतु अब तक मेरी प्यारी भार्या लौटकर नहीं आयी। ऐसा कौन-सा कारण हो गया, जिससे वह अभीतक नहीं लौट सकी है ॥

अपि स्वस्ति भवेत् तस्याः प्रियाया मम कानने।
तया विरहितं हीदं शून्यमद्य गृहं मम ॥ ४ ॥

'क्या इस वनमें मेरी प्रिया कुशलसे होगी? उसके बिना आज मेरा यह घर—यह घोंसला सूना लग रहा है ॥ ४ ॥

पुत्रपौत्रवधूभृत्यैराकीर्णमपि सर्वतः।
भार्याहीनं गृहस्थस्य शून्यमेव गृहं भवेत् ॥ ५ ॥

'पुत्र, पौत्र, पतोहू तथा अन्य भरण-पोषणके योग्य कुटुम्बीजनोंसे भरा होनेपर भी गृहस्थका घर उसकी पत्नीके बिना सूना ही रहता है ॥ ५ ॥

न गृहं गृहमित्याहुर्गृहिणी गृहमुच्यते।
गृहं तु गृहिणीहीनमरण्यसदृशं मतम् ॥ ६ ॥

'वास्तवमें घरको घर नहीं कहते, घरवालीका ही नाम घर है। घरवालीके बिना जो घर होता है, उसे जंगलके समान ही माना गया है ॥ ६ ॥

यदि सा रक्तनेत्रान्ता चित्राङ्गी मधुरस्वरा।
अद्य नायाति मे कान्ता न कार्यं जीवितेन मे ॥ ७ ॥

'जिसके नेत्रोंके प्रान्तभाग कुछ-कुछ लाल हैं, अङ्ग चितकबरे हैं और स्वरमें अद्भुत मिठास भरा है, वह मेरी प्राण-वल्लभा यदि आज नहीं आ रही है तो मुझे इस जीवनसे

[illegible]
[illegible] यः [illegible] ॥ ८ ॥

[illegible] थी, [illegible] नहलाये [illegible] नहीं तथा [illegible] करती थी ॥ ८ ॥

[illegible] दुःखिते मयि दुःखिता ।
[illegible] दीनवदना [illegible] च प्रियवादिनी ॥ ९ ॥

[illegible] उठती थी और मेरे [illegible] भी दुःखमें डूब जाती थी । जब मैं [illegible] उसके मुखपर दीनता छा जाती थी [illegible] कभी मुझे क्रोध आता, तब मीठी-मीठी बातें करके [illegible] थी ॥ ९ ॥

[illegible] पतिगतिः पतिप्रियहिते रता ।
यस्य स्यात् तादृशी भार्या धन्यः स पुरुषो भुवि ॥ १० ॥

[illegible] पतिव्रता थी । पतिके सिवा दूसरी कोई उसकी [illegible] नहीं थी । वह सदा ही पतिके प्रिय एवं हितमें तत्पर [illegible] थी । जिसको ऐसी पत्नी प्राप्त हुई हो, वह पुरुष इस [illegible] धन्य है ॥ १० ॥

सा हि श्रान्तं क्षुधार्तं च जानीते मां तपस्विनी ।
[illegible] स्थिरा चैव भक्ता स्निग्धा यशस्विनी ॥ ११ ॥

[illegible] तपस्विनी यह जानती है कि मैं थका, माँदा और [illegible] पीड़ित हूँ, तो भी न जाने क्यों नहीं आ रही है ? मेरे प्रति उसका अत्यन्त अनुराग है, उसकी बुद्धि स्थिर है, वह [illegible] भार्या मेरे प्रति स्नेह रखनेवाली तथा मेरी परम भक्त है ॥

[illegible] ऽपि दयिता यस्य तिष्ठति तद् गृहम् ।
प्रासादोऽपि तया हीनः कान्तार इति निश्चितम् ॥ १२ ॥

[illegible] नीचे भी जिसकी पत्नी साथ हो, उसके लिये वही [illegible] है और बहुत बड़ी अट्टालिका भी यदि स्त्रीसे रहित है तो वह निश्चय ही दुर्गम गहन वनके समान है ॥ १२ ॥

धर्मार्थकामकालेषु भार्या पुंसः सहायिनी ।
विदेशगमने चास्य सैव विश्वासकारिका ॥ १३ ॥

'पुरुषके धर्म, अर्थ और कामके अवसरोंपर उसकी पत्नी ही उसकी मुख्य सहायिका होती है । परदेश जानेपर भी वही उसके लिये विश्वसनीय मित्रका काम करती है ॥ १३ ॥

भार्या हि परमो ह्यर्थः पुरुषस्येह पठ्यते ।
असहायस्य लोकेऽस्मिँल्लोकयात्रासहायिनी ॥ १४ ॥

'पुरुषकी प्रधान सम्पत्ति उसकी पत्नी ही कही जाती है । इस लोकमें जो असहाय है, उसे भी लोक-यात्रामें सहायता देनेवाली उसकी पत्नी ही है ॥ १४ ॥

तथा रोगाभिभूतस्य नित्यं कृच्छ्रगतस्य च ।
नास्ति भार्यासमं किंचिन्नरस्यार्तस्य भेषजम् ॥ १५ ॥

'जो पुरुष रोगसे पीड़ित हो और बहुत दिनोंसे विपत्तिमें फँसा हो, उस पीड़ित मनुष्यके लिये भी स्त्रीके समान दूसरी कोई ओषधि नहीं है ॥ १५ ॥

नास्ति भार्यासमो बन्धुर्नास्ति भार्यासमा गतिः ।
नास्ति भार्यासमो लोके सहायो धर्मसंग्रहे ॥ १६ ॥

'संसारमें स्त्रीके समान कोई बन्धु नहीं है, स्त्रीके समान कोई आश्रय नहीं है और स्त्रीके समान धर्मसंग्रहमें सहायक भी दूसरा कोई नहीं है ॥ १६ ॥

यस्य भार्या गृहे नास्ति साध्वी च प्रियवादिनी ।
अरण्यं तेन गन्तव्यं यथारण्यं तथा गृहम् ॥ १७ ॥

'जिसके घरमें साध्वी और प्रिय वचन बोलनेवाली भार्या नहीं है, उसे तो वनमें चला जाना चाहिये; क्योंकि उसके लिये जैसा घर है, वैसा ही वन' ॥ १७ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि आपद्धर्मपर्वणि भार्याप्रशंसायां चतुश्चत्वारिंशदधिकशततमोऽध्यायः ॥ १४४ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत आपद्धर्मपर्वमें पत्नीकी प्रशंसाविषयक एक सौ चौवालीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १४४ ॥

पञ्चचत्वारिंशदधिकशततमोऽध्यायः

कबूतरीका कबूतरसे शरणागत व्याधकी सेवाके लिये प्रार्थना

भीष्म उवाच

एवं विलपतस्तस्य श्रुत्वा तु करुणं वचः ।
गृहीता शकुनिघ्नेन कपोती वाक्यमब्रवीत् ॥ १ ॥

भीष्मजी कहते हैं—युधिष्ठिर ! इस तरह विलाप करते हुए कबूतरका वह करुणायुक्त वचन सुनकर बहेलियेके [illegible] हुई कबूतरीने कहा ॥ १ ॥

कपोत्युवाच

अहो अतीव सुभाग्याहं यस्या मे दयितः पतिः ।
असतो वा सतो वापि गुणानेवं प्रभाषते ॥ २ ॥

कबूतरी बोली—अहो ! मेरा बड़ा सौभाग्य है कि मेरे प्रियतम पतिदेव इस प्रकार मेरे गुणोंका, वे मुझमें हों या न हों, [illegible] ॥ २ ॥

न सा स्त्री ह्यभिमन्तव्या यस्यां भर्ता न तुष्यति ।
तुष्टे भर्तरि नारीणां तुष्टाः स्युः सर्वदेवताः ॥ ३ ॥

उस स्त्रीको स्त्री ही नहीं समझना चाहिये, जिसका पति उससे संतुष्ट नहीं रहता है । पतिके संतुष्ट रहनेसे स्त्रियोंपर सम्पूर्ण देवता संतुष्ट रहते हैं ॥ ३ ॥

अग्निसाक्षिकमित्येव भर्ता वै दैवतं परम् ।
दावाग्निनेव निर्दग्धा सपुष्पस्तवका लता ॥ ४ ॥
भस्मीभवति सा नारी यस्या भर्ता न तुष्यति ।

अग्निको साक्षी बनाकर स्त्रीका जिसके साथ विवाह हो गया, वही उसका पति है और वही उसके लिये परम देवता है । जिसका पति संतुष्ट नहीं रहता, वह नारी दावानलसे दग्ध हुई पुष्पगुच्छोंसहित लताके समान भस्म हो जाती है ॥ ४½ ॥

इति संचिन्त्य दुःखार्ता भर्तारं दुःखितं तदा ॥ ५ ॥
कपोती लुब्धकेनापि गृहीता वाक्यमब्रवीत् ।

ऐसा सोचकर दुःखसे पीड़ित हो व्याधके कैदमें पड़ी हुई कबूतरीने अपने दुःखित पतिसे उस समय इस प्रकार कहा—॥ ५½ ॥

हन्त वक्ष्यामि ते श्रेयः श्रुत्वा तु कुरु तत् तथा ॥ ६ ॥
शरणागतसंत्राता भव कान्त विशेषतः ।

'प्राणनाथ ! मैं आपके कल्याणकी बात बता रही हूँ, उसे सुनकर आप वैसा ही कीजिये । इस समय विशेष प्रयत्न करके एक शरणागत प्राणीकी रक्षा कीजिये ॥ ६½ ॥

एष शाकुनिकः शेते तव वासं समाश्रितः ॥ ७ ॥
शीतार्तश्च क्षुधार्तश्च पूजामस्मै समाचर ।

'यह व्याध आपके निवास-स्थानपर आकर सर्दी और भूखसे पीड़ित होकर सो रहा है । आप इसकी यथोचित सेवा कीजिये ॥ ७½ ॥

यो हि कश्चिद् द्विजं हन्याद् गां च लोकस्य मातरम् ॥ ८ ॥
शरणागतं च यो हन्यात् तुल्यं तेषां च पातकम् ।

'जो कोई पुरुष ब्राह्मणकी, लोकमाता गायकी तथा शरणागतकी हत्या करता है, उन तीनोंको समानरूपसे पातक लगता है ॥ ८½ ॥

अस्माकं विहिता वृत्तिः कापोती जातिधर्मतः ॥ ९ ॥
सा न्याय्याऽऽत्मवता नित्यं त्वद्विधेनानुवर्तितुम् ।

'भगवान्‌ने जातिधर्मके अनुसार हमारी कापोतीवृत्ति बना दी है । आप-जैसे मनस्वी पुरुषको सदा ही उस वृत्तिका पालन करना उचित है ॥ ९½ ॥

यस्तु धर्मं यथाशक्ति गृहस्थो ह्यनुवर्तते ॥ १० ॥
स प्रेत्य लभते लोकानक्षयानिति शुश्रुम ।

'जो गृहस्थ यथाशक्ति अपने धर्मका पालन करता है, वह मरनेके पश्चात् अक्षय लोकोंमें जाता है, ऐसा हमने सुन रक्खा है ॥ १०½ ॥

स त्वं संतानवानद्य पुत्रवानसि च द्विज ॥ ११ ॥
तत् स्वदेहे दयां त्यक्त्वा धर्मार्थौ परिगृह्य च ।
पूजामस्मै प्रयुङ्क्ष्व त्वं प्रीयेतास्य मनो यथा ॥ १२ ॥

'पक्षिप्रवर ! आप अब संतानवान् और पुत्रवान् हो चुके हैं । अतः आप अपनी देहपर दया न करके धर्म और अर्थपर ही दृष्टि रखते हुए इस बहेलियेका ऐसा सत्कार करें, जिससे इसका मन प्रसन्न हो जाय ॥ ११-१२ ॥

मत्कृते मा च संतापं कुर्वीथास्त्वं विहङ्गम ।
शरीरयात्राकृत्यर्थमन्यान् दारानुपैष्यसि ॥ १३ ॥

'विहंगम ! आप मेरे लिये संताप न करें । आपको अपनी शरीरयात्राका निर्वाह करनेके लिये दूसरी स्त्री मिल जायगी ॥

इति सा शकुनी वाक्यं पञ्जरस्था तपस्विनी ।
अतिदुःखान्विता प्रोक्त्वा भर्तारं समुदैक्षत ॥ १४ ॥

इस प्रकार पिंजड़ेमें पड़ी हुई वह तपस्विनी कबूतरी पतिसे यह बात कहकर अत्यन्त दुखी हो पतिके मुँहकी ओर देखने लगी ॥ १४ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि आपद्धर्मपर्वणि कपोतं प्रति कपोतीवाक्ये पञ्चचत्वारिंशदधिकशततमोऽध्यायः ॥ १४५ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत आपद्धर्मपर्वमें कबूतरके प्रति कबूतरीका वाक्यविषयक एक सौ पैंतालीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥

षट्चत्वारिंशदधिकशततमोऽध्यायः

कबूतरके द्वारा अतिथि-सत्कार और अपने शरीरका बहेलियेके लिये परित्याग

भीष्म उवाच

स पत्न्या वचनं श्रुत्वा धर्मयुक्तिसमन्वितम् ।
हर्षेण महता युक्तो वाक्यं व्याकुललोचनः ॥ १ ॥

भीष्मजी कहते हैं—राजन् ! पत्नीकी वह धर्मके अनुकूल और युक्तियुक्त बात सुनकर कबूतरको बड़ी प्रसन्नता हुई । उसके नेत्रोंमें आनन्दके आँसू छलक आये ॥ १ ॥

तं वै शाकुनिकं दृष्ट्वा विधिदृष्टेन कर्मणा ।
स पक्षी पूजयामास यत्नात् तं पक्षिजीविनम् ॥ २ ॥

उस पक्षीने पक्षियोंकी हिंसासे ही जीवन-निर्वाह करनेवाले उस बहेलियेकी ओर देखकर शास्त्रीय विधिके अनुसार यत्नपूर्वक उसका पूजन किया ॥ २ ॥

उवाच स्वागतं तेऽद्य ब्रूहि किं करवाणि ते ।
संतापश्च न कर्तव्यः स्वगृहे वर्तते भवान् ॥ ३ ॥

और बोला—'आज आपका स्वागत है । बोलिये, मैं आपकी क्या सेवा करूँ ? आपको संताप नहीं करना चाहिये, आप इस समय अपने ही घरमें हैं ॥ ३ ॥

तद् ब्रवीतु भवान् क्षिप्रं किं करोमि किमिच्छसि ।
प्रणयेन ब्रवीमि त्वां त्वं हि नः शरणागतः ॥ ४ ॥

'अतः शीघ्र बताइये, आप क्या चाहते हैं ? मैं आपकी क्या सेवा करूँ ? मैं बड़े प्रेमसे पूछ रहा हूँ; क्योंकि आप हमारे घर पधारे हैं ॥ ४ ॥

अरावप्युचितं कार्यमातिथ्यं गृहमागते ।
छेत्तुमप्यागते छायां नोपसंहरते द्रुमः ॥ ५ ॥

'यदि शत्रु भी घरपर आ जाय तो उसका उचित आदर-सत्कार करना चाहिये । जो काटनेके लिये आया हो, उसके ऊपरसे भी वृक्ष अपनी छाया नहीं हटाता ॥ ५ ॥

शरणागतस्य कर्तव्यमातिथ्यं हि प्रयत्नतः ।
पञ्चयज्ञप्रवृत्तेन गृहस्थेन विशेषतः ॥ ६ ॥

'यों तो घरपर आये हुए अतिथिका सभीको यत्नपूर्वक आदर-सत्कार करना चाहिये; परंतु पञ्चयज्ञके अधिकारी गृहस्थका यह प्रधान धर्म है ॥ ६ ॥

पञ्चयज्ञांस्तु यो मोहान्न करोति गृहाश्रमे ।

कपोतके द्वारा व्याधका आतिथ्य-सत्कार

गर्हयन् स्वानि कर्माणि द्विजं दृष्ट्वा तथागतम् ॥ २६ ॥

इस प्रकार कबूतरकी वैसी अवस्था देखकर अपने कर्मोंकी निन्दा करते हुए उस व्याधने अनेक प्रक कहकर बहुत विलाप किया ॥ २६ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि आपद्धर्मपर्वणि कपोतलुब्धकसंवादे षट्चत्वारिंशदधिकशततमोऽध्यायः ॥ १

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत आपद्धर्मपर्वमें कबूतर और व्याधका संवादविषयक एक सौ छियालीसवाँ अध्याय पू

सप्तचत्वारिंशदधिकशततमोऽध्यायः

बहेलियेका वैराग्य

भीष्म उवाच

ततः स लुब्धकः पश्यन् क्षुधयापि परिप्लुतः ।
कपोतमग्निपतितं वाक्यं पुनरुवाच ह ॥ १ ॥

भीष्मजी कहते हैं—राजन् ! भूखसे व्याकुल होनेपर भी बहेलियेने जब देखा कि कबूतर आगमें कूद पड़ा, तब वह दुखी होकर इस प्रकार कहने लगा—॥ १ ॥

किमीदृशं नृशंसेन मया कृतमबुद्धिना ।
भविष्यति हि मे नित्यं पातकं कृतजीविनः ॥ २ ॥

'हाय ! मुझ क्रूर और बुद्धिहीनने कैसा पाप कर डाला ! मैंने अपना जीवन ही ऐसा बना रक्खा है कि मुझसे नित्य पाप बनता ही रहेगा' ॥ २ ॥

स विनिन्दंस्तथाऽऽत्मानं पुनः पुनरुवाच ह ।
अविश्वास्यः सुदुर्बुद्धिः सदा निकृतिनिश्चयः ॥ ३ ॥

इस प्रकार बारंबार अपनी निन्दा करता हुआ वह फिर बोला—'मैं बड़ा दुष्ट बुद्धिका मनुष्य हूँ, मुझपर किसीको विश्वास नहीं करना चाहिये । शठता और क्रूरता ही मेरे जीवनका सिद्धान्त बन गया है ॥ ३ ॥

शुभं कर्म परित्यज्य सोऽहं शकुनिलुब्धकः ।
नृशंसस्य ममाद्यायं प्रत्यादेशो न संशयः ॥ ४ ॥
दत्तः स्वमांसं दहता कपोतेन महात्मना ।

'अच्छे-अच्छे कर्मोंको छोड़कर मैंने पक्षियोंको मारने और फँसानेका धंधा अपना लिया है । मुझ क्रूर और कुकर्मीको महात्मा कबूतरने अपने शरीरकी आहुति दे अपना मांस अर्पित किया है । इसमें संदेह नहीं कि इस अपूर्व त्यागके द्वारा उसने मुझे धिक्कारते हुए धर्माचरण करनेका आदेश दिया ॥ ४½ ॥

सोऽहं त्यक्ष्ये प्रियान् प्राणान् पुत्रान् दारांस्तथैव च ५
उपदिष्टो हि मे धर्मः कपोतेन महात्मना ।

'अब मैं पापसे मुँह मोड़कर स्त्री, पुत्र तथा अपने प्यारे प्राणोंका भी परित्याग कर दूँगा । महात्मा कबूतरने मुझे विशुद्ध धर्मका उपदेश दिया है ॥ ५½ ॥

अद्यप्रभृति देहं स्वं सर्वभोगैर्विवर्जितम
यथा स्वल्पं सरो ग्रीष्मे शोषयिष्याम्यहं तथ

'आजसे मैं अपने शरीरको सम्पूर्ण भोगोंसे व उसी प्रकार सुखा डालूँगा, जैसे गर्मीमें छोटा- सूख जाता है ॥ ६½ ॥

क्षुत्पिपासातपसहः कृशो धमनिसंततः
उपवासैर्बहुविधैश्चरिष्ये पारलौकिकम

'भूख, प्यास और धूपका कष्ट सहन करते हु इतना दुर्बल बना दूँगा कि सारे शरीरमें फैली हु स्पष्ट दिखायी देंगी । मैं बारंबार अनेक प्रकार व्रत करके परलोक सुधारनेवाला पुण्य कर्म करूँग

अहो देहप्रदानेन दर्शितातिथिपूजन
तस्माद् धर्मं चरिष्यामि धर्मो हि परमा गति
दृष्टो धर्मो हि धर्मिष्ठे यादृशो विहगोत्तमे

'अहो ! महात्मा कबूतरने अपने शरीरका मेरे सामने अतिथि-सत्कारका उज्ज्वल आदर्श रक्ख मैं भी अब धर्मका ही आचरण करूँगा; क्योंकि ध गति है । उस धर्मात्मा श्रेष्ठ पक्षीमें जैसा धर्म देख वैसा ही मुझे भी अभीष्ट है' ॥ ८-९ ॥

एवमुक्त्वा विनिश्चित्य रौद्रकर्मा स लुब्धव
महाप्रस्थानमाश्रित्य प्रययौ संशितव्रत

ऐसा कहकर धर्माचरणका ही निश्चय करके कर्म करनेवाला व्याध कठोर व्रतका आश्रय ले के पथपर चल दिया ॥ १० ॥

ततो यष्टिं शलाकां च क्षारकं पञ्जरं तथ
तां च बद्धां कपोतीं स प्रमुच्य विससर्ज ह

उस समय उसने उस बन्दी की हुई कबूतर मुक्त करके अपनी लाठी, शलाका, जाल, कुछ छोड़ दिया ॥ ११ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि आपद्धर्मपर्वणि लुब्धकोपरतौ सप्तचत्वारिंशदधिकशततमोऽध्यायः ॥ १४

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत आपद्धर्मपर्वमें बहेलियेकी उपरतिविषयक एक सौ सैंतालीसवाँ अध्याय पूरा हुअ

अष्टचत्वारिंशदधिकशततमोऽध्यायः

कबूतरीका विलाप और अग्निमें प्रवेश तथा उन दोनोंको स्वर्गलोककी प्राप्ति

भीष्म उवाच

संस्मृत्य सा च भर्तारं रुदती शोककर्शित

[illegible] करके दोनोंमें कातर [illegible] विलाप करने लगी—॥

नाहं ते विप्रियं कान्त कदाचिदपि संस्मरे।
सर्वा वै विधवा नारी बहुपुत्रापि शोचते ॥ २ ॥

[illegible] इसका [illegible] दीनेतर [illegible] ॥ २ ॥

शोच्या भवति बन्धूनां पतिहीना तपस्विनी।
लालिताहं त्वया नित्यं बहुमानाच्च पूजिता ॥ ३ ॥

[illegible] नारी अपने भाई-बन्धुओंके लिये [illegible] है। आपने सदा ही मेरा लाड़-प्यार [illegible] मुझे आदरपूर्वक रक्खा ॥३॥

वचनैर्मधुरैः स्निग्धैरसंक्लिष्टमनोहरैः ।
कन्दरेषु च शैलानां नदीनां निर्झरेषु च ॥ ४ ॥
द्रुमाग्रेषु च रम्येषु रमिताहं त्वया सह ।
आकाशगमने चैव विहृताहं त्वया सुखम् ॥ ५ ॥

[illegible] सुखद, मनोहर तथा मधुर वचनोंद्वारा मुझे आनन्दित किया। मैंने आपके साथ पर्वतोंकी गुफाओंमें, नदियोंके तटोंपर, झरनोंके आस-पास तथा वृक्षोंकी सुरम्य शिखाओंपर रमण किया है। आकाशयात्रामें भी मैं सदा आपके साथ सुखपूर्वक विचरण करती रही हूँ ॥ ४-५ ॥

रमामि स्म पुरा कान्त तन्मे नास्त्यद्य किञ्चन ।
मितं ददाति हि पिता मितं भ्राता मितं सुतः ॥ ६ ॥
अमितस्य हि दातारं भर्तारं का न पूजयेत् ।

प्राणनाथ! पहले मैं जिस प्रकार आपके साथ आनन्द-पूर्वक रमण करती थी, अब उन सब सुखोंमेंसे कुछ भी मेरे लिये शेष नहीं रह गया है। पिता, भ्राता और पुत्र—ये सब लोग नारीको परिमित सुख देते हैं, केवल पति ही उसे अपरिमित या असीम सुख प्रदान करता है। ऐसे पतिकी कौन स्त्री पूजा नहीं करेगी? ॥ ६½ ॥

नास्ति भर्तृसमो नाथो नास्ति भर्तृसमं सुखम् ॥ ७ ॥
विसृज्य धनसर्वस्वं भर्ता वै शरणं स्त्रियाः ।

‘स्त्रीके लिये पतिके समान कोई रक्षक नहीं है और पतिके तुल्य कोई सुख नहीं है। उसके लिये तो धन और सर्वस्वको त्यागकर पति ही एकमात्र गति है ॥ ७½ ॥

न कार्यमिह मे नाथ जीवितेन त्वया विना ॥ ८ ॥
पतिहीना तु का नारी सती जीवितुमुत्सहेत् ।

‘नाथ! अब तुम्हारे बिना यहाँ इस जीवनसे भी क्या प्रयोजन है? ऐसी कौन-सी पतिव्रता स्त्री होगी, जो पतिके बिना जीवित रह सकेगी?’ ॥८½ ॥

एवं विलप्य बहुधा करुणं सा सुदुःखिता ॥ ९ ॥
पतिव्रता सम्प्रदीप्तं प्रविवेश हुताशनम् ।

इस तरह अनेक प्रकारसे करुणाजनक विलाप करके अत्यन्त दुःखमें डूबी हुई वह पतिव्रता कबूतरी उसी प्रज्वलित अग्निमें समा गयी ॥ ९½ ॥

ततश्चित्राङ्गदधरं भर्तारं सान्वपश्यत ॥ १० ॥
विमानस्थं सुकृतिभिः पूज्यमानं महात्मभिः ।

तदनन्तर उसने अपने पतिको देखा। वह विचित्र अङ्गद धारण किये विमानपर बैठा था और बहुत-से पुण्यात्मा महात्मा उसकी भूरि-भूरि प्रशंसा कर रहे थे ॥ १०½ ॥

चित्रमाल्याम्बरधरं सर्वाभरणभूषितम् ॥ ११ ॥
विमानशतकोटीभिरावृतं पुण्यकर्मभिः ।

उसने विचित्र हार और वस्त्र धारण कर रक्खे थे और वह सब प्रकारके आभूषणोंसे विभूषित था। अरबों पुण्यकर्मी पुरुषोंसे युक्त विमानोंने उसे घेर रक्खा था ॥ ११½ ॥

ततः स्वर्गं गतः पक्षी विमानवरमास्थितः ।
कर्मणा पूजितस्तत्र रेमे स सह भार्यया ॥ १२ ॥

इस प्रकार श्रेष्ठ विमानपर बैठा हुआ वह पक्षी अपने स्त्रीके सहित स्वर्गलोकको चला गया और अपने सत्कर्मसे पूजित हो वहाँ आनन्दपूर्वक रहने लगा ॥ १२ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि आपद्धर्मपर्वणि कपोतस्वर्गगमने अष्टचत्वारिंशदधिकशततमोऽध्यायः ॥ १४८ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत आपद्धर्मपर्वमें कबूतरका स्वर्गगमनविषयक एक सौ अड़तालीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥१४८॥

एकोनपञ्चाशदधिकशततमोऽध्यायः

बहेलियेको स्वर्गलोककी प्राप्ति

भीष्म उवाच

विमानस्थौ तु तौ राजँल्लुब्धकः खे ददर्श ह ।
दृष्ट्वा तौ दम्पती राजन् व्यचिन्तयत तां गतिम् ॥ १ ॥

भीष्मजी कहते हैं—राजन्! व्याधने उन दोनों पक्षियोंको दिव्य रूप धारण करके विमानपर बैठे और आकाशमें जाते देखा। उन दिव्य दम्पतिको देखकर व्याध उनकी उत्तम गतिके विषयमें विचार करने लगा ॥ १ ॥

ईदृशेनैव तपसा गच्छेयं परमां गतिम् ।
इति बुद्ध्या विनिश्चित्य गमनायोपचक्रमे ॥ २ ॥
महाप्रस्थानमाश्रित्य लुब्धकः पक्षिजीवकः ।
निश्चेष्टो मरुदाहारो निर्ममः स्वर्गकाङ्क्षया ॥ ३ ॥

मैं भी इसी प्रकार तपस्या करके परम गतिको प्राप्त होऊँगा, ऐसा अपनी बुद्धिके द्वारा निश्चय करके पक्षियोंद्वारा जीवन-निर्वाह करनेवाला वह बहेलिया वहाँसे महाप्रस्थानके पथका आश्रय लेकर चल दिया। उसने सब प्रकारकी चेष्टा त्याग दी। वायु पीकर रहने लगा। स्वर्गकी अभिलाषासे अन्य सब वस्तुओंकी ओरसे उसने ममता हटा ली ॥ २-३ ॥

ततोऽपश्यत् सुविस्तीर्णं हृद्यं पद्माभिभूषितम् ।
नानापक्षिगणाकीर्णं सरः शीतजलं शिवम् ॥ ४ ॥

आगे जाकर उसने एक विस्तृत एवं मनोरम सरोवर

देखा, जो कमल-समूहोंसे सुशोभित हो रहा था। नाना प्रकारके जलपक्षी उसमें कलरव कर रहे थे। वह तालाब शीतल जलसे भरा था और अत्यन्त सुखद जान पड़ता था॥ ४॥

विपासार्तोऽपि तद् दृष्ट्वा तृप्तः स्यान्नात्र संशयः।
उपवासकृशोऽत्यर्थं स तु पार्थिव लुब्धकः॥ ५॥
अनवेक्ष्यैव संहृष्टः श्वापदाध्युषितं वनम्।
महान्तं निश्चयं कृत्वा लुब्धकः प्रविवेश ह॥ ६॥
प्रविशन्नेव स वनं निगृहीतः सकण्टकैः।
स कण्टकैर्विभिन्नाङ्गो लोहितार्द्रीकृतच्छविः॥ ७॥

राजन्! कोई मनुष्य कितनी ही प्याससे पीड़ित क्यों न हो, निःसंदेह उस सरोवरके दर्शनमात्रसे वह तृप्त हो सकता था। इधर यह व्याध उपवासके कारण अत्यन्त दुर्बल हो गया था, तो भी उधर दृष्टिपात किये बिना ही बड़े हर्षके साथ हिंसक जन्तुओंसे भरे हुए वनमें प्रवेश कर गया। महान् लक्ष्यपर पहुँचनेका निश्चय करके बहेलिया उस वनमें घुसा। घुसते ही कटीली झाड़ियोंमें फँस गया। काँटोंसे उसका सारा शरीर छिदकर लहूलुहान हो गया॥ ५—७॥

बभ्राम तस्मिन् विजने नानामृगसमाकुले।
ततो द्रुमाणां महता पवनेन वने तदा॥ ८॥
उदतिष्ठत संघर्षात् सुमहान् हव्यवाहनः।
तद् वनं वृक्षसम्पूर्णं लताविटपसंकुलम्॥ ९॥
ददाह पावकः क्रुद्धो युगान्ताग्निसमप्रभः।

नाना प्रकारके वन्य पशुओंसे भरे हुए उस निर्जन वनमें वह इधर-उधर भटकने लगा। इतनेहीमें प्रचण्ड पवनके वेगसे वृक्षोंमें परस्पर रगड़ होनेके कारण उस वनमें बड़ी भारी आग लग गयी। आगकी बड़ी-बड़ी लपटें ऊपरको उठने लगीं। प्रलयकालकी संवर्तक अग्निके समान प्रज्वलित एवं कुपित हुए अग्निदेव लता, डालियों और वृक्षोंसे व्याप्त हुए उस वनको दग्ध करने लगे॥ ८-९½॥

स ज्वालैः पवनोद्धूतैर्विस्फुलिङ्गैः समन्ततः॥ १०॥
ददाह तद् वनं घोरं मृगपक्षिसमाकुलम्।

हवासे उड़ी हुई चिनगारियों तथा ज्वालाओंद्वारा चारों ओर फैलकर उस दावानलने पशु-पक्षियोंसे भरे हुए भयंकर वनको जलाना आरम्भ किया॥ १०½॥

ततः स देहमोक्षार्थं सम्प्रहृष्टेन चेतसा॥ ११॥
अभ्यधावत वर्धन्तं पावकं लुब्धकस्तदा।

बहेलिया अपने शरीरका परित्याग करनेके लिये मनमें हर्ष और उल्लास भरकर उस बढ़ती हुई आगकी ओर दौड़ पड़ा॥

ततस्तेनाग्निना दग्धो लुब्धको नष्टकल्मषः।
जगाम परमां सिद्धिं ततो भरतसत्तम॥ १२॥

भरतश्रेष्ठ! तदनन्तर उस आगमें जल जानेसे बहेलियेके सारे पाप नष्ट हो गये और उसने परम सिद्धि प्राप्त कर ली॥

ततः स्वर्गस्थमात्मानमपश्यद् विगतज्वरः।
यक्षगन्धर्वसिद्धानां मध्ये भ्राजन्तमिन्द्रवत्॥ १३॥

थोड़ी ही देरमें अपने आपको उसने देखा कि वह बड़े आनन्दसे स्वर्गलोकमें विराजमान है तथा अनेक यक्ष, सिद्ध और गन्धर्वोंके बीचमें इन्द्रके समान शोभा पा रहा है॥ १३॥

एवं खलु कपोतश्च कपोती च पतिव्रता।
लुब्धकेन सह स्वर्गं गताः पुण्येन कर्मणा॥ १४॥

इस प्रकार वह धर्मात्मा कबूतर, पतिव्रता कपोती और बहेलिया—तीनों साथ-साथ अपने पुण्यकर्मके बलसे स्वर्गलोकमें जा पहुँचे॥ १४॥

यापि चैवंविधा नारी भर्तारमनुवर्तते।
विराजते हि सा क्षिप्रं कपोतीव दिवि स्थिता॥ १५॥

इसी प्रकार जो स्त्री अपने पतिका अनुसरण करती है, वह कपोतीके समान शीघ्र ही स्वर्गलोकमें स्थित हो अपने तेजसे प्रकाशित होती है॥ १५॥

एवमेतत् पुरावृत्तं लुब्धकस्य महात्मनः।
कपोतस्य च धर्मिष्ठा गतिः पुण्येन कर्मणा॥ १६॥

यह प्राचीन वृत्तान्त (परशुरामजीने मुचुकुन्दको सुनाया था) यह ठीक ऐसा ही है। बहेलिये और महात्मा कबूतरको उनके पुण्य कर्मके प्रभावसे धर्मात्माओंकी गति प्राप्त हुई॥

यश्चेदं शृणुयान्नित्यं यश्चेदं परिकीर्तयेत्।
नाशुभं विद्यते तस्य मनसापि प्रमादतः॥ १७॥

जो मनुष्य इस प्रसङ्गको प्रतिदिन सुनता और जो इसका वर्णन करता है, उन दोनोंको मनसे भी प्रमादजनित अशुभकी प्राप्ति नहीं होती॥ १७॥

युधिष्ठिर महानेष धर्मो धर्मभृतां वर।
गोघ्नेष्वपि भवेदस्मिन्निष्कृतिः पापकर्मणः॥ १८॥

धर्मात्माओंमें श्रेष्ठ युधिष्ठिर! यह शरणागतका पालन महान् धर्म है। ऐसा करनेसे गोवध करनेवाले पुरुषोंके पापका भी प्रायश्चित्त हो जाता है॥ १८॥

न निष्कृतिर्भवेत् तस्य यो हन्याच्छरणागतम्।
इतिहासमिमं श्रुत्वा पुण्यं पापप्रणाशनम्।
न दुर्गतिमवाप्नोति स्वर्गलोकं च गच्छति॥ १९॥

जो शरणागतका वध करता है, उसको कभी इस पापसे छुटकारा नहीं मिलता। इस पापनाशक पुण्यमय इतिहासको सुन लेनेपर मनुष्य कभी दुर्गतिमें नहीं पड़ता। उसे स्वर्गलोककी प्राप्ति होती है॥ १९॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि आपद्धर्मपर्वणि लुब्धकस्वर्गगमने एकोनपञ्चाशदधिकशततमोऽध्यायः॥ १४९॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत आपद्धर्मपर्वमें व्याधका स्वर्गलोकमें गमनविषयक एक सौ उनचासवाँ अध्याय पूरा हुआ॥

पञ्चाशदधिकशततमोऽध्यायः

इन्द्रोत मुनिका राजा जनमेजयको फटकारना

युधिष्ठिर उवाच

अबुद्धिपूर्वं यत् पापं कुर्याद् भरतसत्तम।
मुच्यते स कथं तस्मादेतत् सर्वं वदस्व मे॥ १॥

युधिष्ठिरने पूछा—भरतश्रेष्ठ! यदि कोई पुरुष

[illegible] बैठे ही वह उसमें [illegible] है । पर अब मुझे चला दे ॥ १ ॥

भीष्म उवाच

अत्र ते वर्तयिष्यामि पुराणमृषिसंस्तुतम् ।
इन्द्रोतः शौनको विप्रो यदाह जनमेजयम् ॥ २ ॥

भीष्मजीने कहा—राजन्! इस विषयमें महर्षियोंद्वारा [illegible] प्रसङ्ग मैं उदाहरण तुम्हें सुनाऊँगा, [illegible] इन्द्रोतने राजा जनमेजयसे कहा था ॥

आसीद् राजा महावीर्यः पारिक्षिज्जनमेजयः ।
अबुद्धिपूर्वमागच्छद् ब्रह्महत्यां महीपतिः ॥ ३ ॥

[illegible] कहते हैं, हे पुत्र राजा जनमेजय बड़े पराक्रमी [illegible] उन्हें बिना जाने ही ब्रह्महत्याका पाप लग [illegible] ॥ ३ ॥

ब्राह्मणाः सर्व एवैते तत्यजुः सपुरोहिताः ।
स जगाम वनं राजा दह्यमानो दिवानिशम् ॥ ४ ॥

इस बातको जानकर पुरोहितसहित सभी ब्राह्मणोंने [illegible] त्याग दिया । राजा चिन्तासे दिन-रात जलते हुए वनमें चले गये ॥ ४ ॥

प्रजाभिः स परित्यक्तश्चकार कुशलं महत् ।
अतिवेलं तपस्तेपे दह्यमानः स मन्युना ॥ ५ ॥

प्रजाने भी उन्हें गद्दीसे उतार दिया था; अतः वे वनमें रहकर महान् पुण्य कर्म करने लगे । दुःखसे दग्ध होते हुए वे दीर्घकालतक तपस्यामें लगे रहे ॥ ५ ॥

ब्रह्महत्यापनोदार्थमपृच्छद् ब्राह्मणान् बहून् ।
पर्यटन् पृथिवीं कृत्स्नां देशे देशे नराधिपः ॥ ६ ॥

राजाने सारी पृथ्वीके प्रत्येक देशमें घूम-घूमकर बहुतेरे ब्राह्मणोंसे ब्रह्महत्या-निवारणके लिये उपाय पूछा ॥ ६ ॥

तत्रेतिहासं वक्ष्यामि धर्मस्यास्योपबृंहणम् ।
दह्यमानः पापकृत्या जगाम जनमेजयः ॥ ७ ॥
चरिष्यमाण इन्द्रोतं शौनकं संशितव्रतम् ।

राजन्! यहाँ मैं जो इतिहास बता रहा हूँ, वह धर्मकी वृद्धि करनेवाला है । राजा जनमेजय अपने पाप-कर्मसे दग्ध होते और वनमें विचरते हुए कठोर व्रतका पालन करनेवाले शौनकवंशी इन्द्रोत मुनिके पास जा पहुँचे ॥ ७½ ॥

समासाद्योपजग्राह पादयोः परिपीडयन् ॥ ८ ॥
ऋषिर्दृष्ट्वा नृपं तत्र जगर्हे सुभृशं तदा ।
कर्ता पापस्य महतो भ्रूणहा किमिहागतः ॥ ९ ॥
किं त्वयास्मासु कर्तव्यं मा मां स्प्राक्षीः कथंचन ।
गच्छ गच्छ न ते स्थानं प्रीणात्यस्मानिति ब्रुवन् ॥ १० ॥

वहाँ जाकर उन्होंने मुनिके दोनों पैर पकड़ लिये और उन्हें धीरे-धीरे दबाने लगे । ऋषिने वहाँ राजाको देखकर उस समय उनकी बड़ी निन्दा की । वे कहने लगे—अरे ! तू तो महान् पापाचारी और ब्रह्महत्यारा है । यहाँ कैसे आया ? हमलोगोंसे तेरा क्या काम है ? मुझे किसी तरह छूना मत । जा, जा, तेरा यहाँ ठहरना हमलोगोंको अच्छा नहीं लगता ॥ ८—१० ॥

रुधिरस्येव ते गन्धः शवस्येव च दर्शनम् ।
अशिवः शिवसंकाशो मृतो जीवन्निवाटसि ॥ ११ ॥

'तुमसे रुधिरकी-सी गन्ध निकलती है । तेरा दर्शन वैसा ही है, जैसा मुर्देका दीखना । तू देखनेमें मङ्गलमय है; परंतु है अमङ्गलरूप । वास्तवमें तू मर चुका; परंतु जीवितकी भाँति घूम रहा है ॥ ११ ॥

ब्रह्ममृत्युरशुद्धात्मा पापमेवानुचिन्तयन् ।
प्रबुद्ध्यसे प्रस्वपिषि वर्तसे परमे सुखे ॥ १२ ॥

'तू ब्राह्मणकी मृत्युका कारण है । तेरा अन्तःकरण नितान्त अशुद्ध है । तू पापकी ही बात सोचता हुआ जागता और सोता है और इसीसे अपनेको परम सुखी मानता है ॥

मोघं ते जीवितं राजन् परिक्लिष्टं च जीवसि ।
पापायैव हि सृष्टोऽसि कर्मणे हि यवीयसे ॥ १३ ॥

'राजन् ! तेरा जीवन व्यर्थ और अत्यन्त क्लेशमय है । तू पापके लिये ही पैदा हुआ है । खोटे कर्मके ही लिये तेरा जन्म हुआ है ॥ १३ ॥

बहुकल्याणमिच्छन्ति ईहन्ते पितरः सुतान् ।
तपसा दैवतेज्याभिर्वन्दनेन तितिक्षया ॥ १४ ॥

'माता-पिता तपस्या, देवपूजा, नमस्कार और सहनशीलता या क्षमा आदिके द्वारा पुत्र प्राप्त करना चाहते हैं और प्राप्त हुए पुत्रोंसे परम कल्याण पानेकी इच्छा रखते हैं ॥ १४ ॥

पितृवंशमिमं पश्य त्वत्कृते नरकं गतम् ।
निरर्थाः सर्व एवैषामाशाबन्धास्त्वदाश्रयाः ॥ १५ ॥

'परंतु तेरे कारण तेरे पितरोंका यह समुदाय नरकमें पड़ गया है । तू आँख उठाकर उनकी दशा देख ले । उन्होंने तुझसे जो-जो आशाएँ बाँध रक्खी थीं, उनकी वे सभी आशाएँ आज व्यर्थ हो गयीं ॥ १५ ॥

यान् पूजयन्तो विन्दन्ति स्वर्गमायुर्यशः प्रजाः ।
तेषु त्वं सततं द्वेष्टा ब्राह्मणेषु निरर्थकः ॥ १६ ॥

'जिनकी पूजा करनेवाले लोग स्वर्ग, आयु, यश और संतान प्राप्त करते हैं । उन्हीं ब्राह्मणोंसे तू सदा द्वेष रखता है। तेरा जीवन व्यर्थ है ॥ १६ ॥

इमं लोकं विमुच्य त्वमवाङ्मूर्द्धा पतिष्यसि ।
अशाश्वतीः शाश्वतीश्च समाः पापेन कर्मणा ॥ १७ ॥

'इस लोकको छोड़नेके बाद तू अपने पापकर्मके फलस्वरूप अनन्त वर्षोंतक नीचा सिर किये नरकमें पड़ा रहेगा ॥

अर्द्यमानो यत्र गृध्रैः शितिकण्ठैरयोमुखैः ।
ततश्च पुनरावृत्तः पापयोनिं गमिष्यसि ॥ १८ ॥

'वहाँ लोहेके समान चोंचवाले गीध और मोर तुझे नोच-नोचकर पीड़ा देंगे और उसके बाद भी नरकसे लौटनेपर तुझे किसी पापयोनिमें ही जन्म लेना पड़ेगा ॥ १८ ॥

यदिदं मन्यसे राजन् नायमस्ति कुतः परः ।
प्रतिस्मारयितारस्त्वां यमदूता यमक्षये ॥ १९ ॥

१. ये परीक्षित् और जनमेजय अर्जुनके पौत्र और प्रपौत्र नहीं हैं ।

'राजन्! तू जो यह समझता है कि जब इसी लोकमें पापका फल नहीं मिल रहा है, तब परलोकका तो अस्तित्व ही कहाँ है? सो इस धारणाके विपरीत यमलोकमें जानेपर यमराजके दूत तुझे इन सारी बातोंकी याद दिला देंगे' ॥ १९ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि आपद्धर्मपर्वणि इन्द्रोतपारिक्षितीयसंवादे पञ्चाशदधिकशततमोऽध्यायः ॥ १५० ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत आपद्धर्मपर्वमें इन्द्रोत और पारिक्षितका संवादविषयक एक सौ पचासवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥

एकपञ्चाशदधिकशततमोऽध्यायः

ब्रह्महत्याके अपराधी जनमेजयका इन्द्रोत मुनिकी शरणमें जाना और इन्द्रोत मुनिका उससे ब्राह्मणद्रोह न करनेकी प्रतिज्ञा कराकर उसे शरण देना

भीष्म उवाच

एवमुक्तः प्रत्युवाच तं मुनिं जनमेजयः ।
गर्ह्यं भवान् गर्हयते निन्द्यं निन्दति मां पुनः ॥ १ ॥
धिक्कार्यं मां धिक्कुरुते तस्मात् त्वाहं प्रसादये ।

भीष्मजी कहते हैं—राजन्! मुनिवर इन्द्रोतके ऐसा कहनेपर जनमेजयने उन्हें इस प्रकार उत्तर दिया—'मुने! मैं घृणा और तिरस्कारके योग्य हूँ, इसीलिये आप मेरा तिरस्कार करते हैं। मैं निन्दाका पात्र हूँ; इसीलिये बारम्बार मेरी निन्दा करते हैं। मैं धिक्कारने और दुतकारनेके ही योग्य हूँ; इसीलिये आपकी ओरसे मुझे धिक्कार मिल रहा है और इसीलिये मैं आपको प्रसन्न करना चाहता हूँ ॥ १½ ॥

सर्वं हीदं दुष्कृतं मे ज्वलाम्यग्नाविवाहितः ॥ २ ॥
स्वकर्माण्यभिसंधाय नाभिनन्दति मे मनः ।

'यह सारा पाप मुझमें मौजूद है; अतः मैं चिन्तासे उसी प्रकार जल रहा हूँ, मानो किसीने मुझे आगके भीतर रख दिया हो। अपने कुकर्मोंको याद करके मेरा मन स्वतः प्रसन्न नहीं हो रहा है ॥ २½ ॥

प्राप्यं घोरं भयं नूनं मया वैवस्वतादपि ॥ ३ ॥
तत्तु शल्यमनिर्हृत्य कथं शक्ष्यामि जीवितुम् ।
सर्वं मन्युं विनीय त्वमभि मां वद शौनक ॥ ४ ॥

'निश्चय ही मुझे यमराजसे भी घोर भय प्राप्त होनेवाली है, यह बात मेरे हृदयमें काँटेकी भाँति चुभ रही है। अपने हृदयसे इसको निकाले बिना मैं कैसे जीवित रह सकूँगा? अतः शौनकजी! आप समस्त क्रोधका त्याग करके मुझे उद्धारका कोई उपाय बताइये ॥ ३–४ ॥

महानासं ब्राह्मणानां भूयो वक्ष्यामि साम्प्रतम् ।
अस्तु शेषं कुलस्यास्य मा पराभूदिदं कुलम् ॥ ५ ॥

'मैं ब्राह्मणोंका महान् भक्त रहा हूँ; इसीलिये इस समय पुनः आपसे निवेदन करता हूँ कि मेरे इस कुलका कुछ भाग अवश्य शेष रहना चाहिये। समूचे कुलका पराभव या विनाश नहीं होना चाहिये ॥ ५ ॥

न हि नो ब्रह्मशप्तानां शेषं भवितुमर्हति ।
स्तुतीरलभमानानां संविदं वेदनिश्चितान् ॥ ६ ॥
निर्विद्यमानः सुभृशं भूयो वक्ष्यामि शाश्वतम् ।
भूयश्चैवाभिरक्षन्तु निर्धनान् निर्जना इव ॥ ७ ॥

'ब्राह्मणोंके शाप दे देनेपर हमारे कुलका कुछ भी शेष नहीं रह जायगा। हम अपने पापके कारण न तो समाजमें प्रशंसा पा रहे हैं न सजातीय बन्धुओंके साथ एकमत ही हो रहे हैं; अतः अत्यन्त खेद और विरक्तिको प्राप्त होकर हम पुनः वेदोंका निश्चयात्मक ज्ञान रखनेवाले आप-जैसे ब्राह्मणोंसे सदा यही कहेंगे कि जैसे निर्जन स्थानमें रहनेवाले योगीजन पापी पुरुषोंकी रक्षा करते हैं, उसी प्रकार आपलोग अपनी दयासे ही हम-जैसे दुखी मनुष्योंकी रक्षा करें ॥ ६-७ ॥

न ह्ययज्ञा अमुं लोकं प्राप्नुवन्ति कथञ्चन ।
आपातान् प्रतितिष्ठन्ति पुलिन्दशबरा इव ॥ ८ ॥

'जो क्षत्रिय अपने पापके कारण यज्ञके अधिकारसे वञ्चित हो जाते हैं, वे पुलिन्दों और शबरोंके समान नरकोंमें ही पड़े रहते हैं। किसी प्रकार परलोकमें उत्तम गतिको नहीं पाते ॥

अविज्ञायैव मे प्रज्ञां बालस्येव स पण्डितः ।
ब्रह्मन् पितेव पुत्रस्य प्रीतिमान् भव शौनक ॥ ९ ॥

'ब्रह्मन्! शौनक! आप विद्वान् हैं और मैं मूर्ख। आप मेरी बालबुद्धिपर ध्यान न देकर जैसे पिता पुत्रपर स्वभावतः संतुष्ट होता है, उसी प्रकार मुझपर भी प्रसन्न होइये' ॥

शौनक उवाच

किमाश्चर्यं यदप्राज्ञो बहु कुर्यादसाम्प्रतम् ।
इति वै पण्डितो भूत्वा भूतानां नानुकुप्यते ॥ १० ॥

शौनकने कहा—यदि अज्ञानी मनुष्य अयुक्त कार्य भी कर बैठे तो इसमें कौन-सी आश्चर्यकी बात है; अतः इस रहस्यको जाननेवाले बुद्धिमान् पुरुषको चाहिये कि वह प्राणियोंपर क्रोध न करे ॥ १० ॥

प्रज्ञाप्रासादमारुह्य अशोच्यः शोचते जनान् ।
जगतीस्थानिवाद्रिस्थः प्रज्ञया प्रतिपत्स्यति ॥ ११ ॥

जो विशुद्ध बुद्धिकी अट्टालिकापर चढ़कर स्वयं शोकसे रहित हो दूसरे दुखी मनुष्योंके लिये शोक करता है, वह अपने ज्ञानबलसे सब कुछ उसी प्रकार जान लेता है, जैसे पर्वतकी चोटीपर खड़ा हुआ मनुष्य उस पर्वतके आस-पासकी भूमिपर रहनेवाले सब लोगोंको देखता रहता है ॥ ११ ॥

न चोपलभ्यते तेन न चाश्चर्याणि कुर्वते ।
निर्विण्णात्मा परोक्षो वा धिक्कृतः पूर्वसाधुषु ॥ १२ ॥

जो प्राचीन श्रेष्ठ पुरुषोंसे विरक्त हो उनके दृष्टिपथसे दूर रहता है तथा उनके द्वारा धिक्कारको प्राप्त होता रहता है, उसे ज्ञानकी उपलब्धि नहीं होती है और ऐसे पुरुषके लिये दूसरे लोग आश्चर्य भी नहीं करते हैं ॥ १२ ॥

विदितं भवतो वीर्यं माहात्म्यं वेद आगमे ।

[illegible] ॥ १३ ॥

[illegible] है । [illegible] और [illegible] भी [illegible] है; [illegible] जिससे ब्राह्मण- [illegible] ॥ १३ ॥

[illegible] ब्राह्मणानामकुप्यताम् ।
[illegible] धर्ममेवानुपश्य वै ॥ १४ ॥

[illegible] लिये जो कुछ किया [illegible] ही हेतु होता है अथवा [illegible] पश्चात्ताप होता है तो तुम निरन्तर [illegible] ॥ १४ ॥

जनमेजय उवाच

अनुतप्ये च पापेन न च धर्मं विलोपये ।
बुभूषुं भजमानं च प्रीतिमान् भव शौनक ॥ १५ ॥

जनमेजयने कहा—शौनक ! मुझे अपने पापके कारण बड़ा पश्चात्ताप होता है; अब मैं धर्मका कभी लोप नहीं करूँगा । मुझे कल्याण प्राप्त करनेकी इच्छा है; अतः आप मुझपर प्रसन्न होइये ॥ १५ ॥

शौनक उवाच

छित्त्वा दम्भं च मानं च प्रीतिमिच्छामि ते नृप ।
सर्वभूतहिते तिष्ठ धर्मं चैव प्रतिस्मरन् ॥ १६ ॥

शौनक बोले—नरेश्वर ! मैं तुम्हें तुम्हारे दम्भ और अभिमानका नाश करके तुम्हारा प्रिय करना चाहता हूँ । तुम धर्मका निरन्तर स्मरण रखते हुए समस्त प्राणियोंके हितका साधन करो ॥ १६ ॥

न भयान्न च कार्पण्यान्न लोभात् त्वामुपाह्वये ।
तां मे दैवीं गिरं सत्यां शृणु त्वं ब्राह्मणैः सह ॥ १७ ॥

राजन् ! मैं भयसे, दीनतासे और लोभसे भी तुम्हें अपने पास नहीं बुलाता हूँ । तुम इन ब्राह्मणोंके सहित दैवी वाणीके समान मेरी यह सच्ची बात कान खोलकर सुन लो ॥

सोऽहं न केनचिच्चार्थी त्वां च धर्मादुपाह्वये ।
क्रोशतां सर्वभूतानां हाहा धिगिति जल्पताम् ॥ १८ ॥

मैं तुमसे कोई वस्तु लेनेकी इच्छा नहीं रखता । यदि समस्त प्राणी मुझे खोटी-खरी सुनाते रहें, हाय-हाय मचाते रहें और धिक्कार देते रहें तो भी उनकी अवहेलना करके मैं तुम्हें केवल धर्मके कारण निकट आनेके लिये आमन्त्रित करता हूँ ॥

वक्ष्यन्ति मामधर्मज्ञं त्यक्ष्यन्ति सुहृदो जनाः ।
ता वाचः सुहृदः श्रुत्वा संज्वरिष्यन्ति मे भृशम् ॥ १९ ॥

मुझे लोग अधर्मज्ञ कहेंगे । मेरे हितैषी सुहृद् मुझे त्याग देंगे तथा तुम्हें धर्मोपदेश देनेकी बात सुनकर मेरे सुहृद् मुझपर अत्यन्त रोषसे जल उठेंगे ॥ १९ ॥

केचिदेव महाप्राज्ञाः प्रतिज्ञास्यन्ति तत्त्वतः ।
जानीहि मत्कृतं तात ब्राह्मणान् प्रति भारत ॥ २० ॥

तात ! भारत ! कोई-कोई महाज्ञानी पुरुष ही मेरे अभिप्रायको यथार्थरूपसे समझ सकेंगे । ब्राह्मणोंके प्रति भलाई करनेके लिये ही मेरी यह सारी चेष्टा है । यह तुम अच्छी तरह जान लो ॥ २० ॥

यथा ते मत्कृते क्षेमं लभन्ते ते तथा कुरु ।
प्रतिजानीहि चाद्रोहं ब्राह्मणानां नराधिप ॥ २१ ॥

ब्राह्मणलोग मेरे कारण जैसे भी सकुशल रहें, वैसा ही प्रयत्न तुम करो । नरेश्वर ! तुम मेरे सामने यह प्रतिज्ञा करो कि अब मैं ब्राह्मणोंसे कभी द्रोह नहीं करूँगा ॥ २१ ॥

जनमेजय उवाच

नैव वाचा न मनसा पुनर्जातु न कर्मणा ।
द्रोग्धास्मि ब्राह्मणान् विप्र चरणावपि ते स्पृशे ॥ २२ ॥

जनमेजयने कहा—विप्रवर ! मैं आपके दोनों चरण छूकर शपथपूर्वक कहता हूँ कि मन, वाणी और क्रियाद्वारा कभी ब्राह्मणोंसे द्रोह नहीं करूँगा ॥ २२ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि आपद्धर्मपर्वणि इन्द्रोतपारिक्षितीये एकपञ्चाशदधिकशततमोऽध्यायः ॥ १५१ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत आपद्धर्मपर्वमें इन्द्रोत और पारिक्षितका संवादविषयक एक सौ इक्यावनवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १५१ ॥

द्विपञ्चाशदधिकशततमोऽध्यायः

इन्द्रोतका जनमेजयको धर्मोपदेश करके उनसे अश्वमेधयज्ञका अनुष्ठान कराना तथा निष्पाप राजाका पुनः अपने राज्यमें प्रवेश

शौनक उवाच

तस्मात् तेऽहं प्रवक्ष्यामि धर्ममावृतचेतसे ।
श्रीमान् महाबलस्तुष्टः स्वयं धर्ममवेक्षसे ॥ १ ॥

शौनकने कहा—राजन् ! तुमने ऐसी प्रतिज्ञा की है, इससे जान पड़ता है कि तुम्हारा मन पापकी ओरसे निवृत्त हो गया है; इसलिये मैं तुम्हें धर्मका उपदेश करूँगा; क्योंकि तुम श्रीसम्पन्न, महाबलवान् और संतुष्टचित्त हो । साथ ही स्वयं धर्मपर दृष्टि रखते हो ॥ १ ॥

पुरस्ताद् दारुणो भूत्वा सुचित्रतरमेव तत् ।
अनुगृह्णाति भूतानि स्वेन वृत्तेन पार्थिवः ॥ २ ॥

राजा पहले कठोर स्वभावका होकर पीछे कोमल भावका अवलम्बन करके जो अपने सद्व्यवहारसे समस्त प्राणियोंपर अनुग्रह करता है, वह अत्यन्त आश्चर्यकी ही बात है ॥ २ ॥

कृत्स्नं नूनं स दहति इति लोको व्यवस्यति ।
यत्र त्वं तादृशो भूत्वा धर्ममेवानुपश्यसि ॥ ३ ॥

चिरकालतक तीक्ष्ण स्वभावका आश्रय लेनेवाला राजा निश्चय ही अपना सब कुछ जलाकर भस्म कर डालता है, ऐसी लोगोंकी धारणा है; परंतु तुम वैसे होकर भी जो धर्मपर

ही दृष्टि रख रहे हो, यह कम आश्चर्यकी बात नहीं है ॥ ३ ॥

हित्वा तु सुचिरं भक्ष्यं भोज्यांश्च तप आस्थितः।
इत्येतदभिभूतानामद्भुतं जनमेजय ॥ ४ ॥

जनमेजय ! तुम जो दीर्घकालसे भक्ष्य-भोज्य आदि पदार्थोंका परित्याग करके तपस्यामें लगे हुए हो, यह पापसे अभिभूत हुए मनुष्योंके लिये अद्भुत बात है ॥ ४ ॥

योऽदुर्लभो भवेद् दाता कृपणो वा तपोधनः।
अनाश्चर्यं तदित्याहुर्नातिदूरेण वर्तते ॥ ५ ॥

यदि धन-सम्पन्न पुरुष दानी हो एवं कृपण या दरिद्र मनुष्य तपस्याका धनी हो जाय तो इसे आश्चर्यकी बात नहीं मानते हैं; क्योंकि ऐसे पुरुषोंका दान और तपसे सम्पन्न होना अधिक कठिन नहीं है ॥ ५ ॥

एतदेव हि कार्पण्यं समग्रमसमीक्षितम्।
यच्चेत् समीक्षयैव स्याद् भवेत् तस्मिंस्ततो गुणः॥६॥

यदि सारी बातोंपर पूर्वापर विचार न करके कोई कार्य आरम्भ किया जाय तो यही कायरतापूर्ण दोष है और यदि भलीभाँति आलोचना करके कोई कार्य हो तो यही उसमें गुण माना जाता है ॥ ६ ॥

यज्ञो दानं दया वेदाः सत्यं च पृथिवीपते।
पञ्चैतानि पवित्राणि षष्ठं सुचरितं तपः ॥ ७ ॥

पृथ्वीनाथ ! यज्ञ, दान, दया, वेद और सत्य—ये पाँचों पवित्र बताये गये हैं। इनके साथ अच्छी तरह आचरणमें लाया हुआ तप भी छठा पवित्र कर्म माना गया है॥

तदेव राज्ञां परमं पवित्रं जनमेजय।
तेन सम्यग्गृहीतेन श्रेयांसं धर्ममाप्स्यसि ॥ ८ ॥

जनमेजय ! राजाओंके लिये ये छहों वस्तुएँ परम पवित्र हैं। इन्हें भलीभाँति आचरणमें लानेपर तुम श्रेष्ठतम धर्मको प्राप्त कर लोगे ॥ ८ ॥

पुण्यदेशाभिगमनं पवित्रं परमं स्मृतम्।
अत्राप्युदाहरन्तीमां गाथां गीतां ययातिना ॥ ९ ॥

पुण्य तीर्थोंकी यात्रा करना भी परम पवित्र माना गया है। इस विषयमें विज्ञ पुरुष राजा ययातिकी गायी हुई इस गाथाका उदाहरण दिया करते हैं ॥ ९ ॥

यो मर्त्यः प्रतिपद्येत आयुर्जीवितमात्मनः।
यज्ञमेकान्ततः कृत्वा तत् संन्यस्य तपश्चरेत् ॥ १० ॥

जो मनुष्य अपने लिये दीर्घ जीवनकी इच्छा रखता है, वह यत्नपूर्वक यज्ञका अनुष्ठान करके फिर उसे त्यागकर तपस्यामें लग जाय ॥ १० ॥

पुण्यमाहुः कुरुक्षेत्रं कुरुक्षेत्रात् सरस्वतीम्।
सरस्वत्याश्च तीर्थानि तीर्थेभ्यश्च पृथूदकम् ॥ ११ ॥

कुरुक्षेत्रको पवित्र तीर्थ बताया गया। कुरुक्षेत्रसे अधिक पवित्र सरस्वती नदी है, उससे भी अधिक पवित्र उसके भिन्न-भिन्न तीर्थ हैं। उन तीर्थोंमें भी दूसरोंकी अपेक्षा पृथूदक तीर्थको श्रेष्ठ कहा गया है॥ ११ ॥

यत्रावगाह्य पीत्वा च नैनं श्वोमरणं तपेत्।
महासरः पुष्कराणि प्रभासोत्तरमानसे ॥ १२ ॥
कालोदकं च गन्तासि लब्धायुर्जीविते पुनः।
सरस्वतीदृषद्वत्योः संगमो मानसः सरः ॥ १३ ॥

उसमें स्नान करने और उसका जल पीनेसे मनुष्यको कल ही होनेवाली मृत्युका भय नहीं सताता अर्थात् वह कृतकृत्य हो जाता है। इस कारण मरनेसे नहीं डरता। यदि तुम महासरोवर पुष्कर, प्रभास, उत्तर मानस, कालोदक, दृषद्वती और सरस्वतीके सङ्गम तथा मानसरोवर आदि तीर्थोंमें जाकर स्नान करोगे तो तुम्हें पुनः अपने जीवनके लिये दीर्घायु प्राप्त होगी ॥ १२–१३ ॥

स्वाध्यायशीलः स्थानेषु सर्वेषु समुपस्पृशेत्।
त्यागधर्मः पवित्राणां संन्यासं मनुरब्रवीत् ॥ १४ ॥

सभी तीर्थस्थानोंमें स्वाध्यायशील होकर स्नान करे। मनुने कहा है कि सर्वत्यागरूप संन्यास सम्पूर्ण पवित्र धर्मोंमें श्रेष्ठ है ॥ १४ ॥

अत्राप्युदाहरन्तीमा गाथाः सत्यवता कृताः।
यथा कुमारः सत्यो वै नैव पुण्यो न पापकृत् ॥ १५ ॥

इस विषयमें भी सत्यवान्द्वारा निर्मित हुई इन गाथाओंका उदाहरण दिया जाता है। जैसे बालक राग-द्वेषसे शून्य होनेके कारण सदा सत्यपरायण ही रहता है। न तो वह पुण्य करता है और न पाप ही। इसी प्रकार प्रत्येक श्रेष्ठ पुरुषको भी होना चाहिये ॥ १५ ॥

न ह्यस्ति सर्वभूतेषु दुःखमस्मिन् कुतः सुखम्।
एवं प्रकृतिभूतानां सर्वसंसर्गयायिनाम् ॥ १६ ॥
त्यजतां जीवितं श्रेयो निवृत्ते पुण्यपापके।

इस संसारके सम्पूर्ण प्राणियोंमें जब दुःख ही नहीं है, तब सुख कहाँसे हो सकता है ? यह सुख और दुःख दोनों ही प्रकृतिस्थ प्राणियोंके धर्म हैं, जो कि सब प्रकारके संसर्गदोषको स्वीकार करके उनके अनुसार चलते हैं। जिन्होंने ममता और अहङ्कार आदिके साथ सब कुछ त्याग दिया है, जिनके पुण्य और पाप सभी निवृत्त हो चुके हैं, ऐसे पुरुषोंका जीवन ही कल्याणमय है ॥ १६½ ॥

यत्त्वेव राज्ञो ज्यायिष्ठं कार्याणां तद् ब्रवीमि ते ॥ १७ ॥
बलेन संविभागैश्च जय स्वर्गं जनेश्वर।
यस्यैव बलमोजश्च स धर्मस्य प्रभुर्नरः ॥ १८ ॥

अब मैं राजाके कार्योंमें जो सबसे श्रेष्ठ है, उसका वर्णन करता हूँ। जनेश्वर ! तुम धैर्ययुक्त बल और दानके द्वारा स्वर्गलोकपर विजय प्राप्त करो। जिसके पास बल और ओज है, वही मनुष्य धर्माचरणमें समर्थ होता है ॥ १७-१८ ॥

ब्राह्मणानां सुखार्थं हि त्वं पाहि वसुधां नृप।
यथैवैतान् पुराऽऽक्षैप्सीस्तथैवैतान् प्रसादय ॥ १९ ॥

नरेश्वर ! तुम ब्राह्मणोंको सुख पहुँचानेके लिये ही सारी पृथ्वीका पालन करो। जैसे पहले इन ब्राह्मणोंपर आक्षेप किया था, वैसे इन सबको अपने सद्व्यवहारसे प्रसन्न करो ॥

अपि धिक्क्रियमाणोऽपि त्यज्यमानोऽप्यनेकधा।

[illegible] [illegible] [illegible] मार्गेय ।
[illegible] [illegible] [illegible] निःश्रेयसं परम् ॥ २० ॥
[illegible] और [illegible] दूर हुआ [illegible] निश्चय करो कि [illegible] । [illegible] कल्याणके लिये [illegible] समान करो ॥ २० ॥

[illegible]स्तरसो राजा भवति कश्चन ।
[illegible] वा भवेदन्यः परंतप ॥ २१ ॥
[illegible] ! कोई राजा [illegible] समान शीतल होता है, कोई [illegible] देनेवाला होता है, कोई यमराजके समान [illegible] पड़ता है, कोई [illegible] मूलोच्छेद करने- [illegible] उन्मूलन करनेवाला होता है [illegible] अकस्मात् वज्रके समान टूट पड़ता है ॥

न विरोधेन गन्तव्यमविच्छिन्नेन वा पुनः ।
न जातु नाहमस्मीति सुप्रसक्तमसाधुषु ॥ २२ ॥
कभी मेरा अभाव नहीं हो जाय, ऐसा समझकर राजाको [illegible] हुए पुरुषोंका सङ्ग कभी न करे । न तो उनके [illegible] आकृष्ट हो, न उनके साथ अविच्छिन्न [illegible] स्थापित करे और न उनमें अत्यन्त आसक्त ही हो ॥

विकर्मणा तप्यमानः पापाद् विपरिमुच्यते ।
नैतत् कार्यं पुनरिति द्वितीयात् परिमुच्यते ॥ २३ ॥
यदि कोई शास्त्रविरुद्ध कर्म बन जाय तो उसके लिये पश्चात्ताप करनेवाला पुरुष पापसे मुक्त हो जाता है । यदि दूसरी बार पाप बन जाय तो 'अब फिर ऐसा काम नहीं करूँगा' ऐसी प्रतिज्ञा करनेसे वह पापमुक्त हो सकता है ॥

चरिष्ये धर्ममेवेति तृतीयात् परिमुच्यते ।
शुचिस्तीर्थान्यनुचरन् बहुत्वात्परिमुच्यते ॥ २४ ॥
'आजसे केवल धर्मका ही आचरण करूँगा' ऐसा नियम लेनेसे वह तीसरी बारके पापसे छुटकारा पा जाता है और [illegible] तीर्थोंमें विचरण करनेवाला पुरुष अनेक बारके किये हुए बहुसंख्यक पापोंसे मुक्त हो जाता है ॥ २४ ॥

कल्याणमनुकर्तव्यं पुरुषेण बुभूषता ।
ये सुगन्धीनि सेवन्ते तथागन्धा भवन्ति ते ॥ २५ ॥
ये दुर्गन्धीनि सेवन्ते तथागन्धा भवन्ति ते ।
तपश्चर्यापरः सद्यः पापाद् विपरिमुच्यते ॥ २६ ॥
सुखकी अभिलाषा रखनेवाले पुरुषको कल्याणकारी कर्मोंका अनुष्ठान करना चाहिये । जो सुगन्धित पदार्थोंका सेवन करते हैं, उनके शरीरसे सुगन्ध निकलती है और जो सदा दुर्गन्धका सेवन करते हैं, वे अपने शरीरसे दुर्गन्ध ही फैलाते हैं । जो मनुष्य तपस्यामें तत्पर होता है, वह तत्काल सारे पापोंसे मुक्त हो जाता है ॥ २५-२६ ॥

[illegible]मुपास्याग्निमभिशस्तः प्रमुच्यते ।
त्रीणि वर्षाण्युपास्याग्निं भ्रूणहा विप्रमुच्यते ॥ २७ ॥
[illegible] एक वर्षतक अग्निहोत्र करनेसे कलङ्कित पुरुष अपने ऊपर लगे हुए कलङ्कसे छूट जाता है । तीन वर्षोंतक अग्निकी उपासना करनेसे भ्रूणहत्यारा भी पाप-मुक्त हो जाता है ॥ २७ ॥

महासरः पुष्कराणि प्रभासोत्तरमानसे ।
अभ्येत्य योजनशतं भ्रूणहा विप्रमुच्यते ॥ २८ ॥
महासरोवर पुष्कर, प्रभास तीर्थ तथा उत्तर मानसरोवर आदि तीर्थोंमें सौ योजनतककी पैदल यात्रा करनेसे भी भ्रूण-हत्याके पापसे छुटकारा मिल जाता है ॥ २८ ॥

यावतः प्राणिनो हन्यात् तज्जातीयांस्तु तावतः ।
प्रमीयमाणानुन्मोच्य प्राणिहा विप्रमुच्यते ॥ २९ ॥
प्राणियोंकी हत्या करनेवाला मनुष्य जितने प्राणियोंका वध करता है, उसी जातिके उतने ही प्राणियोंको मृत्युसे छुटकारा दिला दे अर्थात् उनको मरनेके संकटसे छुड़ा दे तो वह उनकी हत्याके पापसे मुक्त हो जाता है ॥ २९ ॥

अपि चाप्सु निमज्जेत जपंस्त्रिरघमर्षणम् ।
यथाश्वमेधावभृथस्तथा तन्मनुरब्रवीत् ॥ ३० ॥
यदि मनुष्य तीन बार अघमर्षणका जप करते हुए जलमें गोता लगावे तो उसे अश्वमेध यज्ञमें अवभृथस्नान करनेका फल मिलता है, ऐसा मनुजीने कहा है ॥ ३० ॥

तत् क्षिप्रं नुदते पापं सत्कारं लभते तथा ।
अपि चैनं प्रसीदन्ति भूतानि जडमूकवत् ॥ ३१ ॥
वह अघमर्षण मन्त्रका जप करनेवाला मनुष्य शीघ्र ही अपने सारे पापोंको दूर कर देता है और उसे सर्वत्र सम्मान प्राप्त होता है । सब प्राणी जड एवं मूकके समान उसपर प्रसन्न हो जाते हैं ॥ ३१ ॥

बृहस्पतिं देवगुरुं सुरासुराः
सर्वे समेत्याभ्यनुयुज्य राजन् ।
धर्म्यं फलं वेत्थ फलं महर्षे
तथैव तस्मिन्नरके पारलोक्ये ॥ ३२ ॥
उभे तु यस्य सदृशे भवेतां
किंस्वित् तयोस्तत्र जयोऽथ न स्यात् ।
आचक्ष्व नः पुण्यफलं महर्षे
कथं पापं नुदते धर्मशीलः ॥ ३३ ॥
राजन् ! एक समय सब देवताओं और असुरोंने बड़े आदरके साथ देवगुरु बृहस्पतिके निकट जाकर पूछा—'महर्षे ! आप धर्मका फल जानते हैं । इसी प्रकार परलोकमें जो पापोंके फलस्वरूप नरकका कष्ट भोगना पड़ता है, वह भी आपसे अज्ञात नहीं है, परंतु जिस योगीके लिये सुख और दुःख दोनों समान हैं, वह उन दोनोंके कारणरूप पुण्य और पापको जीत लेता है या नहीं । महर्षे ! आप हमारे समक्ष पुण्यके फलका वर्णन करें और यह भी बतावें कि धर्मात्मा पुरुष अपने पापोंका नाश कैसे करता है ?' ॥ ३२-३३ ॥

बृहस्पतिरुवाच

कृत्वा पापं पूर्वमबुद्धिपूर्वं
पुण्यानि चेत्कुरुते बुद्धिपूर्वम् ।
स तत् पापं नुदते कर्मशीलो
वासो यथा मलिनं क्षारयुक्तम् ॥ ३४ ॥

बृहस्पतिजीने कहा—यदि मनुष्य पहले बिना जाने पाप करके फिर जान-बूझकर पुण्यकर्मोंका अनुष्ठान करता है तो वह सत्कर्मपरायण पुरुष अपने पापको उसी प्रकार दूर कर देता है, जैसे क्षार (सोडा, साबुन आदि) लगानेसे कपड़ेका मैल छूट जाता है ॥ ३४ ॥

पापं कृत्वाभिमन्येत नाहमस्मीति पूरुषः ।
तच्चिकीर्षति कल्याणं श्रद्दधानोऽनसूयकः ॥ ३५ ॥

मनुष्यको चाहिये कि वह पाप करके अहङ्कार न प्रकट करे—हेकड़ी न दिखावे, अपितु श्रद्धापूर्वक दोषदृष्टिका परित्याग करके कल्याणमय धर्मके अनुष्ठानकी इच्छा करे ॥

छिद्राणि विवृतान्येव साधूनां चावृणोति यः ।
यः पापं पुरुषः कृत्वा कल्याणमभिपद्यते ॥ ३६ ॥

जो मनुष्य श्रेष्ठ पुरुषोंके खुले हुए छिद्रोंको ढकता है अर्थात् उनके प्रकट हुए दोषोंको भी छिपानेकी चेष्टा करता है तथा जो पाप करके उससे विरत हो कल्याणमय कर्ममें लग जाता है, वे दोनों ही पापरहित हो जाते हैं ॥ ३६ ॥

यथाऽऽदित्यः प्रातरुद्यंस्तमः सर्वं व्यपोहति ।
कल्याणमाचरन्नेवं सर्वपापं व्यपोहति ॥ ३७ ॥

जैसे सूर्य प्रातःकाल उदित होकर सारे अन्धकारको नष्ट कर देता है, उसी प्रकार शुभकर्मका आचरण करनेवाला पुरुष अपने सभी पापोंका अन्त कर देता है ॥ ३७ ॥

भीष्म उवाच

एवमुक्त्वा तु राजानमिन्द्रोतो जनमेजयम् ।
याजयामास विधिवद् वाजिमेधेन शौनकः ॥ ३८ ॥

भीष्मजी कहते हैं—राजन् ! ऐसा कहकर शौनक इन्द्रोतने राजा जनमेजयसे विधिपूर्वक अश्वमेधयज्ञका अनुष्ठान कराया ॥ ३८ ॥

ततः स राजा व्यपनीतकल्मषः
श्रेयोवृतः प्रज्वलिताग्निरूपवान् ।
विवेश राज्यं स्वममित्रकर्षणो
यथा दिवं पूर्णवपुर्निशाकरः ॥ ३९ ॥

इससे राजा जनमेजयका सारा पाप नष्ट हो गया और वे प्रज्वलित अग्निके समान देदीप्यमान होने लगे । उन्हें सब प्रकारके श्रेय प्राप्त हो गये । जैसे पूर्ण चन्द्रमा आकाशमण्डलमें प्रवेश करता है, उसी प्रकार शत्रुसूदन जनमेजयने पुनः अपने राज्यमें प्रवेश किया ॥ ३९ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि आपद्धर्मपर्वणि इन्द्रोतपारिक्षितीये द्विपञ्चाशदधिकशततमोऽध्यायः ॥ १५२ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत आपद्धर्मपर्वमें इन्द्रोत और पारिक्षितका संवादविषयक एक सौ बावनवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १५२ ॥

त्रिपञ्चाशदधिकशततमोऽध्यायः

मृतककी पुनर्जीवन-प्राप्तिके विषयमें एक ब्राह्मण बालकके जीवित होनेकी कथा; उसमें गीध और सियारकी बुद्धिमत्ता

युधिष्ठिर उवाच

कच्चित् पितामहेनासीच्छ्रुतं वा दृष्टमेव च ।
कच्चिन्मर्त्यो मृतो राजन् पुनरुज्जीवितोऽभवत् ॥ १ ॥

युधिष्ठिरने पूछा—पितामह ! क्या आपने कभी यह भी देखा या सुना है कि कोई मनुष्य मरकर फिर जी उठा हो ! ॥ १ ॥

भीष्म उवाच

शृणु पार्थ यथावृत्तमितिहासं पुरातनम् ।
गृध्रजम्बुकसंवादं यो वृत्तो नैमिषे पुरा ॥ २ ॥

भीष्मजीने कहा—कुन्तीनन्दन ! प्राचीनकालमें नैमिषारण्यक्षेत्रमें गीध और गीदड़का जो संवाद हुआ था, उसे सुनो, वह पूर्वघटित यथार्थ इतिहास है ॥ २ ॥

कस्यचिद् ब्राह्मणस्यासीद् दुःखलब्धः सुतो मृतः ।
बाल एव विशालाक्षो बालग्रहनिपीडितः ॥ ३ ॥

किसी ब्राह्मणको बड़े कष्टसे एक पुत्र प्राप्त हुआ था । वह बड़े-बड़े नेत्रोंवाला सुन्दर बालक बाल ग्रहसे पीड़ित हो बाल्यावस्थामें ही चल बसा ॥ ३ ॥

दुःखिताः केचिदादाय बालमप्राप्तयौवनम् ।
कुलसर्वस्वभूतं वै रुदन्तः शोकविह्वलाः ॥ ४ ॥

जिसने युवावस्थामें अभी प्रवेश ही नहीं किया था तथा जो अपने कुलका सर्वस्व था, उस मरे हुए बालकको लेकर उसके कुछ दुखी बान्धव शोकसे व्याकुल हो फूट-फूटकर रोने लगे ॥ ४ ॥

बालं मृतं गृहीत्वाथ श्मशानाभिमुखाः स्थिताः ।
अङ्केनैव च संक्रम्य रुरुदुर्भृशदुःखिताः ॥ ५ ॥

उस मृत बालकको गोदमें लेकर वे श्मशानकी ओर चले । वहाँ पहुँचकर खड़े हो गये और अत्यन्त दुखी होकर रोने लगे ॥ ५ ॥

शोचन्तस्तस्य पूर्वोक्तान् भाषितांश्चासकृत् पुनः ।
तं बालं भूतले क्षिप्य प्रतिगन्तुं न शक्नुयुः ॥ ६ ॥

वे उसकी पहलेकी बातोंको बारंबार याद करके शोकमग्न हो जाते थे; इसलिये उसे श्मशानभूमिमें डालकर लौट जानेमें असमर्थ हो रहे थे ॥ ६ ॥

तेषां रुदितशब्देन गृध्रोऽभ्येत्य वचोऽब्रवीत् ।
एकात्मजमिमं लोके त्यक्त्वा गच्छत मा चिरम् ॥ ७ ॥
इह पुंसां सहस्राणि स्त्रीसहस्राणि चैव ह ।

[illegible] वान्धवाः ॥ ८ ॥

[illegible] और यहाँ आना [illegible] ! तुम जल्दी अपने [illegible] देर मत करो । [illegible] जा चुके हैं और [illegible] हैं ॥ ७-८ ॥

[illegible] जगत् सर्वं सुखदुःखैरधिष्ठितम् ।
[illegible] निर्भावता पर्यायेणोपलभ्यते ॥ ९ ॥

[illegible] सारा जगत् ही सुख और दुःखसे व्याप्त है, [illegible] संयोग और वियोग प्राप्त होते रहते हैं ॥

[illegible] गच्छन्ति ये न यान्ति च तान् मृतान् ।
[illegible] प्रमाणेन स्वेन गच्छन्ति जन्तवः ॥ १० ॥

[illegible] अपने मृतक सम्बन्धियोंको लेकर श्मशानमें [illegible] और जो नहीं जाते हैं, वे सभी जीव-जन्तु अपनी [illegible] इस संसारसे चल बसते हैं ॥ १० ॥

[illegible] श्मशानेऽस्मिन् गृध्रगोमायुसंकुले ।
[illegible] रौद्रे सर्वप्राणिभयङ्करे ॥ ११ ॥

[illegible] और गीदड़ोंसे भरे हुए इस भयंकर श्मशानमें सब [illegible] नरकंकाल पड़े हैं । यह स्थान सभी प्राणियोंके [illegible] है । यहाँ तुम्हें नहीं ठहरना चाहिये; ठहरनेसे कोई लाभ भी नहीं है ॥ ११ ॥

न पुनर्जीवितः कश्चित् कालधर्ममुपागतः ।
प्रियो वा यदि वा द्वेष्यः प्राणिनां गतिरीदृशी ॥ १२ ॥

[illegible] प्रिय हो या द्वेषपात्र । कोई भी कालधर्ममें (मृत्यु) को पाकर कभी पुनः जीवित नहीं हुआ है । समस्त प्राणियोंकी ऐसी ही गति है ॥ १२ ॥

[illegible] खलु मर्तव्यं मर्त्यलोके प्रसूयता ।
कृतान्तविहिते मार्गे मृतं को जीवयिष्यति ॥ १३ ॥

[illegible] इस मर्त्यलोकमें जन्म लिया है, उसे एक-न-एक दिन अवश्य मरना होगा । कालद्वारा निर्मित पथपर मरकर [illegible] प्राणीको कौन जीवित कर सकेगा ॥ १३ ॥

कर्मान्तविरते लोके अस्तं गच्छति भास्करे ।
गम्यतां स्वमधिष्ठानं सुतस्नेहं विसृज्य वै ॥ १४ ॥

[illegible] अस्ताचलको जा रहे हैं, जगत्‌के सब लोग दैनिक [illegible] समाप्त करके अब उससे विरत हो रहे हैं । तुमलोग भी [illegible] अपने पुत्रका स्नेह छोड़कर घर लौट जाओ' ॥ १४ ॥

ततो गृध्रवचः श्रुत्वा प्राक्रोशन्तस्तदा नृप ।
[illegible]ऽभ्यगच्छन्त पुत्रमुत्सृज्य भूतले ॥ १५ ॥

[illegible] ! उस गीधकी बात सुनकर वे बन्धु-बान्धव [illegible] हुए अपने पुत्रको भूतलपर छोड़कर घरकी [illegible] ॥ १५ ॥

[illegible] च तदा विक्रोशन्तस्ततस्ततः ।
[illegible] गच्छन्तो निराशास्तस्य दर्शने ॥ १६ ॥

वे इधर-उधर [illegible] इसी निश्चयपर पहुँचे कि अब तो यह बालक मर ही गया; अतः उसके दर्शनसे निराश हो वहाँसे जानेके लिये तैयार हो गये ॥ १६ ॥

निश्चितार्थाश्च ते सर्वे संत्यजन्तः स्वमात्मजम् ।
निराशा जीविते तस्य मार्गमावृत्य धिष्ठिताः ॥ १७ ॥

जब उन्हें यह निश्चित हो गया कि अब यह नहीं जी सकेगा, तो उसके जीवनसे निराश हो वे सब लोग अपने बच्चेको छोड़कर जानेके लिये रास्तेपर आकर खड़े हुए ॥

ध्वांक्षपक्षसवर्णस्तु बिलान्निःसृत्य जम्बुकः ।
गच्छमानान् स तानाह निर्घृणाः खलु मानुषाः ॥ १८ ॥

इतनेहीमें कौएकी पाँखके समान काले रंगका एक गीदड़ अपनी माँद (घुरी) से निकलकर उन लौटते हुए बान्धवोंसे कहा—'मनुष्यो ! तुम बड़े निर्दय हो ! ॥ १८ ॥

आदित्योऽयं स्थितो मूढाः स्नेहं कुरुत मा भयम् ।
बहुरूपो मुहूर्तश्च जीवेदपि कदाचन ॥ १९ ॥

'अरे मूर्खो ! अभी तो सूर्यास्त भी नहीं हुआ है; अतः डरो मत । बच्चेको लाड़-प्यार कर लो । अनेक प्रकारका मुहूर्त आता रहता है । सम्भव है किसी शुभ घड़ीमें यह बालक जी उठे ॥ १९ ॥

यूयं भूमौ विनिक्षिप्य पुत्रस्नेहविनाकृताः ।
श्मशाने सुतमुत्सृज्य कस्माद् गच्छत निर्घृणाः ॥ २० ॥

'तुमलोग कैसे निर्दयी हो ? पुत्रस्नेहका त्याग करके इस नन्हे-से बालकको श्मशान-भूमिमें लाकर डाल दिया । अरे ! अपने बेटेको इस मरघटमें छोड़कर क्यों जा रहे हो ? ॥ २० ॥

न वोऽस्त्यस्मिन् सुते स्नेहो बाले मधुरभाषिणि ।
यस्य भाषितमात्रेण प्रसादमधिगच्छत ॥ २१ ॥

'जान पड़ता है' इस मधुरभाषी छोटे-से बालकपर तुम्हारा तनिक भी स्नेह नहीं है । यह वही बालक है, जिसकी मीठी-मीठी बातें सुनते ही तुम्हारा हृदय हर्षसे खिल उठता था ॥

ते पश्यत सुतस्नेहो यादृशः पशुपक्षिणाम् ।
न तेषां धारयित्वा तान् कश्चिदस्ति फलागमः ॥ २२ ॥
चतुष्पात्पक्षिकीटानां प्राणिनां स्नेहसङ्गिनाम् ।
परलोकगतिस्थानां मुनियज्ञक्रिया इव ॥ २३ ॥

'पशु और पक्षियोंका भी अपने बच्चेपर जैसा स्नेह होता है, उसे तुम देखो । यद्यपि स्नेहमें आसक्त उन पशु-पक्षी-कीट आदि प्राणियोंको अपने बच्चोंके पालन-पोषण करनेपर भी परलोकमें उनसे उस प्रकार कोई फल नहीं मिलता जैसे कि परलोककी गतिमें स्थित हुए मुनियोंको यज्ञादि क्रियासे मिलता है ॥ २२-२३ ॥

तेषां पुत्राभिरामाणामिहलोके परत्र च ।
न गुणो दृश्यते कश्चित् प्रजाः संधारयन्ति च ॥ २४ ॥

'क्योंकि उनके पुत्रोंमें स्नेह रखनेवाले पशु आदिके लिये इहलोक और परलोकमें संतानोंके लालन-पालनसे कोई लाभ नहीं दिखायी देता तो भी वे अपने-अपने बच्चोंकी रक्षा करते रहते हैं ॥ २४ ॥

अपश्यतां प्रियान् पुत्रांस्तेषां शोको न तिष्ठति ।
न च पुष्णन्ति संवृद्धास्ते मातापितरौ क्वचित् ॥ २५ ॥

'यद्यपि उनके बच्चे बड़े हो जानेपर अपने माँ-बापका पालन-पोषण नहीं करते हैं तो भी अपने प्यारे बच्चोंको न देखनेपर उनका शोक काबूमें नहीं रहता ॥ २५ ॥

मानुषाणां कुतः स्नेहो येषां शोको भविष्यति ।
इमं कुलकरं पुत्रं त्यक्त्वा क्व नु गमिष्यथ ॥ २६ ॥

'परंतु मनुष्योंमें इतना स्नेह ही कहाँ है, जो उन्हें अपने बच्चोंके लिये शोक होगा । अरे ! यह तुम्हारा वंशधर बालक है । इसे छोड़कर तुम कहाँ जाओगे ॥ २६ ॥

चिरं मुञ्चत बाष्पं च चिरं स्नेहेन पश्यत ।
एवंविधानि हीष्टानि दुस्त्यजानि विशेषतः ॥ २७ ॥

'इस अपने लाड़लेके लिये देरतक आँसू बहाओ और दीर्घ-कालतक स्नेहभरी दृष्टिसे इसकी ओर देखो, क्योंकि ऐसी प्यारी-प्यारी संतानोंको छोड़कर जाना अत्यन्त कठिन है ॥

क्षीणस्यार्थाभियुक्तस्य श्मशानाभिमुखस्य च ।
बान्धवा यत्र तिष्ठन्ति तत्रान्यो नाधितिष्ठति ॥ २८ ॥

'जो शरीरसे क्षीण हुआ हो, जिसपर कोई आर्थिक अभि-योग लगाया गया हो तथा जो श्मशानकी ओर जा रहा हो, ऐसे अवसरोंपर उसके भाई-बन्धु ही उसके साथ खड़े होते हैं । दूसरा कोई वहाँ साथ नहीं देता ॥ २८ ॥

सर्वस्य दयिताः प्राणाः सर्वः स्नेहं च विन्दति ।
तिर्यग्योनिष्वपि सतां स्नेहं पश्यत यादृशम् ॥ २९ ॥

'सबको अपने-अपने प्राण प्यारे होते हैं और सभी दूसरों-से स्नेह पाते हैं । पशु-पक्षीकी योनिमें भी जो प्राणी रहते हैं, उनका अपनी संतानोंपर कैसा प्रेम है, इसे देखो ॥ २९ ॥

त्यक्त्वा कथं गच्छथेमं पद्मलोलायताक्षिकम् ।
यथा नवोद्वाहकृतं स्नानमाल्यविभूषितम् ॥ ३० ॥

'इस बालककी कमल-जैसी चञ्चल एवं विशाल आँखें कितनी सुन्दर हैं । इसका शरीर स्नान एवं पुष्पमाला आदिसे विभूषित नया-नया विवाह करके आये दुल्हे-जैसा है । ऐसे मनोहर बालकको छोड़कर जानेके लिये तुम्हारे पैर कैसे उठ रहे हैं ?' ॥ ३० ॥

जम्बुकस्य वचः श्रुत्वा कृपणं परिदेवतः ।
न्यवर्तन्त तदा सर्वे शवार्थं ते स्म मानुषाः ॥ ३१ ॥

करुणाजनक विलाप करते हुए उस सियारकी यह बात सुनकर वे सभी मनुष्य उस मृत बालकके शरीरकी देखरेखके लिये पुनः लौट आये ॥ ३१ ॥

गृध्र उवाच

अहो बत नृशंसेन जम्बुकेनाल्पमेधसा ।
क्षुद्रेणोक्ता हीनसत्त्वा मानुषाः किं निवर्तथ ॥ ३२ ॥

तब गीधने कहा—अहो ! उस मन्दबुद्धि एवं क्रूर स्वभाववाले क्षुद्र गीदड़की बातोंमें आकर तुम लौटे कैसे आते हो ? मनुष्यो ! तुम बड़े धैर्यहीन हो ॥ ३२ ॥

पञ्चेन्द्रियपरित्यक्तं शुष्कं काष्ठत्वमागतम् ।
कस्माच्छोचथ तिष्ठन्तमात्मानं किं न शोचथ ॥ ३३ ॥

इस बच्चेका शरीर पाँचों इन्द्रियोंसे परित्यक्त होकर सूखे काठके समान तुम्हारे सामने पड़ा है । तुम इसके लिये क्यों शोक करते हो ? एक दिन तुम्हारी भी यही दशा होगी, फिर अपने लिये क्यों नहीं शोक करते ? ॥ ३३ ॥

तपः कुरुत वै तीव्रं मुच्यध्वं येन किल्बिषात् ।
तपसा लभ्यते सर्वं विलापः किं करिष्यति ॥ ३४ ॥

अब तुमलोग तीव्र तपस्या करो, जिससे समस्त पापोंसे छुटकारा पा जाओगे । तपस्यासे सब कुछ मिल सकता है । तुम्हारा यह विलाप क्या करेगा ? ॥ ३४ ॥

अनिष्टानि च भाग्यानि जातानि सह मूर्तिना ।
येन गच्छति बालोऽयं दत्त्वा शोकमनन्तकम् ॥ ३५ ॥

भाग्य शरीरके साथ ही प्रकट होता है और उसका अनिष्ट फल भी सामने आता ही है, जिससे यह बालक तुम्हें अनन्त शोक देकर जा रहा है ॥ ३५ ॥

धनं गावः सुवर्णं च मणिरत्नमथापि च ।
अपत्यं च तपोमूलं तपोयोगाच्च लभ्यते ॥ ३६ ॥

'धन, गाय, सोना, मणि, रत्न और पुत्र—इन सबका मूल कारण तप ही है । तपस्याके योगसे ही इनकी उपलब्धि होती है ॥ ३६ ॥

यथाकृता च भूतेषु प्राप्यते सुखदुःखिता ।
गृहीत्वा जायते जन्तुर्दुःखानि च सुखानि च ॥ ३७ ॥

जीव अपने पूर्वजन्मके कर्मोंके अनुसार दुःख-सुखको लेकर ही जन्म ग्रहण करता है । सभी प्राणियोंमें सुख और दुःखका भोग कर्मानुसार ही प्राप्त होता है ॥ ३७ ॥

न कर्मणा पितुः पुत्रः पिता वा पुत्रकर्मणा ।
मार्गेणान्येन गच्छन्ति बद्धाः सुकृतदुष्कृतैः ॥ ३८ ॥

पिताके कर्मसे पुत्रका और पुत्रके कर्मसे पिताका कोई सम्बन्ध नहीं है । अपने-अपने पाप-पुण्यके बन्धनमें बँधे हुए जीव कर्मानुसार विभिन्न मार्गसे जाते हैं ॥ ३८ ॥

धर्मं चरत यत्नेन न चाधर्मे मनः कृथाः ।
वर्तध्वं च यथाकालं दैवतेषु द्विजेषु च ॥ ३९ ॥

तुमलोग यत्नपूर्वक धर्मका आचरण करो और अधर्ममें कभी मन न लगाओ । देवताओं तथा ब्राह्मणोंकी सेवामें यथासमय तत्पर रहो ॥ ३९ ॥

शोकं त्यजत दैन्यं च सुतस्नेहान्निवर्तत ।
त्यज्यतामयमाकाशे ततः शीघ्रं निवर्तत ॥ ४० ॥

शोक और दीनता छोड़ो तथा पुत्रस्नेहसे मनको हटा लो । इस बालकको इसी सूने स्थानमें छोड़ दो और शीघ्र लौट जाओ ॥ ४० ॥

यत् करोति शुभं कर्म तथा कर्म सुदारुणम् ।
तत् कर्तैव समश्नाति बान्धवानां किमत्र ह ॥ ४१ ॥

[illegible] शुभ या अशुभ कर्म करता है, उसका फल भी [illegible] है । इसमें भाई-बन्धुओंका क्या है ? ॥

इह त्यक्त्वा न तिष्ठन्ति बान्धवा बान्धवं प्रियम् ।
स्नेहमुत्सृज्य गच्छन्ति बाष्पपूर्णाविलेक्षणाः ॥ ४२ ॥

[illegible] लोग यहाँ अपने प्रिय बन्धुओंका परित्याग करके ठहरते नहीं हैं । [illegible] स्नेह छोड़कर आँखोंमें आँसू भरे [illegible] चल देते हैं ॥ ४२ ॥

प्राज्ञो वा यदि वा मूर्खः सधनो निर्धनोऽपि वा ।
सर्वः कालवशं याति शुभाशुभसमन्वितः ॥ ४३ ॥

विद्वान् हो या मूर्ख, धनवान् हो या निर्धन, सभी अपने शुभ या अशुभ कर्मोंके साथ कालके अधीन हो जाते हैं ।४३।

किं करिष्यथ शोचित्वा मृतं किमनुशोचथ ।
सर्वस्य हि प्रभुः कालो धर्मतः समदर्शनः ॥ ४४ ॥

अच्छा, यह तो बताओ, तुम शोक करके क्या कर लोगे ? क्या इसे जिला दोगे ? फिर इस मृतकके लिये क्यों शोक करते हो ? काल ही सबका शासक और स्वामी है, जो धर्मतः सबके ऊपर समान दृष्टि रखता है ॥ ४४ ॥

यौवनस्थांश्च बालांश्च वृद्धान् गर्भगतानपि ।
सर्वानाविशते मृत्युरेवंभूतमिदं जगत् ॥ ४५ ॥

यह कराल काल युवा, बालक, वृद्ध और गर्भस्थ शिशु—सबमें प्रवेश करता है । इस संसारकी ऐसी ही दशा है ॥४५॥

जम्बुक उवाच

अहो मन्दीकृतः स्नेहो गृध्रेणेहाल्पबुद्धिना ।
पुत्रस्नेहाभिभूतानां युष्माकं शोचतां भृशम् ॥ ४६ ॥

इसपर गीदड़ने कहा—अहो ! क्या इस मन्दबुद्धि गीधने तुम्हारे स्नेहको शिथिल कर दिया ? तुम तो पुत्रस्नेहसे अभिभूत होकर उसके लिये बड़ा शोक कर रहे थे ॥४६॥

समैः सम्यक्प्रयुक्तैश्च वचनैः प्रत्ययोत्तरैः ।
यद् गच्छति जनश्चायं स्नेहमुत्सृज्य दुस्त्यजम् ॥ ४७ ॥

गीधके अच्छी युक्तियोंसे युक्त न्यायसङ्गत और विश्वासोत्पादक प्रतीत होनेवाले वचनोंसे प्रभावित हो ये सब लोग जो दुस्त्यज स्नेहका परित्याग करके चले जा रहे हैं, यह कितने आश्चर्यकी बात है ! ॥ ४७ ॥

अहो पुत्रवियोगेन मृतशून्योपसेवनात् ।
क्रोशतां सुभृशं दुःखं विवत्सानां गवामिव ॥ ४८ ॥
अद्य शोकं विजानामि मानुषाणां महीतले ।
स्नेहं हि कारणं कृत्वा ममाप्यश्रूण्यथापतन् ॥ ४९ ॥

अहो ! पुत्रके वियोगसे पीड़ित हो मृतकोंके इस शून्य स्थानमें आकर अत्यन्त दुःखसे रोने-बिलखनेवाले इन भूतलवासी मनुष्योंके हृदयमें बछड़ोंसे रहित हुई गायोंकी भाँति कितना शोक होता है ? इसका अनुभव मुझे आज हुआ है; क्योंकि इनके स्नेहको निमित्त बनाकर मेरी आँखोंसे भी आँसू बहने लगे हैं ॥ ४८-४९ ॥

यत्नो हि सततं कार्यस्ततो दैवेन सिद्ध्यति ।
दैवं पुरुषकारश्च कृतान्तेनोपपद्यते ॥ ५० ॥

अपने अभीष्टकी सिद्धिके लिये सदा प्रयत्न करते रहना चाहिये, तब दैवयोगसे उसकी सिद्धि होती है । दैव और पुरुषार्थ—दोनों कालसे ही सम्पन्न होते हैं ॥ ५० ॥

अनिर्वेदः सदा कार्यो निर्वेदाद्धि कुतः सुखम् ।
प्रयत्नात् प्राप्यते ह्यर्थः कस्माद् गच्छथ निर्दयम् ॥ ५१ ॥

खेद और शिथिलताको कभी अपने मनमें स्थान नहीं देना चाहिये । खेद होनेपर कहाँसे सुख प्राप्त हो सकता है । प्रयत्नसे ही अभिलषित अर्थकी प्राप्ति होती है; अतः तुमलोग इस बालककी रक्षाका प्रयत्न छोड़कर निर्दयतापूर्वक कहाँ चले जा रहे हो ? ॥ ५१ ॥

आत्ममांसोपवृत्तं च शरीरार्धमयीं तनुम् ।
पितॄणां वंशकर्तारं वने त्यक्त्वा क्व यास्यथ ॥ ५२ ॥

यह बालक तुम्हारे अपने ही रक्त-मांसका बना हुआ है, आधे शरीरके समान है और पितरोंके वंशकी वृद्धि करनेवाला है, इसे वनमें छोड़कर तुम कहाँ जाओगे ? ॥ ५२ ॥

अथवास्तंगते सूर्ये संध्याकाल उपस्थिते ।
ततो नेष्यथ वा पुत्रमिहस्था वा भविष्यथ ॥ ५३ ॥

अच्छा, इतना ही करो कि जबतक सूर्य अस्त न हो और संध्याकाल उपस्थित न हो जाय, तबतक यहाँ रुके रहो; फिर अपने इस पुत्रको साथ ले जाना अथवा यहीं बैठे रहना ॥

गृध्र उवाच

अद्य वर्षसहस्रं मे साग्रं जातस्य मानुषाः ।
न च पश्यामि जीवन्तं मृतं स्त्रीपुंनपुंसकम् ॥ ५४ ॥

गीधने कहा—मनुष्यो ! मुझे जन्म लिये आज एक हजार वर्षसे अधिक हो गये; परंतु मैंने कभी किसी स्त्री-पुरुष या नपुंसकको मरनेके बाद फिर जीवित होते नहीं देखा ।५४।

मृता गर्भेषु जायन्ते जातमात्रा म्रियन्ति च ।
चङ्क्रमन्तो म्रियन्ते च यौवनस्थास्तथा परे ॥ ५५ ॥

कुछ लोग गर्भोंमें ही मरकर जन्म लेते हैं, कुछ जन्म लेते ही मर जाते हैं, कुछ चलने-फिरने लायक होकर मरते हैं और कुछ लोग भरी जवानीमें ही चल बसते हैं ॥ ५५ ॥

अनित्यानीह भाग्यानि चतुष्पात्पक्षिणामपि ।
जङ्गमानां नगानां चाप्यायुरग्रेऽवतिष्ठते ॥ ५६ ॥

इस संसारमें पशुओं और पक्षियोंके भी भाग्यफल अनित्य हैं । स्थावरों और जङ्गमोंके जीवनमें भी आयुकी ही प्रधानता है ॥ ५६ ॥

इष्टदारवियुक्ताश्च पुत्रशोकान्वितास्तथा ।
दह्यमानाः स्म शोकेन गृहं गच्छन्ति नित्यशः ॥ ५७ ॥

प्रिय पत्नीके वियोग और पुत्रशोकसे संतप्त हो कितने ही प्राणी प्रतिदिन शोककी आगमें जलते हुए इस मरघटसे अपने घरको लौटते हैं ॥ ५७ ॥

अनिष्टानां सहस्राणि तथेष्टानां शतानि च ।
उत्सृज्येह प्रयाता वै बान्धवा भृशदुःखिताः ॥ ५८ ॥

कितने ही भाई-बन्धु अत्यन्त दुखी हो यहाँ हजारों अप्रिय तथा सैकड़ों प्रिय व्यक्तियोंको छोड़कर चले गये हैं ॥ ५८ ॥

त्यज्यतामेष निस्तेजाः शून्यः काष्ठत्वमागतः ।
अन्यदेहविषक्तं हि शावं काष्ठत्वमागतम् ॥ ५९ ॥
त्यक्तजीवस्य चैवास्य कस्माद्धित्वा न गच्छत ।
निरर्थको ह्ययं स्नेहो निष्फलश्च परिश्रमः ॥ ६० ॥

यह मृत बालक तेजोहीन होकर थोथे काठके समान हो गया है । इसे छोड़ दो । इसका जीव दूसरे शरीरमें आसक्त है । इस निष्प्राण बालकका यह शव काठके समान हो गया है। तुमलोग इसे छोड़कर चले क्यों नहीं जाते ? तुम्हारा यह स्नेह निरर्थक है और इस परिश्रमका भी कोई फल नहीं है ॥ ५९-६० ॥

चक्षुर्भ्यां न च कर्णाभ्यां संशृणोति समीक्षते ।
कस्मादेनं समुत्सृज्य न गृहान् गच्छताशु वै ॥ ६१ ॥

यह न तो आँखोंसे देखता है और न कानोंसे कुछ सुनता ही है । फिर इसे त्यागकर तुमलोग जल्दी अपने घर क्यों नहीं चले जाते ॥ ६१ ॥

मोक्षधर्माश्रितैर्वाक्यैर्हेतुमद्भिः सुनिष्ठुरैः ।
मयोक्ता गच्छत क्षिप्रं स्वं स्वमेव निवेशनम् ॥ ६२ ॥

मेरी ये बातें बड़ी निष्ठुर जान पड़ती हैं; परंतु हेतुगर्भित और मोक्ष-धर्मसे सम्बन्ध रखनेवाली हैं; अतः इन्हें मानकर मेरे कहनेसे तुमलोग शीघ्र अपने-अपने घर पधारो ॥ ६२ ॥

प्रज्ञाविज्ञानयुक्तेन बुद्धिसंज्ञाप्रदायिना ।
वचनं श्राविता नूनं मानुषाः संनिवर्तत ।
शोको द्विगुणतां याति दृष्ट्वा स्मृत्वा च चेष्टितम् ॥ ६३ ॥

मनुष्यो ! मैं बुद्धि और विज्ञानसे युक्त तथा दूसरोंको भी ज्ञान प्रदान करनेवाला हूँ । मैंने तुम्हें विवेक उत्पन्न करनेवाली बहुत-सी बातें सुनायी हैं । अब तुमलोग लौट जाओ । अपने मरे हुए स्वजनका शव देखकर तथा उसकी चेष्टाओंको स्मरण करके दूना शोक होता है ॥ ६३ ॥

इत्येतद् वचनं श्रुत्वा संनिवृत्तास्तु मानुषाः ।
अपश्यत् तं तदा सुप्तं द्रुतमागत्य जम्बुकः ॥ ६४ ॥

गीधकी यह बात सुनकर वे सब मनुष्य घरकी ओर लौट पड़े । तब सियारने तुरंत आकर उस सोते हुए बालकको देखा ॥ ६४ ॥

जम्बुक उवाच

इमं कनकवर्णाभं भूषणैः समलंकृतम् ।
गृध्रवाक्यात् कथं पुत्रं त्यजध्वं पितृपिण्डदम् ॥ ६५ ॥

सियार बोला—बन्धुओ ! देखो तो सही, इस बालकका रंग कैसा सोनेके समान चमक रहा है । आभूषणोंसे भूषित होकर यह कैसी शोभा पाता है । पितरोंको पिण्ड प्रदान करनेवाले अपने इस पुत्रको तुम गीधकी बातोंमें आकर कैसे छोड़ रहे हो ? ॥ ६५ ॥

न स्नेहस्य च विच्छेदो विलापरुदितस्य च ।
मृतस्यास्य परित्यागात् तापो वै भविता ध्रुवम् ॥ ६६ ॥

इस मृत बालकको छोड़कर जानेसे न तो तुम्हारे स्नेहमें कमी आयेगी और न तुम्हारा रोना-धोना एवं विलाप ही बंद होगा । उलटे तुम्हारा संताप और बढ़ जायगा, यह निश्चित है ॥ ६६ ॥

श्रूयते शम्बुके शूद्रे हते ब्राह्मणदारकः ।
जीवितो धर्ममासाद्य रामात् सत्यपराक्रमात् ॥ ६७ ॥

सुना जाता है कि सत्यपराक्रमी श्रीरामचन्द्रजीसे शम्बूक नामक शूद्रके मारे जानेपर उस धर्मके प्रभावसे एक मरा हुआ ब्राह्मणबालक जीवित हो उठा था ॥ ६७ ॥

तथा श्वेतस्य राजर्षेर्बालो दिष्टान्तमागतः ।
श्वेतेन धर्मनिष्ठेन मृतः संजीवितः पुनः ॥ ६८ ॥

इसी प्रकार राजर्षि श्वेतका भी बालक मर गया था, परंतु धर्मनिष्ठ श्वेतने उसे पुनः जीवित कर दिया था ॥ ६८ ॥

तथा कश्चिल्लभेत् सिद्धो मुनिर्वा देवतापि वा ।
कृपणानामनुक्रोशं कुर्याद् वो रुदतामिह ॥ ६९ ॥

इसी प्रकार सम्भव है कोई सिद्ध मुनि या देवता मिल जायँ और यहाँ रोते हुए तुम दीन-दुखियोंपर दया कर दें ॥ ६९ ॥

इत्युक्तास्ते न्यवर्तन्त शोकार्ताः पुत्रवत्सलाः ।
अङ्के शिरः समाधाय रुरुदुर्बहुविस्तरम् ।
तेषां रुदितशब्देन गृध्रोऽभ्येत्य वचोऽब्रवीत् ॥ ७० ॥

सियारके ऐसा कहनेपर वे पुत्रवत्सल बान्धव शोकसे पीड़ित हो लौट पड़े और बालकका मस्तक अपनी गोदमें रखकर जोर-जोरसे रोने लगे । उनके रोनेकी आवाज सुनकर गीध पास आ गया और इस प्रकार बोला ॥ ७० ॥

गृध्र उवाच

अश्रुपातपरिक्लिन्नः पाणिस्पर्शप्रपीडितः ।
धर्मराजप्रयोगाच्च दीर्घनिद्रां प्रवेशितः ॥ ७१ ॥

गीधने कहा—तुमलोगोंके आँसू बहानेसे जिसका शरीर गीला हो गया है और जो तुम्हारे हाथोंसे बार-बार दबाया गया है, ऐसा यह बालक धर्मराजकी आज्ञासे चिरनिद्रामें प्रविष्ट हो गया है ॥ ७१ ॥

तपसापि हि संयुक्ता धनवन्तो महाधियः ।
सर्वे मृत्युवशं यान्ति तदिदं प्रेतपत्तनम् ॥ ७२ ॥

बड़े-बड़े तपस्वी, धनवान् और महाबुद्धिमान् सभी यहाँ मृत्युके अधीन हो जाते हैं । यह प्रेतोंका नगर है ॥ ७२ ॥

बालवृद्धसहस्राणि सदा संत्यज्य बान्धवाः ।
दिनानि चैव रात्रीश्च दुःखं तिष्ठन्ति भूतले ॥ ७३ ॥

यहाँ लोगोंके भाई-बन्धु सदा सहस्रों बालकों और बूढ़ोंको त्यागकर दिन-रात दुखी रहते हैं ॥ ७३ ॥

अलं निर्बन्धमागत्य शोकस्य परिधारणे ।
अप्रत्ययं कुतो ह्यस्य पुनरद्येह जीवितम् ॥ ७४ ॥

दुराग्रहवश बारंबार लौटकर शोकका बोझ धारण करनेसे कोई लाभ नहीं है । अब इसके जीनेका कोई भरोसा नहीं

[illegible] यहाँ [illegible] पुनः [illegible] हो सकता है ? ॥

[illegible] पुनर्देहो न विद्यते ।
[illegible] जन्तुकस्य [illegible] ॥ ७५ ॥
[illegible] नैव बालो वर्षशतैरपि ।

[illegible] इस देहसे नाता तोड़कर मर जाता है, [illegible] इस जगत्में लौटना सम्भव नहीं है । [illegible] अपना शरीर बलिदान कर दें तो भी सैकड़ों [illegible] नहीं आ सकता ॥ ७५½ ॥

[illegible] रुद्रः कुमारो वा ब्रह्मा वा विष्णुरेव च ॥ ७६ ॥
[illegible] प्रयच्छेत्तुष्टस्ततो जीवेदयं शिशुः ।

यदि भगवान् शिव, कुमार कार्तिकेय, ब्रह्माजी और भगवान् विष्णु इसे वर दें तो यह बालक जी सकता है ॥

नैव बाष्पविमोक्षेण न वा श्वासकृतेन च ॥ ७७ ॥
न दीर्घरुदितेनायं पुनर्जीवं गमिष्यति ।

न तो आँसू बहानेसे, न लंबी-लंबी साँस खींचनेसे और न दीर्घकालतक रोनेसे ही यह फिर जी सकेगा ॥ ७७½ ॥

अहं च क्रोष्टुकश्चैव यूयं ये चास्य बान्धवाः ॥ ७८ ॥
धर्माधर्मौ गृहीत्वेह सर्वे वर्तामहेऽध्वनि ।

मैं, यह सियार और तुम सब लोग जो इसके भाई-बन्धु हो, ये सभी धर्म और अधर्मको लेकर यहाँ अपनी-अपनी राहपर चल रहे हैं ॥ ७८½ ॥

अप्रियं परुषं चापि परद्रोहं परस्त्रियम् ॥ ७९ ॥
अधर्ममनृतं चैव दूरात् प्राज्ञो विवर्जयेत् ।

बुद्धिमान् पुरुषको अप्रिय आचरण, कठोर वचन, दूसरोंके साथ द्रोह, परायी स्त्री, अधर्म और असत्य-भाषणका दूरसे ही परित्याग कर देना चाहिये ॥ ७९½ ॥

धर्मं सत्यं श्रुतं न्याय्यं महतीं प्राणिनां दयाम् ॥ ८० ॥
अजिह्मत्वमशाठ्यं च यत्नतः परिमार्गत ।

तुम सब लोग धर्म, सत्य, शास्त्रज्ञान, न्यायपूर्ण बर्ताव, समस्त प्राणियोंपर बड़ी भारी दया, कुटिलताका अभाव तथा शठताका त्याग—इन्हीं सद्गुणोंका यत्नपूर्वक अनुसरण करो ॥ ८०½ ॥

मातरं पितरं वापि बान्धवान् सुहृदस्तथा ॥ ८१ ॥
जीवतो ये न पश्यन्ति तेषां धर्मविपर्ययः ।

जो लोग जीवित माता-पिता, सुहृदों और भाई-बन्धुओंकी देखभाल नहीं करते हैं, उनके धर्मकी हानि होती है ॥ ८१½ ॥

यो न पश्यति चक्षुर्भ्यां नेङ्गते च कथञ्चन ॥ ८२ ॥
तस्य निष्ठावसानान्ते रुदन्तः किं करिष्यथ ।

जो न आँखोंसे देखता है, न शरीरसे कोई चेष्टा ही करता है, उसके जीवनका अन्त हो जानेपर अब तुमलोग रोकर क्या करोगे ॥ ८२½ ॥

इत्युक्तास्ते सुतं त्यक्त्वा भूमौ शोकपरिप्लुताः ।
[illegible]माना: सुतस्नेहात् प्रययुर्बान्धवा गृहम् ॥ ८३ ॥

[illegible] कहनेपर वे शोकमें डूबे हुए भाई-बन्धु अपने उस पुत्रको धरतीपर सुलाकर उसके स्नेहसे दग्ध होते हुए अपने घरकी ओर लौटे ॥ ८३ ॥

जम्बुक उवाच

दारुणो मर्त्यलोकोऽयं सर्वप्राणिविनाशनः ।
इष्टबन्धुवियोगश्च तथेहाल्पं च जीवितम् ॥ ८४ ॥

तब सियारने कहा—यह मर्त्यलोक अत्यन्त दुःखद है । यहाँ समस्त प्राणियोंका नाश ही होता है । प्रिय बन्धुजनोंके वियोगका कष्ट भी प्राप्त होता रहता है । यहाँका जीवन बहुत थोड़ा है ॥ ८४ ॥

बहुलीकमसत्यं चाप्यतिवादाप्रियंवदम् ।
इमं प्रेक्ष्य पुनर्भावं दुःखशोकविवर्धनम् ॥ ८५ ॥
न मे मानुषलोकोऽयं मुहूर्तमपि रोचते ।

इस संसारमें सब कुछ असत्य एवं बहुत अरुचिकर है । यहाँ अनाप-शनाप बकनेवाले तो बहुत हैं, परंतु प्रिय वचन बोलनेवाले विरले ही हैं । यहाँका भाव दुःख और शोककी वृद्धि करनेवाला है । इसे देखकर मुझे यह मनुष्यलोक दो घड़ी भी अच्छा नहीं लगता ॥ ८५½ ॥

अहो धिग् गृध्रवाक्येन यथैवाबुद्धयस्तथा ॥ ८६ ॥
कथं गच्छत निःस्नेहाः सुतस्नेहं विसृज्य च ।

अहो ! धिक्कार है । तुमलोग गीधकी बातोंमें आकर मूर्खोंके समान पुत्रस्नेहसे रहित हुए प्रेमशून्य होकर कैसे घरको लौटे जा रहे हो ? ॥ ८६½ ॥

प्रदीप्ताः पुत्रशोकेन संनिवर्तत मानुषाः ॥ ८७ ॥
श्रुत्वा गृध्रस्य वचनं पापस्येहाकृतात्मनः ।

मनुष्यो ! यह गीध तो बड़ा पापी और अपवित्र हृदयवाला है । इसकी बात सुनकर तुमलोग पुत्रशोकसे जलते हुए भी क्यों लौटे जा रहे हो ? ॥ ८७½ ॥

सुखस्यानन्तरं दुःखं दुःखस्यानन्तरं सुखम् ॥ ८८ ॥
सुखदुःखावृते लोके नेहास्त्येकमनन्तरम् ।

सुखके बाद दुःख और दुःखके बाद सुख आता है । सुख और दुःखसे घिरे हुए इस जगत्में निरन्तर (सुख या दुःख) अकेला नहीं बना रहता है ॥ ८८½ ॥

इमं क्षितितले त्यक्त्वा बालं रूपसमन्वितम् ॥ ८९ ॥
कुलशोभाकरं मूढाः पुत्रं त्यक्त्वा क यास्यथ ।
रूपयौवनसम्पन्नं द्योतमानमिव श्रिया ॥ ९० ॥

यह सुन्दर बालक तुम्हारे कुलकी शोभा बढ़ानेवाला है । यह रूप और यौवनसे सम्पन्न है तथा अपनी कान्तिसे प्रकाशित हो रहा है । मूर्खो ! इस पुत्रको पृथ्वीपर डालकर तुम कहाँ जाओगे ? ॥ ८९-९० ॥

जीवन्तमेव पश्यामि मनसा नात्र संशयः ।
विनाशो नास्य न हि वै सुखं प्राप्स्यथ मानुषाः ॥ ९१ ॥

मनुष्यो ! मैं तो अपने मनसे इस बालकको जीवित ही देख रहा हूँ, इसमें संशय नहीं है । इसका नाश नहीं होगा, तुम्हें अवश्य ही सुख मिलेगा ॥ ९१ ॥

पुत्रशोकाभितप्तानां मृतानामद्य वः क्षमम्।
सुखसम्भावनं कृत्वा धारयित्वा सुखं स्वयम्।
त्यक्त्वा गमिष्यथ क्वाद्य समुत्सृज्याल्पबुद्धिवत्॥

पुत्रशोकसे संतप्त होकर तुमलोग स्वयं ही मृतक-तुल्य हो रहे हो; अतः तुम्हारे लिये इस तरह लौट जाना उचित नहीं है। इस बालकसे सुखकी सम्भावना करके सुख पानेकी सुदृढ़ आशा धारण कर तुम सब लोग अल्पबुद्धि मनुष्यके समान स्वयं ही इसे त्यागकर अब कहाँ जाओगे? ॥ ९२ ॥

भीष्म उवाच

तथा धर्मविरोधेन प्रियमिथ्याभिधायिना।
श्मशानवासिना नित्यं रात्रिं मृगयता नृप॥ ९३॥
ततो मध्यस्थतां नीता वचनैरमृतोपमैः।
जम्बुकेन स्वकार्यार्थं बान्धवास्तस्य धिष्ठिताः॥ ९४॥

भीष्मजी कहते हैं—राजन्! वह सियार सदा श्मशानभूमिमें ही निवास करता था और अपना काम बनानेके लिये रात्रिकालकी प्रतीक्षा कर रहा था; अतः उसने धर्मविरोधी, मिथ्या तथा अमृततुल्य वचन कहकर उस बालकके बन्धु-बान्धवोंको बीचमें ही अटका दिया। वे न जा पाते थे और न रह पाते थे, अन्तमें उन्हें ठहर जाना पड़ा ९३-९४

गृध्र उवाच

अयं प्रेतसमाकीर्णो यक्षराक्षससेवितः।
दारुणः काननोद्देशः कौशिकैरभिनादितः॥ ९५॥

तब गीधने कहा—मनुष्यो! यह वन्य प्रदेश प्रेतोंसे भरा हुआ है। इसमें बहुत-से यक्ष और राक्षस निवास करते हैं तथा कितने ही उल्लू हू-हूकी आवाज कर रहे हैं; अतः यह स्थान बड़ा भयंकर है॥ ९५॥

भीमः सुघोरश्च तथा नीलमेघसमप्रभः।
अस्मिञ्छवं परित्यज्य प्रेतकार्याण्युपासत॥ ९६॥

यह अत्यन्त घोर, भयानक तथा नीलमेघके समान काला अन्धकारपूर्ण है। इस मुर्देको यहीं छोड़कर तुमलोग प्रेतकर्म करो॥ ९६॥

भानुर्यावत् प्रयात्यस्तं यावच्च विमला दिशः।
तावदेनं परित्यज्य प्रेतकार्याण्युपासत॥ ९७॥

जबतक सूर्य डूब नहीं जाते हैं और जबतक दिशाएँ निर्मल हैं, तभीतक इसे यहाँ छोड़कर तुमलोग इसके प्रेतकर्ममें लग जाओ॥९७॥

नदन्ति परुषं श्येनाः शिवाः क्रोशन्ति दारुणम्।
मृगेन्द्राः प्रतिनन्दन्ति रविरस्तं च गच्छति॥ ९८॥

इस वनमें बाज अपनी कठोर बोली बोलते हैं, सियार भयंकर आवाजमें हुआँ-हुआँ कर रहे हैं, सिंह दहाड़ रहे हैं और सूर्य अस्ताचलको जा रहे हैं॥ ९८॥

चिताधूमेन नीलेन संरज्यन्ते च पादपाः।
श्मशाने च निराहाराः प्रतिनर्दन्ति देहिनः॥ ९९॥

चिताके काले धुएँसे यहाँके सारे वृक्ष उसी रंगमें रँग गये हैं। श्मशानभूमिमें यहाँके निराहार प्राणी (प्रेत-पिशाच आदि) गरज रहे हैं॥ ९९॥

सर्वे विकृतदेहाश्चाप्यस्मिन् देशे सुदारुणे।
युष्मान् प्रधर्षयिष्यन्ति विकृता मांसभोजिनः॥१००॥

इस भयंकर प्रदेशमें रहनेवाले सभी प्राणी विकराल शरीरके हैं। ये सबके सब मांस खानेवाले और विकृत अङ्गवाले हैं। वे तुमलोगोंको धर दबायेंगे॥ १००॥

क्रूरश्चायं वनोद्देशो भयमद्य भविष्यति।
त्यज्यतां काष्ठभूतोऽयं मृष्यतां जाम्बुकं वचः॥१०१॥

जंगलका यह भाग क्रूर प्राणियोंसे भरा हुआ है। अब तुम्हें यहाँ बहुत बड़े भयका सामना करना पड़ेगा। यह बालक तो अब काठके समान निष्प्राण हो गया है। इसे छोड़ो और सियारकी बातोंके लोभमें न पड़ो॥ १०१॥

यदि जम्बुकवाक्यानि निष्फलान्यनृतानि च।
श्रोष्यथ भ्रष्टविज्ञानास्ततः सर्वे विनङ्क्ष्यथ॥ १०२॥

यदि तुमलोग विवेकभ्रष्ट होकर सियारकी झूठी और निष्फल बातें सुनते रहोगे तो सबके सब नष्ट हो जाओगे॥१०२॥

जम्बुक उवाच

स्थीयतां नेह भेतव्यं यावत् तपति भास्करः।
तावदस्मिन् सुते स्नेहादनिर्वेदेन वर्तत॥१०३॥
स्वैरं रुदन्तो विश्रब्धाश्चिरं स्नेहेन पश्यत।
(दारुणेऽस्मिन् वनोद्देशे भयं वो न भविष्यति।
अयं सौम्यो वनोद्देशः पितॄणां निधनाकरः॥)
स्थीयतां यावदादित्यः किं च क्रव्यादभाषितैः॥ १०४॥

सियार बोला—ठहरो, ठहरो। जबतक यहाँ सूर्यका प्रकाश है, तबतक तुम्हें बिल्कुल नहीं डरना चाहिये। उस समयतक इस बालकपर स्नेह करके इसके प्रति ममतापूर्ण बर्ताव करो। निर्भय होकर दीर्घकालतक इसे स्नेहदृष्टिसे देखो और जी भरकर रो लो। यद्यपि यह वन्यप्रदेश भयंकर है तो भी यहाँ तुम्हें कोई भय नहीं होगा; क्योंकि यह भू-भाग पितरोंका निवास-स्थान होनेके कारण श्मशान होता हुआ भी सौम्य है। जबतक सूर्य दिखायी देते हैं, तबतक यहीं ठहरो। इस मांसभक्षी गीधके कहनेसे क्या होगा?॥ १०३-१०४॥

यदि गृध्रस्य वाक्यानि तीव्राणि रभसानि च।
गृह्णीत मोहितात्मानः सुतो वो न भविष्यति॥१०५॥

यदि तुम मोहितचित्त होकर इस गीधकी घोर एवं घबराहटमें डालनेवाली बातोंमें आ जाओगे तो इस बालकसे हाथ धो बैठोगे॥ १०५॥

भीष्म उवाच

गृध्रोऽस्तमित्याह गतो गतो नेति च जम्बुकः।
मृतस्य तं परिजनमूचतुस्तौ क्षुधान्वितौ॥१०६॥

भीष्मजी कहते हैं—राजन्! वे गीध और गीदड़ दोनों ही भूखे थे और अपने उद्देश्यकी सिद्धिके लिये मृतकके बन्धु-बान्धवोंसे बातें करते थे। गीध कहता था कि सूर्य अस्त हो गये और सियार कहता था नहीं॥ १०६॥

स्वकार्यबद्धकक्षौ तौ राजन् गृध्रोऽथ जम्बुकः।
क्षुत्पिपासापरिश्रान्तौ शास्त्रमालम्ब्य जल्पतः॥१०७॥

[illegible] अपना-अपना काम बनानेके [illegible] दोनोंहीकी भूख और प्यास मारी [illegible] दान करोगे ॥ १०७ ॥

[illegible] ॥

[illegible] प्रतिष्ठन्ति व्रजन्ति च ॥ १०८ ॥

[illegible] पशु था और दूसरा पक्षी । दोनों ही ज्ञानकी [illegible] उन दोनोंके अमृतमयी वचनोंसे प्रभावित [illegible] कभी ठहर जाते और कभी आगे [illegible] ॥ १०८ ॥

शोकदैन्यसमाविष्टा रुदन्तस्तस्थिरे तदा ।
स्वकार्यकुशलाभ्यां ते सम्भ्राम्यन्ते ह नैपुणात् ॥ १०९ ॥

शोक और दीनतासे आविष्ट होकर वे उस समय रोते [illegible] ही रह गये । अपना-अपना कार्य सिद्ध करनेमें [illegible] गीध और गीदड़ने चालाकीसे उन्हें चक्करमें डाल रक्खा था ॥ १०९ ॥

तथा तयोर्विवदतोर्विज्ञानविदुषोर्द्वयोः ।
बान्धवानां स्थितानां चाप्युपातिष्ठत शङ्करः ॥ ११० ॥
देव्या प्रणोदितो देवः कारुण्यार्द्रीकृतेक्षणः ।
ततस्तानाह मनुजान् वरदोऽस्मीति शङ्करः ॥ १११ ॥

ज्ञान-विज्ञानकी बातें जाननेवाले उन दोनों जन्तुओंमें इस प्रकार वाद-विवाद चल रहा था और मृतकके भाई-बन्धु वहीं खड़े थे । इतनेहीमें भगवती श्रीपार्वती देवीकी प्रेरणासे भगवान् शङ्कर उनके सामने प्रकट हो गये । उस समय उनके नेत्र करुणारससे आर्द्र हो रहे थे । वरदायक भगवान् शिवने उन मनुष्योंसे कहा—'मैं तुम्हें वर दे रहा हूँ' ॥ ११०-१११ ॥

ते प्रत्यूचुरिदं वाक्यं दुःखिताः प्रणताः स्थिताः ।
एकपुत्रविहीनानां सर्वेषां जीवितार्थिनाम् ॥ ११२ ॥
पुत्रस्य नो जीवदानाज्जीवितं दातुमर्हसि ।

तब वे दुखी मनुष्य भगवान्‌को प्रणाम करके खड़े हो गये और इस प्रकार बोले—'प्रभो ! इस इकलौते पुत्रसे हीन होकर हम मृतकतुल्य हो रहे हैं । आप हमारे इस पुत्रको जीवित करके हम समस्त जीवनार्थियोंको जीवन-दान देनेकी कृपा करें' ॥ ११२½ ॥

एवमुक्तः स भगवान् वारिपूर्णेन चक्षुषा ॥ ११३ ॥
जीवितं स्म कुमाराय प्रादाद् वर्षशतानि वै ।

उन्होंने जब नेत्रोंमें आँसू भरकर भगवान् शङ्करसे इस प्रकार प्रार्थना की, तब उन्होंने उस बालकको जीवित कर दिया और उसे सौ वर्षोंकी आयु प्रदान की ॥ ११३½ ॥

तथा गोमायुगृध्राभ्यां प्राददत् क्षुद्विनाशनम् ॥ ११४ ॥
वरं पिनाकी भगवान् सर्वभूतहिते रतः ।

इतना ही नहीं, सर्वभूतहितकारी पिनाकपाणि भगवान् शिवने गीध और गीदड़को भी उनकी भूख मिट जानेका वरदान दे दिया ॥ ११४½ ॥

ततः प्रणम्य ते देवं प्रायो हर्षसमन्विताः ॥ ११५ ॥
कृतकृत्याः सुखं हृष्टाः प्रातिष्ठन्त तदा विभो ।

राजन् ! तब वे सब लोग हर्षसे उल्लसित एवं कृतकार्य हो महादेवजीको प्रणाम करके सुख और प्रसन्नताके साथ वहाँसे चले गये ॥ ११५½ ॥

अनिर्वेदेन दीर्घेण निश्चयेन ध्रुवेण च ॥ ११६ ॥
देवदेवप्रसादाच्च क्षिप्रं फलमवाप्यते ।

यदि मनुष्य उकताहटमें न पड़कर दृढ़ एवं प्रबल निश्चयके साथ प्रयत्न करता रहे तो देवाधिदेव भगवान् शिवके प्रसादसे शीघ्र ही मनोवाञ्छित फल पा लेता है ॥ ११६½ ॥

पश्य दैवस्य संयोगं बान्धवानां च निश्चयम् ॥ ११७ ॥
कृपणानां तु रुदतां कृतमश्रुप्रमार्जनम् ।
पश्य चाल्पेन कालेन निश्चयान्वेषणेन च ॥ ११८ ॥

देखो, दैवका संयोग और उन बन्धु-बान्धवोंका दृढ़ निश्चय; जिससे दीनतापूर्वक रोते हुए उन मनुष्योंका आँसू थोड़े ही समयमें पोंछा गया । यह उनके निश्चयपूर्वक किये हुए अनुसंधान एवं प्रयत्नका फल है ॥ ११७-११८ ॥

प्रसादं शङ्करात् प्राप्य दुःखिताः सुखमाप्नुवन् ।
ते विस्मिताः प्रहृष्टाश्च पुत्रसंजीवनात् पुनः ॥ ११९ ॥

भगवान् शङ्करकी कृपासे उन दुखी मनुष्योंने सुख प्राप्त कर लिया । पुत्रके पुनर्जीवनसे वे आश्चर्यचकित एवं प्रसन्न हो उठे ॥ ११९ ॥

बभूवुर्भरतश्रेष्ठ प्रसादाच्छङ्करस्य वै ।
ततस्ते त्वरिता राजंस्त्यक्त्वा शोकं शिशूद्भवम् ॥ १२० ॥
विविशुः पुत्रमादाय नगरं हृष्टमानसाः ।

राजन् ! भरतश्रेष्ठ ! भगवान् शङ्करकी कृपासे वे सब लोग तुरंत ही पुत्रशोक त्यागकर प्रसन्नचित्त हो पुत्रको साथ ले अपने नगरको चले गये ॥ १२०½ ॥

एषा बुद्धिः समस्तानां चातुर्वर्ण्ये निदर्शिता ॥ १२१ ॥
धर्मार्थमोक्षसंयुक्तमितिहासमिमं शुभम् ।
श्रुत्वा मनुष्यः सततमिहामुत्र च मोदते ॥ १२२ ॥

चारों वर्णोंमें उत्पन्न हुए सभी लोगोंके लिये यह बुद्धि प्रदर्शित की गयी है । धर्म, अर्थ और मोक्षसे युक्त इस शुभ इतिहासको सदा सुननेसे मनुष्य इहलोक और परलोकमें आनन्दका अनुभव करता है ॥ १२१-१२२ ॥

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि आपद्धर्मपर्वणि गृध्रगोमायुसंवादे कुमारसंजीवने त्रिपञ्चाशदधिकशततमोऽध्यायः ॥ १५३ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत शान्तिपर्वके अन्तर्गत आपद्धर्मपर्वमें गीदड़-गीधका संवाद एवं मरे हुए बालकका पुनर्जीवनविषयक एक सौ तिरपनवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १५३ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठका १ श्लोक मिलाकर कुल १२३ श्लोक हैं)

मरे हुए ब्राह्मण-बालकपर तथा गीध एवं गीदड़पर शङ्करजीकी कृपा

रजि० सं० ए० ८५४

॥ श्रीहरिः ॥

प्रेमी ग्राहकों और पाठकोंसे सादर निवेदन

१-'महाभारत'का यह दूसरे वर्षका बारहवाँ अर्थात् अन्तिम अङ्क है। इस संख्यामें इस वर्षका मूल्य समाप्त हो गया है। इसके पश्चात् तीसरा वर्ष प्रारम्भ होगा।

२-विविध प्रकारकी उलझनोंमें पड़े हुए आजके व्यग्र जगत्को—आसक्ति-कामना, द्वेष-क्रोध, असंतोष-अशान्ति आदिकी भीषण आगमें झुलसते हुए मानव-प्राणीको 'महाभारत'में प्रकाशित छोटी-बड़ी सभी प्रेरणाप्रद घटनाओंके द्वारा वह विचित्र समाधान प्राप्त होता है, जिससे उसकी सारी उलझनें सुलझ जाती हैं और त्याग-वैराग्य, समता-संतोष तथा आत्मीयता-अनुरागका वह मधुर शीतल सुधा-सलिल रस-प्रवाह मिलता है, जिससे कामना-वासना तथा असंतोष-अशान्तिकी प्रचण्ड अग्नि सदाके लिये सहज ही शान्त हो जाती है। इसमें एक-एक कथा ऐसी प्रेरणाप्रद होती है कि ध्यानपूर्वक पढ़नेपर जीवनमें सहज ही सुन्दर परिवर्तन हो सकता है।

३-तीसरे वर्षमें भी प्रतिमास कम-से-कम दो सौ पृष्ठ तथा २ रंगीन और ६ सादे चित्र देनेकी बात है। लाइन-चित्र भी प्रसङ्गानुसार दिये जा सकते हैं।

४-वार्षिक मूल्य डाकखर्चसहित २०) है। यदि किसी कारणवश डाकखर्च बढ़ गया तो वार्षिक मूल्य कुछ बढ़ाया जा सकता है।

५-जिन ग्राहकोंके चंदेके रुपये तीसरे वर्षके प्रथम अङ्कके निकलनेतक नहीं मिलेंगे, उनको नवम्बरका प्रथम अङ्क वी० पी० द्वारा भेज दिया जायगा।

६-सभी पुराने ग्राहकोंको अगले वर्ष भी ग्राहक रहना ही चाहिये, अन्यथा उनकी फाइल अधूरी रहेगी। यदि किसी विशेष कारणवश किसीको ग्राहक न रहना हो तो कृपापूर्वक एक कार्ड लिखकर सूचना दे दें ताकि डाकखर्चकी हानि न सहनी पड़े।

७-जिन नये ग्राहकोंको प्रथम और द्वितीय वर्षके भी अङ्क लेने हों, वे तीन सालका चंदा ६०) भेजनेकी कृपा करेंगे।

व्यवस्थापक—'मासिक महाभारत', पो० गीताप्रेस (गोरखपुर)